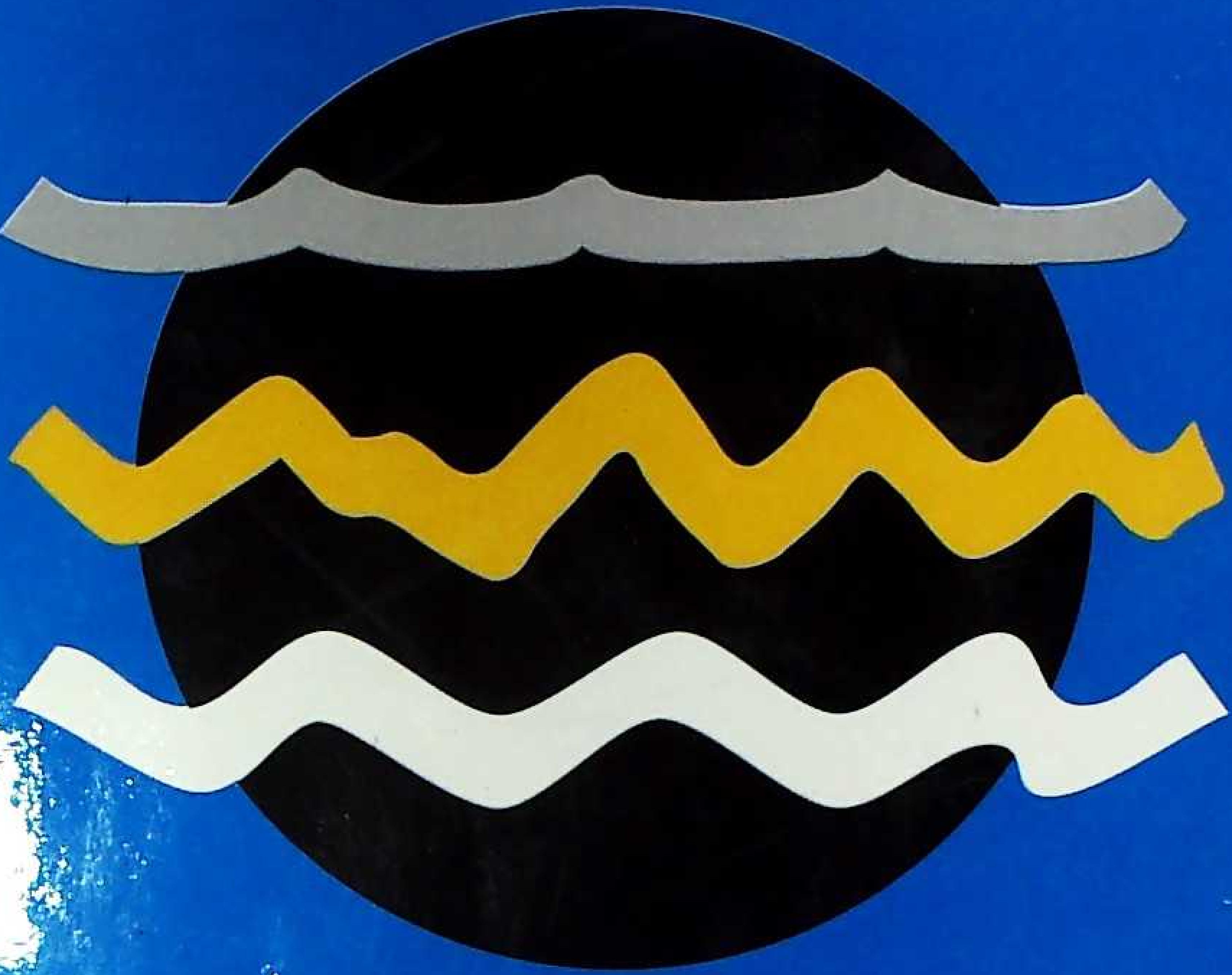

चरकसंहिता

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

प्राक्कथन

आयुर्वेदीय बृहत्त्रयी में 'चरकसंहिता' का सर्वप्रथम स्थान है। आरम्भ में इसका नाम अग्निवेश-तन्त्र था, उसी का चरक ने प्रतिसंस्कार किया। उपलब्ध चरकसंहिता दृढबल-सम्पूरित है। आज इसी चरकसंहिता का आयुर्वेद-जगत् में सर्वत्र समादर है। इतिहास का अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है, कि आज की अपेक्षा प्राचीनकाल में आयुर्वेद की स्थिति अत्यधिक समृद्ध थी। आज आयुर्वेद की अनेक संहिताएँ सुलभ नहीं हैं। काश्यपसंहिता आदि कुछ ग्रन्थ खण्डित रूप में प्राप्त हैं। आज जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध है, वह भी अपने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें दिये गये अग्नि, क्षार, शस्त्र, जलौका आदि के प्रयोग विश्व की समस्त चिकित्सा-पद्धतियों को आश्चर्यचकित कर देते हैं।

महर्षि आत्रेय द्वारा उपदिष्ट प्रस्तुत संहिता की भाषा अत्यन्त प्राञ्जल, सुस्पष्ट, सुबोध तथा मनोरम है। इसमें अनेक प्रकार की परिषदों की चर्चा भी है। उनमें सर्वत्र 'तद्विद्यसम्भाषा' का ही अनुसरण कर महर्षि आत्रेय ने प्रसाद-सुमुख होकर अन्य मतों का युक्ति-युक्त खण्डन कर अपने मतों की सिद्धान्तरूप में प्रतिष्ठापना की है, जिनका देश-विदेशों से आये हुए सभी आयुर्वेद-विद महर्षियों एवं राजाओं ने सादर समर्थन किया है। सद्वृत्त, आचार-रसायन, तन्त्रयुक्तियाँ आदि अनेक मूल्यवान् विषयों का इसमें समावेश होने के कारण ही प्रस्तुत संहिता का कायचिकित्सा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

काशी में श्रीअर्जुनमिश्र की परम्परा के चरकाचार्य श्रीलालचन्द्र वैद्य समकालिक आयुर्वेद-विदों में अग्रगण्य थे और मेरे गुरुकल्प थे। उनकी व्याख्यान-शैली अनुपम थी। उन्हीं के प्रमुख शिष्य डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी हैं, जिन्होने चरकसंहिता पर 'चन्द्रिका-व्याख्या' लिखी है। इसका प्रथम भाग सन् १९८३ में प्रकाशित हो चुका था। मैंने इस 'चन्द्रिका-व्याख्या को अथ से इति तक देखा। जिस प्रकार सुरूप के प्रति आँखों का तथा सुमधुर के प्रति जीभ का पक्षपात होता है, ठीक उसी प्रकार आयुर्वेदशास्त्र के प्रति अनुराग होने के कारण मेरा भी इस व्याख्या के प्रति पक्षपात होना स्वाभाविक था।

निरन्तर अध्ययन, अध्यापन, विविध विषयक ग्रन्थ के लेखन आदि कार्यों में तत्पर डॉ० त्रिपाठी मेरे स्नेहपात्र हैं। इन्होंने द्वितीय भाग की पूर्ति के लिए लिखी चरकसंहिता की समस्त पाण्डुलिपियाँ मुझे दिखलायीं और उनमें से उन-उन स्थलों को देखने का मुझ से विशेष आग्रह किया, जहाँ-जहाँ इन्होंने मूलपाठों का संशोधन किया था तथा चक्रपाणि आदि प्राचीन टीकाकारों से जहाँ इनका मतभेद था। मैंने भी मनोयोगपूर्वक उन-उन स्थलों को देखा; अनेक युक्ति-युक्त प्रमाणों से इन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि की है। इस प्रकार के सभी स्थलों का पर्यालोचन करने पर इनके प्रति मेरा सहज स्नेह बढ़ता गया। अन्त में इन्होंने मुझसे प्राक्कथन के रूप में आशीर्वचन देने का आग्रह किया। मैंने इनके इस आग्रह को सहर्ष स्वीकार कर संक्षेप में यह सब लिख डाला।

यद्यपि चरकसंहिता पर चक्रपाणिदत्त आदि मनीषियों की विद्वत्तापूर्ण अनेक टीकाएँ संस्कृत में उपलब्ध हैं। प्रकाशकों तथा सम्पादकों की असावधानी से उन प्राचीन टीकाओं के भी स्थल-विशेषों पर एक ही विषय के अनेक रूप देखे जाते हैं, जैसा कि डॉ० त्रिपाठी ने अपनी व्याख्या में स्थान-स्थान पर संकेत किया है। तथापि वे टीकाएँ समादरणीय हैं; उनसे चरकोक्त

रहस्य विदित होते हैं, अतः उनका परिशीलन करना ही चाहिए। किन्तु उक्त प्राचीन टीकाओं को समझने के लिए संस्कृत-वाङ्मय का पर्याप्त ज्ञान अपेक्षित है।

आज संस्कृत-वाङ्मय का दिनों-दिन ह्रास होता जा रहा है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों में भी यह ह्रास दिखलायी देता है। आयुर्वेद की कोई भी संहिता ऐसी नहीं है, जो संस्कृत में न लिखी गयी हो। अतः आज का विद्यार्थी संस्कृत का समुचित ज्ञान न होने के कारण तत्त्वतः उन संहिताओं के रहस्यों को नहीं समझ पाता और न अध्यापक-वर्ग ही उसे स्पष्ट कर पाता है। इस दिशा में आचार्य डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने अपने विविध विषयक ज्ञान द्वारा सभी प्राचीन व्याख्याओं का सार लेकर 'चन्द्रिका-व्याख्या' के रूप में उसे सरल एवं सुस्पष्ट किया है, जो सर्वथा स्तुत्य प्रयास है। डॉ० त्रिपाठी अनेक विषयों के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् हैं। आपने अनेक सम्भाषा-परिषदों को अपने सारगर्भ वचनों से सम्मानित किया है, अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, विविध ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं एवं अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं हैं। भारतवर्ष की हिन्दी, संस्कृत एवं आयुर्वेद की सम्मानित अनेक पत्र-पत्रिकाएँ आपके लेखों को प्रकाशित कर गौरवान्वित होती रहती हैं!

प्राचीन टीकाओं में देखा जाता है, कि उद्धरणों के अन्त में केवल सन्दर्भ ग्रन्थों के नाम देकर टीकाकार कृत-कृत्य हुए हैं। परवर्ती श्रीचक्रपाणि आदि ने अपनी टीका में केवल ग्रन्थ एवं अध्याय का नाम दिया है, जो पर्याप्त नहीं है; तथा अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय इन दो भिन्न ग्रन्थों के लिए टीकाकारों ने केवल 'वाग्भट' शब्द का भ्रामक प्रयोग किया है। प्रस्तुत टीका में इस प्रकार के दोषों को कहीं भी नहीं आने दिया गया है, जो अत्यन्त परिश्रम-साध्य कार्य है। छन्द, व्याकरण तथा विषय आदि की दृष्टि से चरक के पाठों को शुद्ध करने का प्रथम प्रयास केवल डॉ० त्रिपाठी ने किया है, जो इनकी विविध-विषयक विद्वत्ता का परिचायक है। इसकी टीका करते हुए डॉ० त्रिपाठी ने उपलब्ध अन्य अनेक आयुर्वेदीय संहिताओं का स्थान-स्थान पर तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। थोड़े ही समय में इनकी कृति को विद्वानों द्वारा जो समादर प्राप्त हुआ है, उसे देखते हुए हमारा अनुरोध है, कि ये भविष्य में सम्पूर्ण बृहत्त्रयी को अपनी प्रतिभा से अलंकृत करें।

बहुज्ञ एवं बहुश्रुत डॉ० त्रिपाठी ने अपनी विद्वत्ता तथा चिरन्तन चिकित्सकीय अनुभवों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दृष्टियों से विचारकों, शोधकर्ताओं तथा पाठकों के लिए सरल एवं उपयोगी बनाने का सफल प्रयास किया है। चन्द्रिका-व्याख्या युक्त प्रस्तुत चरकसंहिता के परिशिष्ट भाग में निर्दिष्ट विविध प्रकार की सूचियाँ उसके अन्तर्गत विषयों को करामलकवत् बनाने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी। इस प्रकार की सूचियों का इसमें पहली बार समावेश व्याख्याकार की सूझ-बूझ एवं अथक परिश्रम का सूचक है।

वर्षगणसाध्य इस महत्त्वपूर्ण कृति को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए आचार्य डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी को मैं हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ और उनका स्वागत करता हूँ, कि वे आजीवन तन-मन से आयुर्वेद की सेवा करते रहें।

निवास—'पूनम'
२७/४६ गुरुधाम १४ ए.
वाराणसी
दि० ७-७-८७

प्रभाकर जनार्दन देशपाण्डे

पुरोवचन

प्रस्तुत चरकसंहिता अनेक परिवर्तनों के बाद आज हमारे सामने इस रूप में सुलभ है। इसके मूल उपदेष्टा पुनर्वसु आत्रेय हैं। इसे आरम्भ में महर्षि अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया था, कालान्तर में महर्षि चरक ने इसका प्रतिसंस्कार किया और कुछ समय बाद उसे पूर्ण रूप में न पाकर ३०० ई० में आचार्य दृढबल ने इसकी पूर्ति की। इस प्रकार की सूचना श्रीगुरुपद हालदार ने दी है। इस महत्त्वपूर्ण तन्त्र पर सभी भाषाओं में विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गयी हैं। मुझे इसकी टीका करते समय अनेक नवीन एवं प्राचीन संस्करणों को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह चरकसंहिता दो परम्पराओं में विभक्त देखी जाती है—१. बंगीय-परम्परा और २. निर्णयसागरीय-परम्परा। सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर दोनों के पाठभेद टीका की दृष्टि से टीकाकार को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ऐसे स्थलों पर प्रस्तुत व्याख्या में विचार किया गया है। यद्यपि हमने इस संस्करण के पाठों को शुद्ध करने में यथामति भरपूर प्रयत्न किया है, तथापि अशुद्धियों का रह जाना मानव-स्वभाव-सुलभ है। जिन्हें सुधी पाठक ठीक कर लेंगे, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

'चरकचन्द्रिका' व्याख्या युक्त चरकसंहिता का पूर्वार्ध सन् १९८३ में आयुर्वेदानुरागियों को सुलभ हो चुका था। सभी ने इसका हार्दिक स्वागत किया। कुछ दिनों के बाद इसके प्रकाशक के पास इस आशय के पत्र आने लगे कि इसका उत्तरार्ध भी उन्हें शीघ्र उपलब्ध कराया जाय, किन्तु इसको पूरा करने में जिन अगणित विघ्न-बाधाओं का सामना मुझे करना पड़ा, वे वर्णन के परे हैं, यहाँ उनको उजागर करने से कोई लाभ भी नहीं है। मेरे शुभचिन्तक एवं मित्रगण मुझे बीच-बीच में इस ज्ञानयज्ञ को पूरा करने की प्रेरणा देते रहे, जिसके फलस्वरूप मैं आज इसके द्वितीय भाग को पूरा करने में सफल हो सका हूँ।

निवेदन

भूतभावन भवानीपति की महनीय अनुकम्पा से, पूज्य माता-पिता के चरणों के शुभाशीर्वाद से एवं वन्दनीय गुरुजनों के रहस्यपूर्ण विषयों पर प्राप्त सरलतम उपदेशों की सहायता से प्रस्तुत चरकसंहिता का टीका कार्य सम्पन्न हुआ। इसकी पूर्ति का अविकल श्रेय सम्प्रति दिवंगत मेरे अनन्य उपदेशक गुरुवर्य पण्डित-प्रवर श्रीलालचन्द्रजी वैद्य, प्रधानाचार्य, श्रीअर्जुन आयुर्वेदिक महाविद्यालय, वाराणसी को है। यदि मुझे उनके सहज स्नेहपूर्ण दुर्लभ उपदेश सुलभ न हुए होते, तो सम्भवतः मैं इस गहनतम ग्रन्थ पर व्याख्या लिखने का साहस ही न कर पाता। अतः यह कृति उन्हीं को सर्वात्मना सादर समर्पित करने के बाद भी मैं जन्म-जन्मान्तरों तक उनका ऋणी हूँ।

आभार-प्रदर्शन

मैं उन सभी पूर्ववर्ती टीकाकारों का भी ऋणी हूँ, जिनसे मुझे किञ्चिन्मात्र भी सहयोग मिला, जिनकी टीकाओं को देखकर मुझे नयी दिशा दिखलायी दी एवं नये समाधान प्रस्तुत करने की प्रेरणाएँ मिलीं। नहीं तो यह कथमपि सम्भव नहीं था, कि मैं स्थान-स्थान पर अपनी

चरकसंहिता-विषयानुक्रमणिका

चिकित्सास्थान

विषय	पृष्ठ
(१।१) रसायनाध्याय : प्रथमपाद	**१-२७**
सामान्य भेषज-प्रकरण	
भेषज के पर्याय	२
भेषज के दो भेद	३
अभेषज के दो भेद	४
वाजीकरण-रसायन	,,
रसायन-सेवन से लाभ	५
रसायन की निरुक्ति	६
वाजीकरण की निरुक्ति	७
रसायन-वाजीकरण का प्रारूप	८
अभेषज का निषेध	,,
द्विविध रसायन-प्रकरण	
दो प्रकार के रसायन	९
कुटी-निर्माण की विधि	१०
कुटी-प्रवेश की विधि	११
रसायन के पूर्व संशोधन	१२
संशोधन औषधद्रव्य	,,
हरीतकी का परिचय एवं गुण	१३
हरीतकी-सेवन के अयोग्य व्यक्ति	१५
आँवला के गुण-कर्म	,,
उपसंहार	१६
हिमालय की ओषधियाँ उत्तम	,,
प्रथम ब्राह्मरसायन	१७
द्वितीय ब्राह्मरसायन	१९
ब्राह्मरसायन की फलश्रुति	२०
च्यवनप्राशरसायन	२१
च्यवनप्राश की फलश्रुति	२२
आमलकरसायन	२३
पञ्चम हरीतक्यादि रसायन	२४
हरीतक्यादि योग	२५
रसायन का महत्त्व	२६
उपसंहार	२७
(१।२) रसायनाध्याय : द्वितीयपाद	**२७-४२**
रसायन-सेवन से लाभ	२८

विषय	पृष्ठ
ग्राम्य आहार से हानियाँ	२८
आमलकघृत	२९
आमलकघृत की फलश्रुति	३०
प्रथम आमलकावलेह	३१
आमलकचूर्ण	,,
विडङ्गावलेह	३२
द्वितीय आमलकावलेह	३३
नागबलारसायन	३४
बलादि रसायन	३५
भल्लातकक्षीर	३६
भल्लातकक्षौद्र	३९
भल्लातकतैल	,,
भल्लातक के अन्य योग	४०
भिलावे के गुण	४१
भल्लातक के प्रयोग	,,
कफज रोगनाशक भिलावा	,,
भल्लातक का सेवन यथाविधि करें	,,
उपसंहार	४२
(१।३) रसायनाध्याय : तृतीयपाद	**४३-६०**
आमलकायस ब्राह्मरसायन	४३
आमलकायस ब्राह्मरसायन की फलश्रुति	४४
ग्राम्यजनों के लिए रसायन-निषेध	,,
केवलामलकरसायन	४५
लौहादि रसायन	४६
ऐन्द्र रसायन	४७
चार मेध्य रसायन	४८
पिप्पलीरसायन	,,
पिप्पलीवर्धमानरसायन	५०
प्रथम त्रिफलारसायन	५२
द्वितीय त्रिफलारसायन	,,
तृतीय त्रिफलारसायन	५३
चतुर्थ त्रिफलारसायन	,,
शिलाजीत के गुण	५४
भावना-द्रव्य तथा भावना देने की विधि	५५
शिलाजीत-सेवन-विधि एवं उसके लाभ	५६

विषय	पृष्ठ
काल तथा मात्रा-निर्देश	५६
शिलाजीत की उत्पत्ति	,,
सुवर्ण शिलाजतु के गुण-धर्म	५७
रजत शिलाजतु के गुण-धर्म	,,
ताम्र शिलाजतु के गुण-धर्म	,,
लौह शिलाजतु के गुण-धर्म	,,
शिलाजतु-प्रयोग-निर्देश	५८
शिलाजतु-सेवन में पथ्य	,,
कुलथी के निषेध में कारण	,,
शिलाजीत घोलने योग्य द्रव	५९
शिलाजीत की विशेषता	,,
उपसंहार	६०
(१।४) रसायनाध्याय : चतुर्थपाद	**६०-७६**
शालीन और यायावर ऋषियों पर ग्राम्य आहारों का प्रभाव	६०
ऋषियों को इन्द्र का उपदेश	६१
इन्द्र के उपदेश की प्रशंसा	६२
इन्द्रोक्त रसायन : प्रथम	,,
द्रोणीप्रावेशिक रसायन	६४
दिव्य ओषधि सेवन के अधिकारी	६६
मृदुवीर्य ओषधि-सेवन-निर्देश	६७
इन्द्रोक्त रसायन : द्वितीय	,,
कुटीप्रावेशिक रसायन के योग्य व्यक्ति	६९
वातातपिक रसायन के योग्य व्यक्ति	,,
रसायन-सेवन में सावधानी	,,
आचार रसायन	,,
परिस्थिति के अनुसार रसायन से लाभ	७०
चिकित्सक की पूजा का विधान	,,
अश्विनीकुमारों का चिकित्सा-कौशल	७१
अश्विनीकुमारों का सर्वत्र सम्मान	,,
ब्राह्मण आदि द्वारा उपासना	७२
यज्ञ में देवताओं का सान्निध्य	,,
सुखार्थी वैद्य की पूजा करें	,,
प्राणाचार्य-परिचय	,,
वैद्य जन्मना नहीं होता	७३
वैद्य की द्विज संज्ञा	,,
वैद्य तथा रोगी के कर्तव्य	,,
रोगी के उऋण होने का उपाय	,,
चिकित्सक का कर्तव्य	७४
आयुर्वेद के उपदेश का लक्ष्य	,,

विषय	पृष्ठ
उत्तम चिकित्सक का लक्ष्य	७४
जीविका के लिए आयुर्वेद नहीं है	,,
जीवनदान सबसे उत्तम होता है	,,
भूतदया ही चिकित्सा का उद्देश्य	७५
उपसंहार	,,
(२।१) वाजीकरणाध्याय : प्रथमपाद	**७६-८७**
वाजीकरण की आवश्यकता	७६
वाजीकरण-चिकित्सा के सम्बन्ध में सामान्य विचार	,,
स्त्री सर्वोत्तम वाजीकरण है	७८
स्त्रियों के प्रति लोक की भिन्नरुचि	७९
वाजीकरण योग्य स्त्री-परिचय	,,
सहवास के योग्य स्त्री	,,
निःसन्तान पुरुष की निन्दा	८१
सन्तानहीन की प्रकारान्तर से निन्दा	,,
सन्तानहीन का अन्य स्वरूप	,,
सन्तानयुक्त पुरुष की प्रशंसा	८२
सन्तान से लाभ	,,
वाजीकरण की आवश्यकता	,,
वाजीकरण योगों का उपदेश	८३
बृंहणी गुटिका	,,
वाजीकरण घृत	,,
वाजीकरण पिण्डरस	८४
वृष्य माहिषरस	८५
चार वृष्य रस	,,
वृष्य चटकमांस-प्रयोग	८६
वृष्य माष-प्रयोग	,,
वृष्य कुक्कुटमांस-प्रयोग	,,
वृष्य अण्डरसों का प्रयोग	,,
संशोधन के बाद वृष्ययोगों का सेवन	,,
उपसंहार	८७
(२।२) वाजीकरणाध्याय : द्वितीयपाद	**८७-९२**
अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका	८८
वृष्य पूपलिकादि योग	८९
अपत्यकर स्वरस	,,
वृष्य क्षीर	९०
वृष्य घृत	,,
वृष्य दधिसर-प्रयोग	९१
वृष्य षष्टिकौदन-प्रयोग	,,
वृष्य पूपलिका	९२

विषय	पृष्ठ
वाजीकरण योगों की फलश्रुति	,,
अन्य वाजीकरण भाव	,,
अध्यायगत योगों की गणना	,,
(२।३) वाजीकरणाध्याय : तृतीयपाद	**९३-९९**
वृष्य गोदुग्ध	९३
वृष्य क्षीर-प्रयोग	,,
अपत्यकर क्षीरयोग	९४
अपत्यजनन क्षीरयोग	९५
वृष्य पिप्पलीयोग	,,
वृष्य पायसयोग	९६
वृष्य पूपलिकायोग	,,
वृष्य शतावरीघृत	,,
वृष्य मधुकयोग	९७
वाजीकरणोचित आहार-विहार	,,
वाजीकरणोचित संगति	,,
वाजीकरणोचित विहार	९८
वाजीकरणोचित वातावरण	,,
उपसंहार	९९
(२।४) वाजीकरणाध्याय : चतुर्थपाद	**९९-११०**
चतुर्थ पाद की प्रस्तावना	९९
शारीरिक बल तथा संतानोत्पत्ति का सम्बन्ध	,,
बलवर्धक वृष्य योग	१००
वृष्य योगों में पूर्वकर्म	१०१
वृष्य वस्तियाँ	,,
वृष्य मांस-गुटिकाएँ	,,
वृष्य महिषरस	१०२
वृष्य घृतभृष्ट मत्स्यमांस	,,
दो वृष्य पूपलिकाएँ	१०३
वृष्य माषादि पूपलिका	,,
वृष्य योग	१०४
अपत्यकर घृत	,,
वृष्य गुटिका	१०५
वृष्योत्कारिका	,,
वृष्य द्रव्य-संकेत	,,
स्त्री-सहवास का उचित समय	,,
सहवास के पश्चात् कर्म	१०६
शुक्र की उत्पत्ति का क्रम	,,
सहवास योग्य अवस्था	,,
बाल्यावस्था में सहवास का निषेध	१०७

विषय	पृष्ठ
वृद्धावस्था में मैथुन का सहेतुक निषेध	१०७
शुक्रक्षय के कारण	,,
मैथुनशक्ति की कमी के कारण	,,
शरीर में शुक्र का स्थान	१०८
शुक्र के निकलने का प्रकार	,,
शुक्र-प्रवृत्ति के आठ कारण	१०९
सन्तानोत्पादक शुक्र के लक्षण	,,
वाजीकरण की परिभाषा	,,
चतुर्थ पाद का उपसंहार	११०
(३) ज्वरचिकित्साध्याय	**१११-२१९**
अग्निवेश का ज्वर-सम्बन्धी प्रश्न	१११
ज्वर-सम्बन्धी सन्देह	११२
ज्वर-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर	,,
ज्वर के पर्याय	,,
ज्वर की प्रकृति क्या है ?	११३
स्वभावरूप ज्वर की प्रकृति	,,
ज्वर की प्रवृत्ति	११४
ज्वर-सम्बन्धी पौराणिक कथा	,,
ज्वर का प्रभाव	११६
ज्वर के कारण	,,
ज्वर का पूर्वरूप	,,
ज्वर का अधिष्ठान	११७
ज्वर का बल तथा काल	,,
ज्वर का आत्मलक्षण	,,
ज्वर के भेद एवं उसके लक्षण	११८
शारीरिक ज्वर एवं उसके लक्षण	१२०
मानसिक ज्वर एवं उसके लक्षण	,,
सौम्य तथा आग्नेय ज्वर	१२१
सौम्य तथा आग्नेय ज्वर का सहेतुक निर्देश	,,
अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण	,,
बहिर्वेग ज्वर के लक्षण	१२२
प्राकृत ज्वर के लक्षण	,,
पित्त तथा कफ का कालज प्रकोप	१२३
प्राकृतिक पैत्तिक ज्वर	,,
प्राकृतिक कफज ज्वर	,,
प्राकृत ज्वर का उपसंहार	१२४
प्राकृत ज्वर का अपवाद	,,
ज्वर-हेतु स्मारक-सूत्र	१२५
साध्य ज्वर के लक्षण	,,
असाध्य ज्वर के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
ज्वर के अन्य असाध्य लक्षण	१२५
सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति	१२७
सन्तत ज्वर की काल-मर्यादा	,,
सन्तत ज्वर की दुःसहता	,,
सन्तत ज्वर के बारह आश्रय	१२८
सन्तत ज्वर का पराक्रम	,,
सन्तत ज्वर का चिकित्साक्रम	,,
सतत ज्वर के लक्षण	१२९
अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण	,,
तृतीयक, चतुर्थक ज्वर	१३०
विषम ज्वरों में दोषों की गति	,,
विषम ज्वर के वेगों का कारण	१३१
ज्वर-वेगकाल-विवेचन	,,
तृतीयक ज्वर के तीन भेद	,,
चतुर्थक ज्वर के दो भेद	१३२
चतुर्थक विपर्यय ज्वर	१३३
पाँच प्रकार के विषम ज्वर	१३४
ज्वर की उत्पत्ति में कारण	,,
रसादि सप्तधातुगत ज्वर-प्रकरण	
रसधातुगत ज्वर	१३६
रक्तधातुगत ज्वर	,,
मांसधातुगत ज्वर	१३७
मेदोधातुगत ज्वर	,,
अस्थिधातुगत ज्वर	,,
मज्जधातुगत ज्वर	,,
शुक्रधातुगत ज्वर	,,
धातुगत ज्वरों का साध्य-असाध्य विवेचन	१३८
ज्वर-विस्तार-वर्णन की प्रस्तावना	,,
द्वन्द्वज ज्वर	
वातपित्तज्वर के लक्षण	१३९
वातकफज्वर के लक्षण	,,
कफपित्तज्वर के लक्षण	,,
त्रयोदश सन्निपातज्वर-प्रकरण	
सन्निपातज्वर	१४०
वातपित्त-प्रधान, कफमन्द सन्निपातज्वर	,,
वातकफ-प्रधान, पित्तहीन सन्निपातज्वर	१४३
पित्तकफ-प्रधान, वातहीन सन्निपातज्वर	१४४
वातप्रधान, कफ-पित्तहीन सन्निपातज्वर	,,
पित्तप्रधान, कफ-वातहीन सन्निपातज्वर	,,

विषय	पृष्ठ
कफप्रधान, वात-पित्तहीन सन्निपातज्वर	१४५
कफप्रधान, पित्तमध्य, वातहीन सन्निपातज्वर	,,
पित्तप्रधान, कफमध्य, वातहीन सन्निपातज्वर	,,
वातप्रधान, कफमध्य, पित्तहीन सन्निपातज्वर	१४६
कफप्रधान, वातमध्य, पित्तहीन सन्निपातज्वर	,,
वातप्रधान, पित्तमध्य, कफहीन सन्निपातज्वर	१४७
पित्तप्रधान, वातमध्य, हीनकफ सन्निपातज्वर	,,
समदोषज सन्निपातज्वर	१४८
सन्निपातज्वर की साध्यता-असाध्यता	१५२
सात प्रकार के ज्वर	१५३
आगन्तुज ज्वर के भेद	,,
अभिघातज ज्वर का निदान	१५४
अभिघातज ज्वर की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	,,
अभिषंगज ज्वर का निदान	,,
आगन्तुक ज्वर में दोषप्रकोप-क्रम	१५५
अष्टविध भूत-परिचय	,,
अभिषंगज ज्वर के अन्य कारण	१५६
अभिचारज तथा अभिशापज ज्वर के लक्षण	,,
कामज ज्वर	१५७
शोकज ज्वर, भयज ज्वर, क्रोधज ज्वर	,,
भूतावेशज ज्वर, विषज ज्वर	,,
कामादि ज्वरों में सन्ताप का स्वरूप	१५८
आगन्तुज ज्वरों की विशेषता	,,
ज्वर की सम्प्राप्ति	१५९
तरुणज्वर में पसीना न आने में कारण	१६०
आमज्वर के लक्षण	,,
पच्यमान ज्वर	१६१
निरामज्वर के लक्षण	,,
नवज्वर में अपथ्य	१६२
ज्वर में लंघन का महत्त्व	१६३
उचित लंघन से लाभ	१६४
लंघन की अवधि	,,
दोषपाचन के उपाय	१६५
ज्वर में जल-प्रयोग	१६६
ज्वर में जल-प्रयोग का फल	१६७
षडंगपानीय	,,
कफप्रधान ज्वर में वमन	१६८
तरुणज्वर में वमन-निषेध	१६९
अकाल में आमदोष को निकालना हानिकर	,,
ज्वर में यवागू-प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
यवागू-प्रयोगकाल	१७०
यवागू-सेवन से लाभ	,,
यवागू का ज्वर-विशेष में निषेध	१७१
रक्तपित्त में तर्पण-प्रयोग	,,
यूष तथा रस-प्रयोग	१७२
दन्तधावन-विधि	,,
दातौन-प्रयोग के लाभ	,,
दातौन के पश्चात् कर्म	१७३
ज्वर में कषायपान का समय	,,
तरुणज्वर में कषाय-निषेध	१७४
प्रकारान्तर से विचार	,,
यवागूपान के पश्चात् कर्म	,,
ज्वर में घृतपान का निर्देश	१७५
घृतपान-विधि का अपवाद	,,
मांसरस-लघुआहार-प्रयोग	१७६
ज्वर में दूध का प्रयोग	,,
ज्वर में विरेचन-निर्देश	,,
ज्वर क्षीण में दुग्ध तथा वस्ति-प्रयोग	१७७
निरूहणवस्ति की प्रशस्ति	,,
स्रंसन का प्रयोग	,,
ज्वर में अनुवासनवस्ति-प्रयोग	१७८
ज्वर में नस्य-प्रयोग	,,
ज्वर में अभ्यंग आदि का विधान	,,
ज्वर में अभ्यंग आदि के लाभ	१७९
ज्वर में धूपन आदि का प्रयोग	,,
उपसंहार	,,
ज्वरनाशक विविध अन्न-पेयादि	
ज्वरनाशक अन्न	,,
ज्वर में लाजपेया का प्रयोग	१८०
लाजपेया का कल्पना-वैशिष्ट्य	,,
पार्श्व आदि शूल में पेया-प्रयोग	,,
ज्वरातिसार में पेया-प्रयोग	,,
कास-श्वास युक्त ज्वर में पेया	१८१
ज्वर में दोषानुलोमनी पेया	,,
विबन्धनाशक अन्य पेया	,,
परिकर्तिका-नाशक पेया	,,
अस्वेदादि विकार-नाशक पेया	,,
यूषयोग्य द्रव्यों का ज्वर में प्रयोग	१८२
ज्वर में विविध शाक-प्रयोग	,,
ज्वर में मांसरस-प्रयोग	१८३

विषय	पृष्ठ
मांसरस-सेवन में मतभेद	१८३
अनुपान-विधि	,,
नवज्वर में दोषपाचन के लिए त्याज्य आहार	१८४
अन्नपान-क्रम का उपसंहार	,,
ज्वरनाशक विविध कषाय	
ज्वरनाशक कषाय	१८४
विषमज्वर-नाशक पाँच कषाय	१८६
ज्वरनाशक वत्सकादि कषाय	,,
मधूकादि शीतकषाय	१८७
ज्वरनाशक जात्यादि कषाय	,,
पित्तकफज्वर में त्रिफलादि क्वाथ	,,
सन्निपातज्वर-नाशक बृहत्यादि क्वाथ	,,
सन्निपातज्वर-नाशक शट्यादि वर्ग	,,
सन्निपातज्वर-नाशक बृहत्यादिगण	१८८
वैद्य को तन्त्रकार का परामर्श	,,
ज्वर में घृत-प्रयोग	,,
घृत-प्रयोग की उपयोगिता	,,
सघृत कषाय-प्रयोग	१८९
पिप्पल्यादि घृत	,,
जीर्णज्वर में वासादि घृत	१९०
ज्वरहर बलादि घृत	,,
ज्वर में संशोधन-विधान	१९१
वमनकारक द्रव्य	,,
विरेचनकारक द्रव्य	१९२
पञ्चमूलसिद्धपयःपान	,,
एरण्डमूलादि क्षीरपाक	१९३
त्रिकण्टकादि क्षीरपाक	,,
नागरादि क्षीरपाक	,,
वात-पित्तज्वर में दुग्धपान	,,
जीर्णज्वर में दुग्धपान का महत्त्व	,,
ज्वर में वस्तियों का प्रयोग	,,
पटोलादि निरूहवस्ति	,,
आरग्वधादि निरूहवस्ति	१९४
गुडूच्यादि निरूहवस्ति	,,
जीवन्त्यादि अनुवासनवस्ति	१९५
पटोलादि अनुवासनवस्ति	,,
चन्दनादि अनुवासनवस्ति	,,
ज्वर में शिरोविरेचन	,,
ज्वर में धूमवर्ति का प्रयोग	१९६
ज्वर में अभ्यंगादि का प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
दाहज्वर में कर्तव्य	१९६
चन्दनादि तैल	१९७
ज्वर में शीतोपचार	१९८
ज्वर में अन्य शीतोपचार	,,
ज्वर में सुवर्ण आदि का स्पर्श	१९९
अन्य शीतोपचार	,,
शीतोपचार का उपसंहार	२००
अगुर्वादि तैल	२०१
ज्वर में स्वेदन-चिकित्सा	२०२
शीतज्वर में कुटी आदि स्वेदन प्रकार	,,
शीतज्वर में सुखद उपचार	,,
वातकफनाशक स्वेदन	,,
ज्वर में लंघन का निषेध	२०३
ज्वर में अग्निमान्ध का कारण	,,
अग्निमान्ध में कर्तव्य	,,
निरामज्वर का समय	,,
ज्वर में गुरु आहार का निषेध	२०४
वातज्वर में गुरु आहार निषिद्ध	,,
वातज्वर में अभ्यंग आदि प्रयोग	,,
वातज्वर में जीर्णज्वर-चिकित्सा	,,
कफप्रधान ज्वर में कर्तव्य	२०५
यथायोग्य लंघन-व्यवस्था	,,
वमन-विरेचन-वस्ति-चिकित्सा	,,
द्वन्द्वज ज्वर-चिकित्सा	२०६
सन्निपातज्वर-चिकित्सासूत्र	,,
सन्निपातज्वर में उपद्रव	२०७
कर्णमूलशोथ-चिकित्सा	२०८
ज्वर में रक्तमोक्षण	,,
ज्वर में घृतपान	२०९
जीर्णज्वर की सम्प्राप्ति तथा चिकित्सासूत्र	,,
विषमज्वर का चिकित्सासूत्र	,,
वातप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा	,,
पित्तप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा	२१०
कफप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा	,,
विषमज्वर-नाशक योग	,,
विषमज्वर में सुरा आदि का प्रयोग	,,
विषमज्वर में पेय पदार्थ	,,
विषमज्वर में विशेष योग	,,
विषमज्वर में वमन-प्रयोग	,,
ज्वरवेगकालिक कर्तव्य	२११

विषय	पृष्ठ
विषमज्वर-नाशक योग	२११
अन्य योग	,,
विषमज्वर में आहार	,,
विषमज्वर में नस्य	,,
विषमज्वर में अंजन	२१२-१३
विषमज्वर में धूपन	२१३
अन्य चिकित्सा-सूत्र	२१४
विषमज्वर में दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा	,,
दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा	,,
धातुगत ज्वरों की चिकित्सा	,,
आगन्तुज ज्वरों की चिकित्सा	,,
ज्वर की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा	,,
ज्वर मुक्त होते समय के लक्षण	२१५
ज्वर की दारुणमोक्ष स्थिति	,,
ज्वर की अदारुणमोक्ष स्थिति	,,
ज्वररहित पुरुष के लक्षण	२१६
ज्वर तथा ज्वरमुक्त होने पर अपथ्य	,,
ज्वरमुक्ति के बाद कर्तव्य	,,
पुनरावर्तक ज्वर के कारण	२१७
पुनरावर्तक ज्वर के अन्य कारण	,,
अन्य रोगों में भी पुनरावर्तकता	,,
पुनरावर्तक ज्वर की चिकित्सा	,,
अभ्यंगादि का प्रयोग	,,
अन्य उपचार	२१८
किराततिक्तकादि क्वाथ	,,
सामान्य सिद्धान्त	,,
ज्वर-चिकित्सा में सावधानी	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(४) रक्तपित्तचिकित्साध्याय	**२२०-२४२**
रक्तपित्त चर्चा का स्थल	२२०
रक्तपित्त की शीघ्रकारिता	,,
रक्तपित्त के कारण	,,
रक्तपित्त की सम्प्राप्ति	२२१
रक्तपित्त की परिभाषा	,,
दूसरी परिभाषा	,,
कफज रक्तपित्त के लक्षण	२२२
पित्तज रक्तपित्त के लक्षण	,,
रक्तपित्त की साध्यतासाध्यता	,,
रक्तपित्त की गतियाँ	२२३
नौ गतियों का विशद वर्णन	,,

विषय	पृष्ठ
रक्तपित्त की असाध्य अवस्था	२२४
रक्तपित्त की याप्य अवस्था	,,
रक्तपित्त की साध्यता	,,
ऊर्ध्वग, अधोग रक्तपित्त के हेतु	,,
रक्तपित्त में दोषों का संसर्ग	२२५
रक्तपित्त का चिकित्सा-क्रम	,,
दुष्टरक्तस्तम्भन-जनित रोग	,,
आरम्भ में रक्तस्राव की उपेक्षा	२२६
रक्तपित्त में लंघन	,,
रक्तपित्त में लंघन तथा तर्पण	,,
रक्तपित्त में ह्रीवेरादि पानीय	,,
रक्तपित्त में तर्पण-पेया-प्रयोग	,,
खर्जूरादि तर्पण	२२७
लाज-तर्पण	,,
अम्ल-तर्पण-प्रयोग	,,
रक्तपित्त रोगी के आहार	,,
रक्तपित्त रोगी के लिए दालें	२२८
रक्तपित्त रोगी के लिए शाक	,,
रक्तपित्त में हितकर मांस	,,
दोषानुसार पथ्य	,,
रक्तपित्त में पेया-प्रयोग	२२९
रक्तपित्त में यवागू	,,
रक्तपित्त में मांसरस-प्रयोग	२३०
रक्तपित्त में जलदान-विधि	२३१
रक्तपित्त में निदान-परिवर्जन	,,
सबल रोगियों के कर्तव्य की प्रस्तावना	,,
रक्तपित्त में वमन-विरेचन	,,
रक्तपित्त में विरेचक द्रव्य	२३२
रक्तपित्त में वामक द्रव्य	,,
संशोधन के पश्चात् कर्म	,,
संशमन-चिकित्सा	,,
अटरूषकादि क्वाथ	२३३
पद्मकादि क्वाथ	,,
रक्तपित्तशामक योग	,,
रक्तपित्त में रक्त का प्रयोग	,,
रक्तपित्तनाशक उशीरादि चूर्ण	,,
किराततिक्तादि चूर्ण	२३४
उक्त योगों का विधि-निर्देश	,,
प्रवृद्ध रक्तपित्त-चिकित्सा	२३५
रक्तपित्तशामक योग	,,

विषय	पृष्ठ
रक्तातियोग में उशीरादि पेय	२३६
प्रियङ्ग्वादि पेय	,,
वातानुबन्धज रक्तपित्त में कर्तव्य	,,
द्राक्षादि पाँच योग	,,
मूत्रपथ-प्रवृत्त रक्तपित्त-चिकित्सा	२३७
गुदमार्गगत रक्तपित्त-चिकित्सा	,,
अन्य चिकित्सा	,,
वासाघृत	,,
अन्य पाँच घृतयोग	२३८
रक्तपित्त में अभ्यंगादि योग	,,
रक्तपित्त में क्षार-प्रयोग	,,
कतिपय अन्य क्षार	२३९
शतावर्यादि घृत	,,
नासागत रक्तपित्त की चिकित्सा	,,
रक्तनिरोधज व्याधियाँ	२४०
रक्तपित्त में अवपीड-नस्य	,,
अवपीड के अन्य योग	,,
प्रदेह-परिषेचनोपयोगी द्रव्य	२४१
रक्तपित्त में शीतल द्रव्य-प्रयोग	,,
दाह-शान्ति के अन्य-विधान	,,
वराङ्गनाओं का आलिङ्गन	,,
रक्तपित्त में मनोनुकूल चर्या	२४२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(५) गुल्मचिकित्साध्याय	**२४३-२७८**
गुल्मरोग की प्रस्तावना	२४३
गुल्मरोग का निदान	,,
गुल्मरोग की सम्प्राप्ति	२४४
गुल्म के पाँच स्थान	,,
वातज गुल्म का निदान	,,
वातज गुल्म के रूप	२४५
पित्तज गुल्म का निदान	,,
पित्तज गुल्म के रूप	,,
कफज गुल्म का निदान	२४६
सन्निपातज गुल्म का निदान	,,
कफज गुल्म के रूप	,,
द्वन्द्वज गुल्म के लक्षण	,,
त्रिदोषज गुल्म की असाध्यता	,,
रक्तगुल्म का निदान	२४७
रक्तगुल्म के रूप	,,
गुल्म-चिकित्सा की प्रस्तावना	२४८

विषय	पृष्ठ
वातज गुल्म-चिकित्सा	
सिद्धान्त-निर्देश	२४८
गुल्म में स्वेदन-विधि	,,
स्वेदन की फलश्रुति	,,
गुल्म में स्नेह तथा वस्ति-प्रयोग	,,
वातज गुल्म में बृंहण-चिकित्सा	२४९
वातज गुल्म में चिकित्सा	,,
गुल्म में वातरक्षा का प्रयत्न	,,
वातगुल्म में कफवृद्धि पर वमन	,,
वातगुल्म में वर्ति आदि का प्रयोग	२५०
वातगुल्म में विरेचन	,,
गुल्मरोग में रक्तमोक्षण	,,
पित्तज गुल्म-चिकित्सा	
चिकित्सा-क्रम-निर्देश	२५०
पित्तज गुल्म में क्षीर वस्ति	,,
गुल्म में तिल्वक घृत	२५१
पित्तज गुल्म में रक्तमोक्षण	,,
गुल्म में रक्तमोक्षण	,,
रक्तमोक्षण में पश्चात् कर्म	२५२
गुल्म में शस्त्र-चिकित्सा	,,
अपक्व गुल्म के लक्षण	,,
पच्यमान गुल्म के लक्षण	,,
पक्व गुल्म के लक्षण	२५३
पक्व गुल्म की चिकित्सा	२५४
पच्यमान गुल्म के लक्षण	,,
पक्व गुल्म के लक्षण	,,
पक्व गुल्म-चिकित्सा	,,
कफज गुल्म-चिकित्सा	
कफज गुल्म में लंघन	२५५
वमन योग्य गुल्म रोगी	,,
गुल्म में उष्णोपचार	,,
कफज गुल्म में विलयन-क्रिया	,,
कफज गुल्म में घृतपान	२५६
कफज गुल्म में विरेचन तथा वस्ति-प्रयोग	,,
कफज गुल्म में गुटिकादि प्रयोग	,,
कफज गुल्म में क्षारादि प्रयोग	,,
क्षार-प्रयोग-विधि	,,
क्षार-प्रयोग-प्रकार	२५७
क्षार-परिभाषा	,,

विषय	पृष्ठ
कफज गुल्म में अरिष्ट-प्रयोग	२५७
कफज गुल्म में दाह-कर्म	,,
दाहकर्म से लाभ	,,
दाहादि में विशेषज्ञों का महत्त्व	२५८
सन्निपातज गुल्म-चिकित्सा	,,
गुल्मनाशक योग	
गुल्मनाशक योगों का प्रारम्भ	२५८
वातज गुल्म में त्र्यूषणादि घृत	,,
दूसरा त्र्यूषणादि घृत	२५९
षट्पल घृत	,,
वातगुल्मनाशक घृत	,,
हिङ्गुसौवर्चलादि घृत	,,
हपुषादि घृत	२६०
पिप्पल्यादि घृत	,,
उक्त द्रव्यों से चूर्ण आदि का निर्माण	२६१
गुल्मरोग में अनुपान	,,
मातुलुङ्ग रस-प्रयोग	,,
हिंग्वादि चूर्ण या गोली	,,
वातगुल्म पीड़ाहर योग	२६२
शट्यादि चूर्ण या गोली	,,
नागरादि योग	,,
वातगुल्म में एरण्ड तैल	,,
लशुनक्षीर	२६३
तैलपञ्चक	,,
वातगुल्म में शिलाजीत	,,
वातगुल्म में वाट्यादि योग	२६४
वातगुल्म में स्वेद-प्रयोग	,,
गुल्म में वस्ति-कर्म	,,
पुनः पुनः वस्ति-प्रयोग	,,
वातगुल्म में तेलों का महत्त्व	,,
वातगुल्म में नीलिनी का प्रयोग	,,
नीलिनी घृत	२६५
नीलिन्यादि घृत	,,
वातगुल्म में मांसरस आदि	,,
वातगुल्म में उष्ण, स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग	,,
गुल्म के वृद्धि-क्षय में अग्नि का सम्बन्ध	२६६
गुल्म में सर्वप्रथम स्नेहन-स्वेदन	,,
पित्तज गुल्म की चिकित्सा	,,
रोहिण्यादि घृत	,,

विषय	पृष्ठ
त्रायमाणादि घृत	२६७
आमलकादि घृत	,,
द्राक्षादि घृत	,,
वासाघृत	२६८
गुल्म में त्रायमाणा प्रयोग	,,
पित्तज गुल्म में विरेचन	,,
पित्तज गुल्म में अभ्यंग	,,
पित्तज गुल्म में वस्ति-प्रयोग	२६९
पित्तज गुल्म में भोज्य पदार्थ	,,
पित्तज गुल्म में लंघन	,,
गुल्म में अग्निरक्षा का महत्त्व	,,
कफज गुल्म की चिकित्सा	,,
कफज गुल्म में स्वेदन	२७१
दशमूली घृत	,,
भल्लातकादि घृत	,,
क्षीरषट्पलक घृत	२७२
मिश्रक स्नेह	,,
विरेचनार्थ नीलिनी घृत	२७३
कफज गुल्म में त्रिवृता-प्रयोग	,,
दन्ती-हरीतकी	,,
कफज गुल्म में चिकित्सा-संकेत	२७४
कफज गुल्म में चूर्णादि प्रयोग	,,
गुल्मरोग में पथ्य	,,
कफज गुल्म में पेय	२७५
असाध्य गुल्म के लक्षण	,,
रक्तज गुल्म की चिकित्सा	
रक्तगुल्म में स्नेह-विरेचन	२७५
रक्तगुल्म में क्षार-प्रयोग	२७६
रक्तगुल्म में योनि-शोधन	,,
योनिशोधन के अन्य योग	,,
रक्तगुल्म-नाशक प्रयोग	२७७
वातज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र	,,
पित्तज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र	२७८
कफज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र	,,
रक्तज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र	,,
अध्याय का उपसंहार	,,
(६) प्रमेहचिकित्साध्याय	**२७८-२९८**
प्रमेह की प्रस्तावना	२७९
कफज प्रमेह का निदान	,,

विषय	पृष्ठ
कफज प्रमेह की सम्प्राप्ति	२८०
पित्तज प्रमेह की सम्प्राप्ति	,,
वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति	,,
प्रमेहों की सामान्य सम्प्राप्ति	,,
प्रमेहों की साध्यासाध्यता	,,
प्रमेह के दोष-दूष्य	२८१
दस कफज प्रमेह	२८२
छः पित्तज प्रमेह	२८३
चार वातज प्रमेह	२८४
मूत्र के वर्णादि का दोषों से सम्बन्ध	२८५
प्रमेह के पूर्वरूप	,,
प्रमेह का चिकित्सा-सूत्र	२८६
अन्य चिकित्सा-सूत्र	,,
सन्तर्पण-प्रयोग में हेतु	,,
संशमन-चिकित्सा-निर्देश	२८७
प्रमेह में मांसरस-प्रयोग	,,
प्रमेह रोग में आहार	,,
प्रमेह में सन्तर्पण-प्रयोग	२८८
प्रमेह रोग में पथ्य	,,
प्रमेह रोग में अन्य पथ्य	,,
संतर्पण-संशमन का उपसंहार	,,
प्रमेहनाशक सामान्य योग	२८९
कफज प्रमेह-हर दस योग	,,
पित्तज प्रमेह-हर दस योग	,,
उक्त योगों का निष्कर्ष	२९०
प्रमेहों में सिद्धस्नेह-प्रयोग	,,
कफ-पित्तज प्रमेह-चिकित्सा	,,
कफ-पित्तज प्रमेह में अन्य योग	,,
वातज प्रमेह में स्नेह-प्रयोग	,,
त्रिकण्टकादि स्नेह	२९१
फलत्रिकादि क्वाथ	,,
मध्वासव या लोध्रासव	२९२
दन्त्यासव	,,
भल्लातकासव	,,
प्रमेह में विविध उदक पान	२९३
सन्तर्पणजनित प्रमेह-चिकित्सा	,,
प्रमेह में यव-प्रयोग	,,
प्रमेहरोग में विशेष विधि	,,
प्रमेह में व्यायामादि प्रयोग	,,
प्रमेह में अपतर्पण-प्रयोग	२९४

विषय	पृष्ठ
चिकित्स्य वातज प्रमेह	२९४
प्रमेह में निदान-परिवर्जन	,,
प्रमेह और रक्तपित्त में भेद	,,
प्रमेह का सापेक्ष निदान	२९५
प्रमेहों की साध्यासाध्यता	,,
असाध्य कुलज विकार	२९६
प्रमेहज पिडिका-चिकित्सा	,,
अध्याय का उपसंहार	,,
(७) कुष्ठचिकित्साध्याय	**२९९-३३८**
विषय-प्रस्तावना	३००
कुष्ठरोग का निदान	,,
कुष्ठरोग की सम्प्राप्ति	३०१
कुष्ठरोग के पूर्वरूप	३०२
अठारह कुष्ठों का वर्णन	,,
कपालकुष्ठ का लक्षण	३०३
औदुम्बरकुष्ठ का लक्षण	,,
मण्डलकुष्ठ का लक्षण	३०४
ऋष्यजिह्व कुष्ठ का लक्षण	,,
पुण्डरीक कुष्ठ का लक्षण	,,
सिध्मकुष्ठ का लक्षण	,,
काकणक कुष्ठ का लक्षण	३०५
एककुष्ठ का लक्षण	,,
कुष्ठों में दोषों की प्रधानता	३०६
कुष्ठ तथा त्रिदोष-विचार	,,
कुष्ठ एवं दोष परस्पर परिचायक	,,
कुष्ठों में दोषों के लक्षण	३०७
कुष्ठ की तीन स्थितियाँ	,,
कुष्ठों का चिकित्सा-क्रम	,,
कुष्ठ में वमन-विरेचन	३०८
कुष्ठ में संशोधन	,,
कुष्ठरोग में स्नेहपान	,,
कुष्ठरोग में वामक द्रव्य	,,
कुष्ठरोग में विरेचक द्रव्य	३०९
विरेचनों के आलोडन द्रव	,,
कुष्ठ में आस्थापनवस्ति	,,
वातज कुष्ठ में अनुवासन	३१०
कुष्ठरोग में नस्य-प्रयोग	,,
कुष्ठ में धूमपान	,,
कुष्ठ में रक्तमोक्षण	,,
कुष्ठ में लेप-प्रयोग	३११

विषय	पृष्ठ
कुष्ठ में क्षार-प्रयोग	३११
कुष्ठ में अगद-प्रयोग	,,
कुष्ठ में प्रदेह-प्रयोग	,,
कुष्ठ में संशमन-प्रयोग	३१२
पित्तज कुष्ठ की चिकित्सा	,,
कुष्ठनाशक योग	,,
पटोलादि कषाय	३१३
मुस्तादि चूर्ण	,,
त्रिफलादि चूर्ण	३१४
कुष्ठ में गन्धक-प्रयोग	,,
कुष्ठ में शिलाजतु-प्रयोग	३१५
मध्वासव	,,
कनकबिन्दु अरिष्ट	३१६
कनकबिन्दु की फलश्रुति	,,
त्रिफलासव	३१७
कुष्ठ में पथ्य-अपथ्य	,,
कुष्ठनाशक लेप	,,
चित्रकादि लेप	३१८
मांस्यादि लेप	,,
त्रप्वादि लेप	,,
कुष्ठ में विशेष योग	,,
सिद्धार्थक स्नान	,,
कुष्ठादि लेप	३१९
कुष्ठनाशक लेप	,,
कुष्ठ में उबटन और लेप	,,
कुष्ठहर चार लेप	,,
कुष्ठहर आठ योग	३२०
त्रिफलादि कषाय	,,
कुष्ठादि तैल	,,
श्वेतकरवीरादि तैल	३२१
श्वेतकरवीरपल्लवादि तैल	,,
तिक्तेक्ष्वाक्वादि तैल	,,
कनकक्षीरी तैल	३२२
सिध्मकुष्ठ में लेप	,,
कुष्ठ में तैल-प्रयोग	३२३
विपादिकाहर घृत-तैल	,,
मण्डलकुष्ठनाशक दो लेप	,,
मण्डलकुष्ठ में तीसरा लेप	,,
वात-कफकुष्ठहर छः योग	३२४
एडगजादि लेप	,,

विषय	पृष्ठ
सिध्मनाशक तीन योग	३२४
कुष्ठ में स्नान-पान आदि	,,
पित्तज, कफज कुष्ठहर लेप	३२५
पित्तज कुष्ठहर क्वाथ	,,
पित्तज कुष्ठ में आलेपन	,,
कुष्ठ में दाहहर अभ्यंग	,,
विस्फोटक, चर्मदल-चिकित्सा	,,
कुष्ठ में विविध घृतयोग	३२६
त्रिफलादि योग	,,
तिक्तषट्पलक घृत	३२७
महातिक्तक घृत	३२८
कुष्ठ का साध्यासाध्य विचार	३२९
महाखदिरघृत	,,
गलित कुष्ठ में व्यवस्था	,,
कुष्ठ में स्नान, पान, लेप	३३०
कुष्ठ में खदिर विडंग योग	,,
कुष्ठनाशक लेप	,,
कुष्ठहर दूसरा योग	,,
श्वित्रकुष्ठ-चिकित्सा-प्रकरण	
श्वेतकुष्ठ में मलपूरस	३३१
श्वित्र में अन्य योग	,,
श्वित्र में अन्य योग	३३२
मनःशिलादि लेप	,,
श्वेतकुष्ठ में दो लेप	,,
किलाशनाशक योग	,,
श्वित्ररोग की कष्टसाध्यता	,,
किलासकुष्ठ के दो भेद	३३३
त्रिविध श्वित्र का वर्णन	,,
असाध्य श्वित्ररोग	३३४
साध्य श्वित्ररोग के लक्षण	,,
किलास-निदान	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	३३५
(८) राजयक्ष्मचिकित्साध्याय	**३३८-३७४**
यक्ष्मा की प्रथमोत्पत्ति	३३९
यक्ष्मोत्पत्ति की कथा	,,
चन्द्रमा द्वारा क्षमा-प्रार्थना	,,
अश्विनीकुमारों द्वारा चिकित्सा	३४०
यक्ष्मा के पर्याय	,,
यक्ष्मा का भूलोक में आगमन	,,

विषय	पृष्ठ
यक्ष्मा के चार कारण	३४०
यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	३४१
वेगसन्धारणज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	३४२
धातुक्षयज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	,,
विषमाशनज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	३४३
राजयक्ष्मा के पूर्वरूप	३४४
राजयक्ष्मा के रूप तथा चिकित्सा	३४६
यक्ष्मा की सामान्य सम्प्राप्ति	,,
राजयक्ष्मा में मलरक्षा-विधान	,,
राजयक्ष्मा का अन्य प्रकार	३४७
राजयक्ष्मा के ग्यारह रूप	,,
राजयक्ष्मा के छः रूप	,,
यक्ष्मा का साध्यासाध्य विचार	३४८
यक्ष्मा में प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति	,,
प्रतिश्याय के रूप	,,
यक्ष्मा रोगी का थूक	३४९
यक्ष्मा का सामान्य लक्षण	,,
यक्ष्मा में स्वरभेद की सम्प्राप्ति	,,
यक्ष्मा में रक्तष्ठीवन का कारण	३५०
यक्ष्मा में रक्तवमन का कारण	,,
यक्ष्मा में श्वास का कारण	,,
यक्ष्मा में अरुचि का कारण	३५१
यक्ष्मा में वमन का कारण	,,
यक्ष्मा रोग की चिकित्सा	,,
यक्ष्मा के कारणों की चिकित्सा-प्रस्तावना	,,
पीनस-चिकित्सा	३५२
यक्ष्मा में मांस-प्रयोग	,,
यक्ष्मा मे बकरे का मांसरस	,,
यक्ष्मा रोग में पथ्य	३५३
यक्ष्मा में पेय पदार्थ निर्देश	,,
यक्ष्मा में संकरस्वेद	,,
यक्ष्मा में परिषेकस्वेद	,,
यक्ष्मा में नाड़ीस्वेद	३५४
यक्ष्मा में उपनाहस्वेद	,,
यक्ष्मा में आलेपन	,,
यक्ष्मा में चार प्रदेह	३५५
यक्ष्मा में नस्य आदि प्रयोग	,,
यक्ष्मा में पद्मकादि प्रदेह	,,
यक्ष्मा में प्रपौण्डरीकादि प्रलेप	,,
दाह में अभ्यंग तथा परिषेक	३५६

विषय	पृष्ठ
यक्ष्मा में वमन-विरेचन	३५६
यक्ष्मा में सिद्धयोग-प्रयोग	,,
राजयक्ष्मा में नस्य	३५७
यक्ष्मा में अन्य नस्य योग	,,
यक्ष्मा में घृतपान	,,
दशमूलादि घृत	,,
यक्ष्मा में घृतपाक	३५८
यक्ष्मा में स्नेहोपदेश-प्रस्तावना	,,
यक्ष्मा में खर्जूरादि घृत	,,
दशमूलघृत	३५९
पञ्च पञ्चमूलघृत	,,
यक्ष्मानाशक लेह	३६०
सितोपलादि चूर्ण	,,
वसाघृत, शतावरीघृत-प्रयोग	,,
दुरालभादि घृत	३६१
जीवन्त्यादि घृत	,,
बलादि क्षीर	,,
यक्ष्मारोग में पथ्य	३६२
यक्ष्मा में ज्वर-चिकित्सा	,,
यक्ष्मा में कफप्रसेक-चिकित्सा	,,
यक्ष्मा में कफनाशक आहार	३६३
कफप्रसेक की चिकित्सा	,,
यक्ष्मा में वमन-चिकित्सा	,,
यक्ष्मा में अतिसार की सम्प्राप्ति	,,
अतिसार-चिकित्सा-सूत्र	,,
अतिसार में यवागू आदि प्रयोग	,,
यक्ष्मा में पाठादि चूर्ण	,,
जम्ब्वादि चूर्ण	,,
खडयूष-विधान	३६४
यक्ष्मा-जनित अतिसार में खडयूष	,,
यक्ष्मा में मांस-प्रयोग	,,
यक्ष्मा में पेय द्रव	,,
रुचि उत्पादक योग-निर्देश	३६५
मुखविरसतानाशक योग	,,
मुखविरसतानाशक पाँच योग	,,
मुखविरसतानाशक कवल	,,
यवानीषाडव चूर्ण	३६६
तालीशादि चूर्ण-गुटिका	,,
यक्ष्मा में मांस-प्रयोग	,,
यक्ष्मा में विभिन्न मांसों का प्रयोग	३६७

विषय	पृष्ठ
यक्ष्मा में जुगुप्सा से मांस-प्रयोग	३६७
यक्ष्मी के लिए उत्तम मांस	३६८
मांसों की अष्टविध योनियाँ	,,
वातशोषी के लिए मांस	,,
कफ-पित्तप्रधान यक्ष्मा में मांस	,,
मांसपाक की विशेष विधि	,,
यक्ष्मा में मद्य-प्रयोग	,,
किस पर यक्ष्मा का आक्रमण नहीं होता	,,
यक्ष्मा में विविध मद्य	३६९
मद्य के गुण	,,
यक्ष्मा से मांसरस-सिद्ध घृत	,,
दशमूलादि घृत	,,
पञ्चकोलादि घृत	,,
रास्नादि घृत	३७०
अन्नपान-विधि का उपसंहार	,,
बहिःस्पर्शन विधि	,,
यक्ष्मा में अवगाहन	,,
यक्ष्मा में मर्दन-उत्सादन	,,
उत्सादनार्थ औषध-द्रव्य	३७१
यक्ष्मा में स्नानार्थ जल	,,
यक्ष्मा में पान-भोजन	,,
यक्ष्मा में पथ्यतम पदार्थ	३७२
यक्ष्मा में पथ्य-विचार	,,
यक्ष्मा-चिकित्सा का उपसंहार	,,
यक्ष्मा में दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३७३
(९) उन्मादचिकित्साध्याय	**३७४-४०४**
उन्माद रोग सम्बन्धी प्रश्न	३७४
उन्माद रोग के कारण	३७५
उन्माद रोग की सम्प्राप्ति	,,
उन्माद का सामान्य लक्षण	३७६
उन्माद में चित्त-विभ्रम	३७७
उन्माद के दो भेद	,,
उन्माद के पाँच भेद	,,
वातज उन्माद : हेतु तथा सम्प्राप्ति	,,
वातज उन्माद के लक्षण	,,
पित्तज उन्माद : हेतु तथा सम्प्राप्ति	३७८
पित्तज उन्माद के लक्षण	,,
कफज उन्माद : हेतु तथा सम्प्राप्ति	,,
कफज उन्माद के लक्षण	३७९

विषय	पृष्ठ
सन्निपातज उन्माद	३७९
आगन्तुज उन्माद के कारण	,,
भूतोन्माद के लक्षण	,,
भूतोन्माद में देवादि का प्रवेश	३८०
देवता आदि का आवेशकाल	,,
देवोन्मत्त के लक्षण	,,
गुरु आदि के शाप से उन्मत्त के लक्षण	३८१
पितृगृहोन्मत्त के लक्षण	,,
गन्धर्वोन्मत्त के लक्षण	,,
यक्षोन्मत्त रोगी का लक्षण	३८२
राक्षसोन्मत्त रोगी का लक्षण	,,
ब्रह्मराक्षसोन्मत्त रोगी का लक्षण	,,
पिशाचोन्मत्त रोगी का लक्षण	,,
देवादि ग्रहों का आवेशकाल तथा गम्य पुरुष	३८४
भूतोन्माद की असाध्य अवस्था	३८६
रति-अर्चना के अनुसार चिकित्सा	३८७
चिकित्सा-प्रस्तावना	,,
वातज उन्माद-चिकित्सा	,,
पित्तज, कफज उन्माद-चिकित्सा	३८८
वस्ति-प्रयोग आदि चिकित्सा	,,
उन्माद में वमनादि प्रयोग का फल	,,
उन्माद में अञ्जन प्रयोग	,,
उद्वेजक प्रयोग	३८९
संज्ञादि प्रबोधन-प्रयोग	३९०
आगन्तुक उन्माद-चिकित्सा की प्रस्तावना	,,
हिंगु आदि घृत-प्रयोग	,,
कल्याणक घृत	३९१
महाकल्याणक घृत	,,
महापैशाचिक घृत	३९२
लशुनादि घृत	३९३
द्वितीय लशुनादि घृत	३९४
अन्य घृत योग	,,
उन्माद में पुराने घी का प्रयोग	३९५
पुराने घृतों का निश्चय	,,
उन्माद में अञ्जनादि प्रयोग	३९६
उन्माद में नस्य तथा अञ्जन	,,
अन्य प्रयोग	,,
मरिचाञ्जन-प्रयोग	३९७
सिद्धार्थक अगद	,,
सिद्धार्थक घृत	३९८

विषय	पृष्ठ
धूमपान-प्रयोग	३९८
वातज, कफज उन्माद-चिकित्सा	३९९
पित्तज उन्माद-चिकित्सा	,,
उन्माद में शिरामोक्षण	,,
उन्माद में घृत-मांस-प्रयोग	४००
उन्माद में आश्वासनादि प्रयोग	,,
उन्माद रोगी को त्रास देना	४०१
उन्माद में ताड़न-प्रयोग	,,
उन्माद में भय-प्रयोग	,,
उन्माद रोगी को त्रास देना	,,
उन्माद में ताडनादि का हेतु	,,
सान्त्वना आदि का प्रयोग	४०२
परस्पर विरोधी भावों द्वारा चिकित्सा	,,
भूतज, दोषज उन्माद-चिकित्सा-सूत्र	४०३
भूतोन्माद में ताडन आदि का निषेध	,,
भूतोन्माद की दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा	,,
उन्माद में रुद्रगणों की पूजा	,,
आगन्तुज उन्माद-चिकित्सा	,,
उन्माद-अपस्मार में चिकित्सा-साम्य	४०४
उन्माद में हित सेवन	,,
उन्मादरोग-मुक्त का लक्षण	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(१०) अपस्मारचिकित्साध्याय	**४०५-४२०**
अपस्मार की निरुक्ति	४०५
अपस्मार के कारण	४०६
अपस्मार-सम्प्राप्ति का पूर्वरूप	,,
अपस्मार की संख्या-सम्प्राप्ति	४०७
वातज अपस्मार का लक्षण	४०८
पित्तज अपस्मार के लक्षण	,,
कफज अपस्मार के लक्षण	,,
सन्निपातज अपस्मार के लक्षण	४०९
अपस्मार के वेग का काल	,,
अपस्मार का चिकित्सा-सिद्धान्त	४१०
विशेष विधि	,,
अपस्मार में संशमन-निर्देश	,,
पञ्चगव्य घृत	,,
महापञ्चगव्य घृत	४११
ब्राह्मीघृत	,,
अपस्मार-नाशक घृत	४१२
वचादि घृत	,,

विषय	पृष्ठ
अपस्मार में यमकस्नेह	४१२
अन्य घृतयोग	४१३
आमलकादि घृत	,,
अपस्मार में अभ्यंग आदि	,,
कटभ्यादि तैल	,,
पलंकषादि तैल	,,
अपस्मार में धूपन द्रव्य	४१४
अपस्मार में उत्सादनादि	,,
अन्य उत्सादन योग	४१५
अपस्मार में नस्य	,,
अन्य तीन नस्य योग	,,
त्रिफलादि तैल	,,
अपस्मार में प्रधमन नस्य	४१६
कायस्थादि वर्ति	,,
मुस्ताद्यावर्ति	,,
अपस्मार में अञ्जन-धूपन	,,
प्राणिज धूपन-प्रयोग	४१७
उक्त विधियों से लाभ	,,
आगन्तुकानुबन्ध अपस्मार-चिकित्सा	,,
अग्निवेश का अतत्त्वाभिनिवेश-विषयक प्रश्न	
अतत्त्वाभिनिवेश की प्रस्तावना	४१७
अतत्त्वाभिनिवेश के कारण, सम्प्राप्ति तथा लक्षण	,,
अतत्त्वाभिनिवेश की चिकित्सा	४१८
ब्राह्मी का प्रयोग	४१९
अतत्त्वाभिनिवेश में आश्वासन	,,
अतत्त्वाभिनिवेश में विविध प्रयोग	,,
अपस्मार में रसायन-प्रयोग	,,
अपस्मार में रक्षा-विधान	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४२०
(११) क्षतक्षीणचिकित्साध्याय	**४२०-४३६**
क्षतक्षीण चिकित्सा की प्रस्तावना	४२०
उरःक्षत का निदान	४२२
क्षतक्षीण का निदान	४२१
उरःक्षत का पूर्वरूप	४२२
क्षतक्षीण के विशेष लक्षण	४२३
उरःक्षत की साध्यासाध्यता	,,
उरःक्षत की चिकित्सा	,,
उरःक्षत में लाक्षादि क्षीर	४२४
इक्ष्वालिकादि क्षीर	,,
उरःक्षत में यव-प्रयोग	४२४
मधूकादि योग	,,
एलादि गुटिका	,,
रक्तातिप्रवृत्ति में प्रयोग	४२५
रक्तष्ठीवन में कर्तव्य	,,
रक्तष्ठीवन में अन्य योग	,,
उरःक्षत में मूढवात-चिकित्सा	,,
विधिभेद से अजामेद-प्रयोग	४२६
अन्य योग	,,
रक्तमांसवर्धक योग	,,
उरःक्षत, शुक्रक्षय-चिकित्सा	,,
उरःक्षत में घृत-प्रयोग	४२७
कोललाक्षादि घृत	,,
अमृतप्राश घृत	,,
श्वदंष्ट्रादि घृत	४२८
समसक्तुघृत-प्रयोग	४२९
प्रथम सर्पिगुड	,,
द्वितीय सर्पिगुड	४३०
तृतीय सर्पिगुड	४३१
चतुर्थ सर्पिगुड	,,
पञ्चम सर्पिमोदक	४३२
उरःक्षत में कतिपय वृष्य योग	४३३
सैन्धवादि चूर्ण	४३४
पाडव	,,
नागबला कल्प	,,
क्षत-क्षीण में सन्तर्पण	४३५
क्षत-क्षीण की उपेक्षा से यक्ष्मा	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४३६
(१२) श्वयथुचिकित्साध्याय	**४३६-४७०**
अग्निवेश का श्वयथु-विषयक प्रश्न	४३७
महर्षि आत्रेय का उत्तर	,,
निजशोथ के कारण	,,
आगन्तुकशोथ के कारण	४३८
शोथ की सम्प्राप्ति	,,
शोथ के स्थान तथा दोष-सम्बन्ध	४३९
शोथ के पूर्वरूप	,,
शोथ में सामान्य लक्षण	,,
वातज शोथ के लक्षण	४४०
पित्तज शोथ के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
कफज शोथ के लक्षण	४४०
शोथ के असाध्य लक्षण	४४१
साध्य शोथ के लक्षण	,,
शोथ का चिकित्सा-सूत्र	,,
शोथ की सामान्य चिकित्सा	४४२
शोथ रोग में अपथ्य	,,
कफज शोथ की चिकित्सा	४४३
शोथ की अन्य चिकित्सा	४४४
वातज शोथ-चिकित्सा	,,
वातपित्तज शोथ-चिकित्सा	,,
शोथज अतिसार में कर्तव्य	४४५
शोथज विबन्ध में कर्तव्य	,,
गण्डीरादि अरिष्ट	,,
अष्टशत अरिष्ट	४४६
पुनर्नवादि अरिष्ट	४४७
त्रिफलादि अरिष्ट	४४८
कृष्णादि चूर्ण	४४९
क्षारगुडिका	४५०
गुडार्द्रक प्रयोग	,,
शिलाजतु-प्रयोग	४५१
कंसहरीतकी	,,
पटोलमूलादि क्वाथ	४५२
चित्रकादि घृत	४५३
द्वितीय चित्रकादि घृत	,,
चित्रकघृत	,,
जीवन्त्यादि यवागू	४५४
पञ्चकोल यवागू	,,
शोथ रोग में पथ्य	,,
आभ्यन्तरविधि की समाप्ति, बहिर्विधि की प्रस्तावना	४५५
शोथनाशक तैल-प्रदेह	,,
अन्य प्रदेह	,,
पित्तज शोथ में प्रदेह और तैल	४५६
पित्तज शोथ में स्नान-अनुलेपन	,,
कफज शोथ की बाह्य चिकित्सा	,,
शोथ में सामान्य लेप	,,
शोथ में उन्मर्दन, परिषेचन	४५७
शोथों का नामकरण	,,
शिरःशोथ	,,
अन्तर्गलशोथ	,,
विडालिका	४५७
तालुविद्रधि	४५८
गलगण्ड	४५९
सामान्य चिकित्सा-सूत्र	,,
ग्रन्थि रोग का वर्णन	४६०
ग्रन्थिरोग की चिकित्सा	,,
क्षतज विसर्प की चिकित्सा	४६१
ग्रन्थिरोग की असाध्यता	,,
ग्रन्थि-अर्बुद चिकित्सा-सूत्र	४६२
अलजी	,,
विस्फोटक	४६३
कक्षा	,,
रोमान्तिका	,,
मसूरिका	४६४
ब्रध्नया वृद्धि	,,
मूत्रज वृद्धि	,,
मेदोज वृद्धि	,,
सामान्य चिकित्सा-सूत्र	४६५
मूत्रज, मेदोज तथा कफज ब्रध्नरोग की विशेष चिकित्सा	,,
भगन्दर-परिचय	,,
भगन्दर की चिकित्सा	४६६
श्लीपद	४६७
जालकगर्दभ	४६८
जालकगर्दभ की चिकित्सा	४६९
अनुक्त शोथ-चिकित्सासूत्र	,,
आगन्तुक शोथ-निदान	,,
आगन्तुक शोथ-चिकित्सासूत्र	,,
दोष-भेद तथा शरीरावयव-भेद से विचार	४७०
(१३) उदरचिकित्साध्याय	**४७०-५०७**
उदररोग-प्रस्तावना	४७१
उपदेश का आरम्भ	,,
उदररोग की सामान्य सम्प्राप्ति	,,
उदररोग का निदान	४७२
उदररोग के पूर्वरूप	४७३
उदररोग की सम्प्राप्ति	,,
उदररोग का सामान्य लक्षण	,,
उदररोग की संख्या एवं सम्प्राप्ति	४७४
वातोदर के हेतु तथा सम्प्राप्ति	,,
वातोदर के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
पित्तोदर : निदान तथा सम्प्राप्ति	४७५
पित्तोदर के लक्षण	,,
कफोदर : निदान तथा सम्प्राप्ति	,,
कफोदर के लक्षण	,,
सन्निपातोदर : निदान एवं सम्प्राप्ति	४७६
सन्निपातोदर के लक्षण	,,
प्लीहोदर के कारण एवं सम्प्राप्ति	४७७
वृद्धप्लीहा का स्वरूप	,,
प्लीहोदर के लक्षण	,,
बद्धगुदोदर : निदान एवं सम्प्राप्ति	४७८
बद्धगुदोदर के लक्षण	,,
छिद्रोदर के कारण एवं सम्प्राप्ति	४७९
छिद्रोदर के लक्षण	,,
जलोदर के कारण एवं सम्प्राप्ति	,,
जलोदर का लक्षण	४८०
उदररोग-चिकित्सा-निर्देश	४८१
जल-उत्पत्ति के लक्षण	,,
जलोदर के उपद्रव	,,
उदररोगों की कृच्छ्रसाध्यता-असाध्यता	,,
उदररोग के असाध्य लक्षण	४८२
अजातोदक रोग : लक्षण एवं चिकित्सा	,,
वातोदर की चिकित्सा	४८३
उदररोग में शोधन-निर्देश	,,
संशोधन के पश्चात् कर्तव्य	,,
उदररोग में आस्थापनवस्ति	,,
अनुवासन का प्रयोग	४८४
निरूह तथा अनुवासन	,,
अविरेच्य में संशमन-प्रयोग	,,
वातज उदररोग-चिकित्सा	,,
पित्तज उदररोग-चिकित्सा	,,
शोधन के पश्चात् क्षीरपान	४८५
कफज उदररोग-चिकित्सा	,,
सन्निपातोदर-चिकित्सा	४८६
प्लीहोदर में दोष-लक्षण	,,
प्लीहोदर का चिकित्सा-सूत्र	,,
पिप्पल्यादि चूर्ण	४८७
विडङ्गादि क्षार	,,
रोहीतकादि योग	४८८
रोहीतक घृत	,,
वातकफज प्लीहोदर में अग्निकर्म	,,

विषय	पृष्ठ
बद्धोदर-चिकित्सा	४८९
छिद्रोदर-चिकित्सा	,,
जलोदर-चिकित्सा	४९०
उदररोगों में त्रिदोषशामक चिकित्सा	,,
उदररोग में दीपन-चिकित्सा	४९१
उदररोगी के योग्य आहार	,,
उदररोगी के अयोग्य आहार	,,
अन्य पथ्य-निर्देश	,,
सन्निपातज उदररोगी, वातज उदररोगी	,,
पित्तज उदररोगी, कफज उदररोगी,	,,
प्लीहोदर, जलोदर, बद्धोदर, छिद्रोदर रोगी	४९२
उदररोग में दुग्ध-प्रयोग	,,
उदररोग-नाशक लेप	,,
उदररोग में परिषेक	,,
उदररोग में दीपनीय घृत	,,
पञ्चकोलघृत	४९३
नागरादि घृत	,,
चित्रक घृत	४९४
यवादि घृत	,,
उदररोग में विरेचन	,,
पटोलादि चूर्ण	,,
गवाक्ष्यादि चूर्ण	४९५
नारायण चूर्ण	,,
हपुषादि चूर्ण	४९६
नीलिन्यादि चूर्ण	,,
स्नुहीक्षीर घृत	४९७
अन्य स्नुहीक्षीरघृत	,,
शेष दोषनाशक योग	४९८
चित्रकादि योग	,,
विडङ्गादि योग	,,
त्रिफलादि क्वाथ	,,
अन्य प्रकार	४९९
विभिन्न क्षीर-प्रयोग	,,
दूष्योदर-चिकित्सा	,,
वातोदर में तैल-प्रयोग	५००
कफोदर में अरिष्ट-क्षार	,,
पिप्पल्यादि क्षार	,,
क्षारवटिका	५०१
उदररोगहर यवागू	,,
विबन्ध-चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
पार्श्वशूलादि चिकित्सा	५०२
उदररोग में एरण्डतैल	,,
उदररोग में निरूहवस्ति	,,
द्वितीय निरूहवस्ति	५०३
त्रिदोषज उदररोग में विष-प्रयोग	,,
अन्य उपचार	५०४
बद्धोदर-क्षतोदर में शस्त्रकर्म	५०५
जलोदर में शस्त्रकर्म	५०६
उदररोग में दुग्धपान	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५०७
(१४) अर्शश्चिकित्साध्याय	**५०७-५४९**
प्रस्तावना	५०८
अर्श के भेद	,,
सभी अर्शों का क्षेत्र	५०९
सहजार्शों के अंकुर	,,
सहज अर्श के लक्षण	५१०
अर्शों के कारण एवं सम्प्राप्ति	५११
अर्शों के आकार	५१२
वातज अर्श के लक्षण	५१३
वातज अर्शों के कारण	,,
पित्तज अर्श के लक्षण	,,
पित्तज अर्श के कारण	५१४
कफज अर्श के लक्षण	,,
कफज अर्श के कारण	५१५
द्वन्द्वज, सन्निपातज अर्शों के कारण एवं लक्षण	,,
अर्श का पूर्वरूप	५१६
सान्निपातक अर्शों की दोष-भेद-कल्पना	,,
अर्शों में त्रिदोष का प्रकोप	,,
असाध्य अर्शों के लक्षण	५१७
याप्यत्व-प्रत्याख्येयत्व-निर्देश	,,
अर्शों की कृच्छ्र तथा सुखसाध्यता	५१८
अर्शोपचार में सतर्कता	,,
अर्श-चिकित्सा	,,
अर्शों की सुखद चिकित्सा	५१९
अर्श के भेद	,,
शुष्कार्श-चिकित्सा	,,
अर्शों में स्वेदन-प्रयोग	,,
अन्य प्रयोग	५२०
अर्शों में अवगाहन	,,

विषय	पृष्ठ
अर्शों में अभ्यंग तथा धूपन	५२०
तुम्बुर्वादि धूपन, बृहत्यादि धूपन	५२१
वाराहादि विट्धूपन, हस्तिपुरीषादि धूपन	,,
हरिद्राचूर्णादि लेप	,,
उपर्युक्त योगों की फलश्रुति	५२२
रक्तमोक्षण-विधियाँ	,,
त्र्यूषणादि चूर्ण	,,
अन्य व्यवस्था	,,
त्रिवृत्-त्रिफला योग	५२३
अर्शोनाशक योग	,,
चित्रकादि चूर्ण, पञ्चकोल चूर्ण	,,
तक्रारिष्ट	५२४
अर्शोनाशक मठा और दही	,,
तक्र का महत्त्व	५२५
तक्र-प्रयोग की अवधि	,,
तक्र-प्रयोग-विचार	,,
क्रम से तक्र प्रयोग करें	,,
तक्र का प्रभाव क्रम	५२६
शुष्कार्शों में पेया-प्रयोग	,,
खडयूष आदि प्रयोग	,,
यवागू	५२७
यूष	,,
अर्शरोग में पथ्य	,,
विबन्ध-चिकित्सा-प्रस्तावना	,,
अर्शज विबन्ध में कर्तव्य	,,
विबन्धनाशक योग	,,
अनुलोमन	५२८
आर्शोविद्नाहर योग	,,
अन्य अनुलोमन योग	,,
अन्य योग	,,
पिप्पल्यादि घृत	५२९
चव्यादि घृत	,,
पिप्पलीमूलादि घृत	,,
द्वितीय पिप्पल्यादि घृत	,,
चव्यादि घृत	,,
नागरादि घृत	,,
तृतीय पिप्पल्यादि घृत	५३०
अन्य योग	,,
अर्श मांसरस-प्रयोग	५३१
शुष्कार्शों में शाक-प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
शुष्कार्शों में मांस-प्रयोग	५३१
शुष्कार्श में अनुपान	५३२
शुष्कार्श में अनुवासनवस्ति	,,
पिप्पल्यादि अनुवासन	,,
शुष्कार्शों पर लेप	,,
शुष्कार्शों में निरूहवस्ति	५३३
अभयारिष्ट	,,
दन्त्यारिष्ट	,,
प्रथम फलारिष्ट	५३४
द्वितीय फलारिष्ट	,,
कनकारिष्ट	५३५
शुष्कार्श में शौच-विधि	५३६
स्रावी अर्शों की प्रस्तावना	,,
वातानुबन्धी रक्तार्श का लक्षण	,,
कफानुबन्धी रक्तार्श का लक्षण	,,
रक्तार्श का चिकित्सा-सूत्र	५३७
पित्तकफाधिक रक्तार्श-चिकित्सा	,,
रक्त रोकने से होनेवाले रोग	,,
रक्त-संग्रहण-काल	,,
दूषित रक्त का स्राव होने दें	५३८
चिकित्सार्थ तिक्तद्रव्य-प्रयोग	,,
अर्शों में स्नेह-प्रयोग	,,
रक्तस्राव को रोकने का काल	,,
रक्तरोधक योग	,,
कुटजादि रस-क्रिया	५३९
रक्तार्श में विविध योग	५४०
अन्य योग	,,
रक्तार्श में घृत-प्रयोग	,,
कुटजफलादि घृत	,,
अन्य घृतयोग	,,
अन्य योग	,,
रक्तार्श में खड-प्रयोग	५४१
रक्तस्राव में शाक-प्रयोग	,,
रक्तार्श में अन्न-प्रयोग	,,
रक्तार्श में मांस-प्रयोग	,,
रक्तार्श में प्याज का प्रयोग	५४२
रक्तार्श में छागरक्त-प्रयोग	,,
रक्तार्शों में तिलादि प्रयोग	,,
रक्तार्श में अन्य योग	५४३
अर्शों में वात की प्रधानता	,,

विषय	पृष्ठ
अर्शों में विशेष चिकित्सा	५४३
अर्शों में परिषेचन	,,
रक्तार्शों में उष्ण अवगाहन	५४४
शीतल अवगाहन	,,
रक्तार्श में जलधारा-प्रयोग	,,
रक्तार्श में अन्य शीतोपचार	,,
प्रतिसारण लेप	,,
रक्तार्श में विशेष व्यवस्था	५४५
पिच्छावस्ति	,,
रक्तार्श में अनुवासन-विधि	५४६
ह्रीबेरादि घृत	,,
सुनिषण्णक चांगेरीघृत	,,
विशेष परिभाषा	५४७
अर्श में कर्म-वैपरीत्य	,,
अर्शादि में अग्निबल की रक्षा	,,
अर्श में विविध प्रयोग	५४८
अर्शरोग में पथ्य	,,
अर्शरोग में अपथ्य	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(१५) ग्रहणीदोषचिकित्साध्याय ५५०-५९०	
आयु आदि का देहाग्नि से सम्बन्ध	५५०
जठराग्नि की प्रधानता	५५१
आहार के पाचन की व्यवस्था	,,
अन्न-परिपाक से दोषवृद्धि	५५२
प्रिय आहार से लाभ	,,
भूताग्नियों के कार्य	,,
प्रसाद तथा किट्टपाक	५५३
रसादि धातुओं का उत्पत्ति-क्रम	५५४
उपधातु	,,
धातुओं के मल	,,
वृष्य आहारों का प्रभाव	५५५
अग्निवेश के प्रश्न	५५६
आत्रेय पुनर्वसु के उत्तर	,,
मांसादि धातुओं की उत्पत्ति	५५७
व्यानवायु के कार्य	५५८
पाचकाग्नि की प्रधानता	,,
ग्रहणीरोग की उत्पत्ति	५५९
अजीर्ण : सामान्य निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
अजीर्ण का सामान्य लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
चार प्रकार की अग्नियाँ	५६०
ग्रहणीरोग का स्वरूप	,,
ग्रहणीरोग के लक्षण	५६१
ग्रहणी के पूर्वरूप	,,
ग्रहणी का स्थान, निरुक्ति तथा कर्म	,,
ग्रहणीरोग के भेद	,,
वातज ग्रहणी : निदान एवं सम्प्राप्ति	५६२
वातज ग्रहणी के लक्षण	,,
पित्तज ग्रहणी : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
पित्तज ग्रहणी के लक्षण	,,
कफज ग्रहणी : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
कफज ग्रहणी के लक्षण	५६३
ग्रहणीरोग में तीन अग्नियाँ कारण	,,
त्रिदोषज ग्रहणी के लक्षण	,,
सामग्रहणी-लक्षण, चिकित्सा	५६४
ग्रहणीरोग का चिकित्सा-सूत्र	,,
पञ्चकोलादि पेया	,,
वातज ग्रहणी-चिकित्सा	,,
वातज ग्रहणी में घृत-प्रयोग	५६५
वातज ग्रहणी में विरेचन	,,
वातज ग्रहणी में अनुवासनवस्ति	,,
वातज ग्रहणी में घृत-प्रयोग	,,
दशमूलादि घृत	,,
त्र्यूषणादि घृत	५६६
पञ्चमूलादि घृत	,,
पञ्चमूलादि चूर्ण	५६७
आम-पक्व पुरीष-परीक्षा	,,
साम-निराम मल-चिकित्सा	,,
चित्रकादि गुटिका	५६८
आमपाचन योग	,,
अन्य आमपाचन योग	,,
कलिंगादि चूर्ण	,,
अन्य योग	,,
अभयादि क्वाथ या चूर्ण	५६९
आममल की चिकित्सा	,,
पिप्पल्यादि चूर्ण	,,
मरिचादि चूर्ण	,,
चार अम्लद्रव्यों का प्रयोग	५७०
ग्रहणीहर यवागू पञ्चक	,,
अन्य योग	५७१

विषय	पृष्ठ
ग्रहणीरोग में तक्र-प्रयोग	५७१
तक्रारिष्ट	,,
पित्तज ग्रहणी-चिकित्सा	५७२
चन्दनादि घृत	,,
नागरादि चूर्ण	५७३
भूनिम्बादि चूर्ण	५७४
वचादि चूर्ण	,
किरातादि चूर्ण	५७५
कफज ग्रहणी की चिकित्सा	,,
पलाशादि पानीय	,,
अन्य प्रयोग	,,
मधूकासव	५७६
मधूकासव (द्वितीय)	,,
दुरालभासव	५७७
मूलासव	,,
पिंडासव	,,
मध्वरिष्ट	५७८
पिप्पलीमूलादि चूर्ण	,,
पिप्पलीमूलादि घृत	५७९
क्षारघृत	,,
क्षार-प्रकरण	
पिप्पलीमूलादि क्षार	५७९
भल्लातक क्षार	,,
दुरालभादि क्षार	५८०
भूनिम्बादि क्षार	,,
हरिद्रादि क्षार	,,
क्षारगुटिका	,,
चतुर्थ क्षार	५८१
पञ्चम क्षार	,,
त्रिदोषज ग्रहणीरोग-चिकित्सा	,,
समास-व्यत्यास-चिकित्सा	५८२
ग्रहणीदोष-नाशक विधियाँ	,,
कफज ग्रहणी में आवस्थिकी चिकित्सा	,,
कफज ग्रहणी-चिकित्सा-सूत्र	,,
पित्तज ग्रहणी-चिकित्सा-सूत्र	,,
वातज ग्रहणी-चिकित्सा-सूत्र	,,
अग्निदीपन में घृत की श्रेष्ठता	५८३
आमातिसार में दीपनीय घृत	,,
घृतमात्रा का लाभ	,,
मलविबन्ध में कर्तव्य	,,

विषय	पृष्ठ
घृत-तैल-अरिष्ट-प्रयोग	५८४
मन्दाग्नि-चिकित्सा	,,
दीर्घकालिक गृहणीरोग में मांसरस	,,
उचित मात्रा में आहार-निर्देश	५८५
हित आहार के लाभ	,,
तीक्ष्णाग्नि	,,
भस्मकरोग-चिकित्सा	५८६
भस्मकरोग में आहार	,,
भेड़ के मांस आदि का प्रयोग	,,
भस्मक में गोधूम-प्रयोग	,,
तैलीय फलों के प्रयोग	५८७
घी तथा मोम का प्रयोग	,,
स्नेह-प्रयोग	,,
स्त्री-दुग्ध, गूलर-प्रयोग	,,
श्यामात्रिवृत्-प्रयोग	५८८
अत्यग्नि में आहार-सिद्धान्त	,,
अन्य प्रयोग	,,
समाग्नि की महत्ता	,,
समशन, विषमाशन, अध्यशन-परिभाषा	,,
आहारकाल-विवेचन	५८९
अन्य कारण	,,
दूसरे दिन के भोजन पर विचार	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५९०
(१६) पाण्डुरोगचिकित्साध्याय	**५९०-६१४**
पाण्डुरोग के पाँच भेद	५९१
पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति	,,
पाण्डुरोग : निदान एवं लक्षण	५९२
पाण्डुरोग के पूर्वरूप	,,
पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण	५९३
वातज पाण्डुरोग : निदान एवं लक्षण	,,
पित्तज पाण्डुरोग : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
पित्तज पाण्डुरोग के लक्षण	५९४
कफज पाण्डुरोग का निदान तथा लक्षण	,,
त्रिदोषज पाण्डुरोग : निदान एवं लक्षण	,,
मृत्तिकाभक्षण-जनित पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति	,,
मृत्तिकाभक्षण-जनित पाण्डुरोग के लक्षण	५९५
पाण्डुरोग की असाध्यता	,,
कामला-प्रकरण	
कामलारोग : निदान एवं सम्प्राप्ति	५९५

विषय	पृष्ठ
कामलारोग के लक्षण	५९५
कुम्भकामला	५९७
कुम्भकामला के असाध्य लक्षण	,,
चिकित्सा-प्रस्तावना	,,
पाण्डु-कामला-चिकित्सा	५९८
पथ्य आहार-द्रव्य	,,
विविध घृत-प्रयोग	,,
दाडिमादि घृत	,,
कटुकादि घृत	५९९
पथ्याघृत	,,
दन्तीघृत	६००
द्राक्षाघृत	,,
हरिद्रादि घृत	,,
पाण्डु-कामलानाशक घृत	,,
स्नेहन के बाद विरेचन	६०१
कफज पाण्डुरोगहर योग	,,
कामला-नाशक दो योग	,,
विशालादि फाण्ट	६०२
प्रातःकालिक योग	,,
क्षीरमूत्र-प्रयोग	,,
मातुलुङ्ग-प्रयोग	,,
स्वर्णक्षीर्यादि योग	,,
गोमूत्रहरीतकी	६०३
लौहभस्म-प्रयोग	,,
नवायस चूर्ण	,,
मण्डूरभस्म-प्रयोग	६०४
मण्डूरवटक	,,
स्वर्णमाक्षिकादि योग	,,
योगराज	६०५
शिलाजतु वटक	,,
पुनर्नवामण्डूर	६०६
दार्व्यादि लेह	६०७
कामलाहर दो योग	,,
त्रिफलादि योग	,,
धात्री अवलेह	६०८
मण्डूरवटक	,,
गौड (गुड़ का) अरिष्ट	,,
बीजकारिष्ट	६०९
धात्री अरिष्ट	,,
पाण्डुरोग में पेय पदार्थ	,,

विषय	पृष्ठ
कामलारोग में पेय पदार्थ	६१०
सामान्य चिकित्सा-निर्देश	,,
पाण्डुरोग-चिकित्सासूत्र	,,
मृद्भक्षणजनित पाण्डुरोग-चिकित्सा	,,
व्योषादि घृत	,,
मृद्भक्षण-निवारण-विधि	६११
मृद्भक्षणज पाण्डुरोग-चिकित्सा	,,
शाखाश्रित कामला में विशेष कर्तव्य	,,
शाखाश्रित कामला रोग : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
कामलारोग में पथ्य	६१२
शाखाओं से दोष का प्रत्यावर्तन	,,
हलीमकरोग-वर्णन	६१३
हलीमकरोग-चिकित्सा	,,
अभयालेह-प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६१४
(१७) हिक्काश्वासचिकित्साध्याय	**६१४-६४०**
महर्षि अग्निवेश के प्रश्न	६१५
महर्षि आत्रेय के उत्तर	,,
हिक्का-श्वास की भयंकरता	,,
हिक्का-श्वास में समानता	,,
हिक्का-श्वास के भेद	६१६
हिक्का-श्वास-निदान	,,
अन्य निदान	,,
हिक्का-श्वास की सम्प्राप्ति	६१७
हिक्का-श्वास के पूर्वरूप	,,
हिक्का की विशेष सम्प्राप्ति	,,
महाहिक्का के लक्षण	,,
गम्भीराहिक्का	६१८
व्यपेताहिक्का के लक्षण	६१९
क्षुद्राहिक्का के लक्षण	,,
अन्नजा हिक्का के लक्षण	६२०
हिक्का की साध्यता-असाध्यता	,,
यमिकाहिक्का की साध्यता-असाध्यता	,,
श्वास-प्रकरण	
श्वासरोग की सम्प्राप्ति	६२१
महाश्वास के लक्षण	६२२
ऊर्ध्वश्वास के लक्षण	,,
छिन्नश्वास के लक्षण	६२३
तमकश्वास की सम्प्राप्ति	,,

विषय	पृष्ठ
तमकश्वास के लक्षण	६२३
प्रतमकश्वास के लक्षण	६२४
सन्तमकश्वास के लक्षण	,,
क्षुद्रश्वास के लक्षण	६२५
हिक्काश्वास की शीघ्र चिकित्सा करें	,,
हिक्काश्वास की सामान्य चिकित्सा	६२६
हिक्का-श्वास-चिकित्सासूत्र	,,
वमन-प्रयोग	,,
धूमपान-निर्देश	६२७
हरिद्रादि धूमवर्ति	,,
उपद्रवों का उपचार	,,
स्वेदन के अयोग्य रोगी	६२८
मृदुस्वेद की विधि	,,
उत्कारिका-निर्माण-विधि	,,
वमन-प्रयोग	,,
वातहर द्रव्य-प्रयोग	६२९
वातानुलोमन-निर्देश	,,
हिक्काश्वास-रोगियों के दो भेद	,,
बलवान् रोगी के प्रति कर्तव्य	,,
वातरोगियों में तर्पण-प्रयोग	,,
संशोधन के अयोग्य रोगी	,,
हिक्का-श्वास में बृंहण-चिकित्सा	६३०
बृंहणीय द्रव्य	,,
निदिग्धिकादि यूष	,,
रास्नादि यूष	,,
मातुलुङ्गादि यूष	,,
सामान्य यूष	६३१
अन्य अनेक यूष	,,
वार्ताक यूष	,,
हिक्का-श्वास में पथ्य	,,
हिङ्ग्वादि यवागू	,,
दशमूलादि यवागू	,,
पुष्करादि योग	६३२
हिक्का-श्वास में पेय	,,
पाठादि आसव	,,
हिङ्ग्वादि चूर्ण	,,
सौवर्चलादि चूर्ण	६३३
भार्गीनागरादि योग	,,
उत्कारिका-प्रयोग	,,
श्वासरोग में मांस-प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
सुवर्चलादि चूर्ण	६३४
कफपित्तानुग श्वास-चिकित्सा	,,
मधुकादि योग	,,
कफप्रधान हिक्का-श्वास-चिकित्सा	,,
विविध प्रयोग	,,
क्षार-प्रयोग से लाभ	६३५
श्वास में वमन-विरेचन	,,
वातमार्ग-शोधन-निर्देश	,,
शटी आदि चूर्ण	,,
मुक्तादि चूर्ण	६३६
शटी आदि योग	,,
प्राशन-नावन योग	,,
हिक्का-श्वास में नस्य	६३७
अन्य नस्य योग	,,
हिक्कानाशक योग	,,
अन्य योग	,,
हिक्कावेग-शामक-प्रयोग	,,
निदान-परित्याग	,,
घृत-प्रयोग	६३८
दशमूलादि घृत	,,
तेजोवत्यादि घृत	,,
मनःशिलादि घृत	,,
विविध घृत योग	,,
श्वास-हिक्का में हितकर द्रव्य	६३९
दोषानुसार चिकित्सा-विधान	,,
विभिन्न चिकित्सा-सिद्धान्तों पर विचार	६४०
हिक्काश्वास-चिकित्सा-निष्कर्ष	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	,,
(१८) कासचिकित्साध्याय	**६४१-६६७**
विषय-प्रस्तावना	६४१
कास के भेद	,,
कास का पूर्वरूप	६४२
कास : सम्प्राप्ति एवं निरुक्ति	,,
वेदना तथा शब्द-विचार	६४३
वातज कास के प्रवर्तक	,,
वातज कास के लक्षण	,,
पित्तज कास के प्रवर्तक	,,
पित्तज कास के लक्षण	६४४
कफज कास के प्रवर्तक	,,
कफज कास के लक्षण	६४४
क्षतज कास के प्रवर्तक	,,
क्षतज कास के लक्षण	६४५
क्षयज कास : कारण एवं सम्प्राप्ति	,,
क्षयज कास के लक्षण	,,
क्षयज-क्षतज कास की साध्यासाध्यता	६४६
चिकित्सा-व्यवस्था	,,
वातज कास-चिकित्सा	,,
कण्टकारी घृत	६४७
पिप्पल्यादि घृत	,,
त्र्यूषणादि घृत	,,
रास्नादि घृत	६४८
विडङ्गादि चूर्ण	,,
वातज कासहर दो योग	,,
दुरालभादि लेह	,,
दुःस्पर्शादि लेह	,,
विडङ्गादि लेह	६४९
चित्रकादि लेह	,,
अगस्त्यहरीतकी	,,
सैन्धवादि योग	६५०
कास में खदिरसार-प्रयोग	,,
कासरोग में धूमपान	,,
धूमपान-विधि	६५१
मनःशिलादि धूम	,,
प्रपौण्डरीकादि धूम	,,
धूमपान के विविध योग	६५२
वातज कास में पथ्य	,,
कासरोग में पेया	,,
अन्य पेया योग	६५३
मांसरस-निर्मित पेया	,,
वातज कास में विविध शाक	,,
पित्तज कास-चिकित्सा	,,
अन्य योग	,,
पित्तज कास-हर पाँच लेह	६५४
दोषानुसार अन्य लेह	,,
अन्य योग	,,
त्वगादि लेह	,,
पिप्पल्यादि लेह	,,
विदार्यादि योग	,,
पित्तज कास में पथ्य	६५५

विषय	पृष्ठ
अन्य पथ्य	६५५
पित्तज कास में अनुपान	,,
अन्य अनुपान-द्रव्य	,,
शरादि क्षीरपाक	,,
स्थिरादि क्षीरपाक	,,
अन्य योग	६५६
शर्करादि योग	,,
पित्तज कास में घृतपान	,,
कफज कास-चिकित्सा	,,
कफज कास में अन्न-पान	,,
पुष्करमूलादि पेय	६५७
कट्फलादि क्वाथ	,,
पाठादि कल्क	,,
नागरादि कल्क	,,
पिप्पली-सेवन-विधि	,,
कासमर्दादि योग	,,
वातदोषयुक्त कफज कास-चिकित्सा	,,
कफज कासहर चार योग	,,
सौवर्चलादि चूर्ण	६५८
दशमूलादि घृत	,,
कण्टकारी घृत	,,
कुलत्थादि घृत	६५९
कफज कास में धूमपान	,,
विशेष अवस्था में निर्देश	,,
अन्य अवस्था निर्देश	,,
कास-चिकित्सा-सिद्धान्त	,,
क्षतज कास-चिकित्सा	,,
पिप्पल्यादि लेह	६६०
क्षतज कास-चिकित्सा	,,
वातपित्तज कास-चिकित्सा	,,
क्षतज कास में जीवनीयघृत	,,
क्षतज कास में मांस-प्रयोग	,,
क्षतज कास में विविध पेय	,,
घृतपान	६६१
क्षतज कास में धूमपान	,,
धूमपान-विधि	,,
मनःशिलादि धूम	,,
अन्य धूमपान	,,
क्षयज कास-चिकित्सा	६६२
क्षयज कास में बृंहण-प्रयोग	,,
क्षयज कास में मृदु-शोधन	६६२
वातप्रधान क्षयज कास-चिकित्सा	,,
मूत्रविवर्णता-चिकित्सा	,,
क्षयज कास में शोथ-चिकित्सा	६६३
कफज कास में मांस-प्रयोग	,,
द्विपञ्चमूल्यादि घृत	,,
गुडूच्यादि घृत	६६४
कासामर्दादि घृत	,,
विविध घृतयोग	,,
हरीतकी लेह	,,
क्षयज कासनाशक दो योग	६६५
अन्य योग	,,
द्राक्षादि लेह	,,
चित्रकादि लेह	,,
शुण्ठ्यादि लेह	,,
चित्रकादि लेह	,,
पद्मकादि लेह	,,
जीवन्त्यादि लेह	,,
क्षयज कासनाशक दो लेह	६६६
पेया-उत्कारिका-प्रयोग	,,
यवागू-प्रयोग	,,
मुद्गयूष-प्रयोग	,,
क्षयज कासनाशक योग	,,
क्षयज कास में धूमपान	,,
क्षयज कास का चिकित्सासूत्र	,,
सन्निपातज क्षयकास का चिकित्सासूत्र	६६७
वातादि कासों की बलवत्ता	,,
कास-चिकित्सा में विविध कल्पना	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	,,
(१९) अतिसारचिकित्साध्याय	**६६८-६९३**
अग्निवेश का अतिसार सम्बन्धी प्रश्न	६६८
पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	६६९
वातज अतिसार का निदान	६७०
वातज अतिसार की सम्प्राप्ति	,,
वातज आमातिसार के लक्षण	,,
वातज पक्वातिसार के लक्षण	६७१
पित्तज अतिसार का निदान	,,
पित्तज अतिसार की सम्प्राप्ति	,,
पित्तज अतिसार के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
कफज अतिसार का निदान	६७१
कफज अतिसार की सम्प्राप्ति	६७२
कफज अतिसार के लक्षण	,,
सन्निपातज अतिसार का निदान	,,
सन्निपातज अतिसार की सम्प्राप्ति	६७३
कष्टसाध्य अतिसार	
असाध्य अतिसार	६७३
विशेष परीक्षा-निर्देश	६७५
आगन्तुज अतिसार	,,
आगन्तुज अतिसार-चिकित्सा	,,
अतिसार में शोधन-प्रयोग	६७६
अतिसार में चिकित्सा-सूत्र	,,
प्रारम्भिक स्थिति में दोषों को निकलने दें	,,
हरीतकी-प्रयोग का फल	,,
अतिसार में कर्तव्य	६७७
प्रमथ्या-प्रयोग	,,
अतिसार में पाचक जल	,,
अतिसार में सुपाच्य अन्य प्रयोग	,,
तक्र आदि प्रयोग	६७८
यवागू आदि प्रयोग	,,
दीपन आदि द्रव्य	,,
अतिसार में शाक-प्रयोग	,,
खडयूष-प्रयोग	६७९
धान्ययूष-प्रयोग	,,
अन्य प्रयोग	,,
अतिसार में मांस प्रयाग	,,
अन्य मांसरस	६८०
पुरीषक्षय में मांस-प्रयोग	,,
गुदभ्रंश-चिकित्सा	,,
चांगेरी घृत	६८१
चव्यादि घृत	,,
दशमूलादि अनुवासन	,,
भ्रष्टगुद की व्यवस्था	,,
विबन्ध-चिकित्सा	,,
पित्तातिसार-चिकित्सा	,,
अतिविषादि योग	६८२
पित्तज अतिसारनाशक योग	६८३
मांसरस रक्तशालि-प्रयोग	,,
बकरी के दूध का प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
गाय के दूध का प्रयोग	६८३
अन्य योग	,,
अनुवासनवस्ति का प्रयोग	६८४
शतपुष्पादि वस्ति	,,
पिच्छावस्ति-प्रयोग	,,
पिच्छावस्ति	,,
रक्तातिसार का निदान	६८५
रक्तातिसार के उपद्रव	,,
रक्तातिसार-चिकित्सा	,,
अन्य योग	,,
रक्तातिसार में मांसरस-प्रयोग	,,
अन्य प्रयोग	,,
नीलोत्पलादि योग	,,
रक्तातिसार में मांसरस	६८६
शतावरी-प्रयोग	,,
इन्द्रयव-प्रयोग	,,
दार्व्यादि घृत	,,
कृष्णमृत्तिकादि योग	,,
रक्तातिसार में प्रियंगु-प्रयोग	,,
काले तिलों का प्रयोग	६८७
इन्द्रजौ का अन्य प्रयोग	,,
सफेद चन्दन का प्रयोग	,,
गुद-प्रक्षालन योग	,,
गुदपाक-हर योग	,,
प्रलेपन-प्रतिसारण	,,
धातक्यादि प्रतिसारण	६८८
अधिक रक्तस्राव की चिकित्सा	,,
पिच्छावस्ति-प्रयोग	,,
स्थानीय स्नेह-प्रयोग	,,
वस्ति-चिकित्सा का महत्त्व	,,
शतावरीघृत-प्रयोग	६८९
नवनीत-प्रयोग	,,
रक्तस्राव में घृत-प्रयोग	,,
अरिष्ट-लक्षण-निर्देश	,,
कफज अतिसार-चिकित्सा	,,
चिकित्सासूत्र	६९०
कफज अतिसारनाशक चार योग	,,
अजाज्यादि चूर्ण	,,
रसाञ्जनादि चूर्ण	,,
कफज अतिसार में योग	६९१

विषय	पृष्ठ
कपित्थादि चूर्ण	६९१
पिप्पल्यादि चूर्ण	,,
बाल-बिल्व प्रयोग	,,
अतिसार में घृतपान	,,
पिच्छावस्ति-प्रयोग	६९२
पिच्छावस्ति के द्रव्य	,,
अनुवासनवस्ति-प्रयोग	,,
अन्य अनुवासन योग	,,
वातचिकित्सा-निर्देश	,,
सन्निपातज अतिसार-चिकित्सा	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६९३
(२०) छर्दिचिकित्साध्याय	**६९३-७०६**
अग्निवेश के प्रश्न	६९४
पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	,,
छर्दि के पाँच भेद	,,
छर्दि के पूर्वरूप	,,
वातज छर्दि-निदान	६९५
वातज छर्दि के लक्षण	,,
पित्तज छर्दि का निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
पित्तज छर्दि के लक्षण	,,
कफज छर्दि का निदान एवं सम्प्राप्ति	६९६
कफज छर्दि के लक्षण	,,
सन्निपातज छर्दि : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
सन्निपातज छर्दिरोग के लक्षण	,,
असाध्य छर्दिरोग की स्थिति	६९७
द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि	,,
असाध्य छर्दिरोग	,,
छर्दिरोग-चिकित्सा	६९८
छर्दि में हरीतकी-प्रयोग	,,
छर्दि में वमन-प्रयोग	,,
वातज छर्दि-चिकित्सा	६९९
घृतपान-विधान	,,
प्रक्षेप द्रव्य तथा हृद्य भोजन	,,
पित्तज छर्दि-चिकित्सा	,,
संशोधन के पश्चात् कर्तव्य	,,
पित्तज छर्दि में लेह	७००
छर्दि में अन्य लेह	,,
पित्तज छर्दि में पेय	,,
अन्य छः पेय	,,
अन्य योग	७०१

विषय	पृष्ठ
कफज छर्दि-चिकित्सा	७०१
छर्दि में आहार पदार्थ	७०२
राग, षाडव, पानक-प्रयोग	,,
कफज छर्दिनाशक तीन योग	,,
कफज छर्दिनाशक योग	७०३
छर्दि में मनःशिला-प्रयोग	,,
सन्निपातज छर्दि चिकित्सा	,,
द्विष्टार्थसंयोगज वमन-चिकित्सा	७०४
असात्म्य द्रव्य-प्रयोग	,,
उपद्रवों की चिकित्सा	,,
दीर्घकालिक छर्दि-चिकित्सा	७०५
सर्पिगुड़ आदि प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	७०६
(२१) विसर्पचिकित्साध्याय	**७०६-७३३**
विषय-अवतरणिका	७०६
अग्निवेश के प्रश्न	७०७
आत्रेय पुनर्वसु का उत्तर	,,
विसर्प नाम की निरुक्ति	,,
विसर्प के ७ भेद	,,
सात भेदों की गणना	,,
विसर्प में दोष-दूष्य	,,
विसर्परोग का निदान	७०८
विसर्परोग की सम्प्राप्ति	,,
विसर्प के आश्रय तथा भेद	७०९
साध्यासाध्यता	,,
दोष-प्रसर्पण-प्रकार	,,
आभ्यन्तराश्रित विसर्प के लक्षण	,,
बाह्याश्रित विसर्प के लक्षण	,,
विसर्प की असाध्य स्थिति	७१०
वातज विसर्प : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
वातज विसर्प के लक्षण	,,
पित्तज विसर्प : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
पित्तज विसर्प के लक्षण	७११
कफज विसर्प : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
कफज विसर्प के लक्षण	७१२
वातपित्तज विसर्परोग की सम्प्राप्ति	,,
वातपित्तज विसर्परोग के लक्षण	,,
कफपित्तज विसर्परोग की सम्प्राप्ति	७१३
कफपित्तज विसर्परोग के लक्षण	,,
कफवातज विसर्परोग की सम्प्राप्ति	७१४

विषय	पृष्ठ
ग्रन्थिविसर्प के उपद्रव	७१४
उपद्रव का लक्षण	७१५
असाध्य सन्निपातज विसर्परोग	७१६
विसर्पों की साध्यता-असाध्यता	,,
विसर्प-चिकित्सासूत्र	७१७
पित्तस्थानगत दोष-चिकित्सा	,,
वातस्थानगत दोष-चिकित्सा	,,
घृतपान तथा विरेचन-प्रयोग	,,
विरेचक घृत-प्रयोग	,,
विसर्प की विस्तृत चिकित्सा का प्रस्ताव	११८
वामक द्रव्य-प्रयोग	,,
पटोलादि वामक द्रव्य	,,
कल्पस्थानोक्त योग-निर्देश	,,
मुस्तादि तीन कषाय	,,
किराततिक्तादि क्वाथ	,,
प्रपौण्डरीकादि क्वाथ	७१९
द्राक्षादि शीतकषाय	,,
पटोलादि शीतकषाय	,,
विसर्पनाशक योग	,,
पटोलादि कषाय	,,
विविध घृतों का प्रयोग	,,
कतिपय विरेचन योग	,,
शाखागत विसर्प-चिकित्सा	७२०
विसर्प में बहिःपरिमार्जन	,,
उदुम्बरादि प्रदेह	,,
न्यग्रोधपादादि लेप	७२१
कालीयादि प्रलेप	,,
शाद्वलादि प्रदेह	,,
सारिवादि प्रलेप	,,
नलदादि प्रलेप	,,
यावक प्रदेह	,,
मधुकादि प्रदेह	,,
बलादि आलेप	,,
मृणालादि आलेप	,,
विविध प्रदेह	७२२
न्यग्रोधपत्रादि प्रलेप	,,
कफज विसर्पनाशक प्रदेह	,,
त्रिफलादि प्रदेह	७२३
खदिरादि आलेप	,,
प्रदेहों में घृत-प्रयोग	,

विषय	पृष्ठ
वातरक्त-पित्त-प्रधान विसर्प-चिकित्सा	७२३
प्रदेह-प्रयोग-प्रकार	७२४
अन्य विचार	७२५
प्रलेप की परिभाषा	,,
प्रलेप लगाने की विधि	,,
विधि-भेद से लेप के दोष	,,
लेप के ऊपर लेप लगाने का निषेध	७२६
अतिस्निग्ध-अतिद्रव लेप का निषेध	,,
पतले लेप के दोष	,,
स्नेहरहित लेप के दोष	,,
बिसर्पनाशक अन्न-पान	,,
विसर्प में लघु-आहार	७२७
मांसरस-प्रयोग	,,
विविध चावलों का प्रयोग	,,
सात्म्य अन्नों का प्रयोग	,,
विसेर्परोग में अपथ्य	,,
विसर्परोग-चिकित्सासूत्र	,,
ग्रन्थिविसर्प-चिकित्सा	७२८
ग्रन्थिविसर्प में सिरामोक्षण	,,
ग्रन्थिविसर्प में उपनाह-प्रयोग	,,
ग्रन्थिविसर्प में परिषेचन	,,
ग्रन्थिविसर्प में प्रदेह	७२९
बलादि प्रलेप	,,
दन्त्यादि लेप	,,
मूलकादि यूष	,,
आहार-द्रव्य	,,
ग्रन्थिविसर्प में विविध योग	७३०
ग्रन्थिविसर्प में दाहकर्म	,,
ग्रन्थिविसर्प में शल्य आदि प्रयोग	,,
अन्य प्रयोग	७३१
कम्पिल्लकादि तैल	,,
विसर्पज व्रण चिकित्सा	,,
गलगण्ड-चिकित्सा	७३२
विसर्प में रक्तमोक्षण का महत्त्व	,,
विसर्प की सामान्य-विशेष चिकित्सा	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	७३३
(२२) तृष्णारोगचिकित्साध्याय	**७३३-७४५**
तृष्णारोग-प्रस्तावना	७३३
तृष्णारोग : निदान एवं सम्प्राप्ति	७३४
उपसर्गज तृष्णारोग	,,

विषय	पृष्ठ
तृष्णारोग का पूर्वरूप	७३४
तृष्णा का नाश	,,
तृष्णा के सामान्य लक्षण	७३५
वातज तृष्णारोग की सम्प्राप्ति	,,
वातज तृष्णारोग के लक्षण	,,
पित्तज तृष्णारोग की सम्प्राप्ति	,,
पित्तज तृष्णारोग के लक्षण	,,
आमज तृष्णा	७३६
रक्तक्षयज तृष्णा	,,
उपसर्गज तृष्णा	७३७
तृष्णारोग की असाध्यता	,,
तृष्णा में पित्त-वायु का महत्त्व	,,
अन्नजा तृष्णा	,,
मद्यज तृष्णा	७३८
मद्यज तृष्णा का आलंकारिक रूप	,,
उष्णक्लान्त व्यक्ति के लिए निर्देश	,,
वात के क्षीण होने पर पित्तज लक्षण	,,
ऐन्द्रजल का प्रयोग	,,
ऐन्द्रजल के अभाव में पेय जल	७३९
तृणपञ्चमूल जल	,,
अन्न-पान-व्यवस्था	,,
दूध-भात का प्रयोग	,,
मांसरस-प्रयोग	,,
अन्य भोज्य-पदार्थ	,,
अवगाहन तथा यूष-प्रयोग	७४०
अन्य प्रयोग	,,
नस्य-प्रयोग	,,
तालुशोपनाशक गण्डूष	,,
तृष्णानाशक प्रलेप	,,
तृष्णानाशक अन्य लेप	,,
गात्रसंस्पर्श द्रव्य	७४१
वातज तृष्णा-चिकित्सा	,,
वातपित्तज तृष्णा में दुग्ध-घृत-प्रयोग	,,
संस्कारित शीतल जल-प्रयोग	७४२
अन्य प्रयोग	,,
आमज तृष्णा-चिकित्सा	७४३
तृष्णा के उपद्रवों की चिकित्सा	,,
लेह-पेय-प्रयोग	,,
क्षयज तृष्णा-कास-चिकित्सा	,,
मद्यज तृष्णा में मद्यपान-विधि	,,

विषय	पृष्ठ
भक्तज तृष्णा-चिकित्सा	७४४
तृष्णारोग में पौष्टिक प्रयोग	,,
दुग्ध तथा मांसरस-प्रयोग	,,
मूर्च्छागत तृष्णा में चिकित्सा	,,
शीतल जलपान का विधान	,,
उष्ण जलपान का निर्देश	,,
अल्प जलपान का निर्देश	,,
शीघ्र जल देने की स्थिति	७४५
धान्याम्बु-प्रयोग	,,
उपद्रवों की चिकित्सा	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(२३) विषचिकित्साध्याय	**७४५-८०३**
विषय-प्रस्तावना	७४६
सर्वप्रथम विष की उत्पत्ति	,,
विष की योनियाँ	,,
ऋतुओं का विष पर प्रभाव	७४७
जंगमविष के आश्रय	,,
स्थावरविष के आश्रय	७४८
गरविष	७४९
जंगमविष के लक्षण	,,
स्थावरविष के लक्षण	,,
विषों की गति	,,
विष के ८ वेग	७५०
अन्य प्राणियों में वेगों के भेद	७५१
पशुओं में वेगों के लक्षण	,,
पक्षियों में वेगों के लक्षण	,,
विष के दस गुण	७५२
विष के गुणों का प्रभाव	,,
वातप्रकृति के अनुसार दोष-प्रकोप	७५३
पित्तप्रकृति के अनुसार दोष-प्रकोप	,,
कफप्रकृति के अनुसार दोष-प्रकोप	,,
दूषीविष के लक्षण	७५४
विष के कुप्रभाव	,,
विष से मृत्यु होने का लक्षण	,,
२४ प्रकार की विष-चिकित्सा	७५५
वेणिका-बन्धन	,,
रक्तमोक्षण	७५६
प्रधर्षणार्थ चूर्ण	७५७
विष को फैलाने में रक्त का सहयोग	,,
विष के उपद्रव	,,

विषय	पृष्ठ
दंश-छेद से लाभ	७५७
आचूषण से लाभ	,,
अरिष्टा-बन्धन	,,
प्रथम विषवेग-चिकित्सा	,,
द्वितीय विषवेग-चिकित्सा	७५८
तृतीय विषवेग-चिकित्सा	,,
चतुर्थ विषवेग-चिकित्सा	,,
पञ्चम विषवेग-चिकित्सा	,,
षष्ठ विषवेग-चिकित्सा	,,
सप्तम विषवेग-चिकित्सा	,,
अष्टम विषवेग-चिकित्सा	,,
सुरसादि योग	७५९
काकाण्डादि योग	,,
मृतसञ्जीवन अगद	,,
स्थानीय दोष-चिकित्सा	७६०
दोषानुसार विष-चिकित्सा	,,
रक्तस्थित दूषीविष में पञ्चकर्म	,,
कफावरोध-चिकित्सा	७६१
काकपद पर मांस-प्रयोग	७६२
विषविकार में नस्य-प्रयोग	,,
विषविकार में अंजन-प्रयोग	७६३
गन्धहस्ती नामक अगद	,,
महागन्धहस्ती नामक अगद	७६५
निर्माण-विधि	,,
अन्य रोग	७६६
मान्त्रिक प्रयोग	,,
ऋषभकादि अगद	७६७
हिंग्वादि योग	,,
वमननाशक योग	,,
हिक्कानाशक योग	,,
धूम-प्रयोग	,,
सर्पविषनाशक धूम	,,
जत्वादि धूमागद	७६८
क्षारागद	,,
सामान्य चिकित्सा का उपसंहार	,,
राजाश्रित पुरुषों की परीक्षा	,,
विषदाता की पहचान	७६९
विषाक्त अन्न की पहचान	,,
विषयुक्त अन्न के लक्षण	७७०
विषयुक्त पेयद्रव्य-परीक्षा	,,

विषय	पृष्ठ
गन्ध तथा स्पर्श-परीक्षा	७७०
विषाक्त अन्न-भक्षण के लक्षण	,,
आमाशयगत विष के लक्षण	७७१
पक्वाशयगत विष के लक्षण	,,
विषाक्त दातौन-प्रयोग के लक्षण	,,
विषाक्त अभ्यंग-प्रयोग के लक्षण	,,
विषयुक्त अंजन-प्रयोग के लक्षण	७७२
विषयुक्त जलादि प्रयोग के लक्षण	,,
विषयुक्त भूमि आदि प्रयोग के लक्षण	,,
विषयुक्त माला-प्रयोग के लक्षण	७७३
विषयुक्त कूपादि प्रयोग के लक्षण	,,
स्थावरविष-चिकित्सा का उपसंहार	,,
जङ्गमविष-वर्णन	,,
सर्पों के भेद	७७४
सर्प-परिचय	,,
सर्पविष की विशेषता	,,
दर्वीकरदष्ट-व्यक्ति के लक्षण	,,
मण्डलीदष्ट-व्यक्ति के लक्षण	७७५
राजिमान्-दष्ट-व्यक्ति के लक्षण	,,
पुरुष-स्त्री-नपुंसक सर्पों की पहचान	,,
दष्ट-व्यक्ति के लक्षण	,,
गर्भिणी द्वारा दष्ट-पुरुष के लक्षण	,,
गौधेरकसर्प-परिचय	७७६
गूढसंपादित दष्ट-लक्षण	,,
आयु के अनुसार विष-प्रभाव	,,
साँप की चार दाढ़ें	७७७
सर्पविष की मात्रा	,,
कीटों की उत्पत्ति तथा भेद	७७८
दूषीविष कीट-दष्ट-लक्षण	,,
प्राणहर कीट-दष्ट-लक्षण	,,
दूषीविष लूता-दंश-लक्षण	,,
प्राणहर लूताओं के दंश-लक्षण	७७९
दूषीविष मूषकदंश-लक्षण	,,
मूषकदंश के असाध्य लक्षण	७८०
छिपकिली के दंश का लक्षण	,,
बिच्छू के दंश का लक्षण	,,
असाध्य वृश्चिक दंश के लक्षण	,,
कणभ दंश के लक्षण	७८१
उच्चिटिंग दंश के लक्षण	,,
दूषीविष मेढक के दंश के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
सविष मछलियों के दंश के लक्षण	७८२
सविष जौंकों के दंश के लक्षण	,,
गृहगोधिका दंश के लक्षण	,,
शतपदी दंश के लक्षण	,,
विषैले मच्छरों के दंश के लक्षण	,,
विषैली मक्षिकाओं के दंश के लक्षण	,,
विष की असाध्य स्थिति	७८३
विषवृद्धि की स्थितियाँ	७८४
मन्दविष सर्प के लक्षण	,,
सर्पविष का स्थान	,,
विषकीटों का दोष-सम्बन्ध	७८५
दोषविपरीत-क्रिया	,,
वातिक विष के लक्षण	,,
पैत्तिक विष के लक्षण	,,
श्लैष्मिक विष के लक्षण	७८६
वातिक विष की चिकित्सा	,,
पैत्तिक विष की चिकित्सा	,,
श्लैष्मिक विष की चिकित्सा	,,
सभी विषों में शीतोपचार	,,
वृश्चिक दंश-चिकित्सा	,,
उच्चिटिंग दंश-चिकित्सा	७८७
पागल कुत्ते का लक्षण	,,
अन्य पागल जन्तुओं के लक्षण	,,
विषैले प्राणियों के दंश के लक्षण	७८८
निर्विष प्राणियों के दंश के लक्षण	,,
विशेष विधि-निर्देश	,,
शोधन-चिकित्सा	,,
नस्य-प्रयोग	,,
काकपद-प्रयोग की विशिष्ट विधि	७८९
पिप्पल्यादि-अंजन	,,
कंठगत विष-चिकित्सा	,,
आमाशयगत विष-चिकित्सा	,,
पक्वाशयगत विष-चिकित्सा	,,
रसगत विष-चिकित्सा	,,
रक्तगत विष-चिकित्सा	७९०
मांसगत विष-चिकित्सा	,,
सर्वधातुगत विष-चिकित्सा	,,
कफप्रधान विष-चिकित्सा	,,
मांस्यादि योग	,,
चन्दनादि योग	,,

विषय	पृष्ठ
शिरीषपुष्प-प्रयोग	७९१
तक्षक विषनाशक योग	,,
दर्वीकरदष्ट-चिकित्सा	,,
नस्य-प्रयोग	,,
मण्डलीदष्ट-चिकित्सा	७९२
राजिमान्-विष-चिकित्सा	,,
वासुकि-विष-चिकित्सा	,,
कीट-विष-चिकित्सा	,,
लूता-विष-चिकित्सा	,,
लूता-विष-नाशक योग	७९३
कर्णिकानाशक योग	,,
कीट, लूतादंश-नाशक योग	,,
मूषकदंश-चिकित्सा	,,
कुटजादि योग	,,
कृकण्टक-विष-चिकित्सा	७९४
बिच्छूविष-चिकित्सा	,,
मेंढकविष-चिकित्सा	,,
मछली-विष-चिकित्सा	,,
जलौका-विष-चिकित्सा	७९५
वृश्चिक आदि दंश-चिकित्सा	,,
परम-अगद	,,
शतपदी विष-चिकित्सा	७९६
गृहगोधा विष-चिकित्सा	,,
सर्वविध विषनाशक योग	,,
पञ्चशिरीष-अगद	७९७
नख-दन्तक्षत के लक्षण	,,
नख-दन्तक्षत-चिकित्सा	,,
शंका-विष के लक्षण	,,
शंका-विष-चिकित्सा	,,
विष में पथ्य	७९८
विषविकार में अपथ्य	,,
पशुओं में दंश के लक्षण	,,
विषयुक्त पशु-चिकित्सा	,,
स्त्रियों द्वारा गरविष-प्रयोग	७९९
गरविष के लक्षण	,,
गरविष में वमन-प्रयोग	८००
वमन आदि योग	,,
नागदन्त्यादि घृत	,,
अमृतघृत	८०१
छाता-वंशदंड-धारण के लाभ	८०२

विषय	पृष्ठ
तात्कालिक चिकित्सा-निर्देश	८०२
सर्पदंश-निवारक मणि-प्रयोग	,,
अध्यायगत विषयों का उपसंहार	८०३
(२४) मदात्ययचिकित्साध्याय	**८०४-८३६**
मदिरा की प्रशंसा	८०४
मद्य की निरुक्ति	८०५
मद्य के विभिन्न रूप	,,
मात्रानुसार मद्य-सेवन से लाभ	,,
मद्यसेवन-विधि	,,
मद्य के साथ अवदंश-प्रयोग	८०६
मद्यपान की शास्त्रीय विधि	,,
वातिक पुरुष के लिए मद्यपान-विधि	,,
पैत्तिक पुरुष के लिए मद्यपान-विधि	,,
श्लैष्मिक पुरुष के लिए मद्यपान-विधान	,,
मद्यपान-विधि का उपसंहार	८०७
प्रकृति के अनुसार मद्य-निर्देश	,,
गुण-दोषकारक मद्य	,,
विधिपूर्वक सेवित मद्य	,,
विधिहीन सेवित मद्य	,,
मद्य का प्रभाव	,,
मल के दस गुण	८०८
ओजस् के दस गुण	,,
मद्य का ओजस् पर प्रभाव	,,
रस आदि का स्थान हृदय	,,
अधिक मद्यपान का प्रभाव	८०९
मद की तीन अवस्थाएँ	,,
पैष्टिक मद्य के गुण	,,
मदविभ्रम का लक्षण	,,
मद की तीन अवस्थाएँ	८१०
प्रथम मद के लक्षण	,,
मध्यम मद के लक्षण	,,
मध्यम-उत्तम मद के बीच की स्थिति	,,
तृतीय मद के लक्षण	८११
मनःसमाधि का महत्त्व	,,
मन द्वारा मनःक्षोभ	८१२
दोष तथा रोग का कारण मद्य	,,
मद्यपान के दोष	,,
मद्यपान-जनित रोग	,,
स्मृतिनाशक मद्य	,,

विषय	पृष्ठ
युक्तियुक्त समापान	८१३
युक्तियुक्त मद्य-प्रशंसा	,,
अन्न और विष की समानता	,,
युक्तियुक्त मद्य के गुण	,,
मद्य के गुण	,,
प्रथम मद की प्रशंसा	८१४
मद्य-सेवन से दुःखनाश	,,
छः त्रिकों का वर्णन	,,
युक्तियुक्त मद्यपान-परिभाषा	८१५
युक्तिपूर्वक मद्यपान से लाभ	,,
मद्य का सत्त्व पर प्रभाव	,,
मद्य की उभयार्थकारिता	,,
प्रकृतिदर्शक-मद्य	८१६
सात्त्विक मद्यपान	,,
सात्त्विक पुरुषों पर मद्य का प्रभाव	,,
राजस मद्यपान	,,
तामस मद्यपान	,,
मद्यपान-गोष्ठी में त्याज्य भाव	,,
मद्यपान के योग्य भाव	८१७
मद्यपान में सुसहायों का महत्त्व	,,
अनुकूल परिस्थिति में मद्यपान	,,
जिन पर देर में मद्य प्रभावी होता है	,,
मद्यपान के अयोग्य व्यक्ति	,,
मदात्यय-प्रकरण	
मदात्यय की प्रस्तावना	८१८
वातज मदात्यय का निदान	,,
वातज मदात्यय के लक्षण	,,
पित्तज मदात्यय का निदान	,,
पित्तज मदात्यय के लक्षण	,,
कफज मदात्यय का निदान	८१९
कफज मदात्यय के लक्षण	,,
विष तथा मद्य के गुणों में समानता	,,
विष-तुल्य मद्य-मद	,,
मदात्ययों में त्रिदोषज लक्षण	,,
मदात्यय का सामान्य लक्षण	८२०
मदात्यय का चिकित्सासूत्र	,,
वैकल्पिक चिकित्सा-क्रम	,,
मदात्यय में मद्य-प्रयोग	,,
मद्य के पच जाने पर व्यवस्था	८२१

विषय	पृष्ठ
सुसंस्कृत मद्य-प्रयोग	८२१
मद्यपान से हानि	,,
अम्ल-क्षार की परस्पर प्रतिक्रिया	,,
मदात्यय में मद्य-प्रयोग का महत्त्व	८२२
यथाविधि मद्यपान से लाभ	,,
मद्यपान से अन्य लाभ	,,
बीजपूरकादि मद्य	८२३
वातिक मदात्यय में मांस-प्रयोग	,,
वातिक मदात्यय में पथ्य	,,
पथ्य के संस्कार-भेद	,,
वातिक मदात्यय में पेय	८२४
मात्रा एवं कालानुसार चिकित्सा	,,
वातिक मदात्यय-चिकित्सा का उपसंहार	,,
पैत्तिक मदात्यय-चिकित्सा का उपसंहार	,,
पैत्तिक मदात्यय में आहार-द्रव्य	८२५
पैत्तिक मदात्यय में वमन	,,
तर्पणादि कर्म का विधान	,,
कासादि लक्षणों की चिकित्सा	८२६
पैत्तिक मदात्यय में द्राक्षारस-प्रयोग	,,
प्यास लगने पर मद्य की मात्रा	,,
विविध पेय योग	,,
अम्लद्रव्यज मुखलेप	८२७
पित्तज मदात्यय में आहार-विहार	,,
कमलों का प्रयोग	,,
मदात्यय की प्राकृतिक चिकित्सा	,,
दाहशामक यन्त्र-प्रयोग	,,
प्रियङ्ग्वादि लेप	८२८
बदरीपल्लवादि फेन लेप	,,
परिषेक तथा प्रदेह-प्रयोग	,,
शीतल जल का प्रयोग	,,
सुखसाध्य मदात्यय की स्थिति	८२९
कफज मदात्यय-चिकित्सा	,,
कफज मदात्यय में विविध पेय	,,
निरामकफज मदात्यय-चिकित्सा	,,
कफज मदात्यय में आहार-द्रव्य	,,
अन्य आहार-द्रव्य	८३०
कफज मदात्यय में मांस-प्रयोग	,,
भूँजे हुए मांस का प्रयोग	,,
मांस के विविध प्रयोग	,,
अष्टाङ्ग लवण	८३१

विषय	पृष्ठ
चटनी का प्रयोग	८३१
मुनक्का की चटनी	,,
मंगरैला की चटनी	,,
राग के अन्य प्रयोग	८३२
कफज मदात्यय में आहार-विहार	,,
सन्निपातज मदात्यय-चिकित्सासूत्र	,,
उत्तम चिकित्सक का परिचय	८३३
मदात्यय में प्रहर्षण-चिकित्सा	,,
हर्षणी-क्रिया का सैद्धान्तिक रहस्य	,,
मदात्यय में दुग्ध-प्रयोग	,,
दुग्ध-प्रयोग में उपमा	,,
मद्य का पुनः क्रमशः प्रयोग	८३४
ध्वंसक-विक्षय-रोगोत्पत्ति	,,
ध्वंसक-विक्षय-निदान-चिकित्सा की प्रस्तावना	,,
ध्वंसक के लक्षण	,,
विक्षय के लक्षण	,,
ध्वंसक-विक्षय-चिकित्सा	८३५
वातनाशक चिकित्सा-निर्देश	,,
मद्यपान न करने से लाभ	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(२५) द्विव्रणीयचिकित्साध्याय	**८३६-८६२**
प्रस्तावना	८३६
अग्निवेश का प्रश्न	,,
महर्षि आत्रेय का उत्तर	८३७
आगन्तुज व्रण के कारण	,,
आगन्तुज व्रण की चिकित्सा	,,
निजव्रणों का निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
वातज व्रण के लक्षण	८३८
वातज व्रण-चिकित्सासूत्र	,,
पित्तज व्रण के लक्षण	,,
पित्तज व्रण-चिकित्सासूत्र	,,
कफज व्रण के लक्षण	,,
कफज व्रण की चिकित्सा	,,
व्रणों के अन्य भेद	,,
व्रणस्थान आदि का वर्णन	८३९
नानात्व-भेद से व्रण के २० प्रकार	,,
व्रणों की त्रिविध परीक्षा	८४०
दर्शन-परीक्षा	,,
प्रश्न-परीक्षा	,,
स्पर्श-परीक्षा	,,

विषय	पृष्ठ
बारह प्रकार के दुष्टव्रण	८४१
व्रण के आठ स्थान	,,
आठ प्रकार की व्रणगन्ध	,,
व्रणस्राव के चौदह भेद	,,
व्रणों के उपद्रव	८४२
व्रण के २४ दोष	,,
कष्टसाध्य व्रण	८४३
सुखसाध्य व्रण के लक्षण	,,
असाध्य व्रण के लक्षण	,,
विशोधन-चिकित्सा	,,
व्रण के ३६ उपक्रम	,,
रक्तमोक्षण-निर्देश	८४५
व्रणशोधन-निर्देश	,,
शोथशामक वटादि लेप	,,
विजयादि प्रदेह	,,
सक्तु आदि प्रदेह	८४६
व्रणपाटन-विधि	,,
व्रणशोथ में उपनाह	८४७
तिलादि उपनाह	,,
पच्यमान व्रण के लक्षण	,,
पक्वव्रण के लक्षण	,,
पक्वशोथ-भेदक गण	,,
छः प्रकार के शस्त्र-कर्म	,,
पाटनकर्मोचित रोग	८४८
व्यधन के योग्य रोग	,,
छेदन के योग्य रोग	,,
लेखन के योग्य रोग	८४९
प्रच्छन के योग्य रोग	,,
सीवन के योग्य रोग	,,
पीडन के योग्य रोग	,,
व्रणपीडन द्रव्य	८५०
निर्वापण लेप	,,
शतधौतघृत-प्रयोग	,,
व्रणसन्धान-प्रयोग	८५१
फलिन्यादि अवचूर्णन	,,
पञ्चवल्कलादि अवचूर्णन	,,
अस्थिसन्धान-विधि	,,
रोगी को प्रसन्न रखें	८५२
उपद्रवों की चिकित्सा	,,
व्रणों में स्वेदन-कर्म	,,

विषय	पृष्ठ
वातप्रधान व्रणों में लेप	८५२
स्नेहशर्करा मलहम	,,
दशमूलादि परिषेचन	८५३
दाहशूलनाशक लेप	,,
दाहशूलनाशक उपनाह	,,
व्रण में एषण कर्म	,,
एषणी के दो भेद	,,
एषणी का उपयोग	,,
अशुद्ध व्रण के लक्षण	,,
व्रणशोधक कषाय	८५४
व्रणशोधक प्रलेप	,,
शुद्ध व्रण के लक्षण	,,
न्यग्रोधादि रोपण क्वाथ	,,
चन्दनादि लेप	८५५
प्रपौण्डरीकादि लेप	,,
कम्पिल्लकादि तैल	,,
प्रपौण्डरीकादि तैल	,,
दूर्वा-तैल	,,
व्रण में घृत-प्रयोग	,,
व्रणों में पत्तों द्वारा आच्छादन	८५६
व्रण-बन्धन-विधि	,,
व्रण में अपथ्य	,,
व्रणरोग में पथ्य	८५७
निम्न व्रणों की चिकित्सा	,,
व्रणों में अवसादन	,,
व्रण में अग्निकर्म	८५८
अग्निकर्मोचित द्रव्य	,,
अग्निकर्म के योग्य व्यक्ति	,,
अग्निकर्म के अयोग्य व्यक्ति	,,
व्रण में क्षार-कर्म	८५९
व्रणकाठिन्यकर धूप	,,
व्रणमृदुताकारक धूप	,,
व्रणकठिनताकारक प्रलेप	८६०
व्रणमृदुताकारक प्रलेप	,,
व्रणतर्पण योग	,,
त्वक्सञ्जनन योग	,,
त्वग्विशुद्धिकर प्रलेप	,,
त्वचा को काला करने वाला लेप	,,
त्वक्सवर्णीकरण लेप	८६१
वर्णकर-लेप	,,

विषय	पृष्ठ
रोमसञ्जनन-प्रयोग	,,
सोलह उपद्रवों की चिकित्सा	८६२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(२६) त्रिमर्मीयचिकित्साध्याय	**८६२-९२०**
तीन प्रधान मर्म	८६३
उदावर्त : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
उदावर्त का लक्षण	८६४
उदावर्तज रोग	,,
चिकित्सा-प्रस्तावना	,,
चिकित्सा-सिद्धान्त	,,
श्यामादि गुदवर्ति	८६५
पिण्याकादि वर्ति	,,
श्यामादि प्रधमन चूर्ण	,,
रक्षोघ्नादि प्रधमन चूर्ण	,,
निरूहवस्ति का प्रयोग	८६६
दोषानुसार निरूहवस्ति	,,
यवान्नादि प्रयोग	,,
विरेचन द्रव्य-प्रयोग	,,
द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण	,,
वचादि चूर्ण	८६७
हिङ्ग्वादि चूर्ण	,,
स्थिरादि घृत	,,
विरेचनोक्त फल-मूल-प्रयोग	,,
आनाह-उदावर्त-प्रकरण	
आनाहरोग : लक्षण तथा चिकित्सा-सूत्र	८६८
एरण्डतैल-प्रयोग	,,
एरण्डतैल के गुण-कर्म	८६९
मूत्रकृच्छ्र-प्रकरण	
मूत्रकृच्छ्र का निदान	८६९
मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति	,,
वातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	८७०
पित्तज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	,,
कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	,,
सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	,,
अश्मरी की सम्प्राप्ति	,,
अश्मरियों के रूप	८७१
अश्मरी-जनित मूत्र की प्रवृत्ति	,,
शर्करा का स्वरूप	,,
शुक्रवेगरोधज मूत्रकृच्छ्र	,,

विषय	पृष्ठ
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र	८७२
रक्तज मूत्रकृच्छ्र	,,
मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा-प्रकरण	
वातज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा	८७२
मूत्रकृच्छ्र में मिश्रक स्नेह	८७३
उपनाह-प्रयोग	,,
पित्तज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा	,,
शतावर्यादि क्वाथ	,,
पित्तज मूत्रकृच्छ्रहर योग	,,
मूत्रकृच्छ्रनाशक योग	८७४
अन्य दो योग	,,
कफज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा	,,
व्योषादि चूर्ण	,,
कफज मूत्रकृच्छ्रनाशक योग	,,
सप्तच्छदादि प्रयोग	८७५
त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा	,,
अश्मरी-शर्करा-चिकित्सा	,,
पाषाणभेदादि चूर्ण	,,
पाषाणभेदादि घृत	,,
गोक्षुरादि योग	,,
पुनर्नवादि योग	८७६
त्रुट्यादि चूर्ण	,,
शिग्रु-प्रयोग	,,
अश्मरी-शर्कराहर-योग	,,
मूत्रकृच्छ्रहर योग	,,
अश्मरीनाशक उपाय	,,
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा	८७७
कार्पासमूलादि योग	,,
विविध-विधान	,,
रक्तज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा	८७८
श्वदंष्ट्रादि घृत	,,
मधुरगण का प्रयोग	,,
अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र रोग में अपथ्य	,,
हृद्रोग-प्रकरण	
हृदयरोग-निदान	८७९
हृदयरोग के लक्षण	,,
वातज हृद्रोग के लक्षण	,,
पित्तज हृद्रोग के लक्षण	,,
कफज हृद्रोग के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
सन्निपातज हृद्रोग के लक्षण	८७९
क्रमिज हृद्रोग के लक्षण	,,
वातज हृद्रोग-चिकित्सा	८८०
पुनर्नवादि तैल	,,
हरीतक्यादि घृत	,,
पुष्करमूलादि कल्क	,,
पुष्करमूलादि क्वाथ	,,
पथ्यादि कल्क	८८१
त्र्यूषणादि घृत	,,
पित्तज हृद्रोग-चिकित्सा	,,
मुलेठी आदि द्रव्यों का प्रयोग	,,
द्राक्षादि घृत	८८२
कशेरुकादि घृत	,,
स्थिरादि घृत	,,
कफज हृद्रोग-चिकित्सा	,,
कट्फलादि कषाय	८८३
कृष्णादि चूर्ण	,,
उदुम्बरादि लेह	,,
कफज हृद्रोग में शिलाजतु-प्रयोग	,,
त्रिदोषज हृद्रोग-चिकित्सा	८८४
हृदयशूल में सुरदार्वादि चूर्ण	,,
हृदयशूल में अन्य योग	,,
क्रमिज हृद्रोग-चिकित्सा	,,
शिरोरोग-प्रकरण	
प्रतिश्याय : निदान एवं सम्प्राप्ति	८८५
वातज प्रतिश्याय के लक्षण	,,
पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण	,,
कफज प्रतिश्याय के लक्षण	,,
सन्निपातज प्रतिश्याय के लक्षण	,,
दुष्टप्रतिश्याय के लक्षण	८८६
क्षवथु के लक्षण	,,
नासापरिशोष के लक्षण	,,
नासाप्रतीनाह के लक्षण	८८७
नासापरिस्राव के लक्षण	,,
पूतिनस्य के लक्षण	,,
अपीनस के लक्षण	,,
घ्राणपाक के लक्षण	८८८
घ्राणशोथ के लक्षण	,,
नासार्बुद के लक्षण	,,
पूयरक्त के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
अरूंषिका के लक्षण	८८८
दीप्तरोग के लक्षण	,,
शिरोरोग-निदान	,,
वातज मुखरोग-निदान	८८९
पित्तज मुखरोग-निदान	,,
कफज मुखरोग-निदान	,,
सन्निपातज मुखरोग-निदान	,,
अरोचक-प्रकरण	
अरोचकरोग-निदान	८९०
वातज अरोचक के लक्षण	,,
पित्तज अरोचक के लक्षण	८९१
कफज अरोचक के लक्षण	,,
आगन्तुक अरोचक के लक्षण	,,
त्रिदोषज अरोचक के लक्षण	,,
कर्णरोग-प्रकरण	
वातज कर्णरोग के लक्षण	८९१
पित्तज कर्णरोग के लक्षण	,,
कफज कर्णरोग के लक्षण	८९२
सन्निपातज कर्णरोग के लक्षण	,,
नेत्ररोग-प्रकरण	
वातज नेत्ररोग के लक्षण	८९२
पित्तज नेत्ररोग के लक्षण	,,
कफज नेत्ररोग के लक्षण	,,
सन्निपातज नेत्ररोग के लक्षण	,,
पराधिकार में विस्तार का निषेध	८९३
खालित्यरोग का निदान	,,
पलितरोग का निदान	,,
हरिकेशता का निदान	,,
वातज पीनसरोग-चिकित्सा	,,
शताह्वादि धूमवर्ति	८९४
नवप्रतिश्याय में धूमपान	,,
प्रतिश्याय-जनित पीड़ा में कर्तव्य	,,
प्रतिश्याय-जनित रोग में नस्य-प्रयोग	,,
स्निग्धनस्य-प्रयोग	,,
अणुतैल-निर्माण-विधि	,,
वातज पीनस में आस्थापनवस्ति	८९५
वातज पीनस में पथ्य	,,
वातज पीनस में अपथ्य	,,
पित्तज पीनस-चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
पीनस में पाठादि तैल	८९५
पूयरक्तरोग-चिकित्सा	,,
पित्तज पीनस में पथ्य	८९६
कफज पीनस-चिकित्सा	,,
कफज पीनस में वमन-प्रयोग	,,
धूमपान तथा अवपीड नस्य	,,
मनःशिलादि नस्य	,,
भार्ग्यादि तैल	८९७
पीनस में वमन-प्रयोग	,,
कफज पीनस में पथ्य	,,
दुष्ट पीनस की चिकित्सा	,,
वातज शिरोरोग-चिकित्सा	,,
उपनाह-प्रयोग	,,
रास्नादि तैल	८९८
बलादि तैल	,,
मायूरघृत	,,
महामायूरघृत	८९९
मूषकादि मांससाधितघृत-प्रयोग	,,
पित्तज शिरोरोग-चिकित्सा	९००
चन्दनादि प्रदेह तथा परिषेक	,,
पित्तज शिरोरोग में अवपीड नस्य	,,
मधुयष्ट्यादि घृत	,,
कफज शिरोरोग-चिकित्सा	,,
कफजवातज शिरोरोग-चिकित्सा	,,
सन्निपातज तथा क्रिमिज शिरोरोग-चिकित्सा	,,
एरण्डादि धूमवर्ति	९०१
सन्निपातज शिरोरोग-चिकित्सा	,,
त्वगादि तैल, प्रधमन चूर्ण	,,
अवपीड नस्य तथा कवलग्रह	९०२
मुखरोग-चिकित्सासूत्र	,,
पिप्पल्यादि चूर्ण	,,
तेजोह्वादि चूर्ण	,,
क्षारगुटिका	९०३
कालकचूर्ण	,,
पीतकचूर्ण	९०४
मृद्वीकादि चूर्ण	,,
कटुकादि क्वाथ	,,
रसक्रिया-विधि एवं उसके लाभ	९०५
तालुशोषरोग-चिकित्सा	,,
मुखपाक-चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
मुखधावन द्रव्य	९०५
खदिरादि गुटिका, खदिरादि तैल	९०६
अरोचक-चिकित्सा	९०७
अरोचक में कवलग्रह	,,
अरोचक-नाशक द्रव्य	,,
अरोचक-चिकित्सासूत्र	,,
कर्णरोग-चिकित्सा	,,
हिङ्ग्वादि तैल	,,
देवदार्वादि तैल	९०८
गन्ध-तैल	,,
क्षार-तैल	,,
मुख-कर्ण-नेत्र-चिकित्सासूत्र	९०९
नेत्ररोग में बिडालक-प्रयोग	,,
वातज नेत्ररोगहर बिडालक	,,
पित्तज नेत्ररोगहर बिडालक	९१०
कफज नेत्ररोगहर बिडालक	,,
सान्निपातिक नेत्ररोग में बिडालक	,,
वातज नेत्ररोग में आश्च्योतन	,,
पित्तज नेत्ररोग में आश्च्योतन	९११
कफज नेत्ररोग में आश्च्योतन	,,
सन्निपातज नेत्ररोग में आश्च्योतन	,,
बृहत्यादि वर्ति	,,
सुमनःकोरकादि वर्ति	,,
सैन्धवादि वर्ति	९१२
अमृतादि वर्ति	,,
शङ्खादि वर्ति	,,
१. चूर्णाञ्जन	,,
२. चूर्णाञ्जन	,,
तिमिरादि रोग-चिकित्सा	९१३
सुखावतीवर्ति	,,
दृष्टिप्रदावर्ति	,,
तिमिरनाशक नेत्राञ्जन	९१४
पिप्पल्यादि रसक्रिया	,,
कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया	,,
अन्धत्वहर योग	,,
धात्र्यादि रसक्रिया	९१५
शिरोरोग-चिकित्सा	,,
विदारीगन्धादि तैल	,,
सहचरादि तैल	,,
१. पलितनाशक योग	९१६

विषय	पृष्ठ
२. पलितनाशक योग	९१६
महानील तैल	,,
प्रपौण्डरीकादि तैल	९१७
प्रियालादि योग	,,
तिलादि योग	,,
पलितहर योग	,,
शिरोरोग का उपसंहार	९१८
वातज स्वरभेद-चिकित्सासूत्र	,,
वातज स्वरभेद-चिकित्सा	,,
पित्तज स्वरभेद-चिकित्सा	,,
कफज स्वरभेद-चिकित्सासूत्र	,,
कफज स्वरभेद-चिकित्सा	,,
रक्तज स्वरभेद-चिकित्सा	,,
पित्तज स्वरभेद-चिकित्सा	,,
सन्निपातज स्वरभेद-चिकित्सा	९१९
त्रिमर्मीय रोगों का सामान्य चिकित्सासूत्र	,,
वात-पित्त-कफ का महत्त्व	,,
वात-पित्त-कफ परस्पर घातक नहीं	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९२०
(२७) ऊरुस्तम्भचिकित्साध्याय	**९२०-९३०**
आत्रेय का परिचय, अग्निवेश का प्रश्न	९२०
पञ्चकर्म-चिकित्सा की सीमा	९२१
महर्षि आत्रेय का उत्तर	,,
ऊरुस्तम्भ : निदान एवं सम्प्राप्ति	,,
ऊरुस्तम्भ का आलंकारिक स्वरूप	९२२
ऊरुस्तम्भ के लक्षण	,,
ऊरुस्तम्भ की निरुक्ति	,,
ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप	९२३
स्नेहन-क्रिया के दोष	,,
ऊरुस्तम्भ के लक्षण	,,
ऊरुस्तम्भ की साध्यता-असाध्यता	,,
ऊरुस्तम्भ में पञ्चकर्म का निषेध	,,
ऊरुस्तम्भ में पञ्चकर्म की असमर्थता	,,
पञ्चकर्म के प्रभाव की सीमा	९२४
पञ्चकर्म की असफलता में कारण	,,
ऊरुस्तम्भ में कफ तथा आमदोष-चिकित्सा	,,
ऊरुस्तम्भ में रूक्ष चिकित्सा	,,
ऊरुस्तम्भ में पत्रशाक	,,
ऊरुस्तम्भ-हर द्रव्य	,,
ऊरुस्तम्भ-हर योग	९२५

विषय	पृष्ठ
ऊरुस्तम्भ-हर पाँच योग	९२५
शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण	,,
मूर्वादि योग	९२६
स्वर्णक्षीर्यादि चूर्ण	,,
ऊरुस्तम्भ में मांसरस	९२७
वातप्रकोप में स्नेहन-स्वेदन	,,
पीलुपर्ण्यादि तैल	,,
कुष्ठादि तैल	,,
सैन्धवादि तैल	९२८
अष्टकट्वर तैल	,,
बाह्यचिकित्सा का उपदेश	,,
वल्मीकमृत्तिकादि उत्सादन	,,
अश्वगन्धादि उत्सादन	९२९
दन्त्यादि प्रलेप	,,
तर्कार्यादि लेप	,,
सर्षप लेप	,,
वत्सकादि लेप	,,
श्योनाकादि परिषेक तथा लेप	,,
ऊरुस्तम्भ में हितकर विहार	९३०
ऊरुस्तम्भ में संक्षिप्त चिकित्सासूत्र	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(२८) वातव्याधिचिकित्साध्याय	**९३१-९८३**
वायु का महत्त्व	९३१
वायु का जीवन के सम्बन्ध	९३२
वायु के पाँच भेद	,,
प्राणवायु-परिचय	
प्राणवायु का स्थान तथा कर्म	९३३
उदानवायु-परिचय	
उदानवायु का स्थान तथा कर्म	९३४
समानवायु-परिचय	
समानवायु का स्थान तथा कर्म	९३४
व्यानवायु-परिचय	
व्यानवायु का स्थान तथा कर्म	९३५
अपानवायु-परिचय	
अपानवायु का स्थान तथा कर्म	९३५
विकृत वातों का परिणाम	९३६
अस्सी प्रकार की वातव्याधियाँ	,,
वातव्याधि की प्रस्तावना	९३७

विषय	पृष्ठ
वायु के प्रकोपक कारण	९३८
वातव्याधियों का पूर्वरूप	,,
वातव्याधि का लक्षण	,,
कुपित वायु के लक्षण	,,
वायु के लक्षणों में विशेषता	९३९
कोष्ठाश्रित वायु के लक्षण	,,
सर्वाङ्गकुपित वात के लक्षण	,,
गुदगत वात के लक्षण	,,
आमाशयगत वात के लक्षण	९४०
पक्वाशयगत वात के लक्षण	,,
इन्द्रियगत वात के लक्षण	९४१
त्वचागत वात के लक्षण	,,
रक्तगत वात के लक्षण	९४२
मांस-मेदोगत वात के लक्षण	,,
मज्जा-अस्थिगत वात के लक्षण	,,
शुक्रगत वात के लक्षण	,,
स्नायुगत वात के लक्षण	,,
शिरोगत वात के लक्षण	,,
सन्धिगत वात के लक्षण	,,
अर्दित के लक्षण	९४३
मन्यास्तम्भ के लक्षण	९४४
धनुस्तम्भ के लक्षण	९४५
हनुस्तम्भ के लक्षण	,,
आक्षेपक के लक्षण	,,
दण्डक के लक्षण	९४६
वातरोगों में चिकित्सा-विचार	,,
पक्षवध के लक्षण	,,
एकांगरोग के लक्षण	९४७
गृध्रसी के लक्षण	,,
खल्लीरोग के लक्षण	९४८
वातव्याधि में अन्य दोषों का अनुबन्ध	,,
सभी दोषों का प्रकोपक वायु	,,
वातदोष द्वारा धातु-शोषण	९४९
पित्तावृत वात के लक्षण	,,
कफावृत वात के लक्षण	,,
रक्तावृत वात के लक्षण	,,
मांसावृत वात के लक्षण	,,
मेदस् से आवृत वात के लक्षण	,,
अस्थ्यावृत वात के लक्षण	९५०
मज्जावृत वात के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
शुक्रावृत वात के लक्षण	९५०
अन्नावृत वात के लक्षण	,,
मूत्रावृत वात के लक्षण	,,
मलावृत वात के लक्षण	९५१
कतिपय वातव्याधियाँ	,,
वातव्याधि-चिकित्सा	,,
वातव्याधि में वस्ति-प्रयोग	,,
वातव्याधि में स्वेदन	९५२
वातव्याधि में स्नेहन से लाभ	,,
स्नेहन-क्रिया से लाभ	,,
स्नेहन-क्रिया के अन्य लाभ	,,
स्नेहन-स्वेदन का बार-बार प्रयोग	,,
वातव्याधि में मृदुविरेचन	९५३
मृदुविरेचक तीन प्रयोग	,,
वातव्याधि में वातानुलोमन	,,
निरूहवस्ति-प्रयोग	९५४
वातव्याधि में नस्य-प्रयोग	,,
कोष्ठगत वात-चिकित्सा	,,
गुदपक्वाशयगत वात-चिकित्सा	,,
आमाशयगत वात-चिकित्सा	,,
सर्वांगवात में वस्ति-प्रयोग	९५५
त्वचागत वात-चिकित्सा	,,
रक्तगत वात-चिकित्सा	,,
मांस-मेदोगत वात-चिकित्सा	,,
अस्थिमज्जगत वात-चिकित्सा	,,
शुक्रगत वात-चिकित्सा	,,
शुक्रप्रवर्तन	,,
गर्भाशतगत वात-चिकित्सा	,,
हृदयगत वात-चिकित्सा	९५६
वातोद्वेष्टन चिकित्सा	,,
नाभिगत वात चिकित्सा	,,
वातोद्वेष्टन चिकित्सा	,,
वातज संकोच चिकित्सा	,,
बाहु तथा शिरोगत वात-चिकित्सा	,,
नाभि से नीचे आश्रित वात की चिकित्सा	,,
अर्दित रोग-चिकित्सा	,,
पक्षाघात-चिकित्सा	९५७
गृध्रसी-चिकित्सा	,,
खल्लीरोग-चिकित्सा	,,
विवृतास्य-चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
स्थानदूष्य के अनुसार चिकित्सा	९५७
वातरोग में आहार-विहार निर्देश	९५८
मांसरस-प्रयोग	,,
मांस-उपनाह	,,
वातरोगियों के लिए अवगाहन	,,
वातरोग में नाड़ीस्वेद	९५९
मुस्तादि-उपनाह	,,
वातव्याधि में लेप-प्रयोग	,,
उपनाह-प्रयोग	९६०
नानात्मज वातव्याधि-चिकित्सा	,,
केवलवातहर दशमूलादि घृत	,,
चित्रकादि घृत	९६१
बलादि घृत	,,
मज्जस्नेह-प्रयोग	,,
वसास्नेह-प्रयोग	९६२
त्रिफलादि महास्नेह-प्रयोग	,,
निर्गुण्डी-तैल	९६३
मूलक-तैल	९६४
लघुपञ्चमूल तैल	,,
यवादि तैल	,,
अन्य स्नेह	९६५
सहाचर-तैल	,,
श्वदंष्ट्रा-तैल	,,
बला-तैल	९६६
अमृतादि तैल	,,
रास्ना-तैल	९६७
अन्य तैलपाक-निर्देश	९६८
मूलकादि तैल	,,
वृषमूलादि तैल	९६९
मूलक तैल	९६९–७०
वन्ध्यत्वनाशक तैल	९७०
अगुर्वादि तैल	,,
वातरक्तोक्त स्नेहों का प्रयोग	,,
वातरोगों में तैल-प्रयोग	,,
वातव्याधि का चिकित्सा-सूत्र	९७१
पित्तावृत बात-चिकित्सा	,,
पित्तावृत वातरोग में पथ्य	,,
पित्तावृत वातरोग में परिषेचन	,,
कफावृत वातरोग में पथ्य	,,
पित्त-कफ के संसर्ग में प्रथम पित्त-चिकित्सा	९७२

विषय	पृष्ठ
कफ-पित्तनाशक विविध उपाय	९७२
वस्ति-प्रयोग का अवसर	,,
दोषनिर्हरण-विधि	,,
धूम-नस्य-प्रयोग	,,
केवल वातहर-चिकित्सा	,,
रक्तावृत वात-चिकित्सा-सूत्र	,,
आमावृत वात-चिकित्सा	,,
मांसावृत वात-चिकित्सा	,,
अस्थिमज्जगत वात-चिकित्सा	९७३
शुक्रावृत वात-चिकित्सा	,,
अन्नावृत वात-चिकित्सा	,,
मूत्रगत वात-चिकित्सा	,,
पुरीषगत वात-चिकित्सा	,,
स्थानीय-दोष-चिकित्सा	,,
वात-आवरण-प्रकरण	
वायु के आवरण	९७४
वायु के बीस आवरण	,,
प्राणावृत व्यानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
व्यानावृत प्राणवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
प्राणावृत समानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	९७५
समानावृत अपानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
प्राणावृत उदानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
उदानावृत प्राणवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
उदानावृत अपानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
अपानावृत उदानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
व्यानावृत अपानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	९७६
अपानावृत व्यानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
समानावृत व्यानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
उदानावृत व्यानवायु के लक्षण तथा चिकित्सा	,,
अन्य आवरण-परिचायक सूत्र	,,
वात-आवरण-प्रकरण का उपसंहार	९७७
वात-चिकित्सा में वृद्धि-हानि-विचार	,,
वात-चिकित्सासूत्र	,,
पित्तावृत प्राणवायु के लक्षण	९७८
कफावृत प्राणवायु के लक्षण	,,
पित्तावृत उदानवायु के लक्षण	,,
कफावृत उदानवायु के लक्षण	,,
पित्तावृत समानवायु के लक्षण	,,
कफावृत समानवायु के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
पित्तावृत व्यानवायु के लक्षण	९७९
कफावृत व्यानवायु के लक्षण	,,
पित्तावृत अपानवायु के लक्षण	,,
कफावृत अपानवायु के लक्षण	,,
द्वन्द्वावृत वायु के लक्षण	,,
आवरक-दोषानुसार रोगों की उत्पत्ति	९८०
प्राण और उदानवायु के आवरण की प्रधानता	,,
प्राण तथा उदानवायु का महत्त्व	,,
आवृत वातों की साध्यता-असाध्यता	,,
उपेक्षित आवृत वायु के उपद्रव	,,
आवरणज्ञान की आवश्यकता	,,
आवृत वायु की चिकित्सा	९८१
यापनावस्ति-प्रयोग	,,
रसायन आदि प्रयोग	,,
च्यवनप्राश तथा अभयामलकी प्रयोग	,,
आवृत अपानवायु की चिकित्सा	९८२
आवृत वातचिकित्सा-सूत्र	,,
पित्त तथा कफावृत वात-चिकित्सा	,,
वातादि दोषों का ज्ञान दुर्विज्ञेय	,,
चिकित्साकाल में विचार	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९८३
(२९) वातशोणितचिकित्साध्याय ९८३-१००८	
अग्निवेश के प्रश्न	९८४
वातरक्तरोग के कारण	,,
वातरक्त की सम्प्राप्ति	,,
वातरक्त के स्थान	९८५
वातरक्त की विशेष सम्प्राप्ति	,,
वातरक्त रोग के पूर्वरूप	९८६
वातरक्त के भेद	,,
उत्तान वातरक्त के लक्षण	,,
गम्भीर वातरक्त के लक्षण	,,
उभयाश्रित वातरक्त के लक्षण	९८७
वातरक्त के भेद	,,
वातज वातरक्त के लक्षण	,,
रक्तज वातरक्त के लक्षण	,,
पित्तज वातरक्त के लक्षण	,,
कफज वातरक्त के लक्षण	,,
वातरक्त की साध्यादि अवस्थाएँ	९८८
वातरक्त के उपद्रव	,,
असाध्य वातरक्त के अन्य लक्षण	९८९

विषय	पृष्ठ
याप्य वातरक्त के लक्षण	९८९
साध्य वातरक्त के लक्षण	,,
वातरक्त की असाध्यता में कारण	,,
वातरक्त की चिकित्सा	,,
वातरक्त में रक्तमोक्षण	,,
रक्तमोक्षण का निषेध	९९०
रक्तमोक्षण से हानि	,,
अधिक रक्तमोक्षण से हानि	,,
वातरक्त में चिकित्साक्रम	९९१
वातरक्त चिकित्सा में विशेषता	,,
वातप्रधान वातरक्त-चिकित्सा	,,
रक्तपित्त-प्रधान वातरक्त-चिकित्सा	,,
कफप्रधान वातरक्त-चिकित्सा	९९२
शीतल लेप से हानि	,,
उष्ण लेप से हानि	,,
वातरक्त रोग में अपथ्य	,,
वातरक्त रोग में पथ्य	,,
वातरक्त में पथ्य दालें	,,
वातरक्त में हितकर शाक	९९३
वातरक्त-चिकित्सा का उपसंहार	,,
श्रावण्यादि घृत	,,
बलादि घृत	,,
पारूपक घृत	९९४
द्विपञ्चमूलादि घृत	,,
द्राक्षादि घृत एवं क्षीर	९९५
जीवकादि महास्नेह	,,
स्थिरादि घृत तथा तैल	९९६
तैल आदि का प्रयोग	,,
अंशुमती का प्रयोग	,,
बलादि क्षीर	९९७
श्यामादि क्षीर	,,
वातरक्तनाशक योग	,,
एरण्डतैल-प्रयोग	,,
कतिपय वातरक्तनाशक योग	,,
काश्मर्यादि क्वाथ	,,
त्रिफलाक्वाथ-प्रयोग	९९८
धान्यादि क्वाथ-प्रयोग	,,
वातरक्त में मृदुविरेचन	,,
वातरक्त में वस्ति-प्रयोग	,,
निरूह तथा अनुवासनवस्ति-प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
तैल-प्रयोग-निर्देश	९९८
मधुयष्ट्यादि तैल	९९९
सुकुमारक तैल	,,
अमृतादि तैल	१०००
महापद्म तैल	,,
खुड्डाकपद्मक तैल	१००१
मधुक तैल	,,
शतपाक-मधुकतैल	,,
शतपाक-सहस्रपाक-बलातैल	१००२
गुडूच्यादि तैल	,,
आरनालादि तैल	,,
पिण्ड तैल	१००३
दशमूलादि क्षीर	,,
चारों स्नेहों का प्रयोग	,,
अन्य प्रयोग	,,
दाहशामक-परिषेचन	,,
दाहशामक अन्य प्रयोग	,,
दाहनाशक लेप	१००४
तिलादि लेप	,,
प्रपौण्डरीकादि लेप	,,
वातप्रधान वातरक्त-चिकित्सा	,,
वातप्रधान वातरक्त में उपनाह	,,
सहचरादि योग	,,
शूलनाशक योग	१००५
वातरक्त में मधूच्छिष्ट लेप	,,
कफप्रधान वातरक्त-चिकित्सा	,,
पद्मकादि घृत	,,
कफप्रधान वातरक्त में परिषेक	१००६
सर्षपादि लेप	,,
कपित्थादि लेप	,,
वातकफ-प्रधान वातरक्त-चिकित्सा	,,
तगरादि लेप	,,
मधुशिग्रु-प्रयोग	,,
त्रिफलादि कल्क	,,
चिकित्सा-सम्बन्धी निर्देश	१००७
आवृत वात में स्नेहन-बृंहण-निषेध	,,
मेदोनाशक-प्रयोग	,,
पिप्पलत्वक-प्रयोग	,,
वातरक्तनाशक द्रव्य	,,
वातरक्त में चिकित्सा-विचार	,,

विषय	पृष्ठ
वातरक्त में उपद्रवों की चिकित्सा	१००८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(३०) योनिव्यापच्चिकित्साध्याय १००८-१०७०	
प्रस्तावना	१००९
अग्निवेश के प्रश्न	,,
पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	,,
योनिव्यापद् का निदान	,,
वातला योनि के लक्षण	१०१०
पित्तला योनि के लक्षण	,,
कफजा योनि के लक्षण	१०११
त्रिदोषजा योनि के लक्षण	,,
रक्तजा योनि के लक्षण	,,
अरजस्का योनि के लक्षण	१०१२
अचरणा योनि के लक्षण	,,
अतिचरणा योनि के लक्षण	,,
प्राक्चरणा योनि के लक्षण	,,
उपप्लुता योनि का लक्षण	१०१३
परिप्लुता योनि के लक्षण	१०१४
उदावर्तिनी योनि के लक्षण	,,
कर्णिनी योनि के लक्षण	,,
पुत्रघ्नी योनि के लक्षण	१०१५
अन्तर्मुखी योनि के लक्षण	,,
सूचीमुखी योनि के लक्षण	,,
शुष्का योनि के लक्षण	,,
वामिनी योनि के लक्षण	१०१६
षण्ढी योनि के लक्षण	,,
महायोनि के लक्षण	,,
योनिव्यापदों से हानि	१०१७
योनिव्यापत्तियों का दोषों से सम्बन्ध	१०१८
योनिरोग-चिकित्सासूत्र	,,
विकृत योनि-चिकित्सा	,,
योनिव्यापद् में संशोधन	१०१९
विशेष निर्देश	,,
वातज योनिरोग-चिकित्सा	,,
बलादि यमकस्नेह	,,
काश्मर्यादि घृत	१०२०
पिप्पल्यादि योग	,,
वृषकादि चूर्ण	,,
रास्नादि क्षीर	१०२१

विषय	पृष्ठ
गुडूच्यादि परिषेचन	१०२१
सैन्धवादि तैल	,,
गुडूच्यादि तैल	,,
वातल योनिव्यापत् चिकित्सा	१०२२
दोषानुसार चिकित्सा	,,
पित्तल योनिरोग-चिकित्सा	,,
बृहत्शतावरी-घृत	,,
अन्य योग	१०२३
कफज योनिरोग-चिकित्सा	,,
अर्कादिवर्ति	,,
पिप्पल्यादि वर्ति	१०२४
उदुम्बरादि तैल	,,
उदुम्बर तैल	,,
धातक्यादि तैल	१०२५
योनिप्रक्षालन द्रव	,,
पिप्पल्यादि चूर्ण	,,
दोषानुसार वस्ति-प्रयोग	,,
रक्तयोनि-चिकित्सा	१०२६
वातज रक्तप्रदर-चिकित्सा	,,
पित्तज रक्तप्रदर-चिकित्सा	,,
पुष्यानुग चूर्ण	,,
अन्य योग	१०२७
प्रदरनाशक योग	
पित्तज प्रदर में विरेचन	१०२८
त्रिविध योनिरोग-चिकित्सा	,,
अरजस्कायोनि-चिकित्सा	,,
उत्तरवस्ति-प्रयोग	,,
अचरणायोनि-चिकित्सा	,,
प्राक्चरणा, अतिचरणायोनि-चिकित्सा	१०२९
शताह्वादि-संयाव	,,
वामिनी, उपप्लुतायोनि-चिकित्सा	,,
विप्लुतायोनि-चिकित्सा	१०३०
कर्णिनीयोनि-चिकित्सा	,,
उदावर्ता, वातला एवं स्रस्तायोनि-चिकित्सा	,,
महायोनि-चिकित्सा	१०३१
प्रस्रस्तायोनि-चिकित्सा	,,
महायोनि में वातहर चिकित्सा	,,
योनिरोगों में वातचिकित्सा की प्रधानता	,,
श्वेतप्रदर-चिकित्सा	,,
श्वेतप्रदरनाशक योग	१०३२

विषय	पृष्ठ
पिच्छिलायोनि-चिकित्सा	१०३२
पलाशादि कल्क	१०३३
स्तब्ध, कर्कशयोनि-चिकित्सा	,,
दुर्गन्धितयोनि-चिकित्सा	,,
शुद्धयोनि में गर्भस्थिति	,,
पुरुष-परीक्षा तथा चिकित्सा	१०३४
योनिव्यापत्-प्रकरण का उपसंहार	,,
अग्निवेश के शुक्रदोष सम्बन्धी प्रश्न	,,
महर्षि आत्रेय के उत्तर	,,
दुष्टबीज की दुष्टशुक्र को उपमा	१०३५
शुक्र के दुष्ट होने में कारण	,,
शुक्र के आठ दोष	,,
वातदूषित वीर्य के लक्षण	१०३६
पित्तदूषित वीर्य के लक्षण	,,
कफदूषित वीर्य के लक्षण	,,
रक्तमिश्रित वीर्य के लक्षण	,,
अवसादि वीर्य के लक्षण	,,
शुद्धशुक्र वीर्य के लक्षण	,,
शुक्रदोषहर-चिकित्सा	१०३७
शुक्रदोषनाशक योग	,,
दोषानुसार दूषित शुक्र-चिकित्सा	,,
अन्य धातुसंसृष्ट शुक्र-चिकित्सा	,,
शुक्रदोष-चिकित्सा का उपसंहार	१०३८
नपुंसकता-प्रकरण की प्रस्तावना	,,
नपुंसकता के भेद	,,
नपुंसकता के लक्षण	,,
बीजोपघातज नपुंसकता : कारण एवं लक्षण	,,
ध्वजोपघातज नपुंसकता के कारण	१०३९
ध्वजभंग के लक्षण	१०४०
वृद्धावस्थाजनित नपुंसकता	१०४१
वृद्धावस्थाजनित नपुंसकता की सम्प्राप्ति	,,
क्षयज नपुंसकता के लक्षण	,,
नपुंसकता की असाध्यता	१०४२
जन्मजात नपुंसकता	,,
असाध्य नपुंसक	,,
नपुंसकता-चिकित्सासूत्र	१०४३
नपुंसकता में संशोधन	,,
वाजीकरणोक्त चिकित्सा	,,
ध्वजभङ्गज नपुंसकता-चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
बुढ़ापा तथा क्षय के कारण उत्पन्न नपुंसकता की चिकित्सा	१०४४
रसायनादि-प्रयोग	,,
प्रदर-चिकित्सा-प्रकरण	
प्रदररोग-वर्णन	१०४४
वातज रक्तप्रदर के कारण तथा लक्षण	१०४५
पित्तज रक्तप्रदर के कारण तथा लक्षण	,,
कफज रक्तप्रदर के कारण तथा लक्षण	,,
त्रिदोषज प्रदर के कारण तथा लक्षण	१०४६
असाध्य प्रदर के कारण तथा लक्षण	,,
शुद्ध आर्तव के कारण तथा लक्षण	,,
प्रदरों की सामान्य चिकित्सा	१०४७
अन्य चिकित्सा-सूत्र	,,
स्तन्य-चिकित्सा-प्रकरण	
स्तन्यरोग-प्रस्तावना	१०४७
स्तन्यरोग के कारण तथा सम्प्राप्ति	१०४८
वातज, पित्तज, कफज स्तन्यदोष	,,
विरस स्तन्य की सम्प्राप्ति	,,
विरस स्तन्य का दुष्प्रभाव	१०४९
फेनसंघात स्तन्य की सम्प्राप्ति	,,
फेनसंघात स्तन्य का दुष्प्रभाव	,,
रूक्षता की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव	,,
विवर्णता की सम्प्राप्ति	,,
विवर्ण स्तन्य का दुष्प्रभाव	,,
दुर्गन्ध स्तन्य की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव	,,
स्निग्ध स्तन्य की सम्प्राप्ति	,,
स्निग्ध स्तन्य का दुष्प्रभाव	१०५०
पिच्छिल स्तन्य की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव	,,
गुरु स्तन्य की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव	,,
स्तन्यसम्बन्धी विशेष निर्देश	,,
स्तन्यदोष-चिकित्सा	,,
वमन-प्रयोग	१०५१
विरेचन-प्रयोग	,,
त्रिफलादि प्रयोग	,,
अन्नपान-निर्देश	,,
पथ्य अन्न	,,
पथ्य शाक	,,
यूष के लिए दालें	,,
स्तन्यशोधक यूष	१०५२

विषय	पृष्ठ
मांस-प्रयोग	१०५२
शार्ङ्गेष्टादि जल	,,
स्तन्यशोधक योग	,,
विरस स्तन्य-चिकित्सा	,,
पञ्चकोलादि लेप	,,
फेनसंघात-चिकित्सा	,,
अञ्जनादि लेप	१०५३
किराततिक्तकादि क्वाथ	,,
यवगोधूमादि लेप	,,
रूक्षस्तन्य-चिकित्सा	,,
स्तन्यशोधक लेप	,,
विवर्ण स्तन्य-चिकित्सा	,,
द्राक्षादि लेप	,,
दुर्गन्धित स्तन्य-चिकित्सा	१०५४
अभयादि लेह	,,
सारिवादि लेप	,,
पत्रादि लेप	,,
स्निग्ध स्तन्य-चिकित्सा	,,
पिच्छिल स्तन्य-चिकित्सा	,,
तक्रारिष्ट-प्रयोग	,,
विदार्यादि लेप	,,
गुरुस्तन्य-चिकित्सा	,,
स्तन्यशोधक क्वाथ	१०५५
स्तन्यलेप के दो योग	,,
आठ स्तन्यदोषों का उपसंहार	,,
बालरोग-प्रकरण	
बालरोग-चिकित्सा	१०५५
बालरोग-चिकित्सासूत्र	,,
मधुर आदि द्रव्य-प्रयोग	१०५६
बाल-चिकित्सा में त्याज्य द्रव्य	,,
बाल-चिकित्सा का उपसंहार	,,
चरकसंहिता का संस्कार	१०५७
अनुक्त रोगों का चिकित्सा-निर्देश	१०५८
चिकित्सा का सिद्धान्त	,,
चिकित्सा के आधार	,,
देश का सम्यक् योग	,,
चिकित्सा में देश-विशेष का प्रयोग	१०५९
काल का सम्यक् योग	,,
रोगी की अवेक्षा से काल	,,

विषय	पृष्ठ
औषध की अवेक्षा से काल	१०५९
औषधकालों के प्रयोगावसर	,,
व्याधि-अवेक्षाकाल	१०६१
जीर्णलिङ्गावेक्षाकाल	,,
ऋत्ववेक्ष्य काल	,,
चिकित्सा और रोगी के बल का सम्बन्ध	,,
रोग-रोगी की परीक्षा आवश्यक	,,
काल की उपेक्षा से हानि	१०६२
कालावेक्ष्य का वर्णन	,,
ऋतु तथा रोग का सम्बन्ध	,,
दोषों का अहोरात्र से सम्बन्ध	,,
दोष तथा आयु का सम्बन्ध	,,
दोष तथा आहारपाक का सम्बन्ध	,,
प्रमाणावेक्ष्य सम्यक् योग	१०६३
औषधमात्रा-विचार	,,

विषय	पृष्ठ
सात्म्यावेक्ष्य-सम्यक् योग	१०६३
देशसात्म्य-वर्णन	१०६४-६५
सात्म्य सेवन से लाभ	१०६५
मूर्ख वैद्य से चिकित्सा का निषेध	,,
असात्म्य चिकित्सा का उदाहरण	१०६६
दशविध परीक्षा की आवश्यकता	,,
रोगमुक्त को भी चिकित्सा की आवश्यकता	,,
पथ्य का महत्त्व	१०६७
पथ्य-सेवनकाल में रोगोत्पत्ति पर विचार	,,
रुचि-परिवर्तन की आवश्यकता	,,
मनोनुकूल पथ्य से लाभ	१०६८
अपथ्य-निषेध	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०६९
शास्त्रज्ञान का महत्त्व	,,
उपसंहार	,,

कल्पस्थान

(१) मदनकल्पाध्याय	**१०७१-१०८७**
कल्पस्थान का प्रयोजन	१०७२
वमन-विरेचन की परिभाषा	,,
वमन-विरेचन लक्षण-निर्देश	,,
वमन तथा विरेचन द्रव्य	१०७४
द्रव्यों की समर्थता में कारण	,,
देश के तीन भेद	१०७५
जांगलदेश के लक्षण	,,
आनूपदेश के लक्षण	,,
साधारण देश के लक्षण	१०७६
प्रशस्त औषधद्रव्यों के लक्षण	,,
औषधद्रव्यों की संग्रह-विधि	१०७७
औषधद्रव्यों की रक्षण-विधि	१०७८
दोषानुसार अनुपान	१०७९
मदनफलसंग्रह तथा प्रयोग-विधि	,,
वमन कराने की विधि	१०८०
मधु-सैंधानमक का प्रयोग	[illegible]
मदनफल के प्रयोग	,,
फलपिप्पलीक्षीरज नवनीत-प्रयोग	,,

मदनफल-प्रयोग	१०८३
मदनफल-स्वरस-प्रयोग	१०८४
मदनफल-वर्ति प्रयोग	,,
बीस अवलेह	१०८५
मदनफलसिद्ध उत्कारिका, मोदक-प्रयोग	,,
मदनफलसिद्ध शष्कुली पूप योग	१०८६
मदनफल के विविध प्रयोग	,,
मदनफल के पर्याय	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०८७
(२) जीमूतकल्पाध्याय	**१०८८-१०९१**
जीमूतक के पर्याय	१०८८
जीमूतक का प्रयोग	,,
जीमूतक के पाँच योग	,,
जीमूतक की मात्रा	१०८९
जीमूतक सुरामण्ड-प्रयोग	,,
जीमूतक-सेवन की विधियाँ	,,
जीमूतक के ८ मात्रा योग	१०९०
जीमूतक आदि का ज्वरों में प्रयोग	,,
जीमूतक घृत-प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०९१
(३) इक्ष्वाकुकल्पाध्याय	**१०९१-१०९६**
इक्ष्वाकु की प्रस्तावना	१०९१
इक्ष्वाकु के पर्याय	१०९२
इक्ष्वाकु के प्रयोग	,,
इक्ष्वाकु-सिद्ध क्षीर	,,
इक्ष्वाकु क्षीर-प्रयोग	,,
जीमूतक दुग्ध-प्रयोग	१०९३
जीमूतक दधि-प्रयोग	,,
इक्ष्वाकुक्षीर-प्रयोग	,,
पाण्डु आदि में जीमूतक प्रयोग	,,
इक्ष्वाकु का श्रेय योग	,,
इक्ष्वाकु के अन्य योग	,,
जीमूतक का वर्धमान योग	१०९४
इक्ष्वाकु बीज-प्रयोग	,,
इक्ष्वाकु के आठ योग	,,
इक्ष्वाकु के चार अन्य योग	१०९५
इक्ष्वाकु सक्तु-प्रयोग	,,
इक्ष्वाकु युक्त मांसरस-प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०९६
(४) धामार्गवकल्पाध्याय	**१०९६-११००**
धामार्गव के पर्याय	१०९६
धामार्गव के प्रयोग-स्थल	१०९७
धामार्गव के प्रयोज्य अंग	,,
धामार्गव स्वरस योग	,,
धामार्गव पुष्प आदि योग	,,
गुल्म-उदररोगनाशक योग	,,
धामार्गव फल-प्रयोग	१०९८
धामार्गव श्रेय-प्रयोग	,,
धामार्गव के दो योग	,,
धामार्गव के दस योग	,,
विषनाशक धामार्गव योग	१०९९
मानसिक विकारों में धामार्गव	,,
धामार्गव घृतयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(५) वत्सककल्पाध्याय	**११००-११०२**
अध्याय की प्रस्तावना	११००
वत्सक के पर्याय	,,
पुरुष-कुटज	,,

विषय	पृष्ठ
स्त्री-कुटज	११०१
कुटज के प्रयोग	,,
कुटज का संग्रह	,,
कुटज के अन्य योग	,,
कुटज का कुशरा के साथ प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	११०२
(६) कृतवेधनकल्पाध्याय	**११०२-११०५**
विषय की प्रस्तावना	११०२
कृतवेधन के गुण तथा प्रयोग	,,
कृतवेधन के पाँच योग	११०३
कृतवेधन के अन्य योग	,,
कृतवेधन के पिच्छा-प्रयोग	,,
कृतवेधन के अन्य योग	११०४
कृतवेधन-लेह	,,
कृतवेधन युक्त मांसरस-प्रयोग	,,
कास में कृतवेधन-प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	११०५
(७) श्यामात्रिवृत्कल्पाध्याय	**११०५-१११७**
त्रिवृत् की उत्तमता	११०६
त्रिवृत् के पर्याय	,,
त्रिवृत् के गुण	,,
औषध-संस्कारयुक्त निशोथ	,,
त्रिवृत् के भेद	,,
उत्तम त्रिवृत् के लक्षण	११०७
त्रिवृत्-प्रयोग-विधि	,,
निशोथ के ९ योग	,,
सलवण त्रिवृत् प्रयोग	११०८
निशोथ के १८ योग	,,
मुलेठी-निशोथ-प्रयोग	,,
निशोथ के १५ योग	,,
निशोथ के ७ योग	,,
निशोथ का १ योग	,,
अनेकरोगहर निशोथ योग	११०९
निशोथ अवलेह	,,
श्रीमानों के लिए विरेचक योग	,,
निशोथ अवलेह के अन्य योग	,,
पित्तप्रकृति पुरुषों के लिए प्रयोग	,,
कफप्रकृति पुरुषों के लिए प्रयोग	१११०
कफप्रकृति वाले श्रीमानों के लिए प्रयोग	,,

विषय	पृष्ठ
निशोथ के विविध योग	१११०
विरेचन सम्बन्धी तर्पण-प्रयोग	,,
विरेचन सम्बन्धी मोदक-प्रयोग	,,
त्रिवृत् लेह तथा मोदक	११११
कल्याणक-गुड	,,
व्योषादि गुटिका	१११२
पथ्यादि मोदक	,,
त्रिवृतादि मोदक	,,
त्रिवृतादि मोदकों का प्रयोग	१११३
ऋतुओं के अनुसार विरेचन-व्यवस्था	
वर्षाकालिक विरेचक योग	१११३
शरत्कालिक विरेचक योग	,,
हेमन्तकालिक विरेचक योग	,,
ग्रीष्मकालिक विरेचक योग	,,
प्रत्येक ऋतु में सेवनीय योग	१११४
सुखद विरेचक योग	,,
त्र्यूषणादि चूर्ण	,,
त्रिवृतादि विरेचक योग	,,
घृत तथा क्षीर योग	१११५
त्रिवृत्-अरिष्ट	,,
सौवीर योग	,,
तुषोदक योग	,,
त्रिवृत् के १० योग	१११६
मनोनुकूल द्रव्यों के साथ त्रिवृत् प्रयोग	,,
वमन-रोधक-विधि	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१११७
(८) चतुरङ्गुलकल्पाध्याय	**१११७-११२०**
चतुरंगुल के पर्याय	१११७
अमलतास के गुण	१११८
अमलतास की संग्रह-विधि	,,
अमलतास का बालकों में प्रयोग	,,
अमलतास के ५ योग	,,
अमलतास के २ योग	१११९
आरग्वधादि अवलेह	,,
आरग्वध घृत-प्रयोग	,,
अन्य घृत योग	,,
आरग्वधादि अरिष्ट	,,
रुचिकर द्रव्यों के साथ विरेचन प्रयोग	११२०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,

विषय	पृष्ठ
(९) तिल्वककल्पाध्याय	**११२१-११२४**
तिल्वक के पर्याय	११२१
लोध्र-चूर्ण की निर्माण-विधि	,,
लोध्र-चूर्ण : अनुपान तथा मात्रा	११२२
लोध्र-सौवीर-प्रयोग	,,
लोध्र-सुरा योग	,,
लोध्र-अरिष्ट योग	,,
लोध्र-काम्पिल्ल योग	११२३
लोध्र-अवलेह योग	,,
लोध्र-घृत प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	११२४
(१०) सुधाकल्पाध्याय	**११२४-११२८**
स्नुही-परिचय	११२४
स्नुही का प्रयोग	११२५
सेहुंड के भेद	,,
सेहुंड के पर्याय	,,
क्षीरसंग्रह-विधि	,,
सेहुण्ड-दुग्ध-शोधन-विधि	११२६
स्नुही-चूर्ण-प्रयोग	,,
गुडपानक-प्रयोग	११२७
राजाओं के योग्य विरेचन	,,
स्नुहीलेह-प्रयोग	,,
१. स्नुहीक्षीर-प्रयोग	११२८
२. स्नुहीक्षीर-प्रयोग	,,
स्नुहीक्षीर के विविध प्रयोग	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(११) सप्तलाशङ्खिनीकल्पाध्याय	**११२९-३१**
सप्तला के पर्याय	११२९
शंखिनी के पर्याय	,,
सप्तला-शंखिनी के प्रयोग	,,
सप्तला-शंखिनी के १६ कषाय योग	,,
छः तैल योग	११३०
१३ घृत योग	,,
मद्य के तीन योग	११३१
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(१२) दन्ती-द्रवन्तीकल्पाध्याय	**११३१-५४**
दन्ती के पर्याय	११३२
द्रवन्ती के पर्याय	,,

विषय	पृष्ठ
उत्तम दन्ती-द्रवन्ती के लक्षण	११३२
संग्रह-विधि	,,
दन्ती-द्रवन्ती के गुण	,,
दन्ती-द्रवन्ती के १० योग	११३३
तीन स्नेह योग	,,
लेह योग	,,
अन्य तीन लेह योग	११३४
दन्ती-द्रवन्ती-प्रयोग	,,
इक्षुकाण्ड-प्रयोग	,,
मांसरस-प्रयोग	११३५
यवागू आदि प्रयोग	,,
उत्कारिका-प्रयोग	,,
मोदक-प्रयोग	,,
मद्य-प्रयोग	,,
विविध भक्ष्य-प्रयोग	,,
सभी ऋतुओं में ग्राह्य योग	११३६
मोदक योग	,,
पाण्डुरोगनाशक योग	,,
कामलानाशक योग	,,
अरिष्ट योग।	११३७
दो अरिष्ट योग	,,
गुल्म आदि नाशक योग	,,
सौवीरक, तुषोदक-प्रयोग	,,
उक्त विषयों का उपसंहार	११३८
वमन-विरेचन योग	,,
नाम-निर्धारण-प्रकार	११३९
विरुद्धवीर्य द्रव्यों का प्रयोग	,,
विरुद्धवीर्य द्रव्यों के प्रयोग का समर्थन	११४०
भावना द्वारा गुण-वृद्धि	,,
संयोग आदि का महत्त्व	,,
वमन-विरेचन योगों का निर्देश	११४१
स्वतः योगकल्पना का निर्देश	,,
तीक्ष्ण विरेचक द्रव्य-परिभाषा	,,
तीक्ष्णता में कारण	११४२
मध्यमता में कारण	,,
मृदुता में कारण	,,
उक्त संशोधनों का प्रयोग	,,
रोगानुसार मात्रा-प्रयोग	११४३
वमन के अयोग में कर्तव्य	,,
संशोधन का विशेष विधान	,,
	,,

विषय	पृष्ठ
सफलता प्राप्ति-प्रकार	११४३
औषधपाक की प्रतीक्षा न करें	११४४
विरेचन प्रयोग पर पुनः विचार	,,
विशेष परिस्थिति में विधान	,,
स्वयंप्रवृत्त दोष में विधान	,,
शेष दोषों की शान्ति का उपाय	११४५
मृदु औषधयोग का प्रयोग	,,
तीक्ष्ण औषध से हानि	,,
दोषों को निकालना ही उचित है	,,
विरेचक औषध का वमन हो जाने पर कर्तव्य	,,
उष्णजल-प्रयोग	,,
स्वेदन के प्रयोग स्थल	,,
विरेचन के अतियोग में विधि	११४६
अवरुद्ध विरेचन की समाप्ति	,,
विरेचन द्रव्यों के ऊपरी भाग में जाने पर	,,
पित्तप्रकोप में प्रयोग	,,
कफप्रकोप में प्रयोग	११४७
लंघन-प्रयोग	,,
वस्ति के बाद विरेचन-प्रयोग	,,
स्नेहन के योग्य पुरुष	,,
स्नेह के अतियोग होने पर	,,
विरेचन विधि का पालन करें	११४८
विभ्रंश तथा सम्यग्योग का फल	,,
मानों की फलश्रुति	,,
मागध-मान परिभाषा	११४९
विष्णूक्त-मान परिभाषा	११५१
मनूक्त-मान परिभाषा	,,
याज्ञवल्क्योक्त मान परिभाषा	,,
सुश्रुतोक्त मान परिभाषा	,,
कौटिल्योक्त मान परिभाषा	,,
लीलावती-ग्रन्थोक्त मान परिभाषा	,,
शार्ङ्गधरोक्त मान परिभाषा	,,
कालिंगमान परिभाषा	११५२
द्विगुण परिभाषा का क्षेत्र	११५३
द्रव-पाद-विवेचन	,,
स्नेहपाक की सामान्य परिभाषा	,,
स्नेहपाक के तीन भेद	,,
त्रिविध स्नेहों के प्रयोग	११५४
कालिंग तथा मागधमान	,,
कल्पस्थानोक्त विषयों का उपसंहार	,,

सिद्धिस्थान

विषय	पृष्ठ
(१) कल्पनासिद्धि-अध्याय	**११५५-११७६**
अग्निवेश के प्रश्न	११५५
१. प्रथम प्रश्न का उत्तर	११५६
स्नेहन-क्रिया से लाभ	,,
स्नेहन के बाद स्वेदन से लाभ	११५७
वमन के पूर्व उत्क्लेश की आवश्यकता	,,
कफदोष का संशोधन पर प्रभाव	,,
२. द्वितीय प्रश्न का उत्तर	,,
संसर्जन-क्रम-विधि	११५८
संसर्जन-क्रम से लाभ	११५९
विविध शुद्धि के लक्षण	,,
३. तृतीय प्रश्न का उत्तर	११६०
वमन के हीनयोग के लक्षण	,,
वमन के अतियोग के लक्षण	,,
विरेचन के सम्यक्योग का लक्षण	११६१
विरेचन के अयोग के लक्षण	,,
विरेचन के अतियोग के लक्षण	,,
वस्ति-प्रकरण	
वस्ति-प्रयोग-निर्देश	११६२
अनुवासनवस्ति के प्रयोग-काल	११६४
अनुवासनवस्ति एवं निरूहवस्ति का क्रम	,,
४. चतुर्थ प्रश्न का उत्तर	११६५
विरेचन तथा निरूहवस्ति	,,
५. पञ्चम प्रश्न का उत्तर	११६६
अनुवासनवस्ति के गुण	११६७
वस्ति के सामान्य गुण	,,
रोग विशेष में वस्ति-प्रयोग	११६८
कतिपय अन्य रोगों में वस्ति-प्रयोग	,,
६. षष्ठ प्रश्न का उत्तर	,,
बृंहणवस्ति का निषेध	,,
वस्ति-प्रयोग का निषेध	११६९
रोगों की उत्पत्ति में वात की प्रधानता	,,
वस्ति-चिकित्सा का महत्त्व	,,
वस्ति की कार्य-प्रणाली	११७०
निरूहवस्ति के सम्यग्योग के लक्षण	,,
निरूहवस्ति के अयोग के लक्षण	११७१
निरूहवस्ति के अतियोग के लक्षण	,,
अनुवासनवस्ति के सम्यग्योग के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
अनुवासनवस्ति के अयोग के लक्षण	११७१
अनुवासनवस्ति के अतियोग के लक्षण	,,
अनुवासनवस्ति के सम्यग्योग की परिभाषा	,,
वस्तियों की संख्या	११७२
निरूहवस्ति के प्रयोग	,,
शिरोविरेचन	११७३
शिरोविरेचन के सम्यग्योग के लक्षण	,,
शिरोविरेचन के अयोग के लक्षण	,,
शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण	,,
अतियोग की चिकित्सा	,,
अयोग की चिकित्सा	,,
षष्ठ प्रश्न का उपसंहार	११७४
७. सप्तम प्रश्न का उत्तर	,,
८. अष्टम प्रश्न का उत्तर	,,
९-११ नवम तथा एकादश प्रश्नों के उत्तर	,,
१०. दशम प्रश्न का उत्तर	११७५
१२. द्वादश प्रश्न का उत्तर	,,
मात्रा का महत्त्व	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	११७६
(२) पञ्चकर्मीयासिद्धि-अध्याय	**११७६-११८९**
विषय-प्रस्तावना	११७६
चिकित्सा के अयोग्य रोगी	,,
चिकित्सा के योग्य रोगी	११७७
वमन के अयोग्य रोगी	,,
वमन न कराने का कारण	११७८
वमन के योग्य रोगी	११७९
विरेचन के अयोग्य रोगी	,,
विरेचन न कराने का कारण	११८०
विरेचन के योग्य रोगी	११८१
निरूहवस्ति के अयोग्य रोगी	११८२
निरूहवस्ति न देने का कारण	११८३
निरूहवस्ति के योग्य रोगी	११८४
अनुवासन के अयोग्य रोगी	,,
अनुवासनवस्ति न देने का कारण	११८५
अनुवासनवस्ति के योग्य रोगी	,,
शिरोविरेचन के अयोग्य रोगी	११८६
शिरोविरेचन न देने का कारण	,,
शिरोविरेचन के योग्य रोगी	११८७

विषय	पृष्ठ
नस्य-प्रयोग के काल	११८८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(३) वस्तिसूत्रीयासिद्धि-अध्याय ११८९-१२१२	
प्रस्तावना	११८९
अग्निवेश के वस्ति-सम्बन्धी प्रश्न	११९०
१. पहले प्रश्न का उत्तर	,,
२. दूसरे प्रश्न का उत्तर	११९१
३. तीसरे प्रश्न का उत्तर	,,
४. चौथे प्रश्न का उत्तर	११९३
५. पाँचवें प्रश्न का उत्तर	११९४
बलादि निरूहवस्ति	,,
वस्ति-प्रयोग में विविध दोष	११९६
वस्ति में मधु-सैन्धव-प्रयोग	११९७
मल, वायु के प्रकोप पर वस्ति-विधि	११९८
निरूहवस्ति द्वारा दोष-प्रशमन	,,
निरूहवस्ति के बाद का कर्त्तव्य	११९९
७. सातवें प्रश्न का उत्तर	,,
निरूहवस्ति की कल्पना	१२००
६. छठे प्रश्न का उत्तर	१२०१
८. आठवें प्रश्न का उत्तर	१२०२
वस्ति-प्रयोग में आहार-विधि	१२०३
उत्तरवस्ति-प्रकरण	
उत्तरवस्ति की प्रस्तावना	१२०३
उत्तरवस्ति के नाम पर विचार	,,
उत्तरवस्ति के सम्बन्ध में विचार	,,
९-१०. नवें दसवें प्रश्नों के उत्तर	,,
स्थिरादि निरूहवस्ति	१२०४
एरण्डमूलादि निरूहवस्ति	१२०५
आजमांसरस-प्रयोग	,,
पलाशवस्ति-प्रयोग	,,
१. यष्टयाह्वादि निरूहवस्ति	१२०६
२. यष्टयाह्वादि निरूहवस्ति	,,
चन्दनादि निरूहवस्ति	,,
द्राक्षादि निरूहवस्ति	१२०७
कोशातकादि निरूहवस्ति	१२०८
पटोलादि वस्ति	,,
पञ्चमूलादि वस्ति	,,
रास्नादि निरूहवस्ति	,,
पुनर्नवादि निरूहवस्ति	१२०९
निरूहवस्ति की संख्या	१२१०
	१२११

विषय	पृष्ठ
अनुवासनवस्ति-प्रयोग	१२११
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(४) स्नेहव्यापत्सिद्धि-अध्याय १२१२-१२२४	
प्रस्तावना	१२१२
दशमूलादि अनुवासन तैल	१२१३
दशमूलादि अनुवासन वसा	,,
शताह्वादि अनुवासन तैल	,,
सैन्धव अनुवासन घृत	,,
जीवन्त्यादि अनुवासन यमक	,,
चन्दनादि यमक	१२१४
सैन्धवादि अनुवासन तैल	,,
मदनफल तैल	,,
बिल्वादि तैल	१२१५
पिप्पल्यादि तैल	,,
विडंगादि तैल	,,
अनुवासनवस्ति से लाभ	,,
स्नेहवस्ति की ६ व्यापत्तियाँ	१२१६
छः व्यापत्तियों के कारण	,,
वातावृत स्नेहवस्ति के लक्षण	१२१७
वातावृत-स्नेहजनित रोग-चिकित्सा	,,
पित्तावृत स्नेह के लक्षण	१२१८
पित्तावृत स्नेहजनित रोग-चिकित्सा	,,
कफावृत स्नेह के लक्षण	,,
कफावृत स्नेहजनित रोग-चिकित्सा	,,
अन्नावृत स्नेह के लक्षण	,,
अन्नावृत स्नेहजनित रोग-चिकित्सा	,,
मलावृत स्नेह के लक्षण	१२१९
मलावृत स्नेहजनित रोग-चिकित्सा	,,
निरन्न पुरुष को वस्ति देने से होने वाले विकार	,,
उपर्युक्त विकारों की चिकित्सा	,,
गले से स्नेह के आने पर चिकित्सा	१२२०
निरुपद्रव स्नेह की उपेक्षा	,,
अनुवासनवस्ति के बाद कर्तव्य	१२२१
उष्णजल-सेवन-निर्देश	,,
उष्णजल पीने से लाभ	,,
प्रतिदिन अनुवासनीय व्यक्ति	,,
स्नेहपाचन में उपमा	१२२२
आमतैल का प्रयोग निषिद्ध	,,
उभयविध स्नेह का प्रयोग एक साथ नहीं	,,
स्नेह या निरूहवस्ति का अधिक प्रयोग निषिद्ध	१२२३

विषय	पृष्ठ
मात्रावस्ति का विधान	१२२३
मात्रावस्ति की उपयोगिता	,,
मात्रावस्ति के गुण	१२२४
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(५) नेत्रवस्तिव्यापत्सिद्धि-अध्याय १२२४-२९	
प्रस्तावना	१२२५
नेत्र के आठ दोष	,,
नेत्रदोषों के परिणाम	,,
वस्ति के आठ दोष	,,
वस्ति दोषों से हानियाँ	१२२६
वस्ति-निर्माता के दस दोष	,,
१. अनुच्छ्वासित वस्ति-प्रयोग से हानि	१२२७
२-३. अतिद्रुत प्रवेश तथा निष्कासन से हानि	,,
४. तिर्यक् नेत्र-प्रयोग से हानि	,,
५. उल्लुप्त नेत्र-प्रयोग से हानि	१२२८
६. वस्तिनेत्र-कम्पन से हानि	,,
७. बार-बार नेत्र-प्रवेश तथा निष्कासन से हानि	,,
८-९. मन्दप्रपीडित तथा बाह्यगवस्ति से हानि	,,
१०. अधिक वेग से वस्ति देने से हानि	१२२९
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(६) वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि-अध्याय १२२९-४८	
प्रस्तावना	१२३०
ऋतु-विभाजन	,,
संशोधन के योग्य ऋतुएँ	,,
वमन आदि में स्नेह-प्रयोग	१२३१
विरेचन के योग्य रोगी	,,
स्निग्ध तथा रूक्षविरेचन-प्रयोग	१२३२
संशोधन-प्रयोग में सावधानी	,,
स्नेहन, स्वेदन, शोधन से लाभ	,,
अजीर्ण में संशोधन से हानियाँ	१२३३
मात्रायुक्त औषध के लक्षण	,,
एकाग्रमन से औषध-सेवन से लाभ	,,
वमन-विरेचन-विधि	१२३४
सम्यक् वमन-विरेचन के लक्षण	,,
अधिक विरेचन होने पर कर्तव्य	,,
सम्यक् वमन के लाभ	,,
पेयादिक्रम का प्रयोग	१२३५
तर्पणादि का प्रयोग	,,
औषध पचने के लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
औषध न पचने के लक्षण	१२३५
औषध के उपद्रवकारी होने में कारण	१२३६
संशोधन के अतियोग-अयोग के उपद्रव	,,
योग, अतियोग, अयोग के लक्षण	,,
विरेचन का वमन के रूप में होना	,,
तीक्ष्णवामक औषध-प्रयोग	,,
अयोग की परिभाषा	१२३७
औषध के पच जाने पर कर्तव्य	,,
मृदु या तीक्ष्ण औषध-प्रयोग	,,
औषध का पुनः प्रयोग निषिद्ध	,,
स्नेहन, स्वेदन के बिना औषध-प्रयोग निषिद्ध	,,
अयोग का दूसरा प्रकार	१२३८
निरूहवस्ति का प्रयोग	,,
अनुवासनवस्ति का प्रयोग	,,
मिथ्याप्रयोग से अतियोग की सम्भावना	,,
अतितीक्ष्ण संशोधन में कर्तव्य	१२३९
वमन के अतियोग में विशेष विधान	१२४०
पेयादि क्रम का सेवन	,,
उदावर्त : हेतु, लक्षण, चिकित्सा	,,
उदावर्त की चिकित्सा	१२४१
परिकर्तिकारोग के हेतु, लक्षण	,,
परिकर्तिका की चिकित्सा	,,
शेष परिकर्तिका की चिकित्सा	१२४२
परिस्राव के हेतु, लक्षण, चिकित्सा	,,
हृद्ग्रह का निदान	१२४३
हृद्ग्रह के लक्षण	,,
हृद्ग्रह की चिकित्सा	,,
अंगग्रह : निदान, लक्षण, चिकित्सा	,,
जीवादान का कारण	१२४४
जीवरक्त तथा रक्तपित्त के रक्त में भेद	,,
जीवरक्त-परीक्षा-विधि	,,
दूसरी विधि	,,
जीवादान : उपद्रव एवं चिकित्सा	१२४५
रक्तस्राव होने पर रक्तपान-प्रयोग	,,
गुदभ्रंश-चिकित्सा	,,
संज्ञानाश-चिकित्सा	,,
स्तम्भ : निदान, लक्षण, चिकित्सा	१२४६
विशेष चिकित्सा	,,
क्लम : निदान, लक्षण, चिकित्सा	१२४७
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१२४८

विषय	पृष्ठ
(७) वस्तिव्यापत्तिसिद्धि-अध्याय १२४८-१२६०	
प्रस्तावना	१२४९
निरूहवस्ति की व्यापत्तियाँ	,,
निरूहवस्ति की १२ व्यापत्तियाँ	,,
१. अयोग : निदान तथा लक्षण	१२५०
अयोग की चिकित्सा	,,
बिल्वादि वस्ति	,,
२. अतियोग का निदान	,,
अतियोग के लक्षण तथा चिकित्सा	१२५१
३. क्लम का निदान	,,
क्लम के लक्षण	,,
क्लम की चिकित्सा	१२५२
पिप्पल्यादि क्वाथ	,,
वचादि योग	,,
दार्वादि योग	,,
४. आध्मान का निदान	,,
आध्मान के लक्षण	,,
आध्मान की चिकित्सा	१२५३
५. हिक्का-निदान	,,
हिक्का-चिकित्सा	,,
बलादि अनुवासनवस्ति	,,
६. हृदयप्राप्ति : निदान एवं चिकित्सा	१२५४
७. उर्ध्वगमनव्यापत् : निदान, लक्षण	१२५५
ऊर्ध्वगमनव्यापत् की चिकित्सा	,,
८. प्रवाहिका का निदान	,,
प्रवाहिका के लक्षण	,,
प्रवाहिका की चिकित्सा	,,
९. शिरःशूल का निदान	१२५६
शिरःशूल के लक्षण	,,
शिरःशूल की चिकित्सा	,,
१०. अंगमर्द का निदान	,,
अंगमर्द के लक्षण	१२५७
अंगमर्द की चिकित्सा	,,
११. परिकर्तिका का निदान	,,
परिकर्तिका के लक्षण	१२५८
परिकर्तिका की चिकित्सा	,,
१२. परिस्रव का निदान	,,
परिस्रव के लक्षण	,,
परिस्रव की चिकित्सा	,,
तीक्ष्ण अथवा मृदुवस्ति	,,
	१२५९

विषय	पृष्ठ
वस्ति का प्रभाव	१२५९
वस्ति-प्रयोग का आलंकारिक स्वरूप	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१२६०
(८) प्रासृतयोगीयसिद्धि-अध्याय १२६०-६८	
प्रस्तावना	१२६०
पञ्च प्रासृतिक वस्ति : प्रथम	१२६१
अष्ट प्रासृतिक वस्ति	,,
नव प्रासृतिक वस्ति	,,
चतुःप्रासृतिक वस्ति : प्रथम	,,
पञ्चतिक्त वस्ति	,,
षट् प्रासृतिक वस्ति	,,
सप्त प्रासृतिक वस्ति	१२६२
चतुः प्रासृतिक वस्ति : द्वितीय	,,
पञ्च प्रासृतिक वस्ति : द्वितीय	,,
जड़ीभूतवस्ति का उपचार	,,
गुददाह-चिकित्सा	,,
मलक्षय-चिकित्सा	१२६३
आमज शूल-चिकित्सा	,,
अतिसार में विधि-निर्देश	,,
अतिसार के छः भेद	१२६४
अतिसारों के सामान्य उपद्रव	,,
१. आमातिसार की चिकित्सा	,,
२. शकृदतिसार की चिकित्सा	,,
३. वातजातिसार की चिकित्सा	,,
४. रक्तातिसार की चिकित्सा	१२६५
५. पित्तातिसार की चिकित्सा	,,
६. कफातिसार की चिकित्सा	,,
७. ३६ अन्य भेदों की चिकित्सा	१२६५-६६
अतिसार के भेदों की अपरिसंख्येयता	१२६६
आममल में चिकित्सा-निर्देश	,,
सर्वातिसारनाशक घृत	,,
सर्वातिसारनाशक यवागू	१२६७
सर्वातिसार-चिकित्सा	,,
विभिन्न यवागुओं का प्रयोग	,,
अन्य यवागू-विधि	,,
वातजनित अतिसार-चिकित्सा	१२६८
पित्तज तथा रक्तज अतिसार-चिकित्सा	,,
शकृत् अतिसार-चिकित्सा	,,
आमातिसार-चिकित्सा	,,
रक्तातिसार-चिकित्सा	,,

विषय	पृष्ठ
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१२६८
(९) त्रिमर्मीयसिद्धि-अध्याय १२६९-१२९९	
प्रस्तावना	१२६९
हृदय-परिचय	१२७०
सिर-परिचय	,,
वस्ति-परिचय	,,
मर्मरक्षा का महत्त्व	१२७१
१. हृदय-मर्म पर आघात के लक्षण	१२७२
२. शिरोमर्म पर आघात के लक्षण	,,
३. वस्तिमर्म पर आघात के लक्षण	,,
मर्मस्थानों की वातदोष से रक्षा	१२७३
१. हृदयमर्माघात-चिकित्सा	,,
२. शिरोमर्माघात-चिकित्सा	१२७४
३. वस्तिमर्माघात-चिकित्सा	,,
मर्म-रक्षा का विशेष निर्देश	१२७५
मर्मस्थलों की रक्षा-विधि	,,
अनुक्तविषय का प्रतिपादन	,,
अपतन्त्रक : सम्प्राप्ति तथा लक्षण	,,
अपतानक रोग की सम्प्राप्ति तथा लक्षण	,,
अपतन्त्रक-चिकित्सा	१२७६
शिरोविरेचन-नस्य	१२७७
अपतन्त्रकनाशक क्वाथ	,,
हिंग्वादिचूर्ण	,,
अपतन्त्रकनाशक घृत	,,
तन्द्रा का निदान तथा सम्प्राप्ति	१२७८
तन्द्रा के लक्षण	,,
तन्द्रा की चिकित्सा	,,
वस्तिरोगों की गणना	,,
१. मूत्रौकसाद के लक्षण	१२७९
२. मूत्रजठर : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण	,,
मूत्रजठर-चिकित्सा	१२८०
द्विरुत्तरहिंगु-प्रयोग	,,
३. मूत्रकृच्छ्र : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण	,,
४. मूत्रोत्संग के लक्षण	१२८१
५. मूत्रक्षय के लक्षण	,,
६. मूत्रातीत के लक्षण	,,
७. वाताष्ठीला : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,
८. वातवस्ति के लक्षण	१२८२
९. उष्णवात के लक्षण	,,
१०. वातकुण्डलिका : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,

विषय	पृष्ठ
११. रक्तग्रन्थि के लक्षण	१२८३
१२. विड्विघात : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,
१३. वस्तिकुण्डल : निदान, सम्प्राप्ति	,,
वस्तिकुण्डल के लक्षण	,,
वस्तिकुण्डल की साध्यासाध्यता	१२८४
कुण्डलीभूत वस्ति के लक्षण	,,
वस्तिकुण्डल-चिकित्सासूत्र	,,
उत्तरवस्ति की विधि	,,
उत्तरवस्ति की प्रयोग-विधि	१२८५
पिप्पल्यादि वर्ति	१२८७
उत्तरवस्ति का समय	,,
स्त्रियों में पुष्पनेत्र का प्रमाण	१२८८
स्त्रियों में उत्तरवस्ति-प्रयोग	,,
शिरोविकार-प्रस्तावना	१२८९
शंखकरोग : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,
शंखकरोग-चिकित्सा	१२९०
अर्धावभेदक : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण	१२९१
अर्धावभेदक-चिकित्सा	,,
सूर्यावर्त : निदान, लक्षण	१२९२
सूर्यावर्त-चिकित्सा	,,
अनन्तवात : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण	१२९३
अनन्तवात-चिकित्सा	,,
शिरोरोग में चिकित्सासूत्र	,,
नस्यकर्म के भेद	,,
नावन के भेद	१२९४
विरेचन नस्य का प्रयोग	१२९५
तर्पण नस्य का प्रयोग	,,
शमन नस्य का प्रयोग	,,
ध्मापन तथा धूमपान	,,
शिरोविरेचन-विधि	,,
तर्पण नस्य-विधि	,,
नस्य-प्रयोग-विधि	१२९६
नस्य-प्रयोग पर विचार	,,
स्नेहन नस्य से लाभ	,,
धूमपान का प्रयोग	,,
नस्य के पश्चात् कर्तव्य	१२९७
कफदोषनाशक विधि	,,
विशेष स्थितियों में नस्य	१२९८
तिमिररोग-चिकित्सा	,,
प्रतिमर्श नस्य	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१२९९

विषय	पृष्ठ
(१०) वस्तिसिद्धि-अध्याय	**१२९९-१३०७**
प्रस्तावना	१२९९
वस्ति के कार्य, उसकी श्रेष्ठता	१३००
विरेचन से वस्ति की श्रेष्ठता	,,
वस्ति की अन्य विशेषताएँ	,,
वस्ति के भेद	,,
बृंहणवस्ति के अयोग्य	१३०१
वस्ति में द्रव-प्रयोग	,,
वस्ति में प्रक्षेप द्रव्य	१३०२
तीक्ष्ण एवं मृदुवस्तियाँ	,,
अर्धश्लोकोक्त वस्ति-प्रस्तावना	,,
वातनाशक वस्तियाँ	१३०३
पित्तनाशक वस्तियाँ	,,
कफनाशक वस्तियाँ	,,
पक्वाशयशोधक वस्तियाँ	,,
शुक्र तथा मांसवर्धक वस्तियाँ	१३०४
सांग्राहिक वस्तियाँ	,,
परिस्रावहर वस्तियाँ	,,
दाहनाशक वस्तियाँ	,,
परिकर्तिकानाशक वस्तियाँ	१३०५
प्रवाहिकानाशक वस्तियाँ	,,
विरेचनातियोगनाशक वस्तियाँ	,,
जीवादाननाशक वस्तियाँ	,,
रक्तपित्तनाशक वस्तियाँ	१३०६
प्रमेहनाशक वस्ति	,,
विविध रोगों में वस्ति-चिकित्सा	,,
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१३०७
(११) फलमात्रासिद्धि-अध्याय	**१३०७-१३१५**
मदनफलसम्बन्धी सम्भाषा-परिषद्	१३०८
विभिन्न ऋषियों के मत	,,
गौतम का मत	,,
वडिश का मत	१३०९
काप्य का मत	,,
भद्रशौनक का निर्णय	,,
महर्षि आत्रेय का मत	,,
आत्रेय की समाधान-विधि	,,
आत्रेय के मत का अभिनन्दन	१३१०
वस्ति के सम्बन्ध में प्रश्न	,,
वायु की प्रधानता	,,
वस्ति की कार्य-प्रणाली	१३१०
पशुओं में वस्ति-प्रयोग	१३११
वस्ति-निर्माण के साधन	,,
पशुओं में वस्तिनेत्र का प्रमाण	,,
पशुओं में निरूहवस्ति की मात्रा	१३१२
हाथियों के लिए वस्तिद्रव्य	,,
गायों के लिए वस्तिद्रव्य	,,
घोड़ों के लिए वस्तिद्रव्य	,,
ऊँटों, गदहों के लिए वस्तिद्रव्य	,,
भेड़ों, बकरियों के लिए वस्तिद्रव्य	,,
सदा रोगी कौन	१३१३
१. श्रोत्रिय	,,
२. राजसेवक	,,
३. वेश्याएँ	,,
४. पण्यजीवी	,,
सदा रोगी रहने में अन्य कारण	,,
सदातुरों की चिकित्सा	,,
निरूहवस्ति-प्रयोग	१३१४
बलादिवस्ति-प्रयोग	,,
बालक-वृद्धों के लिए वस्ति	१३१५
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	,,
(१२) उत्तरवस्तिसिद्धि-अध्याय	**१३१६-१३५६**
संशोधित व्यक्ति की रक्षण-विधि	१३१६
पेयादि से अग्निदीपन	१३१७
संसर्जन-क्रम में विविध रसों का प्रयोग	,,
स्वाभाविक स्थिति में लाने का प्रयत्न	१३१८
प्रकृति-प्राप्त पुरुष के लक्षण	,,
महादोषकर भावों का निषेध	१३१९
महादोषकर आठ भाव	,,
दोषकर भावों के सेवन से हानियाँ	,,
महादोषकर भावों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	,,
उच्चस्वर से बोलने के कारण होने वाले रोग	,,
रथक्षोभजनित रोग	१३२०
अतिचंक्रमणजनित रोग	,,
अधिक बैठने से होने वाले रोग	,,
अजीर्ण तथा अध्यशन से होने वाले रोग	१३२१
विषम तथा अहित भोजन से होने वाले रोग	,,
दिन में सोने से होने वाले रोग	,,
मैथुन से होने वाले रोग	१३२२

विषय	पृष्ठ
महादोषज विकारों की चिकित्सा	१३२२
रथक्षोभ आदि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	१३२३
अजीर्ण आदि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	,,
विषम आदि भोजनों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	,,
दिवास्वप्नजनित रोगों की चिकित्सा	,,
मैथुनजनित रोगों की चिकित्सा	१३२४
यापनावस्तियों का प्रयोग	,,
मुस्तादि यापनावस्ति	,,
एरण्डमूलादि यापनावस्ति	१३२५
सहचरादि यापनावस्ति	१३२६
बृहत्यादि यापनावस्ति	,,
प्रथम बलादि यापनावस्ति	,,
द्वितीय बलादि यापनावस्ति	१३२७
हपुषादि यापनावस्ति	,,
लघुपञ्चमूलादि यापनावस्ति	,,
तृतीय बलादि यापनावस्ति	१३२८
चतुर्थ बलादि यापनावस्ति	,,
शालिपर्ण्यादि यापनावस्ति	,,
स्थिरादि यापनावस्ति	,,
तीन अन्य यापनावस्तियाँ	१३२९
मयूराण्डरस यापनावस्ति	,,
गोनर्दाण्डरस यापनावस्ति	,,
हंसाण्डरस यापनावस्ति	,,
बल-वर्ण-शुक्रकारक वस्तियाँ	,
द्विपञ्चमूलादि वस्ति	१३३०
मयूरादि वस्ति	,
विष्किरादि प्राणिज वस्तिकल्प	,,
वृष्य वस्तियाँ	१३३१
कूर्मादि वस्ति	१३३२
कर्कटादि वस्ति	,,
गोवृषादि वस्ति	,,
दशमूलादि वस्ति	,,
मृगादि वस्ति	१३३३
मधु आदि वस्ति	,,
गोघृतादि वस्ति	१३३४
मधुतैलादि वस्ति	,,
शतपुष्पादि वस्ति	,,
मधुघृतादि वस्ति	,,
सुरासौवीरादि वस्ति	१३३५
द्विपञ्चमूलादि वस्ति	,,
चतुःस्नेह-अनुवासनवस्ति	१३३६
बलादि अनुवासनवस्ति	१३३७
सहचरादि अनुवासनवस्ति	१३३८
स्नेह का शतपाक या सहस्रपाक	,,
यापनावस्तियों में अपथ्य	१३३९
उपसंहार	,,
निरूहवस्ति-प्रयोग	१३४०
यापनावस्तियों के अधिक सेवन से हानि	,,
यापनावस्तिव्यापद् चिकित्सा	,,
आठ महादोषों का उपसंहार	१३४१
सिद्धिस्थान की निरुक्ति	,,
अग्निवेशसंहिता की अध्याय संख्या	,,
चरकसंहिता के अध्ययन का प्रतिफल	,,
संस्कर्ता का कार्य-क्षेत्र	१३४२
संस्कर्ता चरक तथा प्रतिसंस्कर्ता दृढबल	,,
दृढबल के प्रतिसंस्कार का प्रकार	१३४३
प्रस्तुत तन्त्र की प्रशंसा	,,
तन्त्रयुक्तियों के नाम	,,
तन्त्रयुक्तियों की सत्ता	१३५२
तन्त्रयुक्तियों की उपयोगिता	,,
शास्त्रों का परस्पर सम्बन्ध	१३५३
शास्त्रज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियों का महत्त्व	,,
शास्त्रज्ञान के योग्य-अयोग्य व्यक्ति	,,
उत्तरतन्त्र में तन्त्रयुक्तियों का वर्णन	,,
चरकसंहिता के अध्ययन का फल	१३५४
चरकसंहिता के अध्ययन का लाभ	,,
चरकसंहिता का महत्त्व	१३५५
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१३५६

परिशिष्ट विषय-सूची

१. चरकसंहिता के स्थान-क्रम से अध्यायों की सूची १३६५
२. पाँच सौ द्रव्यों से निर्मित पचास महाकषाय १३६७
३. रसभेद से द्रव्यों का संग्रह १३६७
४. चरकोक्त रोगों की अनुक्रमणिका १३६७
५. छः रसों के गुण-कर्म-दोष १३७५
६. चरकोक्त द्रव्यों की अनुक्रमणिका १३७५
(क) अष्टविध मूत्र १३७५
(ख) शूकधान्यवर्ग १३७५
(ग) शमीधान्यवर्ग १३७५
(घ) मांसवर्ग १३७५
(ङ) शाकवर्ग १३७६
(च) फलवर्ग १३७६
(छ) हरितकवर्ग १३७८
(ज) मद्यवर्ग १३७९
(झ) जलवर्ग १३७९
(ञ) गोरसवर्ग १३७९
(ट) इक्षुवर्ग १३७९
(ठ) कृतान्नवर्ग १३७९
(ड) आहारयोनिवर्ग १३८०
७. ऋतुचर्या १३८०
८. मात्रा-विचार १३८१
९. स्वस्थवृत्त का उपदेश १३८१
१०. निद्रा-विवेचन १३८१
११. आहार-विधि १३८१
१२. पञ्चकर्मोपयोगी विषय १३८१
१३. चिकित्सा के प्रकार १३८१
१४. स्फुट-संग्रह १३८१
१५. चरकोक्त औषधयोगों की अनुक्रमणिका १३८१
१६. प्रकीर्ण १३८२
स्थान-क्रम से अकारादि-क्रमानुसार गद्य-पद्यानुक्रमणिका १४०२
१४०३

चरकसंहिता

(द्वितीय भाग)

645

॥ श्रीः ॥

महर्षिपुनर्वसु-आत्रेयेणोपदिष्टा-श्रीमदग्निवेशेन प्रणीता
चरकदृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता

चरकसंहिता

'चरक-चन्द्रिका'-हिन्दीव्याख्यया, विशेषवक्तव्यादिभिश्च-विभूषिता

चिकित्सास्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

रसायनाध्याये प्रथमः पादः

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इन्द्रियस्थान के निरूपण के पश्चात् अब हम यहाँ से अभयामलकीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इसके पूर्व इन्द्रियस्थान में मुमूर्षुओं के लक्षणों का भेदोपभेद सहित वर्णन किया गया है, किन्तु उपर्युक्त अरिष्टों का निवारण रसायनों के सेवन से भी सम्भव होता है। अतएव इन्द्रियस्थान के अनन्तर चिकित्सास्थान को महर्षि आत्रेय ने स्थान दिया है।

इति स्म आह—इसका विस्तृत विवेचन चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय १।२ के वक्तव्य में किया गया है। उसे ध्यान से पढ़ें।

चिकित्सा—आलोचकों के अनुसार चरकसंहिता की श्रेष्ठता चिकित्सास्थान में है। यथा—'चरकस्तु चिकित्सिते'। इस चिकित्सा शब्द का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। रोग का निदान तथा उसका प्रतीकार करना चिकित्सा है। जैसे—'चिकित्सा तत् प्रतीकारः'। राजनि० व० २०। और भी—'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां मतम्' ॥ भावप्रकाश। यह तीन प्रकार की होती है—'आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता। शस्त्रैः कषायैर्लोहाद्यैः क्रमेणान्त्या सुपूजिता' ॥ भैषज्य०। **चिकित्सा से लाभ**—'क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थः क्वचिद् यशः। कर्माभ्यासः क्वचिच्चापि चिकित्सा नास्ति निष्फला' ॥ वैद्यकसर्वस्व अ० १। धन्वन्तरि के अनुसार—'इह खलु आयुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणञ्च'। सु० सू० अ० १। अर्थात् 'रोगियों के रोगों को दूर करना' यह चिकित्सा का प्रयोजन है और स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना रसायन-योगों के सेवन से सम्भव होता है। महर्षि आत्रेय ने चिकित्सा की परिभाषा इस प्रकार दी है—'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसात्म्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते' ॥ च० सू० अ० ९ श्लोक ५। इसके विशेष विवेचन के लिए चरक सूत्रस्थान के अध्याय ४ से ८ तक देखें। इनका नाम इसीलिए स्वस्थचतुष्क रखा गया है।

रसायन—रस+अयन इन दो पदों के योग से निष्पन्न यह शब्द अनेकार्थवाची होने पर भी आयुर्वेदिक क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। **रस**—इस शब्द का प्रयोग कोषकारों के अनुसार निम्नोक्त अर्थों में होता है—'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः'। अमर०। तथा—'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ

लेखगात्रयोः। शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे' ॥ विश्व०। **अयन**—'अयते, इयते वा अनेन'—इस अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होने पर अयन शब्द की निष्पत्ति हुई है। **अयन शब्द का प्रयोग**—'अयनं पथि गेहेंऽशे दक्षिणोत्तरतो गतौ'। हैमकोष। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पारद-गन्धक आदि विशिष्ट औषधद्रव्यों के योग से निर्मित वह औषध जो शक्ति-संचार करता हुआ बल, वीर्य तथा ओज प्रदान करता है, उसे **रसायन** कहते हैं।

तन्त्रकारों के मत—'स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद् रसायनम्'। च० चि० अ० १ श्लो० ५। भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्'। **रसायन-सेवन का फल**—'वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च'। सु० सू० अ० १।७। **अन्यत्र**—'देहस्येन्द्रियवर्गानां दृढीकरणमेव च। बलीपलितखालित्यवर्जनेऽपि च या क्रिया॥ पूर्ववैद्यप्रणीतं हि तद् रसायनमुच्यते'। वैद्यकसङ्ग्रह अ० २। **वाग्भट द्वारा चरक का अनुकरण**—'दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम्॥ वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्' ॥ अ० हृ० उ० अ० ३९ श्लो० १-२। देखें—च० चि० अ० १।७-८।

वास्तव में यहाँ रसायनाध्याय के प्रथम तथा द्वितीय पादों में वर्णित रसायनों का समावेश 'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनाम्' की परिधि के भीतर ही हो जाता है, क्योंकि जिस आहार-विहार तथा औषध-सेवन के फलस्वरूप उत्तम रस, रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, उसका नाम भी रसायन है। इसकी पुष्टि के लिए अ० हृ० उ० तं० अ० ३९ श्लोक १०३ से १०५ तक का अवलोकन करें।

यद्यपि श्रीजयदेव विद्यालंकार ने अपनी टीका में १. **अभयामलकीय** तथा २. **प्राणकामीय** नामक अध्यायों को रसायनपाद से पृथक् रखने की बात कही है, किन्तु वाग्भट द्वारा दी गयी रसायन की उपर्युक्त निरुक्ति पर विद्वान् टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया, अन्यथा वे ऐसा न लिखते।

अभया—'पथ्यायामभृताभया च'। अभि० नि० हरी० व०। पम्पासरोवर किष्किन्धा के समीप है, वहाँ अमृता और अभया नामक हरीतकी की उत्पत्ति होती है। इसको पहचानने में द्रव्यगुण-विशेषज्ञों की सहायता लेनी आवश्यक है। जिस आधार पर इसको रसायन माना गया है, उसके लिए इसके गुण-धर्मों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। **हरीतकी की प्रशंसा**—'हरीतकीं मनुष्याणां मातेव हितकारिणी। कदाचित् कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी ॥'

आमलक—आँवला को त्रिफला में ग्रहण किया गया है। गुण-धर्मों की दृष्टि से—'हरीतकीसमं धात्रीफलम्'। अभि० नि०। अर्थात् आँवला रस, गुण, वीर्य तथा विपाक आदि में हरीतकी के समान ही है। अतएव आँवले का प्रतिनिधि द्रव्य हरीतकी को माना गया है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि—'समः समं वर्धयति' तथा 'सामान्यं वृद्धिकारणम्'। इस अध्याय के प्रथमपाद में हरीतकी तथा आमलक की प्रधानता वाले छः योगों का वर्णन किया गया है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १ के चारों पादों में, सु० चि० अ० १३, २७, २८, २९, ३० में, अ० सं० उ० अ० ४९ में तथा अ० हृ० उ० अ० ३९ में देखें।

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्। प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम् ॥३॥
विद्याद् भेषजनामानि--

सामान्य भेषज-प्रकरण
(Topic of medicine in general)

भेषज के पर्याय—चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन तथा हित—इनको भेषज (औषध) के (पर्यायवाची) नाम समझना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि पर्यायों द्वारा उसी वस्तु-विशेष का निर्देश होता है या किया जाता है, जो लेखक अथवा वक्ता को अभीष्ट होता है, तथापि प्रत्येक पर्यायवाचक शब्द अपनी विशेषता रखता ही है। यहाँ 'भेषज' के जिन पर्यायों का परिगणन किया गया है, वे तत्सम्बन्धी कुछ न कुछ विशेषता को प्रकट करने में सहायक होते हैं। निम्नलिखित विवेचन पर ध्यान दें—

१. **चिकित्सित**—व्याधिप्रतीकारार्थक 'कित' धातु से सन् प्रत्यय आदि के योग से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। अर्थात् वे साधन जिनसे चिकित्सा की जाती है, अथवा रोगों को हटाने वाले उपाय। २. **व्याधिहर**—'विविधा आधयोऽस्मात्, तान् हरतीति यत् तत्'। जो द्रव्यसमूह व्याधि का विनाश करने में समर्थ हो, उसे 'व्याधिहर' कहते हैं। ३. **पथ्य**—'पथोऽनपेतं पथ्यम्'। जिस द्रव्यसमूह के सेवन करने से स्वास्थ्य ठीक मार्ग की ओर प्रवृत्त हो सके, अथवा जो जीवन के मार्ग में हितकर हो। ४. **साधन**—'साध्यतेऽनेनेति'—जो मानव के स्वास्थ्य-साधन में सहायक हो। ५. **औषध**—आचार्य गंगाधर ने चिकित्सा के अर्थ में प्रचलित औषध शब्द को रूढ़ माना है। जो सर्वथा युक्ति-युक्त है। ६. **प्रायश्चित्त** (Atonement)—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपो निश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमितीर्यते' ॥ वी. एस. आप्टे। अन्यत्र—'प्रायो रोगं विजानीयात्, चित्तिस्तस्य विशोधनम्' अर्थात् रोग का निराकरण। ७. **प्रशमन**—'प्रकर्षेण शमयति यत् तत्'—जो रोग का बलपूर्वक शमन कर दे। ८. **प्रकृतिस्थापन**—'विकृतान् दोषान् प्रकृतौ स्थापयति यत् तत्'—जो द्रव्यसमूह विकृत दोषों को प्रकृतिस्थ कर दे। इसीलिये कहा है—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। ९. **हित**—'पथ्य'। राजनि० व० २०। दोषों को हटाकर जो औषधसमूह स्वास्थ्य-सम्पादक होता है, आयुर्वेद के क्षेत्र में उसे 'हित' पोषक कहते हैं। १०. **भेषज** (Medicine). 'नरानेवं त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि'। गंगालहरी। भेषयति—भेषृ भये, ण्यन्त प्रयोग है। भेषं रोगं जयति। अथवा चिकित्सित आदि पर्यायों से जिसका निर्वचन किया जाये, उसे 'भेषज' कहते हैं।

प्रायः पर्यायवाची शब्द एकार्थवाचक नहीं होते, तथापि उसी प्रकार के अभिधान के स्मारक या संकेत कारक होते हैं। यही स्थिति यहाँ भेषज के पर्यायों की भी है। इनमें से कतिपय शब्द अन्यत्र भिन्न अर्थों के बोधक माने गये हैं। यथा—साधन, प्रायश्चित्त, हित।

—भेषजं द्विविधं च तत्। स्वस्थस्योर्जस्करं किञ्चित् किञ्चिदार्तस्य रोगनुत् ॥४॥

भेषज के दो भेद (Two types of medicine)—उपर्युक्त अनेक पर्यायों द्वारा कहा गया वह 'भेषज' दो प्रकार का होता है—१. स्वस्थ (नीरोग) पुरुष के ओजस् की वृद्धि करने वाला अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला तथा २. रोगी के रोग का नाश करने वाला।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्य में **'ऊर्जस्कर'** शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार 'ऊर्ज' शब्द सामान्यरूप से 'प्रशस्त' अर्थ का वाचक है, किन्तु 'ऊर्जबलप्राणनयोः' (चु० प० से०) के अनुसार 'ऊर्ज' शब्द बल और प्राणन अर्थ का बोधक है। अन्यत्र 'ऊर्ज' शब्द का प्रयोग इन अर्थों में भी देखा जाता है—1. Energy, 2. Power, 3. Strength, 4. Life.

आयुर्वेद में सभी द्रव्यों की ओषधि संज्ञा दी गयी है। देखें—च० सू० अ० २६।१२ तथा सु० सू० अ० ४१।५। अर्थात् पञ्च महाभूतात्मिका सृष्टि में उपलभ्यमान सभी द्रव्यों को ओषधि के रूप में स्वीकार कर उक्त संहिताकारों ने आयुर्वेद को सार्वभौम रूप प्रदान किया है। इस दृष्टि से उक्त द्विविध भेषज तीन भागों में विभक्त हो जाता है—१. दोषप्रशमन, २. धातुप्रदूषण और ३. स्वस्थवृत्त में हितकर। इस प्रकरण में उक्त दो प्रकार के ही द्रव्यों का उल्लेख किया गया है।

१. **स्वस्थस्योर्जस्कर**—प्रस्तुत प्रकरण में स्वस्थवृत्त में हितकर भेषज-द्रव्य को प्रधानता दी गयी है, क्योंकि यही उत्तम चिकित्सा है। और दूसरा कारण यह है कि यहां तन्त्रकार को **'रसायनपाद'** का आरम्भ करना है। रसायन की परिभाषा आयुर्वेदीय संहिताओं में इस प्रकार वर्णित है—'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्'। च० चि० अ० १। 'यज्जरा-व्याधिनाशनं तद् रसायनम्'। शार्ङ्गधरसंहिता। चक्रपाणि ने 'ऊर्जस्कर' शब्द का जो 'प्रशस्त' अर्थ किया है, वह विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। स्वस्थ (विकार रहित) पुरुष में जो औषधयोग जीवनीय तत्त्वों की वृद्धि करके समस्त शरीरावयवों को बल प्रदान करने में समर्थ हो, उस चिकित्सा का नाम 'स्वस्थस्योर्जस्कर' है।

२. **आर्तस्य रोगनुत्**—आर्त (पीड़ित) यथा—रोगार्त, क्षुधार्त, तृषार्त, कामार्त आदि, जो जिस प्रकार की आर्ति (पीड़ा) से पीड़ित हो उसकी पीड़ा का जिससे शमन हो सके, इस प्रकार की चिकित्सा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। ज्वर आदि पीड़ादायक रोगों का नाश करना, इस दूसरे प्रकार के भेषज का क्षेत्र है।

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम् ।

अभेषज के दो भेद—जो द्रव्य औषध के रूप में प्रयुक्त नहीं होते, वे भी दो प्रकार के होते हैं। यथा—१. बाधन और २. सानुबाधन।

वक्तव्य—अभेषज—'न भेषजम्' इस प्रकार नञ् समास द्वारा निष्पन्न यह शब्द अपने सभी अर्थों का निर्वाह करने में सक्षम है। यथा—

'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥'

१. **तत्सादृश्य**—उस (भेषज) जैसा। २. **अभाव**—जिसमें वैसे गुणों का अभाव हो। ३. **तदन्यत्व**—उससे भिन्न होना। ४. **तदल्पता**—यथोक्त गुणों का न होना। ५. **अप्राशस्त्य**—प्रशस्तता की कमी (Not excellence) और ६. **विरोध**—मूल अर्थ को स्वीकार न करना।

जो द्रव्य चिकित्सा-कार्य में तात्कालिक बाधा पहुँचायें, उनको 'बाधन' कहते हैं। इस प्रथम प्रकार के अभेषज के अनेक भेद देखने में आते हैं। कटु, तिक्त, कषायरस-प्रधान औषधयोग तत्काल जीभ को बाधित करते हैं। अतएव इसके प्रतीकार के अनेक उपाय हैं। यथा—'प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्'। सूक्ति। प्रायः माताएँ बच्चों को कड़ुई दवा खिलाने के पहले शहद चटा देती हैं, उसके बाद कड़ुई दवा को बालक शहद के धोखे से खा लेता है। क्षार, अग्नि, शस्त्रकर्म भी 'बाधन' के क्षेत्र में ही आते हैं।

१. **बाधन**—औषधयोगों का प्रतीकार आजकल कैपसूल (Capsule) में दवा भर कर या Sugar coated tablet के रूप से किया जा रहा है। हमारे विचार से जिस औषधयोग या ओषधि के गुण-धर्म से चिकित्सक अपरिचित है, वह 'बाधन' है। अतएव अज्ञात औषध को प्राणहर समझ कर उसका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि वह सब 'बाधन' है। किन्तु यहाँ तात्कालिक कष्टदायक औषधयोगों की संज्ञा 'बाधन' है। आधुनिक चिकित्सक इसी को Acute diseases कहते हैं।

२. **सानुबाधन**—'अनुबाधनेन सह वर्तते' इति। अर्थात् जो औषधयोग सेवन कर लेने के पश्चात् बाधा पहुँचाये, उसे सानुबाधन कहते हैं। चरक-सूत्रस्थान अ० २६ में वैरोधिक आहार-भेद के अन्तर्गत आने वाले सभी भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थ सानुबाधन होते हैं। दूषीविष भी इसी प्रकार बाद में कष्ट देते रहते हैं। देखें—सुश्रुत-कल्प० अ० २।२६। चक्रपाणि के अनुसार वे औषधद्रव्य जिनके कारण चिरकालानुबन्धी कुष्ठ आदि रोग हो जाते हैं। ध्यान रहे, कुष्ठरोग की उत्पत्ति में पूर्वजन्मकृत दुष्कृत भी कारण होते हैं। आधुनिक एलोपैथिक चिकित्सक इसे Chronic diseases का कारण मानते हैं, न कि पूर्वजन्मकृत दुष्कृत।

स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम् ॥५॥
प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम्। प्रायःशब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत् ॥६॥

वाजीकरण-रसायन—जो औषध-द्रव्य स्वस्थ पुरुष के शरीर में ऊर्जस्कर सिद्ध हों, अर्थात् बलवर्धन के साथ दीर्घजीवन प्रदान करते हों, वे ही द्रव्य प्रायः वृष्य तथा रसायन होते (कहे जाते) हैं। द्वितीय (रसायन शब्द द्वारा कहे गये) औषध-द्रव्य प्रायः रोगों को शान्त करने वाले स्वीकार किये गये हैं। द्वितीय श्लोक में प्रयुक्त 'प्रायः' शब्द विशेषार्थ का बोधक है, क्योंकि उभय (दोनों प्रकार के वृष्य और रसायन) द्रव्य उभयार्थकारी (वृष्य तथा रसायन के गुण-धर्मों वाले) होते हैं।

वक्तव्य—इसी अध्याय के श्लोक सं० ४ में द्विविध भेषज की चर्चा करते हुए **'स्वस्थस्योर्जस्कर'** नामक प्रथम भेद का उल्लेख किया गया है और उसे 'वृष्य' कहा गया है। **'द्वितीयं प्रशमे मतं तद् रसायनम्'**—अर्थात् जो रोगनाशक हो, उसे **'रसायन'** कहा गया है। तन्त्रकार अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं—**'ह्युभयं ह्युभयार्थकृत्'**—अर्थात् वृष्य तथा रसायन औषधयोग परस्पर दोनों कार्यों को करते देखे-सुने जाते हैं। यही सत्य भी है।

वृष्यम्—'वृषाय (कर्मणे) हितम्'। 'वृष्यं (श्रेष्ठं) शुक्रलं वा'। अर्थात् जिन औषध-द्रव्यों के प्रयोग से मानव वीर्य की वर्षा करने में समर्थ हो जाये, उनको **'वृष्य'** कहते हैं।

और भी—जिस औषध-द्रव्य के सेवन करने से स्त्री-सहवास के प्रति हर्ष (लिङ्गोच्छ्राय) हो, अर्थात् अधिक आनन्द की प्राप्ति या उत्साह होता है, उसे 'वृष्य' या 'वाजीकर' कहते हैं। जैसे—नागबला (खिरेंटी) तथा किवाँच के बीज आदि। 'यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु। हर्षणं मनसश्चैव तत् सर्वं वृष्यमुच्यते'। च० चि० अ० २।४।३४।

रसायनम्—जो द्रव्य जरा (बुढ़ापा) और रोगों (ज्वर आदि) को नष्ट करता है, वह 'रसायन' कहा जाता है। जैसे—गिलोय, रुदन्ती, गूगल, हरड़ तथा पारद-गन्धक के योग से निर्मित विविध प्रकार के रसायन। इस शब्द की विस्तृत व्याख्या इसी अध्याय के ७वें तथा ८वें पद्यों की व्याख्या तथा वक्तव्य में देखें।

प्रायः—'प्रायो मरणानशने मृत्यौ बाहुल्यतुल्ययोः'। मेदिनी। तथा 'प्रायश्चानशने मृत्यौ प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः'। विश्व०। उक्त दोनों कोषकारों के मत समान हैं। इनके अनुसार यहाँ 'प्रायः' शब्द बाहुल्य तथा तुल्यार्थ का वाचक है। चक्रपाणि के अनुसार 'प्रायः' का अर्थ केवल 'बाहुल्य' है। ऐसा लगता है कि इनके ध्यान में निम्न कारिका रही होगी—

'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति'॥ परिभाषा।

इस विचार से हम भी कुछ अंशों में सहमत हैं। किन्तु **'उभयं ह्युभयार्थकृत्'** पद्यांश की संगति फिर कैसे बैठायी जा सकेगी? अतः प्रसंग को ध्यान में रखते हुए 'प्रायः' शब्द का अर्थ बाहुल्य तथा तुल्यता दोनों ही समीचीन हैं।

द्वितीयम्—इस शब्द का सम्बन्ध चरक के सुप्रसिद्ध टीकाकार चक्रपाणि और गंगाधर ने भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ स्थिर किया है। ऐसा लगता है, वास्तव में दोनों का एक ही दृष्टिकोण है। ध्यान दें—इसी अध्याय के श्लोक सं० ४ में द्विविध भेषज के दो प्रयोग-स्थल हैं—१. स्वस्थ और २. आर्त। इनके लिए जो औषध-विधान किया गया है, वह भी उसी आनुपूर्वी से वर्णित है—१. वृष्य और २. रसायन। अब यदि चक्रपाणि 'द्वितीयं' शब्द से 'आर्त' का ग्रहण करें और गंगाधर 'रसायन' शब्द का, तो इस प्रकार सम्बन्ध स्थिर करने में कभी भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी कुशल चिकित्सक 'आर्त' (रोगी) के प्रति 'वृष्य' औषधयोगों का प्रयोग नहीं कराएगा। अन्य रसायनयोगों का क्रम आगे ७वें ८वें पद्य में देखें।

उभयम्-उभयार्थकृत्—प्रत्येक ओषधि का अपना विशिष्ट गुण-धर्म तथा प्रभाव होता है। तदनुसार वह कार्य करती है। औषधयोगों में प्रधान द्रव्य-विशेष महत्त्व वाला होता है। अन्य द्रव्यों को योगवाही कहा जाता है। इसी दृष्टि से किसी द्रव्य तथा योग-विशेष का रोगविशेष में प्रयोग किया जाता है। ऊपर वृष्यकारक द्रव्यों में नागबला और किवाच का उल्लेख किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये द्रव्य केवल वृष्य (वाजीकर) होते हैं। किवाच का प्रयोग वात, कफ, पित्त तथा रक्तदोष की शान्ति के लिए भी किया जाता है। अतः यह **'आर्तस्य रोगनुत्'** भी है। इसी प्रकार नागबला मूत्राघातीसारनाशक है और वायु का अनुलोमन भी करती है।

'रसायन-प्रकरण' में कथित गिलोय, रुदन्ती, गुग्गुलु और हरीतकी आदि का अन्य अनेक प्रकार के रोगों की शान्ति के लिए प्रयोग करते-कराते देखा गया है। अतएव उभयम् (वृष्य तथा रसायन योग) उभयार्थकृत् (स्वस्थस्य ऊर्जस्कर और आर्तस्य रोगनुत्) होते हैं।

यह लोक-व्यवहार में भी देखा जाता है कि जिस समय जो व्यक्ति जहाँ जिस कार्य के लिए नियुक्त होता है, उस समय वह व्यक्ति वहाँ उसी कार्य को करता है। उसके आगे-पीछे अपनी योग्यता के अनुसार वह अन्य कार्य या कार्यों को भी करता है। तदनुसार ही उसकी संज्ञा भी निर्धारित की जाती है। यही स्थिति वृष्य तथा रसायनयोगों की भी है। **यथा**—'नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद् रसायनम्'। भावप्रकाश। नरमूत्र विषनाशक होता है तथा चिरकाल तक सेवन करने से वह रसायन भी है।

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ॥७॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं[1] कान्तिं लभते ना रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

रसायन-सेवन से लाभ—रसायन-औषधयोगों का सेवन करने से मनुष्य दीर्घजीवन स्मरण-शक्ति, मेधा (धारणा-शक्तियुक्त बुद्धि), आरोग्य, तरुण वय (वृद्धावस्था में भी जवान जैसा), प्रभा (कान्तियुक्त

---

१. 'वृषताम्' इति पाठान्तरम्।

आकृति), वर्ण (गौर, श्याम, श्यामल), स्वर (गम्भीर या सुरीला), उदारता, देह तथा इन्द्रियों में उत्तम बल की प्राप्ति, वाक्सिद्धि (ऋषि-मुनियों की भाँति जो कुछ कह दे, उसका सत्य होना), प्रणति (विनयशील होना; पाठ-भेद के अनुसार—वृषता अर्थात् वीर्य की वर्षा करने में समर्थ) तथा कान्ति (शरीर में कमनीयता)—इन गुणों को प्राप्त करता है।

रसायन की निरुक्ति—प्रशंसनीय गुणों से युक्त रस, रक्त आदि धातुओं को प्राप्त करने के जो-जो उपाय हैं, उनको रसायन (रस-प्राप्ति का मार्ग) कहते हैं।

वक्तव्य—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र—ये सात रसादि धातुएँ हैं। ये जिस प्रकार सम अवस्था में रहकर शरीर का हित सम्पादन कर सकें और इसके जो भी प्रशस्त (उत्तम) उपाय हों, वे सब 'रसायन' संज्ञक हैं। ऊपर ७वें तथा ८वें पद्य में कुछ ऐसे लक्षणों का निर्देश किया गया है, जिन पर विचार करना आवश्यक है। जैसे—दीर्घमायुः, स्मृतिं, वाक्सिद्धि—ये सामान्य गुण नहीं हैं। इनकी प्राप्ति केवल चिकित्सास्थान में कहे गये रसायनयोगों से सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ तन्त्रकार द्वारा पहले कहे गये **'आचाररसायन'** तथा **'स्वस्थवृत्त'** का भी यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'। अथर्ववेद ११।५।१९।

आचार्य शार्ङ्गधर ने भी अपनी संहिता में 'जरा-व्याधि'नाशक औषधयोगों को 'रसायन' की संज्ञा दी है। वयोहानि को ही 'जरा' कहते हैं। किन्तु काल के परिणाम (परिपाक) से जरा तथा मृत्यु निमित्तक जो रोग होते हैं, उनको स्वाभाविक रोग कहते हैं और इस प्रकार के रोग निष्प्रतिक्रिय माने गये हैं। देखें—च० शा० अ० १।११५। उक्त पद्य की टीका करते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—'अथ स्वाभाविकानां का चिकित्सेत्याह—स्वभाव इत्यादि, निष्प्रतिक्रिय इति साधारणचिकित्सया रसायनवर्ज्यया न प्रतिक्रियते, रसायनेन तु प्रतिक्रियत एव, तेन, **'अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा'**। च० चि० अ० १ पा० १.७२। इस प्रकार रसायन-सेवन का महत्त्व दिया गया है।

कालक्रमजनित ह्रास का वर्णन करते हुए आचार्य शार्ङ्गधर ने लिखा है—'बाल्यं वृद्धिश्छविर्मेधा त्वग्दृष्टिः शुक्रविक्रमौ। बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चेतो जीवितं दशतो ह्रसेत्'॥ शा० सं० पू० खं० अ० ६।६१। जन्म से प्रति दस वर्ष के अनन्तर निम्नलिखित भावों का ह्रास होता जाता है। जैसे—प्रथम दशक में—बाल्यावस्था का नाश, द्वितीय दशक में—वृद्धि का नाश, तृतीय दशक में—छवि (रूप-सौन्दर्य) का नाश, चतुर्थ दशक में—मेधा (धारणा शक्ति) का नाश, पञ्चम दशक में—त्वचा की सुरूपता का नाश, षष्ठ दशक में—दृष्टि की हानि, सप्तम दशक में—शुक्र की हानि, अर्थात् मैथुन-सामर्थ्य या गर्भाधान-सामर्थ्य की हानि, अष्टम दशक में—विक्रम की हानि, नवम दशक में—बुद्धि की हानि, दशम दशक में—कर्मेन्द्रिय की हानि। यहाँ पर च० वि० अ० ८।१२२ का विषय भी द्रष्टव्य है।

भावमिश्र ने 'दशतः' के स्थान पर 'क्रमतः' पद का प्रयोग किया है। इस क्रम से मानव की आयु १२० वर्ष की होती है। किन्तु 'शतायुर्वै पुरुषः', 'जीवेम शरदः शतम्'—इस प्रकार वेदों में तथा 'वर्षशतं खलु आयुषः प्रमाणम्' च० शा० अ० ६ में मानव की १०० वर्ष की आयु बतलायी गयी है।

यहाँ यदि हम 'जरा' शब्द से साठ वर्ष से ऊपर की अवस्था स्वीकार करेंगे तो शास्त्र के साथ अन्याय ही होगा। क्योंकि रसायन-सेवन का काल है—'पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्। प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा'॥ अर्थात् पूर्व (१६ से ३० तक) अथवा मध्य (३० से ६० तक) की वय में ही मनुष्य को रसायन का प्रयोग करना चाहिए। रसायन-सेवन के पहले वमन, विरेचन द्वारा शरीर को शुद्ध और स्निग्ध कर लें। इस विषय में अन्य मत—'यस्तु वृद्धो बालो वा नाति बलहीनः संशोधनसहः स रसायनाधिकारी चेति', जो बालक अथवा वृद्ध बहुत बलहीन न हो और संशोधनों को सहन कर सके, उसको भी रसायनों का सेवन कराया जा सकता है। किन्तु विना संशोधन कराये हुए व्यक्ति के शरीर पर रसायनों का प्रयोग वैसे ही व्यर्थ होता है, जैसे मैले वस्त्र पर रंगों का प्रयोग। देखें, सुश्रुताचार्य की स्पष्टोक्ति—'नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः। न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवार्पितः'॥ सु० चि० अ० २७।४। सुश्रुत ने रसायन शब्द का एक विशेषण दिया है—'सर्वोपघातशमनीय'। इसका तात्पर्य है कि रसायन-सेवन करने वाला पुरुष अतुल शक्तिशाली होने के कारण सभी प्रकार के अघातों को सहन करने योग्य हो जाता है।

जैसे किसी कार्य की पूर्ण सफलता के लिए तदनुरूप वातावरण बनाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार रसायन के गुणों की पूर्ण प्राप्ति के लिए भी तत्परता की पूरी-पूरी आवश्यकता होती है। रसायन-सेवन का प्रमुख लाभ है जरा नाश; व्याधिनाश होना तो उसका गौणपक्ष है। इन रसायनों का प्रयोग 'ना' अर्थात् पूर्ण पुरुष पर करने से ही उक्त लाभ होते हैं, अन्यत्र नहीं। अतएव कहा गया है—**'लभते ना रसायनात्।**

अपत्यसन्तानकरं यत् सद्यः सम्प्रहर्षणम्। वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः ॥९॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते। जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद् येन दृश्यते ॥१०॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान्। [1]भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः ॥११॥
सन्तानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते। यशः श्रियं बलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत् ॥१२॥

'वाजीकरण' शब्द की निरुक्ति—जो औषध-द्रव्य अपत्य (पुत्र) परम्परा का सन्तान (विस्तार) करने वाला हो, जो शीघ्र ही सम्प्रहर्षण (योग्य स्त्री को पाकर मैथुन करने के लिए प्रवृत्त) करने वाला हो, जिसके सेवन करने से पुरुष घोड़े के समान (अत्यन्त बलपूर्वक विना किसी रुकावट के) मैथुन करने में समर्थ हो जाता है, जिसका सेवन करने से स्त्रियों का अत्यन्त प्रेम-पात्र बन जाता है, जिसके सेवन करने से वृद्ध होता हुआ पुरुष भी रस, रक्त, मांस, मेद आदि से पुष्ट होता जाता है, जिसके सेवन से वृद्ध पुरुष को भी अक्षय शुक्र की प्राप्ति होती रहती है, जिसके कारण वृद्ध पुरुष भी मैथुन करने में सफल देखा जाता है, अर्थात् सन्तान के उत्पादन में समर्थ देखा जाता है, जिसके सेवन से अनेक शाखाओं से युक्त वृक्ष के सदृश हो जाता है (अर्थात् शरीररूपी वृक्ष के मूल में जब वीर्यरूपी खाद की अधिकता होती है, तब उसकी अनेक शाखाएँ हो जाती हैं, उसी प्रकार वह पूर्णपुरुष भी होता है, जो वाजीकरण योगों का सेवन करता है), जिसके सेवन करने से वह चैत्य (देव मन्दिर या यज्ञशाला) की भाँति महान् और जनता का पूज्य हो जाता है तथा सबका मान्य हो जाता है, जनता में वह व्यक्ति बहुत सन्तानवाला कहा जाता है, जो सन्तान की उत्पत्ति का मूल कारण है और जिसके सेवन करने से मनुष्य इस लोक में यश, लक्ष्मी, बल, शारीरिक पुष्टि तथा परलोक में अनन्त सुख को प्राप्त करता है, उस औषध-योग को 'वाजीकरण' कहते हैं।

वक्तव्य—उक्त चार पद्यों द्वारा वृष्य अथवा वाजीकरण द्रव्यों की यथार्थ प्रशंसा की गयी है। तथापि कतिपय शब्द विवेचन के योग्य हैं, जिनकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

अपत्यसन्तानकरम्—भारतीय परम्परा के अनुसार पुत्र सन्तान का ही महत्त्व है। इसीलिये प्राचीन काल में पुत्रेष्टि यज्ञों का अनुष्ठान किया एवं कराया जाता था। आज भी अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। केरल आदि अनेक प्रदेशों में पुत्र के स्थान पर कन्या सन्तान को महत्त्व दिया जाता है। **अपत्यम्**—'न पतन्ति पितरः अनेन, इति'—अर्थात् जिसका दर्शन कर लेने के बाद माता-पिता नरक में नहीं पड़ते, यदि पड़ते भी हैं तो योग्य पुत्र द्वारा उनका उद्धार हो जाता है, उसे अपत्य (पुत्र) कहते हैं। और भी—'पुं नाम्नो नरकात् त्रायते, इति पुत्रः'। **सन्तान**—वंश या विस्तार। यह सब वाजीकरण योगों के सेवन से सम्भव हो सकता है।

वाजीकरणम्—१. 'वाजं = शुक्रं, न वाजम् अवाजम्, अवाजं वाजीक्रियते, अनेन', इति। अथवा 'अवाजी वाजीक्रियते, अनेन, इति।' 'अभूततद्भावे च्विः'—इसमें अभूततद्भाव अर्थ में यहां 'च्वि' प्रत्यय हुआ है। ऊपर वाजीकरण की दो निरुक्तियां दी गयी हैं। उनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—१. शुक्र रहित या हीन पुरुष को जो भेषजयोग शुक्रयुक्त कर दे अथवा जो वाजी नहीं है (घोड़े के समान जो मैथुन की शक्ति नहीं रखता), उसको जो औषधयोग वाजी (घोड़ा जैसा) बना देता है, उसे वाजीकरण कहते हैं।

भवत्यतिप्रियः स्त्रीणाम्—महर्षि चाणक्य के अनुसार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कामप्रवृत्ति अधिक होती है। देखें—'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां लज्जा चापि चतुर्गुणा। साहसं षड्गुणश्चैव कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥ चाणक्यनीति। वाजीकरणयोगों के सेवन से हृष्ट-पुष्ट अंगों वाला तथा संप्रहर्षण शक्तिसम्पन्न युवक स्त्रियों को निश्चित ही प्रिय होता है, क्योंकि ऐसे पुरुष में मैथुन-समर्थता (Potency) बहुत बढ़ जाती है।

जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रम्—वाजीकरण के सेवन से वृद्ध होता हुआ भी पुरुष प्रजोत्पादन में समर्थ होता है। यद्यपि सामान्यरूप से ५०–६० वर्ष तक ही पुरुष में गर्भाधान करने की शक्ति देखी जाती है, किन्तु

१. 'भवत्यर्घ्यो बहुमतः' इति 'भवत्यमी बहुमतः' इति च पा०।

वाजीकरण योगों का विधिवत् सेवन करने वाला पुरुष ७० वर्ष की अवस्था में भी पूर्ण स्वस्थ रहता हुआ उसका वीर्य सफल (पुत्रोत्पादन में समर्थ) देखा जाता है।

प्रभूतशाखः शाखीव—एक समय था, जब ब्रह्मा को यह इच्छा हुई थी-**'एकोऽहं बहुस्याम्'**। अर्थात् मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। यमराज नचिकेता से कहता है—**'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व'**—शतायु पुत्र-पौत्रों का वरण करो। सौ कौरवों तथा ६० हजार सगर के पुत्रों की चर्चा प्रचलित है। आज परिवार नियोजन के युग में **'प्रभूतशाखः शाखीव'** वरदान नहीं, अभिशाप ही सिद्ध हो रहा है। यही स्थिति 'सुबहुप्रजः' की भी है।

येन चैत्यो यथा महान्—'चैत्यमायतने बुद्धबिम्बेऽप्युद्देश्यपादपे'। इति रुद्रः। 'चैत्य' शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में देखा जाता है, जैसे—१. मन्दिर, २. यज्ञशाला, ३. बुद्धमूर्ति, ४. अश्वत्थवृक्ष, ५. बौद्ध-भिक्षु, ६. भिक्षुविहार आदि। यहाँ यदि हम **'प्रभूतशाखः शाखी इव चैत्यः'** ऐसा अन्वय करते हैं, तो 'अश्वत्थवृक्ष' ही उचित पर्याय सिद्ध होता है।

इह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते—वाजीकरण औषध-योगों के सेवन से इच्छित सन्तान की प्राप्ति होती है। उस इच्छित सन्तान से मानव इस जीवन में मनःसन्तोष, स्पर्शजनित सुख, सेवा-सुख प्राप्त करता है और अपने मरने के बाद और्ध्वदैहिक क्रियाओं द्वारा पारलौकिक सुखों को भी प्राप्त करता है। यथा—

'जीवितो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता'॥

इस परम्परा में नचिकेता, श्रीराम आदि पितृभक्तों के चरित्र अविस्मरणीय हैं।

स्वस्थस्योर्जस्करं त्वेतद् द्विविधं प्रोक्तमौषधम्। यद् व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते॥
चिकित्सितार्थ एतावान् विकाराणां यदौषधम्। रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च॥१४॥

रसायन-वाजीकरण का प्रारूप—इस प्रकार स्वस्थ पुरुष के ओज को बढ़ाने वाली यह दो प्रकार की चिकित्सा कह दी गयी है। जो ज्वर आदि व्याधियों के विनाशक औषध हैं, वे आगे चिकित्सास्थान में कहे जायेंगे। ज्वर आदि विकारों (रोगों) के विनाशक योग चिकित्सा के प्रयोजन हैं। इन सबके पहले इस चिकित्सास्थान में रसायन और वाजीकरण योगों का वर्णन किया जायेगा।

वक्तव्य—ये चिकित्सास्थान के प्रस्तावनात्मक पद्य हैं। सम्पूर्ण आयुर्वेदिक साहित्य को आठ भागों में बाँटा गया है। उन्हीं के अन्तर्गत रसायन और वाजीकरण प्रकरण भी हैं, जिनका सिद्धान्तरूप में चिकित्सा-स्थान प्रथम अध्याय के आरम्भिक चार पादों में रसायन का और द्वितीय अध्याय के चार पादों में वाजीकरण का निर्देश किया गया है।

चरकस्तु चिकित्सिते—'स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी पुरुष के रोग का प्रतीकार करना' यही चिकित्सा का मूल सिद्धान्त है। इसी का समर्थन च० चि० अध्याय १ के ४थे श्लोक में किया गया है। तदनुरूप महर्षि ने चिकित्सास्थान के आरम्भ के दो अध्यायों में रसायन और वाजीकरण के सिद्धान्तों तथा उनके योगों का वर्णन किया है, क्योंकि ये सभी योग **'उभयम्-उभयार्थकृत्'** होते हैं।

मनुष्य-मात्र की 'प्राणैषणा' को पुष्ट करने में सहायक होने के कारण, सामान्य चिकित्सा की अपेक्षा विलक्षण शक्तियुक्त होने के कारण रसायन तथा वाजीकरण का चिकित्सास्थान में प्रथम सन्निवेश कर महर्षि आत्रेय ने चिकित्सा के औचित्य का स्थापन किया है।

इसी प्रकार सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान के २६ से ३० अध्यायों और अष्टाङ्गहृदय उत्तरतन्त्र के ३९ तथा ४० वें अध्यायों में क्रमशः रसायन तथा वाजीकरण का वर्णन किया गया है।

अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात्। तदसेव्यं निषेव्यं तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम्॥१५॥

अभेषज का निषेध—जो औषध-द्रव्य अपने गुण, कर्म आदि से विपरीत फलदायक हो, उसे अभेषज समझना चाहिए। अतः उसका सेवन नहीं करना चाहिए, अर्थात् वह त्याज्य है। जिस औषध का सेवन करना चाहिए, उसको आगे कहूँगा।

वक्तव्य—संसार के सभी पदार्थों को सिद्धान्ततः औषधरूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु कौन

द्रव्य किसके लिए, किस अवसर पर औषध है और कौन नहीं है, इसका विस्तृत विचार करने का दायित्व विद्वान् चिकित्सक पर होता है। मूलतः जो द्रव्य रसादि धातुओं को दूषित करते हैं, उन्हें अभेषज कहा गया है। 'सद्वृत्त-प्रकरण' में जिनका सेवन नहीं करना चाहिए कहा गया है, वे सभी अभेषज हैं। संक्षेप में सभी अहितकर वस्तुएँ अभेषज और सभी हितकर वस्तुएँ भेषज हैं।

प्रवक्ष्यामि—प्र उपसर्गपूर्वक 'वच्' धातु के लृट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन का यह रूप है। इसका अर्थ है—'प्रयत्नपूर्वक कहूँगा' किन्तु यहाँ उक्त लृट् लकार का प्रयोग 'वर्तमान सामीप्य' अर्थ में हुआ है। जैसे—'कदा गमिष्यसि—एष गच्छामि—गमिष्यामि वा'।

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः। कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च॥१६॥

द्विविध रसायन-प्रकरण

(Topic of two types of Rasayan)

दो प्रकार के रसायन—प्राचीन महर्षि रसायन-सेवन के द्विविध प्रकारों को जानते थे। उनमें पहला है—**कुटीप्रावेशिक** और दूसरा है—**वातातपिक।**

वक्तव्य—रसायन तथा वाजीकरण-योगों के प्रयोग स्वस्थ पुरुषों पर ही किये-कराये जाते हैं। इनकी सफलता पूर्ववयस् तथा मध्यवयस् में ही अधिकांश देखी जाती है। इसके अतिरिक्त यदि मानव संशोधनकर्मों को सहन करने में समर्थ हो, तो वृद्धावस्था में भी इनका प्रयोग कराया जा सकता है। संशोधन के बिना इनका प्रयोग सफल नहीं होता। जैसा कि हमने इसी अध्याय के ७वें-८वें श्लोकों के वक्तव्य में स्पष्ट निर्देश किया है। सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण रसायनों का प्रथम प्रयोग किया गया है और रजस् गुण की प्रधानता होने के कारण वाजीकरण का बाद में परिगणन किया गया है। रसायनों का प्रयोग करके देवता स्वर्ग में तथा मानव भूलोक में आनन्द प्राप्त करते हैं। देखें—सु० चि० अ० ३०।३।

चरकसंहिता में सभी प्रकार के रसायनों को सेवन-विधि के भेद से दो भागों में विभक्त किया गया है—१. कुटीप्रावेशिक (Indoor management) और २. वातातपिक (Outdoor management)। चरक-सूत्रस्थान के १४वें अध्याय में १३ प्रकार के स्वेदों में एक कुटीस्वेद भी है, जिसकी विधि अन्य स्वेदों से विलक्षण है। इसी प्रकार का यह एक कुटीप्रावेशिक रसायन भी है। निम्नलिखित सात प्रकार के पुरुष इसका सेवन न करें—१. अजितेन्द्रिय, २. आलसी, ३. दरिद्र, ४. प्रमादी, ५. व्यसनी (दुर्व्यसनी), ६. पापकर्मों को करने वाला और ७. औषध का अपमान करने वाला। देखें—सु० चि० अ० ३०।४।

कुटीप्रावेशिक तथा वातातपिक ('वातातपे विहाय कुटीं प्रविश्य यद् रसायनं सेव्यते, तत् कुटीप्रावेशिकम्'। वातं च आतपं च = वातातपे ताभ्यां चरति इत्यर्थे ठक्—वातातपिकम्) रसायनों का सेवन किन-किन को करना चाहिए, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन च० चि० रसायनाध्याय १।४ श्लोक २७-२८ में किया गया है। उसका व्याख्यान हम यथास्थान करेंगे।

कायाकल्प—रसायनों के विधिवत् सेवन करने से शरीर का नवीनीकरण किया जाता था, जो आज सबके लिए सम्भव नहीं रह गया है। पुराणों तथा संहिता ग्रन्थों में वैखानस, बालखिल्य तथा च्यवन ऋषि के कायाकल्प का वर्णन मिलता है, जो आज की स्थिति को देखकर प्रायोगिक नहीं होकर एक घटना मात्र कहा जा सकता है।

रसायन-सेवन के पूर्व मानसिक तथा शारीरिक दोषों को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इस प्रकार के उपदेशों पर श्रद्धा न रखने वालों को रसायन-सेवन का उपदेश ही नहीं देना चाहिए।

रसायन-सेवन का प्रथम प्रकार (कुटीप्रावेशिक), जो पुनर्युवन (Rejuvenation) के लिए प्रयुक्त होता है, अत्यन्त कठिन है। इसके लिए एक विशेष प्रकार की कुटी बनायी जाती है। जब तक चिकित्सा पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक रसायन-सेवन करने वाले व्यक्ति को बाहर निकलने नहीं दिया जाता। कुटी का निर्माण इस दृष्टि से किया जाता है कि उसमें हवा के झोंके, प्रकाश, धूल, आँधी आदि का प्रवेश तक न हो सके। यद्यपि यह रसायन-विधि सेवन की दृष्टि से उत्तम है, किन्तु साधारण संयम वाला व्यक्ति इतने बन्धनों को बहुत समय तक सहन नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि यह प्रथम प्रकार केवल वीतराग

साधु-संन्यासियों के लिए ही है। जो लोग प्रथम प्रकार में कल्पचिकित्सा कराने में असमर्थ होते हैं, उनके लिए दूसरा (वातातपिक) प्रकार उत्तम होता है।

यह रसायन-प्रयोग के उद्देश्य भेद से तीन प्रकार का देखा जाता है—

१. **आजस्रिक रसायन**—प्रतिदिन सेवन करने योग्य, जैसे—आचाररसायन, षड्रसयुक्त भोजन, दूध, घी आदि।

२. **काम्य रसायन**—विशेष प्रयोजन (प्राणकामः, मेधाकामः, श्रीकामः आदि) से सेवन करने योग्य। जैसे—आयुर्वृद्धि, मेधावृद्धि, बलवृद्धि आदि।

३. **नैमित्तिक रसायन**—कुष्ठ, मधुमेह, यक्ष्मा आदि गम्भीर रोगों के निवारण करने योग्य। जैसे—शिलाजतु, भल्लातक, तुवरकादि योगों का सेवन।

प्रत्येक अंग के लिए रसायन

निघण्टु ग्रन्थों में ऐसे अनेक द्रव्यों का उल्लेख मिलता है, जो शरीर के प्रत्येक अवयव को जवान बनाने में सहायक देखे गये हैं। इस प्रकार के कतिपय द्रव्यों की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। यथा—हरीतकी-मेध्य, पिप्पली-वृष्य, गुग्गुलु-स्वर्य, गम्भारीफल-केश्य, जीवन्ती-चक्षुष्य, भृङ्गराज-दन्त्य, बीजक-त्वच्य, सुवर्ण-बल्य, दुग्ध-आयुष्य। इस प्रकार अन्य अवयवों के सम्बन्ध में भी विचार करें।

स्मरणीय है कि प्राचीनकाल से आजतक जब-जब जिस-जिसको सफलता मिली है, वहाँ शास्त्रीय नियमों का अनुसरण कारण रहा है और जहाँ असफलता मिली है वहाँ शास्त्रीय नियमों का निरादर कारण रहा है, ऐसा समझें। आजकल जितने भी रसायनों का प्रयोग किया-कराया जाता है, वे सब **वातातपिक** (वात और आतप का सेवन करते हुए किये जाते) हैं। यह **कुटीप्रावेशिक** के नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र विधि वाला होता है, जिसका उल्लेख इसी प्रकरण में आगे किया जायेगा।

द्विविध भेषज-तालिका

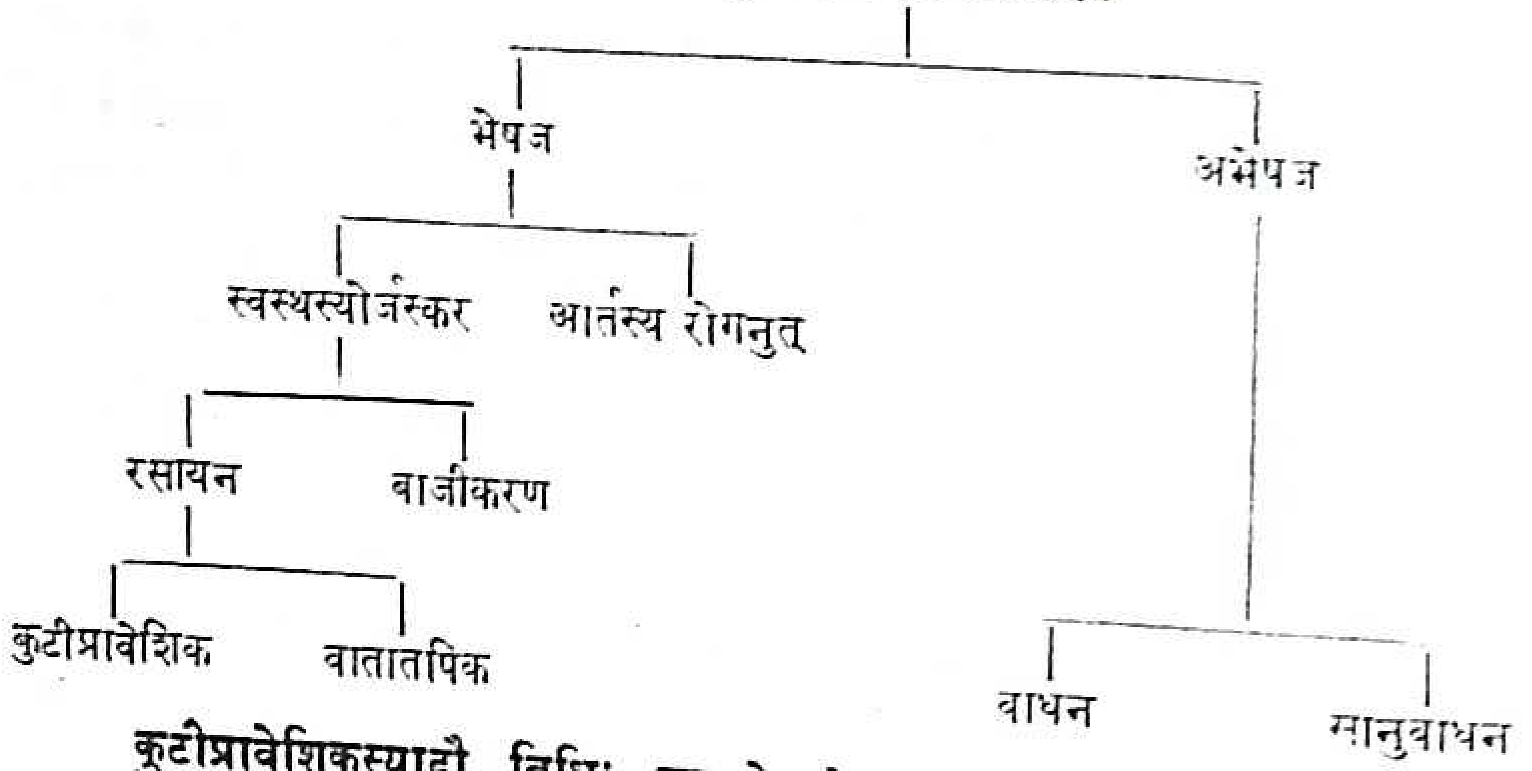

कुटीप्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते। नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम् ॥१७॥
निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे। दिशि पूर्वोत्तरस्यां च सुभूमौ कारयेत् कुटीम् ॥१८॥
विस्तारोत्सेधसम्पन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम्। घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम्॥१९॥
शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम्। इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम् ॥२०॥

कुटी-निर्माण की विधि (Construction of health resorts)—सर्वप्रथम कुटीप्रावेशिक रसायन सेवन-विधि का उपदेश किया जा रहा है। जिस स्थान पर पुण्यकर्म (स्नान, सन्ध्या, व्रत, यज्ञ, दान, अतिथि-पूजन आदि) करने वाले राजा, वैद्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और साधु (सच्चरित्रवाले) मानव निवास करते हों; जो सर्वथा निर्भय तथा सभी दृष्टियों से उत्तम हो; जहाँ सभी आवश्यक सामग्री सुविधा से सुलभ हो जाती हो। इस प्रकार के नगर के पूर्व-उत्तर दिशा की ओर सुन्दर भूमि (वास्तुशास्त्र के अनुसार जो भूमि सभी

१. 'सक्त' इति पा०।

प्रकार के दोषों से रहित हो, उस) पर उक्त कुटी का निर्माण करायें। वह कुटी विस्तार (चौड़ाई) और उत्सेध (ऊँचाई) से युक्त तथा त्रिगर्भा (तीन दीवालों से घिरी, अर्थात् एक दीवाल के बाद कुछ दूरी पर दूसरी दीवाल, उससे कुछ दूरी पर तीसरी दीवाल हो और इन दीवालों के बीच की दूरी एक आदमी के आसानी से आने-जाने लायक) होनी चाहिए। दीवालों के ऊपरी हिस्सों में छोटे-छोटे लोचन (छिद्र, मोखे या झरोखे) हों। ये छिद्र इस प्रकार के होने चाहिए कि भीतरी (पहली) दीवाल के छिद्र दूसरी दीवाल से ढंक जायें और बाहरी (तीसरी) दीवाल के छिद्र दूसरी दीवाल के छिद्रों के सामने न हों। उस कुटी में ऐसा करने का तात्पर्य यह है कि बाहरी हवा सीधे भीतर न जा सके। उस कुटी की दीवालें मोटी (सुदृढ़) हों। कुटी का निर्माण इस प्रकार हो कि सभी ऋतुओं (जाड़ा, गर्मी, बरसात) में सुख मिल सके, सुस्पष्ट (शौचालय, स्नान-गृह, पूजा-स्थान, भोजन-गृह अलग-अलग बने) हों, वह कुटी मन को सुख देने वाली हो, उसमें अप्रिय तथा अमंगलकारक शब्दों का प्रवेश न हो, उसमें स्त्रियों का प्रवेश वर्जित हो, वह मनोविनोद की सामग्री तथा दैनिक उपयोगी पदार्थों से युक्त, ब्राह्मण, वैद्य तथा उपयोगी औषध-द्रव्यों से युक्त हो।

वक्तव्य—ऊपर रसायन-सेवन के लिए एक विशेष प्रकार की कुटी के निर्माण की चर्चा की गयी है। परवर्ती वाग्भट ने भी रसायन-सेवन के लिए कुटीप्रावेशिक विधि को प्रधान और वातातपिक विधि को गौण माना है। यथा—'कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा'। अ० हृ० उ० ३९।५। इसी का समर्थन अ० सं० उ० त० अ० ४९ में भी देखें। वाग्भट के अनुसार इसका निर्माण केवल उत्तर दिशा में करना चाहिए। उस कुटी के भीतर धुआँ, धूप, धूलि, सर्प, गम्या स्त्री (पत्नी या प्रेयसी) तथा मूर्ख पुरुष का प्रवेश न हो। चरक में जहाँ 'सुस्पष्टां' पाठ है, अष्टांगहृदय में वहाँ 'सुमृष्टां' पाठ दिया है। 'सुमृष्टां' का अर्थ होता है—साफ-सुथरी, और 'सुस्पष्टाम्' का आशय ऊपर दे दिया गया है।

मनसः प्रियाम्—यद्यपि कल्प-सेवन के इच्छुक पुरुष को प्रवेश के दिन से लेकर कल्पविधि के पूर्ण होने तक उससे बाहर नहीं निकलना है, तथापि उस कुटी के आस-पास शमी, बिल्व, बरगद आदि वृक्ष लगे हों और समीप में जलाशय हो।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः' ॥ सु० सू० अ० १९।४। इस 'व्रणितोपासनीय-प्रकरण' में भी एक ऐसे घर की आवश्यकता है, जो प्रशस्त प्रदेश में बना हो। पवित्र, स्वच्छ तथा धूप एवं सीधी हवा की रुकावट वाले ऐसे घर में शारीरिक, आगन्तुज एवं मानसिक रोग नहीं होते। रसायन-सेवन के योग्य इस कुटी के निर्माण में भी महर्षि आत्रेय का यही विचार रहा है।

शस्ते पुरे—ऊँची-नीची भूमि रहित, पूर्व या उत्तर दिशा की ओर झुका हुआ तथा काली या पीली मिट्टी वाला प्रदेश उत्तम होता है। विस्तार के लिए चरक-सूत्रस्थान अ० १४।४६ में कूटागार निर्माण-विधि इस प्रकार दी गयी है—'अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके स्वर्णमृत्तिके वा'।

वास्तुशास्त्र के अनुसार प्रशस्त भूमि—'बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः। सहकारश्च षड्वृक्षैरारूढा या समस्थली। निष्कपाला निरुपला कृष्णवल्मीकवर्जिता' ॥ आदि।

अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजिते। मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः ॥२१॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितः। विधूय मानसान् दोषान् मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन् ॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम्। देवगोब्राह्मणान् कृत्वा ततस्तां प्रविशेत् कुटीम् ॥

कुटी-प्रवेश की विधि (Admission in the health resorts)—ऊपर की विधि से निर्मित उस कुटी में जब सूर्य उत्तरायण हो, शुक्ल पक्ष हो, जिस दिन तिथि तथा नक्षत्र शुभ हो, शुभ मुहूर्त तथा करण के दिन क्षौर कराकर, धृति, स्मृति तथा बल को धारण करके श्रद्धापूर्वक सावधान होकर, सभी प्रकार के मानसिक दोषों (रजस्, तमस्, ईर्ष्या, द्वेष आदि) को दूरकर, समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव धारण करते हुए देवताओं तथा ब्राह्मणों की पूजा करके उसके बाद देवता, गाय तथा ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके उस कुटी में प्रवेश करे।

वक्तव्य—ऊपर के पद्य में ज्यौतिष तथा कर्मकाण्ड का विषय है। अतः चिकित्सक को बहुश्रुत होना चाहिये। देखें—सुश्रुत सू० अ० ४।५। आगे भी देखें—'एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम। तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः' ॥ सु० सू० ४।६ ॥

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः। रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥२४॥

रसायन-सेवन के पूर्व संशोधन—उस कुटी में संशोधक औषध-योगों के विधिपूर्वक प्रयोगों से शुद्ध पुरुष सुखी और बलयुक्त होकर प्रवेश करे। तदनन्तर रसायन औषध का प्रयोग करे। अतः शोधन का वर्णन करूँगा।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि का आशय—'पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्। प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा॥ नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः। न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः'। सु० चि० अ० २७।३-४। अर्थ यथास्थान देखें। 'पूर्वे वयसि मध्ये वा' इस सन्दर्भ के विशेष परिचय के लिए देखें—च० वि० अ० ८।१२२। आयुर्वेद का 'संशोधन-प्रकरण' चिकित्सा के क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके परिचय के लिए च० सू० अ० १३ से १६ तक देखें।

पञ्चकर्म—शरीरशोधन के लिये आयुर्वेद में जिन विधियों का प्रयोग होता है, उनके क्रमशः ये नाम हैं—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति (वस्ति के भेद—अनुवासन, निरूहण। निरूहण का ही दूसरा नाम 'आस्थापन' भी है; प्रयोग-भेद के कारण इसका एक नाम 'उत्तरवस्ति' भी) है।

हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम्। वचां विडङ्गं रजनीं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥२५॥
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः। तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ॥२६॥
त्रिरात्रं यावकं दद्यात् पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा। सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः ॥
शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत्। वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत् ॥२८॥

संशोधन औषध-द्रव्य—हरड़ का चूर्ण, सैंधानमक, आँवला, गुड़, बालवच, वायविडंग, रजनी (हल्दी), पिप्पली, सोंठ—इन सभी द्रव्यों को कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण बना लें तथा स्नेहन-स्वेदन करने के बाद रसायन सेवन करने वाले पुरुष को यह चूर्ण गरम जल के साथ उचित मात्रा में सेवन करने को दें।

जब रसायन-सेवन करने वाले पुरुष का शरीर उक्त हरीतक्यादि चूर्ण से शुद्ध हो जाये और वह संसर्जन-क्रम का भली भाँति पालन कर ले, तब उस हीन शुद्धिवाले को तीन दिन तक, मध्यशुद्धि वाले को पाँच दिन तक और उत्तम शुद्धि वाले व्यक्ति को सात दिन तक घी द्वारा संस्कारित पुराने जौ की यवागू (यावक) खाने के लिए देना चाहिए, अथवा जब तक मल की शुद्धि न हो जाये, तब तक उसे यावक का ही सेवन करायें। इतना हो जाने पर वय, प्रकृति और सात्म्य को भलीभाँति जानने वाला चिकित्सक 'रसायन-सेवन करने वाले व्यक्ति के कोष्ठ का शोधन हो गया है' यह जानकर उस व्यक्ति के लिए जो रसायन-योग उचित हो, उस योग द्वारा उसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—वमन, विरेचन द्वारा शरीर-शोधन के निर्देश आयुर्वेदीय संहिताओं में सर्वत्र सुलभ हैं। उनका इस प्रकार अवलोकन करें—च० सू० अ० १५ एवं १६ में, इसके आगे च० सि० अ० १–२ एवं ६ में, सु० चि० अ० ३३ एवं ३९ में और अ० सं० सू० अ० २७ में। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम्'। सु० चि० अ० ३३।४। अर्थात् दोषों को शरीर से निकालने में प्रधानतया वमन, विरेचन का प्रयोग किया जाता है। वमन, विरेचन द्वारा केवल वात, पित्त तथा कफ का ही निर्हरण नहीं होता, अपितु दूषित पुरीष आदि मल भी निकलते हैं और रस आदि धातुओं का दूषित जलीयांश भी निकल जाता है।

इसी प्रकार के संशोधन द्रव्यों का वर्णन अष्टाङ्गहृदयकार ने अपनी संहिता में किया है। देखें—अ० हृ० उ० अ० ३९।११-१४। वहाँ हरीतकी आदि अनेक द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। अतः किस द्रव्य को किस प्रमाण में लेना चाहिए—इस सन्देह की निवृत्ति के लिए **'भागेऽनुक्तेऽखिलं समम्'** (भा० प्र०)—इस परिभाषा का स्मरण करना चाहिए।

---

१. 'ततो वक्ष्यामि' इति पा०।

कृतसंसर्जनाय च—वमन-विरेचन द्वारा संशोधन करा लेने के बाद रसायन-सेवन करने वाले पुरुष को पेयादि-क्रम का सेवन कराना चाहिए। इसका विशेष विवेचन, अ० हृ० सू० अ० १८ श्लोक २९ में देखें। सुश्रुत के अनुसार—'ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेहमुष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम्। कुलत्थमुद्गाढकिजाङ्गलानां-यूषै रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तम्' ॥ सु० चि० अ० ३३।११। अर्थात् शरीरशुद्ध हो जाने पर गुनगुने जल से स्नान कराकर दोपहर के बाद कुलथी, मूँग अथवा अरहर के सूप के साथ अथवा जांगल प्राणियों के मांस-रस के साथ कुछ हलका भोजन दें। 'लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति।' च० सू० अ० २५।३८। अर्थ स्पष्ट है। इस प्रकरण में प्रधान, मध्य, अवर शुद्धि का विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

यावक—'यावकं यवान्नमिति, चक्रपाणिः'। 'यावकः यवागूरिति'। कुलत्थे। माषे। काश्मीरेषु तुलसीति ख्याते। 'यावकोऽतिगुरुः स्वादुर्वृष्यः स्निग्धः प्रकीर्तितः। गुल्मज्वरप्रतिश्यायकण्ठरुक्कासमेहहा' ॥ वै० निघण्टु।

हरीतकीनां चूर्णानि—आचार्य जयदेव ने इस प्रसंग पर टीका करते हुए लिखा है कि 'हरीतकीनां चूर्णानि' कहने से यहाँ प्रधान द्रव्य हरड़ है'। यदि उक्त योग का उल्लेख आरम्भ में होने के कारण 'हरीतकी' को प्रधान मान लिया हो तो, यह उनका अपना विचार कहा जा सकता है। नहीं तो महर्षि आत्रेय ने विरेचन द्रव्यों में प्रधान 'त्रिवृत्' को माना है। देखें—'त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं'। च० सू० अ० २।९ तथा 'त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्', 'चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्', 'स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्'। च० सू० अ० २५।४०। हमारे विचार से यहाँ 'हरीतकी' को प्रथम ग्रहण करना तन्त्रकार की स्वेच्छा मात्र ही प्रतीत होती है। वैसे आयुर्वेद शास्त्र में हरीतकी एक सुप्रसिद्ध एवं बहुप्रशंसित द्रव्य है। आगे इसके गुण-धर्मों पर दृष्टिपात करें।

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम्। दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम् ॥२९॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्। सर्वरोगप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ॥३०॥
कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम्। अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ॥३१॥
हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम्। कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ॥३२॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन्। श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमङ्गावसादनम् ॥३३॥
स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः। स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥३४॥

हरीतकी का परिचय—हरड़ में मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय—ये पाँच रस होते हैं, इसमें केवल लवण रस नहीं होता। यह उष्णवीर्य है। सभी प्रकार का कल्याण करने के कारण इसे शिवा कहते हैं। यह वात, पित्त, कफ—इन तीनों दोषों का अनुलोमन करती है। पाचन में यह हलकी अर्थात् शीघ्र पचने वाली है। दीपन, पाचन करने वाली है, निरन्तर सेवन करने से यह आयु को बढ़ाती है, सभी शरीरावयवों का पोषण करती है, यह धन्य है अर्थात् धनधान्य से समृद्ध बनाती है, श्रेष्ठ वयःस्थापक है, अनुपान-भेद से सभी प्रकार के रोगों को शान्त करती है। बुद्धि और सभी इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाती है।

हरीतकी के गुण—यह कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष, पाण्डुरोग, मद (मदात्यय), अर्श (बवासीर), ग्रहणीविकार, पुराना (जीर्ण) विषमज्वर, हृदयरोग, शिरोरोग, अतिसार, अरोचक (अरुचि), कास, प्रमेह, आनाह (अफारा), प्लीहावृद्धि, नवीन उदररोग, कफस्राव, वैस्वर्य (स्वरभेद), विवर्णता, कामला, क्रिमि, शोथ, तमकश्वास, छर्दि (वमन), नपुंसकता, शरीर के अवयवों का शिथिल पड़ जाना, अनेक प्रकार के स्रोतों के विबन्ध (स्रोतों में रुकावट के आ जाने से रस आदि का यथाविधि प्रवाह न हो पाना), छाती तथा फुफ्फुसों का कफ से लिप जाना, स्मृति (स्मरण-शक्ति) तथा बुद्धि के नाश (अपस्मार, उन्माद जैसे रोगों) को भी हरीतकी शीघ्र जीत लेती है, अर्थात् इन रोगों का नाश कर देती है।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में पाँच रसों से युक्त अनेक द्रव्य प्रसिद्ध हैं। उनमें से तीन का उल्लेख यहाँ किया गया है—१. हरीतकी, २. आमलक—इनमें लवण रस का अभाव है और ३. रसोन—इसके नाम से ही विदित होता है कि इसमें एक रस कम है ('एकेन रसेन ऊनः=रसोनः')। इसमें 'अम्ल' रस नहीं होता। राजनिघण्टु तथा भावप्रकाश-निघण्टु में 'रसोन' को रसायन की संज्ञा दी गयी है। काश्यपसंहिता के कल्पस्थान में 'लशुनकल्प' नामक एक अध्याय है, इसमें इसके गुण, कर्म तथा प्रयोग का विस्तृत वर्णन किया गया है। क्या महर्षि आत्रेय ने इसके उग्रगन्धत्व गुण को ध्यान में रखकर ही तो इसका यहाँ ग्रहण नहीं किया? ध्यान दें—

'क्रिमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः। स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः' ॥ चरक सू० अ० २७ हरितवर्ग १७६। यहाँ हरीतकी के ग्रहण करने का एक ही दृष्टिकोण समझ में आता है कि यह द्रव्य जरा (वृद्धावस्था) तथा व्याधिनाशन में सक्षम है। अतएव महर्षि आत्रेय ने **'हरीतकी पथ्यानाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। इस प्रकार निर्देश किया है।

मदनपालनिघण्टु में इसके नाम की सार्थकता का निर्देश करते हुए कहा गया है—'हरस्य भवने जाता हरिता च स्वभावतः। हरते सर्वरोगांश्च तस्मात् प्रोक्ता हरीतकी' ॥ अर्थ स्पष्ट है। हरीतकी का भावप्रकाश तथा राजनिघण्टु में वर्णित परिचय यहाँ तालिका के रूप में दिया जा रहा है—

क्रम नाम-भेद	आकृति	प्रयोग	उत्पत्ति-स्थान
१. विजया	अलाबुवृत्ता	सर्वरोग	विन्ध्यदेश
२. रोहिणी	वृत्ता	व्रण	पैठनपुर
३. पूतना	सूक्ष्मा	प्रलेप	सिन्ध
४. अमृता	मांसला	शोधन	चम्पा (भागलपुर)
५. अभया	पंचरेखा	नेत्ररोग	चम्पा (भागलपुर)
६. जीवन्ती	स्वर्णवर्णा	सर्वरोग	सौराष्ट्र
७. चेतकी	त्रिरेखा	रेचन	हिमाचल

ऊपर **विजया** तथा **जीवन्ती** का प्रयोग सर्वरोग में निर्दिष्ट है। यहाँ सर्वरोग का तात्पर्य है, अधिकाश रोगों में इनका प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु तृष्णा, मुखशोष, नवज्वर तथा हनुस्तम्भ में इनके सेवन का निषेध है और अतिखिन्न, अतिक्षीण, अतिकृश, रूक्ष, लंघनकर्शित, पित्ताधिक पुरुष, गर्भवती स्त्री, विमुक्त-रक्त (जिसका रक्तनिर्हरण किया गया हो) हरीतकी का सेवन न करें।

विशेष—हरीतकी-परिचय के लिए देखें—मदनपालनिघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु, राजनिघण्टु, धन्वन्तरि-निघण्टु, च० सू० अ० २५ तथा २७; च० चि० अ० १; सु० सू० अ० ४६; अ० सं० उ० अ० ४९ आदि।

रसायन होने के कारण सर्वदा सेवनीय

काल	अनुपान
१. वर्षा ऋतु में	सैंधानमक के साथ
२. शरद् ऋतु में	चीनी (खाँड़) के साथ
३. हेमन्त ऋतु में	सोंठ के साथ
४. शिशिर ऋतु में	पिप्पली के साथ
५. वसन्त ऋतु में	मधु (क्षौद्रमधु) के साथ
६. ग्रीष्म ऋतु में	नये गुड़ के साथ

दोषानुलोमनी—हरड़ वात आदि दोषों का अनुलोमन करने वाली होती है। यह 'अनुलोमन' शब्द अभ्यङ्ग के प्रसंग में प्रयुक्त होता है, क्योंकि अभ्यंग या उद्वर्तन अनुलोम (लोमों के अनुकूल) होता है, न कि प्रतिलोम (लोमों के प्रतिकूल)। अन्यत्र इसकी परिभाषा इस प्रकार है—'कृत्वा पाकं मलानां यद्भित्त्वा बन्धमधो नयेत्। तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० २१३। अर्थात् जो द्रव्य मलों को पकाकर और उनके बन्ध (गाँठों) को तोड़कर नीचे (गुद) की ओर ले जाकर बाहर निकाल देता है, उसे 'अनुलोमन' कहते हैं। जैसे—हरीतकी। तथा—उदावृत्त या विपरीत मार्ग की ओर गये हुए वातादि मलों को अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त कराने वाले द्रव्य को भी 'अनुलोमन' या 'अनुलोमक' कहते हैं।

दीपनपाचनीम्—शार्ङ्गधरसंहिता में **'दीपन'** द्रव्य के उदाहरणस्वरूप 'मिशि' (सौंफ) को तथा **'पाचन'** द्रव्य के उदाहरणस्वरूप 'नागकेसर' को उद्धृत किया गया है, किन्तु दीपन-पाचन इन दोनों की क्षमता-वाला द्रव्य 'चीता' या 'चित्रक' है। महर्षि आत्रेय ने 'हरीतकी' को **दीपनपाचनी** स्वीकार किया है, जब कि सम्प्रति उपलब्ध निघण्टुओं में हरीतकी को केवल **दीपनी** कहा गया है। इस प्रकार के परस्पर विरोध भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों के वचनों में प्रायः देखे ही जाते हैं। उसका समाधान इस प्रकार है—

विशेष विचार—अब जरा 'दीपनपाचनीम्' शब्द के व्याकरण सम्बन्धी विवेचन पर ध्यान दें। 'दीपनेन सहिता पाचनी, दीपनपाचनी ताम्, 'मुखनासिका'वत् समासः'। नहीं तो 'दीपनं च पाचनं च= दीपनपाचन्यौ' द्वन्द्वः। ऐसा द्वितीया द्विवचनान्त रूप होना चाहिए था। यदि द्वन्द्वान्त पद होता तो हरीतकी पद में दीपन, पाचन धर्म भिन्न-भिन्न रूप में होते। यहाँ तो दीपन द्वारा पाचन-क्रिया का प्रसंग है। अतएव निघण्टुकारों ने इसके प्रधान गुण का वर्णन किया है।

अतीसारं जयेत्—जब कि हरीतकी का सामान्य दृष्टि से विरेचन के लिए प्रयोग किया कराया जाता है, किन्तु यहाँ इसको 'अतीसार'नाशक कहा गया है। इसमें कारण यह है कि हरीतकी विधि-भेद से भिन्न-भिन्न गुणकारक होती है। जैसे—चबाकर खाने से यह अग्निवर्धक है, पीसकर सेवन करने से मलशोधक (विरेचनकारक) है, उबाल कर सेवन करने से मल को बाँधती है, अर्थात् संग्राहक है और भूँजकर खाने से तीनों दोषों का शमन करती है। देखें—भा० प्र० पू० ख०। अतः अतिसार को रोकने के लिए इसका सेवन चबाकर तथा क्वाथ के रूप में किया जाता है।

दूसरा कारण यह भी है कि जब अतिसार के रोगी के मल में गाँठें पड़ जाती हैं, उस स्थिति में हरीतकी का प्रयोग अन्य द्रव्यों के साथ इस प्रकार किया जाता है—'विबद्धं दोषबहुलो दीप्ताग्नियोंऽतिसार्यते। कृष्णाविडङ्गत्रिफलाकषायैस्तं विरेचयेत्' ॥ अ० हृ० चि० अ० ९।२५ ॥

(अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्शिताः। सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये ॥३५॥)

हरीतकी-सेवन के अयोग्य व्यक्ति—अजीर्ण के रोगी, रूक्ष पदार्थों को खानेवाले, अधिक मैथुन करने वाले, मद्यपान करने वाले, विषपान करने से कृशित शरीर वाले, भूख, प्यास तथा गर्मी से पीड़ित व्यक्तियों को हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—सन् १९४१ में निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित तृतीयावृत्ति चरकसंहिता में उक्त पद्य कोष्ठांकित है। तथापि इसमें तृष्णार्दित व्यक्ति के लिए अभया (हरीतकी) का सेवन निषिद्ध है, किन्तु अभिनवनिघण्टु में निम्नलिखित रोगों को दूर करने के लिए हरीतकी के सेवन का विधान किया गया है—'श्वास, कास, प्रमेह, अर्श, कुष्ठ, शोथ, उदररोग, कृमिरोग, स्वरभंग, संग्रहणी, कोष्ठबद्धता, विषमज्वर, गुल्म, अफारा, तृषा आदि। देखें—हरीतक्यादि वर्ग १९-२० श्लोक।

इसका विरोध देखें—'तृष्णायां मुखशोषे च हनुस्तम्भे गलग्रहे। नवज्वरे तथा क्षीणे गर्भिण्यां न प्रशस्यते' ॥ धन्वन्तरि नि०। अन्यत्र—'अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्षः कृशो लङ्घनकर्शितश्च। पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत्' ॥ भावप्रकाश ह० व०। ऐसे स्थलों में 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' नियम के अनुसार परिस्थिति विशेष का विवेचन करना चाहिए। न कि इसे ग्रन्थकार का प्रमाद समझना चाहिए।

तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि। यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥

आँवला के गुण-कर्म—हरीतकी में जो गुण होते हैं और उसके जो कर्म कहे गये हैं, वे सभी आँवले में भी जानने चाहिए। किन्तु हरीतकी के वीर्य से आँवला के वीर्य में विपरीतता होती है।

वक्तव्य—उक्त आशय का समर्थन महर्षि आत्रेय आरम्भ में भी कर चुके हैं। यथा—'विद्यादामलके सर्वान् रसांल्लवणवर्जितान्'। च० सू० अ० २७।१४७। और भी—'हरीतकीसमं धात्रीफलं किन्तु विशेषतः। रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम्' ॥ भा० प्र० पू० खं०।

वीर्यविपर्ययः—हरीतकी उष्णवीर्य और आमलकी शीतवीर्य होती है। इसी को वीर्यविपर्यय कहते हैं।

शंका—इस प्रकार हरीतकी और आमलकी जब समान गुणवाली होती हैं, तो यहाँ तन्त्रकार ने हरीतकी का प्रथम प्रयोग क्यों किया?

समाधान—यह केवल प्रकरण (चिकित्सास्थान) की प्रमुखता के कारण; क्योंकि **'हरीतकी पथ्यानाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। और तदनन्तर 'आमलकी' के वर्णन को इसलिए स्थान दिया गया है, कि **'आमलकं वयःस्थापनानाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। आशय यह है कि उक्त दोनों द्रव्य 'रसायन' हैं, किन्तु हरीतकी में जरा-व्याधिनाशन दोनों गुण हैं और आमलकी में केवल रसायन गुण है।

यद्यपि महर्षि चरक को पतञ्जलि का अवतार मानने में ऐतिहासिक विद्वान् कुछ विसंगतियाँ स्वीकार करते हैं, किन्तु अष्टाध्यायी की यह परम्परा **'सूत्रेऽवदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र'**। इनकी रचनाओं में अनेक स्थानों में सुलभ है। ऊपर के पद्य में 'वीर्य' के अतिरिक्त हरीतकी के सभी गुण आमलकी में स्वीकार किये गये हैं! पाठक ध्यान दें।

विशेष—आमलक के गुण-धर्मों के लिए देखें—सु० सू० अ० ४६।१४३-१४४। भा० प्र०। रा० नि०।

अतश्चामृतकल्पानि विद्यात् कर्मभिरीदृशैः। हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च ॥३७॥

उपसंहार—इसलिये उपर्युक्त कर्मों (गुण-धर्मों) के अनुसार हरीतकी तथा आँवलें के फलों को चिकित्सक अमृततुल्य समझें।

वक्तव्य—'हरीतकीनां शस्यानि' इस पद्यांश पर टिप्पणी करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं, कि 'शस्यानीति अस्थिरहितानि फलानि'। किन्तु 'तालशस्यानि सिद्धानि नारिकेलफलानि च'। च० सू० अ० २७ श्लो० १३०। इसकी टीका में आप लिखते हैं—'तालशस्यानीति तालफलानि'। यथा—**'हरीतकीनां शस्यानि'**। च० चि० अ० १ श्लो० ३७। 'इत्यत्र फलमेव शस्यमुच्यते'।

क्या चरक-सूत्रस्थान की टीका के बाद चिकित्सास्थान तक आते-आते चक्रपाणि कुछ अधिक वृद्ध हो गये थे? अन्यथा एक ही व्यक्ति दो दृष्टिकोण उपस्थित न करता। वास्तव में शस्य का अर्थ फल तो उचित है। अस्थि (गुठली) सहित इन फलों का प्रयोग न सूत्रस्थान में अपेक्षित था, न चिकित्सास्थान में ही। टीकाकारों का भी क्या दोष है—**'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः'** तो होता ही चला आ रहा है।

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवाञ्शैलसत्तमः। तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ॥३८॥
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि। आदित्यपवनच्छायासलिलप्रीणितानि च ॥३९॥
[1]यान्यजग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च। तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम् ॥४०॥

हिमालय की ओषधियाँ उत्तम—गिरिराज हिमालय (की उपत्यका तथा अधित्यका) ओषधियों की उत्पत्ति का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इसलिए इस प्रदेश में अपने समय पर उत्पन्न होनेवाले हरीतकी, आमलकी आदि फल जब रस-वीर्य से परिपूर्ण हों; इन पर सूर्य, जल, छाया, वायु का अच्छी तरह प्रभाव पड़ा हो और जो पशु, पक्षी, कृमि आदि द्वारा न खाये गये हों (पाठ-भेद के अनुसार—जो आग (दावाग्नि) से जले, भुने, झुलसे न हों), जो दुर्गन्धित न हों, जिनमें ओला आदि के कारण घाव न हो गये हों, किसी प्रकार के रोग से युक्त न हों, ऐसे फलों का यथावसर संग्रह कराना चाहिए। ऐसे फलों के प्रयोग तथा उत्तम कर्म को आगे कहूँगा।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने इसके पहले भी 'हिमालय में उत्पन्न ओषधियाँ प्रशस्त होती हैं'—इसकी चर्चा इस प्रकार की है—**'हिमवानौषधिभूमीनाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। इसी का विस्तार से वर्णन यहाँ किया गया है। निर्णयसागरीय प्रति में **'अजग्धानि'** को मूलपाठ के रूप में स्वीकार किया गया है, जो **'अदग्धानि'** पाठ से अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ध्यान दें—'अद भक्षणे' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'जग्ध' रूप निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है 'खाया हुआ'। वन में पशु-पक्षी फलों को थोड़ा-बहुत खाकर छोड़ देते हैं। जो फल ऐसे न हों, उनका ग्रहण करें। यहाँ तन्त्रकार का यही आशय है। **अदग्धानि**—वन में दावाग्नि के अतिरिक्त जलने का प्रसंग ही नहीं आता। दावाग्नि में बड़े-बड़े वृक्ष भी समूल जल जाते हैं, फलों की तो बात ही क्या! अतः 'अदग्धानि' को पाठभेद में दे दिया गया है।

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान् दशपलोन्मितान्। हरीतकीसहस्रं च त्रिगुणामलकं नवम् ॥४१॥
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्। विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ॥४२॥
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम्। पुनर्नवां शूर्पपर्ण्यौ बलामेरण्डमेव च ॥४३॥
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम्। शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च ॥४४॥
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत्। भागान् यथोक्तांस्तत्सर्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि ॥४५॥

१. 'यान्यदग्धानि' इति पा०।

दशभागावशेषं तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम्। हरीतकीश्च ताः सर्वाः सर्वाण्यामलकानि च ॥४६॥
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः। विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत् ॥४७॥
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः प्लवस्य च। मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा ॥
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च। भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मैलायास्त्वचस्तथा ४९॥
सितोपलासहस्रं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम्। तैलस्य द्व्याढकं तत्र दद्यात्त्रीणि च सर्पिषः ॥५०॥
साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत् सर्वं मृदुनाऽग्निना। ज्ञात्वा लेह्यमद[1]ग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत् ॥५१॥
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्धं तत् सर्वं घृतभाजने। तिष्ठेत्सम्मूर्च्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत् ॥५२॥
या नोपरुन्ध्याद[2]ाहारमेकं मात्रा जरां प्रति। षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते ॥५३॥
वैखानसा बालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः। रसायनमिदं [3]प्राश्य बभूवुरमितायुषः ॥५४॥
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वयः। वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्काः समाहिताः ॥५५॥
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः। ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया ॥५६॥
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत्। दीर्घमायुर्वयश्चाग्र्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते ॥५७॥

(इति ब्राह्मरसायनम्)

प्रथम ब्राह्मरसायन—पञ्चमूल के पाँचों द्रव्य प्रत्येक दस-दस पल (१ पल=४ तोला×१०=४० तोला=½ सेर), हरीतकी के सुपुष्ट एवं ताजे फल एक हजार और ताजे एवं नये तीन हजार आँवले लें।

१. **प्रथम पञ्चमूल**—विदारीगन्धा, (शालपर्णी), बृहती (वनभंटा), पृश्निपर्णी (पिठवन), निदिग्धिका (छोटी कटेरी या भटकटैया), श्वदंष्ट्रा (गोखरू)—इनको विदारीगन्धादिगण तथा क्षुद्रपञ्चमूल भी कहते हैं।

२. **द्वितीय पञ्चमूल**—बेल, अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (सोनापाठा या अरलू), काश्मर्य (गम्भारी), पाटला (पाढल)—इनको महापञ्चमूल भी कहते हैं।

३. **तृतीय पञ्चमूल**—पुनर्नवा (गदहपुर्ना), दोनों शूर्पपर्णी (मुद्पर्णी और माषपर्णी), बला (बरियारा की जड़), एरण्डमूल—इनको पुनर्नवादि पञ्चमूल कहते हैं।

४. **चतुर्थ पञ्चमूल**—जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, शतावर—इन पाँचों द्रव्यों को जीवनीय पञ्चमूल कहा जाता है।

५. **पञ्चम पञ्चमूल**—शर (सरपत या मूँज), इक्षुमूल (गन्ने की जड़), दर्भ (डाभ), काश (कसौजा), शालिमूल (शालि नामक धान की जड़)—इनको तृणपञ्चमूल कहते हैं। इस प्रकार यहाँ पाँचों पञ्चमूलों का परिगणन कर दिया गया है।

इन पाँचों पञ्चमूलों के प्रत्येक द्रव्य को १०-१० पल लेना चाहिए (इस दृष्टि से प्रत्येक पञ्चमूल ५० पल=२½ सेर होगा और पाँचों पंचमूलों का भार ५०×५=२५० पल=१२½ सेर होगा)। उक्त सभी औषध-द्रव्यों को १० गुने जल में क्वाथ करें। जब १०वाँ अंश जल शेष रह जाये, तो उसे छानकर एक पात्र में अलग रख लें। तदनन्तर एक हजार हरड़ तथा तीन हजार आँवले की गुठलियों को लोढ़ा से कूटकर निकाल कर उनके गूदे को नये महीन वस्त्र के ऊपर रखकर घिसकर छान लें (ऐसा करने से रेशे कपड़े के ऊपर रह जायेंगे और गूदा छनकर नीचे पात्र में आ जायेगा) और क्वाथ को छानकर क्वाथ्य द्रव्यों को अलग कर दें। तब उस गूदे को उस क्वथित जल के साथ पुनः पकायें। जब वह पकने लगे, तब उसमें मण्डूकपर्णी, पीपल, शंखपुष्पी, प्लव (केवटी मोथा), मोथा, वायविडंग, लालचन्दन, अगुरु, मुलेठी, हरिद्रा, बालवच, कनक (नागकेसर), छोटी इलायची और दालचीनी—इन सबको ४-४ पल की मात्रा में लेकर इनका कपड़छन चूर्ण करके प्रक्षेप के रूप में डालें।

इसमें चूर्ण की हुई मिश्री ११०० पल (५५ सेर=१ मन १५ सेर) डालें। तिलतैल २ आढक (१२८ पल=६ सेर ३२ तोला), घी ३ आढक (१९२ पल=९ सेर ४८ तोला)—इन सबको मिलायें। एक ताँबे की

१. 'लेह्यमदग्धम्' इति पा०।
२. 'दाहारमेवम्' इति पा०।
३. 'प्राप्य' इति पा०।

कड़ाही (जिसके भीतर कलई की हुई हो) में मन्द-मन्द आँच पर पकाना चाहिए। इस बीच करछुल से चलाते रहें, जिससे पेंदी में लगकर अवलेह जलने न पाये और न ही कच्चा रहे। पक जाने पर चूल्हे से उतार कर रख दें अथवा आग को बुता दें। जब अवलेह सर्वांगशीतल हो जाये, तब उसमें जितना स्नेह (घृत-तैल) डाला गया हो, उसकी आधी मात्रा मधु डालकर उसे मिला दें। इसको भीतर से घी लगे हुए पात्र में सुरक्षित रख दें। इस अवलेह की उतनी मात्रा प्रातःकाल सेवन करायें, जिससे एक समय के भोजन में रुकावट न आने पाये। अर्थात् भोजन के पहले उसका भलीभाँति पाचन हो जाना चाहिए। उस अवलेह के पच जाने पर साठी के भात को दूध के साथ खायें।

वैखानस, बालखिल्य तथा अन्य ऋषि-मुनि इस रसायन का सेवन करके अमित आयुवाले हुए। उन्होंने अपने जीर्ण शरीर को छोड़कर श्रेष्ठ तरुणवय (युवा अवस्था) को प्राप्त किया था। वे तन्द्रा, क्लम (सुस्ती) तथा श्वासरोग से मुक्त होकर, एकाग्रचित्त (सावधान) होकर मेधा, स्मृति और शारीरिक, मानसिक बल से सम्पन्न होकर अत्यन्त तत्परता के साथ बहुत समय तक ब्राह्मतप तथा ब्रह्मचर्य की उपासना करते रहे। दीर्घायुष्य की कामना करनेवाला व्यक्ति इस ब्राह्मरसायन का प्रयोग करे। इसका सेवन करनेवाला पुरुष दीर्घ आयु, युवावस्था तथा इच्छित कामनाओं को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—सामान्य रूप से लघुपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल के संयोग से **दशमूल** की रचना ही आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। यहाँ **'पञ्चानां पञ्चमूलानाम्'** का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र १० पञ्चमूलों का भी उल्लेख मिलता है। यथा—१. लघुपञ्चमूल, २. महापञ्चमूल, ३. वल्लीपञ्चमूल, ४. कण्टकपञ्चमूल, ५. तृणपञ्चमूल, (इनको सु० सू० अ० ३८।६६-७६ तक देखें), ६. शतावरीपञ्चमूल, ७. जीवकादिपञ्चमूल, ८. बलादिपञ्चमूल (वैद्यकनि०) ९. गोक्षुरादिपञ्चमूल, १०. गुडूच्यादिपञ्चमूल। देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु।

'पञ्चानां मूलानां समाहारः=पञ्चमूलम्'—इस परिभाषा के अनुसार उक्त पञ्चमूलों में से सबके मूलों (जड़ों) का ही ग्रहण करना चाहिए। किन्तु प्रयोग में ऐसा देखा तथा किया जाना है कि इनमें जो छोटे आकार के पौधे हैं या जिनकी जड़ें छोटी हैं अर्थात् आसानी से प्रयोग की जा सकती है, उनकी सम्पूर्ण जड़ें ही लेनी चाहिए और जो वृक्ष आकार में बड़े हैं, उनकी जड़ों की छालें ग्रहण की जाती हैं। यहाँ भी **'स्थानिवदादेश'** परिभाषा का प्रयोग हुआ है। पाठक ध्यान दें।

सर्वाण्यनस्थीनि—तन्त्रकार ने यहाँ 'गुठली' रहित सभी फलों को लेने का स्पष्ट निर्देश किया है, क्योंकि यहाँ अवलेह बनाना है, अतः गुठली निकालना आवश्यक है। इसी प्रकार आगे 'करप्रचितीयाध्याय' में भी गुठली निकालने की चर्चा अलग से की गयी है।

सितोपलासहस्रम्—इस पद्यांश से आरम्भ होनेवाली अर्धाली का अर्थ ११०० पल मिश्री किया गया है। हमारे विचार से यहाँ **'सितापलसहस्रम्'** ऐसा पाठ होना चाहिए, क्योंकि तन्त्रकार की लेखन शैली अत्यन्त स्पष्ट रही है। उक्त पाठ के अनुसार 'सिता' शब्द से मिश्री का ग्रहण हो जायेगा और **'पलसहस्रं'** तो स्पष्ट है ही।

यदि पूर्व टीकाकारों को यहाँ **'सितोपलासहस्रम्'** पाठ ही अभीष्ट था, तो भी यह पाठ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। शुद्ध पाठ **'सितापलसहस्रम्'** होगा। आप भी विचार करें।

लेह्यमदग्धम्—पाठभेद में दिये गये 'लेहमदग्धं' की अपेक्षा मूल में दिया गया यह पाठ (लेह्यमदग्धं) प्रकरण तथा प्रयोग की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। ध्यान दें—**अवलेह**—'अवलिह्यते, इति अवलेहः'। अडूसा, अनार तथा शिकञ्जवी आदि शर्बत भी चाटे जाते हैं, किन्तु अवलेह इनसे गाढ़ा होता है। अँगूठे आदि से दबाने पर उस पर निशान तो पड़ जाता है परन्तु हाथ में सटता या चिपकता नहीं। इन सभी दृष्टियों से **'लेह्यम्'** पाठ **'लेहम्'** से अधिक समीचीन है।

वैखानस—एक प्राचीन गोत्रप्रवर्तक ऋषि का नाम।

बालखिल्य—क्रतु और क्रिया के संयोग से ६०,००० बालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए थे। अन्यत्र इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के रोओं से हुई थी। यह एक ऋषि-समूह का नाम है। इनमें से प्रत्येक का आकार अँगूठे के बराबर है। इनकी चर्चा ब्रह्माण्ड, वायु, भागवत, मत्स्य आदि पुराणों में है।

इस ब्राह्मरसायन का वर्णन वाग्भट ने अ० हृ० उ० अ० ३९।१५-२३ के पाठों में कुछ परिवर्तन के साथ किया है। देखें—यहाँ भी **'सितोपलार्धभारम्'** पाठ दिया गया है।

रसायन-निर्माण की विधि—पाँचों पञ्चमूल, हरीतकी तथा आँवले को उपर्युक्त मात्रा में लेकर १० गुने जल में इनको पकायें। जब एक हिस्सा जल शेष रह जाये, तब क्वाथ्य द्रव्यों को कपड़े से छानकर उस क्वाथ को रखकर उन निस्सार द्रव्यों को फेंक दें। आँवलों और हरीतकियों को कपड़े में घिसकर उनका गूदा ले लें, गुठलियाँ फेंक दें। तदनन्तर मात्रा के अनुसार घी-तेल ताँबे की कलई की हुई कड़ाही में डालकर गरम करके उसमें क्वाथ तथा गूदे को डालकर भूनना आरम्भ करें, जब क्वाथांश समाप्त हो जाये तो उसमें चूर्ण बनाये गये उक्त प्रक्षेप द्रव्यों को डालकर खूब मिलायें। ध्यान रहे कि यह अवलेह न जले, न कच्चा रहे और न आवश्यकता से अधिक गाढ़ा हो। इस स्थिति में आ जाने पर आग को बुझा दें। जब अवलेह स्वांगशीतल हो जाये, तब उसमें शहद डालकर और उसे खूब मिलाकर भीतर से घी चुपड़े हुए पात्र में रख दें। शेष अर्थ स्पष्ट है।

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्। तदामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णीशतावरीशङ्खपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयङ्गुप्तामृताचन्दनागुरुमधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवतीयूथिकाचूर्णाष्टभागसंयुक्तं पुनर्नागबलासहस्रपलस्वरसपरिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुणाकृतिं कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधःस्थापयेदन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टभागसंयुक्तमर्धकर्षवृद्धया यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य, जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुत इति ॥ ५८ ॥

द्वितीय ब्राह्मरसायन—श्लोक ३८ से ४० तक जिस प्रकार के गुणवान् आँवले के फल का वर्णन किया गया है, उस प्रकार के एक हजार उत्तम आँवलों को लेकर पिष्ट-स्वेदन की विधि से दूध की भाप से भलीभाँति स्वेदन करके फलों में से गुठली निकाल कर, फिर छाया में सुखाकर कपड़छन चूर्ण कर लें। तदनन्तर दूसरे एक हजार उत्तम आँवलों के स्वरस से उस चूर्ण को भावना देकर (उस चूर्ण को यह स्वरस पिलाकर) स्थिरा (शालपर्णी), पुनर्नवा, जीवन्ती, नागबला (गंगेरन), ब्रह्मसुवर्चला (हुरहुर), मण्डूकपर्णी, शतावर, शंखपुष्पी, पिप्पली, बालवच, वायविडंग; स्वयंगुप्ता (किवाँच) के बीज, गुरुच, लाल चन्दन, काला अगुरु, मधुक (मुलेठी), महुआ का फूल, उत्पल (नीलकमल), पद्म (लालकमल), मालती का फूल, युवती (प्रियंगु) तथा जूही का फूल—इन २२ औषध-द्रव्यों को समभाग (आँवलों के रस से भावित आँवलों के उपर्युक्त चूर्ण से अष्टमांश) चूर्ण आँवलों के चूर्णमें मिला दें।

फिर इस चूर्ण को १००० पल नागबला (गंगेरन) के स्वरस की भावना देकर (उस चूर्ण को नागबला का रस पिलाकर) छाया में सुखाकर कुल चूर्ण से दूनी मात्रा में गाय का घृत अथवा घी तथा शहद दोनों मिला कर क्षुद्र गुड़ की आकृति का बनाकर, साफ, सुदृढ़ एवं घृत द्वारा भावित (अर्थात् जिसके भीतर घी चुपड़ दिया गया हो ऐसे) मिट्टी के घड़े में रखकर जमीन के भीतर गड्ढा खोदकर उसमें राख भर कर घड़े का मुख बन्द करके पन्द्रह दिनों तक उसके भीतर रखें। ऊपर से भी राख से उस घड़े को ढक दें तथा उस स्थान पर १५ दिनों तक अथर्ववेद के जानने वाले विद्वान् पुरोहित द्वारा रक्षा-विधान (स्तोत्र पाठ) कराया जाये। पन्द्रह दिन बीत जाने पर उस घड़े को निकालकर उसका मुख खोलकर उसमें समस्त चूर्ण का आठवाँ हिस्सा सुवर्ण, रजत, ताम्र, प्रबाल और उत्तम लौह चूर्ण उसमें मिलाकर सुरक्षित रख लें।

यथोक्त (कुटीप्रावेशिक) विधि के अनुसार संशोधन आदि करने के पश्चात् प्रतिदिन प्रातःकाल आधा कर्ष=१ तोला की मात्रा से आरम्भ कर (रसायन-सेवी पुरुष के अग्निबल=पाचकाग्नि की शक्ति को देखकर इसकी मात्रा का निर्धारण करें) प्रतिदिन १-१ तोला बढ़ाते जायें। (यह ध्यान रहे कि यह रसायन की मात्रा भोजन करने के पहले पच जानी चाहिए, अर्थात् दैनिक भोजन के समय उसे स्वाभाविक रूप से

भूख लग जानी चाहिए ।) पच जाने पर दूध और घी के साथ साठी के भात का सेवन करता हुआ वह पुरुष द्वितीय ब्राह्मरसायन के सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त करता है ।

वक्तव्य—हिमालय की उपत्यका (तलहटी) में होने वाले आँवलों का ही यहाँ ग्रहण करना तन्त्रकार को अभीष्ट है । अतएव लिखा है—'यथोक्तगुणानामामलकानाम्' । यहाँ 'करप्रचितीयाध्याय (च० चि० तृतीय रसायनपाद) में वर्णित **'माघे फाल्गुने वा मासे'** को भी ध्यान में रखना आवश्यक है । कार्तिक तथा अगहन में पाये जाने वाले आँवले व्यापारिक दृष्टि से भले ही प्रयुक्त किये जाते हों, परन्तु वे अपुष्ट रसवीर्य वाले होते हैं । अतः सर्वलक्षण युक्त आँवलों का ही प्रयोग रसायन-निर्माण के लिए करें ।

पिष्टस्वेदन-विधि—यह एक प्रकार का वाष्पयन्त्र है । इस यन्त्र में दूध को उबलने के लिए रख दिया जाता है । उसकी सम्पूर्ण भाप इस प्रकार निकाली जाती है कि जिससे आँवले स्विन्न (अध पके) हो जाते हैं ।

चूर्ण या भस्म—आयुर्वेद में चूर्ण और भस्म दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं । अतः एक दूसरे के प्रति भ्रम बनाये रखना बुद्धिदौर्बल्य है । दोनों में विधि-भेद भी स्पष्ट है । जहाँ धातुओं के चूर्णों का उपयोग खाने के लिये होता है, वहाँ उन धातुओं का शोधन-मारण कर लेना चाहिए; नहीं तो उनमें रहने वाले उनके स्वाभाविक दोष घातक होते हैं ।

अयस्कृति-विधान—सुश्रुत-चिकित्सास्थान अ० १०।११-१२ में देखें । वास्तव में यह लौह अथवा लोहों (सुवर्ण आदि धातुओं) की कृति (कर्म या संस्कार) करना अर्थात् उक्त धातुओं को खाने योग्य बनाना है । ध्यान रहे, चूर्ण की अपेक्षा भस्म अपने पुटों के अनुसार उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली होते हैं । द्वितीय ब्राह्मरसायन की ही भाँति इसी अध्याय के तृतीय पाद में वर्णित 'लौहादिरसायन' में भी धातुओं के चूर्ण का प्रयोग करने की चर्चा स्पष्ट रूप से की गयी है । यदि चूर्ण के स्थान पर भस्म डालने हों, तो उनकी मात्रा बहुत कम होगी । रसायन प्रकरण में सौ से लेकर हजार संख्या तक पुट देने का विधान है । इस प्रकार वह भस्म उत्तरोत्तर अधिक गुणों वाला होता जाता है ।

चरकोक्त 'द्विगुणितसर्पिषा वा क्षौद्रसर्पिषा वा' इसके स्थान पर अष्टाङ्गसङ्ग्रह में कथित 'द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रेण' पाठ प्रयोग आदि की दृष्टि से अधिक उपयुक्त एवं युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ।

क्षुद्रगुडाकृतिम्—'स्वल्पमले गुडे' । 'क्षुद्रो गुडश्चतुर्भागत्रिभागार्धावशेषितः । रसो गुरुर्यथापूर्वं धौतः स्वल्पमलो गुडः ॥ ततो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलाः परम्' ॥ च० सू० अ० २७।२३९$\frac{1}{2}$ ॥ अत्र चक्रपाणिः—'क्षुद्रगुडस्तथा चतुर्भागत्रिभागार्धावशेषितो रस इत्यत्र चकारलोपो द्रष्टव्यः । तेन क्षुद्रगुडश्चतुर्भागावशेषिताद् रसाद् गुरुः । क्षुद्रगुडोऽसितगुड इत्युच्यते' ।

भवन्ति चात्र—

इदं रसायनं ब्राह्मं महर्षिगणसेवितम् । भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः ॥५९॥
कान्तः प्रजानां सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः । श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षं चास्य प्रवर्तते ॥६०॥
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः । स भवत्यविषं चास्य गात्रे सम्पद्यते विषम् ॥६१॥

(इति द्वितीयं ब्राह्मरसायनम् ।)

ब्राह्मरसायन की फलश्रुति—इस रसायन के सेवन से निम्नलिखित लाभ होते हैं—इस ब्राह्मरसायन का सेवन सर्वप्रथम महर्षिसमूह ने किया था । इसका सेवन करनेवाला पुरुष रोगरहित, दीर्घायु, महान् बलशाली, प्रजाओं का प्रिय, सफलमनोरथ, सूर्य तथा चन्द्रमा के सदृश कान्तिवाला जो कुछ सुनता है उस सब को स्मरण कर लेता है, तथा उसका मन ऋषियों के समान शुद्ध अतएव सत्त्वगुण-प्रधान होता है, वह पर्वत के समान सुदृढ तथा वायु के समान पराक्रमी हो जाता है । रसायन-सेवन के प्रभाव से उस व्यक्ति के शरीर में स्थित विष भी अविष (अमृत) हो जाता है ।

वक्तव्य—उक्त रसायन के सेवन से आर्षतत्त्व की प्राप्ति होती है । इस तत्त्व का विस्तृत विवेचन चरक शा० अ० ४।३६-२ में विस्तृत रूप से किया गया है ।

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिर्बला । पर्ण्यश्चतस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयम् ॥

शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरु । अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शटी ॥६३॥
मुस्तं पुनर्नवा मेदा सैला चन्दनमुत्पलम् । विदारी वृषमूलानि काकोली काकनासिका ॥६४॥
एषां पलोन्मितान् भागाञ्छतान्यामलकस्य च । पञ्च दद्यात्तदैकध्यं जलद्रोणे विपाचयेत् ॥६५॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम् । तच्चामलकमुद्धृत्य निष्कुलं तैलसर्पिषोः ॥६६॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्त्वा चार्धतुलां भिषक् । मत्स्यण्डिकायाः पूताया लेहवत्साधु साधयेत् ॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते प्रदापयेत् । चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपलं तथा ॥६८॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात् । इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तो रसायनः ॥६९॥

च्यवनप्राश रसायन—क्वाथ्य द्रव्य—बेल की छाल, अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, श्योनाक (सोनापाठा या अरलू) की छाल, गम्भारी की छाल, पाटला (पाढल) की छाल, बला (बरियारा) का मूल, चारों पर्णियाँ (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णी), पिप्पली, गोखरू, बृहतीद्वय (छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी), काकड़ासिंगी, भुँइआँवला, मुनक्का, जीवन्ती, पुष्करमूल, काला अगुरु, अभया (बड़ी हरड़) गुडूची, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, शटी (कचूर), मुस्त (नागरमोथा), पुनर्नवा, मेदा, बड़ी इलायची, लालचन्दन, नीलकमल, विदारीकन्द, अडूसा की जड़, काकोली, काकनासिका (कौआठोंठी)—इन सबको १-१ पल (४-४ तोले) प्रमाण में लें और ५०० उत्तम कोटि के आँवले लें (इनको अलग ढीली पोटली में बाँधकर उक्त क्वाथ द्रव्यों में डाल दें), इनको १ द्रोण जल में डालकर पकाना आरम्भ करें । जब यह समझ में आ जाये कि क्वाथ्य द्रव्यों का सम्पूर्ण रस जल में आ गया है तथा वे द्रव्य गतरस (नीरस) हो गये हैं, तब उनके रस को छानकर ले लें (और औषध-द्रव्यों को फेंक दें) ।

उस पात्र में से आँवलों को निकाल कर तथा कुचलकर कपड़े में घिसकर उनका गूदा ले लें । कपड़े के ऊपर आये हुए रेसों को फेंक दें । आँवलों के उस गूदा को ६ पल तैल और ६ पल घी (दोनों मिलाकर १ सेर १६ तोला) में भलीभाँति भूनकर (भूनते-भूनते जब उस पीठी का रंग लालिमायुक्त हो गया हो तो) उसे उतार लें । पहले से तैयार किये हुए क्वाथ में आधी तुला (५० पल या २$\frac{1}{2}$ सेर) मत्स्यण्डिका (खाँड) डालकर तथा भलीभाँति उसे घोलकर कपड़े से छान लें, फिर उसकी चासनी बनाकर उसमें पहले से आँवलों की भुनी हुई पीठी को डालकर पुनः मन्द-मन्द अग्नि द्वारा तब तक पकायें, जब तक वह अवलेह जैसा न हो जाये, अवलेह जैसा हो जाने पर उसे चूल्हे से नीचे उतार दें ।

जब यह अवलेह तैयार हो कर स्वांग शीतल (स्वतः ठंडा) हो जाये, तब इसमें निम्नलिखित प्रक्षेपद्रव्य डालें—मधु ६ पल (२४ तोले), वंशलोचन ४ पल (१६ तोले), पीपल २ पल (८ तोले), दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्ता, नागकेशर—इन सबको १-१ पल (४-४ तोले प्रत्येक द्रव्य) लेकर भलीभाँति मिला दें । इस प्रकार इस श्रेष्ठ च्यवनप्राश रसायन का वर्णन कर दिया है ।

वक्तव्य—च्यवनप्राश परम रसायन है । अतः परवर्ती प्रायः सभी संहिताकारों एवं ग्रन्थकारों ने अपनी रचना की महत्ता को बढ़ाने के लिए इसका समावेश किया है । किन्तु कुछ न कुछ हेर-फेर के साथ या ऐसा कहें कि कुछ संशोधन या परिवर्धन के साथ ऐसा सभी शास्त्रों में देखा जाता है—'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' ।

योगरत्नाकर, अष्टाङ्गसंग्रह, अष्टाङ्गहृदय, चिकित्साकलिका, शार्ङ्गधरसंहिता आदि के द्रव्यों, उनके प्रमाणों तथा निर्माण-विधियों में कुछ न कुछ अन्तर है । ये सभी पाठभेद तथा प्रकार-भेद गवेषणीय हैं । च्यवनप्राश के अष्टवर्ग का उपलब्ध न होना अपने में एक उलझी हुई समस्या है । लिखित प्रमाण के अनुसार निर्माण करना या 'द्रवद्वैगुण्य' परिभाषा भी निर्माण के अवसर पर उलझन खड़ी करती है ।

भैषज्यरत्नावली में उद्धृत 'च्यवनप्राश' का पाठ चरकसंहिता से लिया गया है । इस योग पर आचार्य चक्रपाणि ने 'सितामत्स्यण्डयलाभे' द्वारा च्यवनप्राश-निर्माण के क्षेत्र में एक नयी दिशा प्रदान की है । **चिकित्साकलिका** में च्यवनप्राश का जो योग है, उसमें मुद्गपर्णी, माषपर्णी, पिप्पली, अगुरु, पुनर्नवा और काकनासा—ये द्रव्य नहीं हैं । वृद्धि, क्षीरकाकोली, महामेदा और बहेड़ा द्रव्य अधिक हैं । **योगरत्नाकर** में मुद्गपर्णी, माषपर्णी को हटाकर वृद्धि, क्षीरकाकोली और महामेदा—ये द्रव्य अधिक हैं । **शार्ङ्गधर** में क्वाथ्यद्रव्यों में क्षीरकाकोली और महामेदा अधिक हैं ।

महर्षि आत्रेय ने **'ज्ञात्वा गतरसानि'** निर्देश किया है। चक्रपाणि तथा वाग्भट ने क्वाथ को 'पादशेष' (चतुर्थांश शेष) रखने की व्यवस्था दी है। परन्तु शार्ङ्गधर ने 'अष्टमांश' क्वाथ को बचाने का निर्देश किया है, जो प्रयोग की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है। चरक में द्विविध स्नेहों (तेल तथा घृत) का प्रयोग निर्दिष्ट है, जब कि शार्ङ्गधर ने आँवलों की पीठी को केवल तेल में भूँजने की बात कही है। साथ ही प्रक्षेप-द्रव्यों को अलग-अलग तीन शाण (१॥ तोले) परिमाण में लेने का निर्देश दिया है। इन सभी विसंगतियों को व्यवस्थित करने तथा 'च्यवनप्राश' को शास्त्रीय एवं सर्वसम्मत रूप देने के लिए भेषज-निर्माण में कुशल चिकित्सक समूह का निर्णय अत्यन्त अपेक्षित है।

कासश्वासहरश्चैव विशेषेणोपदिश्यते। क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्धनः ॥७०॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम्। पिपासां मूत्रशुक्रस्थान् दोषांश्चाप्यपकर्षति ॥७१॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम्। अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ॥
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वमायुःप्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम्।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमग्निवृद्धिं वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम् ॥ ७३ ॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥ ७४ ॥

(इति च्यवनप्राशः।)

च्यवनप्राश की फलश्रुति—यह रसायन विशेष करके कास और श्वास का नाश करने के लिए कहा गया है और क्षीण (जिसके रस आदि धातुओं का ह्रास हो चुका हो या हो रहा हो), क्षत (यहाँ क्षत शब्द से तन्त्रकार को 'उरःक्षत' रोग अभिप्रेत है), वृद्ध (वयोवृद्ध) तथा बालकों के शरीरावयवों को बढ़ाने वाला है। अर्थात् इसके सेवन से रस, रक्त आदि धातुओं की वृद्धि होती है। स्वरक्षय, उरोरोग (फुफ्फुस सम्बन्धी रोग), हृदयरोग, वातरक्त तथा पिपासा (तृष्णा रोग) को नष्ट करता है एवं मूत्राशय तथा शुक्राशय में स्थित विकृत वात आदि दोषों को भी खींचकर बाहर निकालता है। इसकी उतनी ही मात्रा का उपयोग करना चाहिए जो भोजन करने में रुकावट न डाले (यह रसायन खाने में स्वादिष्ट होता है, किन्तु पचने में देर लगाता है। अतः इसे १ या २ तोला से अधिक मात्रा में सेवन न करें)। इसके निरन्तर सेवन करने से अत्यन्त वृद्ध महर्षि च्यवन फिर से जवान हो गये थे। इस रसायन का 'कुटीप्रवेश-विधि' से सेवन करनेवाले पुरुष की मेधा (धारणाशक्ति), स्मरणशक्ति, कान्ति, नीरोगता, आयु की वृद्धि, इन्द्रियों के बल में वृद्धि, मैथुनशक्ति की वृद्धि, पाचकाग्नि की वृद्धि, वर्ण में सुन्दरता, वायु की अनुकूलता तथा बुढ़ापा के कारण हुए विकृत रूप को दूरकर नवयौवन के सदृश रूप को धारण करता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार महर्षि आत्रेय की यह स्पष्टवादिता मननीय है। देखें—'जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य', अर्थात् बुढ़ापे के रूप को हटाकर नवयौवन के रूप को धारण कर लेता है। इस प्रकार के अनुपम लाभ को प्राप्त करने के लिए, 'कुटीप्रावेशिक रसायन' के सभी प्रकार के नियमों तथा उपनियमों का यथाविधि पालन करना परम आवश्यक है। स्वामी करपात्रीजी को भी कुटीप्रावेशिक-विधि से रसायन-सेवन कराया गया था, देखें—सन्मार्ग प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित 'करपात्र-चिन्तन अंक'।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण—तन्त्रकार आत्रेय के समकालिक केवल महर्षि च्यवन ही एक ऐसे व्यक्ति रहे होंगे, जिनको कुटीप्रावेशिक-विधि से उक्त रसायन का सविधि सेवन कराकर सफलता प्राप्त की गई होगी। इसी कारण यह रसायन च्यवन के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया होगा। अतएव **'चिकित्साकलिका'** नामक ग्रन्थ में इसका नाम 'च्यावनप्राश' लिखा है। व्याकरण की दृष्टि से भी यह नाम उचित है—'च्यवनस्य अयं च्यावनः'। जैसे—नचिकेता के नाम से प्रसिद्ध अग्नि का नाम 'नाचिकेत' प्रसिद्ध है। देखें—कठोपनिषद् अ० १।

आश्चर्य यह है कि परवर्ती चिकित्सकों तथा ग्रन्थकर्ताओं ने महर्षि च्यवन जैसा फिर कोई उदाहरण कहीं प्रस्तुत नहीं किया। आज बड़ी मात्रा में प्रत्येक आयुर्वेदिक प्रतिष्ठान च्यवनप्राश का निर्माण करता है। जनता वातातपिक रसायन सेवन-विधि से उसका सेवन भी करती आ रही है। अन्य कास, श्वास आदि नाशक लाभ तो होते देखे जाते हैं, परन्तु **'सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा'** जैसा दूसरा उदाहरण आजतक प्राप्त न हो सका।

समाधान—आज व्यावसायिक दृष्टिकोण से बने च्यवनप्राश ही अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं, जो प्रायः शास्त्रोक्त विधि से निर्मित नहीं हो पा रहे हैं। दूसरा कारण है, इसके घटक-द्रव्यों की ठीक-ठीक प्राप्ति का न होना, जैसे—च्यवनप्राश का मुख्य उपकरण अष्टवर्ग है, जो आजकल सही रूप में नहीं मिलता। वंशलोचन की सामान्य स्तर में दुर्लभता सर्वविदित है। बाजार में उपलब्ध होनेवाला अष्टवर्ग सन्दिग्ध है। इसका प्रधान द्रव्य है—आँवला। यह हिमालय प्रदेश में उत्पन्न माघ-फाल्गुन का ही ग्रहण करना चाहिए। आप व्यवहार में देखें, क्या ऐसा कोई करता है? और इसकी सेवन-विधि 'वातातपिक' नहीं है, अपितु 'कुटीप्रावेशिक' है।

शास्त्रीय विधि से इसमें जितनी राब डालने की अनुमति है, उतने से बाजारों में मिलने वाले च्यवनप्राश जैसा वह मीठा हो सकेगा? यदि नहीं, तो बिना कर्म किये फल प्राप्ति की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। १. यह 'कुटीप्रावेशिक' रसायन है; इसके विपरीत इसका सेवन 'वातातपिक' विधि से किया-कराया जाता है। २. उचित द्रव्यों का अभाव; ३. उपलब्ध द्रव्यों की अप्रामाणिकता और ४. निर्माण-विधि की स्वच्छन्दता आदि अनेक ऐसे प्रामादिक कारण हैं, जिनसे शास्त्रोक्त प्रभावों का शिथिल होना स्वाभाविक ही है।

अथामलकहरीतकीनामामलकबिभीतकानां हरीतकीबिभीतकानामामलकहरीतकीबिभीतकानां वा पलाशत्वगवनद्धानां मृदाऽवलिप्तानां कुकूलस्विन्नानामकुलकानां पलसहस्रमुलूखले संपोथ्य दधिघृतमधुपललतैलशर्करासंयुक्तं भक्षयेदन्नमभुग्यथोक्तेन विधिना; तस्यान्ते यवाग्वादिभिः [1]प्रत्यवस्थापनम्, अभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णैश्च, अयं च रसायनप्रयोगप्रकर्षो [2]द्विस्तावदग्निबलमभिसमीक्ष्य, प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षष्टिकः सर्सपिष्कः, अतः परं यथासुखविहारः कामभक्ष्यः स्यात्। अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुर्बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमुदिताश्चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तपः ॥ ७५ ॥

(इति चतुर्थामलकरसायनम्।)

आमलक रसायन—यहाँ चार रसायनों की निर्माण-विधि तथा सेवन-विधि का वर्णन किया जा रहा है। १. आँवला, हरीतकी, या २. आँवला, बहेड़ा, या ३. हरीतकी, बहेड़ा, या ४. आँवला, हरीतकी, बहेड़ा—इन योगों में से किसी एक योग के द्रव्यों को लेकर उनको पलाश की हरी छाल से लपेट कर तथा उसके ऊपर गीली चिकनी मिट्टी का एक अंगुल मोटा लेप चढ़ाकर उसे छाया में सुखा लें। तदनन्तर तुषाग्नि की निर्धूम आँच द्वारा उस द्रव्य-समूह का स्वेदन करें। स्विन्न हो जाने पर उस सम्पुट को आग में से निकाल कर तथा खोलकर उन द्रव्यों की गुठलियाँ निकाल दें (उस सम्पुट में यदि दो द्रव्य हों, तो गुठलियाँ निकालने के बाद इनमें से प्रत्येक का भार ५०० पल होना चाहिए, इस प्रकार ५०० पल × २ = १००० पल = ५० सेर)। इनको ऊखल में डालकर भलीभाँति कूट लें। इसमें दही, घी, मधु, तिलकल्क, तिलतैल तथा चीनी मिलाकर यथोक्त (कुटी-प्रावेशिक) विधि से केवल इसी को खायें। इस काल में अन्य किसी प्रकार के अन्न आदि का सेवन न करें।

इस विधि के समाप्त हो जाने पर पेया यवागू आदि के क्रम से पथ्य आहार-विहार करते हुए प्रकृति का स्थापन (पहले की भाँति उसे प्रकृतिस्थ) करें। प्रतिदिन घी की मालिश और जौ के चूर्ण का उबटन लगाते रहें। रसायन सेवन करने वाले पुरुष के अग्निबल का विचार कर इस रसायन का प्रयोग दिन में दो बार किया जा सकता है। प्रत्येक भोजन के समय घी के साथ साठी का भात दाल के यूष अथवा दूध के साथ खायें। इस प्रकार प्रकृतिस्थ हो जाने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य सुखपूर्वक आहार-विहार कर सकता है। इस रसायन के सेवन से प्राचीनकाल के वृद्ध ऋषिगण यौवन को पुनः प्राप्तकर सैकड़ों वर्षों तक जीवन लाभकर नीरोग रहे और स्वस्थ शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय, बल से युक्त होकर अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ तपश्चर्या करते रहे।

वक्तव्य—उपर्युक्त चार रसायन-योगों द्वारा हरड़, बहेड़ा तथा आँवला के महत्त्व को बहुत व्यापक

१. 'प्रकृत्यवस्थापनम्' इति पा०।
२. 'द्विस्तावत् प्रयोगकालाद् द्विगुणकालं प्रतिभोजनं यवागूः यूषेण पयसा वा ससर्पिष्कः षष्टिकः षष्टिकान्नम्' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

रूप दे दिया गया है। यही कारण है कि आयुर्वेदीय निघण्टुओं ने प्रारम्भ में इन्हीं द्रव्यों की स्तुति की है। लगता है कि 'जरा और व्याधि' नाशक अधिकाधिक गुणों के आकर ये ही तीन फल हैं।

कुकूलः—आचार्य चक्रपाणि ने 'कुकूलकः करीषाग्निः' लिखा है, जब कि ऊपर पाठ में केवल 'कुकूल' शब्द आया है। इसे तो हम मान लेंगे कि 'कुकूल एव कुकूलकः'। किन्तु कोषकारों ने कुकूल शब्द का अर्थ भूसी या चोकर कर रखा है। कुकूलः (Chaff), तुषानले। अतः यह विचारणीय विषय है।

पलसहस्रम्—इस 'चतुर्थामलक रसायन' में प्रथम दो योगों के बाद जो तीसरा योग दिया गया है, उसकी गणना आमलक रसायन में नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें केवल दो द्रव्य हैं—हरड़ एवं बहेड़ा। विद्वान् चिकित्सक इस ओर ध्यान दें। चौथे योग में **आँवला, हरड़, बहेड़ा**—ये तीन द्रव्य हैं। इनको **'पलसहस्र'** के अनुसार तीन भागों में बाँटना होगा। हमारे विचार से यहाँ उक्त द्रव्यों के भार का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए—आँवला ३४० पल, हरड़ ३३० पल और बहेड़ा ३३० पल; क्योंकि इस विभाजन में आमलक रसायन नाम का पक्षपात स्वीकार किया गया है।

पलल—'तिलकल्के'। 'पललन्तु समाख्यातं सैक्ष्वं तिलपिष्टकम्, भा० प्र०। 'भृष्टतिलकल्के' वाग्भट उ० अ० ३८। इसी प्रकरण में दधि, घृत, मधु आदि द्रव्यों का परिमाण नहीं दिया गया है। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा—**'भागेऽनुक्तेऽखिलं समम्'**। भा० प्र०। याद रखनी चाहिए।

विशेष—'मान' के परिज्ञान के लिए 'रसयोगसागर' भाग-२ तथा 'द्रव्यगुण-विमर्श' का उत्तरार्द्ध देखें। इस अवसर पर सु० चि० अ० ३१ श्लोक २५ से ३० तक भी देख लें।

द्विस्तावत्—इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचार पठनीय हैं—'प्रयोगान्ते ततो द्विगुणं कालं यवागूयूषक्षीरघृतषष्टिकान्नमाहारोऽभ्यञ्जनं सर्पिरुद्वर्तनं यवचूर्णमिति'। अष्टाङ्ग सं० उ० तं० अ० ४९। अर्थात् जितने दिन तक उक्त रसायन का प्रयोग किया जाये, उससे दूने समय तक मूँग के यूष के साथ या दूध के साथ घी सहित साँठी के चावलों का भात खाये।

हरीतक्यामलकबिभीतकपञ्चपञ्चमूलनिर्यूहे पिप्पलीमधुकमधूककाकोलीक्षीरकाकोल्यात्मगुप्ताजीवकर्षभकक्षीरशुक्लाकल्कसम्प्रयुक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसम्प्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं साधयित्वा 'प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमां मात्रां जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नञ्जराव्याधिपापाभिचारव्यपगतभयः शरीरेन्द्रियबुद्धिबलमतुलमुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

(इति पञ्चमो हरीतकीयोगः।)

पञ्चम हरीतक्यादि रसायन—हरीतकी, आँवला, बहेड़ा तथा पाँचों पञ्चमूलों (प्रथम ब्राह्मरसायन में निर्दिष्ट) के निर्यूह (क्वाथ) में पिप्पली, मुलेठी, महुए के फूल, काकोली, क्षीरकाकोली, आत्मगुप्ता (किवाँच) के बीज, जीवक, ऋषभक तथा क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी) के कल्क (चटनी) से, विदारी के स्वरस से और आठ गुने गाय के दूध से, अर्थात् कल्क, स्वरस, गाय का दूध एक में मिलाकर १ घृतकुम्भ (=२ द्रोण=१ मन ११ सेर १६ तोला) को यथाविधि पकायें।

सिद्ध किये हुए उक्त घी की मात्रा रसायन सेवन करने वाले पुरुष के जठराग्नि-बल के अनुसार प्रयोग करनी चाहिए। सेवन किये हुए घी के पच जाने पर शालिधान के या साठी के चावलों का भात दूध तथा घी के साथ खाता हुआ वह व्यक्ति बुढ़ापा, रोग, पाप (शारीरिक कष्ट), अभिचार (जादू-टोना) आदि से निर्भय होकर अत्यन्त शारीरिक बल, इन्द्रिय बल तथा बुद्धिबल को प्राप्तकर सभी कार्यों में अप्रतिहत गति वाला होकर आयुर्वेदोक्त परम (उत्कृष्ट) आयु को प्राप्त कर लेता है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने इस प्रकरण पर टिप्पणी लिखते समय क्वाथ, कल्क, स्वरस तथा दूध के मान का निर्देश इसलिए नहीं किया कि ये परिभाषाएँ चिकित्सक को स्वयं याद रखनी चाहिए। चरक के प्रथम भाग के आरम्भ में विविध प्रकार के मानों की तालिकाएँ दी गयी हैं। चरकसंहिता-कल्पस्थान के १२वें अध्याय

१. 'प्रयुञ्जीताग्निबलं समवेक्ष्य, जीर्णे च' इति पा०।

के श्लोक ८७ से १०५ तक मान सम्बन्धी जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह औषध-निर्माण के इच्छुक के लिए मननीय एवं स्मरणीय हैं। जैसे—'जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम्। तत्र स्यादौषधात् स्नेहः स्नेहात् तोयं चतुर्गुणम्' ॥ च० क० अ० १२।१०१। हाँ 'कुम्भ' नामक मान का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है 'कुम्भो द्रोणद्वयम्'। वचनं हि—'द्रोणस्तु द्विगुणः सूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च'। इसी के अनुसार हमने ऊपर निर्णय किया है।

संग्रहकार वाग्भट ने भी इस योग का संग्रह किया है। तदनुसार इस योग में कहे गये द्रव्यों तथा उनका परिमाण इस प्रकार है—४ द्रोण घी, हरीतकी आदि का छना हुआ क्वाथ ८ द्रोण, विदारीकन्द का स्वरस ८ द्रोण, पिप्पली आदि का कल्क १ द्रोण और गाय का दूध ३२ द्रोण—इनको लेकर घृतपाक-विधि से इनका पाक करें। ध्यान रहे, २५ सेर ४८ तोले का **एक द्रोण** होता है। इसकी सामान्य मात्रा आधा तोला से एक तोला तक मानी गयी है। मात्रा का निर्धारण तो **'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य'** के आधार पर ही करना चाहिए।

हरीतक्यामलकबिभीतकहरिद्रास्थिराबला[1]विडङ्गामृतवल्लीविश्वभेषजमधुकपिप्पलीसोमवल्कसिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्कराभ्यामपि च सन्नीयामलकस्वरसशतपरिपीतमामलकचूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टिकान्नमश्नीयात्, त्रिवर्षप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, विषमविषं भवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अधृष्यो भूतानां भवति ॥ ७७ ॥

हरीतक्यादि योग—आँवलों के स्वरस से सौ बार भावना दिये हुए आँवले के चूर्ण में उसका चतुर्थांश लौहचूर्ण मिला दें और इसमें हरीतकी, आँवला, बहेड़ा, हरिद्रा (हल्दी), स्थिरा (शालपर्णी), बला, वायविडंग, गुरुच, सोंठ, मुलेठी, पिप्पली तथा श्वेत-खदिर के कल्क द्वारा सिद्ध किये गये दूध को मथकर निकाले गये घी, मधु तथा चीनी को एक में मिलाकर एक कर्ष (१ तोला) की मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल कुटीप्रावेशिक-विधि से सेवन करें।

इस रसायन के पच जाने पर सायंकाल के समय मूँग के यूष अथवा घी मिले हुए दूध के साथ शालि या साठी के चावलों के भात का सेवन करें। इस प्रकार तीन वर्ष तक इस रसायन का विधिवत् प्रयोग करने से मानव वृद्धावस्था रहित सौ वर्ष तक जीवित रहता है। वह जो एक बार सुन लेता है, वह याद हो जाता है, सभी प्रकार के रोग शान्त हो जाते हैं, शरीर पर किसी प्रकार के विष का प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु वह भी अमृत के समान हो जाता है। शरीर पत्थर की भाँति सुदृढ़ हो जाता है। रसायन सेवन के कारण बलशाली होने से वह पुरुष प्राणियों द्वारा अधृष्य हो जाता है। अर्थात् रसायन-सेवी उस पुरुष को भूत-प्रेत आदि तथा कोई भी प्राणी सता नहीं सकते।

वक्तव्य—प्रत्येक योग के साथ परिभाषा देने के लिए तन्त्रकार बाध्य नहीं है। अतः यहाँ जिन द्रव्यों द्वारा दूध को पकाने का निर्देश दिया है, उनके परिमाण इस प्रकार समझें—'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।

पाठभेद—'सन्नीयामलकस्वरसशतपरिपीतमामलकचूर्णम्'—ऐसा निर्णयसागरीय चरक का पाठ है। श्री जयदेवविद्यालंकार द्वारा १९७५ में प्रकाशित चरक के नवम संस्करण में इस प्रकार का पाठ उपलब्ध है—'सन्नीयामलकस्वरसपरिपीतशतपलपरिमितमामलकचूर्णम्'ः **प्रथम पाठ का अर्थ**—आँवलों के स्वरस से सौ बार भावना दिये हुए आँवलों के चूर्ण को। **द्वितीय पाठ का अर्थ**—आँवलों के स्वरस से भावना दिये हुए १०० पल मात्र आँवलों के चूर्ण को। प्रथम अर्थ में १०० बार भावना का और द्वितीय अर्थ में १०० पल आँवलों के चूर्ण का निर्देश है, जो निर्माण-विधि की दृष्टि से चिन्तनीय है।

पाठभेद—श्रीजयदेवविद्यालंकार द्वारा अनूदित चरकसंहिता में **'अदृश्यो भूतानाम्'** पाठ देकर, तदनुरूप अर्थ करके, अपनी ओर से लिखा गया है—यहाँ पर **'अधृष्यो भूतानाम्'** ऐसा पाठ होना चाहिए। निर्णयसागरीय प्रति में केवल **'अधृष्य'** पाठ है। हमारे विचार से **'अधृष्य'** पाठ ही प्रसंगोचित है।

१. 'वचा' इति पा०।

भवन्ति चात्र—

यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा। तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा ॥७८॥

रसायन का महत्त्व—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन श्लोक हैं—जिस प्रकार देवताओं के लिए अमृत तथा नागों के लिए सुधा थी, उसी प्रकार प्राचीन काल में महर्षियों के लिये रसायन-विधि थी।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने अमृत, सुधा तथा रसायन-विधि के बारे में यह प्रागैतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किया है। अतएव यहाँ रसायन-विधि के महत्त्व का निर्देश करते हुए उसका सम्पूर्ण विधान मनुष्य मात्र के लिये किया गया है।

भोगवताम्—'भोगः=अहेः शरीरम्, भोगः सः अस्य अस्तीति, भोगवान्, तेषाम्'। साँपों के शरीर का नाम 'भोग' है। इस प्रकार 'पाताल' का एक नाम 'भोगिलोक' भी है।

अमृत और सुधा—ये दोनों शब्द अमरकोष में परस्पर पर्यायवाचक हैं—'पीयूषम्, अमृतं, सुधा'। किन्तु आर्ष वाक्यों का अपना एक विशेष महत्त्व होता है। चक्रपाणि ने प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अमराणाममृतं जरादिहरं, नागानां च सुधा जरामरणहरी, इत्युभयोपादानं दृष्टान्ते।' किन्तु ऐसा नहीं लिखा है, अमृत और सुधा एक ही पदार्थ हैं या भिन्न-भिन्न? यदि अमृत और सुधा समान गुण, शक्ति, प्रभाव वाले पदार्थ हैं, जैसा कि 'यथा' शब्द से सूचित होता है, तो देवताओं में दूसरा प्रभाव और भोगवान् नागों में दूसरा प्रभाव कैसे वर्णित है?

समाधान—उक्त पद्य के आशय को समर्थन देने वाला एक पद्य सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार है—'रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते'॥ सु० सू० अ० ४३।२। दूसरा पद्य—'यथा निवृत्तसन्तापा मोदन्ते दिवि देवताः। तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदन्ते भुवि मानवाः॥ सु० चि० अ० ३०।३। संहिताकारों के इन दोनों वचनों से ऐसा लगता है, जैसे अमृत के बल से स्वर्ग में देवगण तथा **सुधा (विष)** (देखें—संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ तथा आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोष) के बल से नागलोक में नाग-समूह सुखपूर्वक रहते थे। उसी प्रकार भूलोक में रसायन के बल से महर्षिगण आनन्दित रहते थे।

नागों का विषबल—सुश्रुत-कल्पस्थान के जंगमविष प्रकरण में उन सर्पों को बलवान् बतलाया गया है, जो सविष होते हैं और भीरु उनको कहा गया है, जो निर्विष होते हैं। अब आप स्वयं विचार करें कि रसायन से पुष्ट शरीर वाले पुरुष, अमृत से पुष्ट देह वाले देवता और विष से गर्वित सर्प समान पराक्रमी होते हैं। देखें—'ससागरगिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही। क्रुद्धा निःश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत्॥ नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किञ्चिच्चिकित्सया। ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान्'॥ सु० क० अ० ४।७-८।

न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च। जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा ॥७९॥

दूसरा श्लोक—प्राचीनकाल में यथाविधि रसायन का सेवन करने से महर्षिगण हजारों वर्षों तक न बुढ़ापा, न दुर्बलता, न रुग्णता और न मृत्यु को ही प्राप्त हुए।

वक्तव्य—इस पद्य में 'महर्षिगण' का प्रयोग ७८वें श्लोक में प्रसंगवश हुआ है। इस प्रकार की विलक्षण शक्तियों की प्राप्ति के लिए आगे कहे जाने वाले **'आचार-रसायन'** के प्रयोग के साथ ही साथ 'कुटी-प्रावेशिक' विधि से सेवन किये जाने वाले शास्त्रोक्त रसायनों का प्रयोग यथाविधि कराना ही चाहिए।

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति [1]चाक्षयम् ॥ ८० ॥

तीसरा श्लोक—जो पुरुष शास्त्रोक्त रसायन का विधिपूर्वक सेवन करता है, उसको इस (भू) लोक में केवल दीर्घ आयु की ही प्राप्ति नहीं होती, अपितु देवताओं तथा ऋषियों द्वारा सेवित उत्तम गति की भी प्राप्ति होती है और वह अक्षय (अविनाशी) ब्रह्म का भी साक्षात्कार कर लेता है।

१. 'चाक्षरम्' इति पा०।

वक्तव्य—रसायन आयुर्वेदशास्त्र की परम और चरम उपलब्धि है, जिसका आज के युग में ह्रास हो गया है। 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' के लक्ष्य की सिद्धि रसायन-सेवन से ही होती है। शरीर पर इसका पूरा-पूरा प्रभाव तभी पड़ता है, जब तन और मन की शुद्धि हो जाती है। योगीश्वरों को भी ब्रह्म-साक्षात्कार तन-मन की शुद्धि के बिना नहीं होता। अब आप स्वयं विचार करें कि रसायन-सेवी पुरुष तथा योगीपुरुष की जीवनचर्या में क्या अन्तर है। पाठभेद के अनुसार—वह पुरुष 'अक्षर' ब्रह्म की प्राप्ति करता है। 'अक्षर ब्रह्मयोग' के विवेचन के लिए श्रीमद्भगवद्गीता अ० ८ देखें।

तत्र श्लोकः—

अभयामलकीयेऽस्मिन् षड्योगाः परिकीर्तिताः। रसायनानां सिद्धानामायुर्यैरनुवर्तते ॥८१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये-ऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः ॥ १ ॥

उपसंहार—इस 'अभयामलकीय' नामक अध्याय में सिद्ध रसायनों के छः योग कहे गये हैं, जिनके सेवन से आयु का अनुवर्तन हो जाता है।

वक्तव्य—रसायनों के छः योग—१. ब्राह्म (प्रथम), २. द्वितीय ब्राह्म, ३. च्यवनप्राश, ४. चतुर्थामलक, ५. हरीतकीयोग और ६. हरीतक्यादियोग। **आयुर्यैरनुवर्तते**—जिन रसायन-योगों से आयु की अनुकूल वृत्ति (व्यवहार) हो जाती है, वृद्धावस्था मानव की इच्छा के प्रतिकूल वृत्तिवाली होती है, अतः इसके सेवन से वृद्धावस्था में यौवन के लक्षणों का अनुवर्तन हो जाता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्तत्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सा-स्थान के रसायनाध्याय में अभयामलकीय नामक रसायन प्रथमपाद समाप्त।

रसायनाध्याये द्वितीयः पादः

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अभयामलकीयनामक प्रथम रसायन पाद का वर्णन करने के बाद 'अब हम प्राणकामीय रसायन पाद की व्याख्या करेंगे'—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—अमरसिंह ने पराक्रमवाची 'सामर्थ्य' शब्द के पर्यायों में 'प्राण' शब्द की गणना की है। देखें—अमरकोष काण्ड २ वर्ग ८। यहाँ शक्तिसम्पन्न प्राणों की कामना करने वालों को सम्बोधित करते हुए तन्त्रकार आगे उपदेश करेंगे।

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्य-मारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरम-बद्धमांसहरमन्तरग्निसन्धुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं रसायनविधानम्। अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः, स्थिरसमसुविभक्तमांसाः, सुसंहतस्थिरशरीराः, सुप्रसन्नबल-वर्णेन्द्रियाः, सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः, क्लेशसहाश्च।

रसायन-सेवन से लाभ—प्राणों (दीर्घ-जीवन) के चाहने वालों ! मेरे द्वारा कहे जाने वाले इस रसायन-विधान को सुनो। यह (रसायन-विधान) दिति-सुतों (देवताओं) के लिए हितकर दूसरे अमृत के समान है; इस (रसायन-विधान) का प्रभाव अचिन्त्य (जो विचार करने पर भी न जाना जा सके) तथा अद्भुत (आश्चर्यकारक) है; यह आयुष्य (आयु को बढ़ाने में हितकर—**'आयुषे हितम्'**), आरोग्यकर (सभी प्रकार के रोगों से बचाने वाला) तथा वयस् का स्थापक (युवा अवस्था को चिरकाल तक स्थिर करने वाला) है; यह निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य तथा दुर्बलता का नाश करने वाला है; यह वात, पित्त तथा कफ को सम करने वाला, स्थिरता प्रदान करने वाला और अबद्धमांसहर (मांस पेशियों की शिथिलता को दूर कर उनको सुसंगठित करने वाला) है; तथा यह उदर के भीतर रहने वाली जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, प्रभा, वर्ण और स्वर को श्रेष्ठ बनाने वाला है।

इस रसायन का यथाविधि सेवन करने से च्यवन आदि महर्षियों ने (वृद्ध होने के बाद भी) फिर से जवानी को प्राप्त कर लिया। अर्थात् युवा पुरुष के समान बल-वर्ण आदि से युक्त हो गये और स्त्रियों के अत्यन्त प्रिय हो गये। अतएव वे महर्षि स्थिर, सम तथा सुविभक्त मांसपेशियोंवाले, सुसंगठित, स्थिर शरीरवाले, प्रसन्न-चित्त, बल, वर्ण, इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न, सभी प्रकार के कार्यक्षेत्रों में सफल, सभी प्रकार के कष्टों (भूख, प्यास, निद्रा आदि) को सहने की शक्ति वाले हो गये थे।

सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांस[1]तिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षक्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाध्यशनप्रायाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्यनित्यानां विषमातिमात्रव्यायामसङ्क्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम्; [2]अतो निमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यते सन्धयः, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदः, न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते, क्षयमुपैत्योजः; स एवंभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितो निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसीनां, नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति। तस्मादेतान् दोषानवेक्षमाणः सर्वान् यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच ॥ ३ ॥

ग्राम्य आहार से हानियाँ—ग्राम्य (असभ्य) आहारों का सेवन करने से होने वाली हानियाँ—अम्ल, लवण तथा कटु रस प्रधान पदार्थों, क्षार, सूखे शाक, सूखे मांस, तिल, तिलकल्क, पिष्टान्न (पीठी द्वारा बने हुए पदार्थ) इन आहार द्रव्यों को खाने वाले, विरूढ (अंकुरित) धान्यों, नये शूकधान्यों (जौ, गेहूँ आदि), नये शमीधान्यों (मटर, मूंग, उड़द आदि), विरुद्ध (देश, काल, प्रकृति, संयोग विपरीत) भोजनों, असात्म्य (प्रकृति के विपरीत) भोजनों, रूक्ष अन्नों, क्षार प्रधान पदार्थों तथा अभिष्यन्दी (दोष, धातु, मल तथा स्रोतों को क्लिन्न करने वाले) पदार्थों को खानेवाले, क्लिन्न (सड़े-गले), गुरु (देर में पचनेवाले), पूति (दुर्गन्धित), बासी पदार्थों को खाने वाले, विषम अथवा अध्यशन अर्थात् पहले खाये हुए पदार्थ न पचे हों तब तक प्रायः दूसरी बार भोजन कर लेने वाले, प्रतिदिन दिन में सोने वाले, मैथुन करने वाले तथा मद्यपान करने वाले, विषम या अधिक मात्रा में व्यायाम करने से जिनका शरीर क्षुब्ध (व्याकुल) हो गया है तथा भय, क्रोध, शोक, लोभ, मोह, आयास (श्रम) जो अधिक करते हैं, उनके शरीर सम्बन्धी सभी वात आदि दोष (रोग) प्रकुपित हो जाते हैं।

इनके सेवन करने के कारण मांसपेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं, सन्धियाँ अपने स्थान से हट जाती हैं, रक्त में विदाह होने लगता है, मेदो धातु का अधिक मात्रा में स्राव होने लगता है, अस्थियों के भीतर मज्जा का सन्धान नहीं हो पाता, शुक्र की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, ओजोधातु का क्षय हो जाता है। इस प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति हो जाने पर ग्राम्य आहारों के प्रति प्रवृत्त वह मनुष्य ग्लानि (हर्षक्षय) युक्त हो जाता है, सम्पूर्ण शरीर वेदनापूर्ण हो जाता है। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य से युक्त वह उत्साहहीन होकर केवल श्वास

१. 'माष' इति पा०।

२. 'अतो निमित्ताद्धि' इति पा०।

लेता है, अर्थात् मरे हुए पुरुष में और उसमें साँस न लेने और लेने मात्र का अन्तर रह जाता है। शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं को पूरा कर सकने में वह असमर्थ हो जाता है, उसकी स्मृति (स्मरणशक्ति), बुद्धि तथा छाया (कान्ति) नष्ट हो जाती है। वह अपने शरीर को सभी प्रकार के रोगों का आश्रय बना लेता है, अतएव वह अपनी पूर्ण आयु का भोग नहीं कर पाता, अर्थात् वह अकाल में ही कालकवलित हो जाता है। इसलिये (उपर्युक्त) दोषों को देखता हुआ पुरुष ऊपर कहे गये अहित आहार-विहारों को छोड़कर रसायनों का प्रयोग कर सकता है। ऐसा कहकर भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने कहा।

वक्तव्य—'प्राणकामाः' से 'क्लेशसहाश्च' तक रसायन-सेवन से होने वाले लाभों का सामान्य वर्णन कर 'सर्वे शरीरदोषाः' से 'प्रयोक्तुमर्हतीति' तक ग्राम्य आहारों के सेवन से होने वाले अहितकर परिणामों का दिग्दर्शन कराया गया है।

ग्राम्य आहार—'ग्रामे भवं=ग्राम्यम्'। ग्रामीण व्यवहार के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। कुछ टीकाकारों ने 'ग्राम्य' शब्द का अर्थ 'शहरों में रहने वाले' किया है। अस्तु, सामान्य रूप से इसका अर्थ होता है—ग्रामीण, असभ्य या अशिष्ट। वास्तव में ये मनुष्य मात्र में रहने वाले धर्म हैं, भले ही वह ग्रामवासी हो या नगरवासी। ऊपर जिनको ग्राम्य आहार की संज्ञा दी गयी है, वे प्रायः राजस तथा तामस आहार हैं। देखें—श्रीमद्भगवद्गीता अ० १७ श्लोक ९-१०। और 'रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्'॥ गीता अ० १४।१६। विरुद्ध आहार की जानकारी के लिये देखें—च० वि० अ० ८।

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहतगन्धवर्णरसानामापूर्णरसप्रमाणवीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवाकल्कपादसम्प्रयुक्तेन सर्पिषः साधयेदाढकम्, अतः परं विदारीस्वरसेन जीवन्तीकल्कसम्प्रयुक्तेन, अतः परं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरीकल्कसंयुक्तेन, अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्कराक्षौद्रचतुर्भागसम्प्रयुक्तं सौवर्णे राजते मार्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्, तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। अस्य प्रयोगाद् वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीषु, अपत्यवान् भवतीति ॥ ४ ॥

आमलक घृत—श्रेष्ठ भूमि (हिमालय प्रदेश) में उत्पन्न तथा समुचित समय में संग्रह किये गये आँवले, जिनका गन्ध, रूप तथा रस विकृत न हुआ हो और जिन आँवलों में पूर्णरूप से रस, प्रमाण एवं वीर्य वर्तमान हो, उनके स्वरस से और उसके चतुर्थांश पुनर्नवा के कल्क से एक आढक (२५६ तोला) गाय का घी सिद्ध करें। तदनन्तर विदारीकन्द के स्वरस और जीवन्ती के कल्क के साथ पुनः उस घी को पकायें। उसके बाद चौगुना गाय का दूध तथा बला (बरियारा), अतिबला (ककही) के क्वाथ और शतावरी के कल्क के साथ पुनः उस गाय के घी को पकायें। इसी क्रम से उक्त तीनों विधियों में से एक-एक विधि से सौ बार या हजार बार इस घी का पाक करके, इसमें चीनी तथा शहद को चतुर्थांश मिलाकर सुवर्ण या चाँदी के पात्र में अथवा भीतर से घी लगाये गये मिट्टी के घड़े में रखें।

तदनन्तर उस घी का कुटीप्रावेशिक रसायन-सेवन-विधि के द्वारा सेवन करने वाला पुरुष अपने अग्निबल के अनुसार प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे। जब घी की मात्रा पच जाये, तब दूध तथा घी के साथ शालि के चावलों अथवा साठी के चावलों का भात खाये। इस रसायन के विधिवत् प्रयोग करने से वह सौ वर्षों तक अजर (वृद्धावस्था के लक्षणों से रहित) रहता है। सुने हुए विषय का स्मरण रहता है, सभी प्रकार के रोग शान्त हो जाते हैं, अनेक स्त्रियों के साथ सहवास करने की शक्ति प्राप्त करता है तथा पुत्रोत्पादन के योग्य वीर्यवाला हो जाता है।

वक्तव्य—किसी योग के नामकरण में ग्रन्थकार के दृष्टिकोण की ही प्रमुखता होती है, क्योंकि मात्र एक द्रव्य से बना भेषज कम देखने को मिलता है और न उसको योग की ही संज्ञा दी जा सकती है। जैसे—प्रस्तुत 'आमलक घृत' में पुनर्नवा, विदारी, जीवन्ती आदि का सहयोग है। परन्तु ये द्रव्य इस योग में अंगभूत हैं, अतः आदि में पठित या मात्रा में प्रधान द्रव्य के नाम से योग का नामकरण करने की प्राचीन परम्परा है। आज यह भी एक घृणित परम्परा औषध योगों के नामकरण की चल पड़ी है जिससे उनके द्रव्यों का पता ही

न चल सके। इस संकुचित परम्परा से आयुर्वेदोक्त उत्तमोत्तम अनुभूत योगों का लोप हो गया है, इससे अगली पीढ़ी के चिकित्सक सावधान रहें।

कालजानाम्—यहाँ यह शब्द 'आमलकानाम्' के विशेषण रूप में प्रयुक्त है। अतः इसका अर्थ 'उचित समय (माघ, फाल्गुन) में लिये हुए' होना चाहिए, तभी वे 'अनुपहत गन्ध, वर्ण, रस' आदि गुणों से परिपूर्ण मिल सकेंगे। दूसरा अर्थ यह है कि कभी-कभी वृक्ष, लता आदि में असमय (निर्धारित समय के विपरीत) में भी पुष्प, फल आदि के दर्शन होते हैं। वे रसायन कर्म में प्रयुक्त नहीं होते। आज के विज्ञान ने जीवन के उपयोगी सभी पदार्थों से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। अतः प्रायः सभी अन्न, फल आदि सभी काल में सुलभ करा दिये हैं। ऐसे अवसर पर 'कालजानाम्' का विशेष महत्त्व है।

अस्य प्रयोगात्—श्रीजयदेवविद्यालंकार द्वारा अनूदित चरकसंहिता में यहाँ पर **'त्रिवर्षप्रयोगात्'** पाठ उद्धृत किया गया है। यह कालावधि अत्यधिक प्रतीति होती है। यद्यपि हम **'यथोक्तेन विधिना'** का अर्थ 'कुटीप्रावेशिक-विधि से'—ऐसा करते हैं, अन्यथा 'वातातपिक विधि' में तो कोई ऐसा बन्धन नहीं है।

घृतपाक—तैलपाक और घृतपाक में जो अन्तर दिये गये है, उन्हें शार्ङ्गधरसंहिता म० खं० अ० ९।१। में देखें। 'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कस्तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्, इत्येषः स्नेहपाककल्पः'। सु० चि० अ० ३१।८। इस प्रकार के अन्य कल्पों को भी इस प्रकरण में देख लें। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य यह है, कि पाक करने पर घृत एवं तैल लगभग चतुर्थांश घट जाते हैं, क्योंकि उनका बहुत-सा अंश भाप के साथ उड़ जाता है और कुछ अंश कल्क द्रव्यों में लगा रह जाता है।

शतपाकं सहस्रपाकं वा—इस शतपाक 'आमलकघृत' को सिद्धि करने के लिए ३०० बार पकाना पड़ेगा और सहस्रपाक करने के लिए ३००० बार पकाना होगा, क्योंकि इसको सिद्ध करने की तीन विधियों का निर्देश किया गया है। यह शतपाक एवं सहस्रपाक विधि से निर्मित घृत उत्तरोत्तर गुणवान् होता है। चूर्णों में भावना, स्नेह आदि में पाक, रसों में पुट—ये सब गुणों को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किये जानेवाले संस्कारों की आयुर्वेदीय प्राचीन परम्परा है।

मात्रा—'तस्य मात्रा पलोन्मिता'। शा० सं० म० खं० अ० ९।१। यह सामान्य मात्रा का निर्देश है। किन्तु **'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य'** यह भी एक मात्रा निर्धारण का सिद्धान्त है। यहाँ भी ऐसा ही निर्देश किया गया है। देखें—**'यथाग्नि प्रयोजयेत्'**। इसकी सामान्य मात्रा ½ तोला से १ तोला तक है।

भवतश्चात्र—

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियञ्च।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्तिपूजासुखचित्तभाक् च ॥ ५ ॥
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या स्वरो घनौघस्तनितानुकारी।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरञ्च समश्नतो योगमिमं नरस्य ॥ ६ ॥

(इत्यामलकघृतम्।)

आमलकघृत की फलश्रुति—इस 'आमलकघृत' रसायन का सेवन करने वाले पुरुष का शरीर आकार में बड़ा और गिरिसार (पत्थर) के समान सुदृढ़ होता है। वह पुरुष स्थिरेन्द्रिय (गाढ़ा शुक्र वाला) तथा अत्यन्त शक्तिशाली इन्द्रियों वाला होता है। वह किसी से भी पराजित नहीं होता अथवा उसका कोई दमन नहीं कर सकता। उसकी आकृति अत्यन्त कमनीय हो जाती है और वह प्रशंसा का पात्र, पूजा के योग्य, सुखी मन वाला तथा अत्यन्त बलवान् हो जाता है। उसका रूप अत्यधिक सुन्दर हो जाता है, उसका स्वर मेघनाद के समान गम्भीर हो जाता है और उसकी अनेक शक्तिशाली सन्तानें होती हैं।

वक्तव्य—प्रत्येक व्यक्ति अपने में इन गुणों को चाहता है, किन्तु इस प्रकार के गुण कैसे प्राप्त हो सकते हैं, उस भूमिका को निभाना नहीं चाहता। **स्थिरेन्द्रियम्**—इसके आगे 'चातिबलेन्द्रियम्' यह पाठ भी है। अतः प्रथम 'इन्द्रिय' शब्द का प्रसंगोचित अर्थ हमने 'गाढ़ा शुक्रवाला' किया है। देखें—'इन्द्रियं तु चक्षु-रादिषु रेतसि'। इति हैमः।

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसम्प्रयुक्तं पलाशतरुणक्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां सन्नीय शर्कराचूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः। तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत्, पौर्वाह्णिकः, प्रयोगो नापराह्णिकः, सात्म्यापेक्षश्चाहारविधिः। अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ७ ॥

(इत्यामलकावलेहः।)

प्रथम आमलकावलेह—हिमालय प्रदेश में उत्पन्न, माघ-फाल्गुन में संग्रहीत एक हजार आँवले और एक हजार पिप्पली—इन दोनों को तरुण पलाश (मध्यम वय के पलाश वृक्ष के मूल, पत्र, फल, शाखा सहित जलाकर बनाये हुए) क्षार जल में डालकर भलीभाँति भिगोकर रख दें। जब मालूम पड़े कि क्षार-जल उनके भीतर प्रवेश कर गया है, तब आँवलों की गुठलियाँ निकालकर छाया में सुखाकर उनका एक साथ चूर्ण करके कपड़े में छान लें। इस चूर्ण का जितना भार हो उस चूर्ण से चौगुना गाय का घी और चौगुना मधु मिलाकर (अर्थात् यदि चूर्ण की मात्रा २ किलो हो तो ४ किलो घी तथा ४ किलो मधु होना चाहिए।) चूर्ण की मात्रा का चतुर्थांश (२ किलो चूर्ण में आधा किलो) चीनी मिला दें। तदनन्तर भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के पात्र में रखकर (भली भाँति मुख बन्द कर उसे) भूमि में गढ़ा खोदकर उसके भीतर रखकर ऊपर से मिट्टी से बन्द करके ६ मास तक रहने दें।

छः मास के बाद इसे भूमि से निकालकर रसायन-सेवी की पाचकाग्नि के बल के अनुसार उचित मात्रा में प्रातःकाल इसका सेवन करायें, न कि सायंकाल। अवलेह के पच जाने पर रोगी के सात्म्य का विचार कर उसे (पूर्वोक्त रसायनों में जिस प्रकार की आहार-विधि का वर्णन किया है, तदनुसार) आहार का सेवन कराना चाहिए।

इस रसायन का सेवन करने से सौ वर्षों तक बुढ़ापा नहीं आता अर्थात् यौवन के लक्षणों से वह युक्त रहता है। अन्य सब प्रभाव पहले कहे गये रसायनों के समान ही होते हैं।

वक्तव्य—रसायन-निर्माण के योग्य आँवलों का निर्देश पहले किया जा चुका है। अष्टांगसंग्रहकार के अनुसार 'अभयामलकसहस्रम्' पाठ है। अतः ५०० हर्रे और ५०० आँवले लेने चाहिए। किन्तु ऐसी स्थिति में इसका नाम **'आमलकावलेह'** नहीं रह सकेगा। अस्तु, कुछ टीकाकारों ने यहाँ सूखे आँवलों को लेने में यह युक्ति दी है कि हरे आँवले क्षारोदक का शोषण नहीं कर पाते। ऐसा लगता है कि उन्होंने 'अनुगत' का अर्थ सूखना समझ लिया है। वास्तव में यहाँ क्षारोदक में भिगोना मात्र लक्ष्य है। जैसे आँवलों का मुरब्बा बनाने के लिए उनको पहले फिटकिरी के घोल में भिगा देते हैं, बाद में उनका सामान्यरूप से प्रयोग किया जाता है। दूसरी बात यह है कि सुखाये हुए आँवले व्यवहार की दृष्टि से समूचे नहीं मिलते। वे निश्चय ही फूट जाते हैं, जो गणना की दृष्टि से असुविधाजनक होते हैं।

क्षारोदक—पहले क्षार का निर्माण किया जाता है। इसके लिए तरुण पलाश (पलाश का जो वृक्ष न एकदम नया हो और न बहुत पुराना ही हो) को लेकर उसके पंचांग को जलाकर १ भाग उस क्षार को ६ भाग जल डालकर अथवा 'दुन्दुभिस्वनीय कल्प' (सु० क० अ० ६) में निर्दिष्ट विधि द्वारा पकायें। इसी क्षार से क्षारोदक बनाया जाता है। इस क्षार को सुरक्षित रखा जा सकता है, क्षारोदक का निर्माण उपयोग के समय ही किया जाता है।

आमलकचूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलकस्वरसपरिपीतं मधुघृताढकाभ्यां द्वाभ्यामेकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्कराचूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निदध्यात्; तद्वर्षान्ते सात्म्यपथ्याशी प्रयोजयेत्; अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ८ ॥

(इत्यामलकचूर्णम्।)

आमलक चूर्ण—उत्तम आँवलों का चूर्ण १ आढक (६४ पल=२५६ तोले), इसको एक हजार उत्तम आँवलों के स्वरस की २१ दिन तक भावना देकर छाया में सुखाकर चूर्ण कर लें। उस चूर्ण में २ आढक मधु

और २ आढक गाय का घी और चूर्ण का आठवाँ हिस्सा (३२ तोले) पिप्पली का चूर्ण और चूर्ण का चौथा भाग (६४ तोले) चीनी मिलाकर भीतर से घी लगाये हुए मिट्टी के पात्र में रखकर (उसका मुख भली भाँति बन्द करके) प्रावृट् ऋतु (आषाढ़ और श्रावण, देखें—सु० सू० अ० ६।१०) में राख की ढेर में ढँककर रख दें। वर्षाऋतु (भाद्रपद-आश्विन) की समाप्ति होने पर तैयार हुए उस चूर्ण को निकालकर रख लें।

तदनन्तर रसायन का सेवन करने वाला पुरुष इस चूर्ण का सेवन करे। जब चूर्ण की मात्रा पच जाये तो सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) तथा पथ्य पदार्थों का सेवन करे। इस रसायन के विधिवत् प्रयोग करने से मनुष्य सौ वर्ष तक यौवन के लक्षणों से सम्पन्न रहता है। इसके सेवन से होने वाले अन्य लाभ पूर्वोक्त रसायनों के समान ही होते हैं।

वक्तव्य—इसके सेवन के समय का निर्देश नहीं किया गया है। अतः इसका सेवन प्रातःकाल २ तोले की मात्रा मे करें। सायंकाल सात्म्य एवं पथ्य आहार का सेवन पूर्वोक्त विधि से करें। इसका संकेत **'समानं पूर्वेण'** गद्यांश द्वारा किया गया है।

इस योग का नाम 'आमलकचूर्ण' है, यद्यपि गाय का घी और शहद मिला देने से यह चूर्ण जैसा नहीं रह जाता, फिर भी इसमें अवलेह के निर्माण की प्रक्रिया न होने के कारण इसको 'अवलेह' संज्ञा देना भी समुचित प्रतीत नहीं होता। चूँकि घी या शहद चाटे जाते हैं, इसलिए इसको अवलेह कह दिया जाये तो भी कोई हानि नहीं है।

विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकमाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धाढकं सितोपलायाः सर्पिस्तैलमध्वाढकैः षड्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशाविति सर्वं समानं पूर्वेण यावदाशीः ॥ ९ ॥

(इति विडङ्गावलेहः ।)

विडङ्गावलेह—विडंगतण्डुल (विडंगसार या वायविडंग के बीजों) का छिलका उतार कर बनाया हुआ चूर्ण १ आढक (२५६ तोले), पिप्पली के भीतर से निकलने वाले बीजों का चूर्ण १ आढक (२५६ तोले), मिश्री १॥ आढक (३८४ तोले), गाय का घी २ आढक (५१२ तोले), तिल का तैल २ आढक (५१२ तोले), मधु २ आढक (५१२ तोले)—इन छः वस्तुओं को एक में मिलाकर भीतर से घी लगाये गये मिट्टी के घड़े में रखकर और उसका मुख बन्द करके प्रावृट् ऋतु (आषाढ़-श्रावण) में भस्म के ढेर में ढँक दें। तदनन्तर वर्षा ऋतु के अन्त (शरद् ऋतु) में उसे निकालकर रसायन-सेवी पुरुष के अग्निबल के अनुसार सेवन करायें। इसके सभी गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान ही होते हैं। जब तक आशीर्वाद हो अर्थात् जैसी फलश्रुति का वर्णन ऊपर किया गया है, वैसा ही यहाँ भी समझें।

वक्तव्य—श्रीजयदेवविद्यालंकार द्वारा अनूदित प्रति में उक्त पाठांश इस प्रकार है—'विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धाढकं सितोपलासर्पिस्तैलमध्वाढकैः' शेष समान है। ऐसा पाठ होने से निर्णयसागरीय पाठोक्त द्रव्यों के तथा इसके परिमाणों में अन्तर आ जाता है, जो प्रामाणिक औषध-निर्माण के क्षेत्र में बाधा उपस्थित करता है। अतः इसके निर्णय के लिए तद्विध सम्भाषा-परिषद् के निर्णय की अपेक्षा है।

यावदाशीः—इस अन्तिम गद्यांश का अनुवाद चक्रपाणि आदि किसी टीकाकार ने नहीं किया, कारण समझ में नहीं आता। हमारे विचार से 'वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति' 'आमलकघृतम्' के अन्त में, 'वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति' 'आमलकावलेहः' के अन्त में तथा 'वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठति' 'आमलकचूर्णम्' के अन्त में—इस प्रकार की जो परम्परा है उसी का निर्वाह 'विडङ्गावलेहः' में 'यावदाशीः' द्वारा की गयी है। ध्यान दें—शास्त्रीय पद्धति के आशीर्वचन इस प्रकार होते हैं—

शतायुः भव, चिरं जीव, दीर्घायुर्भव।

अथवा—

यावद् गङ्गा कुरुक्षेत्रे यावत् तिष्ठति मेदिनी।
यावद् रामकथा लोके तावज्जीवतु बालक॥

यह भारतीय आशीर्वाद के उदार परम्परा की चरम सीमा है। अतः **'यावदाशीः'** का अनुवाद हमने ऊपर प्रसंगोचित कर दिया है।

अन्य विडङ्गावलेह—वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को अपनी संहिता में इस प्रकार स्थान दिया है—'विडङ्गतण्डुलानामाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धं सितोपलानां मधुघृततैलाढकैः षड्भिरेकीकृतं प्रावृषि भस्मराशाविति समानं पूर्वेण'। अ० सं० अ० ४९। ऐसा लगता है कि इस पर निर्णयसागरीय पाठ का प्रभाव पड़ा है, यही उचित भी है।

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां बाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तानि सुस्विन्नशीतान्युद्धृतकुलकान्यापोथ्याढकेन पिप्पलीचूर्णानामाढकेन च विडङ्गतण्डुलचूर्णानामध्यर्धेन चाढकेन शर्कराया द्वाभ्यां द्वाभ्यामाढकाभ्यां तैलस्य मधुनः सर्पिषश्च संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदेकविंशतिरात्रम्, अत ऊर्ध्वं प्रयोगः; अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १० ॥

(इत्यामलकावलेहोऽपरः ।)

द्वितीय आमलकावलेह—रसायन के लिए जिस प्रकार के आँवलों को ग्रहण करने का पहले निर्देश दिया गया है, तदनुरूप एक हजार आँवलों को लेकर आर्द्र (गीली या कच्ची, जो सूखी न हो और न कि सूखी लकड़ी को गीला किया गया हो) पलाश की (लकड़ी की) एक द्रोणी (नाव जैसी छेनी आदि से खोदकर) बनवायें। हरितपलाश काष्ठ का एक ढक्कन भी ऐसा बनवाये, जिससे भाप बाहर न निकल सके। ऐसी पलाशद्रोणी में १००० आँवलों को रखकर ढक्कन लगाकर उन आँवलों का वनोपलों (जंगली गोहरों) की आँच से स्वेदन करें।

जब आँवले भली भाँति स्विन्न (उबल गये) हो गये हैं—ऐसा प्रतीत हो जाये तो उस पलाश द्रोणी को आग पर से अलग हटा दें, शीतल हो जाने पर उसमें से आँवलों को निकाल कर उनकी गुठलियों को अलग कर दें। तदनन्तर आँवलों को मसल कर कपड़े में घिस कर उनका गूदा रख लें और रेशों को फेंक दें। उस छनी हुई १ आढक पीठी के साथ पिप्पली का चूर्ण १ आढक और वायविडंग के तंडुलों का चूर्ण १ आढक, चीनी १॥ आढक, तिलतैल २ आढक, मधु २ आढक, गाय का घी २ आढक—इन सब को मिलाकर पवित्र, सुदृढ़ तथा भीतर से घी लगे हुए मिट्टी के घड़े में डालकर इक्कीस दिन तक रहने दें। तदनन्तर इसका उपयोग करें। इसके विधिवत् प्रयोग करने से सौ वर्षों की आयुपर्यन्त वह यौवन के लक्षणों से युक्त रहता है। इस रसायन की भी फलश्रुति पूर्वोक्त रसायनों की भाँति ही समझनी चाहिए।

वक्तव्य—इसके पहले ७वें गद्य का नाम 'आमलकावलेह' है। तदनन्तर ८वें और ९वें गद्यों के भिन्न-भिन्न नाम रखकर १०वें गद्य का नाम पुनः 'आमलकावलेहोऽपरः' रखा गया है। ऐसा लगता है कि यह सम्पादन परम्परा से आगे-पीछे हो गये हैं, अन्यथा इन दोनों को एक के बाद दूसरा इस क्रम से होना चाहिए था।

कुलकानि—उपर्युक्त गद्य में 'उद्धृतकुलकानि' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रसंगानुसार इसका अर्थ 'आँवलों की गुठलियों को निकालकर' ऐसा किया गया है, जब कि **'कुलक'** शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कहीं भी कोषकारों को अभीष्ट नहीं है। हमारे विचार से यहाँ पर **'उद्धृतकुल्यानि'** ऐसा पाठ तो नहीं था? विद्वान् विचार करें। क्योंकि च० चि० रसायनाध्याय १।५८ में 'गुठली' के लिए 'अस्थि' शब्द प्रयुक्त है और अमरसिंह ने इस प्रकार अस्थि के पर्यायों को दिया है—**'कीकसं कुल्यमस्थि च'** अमर० २ कां० २ वर्ग ६८।

अन्य निर्देश—इसका प्रयोग कुटीप्रावेशिक विधि से प्रातःकाल करायें। इसके पच जाने पर घी-दूध के साथ शालि-षष्टिक का भात सायंकाल दें। इसकी मात्रा अग्निबल की अपेक्षा रखती है, तथापि सामान्य मात्रा १ तोला है। यह सब आशय **'समानं पूर्वेण'** संकेत से ग्रहण कर लेना चाहिए।

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा व्यपगतविषश्वापदपवनसलिलाग्निदोषे कर्षणवल्मीकश्मशानचैत्योषरावसथवर्जिते देशे यथर्तुसुखपवनसलिलादित्यसेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्णपुराणपर्णान्यसञ्जातान्यपर्णानि[1] तपसि

१. 'असञ्जातफलानि' इति पा०।

तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृतदेवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् [1]चले सुमुहूर्ते नागबलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्, जीर्णे च [2]क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात् । संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ११ ॥

(इति नागबलारसायनम् ।)

नागबला रसायन—जाङ्गलदेश (मरुभूमि) में जहाँ चारों ओर कुश ही कुश फैले हों, जहाँ की मिट्टी चिकनी (बलुई न हो), काली तथा मधुर हो अथवा जहाँ की मिट्टी पीले वर्ण की हो; जो मरुभूमि विष, श्वापद (Savage, जंगली, क्रूर, भयंकर प्राणी), वायु, जल, अग्नि के दोष से रहित हो, जहाँ की भूमि जोती हुई न हो, जहाँ दीमक का प्रकोप न हो, जहाँ श्मशान भूमि न हो, चैत्य (जिस वृक्ष पर भूत, प्रेत का निवास न हो, यज्ञ-स्थान या देवमन्दिर) के समीप में उगी हुई, जहाँ ऊसर भूमि न हो, आवसथ (जहाँ पर लोग निवास न कर रहे हों—Dwelling place) से रहित भूमि में उत्पन्न तथा प्रत्येक ऋतु के अनुसार जहाँ सुख (आसानी) से हवा, पानी तथा धूप मिल सके, ऐसी भूमि पर उगे हुए नागबला के पौधों के—जो सभी प्रकार से विकार रहित हों, जिनके ऊपर दूसरे विजातीय पौधे न उगे हों, जो पौधे बालक (थोड़े ही दिनों के उगे) न हों, जो अधिक पुराने भी न हों, जो रस, वीर्य आदि से परिपूर्ण हों, जिनके पुराने पत्ते झड़ गये हों और दूसरे नये पत्ते जिनमें अभी न आये हों—मूलों को माघ या फाल्गुन मास में पवित्र तथा सावधान होकर तथा देवताओं की विधिवत् पूजा करके ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराकर चल मुहूर्त में उखाड़ें।

फिर उन जड़ों को भलीभाँति पानी से धोकर तथा उनकी छाल निकालकर सिल पर उसे बारीक पीसकर आम्र (१ पल) भर या कर्ष (१ तोला) भर दूध में घोलकर प्रातःकाल (केवल एक बार) इसका सेवन करें। या इनका कपड़छन चूर्ण बनाकर दूध के साथ सेवन करें या मधु-घृत के साथ मिलाकर चाटें।

जब प्रातःकाल खायी हुई मात्रा पच जाये, तब दूध और घी के साथ शालिधानों के चावलों का भात खाये। एक वर्ष तक उक्त विधि से इसका प्रयोग (सेवन) करने से सौ वर्षों तक अजर वय (यौवनपूर्ण अवस्था) से युक्त रहता है। शेष गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान ही समझें।

वक्तव्य—यद्यपि यह 'नागबला' ओषधि संदिग्ध है, तथापि इसके नाम से नाग (हाथी) के समान बल देने का संकेत तो मिलता ही है। अस्तु। इसका विस्तृत विवेचन नीचे दिया जा रहा है।

नागबला—यह परूषक कुल का द्रव्य है। लैटिन नाम—Grewia hirsuta Vahl, संस्कृत नाम—नागबला तथा हिन्दी नाम—गुलशकरी (द्रव्यगुणविज्ञान पृ० ७६७)। **परिचय**—यह गांगेरुकी बला चतुष्टय में परिगणित एक सुप्रसिद्ध द्रव्य है। इसके लिए धन्वन्तरिनिघण्टु, भावप्रकाश, मदनपाल, राजनिघण्टु आदि का अवलोकन करें। १. आज नागबला के नाम पर 'गंगेरन' या छोटी नागबला (सिडा स्पाईनोसा लिन) का ग्रहण किया जा रहा है। २. नागबला (फरीदबूटी) के नाम से श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने भूमिबला (सिडा ह्यूमानिस) का ग्रहण किया है। ३. गंगेरन बड़ी (ग्रेविया पपोलिफोलिया) का ग्रहण किया गया है। महर्षि आत्रेय ने धन्वप्रदेश में होने वाली, माघ-फाल्गुन में पत्ते झड़ जाने वाली जिस नागबला का वर्णन किया है, उसी को आचार्य सुश्रुत भी नागबला मानते हैं। देखें—'सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित्। तद्वद् गांगेरुकं विद्यात्'। सु० सू० अ० ४६। दूसरे विद्वान् मालबेसी कुल में उत्पन्न महाबला (Sida rhombifolia) पीला बरियार को नागबला स्वीकार करते हैं। आगे क्षत-क्षय में नागबला के मूल के ग्रहण का उल्लेख च० चि० अ० ११ में तथा सु० उ० तं० अ० ४१ में हुआ है। सुश्रुत ने राजयक्ष्मा रोग में दूध के साथ नागबला का प्रयोग करने की आज्ञा दी है। देखें—सु० उ० तं० अ० ४१।५७।

१. 'गङ्गाधरस्तु 'चले मुहूर्ते' इति पठित्वा 'चलवति सुमुहूर्ते इति' व्याख्यानयति।
२. 'पयसा ससर्पिष्कम्' इति।

'शीर्णपुराणपर्णान्यसञ्जातान्यपर्णानि'—अर्थात् जब पुराने पत्ते झड़ गये हों और नये पत्ते अभी न आये हों, ऐसे समय में नागबला मूलों का ग्रहण करना चाहिए। इस संकेत से यह स्पष्ट है कि इनका संग्रह शिशिर ऋतु के अन्त या बसन्त ऋतु के पूर्व ही कर लेना चाहिए।

धन्वनि—'समानौ मरुधन्वानौ'। अमरकोष कां० २ वर्ग १।५। 'जाङ्गलोऽल्पाम्बुशाखी च पित्तासृङ्मारुतोत्तरः'। शा० सं० प्र० खं० ६४। जिस देश में जल एवं वृक्ष थोड़े हों और पित्त, रक्त एवं वायु विकार अधिक होते हों, उसको जांगल, धन्वन या मरुदेश कहते हैं।

चले सुमुहूर्ते—आचार्य गंगाधर ने इसके स्थान पर 'चले मुहूर्ते' पाठ बदल दिया है और तदनुरूप अर्थ भी लिख दिया है। हम तो यथाशक्ति 'आर्षाणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' के पक्षपाती हैं। अतः तदनुरूप अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं। 'चले सुमुहूर्ते' अर्थात् 'चलसञ्ज्ञके शोभने च मुहूर्ते' ऐसा अर्थ होना चाहिए। इसकी सार्थकता के लिए निम्न विवेचन देखें—'स्वात्यादित्ये श्रुते त्रीणि चन्द्रश्चापि चरं चलम्'। मु० चि० न० प्र० ३। स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा और चन्द्रवार—ये चर एवं **चल** संज्ञक हैं। आगे पढ़ें—'भैषज्यं सत् लघुमृदुचरे (चले)'। मु० चि० न० प्र० १५। अर्थात् इन नक्षत्रों में भैषज्य का निर्माण शुभ होता है। चर या चल संज्ञक नक्षत्रों में जो कार्य किये जाते हैं, वे ही लघुसंज्ञक नक्षत्रों में विहित होते हैं। इनमें—'पण्यभूषणकलारतौषधज्ञानशिल्पगमनेषु सिद्धिदम्'। ज्योतिषसार। दूकान खोलना, भूषणधारण, क्रीड़ा, औषध-निर्माण आदि कार्य शुभ होते हैं।

आम्रमात्रम्, अक्षमात्रम्—ये दोनों शब्द आयुर्वेदिक साहित्य में परिमाणवाचक हैं। यथा—'शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका'। शा० सं० प्र० खं० २४। दो शुक्ति का एक पल होता है। इसी को मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका आदि कहते हैं। और भी—'कोलद्वयं च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिका। अक्षं पिचुः पाणितलम्'। शा० सं० प्र० खं० २२। अर्थात् १ आम्र (४ तोला), १ अक्ष (१ तोला)।

बलातिबलाचन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनस्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो [1]दश नागबलया व्याख्याताः। स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः—चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत् प्रयोज्यम् ॥ १२ ॥

बलादि रसायन—बला (बरियारा या खिरैटी), अतिबला (ककही), चन्दन, अगुरु, धव, तिनिश (तिरिच्छ या सन्दन), खदिर (खैर), शीशम, असन (विजयसार)—इनके स्वरस और पुनर्नवा पर्यन्त दस औषधद्रव्यों (अमृता, अभया, धात्री, मुक्ता, श्वेता, जीवन्ती, अतिरसा, मण्डूकपर्णी, स्थिरा, पुनर्नवा देखें—च० सू० अ० ४।१८) का नागबला से व्याख्यान कर दिया है। अर्थात् इन दस द्रव्यों का स्वरस नागबला की भाँति ही लें।

स्वरसों की प्राप्ति यदि न हो सके तो स्वरस-निर्माण की यह विधि है—उक्त औषध द्रव्यों का चूर्ण १ आढक जल में भिगाकर एक अहोरात्र (२४ घण्टे तक) रख दें। दूसरे दिन हाथ से मसलकर और छानकर प्राप्त रस का स्वरस की भाँति ही प्रयोग करें।

वक्तव्य—बला-चतुष्टय में नागबला का स्वतन्त्र प्रयोग और बला, अतिबला का सम्मिलित प्रयोग महर्षि आत्रेय ने निर्दिष्ट कर केवल महाबला को बिरादरी से अलग कर दिया है। पुनर्नवान्त दस औषधद्रव्यों का सूत्रस्थान के 'वयःस्थापक वर्ग' में परिगणन किया गया है।

तिनिश—इसका पर्याय कुछ टीकाकारों ने 'तेंदू' तथा कुछ ने 'आबनूस' किया है। किन्तु 'तिनिश' सालसारादि गण तथा शिम्बीकुल (Leguminosae) का द्रव्य है। इसको संस्कृत में—स्यन्दन तथा रथद्रु कहते हैं। यह रसायन है। इसके प्रयोज्य अंग—काण्डसार तथा त्वक् है। जिसको तेंदू या आबनूस कहते हैं, वह है **'तिन्दुक'**। देखें—द्रव्यगुण-विज्ञान पृ० १९०। चरक के 'उदर्दप्रशमन' गण में और सुश्रुत के 'न्यग्रोधादि' गण में इसका पाठ है।

स्वरस—गीले तथा ताजे गिलोय, तुलसी आदि द्रव्यों को पीसकर जो रस निकाला जाता है, उसे स्वरस (स्व=अपना, रस=स्वरस) कहते हैं। दूसरा प्रकार—एक कुडव (४ पल=१६ तोले) भर द्रव्य को

१. 'दश या वयःस्थापना व्याख्यातास्तासां स्वरसा नागबलावत्' इति पा०।

कूटकर दुगुने जल में डालकर २४ घण्टे तक रखने के बाद कपड़े से छानकर जो रस लिया जाता है, उसे भी स्वरस कहते हैं। तीसरा प्रकार—सूखे द्रव्य को कूटकर आठगुने जल में डालकर पकायें, जब चौथाई जल शेष रह जाये, तब उसे छानकर रख लें।

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्, तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः। पूर्वं दशभल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य। तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दशभल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः। प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः। जीर्णे च सर्सर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः। तत्प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १३ ॥

(इति भल्लातकक्षीरम्।)

भल्लातक क्षीर—जो भिलावे किसी प्रकार से उपहत (चोट लगे हुए) न हों, किसी प्रकार के रोग से युक्त न हों, अर्थात् जो सड़े, गले, कीड़ा आदि से खाये गये न हों, जो रस, प्रमाण और वीर्य से पूर्ण हों, जो पके हुए जामुन के सदृश काले वर्ण के हों, ज्येष्ठ या आषाढ़ महीने में उन सर्वगुणसम्पन्न भिलावों का संग्रह करके यवपल्ल (A large granary of barley–जौ के ढेर) में अथवा माषपल्ल (A large granary of bean–उड़द के ढेर) में रखवा दे। चार मास तक रखे हुए उनको सहसि (अगहन) या सहस्ये (पूस) मास में (उन भिलावों को जौ या माष= उड़द के ढेर में से निकालकर) शीतल, स्निग्ध तथा मधुर आहार आदि से शरीर का संस्कार करके, अर्थात् मधुर पदार्थों का भोजन कर के शीतल पेयों को पीकर स्निग्ध द्रव्य (घी) से मुख के भीतरी अवयवों को चुपड़ कर उनका प्रयोग करें।

सर्वप्रथम दस भिलावों को कुचलकर उन्हें आठ गुने जल में डालकर भलीभाँति पकायें। उनके अष्टमांश शेष रसको कपड़े से छानकर उसमें दूध मिला लें और मुख के भीतर घी लगाकर उसे पीयें। तदनन्तर प्रतिदिन एक-एक भिलावा बढ़ाते रहें, जब तक कि इनकी संख्या ३० न हो जाये। इससे अधिक इनको बढ़ाया नहीं जा सकता। उसके बाद एक-एक भिलावा घटाते हुए इनका प्रयोग करें। इस (ऊपर कहे गये) विधान के अनुसार एक हजार भिलावों का प्रयोग ही उत्तम है। अतः इससे अधिक भिलावों का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

प्रतिदिन जब भिलावों की मात्रा पच जाये तब घी तथा दूध के साथ शालि के चावलों अथवा साठी के चावलों का भात खाना चाहिए—यही इसकी परिचर्या है। उक्त प्रयोग पूरा हो जाने पर भी प्रयोग-काल में जितना समय लगा हो, उसके दूने समय तक भोजन के साथ दूध का उपयोग कराना चाहिए। इसका विधिवत् प्रयोग करने से रसायन-सेवन करने वाला पुरुष यौवन के लक्षणों से युक्त होकर सौ वर्षों तक जीवित रहता है। शेष सभी फलश्रुति पहले वर्णित रसायनों की भाँति ही समझनी चाहिए।

वक्तव्य—भिलावा उष्णवीर्य होता है। सर्वप्रथम इसका शोधन करना चाहिए। शोधन-विधि—इसका वृन्तमुख काटकर एक सप्ताह तक ईंट के चूर्ण में रखें, फिर इसे जल से खूब धोकर सुखा लें, तदनन्तर यवपल्ल आदि में रखें। पित्त प्रकृतिवाले पुरुषों को इसका सेवन न करायें और गर्मियों में भी इसका सेवन निषिद्ध है।

यवपल्ल या माषपल्ल—श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा अनूदित चरकसंहिता में 'यवपल्ल' के स्थान पर 'पल्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही स्थिति 'माषपल्ल' की भी है, जब कि 'पल्व' का कोई प्रसंगोचित अर्थ यहाँ प्रतीत नहीं होता। विद्वान् विचार करें। 'पल्ल' का अर्थ तो स्पष्ट है।

चतुर्मासस्थितानि—'शुचौ शुक्रे वा मासे' यह पूर्व अवधि है और 'सहसि सहस्ये वा मासे' उत्तर अवधि है। इसके बीच में चार मास से भी अधिक समय होता है। आप भी गिनकर देख लें। हमारे विचार से संग्रह का समय ठीक है। अतः संग्रह के समय यवराशि या माषराशि में भिलावों को रखकर ठीक चार महीने तक रखे हुए उन भिलावों को चार मास समाप्त होते ही निकाल कर रख लें। तदनन्तर अगहन या पूस के महीने में प्रयोग आरम्भ करें।

सहस्रपरः—किसी संस्करण में इसके स्थान पर 'असहस्रपरः' पाठ का संकेत प्राप्त होता है। किन्तु वह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सभी संहिताकारों ने १००० भिलावों के सेवन के विधान को ही महत्त्व दिया है। यहाँ कतिपय मतमतान्तरों से युक्त 'भल्लातकक्षीर' प्रयोग की तालिकाएँ दी जा रही हैं। विशेष देखें—सु० चि० अ० ६ तथा अ० हृ० उ० अ० ३९।

(१) चक्रपाणि-सम्मत तालिका

उत्कर्षक्रम				अपकर्षक्रम				उत्कर्ष-अपकर्ष क्रम	
क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे
१ ले दिन	१०	१२ वें दिन	२१	२२ वें दिन	२९	३२ वें दिन	१९	४२ वें दिन	११
२ रे ,,	११	१३ वें ,,	२२	२३ वें ,,	२८	३३ वें ,,	१८	४३ वें ,,	१२
३ रे ,,	१२	१४ वें ,,	२३	२४ वें ,,	२७	३४ वें ,,	१७	४४ वें ,,	१३
४ थे ,,	१३	१५ वें ,,	२४	२५ वें ,,	२६	३५ वें ,,	१६	४५ वें ,,	१४
५ वें ,,	१४	१६ वें ,,	२५	२६ वें ,,	२५	३६ वें ,,	१५	४६ वें ,,	१५
६ ठे ,,	१५	१७ वें ,,	२६	२७ वें ,,	२४	३७ वें ,,	१४	४७ वें ,,	१६
७ वें ,,	१६	१८ वें ,,	२७	२८ वें ,,	२३	३८ वें ,,	१३	४८ वें ,,	१७
८ वें ,,	१७	१९ वें ,,	२८	२९ वें ,,	२२	३९ वें ,,	१२	४९ वें ,,	१६
९ वें ,,	१८	२० वें ,,	२९	३० वें ,,	२१	४० वें ,,	११	५० वें ,,	१५
१० वें ,,	१९	२१ वें ,,	३०	३१ वें ,,	२०	४१ वें ,,	१०	५१ वें ,,	१४
११ वें ,,	२०	योग—	२५५	योग—	२४५	योग—	१४५	५२ वें ,,	१३
योग—	१६५							५३ वें ,,	१२
								५४ वें ,,	११
								५५ वें ,,	११
						कुल योग	१०००	योग—	१९०

विशेष—भल्लातकक्षीर के प्रयोग का यह चक्रपाणि-सम्मत क्रम समीचीन प्रतीत होता है।

(२) गङ्गाधर-सम्मत तालिका

उत्कर्षक्रम				अपकर्षक्रम			
क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे
१ ले दिन	१०	१३ वें दिन	२२	२५ वें दिन	३०	३७ वें दिन	२०
२ रे ,,	११	१४ वें ,,	२३	२६ वें ,,	३०	३८ वें ,,	१९
३ रे ,,	१२	१५ वें ,,	२४	२७ वें ,,	३०	३९ वें ,,	१८
४ थे ,,	१३	१६ वें ,,	२५	२८ वें ,, अप०क्रम	२९	४० वें ,,	१७
५ वें ,,	१५	१७ वें ,,	२६	२९ वें ,,	२८	४१ वें ,,	१६
६ ठे ,,	१४	१८ वें ,,	२७	३० वें ,,	२७	४२ वें ,,	१५
७ वें ,,	१६	१९ वें ,,	२८	३१ वें ,,	२६	४३ वें ,,	१४
८ वें ,,	१७	२० वें ,,	२९	३२ वें ,,	२५	४४ वें ,,	१३
९ वें ,,	१८	२१ वें ,,	३०	३३ वें ,,	२४	४५ वें ,,	१२
१० वें ,,	१९	२२ वें ,, समक्रम	३०	३४ वें ,,	२३	४६ वें ,,	११
११ वें ,,	२०	२३ वें ,,	३०	३५ वें ,,	२२	४७ वें ,,	१०
१२ वें ,,	२१	२४ वें ,,	३०	३६ वें ,,	२१	४८ वें ,,	१०
योग—	१८६	योग—	३२४	योग—	३१५	योग—	१७५

कुल योग १०००

विशेष—यद्यपि गंगाधर द्वारा निर्दिष्ट क्रम से उक्त कल्प कम समय में पूरा किया जा सकता है, किन्तु इसमें ३० भिलावों को ७ दिनों तक सेवन करने का जो निर्देश दिया है वह प्रयोग की दृष्टि से कष्टकारक है, इसमें उत्कर्ष तथा अपकर्ष क्रम भी भंग होता है, जो तन्त्रकार को अभीष्ट नहीं है।

(३) सुश्रुत-सम्मत तालिका

उत्कर्षक्रम				अपकर्षक्रम			
क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे
१ ले दिन	१	१० वें दिन	३०	१९ वें दिन	६५	२८ वें दिन	२०
२ रे ,,	२	११ वें ,,	३५	२० वें ,,	६०	२९ वें ,,	१५
३ रे ,,	३	१२ वें ,,	४०	२१ वें ,,	५५	३० वें ,,	१०
४ थे ,,	४	१३ वें ,,	४५	२२ वें ,,	५०	३१ वें ,,	५
५ वें ,,	५	१४ वें ,,	५०	२३ वें ,,	४५	३२ वें ,,	४
६ ठे ,,	१०	१५ वें ,,	५५	२४ वें ,,	४०	३३ वें ,,	३
७ वें ,,	१५	१६ वें ,,	६०	२५ वें ,,	३५	३४ वें ,,	२
८ वें ,,	२०	१७ वें ,,	६५	२६ वें ,,	३०	३५ वें ,,	१
९ वें ,,	२५	१८ वें ,,	७०	२७ वें ,,	२५	योग—	६०
योग—	८५	योग—	४५०	योग—	४०५	कुल योग	१०००

विशेष—सुश्रुत में आरम्भ करने की विधि तो रुचिकर है, किन्तु जहाँ महर्षि आत्रेय ने तीस भिलावों की मात्रा को सबसे बड़ी मात्रा माना है, वहाँ तीस के दूने से भी अधिक (७०) मात्रा में भिलावों का सेवन सामान्य स्थिति में भयावह प्रतीत होता है, सात्म्य हो जाने पर तो सब कुछ ठीक है। यहाँ उत्कर्ष क्रम तथा अपकर्ष-क्रम के भिलावों की संख्या को जोड़ देने पर १००० भिलावे हो जाते हैं। यहाँ १ से ५ तक सामान्य-क्रम फिर बाद ५-५ भिलावों की वृद्धि ७० तक, फिर ५-५ के क्रमसे ह्रास, अन्तमें पुनः ५ से १ तकका क्रम पूर्ववत् है।

(४) वाग्भट-सम्मत तालिका

उत्कर्षक्रम				अपकर्षक्रम			
क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे	क्रम सं०	भिलावे
१ ले दिन	८	१४ वें दिन	२१	२६ वें दिन	३७	३८ वें दिन	१९
२ रे ,,	९	१५ वें ,,	२२	२७ वें ,,	३४	३९ वें ,,	१८
३ रे ,,	१०	१६ वें ,,	२३	२८ वें ,,	३१	४० वें ,,	१७
४ थे ,,	११	१७ वें ,,	२४	२९ वें ,,	२८	४१ वें ,,	१६
५ वें ,,	१२	१८ वें ,,	२५	३० वें ,,	२७	४२ वें ,,	१५
६ ठे ,,	१३	१९ वें ,,	२६	३१ वें ,,	२६	४३ वें ,,	१४
७ वें ,,	१४	२० वें ,,	२७	३२ वें ,,	२५	४४ वें ,,	१३
८ वें ,,	१५	२१ वें ,,	२८	३३ वें ,,	२४	४५ वें ,,	१२
९ वें ,,	१६	२२ वें ,,	३१	३४ वें ,,	२३	४६ वें ,,	११
१० वें ,,	१७	२३ वें ,,	३४	३५ वें ,,	२२	४७ वें ,,	१०
११ वें ,,	१८	२४ वें ,,	३७	३६ वें ,,	२१	४८ वें ,,	९
१२ वें ,,	१९	२५ वें ,,	४०	३७ वें ,,	२०	४९ वें ,,	८
१३ वें ,,	२०	योग—	३३८	योग—	३१८	योग—	१६२
योग—	१८२					कुल योग	१०००

विशेष—अष्टाङ्गहृदयकार के मत से ८ भिलावों से आरम्भ कर २१ दिनों तक १-१ भिलावा बढ़ाया जाता है। २२वें दिन से ३-३ के क्रम से २५वें दिन तक वृद्धि की जाती है। इसके बाद प्रतिदिन ३-३ भिलावा २९वें दिन तक घटाया जाता है। ३०वें दिन से ४९वें दिन तक फिर १-१ घटाने का क्रम निर्दिष्ट है। तीस भिलावों से आगे का इनका भी क्रम रुचिकर प्रतीत नहीं होता। जब कि आज के युग के पुरुषों की शारीरिक सहन-शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास ही दिखलायी दे रहा है। इस स्थिति में उग्रवीर्य द्रव्यों का इतनी मात्रा में सेवन लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँचायेगा। अतः मात्रा के निर्धारण में निश्चित रूप से संशोधन की परम आवश्यकता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार का क्रम प्रायः आत्रेय सम्मत ही है।

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्यारोप्योडुपेनापिधाय कृष्णमृत्तिकावलिप्तं गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्; तेषां यः स्वरसः कुम्भं प्रपद्येत, तमष्टभागमधुसम्प्रयुक्तं द्विगुणघृतमद्यात्; तत्प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १४ ॥

(इति भल्लातकक्षौद्रम् ।)

भल्लातक क्षौद्र—रस-वीर्य से सम्पन्न तथा विकार रहित भिलावों के छोटे-छोटे टुकड़े करके पिष्टस्वेदन पात्र (एक घड़ा जिसके पेंदे में अनेक छिद्र बने हों) में उनको डालकर रख दें। तदनन्तर भूमि में एक गड्ढा खोदकर उसमें घृतभावित (भीतर से घी चुपड़ा हुआ) एक घड़ा गले तक गाड़ कर रखें। उसके मुख पर छिद्रयुक्त वह घड़ा रखें, जिसमें भिलावे के टुकड़े भर रखे थे। इसका मुख भली भाँति ढक्कन लगाकर बन्द कर दें और दोनों घड़ों की सन्धि को भी काली मिट्टी से लीपकर बन्द कर दें (ध्यान रहे, ऊपर के घड़े की पेंदी का छिद्र युक्त भाग पूर्णरूप से नीचे के घड़े के मुख के भीतर आ जाये), जिससे कहीं से भाप बाहर न जा सके। अब ऊपर वाले घड़े के ऊपर कण्डों को रखकर उन्हें जलाकर भिलावों का स्वेदन करें। उनका जो स्वरस (तेल) नीचे वाले घड़े में आ जाये और उसका जो परिमाण हो उससे आठ गुना मधु एवं तेल और उससे दूना गाय का घी मिलाकर सेवन करें। इसका प्रयोग करने से मनुष्य सौ वर्ष तक वृद्धावस्था के लक्षणों से रहित होकर जीवित रहता है। इसके अन्य गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान ही हैं।

वक्तव्य—यद्यपि द्वितीय ब्राह्मरसायन में भी पिष्टस्वेदन-विधि की चर्चा आयी है, किन्तु वहाँ छिद्ररहित घड़े का प्रयोग हुआ है और यहाँ छिद्रयुक्त घड़े का। अतएव चक्रपाणि ने लिखा है कि 'पिष्टस्वेदनं तत्, यत्रस्थं पिष्टकमुपस्वेद्यते, तदुपरि यत् पिधानपात्रं तच्चेह सच्छिद्रं ग्राह्यम्'। अर्थ स्पष्ट है। यहाँ पिष्टस्वेदन यन्त्र का निर्माण इस प्रकार होता है—एक सुपुष्ट घड़ा लेकर उसकी पेंदी में छोटे-छोटे अनेक छेद कर दिये जाते हैं, जो दूसरे घड़े के मुख से भली भाँति ढाँके जा सकें। ऊपर के घड़े में औषध-द्रव्य डाल दिया जाता है तथा नीचे के घड़े में उसका तेल चूकर एकत्र होता है। इसे 'पातालयन्त्र' कहते हैं। यद्यपि यहाँ शहद आठ गुना लेना है, तथापि इसका नाम 'भल्लातकक्षौद्र' है। किन्तु अष्टाङ्गहृदय में इसे भल्लातक स्वरस ही कहा गया है। कुछ लोग इसे 'भल्लातक तैल' भी कहते हैं, परन्तु है यह 'स्वरस' ही। इस रस में अत्यन्त दुर्गन्ध होती है। अतः पीने में असह्य मानसिक कष्ट होता है। ध्यान दें—इसमें 'मधु-अष्टमभागिक' लिखा है, किन्तु 'चरकसंहिता' का पाठ इसके विपरीत है।

कितने भिलावों की संख्या लेनी चाहिए, ऊपर इसका निर्देश नहीं किया गया है और न उससे प्राप्त स्वरस (तेल) का कितनी मात्रा में सेवन करना चाहिए, इसका ही कोई उल्लेख है। हमारे विचार से यहाँ १००० भिलावों का ग्रहण करना चाहिए। तैल की कितनी मात्रा का सेवन करना चाहिए, इसका निर्धारण उत्कर्ष-अपकर्ष क्रम से (जो क्रम भल्लातकक्षीर के सेवन का है, तदनुसार) करें, अर्थात् १० भिलावे का जितना तेल निकलना सम्भव हो, तदनुसार पहले दिन की मात्रा समझें। यह निष्कर्ष **'समानं पूर्वेण'** से निकाल लेना चाहिए।

अष्टभागमधुसम्प्रयुक्तम्—इसका अर्थ आठवाँ भाग न होकर तेल से आठगुना लेना चाहिए। ध्यान दें—'अष्टौ भागाः, यस्य तत् अष्टभागं मधु तेन सम्प्रयुक्तम्, इति—'अष्टभागमधुसम्प्रयुक्तम्'। जहाँ आठवाँ भाग लेना अभीष्ट होता है, वहाँ **'अष्टमांशावशेषितम्'** इस प्रकार की पदावली प्रयुक्त होती है। इसका दूसरा समाधान यह है—चूँकि इस योग का नाम 'भल्लातकक्षौद्रम्' है; अतः क्षौद्र=शहद की मात्रा को अधिक लेना यहाँ स्वतःसिद्ध है।

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यादिति समानं पूर्वेण ॥१५॥

(इति भल्लातकतैलम् ।)

भल्लातक तैल—ऊपर 'भल्लातकक्षौद्र' में वर्णित तेल निकालने की विधि से निकाला गया भिलावे का तेल १ पात्र (१ आढक), गायका दूध ४ आढक तथा मुलेठी का कल्क १ कर्ष डालकर तैल पाक विधि से उक्त तेल को १०० बार पकायें। इसका सेवन करने से वे सभी लाभ प्राप्त होते हैं, जो पूर्वोक्त रसायनों के सेवन से प्राप्त होते हैं। मात्रा का निर्धारण अग्निबल के अनुसार चिकित्सक स्वयं करें।

वक्तव्य—'भल्लातकतैलपात्रम्' में 'पात्र' शब्द का अर्थ '१ आढक' किया गया है, जो प्रसंगानुसार उचित ही है। किन्तु शार्ङ्गधरोक्त 'मानपरिभाषा' के अनुसार 'आढक' का पर्यायवाची शब्द **'कंसपात्र'** है। देखें—'चतुः प्रस्थैस्तथाऽऽढकम्। भाजनं कंसपात्रं च चतुष्षष्टिपलं च तत्' ॥ शा० सं० पू० खं० २७।

स्नेहपाक-विधि—जहाँ दूसरे द्रव (जल आदि) का उल्लेख न किया गया हो, वहाँ दूध को ही चौगुना लिया जाता है। जहाँ दूसरे द्रव को डालने का विधान हो, वहाँ स्नेह के समान ही दूध डाला जाता है। इसी के अनुसार यहाँ दूध को तेल से चौगुना लिया गया है।

[1]भल्लातकसर्पिः, भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं, गुडभल्लातकं, भल्लातकयूषः, भल्लातकतैलं, भल्लातकपललं, भल्लातकसक्तवः, भल्लातकलवणं, भल्लातकतर्पणम्, इति भल्लातकविधानमुक्तं भवति ॥ १६ ॥

भल्लातक के अन्य योग—भल्लातकसर्पि, भल्लातकक्षीर, भल्लातकक्षौद्र, गुडभल्लातक, भल्लातकयूष, भल्लातकतैल, भल्लातकपलल, भल्लातकसक्तु, भल्लातकलवण तथा भल्लातकतर्पण—इस प्रकार भिलावों के सेवन करने का विधान कह दिया गया है। अर्थात् इन दस विधियों द्वारा भिलावों का सेवन किया जाता है, जिनमें रासायनिक गुण होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ भिलावे के कुछ पूर्ववर्णित तथा कुछ ऐसे अभिनव योगों का उल्लेख किया गया है, जिनका वर्णन चरकसंहिता में नहीं हुआ है। हमें तो ऐसा लगता है कि 'सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र' की भाँति अन्य सम्बन्धित शास्त्रों या संहिताओं में तन्त्रकार ने उक्त योगों के अनुवर्तन का संकेत किया है। यह महर्षि अग्निवेशकृत तन्त्र का चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत स्वरूप है। हो सकता है उसमें इन योगों की सत्ता रही हो, जैसा कि हमें अग्निवेश के समकालिक जतूकर्ण की संहिता में सूत्ररूप में उक्त योगों का उल्लेख मिलता है—'भल्लातकसंस्कृतानि चघृतक्षीरक्षौद्रगुडयूषतैलपललसंयुक्तलवणतर्पणानि'—जतूकर्ण-संहिता। यहाँ पर तो आचार्य ने भल्लातक के दस योगों का निर्देश किया है। किन्तु योगों की विविध कल्पना का पूर्ण अधिकार चिकित्सक को भी प्राप्त है।

पाठभेद—चरकसंहिता की निर्णयसागरीय प्रति में **'भल्लातकसर्पिः, भल्लातकक्षीरं, भल्लातकक्षौद्रम्'**—इस प्रकार का पाठ दिया गया है, जब कि प्रस्तुत चरकसंहिता में दिये गये उक्त योगों का क्रम इसके विपरीत है। श्रीजयदेवविद्यालंकार द्वारा अनूदित चरकसंहिता में योगों के क्रमानुसार मूलपाठ दिया गया है—**'भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं भल्लातकतैलमेवं'**। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मुद्रक तथा सम्पादक का प्रमादमात्र है। क्योंकि आगे **'भल्लातकपलल'** के स्थान पर इस प्रति में पुनः **'भल्लातकतैल'** छप गया है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर १. भल्लातकक्षीर, २. भल्लातकक्षौद्र और ३. भल्लातकतैल का वर्णन इसी अध्याय में किया गया है। शेष सात योगों का परिचय यहाँ प्रस्तुत है। ४. गुडभल्लातक—जब भिलावों का प्रयोग गुड़ के साथ किया जायेगा, तब इसकी उक्त संज्ञा होगी। भल्लातकक्षौद्र के समान ही इसका निर्माण होगा। केवल शहद के स्थान पर उसी मात्रा में इसमें गुड़ डाला जाता है। ५. भल्लातकयूष—इसका निर्माण भल्लातकक्षीर के समान ही किया जाता है। इसमें दूध के स्थान पर यूष का प्रयोग होता है। ६. भल्लातकतैल—उपर्युक्त भल्लातकसर्पि की भाँति ही इसको बनाया जाता है। केवल घी के स्थान पर इसमें उतनी ही मात्रा में काले तिलों का तेल डाला जाता है। ७. भल्लातकपलल—इसमें भिलावों के साथ पलल (तिलकल्क) का योग होता है। ८. भल्लातकसक्तु—जौ के सत्तु के साथ भिलावों का प्रयोग करके उक्त योग का निर्माण किया जाता है। ९. भल्लातकलवण—इसमें भिलावा और नमक को एक मिट्टी के पात्र में रखकर कपड़मिट्टी करके अन्तर्धूम-विधि से जलाकर शीतल हो जाने पर उसको निकालकर रख लिया जाता है। १०. भल्लातकतर्पण—भिलावों के साथ लावा (खील) के सत्तुओं का इसमें प्रयोग किया जाता है।

चरकोक्त च्यवनप्राश की भाँति वृद्धवाग्भट ने भल्लातकप्राश का भी वर्णन किया है। दक्षिणभारत में

१. 'योगीन्द्रनाथसेनस्तु 'एवं गुडभल्लातकं, भल्लातकयूषो,भल्लातकसर्पिः भल्लातकपललम्' इत्यादिपाठं पठति।

आज भी इसका प्रचलन है। साथ ही आमलक, दधिसर से भी भिलावों के प्रयोग का विधान किया गया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४९।

भवन्ति चात्र—

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च। भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥

भिलावे के गुण—यहाँ भल्लातक परिचयात्मक कुछ पद्य दिये गये हैं—भिलावे अग्नि के समान तीक्ष्ण (शीघ्र) पाक उत्पन्न करने वाले होते है और यथाविधि प्रयोग करने पर अमृतकल्प होते हैं।

वक्तव्य—भिलावे के गुण-धर्मों का विस्तृत विवेचन निघण्टुओं में द्रष्टव्य है। यहाँ उसके उग्र एवं सौम्य रूप के मात्र दो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। यह परम उष्णवीर्य होता है। यदि इसके वृक्ष के नीचे रात्रि में कोई सो जाये तो प्रातःकाल उसके सम्पूर्ण शरीर पर फुन्सियाँ निकली हुई दिखलायी देंगी। इसके फल में दो भाग होते हैं—१. कृष्णवर्ण वाला भाग अविधि सेवन करने पर विष है और २. नारंगी के समान वर्ण वाला दूसरा भाग अमृत या अमृतोपम होता है। पक जाने पर इसको ग्वाल-बाल प्रेम से खाते हैं। अशुद्ध भिलावों का प्रयोग कभी न करें!

अमृतकल्पानि—इसका अर्थ है कि भिलावे अमृत के गुणों से कुछ ही कम गुणों वाले होते हैं। पाणिनीय व्याकरण में कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्ययों का प्रयोग 'ईशत् असमाप्ति' अर्थ में होता है।

सावधान—अशुद्ध भिलावों का सेवन करने से सबसे पहले गुद-प्रदेश तथा मूत्रेन्द्रिय के अगले भाग में खुजली होने लगती है। साथ ही जलन होती है और पसीना आने लगता है। बार-बार प्यास लगती है और मूत्र की मात्रा कम होकर उसका रंग धूम्रवर्ण तथा लालवर्ण का हो जाता है। त्वचा में खुजली तथा शोथ भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में तिलतैल, नारियल का तैल, घी आदि लगाना एवं पिलाना चाहिए। इनके प्रयोग से दो-तीन दिन में उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः। रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान्प्रयोगान् प्रकल्पयेत् ॥१८॥

भल्लातक के प्रयोग—भिलावों के जिन दस प्रकार के प्रयोगों का वर्णन किया गया है, उन सभी (या अन्यत्र वर्णित योगों) का प्रयोग रोग-निवारण हेतु रोगी की प्रकृति और सात्म्य आदि को जानने वाला चिकित्सक ही करे।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने यहाँ दस प्रकार के भिलावों के प्रयोगों के सम्बन्ध में निर्देश किया है कि रोगप्रकृतिसात्मज्ञ चिकित्सक ही इनका प्रयोग कराये। इस संकेत से भिलावे के संयोग से बने हुए अन्य 'अमृत-भल्लातक' आदि योगों के सेवन करते या कराते समय भी इस निर्देश को स्मरण रखना चाहिए।

कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम् ॥ १९ ॥ (इति भल्लातकविधिः)

कफजरोगनाशक भिलावा—कोई भी कफदोषजनित रोग ऐसा नहीं है और न कोई विबन्ध (स्रोतों की रुकावट तथा वातादि दोषों की विपरीतता) ही ऐसा है, जिसको भल्लातक का विधिवत् सेवन शीघ्र नष्ट नहीं कर दे और यह शीघ्र ही मेधा (धारणाशक्ति) ही जाठराग्नि को बढ़ाता है।

वक्तव्य—भल्लातक का कोई भी योग हो, उसके सेवन-काल में निम्नोक्त आहार-विहारों का परित्याग करना चाहिए—'कुलत्थदधिशुक्तानि तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४९।

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः। रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः ॥२०॥
[1]ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्मध्यानमेव च। दीर्घायुषो यथाकामं सम्भृत्य त्रिदिवं गताः ॥२१॥
तस्मादायुःप्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः। रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः ॥२२॥

भल्लातक-सेवन यथाविधि करें—प्राचीनकाल में दीर्घायु की कामना करने वाले वृद्ध च्यवन आदि महर्षियों ने कल्याण-कारक इन (पूर्वोक्त) रसायनों द्वारा अपरिमित (निःसीम) आयु को प्राप्त किया। दीर्घ आयु प्राप्त करने के बाद वे अपनी इच्छा के अनुसार परब्रह्म की प्राप्ति सम्बन्धी तप, ब्रह्मचर्य, अध्यात्मचिन्तन करते हुए देवलोक को गये। इसलिये सुख चाहने वाले तथा दीर्घ आयु की कामना करने वाले पुरुषों को आयु की वृद्धि करने के लिए विधिपूर्वक रसायन-प्रकार-भेदों का सेवन करना चाहिए।

१.'ज्ञानम्' इति पा०।

वक्तव्य—उक्त तीन पद्यों में रसायनों के यथाविधि सेवन का निर्देश, प्रागैतिहासिक काल में रसायन-सेवन का माहात्म्य तथा रसायन-सेवन से प्राप्त शक्ति, अवस्थावृद्धि के सदुपयोग का दिग्दर्शन कराया गया है, अर्थात् रसायन-सेवन से प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए, न कि 'शक्तिः परेषां परपीडनाय', दूसरों को कष्ट देने के लिए हो।

तत्र श्लोकः—

रसायनानां संयोगाः सिद्धा भूतहितैषिणा। निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा[१] ॥२३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः ॥ २ ॥

उपसंहार—इस सम्बन्ध में श्लोक है, जिसमें सभी प्राणियों का हित चाहने वाले महर्षि आत्रेय ने 'प्राणकामीय' नामक इस रसायनाध्याय में विविध रसायनों के ३७ संयोगों का निर्देश किया है।

वक्तव्य—इस रसायन विषयक द्वितीय पाद में ३७ रसायनों का निर्देश किया गया है। यथा—१. शतपाक आमलक घृत, २. सहस्रपाक आमलक घृत, ३. आमलकावलेह, ४. आमलक चूर्ण, ५. विडङ्गावलेह, ६. आमलकावलेह अपर, ७. नागबलारसायन, ८. बलारसायन, ९. अतिबलारसायन, १०. चन्दनरसायन, ११. अगुरुरसायन, १२. धवरसायन, १३. तिनिशरसायन, १४. खदिररसायन, १५. शिंशपारसायन, १६. असन-रसायन, १७. अमृतारसायन, १८. अभयारसायन, १९. धात्रीरसायन, २०. मुक्तारसायन, २१. श्वेतारसायन, २२. जीवन्तीरसायन, २३. अतिरसारसायन, २४. मण्डूकपर्णीरसायन, २५. स्थिरारसायन, २६. पुनर्नवारसायन, २७. भल्लातकक्षीर, २८. भल्लातकक्षौद्र, २९. भल्लातकतैल, ३०. गुडभल्लातक, ३१. भल्लातकयूष, ३२. भल्लातक-सर्पि, ३३. भल्लातकपलल, ३४. भल्लातकसक्तु, ३५. भल्लातकलवण, ३६. भल्लातकतर्पण।

ऐसा लगता है कि पूर्ववर्ती टीकाकारों ने **'सप्तत्रिंशन्महर्षिणा'** पाठ को प्रामाणिक मानकर बहुत कुछ लिख डाला है। वास्तव में किसी ने भी उक्त योगों की गणना नहीं की। इस सम्बन्ध में उक्त २३वें पद्य की टिप्पणी में **चक्रपाणि लिखते हैं**–'बलादिभिरष्टाभिः पुनर्नवान्तैश्च दशभिरष्टादशप्रयोगाः, अपरे तु व्याहता व्यक्ता एव'। ध्यान दें—बला आदि ८ नहीं ९ हैं और पुनर्नवान्त योग १० हैं। अतः १९ योग तो ये हुए, दूसरे जो कहे गये हैं, वे स्पष्ट हैं। उनकी संख्या आमलकघृत से नागबलारसायन तक ७ हैं। इस प्रकार यहाँ तक का योग २६ होता है। भल्लातकक्षीर से भल्लातकतर्पण तक कुल संख्या १० होती है। इस प्रकार कुल योगों की संख्या ३६ होती है।

श्रीजयदेवविद्यालंकार का कथन है—आमलकघृत से नागबलारसायन तक ७, बला आदि योग ९, पुनर्नवान्त १०, भल्लातकक्षीर, भल्लातकक्षौद्र, भल्लातकतैल तथा गुडभल्लातक आदि ८=३७ योग। परन्तु गुडभल्लातक आदि ८ योग नहीं हैं, अपितु सात ही हैं। इन सबके परवर्ती टीकाकार महोदय ने सोचा होगा कौन झंझट में पड़े, उन्होंने भल्लातकतैल को आगे-पीछे करके दो बार लिखकर ३७ की संख्या पूरी कर दी। जब कि वे स्वयं इसी अध्याय के १६वें गद्य के विमर्श में लिखते हैं—'शेष **सात** विधियों का केवल नाममात्र का उल्लेख मिलता है'। अस्तु।

हमारे विचार से **'सप्त चैव दशर्षिणा'** पाठ अधिक उपयुक्त और स्पष्ट है। ध्यान दें—**आमलकघृत** से **नागबलारसायन** तक ७ योग और **भल्लातकक्षीर** से **भल्लातकतर्पण** तक १० योग नामतः उल्लिखित हैं। यदि ३७ योगों का ही आग्रह हो तो १६वें गद्य में, चक्रदत्त में तथा भैषज्यरत्नावली के कुष्ठाधिकार अथवा रसायनाधिकार में वर्णित 'अमृतभल्लातक' जोड़ देने से ३७ की कल्पना भी पूरी हो सकती है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्तत्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्दत्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय में प्राणकामीय नामक रसायनविषयक द्वितीयपाद समाप्त ॥ २ ॥

२. 'सप्त चैवं दशर्षिणा' इति पा०।

रसायनाध्याये तृतीयः पादः

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

प्राणकामीय रसायनपाद की व्याख्या करने के बाद अब हम करप्रचितीय रसायन पाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—रसायनाध्याय के दूसरे पाद का आरम्भ आमलक के विभिन्न योगों द्वारा किया गया था। अतएव इस तृतीय पाद का आरम्भ भी आमलक से ही किया जा रहा है। इस अध्याय का नाम 'करप्रचितीय' है। अतः इस अध्याय में अपने हाथ से तोड़े हुए ताजे आँवलों के सेवन का विधान है। इस अध्याय का आरम्भ **'करप्रचितानां'** शब्द से हो रहा है। अतएव इसका नाम **'करप्रचितीय'** रखा गया है।

करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां पुनर्माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्, अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रजननानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगणानां[१] चन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनसाराणां चाणुशः[२] कृत्तानामभयाबिभीतकपिप्पलीवचाचव्य-चित्रकविडङ्गानां च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत्, तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंशविदलशरतेजनाग्निभिर्वा साधयेद्यावदपनयाद्रसस्य, तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्, सुशुष्कं तत् कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयःस्थाल्यां निधापयेत् सम्यक्, तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसम्प्रयुक्तं [मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति ॥ ३ ॥

आमलकायस ब्राह्मरसायन—च० चि० रसायनाध्याय प्रथम पाद के ३८ से ४० तक के श्लोकों में वर्णित तथा माघ या फाल्गुन के महीने में पूर्ण रस-वीर्य वाले तथा पेड़ में लगे हुए आँवलों को देख-देखकर हाथ से तोड़कर संग्रह करें (ऐसा करने से कोई भी आँवला खराब नहीं निकलेगा)। तदनन्तर इनकी गुठलियाँ निकालकर, छाया में सुखाकर इनका चूर्ण कर लें। फिर (३×७=) २१ बार आँवलों के स्वरस की इस चूर्ण को भावना दें।

इस प्रकार आँवलों के १ आढक (३ सेर ३ छटांक १ तोला) चूर्ण को लेकर चरक-सूत्रस्थान के 'षड्-विरेचनाश्रितीय' नामक चौथे अध्याय में दिये गये जीवनीय, बृंहणीय, स्तन्यजनन, शुक्रजनन, वयःस्थापन गणों के औषध-द्रव्यों तथा लालचन्दन, अगुरु, धव, तिनिश (इसका परिचय देखें च० चि० रसायनपाद २ के १२वें गद्य के वक्तव्य में), खदिर, शीशम, असन—इनके सारों (वृक्ष के मध्य स्थित काष्ठ-खण्डों) के छोटे-छोटे टुकड़ों को और हरीतकी, बिभीतक, पिप्पली, बालवच, चव्य, चित्रक, बायविडंग—इन सभी के १ आढक चूर्ण को लेकर १० गुने जल में डालकर क्वाथ करें। क्वाथ करते-करते जब वह जल १ आढक शेष रह जाये तब उसे कपड़ा में डालकर छान लें। तब इस क्वाथ में आँवलों के रस से २१ बार भावित आमलक चूर्ण को डालकर गोमय (गोहरों या उपलों), बांस के टुकड़ों, सरकंडों या तेजबल (नेपाली धनिया या तिमूर की लकड़ी) की आग पर तब तक पकायें, जब तक उक्त क्वाथ रस भली भाँति सूख न जाये (पकाते समय चूर्ण को जलने या पेंदी में न लगने दें)।

उस अनुपदग्ध चूर्ण (जो चूर्ण जला न हो, किन्तु भली भाँति पक गया हो) को उतार कर पात्र में से निकाल कर लोहे की थालियों में फैलाकर सूखने के लिए रख दें। जब वह चूर्ण अच्छी प्रकार सूख जाये, तब काले मृग के (उलटे, जिस ओर मृगरोम न हों) चर्म पर रखी हुई सिल पर अच्छी तरह पीस कर लोहे के

१. 'षड्विरेचनशतीयोक्तानाम्' इति पा०।
२. 'खण्डशः' कृत्तानाम्' इति पा०।

पात्र में सुरक्षित रख दें। सेवन करते समय इस चूर्ण का आठ भाग लौह चूर्ण मधु और घी के साथ मिलाकर रसायन सेवी के अग्निबल को देखकर मात्रा का निर्धारण कर इसका प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—यथोक्त (इसी रसायन प्रकरण में कहे गये) गुण वाले आँवलों का ग्रहण करना ही योग की सिद्धि में सहायक होता है। जैसा कि हिमालय प्रदेश को औषधद्रव्यों का आकर (खान) कहा गया है, वहाँ आँवले चैत्र, वैशाख तक भी वृक्षों पर देखे जाते हैं। ये रस, वीर्य में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु हिमालय की तलहटी में अधिक से अधिक फाल्गुन मास तक ही आँवले पाये जाते हैं। इसमें भी स्वयं हाथ से सगृहीत आँवले सर्वथा निर्दोष तथा परिपूर्ण गुण वाले होते हैं।

भावना—यहाँ भावना के लिए 'परिपीत' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है चारों ओर से स्वरस पिलाया हुआ चूर्ण। वास्तव में जिस चूर्ण को जिस स्वरस की भावना दी जाती है, उसको खरल में डालकर तब तक घोटा जाता है, जब तक घोटते-घोटते वह रस उस चूर्ण के साथ सूख न जाये। एक बार का डाला हुआ रस जब भली भाँति सूख जाता है, तब उसे एक 'भावना' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भावनाएँ भी दी जाती हैं।

कृष्णाजिनस्योपरि—उस समय ऋषि-मुनिजनों के लिए कृष्णाजिन (काले मृग का चर्म) सुलभ था। अतएव इसका उल्लेख किया है। सिल पर रख कर जो कुछ भी पीसा जाता है वह अगल-बगल, नीचे-ऊपर कुछ न कुछ गिर जाता है। खाने की वस्तु जमीन पर से उठाकर सेवन करना उचित नहीं है। अतएव यह विधान किया गया है। धर्मशास्त्र की दृष्टि से कृष्णाजिन पवित्र चर्म है।

आयसीषु पात्रीषु—लोहे के पात्रों में, यहाँ 'पात्र' का ही पर्याय 'पात्री' भी है। आगे 'अयः स्थाल्याम्' पुनः लौह पात्र का प्रयोग बतलाया गया है, इससे ऐसा लगता है कि विशेष गुणाधान के लिए ही यहाँ दो-दो बार लौह पात्र का निर्देश किया गया है।

अयश्चूर्णाष्टभागसम्प्रयुक्तम्—'अयसः चूर्णम्=अयश्चूर्णम्, अयश्चूर्णस्य अष्टौ भागाः=अयश्चूर्णाष्ट-भागाः, तैः सम्प्रयुक्तः तम्'। आठ कभी एक नहीं हो सकता। इसको एकवचन करने के लिए अष्टन् शब्द के साथ डट्=मट् प्रत्यय जोड़कर 'अष्टम' रूप बनाना होगा। तब इसका अर्थ होगा—आठवाँ। यहाँ ऐसा प्रयोग नहीं है। इसके पूर्व '**भल्लातकक्षौद्र**' में भी यही स्थिति थी।

भवन्ति चात्र—

एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः। जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः ॥४॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्। यावदैच्छस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः ॥५॥
इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्रिकम्। जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥६॥

(इत्यामलकायसं ब्राह्मरसायनम्।)

आमलकायस ब्राह्मरसायन की फलश्रुति—यहाँ इस विषय में कुछ श्लोक हैं—इस रसायन का वसिष्ठ, कश्यप, अंगिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु तथा इन्हीं ऋषियों के समान दूसरे ऋषियों ने भी सेवन किया था। यथाविधि नियमपूर्वक इसका सेवन करने से वे श्रम (थकावट), व्याधि (रोग), जराभय (बुढ़ापे के डर) से मुक्त हो गये। रसायन-सेवन के उस प्रभाव से महान् बलशाली उन ऋषियों ने जब तक इच्छा की तब तक तपस्या की। बुद्धि को तीव्र करने वाला, इन्द्रियों को बल देनेवाला, जरा (बुढ़ापा) नाशक, रोगनाशक तथा आयु को हजार वर्ष तक बढ़ाने वाले इस रसायन को (सबसे पहले) ब्रह्मा ने बनाया था।

तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च। रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा ॥७॥
स्थिता महर्षयः पूर्वं, नहि किञ्चिद्रसायनम्। ग्राम्यानामन्यकार्याणां सिध्यत्यप्रयतात्मनाम् ॥८॥

ग्राम्यजनों के लिए रसायन का निषेध—प्राचीनकाल में महर्षिगण तपस्या से, ब्रह्मचर्य से, ध्यान (समाधि) से, प्रशम (इन्द्रिय जय) से तथा रसायन का विधिवत् सेवन करने से पूर्ण आयु से युक्त रहते थे। ग्रामीणों, अन्य कार्यों में लिप्त लोगों तथा अजितेन्द्रिय पुरुषों द्वारा सेवित रसायन किसी प्रकार भी सिद्ध (लाभदायक) नहीं होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में कालयुक्त आयु (परम आयु) तक महर्षियों के जीवित रहने के अनेक रहस्यों का उद्घाटन महर्षि आत्रेय ने यहाँ किया है। उनमें से एक रसायन-विधि भी है। ध्यान रहे—आचाररसायन में भी इन्हीं रहस्यों का स्मरण दिलाया गया है, जो मानव जीवन के उद्देश्यों का मूल है।

न सिध्यति रसायनम्—रसायन का प्रयोग करने पर भी जिन लोगों पर वह सफल नहीं होता, वे हैं—१. ग्राम्य, २. अन्यकार्य में प्रवृत्त और ३. अप्रयतात्मा। इनका कारण सुनें—१. **ग्राम्य** का अर्थ ग्रामीण अवश्य होता है, किन्तु यह एक प्रवृत्ति है, जो नागरिक तथा ग्रामीण दोनों में देखी जाती है। २. **अन्यकार्य में प्रवृत्त** व्यक्ति को कहीं भी सफलता नहीं मिलती। अतएव तन्त्रकार ने आदेश दिया है—'**तन्मना भुञ्जीत**'। अन्यथा भोजन का फल भी नहीं मिलता। ३. **अप्रयतात्मा**—अजितेन्द्रिय व्यक्ति किसी क्षेत्र में सफल नहीं होता।

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत् सदा। सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी यतेन्द्रियः ॥९॥
संवत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीं तिथिम्। त्र्यहोषवासी शुक्लस्य प्रविश्यामलकीवनम् ॥
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम्। गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात् ॥११॥
तदा ह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम्। शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च ॥१२॥
भवन्त्यमृतसंयोगात् तानि यावन्ति भक्षयेत्। जीवेद् वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः ॥१३॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः। स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक् च रूपिणी ॥१४॥

(इति केवलामलकरसायनम्।)

केवलामलकरसायन—जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी मन से (भक्तिपूर्वक) सावित्री (गायत्री) का ध्यान (जप) करता हुआ एक वर्ष पर्यन्त केवल दूध से अपनी आजीविका करता हुआ, अर्थात् दूध के अतिरिक्त कोई अन्य आहार न करता हुआ गायों के बीच में ही सदा निवास करना चाहिए। इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत करने के बाद तीन दिन उपवास करके पूष, माघ या फाल्गुन की पूर्णमासी तिथि को आँवलों के वन में प्रवेश करके जिसमें पर्याप्त फल लगे हों, ऐसे वृक्ष पर चढ़कर शाखाओं में लगे हुए आमलक के फल को अपने हाथ से लेकर ब्रह्म (ॐकार) का तब तक जप करता रहे, जब तक उस आँवले में अमृत न चला आये। यह निश्चय है कि उक्त प्रकार से नियमपूर्वक ॐकार का जप करने से क्षणमात्र के लिए आँवले में अमृत का निवास (प्रवेश) हो जाता है। इस प्रकार अमृत का संयोग हो जाने से वे आँवले चीनी या मधु के समान मधुर, चिकने और मुलायम हो जाते हैं। ऐसे आँवलों को वह संयमी पुरुष जितनी संख्या में खाता है, उतने हजार वर्षों तक वह पुनः जवान होकर जीवित रहता है।

जो इस प्रकार के आँवलों को तृप्तिपूर्वक (भर पेट) खा लेता है, वह अमरसन्निभ (देवतुल्य) हो जाता है और तब उस व्यक्ति के समीप श्री (सम्पत्ति तथा शोभा), वेदों का ज्ञान (आध्यात्मिक चेतना) और रूपिणी वाक् (साक्षात् सरस्वती) उपस्थित रहती है।

वक्तव्य—इस योग का नाम 'केवलामलकरसायन' है। यह वातातपिक रसायन है। साथ ही एक विषम तपश्चर्या के अन्त में तपःफल के साथ आमलक के फल के सेवन का यहाँ निर्देश है। विद्वानों में यहाँ मतभेद है।

पहला पक्ष—इस पक्ष को स्वीकार करने वालों का मत है कि पौष, माघ या फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की किसी तिथि को पौषी कहने से जब पूस मास की पूर्णिमा का ज्ञान हो जाता है तो फिर 'शुक्लस्य' शब्द की क्या उपयोगिता रही। अतः पूस महीने के शुक्लपक्ष की कोई तिथि लेनी चाहिए। तब यहाँ 'शुक्लस्य पौषीं तिथिम्' ऐसा अन्वय करना होगा।

दूसरा पक्ष—जिस प्रकार दैनिक उपासना में हम संकल्प पढ़ते हैं—'पौषमासे शुक्लपक्षे पौर्णमास्यां तिथौ'—उसी प्रकार यहाँ भी 'शुक्लस्य' पद की भी उपयोगिता है। वैसे तो—पुष्येण नक्षत्रेण युक्ता पौषी (पौर्णमासी), मघया युक्ता माघी अथवा फाल्गुनीभिर्युक्ता फाल्गुनी। इनके अर्थ स्वयंसिद्ध हैं।

ब्रह्मामृतागमात्—इसका पदच्छेद ऐसे करें—'ब्रह्म, आ अमृतस्य आगमात्' ब्रह्म (ॐकार) का जप तब तक करें, जब तक अमृत का आगमन न हो जाये।

संवत्सरान्ते—'केवलामलकरसायन' का संवत्सर पौष, माघ या फाल्गुन की पूर्णिमा से आरम्भ होकर १२ मास के बाद उसी पूर्णिमा को पूरा होता है, जिस मास की पूर्णिमा से नियम आरम्भ किया गया हो। **ध्यान दें**—यह पौष, माघ या फाल्गुन मास से आरम्भ होने वाले कल्प का क्रम उष्ण प्रदेश से आरम्भ होकर शीत प्रदेश की ओर बढ़ रहा है, क्योंकि देश भेद से आँवलों में इसी क्रम से परिपक्वता आती है।

हमारे विचार से ज्योतिषशास्त्र में पुष्टिजनक कार्यों के लिए पुष्य नक्षत्र का एक विशेष महत्त्व है। अतः पौषी पूर्णिमा का ग्रहण किया गया है। पूर्णिमा तक सायनमकरार्क हो जाने से और भी विशेषता आ जाती है। माघी तथा फाल्गुनी तिथियाँ तो वैसे भी सभी शुभकार्यों में प्रशस्त मानी गयी हैं। वैसे ये तीनों महीने आयुर्वेद की दृष्टि से 'विसर्गकाल' की परिधि के अन्तर्गत आते हैं।

सावित्रीं ध्यायन्—व्याहृति (ॐ भूः भुवः स्वः) के प्रयोगपूर्वक ही गायत्री के जप का विधान है, अन्यथा वह मन्त्र उपासना की दृष्टि से अपूर्ण माना जाता है। इसको जपने का स्थान गोशाला है, जहां रसायन सेवी को वर्ष भर एकचित्त होकर रहना है। मन्त्र के जप की सिद्धि के लिए धर्मशास्त्रों में कुछ प्रमुख स्थल निर्दिष्ट हैं। यथा—अपने घर के उपासना-स्थल पर, देवमन्दिर में, गंगातट पर गोशाला अथवा निर्जन वन में।

मनसा ध्यायन्—सिद्ध मन्त्रों के जप का विधान मन द्वारा ही करने का है। न कि लाउडस्पीकर लगाकर प्रचार करने का, जैसा कि आज का धर्म-प्रचारक वर्ग करने लगा है। यह विधि निन्द्य है।

बृहत् फलाढ्यं द्रुमम् आरुह्य—तन्त्रकार ने 'सद्वृत्तानुष्ठान प्रकरण' में वृक्ष पर चढ़ने का स्पष्ट निषेध किया है—**'न द्रुममारोहेत्'** च० सू० अ० ८।१९ और यहाँ पेड़ पर चढ़ने का वे स्वयं विधान कर रहे हैं। किन्तु ऐसा न समझें कि महर्षि आत्रेय अपने वचनों का स्वयं प्रतिवाद कर रहे हैं या अपनी बात को यहाँ तक आते-आते भूल गये हैं। ध्यान दें—इसी प्रसंग में महर्षि ने सर्वप्रथम लिखा है—**'नानृतं ब्रूयात्'**। आगे वे इसके विपरीत स्वयं लिखते हैं—**'काकांस्तित्तिरशब्देन'**। च० चि० अ० ८। 'इत्याद्ययथाभाषणोपदेशेन विरोधो न वाच्यः। यतः परोपकारफलमसत्यभाषणमनृतव्याहारदोषेण स्पृश्यते'। इति चक्रपाणिः। तात्पर्य यह है कि यहाँ विधिवाक्य विशेष है और निषेधवाक्य सामान्य है। अतः विशेषविधि सामान्यविधि की बाधिका होती है।

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां क्षारे च लावणे। क्रमेण चेङ्गुदीक्षारे किंशुकक्षार एव च ॥१५॥
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्निवर्णानि [1]साधयेत्। चुतरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधतनूनि[2] च ॥१६॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च॥१७॥
युक्तानि लेहवत् कुम्भे स्थितानि घृतभाविते। संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तथैव च ॥१८॥
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः। संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा ॥१९॥
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्। एष एव च लौहानां प्रयोगः सम्प्रकीर्तितः ॥२०॥
नाभिघातैर्न चातङ्कैर्जरया न च मृत्युना। स धृष्यः स्याद्गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः ॥२१॥
धीमान् यशस्वी [3]वाक्सिद्धः श्रुतधारी [4]महाधनः। भवेत् समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम्॥
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च। आयुःप्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगनुत् ॥२३॥

(इति लौहादिरसायनम्।)

लौहादि रसायन—तीक्ष्ण लौह (फौलाद) के चार अंगुल लम्बे और तिल की ऊँचाई के समान पतले पत्तों को आग में तपायें। जब वे आग के समान वर्ण वाले हो जायें तब उन्हें पहले से तैयार किये हुए त्रिफला के क्वाथ रस में बुझायें, फिर उनको तपाकर गाय के मूत्र में बुझायें, फिर उनको आग में तपाकर यवक्षार

1. 'वापयेत्' इति पा०।
2. तिलोत्सेधसमानि' इति पा०।
3. 'वाग्मी च' इति पा०।
4. 'महाबलः' इति पा०।

(जवाखार) के घोल में बुझायें। फिर उन पत्तों को तपाकर सैंधानमक के घोल में बुझायें, फिर उन लोहे के पत्तों को तपाकर इंगुदी (हिंगोट) के क्षाररस में बुझायें तथा फिर उन्हें तपाकर किंशुक (पलाश) के क्षार के घोल में बुझायें। यहाँ तक लौह-शोधन विधि का वर्णन किया गया है।

तदनन्तर जब देखें कि वे लौहे के पत्ते काले अञ्जन के सदृश हो गये हैं, तब उनका सूक्ष्म चूर्ण बना लें उस चूर्ण को मधु और आँवलों के रस में मिलाकर के भीतर से घी लगाये हुए मिट्टी के घड़े में रख दें और उस घड़े का मुख बन्द करके जौ की राशि में ढँककर एक वर्ष तक पड़ा रहने दें। किन्तु उसे विद्वान् वैद्य प्रतिमास एक बार भली-भाँति आलोडन (चला दिया) करे। इस प्रकार जब एक वर्ष बीत जाये, तब उसका प्रयोग प्रतिदिन प्रातःकाल अग्निबल के अनुसार मात्रा का निर्धारण कर मधु-घृत के अनुपान से करे और उस मात्रा के पच जाने पर सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) भोजन करे। यहाँ तक लौहों का रसायन के रूप में प्रयोग बतला दिया है।

इस रसायन का एक वर्ष तक विधिवत् प्रयोग करनेवाला पुरुष हाथी के समान अत्यन्त बलवान् हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न हो जाती हैं। उसे किसी प्रकार अभिघात तथा रोग दबा नहीं सकते, न ही उसे बुढ़ापे के लक्षण ही कष्ट दे पाते हैं और न उस पर समय के पूर्व मृत्यु का ही आक्रमण हो सकता है। वह धीमान्, यशस्वी, वाक्सिद्ध (जो कह दे, वह सत्य) हो जाता है, जो कुछ सुनता है तत्काल उसे याद कर लेता है तथा महान् धनी हो जाता है।

इसी प्रकार (जैसा कि ऊपर लौह रसायन की विधि का निर्देश किया गया है) स्वर्णरसायन एवं रजत-रसायन का भी निर्माण किया जा सकता है। इन दोनों ही रसायनों का प्रयोग आयु को बढ़ाने वाला तथा सभी प्रकार के रोगों का नाश करने वाला होता है।

वक्तव्य—ऊपर १५वें श्लोक के पूर्वार्ध में आये हुए **'क्षारे च लावणे'** अंश का अर्थ पूर्ववर्ती कुछ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—'मालकांगनी के क्षार जल में' इस अर्थ का पूरा दायित्व उन्हीं पर है।

लौह-शोधन-परिभाषा—'शुद्ध्यर्थं त्रिफला लौहात् कर्तव्या द्विगुणा सदा। चतुर्गुणं फलात् तोयमर्धभागावशेषितम्' ॥ परिभाषा-प्रदीप।

यद्यपि लौह शब्द से सभी धातुओं का ग्रहण हो जाता है, तथापि यहाँ 'सुवर्णरसायन' तथा 'रजत-रसायन' का अलग से जो उल्लेख किया है, वह केवल इन दोनों के पृथक् महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए ही है।

ऐन्द्री मत्स्याख्यको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला। पिप्पल्यो लवणं हेम शङ्खपुष्पी विषं घृतम् ॥
एषां त्रियवकान् भागान् हेमसर्पिर्विषैर्विना। द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च ॥२५॥
सर्पिषश्च पलं दद्यात् तदैकध्यं प्रयोजयेत्। घृतप्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते ॥२६॥
जराव्याधिप्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम्। आयुष्यं पौष्टिकं धन्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥२७॥
परमोजस्करं चैतत् सिद्धमैन्द्रं रसायनम्। नैनत् प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक् ॥२८॥
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माः प्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च।
मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ॥ २९ ॥

(इत्यैन्द्रं रसायनम्।)

ऐन्द्र-रसायन—ऐन्द्री (चरकोक्त वल्य तथा प्रजास्थापन वर्ग में पठित—वरमी, प्रयोज्य अंग पंचांग), मछेछी, ब्राह्मी, बालवच, ब्रह्मसुवर्चला (हुरहुर), पिप्पली, सैंधानमक, हेम (सोना), शंखपुष्पी, विष (वत्सनाभ) और गाय का घी—इन द्रव्यों को एकत्र कर लें।

निर्माण-विधि—शुद्ध सोना, गाय का घी और वत्सनाभ विष—इन तीन द्रव्यों को छोड़कर ऊपर कहे गये शेष सभी द्रव्यों को तीन-तीन जौ (आठ सरसों के बराबर अर्थात् १/४ रत्ती) की मात्रा में लें। सोना को दो जौ की मात्रा में लें। विष एक तिल प्रमाण लें और गाय का घी १ पल = ४ तोला लें। इन सबको एक साथ मिलाकर रसायन सेवी की पाचनशक्ति को ध्यान में रखकर इसका प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करायें। जब

प्रातःकाल सेवन की हुई औषध मात्रा का पाचन हो जाये, तब शालि या साठी के भात में अधिक मात्रा में गाय का घी और शहद मिलाकर भोजन करना शुभ (हितकर) होता है।

फलश्रुति—यह रसायन अकाल वृद्धता तथा रोगों का नाशक है, उत्तम स्मरणशक्ति तथा धारणा-शक्ति का वर्धक है, दीर्घायुष्य प्रदान करता है, शरीर को पुष्ट करता है, धन्य है, स्वर और वर्ण को बढ़ाने वाला है, अर्थात् इनको शुद्ध एवं स्पष्ट करता है, यह श्रेष्ठ ओजस्कर (ओजो गुण को बढ़ाने वाला) है। इस ऐन्द्र रसायन का सेवन करने वाले पुरुष को कृत्या (अभिचार–मारण, मोहन, उच्चाटन) आदि का भय नहीं होता। अलक्ष्मी (कान्ति या धनहीनता), विष तथा रोग पीड़ित नहीं करते। इससे श्वित्र (सफेद कोढ़), गलित कुष्ठ-भेद, उदरविकार, गुल्म, प्लीहावृद्धि, जीर्ण विषमज्वर, मेधा, स्मृति तथा ज्ञान के नाशक रोग तथा अत्यन्त बलवान् वातरोग भी इसके सेवन से शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने 'ऐन्द्री' से 'इन्द्रायण मूल' का और 'ब्रह्मसुवर्चला' से सूरजमुखी (हुर-हुर) को ग्रहण करने की व्यवस्था दी है। ऐन्द्री यह कटुका कुल का द्रव्य है। इसका पंचांग ग्रहण किया जाता है। देखें—द्रव्यगुण-विज्ञान। ब्रह्मसुवर्चला—'हिरण्याक्षीति' च० चि० अ० १ तथा सु० चि० अ० ४०। अभिनवनिघंटु में केवल सुवर्चला का पर्याय 'हुरहुर' दिया गया है, न कि ब्रह्मसुवर्चला।

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥ ३० ॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥ ३१ ॥

(इति मेध्यरसायनानि।)

चार मेध्यरसायन—१. मण्डूकपर्णी का स्वरस, २. मुलेठी का चूर्ण, ३. गिलोय का स्वरस और ४. मूल तथा पुष्प के साथ शंखपुष्पी का कल्क—इन चारों का प्रयोग (सेवन) गाय के दूध के साथ करें। ये चारों रसायन आयुवर्धक, रोगनाशक, बल, अग्नि (पाचकाग्नि), वर्ण (रूप) तथा स्वर को बढ़ाने वाले होते हैं। ये सभी रसायन विशेष करके मेध्य (मेधायै हितानि, अर्थात् बुद्धिवर्धक) होते हैं। इनमें भी शंखपुष्पी विशेष करके मेधावर्धक होती है।

वक्तव्य—यहाँ महर्षि आत्रेय का विश्वास या अनुभव यह बतला रहा है कि उक्त चार योगों में से 'शंखपुष्पी' अधिक मेध्य है, किन्तु निघण्टुकारों ने 'मण्डूकपर्णी' को भी मेधावर्धक द्रव्य स्वीकार किया है।

अनुपान—ऊपर कहे गये चारों रसायनों का अनुपान केवल दूध है, किन्तु पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अपनी-अपनी युक्ति लगाकर अनुपान-भेद लिखे हैं।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'हतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथाक्रममागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वर-
समादाय सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसा पिबेत्। ...... एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायु-
र्भवति'। सु० चि० अ० २८।४। यह सुश्रुतसंहिता के मेधायुष्कामीय अध्याय से लिया गया है। यहाँ भी
अनुपान दूध ही निर्दिष्ट है।

पञ्चाष्टौ सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा। रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥३२॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च। पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥३३॥
प्रयोज्या मधुसम्मिश्रा रसायनगुणैषिणा। जेतुं कासं क्षयं शोषं श्वासं हिक्कां गलामयान् ॥३४॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम्। वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम् ॥३५॥

(इति पिप्पलीरसायनम्।)

पिप्पली रसायन—१. रसायन गुणों को ढूँढने वाला, अर्थात् उन गुणों को प्राप्त करने का इच्छुक
व्यक्ति ५, ८, ७ अथवा १० पिप्पलियों के कपड़छन चूर्ण को मधु-घृत के साथ एक वर्ष तक प्रयोग करे। यह
पहली विधि है।

२. पलाश के क्षारोदक द्वारा भावना दी हुई पिप्पलियों को गाय के घी में भून लें और (सोते समय) उनमें मधु लगा लें। इस प्रकार तीन पिप्पलियों का प्रातःकाल, तीन का भोजन करने के पहले और तीन का भोजन करने के बाद रसायन गुणों की इच्छा करने वाले पुरुष को सेवन करना चाहिए। यह दूसरी विधि है।

इस पिप्पलीरसायन का सेवन उन रोगियों को करना चाहिए जो कास, क्षय, शोष (क्षय का ही एक भेद), श्वासरोग, हिचकी, गल सम्बन्धी रोग, अर्श (बवासीर), ग्रहणी विकार, पाण्डुरोग, विषमज्वर, वैस्वर्य (स्वरभेद), पीनस (प्रतिश्याय–जुकाम), शोथ (सूजन), गुल्म तथा वातबलासकज्वर को जीतना चाहता हो, अर्थात् रोगों को हराकर स्वयं स्वस्थ एवं बलवान् बनना चाहता हो।

वक्तव्य—चरक विमानस्थान अध्याय १ में पिप्पली, क्षार, लवण इन तीनों का अन्य द्रव्यों की तुलना में अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्देश है, किन्तु यहाँ उसी के पर्याप्त प्रयोग का विधान है। इसका विचार हमने उक्त गद्य के वक्तव्य में किया है।

पाठभेद—'पञ्चाष्टौ सप्त दश वा' निर्णयसागरीय इस पाठ के स्थान पर श्रीजयदेवविद्यालंकार द्वारा अनूदित प्रति में 'पञ्च षट् सप्त दश वा' पाठ है। वाग्भट ने अपने अष्टांगहृदय में उक्त निर्णयसागरीय पाठ को ही समादृत किया है। अस्तु। पाँच, छः, सात यह वर्धमान क्रम है। पाँच, आठ और सात, दस यह भी वर्धमान क्रम प्रतीत होता है, किन्तु इसी के आगे ३९वें श्लोक में उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के प्रयोगों का निर्देश किया गया है।

इस प्रकार के पाठों की विशृंखलता के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पिप्पली-सेवन की विधि तो यही उत्तम है। किन्तु मात्रा के क्रम में व्यक्ति के अग्निबल को देखकर तथा रोग की परिस्थिति का विचार कर मात्रा का निर्धारण विद्वान् चिकित्सक स्वयं करे।

तिस्रस्तिस्रस्तु—इस पद्य के अनुसार एक व्यक्ति को दिन भर में ९ पिप्पलियों का सेवन करना आवश्यक है। किन्तु प्रातः भोजन के पहले और भोजन के बाद की विधि से यह संकेत प्राप्त होता है, कि जब पुरुष में कफदोष अत्यन्त बढ़ा हो तो प्रातःकाल, मध्यम स्थिति में कफदोष हो तो भोजन के पूर्व और कफदोष सामान्य हो तो भोजन के पश्चात् पिप्पली का सेवन कराना चाहिए। ऐसा निर्णय कर लेने पर प्रत्येक पुरुष के लिए ३ पिप्पली की एक मात्रा निर्धारित हो जायेगी, जो युक्ति-युक्त प्रतीत होती है।

यही विचार पाँच, आठ, सात या दस पिप्पली के सम्बन्ध में भी समझें। पुरुष की अग्नि तथा दोषों का विचार कर १० पिप्पली की मात्रा को उत्तम, ८ या ७ को मध्यम और ५ या ६ को अधम मात्रा समझें। अथवा उत्तम, मध्यम, अधम स्वास्थ्य वाले पुरुष के लिए उक्त मात्राओं का निर्धारण किया गया है, ऐसा विचार करें अथवा पिप्पली के गुण-धर्मों का विचार कर यथोचित मात्रा का प्रयोग करें। मात्रा का निर्धारण करते समय आगे आने वाले ३८वें श्लोक के अर्थ का भी अवश्य विचार कर लें।

किंशुकक्षारभाविताः—'तस्य भावेन युक्ताः, तेन भाविताः'। जो द्रव्य जिस पदार्थ से भावित किया
जाता है, उसमें उसके गुणों का आधान हो जाता है। भावना देना एक संस्कार है, 'संस्कारो हि गुणान्तराधा-
नम्'। प्रयोग किये जाने वाले द्रव्य में अनुकूल गुणों की वृद्धि हो, इसी दृष्टि से उस-उस रोग के नाशक अथवा
धातुवर्धक द्रव्यों की भावना दी जाती है। भारतीय संस्कृति में भी संस्कारों का यही महत्त्व है, यहाँ पिप्पलियों
को पलाश के क्षारोदक की भावना देने का निर्देश है। सामान्य रूप से भावना सात बार दी जाती है। यथा—
'दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत्। श्लक्ष्णचूर्णीकृतं द्रव्यं सप्ताहं भावनाविधिः'॥ किन्तु इसके पूर्व इसी
प्रकरण में आमलकावलेह-निर्माण के समय पिप्पलियों को एक ही भावना देने का निर्देश दिया गया है। अतः
यहाँ भी एक ही भावना देनी चाहिए, अन्यथा पिप्पलियों में क्षारीय तत्त्व की अधिक वृद्धि हो जायेगी, क्योंकि
इनका प्रयोग रसायन के लिए करना है, आचार्य गंगाधर के मत से ७ भावना देना ही उचित है।

क्रमवृद्ध्या दशाहानि [1]दशपैप्पलिकं दिनम्। वर्धयेत् पयसा सार्धं तथैवापनयेत् पुनः ॥३६॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा। पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ॥३७॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः शृता मध्यबलैर्नरैः। [2]चूर्णीकृता ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान् प्रति ॥

१. 'दशपिप्पलीकम्' इति पा०। २. 'शीतीकृताः' इति पा०।

दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः [1]षट् प्रकीर्तितः। प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः॥
बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम्। वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ॥४०॥
(इति [2]पिप्पलीवर्धमानं रसायनम्।)

पिप्पलीवर्धमान रसायन—दस दिनों तक प्रतिदिन १०-१० पिप्पलियों को बढ़ाते हुए और फिर उसी क्रम से १०-१० पिप्पलियों को घटाते हुए १० दिनों तक गाय के दूध के साथ इनका सेवन करें। वृद्धि और ह्रास अथवा उत्कर्ष और अपकर्ष क्रम में सेवन की हुई पिप्पलियाँ जब भली-भाँति पच जायें तब साठी के चावलों का भात दूध और घी के साथ खायें। यह हजार पिप्पलियों का प्रयोग पिप्पलीवर्धमान रसायन कहा जाता है।

उत्तमबल वाले पुरुषों को इसका सेवन पीस (कल्क बना) करके करना चाहिए, मध्यमबल वाले पुरुषों को इसका सेवन क्वाथ बना करके करना चाहिए और हीनबल वाले पुरुषों को इसका सेवन चूर्ण रूप में करना चाहिए, अथवा दोषों या रोगों का विवेचन करके इसका सेवन करना चाहिए।

१० पिप्पलियों से आरम्भ की जाने वाली इसकी मात्रा **उत्तम**, ६ पिप्पलियों से आरम्भ की जाने वाली इसकी मात्रा **मध्यम** और ३ पिप्पलियों से आरम्भ की जाने वाली इसकी मात्रा **अधम** होती है। यह क्रमशः बलवान्, मध्यमबली और अधमबली पुरुषों के लिए मात्रा का निर्देश किया गया है।

फलश्रुति—इस प्रकार का पिप्पलीवर्धमान रसायन का प्रयोग शारीरिक धातुओं को बढ़ाता है। स्वर के लिए हितकारक या स्वर-भेदजनित विकार का शमन करने वाला, दीर्घायु प्रदान करने वाला, प्लीहा सम्बन्धी विकारों का नाशक, उदररोगनाशक, वयःस्थापन (ढलती हुई जवानी को स्थिर करने वाला) तथा मेधावर्धक होता है।

वक्तव्य—यहाँ जिस योग की 'पिप्पलीवर्धमान' संज्ञा दी गयी है, इसी को अन्यत्र 'वर्धमानपिप्पली' कहा गया है, तात्पर्य दोनों का समान है। इस प्रकरण में पिप्पली से सम्बन्धित दो योगों का उल्लेख हुआ है—१. पिप्पली रसायन और २. पिप्पलीवर्धमान रसायन। इनमें पिप्पली-सेवन की जो-जो विधियाँ दी गयी हैं, वे स्पष्ट विवेचन की अपेक्षा रखती हैं।

पिप्पलीरसायन का वर्णन करते हुए महर्षि आत्रेय ने प्रकारान्तर से ३, ५, ७, ८ या १० पिप्पलियों के सेवन का निर्देश दिया है। इसी के आगे 'पिप्पलीवर्धमान रसायन' के प्रयोग में उत्तम, मध्यम, अधम मात्रा के क्रम का निर्देश करते हुए क्रमशः १०, ६ और ३ पिप्पलियों के वर्धमान क्रम का आदेश दिया है।

आचार्य भोज ने अपनी संहिता में पिप्पलियों के सेवन का इस प्रकार मध्यम मार्ग निकाला है—'त्रिपञ्च सप्त दश वा पिप्पल्यः पयसा सह। प्रकुञ्चवृद्धेन पिबन् नरः प्रोक्तान् गदाञ्जयेत्'॥ अर्थात् ३, ५, ७ या १० पिप्पलियों को प्रकुञ्च वृद्धि क्रम से, अर्थात् ४ तोला प्रतिदिन बढ़ाते हुए १० दिनों तक सेवन करायें। इसी क्रम से घटाते भी जायें। यह योग इस प्रसंग में कहे गये समस्त रोगों का नाश करना है।

उक्त पद्य की व्याख्या करते हुए आचार्य चन्द्रट ने ३ प्रकुञ्च (१२ तोले) पिप्पली के साथ ३ प्रकुञ्च दूध का भी सेवन करना आवश्यक बताया है, किन्तु यह व्यवहार-संगत प्रतीत नहीं होना। हमारी इस धारणा को सुश्रुतोक्त पिप्पलीवर्धमान वाला पाठ समर्थन देता है।

महर्षि सुश्रुत ने 'महावातव्याधिचिकित्सित' नामक सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान के ५वें अध्याय के १२वें गद्य में उक्त 'पिप्पलीवर्धमानक' का वर्णन इस प्रकार किया है—'पिप्पलीर्वा क्षीरपृष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत्। क्षीरौदनाहारो दशरात्रं भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्च, दश वेति, तदेतत् पिप्पलीवर्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शःकासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति'। अर्थात् पिप्पली को दूध या पानी में पीसकर ५-५ या १०-१० की संख्या से बढ़ाते हुए १० दिन तक खायें। भोजन में दूध और शाली या साठी के चावलों का भात खायें। फिर ५-५ या १०-१० की संख्या से (जिस प्रकार बढ़ाया हो उसी क्रम से) क्रमशः तब तक कम करते जायें, जब तक ५ या १० की संख्या पर न आ जायें। श्रीजयदेवविद्यालंकार ने जिस सुश्रुतसंहिता से पाठ लिया हो, उसमें **सप्ताभिवृद्ध्या'** पाठ अधिक उद्धृत है।

१. 'षट् षट्पैप्पलिकः योगः' इति योगीन्द्रनाथसेनः। 'षट् प्रकीर्तिता यत्र स षट् प्रकीर्तितः' इति गङ्गाधरः।
२. 'वर्धमानपिप्पलीरसायनम्' इति पा०।

इस प्रकार पिप्पलीवर्धमान रसायन के भेदोपभेद सहित निम्नलिखित क्रम देखे जाते हैं—

चरकसंहिता में—	उत्तम १०	मध्यम ६	अधम ३।
सुश्रुतसंहिता में—	,, १०	,, ७	,, ५।
भोजसंहिता में—	,, १०	,, ७ या ५	,, ३।

यदि हम 'पिप्पलीरसायन' के साथ 'पिप्पलीवर्धमानरसायन' के क्रम को ध्यान में रखें, तो सभी संहिताकारों के मत चरकसंहिता में अन्तर्हित हो जाते हैं। महर्षि आत्रेय ने उक्त रसायन का पूरा कल्प १००० का स्वीकार किया है, किन्तु उक्त विभिन्न संख्याओं का योग कुछ न कुछ संख्या वृद्धि के साथ ही होता है। केवल १० संख्या से प्रारम्भ किया जाने वाला क्रम सही रूप में १००० होता है। इसके लिए विभिन्न उत्कर्ष-अपकर्ष क्रमों के योगों पर ध्यान दें। बुद्धिपूर्वक कहीं घटाकर कहीं बढ़ाकर और कहीं उत्कर्षापकर्ष क्रम को सम-विषम रूप में व्यवस्थित कर १००० की संख्या पूरी की जा सकती है। देखें—पाँच की संशोधित क्रम तालिका।

३ का क्रम ३६ दिनों में		५ का क्रम २९ दनों में		५ का क्रम २८ दिनों में		६ का क्रम २५ दिनों में		७ का क्रम २३ दिनों में		१० का क्रम १९ दिनों में		१-१ तथा १०-१० का क्रम १०९ दिनों में	
उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम	उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम	उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम	उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम	उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम	उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम	उत्कर्षक्रम	अपकर्षक्रम
												१ ले दिन १	१०१वें दिन ९
												२ रे ,, २	१०२ रे ,, ८
												३ रे ,, ३	१०३ रे ,, ७
·३	५४	५	७०	५	६५	६	७२	७	७७	१०	९०	४ थे ,, ४	१०४ थे ,, ६
६	५१	१०	६५	१०	६०	१२	६६	१४	७०	२०	८०	५ वें ,, ५ ६ वें ,, ६	१०५ वें ,, ५ १०६ ठे ,, ४
९	४८	१५	६०	१५	५५	१८	६०	२१	६३	३०	७०	७ वें ,, ७	१०७ वें ,, ३
१२	४५	२०	५५	२०	५०	२४	५४	२८	५६	४०	६०	८ वें ,, ८	१०८ वें ,, २
१५	४२	२५	५०	२५	४५	३०	४८	३५	४९	५०	५०	९ वें ,, ९ १० वें ,, १०	१०९ वें ,, १
१८	३९	३०	४५	३०	४०	३६	४२	४२	४२	६०	४०	५५	
२१	३६	३५	४०	३५	३५	४२	३६	४९	३५	७०	३०	११ वें दिन से	
२४	३३	४०	३५	४०	३०	४८	३०	५६	२८	८०	२०	१०० वें दिन तक १०-१०	
२७	३०	४५	३०	४५	२५	५४	२४	६३	२१	९०	१०	के क्रम से	
३०	२७	५०	२५	५०	२०	६०	१८	७०	१४	१००		बढ़ाकर	
३३	२४	५५	२०	५५	२०	६६	१२	७७	७	५५०	४५०	९०×१० =९००	
३६	२१	६०	१५	६०	१५	७२	६	८४		योग–१०००		योग–९५५	योग–४५ =१०००
३९	१८	६५	१०	६५	१०	७८		५४६	४६२				
४२	१५	७०	५	७०	५	५४६	४६८	योग–१००८					
४५	१२	७५		५२५	४७५	योग–१०१४							
४८	९	६००	५२५	योग–१०००									
५१	६	योग–११२५											
५४	३												
५१३	५१३												
योग–१०२६													

सूचना—अन्तिम (१०९ दिनों में पूरा होने वाला) क्रम अत्यन्त विस्तृत किन्तु आजकल के पुरुषों के सेवन योग्य है। फिर भी इस सम्बन्ध में चिकित्सक से परामर्श अवश्य कर लेना चाहिए।

विशेष—हीनबल वाले पुरुषों के लिए ३ पिप्पली से प्रयुक्त होने वाले आचार्य गंगाधर द्वारा निर्दिष्ट प्रथम क्रम में १८वें तथा १९वें दिन का क्रम समान रखा गया है, जो उत्कर्ष-अपकर्ष क्रम की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता, ऐसा करने पर भी २६ की संख्या अधिक होती है।

निष्कर्ष—पिप्पलीवर्धमान का उत्तम क्रम १०-१० से १० दिनों तक बढ़ाकर इसी क्रम से घटाना है, मध्यम तथा हीन बलवाले पुरुषों के लिए भी शास्त्रीय निर्देश ऊपर स्पष्ट रूप से दिया गया है। चिकित्सक को अधिकार है कि वह रसायन सेवी के अग्निबल, शारीरिकबल, देश, काल आदि का विचार कर उत्कर्ष तथा अपकर्ष क्रम को स्थिर करें, क्योंकि तन्त्रकार ने स्वयं अपूरणीय संख्याओं ३, ६ का निर्देश कर १००० पिप्पलियों के सेवन के प्रति ढील दे रखी है।

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ताद् द्वे बिभीतके। भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च॥
प्रयोजयन् समामेकां त्रिफलाया रसायनम्। जीवेद् वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च॥ ४२॥

(इति त्रिफलारसायनम्।)

प्रथम त्रिफलारसायन—रात्रि के भोजन के पचने पर अर्थात् प्रातःकाल १ हरीतकी का चूर्ण, भोजन करने के पहले २ बहेड़ों का चूर्ण तथा भोजन कर लेने के बाद ४ आँवलों के चूर्ण को मधु और गाय के घी के साथ एक वर्ष तक इस प्रकार 'त्रिफलारसायन' का सेवन करता हुआ पुरुष रोगरहित एवं यौवन के लक्षणों से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

वक्तव्य—महती त्रिफला—'पथ्या बिभीतकं धात्री त्रिफला महती स्मृता'। सि० यो०। **लघु त्रिफला**—'ह्रस्वा काश्मर्यमृद्वीकापरूषकफलानि च'। श्रीकण्ठः। **सुगन्धत्रिफला**—'जातीफललवङ्गपूगेषु'। **मधुरत्रिफला**—'द्राक्षादाडिमखर्जूरेषु'। इस प्रकार भिन्न-भिन्न त्रिफलाओं का विवरण आयुर्वेदिक साहित्य में देखा जाता है। मात्रा की दृष्टि से भी इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं। यहाँ महर्षि आत्रेय ने १ हरीतकी २ बिभीतक ४ आँवलों का जो क्रम निर्देश किया है, वह भी एक वर्धमान क्रम ही है। रसायन-सेवन के लिए 'विजया' नाम की हरीतकी का ग्रहण करना चाहिए।

त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम्। तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत् क्षौद्रोदकाप्लुतम्॥४३॥
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते। अजरोऽरुक् समाभ्यासाज्जीवेच्चैव समाः शतम्॥४४॥

(इति त्रिफलारसायनमपरम्।)

द्वितीय त्रिफलारसायन—त्रिफला के कल्क द्वारा नवीन लोहे के पात्र को लीप दें, उसको एक अहोरात्र (२४ घण्टे) तक लिपा हुआ रहने दें। तदनन्तर उस लेप को मधु और जल के साथ मिलाकर सेवन करें। इस औषध के पच जाने पर पर्याप्त घी मिला हुआ भोजन (साठी या शालि तण्डुल का सेवन) करें, क्योंकि यही इसमें हितकर होता है। इसी प्रकार एक वर्ष तक इस रसायन का सेवन करने से मनुष्य रोग तथा वृद्धावस्था के लक्षणों (वली, पलित) से मुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

वक्तव्य—उक्त रसायन की निर्माण तथा सेवन-विधि इस प्रकार है—१ तोला त्रिफला को पानी में पीस कर कल्क बनाकर लोहे के पात्र में लीप दें। उसे २४ घण्टे के बाद उतार कर २ तोला मधु को ४ तोला पानी में मिलाकर शरबत बना लें और उक्त त्रिफला के सूखे कल्क को इस शरबत में मिलाकर सेवन करें। नवीन लोह-पात्र में कल्क का लेप करके २४ घण्टा तक रख देने से उसमें लौह का अंश आ जाता है, जो स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होता है। पुराने लोहे के पात्र का निषेध इसलिए किया गया है कि उसकी सतह पर लाल, पीले रंग की बुकनी की सी तह जो वायु तथा नमी के योग से रासायनिक विकार होने पर उत्पन्न हो जाती है, उसे जंग या मोरचा कहते हैं, वह हानिकारक होता है।

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा। त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम्॥४५॥

(इति त्रिफलारसायनमपरम्।)

तृतीय त्रिफलारसायन—मुलेठी, वंशलोचन, छोटी पिप्पली, मधु, घी तथा मिश्री के साथ त्रिफलाचूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। यह सिद्ध (अनुभवसिद्ध) रसायन है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने आगे ६६वें श्लोक में कहा है कि इस अध्याय में १६ रसायनों का वर्णन किया गया है। उनकी इस प्रतिज्ञा को महत्त्व देते हुए तथा 'रसायनम्' इस एक वचनान्त पद को ध्यान में रखते हुए इसको एक ही योग मानना युक्ति संगत है। आचार्य गंगाधर ने जो उक्त श्लोक में ५ योगों की सम्भावना की है, निश्चित ही उन्होंने उक्त दोनों बातों पर ध्यान नहीं दिया होगा। इसमें दो कारण हो सकते हैं। **पहला-कारण**–उक्त पद्य का अन्वय करते समय आचार्य गंगाधर ने 'प्रत्येकं' पद अपनी ओर से जोड़ दिया हो, जिससे 'मधुकेन युक्ता त्रिफला सिद्धं रसायनम्'—ऐसा प्रत्येक के साथ जोड़ते गये हों। **दूसरा कारण**—अथवा परवर्ती अष्टाङ्गसंग्रहकार का संशोधित अर्थ उनको अधिक रुचिकर लगा हो। हमें तो तन्त्रकार की इच्छा के अनुसार ही उसका व्याख्यान करना अभीष्ट है।

गंगाधर के अनुसार ५ योग—१. मुलेठी के साथ त्रिफला, २. वंशलोचन के साथ त्रिफला, ३. छोटी पीपर के साथ त्रिफला, ४. घी तथा मिश्री के साथ त्रिफला (यहाँ क्षौद्रेण युक्तं सर्पिः, तेन। इस प्रकार विग्रह करना होगा, अन्यथा—'क्षौद्रसर्पिर्भ्याम्' ऐसा होता।) तथा ५. मिश्री के साथ त्रिफला।

प्रयोग—हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलेठी, वंशलोचन, पीपल—ये द्रव्य समभाग होंगे। इन सबके समान मिश्री होगी। इस चूर्ण को मिलाकर सुरक्षित रख लें। सामान्य मात्रा–२ माशा। १ तोला घी और २ तोला मधु के साथ प्रातःकाल इसका सेवन करें।। पूर्वोक्त क्रम के अनुसार इसके सेवन की अवधि भी १ वर्ष है।

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा। विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च॥४६॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा। भवत्यायुःप्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी॥४७॥

(इति त्रिफलारसायनमपरम्।)

चतुर्थ त्रिफलारसायन—सभी लौहों (धातुओं) की भस्म, सुवर्ण भस्म, बालवच का चूर्ण, वायविडंग का चूर्ण, छोटी पीपर का चूर्ण, सेंधानमक का चूर्ण तथा मधु-घृत के साथ त्रिफला के चूर्ण का एक वर्ष तक सेवन करने से मनुष्य की मेधा (धारणा-शक्ति), स्मृति (यादगार) तथा बल (शारीरिक शक्ति) की वृद्धि होती है। यह रसायन दीर्घायु को देने वाला, धन्य (सब प्रकार के धन से युक्त कराने वाला), रोगनाशक तथा वृद्धावस्था के लक्षणों का नाश करने वाला होता है।

वक्तव्य—ऊपर ४५वें श्लोक में पिप्पली और मधु-घृत के साथ त्रिफला का प्रयोग कह दिया गया था। पुनः ४६वें श्लोक में उसे क्यों कहा गया है, क्या यह पुनरुक्ति दोष तो नहीं है? ऐसा कुछ विद्वान् टीकाकारों का कथन है। वास्तव में 'नीरजस्तम' आचार्यों के विचारों को समझने का प्रयास करना चाहिए, अपना बुद्धिभ्रम उन पर नहीं लादना चाहिए। पुनरुक्ति दोष वहाँ होता है, जहाँ उसी विषय का पुनः निर्वचन किया जाता है। यह चिकित्साशास्त्र है, इसमें कल्पना की विविधता स्तुत्य है, न कि निन्दनीय।

भ्रम का कारण—टीकाकारों ने उक्त ४५वें तथा ४६वें श्लोकों में ५-५ योगों की स्वतन्त्र कल्पना करके तन्त्रकार के ऊपर पुनरुक्ति दोष लाद दिया है। चिकित्सा-ग्रन्थों में लगभग समान द्रव्यों के हेर-फेर से बने अनेक योग कदम-कदम पर दृष्टिगोचर होते हैं। एतदर्थ आप भी शास्त्र का अवलोकन करें।

सर्वलोहैः सुवर्णेन—यद्यपि आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने 'सर्वलोहैः' इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है—'पञ्चभिर्लोहैः—त्रपुसीसताम्ररूप्यकृष्णलोहैः'। किन्तु यह वचन श्रद्धेय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पहले तो लोह शब्द ही सातों धातुओं का सूचक है, उसमें भी 'लोह' के साथ प्रयुक्त 'सर्व' शब्द विषय को और भी स्पष्ट कर दे रहा है। जरा आप भी ध्यान दें—'सर्वं स्यात् तैजसं लोहम्'। अमरकोष का० २ वर्ग ९।९९। तथा—'स्वर्णे मुण्डे कान्तलोहे ताम्रे पित्तलरौप्यके। शीपवङ्गे तथास्त्रे च लोहसञ्ज्ञा प्रकीर्तिता'॥ मेदिनी। पुरा लोमिनदैत्यानां निहतानां सुरैर्युधि। उत्पन्नानि शरीरेभ्यो लोहानि विविधानि च'॥ अभिनवनिघंटु। अन्यत्र—'सुवर्णचन्द्रलोहार्कवङ्गाहियशदायसम्। लोहसप्तकमाख्यातम्'॥ 'स्वर्णताराराताम्राणि नागवङ्गौ च तीक्ष्णकम्। धातवः सप्तविशेया अष्टमः क्वापि पारदः'॥ इस प्रकार सात धातुओं (सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा, सीसा, जस्ता और लोहा) का सूचक एक शब्द 'लोह' है। अतः 'सर्वलोह' शब्द से एकबार सुवर्ण का ग्रहण हो जाने के बाद

जो दूसरी बार 'सुवर्ण' का उल्लेख किया गया है, तदनुसार यह निश्चय कर लें कि उक्त रसायन में सुवर्ण भस्म की मात्रा दुगुनी लेनी चाहिए। यथा—'एकमप्यौषधं योगे यस्मिन् यत् पुनरुच्यते। मानतो द्विगुणं प्रोक्तं तद् द्रव्यं तत्वदर्शिभिः' ॥ अर्थात् जिस योग में एक ही द्रव्य का दो बार नामोल्लेख हुआ हो तो उसे दुगुना लेना चाहिए।

आचार्य गंगाधर ने ऊपर ४५वें श्लोक की भाँति तन्त्रकार की इच्छा का ध्यान न रखते हुए इस ४६वें श्लोक में भी ६ योगों की कल्पना की है। ऐसा लगता है, इनके सामने टीका लिखते समय वृद्धवाग्भट द्वारा रचित 'अष्टांग-संग्रह' रहा होगा, उससे प्रभावित होकर वे ऐसा लिख गये। किन्तु 'चरकसंहिता' के उक्त पाठ से 'संग्रह' के पाठ में महान् अन्तर है। ध्यान से देखें—अ० सं० उ० तं० अ० ४९।

अनम्लं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु। नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य सम्भवः ॥४८॥
हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरात्[1] कृष्णायसादपि। रसायनं तद्विधिभिस्तद् वृष्यं तच्च रोगनुत् ॥४९॥

शिलाजीत के गुण—यह स्वाद में खट्टापन से रहित, कसैला, विपाक में कटु, वीर्य में न अधिक गरम और न अधिक शीतल ही होता है। ऐसी स्थिति को समशीतोष्ण या मादिल कहते हैं। इसकी उत्पत्ति सुवर्ण, रजत, ताम्र तथा कृष्णायस (लौह)—इन चार धातुओं से होती है। यह अपने उत्पत्ति-क्रम से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होता है, अर्थात् स्वर्ण शिलाजतु से रजत, रजत से ताम्र और ताम्र से भी लौह शिलाजतु श्रेष्ठ होता है। विधिपूर्वक सेवन करने से यह रोगनाशक, वीर्यवर्धक तथा रसायन होता है।

वक्तव्य—शिलाजतु (शिला = पत्थर, जतु = लाख जैसा गोंद) विविध प्रकार के पत्थरों की खानों से प्राप्त होने वाला यह भौम द्रव्य है। आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि शिलाजीत भौम द्रव्य नहीं अपितु वानस्पतिक द्रव्य है। उनकी मान्यता है कि यह पर्वतीय वनस्पतियों के निर्यास से बनता है। वनस्पतियों का वह निर्यास शिलाओं के उपर से बहकर आता है; अतएव उसे 'शिलाजतु' कहा गया है। इसकी प्रामाणिकता के लिए निम्नलिखित ग्रन्थों का अवलोकन करें—(i) V. K. Lal & P. Joshi : A vegetable product. J. R. I. M. Vol. 13. No. 3, 1678. (ii) S. Ghoshal : Shilajit : Its chemical constituents. J. P. S. Vol. 65 No. 5 (May 1976).

ऊपर तन्त्रकार ने ४ प्रकार के शिलाजतु का वर्णन किया है, किन्तु सुश्रुत-संहिता में इसको ६ प्रकार के धातुओं से उत्पन्न होने वाला बतलाया गया है। यथा—'त्रप्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयम्। श्रेयं स्वगन्धतश्चापि षड्योनिप्रथितं क्षितौ' ॥ सु० चि० अ० १३।५। अर्थात् इस शिलाजीत में त्रपु (राँगा), शीशा, ताँबा, चाँदी, सोना तथा कृष्णलोह इनमें से कोई एक धातु मिली रहती है। इसके ६ उत्पत्ति स्थान हैं। इनको इनकी (अपनी) गन्ध से पहचानना चाहिए। श्रेष्ठता के क्रम में चरक तथा सुश्रुतसंहिता का एक-सा ही मत है। इनमें लौह-शिलाजतु श्रेष्ठ होता है, अन्य भेद दुर्लभ भी होते हैं। शोधन-पद्धति के अनुसार यह दो प्रकार का होता है—१. सूर्यतापी और २. अग्नितापी।

वरात्—निर्णयसागरीय प्रति के मूलपाठ में 'वरात्' और पाठभेद के रूप में 'वरं' दिया है। हमारे विचार से 'वरं' पाठ ही अधिक ठीक है, विद्वान् विचार करें।

प्राप्ति-स्थान—ग्रीष्मऋतु में सूर्य की प्रखर गर्मी से तपकर शिलासमूह से जो गाढ़ा स्राव निकलता है, उसे 'शिलाजतु' या शिलाजीत कहते हैं। इसमें से गोमूत्र की-सी गन्ध आती है। यह नेपाल, भूटान, तिब्बत, गिल्गित, ऋषीकेश तथा कुमाऊँ के पर्वतों से प्राप्त होता है। इसे अंग्रेजी में (Mineral pitch) कहते हैं।

रस-विवेचन—आचार्य चक्रपाणि ने अपने 'चिकित्सासंग्रह' में **'अनम्लश्चाकषायश्च'** लिखा है जिसका अर्थ होता है कि यह न खट्टा और न ही कषैला होता है। इसका निर्णय हम अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों को उद्धृत करते हुए करते हैं। 'अनम्लं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु। नात्युष्णशीतं। चरक। 'तत् सर्वं तिक्तकटुकं [illegible] कटपाव्युष्णवीर्यञ्च ॥ सु० चि० अ० १३।८। और 'शिलाजं कटुतिक्तोष्णं कटुपाकम्। भा० प्र०। इन उद्धरणों को देखने से चरकोक्त **'अनम्लं'** का अर्थ अम्ल[illegible] शास्त्रसम्मत भी है और प्रत्यक्ष भी। अन्य टीकाकारों ने जो 'अन[illegible] अर्थ यहाँ चिन्तनीय है।

१. 'वरम्' इति पा०।

वातपित्तकफघ्नैश्च निर्यूहैस्तत् सुभावितम्। वीर्योत्कर्षं प[illegible]

भावना-द्रव्य—वात, पित्त तथा कफनाशक औषधसमूह के निर्यूहों (क्वाथों) से शिलाजीत को भली भाँति भावना देने पर इसके गुणों में वृद्धि हो जाती है। यह भावना वातनाशक, पित्तनाशक तथा कफनाशक द्रव्यों के सम्मिलित क्वाथ से अथवा एक-एक दोषनाशक क्वाथ से देनी चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर शिलाजीत के भावना-द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, वह भी सूत्र रूप में; जिसका विशद् वर्णन अन्यत्र उपलब्ध होता है। ध्यान देने की बात यह है कि भावना देने के पहले शिलाजीत का शोधन कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा सम्भव नहीं कि सर्वांश शुद्ध शिलाजीत का संग्रह हो सके, क्योंकि इसमें धूल, मिट्टी, कंकड़ आदि अनेक अपद्रव्य मिले रहते हैं।

शोधन-विधि—गाय का दूध या त्रिफला-क्वाथ आदि द्रवों में शिलाजीत को पीसकर डाल दें और कुछ देर (२-३ घंटे) बाद हाथ से मसल दें। इसके लिए एक भाग शिलाजीत और उससे दूना द्रव पदार्थ लें। इस क्रिया को किसी लोहे के पात्र में करना चाहिए। कुछ देर बाद मिट्टी, कंकड़ आदि भारी पदार्थ उस पात्र के नीचे बैठ जायेंगे और शिलाजीत उस द्रव में घुल जायेगी, तदनन्तर शिलाजीत युक्त उस जल को दूसरे लौह पात्र में लेते समय सावधानी से वस्त्र से छान लें। इस विधि से प्राप्त उस शिलाजीत के घोल को धूप में सुखा लें तो वह **सूर्यतापी शिलाजीत** कही जाती है और यदि आग पर रखकर सुखा लें तो उसे **अग्नितापी शिलाजीत** कहते हैं।

शुद्ध शिलाजीत—इसे आग में डालने पर धुआँ नहीं निकलता। तिनके के अग्रभाग में लगाकर पानी में डालने पर वह धागे के सदृश नीचे की ओर जाता है और इसमें गाय के मूत्र की सी गंध आती है। इसका वर्ण स्वर्ण आदि धातु के सदृश होता है। सामान्य रूप से लोहज शिलाजीत मिलता है. यह लोहे के सदृश (काले वर्ण का) होता है।

भावना-निर्देश—'व्याधिव्याधितसात्म्यं समनुसरन् भावयेदयःपात्रे। 'प्राक्केवलजलधौतं शुष्कं क्वाथैस्ततो भाव्यम्' ॥ अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४९। अर्थ स्पष्ट है। वातघ्न, पित्तघ्न, कफघ्न द्रव्यों का उल्लेख प्रायः सभी संहिताओं में उपलब्ध होता है, विशेषकर अष्टांगसंग्रह तथा चिकित्साकलिका आदि में देखें।

प्रक्षिप्तोद्धृतमप्येनत् पुनस्तत् प्रक्षिपेद्रसे। कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना ॥५१॥

भावना देने की विधि—जिस दोष के नाशक द्रव्य के क्वाथ से भावना देनी हो उसके गुनगुने क्वाथ में शिलाजीत को डाल कर धूप में सूखने के लिए रख दें, जब पहली बार डाला हुआ क्वाथ-द्रव सूख जाये तो पुनः उसी प्रकार से बने हुए क्वाथ में शिलाजीत को डाल दें। इसी विधि से एक सप्ताह तक (प्रतिदिन एक-एक) भावना दें।

वक्तव्य—सामान्य रूप से सात भावनाएँ दी जाती हैं। द्रव्य विशेष के लिए यथास्थान भिन्न-भिन्न निर्देश दिये जाते हैं। यहाँ **'सप्ताहमेतेन विधिना'** केवल ग्रीष्मऋतु में ही सात दिन में सात भावनाएँ दी जा सकती हैं। चिकित्सा की दृष्टि से शिलाजीत को वातनाशक आदि औषध-गणों के क्वाथों से भावित करके रखते हैं और तदनुसार प्रयोग कर रोगी को स्वास्थ्य प्रदान कर स्वयं यश, धन आदि प्राप्त करते हैं।

वृद्धवाग्भट के अनुसार शिलाजीत के समान क्वाथ्य द्रव्यों को लेकर आठ गुने जल में उसका क्वाथ करें। जब अष्टमांश जल शेष रह जाये तो उसे वस्त्र से छानकर उससे शिलाजीत को भावित करें, यह क्रिया सात बार करें। देखें—अ० सं० उ० अ० ४९।

आचार्य चक्रपाणि ने 'चिकित्सासंग्रह' ग्रन्थ के रसायनाधिकार प्रकरण में भावना देने के लिए क्वाथ की जो मात्रा लिखी है, वह व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। उस क्वाथ्य द्रव को सुखाने में अधिक समय लगेगा। आप भी प्रयोग करके देखें। आचार्य गङ्गाधर के अनुसार शिलाजीत की भावना-विधि यह है—'शिलाजतु कोष्णे वातहरादिक्वाथे प्रक्षिप्य अथैनद् रौद्रे शोषयेत्। पीततत्क्वाथमुद्धृतं पुनरपि तद् रसे क्वाथे प्रक्षिपेत्।

अनेन विधिना सप्ताहं (सप्त वारान्) तस्य भावना' ॥ इति । **रौद्रे शोषयेत्**—इसे प्रचण्ड धूप में सुखाना चाहिए । शेष अर्थ स्पष्ट है ।

पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह । तत् पीतं पयसा दद्याद् दीर्घमायुः सुखान्वितम् ॥५२॥
जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम् । मेधास्मृतिकरं धन्यं क्षीराशी तत् प्रयोजयेत् ॥५३॥

शिलाजीत सेवन-विधि तथा उसके लाभ—पूर्वोक्त विधान के अनुसार, अर्थात् भलीभाँति शुद्ध किये हुए तथा भावना से युक्त शिलाजीत के चूर्ण को चूर्ण किये गये लोहों (सर्वधातुओं) के साथ मिलाकर दूध के साथ (दूध में मिलाकर) पीने से यह योग सुखद दीर्घायु को प्रदान करता है ।

फलश्रुति—इस शिलाजतु रसायन का सेवन करने से रोग तथा असमय में होने वाले वृद्धावस्था के लक्षण दूर हो जाते हैं । यह शरीर को सुदृढ़ करनेवाले योगों में श्रेष्ठ है, यह धारणाशक्ति तथा स्मरणशक्ति को बढ़ाता है तथा धन-धान्य से युक्त करता है । इसके सेवन-काल में दूध का पर्याप्त सेवन करना चाहिए ।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'लोहैश्चूर्णीकृतैः' पद आया है । यहाँ पर लौह शब्द समस्त धातुओं का संकेतक है और उसका बहुवचन भी सप्तधातुओं के ग्रहण का संकेत कराता है । सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अ० १०।११ में तथा अ० हृ० अ० १२।२८-३१ में अयस्कृतियों का वर्णन है, जो चूर्ण रूप में प्रयोग करायी जाती हैं । रसशास्त्रों के अनुसार चूर्ण के स्थान पर भस्मों का ही प्रयोग कराना चाहिए । दोनों ही विधियाँ शास्त्रसम्मत हैं । शास्त्रज्ञ चिकित्सक स्वयं भी विचार करें ।

प्रयोगः सप्तसप्ताहस्त्रयश्चैकश्च सप्तकः । निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा ॥५४॥
पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता ।

काल तथा मात्रा-निर्देश—शिलाजीत का सात सप्ताह (४९ दिन) तक निरन्तर प्रयोग करना उत्तम प्रकार है । निरन्तर तीन सप्ताह (२१ दिन) तक प्रयोग करना मध्यम प्रकार है और केवल एक सप्ताह तक जो प्रयोग किया जाता है, वह अवर (अधम) है । इस प्रकार शिलाजीत के प्रयोग की तीन विधियाँ हैं । इसकी मात्रा के भी तीन भेद हैं—१. एक पल=४ तोला की (उत्तम) मात्रा, २. आधा पल=२ तोला की (मध्यम) मात्रा और ३. एक कर्ष=१ तोला की (अवर) मात्रा होती है ।

वक्तव्य—काल-निर्देश के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यह शारीरिक स्थिति आदि का विचार कर चिकित्सक स्वयं निर्णय करें कि किसको कितने दिनों तक इसका प्रयोग कराना उचित होगा, क्योंकि अल्पदोष वाले व्यक्ति के लिए अल्प समय तथा अल्पमात्रा ही उत्तम होती है । इस दृष्टि से उत्तम, मध्यम, अवर काल तथा मात्राओं का भी विवेचन चिकित्सा अथवा रसायन-सेवन के पूर्व अवश्य कर लेना चाहिए ।

मात्रा-विवेचन—वाग्भट के अनुसार मधुमेह के रोगी के लिए १ तुला (५ सेर) शिलाजीत के सेवन का विधान है । सुश्रुतसंहिता में तो—'शतं शतं तुलायान्तु सहस्रं दशतौलिके' । सु० चि० अ० १३।१३ । १० तुला (५० सेर) शिलाजीत खाने का आदेश है । इस कल्प का यथाविधि निर्वाह कर लेने वाले पुरुष की आयु एक हजार वर्ष की हो जाती है । यदि कोई रोगी १-२ तोला या ५-७ तोला शिलाजीत का सेवन करने के बाद यह कहने लगे, कि नहीं भाई इससे तो कोई लाभ नहीं हुआ, तो वह शास्त्र की दृष्टि से अपराधी है । इस अवसर पर उसके आहार-विहार पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए ।

सुश्रुतसंहिता अ० १३।१२ में इसका सेवन भल्लातक-कल्प की भाँति करने का निर्देश दिया गया है । उस स्थिति में इसकी पूर्ण मात्रा १०० पल (४०० तोले) होती है । आज की स्थिति में यह मात्रा सेवन कराने की दृष्टि से विचारणीय है । वर्तमान स्थिति में इसकी सामान्य मात्रा १२५ मि० ग्रा० से लेकर ३ से ६ ग्राम तक प्रयोग करायी जाती है ।

जातेर्विशेषं सविधिं तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ॥५५॥
हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः । जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतु ॥५६॥

शिलाजीत की उत्पत्ति—अब इस वर्णन करने के पश्चात् शिलाजीत के जाति-भेदों का सविधि वर्णन किया जायेगा । ग्रीष्मऋतु में सूर्य की प्रखर गर्मी से तपे हुए सुवर्ण आदि गिरि (पहाड़ों या पत्थरों की खानों

से उत्पन्न होने वाली) धातुएँ जतु (लाक्षा) के सदृश सुकोमल, स्वच्छ (चिकनी) मिट्टी जैसे जिस मल का स्राव करती हैं; उसे शिलाजतु कहते हैं ।

वक्तव्य—प्राचीन संहिताओं से लेकर परवर्ती निघण्टुओं तक में शिलाजीत की उत्पत्ति का वर्णन समान रूप से पाया जाता है, अन्तर केवल इतना है कि महर्षि आत्रेय ने इस शिलाजतु को चार धातुओं का मल स्वीकार किया है और सुश्रुत में इसकी उत्पत्ति ६ धातुओं से मानी गयी है । कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में जो नयी कल्पना की है, उसका संकेत हमने इसी अध्याय के ४८-४९ श्लोकों के वक्तव्य में किया है ।

मधुरश्च सतिक्तश्च जपापुष्पनिभश्च यः । कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निस्रवः ॥५७॥

सुवर्ण शिलाजतु के गुण-धर्म—जो रस में तिक्त रसयुक्त मधुर, आकृति में जपा (गुड़हल) के फूल के आकार जैसा, विपाक में कटु और वीर्य में शीतल होता है, वह सोने के पत्थरों से निकला हुआ शिलाजीत होता है ।

वक्तव्य—जपापुष्प (Chiha rose) आज उद्यानों में अनेक वर्णों के दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु सुवर्णज शिलाजतु का वर्ण पीताभ रक्तवर्ण वाला होता है । देखें—'सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः' । मेघदूत, श्लोक ३६ ।

रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादु विपच्यते । ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः पच्यते कटु ॥५८॥

रजत शिलाजतु के गुण-धर्म—रजत (चाँदी के शिलाखंडों से उत्पन्न) शिलाजीत रस में कटु, वर्ण में श्वेत, वीर्य में शीत तथा विपाक में स्वादु (मधुर) होता है ।

ताम्र शिलाजतु के गुण-धर्म—ताम्र (ताँबा के शिलाखंडों से उत्पन्न) शिलाजीत वर्ण में मोर के कण्ठ की आभा वाला अर्थात् नीलाभ रक्तवर्ण वाला, रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण तथा विपाक में कटु होता है ।

वक्तव्य—रजत शिलाजीत श्वेत नहीं, अपितु श्वेताभ-धूम्रवर्ण का होता है । ताम्रज शिलाजीत का वर्ण मयूर के कण्ठ की आकृतिवाला कहा गया है । उसके कण्ठ की आभा नीली होते हुए भी किञ्चित् ताम्रवर्ण की होती है, आप मोर के कण्ठ को ध्यान से देखें । उसे 'नीलकण्ठ' इसलिए कहा गया है कि उसमें नीलवर्ण की प्रधानता होती है । देखें—'केकीकण्ठाभनीलम्' सूक्ति ।

यहाँ रजत आदि की शिलाओं से उत्पन्न शिलाजीतों के विपाक भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं, जब कि 'कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटु' । कटु, तिक्त, कषाय रसवाले पदार्थों का विपाक प्रायः कटु होता है, ऐसा शास्त्रीय निर्देश है । फिर भी ये जो अलग-अलग विपाकों का उल्लेख किया गया है, उसमें कारण है उन-उन का व्यक्तिगत प्रभाव क्योंकि 'प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते' । प्रभाव को अचिन्त्य (जिसका कोई हेतु न हो और जिसमें कोई तर्क न हो) कहा गया है ।

यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः । कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ॥ ५९ ॥

लौह शिलाजीत के गुण-धर्म—जो शिलाजीत गुग्गुलु के सदृश कान्तिवाला, रस में लवणरसयुक्त तिक्तरस-प्रधान, विपाक में कटु और वीर्य में शीत होता है, वह लौह शिलाजीत सभी शिलाजीत के भेदों में श्रेष्ठ होता है ।

वक्तव्य—ऊपर 'सर्वश्रेष्ठः स चायसः' कहा गया है । इसका समर्थन सुश्रुतसंहिता चि० अ० १३।७ में इस प्रकार किया गया है—'त्रपुसीसायसादीनि प्रधानान्युत्तरोत्तरम्' । 'यथा तथा प्रयोगेऽपि श्रेष्ठः श्रेष्ठगुणाः स्मृताः' ॥ यहाँ पर महर्षि सुश्रुत ने सिद्धान्तपक्ष तथा व्यवहारपक्ष दोनों ही का उपस्थापन अत्यन्त कुशलता के साथ किया है ।

सिद्धान्तपक्ष—लोहज शिलाजीत को सामान्य दृष्टि से सभी ने श्रेष्ठ माना है । शायद वे ऋषि-महर्षि यह भी जानते रहे हों कि कालान्तर में अन्य शिलाजीत दुर्लभ हो जायेंगे, लोहज शिलाजीत ही प्राप्त हो सकेगा । इसलिए इसकी प्रशंसा करना आवश्यक है, अन्यथा अपनी-अपनी जगह पर तो सबका महत्त्व होता ही है ।

व्यवहारपक्ष—निम्नलिखित तालिका के अनुसार रस, वीर्य, विपाक आदि का विचार कर किस प्रकृति

वाले पुरुष के लिए कौन शिलाजीत उपयुक्त होगा, वह-वह उस-उसके लिए श्रेष्ठ होगा, यह सुनिर्णीत विषय है। आगे देखें श्लोक ६१ के आशय को।

शिलाजीत-परिचय-तालिका

धातु	रस	वीर्य	विपाक	वर्ण	विशेष
सुवर्ण	मधुर-तिक्त	शीत	कटु	जपापुष्पाभ	सुश्रुत में त्रपु (राँगा) तथा सीसा की खानों से भी शिलाजीत की उत्पत्ति वर्णित है।
रजत	कटु	शीत	स्वादु	श्वेताभ	
ताम्र	तिक्त	उष्ण	कटु	मयूरकण्ठाभ	
लोह	लवण-तिक्त	शीत	कटु	गुग्गुलुकाभ	

गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः। रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ॥६०॥
यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु। विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः ॥६१॥

शिलाजतु-प्रयोग-निर्देश—सभी (चारों) प्रकार के शिलाजीतों में गोमूत्र की-सी गन्ध होती है। इनका प्रयोग सभी (चिकित्सा सम्बन्धी) कर्मों में होता है। यह शिलाजीत यौगिक (योगवाही) होता है। केवल रसायन के प्रयोग के लिए पश्चिम (अन्तिम=लोहजशिलाजीत) अधिक लाभकारी होता है।

सुवर्ण आदि चारों धातुओं के मलरूप में उत्पन्न शिलाजीत क्रम से वात-पित्त में, कफ-पित्त में, कफ में तथा तीनों दोषों में विशेष करके लाभदायक होते हैं। अर्थात् सुवर्णज शिलाजीत वात-पित्तज विकारों में, रजतज शिलाजीत कफ-पित्तज विकारों में, ताम्रज शिलाजीत (उष्ण होने के कारण) कफज विकारों में और लौहज शिलाजीत वात, पित्त, कफ जनित विकारों में हितकर होता है।

वक्तव्य—ऊपर महर्षि आत्रेय ने ताम्रज शिलाजीत को उष्णवीर्य वाला स्वीकारा है तथा शेष को शीतवीर्य। वास्तव में शिलाजीत 'नात्युष्णशीतम्' न बहुत उष्ण न बहुत शीत अर्थात् योगवाही कहा गया है। जैसे सुश्रुत में रक्त को 'अनुष्णाशीत' कहा गया है।

शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च। वर्जयेत् सर्वकालं तु [1]कुलत्थान् परिवर्जयेत् ॥६२॥

शिलाजीत-सेवन में पथ्य—शिलाजीत के योग से बने हुए औषधयोगों का सेवन करते समय विदाही (जलन पैदा करने वाले) तथा गुरु (देर में पचने वाले) अन्न-पानादि का सेवन नहीं करना चाहिए और कुलथी का प्रयोग तो किसी स्थिति में न करे।

वक्तव्य—शिलाजीत के सेवन काल में ऊपर जिनको अपथ्य (अहितकर) कहा गया है, उनको दूने समय तक त्याग दें। जैसे—एक सप्ताह तक शिलाजीत का सेवन करना है तो दो सप्ताह तक अपथ्य पदार्थों का परित्याग करें। **अपथ्य**—व्यायाम, आतप (धूप), तेज हवा, मानसिक क्लेश, गुरु तथा विदाहकारक पदार्थ, कुलथी, मकोय, कपोत-मांस को सदैव त्याग दें। विशेष देखें—अष्टांगसंग्रह उ० अ० ४९। उपर्युक्त अपथ्यों के निषेध में कारण का निर्देश आगे किया गया है।

ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदनाः परम्। लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥६३॥

कुलथी के निषेध में कारण—कुलथी के गुण और शिलाजीत के गुण आपस में अत्यन्त विरुद्ध होते हैं। कुलथी में पत्थरों (पथरी नामक रोगविशेष के टुकड़ों) को तोड़ देने की शक्ति होती है, ऐसा लोक (आयुर्वैदिक चिकित्सा-क्षेत्र) में देखा गया है, इसीलिए इसके प्रयोग का निषेध शिलाजीत के सेवन-काल

१. 'कुनखान्' इति पा०।

वक्तव्य—शिलाजीत धातु-भेद से एक पाषाणोत्थ द्रव्य है। अश्मरी (A disease called stone) रोग में उत्पन्न पत्थर के टुकड़ों को गलाने के लिए कुलथी के क्वाथ का प्रयोग होता है, जिससे लाभ होता देखा जाता है। अतः जो पत्थर के टुकड़ों को गलाकर निकाल देती है, वह पत्थरों से निकले हुए पदार्थ (शिलाजीत) को शरीर से बाहर न निकाले, ऐसा हो नहीं सकता। अतएव शिलाजीत के सेवन-काल में कुलथी के सेवन का निषेध है।

पयांसि [1]तक्राणि रसाः सयूषास्तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्तास्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम् ॥ ६४ ॥

शिलाजीत को घोलने योग्य द्रव—गाय का दूध, मट्ठा, रस (मांसरस), यूष, जल, गोमूत्र तथा अनेक प्रकार के क्वाथ शिलाजीत को घोलने के लिये प्रशंसित हैं। इस प्रकार उसे घोलकर कार्य (चिकित्सा-कार्य की स्थिति) को देखकर उन-उनका प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ सबसे पहले दूध का उल्लेख किया गया है। अतः शिलाजीत का अधिकांश सेवन दूध में घोल कर ही किया अथवा कराया जाता है। शेष तक्र आदि द्रवों का भी प्रयोग किया जाता है। इनके अतिरिक्त भी अन्य द्रवों के साथ सेवन करने की अनुमति शास्त्रकारों ने दी है। पाठभेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के सिरकों के साथ भी इसका सेवन किया जाता है।

कार्यं प्रसमीक्ष्य प्रयोज्याः—किस रोग में इसका प्रयोग कराना है, तदनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था करके उस प्रकार के द्रव में इसे घोलने की अनुमति देनी चाहिए। ऐसे ही ढेला या चूर्ण के रूप में शिलाजीत का प्रयोग नहीं करना चाहिए। रसायन के रूप में भी जब इसका प्रयोग कराना होता है, तब भी यही प्रक्रिया करनी चाहिए।

यथा—'ज्वरी ज्वरघ्नाम्बुदपर्पटाद्यैः क्वाथेन रक्ती मधुयष्टिकायाः। शोषी रसैः क्रव्यमृगामिषोत्थैर्मायूरमांसैः पयसा च कार्श्ये ॥ मध्वम्बुना मेदसि सम्प्रवृद्धे क्षीरेण पर्याकुलबुद्धिसत्त्वः। पाण्ड्वामयार्तोदरे सशोफे पिबेच्छिलाजं महिषीजलेन' ॥ अष्टाङ्गसं० उ० अ० ४९। इस प्रकार अन्य रोगों में किस-किस के साथ शिलाजीत का प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकरण में विस्तार से लिखा है।

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य।
तत् कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति ॥ ६५ ॥

(इति शिलाजतुरसायनम्।)

शिलाजीत की विशेषता—भूलोक में ऐसा कोई भी साध्य रोग नहीं है, जिसे शिलाजीत का विधिवत् किया गया प्रयोग हठात् जीत न ले। उस (शिलाजीत) का देश, काल आदि का विचार कर उचित योगों के साथ यथाविधि प्रयोग करने से स्वस्थ (नीरोग) पुरुष को यह उत्तम शक्ति प्रदान करता है।

वक्तव्य—यहाँ शिलाजीत की जो प्रशंसा की गयी है, उसको दूसरे लोग जो भी कहें, किन्तु चिकित्सक समाज इसकी वास्तविकता को समझता है, वही इसका तत्त्ववेत्ता है। यह पद्य विशेष रूप से शिलाजीत की रोगनाशक क्षमता तथा इसके रसायन होने की सम्पुष्टि कर रहा है।

तत्र श्लोकः—

करप्रचितिके पादे दश षट् च महर्षिणा।
रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः ॥ ६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये करप्रचितीयो नाम रसायनपादस्तृतीयः ॥ ३ ॥

१. 'शुक्तानि' इति पा०।

उपसंहार—'करप्रचितीय' नामक इस तृतीयपाद में सिद्धरसायनों के सोलह योगों के संयोगों के वर्णन (महर्षि अग्निवेश ने) किये हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में जिन १६ रसायनों का संकेत किया गया है, वे इस प्रकार हैं—१. आमलकायस ब्राह्मरसायन, २. केवलामलकरसायन, ३. लौहादिरसायन, ४. ऐन्द्ररसायन, ५. मण्डूकपर्णीमेध्यरसायन, ६. यष्टीमधुमेध्यरसायन, ७. गुडूचीमेध्यरसायन, ८. शंखपुष्पीमेध्यरसायन, ९. पिप्पलीरसायन (प्रथम), १०. पिप्पलीरसायन (द्वितीय), ११. पिप्पलीवर्धमानरसायन, १२. त्रिफलारसायन (प्रथम), १३, त्रिफलारसायन (द्वितीय), १४. त्रिफलारसायन (तृतीय), १५. त्रिफलारसायन (चतुर्थ), १६. शिलाजतुरसायन।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय में करप्रचितीय नामक रसायन विषयक तृतीयपाद समाप्त ॥ ३ ॥

रसायनाध्याये चतुर्थः पादः

अथात आयुर्वेदसमुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

करप्रचितीय अध्याय का व्याख्यान करने के बाद अब हम 'आयुर्वेदसमुत्थानीय' रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इस चतुर्थपाद में आयुर्वेद के सम्यक् उत्थान की चर्चा की गयी है। अतः इसका नाम आयुर्वेद-समुत्थानीय है।

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना [1]यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्व-किन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभव-मतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासित-गौतमप्रभृतयो महर्षयः ॥ ३ ॥

शालीन और यायावर ऋषियों पर ग्राम्य आहारों का प्रभाव—प्राचीन काल में किसी समय शालीन (घर बनाकर उसमें रहने वाले अतएव शीलवान्) तथा यायावर (Vagrant mendicant अर्थात् सर्वदा भ्रमणशील) ऋषिगण ग्राम्य ओषधियों (फल के पक जाने पर जिनके पौधे सूखकर समाप्त हो जाते हैं, जैसे—गेहूँ, जौ, चना, मूँग, उड़द आदि) का आहार करते हुए शरीर से सम्पन्न (हृष्ट-पुष्ट) होने पर भी मन्द चेष्टा (अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन स्वभाव) वाले तथा प्रायः (अधिकांश) अस्वस्थ रहने लगे थे।

वे (दोनों प्रकार के ऋषिगण) जब अपने सभी कर्तव्यों (**नित्य**—स्नान, सन्ध्या, व्रत, जप आदि तथा **नैमित्तिक**—यज्ञ आदि) के प्रति अपने को असमर्थ मानने लगे और उस असमर्थता का कारण जब उन्होंने ग्राम्य वासरूपी अपने दोष को माना, तब वे अपने पूर्वनिवास-स्थान हिमालय पर्वत को जो ग्राम्य दोषों से सर्वथा रहित है, कल्याणकारी है, पुण्य (पवित्रता) को देने वाला है, उदार (अपने-पराये के भेद-भाव से रहित)

1. 'शालाप्रवेशमर्हन्तीति शालीनाः, गृहं निर्माय एकत्र कृतावस्थानाः। यायावराः पुनः पुनर्गमनशीलाः। अर्थादिसम्पत्त्या सम्पन्ना एव साम्पन्निकाः' इति योगीन्द्रनाथसेनः।

है, मेध्य (मेधाशक्तिवर्धक) है तथा असुकृती पुरुषों (पापियों, अधर्मियों) द्वारा अगम्य है अर्थात् पापीजन वहाँ नहीं पहुँच सकते, जो गंगा का उत्पत्ति-स्थान है, जहाँ अमर (देवता), गन्धर्व, किन्नरजनों द्वारा सेवित अनेक रत्नों का निचय (यथा—'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य'। कुमारसम्भव, कालिदास) अर्थात् अनेक रत्नों के उत्पत्ति-स्थान हिमालय का अचिन्त्य एवम् अद्भुत प्रभाव है, अनेक ब्रह्मर्षि, सिद्ध, चारण आदि द्वारा सेवित, दिव्य (अलौकिक शक्तिसम्पन्न) तीर्थों तथा ओषधियों का उत्पत्ति-स्थान, शरण में आये हुए लोगों का रक्षक तथा देवताओं के स्वामी इन्द्र द्वारा सुरक्षित हिमालय पर्वत के समीप भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि महर्षिगण चले गये।

वक्तव्य—उक्त गद्य में महर्षि आत्रेय ने तपःपूत एवं जितेन्द्रिय महर्षियों पर भी देश, काल, सहवास आदि का प्रभाव पड़ जाता है, इसका स्पष्ट संकेत किया है, क्योंकि 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'। सूक्ति। किन्तु 'प्रायेण' शब्द से उनकी लाज भी बचायी है।

शालीनाः—'स्यादधृष्टे तु शालीनः'। अमर०। शालीन का एक पर्याय है 'अधृष्ट' अर्थात् सौम्य स्वभाव वाले तथा 'शालाप्रवेशम् अर्हति' घर में प्रवेश पाने योग्य, अर्थात् किसी के भी घर में स्थान पाने योग्य। वास्तव में शालीन (एक जगह स्थिर होकर रहने वाले) तथा यायावर (इधर-उधर घूमने के अभ्यास वाले अथवा विशेष कुल में उत्पन्न होने वाले) ऋषिगण रोग-पीडित मानव समाज के उपकार की दृष्टि से अपने मूल-स्थान हिमालय से यात्रा के लिए निकल पड़े। यात्रा में जलवायु के परिवर्तन तथा खान-पान के व्यतिक्रम से स्वास्थ्य में गड़बड़ी आ जाती है, क्योंकि उन दिनों उक्त महर्षियों की दिनचर्या ग्रामीण जनों के समान हो गयी थी।

ग्राम्यौषध्याहाराः—'ग्रामे भवं ग्राम्यम्', ग्राम+यत्, ग्राम्य में मूलशब्द ग्राम है। आप इस पर विचार करें। 'ग्रामः स्वरे संवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वकः'। इति विश्वः। ग्राम का एक पर्याय 'संवसथ' भी है, जिसकी व्युत्पत्ति है—'संवसन्ति अत्र' जहाँ लोग सामूहिक रूप से रहते हैं, उसे ग्राम कहते हैं। निश्चय ही ये तपोवनों के निवास की प्रकृति से विपरीत होते हैं, अतएव शालीन तपस्वियों के लिए असात्म्य (प्रतिकूल) थे; और यायावर (भ्रमणशील) ऋषियों के लिए एक जगह स्थिर होकर रहना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था और कन्दमूल, फल आदि के सेवन से कालयापन करने वाले महर्षि गाँवों में रोटी, दाल, भात, पूड़ी, कचौड़ी, खीर, हलुआ आदि गरिष्ठ भोजन करने लग गये थे, जिससे उनका शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ गया था। अतएव वे भी प्रायः अस्वस्थ हो गये थे, जिससे उनके दैनिक कृत्य बाधित हो गये थे। इस बात का उनको अनुभव हुआ और वे अपनी मूल निवास-भूमि हिमालय को लौट आये।

हिमालय की अधित्यका (ऊपरी भाग) में गन्धर्व, किन्नर आदि जातियों का निवास बतलाया गया है। इनको देवयोनि की संज्ञा दी गयी है। देखें—'विद्याधरोऽप्सरो-यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' ॥ अमर० १।१।११।

तानिन्द्रः सहस्रदृगमरगुरुरब्रवीत्—स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणाम्। अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च; ग्राम्यो हि वासो मूलम-शस्तानां, तत् कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां, स्वशरीरमवेक्षितुं [1]कालः कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षीणाम्; आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां, प्रजापतये ब्रह्मा, प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदाना-ध्ययनसञ्चयं मत्वा पुण्यतममायुःप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हताथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मन-श्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति ॥ ४ ॥

ऋषियों को इन्द्र का उपदेश—हिमालय प्रदेश में स्थित उन ऋषियों से हजार नेत्रों वाले अमर गुरु इन्द्र ने कहा—ज्ञान और तप ही है धन जिनका ऐसे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मर्षियों (ब्राह्मण ऋषियों) का स्वागत है। आप लोगों में जो ग्लानि (हर्षक्षय), अप्रभावत्व (प्रभावहीनता), स्वरविकृति, विवर्णता, ग्राम्यवास के कारण होने

1. 'स्वशरीरमरक्षिभिः, कालश्चायम्' इति पा०।

वाले दुःख तथा उस दुःख से सम्बन्धित जो अन्य दोष दिखलायी दे रहे हैं, उन सब कष्टों का मूलकारण है ग्राम्यवास, अर्थात् वहाँ के आहार-विहारों के सेवन का प्रतिफल।

आप जैसे पुण्यात्माओं (परोपकारियों) ने (विविध रोगों से पीड़ित) प्रजा (प्राणिवर्ग) पर अनुग्रह किया है। अब आप लोगों के लिए यह समय अपने शरीर की देख-रेख करने का है और यह समय आप ब्रह्मर्षियों को आयुर्वेद के उपदेश देने का है। अपने तथा प्रजा के ऊपर कृपा करने के लिए अश्विनीकुमारों ने इस आयुर्वेद का उपदेश मुझे दिया, इसके पहले प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को उपदेश दिया और प्रजापति को ब्रह्मा ने उपदेश दिया था।

प्रजावर्ग की अल्पायु, जरा (अकाल का बुढ़ापा), उनके अनुबन्धों को ध्यान में रखकर उनके कारण तपश्चर्या, दम (इन्द्रियों की इच्छाओं का दमन), नियम, दान, अध्ययन के संचय में अल्पता मानकर आप लोग मुझसे पुण्यतम, आयु को बढ़ाने वाले, जरा तथा व्याधि को नष्ट कर देने वाले, शरीर को शक्ति-सम्पन्न कर देने वाले, अमृत के समान कल्याणकारक, शरण्य (सभी प्रकार का रक्षक), उदार (प्राणिमात्र का हित करने वाले) आयुर्वेद का उपदेश सुन सकते हैं, याद कर सकते हैं, प्रकाशित (ग्रन्थ के रूप में अथवा उपदेश के रूप में) कर सकते हैं, प्रजा के कल्याण के लिए। यह आयुर्वेद ब्रह्म (वेदसम्मत) आर्ष (ऋषिप्रणीत) विज्ञान है। इसमें प्रजावर्ग के प्रति मित्रता तथा दयालुता का उपदेश है। यह अपने लिए भी सर्वश्रेष्ठ, पुण्यप्रद, उदार (संकुचित भावना से रहित), अविनाशी तथा ब्राह्म (ब्राह्मणोचित) कर्म है।

वक्तव्य—यद्यपि इन्द्र के सहस्रदृक् नाम से सम्बन्धित एक शाप-कथा प्रसिद्ध है, तथापि गुरु या उपदेष्टा को सहस्रदृक् (शास्त्रान्तरों की ज्ञानदृष्टि वाला) होना ही चाहिए। **अमरगुरु**—इस नाम से पुराणों में देवगुरु (बृहस्पति) प्रसिद्ध हैं। यहाँ इनका गुरुत्व इसलिए स्वीकार किया गया है कि एक तो ये देवराज हैं और दूसरे आयुर्वेदशास्त्र के उपदेष्टा हैं। ग्राम्यवास के सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं।

उक्त गद्य में आयुर्वेद-परम्परा का यह क्रम है—ब्रह्मा-प्रजापति-अश्विनीकुमार-इन्द्र-ब्रह्मर्षि। इनका विशेष विवेचन सूत्रस्थान में देखें। महर्षियों की ज्ञान-परम्परा 'आत्मनः प्रजानां च अनुग्रहार्थम्' थी। इतनी उदार होने पर भी उसका द्वार अयोग्यों के लिए सर्वदा अवरुद्ध था और होना भी चाहिए।

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः, प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति ॥ ५ ॥

इन्द्र के उपदेश की प्रशंसा—देवताओं के राजा इन्द्र के उक्त उपदेशों को सुनकर सभी ऋषियों ने देवताओं में श्रेष्ठ उस इन्द्र की विविध ऋचाओं (वेदमन्त्रों) से स्तुति की और प्रसन्न होकर उनके वचनों (उपदेशों) की प्रशंसा भी की।

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः सङ्क्रम्योवाच—एतत् सर्वमनुष्ठेयम्, अयं च शिवः कालो रसायनानां, दिव्याश्चौषधयो [1]हिमवत्प्रभवाः प्राप्तवीर्याः; तद्यथा—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावरी, विदारी, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला, स्थिरा, वचा, छत्रा, अतिच्छत्रा, मेदा, महामेदा, जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसम्पदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः ॥ ६ ॥

(इतीन्द्रोक्तं रसायनम्।)

इन्द्रोक्त रसायन प्रथम—तदनन्तर उस आयुर्वेदरूपी अमृत का उपदेश इन्द्र ने ऋषियों को क्रमबद्ध रूप से किया और कहा कि इस अमृतस्वरूपी आयुर्वेद का सम्पूर्ण रूप से आप लोगों को व्यवहार करना चाहिए। यह (दक्षिणायन) रसायनों के सेवन करने लिए उचित अवसर है। इस समय हिमालय प्रदेश में उत्पन्न होने वाली दैवी (लोकोत्तर) शक्तियों से सम्पन्न ओषधियाँ अपने-अपने वीर्य से परिपूर्ण होती हैं। वे ओषधियाँ हैं—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावरी, विदारी, जीवन्ती, पुनर्नवा

१. 'हिमवतः प्रभावात्' इति पा०।

नागबला, स्थिरा, वचा, छत्रा, अतिच्छत्रा, मेदा, महामेदा तथा जीवनीयगण में परिगणित सभी ओषधियों (जो प्राप्तवीर्य, अर्थात् अपने गुणों से परिपूर्ण हों) का छह मास पर्यन्त दूध के साथ सेवन करने से उत्तम आयु (परमायु), तरुण वय (सदैव युवक की जैसी शारीरिक स्थिति का बना रहना), अनामयत्व (रोग रहित रहना), उत्तम स्वर तथा उत्तम वर्ण से युक्त होना, स्वस्थ देह का होना, मेधा, स्मृति तथा उत्तम बल की प्राप्ति। इनके अतिरिक्त अन्य मन के अनुकूल वस्तुओं को भी सिद्ध पुरुष प्राप्त करते हैं।

वक्तव्य—'अथ इन्द्रः तत् आयुर्वेदामृतम् ऋषिभ्यः सङ्क्रम्य उवाच'—इस वाक्य में 'इन्द्र आयुर्वेदामृतम् ऋषिभ्यः उवाच' ऐसा सम्बन्ध है। यहाँ द्विकर्मक 'ब्रूञ्' धातु को लृट् लकार में 'ब्रुवो वचिः' सूत्र से 'वच्' आदेश हुआ है। यह 'ब्रूञ्' धातु द्विकर्मक है। अतः इसका प्रधानकर्म 'आयुर्वेदामृतम्' है। ऋषि शब्द में यहाँ द्वितीया बहुवचन (ऋषीन्) होना चाहिए था। किन्तु कर्म की अविवक्षा करके सम्प्रदान की विवक्षा में चतुर्थी हुई है। अर्थात् 'ऋषीन् उद्दिश्य' इस अर्थ में 'ऋषिभ्यः' ऐसा प्रयोग किया गया है, जो तन्त्रकार की इष्टि है। इस वाक्य का अर्थ है—इन्द्र ने वह आयुर्वेदामृत अपने में से ऋषियों में संक्रमित करते हुए कहा।

अयं शिवः कालः रसायनानाम्—प्रस्तुत गद्यांश में 'अयं कालः' इस अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने 'अयं शब्द उभाभ्यां कालशब्दाभ्यां योजनीयः' इतना लिखकर अपने को कृतार्थ मान लिया। परवर्ती व्याख्याकारों ने कुछ भी लिखना पसन्द नहीं किया। आयुर्वेद की दृष्टि से कल्याणकारक विसर्ग काल है। इसी को चरक सू० अ० ६।५ में 'सौम्य काल' कहा है। यह विसर्गकाल वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतुओं तक सीमित रहता है, इसी को दक्षिणायन भी कहा जाता है। सुश्रुत सू० अ० ६।७ में स्पष्ट कहा है कि इन ऋतुओं में सभी प्राणियों का बल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। हमारे विचार से उपर्युक्त **'प्राप्तवीर्याः'** शब्द शरद् तथा हेमन्त ऋतु की ओर संकेत करता है, क्योंकि वर्षाऋतु की समाप्ति के बाद ही ओषधियाँ यथोक्त गुणों से सम्पन्न हो पाती हैं। ओषधियों के दिव्यगुणों का उल्लेख निघण्टु-ग्रन्थों में देखें।

ऐन्द्री—वैद्यकशब्दसिन्धु में इसे स्थूलैला (बड़ी इलायची) तथा सूक्ष्मैला (छोटी इलायची) लिखा है। ऐसा निर्णय द्रव्यों के सम्बन्ध में लेना प्रज्ञापराध है। चरक सूत्र० अ० ४ में इसका उल्लेख प्रजास्थापन के लिए हुआ है। वहाँ हमने इसका विस्तृत विवेचन किया है। तदनुसार यह द्रव्य बरमी है, जिसे लैटिन में बैकोपा मोनिएरी (Bacopa monnieri (Linn) Delile.) कहते हैं। 'ब्रह्मसुवर्चला' का उल्लेख सुश्रुत० चि० अ० ३०।२१ के रसायनाधिकार में किया है, किन्तु यह ऐन्द्री नहीं है।

पयस्या—राजनिघण्टु के अनुसार यह 'क्षीरकाकोली' है। **क्षीरपुष्पी**—इसके फूल दूध के सदृश उज्ज्वल वर्ण के होते हैं, इसी को 'शंखपुष्पी' भी कहते हैं। कैयदेवनिघण्टु तथा चरक चि० अ० १५ में इसके 'रसायन' गुणों का उल्लेख है। **श्रावणी**—भृंगराजकुल में उत्पन्न यह 'मुंडी' है। **महाश्रावणी**—मुण्डी की एक और जाति होती है; इसे महामुंडी या महाश्रावणी कहते हैं। इसका लैटिन नाम है—S. Africans Linn. सुश्रुतसंहिता चि० अ० ३०।२१-२२ में देखें।

जीवनीय द्रव्य—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मधुक। च० सू० अ० ४।९। मेदा, महामेदा का पृथक् वर्णन कर लेने के बाद भी जो तन्त्रकार ने 'जीवनीयाश्चान्याः' लिखा है, यह सूत्ररूप में वर्णन करने की उनकी प्रवृत्ति मात्र है।

उक्त गद्य में मात्रा तथा सेवन-काल का निर्देश नहीं किया गया है। अतः १-१ तोला की मात्रा में प्रातः-सायं दूध के साथ इस रसायन का सेवन करें।

ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा, आदित्यपर्णी नामौषधिर्या 'सूर्यकान्ता' इति विज्ञायते सुवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च, नारीनामौषधिः 'अश्वबला' इति विज्ञायते या [1]बल्वजसदृशपत्रा, काष्ठगोधा नामौषधिर्गोधाकारा, सर्पानामौषधिः सर्पाकारा, सोमो नामौषधिराजः [2]पञ्चदशपर्वा स सोम इव हीयते वर्धते च, पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च, अजा नामौषधिः 'अजशृङ्गी' इति विज्ञायते, नीला नामौषधिस्तु नीलक्षीरा नीलपुष्पा लता-

१. 'पुनरजसदृशपत्रा' इति पा०।
२. 'पञ्चदशपर्णः' इति पा०।

प्रतानबहुलेति; आसामोषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायामार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत, तत्र प्रलीयते, षण्मासेन पुनः सम्भवति, तस्याजं पयः प्रत्यवस्थापनम्; षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचोगतानि प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं च भवति, गतिर्योजनसहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति ॥ ७ ॥

द्रोणीप्रावेशिक रसायन—१. ब्रह्मसुवर्चला नाम की ओषधि जो हिरण्य (सोने) के सदृश (पीले) दूध वाली तथा कमल के सदृश पत्तों वाली होती है । २. आदित्यपर्णी नाम की ओषधि जो 'सूर्यकान्ता' नाम से जानी-पहचानी जाती है; इसका दूध सोने के सदृश पीला होता है और सूर्य-मण्डल के आकार का अर्थात् गोलाकार फूल होता है । ३. नारी नाम की औषधि जो 'अश्वबल' के नाम से प्रसिद्ध है या जानी जाती है, जिसका पत्र बल्वज (बगई घास) के समान आकार वाला होता है । ४. काष्ठगोधा नाम की ओषधि जो गोधा (गोह) के आकार की होती है । ५. सर्पा नाम की ओषधि जो साँप के आकार की होती है । ६. सोम नाम की एक ओषधि होती है । यह ओषधियों का राजा है । इसके काण्ड भाग में १५ पर्व (गाँठें) होते हैं । यह सोम (चन्द्रमा) के समान कृष्णपक्ष में घटती और शुक्लपक्ष में बढ़ती है । ७. पद्मा नाम की ओषधि जो पद्म (कमल) के आकार की, पद्म के समान रक्तवर्ण वाली, पद्म की-सी गन्ध वाली होती है । ८. अजा नाम की ओषधि जो 'अजशृंगी' के नाम से जानी जाती है । ९. नीला नाम की ओषधि जो नीलवर्ण के दूध वाली, नीले फूलों वाली होती है तथा इसकी लताओं का फैलाव अत्यधिक होता है ।

इन ओषधियों में से जिस-जिसको प्राप्त कर सकें या जो-जो मिल सकें उस-उसके स्वरस को तृप्तिपर्यन्त पीकर, वस्त्रों को उतार कर स्नेह से भावित अर्थात् जिसमें भीतर की ओर भली-भाँति घी चुपड़ दिया गया हो, ऐसे गीले पलाश वृक्ष की ढक्कन वाली नाव में लेट जायें । उस नाव पर लेटते ही वह रसायन-सेवन करनेवाला पुरुष उसी के साथ सट कर बेहोश हो जाता है और छः मास में वह पुनः पूर्ववत् हो जाता है अर्थात् होश में आ जाता है । उस काल में उसे शक्ति प्रदान करने के लिए बकरी का दूध देना चाहिए । वह पुरुष छः मास के भीतर वय, वर्ण, स्वर, आकृति, बल तथा प्रभा द्वारा देवता के सदृश दिखलायी देने लगता है और स्वयं उसकी बुद्धि में सभी शास्त्रों के ज्ञान प्रादुर्भूत हो जाते हैं । उसके नेत्रों तथा कानों में दिव्य (दर्शन-श्रवण) शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसकी गति एक हजार योजन (४००० कोस) तक चलने की हो जाती है और उपद्रव रहित दस हजार वर्ष की उसकी आयु हो जाती है ।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने उपर्युक्त नौ ओषधियों का जिस प्रकार परिचय सहित निर्देश करने का प्रयास किया है, उससे लगता है कि उस समय भी ये दुर्लभप्राय थीं या सुप्रसिद्ध नहीं थीं । अतएव आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'ब्रह्मसुवर्चलाप्रभृतयो यथोक्तलक्षणा दिव्यौषधयो नाति प्रसिद्धाः' । फिर भी तन्त्रान्तरों के अनुसार इनके परिचय यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

१. **ब्रह्मसुवर्चला**—'कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति । सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला ॥ अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यङ्गुलसम्मितैः । पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः' ॥ सु० चि० अ० ३०।२०-२१ । इसके आगे एक श्लोक और है—'देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे । दृश्यते च जलान्तेषु मध्या ब्रह्मसुवर्चला' ॥ सु० चि० अ० ३०।३० । इसका परिचय यद्यपि सुश्रुत में अधिक दिया गया है, तथापि इस सम्बन्ध में दोनों तन्त्रकारों का दृष्टिकोण समान है ।

२. **आदित्यपर्णी**—'मूलिनी पञ्चभिः पर्वैः सुरक्तांशुककोमलैः । आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदाऽऽदित्यानुवर्तिनी' ॥ सु० चि० अ० ३०।१९ । 'आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तथैव हिमसङ्क्षये' । सु० चि० अ० ३०।३१ । 'तथैव' के स्थान पर 'तत्रैव' पाठ अधिक उपयुक्त है । जिसका तात्पर्य है—उपर्युक्त देवसुन्द आदि स्थानों पर ही आदित्यपर्णी की भी प्राप्ति होती है ।

३. **नारी**—सोढलनिघण्टु में एक द्रव्य 'नाही' नाम से निर्दिष्ट है, किन्तु उसके गुण-धर्मों में कहीं ऐसा वर्णन नहीं है कि यह दिव्यौषधि है । सुश्रुतसंहिता में महौषधि के रूप में 'कन्या' नामक एक ओषधि का उल्लेख किया गया है, यथा—'कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः । कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधी ॥ सु०

चि० अ० ३०।१५ । तथा—'काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् । करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा' ॥ सु० चि० अ० ३०।३२ । यह विचारणीय विषय है कि नारी को कन्या स्वीकार किया जाये या वही कन्या बाद में नारी का रूप धारण कर लेती है ? किन्तु गंगाधर द्वारा स्वीकृत कन्या द्रव्य को हम 'नारी' के रूप में स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि आचार्य ने उसका पर्याय 'अश्वबला' दिया है । निघण्टु-ग्रन्थों में इसके दो भेद किये हैं—१. ग्राम्य और २. वन्य । वन्य अश्वबला (मेथिका) घोड़ों के लिए प्रशस्त होती है । इसी को धन्वन्तरि-निघण्टु में 'अहित्थ' कहा है । इसका लैटिन नाम है—मेडिकागो सेटाइवा लिन (Medicago Sativa Linn) । इसका मूलस्थान इथिओपिया कहा जाता है । अश्वबला और अश्वगन्धा को किसी भी दृष्टि से आयुर्वेदशास्त्र में समान स्वीकारा नहीं जा सकता ।

४. **काष्ठगोधा**—इसका परिचय अन्यत्र दुर्लभ है । महर्षि आत्रेय के अनुसार इसका आकार गोह के सदृश होता है । यह आकार मूल, तना, पत्र आदि किस अवयव का स्वीकार किया जाये, इसका सम्यक् निर्णय द्रव्यगुण-विशेषज्ञ करें ।

५. **सर्पा**—यह सर्प के आकार की होती है । वैद्यकशब्दसिन्धु में इसे सर्प-कंकाल के आकार का बतलाया है । इस आकार की एक ओषधिविशेष को कुछ औषध-विक्रेता अपने साथ ले आते हैं, जिसके सदैव दर्शन नहीं हो पाते हैं । आप भी सड़क की पटरियों पर ध्यान दें । ये लोग जाड़ों में पौष्टिक दवाइयाँ बेचा करते हैं । महर्षि सुश्रुत ने अजगरी नाम की एक ओषधि का उल्लेख किया है, देखें—'मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी । पञ्चारत्निप्रमाणा सा विज्ञेयाऽजगरी बुधैः' ॥ सु० चि० अ० ३०।९ । तथा—'दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे' । सु० चि० अ० ३०।३२ ।

६. **सोम**—यह वैदिक काल से लेकर आज तक बहुचर्चित महौषधि है । वेदों में सोमपान का यज्ञ आदि के अवसरों पर प्रयोग किया जाता रहा है । ऋग्वेद के 'इन्द्रसूक्त' में इसकी निर्माण-विधि आदि का निर्देश है । सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान अ० २९ का सम्पूर्ण अध्ययन 'सोम' का परिचायक है । आप भी पढ़कर परिचय प्राप्त करें । इसके निर्णय के लिए सुश्रुत में यह पंक्ति दी है—'सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च' । सु० चि० अ० २९।२० । अतः यहाँ 'पञ्चदशपर्णः' पाठ ही उचित है न कि 'पञ्चदशपर्वा', क्योंकि 'पर्ण' का अर्थ होता है—पत्ता और 'पर्व' का अर्थ होता है—गाँठ । अतः निर्णयसागरीय 'पञ्चदशपर्वा' पाठ चिन्त्य है । सोम एक नशीला पेय है, ऐसी सूचना वेद से मिलती है । इसका एक नाम मौजवत भी है, क्योंकि यह मूजवत पर्वत पर उगता है । सोम एक पार्थिव पौधा है, फिर भी इसे दिव्य कहा गया है । सम्भवतः इसके विशिष्ट गुणों के कारण ही इसे दिव्य कहा गया हो । वैदिकोत्तर साहित्य में इसे चन्द्रमा मान लिया गया है । देखें—'सोम ओषधीनामधिपतिः' । ऋग्वेद १।८४, ८।४८, ६४, ९।८५, १०९, १०।२५ । ऋग्वेद में सोम के ५ भेद और सुश्रुतसंहिता चि० अ० २९।४ में यही स्थान, नाम, आकार तथा वीर्य भेद से २४ प्रकार का वर्णित है ।

आधुनिक मत—डॉ० वाट ने मदार-कुल के पौधे 'सार कोस्टेमा एसिडम' को सोम माना है । डॉ० वीरेश्वर गुप्त सन् १९५२ तक के उपलब्ध साहित्य की सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सोम 'एफिड्रा' नामक अपुष्पी पादप है । चीन में इसका प्रयोग विगत अनेक वर्षों से किया जा रहा है । इसी को डॉ० मायर्स ने वेदोक्त सोम माना है । आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में १०० ऐसी वनस्पतियाँ हैं, जो गुणधर्म की समानता से शोधकर्ताओं को उलझा रही हैं । अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ० रिचर्ड गार्डन वासन द्वारा लिखित **'सोम : द डिवाइन मशरूम आफ इमार्टेलिटी'** पुस्तक में यह सिद्ध करने की पूरी कोशिश की है कि वास्तविक सोम **'अमानिता मस्कारिया'** है । उक्त ग्रन्थ को पढ़कर तथा उसमें कहे गये द्रव्य का प्रयोग कर आप भी विश्वास प्राप्त करें ।

सोम की विशेषता—अधर्मात्मा, कृतघ्न, औषध-योगों तथा ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाले लोग इन सोमों को नहीं देख सकते । खेद है कि ऐसी अनेक प्रभावशाली ओषधियाँ आज अनुपलब्ध हैं और न इस ओर गवेषकों का ध्यान ही जा रहा है, जिसको आजकल सोम (Ephedra Vulgaris) कहा जा रहा है । वह चरक तथा सुश्रुत सम्मत नहीं है ।

७. पद्मा—पद्मचारिणी, रा० नि० व० २३, च० वि० अ० ८, वा० सू० अ० १५। भार्ङ्गी का एक पर्याय 'पद्मा' अवश्य है, किन्तु यह पद्मरक्ता और पद्मगन्धा नहीं हो सकती। केवल पद्माकारा (पद्म के सदृश फूलों वाली) होती है। इसके गुण-धर्मों में महौषधि का स्वरूप दृष्टि में नहीं आता है। विद्वान् विचार करें।

८. अजा—'अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी। अजा महौषधी ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा'॥ सु० चि० अ० ३०।१९। इसका कन्द बकरी के स्तन के सदृश होता है। इसमें से दूध निकलता है और वर्ण में यह उज्ज्वल होती है।

९. नीला—'नीला' द्रव्य इससे सर्वथा भिन्न है। श्री सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ोदा से प्रकाशित 'चरक नो स्वाध्याय' भाग १ में इस महौषधि का उतना ही परिचय दिया गया है, जितना 'चरकसंहिता' में यहाँ दिया गया है। इसके सम्बन्ध में सुश्रुतसंहिता भी मौन है।

तत्र प्रलीयते—यह द्रोणीप्रावेशिक रसायन है। इसमें रसायन-सेवन करने वाले के नाप की पलाश वृक्ष की गीली लकड़ी की द्रोणी (Tub) और उसी नाप का एक ढक्कन (Cover) भी बनवायें। तन्त्रकार का इतना ही निर्देश है। जब रसायन-सेवन करने वाला वह पुरुष वस्त्ररहित होकर उस स्नेह-भावित द्रोणी में लेट जाता है, तब उसको ढक्कन से ढँक दिया जाता है, क्योंकि 'प्रलयो नष्टचेष्टता'। अमरकोष। वह उसमें लेटते ही बेहोश हो जाता है। इस प्रकार से सुरक्षित उस द्रोणी में वह छह मास तक पड़ा रहता है और छह मास में पुनः होश में आ जाता है, अर्थात् पुनर्जीवित हो जाता है। यह सब इस प्रसंग में आयी हुई ओषधियों के सेवन का अलौकिक प्रभाव है। सोम की मादकता सुप्रसिद्ध है। इसको पीकर इन्द्र अनेक दिनों तक निःसंज्ञ (राज्य-संचालन आदि कार्यों से अपने को मुक्त कर लेते थे) रहते थे, ऐसा प्रकरण वेदों में भी आता है। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार 'लीयते द्रुतो भवति, अन्ये तु मूर्च्छतीति, वर्णयन्ति' इति चक्रः।

हमारे विचार से चक्रपाणि द्वारा लिखित 'द्रुतो भवति' यह अर्थ 'प्रलीयते' क्रिया के अर्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ है, और 'मूर्च्छन्ति' इस अर्थ को वे दूसरों का अभिमत समझते हैं, अर्थात् 'मूर्च्छन्ति' इस अर्थ पर चक्रपाणि की सहमति नहीं है। अतः यह स्थल विचारणीय है।

गतिर्योजनसहस्रं भवति—A measure of distance equel to four krosas or eight or nine miles. (V. S. Apte) अर्थात् 'योजन' दूरी नापने का एक मापदण्ड है, जो ४ कोस (८ मील) के बराबर होता है। 'योजनं परमात्मनि, चतुष्क्रोदयां च योगे च' इति मेदिनी। यही आशय मेदिनीकोशकार का भी है।

भवन्ति चात्र—

दिव्यानामोषधीनां यः प्रभावः स भवद्विधैः। शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात्सोढुमकृतात्मभिः ॥८॥
ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि। भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते ॥९॥
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः। शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः ॥१०॥

दिव्य ओषधि सेवन के अधिकारी--उपर्युक्त दिव्य ओषधियों का जो लोकोत्तर प्रभाव है, उसको आप जैसे (महर्षि) ही सहन कर सकते हैं और जो अकृतात्मा (पापी या अजितेन्द्रिय) हैं, वे व्यक्ति इनके उग्र प्रभावों/को सहन करने में असमर्थ होते हैं। पुनः इन्द्र कहते हैं—आप लोग अपने-अपने नित्य-नैमित्तिक कार्यों में तत्पर रहते हुए भी उक्त दिव्य ओषधियों के प्रभाव से सभी प्रकार के श्रेयस्कर भावों को प्राप्त कर सकते हैं। और वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले तथा गृहस्थाश्रम में तत्पर सर्वदा सावधान रहने वाले, जितेन्द्रिय पुरुषों द्वारा भी इन ओषधियों का सेवन किया जा सकता है। ध्यान यह रखना है कि जो ओषधि जिस देश में उत्पन्न होती है, वह उसी देशवासी के लिए अनुकूल होती है।

वक्तव्य—देवराज इन्द्र जिन ऋषियों को सम्बोधित कर रहे थे उनके नाम इसी अध्याय के दूसरे गद्य में दिये गये हैं। उन्हीं को यहाँ 'भवद्विधैः' कहा गया है। उनसे अतिरिक्त हैं वानप्रस्थी और गृहस्थी, जिनके विशेषण हैं—प्रयतैः और नियतात्मभिः। **'विषयाभिजाः ओषधयः'**—अर्थात् उन-उन देशों में उत्पन्न ओषधियाँ उन-उन व्यक्तियों के लिए [illegible] होती हैं, जो-जो वहाँ के निवासी होते हैं। इस सम्बन्ध में यह शास्त्रवचन प्रसिद्ध है--'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जा तस्यौषधीर्हिता'।

[1]यास्तु क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन च कर्मणा। मृदुवीर्यतरास्तासां विधिर्ज्ञेयः स एव तु ॥११॥
पर्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा येऽसमर्थाः सुखार्थिनः। रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते ॥१२॥

मृदुवीर्य ओषधि-सेवन का निर्देश—हिमालय प्रदेश को वीर्यवती ओषधियों का उत्पत्ति-स्थान कहा गया है। उससे अतिरिक्त स्थानों में जो ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, वे क्षेत्र (भूमि) आदि के गुणों के अनुसार उन (हिमालयोत्पन्न) ओषधियों की तुलना में मृदुवीर्य होती हैं। अतः उन (ऋषियों) से कम शक्तिशाली वानप्रस्थों तथा गृहस्थों के लिए वे (मृदुवीर्य वाली ओषधियाँ) मध्यम कर्म करने के कारण हितकर होती हैं। इन मृदुतरवीर्य वाली ओषधियों की सेवन-विधि भी वही है (जो तीक्ष्ण वीर्य वाली ओषधियों की विधि पहले कह दी गयी है)। जो व्यक्ति उक्त रसायनों के सेवन से सुख चाहते हैं, किन्तु उनको ढूँढने या प्रयोग करने में असमर्थ हैं, उनके लिए दूसरी रसायन-विधि प्रशस्त होती है। उसका आगे वर्णन किया जायेगा।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने उत्तम बल वाले व्यक्तियों (महर्षियों) के लिए हिमालय प्रदेश में उत्पन्न अत्यन्त उग्र वीर्यवती ओषधियों के सेवन करने का और मध्यम बलवालों (वानप्रस्थी तथा ग्रहस्थ पुरुषों) के लिए मृदुवीर्य वाली ओषधियों के सेवन की व्यवस्था दी है।

बल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयाश्च या दश। वयसः स्थापनानां च खदिरस्यासनस्य च ॥१३॥
खर्जूराणां मधूकानां मुस्तानामुत्पलस्य च। मृद्वीकानां विडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च ॥१४॥
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च। ऋद्धया नागबलायाश्च द्वारदाया धवस्य च ॥१५॥
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च। इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च ॥१६॥
रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्याः पलाशक्षार एव च।
एषां पलोन्मितान् भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम् ॥१७॥
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः। तत् साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत् ॥१८॥
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम्। स्वरसेनैव दातव्यं क्षौद्रस्याभिनवस्य च ॥१९॥
शर्कराचूर्णपात्रं च प्रस्थमेकं प्रदापयेत्। तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं सम्मूर्च्छितं च तत् ॥२०॥
सुचौक्षे मार्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते। मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥२१॥
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च। मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ॥२२॥
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम्। जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥२३॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्। सत्त्वस्मृतिशरीराग्निबुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥२४॥
परमूर्जस्करं चैव वर्णस्वरकरं तथा। विषालक्ष्मीप्रशमनं सर्ववाचोगतप्रदम् ॥२५॥
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च प्रजाप्रियत्वं च यशश्च लोके।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथावद्रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम् ॥ २६ ॥

(इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम्।)

इन्द्रोक्त रसायन द्वितीय—बल्य, जीवनीय, बृंहणीय तथा वयःस्थापक जो १०-१० औषध-द्रव्य बतलाये गये हैं और खैर, असन (विजयसार), खजूर, मधूक (महुआ), नागरमोथा, उत्पल (नीलकमल), मुनक्का, वायविडंग, बालवच, चित्रकमूल, शतावरीमूल, पयस्या (क्षीरकाकोली—रा० नि०), पिप्पली, जोङ्गक (काला अगरु), ऋद्धि, नागबला, द्वारदा (शाकवृक्ष=सागौन—वै० नि०), धव, त्रिफला, कण्टकारी (भटकटैया), विदारीकन्द, लालचन्दन, ईख की जड़, सरपत की जड़, श्रीपर्णी (गम्भारी), तिनिश (लै० Ougenia oojeinensis हि. तिरिच्छ।)—ऊपर कही गयी बल्य आदि प्रत्येक ओषधि के अलग-अलग रस १-१ पल लें, कल्क के लिए पलाशक्षार १ पल (४ तोला) लें। सभी स्वरस का चौगुना गाय का दूध, दो पात्र (२ आढक=५१२ तोला) तिल का तैल, दो पात्र, (२ आढक) गाय का घी—इन सभी को एक में मिलाकर आग पर पकायें। जब भली-भाँति स्नेह पाक हो जाये, तब उसे उतार कर एक दिन बाद छान कर रखें।

१. 'तास्तु' इति पा०।

उस स्नेह में सौ बार आँवलों के रस से भावना दिया हुआ एक आढक आँवलों का चूर्ण डाल दें। नवीन मधु १ आढक तथा चीनी का चूर्ण १ पात्र (१ आढक), डालें, तदनन्तर १ प्रस्थ (६४ तोला) वंशलोचन का चूर्ण तथा १ प्रस्थ पिप्पलीचूर्ण डाल दें, इन सबको भली-भाँति मिलाकर घृतभावित मिट्टी के एक बड़े पात्र में डालकर उस पात्र का मुख बन्द कर १५ दिनों तक रखें। तत्पश्चात् उसे खोलकर उसमें सुवर्ण, ताम्र, प्रवाल, लोह, स्फटिक, मुक्ता, वैदूर्य (लहसुनिया), शंख और चाँदी के चूर्णों (अयस्कृतियों) को १ षोडशी (=१ पल=४ तोला) मात्रा में डालकर भली-भाँति मिलाकर पुनः रख दें।

सेवन-विधि—रसायन-सेवन करनेवाले पुरुष के अग्निबल (पाचन-शक्ति) का विचार कर तदनुसार मात्रा का निर्धारण करके प्रस्तुत रसायन का सेवन करायें। इसके सेवन-काल में शक्ति से अधिक परिश्रम तथा स्त्री-सहवास को त्याग दें। रसायन की मात्रा के पच जाने पर दूध तथा घी के साथ साठी के चावलों के भात का सेवन करे।

फलश्रुति—यह रसायन सभी प्रकार के रोगों का शमन करता है, वीर्य तथा आयु को बढ़ाने वाले रसायनों में उत्तम है, सत्त्व, स्मृति, पाचकाग्नि, बुद्धि तथा इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाने वाला है, यह अत्यन्त तेज को बढ़ाने वाला है, स्वर तथा रूप-सौन्दर्य-वर्धक है, विषनाशक, लक्ष्मी (शोभा तथा धन) को देने वाला है, सभी प्रकार की भाषाओं का ज्ञान देने वाला, अर्थात् इस रसायन का सेवन करने वाला पुरुष सभी भाषाओं तथा विद्याओं का ज्ञाता हो जाता है। जो पुरुष सभी कार्यों में सिद्धि, सदा नवयौवन, प्रजा-प्रियता, अर्थात् सर्वजननयनाभिराम रूप की प्राप्ति तथा संसार में यश-प्राप्ति की जो इच्छा करता है, वह इस उदार एवं शक्तिशाली ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट इन्द्र रसायन का यथाविधि सेवन करे।

वक्तव्य—१. बल्य, २. जीवनीय, ३. बृंहणीय और ४. वयःस्थापक—इन चार वर्गों के द्रव्यों का उल्लेख चरक-सूत्रस्थान अ० ४।९-१० में है। ये द्रव्य ४० हैं, शेष द्रव्य त्रिफला सहित २८ हैं। इस प्रकार ये कुल ६८ द्रव्य होते हैं। इन सबका १-१ पल स्वरस लेने का निर्देश है। १ पल=४ तोला होता है। अतः ४ तोला×६८ =२७२ तोला (३ सेर ६ छटांक २ तोला) इसका सम्मिलित भार होता है। दूध का भार १३ सेर ८ छटांक, तिल तैल ६ सेर १२ छटांक, इतना ही गाय का घी भी लें। इस प्रकार स्नेहसाधन का निर्देश महर्षि आत्रेय ने किया है। किन्तु अन्यत्र स्नेहपाक की परिभाषा यह है—'पञ्च प्रभृति यत्र स्युर्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम्'॥ शार्ङ्गधराचार्य के अनुसार—'कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा। चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता'॥ शा० सं० अ० ९। आचार्य ने यहाँ विशिष्ट प्रकार से स्नेहसाधन का विधान किया है। अतः यहाँ इसी विधि का आश्रय लेना चाहिए।

आचार्य चक्रपाणि ने 'षोडशीं मात्रामिति आमलकादिचूर्णयुक्तघृतापेक्षया षोडशभागो हेमादिचूर्णाद् ग्राह्यः', अर्थात् उक्त विधि से तैयार किये गये आमलकादि चूर्ण युक्त घृत की अपेक्षा सुवर्ण आदि धातुओं का चूर्ण (अयस्कृति) १६ वाँ भाग लेना चाहिए, ऐसा लिखा है। किन्तु चरकसंहिता-कल्पस्थान अ० १२।९२ में 'पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका। बिल्वं षोडशिका चाम्रं......'॥ ये पल के पर्याय दिये हैं। शार्ङ्गधराचार्य ने—'अक्षं पिचुः पाणितलं किञ्चित् पाणिश्च तिन्दुकम्। बिडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता'॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।२२। इसके अनुसार १ कर्ष=१ तोला का नाम 'षोडशिका' है और—'पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका। प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते'॥ वही २४। यद्यपि 'षोडशिका' शार्ङ्गधर के मत से १ तोला का पर्यायवाचक शब्द है, किन्तु पल के चरकोक्त तथा शार्ङ्गधरोक्त पर्यायों की समानता को ध्यान में रखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ **'षोडशी एवं षोडशिका'** मानना पड़ेगा, विद्वान् विचार करें।

आचार्य गंगाधर के मत से सम्पूर्ण औषध-द्रव्य के प्रमाण से १६वाँ भाग सुवर्ण आदि का भस्म डालना चाहिए। भस्म का निर्देश टीकाकारों की अपनी देन है। वास्तव में उन-उन धातुओं को शुद्ध करके श्लक्ष्ण चूर्ण डालने चाहिए, यह तन्त्रकार की इष्टि है। हमारे विचार से षोडशी का अर्थ १६वाँ भाग न होकर १ पल= ४ तोला ही होना चाहिए।

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम्। कुटीप्रवेशः [1]क्षणिनां परिच्छदवतां हितः ॥२७॥

१. 'क्षमिणाम्' इति पा०।

अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः।

कुटीप्रावेशिक रसायन के योग्य व्यक्ति—जो व्यक्ति सभी प्रकार के साधनों को जुटाने में समर्थ हों, जो शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य से सम्पन्न हों, धीमान् हों, नियतात्मा (अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाले) हों, अर्थात् जो स्थिर प्रकृति वाले हों, जिनको समय का अभाव न हो और जो परिजनों से सम्पन्न हों उनके लिये कुटीप्रावेशिक रसायन का सेवन हितकर होता है।

वक्तव्य—चरकसंहिता-चिकित्सास्थान, रसायनाध्याय-प्रथमपाद १७-२० में द्विविध रसायन प्रकरण में हम कुटीप्रावेशिक के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। तदनुसार सभी उपकरणों से सम्पन्न कुटी का निर्माण कर, उसके भीतर शुभ दिन में प्रवेश कर रसायन-सेवन करना चाहिए। ध्यान रहे, रसायन-सेवी पुरुष को उक्त समस्त लक्षणों से युक्त होना ही चाहिए, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। **क्षणिनाम्**—इसके स्थान पर अन्यत्र 'क्षमिणाम्' पाठ दिया है। इस आशय की पूर्ति 'नियतात्मा' पाठ से हो सकती है, किन्तु 'क्षणिनाम्' की नहीं। देखें—'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः'। अमर०। और—'क्षणो व्यापार शून्यत्वमुहूर्तोत्सवपर्वसु'। रुद्रः। अतः 'क्षणिनाम्' पाठ ही अधिक समीचीन है।

तयोः श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः ॥ २८ ॥

वातातपिक रसायन के योग्य व्यक्ति—कुटीप्रावेशिक रसायन-सेवन के उपर्युक्त लक्षणों का जिनमें अभाव हो, उनके लिए सौर्यमारुतिक अर्थात् वातातपिक (हवा तथा धूप का सेवन करने के साथ रसायन-सेवन करनेवाली) विधि का निर्देश किया गया है। इनमें पहले कही गयी विधि दूसरी विधि से श्रेष्ठतर है, किन्तु वह अत्यन्त कठिन है।

वक्तव्य—कुटीप्रावेशिक रसायन के सेवनकाल में उतने दिनों तक आपको कुटी के भीतर ही रहकर शास्त्रीय कठोर नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है, अतः यह कठिन है। दूसरी वातातपिक रसायन-सेवन-विधि सरल है। आजकल प्रायः सभी रसायनों का इस दूसरी विधि द्वारा ही सेवन किया अथवा कराया जा रहा है।

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि। यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ॥२९॥

रसायन-सेवन में सावधानी—कुटीप्रावेशिक अथवा वातातपिक रसायन-सेवन काल में उचित विधि में किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने से यदि किसी प्रकार की व्याधियाँ हो जायें तो तत्काल रसायन-सेवन-क्रम को रोककर जो रोग या उपद्रव उत्पन्न हुआ हो, उसकी जो शास्त्रोचित चिकित्सा हो उसका प्रयोग करना चाहिए। उपद्रव की शान्ति होने पर पुनः रसायन का सेवन करायें।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्। अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥३०॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥३१॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं [1]करुणवेदिनम्। समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥३२॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्। शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ॥३३॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ॥३४॥
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्। रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ॥३५॥

(इत्याचाररसायनम्।)

आचार रसायन—सत्य-भाषणशील, क्रोध न करनेवाले, मद्यपान तथा स्त्री-सहवास न करनेवाले, अहिंसा के पक्षपाती, अधिक श्रम न करने वाले, शान्तचित्त वाले, प्रिय बोलने वाले, भगवान् के नाम का जप करनेवाले, पवित्र चरित्र वाले, धैर्ययुक्त, दानशील, तपस्वी, देवता, गाय, ब्राह्मण, आचार्य, गुरुजन, वृद्धजन इनकी सेवा में लगे रहने वाले, कभी भी क्रूरता का व्यवहार न करनेवाले, सदा सब पर दया करनेवाले, उचित समय

१. 'कारुण्यवेदिनम्' इति पा०।

पर सोने तथा जागने वाले, सदैव दूध और घी का सेवन करनेवाले, अर्थात् जिसके भोजन में दूध तथा घी की मात्रा पर्याप्त हो, देश तथा काल के प्रमाण को जानने वाले, युक्तिज्ञ, अहंकार की भावना से रहित, उत्तम आचार-विचार से युक्त, संकीर्ण विचारों से रहित, अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त करने में जिसकी इन्द्रियाँ तत्पर हों, ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध एवं तपोवृद्धों की, आस्तिकों (धर्मात्माओं) तथा जितेन्द्रियों की उपासना करनेवाले तथा धर्मशास्त्र के नियमों के अनुसार आचरण करनेवाले पुरुष को प्रतिदिन रसायन-सेवन करनेवाले के समान समझना चाहिए। अर्थात् ऐसे पुरुषों को रसायन-सेवन के समस्त गुणों की प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त इन सामूहिक गुणों से युक्त होकर जो मनुष्य रसायन का सेवन करता है, वह जैसा कि शास्त्रों में रसायनों के गुणों का वर्णन है, तदनुरूप समस्त गुणों को प्राप्त कर लेता है।

वक्तव्य—आचार्यों के ये उपदेश शाश्वत सत्य एवं अविनाशी हैं। इनका सेवन सभी के लिए सदैव सुखदायक होता है। आप भी करके देखें। इनका सेवन सत्त्वगुण-प्रधान पुरुष ही यथाविधि कर सकते हैं, अन्य नहीं। सदुपदेश भी सबके लिए नहीं होते, इसके लिए समाज की ओर ध्यान दें।

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्छारीरमानसान्। रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥३६॥
योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः। मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥३७॥
तदेतन्न भवेद् वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु। [1]अरुजेभ्योऽद्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु नास्ति च ॥३८॥

परिस्थिति के अनुसार रसायन से लाभ—जो मानव शारीरिक तथा मानसिक दोषों का निराकरण किये बिना रसायनों का सेवन करता है, वह रसायन के स्थूल गुणों को ही प्राप्त कर सकता है। उसको रसायन के सम्पूर्ण गुणों की प्राप्ति नहीं होती है। कायिक तथा मानसिक शुद्धि करने के पश्चात् जो मनुष्य आयुर्वर्धक, जरा (बुढ़ापा) नाशक, रोग-निवारक रसायन-योगों का सेवन करते हैं, उन जितेन्द्रिय पुरुषों को रसायनों के सम्पूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं। अतः उक्त रसायनों का प्रयोग जिनकी आत्मा मर चुकी है, अर्थात् जो सदैव पापकर्मों को किया करते हैं, उन लोगों को इस रसायन का उपदेश नहीं करना चाहिए। जो रोगरहित हों, जो द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) न हों और जो गुरुजनों की सेवा न करते हों, उनको भी रसायन का उपदेश न दें।

वक्तव्य—'येषु शुश्रूषा नास्ति' इस पद्यांश से यह भी संकेत मिलता है, कि जिसमें 'श्रोतुम् इच्छा' हो या जिसमें 'सेवा करने की प्रवृत्ति' हो उनको रसायनों का उपदेश देना ही चाहिए। **अद्विजेभ्यः**—आगे इसी अध्याय के ५३वें श्लोक में वैद्य को भी द्विज स्वीकार किया गया है। श्रीजयदेवविद्यालंकार को 'अरजोभ्यो द्विजातिभ्यः' पाठ स्वीकार है, तदनुसार रजोदोषरहित द्विजातियों के प्रति जिनके मन में सेवाभाव नहीं है, उनको भी रसायन-योगों का उपदेश न करें। सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान अ० ३०।४ में कहा गया है—सात पुरुष रसायन का सेवन न करें और सात ही ऐसे कारणों का निर्देश किया है, जिनसे रसायन-योग पूर्ण लाभदायक नहीं होते हैं। ध्यान दें—महर्षि आत्रेय ने सूत्ररूप में 'हतात्मसु' लिखकर सभी प्रकार के अयोग्य व्यक्तियों का संकेत कर दिया है।

ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः। यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥३९॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम्। अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥४०॥

चिकित्सक की पूजा का विधान—जितने प्रकार के रसायन संयोग (एकल द्रव्य रसायन अथवा अनेक द्रव्य संयोगज रसायन) हैं, जितने प्रकार के वृष्य (वाजीकरण) योग शास्त्रज्ञों ने स्वीकार किये हैं और जो विकारनाशक औषध-योग हैं, वे सब वैद्य के अधीन होते हैं, अर्थात् उन सबका ज्ञाता वैद्य ही होता है। इसलिये वेद-शास्त्रों के पारंगत, बुद्धिमान् (युक्तिज्ञ) प्राणाचार्य की पूजा विद्वान् रोगी को अपनी शक्ति के अनुसार उस प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार देवराज इन्द्र ने अश्विनीकुमारों की (पूजा) की थी।

वक्तव्य—ऊपर चिकित्सक की पूजा का विधान दिया गया है। यह पूजा चिकित्सा के आरम्भ में रोगी या रोगी के परिजन अथवा रोगी के दूत द्वारा फल, पुष्प, दक्षिणा आदि द्वारा की जाती है। तदनन्तर वह

१. 'अरजोभ्यः' इति, 'अजरेभ्यः' इति च पा०।

चिकित्सक को रोगी के रोग-परीक्षण के लिए बुला लाता है। आज यह आदर्श रोगी देखने का शुल्क (Visiting fee) तथा परामर्श शुल्क (Consultation fee) के रूप में बदल गया है। अन्तर इतना ही है कि पहले यह देय श्रद्धा के रूप में होता था और आज बाध्यता के रूप में है। रोगमुक्त होने पर तो चिकित्सक को पूजा के रूप में क्या और कितना दिया जाये इसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस सम्बन्ध में अन्यत्र चिकित्सा ग्रन्थों में लिखा है कि धन, धान्य, वस्त्र आदि का तो कहना क्या है, यदि रोगी अपने को भी वैद्य की सेवा में समर्पित कर देता है, तो भी वह कम है, क्योंकि वह उसके प्राणों का आचार्य है। यही कारण है कि चिकित्सा के चार पादों में योग्य भिषक् को ही प्रधानता दी गयी है। देखें—च० सू० अ० ९।६ से २३ तक। इसी अध्याय में आगे ५१वें श्लोक में प्राणाचार्य का परिचय दिया गया है। इसी को चरकसंहिता-सूत्रस्थान में प्राणाभिसर की संज्ञा दी गयी है।

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥४१॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च। वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥
चिकित्सितश्च शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा। सोमाभिपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः। वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥४४॥

अश्विनीकुमारों का चिकित्सा-कौशल—अश्विनीकुमारों को देवताओं का चिकित्सक और यज्ञवाह (यज्ञभाग का वहन करनेवाला) माना गया है। एक बार यज्ञ-पुरुष का सिर कट गया था, इन दोनों वैद्यों ने पुनः उसको जोड़ दिया। पूषा देव के दाँत गल (झड़) गये थे, भगदेव के दोनों नेत्र नष्ट हो गये थे, देवराज इन्द्र का बाहुस्तम्भ हो गया था—इन सबकी चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने ही की थी। सोम (शुक्र) के क्षीण हो जाने से तथा राजयक्ष्मा से पीड़ित चन्द्रमा की भी चिकित्सा इन्होंने ही की थी। भृगुवंश में उत्पन्न कामी च्यवन ऋषि जब वृद्ध होकर विकारों को प्राप्त हो गये थे और इनके वर्ण तथा स्वर विकृत हो गये थे तब इनको (च्यवनप्राश आदि रसायन के प्रयोग से) अश्विनीकुमारों ने ही पुनः युवा किया था।

वक्तव्य—सूर्य और अश्वरूपा की सन्तान अश्विनीकुमार हैं। **'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्'** ये दोनों देवभिषज इसी परम्परा के हैं। ये वैवस्वत युग के देवयुगल हैं। इनका जन्म नाक से हुआ था। अतएव इन्हें 'नासत्यौ' भी कहा गया है। देखें—भाग० ८।१३।४–१०। सर्वप्रथम इनको शर्याति ऋषि के यज्ञ में सोमपान करने को मिला था। भाग० ९।३।२४–२६।

यज्ञपुरुष—इसकी माता का नाम 'रुचि' और इसकी पत्नी का नाम 'दक्षिणा' था। दक्षप्रजापति के यज्ञ में वीरभद्र ने इसका सिर काट दिया था। देववैद्यों अश्विनीकुमारों ने मृग का सिर काटकर उसके धड़ के साथ जोड़ दिया था, तब से इसे 'मृगशिरा' कहते हैं। देखें—हरिवंशपुराण।

पूषा—दक्ष पर शिव को क्रुद्ध देखकर यह हँसा था, अतः इसके सभी दाँत वीरभद्र ने उखाड़ डाले थे।

भग—अदिति का पुत्र, जिसकी आँखें दक्ष प्रजापति के यज्ञ में वीरभद्र ने फोड़ दी थी।

च्यवन—शुक्र तथा पुलोमा के पुत्र महर्षि च्यवन को इन्होंने ही पुनः युवा बनाया था। तभी से अश्विनीकुमारों को च्यवनऋषि की कृपा से यज्ञ-भाग प्राप्त होने लगा। देखें—भाग० ९।३।२–२६। इसका प्रसंग ऋग्वेद तथा शतपथब्राह्मण में भी आया है।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ। बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥४५॥

अश्विनीकुमारों का सर्वत्र सम्मान—ऊपर कहे गये पूषा, भग, इन्द्र, चन्द्रमा, यज्ञ-पुरुष की विशेष रूप से तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक आश्चर्यजनक चिकित्सा-कौशलों को देखकर इन्द्र आदि महात्माओं के लिए चिकित्सकों में उत्तम अश्विनीकुमार अत्यन्त पूजा के योग्य हो गये।

ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि [1]तथा नानाहवींषि च। [2]धूम्राश्च पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः ॥

१. 'तथाऽन्यानि हवींषि च' इति पा०।
२. 'धूमाश्च' इति पा०।

ब्राह्मण आदि द्वारा उपासना—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चिकित्सकों द्वारा यज्ञ के अवसर पर अश्विनीकुमारों के लिए ग्रह (सोमपान करने का पात्र), विविध स्तोत्र-पाठ तथा मन्त्र-पाठ, अनेक प्रकार के हवन योग्य द्रव्य धूम्रवर्ण के पशु (छाग) संकल्प पूर्वक दिये जाते हैं।

वक्तव्य—सोमयाग में सोमरस पान का तथा पशु-वध का विधान है। अन्य मन्त्र, स्तोत्र, नानाप्रकार की हवि आदि का विधान तो सभी यज्ञों में होता ही है। यहाँ अश्विनीकुमारों के लिए भी सोमरस का पात्र तथा पशु-बलि देने का विशेष विधान किया गया है। स्तोत्रों, मन्त्रों तथा विभिन्न प्रकार की हवियों का उल्लेख मन्त्र संहिताओं में देखें।

प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते। सौत्रामण्यां च भगवानश्विभ्यां सह मोदते॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः।
स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः॥ ४८॥

यज्ञ में देवताओं का सान्निध्य—प्रातःकाल किये जाने वाले यज्ञ में इन्द्र अश्विनीकुमारों के साथ सोम-पान करते हैं, सौत्रामणी (इन्द्र है देवता जिस यज्ञ का उस) यज्ञ में भगवान् (सहस्रभग से युक्त) देवराज इन्द्र अश्विनीकुमारों को अपने साथ पाकर प्रसन्न होते हैं। जिस प्रकार यज्ञ-प्रसंगों में प्रायः इन्द्र, अग्नि तथा अश्विनी-कुमारों की स्तुति श्रोत्रियों द्वारा वेद-वाक्यों से की जाती है, उस प्रकार अन्य देवताओं की स्तुति नहीं की जाती है।

वक्तव्य—यहाँ पर 'इन्द्राग्नी' तथा 'अश्विनौ' ये दो युगल देवता के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। इनकी चर्चा वैदिक साहित्य में सुलभ है। वैदिक देवताओं में देवराज इन्द्र का नाम बहुचर्चित है। अश्विनी-कुमार भी अद्भुत शक्ति-सम्पन्न होने के कारण इन्द्र की कृपा से यज्ञ में भाग पाने लगे।

अजरैरमरैस्तावद् विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः। पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति॥४९॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः। किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः॥

सुखार्थी वैद्य की पूजा करें—अजर (जो कभी वृद्ध नहीं होते) और अमर (जो कभी मरते नहीं) देवता अपने राजा इन्द्र के साथ सावधानीपूर्वक निश्चित रूप से देवगणों के चिकित्सक अश्विनीकुमारों की पूजा करते थे। मृत्यु, व्याधि तथा जरा (बुढ़ापा) के वशीभूत तथा अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखित होते हुए भी सुख की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों द्वारा अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भी अधिक मात्रा में सद्वैद्य की सेवा नहीं करनी चाहिए, अर्थात् करनी ही चाहिए।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि रोग (वृद्धावस्था आदि) तथा मृत्यु के भय से निर्भय रहने वाले देवतागण भी जब अपने स्वास्थ्य-रक्षक अश्विनीकुमारों की पूजा करते हैं, तो अनेक रोगों से पीड़ित होने पर भी सुख चाहने वाले मनुष्यों को तो सद्वैद्यों की पूजा सदैव अवश्य ही करनी चाहिए।

शीलवान्मतिमान् युक्तो [1]द्विजातिः शास्त्रपारगः।
प्राणिभिर्गुरुवत्-पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः॥ ५१॥

प्राणाचार्य-परिचय—जिस चिकित्सक का शील, सदाचार उत्तम हो, जो बुद्धिमान् हो, युक्त (अपने कार्य में तत्पर) हो, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति में उत्पन्न हो या जिसने विधिवत् आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया) हो तथा अनेक शास्त्रों का पारंगत हो—ऐसे वैद्य को प्राणाचार्य कहते हैं। उनकी पूजा (आदरसत्कार) गुरु के समान करनी चाहिए।

वक्तव्य—'द्विजातिः' के स्थान पर अन्य प्रतियों में 'त्रिजातिः' पाठ उपलब्ध होता है। तब पूरा पाठ 'युक्तस्त्रिजातिः' ऐसा होगा। अर्थ की दृष्टि से तथा प्रसंग की दृष्टि से भी 'द्विजातिः' पाठ महत्त्वपूर्ण है। इसकी सम्पुष्टि आगे श्लोक ५२-५३ से हो रही है।

विद्यासमाप्तौ [2]भिषजो द्वितीया जातिरुच्यते। अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना॥५२॥

---

१. 'त्रिजातिः' इति पा०।

२. 'भिषजस्तृतीया' इति पा०।

वैद्य जन्मना नहीं होता—विद्या (शास्त्राभ्यास तथा कर्माभ्यास) के समाप्त हो जाने पर ही चिकित्सक की दूसरी जाति हो जाती है, तभी वह 'वैद्य' कहे जाने योग्य होता है; क्योंकि 'वैद्य' की उपाधि पूर्व (पहले) जन्म से किसी को प्राप्त नहीं होती है।

वक्तव्य—यद्यपि 'भिषक्' और 'वैद्य' ये दोनों शब्द कोषकारों की दृष्टि से पर्यायवाची हैं, तथापि यहाँ 'वैद्य' शब्द यथाविधि शास्त्रज्ञान-सम्पन्न चिकित्सक के लिए ही प्रयुक्त है। हमारे विचार से यहाँ भिषक् शब्द का प्रयोग पारम्परिक व्यवसायी पुरुष के लिए किया गया है, और द्वितीया जाति (द्विजत्व) भी विधिवत् उपनयन-संस्कार के बाद ही उक्त त्रिवर्ण को प्राप्त होती है। माण्डूक्य उपनिषद् में परा तथा अपरा नाम से दो विद्याओं की चर्चा है। परा विद्या से अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति होती है और अपरा विद्या में सांगोपांग वेद, पुराण, शास्त्र, संहिताएँ आदि इन सब का समावेश होता है। **न वैद्यः पूर्वजन्मना**—इस उक्ति से अयोग्य, अशिक्षित आदि परम्परागत पेशेवर वैद्यों का ग्रहण किया गया है, जो समाज में अधिक सम्मान के पात्र नहीं होते।

विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा। ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो द्विजः[1] स्मृतः॥

वैद्य की द्विज संज्ञा—सम्पूर्ण विद्या का ग्रहण कर लेने के बाद शिष्य में ब्राह्मसत्त्व और आर्षसत्त्व का प्रवेश ज्ञान प्राप्त होने के कारण निश्चित रूप से हो जाता है। इसीलिए वैद्य को 'द्विज' कहा गया है।

वक्तव्य—'द्विः जायते, इति द्विजः'—जिसका दो बार जन्म हो, उसे द्विज कहते हैं। देखें—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते'। स्मृति। आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन का मत है कि पहला जन्म माता के गर्भ से सामान्य रूप से सभी का होता है, दूसरा जन्म उपनयन-संस्कार होने पर माना जाता है और तीसरा जन्म वैद्य-विद्या की समाप्ति होने पर होता है। वास्तव में यहाँ सेन महोदय ने उपनयन (गुरोः समीपे नयनम्—गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए ले जाना ही उपनयन है। इस संस्कार में सर्वथा शुद्ध बालक को शिक्षा दी जाती है।) को संस्कार मात्र स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में आप मनु के वचनों पर ध्यान दें—'आसमावर्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः'। मनु० २।१०८, १७३। इस दृष्टि से वैद्य को त्रिज कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

वा—इस अव्यय का प्रयोग विकल्प, उपमा, साम्य, समुच्चय तथा पादपूरण इन अर्थों में होता है। हमारे विचार से यहाँ इसका प्रयोग समुच्चयार्थक है, क्योंकि विद्या-समाप्ति के अवसर पर पहले ब्राह्मसत्त्व तदनन्तर आर्षसत्त्व का प्रवेश स्नातक के ऊपर होता ही है। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो ऐसे व्यक्ति 'शास्त्राण्य-धीत्यापि भवन्ति मूर्खाः' की श्रेणी में गिने जाते हैं। ब्राह्मसत्त्व तथा आर्षसत्त्व के लक्षणों का वर्णन चरकसंहिता-शारीरस्थान अ० ४।३७ में किया गया है।

नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्। प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम्॥५४॥

वैद्य के प्रति रोगी के कर्तव्य—जो कोई मनुष्य स्थिर (अविनाशशील) आयु की इच्छा करता हो, वह विद्वान् प्राणाचार्य (उत्तम चिकित्सक) के धन आदि को लेने की इच्छा न करे, (अर्थात् उसकी चिकित्सा में जो भी व्यय हुआ हो, उसे चुकाने का ध्यान रखे), न उसके प्रति आक्रोश (Abuse=दुर्व्यवहार) करे और न उसके अहित का ही चिन्तन करे (अर्थात् चिकित्सक के प्रति श्रद्धाभाव रखे और उसके प्रति कृतज्ञ रहे)।

चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः।
नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥ ५५॥

रोगी के उऋण होने का उपाय—जो मनुष्य रोगमुक्त हो जाने के बाद 'मैं आपको इस रोग से मुक्त होने के बाद इतनी धन राशि दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके अथवा किसी प्रकार की प्रतिज्ञा किये बिना चिकित्सक का (तन, मन, धन से) उपकार नहीं करता, उसका उद्धार इस जन्म में नहीं हो सकता।

वक्तव्य—श्रीयोगीन्द्रनाथ सेन की धारणा है कि जो स्वास्थ्यलाभ-प्राप्त मनुष्य चिकित्सक का यथाशक्ति सम्मान नहीं करता, उसका न केवल इस लोक में अपितु परलोक में भी भला नहीं होता, यह तथ्य है। इस पद्य के अनन्तर कुछ प्रतियों में यह श्लोक प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख निर्णयसागरीय प्रति में नहीं है—

('चिकित्सितशरीरं यो न निष्क्रीणाति दुर्मतिः। स यत्करोति सुकृतं तत्फलं भिषगश्नुते॥')

---

१. 'वैद्यस्त्रिजः' इति पा०।

भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान् । आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम् ॥

चिकित्सक का कर्तव्य—चिकित्सक का भी यह परम कर्तव्य है कि वह सभी रोगियों को अपने पुत्र के समान देखकर धर्म की इच्छा करता हुआ उनके रोगों (कष्टों) को शान्त करने के प्रति प्रयत्नशील हो, क्योंकि यही उसका श्रेष्ठ धर्म है ।

वक्तव्य—चिकित्सक और रोगी में पिता-पुत्र के जैसा सम्बन्ध होना चाहिए और दोनों को अपने-अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिए । यहाँ **'आबाधेभ्यः'** शब्द के प्रयोग से चिकित्सक के कर्तव्य 'त्रिताप-शमन' की ओर तन्त्रकार का संकेत है ।

धर्मार्थं 'चार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः । प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ॥५७॥

आयुर्वेद के उपदेश का लक्ष्य—इज्या, अध्ययन, दान आदि धर्म-कार्यों में निरन्तर लगे हुए तथा अक्षर-स्थान (परब्रह्म) की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले महर्षियों ने धर्म प्राप्त करने के लिए और अर्थ अर्जित करने के लिए आयुर्वेद को प्रकाशित किया, अर्थात् इसका दूसरों को उपदेश दिया ।

वक्तव्य—प्राचीन महर्षियों ने अक्षर-स्थान की प्राप्ति के लिए जिस आयुर्वेद का उपदेश या प्रकाशन किया, वह धर्म के लिए अर्थात् परोपकार के लिए था । इसके आगे निर्णयसागरीय प्रति में **'चार्थकामार्थम्'** पाठ है । दूसरी प्रतियों में **'नार्थकामार्थम्'** पाठ उपलब्ध होता है, जो अगले (५८वें) पद्य के आशय से साम्य रखता है । अब यहाँ विचारणीय विषय यह है कि किस पाठ को प्रामाणिक मानना चाहिए ? हमारे विचार से उक्त 'चार्थकामार्थम्' पाठ ही उपयुक्त है, क्योंकि ऊपर के प्रसंग की ओर ध्यान दें—श्लोक ५५ में चिकित्सक द्वारा स्वास्थ्यलाभ-प्राप्त मनुष्य का कर्तव्य है कि वह चिकित्सक के ऋण से मुक्त होने के लिए उसकी सेवा करे। साथ ही चिकित्सक भक्ति-भाव से प्राप्त उस वस्तु को स्वीकार करे, न कि स्वयं दुराग्रह से उसे कुछ देने के लिए विवश करे । यह अयाचित वृत्ति ही यहाँ अर्थकामार्थ होगी । यह मध्यम श्रेणी के चिकित्सक का वर्णन है ।

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति । वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥५८॥

उत्तम चिकित्सक का लक्ष्य—जो चिकित्सक चिकित्सा काल में न अर्थ के लिये, न किसी मनोरथ की प्राप्ति की दृष्टि से अपितु मनुष्य के प्राणों की रक्षा की दृष्टि से प्रवृत्त होता है, वह चिकित्सक अपने समाज में श्रेष्ठ होता है। ऐसे ही चिकित्सक को निश्चय रूप से अक्षर-स्थान की प्राप्ति होती है ।

वक्तव्य—कायचिकित्सा का यही मूल उद्देश्य महर्षि आत्रेय ने घोषित किया है। शल्यचिकित्सा आदि के आचार्यों ने इस प्रकार धर्मार्थ चिकित्सा करने की कहीं घोषणा नहीं की है ।

कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम् । ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥५९॥

जीविका के लिए आयुर्वेद नहीं है—जो चिकित्सक अपनी आजीविका को चलाने के लिए इस पुण्यतम आयुर्वेदीय चिकित्सा को सौदे की भाँति बेचा करते हैं, वे सुवर्ण राशि (के समान प्राप्त होने वाले धर्म) को छोड़कर धूल को बटोरा करते हैं ।

वक्तव्य—इस पद्य में 'धर्म-संग्रह' को प्रकारान्तर से काञ्चनराशि (बहुमूल्य पदार्थ) कहा है और अर्थ तथा काम को पांशुराशि (धूल के ढेर) की संज्ञा दी गयी है । आजकल जो चिकित्सा का विक्रय हो रहा है, इसके निषेध का संकेत त्रिकालज्ञ ऋषियों ने पहले ही कर डाला है । व्यवसाय की दृष्टि धर्मसंग्रह में सदैव बाधक होती रही है । सरकार भी इसी बात को ध्यान में रखकर चिकित्सा-व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करना चाहती है, परन्तु नियमों के बन्धन आजकल अत्यन्त शिथिल पड़ते जा रहे हैं ।

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम् । छित्त्वा वैवस्वतान् पाशाञ्जीवितं यः प्रयच्छति ॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते । न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥६१॥

जीवनदान सबसे उत्तम होता है—अत्यन्त कष्टप्रद रोगों द्वारा बड़े वेग से यमपुर की ओर ले जाये जाते हुए मनुष्यों के प्राणों को जो उत्तम चिकित्सक यमराज के पाशों को काटकर उसे जीवन दान दे देता है,

१. 'नार्थकामार्थम्' इति पा० ।

अर्थात् उसके प्राणों को बचा लेता है, उसके समान धर्म तथा अर्थ को देने वाला इस संसार में (उस चिकित्सक के अतिरिक्त) कोई नहीं मिल सकता । क्योंकि जीवन-दान से बढ़ कर अन्य कोई दान है ही नहीं ।

वक्तव्य—यहाँ रोगों को मारक अर्थात् प्राणों को हरने वाला कहा गया है । पापी मनुष्य ही रोगाक्रान्त होकर मरता है और अकाल में मर जाने से मानव धर्म तथा अर्थ का संचय नहीं कर पाता । अतः प्राणों को बचाने वाले चिकित्सक को धर्म तथा अर्थ का दाता कहा गया है, क्योंकि स्वास्थ्य-लाभ होने पर ही मानव को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है—'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् । रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च' ॥

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया । वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥६२॥

भूत-दया ही चिकित्सा का उद्देश्य—प्राणिमात्र पर दया करना ही सर्वोत्तम धर्म है, ऐसा सोचकर जो वैद्य चिकित्सा-क्षेत्र में प्रवृत्त होता है, वही सिद्धार्थ है, वही सिद्धसंकल्प है, वही वास्तविक सुख (सुयश) को प्राप्त करता है ।

तत्र श्लोकौ—

आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिं शुभम् । अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम् ॥६३॥
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः । आयुर्वेदसमुत्थाने तत् सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥६४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये
आयुर्वेदसमुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चायं रसायनाध्यायः ॥ १ ॥

उपसंहार—उक्त सम्बन्ध में दो श्लोक दिये गये हैं । प्रस्तुत आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनाध्याय के चौथे पाद में आयुर्वेद का समुत्थान (प्रादुर्भाव), दिव्य ओषधियों की विविध विधियों का शुभ वर्णन, अमृत गुणों से कुछ ही कम गुण वाले सिद्ध (प्रत्यक्ष फल देने वाले) रत्न रसायनों (रत्नमिश्रित जैसे—इन्द्रोक्त रसायन अथवा रमणीय गुणों से सम्पन्न रसायनों) का जो उपदेश देवराज इन्द्र ने सिद्धों, ब्रह्मचारियों तथा रसायन सेवन काल में ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वालों के लिए किया, वह सब यहाँ प्रकाशित किया गया है ।

प्रथम अध्यायोक्त रसायनों की पादशः तालिका

अभयामलकीय (प्रथमपाद)—१. ब्राह्मरसायन प्रथम २. ब्राह्मरसायन द्वितीय ३. च्यवनप्राश ४. आमलकरसायन ५. हरीतक्यादियोग प्रथम ६. हरीतक्यादियोग द्वितीय ।

प्राणकामीय (द्वितीयपाद)—१. शतपाक आमलकघृत २. सहस्रपाक आमलकघृत ३. आमलकावलेह ४. आमलकचूर्ण ५. विडंगावलेह ६. आमलकावलेह अपर ७. नागबला रसायन ८. बलारसायन ९. अतिबला रसायन १०. चन्दन रसायन ११. अगुरु रसायन १२. धव रसायन १३. तिनिश रसायन १४. खदिर रसायन १५. शिंशपा रसायन १६. असन रसायन १७. अमृता रसायन १८. अभया रसायन १९. धात्री रसायन २०. मुक्ता रसायन २१. श्वेता रसायन २२. जीवन्ती रसायन २३. अतिरसा रसायन २४. मण्डूकपर्णी रसायन २५. स्थिरा रसायन २६. पुनर्नवा रसायन २७. भल्लातकक्षीर २८. भल्लातकक्षौद्र २९. भल्लातकतैल ३०. भल्लातक गुड ३१. भल्लातकयूष ३२. भल्लातकसर्पि ३३. भल्लातकपलल ३४. भल्लातकसक्तु ३५. भल्लातकलवण ३६. भल्लातकतर्पण ।

करप्रचितीय (तृतीयपाद)—१. आमलकायस ब्राह्मरसायन २. केवलामलक रसायन ३. लौहादि रसायन ४. ऐन्द्र रसायन ५. मण्डूकपर्णी मेध्यरसायन ६. यष्टीमधु मेध्यरसायन ७. गुडूची मेध्यरसायन ८. शंखपुष्पी मेध्यरसायन ९. पिप्पली रसायन प्रथम १०. पिप्पली रसायन द्वितीय ११. पिप्पलीवर्धमान रसायन १२. त्रिफला रसायन प्रथम १३. त्रिफला रसायन द्वितीय १४. त्रिफला रसायन तृतीय १५. त्रिफला रसायन चतुर्थ १६. शिलाजतु रसायन ।

आयुर्वेदसमुत्थानीय (चतुर्थपाद)—१. इन्द्रोक्त रसायन प्रथम २. द्रोणीप्रावेशिक रसायन ३. इन्द्रोक्त रसायन द्वितीय ४. आचार रसायन।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय का आयुर्वेदसमुत्थानीय नामक रसायनविषयक चतुर्थपाद समाप्त ॥ ४ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

वाजीकरणाध्याये प्रथमः पादः

अथातः संयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

रसायनविषयक वर्णन के बाद अब हम संयोगशरमूलीय वाजीकरण पाद की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—स्वस्थ पुरुष के ओजो धातु की वृद्धि वाजीकरण औषधद्रव्यों के सेवन से होती है। अतः यहाँ रसायनयोगों के वर्णन के पश्चात् वाजीकरणयोगों का वर्णन किया जायेगा। 'संयोगः शरमूलानाम् अस्मिन् अस्तीति संयोगशरमूलीयः, तम्'। इसी अध्याय के २४वें श्लोक में कथित 'शरमूलेक्षुमूलानि' पद्यांश को लेकर ही इस अध्याय का नामकरण हुआ है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० २ के चारों पादों में, सु० चि० अ० २६ में, अ० सं उ० अ० ५० तथा अ० हृ० उ० अ० ४० में देखें।

वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्। तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ॥
पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः।

वाजीकरण की आवश्यकता—आत्मवान् पुरुष रसायन-सेवन करने के बाद प्रतिदिन वाजीकरणयोगों के सेवन की इच्छा करे, क्योंकि वाजीकरण के अधीन धर्म, अर्थ, प्रीति तथा सुयश की प्राप्ति होती है, यही पुत्र की उत्पत्ति में कारण होता है और उपर्युक्त चार गुण (धर्म, अर्थ, प्रीति=काम, सुयश) सुत (पुत्र) के अधीन होते हैं।

वाजीकरण चिकित्सा के सम्बन्ध में सामान्य विचार
(General consideration regarding stimulating of virility therapy)

वाजीकरण की निरुक्ति—'अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति अनेन, इति वाजीकरणम्'। 'येन वा अत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्रं तद् वाजीकरणम्'। वक्ष्यति च—'येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः। व्यज्यते चाधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ वाजः शुक्रं, सोऽप्यस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरणम्। किंवा— वाजो मैथुनम्। उक्तं हि हारीतसंहितायाम्—'वाजो नाम प्रकाशत्वात् तच्च मैथुनसञ्ज्ञितम्। वाजीकरणसञ्ज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते' ॥ विभिन्न प्रकार से प्रदर्शित ये निरुक्तियाँ वीर्यवर्धक योगों, क्रिया-कलापों की ओर ही संकेत करती हैं। जिसका सत् उपयोग स्वास्थ्यवर्धन के साथ ही साथ पुत्र-सन्तान की तथा उचित रूप से आनन्द की प्राप्ति है। इसी परिधि में धर्म, अर्थ, प्रीति और सुयश भी आते हैं।

वाजीकरण-योगों का सेवन आत्मवान् पुरुष को ही करना चाहिए। इसके विपरीत जो अजितेन्द्रिय होकर इन योगों का सेवन करते-कराते हैं, उनका प्रतिफल स्वास्थ्य की हानि होती है। साथ ही अगम्यागमन आदि प्रकारों से अधर्म की प्राप्ति भी होती है। यहाँ 'पुरुष' शब्द से बाल तथा वृद्ध के लिए वाजीकरण योगों के सेवन का निषेध किया है। यथा—'अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्। उपतप्येत सहसा तडागमिव

काजलम् ॥ शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम्। स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्' ॥ इति चक्रः। सिद्धरसायनों का प्रयोग जीवन में एक ही बार किया जाता है, किन्तु वृष्ययोगों का प्रयोग प्रतिदिन भोजन की भाँति करना चाहिए। वाजीकरण योगों का सेवन स्वास्थ्यवृद्धि की दृष्टि से करते हुए भी ऋतुकाल में स्त्री-सहवास करना ही चाहिए, क्योंकि इससे ब्रह्मचर्य-व्रत में कोई बाधा नहीं आती। जीवन के तीन उपस्तम्भों में ब्रह्मचर्य को प्रथम स्थान प्राप्त है। देखें—चरक० सू० अ० ११। क्योंकि ऋतुकाल में स्त्री-सहवास करना धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद दोनों द्वारा सम्मत है।

सुश्रुतसंहिता के अनुसार—'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्, पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति'। सु० शा० अ० १०।५३। अर्थात् २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री पूर्ण रूप से बलवीर्य युक्त हो जाते हैं, तभी उनका विवाह करना चाहिए। आयु का उक्त प्रमाण उपलक्षण मात्र है, क्योंकि कोई पुरुष २० वर्ष में ही पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेता है, कोई ३० वर्ष में कर पाता है। अतएव इस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। यथा—मनुस्मृति में ३० वर्ष में, अष्टांगसंग्रह में २१ वर्ष में और शार्ङ्गधरसंहिता में २० वर्ष में पुरुष पूर्ण युवा हो जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है। यही स्थिति स्त्री की अवस्था के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। ऊपर जो सुश्रुत का उद्धरण दिया है, उसके पाठभेद में 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' दिया गया है। अतः स्त्री के मासिक धर्म (यौवनपुष्प) का दर्शन फलजनन योग्यता की सूचना देता है। तथापि १६ वर्ष की अवस्था स्त्री के सर्वावयव सम्पन्न हो जाने की सामान्य सूचना है। देखें—'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ जातो वा न चिरञ्जीवेद् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्' ॥ सु० शा० अ० १०।५४-५५। इसी का समर्थन अ० हृ० शा० अ० १।८-९ में देखें। जिस प्रकार पूर्ण युवा होने से पहले पुरुष के लिए स्त्री-सहवास और पूर्ण युवती होने के पहले स्त्री के लिए पुरुष-सम्पर्क करने का निषेध है, उसी प्रकार अतिवृद्ध पुरुष और अतिवृद्धा स्त्री इन दोनों का परस्पर सहवास निष्फल होने के कारण निषिद्ध है। वाजीकरणयोगों के सेवन करने की अन्तिम अवधि महर्षि आत्रेय ने ७० वर्ष तक स्वीकार की है। देखें—च० चि० अ० २ तृ० पाद श्लोक १०। महर्षि सुश्रुत ने यह आयु सीमा ८० वर्ष तक बढ़ा दी है। देखें—सु० चि० अ० २६।२४। स्त्रियों में यह अवस्था १२ या १६ वर्ष से आरम्भ होकर ४५, ५०, ५५ तक सीमित मानी गयी है। देखें—सु० शा० अ० ३।११। इसी का समर्थन आचार्य भावमिश्र ने भावप्रकाश में किया है। इसी प्रकार का विचार प्रायः अन्य सभी आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में तर-तम भाव से व्यक्त किया है। देश, काल तथा स्वास्थ्यसम्पत् का विचार इसमें सर्वोपरि होता है।

पुत्रस्याऽऽयतनम्—उत्तम प्रकार के वाजीकरणयोगों का सेवन कर स्त्री-सहवास करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उत्पन्न पुत्र शूर, वीर, सुरूप आदि अनेक गुणों से युक्त होता है। पुत्र का मुख देखते ही मानव तीन प्रकार के ऋणों से मुक्त हो जाता है और उसे नरक-गमन का भय नहीं रह जाता। अतएव चाणक्य ने कहा है—'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्'। तथा धर्मशास्त्र की मान्यता है—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'। सर्वोत्तम वृष्य पदार्थ है—मनोहारिणी कामिनीकान्ता।

स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यम्—वाजीकरण को ही वृष्य कहते हैं। यह वृष्य तीन प्रकार का होता है। यथा—'शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चिच्छुक्रविवर्धनम्। स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते' ॥ अर्थात् कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनके दर्शन, स्पर्शन आदि से शुक्र का स्राव हो जाता है, जैसे—सर्वांगसुन्दरी स्त्री। कुछ द्रव्य ऐसे हैं जिनके सेवन से शुक्र की वृद्धि होती है, जैसे—दूध, घी आदि। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो शुक्र की वृद्धि तथा स्रावकारक होती हैं, जैसे—उड़द आदि।

हमारी धारणा—यदि सचमुच वाजीकरण की आवश्यकता हो तभी इस प्रकरण में उल्लिखित योगों का सेवन करना-कराना चाहिए, अन्यथा नहीं। कामुकता या वासना के वशीभूत होकर इनका सेवन धर्महानि तथा स्वास्थ्य-हानि में कारण हो जाता है। ऐसे ही मनचले लोग गर्मी-सुजाक के शिकार होकर बाद में पछताते रहते हैं। क्योंकि—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' ॥ मनुस्मृति। अर्थात् कामना के उपभोग से वासना शान्त नहीं होती, अपितु वह बढ़ती ही जाती है। अतः सर्वोत्तम रसायन तथा वाजीकरण ब्रह्मचर्य है, इसका सेवन करना चाहिए। देखें—अ० हृ० अ० ४०।४। इसका विशेष विवेचन अ० सं० अ० ५० में देखें।

दूसरी बात—जो पुरुष वाजीकरणयोगों का तो सेवन करते हैं, परन्तु उनके साथ दूध, मलाई, मक्खन, घी, अंडा, मांस या मांस रस आदि का सेवन नहीं करते और अपने मनोनिग्रह पर ध्यान नहीं देते, वे लाभ के स्थान पर हानि उठाते हैं। इस सिलसिले में किये जाने वाले गाँजा, भाँग, अफीम, शंखिया आदि के प्रयोगों से सदैव सावधान रहें तथा कामुकता के वशीभूत लोग धैर्य और संयम से काम लें।

वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ॥ ४ ॥
इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः। किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिताः॥
(सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते।)
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम्।
स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता ॥ ७ ॥
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता।

स्त्री श्रेष्ठ वाजीकरण है—हर्ष को उत्पन्न करने वाली स्त्री ही वाजीकरण का उत्तम क्षेत्र है (क्षेत्र में बीज को बोया जाता है, अतः पुमान् का वीर्य रूप बीज स्त्री रूपी क्षेत्र में पड़ कर उसमें से सन्तान रूपी फल की उत्पत्ति होती है)। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। उनके एक-एक अर्थ (विषय) हैं, जो मन को अत्यन्त प्रसन्न करते हैं, अर्थात् जिनके कारण मन उन-उन में अनुरक्त रहता है। वे सभी (प्रीति को उत्पन्न करने वाले) अर्थ स्त्री के शरीर में समूह रूप से स्थित रहते हैं (इन्द्रियों के विषयों का समूह जिस प्रकार एक साथ स्त्री के शरीर में प्राप्त होता है, उस प्रकार अन्यत्र नहीं पाया जाता)। स्त्री के शरीर में रहने वाले इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करते हैं। स्त्रियों में प्रेम-भावना विशेषरूप से रहती है तथा उनमें अपत्य (पुत्र या पुत्री रूप सन्तान) की उत्पत्ति का आधार निर्भर करता है। धर्म, अर्थ, लक्ष्मी तथा समस्त लोकों की प्रतिष्ठा स्त्री में ही होती है। अर्थात् इनकी उत्पत्ति की आधारभूमि स्त्री ही है। जो स्त्री सुन्दर रूप वाली, यौवन के लक्षणों से सम्पन्न तथा उनसे सुशोभित हो, जो अपने वश में हो और सुशिक्षित (६४ कलाओं से युक्त, समझदार) हो, वह स्त्री वृष्यतमा (श्रेष्ठ वाजीकरण) मानी गयी है।

वक्तव्य—यहाँ स्त्री को 'क्षेत्र' की संज्ञा दी गयी है। वेद में भी इस प्रकार का उल्लेख है—'द्यौरहं पृथिवी त्वम्। तावेव विवहावहै, सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्'। यजुर्वेद। विवाह के समय वधू का पाणिग्रहण करते समय वर प्रतिज्ञा युक्त इस मन्त्र का उच्चारण करता है। यहाँ पर वर अपने को वीर्य की वर्षा करने वाला द्यौस् कहता है और उसको धारण करने वाली स्त्री को पृथिवी (क्षेत्र) कहा गया है।

सङ्घातेन प्रतिष्ठिता अर्थाः—मन को आनन्दित करने वाले ज्ञानेन्द्रियों के सभी विषय स्त्री के शरीर में एक साथ रहते हैं। इस विषय का सोदाहरण प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है—१. आँख का विषय रूप होता है, वह स्त्री में सौन्दर्य के रूप में रहता है। ध्यान रहे, यह सौन्दर्य परस्पर स्नेहमूलक होता है; जहाँ सचमुच सौन्दर्य हो वहाँ की तो बात ही क्या कहनी है। २. कान का विषय शब्द है। प्रियतमा द्वारा कथित शब्दों को साहित्यशास्त्र में मधुर उपदेश की संज्ञा दी गयी है। देखें—'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे'। काव्यप्रकाश। ३. नासिका का विषय गन्ध है। नायिकाओं में पद्मिनी नायिका को उत्तम माना गया है। उसके श्वास-प्रश्वास पद्म की-सी गन्ध वाले होते हैं। देखें—भ्रमर-बाधा से पीड़ित अभिज्ञान-शाकुन्तल की शकुन्तला को। ४. रसना (जीभ) का विषय रस है। नायिका के अधरामृत रस की तुलना में स्वर्गीय अमृत को भी कामीजनों ने तुच्छ कहा है। ५. त्वचा का विषय स्पर्श है। नायिका के आलिंगन, चुम्बन आदि के स्वाद का अनुभव ज्ञातास्वाद व्यक्ति जानते ही हैं।

वृष्यतमा स्त्री—सम्पूर्ण वाजीकरणयोग उस समय व्यर्थ हो जाते हैं, जब मनोनुकूल स्त्री की प्राप्ति नहीं हो पाती। मनोनुकूल स्त्री के प्राप्त होते ही अनेक नपुंसकों को पूर्ण पुरुष के रूप में पाया गया है। कविराज लोलिम्बराज ने चमत्कार-चिन्तामणि में वृष्यतमा स्त्री का परिचय इस प्रकार दिया है—

'रहसि गलितलज्जा बाह्यदेशे सलज्जा, स्तनभरनमिताङ्गी चन्दनक्षालिताङ्गी।
मृदुतरमुपयान्ती श्रोणिवक्षोजभाराद्, द्रवयति कमलाक्षी कस्य कामं न कामम्'॥ च० चि०।

इसके अतिरिक्त स्त्रियों के सम्मान की चर्चा भारतीय साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध है। वृद्धवाग्भट ने तो यहाँ तक कहा है—'गृहं हि हीनमेताभिर्न श्रीमदपि शोभते'। अ० सं० उ० त० अ० ५०।

नानाभक्त्या तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम् ॥ ८ ॥
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः। वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमाङ्गना ॥९॥
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा। हृदयोत्सवरूपा या या समानमनःशया ॥१०॥
समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः। या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः ॥११॥
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत्। यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः ॥१२॥
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते। याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम् ॥
अपूर्वामिव यां याति नित्यं हर्षातिवेगतः। गत्वा गत्वाऽपि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति ॥
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः।

स्त्रियों के प्रति लोक की भिन्न रुचि—लोक (सांसारिक पुरुषों) की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। दैवयोग से उस-उस प्रकार के पुरुष को प्राप्त करके स्त्रियों के रूप आदि गुणों की भी वृद्धि होती रहती है। अर्थात् पुरुष की इच्छा के अनुरूप स्त्रियाँ अपने रूप, शील तथा स्वभाव को बना लेती हैं।

वाजीकरण योग्य स्त्री-परिचय—वय (युवावस्था), रूप (सुन्दरता), वचन (मन्दहास्ययुक्त मधुर भाषण) तथा हाव-भावों द्वारा जो स्त्री जिस पुरुष के लिए उत्तम होती है, वह उस पुरुष के हृदय में शीघ्र प्रवेश पा जाती है। यह सुसंयोग सत्कर्मों के फल से होता है, या ऐसा भाग्य से होता है। ऐसी स्त्री प्रतिदिन हृदय को आनन्द देने वाली होती है। वह सदैव पुरुष की इच्छाओं के अनुकूल इच्छा वाली होती है। जो स्त्री पुरुष के विचारों के अनुकूल विचारों वाली होती है, जो सदैव पुरुष के वश में रहती है, जिसे वे सभी पदार्थ प्रिय लगते हैं जिन्हें उसका पति पसन्द करता है, जो अपने उत्कृष्ट गुणों से अपने प्रियतम की सभी इन्द्रियों को अपनी ओर फँसाये (बाँधे) रहती है, जिससे बिछुड़ जाने पर सम्पूर्ण जगत् को वह स्त्री हीन मानने लगता है, बेचैन हो जाता है, जिसके अभाव में पुरुष अपने शरीर को इन्द्रियों से रहित के समान धारण करता है, जिसको देखकर शोक, घबड़ाहट, बेचैनी तथा भय से कभी भी पराजित नहीं होता, अर्थात् मनोबल बना रहता है, जिसको पाकर पुरुष आश्वस्त हो जाता है और जिसको देखकर आनन्दित होता है, प्रतिदिन जिससे सहवास करते समय उसे ऐसा लगता है जैसे आज ही प्रथम समागम हो रहा है, जिसके साथ अनेक बार रमण करने पर भी उसका हृदय तृप्त नहीं होता, वह स्त्री उस पुरुष के लिए वृष्यतमा होती है, क्योंकि पुरुष अनेक प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार की स्त्रियाँ घर में लक्ष्मीस्वरूप होती हैं। 'गत्वा गत्वाऽपि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति'। स्त्री के सौन्दर्य आदि गुणों के कारण पुरुष तृप्ति को प्राप्त नहीं होता, किन्तु पुरुष को बार-बार रमण करने के लिए विविध प्रकार के वाजीकरण-योगों का सेवन करना अति आवश्यक है, अन्यथा राजयक्ष्मा जैसे भयानक रोगों से वह पुरुष पीड़ित हो जाता है।

अतुल्यगोत्रां वृष्यां च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम् ॥ १५ ॥
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः।

सहवास के योग्य स्त्री—सभी प्रकार के विकारों से रहित सन्तानोत्पत्ति की इच्छा वाला पुरुष अतुल्य गोत्र वाली, वाजीकरण-योग्य, प्रसन्नचित्त, सभी प्रकार के उपद्रवों (रोगों) से रहित तथा ऋतुकाल से निवृत्त होकर स्नान करके जो शुद्ध हो गयी हो, ऐसी पत्नी के साथ सहवास करे।

वक्तव्य—इसका सामान्य संकेत 'अतुल्यगोत्रस्य' च० शा० अ० २।३ के वक्तव्य में किया जा चुका है। धर्मशास्त्र के अनुसार माता की सपिण्ड सीमा के बाहर और पिता के सगोत्र सीमा के जो बाहर हो, उस समान

वर्ण की कन्या के साथ विवाह करना उचित है। देखें—'असगोत्रा तु या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने' ॥ मनुस्मृति। इसके विपरीत विवाह करने से सर्वप्रथम धर्म की हानि होती है, जब कि वृष्यतमा स्त्री धर्म-प्राप्ति में सहायक होती है, यह ऊपर वर्णित है।

विशेष वक्तव्य

अतुल्यगोत्र विचार—सुश्रुत ने शारीरस्थान में वर-वधू के विवाह के सम्बन्ध में केवल अवस्था का विचार किया है। वे लिखते हैं, कि जब युवक विद्याध्ययन कर ले और शक्तिमान् हो जाये, तब उसका विवाह युवती कन्या के साथ कर दें। देखें—सु० शा० अ० १०।५३। यहीं पर यह भी निर्देश किया गया है, कि यदि पूर्णयौवन को प्राप्त होने के पहले इनका विवाह किया जाता है, तो उनसे होने वाली सन्तानों की क्या दुर्गति होती है। देखें—सु० शा० अ० १०।५४-५५। यहाँ सुश्रुत ने वर-कन्या की विवाह-योग्य अवस्था का जो निर्धारण किया है, उस पर तन्त्रान्तरों में जो मतभेद है, वह देश, काल, शरीर, सम्पत्ति आदि की विविधता को देखकर उचित ही प्रतीत होता है। किन्तु, पूर्णयौवन को प्राप्त हो जाना सभी को इष्ट है। यह सब होने पर भी इन्होंने 'अतुल्यगोत्र सम्बन्धी' विषय पर कोई विचार नहीं किया है।

महर्षि आत्रेय ने चरक-शारीरस्थान, अध्याय २ का नाम ही 'अतुल्यगोत्रीयशारीर' रखा है। श्रीचक्रपाणि इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'अतुल्यगोत्रस्य पुंसः। तुल्यगोत्राणां हि मैथुनेऽधर्मो भवति' धर्मशास्त्रेषु निषिद्धत्वात्'। च० शा० अ० २।३। आप्त महर्षियों द्वारा उपदिष्ट धर्मशास्त्र (याज्ञवल्क्य० ७।५२-५३; मनु० ३।५-१०) उन विषयों का निर्देश करते हैं, जो सामान्य पुरुष की बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। ऐसे ही विषयों को इन्द्रियातीत विषय कहते हैं। इस प्रकार के वचनों का उल्लंघन किसी न किसी अशुभफल के रूप में प्रकट होता है। उदाहरण के रूप में देखें—चरक, कुष्ठ-चिकित्सा अध्याय ७।८ में। यहाँ ब्राह्मणों तथा गुरुजनों का अपमान करना तुल्यगोत्र की युवती से विवाह करने की भाँति तात्कालिक सुखद घटना प्रतीत होती है, बाद में उसका प्रतिफल जो भी हो।

अतुल्यगोत्र सम्बन्धी चरक के इस विचार को सुश्रुत द्वारा समर्थित न होने के कारण कुछ विद्वान् **'प्रायेण व्यपदेशा भवन्ति'**, कहकर प्रायिक वचन मानते हैं और कहते हैं—**'दक्षिणे मातुली कन्या'** इत्यादि व्यवहार उक्त मत में बाधक सिद्ध होंगे। ध्यान रहे, मातुली कन्या 'अतुल्यगोत्रा' ही होती है। आज के वैज्ञानिकों को भी चरक का यह सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि वे परिणाम की चिन्ता न करके समस्त व्यवहार को युगानुरूप देखना चाहते हैं। कारण यह है कि आज का युग **'प्रेम-विवाह'** का है। इस दृष्टि से आधुनिक वैज्ञानिक चार्वाक् से भी आगे बढ़ गये हैं, क्योंकि उसे तो परलोक की चिन्ता नहीं थी और इन्हें कल (भविष्यत्) की भी चिन्ता नहीं है।

कुछ विचारक यहाँ गोत्रप्रवर्तक ऋषियों की सन्तान-परम्परा को न लेकर गुरुकुल-परम्परा को इस आधार पर स्वीकार करते हैं—**'गावः त्रायन्ते यत्र, तद् गोत्रं=गुरुकुलम्'** अर्थात् जहाँ गायों का पालन किया जाये, उसे 'गोत्र' कहते हैं। प्राचीनकाल में गुरुकुलों में पढ़ने वाले छात्र-छात्राएँ अध्ययन के साथ गोपालन भी किया करते थे। गोत्र शब्द की उक्त निरुक्ति अतिव्याप्तिदोष से परिपूर्ण है, तथापि इस प्रकार के गुरुकुलों में जहाँ छात्र-छात्राएँ एक साथ अध्ययन करें वे सभी तुल्यगोत्र वाले हैं; इनमें परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए। यह भी आधुनिक विद्वानों को स्वीकार नहीं हो पायेगा, क्योंकि आज तो इस तरह के अधिकांश जोड़े गुरुकुलों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों से तैयार होकर समाज में विचरण करते हुए देखे जा रहे हैं। आप ध्यान से देखें और विचार करें, ऐसे स्वयम्भू जोड़े पारिवारिक जीवन में कितने दिनों तक, किन-किन दृष्टियों से और कहाँ तक सफल हो पा रहे हैं। ये आज के उतावले विद्वान् आज जो भी निर्णय ले लें, कल को तो ये अपनी भूलों को मन ही मन स्वीकार करते ही हैं। जिस प्रकार कुछ समय पहले युवतियों के स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से स्तनपायी बालकों को माताओं का स्तनपान करने से वंचित करा दिया गया था, अब पुनः उस सार्वभौम तथा त्रैकालिक तथ्य को स्वीकार करके **'मां जब तक पिला सके बच्चे को अपना ही दूध पिलाये'**—इसका प्रचार पोस्टकार्डों द्वारा कराया जा रहा है। ऐसा ही शाश्वत सम्बन्ध है—भारतीय अतुल्यगोत्रज कुलीन परिवार के नर-नारियों का। आप भी इन आप्त-वाक्यों पर श्रद्धा करें। महर्षि पाणिनि ने गोत्र शब्द का दस सूत्रों द्वारा अनेक अर्थों में प्रयोग किया है, वह भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

जेनेटिक्स के सिद्धान्तों के आधार पर आप देखें—ह्वाइट टाइगर की वंशपरम्परा किस कारण से समाप्त हुई, उसको बचाने के लिए क्या-क्या उपाय सोचे जा रहे हैं। इनके मूल में महर्षि आत्रेय के उक्त सिद्धान्त की अवहेलना कराना ही कारण है। इसी का दूसरा पहलू है—उक्त प्रकार के जोड़ों से उत्पन्न सन्तानों का लम्बे समय तक ठीक न हो सकने वाले रोगों से पीड़ित रहना। महाराष्ट्र में प्राचीन काल से प्रचलित मातुल (मामा) की कन्या के साथ विवाह करने की प्रथा की आज विशेषतः उपेक्षा करने लग गये हैं। इन सब कारणों से हम महर्षि आत्रेय द्वारा मान्यता प्राप्त अतुल्यगोत्रीय विवाह सिद्धान्त का समादर करते हैं।

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ॥ १६ ॥
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः।

निःसन्तान पुरुष की निन्दा—जिस व्यक्ति को सन्तान नहीं होती वह मनुष्य छाया रहित, एक शाखा वाले, फल रहित तथा दुर्गन्ध से युक्त वृक्ष के समान (निन्दनीय) है।

वक्तव्य—यहाँ 'यथा द्रुमः' तथा 'नरः'—इस प्रकार की संगति है। अतः जितने विशेषण द्रुम (वृक्ष) के लिये प्रयुक्त हैं, वे सभी सन्तानहीन पुरुष पर भी चरितार्थ होते हैं। ध्यान दें—**अच्छायः** से उसके समीप कोई नहीं आयेगा। सन्तान युक्त पुरुष को 'प्रभूतशाखः शाखीव' पहले कहा जा चुका है। **एकशाखः**—उस अभागे पुरुष के लिए प्रयुक्त विशेषण है, जो हमेशा अकेला ही रह गया। **निष्फलः**—जैसे निष्फल वृक्ष का जीवन व्यर्थ होता है, वैसे ही पुरुष के जीवन का फल है—पुत्र, जिस पर वंशपरम्परा आधृत होती है। **अनिष्टगन्धः** का तात्पर्य है कि 'ऐसे पुरुष को देखकर सामाजिक दूर से नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं'।

चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः ॥ १७ ॥
निष्प्रजस्तृणपूलीति मन्तव्यः पुरुषाकृतिः।

सन्तानहीन की प्रकारान्तर से निन्दा—निष्प्रज (प्रजा=सन्तानहीन), पुरुष चित्र में लिखे (चित्रित) दीपक के सदृश (प्रकाशहीन) होता है तथा सूखे तालाब जैसा होता है। वह अधातु होता हुआ भी धातुनिर्मित जैसा दिखलायी देता है तथा पुरुष की आकृति का बनाया हुआ तृणपूली (पुतली=खिलौना) के सदृश होता है, ऐसा मानना चाहिए।

वक्तव्य—निःसन्तान पुरुष को जो-जो विशेषण दिये गये हैं, वे सब व्यर्थता या पुरुषाभास के सूचक हैं। **चित्रदीप**—चित्र में बनाया हुआ दीपक देखने में भले ही अच्छा लगे, किन्तु वह किसी का उपकारक नहीं होता। **शुष्कः सरः**—सूखा सरोवर किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। **अधातुः**—'शरीरधारणाद् धातवः' पंचमहाभूतों के समवाय से बना हुआ उसका यह धातुसन्निभशरीर पुत्र आदि को उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण 'अधातु' कहा जाता है। **पुरुषाकृतिः तृणपूली**—किसान खेतों में वन्य पशुओं को डराने के लिए घास-भूसे से पुरुष की आकृति के निर्जीवों को बनाकर स्थान-स्थान पर स्थिर कर देते हैं। वे जिस प्रकार अकर्मण्य होते हैं, वैसा ही यह संतानहीन पुरुष भी होता है।

अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना ॥ १८ ॥
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते।

सन्तानहीन का अन्य स्वरूप—सन्तानहीन पुरुष को प्रतिष्ठा रहित, वस्त्र रहित (नंगे), शून्य तथा एक इन्द्रिय वाले के समान निष्क्रिय समझना चाहिए।

वक्तव्य—निःसन्तान पुरुष का कहीं भी सम्मान नहीं होता, न इस लोक में न परलोक में। वह नंगे के समान है। उसके लिए सम्पूर्ण घर शून्य (अन्धकारपूर्ण) है—'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्'। वह एक इन्द्रिय (मुख) वाला है, जो केवल भोजन के लिए जीवित रहता है। वह धर्म, अर्थ क्रिया को करने में सदैव निष्क्रिय रहता है।

बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः ॥ १९ ॥
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः।

मङ्गल्योऽयं प्रशस्योऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम् ॥ २० ॥
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः ।

सन्तान युक्त पुरुष की प्रशंसा—जिस पुरुष की अनेक सन्तानें (पुत्र-पुत्रियाँ) होती हैं, वह पुरुष अनेक मूर्तिवाला, अनेक शरीर वाला या समूह वाला, बहुत कार्य करने वाला, बहुत आँखों वाला, बहुत ज्ञान वाला तथा बहुत आत्मा वाला होता है ।

जो पुरुष अनेक सन्तान वाला होता है, उसकी स्तुति समाज इस प्रकार करता है—"इसका जीवन मंगलमय है, या यह शुभदर्शन है, यह प्रशंसनीय है, यह धन्य (सुकृती या पुण्यवान्) है, यह शक्तिशाली है तथा यह अनेक शाखाओं वाला (पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि से युक्त) है" ।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय के युग में अनेक सन्तानों से युक्त पुरुष की प्रशंसा होती थी और होनी भी चाहिए, यदि पिता भरण-पोषण में समर्थ हो तो, अन्यथा—**'दरिद्रस्य विषं गोष्ठी'** । चाणक्य० । अर्थात् दरिद्र के लिए बड़ा परिवार विष के समान होता ही है । बहुमूर्ति आदि जो विशेषण ऊपर बहुप्रज पुरुष के लिए प्रयुक्त किये गये हैं, उनका कारण है—**'आत्मा वै जायते पुत्रः'** । अर्थात् पुत्र एक हो या अनेक वे पिता की ही आत्मा के रूप में जन्म लेते हैं । इसी का समर्थन यह सूक्ति भी कर रही है—'तदेव जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुमान्' । **बहुचक्षुः**—जैसे राजा को 'चारचक्षुः' कहा गया है, ठीक वैसे ही पिता पुत्रों के कारण अनेक नेत्रों वाला कहा जाता है ! **बहुव्यूहः**—अनेक सन्तान वाला पुरुष सेनापति के समान शक्तिशाली होता है। इसको 'वीर्यवान' और 'बहुशाखः' कहा गया है । अतएव समाज इसकी स्तुति करता है ।

प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो [1]विपुलं कुलम् ॥ २१ ॥
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिताः ।

सन्तान से लाभ—प्रीति (प्रेम-आलिंगनजनित सुख), बल, मानसिकसुख, जीविका, वंश का विस्तार, कुल की महानता, यश, समाज में प्रतिष्ठा की प्राप्ति, सुखमय भविष्य तथा मनःसन्तोष—ये सब अच्छी सन्तान के अधीन होते हैं ।

वक्तव्य—ये लक्षण और लाभ वाजीकरण-योगों का सेवन करने के बाद उत्पन्न होने वाली सन्तान के हैं, सामान्यरूप से उत्पन्न सन्तानों के नहीं हैं ।

तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान् ॥ २२ ॥
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च ।

वाजीकरण की आवश्यकता—इसलिए अपत्य (पुत्र-पुत्री) की इच्छा करते हुए, अपत्य से सम्बन्धित उक्त समस्त गुणों की कामना करते हुए तथा सभी प्रकार के कामजनित सुखों के उपभोग की इच्छा करते हुए मानव को प्रतिदिन वाजीकरणयोगों का सेवन करना चाहिए ।

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान् ॥ २३ ॥
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ।

वाजीकरणयोगों का उपदेश—अब मैं इसके आगे वीर्य (सातवाँ धातु तथा इससे उत्पन्न शक्ति) और सन्तान को बढ़ाने वाले तथा विविध प्रकार के सुखद प्रयोग वाले सिद्ध वाजीकरण-योगों का वर्णन करूँगा ।

वक्तव्य—उक्त पद्य वाजीकरण-योगों की प्रशस्ति तथा उपयोग आदि की संक्षिप्त सूचना दे रहा है । इसका प्रयोजन क्या है और किसको इसका सेवन करना चाहिए, इस सम्बन्ध में सुश्रुत चि० अ० २६ अवलोकनीय है ।

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुवालिका ॥ २४ ॥
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका । जीवन्ती जीवको मेदा वीरा चर्षभको बला ॥२५॥
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा । एषां त्रिपलिकान् भागान्[2] माषाणामाढकं नवम् ॥

१. 'विभवं' इति पा० ।
२. 'पृथक्-त्रिपलिकान् कृत्वा' इति पा० ।

विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत् । तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली ॥२७॥
आत्मगुप्ता मधूकानि खर्जूराणि शतावरी । विदार्यामलकेक्षूणां रसस्य च पृथक् पृथक् ॥२८॥
सर्पिषश्चाढकं दद्यात् क्षीरद्रोणं च तद्भिषक् । साधयेद्घृतशेषं च सुपूतं योजयेत् पुनः ॥२९॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक् । पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च ॥३०॥
त्वगेलाकेशराणां च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः । मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत्कारयेद्भिषक् ॥३१॥
पलिका गुलिकास्त्यान[1]स्ता यथाग्नि प्रयोजयेत् । एष वृष्यः परं योगो बृंहणो बलवर्धनः ॥३२॥
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत् ।

(इति बृंहणी गुटिका ।)

बृंहणी गुटिका—शर (सरपत) की जड़, इक्षु (सामान्य ईख) की जड़, काण्डेक्षु (बड़ी ईख) की जड़, इक्षुबालिका (छोटी ईख) की जड़, शतावरी, पयस्या (क्षीरकाकोली), विदारीकन्द, कण्टकारी, जीवन्ती, जीवक, मेदा, वीरा (काकोली), ऋषभक, बला (बरियारा) की जड़, ऋद्धि, गोखरू, रास्ना, आत्मगुप्ता (किवाँच) के बीज और पुनर्नवा—इन सबको ३-३ पल (१२-१२ तोला) और नवीन उड़द १ आढक (३ सेर ३ छटांक १ तोला) को एक साथ मिलाकर १ द्रोण (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) जल में डालकर पकायें। जब यह क्वाथ चतुर्थांश शेष रह जाये, तब इसे छान लें, तदनन्तर इस चतुर्थांश क्वाथ में मुलेठी, द्राक्षा, फल्गु (अंजीर), पिप्पली, किवाँच के बीज, महुए के फल, खजूर, शतावर की जड़—इनको पीसकर कल्क बना लें। विदारीकन्द, आँवला तथा ईख का रस अलग-अलग १-१ आढक और एक ही आढक (६४ पल=२५६ तोला) घी, १ द्रोण (१२ सेर १२छटांक ४ तोला) गाय का दूध डालकर चिकित्सक घृतपाक कराये। जब सब द्रव जलकर मात्र घी शेष रह जाये, तब उसे उतार कर छान लें ।

इस घी में चीनी, वंशलोचन (दोनों को पीसकर) १-१ प्रस्थ (६४ तोला), पीपल ४ पल (१६ तोला), कालीमरिच १ पल (४ तोला), दालचीनी, छोटी इलायची तथा नागकेसर—इनका चूर्ण आधा पल (२ तोला) शहद २ कुडव (३२ तोला) मिलाकर १-१ पल (४-४ तोला) की गोलियाँ बनाकर रख लें । अग्नि के बल को देखकर तदनुसार इसका प्रयोग करें । यह बृंहणी गुटिका अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक), बृंहण (शरीर को मोटा-ताजा करनेवाली) और बल को बढ़ाने वाली है । इसका नियमित सेवन करने से पुरुष घोड़े के समान मैथुन करने में समर्थ होता है ।

वक्तव्य—आयुर्वेद में कालिंग तथा मागध दो मान मूलतः प्रसिद्ध हैं। किन्तु प्राचीन टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में प्रसंग-विशेष को ध्यान में रखकर कुछ विशेष वचनों का निर्देश कर कहाँ कौन-सा मान कितना लेना चाहिए, इसका संकेत किया है, न कि उसकी परिभाषा बदल दी है । ध्यान दें—'कुडवे च क्वचिद् द्वित्वं यथा दन्तीघृते स्मृतम् । सर्पिः खण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु ॥ अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते" ॥ तथा—'कुडवे मानिकायां च तुलामाने तथैव च । पलोल्लेखागते माने न द्वैगुण्यमिहेष्यते' ॥ अतः यह परिभाषा किस मान को कहाँ और कितना लेना चाहिए, केवल इसका निर्देश करती है ।

माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम् ॥ ३३ ॥
जीवकर्षभकौ वीरां मेदामृद्धिं शतावरीम् । मधुकं चाश्वगन्धां च साधयेत् कुडवोन्मिताम् ॥
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः । विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च ॥३५॥
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् । शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक् पृथक् ॥
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत् पलम् । पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत् ॥३७॥
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम् ।

(इति वाजीकरणं घृतम् ।)

वाजीकरण घृत—नये उड़द के बीज तथा नये किवाँच के बीज, प्रत्येक को १-१ आढक (२५६ तोला), जीवक, ऋषभक, काकोली, मेदा, ऋद्धि, शतावरी, मुलेठी, असगन्ध—इन द्रव्यों को १-१ कुडव=१६ तोला

१. 'कृत्वा' इति पा० ।

(इन सब द्रव्यों को चौगुने जल में डालकर पकायें। जब पानी चतुर्थांश शेष रह जाये, तब इसे कपड़े से छान लें उस रस में) गाय का घी १ प्रस्थ, विदारीकन्द का रस १ प्रस्थ, ईख का रस १ प्रस्थ, गाय का दूध १० प्रस्थ (६४० तोला)—इन सबको एक साथ मिलाकर हलकी आँच में पकायें, जब घी मात्र शेष रह जाये, तब उसको चूल्हे से उतार कर ढँक कर रख दें। उसमें मिश्री का चूर्ण, वंशलोचन का चूर्ण, शहद ४-४ पल (१६-१६ तोला) और पीपल का चूर्ण १ पल (४ तोला) मिलाकर रख दें।

जो व्यक्ति अक्षय शुक्र की प्राप्ति करना चाहता हो और शेफस (लिंग) को शक्तिशाली बनाना चाहता हो, वह इस वाजीकरण घृत का सेवन भोजन करने से पहले करे। जब इसकी मात्रा पच जाये, तब भोजन करे।

वक्तव्य—मात्रा का निर्धारण सभी के लिए एक समान करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी इस अल्पप्राण युग में १ पल (४ तोला) की मात्रा अत्यन्त अधिक है। अतः रसायन-सेवन करने वाले के शारीरिक बल तथा अग्निबल के अनुसार इसका निर्देश करना चाहिए। युगानुरूप इसकी २ या ३ तोले की मात्रा पर्याप्त है। मात्रा का यही प्रमाण 'बृंहणी गुटिका' का भी समझें।

शर्करा माषविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम् ॥ ३८ ॥
गोधूमचूर्णषष्ठानि सर्पिष्युत्कारिकां पचेत्। तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे ॥३९॥
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः। एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्धनः ॥४०॥
अनेनाश्व [1]इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्। शिखितित्तिरिहंसानामेवं पिण्डरसो मतः ॥
बलवर्णस्वरकरः पुमांस्तेन वृषायते ॥ ४१ ॥

(इति [2]वाजीकरणपिण्डरसाः।)

वाजीकरण पिण्डरस—१. शर्करा (चीनी या मिश्री) चूर्ण, २. उड़द की छिलका रहित दाल का चूर्ण, ३. वंशलोचन का चूर्ण, ४. गाय का दूध, ५. गाय का घी और ६. गेहूँ का चूर्ण (आटा)—इन सबको एक साथ मिलाकर गाय के घी में उत्कारिका को पकायें। किन्तु उसका खर पाक न करें, अर्थात् मृदु पाक करके निकाल लें। तदनन्तर उसे हाथों से मसलकर सुगन्धित द्रव्यों (जावित्री, जायफल, इलायची, दालचीनी आदि मसालों) से सुगन्धित किये हुए मधुररस युक्त मुर्गे के उष्ण मांसरस में डाल दें। इस उत्कारिका को मिला देने से वह मांसरस गाढ़ा हो जाता है।

यह पिण्डरस वृष्य, पौष्टिक (शरीर को पुष्ट करने वाला) तथा बल को बढ़ाने वाला होता है। इसका सेवन करने वाला पुरुष कामवेग से प्रेरित होकर घोड़े के समान स्त्री-सहवास के लिए उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होता है। यहाँ तक कुक्कुट (मुर्गा) पिण्डरस का वर्णन कर दिया गया है। इसी प्रकार शिखि (मोर), तित्तिर तथा हंस के मांसरसों द्वारा पिण्डरसों का भी निर्माण किया जाता है। ये सभी पिण्डरस समानरूप से वृष्य, पौष्टिक, बलवर्धक तथा मैथुन-शक्ति को बढ़ाने वाले होते हैं।

वक्तव्य—'उत्कारिका' का अर्थ रोटी, लप्सी तथा गुटिका किया गया है। ये प्रयोगों की भिन्नता के सूचक हैं। अष्टांगहृदय-सूत्रस्थान अ० १७।६ के ऊष्म स्वेदन-विधि में भी इसका उल्लेख हुआ है। यहाँ इसका पाक घी में करने को कहा गया है। अतः इसे रोटी नहीं कहा जा सकता। इसको बनाने के उपादानों में दूध तथा घी भी हैं और इसे पकाना भी घी में है। अतः इसको मोटी पूड़ी या मठरी कहा जा सकता है। इसमें उड़द का आटा, गेहूँ का आटा और चीनी सम भाग, सबका चौथा भाग घी डालकर खूब मिला लें, फिर इसे दूध में आटा की भांति सान लें, इसी में १ भाग वंशलोचन का चूर्ण मिलाकर इसका घी में मृदुपाक करें। उक्त योग में ४ पिण्डरसों का उल्लेख किया है।

हमारे विचार से 'वाजीकरण-पिण्डरस' नाम की सार्थकता इस प्रकार की जा सकती है—कुक्कुट आदि पक्षियों के मांसरस में उत्कारिका को मसलकर डाल देने से यह रस पिण्ड की आकृति का हो जायेगा, अर्थात् 'पिण्डीकृतो रसः—पिण्डरसः'। प्राचीन आचार्यों ने आयुर्वेद को सर्वजनीन, सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक

१. 'इवोदीर्णबलः' इति पा०।
२. 'वाजीकरी लप्सिका' इति पा०।

बनाने की दृष्टि से चिकित्सा-योगों का निर्देश किया है। सत्त्वप्रकृति-प्रधान पुरुषों के लिए बृंहणीगुटिका, वाजीकरणघृत आदि तथा राजस, तामस प्रकृति वालों के लिए वाजीकरण-पिण्डरस आदि योगों का निर्देश किया गया है, क्योंकि सत्त्वगुण-प्रधान द्रव्यों से निर्मित योग मांस, मदिरा आदि का सेवन करने के अभ्यासी पुरुषों के लिए लाभकारक नहीं होते हैं।

श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा स्वीकृत पाठ में **'बलवर्णस्वरकरः पुमांस्तेन वृषायते'**। यह फलश्रुति वाला अंश नहीं है, जिसे निर्णयसागरीय प्रति में देखा जा सकता है। वृद्धवाग्भट ने उक्त प्रकार से उत्कारिका का निर्माण करने के बाद उसे खाने का विधान किया है और उसके बाद मुर्गा, मोर, तीतर अथवा हंस के मांस रस में से किसी एक को अनुपान के रूप में सेवन करने की आज्ञा दी है। देखें—अ० सं० उ० तं० अ० ५०। ध्यान रहे, भोजन के साथ सेवन किया जाने वाला दाल का सूप सहपान है और भोजन के बाद पिया जाने वाला दूध उसका अनुपान है।

घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे। भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि ॥४२॥
ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः। एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः ॥४३॥

(इति वृष्यमाहिषरसः।)

वृष्य माहिष रस—गाय का घी, उड़द की दाल और बकरे के अण्डकोष—इन सबको भैंसे के मांसरस में पकायें। जब उक्त तीनों पदार्थ भली भाँति पक जायें, तब उसे कपड़ा से छानकर ताजे गाय के घी में भून लें, तदनन्तर उसमें निम्नलिखित द्रव्यों को स्वाद तथा गुण-वृद्धि के लिए चूर्ण करके मिलायें—फलाम्ल (खट्टा अनार), हल्का नमक, धनिया, जीरा तथा सोंठ। यह माहिषरस वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक तथा शरीर को मोटा करने वाले रसों में उत्तम कहा गया है।

वक्तव्य—यह वृष्य माहिषरस प्रतिदिन ताजा-ताजा ही प्रयोग किया जाता है। इसमें भैंसे का मांसरस उतनी मात्रा में होना चाहिए, जिससे उड़द की दाल पककर घुल-मिल जाये, तब तक बस्ताण्ड (बकरे के अण्डकोष) भी पक जाते हैं। इसके लिए पहले भैंसे के मांस को सादे पानी में खूब पका लेना चाहिए, फिर उसे कपड़े से छान लें। इसी तरह बस्ताण्डों को भी पक जाने पर अलग कर लेना चाहिए। बस्ताण्डों तथा मांस के टुकड़ों को छौंककर नमक, मिर्च, मसाले मिलाकर अलग से भी खाया जा सकता है। अन्यत्र जहाँ बस्ताण्डों के सेवन की चर्चा है, उन्हें पीसकर डाल दिया जाता है। यह कल्पना की विविधताएँ हैं। इसकी मात्रा उतनी होनी चाहिए, जो दिन भर में पच जाये। इस प्रसंग में अष्टांगसंग्रह उ० तं० अ० ५० का भी अवलोकन कर लेना चाहिए, क्योंकि वहाँ तात्कालिक परिवर्तनों का स्पष्ट संकेत मिलता है।

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे। कुक्कुटान् बार्हिणरसे हांसे बार्हिणमेव च ॥४४॥
नवसर्पिषि सन्तप्तान् फलाम्लान् कारयेद् रसान्।
मधुरान् वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्धनान् ॥ ४५ ॥

(इत्यन्ये वृष्यरसाः।)

चार वृष्य रस—१. चटक (गौरैया) के मांस को तित्तिर के मांसरस में, २. तित्तिर के मांस को मुर्गा के मांसरस में, ३. मुर्गा के मांस को मोर के मांसरस में, ४. मोर के मांस को हंस के मांसरस में पकायें। जब ये भली भाँति पक जायें, तब इन रसों को ताजे घी में भूनकर उनमें खट्टे फल (अनार) का रस डालें अथवा मीठा ही रहने दें। सुगन्धित द्रव्य डालकर उन्हें सुगन्धित कर लें। ये चारों मांसरस बलवर्धक होते हैं। प्रकृति-सात्म्य के अनुसार इनका सेवन करायें।

वक्तव्य—उपर्युक्त 'वृष्यमाहिषरस' की भाँति इसमें भी हलका नमक आदि मसाले मिलायें और खाने
वाले की इच्छानुसार इसे खट्टा या मीठा बनायें। **फलाम्ल**—से यहाँ खट्टे अनार या छोटे बेरों का चूर्ण लिया
जाता है। **गन्धाढ्य**—से यहाँ चतुर्जात, कपूर, केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित तथा पौष्टिक द्रव्यों का ग्रहण
किया जाता है। **यथासात्म्यम्**—भोज्य पदार्थों में जो जिसको अनुकूल हो, वही उसे सेवन कराना चाहिए।
ऊपर चार योगों का उल्लेख किया गया है। जिसको जिनका मांस अनुकूल तथा रुचिकर लगता हो वह उसका

सेवन करे। यहाँ मधुर मांसरस की चर्चा की गयी है। अतः मांस को मधुर करने के लिए चीनी, गुड़ आदि का प्रयोग करना चाहिए। अन्यत्र मधुर की परिभाषा इस प्रकार है—'**यद् तस्मै रोचते तत् तस्मै मधुरम्**'। अर्थात् जो जिसे अच्छा लगे वही उसके लिए मधुर है।

तृप्ति चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत् पयः। न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि॥

(इति वृष्यमांसम्।)

वृष्य चटकमांस-प्रयोग—चटक (गौरैया) के मांस को खाने से तृप्त होकर तदनन्तर जो गाय का दूध पीता है, उसको मैथुन करते समय लिंग में शिथिलता (ढीलापन) का अनुभव नहीं होता और न रातभर मैथुन करने पर भी उसका शुक्रक्षय ही होता है।

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान्॥ ४७॥

(इति वृष्यमाषयोगः।)

वृष्य माष-प्रयोग—जो मनुष्य साठी के चावलों के भात में पर्याप्त घी मिलाकर उड़द की दाल के यूष (रस) के साथ तृप्ति पूर्वक खाता है और उसके बाद दूध पीता है, वह सम्पूर्ण रात्रि मैथुन के वेग से युक्त होकर जागता है, अर्थात् शुक्रस्राव न होने के कारण रातभर मैथुन कर सकता है।

न ना स्वपिति रात्रीषु [1]नित्यस्तब्धेन शेफसा।
तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्ररेतसि॥ ४८॥

(इति [2]वृष्यः कुक्कुटमांसप्रयोगः।)

वृष्य कुक्कुटमांस-प्रयोग—नक्र (मकर या मगर) के शुक्र में मुर्गा के मांस को भूँजकर (उसमें नमक आदि मिलाकर) जो मनुष्य खाकर तृप्त हो जाता है, वह मनुष्य लिंगोत्थान के कारण रात में सोता नहीं है। अर्थात् रातभर सहवास करने के बाद भी उसका वीर्यपात नहीं होता, अतएव वह नहीं सोता है।

निःस्राव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत। हंसबर्हिणदक्षाणामेवमण्डानि भक्षयेत्॥४९॥

(इति वृष्योऽण्डरसः।)

वृष्य अण्डरसों का प्रयोग—१. मछली के अंडों का रस, २. हंसी के अंडों का रस, ३. मोरनि के अंडों का रस, ४. मुर्गी के अंडों का रस—इनके रसों को लेकर गाय के घी में भूँजकर खाने से वीर्य की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह उ० तं० अ० ५० में इसका अनुपान सुरा है, ऐसा निर्देश किया है।

भवतश्चात्र—

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा [3]ना मितमत्ति काले।
वृषायते तेन परं मनुष्यस्तद् बृंहणं चैव बलप्रदं च॥ ५०॥
तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः।
सिद्ध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः [4]क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः॥ ५१॥

संशोधन के बाद वृष्ययोगों का सेवन—इस सम्बन्ध में दो श्लोक भी दिये गये हैं—पञ्चकर्म विधि से स्रोतों को शुद्ध कर लेने के बाद जब शरीर शुद्ध (दोषों तथा मलों से रहित) हो जाये, तब जो पुरुष उचित काल (शरद् या हेमन्त) में मात्रा के अनुसार उपर्युक्त वृष्य रसायनों का सेवन करता है, वह पुरुष उन योगों के निरन्तर प्रयोग से वृष के समान आचरण करता है, अर्थात् वह प्रतिक्षण मैथुनकर्म के लिए तत्पर रहता है।

१. 'नित्यस्तब्धेन च' इति पा०।
२. 'वृष्यशुक्ररसः' इति पा०।
३. 'यदात्मम्' इति पा०।
४. 'म्लिष्टे' इति पा०।

ये सभी योग शरीरवर्धक तथा बलवर्धक होते हैं। इसलिए वाजीकरणयोगों का सेवन करने या कराने के पहले बल के अनुरूप शोधनकर्म अवश्य कराना चाहिए, अन्यथा कोई भी वृष्य-प्रयोग सफल नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार मलिन (मैल युक्त) वस्त्र पर कोई भी रंग अच्छी प्रकार नहीं चढ़ता, उसी प्रकार मलिन (दोष युक्त) शरीर पर वृष्य-प्रयोग लाभदायक नहीं होते हैं।

तत्र श्लोकौ—

वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव या। ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये॥५२॥
दश पञ्च च संयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः। उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः॥५३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये संयोगशरमूलीयो नाम वाजीकरणपादः प्रथमः॥ १॥

उपसंहार—१. वाजीकरणयोगों की सामर्थ्य, २. जिस पुरुष के लिए जो स्त्री उत्तम क्षेत्र के रूप में वाजीकर है, ३. सन्तानहीन पुरुषों के गुणों का वर्णन, ४. सन्तानयुक्त पुरुषों के गुणों का वर्णन, ५. पन्द्रह वे प्रयोग जो वीर्यवर्धक, सन्तानप्रद, पुष्टिकारक तथा बलकारक हैं। इन सभी का वर्णन इस संयोगशरमूलीय नामक प्रथम पाद में आचार्य पुनर्वसु ने किया है।

वक्तव्य—ऊपर १५ संयोगों का जो संकेत किया है, उनकी गणना इस प्रकार करें—१.बृंहणीगुटिका, २. वाजीकरण घृत, ३. वाजीकरण पिण्डरस, ४. वृष्य माहिषरस, ५. चटक का मांसरस तित्तिर के मांस रस से भावित ६. तित्तिर का मांसरस मुर्गा के मांसरस से भावित, ७. मुर्गा का मांसरस मोर के मांसरस से भावित, ८. मोर का मांसरस हंस के मांसरस से भावित, ९. वृष्य चटकमांस, १०. वृष्य माषयोग, ११. वृष्य कुक्कुटमांस-प्रयोग १२. मत्स्याण्डरस, १३. हंसाण्डरस, १४. मयूराण्डरस, १५. कुक्कुटाण्डरस।

निर्णयसागरीय प्रति में श्लोक ३८ से ४१ तक के अन्त में—'इति वाजीकरणपिण्डरसाः' लिखा है, परन्तु टिप्पणी करते हुए श्री चक्रपाणि लिखते हैं—'शिखितित्तिरिहंसानां पिण्डरसैर्व्यस्तसमस्ताश्चत्वारः पिण्डरसाः'। आगे ४९वें श्लोक में 'हंसबर्हिणदक्षाणामण्डप्रयोगा यद्यपि भिन्नाः, तथापि प्रयोगापेक्षया एक एवायं प्रयोगः'। ऐसा लिखकर उन्होंने अपना मत प्रकट किया है।

निष्कर्ष—यदि हम ३८ से ४१ तक के अन्त में दिये हुए '**वाजीकरणपिण्डरसाः**' इस पाठ-भेद (वाजीकरी लप्सिका) को प्रामाणिक मानते हैं, तो हमें १५ की संख्या को पूरा करने के लिए ४९वें श्लोक में कथित एक योग को चार भागों में विभक्त करना होगा, जैसा ऊपर किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में संयोगशरमूलीय नामक वाजीकरण प्रथमपाद समाप्त॥ १॥

वाजीकरणाध्याये द्वितीयः पादः

अथात आसिक्तक्षीरिकं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद का वर्णन करने के बाद अब हम आसिक्तक्षीरिक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इस अध्याय का नाम निर्णयसागरीय प्रति में उक्त प्रकार का मिलता है, किन्तु अन्य संस्करणों में इसका नाम 'आसिक्तक्षीरीय' भी मिलता है। दोनों ही पाठ व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं। प्रथम—'आसक्तक्षीरमिति पदमस्ति अस्मिन्, इति तत् आसिक्तक्षीरी, तत्र स्वार्थिकः कप्रत्ययः'। द्वितीय—'आसिक्तक्षीरमधिकृत्य कृतोऽध्यायः, इत्यर्थे छप्रत्ययः, इति स्पष्टम्। अर्थ की दृष्टि से भी दोनों परिपूर्ण हैं। इस नामकरण का मूल आधार है, इसी अध्याय के तीसरे पद्य का आदिम पद्यांश 'आसिक्तक्षीरम्'।

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषष्टिकम्। [1]उदूखले समापोथ्य पीडयेत् क्षीरमर्दितम् ॥३॥
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह। बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च ॥४॥
[2]बलायाः शूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च। ऋद्धयर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च ॥५॥
शतावर्या विदार्याश्च द्राक्षाखर्जूरयोरपि। संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत् तत्र चावपेत् ॥६॥
तुगाक्षीर्याः समाषाणां शालीनां षष्टिकस्य च। गोधूमानां च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद् रसः ॥
सान्द्रीभूतं च तं कुर्यात् प्रभूतमधुशर्करम्। गुलि(टि)का बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्जयेत् ॥
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः। पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम् ॥९॥
(इत्यपत्यकरी षष्टिकादिगुटिका।)

अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका—साफ किये हुए दूध से परिपूर्ण तथा जो भली-भाँति सूखे न हों, ऐसे साठी के चावलों को दूध से भरे हुए पात्र में डालकर उन्हें अच्छी तरह सींच (भिगा) दें, जब वे पूरी तरह फूल जायें, तब उन्हें ऊखल में डालकर अच्छी तरह कूटकर पुनः उसमें दूध डालकर खूब मसल डालें, तब उसे साफ कपड़े में डालकर छान लें। फिर इसमें गाय का दूध मिलाकर किवाँच के बीजों के चूर्ण को पकायें, फिर उड़द का क्वाथ डालकर इसे पकायें। तदनन्तर बला (बरियारा), मुद्गपर्णी (मुगवन), माषपर्णी, जीवन्ती, जीवक, ऋद्धि, ऋषभक, काकोली, गोखरू, मुलेठी, शतावर, विदारीकन्द, मुनक्का तथा खजूर के क्वाथ को अलग-अलग डालकर किवाँच के बीजों को पकायें।

वे द्रव्य जब भली-भाँति पक जायें, तब उस एक में मिलाये हुए क्वाथ वंशलोचन का चूर्ण, उड़द की दाल का चूर्ण, शालिधान के चावलों का चूर्ण, साठी के चावलों का चूर्ण तथा गेहूँ का चूर्ण (आटा)—इन सबको उतनी मात्रा में डालें, जिससे वह गाढ़ा हो जाये। तदनन्तर उसमें मधु और चीनी उतना मिलायें, जिससे उसकी गोली बनायी जा सके। तब बेर के आकार की उसकी गोलियाँ बनाकर उन्हें गाय के घी में भून लें। इनको अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार सेवन करता हुआ व्यक्ति दूध तथा मांसरस का सेवन करे। इसके प्रभाव से वृद्ध मनुष्य भी अधिक सन्तानों का मुख देख सकता है और उसका शुक्र अक्षय हो जाता है।

वक्तव्य—धान की अनेक जातियाँ होती हैं, जिनमें साठी नामक धान का चावल आयुर्वेदीय दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ होता है। 'गर्भस्था एव ये पाकं यान्ति ते षष्टिका मताः'। अभि० नि०। इस धान के पौधे में फूल लगने के बाद एक दुग्धाभ पदार्थ प्राप्त होता है। यह कुछ दिनों में गाढ़ा होकर चावल का रूप धारण करने लगता है। जब यह भली-भाँति न सूखा हो तभी इसे लेकर छिलका उतार लें, तदनन्तर इन्हें दूध में भिगा दें, कुछ समय बाद इन्हें ऊखल में कूटकर निकाल लें। तब पुनः दूध में घोलकर छान लें। ऐसा करने से साठी के चावलों का सम्पूर्ण तत्त्व दूध में आ जायेगा। इसमें कुछ और दूध मिलाकर छिलका रहित किवाँच के बीजों का पाक करें। ऊपर जो बला आदि द्रव्यों को पृथक्-पृथक् क्वाथों से उतनी बार पाक करने के लिए कहा गया है, इससे गुणाधान तो अवश्य होता है, किन्तु निर्माण में सरलता की दृष्टि से बला आदि द्रव्यों का एक ही बार क्वाथ करके इसके निर्माण की परम्परा भी देखी जाती है।

शूर्पपर्ण्यः—महर्षि वाग्भट ने विदार्यादिगण में इसको उद्धृत किया है। टीकाकारों ने इसका अर्थ मुद्गपर्णी और माषपर्णी किया है, किन्तु राजनिघंट के गुडूच्यादिवर्ग में केवल मुद्गपर्णी के पर्यायों में इसका उल्लेख है।

१. 'क्षुण्णं विमर्दितं क्षीरे पीडयेत् सुसमाहितः' इति पा०।
२. 'ऋषभस्य च काकोलीमधुकानां रसेन च' इति पा०।

अभिनवनिघण्टु के गुडूच्यादिवर्ग में मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी दोनों का पर्याय 'सूर्यपर्णी' दिया है, न कि 'शूर्पपर्णी'। सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान अ० ४६ में 'सहाद्वय' कहकर उक्त दोनों पर्णियों का ग्रहण किया गया है। अतः उक्त अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा। शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥१०॥
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि। षष्टिकानां च चूर्णानि चूर्णं [1]गोधूमकस्य च ॥११॥
एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा। पूपा धानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः॥
एषां प्रयोगाद् भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा। शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छंस्त्रियो नरः ॥१३॥
(इति वृष्यपूपलिकादियोगः।)

वृष्य पूपलिकादि योग—चटक (गौरैया), हंस, मुर्गा, मोर तथा शिशुमार (Gangetic porpoise) तथा नक्र (मकर)—इन प्राणियों के शुक्रों का चिकित्सक संग्रह करे। गाय का घी, वराह (सूअर) और कुलिंग (गौरैया) की चर्बी, साठी के चावलों का आटा तथा गेहूँ का आटा—इन सबको मिलाकर पूपलिका (पूपला, पोलिका, पूपलिका, पूपाली या पूपिका—A sort of sweet cake), शष्कुली, वर्तिका, पूप, धाना आदि अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थ तैयार कर लें। इन भक्ष्य पदार्थों के प्रयोग करने से मनुष्य वीर्य से परिपूर्ण होकर अपने स्वस्थ लिंग से घोड़े की भाँति वेग युक्त होकर जब तक वह चाहता है, तब तक स्त्री-सहवास कर सकता है।

वक्तव्य—यहाँ एक प्रकार की सामग्री से पूपलिका आदि उपर्युक्त अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थों के निर्माण का आदेश दिया गया है। निघण्टु-ग्रन्थों में विविध प्रकार के भक्ष्य, भोज्य आदि का वर्णन मिलता है। पूपलिका का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। पूप, अपूप (पुआ) एक ही हैं। इसी को पूर्वी प्रदेश में ठेकुआ भी कहते हैं। **शष्कुली**—प्राचीनकाल में चावल के आटे में तिल मिलाकर तेल में पकाकर इसका निर्माण किया जाता था। बाद में इसका प्रयोग पूरी के लिए होने लग गया। देखें—कैयदेवनिघण्टु, कृतान्नवर्ग-प्रकरण, तथा हारीत सं० १।२३।२८। **वर्तिका**—सम्भवतः यह बड़ी का ही एक प्रकार है। पर्वतीय क्षेत्रों में शिम्बी धान्य का एक भेद, जो आकार में चिरौंजी जैसा और वर्ण में काला होता है, जिसे वहाँ के लोग 'भट्ट' कहते हैं। इसे पिसवाकर आटा को कड़ा सान कर वर्तिकाकार एक भक्ष्यपदार्थ बनाते हैं, जिसे वहाँ के स्थानीय लोग 'म्यचुला' कहते हैं। अन्यत्र कुछ परिवारों में यह व्यञ्जन चने के बेसन से भी बनाया जाता है। इनके नाम भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु आकृति समान होती है। **धाना**—चिउड़ा के आकार का भक्ष्य विशेष। **विशेष**—जिन प्राणियों का शुक्र संग्रह करना कठिन हो उनके अंडों का प्रयोग उस-उस के वीर्य के अभाव में किया जा सकता है।

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम्। शृङ्गाटकानि मृद्वीकां साधयेत् प्रसृतोन्मिताम् ॥
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत् प्रस्थावशेषितम्। शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत् प्रसृतैस्त्रिभिः ॥१५॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषोऽभिनवस्य च। तत् पाययेत सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत् ॥१६॥
जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति। नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति ॥१७॥
(इत्यपत्यकरः स्वरसः।)

अपत्यकर स्वरस—किवाँच के छिलके रहित बीज, उड़द की दाल, खजूर, शतावरमूल, सिंघाड़े, मुनक्के ये प्रत्येक द्रव्य १ प्रसृत (८ तोला) लें। इन सबको एक साथ १ प्रस्थ (६४ तोला) दूध और १ प्रस्थ पानी डालकर पकायें। जब दूध मात्र शेष रह जाये (पानी जल जाये), तब इसे साफ (धुले हुए) वस्त्र से छान लें। उस दूध में चीनी, वंशलोचन का चूर्ण और ताजा घी (जिसमें पुरानेपन की गन्ध न हो)—ये तीनों द्रव्य १-१ प्रसृत (८-८ तोला) मिला दें। शीतल हो जाने पर इसमें शहद मिलाकर पिलायें।

जब यह दुग्ध पच जाये, तदनन्तर साठी के चावलों का भात खाने को दें। इसका सेवन करने से बुढ़ापे के लक्षणों से घिरा और दुर्बल हुआ पुरुष भी युवक की भाँति स्त्री-सहवास की शक्ति (ध्वजहर्ष) को प्राप्त कर अनेक सन्तानों को उत्पन्न कर सकता है।

१. 'गौधूमिकं तथा' इति पा०।

वक्तव्य—प्रायः जहाँ तन्त्रकार ने द्रव्य मात्रा या योग के सेवन की मात्रा का उल्लेख नहीं किया है अथवा जहाँ निर्धारित मात्रा अवस्थाविशेष के लिए कम या अधिक प्रतीत होती हो, उसको यथोचित करने का सम्पूर्ण दायित्व योग्य चिकित्सक पर होता है।

षष्टिकान्नं च भोजयेत्—रसायन तथा वाजीकरण योगों के साथ साठी के चावलों का भात पथ्य माना गया है और इसकी विधि है—घी मिलाकर दूध के साथ खाना। यह अपत्यकर स्वरस आत्रेय सम्प्रदाय में सिद्धयोग के रूप में पूजित है। इसका प्रयोग शुक्रहीनता, नपुंसकता आदि रोगों में अत्यन्त लाभदायक होता है। सन्तानोत्पत्तिकारक रूप में यह सुप्रसिद्ध है।

स्वरस—ताजे द्रव्यों, सूखे द्रव्यों तथा अत्यन्त कठोर द्रव्यों के भेद से स्वरस-निर्माण के तीन भेद शार्ङ्गधरसंहिता में वर्णित हैं' तदनुसार स्वरस निर्माण का यह तीसरा भेद है।

खर्जूरीमस्तकं माषान् पयस्यां सशतावरीम्। खर्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम् ॥१८॥
पलोन्मितानि [1]मतिमान् साधयेत् सलिलाढके। तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत् ॥१९॥
क्षीरशेषेण तेनाद्याद् घृताढ्यं षष्टिकौदनम्। सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परं स्मृतः ॥२०॥
(इति वृष्यक्षीरम्।)

वृष्यक्षीर—खजूर का मरतक, उड़द की दाल, पयस्या (क्षीरकाकोली), शतावरी, खजूर, मुलेठी मुनक्का, अजडा (किवाँच) के छिलका रहित बीज—इनको १-१ पल (४-४ तोला) लें, सब को एक साथ मिलाकर १ आढक (२५६ तोला) जल में बुद्धिमान् चिकित्सक इनको पकाये। जब वह जल चतुर्थांश शेष रह जाये, तब उस जल में १ प्रस्थ (६४ तोला) दूध डालकर पकाये। जब पकते-पकते दूधमात्र शेष रह जाये, तो उसे उतारकर छान लें। चीनी मिले हुए इस दूध के साथ साठी के चावलों में पर्याप्त घी मिलाकर खायें। यह क्षीर अत्यन्त वृष्यताकारक होता है।

वक्तव्य—'खजूरीमस्तक' शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग महर्षि आत्रेय ने किया है। शब्दचन्द्रिका में 'मस्तक' शब्द का अर्थ—'वृक्षाग्र' किया गया है। सामान्यतया खजूर के प्रयोज्य अंग हैं—फल तथा उक्त वृक्ष का रस। प्राचीन महर्षियों के अपने-अपने दृष्टिकोण तथा अनुभव हैं। जैसे—भैषज्यरत्नावली में क्रिमिनाशनार्थ खजूरपत्रों के सेवन का निर्देश है। भावप्रकाश में 'खजूरीत्रितयम्' का निर्देश किया है। सामान्यरूप से यह दो प्रकार का प्राप्त होता है। जैसे—१. खजूर, २. पिण्डखजूर, जिसे छुहारा कहते हैं; उसका लैटिन नाम है—P. Dactylifera Linn। इसको कहीं 'गोस्तनखजूर' भी कहते हैं। राजनिघण्टु में इसके भेद इस प्रकार दिये हैं—१. खजूरी, २. पिण्डखजूरी, ३. राजखजूरी, ४. मधुखजूरी, ५. भूखजूरी।

जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं श्रावणीद्वयम्। खर्जूरं मधुकं द्राक्षां पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥२१॥
शृङ्गाटकं विदारीं च नवं सर्पिः पयो जलम्। सिद्धं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥२२॥
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम्। वृष्यं बल्यं च वर्ण्यं च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम् ॥२३॥
(इति वृष्यघृतम्।)

वृष्यघृत—जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, श्रावणीद्वय (मुण्डी, महामुण्डी), खजूर, मुलेठी, मुनक्का, पिप्पली, सोंठ, सिंघाड़ा, विदारीकन्द, नया घी, दूध और जल—इन द्रव्यों को लेकर घी में पकायें। जब घृत मात्र शेष रह जाये, तब उसमें घृत का चतुर्थांश चीनी तथा शहद मिलायें। इसे साठी के चावलों के भात के साथ अग्निबल (पाचनशक्ति) के अनुसार सेवन करें। यह वृष्य घृत वीर्यवर्धक, बलवर्धक, वर्ण को सुन्दर बनाने वाला, कण्ठ के लिए हितकारक तथा शरीर को पुष्ट करने वाले योगों में उत्तम है।

वक्तव्य—ऊपर जीवक से लेकर विदारीकन्द तक के द्रव्यों का सर्वप्रथम कल्क बना लें। इस कल्क में जितना घी तैयार करना हो, तदनुसार दूध और जल मिला लें। द्रव्यों का परिमाण घृतपाक-विधि के अनुसार कल्पक स्वयं निर्धारित करे। चीनी और शहद प्रत्येक को अलग-अलग चतुर्थांश लें। घृतपाक में जहाँ दूसरे द्रव

१. 'सर्वाणि' इति पा०।

पदार्थ का उल्लेख नहीं होता, वहाँ घी से चौगुना दूध लिया जाता है। यहाँ द्रवान्तर के रूप में जल का उल्लेख होने से दूध का ग्रहण घी के समान ही किया जायेगा।

दध्नः सरं शरच्चन्द्रसन्निभं दोषवर्जितम्। शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान् ॥२४॥
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे। मार्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने ॥२५॥
[2]पिबेन्मात्रां रसालायास्तं भुक्त्वा षष्टिकौदनम्। वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते ॥२६॥
(वृष्यो दधिसरप्रयोगः।)

वृष्यदधिसर-प्रयोग—समस्त दोषों से रहित, शरद् ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश दही की मलाई को लेकर चीनी, मधु, मरिच तथा वंशलोचन इन सबके चूर्ण को कपड़े से छान कर बुद्धिमान् चिकित्सक युक्तिपूर्वक (मात्रा आदि का विचार कर) उस (दही) में मिलाये। तदनन्तर उसमें छोटी इलायची का कपड़छन चूर्ण मिलायें। उसके बाद शुद्ध वस्त्र में डालकर हाथ से मसलते-मसलते उसे नीचे के पात्र में छान डालें। इस दधिसर को मिट्टी के नये घड़े में रख दें (ऐसा करने से उसमें सोंधापन आ जाता है)। जब पर्याप्त घृतमिश्रित साठी का भात ठंडा (खाने योग्य) हो जाये, तब उसे अग्निबल के अनुसार खाकर अन्त में इस रसाला का मात्रा पूर्वक सेवन करें। इसका सेवन करने से मानव वर्ण, स्वर और शारीरिक बल से युक्त होकर वाजीकरण-शक्ति से सम्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने इसका मूल नाम 'दधिसर-प्रयोग' लिखा है। बीच में इसी की 'रसाला' संज्ञा दी है। अन्यत्र इसे श्रीखंड, शिखरिणी या सिखरन भी कहते हैं। यह इतना अधिक रुचिकर होता है कि सभी आचार्यों ने अपनी रचना में इसका अत्यन्त आलंकारिक शब्दों में वर्णन किया है। पाण्डवपुंगव भीमसेन ने श्रीकृष्ण को इसका सेवन कराया था, ऐसा उल्लेख मिलता है।

इसके निर्माण के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। तन्त्रकार ने केवल ताजे दही की मलाई लेने का निर्देश किया है। दूसरे आचार्य बासी दही (पर्युषितस्य दध्नः) लिखते हैं। वृद्धवाग्भट (अ० सं० उ० तं० अ० ५०) इस प्रसंग में आत्रेय के समर्थक हैं। कुछ चीनी के स्थान पर गुड़ मिलाना स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में भावप्रकाश, त्रिमल्लभट्ट कृत द्रव्यगुणशतक आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। हमारे विचार से छन्दों और पेयों में शिखरिणी अत्यन्त हृद्य एवं रुचिवर्धक है।

चन्द्रांशुकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्। शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते ॥२७॥
(इति वृष्यषष्टिकौदनप्रयोगः।)

वृष्यषष्टिकौदन प्रयोग—पर्याप्त घृतमिश्रित, चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल साठी के चावलों के भात को चीनी और शहद मिलाकर खाने से पुरुष सहवास काल में वृष (सांड) के समान समर्थ होता है।

वक्तव्य—वाजीकरण-प्रयोगों को वृष्य भी कहा गया है। वाजी (घोड़ा) के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। किन्तु 'वृष्य' और 'वृषायते' शब्दों का मूल यदि वृषभ से सम्बन्धित माना जाये तो ये प्रयोग वाजी (घोड़े) की सहवास के प्रति तत्परता और वृष (साँड़) की मन्थरता को देखते हुए खटकते हैं। वृष (साँड़) योनि तथा शिश्न की गन्ध को सूँघकर भी शनैः शनैः बल को प्राप्त करता है, ऐसे पुरुष को सुश्रुत शा० अ० २।३९ में 'सौगन्धिक' संज्ञक नपुंसक माना गया है। वास्तव में यहाँ 'वृष' शब्द श्रेष्ठ तथा शुक्रल अर्थों का वाचक है। तभी 'वृषाय हितं–वृष्यम्', एवं 'वृष इव आचरति–वृषायते' ये प्रयोग प्रकरण के अनुसार सार्थक होते हैं।

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम्। युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च ॥२८॥
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद् वारुणीमण्डपो नरः। य इच्छेदश्ववद् गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः ॥२९॥
(इति वृष्यपूपलिकाः।)

१. 'कुण्डे' इति पा०।
२. 'तमद्याद् उपरिष्टाच्च रसालां मात्रया पिबेत्' इति पा०।

वृष्यपूपलिका—जो कामी पुरुष घोड़े के समान वेगयुक्त होकर स्त्री-सहवास करना चाहता है और जो हाथी की भाँति पर्याप्त वीर्य का सिंचन करना चाहता है, वह पुरुष मुर्गी के अंडे में मकर के अंडे को मिलाकर, अर्थात् दोनों के अंडों को फोड़कर उनके तरल द्रव्य को आपस में मिलाकर गरम घी में भून लें। तदनन्तर साठी के चावलों के बारीक आटे में मिलाकर ताजे घी में उसकी पूपलिका (रावणकृत कुमारतन्त्र में—'पिष्टक भक्ष्य' विशेष के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है) बनायें। इसका सेवन करने के पश्चात् वारुणी मण्ड (उत्तम मद्य) का उचित मात्रा में सेवन करे।

भवतश्चात्र—

एतैः प्रयोगैर्विधिवद् वपुष्मान् [1]वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत् समर्थश्च वराङ्गनासु ॥ ३० ॥

वाजीकरणयोगों की फलश्रुति—इनसे निम्नलिखित लाभ होते हैं। उपर्युक्त वाजीकरण-प्रयोगों के सेवन करने से पुरुष उत्तम शरीर वाला, पर्याप्त वीर्य से सम्पन्न, उत्तम बल और वर्ण से युक्त, आठ वर्ष के (पूर्ण युवा) घोड़े के समान हर्ष (ध्वजोच्छ्राय) से युक्त हो, नवयौवना स्त्रियों के साथ सहवास करने में पूर्ण समर्थ हो जाता है।

यद्यच्च किञ्चिन्मनसः प्रियं स्याद् रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं प्रिया वयस्याश्च तदत्र [2]योग्यम् ॥ ३१ ॥

अन्य वाजीकरण भाव—जो-जो भाव मानव के मन को आनन्दित करने वाले हों—मनोरम बगीचे, सुरम्य नदी के तट, पर्वत-श्रेणियाँ, मन को आह्लादित कर देने में समर्थ स्त्रियाँ, आभूषण, सुगन्धित पदार्थ (क्रीम, पाउडर, इत्र, तेल आदि), पुष्प-मालाएँ, प्रिय मित्र आदि—ये सभी उपकरण मनुष्य के लिए वाजीकरण में उपयोगी होते हैं।

तत्र श्लोकः—

आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः। अष्टावपत्यकामैस्ते प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये
आसिक्तक्षीरिको नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः ॥ २ ॥

अध्यायगत योगों की गणना—इस आसिक्तक्षीरिक नामक वाजीकरण के द्वितीय पाद में जो आठ योग कहे गये हैं, उनका प्रयोग पुरुषशक्ति-प्राप्ति के तथा उत्तम सन्तान-प्राप्ति के इच्छुकों को करना चाहिए।

वक्तव्य—इस द्वितीय पाद में जिन योगों का वर्णन किया गया है, वे पुरुष को पुत्रोत्पादन में समर्थ बनाते हैं और इसके अतिरिक्त पुरुष का जिन-जिन कार्यों के लिए उपयोग होता है, उसे तदनुरूप शक्ति भी इनसे प्राप्त होती है। इस अध्याय में वर्णित आठ योग—१. अपत्यकरी षष्टिकादिगुटिका, २. वृष्यभक्ष्य, ३. अपत्यकर-स्वरस, ४. वृष्यक्षीर, ५. वृष्यघृत, ६. वृष्यदधिसर-प्रयोग ७. वृष्यषष्टिकौदन-प्रयोग तथा ८. वृष्यपूपलिका।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में आसिक्तक्षीरिक नामक वाजीकरणविषयक द्वितीयपाद समाप्त ॥ २ ॥

१. 'स्नेहोपपन्नः' इति पा०।
२. 'योज्यम्' इति पा०।

वाजीकरणाध्याये तृतीयः पादः

अथातो माषपर्णभृतीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

आसिक्तक्षीरिक वाजीकरण सम्बन्धी द्वितीयपाद का व्याख्यान करने के बाद अब हम माषपर्णभृतीय वाजीकरण सम्बन्धी तृतीय पाद का व्याख्यान करेंगे, ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—इस अध्याय का आरम्भ 'माषपर्णभृत' शब्द से हुआ है। अतः इसका उक्त नामकरण सार्थक है। उड़द के पत्तों को खाने वाली गाय का दूध भी जब वृष्य हो सकता है, तो उड़द की दाल कितनी वृष्य होगी, प्रस्तुत अध्याय का यही प्रमुख सन्देश है।

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम्। समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान् ॥ ३ ॥
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम्। इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत् ॥ ४ ॥
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा। शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

वृष्य गोदुग्ध—उड़द की पत्तियों को खाने से जिस गाय का भरण-पोषण हुआ हो, जिस गाय ने पहली बार बछड़े को जन्म दिया हो, जो शरीर से हृष्ट-पुष्ट हो, चार स्तनों वाली अर्थात् चारों स्तनों से दूध देने वाली हो, जिसका बछड़ा अपनी माता के अनुरूप हो, जिसका बछड़ा जीवित हो, जो स्वयं लाल अथवा काले वर्ण की हो, जो ऊपर की ओर सींगों वाली हो, जो आकृति से सौम्य (सींग या लात मारने वाली न) हो, वास्तव में गौ हो, अर्थात् जिसका दूध आसानी से प्राप्त किया जा सकता हो, जो ईख अथवा अर्जुन वृक्ष की पत्तियों का आहार करती हो और जिसका दूध गाढ़ा हो—ऐसी गाय को बुद्धिमान (वाजीकरण का इच्छुक पुरुष) रखे। ऐसी गाय के दूध को गरम करके अथवा धारोष्ण लेकर उसमें चीनी, मधु और गाय का घी मिलाकर पीये। यह दूध उत्तम वाजीकरण होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में तीन प्रकार के वृष्य दुग्धों के प्रयोग निर्दिष्ट हैं—१. **माषपर्णभृता धेनु**—उड़द की पत्तियों को खाकर तृप्त होने वाली गाय, २. **इक्ष्वादा धेनु**—ईख के पत्तों तथा इक्षुदण्डों को खाकर अपना पेट भरनेवाली गाय तथा ३. **अर्जुनादा धेनु**—अर्जुन वृक्ष की पत्तियों को खाकर उदरपूर्ति करने वाली गाय का दूध—इन सभी प्रकार की गायों का एक विशेषण गृष्टि (सकृत्प्रसूता गौः—पहली बार ब्याई हुई गाय) भी है।

सान्द्रक्षीरा (गाढ़ा दूध वाली)—इस अर्थ को प्रकट करने के लिए वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह उ० तं० अ० ५० में 'बष्कयिणी' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ होता है—अनवप्रसूता (संस्कृत), बकेन (हिन्दी), बाखड (कुमाऊँनी), खागड़ (पंजाबी)। निघण्टुरत्नाकर में प्रथम प्रसूता गाय के दूध को जो निःस्सार कहा है, उसका तात्पर्य है कि वह गरिष्ठ नहीं होता अपितु सुपाच्य होता है। अतएव वाजीकरण प्रयोगों में वर्जित है।

विशेष—उक्त तीन प्रकार की गायों के दूध क्रमशः—१. वृष्य, २. सुस्वादु तथा ३. हृद्य गुणों से सम्पन्न भी होते हैं। ध्यान दें—उन-उन गायों के आहार द्रव्यों पर। अन्यत्र इसका नाम 'वृष्यकेवलक्षीरप्रयोग' भी है।

शुक्लैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्धनैः। क्षीरसञ्जननैश्चैव पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥
युक्तं गोधूमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम्। पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम् ॥ ७ ॥
(इति वृष्यक्षीरप्रयोगः।)

वृष्य क्षीरप्रयोग—१. शुक्रलवर्गोक्त द्रव्यों, २. जीवनीयवर्गोक्त द्रव्यों, ३. बृंहणवर्गोक्त द्रव्यों, ४. बल्य वर्गोक्त द्रव्यों अथवा ५. क्षीरसंजननवर्गोक्त द्रव्यों द्वारा यथाविधि पकाये गये दूध में गेहूँ का आटा मिलाकर उसे पुनः पकायें, तदनन्तर उसमें गाय का घी, शहद तथा चीनी मिलाकर पर्याय क्रम से इसका प्रयोग अक्षयशुक्र की प्राप्ति के लिए करना चाहिए।

वक्तव्य—इसमें पाँच प्रकार के क्षीरों (दूधों) के प्रयोग निर्दिष्ट हैं, जिनका साधन चरक-सूत्रस्थान अध्याय ४ में कहे गये निम्नोक्त वर्गों द्वारा किया जाता है—१. **शुक्रलवर्ग**—जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, विधारा, सफेदघुंघची, लालघुंगची। २. **जीवनीयवर्ग**—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी। ३. **बृंहणीयवर्ग**—क्षीरिणी, राजक्षवक, अश्वगन्धा, काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेतबला, पीतबला, वन्यकार्पास, विदारीकन्द, किवाँच के बीज। ४. **बल्य (बलवर्धक) वर्ग**—ऐन्द्री, किवाँच, शतावर, माषपर्णी, विदारीकन्द, असगन्ध, शालिपर्णी, रोहिणी, बला, अतिबला। ५. **क्षीर(स्तन्य)जननवर्ग**—वीरण, शालि, षष्टिक, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्रा, इत्कर, कत्तृणमूल।

निर्माण-विधि—कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि शुक्रल आदि वर्गोक्त द्रव्यों को डालकर दूध को पकाकर पुनः गेहूँ का आटा, घी, शहद, चीनी डालकर इसे पकायें। किन्तु यह प्रकार कई कारणों से उचित प्रतीत नहीं होता। **दूसरा प्रकार**—उक्त प्रकार-विधि से दूध को पका लेने के बाद घी में आटे को भूँजकर उसमें दूध तथा चीनी डालकर हलुआ बनाकर ठंडा होने पर उसमें शहद मिलाकर सेवन किया जा सकता है। ऐसा करने में हमें उपर्युक्त श्लोकों की संगति की उपेक्षा करनी पड़ेगी, ऐसा अर्थ भी पूर्व टीकाकार कर चुके हैं।

हमारे विचार से शुक्रल आदि द्रव्यों से दूध को पकाकर फिर उसमें आटा घोलकर पकायें; बाद में उसमें घी, शहद, चीनी मिलायें। ऐसा अर्थ करने पर तन्त्रकार की भावना को ठेस नहीं पहुँचती, किन्तु फिर उसका स्वरूप 'क्षीर' (दूध) का जैसा नहीं रह जायेगा। यदि 'क्षीर' शब्द से 'खीर' का संकेत किया हो तो यह भी युक्तिसंगत हो जायेगा, क्योंकि इसे हम आटे की खीर कह लेंगे और बाद में घी, शहद, चीनी मिला लेंगे। क्योंकि शहद को पकाने का सभी जगह निषेध किया है। जहाँ-जहाँ मधु को मिलाने की चर्चा आती है, वहाँ-वहाँ द्रव्य के स्वांगशीतल होने पर ही मिलाया जाता है। इन सभी योगों में उपर्युक्त ३-४ पद्यों में कथित गायों के दूधों का ही ग्रहण करना चाहिए।

क्षीरसंजनन-वर्गोक्त द्रव्यों के ग्रहण का रहस्य यह है कि जो स्थान माता के शरीर में दुग्ध का है, वही स्थान पुरुष के शरीर में वीर्य का है। उपर्युक्त पाँच वर्गों में जो औषधद्रव्य स्वतः वृष्यगुण-सम्पन्न नहीं हैं, वे भी क्षीरपाक-विधि के संयोग से वृष्य हो जाते हैं।

क्षीरपाक-विधि—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात् तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः।' अर्थ स्पष्ट है। इसी विधि से यहाँ भी क्षीरपाक करना चाहिए।

मेदां पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम्।
श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमाञ्छालिषष्टिकाम्॥ ८॥
[1]पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते। विवर्जयेत् पयःशेषं तत् पूतं क्षौद्रसर्पिषा॥९॥
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः सप्ततिकोऽपि वा। विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च स हृष्यति॥१०॥
(इत्यपत्यकरक्षीरयोगः।)

अपत्यकर क्षीरयोग—मेदा, पयस्या (क्षीरकाकोली), जीवन्ती, विदारीकन्द, कण्टकारी (भटकटैया), गोखरू, क्षीरिका (दूधिया)—इन द्रव्यों का चूर्ण, उड़द का आटा, गेहूँ का आटा, शालिधान के चावलों का आटा और साठी के चावलों का आटा—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर १ आढक (२५६ तोला) जल और १ आढक दूध में डालकर पकायें। जब दूधमात्र शेष रह जाये, तब उसे स्वच्छ वस्त्र से छानकर रख लें। अन्य द्रव्यों को निस्सार समझकर फेंक दें। उस दूध में शहद, गाय का घी (विषममात्रा में) और चीनी मिलाकर पीने से सत्तर वर्ष का वृद्ध पुरुष भी युवक के समान पौरुष को प्राप्त कर सन्तानोत्पत्ति करने में समर्थ हो जाता है।

वक्तव्य—८वें श्लोक के उत्तरार्ध में शालि तथा षष्टिक दो प्रकार के धान्यों का उल्लेख है, किन्तु अन्य टीकाकारों ने केवल 'शालि चावलों' का ही ग्रहण किया है। उनको देखकर दूसरे टीकाकारों ने भी वैसा ही लिख

१. 'सिद्धान्' इति पा०।

दिया है। ९वें श्लोक के उत्तरार्ध में 'विवर्जयेत्' इस क्रिया का सम्बन्ध कल्क के लिए प्रयुक्त मेदा आदि द्रव्यों को छानने से बचे हुए अपद्रव्य से है। अन्य टीकाकार क्या लिख गये हैं, इस पर आप ध्यान न दें।

वृद्धः सप्ततिकोऽपि वा—यद्यपि ७० वर्ष की अवस्था में वीर्यक्षय हो जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है, किन्तु वह प्रायिक वचन है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत संहनन-शक्ति का भी महत्त्व होता है। साथ ही वृष्य द्रव्यों की शक्ति तथा उनके प्रभाव भी अपना महत्त्व रखते ही हैं।

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम्। अपत्यजननं सिद्धं सघृतक्षौद्रशर्करम्॥ ११॥
(इत्यपत्यजननक्षीरयोगः।)

अपत्यजनन क्षीरयोग—पूर्वोक्त प्रकार की गायों में से किसी एक प्रकार की गाय के दूध को सोने के मण्डलों (सिक्कों) द्वारा गरम करके उसमें गाय का घी, शहद और चीनी मिलाकर पीने से यह सिद्धक्षीर सन्तान-उत्पादन की शक्ति प्रदान करता है।

वक्तव्य—मण्डलाकार (गोल) जातरूप (सोने) का सिक्का। 'जातरूपस्य मण्डलैः शृतम्'। अर्थात् सोने के सिक्कों को गरम करके दूध में बुझाने से गरम किया हुआ दूध। अन्यत्र इसी प्रकार चाँदी, लोहा, ताँबा, सीसा के सिक्कों को भी गरम करके दूध में बुझाया जाता है। इसका स्पष्ट उल्लेख वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह उ० तं० अ० ५० में किया है। रसतरंगिणीकार ने मण्डल का अर्थ सोने आदि धातुओं का 'वर्क' किया है, जो प्रयोगात्मक दृष्टि से तपाकर दूध में बुझाने पर टूटते जायेंगे। आप भी प्रयोग करके देखें। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि हमें यदि शास्त्रीय दृष्टि का आदर करना है और सोने को तपाकर दूध को गरम करना है, तब तो सोने के सिक्के ही अधिक उपयोगी होंगे। यदि तन्त्रकार द्वारा शब्दतः अनिर्दिष्ट सुवर्ण का प्रक्षेप अभीष्ट हो, तो सोने के वर्क भी डाले जा सकते हैं, क्योंकि वे वृष्य, बल्य तथा रसायन होते ही हैं।

त्रिंशत् सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः। भृष्टाः सशर्कराक्षौद्राः क्षीरधारावदोहिताः॥
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा। भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्धं लिङ्गं पश्यति ना क्षरत्॥
(इति वृष्यः पिप्पलीयोगः।)

वृष्य पिप्पलीयोग—तीस पिप्पलियों को भली भाँति पीस, कपड़े से छानकर १ प्रकुञ्च=१ पल=४ तोला तिल के तेल और १ प्रकुञ्च गाय के घी में भूनकर उसमें १-१ प्रकुञ्च चीनी और मधु मिलाकर दूध दुहने वाले पात्र में रख दें। तदनन्तर उपर्युक्त गुणोंवाली गाय का दूध उसमें दुहें। उस धारोष्ण दूध को अपने अग्नि-बल के अनुसार पीयें। जब दूध पच जाये, अर्थात् भूख लगने लगे तब साठी के चावलों का भात दूध-घी के साथ खायें। दिन में इसका प्रयोग करने वाला पुरुष रात्रि में स्त्री-सहवास काल में अपने लिंग को शिथिल हुआ तथा वीर्यस्राव हुआ नहीं देखता अर्थात् वह पुरुष रातभर सहवास कर सकता है।

वक्तव्य—प्रायः सभी वाजीकरण-योगों की फलश्रुतियाँ जितना वास्तव में कार्य करती हैं, उससे भी अधिक उनका वर्णन विश्वास उत्पादन की दृष्टि से किया जाता है। स्त्री-पुरुष का सहवास जब आनन्द प्राप्ति के लिए होता है, तब इस बात का ध्यान रखना चाहिए—'गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वीर्यमूत्रयोः'। शा० सं० और 'अतिस्त्रीसम्प्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान्'। सु० चि० अ० २४।१११। इसका पवित्र उद्देश्य तो ऋणत्रय से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पुत्रोत्पादन करना मात्र ही है, इस स्थिति में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है।

आजकल के पुरुषों की शारीरिक स्थिति को देखते हुए तीस पिप्पलियों की एक मात्रा अत्यधिक है। अतः इसकी मात्रा देश, काल, वय आदि का विचार करते हुए चिकित्सक को स्वयं निर्धारित कर लेनी चाहिए। क्योंकि तन्त्रकार का 'यथाबल' शब्द औषध मात्रा तथा भोजन मात्रा सभी के लिए समान रूप से प्रयुक्त है। तन्त्रकार ने चरक-चिकित्सास्थान के रसायनाधिकार में ५, ७, ८, १० पिप्पलियों का यथायोग्य सेवन करने का निर्देश किया है। उसका लाभ यहाँ भी ले लेना चाहिए।

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे। घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः॥१४॥
(इति वृष्यपायसयोगः।)

वृष्य पायसयोग—गाय के दूध से चौगुना गोखरू का स्वरस या क्वाथ रस तथा उतना ही विदारीकन्द का स्वरस या क्वाथ रस लें। तदनन्तर धुली हुई उड़द की दाल तथा साठी के चावल डालकर पकायें। जब पायस (खीर) तैयार हो जाये, तब उसे अष्टमांश गाय के घी में भून लें। इसका उचित मात्रा में सेवन करने से वीर्य की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—उड़द और साठी के चावलों के चूर्ण को पर्याप्त घी में भूनकर गोखरू के रस में तथा विदारीकन्द के रस में जो दूध की मात्रा से चौगुने हैं, पकाकर उक्त पायस को तैयार करना चाहिए।

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम्। कुडवश्चूर्णितानां स्यात् स्वयङ्गुप्ताफलस्य च॥
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः। गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत् ॥१६॥
[1]सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत्सर्वं क्षीरमर्दितम्। पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्बह्व्यः स्युर्यस्य योषितः ॥१७॥
(इति वृष्यपूपलिकाः।)

वृष्य पूपलिकायोग—जीवनीय (शक्तिवर्धक), स्निग्ध तथा रुचिकारक फलों के चूर्ण, किवाँच के छिलके रहित बीजों का चूर्ण, उड़द की दाल का चूर्ण—प्रत्येक द्रव्य १-१ कुडव (१६-१६ तोला), तिल का कल्क, मूँग का चूर्ण २-२ कुडव (३२-३२ तोला), गेहूँ का आटा, शालिचावलों का आटा, गाय का घी, ये सभी द्रव्य १-१ कुडव—इन सभी द्रव्यों को गाय के दूध में सानकर इससे घी में पूपलिकाएँ (पूए) पकायें। इन पूपलिकाओं को वे पुरुष खायें जिनकी अनेक स्त्रियाँ हों, अर्थात् जिनको अधिक स्त्री-सहवास करने की इच्छा हो या जिनके लिए अधिक सहवास करना अपनी अधिक स्त्रियाँ होने के कारण आवश्यक है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि के अनुसार 'जीवनीयानामिति-षट्ककषायवर्गोक्तानां जीवकर्षभकादीनां दशानाम्। स्निग्धानामिति-स्नेहोपगानां मृद्वीकादीनां दशानां सप्तककषायवर्गोक्तानां तथा रुचिकारिणामिति चतुष्ककषायवर्गोक्तानामाम्रादीनां हृद्यानां दशानामिति'। जीवनीयगण, स्नेहोपगण तथा हृद्यगणोक्त फलों का ग्रहण करने की सम्मति है। यही मत आचार्य गंगाधर का भी है। चरक-सूत्रस्थान अ० ४ के पञ्चाशन्महाकषाय-प्रकरण में वर्णित उक्त गणों के द्रव्यों पर इस प्रकार ध्यान दें, कि क्या वे सभी द्रव्य फलों की श्रेणी में आते हैं ? यदि नहीं, तो आप स्वयं विचार करें कि वे फल कौन हो सकते हैं, जिनका प्रयोग वृष्यपूपलिका के लिए किया जाये।

श्रीजतूकर्ण ने अपनी संहिता में उक्त योग के लिए जिन फलों को ग्रहण किया है, वे ये हैं—'द्राक्षाखर्जूरमाषाजडागोधूमशालिघृतानां कुडवः, तिलमुद्गौ द्विकौडविकौ चूर्णयित्वा' इत्यादि। वृद्धवाग्भट ने 'जीवनीय' के स्थान पर 'मुखप्रिय' तथा 'हृद्य' के स्थान पर 'मधुरात्मनाम्' शब्दों का प्रयोग कर विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'मुखप्रियाणां स्निग्धानां फलानां मधुरात्मनाम्। फलानामात्मगुप्तायाः शालेर्माषात् तिलोद्भवात् ॥ मुद्गाद् गोधूमतश्चापि कुडवं कुडवं पृथक्। चूर्णितैर्निस्तुषैस्तैस्तु क्षीरेणालोड्य मर्दितैः ॥ पक्वां पूपलिकां खादन् स्त्रीषु हृष्यति वाजिवत्'। अष्टांगसंग्रह उ० तं० अ० ५०। निर्माण-विधि तथा द्रव्यों की मात्रा प्रायः दोनों संहिताकारों की भिन्न-भिन्न है।

हमारे विचार से जीवनीय मुखप्रिय स्निग्ध तथा रुचिकर फलों की श्रेणी में बादाम, किसमिस, मुनक्का, काजू, अखरोट, पिस्ता, चिलगोजा, चिरौंजी, इलायची—ये सूखे फल तथा सेव, अनार, अंगूर, अंजीर आदि कच्चे फल आते हैं।

घृतं शतावरीगर्भं क्षीरे दशगुणे पचेत्। शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद् वृष्यमुत्तमम् ॥ १८ ॥
(इति वृष्यं शतावरीघृतम्।)

वृष्य शतावरीघृत—पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त गाय का घी १ भाग, उसी प्रकार की गाय का दूध १० भाग तथा शतावरी का कल्क—इनको एक में मिलाकर पकायें। जब घृतमात्र शेष रह जाये, तब शीतल होने पर उसे छानकर उसमें चीनी, पिप्पली और मधु मिलाकर रख लें। अपनी पाचनशक्ति का ध्यान रखते हुए तदनुसार इसका सेवन करें। घृत का पाचन हो जाने पर पथ्य भोजन करें। यह शतावरी घृत उत्तम वृष्य होता है।

१. 'सर्पिषः कुडवश्चैव क्षीरेण मृदितं च तत्' इति पा०।

वक्तव्य—उक्त योग में केवल द्रव्यों का वर्णन कर दिया गया है। इसके निर्माण की विधि यह है—घी १६ तोला, शतावरी का कल्क १६ तोला और दूध ६४ तोला—इनको लोहे के पात्र में पकायें। जब घी मात्र शेष रह जाये, तब इसे छानकर रख लें। **मात्रा-निर्देश**—१ या २ तोला घी, इसमें आवश्यकतानुसार चीनी, मधु और पीपल का चूर्ण मिलाकर प्रातःकाल एक बार सेवन करें।

कर्षं मधुकचूर्णस्य [1]घृतक्षौद्रसमांशिकम्। प्रयुङ्क्ते यः [2]पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत् ॥१९॥
(इति वृष्यमधुकयोगः।)

वृष्य-मधुकयोग—मुलेठी का कपड़छन चूर्ण १ कर्ष (१ तोला), गाय का घी १ कर्ष, मधु १ कर्ष—इन सबको मिलाकर सेवन करने के तत्काल बाद जो मनुष्य दूध पीता है, वह सदैव सहवास करने की शक्ति से युक्त रहता है।

वक्तव्य—मात्रा का निर्धारण चिकित्सक से पूछ कर करें। यह प्राचीन काल का शक्ति-सम्पन्न पुरुषों के लिए निर्दिष्ट मात्रा का उदाहरण मात्र है। पाठभेद—'घृतक्षौद्रसमन्वितम्' के अनुसार 'समांशिकम्' पाठ के भ्रम का निराकरण हो जाता है। क्योंकि घृत-मधु को समभाग न लेने का प्रचार है, जब कि अल्प मात्रा में ये दोनों हानिकारक नहीं होते। यहाँ 'वृष्यमधुकयोग' का अनुपान दूध है।

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो युवा। सङ्कल्पप्रवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते ॥२०॥

वाजीकरणोचित आहार-विहार—जो पुरुष प्रतिदिन आवश्यकतानुसार घी-दूध का (अलग-अलग या मिलाकर) सेवन करता है, जो निर्भय रहता है, जो नीरोग है, जो प्रतिदिन भ्रमण करता है, अर्थात् जो एक ही स्थान पर बैठा नहीं रहता और जो सदैव मन में सहवास का संकल्प करता रहता है, वह युवा पुरुष स्त्रियों के बीच में वृष के समान आचरण करता है।

वक्तव्य—दूध-घी आदि वृष्य पदार्थों का सेवन करने वाला पुरुष भी यदि **'संकल्पप्रवण'** स्त्री-सहवास की प्रवृत्ति से विमुख या विरक्त होता है तो उसमें उपर्युक्त वृष्य गुणों का आधान नहीं होता, क्योंकि कामदेव का एक नाम **'मनसिज'** भी है। इसीलिए ब्रह्मचारी और विद्यार्थी को स्त्री-समाज से दूर रहने का निर्देश दिया गया है। यथा—'राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति' और 'मातृवत् परदारेषु'।

कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योऽन्यानुवर्तिनः। कलासु कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः। ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः। तैर्नरैः सह विस्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ॥२३॥

वाजीकरणोचित संगति—जो एक समान कार्यों को कर चुके हैं, जिनके परस्पर व्यवहार से अर्थ सिद्ध होते रहते हैं, जो एक-दूसरे के मन के अनुकूल व्यवहार किया करते हैं, जो समान प्रकार की कलाओं (नृत्य, गीत, वाद्य आदि) में कुशल हैं, जिनका परस्पर मन समान हो, जिनकी अवस्था (उम्र) समान हो, जो कुल (वंश, परम्परा), माहात्म्य (महत्ता), चतुरता, शील, शौच (शुचिता) से समान रूप से युक्त हैं, जो सदैव स्त्री-सहवास की कामना किया करते हैं, जो प्रसन्न रहते हैं, जो निश्चिन्त रहते हैं, जिनके तन और मन में किसी प्रकार का दुःख नहीं है, जिनका परस्पर समान स्वभाव है, जो एक-दूसरे के भक्त हैं, अर्थात् एक दूसरे को छोड़ नहीं सकते, जो परस्पर प्रेम रखते हैं, जो सदैव प्रिय भाषण करते हैं—ऐसे सुन्दर साथियों के साथ विश्वासपूर्वक निवास करने से मनुष्य में वृष्यता आ जाती है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने उक्त पद्य में सशक्त, समर्थ, नीरोग, कला-कुशल, अच्छे मित्रों के स्वच्छन्द जीवन का वर्णन किया है। ऐसी स्थिति में कुछ मनस्वी कामसुख से विमुख भी देखे गये हैं। अतएव यहाँ 'कामनित्याः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। **ये तुल्यशीलाः**—ऊपर जितने विशेषण अलग-अलग दिये हैं, उन सबका अन्तर्भाव 'तुल्यशील' शब्द में किया जा सकता है, क्योंकि—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'। सहवास-सुख की प्राप्ति में सभी प्रकार के दुःख प्रत्यक्षतः बाधक होते हैं।

१. 'घृतक्षौद्रसमन्वितम्' इति पा०।
२. 'पयोऽनुपानं यो लिह्यात्' इति पा०।

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः । गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥२४॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणां चाभरणस्वनैः । संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते ॥२५॥

वाजीकरणोचित विहार—अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, गंध, सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ, अलंकार, अपना सुन्दर घर, सुखद शय्या, सुखकर आसन आदि, देखने तथा स्पर्श करने में प्रिय एवं नवीन वस्त्र, मनोहर पक्षियों का कर्णप्रिय कलरव, स्त्रियों के आभूषणों की मधुर ध्वनि तथा चित्ताकर्षक स्त्रियों द्वारा प्राप्त संवाहन (देह का दबाना मुट्ठी-चापी)—ये सभी उपकरण पुरुष की सहवास-शक्ति को बढ़ाते हैं।

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः । जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च ॥२६॥
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः । उन्नतिर्नीलमेघानां रम्यचन्द्रोदया निशाः ॥२७॥
वायवः सुखसंस्पर्शाः कुमुदाकरगन्धिनः । रतिभोगक्षमा [1]रात्र्यः सङ्कोचागुरुवल्लभाः ॥२८॥

वाजीकरणोचित वातावरण—जिनमें मदमत्त भौंरे गुंजार कर रहे हों तथा खिले हुए कमलों से सुशोभित ऐसे जलाशय, जाती (चमेली) और उत्पल (नीलकमल) की सुगन्धि से सुगन्धित शीतल गर्भगृह (तहखाना), झाग से युक्त नदियाँ (पहाड़ी नदियाँ वेग से बहने के कारण दोनों किनारों में झाग युक्त होती हैं), नील आभा से सम्पन्न पहाड़ों के लघु शिखर, नीलवर्ण के बादलों का आकाश में धीरे-धीरे छा जाना, चन्द्रमा के उदय हो जाने से मनमोहक रात्रियाँ, कुमुद (रात्रि में विकसित होने वाले कमल) समूह की गन्ध को लेकर बहने वाली अतएव सुखद स्पर्श से युक्त हवाएँ, सहवास सुख का उपभोग करने वाली रात्रियाँ, संकोच (केसर) तथा अगुरु के लेपन से सुगन्धित शरीर वाली कामिनियाँ पुरुषों की सहवास शक्ति को बढ़ाती हैं।

सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः ।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च ॥२९॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य ।
वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम् ॥३०॥

और भी—सुखदायक सहायक (मित्र, बन्धु-बान्धव) साथ में हों, कोकिल की कुहू-कुहू ध्वनि सुनायी पड़ती हो, विकसित विविध पुष्पों से युक्त बाग-बगीचे हों, स्वच्छ (रुचिवर्धक) सभी प्रकार के अन्न-पान (खान-पान) सुलभ हों, गाने-बजाने के मधुर स्वर सुनायी पड़ते हों, सुगन्धित उपादानों से वातावरण सुवासित हो, मन विशाल (उदार) तथा उपद्रवों (त्रिविध तापों) के प्रभाव से मुक्त हो, सभी प्रकार की कामनाओं की प्राप्ति हो गयी हो, नयी अवस्था (जवानी के जोश) का होना, कामवासना की नवीनता, अर्थात् एक बार सहवास कर लेने पर भी पुनः सहवास की इच्छा का होना, आनन्दवर्धक काल (ऋतु के अनुसार हेमन्त, शिशिर, वसन्त ऋतुएँ अथवा जब ये सभी उपकरण सुलभ हों) और स्त्री (वृष्यतमा पत्नी की उपस्थिति)—ये सभी उपकरण आत्मज=मनसिज=कामदेव के आयुध (जिनके सहयोग से नर-नारी परस्पर रति-कलह में विजयी होते) हैं; क्योंकि इनसे मनुष्यों के हर्ष (मैथुन के प्रति प्रवृत्ति) की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—इस प्रकार के आनन्ददायक अवसर का वर्णन प्रत्येक संहिताकार ने अपनी-अपनी संहिताओं में किया है। देखें—सुश्रुतसंहिता चि० अ० २६।७-९ और अष्टांगसंग्रह उ० तं० अ० ५०।

तत्र श्लोकः—

प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दश पञ्च च । माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे [2]शुक्रबलप्रदाः ॥३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये
माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः ॥ ३ ॥

१. 'नार्यः' इति पा०। २. 'पुष्टिबलप्रदाः' इति पा०।

उपसंहार—अध्यायोक्त विषयों के सम्बन्ध में यहाँ एक श्लोक दिया गया है—प्रस्तुत माषपर्णभृतीय नामक वाजीकरण पाद में शुक्र तथा बलवर्धक एवं प्रहर्ष (कामशक्ति) को पैदा करने वाले पन्द्रह (१५) योगों का व्याख्यान किया गया है।

वक्तव्य—इस अध्याय में जहाँ-जहाँ दूध-घी के ग्रहण का निर्देश किया है, उन सभी स्थानों पर उड़द की पत्ती, इक्षुदण्ड और अर्जुन की पत्ती को खाने से पुष्ट गाय के ही दूध-घी का ग्रहण करना चाहिए। इस पाद में वर्णित १५ वृष्य योग—१-३. वृष्य केवलक्षीर, ४. शुक्ल द्रव्यों से सिद्ध क्षीर, ५. जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध क्षीर, ६. बृंहण द्रव्यों से सिद्ध क्षीर, ७. बलवर्धन द्रव्यों से सिद्ध क्षीर, ८. क्षीरसंजनन द्रव्यों से सिद्ध क्षीर. ९. अपत्यकर क्षीरयोग, १०. अपत्यजनन क्षीरयोग, ११. वृष्य पिप्पलीयोग, १२. वृष्य पायसयोग, १३. वृष्य पूपलिकायोग, १४. वृष्य शतावरीघृत, १५. वृष्य मधुकयोग।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका, हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य, आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में माषपर्णभृतीय नामक वाजीकरणविषयक तृतीयपाद समाप्त ॥ ३ ॥

वाजीकरणाध्याये चतुर्थः पादः

अथातः पुमाञ्जातबलादिकं चतुर्थं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वाजीकरण-विषयक माषपर्णभृतीय नामक तृतीय पाद की व्याख्या करने के बाद अब हम यहाँ पुमान् जातबलादिक नामक चतुर्थ वाजीकरण पाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं स्त्रियो व्रजेत् । यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते ॥३॥

चतुर्थ पाद की प्रस्तावना—जिन द्रव्यों के सेवन करने से पुरुष बलवान् होकर जितनी स्त्रियों के साथ रमण करना चाहता है, कर सकता है और जिनके प्रभाव से शीघ्र ही सन्तान वाला (पुत्र-पुत्रियों से युक्त) हो जाता है, उसका उपदेश हमारे द्वारा यहाँ (आगे इसी अध्याय में) किया जायेगा।

वक्तव्य—प्रस्तुत वाजीकरण में पुरुष में पुंस्त्व-शक्ति के आधान आदि के उपायों का वर्णन करने के साथ ही कहीं-कहीं सन्तानोत्पादक योगों का भी छिट-फुट वर्णन देखा गया है। जैसे—द्वितीयपाद में १. अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका, २. अपत्यकर स्वरस। तृतीय पाद में—१. अपत्यकर क्षीरप्रयोग, २. अपत्यजनन क्षीरप्रयोग। किन्तु इस चतुर्थ पाद में केवल अपत्यकर योगों का ही विशेषरूप से वर्णन किया जायेगा, क्योंकि मैथुन-क्रिया में समर्थ सभी पुरुष गर्भाधान करने में समक्ष नहीं होते। जैसा आगे कहा जा रहा है।

न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः । बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः ॥४॥
सन्ति [1]चाल्पाश्रयाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः । प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः ॥
नराश्चटकवत् केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् । गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः ॥६॥
कालयोगबलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः । केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते[2] वृषाः केचित् स्वभावतः ॥

शारीरिक बल तथा सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध (Relation fertility with sexual potency)—सभी पुरुष बलवान् नहीं होते हैं और जो बलवान् हैं भी वे सभी सन्तान वाले नहीं देखे जाते। कुछ पुरुष बहुत बड़े शरीर वाले तथा बलवान् होते हुए भी स्त्रियों (रतिक्रिया) में दुर्बल (असमर्थ) होते हैं।

१. 'चाल्पबलाः' इति पा०। २. 'प्रयत्नैर्बाध्यन्ते' इति पा०।

कुछ पुरुष देखने में अल्प आश्रय वाले (कृशकाय) होते है, किन्तु स्त्री-सहवास काल (रतिकलह) में वलवान्
देखे जाते हैं। अत एव वे बहुत सन्तान वाले होते हैं। कुछ पुरुष स्वभाव से ही अवल (विशिष्ट बल से हीन
किन्तु अपने अनुरूप बल वाले अथवा निर्बल) होते हैं। कुछ रोग का आक्रमण हो जाने से दुर्वल दिखलायी
देते हैं। कुछ पुरुष ऐसे होते हैं जो चटक (गौरैया) की भाँति वार-वार तथा अनेक स्त्रियों के साथ सहवास करने
की शक्ति रखते हैं और मैथुन-प्रवृत्त देखे जाते हैं। कुछ पुरुष हाथी के समान वीर्य के प्रवाह से योनि को सींच
डालते हैं, क्योंकि वे यदा-कदा स्त्री-सहवास किया करते हैं, अतः उनका संचित वीर्य एक ही बार में बरस जाता
है। कुछ लोग हेमन्त, शिशिर ऋतुओं को पाकर अर्थात् सहवासोचित काल के योग को प्राप्तकर सहवास क्रिया
में प्रवृत्त हो पाते हैं। कुछ वाजीकरणयोगों का सेवन करने के वाद मैथुन-कार्य में स्थिरता प्राप्त कर सकते हैं।
कुछ पुरुष ऐसे भी होते हैं, जो योग्य स्त्री के हाव भाव, कटाक्ष, आलिङ्गन, चुम्बन आदि प्रयत्नों से प्रेरणा
प्राप्तकर मैथुन में प्रवृत्त हो जाते हैं। कुछ स्वभाव (प्रकृति) से ही मैथुनशक्ति-सम्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने देखने में हृष्ट-पुष्ट पुरुषों को वीर्यहीन और कृशकाय व्यक्तियों को वीर्य युक्त
कहने में अनेक विकल्पों को प्रदर्शित किया है। इसके वाद भी एक विशेष बात यह कही है कि सभी पुरुष
सन्तानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होते, उन्हीं के लिए इस चतुर्थ पाद का निर्देश किया जा रहा है। मैथुन मिथुन
(स्त्री-पुरुष) की स्वाभाविक क्रिया है। पशु-पक्षियों में यह क्रिया समय के अनुसार जितनी मर्यादित
होती है, उतनी नर-नारियों में नहीं देखी जाती। इस दृष्टि से मानव से पशु-पक्षी श्रेष्ठ है। ये **'कालयोगबल'**
वाले होते हैं, **'वृषाः केचित् स्वभावतः'**, होते हैं, क्योंकि इनके लिए किसी प्रकार के वाजीकरण-द्रव्यों का
प्रयोग किया या कराया नहीं जाता। पुरुषों में **'वृषाः केचित् स्वभावतः'** वे होते हैं, जो **'आचार-रसायन**
एवं सद्वृत्त' का आचरण करते हैं।

केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते—आलिंगन, चुम्बन, अधर-पान, दन्तक्षत आदि प्रयत्नों से नर-नारी के मन
पर इसका प्रभाव पड़ता है, तदनन्तर प्रजननांगों में उत्तेजना आती है। इनके पहले वाजीकरयोगों का सेवन भी
एक प्रधान प्रयत्न है, क्योंकि भीतरी शक्ति का संचार वृष्ययोगों से ही हो पाता है। तभी आलिंगन आदि
क्रियाएँ सफल होती हैं, अन्यथा आलिंगन आदि प्रयत्न दरिद्रों के मनोरथों की भाँति निष्फल हो जाते हैं।

सन्ति नारीषु दुर्बलाः—चरित्रवान् पुरुष को एकनारीव्रत वाला होना चाहिए। ऐसे पुरुष अपनी स्त्री
के साथ सहवास करने में दुर्बल नहीं होते, किन्तु 'नारीषु' अन्य अनेक स्त्रियों के साथ जब वे सहवास के लिए
प्रवृत्त होते हैं, तो वहाँ वे असफल होते देखे-सुने जाते है।

गजवच्च प्रसिञ्चन्ति—मैथुन की समाप्ति में हाथी के समान विपुल मात्रा में वीर्य की वर्षा कर डालते
हैं। वीर्यस्राव की कोई निश्चित मात्रा नहीं है, इस दृष्टि से प्राचीन संहिताओं में भी कोई स्पष्टतः उल्लेख नहीं
मिलता है। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों के मत उद्धृत किये जा रहे हैं। डा० लागायस
के मत में १ से ३ ग्राम, डॉ० आस्टिन फ्लिन्ट के मत में १ से ४ ग्राम, डा० डुवैल के मत में १ से ५ ग्राम,
डा० अल्टजाम के मत में १० से १५ ग्राम और डा० ल्योपोल्ड कैस्पर के मत में ५ से २० ग्राम तक वीर्य का
क्षरण होता है। परन्तु ये मान्यताएँ उतनी श्रद्धेय नहीं है। आप ध्यान दें—प्रतिदिन के सहवास में क्षरित होने
वाली वीर्य की मात्रा उत्तरोत्तर घटती जाती है और कई दिनों, महीनों के वाद होने वाले सहवास में स्व थ
पुरुष के वीर्य की मात्रा का कोई प्रामाणिक प्रमाण नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक सन्तान की उत्पत्ति का प्रश्न
है, वह केवल पुरुष के वीर्य पर निर्भर नहीं है, उसके लिए स्त्रीवीज का निर्दोष होना भी परम आवश्यक
होता है।

तस्मात् प्रयोगान् वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान्। सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान् ॥

बलवर्धक वृष्ययोग—इसलिए दुर्बल (मैथुन-क्रिया में असमर्थ) पुरुषों के बल को बढ़ाने वाले (बल
के बढ़ जाने पर उनका), सुखपूर्वक उपभोग की शक्ति प्रदान करने वाले तथा बलवान् पुरुषों के बल को पहले
से भी अधिक बढ़ा देने की शक्तिवाले योगों का वर्णन हम यहाँ कर रहे हैं।

वक्तव्य—इस प्रकरण में दुर्बलों को बल देने वाले तथा बलवानों को और बलशाली बनाये रखने वाले
योगों के वर्णन करने की तन्त्रकार ने प्रतिज्ञा की है, जो उनके सिद्धान्तों के सर्वथा अनुरूप है।

पूर्वं शुद्धशरीराणां [1]निरूहैः सानुवासनैः। बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥९॥

वृष्ययोगों में पूर्वकर्म—सर्वप्रथम वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन आदि शरीर-शोधन उपायों
द्वारा जिन पुरुषों के शरीर शुद्ध हो गये हैं, उनके बल का विचार करके शुक्रवर्धक तथा अपत्य (सन्तान)
वर्धक वृष्ययोगों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—'निरूहैः सानुवासनैः' इस निर्णयसागरीय पाठ के स्थान पर अन्यत्र 'निरूहान् सानुवासनान्'
पाठ-भेद मिलता है। प्रथम पाठ के अनुसार उक्त श्लोक का अर्थ होगा—निरूहण तथा अनुवासन वस्तियों
द्वारा शुद्ध शरीर वालों के लिए शुक्र तथा अपत्यवर्धक योगों का प्रयोग करें। द्वितीय पाठ के अनुसार यह अर्थ
होगा—शुक्र तथा अपत्यवर्धक निरूहण तथा अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करें। विद्वान् स्वयं विचार करें कि
कौन-सा पाठ अधिक उपयुक्त है।

पूर्वं शुद्धशरीराणाम्—आयुर्वेद में शारीरिक शुद्धि के जिस क्रम का वर्णन किया है, उसे 'पंचकर्म'
कहते हैं। शोधन सिद्धान्त का अनुसरण करने पर सर्वप्रथम स्नेहन तथा स्वेदन क्रियाओं की परम आवश्यकता
होती है। इनसे समस्त शरीर के अवयव मृदु हो जाते हैं, जिससे वमन, विरेचन क्रियाओं द्वारा होने वाले
कष्टों की उतनी अनुभूति नहीं हो पाती। इनके वाद में निरूहण तथा अनुवासन वस्तियों का प्रयोग कराना
चाहिए। इन वस्तियों का विशेष विवरण तथा महत्त्व चरकसंहिता-सिद्धिस्थान अ० १ तथा सुश्रुतसंहिता चि०
अ० ३८ में अवश्य देखें।

घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः । वस्तयः संविधातव्याः क्षीरमांसरसाशिनाम् ॥१०॥

वृष्य-वस्तियाँ—दूध का अधिक सेवन करने वाले पुरुषों तथा मांसरस का विशेष रूप से सेवन करने
वाले पुरुषों को घी, तैल, मांसरस, दूध, चीनी तथा मधु मिलाकर वस्तियाँ देनी चाहिए, अर्थात् इनका प्रयोग
कराना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर एक ही पद्य में अनेक प्रकार की वृष्य अनुवासन वस्तियों का यहाँ सूत्ररूप में निर्देश कर
दिया गया है। विशेष आगे चरकसंहिता सिद्धिस्थान अ० १ में देखें। ध्यान रहे कि यथोचित क्वाथों द्वारा
निरूहण वस्ति देने के वाद ही अनुवासन वस्ति का प्रयोग किया जाता है।

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्धवे। कोलवद् गुलिकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि वर्तयेत्[2] ॥
[3]वर्तनस्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे। घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिदाडिमसारिके ॥१२॥
यथा न भिन्द्याद् गुलि(टि)कास्तथा तं साधयेद् रसम्।
तं पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम् ॥१३॥
मांसानामेवमन्येषां मेद्यानां कारयेद् भिषक्। गुटिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्धनः ॥१४॥
(इति वृष्या मांसगुटिकाः।)

वृष्य-मांसगुटिकाएँ—सूअर के मांस खण्डों को सिल में पीसकर उसमें पिसे हुए कालीमिर्च तथा
नमक के चूर्णों को मिलाकर १-१ कोल (आधा-आधा तोला) के बराबर गोलियाँ बनाकर गरम (खौलते हुए)
घी में भूँज लें, भूँजने से कड़ी हुई उन गोलियों को कुक्कुट (मुर्गे) के पर्याप्त घी से युक्त सुगन्ध की सूचना देने
वाले द्रव्यों (इलायची, जावित्री, तेजपत्ता, केशर आदि) से युक्त, दही, दाडिम (खट्टा अनार) का सत्त
या रस उस मांसरस में डालकर इस प्रकार सावधानी से पकायें, जिससे मांसगुटिकाएँ फूटने न पायें। इस
प्रकार सिद्ध की (पकायी) हुई मांसगुटिकाओं को खायें और उस मांस रस को पीयें। ऐसा करने से मनुष्य को
अक्षय शुक्र की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अन्य (महिष आदि) मेदा को बढ़ाने वाले मांसों की भी सरस
गुटिकाएँ बनायें। इन सभी का प्रयोग शुक्र को बढ़ाता है।

---

१. 'निरूहान् सानुवासनान्' इति पा०।
२. 'भर्जयेत्' इति पा०।
३. 'भर्जनस्तम्भिताः' इति पा०।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'वराहमांसानि' शब्द का तात्पर्य है—'मांस खंड; क्योंकि मांस शब्द के बहुवचन प्रयोग की सार्थकता इसी में है। मांस बेचने वाले 'मांसवटक' बनाने के लिए उसके छोटे से छोटे टुकड़े बनाकर ग्राहकों को देते हैं। इन टुकड़ों को पीसें और पिसे हुए उस मांस में कालीमिर्च, सैन्धानमक का चूर्ण मिला-कर गोलियाँ बना लें। **कोलवद्**—'कोल' आधा तोला के परिमाण को तथा बेर को भी कहते हैं। यदि चिकित्सक व्यवसाय के लिए इन गुटिकाओं को बनाता है, तो कितना बनाया जाये, इसकी जानकारी उसे होती है। यदि वाजीकरण का इच्छुक पुरुष अपने लिए बनाता है तो उसे सीमित मात्रा में ही बनाना चाहिए। ये च्यवनप्राश आदि की भाँति सुरक्षित नहीं रह सकती हैं। **वर्तयेत्**—इसके स्थान में अन्यत्र 'भर्जयेत्' पाठ उपलब्ध होता है, जो हमारे विचार से तथा प्रसंगानुसार अधिक उपयुक्त है। उसी का अनुकरण 'वर्तनस्तम्भि-तास्ताश्च' पाठ में भी है। वास्तव में 'वर्तयेत्' 'वृतु वर्तने' धातु का विधिलिङ्लकार का रूप है। इसका अर्थ है—व्यवहार करें या बनायें। जब कि 'भर्जयेत्' क्रिया भूनने के अर्थ में अत्यन्त समर्थ है। आचार्य चक्रपाणि ने 'वर्तनस्तम्भिता इति वर्तनेन कठिनीकृताः' ऐसा लिखकर केवल अपनी जान बचायी है। **गन्धपिशुन**—सुगन्धित करने वाले वे द्रव्य, जो इसमें वह गन्धद्रव्य डाल रखा है, इसकी सूचना स्वयं दें। इसीलिये लिखा है—'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते'। सूक्ति। पाकशास्त्र के अनुसार 'गन्धपिशुन' द्रव्यों को पाकसिद्ध होने के बाद प्रक्षेप रूप में डाला जाना चाहिए, अन्यथा उनकी सुगन्धि का लाभ नहीं मिलता। **दधिदाडिमसारिकम्**—'दधिदाडिमसाराभ्यां संस्कृतं, दधिदाडिमसारिकम्', 'दाडिमसारश्च दाडिमरसः' इति चक्रः। इन मांसगुटिकाओं के साथ उतना ही मांसरस का सेवन करें, जो दोपहर तक पच सके। स्वाद आदि के लोभ से अधिक नहीं खा लेना चाहिए। वाजीकरण के लिए जिन मांसों के सेवन का विधान किया गया है, उनमें पुरुष प्राणियों का ही ग्रहण करना चाहिए।

माषानङ्कुरिताञ्छुद्धान् वितुषान् साजडाफलान्। घृताढ्ये माहिषरसे दधिदाडिमसारिके॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तो धान्यजीरकनागरैः। भुक्तः पीतश्च स रसः कुरुते शुक्रमक्षयम्॥१६॥
(इति वृष्यो माहिषरसः।)

वृष्य-माहिषरस—पानी में भिगा देने से अंकुरित उड़द के बीजों के छिलकों को निकाल कर उन्हें साफ कर लें। इसी प्रकार अजडा (किंवाँच) के फलों को (पानी में भिगोकर, छिलके निकालकर) साफ कर रख लें। तदनन्तर जिस भैंस के मांसरस में पर्याप्त घी डाला गया हो तथा दही और अनार का रस मिलाया गया हो, उसमें उपर्युक्त उड़द और किंवाँच के बीजों को डालकर खूब पकायें। पकाते समय मसालों के रूप में धनिया, जीरा, सोंठ—इनको पीसकर मात्रा के अनुसार डाल दें। इसके सिक्थ भाग (उड़द तथा किंवाँच के बीजों) को खाकर शेष द्रव भाग को पी लें। इसके नियमित सेवन करने से शुक्र का कभी क्षय नहीं होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में माषों (उड़दों) को अंकुरित होने पर छिलका उतारकर शुद्ध करने की बात कही गयी है। किन्तु अजडा (किंवाच) के फलों के लिए स्वतन्त्र रूप से ऐसा कुछ नहीं लिखा है। हमारे विचार से किंवाँच के बीजों के भी वे सभी संस्कार करने चाहिए, जो माषों के लिए निर्दिष्ट हैं। ये दोनों ही शिम्बीधान्य हैं। उड़द और किंवाँच के बीजों की एक साथ या अलग-अलग पीठी बनाकर इनके भी वटक (बड़े) बनाये जा सकते हैं और फिर इन वटकों को मांसरस में पकाना चाहिए।

आर्द्राणि मत्स्यमांसानि शफरीर्वा सुभर्जिताः।
तप्ते सर्पिषि यः खादेत् स गच्छेत् स्त्रीषु न क्षयम्॥ १७॥
घृतभृष्टान् रसे च्छागे रोहितान् फलसारिके।
अनुपीतरसान् स्निग्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत्॥ १८॥
(इति वृष्यघृतभृष्टमत्स्यमांसानि।)

वृष्य-घृतभृष्ट मत्स्यमांस—यहाँ निम्नलिखित एक ही नाम के दो योग हैं—१. ताजी रोहू मछली अथवा शफरी मछली को साफ करके उसके मांसखंडों को गरम घी में भूँजकर जो पुरुष (प्रतिदिन) खाता है, उस पुरुष का वीर्य स्त्रियों के साथ सहवास करने पर कभी क्षीण नहीं होता, अर्थात् उसके वीर्य की वृद्धि निरन्तर होती रहती है। २. ताजी रोहू मछलियों के टुकड़ों को गाय के घी में भूँजकर बकरे के मांसरस में पकायें। पकाते समय इसमें फलों (खट्टे अनारों) का रस डाल दें। पकने पर उन स्निग्ध रोहू के मांस के टुकड़ों को पुत्र-प्राप्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष खाये, तदनन्तर मांसरस को पीये। ये दोनों ही योग सन्तानदायक हैं।

कुट्टकं[1] मत्स्यमांसानां हिङ्गुसैन्धवधान्यकैः। युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिकाः पचेत्॥१९॥
माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत्। रसे चानुगते मांसं पोथयेत् तत्र चावपेत्॥
मरिचं जीरकं धान्यमल्पं हिङ्गु नवं घृतम्। माषपूपलिकानां तद्गर्भार्थमुपकल्पयेत्॥२१॥
एतौ पूपलिकायोगौ बृंहणौ बलवर्धनौ। हर्षसौभाग्यदौ पुंस्यौ परं शुक्राभिवर्धनौ॥२२॥
(इति वृष्यौ पूपलिकायोगौ।)

दो वृष्य पूपलिकाएँ—१. रोहू मछली को साफ करके उसके मांसखंडों को भली-भाँति कूटकर (पीस-कर) उसमें हींग, सेंधानमक और धनियाँ—इनको (मात्रानुसार पीस कर) मिला दें। उसमें गेहूँ का आटा मिलाकर सान लें। तदनन्तर घी में उससे पूपलिका (A sort of sweet cake) पकायें।

२. गाय का नया (ताजा) घी, खट्टे अनारदाने का रस और सेंधानमक के साथ साफ करके टुकड़े-टुकड़े की हुई रोहू मछली को भैंस के मांसरस में पकायें। जब मांसरस उसमें सूख जाये, तब मछली के मांसखंडों को पीसकर उसमें कालीमिर्च, जीरा, धनियाँ, थोड़ी हींग को पीसकर ताजा घी डाल दें। तदनन्तर उड़द का आटा सान कर उसके भीतर कचौड़ी की भाँति मसालेदार उक्त पकाये हुए मछली के मांस को भरकर गाय के घी में पूपलिकाओं को पकायें।

इन दोनों पूपलिकाओं का प्रयोग शरीर को पुष्ट करता है, बल को बढ़ाता है, लिंग-हर्षकारक होता है, सौभाग्य (सुख, आनन्द) दायक होता है, पुत्र-सन्तानदायक होता है और शुक्र की अत्यन्त वृद्धि करता है।

वक्तव्य—उक्त चार श्लोकों में दो प्रकार की पूपलिकाओं का निर्माण-विधान बतलाया गया है। आहार-कल्पना की कोई परिसीमा नहीं होती, अतः द्रव्यों के उपलब्ध हो जाने के बाद पाक-निर्माण अनेक प्रकार से किया जाता है या किया जा सकता है। यहाँ प्रथम पूपलिका के निर्माण में किसी विशेष विधि का उल्लेख नहीं किया गया है। दूसरी पूपलिका के निर्माण का प्रकार कचौड़ी-निर्माण की भाँति बतलाया गया है। इस संकेत का उपयोग हम प्रथम पूपलिका के निर्माण में भी कर सकते हैं।

ध्यान दें—प्रथम योग के निर्माण का सामान्य प्रकार ऊपर वर्णित है। कचौड़ी बनाने की विधि यह है—रोहू मछली को साफ करके उसकी काँटेदार हड्डी को निकाल कर उसे कूट-पीस कर उसमें हींग, सेंधानमक, तथा धनियाँ को कूट-पीस कर मिला दें। पीठी तैयार है; अब गेहूँ का आटा सानकर पूड़ी जैसी बनाकर उसमें उक्त पीठी भरकर कचौड़ी की तरह बनाकर भली-भाँति पका लें।

कुट्टकं मत्स्यमांसानाम्—सभी प्रकार के शब्द जातिवाचक तथा व्यक्तिवाचक भेद से दो प्रकार के होते हैं। जातिवाचक शब्द एकवचन में प्रयुक्त होते हैं और व्यक्तिवाचक शब्दों का प्रयोग सभी वचनों में होता है। यहाँ 'मत्स्यमांसानाम्' शब्द व्यक्तिवाचक है। अतः 'एक प्रकार की मछली के मांसों का' ऐसा अर्थ होगा। इस प्रकार के प्रयोग तन्त्रकार ने इस प्रकरण में आगे-पीछे अनेक स्थानों पर किये हैं।

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकम्। शर्कराया विदार्याश्च चूर्णमिक्षुरकस्य च॥२३॥
संयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिकाः पचेत्। पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां पराम्॥
(इति वृष्या माषादिपूपलिकाः।)

वृष्यमाषादि पूपलिका—उड़द, किंवाच के बीज, गेहूँ, शालि तथा साठी के चावल—इन सबका चूर्ण (आटा), चीनी, विदारीकन्द तथा इक्षुरक के बीजों के चूर्ण को सबके साथ मिलाकर बिना मक्खन निकाले हुए गाय के दूध में सानकर गाय के घी में इसकी पूपलिकाएँ बनायें। इनको खाकर तदनन्तर दूध पीने से मानव शीघ्र ही वृषता को प्राप्त करता है।

---

१. 'कुट्टितम्' इति पा०।

वक्तव्य—ये सभी द्रव्य वीर्यवर्धक हैं। दूध, घी की महिमा सुविदित है, संयोजन प्रकार तन्त्रकार का है। इसमें उड़द आदि द्रव्यों को समान भाग में लेना चाहिए। वास्तव में इन पदार्थों का सेवन गृहस्थों को प्रतिदिन करना चाहिए। इनके सेवन-कर्ताओं के लिए शारीरिक व्यायाम भी आवश्यक है।

शर्करायास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः। प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च ॥
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च। तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्तिके घृतभाजने ॥२६॥
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्। एष वृष्यः परं योगो बल्यो बृंहण एव च ॥२७॥

वृष्ययोग—चीनी १ तुला (४०० तोला), गाय का घी १ तुला, विदारीकन्द का चूर्ण, पिप्पली का चूर्ण—ये दोनों १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला), वंशलोचन का चूर्ण तथा नवीन शहद आधा-आधा आढक (१२८-१२८ तोला)—इन सबको मिलाकर भीतर से घी चुपड़े हुए एक मिट्टी के पात्र में रखें। पुत्रोत्पादन का इच्छुक व्यक्ति अपने अग्निबल (पाचनशक्ति) को देखकर वह जितना पचा सके, तदनुसार इसका प्रतिदिन प्रातः-काल प्रयोग करे। यह योग अत्यन्त वीर्यवर्धक, बलवर्धक तथा शरीर को मोटा-ताजा करने वाला है।

वक्तव्य—कोषों के अनुसार **'मूर्छित'** शब्द इन अर्थों में प्रयुक्त देखा जाता है—'मूर्छाले मूर्तमूर्छितौ'। अमरकोष। 'मूर्छितं सोच्छ्रये मूढे'। हैम। संगीतशास्त्र में—'मूर्छनाओं' का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद में—पारद के संस्कारों में यह शब्द एक संस्कार के रूप में वर्णित है। यहाँ 'मूर्छित' शब्द का इतना ही तात्पर्य है, कि ये द्रव्य सबके साथ मिलकर अपने-अपने स्वरूप का त्याग करके अन्य रूप को धारण कर लेते हैं। आगे ५२ वें पद्य में जो **'योगा द्वादश चोत्तमाः'** द्वारा योगों की गणना की गयी है, वहाँ इन अपत्यकर दो योगों को एक ही मानना चाहिए, क्योंकि इनमें एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है।

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः। श्वदंष्ट्रायाश्च निष्क्वाथान्जलेषु[1] च पृथक् पृथक् ॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः। शर्करामधुयुक्तं तदपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥२९॥
(इत्यपत्यकरं घृतम्।)

अपत्यकर घृत—शतावरी, विदारीकन्द, उड़द के बीज, किंवाच के बीज तथा गोखरू—इनका अलग-अलग जलों में क्वाथ बनायें, उस क्वाथ में गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), घी से आठ गुना (८ प्रस्थ=५१२ तोला) गाय का दूध डालकर घृतपाक करें। ठीक तरह से घी के सिद्ध हो जाने पर, उसमें से एक मात्रा लेकर चीनी और मधु मिलाकर पुत्र-सन्तान-प्राप्ति का इच्छुक पुरुष उसका सेवन करे।

वक्तव्य—ऊपर दिये गये 'निष्क्वाथाञ्जलेषु' के स्थान पर 'निष्क्वाथनल्वणेषु' पाठ उपलब्ध है। इन पाठों पर ध्यान देने से लगता है कि पूर्ववर्ती टीकाकारों ने सम्भवतः इस पर विचार नहीं किया। आप ध्यान दें—**'नल्वण'** एक परिमाणवाचक शब्द है। इसका एक पर्याय है **'द्रोण'**। प्रायः पाठभेद तत्सम या तदनुरूप अर्थ का बोधक देखा जाता है, अथवा सामान्य परिवर्तन से युक्त होता है। इस दृष्टि से ऊपर वाले पाठ में केवल 'जलेषु' इस सामान्य शब्द का प्रयोग किया है, जो किसी प्रकार के परिमाण की सूचना नहीं देता। यहाँ क्वाथद्रव्यों की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है। अतः सामान्य परिभाषा के अनुसार उक्त घृत का इस प्रकार निर्माण करें—शतावरी आदि पाँचों द्रव्यों का अलग-अलग क्वाथ करके १ प्रस्थ घी को ८ प्रस्थ दूध में डालकर पकायें। यह तन्त्रोक्त प्रकार है। **सामान्य प्रकार**—क्वाथद्रव्य ६४ तोला, जल २५६ तोला, चतुर्थांश शेष रहने पर १ प्रस्थ घृत का पाक करें। आचार्य गंगाधर के अनुसार प्रत्येक द्रव्य का क्वाथ एक नल्वण (१०२४ तोला) कुल मिलाकर क्वाथद्रव ५१२० तोला, गाय का दूध एक नल्वण (१०२४ तोला) इससे घृत-पाक करना चाहिए।

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत्। सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत् ॥३०॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्येक्षुरकस्य च। पिप्पल्याः साजडायाश्च भागैः पादांशिकैर्युतम् ॥
गुलि(टि)काः कारयेद्वैद्यो यथा स्थूलमुदुम्बरम्। तासां प्रयोगात् पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥
(इति वृष्यगुटिकाः।)

[1] 'निष्क्वाथनल्वणेषु पृथक् पृथक्' इति पा०।

वृष्यगुटिका—गाय का घी १ पात्र (२५६ तोला) को सौगुने (२५६०० तोला) विदारीकन्द के स्वरस में पकायें। जब स्वरस जलकर घी मात्र शेष रह जाये, तो फिर उसे सौगुने (२५६०० तोला) गाय के दूध में डालकर तैयार करें। दूसरी बार पक जाने पर अर्थात् दूध के जल जाने के बाद मात्र घी के शेष रहने पर उसे छानकर रख लें। उसमें चीनी, वंशलोचन (इन दोनों का कपड़छन चूर्ण), मधु, इक्षुरक का चूर्ण, पिप्पली का चूर्ण तथा अजडा (किंवाँच) के बीजों का चूर्ण—इन सब द्रव्यों को तथा चतुर्थांश घी की मात्रा को लेकर अर्थात् प्रत्येक द्रव्य को १ प्रस्थ (६४ तोला) मिलाकर वैद्य इसकी बड़े गूलर के आकार की गुटिका (गोली) बनवाकर रखवा दें। इनका विधिवत् सेवन करने से पुरुष कुलिंग (चटक=गौरैया) की भाँति सहवास-क्रिया में बार-बार प्रवृत्त होता रहता है।

वक्तव्य—'घृतपात्रम्'—पात्रपरिमितं घृतम्। यहाँ पर 'पात्र' शब्द परिमाणवाचक है। इसके पर्याय-वाचक शब्द हैं—आढक, पात्र, कंसपात्र और भाजन। **इक्षुरकस्य**—इसके स्थान पर अन्यत्र **'इक्षुरसस्य'** पाठ उपलब्ध है। प्रायः टीकाकार अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों का कहीं-कहीं अन्धानुकरण कर बैठते हैं। वैसा ही यहाँ भी हुआ है। **'इक्षुरस'** पाठ निर्भ्रान्त है। जहाँ **'इक्षुरक'** पाठ को महत्त्व दिया गया है, वहाँ उसके पर्यायों पर सावधानी से दृष्टि डालने की आवश्यकता है। **इक्षुरक के पर्याय**—कोकिलाक्ष (तालमखाना)—रत्नमाला। इक्षौ, गोक्षुरके—शब्दरत्नावली। काशतृणे, स्थूलशरे—राजनिघण्टु। इस प्रकार के विविध परिचयों तथा प्रसंगों को देखते हुए हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यहाँ **'इक्षुरक'** शब्द से 'तालमखाना' द्रव्य को लेना चाहिए।

गुटिकाः—यद्यपि ऊपर एक ही वस्तु की अनेक गुटिकाओं को बनवाने का आदेश दिया गया है, तथापि **'एकत्वविशिष्टा जातिः'**। इस नियम के अनुसार 'गुटिका' का एकवचनान्त प्रयोग ही उचित प्रतीत होता है न कि बहुवचनान्त। इस स्थिति में **'गुटिकां'** पाठ होना चाहिए।

सितोपलापलशतं तदर्धं नवसर्पिषः। क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम् ॥३३॥
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले। शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कीर्य मर्दनेनोपपादयेत् ॥३४॥
शुद्धा उत्कारिकाः कार्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः। तासां प्रयोगाद् गजवन्नारीः सन्तर्पयेन्नरः ॥३५॥
(इति वृष्योत्कारिका।)

वृष्योत्कारिका—मिश्री १०० पल (४०० तोला), उसका आधा गाय का ताजा घी, मिश्री का चतुर्थांश २५ पल (१०० तोला) मधु और इतना ही जल मिलाकर पकायें। जब ये सभी पकते-पकते गाढ़े हो जायें, तब गेहूँ का आटा २५ पल मिलाकर एक शुद्ध, लम्बे-चौड़े और चिकने शिलातल (पत्थर) के ऊपर फैलाकर उसका खूब मर्दन करके उससे चन्द्रमण्डल के सदृश गोलाकार शुद्ध उत्कारिकाएँ तय्यार करें। इनका सेवन करने से पुरुष हाथी की भाँति वीर्य की वर्षा से स्त्रियों को तृप्त करता है।

वक्तव्य—उत्कारिका को रोटी या लप्सी कहते हैं। रोटी खायी (चबायी) जाती है और लप्सी चाटी जाती है। आचार्य गणनाथसेन के अनुसार इसका नाम 'वृष्या लप्सिका' है। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने इसका दो प्रकार से निर्माण स्वीकार किया है। प्रथम प्रकार युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। आप भी देखें। हमारे विचार से इसका निर्माण निम्न प्रकार से होना चाहिए—मिश्री को पानी में डालकर पकायें। चासनी के गाढ़ा हो जाने पर उसमें ताजा घी मिलाकर ठंडा होने पर मधु मिलायें। शेष विधि ऊपर के अनुसार करें।

यत् किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु। हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥३६॥

वृष्य-द्रव्य-संकेत—जो कोई भी द्रव्य मधुर, स्निग्ध (घृत, तैल, वसा से युक्त), जीवन, बृंहण, गुरु (देर में पचने वाला), मन को प्रसन्नता देने वाला (जैसे—नवयुवती पत्नी) होता है, वह सब वृष्य कहा जाता है।

द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद् भावितः प्रमदां व्रजेत्। आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥३७॥

स्त्री-सहवास का उचित समय—उपर्युक्त मधुर आदि गुण युक्त वृष्य द्रव्यों के सेवन करने से प्राप्त आत्मवेग (काम सम्बन्धी प्रेरणा) से प्रेरित होकर तथा स्त्री के सौन्दर्यादि गुणों से प्रसन्न (हर्ष युक्त) होकर पुरुष स्त्री-सहवास करे।

वक्तव्य—प्रगल्भा नायिका की प्रेरणा से प्रेरित होकर पुरुष आत्मवेग के अभाव में उपहास को प्राप्त हो जाता है। अतः आत्मवेग का महत्त्व अविस्मरणीय है। स्त्री-गुणों में सौन्दर्य के साथ-साथ हाव, भाव, कटाक्ष आदि का भी ग्रहण होता है।

गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं वाऽनु शयीत ना। तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च॥

सहवास के पश्चात् कर्म—स्त्री-सहवास करने के पश्चात् स्नान करके दूध (धारोष्ण या गरम चीनी या मधुमिश्रित) पीकर या मांसरस पीकर शयन करे। ऐसा करने से उस पुरुष का शुक्र और बल पुनः (पूर्ववत्) बढ़ जाता है। अर्थात् इस योग से वीर्य की क्षतिपूर्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यह सामान्य निर्देश है। इसका स्मरण प्रत्येक गृहस्थ को अपने हित के लिए करना चाहिए। मैथुन करने के कारण स्वेद की उत्पत्ति हो जाती है। अतः भगवान् धन्वन्तरि ने 'सव्यजनं स्नानम्' अर्थात् पंखा करके पसीना सूख जाने पर ही स्नान करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया है। शीतकाल में रात्रिस्नान सम्भव नहीं हो पाता। सामान्यतया गृहस्थ का प्रातः स्नान इसी प्रकार की आत्मशुद्धि के लिए होता है। सुश्रुत के अनुसार मैथुन के पश्चात्कर्म—'भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरंससितं रस एव च। स्नानं सव्यजनं स्वप्नो व्यवायान्ते हितानि तु'॥ सु० नि० अ० २४।१३२। भावमिश्र के अनुसार—'स्नानं सशर्करं क्षीरं भक्ष्यमैक्षवसंस्कृतम्। वातो मांसरसः स्वप्नः सुरतान्ते हिता अमी'॥ भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ४। प्रायः यही मत वाग्भट का भी है।

यथा मुकुलपुष्पस्य सु(स्व)गन्धो नोपलभ्यते। लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्॥३९॥

शुक्र की उत्पत्ति का क्रम—जिस प्रकार मुकुलित कलियों की गन्ध का लाभ नहीं मिल पाता है और जब वे कलियाँ समय पाकर विकसित हो जाती हैं तो उनमें से सुगन्ध की प्राप्ति होती है या होने लगती है, ठीक उसी प्रकार शरीर-धारियों में शुक्र की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—प्राणिमात्र भोजन करता है, तदनन्तर उसका पाक होता है, उसके फलस्वरूप रस आदि सात धातुओं की उत्पत्ति आदि का क्रम चलता रहता है। सांख्यशास्त्र ने जिस सत्कार्यवाद की चर्चा की है, तदनुसार सत् से ही सत् की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। इसी का समर्थन—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' गीता में भी देखने को मिलता है। किन्तु बीज क्षेत्र, जल के रहते हुए भी जैसे अंकुर की उत्पत्ति के लिए काल का एक विशेष महत्त्व होता है, वही स्थिति वीर्य की उत्पत्ति की भी है। महर्षि आत्रेय ने 'मुकुलपुष्प' में गन्ध के अभाव का उदाहरण देकर वीर्य की उत्पत्ति आदि प्रक्रिया के सम्बन्ध में सब कुछ कह दिया है। ध्यान दें—मनुष्य की बाल्य, यौवन, वार्धक्य—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। यही स्थिति फूल की भी होती है। जिस प्रकार खिलने के पूर्व फूल में गन्ध नहीं होती और मुरझा जाने के बाद भी उसमें गन्ध नहीं पायी जाती, उसी प्रकार मनुष्यमात्र में बाल्य और वृद्धावस्था में वीर्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, किन्तु उसकी सत्ता का अभाव नहीं कहा जा सकता। युवा अवस्था के उदय होते ही वीर्य का भी उदय हो जाता है।

भगवान् धन्वतरि ने इसी विषय का उपदेश सुश्रुत को दिया है—'जिस प्रकार पुष्पमुकुल में गन्ध नहीं है', ऐसा नहीं कहा जा सकता और न अनुभव ही किया जा सकता है। यही स्थिति बालकों के शरीरों में शुक्र की है। वह समय पाकर अभिव्यक्त होता है और अपने समय से क्षीण हो जाता है।

नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति॥

सहवास-योग्य अवस्था—दीर्घायु की कामना करने वाले पुरुष को चाहिए कि वह सोलह वर्ष के पहले और सत्तर वर्ष के बाद स्त्री या स्त्रियों से संयोग न करे।

वक्तव्य—अनेक बालक-बालिकाएँ कुसंगति में पड़कर, अश्लील साहित्य का अध्ययन कर तथा चित्त को चंचल बना देने वाले चलचित्रों को देखकर समय से पहले दुराचार में प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे उनकी सुखायु समाप्त हो जाती है। अतएव आचार्य ने **'आयुष्कामः नरः'** कहा है। किन्तु यहाँ 'नरः' शब्द 'नर-नारी' दोनों का सूचक है, क्योंकि नर का नारी से और नारी का नर से ही सहवास हो सकता है। कुछ वियोनि मैथुन की ओर भी प्रवृत्त देखे-सुने जाते हैं, जो स्वाभाविक मैथुन से अधिक घातक होता है। यहाँ तन्त्रकार ने जो १६ वर्ष के पूर्व की अवधि का वर्णन किया है, इसमें देश, काल, संहनन आदि का

विचार कर लेना परम आवश्यक है। ७० वर्ष की पश्चिम अवधि ठीक ही है। आयुष्काम पुरुष पुत्रकाम भी हो, इसके लिए अत्यन्त संतुलित चर्या की आवश्यकता है। यहाँ संयोग शब्द का अर्थ संभोग है।

अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजन्। उपशुष्येत सहसा तडागमिव काजलम्॥४१॥

बाल्यावस्था में सहवास का निषेध—जिसके रस से लेकर वीर्यपर्यन्त सभी धातु पुष्ट नहीं हुए हों, वह स्त्री-सहवास करने के लिए अतिबाल(क) है। इस अवस्था में भी यदि वह (अतिबाल) स्त्री-सहवास करता है, तो वह उस प्रकार सहसा सूखने लगता है, जिस प्रकार थोड़े जलवाला तालाब शीघ्र सूख जाता है।

वक्तव्य—'सर्वधातुः' सभी धातुओं का सारभूत धातु वीर्य जब तक संपूर्ण अर्थात् पुष्ट नहीं हो जाता, तब तक वह सहवास-क्रिया के लिए 'अतिबालः'=अयोग्य या अज्ञ होता है, कहा गया है। इस विषय को समझाने के लिए **'तडागमिव काजलम्'**, उपमा दी गयी है। जैसे अल्पजल वाला तालाब जल के निरन्तर व्यय होने से शीघ्र सूख जाता है, उसके सूखने पर तालाब से सम्बन्धित मछलियाँ आदि सब जीव नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही वीर्य के क्षीण होते ही पूर्व-पूर्व धातुओं का भी क्षय हो जाता है। **सहसा**—'कामान्धो नैव पश्यति' अर्थात् कामवासना में लिप्त पुरुष अन्धा हो जाता है। अतः वह कुछ दिन के बाद अपने को क्षीण या शुष्क ही देखता है। फलतः उसकी मृत्यु हो जाती है।

शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम्। स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्॥

वृद्धावस्था में मैथुन का सहेतुक निषेध—जिस प्रकार सूखा (गीलापन से रहित), रूक्ष (रूखा), घुना हुआ तथा विशेष रूप से जर्जर (बहुत पुराना) काष्ठ (लकड़ी) स्पर्श करने मात्र से चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार वृद्ध पुरुष सहवास की कामना से जब स्त्रियों के पास जाता है, तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ काष्ठ के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जराजीर्ण पुरुष की भी वही स्थिति हो जाती है। यहाँ काष्ठ तथा पुरुष दोनों ही काल परिणाम से शुष्क, रूक्ष, विजर्जर हैं। **'जन्तुजग्धं'**—वृक्ष कीड़ों द्वारा खाया गया है, मनुष्य रोगों द्वारा क्रशित हो चुका है। यहाँ महर्षि आत्रेय ने **'जन्तु'** शब्द को क्रिमि तथा रोगसामान्य का वाचक तो स्वीकार नहीं किया? यदि 'हाँ' तो आधुनिक 'क्रिमिविज्ञान' का इसको भी बीज समझना चाहिए। वैसे तो रोगकारक 'क्रिमियों' का उल्लेख वैदिक काल से मिलता है। देखें—**'अनमीवा अपः'**। यजुर्वेदसंहिता। निर्णयसागरीय प्रति में **'जन्तुदग्धं'** ऐसा पाठ प्राप्त है। इसके पूर्ववर्ती टीकाकारों ने इसी पाठ को शुद्ध मानकर उद्धृत तो किया है, परन्तु इसका अर्थ 'कीड़ों से जला हुआ' ऐसा नहीं किया है जब कि अर्थ उपर्युक्त पाठ वाला ही स्वीकार किया है। बुढ़ापा तथा रोग के कारण वीर्य का क्षय हो जाता है, इसकी सम्पुष्टि अगले पद्य से हो रही है।

जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात्। क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां चातिनिषेवणात्॥

शुक्रक्षय के कारण—वृद्धावस्था, चिन्ता, अनेक प्रकार की व्याधियाँ, शक्ति से अधिक कार्य करना, अधिक उपवास करना (भूखा रहना) तथा स्त्रियों के साथ अधिक सहवास करना—इन पृथक्-पृथक् कारणों से शुक्र का क्षय हो जाता है।

क्षयाद्भयादविश्रम्भाच्छोकात् स्त्रीदोषदर्शनात्। नारीणामरसज्ञत्वादविचारादसेवनात्॥४४॥

क्षयाद्भयादविश्रम्भाच्छोकात् स्त्रीदोषदर्शनात् ... **तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते। देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा॥४५॥**

मैथुनशक्ति की कमी के कारण—शुक्रधातु के क्षय होने से (यह क्षय दो प्रकार का होता है—१. शुक्र १. अधिक मैथुन के कारण, २. वृद्धावस्था के कारण), भय के कारण (इसके भी दो भेद होते हैं—१. शत्रु द्वारा उत्पन्न भय, २. अपरिचित या अगम्य गमन के कारण उत्पन्न भय), अविश्वास के कारण (मैं सहवास काल में सफल या सक्षम हो सकूँगा या नहीं), शोक के कारण (शोक शब्द से रोग का भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए), स्त्रीदोष-दर्शन से (स्त्रियों के आठ दोष—'अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः'॥), स्त्रियों के अरसिक होने से (स्त्री के विशिष्ट गुणों—हाव, भाव, कटाक्ष

आदि का अभाव होना उसकी अरसिकता कही जाती है), अविचार (संकल्प के अभाव) से (निर्णयसागरीय प्रति के अतिरिक्त अन्य प्रतियों में यहाँ—'अभिचारात्' पाठ उपलब्ध है, किन्तु मूलपाठ दूसरा और उसकी टीका दूसरी देखकर परानुकरण की स्पष्ट छाप प्रतीत होती है। मैथुन-क्रिया में विचार (संकल्प) शक्ति का एक विशिष्ट महत्त्व है। इस दृष्टि से 'अविचारात्' पाठ 'अभिचारात्' की तुलना में अधिक उपयुक्त है। अभिचारकर्म सभी कार्यों में बाधक होता है। हिंसाकर्म को भी अभिचार कहते हैं), असेवन से (जैसे—पूर्ण ब्रह्मचारी की मैथुन क्रिया के प्रति प्रवृत्ति कभी नहीं होती है) और तत्काल सहवास करने से तृप्त पुरुष को पुनः सहवास करने की शक्ति नहीं होती है, हर्ष (ध्वजोच्छ्राय भवति लिंग में उत्तेजना) देह और मन के बल की अपेक्षा रखता है, अर्थात् जब तक शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य समुचित नहीं होता है, तब तक हर्ष की उत्पत्ति नहीं हो पाती और हर्ष से ही मैथुन-शक्ति की प्राप्ति होती है।

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा। सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥४६॥

शुक्र का स्थान—जिस प्रकार ईख में रस, दही में घी तथा तिल में तेल सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यक् स्पर्शज्ञान-सम्पन्न शरीर (शरीरावयवों) में शुक्र रहता है।

वक्तव्य—यहाँ 'संस्पर्शने देहे शुक्रं सर्वत्रानुगतं भवति'—ऐसा अन्वय करना चाहिए। 'संस्पर्शन' शब्द का तात्पर्य है—'संवेदनशील'। इसी प्रकार के अवयवों में शुक्र की स्थिति होती है। इसको समझाने के लिए ईख, दही तथा तिल का उदाहरण दिया गया है। इनके निःसार अवयवों से क्रमशः रस, घी, तेल की प्राप्ति नहीं होती, यह लोकव्यवहार से स्पष्ट है। इसी प्रकार संवेदनशीलता-शून्य शरीर के अवयवों नख, केश, मल, मूत्र, स्वेद आदि में शुक्र की प्राप्ति नहीं होती। उक्त द्रव्यों में से उनके सारभूत तत्त्वों को निकालने में जिस प्रकार थोड़ा-सा प्रयास करना पड़ता है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के परस्पर कामवासनानुकूल व्यवहारों से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त शुक्र भी निकलता है। इसी का व्याख्यान आगे किया जारहा है।

तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासङ्कल्पपीडनात्। शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥४७॥

शुक्र के निकलने का प्रकार—वह शुक्र परस्पर इष्ट स्त्री-पुरुष के संयोग होने पर, स्त्री-पुरुष की अनुरूप चेष्टा से, संकल्प (समान विचारों) से, पीडन (परस्पर आलिंगन, चुम्बन, स्तनमर्दन, नख-दन्तक्षत, मैथुन-क्रियाओं) से, उक्त समस्त शरीरावयवों से (शुक्राशय में) आकर पुरुष-मूत्रेन्द्रिय द्वारा उस प्रकार बाहर आता है, जिस प्रकार गीले वस्त्र को निचोड़ने से उसके समस्त अवयवों में से जल निकल आता है।

वक्तव्य—पुरुष के शरीर से शुक्र के बाहर आने में स्त्री-पुरुष-संयोग को महर्षि आत्रेय ने प्रधान कारण माना है। तदनन्तर चेष्टा, संकल्प, पीडन—ये उसमें सहायक कारण होते हैं, जिनका विशद वर्णन कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में देखें। लोक तथा शास्त्र में इनके अतिरिक्त अन्य अनेक निन्दित कारण भी देखे-सुने जाते हैं। वास्तव में उन्हें निन्दित सोचकर उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

जलम् आर्द्रात् पटादिव—इस उपमा का सदुपयोग करके तन्त्रकार ने ४९वें पद्य में वर्णित 'शुक्रं देहात् प्रसिच्यते' इस पद्यांश की सम्पुष्टि की है। शुक्र शरीर के किसी एक स्थान पर आशय बनाकर नहीं रहता, अपितु सम्पूर्ण शरीर में रहता है। उचित उपकरणों के संयोग से वह उस प्रकार निकलता है, जैसे गीले वस्त्र में जल किसी एक भाग में नहीं रहता और निचोड़ने पर निकलता है या निकाला जा सकता है।

आशय—'आ (आश्रित्य) शेते द्रव्यम्, अस्मिन् इति, आशयः'। अर्थात् जिस स्थान पर द्रव्य आकर शयन करे (पड़ा रहे) उसे आशय कहते है। देखें—सु० सू० अ० २१ तथा सु० शा० अ० ५। जैसे—गर्भाशय में गर्भ कुछ मास तक पड़ा रहता है। कुछ लोग भूल से वृषणों को शुक्राशय कह देते या मान बैठते हैं। ध्यान दें—शार्ङ्गधराचार्य ने स्पष्ट कहा है—'वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ'॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।८५। अर्थात् ये (वृषण) वीर्यवाहिनी सिरा के आधार मात्र हैं।

हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि। अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥४८॥
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते। चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ॥४९॥

शुक्र-प्रवृत्ति के आठ कारण—१. हर्ष (वृष्यतमा स्त्री के दर्शन से उत्पन्न प्रसन्नता) से, २. तर्ष=तृषा (स्त्रियों की या स्त्री को पाने की इच्छा) से, ३. वीर्य के सर होने (सरकने) के कारण, ४. पिच्छिलता के कारण, ५. गुरुता के कारण, ६. वीर्य के अणुरूप में सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के कारण, ७. प्रवणभाव (बाहर को निकलने की प्रवृत्ति वाला होने) के कारण तथा ८. वीर्य को प्रवृत्त करने वाली वायु के द्रुत गतिशील होने के कारण। इन आठ कारणों से शुक्र शरीर से निकलता है। यह शुक्र अनेक योनियों में भ्रमणशील विश्वरूप (आत्मा) का द्रव्यात्मक रूप है।

वक्तव्य—ऊपर ४७वें पद्य में शुक्र के निकलने का जो प्रकार निर्दिष्ट किया गया है, यहाँ उससे भिन्न उपर्युक्त आठ कारणों का निर्देश किया गया है। यहाँ वीर्य को विश्वरूप (आत्मा) का रूपद्रव्य माना गया है, अर्थात् वीर्य ही आत्मा है, जो आगे चलकर शिशु के रूप में प्रकट होता है।

विश्वरूपस्य रूपद्रव्यम्—वीर्य को विश्वरूप का रूपद्रव्य कहा गया है। यहाँ विश्वरूप शब्द का तात्पर्य है कि संसार में दिखलायी देने वाले समस्त रूपों का मूलद्रव्य (बीजरूप) माना गया है। यहाँ विश्व की सीमा का क्षेत्र मैथुनी सृष्टि मात्र है। पुराणों में इसके अतिरिक्त विविध प्रकार की सृष्टियों का वर्णन मिलता है।

प्रश्न—रस आदि के समान ही शुक्र भी एक धातु है। उक्त स्त्री-पुरुषसंयोग आदि कारणों से केवल शुक्र का ही स्राव क्यों होता है? इसका समाधान ऊपर ४८वें श्लोक में वीर्य के सर, पिच्छिल, गुरु, अणु, प्रवणशील आदि गुणों की प्रधानता दिखलाकर कर दिया है। ध्यान रहे, अतिव्यवायशील पुरुष का जब शुक्र-क्षय हो जाता है तो क्रमशः अन्य धातुएँ भी विलोम क्रम से क्षीण होती जाती हैं। शोष-प्रकरण में 'व्यवायशोषी' के लक्षणों पर ध्यान दें।

आचार्य चक्रपाणि ने 'हर्ष' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'हर्षः सङ्कल्पपूर्वकशुक्रोद्रेकध्वजो-
च्छ्रायादिकारीच्छा'। यह प्रसंगानुरूप ठीक है। श्रीगणनाथसेन ने उक्त पद्यों के कतिपय पाठ-भेद स्वीकार
किये हैं—'हर्षात् सरत्वात् सौम्याच्च'। 'अनुप्लवनभावाच्च'। 'रूपद्रव्यम्'। ये सभी स्थल प्रसंग को देखते हुए
विचारणीय हैं। इनकी विशेष व्याख्या के लिए श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीका देखें।

द्रुतत्वान्मारुतस्य—इसका विशेष विश्लेषण डा० आर्थर कूपर ने The Sexual Disabilities of Man. नामक अपनी पुस्तक में किया है।

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्। शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥५०॥

सन्तानोत्पादक शुक्र के लक्षण—जो शुक्र आकृति में बहल (गाढ़ा), रस में मधुर, स्निग्धता (चिकनायी) युक्त, अविस्र (दुर्गन्धि रहित), गुरु, पिच्छिल (फिसलन वाला), वर्ण में सफेद, मात्रा में अधिक होता है, वह निःसन्देह फलवान् (सन्तान को उत्पन्न करने में सफल) होता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार शुक्र का स्वरूप—'मज्जातो जायते शुक्रं तस्य व्यक्तिस्तु यौवने। स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च॥ शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा'। सु० शा० अ० २।११। चरक के अनुसार—'स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च' ये लक्षण हैं। श्री जयदेव विद्यालंकार ने मधुर शब्द का अर्थ—Neutral in reaction किया है। प्रायः शुक्रोत्पादक सभी द्रव्य वृष्य होते हैं। उनमें मधुरता का होना स्वाभाविक है। शुद्ध वीर्य का दाग छूटता नहीं है।

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते[1] नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥५१॥

वाजीकरण की परिभाषा—जिस आहार, विहार तथा औषध-सेवन से मनुष्य में घोड़े के समान सामर्थ्य (मैथुनशक्ति) आ जाती है या प्राप्त होती है और जिनके सेवन करने से पहले से भी अधिक सहवास करने की शक्ति प्राप्त होती है, उसे वाजीकरण कहते हैं।

वक्तव्य—इसके पूर्व त्रिविध वृष्य का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—१. कुछ द्रव्य शुक्र का स्राव कराने वाले होते हैं, जैसे—अभीष्ट स्त्री का दर्शन, स्पर्शन आदि। २. कुछ द्रव्य शुक्रवर्धक होते हैं, जैसे—अश्वगन्धा, मुसली, शतावरी, चीनी, दूध आदि। ३. कुछ द्रव्य स्राव तथा वृद्धि दोनों कार्य करते है, जैसे—

१. 'वाजीव लभते' इति पा०।

दूध, घी, उड़द, भिलावा, बादाम, अखरोट आदि की मीगी इत्यादि। उक्त पद्य में तीनों का संक्षेप में संकेत कर दिया गया है। स्वास्थ्य की दृष्टि से 'सुतिवृद्धिकर' वाजीकर द्रव्यों का ही सेवन अधिक उपयुक्त होता है। यहाँ वक्तव्य में प्रथम, द्वितीय क्रम में दिये गये वाजीकर-द्रव्यों की अपेक्षा तृतीय क्रम में दिये गये द्रव्यों का ही सेवन करना चाहिए, कारण स्पष्ट है।

तत्र श्लोकौ—

हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः। यत् पूर्वं मैथुनात् सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु ॥५२॥
यदा न सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः। निरुक्तं चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके ॥५३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये
पुमाञ्जातबलादिको नाम वाजीकरणपादश्चतुर्थः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः ॥ २ ॥

चतुर्थपाद का उपसंहार—उसमें ये दो श्लोक हैं—प्रस्तुत पुमाञ्जातबलादि नामक चौथे वाजीकरण पाद में वाजीकरणयोगों के उपदेश का कारण बारह उत्तम वाजीकरणयोगों का वर्णन, जिस-जिसका सेवन मैथुन के पूर्व (पुत्रोत्पत्ति की दृष्टि से) करना चाहिए और जिस-जिसका सेवन मैथुन करने के बाद (वीर्य की क्षति-पूर्ति के लिए) करना चाहिए, किया गया है। जब (जिस आयुविशेष में) स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए और शुक्र के सम्बन्ध में सम्पूर्ण विषय का स्पष्टीकरण यहाँ कर दिया गया है।

वक्तव्य—सर्वप्रथम इस अध्याय में उन वृष्ययोगों का वर्णन किया गया है, जो पुत्रोत्पत्ति-कारक हैं। यही इस अध्याय के नाम की चरितार्थता है। इसके आगे १०वें श्लोक से ३५वें श्लोक तक ये १२ योग कहे गये हैं—१. वृष्यवस्तियाँ, २. मांसगुटिका, ३. वृष्यमाहिषरस, ४-५. वृष्यमत्स्यमांस, ६-७. वृष्यपूपलिका योग, ८. वृष्यमाषादिपूपलिका, ९. वृष्ययोग, १०. अपत्यकरघृत, ११. वृष्यगुटिका, १२. वृष्यउत्कारिका। इसके बाद ३७वें तथा ३८वें श्लोकों में मैथुन के पहले तथा उसके बाद किन-किन योगों का सेवन करना चाहिए, वर्णित है। श्लोक ४० से ४२ तक में कब मैथुन नहीं करना चाहिए और उसके क्या परिणाम होते हैं, का वर्णन है। श्लोक ४६ से आगे शुक्रविनिश्चय का निर्देश है।

विशेष—इस अध्याय में पुत्रोत्पत्ति के लिए सहवास की चर्चा की गयी है। इस कार्य में पुरुष पूर्ण समर्थ हो, अतएव उत्तम वृष्यप्रयोगों का निर्देश किया गया है। सुश्रुतसंहिता चि० अ० २४ के श्लोक ११० से १३२ तक इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। आयुर्वेद स्वास्थ्य-संवर्धन की शिक्षा देता है। अतः वह क्रीड़ा के लिए सहवास का निषेध करता है। अतएव वन्ध्या-मैथुन निषिद्ध है। इसी का समर्थन वाग्भट ने भी किया है—"सन्तोऽप्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः सङ्गतं रहः। दुरपत्यं कुलाङ्गारो जातं गोत्रे महत्यपि" ॥ अ० हृ० शा० अ० १।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में वाजीकरणसम्बन्धी पुमाञ्जातबलादिक नामक चौथा पाद समाप्त ॥४॥
वाजीकरण नामक यह दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वाजीकरण सम्बन्धी पुमाञ्जातबलादिक नामक चौथे पाद की व्याख्या करने के बाद अब हम ज्वर-चिकित्सित की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र के मूलतः दो सिद्धान्त हैं—१. स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना, अर्थात् उसके उत्तम स्वास्थ्य को चिर-स्थिर रखना, २. रोगी को रोग से मुक्त कराना, उसको स्वास्थ्य प्रदान करना और उसे स्थायी बनाये रखना। इस दृष्टिकोण का पालन चिकित्सास्थान के प्रथम दो अध्यायों (रसायन और वाजीकरण) में किया गया है। ये दो अध्याय स्वस्थ पुरुष की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए ही निर्दिष्ट हैं। तदनन्तर 'आर्तस्य रोगनुत्' के रूप में ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा का वर्णन इसके आगे किया जा रहा है।

'ज्वर' शब्द का प्रयोग अन्यत्र सामान्य रोग के लिए भी हुआ है। जैसा कि इसके पर्यायों का वर्णन करते हुए चरक-निदानस्थान अ० १।५ में निर्देश किया है—'तत्र व्याधिः, आमयः, गदः, आतङ्कः, यक्ष्मा, ज्वरः, विकारः, रोग इत्यनर्थान्तरम्'। ज्वर के उक्त पर्यायों का अर्थ इस प्रकार है—**व्याधिः**—अनेक प्रकार के दुःखों का मूल। **आमयः**—प्रायः आमदोष या आमाशय के दोष से उत्पन्न होने वाला। **गदः**—सामान्य रोग। **आतङ्कः**—जीवन को कष्टमय कर देनेवाला। **यक्ष्मा**—राजयक्ष्मा रोग से सम्बन्धित ज्वर, जिसमें रोगी के परिजनों द्वारा वैद्य की पूजा की जाती है। **ज्वरः**—देह तथा मन को सन्ताप देने वाला। **विकारः**—शरीर और मन की सामान्य स्थिति को विकृत कर देने वाला। **रोगः**—पीड़ादायक सभी प्रकार।

किन्तु यहाँ 'सन्ताप-लक्षणविशेष ज्वर का वर्णन किया जायेगा जो सर्वप्रथम १. निज, २. आगन्तुज भेद से दो प्रकार का होता है। यह वही ज्वर है, जिसकी उत्पत्ति 'महेश्वरकोपप्रभव' है। यही सभी प्राणियों के प्राणों का विनाशक होता है। इससे देह तथा मन सन्तप्त हो जाते हैं। देह के ताप को नाड़ी या स्पर्श या थर्मामीटर द्वारा देख लिया जाता है, किन्तु मानसिक ताप का परिज्ञान 'वैचित्त्यम् अरतिः ग्लानिः मनसस्ताप-लक्षणम्' इन लक्षणों से किया जाता है। यह कायचिकित्सा-प्रधान ग्रन्थ है। प्रायः सभी रोगों में ज्वर की सत्ता होने के कारण यहाँ सर्वप्रथम ज्वर-रोग का निर्देश किया जारहा है।

ज्वर के सम्बन्ध में अमेरिका के एक विद्वान् ने अपना यह विचार प्रकट किया था, कि ज्वर कोई मूल व्याधि नहीं है, अपितु किसी न किसी व्याधि का एक लक्षण मात्र है। आधुनिक विद्वान् अपने शास्त्र की उपेक्षा कर परमुखापेक्षी होने के अभ्यासी हो गये हैं। यदि वे अपने प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन आज भी करने लगें तो कोई भी बाहरी अभिनव सिद्धान्त ऐसा न होगा जिसका समाधान उनको बाहर से ढूँढने की आवश्यकता हो। आप ध्यान दें—कायचिकित्सा प्रधान चरकसंहिता में ज्वर को मूलव्याधि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु शल्य-शालाक्य-चिकित्सा प्रधान सुश्रुतसंहिता में उस ज्वर को व्रण आदि के उपद्रवरूप में वर्णित किया गया है। देखें—सु० मं० उ० अ० ३९।७-९। दोनों में केवल दृष्टिकोण का ही भेद है।

शल्यतन्त्र के अनुसार उपद्रव का लक्षण—'औपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधि-रुपसृजति स तन्मूल एव उपद्रवसंज्ञः'। सु० सू० अ० ३५।१८। चरकसंहिता के अनुसार—'उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः'। तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणीभूत उपद्रवः' ॥ च० चि० अ० २१।४०। अर्थात् जहाँ जो रोग प्रधानरूप में हो, वह मूल व्याधि है और जो उपसर्ग रूप में हो, वह उसका उपद्रव है।

संक्षिप्त संदर्भ-संकेत—च० नि० अ० ३ में, च० नि० अ० १ में, सु० उ० अ० ३८ में, अ० सं० चि० अ० १ एवं २ में तथा अ० हृ० नि० अ० १ में देखें।

विज्वरं ज्वरसन्देहं पर्यपृच्छत् पुनर्वसुम्। विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥३॥

अग्निवेश का ज्वर सम्बन्धी प्रश्न—विज्वर (शरीर तथा मन से स्वस्थ), शान्तचित्त तथा एकान्त में बैठे हुए आत्रेय पुनर्वसु से अग्निवेश ने हाथ जोड़कर ज्वर सम्बन्धी सन्देहों को सब प्रकार से पूछा।

वक्तव्य—सभी प्रकार के रोगों का पर्याय केवल 'ज्वर' शब्द ही महर्षि आत्रेय को अभीष्ट था। अतएव यहाँ पूर्ण स्वास्थ्य सम्पन्नता के लिए 'विज्वर' शब्द का प्रयोग किया गया है। जब तक मानव शरीर और मन से नीरोग न हो, तब तक वह किसी प्रकार के संदेहों का सम्यक् निराकरण नहीं कर सकता।

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली। ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥४॥
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये। प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च ॥५॥
पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम्। व्यासतो विधिभेदाच्च[१] पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ॥६॥
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम्। विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक्-पृथक् ॥
ज्वरावसृष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः। प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः ॥८॥
याश्चापि पुनरावृत्तं क्रियाः प्रशमयन्ति तम्। जगद्धितार्थं तत् सर्वं भगवन्! वक्तुमर्हसि ॥

ज्वर सम्बन्धी सन्देह—महर्षि अग्निवेश ने अपने गुरु भगवान् आत्रेय से कहा कि आपने (निदानस्थान अ० १ में) देह, इन्द्रिय और मन को सन्तप्त (दुःखी) करने वाले, सभी रोगों में पहले उत्पन्न होने वाले तथा सभी प्रकार के रोगों में बलवान् (जो चिकित्सारूपी युद्ध में जल्दी पराजित नहीं होता) ज्वर को प्रधान बतलाया है। प्राणिमात्र के लिए शत्रु के सदृश प्रलय (मरण) और उदय (जन्म) के समय अवश्य अपना आक्रमण करने वाले उस (ज्वर) के—१. प्रकृति, २. प्रवृत्ति, ३. प्रभाव, ४ कारण, ५. पूर्वरूप, ६. अधिष्ठान, ७. बल, ८. काल, ९. आत्मलक्षण, १०. विस्तारपूर्वक विधि-भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण, ११. आमज्वर के लक्षण, १२. जीर्णज्वर के लक्षण, १३, औषध सहित उनकी चिकित्सा का क्रम, १४. रोगी को छोड़ते हुए ज्वर के लक्षण, १५. ज्वरमुक्त होने पर जो पृथक्-पृथक् लक्षण होते हैं, १६, ज्वरमुक्त पुरुष की जितने समय तक, जिन-जिन विषयों से जिस-जिस प्रकार रक्षा करनी चाहिए, १७. ज्वर शान्त हो जाने पर जिन कारणों से वह पुनः उत्पन्न हो जाता है, १८. एक बार शान्त हो जाने के बाद जब पुनः ज्वर आ जाता है, उस ज्वर को जो-जो उपचार शान्त करते हैं—इन सभी विषयों को जगत् के प्राणियों के हित के लिए सम्पूर्ण रूप से आप कह सकते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार का विस्तृत ज्ञान प्रस्तुत ज्वर-विवेचन में दिखलायी दे रहा है। क्योंकि यहाँ उन्हें समस्त रोगों में ज्वर-प्रकरण को महत्त्व देना है। लोक में जितनी व्याधियाँ देखी जाती हैं, उनमें कहीं ज्वर प्रधान रूप में, कहीं अनुबन्ध रूप में देखा जाता है और कभी इसके जरा भी दर्शन नहीं होते। केवल दूसरी व्याधि उत्पन्न होकर उचित चिकित्सा करने से शान्त हो जाती है। आप भी अपने चिकित्साकाल में ध्यान से देखें—**प्राणिसपत्न**—लोक में रोग, शत्रु तथा अग्नि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, ऐसा देखा-सुना जाता है। भले ही वह दुर्बल या सबल किसी स्थिति में क्यों न हो। **प्रलयोदये**—इस शब्द का अर्थ है—मरण और जन्म। व्यवहार में जन्म-मरण शब्द का हिन्दी प्रयोग प्रचलित है, किन्तु ध्यान से विचार करने पर मरण के बाद जन्म का प्रयोग भी समीचीन ही प्रतीत होता है। **क्रिया**—याश्चापि क्रियाः तम् प्रशमयन्ति—आयुर्वेद में 'क्रिया' शब्द चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होता है।

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्। ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत् सौम्य! निखिलं शृणु ॥

ज्वर सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर—अग्निवेश के उपर्युक्त उन वचनों को सुनकर गुरु (आत्रेय पुनर्वसु) ने इस प्रकार कहा—हे सौम्य (अग्निवेश)! इस ज्वर-अधिकार (प्रकरण) में जो मुझे कहना है, उन सबको तुम (ध्यान से) सुनो।

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च। [२]एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ॥११॥

ज्वर के पर्याय—ज्वर, विकार, रोग, व्याधि, आतंक—ये सभी एक ज्वर रूप अर्थ को कहने वाले नाम रूपी पर्याय हैं जिनसे (यहाँ) ज्वर का अभिधान किया जाता है।

१. 'विधिभेदं च' इति पा०।
२. 'एकार्थनामपर्यायैः' इति पा०।

वक्तव्य—इसी अध्याय के प्रथम-द्वितीय गद्य के वक्तव्य में हमने उपर्युक्त पर्यायों के विशिष्ट अर्थों का निर्देश कर दिया है। पद्य-रचना में छन्द की दृष्टि से पर्यायों की आवश्यकता होती है। इसलिए इस प्रकरण में उक्त सभी शब्द भिन्नार्थ-बोधक होने पर भी एकार्थवाचक ही समझने चाहिए, ऐसी प्रतिज्ञा तन्त्रकार ने स्वयं 'एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते' इस पद्यांश द्वारा की है। चरक नि० अ० १ में इन पर्यायों के क्रम में आमय, गद, यक्ष्मा—इन तीन पर्यायों की अधिक गणना हुई है। आगे इस प्रकरण में आत्रेय पुनर्वसु त्रिविध-शिष्य बुद्धिगम्य ज्वराधिकारोक्त समस्त विषयों का वर्णन करेंगे।

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः। देहिनं न हि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ॥१२॥

१. ज्वर की प्रकृति क्या है—ज्वर की प्रकृति शारीरिक (वात, पित्त, कफ) दोष तथा मानसिक (रजस्, तमस्) दोष हैं, क्योंकि जो प्राणी इन दोषों से दूषित नहीं होता, ज्वर उसका सेवन नहीं करता, अर्थात् वह ज्वररोग से पीड़ित नहीं होता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने आप्तपुरुषों का वर्णन करते हुए कहा है कि वे 'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः' होते हैं। यदि आज भी कोई ऐसा व्यक्ति हो, तो उसे देखा जा सकता है। वह मानसिक रोगों से मुक्त होगा। शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ हैं। ये जब अपनी सम अवस्था में नहीं रहते, तभी ज्वर आदि रोग आक्रमण करते हैं। रोगों की उत्पत्ति में वातादि दोष सन्निकृष्ट कारण कहे जाते हैं। आहार-विहार आदि अनेक विप्रकृष्ट कारणों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता[१] यमात्मकाः। पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा ॥
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता—

स्वभाव रूप ज्वर की प्रकृति—क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा और मृत्यु—ये सभी यमस्वरूप कहे गये हैं। अपने-अपने दुष्कर्म द्वारा कष्ट पाने वाले मनुष्यों के पञ्चत्व (मृत्यु) का कारण होने के विश्वास से इन्हें यम-स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार ज्वर की प्रकृति कह दी गयी है।

वक्तव्य—ऊपर ११वें श्लोक में कारणरूप प्रकृति का और १२वें श्लोक में स्वभावरूप प्रकृति का वर्णन किया गया है। कारणरूप प्रकृति द्वारा शारीरिक एवं मानसिक ज्वरों का निर्देश किया गया है। इसमें आगन्तुक ज्वरों का समावेश नहीं हो सकता था। अतः तन्त्रकार को स्वभावरूप प्रकृति का वर्णन करना पड़ा, क्योंकि आगन्तुकज्वरों के आदि कारण वातादिदोष तथा रजस्, तमस् नहीं होते। **क्षय**—शरीर और शरीरस्थित धातुओं का ज्वर के कारण क्षय हो जाता है। अतः इसे 'क्षय' कहते हैं। **तमः**—तमोगुणजनित अथवा सामान्य ज्वर में मोह (बेहोशी) उत्पन्न हो जाता है। अतः इसे 'तमस' कहते हैं। **ज्वर**—शरीर के अवयवों को सन्ताप युक्त कर देने के कारण इसे 'ज्वर' कहते हैं। **पाप्मा**—पापजनित ज्वर को 'पाप्मा' कहते हैं। पाप की सत्ता जन्म-जन्मान्तरों द्वारा अर्जित मानी जाती है। पाप शब्द दुःख तथा अशोभा का भी वाचक है। अतः ये सभी लक्षण ज्वर-पीड़ित पुरुष में देखे जाते हैं। **मृत्यु**—यह मृत्यु के समान कष्ट देने वाला होता है तथा मृत्युकारक होने के कारण इसे 'मृत्यु' कहते हैं। **यमात्मकाः**—ये सभी ज्वर यमराज के समान प्राणनाशक होते हैं। अतः इनको 'यमात्मक' कहा गया है। यहाँ एक ज्वर के लिए जो बहुवचन का प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य है कि यह क्षय, तम आदि सभी का कर्ता है।

आचार्य गङ्गाधर ने उक्त श्लोक को इस प्रकार परिवर्तित किया है—'क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्तो-ऽयमात्मजः। कर्मभिः क्लिश्यमानानां पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणाम्' ॥ उक्त श्लोक के अनुसार 'यमात्मक' के स्थान पर 'आत्मज' पाठभेद मिलता है, जिसका अर्थ होता है अपने किये हुए दुष्कर्मों से उत्पन्न पाप का ज्वररूप परिणाम। दूसरे विद्वान् यहाँ 'मृत्युश्चोक्तोऽयमामयः' पाठ स्वीकार करते हैं, क्योंकि 'आमय' भी रोग का एक पर्याय है। हमारे विचार से श्रीगङ्गाधर द्वारा किया गया 'आत्मजः' पाठभेद 'द्रविड़ प्राणायाम' ही कहा जा सकता है, क्योंकि मूलपाठ में 'क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा' का फिर क्या अर्थ किया जायेगा। तन्त्रकार के दृष्टिकोण को समझे बिना मूल पाठ में परिवर्तन करना समीचीन नहीं होगा। अष्टांगसंग्रह नि० अ० १ में ज्वर के पर्यायों

१. 'मृत्युश्चोक्तोऽयमात्मजः' इति पा०।

की गणना इस प्रकार की गयी है—'ज्वरस्तमो विकार आतङ्कः पाप्मा गदो व्याधिराबाधो दुःखमामयो यक्ष्मा रोग इत्यनर्थान्तरम्'।

—प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात्। निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ॥१४॥

२. ज्वर की प्रवृत्ति (प्रथम उत्पत्ति)—ज्वर की प्रवृत्ति परिग्रह से होती है तथा इसके पहले निदानस्थान में रुद्र के प्रचण्डकोप से ज्वर की उत्पत्ति कही गयी है।

वक्तव्य—प्रवृत्ति का अर्थ अन्यत्र प्रवर्तन या प्रवाह है। यहाँ हम ज्वर के प्रथम प्रवर्तन को प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। **परिग्रहात् प्रवृत्तिः**—चरक-विमानस्थान अ० ३।२४ में सत्ययुग के चतुर्थ चरण में ज्वर की उत्पत्ति होने के अनेक कारणों की शृंखला में से एक कारण 'परिग्रह' भी स्वीकार किया गया है। विस्तारभय से उन समस्त कारणों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है। अमरसिंह ने 'परिग्रह' के पर्याय इस प्रकार दिये हैं—'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः'। अमरकोष। यहाँ तन्त्रकार को 'परिग्रह' शब्द से 'शाप' अर्थ तो अभिप्रेत नहीं है? हमारे विचार से ज्वर की उभयथा प्रवृत्ति यहाँ दिखलायी गयी है—१. परिग्रह से और २. दारुण रुद्रकोप से। जैसा कि च० नि० अ० १।३५ में निर्दिष्ट है—'ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभवः'। आचार्य माधवकर ने 'दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिश्वाससम्भवः'—ज्वर को ही मूल ज्वर माना है।

श्रीचक्रपाणि के अनुसार 'पूर्वम्' पद का अभिप्राय है, पहले रुद्रकोप से ज्वर की उत्पत्ति हुई है और उसके बाद 'परिग्रह' से, यथा—'पूर्वमिति पदेन रुद्रकोपप्रभवा प्रथमा, परिग्रहप्रभवा तु द्वितीया प्रवृत्तिरिति दर्शयति'। पौराणिक दृष्टि से त्रेतायुग में दक्षप्रजापति की कन्या सती ने अपने पिता के यज्ञकुण्ड में आत्मदाह किया था, जैसा तन्त्रकार ने १५ वें श्लोक में स्वीकार किया है। इसी का समर्थन भाग० ४।३।५ तथा रुद्रसंहिता १४।२३ में भी प्राप्त है। परिग्रह से ज्वर की उत्पत्ति की घटना सत्ययुग के समाप्त होते समय की है। देखें—चरक वि० अ० ३।२४।

हमारे विचार से आचार्य चक्रपाणि ने पौराणिक तथ्य के पूर्वापर का विचार न करके निदानस्थान में कहे गये रुद्रकोप-प्रभव ज्वर-प्रवृत्ति को प्रथमा और परिग्रह-प्रभव ज्वर-प्रवृत्ति को द्वितीया मान लिया। जब कि तन्त्रकार ने ऊपर १४वें पद्य में परिग्रह द्वारा हुई ज्वर-प्रवृत्ति को प्रथम और रुद्रकोप द्वारा हुई ज्वर-प्रवृत्ति को द्वितीय स्थान दिया है।

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्। दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ॥१५॥
[1]तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनः। पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः ॥
पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः। यज्ञे न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ॥१७॥
ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्य आहुतयश्च याः। यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ॥१८॥
अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम्। रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ॥१९॥
[2]सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बालं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम् ॥
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः। दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ॥
अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम्। तमृग्भिरस्तुवन् यावच्छैवे भावे शिवः स्थितः ॥२२॥
शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः। भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः ॥
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात्। क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ॥
तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि। जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च ॥२५॥

ज्वर सम्बन्धी पौराणिक कथा—दूसरे युग (त्रेता) में भगवान् शिव ने अक्रोध (शान्त [illegible]) का व्रत लिया था। अर्थात् वे शान्तचित्त होकर ध्यान-मग्न हो गये थे। उस समय हजारों दिव्य वर्षों तक तपस्या में विघ्न करने से ही अपनी जीविका का निर्वाह करने वाले वे असुर उस महान् आत्मा शिव की तपस्या में विघ्न करने के लिए चारों ओर दौड़ने लगे। उस प्रकार शिवजी की तपस्या में विघ्न करते हुए राक्षसों को

१. 'ततो विघ्नं शर्मीकर्तुम्' इति पा०। २. 'स्पृष्ट्वा' इति पा०।

देखते हुए तथा उनका विनाश करने में समर्थ दक्षप्रजापति ने उपेक्षा की, अर्थात् असुरों का विनाश नहीं किया। तदनन्तर उसने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें देवताओं के कहने (याद दिलाने) पर भी दक्ष प्रजापति ने दृढ़संकल्प होकर शिवजी का भाग नहीं रखा। शिवजी से सम्बन्धित जो ऋचाएँ थीं और यज्ञ में सिद्धि को देने वाली, जो शिव सम्बन्धी आहुतियाँ थीं, उनका प्रयोग किये बिना ही उसने यज्ञ कर डाला, अर्थात् शिव सम्बन्धी ऋचाओं (वेदमन्त्रों) का उच्चारण कर जो अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं, ईर्ष्यावश वह नहीं किया। इसी अवसर पर अक्रोध व्रत को समाप्त कर समाधि का त्याग कर भगवान् शिव ने यह जानकर कि दक्षप्रजापति ने—मेरे समाधिकाल में समर्थ होते हुए भी विघ्नकारक असुरों का वध नहीं किया, यज्ञ में मुझे आमन्त्रित नहीं किया, मुझसे सम्बन्धित ऋचाओं का उच्चारण नहीं किया और न मेरे नाम की आहुतियाँ ही अग्नि में डालीं—इस प्रकार के व्यतिक्रम (शास्त्रमर्यादा के उल्लंघन) को किया।

तब आत्मज्ञानी भगवान् रुद्र ने अपने रौद्रभाव (क्रोधयुक्त विचार) को प्रकट कर मस्तक पर स्थित तीसरे नेत्र को खोलकर सर्वप्रथम उन (विघ्नकारक) असुरों को जलाकर तदनन्तर क्रोधाग्नि से सन्तप्त तथा यज्ञ-विध्वंस करने वाले एक बालक (वीरभद्र) को पैदा किया। पैदा होते ही उसने दक्षप्रजापति के यज्ञ का विध्वंस कर डाला। उस समय देवता भी पीड़ित हुए। तीसरे नेत्र की अग्निज्वाला से उस समय सभी प्राणी जलने लगे और अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए दिशाओं में भ्रमण करने लगे। तब डरकर सभी देवताओं, सप्तर्षियों के साथ उस त्रैलोक्य-व्यापक शिव की वेदोक्त-मन्त्रों से हाथ जोड़कर तब तक स्तुति करते रहे, जब तक भगवान् शिव संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए शिवभाव (शान्तस्वरूप) में स्थित नहीं हो गये। अर्थात् जब शिवजी ने क्रोध करना छोड़ दिया, तब देवता, ऋषि आदि ने सोचा कि अब हम लोगों को चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

शिवजी की क्रोधाग्नि का स्वरूप—जिसका भस्म ही शस्त्र है, जिसके तीन शिर हैं, नौ नेत्र हैं, जिसका सम्पूर्ण शरीर आग की लपटों की मालाओं से व्याप्त है, जो देखने में रौद्र (भयंकर) है, जिसकी छोटी जाँघें तथा छोटा पेट है, ऐसा वह शिव का शरीरधारी क्रोध डरकर बोला कि हे देव! अब मैं क्या करूँ? उस क्रोध (रूपी पुरुष) से ईश्वर (शिवजी) ने कहा—तुम प्राणियों के जन्मकाल में, मृत्यु के समय में तथा अपथ्य सेवन करने वाले प्राणियों में ज्वररूप में रहोगे।

वक्तव्य—द्वितीय युग का नाम 'त्रेता' है। **दिव्यवर्ष**—मनुष्यों के दिन, पक्ष, मास, वर्ष से देवताओं के दिन आदि का परिमाण भिन्न होता है। देखें—'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः' ॥ गीता ८।१७। पुराणों में इस सम्बन्ध के विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। श्रीगणनाथसेन ने 'तपोविघ्नाशनाः कर्तुम्' का पाठभेद—'तपोविघ्नं शर्मीकर्तुम्' माना है, जब कि अन्यत्र 'तपो' के स्थान पर 'ततो' पाठ दिया गया है। इसी प्रकार के अन्य अनेक पाठभेद श्रीजयदेव कृत टीका वाले संस्करण में दिये गये हैं। 'तपो विघ्नं महात्मनः' के स्थान पर 'महात्मनाम्' पाठ को स्वीकार कर अर्थ का अनर्थ कर डाला है। वास्तव में यह 'महात्मनः' शिवजी का विशेषण है। तपस्या कर रहे हैं शिवजी और तप में विघ्न साधु-महात्माओं का होगा? आश्चर्य तो यह है जिन्होंने 'महात्मनः' पाठ स्वीकारा है, उन्होंने भी दूसरों का धड़ल्ले से अनुकरण कर लिया है। दक्षप्रजापति का जो यज्ञ-विध्वंस हुआ, वह विधिहीन तथा मन्त्रहीन यज्ञ का फल था। यह यज्ञ 'हरद्वार' तीर्थ के परिसर में सम्पन्न हुआ था, जहाँ आज भी उसके ध्वंसावशेष स्मारकरूप में सुलभ हैं। इस यज्ञ से सम्बन्धित स्थल हैं—ऋषिकेश, कनखल, वीरभद्र। इसी अवसर पर दक्ष का शिर काट लिया गया था, पूषादेव के दाँत तोड़ दिये गये थे। विस्तृत कथानक के लिए पुराणों का परिशीलन करें।

हमारे विचार से सामान्य कष्ट देने वाले ज्वर परिग्रह आदि कारणों से उत्पन्न और अत्यन्त कष्टदायक ज्वर रुद्रकोप से उत्पन्न माने जाने चाहिए। आप भी विचार करें।

सत्त्वगुण-प्रधान पुरुष रोगी नहीं होते। रजोगुण तथा तमोगुण शारीरिक विकारों को पैदा करते हैं। क्रोध रजोगुण के बिना नहीं आता। क्रोध को अग्नि की उपमा दी गयी है। आयुर्वेद में सभी प्रकार के पित्त अग्निगुण-प्रधान होते हैं, अतएव व्रणपाक-काल में पित्त का प्रकोप होता है। ज्वर के सम्बन्ध में यह भी सूक्ति है—'ऊष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना'। अ० हृ० नि० अ० १।२६। क्रोध प्राणनाशक भी होता है, अतः चाणक्य ने क्रोध को यमराज की संज्ञा दी है। उक्त कथानक में रुद्रकोप के परिहार की जो विधि बतायी

गयी है, उसी विधि को आयुर्वेद में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा कहते हैं। जब स्तुतियों द्वारा स्वयं रुद्र की क्रोधाग्नि शान्त की जा सकती है, तो उससे उत्पन्न ज्वर आदि पीडाएँ भी शान्त की जा सकती हैं। मन्त्र-विशेषज्ञ आज भी रोग के शमन के लिए मन्त्रोपचार करते ही हैं। इस प्रकार यहाँ ज्वर की उत्पत्ति तथा उसके निराकरण की सूत्ररूप में चर्चा की गयी है।

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा। ज्वरप्रभावो, जन्मादौ निधने च महत्तमः॥
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः।

३. ज्वर का प्रभाव—सन्ताप (गर्मी-जिसे स्पर्श या थर्मामीटर से मालूम किया जाता है), भोजन के प्रति अरुचि, तृष्णा (वात, पित्त ज्वर में यह लक्षण अधिक दिखलायी देता है), अंगों में मसलने की-सी वेदना, हृदय में पीडा—ये लक्षण ज्वर के प्रभाव से होते हैं। यह प्रभाव जन्म के आरम्भ के समय में और मृत्यु के समय में महत्तम होता (महामोहमय लक्षण को प्रकट करता) है। इस प्रकार यहाँ तक ज्वर की प्रकृति, प्रवृत्ति और प्रभाव को दिखा दिया है, अर्थात् उन-उन के लक्षणों का वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—ज्वर का प्रभाव जन्म के आदिकाल में तथा मृत्यु के समय भी होता है। इस विषय की जानकारी के लिए चरक-निदानस्थान प्रथम अध्याय के निम्नोक्त गद्यांश को देखें—'सर्वे प्राणभृतः सज्वरा एव जायन्ते……ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते'। इसी का समर्थन आगे चलकर अष्टांगसंग्रह के निदानस्थान के प्रथम अध्याय में भी द्रष्टव्य है।

निदाने कारणान्यष्टौ [1]पूर्वोक्तानि विभागशः॥२७॥

४. ज्वर के कारण—चरक-निदानस्थान में विभाग (भेदों) के अनुसार पहले ज्वर के आठ कारणों का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—इस अध्याय में मूल रूप से ज्वर को दो भागों में विभक्त किया गया था—१. शारीरिक और २. मानसिक। किन्तु यहाँ दोषों के विभाग के अनुसार ज्वर को आठ भागों में बाँटा गया है, जिनका उल्लेख निदानस्थान में पहले कर दिया गया है। जैसे—१. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. वात-पित्त, ५. वात-कफ, ६. पित्त-कफ, ७. सन्निपात और ८. आगन्तुक। देखें—च० नि० अ० १।१७। तन्त्रकार का यह वर्णन संक्षेपीकरण प्रकार कहा जायेगा।

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः। ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ॥२८॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः। शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम्॥२९॥

५. ज्वर का पूर्वरूप—आलस्य (शरीर में शक्ति होते हुए भी कार्य करने की इच्छा का न होना), आँखों में आँसुओं का भरा रहना, बार-बार जँभाई का आना, शरीर में भारीपन, क्लम (Fatigue), ज्वलन (अग्नि), आतप (धूप), कभी वायु तथा जल के सेवन की इच्छा का होना और कभी इनसे द्वेष होना, कभी आग सेकने की इच्छा का होना कभी न होना, कभी धूप सेंकने की इच्छा का होना कभी न होना, कभी वायु सेवन की इच्छा का होना कभी उससे द्वेष और कभी जलपान की इच्छा का होना, कभी उससे द्वेष करना, इस प्रकार की अनिश्चित स्थिति का बना रहना, भोजन का न पचना, मुख का फीका होना, बल और वर्ण की हानि होना, रोगी के शील-स्वभाव में परिवर्तन होना—ये ज्वर के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—यह चिकित्सास्थान है। इसमें चिकित्सा की प्रधानता दिखलाने के साथ ही संकेत मात्र में निदानोक्त विषय का भी वर्णन कर दिया गया है। अतः निदान-विषयक विस्तृत विवरण निदानस्थान में देखें। विशेष अध्ययन के लिए सुश्रुतसंहिता का अवलोकन करें। वहाँ सामान्य पूर्वरूपों के बाद विशिष्ट रूपों का निर्देश इस प्रकार किया है—'विशेषात्तु, जृम्भात्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत्॥ सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे। द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण संसृष्टं द्वन्द्वजं विदुः'॥ सु० उ० तं० अ० ३९।२७-२८।

केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते। शरीरं—

१. 'पूर्वमुक्तानि भागशः' इति पा०।

६. ज्वर का अधिष्ठान—ज्वर मन के साथ सम्पूर्ण शरीर में होता है।

वक्तव्य—यहाँ 'केवल' शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' है। **अधिष्ठान**—अधिकृत्य तिष्ठतीति, अधिष्ठानम्। **समनस्कं शरीरम्**—अनेक अवसरों पर मन और शरीर की क्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। किन्तु जब ज्वर का आक्रमण होता है, तो शरीर के साथ मन भी रुग्ण हो जाता है। रोगी कहता है, आज मेरा मन कुछ करने नहीं दे रहा है या दुःखी है, इत्यादि। शरीर और मन का ग्रहण करने से यहाँ इन्द्रियों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि शरीर इन्द्रियों का अधिष्ठान है और मन उन सबका स्वामी या संचालक है।

—बलकालस्तु निदाने सम्प्रदर्शितः॥३०॥

७-८. ज्वर का बल तथा काल—ज्वर के बल और काल का विचार चरकसंहिता-निदानस्थान में किया जा चुका है।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान अ० १।२१ में 'जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वरस्याभ्यागमनम् अभिवृद्धिः वा'। इत्यादि प्रकार से बल (ज्वर किस समय पूर्ण बली रहता है) और काल (किस समय वह प्रतिदिन आता=चढ़ता या जाता=उतरता है) का वर्णन किया गया है। इसी विषय को वाग्भट ने—'वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्'। इस प्रकार बतलाकर दोषों के बल-काल का विवेचन किया है।

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः। ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते॥३१॥

९. ज्वर का आत्म-लक्षण—ज्वर का प्रत्यात्मिक लक्षण है—संताप। यह प्राणी के शरीर तथा मन में होता है। यह ज्वर जब प्राणी के शरीर में प्रवेश करता है, तब कोई भी भूत (प्राणी) ऐसा नहीं है, जो इसके कारण सन्तप्त (दुःखी) न हो जाता हो।

वक्तव्य—ज्वर का प्रत्यात्मिक (प्रत्येक आत्मा में होने वाला) लक्षण है—सन्ताप। इसी 'प्रत्यात्मिक' शब्द को स्पष्ट करने के लिए तन्त्रकार ने आगे कहा है—'नहि किञ्चित् भूतं (यत्) न तप्यते'। यहाँ दो बार निषेधात्मक वर्णों ('नहि' तथा 'न') का प्रयोग वस्तु की सत्ता का प्रतीक है। इस ज्वर से समस्त चराचर जगत् समय-समय पर सन्तप्त होकर विकार को प्राप्त हो जाता है। इनमें कुछ की प्रकृति द्वारा स्वयं चिकित्सा की जाती है और कुछ के लिए विविध प्रकार के शास्त्रीय निर्देश तथा उपदेश हैं जिनके अनुरूप आचरण करने पर प्राणियों को नीरोग किया जा सकता है।

महर्षि पालकाप्य विरचित 'हस्त्यायुर्वेद' को 'गजायुर्वेद' भी कहते हैं। इसके महारोगस्थान के ९वें अध्याय में सभी प्रकार के प्राणियों में होने वाले ज्वरों का इस प्रकार निर्देश किया गया है—हाथियों में होने वाले ज्वर का नाम **पालक**, घोड़ों में **अभिताप**, गायों में **ईश्वर**, मनुष्यों में **ज्वर**, भेड़-बकरियों में **प्रलाप**, करभ (करिशावक=हाथी का बच्चा) में **अलस**, महिषों (भैंसों) में **हारिद्र**, मृगों में **मृगरोग**, पक्षियों में **अभिघात**, मछलियों में **इन्द्रमद**, पतंगों (शलभों Grass ropper) में **पक्षपात**, व्याडों (व्याघ्रों) में **अक्षिक**; अन्यत्र—जल में **नीलिका**, भूमि में **ऊपर** तथा अगों (पर्वतों) में **कोटर**—इस प्रकार का विशद विवेचन अन्य चिकित्सा-ग्रन्थों में भी देखा जाता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने स्वेद का रुक जाना, सन्ताप, सर्वाङ्गग्रहण—इन लक्षणों का एक साथ होना 'ज्वर' माना है। किन्तु महर्षि आत्रेय के मत से यह ज्वर पहले शरीर पर तदनन्तर मन पर प्रभाव डालता है। इस प्रकार इसके दो भेद माने गये हैं, **प्रथम**—शारीर-ज्वर और **द्वितीय**—मानस-ज्वर। उसके बाद पीड़ा के प्रभाव विशेष से दोनों में अभेदता प्रतीत होती है। इस प्रकार के भेद-निर्देश का मुख्य कारण चिकित्सा-विधान में सुविधा प्रदान करना है। अन्य भेदों की चर्चा निम्ननिर्दिष्ट है।

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः। पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव वा॥३२॥
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते। प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च॥३३॥
पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्। सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥३४॥
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः। भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः॥३५॥

१०. ज्वर के भेद एवं उसके लक्षण—विधि-भेद से ज्वर दो प्रकार का होता है, यथा—१. शारीरिक, २. मानसिक। फिर उसके भी दो भेद होते हैं—१. सौम्य, २. आग्नेय। फिर वही ज्वर—१. अन्तर्वेग तथा २. बहिर्वेग; १. प्राकृत, २. वैकृत; १. साध्य, २. असाध्य भेदों से दो-दो भागों में विभक्त किया जाता है। फिर वही ज्वर दोषों के कालबल तथा अबल-भेद से पाँच प्रकार का होता है, यथा—१. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक और ५. चतुर्थक। फिर वही ज्वर आश्रय-भेद से सात प्रकार का होता है, जो १. रसगत, २. रक्तगत, ३. मांसगत, ४. मेदोगत, ५. अस्थिगत, ६. मज्जागत, ७. शुक्रगत नाम से कहा जाता है। फिर कारण-भेद से वह ज्वर आठ प्रकार का होता है।

वक्तव्य—ज्वर के जिन भेदों तथा उपभेदों की ऊपर चर्चा की गयी है, इनका परिचय प्रायः सभी चिकित्सा-ग्रन्थों में अपने-अपने प्रकार से दिया गया है। अतः विस्तार-भय से यहाँ उन भेदों की चर्चा नहीं की गयी है। संक्षेप में—मूलरूप में ज्वर एक होता हुआ भी क्षेत्र, परिस्थिति, लक्षण आदि कारणों से अनेक भागों में विभक्त देखा जाता है। सन्तत आदि पाँच ज्वर-भेदों का निर्देशपूर्वक वर्णन आगे किया जारहा है। इनका अधिकांश परिचय तो इनके नामों से ही प्राप्त हो जाता है।

महर्षि आत्रेय ने ज्वर का वर्गीकरण निम्न चार प्रकार से किया है—

१. विधि या प्रकार भेद; इसके अवान्तर भेद—(क) अधिष्ठान भेद, (ख) अभिप्राय भेद। २. दोष-काल-बलाबल भेद। ३. आश्रय भेद। ४. कारण भेद।

अष्टविध कारणभेद से ज्वर के भेद-उपभेद

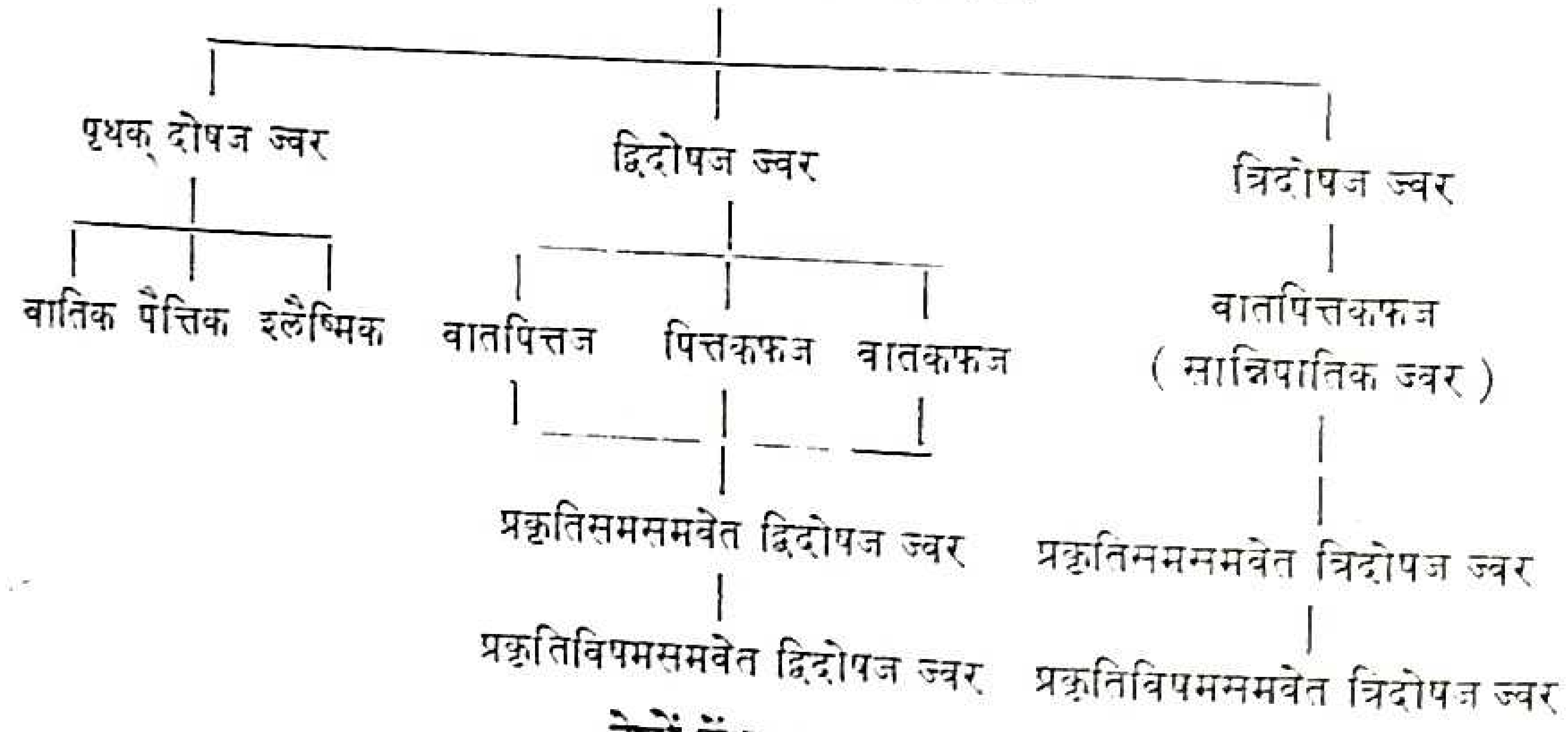

वेदों में ज्वर

अथर्ववेद में ज्वर के लिए तक्मन् (तक्मा) शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य सायण ने 'तक्मा' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'कृच्छ्र जीवनकारी' अर्थात् जीवन को कष्टमय बना देने वाला। स्वरूप-भेद से ज्वर के निम्नलिखित नाम अथर्ववेद में मिलते हैं—

१. तक्मन् (कृच्छ्रजीवनकारी), २. अर्चिः (ज्वालावाचक), ३. तपः (तपाने वाला), ४. शुष्मी (शोषण करने वाला), ५. शोकः (सोचने के लिए बाध्य करने वाला), ६. अभिशोकः (सन्ताप देने वाला), ७. अभिशोचभिदण्डः (चारों ओर से तपाने वाला), ८. रुद्रः (रुलाने वाला), ९. पाप्मा (क्षय करने वाला), १०. अमर्त्यः (न मरने वाला), ११. वरुणस्य पुत्रः (वरुण का पुत्र), १२. व्यालः (सर्प की भांति मारने वाला), १३. विगदः (विशेष रोग), १४. व्यङ्गः (अंगों को विकृत कर देने वाला), १५. हरितस्य देवः (हरित वर्ण का देवता), १६. शीर्षशोकम् (शिरःशूल को पैदा करने वाला), १७. सहस्राक्षः (हजार नेत्रों वाला), १८. प्रभीता (पकड़ने वाला), १९. हुडुः (जिस ज्वर के वेग में रोगी हूँ-हूँ शब्द करने लगता है)।

तक्मन् (तक्मा) ज्वर के भेद

१. अभ्रज ज्वर (मेघ के छाजाने पर होने वाला (कफ) ज्वर), २. वातज ज्वर (वातविकार से उत्पन्न होने वाला), ३. शुक्माज्वर (शोषण करने वाला ज्वर), ४. अंगज्वर (अंगों में रहने वाला), ५. अंगभेद ज्वर (अंगमर्दकारक ज्वर), ६. परुषज्वर (रूक्षताकारक ज्वर), ७. शीतज्वर (जाड़ा लगकर आने वाला ज्वर), ८. रुरुज्वर (रुलाने वाला ज्वर), ९. तृतीयकज्वर (तीसरे दिन आनेवाला ज्वर) १०. वितृतीयकज्वर (चौथे दिन आनेवाला ज्वर), ११. सदीन्दज्वर (सन्ततज्वर), १२. शारदज्वर (शरद् ऋतु में होने वाला ज्वर), १३. वार्षिक ज्वर (वर्षाऋतु में होने वाला ज्वर), १४. ग्रैष्मज्वर (ग्रीष्मऋतु में होने वाला ज्वर), १५. विश्वशारदज्वर (शरदऋतु में व्यापकरूप में फैलने वाला ज्वर) १६. अन्येद्युज्वर (इसी को अन्येद्युष्क ज्वर कहते हैं), १७. उभयेद्युज्वर (दो दिन लगातार रहनेवाला ज्वर), १८. अरुणज्वर (Scarlatina fever या लालज्वर), १९. बभ्रुज्वर (Yellow fever या पीला ज्वर), २०. वन्यज्वर (वन में रहने के कारण उत्पन्न ज्वर), २१. च्यवन ज्वर (पसीना चुआने वाला ज्वर), २२. चोदनज्वर (इधर-उधर दौड़ाने वाला ज्वर, यह वात-प्रधान ज्वर का ही एक भेद है), २३. अवृतज्वर (विषमज्वर-भेद), २४. धृवण्डज्वर (धृष्टतापूर्वक आने वाला ज्वर), २५. हायनज्वर (धान पकने पर आने वाला ज्वर, यह भी शारदज्वर का ही एक भेद है)।

आधुनिक मत से ज्वर-भेद

पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान ने आजकल जिन अभिनव ज्वरों की कल्पना की है, उनके प्रमुख नामों का उल्लेख नीचे किया गया है। देश-काल आदि की परिस्थिति के कारण इस प्रकार के अन्य अनेक ज्वरों तथा रोगों की कल्पना की जा सकती है।

१. अल्पविसर्गी ज्वर (Remittent fever)
२. अन्तर्जीव विषज ज्वर (Endotoxin fever)
३. आग की भट्ठियों के समीप काम करने वालों का ज्वर (Stoker's cramps fever)
४. ऑनयोंग-न्योंग ज्वर (Onyong-Nyong fever)
५. आन्त्रज्वर या मोतीझरा (Enteric or typhoid fever)
६. आमवातज ज्वर (Rheumatic fever)
७. आरक्त ज्वर (Scarlet fever)
८. आवर्ती ज्वर (Recurrent fever)
९. इटिओकोलेनोलोन ज्वर (Etiocholanolone fever)
१०. इन्फ्लुएञ्जा फीवर (Influenza fever)
११. उन्दुरदंश ज्वर (Rat-bite fever or haverhill fever)
१२. ऊर्मिल ज्वर (Undulant fever)
१३. ओरोया ज्वर (Oroya fever)
१४. कण्ठरोहिणी ज्वर (Diphtherial fever)
१५. पीतज्वर या कण्डल का ज्वर (Yellow fever or Kandal's fever)
१६. कपट ज्वर (Fraudulent fever)
१७. कालमेह ज्वर या ब्लैक वाटर फीवर (Black-water fever)
१८. कारागृह ज्वर (Jail fever)
१९. काला-जार ज्वर (Kalaazar fever)
२०. किलनी ज्वर या टिक फीवर (Tick fever)
२१. किलनी वाहित पुनरावर्ती ज्वर (Tick borne relapsing fever)
२२. केनीकोला ज्वर (Canicola fever)
२३. क्यू फीवर या क्यू ज्वर (Q. fever)
२४. खसरा का ज्वर (Measles fever)
२५. खाई ज्वर (Trench fever)
२६. गर्दन तोड़ ज्वर या ककच सन्निपातज्वर या मस्तिष्कसौषुम्निक ज्वर (Cerebro-spinal fever)
२७. गलग्रन्थि-प्रदाह ज्वर (Tonsilitis fever)
२८. ग्रन्थिज्वर या ग्लैण्डुलर फीवर (Glandular fever)
२९. चतुर्थक ज्वर (Quartan fever)
३०. चित्तीदार ज्वर (Spotted fever)
३१. चित्राल ज्वर (Chitral fever)
३२. जंगल पीत ज्वर (Jungle yellow fever)
३३. जानपदिक रक्तस्रावी ज्वर (Epidemic haemorrhagic fever)
३४. टाइफस ज्वर (Typhus fever)
३५. ट्रापिकल इयोसिनोफिलिया ज्वर (Tropical eosinophilial fever)
३६. टैक्सास टिक ज्वर (Taxas tick fever)
३७. डेंगू ज्वर (Dengue fever)
३८. दुर्भिक्ष ज्वर (Famine fever)

३९. द्विर्जामिल दुग्ध ज्वर (Bi-undulant milk fever)
४०. धनुष्टंकार ज्वर (Tetanus fever)
४१. न्यूमोनिया ज्वर (Pneumoniae fever)
४२. पर्याण पृष्ठ ज्वर (Saddle back fever)
४३. पापाटेसी ज्वर (Pappataci f. or Sandfly f.)
४४. पुनरावर्ती ज्वर (Relapsing fever)
४५. पैत्तिकज्वर (Bilious fever)
४६. पैत्तिक अल्पविरामी ज्वर (Bilious remittent fever)
४७. पैराटाइफाइड फीवर (Para-typhoid fever)
४८. पोलियोमाइलाइटिस ज्वर (Poliomyelitis fever)
४९. प्रलेपक ज्वर (Hectic fever)
५०. प्रसूति या सूतिका ज्वर (Puerperal fever)
५१. फाइलेरियल ज्वर (Filarial fever)
५२. फ्लेबोटोमस ज्वर (Phlebotomus fever or Sandfly f.)
५३. मरुस्थल ज्वर (Desert fever)
५४. मलेरिया ज्वर (Malarial fever)
५५. मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर या सरसाम (Meningitis fever)
५६. माल्टा ज्वर (Malta fever)
५७. मुखपाक या एफ्थस फीवर (Aphthous fever)
५८. यकृत् प्रदाह ज्वर (Viral hepatitis fever)
५९. यूकावाहित आवर्ती ज्वर (Louse-borne relapsing fever)
६०. यूविआ-कर्णपूर्व ग्रन्थि ज्वर (Uveoparotid fever)
६१. राकी माउण्टेन ज्वर (Rocky Mountain fever or Rocky Mountian spotted fever)
६२. राजयक्ष्मा ज्वर (T. B. or Phthisis fever)
६३. रिफ्टवैली ज्वर (Riftvalley fever)
६४. लू लग जाने का ज्वर (Sun-stroke fever)
६५. विदेशी वाइरस विषाणुज ज्वर (Exotic viral fever)
६६. विरामी ज्वर (Entermittent fever)
६७. विस्फोटक ज्वर (Eruptive fever)
६८. शार्को विरामी पैत्तिक ज्वर (Charcot's intermittent biliary fever)
६९. शीतला ज्वर या चेचक का ज्वर (Smallpox fever)
७०. संज्ञाहरणोत्तर ज्वर (Post-anaesthetic fever)
७१. सतत ज्वर (Constant or Continuous fever)
७२. साओ पॉलो ज्वर (Sao Paulo fever)
७३. स्क्रब टाइफस ज्वर (Scrub typhus fever)
७४. स्तन्य ज्वर या दुग्ध ज्वर (Milk fever)
७५. हीमोग्लोबिन-मेहज ज्वर (Haemoglobinuric fever)

शारीरो जायते पूर्वं देहे, मनसि मानसः। वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ॥३६॥
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं[1] सन्तापलक्षणम्।

शारीरिक ज्वर—वातादि दोषों से उत्पन्न इस ज्वर का प्रभाव सर्वप्रथम देह (शरीर) पर होता है। 'पूर्वं' शब्द का तात्पर्य है—पहले शारीरिक ज्वर शरीर को संतप्त करता है तदनन्तर मन पर भी अपना प्रभाव डालता है।

मानसिक ज्वर—रजस् अथवा तमस् के कारण उत्पन्न इस ज्वर का प्रभाव पहले मन पर, तदनन्तर शरीर पर पड़ता है।

मानसिक ज्वर के लक्षण—किसी कार्य में मन का न लगना, अरति (बेचैनी) तथा ग्लानि (हर्ष का क्षय)।

शारीरिक ज्वर के लक्षण—इन्द्रियों की विकृति (अपने-अपने विषय के ग्रहण में असमर्थता या जो जैसा है, उससे विपरीत अनुभव करना) को सन्ताप का लक्षण समझना चाहिए।

१. 'देहसन्तापलक्षणम्' इति पा०।

वक्तव्य—चक्रपाणि-सम्मत ऊपर के पाठ में 'ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्' दिया है। इसके स्थान पर आचार्य गंगाधर 'देहसन्तापलक्षणम्' पाठ को स्वीकार करते हैं। आरम्भ में ज्वर को देह, इन्द्रिय और मन को सन्तप्त करने वाला कहा गया है। उक्त पद्य में मन के ताप का लक्षण तो स्पष्ट दे दिया है। चक्रपाणि-सम्मत पाठ के अनुसार इन्द्रियों की विकृति ही इन्द्रियसन्ताप का लक्षण है और गंगाधर के अनुसार यह 'देहसन्तापलक्षण' है, ऐसा पूर्व टीकाकारों ने माना है। देह मात्र में ताप उत्पन्न करने वाले वातादि ज्वर होते हैं। कामज आदि ज्वर पहले मनःसन्ताप उत्पन्न करते हैं, तदनन्तर अन्य विकार। इन दोनों का ही प्रभाव यथासमय उन-उन इन्द्रियों पर पड़ता है।

हमारे विचार से 'इन्द्रियों में होने वाली विकृतता' इन्द्रियसन्ताप तथा देहसन्ताप दोनों का लक्षण है। चिकित्साकाल में ध्यान दें तो आप भी इससे सहमत होंगे।

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः ॥३७॥
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः।

सौम्य तथा आग्नेय ज्वर—जिस ज्वर का आत्मा वात और पित्त होते हैं, अर्थात् जो ज्वर वातज तथा पित्तज होता है, उससे युक्त रोगी को शीतल पदार्थों की इच्छा होती है। जो वात तथा कफ युक्त ज्वर होता है, उससे युक्त रोगी को उष्ण पदार्थों की इच्छा होती है। दोनों के लक्षण जिस ज्वर में मिश्रित रूप में हों उनसे युक्त रोगी शीत तथा उष्ण दोनों प्रकार के पदार्थों की इच्छा करता है।

वक्तव्य—'इच्छति उभयम्' उक्त प्रकार का ज्वरग्रस्त रोगी शीतल तथा उष्णगुण-प्रधान पदार्थों के सेवन की इच्छा करता है। जो ऊपर कहा गया है, उसी का यहाँ सकारण निर्देश किया जारहा है।

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ॥३८॥
दाहकृत्तेजसा युक्तः, शीतकृत् सोमसंश्रयात्।

सौम्य तथा आग्नेय का सहेतुक निर्देश—वायु (वातदोष) श्रेष्ठ योगवाही होता है। जब वह तेजस् (पित्त) से युक्त होता है, तब वह दाहकारक होता है और जब वह सोम (सौम्यगुण-प्रधान कफ) से युक्त होता है, तब वह शीतकारक होता है। अतः वह संयोग के अनुसार दोनों प्रकार के अर्थों (कार्यों) को करता है।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में उन सभी द्रव्यों को **'योगवाही'** कहा गया है, जो दूसरे के गुणों के सम्पर्क में आने से तदनुरूप गुणवान् हो जाते हैं। जैसे—क्षार, मधु, पारद आदि। साहित्य में—ऐसी परिस्थिति में 'तद्गुण' अलंकार माना जाता है। लोक में—'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास' कहते हैं। अस्तु। हमें आयुर्वेदीय विवेचन अपेक्षित है—यहाँ वायु को 'योगवाह' कहा गया है। आप भी ध्यान दें—ग्रीष्मऋतु में जो वायु अत्यन्त गरम होकर 'लू' का रूप धारण कर लेती है, वही वायु जाड़े के मौसम में 'शीतलहरी' के रूप में बहती है। अतएव इसका लक्षण है—'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः'। तर्कसंग्रह। स्पर्श उष्ण, शीत तथा मृदु तीन प्रकार का होता है। आयुर्वेद में तेजस् से पित्त का ग्रहण किया जाता है और लोक में सूर्य तथा अग्नि तैजस् गुण प्रधान माने गये हैं और 'सोम' से तात्पर्य है 'कफ' दोष का।

विशेष देखें—'पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मानुगे भवेत्। दाहः पित्तयुते मिश्रं मिश्रे'''। अ० हृ० नि० अ० २।४८। इसका तात्पर्य है—वायु अथवा वातदोष अपने सहयोगी पित्त अथवा कफदोष से मिश्रित होकर उसके अनुरूप स्वभाव वाला हो जाता है।

इच्छति—गर्मी का प्रकोप होने पर शीतल पदार्थों तथा शीत का प्रकोप होने पर उष्ण पदार्थों के सेवन की स्वाभाविक रूप से इच्छा होती है, यह सर्वविदित है।

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ॥३९॥
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः। अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ॥४०॥

अन्तर्वेगज्वर के लक्षण—शरीर के भीतर अवयवों में जलन तथा तृष्णा (प्यास) का बार-बार लगना, प्रलाप (अंट-संट बकना), श्वास की वृद्धि, चक्कर आना, सन्धियों तथा हड्डियों में शूल (चुभने की-सी पीड़ा),

पसीने का न होना, दोष (वात=अपानवायु तथा डकार का न निकलना) तथा वर्चस् (मल-मूत्र) का रुक जाना—ये लक्षण अन्तर्वेगज्वर के होते हैं।

वक्तव्य—भय तथा चलन अर्थवाली 'विजी' धातु से 'वेग' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका प्रयोग तीव्रतापूर्वक गमन तथा प्रवाह अर्थ में भी होता है। यह अन्तर्वेगज्वर वात-पित्त के लक्षणों से युक्त होता है। देखें—सु० उ० तं० अ० ३९। इसमें पित्तदोष स्वयं गतिशील न होने के कारण पंगु है। अतः जब वायु पित्त को बाहर नहीं निकलने देता तब भीतर ही भीतर जलन आदि उक्त लक्षण होने लगते हैं।

दोषवर्चोविनिग्रहः—इसका अर्थ है—दोष अर्थात् वात द्वारा अवरुद्ध पित्त। ये दोनों स्वयं भीतर अपना प्रकोप दिखलाते हैं, जिससे अपान एवं उदान वायु में रुकावट आ जाती है। इन्हीं के कारण 'वर्चोविनिग्रह' अर्थात् मल-मूत्र में भी रुकावट आ जाती है। सुश्रुत के अनुसार अन्तर्वेगज्वर को कृच्छ्रसाध्य या असाध्य माना गया है। 'गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्'। सु० उ० अ० ३९।९४।

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च॥

बहिर्वेगज्वर के लक्षण—शरीर के बाहरी अवयवों में सन्तान का अधिक होना, तृष्णा आदि (अन्तर्वेगज्वर के लक्षणों में वर्णित) लक्षणों में मृदुता (कम होना)—ये बहिर्वेगज्वर के लक्षण हैं। यह ज्वर सुखसाध्य होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने अन्तर्वेगज्वर को इसलिए असाध्य कहा है कि उसमें बढ़े हुए दोषों का निराकरण करना कठिन हो जाता है। इसके विपरीत 'बहिर्वेगज्वर' है। अतः यह सुखसाध्य होता है।

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।

प्राकृतज्वर के लक्षण—वसन्त तथा शरद् ऋतु में होने वाले ज्वरों को प्राकृतज्वर कहा गया है।

वक्तव्य—'प्रकृतौ भवः—प्राकृतः'। प्रकृत शब्द से अण् प्रत्यय करने पर उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। ऋतु सम्बन्धी स्वाभाविक दोषों की वृद्धि से होने वाले ज्वरों को प्राकृत कहा गया है। यहाँ सुखसाध्य की दृष्टि से वसन्त ऋतु में होने वाले कफज्वर का तथा शरद् ऋतु में होने वाले पित्तज्वर का ही उल्लेख किया गया है, न कि वर्षा ऋतु में होने वाले वातज्वर का, क्योंकि वह कष्टसाध्य होता है। यद्यपि वसन्त में कफ का और शरद् में पित्त का प्रकोप स्वाभाविक रूप में होता है, तथापि ज्वर की यह अपनी विशेष शक्ति है कि वह उन प्राकृतिक दोषों का शमन कर लेता है। तन्त्रान्तर में निर्दिष्ट है—'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'॥ तन्त्रान्तर ने अवधारणार्थक 'तु' शब्द द्वारा वर्षाकालिक वातज्वर के सुखसाध्य न होने की सूचना दी है। देखें—'तु पादपूरणे भेदे समुच्चयेऽवधारणे'। मेदिनी। आचार्य जतूकर्ण ने भी उक्त इन्हीं दो ज्वरों को प्राकृतज्वर माना है।

श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरक में यहाँ एक पंक्ति और दी गयी है—'**कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतोज्वरः**'। अर्थात् काल की प्रकृति को ध्यान में रखकर ही प्राकृतज्वर का निर्णय किया जाता है। उक्त पंक्ति को चक्रपाणि द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर से प्रकाशित प्रति में ४८वें श्लोक के उत्तरार्ध में दिया गया है। आचार्य वाग्भट ने प्राकृत तथा वैकृत ज्वरों का वर्णन इस प्रकार किया है—'वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्। वैकृतोऽन्यः स दुस्साध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः'॥ अ० हृ० नि० अ० २।५०। इस दृष्टि से वर्षाकाल में उत्पन्न वातज्वर यद्यपि प्राकृत है, किन्तु वह सुखसाध्य नहीं होता है। इसीलिये कहा गया है—'वैद्यानां शारदी माता पिता च कुसुमाकरः'। शरद् ऋतु वैद्यों की माता है और पिता वसन्त ऋतु है, क्योंकि ये अपने पुत्रों (वैद्यों) को धन-लाभ तथा यश-लाभ कराते हैं। प्राकृतज्वरों का अन्यत्र इस प्रकार विचार किया गया है—ग्रीष्मऋतु में वातज्वर, वर्षाऋतु में पित्तज्वर और हेमन्तऋतु में कफज्वर प्राकृत होते हैं। इनके कारणों पर आप भी ध्यान दें।

वैकृतज्वर—विकृतिसम्पन्नज्वर। 'अप्रकृतकालजाते वातज्वरे'। वैद्यकशब्दसिन्धु। 'प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः। हेतवो विविधास्तस्य निदाने सम्प्रदर्शिताः'॥ च० चि० अ० ३।४९।

उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति॥४२॥
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते।

पित्त तथा कफ का कालज प्रकोप—बढ़ा हुआ उष्णगुण-प्रधान पित्तधातु उष्णकाल (वर्षाऋतु) द्वारा शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है। शीत ऋतु में शीतगुण-प्रधान कफधातु संचित होकर वसन्तऋतु में प्रकुपित हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में पित्त तथा कफ के संचय-प्रकोप का सामान्य क्रम निर्दिष्ट है।

वर्षास्वम्लविपाकाभिरद्भिरोषधिभिस्तथा॥४३॥
सञ्चितं [1]पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा। ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः॥४४॥
[2]प्रकृत्यैव विसर्गस्य तत्र नानशनाद् भयम्।

प्राकृतिक पैत्तिक ज्वर—वर्षाऋतु में जल तथा ओषधियाँ अम्लविपाक वाली हो जाती हैं। अतः पित्त का संचय हो जाता है। यह पित्त शरद् ऋतु में सूर्य की गर्मी से प्रकुपित होकर शीघ्र ही ज्वर की उत्पत्ति कर देता है। इस ज्वर में कफदोष सहायक कारण के रूप में रहता है। शरद् ऋतु स्वाभाविक रूप से विसर्गकाल होता है। इसमें कफ की वृद्धि होती है। अतः कफानुबन्धित पित्तज्वर में उपवास करने से किसी प्रकार का भय नहीं होता है। अर्थात् इस ज्वर में उपवास हितकर होता है।

वक्तव्य—पित्त तथा कफ ये दोनों द्रव धातु हैं। इनसे सम्बन्धित ज्वरों में दोषों का पाचन करने के लिए लंघन कराया जाता है। ज्वर में सामदोष जाठराग्नि को मन्द कर भूख का नाश कर देता है। यही कारण है कि इस अवसर पर पित्त का प्रकोप बढ़ जाता है। अतः कफ तथा पित्त के पाचन के लिए लंघन का अधिक महत्त्व है। यथा—'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्'। और भी—'आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः। दोषक्षये पचेद् धातून् प्राणान् धातुक्षये तथा'॥ अर्थात् जाठराग्नि स्वस्थ स्थिति में आहार (भुक्त पदार्थों) का पाचन करती है, लंघन करने पर पित्त एवं कफदोषों को पचाती है, दोषों के समभाव में स्थित हो जाने पर रस, रक्त आदि धातुओं को जलाने लगती है। इस प्रकार धातुओं के क्षय हो जाने पर वह प्राण हानि भी कर बैठती है। अतः चिकित्सा-क्षेत्र में अतिलंघन का स्पष्ट निषेध है। 'लङ्घनं लघु भोजनम्'। स्त्री, बाल, वृद्ध तथा सुकुमारों के लिए और क्षयज, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज, श्रमज ज्वर के रोगियों के लिए पहले तो लंघन का निषेध किया गया है, देखें—च० चि० अ० ३।१३९। अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर लंघन कराना ही हो, तो उसके स्थान पर लघुभोजन का निर्देश दिया गया है।

अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः॥४५॥
हेमन्ते, सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति। वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते॥४६॥
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु।

प्राकृतिक कफज्वर—हेमन्तऋतु में जल, औषधियों तथा मधुर रसों का सेवन करने से संचित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य का सन्ताप पाकर प्रकुपित हो जाता है। इसलिए वसन्तऋतु में कफजनित प्राकृत कफज्वर की उत्पत्ति होती है। यह वसन्तऋतु आदानकाल का मध्य भाग होता है। अतः इस समय कफदोष के अनुबन्ध वात तथा पित्तदोष होते हैं।

वक्तव्य—दोषों के संचय तथा प्रकोपकाल का वर्णन चरक सू० अ० ६ में वर्णित है। वहीं पर विसर्गकाल (वर्षा, शरद्, हेमन्तऋतु) तथा आदानकाल (शिशिर, वसन्त, ग्रीष्मऋतु) की भी चर्चा विस्तृत रूप में की गयी है। इसी दृष्टि से वसन्तऋतु को 'आदानमध्य'-काल की संज्ञा दी गयी है। कफज या पित्तज ज्वरों में तथा आदानकाल में लंघन करने से कोई विशेष हानि नहीं होती, साथ ही इससे आमाशय में स्थित दोषों का पाचन होकर ज्वर की शान्ति भी हो जाती है।

---

१. 'पित्तमुत्क्लिष्टम्' इति पा०।

२. 'तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च' इति पा०।

आदावन्ते च मध्ये च बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ॥४७॥
शरद्वसन्तयोर्विद्वाञ्ज्वरस्य प्रतिकारयेत् ।

प्राकृतज्वर का उपसंहार—विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह शरद् ऋतु तथा वसन्तऋतु के आदि, मध्य तथा अन्त में दोषों की सबलता तथा निर्बलता को भली भाँति समझकर उनके कारण उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा (अपनी देख-रेख में) करायें ।

वक्तव्य—यहाँ जो दोषों के बलाबल का विचार कर चिकित्सा का निर्देश किया गया है, उसे इस प्रकार समझें—वसन्तऋतु के आदि में—वात तथा पित्तदोष हीनबल वाले, मध्य में—मध्यमबल वाले और अन्त में—पूर्णबल वाले होते हैं। वसन्तऋतु के आदि में—कफदोष पूर्णबल वाला, मध्य में—मध्यमबल वाला और अन्त में—हीनबल वाला होता है। इसीलिए इस ऋतु में कफ से होने वाले प्राकृतज्वर में वात-पित्त दोषों को अनुबल कहा गया है। शरद्ऋतु के आदि में—कफदोष हीनबल वाला, मध्य में—मध्यमबल वाला और अन्त में—पूर्णबल वाला होता है। शरद्ऋतु के आदि में—पित्तदोष पूर्णबल वाला, मध्य में—मध्यमबल वाला और अन्त में—हीनबल वाला होता है। इसीलिए इस ऋतु में पित्त से होने वाले प्राकृतज्वर में कफदोष को अनुबल कहा गया है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओं में भी दोषों के बलाबल का विचार कर लें।

कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ॥४८॥

और भी—यहाँ काल (वसन्त आदि ऋतुओं) की प्रकृति (स्वभाव) को लक्ष्य करते हुए प्राकृतज्वर का निर्देश किया गया है।

वक्तव्य—सुखसाध्यता की दृष्टि से यहाँ कफज तथा पित्तज भेद से दो प्राकृतज्वरों का वर्णन किया गया है। किन्तु **'निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः'** में एकवचन का प्रयोग इसलिए हुआ है कि प्रत्येक ज्वर का निर्देश अलग-अलग किया गया है।

प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः ।

प्राकृतज्वर का अपवाद—यद्यपि वसन्त और शरद् ऋतुओं में होने वाले क्रमशः कफज्वर और पित्तज्वर को सुखसाध्य प्राकृतज्वर कहा गया है, किन्तु वर्षाकाल में होने वाला वातज ज्वर प्रायः दुःखद अर्थात् कष्टसाध्य होता है। अन्य ऋतुओं में (वसन्तऋतु में कफज्वर के अतिरिक्त ज्वर, शरद्ऋतु में पित्तज्वर के अतिरिक्त) होने वाला ज्वर वैकृत होता है। प्रायः सभी वैकृतज्वर कष्टसाध्य होते हैं।

वक्तव्य—वर्षाकालिक वातज्वर यद्यपि प्राकृतज्वर है, किन्तु कष्टसाध्य होने के कारण इसे भी वैकृत ही माना जाता है। इसी का समर्थन अष्टाङ्गहृदय नि० अ० २ में किया गया है। वातज ज्वर या अन्य वातविकार सभी की चिकित्सा कठिन होती है, क्योंकि धातुओं या दोषों में यही प्रधान माना गया है। देखें—'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्' ॥ सभी दोष वायु के अनुलोम होने से अनुलोम और प्रतिलोम होने से प्रतिलोम होते हैं। इस वायु की सहायता के बिना पित्त तथा कफदोष स्वयं अकिञ्चित्कर होते हैं।

प्रायेणानिलजो दुःखः—वातज्वर के कष्टसाध्य होने में स्पष्ट कारण यह है कि आयुर्वेद में दोषों का पाचन कराने के लिए लंघन की व्यवस्था है, क्योंकि सामदोष आमाशय में स्थित होकर पाचकाग्नि की शक्ति को क्षीण कर देते हैं। इसी से ज्वर की उत्पत्ति होती है। इसका निराकरण करने के लिए लंघन की आवश्यकता पड़ती है। लंघन करने से वातदोष की वृद्धि होती है। वातज्वर में वात की वृद्धि होना चिकित्सा की दृष्टि से विपरीत लक्षण है, अतएव प्राकृत होते हुए भी इसे वैकृत माना गया है।

सुश्रुत के अनुसार वातज व्याधियों का कारण—'स सञ्चयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्न-देहानां देहिनां शीतवातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति'। सु० सू० अ० ६।११। यह वायुदोष का संचय प्रावृट्ऋतु (आषाढ-श्रावण) में पानी के कारण भूमि के बहुत अधिक गीला हो जाने से और भीगे हुए शरीर वाले प्राणियों में शीतल वायु तथा वर्षा के कारण वातजनित रोगों को उत्पन्न कर देता है। आप ध्यान दें—वर्षाऋतु में वातदोष को प्रकुपित करने वाले चार प्रमुख कारण हैं—१. पानी से भूमि का चारों ओर गीला होना, २. वर्षा के जल से प्राणियों के शरीर का भीग जाना, ३. वर्षा के समय शीतल हवा का बहना और

४. वर्षा के कारण वातावरण का सहसा ठंडा हो जाना। इसके विपरीत शरद्ऋतु में पित्त के प्रकुपित होने में केवल एक कारण होता है, वह है वर्षाऋतु के बाद सहसा बादलों के हट जाने से सूर्य का प्रखर सन्ताप। देखें—'स सञ्चयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति' ॥ सु० सू० अ० ६।११। अतएव वर्षाऋतु में होने वाला प्राकृतवातज्वर कफज्वर तथा पित्तज्वर के समान सुखसाध्य नहीं होता है।

हेतवो विविधास्तस्य निदाने सम्प्रदर्शिताः ॥४९॥

ज्वर-हेतु स्मारक सूत्र—ज्वरों को उत्पन्न करने वाले अनेक कारण निदानस्थान के प्रथम अध्याय में उपदिष्ट कर दिये गये हैं, अर्थात् उनका वर्णन किया जा चुका है।

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ।

साध्य ज्वर के लक्षण—रोगी (शारीरिक तथा मानसिक स्थिति से) बलवान् हो, उसमें दोषों की अल्पता हो तथा ज्वर के कोई उपद्रव (Complications) न हों तो वह ज्वर साध्य होता है।

वक्तव्य—यहाँ साध्य ज्वरों के लक्षणों में प्रथम शुभ लक्षण है—रोगी का बलवान् होना। इसके कारण रोगी दोषों की अधिकता तथा उपद्रवों का मुकाबला भी कर लेता है। 'रोग में दोषों की अधिकता न हो' यह वाक्यांश विचारणीय है, क्योंकि **'न रोगोऽप्येकदोषजः'** कोई भी रोग एक दोष से युक्त नहीं होता। दोषों की अंशांश कल्पना का भार चिकित्सक पर निर्भर होता है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि रोगी जिस (वात-पित्त-कफ) दोष के प्रकोप से आक्रान्त है, उसके विपरीत स्वभाव वाले दूसरे दोष से आक्रान्त न हो।

ज्वर के दस उपद्रव—१. कास, २. मूर्च्छा, ३. अरुचि, ४. छर्दि (वमन), ५. तृष्णा, ६. अतिसार, ७. विड्ग्रह (कोष्ठबद्धता) ८. हिक्का (हिचकी), ९. श्वास की अधिकता और १०. अंगमर्द (अंगों में मसलने की-सी पीड़ा का होना)।

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥५०॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ।

असाध्य ज्वर के लक्षण—अनेक बलवान् कारणों से उत्पन्न, बहुत लक्षणों से युक्त तथा जो इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट कर देता है, वह ज्वर शीघ्र ही रोगी के प्राणों का नाश कर देता है।

वक्तव्य—साध्य ज्वर के लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण है—रोगी का बलवान् होना। ठीक उसके विपरीत यहाँ ज्वर-उत्पादक कारणों का बलवान् होना कहा गया है। दूसरी बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि किसी भी रोग के जितने लक्षणों का उल्लेख निदान-प्रकरण में किया जाता है, उन सभी लक्षणों के दर्शन प्रत्येक रोगी में नहीं होते। अतः जब किसी भी रोग में उसके अधिकांश लक्षणों के दर्शन होते हैं, तो वे निश्चित ही असाध्यता की सूचना देते हैं। यहाँ इन्द्रिय शब्द से ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों इन दोनों की शक्ति का नाश अपेक्षित है। यह अरिष्ट लक्षण है। विस्तृत विवरण के लिए चरक-इन्द्रियस्थान का अवलोकन करें। वृद्ध वैद्यों के उपदेशों पर श्रद्धा करें। वास्तव में जब वातादि दोष अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हो जाते हैं, तब वे विविध विकारों को प्रकट करते हैं, ऐसा तन्त्रान्तरों के अध्ययन से विदित होता है।

सप्ताहाद् वा दशाहाद् वा द्वादशाहात् तथैव च ॥५१॥
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम् ।

ज्वर के अन्य असाध्य लक्षण—तीक्ष्ण प्रलाप, भ्रम तथा श्वास लक्षणों से युक्त ज्वर सात दिन में, दस दिन में अथवा बारह दिन में मनुष्य को मार डालता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में ज्वर के उपद्रव युक्त लक्षण तदनुसार मारक अवधि का संकेत किया गया है। यहाँ 'तीक्ष्ण' शब्द को कुछ टीकाकारों ने प्रलाप, भ्रम, श्वास का विशेषण और दूसरों ने ज्वर का विशेषण माना है। हमारे विचार से इस शब्द का—तीक्ष्ण प्रलाप, तीक्ष्ण भ्रम और तीक्ष्ण (महा) श्वास—इस प्रकार का

अर्थ सुसंगत होगा, क्योंकि ज्वरों में ये लक्षण तो हो सकते हैं, किन्तु कफज्वर में सन्ताप की तीक्ष्णता नहीं होती। उसका तो एक लक्षण है—**'नात्युष्णगात्रता'** या 'वह्निमार्दव'।

अवधि-विचार—ऊपर जो सात, दस, बारह दिनों की मारक अवधि दी गयी है, यही अवधि **सन्ततज्वर** के परिपाक की भी है। वह इतने विकल्पों में चिकित्सा द्वारा शान्त हो जाता है या रोगी को मार देता। देखें—'पित्तकफानलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्' ॥ मधुकोष टीका। इसी अवधि का उल्लेख सन्निपातज्वर की मर्यादा के रूप में भी किया गया है। देखें—सु० उ० तं० अ० ३९।४५। यहाँ भी ७, १०, १२ दिनों की कल्पना वात, पित्त और कफ दोषों की दृष्टि से ही की गयी है। इस अवधि में यदि दोषों का पाक हो जाता है, तो ज्वर शान्त हो जाता है, अन्यथा वह फिर बढ़ जाता है। फिर इसकी अवधि के अनेक विकल्प दृष्टिगोचर होते हैं।

लक्षण-विचार—सामान्यरूप से आगन्तुज ज्वरों में, भय के कारण आने वाले ज्वर में, पित्तज ज्वर में, रक्तगत ज्वर में तथा मेदोगत ज्वर में प्रलाप का (अण्ट-सण्ट बकना) लक्षण देखा जाता है। रजोगुण से पित्त और वायु से भ्रम की उत्पत्ति होती है। देखें—रजः पित्तानिलाद् भ्रमः'। सु० शा० अ० ४।५६। इसके अतिरिक्त रक्तज ज्वर, पित्तज ज्वर और वातपित्तज ज्वर में भ्रम (चक्कर आना) का लक्षण दिखलायी देता है। श्वास की उत्पत्ति क्रमशः वात, पित्त, कफ तीनों से होती है। देखें—सु० उ० अ० ५१। 'तमकस्तु कफोद्भवः'। किन्तु वह साध्य श्वासरोग होता है। अन्यत्र—'मज्जगे महाश्वासः'। सु० उ० तं० अ० ३९।८८। इस प्रकार उक्त लक्षणों को ध्यान में रखते हुए हम वातिक ज्वर की अवधि ७ दिन, पैत्तिक ज्वर की १० दिन और कफज्वर की १२ दिन निर्धारित करते हैं।

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥५२॥
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः।

ज्वर के अन्य असाध्य लक्षण—रस, रक्त, मांस आदि धातुएँ जिन रोगियों की क्षीण हो चुकी हों, जिसके शरीर पर सूजन आ गयी हो, जो गम्भीर (नामवाले) ज्वर से पीड़ित हो और जिसको बहुत दिनों से ज्वर आ रहा हो, वह असाध्य होता है। जो ज्वर बलवान् हो और जिसमें रोगी के शिर में बालों के बीच स्पष्ट रेखाएँ पड़ जा रही हों, वह ज्वर भी असाध्य होता है।

वक्तव्य—ज्वर में भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है। देखें—'आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधापयन्। विदधाति ज्वरं घोरम्'। अतः रोगी के क्रमशः रस, रक्त आदि धातुओं का ह्रास हो जाता है, अर्थात् रोगी की सहनशक्ति समाप्त होने लगती है। असाध्यता का यह पहला लक्षण है। दूसरा लक्षण है—शरीर पर शोथ (सूजन) का हो जाना। इस सम्बन्ध में यह विचार अवश्य कर लें कि पैरों से उत्पन्न होकर ऊपर की ओर बढ़ने वाला शोथ पुरुष को और मुख से उत्पन्न होकर नीचे की ओर को बढ़नेवाला शोथ स्त्री को मार डालता है। गुह्यप्रदेश का शोथ किसी का भी अच्छा नहीं होता। देखें—च० सू० अ० १८।१६ तथा अ० हृ० नि० अ० १३।

गम्भीर—सामान्यरूप से यह ज्वर का विशेषण माना जा सकता है। उस स्थिति में यह ज्वर की तीव्रता का बोधक होगा। यथा—'गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्'। सु० उ० अ० ३९।९३। विशेषरूप से इस नाम का एक ज्वर है, जिसका उल्लेख सुश्रुत ने किया है—'गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया। आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।९२। महर्षि आत्रेय ने इन लक्षणों का वर्णन ऊपर अन्तर्वेगज्वर में कर दिया है। यह गम्भीर ज्वर मज्जा तथा शुक्रधातुगत होता है। अतः यह असाध्य होता है।

दैर्घरात्रिकः—बहुत दिनों तक रहने वाला (Chronic) ज्वर। 'दीर्घरात्रानुबन्धी' इति जेज्जटः। 'दीर्घा मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते, इति दैर्घरात्रिकः'। चक्रः। कुत्रचित्—'गम्भीरो दैर्घरात्रिकः' इत्यपि सम्बध्यते।

केशसीमन्तकृज्ज्वरः—'सीमन्तः केशवेशे' वार्तिक। अन्यत्र—सीमान्तः। शिर पर बालों को सजाते समय कंघी द्वारा बालों को जो कृत्रिम रूप से दो भागों में बाँट दिया जाता है, उसे 'सीमन्त' और खेत आदि की सीमा का जहाँ अन्त होता है, उसे 'सीमान्त' कहते हैं। किन्तु ज्वर में बालों के बीच में स्वाभाविक रूप से

'सीमन्त' का दिखलायी देना अरिष्ट लक्षण है। यथा—'केशाः सीमन्तिनो यस्य सङ्क्षिप्ते विनते भ्रुवौ। लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद् याति मृत्यवे' ॥ मधुकोश व्याख्या। यह लक्षण कभी-कभी नीरोग पुरुषों में भी दिखलायी देता है। उनके लिए भी यह छः रात्रि पर्यन्त जीवित रहने की सूचना देता है।

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ॥५३॥
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम्।

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति—अपनी वास्तविक स्थिति से बढ़े हुए दोष जब रसवाही स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं, तब वे सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को जकड़कर सन्ततज्वर को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—१. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक और ५. चतुर्थक—इन पाँच प्रकार के ज्वरों को अष्टाङ्गसंग्रहकार ने सन्निपातज्वर से सम्बन्धित माना है। देखें—अ० सं० नि० अ० २।

दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः ॥५४॥
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा।

सन्ततज्वर की काल-मर्यादा—यह सन्ततज्वर रोगी द्वारा अत्यन्त दुःसह (असह्य) तथा शीघ्रकारी (अपना प्रभाव जल्दी दिखलाने वाला) होता है। अतः दोषों का पाचन हो जाने पर या तो यह शीघ्र (उक्त अवधि के भीतर) शान्त हो जाता है अथवा सात दिन, दस दिन या बारह दिन में रोगी को मार देता है।

वक्तव्य—इसमें सभी दोष गुरु (प्रवृद्ध) स्थिति में होते हैं। अतएव रोगी उनकी पीड़ा को सहने में असमर्थ होता है। फलतः वह मर जाता है। यदि बलवान् रोगी ने उस कष्ट को सहन कर लिया, तो वात-प्रधान सन्ततज्वर के रोगी के दोष ७ दिन में, पित्तप्रधान रोगी के १० दिन में और कफप्रधान रोगी के १२ दिन में पाचन होकर शान्त हो जाते हैं। यह ज्वर सन्निपातज होने के कारण असाध्य अथवा कष्टसाध्य तो होता ही है। इसका सहेतुक वर्णन आगे ५७ वें श्लोक में देखें।

तन्त्रान्तर में दी गयी सूक्ति को भी देखें—'पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्' ॥ ऊपर महर्षि आत्रेय द्वारा निर्दिष्ट कालावधि क्रम से प्रस्तुत सूक्ति में दिये गये दोषों के क्रम की समानता पर ध्यान दें। सामान्यरूप से दोषों का क्रम वात, पित्त और कफ है, किन्तु यहाँ तन्त्रकार को पित्त, कफ और वात दोष की वृद्धि से काल की अवधि का निर्धारण करना अभीष्ट है। अतएव 'दशाहं (पित्त) द्वादशाहं (कफ) सप्ताहं (वात)' का क्रम रखा है। इसी का समर्थन आगे ५६ वें श्लोक में देखें।

कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् ॥५५॥
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः।

सन्ततज्वर की दुःसहता—काल, दूष्य (रस आदि धातुएँ), प्रकृति (वातज आदि) के समान तथा जिसका कोई विरोधी न हो, अर्थात् निष्प्रत्यनीक, ऐसा वातादि दोष सन्ततज्वर को पैदा करता है। अतएव वह अत्यन्त दुःसह होता है।

वक्तव्य—यहाँ निम्ननिर्दिष्ट तालिका द्वारा सन्ततज्वर की सुदुःसहता को स्पष्ट किया जा रहा है—

काल	दूष्य	प्रकृति	प्रधान दोष	ज्वर
वसन्तऋतु	मेदोधातु	कफ	कफ	सन्तत
शरदृतु	रक्तधातु	पित्त	पित्त	सन्तत
वर्षाऋतु	अस्थिधातु	वात	वात	सन्तत

निष्कर्ष—वसन्तऋतु में सन्ततज्वर कफ-प्रधान, शरद् में पित्त-प्रधान और वर्षाऋतु में वात-प्रधान होता है और दूष्य-प्रकृति-प्रधान दोष भी उस-उसमें सम्बद्ध रहते हैं। अतएव इसे निष्प्रत्यनीक कहा गया है। इसीलिये यह सुदुःसह भी होता है। जब इन लक्षणों में किसी प्रकार की शिथिलता आती है, तो इसकी चिकित्सा में सफलता मिलती है, अन्यथा नहीं।

यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ॥५६॥
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्[1] सन्तते ज्वरे ।

सन्ततज्वर के १२ आश्रय—सन्तत ज्वर में जिस प्रकार वात आदि दोष रस आदि धातुओं को नियमानुसार प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार एक साथ मल-मूत्र को भी दूषित कर देते हैं।

वक्तव्य—सन्ततज्वर के १२ आश्रय—१. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. रस, ५. रक्त, ६. मांस, ७. मेदा, ८. अस्थि, ९. मज्जा, १०. शुक्र, ११. मल तथा १२. मूत्र। अर्थात् इस ज्वर में ये सभी दूषित हो जाते हैं।

स शुद्धचा वाऽप्यशुद्धचा वा रसादीनामशेषतः ॥५७॥
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ।

सन्ततज्वर का पराक्रम—यह (सन्तत) ज्वर यदि सात, दस या बारह दिनों में रस, रक्त आदि दूष्यों तथा वात आदि दोषों की शान्ति हो जाती है, तो स्वयं भी शान्त हो जाता है, अन्यथा सब कुछ करने पर भी यह मार डालता है।

वक्तव्य—यदि कुशल चिकित्सक समय के भीतर दोष-दूष्यों का समुचित निराकरण कर लेता है, तो रोगी जीवन-लाभ पा जाता है, अन्यथा अवधि के भीतर ही उसकी मृत्यु हो जाती है। विशेष देखें—अष्टांगसंग्रह नि० अ० २।

यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः ॥५८॥
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा । विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम् ॥५९॥
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते । इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सन्ततम्[2] ॥६०॥
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ।

सन्ततज्वर का चिकित्सा-क्रम—ऊपर जो सन्ततज्वर के बारह (७ धातुएँ, ३ वातादि दोष और २ मल-मूत्र) आश्रय बतलाये गये हैं, अर्थात् इस ज्वर के आने पर जिनको वह दूषित कर देता है, वे धातु आदि दूष्य जब पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो पाते (कुछ अंश में शुद्ध तथा कुछ में अशुद्ध ही होते हैं) और कुछ शुद्ध हो भी जाते हैं, तब वह ज्वर १२वें दिन उतरा हुआ लगने लगता है, किन्तु कुछ ज्वरांश अव्यक्त रूप से बना ही रहता है। इस प्रकार जब वह भली भाँति शान्त नहीं हो पाता तो वह बहुत दिनों तक चलता रहता है, क्योंकि उसका उपशय (यह कब ठीक हो पायेगा इस प्रकार से) काल का निर्देश कर पाना कठिन हो जाता है। ऐसा जानकर सन्ततज्वर के कारणों एवं लक्षणों को भली-भाँति समझ कर वैद्य उसकी चिकित्सा करे। चिकित्साकाल में सर्वप्रथम प्रायः अपतर्पण (लंघन या लघु भोजन) का प्रयोग अवश्य कराना चाहिए।

वक्तव्य—सन्निपातज्वर का ही एक भेद सन्ततज्वर भी है। ऊपर महर्षि आत्रेय ने दोष तथा दूष्यों के पूर्णरूप से शुद्ध न होने पर '**कालं दीर्घमप्यनुवर्तते**' का जो संकेत किया है, वही दीर्घकाल है। सन्निपातज्वर की अवधि—'सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्यैकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च' ॥ अर्थात् १४वें दिन, १८वें दिन या २२वें दिन या तो यह ज्वर साथ छोड़ देता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है अथवा यह रोगी को मार डालता है। सुश्रुत के अनुसार इसकी काल अवधि इस प्रकार है—'सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा' ॥ सु० उ० तं० ३९।४५। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक अवधियाँ तन्त्रान्तरों में देखी जाती हैं।

आधुनिक दृष्टि से टाइफाइड फीवर (Typhoid fever) की अवधि ३ सप्ताह (२१ दिन) की स्वीकार की गयी है। इसी ज्वर को मन्थरकज्वर, आन्त्रज्वर, तन्द्रिकज्वर, मोतीझरा (मधुरक) या मियादी बुखार भी कहते हैं। सूक्ष्म विवेचन के अनुसार इन ज्वरों के लक्षणों में परस्पर पर्याप्त भेद होता है। सामान्यरूप से लम्बी अवधि वाले होने के कारण इसको एक श्रेणी में रखा गया है। मधुरक या मोतीझरा रोग को कफदोष-प्रधान मानते हुए ज्वर का परिपाक होने पर इस रोग में गले के आस-पास छोटी-छोटी सरसों के आकार की सफेद फुन्सियाँ निकल आती हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है। यही इसका प्रमुख लक्षण है। योगरत्नाकर के रचयिता ने इसी को मन्थरक की संज्ञा दी है। अतः स्पष्ट है कि ये दोनों ही कफदोष-प्रधान सन्निपातज्वर के ही भेद हैं।

१. 'अनुबध्नन्ति युगपदवस्यम्' इति पा०। २. 'सन्ततं सम्प्रपाचरेत्' इति पा०।

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ॥६१॥
सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् । अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ॥६२॥

सततज्वर के लक्षण—जब वातादि दोष कुपित होकर रक्तधातु में आश्रित होते हैं तो प्रायः परस्पर-विरोधी दोष समय पर बढ़ने तथा घटने वाले सततज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। यह ज्वर दिन तथा रात्रि (अर्थात् २४ घण्टे) में दो बार आता है।

वक्तव्य—मधुकोशकार ने सुश्रुत के 'सन्ततं रसरक्तस्थः'। सु० उ० तं० अ० ३९।६७ के इस पद्यांश का अर्थ इस प्रकार किया है—'सन्ततशब्दः सततस्योपलक्षणम्'। अर्थात् निरन्तरवाची सन्तत या सतत शब्द यहाँ रोग के नाम में गौण हैं। अतः—'रसस्थः सन्ततं, रक्तस्थः सततकमिति'। दूसरे विद्वानों ने जो 'सततौ रसरक्तस्थौ' इस पाठ की कल्पना की है, वह प्रमादमात्र है।

कालवृद्धिक्षयात्मकम्—'स्वकाले वृद्धिः, विपरीतकाले क्षयः'। अर्थात् जब दोष के अनुकूल काल होता है, तब ज्वर की वृद्धि होती है और विपरीतकाल में उसका क्षय होता है। इस प्रकार वह ज्वर २४ घण्टे में दो बार रोगी के शरीर पर आक्रमण करता है।

सततज्वर	प्रथम वृद्धिकाल	क्षयकाल	द्वितीय वृद्धि काल	क्षयकाल
वातप्रधान ज्वर	दिन के अन्तिम भाग में	शेषकाल	रात्रि के अन्तिम भाग में	शेषकाल
पित्तप्रधान ज्वर	दिन के मध्य भाग में	शेषकाल	रात्रि के मध्य भाग में	शेषकाल
कफप्रधान ज्वर	दिन के प्रथम भाग में	शेषकाल	रात्रि के प्रथम भाग में	शेषकाल

सुश्रुत का मत—'अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते'। सु० उ० अ० ३९।७०। यह पंक्ति दोनों आचार्यों को समानरूप से अभीष्ट है। अतएव बिना किसी परिवर्तन के उद्धृत कर ली गयी है। महर्षि आत्रेय ने ज्वरों के वेग की उत्पत्ति तथा पुनः शान्त होने के सम्बन्ध में आगे ७०वें श्लोक में स्पष्ट किया है।

कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद् बलम् । अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः ॥
सप्रत्यनीको जनयत्येककालमहर्निशि ।

अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण—काल (वसन्त आदि ऋतुएँ), प्रकृति (वात आदि) तथा दूष्य (रस, रक्त आदि सात धातुएँ) इनमें से किसी एक के बल को प्राप्त कर बलवान् दोष मेदोवहा सिराओं (नाड़ियों) को अवरुद्ध करके दिन-रात में अर्थात् २४ घंटे में एक बार अन्येद्युष्क नामक ज्वर को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—'अन्यस्मिन् अहनि—अन्येद्युः 'स्वार्थे कप्रत्ययः', इति अन्येद्युष्कः। लगता है कि इसमें व्याकरण सम्बन्धी परिभाषा का यहाँ आदर नहीं हुआ है। वी० एस० आप्टे ने भी अपने कोष में—'अन्ये-द्युरात्मानुचरस्य भावम्'। रघुवंश, द्वितीयसर्ग श्लोक २६ का उद्धरण देते हुए इसका पहला अर्थ 'दूसरा दिन' ही स्वीकार किया है, दूसरा अर्थ दिया है—One day once. आगे ६७वें श्लोक में आचार्य ने अपनी स्पष्ट मान्यता इन विषमज्वर-भेदों के सम्बन्ध में प्रकट की है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—१. सतत ज्वर २४ घंटे में दो बार, २. अन्येद्युष्क २४ घंटे में प्रतिदिन एक बार, ३. तृतीयक एक दिन छोड़कर आने वाला ज्वर, ४. चतुर्थक दो दिन छोड़कर आने वाला ज्वर।

यहाँ अन्येद्युष्क ज्वर के प्रकोप में मेदोवाही स्रोतों का अवरुद्ध होना कारण बतलाया गया है। किन्तु सुश्रुतसंहिता में—कफस्थानविभागेन यथासङ्ख्यं करोति हि' ॥ सु० उ० अ० ३९।५२। अर्थात् शरीर में कफ के पाँच स्थान माने गये हैं—१. आमाशय, २. उरस् (छाती), ३. कंठ, ४. शिर और ५. सन्धियाँ। इनसे विषमज्वरों की उत्पत्ति का क्रम—आमाशयस्थ कफदोष सततज्वर को, उरःस्थ कफदोष दूसरे दिन आने वाले (अन्येद्युष्क) ज्वर को, कंठस्थ कफदोष तीसरे दिन आने वाले ज्वर को, शिरस्थ कफदोष चौथे दिन आने वाले ज्वर को और सन्धिस्थ कफदोष प्रलेपकज्वर को पैदा करता है। इसी विचार को महर्षि आत्रेय ने धातुओं की दूष्य-दूषकता की दृष्टि से ऊपर 'रक्तधात्वाश्रयः' आदि द्वारा कहा है।

दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात् तृतीयकचतुर्थकौ ॥६४॥

तृतीयक, चतुर्थक ज्वर—जब दोष अस्थि को अपनी दूष्यता का आश्रय बनाता है, तब तृतीयक और जब मज्जा को अपनी दूष्यता का आश्रय बनाता है, तब चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—आधुनिक विद्वान् इन ज्वरों को क्रमशः Tertian fever (तृतीयक ज्वर) तथा Quartan fever (चतुर्थक ज्वर) कहते हैं।

गतिर्द्व्येकान्तराऽन्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः। अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम् ॥
मांसस्रोतांस्यनुगतो जनयेत् तु तृतीयकम्। संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम् ॥६६॥
अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः। दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ॥६७॥

विषमज्वरों में दोषों की गति—विषमज्वर प्रतिदिन का, एक दिन का अथवा दो दिनों का अन्तर देकर आता है, ऐसा महर्षि आत्रेय का मत है। अर्थात् प्रतिदिन एक बार गति करने वाले को **'अन्येद्युष्क'**, एक दिन का अन्तर देकर आने वाले को **'तृतीयक'** और दो दिनों का अन्तर देकर आने वाले को **'चतुर्थक'** ज्वर कहा गया है। अन्य (सुश्रुत आदि) तन्त्रकारों ने इनकी गति को दूसरा स्वरूप दिया है। यथा—जब दोष रक्तधातु के साथ मिलकर उसको दूषित कर ज्वर की उत्पत्ति करता है, तब उसे 'अन्येद्युष्क' कहते हैं। जब दोष मांसधातु के साथ मिलकर उसको दूषित कर ज्वर की उत्पत्ति करता है, तब उसे 'तृतीयक' कहते हैं और जब दोष मेदोधातु के साथ मिलकर उसको दूषित कर ज्वर की उत्पत्ति करता है, तब उसे 'चतुर्थक' कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में वह क्रम इस प्रकार है—प्रतिदिन एक बार आने वाला ज्वर 'अन्येद्युष्क', एक दिन छोड़कर आने वाला 'तृतीयक' और दो दिन छोड़कर (रुककर) जो ज्वर आता है, उसे 'चतुर्थक' कहते हैं।

वक्तव्य—आप ध्यान दें—अन्य टीकाकारों ने ६७वें श्लोक को श्लोक संख्या ६५ की प्रथम पंक्ति की पुनरावृत्ति मात्र बतलाया है। परन्तु ऐसा चर्वित-चर्वण करने का अभ्यास तन्त्रकार का नहीं रहा है। **'गतिर्द्व्येकान्तरा'** से लेकर **'दोषश्चापि चतुर्थकम्'** यहाँ तक के पाठ को आचार्य गंगाधर भी प्रक्षिप्त मानते हैं। श्रीयोगीन्द्रनाथ सेन के अनुसार **'अन्येद्यु'** शब्द का प्रयोग **'अन्येद्युष्क'** के लिए हुआ है, जो सर्वथा युक्तियुक्त है।

विषमज्वरों के लिए सु० उ० तं० अ० ३९ देखें। वृद्धवाग्भट का मत इस प्रकार है—'दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततं ज्वरम्। अहोरात्रस्य स द्विः स्यात् सकृदन्येद्युराश्रितः। तस्मिन् मांसवहा नाडीर्मेदोनाडीस्तृतीयके। चतुर्थको मले मेदोमज्जास्थ्यन्यतमस्थिते। मज्जस्थ एवेत्यपरे...'। अष्टाङ्गसं० नि० अ० २। वास्तव में उक्त विषमज्वरों की सम्प्राप्ति विषयक मतभेद विवेचना की अपेक्षा रखता है। संक्षेप में दोष-दूष्यों की समीपता और दूरस्थता भी इनकी उत्पत्ति में एक प्रधान कारण हैं।

प्रायः देखा गया है कि तृतीयक अथवा चतुर्थक ज्वर पहाड़ की तराई वाले भागों के निवासियों को अधिक होता है। यह वातदोष की प्रमुखता से होता है। दूष्यों का निर्णय रोगी को देखकर आप स्वयं करें। शरीर में दोषों के रहते हुए ज्वर एक दिन अथवा दो दिन छोड़कर क्यों आता है? यद्यपि परिस्थिति का अध्ययन करने पर इसके अनेक प्रसंगोचित उत्तर हो सकते हैं। उनमें एक उत्तर यहाँ प्रस्तुत है—'देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्। शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयः'॥ अर्थ स्पष्ट है। इसी आशय से सम्बद्ध आगे ६८वाँ पद्य है।

यहाँ विषमज्वरों में सन्तत या सतत की परिगणना नहीं की गयी है, जब कि ये ऊपर चार प्रकार के कहे गये हैं। भगवान् धन्वन्तरि दूसरे आचार्यों का संकेत करते हुए कहते हैं कि विषमज्वरों की उत्पत्ति भूतावेश से होती है। देखें—सु० उ० अ० ३९।

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ॥६८॥
स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम्। चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ॥६९॥

विषमज्वर के वेगों का कारण—जिस प्रकार बीज (अपने समय से) भूमि में पड़ा रहता है और वह अपने समय पर ही उगता है। उसी प्रकार धातुओं (रस, रक्त आदि) में दोष पड़ा रहता है और वह अपने समय पर ज्वर को उत्पन्न करता है। वह दोष अपने अनुकूल काल का बल पाकर बढ़ जाता है अर्थात् ज्वर के वेग को उत्पन्न करता है और प्रत्यनीक (विरोधी) काल के बल को पाकर क्षीणशक्ति वाला हो जाता है। अतः इसी क्रम से तृतीयक (तिजारी) और चतुर्थक (चौथिया) ज्वर को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—ऊपर तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वरों के विषय में विचार करते हुए ज्वर की उत्पत्ति की तुलना बीज की उत्पत्ति के साथ की गयी है। बीज की उत्पत्ति में ऋतु (तदनुरूप उचित काल), क्षेत्र (उर्वर भूमि का होना), बीज और पानी की आवश्यकता होती है, तभी बीज का अंकुरण होता है, अन्यथा नहीं। जब कि बीज, भूमि और जल तीनों की सत्ता रहने पर भी समुचित काल के अभाव में बीज नहीं उग पाता है, इसी प्रकार दोष तथा दूष्यों के रहने पर भी ज्वर की वेगपूर्वक उत्पत्ति समुचित कालबल का अभाव होने के कारण नहीं हो पाती है। यह महर्षि आत्रेय का अभिमत है। ज्वर के वेगों की आवर्तिता को आधुनिक विद्वान् Periodicity कहते हैं और रात्रि के वेगों की आवर्तिता को Nocturnal periodicity कहते हैं।

भगवान् धन्वन्तरि के मत से—'अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्याज्ज्वरं नृणाम्'॥ सु० उ० अ० ३९.५३। उरःप्रदेश में स्थित दोष अहोरात्र (२४ घण्टे) में आमाशय में पहुँचकर दूसरे दिन 'अन्येद्युष्क' ज्वर को उत्पन्न करता है। कण्ठ-प्रदेश में स्थित दोष दो अहोरात्र (४८ घण्टे) में आमाशय में पहुँचकर एक दिन छोड़कर (तीसरे दिन) तृतीयक ज्वर को पैदा करता है। शिरःप्रदेश में स्थित दोष तीन अहोरात्र (७२ घण्टे) में आमाशय में पहुँचकर चौथे दिन चतुर्थक ज्वर को पैदा करता है। यह मधुकोषकार का मत है। सुश्रुत में प्रलेपक, वातबलासक आदि ज्वरों का अन्तर्भाव चरकोक्त सन्ततज्वर में कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में काश्यपसंहिता, खिलस्थान अ० १ का परिशीलन करें।

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥

ज्वर-वेगकाल-विवेचन—दोष अपना कालबल पाकर ज्वरवेग को उत्पन्न करके (बल के क्षीण हो जाने पर) पुनः अपने-अपने स्थान पर जाकर व्यवस्थित हो (रुक) जाते हैं। पुनः अपना अनुकूल कालबल पाकर वे ही दोष मनुष्य को रुग्ण बना देते हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार किसी कार्य को करने के पूर्व शक्ति-संचय किया जाता है और कार्य में उस शक्ति का प्रयोग हो जाने पर विश्राम करने की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार दोष एक बार अपनी शक्ति से वेगपूर्वक ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं, उसके बाद गत-बल (शक्तिहीन) हो जाने पर वे अपने-अपने स्थान में शान्त होकर बैठ जाते हैं और फिर जब वे (दोष) काल आदि का बल पाकर बढ़ते हैं तो वे पुनः ज्वर को पैदा कर देते हैं। इस कालबल में जितना-जितना अन्तर आता है, उसी के अनुसार विषमज्वर के भेद होते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। दोष-दूष्यों के बलकाल-विवेचन की अंशांश कल्पना से इनके भेद-उपभेदों की चर्चा के सन्दर्भ में परवर्ती संहिताकारों तथा महर्षिकल्प प्राचीन टीकाकारों ने अनेक मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। विस्तृत जानकारी के लिए उनका अवलोकन करना चाहिए। विशेष द्रष्टव्य स्थल—सु० उ० तं० अ० ३९ तथा अष्टांगसंग्रह-निदानस्थान अ० २।

विशेष—यद्यपि सतत, सन्तत आदि विषमज्वरों में जिस दिन ज्वर-वेग नहीं रहता, उस दिन भी रोगी पुरुष में ज्वर की गर्मी के अतिरिक्त ग्लानि, अवसाद, गुरुता, अरुचि आदि सभी लक्षण दिखलायी देते हैं। अर्थात् सु० उ० तं० अ० ३९ में कहे गये ज्वर-मुक्त के लक्षणों से वह युक्त नहीं होता।

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः। वातपित्तात्शिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥७१॥

तृतीयक ज्वर के तीन भेद—१. कफदोष और पित्तदोष के कारण यदि तृतीयक ज्वर उत्पन्न होता है, तो सबसे पहले वह त्रिकास्थि पर अपना प्रभाव दिखलाता है, अर्थात् उस भाग में जकड़न पैदा कर देता है। २. वातदोष और कफदोष के कारण यदि तृतीयक ज्वर उत्पन्न होता है, तो सबसे पहले वह पीठ से आरम्भ होता है, अर्थात् पृष्ठ कशेरुका में व्याप्त होकर वेदना उत्पन्न होती है। ३. वातदोष और पित्तदोष के कारण

यदि तृतीयक ज्वर उत्पन्न होता है, तो सबसे पहले वह शिरोग्राही (सिर में जकड़न पैदा करने वाला) होता
है। इस प्रकार यह तृतीयक (तिजारी) ज्वर तीन प्रकार का होता है।

वक्तव्य—यहाँ तृतीयक ज्वर के प्रथम भेद को त्रिकग्राही कहा गया है। त्रिकास्थि की संख्या मानव-
शरीर में चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह के अनुसार १ है। सुश्रुत के अनुसार त्रिकास्थि का विवरण इस प्रकार है—
'गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितम् एकम्'। सु० शा० अ० ५।१९। 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्'। अमरः। कटि-
प्रान्तभागः। 'स्फिक्सक्थ्नोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः सन्धिस्तत् त्रिकं मतम्' ॥ पृष्ठ और शिर का परिचय सुस्पष्ट है।

सुश्रुत के अनुसार—'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः स्व(ख)वैगुण्याद् व्याधिस्त-
त्रोपजायते' ॥ सु० सू० अ० १०।२४। अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृति में स्थित वात आदि धातु अपने-अपने निश्चित
स्थानों में रहते हैं, न कि प्रकुपित दोष। अतः ये (प्रकुपित दोष) सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करते रहते हैं और
जहाँ रुक जाते हैं, वहीं विकार (ज्वर आदि) को उत्पन्न कर देते हैं। त्रिक-प्रदेश को वात का स्थान माना
गया है। अतः वहाँ पहुँचे हुए दूषित कफ और पित्त तृतीयक ज्वर को पैदा कर देते हैं। यदि उक्त दोष अपने ही
स्थानों में स्थित होते तो सन्ततज्वर को उत्पन्न करते। **पृष्ठात्**—पृष्ठ-प्रदेश में व्याप्त होकर (ल्यब्लोपे कर्मणि
पञ्चमी) पृष्ठ को पित्तस्थान और शिरःप्रदेश को कफस्थान माना गया है। प्रायः सभी विषमज्वर सन्निपातज
ही देखे जाते हैं। देखें—च० चि० अ० ३।७४। अतः ये विषमज्वर भी कष्टसाध्य होते हैं।

तृतीयक ज्वर के भेद

- त्रिकग्राही — (कफपित्त-प्रधान)
- पृष्ठग्राही — (वातकफ-प्रधान)
- शिरोग्राही — (वातपित्त-प्रधान)

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसम्भवः॥७२॥

चतुर्थक ज्वर के दो भेद—चतुर्थक ज्वर शरीर में दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है। जब यह कफ-
दोष-प्रधान होता है, तब सबसे पहले जाँघों में वेदना होकर ज्वर आरम्भ होता है और जब यह वातदोष-प्रधान
होता है तो सबसे पहले शिर में पीड़ा उत्पन्न होकर तब ज्वर आरम्भ होता है।

वक्तव्य—ये सभी विषमज्वर सन्निपातज होते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया जा चुका
है। अतः इन सभी में तीनों दोष तर-तम भाव से रहते ही हैं। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'। इस न्याय से
सर्वत्र प्रधान वस्तु का ही उल्लेख किया जाता है। इस दृष्टि से ऊपर चतुर्थक ज्वर को कफोल्बण तथा वातोल्बण
ही माना गया है। सन्निपातज होने के कारण इसमें प्रत्येक के साथ पित्तदोष का अनुबन्ध समझ लेना चाहिए।
मधुकोश-टीकाकार विजयरक्षित ने नागभर्तृतन्त्रकार को इस प्रकार उद्धृत किया है—'ऊर्ध्वकायं तु यः पूर्वं
गृह्णाति सोऽनिलात्मकः। मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः॥ पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः' ॥
अर्थात् वात-प्रधान चतुर्थकज्वर का प्रभाव सर्वप्रथम ऊर्ध्वकाय पर, पित्त-प्रधान चतुर्थकज्वर का प्रभाव सर्वप्रथम
मध्यकाय पर और कफ-प्रधान चतुर्थक ज्वर का प्रभाव सर्वप्रथम अधःकाय पर पड़ता है, तदनन्तर सम्पूर्ण शरीर
पर। निदान-काल में आपको ध्यान देना है कि यह कौन-सा ज्वर है और इसका सर्वप्रथम प्रभाव किस अंग पर
हुआ है। पित्त-प्रधान चतुर्थक ज्वर का समर्थन अन्यत्र भी प्राप्त होता है। यथा—'चतुर्थको नाम गदो दारुणो
विषमज्वरः। शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः॥ त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थिमज्जगतोऽनिलः। कुपितं
पित्तमेवं तु कफश्चैव स्वभावतः॥ शीतदाहकरस्तीव्रस्त्रिकालं चानुवर्तते। सन्निपातसमुद्भूतो विषमो विषमज्वरः॥
ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः। पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः' ॥ हारीतसंहिता। इस
विवेचन से स्पष्ट संकेत मिलता है, कि ये भी नागभर्तृतन्त्र से प्रभावित रहे हैं। आचार्य भेल भी पित्तप्रधान
चतुर्थक ज्वर के समर्थक रहे हैं—'आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा। कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं
पित्तमेव च' ॥ भेलसंहिता। इस सम्बन्ध में जेज्जट का अभिमत—'प्रकृतिसमवायारब्धास्तु एकदोषज-द्विदोषजा
अपि भवन्ति'। 'प्रकृतिसमवायारब्धश्चतुर्थकस्तु पित्तेन न क्रियत एव, व्याधिस्वभावात् पित्तजगलगण्डवत्'।
जेज्जटः।

यहाँ तक विभिन्न आचार्यों के मतों को उद्धृत करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि महर्षि
आत्रेय ने पित्तप्रधान चतुर्थक ज्वर का न तो नामतः उल्लेख किया है और न उसके आक्रमण के स्थान का ही
निर्देश किया है, जब कि अन्य तन्त्रकारों ने किया है। सिद्धान्तरूप में महर्षि आत्रेय ने विषमज्वरों को सान्नि-
पातिक माना है। अतः किसी दोष की प्रधानता इनमें कभी भी देखी जा सकती है। आप भी चिकित्सक हैं।
अपने सुदीर्घ चिकित्सा-काल में पित्तप्रधान चतुर्थक ज्वर के कितने रोगी आपने ऐसे देखे हैं, जिनके मध्यकाय
में सर्वप्रथम आक्रमण होकर उक्त विषमज्वर की प्रवृत्ति हुई हो। होता है या हो सकता है, यह सैद्धान्तिक विषय
है किन्तु उल्लेखनीय तथ्य उनमें भिन्न होते हैं, जिनका समावेश प्रस्तुत संहिता में तन्त्रकार ने सावधानी के
साथ किया है।

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोति यम् ॥७३॥

चतुर्थक विपर्यय ज्वर—उपर्युक्त विषमज्वरों में जिसका परिगणन नहीं किया है, ऐसा एक दूसरा ही
चतुर्थक विपर्यय नाम का विषमज्वर होता है, जिसमें त्रिविध (वात, पित्त, कफ) दोष एक-एक करके दो
धातुओं (अस्थि तथा मज्जा) में स्थित होकर इस (चतुर्थक विपर्यय) ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीका से युक्त चरकसंहिता में गणनाथसेन-सम्मत 'करोत्ययम्' पाठ
उद्धृत है, जो निर्णयसागरीय उक्त पाठ के समान सन्तोषप्रद नहीं है। आप भी विचार करें।

चतुर्थकविपर्यय—पूर्वोक्त चतुर्थक ज्वर के निदान आदि कारणों का जिस ज्वर में कुछ अंशों में व्यतिक्रम
(Contrariety) हो, उसे चतुर्थक विपर्यय स्वीकार किया गया है। अब विचार यह करना है कि वह व्यति-
क्रम दोषों के संघटन का हो या दूष्यों (रसादि धातुओं) के दूषित होने का हो या काल सम्बन्धी अवधि का
हो। जब हम इन दृष्टियों से विचार करते हैं, तो हमें प्राचीन संहिताकारों के विचारों में विविधता के दर्शन होते
हैं। भगवान् धन्वन्तरि का मत—'कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान्
कृच्छ्रसाधनान्' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।५५। शरीरगत कफस्थानों में स्थित दोष दो, तीन या चार दिनों में
विपर्यय नामक कष्टसाध्य विषमज्वरों को पैदा कर देते हैं। डल्हणाचार्य का मत—'कफस्थानयोर्द्वयोरुरआमा-
शययोस्तिष्ठन् दोषोऽन्येद्युष्कविपर्ययं करोति; कस्तद्विपर्ययः? अहोरात्रे पूर्वाह्णादीनामेककालं मुक्त्वा सम-
स्ताहोरात्रं भवतीति। एवं त्रिषु कफस्थानेषु कण्ठोरआमाशयेषु तिष्ठन् दोषस्तृतीयकविपर्ययं करोति, यस्तृतीयदिने
विमुञ्चति। चतुर्षु कफस्थानेषु शिरःकण्ठोरआमाशयेषु तिष्ठन् दोषश्चतुर्थकविपर्ययं करोति, स चतुर्थेऽह्नि मुञ्च-
तीति। सततस्य तु विपर्ययो न भवति, एकस्मिन्नेव कफस्थाने स्थितेन दोषेण तत्कारणाद् व्याधिस्वभावाद् वा'।

स्पष्टीकरण—छाती तथा आमाशय इन दो कफस्थानों में स्थित दोष अन्येद्युष्क के विपर्यय को पैदा
करते हैं, तब पूर्वाह्न में एक समय छोड़कर सम्पूर्ण दिन-रात ज्वर बना रहता है। जब कण्ठ, छाती और
आमाशय में दोष रहते हैं, तब तृतीयक के विपर्यय की उत्पत्ति होती है। इसमें ज्वर तीसरे दिन उतरता है।
शिर, कंठ, छाती और आमाशय—इन स्थानों में स्थित दोष चतुर्थक विपर्यय नामक विषमज्वर को जन्म देते
हैं। इसमें चौथे दिन ज्वर उतरता है। सततज्वर में दोष एक ही कफस्थान में रहता है। इसलिए इसका
कोई विपर्यय नहीं देखा गया, अथवा यह व्याधि का स्वभाव ही कहा जा सकता है। इसी का समर्थन आचार्य
जेज्जट ने भी किया है।

महर्षि वाग्भट ने 'द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं तु मुञ्चति'। अ० हृ० नि० अ० २।७३। अर्थात् यह ज्वर दो
दिनों तक बराबर बना रहता है और एक दिन उतर जाता है। **दारुवाह का मत**—'सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूर-
दूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पं चिरेण यत्॥ याति देहं न त(ऽ)शेषं भूयिष्ठं प्रतिपद्यते। क्रमोऽयं
तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरः' ॥ अर्थ स्पष्ट है। हरिचन्द्र के अनुसार यह ज्वर पहले दिन उतरा रहता है,
फिर दो दिन लगातार बना रहता है। महर्षि आत्रेय का ही अनुकरण प्रकारान्तर से पराशर ने भी किया है—
'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। त्र्यहाद् द्व्यहं च ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति' ॥ अर्थात् जब दोष अस्थि
तथा मज्जा धातुओं में पहुँचता है, तब वह चतुर्थकविपर्यय ज्वर को पैदा करता है। महर्षि खरनाद विषम
ज्वरों की श्रेणी में सन्ततज्वर का ग्रहण नहीं करते। यह उचित ही है, क्योंकि—'मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्'।
ज्वर का सम्बन्ध छूटना और फिर प्रारम्भ होना, यही विषमज्वर का व्यवच्छेदक लक्षण है। इसी कारण कुछ
आचार्य सन्ततज्वर को विषमज्वर नहीं मानते हैं।

निष्कर्ष—मत-मतान्तरों की चर्चा के अन्त में हम उन सभी का यहाँ निर्देश कर रहे हैं, जो विषमज्वर नाम से प्रसिद्ध हैं—**१. सन्तत** (जो ज्वर लगातार ७, १० या १२ दिनों तक बना रहे), **२. सतत** (दिन में तथा रात में एक-एक बार आने वाला ज्वर), **३. अन्येद्युष्क** (२४ घंटे में एक बार अपना प्रभाव दिखलाने वाला ज्वर), **४. तृतीयक** (प्रति तीसरे दिन आने वाला ज्वर), **५. चतुर्थक** (प्रति चौथे दिन आने वाला ज्वर) इसी क्रम से इनके विपर्ययों की भी गणना की गयी है। यथा—**६. सततविपर्यय, ७. अन्येद्युष्कविपर्यय, ८. तृतीयकविपर्यय** और **९. चतुर्थकविपर्यय**। इन विपर्ययों का परिचय ऊपर इसी पद्य के वक्तव्य में दे दिया गया है।

प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः॥

पाँच प्रकार के विषम ज्वर—ऊपर सन्तत आदि जो पाँच प्रकार के ज्वर कहे गये हैं, प्रायः वे सभी ज्वर सन्निपातज (अर्थात् तीनों दोषों की विकृति से) होते हैं। सन्निपात की स्थिति में भी जिस दोष की अधिकता होती है, उसी दोष के लक्षणों से युक्त वह ज्वर होता है।

वक्तव्य—विषमज्वरों में विकृत वात आदि दोष अपने दूष्यों (रसादि सात धातुओं) से सम्बद्ध होकर ज्वरों की उत्पत्ति करते हैं; किन्तु वे सभी सान्निपातिक होते हैं, अर्थात् उनमें तर-तम भाव से तीनों दोषों के प्रकोप को सिद्धान्ततः स्वीकार किया गया है। इस पद्य द्वारा यह कहा गया है कि उन प्रकुपित तीन दोषों में से भी कभी कोई तो कभी कोई दोष अधिक उग्र हो जाता है। उस समय उसका तदनुसार नामकरण चिकित्सक द्वारा किया जाता है। देखें—इसी अध्याय के ७१ से ७३ तक के श्लोकों तथा उनकी व्याख्या को। इनमें जहाँ-जहाँ दो-दो दोषों की प्रधानता का उल्लेख हुआ है, वहाँ-वहाँ तीसरे (जिसकी चर्चा नहीं की गयी है, उस) को भी प्रकुपित मान लेना चाहिए। भले ही वह दोष जिसका शब्दतः उल्लेख किया गया है, उनसे किसी अंश में कुछ कम हो। परन्तु उसकी सत्ता को सिद्धान्ततः स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि चिकित्सा-काल में हम उसका प्रत्यक्षीकरण नाड़ी द्वारा तथा शमन औषध-प्रयोगों द्वारा करते ही हैं।

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ॥७५॥

ज्वर की उत्पत्ति में कारण—वर्षा आदि ऋतुएँ, अहोरात्र (दिन-रात), दोष (वात, पित्त, कफ) और मन—इनके बलवान् अथवा दुर्बल होने से, अर्थवश (पूर्वजन्म के दुष्कर्मों) से उस-उस काल में ज्वर उत्पन्न हुआ करता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य के स्पष्टीकरण के लिए हम यहाँ आचार्य चक्रपाणि की टीका को साभार उद्धृत कर रहे हैं—"एषां च ज्वराणाम् ऋत्वादिहेत्वन्तरलाभाद् अन्यथाभावोऽपि दृश्यते; तद् यथा—सन्ततः स्वरूपं त्यक्त्वा सततकादीनाम् अन्यतमत्वं प्रतिपद्यते, तथा चतुर्थकस्तृतीयकादिरूपत्वम्। यदाह चरकः—'ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते'॥ इति। अस्यार्थः—बलाबलादिति ऋत्वादिमनोऽन्तेन सम्बध्यते; बलं चाबलं च बलाबलम्, अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मवाची, तं तं कालं सततकाद्युक्तं, ज्वरः प्रपद्यते, इति योजना। उदाहरणञ्च—

ऋत्वहोरात्रबलाबलाद् यथा—यदा निदाघोत्पन्नो वातप्रधानश्चतुर्थको वर्षासमयमाप्नोति तदा तेनर्तुनाऽऽप्यायितबलस्तृतीयकादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोत्युत्कर्षात्; एवं वर्षासमुत्पन्नः सन्ततः शरदं प्राप्यापकृष्टबलः सततकादीनामन्यतमत्वमेत्यपकर्षात्, एवं पित्तकफयोरप्युपकर्षापकर्षौ ऋतुकृतौ व्याख्येयौ। अहोरात्रशब्देन कतिपयान्यहोरात्राणि गृह्यन्ते, न ह्येकस्मिन्नहोरात्रे सन्ततादीनामुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्यथाभाव उपपद्यते, किन्तु कतिपयैरेव। यदा वर्षाशरद्वसन्तप्रारम्भे वातादयो ज्वरं चतुर्थकमारभन्ते, तदा मध्यानि कतिपयदिनान्यवाप्य स एव तृतीयपूर्वकत्वेन विपरिणमत उत्कर्षात्, अपकर्षात्तु यदाऽन्त्यानि दिनान्याप्नोति, तदा सन्ततो वातारब्धः प्रावृषः पित्तारब्धः शरदो वसन्तस्य च श्लेष्मारब्धः प्रतनुकत्वाद् दोषस्य सततकादीनामन्यतमत्वेन विपरिणमत इति।

दोषबलाबलाद् यथा—यदा सततकादीनामन्यतमकारीदोषः श्लेष्मा मधुरस्निग्धादीन् दिवास्वप्नादींश्च हेतूनाप्नोति, तदा सततं करोति; एवं वातपित्तयोरप्युदाहार्यम्।

मनोबलाबलाद् यथा—यदा सन्ततज्वरी सत्त्वगुणोद्रेकात् प्रहर्षावष्टम्भबहुलो भवति, तदा सततकादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति; यदा चतुर्थकज्वरी तमोगुणभूयिष्ठत्वाद् विषादिभिरभिभूयते तदा तृतीयकादीनामन्यतमो भवति। 'विषादो रोगवर्धनानाम्'। च० सू० अ० २५।४०। इत्यागमात्। अन्ये तु मनः शब्देन बुद्धिं व्याख्यानयन्ति, कारणे कार्योपचारात्; तस्याश्च बलाबलं यथा—यदा चतुर्थकज्वरी प्रज्ञापराधाद् देवतादीनभिभूयाहितान्याचरति तदा तृतीयकपूर्वेषामन्यतमत्वमाप्नोति, यदा तु शुद्धसत्त्वोत्कर्षाद् विवेकिन्या बुद्ध्या युक्तः स्यात् तदा शुभानि देवताराधनेष्टिबल्युपहारादीन्याचरति, तदा सन्ततज्वरी सततकादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति।

अर्थवशाद् यथा—सन्ततज्वरिणोऽपि यदि चतुर्थकवेदनीयं कर्म स्यात् तदा सन्ततोऽपि चतुर्थकत्वेन विपरिणमते, अथ चतुर्थकज्वराविष्टस्य यदि तत्कालपरिपाकि कर्म बलीयो भवति, तदा सन्ततत्वेन परिणमते; एतच्च कर्मवशत्वमृत्वहोरात्रदोषबलाबलेष्वपि बोद्धव्यं, तदनन्तरं तन्निर्देशात्'। इति माधवनिदानटीकायां विजयरक्षितः।

ऊपर सान्निपातिक विषमज्वरों के सन्तत आदि पाँच भेदों का निरूपण किया गया है। शास्त्र की तथा चिकित्साकालिक अनुभव की दृष्टि से यह सत्य है कि ऋतु, अहोरात्र आदि के बलाबल हो जाने के कारण उपर्युक्त ज्वर अपने आरम्भिक रूप में प्रकट होकर भी बाद में दोषों के बल-अबल हो जाने के कारण अपना रूप बदल लेता है। फलतः तब उसकी संज्ञा भी बदल जाती है। जैसे—सन्ततज्वर सततज्वर के लक्षणों से युक्त हो जाता है, चतुर्थक तृतीयक के रूप में बदल जाता है। इसी प्रकार अन्य विषमज्वरों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। इनके उदाहरण यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

ऋतुओं का बलाबल—ग्रीष्मऋतु (जिस देश में जब और जब तक गर्मी पड़ती हो) में पैदा होनेवाला वात-प्रधान चतुर्थक (चौथिया) ज्वर वर्षाऋतु में वातदोष की अधिकता के कारण सततज्वर अन्येद्युष्क आदि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे ही वर्षा काल में उत्पन्न वात-प्रधान सन्ततज्वर शरद् ऋतु में वातदोष के बलहीन होने के कारण सततज्वर के रूप में बदल जाता है। इसके विपरीत वर्षाऋतु में पैदा हुआ पित्त-प्रधान चतुर्थक ज्वर शरद्ऋतु में दोषसाम्य के कारण अधिक बलवान् होकर तृतीयक आदि ज्वरों का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार शरद्ऋतु में पैदा हुआ पित्तप्रधान सन्ततज्वर आगे हेमन्त ऋतु में क्षीणबल होकर सततज्वर का रूप धारण कर लेता है। शिशिरऋतु में पैदा हुआ कफदोष-प्रधान चतुर्थक ज्वर वसन्त ऋतु में दोषसाम्य के कारण वृद्धि को प्राप्त होकर तृतीयक आदि का रूप धारण कर लेता है। वसन्तऋतु में उत्पन्न कफप्रधान सन्ततज्वर ग्रीष्मऋतु में कफदोष के मन्द पड़ जाने से स्वयं बलहीन होकर सततज्वर का रूप धारण कर लेता है।

अहोरात्र का बलाबल—१२ घंटे का दिन और १२ घंटे की रात्रि, इतनी अवधि को अहोरात्र कहते हैं। जब वर्षाऋतु, शरद्ऋतु तथा वसन्तऋतु के आरम्भिक दिनों में क्रमशः वात, पित्त एवं कफदोष प्रधान होकर चतुर्थक ज्वर को पैदा कर देते हैं, तब उपर्युक्त ऋतुओं के बीच के दिनों में वातादि दोषों के बलवान् होने से वह (चतुर्थक) तृतीयक आदि के रूप में बदल जाता है तथा वर्षाऋतु के आरम्भ में पैदा हुआ वात-प्रधान सन्ततज्वर वर्षाऋतु के अन्तिम काल में क्षीणबल होकर सन्ततज्वर का रूप धारण लेता है। शरद्ऋतु के आरम्भ में पैदा हुआ पित्तप्रधान सन्ततज्वर एवं वसन्तऋतु के आरम्भ में पैदा हुआ पित्तप्रधान सन्ततज्वर उस-उस ऋतु के अन्तिम काल में क्षीणबल होने से सततज्वर का रूप धारण कर लेता है।

दोषों का बलाबल—जैसे सतत, सन्तत, अन्येद्युष्क आदि विषमज्वरों में यदि कफदोष की प्रधानता हो और कफ को बढाने वाले स्निग्ध, मधुर गुण वाले आहार, दिन में सोना तथा कफवर्धक विहारों का सेवन किया जाये तो और भी अधिक मात्रा में कफ की वृद्धि होकर वह विषमज्वर दूसरे-दूसरे रूपों को धारण कर लेता है। इसी प्रकार पित्त की अधिकता या वात की अधिकता से होने वाले सतत आदि विषमज्वरों में उन-उन दोषों को बढ़ाने वाले आहार-विहार का सेवन करने से वे-वे सन्तत आदि विषमज्वरों को पैदा कर देते हैं।

मन का बलाबल—जब सन्ततज्वर से पीड़ित रोगी सत्त्वगुण की अधिकता से हर समय प्रसन्न रहता है और ज्वर के वेग की चिन्ता नहीं करता है, तो उसके दोष ठीक-ठीक नहीं बढ़ पाते। इस स्थिति में उसे सतत आदि अन्य विषमज्वर आक्रान्त कर लेते हैं। जब चतुर्थक ज्वर से पीड़ित रोगी तमोगुण की अधिकता से

विषाद आदि से पीड़ित रहता है, तब तृतीयक आदि में से कोई एक ज्वर उस पर अपना प्रभाव डाल देता है, क्योंकि विषादगुण रोगवर्धकों में प्रधान होता है।

मतान्तर—कुछ आचार्य 'मन' शब्द से बुद्धितत्त्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि 'कारण में कार्य का उपचार होता है'। उनके मत में उस बुद्धि का बलाबल इस प्रकार समझना चाहिए। जब चतुर्थक ज्वर से पीड़ित रोगी देवता, गुरु, माता, पिता का अपमान-तिरस्कार आदि करके अहितकर आहार-विहार आदि का सेवन करता है, तब वह तृतीयक आदि किसी एक विषमज्वर से पीड़ित हो जाता है। जब सत्त्वगुण की प्रधानता से विवेकवती बुद्धि द्वारा युक्त होकर देवता-आराधन आदि शुभकर्मों को करने लगता है, तब सन्तत-ज्वर वाला रोगी सतत आदि किसी एक विषमज्वर को प्राप्त हो जाता है।

अर्थ का बलाबल—मधुकोष-टीका के रचयिता श्रीविजयरक्षित का मत है कि यह कर्मवशता का विचार पूर्वोक्त ऋतु, अहोरात्र, दोष तथा मन के बलाबल में भी करना चाहिए। यहाँ अर्थ शब्द से पूर्व-जन्मकृत कर्म का ग्रहण किया गया है। यदि सन्ततज्वर से आक्रान्त रोगी का पूर्वजन्मकृत कर्म चतुर्थकज्वर को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तो वह चतुर्थकज्वर को उत्पन्न कर देता है। यदि चतुर्थकज्वर से पीड़ित व्यक्ति का पूर्वजन्मकृत कर्म सन्ततज्वर के अनुकूल होता है, तो वह उक्त रोगी को सन्ततज्वर से युक्त कर देता है। इसी प्रकार की स्थिति ग्रहों के बलाबल की भी होती है। इसके लिए ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों का अवलोकन करें।

विशेष वक्तव्य—आचार्य विजयरक्षित ने **'अर्थवशात्'** की व्याख्या इस प्रकार की है—**'अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मवाची'** जब कि अर्थ शब्द के निम्न पर्याय हैं—अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'। अमरकोष। तथा—'अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु। अभिधेये च शब्दानां निवृत्तौ च प्रयोजने'॥ मेदिनी। इन कोषकारों ने कहीं भी अर्थ का पर्यायवाची कर्म या पूर्वजन्म-कृत कर्म को नहीं स्वीकारा है। यही स्थिति च० सू० अ० ३० में वर्णित 'अर्थ' शब्द की भी है। यहाँ **'अर्थे'** शब्द का पर्याय **'हृदये'** माना है। हमारे विचार से यहाँ—**'कालं कर्मवशाच्चैव'** ऐसा पाठ तो नहीं था? विद्वान् विचार करें। यदि यह मान लिया जाये, तो सभी प्रकार से विषय निर्भ्रान्त हो जायेगा।

गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्द्यरोचकौ। रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम् ॥७६॥

रसादि सप्त-धातुगत ज्वर-प्रकरण

१. **रसधातुगत ज्वर**—शरीर में भारीपन, दीनता, उद्वेग (मन में घबड़ाहट), शिथिलता (फुर्तीलेपन का अभाव), वमन (कै), भोजन के प्रति अरुचि, शरीर के बाहरी अंगों में ताप, अंगों में मसलने की-सी पीड़ा अथवा उक्त लक्षणों के साथ अंगमर्द तथा बार-बार जँभाई का आना—ये लक्षण रसाश्रित ज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—रसाजीर्ण में भी गुरुता, दैन्य, उद्वेग, सदन, छर्दि, अरोचक—ये लक्षण सामूहिक रूप से या कोई-कोई दिखलायी देते हैं, किन्तु अरोचक (भोजन की ओर देखने की इच्छा नहीं होती) लक्षण अवश्य देखा जाता है।

रक्तोष्णाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः। दाहरागभ्रममदप्रलापा रक्तसंस्थिते ॥७७॥

२. **रक्तधातुगत ज्वर**—जब ज्वर रक्तधातु को दूषित कर देता है, तब उष्णतायुक्त रक्तज पिडिकाएँ शरीर पर निकल आती हैं, प्यास लगती है, बार-बार खून सहित थूक आता है, सम्पूर्ण शरीर में जलन, त्वचा का वर्ण रक्ताभ होना, भ्रम (चक्करों का आना), मद तथा प्रलाप (अंट-संट बकना)—ये लक्षण रक्ताश्रित ज्वर के होते हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'मुहुः' शब्द का सम्बन्ध प्राचीन टीकाकारों ने **'सरक्तं ष्ठीवनं'** के साथ किया है। हमारे विचार से इसका सम्बन्ध **'तृष्णा'** के साथ भी होना चाहिए, क्योंकि दाह के कारण बार-बार प्यास लगना युक्तिसंगत ही है।

अन्तर्दाहः सतृण्मोहः सग्लानिः सृष्टविट्कता। दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत् ॥

३. **मांसधातुगत ज्वर**—अन्तर्दाह, तृष्णा (प्यास लगने) के साथ बेहोशी, ग्लानि (हर्षक्षय), मल का पतला होना, शरीर से दुर्गन्धि का आना, शरीरावयवों (हाथ, पैरों तथा गर्दन) को इधर-उधर पटकाना—ये लक्षण मांसस्थित ज्वर में होते हैं। इसमें 'पिण्डिकोद्वेष्टन' लक्षण सुश्रुत ने अधिक दिया है, जब कि महर्षि आत्रेय ने इसके लिए 'गात्रविक्षेप' शब्द का प्रयोग किया है।

वक्तव्य—रसधातुगत ज्वर में **'बहिस्तापः'**, रक्तधातुगत ज्वर में **'दाहः'** और मांसधातुगत ज्वर में **'अन्तर्दाहः'** का उल्लेख धातुओं की क्रमिक स्थिति का परिचय दे रहा है। इसमें जो गात्रविक्षेप होता है, उसे 'आक्षेपक' रोग के लक्षणों की भाँति समझें।

स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो वम्यभीक्ष्णशः। [1]स्वगन्धस्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ॥

४. **मेदोधातुगत ज्वर**—पसीना, अधिक प्यास का लगना, प्रलाप (अंट-संट बकना), बार-बार वमन का होना, मेदोधातु की गन्ध को न सह सकना, ग्लानि और अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा) का होना—ये सभी लक्षण मेदःस्थित ज्वर के हैं।

वक्तव्य—मेदस्वी पुरुषों को सामान्य स्थिति में भी जब पसीना होता है तो उसके साथ कुछ न कुछ मेदोधातु की दुर्गन्ध भी आती है, जो मेदस्वी पुरुष को तो सात्म्य हो जाती है, किन्तु उसके पास बैठे हुए पुरुष को वह सहन नहीं होती। इस प्रकार के ज्वर की स्थिति में जो दुर्गन्ध आती है वह स्वयं उस रोगी को भी सहन नहीं हो पाती है। यहाँ 'स्वगन्धस्य' शब्द का अर्थ है—'मेदोधातु की गन्ध (दुर्गन्ध)' न कि 'अपने शरीर की गन्ध'। पाठक विचार करें। सुश्रुत उ० तं० अ० ३९ में मेदोधातुगत ज्वर का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

'भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता'॥

इसमें केवल 'मूर्च्छा' लक्षण विशेष दिया गया है, जो चरकोक्त लक्षणों से अतिरिक्त है। हमारे विचार से यह लक्षण मेदोधातुगत ज्वर का उपद्रव कहा जा सकता है।

विरेकवमने चोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम्। विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ॥८०॥

५. **अस्थिधातुगत ज्वर**—अतिसार, वमन, हड्डियों में फटने की-सी पीड़ा, प्रकूजन (जोर-जोर से कबूतर की भाँति कहरने की-सी आवाज का निकलना), शरीरावयवों को इधर-उधर पटकना और साँस का फूलना—ये लक्षण अस्थिधातुगत ज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता उ० तं० अ० ३९ श्लोक ८७ में अस्थिधातुगत ज्वर का लक्षण इस प्रकार दिया है—**'भेदोऽस्थ्नां कुञ्च(ञ्ज)नं'**। यदि हम इसे **'कुञ्चनं'** पढ़ते हैं, तो इसका अर्थ होगा हड्डियों का सिकुड़ना, जो चरकसंहिता से अधिक है। यदि इसे प्रतिलिपि-कर्ता आदि के प्रमाद से गलत मानकर **'कूजनं'** पाठ मानते हैं, तो दोनों संहिताकारों की स्थिति सामान्य हो जाती है।

हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्। मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ॥

६. **मज्जधातुगत ज्वर**—हिक्का (हिचकी), श्वास की अधिकता, कास, बार-बार आँखों के सामने अँधेरा-सा दिखलायी देना, मर्म-स्थानों में कटने की-सी पीड़ा का होना, शरीर के बाहर शीतता का और भीतर उष्णता का अनुभव होना—ये मज्जाश्रित ज्वर के लक्षण हैं।

शुक्रस्थानगतः शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च। प्राणं वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः ॥

७. **शुक्रधातुगत ज्वर**—शुक्रस्थान में आश्रित ज्वर शुक्र का स्राव (पतन) करा देता है और प्राणों का विनाश कर देता है, तब यह विभु (आत्मा) वायु, अग्नि, सोम के साथ शरीर से बाहर चला जाता है अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जाती है।

---

१. 'सगन्धस्यासहत्वं' इति गणनाथसेनः।

वक्तव्य—उक्त पद्य में **'शुक्रस्थानगतः'** वाक्यांश विचारणीय है। जिस प्रकार मलाशय तथा मूत्राशय आदि का शरीर में एक निश्चित स्थान है, उस प्रकार शुक्र का नहीं है। शुक्र का स्राव अनुकूल पत्नी या प्रेयसी के सम्पर्क से उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार बालक को देखकर माता के स्तनों से दुग्ध का स्राव होता है। यह सर्वदेहाश्रित होता है। अतएव चरक ने कहा है—**'चरतो विश्वरूपस्य नाम द्रव्यं यदुच्यते'।** अण्डकोष शुक्रवाहिनी सिराओं के मूल हैं और लिंग शुक्र तथा मूत्र निकलने का मार्ग मात्र है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुक्र सम्पूर्ण शरीर से निकलकर कुछ क्षण के लिए अण्डकोषों में अपना स्थान (स्था-गतिनिवृत्तौ) बना लेता है। तदनन्तर वह बाहर निकलता है। अतः इसी को प्रायोगिक दृष्टि से 'शुक्रस्थान' मान लिया जाता है। इस 'शुक्रमोक्ष' को अरिष्ट लक्षण भी माना गया है। देखें—'शुक्र प्रच्यवते स्थानात्'। च० इं० १२।५०।

श्रीजयदेव विद्यालंकार ने **'प्राणवाय्वग्निसोमैश्च'** पाठ को मान्यता दी है। किन्तु श्रीगणनाथसेन इस समस्त पाठ को स्वीकार न करके **'प्राणं वाय्वग्निसोमैश्च'** इसे मान्यता देते हैं, जो युक्तिसंगत है। इस स्थिति में अन्वय इस प्रकार होगा 'शुक्रमोक्षं कृत्वा प्राणं च विनाश्य'। शेष स्पष्ट है। इस दृष्टि से पूर्ववर्ती टीकाओं पर पाठक ध्यान दें—'शुक्र का स्राव कर देने (हो जाने) के बाद विनाश स्वयं हो जायेगा। उसका विनाश करने के लिए न मूल लेखक की आवश्यकता है और न टीकाकारों की।

वाय्वग्निसोमैश्च—यहाँ इनको क्रमशः वात-पित्त-कफ समझें। अन्यत्र इन वातादि को 'देहधारणाद् धातवः' कहा है। इनके साथ वह विभु चला जाता है। इस प्रकार के सीधे अर्थ को परवर्ती टीकाकारों ने ही उलझा दिया है और चक्रपाणि यहाँ मौन हैं।

प्राचीन आचार्यों के मत से रसादिधातुगत ज्वर-लक्षण पाठ अनार्ष है। उनका कथन है कि इसीलिए चक्रपाणि ने इन पद्यों की व्याख्या नहीं की है। ऐसा ही सुश्रुत की व्याख्या में जेज्जट ने भी स्वीकार किया है। सुश्रुत की निबन्धसंग्रह-व्याख्या में डल्हण का मत—'यतः सर्वशरीरं सन्ततेन व्याप्तं सततादिभिश्च रसादिधातवः कुतो रसादिधातुगतज्वरावकाश इति, रसादिस्थज्वराणां पाठो न पठनीय एवेति जेज्जटाचार्याभिमतम्' इति।

रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः। अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिद्ध्यति॥

धातुगत ज्वरों का साध्य-असाध्य विवेचन—रस, रक्त, मांस तथा मेद धातुगत ज्वर साध्य होते है। अस्थि तथा मज्जाधातुगत ज्वर कष्टसाध्य होते हैं और शुक्रधातुगत ज्वर असाध्य होता है।

वक्तव्य—ऊपर जिन सात धातुगत ज्वरों का उल्लेख किया गया है, ये स्वतन्त्र रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, अपितु वातादि ८ प्रकार के ज्वरों में इनका भी समावेश देखा जाता है। आप भी गुरुजनों की सहायता से इन्हें पहचानने का प्रयत्न करें।

मेदोमांसगतश्च—शरीरस्थ सप्त धातुओं का क्रम इस प्रकार है—१. रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा, ७. शुक्र। ऊपर श्लोक में पहले 'मेदा' का तत्पश्चात् 'मांस' का ग्रहण किया गया है, जिसकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती और धातुओं के स्वभाविक क्रम में भी बाधा आती है। अतः उक्त पाठ को सभी दृष्टियों से **'मांसमेदोगतश्च'** ऐसा होना चाहिए। निश्चित ही यह प्रतिलिपि-कर्ता आदि का प्रमाद मात्र है।

शुक्रस्थो नैव सिद्ध्यति—आचार्य का यह वचन, चिकित्सक के प्रयत्न करने पर भी असफलता का सूचक है, ऐसा संकेत कर रहा है। इसका विशेष विवेचन ऊपर ८२ वें श्लोक के वक्तव्य में हम कर चुके हैं।

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्टविधो ज्वरः। समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणु लक्षणम्॥८४॥

ज्वर-विस्तार वर्णन प्रस्तावना—पहले (निदानस्थान में) हेतु तथा लक्षणों द्वारा संक्षेप से आठ प्रकार के ज्वरों का वर्णन किया गया है। वहाँ जिन ज्वरभेदों का संक्षेप में वर्णन किया गया था, उन ज्वरों के लक्षणों को विस्तारपूर्वक सुनो।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान अ० १ में जिन (एक दोषज) ज्वरों का विस्तार से वर्णन किया गया है, उनको छोड़कर शेष (द्वन्द्वज, सान्निपातिक तथा आगन्तुज) ज्वरों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अतः उन्हीं का यहाँ विस्तार से वर्णन करना तन्त्रकार (महर्षि आत्रेय) की प्रतिज्ञा है।

[1]शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम्।
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः॥८५॥
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराऽऽकृतिः।

द्वन्द्वज ज्वर

वातपित्तज्वर के लक्षण—शिर में पीड़ा, जोड़ों में फटने की-सी पीड़ा, जलन, रोंगटे खड़े होना, गला और मुख का सूखना, वमन, प्यास, मूर्च्छा, चक्कर आना, अरुचि, स्वप्न-नाश (नींद का न आना), अधिक बोलना या प्रलाप तथा बार-बार जँभाई का आना—ये वात-पित्तज्वर के लक्षण होते हैं (पाठभेद के अनुसार—रोमहर्ष, दाह, पर्वभेद, शिरःशूल का ग्रहण किया गया है, जिसमें कोई विशेषता नहीं है)।

वक्तव्य—आप ध्यान से देखें और विचार करें कि ऊपर कहे गये लक्षणों में कौन वात के और कौन पित्त के लक्षण हैं। इस प्रकार सभी रोगों के लक्षणों पर निदान एवं चिकित्सा काल में ध्यान देना चाहिए।

शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक्॥८६॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्। सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः॥८७॥

वातकफज्वर के लक्षण—ठंड का अनुभव होना, शरीर में भारीपन, तन्द्रा (उँघाई), स्तैमित्य (गीला कपड़ा ओढ़े हुए जैसा अनुभव होना), शरीर के जोड़-जोड़ में दर्द का होना, शिरोग्रह (शिर का जकड़ जाना या शिर का भारी होना) प्रतिश्याय (जुकाम), कास (खाँसी), पसीना न होना, सन्ताप (ज्वर का बना रहना), ज्वर की गति का मध्यम होना—ये लक्षण वात-कफज्वर के हैं।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने 'शीतकः' का अर्थ 'शीतता' किया है, जब कि दूसरे टीकाकार इसका पर्याय 'शीतपित्त का निकलना' स्वीकार करते हैं। ध्यान दें—वैद्यकशब्दसिन्धु में 'शीतक' शब्द का प्रयोग अशनपर्णीवृक्ष, वृश्चिक तथा शीतकाल के अर्थों में किया गया है। शीतपित्त के निदान में स्पष्ट लिखा है—'वाताधिकतमं विद्याच्छीतपित्तम्'। माधवनिदान।

स्वेदाप्रवर्तनम्—इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'स्वेदस्तम्भ इति स्वेदाप्रवर्तनम्'। यदि चक्रपाणि पर विश्वास न हो, तो शब्द की स्थिति पर विचार करें—स्वेदस्य अप्रवर्तनम्=स्वेदाप्रवर्तनम्; यह भी अच्छा न लगे, तो जिन दोषों के कारण ज्वर उत्पन्न हुआ है, उन पर ध्यान दें, वे दोष हैं—वात और कफ। भला स्वेद की प्रवृत्ति में इनमें से किसको कारण माना जाये। आप वातज्वर तथा कफज्वर के स्वतन्त्र लक्षणों पर भी थोड़ा ध्यान दें। इस विचार के विरुद्ध आचार्य विजयरक्षित ने अन्य आचार्यों के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है—'स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य आ समन्तादकारणेन प्रवर्तनं विकृतविषमसमवायारब्धत्वादिति'—**कार्तिकः**। युक्तञ्चैतत्। यदाह हारीतः—'शिरोग्रहः स्वेदभवोऽज्वरस्य कासश्च लिङ्गं कफवातजस्य'। इति। अब आप भी प्रयोगात्मक रूप में देखें कि उक्त तीन आचार्यों में से किसका मत अधिक प्रामाणिक है।

मुहुर्दाहो मुहुः शीतं [2]स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः। मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम्॥८८॥
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः। इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः—

कफपित्तज्वर के लक्षण—बार-बार दाह (जलन होना) तथा बार-बार शीत (सर्दी लगना), बार-बार पसीना का आना एवं रुक जाना, बेहोशी, कास, अरुचि, प्यास, कफ एवं पित्त की उलटी होना, मुख का लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, मुख का कडुआ होना, तन्द्रा (उँघाइ)—ये कफपित्त (द्वन्द्वज) ज्वर के लक्षण हैं। इस प्रकार द्वन्द्वज ज्वरों के लक्षण कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये लक्षणों पर ध्यान दें। जब पित्त की अधिकता या पित्त का प्रकोप अधिक मात्रा में होता है, तब पित्त के लक्षण (दाह, स्वेद, मोह, तृष्णा, पित्त की उलटी, तिक्तास्यता) दिखलायी देते हैं और जब कफ का प्रकोप अधिक मात्रा में होता है, तब कफ के लक्षण (शीत, स्वेदस्तम्भ, कास, अरुचि, कफ

१. 'रोमहर्षश्च दाहश्च पर्वभेदः शिरोरुजा' इति पा०। २. 'स्वेदः स्तम्भः' इति पा०।

की उलटी का होना या उसमें से कफ का निकलना) दिखलायी देते हैं। ऐसा विचार सभी द्वन्द्वज ज्वरों में उन-उन के दोषों के अनुसार समझना चाहिए।

स्वेदस्तम्भ—चक्रपाणि के अनुसार इसका अर्थ है—**'स्वेदाप्रवर्तनम्'** अर्थात् पसीने का न आना। आचार्य गंगाधर स्वेद और स्तम्भ की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं, जो युक्तियुक्त है। देखें—पित्त के वेग काल में स्वेद की उत्पत्ति और कफ के वेग काल में स्वेद-स्तम्भ (पसीने का रुक जाना) या अंगों का जकड़ जाना, जो कफ की अपनी प्रकृति है, उसका फल है। अष्टाङ्गसंग्रह के ज्वरप्रकरण में देखें—

शीतस्तम्भस्वेददाहव्यवस्था तृष्णा कासः श्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः।
मोहस्तन्द्रा लिप्ततिक्तास्यता च ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य॥

—सन्निपातज उच्यते ॥८९॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि। प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक् पृथक् ॥९०॥

त्रयोदश सन्निपातज्वर-प्रकरण

सन्निपातज्वर—अब यहाँ से सन्निपातज ज्वर के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। इसके पूर्व (निदान-स्थान अ० १।२८-२९ में) सूत्ररूप से कहे गये सन्निपातज्वर के यहाँ तेरह भेदों के अलग-अलग लक्षणों को (मैं पुनर्वसु) कहता हूँ।

वक्तव्य—महर्षि पुनर्वसु की यह शास्त्र-रचना शैली है कि कोई विषय पहले सूत्ररूप में कहकर उसी का पुनः यथास्थान व्याख्यान करना। इस शैली के दर्शन हमें पतञ्जलि कृत महाभाष्य में भी होते हैं।

नेपालराजगुरु पण्डित हेमराजशर्मा के विशेष प्राक्कथन द्वारा परिवर्द्धित काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीयतन्त्र) परिशिष्ट से सन्निपातनिदानात्मक कतिपय पद्य यहाँ साभार उद्धृत किये जा रहे हैं, जो एक नयी दिशा प्रदान कर रहे हैं—

शृणु भार्गव ! तत्वार्थं सन्निपातविशेषणम्। जानते भिषजो नैनं बहवोऽकृतबुद्धयः॥
शीतोपचारात् सूतानां मैथुनाद्विषमाशनात्। प्रजागराद्दिवास्वप्नाच्चिन्तेर्ष्यालौल्यकर्शनात्॥
तथा दुःखप्रजातानां व्यभिचारात् पृथग्विधात्। शिशोर्दुष्टपयःपानात् तथा सङ्कीर्णभोजनात्॥
विरुद्धकर्मपानान्नसेविनां सततं नृणाम्। अभोजनादध्यशनाद् विषमाजीर्णभोजनात्॥
सहसा चान्नपानस्य परिवर्तादृतोस्तथा। विषोपहतवाय्वम्बुसेवनाद् गरदूषणात्॥
पर्वतोपत्यकानां च प्रावृट्काले विशेषतः। अवप्रयोगात् स्नेहानां पञ्चानां चैव कर्मणाम्॥
यथोक्तानाञ्च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथोच्छ्रिताः। त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति क्षीणे चायुषि भार्गव॥
ततो ज्वरादयो रोगाः पीडयन्ति भृशं नरम्। सर्वदोषविरोधाच्च दुश्चिकित्स्यो महागदः॥
यथाग्निवज्रपवनैर्न स्यादभिहतो द्रुमः। वातपित्तकफैस्तद्वत् क्रुद्धैर्देही न जीवति॥
विषाग्निशस्त्रैर्युगपन्न जीवन्ति यथा हताः। सन्निपातार्दितास्तद्वन्न जीवन्ति तपस्विनः॥
इत्थं तदुपरिष्टाच्च यथा प्रज्वलितं गृहम्। न शक्यते परित्रातुं सन्निपातहत (स्तथा)॥
दिग्धबाणास्त्रयो व्याधाः परिवार्य यथा मृगम्। घ्नन्त्यमी(कुपिता)स्तद्वत्त्रयो दोषाः शरीरिणम्॥
सङ्गता नियतं यस्मात् पातयन्ति कलेवरम्। अन्ये चैते सन्निपाताद्यतो वा सन्निपातनात्॥
अकस्मादिन्द्रियोत्पत्तिरकस्मान्मूत्रदर्शनम्। अकस्माच्छीलविकृतिः सन्निपाताग्रलक्षणम्॥

इस प्रकरण में आगे भी अनेक श्लोक दिये हैं, जिनमें संक्षेप में चिकित्सा वर्णित है, जो द्रष्टव्य हैं।

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे॥

१. वातपित्तप्रधान, कफमन्द सन्निपातज्वर—इस ज्वर में भ्रम (चक्करों का आना), पिपासा (प्यास का लगना), दाह (जलन), शरीर में भारीपन, सिर में अत्यधिक वेदना—ये लक्षण होते हैं। जिसमें वात-पित्तदोष प्रधान (अधिक बढ़े) हों और कफदोष उनकी तुलना में मन्द हो, यह सन्निपातज्वर का पहला भेद है।

वक्तव्य—एक-एक दोष से होने वाले ज्वर को सभी तन्त्रकारों ने रोगराट् माना है और जो तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हो, उस (सन्निपातज्वर) की चर्चा कोई भुला दे ऐसा नहीं हो सकता। अतः सभी तन्त्रकारों ने सन्निपातज्वर के सभी भेदों की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। काशी के सुड़िया मुहल्ले में तो दो-तीन प्राचीन एवं समृद्ध चिकित्सक परिवार ऐसे हैं, जहाँ ज्वर-भेदों की ऐतिहासिक एवं आकर्षक मूर्तियाँ सुरक्षित हैं, जिनके दर्शन वर्ष में एक दिन केवल धन्वन्तरि त्रयोदशी को सामाजिकों को होते हैं।

ऊपर दोषों की प्रधानता तथा मन्दता का जो उल्लेख किया गया है, उसका कारण यह है कि सन्निपात ज्वर में (अपनी परिभाषा के अनुसार) सभी दोष पूर्णरूपेण एक साथ प्रकट नहीं होते। आज जो सन्निपात की विविध स्थितियों को देखकर उसे सन्निपात न कहकर आधुनिक चिकित्सक किसी स्थिति को न्यूमोनिया, किसी को इन्फ्लुएञ्जा और किसी को टाइफाइड कह देते हैं। उन्हें आयुर्वेदीय स्वस्थ-निदान-परम्परा का गहन अध्ययन करना चाहिए।

चरक के मत से १३ सन्निपातों की रूपरेखा

अधिक बढ़े हुए दो दोष और एक हीन—	३
अधिक बढ़ा हुआ एक दोष और दो हीन—	३
एक हीन, एक मध्य, एक अधिक बढ़ा हुआ दोष—	६
तीनों दोष अधिक बढ़े हुए का भेद—	१=योग १३।

स्पष्टीकरण

१. वातप्रधान, पित्तप्रधान, कफमध्य।
२. वातप्रधान, कफप्रधान, पित्तहीन।
३. पित्तप्रधान, कफप्रधान, वातहीन।
१. वातप्रधान, कफहीन, पित्तहीन।
२. पित्तप्रधान, कफहीन, वातहीन।
३. कफप्रधान, वातहीन, पित्तहीन।
१. कफप्रधान, पित्तमध्य, वातहीन।
२. पित्तप्रधान, कफमध्य, वातहीन।
३. वातप्रधान, कफमध्य, पित्तहीन।
४. कफप्रधान, वातमध्य, पित्तहीन।
५. वातप्रधान, पित्तमध्य, कफहीन।
६. पित्तप्रधान, वातमध्य, कफहीन।
१. वात, पित्त, कफ (तीनों दोष) प्रधान।

भावप्रकाश मध्यमखण्ड ज्वराधिकार में सन्निपातज्वर के १३ भेदों की चर्चा इस प्रकार है—

एकोल्बणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्बणाश्च तथेति षट्। त्र्युल्बणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्। सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश॥

एक दोषप्रधान तीन—१. वातप्रधान, २. पित्तप्रधान, ३. कफप्रधान। **दो दोषप्रधान तीन**—१. वात-पित्तप्रधान, २. वात-कफप्रधान, ३. पित्त-कफप्रधान। **एक दोषप्रधान एक**—१. वात-पित्त-कफप्रधान। **प्रवृद्ध, मध्यम, हीन भेद से छः**—१. प्रवृद्धवात, मध्यमपित्त, हीनकफ, २. मध्यमवात, प्रवृद्धपित्त, हीनकफ, ३. हीनवात, प्रवृद्धपित्त, मध्यमकफ, ४. प्रवृद्धवात, हीनपित्त, मध्यमकफ, ५. मध्यमवात, हीनपित्त, प्रवृद्धकफ, ६. हीनवात, मध्यमपित्त, प्रवृद्धकफ। इस प्रकार ३+३+१+६=१३ भेद सन्निपातज्वर के होते हैं। भावप्रकाश में इनके विशिष्ट नामों की चर्चा इस प्रकार की गयी है—

(क) विस्फारकश्चाशुकारी कम्पनो बभ्रुसंज्ञकः। शीघ्रकारी तथा भल्लुः सप्तमः कूटपालकः॥
सम्मोहकः पाकलश्च याम्यः क्रकच इत्यपि। ततः कर्कटकः प्रोक्तस्ततो वैदारिकाभिधः॥

(ख) शीताङ्गस्त्रिमलोद्भवो ज्वरगणे तन्द्री प्रलापी ततो,
रक्तष्ठीवयिता च तत्र गणितः सम्भुग्न नेत्रस्तथा ।
साभिन्यासकजिह्वकश्च कथितः प्राक्सन्धिगोऽथान्तको,
रुग्दाहः सह चित्तविभ्रम इह द्वौ कर्णकण्ठग्रहौ ॥

(ग) कुम्भीपाकः प्रोर्णुनावः प्रलापी ह्यन्तर्दाहो दण्डपातोऽन्तकश्च ।
एणीदाहश्चाथ हारिद्रसंज्ञो भेदा एते सन्निपातज्वरस्य ॥
अजघोषभूतहासौ यन्त्रापीडश्च सन्यासः ।
संशोषी च विशेषास्तस्यैवोक्तास्त्रयोदशान्यत्र ॥

ज्वरतिमिरभास्कर के अनुसार सन्निपातज्वरों के नाम

प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार	तृतीय प्रकार
१. विस्फारक (विस्फोरक या विस्फोटक)	१. शीतांग	१. कुम्भीपाक
२. आशुकारी (मकरी)	२. तन्द्री (तन्द्रिक)	२. प्रोर्णुनाव (पौर्णनाव)
३. कम्पन (पुष्कल)	३. प्रलापी (प्रलापक)	३. प्रलापी
४. बभ्रु, (बभ्र, बढ, विधु)	४. रक्तष्ठीवी (रक्तस्रावी)	४. अन्तर्दाह
५. शीघ्रकारी	५. भुग्ननेत्र	५. दण्डपात (दन्तपात)
६. भल्लु	६. अभिन्यास	६. अन्तक (अन्तरा)
७. कूटपालक	७. जिह्वक (जिदिक)	७. एणीदाह
८. सम्मोहक	८. सन्धिक(ग)	८. हारिद्र
९. पाकल (कम्पन)	९. अन्तक	९. अजघोष
१०. याम्य, याम्यक, संग्राम	१०. रुग्दाह	१०. भूतहास
११. क्रकच	११. चित्तविभ्रम	११. यन्त्रापीड
१२. कर्कोटक	१२. कर्णग्रह (कर्णक)	१२. संन्यास
१३. वैदारिक	१३. कण्ठकुब्ज (कण्ठकुज)	१३. संशोषी

इन नामों में जो वैकल्पिक नाम दिये गये हैं, वे तन्त्रान्तरों में मिलते हैं। इन सभी का विस्तृत विवरण ज्वरतिमिरभास्कर ७।५७-६२ में देखें।

वातादि दोषों के हीन, मध्यम, प्रधान भेद से इनका क्रम नीचे दिया जा रहा है—

प्रथम वर्गीकरण

क्रम	दोषस्वरूप	रोग	नाम	दोष प्रधान
१.	वातप्रधान	सन्निपात	विस्फारक	एक दोषप्रधान
२.	पित्तप्रधान	,,	शीघ्रकारी	,,
३.	कफप्रधान	,,	पुष्कल (कम्पन)	,,
४.	वात-कफप्रधान	,,	बभ्रु (विधु)	दो दोषप्रधान
५.	पित्त-कफप्रधान	,,	फल्गु (भल्लु)	,,
६.	वात-कफप्रधान	,,	आशुकारी (मकरी)	,,
७.	कफप्रधान, पित्तमध्य, वातहीन	,,	वैदारिक	तर-तम वाले तीन दोष
८.	कफप्रधान, वातमध्य, पित्तहीन	,,	कर्कोटक	
९.	वातप्रधान, पित्तमध्य, कफहीन	,,	सम्मोहक	,,
१०.	पित्तप्रधान, कफमध्य, वातहीन	,,	याम्य (याम्यक)	,,
११.	पित्तप्रधान, वातमध्य, कफहीन	,,	क्रकच	,,
१२.	वातप्रधान, कफमध्य, पित्तहीन	,,	पाकलक	,,
१३.	तीनों दोषों की प्रधानता वाला	,,	कूटपालक	तीनों दोष प्रधान

वातादि दोषों के चयापचय के क्रमानुसार द्वितीय तथा तृतीय वर्गीकृत उक्त नामों में इस प्रकार परिवर्तन देखा जाता है—

क्रम	द्वितीय वर्गीकरण	तृतीय वर्गीकरण	दोषादि क्रम-परिचय
१.	सन्धिग	१. अन्तर्दाह	एकदोष क्षीणवाले
२.	अन्तक	२. दण्डपात	,,
३.	रुग्दाह	३. अन्तक	,,
४.	चित्तविभ्रम	४. कुम्भीपाक	दो दोष क्षीणवाले
५.	कर्णक	५. प्रोर्णुनाव	,,
६.	कण्ठकुब्ज	६. प्रलापी	,,
७.	शीतांग	७. एणीदाह	प्रधान, मध्य, हीनक्रम से क्षीण होनेवाले
८.	तन्द्रिक	८. भूतहास	,,
९.	प्रलापक	९. अजघोष	,,
१०.	रक्तस्रावी	१०. हारिद्र	,,
११.	भुग्ननेत्र	११. संशोषी	,,
१२.	अभिन्यास	१२. संन्यास	,,
१३.	जिह्वक	१३. यन्त्रापीड	समान क्षीण होने वाला

विशेष—इनका परिचय ज्वरतिमिरभास्कर में ७।६०-६१ श्लोक देखें।

विशिष्ट सन्निपातज्वर

ऊपर वातपित्त-प्रधान सन्निपात को बभ्र या बभ्रु कहा गया है, इसका लक्षण भावमिश्र ने इस प्रकार दिया है—

वातपित्ताधिको यस्तु सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोषः प्रमीलकः ॥
आध्मानारुचितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमाः । मुनिभिर्बभ्रुनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः ॥
—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार

इसमें चरकोक्त दाह, गुरुता, शिरःशूल आदि लक्षणों की चर्चा न करके कुछ नवीन लक्षणों का निर्देश किया है, किन्तु वे सभी प्रकुपित दोष लक्षणों के अनुरूप ही हैं। 'प्रमीलक' का अर्थ है आँख की पलकों का परस्पर सट जाना।

महर्षि सुश्रुत ने अपनी संहिता के उ० तं० अ० ३९ श्लोक ३८ से ४५ तक में निम्नलिखित चार सन्निपातज्वरों का उल्लेख किया है—१. अभिन्यास, २. हतौजस, ३. सन्यास और ४. ओजोनिरोधज।

शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहरुग्व्यथाः । वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥

२. **वात-कफप्रधान, पित्तहीन सन्निपातज्वर**—शीत (जाड़ा) लगना, कास, भोजन में अरुचि' तन्द्रा (उँघाई), पिपासा (पानी पीने की इच्छा), दाह, शरीर में टूटने की-सी पीड़ा तथा सामान्य वेदना—ये लक्षण वात-कफप्रधान तथा पित्तदोष के हीन होने पर उत्पन्न सन्निपातज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—आचार्य भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ में इसे शीघ्रकारी की संज्ञा देकर इस प्रकार परिचय प्रस्तुत किया है—

'वातश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य शीतज्वरो मूर्च्छा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः ॥
शूलघ्नैः स्विद्यमानस्य तन्द्रा श्वासश्च जायते । असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥
नहि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः । —भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार ।

इसमें शीत लगकर ज्वर, मूर्च्छा, भूख, प्यास, पसलियों में पीड़ा (हूक या चमक), तथा शूलनाशक औषधों द्वारा स्वेदन करने पर तन्द्रा और श्वास बढ जाते हैं। यह सन्निपातज्वर असाध्य होता है। इसका प्रकोप

होने के बाद रोगी आठ पहर (२४ घंटे) भी जीवित नहीं रह पाता है। इसमें 'भूख लगना' जो लक्षण विशेष कहा गया है, यह अरिष्ट लक्षण है।

छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥९३॥

३. पित्त-कफप्रधान, वातहीन सन्निपातज्वर—इसमें उलटी का होना, शरीर में शीत लगना, फिर दाह (जलन) होना, तृष्णा (प्यास), मोह (बेहोशी), हड्डियों में पीड़ा—ये सब लक्षण पित्त-कफप्रधान और वातहीन सन्निपातज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—पित्त की अधिकता से पित्त की (कड़ुवी, खट्टी) उलटी का होना, बार-बार दाह, पिपासा तथा मोह। कफ की अधिकता से बार-बार जाड़ा लगना (यह अर्थ 'मुहुः' शब्द को 'शैत्यं' तथा 'दाहः' से जोड़ने से प्राप्त है) और हीन वात का लक्षण है—अस्थियों में वेदना। भावमिश्र ने 'ज्वरतिमिरभास्कर' के अनुसार इसे भल्लु या फल्गु संज्ञा देकर इसके लक्षण निम्न प्रकार से दिये हैं—

'पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। अन्तर्दाहो बहिःशीतं तस्य तृष्णा प्रवर्द्धते॥
तुदते दक्षिणे पार्श्वे सोरः शीर्षगलग्रहः। ष्ठीवति श्लेष्मपित्तञ्च कृच्छ्रात् कोष्ठश्च जायते॥
विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्द्धन्ते सप्रमीलकाः। ऋषिभिर्भल्लुनामाऽयं सन्निपात उदाहृतः'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

इसमें शरीर के भीतर दाह तथा बाहर से दाह का अनुभव होता है, प्यास बढ़ जाती है, दाहिनी पसली में तोद (सुई चुभाने की-सी वेदना), छाती, शिर तथा गला जकड़ जाता है। थूक में कफ तथा पित्त निकलता है। शरीर पर चकत्ते निकल आते हैं। मलभेद, श्वास, हिक्का तथा प्रमीलक हो जाते हैं।

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता॥

४. वातप्रधान, कफ-पित्तहीन, सन्निपातज्वर—इसमें सन्धियों, अस्थियों तथा सिर में शूल, प्रलाप, शरीर में भारीपन, चक्करों का आना, प्यास लगना, गला और मुख का बार-बार सूखना—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—इस सन्निपातज्वर में वात की प्रधानता होती है। अतः अधिकांश लक्षण वायु के ही दिखलायी दे रहे हैं—**'वाताद् ऋते नास्ति रुजा'**। अतः सन्धि आदि में वेदना, अंट-संट बकना, भ्रम, तृष्णा, गला-मुख का सूखना—ये सभी लक्षण वायु के हैं। केवल गौरव कफ का लक्षण दिखलायी दे रहा है। 'तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता' में वायु के साथ पित्त का भी सहयोग स्वीकार्य है। श्रीभावमिश्र ने इसको विस्फारक नामक सन्निपातज्वर माना है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

'श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोहवेपथू। पार्श्वस्य वेदनाजृम्भा कषायत्वं मुखस्य च॥
वातोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। एष विस्फारको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

श्वास, कास, भ्रम, मूर्च्छा, प्रलाप, मोह, कम्पन, पसलियों तथा फुफ्फुसों में वेदना, जँभाई, मुख में कसैलापन—ये वातप्रधान विस्फारक नामक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं।

रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड् बलसङ्क्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि॥

५. पित्तप्रधान, कफ-वातहीन सन्निपातज्वर—मल तथा मूत्र का लालवर्ण का या रक्तमिश्रित होना, दाह (सम्पूर्ण शरीर में जलन), पसीने का आना, प्यास लगना, बल का सहसा कम होना, मूर्च्छा (बेहोशी)—ये पित्तप्रधान, कफ-वातहीन सन्निपातज्वर के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—पित्त की अधिकता के ही ऊपर सभी लक्षण हैं। मूर्च्छा की उत्पत्ति में तो पित्त की प्रधान भूमिका होती ही है। जैसे—**'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया'**। बल के सम्यक् क्षय में भी पित्त की विकृति ही कारण है। ध्यान दें—ग्रीष्मऋतु में सामान्य जन-जीवन शक्ति के ह्रास का अनुभव करता है, क्योंकि वह 'आदानकाल' कहा जाता है। अस्तु। श्रीभावमिश्र इसे 'आशुकारी' कहते हैं। देखें—

'अतिसारो भ्रमो मूर्च्छा मुखपाकस्तथैव च। गात्रे च विन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते॥
पित्तोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। भिषग्भिः सन्निपातोऽयमाशुकारी प्रकीर्तितः'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

अतिसार, भ्रम, मूर्च्छा, मुखपाक, त्वचा के ऊपर लाल-लाल दानों का दिखलायी देना, अत्यन्त दाह—ये पित्तप्रधान 'आशुकारी' नामक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं। यदि हम उन लाल दानों को प्रधान लक्षण मान लें तो यह पाश्चात्य-पद्धति के चिकित्सकों के अनुसार 'टाइफाइड' ज्वर है।

आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्रा कासेन चादिशेत् ॥९६॥

६. कफप्रधान, वात-पित्तहीन सन्निपातज्वर—आलस्य, अरुचि, जी-मिचलाना, दाह, वमन, बेचैनी, चक्कर आना, तन्द्रा और कास—ये लक्षण कफप्रधान, वात-पित्तहीन सन्निपातज्वर के हैं।

वक्तव्य—श्रीभावमिश्र ने इसका 'कम्पन' नाम से वर्णन किया है। यथा—

'जडता गद्गदा वाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि। प्रस्तब्धे नयने चैव मुखमाधुर्यमेव च॥
कफोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत्। मुनिभिः सन्निपातोऽयमुक्तः कम्पनसंज्ञकः'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

जड़ता, गद्गद वाणी (स्पष्ट बोलने की शक्ति का अभाव), रात में नींद का आना, आँखों का जकड़ा रहना, मुख में मधुरता—ये कफ-प्रधान 'कम्पन' नामक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं। उक्त श्लोक में सभी कफ के नैसर्गिक लक्षण हैं।

प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम्। हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्॥

७. कफप्रधान, पित्तमध्य, वातहीन सन्निपातज्वर—प्रतिश्याय (जुकाम), छर्दि (उलटी), आलस्य, तन्द्रा (उँघाई), अरुचि, अग्निमार्दव (पाचकाग्नि की शिथिलता)—ये कफप्रधान, पित्तमध्य, वातहीन सन्निपातज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'प्रतिश्या' शब्द 'प्रतिश्याय' के लिए प्रयुक्त है। आचार्य ने ऐसा मात्र छन्द के अनुरोध से किया है—**'एकदेशविकृतमनन्यवत्'** तथा **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** ऐसा व्यवहार व्याकरणसम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध है। इसको श्रीभावमिश्र ने 'वैदारिक सन्निपात' कहा है। यथा—

'हीनमध्यप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
अल्पशूलं कटीतोदो मध्ये दाहो रुजा भ्रमः। भृशं क्लमः शिरोवस्तिमन्याहृदयवाग्रुजः॥
प्रमीलकः श्वासकासहिक्काजाड्यविसंज्ञकाः। प्रथमोत्पन्नमेनन्तु साधयन्ति कदाचन॥
एतस्मिन् सन्निवृत्ते तु कर्णमूले सुदारुणा। पिडिका जायते जन्तोर्यया कृच्छ्रेण जीवति॥
स वैदारिकसंज्ञोऽयं सन्निपातः सुदारुणः। त्रिरात्रात् परमेतस्य व्यर्थमौषधकल्पनम्'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

इसमें दोषों के बलाबल के अनुसार लक्षण दिखलायी देते हैं, तो भी थोड़ा शूल, कमर में सुई चुभने की सी पीड़ा, उदर में जलन तथा पीड़ा, सिर में चक्करों का आना, अधिक सुस्ती, सिर, वस्ति, गर्दन, हृदय तथा बोलने में कष्ट, प्रमीलक, श्वास, कास, हिक्का, जड़ता, संज्ञाहीनता—ये लक्षण जिसमें दिखलायी दें, उसे वैदारिक सन्निपात कहते हैं। आरम्भ में ही उचित चिकित्सा होने से इसमें कभी-कभी सफलता मिल जाती है। इसके शान्त हो जाने पर यदि कान की जड़ में भीषण फोड़ा हो जाता है, तो रोगी का बचना कठिन हो जाता है। ऐसा माधवकर ने भी कहा है—**'सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोफः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते'**। माधवनिदान, ज्वर-प्रकरण। तीन दिन चिकित्सा करने पर यदि लाभ नहीं होता, तो फिर चिकित्सा करना व्यर्थ है।

हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः। हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥९८॥

८. पित्तप्रधान, कफमध्य, वातहीन सन्निपातज्वर—मूत्र तथा नेत्रों का वर्ण हल्दी के सदृश होना, दाह (जलन), प्यास, भ्रम (चक्करों का आना), भोजन के प्रति अरुचि, पित्तप्रधान, कफमध्यम तथा वातदोष के हीन होने पर ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने **'हारिद्रनेत्र'** का अर्थ 'आँखों का लाल होना' लिखा है। ध्यान दें—केवल पित्त की अधिकता में आँखें लाल हो जाती हैं। यहाँ तो कफदोष भी मध्यम शक्ति से पित्त के साथ है। अतः आँखों का हरिद्रा के वर्ण से युक्त (पीला) होना ही उचित है, न कि लाल होना। श्रीभावमिश्र के शब्दों में यह **'याम्य'** नामक सन्निपात है। यथा—

'हीनप्रवृद्धमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
हृदयं दह्यते ... यकृत्प्लीहान्त्रफुप्फुसाः। पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्ध्वाधःपूयशोणितनिर्गमः॥
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद् विशेषतः। भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यो नाम्ना प्रकीर्तितः'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

इसमें दोषों के बलाबल के अनुसार लक्षणों का वर्णन किया गया है। हृदय में दाह, यकृत्, प्लीहा, आँत तथा फुप्फुसों में पाक; मुख, गुद से मवाद तथा रक्त निकलता है। दाँत गिर जाते हैं। अन्ततः रोगी की मृत्यु हो जाती है। चिकित्सकों ने इसे 'याम्य' (यमलोक को पहुँचाने वाला) सन्निपात कहा है।

शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं स्यान्मारुताधिके ॥९९॥

९. **वातप्रधान, कफमध्य, पित्तहीन सन्निपातज्वर**—शिर में वेदना, शिर या सम्पूर्ण शरीर में कम्पन, श्वास की अधिकता, प्रलाप (अंट-संट बकना), वमन, भोजन में अरुचि—ये लक्षण वाताधिक कफमध्य पित्तहीन सन्निपातज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—श्रीभावमिश्र ने इसे 'क्रकच' सन्निपात कहा है। यथा—

'प्रवृद्धहीनमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
प्रलापायाससम्मोहाः कम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः। मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात् तत्राप्येतद्विशेषतः॥
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः सम्प्रकीर्तितः'॥ —भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

उक्त लक्षण वातादि दोषों के बलाबल के अनुसार होते हैं। प्रलाप, आयास, संमोह, कंपन, मूर्च्छा, बेचैनी, भ्रम तथा विशेष रूप मन्यास्तम्भ के साथ मृत्यु भी हो जाती है। बोलचाल की भाषा में इसे 'गर्दन तोड़ ज्वर' कहते हैं। इसी को आचार्य ने 'क्रकच' सन्निपात कहा है। अन्यत्र क्रकच शब्द का अर्थ लकड़ी चीरने का 'आरा' होना है।

शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्। हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः॥

१०. **कफप्रधान, वातमध्य, पित्तहीन सन्निपातज्वर**—शीत (ठंढा या जाड़ा) लगना, शरीर में भारीपन, तन्द्रा (उँघाई), प्रलाप, हड्डियों तथा सिर में अत्यधिक पीड़ा का होना—ये लक्षण कफाधिक वातमध्य, पित्तहीन सन्निपातज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—इसमें प्रधान लक्षण कफ के हैं। सामान्य प्रलाप तथा 'अस्थिशिरोऽतिरुक्' का होना वातदोष का लक्षण है। श्रीभावमिश्र ने इसे 'कर्कट' सन्निपात स्वीकारा है। यथा—

'मध्यहीनप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते। रक्तमालक्तकेनेव लस्यते मुखमण्डलम्॥
पित्तेनाकर्षितः, श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते। इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि॥
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने। जिह्वादग्धाखरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः॥
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्। अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः॥
तन्द्रानिद्रातियोगार्तो हतवाङ्निहतद्युतिः। न रतिं लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः। एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः'॥

—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

दोषों के बलाबल के अनुसार ही इसमें ये लक्षण होते हैं। इसमें विशेषरूप से अन्तर्दाह, बोलने में रुकावट, मुखमण्डल का लाल हो जाना मानो लाही के रंग से रंग दिया हो, पित्त के कारण छाती से कफ

का न निकलना, पसलियों में बाणों के चुभने की-सी वेदना, हृदय में सुई चुभाने की-सी पीड़ा, प्रमीलक (आँखों का मिच जाना) श्वास, हिचकी, जीभ का जली-सी खुरदरी हो जाना, गले में काँटे पड़ जाते हैं, रोगी को मल-मूत्र निकलने का ज्ञान नहीं रह जाता, कबूतर के समान कहरता रहता है, गले तथा छाती में कफ भरा रहता है, किन्तु मुख, होंठ, तालु सूखे रहते हैं, निद्रा, तन्द्रा का अतियोग रहता है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है, कान्ति का नाश हो जाता है, उसे किसी प्रकार की शान्ति नहीं मिलती, अनिष्टकर पदार्थों को चाहता है, शरीर तन जाता है, मुख से थोड़ा-थोड़ा रक्त निकलता है—ये कर्कट सन्निपात के लक्षण हैं। यह अत्यन्त कष्टकारक होता है। कर्कट केकड़ा को कहते हैं, वह जहाँ पकड़ लेता है, फिर वह छोड़ता नहीं, ऐसा ही यह सन्निपात भी है। अर्थात् रोगी को मारकर ही दम लेता है।

श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके महत्॥

११. **वातप्रधान, पित्तमध्य, कफहीन सन्निपातज्वर**—श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम), मुख का सूखना तथा पसलियों में अत्यन्त वेदना का होना—ये लक्षण उक्त सन्निपातज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—इस ज्वर को श्रीभावमिश्र ने 'सम्मोहक' सन्निपात की संज्ञा दी है। यथा—

'प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैस्तु यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
प्रलापायाससम्मोहकम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः। एकपक्षाभिघातश्च तत्राप्येते विशेषतः॥
एष सम्मोहको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः'॥ —भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

इसमें दोषों के बलाबल के अनुसार लक्षण होते हैं। तोद, कम्पन, निद्रानाश तथा विष्टम्भ—ये प्रवृद्ध वातदोष के लक्षण हैं। दाह, तृषा, उष्णता, स्वेद, पित्तमध्य के लक्षण हैं। गौरव, मन्दाग्नि, कास, मुख से लार का चूना और नाक का निरन्तर बहना कफहीन के लक्षण हैं, तो भी इस सन्निपात में विशेष करके प्रलाप से लेकर पक्षाभिघात तक के लक्षण दिखलायी देते हैं।

[1]वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः॥

१२. **पित्तप्रधान, वातमध्य, हीनकफ सन्निपातज्वर**—मल का पतला होकर निकलना (पाठभेद के अनुसार—जोड़ों में वेदना का होना) पाचकाग्नि का मन्द पड़ जाना, प्यास, दाह, अरुचि, सिर में चक्करों का आना—ये लक्षण उक्त सन्निपातज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—पित्तप्रधान होने के कारण **'वर्चोभेद'** पाठ अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, जिसका ग्रहण निर्णयसागरीय प्रति में किया गया है। कुछ अन्य प्रतियों में प्रथम लक्षण के रूप में **'पर्वभेद'** को महत्त्व दिया है, जब कि इस सन्निपात में वातदोष मध्यमबल वाला है। पाठक स्वयं विचार करें। दृष्टिकोण आपके सामने दे दिया है।

श्रीभावमिश्र ने इसे 'पाकल' सन्निपात माना है। पालकाप्य-विरचित 'हस्त्यायुर्वेद' के महारोगस्थान के ९वें अध्याय में **'पालक'** नामका एक ज्वर है जो हाथियों को होता है। वह **'पाकल'** से भिन्न है। किन्तु **'हारिद्र'** और **'प्रलाप'** नाम के जिन ज्वरों का वर्णन किया है, इनकी स्थिति गवेषणीय है। पाकल सन्निपात के लक्षण—

'मध्यप्रवृद्धहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः। तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥
मोहप्रलापमूर्च्छाः स्युर्मन्यास्तम्भः शिरोग्रहः। कासः श्वासो भ्रमस्तन्द्रा संज्ञानाशो हृदि व्यथा॥
खेभ्यो रक्तं विसृजति संरक्तस्तब्धनेत्रता। तत्राप्येते विशेषाः स्युर्मृत्युरर्वाक् त्रिवासरात्॥
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं कथितः पाकलाभिधः'॥ —भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

दोषों के बलाबल के अनुसार पाकल सन्निपात के निम्न लक्षण विशेषरूप से मिलते हैं—इसमें मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ (गले का जकड़ जाना), कास, श्वास, भ्रम, तन्द्रा, संज्ञानाश, हृदय में व्यथा, रक्तपित्त, आँखों में लालिमा तथा स्तब्धता होती है और तीन दिन के भीतर मृत्यु हो जाती है।

---

१. 'पर्वभेदः' इति पा०।

इन १२ सन्निपातज्वरों के लक्षणों का मूलपाठ काश्मीरप्रदेश में प्राप्त चरकसंहिता में है। सभी संहिताओं में उपलब्ध न होने के कारण कुछ टीकाकार इन श्लोकों को अनार्ष मानते हुए कहते हैं, कि ये लक्षण प्रकृतिसमवाय के हैं, जो आचार्य की शैली में नहीं है। वास्तव में ऐसा नहीं है। तन्त्रकार ने प्रत्येक विषय को सूत्ररूप में कहकर यथास्थान उसका विस्तार किया है। जो भी हो—'सन्निपातज उच्यते' कहकर आगे 'सन्निपातज्वरस्योर्ध्वम्' इत्यादि का निर्देश उचित प्रतीत नहीं होता।

भालुकितन्त्र में एक-दोषप्रधान तथा दो-दोषप्रधान सन्निपातज्वरों के पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं। यथा—
१. वात-पित्तप्रधान सन्निपात–विभु। २. पित्त-कफप्रधान सन्निपात–फल्गु। ३. कफ-वातप्रधान सन्निपात–मकरी। ४. वातप्रधान सन्निपात–विस्फारक। ५. पित्तप्रधान सन्निपात–शीघ्रकारी। ६. कफप्रधान सन्निपात–उल्बण।

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम्। क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ॥१०३॥
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि [1]दर्शने। सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ॥१०४॥
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः। परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ॥
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च। शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ॥१०६॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद् दर्शनमल्पशः। कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ॥१०७॥
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्। मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ॥
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः।

१३. **समदोषज सन्निपातज्वर**—अब इन विषमदोषज द्वादश सन्निपातों का वर्णन करने के बाद त्रिदोष प्रधान अर्थात् जिसमें तीनों दोष समानरूप से कुपित हुए हों, उस सन्निपातज्वर के लक्षणसमूह का वर्णन कर रहा हूँ। इसमें थोड़ी देर में दाह, थोड़ी देर में जाड़ा लगना, हड्डियों तथा जोड़-जोड़ में पीड़ा, शिरःशूल, आँखों से आँसुओं का निरन्तर बहते रहना, आँखों का मलिन रहना, लाल हो जाना, टेढ़ा पड़ जाना, कानों में साँय-साँय शब्द का होना, कानों में पीड़ा का होना, कण्ठ में मानो काँटों की उत्पत्ति (ये काँटे जौ या गेहूँ इस के समान गले में चुभते हैं) हो गयी हो, ऐसा लगना है। तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, चक्कर का आना, जीभ का काला पड़ जाना, स्पर्श करने में खुरदरी लगना (जैसी गाय की जीभ होती है—स्पर्श करके देखें), शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग अत्यन्त ढीले पड़ जाते हैं, थूक से कफ के साथ रक्त तथा पित्त निकलने लगता है, बार-बार शिर को इधर-उधर घुमाते रहना, पिपासा, निद्रा का न आना, हृदय में पीड़ा, पसीना, मूत्र तथा मल का बहुत समय के बाद थोड़ा-थोड़ा दिखलायी देना, शरीरावयवों का अधिक कृश न होना, कबूतर की तरह निरन्तर कहरते रहना, शरीर के ऊपर हल्के काले तथा लाल वर्ण के कोठों (बर्रे के काटने पर हुए शोथ के सदृश) का तथा मंडल (चकत्तों) का दिखलायी देना, मूकता (चुपचाप रहना), मुख, नाक, कान, गुद आदि स्रोतों का पक जाना, पेट का भारी रहना तथा वातादि दोषों का परिपाक देर से होना—ये सन्निपातज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—सभी दोषों का अपनी पूरी शक्ति के साथ एक स्थान पर प्रभावी होना ही सन्निपातज्वर का स्वरूप है। भला यह भयंकर और असाध्य क्यों नहीं होगा। अतएव इसकी तुलना यमराज से की गयी है, जो बिना प्राणों को ले जाये छोड़ता नहीं। ऐसे भयावह रोग से बचाने वाले चिकित्सक के प्रति रोगी को कृतज्ञ होना ही चाहिए। सम्मान के स्वरूप बहुत कुछ देना भी चाहिए। इस प्रकार की चर्चा अन्यत्र तन्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक की है। अस्तु। श्री भावमिश्र ने इसे कूटपालक सन्निपात की संज्ञा दी है। यथा—

सर्वदोषोल्बणो यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। त्रयाणामपि दोषाणां तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्रशस्त्राग्निसम्भवः। केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः ॥
त्रिरात्रात् परमेतस्य जन्तोर्हरति जीवितम्। तदवस्थन्तु तं दृष्ट्वा मूढा व्याहरते जनः ॥
धर्षितो राक्षसैर्नूनं वेलायां सञ्चरन्ति ये। अन्यथा ब्रुवते केचिद् यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसैः ॥
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथान्यैर्मस्तके जनम्। कुलदेवार्चनाहीनं धर्षितं कुलदैवतैः ॥

१. 'लोचने' इति पा०।

नक्षत्रपीडामपरे गरकर्मेति चापरे। सन्निपातमिमं प्राहुर्भिषजः कूटपालकम्' ॥
—भा० प्र० म० ख० ज्वराधिकार।

त्रिदोष-प्रधान 'कूटपालक' नामक सन्निपात का जब प्रकोप होता है, तब रोगी में तीनों दोषों के लक्षण देखे जाते हैं। यह सभी रोगों से भयंकर होता है। वज्र, शस्त्र तथा अग्नि के सदृश मारक होता है। इसमें रोगी केवल साँसें लेता रहता है, शरीर तथा नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं। यह तीन दिन में रोगी के जीवन को हर लेता है। रोगी की इस विषम दशा को देखकर मूर्ख (आयुर्वेदशास्त्र से अनभिज्ञ) लोग कहा करते हैं—इस रोगी पर राक्षसों का आवेश हो गया है, जो अपने समय पर इधर-उधर घूमते रहते हैं। कोई कहते हैं देवी का, यक्षिणी का, ब्रह्मराक्षस का, पिशाच का, देवयोनि-विशेष गुह्यक का आवेश हो गया है; कोई कहते हैं यह अपने इष्टदेव की उपासना नहीं करता, उसी का यह प्रकोप है; कोई कहते हैं नक्षत्र (सूर्यादि ग्रहों) का कष्ट है, दूसरे कहते हैं इसे किसी ने विष दे दिया है, किन्तु शास्त्रज्ञ वैद्य इसे 'कूटपालक' नामक सन्निपात-ज्वर कहते हैं।

भालुकि-तन्त्र में एकदोष तथा द्विदोष-प्रधान सन्निपातज्वरों के लक्षणों की चर्चा इस प्रकार की गयी है—

'आमो ह्याहारदोषात् प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे,
श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः।
स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत्कोपयेत् पित्तमन्तः,
सम्मूर्च्छर्यान्योऽन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम् ॥

वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्-तालुशोषप्रमीलकौ ॥
आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः। पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥
अन्तर्दाहो बहिः शैत्यं तस्य तन्द्रा च वर्धते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहः ॥
निष्ठीवेत् कफपित्तं च कृच्छ्रात् कण्डूश्च जायते। विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्धन्ते सप्रमीलकाः ॥
विभुः फल्गुश्च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ। श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥
तस्य शीतज्वरो निद्राक्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहः। शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः ॥
उदरं दह्यते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते। सन्निपातः स विज्ञेयो **मकरी**ति सुदारुणः ॥
वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य तृष्णा ज्वरो ग्लानिः पार्श्वरुक्दृष्टिसंक्षयः ॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः। सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ॥
निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिगृह्यते। आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि ॥
मूर्च्छते स्फार्यते रौति नाम्ना **विस्फारकः** स्मृतः। पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥
तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते। शीतञ्च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ ॥
ततश्चैनं प्रबाधन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः। विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥
नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते। स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः सम्प्रवर्तते ॥
शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णाश्वासः प्रबाधते। असाध्यः सन्निपातोऽयं **शीघ्रकारी**ति कथ्यते ॥
नहि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः। कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥
तस्य शीतज्वरः स्वप्नगौरवालस्यतन्द्रिकाः। छर्दिमूर्च्छानुपादाहतृष्णारोचकहृद्ग्रहाः ॥
ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः। श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥
तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात् सोपद्रवं ज्वरम्। निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति ॥
निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थिबाधते। अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं नैव जीवति ॥
मेदोगतः सन्निपातो **ह्युल्बणः** परिकीर्तितः। कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चापि प्रदह्यते ॥
मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत्। तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः' ॥

यहाँ तक प्रथम वर्गीकरण में दिये गये सन्निपातों की चरकोक्त सन्निपातों से समानता दिखलायी गयी है। यद्यपि यह समानता विवेचन की अपेक्षा रखती है, तथापि श्रीभावमिश्र की मान्यता का यहाँ आदर किया गया है। इसके आगे जिन्हें उन्होंने स्वयं 'ग्रन्थान्तरेऽपि' कहकर अपने ग्रन्थ में सादर उद्धृत किया है, उन द्वितीय तथा तृतीय वर्गीकरण में दिये सन्निपात-भेदों का परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा—

(१) शीताङ्ग सन्निपातज्वर—

हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः, श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापैः ।
क्लमबहुकफवातादाहवम्यङ्गपीडास्वरविकृतिभिरार्तः **शीतगात्रः** स उक्तः ॥

वक्तव्य—इसका प्रधान लक्षण 'शीतांग' अर्थात् शरीर का शीतल हो जाना है।

(२) तन्द्रिक सन्निपातज्वर—

तन्द्रातीव ततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिकः कासरुक् । सन्तप्तातितनुर्गलः श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्डूः कफः ।
सुश्यामारसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा । यत्र स्यात्स हि **तन्द्रिको** निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वरः ॥

वक्तव्य—इसका प्रधान लक्षण हर समय रोगी को 'तन्द्रा' (ऊँघाई) लगी रहना है।

(३) प्रलापक सन्निपातज्वर—

यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तरोषजाते प्रलापवहुलाः सहसोत्थिताश्च ।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्युर्नाम्ना **प्रलापक** इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥

वक्तव्य—इसका प्रधान लक्षण है—प्रलाप (अंट-संट बकते रहना)।

(४) रक्तष्ठीवि सन्निपातज्वर—

निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं, लौहित्यं नयने तृषारुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः ।
आध्मानञ्च विसंज्ञता च पतनं हिक्काङ्गपीडाभृशं, **रक्तष्ठीविनि** सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते ॥

वक्तव्य—इसका प्रधान लक्षण है—थूक के साथ रक्त का आना या मुख से रक्त का निकलना।

(५) भुग्ननेत्र सन्निपातज्वर—

भृशं नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्राभृशं, प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ।
पुरो निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे पुरातनचिकित्सकैः स इह **भुग्ननेत्रो** मतः ॥

वक्तव्य—इसका प्रधान लक्षण है—एक या दोनों नेत्रों का टेढ़ा हो जाना।

(६) अभिन्यास सन्निपातज्वर—

दोषास्तीव्रतरा भवन्ति वलिनः सर्वेऽपि यत्र ज्वरे, मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृशं मूकता ।
दाहं चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः, सो**ऽभिन्यास** इति प्रकीर्तित इह प्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा ॥

वक्तव्य—अभिन्यास का प्रधान लक्षण है—'मूर्च्छा' (बेहोशी)।

(७) जिह्वक सन्निपातज्वर—

त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वाभृशं, वृताकठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता ।
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तप्तयः पुरातनभिषग्वरास्तमिह **जिह्वकं** चक्षते ॥

वक्तव्य—जिह्वक का प्रधान लक्षण है—जीभ में काँटों की-सी उत्पत्ति।

(८) सन्धिग सन्निपातज्वर—

व्यथातिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु, प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक् ।
समस्तमिति कीर्तितं भवति लक्ष्म यत्र ज्वरे, त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते **सन्धिगः** ॥

वक्तव्य—सन्धिग का प्रधान लक्षण है—सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ (सूजन)।

(९) अन्तक सन्निपातज्वर—

यस्मिंल्लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरेऽजस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्वाङ्गपीडाधिका ।
हिक्काश्वासकदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता, वैकल्यञ्च वृथा वचांसि मुनिभिः सङ्कीर्तितः सो**ऽन्तकः** ॥

वक्तव्य—अन्तक का प्रधान लक्षण है—रोगी को मृत्यु के मुख में पहुँचा देना।

(१०) रुग्दाह सन्निपातज्वर—

दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा, श्वासप्रलापवमिचित्तविभ्रममोहपीडाः ।
मन्याहनुव्यथनकण्ठरुजः श्रमश्च **रुग्दाह**संज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥

वक्तव्य—रुग्दाह का प्रधान लक्षण है—सर्वांगपीडा और दाह (जलन)।

(११) चित्तभ्रम सन्निपातज्वर—

गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्येत् ।
दाहव्यथाभयार्तो नरस्तु **चित्तभ्रमे** ज्वरे भवति ॥

वक्तव्य—इसका प्रधान लक्षण है—चित्तभ्रम (मन की एकाग्रता का अभाव)।

(१२) कर्णिक सन्निपातज्वर—

दोषत्रयेण जनितः किल कर्णमूले तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च ।
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसनं प्रलापः, प्रस्वेदमोहदहनानि च **कर्णिका**ऽऽख्ये ॥

वक्तव्य—कर्णिक का प्रधान लक्षण है—असह्य वेदना वाला कर्णमूलशोथ।

(१३) कण्ठकुब्ज सन्निपातज्वर—

कण्ठः शूकशतावरुद्धवदतिश्वासः प्रलापाऽरुचिर्दाहो देहरुजा तृषाऽपि च हनुस्तम्भः शिरोऽर्तिस्तथा ।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे, यत्र स्यात् स हि **कण्ठकुब्ज** उदितः प्राज्ञैश्चिकित्साबुधैः ॥

वक्तव्य—कुण्ठकुब्ज का प्रधान लक्षण है—गले के भीतर काँटों की उत्पत्ति।

तृतीय वर्गीकरण में कहे गये त्रयोदश सन्निपातों का परिचय यहाँ भावप्रकाश-मध्यमखण्ड-ज्वराधिकार से उद्धृत किया जा रहा है, जब कि श्रीभावमिश्र ने भी इसे ग्रन्थान्तर (ज्वरतिमिरभास्कर) से लिया है। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) कुम्भीपाक सन्निपातज्वर—

घोणाविवरझरद्बहुशोणासितलोहितं सान्द्रम् । विलुठन्मस्तकमभितः **कुम्भीपाकेन** पीडितं विद्यात् ॥

वक्तव्य—कुंभीपाक एक नरक का नाम है। इसमें भी वैसी ही यातनाएँ होती हैं, जैसी इस सन्निपात-ज्वर में वर्णित हैं। ऊपर लक्षणों पर ध्यान दें।

(२) प्रोर्णुनाव सन्निपातज्वर—

उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तान्नितान्तमुच्छ्वसिति । तं **प्रोर्णुनाव**जुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥

वक्तव्य—यह अत्यन्त कष्टप्रद सन्निपात का एक भेद है।

(३) प्रलापि सन्निपातज्वर—

स्वेदभ्रमाङ्गभेदाः कम्पो दवथुर्वमिर्व्यथा कण्ठे । गात्रञ्च गुर्वतीव **प्रलापि**जुष्टस्य जायते लिङ्गम् ॥

वक्तव्य—इसमें अन्य लक्षणों के साथ रोगी अंट-संट भी बकता रहता है।

(४) अन्तर्दाह सन्निपातज्वर—

अन्तर्दाहः शैत्यं बहिः श्वयथुररतिरपि तथा श्वासः । अङ्गमपि दग्धकल्पं सो**ऽन्तर्दाहा**र्दितः कथितः ॥

वक्तव्य—इस ज्वर में रोगी को भीतर से सम्पूर्ण शरीर जल गया है, ऐसा अनुभव होता है।

(५) दण्डपात सन्निपातज्वर—

नक्तन्दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूर्धानंभसः । उत्थाय **दण्डपाती** भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति ॥

वक्तव्य—इसमें बेहोशी के कारण रोगी दण्ड के समान जमीन पर गिर जाता है, अतएव इसे दण्डपात कहते हैं।

(६) अन्तक सन्निपातज्वर—

सम्पूर्यते शरीरं ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं मरुता । श्वासातुरस्य सततं विचेतन**स्यान्तका**र्तस्य ॥

वक्तव्य—यमराज की भाँति यातना देने वाला यह ज्वर मृत्यु का सूचक होता है।

(७) एणीदाह सन्निपातज्वर—

परिधावतीव गात्रे रुक्पात्रे भुजगपतगहरिणगणः । वेपथुमतः मदाह**स्यैणीदाह**ज्वरार्तस्य ॥

वक्तव्य—इसमें रोगी को अनुभव होने वाले सभी लक्षण अरिष्ट के सूचक हैं।

(८) हारिद्रक सन्निपातज्वर—

यस्यातिपीतमङ्गं नयने सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम्। दाहोऽतिशीतता बहिरस्य स **हारिद्रको** ज्ञेयः॥

वक्तव्य—इसमें रोगी का सम्पूर्ण शरीर विशेष कर आँखें, नाखून, मल, मूत्र पीले पड़ जाते हैं।

(९) अजघोष सन्निपातज्वर—

छगलसमानगन्धः स्कन्धरुजावान् निरुद्धगलरन्ध्रः। **अजघोष**सन्निपातादाताम्राक्षः पुमान् भवति॥

वक्तव्य—इसमें गले के छिद्र रुक जाने से रोगी बकरे के समान शब्द करने लगता है, यही इसके नाम की सार्थकता है।

(१०) भूतहास सन्निपातज्वर—

शब्दादीनधिगच्छति न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामैः। हसति प्रलपति परुषं स ज्ञेयो **भूतहासार्तः**।

वक्तव्य—इसमें रोगी अनेक अस्वाभाविक चेष्टायें करने लगता है, यही इसका प्रधान लक्षण है।

(११) यन्त्रापीड सन्निपातज्वर—

येन मुहुर्ज्वरवेगाद् यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम्। रक्तं पित्तञ्च वमेद् **यन्त्रापीडः** स विज्ञेयः॥

वक्तव्य—इसमें रोगी अपने शरीर को यन्त्र द्वारा दबाने के समान कष्ट का अनुभव करता है।

(१२) संन्यास सन्निपातज्वर—

अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति। **संन्यास**सन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति॥

वक्तव्य—इसमें रोगी को शरीर की सुध-बुध नहीं रहती। अतः इसे 'संन्यास' कहते हैं।

(१३) संशोषि सन्निपातज्वर—

मेचकवपुरतिमेचकलोचनयुगलो मलोत्सर्गात्। **संशोषि**णि सितपिडिकामण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति॥

वक्तव्य—इसमें रोगी का शरीर और नेत्र काले हो जाते हैं, शरीर के ऊपर सफेद फुन्सियाँ और चकत्ते दिखलायी देने लगते हैं।

सन्निपातज्वर के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत का दृष्टिकोण—

'सर्वजे सर्वलिङ्गानि विशेषं चात्र मे शृणु। नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतस्वरः॥
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः। सास्रो निर्भुग्नहृदयो भक्तद्वेषी हतप्रभः॥
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः। तमभिन्यासमित्याहुर्हतौजसमथापरे॥
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदुः'॥ —सु० सं० उ० तं० अ० ३९।३८-४१।

अष्टाङ्गहृदय-निदानस्थान अ० २ श्लोक २७ से ३३ तक महर्षि वाग्भट के विचारों का भी यहाँ अनुसन्धान कर लेना चाहिए। वङ्गसेन द्वारा निर्दिष्ट 'अभिन्यासज्वर' के लक्षणों की ओर भी ध्यान दें। उन्होंने सन्निपात और अभिन्यासज्वर के लक्षणों में कहाँ 'साम्य' और कहाँ 'वैषम्य' है, इसे स्पष्ट किया है।

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः॥ १०९॥
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्त्वतोऽन्यथा।

सन्निपातज्वर की साध्यता-असाध्यता—वात आदि दोषों के परस्पर उलझ जाने या बद्ध हो जाने के कारण बाहर न निकल सकने पर और पाचकाग्नि के नष्ट (पाचन-क्रिया में असमर्थ) हो जाने पर तथा सन्निपातज्वर के जितने लक्षण कहे गये हैं, उन सबके या अधिकांश के प्रकट हो जाने पर सन्निपातज्वर असाध्य हो जाता है। यदि परिस्थिति उक्त लक्षणों के विपरीत (दोषों का भीतर ही उलझाव न हुआ हो, चिकित्सा के सहयोग से वे बाहर निकल रहे हों, अग्निमन्द न हो, अरिष्ट लक्षण न दिखलायी देते) हों तो रोग कष्टसाध्य होता है।

वक्तव्य—ऊपर जो दूसरे आचार्यों के मत से १३ सन्निपातों का पृथक्-पृथक् परिचय दिया गया है, उनमें लक्षणों के साथ ही साथ उनकी साध्यता तथा असाध्यता का निर्देश कर दिया गया है। किन्तु, तन्त्रकार

ने अपनी शैली के अनुसार यहाँ उसका अलग से उल्लेख किया है। ग्रन्थान्तरों में इसकी साध्यता आदि का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

'सन्धिगस्तेषु साध्यः स्यात् तन्द्रिणश्चित्तविभ्रमः। रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन संसाध्यस्तेषु भाषितः॥
रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः। अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षडसाध्याः प्रकीर्तिताः'॥

कुछ और—

'सन्निपातज्वरान् कष्टानसाध्यानपरे जगुः। दोषे प्रवृद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः॥
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कष्टसाध्यस्ततोऽन्यथा'॥ —भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

महर्षि पुनर्वसु ने (चरक सू० अ० २५ में) कष्टसाध्य रोगों में सन्निपातज्वर को प्रमुख माना है—**'सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्'**।

दोषे विबद्धे—'विबद्ध' शब्द मल का विशेषण है, ऐसा तर्क उपस्थित कर आचार्य जेज्जट दोष का अर्थ मल (पुरीष) करते हैं। कहीं 'विबद्ध' के स्थान पर 'प्रवृद्ध' शब्द भी प्रयुक्त है। **नष्टेऽग्नौ**—अग्नि नष्ट है या प्रदीप्त है, इसकी परीक्षा उसकी पाचन-शक्ति को देखकर ही की जाती है। देखें—**'अग्निं जरणशक्त्या'**। च० वि० अ० ४।८। असाध्य या 'कृच्छ्रसाध्य' शब्दों का प्रयोग यह संकेत करता है कि वह रोग किसी भी स्थिति में **'सुखसाध्य'** नहीं है। यहाँ हम आचार्य भालुकि के वचन को उद्धृत कर सन्निपात की भीषणता को प्रदर्शित कर रहे हैं—'मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता'। इसी का समर्थन हमें श्रीभावमिश्र के निम्न पद्य से भी मिल रहा है—

'नारायण एव भिषग्भेषजमेतेषु जाह्नवीनीरम्। नैरुज्यहेतुरेको नित्यं मृत्युञ्जयो ध्येयः'॥
—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः॥ ११०॥
संसर्गसन्निपातानां [1]तया चोक्तं स्वलक्षणम्।

सात प्रकार के ज्वर—चरक-निदानस्थान, ज्वर-प्रकरण में जो पृथक्-पृथक् वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले ज्वरों के तीन प्रकार के लक्षण कहे गये हैं, उन्हीं के संसर्ग से होने वाले द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वरों के भी अपने-अपने लक्षणों का निर्देश किया गया है।

वक्तव्य—ज्वर-निदान में पहले वातज, पित्तज, कफज भेद से तीन भेदों का; फिर द्वन्द्वज ज्वरों के तीन भेदों का; फिर सन्निपातज ज्वर के अपने लक्षणों का वर्णन किया है। काश्मीर-पाठ में सन्निपातज १३ प्रकार के ज्वरों की चर्चा मिलती है, ऐसा प्राचीन व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है। अन्य सम्प्रति उपलब्ध प्रतियों में उन पद्यों को अनार्ष स्वीकार किया गया है। इसमें तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यदि ये श्लोक महर्षि पुनर्वसु प्रणीत होते तो चक्रपाणि इनकी उपेक्षा नहीं करते।

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः॥ १११॥
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः।

आगन्तुक ज्वर के भेद—जिस आगन्तुक ज्वर को आठवाँ कहा गया है, वह—१. अभिघात, २. अभिषंग, ३. अभिचार और ४. अभिशाप-भेद से चार प्रकार का बतलाया गया है।

वक्तव्य—यद्यपि अभिषंग और अभिशाप को कोषकारों ने परस्पर पर्यायवाची माना है, किन्तु चिकित्सा-ग्रन्थों में इन दोनों को अलग-अलग मानकर उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों की चर्चा की गयी है। कुछ आचार्य भूताभिषंगज ज्वर की गणना विषमज्वर में करते हैं, ऐसा आचार्य सुश्रुत का मत है। देखें—सु० उ० तं० अ० ३९।६८। शार्ङ्गधराचार्य ने अपनी संहिता में आगन्तुक ज्वर के १३ भेदों की चर्चा इस प्रकार की है—

तथागन्तुज्वरोऽप्येकस्त्रयोदशविधो मतः। अभिचारग्रहावेशशापैरागन्तुकस्त्रिधा॥
श्रमाच्छेदात् क्षताद् दाहाच्चतुर्धाघातजो ज्वरः। कामाद्भीतेः शुचो रागाद् विषादौषधगन्धतः॥
अभिषङ्गज्वराः षट्स्युरेवं ज्वरविनिश्चयः'। —शा० सं० प्र० खं० ७।५-६।

[1] 'तथा' इति पा०।

इसका आशय निम्नोक्त तालिका में देखें—

शार्ङ्गधरोक्त आगन्तुकज्वर

- अभिचारज (१) (मारण-मोहन-उच्चाटन आदि)
  - श्रम (४) (थकावट से)
  - छेद (५) (शस्त्रादि द्वारा कटने से)
  - क्षत (६) (धाव आदि से)
  - दाह (७) (अग्नि बिजली आदि से)
- ग्रहावेशज (२) (ग्रहनक्षत्र-पीड़ा से)
- शापज (अभिषङ्गज) (३) (माता-पिता, गुरु आदि के रोष से)
  - कामज (८) (मैथुनाभिलाषा की पूर्ति न होने से)
  - भयज (९) (भय से)
  - शोकज (१०) (पति-पुत्रादि की मृत्यु तथा सम्पत्ति नाश से)
  - क्रोधज (११) (क्रोध करने से)
  - विषज (१२) (विषसेवन से)
  - औषधिगन्धज (१३) (विषैली औषधियों की गन्ध से)

शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टचरत्नितलद्विजैः ॥ ११२ ॥
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः ।

अभिघातज ज्वर का निदान—शस्त्र (तलवार, कुल्हाड़ी आदि), लोष्ठ (ईंट, पत्थर, मिट्टी का ढेला आदि), कशा (कोड़ा, चाबुक, लाठी आदि), काष्ठ (लाठी), मुट्ठी (मुक्का), अरत्नितल (थप्पड़ या लात), द्विज (दाँत)—इनके आघात से या इसी प्रकार की किसी अन्य आकस्मिक दुर्घटना से शरीर पर चोट आदि के लगने से जो ज्वर उत्पन्न होता है, उसे अभिघातज ज्वर कहते हैं।

तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ॥ ११३ ॥
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ।

अभिघातज ज्वर की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—उपर्युक्त प्रकार के अभिघातों (चोटों) से उत्पन्न ज्वर में प्रधानरूप से वायु प्रकुपित हो जाता है। यह कुपित वायु रक्त को दूषित कर अंगों में वेदना, सूजन, उस आहत स्थान में विवर्णता अथवा चेहरे को उदासीन बनाता हुआ पीड़ा युक्त ज्वर को पैदा कर देता है।

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ॥ ११४ ॥
सोऽभिषङ्गाज्ज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ।

अभिषंगज ज्वर का निदान—काम, शोक, भय, क्रोध अथवा भूतों से आक्रान्त पुरुष को उक्त कारणों से जो ज्वर होता है, उसे अभिषङ्गज ज्वर कहते हैं।

वक्तव्य—'अभिषंग' शब्द अनेकार्थवाची है। उसके सभी अर्थ इस ज्वर के निदान में सहायक हैं। ध्यान दें—**'शापेत्वभिषङ्गः पराभवे'**। अमरकोष। **'अभिषङ्गः पुल्लिङ्गः पराभवाक्रोशशपथेषु'**। मेदिनीकोष। अर्थात् **शाप** (ऋषि, मुनि, माता, पिता, गुरु आदि के अनिष्टकर वचन), दीनजनों की आह ('मुई खाल की साँस सों सार भस्म है जाय'), **पराभव** (युद्ध, शास्त्रार्थ, सट्टे-बाजी आदि में हार जाना या लज्जित होना) तथा **आक्रोश** (स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति जो सहवास सम्बन्धी आकर्षण या आग्रह है, उसे आक्रोश कहते हैं, उसमें असफलता उक्त ज्वर के कारण ही होती है)। अतएव शार्ङ्गधराचार्य ने इसे शापज तथा दूसरों ने अभिषंगज कहा है।

आगन्तुक ज्वरों में पहले कारण (अभिघात आदि) की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर ज्वर की, तब दोष प्रकुपित होते हैं। जिनका निर्देश आगे किया जा रहा है।

कामशोकभयाद् वायुः, क्रोधात् पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ११५ ॥
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ।

आगन्तुक ज्वर में दोष-प्रकोप-क्रम—काम, शोक तथा भय से वात का प्रकोप, क्रोध से पित्त का प्रकोप तथा भूताभिषङ्ग से वात आदि तीनों दोषों का प्रकोप होता है। इस भूताभिषङ्गज ज्वर में जिस प्रकार के तथा जिस-जिस प्रकृति के भूत-प्रेत आदि से ज्वर उत्पन्न होता है उनके अनुरूप ही लक्षण उस ज्वर में होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक १११ के वक्तव्य में अभिषङ्गज ज्वर के ६ भेदों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार हम भूतों का निर्णय इस प्रकार कर सकते हैं—'भवन्तीति भूताः'। इस परिभाषा से जन्म लेने वाले सभी को भूत कहा जा सकता है, किन्तु सम्बन्ध-भेद से वे भूत भी भिन्न-भिन्न होते हैं—१. **कामजभूत** (पति-पत्नी, नायक-नायिका, वियोनिमैथुन के अनेक रूप वाले भूत जिनका जिनसे सम्पर्क हो जाये)। २. **भीतिकारकभूत** (जिनसे भय उत्पन्न होता हो—शत्रु, शेर, बाघ, साँप, बिच्छू आदि)। ३. **शोककारक भूत**—(पति, पुत्र आदि आत्मीयजन, जिनकी मृत्यु या वियोग से शोक उत्पन्न होता हो)। ४. **क्रोधकारक भूत** (शत्रु, विपक्षी आदि)। ५. **विषजभूत** (सर्प, बिच्छू आदि प्राणी)। ६. **औषधिगन्धज** (वे पार्थिव विषैले द्रव्य जिनकी गन्ध सूंघने मात्र से ज्वर उत्पन्न हो जाता है। तन्त्रकार को किन भूतों का ग्रहण अभीष्ट है, उनकी चर्चा आगे की जा रही है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से प्रभावित कुछ विद्वान् उनको भूत मानने की अपील करते हैं, जिन कृमि विशेषों (जीवाणुओं) से टाईफाइड आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। आप विचार करें—क्या हम ऐसे रोगों का अन्तर्भाव आगन्तुक ज्वरों में कर सकेंगे ?

सुश्रुतसंहिता में आगन्तुक ज्वरों के प्रकरण में काम आदि के कारण होने वाले ज्वरों के सम्बन्ध में अत्यन्त विशद विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

> 'कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम्। हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति ॥
> भयात् प्रलापः शोकाच्च भवेत् कोपाच्च वेपथुः। अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥
> भूताभिषङ्गादुद्वेगहास्यकम्पनरोदनम्' ॥ —सु० उ० तं० अ० ३९।७८-७९।

महर्षि पुनर्वसु ने इस प्रकार का विचार इसी अध्याय में आगे श्लोक १२२-१२३ में किया है।

भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम् ॥ ११६ ॥

अष्टविध भूत-परिचय—भूताधिकार (चरक-निदानस्थान अध्याय ७) में आठ प्रकार के भूतों के लक्षणों का व्याख्यान कर दिया गया है।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान अध्याय ७ जिसको ऊपर 'भूताधिकार' कहा गया है, वास्तव में यह भूतज-उन्माद-प्रकरण है। इस प्रकरण में जहाँ-जहाँ उन्मादकारक भूतों का उल्लेख किया गया है, वे स्थल नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—'प्रज्ञापराधाद्ध्ययं देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचगुरुवृद्धसिद्धाचार्यपूज्यानवमत्याहितान्याचरति'। गद्य १०। यहाँ १२ भूतों का उल्लेख किया गया है। उन्माद प्रकार का वर्णन करते हुए महर्षि पुनर्वसु आगे कहते हैं—'तद् यथा—अवलोकयन्तो देवा जनयन्त्युन्मादं, गुरुवृद्धसिद्धमहर्षयोऽभिशपन्तः, पितरो दर्शयन्तः, स्पृशन्तो गन्धर्वाः, समाविशन्तो यक्षाः, राक्षसास्त्वात्मगन्धमाघ्रापयन्तः, पिशाचाः पुनरारुह्य वाहयन्तः। गद्य १२। यहाँ १० भूतों का उल्लेख किया गया है। आगे भी देखें—'उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचानां गुरुवृद्धसिद्धानां वा एष्वन्तरेष्वभिगमनीयाः पुरुषा भवन्ति'। गद्य १४। यहाँ भी १० भूतों का परिगणन किया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण में तन्त्रकार संकेत करते हैं—**'तदष्टविधलक्षणम्'**। यह कैसे संगत हो इसका विचार करना है, क्योंकि **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** और **'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'**। इस पद्धति का अनुसरण कर हम प्रयास करते हैं कि जिससे तन्त्रकार की वाणी युक्ति-युक्त प्रतीत हो सके।

विचार-संचार—यदि हम 'गन्धर्व' से लेकर 'पिशाच' तक के भूतों को 'विद्याधरोऽप्सरो-यक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' ॥ अमरकोष। के आधार पर देवयोनिविशेष

स्वीकार कर एक ही मान लेते हैं, तो दो दोष सामने आते हैं—प्रथम दोष यह है कि ऐसा करने से आठ की संख्या पूरी नहीं होती, दूसरा दोष यह है कि यक्ष, राक्षस और पिशाच इनके प्रकोपण प्रकार भिन्न-भिन्न हैं, अतः इनको स्वतन्त्र स्वीकार कर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य, पूज्यजनों को हम एक ही स्वीकार कर अष्टभूतों की संख्या का निर्धारण करते हैं। देवादि के आवेश का विशद विवेचन सुश्रुत उ० तं० अ० ६० में अवलोकनीय है।

विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथाऽन्यैर्विषसम्भवैः। अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् ॥११७॥
चिकित्सया विषघ्न्यैव स शमं लभते नरः।

अभिषंगज ज्वर के अन्य कारण—कुछ आचार्य विषस्पर्शात् (स्थावर या जंगम-विष के स्पर्श से), विष-वृक्षस्पर्शात् (जहरीले पेड़ों के स्पर्श से) तथा विषानिलस्पर्शात् (जहरीली वायु के स्पर्श से) तथा विष-युक्त वस्तों द्वारा स्नान करने से अभिषंगज ज्वर होता है, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार के ज्वर में विषनाशक औषधोपचार से (जिसकी चर्चा अगदतन्त्र में की गयी है) ज्वर शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—अभिषंगज ज्वर की चिकित्सा केवल विषनाशक औषधोपचार से होती है, ऐसा संकेत करते हुए आचार्य ने इसका जो दूसरा अंग कामज ज्वर है, उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं बतलाया। वास्तव में कामज ज्वर की चिकित्सा मात्र **'क्रियानिवृत्ति'** है। यद्यपि चिकित्सा-प्रसंगों में इसके लिए अनेक मनमोहक वातावरणों की चर्चाएँ उपस्थित की हैं। यहाँ अगले पद्य में तन्त्रकार ने उसका दिग्दर्शन किया है।

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते ॥ ११८ ॥
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः। सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम् ॥
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः। प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि ॥१२०॥
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते[1] प्रशमेन वा। वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके ॥१२१॥
यथाकर्मप्रयोगेण लक्षणं स्यात् पृथग्विधम्।

अभिचारज तथा अभिशापज ज्वर के लक्षण—सिद्धपुरुषों (साधु, सन्यासी, मान्त्रिक, तान्त्रिक आदि) के अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि) कर्म तथा अभिशाप कर्म द्वारा जो सन्निपातज्वर होता है, वह कष्टदायक (भयावह) और रोगी के लिए अत्यन्त असह्य होता है। सामान्यरूप से सन्निपात ज्वर में जो लक्षण (प्रारम्भ में) कहे गये हैं, वे ही लक्षण अभिचारज तथा अभिशापज ज्वरों में भी कहे गये हैं। उनके अतिरिक्त चित्त (हृदय), इन्द्रियों (आँख, कान, नाक आदि) तथा शरीरावयवों में अनेक प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं। इनमें अभिचार की प्रयोग-विधि को देखकर, शाप के प्रकार को समझकर या स्वयं शाप की शब्दावली को सुनकर अथवा अनुमान द्वारा अथवा चिकित्सा द्वारा इसकी कल्पना की जा सकती है, क्योंकि लोक में अभिचार, अभिशाप के अनेक भेद देखे-सुने जाते हैं। तदनुरूप ज्वरों के भी अनेक प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। अतः प्रयोगानुसार उन-उनकी चिकित्सा करने से लाभ होता है।

वक्तव्य—सिद्धपुरुषों द्वारा किये गये अभिचार, अभिशाप से जो ऊपर ज्वरोत्पत्ति की चर्चा की गयी है, इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि 'अभिचार' की क्रियाएँ निम्नवर्ग के लोग अपने कुत्सित स्वार्थ की सिद्धि के लिये कराते हैं, जिनका वास्तविक पता कभी-कभी लग पाता है। शेष अवसरों पर अनुमान ही सहायक होता है और कहीं चित्तभ्रमपूर्ण अनुमान घातक भी होता है! ऐसी स्थिति में **'प्रशमेन लक्ष्यते'** अर्थात् तदनुरूप चिकित्सा द्वारा यदि लाभ होता है, तो उसे निश्चित अभिचार समझना चाहिए। यही स्थिति अभिशाप की भी है। गुरुवशिष्ठ राजा दिलीप से कहते हैं—**'स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः'**। रघुवंश। किन्तु शाप के अनुरूप दिलीप की सन्तानोत्पत्ति में बाधा आ ही गयी थी। ऐसी अनेक घटनाएँ आज भी देखी-सुनी जाती हैं। यही स्थिति निराश्रित जनों की है, इनकी आह से भी बचना चाहिए।

ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ॥१२२॥

1. 'लक्षयेत्' इति पा०।

शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे। क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ॥१२३॥
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसम्भवे।

१. **कामज ज्वर**—नर अथवा नारी जब एक दूसरे को सहवास के लिए प्राप्त करना चाहते हैं अर्थात् एक दूसरे की कामना करते हैं और प्राप्त नहीं कर पाते, तब उसकी चिन्ता में मग्न हो जाते हैं, उस स्थिति में श्वास आदि लक्षणों की वृद्धि हो जाती है। ये लक्षण कामज्वर में होते हैं।

२. **शोकज ज्वर**—शोकजनित ज्वर में आँखों से बार-बार आँसू आते रहते हैं, इन्हीं को शोकाश्रु कहते हैं। इस क्रिया को रोदन कहते हैं।

३. **भयज ज्वर**—शेर, बाघ, साँप, बिच्छू, शत्रु अथवा राजा के पक्ष से होने वाले भय में त्रास (घबड़ाहट) होता है तथा मनुष्य की मानसिक स्थिति डाँवा-डोल हो जाती है।

४. **क्रोधज ज्वर**—इस ज्वर में अत्यन्त संरम्भ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका विवेचन इसी प्रकरण में आगे देखें।

५. **भूतावेशज ज्वर**—इस ज्वर में रोगी के कार्य-कलाप अमानुषिक (सामान्य मनुष्य के अनुरूप नहीं) दिखलायी देते।

६. **विषज ज्वर**—विष-सेवन से उत्पन्न होने वाले ज्वर में मोह (बेहोशी), मोह (इन्द्रियों में अपने-अपने कर्म के प्रति असमर्थता), मद (नशे की-सी स्थिति का बना रहना), ग्लानि (हर्षक्षय)—ये लक्षण विशेषरूप से दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—'सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः'। इस सूक्ति के अनुसार यदि हम सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों से शिक्षा न भी ले सकें, तो कम से कम सम्बन्धित शास्त्रों का अवलोकन तो कर ही लेना चाहिए। इसी दृष्टि से हम यहाँ सम्बन्धित विषयों की चर्चा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत कर रहे हैं।

कामज ज्वर में—वर-वधू के विवाह-काल में जो कामस्तुति से सम्बन्धित वैदिक मन्त्र पढ़ा जाता है, उसे देखें—'कोदात् कस्माऽदात् कामोदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते'। अर्थात् कौन दिया, किसके लिए दिया, काम ने काम के लिये दिया, अतः काम ही देने वाला है और काम ही लेने वाला है, यह सब काम की ही लीला है। अतः युवक युवती की और युवती युवक की कामना करते हैं, न मिलने की स्थिति में ज्वर आदि विकारों का उदय होता है। इसमें महर्षि सुश्रुत के अनुसार चित्तविभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, अभोजन, हृदय में वेदना और शरीर का उत्तरोत्तर कृश होना—ये लक्षण होते हैं। देखें—सु० उ० तं० अ० ३९। साहित्यशास्त्र में इसे विप्रलम्भशृंगार कहा गया है।

शोकज ज्वर में—सुश्रुत ने 'प्रलाप' एक लक्षण अधिक कहा है। वाग्भट ने भी इसी को समर्थन दिया है। सुश्रुतोक्त **'आशु गात्रञ्च परिशुष्यति'** लक्षण का अन्वय कामज, शोकज और भयज सभी ज्वरों के साथ किया जा सकता है, क्योंकि कामज ज्वर में विरही तथा विरहिणी दोनों के शरीर में कृशता आ जाती है। शोक और भय दोनों का प्रभाव तो व्यक्ति के शरीर पर पड़ता ही है।

क्रोधज ज्वर में—**'बहुसंरम्भ'** एक लक्षण दिया गया है। इसका प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता है। देखें—Agitation–व्याकुलता, वाद-विवाद। Impetuosity–तीव्रता (यह क्रोध में जो वेग होता है, उसकी सूचना देता है)। Turbulence–दंगा, उपद्रव, अशान्ति। Violence–हिंसा, अर्थात् क्रोधज ज्वर के लक्षण में इन सभी अर्थों का अनुसन्धान कर लेना चाहिए।

भूतावेशज ज्वर में—जितने प्रकार के भूतों की ऊपर चर्चा की गयी है, उनकी जो-जो अपनी प्रकृति होती है, तदनुरूप उन-उनकी चेष्टाएँ रोगी करता है। तात्पर्य यह है कि वह रोगी मानुषोचित कोई भी चेष्टा नहीं करता या नहीं कर पाता है। अकारण हँसना, रोना, काँपना आदि उन्माद-रोगी की भाँति वह विकृत चेष्टाएँ करता रहता है।

विषज ज्वर में—विष मूलतः दो प्रकार के होते हैं—१. **स्थावर विष**—संखिया, वत्सनाभ आदि। २. **जंगम विष**—सर्प, वृश्चिक, दंष्ट्रा विष आदि। इन सबके अलग-अलग प्रभाव देखे जाते हैं। सुश्रुतसंहिता

उ० तं० अ० ३९ में देखें—'श्यावास्यता विषकृते दाहातीसारहृद्ग्रहाः। अभक्तरुक्पिपासा च तोदो मूर्च्छा बलक्षयः॥ ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षयः' ॥ ७६-७७॥ यद्यपि मूर्च्छा और मोह दोनों ही शब्द एकार्थवाची हैं तथापि इनका प्रयोग यहाँ भिन्न दृष्टि से किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं।

केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः॥ १२४॥
पश्चात्तुल्यं तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु।

कामादि ज्वरों में सन्ताप का स्वरूप—ऊपर कहे गये कामज्वर आदि से पीड़ित रोगियों में से किसी-किसी रोगी में पहले सन्ताप (गर्मी, ज्वर) नामक लक्षण दिखलायी देता है और किसी रोगी में अन्य (पूर्वोक्त) लक्षण पहले और सन्ताप नामक लक्षण बाद में दिखलायी देते हैं।

कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम्॥ १२५॥
कामादिजानां रोगाणामन्येषामपि तत् स्मृतम्।

यहाँ पर जो काम आदि विकारों से होने वाले ज्वरों के विशिष्ट लक्षण (किसी में ज्वर लक्षण का पहले प्रकट होना तदनन्तर अन्य लक्षणों का) और किसी में पहले अन्य लक्षण उनके बाद सन्ताप (ज्वर) लक्षण कहे गये हैं। उसी प्रकार काम विकार से होने वाले अन्य (उन्माद, अतिसार आदि) रोगों में भी होते हैं।

मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम्॥ १२६॥
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दूष्यति।

काम (क्रोध) आदि द्वारा मन के प्रभावित होने पर पहले ज्वर उतना बलवान् नहीं होता, जब तक वात आदि दोषों से शरीरगत धातुएँ दूषित नहीं हो जाती हैं।

देहे चाभिह(द्रु)ते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम्॥ १२७॥
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति।

प्रकारान्तर से यहाँ उसी विषय को कहा जा रहा है—वात आदि दोषों से शरीर के आक्रान्त होने पर ज्वर उतना बलवान् नहीं होता है, जब तक काम आदि से मन दूषित नहीं हो जाता।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक १२२।१२३ में काम, शोक, भय, क्रोध, आदि के कारण जिन ज्वरों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, वे मानसिक ज्वर कहे जाते हैं। इनका सर्वप्रथम आघात मन पर होता है। इसी प्रकार शारीरिक ज्वर पहले शरीर पर अपना प्रभाव दिखलाकर बाद में मन को प्रभावित करते हैं। श्रीजयदेव विद्यालंकार वाली प्रति में उक्त पद्य मूलपाठ में नहीं दिया गया है। इनके अनुसार यह पाठ आचार्य गंगाधर द्वारा अभिप्रेत है। किन्तु निर्णयसागरीय प्रति में इसे मूलपाठ में आदर दिया गया है। कुछ भी हो, शारीरिक-मानसिक भेद से रोग दो प्रकार के होते ही हैं। उक्त दोनों पद्यों में इन्हीं रोगों के पौर्वापर्य-क्रम की चर्चा वर्णित है। जिन टीकाकारों ने **'वाताद्यैर्देहो'** के स्थान पर **'वाताद्यैर्मनो'** पाठभेद स्वीकार किया है, उन्होंने अपने मन को समझा लिया, ऐसा लगता है।

ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः॥ १२८॥
हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः।

आगन्तुज ज्वरों की विशेषता—वे (आगन्तुज ज्वर) पहले पूर्णरूप से (काम, क्रोध आदि भेद से स्व-स्वनाम से प्रसिद्ध) ज्वर होते हैं और बाद में अपने-अपने कारणों से कुपित वात आदि के लक्षणों से युक्त हो जाते हैं। वे (आगन्तुज) ज्वर हेतु, औषध (चिकित्साक्षेत्र) में वातादि ज्वरों में होने वाले लक्षणों से पृथक् होते हैं।

वक्तव्य—इसका विशेष विवरण सुश्रुत सं० उ० तं० अ० ३९।७८ में और चरक चि० अ० ३ श्लोक ११५ में देखें।

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः॥ १२९॥
रसाख्यं धातुमन्वेत्य [1]पक्तिस्थानान्निरस्य च। स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम्॥
स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः। सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा॥१३१॥
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते।

ज्वर की सम्प्राप्ति—पृथक् रूप से (वात, पित्त, कफ), संसृष्ट (द्वन्द्वज—वातपित्तज, वातकफज, पित्तवातज रूप से) अथवा सन्निपतित (त्रिदोष) रूप से प्रकुपित दोष रस-धातु से मिलकर पाचकाग्नि को उसके स्थान (ग्रहणी) से हटाकर उस (दोष) की तथा अग्नि की गर्मी से सम्पूर्ण शरीर की गर्मी को बलवान् करके, स्रोतों के मुखों को रोककर, सम्पूर्ण शरीर में प्रधानरूप से व्याप्त होकर अत्यन्त सन्ताप (गर्मी) उत्पन्न कर देते हैं, तब वह मनुष्य उस समय गरम शरीर वाला हो जाता है, अतएव वह ज्वर-रोग से युक्त कहा जाता है।

वक्तव्य—वास्तव में जब वात आदि (स्वतन्त्र, संसृष्ट तथा सन्निपतित) दोष अपने-अपने निदान में कहे गये कारणों से प्रकुपित हो जाते हैं, तब वे रसवाहिनियों द्वारा ग्रहणी में पहुँचकर पाचकाग्नि को (इसी को अन्यत्र कोष्ठाग्नि कहा गया है) बाहर कर देते हैं। उस बाहर निकली हुई अग्नि द्वारा शरीर का स्वाभाविक तापमान पहले की अपेक्षा बढ़ जाता है। आम (अपक्व) रस की अधिकता के कारण और तापमान के बढ़ जाने से स्वेदवाही स्रोतों के मुख अवरुद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे प्रकुपित दोष सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं और सम्पूर्ण शरीर सन्तप्त हो जाता है। यही ज्वर की सम्प्राप्ति है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखें—अष्टांगहृदय-निदानस्थान अ० २।

आचार्य भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ (भावप्रकाश-मध्यमखंड-ज्वराधिकार) में उपर्युक्त आठों प्रकार के ज्वरों की सम्प्राप्ति पृथक्-पृथक् इस प्रकार दी है—

वातज्वर की सम्प्राप्ति—
वातलाहारचेष्टाभ्यां वायुरामाशयाश्रयः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत् स्याद् रसानुगः॥

पित्तज्वर की सम्प्राप्ति—
पित्तलाहारचेष्टाभ्यां पित्तमामाशयाश्रयम्। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरकृत् स्याद् रसानुगम्॥

कफज्वर की सम्प्राप्ति—
श्लेष्मलाहारचेष्टाभ्यां कफो ह्यामाशयाश्रयः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदः स्याद् रसानुगः॥

वातपित्तज्वर की सम्प्राप्ति—
वातपित्तकरैर्वात-पित्ते ह्यामाशयाश्रये। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगे ज्वरकारिणी॥

वातकफज्वर की सम्प्राप्ति—
वातश्लेष्मकरैर्वातकफावामाशयाश्रयौ। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगौ ज्वरकारिणौ॥

पित्तकफज्वर की सम्प्राप्ति—
पित्तश्लेष्मकरैः पित्त-कफावामाशयाश्रयौ। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगौ ज्वरकारिणौ॥

सन्निपातज्वर की सम्प्राप्ति—
त्रिदोषजनकैर्वातः पित्तं श्लेष्मामगेहगाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगाः ज्वरकारिणः॥

आगन्तुकज्वर की सम्प्राप्ति—
श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः। पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम्॥

इस प्रकार सभी ज्वरों में कुपित हुए दोष रस-धातु को दूषित कर अपने आशय (अग्न्याशय) में स्थित पाचकाग्नि को अपने स्थान से विचलित या क्षुब्ध करके ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं, यह सामान्य क्रम है।

वास्तव में वात, पित्त, कफदोष, भले ही वे स्वतंत्र, संसृष्ट (द्वन्द्वज) अथवा सन्निपातज हों, वे आहार रस के साथ मिलकर शरीर भर में फैल जाते हैं और जाठराग्नि को शरीर भर में फैला देते हैं। अतः शरीर में वात आदि दोषों के लक्षणों से युक्त जाठराग्नि का सन्ताप उत्पन्न हो जाता है, उसी को 'ज्वर' कहते हैं।

---

१. 'पक्तिस्थानात्' इति पा०।

स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति ॥ १३२ ॥
स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे ।

तरुणज्वर में पसीना न आने में कारण—रसवाही स्रोतों के रुक जाने के कारण तथा अपने स्थान से अग्नि (पाचकाग्नि) के हट जाने के कारण तरुणज्वर में प्रायः मनुष्य को पसीना नहीं आता है।

वक्तव्य—कुछ विद्वानों का मत है कि आरम्भ होने के दिन मे सात दिन तक का ज्वर 'तरुणज्वर' कहा जाता है। यथा—'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः। द्वादशाहमभिव्याप्य मध्यं जीर्णं ततः परम्' ॥ —भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार। इस सम्बन्ध में अन्य अनेक मत हैं। उनका भी अनुसन्धान यथावसर कर लेना चाहिए।

हमारा विचार है कि आमज्वर का नाम 'तरुणज्वर' है, पच्यमानज्वर को मध्यज्वर और निरामज्वर को जीर्णज्वर कहा गया है। यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है, किन्तु दिनों की परिधि के भीतर इनको बाँधना, परिस्थिति विशेष में भ्रामक हो जाता है।

महर्षि सुश्रुत ने ज्वरों की सम्प्राप्ति का संकेत संक्षेप में किया है। देखें—सु० उ० तं० अ० ३९।१५-१८। इसी के आगे श्लोक २३-२४ में पसीना न आने की चर्चा भी की गयी है। वास्तविकता इस प्रकार है—जठराग्नि जब शरीर से बाहर आ जाती है और स्वेदवहस्रोतों के मुख बन्द हो जाते हैं तब पसीना नहीं निकल पाता। परन्तु यह स्थिति कभी-कभी होती है; इसके विपरीत कभी पसीना आते भी देखा जाता है। यहाँ पर 'ना' शब्द केवल पुरुषवाची न होकर नर-नारी, बालक, युवा, वृद्ध सबके लिए प्रयुक्त है।

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ॥ १३३ ॥
हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च । ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् ॥१३४॥
लालाप्रसेको हृल्लासः क्षुन्नाशो [1]विरसं मुखम्। स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता ॥१३५॥
न विड् जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् ।

आमज्वर के लक्षण—स्रोतों के मुखों के अवरुद्ध होने तथा जाठराग्नि के अपने स्थान से हटकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाने के कारण भोजन के प्रति अरुचि, खाये हुए पदार्थों का भलीभाँति न पचना, पेट का भारी बना रहना, हृदय की अविशुद्धि अर्थात् भारीपन, तन्द्रा (उँघाई), आलस्य, अविसर्गी (निरन्तर एक-सा बना रहने वाला) बलवान् ज्वर, दोषों की प्रवृत्ति का न होना अर्थात् बाहर न निकलना, मुख से निरन्तर लार का चूना, जी मिचलाना, भूख का न लगना, मुख का फीका पड़ना, शरीर में जकड़न, शून्यता तथा भारीपन, मूत्र का अधिक मात्रा में आना, आम (कच्चे) मल का निकलना, ग्लानि का न होना—ये सब आमज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—आम के लक्षणों की चर्चा करते हुए आचार्य भावमिश्र ने कहा है—'आहारस्य रसः सारो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। आमसंज्ञा च लभते बहुव्याधिसमाश्रयः' ॥ तन्त्रान्तर का उद्धरण देते हुए कहा है—'आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्। प्रथमं दोषदुष्टिं वा केचिदामं प्रचक्षते ॥ अविपक्वरसं सक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सदनं सर्वगात्राणामामामित्यभिशब्द्यते ॥ तेनामेन समायुक्ता दोषा दूष्याश्च तादृशाः। तदुद्भवा आमयाश्च सामा इति बुधैः स्मृताः' ॥ भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार। इसके आगे सामवायु, निरामवायु इस प्रकार सभी दोषों के स्वरूपों का उल्लेख किया गया है।

यद्यपि आमज्वरों में वमन, विरेचन का निषेध किया है, तथापि अवस्थाविशेष में जब आमदोष अत्यधिक बढ़ जाता है या संघातक रूप धारण कर लेता है, तब वमन, विरेचन का प्रयोग किया जाता है, कराना भी चाहिये, क्योंकि उससे लाभ होते भी देखा गया है।

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ॥१३६॥
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ।

1. "ऽविशदम्' इति पा०।

पच्यमानज्वर—इसमें ज्वर का अधिक वेग, प्यास का अधिक लगना, अंट-संट बकना, श्वास-प्रश्वास की गति का तीव्र होना, चक्करों का आना, अतिसार का होना, जी मिचलाना—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार सूचित करते हैं कि अनेक टीकाकारों का मत है कि उक्त पद्य चरकसंहिता के मूलपाठ में नहीं है, प्रक्षिप्त है। हमारे सम्पादन का आधार निर्णयसागरीय प्रति है। हमारे विचार से इसमें उक्त पद्य मूल में दिया गया है और आमज्वर के बाद पच्यमानज्वर का उल्लेख होना प्रसंग-प्राप्त है।

क्षुत् क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ॥१३७॥
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ।

निरामज्वर के लक्षण—भूख लगना, शरीर का कृश हो जाना, हलका हो जाना, ज्वर के वेग का मृदु हो जाना, दोषों (मल, मूत्र, स्वेद, कफ) की प्रवृत्ति (अपने-अपने ढंग से बाहर निकलना) और ज्वर आने के दिन से आठ दिन का बीत जाना—ये निरामज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—यहाँ पर निराम वात आदि दोषों के भावप्रकाशोक्त लक्षणों का भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए। महर्षि सुश्रुत ने पच्यमान तथा निरामज्वर का इस प्रकार वर्णन किया है—

'तीक्ष्णे ज्वरे गुरौ देहे विबद्धेषु मलेषु च। सामदोषं विजानीयाज्ज्वरं पक्वमतोऽन्यथा ॥
मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम्' ॥

—सु० उ० अ० ३९।११५।

अष्टाहः—ऊपर तन्त्रकार ने जो आठ दिन की कालावधि दी है, वह प्रायिक वचन है। अर्थात् सात दिनों में ज्वर का पाचन हो जाता है, तब आठवें दिन से उसे संशमन औषधों का प्रयोग कराना चाहिए। दूसरे आचार्य भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं, कि सात रात में सप्तधातुगत मल पच जाते हैं और उसके बाद वह रोगी निराम हो जाता है। अतएव तन्त्रकार ने आठ दिन की सामान्य अवधि निर्धारित की है। महर्षि वाग्भट अन्य आचार्यों का मत इस प्रकार उद्धृत करते हैं—'सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः'। अष्टांगहृदय चि० अ० १।४२।

आचार्य खरनाद के मत से—'न च निःसप्ततैवेका निरामज्वरलक्षणम्। चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपात-
ज्वरे मलाः। सप्तरात्रातिवृद्धिश्च ह्यामतादिस्वलक्षणम्। तस्मादेतद् द्वयं दृष्ट्वा निरामज्वरमादिशेत्' ॥ इसी
सन्दर्भ में हम भगवान् धन्वन्तरि के वचनों को उद्धृत करते हैं—'बहुदोषस्य मन्दाग्नेः सप्तरात्रात् परं ज्वरे।
लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते ॥ तदा तं मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनैः। कषायैः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः
समुपाचरेत्' ॥ सु० उ० अ० ३९।११०-११। इसके आगे महर्षि सुश्रुत ने दोषपाक हो जाने पर सात दिन से भी
पहले औषध-प्रयोग की अनुमति इस प्रकार दी है—'पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते। अचिरज्वरित-
स्यापि देयं स्याद् दोषपाकतः' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।१२०। चक्रपाणि ने इस पद्य को अपनी टीका में इस
प्रकार उद्धृत किया है—'अर्वागपि च देयं स्याद् भेषजं दोषपाकतः' ॥

भावमिश्र की स्पष्टोक्ति का अवलोकन करें—'निरुपद्रवे सामज्वरे पाचनं देयम्। सोपद्रवे तु सामे भेषजं
निषिद्धम् ॥ सप्ताहात् परतोऽदुष्टे सामे स्यात् पाचनं ज्वरे। निरामे शमनं स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत्' ॥
और भी—'पाययेदातुरं सामं पाचनं सप्तमे दिने। शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्' ॥ आमज्वर में औषध
सेवन का दुष्परिणाम—'पाययेद् दोषहरणं मोहादामज्वरे तु यः। स सुप्तं कृष्णसर्पं तु कराग्रेण परामृशेत्' ॥ भा०
प्र० म० खं० ज्वराधिकार।

हरिचन्द्र के अनुसार—'सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमे-
ऽहनि' ॥ तात्पर्य यह है कि जब तक आमदोष की शुद्धि नहीं हो जाती तब तक औषध का प्रयोग नहीं करना
चाहिए। आमदोष निवृत्त हो गया है, इसको समझने के लिए आपको उक्त पद्य में कहे गये भूख लगना आदि
लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए। यदि उक्त लक्षण प्रकट हो गये हों, तो फिर आठ दिन की अवधि की चिन्ता न
करके औषध आदि का प्रयोग आरम्भ करें, क्योंकि 'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः'। सात दिन तक
ज्वर की तरुणावस्था कही गयी है। इस काल में औषध-प्रयोग हानिकर होता है। यदि आप किसी उग्र

प्रभावकारी औषधि से ज्वर को शान्त कर भी देते हैं, तो वह शीघ्र ही अन्य प्रकार के उपद्रवस्वरूप रोग को उत्पन्न कर देगा, जिसे रोगी तथा उसके परिवार वाले बाद में पसन्द नहीं करेंगे।

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् ॥ १३८ ॥
क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायांश्च विवर्जयेत् ।

नवज्वर में अपथ्य—दिन में सोना, स्नान, अभ्यंग (तेल-मालिश), अन्नों (विविध प्रकार के भक्ष्यों) का सेवन, मैथुन (स्त्री-सहवास), क्रोध करना, प्रवात (तेज हवा या पूर्वा हवा) का सेवन, व्यायाम (किसी प्रकार का भी शारीरिक श्रम) करना तथा कषायों (क्वाथों) का प्रयोग नवीन ज्वर में नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—तन्त्रकार अपने उपदेश-निर्देश में स्वतन्त्र होता है। उसकी अपनी एक सरणि होती है, जिसे साहित्य में **'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'** कहा गया है। ध्यान दें—यह चिकित्सास्थान है। इसमें चिकित्सा परिपाटी को समादर देना तन्त्रकार को अभीष्ट है। अतएव उन्होंने सर्वप्रथम अपथ्य का निषेध किया है। अमरकोषकार की युक्ति **'निषिद्धलिङ्गं शेषार्थम्'** का यदि हम यहाँ ध्यान करते हैं तो अपथ्य पदार्थों से निषिद्ध सभी पदार्थ पथ्य होते हैं, अस्तु।

आचार्य हारीत का कथन है—'नवज्वरे व्यवायादि प्रत्येकं दोषकोपनम्। गुर्वन्नभोजनाच्चापि विष्टम्भो दोषकोपनम्' ॥ इसी का समर्थन जतूकर्ण ने भी किया है—'कषायरसगुरूष्णस्निग्धान्नस्नानाभ्यङ्गान् नवज्वरे वर्जयेत्'। इति।

दिवास्वप्न—'सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्'। दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है, अतः इसका निषेध किया है। इसी प्रकार स्नान, अभ्यंग आदि भी दोष-प्रकोपण में सहायक होते हैं।

कषायांश्च विवर्जयेत्—यहाँ बहुवचनान्त 'कषायान्' शब्द पञ्चविधकषाय (१. स्वरस, २. कल्क, ३. क्वाथ, ४. हिम, ५. फाण्ट) तथा इनके अनन्त भेदों का संकेत कर रहा है। इस क्रम में रखने का यह तात्पर्य है, कि ये उत्तरोत्तर लघु (सुपच) होते हैं। इनके निषेध में कारण—प्रायः सभी कषाय स्तम्भक होते हैं। अतएव वे दोषों को बाहर नहीं निकलने देते। अतः तरुणज्वर में कषायों का प्रयोग निषिद्ध है। कषाय को शृत, क्वाथ, निर्यूह भी कहते हैं। इसके अनेक रचना-प्रकार हैं। किस कषाय का निषेध नवज्वर में किया गया है, ध्यान दें—'चतुर्भागावशिष्टस्तु यः षोडशगुणाम्भसा। स कषायः कषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे' ॥ और भी देखें—'न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणे ज्वरे। कषायेणाऽऽकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः' ॥ इस प्रकार की अनेक निषेध-समर्थक उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसी भी क्वाथ का सेवन बिना चिकित्सक की अनुमति के न करें, यही शास्त्रकार का आदेश है—'वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत् क्वाथं सुपाचितम्'। शा० सं० म० खं० अ० २।३।

यद्यपि तन्त्रकार ने यहाँ केवल नवज्वर में नौ वस्तुओं को छोड़ने का आदेश दिया है, किन्तु सुश्रुत ने इसको विस्तार से इस प्रकार कहा है—'परिषेकान् प्रदेहांश्च स्नेहान् संशोधनानि च। स्नानाभ्यङ्गदिवास्वप्नशीतव्यायामयोषितः ॥ कषायगुरुरूक्षाणि क्रोधादीनि तथैव च। सारवन्ति च भोज्यानि वर्जयेत् तरुणज्वरी ॥ तथैव नवधान्यादि वर्जयेच्च समासतः।' सु० उ० तं० अ० ३९।१५६-१५८।

इस सम्बन्ध में आचार्य हारीत के विचार पढ़ें—'व्यायामाज्ज्वरसंवृद्धिर्व्यवायात् स्तम्भमूर्च्छनम्। मतिश्च स्नेहपानाद्यैर्मूर्च्छाच्छर्दिर्मदोऽरुचिः ॥ गुर्वन्नभोजनात् स्वप्नाद् विष्टम्भो दोषकोपनम्। अग्निमांद्यं खरत्वं च स्रोतसां चाप्रवर्तनम्' ॥ प्रत्येक आचार्य के उपदेश में कुछ न कुछ विशेषता होती ही है। यहाँ सामान्य अन्न के सेवन का निषेध न करके 'गुर्वन्न' का निषेध किया गया है, क्योंकि यह पचने में देर लगाता है। अतएव लघु अन्न को हितकर माना गया है। विशेषकर बाल, वृद्ध, सुकुमारों के लिए लंघन (उपवास) के स्थान पर चिकित्साशास्त्र में लघु अन्न के सेवन का निर्देश किया ही गया है, क्योंकि **'लङ्घनं लघुभोजनम्'** लघु भोजन लंघन के समान होता है। आयुर्वेदशास्त्र में कषाय शब्द से पूर्वोक्त पञ्चकषायों का विशेष उल्लेख किया गया है। रस के रूप में 'कषाय' शब्द सर्वत्र सुविदित है। यह ग्राही (मल को बाँधने वाला) होता है। महर्षि वाग्भट के अनुसार यद्यपि कषायरस पित्त तथा कफ का नाशक होता है, तथापि इसका प्रयोग नवज्वर में निषिद्ध है।

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् ॥१३९॥
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ।

ज्वर में लंघन का महत्त्व—क्षतज, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज, तथा श्रमज ज्वरों के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के ज्वरों के आरम्भ में रोगी को लंघन कराना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य एकदोषज, द्विदोषज तथा सन्निपातज ज्वरों में लंघन विहित है।

वक्तव्य—आचार्य शिवदाससेन ने इस सम्बन्ध में अपना जो आशय व्यक्त किया है, उसे हम यहाँ साभार उद्धृत कर रहे हैं—'आमाशयसमुत्थानां पूर्वं लङ्घनमौषधम्', इत्युक्तम्। ज्वरोऽप्यामाशयसमुत्थः, अतस्तत्र लङ्घनमुपदिशति—ज्वरे लङ्घनमित्यादि। यद्यपि लङ्घनबृंहणीये 'चतुष्प्रकाराः संशुद्धिः' इत्यादिना दशविधमेव लङ्घनमुक्तं, तथापि व्यायामप्रवातयोर्वर्जनीयत्वेनैवोक्तत्वात्, संशोधनादीनां चावस्थाविशेषनियतत्वात्, पारिशेष्यादत्रोपवास एव लङ्घनशब्देनोच्यते, अत एव लङ्घनमेवेत्येवकारेण संशोधनादिरूपं लङ्घनं निषिध्यते। तेन ज्वरस्य पूर्वरूपे यल्लघ्वशनादिविधानं, तस्य न निषेधः। **वाग्भटेनापि**—'स्नानाभ्यङ्गप्रदेहांश्च परिशेषं च लङ्घनम्'। (अ० हृ० चि० अ० १।१७) इत्यनेन नवज्वरे अनशनरूपलङ्घनापेक्षया परिशेषलङ्घनप्रतिषेधं कुर्वता संशोधनादिरूपं लङ्घनं निषिध्यते। किं वा **चरकेण** निदानस्थाने 'हितं लघ्वशनमपतर्पणं वा' (अध्याय १) इति यदुक्तं तत् पूर्वरूपावस्थायां, व्यक्तायां तु लङ्घनमेवेत्येवकारेण लघ्वशनमपि निषिध्यते, इति ज्ञेयम्। ननु लङ्घनबृंहणीये कफपित्तज्वरच्छर्द्यादिषु मध्ये ज्वरं पठित्वोक्तं—'पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत्'। (च० सू० अ० २२) इति, इह तु लङ्घनमेवादावित्यतो विरोधः। नैवं, तत्र भेषजप्रयोगस्यादौ पाचनं, नतु ज्वरस्यादावित्यवगम्यते; किं वा, आदावेव लङ्घनं कार्यमिति योज्यं, तेन जीर्णज्वरे न लङ्घनं कार्यमिति बोधयति। उक्तं हि **वाग्भटे**—'शुद्धवातक्षयागन्तुजीर्णज्वरिषु लङ्घनम्। नेष्यते तेष्वभिहितं शमनं यन्न कर्शनम्' ॥ (अ० हृ० चि० १।२२) इति। **हारीतेन** तु—'पित्तश्लेष्मविशुद्ध्यर्थं कुर्याद् वमनमादितः'। इति यदुक्तं तत् 'कफप्रधानान्, इत्यादिवक्ष्यमाणावस्थायां ज्ञेयम्' इति **शिवदाससेनः।**

यहाँ वात आदि ज्वरों में सबसे पहले लंघन का विधान किया गया है। इस सम्बन्ध से हम तन्त्रान्तरों की चर्चा यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। महर्षि वाग्भट ने ज्वर में लंघन करना चाहिए तो कहा है, किन्तु 'आदौ' शब्द का प्रयोग नहीं किया, निश्चित ही वे किसी तन्त्रकार से प्रभावित रहे होंगे। यथा—'आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात् कुर्वीत लङ्घनम्' ॥ अ० हृ० चि० अ० १।१। इसी पाठ को भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ में सादर स्थान दिया है। देखें—भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार। किन्तु भावमिश्र ने इस प्रसंग में इतना अधिक कहा है—'ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्। ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्' ॥ वही। इसी का समर्थन आचार्य चक्रदत्त ने इन शब्दों द्वारा किया है—तरुणं तु ज्वरं पूर्वं लङ्घनेन क्षयं नयेत्'। ज्वरप्रकरण।

चरकोक्त लंघन द्रव्य—'लघूष्ण-तीक्ष्ण-विशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं द्रवम्। कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम्' ॥ च० सू० अ० २२।१२। अर्थ स्पष्ट है।

महर्षि वाग्भट का विवेचन इस प्रकार है—'आमेन भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते। तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत्' ॥ अ० हृ० चि० अ० १।१०। जैसे राख से ढँकी हुई अग्नि पर चावलों को नहीं पकाया जा सकता, वैसे ही दोषों से अग्नि (जठराग्नि) के ढँक जाने पर खाया हुआ अन्न नहीं पचता। अतः दोषों के भली-भाँति पच जाने तक रोगी को उपवास कराना चाहिए, यह वचन **'आदौ'** का संकेतक है।

महर्षि सुश्रुत की चिकित्सा परिपाटी इस प्रकार है—'ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्। पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम्। विधिर्मारुतजेष्वेष पैत्तिकेषु विधीयते ॥ मृदु प्रच्छर्दनं तद्वत्कफजेषु विधीयते। सर्वद्विदोषजेषूक्तं यथादोषं विकल्पयेत् ॥ अस्नेहनीयोऽशोध्यश्च संयोज्यो लङ्घनादिना'। सु० उ० तं० ३९।९७-९९।

इन्होंने वातज, क्षयज, श्रमज आदि ज्वरों में घृतपान (न कि आमाशय से उत्पन्न ज्वरों में), पित्तज ज्वरों में मृदुविरेचन, कफज ज्वरों में मृदुवमन की व्यवस्था दी है। जो स्नेहपान के अयोग्य तरुणज्वर आदि हैं और वमन, विरेचन के कष्ट को सहन नहीं कर सकते, उनके लिए लंघन की व्यवस्था की गयी है। आगे इसका भी निर्देश किया है कि किन-किन को लंघन नहीं करना चाहिए। यथा—'न लङ्घयेन्मारुतजे

क्षयजे मानसे तथा। अलङ्घ्याश्चापि ये पूर्वं द्विव्रणीये प्रकीर्तिताः' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।१०२। अर्थात् वातज, क्षय(धातुक्षय)ज और मानस ज्वर में लंघन नहीं कराना चाहिए तथा द्विव्रणीय अध्याय (सु० चि० अ० १) में कहे गये गर्भिणी, बाल, वृद्ध, दुर्बल, सुकुमार आदि जो लंघन के कष्ट को सहन नहीं कर सकते, उन्हें भी लंघन नहीं कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—लंघन के सम्बन्ध में सभी संहिताकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से बहुत कहा है, सभी के विचार मान्य हैं। सामान्य दृष्टि से—'शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः। तल्लङ्घनमिति ज्ञेयम्...', भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार। यह लंघन की परिभाषा है। अतः आमदोष को पचाने के लिए अवश्य ही लंघन कराना चाहिए और आमदोष का पाचन होते ही रोगी भूख का अनुभव करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसे पथ्यतम पदार्थ देना चाहिए, क्योंकि फिर वह एक क्षण के लिए भी लंघन को सहन नहीं कर सकता। यदि करता भी है तो उसमें अतिलंघन से सम्बन्धित विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले ॥१४०॥
विज्वरत्वं लघुत्वं च[1] क्षुच्चैवास्योपजायते ।

उचित लंघन से लाभ—लंघन करने से वातादि दोषों के क्षीण हो जाने तथा जठराग्नि के प्रदीप्त हो (सुलग) जाने पर ज्वर का अभाव, शरीर में लघुता और भूख की प्रतीति होने लगती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने उपदेश देते हुए कहा है—'अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम्। ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम्' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।१०३। अन्यत्र लंघन द्वारा होने वाले लाभों की चर्चा इस प्रकार की गयी है—विमलेन्द्रियता, मलों का स्वाभाविक रूप से निकलना, शरीर में हलकापन, भोजन के प्रति रुचि का उदय होना, भूख-प्यास का साथ ही साथ अनुभव होना, हृदय की शुद्धि, उद्गारों (डकारों) का निकलना, ज्वर की समाप्ति, उत्साह और तन्द्रा का नाश, अर्थात् फुर्तीलापन का आना— ये सम्यक् लंघित के लक्षण होते हैं। पाठभेद में दिया गया पाठ उपयोगिता की दृष्टि से निर्णयमागरीय पाठ से कम उपयोगी हैं।

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् ॥१४१॥
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ।

लंघन की अवधि—लंघन का उपयोग तभी तक करना या कराना चाहिए, जिससे प्राण (बल) का विरोध न हो, अर्थात् वह बल को क्षीण न करने लगे, क्योंकि बल के ऊपर ही आरोग्यता निर्भर करती है और आरोग्यता की प्राप्ति के लिए ही यह सम्पूर्ण चिकित्सा-क्रम किया जाता है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि 'प्राणाविरोधिना' इस पद्यांश का अर्थ करते हैं—'बलाविरोधिना' जो युक्ति-युक्त है। अर्थात् जो लंघन प्राण=बल का अविरोधी हो। वास्तव में अतिलंघन का हानिकर क्रम होता है— रस, रक्त आदि का क्षय करके बल का विरोध (विनाश) करना, तब प्राणों का विनाश करना। किसी भी वस्तु का मात्रापूर्वक सेवन करना ही हितकर होता है। अतएव अनेक गुण-सम्पन्न लंघन के प्रयोग को भी अत्यन्त सावधानी से करने की सलाह ऊपर दी गयी है। वास्तव में रोगी के बलाबल को देखकर ही उसे लंघन कराने चाहिए। इतने लंघन न करा दें कि जिससे रोगी अबल (प्राणधारण में असमर्थ) हो जाये अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाये। क्योंकि लंघन, पाचन आदि समस्त चिकित्सा विधियाँ आरोग्य-लाभ के लिए ही की जाती हैं।

लंघन के अयोग्य व्यक्ति—वातदोष-प्रधान रोगी, क्षुधित (भूखा), प्यासा, मुखशोष तथा भ्रमान्वित (जिसे चक्कर आ रहे हों), बालक (सुकुमार), वृद्ध, गर्भिणी और दुर्बल (शरीर एवं मन से)—ऐसे व्यक्तियों को लंघन नहीं कराना चाहिए।

उचित लंघन का फल—भली-भाँति मल, मूत्र, अपान वायु का त्याग अर्थात् स्वाभाविक रूप से इनकी प्रवृत्ति का होना, शरीर में हलकापन का आना, हृदय के ऊपर भारीपन का अनुभव न होना, दोष रहित

---

१. 'लाघवं च शरीरस्य' इति पा०।

डकार का आना, कण्ठ-शुद्धि (कफ आदि की रुकावट का न होना), मुख में सरसता का होना, आलस्य और ग्लानि का न होना, पसीना का आना, भोजन के प्रति रुचि का होना, भूख-प्यास का साथ-साथ उदय होना और मन का प्रसन्न होना—इन लक्षणों को देखकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि उचित प्रकार से लंघन कराया गया है।

अतिलंघन के उपद्रव—लंघन अधिक कर लेने से या करा देने से रोगी के जोड़ों (सन्धियों) में वेदना, शरीरावयवों में पीड़ा, कास, बार-बार मुहँ का सूखना, अरुचि, अत्यन्त प्यास का लगना, कान तथा आँखों की दुर्बलता अर्थात् कम सुनना और कम देखना, मन की अस्थिरता, ऊर्ध्ववात (हिचकी, श्वास, उद्गार आदि), अंधकार में प्रवेश होने का-सा अनुभव होना, शरीर की दुर्बलता, पाचकाग्नि का मन्द पड़ जाना आदि उपद्रव होते हैं।

हीनलंघन के लक्षण—उचित मात्रा में लंघन के न होने पर जी मिचलाकर कफ का निकलना, थुक-थुकी का होना, शरीर में भारीपन, कण्ठ, मुख तथा हृदय में चिप-चिपाहट और अशुद्धि का अनुभव होना आदि लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में थोड़ा लंघन और कराना चाहिए जो कि अतिलंघन की सीमा के भीतर हो। अतिलंघन के लक्षणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

वास्तव में जब तक दोष शरीर में रहते हैं, तभी तक लंघन किया जा सकता है। अतएव कहा गया है— 'दोषाणामेव सा शक्तिर्लङ्घने या सहिष्णुता। नहि दोषक्षये कश्चित् सहते लङ्घनादिकम्' ॥ अर्थात् बढ़े हुए दोषों में ही वह शक्ति होती है, जिनके कारण रोगी लंघन कर लेता है (उतने दिन भूखा रह जाता है, क्योंकि **'अन्नं वै प्राणाः'** प्राण अन्नमय होते हैं) नहीं तो दोषों के क्षीण हो जाने पर कोई भी लंघन को सहन नहीं कर सकता। इसी को भावमिश्र ने प्रकारान्तर से कहा है—'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं बहु। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम्' ॥ भा० प्र० मं० खं० ज्वराधिकार। भावमिश्र ने निरामवातजनित ज्वर में लंघन कराने का निषेध किया है, जो युक्ति-युक्त है। आगे चलकर इन्होंने सामनिराम-भेद से वातादि दोषों का परिचय इसी प्रकरण में दिया है, इसे भी ध्यान से देखें।

दोषपाक-काल—'वातः पचति सप्ताहात् पित्तं तु दशभिर्दिनैः। श्लेष्मा द्वादशभिर्धस्रैः पच्यते वदतां वर' ॥ और भी—'लङ्घनं लङ्घनीयस्तु कुर्याद् दोषानुरूपतः। त्रिरात्रमेकरात्रं वाऽहोरात्रमथवा ज्वरे' ॥ भा० प्र० म० खं० ज्वराधिकार ३३-३४। लंघन कराने से आमदोष-युक्त वात सात दिन में, आमदोष-युक्त पित्त दस दिन में और आमदोष-युक्त कफ बारह दिन में पच जाता है। दोषों की अवस्था को देखकर ज्वर में तीन रात्रि, एक रात्रि अथवा एक अहोरात्र (२४ घंटा) ही लंघन करें। दूसरा मत इस प्रकार है—'त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा ॥ लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्यादारोग्यदर्शनात्' ॥

विशेष—आमज्वर में आमनाशक औषधोपचार से ज्वर की वृद्धि हो जाती है, अतः सावधान रहें।

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः ॥१४२॥
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ।

दोष-पाचन के उपाय—लंघन, स्वेदन, काल (भिन्न-भिन्न दोषों का अपना निश्चित समय), यवागू और तिक्तरस—इनका प्रयोग करने से तरुण (आम) ज्वर में न पने हुए जो आमदोष हैं, उनका पाचन हो जाता है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने उक्त श्लोक के 'कालः' शब्द का अर्थ 'आठवाँ दिन' किया है। यह भी विचारणीय है। क्योंकि वात आदि दोषों का पाचन अपने-अपने समय में होता है जैसा कि हमने १४१वें श्लोक के वक्तव्य के 'दोषपाक-काल' शीर्षक वाले वाक्योच्चय में स्पष्ट किया है। यहाँ भी सामान्य-विशेष का ध्यान देना ही होगा। उपर्युक्त १३७वें श्लोक में जो 'अष्टाह' शब्द का प्रयोग हुआ है, क्या उसका सम्बन्ध यहाँ ठीक बैठ रहा है? क्या यह अनुभवगम्य है कि आठवें दिन में सभी दोषों का पाचन हो जाता है?

आचार्य चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में जो 'तिक्तको रसोऽत्र यवागूपानीयादिसंस्कारकत्वेन ज्ञेयः' लिखा है, वह सचमुच नीचे १४३ वें श्लोक में स्वतन्त्ररूप में तन्त्रकार द्वारा कहा ही गया है। यहाँ तो यवागू और तिक्तरस वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं। यदि तन्त्रकार का अभिमत यह होता कि इस ज्वर में तिक्तरस से साधित यवागू का प्रयोग करना चाहिए, तो उक्त पाठ ऐसा न होता, अपितु **'यवाग्वस्तिक्तकैः कृताः'** ऐसा पाठ होता।

यहाँ तो तन्त्रकार ने केवल 'तरुणे ज्वरे अविपक्वानां दोषाणां पाचनानि' गिनाये हैं। **दूसरी बात**—यह श्लोक किसी दोष-विशेष युक्त ज्वर के लिए नहीं, अपितु सभी ज्वरों के लिए कहा गया है। यह शास्त्रीय नियम होता है कि सामान्य विधि सबके लिए और विशेष विधि विशिष्ट के लिए ही होती है।

तरुण, मध्य एवं जीर्णज्वर की अवधि—ज्वर की यह संज्ञा सात दिन पर्यन्त आचार्यों ने स्वीकार की है। यथा—'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः। द्वादशाहमभिव्याप्य मध्यं जीर्णं ततः परम्'॥ ज्वर आरम्भ होने से सात दिन तक तरुणज्वर, बारह दिन तक मध्यमज्वर तथा इसके बाद जीर्णज्वर कहा जाता है। इन दिनों में ज्वरनाशक प्रधान औषधयोगों के सेवन का निषेध किया गया है, क्योंकि आमदोषावस्था में किया गया औषध-प्रयोग ज्वर का शमन न करके ज्वर को और उभाड़ देता है। अतः चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह उक्त सामान्य कालावधि को एकान्ततः प्रमाण न मानकर रोगी के दोष-पाचन का निर्णय करके ही प्रधान औषध का प्रयोग करे। इसीलिए कहा गया है—'मुख्यभेषजसम्बन्धो निषिद्धस्तरुणे ज्वरे। भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्'॥

तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद् [1]वातकफज्वरे ॥१४३॥
मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकैः शृतम्।

ज्वर में जल-प्रयोग—वातज अथवा कफज ज्वर में यदि रोगी को प्यास लगे तो उष्ण जल का निर्माण करा कर दें। मद्यपानजनित ज्वर में अथवा पित्तज ज्वर में यदि रोगी को प्यास लगे तो तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों से पकाये गये जल को शीतल कराकर पीने के लिए दें।

वक्तव्य—धीरे-धीरे पकाया गया जल जब आधा शेष रह जाये, तो उसे उष्णाम्बु (गरम जल) कहते हैं। इसकी परिभाषा देखें—'यत् क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु। चतुर्भागावशेषन्तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम्'॥ सु० सू० अ० ४५।५०। इस प्रसंग में वर्णित अन्य पद्यों को भी देखें। यहाँ 'क्वाथ्यमानं निर्वेगं' शब्द पर ध्यान देना चाहिए—स्टोव या हीटर जैसे यन्त्रों के माध्यम से उस जल को गरम न करके मन्द-मन्द आँच में ही गरम करें। इसके लिए कण्डे, गोहरी, लकड़ी या लकड़ी के कोयलों की आँच का ही प्रयोग करें। कुछ विद्वान् काल (ऋतु) विशेष के अनुसार जलपाक की विधियों का वर्णन करते हैं। यथा—'त्रिपादशेषं सलिलं ग्रीष्मे, शरदि शस्यते। हिमेऽर्धशेषं शिशिरे तथा वर्षावसन्तयोः॥ ऊपर जो ऋतु-भेद से उष्ण जल के निर्माण का प्रकार दिया गया है उसकी फलश्रुति इस प्रकार है—'तत्पादहीनं वातघ्नमर्धहीनं तु पित्तनुत्। कफघ्नं पादशेषं च पानीयं लघु दीपनम्'॥ वैद्यकशब्दसिन्धु। और भी—'अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं भवेत्'॥ 'श्लेष्मामवातमेदोघ्नं बस्तिशोधनदीपनम्। कासश्वासज्वरहरं पीतमुष्णोदकं निशि'॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१७७-१७८। उक्त दो श्लोकों द्वारा उष्णोदक निर्माण-विधि तथा उसके गुणों का वर्णन किया गया है। यह इस सम्बन्ध में विशेष विचार है। प्रयोग करके इन विधियों को देखें।

कभी-कभी आलस्यवश परिचारक आदि प्रातःकाल के पकाये हुए जल को रात में और रात में पकाये गये जल को दूसरे दिन भी दे दिया करते हैं। यह उचित नहीं है। शास्त्रकार ने इसका निषेध किया है—'न च पर्युषितं देयं कदाचिद् वारि जानता। अम्लीभूतं कफोत्क्लेदि न हितं तत् पिपासवे'॥ सु० सू० अ० ४५।४१। और भी—'मद्यपानात् समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा। सन्निपातसमुत्थे च शृतशीतं प्रशस्यते॥ सु० सू० अ० ४५।४२। इस प्रसंग में नरहरपण्डित के विचारों को देखें—'तप्तं दिवा जाड्यमुपैति नक्तं नक्तं च तप्तं तु दिवा गुरु स्यात्। दिवा च नक्तं च नृभिस्तदात्वतप्तं जलं युक्तमतो गृहीतुम्'॥ राजनिघण्टु, पानीयादिवर्ग। इस विषय को जानने के लिए अन्य निघण्टु-ग्रन्थों का भी परिशीलन कर लेना चाहिए।

जिस प्रकार शीतल जल को उष्ण करने के अनेक प्रकारों का वर्णन ऊपर किया गया है, उसी प्रकार उष्ण जल को शीतल करने के सम्बन्ध में भी इन्हीं प्रकरणों में विचार किया गया है। उनको अपना कर्तव्य समझ कर देखें। यथा—'शृताम्बु तत् त्रिदोषघ्नं यदन्तर्वाष्पशीतलम्। अरूक्षमनभिष्यन्दि कृमितृड्ज्वरहल्लघु। धारापातेन विष्टम्भि दुर्जरं पवनाहतम्'॥ विशेष देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु में 'जलम्'। उक्त पद्य में तीन प्रकार से

[1] 'वातकफात्मके' इति पा०।

गरम किये हुए जल को ठंडा करने की विधि का वर्णन किया गया है—१. यदन्तर्वाष्पशीतलम् (गरम किया हुआ जल ढँककर रख दिया जाता है और कुछ समय बाद वह स्वयं शीतल हो जाता है। यह उत्तम प्रकार है)। २. धारापातेन (जो गरम जल दो पात्रों में फेंट कर ठंडा किया जाता है, वह मध्यम है)। ३. पवनाहतम् (हवा लगाकर ठंडा किया हुआ जल हानिकारक होता है)।

दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत् ॥१४४॥
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम्।

ज्वर में जल-प्रयोग का फल—उपर्युक्त प्रकार से तैयार किया गया उष्ण जल तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा साधित दोनों प्रकार के जल अग्नि को दीप्त करने वाले, पाचन, ज्वर का नाश करने वाले, रस-वाही स्रोतों को शुद्ध करने (धो देने) वाले, बलवर्धक, भोजन के प्रति रुचिकारक, स्वेदकारक तथा ज्वर रोगी के लिए सब प्रकार से कल्याणकारक होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुताचार्य के अनुसार—'दीपनं कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम्। कफवातज्वरार्तेभ्यो हितमुष्णाम्बु तृट्छिदम्॥ तद्धि मार्दवकृद्दोषस्रोतसां शीतमन्यथा। सेव्यमानेन तोयेन ज्वरः शीतेन वर्द्धते॥ पित्त-मद्यविषोत्थेषु शीतलं तिक्तकैः शृतम्'॥ सु० उ० तं० अ० ३९।१०६-१०८। और देखें—चरक वि० अ० ३।४०।

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ॥१४५॥
शृतशीतं जलं दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये।

षडंग-पानीय—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, उशीर (खस), लालचन्दन, उदीच्य (सुगन्धवाला), सोंठ—इन द्रव्यों को डालकर क्वाथ किये जल को ठंडा करके प्यास तथा ज्वर की शान्ति के लिए दें। अर्थात् उस ज्वर में दें जिसमें रोगी को बार-बार प्यास लग रही हो।

वक्तव्य—पिपासा-शान्ति के लिए यह योग चिकित्सक-समाज में सुप्रसिद्ध है। इससे ज्वर के सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं। अतएव प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने इसी रूप में, कुछ ने भाषा बदलकर, शेष ने द्रव्यों को आगे-पीछे करके इसे अवश्य उद्धृत किया है, आप भी ध्यान दें। इस योग में छः द्रव्य हैं। अतः इसे **षडंग** कहते हैं। इस क्वाथ का उपयोग पीने के लिए होता है। अतः इसे **पानीय** कहते हैं।

शृतशीतम्—'पूर्वं शृतं पश्चात् शीतम्' इस विग्रह के अनुसार इसका अर्थ होगा—क्वाथ (पका) करके ठंडा किया हुआ। क्योंकि 'क्वाथ' का एक पर्याय 'शृत' भी है। 'यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादिप्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं ग्राहयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि॥ अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ'। वंगसेन। इसी का समर्थन शार्ङ्गधराचार्य भी करते हैं। यथा—'क्षुण्णं द्रव्यपलं साध्यं चतुष्षष्टिपले जले। अर्धशिष्टं च तद्देयं पाने भक्तादि-संविधौ'॥ शा० सं० म० खं० अ० ४।१७५। अर्थात् एक पल (४ तोला) द्रव्य को जौकुट कर के चौंसठ पल जल में पकावें; जब आधा रह जाये तो उसे पीने, भात, पेया, यूष आदि बनाने के उपयोग में लाना चाहिए। आचार्य वंगसेन ने १ तोला द्रव्य को १ प्रस्थ जल में पकाने की अनुमति दी है और शार्ङ्गधराचार्य ने ४ तोले द्रव्य को ६४ पल जल में पकाने की बात की है। इसका निर्णय समय पर चिकित्सक को करना है।

उदीच्य—इसका पर्याय किसी ने 'सुगन्धवाला' तो किसी ने 'नेत्रवाला' लिखा है। हिन्दी में दोनों नाम प्रचलित हैं। कुछ लोगों ने 'तगर' को 'सुगन्धवाला' का पर्याय माना है, जो विचारणीय है। इसके पर्याय हैं—'वालं ह्रीवेरबर्हिष्ठोदीच्यं केशाम्बुनाम च'। अभिनवनिघण्टु।

चन्दन—यह दो प्रकार का होता है—१. सफेद और २. लाल। आचार्य शार्ङ्गधर ने **'कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्'**—कषाय (क्वाथ) तथा लेप के लिए लालचन्दन को ग्रहण करने की अनुमति दी है। प्रायः शब्द का प्रयोग परिस्थिति विशेष में लाल के स्थान पर सफेद चन्दन के ग्रहण पर भी कोई रोक नहीं लगाता। निघण्टुग्रन्थों में चन्दन की सभी जाति के गुण-धर्मों का वर्णन है। आप देखें—दत्तकृत मेटेरिया-मेडिका में केवल तीन प्रकार के चन्दनों का उल्लेख है; यथा—१. श्रीखंड (श्वेत चंदन), २. पीलाचंदन, ३. लालचंदन। वर्णन—लालचंदन ग्राही, पौष्टिक, शोथ में शीतलताकारक, शिरःशूलनाशक होता है। **शकाउल अस्मक** में चन्दन के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—पित्तजनित अतिसार में सफेद-चंदन को घिसकर पिलायें। यदि दस्त में रक्त आता हो, तो लालचंदन घिसकर दें।

विशेष—आचार्य वृन्द तथा वंगसेन इस योग में सोंठ के स्थान पर धान्यक (धनियाँ) डालने के पक्षपाती हैं। आप चिकित्सक हैं, दोनों द्रव्यों के गुणधर्मों का विचार कर परिस्थिति के अनुसार प्रयोग करें।

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान् ॥१४६॥
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत् ।

कफप्रधान ज्वर में वमन—आमाशय में स्थित वात आदि दोषों में जब कफ की प्रधानता हो और वह (कफ) अन्य दोषों के साथ उभड़ा हुआ हो तथा अन्य दोषों के साथ उसने ज्वर को उत्पन्न कर दिया हो तो वमन करने योग्य रोगों (ज्वर आदि) में वमन द्वारा उस कफ को निकाल देना चाहिए।

वक्तव्य—वमन को हिन्दी भाषा में उलटी कहते हैं। वमन द्वारा आम मल और विरेचन द्वारा पक्व (पका हुआ, अतः निःसार) मल निकलता है। वास्तव में मल निकलने का सुलटा या सीधा मार्ग गुदप्रदेश है। अतएव मल-द्वार से मल के भली-भाँति निकलने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, अपितु एक विशेष प्रकार के सुख की अनुभूति होती है। इसके विपरीत वमन होने में कष्ट का अनुभव होता है। किन्तु कफ का स्थान आमाशय है। चिकित्सा की दृष्टि से उसका निर्हरण जितना वमन द्वारा सुगमता से हो सकता है, उतना सरल प्रकार और कोई नहीं। सम्यक् वमित (जिसे अच्छी तरह वमन कराया गया हो) को कुछ क्षण (वमन करते समय को छोड़ कर) बाद शरीर में जो हलकापन मालूम होता है, वह कफ का बोझ उतर जाने का ही प्रतिफल होता है।

वम्यानां वमनैर्हरेत्—सुश्रुत में—'विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु'। (सु० सू० अ० ४३।३) इनको वमन के योग्य बतलाया है। दोषों की चार गतियों का उल्लेख करते हुए महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः'। सु० चि० अ० ३३।३। आगे कहते हैं—'प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम्'॥ सु० चि० अ० ३३।४। अर्थात् दोषों को निकालने के दो ही उत्तम प्रकार हैं—वमन और विरेचन।

महर्षि वाग्भट ने वमनार्ह (जिनको वमन कराना चाहिए) की श्रेणी में इनको रखा है—सामज्वर वाले, श्वास, अतिसार, सम्मोह, हृद्रोग तथा विषमज्वर रोग वाले। वमन कराने के बाद रोगी को लंघन कराना चाहिए। ऐसा नहीं कि पहले लंघन करा दिया जाये और बाद में वमन, क्योंकि वमन में कष्ट अधिक होता है। अतः वह लंघन से कृश पुरुष को मार डालता है; अथवा यह मरने के समान कष्टकारक होता है।

वमन का उचित समय—जब जी मिचला रहा हो, मुँह से लार चू रही हो, थुक-थुकी लगी हो, हृदय प्रदेश तथा आमाशय में भारीपन का अनुभव हो रहा हो, उस समय उचित उपायों से अवश्य वमन करा देना चाहिए।

वमन के अयोग, अतियोग का स्वरूप—'कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः। पित्तातियोगञ्च विसंज्ञताञ्च हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते'॥ सु० चि० अ० ३३।८। ठीक प्रकार से वमन न होने पर लार के रूप में कफ का गिरना, हृदय तथा आमाशय की शुद्धि न होना तथा खुजली होने के लक्षण मिलते हैं। अधिक वमन हो जाने पर पित्त की अधिक प्रवृत्ति, मूर्च्छा (बेहोशी), हृदय तथा गले में पीड़ा होने लगती है।

सम्यक् वमन होने के लक्षण—'पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि। लघौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत्'॥ सु० चि० अ० ३३।९। अच्छी तरह वमन हो जाने पर पहले कफ उसके बाद पित्त आता है। इसके बाद हृदय, गला, शिर निर्मल हो जाते हैं, शरीर हलका हो जाता है, बढ़ा हुआ कफ निकल जाता है। इसी का विशेष विवरण चरक सू० अ० १५ में देखें। किनको वमन नहीं कराना चाहिए। इसके लिए देखें—चरक सि० अ० २।८ तथा सु० चि० अ० ३३।१४-१५। इसी के आगे वमन की उपयोगिता तथा उसका अपवाद भी दिया गया है। उसे भी देखें।

वमन का निषेध—गर्भिणी, बाल, वृद्ध, दुर्बल, भीरु स्वभाव वाले, सुकुमारप्रकृति के लोगों को वमन नहीं कराना चाहिए।

अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे ॥१४७॥
हृद्रोगं श्वासमानाहं [1]मोहं च जनयेद् भृशम् ।

तरुणज्वर में वमन का निषेध—तरुणज्वर में यदि कफ आदि दोष उपस्थित (उभड़े) न हों, ऐसी स्थिति में रोगी को वमन करा दिया जायेगा, तो हृदय रोग (पीड़ा), श्वास, आनाह (अफरा), मोह (बेहोशी, पाठभेद के अनुसार–खाँसी) आदि विकार बार-बार उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार शिष्योपदेश-कुशल हैं। उन्होंने सामान्य रूप से दिशा-निर्देश कर दिया है, कि जब तक उत्क्लेश न हो (दोष उभड़े न हों) तब तक वमन नहीं कराना चाहिए। आप ध्यान दें। ऊपर जिन रोगों को उपद्रव के रूप में उभड़े हुए कहा गया है, वे सभी कफस्थानीय रोग हैं।

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था [2]असुनिर्हराः ॥ १४८ ॥
दोषाः [3]फलानामामानां स्वरसा इव सात्ययाः ।

अकाल में आमदोष को निकालना हानिकर—सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए तथा रस आदि धातुओं में स्थित साम (आम-युक्त कफ आदि) दोषों को निकालना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसको समझाने के लिए तन्त्रकार ने दृष्टान्त दिया है—जैसे कच्चे फल से उसका स्वरस निकालना अत्यन्त कठिन होता है और उसे निकालने में उस फल का नाश हो जाता है। यही स्थिति अकाल में आमदोष निकालने पर रोगी की भी हो जाती है।

वक्तव्य—श्लोक १४६-१४७ के विषय की सम्पुष्टि इस पद्य में तन्त्रकार ने की है। यहाँ आम कफ आदि दोष सम्पूर्ण शरीर में तथा रस आदि धातुओं में व्याप्त हो गये हैं। वे केवल आमाशय में स्थित नहीं हैं। वमन आमाशय में स्थित एवं उत्क्लिष्ट दोषों को निकालने का उत्तम साधन है। इसके अनुचित प्रयोग से हानियाँ होती हैं, यह ऊपर कहा चुका है। इसी विषय को उक्त पद्य में निर्दिष्ट उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। जब आमदोषों की जड़ें इतनी गहरी हो चुकी हैं, तब उन्हें वमन द्वारा उखाड़ना रोगी के प्राणों को संकट में डाल देगा। इसके लिए 'असुनिर्हराः' पाठ 'दुःखनिर्हराः' से अधिक उपयुक्त है। आगे दृष्टान्त पर ध्यान दें—कच्चे फल का स्वरस यदि आप निकालना चाहेंगे, तो उस पूरे फल का विनाश करना होगा और पके फल की ऐसी स्थिति नहीं होगी। आप पके हुए नींबू का रस जब, जितना चाहें अथवा थोड़ा-थोड़ा कई बार निकाल सकते हैं। इसी भाषा को महर्षि वाग्भट ने भी दुहराया है। वास्तव में यह आमदोष की उलझी हुई स्थिति है।

वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत् ॥ १४९ ॥
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ।

ज्वर में यवागू-प्रयोग—जिस ज्वर के रोगी को समय पर वमन करा दिया गया हो, उसके बाद उसे लंघन कराये गये हों, तदनन्तर (जब उसे कुछ खाने को देने का अवसर आ जाये, तब) जिस प्रकार के दोष दृष्टिगोचर हो रहे हों, उनके विनाशक औषध-द्रव्यों से पकाये गये मण्ड, यवागू आदि का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—वमन और लंघन के अनन्तर ज्वर-रोगी के लिए क्या करना चाहिए, उसका विधान बतलाया जा रहा है—दोषों के तर-तम भेद के अनुसार वमन, लंघन की व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी दोषों के कम होने पर वमन से ही दोषों की शान्ति हो जाती है और कभी वमन कराने से बचे हुए दोषों के पाचन के लिए लंघन कराया जाता है। ज्वर-रोगी के छः दिन बीत जाने पर उसका वमन, लंघन आदि विधियों से दोषों का पाचन हो जाने पर लघु (सुपच) अन्न देने का विधान किया गया है; तदनुरूप यह तन्त्रकार की प्रस्तावना है।

आचार्य चक्रपाणि **'मण्डपूर्वाभिः'** शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'मण्डपूर्वाभिरिति मण्डप्रधानाभिः। तत्र प्रथमं मण्डं पीत्वा तदनु तनुपेयाभागो योज्यः'। इसपर शिवदास सेन अपनी टिप्पणी करते हैं—'मण्डपूर्वाभिरादित इति मण्डः पूर्वः प्रधानोऽच्छतया यासां ताभिरित्यर्थः, एतेन पेयाया ग्रहणं तस्या एव बहुद्रव-

१. 'कासं च कुरुते भृशम्' इति पा०।
२. 'दुःखनिर्हराः' इति पा०।
३. 'फलेभ्य आमेभ्यः' इति पा०।

त्वेन मण्डप्रधानत्वाभावात् । अन्ये तु—मण्डः पूर्वः प्रधानाभ्यवहार्यो यासां ता इत्याहुः, तेन प्रथमं स्वच्छभागं
खादित्वा ततो घनभागः खाद्य इत्यर्थः ।' इति **शिवदाससेनः ।** अर्थात् यवागू के ऊपर तैरते हुए द्रवभाग को
पहले पिलाकर बाद में उसके सिक्थ (गाढ़े) भाग को खिलायें । यह अर्थ रुचिकर प्रतीत नहीं होता । यदि
ऐसा करेंगे, तो सर्वप्रथम मण्ड-निर्माण की प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जायेगी और यदि हम निर्माण-विधि की ओर
ध्यान देते हैं, तो यवागू का निर्माण ऐसा नहीं होता कि उसमें मण्ड अलग हो और उसका सिक्थ भाग अलग।
यदि ऐसी यवागू बनी है, तो वह पाचक की अयोग्यता को सूचित करती है, क्योंकि **'यवागूर्बहुसिक्था
स्यात्'** । यह पतली खिचड़ी है । **'यवागूस्त्रिविधा ज्ञेया'**—सु० सू० अ० ४६ ।

महर्षि सुश्रुत ने इस अवसर पर यवागू का विधान न करके पेया के सेवन का आदेश दिया है—'अन्नकाले
हिता पेया यथास्वं पाचनैः कृता' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।१०९ ।

मण्ड-निर्माण-विधि—चावल से चौदह गुना जल द्वारा बनाया गया सिक्थ रहित (जिसमें से भात
निकाल दिया गया हो) द्रव मण्ड (मांड़) कहा जाता है । यह सोंठ तथा सैंधानमक डालकर पीने से दीपन-
पाचन होता है । यह अष्टगुण मण्ड लाजमण्ड, यवमण्ड आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

पेया-निर्माण-विधि—आहार-द्रव्य से चौदह गुने जल में बनायी गयी, अत्यन्त पतली और थोड़ी
सीठी से युक्त पदार्थ को पाक-विशेषज्ञ पेया (पीने योग्य) कहते हैं । पेया शीघ्र पचने वाली होती है, मल
को बाँधती है तथा धातुओं को पुष्ट करती है । पेया की अपेक्षा **'यूष'** कुछ गाढ़ा होता है । **'विलेपी'**—इसका
निर्माण चौगुने जल में किया जाता है । इसकी परिभाषा है—**'विलेपी घनसिक्था स्यात्'** ।

यवागू-निर्माण-विधि—'यवागूः षड्गुणे जले' । इसका निर्माण आहार द्रव्य से छः गुने जल में किया
जाता है । यह मल को बाँधती है, बल को बढ़ाती है, शरीरावयवों को तृप्त करती है और वातनाशक होती है।
इन मण्ड आदि में जो पानी डाला जाता है, वह पहले आवश्यकतानुसार 'यथास्वौषधसिद्ध' होता है ।

यावज्ज्वरमृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः ॥ १५० ॥
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ।

यवागू-प्रयोग-काल—चिकित्सा-कुशल विद्वान् को चाहिए कि तब तक यवागू का प्रयोग कराता रहे
जब तक ज्वर मृदु (Mild अर्थात् Normal) न हो जाये । अथवा छः दिन तक इसका प्रयोग करायें । **फल-
श्रुति**—इस यवागू का प्रयोग कराने से ज्वरमुक्त पुरुष की जठराग्नि उस प्रकार क्रमशः प्रदीप्त हो जाती है,
जिस प्रकार लकड़ियों के संयोग या सहयोग से आग धधकने लगती है ।

वक्तव्य—ज्वर-मुक्ति-काल में आमदोष से मुक्त जठराग्नि दुर्बल होती है और रोगी का शरीर भी सर्व-
विध असमर्थ होता है । अतः उसे सुलघु (जल्दी पच जाने वाले) पदार्थ ही देने चाहिए, जिससे वे शीघ्र पच
जायें और उसे पुनः भूख लग सके ।

ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः ॥ १५१ ॥
वातमूत्रपुरीषाणां [1]दोषाणां चानुलोमनाः । स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात् तृट् प्रशान्तये ॥
आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च । ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्[2]तस्मात् पेयाभिरादितः ॥
[3]ज्वरानुपचरेद्धीमानृते मद्यसमुत्थितात् ।

यवागू-सेवन से लाभ—दोषानुसार औषध-योगों से सिद्ध की गयी वे यवागुएँ सरलता से पचने के
कारण जठराग्नि को प्रदीप्त करती हैं, वात (उदान, अपान वायु), मूत्र, मल तथा दोषों का अनुलोमन करती हैं,
पतली और उष्ण होने के कारण पसीना निकालने में सहायक होती हैं, द्रव (पतली) होने के कारण प्यास को
शान्त करती हैं । इसमें आहार द्रव्य होते हैं, अतः प्राणों को पुष्ट करती हैं, सर गुण वाली होने के कारण शरीर
में हलकापन उत्पन्न करती है । ज्वर में सात्म्य (ज्वर की प्रकृति के अनुकूल) होने के कारण ये ज्वर का
नाश करती है । अतएव चिकित्सा-कुशल विद्वान् सभी प्रकार के ज्वरों का अन्नकाल उपस्थित होने पर सर्वप्रथम

१. 'विबन्धस्यानुलोमिकाः' इति पा० ।
२. 'तस्मात् पूर्वं समाचरेत्' इति पा० ।
३. 'यवागूभिर्ज्वरान् विद्वानृते' इति पा० ।

पेया आदि का उपयोग करते हुए चिकित्सा प्रारम्भ करे । ध्यान रहे कि वह ज्वर मद्यपान करने के कारण उत्पन्न
न हुआ हो । इसकी विधि अगले पद्य में देखें ।

वक्तव्य—पारिभाषिक शब्दों का अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट अर्थ होता है । यहाँ ऐसा ही एक शब्द
है—'सर' । अन्यत्र यह शब्द सरोवर, जल, मांसरस, दही के पानी का वाचक है, किन्तु यहाँ सारक द्रव्य के
अर्थ में यह प्रयुक्त है । **यथा**—'स्थिरो वातमलस्तम्भी, सरस्तेषां प्रवर्तकः । पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः, सन्धानः
श्लेष्मलो गुरुः' ॥ शा० सं० प्र० खं० अ० ४।३२ । और भी—'पिप्पली मधुरा वृष्या कटुका दीपनी सरा । राज-
निघण्टु ।

मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके ॥ १५४ ॥
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ।

यवागू का ज्वर विशेष में निषेध—यद्यपि सभी ज्वरों में यथावसर यवागू सेवन का विधान किया गया
है, किन्तु विधि-निषेध का क्रम सर्वत्र देखा जाता है । यहाँ कुछ ऐसे रोगों का निर्देश है जिनमें यवागू सेवन का
निषेध किया गया है । यथा—मदिरापान करने से उत्पन्न ज्वर में, मदात्यय नामक रोग में, प्रतिदिन मद्यपान
करने में, ग्रीष्मऋतु में, पित्त-कफप्रधान ज्वर में और ऊपर की ओर प्रवृत्त रक्तपित्त नामक रोग में यवागू का
प्रयोग हानिकर होता है ।

वक्तव्य—असम्यक् मद्य के प्रयोग करने से पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण, पानविभ्रम तथा मदात्यय नाम
के रोग उत्पन्न हो जाते हैं । महर्षि आत्रेय ने मद्य को अन्न के समान उपयोगी कहा है और युक्ति-युक्त लेने की
आज्ञा भी दी है । अयुक्ति-युक्त तो कोई भी पदार्थ हानिकारक होता ही है । देखें—च० चि० अ० २४।५९-६० ।
इसके हानिकारक होने की चर्चा भी परम वैज्ञानिक है—शरीर में सार वस्तु ओजतत्त्व है, इस ओज में दस
सौम्य गुण होते हैं और मद्य में दस उग्र गुण होते हैं, ये परस्पर विपरीत होते हैं । अतएव मद्य के गुण ओज के
गुणों को विकृत कर मदात्यय रोग को उत्पन्न कर देते हैं । कुछ आचार्य इसके समर्थक हैं और कुछ विरोध भी
करते हैं । सच तो यह है कि इसमें जो गुण हैं उनकी प्रशंसा होनी ही चाहिए और दोषों की निन्दा भी करनी
ही चाहिए, नहीं तो आचार्यों की महत्ता ही समाप्त हो जायेगी । देखें—सु० उ० तं० अ० ४७।९ ।

वास्तव में मद्यपान करने से ज्वर आया हो, मदात्यय रोग हो, तो इन स्थितियों में यवागू का सेवन
सर्वथा निषिद्ध होता है । इस पर सुश्रुत का मत है—'कफपित्तपरीतस्य ग्रीष्मेऽसृक्पित्तिनस्तथा । मद्यनित्यस्य
न हिता यवागूस्तमुपाचरेत् ॥ यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः' । सु० उ० तं० अ० ३९।१४१ । आचार्य
चक्रपाणि ने अपनी टीका में हारीत के निम्न उद्धरण को उद्धृत किया है—'पांशुधाने यथा वृष्टिः क्लेदयत्यति
कर्दमम् । तथा श्लेष्मणि संवृद्धे यवागूः श्लेष्मवर्धनी' ॥ यहाँ यवागू का जो निषेध किया गया है, उसका कारण
है ज्वर में कफ की अधिकता का होना ।

तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं[1] लाजसक्तुभिः ॥ १५५ ॥
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम् ।

रक्तपित्त में तर्पण-प्रयोग—वहाँ (ज्वर रोग में यदि मुख से रक्त निकल रहा हो तो) सर्वप्रथम आयु-
र्वेदोक्त तर्पण का प्रयोग करना चाहिए । वह तर्पण ज्वरनाशक फलों के रसों तथा धान के लावा के सत्तू में
शहद और चीनी मिलाकर देना चाहिए ।

वक्तव्य—ज्वर-प्रकरण में ऊर्ध्वग रक्तपित्त की चर्चा विशिष्ट लक्षण के रूप में की गयी है । लाजसक्तु
सुपाच्य होते हैं । आचार्य ने फल के रसों को लेने की बात कही है, किन्तु उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया
है । वे फल इस प्रकार हैं—'द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूषकैः । तर्पणार्हेषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरनाशनम्' ॥
मुनक्का, अनार, खजूर, प्रियाल, फालसा—इनका प्रयोग तर्पणयोग्य व्यक्तियों पर करना चाहिए । इनके सेवन
से ज्वर का नाश होता है ।

१. 'प्रदेयम्' इति पा० ।

ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ॥ १५६ ॥
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ।

यूष तथा रस-प्रयोग—तर्पण के निमित्त दिये गये द्रव्यों के पच जाने पर रोगी के सात्म्य को देखकर तथा उसके बल का विचार कर मूंग की दाल का पतला यूष अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ खाने योग्य पदार्थों को दें।

वक्तव्य—जल में शिम्बीधान्य, शाक आदि पकाकर यूष बनाया जाता है। **यूष-निर्माण-विधि**—४० ग्राम धान्य या शाक को १६ गुने जल में पकाकर उसमें सोंठ और पीपल का चूर्ण भी ५ ग्राम की मात्रा में डालते हैं। आधा या चौथाई शेष रहने पर उतारकर कपड़े से छानकर द्रव भाग को ले लेते हैं। यह कृत तथा अकृत भेद से दो प्रकार का होता है। १. **कृत**—इसमें नमक, मसाले, घी या तेल डालकर बनाते हैं। १. **अकृत**—यह सादा होता है। देखें—सु० सू० अ० ४६। महर्षि काश्यप ने इसका एक भेद और माना है। वह है—**'कृताकृत'**। यह सादा और मसालेदार का मिश्रण है। देखें—काश्यपसंहिता-खिलस्थान अ० ४।

जाङ्गलानां रसेन—जांगल तथा आनूप भेद से समस्त सृष्टि दो भागों में विभक्त हो जाती है। यहाँ तर्पण के बाद जांगल-प्राणियों के मांसरसों को देने का विधान किया गया है। ये मधुर, कषाय, लघु, रूक्ष, दीपन, बल्य, वृष्य तथा बृंहण होते हैं। **मांसरस**—इसी को शोरवा भी कहते हैं। यह तर्पण (जीवितों अथवा रोगियों को तृप्त करता है), बल्य, वृष्य तथा बृंहण होता हैं। देखें—भावप्रकाश।

मांसरस-निर्माण-विधि—'मांसलं सक्थिजं मांसं तथाऽनस्थि च तैत्तिरम्। चतुष्पलोन्मितं सूक्ष्मं कल्पितं क्षालितं जले ॥ पिप्पलीपिप्पलीमूलशुण्ठीजीरकधान्यकैः। द्विशाणे संयुते तोये क्वाथमर्द्धाढकोन्मिते ॥ पादस्थितं जलं तत्र दाडिमात् कुट्टिताद्धरेत्। तं रसं मर्दितं हिङ्गुभृष्टसैन्धवजीरकैः। युतं प्रधूपितं पथ्यं शुद्धानां शुद्धिकाङ्क्षिणाम् ॥ परिभाषाप्रदीप खं० २।

और भी—'प्रस्थेऽम्भसि पलं साध्यं मांसं पादस्थिते रसः। कंसाप्सु कुडवं मांसं पक्त्वा पादावशेषिते। तेन क्वाथेन विपचेद् यवागूं प्रोक्तकर्मसु' ॥ इति नलः।

अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम् ॥ १५७ ॥
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद् विपरीतं प्रियं च यत् ।

दन्तधावन-विधि—इस रोगमुक्त व्यक्ति को जब-जब भोजन देना हो, उसके पूर्व मुख में जो रस हो उस रस के विपरीत किन्तु प्रिय रसवाला दातौन कराना चाहिए।

वक्तव्य—रोगमुक्त व्यक्ति को थोड़ा-थोड़ा भोजन कई बार कराना चाहिए, क्योंकि वह जल्दी पच जाता है, अतएव 'अन्नकालेषु' कहा है। स्वस्थ पुरुष की भाँति इसे भरपूर भोजन नहीं करा देना चाहिए। **वक्त्ररसः**—मुख का स्वाद वात-कफ की अधिकता के कारण फीका तथा पित्त के कारण कडुवा हो जाता है। अतः इन रसों के विपरीत स्वाद वाली दातौन नीम, बबूल, मौलसिरी आदि की होती है। इन्हें जिसके योग्य जो हो, वह उसे देनी चाहिए। दातौन करने से मुखशुद्धि के साथ भोजन के प्रति रुचि भी बढ़ती है। **प्रियं च यत्**—अथवा रस के विपरीत न हो तो जिसे जो दातौन प्रिय हो, उसे वह दें। अन्यथा उसकी रुचि कुण्ठित हो जाती है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

तदस्य मुखवैशद्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः ॥ १५८ ॥
धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत् ।

दातौन-प्रयोग के लाभ—उक्त प्रकार के दातौन को करने से मुख में स्वच्छता आ जाती है, अन्न-पान (खाने-पीने) के प्रति विशेष इच्छा होने लगती है तथा रसविशेषों की विशेष जानकारी उसे होने लगती है।

वक्तव्य—दातौन करने के ये लाभ सभी को विदित हैं। अतः सभी दातौन करते हैं। केवल एक दिन आप दातौन न करें, उस दिन आपको आपका प्रिय भोजन कैसा लगता है ? रसविशेष का मजा लेना सभी चाहते हैं। फिर भला मनुष्य क्यों नहीं चाहेगा। अतः दातौन द्वारा मुखशुद्धि अवश्य करें।

विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत् ॥ १५९ ॥
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात् ।

दातौन के पश्चात् कर्म—जिन वृक्षों की दातौन बनायी जाती हो, उनमें जिस वृक्ष की दातौन उसे प्रिय लगती हो, उस वृक्ष की शाखा के अग्रभाग (पतली डाल) को तोड़कर उसकी दातौन बनाकर उससे भली-भाँति दाँतों को घिसकर और कई बार मुख को शुद्ध करके अर्थात् कुल्ला करके मस्तु (दही का पानी), ईख का रस, मद्य, आदि से आहार (मूँग की दाल, जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस आदि) का ग्रहण करे।

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद् भिषक् ॥ १६० ॥
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ।

ज्वर में कषाय-पान का समय—चिकित्सक को चाहिए कि ज्वर आरम्भ होने के दिन से छः दिन बीत जाने पर ज्वर रोगी को (ज्वर और दोष की प्रकृति के विपरीत) सुपच तथा अल्पमात्रा में भोजन कराकर आमदोष को पचाने अथवा निरामदोष को शान्त करने वाले कषाय को पिलाये।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक १३९ से क्रमशः ज्वर रोग की चिकित्सा का निर्देश किया जा रहा है। पहले कषाय-पान, वमन, लंघन तदनन्तर मण्ड, पेया, यवागू प्रयोग की अनुमति दी गयी है। यहाँ पुनः उसी विषय की चर्चा हैं। इसे तन्त्रकार की पुनरुक्ति न कहकर **'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'** इस लौकिकन्याय के अनुसार चिकित्सक को बार-बार सावधान किया जा रहा है, ऐसा मानते हैं। अगले पद्य के विषय से इसका सम्बन्ध स्थिर करें।

षडहेऽतीते—प्रायोगिक दृष्टि से भले ही छः दिन की अवधि में कुछ कमी-बेशी हो सकती है, परन्तु सामान्य ज्वर-पाचन के लिए इतना समय पर्याप्त है, यदि रोगी, परिचारक और चिकित्सक सावधान हैं तो; अन्यथा कोई भी अवधि नहीं कही जा सकती। वैसे तो लंघनीय रोगियों को दोषों के अनुरूप एक, तीन अथवा छः या इससे भी अधिक दिनों तक लंघन कराने की चर्चा है। चिकित्सा-क्षेत्र में उतरने पर शास्त्रकारों के वचन के साथ अपने अनुभव भी काम करते ही हैं।

श्लोक ४० की प्रथम अर्धाली में कहे गये कारणों के अतिरिक्त कारणों से पैदा हुए ज्वरों में छः दिन बीत जाने पर जब ज्वर मृदु हो जाये, तब सातवें दिन पथ्य के रूप में लघु भोजन (मण्ड आदि) देकर तदनन्तर आठवें दिन पाचन या शमन कषायों का प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रकार का समन्वय करने से इसी अध्याय के श्लोक १३८ का आशय स्पष्ट हो जाता है। निरामज्वर की परिसमाप्ति इसी प्रकार की जाती है। ज्वर में पेया, कषाय, सर्पि (रोगनाशक औषध-योगों से सिद्ध घी), दूध और वमन-विरेचन का प्रयोग भी प्रारम्भ के छः दिन बीत जाने पर तथा दोषों का बलाबल देखकर ही किया जाता है।

'ज्वरितं षडहेऽतीते' इस प्रसंग में भावमिश्र दूसरे आचार्यों के मत को इस प्रकार उद्धृत करते हैं—'ज्वरे व्यतीते षडहे 'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः'। तन्त्रान्तर का उल्लेख करते हुए वे आगे कहते हैं—'जीर्णस्त्रयोदशदिवसे'। और जीर्ण इत्युच्यते बुधैः। द्वादशाहात् परं जीर्णमाहुरन्ये मनीषिणः'। जतूकर्ण कहते हैं—'जीर्णस्त्रयोदशदिवसे'। सु० उ० भी—सप्तरात्रात् परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्। दशरात्रात् परं केचिद् दातव्यमिति निश्चिताः' ॥ सु० उ० तं० अ० ३९।११९। ऊपर प्रायः सभी तन्त्रकारों ने दूसरों के मत को उद्धृत किया है, यह तन्त्रकारों की विश्वजनीन भावना है। **'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्'** वाली भावना का सर्वत्र समादर नहीं होता है।

अग्निसन्धुक्षण—पेट में स्थित मन्द जठराग्नि और चूल्हे में स्थित अग्निकण को प्रज्वलित करने की विधि समान है। शास्त्रीय वचन पर ध्यान दें—'यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्षमाणो भवति क्रमेण। महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः' ॥ जिस प्रकार बुझती हुई आग में सूखे तिनके, वनोपल (गोहरी, कंडे) आदि डालकर उसे सुलगा कर तीव्र कर दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार मन्द जठराग्नि को सुपच मण्ड, पेया आदि पदार्थों से तीव्र कर दिया जाता है। तदनन्तर औषध-प्रयोग कराते हैं।

निष्कर्ष—ज्वर के आरम्भ में औषध-प्रयोग न करके षडंगपानीय जैसे पेयों को देकर दोष-पाचन का प्रयास करें। इसमें लंघन भी सहायक होता है। इससे ज्वर का आमदोष नष्ट हो जायेगा, दोषों के पच

जाने पर शमन-कषाय या कषायों का प्रयोग करें। काल की अवधि उपर्युक्त आप्तवचनों में से किसी के लिए कोई और किसी के लिए कोई अवश्य सिद्ध होगी। परिस्थिति के अनुसार शास्त्रीय वचनों का प्रयोग कराना देश-कालज्ञ चिकित्सक का वैशिष्ट्य माना जाता है। कषायपान तो वृद्ध (अनुभवी) वैद्य की अनुमति से ही किया जाता है।

स्तभ्यन्ते ¹न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् ॥ १६१ ॥
दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात् तरुणे ज्वरे।

तरुणज्वर में कषाय का निषेध—तरुण (नव) ज्वर में स्तम्भनकारक कषाय का प्रयोग करने से कषायरस द्वारा बंधे हुए वात आदि दोष शरीर में स्तम्भित (जड़) हो जाते हैं, अर्थात् वे न निकलते हैं और न पच ही पाते हैं, फलतः वे विषम ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—कषायरस न केवल मल का अवरोध करता है अपितु वातादि दोषों को भी रोक देता है। अतएव तन्त्रकार ने इसका निषेध किया है। इसी का समर्थन महर्षि हारीत ने भी किया है—'न कषायं प्रशंसन्ति नराणां तरुणे ज्वरे। कषायेणाऽऽकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुस्तराः' ॥ हारीतसंहिता।

कुर्वन्ति विषमज्वरम्—स्तम्भित वात आदि दोष विषमज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ विषमज्वर शब्द से सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक—इन सबका ग्रहण किया जायेगा।

न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते ॥१६२॥
यः ²कषायकषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे।

प्रकारान्तर से विचार—कल्पना-भेद का विचार कर कषाय का निषेध नहीं किया गया है। अपितु कषायरस से अथवा कषायरस-प्रधान द्रव्यों से जिस कषाय (क्वाथ) का निर्माण किया जाता है, उसका निषेध तरुणज्वर में किया गया है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—'ननु कल्पनमुद्दिश्येति स्वरस-कल्क-शृत-शीत-फाण्टरूपकल्पनं लक्ष्यीकृत्य यः कषायः कषाय इति, यः कषायैरामलकादिभिः कृतः स्वरसादिरूपः कषायः स निषिध्यत इत्यर्थः'। स्वरस आदि कषाय तथा देर में पचने वाली ओषधियों का निषेध सुश्रुत में इस प्रकार निर्दिष्ट है—'भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्' । सु० उ० तं० अ० ३९।१२१।

मतमतान्तरों के परिशीलन से मनुष्य जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है, वह महत्त्वपूर्ण होता है। द्रव्यों की कषायकल्पना पाक-प्रकारों की विविधता के कारण अनेक प्रकार की होती है। कुछ आचार्य इस प्रकार के सभी कषायों का नवज्वर में निषेध मानते हैं, किन्तु हमारे तन्त्रकार का मत है—कषायरस-प्रधान स्वरस नामक कषाय भेद का सेवन नहीं करना या कराना चाहिए। वास्तव में यह मूर्तिमान् कषाय है, जो दोषों को स्तम्भित कर देता है। दूसरा कारण यह भी है कि तरुणज्वर में मुख्य भेषज के प्रयोग का निषेध किया गया है। कषाय का प्रयोग भी मुख्य भेषज के रूप में निषिद्ध है। पूर्वोक्त षडंगपानीय आदि पेय द्रव्यों के प्रयोग का जो विधान ज्वर की तरुण अवस्था में किया गया है, उसका कारण यह है कि उनमें तिक्त आदि रसों का भी प्रयोग किया जाता है।

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः ॥ १६३ ॥
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये।

यवागूपान के पश्चात् कर्म—अभी 'ज्वरितं षडहेऽतीते' सूत्र का ही अधिकार चल रहा है। ज्वर-पीड़ित पुरुष को यवागू सेवन कराने के बाद प्रतिदिन भोजन का समय उपस्थित हो जाने पर दस दिनों तक हितकारी अम्लयूष या अनम्ल (मधुर या लवणरस युक्त) यूषों के साथ या जांगल पशु-पक्षियों के मांसरसों के साथ लघु (यथाशीघ्र) पच जाने वाले अन्न को ज्वर की शान्ति के लिए खिलाना चाहिए।

१. 'न च्यवन्ते च' इति पा०।
२. 'कषायः कषायः' इति पा०।

वक्तव्य—ये सभी उपचार ज्वरशान्ति के लिए निर्दिष्ट हैं। **'यूषैरम्लैरनम्लैर्वा'**—यूष (जूस=दाल आदि के पतले पानी को जूस कहते हैं)। **रस**—यह अनेक अर्थों की शक्ति से सम्पन्न शब्द है, प्रकरणवश इसके अर्थ निर्धारित किये जा सकते हैं। भोज्यपदार्थों के प्रकरण में इसका अर्थ होता है—'मांसरस'। यहाँ यूषों को दो प्रकार का कहा है—१. अम्ल (खट्टे), २. अनम्ल (जो खट्टे न हों)। यूषों को खट्टा करने के लिए खट्टे अनारों (दाड़िमों) का प्रयोग किया जाता है। अनम्ल यूष मधुर, नमकीन आदि स्वाद वाले हो सकते हैं। सच तो यह है कि जो जिसको अच्छा लगे वह रस उसके लिए मधुर (रुचिकर) होता है। वास्तव में यहाँ 'अम्ल-अनम्ल' शब्दों का प्रयोग रोगी की भोजन के प्रति रुचि बढ़ाने की दृष्टि से किया गया है। ऐसे अवसर पर **'कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् सुधीः'**। चिकित्सक का परमकर्तव्य है कि वह तीमारदार को वैसे पथ्य पदार्थ बनाने के लिए कहे जो रुग्ण को रुचिकर लगें।

खट्टे अनार नैनीताल, अल्मोड़ा आदि पर्वतीय प्रदेशों में पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। इन्हें सुखाकर भी संग्रहीत करते हैं और समय पर इनका रस निकालकर चटनी बनाकर रख ली जाती है, जो खराब नहीं होती। इनके बीजों को भी सुखाकर रख लिया जाता है, जो एक वर्ष तक खराब नहीं होते

दशाहं यावत्—यह भी प्रायो वचन है। इस अवधि में न्यूनाधिकता होते देखी जाती है। आप भी ध्यान दें और सावधानी से चिकित्सा भी करें।

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ॥ १६४ ॥
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम्।

ज्वर में घृतपान का निर्देश—दस दिन तक उपर्युक्त विधि का सेवन करने के अनन्तर कफदोष के मन्द हो जाने पर अथवा वात-पित्तप्रधान ज्वर में दोषों के भली भाँति पक जाने पर दस दिन के बाद उस-उस दोष-नाशक औषधद्रव्यों द्वारा तैयार किये हुए घृत का पान रोगी को कराना चाहिए। इस स्थिति में उपर्युक्त प्रकार के घी को पिलाना अमृत के समान हितकर होता है। अर्थात् मृतप्राय रोगी को भी पुनः जीवन प्रदान कर देता है।

वक्तव्य—ज्वर के आरम्भ में आमदोष को दूर करने के लिए रोगी को लंघन कराये जाते हैं। इससे कफ क्षीण होता है। इस क्रिया में लगभग दस दिन लग जाते हैं। कफ के क्षीण होते ही वात-पित्तदोषों की तथा शरीर में रूक्षता की वृद्धि होने लगती है। इसकी शान्ति के लिए ही तन्त्रकार ने औषधसिद्ध घृत-पान की व्यवस्था दी है। स्पष्ट है—इससे रूक्षता नष्ट हो जाती है, वायु का अनुलोमन होता है और पित्त की गर्मी की शमन हो जाता है।

परिपक्वेषु दोषेषु—ऊपर जो घृतपान की व्यवस्था दी गयी है, उसका प्रयोग दोषों के भली-भाँति पक (शक्तिहीन हो) जाने पर ही करना चाहिए। इसी का समर्थन अगले पद्य द्वारा भी किया गया है। आगे भी इसी की पुष्टि करते हुए कहा है—'ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम्। षडहे षडहे देयं वीक्ष्य दोषबलाऽबले' ॥ च० चि० अ० ३०।३०२। इसके अनुसार ज्वर आने के दिन से २८वें दिन घृतपान कराना चाहिए। किन्तु यह अवधि भी तन्त्रकार को हठात् स्वीकार नहीं है। वे कहते हैं—'वीक्ष्य दोषबलाऽबले'। सिद्धान्त यही है कि जब कफ मन्द पड़ जाये और वात-पित्तदोष प्रधान हों या होने लगें, उस समय घृतपान कराना चाहिए। इस काल का निर्णय योग्य चिकित्सक ही 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' कर सकता है।

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् ॥ १६५ ॥
न सर्पिः पाययेद् वैद्यः ¹कषायैस्तमुपाचरेत्।

घृतपान-विधि का अपवाद—उक्त प्रकार से दस दिन बीत जाने पर भी यदि कफदोष की प्रधानता हो, अर्थात् कफ मन्द न हुआ हो और लंघन के सभी लाभ प्राप्त न हुए हों, तो ऐसी स्थिति में चिकित्सा-कुशल वैद्य उसे घृतपान न कराये, अपितु उस-उस दोषनाशक कषायों का सेवन कराकर चिकित्सा करे।

१. 'शमनैस्तमुपाचरेत्' इति पा०।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार 'दोषशामक कषायों से उसकी चिकित्सा करे'—ऐसा भ्रामक अर्थ होगा, क्योंकि शमन-क्रियाएँ अनेक हैं। अतः कषाय शब्द का प्रयोग अधिक उचित है। उक्त पद्य द्वारा कफदोष के शमन होने के पहले तन्त्रकार ने शब्दतः घृतपान का निषेध इसलिए किया है कि बीच में ही घृतपान करा देने से कफदोष की और भी वृद्धि हो जायेगी।

यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च ॥ १६६ ॥
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां, बलकृच्च [1]तत् ।

मांसरस लघु-आहार-प्रयोग—दस दिन के बाद भी जब तक कफ की प्रधानता तथा लंघन (शरीर का हलका होना आदि) के गुण नहीं आ जाते या प्रकट नहीं हो जाते, तब तक रोगी को घृतपान न करायें। किन्तु कफ की प्रधानता के रहने पर तथा लंघन के गुणों के पूर्ण रूप से न दिखलायी देने पर भी मांसरस के साथ अशन (लघु अन्न) रोगी को देना चाहिए। ऐसी स्थिति में रोगी को मांसरस के साथ भोजन क्यों देना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर अगली पंक्ति द्वारा दिया जा रहा है—दोषों को रोकने की क्षमता शारीरिक बल में ही होती है। मांसरस बलवर्धक होता है, अतएव उसे दिया जाता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद विश्वजनीन साहित्य है। यह सभी वर्ग के लोगों की चिकित्सा का निर्देश करता है, भले ही वे शाकाहारी हों या मांसाहारी। यह चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह तद्गुण विशिष्ट उसके प्रतिनिधि द्रव्य का अन्वेषण कर रोगी को बतलाये। यहाँ शाकाहारियों को गाय के दूध का सेवन करायें। जिसका संकेत अगले पद्य में है। यहाँ मांसरस को लघु (सरलता से पचने योग्य) बतलाया गया है। इसका निर्माण घी-तेल तथा मसालों के बिना हलका नमक डालकर करना चाहिए।

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ॥ १६७ ॥
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ।

ज्वर में दूध का प्रयोग—जिस रोगी को जलन हो रही हो और बार-बार प्यास लग रही हो, वातपित्तदोष जिसके प्रधान हों, निरामज्वर (जिसका ज्वर आमदोष से मुक्त) हो, साथ ही जिसके वातादिदोष परस्पर बँधे (एक दूसरे से उलझे) हों, पर अपने-अपने स्थानों से विचलित हो गये हों, ऐसे रोगी के दोषों को दूध पिलाकर जीतना चाहिए।

वक्तव्य—दूध आहार का प्रतिनिधि द्रव्य है तथा सत्वगुण-सम्पन्न पूर्ण भोजन है। यह योनि-भेद से अनेक प्रकार का होता है। इन सबमें गाय का दूध उत्तम होता है। यह रस तथा पाक में मधुर, शीतल, स्निग्ध, वात-पित्त तथा रक्त-पित्तनाशक, विबंधनाशक (मल को निकालने वाला) एवं समस्त रोग-नाशक आदि गुणों से पूर्ण होता है। चाणक्य ने भी इसे शक्तिशाली कहा है—'अन्नाद् दशगुणं पिष्टं पिष्टाद् दशगुणं पयः।

क्षीरपाक-विधि—'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ —शा० सं० म० खं० २।१७९। उपयोगी औषध-द्रव्यों से आठ गुना दूध तथा उससे चौगुना जल मिलाकर इसे पकायें। जब दूध मात्र शेष रह जाये, तो इसे छानकर पी लें। यही क्षीरपाक-विधि है। यद्यपि आमजनित रोगों में दूध का प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु उक्त विधि से पकाया हुआ दूध हानिकर नहीं होता, अपितु आमदोष का नाश करता है। दूध के गुणों का वर्णन करते हुए तन्त्रकार ने भी कहा है—'पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम्'। च० सू० अ० २१।११।

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ॥ १६८ ॥
[2]अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत् तं विरेचनैः ।

ज्वर में विरेचन-निर्देश—वमन, लंघन, यवागूपान आदि उपचारों से जब ज्वर शान्त नहीं हो रहा हो और रोगी का बल, मांस तथा अग्नि क्षीण न हुए हों, तो विरेचन द्वारा उसे (ज्वर को) शान्त करना चाहिए।

१. 'बलं ह्यलं दोषहरं, परं तच्च बलप्रदम्' इति पा०।
२. 'अक्षीणबलमांसस्य' इति पा०।

वक्तव्य—'रिचिर् विरेचने (रु० उ० अ०) ण्यन्त ल्युट्' इस प्रकार निष्पन्न यह शब्द वमन-विरेचन दोनों विधियों का संकेतक है। इसी का समर्थन च० क० अ० १।४ में भी किया गया है। किन्तु यहाँ आप वमन पहले करा चुके हैं, उसके बाद लंघन भी करा दिये हैं, जिनसे आमाशयस्थ दोषों का निराकरण हो चुका है। अतः अब आपको विरेचन कराने की सलाह दी जा रही है और सावधानी रखने के लिए संकेत दिया है—'अक्षीणबलमांसाग्नेः' यह अक्षीणता सभी रोगियों में समान नहीं होगी। इसलिए अब आपको 'विरेचनैः' पद पर ध्यान देना है। यह पद एकशेषविधि द्वारा निष्पन्न है। अतः इसका अर्थ होगा रोगी के बल आदि का विचार कर एक, दो, तीन या इससे भी अधिक विरेचनों द्वारा पक्वाशय की शुद्धि करना, न कि सभी को अनेक बार विरेचन कराना।

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ॥ १६९ ॥
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ।

ज्वर-क्षीण में दुग्ध तथा वस्ति-प्रयोग—ज्वर से आक्रान्त होने के कारण (कृश) रोगियों के लिए वमन तथा विरेचन हितकर नहीं होता है। ऐसी स्थिति में उस रोगी के मल (Stoll) को औषध-सिद्ध दूध अथवा निरूहणवस्ति द्वारा निकालना चाहिए।

वक्तव्य—निरूह या निरूहणवस्ति को ही 'आस्थापनवस्ति' भी कहते हैं। यह दोष तथा धातुओं को अपने-अपने स्थान पर स्थापित कर देती है। कार्यभेद से इसी को दोषहर, संशमन, शोधन, लेखन तथा पिच्छिलवस्ति भी कहते हैं। इसका क्या प्रमाण है ? कौन इसके योग्य-अयोग्य रोगी है ? इसमें क्या सावधानी चाहिए इत्यादि विवरण के लिए देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ६। इस वस्ति का तभी प्रयोग करें, जब दूध पीने से विरेचन न हो। वास्तव में क्रूरकोष्ठ वालों के लिए ही तीक्ष्णविरेचन तथा वस्ति का प्रयोग विहित है।

निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम् ॥ १७० ॥
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत् ।

निरूहणवस्ति की प्रशस्ति—दोषों का भली-भाँति परिपाक हो जाने पर यदि निरूहणवस्ति का प्रयोग किया जाता है, तो शरीर में बल की वृद्धि होती है, जठराग्नि प्रबल होती है, ज्वर शान्त हो जाता है, मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है और शीघ्र ही भोजन के प्रति रुचि बढ़ जाती है।

वक्तव्य—'शीघ्रम्' विशेषण युक्त इस 'आवहेत्' क्रिया का सम्बन्ध बल, अग्नि, विज्वरत्व, मुद और रुचि सबके साथ है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् ॥ १७१ ॥
स्रंसनं, त्रीन्मलान् वस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान् ।

स्रंसन का प्रयोग—स्रंसन (विरेचन) का प्रयोग पित्ताशय में गये हुए पित्त अथवा कफ-पित्त को बाहर निकाल देता है और वस्ति-प्रयोग पक्वाशय में पहुँचे हुए तीनों मलों (वात, पित्त, कफ) को बाहर निकाल देता है।

वक्तव्य—स्रंसन 'स्रंसु अधःपतने' ल्युट्। यद्यपि स्रंसन और रेचन या विरेचन एकार्थकारी हैं, फिर भी दोनों में पर्याप्त भेद है। **स्रंसन द्रव्य-परिचय**—'पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद् यथा स्यात् कृतमालकः' ॥ शा० सं० प्र० खं० अ० ४।४। अर्थात् जो द्रव्य उदर में सटे हुए पकाने योग्य (जो अभी पका नहीं है, ऐसे) मल आदि को बिना पकाये ही नीचे की ओर विरेचन के लिए ले जाता है, उसे स्रंसन द्रव्य कहा जाता है। जैसे—अमलतास की गुद्दी।

रेचन द्रव्य-परिचय—'विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्। रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा' ॥ शा० सं० प्र० खं० अ० ४।६। अर्थात् जो द्रव्य पके अथवा न पके हुए मल आदि को पतला कर देता है और उसे मल-मार्ग से बाहर निकाल भी देता है, उसको 'रेचन' या 'विरेचन' कहते हैं। जैसे—निसोथ। आयुर्वेद में ऐसे दस्तावर द्रव्यों को अनुलोमन, स्रंसन, भेदन, रेचन कहते हैं।

पित्ताशय--'ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्वामभागे व्यवस्थितः'। शा० सं० प्र० खं० अ० ५।१२। आमाशय के ऊपर नाभि के बाँयी ओर अग्न्याशय है, इसी को पित्ताशय (Gall bladder) कहते हैं। इसके अतिरिक्त क्षुद्रान्त्र का पूर्वभाग तथा ग्रहणी का भी ग्रहण आमाशय के परिवेश में हो जाता है। पक्वाशय से बृहदन्त्र का ही ग्रहण किया जाता है। यहाँ वस्ति शब्द से निरूहणवस्ति का ग्रहण तन्त्रकार को अभीष्ट है।

ज्वरे पुराणे सङ्क्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये ॥ १७२ ॥
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ।

ज्वर में अनुवासनवस्ति-प्रयोग—बलवान् जठराग्नि वाले रोगी व्यक्ति को निम्न स्थितियों में अनुवासनवस्ति देनी चाहिए—जिस रोगी का ज्वर पुराना हो गया हो, कफ तथा पित्तदोष क्षीण हो गये हों, मल रूखा तथा बँध गया (गाँठें पड़ गयी) हों।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्य में 'दृढाग्नये' पद्यांश से श्लोक १६९ का 'अक्षीणबलमांसाग्नेः' का अध्याहार कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न रोगी की चिकित्सा सरलता से की जा सकती है। इसके पहले निरूहवस्ति देने की तन्त्रकार की आज्ञा थी और अब अनुवासनवस्ति की। मूलतः इनका भेद इस प्रकार समझें--

उक्त दोनों बस्तियाँ एक ही प्रकार के यन्त्र द्वारा दी जाती हैं। दोनों का नाम-भेद होने में द्रव्य-भेद ही कारण है—'यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः। कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते'। शा० सं० उ० खं० अ० ५।२। अर्थ स्पष्ट है। इसी का समर्थन सु० चि० अ० ३५ में किया गया है। किसको अनुवासन वस्ति देनी चाहिए--'अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात् तीक्ष्णाग्निः केवलानिली'॥ शा० सं० उ० खं० अ० ५।५। यहीं पर अनुवासन के अयोग्य रोगियों की भी चर्चा की गयी है। वास्तव में रूक्ष-बद्ध पुरीष की स्थिति वायु के प्रकोप से ही होती है और पक्वाशयगत वायु को अनुलोम करने के लिए वस्ति-प्रयोग से उत्तम साधन और कोई नहीं है। महर्षि वृद्धवाग्भट ने भी इसमें वात का प्रकोप स्वीकार किया है—'प्रक्षीणकफपित्तस्य त्रिकपृष्ठ-कटीग्रहे। दीप्ताग्नेर्बद्धशकृतः प्रयुञ्जीतानुवासनम्'॥ अ० सं० चि० अ० २।

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च ॥ १७३ ॥
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम् ।

ज्वर में नस्य-प्रयोग—जीर्णज्वर में शरीर के भारी होने पर, शिरःशूल होने पर, इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, नाक, मुख, जीभ) के विबद्ध (विशेष रूप से जड़) हो जाने पर, रुचिकर (सभी इन्द्रियों की अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की इच्छा को पूर्ण करनेवाला), मूर्धविरेचन (नस्य) का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अनुसार यह नस्य दो प्रकार का होता है—१. बृंहण और २. शमन। यथा—'स्नैहिकं शून्यशिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम्'। अ० सं० चि० २। अन्यत्र—१. रेचन (शोधन तथा अपतर्पण) और २. स्नेहन (स्निग्ध करनेवाला, सन्तर्पण तथा बृंहण) कहा जाता है। इसका प्रयोग आठ वर्ष की अवस्था से लेकर अस्सी वर्ष तक किया जाता है।

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने ॥ १७४ ॥
विभज्य 'शीतोष्णकृतं कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ।

ज्वर में अभ्यंग आदि का विधान—चिकित्सक को चाहिए कि वह जीर्णज्वर में शीतकृत (शीत-कारक कारणों से उत्पन्न हुआ) है अथवा उष्णकृत (उष्णकारक कारणों से उत्पन्न हुआ) है—इसका निर्णय करके अभ्यंग, प्रदेह (लेप), परिषेक (शिर से लेकर पैरों तक का स्नान) तथा अवगाहन (शिर को छोड़कर शेष अंगों को टब आदि में बैठकर धोना, डुबाये रखना, इसी विधि से स्वेदन भी कराया जाता है) भी कराना चाहिए।

१. 'शीतोष्णतया' इति पा०।

अर्थात् यदि ज्वर शीतजनित हो तो उष्ण अभ्यंग आदि का प्रयोग करायें, यदि ज्वर उष्णजनित हो तो शीत अभ्यंग आदि का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति के अनुसार ऊपर का पाठ है। उस प्रति में जो पाठभेद दिया गया है, उसे हमने भी नीचे टिप्पणी में दिया है। किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार ने प्रस्तुत पद्य को इस प्रकार लिखा है—'अभ्यङ्गांश्च, प्रदेहांश्च सस्नेहान् सावगाहनान्। विभज्य शीतोष्णतया कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक्'॥ हमारे विचार से प्रस्तुत शब्द 'शय्या' निर्णयसागरीय पाठ से अधिक उपादेय है। आप भी विचार करें।

तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः ॥ १७५ ॥
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते ।

ज्वर में अभ्यंग आदि के लाभ--उन (उपर्युक्त बाह्य) उपचारों से बाहरी मार्ग में होने वाला ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है, शरीर के समस्त अवयव सुख का लाभ करते हैं, बल और वर्ण की वृद्धि भी होती है।

वक्तव्य—शीतल पदार्थों के आहार-विहार से उत्पन्न ज्वर को **शीतकृत** और उष्ण पदार्थों के आहार-विहार से उत्पन्न ज्वर को **उष्णकृत** कहते हैं। रोगी शीतकृत ज्वर में उष्ण और उष्णकृत ज्वर में शीतल पदार्थों की कामना करता है। विशेष जानकारी के लिए इसी अध्याय के २५६वें पद्य का अवलोकन अवश्य कर लें।

बहिर्मार्गगतज्वर तथा शाखागतज्वर भी इसी को कहते हैं। इस प्रसंग में बहिर्वेग और अन्तर्वेग ज्वरों के लक्षणों पर भी ध्यान दें। शाखा शब्द से—'शाखारक्तादयो धातवस्त्वक्' इनका ग्रहण होता है। धातुगत ज्वरों में शुक्रगत ज्वर असाध्य होता है।

धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम् ॥ १७६ ॥
त्वङ्मात्रशेषा येषां च भवत्यागन्तुरन्वयः ।

ज्वर में धूपन आदि का प्रयोग—जो जीर्णज्वर केवल त्वचा मात्र में शेष रह जाते हैं, वे धूपन तथा अंजन के योगों (प्रयोगों) से शान्त हो जाते हैं और जिन ज्वरों में आगन्तुज ज्वरोत्पादक कारण अनुबन्ध के रूप में रहते हैं, वे ज्वर भी धूपन तथा अंजन के प्रयोगों से शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—आगन्तुज अन्वय का क्षेत्र अति विस्तृत है। इसमें भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, अभिशाप, अभिचार का विशेषरूप से ग्रहण किया जाता है। इन धूपन तथा अंजनों के योगों का विस्तारपूर्वक उल्लेख आगे इसी प्रकरण में किया गया है।

इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः ॥ १७७ ॥
येषां त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु ।

उपसंहार—इस प्रकार ज्वरनाशक सिद्ध (सभी अवस्थाओं में सफल होने वाले) चिकित्साक्रम का प्रकाशन कर दिया गया है, अर्थात् कह दिया गया है। अब जिन यवागू आदि-द्रव्यों का चिकित्साक्रम में वर्णन किया गया है, इसके आगे उनका वर्णन सुनो।

रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह ॥ १७८ ॥
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ।

ज्वरनाशक विविध अन्न-पेयादि

ज्वरनाशक अन्न—ज्वर रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए यवागू (पतली खिचड़ी), ओदन (भात), लाजा (लावा या खील) का निर्माण करने के लिए पुराने लाल शालि नामक धान आदि तथा उनके साथ पुराने साठी के चावलों का प्रयोग शुभ (हितकर) होता है।

वक्तव्य—शालितण्डुल और साठी के चावल अत्यन्त सुपच होते हैं। अतः इनके चावलों की यवागू (पतली खिचड़ी), भात, खील दिये जा सकते हैं, दिये जाते भी हैं। आदि शब्द से सुपच होने के कारण साँवा, कोदों जैसे क्षुद्र धान्यों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम् ॥ १७९ ॥
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वानल्पाग्निरादितः ।

ज्वर में लाजपेया का प्रयोग—ज्वर से पीड़ित व्यक्ति जिसकी जाठराग्नि मन्द पड़ गयी हो फिर भी उसे भूख लग रही हो, तो उसे चाहिए कि वह सबसे पहले सुखपूर्वक पचने वाली पिप्पली और सोंठ के साथ पकायी गयी लाजपेया का पान करे।

वक्तव्य—ऊपर १७८वें श्लोक में लाजा (लावा या खील) के निर्माण के लिए किस प्रकार के धानों का ग्रहण करना चाहिए, यह बतला दिया गया है। **पेया निर्माण-विधि**—'द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले। सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१८७। यह लघुपाकी होती है, मल को बाँधती है, तथा रसादि धातुओं को पुष्टि प्रदान करती है।

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार—'लाजपेयामित्यादिका दश यवाग्वः। तत्र प्रथमा श्लेष्मणीति, **हरिचन्द्रः**। किंवा लाजपेयां सुखजरामित्येका। तथा पिप्पलीनागरैः शृतामिति द्वितीया। एवं शेषाभिः सममेकादश पेयाः। सनागरां सृष्टविट्पिबेदिति योजना, सनागरामेव शीतां मधुयुतां पिबेत् पैत्तिक इत्यपरा, शुण्ठ्यास्तु मधुरपाकित्वेन पाचनत्वेन च पित्ते प्रयोगः।

अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम् ॥ १८० ॥
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ शीतां मधुयुतां पिबेत् ।

लाजपेया का कल्पना-वैशिष्ट्य—यदि ज्वर-रोगी खट्टा खाने का इच्छुक हो, तो उसी लाजपेया में सोंठ का चूर्ण और खट्टे अनार का रस मिलाकर सेवन करे। यदि ज्वर-रोगी को अतिसार (पतले दस्त) हो रहे हों या पित्तज ज्वर हो, तो उक्त पेया को ठंडी करके उसमें मधु मिलाकर पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—वास्तव में जब रोगी की जाठराग्नि मन्द होती है, तो तदनुसार उसकी रुचि भी मन्द हो जाती है, उसे जल्दी ही भक्ष्य किंवा पेय पदार्थों से अरुचि हो जाती है। ऐसी स्थिति में कल्पनाचतुर (पाककर्म विशेषज्ञ) पुरुष उन्हीं पदार्थों की पेया को अनेक प्रकार से बनाकर भोजन के प्रति रोगी की रुचि को अनुकूल बनाने का सत्प्रयास करता है।

पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्ववस्तिशिरोरुजि ॥ १८१ ॥
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरां पिबेत् ।

पार्श्व आदि शूल में पेया-प्रयोग—यदि ज्वर-रोगी की पसलियों में, वस्ति में और सिर में पीड़ा होती हो, तो वह गोखरू और कण्टकारी (भटकटैया) के क्वाथ द्वारा लाल धान के चावलों से निर्मित ज्वरनाशक पेया का सेवन करे।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'वस्तिशिर' इतने को एक मानकर मूत्राशय के ऊपरी भाग में पीड़ा हो, ऐसा अर्थ किया है, किन्तु यह युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं समभिवध्यते'। इस आधार से यहाँ पार्श्व, वस्ति, शिर इन तीनों का सम्बन्ध 'रुजि' शब्द के साथ है। आप भी विचार करें।

ज्वरातिसारी पेयां वा पिबेत् साम्लां शृतां नरः ॥ १८२ ॥
पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः ।

ज्वरातिसार में पेया-प्रयोग—यदि ज्वर रोगी को अतिसार (पतले दस्त) हो रहे हों, तो पिठवन (पाठभेद के अनुसार—'शालपर्णी' देखें—श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीकावाली चरकसंहिता), बलामूल, बिल्व (बेलगिरी), नागर (सोंठ), उत्पल (नीलकमल), धान्यक (धनिया) के क्वाथ से बनायी गयी तथा खट्टे अनार के रस से खट्टी की हुई पेया का सेवन करे।

शृतां विदारीगन्धाद्यैर्दीपनीं स्वेदनीं नरः ॥ १८३ ॥
कासी श्वासी च हिक्की च यवागूं ज्वरितः पिबेत् ।

कास-श्वासयुक्त ज्वर में पेया—यदि ज्वर रोग में कास, श्वास, हिक्का—ये लक्षण दिखलायी दें, तो वह विदारीगन्धादि गण में कथित द्रव्यों के क्वाथ से बनायी गयी अग्नि को प्रदीप्त करने वाली तथा स्वेदन करने वाली पेया का सेवन करे।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता में ३७ द्रव्यसमूहों में सर्वप्रथम विदारिगन्धादिगण का पाठ इस प्रकार है—'विदारिगन्धा-विदारी-विश्वेदेवा-सहदेवा-श्वदंष्ट्रा-पृश्निपर्णी-शतावरी-सारिवा-कृष्णसारिवा-जीवकर्षभकौ-महासहा-क्षुद्रसहा-बृहत्यौ-पुनर्नवैरण्डौ-हंसपादी-वृश्चिकाल्यृषभी चेति'। 'विदारिगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः' ॥ सु० सू० अ० ३८।४-५। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने स्वल्पपञ्चमूल को विदारिगन्धादिगण स्वीकार कर बिना संदर्भ-संकेत के अपनी टीका में एक उद्धरण प्रस्तुत किया है।

विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम् ॥ १८४ ॥
सर्पिष्मतीं पिबेत् पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम् ।

ज्वर में दोषानुलोमनी पेया—ज्वर रोगी का यदि मल बँध गया हो, आँतों में मल की गाँठे पड़ गयी हों, तो वह पिप्पली और आँवलों द्वारा पकायी गयी यव (जौ) तथा लाल शालि के चावलों की पेया में पर्याप्त घी डालकर इसे पीये। यह सभी प्रकार के दोषों का अनुलोमन करती है।

कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत् पेयां शृतां ज्वरी ॥ १८५ ॥
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः ।

विबन्धनाशक अन्य पेया—यदि ज्वर रोगी का कोष्ठ (पक्वाशय) बँधा (मल न निकल रहा) हो, उदर-प्रदेश में पीड़ा हो रही हो, तो मुनक्का, पिपरामूल, चव्य, आँवला और सोंठ के क्वाथ से पकायी गयी पेया को पीना चाहिए।

पिबेत् सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके ॥ १८६ ॥
बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीशृताम् ।

परिकर्तिका-नाशक पेया—यदि ज्वर रोगी के गुद-प्रदेश में परिकर्तिका (कैंची से काटने के समान कष्ट) हो, तो बलामूल, वृक्षाम्ल (विषांबिल या तिन्तिडीक), खट्टे बेर, कलशी (शालपर्णी—गंगाधर, पृश्निपर्णी=पिठवन—वैद्यकशब्दसिन्धु), धावनी (पृश्निपर्णी—वैद्यकशब्दसिन्धु तथा वा० चि० अ० १. कण्टकारी, धातकीद्वय-राजनिघंटु) इनसे पकायी गयी पेया का सेवन करें, अथवा केवल बेलगिरी के क्वाथ द्वारा साधित पेया का सेवन करें। यहाँ दोनों पेयाओं में रक्तशालितण्डुलों का प्रयोग किया जाता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर 'सबिल्वां' का अर्थ बेलगिरी का चूर्ण करते हैं। किन्तु ध्यान देने का विषय यह है कि उक्त श्लोक में 'वा' इस विकल्पवाचक अव्यय द्वारा ये दो योग निर्दिष्ट हैं। यदि हम गंगाधर के वचनों का आदर करते हैं, तो यह एक ही पेया होती है। इन दो योगों की कल्पना इस प्रकार होगी—१. सबिल्वां शृताम् पेयां पिबेत्। २. बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीशृतां वा पेयां पिबेत्। शेष स्पष्ट है।

अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः पिबेत् पेयां सशर्कराम् ॥ १८७ ॥
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम् ।

अस्वेदादिविकार-नाशक पेया—यदि ज्वर रोगी को पसीना न आता हो, उचित रूप में नींद न आती हो, बार-बार प्यास लग रही हो, तो वह सोंठ और आँवले के क्वाथ से बनायी गयी रक्तशालि-तण्डुलों की पेया जिसे घी से भून दिया हो और जिसमें चीनी मिला दी गयी हो, पीने के लिए दें। यह उक्त उपद्रवों के साथ ज्वर का भी नाश करती है।

वक्तव्य—ज्वर में पसीना न आना, नींद का न आना, बार-बार प्यास का लगना—ये उपद्रव के रूप में देखे जाते हैं। ज्वर के साथ इनका भी शमन हो जाये, इसलिए उक्त पेया का विधान तन्त्रकार ने किया है। पेया की निर्माण-विधि तथा उसमें पड़ने वाले द्रव्यों की मात्रा का वर्णन ऊपर १७९वें पद्य के वक्तव्य में कर दिया है। इस पेया की निर्माण-विधि—सोंठ और आँवलों का क्वाथ तैयार करके रख लें, रक्तशालि के तण्डुलों

को धोकर पानी निथार कर उन्हें घी में भून लें। अथवा पेया का निर्माण कर अन्त में जीरा आदि सुगन्धित द्रव्य डालकर घी में उसे छौंक दें।

आचार्य चक्रपाणि की टीका से हम उनके विचारों को यहाँ साभार उद्धृत कर रहे हैं—'अत्र च यवागूनां साधनद्रव्यजतण्डुलपरिमाणे वृद्धवैद्यव्यवहाराः पूजिताः प्रमाणीकर्तव्याः। अत्राग्निवेशसंहितायामधीयते—क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके। पादशेषेण तेनाथ यवागूरुपकल्पयेत्। कर्षार्धं वा कणाशुण्ठ्योः कल्कद्रव्यस्य वा पलम्। विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापराम्'॥ इति। अपरामिति क्वाथसाध्ययवाग्वा उक्ताया भिन्नां कल्कसाध्यामित्यर्थः। एवं च कल्कपलेन या तत्र यवागूसाधनपरिभाषा, सा इहापि द्रव्यपलकल्केन यवागूसाधनमुपदिशताऽनुमतैव, तथाहि जीवन्त्यादियवाग्वामष्टभिर्द्रव्यैः कोलप्रमाणैः साधनमुक्तम्।

यत्तु तत्र वृक्षाम्लयुक्तेत्याद्युक्तं तदम्लतामात्रार्थं वृक्षाम्लदानं, न तदष्टमाषकप्रमाणं, किं वा तदप्यष्टमाषकमानप्रमाणस्तु, तथाऽप्यदूरान्तरार्थतया कल्कपलसाधनोपदेशेन। उक्तं हि—'जीवन्त्यजाजीशटिपुष्कराह्वैः सकारवीदीप्यकबिल्वमध्यैः। सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा॥ अर्शोतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः। या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् साऽपि समा तथैव'॥ च० चि० अ० १२।६०-६१। इति। तस्मादेतद् यवागूक्तमानलिङ्गदर्शनात् कल्कपलसाध्ययवाग्वभिधायिका परिभाषाऽनुमतैव, तदन्या तत्सहचरिता कर्षार्धकणाशुण्ठीमानदर्शिकाऽनुमतैव।

ऊपर अग्निवेश-संहिता के अनुसार पेया तथा यवागू-निर्माण-विधि का वर्णन किया गया है। अन्यत्र कुछ तर-तम भेद से कहा गया है। अग्निवेश-तन्त्र आज दुर्लभ है। आज उसका जो स्वरूप उपलब्ध है, वह है चरक प्रतिसंस्कृत। अतः अग्निवेश के और चरक के मान-निर्धारण में अन्तर स्पष्ट दिखलायी दे रहा है। देखें—च० चि० अ० १२।६०-६१। इस पर शिवदाससेन ने जो अपना मन्तव्य दिया है, उसे भी निर्णयसागरीय प्रति में देखा जा सकता है। सभी ने अपने-अपने मतों को प्रकट करने के बाद अन्त में वृद्धवैद्योपदेश को महत्त्वपूर्ण माना है, जो प्रायोगिक दृष्टि से उचित है। इसके पूर्व हमने यूष, पेया, विलेपी, यवागू आदि जिसकी जहाँ चर्चा की है, उसके वक्तव्य में उस-उस की निर्माण-विधि विस्तारपूर्वक दी है। अवलोकन करें।

मतान्तर—कुछ आचार्य यवागू आदि के साधन प्रकार में शास्त्रवचनों से अधिक लोकव्यवहार को महत्त्व देते हैं, यह भी एक विश्वसनीय परम्परा है। यथा—'यवागूरसयूषेषु रसालापानकादिषु। द्रव्यमात्रां प्रयुञ्जीत लोकसिद्धां यथार्हतः॥ अथवा यावता व्याप्तिर्नाति स्याद् भेषजेन तु'॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्॥ १८८॥
यूषार्थे [1]यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्।

यूष-योग्य द्रव्यों का ज्वर में प्रयोग—जिन ज्वर रोगियों को यूष सात्म्य (अनुकूल पड़ता) हो, उन रोगियों के लिए यूष-निर्माण के लिए मूँग, मसूर, चना, कुलथी और मकुष्ठ (मारवाड़ में इसे मोठ कहते हैं) अन्नों को देना चाहिए।

वक्तव्य—यूपसात्म्य ज्वर-रोगियों के लिए मूँग आदि अन्नों को यूष के लिए दें। यह यूष-निर्माण-कार्य परिचारक का है, न कि वैद्य का और न रोगी का। यहाँ जो अनेक अन्नों का उल्लेख किया गया है, उसमें रोगी की रुचि, प्रकृति आदि का विचार चिकित्सक को करना है। यदि सभी द्रव्य अनुकूल हों, तो बदल-बदल कर देना चाहिए और कभी एकाधिक दालों का मिश्रण करके भी देना चाहिए।

पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकम्॥ १८९॥
कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम्।

ज्वर में विविध शाक-प्रयोग—परबल की पत्ती, परबल का फल, कुलक (करेला), पापचेलिक (पाठा), कर्कोटक (ककोड़ा), कठिल्ल (लाल पुनर्नवा)—इनका शाक ज्वर में हितकारी होता है।

वक्तव्य—कुलक (रसनामल–हारावली-कोष), कुलकङ्कारवेल्लकम्, पटोललतायाम्–वैद्यकशब्दसिन्धु। **कठिल्ल**—कारवेल्लक। कर्कटोऽरण्यसम्भूतः कठिल्लः शठघातकः–वै० निघण्टु। पुनर्नवायाम्–राजनिघण्टु व० ५। रक्तपुनर्नवायाम्। भा० प्र० पू० खं०। **पापचेलिकम्**—पाठायाम्–राजनिघण्टु व० ६।

1. 'यूषसात्म्याय ज्वरिताय' इति पा०।

लावान् कपिञ्जलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान्॥ १९०॥
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान् पृषतान्छशान्। प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान्॥
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षणः।

ज्वर में मांसरस-प्रयोग—लावपक्षी, कपिञ्जल (गौरैया), एण (काले रंग का हरिण), चकोर, उपचक्रक (चकोर भेद), कुरंग (सामान्य मृग), कालपुच्छ (काले पूँछ वाला मृग), हरिण सामान्य, पृषत (चित्तल हरिण), शश (खरगोश)—इन पशु-पक्षियों का मांसरस ज्वर का नाश करता है। इस मांसरस को कुछ खट्टा करके या सादा (बिना खटाई डाले) भोजन का समय उपस्थित होने पर, जिन ज्वर रोगियों को मांसरस सात्म्य हो, उन्हें सेवन करने के लिए दें।

वक्तव्य—उपर्युक्त पशु-पक्षियों का मांसरस ज्वरनाशक होता है। विशेष करके यह योग मांस-भक्षण करने वाले व्यक्तियों के लिए ही (शाकाहारियों के लिए अन्य अनेक योग दिये गये) हैं। उन्हें रुचि के अनुसार सादा या खट्टा करके ज्वर रोगी को दें। इसके लिए खट्टे अनार के रस का प्रयोग करें। पाक, द्रव्यसंयोग, संस्कार आदि की जानकारी के लिए च० सू० २७।२७४-२७६ इन श्लोकों को विशेषरूप से देखें।

मांसरस-निर्माण-विधि—'प्रस्थेऽम्भसि पलं साध्यं मांसं पादस्थिते रसः'। वै० श० कोष।

कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकान्॥ १९२॥
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः। लङ्घनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत्॥१९३॥
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो दद्यात् तानपि कालवित्।

मांसरस-सेवन में मतभेद—कुछ चिकित्सक कुक्कुट (मुर्गा), मोर, तीतर, क्रौञ्च तथा बटेर पक्षियों
के उष्णगुण युक्त मांसरस को ज्वर रोगी को नहीं देना चाहते। किन्तु यदि ज्वर रोगी को लंघन कराने से
वायु का बल (वेग) अधिक बढ़ गया हो, तो मात्रा के विकल्प (कब कौन-सी वस्तु किस मात्रा में देनी
चाहिए) को तथा काल को जानने वाला चिकित्सक उक्त मांसरसों को भी सेवन करने के लिए उसे दे
सकता है।

वक्तव्य—मात्रा-विकल्प का तात्पर्य पाकसंस्कारों की विशेषता, अर्थात् रोगी की जैसी स्थिति हो,
तदनुकूल निर्मित मांसरस की उतनी मात्रा उस समय में देनी चाहिए, जो दोषों का शमन कर शक्ति प्रदान
कर सके। चिकित्सा में मात्रा, काल, अनुपान, सहपान आदि का समुचित विवेक चिकित्सक के लिए
सदैव अपेक्षित होता है।

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत्॥ १९४॥
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम्।

मांसरस-सेवन करने के बाद
अनुपान-विधि—ज्वर से पीड़ित रोगियों को यदि प्यास लगी हो, तो मांसरस-सेवन करने के बाद
पीने के लिए गरम (गुन-गुना) जल देना चाहिए। मद्यपान करने का जिनको अभ्यास है अथवा जिनको
मद्य हानि नहीं पहुँचाता उनको दोषों के बल तथा रोगी के शारीरिकबल एवं अग्निबल को देखकर उसे
मद्य ही पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—इसी अध्याय के १४३वें श्लोक में वात और कफदोष-प्रधान ज्वर के रोगी को प्यास शान्त
करने के लिए उष्ण जल देने तथा अगले पद्य में मद्यपानजनित एवं पित्तज ज्वर में तिक्त पदार्थों से पकाया
गया शीतल जल देने की अनुमति तन्त्रकार ने दी है। अतः यहाँ भी उसी निर्देश का अनुसरण करना
चाहिए। अर्थात् वात-कफदोष-प्रधान रोगी की पिपासा-शान्ति के लिए उष्णजल और मद्यजनित ज्वर में
मद्य पिलाना चाहिए। यहाँ पर उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'वा' शब्द का 'एव' अर्थ है। देखें—'वा स्याद् विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये'। विश्वकोष। ध्यान देने की बात है—'मद्यसात्म्याय मद्यं वा प्रदापयेत्'। यह ठीक
वैसा ही सिद्धान्त है जैसा कि 'विषस्य विषमौषधम्'।

आगे मदात्यय-चिकित्सा-प्रकरण में भी इसी प्रकार का निर्देश दिया है—'मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते। समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति॥ जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत्। प्रकाङ्क्षालाघ

जाते यद्यदस्मै हितं भवेत्' ॥ —च० चि० अ० २४।१०९-११०। अन्यत्र भी इस आशय का समर्थन प्राप्त होता है।

गुरूष्णस्निग्धमधुरान् कषायांश्च नवज्वरे ॥ १९५ ॥
आहारान् दोषपक्त्यर्थं प्रायशः परिवर्जयेत् ।

नवज्वर में दोष-पाचन के लिए त्याज्य आहार—नवीन ज्वर में दोषों का पाचन करने के लिए गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर तथा कषायरस-प्रधान आहार-द्रव्यों को जहाँ तक हो सके नहीं खाना चाहिए। ये ज्वर में अहितकर होते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि यह ज्वर-प्रकरण है। अतः नवज्वर के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। किन्तु जहाँ अन्य रोगों में अनुबन्ध के रूप में प्रथम बार ज्वर के लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ भी वह 'नवज्वर' कहा जाता है या कहा जा सकता है। केवल ऐसे ही अवसरों के लिए 'प्रायशः' शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है।

गुरूष्णस्निग्धमधुरान्—इसका सम्बन्ध कषाय (क्वाथ) तथा आहार-द्रव्यों के साथ है। अतः जो द्रव्य मात्रा या संस्कार के कारण गुरु हों, वीर्य तथा स्पर्श में उष्ण हों, स्निग्ध (स्नेह योनियों वाले अथवा स्नेहों—घृत, तैल, वसा से तैयार किये गये) हों, तथा मधुररस-प्रधान हों, उनका सेवन न करें। जैसे—सामान्य ज्वर में उष्णगुण वाली कुलथी का कषाय अथवा दाल नहीं देनी चाहिए। किन्तु क्षय आदि में अनुबन्ध रूप में उत्पन्न ज्वर में इसका विधान स्वयं तन्त्रकार ने किया है।

अन्नपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः ॥ १९६ ॥

अन्नपान क्रम का उपसंहार—यहाँ तक सिद्ध (बहुधा अनुभूत अथवा आप्तजन द्वारा कथित) ज्वरनाशक अन्न (अद्यते, इति अन्नं=जो खाया जाये) और पान (जो पीया जाये) का क्रम (पौर्वापर्य) प्रकाशित कर दिया है।

वक्तव्य—गुरु-परम्परा का यह क्रम है कि वे अयोग्य शिष्य के सामने अपने ज्ञान को इसलिए छिपाते थे कि वह उसका दुरुपयोग न करे और वही ज्ञान सुयोग्य शिष्य को खुले मन से यहाँ तक बतला देते थे कि उससे पराजित होने के लिए भी तैयार रहते थे। यही तात्पर्य है—'सम्प्रकाशितः' का।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः । पाक्यं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत् ॥१९७॥
सनागरं पर्पटकं पिबेद् वा सदुरालभम् । किराततिक्तकं मुस्तं गुडूचीं विश्वभेषजम् ॥१९८॥
पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद् वा ज्वरशान्तये । ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः ॥१९९॥
तृष्णारुचिप्रशमना मुखवैरस्यनाशनाः ।

ज्वरनाशक विविध कषाय
(Anti Fever Decoction)

ज्वरनाशक कषाय—इसके आगे अब ज्वर को नाश (समाप्त) करने वाले कषायों का वर्णन किया जायेगा—१. नागरमोथा, पित्तपापड़ा का, २. सोंठ पित्तपापड़ा का, ३. पित्तपापड़ा, दुरालभा (जवासा या धमासा) का, ४. किराततिक्त (चिरायता), नागरमोथा, गुरुच, विश्वभेषज (सोंठ) का अथवा ५. पाठा, खश, उदीच्य (सुगन्धवाला) का—इन्हें समभाग लेकर इनके पाक्य (पकाया हुआ) या शीतकषाय का ज्वर शान्ति के लिए सेवन करे। ये उपर्युक्त सभी क्वाथ ज्वरनाशक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाले, दोषों को पचाने वाले तथा तृष्णा एवं भोजन के प्रति अरुचि को शान्त कर देने वाले होते हैं तथा मुख के फीकेपन का नाश करते हैं।

वक्तव्य—ऊपर पाँच योगों की चर्चा की गयी है। चरक के टीकाकार जेज्जट प्रथम योग को पित्तज्वर में, द्वितीय को पित्तप्रधान ज्वर में, तृतीय को मन्दाग्नि युक्त पित्त-कफप्रधान ज्वर में, चतुर्थ को शीत-प्रधान

ज्वर में और पञ्चम को दाह-प्रधान ज्वर में देने को कहते हैं। दूसरे व्याख्याकार सभी प्रकार के ज्वरों में प्रयोग करने की बात करते हैं। जतूकर्ण चतुर्थ-पञ्चम को एक ही योग मानते हैं। इस योग का नाम अन्यत्र 'पाठासप्तक' है। चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ—इन चार द्रव्यों को अन्यत्र 'चातुर्भद्र' की संज्ञा दी गयी है। आचार्य गंगाधर इनको तीन योग मानते हैं। वृद्धवाग्भट ने उक्त द्रव्यों को अपनी संहिता में इस प्रकार स्थान दिया है—'मुस्तया पर्पटं युक्तं शुण्ठ्या दुःस्पर्शयापि वा। पाक्यं शीतकषायं वा पाठोशीरं सवालकम् ॥ पिबेत् तद्वच्च भूनिम्बगुडूचीमुस्तनागरम् ॥' अष्टाङ्गसं० चि० अ० १।

पाक्य शब्द आयुर्वेद में अन्यत्र यवक्षार तथा काचलवण का वाचक है। किन्तु यहाँ पाचित (Cooked) तथा परिपक्व (Matured) अर्थों में भी प्रयुक्त है। चरकसंहिता में पञ्चकषाय-योनियों तथा पञ्चविध कषाय-कल्पना का वर्णन किया गया है। देखें—च० सू० अ० ४।६-७। अतएव चक्रपाणि ने पाक्य का अर्थ **'शृत'** किया है। शीतकषाय की परिभाषा स्वयं तन्त्रकार ने इस प्रकार दी है—'द्रव्यादापोथितात् तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात् । कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः' ॥ च० सू० अ० ४।७। अग्निवेश-संहिता (सम्प्रति उपलब्ध चरकसंहिता के रूप में है, उस) में क्वाथविधि इस प्रकार दी गयी है—'द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्वा षोडशिकं जलम् । पादशेषं च कर्तव्यमेष क्वाथविधिः स्मृतः' ॥ आप ध्यान दें—अग्निवेश-तन्त्र में द्रव्य का मान न देकर केवल जल का मान दिया गया है तथा चरकसंहिता के उक्त उदाहरण में न द्रव्य का और न जल का ही मान दिया गया है। परवर्ती चिकित्सा-ग्रन्थों में पंचकषायों की रचना का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

इस प्रसंग की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने लिखा है—यद्यपि द्रव्य और जल का मान नहीं कहा गया है तो भी क्वाथ्य द्रव्य के समान द्रव होना ही चाहिए। पानी तो जितना पीना हो, उतना डाल लें। इस प्रकार चक्रपाणि ने अपनी टीका में अनेक आचार्यों की परिभाषाओं को उद्धृत किया है। उनका अवलोकन अवश्य कर लें।

ऊपर 'पाक्य' क्वाथ का केवल नाम मात्र का निर्देश किया गया है, न कि उसकी निर्माण-विधि का। अतः इसका विवेचन करना यहाँ आवश्यक है। महर्षि आत्रेय ने 'व्याधिरूपीय विमानस्थान में क्वाथ का संविधान इस प्रकार कहा है—'छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा, प्रक्षाल्य पानीयेनाभ्यासिच्य' इत्यादिना 'गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य परिपूतं कषायम्'। च० वि० अ० ७।१७। इससे सभी प्रकार के कषाय-निर्माण की विधि को समझें। विदितवेदितव्य चिकित्सकों के प्रति किये गये तन्त्रकार के इस संकेत का परवर्ती टीकाकारों ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' समझ कर उपहास किया है, जो उचित नहीं है। आचार्य चक्रपाणि ने तन्त्रकार के उक्त वचन को समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है, उसे देखें।

'क्वाथ्यद्रव्यपले

कृष्णात्रेय का मत—'क्वाथ्यद्रव्यपले कुर्यात् प्रस्थार्धं पादशेषितम्'। अन्य मत—वारि द्विरष्टगुणमिष्यते'। तथा—'कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत्' ॥ इति। इस सन्दर्भ में सुश्रुतसंहिता चि० अ० ७ का भी अवलोकन करें। यहाँ ग्रन्थान्तरों से कुछ परिभाषाएँ दी जा रही हैं, जो विषय को निर्भ्रान्त करने में सहायक हैं—

'कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत् ॥ चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं भवेत्। अब क्वाथ्य द्रव्य के मृदु, कठिन आदि विचार से मान-निर्देश किया जा रहा है—'मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं जलम्। कठिनात्कठिने देयं जलं षोडशिकं मतम्' ॥ **स्नेह-परिमाण-विचार**—'यत्रैकद्वित्रिचतुराणि द्रवद्रव्याणि तत्र सर्वाण्येव स्नेहाच्चतुर्गुणानि पञ्चप्रभृतीनि स्नेहसमानि। यथा—पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम्' ॥ इति। **स्नेहपाक की विविधता**—'मृदुर्नस्ये खरोऽभ्यङ्गे पाने वस्तौ च मध्यमः'। च० क० अ० १२।

शार्ङ्गधराचार्य ने 'शृत' को क्वाथ का पर्याय कहा है। चरकाचार्य ने जिसे पाक्य कहा है, चक्रपाणि ने उसका अर्थ 'शृत' अर्थात् क्वाथ किया है। अब यहाँ क्रमशः इनकी रचना-विधि का वर्णन किया जा रहा है।

पाक्य (शृत) की विधि—'पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥ तज्जलं पाययेद् धीमान् कोष्णं मृद्वग्निसाधितम्। शृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१-२। अर्थात् ४ तोला द्रव्य, पानी १६ गुना, शेष ८वां भाग।

शीतकषाय-विधि—'क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम्। निशोषितं हिमः स स्यात् तथा शीतकषायकः ॥ तन्मानं फाण्टवज्ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० ४।१। द्रव्य १ पल (४ तोला) जल ६ पल (२४ तोला); द्रव्य को जौकुट करके रात भर भींगने दें। इसे प्रातःकाल मलकर छान लें। इसको 'हिम' तथा 'शीतकषाय' कहते हैं। इसकी एक मात्रा २ पल (८ तोला) है। फाण्ट तथा मन्थ में चार-चार पल और हिम अथवा शीतकषाय में छः पल जल डालने का विधान है और पीने के लिए दो पल (८ तोला) की शास्त्र की अनुमति है। इसका तात्पर्य है, कि फाण्ट तथा मन्थ दिन में दो बार और हिम तीन बार पीना चाहिए।

क्वाथमान-परिभाषा—व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते'। सु० सू० अ० ३९।१४। यहाँ अञ्जलि का परिमाण चार पल स्वीकार किया गया है, क्योंकि १६ पल जल डाल कर क्वाथ किया गया था उसका चतुर्थांश शेष रहना चाहिए। आशय स्पष्ट है।

दारुक का मत—'जघन्या द्विपला प्रोक्ता मात्रा, मध्या चतुष्पला। उत्तमा षट्पला प्रोक्ता क्वाथस्नेहौषधेषु तु' ॥ **अन्य मत**—'उत्तमस्य पलं मात्रा त्रिभिश्चाक्षैश्च मध्यमा। जघन्यस्य पलार्धन्तु स्नेहक्वाथौषधेषु च' ॥ इनमें जो मतभेद दिखलायी देता है, वह सब देश, काल, संहनन, अग्निबल आदि का व्यक्तिशः विचार करने के कारण ही है। यह विचार चिकित्सा-काल में आपको भी 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' करना ही होगा। इस प्रकरण में मान-परिभाषा के तर-तम भाव को ध्यान में रखना आवश्यक है।

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ॥ २०० ॥
पटोलः सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी। निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ ॥२०१॥
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम्। गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनाः ॥२०२॥
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधाञ्ज्वरान्। सन्ततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ॥२०३॥

विषमज्वर-नाशक पाँच कषाय—१. इन्द्र जौ (कुटज बीज), परवल की पत्ती, कुटकी; २. परवल की पत्ती, सारिवा, नागरमोथा, पाठा, कटुकरोहिणी (कुटकी); ३. नीम की छाल, परवल की पत्ती, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), मुनक्का, नागरमोथा, इन्द्र जौ; ४. चिरायता, गिलोय, लालचन्दन, सोंठ; ५. गिलोय, आँवला, नागरमोथा, आधे-आधे श्लोक में समाप्त होने वाले ये पाँच कषाय (क्वाथ) पाँच प्रकार के ज्वरों १. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक और ५. चतुर्थक को शीघ्र ही शान्त कर देते हैं।

वत्सकारग्वधौ पाठां षड्ग्रन्थां कटुरोहिणीम्। मूर्वां सातिविषां निम्बं पटोलं धन्वयासकम् ॥
वचां मुस्तमुशीरं च मधुकं त्रिफलां बलाम्। पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः ॥२०५॥

ज्वर-नाशक वत्सकादि कषाय—वत्सक (इन्द्र जौ), आरग्वध (अमलतास), पाठा, षड्ग्रन्था (बाल-वच), कुटकी, मूर्वा, अतीस, नीम की छाल, परवल की पत्ती, धमासा या जवासा, बालवच, नागरमोथा, खश, मुलेठी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), बरियारा की जड़—इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनका ज्वरनाशक पाक्य (शृत=क्वाथ) अथवा शीतकषाय बनाकर ज्वर रोगी सेवन करे।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार इसे एक योग न मानकर इन्द्रजौ से लेकर कुटकी पर्यन्त पहला योग, मूर्वा से लेकर धमासा तक दूसरा योग और बालवच से लेकर बरियारा की जड़ तक तीसरा योग स्वीकार करते हैं। इसमें तर्क या प्रमाण तो उन विद्वानों ने कोई नहीं दिया है, परन्तु उक्त टीकाकारों को यदि समर्थन देना हो तो उपर्युक्त श्लोक २०२ का **'अर्धश्लोकसमापनाः'** वाक्य का अध्याहार किया जा सकता है। पाक्य अथवा शीतकषाय का निर्णय चिकित्सक पर छोड़ देना चाहिए। वह अपनी प्रत्युत्पन्नमति से यथा अवसर जो निर्णय दे, उसे स्वीकार करें।

मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्याणि परूषकम्। त्रायमाणामुशीरं च त्रिफलां कटुरोहिणीम् ॥२०६॥
पीत्वा निशिस्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्रं विमुच्यते।

मधूकादि शीतकषाय—महुआ का फूल, नागरमोथा, मुनक्का, गम्भारी की छाल, फालसा की छाल, त्रायमाणा, उशीर (खस), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा आँवला), कुटकी—इन द्रव्यों को समभाग में लेकर यथाविधि जल में डालकर रात भर भिगा दें। प्रातःकाल मसल कर छान कर इसका सेवन करें। इससे ज्वर शीघ्र छूट जाता है

वक्तव्य—इसी को 'हिम' भी कहते हैं। वृद्धवाग्भट ने भी अपनी संहिता में इसका उल्लेख किया है—'मधूकपुष्पमृद्वीका त्रायमाणापरूषकम्। सोशीरतिक्ता त्रिफला काश्मर्यं कल्पयेद्धिमम् ॥ कषायं तं पिबन् काले ज्वरान् सर्वानपोहति'। अष्टांगसं० चि० अ० १। श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरक में इस श्लोक के बाद—'बृहत्यौ······ज्वरापहः' यह श्लोक दिया है। निर्णयसागरीय प्रति में उसकी श्लोक संख्या २१० है।

जात्यामलकमुस्तानि तद्वद् धन्वयवासकम् ॥ २०७ ॥
विबद्धदोषो ज्वरितः कषायं सगुडं पिबेत्।

ज्वरनाशक जात्यादि कषाय—चमेली की पत्ती, आँवला, नागरमोथा, जवासा—इन द्रव्यों को सम-भाग लेकर यथाविधि इनका क्वाथ तैयार करें, उसमें (चतुर्थांश) गुड़ मिलाकर ज्वर का रोगी सेवन करे। इसका सेवन करने से भीतर रुके हुए दोष शीघ्र ही बाहर निकल आते हैं।

वक्तव्य—इसमें सर्वप्रथम गिनायी गयी चमेली की पत्ती का ही क्वाथ ज्वर में चमत्कारिक प्रभाव दिखलाता है। आप भी प्रयोग करके देखें।

त्रिफलां त्रायमाणां च मृद्वीकां कटुरोहिणीम् ॥ २०८ ॥
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यानुलोमिकः। त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥२०९॥

पित्त-कफज्वर में त्रिफलादि क्वाथ—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), त्रायमाणा, मुनक्का, कुटकी—इनको समभाग में लेकर बनाया हुआ क्वाथ पित्त तथा कफ का नाशक एवं वायु का अनुलोमक होता है। इसी क्वाथ में त्रिवृता (सफेद निशोथ) एवं चतुर्थांश चीनी मिलाकर सेवन करने से यह पित्त-कफजनित ज्वर तथा मलबद्धता का नाश करता है।

बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम्। कोलवल्ली च योगोऽयं सन्निपातज्वरापहः ॥२१०॥

सन्निपात-नाशक बृहत्यादि क्वाथ—दोनों बृहती (छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी), इन्द्रजौ, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, कोलवल्ली (गजपिप्पली अथवा चव्य-राजनि०)—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इनका क्वाथ करें। यह क्वाथयोग सन्निपातज्वर का शीघ्र नाश करता है।

वक्तव्य—यद्यपि कोलवल्ली शब्द गजपीपल तथा चव्य दोनों द्रव्यों का वाचक है, ऐसा वैद्यकशब्द-सिन्धु में निर्दिष्ट है, किन्तु अभिनवनिघण्टु में चव्य को 'कणामूलगुणं चव्यं' कहा है, न कि पर्याय माना है। हमारे विचार से उक्त योग में 'गजपीपल' का ही प्रयोग अधिक उचित है।

शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा। गुडूची नागरं पाठा किरातं कटुरोहिणी ॥२११॥
एष शट्यादिको वर्गः सन्निपातज्वरापहः। कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते ॥२१२॥

सन्निपातज्वर-नाशक शट्यादिवर्ग—कचूर, पुष्करमूल, व्याघ्री (भटकटैया) मूल, काकड़ासिंगी, दुरालभा (धमासा), गिलोय, सोंठ, पाठा, किरात (चिरायता), कुटकी—यह शट्यादिक वर्ग सन्निपातज्वर का नाशक है। साथ ही यह वर्ग कास, हृदय का जकड़ना, पसलियों की पीड़ा, श्वास और तन्द्रा रोगों में भी क्वाथ के रूप में प्रयुक्त होने से लाभदायक होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के गुण-धर्मों पर ध्यान देने से उक्त सभी बातें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं। अतः अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। सन्निपातज्वर में उपर्युक्त कास आदि विकार उपद्रव (Complication) के रूप में दिखलायी देते हैं।

बृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा । वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ॥
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः सन्निपातज्वरापहः । कासादिषु च सर्वेषु दद्यात् सोपद्रवेषु च ॥२१४॥

सन्निपातज्वर-नाशक बृहत्यादिगण—दोनों बृहती (भटकटैया का मूल, वनभंटा), पोहकर मूल, भारंगी, शटी (कचूर), काकड़ासिंगी, दुरालभा (धमासा), इन्द्रजौ, परवल की पत्ती, कुटकी—इन द्रव्यों के समूह का नाम बृहत्यादिगण है। इनको समभाग में लेकर यथाविधि क्वाथ करके पीने से यह सन्निपातज्वर को शान्त करता है। यह क्वाथ कास आदि सभी प्रकार के उपद्रवों में भी दिया जाता है।

कषायाश्च यवागवश्च पिपासाज्वरनाशनाः । निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक् तानपि योजयेत् ॥

वैद्य को तन्त्रकार का परामर्श—भेषजाध्याय में पिपासा (प्यास) तथा ज्वरों का नाश करने वाले जिन कषायों और यवागुओं का निर्देश किया गया है। चिकित्सक यथावसर उनका भी यहाँ प्रयोग करें।

वक्तव्य—चरकसंहिता-सूत्रस्थान के प्रथम चार अध्यायों का नाम 'भेषज-चतुष्क' है। इसी वर्गीकरण को ध्यान में रखकर तन्त्रकार ने दो भिन्न-भिन्न अध्यायों का एक नाम 'भेषजाध्याय' रखकर अपने कथन को पूर्ण किया है। आप ध्यान दें—चरक-सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय का नाम 'अपामार्गतण्डुलीय' है। इसमें २८ यवागुओं का वर्णन है, और चरक-सूत्रस्थान चतुर्थ अध्याय का नाम 'षड्विरेचनशताश्रितीय' है। इसमें ५० कषायों का वर्णन है। हमारे विचार से चरक-सूत्रस्थान के विषय-क्रम के पौर्वापर्य को दृष्टि में रखकर उपर्युक्त पद्य के पूर्वार्ध को इस प्रकार होना चाहिए—'यवागवश्च कषायाश्च पिपासाज्वरनाशनाः'। विद्वान् विचार करें। क्योंकि—'नहि कश्चिदविपयो धीमताम्'।

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः । रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ॥२१६॥

ज्वर में घृत-प्रयोग—जिस रूक्ष ज्वर-रोगी का ज्वर कषायों के सेवन करने, वमन, लंघन तथा लघु भोजन के प्रयोगों से शान्त न हो रहा हो, उसे औषधसिद्ध घृतपान कराना चाहिए।

वक्तव्य—पित्त की गर्मी से जब शरीर रूक्ष तथा ज्वर-रोग से पीड़ित हो, ऐसी स्थिति में ही उक्त घृतपान की व्यवस्था की गयी है। शेष अगले पद्य द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च । यः स्यादनुबलो धातुः [1]स्नेहवध्यः स चानिलः ॥

घृत-प्रयोग की उपयोगिता—रूक्ष तेज (पित्त) ज्वर को पैदा करता है, उसी तेज (रूक्षपित्त) से जब शरीर रूक्ष (रूखा–स्नेहहीन) हो जाता है, तब वातदोष का प्रकोप होता है, वह अनुबल (रूक्षता के कारण बल को प्राप्त) वात धातु स्नेहवध्य हो (घृतपान से वध को प्राप्त हो) जाता है।

वक्तव्य—ज्वर बिना ऊष्मा (गर्मी=पित्त) के नहीं होता। शरीर की स्निग्धता ज्वर की ऊष्मा से नष्ट हो जाती है। अर्थात् ज्वर के कारण शरीर में रूक्षता आ जाती है। इस रूक्षता को दूर करने के लिए तन्त्रकार ने घृतपान का विधान किया है। कभी-कभी आमदोष की अधिकता होने के कारण शरीर में रूक्षता नहीं आ पाती, उस स्थिति में घृतपान नहीं कराना चाहिए। ज्वर साम-निराम भेद से दो प्रकार का होता है। कषायों के पिलाने, वमन तथा लंघन कराने से वह निराम स्थिति को प्राप्त होकर शरीर में रूक्षता ला देता है। औषधसिद्ध घृतपान उसी स्थिति में लाभदायक होता है। अतएव उसे 'स्नेहवध्यः' कहा गया है।

सामान्यरूप से पित्त का स्वरूप द्रव है। देखें—'पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणोत्तरम्। कटुतिक्तरसं ज्ञेयं विदग्धं चाम्लतां व्रजेत् ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।४७। पित्त उष्ण, द्रव, पीला, नीला, सत्त्वगुण-प्रधान, चरपरा तथा कड़ुआ होता है। यह विकृत होने पर खट्टा हो जाता है। ज्वर को उत्पन्न करने वाला पाचकपित्त होता है। ज्वर की उत्पत्ति का क्रम चरक में इस प्रकार निर्दिष्ट है—'स यदा प्रकुपितः···रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुपपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति' ॥ च० नि० अ० १।२०। पक्तिस्थान-स्थित पित्त को 'पाचकपित्त' कहते हैं, जो द्रवहीन होता है। देखें—'अग्न्याशये भवेत्

१. 'स्नेहसाध्यः' इति पा०।

पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम्'। शा० सं० पू० खं० अ० ५।४८। यह पित्त कठिन तथा तिलोन्मित होता है। यही शरीर को रूक्ष कर देता है, इसी का शमन करने के लिए घृतपान का विधान है।

आचार्य खरनाद ने भी इसी सिद्धान्त को समर्थन दिया है—'कषायपानाद् वमनाल्लङ्घनाल्लघुभोजनात्। रूक्षितानां ज्वरो मोक्षे सर्पिष्पानमुदीक्षते' ॥ खरनादसंहिता।

कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिताः । प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसन्धुक्षणाः शिवाः ॥

सघृत कषाय-प्रयोग—इसी प्रकरण में ऊपर कहे गये सभी कषायों का औषध-सिद्ध घी के साथ ज्वर-शान्ति एवं जाठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए यथावसर प्रयोग करना चाहिए। ये शिव (कल्याणकारक) होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कषायों के औषधसिद्ध घृतों का वर्णन किया गया है। यह भी निर्देश दिया है कि कषायों से घृतपाक करें। अतः यदि केवल कषाय देने हों, तो उसमें घी डालकर पिलायें। कषाय-सिद्ध घी को इसी रूप में दें। घी का प्रयोग रूक्षता नामक लक्षण के उत्पन्न होने पर ज्वर रोगी की पाचन-शक्ति को देखकर तदनुकूल मात्रा के अनुसार करायें। शिव शब्द का अर्थ 'कल्याण' है।

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी । कलिङ्गकास्तामलकी सारिवाऽतिविषा स्थिरा ॥२१९॥
द्राक्षामलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका । सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति ॥२२०॥
क्षयं कासं शिरःशूलं पार्श्वशूलं हलीमकम् । अंसाभितापमग्निं च विषमं सन्नियच्छति ॥२२१॥

पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, लालचन्दन, नागरमोथा, खश, कुटकी, इन्द्रजौ, तामलकी (भुँइ आँवला), सारिवा, अतीस, सरिवन, मुनक्का, आँवला, कच्चे बेल की गुद्दी, त्रायमाणा, निदिग्धिका (छोटी कटेरी) मूल—इन औषधद्रव्यों के क्वाथ द्वारा सिद्ध किये गये घी का विधिवत् सेवन जीर्णज्वर का विनाश कर देता है और क्षय, कास, शिरःशूल, पार्श्वशूल (पसलियों की वेदना), हलीमक (पाण्डुरोग-भेद), अंसाभिताप (कंधों में होने वाली जलन) तथा विषम अग्नि दूर कर देता है।

वक्तव्य—ऊपर २१९वें श्लोक के दो शब्द विचार करने के लिए बाध्य कर रहे हैं—१. **पिप्पल्यः**—
यदि हम इसको योग का प्रथम द्रव्य मानकर आदरार्थ बहुवचनान्त मान लें, तो तन्त्रकार की ग्रन्थ-रचना सरणि
ऐसी नहीं है। आप भी देखें। २. **कलिङ्गकाः**—यह शब्द भी पिप्पली की भाँति अन्यत्र एकवचन में प्रयुक्त
हुआ है। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'कलिङ्गकस्तामलकी' पाठ दिया है, जो सचमुच रुचिकर है। हमारे विचार
से उक्त निर्णयसागरीय पाठ को प्रकरण की दृष्टि से इस प्रकार परिवर्तित कर लेना चाहिए—
'पिप्पली चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी। कलिङ्गकस्तामलकीसारिवाऽतिविषास्थिरा' ॥
पिप्पल्यादि घृत की निर्माण-विधि का यहाँ निर्देश नहीं है। अतः चरकोक्त सामान्य परिभाषा को यहाँ
उद्धृत किया जा रहा है—'द्रवकार्येऽपि चानुक्ते सर्वत्र सलिलं स्मृतम्। यतश्च पादनिर्देशश्चतुर्भागस्ततश्च सः ॥
जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम्। तत्र स्यादौषधात् स्नेहः स्नेहात् तोयं चतुर्गुणम्' ॥ च० क० अ०
१२।१००-१०१। एक ही विषय का सर्वत्र पिष्टपेषण करना तन्त्रकार के सम्मान के विरुद्ध है, अतः उन्होंने ऐसे
विषयों को दुहराया नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार उपर्युक्त पिप्पली आदि द्रव्यों का कल्क बनाकर उसमें
चौगुना जल मिलाकर घृतपाक करना चाहिए। आगे इसी विषय को स्पष्ट करते हुए तन्त्रकार कहते हैं—
'त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात् पले। सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत्' ॥ इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।
च० चि० अ० १५।८७। इस प्रसंग में चरक के सुप्रसिद्ध टीकाकारों चक्रपाणि, गंगाधर आदि के मत भी अवलोक-
नीय हैं। स्नेहपाक की सामान्य विधि इस प्रकार है—'प्रथमे मूर्च्छनं स्नेहः क्वाथो देयो द्वितीयके। कल्कद्रव्यं
तृतीये च गन्धद्रव्यं तथा परं ॥ क्रमेण विधिवत् पाच्यं मन्दमन्दाग्निना भिषक्। निर्मलं निर्जलं तैलं तदा सिद्धिं
विनिर्दिशेत्' ॥ घृतपाक के पहले निम्नलिखित विधि से उसका मूर्च्छापाक अवश्य करें। यथा—'पथ्याधात्री-
विभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च, द्रव्यैरेतैः समस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन। आज्यप्रस्थं विफेनं परि-
चपलगतं मूर्च्छयेद् वैद्यवर्यस्, तस्मादामोपदोषं हरति च सकलं वीर्यवत्सौख्यदायि' ॥

मूर्च्छन-संस्कार—दो प्रस्थ (१२८ तोला) घी को आग पर रखकर गरम करें। जब उसका झाग समाप्त हो जाये तो नीचे उतार लें, ठंडा होने पर हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, हल्दी—इनका कल्क बनायें और

मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) का रस प्रत्येक १ पल (४-४ तोला) लें, इसे ८ प्रस्थ (५१२ तोला) जल में घोल दें। तैयार होने पर उतार लें। यदि घी या तेल को सुगन्धित बनाना हो, तो उन द्रव्यों का कल्क बनाकर उसे बाद में पाक करें।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार- 'स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम्। तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तद्देव तु॥ अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्। कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात् तस्मात् प्रयोजयेत्' ॥ सु० चि० अ० ३१।९-१०। किन्तु पिप्पल्यादिघृत इस परिभाषा में इसलिए भी नहीं आता कि इन द्रव्यों का पाठ किसी गण में नहीं किया गया है। इसका समाधान है—'यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्नेहसंविधौ। तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः' ॥ चक्रदत्त ने ज्वर-प्रकरण में इस घृत को दूध के साथ पकाने को कहा है, ऐसी स्थिति में घी से चौगुना दूध लेना चाहिए—'पिप्पल्याद्यमिदं क्वापि तन्त्रे क्षीरेण पच्यते' ॥

वासां गुडूचीं त्रिफलां त्रायमाणां यवासकम्। पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च ॥२२२॥
पिप्पलीमुस्तमृद्वीकाचन्दनोत्पलनागरैः । कल्कीकृतैश्च विपचेद् घृतं जीर्णज्वरापहम् ॥२२३॥

जीर्णज्वर में वासादि घृत—अडूसा के जड़ की छाल, गिलोय, हरड़, बेहड़ा, आँवला, त्रायमाणा, यवासा (धमासा)—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर घी से दुगना क्वाथ और उतना ही गाय का दूध लेकर उक्त द्रव्यों को पकायें। फिर पिप्पली, नागरमोथा, मुनक्का, लालचन्दन, नीलकमल, सोंठ—इनके कल्क से पाक करें। तैयार हो जाने पर इसे सुरक्षित कर लें। यह घी जीर्ण (पुराने) ज्वर का नाश करता है।

वक्तव्य—जितना घी हो उससे दूना उक्त द्रव्यों का क्वाथ और क्वाथ के बराबर गाय का दूध लें। यह तन्त्रकार का आशय है। **निर्माण-प्रकार**—२ प्रस्थ (१२८ तोला) गाय का घी, वासा आदि द्रव्यों का क्वाथ ४ प्रस्थ (२५६ तोला) अर्थात् घी से दूना क्वाथ, गाय का दूध ४ प्रस्थ, पिप्पली आदि द्रव्यों को ७-७ तोला की मात्रा में लेकर कल्क १ शराव (३२ तोला) १६ प्रस्थ (१०२४ तोला) जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर उसे छान लें।

द्रव्यों की संख्या के अनुसार भी मात्रा-निर्धारण की प्राचीन परम्परा है—'द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादीनि भवन्ति हि। तत्र स्नेहसमान्याहुर्यथापूर्वं चतुर्गुणम्' ॥ तात्पर्य यह है कि स्नेहपाक में द्रव पदार्थ स्नेह से चौगुना अवश्य होना चाहिए, इससे कम न हो अपितु कुछ अधिक हो तो अच्छा ही है। पाँच से पूर्व अर्थात् ४, ३, २ या १ सब चौगुने डाले जाते हैं। अन्यत्र समान मात्रा होती है।

कल्क-निर्माण-विधि—'द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्'। शा० सं० म० खं अ० ५।१। गीले द्रव्यों को सिल पर पीस लें। सूखे द्रव्यों को पीसने के लिए जल डालें। इसे सामान्य रूप से 'चटनी' कहा जा सकता है। मात्रा—आधा तोला।

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीं कलसीं धावनीं स्थिराम्। निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम् ॥
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात्तामलकीं शटीम्। द्राक्षां पुष्करमूलं च मेदामामलकानि च ॥२२५॥
घृतं पयश्च तत् सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम्। [1]क्षयकासशिरःशूलपार्श्वशूलांसतापनुत् ॥२२६॥

ज्वरहर बलादि घृत—बरियारा की जड़, गोखरू, बड़ी तथा छोटी कण्टकारी, धावनी (पिठवन), स्थिरा (सरिवन), नीम की छाल, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, त्रायमाणा, दुरालभा—इन द्रव्यों को समभाग लेकर क्वाथ करें और मुँइ आँवला, कचूर, मुनक्का, पोहकरमूल, मेदा, आँवला—इनको पीसकर कल्क बनायें। इससे तथा दूध से घी का पाक करें। यह ज्वरनाशक घृतों में श्रेष्ठ है। साथ ही क्षय, कास, शिरःशूल, पसलियों की पीड़ा तथा कन्धों की पीड़ा को दूर करता है। पाठभेद के अनुसार 'क्षय' के स्थान पर 'तृष्णा' शब्द है। मात्रा—आधा तोला।

वक्तव्य—बरियारा आदि द्रव्यों को ४ प्रस्थ लें। ३२ प्रस्थ जल में इनका पाक कर क्वाथ तैयार करें। ८ प्रस्थ शेष रहने पर मसल कर छान लें। **मतान्तर**—चक्रपाणि के अनुसार क्वाथ और दूध घी से दूने लेने चाहिए।

१. 'तृष्णाकास' इति पा०।

निष्कर्ष—उक्त औषधद्रव्यों को १ किलो की मात्रा में लेकर ८ लीटर जल में पकाकर जब २ लीटर जल शेष रह जाये, तब शीतल होने पर मसलकर उसे छान लें। इसमें २५० ग्राम कल्क मिलाकर घी का पाक करना चाहिए।

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान्। दद्यात् संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते ॥

ज्वर में संशोधन-विधान—अनेक दोषों से व्याप्त ज्वर रोगियों को वमन-विरेचन का प्रयोग जो आगे (कल्पस्थान में) कहा जायेगा, बुद्धिमान् चिकित्सक उससे यथोचित समय पर संशोधन (वमन-विरेचन) कराये।

वक्तव्य—वमन-विरेचन का एक नाम संशोधन (सम्यक् शोधन) भी है। सचमुच वमन से कफदोष और विरेचन से पित्त तथा वातदोषों का शमन हो जाता है। वमन ज्वर के आरम्भ में देने का विधान है, पहले इसी अध्याय में कहा भी जा चुका है और 'ज्वरमुक्ते विरेचनम्'—ज्वर के अन्त में विरेचन देने-दिलाने की शास्त्रीय व्यवस्था है। किन्तु, यहाँ आदि-अन्त में निर्दिष्ट वमन-विरेचन से तात्पर्य नहीं है। यहाँ तो उन ज्वर रोगियों के लिए यह व्यवस्था बतलायी गयी है, जो अनेक दोषों से आक्रान्त हैं, जिनका ज्वर अवधि बीतने पर भी शान्त नहीं हो पाया है। ऐसे ज्वर रोगी यदि शारीरिक शक्ति-सम्पन्न हों और उनका अग्निबल क्षीण न हुआ हो, तो उन्हें संशोधन कराना चाहिए। अन्यत्र केवल संशोधन से विरेचन कराने का ही आग्रह किया है। यहाँ तो तन्त्रकार ने 'ऊर्ध्वं चाधश्च' कहकर वमन-विरेचन दोनों का स्पष्ट संकेत किया है।

मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिङ्गैर्मधुकेन वा। युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये ॥२२८॥
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना। ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा ॥२२९॥

वमन-कारक द्रव्य—मदनफल का चूर्ण पिप्पली चूर्ण के साथ या इन्द्रजौ अथवा मुलेठी के साथ खाकर तदनन्तर गरम जल पीना चाहिए, इससे वमन होता है और वमन द्वारा दोष निकल जाने पर ज्वर की शान्ति होती है। गरम जल के बदले में शहद का शर्बत, ईख का रस, नमक का पानी अर्थात् पानी में नमक घोलकर, मद्य (शराब) या तर्पण (पानी में घोला हुआ सत्तू) का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है।

वक्तव्य—'मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्'। च० सू० अ० २५।४०। मदनफल का प्रधान-कार्य वमन कराना है। अतः उक्त पद्य में सर्वप्रथम उसी का उल्लेख है। इस योग में मदनफल को सर्वत्र लेना है। विकल्प है पिप्पली आदि द्रव्यों का और दूसरा विकल्प है अनुपान के रूप में उष्णाम्बुना, क्षौद्राम्बुना आदि का। पानी में घोले गये सत्तू का प्रयोग तर्पण कार्य के लिए किया जाता है। अतः उसे तर्पण भी कहते हैं।

महर्षि वाग्भट के विचार—अष्टाङ्गहृदय-चिकित्सास्थान अ० १ के श्लोक ९६-१०० का अवलोकन करें। यदि दोष आमाशय में हो, तो अ० हृ० सू० अ० १८ के श्लोक ७-८ देखें। वमन का कब निषेध किया गया है और कौन विरेचन के योग्य हैं, कौन अयोग्य—इसका विवेचन किया गया है तथा इसी के कल्पस्थान अ० १ को भी देखें। यही विषय वृद्धवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह, चि० अ० २ में निरूपित किया है।

योग-विचार—यहाँ तन्त्रकार ने तीन योगों का वर्णन किया है—१. मदनफल के चूर्ण का पिप्पलीचूर्ण के साथ योग कफ की प्रधानता में। २. मदनफल के चूर्ण का इन्द्रजौ के चूर्ण के साथ योग पित्त की प्रधानता में और ३. मदनफल के चूर्ण का मुलेठी के चूर्ण के साथ योग दाह की शान्ति के लिए समझना चाहिए। इसी प्रकार अनुपानों का भी विभाजन किया गया है—कफ-विकृति में शहद का शरबत, पित्तविकृति तथा दाह में ईख का रस, सामान्य स्थिति में गरम पानी या नमक का पानी, दुर्बल व्यक्ति को सत्तू का घोल और मद्यपान करनेवाले को मद्य का प्रयोग अनुपान के रूप में कराना चाहिए। इस प्रकार के विचार का पूरा भार चिकित्सक पर होता है।

मात्रा-विचार—'मदनफलकषायमात्राप्रमाणं तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति' ॥ च० सू० अ० १५।१०। इसकी व्याख्या यथास्थान देखें। वैसे सामान्य दृष्टि से इसकी मात्रा १½ माशा से लेकर ३ माशा तक होती है। जिसका निर्णय यथावसर चिकित्सक स्वयं करता है। पिप्पली आदि द्रव्य जो सहभक्ष्य अथवा सहपान के रूप में ऊपर निर्दिष्ट हैं, उनकी मात्रा ३ माशा से ६ माशा तक दी जाती है। अनुपान के रूप में गरम जल, शहद का शरबत आदि की वैकल्पिक व्यवस्था तन्त्रकार ने दी है।

मृद्वीकामलकानां वा रसं प्रस्कन्दनं पिबेत् । रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम् ॥२३०॥
लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा । पिबेद् वा क्षौद्रमावाप्य सघृतं त्रिफलारसम् ॥२३१॥
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा । त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ॥
ज्वराद् विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम् । पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षारसं नरः ॥

विरेचनकारक द्रव्य—१. मुनक्कों का रस (क्वाथ) तथा आँवलों का रस समान भाग में मिलाकर विरेचन के लिए लें। २. आँवलों के स्वरस को घी में भूनकर ज्वरनाश के लिए लें। ये दोनों ही योग ज्वरनाशक और विरेचक हैं। ३. अथवा निशोथ के चूर्ण को मधु और घी के साथ सेवन करे। ४. त्रिफला के रस (क्वाथ) में मधु-घृत मिलाकर पान करें। ५. अमलतास के गूदा को दूध के साथ या, ६. मुनक्को के रस (क्वाथ) के साथ, ७. निशोथ के चूर्ण को या, ८. त्रायमाणा के चूर्ण को दूध के साथ ज्वर रोगी सेवन करे। या ९. मुनक्कों के क्वाथ से हरीतकी या, १०. द्राक्षा (मुनक्कों) के रस (क्वाथ) को गरम दूध के साथ पीये। इसके सेवन करने से रोगी ज्वर-मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में विरेचनकारक १० योगों का वर्णन है। **प्रस्कन्दनम्**—प्र उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक स्कन्द धातु का यह ल्युडन्त प्रयोग है। इसका अर्थ है—विशेष रूप से गति अर्थात् विरेचनकारक द्रव्य का पान करना। यही अर्थ चक्रपाणि-सम्मत भी है।

ऊपर २३३ वें श्लोक में एक बार 'मृद्वीकाभिः' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा दूसरी बार 'द्राक्षारस' शब्द का। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने पहले का अर्थ मुनक्का और दूसरे का अर्थ 'अंगूर' कर दिया है। वास्तव में पहले स्थान पर मुनक्कों के क्वाथ के साथ हरीतकी के चूर्ण का सेवन करना है और दूसरे स्थान पर मुनक्कों के रस (क्वाथ) को गरम दूध के साथ लेना है। अभिनवनिघण्टुकार ने अंगूर को कच्ची दाख की संज्ञा दी है। अतएव उसे अल्प गुणवान् कहा है। चिकित्सक समाज में मुनक्का को दूध के साथ पकाकर देने की परम्परा है। यह योग मृदुकोष्ठ वालों के लिए अच्छा विरेचन है।

मृदु, मध्य, क्रूर-भेद से कोष्ठ तीन प्रकार का माना गया है। आयुर्वेद में कोष्ठ की परिभाषा इस प्रकार है—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' ॥ यहाँ विरेचन का प्रसंग उपस्थित है। अतः अन्य अवयवों से वैसा सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि पक्वाशय से है। उक्त १० वैरेचनिक योगों में द्रव्यों के गुण-धर्मों का विवेचन कर आप स्वयं निर्णय करें कि कौन योग किसके योग्य है। ध्यान रहे, ज्वर रोगी को तीक्ष्ण विरेचन नहीं देना चाहिए, क्योंकि 'मलायत्तं बलं पुंसाम्'। ज्वर रोगी के मल और बल की सुरक्षा का चिकित्सक को पूर्ण ध्यान रखना है।

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् । मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः ॥

पञ्चमूलसिद्ध पयःपान—पञ्चमूल के क्वाथ से पकाये हुए दूध को पीकर ज्वर रोगी कास, श्वास, शिरःशूल और जीर्ण ज्वर से छूट जाता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में केवल पञ्चमूल शब्द का ग्रहण किया गया है। यह लघु और महत् भेद से दो प्रकार का होता है। आयुर्वैदिक साहित्य में पञ्चमूल सुप्रसिद्ध योग है। निघण्टु-ग्रन्थों में इनके गुणधर्मों को देखें। इसी आधार पर पूर्ववर्ती टीकाकारों ने लघुपञ्चमूल के द्रव्यों द्वारा दूध को पकाने का संकेत किया है।
लघुपञ्चमूल—छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी तथा गोखरू।

क्षीरपाक-विधि—'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ शा० सं० म० खं० २।१७९। द्रव्य (उपयोगी ओषधियाँ) से आठ गुना दूध तथा दूध से चौगुना जल मिलाकर पकाना चाहिए और पकते-पकते जब दूध मात्र शेष रह जाये, तब इसका सेवन करें। यही क्षीरपाक विधि है।

पञ्चमूलपक्वक्षीर—'सर्वज्वराणां जीर्णानां क्षीरं भैषज्यमुत्तमम्। श्वासात् कासाच्छिरःशूलात् पार्श्वशूलात् सपीनसात्। मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१८०। इस योग का चरकसंहिता के पाठ से मिलान कर देखें।

एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात् सपरिकर्तिकात् । पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद् बिल्वशलाटुभिः ॥

एरण्डमूलादि क्षीरपाक—रेंड़ी की जड़ के क्वाथ से अथवा कच्चे बेल की गुद्दी से पकाये गये दूध को पीकर ज्वर रोगी परिकर्तिका (गुद-प्रदेश में कैंची से काटने की-सी पीड़ा) से युक्त ज्वर से छुटकारा पा जाता है।

वक्तव्य—परिकर्तिका—'कर्तनवत् पीडायाम्'। च० चि० अ० ३। 'वमनविरेचनव्यापद् विशेषे'—सु० चि० अ० ३४। **शलाटु**—'आमे फले शलाटुः स्यात्'। अमरकोष।

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम् । वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः ॥२३६॥

त्रिकण्टकादि क्षीरपाक—गोखरू, बला (बरियारा) मूल, व्याघ्री (भटकटैया) की जड़, गुड़ और सोंठ—इन द्रव्यों को डालकर पकाये गये दूध को पीने से मल और मूत्र के विबन्ध (रुकावट) का और शोफ (शोथ) तथा ज्वर का नाश होता है।

सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम् । शृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम् ॥२३७॥

नागरादि क्षीरपाक—सोंठ, मुनक्का, खजूर समभाग में इन द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाया गया दूध घी, चीनी तथा शहद मिलाकर पीने से प्यास एवं ज्वर का नाश करता है।

चतुर्गुणेनाम्भसा वा शृतं ज्वरहरं पयः । धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत् ॥२३८॥

वात-पित्तज्वर में दुग्ध-पान—चौगुने जल से पकाया गया दूध ज्वरनाशक होता है। अथवा धारोष्ण गाय का दूध पीने से वात-पित्तज्वर का नाश होता है।

वक्तव्य—यहाँ चौगुने जल में पकाये गये दूध के सम्बन्ध में तो कुछ विवेचनीय नहीं है। किन्तु धारोष्ण दुग्ध के सम्बन्ध में यह अवधेय है, कि यह दूध बकेन गाय का नहीं होना चाहिए, अपितु जो अचिरप्रसूता गाय हो, उसमें भी प्रसव के १२-१५ दिन के बाद का दूध इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी होता है।

जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् । पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ॥२३९॥

जीर्ण ज्वर में दुग्ध-पान का महत्त्व—सभी प्रकार के जीर्ण (जो पुराने हो गये हों) ज्वरों को शान्त करने में गाय का दूध सभी दूधों में श्रेष्ठ होता है। वह भले ही गरम या शीतल अथवा दोषों को नाश करने वाले औषधद्रव्य या द्रव्यों से पकाया गया हो।

वक्तव्य—यहाँ जो 'उष्णं पेयं, शीतं वा पेयम्' दिया है, इसकी व्यवस्था दोषों की स्थिति को ध्यान में रखकर अथवा रोगी के सात्म्य का विचार कर चिकित्सक करें। हमारे विचार से 'भेषजैः शृतं तदुष्णं पेयम्' और जिसे 'शीतं' कहा गया है, वह 'धारोष्ण' दूध है। यह वैसा गरम नहीं होता जैसा क्वाथ-द्रव्यों द्वारा पकाया दूध होता है। अथवा धारोष्ण के तापमान का दूध लें। यह भी शीत की श्रेणी में आ जाता है।

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान् । पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ॥२४०॥

ज्वर में वस्तियों का प्रयोग—जब दोष पक्वाशय में स्थित रहते हैं, उस स्थिति में सिद्धिस्थान में वर्णित ज्वरनाशक निरूह तथा अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—सिद्धिस्थान अध्याय २ में वस्ति-परिचय, प्रयोग-विधि आदि का वर्णन है। अगले अध्यायों में उनके उपद्रवों का शान्ति-प्रकार वर्णित है।

पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरश्चतुरङ्गुलः । ह्रीबेरं रोहिणी तिक्ता श्वदंष्ट्रा मदनानि च ॥२४१॥
स्थिरा बला च तत् सर्वं पयस्यर्धोदके शृतम् । क्षीरावशेषं निर्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा ॥२४२॥
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च । वत्सकस्य च संयुक्तं वस्तिं दद्याज्ज्वरापहम् ॥२४३॥
शुद्धे मार्गे हृते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु । गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः ॥२४४॥

पटोलादि निरूहवस्ति—परवल की पत्ती, नीम की पत्ती, खस, अमलतास की गुद्दी, ह्रीबेर (सुगन्धबाला), कुटकी, गोखरू, मैनफल, सरिवन, बरियारा की जड़—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इनका

कल्क बनायें। इस कल्क को आधा दूध तथा आधा पानी मिलाकर पकायें। जब दूध मात्र शेष रह जाये, तो उतार कर छान लें। इसमें शहद और घी मिला दें। तदनन्तर मैनफल, नागरमोथा, पिप्पली, मुलेठी तथा इन्द्रजौ का कल्क (चटनी) मिला दें। अब इस ज्वरनाशक द्रव को बस्तियन्त्र में भरकर यथाविधि प्रयोग करें। इसके प्रयोग से मार्ग के शुद्ध हो जाने पर, दोषों के निकल जाने पर तथा रसादि धातुओं के दोषरहित हो जाने पर ज्वररोगी शीघ्र रोगरहित, शूलरहित एवं गौरव (भारीपन) से रहित हो जाता है।

वक्तव्य—इसका विशेष विवेचन चरक-सिद्धिस्थान अध्याय २ में देखें। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु महोदय ने 'अर्धोदके पयसि' के अर्थ में जितना दूध हो उतना ही पानी डालने को कहा है। वही अर्थ आधा दूध आधा पानी का भी होता है। बात यह है कि यहाँ दूध की प्रधानता है। आचार्य चक्रपाणि भी इससे सहमत हैं। किन्तु आचार्य गंगाधर दो भाग दूध और एक भाग पानी डालने को कहते हैं—अर्थात् दूध से आधा पानी। आप भी विचार करें।

आरग्वधमुशीरं च मदनस्य फलं तथा। [1]चतस्रः पर्णिनीश्चैव निर्यूहमुपकल्पयेत् ॥२४५॥
प्रियङ्गुर्मदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका। कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नो वस्तिरुत्तमः ॥२४६॥

आरग्वधादि निरूहवस्ति—अमलतास की गुद्दी, खश, मैनफल, चार पर्णियाँ (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) पाठभेद के अनुसार मुलेठी—इन सबको समभाग लेकर क्वाथ बनायें। ठंडा होने पर इसे छान लें। तदनन्तर प्रियंगु, मैनफल, नागरमोथा, सौंफ, मुलेठी—इन सबको समभाग लेकर इनका कल्क बनायें। उपर्युक्त क्वाथ में यह कल्क, घी, गुड (घोलकर) और शहद मिलाकर निरूहवस्ति दें। यह उत्तम ज्वरनाशक है।

वक्तव्य—'शताह्वा' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने उसे 'शतपुष्पा' समझ कर 'सोया' कर दिया है। आप भ्रमित न हों। पाठ भेदानुसार ऊपर क्वाथ में मुलेठी का भी ग्रहण किया गया है। यदि हम निर्णयसागरीय पाठ को प्रामाणिक मानें, तो नीचे कल्कार्थ प्रयुक्त द्रव्यों में मुलेठी का ग्रहण हुआ ही है, ऐसा मानकर सन्तोष कर सकते हैं। पाठभेद की प्रेरणा परवर्ती अष्टांगहृदय ग्रन्थ के इस पाठ से मिली होगी—'चतस्रः पर्णिनीर्यष्टी-फलोशीरनृपद्रुमान्। क्वाथयेत् कल्कयेद् यष्टीशताह्वाफलिनीफलम्॥ मुस्तं च वस्तिः सगुडक्षौद्रसर्पिर्ज्वरापहः'॥ अ० हृ० चि० अ० १।१२०।

गुडूचीं त्रायमाणां च चन्दनं मधुकं वृषम्। स्थिरां बलां पृश्निपर्णीं मदनं चेति साधयेत् ॥२४७॥
रसं जाङ्गलमांसस्य रसेन सहितं भिषक्। पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुकस्य च ॥२४८॥
ईषत्सलवणं युक्त्या निरूहं मधुसर्पिषा। ज्वरप्रशमनं दद्याद् बलस्वेदरुचिप्रदम् ॥२४९॥

गुडूच्यादि निरूहवस्ति—गिलोय, त्रायमाणा, लालचन्दन, मुलेठी, अडूसा की पत्ती, सरिवन, बरियारा की जड़, पिठवन और मैनफल—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर क्वाथ करें। इसी क्वाथ में जांगल प्रदेशीय पशु या पक्षी का मांसरस, पीपल, मैनफल, नागरमोथा और मुलेठी का कल्क मिलायें। थोड़ा सैंधानमक, शहद तथा घी मिलाकर चिकित्सक निरूहवस्ति दिलाये। यह ज्वर का शमन करती है, शारीरिक बल को बढ़ाती है, शरीर में पसीना लाती है और भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—जिस प्रकार इस वस्ति में अलग से जांगल पशु-पक्षी का मांसरस डालने का निर्देश दिया गया है, ठीक इसके विपरीत अष्टांगसंग्रह चि० अ० २ में उपर्युक्त क्वाथ में ही मांस को डालकर एक साथ पकाने की चर्चा है।

ईषत्सलवणम्—किसी भी भक्ष्यपदार्थ में नमक प्रतिदिन के अभ्यास से डाला जाता है। प्रायः उसे कोई तौलता नहीं। फिर भी वह ठीक ही पड़ता है। अतएव रुचिकर होता है। यद्यपि यहाँ स्वाद का प्रश्न नहीं है। फिर भी उसे थोड़ा डालने की चर्चा की गयी है, जो सर्वथा उचित है। क्योंकि नमक क्षार है। सभी क्षार उष्ण, रूक्ष अतएव दाहक होते हैं। यह वस्ति गुद-द्वार से दी जाती है। वस्ति द्वारा भीतर डाला गया

---

१. 'पर्णीश्चतस्रो मधुकम्' इति पा०।

द्रव मल के साथ बाहर आता है। उसमें यदि अधिक नमक डाल दिया जाये तो गुदौष्ठ में दाह उत्पन्न होगा। अतः सावधान रहें!

जीवन्तीं मधुकं मेदां पिप्पलीं मदनं वचाम्। ऋद्धिं रास्नां बलां [1]विश्वं शतपुष्पां शतावरीम् ॥
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं च विपचेद् भिषक्। आनुवासनिकं स्नेहमेतं विद्याज्ज्वरापहम् ॥

जीवन्त्यादि अनुवासनवस्ति—जीवन्ती, मुलेठी, मेदा, पिप्पली, मैनफल, (श्री जयदेव विद्यालंकार यहाँ—'मरिचं' पाठ का अनुमोदन करते हैं), बालवच, ऋद्धि, रास्ना, बला (बरियारा) की जड़, सोंठ या बेल की गुद्दी, शतपुष्पा (सोया), शतावरी, सब द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क बनायें इसमें दूध और पानी मात्रानुसार डालकर गाय का घी और तिल-तैल को एक साथ पकायें। इस स्नेह का प्रयोग अनुवासनवस्ति द्वारा करने से ज्वर का भली-भाँति नाश हो जाता है। अतः इस स्नेह को ज्वरनाशक समझें।

वक्तव्य—शास्त्र के निर्देशानुसार 'घृततैलगुडादींश्च साधयेन्नैकवासरे'। शा० सं० म० खं० अ० ९।१८। घी, तैल, गुड़ आदि का जब पाक किया जाता है, तो पकने पर उसे उसी दिन नहीं उतारना चाहिए। जब कुछ समय तक क्वाथ्य द्रव्य उसी में पड़े रहते हैं तो उनका पूरा गुण उस तेल या घी में आ जाता है। यही स्थिति सुगन्धित तेलों की भी है। हमारे विचार से तेल को यदि सुगन्धित करना हो, तो पकने के बाद उस तेल में सुगन्धित द्रव्य छोड़कर एक-दो दिन तक पड़ा रहने दें।

अनुवासनवस्ति—इसका प्रयोग गुद, भग तथा मूत्र-मार्ग में द्रव औषध पहुँचाने के लिए किया जाता है। चरक तथा सुश्रुतसंहिता में वस्ति की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है—'तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति, सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके'। च० सि० अ० १।३८-३९। और भी—'वस्तिर्वातहराणाम्'। च० सू० अ० २५।४०। महर्षि सुश्रुत भी इसे समर्थन देते हैं—'तत्र स्नेहादीनां कर्मणां वस्तिकर्मप्रधानतममाहुराचार्याः। कस्मात्? अनेककर्मकरत्वाद् वस्तेः'॥ सु० चि० अ० ३५।३। खेद है कि आज हमारे भारतीय चिकित्सक इतनी महत्त्वपूर्ण वस्ति-चिकित्सा का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। अनुवासन तथा निरूह भेद से वस्ति दो प्रकार की होती है। वस्ति-यन्त्र द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे वस्ति कहते हैं। अन्य नाम कारण-भेद से हैं—स्नेहद्रव्यों से दी जाने वाली वस्ति को 'अनुवासन' कहते हैं। कषाय, क्षार आदि से जो दी जाती है, उसे निरूहणवस्ति कहते हैं।

निर्माण-विधि—१ किलो घी, १ किलो तेल=२ किलो स्नेह, बराबर का दूध २ किलो, जल ८ किलो, जल कल्क द्रव्य ½ किलो—इस प्रकार द्रव्यों को लेकर स्नेहपाक करना चाहिए।

पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च। मदनैश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम् ॥२५२॥

पटोलादि अनुवासनवस्ति—परवल की पत्ती, नीम की पत्ती, गुरुच, मुलेठी, मैनफल—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध किये हुए स्नेह की अनुवासनवस्ति देने से ज्वर का नाश होता है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में कल्क तथा क्वाथ के चार औषध वर्ग दिये हैं। इनसे पृथक्-पृथक् यमक स्नेहों (घृत-तैल) का पाक करना चाहिए।

चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः। सिद्धः स्नेहो ज्वरहरः स्नेहवस्तिः प्रशस्यते ॥२५३॥

चन्दनादि अनुवासनवस्ति—लालचन्दन, काला अगरु, गम्भारी की छाल, परवल की पत्ती, मुलेठी, नीलकमल—इन समान भाग द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा पकाया गया यमक (घी-तेल) स्नेह, स्नेह-वस्ति के लिए उत्तम होता है। इसके प्रयोग से ज्वर का नाश होता है।

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे। शिरोविरेचनं कुर्याद् युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम् ॥२५४॥

ज्वर में शिरोविरेचन—चरक-सूत्रस्थान के भेषजाध्याय में तथा विमानस्थान के रोगभिषग्जितीय (रोगभिषग्जितीय) नामक अध्याय में जो शिरोविरेचन औषधयोग पहले कहे जा चुके हैं; युक्ति-विशेषज्ञ चिकित्सक को चाहिए कि वह उन (शिरोविरेचनार्थ प्रयुक्त नस्यों) का प्रयोग करायें।

---

१. 'बिल्वम्' इति पा०।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान में प्रारम्भ से २८ अध्याय तक के चार-चार अध्यायों को 'चतुष्क' क्रम से विभक्त किया है। अतः इन चारों को भेषजाध्याय कहा गया है। इसके दूसरे (च० सू० अ० २) अपामार्गतण्डुलीय अध्याय में अनेक योग शिरोविरेचन (नस्य) के लिए निर्दिष्ट हैं और चरक-विमानस्थान के आठवें 'रोगभिषग्जितीयविमान' नामक अध्याय में भी शिरोविरेचन द्रव्यों का निर्देश किया जा चुका है। उनका भी प्रयोग यहाँ ज्वरमुक्ति के लिए करना चाहिए। यह तन्त्रकार का ग्रन्थ-संक्षेप-क्रम है।

यच्च नावनिकं तैलं याश्च प्राग्धूमवर्तयः। मात्राशितीये निर्दिष्टाः प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि ॥

ज्वर में धूमवर्ति-प्रयोग—चरक-सूत्रस्थान के मात्राशितीय नामक पाँचवें अध्याय में जो नावनिक तैल (अणुतैल) कहा गया है और जो (उसी अध्याय में) धूमवर्तियों का निर्देश किया गया है, उनका भी विविध प्रकार के ज्वरों में प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—अणुतैल का वर्णन—च० सू० अ० ५ श्लोक ६३-७० में तथा स्नैहिक तथा वैरेचनिक धूमवर्तिका वर्णन—च० सू० अ० ५ श्लोक २५-२६ में देखें।

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत्। यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम् ॥

ज्वर में अभ्यंग आदि का प्रयोग—ज्वर रोगी की इच्छानुसार शीतल अथवा उष्ण अभ्यंग, प्रदेह (लेप), परिषेक (स्नान) का प्रयोग ज्वर की उत्पत्ति में शीतल आहार-विहार कारण हैं अथवा उष्ण आहार-विहार कारण है, इसका विभाग (विचार) करके अभ्यंग आदि की तदनुरूप व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि ज्वर शीतज, उष्णज दो प्रकार का होता है।

वक्तव्य—यहाँ तक अन्तःपरिमार्जन के प्रकारों का वर्णन करने के बाद, अब इस पद्य में बाह्य-परिमार्जन का निर्देश किया जा रहा है। ज्वर दो प्रकार का होता है—१. शीतसमुत्थ, और २. उष्णसमुत्थ। प्रथम प्रकार के ज्वर रोगी के लिए उष्ण अभ्यंग आदि का तथा द्वितीय प्रकार के ज्वर रोगी के लिए शीतल अभ्यंग आदि का प्रयोग कराना चाहिए। परिषेक (स्नान) का एक प्रकार द्रोणी अवगाहन (Tub bath) भी है। इसको उपशय चिकित्सा कहते हैं।

सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम्। दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ॥२५७॥

दाहज्वर में कर्तव्य—यदि ज्वर रोगी को दाह (वमन) हो रहा हो, उसको शान्त करने के लिए हजार बार धोये हुए गाय के घी अथवा (निम्नलिखित) चन्दनादि तैल का अभ्यंग कराना चाहिए।

वक्तव्य—दाहज्वर में सहस्रधौत घी की मालिश (उबटन) कराना ज्वर की प्रकृति के विपरीत चिकित्सा है। **सहस्रधौत घृत**—फूल (काँसे) की थाली में घी को रखकर उसमें पानी डालकर हाथ से उसे मलना पड़ता है। इस प्रकार अनेक बार धोने से वह घी मक्खन जैसा हरिताभ हो जाता है। इसे जितनी बार अधिक धोया जाता है, उतनी दाहशामकता इसमें अधिक होती जाती है।

अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः—चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवामधुकप्रपौण्डरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूकशैवालकशेरुकानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बुवेतसवानीरगुन्द्राककुभासनाश्वकर्णस्यन्दनवातपोथशालतालधवतिनिशखदिरकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थन्यग्रोधधातकीदूर्वेत्कटशृङ्गाटकमञ्जिष्ठाज्योतिष्मतीपुष्करबीजक्रौञ्चादनबदरीकोविदारकदलीसंवर्तकारिष्टशतपर्वाशीतकुम्भिका[1]शतावरीश्रीपर्णीश्रावणीमहाश्रावणीरोहिणीशीतपाक्योदनपाकीकालाबलापयस्याविदारीजीवकर्षभकमेदामहामेदामधुरसर्ष्यप्रोक्तातृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटजपटोलनिम्बशाल्मलीनारिकेलखर्जूरमृद्वीकाप्रियालप्रियङ्गुधन्वनात्मगुप्तामधूकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्। तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव च कल्केन कषायार्धमात्रं मृद्वग्निना साधयेत् तैलम्।

१. 'श्वेतकुम्भिका' इति पा०।

एतत् तैलमभ्यङ्गात् सद्यो दाहज्वरमपनयति। एतैरेव चौषधैरश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं कारयेत्। एतैरेव च भृतशीतं सलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ॥ २५८ ॥

इति चन्दनाद्यं तैलम्।

चन्दनादि तैल—अब हम चन्दनादि (चन्दन है आरम्भ में जिस योग के, उस) तैल का उपदेश करते हैं—लालचन्दन, भद्रश्री (सफेद चन्दन), कालानुसारिवा (तगर), कालीयक (काला अगरु, पीत चन्दन, कृष्णसर्प-विशेष, दारुहरिद्रा, शिलाजतु देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु), भार्गी, पद्माख, खश, सारिवा (अनन्तमूल), मुलेठी, प्रपौण्डरीक (पुंडेरी या पुंडरीक, चक्रदत्त—तन्नामक कन्दविशेष। सु० क० अ० २—कन्दविषम्), नागकेशर, उदीच्य (सुगन्धबाला), केवटीमोथा, पद्म (क्षुद्रकमल), उत्पल (नीलकमल), नलिन (हल्का लाल कमल), कुमुद, सौगन्धिक (कमल-भेद), पुण्डरीक (सफेद कमल), शतपत्र (कुशेशय या श्वेतकमल—देखें वै० श० सिं०), बिस (कमलनाल), मृणाल (कमलदण्ड), शालूक (कमलकन्द), शैवाल (सिवार), कसेरू, अनन्तमूल, कुश की जड़, काश की जड़, ईख की जड़, दर्भमूल, सरपत की जड़, नरकट की जड़, शालिमूल, जामुन की छाल, वेतसमूल, वानीर (जलवेतस) मूल, गुन्द्रा (गुनरक), अर्जुन वृक्ष की छाल, विजयसार की छाल, अश्वकर्ण (साखू) की छाल, स्यन्दन (नीम या सादन, तिन्दुक वृक्ष—देखें वै० श० सि०), वातपोथ (पलाश), साल, ताल (ताड़), धव के फूल, तिनिश की छाल, खदिरसार, कदर (सफेद खैर), कदम्ब का फूल, गम्भारी का फूल, सर्ज (राल), प्लक्ष (पिलखन), वट (विना प्ररोह=वरोह वाले बरगद) की छाल, कपीतन (शिरीष या आमड़ा) की छाल, उदुम्बर (गूलर) की छाल, पीपल, न्यग्रोध (वरोहयुक्त बरगद) की छाल, धाय के फूल, दूब, इत्कट, सिंघाड़ा का फल, मजीठ, मालकांगुनी, पुष्करबीज (कमलगट्टा), क्रौञ्चादन (खिरनी या कसेरू) की छाल, बेर की छाल, कोविदार (सफेद कचनार) की छाल, केला का मध्य भाग, संवर्तक (बहेड़ा) का फल तथा छाल, अरिष्ट (रीठा) की छाल तथा फल, शतपर्वा (सफेद दूब), शीतकुम्भिका या श्वेतकुम्भिका (जलकुम्भी या काष्ठपाटला), शतावरी, श्रीपर्णी (गम्भारी की छाल), श्रावणी (छोटी मुंडी), महाश्रावणी (बड़ी गोरखमुंडी), रोहिणी (कुटकी), शीतपाकी (काकोली या गन्धदूर्वा या बलाभेद), ओदनपाकी (नीली कटसरैया, नीली झिंटी), काला (काली नागबला), बला (बरियारा) की जड़, पयस्या (क्षीरविदारीकन्द), विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, मधुरसा, ऋष्यप्रोक्ता, तृणशून्य (केवड़ा का फूल), मोचरस (सेमल की गोंद), अडूसे की पत्ती, बकुल (मौलसिरी) की छाल, कुटज (कुरैया) की छाल, परवल की पत्ती, नीम की पत्ती, सेमल की छाल, नारियल का फल, खजूर का फल, मुनक्का, चिरौंजी, प्रियंगु, धन्वन की छाल, आत्मगुप्ता (किवाच) का फल, मधुक (महुआ)—इनके तथा इस प्रकार के और भी जो शीतवीर्य औषधद्रव्य हों उनमें से जितने द्रव्य समय पर मिल सकें उनका संग्रह कर विधिपूर्वक क्वाथ करें, उस कषाय (क्वाथ) से और उससे दूने गाय के दूध से तथा उन्हीं (उपर्युक्त) द्रव्यों के कल्क से जिसकी मात्रा क्वाथ किये हुए द्रव से आधी हो, इनको मिलाकर मन्द अग्नि द्वारा धीरे-धीरे तेल का पाक करें।

यह चन्दनादि तैल मालिश करने से दाह तथा ज्वर का नाश करता है। इन्हीं औषधद्रव्यों को मोटा-मोटा पीसकर शीतल प्रदेह (लेप) लगाना चाहिए। इन्हीं औषधद्रव्यों का काढ़ा बनाकर गुन-गुना हो जाने पर उसमें रोगी को अवगाहन करायें या उससे स्नान करायें। ये सभी क्रियाएँ दाह तथा ज्वर का नाश करती हैं।

वक्तव्य—ऊपर जिन द्रव्यों का वर्णन किया गया है, उनमें कतिपय द्रव्यों जिनके पर्याय टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न दिये हैं, उनका परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा—**पुण्डरीक**—प्रपौण्डरीक का पर्याय भी टीकाकारों ने 'पुण्डरीक' किया है, जब कि आगे स्वतन्त्ररूप से 'पुण्डरीक' का उल्लेख तन्त्रकार ने किया है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'प्रपौण्डरीक' पुण्डेरी या पुण्डरीककाष्ठ नामक द्रव्य है। आगे पुष्पसमुदाय में वर्णित 'पुण्डरीक' श्वेतकमल है। **शतपत्र**—अमरसिंह ने इसे कमलभेद के रूप में स्वीकारा है, यथा—'सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्'। अमरकोष। रत्नमाला में—इसे 'श्वेतकमल' कहा है। किसी ने 'गुलाब का फूल' भी लिख दिया है। **मृणालम्**—उशीर—राजनिघण्टु; वीरणमूल-पर्यायमुक्तावली; 'पद्मनाल मृणालिनी'—सु० नि० अ० १९। अमरकोष में बिस का पर्याय 'मृणाल' दिया है और मेदिनीकोष में मृणाल

को नलद=उशीर का पर्याय माना गया है। अतः 'कमलनाल' ही इसका सही अर्थ प्रतीत होता है। **स्यन्दन—** इसका पर्याय कुछ टीकाकारों ने 'तिनिश' दिया है, जब कि आगे 'तिनिश' द्रव्य का स्वतन्त्ररूपेण उल्लेख तन्त्रकार ने स्वयं किया है। अतः इसका पर्याय 'अर्जुनवृक्ष' मानना उचित है। देखें—'स्यन्दनोऽर्जुन एव च'। च० चि० अ० ३। **इत्कट—**यह शब्द 'इत्कठ' या 'इत्कर' रूप में वै० श० सि० में मिलता है। दूसरा शब्द है—'इत्कटा' इसका पर्याय है—सूक्ष्मपत्रिका या काष्ठविशेष। **शीतपाकी—**निर्णयसागरीय प्रति में उक्त पाठ है। श्रीजयदेव इसके स्थान पर 'शतपाकी' पाठ को सम्मान देते हैं, जब कि 'शतपाकी' पाठ अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। **क्षुद्रमहामेदा—**इसके स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'मेदा-महामेदा' पाठ है, जो सर्वथा निर्भ्रान्त है। **मधुरसा—**इसके स्थान पर श्रीजयदेव 'मधुरा' पाठ स्वीकार करते हैं। तदनुसार वे इसका पर्याय 'काकोली' करते हैं और निर्णयसागरीय पाठ के अनुसार 'मधुरसा' का पर्याय 'मूर्वा' दिया गया है। **ऋष्यप्रोक्ता—** इसका पर्याय है—'माषपर्णीलता'-पर्यायमुक्तावली। जब कि कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ ऋद्धि तथा अतिबला किया है। निर्णयसागरीय प्रति में—'एतैरेव चौषधैरश्लक्ष्णपिष्टैः' ऐसा पाठ है और श्रीजयदेव ने 'सुश्लक्ष्ण-पिष्टैः' पाठ स्वीकारा है। दोनों ही पाठ परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले हैं। प्रथमपाठ के अनुसार मोटा पीसना है, दूसरे पाठ के अनुसार खूब महीन पीसना है। यद्यपि लेप के लिए पतला पीसा जाना अच्छा होता है, किन्तु 'श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्। त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथाऽगुरोः। च० चि० अ० ३०।३२४। उक्त पद्योक्त कारण के अनुसार मोटा लेप ही उत्तम होता है।

यद्यपि तेल से घृत में अधिक दाह-शामकता होती है, किन्तु तेल में जो व्यवायी (शीघ्र फैल जाने वाला) गुण होता है उसके कारण मालिश आदि के लिए तेलों का ही अधिक प्रयोग किया व कराया जाता है। दूसरा कारण अन्तर्दाह का शमन घृत से और बाहरी दाह का शमन औषधसिद्ध तैलमर्दन से होता ही है।

पाक-विधि—तैलपाक में तिलतैल २ प्रस्थ (१२८ तोला) चन्दन आदि उपर्युक्त द्रव्यों का क्वाथ दूना ४ प्रस्थ (२५६ तोला), दूध ४ प्रस्थ और कल्क १ शराव (३२ तोला) लेना चाहिए।

मध्वारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च सद्यो दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वात् ॥२५९॥

ज्वर में शीतोपचार—मधु, आरनाल (कांजी), दूध, दही, घी तथा जल—ये शीतल स्पर्श वाले होते हैं। अतएव इनके सेक (सिंचन), स्नान, अवगाहन आदि क्रियाओं से दाहज्वर शीघ्र शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'मधु' के स्थान पर 'मद्य' शब्द को प्रयुक्त किया है। मद्य का एक भेद 'सीधु' है, इसको 'शीतरस' तथा सिरका भी कहते हैं। दाह, प्रलाप आदि में इसकी पट्टी सिर पर रखते हैं। देखें—भाव-प्रकाश। इस दृष्टि से उक्त पाठ में 'मधु' के स्थान पर प्रयुक्त 'मद्य' शब्द अधिक समीचीन प्रतीत होता है। अथवा 'मधु' शब्द का एक अर्थ 'मद्य' भी होता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि टीकाकारों तथा सम्पादकों के कारण यह गड़बड़ी हुई हो, अन्यथा मधु का प्रयोग सेक, परिषेक, अवगाहन के लिए करना कुछ अटपटा लगता है, जब कि चक्रपाणिदत्त कृत 'द्रव्यगुणसंग्रह में 'मधु स्वादु रसं शीतं' कहा गया है। अन्य निघंटु भी इसका समर्थन करते हैं। आप भी विचार करें।

भवन्ति चात्र—

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कदलीनां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥२६०॥
चन्दनोदकशीतेषु शीते[1] धारागृहेऽपि वा। हिमाम्बुसिक्ते सदने दाहार्तः[2] संविशेत् सुखम् ॥

ज्वर में अन्य शीतोपचार—यहाँ उपर्युक्त विषय के सम्बन्ध में कुछ श्लोक भी कहे गये हैं—सुखद एवं शीतल रक्तकमलों, पद्मों (क्षुद्रकमलों) तथा नीलकमलों के पत्तों पर, केलों के सुकोमल पत्तों पर, निर्मल क्षौमवस्त्रों पर, चन्दन के घोल से शीतल किये गये धारागृह (फुहारे वाले घर) में या बर्फीले पानी के घिड़काव युक्त घर में दाह (जलन) से पीड़ित व्यक्ति सुखपूर्वक शयन करे, अर्थात् कुछ समय तक इन उपकरणों का सुख प्राप्त करे।

1. 'सुप्याद्दाहार्दितः सुखम्' इति पा०।
2. 'शीते धारागृहेऽपि वा' इति पा०।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'च' इस अव्यय को ध्यान में रखकर सभी प्रकार के कमलपत्रों को एक साथ बिछाने की ओर संकेत किया है, शेष 'वा' इस अव्यय के अनुसार सभी प्रकार के शीतल बिछौनों को अलग बिछाने का समर्थन करते हैं। इनके मत में ऊपर पंक्ति में प्रयुक्त 'च' पाद पूर्त्यर्थक है। हमारे विचार से 'सुशीतेषु' शब्द सब प्रकार के बिछौनों का विशेषण है। जिस विधि से परिचारक उचित समझे और जिस विधि से वह पर्याप्त शीतलता दाह से पीड़ित व्यक्ति को दे सके, वह प्रकार उत्तम है। वैसे यहाँ सात प्रकार की दाहशामक विधियों का उल्लेख किया गया है। इस चिकित्सा-विधान को ऐलोपैथी के विशेषज्ञ Cold hydrotherapy कहते हैं। ऊपर जिस प्रकार के बिछौनों का वर्णन किया गया है, उनकी समयोचित युक्ति को भी आप चिकित्सक से पूछें और परिचारक से उसकी व्यवस्था करायें, तभी लाभ होगा।

हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां [1]संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत् ॥

ज्वर में सुवर्ण आदि का स्पर्श—चन्दन के घोल से शीतल किये गये सोना, शंख, प्रवाल (मूंगा), विविध प्रकार के मणियों तथा मोतियों का स्पर्श रोगी तब तक करता रहे जब तक वे उसकी ऊष्मा के संक्रमण से गरम न हो जायें। यदि इनसे भी पूर्णरूपेण दाह का शमन न हो सके, तो संस्पर्श के अनुकूल रस वाले (अन्य) द्रव्यों या द्रवों का स्पर्श करें।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने 'संस्पर्शानुरसान्' की व्याख्या करते हुए लिखा है—'संस्पर्शानुरसान् स्पृशेदिति वचनान्न चिरं धारयेदिति दर्शयति, चिरधारणे हि तेषामप्युष्णता स्यात'। जो सर्वथा युक्तियुक्त है।

स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि। [2]शीतवातावहैर्व्यज्ज्येच्चन्दनोदकवर्षिभिः ॥२६३॥

अन्य शीतोपचार—सुगन्धित फूलों की मालाओं, नीलकमलों, लालकमलों के स्पर्श से तथा अनेक प्रकार के शीतल वायु को देने वाले पंखों की हवा से शीतलता प्रदान करे एवं चन्दन के जल को बरसाने वाले पंखों से दाह-पीड़ित व्यक्ति को झलते रहें।

वक्तव्य—यद्यपि तन्त्रकार ने नीलकमल आदि की मालाओं को धारण करने को कहा है, किन्तु प्रसंगानुसार यहाँ सुवर्णखंड, प्रवाल आदि की मालाओं को धारण करना-कराना भी उचित है। इनकी मालाएँ बनी-बनायी मिलती हैं।

व्यजनैर्विविधैरपि—चन्दन के घोल, गुलाब जल, केवड़ा जल, खस आदि के जल से अनेक प्रकार के पंखों को भिगाकर झलने का विधान दाह-शान्ति के लिए किया गया है। आज भी घर को शीतल बनाये रखने के लिए दरवाजों, खिड़कियों पर खस की टट्टियाँ लगायी जाती हैं और उन्हें पानी से तर कर देते हैं। किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में शीत-ताप-नियन्त्रित गृहों में ये प्राचीन उपाय फीके पड़ गये हैं। फिर भी स्वास्थ्य की दृष्टि से ये प्राचीन उपाय अधिक उपयोगी हैं। आप स्वयं विचार करें कि दोनों में क्या अन्तर है?

नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः। अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः ॥

अन्य शीतोपचार—निर्मल जल से युक्त नदियाँ, तालाब या सरोवर, पद्मिनी (कमलों वाली झील), ह्रद (गहरे तालाब; देखें—कोष : वी० एस० आप्टे), इनमें अवगाहन करने से ये हितकारक होते हैं और ये दाह, तृष्णा (प्यास), ग्लानि (हर्षक्षय) तथा ज्वरनाशक भी होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद में द्रोणी अवगाहन का वर्णन मिलता है। इसमें एक जलपूर्ण द्रोणी (टब) में रोगी के शिर को बाहर करके डुबा दिया जाता है। यह क्रिया बहती हुई नदियों में सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से बह जाने का भय है। अतः इनके शीतल तट-प्रदेश का सेवन करें और तड़ाग आदि में अवगाहन करें। यदि नदी में भी अवगाहन की इच्छा हो तो परिचारक की देख-रेख में करें। इनका एक विशेषण 'विमलोदकाः' दिया गया है। ध्यान रहे, ये नदियाँ आदि जलाशय निर्मल जल वाले तथा चिरपरिचित हों अन्यथा हानि हो सकती है।

पद्मिनी—इसका पर्याय पुष्करिणी जो दिया है, वह भ्रामक है। इसका अर्थ कमलसमूह विशिष्ट स्त्री भेद कमल से युक्त तलैय्या है।

1. 'संस्पर्शानुरसा' इति पा०।
2. 'शीतवातकरैर्वीज्यः' इति पा०।

प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः । सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः ॥

अन्य शीतोपचार—मणि-मोती आदि जटित आभूषणों से सुशोभित, चन्दनोदक से सिञ्चित या चन्दन का लेपन अथवा चन्दन का इत्र लगायी हुई व्यवहार तथा सम्बन्ध से प्रिय प्रमदाएँ (यौवनमद से उन्मत्त स्त्रियाँ) उत्कृष्ट कामनाओं द्वारा दाहपीड़ित पुरुष को सान्त्वना प्रदान करें। यह भी दाह-शान्ति का अन्यतम प्रकार है।

वक्तव्य—यद्यपि पित्त के बिना ताप-सन्ताप-दाह नहीं होता, तथापि कामज्वर में जो दाह आदि लक्षण होते हैं, उनका यह व्यवहारोचित तथा सूझ-बूझ युक्त चिकित्सा है। इस सम्बन्ध में तन्त्रकार की भाषा अत्यन्त शीलसम्पन्न है। मदोन्मत्त युवतियों का परिशीलन दाह-शान्ति का प्रकार अवश्य है, किन्तु इस अवसर पर महर्षि सुश्रुत ने एक सावधानी बरतने का आदेश इस प्रकार दिया है—'प्रह्लादं चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत् पुनः'। सु० उ० तं० अ० ३९।२९३। अर्थात् रोगी की दाह-शान्ति होकर उसे सुख प्राप्त हो रहा है, यह जानकर उन स्त्रियों को रोगी के सामने से दूर हटा दें।

शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च । वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः ॥२६६॥

शीतोपचार का उपसंहार—तन्त्रकार संक्षेप में पुनः उक्त चिकित्सा-विधियों का वर्णन कर रहे हैं—दाह-ज्वर से पीड़ित रोगियों के लिए शीतवीर्य वाले अन्न-पान, शीतल (सघन छाया-सम्पन्न) उपवन, शीतल हवाएँ, चन्द्रमा की किरणें हितकर होती हैं।

वक्तव्य—शीतोपचार मात्र दाह-शान्ति की चिकित्सा है, न कि प्रत्येक ज्वर में इसको 'अवश्यकर्तव्यता' का रूप देना चाहिए। यह आयुर्विज्ञान है। असावधानी दोनों ओर घातक होती है, अतः सावधान! दूसरी बात—आपको स्पर्श करने पर रोगी में सन्ताप प्रतीत हो रहा है, किन्तु वह तापशान्ति की इच्छा नहीं कर रहा है, ऐसी स्थिति में इन साधनों को न अपनायें।

ऊपर जो दाहशामक साधन कहे गये हैं, उनके अतिरिक्त भी चिकित्सक-समाज में अनेक उपकरण उपयोग में लाये जाते हैं। जैसे—१. नीलगिरि के तेल (यू० के० लिप्टस आयल) में कपड़ा भिगोकर माथे में पट्टी रखना। २. हाथ-पैर के तलुओं में काँसे की कटोरी को घिसना। ३. ताँबा या काँसे की थाली को रोगी (दाह-पीड़ित) की छाती या नाभि पर रखकर उसके ऊपर पानी की मोटी धारा कुछ देर तक डालते रहना चाहिए। इससे भी दाह-शान्ति होती है। यह चक्रदत्त का योग है। इनके अतिरिक्त लोलिम्बराज, त्रिमल्लभट्ट, भावमिश्र आदि ग्रन्थकारों की रचनाओं का अध्ययन दाह शान्ति एवं मनःशान्ति के लिए करें। ये स्थल अत्यन्त सरस एवं मनोरञ्जक हैं। इसके विपरीत शीत-पीड़ित रोगियों के लिए उष्णोपचारों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः—अगुरुकुष्ठतगरपत्रनलदशैलेयध्यामकहरेणुकास्थौणेयकक्षेमकैलावराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वस्योनाककाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारीबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकैरण्डशोभाञ्जनकवरुणार्कचिरबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाश्मान्तकशिग्रुमातुलुङ्गपीलुकमूलकपर्णीतिलपर्णीपीलुपर्णीमेषशृङ्गीहिंस्रादन्तशठैरावतकभल्लातकास्फोतका[1]ण्डीरात्मजैकेषीकाकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुखसु[2]रसकुठेरककालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारु[3]हारोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुलीगन्धनाकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचाङ्गेरीतिलबदरकुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्, तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डारनालकट्वरप्रतिविनीतेन तैलपात्रं विपाचयेत्। तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणं

---

१. 'काण्डीरात्मगुप्ताकाकाण्डैषीका' इति पा०।
२. 'सुरसकरककण्डीरकुठेरक' इति पा०।
३. 'महावरोहा' इति पा०।

ज्वरितमभ्यञ्ज्यात्, तथा शीतज्वरः प्रशाम्यति; एतैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत्, एतैरेव च शृतं सुखोष्णं सलिलमवगाहनार्थं परिषेकार्थं च प्रयुञ्जीत शीतज्वरप्रशमार्थम् ॥ २६७ ॥

इत्यगुर्वाद्यं तैलम् ।

अगुर्वादि तैल—अब जो (शीतपूर्वक) ज्वर से पीड़ित होने के कारण उष्णता (उष्णोपचार) की कामना करने वाले हैं, ऐसे ज्वर रोगियों के लिए अभ्यंग आदि चिकित्सा विधियों के उपदेश दिये जा रहे हैं। अगर, कूठ, तगर, पत्र (तेजपत्ता), नलद (जटामांसी—इसी को पहाड़ी प्रदेशों में बालछड़ कहते हैं), शैलेय (छरीला), ध्यामक (सुगन्धित तृण विशेष), हरेणुका (रेणुका या मेवड़ी), स्थौणेयक (ग्रन्थिपर्ण, थुनेर, देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु), क्षेमक (चोरक या चोरपुष्पी), बड़ी इलायची, [अन्य प्रतियों में 'वरा' पाठ भी है] वरांगदल (दालचीनी), पुर (गुग्गुलु), तमालपत्र, भूतीक (अजवाइन), रोहिष (हरद्वारी तृण), सरल (चीड़), सल्लकी (सर्जभेद), देवदारु, अरणी, बेल की छाल, सोनापाठा (अरलू) की छाल, गम्भारी की छाल, पाटला (पाढ़ल) की छाल, सफेद पुनर्नवा की जड़, लाल पुनर्नवा की जड़, कंटकारी की जड़, बृहती (बनभंटा—जंगली बैंगन) का पञ्चांग, सरिवन, पिठवन, माषपर्णी (जंगली उड़द), मुद्गपर्णी (जंगली मूंग), गोखरू के बीज, रेंड़ की जड़, सहिजन की छाल, वरुण की छाल, अर्क (मदार) की छाल, चिरबिल्व (नाटा करंज) की छाल, तिल्वक (लोध), शटी (कचूर), पुष्करमूल, गण्डीर (शामठशाक), उरुबूक (लाल रेंड़) की छाल, पत्तूर (शालिंच या सुखारी) का शाक, अक्षीव (महानिम्ब या बकायन) की छाल, अश्मान्तक की छाल, शिग्रु (लाल सहिजन) की छाल, मातुलुंग (बिजौरा नीबू) की जड़, पीलुक, मूलकपर्णी (भैसा गुग्गुलु या काला सहिजन), तिलपर्णी, (हुर-हुर), पीलुपर्णी (मूर्वा), मेषशृंगी (मेढ़ासिंगी), हिंस्रा (हईस), दन्तशठ (नैनीताल, अल्मोड़ा जिलों में इसे 'गलगल' कहते हैं। यह नींबू का ही एक भेद है), ऐरावतक, भिलावा, आस्फोत (सारिवा या हाफरमाली), कांडीर (करेली, यह बिना लगाये पैदा होती है), आत्मजा (शूकशिम्बी—वै० श० सि०), अन्य टीकाकारों ने इसे पुत्रंजरा या जियापोता लिखा है), एकेषीका (त्रिवृता—कालीनिशोथ), करंज, धनियाँ, अजमोदा, पृथ्वीका (जीरा, हिंगुपत्री, बड़ी इलायची, काला जीरा, अर्क वृक्ष, आदित्यभक्ता इतने अर्थों में इसका प्रयोग होता है। हमारे विचार से यहाँ 'कालाजीरा' का प्रयोग अधिक उचित है।), सुमुख, सुरस, कुठेरक, कालमालक, पर्णास (सुमुख से लेकर पर्णास तक ये सभी तुलसी के ही भेद हैं।), क्षवक (नकछिकनी), फणिज्झक (गन्धतुलसी), भूस्तृण (गन्धतृण या मूंज), शृंगवेर (अदरक), पीपल, सरसों, असगन्ध, रास्ना, रुहा (आकाशबेल, वृक्षरुहा, मांसरोहिणी), आरोहा (असगन्ध या लाजवन्ती), बालवच, बला (बरियारा), अतिबला (ककही), गुरुच, शतपुष्पा (सोया), शीतवल्ली (नीलदूर्वा), नाकुली, गन्धनाकुली, श्वेता (अपराजिता), ज्योतिष्मती (मालकांगनी), चित्रक, अध्यण्डा (किवाँच के बीज या तालमखाना), अम्लचाङ्गेरी (तिपतिया), काला तिल, बड़ाबेर, कुलथी, माष (उड़द)—ये तथा इस प्रकार के अन्य (जो यहाँ नहीं कहे गये हैं, उन) उष्णवीर्य औषधद्रव्यों को या जितने मिल सकें उन सबको लेकर यथाविधि कषाय (क्वाथ) बनवायें। उस कषाय से और उपर्युक्त उष्णवीर्य औषधद्रव्यों के कल्क से सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक (ये सभी मद्य के भेद हैं), दधिमण्ड (दही का पानी), आरनाल (काँजी), कट्वर (दही की मलाई या वह तक्र जिसमें से मक्खन निकाल लिया गया हो) इन द्रव्यों को डालकर एक पात्र अर्थात् १ आढ़क=२५६ तोला, द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार २ आढक तिल-तैल का यथाविधि पाक करायें। उस गुनगुने तेल से उष्णता की इच्छा रखने वाले ज्वर-रोगियों के शरीर पर मालिश करायें। ऐसा करने से शीतज्वर की शान्ति हो जाती है। इन्हीं (उपर्युक्त) औषधद्रव्यों को बारीक पीसकर गुनगुना कर रोगी के शरीर पर लेप लगायें। इन्हीं औषधद्रव्यों के गुन-गुने काढ़े को द्रोणी (टब) में डालकर उस रोगी को अवगाहन (Tub bath) करायें और इसी जल से रोगी को स्नान कराना चाहिए। इन क्रियाओं से सुखपूर्वक रोगी का ज्वर शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—प्रत्येक द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक, शक्ति या विशेष प्रभाव ये गुण अवश्य रहते हैं। चिकित्सक को औषध-निर्माणकाल में तथा चिकित्सा-काल में योग में प्रयुक्त द्रव्यों के बारे में अवश्य विचार कर लेना चाहिए। यहाँ जिन द्रव्यों का उल्लेख किया गया है उनको वीर्य या विपाक से उष्ण होना चाहिए। यह तन्त्रकार का अभिप्राय है।

भूतीक—इसका अन्यत्र प्रयोग धान्यपंचक, भूनिम्ब, कट्फल, तृण-विशेष तथा कपूर इन अर्थों में देखा गया है। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने आगे पठित 'रोहिष' के साहचर्य से इसे भी तृण-विशेष मान लिया है, जो यहाँ अनुपयुक्त है।

अश्मान्तक—कोषग्रन्थों में यह अश्मन्तक शब्द पुल्लिंग व नपुंसकलिंग-भेद से दो प्रकार (अश्मन्तकः, अश्मन्तकम्) का उपलब्ध होता है, न कि 'अश्मन्तक'। अन्यत्र चरक में भी 'अश्मन्तक' शब्द ही प्रयुक्त है। अश्मन्तक=पाषाणभेद है। अन्य टीकाकारों ने इसका 'मालधेनु' पर्याय दिया है।

एरावतक—इसका पर्याय कहीं 'हस्तिशुण्डी' और कहीं 'नारंगी' दिया है। यहाँ उष्णवीर्य पदार्थों का ग्रहण करना तन्त्रकार को अभीष्ट है, न कि टीकाकारों को, अतएव अनेक विसंगतियाँ देखी जाती हैं। अतः विद्वान् चिकित्सक को इस दृष्टि से द्रव्यों के पर्यायों का निर्णय अवश्य कर लेना चाहिए।

क्षवक—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'क्षवक' को तुलसी का भेद-विशेष माना है। जब कि यह प्रसिद्ध 'नकछिकनी' नाम का पौधा है। इसको मलकर सूँघने से छींकें आती हैं। ऊपर अगुर्वादि तेल के निर्माण में सुरा के भेदों को डालने का निर्देश है और यहाँ क्वाथ्य द्रव्य भी ५ से अधिक हैं। अतः—'पञ्च प्रभृति यत्र स्युर्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुः'। इस परिभाषा के अनुसार पृथक्-पृथक् पदार्थ को स्नेह की जो मात्रा हो, उतना ही लेना चाहिए और उसका चतुर्थांश कल्क रहेगा।

भवन्ति चात्र—

त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निर्दशितः। मात्राकालविदा युक्तः स च शीतज्वरापहः॥

ज्वर में स्वेदन-चिकित्सा—इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ श्लोक भी कहे हैं—स्वेदाध्याय (चरक-सूत्रस्थान अ० १४) में तेरह प्रकार के स्वेदों का वर्णन किया गया है। उनका प्रयोग यदि मात्रा (किस रोगी में कितना स्वेदन उचित होगा) और काल (किस प्रकार के ज्वर में कौन-सा स्वेदन इस समय उचित होगा) को जानने वाले चिकित्सक द्वारा कराया जाता है, तो वह शीतज्वर का शमन करता है।

सा कुटी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं ज्वरम्। शीतं प्रशमयन्त्याशु धूपाश्चागुरुजा घनाः॥२६९॥

शीतज्वर में कुटी आदि स्वेदन प्रकार—वह (स्वेदाध्याय में कही गयी) कुटी (जिसका वर्णन स्वेदन के लिए 'कुटीप्रावेशिक' नाम से किया गया है), वह शयन (प्रस्तरस्वेद), वह आच्छादन (ओढ़ना, जिसको ओढ़कर सोने से पसीना हो जाये) और अगुरु का घना धुँआ—इनके सेवन से शीघ्र ही शीतबाधाजनित ज्वर शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—इन प्रकारों के लिए स्वेदाध्याय (च० सू० अ० १४) का पुनः-पुनः मनन करें।

चारूपचितगात्र्यश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा। आश्लेषाच्छमयन्त्याशु प्रमदाः शिशिरज्वरम्॥

शीतज्वर में सुखद उपचार—जिनके सभी शरीरावयव भली-भाँति पुष्ट हो गये हों, ऐसी यौवनमद से मत्त युवतियों के गाढ़ आलिंगन से और जवानी की गर्मी से वे (पुरुष के) शीतज्वर का शीघ्र ही शमन करती हैं।

वक्तव्य—यह शीतशान्ति का उपाय किसी युवक के लिए ही करना चाहिए न कि बालक या वृद्ध के लिए। यदि स्त्री शीतज्वर से पीड़ित हो तो आप परिस्थिति को देखकर स्वयं निर्णय करें। समाज की सलाह लें अथवा पूर्वोक्त शीतनाशक उपायों को अपनायें। यहाँ 'तरुण्यः' का विशेषण 'प्रमदाः' है। उत्तम स्वास्थ्य तथा सद्भाव सम्पन्न युवतियाँ आलिंगन मात्र से रोगी का हित करें। शेष सावधान !।

स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च। शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात्॥२७१॥

वातकफनाशक स्वेदन—उस प्रकार के अन्न (भोजन), पान (पेयद्रव्य) जो स्वेदनकारक तथा वातदोष, कफदोष के नाशक हों, ऐसे अन्न-पान संसर्ग बल के अनुसार शीघ्र ही शीतज्वर को जीत लेते हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'संसर्गबलयोजनात्' और 'वातश्लेष्महराणि च' ये पद्यांश विचारणीय हैं। प्रायः शीतज्वर कभी वातप्रधान और कभी कफप्रधान होता है। अतः इस प्रकार के ज्वर द्वन्द्वज देखे जाते हैं। इनमें

संसर्गबल योजना इस प्रकार होती है—यदि उक्त शीतज्वर में वातदोष की प्रधानता देखी जाती है, तो स्निग्ध, उष्ण, गुरु अन्न-पान का और यदि कफदोष की प्रधानता हो, तो रूक्ष, उष्ण, लघु अन्न-पान का प्रयोग कराना चाहिए। ध्यान रहे, वातदोष दूसरे के गुण के अनुरूप हो जाता है, जिसे आयुर्वेद में योगवाही कहते हैं। यह पित्त के साथ उष्णताकारक और कफ के साथ शीतताकारक हो जाता है। अतः तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए। लोक में भी वही हवा गर्मियों में लू बनकर और जाड़ों में शीतलहरी के रूप में बहती है। युवतियों का आलिंगन दाहशान्ति तथा शीतशान्ति दोनों स्थितियों में बतलाया गया है, क्योंकि ये भी योगवाहिनी होती हैं। विशेषकर कामज्वर में उत्पन्न दाह का ये शीघ्र शमन करती हैं। अन्य प्रकार के दाहों की चिकित्सा ऊपर दी गयी है।

वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे। लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत्॥२७२॥

ज्वर में लंघन का निषेध—वातज ज्वर, श्रमज ज्वर, पुराण (जीर्ण) ज्वर तथा क्षतज ज्वर में लंघन हितकर नहीं होता है। अतः उक्त ज्वरों की शान्ति के लिए शमन-चिकित्सा करें।

वक्तव्य—किन रोगियों को लंघन कराना चाहिए और किनको नहीं कराना चाहिए, इसका विवेचन हम पहले इसी अध्याय में कर चुके हैं। जो लंघनीय नहीं होते, उनकी संशमन चिकित्सा की जाती है, जिससे दोष बिना बाहर निकले ही शान्त हो जायें। यहाँ आचार्य गंगाधर ने जिस पाठ-भेद को अपनाया है, वह इस प्रकार है—'निरामे वातजे चैव पुराणे क्षयजे ज्वरे'। इस पाठभेद के औचित्य पर आप स्वयं विचार करें और आगे श्लोक २८३ पर ध्यान दें। **शमन-चिकित्सा**—दोषशामक कषायों तथा उन्हीं द्वारा पकाये गये घृतपान द्वारा ज्वरों का शमन करना चाहिए।

विक्षिप्यामाशयोष्माणं यस्माद् गत्वा रसं नृणाम्। ज्वरं कुर्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः॥

ज्वर में अग्निमान्द्य का कारण—क्योंकि अपने कारणों से कुपित हुए वातादि दोष आमाशय में स्थित ऊष्मा (जठराग्नि) को बाहर निकालकर रसधातु के समीप जाकर (रसधातु को दूषित कर) ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। अतः स्थानभ्रष्ट हो जाने के कारण ज्वरावस्था में उस (अग्नि) का बल क्षीण हो जाता है।

यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि। न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः॥२७४॥

पक्तिस्थानात् तथा दोषैरूष्मा क्षिप्तो बहिर्नृणाम्। न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात् पचति वा लघु॥

अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः।

अग्निमान्द्य में कर्तव्य—जिस प्रकार प्रज्वलित तथा लकड़ी युक्त आग भी हवा के झोंके से चूल्हे से बाहर की ओर आ जाने के कारण चूल्हे के ऊपर रखी हुई बटलोही के चावलों को नहीं पका पाती, उसी प्रकार जब दोषों द्वारा मनुष्यों की पाचकाग्नि पक्ति-स्थान से बाहर कर दी जाती है तो वह खाये हुए भोजन को नहीं पचा सकती। अथवा यदि रोगी ने हल्का भोजन किया हो, तो बड़ी कठिनता से (बड़ी देर में) पचा पाती है। इसलिये अग्नि के बल की रक्षा के लिए लंघन (वमन, विरेचन, बस्ति) आदि चिकित्सा हितकर होती है।

सप्ताहेन हि पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः॥ २७६॥

निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि।

निरामज्वर का समय—वात आदि दोष जब रस आदि सात धातुओं में प्रवेश कर जाते हैं, तो वे प्रायः सात दिन में पच जाते हैं। इसलिए आठवें दिन ज्वर आमदोष से रहित (निराम) हो जाता है।

वक्तव्य—ज्वर की उत्पत्ति में सामदोष ही कारण होता है। इसका निराकरण लंघन, वमन, विरेचन आदि चिकित्सा से किया जाता है। इसकी सामान्य अवधि सात दिन है। इसके बाद ज्वरनाशक औषधयोगों का प्रयोग किया जाता है। कभी दोषों के प्रबल होने से सात दिन के बाद भी आमदोष की समाप्ति नहीं देखी जाती। अतएव तन्त्रकार ने 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे सामान्य दृष्टि से सात दिन में आमदोष की निवृत्ति होते देखी गयी है। सामान्यरूप से औषध-प्रयोग निम्न परिस्थिति के आने पर ही करना चाहिए—'मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम्'॥ अर्थ स्पष्ट है।

उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः ॥ २७७ ॥
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः ।

ज्वर में गुरु आहार का निषेध—ज्वर से पीड़ित व्यक्ति में जब दोष उभड़े हों, उसकी पाचकाग्नि मन्द पड़ गयी हो, इस स्थिति में जो रोगी विशेषकर के गुरु (देर में पचने वाले) अन्न-पान का सेवन करता है, तो वह एकाएक प्राणों से मुक्त हो जाता (मर जाता) है, अथवा बहुत दिनों तक कष्ट में पड़ा रहता है।

वक्तव्य—ज्वर की अवस्था में दोषों को पचाने के लिए लंघन का विधान है, क्योंकि उस समय अग्नि मंद पड़ जाती है। उसी अवसर पर यदि उस मन्द अग्नि को गुरु आहारों को पचाने का भार भी सौंप दिया जाये, तो वह अग्नि निष्क्रिय हो जायेगी। फलतः रोगी की मृत्यु हो जायेगी। अतः गुरु (मात्रा तथा पाक में जो गुरु हों उन) आहारों का सर्वथा परित्याग करें। जो 'लङ्घनं लघु भोजनम्' लंघन की परिभाषा दी है, वह भी 'ज्वरितं षडहेऽतीते लध्वन्नं परिभोजितम्'। छः दिन बीतने पर लघु अन्न दिया जा सकता है। सुकुमार, बालक, वृद्ध, स्त्री आदि के लिए चिकित्सक यथावसर स्वयं व्यवस्था दें।

एतस्मात् कारणाद् विद्वान् वातिकेऽप्यादितो ज्वरे ॥ २७८ ॥
नाति गुर्वति वा स्निग्धं भोजयेत् सहसा नरम् ।

वातज्वर में गुरु आहार निषिद्ध—उपर्युक्त कारणों से कुशल चिकित्सक आरम्भ से ही वातज्वर में अधिक गुरु (मात्रा तथा द्रव्य गुरु) तथा अधिक स्निग्ध (घी, तेल आदि में पकाये गये) अन्न-पान खाने-पीने के लिए रोगी को न दे।

वक्तव्य—'वातिके ज्वरे सहसा नरं न भोजयेत्'। यद्यपि गुरु और स्निग्ध पदार्थ वातशामक होते हैं, तथापि ज्वर की स्थिति में अग्नि के मन्द पड़ जाने से वे सब निषिद्ध हैं। ज्वरमुक्त होने पर भी इन पदार्थों को सहसा सेवन न करायें, जब तक कि अग्निबल सुदृढ़ न हो जाये। सामवात ज्वर रोगी की परिस्थिति को देखकर लघु भोजन के रूप में थोड़ा-बहुत खाने के लिए उसे कुछ दिया भी जा सकता है, यह 'सहसा' पद की दूसरी योग्यता है। किन्तु गुरु एवं स्निग्ध पदार्थ किसी स्थिति में न दें।

ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम् ॥ २७९ ॥
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान् ।

वातज्वर में अभ्यंग आदि प्रयोग—वातज ज्वर में सामान्यरूप से प्रथम अवस्था में निर्दिष्ट चिकित्सा क्रम की अपेक्षा न करते हुए भी जिसमें पित्त तथा कफ का अनुबन्ध न हो, ऐसे रोगियों को अभ्यंग आदि कराना चाहिए।

वक्तव्य—नवज्वर में अभ्यंग आदि का निषेध है, किन्तु वातज ज्वर में प्रारम्भ से जीर्णज्वर की चिकित्सा की जाती है, क्योंकि वातज्वर तथा जीर्णज्वर दोनों में रूक्षता हो जाती है। अतः इसमें स्निग्ध (अभ्यंग आदि) चिकित्सा करने से लाभ होता है। ध्यान रहे कि उस ज्वर में कफ एवं पित्तदोष का अनुबन्ध न हो।

पाययित्वा कषायं च भोजयेद् रसभोजनम् ॥ २८० ॥
जीर्णज्वरहरं कुर्यात् सर्वशश्चाप्युपक्रमम् ।

वातज्वर में जीर्णज्वर-चिकित्सा—अनुबन्धरहित वातज्वर के रोगी को शास्त्रोक्त कषाय-पान कराकर तदनन्तर मांसरस के साथ पुराने चावलों के भात का भोजन कराना चाहिए और जीर्णज्वर-नाशक सभी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—जीर्णज्वर के रोगी को मांसरस देने का विधान है। अनुबन्धरहित वातज्वर के रोगी को भी क्रमशः इन अन्न-पानों तथा तदनुरूप चिकित्सा का प्रयोग किया जा सकता है, न कि प्रारम्भिक स्थिति में।

श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णः[1] कफाधिकः ॥ २८१ ॥
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम् । तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना ॥२८२॥
आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत् ।

कफ-प्रधान ज्वर में कर्तव्य—जो व्यक्ति कफ प्रकृति के हों, जिनके ज्वर में वातदोष का सम्बन्ध न हो, ज्वर में उष्णता की अधिकता न हो और जिस ज्वर में कफदोष की अधिकता हो ऐसे ज्वर से सम्बन्धित दोषों का पाक एक सप्ताह में भी नहीं हो पाता। ऐसे मृदु अग्नि वाले ज्वर-रोगियों की पूर्वोक्त चिकित्सा विधि लंघन, लघु भोजन आदि द्वारा दस दिनों तक चिकित्सा करके तदनन्तर विविध कषायों का प्रयोग कराकर समुचित चिकित्सा करे।

वक्तव्य—यहाँ रोगी कफ प्रकृति का है, दोष भी कफ-प्रधान है तथा वायु का संसर्ग बिल्कुल नहीं है, जो कि इस जड़ कफ को इधर-उधर हटा-बढ़ा सके। पित्तदोष भी कम है जो उसका पाचन करता है। अतः लंघन आदि का आदेश दिया गया है। कफ मन्थर गति वाला है। अन्य ज्वरों का सामान्यतः छः दिन तक पाक हो जाता है। इसलिए इसमें दोष का पाचन होने में प्रायः दस दिन का समय लग जाता है।

सामा ये ये च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये ॥ २८३ ॥
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति ।

यथायोग्य लंघन-व्यवस्था—जो ज्वर साम (आमदोष युक्त) हो, जो कफ-प्रधान ज्वर हो अथवा कफ-पित्तप्रधान हों, लंघनीय प्रत्येक पुरुष (रोगी या रोगिणी) को लंघन कराना चाहिए।

वक्तव्य—लंघन का उपयोग आमदोष को पचाने के लिए किया जाता है। अन्यत्र वातज्वरों में लंघन करने-कराने का निषेध किया गया है। किन्तु यदि साम (आमदोष से दूषित) वातज्वर होता है, तो उसमें भी यहाँ लंघन की अनुमति दी गयी है। कहा भी है—'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम्'॥ अर्थात् कफ और पित्त ये दो धातु द्रवरूप में प्राप्त होते हैं। अतः एव इनमें लंघन के कष्ट को सहन करने की पर्याप्त क्षमता होती है। वातदोष में लंघन का निषेध है, किन्तु सामवातज्वर में हल्का लंघन दिया जा सकता है। ऐसा निर्देश अन्यत्र भी इस प्रकार प्राप्त होता है—'सामे वातेऽपि लङ्घनम्'।

लङ्घनीयोक्तम्—किनको लंघन देना चाहिए, किनको नहीं देना चाहिए तथा किनके लिए उसकी क्या मात्रा (काल की अवधि) होगी—इन बातों का विचार हम इसी अध्याय में पहले कर आये हैं, वहाँ देखें। यहाँ तो केवल सावधानी का यह संकेत किया गया है, कि अलंघनीयों को तो लंघन देना ही नहीं चाहिए, किन्तु जो लंघनीय हैं, उनमें भी प्रत्येक रोगी व्यक्ति के देश, काल, वयस् तथा रोग का विचार कर लंघन दें।

प्रति-प्रति—लंघन देने के पूर्व प्रत्येक रोगी की प्रकृति आदि का विचार भली-भाँति कर लें। **लंघन के अयोग्य**—वातव्याधि वाले, भूखे, प्यासे, मुखशोष, भ्रमरोगी, बालक, वृद्ध, गर्भिणी तथा शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से जो दुर्बल हों, उन्हें कभी भी लंघन न करायें। यहाँ लंघन का प्रयोग संशमन की दृष्टि से कराया जाता है। चार प्रकार की जो शरीर-शुद्धि कही गयी है, उनमें लंघन का प्रमुख स्थान है।

वमनैश्च विरेकैश्च वस्तिभिश्च यथाक्रमम् ॥ २८४ ॥
ज्वरानुपचरेद् धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान् ।

वमन-विरेचनवस्ति-चिकित्सा—चिकित्साकुशल वैद्य को चाहिए कि वह कफज, पित्तज तथा वातज ज्वरों की चिकित्सा क्रमशः वमन, विरेचन तथा वस्ति प्रयोग द्वारा करें।

वक्तव्य—कफ का स्थान आमाशय है। अतः वमन द्वारा आसानी से कफदोष का निर्हरण किया जा सकता है। पित्तदोष को निकालने के लिए विरेचन-कर्म की सर्वत्र प्रशंसा है। वातदोष को निकालने के

---

१. 'ऽनुष्णे' इति पा०।

लिए वस्ति-प्रयोग सर्वश्रेष्ठ होता है। इनका प्रयोग सदैव और सहसा अपने मन से नहीं करना चाहिए। ये कर्म चिकित्सक की देख-रेख में ही करें। जब तक दोषों की अधिकता न हो, तो ये सभी प्रयोग जो कायक्लेश-कारक (शरीर को कष्ट देने वाले) होते हैं, अतएव न करें।

संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ॥ २८५ ॥
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् ।

द्वन्द्वज ज्वर-चिकित्सा—संसृष्ट (दो दोष जिस ज्वर में मिले हों) तथा सन्निपतित दोष वाले अर्थात् जिन ज्वरों में तीनों दोष मिलें हों, ज्वरों में प्रकुपित वात आदि दोषों को तर, तम, सम के रूप में भली-भाँति समझकर दोष या दोषों के क्रम की अपेक्षा को करने वाला चिकित्सक यथोक्त औषध-योगों द्वारा उन ज्वरों का निर्हरण करे, अर्थात् उन ज्वरों को जीते।

वक्तव्य—आयुर्वेद में द्वन्द्वज व्याधि को संसृष्ट और सन्निपातज व्याधि को सन्निपतित कहा जाता है। यद्यपि संसृष्ट का अर्थ मिला-जुला होता है, तदनुसार एक से अधिक दोष परस्पर मिल सकते हैं। वे भले ही दो, तीन जितने हों।

तर-तम विचार—आयुर्वेद में दोषों का क्रम इस प्रकार वर्णित है—लघु, लघुतर, लघुतम, अथवा—वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से भी दो समान पदार्थों में से किसी एक के प्रयोग का निर्धारण करने के लिए तर का प्रयोग होता है और तीनों में से किसी एक के निर्धारण के लिए तम का प्रयोग होता है। यथा—'अनयोः कतरः श्रेष्ठः'। 'एतेषु कतमः श्रेष्ठः'। **सम**—जहाँ तीनों दोष अपनी समान मात्रा में हों, उस स्थिति को 'सम' कहते हैं। द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वर में कोई दोष सामान्य रूप से बढ़ा होता है, दूसरा उससे अधिक, तीसरा उससे भी अधिक; इसी को विपरीत क्रम से कहा जाता है। यह सब विचार चिकित्सा में सुविधा प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है।

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा ॥ २८६ ॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् ।

सन्निपातज्वर-चिकित्सासूत्र—एक दोष (जो अभी बढ़ा नहीं है) को बढ़ा कर और बढ़े हुए किसी एक दोष को क्रमशः घटा कर सन्निपातज्वर को जीतने का प्रयत्न करें, अथवा कफ-स्थान (कफ तथा आमाशय) की आनुपूर्वी (क्रम) को ध्यान में रखकर सन्निपातज्वर को जीतने का प्रयत्न करें।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने चरक-सूत्रस्थान अ० १७ श्लोक ४१-४२ में दोषों के वृद्धिक्रम से पच्चीस प्रकार के सन्निपातों की गणना की है। इसके आगे दोषों के क्षीणक्रम से भी पच्चीस भेदों का सूत्ररूप में संकेत किया है। इसके बाद बासठ भेदों की चर्चा की गयी है। आचार्य चक्रपाणि ने भी वृद्धिक्रम तथा क्षयक्रम से अलग-अलग २५-२५ भेदों की गणना योग्यतापूर्वक की है। आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने 'चरकोपस्कार' नामक चरक की टीका में सूत्रस्थान अ० १७ श्लोक ४३-४४ की व्याख्या करते हुए सन्निपात के ६२ भेदों की चर्चा की है। इन्हें यथास्थान देखें।

दोषों के वृद्धिक्रम से १३ प्रकार के सन्निपात होते हैं। शेष १२ भेद क्षीण (ह्रास) क्रम के हैं। क्षीण दोषों में व्याधि को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। वे केवल रोग के क्रम को चालू रख सकते हैं, क्योंकि—'क्षीणा जहति स्वं लिङ्गम्'। अतः हम इन भेदों को सन्निपात के उपद्रवस्वरूप मानते हैं। इसी अध्याय में पहले तन्त्रकार द्वारा सन्निपात के १३ भेदों की चर्चा की गयी है और वक्तव्य के रूप में तन्त्रान्तरों से उसका समर्थन दिखाया गया है। जब जो दोष वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम होते हैं, उनके विपरीत औषधों के प्रयोग से वे शान्त हो जाते हैं।

जैसे कफदोष वृद्ध और वातदोष वृद्धतर (उससे कुछ बढ़ा) हो और पित्तदोष वृद्धतम (सबसे अधिक बढ़ा) हो, तो वृद्धदोष (कफ) को बढ़ायें और वात, पित्त को घटायें अथवा घटाने के अनुरूप चिकित्सा करें। कफ को बढ़ाने के लिए मधुररस वाले तथा मधुरविपाकी द्रव्यों का प्रयोग करायें। इससे कफ की वृद्धि होने के साथ ही साथ वात, पित्त का शमन होगा। यदि तीनों दोष सम प्रतीत हो रहे हों, तो सर्व-प्रथम कफस्थान की चिकित्सा करें। यहाँ कफस्थान से आमाशय का ऊपरी भाग तथा कफ का ग्रहण किया

गया है। क्योंकि स्थान का ग्रहण करने से स्थानी (उसमें रहने वाले) का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे—किसी के घर को घेर लेने पर उसका मालिक भी पकड़ा जाता है। यद्यपि यहाँ शब्दतः कफ की चिकित्सा का उल्लेख तन्त्रकार ने नहीं किया है, तथापि 'कफस्थान को जीतने' की बात तो स्पष्ट ही है, क्योंकि 'ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः'। च० वि० अ० ३।४०। सर्वप्रथम ज्वर को उत्पन्न करने वाले वातादि दोष विशेष रूप से आमाशय को दूषित करके ज्वर को पैदा कर देते हैं। इसीलिए ऊपर स्थानानुपूर्वी चिकित्सा को महत्त्व दिया गया है। कहा भी है—'स्थानं जयेद्धि पूर्वम्'। अतः कफ का स्थान आमाशय है। इसकी शुद्धि के लिए लंघन, पाचन, वमन आदि का विधान किया गया है। आचार्य भेल महर्षि अग्निवेश का समर्थन करते हुए कहते हैं—'सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्। पश्चाच्छ्लेष्मणि सङ्क्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ'॥ भेलसंहिता-चिकित्सास्थान।

दूसरे सम्प्रदाय वाले सन्निपातज्वर की चिकित्सा का क्रम इस प्रकार स्वीकार करते हैं—'वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम्'। अर्थात् सर्वप्रथम गतिशील वातदोष की चिकित्सा कर उसे सम कर लें तत्पश्चात् पित्त की चिकित्सा करें और अन्त में कफ की। ये सभी चिकित्सा-विधियाँ स्थिति-भेद से विचा-रणीय हैं। ऊपर जो तन्त्रकार ने 'वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा' कहा है, उसी का एक प्रकार हो सकता है।

कुछ टीकाकार 'कफस्थान' शब्द में 'पश्चात्पदलोपीसमास' मानकर इसका अर्थ 'पित्त' करते हैं। यथा—'कफस्थानरूपं स्थानं यस्य तत्—पित्तम्'; अत्र पश्चात्पदलोपादुष्ट्रमुखवद् बहुव्रीहिः'। इसके समर्थन में वे सुश्रुतसंहिता के निम्न पद्य को उद्धृत करते हैं—'निर्हरेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु। दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः'॥ सु० उ० तं० ३९।२९४। सुश्रुत का यह वचन जीर्ण (पुराने) त्रिदोषज्वर से आक्रान्त रोगी के लिए कहा गया है, ऐसा चक्रपाणि का मत है। तात्कालिक सन्निपातज्वर की चिकित्सा में तो सर्व-प्रथम कफस्थान (उरःप्रदेश तथा आमाशय) स्थित दोष (कफ) का ही निर्हरण करना समीचीन है। यहाँ सुश्रुत का उक्त सिद्धान्त इस वाक्य पर आधारित प्रतीत होता है—'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना'। इसीलिए कहा है—'समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्। ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारु-तम्॥ किन्तु सन्निपातज्वर में सर्वप्रथम कफ का शमन और पित्त का निर्हरण किया जाता है।

एक दोष को बढ़ाकर और बढ़े हुए दोष या दोषों को घटाने की जिस प्रक्रिया का वर्णन यहाँ किया गया है, वास्तव में यह निर्दुष्ट प्रकार नहीं है। यथा—'प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यदुदीरयेत्। नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्'॥ च० नि० अ० ८।२३। इसकी टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'न कोपयेदिति व्याध्यन्तरं न कुर्यादित्यर्थः'। सचमुच तन्त्रकार का भी यही आशय है। यहाँ जो दोषों को बढ़ाने की बात कही गयी है, वास्तव में वह उनकी शक्ति को घटाने की व्यवस्था है। इस विधि से रोग की शान्ति होती है और दूसरा कोई रोग पुनः उत्पन्न नहीं हो पाता।

वर्धनेन—इस शब्द का कुछ टीकाकारों ने 'एक दोष का छेदन करना' ऐसा अर्थ किया है, क्योंकि वे 'वर्धच्छेदनपूरणयोः' धातु का इसे ल्युडन्त प्रयोग मानते हैं, तदनुसार इसका अर्थ होगा—दोष का समूल नाश करने वाली संशोधन-क्रिया। कुछ भी हो, समवृद्ध सन्निपातज्वर में सर्वप्रथम कफशामक चिकित्सा करना सार्वभौम सिद्धान्त है।

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ॥ २८७ ॥
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ।

सन्निपातज्वर में उपद्रव—सन्निपातज्वर के अन्त (अन्तिम दिनों) में कर्ण के मूल में एक शोथ अथवा व्रणशोथ हो जाता है। इस उपद्रवस्वरूप शोथ के बाद कोई (भाग्यवान) ही व्यक्ति बचता है, नहीं तो प्रायः मर ही जाते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार अपनी टीका में लिखते हैं—'अथवा इसका अर्थ यह भी होता है कि सन्निपातज्वर के अन्त में कर्णमूल में कोई दारुण शोथ होता है। उससे मुक्त हो ही जाता है'। इसका समर्थन करने के लिए वे इस प्रकार का अन्वय करते हैं—'सन्निपातज्वरस्य अन्ते कर्णमूले कश्चित् सुदारुणः शोथः

सञ्जायते, तेन प्रमुच्यते एव'। इस प्रकार का अन्वय या अर्थ एकान्ततः उस शोथ की दारुणता का उपहास कर रहा है। कोई भी दूसरा आचार्य उस कर्णमूलशोथ समन्वित सन्निपात रोगी को एकान्ततः सुखसाध्य नहीं कहता। अतः हम उक्त अन्वय से सम्बन्धित अर्थ को श्रद्धेय नहीं मानते। आगे भालुकितन्त्र का यह पद्य उक्त कथन को आंशिक समर्थन दे रहा है। देखें—'ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः। क्रमादसाध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यः सुखेन साध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः'॥ आचार्य गणनाथसेन ने उक्त पद्य के स्वरूप को बदल दिया है; तदनुसार साध्य, कष्टसाध्य और असाध्य माना है, जो भालुकि-तन्त्रोक्त श्लोक के क्रम से सुधरा हुआ प्रतीत होता है।

हमें तो तन्त्रकार के दृष्टिकोण का सम्मान करने के साथ विषयवस्तु का सम्यक् निर्वाह करना है। इस दृष्टि से आप भी देखें—'यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते। ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते'॥ च० सू० अ० १८।२७। यह वही कर्णमूलशोथ है, जो सन्निपातज्वर के अन्त में होता है। ऐलोपैथिक सिद्धान्त के अनुसार टाइफाइड ज्वर में प्रतिदिन मुख को साफ रखने की सलाह दी जाती है, नहीं तो पैरोटिड ग्रन्थि (Parotid gland) जो कर्णमूल में स्थित रहती है, उसमें शोथ हो जाता है। यह निश्चितरूप से सन्निपातज कर्णमूलशोथ ही है।

व्रणशोथ—'व्रणाय शोथः' जो शोथ पकने के बाद घाव के रूप में परिणत हो जाता है, उसे व्रणशोथ कहते हैं, जो सान्निपातिक होता है। देखें—'वाताहृते नास्ति रुजा न पाकः, पित्ताहृते नास्ति कफाच्च पूयः। तस्माद् व्रणानां परिपाककाले पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः'॥ सु० सू० अ० १७।७।

रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ॥ २८८ ॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः ।

कर्णमूलशोथ-चिकित्सा—कर्णमूलशोथ हो जाने पर रक्तावसेचन (रक्त निकालना), घृतपान, कफ तथा पित्तनाशक प्रदेह (लेप), नावन (नस्य) और कवलग्रह द्वारा उसे जीतना (शान्त करना) चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने सूत्रस्थान के जलौकावचारणीय नामक १३ वें अध्याय में रक्तावसेचन की यह विधि दी है—'तत्र वातपित्तकफदुष्टशोणितं यथासङ्ख्यं शृङ्गजलौकालाबुभिरवसेचयेद् विशेषन्तु विस्राव्यं सर्वाणि सर्वैर्वा॥ सु० सू० अ० १३।४। महर्षि अग्निवेश ने 'भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्। पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः'॥ च० चि० अ० २१।६९। यहाँ दोनों तन्त्रकार एकमत हैं, किन्तु टीकाकारों ने जो केवल जलौका-पातन द्वारा रक्तावसेचन कराने की बात कही है, वह सुश्रुत का विकल्प पक्ष है। यहाँ कफ तथा पित्तदोष-नाशक प्रदेहों की चर्चा है। अतः तदनुसार जलौका तथा तुम्बी के प्रयोग से क्रमशः कफदुष्ट और पित्तदुष्ट रक्त का निर्हरण कराना युक्ति-युक्त है। इसमें कफ-पित्तनाशक औषधों द्वारा सिद्ध घृत का पान भी कराना चाहिए, उन्हीं द्रव्यों का प्रदेह भी लगाना चाहिए। कफनाशक नस्य—कट्फल चूर्ण आदि, पित्तनाशन के लिये घृत-तैल की नस्य दें। कफपित्तनाशक कवलग्रहों से मुखशुद्धि होनी है। इसी को आधुनिक चिकित्सक Mouth hygine कहते हैं।

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ॥ २८९ ॥
शाखानुसारी [1]रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ।

ज्वर में रक्तमोक्षण—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि चिकित्साओं द्वारा जिन रोगों का ज्वर शान्त नहीं होता, वह ज्वर शाखानुसारी (शाखाओं=रक्तादि धातुओं में घुस जाता) है, [illegible] चाहिए। उस ज्वर को रक्तावसेचन चिकित्सा से शान्त करना चाहिए।

वक्तव्य—'रूक्ष आदि' यहाँ आदि शब्द से 'तीक्ष्ण, मृदु' आदि गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिए। शाखानुसारी—यहाँ 'शाखानुसारी' शब्द से रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा का ग्रहण किया गया है। अन्यत्र हाथ-पैर आदि को भी शाखा कहा है। इसके पहले भी तन्त्रकार ने संकेत किया है—'शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर-

१. '[illegible]' इति योगीन्द्रनाथसेनसम्मतः पाठः।

पक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक् साध्या न सिद्ध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत्' च० सू० अ० २४।१७। जहाँ शाखागत रोग हों वहाँ हाथ या पैर में शिरावेध करके रक्तावसेचन कराना चाहिए।

विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः ॥ २९० ॥
तत्रादौ सर्पिषः पानं कफपित्तोत्तरो न चेत् ।

ज्वर में घृतपान—जो ज्वर विसर्प रोग के कारण, अभिघात (चोट आदि लगने) के कारण और विस्फोट (फोड़ा-फुन्सी उत्पन्न होने) के कारण उत्पन्न हुआ हो, उस ज्वर में यदि पित्त और कफ की प्रधानता न हो तो सर्वप्रथम घृतपान कराना चाहिए।

वक्तव्य—यह विसर्प कुष्ठनिदान में कहे गये विसर्प से भिन्न है। इसमें कुष्ठ के पूर्वरूप नहीं होते। यह सहसा उत्पन्न होता है और उचित चिकित्सा करने पर शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है। एक विलक्षण वर्णन चरक में आया है—'यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः'। च० चि० अ० १२।९१। ये फफोले जनेऊ की भाँति शरीर पर उत्पन्न होते हैं।

दौर्बल्याद् देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ॥ २९१ ॥
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत् ।

जीर्णज्वर की सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा-सूत्र—देह तथा धातुओं (रस, रक्त आदि) की दुर्बलता के कारण ज्वर की पुनरावृत्ति होते रहने से वही ज्वर जीर्णज्वर हो जाता है। अतः बलवर्धक और शरीर पुष्टिकारक आहारों (अन्न-पानों) से उसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—'देहधातूनां दौर्बल्यात्', देहस्थित धातुओं की दुर्बलता से अथवा देह तथा धातुओं की दुर्बलता से—यहाँ दोनों अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य हैं, किन्तु चिकित्सा की दृष्टि से देह और रसादि धातु, इन दोनों को अलग-अलग मानना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि रसादि धातुओं में दुर्बलता आने पर ही शरीर में दुर्बलता आती है। अतः देह को बलवर्धक और धातुओं को बृंहणकारक आहारों से पुष्ट करना चाहिए।

कर्म साधारणं [1]जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ ॥ २९२ ॥
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ।

विषमज्वर का चिकित्सा-सूत्र—तृतीयक और चतुर्थक ज्वरों को साधारण कर्म (दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय) नष्ट कर देते हैं। विषमज्वर में प्रायः आगन्तुज अनुबन्ध होता है।

वक्तव्य—यहाँ साधारण कर्म से दैवव्यपाश्रय (मणि, मुक्ता आदि का धारण तथा पूजा, मंगल, बलि, उपहार, मनौती आदि को मानना) और युक्तिव्यपाश्रय (विभिन्न पद्धतियों) द्वारा रोगी की चिकित्सा करना अभिप्रेत है। तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को ही प्रधानरूप से विषमज्वर माना गया है। इसलिए इनकी चिकित्सा साधारण विधि (क्वाथ, चूर्ण, आसव, अरिष्ट आदि) से करनी चाहिए। कुछ विद्वान् इसमें जीवाणुनाशक चिकित्सा की भी सम्मति देते हैं।

वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः ॥ २९३ ॥
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद् विषमज्वरम् ।

वातप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा—वातप्रधान विषमज्वर (तृतीयक, चतुर्थक) में औषध-सिद्ध उष्ण घी का पान करे; स्निग्ध, उष्ण अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करे तथा स्निग्ध एवं उष्ण अनुपानों द्वारा उसकी शान्ति करनी चाहिए।

विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च ॥ २९४ ॥
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत् ।

१. 'कुर्यात् तृतीयकचतुर्थके इति पा०।

पित्तप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा—पित्तप्रधान (तृतीयक या चतुर्थक) ज्वर हो तो विरेचन द्वारा, पित्तनाशक औषधद्रव्यों से संस्कारित दूध, घी तथा तिक्त एवं शीत द्रव्यों द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम् ॥ २९५ ॥
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे।

कफप्रधान विषमज्वर की चिकित्सा—कफप्रधान विषमज्वर (तृतीयक, चतुर्थक) में वमन, पाचन, रूक्ष (स्निग्धता रहित) अन्नपान, लंघन, कषायपान तथा उष्णस्पर्श एवं उष्णवीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग लाभदायक होता है।

वक्तव्य—श्लोक संख्या २९२ से यहाँ तक विषमज्वर शब्द से तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर का ग्रहण करना तन्त्रकार की इष्टि है।

योगाः [1]पराः प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः ॥ २९६ ॥
प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्य ते।

विषमज्वर-नाशक योग—अब उपर्युक्त योगों के अतिरिक्त कुछ अन्य विषमज्वरनाशक योग यहाँ कहे जायेंगे। बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह दोषों के अनुसार उनका विभाग कर प्रयोग करे। वे योग आगे कहे गये हैं।

सुरा समण्डा पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधः ॥ २९७ ॥
तित्तिरिश्च मयूरश्च प्रयोज्या विषमज्वरे।

विषमज्वर में सुरा आदि का प्रयोग—पीने के लिए मण्ड के साथ मदिरा को दें और खाने के लिए मुर्गा, तीतर, मोर का मांस दें।

वक्तव्य—मण्ड तथा मांस-निर्माण-विधि का वर्णन इसी अध्याय में किया गया है। ध्यान रहे, यह सब रोगी को देने के लिए बनाना है। अतः आयुर्वेदोक्त निर्माण-विधि पर पूरा ध्यान दें।

पिबेद् वा षट्पलं सर्पिरभयां वा प्रयोजयेत् ॥ २९८ ॥
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा।

विषमज्वर में पेय पदार्थ—अथवा षट्पल घी का पान करे, अभया (हरीतकी) या त्रिफला का क्वाथ अथवा गिलोय का रस (स्वरस) पीने को दें।

वक्तव्य—क्षीरषट्पलघृत का निर्माण-विधान और उसकी फलश्रुति के लिए देखें—च० चि० अ० ५। १४७-१४८। ये सभी योग ज्वर तथा विषमज्वर-नाशक हैं।

नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ॥ २९९ ॥
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या स्नेहस्वेदोपपादितः।

विषमज्वर में विशेष योग—रोगी का पहले स्नेहन तथा स्वेदन करा लें तदनन्तर ज्वर के आ जाने पर युक्तिपूर्वक नीली मूल, अजमोदा, सफेद निशोथ, कटुरोहिणी (कुटकी) का क्वाथ रोगी को पीने के लिए दें।

वक्तव्य—यह क्वाथ विरेचक होता है। दोष-निर्हरण का यह अच्छा प्रयोग है।

सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत् पुनः ॥ ३०० ॥
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत्।

विषमज्वर में वमन-प्रयोग—अथवा पर्याप्त मात्रा में रोगी को षट्पलघृत का पान कराकर रोगी को वमन कराना चाहिए, अथवा पर्याप्त अन्न-पान कराने के बाद तब वमन करायें।

१. 'परम्' इति पा०।

वक्तव्य—यहाँ भी रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद उपर्युक्त प्रकार से वमन कराना चाहिए। **'प्रभूतम् अन्नपानम्'**—वमनाधिकार में कहे गये अन्न-पानों का सेवन करायें। सामान्य रूप से पतली खिचड़ी में घी मिलाकर खिलायें या पिलायें। तदनन्तर वमन करायें। **उल्लिखेत्**—इसका तात्पर्य है—इस प्रकार का वमन आमाशय के ऊपरी भाग में स्थित कफ को खुरचकर निकाल देता है।

सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे ॥ ३०१ ॥
आस्थापनं यापनं वा कारयेद् विषमज्वरे।

ज्वरवेगकालिक कर्तव्य—अथवा विषमज्वर या सामान्य ज्वर के वेग के समय अन्न (पतली खिचड़ी या यवागू) के साथ पर्याप्त मात्रा में मद्यपान करके शयन करे, अथवा ज्वर के आते ही आस्थापन या यापन-वस्ति का प्रयोग करायें।

वक्तव्य—यापनवस्तियों का उल्लेख चरक-सिद्धिस्थान अ० १२।१६ में विस्तारपूर्वक किया गया है। ये वस्तियाँ अनेक सिद्धियों को देने वाली हैं। यहाँ 'ज्वरागमे' का तात्पर्य है—ज्वर आने के समय से कुछ पूर्व उक्त वस्ति आदि का प्रयोग करना चाहिए।

पयसा वृषदंशस्य [1]शकृद् वा तदहः पिबेत् ॥ ३०२ ॥
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया [2]वा ससैन्धवम्।

विषमज्वर-नाशक योग—अथवा जिस दिन विषमज्वर आने वाला हो, उसी दिन (ज्वर आने के पहले) बिलार का मल दूध के साथ सेवन करे, अथवा दधिमंड (दही के पानी) के साथ या उत्तम मद्य के साथ बैल का गोबर और सैंधानमक का सेवन करें।

वक्तव्य—इन योगों में डाले गये द्रव्यों की सूचना रोगी को नहीं देनी चाहिए, नहीं तो अरुचि के कारण तत्काल वमन हो जायेगा।

पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः ॥ ३०३ ॥
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे।

अन्य योग—विषमज्वर में पिप्पली, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दही, मट्ठा, घी, पञ्चगव्य (दूध, दही, घी, मधु, चीनी) तथा दूध का प्रयोग करना लाभदायक होता है।

रसोनस्य सतैलस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम् ॥ ३०४ ॥
मेद्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणां च भक्षणम्।

विषमज्वर में आहार—भोजन करने के पहले तिल का तेल और लहसुन का (तिल-तैल में लहसुन को पीसकर मिला लें) सेवन करायें। मेद्य (मेदा को बढ़ाने वाले) तथा उष्णवीर्य वाले मांसों को खाने के लिए दें। इनसे विषमज्वर की शान्ति होती है।

वक्तव्य—तिल-तैल मिश्रित रसोनकल्क (चटनी) का प्रयोग श्वास रोग तथा विषमज्वर में लाभदायक होने के कारण सुप्रसिद्ध है।

हिङ्गुतुल्या तु वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा ॥ ३०५ ॥
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत् ससैन्धवा।

विषमज्वर में नस्य—बाघ की चर्बी, सैंधानमक (बारीक पीसा हुआ), हींग—इन तीनों द्रव्यों को समान भाग में लेकर मिला लें और इसकी नस्य लें। उसी प्रकार पुराना घी, सिंह की वसा (चर्बी), सैंधानमक—इन सबको समभाग लेकर मिला लें। इसकी नस्य लेने से विषमज्वर की शान्ति हो जाती है।

१. 'शकृद्वेगागमे' इति पा०।
२. 'वाऽथ सैन्धवम्' इति पा०।

वक्तव्य—नस्य स्निग्ध तथा रूक्ष भेद से दो प्रकार की होती है। इसमें दोनों प्रकार के द्रव्यों का मिश्रण है। नस्य ऊर्ध्वजत्रु-विकारों में लाभदायक होती है। यहाँ इस नस्य का प्रयोग ज्वर या विषमज्वर आने के पहले करना चाहिए।

सैन्धवं पिप्पलीनां च तण्डुलाः समनःशिलाः ॥ ३०६ ॥
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे ।

विषमज्वर में अंजन—सैंधानमक, पीपल के चावल (पीपल को कूटने पर भीतर से दाने-से निकलते हैं, उन्हें पिप्पलीतण्डुल कहते हैं), शुद्ध मैनसिल—इन सबको समभाग लेकर तिल के तेल में पीसकर रख लें। विषमज्वर के प्रारम्भ होने के पहले आँखों में इसका अंजन करें।

वक्तव्य—अंजन बनाने वाले सभी द्रव्य सूखे हैं। इनको सूखा ही पीसकर कपड़छन कर लें, तब तिल-तैल में मिलायें, यह अंजन-निर्माण की आसान विधि है।

पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी ॥ ३०७ ॥
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम् ।

विषमज्वर में धूपन—गुग्गुलु, नीम के पत्ते, घोड़वच, कड़ुआ कूठ, हरीतकी, पीली सरसों, जौ, गाय का घी—इन सबको कूट-पीसकर घी में मिला लें। इसकी धूप देने से विषमज्वर का नाश होता है।

वक्तव्य—यह सुप्रसिद्ध धूप सभी प्रकार के ज्वरों में लाभदायक है। इससे ज्वर-रोगी को पसीना आता है, मच्छर भाग जाते हैं। जो वहाँ रह जाते हैं, वे मर जाते हैं। ग्रह-बाधा दूर होती है। अतः ज्वर की शान्ति के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए।

ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत् ॥ ३०८ ॥
मनोविकारे निर्दिष्टं कार्यं तद् विषमज्वरे ।

अन्य चिकित्सा-सूत्र—मनोविकार में जो धूप, धूपन, नस्य और अंजन कहे गये हैं, उन सभी का प्रयोग विषमज्वर में करना चाहिए।

वक्तव्य—मनोविकार उन्माद रोग को कहते हैं। उन्माद रोग में मन विकृत हो जाता है या मन की स्थिति विकारयुक्त हो जाती है। अतः तन्त्रकार ने उक्त अधिकारोक्त धूम आदि के सेवन करने की भी अनुमति यहाँ दी है। देखें—च० चि० अ० ९ श्लोक ६३ से ७५ तक।

मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ॥ ३०९ ॥
धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।

१. विषमज्वर में दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—धारणीय मणियों, औषधियों, मांगलिक द्रव्यों, विष तथा अगदों का सेवन (धारण) करने से विषमज्वर का आक्रमण नहीं होता। अतः ज्वरकाल में ज्वर के पूर्व भी इनका प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—धारणीय-मणियों के प्रभाव अचिन्त्य कहे गये हैं। ये ग्रहों के अनुसार तथा रोगों के अनुसार धारण किये जाते हैं। हीरा, नीलम, पुखराज आदि के अतिरिक्त जिन मणियों का उल्लेख वैदिककाल में आया है, वे काष्ठौषधियाँ हैं; प्रभावविशेष के कारण उन्हें मणि कहा गया है। **माङ्गलिक द्रव्य**—नारियल, सुपारी, दूर्वा, दही आदि। **विष**—यह स्थावर-जंगम-भेद से दो प्रकार का होता है। कभी इसके प्रयोग से और कभी इसकी गन्ध से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। **अगद**—विषनाशक औषधियों को 'अगद' कहते हैं। इसकी विशेष जानकारी अगदतन्त्र से प्राप्त करें।

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ॥ ३१० ॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।

२. दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—पार्वती, नन्दी आदि अनुचरों, ब्राह्मी आदि आठ मातृका-समूह के साथ महादेव भगवान् शंकर की नियमपूर्वक पूजा करता हुआ विषमज्वर का रोगी शीघ्र ही रोग-मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—सोमं—'उमया सहितः=सोमः तम्', अर्थात् पार्वती सहित शिव। **सानुचरम्**—'नन्दीभृङ्गी-रिटिस्तुण्डी नन्दिको नन्दिकेश्वरः।' अमरकोष। ये सब शिव के अनुचर हैं। **मातृगण**—काम, क्रोध आदि आठ विकारों की अधिष्ठात्री देवियाँ—१. काम की योगेश्वरी, २. क्रोध की माहेश्वरी, ३. लोभ की वैष्णवी, ४. मद की ब्रह्माणी, ५. मोह की कौमारी, ६. मात्सर्य की ऐन्द्राणी, ७. पैशुन्य की दण्डधारिणी, ८. असूया की वाराही, (भाग० ६।६।४२)। अन्यत्र इनका क्रम यह है—१. ब्राह्मी, २. माहेश्वरी, ३. ऐन्द्री, ४. वाराही, ५. वैष्णवी, ६. कौमारी, ७. चामुण्डा, ८. चर्चिका।

विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ॥ ३११ ॥
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ।

३. दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—हजार शिर वाले, चर-अचर के स्वामी, सर्वत्र व्यापक भगवान् विष्णु की उन्हीं के सहस्रनाम (विष्णुसहस्रनामस्तोत्र) का पाठ करने से सब प्रकार के ज्वरों से रोगी मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—परवर्ती चिकित्सा-ग्रन्थों में इस प्रकार दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा पर ग्रन्थकारों ने श्रद्धा व्यक्त की है। सचमुच दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा के क्षेत्र से धार्मिक समाज की यह धारणा है—'औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः'। सूक्ति।

ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ॥ ३१२ ॥
गङ्गां [1]मरुद्गणांश्चेष्ट्वा पूजयञ्जयति ज्वरान् ।

४. दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, देवराज इन्द्र, हुतभक्ष (अग्नि), हिमालय पर्वत, गंगा, मरुद्गण (अन्य देवता समूह) यज्ञ द्वारा इनका पूजन करने से (पाठभेद के अनुसार—अपने-अपने इष्ट देवता की, यह अर्थ होगा) रोगी ज्वरों को जीत लेता है, अर्थात् ज्वरमुक्त हो जाता है।

भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च ॥ ३१३ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च । जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ॥३१४॥
ज्वराद् विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ।

५. दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—माता-पिता तथा गुरुजनों की भक्तिपूर्वक पूजा (सेवा) करने से, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से, तपस्या करने से, सत्यभाषण करने से, नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर=इष्टदेव की पूजा करने) से, जप, होम, दान, वेदों का श्रवण करने तथा साधुओं के दर्शनों से रोगी शीघ्र ही ज्वरमुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—श्लोक ३०९ से यहाँ तक दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार की चिकित्सा का रोगों पर आश्चर्यजनक प्रभाव देखा जाता है। मानसिक रोगों पर भी इसका प्रभाव देखा गया है, किन्तु मनोविकारों की चिकित्सा को 'सत्त्वावजय-चिकित्सा' कहते हैं। दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा विधि के उपायों की ओर जब हम ध्यान देते हैं, तो हमें उसमें संसूचन नामक मनःचिकित्सा (Suggestion of psychotherapy) की झलक दिखलायी देती है। यह चिकित्सा अपने आश्चर्यजनक प्रभाव के कारण कभी-कभी नास्तिक को भी आस्तिक बना देती है। यह तो देखा गया है कि जहाँ अन्य दवाइयाँ असफल हो जाती हैं, वहाँ यह अपना विशिष्ट प्रभाव दिखलाती ही है। यह चिकित्सा भारतीयों की धरोहर है।

ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत् ॥ ३१५ ॥
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा संशमनानि च । विरेचनं सोपवासं मांसमेदःस्थिते हितम् ॥३१६॥
अस्थिमज्जगते देया निरूहाः सानुवासनाः ।

धातुगत ज्वरों की चिकित्सा—१. रसधातुगत ज्वर में वमन तथा उपवास (लंघन) कराना चाहिए। २. रक्तधातुगत ज्वर में परिषेक (विशेष औषधद्रव्यों द्वारा निर्मित कषायों से स्नान), उन्हीं औषधद्रव्यों को

१. 'मरुद्गणांश्चेष्टान्' इति पा०।

पीसकर प्रदेह (लेप) तथा संशमन (ज्वर को पचाने की क्षमता रखने वाली) औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। ३-४. मांसधातु तथा मेदोधातु में स्थित ज्वर में विरेचन और उपवास कराना हितकर होता है। ५-६. अस्थिधातु तथा मज्जधातुगत ज्वर में निरूहवस्ति एवं अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वस्ति-चिकित्सा की विशेष विधि चरक-सिद्धिस्थान में देखें। उपवास प्रायः सभी स्थिति में हितकर है। यह चिकित्सास्थान है, साध्य रोगों की ही चिकित्सा यहाँ कही गयी है। शुक्रधातुगत ज्वर अपने में एक अरिष्ट लक्षण है। देखें—च० चि० अ० ३।८२। ऐसा लगता है कि इसी दृष्टि से तन्त्रकार ने छः धातुओं की चिकित्सा लिखकर इसकी उपेक्षा कर दी, क्योंकि और कोई कारण समझ में नहीं आता।

शापाभिचाराद्भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः ॥ ३१७ ॥
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते। अभिघातज्वरो [1]नश्येत् पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ॥३१८॥
रक्तावसेकैर्मद्यैश्च[2] सात्म्यैर्मांसरसौदनैः। सानाहो मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः ॥३१९॥
क्षतानां व्रणितानां च क्षतव्रणचिकित्सया। आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ॥३२०॥
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः। काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ॥३२१॥
सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः। कामात् क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात् कामसमुद्भवः ॥
याति ताभ्यामुभाभ्यां च भयशोकसमुत्थितः।

आगन्तुज ज्वरों की चिकित्सा—शाप, अभिचार (कृत्याकर्म–मारण, मोहन आदि) से, भूत-प्रेत आदि के प्रकोप या लग जाने से जो ज्वर उत्पन्न होता है, उसमें सभी प्रकार की दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा हितकर होती है, (जिसका ऊपर ३०९ से ३१४ तक के श्लोकों द्वारा वर्णन किया गया है)। अभिघातज ज्वर में औषधद्रव्यों द्वारा सिद्ध घी को पिलाने तथा उसी का अभ्यंग कराने से लाभ होता है और रक्तावसेचन (जौंक आदि रक्तस्रावण विधियों से या शिरावेध द्वारा खून निकालने) से, सात्म्य (जो जिसको अनुकूल हो) मद्यों के पान से, मांसरस के साथ भात खाने से, सानाह (अफारायुक्त) अभिघातज ज्वर शान्त हो जाता है। अर्थात् किसी-किसी अभिघातज ज्वर में अफारा हो जाता है, उसमें मांसरस के साथ भात खिलाने तथा अनुकूल मद्य पिलाने से ज्वर सहित अफारा शान्त हो जाता है। क्षतज तथा व्रणजनित ज्वर में क्षत तथा व्रण अधिकार में कही गयी चिकित्सा करने से उक्त ज्वर की शान्ति हो जाती है। कामज, शोकज तथा भयज ज्वरों में विश्वस्त पुरुषों द्वारा आश्वासन (तुम्हारे इस कष्ट को हम दूर कर देंगे—इस प्रकार के वाक्यों को सुनने) से, इष्ट-लाभ (अनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति) से, वातनाशक औषधद्रव्यों के प्रयोग से और मन को प्रसन्न करने वाले विषयों से लाभ होता है। मनो-नुकूल प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति से, पित्तनाशक चिकित्सा से, मनोहर वचनों को सुनने से क्रोधज ज्वर शान्त हो जाता है। कामजनित प्रवृत्ति से क्रोधज्वर और क्रोध के उत्पन्न हो जाने से सहसा कामज्वर शान्त हो जाता है और भय तथा शोक से उत्पन्न ज्वर काम एवं क्रोध के उत्पन्न होने से शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—काम, शोक, भय, क्रोधजनित ज्वरों की ऊपर जो चिकित्सा कही गयी है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। अन्य आगन्तुक ज्वरों की चिकित्सा सुगम है। चिकित्सा-योगों पर ध्यान देने पर आप आश्वस्त हो जायेंगे, कि इनसे अवश्य लाभ हो ही जायेगा।

ज्वरस्य वेगं कालं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः ॥ ३२३ ॥
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत् स्मृतिम्।

ज्वर की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा—जो विषमज्वर का रोगी ज्वरवेग-काल का बार-बार स्मरण करता है और इसी के स्मरण से उसे ज्वर हो जाता है, उसे उसकी प्रिय वस्तुओं और मनोनुकूल विविध विषयों को देखने-दिखाने, सुनने-सुनाने आदि द्वारा ज्वरवेग की बात को भुला देना चाहिए, ऐसा करने से उस दिन उसे ज्वर नहीं आयेगा। अर्थात् यदि उसका मन ज्वरवेग की चर्चा को भूलकर दूसरी ओर लगा रहेगा तो निश्चय ही उसका वह नियत काल अपने आप टल जायेगा।

---

१. 'न स्यात्' इति पा०।

२. 'मेद्यैश्च' इति पा०।

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते। श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः ॥३२४॥
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव [1]वीक्ष्यते ॥३२५॥
सदोषशब्दं च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत्। लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः ॥३२६॥

ज्वर-मुक्त होते समय के लक्षण—जब रोगी को ज्वर छोड़ने लगता है, तब रोगी पुरुष कबूतर के जैसा शब्द करता हुआ वमन करता है, अनेक प्रकार की अनुकूल चेष्टाएँ करता है, उसकी श्वास की गति बढ़ जाती है और वह लम्बी-लम्बी साँसे लेता रहता है, उसका चेहरा फीका पड़ जाता है, शरीर में पसीना आने लगता है, काँपता है, बार-बार मूर्च्छित हो जाता है, प्रलाप करता (अंट-संट बकता) है, सम्पूर्ण शरीर गरम हो जाता है, अथवा ज्वर उतर जाने से शरीर शीतल हो जाता है, कभी ज्वर के तीव्र वेग के कारण वह बेहोश हो जाता है, कभी वह क्रोध युक्त या चिडचिड़े स्वभाव का जैसा दिखलायी देता है, रोगी की अपानवायु कफ-दोष से युक्त हो जाती है और उसके साथ पतला मल वेग के साथ निकलता है। विद्वान् चिकित्सक जब उपर्युक्त लक्षणों को देखे, तो समझ जाये कि अब रोगी को ज्वर छोड़ देगा, अर्थात् वह नीरोग हो जायेगा।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये अनेक लक्षण कभी-कभी उपद्रव के रूप में भी दिखलायी देते हैं, अतएव तन्त्रकार ने 'विचक्षणः जानीयात्', कहा है। अष्टांगहृदय नि० अ० २ श्लोक ७६-७८ को इस प्रसंग में अवश्य देख लें। इन्होंने सर्वथा अग्निवेश का ही अनुकरण किया है।

आचार्य चक्रपाणि का मन्तव्य है, कि ये लक्षण केवल सन्निपातज्वर के मोक्षकाल में ही देखे जाते हैं, अन्यत्र नहीं। हमारे विचार से इनका यह मान लेना एकान्ततः स्वीकार करने योग्य नहीं है। जैसे सामुद्रिक शास्त्र ने पुरुष के बत्तीस लक्षणों का उल्लेख किया है, किन्तु वे सब में नहीं दिखलायी देते, कुछ किसी में और कुछ किसी में होते हैं। ठीक इसी प्रकार रोग आदि के लक्षणों की भी यही स्थिति है। अतः आप चिकित्सा-काल में स्वयं भी देखें, सोचें तथा विचार करें।

बहुदोषस्य [2]बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। [3]सत्क्रियादोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम् ॥

ज्वर की दारुणमोक्ष स्थिति—जिस पुरुष के वातादि अनेक दोष दूषित हुए हों, अतएव नया ज्वर बलवान् हुआ हो, उत्तम चिकित्सा द्वारा दोषों के पच जाने से प्रायः जब वह एकाएक रोगी को छोड़ देता है, तो उसे दारुणमोक्ष कहते हैं।

वक्तव्य—वास्तव में यह चिकित्सा-क्रम तथा ज्वर-मुक्ति का क्रम असामान्य है, अतएव इसे 'दारुणमोक्ष' की संज्ञा दी गयी है। पाठभेद के अनुसार अर्थ में कुछ अन्तर आ जाता है। 'बलवान्' पाठ 'ज्वर' का विशेषण है और 'बलिनः' पाठ 'बहुदोषस्य' का विशेषण होगा। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने यहाँ 'सुदारुणम्' के स्थान पर 'सदारुणम्' ऐसा पाठ स्वीकार किया है।

ऊपर ३२४ से ३२६ श्लोकों तक ज्वरमुक्ति के समय के जो लक्षण कहे गये हैं, उनके अतिरिक्त एक परिस्थिति यह भी है—जिस प्रकार दीपक की लौ बुझने के पहले एक बार फिर तेज हो जाती है, ठीक उसी प्रकार दोष शान्त होते समय कभी पुनः उग्र रूप धारण कर पुनः शान्त हो जाते हैं।

कृत्वा दोषवशाद् वेगं क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम् ॥३२८॥

ज्वर की अदारुणमोक्ष स्थिति—जो ज्वर दोषों के अनुसार अपने वेग को प्रकट करके, अर्थात् जिस प्रकार के ज्वर का जितना समय पहले कहा गया है, उतने समय में चढ़ाव-उतार कर क्रमशः शान्त हो जाते हैं, उन चिरकारी (अपना समय पूरा कर उबरने वाले) ज्वरों का मोक्ष (समापन) दारुण नहीं होता है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि सन्निपातज्वर में ही ये लक्षण होते हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं—'एतानि च लक्षणानि सन्निपातज्वरे एव भवन्तीति ज्ञेयं, नान्यत्र, अदर्शनादेव'। ऐसा लगता है कि ये भालुकितन्त्र के निम्न उद्धरण से प्रभावित रहे हैं—'त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे। लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेद-

---

१. 'वीक्षते' इति पा०।

२. 'बलिनः' इति पा०।

३. 'स क्रियादोषपक्त्या' इति पा०।

दर्शनम्' ॥ भा० तं० । हमारे विचार से किसी भी ज्वर का सहसा उतर जाना 'दारुणमोक्ष' है और अपनी अवधि पर ज्वर का उतरना 'अदारुणमोक्ष' है । चिकित्सा तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से ज्वर का 'अदारुणमोक्ष' ही उत्तम है ।

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम् । युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥३२९॥

ज्वर-रहित पुरुष के लक्षण—क्लम (बिना परिश्रम किये थकावट का अनुभव होना) तथा सन्ताप (ज्वर सम्बन्धी ऊष्मा) से रहित, निर्मल इन्द्रियों वाले, स्वाभाविक मानसिक स्थिति वाले पुरुष को ज्वरमुक्त समझना चाहिए ।

वक्तव्य—अन्यत्र ज्वरमुक्त रोगी के लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'लघुत्वं शिरसः स्वेदो मुखमापाण्डु पाकि च । क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥ सु० उ० तं० ३९।३२२ । आचार्य माधवकर ने सुश्रुत के नाम से यहाँ दूसरा पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—'स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च । क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥ उक्त पाठों में एक लक्षण का अन्तर है । प्रथम पाठ में मुख का पीला होना और दूसरे पाठ में कण्डू लक्षण परस्पर भिन्न हैं । महर्षि वाग्भट ने कुछ विशेषता के साथ ज्वरमुक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—'देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः, पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् । स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि' ॥ अ० हृ० नि० अ० २।७९ ।

सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च । असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्जयेत् ॥
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च । तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च ॥

ज्वर तथा ज्वरमुक्त होने पर अपथ्य—ज्वरयुक्त अवस्था में अथवा ज्वरमुक्त अवस्था में विदाहकारक, गुरु (मात्रा तथा आहार में गुरु), असात्म्य (रोग तथा रोगी की प्रकृति के विरुद्ध) तथा द्रव्यों के स्वभाव से विरुद्ध अन्न-पान (खाने-पीने) का त्याग कर देना चाहिए । इस स्थिति में व्यवाय (मैथुन), अतिचेष्टा (अधिक मात्रा में इधर-उधर घूमना), अधिक स्नान, भोजन—इन सभी को छोड़ दें । ऐसा करने से ज्वर शान्त हो गया हो तो इन सावधानियों से पुनः ज्वर नहीं आता है ।

वक्तव्य—'अत्यशनानि' इसका कुछ टीकाकारों ने 'अध्यशन' अर्थ किया है । दोनों शब्द अलग-अलग अर्थ के सूचक हैं । ध्यान दें—एक का अर्थ है—अति अशन (अधिक भोजन करना) और दूसरे का अर्थ है—भोजन करने के तुरन्त बाद उसी के ऊपर और भोजन का भार लाद देना । अन्यत्र भी ज्वर रोगी को पथ्य सेवन का आदेश इसलिए दिया गया है, कि वह शीघ्र ज्वरमुक्त हो जाये और ज्वरमुक्त को पथ्य-सेवन इसलिए करना है कि ज्वर का पुनरावर्तन न हो सके ।

यदि वह पथ्य भोजन निरन्तर खाने के कारण अरुचिकर लगने लगे तो उसे निर्माण-विधियों की विविधता से नया रूप, नया स्वाद देकर सेवन कराना चाहिए ।

व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च । ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ॥

ज्वरमुक्ति के बाद कर्तव्य—ज्वरमुक्त हो जाने के बाद जब तक मनुष्य बलवान् (स्वाभाविक शक्ति सम्पन्न) नहीं हो जाता तब तक उसे किसी प्रकार का (शारीरिक या मानसिक) व्यायाम, व्यवाय (स्त्री-सहवास—यह भी एक प्रकार का व्यायाम ही है), स्नान, चंक्रमण (इधर-उधर अधिक घूमना)—इनका सेवन न करे ।

वक्तव्य—जिस प्रकार ज्वरकाल में पथ्य-सेवन का विधान है, उसी प्रकार ज्वरमुक्ति के बाद भी पथ्य-अपथ्य का विचार अवश्य करना चाहिए । पथ्य शब्द का प्रयोग न केवल चिकित्साकाल में होता है, अपितु जीवन के प्रत्येक अवसर पर पथ्य (हितकर विषय), अपथ्य (अहितकर विषय) का विचार करना ही चाहिए । इस विषय पर महर्षि वाग्भट के विचार देखें—'त्यजेदाबललाभाच्च व्यायामस्नानमैथुनम् । गुर्वसात्म्यविदाह्यन्नं यच्चान्यज्ज्वरकारणम्' । अ० हृ० चि० अ० १।१७२ ।

असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते । वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः ॥३३३॥

दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते । स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः ॥३३४॥

पुनरावर्तक ज्वर के कारण—जो तत्काल ज्वर से मुक्त हुआ हो वह पुरुष यदि बलवान् होने से पहले ही उक्त वर्जनीय अपथ्यों का सेवन कर लेता है, तो उस व्यक्ति को पुनः लौटकर ज्वर आ जाता है । अथवा जिस रोगी के वातादि दोषों का भली-भाँति निर्हरण न किया गया हो, अर्थात् जिसके दोष न निकल पाये हों या कुछ शरीर में शेष रह गये हों, फिर भी जिसका ज्वर शान्त हो गया हो, वह यदि थोड़ा भी अपचार (अपथ्य सेवन) करता है, तो उसका ज्वर पुनः लौट आता है ।

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनतेजसम्[1] । अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः ॥३३५॥

पुनरावर्तक ज्वर के अन्य कारण—उक्त प्रकार के अपथ्य-सेवन आदि अपचार से वह पुनः आया हुआ ज्वर अधिक दिनों से पीड़ित, कृशित, दुर्बल (कमजोर), जिसका तेज क्षीण हो चुका है या दीन मन वाले उस पुरुष को शीघ्र ही मार डालता है ।

[2]अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः । यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते ॥३३६॥
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम् । कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम् ॥

पुनरावर्तक ज्वर के अन्य कारण—अथवा दोषों का भली-भाँति संशोधन होने के पहले ही ज्वर-मुक्ति हो जाती है और वे अवशिष्ट दोष रसादि धातुओं में धीरे-धीरे पकते रहते हैं, तो वे भले ही ज्वर को उत्पन्न न करें, परन्तु फिर भी वे अनेक प्रकार का अहित करते रहते हैं । यथा—दीनता, सूजन, ग्लानि (प्रसन्नता का अभाव), पाण्डुता (चेहरे, आँखों, मल, मूत्र आदि में पीलापन), अन्न (भोजन) के प्रति अरुचि, खुजली, कोठ (चकत्ते), छोटी-छोटी फुन्सियाँ और मन्दाग्नि को पैदा कर देते हैं ।

वक्तव्य—उन अवशिष्ट दोषों के अपकार ये ही हैं । अतः चिकित्सक को उनका विधिवत् निर्हरण करना चाहिए ।

एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः । अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम् ॥३३८॥
निर्वृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद्यथावस्थं यथाबलम् । यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत् ॥३३९॥

अन्य रोगों में भी पुनरावर्तकता—इसी प्रकार अन्य रोग भी भली-भाँति दोषसंशमन होने के पहले यदि उत्तम औषधयोगों से शान्त हो जाते हैं, तो वे थोड़े से ही अहितकर पदार्थों के सेवन करने से मनुष्यों के शरीर में पुनः लौट आते हैं । अतः ज्वर आदि रोगों के निवृत्त (शान्त) हो जाने पर भी अवस्था, बल (शारीरिक) और प्राण (मानसिक बल) को ध्यान में रखकर उसके कुपित दोषों को निकालने का प्रयत्न करे और उत्तम औषध-प्रयोगों द्वारा दोषों का संशमन करें ।

मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना वस्तयो हिताः । हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः ॥

पुनरावर्तक ज्वर की चिकित्सा—इसमें मृदु संशोधन-द्रव्यों द्वारा दोषों की शुद्धि करायें, सिद्धिस्थान में कही गयी यापन-वस्तियों का प्रयोग करायें, हल्के यूष और जांगल प्राणियों के मांसरस खाने के लिए दें । ये सब हितकर होते हैं ।

वक्तव्य—अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार मनुष्य मृदु, मध्य, क्रूरकोष्ठ के होते हैं । मृदु कोष्ठ वाले को मृदु संशोधन (वमन, विरेचन) देना उचित ही है, किन्तु मध्य एवं क्रूरकोष्ठ वालों के लिए मृदु का अर्थ होगा उस प्रकार का संशोधन दें, जो आमाशय या पक्वाशय को अधिक कष्ट न दे । लघु यूष जो शीघ्र पच जाये । 'जांगल' शब्द देशविशेष का नाम है ।

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च । हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च ॥३४१॥

अभ्यंगादि का प्रयोग—अभ्यंग, उद्वर्तन (उबटन), स्नान, धूप (ज्वरनाशक धूप), अञ्जन, तिक्तरस-प्रधान औषधद्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी—इनका पुनरावर्तक ज्वर की शान्ति के लिए सेवन कराना चाहिए ।

---

१. 'दीनचेतसम्' इति पा० ।

२. 'अथवा विपरीपाकम्' इति पा० ।

वक्तव्य—यद्यपि अभ्यंग, उद्वर्तन आदि के प्रयोग की आज्ञा चिकित्साशास्त्रों में अनेक स्थलों पर दी गयी है। जिस प्रकरण में जिस वस्तु के उपयोग की चर्चा हो, वहाँ तदनुकूल गुणविशिष्ट द्रव्यों अथवा योगों का ही प्रयोग कराना चाहिए। यहाँ अभ्यंग के लिए दोष-विशेष को ध्यान में रखकर तेल का चुनाव करें। जैसे वात की प्रधानता में महानारायण तेल का अभ्यंग करायें।

गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते। लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत्॥

अन्य उपचार—यदि पुनरावर्तक ज्वर गुरु (द्रव्यगुरु अथवा मात्रा गुरु), अभिष्यन्दी (कफकारक) तथा असात्म्य (अनुकूल न पड़ने वाला) भोजन कर लेने से पुनः आ गया हो, तो रोगी को लंघन, उष्णोपचार (अगुर्वादि तैल से लेकर २७१वें श्लोक तक इसी का वर्णन है) या चिकित्सा-क्रम पूर्ववत् प्रारम्भ कर दें।

किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता। घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्तकं ज्वरम्॥

किराततिक्तकादि क्वाथ—चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, गिलोय—समभाग में लिये गये इन द्रव्यों के क्वाथ का कुछ दिनों तक निरन्तर अभ्यास (सेवन) करने से पुनरावर्तक ज्वर का विनाश हो जाता है।

तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः। ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात् तत्तच्चिकित्सितम्॥

सामान्य सिद्धान्त—पुनरावर्तक ज्वर में ज्वर-चिकित्सा-क्रम की अपेक्षा करने वाला विद्वान् चिकित्सक ज्वर-रोगियों की उस-उस अवस्था में पहले कही गयी भिन्न-भिन्न चिकित्सा-विधियों का सावधानीपूर्वक प्रयोग करे।

वक्तव्य—ऊपर ज्वरों को साम-निराम भेद से दो प्रकार का कहा गया है और इनकी पृथक्-पृथक् चिकित्सा-विधियाँ भी यथावसर कही गयी हैं। अतः ज्वरचिकित्सा-क्रम (सामज्वर में पहले क्या करना चाहिए और निरामज्वर में किस चिकित्सा-क्रम को अपनाना चाहिए, इस) की अपेक्षा रखने वाले चिकित्सक को आमज्वर में और निरामज्वर में तदनुरूप आवश्यकतानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। चिकित्सा-क्रम का वर्णन इसी अध्याय में कहा गया है।

रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद्दारुणो ज्वरः। तस्माद् विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमे भिषक्॥३४५॥

ज्वर-चिकित्सा में सावधानी—ज्वर सभी रोगों का राजा है। यह सभी प्राणियों का अन्त करने वाला है, अर्थात् सभी का विनाशक है, विशेष रूप से दारुण (भयावह) है। अतः ज्वर की चिकित्सा करने में चिकित्सक को सावधानी पूर्वक विशेष यत्न करना चाहिए।

वक्तव्य—ज्वर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त रोगराट्, सर्वभूतानाम्, अन्तकृत् तथा दारुण—इन शब्दों की व्याख्या इसी अध्याय में हम पहले कर चुके हैं।

तत्र श्लोकः—

यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्तं ज्वरचिकित्सितम्। आत्रेयेणाग्निवेशाय भूतानां हितकाम्यया॥३४६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने ज्वरचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—यहाँ उपसंहारात्मक एक श्लोक है—समस्त प्राणियों की उपकार भावना से भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने अपने शिष्य अग्निवेश के लिए उनके ज्वर-चिकित्सा विषयक प्रश्नों के क्रमानुसार जो-जो प्रश्न किये थे, उन सबका समाधान (इस अध्याय में) कह (दे) दिया।

वक्तव्य—ज्वर प्रत्येक प्राणी में ताप या सन्ताप द्वारा देखा-परखा जाता है। थर्मामीटर (घर्ममितर) यन्त्र केवल उष्णता को नापता है, शेष सूचना वह नहीं दे पाता। उसके लिए भारतीय नाड़ीविज्ञान ही समर्थ है। इसी का एक अंग दूतनाड़ी विज्ञान है। उक्त ताप का विभाजन हम निम्न तालिका द्वारा कर रहे हैं—

- ताप
  - प्रकृत ताप (Normal temperature)
  - विकृत ताप (Abnormal temperature)
    - अधिक ताप (High temperature)
    - न्यून ताप (Low temperature)

परिचय

१. **प्रकृत ताप**—इसका प्रमुख कार्य है, शरीर को व्यवस्थित रूप से धारण करने में सहायता करना। स्वस्थ स्थिति में जो विकार रहित शारीरिक ऊष्मा है, वह प्रकृत ताप है। मुख-प्रदेश का ९८° फा० ताप सामान्यतः प्राकृत ताप कहा जाता है।

२. **विकृत ताप**—यह अधिक ताप (सन्ताप) तथा न्यून (हीन) ताप भेद से दो प्रकार का देखा जाता है। यही स्थिति चिकित्सा-क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। जिसका विस्तृत वर्णन इस अध्याय में किया गया है। चिकित्सा के बाद ताप की जो स्थिति होती है, वही प्राकृत ताप है। इसके विरुद्ध विकृत ताप होता है। जिसका परिचय प्रस्तुत है—

(क) **अधिक ताप**—इसी को उग्रतापी ज्वर, सन्ताप या वृद्धताप भी कहा जाता है। थर्मामीटर से नापने पर १०५° फा० या इससे भी कुछ अधिक तापमान का बढ़ जाना अधिक ताप कहा जाता है। सन्ताप के तीनों भेदों का वर्णन च० चि० अ० ३ श्लोक ४ में देखें। वह इस प्रकार है—

- **सन्ताप**
  - शारीरिक
  - मानसिक
  - ऐन्द्रियक

(ख) **न्यून ताप**—ऊपर जो प्राकृत ताप की सीमा का निर्देश किया है, यदि उससे कम तापक्रम देखा जाता है, तो उसे न्यूनताप (Low temperature) या (Subnormal temperature) कहते हैं। इसके अनेक कारण होते हैं। यह अच्छा लक्षण नहीं है।

सामान्यरूप से ज्वर के भेद

- अविसर्गी
  - समवेगी
    - सन्निपातज्वर
  - विषमवेगी
    - सन्ततज्वर
- विसर्गी
  - मुक्तानुबन्धी
    - सतत
    - अन्येद्युष्क
    - तृतीयक
    - चतुर्थक
  - पुनरावर्तक

यद्यपि आयुर्वेद में ज्वर की अंशांश कल्पना करने पर अनेक भेदों की सम्भावना की गयी है। मोटे-मोटे रूप से फिर भी तिरसठ भेद किये हैं। उनमें से भी ये ज्वर के सुप्रसिद्ध भेद हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में ज्वरचिकित्सित नामक तीसरा अध्याय समाप्त॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ज्वर-चिकित्सा का वर्णन करने के बाद अब हम रक्तपित्त-चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे, ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—ज्वर को 'रोगराट्' कहा गया है और सर्वप्रथम उसी की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है। अतः उसकी चिकित्सा का वर्णन करने के बाद **'ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते'** यह क्रम तन्त्रकार ने स्वीकार किया है। देखें—'रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोद्ध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना प्राणिनां परिगतशरीर-प्राणानामभवज्ज्वरमनु' ॥ च० नि० अ० २।१०। 'कोपयुक्तः अमर्षः=अभिनिवेशः—तस्य अग्निना। यहाँ कोप तथा अमर्ष भिन्न अर्थ के परिचायक शब्द हैं। देखें—च० चि० अ० ९।१२। इसलिये अब यहाँ रक्तपित्त-चिकित्सा का व्याख्यान किया जा रहा है। यद्यपि अन्यत्र ज्वर के बाद अतिसार का क्रम भी देखा जाता है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० २ में, च० चि० अ० ४ में, सु० उ० अ० ४५ में, अ० सं० चि० अ० ३ में तथा अ० हृ० चि० अ० २ में देखें।

विहरन्तं जितात्मानं पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम्। प्रणम्योवाच निर्मोहमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥३॥
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः। वक्तव्यं यत् परं तस्य वक्तुमर्हसि तद्गुरो ! ॥४॥

रक्तपित्त चर्चा का स्थल—पञ्चगंग (पंजाब=पञ्चाप) प्रदेश में विचरण करते हुए जितेन्द्रिय, निर्मोह (मोह रहित), अग्नि के समान तेजस्वी, भगवान् पुनर्वसु को प्रणाम करके अग्निवेश ने कहा—हे भगवन् ! गुरुवर्य्य ! रक्तपित्त के हेतु=निदान और लक्षण (निदानस्थान में) पहले कहे जा चुके हैं। उसके बाद उस सम्बन्ध में जो कहना हो उसे आप कह सकते हैं।

वक्तव्य—यह गुरु-शिष्य-संवाद की शिष्ट परम्परा है। विद्वान् शिष्य अग्निवेश यह कह सकते थे कि इसके बाद अब आप चिकित्सा का उपदेश कीजिये, किन्तु ऐसा न कहकर 'जो इस सम्बन्ध में कहने योग्य हो, उसे कहें ऐसा कहा, तब उन्होंने अपना उपदेश प्रारम्भ किया।

गुरुरुवाच—

महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च। हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥५॥

रक्तपित्त की शीघ्रकारिता—गुरु (महर्षि आत्रेय) ने कहा—हेतु (कारण) और लक्षण को जानने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह महागद (रोगों में महान्), तीव्रवेग वाले, अग्नि के समान शीघ्र विनाश-कारी अर्थात् जिस प्रकार स्पर्श करते ही अग्नि तृण-समूह को शीघ्र नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह रोग प्रारम्भ होते ही शरीर को नष्ट कर देता है। अतएव ऐसे रक्तपित्त रोग की यथाशीघ्र चिकित्सा करें।

तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥६॥

रक्तपित्त के कारण—उस (रक्तपित्त रोग) के उष्ण, तीक्ष्ण आहार-विहार और खट्टे, कडुए, नमकीन रसों का अधिक सेवन, तेज धूप का अधिक सेवन, विदाहकारक अन्नों का अधिक सेवन—ये सब कारण हैं। इन कारणों का वर्णन पहले (निदानस्थान में) कर दिया गया है।

वक्तव्य—यद्यपि इन हेतुओं का वर्णन निदानस्थान में कर दिया गया था, किन्तु यहाँ (चिकित्सास्थान में) इनकी चिकित्सा 'निदानपरिवर्जन' है, अतः उन हेतुओं का पुनः इस प्रकरण में उल्लेख किया गया है। महर्षि सुश्रुत ने अन्नविदाह की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—'स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते' ॥ सु० सू० अ० ४६।४९७। अर्थात् जिस समय पित्त अन्नवहस्रोतस् (अन्त्र) में अथवा पक्तिस्थान (अग्न्याशय) में रुक जाता है, उस समय विदाही अन्न तथा अविदाही अन्न सभी विदग्ध हो जाते हैं। अतएव ऊपर के पद्य में 'अन्नविदाह' शब्द का प्रयोग किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने इसके पूर्वरूपों का वर्णन इस प्रकार किया है—'सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः। लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति' ॥ सु० उ० तं० अ० ४५।७ ॥ चरक द्वारा निर्दिष्ट पूर्वरूपों का अवलोकन च० नि० अ० २।६ में करें। 'लोहगन्धिश्च निःश्वासो' बाहर को निकलने वाला श्वास, तपाये हुए लोहे को पानी में बुझाने पर जैसी गन्ध आती है, ठीक वैसा ही होता है। इसका कारण यह है कि रक्त में लौहधातु होती है, जिसे वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। जब पित्त उस लौहधातु को तपाता है और वह रक्तगत द्रव में बुझता है, तो लोहे को तपाकर बुझाने की-सी गन्ध उसके निःश्वास से आती है। भीतर से बाहर की ओर निकलने वाले श्वास को निःश्वास कहा जाता है।

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते। तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत् ॥७॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ॥८॥

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति—उन उपर्युक्त कारणों से बढ़ा हुआ पित्त जब अपने स्थान से निकलकर रक्त धातु में पहुँच जाता है, तो वह पित्त रक्तयोनि (रक्त से उत्पन्न) होने के कारण उस रक्त में पहुँचकर और उस (रक्त) को दूषित करता हुआ बढ़ जाता है। उस (पित्त) की ऊष्मा (गर्मी) से मांस आदि धातुओं से वह द्रव धातु पसीजने (चूने) लगता है या पसीने की तरह निकलने लगता है। अतएव उससे (रक्तवाहिनी सिराओं में) रक्त बढ़ने लगता है।

वक्तव्य—पाँच प्रकार के पित्तों में एक पित्त का नाम रंजकपित्त है, जो रस के सारभूत भाग (श्वेत अणुओं) को रँगकर रक्त के रूप में परिणत कर देता है। यहाँ अपने कुपित होने के कारणों से कुपित हुआ पित्त जब अपनी स्वस्थ सीमा से बढ़कर रक्त के साथ मिल जाता है, तो रक्त की वृद्धि सामान्य स्थिति से अधिक हो जाती है, क्योंकि रक्त और पित्त दोनों समान प्रकृति के हैं। अतः 'सामान्यं वृद्धिकारणम्'। तदनन्तर वह कुपित पित्त रक्तधातु को दूषित कर अपनी गरमी से रक्त को अधिक उष्ण बना देता है। ऐसी स्थिति में वह दूषित और बढ़ा हुआ रक्त मांस आदि धातुओं को भी प्रभावित कर उनमें से भी पसीने की भाँति बाहर निकलने के लिये इकठ्ठा होने लगता है।

यही रक्त दोषों के प्रकोप के अनुसार कभी ऊर्ध्वमार्ग से कभी अधोमार्ग से और अधिक कुपित हो जाने पर सम्पूर्ण रोमकूपों से निकलने लगता है। रक्त का एक नाम 'क्षतज' है। अर्थात् शरीर के किसी अवयव पर घाव होने पर रक्त का स्राव होने लगता है। अतः क्षत हुए बिना अन्यत्र रक्त के दर्शन नहीं होते, केवल रक्तपित्त ही एक ऐसा रोग है जिसमें वह अतिप्रवृत्त होने पर पसीने की तरह रोमकूपों से चू-चू कर निकलने लगता है।

सामान्यरूप से रक्त बाहर निकलने के बाद जमने लगता है। परन्तु जब वह पित्त के कारण विदग्ध हो जाता है, तब जल्दी नहीं जमता। अब आप पित्त और रक्त के गुणों पर ध्यान दें—पित्त तीक्ष्ण, द्रव, दुर्गन्धित, नील, पीत, उष्ण, कटुरस वाला होता है किन्तु जब वह विदग्ध हो जाता है, तब अम्लता युक्त भी हो जाता है। देखें—सु० सू० अ० २१।११। रक्त—अनुष्णशीत, मधुर, स्निग्ध, लालवर्ण का, गुरु, विस्र गुण युक्त होता है, किन्तु इसका विदाह पित्त की भाँति होता है। देखें—सु० सू० अ० २१।१७। चूँकि रक्त का विदाह पित्त की भाँति होता है, अतएव रक्तपित्त-रोग से निकले हुए रक्त में द्रवत्व अधिक होता है। यह रक्तपित्त-रोग के सम्पूर्ण भेदों की सम्प्राप्ति है।

संयोगाद् दूषणात् तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥

रक्तपित्त की परिभाषा—रक्त के साथ पित्त का संयोग होने से, पित्त द्वारा रक्त को दूषित कर देने से, रक्त और पित्त के गन्ध तथा वर्ण के समान होने के कारण इस रोग को विद्वानों ने रक्तपित्त कहा है।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान अ० २।५ में भी इसके लक्षण दिये गये हैं। उनका भी यहाँ अनुसन्धान कर लें।

प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥१०॥

दूसरी परिभाषा—वह (उपर्युक्त) पित्त प्लीहा और यकृत् का आश्रय लेकर ही शरीर में रहता है तथा शरीर-धारियों के रक्तवाही स्रोतों के मूल भी वे ही (प्लीहा और यकृत) हैं।

वक्तव्य—रक्तवाही स्रोतों का मूल यकृत्-प्लीहा है। इसको तन्त्रकार पहले इस प्रकार कह आये हैं—'शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च' ॥ च० वि० अ० ५।८। इसी का समर्थन निम्न पंक्ति में देखें—'रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः'। सु० शा० अ० ९।१२। प्रायः विवादास्पद विषयों का निर्णय करने तथा उसी विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए **'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'** न्याय के अनुसार अनेक स्थानों पर प्रसंगानुसार तन्त्रकार पुनः कह देते हैं। यथा—'यत्तु यकृत्प्लीहोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स च रसस्य रागकृदुक्तः। सु० सू० अ० २१।१०।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जब रंजकपित्त यकृत्-प्लीहा का आश्रय लेकर रक्तवाही स्रोतों में प्रविष्ट हो जाता है, तो वह रक्तपित्त रोग को उत्पन्न कर देता है।

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥

कफज रक्तपित्त के लक्षण—जब रक्तपित्त रोग में कफ का सम्बन्ध होता है, तो निकलने वाला वह रक्त सान्द्र (गाढ़ा) पीले वर्ण वाला, स्नेह युक्त तथा पिच्छिल (चिपचिपा) होता है।

वातज रक्तपित्त के लक्षण—जब रक्तपित्त रोग में वात का सम्बन्ध होता है, तो वह रक्तश्याव (Dark brown) वर्ण का, लाल वर्ण का, झाग युक्त, पतला और रूखापन लिये होता है।

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥१२॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्।

पित्तज रक्तपित्त के लक्षण—जब रक्तपित्त रोग में पित्त का सम्बन्ध होता है, तो निकलने वाला वह रक्त कषाय (क्वाथ) जैसा, काला, गोमूत्र के सदृश, मेचक (Dark blue), आगार (गृह) धूम तथा अञ्जन की आभायुक्त होता है।

द्वन्द्वज तथा सान्निपातिक रक्तपित्त—दो-दो दोषों के लक्षणों से युक्त रक्तपित्त को द्वन्द्वज कहते हैं। जिसमें वात आदि तीनों दोषों के लक्षण दिखलायी दें, उसे सान्निपातिक रक्तपित्त कहते हैं।

वक्तव्य—सामान्य तथा विशेष के दर्शन सर्वत्र होते हैं। उक्त रोग को उत्पन्न करने में प्रमुख हाथ अपने दोषों से प्रकुपित पित्त का है, जो रक्ताशय में जाकर उसको दूषित कर देता है। तदनुरूप इसका नाम रक्तपित्त है। शरीर में रक्त की मात्रा पित्त से अधिक है। अतः रक्त शब्द का पित्त से पूर्व प्रयोग कर इसकी 'रक्तपित्त' संज्ञा निर्धारित की है।

इसमें पहले रंजकपित्त द्वारा रक्त दूषित होता है, तदनन्तर शेष चार प्रकार के पित्तों के प्रकोप से यह पित्तज रक्तपित्त कहा जाता है। जब यह ऊपर की ओर से निकलने लगता है, तब इसे कफज रक्तपित्त और जब यह गुदमार्ग से प्रवृत्त होता है, तब इसे वातज रक्तपित्त कहते हैं। सामान्यरूप से ज्वर पित्त के बिना नहीं होता, उसके बाद भी उसको वातज, पित्तज, कफज संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार इसका पित्तज नामक भेद भी सर्वथा उचित ही है। क्योंकि आरम्भ करते समय वह कारण रूप में प्रवृत्त होता है। तदनन्तर वह जब जिस संज्ञा को धारण करता है, उस समय वह तद्गुण विशिष्ट के रूप से देखा जाता है।

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ १३ ॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत्। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१४॥

रक्तपित्त की साध्यासाध्यता—एक दोष से युक्त रक्तपित्त साध्य होता है, द्विदोषज अर्थात् जो दो दोषों से युक्त होता है, वह याप्य (चिकित्सा करते रहने से ठीक रहता है, छोड़ देने पर फिर वैसा ही हो जाता है) कहा जाता है और जो तीन दोषों से युक्त अर्थात् सान्निपातिक होता है, वह असाध्य होता है। यहाँ तक दोषभेद से साध्य-असाध्य का विवेचन किया गया है। अब परिस्थिति-भेद से विचार किया जा रहा है। यदि वह रक्तपित्त मन्दाग्नि वाले पुरुष को हो और वह रक्त अधिक वेग के साथ निकल रहा हो तो वह किसी स्थिति (एकदोषज, द्विदोषज) का हो तो भी असाध्य होता है और जिस रोगी का शरीर अन्य व्याधियों के कारण पहले से क्षीण हो चुका हो, जो वृद्ध हो और जो भोजन न करता हो, या न कर पा रहा हो, उसका भी रक्तपित्त रोग असाध्य होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने असाध्य लक्षणों का परिचय इस प्रकार दिया है—जो रक्तपित्त मांस के धोवन के सदृश या मांस उबाले हुए पानी के सदृश, कीचड़ घुले हुए पानी के सदृश रंग का हो, मेदस्, पूय, रक्त के सदृश, यकृत् के रंग जैसा, पकी हुई जामुन जैसा, अधिक काला, नीला, मुर्दे की-सी गन्धवाला, इन्द्रधनुष के सदृश विविध वर्णों वाला, रक्तपित्त रोग में दिखलायी देने वाला रक्त असाध्यता की सूचना देता है, किन्तु यदि रोगी बलवान् है, तो इस प्रकरण को देखें—सु० उ० तं० अ० ४५।१०-१२।

गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता। ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः ॥१५॥

रक्तपित्त की गतियाँ—रक्तपित्त रोग में निकलने वाले रक्त की ऊर्ध्वगति तथा अधोगति, इस प्रकार दो गतियाँ होती हैं। ऊपर की ओर से सात छिद्रों द्वारा और नीचे की ओर से दो छिद्रों द्वारा रक्त की गति होती है, अर्थात् इन मार्गों से रक्त निकलता है।

वक्तव्य—यह सामान्य स्थिति है। इनमें ऊर्ध्वगति साध्य और अधोगति याप्य कही गयी है। जिसका विस्तृत विवरण आगे दिया गया है।

सप्तच्छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः; साध्यमूर्ध्वगम्। याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च। वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥

नौ गतियों का विशद वर्णन—शिर में सात छिद्र होते हैं, यथा—नासिका के २, कानों के २, आँखों के २ और मुख का १; अधोभाग में दो छिद्र होते हैं, यथा—मलमार्ग (गुद) का १ और मूत्रमार्ग का १—इस प्रकार नौ छिद्र होते हैं। इन्हों के द्वारा रक्तपित्त के रक्त की प्रवृत्ति होती है। इनमें ऊर्ध्वग (ऊपर की ओर से निकलने वाला) रक्तपित्त साध्य होता है। अधोग (नीचे के मार्गों से प्रवृत्त होने वाला) रक्तपित्त याप्य होता है। जो रक्तपित्त दोनों (ऊपर-नीचे) मार्गों से एक साथ प्रवृत्त होता है, वह असाध्य होता है। जब वह रक्तपित्त सभी छिद्रों (उपर्युक्त नौ मार्गों) से और रोमकूपों से निकलने लगता है तो रक्तपित्त की उस असंख्येय (जो गिनी न जा सके) गति को आन्तिकी (प्राणान्तकारिणी) गति कहते हैं।

वक्तव्य—ऊर्ध्वग रक्तपित्त इसलिए साध्य होता है कि इसकी उत्तम चिकित्सा विरेचन है और अधोग रक्तपित्त में वमन कराने का निर्देश है, क्योंकि विरेचन से पित्त का निर्हरण होता है और वमन से कफ का निर्हरण किया जाता है। वमन से विरेचन कराना अधिक सरल होता है। इसके लिए अनेक औषधोपचार सुलभ होते हैं। इसकी अपेक्षा वमन-कर्म कठिन होता है, रोगी इससे घबड़ाता है। यही कारण हैं इनके साध्य और याप्य होने में। दूसरा कारण यह है कि नीचे के मार्गों से निकलने वाला रक्तपित्त इसलिए भी याप्य होता है कि इसमें वातदोष का सम्बन्ध रहता है और इसकी प्रधान चिकित्सा वमन है। वमन में पित्त को निकालने तथा वात का शमन करने की क्षमता नहीं होती। कषायरसों को पिलाने से वमन कराया जा सकता है, पर उससे वात पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। अतः अधोग रक्तपित्त याप्य कहा गया है। दोनों मार्गों द्वारा प्रवृत्त रक्तपित्त में न वमन कराया जा सकता है और न विरेचन ही कराया जा सकता है। अतः वह असाध्य होता है। समस्त रोमकूपों से निकलने वाला रक्तपित्त का रक्त किसी भाँति रोका नहीं जा सकता। अतः उसे आन्तिकी गति (मृत्यु देने वाली) कहा गया है। इससे शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। इसका विशेष विवेचन देखें—चरक-निदानस्थान अ० २।१२ से २६ श्लोक तक।

यह महागद है। इसकी चिकित्सा में यश प्राप्त करने का इच्छुक चिकित्सक निम्न पथ पर सदैव दृष्टि रखे—'तत्रासाध्यं परित्याज्यं याप्यं यत्नेन यापयेत्। साध्यं चावहितः सिद्धैर्भेषजैः साधयेद् भिषक्' ॥ च० नि० अ० २।२७।

यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते। तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ॥१८॥
यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥
संसृष्टं कफवाताभ्यां [1]कण्ठे सज्जति चापि यत्। यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम्। क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिद्ध्यति ॥२०॥

१. 'यच्च कण्ठेऽवसज्जति' इति पा०।

रक्तपित्त की असाध्य अवस्था—यदि रक्तपित्त का रक्त दोनों (ऊपर तथा नीचे के) मार्गों से अधिक वेग के साथ अधिक मात्रा में निकलता है, उसमें से मुर्दे के समान दुर्गन्ध आती है, उसका वर्ण अत्यन्त काला होता है, उसमें कफ तथा वातदोष मिला रहता है और जो गले में या गले तक आकर रुक जाता है और जो पहले (निदानस्थान में) कहे गये सभी उपद्रवों या अधिकांश उपद्रवों से युक्त हो, जिस रक्त का वर्ण हल्दी के सदृश, नीला, हरा या ताँबे के सदृश दिखलायी देता हो, जो रोगी रोग से क्षीण हो गया हो और उसके खाँसने पर कफ के साथ रक्त निकल आता हो वह असाध्य होता है। वह चिकित्सा करने पर भी स्वास्थ्यलाभ नहीं कर पाता है।

वक्तव्य—अन्यत्र इसके असाध्य लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—'ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्' ॥ इसी साध्य का समर्थन यहाँ भी है। किन्तु कुछ विशेषता भी दिखलायी दे रही है। देखें—'यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते॰॰॰संसृष्टं कफवाताभ्याम्'। यदि वह निकला हुआ रक्त कफ और वातदोष से संसृष्ट नहीं होता, किसी एक दोष के ही लक्षण उसमें दृष्टिगोचर होते हैं, तो वह साध्य अथवा याप्य हो सकता है, ऐसा तन्त्रकार का संकेत है।

रक्तपित्त के उपद्रव—देखें; चरक-निदानस्थान अ० २।७ और सु० उ० तं० अ० ४५।९।

यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं [1]शान्तं प्रकुप्यति। मार्गान्मार्गं चरेद् यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत्॥

रक्तपित्त की याप्य अवस्था—जो रक्तपित्त रोग दो दोषों से सम्बद्ध हो अर्थात् द्वन्द्वज हो, अथवा जो शान्त हो-होकर फिर-फिर उभड़ता हो, अथवा एक मार्ग से दूसरे मार्ग में चला जाता हो, वह रक्तपित्त रोग भी याप्य (चलाने लायक) होता है।

वक्तव्य—यहाँ 'मार्गान्मार्गं चरेत्' इसका अर्थ विवादास्पद है। यदि ऊर्ध्वमार्ग से अधोमार्ग की ओर रक्तपित्त की प्रवृत्ति को हम मानते हैं, तो इस अधोमार्गगत रक्तपित्त को पहले ही याप्य कहा गया है। याप्य को ही तन्त्रकार ने पुनः याप्य कहा हो, ऐसा नहीं हो सकता। हमारे विचार से उक्त पद्यांश का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—**मार्गात्**—उचित मार्ग से, अर्थात् जिससे उसकी भली-भाँति चिकित्सा की जा सके और **मार्गम्**—अनुचित मार्ग से, अर्थात् जिससे उसकी भली-भाँति चिकित्सा न की जा सके। इस अर्थ के समर्थन के लिए आप 'शान्तं शान्तं पुनः कुप्यन्मार्गान्मार्गान्तरं च यत्'। अष्टांगहृदय चि० अ० २ श्लोक २ को देखें।

यदि हम ऊपर के सात छिद्रों में से कभी किसी से और कभी किसी से रक्त की प्रवृत्ति को मानते हैं, तो कुल मिलाकर वह **'ऊर्ध्वं साध्यम्'** है। पण्डित को पण्डित और मूर्ख को मूर्ख ही कहा जाता है। वास्तव में यह एक विषम स्थिति है। कभी ऊपर के छिद्रों से कभी नीचे के छिद्रों से जब रक्त की प्रवृत्ति देखी जाती है तो वह याप्य है, क्योंकि इसमें वेग की अस्थिरता ही कारण है।

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्। रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥२२॥

रक्तपित्त की साध्यता—बलवान् पुरुष का एक मार्ग (ऊपरी मार्ग) से प्रवृत्त रक्तपित्त, यदि अधिक वेग वाला न हो, नया (पुराना न) हो, सुखद समय (हेमन्त या शिशिर ऋतु) में उत्पन्न हुआ हो और जिसमें कोई उपद्रव न हो, तो वह साध्य होता है।

वक्तव्य—यहाँ पर 'एकमार्गम्' में एक शब्द का अर्थ है 'प्रधान'। शरीर में शिर का नाम 'उत्तमांग' है। अतः इसका अर्थ 'ऊपरी मार्ग' होता है। **सुखे काले**—रक्तपित्त रोग में पित्त की प्रधानता होती है। पित्त स्वभावतः उष्ण होता है और उष्ण का विपरीत शीतकाल होता है। अतः हेमन्त-शिशिर ऋतु में उत्पन्न रक्तपित्त रोग काल की दृष्टि से सुखसाध्य होता है।

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्। अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥२३॥

ऊर्ध्वग, अधोग रक्तपित्त के हेतु—प्रायः ऊपरी मार्गों से निकलने वाले रक्तपित्त का कारण स्निग्ध (घृत-तैल-वसा युक्त) तथा उष्ण (स्पर्श तथा वीर्य) आहार-विहार होते हैं और निचले मार्गों से निकलने वाले रक्तपित्त का कारण उष्ण तथा रूक्षगुण-प्रधान आहार-विहार होते हैं।

---

१. 'भूयः प्रवर्तते' इति पा०।

वक्तव्य—'प्रायः' शब्द इस बात का संकेत करता है, कि इसके अतिरिक्त कारणों से भी रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है। अन्य कारणों के लिए च० नि० अ० २।४ तथा सु० उ० तं० अ० ४५।३-४ का अवलोकन करें।

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्। द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुबध्यते ॥२४॥

रक्तपित्त में दोषों का संसर्ग—ऊपरी मार्गों (आँख, कान, नाक, मुख) से निकलने वाले रक्तपित्त के रक्त में कफ का संबन्ध रहता है। अधोमार्गों (मल-मूत्र के छिद्रों) से निकलने वाले रक्तपित्त के रक्त में वात का सम्बन्ध रहता है। यदि रक्तपित्त में कफ तथा वात इन दोनों दोषों का सम्बन्ध होता है, तो वह रक्त ऊपर-नीचे दोनों मार्गों से सम्बन्ध रखने लगता है, अर्थात् ऐसी स्थिति में वह दोनों मार्गों से बहकर आने लगता है।

वक्तव्य—यहाँ केवल कफ और वात से ही रक्तपित्त रोग का संसर्ग दिखलाया गया है, पित्तदोष को सर्वथा छोड़ दिया गया है। वास्तव में रक्तपित्त में पित्तदोष की ही सदा प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में इस रोग में पित्तदोष अनुबन्ध्य (प्रधान) है और कफ, वात दोष अनुबन्ध (गौण) रहते हैं। कफज तथा वातज रक्तपित्त में भी पित्त का संसर्ग रहता ही है। यद्यपि कफ तथा पित्त पंगु (स्वयं गति करने में असमर्थ) कहे गये हैं। फिर भी कफ का स्थान आमाशय का ऊपरी भाग तथा उरःप्रदेश है। अतः कफ का निर्हरण ऊपर की ओर से ही अधिकांश कराया जाता है। पित्त स्वभाव से ही अधोगामी होता है। अतः अधोग रक्तपित्त में वायु के साथ पित्त का भी संसर्ग रहता ही है।

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥२५॥

रक्तपित्त का चिकित्सा-क्रम—जिस रक्तपित्त के रोगी का (शारीरिक और मानसिक) बल तथा मांस क्षीण न हुआ हो और जो रुचिपूर्वक भोजन कर रहा हो, ऐसे रक्तपित्त के रोगी के दोषों से दूषित तथा उभड़े हुए रक्त को चिकित्सा आरम्भ करते ही रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—इसी का समर्थन सुश्रुत ने किया है—'नादौ सङ्ग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग्बलिनोऽश्नतः। तद् पाण्डुग्रहणीकुष्ठप्लीहगुल्मज्वरावहम्' ॥ सु० उ० तं० अ० ४५।११। अर्थात् जब तक रक्तपित्त का दूषित रक्त बह रहा हो तब तक उसे रोकना उचित नहीं है। उस समय केवल इस बात का विचार करना चाहिए कि यह दूषित रक्त निकल रहा है या जीवरक्त ?

रक्त-परीक्षण—इन्द्रगोप (बीरबहूटी नामक कीड़े) के सदृश उज्ज्वल लाल रक्त शुद्ध होता है। कुत्ता इसे चाट लेता है, दूषित रक्त इससे सर्वथा विपरीत होता है। उसे कुत्ता सूँघ कर छोड़ देता है। शुद्ध रक्त (इसी को जीवरक्त भी कहते हैं) का सफेद वस्त्र पर दाग पड़ जाता है। धोने पर यह छूटता नहीं और दूषित रक्त का दाग धोने पर छूट जाता है।

गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्। गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ॥२६॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम्। बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात् स्तम्भितमादितः ॥२७॥

दुष्टरक्त-स्तम्भनजनित रोग—यदि रक्तपित्त के रक्त को आरम्भ में ही रोक दिया जाता है, तो गलग्रह (गले का जकड़ जाना), पूतिनस्य, मूर्च्छा (इसी को मूर्च्छाय भी कहते हैं), अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, आनाह (अफारा), किलास (कुष्ठभेद), मूत्रकृच्छ्र, अनेक प्रकार के कुष्ठ, अर्श (बवासीर), विसर्प, वर्णनाश (शारीरिक या चेहरे के वर्ण का विकृत होना), भगन्दर, बुद्धि का विकृत होना तथा ज्ञानेन्द्रियों की अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थता—ये रोग उपद्रव के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—'बुद्धीन्द्रिय' शब्द से कुछ विद्वान् ज्ञानेन्द्रिय अर्थ करते हैं। दूसरे बुद्धि को अलग और 'इन्द्रियोपरोध' को अलग पद मानते हैं। वास्तव में इस स्थिति में सभी प्रकार की इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) में उपरोध (जड़ता, अकर्मण्यता या संज्ञाशून्यता) उत्पन्न हो जाता है।

तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो [1]बलदोषविचारिणा। रक्तपित्तं प्रथमतः [2]प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता ॥२८॥

---

१. 'बलदोषौ प्रपश्यता' इति पा०।
२. 'प्रवृत्तम्' इति पा०।

आरम्भ में रक्तस्राव की उपेक्षा—अतः चिकित्सा में सफलता चाहने वाले तथा रोग और रोगी के बल एवं दोष का विचार करने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह रक्तपित्त के बलवान् रोगी के शरीर से निकलते हुए रक्त की आरम्भ में उपेक्षा कर दे, अर्थात् उसको रोकने का प्रयास न करे।

वक्तव्य—श्लोक २५ के वक्तव्य में दूषित रक्त तथा जीवरक्त की चर्चा की गयी है। सर्वप्रथम इस बात की परीक्षा कर लें कि रक्तपित्त का जो रक्त निकल रहा है, वह जीवरक्त तो नहीं है? यदि जीवरक्त है तो उसे यथाशीघ्र रोकना चाहिए, अन्यथा उसकी उपेक्षा करें अर्थात् निकलने दें, क्योंकि दूषित रक्त उपद्रवकारक होता है, जिसका वर्णन ऊपर २६ तथा २७ वें श्लोक में कर दिया गया है। यदि रोगी बलवान् नहीं है, तो रक्त का स्राव उसके लिए विशेष घातक सिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में रक्तस्राव को यथाशीघ्र रोककर उसके दोषों का संशमन कराने का पूर्ण यत्न करना चाहिए।

प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात्तल्लङ्घ्यमादितः॥

रक्तपित्त में लंघन—मनुष्यों के शरीर में बढ़े हुए आमदोष के कारण प्रायः पित्तदोष और रक्तधातु (दूष्य) वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। अतः उस (आमदोष) का पाचन करने के लिए आरम्भ से ही ऐसे रोगियों को लंघन कराना चाहिए।

वक्तव्य—आयुर्वेद में दोषों के पाचन के लिए लंघन एक उत्तम उपाय है। वास्तव में पाचन का पूर्ण भार जठराग्नि पर ही होता है। यह केवल भोजन को ही नहीं पचाती, अपितु उसके सारभूत (उस भोजन से प्राप्त होने वाले) रस का भी पाचन करती है, नहीं तो 'रसशेषाजीर्ण' नामक रोग हो जाता है। ऐसी स्थिति में पाचकाग्नि के पचाने रूप भार को हल्का करने के लिए जो उपाय हैं, उस क्रिया का नाम ही 'लंघन' है।

मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्॥३०॥

रक्तपित्त में लंघन तथा तर्पण—रक्तपित्त रोग में रक्त निकलने के दो (ऊपर और नीचे के) मार्ग, दोषों के साथ उनका सम्बन्ध और निदान (किन कारणों से रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई)—इन सबका भली-भाँति विचार कर प्रारम्भ में लंघन अथवा तर्पण का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—मार्गौ—रक्तपित्त रोग में रक्त के निकलने के दो मार्ग हैं—१. ऊपर और २. नीचे। **दोषानुबन्ध**—वात तथा कफदोष इसमें अनुबन्ध हैं और पित्त अनुबन्ध्य है। **निदान**—१. सामपित्त (इसमें रक्तपित्त की प्रवृत्ति ऊपरी मार्ग से होती है)। अतः इस स्थिति में लंघन कराने से उसका पाचन होता है, क्योंकि सामपित्त स्निग्ध एवं उष्ण होता है। २. निराम (पक्व) पित्त रूक्ष तथा उष्ण होता है। इससे वातदोष प्रकुपित होकर उस रक्त को अधोमार्ग से प्रवृत्त कराता है। इस स्थिति में सत्तू को जल में घोलकर पतला बनाकर पिलाना चाहिए। इसी को तर्पण कहते हैं। आगे ३२ वें पद्य में परिस्थितिवश कुछ संशोधन दिया है। उस पर भी ध्यान दें। लंघन दिलाने के पूर्व कौन लंघनीय होते हैं, कौन नहीं, इसका विचार अवश्य कर लें।

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम्। केवलं शृतशीतं वा दद्यात् तोयं पिपासवे॥३१॥

रक्तपित्त में ह्रीबेरादि पानीय—रक्तपित्त के रोगी को यदि पानी पीने की इच्छा हो, तो उसे ह्रीबेर (सुगन्धवाला), लालचन्दन, खश, नागरमोथा तथा पितपापड़ा—इनका (षडंगपानीय विधि से पकाया हुआ) जल अथवा केवल पका करके शीतल किया हुआ जल पीने के लिए दें।

वक्तव्य—ऊपर जो ह्रीबेर आदि का काढ़ा देने को कहा है, वह भी शृत-शीत ही होना चाहिए। सम्प्रदाय के अनुसार रात में बनाये हुए क्वाथ को दूसरे दिन के लिए रख दिया जाता है और दिन में बनाया हुआ क्वाथ रात में प्रयोग कराया जाता है; इसलिए कि वह पर्याप्त ठंडा हो जाता है।

ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात् प्रकृतिकल्पवित्॥३२॥

रक्तपित्त में तर्पण-पेया-प्रयोग—काल (उष्ण-शीत), सात्म्य तथा दोषों के अनुबन्ध को जानने वाला, रोग एवं रोगी की प्रकृति को जानने वाला तथा कल्पवित् (पथ्यकल्पना-कुशल) चिकित्सक रक्तपित्त के रोगी को ऊपरी मार्ग से प्रवृत्त रक्त में (लंघन कराने के बाद पहले) तर्पण (सत्तू को पानी में घोलकर पीने के लिए) दें और अधोमार्ग से प्रवृत्त रक्त में पहले पेया का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर तीसवें श्लोक में लंघन के बाद तर्पण की व्यवस्था दी गयी है। किन्तु यह सब विधि बलवान् रोगी के लिए उचित है। यहाँ यदि रोगी दुर्बल है, स्त्री, सुकुमार, बाल, वृद्ध है तो उसे ऊर्ध्वग रक्तपित्त में बिना लंघन कराये ही तर्पण का प्रयोग करायें और अधोमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त में पेया का सेवन कराना चाहिए। काल—हेमन्त-शिशिर ऋतु अर्थात् जाड़े का मौसम रक्तपित्त की चिकित्सा के लिए अनुकूल होता है, और यह काल पित्त की प्रकृति के विपरीत होता है। अन्य काल इस रोग की प्रकृति के प्रतिकूल होते हैं। रोगी को कौन-सा आहार-विहार सात्म्य (अनुकूल) होता है, इसका अनुबन्ध क्या (रोग में किस दोष का सम्बन्ध) है, यहाँ रोग तथा रोगी की प्रकृति का भी विचार कर लें। आयुर्वेद में कल्प शब्द से औषध-सेवन, औषध-निर्माण तथा पथ्यपाक-कुशल आदि अर्थों का ग्रहण होता है। यहाँ कल्प शब्द से विविध प्रकार के पथ्यों के निर्माण से तात्पर्य है।

जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः। शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम्॥३३॥

खर्जूरादि तर्पण—खर्जूर (पिण्डखर्जूर, इसी का एक भेद 'छुहारा' है), मुनक्का, महुआ, फालसा—इन सबको क्वाथ करके शीतल किये हुए जल में चीनी मिलाकर तर्पण के लिए प्रयोग करना (पीना) चाहिए।

वक्तव्य—जयदेव विद्यालंकार ने भी 'आमलकैः' के स्थान पर 'मधूकैः' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ 'महुआ का फूल' होता है। खर्जूर आदि द्रव्यों का क्वाथ 'षडंगपानीय' विधि से करना चाहिए। यथा—क्वाथ्य द्रव्य २ तोला, जल ३ सेर १६ तोला, शेष डेढ़ सेर ८ तोला लेकर छानकर शीतल होने पर सेवन करें। कहीं इस प्रकार से भी इसका निर्माण किया जाता है—क्वाथ्य द्रव्य २ तोला, जल ३२ तोला, शेष जल ६$\frac{१}{२}$ तोला, शेष पूर्ववत्।

तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रदापयेत्। ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति॥३४॥

लाज-तर्पण—धान के लावों (खीलों) के चूर्ण में गाय का घी और शहद मिलाकर इसे तर्पण के रूप में दें। इसका सेवन करने से यह अनुकूल समय पर ऊर्ध्वग रक्तपित्त रोग का शमन करता है।

वक्तव्य—तर्पण का अर्थ है—तृप्तिकारक। यह जीवितों तथा मृतों को तृप्त करता है। चिकित्सा-क्षेत्र में 'पानी में घोले हुए सत्तू' की तर्पण संज्ञा है। किन्तु यहाँ घी और शहद में घोलकर देने की आज्ञा दी गयी है, जब कि इसको पतला बनाकर पीना चाहिए। अतः यहाँ घृत-मधु मिलाने के बाद लाजसक्तुओं में ऊपर श्लोक ३३ में कहा गया 'खर्जूरादि तर्पण' मिलाकर पतला करके पीने के लिए दें।

मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत् साम्लमपि कल्पयेत्। [1]दाडिमामलकैर्विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत्॥

अम्लतर्पण-प्रयोग—अम्लपित्त के रोगी की यदि पाचक अग्नि मन्द पड़ गयी हो और यदि उस रोगी को अम्लरस सात्म्य (अनुकूल) होता हो, तो उस (ऊपर कहे गये) तर्पण द्रव को दाडिम (खट्टा अनार) के रस से अथवा आँवला के रस से हल्का खट्टा करा कर देना चाहिए। अथवा किसी अम्ल पदार्थ से उस तर्पण द्रव को खट्टा कर पिला दें और उसके बाद खट्टे अनार का तथा आँवलों का रस उसे पीने के लिए दें।

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रशान्तिकाः। श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम्॥३६॥

रक्तपित्त-रोगी के आहार—रक्तपित्त के रोगियों के भोजन के लिए निम्नलिखित द्रव्य हितकर होते हैं—शालिधान के चावल, साठी के चावल, नीवार (तिन्नी के चावल), कोरदूष (कोदों), प्रशान्तिका (लाल नीवार या टाँगुन), श्यामाक (साँवा), प्रियंगु (कगुंनी)—इनके विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थ बनाकर रोगी को दें।

वक्तव्य—अन्यत्र 'प्रशानिका' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु निर्णयसागरीय प्रति में 'प्रशान्तिका' पाठ है। आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'प्रशान्तिका जलमध्ये प्रायो भवति'। इसके विपरीत 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में 'स्थलजतृणधान्यभेदे' ऐसा उल्लेख है। ये सब रूक्ष अन्न भात बनाने के लिए हैं, इसके आगे पथ्य दालों का वर्णन है।

---

१. 'दाडिमामलकौ' इति पा०।

मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः । प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ॥३७॥

रक्तपित्त-रोगी के लिए दालें—रक्तपित्त के रोगियों को मूँग, मसूर, चना, मकुष्ठ (राजस्थानी दाल-मोठ), आढकीफल (अरहर की दाल)—इनकी दालें और यूष बनाकर देना चाहिए ।

पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः । किराततिक्तकं शाकं गण्डीरः[1] सकठिल्लकः ॥३८॥
कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्यस्याथ शाल्मलेः । अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद् रक्तपित्तनुत् ॥
शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम् । स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूषवद्वा विपाचितम् ॥

रक्तपित्त-रोगी के लिए शाक—परवल, नीम की पत्ती, वेत का अग्र भाग, प्लक्ष (पकड़ी का दूसा), वेत की नयी पत्तियाँ, चिरायता की पत्ती और गण्डीर (शमठ शाक) की पत्ती, कठिल्लक (करेला, लाल पुनर्नवा या तुलसी), कचनार के फूल, गम्भार की पत्ती, सेमल की पत्ती । इनके अतिरिक्त और भी कोई रक्तपित्त-नाशक शाक आदि हो तो उसका भी प्रयोग किया जा सकता है । इन शाकों का प्रयोग विशेष कर रक्तपित्त के उन रोगियों के लिए करना चाहिए जिन्हें उक्त शाक सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हों । इनके सेवन की विधि—केवल उबाल कर बाद में घी में भूंज कर दें अथवा जिस प्रकार दालों का जूस बनाया जाता है, उस प्रकार पका कर दें ।

वक्तव्य—'यच्चान्यद् रक्तपित्तनुत्' । इसका संकेत हमें चरक-सूत्रस्थान के अन्नपान-विधि नामक २७ वें अध्याय में मिलता है । आप भी देखें—चरक-निदानस्थान अ० २ गद्य ४ में कोदों और गण्डीर को रक्तपित्त-कारक कहा गया है । उसी को यहाँ हितकर बतलाया गया है । इसका समाधान करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'कोरदूषस्य रक्तपित्तहेतुत्वं निष्पावमाषसूपादियुक्तस्यैव संयोगमहिम्ना निदाने प्रोक्तम्, अयं तु कषायमधुरलघुत्वात् कोरदूषः केवलो रक्तपित्तहर एवेतीह पठ्यते । एवं गण्डीरोऽपि निदाने सुरासौवीरकादियुक्त एव हेतुत्वेनोक्तः, स तु केवलो हित एव, किंवा स्थलजजलजभेदेन गण्डीरो द्विविधः, तत्र हरितवर्गपठितो यः स निदाने भवति, इतरस्तु जलजः शाकवर्गे पठितो यः स इह कफाधिके रक्तपित्ते ज्ञेयः' । यह उचित समाधान है । दालों के यूष-निर्माण के अनुसार ही शाक का भी यूष बनायें ।

पारावतान्कपोतांश्च लावान् रक्ताक्षवर्तकान् । शशान् कपिञ्जलानेणान् हरिणान्कालपुच्छकान् ॥
रक्तपित्ते हितान् विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत् । ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ॥

रक्तपित्त में हितकर मांस—पारावत (परेवा या कबूतर), कबूतर (घुग्घी या घुघुत-कुमाऊँनी भाषा में), लवा, रक्ताक्ष (चकोर या सारस), बटेर, शश (खरगोश), कपिञ्जल (सफेद तीतर), एण (काला हरिण), हरिण, कालपुच्छ (काली पूंछ वाला हरिण)—इन मांसों के मांसरसों का प्रयोग रक्तपित्त के रोगी के लिए हितकर होता है । इन मांसरसों को खट्टे अथवा मीठे दाड़िम के रसों के साथ मिलाकर घी से छौंककर चीनी मिलाकर रोगी को दें ।

वक्तव्य—भोजन की व्यवस्था देते हुए तन्त्रकार ने कहा है—'तन्मना भुञ्जीत', मन लगाकर भोजन करे । मन लगाकर खाने के लिए पदार्थों का सुस्वादु होना आवश्यक है । अतः रोगी की इच्छा के अनुकूल मांस को बनाकर दें । जिसे खट्टा प्रिय हो, उसे खट्टे दाड़िम या आँवलों का रस मिलाकर दें, जिसे अम्ल रुचिकर न लगता हो उसे चीनी मिलाकर दें । अम्ल-अनम्ल गुण-वृद्धि के लिए न होकर रुचि को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होते हैं ।

कफानुगे यूषशाकं दद्याद् वातानुगे रसम् ।

दोषानुसार पथ्य—रक्तपित्त रोग में कफदोष की प्रधानता रहने पर यूष और शाक का प्रयोग करे । यदि वातदोष की प्रधानता हो तो मांसरस का सेवन करना चाहिए ।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'यूषशाकं' की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने लिखा है—'यूषश्च शाकं चेति यूषशाकम् । यहाँ एकशेषद्वन्द्वसमास है । अतः रक्तपित्त में हितकारक उक्त दोनों का यथाविधि प्रयोग कराया जा सकता है ।

१. 'गण्डीरं सकठिल्लकम्' इति पा० ।

रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥ ४३ ॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः । जले साध्या रसे तस्मिन्पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ॥

रक्तपित्त में पेया-प्रयोग—अब रक्तपित्त के रोगियों के लिए यवागुओं का कल्प कहा जा रहा है—पद्मोत्पलादिरस-साधित पेया—पद्म (लालकमल), उत्पल (नीलकमल), इनका केशर, पृश्निपर्णी=पिठवन, प्रियंगु=फूलप्रियंगु—इनको जल में पकायें । उस साधित रस में पेया तैयार करें । यह पेया रक्तपित्त के रोगियों के लिए हितकर होती है ।

वक्तव्य—पेया का निर्माण प्रायः षडंग-परिभाषा के अनुसार करने का शास्त्रीय आदेश है—'षडङ्ग-परिभाषैव प्रायः पेयादिसम्मता' । **षडंग-परिभाषा**—'यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादिप्रयुज्यते । कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि' । यथा—एक कर्ष द्रव्य को लेकर उसे दो प्रस्थ जल में पकायें । पकाने के बाद जब १ प्रस्थ शेष रह जाये, तो शीतल होने पर उसे छान लें । इस रस में शालि, साठी आदि के चावलों को इच्छानुसार पका कर उसकी पेया बनाकर सेवन करायें ।

चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत् सनागरे । किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च ॥४५॥
धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वानां वा रसे शृता । मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथ वा ॥४६॥
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे । सिद्धाः पारावतादीनां रसे वा स्युः पृथक् पृथक् ॥४७॥
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः । यवाग्वः कल्पना चैषा कार्या मांसरसेष्वपि ॥

रक्तपित्त में यवागू—उसी प्रकार (षडंग परिभाषा के अनुसार) १. चन्दनादिरस-साधित यवागू—लालचन्दन, खश, पठानी लोध, सोंठ—इनका क्वाथ करके लिये गये रस से साधित (बनायी गयी) पेया रक्तपित्त में हितकारक होती है । २. किराततिक्तादिरस-साधित यवागू—उसी प्रकार चिरायता, खश, नागर-मोथा—इनका क्वाथ करके प्राप्त रस से साधित पेया रक्तपित्त में हितकर होती है । ३. धातक्यादिरस-साधित यवागू—धव का फूल, जवासा, सुगन्धवाला तथा बेल की गुद्दी—इनका क्वाथ करके प्राप्त रस से साधित पेया रक्तपित्त में हितकर होती है । ४. मसूरादिरस-साधित यवागू—मसूर की दाल, पृश्निपर्णी (पिठवन)—इनका क्वाथ करके प्राप्त रस से साधित यवागू रक्तपित्त में हितकर होती है । ५. स्थिरादिरस-साधित यवागू—स्थिरा (सरिवन) और मूंग की दाल का क्वाथ करके प्राप्त रस से साधित यवागू रक्तपित्त में हितकर होती है । ६. हरेणुकारस-साधित यवागू—हरेणुका (रेणुका) का क्वाथ करके प्राप्त रस से साधित यवागू रक्तपित्त में हितकर होती है । ७. बलारस-साधित यवागू—बला (बरियारा) का क्वाथ करके प्राप्त रस से साधित घृत मिश्रित यवागू रक्तपित्त में हितकर होती है । ८. पारावतादिरस-साधित यवागू—अथवा पारावत आदि पक्षियों के मांसरस से साधित यवागू रक्तपित्त में हितकर होती हैं । इस प्रकार रक्तपित्त-नाशक नौ यवागुओं का वर्णन कर दिया गया है । इनका निर्माण करके जब ये स्वाभाविक रूप से शीतल हो जायें, तब इनमें से किसी एक में मधु और चीनी मिलाकर रोगी को सेवन कराना चाहिए । ऊपर जो अलग-अलग विधियाँ कही गयी हैं, उन्हीं के अनुसार मांसरस का साधन करके फिर उस मांसरस से यवागुओं का साधन कराना चाहिए । तदनन्तर मांसरस-सिद्ध उन यावागुओं को मांस खाने वाले रक्तपित्त रोगियों को सेवन करायें ।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ४३ के उत्तरार्ध में तन्त्रकार ने प्रतिज्ञा की है—'यवागूनां कल्पः प्रवक्ष्यते' । आचार्य इसके बाद अगले ४४वें पद्य में 'पेया' का निर्देश करने के बाद ८ यवागुओं का निर्देश किया गया है । चक्रपाणि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया । दूसरे टीकाकारों ने पेया को यवागू और यवागू को पेया लिखने में कोई संकोच नहीं किया है ।

पेया तथा यवागू में अन्तर—पेया-निर्माण-विधि—'द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले । सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया' । फलश्रुति—'पेया लघुतरा ज्ञेया ग्राहिणी धातुपुष्टिदा' । यवागू-निर्माण-विधि—'यवागूः षड्गुण-जले सिद्धा स्यात् कृशरा घना । तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हिता ॥ फलश्रुति—'यवागूर्ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी' । शा० सं० म० खं० अ० २ । इस दृष्टि से पेया और यवागू में सिद्धान्ततः महान् अन्तर है । विशेष देखें—चरक सू० अ० २ श्लोक १७ से ३३ तक और सु० सू० अ० ४६।३४४ ।

श्रीडल्हणाचार्य का मत—'मण्डं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत्। चतुर्दशगुणे पेया विलेपी तु चतुर्गुणे' ॥ इसी प्रकरण में वे आगे लिखते हैं—'चतुर्विधं भवेद् भक्तं जलदानप्रमाणतः। तत्र भक्तं विलेपी त यवागू पेयया सह' ॥ पेया तथा यवागू का सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत है। **पेया**—चावल, जौ, गेहूँ का बनाया गया वह पदार्थ है जो पीने योग्य हो, जैसे—साबूदाना, बारली आदि चावलों से जो पेया बनायी जाती है, उसमें चावल भली-भाँति घुल जाते हैं, दिखलायी नहीं देते। **यवागू**—यह विलेपी से कुछ गाढ़ी होती है। इसे दलिया या पतली खिचड़ी कहा जा सकता है।

निष्कर्ष—पेया हल्की (सुपाच्य) होती है। यवागू उससे गुरुतर होने के कारण कुछ देर में पचती है। रक्तपित्त के रोगी को इन दोनों का प्रयोग उनके अग्निबल को देखकर कराया जा सकता है। यही तन्त्रकार का तात्पर्य रहा होगा, अन्यथा वे यवागू-कल्प की प्रतिज्ञा करके सर्वप्रथम पेया का निर्देश कर तदनन्तर यवागू का निर्देश न करते। आप भी ध्यान दें—इसके बाद वे मांसरस-सिद्ध यवागू-सेवन की आज्ञा दे रहे हैं, जो सामान्य यवागू से गुरुतर होती है। यह तन्त्रकार का अपना स्वतन्त्र उपदेश-क्रम है।

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम्। वातोल्बणे तित्तिरिः स्यादुदुम्बररसे शृतः॥
मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः। रसे [1]बिल्वोत्पलादीनां वर्तकक्रकरौ हितौ ॥५०॥
तृष्यते तिक्तकैः सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम्। सिद्धं विदारिगन्धाद्यै[2]रथवा शृतशीतलम् ॥५१॥

रक्तपित्त में मांसरस-प्रयोग—रक्तपित्त के रोगी को यदि विबन्ध (कोष्ठबद्धता=Constipation) हो तो—१. बथुए के साथ शश (खरगोश) का मांसरस देना हितकर होता है। यदि वातप्रधान रक्तपित्त हो तो—२. गूलर के रस के साथ तीतर का मांसरस देना हितकर होता है। ३. प्लक्ष (पकड़ी) के रस से सिद्ध किया हुआ मोर का मांसरस, ४. अथवा बरगद के रस से सिद्ध किया हुआ कुक्कुट (मुर्गा) का मांसरस, ५. बेल की गुद्दी और नीलकमल आदि (इसी प्रकार के गुणों से युक्त अन्य द्रव्य) के रस से सिद्ध किया हुआ वर्तक (बटेर) तथा क्रकर (कयार या केकड़ा) का मांसरस रक्तपित्त में हितकर होता है। यदि रक्तपित्त के रोगी को प्यास अधिक लग रही हो तो तिक्तक द्रव्यों के क्वाथ से साधित (पकाया गया) जल अथवा फलोदक (प्यास को दूर करने वाले फलों—खजूर, मुनक्का, फालसा, सन्तरा, मोसम्मी आदि का रस) अथवा विदारिगन्धादिगण के द्रव्यों को डालकर पकाकर शीतल किया जल पीने के लिए दें।

वक्तव्य—विबन्धनाशक पत्रशाकों में वास्तुक (बथुआ) प्रमुख है। खरगोश का मांसरस कषाय होने के कारण इस रोग में हितकर है। यही स्थिति अन्य काष्ठौषधियों की उपर्युक्त मांसरसों के साथ है।

क्रकर-परिचय—सुश्रुत में लाव, तित्तिर आदि १९ व्याहल (चोंच और दोनों पंजों से चोट करके अपने दाने को चुगते हैं, अतः इन्हें व्याहल कहा है) तथा विष्किर (बिखेर कर खाने वाले) पक्षियों की चर्चा में एक 'क्रकर' का भी नाम लिया गया है। इनके सामूहिक मांसों के गुणों का वर्णन इस प्रकार है—'लघवः शीतमधुराः कषाया दोषनाशनाः'। सु० सू० अ० ४६।५९। इसके आगे का वर्णन भी पढ़ें—'वातपित्तहरा वृष्या मेधाग्निबलवर्धनाः। लाघवः क्रकरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः' ॥ सु० सू० अ० ४६।६३।

विदारिगन्धादिगण—यहाँ पूर्व टीकाकारों (आचार्य चक्रपाणि आदि) ने इसके स्थान पर लघुपंचमूल (सरिवन, पिठवन, भटकटैया, वनभंटा और गोखरू) का ग्रहण किया है। सुश्रुत-सूत्रस्थान अ० ३८ में उक्त गण के द्रव्यों की चर्चा इस प्रकार है—शालपर्णी, विदारी, महाबला, नागबला, गोक्षुर, पृश्निपर्णी, शतावरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, बृहतीद्वय, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपदी, वृश्चिकाली, कपिकच्छू। आप इस गण के द्रव्यों के गुण-धर्मों पर विचार करके देखें, कि क्या सुश्रुतोक्त ये द्रव्य रक्तपित्त-नाशक हैं, यदि नहीं तो क्यों ?

ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च। जलं पिपासवे दद्याद् विसर्गाद[3]ल्पशोऽपि वा ॥५२॥

१. 'बिसोत्पलादीनाम्' इति पा०।
२. 'शृतशीतमथापि वा' इति पा०।
३. 'बहुशोऽपि वा' इति पा०।

रक्तपित्त में जलदान-विधि—रोगी के कफ तथा वातदोषों को अनुबल, शारीरिक बल तथा आहार करने एवं उसको पचाने की शक्ति को भली-भाँति जानकर पानी पीने के इच्छुक रोगी को तृप्ति होने तक अथवा थोड़ा-थोड़ा अनेक बार पीने के लिए जल दें।

वक्तव्य—सामान्य स्थिति में भी अधिक जल पीना या जरा भी जल न पीना दोनों ही प्रकार हानिकारक होते हैं। इसलिए थोड़ा-थोड़ा जल कई बार में पीना चाहिए। उसकी भी मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए। देखें—'अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनार्थं मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि' ॥ राजनिघण्टु।

यहाँ वातदोष की अनुकूलता होने पर, शारीरिक बल के ठीक दीखने पर, आहार-पाचन का क्रम ठीक दिखलायी देने पर इच्छानुसार जल पिलाया जा सकता है, क्योंकि वातदोष के कारण उसका पीया हुआ वह जल शीघ्र ही सूख जायेगा। कफदोष के अनुबल होने पर तथा शारीरिक बल की क्षीणता होने पर आहार ठीक तरह न पच रहा हो तो थोड़ा-थोड़ा जल पीने को दें।

ज्ञात्वा दोषावनुबलौ—उक्त श्लोक का यह प्रथम पाद अन्य पादों की तुलना में 'अनुष्टुप्' छन्द की लक्षण-सीमा का उल्लंघन कर रहा है। यह निश्चय ही सम्पादकीय अथवा मुद्राराक्षसीय भूल है। हमारे विचार से यह पाद ऐसा होना चाहिए—'दोषावनुबलौ ज्ञात्वा'।

निदानं रक्तपित्तस्य यत्किञ्चित् सम्प्रकाशितम्। जीवितारोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः ॥

रक्तपित्त में निदान-परिवर्तन—रक्तपित्त रोग का जो कोई भी कारण कहा गया है, अर्थात् जिन आहार-विहारों का सेवन करने से रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति होती है, जीवनपर्यन्त आरोग्य (रक्तपित्त रोग से मुक्ति) प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को उन सबका परित्याग कर देना चाहिए। अर्थात् वे पुरुष उन सभी पदार्थों का सेवन न करें।

वक्तव्य—'निदानपरिवर्जन' सभी प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्टों की संक्षिप्त एवं स्थायी चिकित्सा है।

इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तनुत्। वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवतां च यत् ॥५४॥

सबल रोगियों के कर्तव्य की प्रस्तावना—इस प्रकार (यहाँ तक) क्रमशः रक्तपित्तरोग-नाशक अन्न (आहार), पान (पेया) आदि का निर्देश कर दिया है। अब इसके बाद अधिक (बढ़े हुए) दोष वाले रक्तपित्त के बलवान् रोगियों के लिए जो कर्तव्य है, उसे कहा जा रहा है।

वक्तव्य—यह पूर्व-पर सम्बन्ध-स्थापक पद्य है। इस प्रकार के पद्यों का प्रयोग प्रायः सभी तन्त्रकार अपनी-अपनी रचना में करते हैं।

अक्षीणबलमांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्। बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः ॥५५॥
काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम्। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च ॥५६॥

रक्तपित्त में वमन-विरेचन—जिस रक्तपित्त के रोगी का अभी तक बल (शारीरिक और मानसिक) तथा मांस क्षीण न हुआ हो एवं जिसका रक्तपित्त रोग सन्तर्पण के कारण उत्पन्न हुआ हो, जिसके शरीर में अधिक (बढ़े हुए) दोष हों, इस प्रकार का बलवान् रक्तपित्त का रोगी जो संशोधन (आवश्यकता के अनुसार वमन-विरेचन) करने के योग्य हो, साथ ही उक्त रोग किसी प्रकार के उपद्रव या उपद्रवों से युक्त न हो तो इस प्रकार के रक्तपित्त के रोगियों के ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन और अधोग रक्तपित्त में वमन का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वास्तव में यह रोग की परिस्थिति को देखकर उसके अनुसार चिकित्सा करने का सामान्य निर्देश मात्र है।

सन्तर्पण—'द्राक्षादाडिमखर्जूरीकदलीघृतमधुशर्करायुक्ते लाजचूर्णे'। अथवा—'द्राक्षादाडिमखर्जूरकदलीशर्करान्वितम्। लाक्षाचूर्णं समध्वाज्यं सन्तर्पणमुदाहृतम्' ॥ राजनिघण्टु। 'अतिभोजने', सु० सू० अ० ४४। अति-

तृप्तौ, 'रसादिवर्धकनवान्नमद्यातिसेवने'। चक्रदत्त, ज्व० चि०। इस प्रकार के आहारद्रव्यों के सेवन करने के कारण भी रक्तपित्त की उत्पत्ति हो जाती है।

त्रिवृतामभयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा। त्रायमाणां गवाक्ष्या वा मूलमामलकानि वा ॥५७॥
विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम्। रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः ॥५८॥

रक्तपित्त में विरेचक द्रव्य—बुद्धिमान् चिकित्सक रक्तपित्त रोग में विशेष करके जिन रोगियों को विरेचन कराना हो, उनके लिए—सफेद निशोथ का चूर्ण, हरीतकी का चूर्ण, अथवा अमलतास का गूदा, अथवा त्रायमाणा या इन्द्रायण की जड़, या आँवलों का रस, इनमें पर्याप्त मधु और चीनी मिलाकर सेवन करने के लिए दें। विशेष करके उक्त विरेचक द्रव्यों का रस, स्वरस या क्वाथ का प्रयोग लाभकर होता है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार 'रस' शब्द से मांसरस का प्रयोग करने की अनुमति देते हैं। किन्तु तन्त्रकार को यह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि ऊपर के पद्य की भाषा पर ध्यान दें—'तेषां रसः प्रशस्यते'।

वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः। सशर्करं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा ॥५९॥
वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु। [1]अधोवहे रक्तपित्ते वमनं परमुच्यते ॥६०॥

रक्तपित्त में वामक द्रव्य—अधोगामी रक्तपित्त रोग में वमन कराने के लिए मदनफल का चूर्ण सत्तू में मिला लें, उसमें चीनी और मधु मिलाकर रोगी को खिलायें। उसके बाद उसे चीनी का शर्बत या ईख का रस पर्याप्त मात्रा में पिला दें। अथवा इन्द्रजौ, नागरमोथा, मदनफल, मुलेठी—इन सबको समान मात्रा में लेकर कूट-पीसकर कपड़छन कर लें। इस चूर्ण में मधु मिलाकर सेवन करने से वमन होता है, जो इस स्थिति में अत्यन्त लाभदायक होता है।

वक्तव्य—चीनी का शरबत या ईख के रस को दूसरे योगों के साथ भी देना चाहिए।

ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिः क्रमो हितः। अधोगते यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली ॥६१॥

संशोधन के पश्चात् कर्म—इस प्रकार वमन, विरेचन द्वारा संशोधन कर लेने के बाद ऊर्ध्वग रक्तपित्त वाले जिस रोगी का कोष्ठ शुद्ध हो चुका है, उसकी तर्पण सम्बन्धी चिकित्सा करें और अधोगत रक्तपित्त के जिस रोगी का कोष्ठ शुद्ध हो चुका है, उसे यवागू आदि का प्रयोग उस स्थिति में करायें जब कि वातदोष बलवान् न हो।

वक्तव्य—यदि वातदोष का प्रकोप हो तो उसे स्निग्ध (घृत युक्त) यवागू का प्रयोग कराना चाहिए। मांस-भक्षण करने वालों को मांसरस द्वारा साधित यवागू अथवा केवल मांसरस यथाविधि दें।

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्। ज्वलनादित्यसन्तप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ॥६२॥
गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम्। अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद् रक्तपित्तिनम् ॥
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया। शस्यते रक्तपित्तस्य परं साऽथ प्रवक्ष्यते ॥६४॥

संशमन-चिकित्सा—शारीरिक बल, मानसिक बल तथा मांस जिस रक्तपित्त के रोगी का क्षीण हो चुका है, जो शोक से, बोझा ढोने से, रास्ता चलने से कृश हो चुका है, आग या सूर्य के ताप से जिसका शरीर संतप्त हो चुका है, या अन्य किन्हीं रोगों से क्षीण हो चुका है; इस प्रकार के रक्तपित्त के रोगी, गर्भिणी, वृद्ध, बालक, रूक्ष (घृत, तैल आदि के संयोग से रहित), अल्प (आवश्यकता से कम), प्रमित (नपा-तुला) भोजन करने वाले तथा जिस रोगी को न वमन कराया जा सके और न विरेचन ही कराया जा सके, ऐसे रक्तपित्त के रोगी के लिए तथा जिस रक्तपित्त के रोगी में राजयक्ष्मा-रोग के लक्षण दिखलायी दे रहे हों, ऐसी स्थिति में संशमनी (दोषों को शान्त करने वाली) चिकित्सा उत्तम होती है। इसके अनन्तर यहाँ उस संशमनी चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है।

१. 'अधोगे रक्तपित्ते तु' इति पा०।

अटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः। मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हणः ॥६५॥

१. **अटरूषकादि क्वाथ**—अड़ूसा की पत्ती, मुनक्का, छोटी हरीतकी—इन सबको समभाग में लेकर इनका क्वाथ बनायें। शीतल हो जाने पर इसमें मधु और चीनी मिलाकर पीने से श्वास, कास तथा रक्तपित्त रोग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—अटरूषक अथवा आटरूषक दोनों ही नाम एकार्थवाचक हैं। प्रयोग दोनों शब्दों का देखा जाता है।

अटरूषकनिर्यूहे प्रियङ्गुं मृत्तिकाञ्जने। विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत् ॥६६॥

२. **अटरूषकादि क्वाथ**—अड़ूसा की पत्ती के क्वाथ में प्रियंगु (फूलप्रियंगु), मृत्तिका (वल्मीक-मृत्तिका, सौराष्ट्रमृत्तिका या कालीमिट्टी), अञ्जन की भस्म, पठानी लोध तथा मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्त रोग का शमन होता है।

वक्तव्य—उक्त क्वाथ में प्रियंगु आदि का कल्क १ तोला और मधु १ तोला मिलाकर पीयें। ऐसे योगों में चूर्ण, गुटिका, शहद, घी आदि का प्रमाण १ तोला कहा गया है।

पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वां वास्तूकमुत्पलम्। नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥

पद्मकादि क्वाथ—पद्मक (पद्माख=पद्मकाष्ठ), कमल का केसर, दूब, बथुआ का शाक, उत्पल (नीलकमल), नागपुष्प (नागकेसर), पठानी लोध—इनका उपर्युक्त विधि से प्रयोग करें।

वक्तव्य—उपर्युक्त विधि से अड़ूसे के क्वाथ में ऊपर कहे गये पद्मकाष्ठ आदि द्रव्यों का कल्क मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए।

प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाश्वशकृद् रसे। यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद् रसे ॥६८॥
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना। युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद् गोश्वशकृद् रसम् ॥

१. **रक्तपित्तशामक योग**—१. पुंडरिया काठ का चूर्ण तथा मुलेठी का कल्क—इन दोनों को घोड़े की लीद के रस में शहद मिलाकर दें। २. जवासा और भाँगरे की जड़ का चूर्ण तण्डुलोदक के साथ मिलाकर पिलाना चाहिए। ३. अथवा गाय के गोबर और घोड़े की लीद के रस में मात्रानुसार मधु तथा घी मिलाकर चाटें।

खदिरस्य प्रियङ्गूणां कोविदारस्य शाल्मलेः। पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपित्तिकः ॥

२. **रक्तपित्तशामक योग**—खैरसार, फूलप्रियंगु, कोविदार (कचनार) तथा सेमल के फूलों के चूर्ण को रक्तपित्त का रोगी मधु के साथ चाटे।

भृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि। लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ॥७१॥

३. **रक्तपित्तशामक योग**—सिंघाड़ा, धान का लावा, नागरमोथा, खर्जूर (पिण्डखर्जूर), कमल-केशर—इनके चूर्णों को रक्तपित्त का रोगी मधु के साथ चाटे।

धन्वजानामसृग् लिह्यान् मधुना मृगपक्षिणाम्। सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत् ॥

रक्तपित्त में रक्त का प्रयोग—धन्व (जांगल) प्रदेश में उत्पन्न मृग तथा पक्षियों के रक्त को मधु के साथ चाटना चाहिए। यदि रक्तपित्त रोग में निकलने वाले उस रक्त में गाँठें पड़ गयी हों, तो कबूतर की बीट (मल) को चूर्ण करके शहद के साथ चाटना चाहिए।

उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियङ्गुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः।
पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः ॥ ७३ ॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।

रक्तपित्तनाशक उशीरादिचूर्ण—१. खस, २. कालीयक (सुगन्धि पीतकाष्ठ), ३. पठानी लोध, ४. पद्मकाष्ठ, ५. फूलप्रियंगु, ६. कायफल का छिलका (नैनीताल, अल्मोड़ा जिलों में इसके फल बड़े चाव से

खाये जाते हैं, यह जंगली फल है), ७. शंखभस्म, ८. शुद्ध किया हुआ स्वर्णगैरिक—इन सभी द्रव्यों के चूर्ण तैयार कर लें तथा लालचन्दन के चूर्ण के समान मात्रा में इनको मिलाकर रख लें। इस चूर्ण को चावलों के धोवन में खाँड या चीनी घोलकर पीने से रक्तपित्त, तमक-श्वास, प्यास तथा दाह का शमन होता है।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक में उशीर (खस) आदि आठ द्रव्यों से आठ योगों की रचना की गयी है। अब आप किसी एक द्रव्य का चूर्ण लें, उसके समान लालचन्दन का चूर्ण लें, तदनन्तर चावलों के धोवन में चीनी या खाँड घोलकर शरबत तैयार कर लें। उस शर्बत में उक्त चूर्ण को मिलाकर पीने से रक्तपित्त आदि रोगों में शीघ्र लाभ होता है। यह योग ऊर्ध्वग तथा अधोग दोनों मार्गों से आने वाले रक्त को रोकता है।

किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ॥ ७४ ॥
ह्रीबेरमूलानि पटोलपत्रं दुरालभा पर्पटको मृणालम्।
धनञ्जयोदुम्बरवेतसत्वङ्न्यग्रोधशालेययवासकत्वक् ॥ ७५ ॥
तुगालतावेतसतण्डुलीयं[1] ससारिवं मोचरसः समङ्गा।
पृथक् पृथक् चन्दनयोजितानि तेनैव कल्पेन हितानि तत्र ॥ ७६ ॥

किराततिक्तादि चूर्ण—१. किराततिक्त (चिरायता), २. क्रमुक (सुपारी, मद्रमुस्तक, कपास के फल, पट्टिका लोध, देवदारु), ३. नागरमोथा, ४. पुण्डरिया काठ, ५. लालकमल, ६. नीलकमल, ७. सुगन्धबाला का मूल, ८. परवल की पत्ती, ९. धमासा, १०. पित्तपापड़ा, ११. मृणाल (कमलनाल), १२. अर्जुन की छाल, १३. गूलर की छाल, १४. बेत की छाल, १५. बरगद की छाल, १६. शालेय (मधुरिका, बालमूलक, मिश्रेया) की छाल, १७. जवासा की छाल, १८. वंशलोचन, १९. लता, २०. वेतस, २१. चौलाई, २२. अनन्तमूल, २३. मोचरस, २४. समंगा (मजीठ)—इन द्रव्यों को पृथक्-पृथक् लेकर समान मात्रा में लें। प्रत्येक के समान लाल चन्दन का चूर्ण मिलाकर पहले कहे गये (उशीरादि चूर्ण) की भाँति सेवन करने से रक्तपित्त आदि में हितकर होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर किराततिक्तादि चूर्ण में २४ द्रव्यों का वर्णन है। इनको अलग-अलग लेकर 'तेनैव कल्पेन' पहले कहे गये कल्प की भाँति सेवन करना है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के चूर्ण को लालचन्दन के समान (१ माशा) लें, इतनी ही उसमें चीनी या खाँड मिलायें। इन सबको तण्डुलोदक (चावल के धोवन) में घोलकर पीने से रक्तपित्त आदि रोगों में शीघ्र लाभ होता है।

द्रव्य-मात्रा-निर्णय—'माषिकं हिङ्गुसिन्धूत्थलवणाद्यास्तु शाणिकाः। सितोपलागुडक्षाराः समा एव प्रकल्पिताः॥ अग्निवेशतन्त्र।

सन्दिग्ध द्रव्य-निर्णय—ऊपर कहे गये योग में 'वेतस' द्रव्य को निर्णयसागरीय प्रति में दो बार पढ़ा गया है। पाठभेद के अनुसार दूसरे 'वेतस' के स्थान पर 'केशर' द्रव्य का उल्लेख है। **लता**—भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसका पर्याय अलग-अलग दिया है। कोषकारों ने इस द्रव्य को गुडूची, लताकस्तूरी, (मुश्कदाना) काष्ठसारिवा, मञ्जिष्ठा, दूर्वा, फूलप्रियंगु, श्वेतसारिवा, ज्योतिष्मतीलता—इतने अर्थों का वाचक कहा है। हमारे विचार से यह दूर्वा (दूब) है। मञ्जिष्ठा के रूप में भी इसको स्वीकार किया जा सकता था, किन्तु इसका वाचक 'समङ्गा' शब्द आगे आया है। जिन्होंने २५ द्रव्यों की गणना की है, वह सर्वथा भ्रामक है।

निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्कीकृता वा मृदिताः शृता वा।
एते समस्ता गणशः पृथग्वा रक्तं सपित्तं [2]शमयन्ति योगाः ॥ ७७ ॥

उक्त योगों का विधि-निर्देश—ऊपर श्लोक ७३ से ७६ तक कहे गये इन सभी औषधद्रव्यों को गण के रूप में अथवा अलग-अलग द्रव्यों के रूप में इनके चूर्णों का शीतकषाय, स्वरस, कल्क अथवा क्वाथ बनाकर सेवन करने से ये योग पित्त सहित रक्त (रक्तपित्त) का शमन करते हैं।

---

१. 'केशरतण्डुलीयम्' इति पा०। २. 'शमयन्त्युदीर्णम्' इति पा०।

वक्तव्य—आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने 'कल्कीकृताः' के स्थान पर 'फाण्टीकृताः' पाठ स्वीकार किया है और 'मृदिताः' के स्थान पर 'चूर्णीकृताः' पाठ को आदर दिया है। किन्तु आचार्य चक्रपाणि ने अपनी टीका में इन शब्दों के आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'निशि स्थिता वा इत्यनेन शीतकषाय उच्यते। मृदिता इति फाण्टीकृताः, कल्कग्रहणेन चूर्णस्यापि ग्रहणं क्रियते। यतः—'क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः शृतश्च शीतश्च तथैव फाण्टः (चूर्णम्)। कल्पाः पठेते खलु भेषजानां यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः' ॥ सु० सू० अ० ४४।९१। इति। अन्ये तु चूर्णमपि फाण्टशब्देन गृह्यत इति ब्रुवते। यदा तत्र फाण्टग्रहणादेव स पाठः सुश्रुते प्रमाणं, तदा चूर्णशब्देन च कल्पान्तरमेवोच्यते। इह तु फाण्टस्य श्रुतत्वात् कृष्णात्रेयादिपठित एव फाण्टो ग्राह्यः। यदुक्तं—क्षुण्णस्य सलिले तप्ते मृदितस्योद्धृतस्य च। यो रसो गृह्यते तज्ज्ञैः स फाण्टः सम्प्रकीर्तितः' ॥ इति। तेनेह निर्द्रवः कल्क एव चूर्णशब्देनोच्यते'।

गणशः पृथग् वा—गणशः शब्द से चक्रपाणि आदि प्राचीन टीकाकारों ने तीन गणों को स्वीकार किया है—१. उशीरादिगण, २. किराततिक्तादिगण, ३. तुगादिगण। पृथक् शब्द से उशीर आदि प्रत्येक द्रव्य को अलग-अलग लेने का निर्णय लिया है। गणरूप में प्रयोग करते समय चन्दन को मात्र एक भाग लेना चाहिए।

मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन।
बलाजले पर्युषिताः कषाया रक्तं सपित्तं शमयन्त्युदीर्णम् ॥ ७८ ॥

प्रवृद्ध रक्तपित्त-चिकित्सा—मूँग की दाल, धान का लावा (खील), जौ, पिप्पली, खश और नागरमोथा—इन सभी द्रव्यों को जौकुट (दरदरा कूट) करके उस चूर्ण को बरियारा के क्वाथ में सायंकाल भिगो दें, फिर प्रातःकाल इसे छानकर पीने से बढ़ा हुआ रक्तपित्त का वेग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—इस योग का प्रयोग प्रातः-सायं दो बार करना चाहिए। इसलिए सायंकाल का भिगोया हुआ प्रातःकाल पीने को दें और प्रातःकाल का भिगोया हुआ सायंकाल पीने के लिए दें। **मात्रा-निर्देश**—मूँग आदि द्रव्यों का चूर्ण २ तोला, जल आधा पाव लें। महर्षि वाग्भट ने भी इसी योग को रक्तपित्त की चिकित्सा के लिए उद्धृत किया है—'चन्दनोशीरजलदलाजमुद्गकणायवैः। बलाजले पर्युषितैः कषायो रक्तपित्तहा' ॥ अष्टाङ्गहृदय चि० अ० २।३०।

बलाजले पर्युषिताः—श्री चक्रपाणि के अनुसार—'बलाजल इति बलासाधितशीतजले। पर्युषिताः कषाया इति, शीतकषायाः'। अन्य टीकाकारों ने श्री चक्रपाणि के नाम से इस प्रकार टिप्पणी दी है—'बलाजले इति बलासाधितार्धशृतजले'। देखें—श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता।

वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥ ७९ ॥

रक्तपित्तशामक योग—वैदूर्यमणि की भस्म, मुक्ताभस्म, शुद्ध गेरू, काली मिट्टी, शंखभस्म, सुवर्णभस्म, आँवला, सुगन्धबाला—इनके चूर्ण को पूर्ववत् जल के साथ लें। अथवा मधूदक (शहद के शर्बत) या ईख के रस के साथ पीने से रक्तपित्त रोग का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—वैदूर्यमणि से सुवर्णभस्म तक के द्रव्यों में जिसे जो उपलब्ध हो सके, किसी एक द्रव्य की भस्म को रात में पानी भिगा में दें। सुबह छानकर उसे पी लें और आँवला अथवा सुगन्धबाला के भिगाये गये चूर्ण को पहले हाथ से मसलकर तब छानें। श्लोकोक्त द्रव्यों की व्यवस्था के अनुसार—१. वैदूर्य, मुक्ता, मणि, गैरिक को एक योग मानें और २. मृत् (मिट्टी), शंख, हेम (सुवर्ण), आमलक, उदक (सुगन्धबाला) इन्हें दूसरा योग मानें। इन दो योगों में से किसी एक को बिना भस्म किये इसी प्रकार भिगोकर छान लें। उस जल को पी लें। यह भी एक प्रकार है। इस प्रकार के शीतकषाय को पीने के बाद शहद का शरबत अथवा ईख के रस का सेवन करें। इस श्लोक का परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी अनुकरण किया है।

ऊपर प्रथम योग में गेरू और दूसरे योग में मिट्टी है। इस जल को अत्यन्त कुशलता के साथ निथारें, जिससे गेरू अथवा मिट्टी के कण निथारे हुए जल में न रह सकें।

उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः ।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥ ८० ॥

रक्तातियोग में उशीरादि पेय—खश, लालकमल, नीलकमल, चन्दन, इनको अथवा पकी हुई मिट्टी को जल में भिगा देने के बाद ऊपरी भाग में जो स्वच्छ जल मिले उसमें शीतल जल, चीनी और मधु मिलाकर सेवन करने से अधिक मात्रा में निकलने वाला रक्तपित्त का रक्त रुक जाता है ।

वक्तव्य—यहाँ 'प्रसाद' शब्द का अर्थ 'स्वच्छ एवं परिस्रुत जल' है । 'सुशीतः' का अर्थ है—शीतकषाय । उक्त पद्य में दो पेयों का वर्णन है । वाग्भट ने उक्त योग में 'उत्पल' के स्थान पर मृत्तिका का प्रयोग किया है । पक्वलोष्टप्रसाद पेया का प्रचार ग्रामीण जीवन में भी पर्याप्त मात्रा में देखा जाता है और इससे लाभ भी होता है । कुछ प्रतियों में 'पङ्कस्य लोध्रस्य' पाठ भी मिलता है, ध्यान दें ।

प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम् ।
समृतप्रसादं सह [1]यष्टिकाम्बुना सशर्करं रक्तनिबर्हणं परम् ॥ ८१ ॥

प्रियङ्ग्वादि पेय—फूलप्रियंगु, चन्दन, पठानी लोध, अनन्तमूल, महुआ, नागरमुस्ता, अभय (खस), धाय के फूल—इन द्रव्यों को कूट-पीसकर पानी में भिगा दें । बाद में निथारे हुए इस जल में पकी हुई मिट्टी को भी भिगा दें । उसके बाद निथारे हुए जल को मुलेठी के पानी में भिगा दें । तत्पश्चात् निथारे हुए उस जल में चीनी मिलाकर पीने से वेग युक्त रक्तपित्त को यह रोकता है, अतः यह सर्वश्रेष्ठ पेय है ।

वक्तव्य—१. उपरोक्त प्रियंगु आदि द्रव्यों को एक साथ मिलाकर इनका शीतकषाय तैयार करने के लिए उन द्रव्यों का जौकुट चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को 'षडंगपानीय परिभाषा' के अनुसार छः गुने पानी में सायंकाल भिगा दें । प्रातः उठकर उसे मसलकर कपड़े से छान लें । २. मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर कई बार पानी में बुझायें । यह जल जब स्थिर हो जाये, तो इसे ले लें । ३. साठी के चावलों को छः गुने जल में भिगो दें । कुछ समय भीग जाने के बाद उन्हें दोनों हाथों से मसलकर धो डालें । यह जल भी जब टिक जाये, तो धीरे से पानी को निथार लें । इस प्रकार अलग-अलग संग्रह किये हुए तीनों जलों को समभाग एक में मिलाकर इसमें चीनी या मिश्री को घोलकर शर्बत बना लें । इसको पीने से रक्तपित्त का शमन होता है ।

उक्त श्लोक के तृतीयपाद में निर्णयसागरीय प्रति में 'यष्टिकाम्बुना' पाठ है, किन्तु चरकसंहिता के अन्य संस्करणों में इसके स्थान पर 'षष्टिकाम्बुना' पाठ मिलता है । परवर्ती महर्षि वाग्भट ने भी यहाँ 'षष्टिक' शब्द का ही प्रयोग किया है । देखें—'तद्वदच्छः सितालोध्रमधुकोशीरचन्दनात् । मृच्छ्यामाशारिवामुस्ताधातकीषष्टिकान्वितात्' ॥ अष्टाङ्गसंग्रह-चिकित्सास्थान । इन्होंने एक ही जल में एक ही बार सभी द्रव्यों को डालने की बात कही है, उसी में से स्वच्छ जल लेना है ।

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तैर्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च ।
यद् रक्तपित्तं प्रशमं न याति तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम् ॥ ८२ ॥
छागं पयः स्यात् परमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणे जले वा ।
सशर्करं माक्षिकसम्प्रयुक्तं विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा ॥ ८३ ॥

वातानुबन्धज रक्तपित्त में कर्तव्य—उपर्युक्त विविध प्रकार के कषाय आदि के प्रयोगों से जब जठराग्नि तीव्र हो जाती है और कफदोष क्षीण हो जाता है और इतना होने पर भी जो रक्तपित्त शान्त न होकर बार-बार उसके वेग उत्पन्न हो रहे हों तो उस (रक्तपित्त) में वातदोष का अनुबन्ध समझना चाहिए । इतना समझने के बाद निम्नलिखित चिकित्सा करें—उस वातानुबन्धज रक्तपित्त रोग में सर्वप्रथम बकरी का दूध या पाँच गुना जल में पकाया हुआ गाय का दूध अथवा विदारिगन्धादिगण (विशेष देखें—च० चि० अ० ४।५१ का वक्तव्य) के द्रव्यों द्वारा पकाया गया गाय का दूध चीनी और शहद मिलाकर पीने के लिए दें ।

---

१. 'षष्टिकाम्बुना' इति पा० ।

द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा ।
सजीवकं सर्षभकं सर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा ॥ ८४ ॥

द्राक्षादि पाँच योग—१. अथवा मुनक्का के कल्क से साधित गाय का घी, २. सोंठ के कल्क से पकाया हुआ गाय का दूध, ३. बरियारा की जड़ के कल्क द्वारा सिद्ध गाय का दूध, ४. गोखरू के क्वाथ से पकाया गया गाय का दूध, ५. अथवा जीवक, ऋषभक (अष्टवर्गोक्त द्रव्यों के) कल्क द्वारा तैयार किये गये गाय के घी में गाय का दूध व चीनी मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए ।

शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः ।
रक्तं निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात् सरुजं प्रयाति ॥ ८५ ॥

मूत्रपथप्रवृत्त रक्तपित्त-चिकित्सा—शतावर तथा गोखरू के कल्क से पकाये गये अथवा चारों पर्णिनियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) के कल्क से पकाये गये गाय के दूध का सेवन कराने से रक्तपित्त का प्रकोप शान्त हो जाता है । विशेष करके रक्तपित्त का जो रक्त मूत्रमार्ग से पीड़ा के साथ निकलता है, उसकी शान्ति के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए ।

विशेषतो विट्पथसम्प्रवृत्ते पयो मतं मोचरसेन सिद्धम् ।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा ॥ ८६ ॥

गुदमार्गगत रक्तपित्त-चिकित्सा—१. जब रक्तपित्त का रक्त गुदमार्ग से निकल रहा हो तो, उन रक्तपित्त रोग में मोचरस के कल्क द्वारा साधित गाय के दूध के सेवन से, २. या बरगद के प्ररोह (नीचे को लटकती हुई बरगद की जड़ें) अथवा बरगद के शुंग (पत्ता निकलने के पहले जो टूसा निकलता है, उसे वटशुंग कहते हैं ।) के कल्क द्वारा पकाये गये गाय के दूध का प्रयोग करने से, ३. अथवा ह्रीबेर (सुगन्धवाला, नीलकमल और सोंठ के कल्क से साधित गाय के दूध का सेवन करने से रोग का शमन होता है ।

कषाययोगान् पयसा पुरा वा पीत्वाऽनु चाद्यात् पयसैव शालीन् ।
कषाययोगैरथवा विपक्वमेतैः पिबेत् सर्पिरतिस्रवे च ॥ ८७ ॥

अन्य चिकित्सा—अथवा अटरूषकादि कषाय-योगों का जो पहले (श्लोक ६५ से) कहे गये हैं, उनको दूध में मिलाकर सेवन करने के बाद उसी प्रकार के गाय के दूध के साथ शालिचावलों का भात खाना चाहिए । अथवा उक्त रोग में रक्त के अधिक निकल जाने पर इसी प्रकरण में पहले कहे गये कषाय-योगों के क्वाथ तथा उन्हीं के कल्क से साधित गाय का घी पीना चाहिए ।

वक्तव्य—इसी अध्याय के ६५ वें श्लोक से लेकर रक्तपित्त का शमन करने वाले कुछ कषाय-योगों का वर्णन किया गया है । इन्हीं के क्वाथ रस तथा कल्क से दूध, घी, भात आदि को तैयार कर उक्त किसी एक क्वाथ द्वारा साधित दूध के साथ भात को खाना चाहिए ।

वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः ।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥ ८८ ॥
इति वासाघृतम् ।

वासाघृत—अडूसा की शाखा, पत्ती तथा जड़ को लेकर इनका यथाविधि क्वाथ तैयार करें । उस क्वाथ के रस तथा अडूसा के फूलों के कल्क से गोघृत का पाक करें । इस घी में मधु मिलाकर सेवन करने से शीघ्र ही रक्तपित्त रोग की शान्ति होती है ।

वक्तव्य—इस योग में अडूसा के पंचांग द्वारा घृतपाक करने का निर्देश दिया गया है । उसकी विधि इस प्रकार है—अडूसा की पत्ती, शाखा, मूल इन द्रव्यों को षडंग परिभाषा के अनुसार (२ सेर द्रव्य १६ सेर जल) लेकर चतुर्थांश जल शेष रहने पर छानकर रख लें । इस क्वाथरस द्वारा १ सेर गाय के घी का पाक करें । घृत का पाक करते समय अडूसा के फूलों का ४ छटांक कल्क भी मिला दें । पक जाने पर एक दिन बाद उसे छानकर रख लें ।

वहाँ आर्द्र (गीला) अडूसा का प्रयोग करना तन्त्रकार को अभीष्ट है। इसमें घृत से चौथाई मधु होना चाहिए। 'स्नेहपादः स्मृतः कल्कः कल्कवन्मधुशर्करे'। परिभाषाप्रदीप। अग्निवेश भी इसका समर्थन करते हैं—'मात्रा क्षौद्रघृतानां च स्नेहक्वाथेषु पूर्ववत्'॥ पूर्ववत् का तात्पर्य चौथाई प्रमाण से है।

पलाशवृन्तस्वरसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवेण।
लिह्याद् घृतं वत्सककल्कसिद्धं तद्वत् समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम् ॥ ८९ ॥
स्यात् त्रायमाणाविधिरेष एव सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे।
सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते ॥ ९० ॥

अन्य पाँच घृतयोग—१. डंठी सहित पलाश (ढाक) के पत्तों के स्वरस और उसी के कल्क से यथाविधि पकाये हुए गाय के घी में (चतुर्थांश) मधु मिलाकर रक्तपित्त के रोगी को चाटना चाहिए। २. उसी प्रकार इन्द्रजौ के कल्क से पकाये गये गाय के घी का सेवन करें। ३. उसी प्रकार समंगा (मजीठ या लाजवन्ती), नीलकमल, पठानी लोध—इनके कल्क द्वारा घी को पकाकर उसमें मधु मिलाकर सेवन करें। ४. त्रायमाणा के कल्क से घृत का पाक करके मधुमिश्रित कर सेवन करें। ५. और गूलर तथा परवल के पत्तों के कल्क से घृत का पाक करके उसके शीतल हो जाने पर उसमें मधु मिलाकर सेवन करें। तथा जिन घृतों का प्रयोग पित्तज्वर में उसकी शान्ति के लिए किया जाता है, उन सभी घृतों का सेवन रक्तपित्त रोग में प्रशस्त होता है।

वक्तव्य—पित्त में दाहकारिता प्रधान गुण है और घृत दाहशामक द्रव्यों में प्रमुख है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ सभी प्रकार के औषधसिद्ध घृतों का प्रयोग विहित है। महर्षि वाग्भट ने उक्त योग को इस प्रकार दिया है—'पलाश के कोमल पत्तों, पुष्पों एवं टूसों के स्वरस तथा कल्क द्वारा पहले घृत-पाक करना चाहिए। तैयार हो जाने पर उसमें मधु मिलाकर चटायें। उसी प्रकार त्रायमाणा के योग से साधित घृत में भी मधु मिलाकर चटायें। ये दोनों घृत रक्तपित्त का नाश कर देते हैं।

निर्माण-विधि—गाय का ताजा घी १ भाग और घी के प्रमाण से चौथाई उक्त द्रव्यों का कल्क उसमें मिलाकर यथाविधि पाक करना चाहिए।

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि सेकावगाहाः शयनानि वेश्म।
शीतो विधिर्बस्तिविधानमग्र्यं पित्तज्वरे यत् प्रशमाय दिष्टम् ॥ ९१ ॥
तद् रक्तपित्ते निखिलेन कार्यं कालं च मात्रां च पुरा समीक्ष्य।
सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्यस्ते रक्तपित्तं शमयन्ति सद्यः ॥ ९२ ॥

रक्तपित्त में अभ्यंगादि योग—पित्तज्वर में होने वाली दाह की शान्ति के लिए जो अभ्यंग, परिषेचन, (स्नान), सेक (फुहारे आदि से शरीर को सींचना), अवगाहन (शीतल जल से भरे हुए टब में सम्पूर्ण शरीर को डुबाना), शीतल किया हुआ बिस्तरा, शीतल गृह (शीत-ताप-नियन्त्रित गृह) और भी शीतल उपचार, शीत वस्तियों का विधान जिनका उल्लेख पित्तज्वर की शान्ति के लिए बतलाया गया है, वे सभी विधियाँ रक्तपित्त-रोग के रोगी की चिकित्सा में काल, मात्रा आदि का विचार कर उनका यथावत् प्रयोग करना चाहिए। क्षत रोग में जो सर्पिर्गुड आदि जिनको हितकर कहा गया है, उन-उनका प्रयोग करने से वे उपचार शीघ्र ही रक्तपित्त का शमन करते हैं।

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते कण्ठागते स्याद् ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य ॥ ९३ ॥

रक्तपित्त में क्षार-प्रयोग—जब रक्तपित्त के कारण निकलने वाला रक्त कफ का अनुबन्ध होने के कारण गाँठदार हो जाता है और वह ऊर्ध्वग रक्तपित्त में गले तक आकर कण्ठ में फँसने (रुकने) लगता है। इस अवस्था में युक्तिपूर्वक कमलनाल के क्षार को मधु-घृत में मिलाकर देना चाहिए। इसके प्रयोग से रक्त की गाँठें घुलकर (गलकर) आसानी से बाहर निकल जायेंगी।

वक्तव्य—यहाँ रक्तपित्तज रक्त कफदोष के कारण जमकर गाँठदार होकर गले से निकलने में कष्ट देता है, उसको दूर करने का उपाय कहा है। सभी क्षार कफ को गला देते हैं। जैसे—सोडा डाल देने से मटर, चना आदि दालें शीघ्र गल जाती हैं। 'तत्र क्षरणात् क्षणनाद् वा क्षारः'। सु० सू० अ० ११।४। चरक में भी इसी अर्थ का समर्थन किया है—'भित्वा भित्वाऽऽशयान् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः'॥ यह दो प्रकार का होता है—१. प्रतिसारणीय (व्रणलेपन आदि में) और २. पानीय (सोडावाटर आदि)। यदि क्षार को जल आदि के संयोग से मृदु कर लिया जाता है, तो वह सौम्य हो जाता है। अतः यह सौम्य बना लेने पर रक्तपित्त में भी सहायक होता है।

मृणालपद्मोत्पलकेशराणां तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः।
तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥ ९४ ॥

कतिपय-अन्य क्षार—कमलनाल, कमलकेशर, नीलकमल का केशर, पलाश, फूलप्रियंगु, महुआ तथा विजयसार के क्षार का प्रयोग मधु व गाय के घी के साथ पूर्वोक्त विधि से ही प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—क्षारपाक विधि का विशेष वर्णन सु० सू० अ० ११ में देखें।

शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं काकोलिमेदे मधुकं विदारीम्।
पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य घृतं पचेत् क्षीरचतुर्गुणं ज्ञः ॥ ९५ ॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं तद् रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात्।
यत् पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि ॥ ९६ ॥

इति शतावर्यादिघृतम्।

शतावर्यादि घृत—शतावर की जड़, अनार का छिलका (कुछ फूल या बीजों का प्रयोग करने की सलाह देते हैं), तिन्तिडीक (विषांबिल), काकोली, मेदा, मुलेठी, विदारीकन्द, फलपूरक (बिजौरा नीबू) की जड़—इन सभी द्रव्यों को पानी के साथ पीसें। जब कल्क तैयार हो जाये, तब विद्वान् चिकित्सक चौगुने गाय के दूध से गाय के घी का पाक करें। इस घृत का सेवन करने से कास, ज्वर, आनाह (अफारा), विबन्ध (कब्जियत), शूल तथा रक्तपित्त का शमन होता है।

पञ्च पञ्चमूलघृत—पाँच प्रकार के पञ्चमूलों में कहे गये द्रव्यों का कल्क बनाकर पूर्वोक्त विधि द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत शतावरीघृत के समान ही कार्य करता है।

वक्तव्य—पञ्च पञ्चमूलों का विशेष परिचय हम च० चि० अ० १ श्लोक ४१-५७ 'ब्राह्मरसायन' के वक्तव्य में विस्तारपूर्वक दे चुके हैं, वहाँ देखें। सामान्य दृष्टि से इनके नाम हैं—१. क्षुद्रपञ्चमूल, २. महत्पञ्चमूल (दोनों मिलाकर दशमूल होता है), ३. मध्यपञ्चमूल, ४. जीवनपञ्चमूल, ५. तृणपञ्चमूल। तन्त्रान्तरों में इनके नाम-भेद—मध्यपञ्चमूल को वल्लीपञ्चमूल और जीवनपञ्चमूल को कण्टकीपञ्चमूल कहा गया है। **निर्माण-विधि**—शतावरी अथवा पञ्च पञ्चमूल के द्रव्यों का कल्क १ पाव, गाय का घी १ सेर, गाय का दूध ४ सेर—इन द्रव्यों से घी का पाक करना चाहिए। मात्रा—एक तोला या आधा तोला।

अष्टांगसंग्रहकार ने शतावरीघृत में काकोली और मेदा का ही ग्रहण किया है। किन्तु चरक के टीकाकार श्रीशिवदास 'काकोल्यादिमेदे' पद में मध्यमपदलोपी समास स्वीकार कर 'काकोली सहिते मेदे' ऐसा विग्रह करते हैं। ऐसा विग्रह करने से एक द्रव्य की वृद्धि हो जाती है—काकोली, मेदा, महामेदा। तन्त्रान्तर द्वारा श्रीशिवदास द्वारा उद्भावित मत की पुष्टि भी होती है।

कषाययोगा य इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः।
घ्राणात् प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेन्निःसृतदुष्टदोषम् ॥ ९७ ॥

नासागत रक्तपित्त की चिकित्सा—जब नासिका के छिद्रों से रक्तपित्तजनित रक्त निकल रहा हो, तो प्रारम्भ में ही उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जब दोष युक्त रक्त निकल जाये, तब शुद्ध रक्त को रोकने का यत्न करना चाहिए। इसके लिए जिन कषाय-योगों को इस अध्याय में कहा गया है, उनका अवपीड नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—'अवपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततस्तु सः'। पथ्यापथ्य ४ सं०। जिस द्रव्य से अवपीड नस्य तैयार करना हो, उसे भलीभाँति पीसकर कपड़े के टुकड़े से निचोड़कर रस निकाल लें। उन बूँदों को नाक

के छिद्रों में डाला जाता है। इसे अवपीड नस्य कहते हैं। यह कार्य-भेद से दो प्रकार का होता है—१. शोधन नस्य और २. स्तम्भन नस्य। इस रक्तपित्त-चिकित्सा के प्रकरण में सभी अवपीड नस्य स्तम्भक (रक्तरोधक) ही कहे गये हैं।

रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः।
रक्तं सपूयं [1]कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः क्रमयश्च दुष्टाः॥ ९८॥

रक्तनिरोधज व्याधियाँ—स्तम्भक अवपीड नस्य के प्रयोग से यदि दूषित रक्त को रोक दिया जाता है, तो दुष्ट प्रतिश्याय, शिरोरोग, नासिका से पूययुक्त रक्त का बहना, नासिका से सड़े हुए मुर्दे की-सी दुर्गन्ध का आना, नासिका द्वारा किसी प्रकार की गन्ध का ज्ञान न होना और दोष-युक्त क्रिमियों का नासिका के भीतर से निकलना—ये सब लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ९७ द्वारा निर्दिष्ट शास्त्रीय अनुशासन का उल्लंघन करने के कारण ही ये व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः दूषित रक्त का स्तम्भन कभी नहीं करना चाहिए।

नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन।
नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा सधातकीमोचरसः सलोध्रः॥ ९९॥

रक्तपित्त में अवपीड नस्य—१. नीलकमल का फूल, गेरू, शंखभस्म, चन्दन—इन द्रव्यों के चूर्ण को चीनी के शरबत से पीस लें। इसको स्वच्छ वस्त्र में रखकर निचोड़कर उस रस का अवपीड नस्य दें। २. आम की गुठली का रस, समंगा (मजीठ) का रस, धाय का फूल, मोचरस और पठानी लोध—इनको उसी प्रकार (चीनी के शरबत से पीसकर) स्वच्छ वस्त्र में रखकर निचोड़ लें। उस रस का अवपीड नस्य दें।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार उक्त पद्य के उत्तरार्द्ध में पठित एक-एक द्रव्य के रस का अलग-अलग अवपीड नस्य देने की अनुमति दे रहे हैं; किन्तु ऐसा अर्थ श्लोक की शब्दावली से प्रत्यक्षतः प्राप्त नहीं है। उपर्युक्त श्लोक की दूसरी पंक्ति में गिनायी हुई आम की गुठली के साथ रस शब्द यह संकेत करता है कि इसे अन्य द्रव की आवश्यकता नहीं है। समंगा आदि द्रव्य भी यदि गीले उपलब्ध हो जाते हैं, तो इनके स्वरसों का भी प्रयोग चिकित्सक रक्तपित्त के रक्त को रोकने के लिए किया करते हैं। यदि ये द्रव्य सूखे मिलते हैं तो इनके चूर्ण को इस 'तथा' शब्द के आधार पर चीनी के शरबत के साथ पीसकर उस रस का अवपीड नस्य दें।

द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम्॥ १००॥

१. **अवपीड के अन्य योग**—१. और द्राक्षा (मुनक्का) के रस की, २. ईख के रस की, ३. गाय के दूध की, ४. दूब के स्वरस की, ५. जवासामूल के स्वरस की, ६. प्याज के रस की, ७. दाडिम के फूल के स्वरस की अवपीड नस्य देने से नासिका से निकलने वाला रक्तपित्त का रक्त शीघ्र शान्त हो जाता है।

प्रियालतैलं मधुकं पयश्च सिद्धं घृतं माहिषमाजिकं वा।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यं ससारिवैः स्यात् कमलोत्पलैश्च॥ १०१॥

२. **अवपीड के अन्य योग**—और १. प्रियाल (चिरौंजी) के तेल को मधुक (मुलेठी) के कल्क तथा गाय के दूध के साथ पकाकर अवपीड नस्य देना चाहिए। २. भैंस अथवा बकरी के घी को मुलेठी के कल्क तथा गाय के दूध के साथ पकाकर अवपीड नस्य देना चाहिए। ३. आम की गुठली (पूर्व के श्लोक ९९ के उत्तरार्ध में जो योग कहा है) आदि को गाय के दूध के साथ पीसकर उसका कल्क बना कर इसे साफ कपड़े में डालकर निचोड़ लें। इस रस का अवपीड नस्य दें। ४. सारिवा (अनन्तमूल), लालकमल, नीलकमल—इनको अलग-अलग दूध के साथ पीसकर इनके कल्क को कपड़े से छानकर अवपीड नस्य दें।

वक्तव्य—आयुर्वेद सार्वभौम चिकित्सा-प्रणाली है। कोई द्रव्य कहीं उपलब्ध हो पाते हैं और कोई कहीं, इसलिये विविध प्रकार के योगों का वर्णन करना तन्त्रकार को अभीष्ट है। कभी रोग की सामान्य-विशेष स्थितियों को दृष्टि में रखकर तर-तम भेद से भी योगों का निर्देश देखा जाता है।

१. 'कुणपैः सगन्धम्' इति पा०।

भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च।
उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या॥ १०२॥
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलनां कुशकाशयोश्च।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः॥ १०३॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च।
उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे॥ १०४॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथाऽवगाहे घृततैलसिद्धौ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक् प्रयुञ्ज्यात्॥ १०५॥

प्रदेह-परिषेचनोपयोगी द्रव्य—भद्रश्री (सफेद चन्दन), लालचन्दन, पुण्डरियाकाठ, लालकमल, नीलकमल, खश, वानीर (जलवेतल), जल (सुगन्धवाला), मृणाल (कमलनाल), सहस्रवीर्या (दूब), मुलेठी, पयस्या (विदारीकन्द), शालि-धान की जड़, ईख की जड़, जवासा की जड़, गुन्द्रा (गुनरख) की जड़, नरकट की जड़, कुश की जड़, काश की जड़, कुचन्दन (बकम काष्ठ), सेंवार, अनन्तमूल, कालानुसार्या (तगर), गन्धतृण, ऋद्धि, कमलों की जड़, सभी प्रकार के कमलों के फूल, कमल वाले तालाब के कीचड़ (अर्थात् तालाब में जहाँ कमल उगे हों उनके जड़ों के पास की मिट्टी) का लेप, गूलर, पीपल, महुआ, पठानी लोध तथा कषायरस-प्रधान एवं शीतवीर्य वाले सभी वृक्ष—इनका प्रयोग रक्तपित्त रोग की शान्ति के लिए प्रदेह, परिषेचन, अवगाहन क्रियाओं के लिए करना चाहिए। इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क से घी एवं तैल का पाक कर चिकित्सा के लिए उपयोग में लाना चाहिए। इस प्रकार रक्तपित्त की शान्ति चाहने वाले चिकित्सक को चाहिए कि भद्रश्री इत्यादि द्रव्यों का रक्तपित्त की शान्ति के लिए प्रयोग करे।

धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्।
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः॥ १०६॥

रक्तपित्त में शीतलद्रव्य-प्रयोग—रक्तपित्त रोग के कारण उत्पन्न दाह की शान्ति के लिए धारागृह (फुहारे वाला घर), सुशीतल भूमिगृह (तहखाना या Underground) शीतल जलवायु से युक्त मनोहर बगीचा, वैदूर्य, मुक्ता, मणि, शीतल स्पर्श वाले कांसे आदि के पात्र का स्पर्श और भी शीतल जल से ठंडे किये गये द्रव्यों का स्पर्श दाह-नाशन में हितकर होता है।

पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमं च शीतं कदलीदलानि।
प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः॥ १०७॥

दाहशान्ति के अन्य विधान—जल में उत्पन्न होने वाले पत्र तथा पुष्प, शीतल क्षौम (अलसी के तन्तुओं से निर्मित वस्त्र अथवा रेशमी) वस्त्रों को धारण करना, केले के पत्ते, लालकमल एवं नीलकमल के पत्ते बिछौनों तथा आसनों पर बिछाने और ओढ़ने के लिए श्रेष्ठ कहे गये हैं।

प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्।
दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः॥ १०८॥

वराङ्गनाओं का आलिंगन—रक्तपित्तजनित दाह में फूलप्रियंगु तथा सफेद चन्दन के चूर्ण (अथवा घोल) को अंग-अंगों में लगायी हुई मनोहर वरांगनाओं (श्रेष्ठ युवती स्त्रियों) के स्पर्श=आलिंगन प्रशंसनीय होते हैं और शीतल जल से शीतल किये हुए लालकमलों अथवा नीलकमलों का स्पर्श तथा मयूरपंखों की शीतल हवाएँ उत्तम होती हैं।

वक्तव्य—'कलापवाताः' इसका चक्रपाणि-सम्मत अर्थ इस प्रकार है—'कलापवाता इति पद्मोत्पलसमूहकृतवाता इत्यर्थः'। अमरसिंह के अनुसार यह शब्द अनेकार्थवाची है—'कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च'। अमरकोष।

सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम् ।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् ॥ १०९ ॥

रक्तपित्त में मनोनुकूल चर्या—नदियाँ, ह्रद (बड़े-बड़े सरोवर), हिमालय, पहाड़ की कंदराएँ, चन्द्रोदय (पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने) का दृश्य, कमलसमूह का दर्शन करना, मन के अनुकूल मित्रों द्वारा सुनायी गयी कथाएँ और सभी शीतोपचार रक्तपित्त का शमन करते हैं।

वक्तव्य—अन्य परिस्थितियों में भी इन उपकरणों से पर्याप्त मानसिक तथा आध्यात्मिक शान्ति मिलती है। काश्मीर में जल-विहार के लिए नावों पर घर बने होते हैं, जिन पर पर्यटक तथा वहाँ के निवासी मनोविनोद के लिए निवास करते हैं।

तत्र श्लोकौ—

हेतुं वृद्धिं संज्ञां स्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य । मार्गौ साध्यमसाध्यं याप्यं कार्यक्रमं चैव ॥११०॥
पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनं च शमनं च । गुरुरुक्तवान्यथावच्चिकित्सिते रक्तपित्तस्य ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रक्तपित्तचिकित्सितं
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में दो श्लोक कहे गये हैं—रक्तपित्तचिकित्सा नामक इस अध्याय में अग्निवेश के गुरु महर्षि आत्रेय ने विधिपूर्वक रक्तपित्त रोग के हेतु (निदान), वृद्धि (दोषों का वृद्धतर-वृद्धतम) स्वरूप, संज्ञा (नाम-निर्धारण की सार्थकता), स्थान (ऊपर-नीचे) तथा लक्षणों का अलग-अलग वर्णन किया है। रक्तपित्त के दो मार्गों, साध्य-असाध्य और याप्य का लक्षण, चिकित्सा का क्रम, हितकर अन्न-पान, त्याज्य आहार एवं संशोधन-संशमन चिकित्सा का निर्देश किया है।

वक्तव्य—रक्तपित्त रोग में दूषित रक्त के निकलने के नौ मार्गों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। ऊपरी मार्गों से ७, अधोमार्गों से २। तदनन्तर अत्यन्त प्रकुपित अवस्था में यह समस्त रोमकूपों से भी निकलने लगता है। इसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे रोग हैं, जिनमें उक्त मार्गों द्वारा रक्त निकलता है। रक्तपित्त का निदान करते समय इन रोगों के भेदक लक्षणों पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे—उरःक्षयजनित कास में रक्तष्ठीवन और रक्त की कै होना, नकसीर का फूटना—प्रायः गर्मी के दिनों में यह रोग देखा जाता है। उष्ण खान-पान इसका निदान है। रक्तातिसार तथा पित्तज प्रवाहिका में, रक्तार्श में, रक्तमेह में, मांजिष्ठमेह में, रक्तप्रदर आदि में रक्त किसी स्थान से किसी रोग के कारण जा रहा हो उसमें निर्णय यह करना होता है, कि यह दुष्टरक्त है या जीवरक्त। इसके लिए आगे चरक-सिद्धिस्थान अ० ६ श्लोक ७९-८० के विवेचन पर ध्यान दें। यदि जीवरक्त निकल रहा हो, तो उसको तत्काल रोकने का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। दुष्टरक्त को न रोकें, अपितु उसके लिए संशोधन-संशमन आदि चिकित्सा-प्रकारों को अपनाएँ।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्तत्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सा-
स्थान में रक्तपित्तचिकित्सित नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

रक्तपित्त रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से गुल्म-चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान में रक्तपित्त रोग के बाद गुल्म रोग का उल्लेख है। अतः उसी क्रम को आधार मानकर यहाँ गुल्म-चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है। गुल्म शब्द की निरुक्ति—'गुडवेष्टने (तु० प० से०) धातु से 'मक्' प्रत्यय हुआ है। संस्कृत-साहित्य में ड और ल को सवर्ण वर्ण स्वीकार किया गया है। यह अनेकार्थवाची शब्द है—'गुल्मः स्तम्बे प्लीहि वद्सैन्ययोः सैन्यरक्षणे'। इति विश्वः। इसकी रामाश्रमी टीका में लिखा है—'स्तम्बः=अप्रकाण्डः। गुल्म अप्रकाण्ड होता है। अतएव गर्भ-स्थिति और गुल्म-स्थिति में मूलतः भेद होता है। गुल्म की परिभाषा के लिए देखें—सु० उ० तं० अ० ४२।४-५।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० ३ में, च० चि० अ० ५ में, सु० उ० तं० अ० ४२ में, अ० सं० नि० अ० ११ में, अ० सं० चि० अ० १३ में, अ० हृ० नि० अ० ११ में तथा अ० हृ० चि० अ० १४ में देखें।

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः ।
चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ॥ ३ ॥

गुल्म-रोग की प्रस्तावना—सर्वश्रेष्ठ उपदेशक, प्राणिमात्र के लिए पिता के समान शरण देने (रक्षा करने) वाले, भूत और भविष्यत् के ईश (ज्ञाता) महर्षि पुनर्वसु ने गुल्मरोग को दूर करने के लिए गुल्म रोग की सिद्ध (अन्वर्थ) चिकित्सा का उपदेश दिया।

वक्तव्य—यद्यपि इन्होंने जिस-जिस रोग की चिकित्सा का वर्णन किया है वह सब सिद्ध हैं। फिर यहाँ अतिरिक्त सिद्ध पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का समर्थन करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने लिखा है—'अत्र प्रकरणे स्तुत्यर्थं सिद्धपदं ज्ञेयम्'। यह समाधान समीचीन है। महर्षि वाग्भट ने ७ प्रकार के सर्व साधारण गुल्मों का वर्णन कर आठवाँ गुल्म केवल स्त्रियों के गर्भाशय में होता है, बतलाया है। इसी को चरक तथा सुश्रुत ने भी माना है। सुश्रुत ने गुल्म को ५ प्रकार का माना है। आरम्भ में अन्तर्विद्रधि और गुल्म के निदान में भ्रम हो जाता है, किन्तु अन्तर्विद्रधि शीघ्र पक जाती है और पित्तज गुल्म या रक्तज गुल्म पक तो जाते हैं, पर बहुत देर में।

विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद् वा तैरेव वृद्धैः परिपीडनाद् वा ।
वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥ ४ ॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा ।
विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥ ५ ॥

गुल्म-रोग का निदान—विट् (विष्ठा या मल), कफ, पित्त—ये अधिक मात्रा में निकल जाने (स्राव होने) से, अथवा उन्हीं (मल, कफ, पित्त) का मात्रा से अधिक बढ़ जाने के कारण शरीर को पीड़ित (रुकावट पैदा) करने से, मल, मूत्र, अपानवायु के नीचे की ओर प्रवृत्त वेग को रोकने से, किसी प्रकार के बाहरी आघात (चोट आदि) के लगने से, किसी प्रकार का अधिक दबाव पड़ने के कारण, रूखे अन्न-पान का अधिक मात्रा में सेवन करने से, शोक से, चिकित्सा-विधियों का दुरुपयोग करने से अथवा शारीरिक चेष्टाओं का अधिक प्रयोग करने से कोष्ठ में वायु कुपित हो जाती है।

वक्तव्य—कोष्ठ का परिचय हम निदानस्थान में दे चुके हैं। इसके भेद-उपभेदों का भी विस्तृत वर्णन च० नि० अ० ३ में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है।

कफं च पित्तं च [1]स दुष्टवायुरुद्धूय मार्गान् विनिबद्ध्य ताभ्याम् ।
हृन्नाभिपार्श्वोदरवस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः ॥ ६ ॥

1. 'स दूषयित्वा प्रोद्धूय' इति पा०।

पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद् गुल्मो यथादोषमुपैति नाम॥ ७॥

गुल्म-रोग की सम्प्राप्ति—उक्त निदानोक्त कारणों से दूषित हुई वायु कफ तथा पित्त को उभाड़ कर तथा अपने-अपने स्थान से विचलित करके उनके मार्गों को अवरुद्ध कर देती है, तब वह वायु हृदय, नाभि, पार्श्व (पसलियों), उदर तथा वस्तिप्रदेश में शूल पैदा कर देती है और वह मार्ग के रुके होने के कारण नीचे को जाती है। वह वायु पक्वाशय, पित्ताशय अथवा कफाशय में स्वतन्त्र अथवा पराधीन होने कारण स्पर्श द्वारा जानी जा सकती है और वह पिण्ड के रूप में एकत्रित हुई वायु दोषानुसार गुल्म संज्ञा को प्राप्त होती है।

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें पद्य द्वारा वातज, पित्तज, कफज तथा सान्निपातिक गुल्मों की सम्प्राप्ति का वर्णन कर दिया गया है। जिस प्रकार रक्तपित्त में प्रत्येक भेद के साथ पित्त का सम्बन्ध अवश्य रहता है, कहा जा चुका है, ठीक उसी प्रकार गुल्म में वातदोष का सम्बन्ध सभी भेदों में रहेगा। इसके बाद कफ की प्रधानता में उसे कफज गुल्म, पित्त की प्रधानता में उसे पित्तज गुल्म और तीनों दोषों के रहने पर उसे सान्निपातिक गुल्म कहा जायेगा। अर्थात् इस रोग में वातदोष अनुबन्ध रूप में रहता है, शेष दोष अपने-अपने अवसर पर अनुबन्ध्य के रूप में रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वातगुल्म में वातदोष स्वतन्त्र होता है और कफज आदि गुल्मों में वह (वातदोष) पराधीन होता है।

यद्यपि पाँच प्रकार की वायु अपने-अपने स्थानों पर रहकर अपना-अपना कार्य करती हैं। किन्तु पक्वाशयगत वायु सामान्य स्थिति में अधोगामी होती ही है। उसका अन्य मार्गों की ओर प्रवृत्त होना विकार का स्वरूप है। जब वायु दूषित होकर कफ अथवा पित्त को लेकर अपने स्थान से बाहर की ओर को प्रवृत्त होती है, तो दोषों के बढ़ जाने से जब उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तो वह अधोमार्ग की ओर न जाकर अर्थात् अनुलोम न होकर विलोम (विपरीत मार्ग की ओर प्रवृत्त) हो जाती है। इस स्थिति में वह कुपित वायु ऊपर, नीचे, इधर-उधर जाने का प्रयास कर उन-उन अंगों में शूल उत्पन्न कर देती है। अतएव 'मार्गान्' इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

स्वतन्त्रः परसंश्रयः वा—स्वतन्त्र वायु पक्वाशय में रहती है। अतः वह वहाँ 'वातगुल्म' की उत्पत्ति करती है। परतन्त्र वायु पित्ताशय तथा कफाशय में रहती है। अतः क्रमशः पित्तगुल्म और कफज गुल्म की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार सन्निपातज गुल्म की भी उत्पत्ति होती है। एक रक्तगुल्म भी होता है, उसकी सम्प्राप्ति का निर्देश आगे किया जायेगा। आचार्य सुश्रुत ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है—'हृद्वस्त्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः। चयापचयवान् वृत्तः स गुल्म इति कीर्तितः'॥ सु० उ० तं० अ० ४२।४। श्रीवाप्यचन्द्र ने गुल्म की परिभाषा इस प्रकार दी है—'सम्पिण्डितदोषो गुल्मेन मीयते'।

वस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।
पञ्चात्मकस्य प्रभवं तु तस्य वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च॥ ८॥

गुल्म के पाँच स्थान—वस्ति, नाभि, हृदय तथा दोनों ओर की पसलियों के भीतर इस प्रकार पाँच प्रकार के गुल्मों की उत्पत्ति होती है। अतः ये गुल्मों के पाँच स्थान हैं। यह गुल्म पञ्चात्मक (वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त—इन दोष-दूष्यों से) होता है। उसके लक्षणों और चिकित्सा को मैं कह रहा हूँ।

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः॥ ९॥

वातज गुल्म का निदान—रूक्ष (तैल, घृत, वसा रहित) अन्न (आहार), पान (पेय) का विषम मात्रा में अथवा अधिक मात्रा में सेवन करना, वातवर्धक चेष्टाओं का विषम मात्रा में या अधिक मात्रा में सेवन करना; मल, मूत्र आदि के वेगों को रोकना; शोक, अभिघात, अधिक मात्रा में मल का क्षीण होना, अन्न का उचित मात्रा में सेवन न करना, अर्थात् अनशन या उपवास करना—ये सभी या प्रत्येक वातज गुल्म के कारण होते हैं।

यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च॥ १०॥
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते॥ ११॥

वातज गुल्म के रूप—जिस गुल्म का स्थान विकल्प हो, अर्थात् जो इधर-उधर खिसकता रहता हो या हिलता-डुलता हो (कभी नाभि के समीप, कभी वस्ति की ओर, कभी पसलियों की ओर और कभी हृदय की ओर स्पर्श करने पर प्रतीत होता हो—यह वायु के कारण एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता), संस्थान (आकृति या आकार) भी जिसका विकल्प (स्थिर न) हो, अर्थात् कभी छोटा और कभी बड़ा-सा प्रतीत होता हो, रुजा विकल्प (वेदना की विभिन्नता) अर्थात् कभी अत्यन्त वेदना, कभी सहन योग्य वेदना और कभी कुछ समय के लिए वेदना का अभाव हो जाना, विट्संग (कब्जियत का हो जाना), वातसंग (अपानवायु का सहसा रुक जाना, यह स्थिति अत्यन्त कष्टदायक हो जाती है), गला और मुख सूखने लगना, शरीर के वर्ण का श्याव अथवा अरुण (हल्का लाल) हो जाना, जाड़ा लगकर ज्वर का आना, हृदय, कुक्षि (पेट), पार्श्वों (पसलियों), कन्धों तथा शिर में पीड़ा का होना, भोजन के पच जाने पर वेदना का अधिक बढ़ जाना, भोजन करने के बाद वेदना का कम होना—इस प्रकार के लक्षणों से युक्त गुल्म को वातज गुल्म कहते हैं। इसमें रूक्षताकारक, कषाय, तिक्त तथा कटुरस-प्रधान आहार-विहार हितकर नहीं होते। इनसे वातज उपद्रव और भी बढ़ जाते हैं।

वक्तव्य—वातदोष चर स्वभाव का होता है। अतः इसके कारण उत्पन्न गुल्म में उक्त लक्षणों का होना स्वाभाविक है। वातदोष का रुजा-कर्तृत्व-गुण सुप्रसिद्ध है। देखें सुश्रुत—'वातादृते नास्ति रुजा'। भोजन करते समय कफदोष की वृद्धि होती है और भोजन के पच जाने पर वातदोष की वृद्धि होती है, अतएव दोष की मृदुता और अधिकता बतलायी गयी है।

कट्वम्ललतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा।
[1]आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम्॥ १२॥

पित्तज गुल्म का निदान—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही (दाहकारक) तथा रूक्षगुण-प्रधान अन्न (आहार) एवं पान (पेय) का अधिक मात्रा में सेवन करना एवं क्रोध का अधिक करना, मद्यपान की अधिकता, धूप (घाम) में अधिक देर तक बैठे रहना, देर तक आग का सेकना, आमदोष अधिक बढ़ जाना (पाठभेद के अनुसार अधिक परिश्रम करने के कारण) या आमरस का दूषित होना तथा शरीर में स्थित रक्त का दूषित होना—ये सब पित्तज गुल्म के कारण हैं।

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम्॥ १३॥

पित्तज गुल्म के रूप—ज्वर में तापमान की अधिकता, पिपासा (अधिक प्यास का लगना), मुख (चेहरा) तथा शरीर में लालिमा का दिखलायी देना, भोजन के पचने पर अत्यन्त शूल का होना, अधिक मात्रा में पसीने का निकलना, उदर-प्रदेश में जलन का अधिक होना, पच्यमान व्रण की भांति गुल्म-स्थान का स्पर्श करने पर अत्यन्त कष्ट का होना—ये सभी पित्तज गुल्म के रूप होते हैं।

वक्तव्य—जठराग्नि द्वारा जब भोजन का पाक होने लगता है, उस समय जठराग्नि तथा पित्ताग्नि के संयोग से वातदोष की वृद्धि होकर शूल का विशेष अनुभव होने लगता है। शेष लक्षण स्वयं पित्तदोष-वृद्धि के परिचायक हैं।

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसम्भवस्य सर्वस्तु दिष्टो निचयात्मकस्य॥ १४॥

---

१. 'श्रमाभिघातो' इति पा०।

कफज गुल्म का निदान—स्पर्श एवं वीर्य में शीत, मात्रा तथा पाक में गुरु और स्निग्ध अन्न (आहार), पान (पेय) का अधिक सेवन करना, शारीरिक श्रम का अभाव, तृप्तिकारक पदार्थों (घी, दूध आदि) का अधिक मात्रा में सेवन करना तथा ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त ऋतुओं में दिन में सोना—ये सब कफज गुल्म की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

सन्निपातज गुल्म का निदान—ऊपर वात, पित्त, कफजनित गुल्मों के जो-जो निदान कहे गये हैं, वे सभी लक्षण यदि एक साथ (तर-तम भाव से) किसी गुल्म के रोगी में दिखलायी दें, तो उसे सन्निपातज गुल्म कहते हैं।

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥ १५ ॥

कफज गुल्म के रूप—स्तैमित्य (गीले कपड़े से शरीर का ओढ़ा हुआ-सा प्रतीत होना), शीतपूर्वक (जाड़ा देकर) ज्वर का आना, शरीर का ढीलापन, जी मिचलाना, कास, भोजन के प्रति अरुचि, शरीर का भारीपन, स्पर्श करने पर शरीर का ठंडा प्रतीत होना, गुल्म को स्पर्श करने पर वेदना का कम होना, गुल्म का ठोस तथा ऊँचा अनुभव होना—ये सभी लक्षण कफज गुल्म के हैं।

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १६ ॥

द्वन्द्वज गुल्म के लक्षण—दो (वात-पित्तज, वात-कफज अथवा कफ-पित्तज) दोषों से उत्पन्न गुल्म में निदान (कारण), लक्षण (रूप) और दोषों के बलाबल को देखकर औषध-कल्पना करने के लिए अन्य मिश्रित लक्षणों वाले इनसे अतिरिक्त तीन और द्वन्द्वज गुल्म होते हैं। यथा—१. वात-पित्तज, २. वात-कफज, ३. कफ-पित्तज।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान में तन्त्रकार ने यह प्रतिपादित किया है कि गुल्म पाँच प्रकार के होते हैं, यथा—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज (इसी को 'निचयगुल्म' कहते हैं) और ५. शोणितगुल्म। किन्तु यहाँ जो द्वन्द्वज गुल्मों की कल्पना की गयी है, उसमें 'दोष-बलाबल' का विचार ही प्रधान कारण है, क्योंकि तन्त्रकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है—'न रोगोऽप्येकदोषजः'। कोई भी रोग एक दोष से उत्पन्न नहीं होता। वास्तव में द्वन्द्वज गुल्मों में भी एक-एक दोष प्रधान दूसरे अप्रधान माने जाते हैं। यही कारण है कि चरक-सूत्रस्थान के १९वें अष्टोदरीय नामक अध्याय में रोग-गणना के अवसर पर 'पञ्च गुल्माः' कहा गया है। मूलतः ऐसा देखा गया है, कि जो रोग विकृतिविषमसमवेत दोषज होते हैं, उनका तो पृथक् परिगणन तन्त्रकार यथास्थान कर देते हैं और जो प्रकृतिसमसमवेत दोषज होते हैं, उनका ये पृथक् निर्देश नहीं करते। रोग-गणना तथा निदान के अवसर पर गुल्मों को सिद्धान्ततः पाँच ही स्वीकार किया गया है। किन्तु चिकित्सा-प्रकरण को ध्यान में रखकर महर्षि आत्रेय ने जो विचार किया है, वह सचमुच प्रसंगोचित ही है।

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥ १७ ॥

त्रिदोषज गुल्म की असाध्यता—जिस गुल्म में असह्य वेदना हो, गुल्म के चारों ओर दाह हो रहा हो, पत्थर के समान ठोस और ऊँचा दिखलायी दे रहा हो, शीघ्र ही विदाह को प्राप्त होने वाला हो, जो दारुण (भयंकरता पूर्ण) हो, जो मन, शरीर तथा अग्नि (पाचकाग्नि) के बल का अपहरण करने वाला हो, उस त्रिदोषज गुल्मरोग को असाध्य कहना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये लक्षणों पर आप ध्यान दें। ये क्रमशः वात, पित्त, कफ की प्रकोपावस्था के लक्षण हैं। तीनों दोषों का प्रकुपित होना तथा मानसिक, शारीरिक एवं पाचकाग्नि के बल का नाश होना—ये उक्त रोग की असाध्यता में कारण हैं।

ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥ १८ ॥

रक्तगुल्म का निदान—ऋतुकाल में समुचित प्रकार का भोजन न करने से, भय से, रूक्षताकारक आहार-विहार का सेवन करने से, अधारणीय वेगों को धारण करने (रोकने) से, रक्तस्तम्भक औषध-प्रयोग से, उल्लेखन (वमन करने) से तथा योनि रोगों के कारण स्त्री को रक्तगुल्म हो जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि महर्षि आत्रेय ने कहा है कि उक्त कारणों से स्त्रियों में आर्तव-विकृतिजनित रक्तगुल्म हो जाता है। किन्तु इन्हीं के सहाध्यायी आचार्य क्षारपाणि का स्पष्ट कथन है कि रक्तगुल्म पुरुषों में भी देखा जाता है—'स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते'। क्षारपाणिसंहिता। अर्थ स्पष्ट है।

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥ १९ ॥

रक्तगुल्म के रूप—जो गुल्म हाथ, पैर, शिर अंगों से रहित केवल पिण्ड की आकृति का होकर कभी-कभी फड़कता है, जिसमें शूल होता है और जिसमें गर्भ के समान लक्षण पाये जाते हैं, वह आर्तवजनित रक्तगुल्म स्त्री को ही होता है। इसकी चिकित्सा दस मास बीत जाने पर ही करनी चाहिए।

वक्तव्य—काश्यपसंहिता अथवा वृद्धजीवकीयतन्त्र-खिलस्थान के 'रक्तगुल्मविनिश्चय' नामक ९वें अध्याय में इसके सम्बन्ध में कुछ विशेष चर्चा उपलब्ध है। अतः जिज्ञासु पाठक सम्पूर्ण अध्याय का अवलोकन करें। गर्भ-धारण करने के दिन से लेकर प्रसवकाल-पर्यन्त जो-जो लक्षण गर्भवती में देखे जाते हैं, वे सभी लक्षण रक्तगुल्म रोग से पीड़ित स्त्री में पाये जाते हैं। किन्तु 'नाङ्गैः स्पन्दते' यह गर्भ तथा गुल्म का प्रथम विभेदक लक्षण है। दूसरा लक्षण है—'सशूलः', क्योंकि गर्भ की उत्पत्ति स्वाभाविक प्रक्रिया है और गुल्म की उत्पत्ति दोषज विकृति है। फिर भी इसे 'समगर्भलिङ्गः' कहा गया है। इसमें रुग्णा को भी अपने गर्भवती होने का सन्देह बना रहता है। चिकित्सक भी इन समान लक्षणों से चिन्तित रहता है। काश्यपसंहिता के खिलस्थान के ९वें अध्याय में ५६ से ६० श्लोक तक गुल्म तथा गर्भ के कतिपय विभेदक लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है—

रक्तगुल्म	**सहज गर्भ**
निरङ्गः वृत्तः	अङ्ग-प्रत्यङ्गवान्
अव्याविद्धं विवर्तते	व्याविद्धं परिवर्तते
मन्दं मन्दं विवर्धते	अहन्यहनि वर्धते

इन लक्षणों का आभास रोगिणी को तीसरे मास से होने लगता है। सच तो यह है, कि हमें यहाँ गुल्म के साथ गर्भ की तुलना करनी है, इसलिए गर्भ के लक्षणों पर ध्यान देना पड़ रहा है। गर्भाधान होने के दिन से एक मास के भीतर रज-वीर्य का स्वरूप 'कलल' के सदृश हो जाता है। दूसरे मास में वह पहले की अपेक्षा गाढ़ा होकर पिण्ड की आकृति का होता है तो पुरुष; पेशी की आकृति का होता है तो स्त्री; यदि वह अर्बुद (रसौली) की आकृति का होता है तो उसे नपुंसक समझना चाहिए। उस रज-वीर्य की ऐसी स्थिति दूसरे मास के अन्तिम दिनों या तीसरे मास के प्रथम सप्ताह तक हो पाती है। समय की इस अवधि का निर्धारण गर्भिणी की शारीरिक स्थिति तथा उसको प्राप्त होने वाले पोषणतत्त्वों पर निर्भर करती है। तीसरे मास के अन्त तक उस गर्भ में पाँच चिह्न बन जाते हैं, जो हाथ, पाँव तथा सिर के प्रतीक होते हैं। किन्तु गुल्म में इस प्रकार के चिह्न नहीं होते।

इस विवेचन से तथा उक्त लक्षणों को ध्यान में रखने से दोनों का भली-भाँति परिचय प्राप्त हो जाता है। तथापि सावधानी एवं सतर्कता की दृष्टि से इसकी विशेष चिकित्सा 'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः।' दस मास बीत जाने के बाद ही करनी चाहिए। इसमें एक कारण यह भी है—'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'। अर्थात् रक्तगुल्म की चिकित्सा कुछ समय बीतने (पुराना हो जाने) पर करना ही उचित होता है। काश्यपसंहिता के अनुसार—'केचिदिच्छन्ति गुल्मस्य मासाद् द्वादशतः परम्'। यहाँ 'केचित्' शब्द से

महर्षि आत्रेय के मत का खण्डन किया गया है। वास्तव में इन्होंने खण्डन न करके उस चिकित्सा की कुछ अवधि और बढ़ा दी है। इस अवधि में उसका निर्हरण पके हुए फल की भाँति आसानी से हो सकता है।

कुछ विद्वान् उक्त वचन का यह अर्थ लगाते हैं, कि १० मास तक चिकित्सा ही नहीं करनी चाहिए। किन्तु तन्त्रकार का ऐसा मन्तव्य नहीं है। यदि सामान्य पीड़ा आदि लक्षण दिखलायी दें, तो निश्चित रूप से उनकी शमन-चिकित्सा करनी ही चाहिए। गर्भ को भी शल्य कहा गया है, सुख-प्रसव इसकी स्वाभाविक चिकित्सा है। शल्य-चिकित्सा के लिए सावधानी रखनी ही होगी, क्योंकि गर्भिणी को द्विहृदया कहते हैं। ऐसी स्थिति में चिकित्सक को दो प्राणियों के प्राणों की रक्षा करनी होती है।

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम्। प्रवक्ष्याम्यत ऊर्ध्वं च योगान् गुल्मनिबर्हणान्॥

गुल्म-चिकित्सा की प्रस्तावना—इस प्रकार के सिद्धान्तों का वर्णन करने के बाद अब मैं गुल्मरोगियों के गुल्मनाशक सिद्ध (जो कभी असफल नहीं होता, उस) चिकित्सा क्रम को तथा इसके आगे गुल्मरोग-नाशक योगों को इसी प्रकरण में कह रहा हूँ।

रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम्। बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत् ॥२१॥

वातज गुल्म-चिकित्सा

सिद्धान्त-निर्देश—रूक्षताकारक आहार-विहारों के सेवन करने एवं अधिक व्यायाम करने के कारण उत्पन्न होने वाले वातज गुल्म में यदि तीव्र वेदना हो रही हो, मल-मूत्र तथा मारुत (अपानवायु) का अवरोध हो गया हो, तो ऐसे रोगी की चिकित्सा सर्वप्रथम औषधसिद्ध स्नेहों (घृत, तेल आदि) से यथाविधि करनी चाहिए।

भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः। स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये॥

गुल्म में स्वेदन-विधि—स्निग्ध (घी, तेल आदि के योग से बनाया गया) भोजन, स्निग्ध पदार्थों का अभ्यङ्ग, स्निग्ध पेय, स्निग्ध निरूहवस्ति तथा अनुवासनवस्ति द्वारा स्नेहन करने के पश्चात् गुल्मरोग को शान्त करने के लिए चिकित्सक का कर्तव्य है, कि वह स्वेदन कराये।

स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्। भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति॥

स्वेदन की फलश्रुति—उपर्युक्त प्रकार से स्नेहन कराने के बाद स्वेदन करने से वह स्रोतों को कोमल बनाकर, बढ़े (प्रकुपित) हुए वातदोष को जीतकर अर्थात् वात को अनुलोम करके और विबन्ध को दूर करके गुल्मरोग का विनाश कर देता है।

वक्तव्य—इस प्रकरण में वातज गुल्म की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। स्नेहन, स्वेदन क्रियाएँ प्रकुपित वातदोष का अनुलोमन करती हैं। वातदोष स्वयं तो विविध प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता ही है, साथ ही कफ, पित्तवाही स्रोतों को तथा मल, मूत्र, अपानवायु के वेगों को भी रोक देता है। इसी को यहाँ 'विबन्ध' कहा गया है। स्नेहन तथा स्वेदन से शरीर के बाहरी एवं भीतरी सभी अवयव मृदु (कोमल) हो जाते हैं। अतः वात आदि सभी दोषों के मार्ग खुल जाते हैं। फलतः सर्वदेह चर (घूमने वाला) वायु अनुलोम हो जाता है। जिससे गुल्म के विकार शान्त होने लगते हैं।

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे। पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये ॥२४॥

गुल्म में स्नेह तथा वस्ति-प्रयोग—विशेष करके नाभि के ऊपरी भाग में पैदा होने वाले गुल्म में स्नेहपान कराना हितकर होता है। यदि वह गुल्म पक्वाशय (नाभि से निचले भाग) में हो, तो वस्ति का प्रयोग कराना चाहिए और यदि उदर-प्रदेश के किसी अंश में वह गुल्म हो, तो स्नेहपान तथा वस्ति दोनों का साथ-साथ प्रयोग कराना हितकर होता है।

वक्तव्य—यहाँ 'उदर' शब्द से आमाशय और पच्यमानाशय का ग्रहण किया गया है। चरक-निदानस्थान अ० ३ में कहा गया है कि गुल्म-रोगियों की उत्तम चिकित्सा है—वात को अनुलोम बनाये रखना। स्नेहप्रयोग का तात्पर्य यह है कि इससे कफ तथा पित्तदोष का शमन होता है।

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः। बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत्॥

वातज गुल्म में बृंहण-चिकित्सा—वातदोष के कारण उत्पन्न गुल्म में यदि वायु तथा मल का विबन्ध (रुकावट) हो, किन्तु पाचकाग्नि प्रदीप्त हो तो शरीरवर्धक स्निग्ध एवं उष्ण अन्न (आहार), पान (पेय) का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—बृंहण (शरीर की समस्त धातुओं को बढ़ाने वाले), स्निग्ध तथा उष्ण अन्न-पानों का प्रयोग शरीर को शक्ति-सम्पन्न करने के साथ वातदोष का शमन भी करता है, किन्तु जिस रोगी की पाचकाग्नि प्रबल हो, उसे ही बृंहण तथा स्निग्ध पदार्थ देने चाहिए। स्निग्ध पदार्थ आँतों को चिकना करके मल तथा वात को निकालने में सहायक होते हैं।

पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः। प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ॥२६॥

वातज गुल्म में चिकित्सा—वातदोष-प्रधान गुल्म में कफ एवं पित्त की वृद्धि न हो जाये, इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता हुआ चिकित्सक रोगी को बार-बार औषधसिद्ध स्नेहपान, निरूहवस्ति और अनुवासन-वस्ति का प्रयोग कराता रहे।

वक्तव्य—'कफपित्तानुरक्षिणा' चिकित्सकेन पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः प्रयोज्याः'॥ अर्थात् 'कफपित्तानुरक्षिणा' यह चिकित्सक का विशेषण है, इसका तात्पर्य यह है कि वात, पित्त, कफ इनकी धातु संज्ञा भी है। अतः इनका स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित परिमाण में बना रहना परम आवश्यक होता है। इसी को तन्त्रकार ने 'अनुरक्षा' (शरीर के अनुकूल रक्षा) कहा है, क्योंकि दोषों को वृद्धि तथा क्षय से बचाना ही उत्तम चिकित्सा है। यहाँ उस प्रकार के औषधद्रव्यों से स्नेह (घी) को सिद्ध कराना चाहिए जो वातनाशक हों और कफ एवं पित्त को बढ़ाने वाले न हों।

कफो वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा। यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते॥
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्। आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ॥२८॥

गुल्म में वात-रक्षा का प्रयत्न—उचित चिकित्सा द्वारा प्रवृद्ध वातदोष के वेग को जीत (अनुकूल कर) लेने के बाद यदि कफ, पित्तदोष और रक्तधातु का प्रकोप हो गया हो, तो जब जिस रोगी में जिस दोष का प्रकोप हो रहा हो, तदनुसार उस दोष को समस्थिति में लाने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु गुल्म चिकित्सा के आरम्भ में, बीच में और अन्त में वातदोष की रक्षा का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर २६वें पद्य में कफ तथा पित्तदोषों की सुरक्षा का संकेत किया गया है और यहाँ वात दोष की रक्षा का आदेश दिया है। कारण वही है। ध्यान दें—'शरीरदूषणाद् दोषा धातवो देहधारणात्। मलिनीकरणान्मलाः'। चिकित्सा द्वारा धातुओं की दूषकता तथा मलिनता को ही दूर किया जाता है। 'गुल्म रोग' में मूलतः वात की प्रधानता होती है और यदि वह प्रकुपित हो जायेगा, तो अनेक अन्य विकार भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतएव सभी अवस्था में वातदोष की सुरक्षा करनी चाहिए।

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि। हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत् तम् ॥२९॥

वातगुल्म में कफवृद्धि पर वमन—वातदोष की प्रधानता से उत्पन्न गुल्म में बढ़ा हुआ कफदोष यदि पाचकाग्नि की पाचन-शक्ति को नष्ट (क्षीण) करके अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा), हृल्लास (जी मिचलाना), शरीर में भारीपन, तन्द्रा (ऊँघाई) आदि (कफविकार के लक्षणों) को उत्पन्न करता है, तो ऐसी स्थिति में रोगी को वमन कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ वात-कफदोष-प्रधान (द्वन्द्वज) वातगुल्म की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। 'कफो वृद्धो हत्वाऽग्निम्'—भोजन करते समय जो बीच-बीच में पानी पीने का विधान है, वह अग्नि (जठराग्नि) को प्रज्वलित करने की विधि है। जलपान की विधि—'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'। बार-बार थोड़ा-थोड़ा पानी पीना चाहिए। यही जल जब कफ का रूप धारण कर लेता है, तो शीघ्र ही पाचकाग्नि का नाश कर देता है।

उल्लिखेत्—'उत्' उपसर्गपूर्वक 'लिख' धातु के विधिलिङ् प्रथमपुरुष एकवचन का यह रूप है। इसका प्रयोग पत्थर, सोना, चाँदी पर जो खुरच कर लिखा जाता है, उस अर्थ में होता है। कागज आदि पर जो लिखा जाता है, वह 'लिपि' है। अतः यहाँ आमाशय के ऊपरी मार्गों में जहाँ-जहाँ कफ (श्लेष्मा- जिसकी सट जाने की प्रवृत्ति है) सटा हो वहाँ-वहाँ से उसे खुरच कर निकाल देने के आशय से ही उक्त क्रिया का प्रयोग किया गया है।

शूलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे। वर्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥३०॥

वातगुल्म में वर्ति आदि का प्रयोग—वात तथा कफ-प्रधान गुल्मरोगों में यदि शूल (पेट, पसलियों आदि में) हो, आनाह (अफारा) हो, मल-मूत्र-अपानवायु में रुकावट हो, तो वात एवं कफनाशक फलवर्तियों, गोलियों तथा चूर्णों का प्रयोग कफ-वात का शमन करने के लिए हितकर होता है।

वक्तव्य—आचार्य गणनाथ सेन ने उक्त पद्य के उत्तरार्ध को इस प्रकार बदल दिया है—'वर्तिश्चूर्णानि गुटिकाः कफवातहरा हिताः'। हम नहीं समझ पाते कि इस पाठ को बदलकर उन्होंने कौन-सी नयी उपलब्धि कर ली। यह भी वात-कफ-प्रधान (द्वन्द्वज) गुल्म रोग ही है।

पित्तं वा यदि संवृद्धं सन्तापं वातगुल्मिनः। कुर्याद् विरेच्यः स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकैः ॥३१॥

वातगुल्म में विरेचन—अथवा वातगुल्म में यदि पित्तदोष बढ़कर शरीरावयवों को संताप दे रहा हो, तो आनुलोमिक (पित्त को अनुलोम करने वाले) औषधसिद्ध स्नेहों द्वारा उस रोगी को विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'आनुलोमिकैः स्नेहैर्विरेच्यः' इस विशेष विधि का विधान इसलिए किया गया है कि सामान्य रूप से यदि चिकित्सक रूक्ष एवं तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों का प्रयोग करेगा, तो रोगी का वायु दोष और भी प्रकुपित हो जायेगा। अतः सावधान !

गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते। न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ॥३२॥

गुल्मरोग में रक्तमोक्षण—ऊपर वात, कफ, पित्त शामक विधियों का भली-भाँति प्रयोग करने पर भी यदि गुल्मरोग की शान्ति न हुई हो, तो वह गुल्मरोग रक्तमोक्षण विधि का सम्यक् प्रयोग करने से अवश्य शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ वात, कफ, पित्त दोषों पर अच्छी प्रकार विजय पाने पर भी यदि गुल्मरोग ठीक न हुआ हो तो रक्तमोक्षण की अनुमति दी गयी है। यह रक्तमोक्षण जहाँ गुल्म हो वहीं पर पच्छ लगाकर सिंगी आदि से कराना चाहिए। यद्यपि ऊपर पद्य में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है, फिर भी यह रक्तज गुल्म की चिकित्सा है।

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम्। रूक्षोष्णेन तु सम्भूते सर्पिः प्रशमनं परम् ॥३३॥

पित्तज गुल्म-चिकित्सा

चिकित्सा-क्रम-निर्देश—स्निग्ध (स्नेहयुक्त), उष्ण (स्पर्श तथा वीर्य वाली) वस्तुओं के निरन्तर सेवन करने से उत्पन्न पित्तज गुल्मरोग में स्रंसन द्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है। यदि इस पित्तज गुल्म की उत्पत्ति रूक्ष (स्निग्धता रहित द्रव्यों) तथा उष्ण (स्पर्श एवं वीर्य वाले) पदार्थों के प्रयोग से हुई हो, तो उसमें पित्तनाशक औषधद्रव्यों से सुपाचित घी का सेवन कराना उत्तम होता है।

वक्तव्य—स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण द्रव्यों का परिचय निघण्टु-ग्रन्थों के परिशीलन से ज्ञात करें। **स्रंसन**—यह उन द्रव्यों की संज्ञा है, जो पके हुए अथवा बिना पके हुए मल को नीचे की ओर सरका दे। जैसे—अमलतास की गुद्दी का क्वाथ। देखें—'पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद् यथा स्यात् कृतमालकम्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।४।

पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम्। कालविन्निर्हरेत् सद्यः सतिक्तैः क्षीरवस्तिभिः ॥

पित्तज गुल्म में क्षीरवस्ति—किस रोग में किस दोष को जीतने का कौन-सा काल है, इस विषय का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह पित्त अथवा पित्तगुल्म जब पक्वाशय में स्थित हो तो ठीक उसी समय (विलम्ब किये बिना) तिक्त द्रव्यों द्वारा निर्मित क्षीरवस्तियों से उसका निर्हरण करे।

वक्तव्य—तिक्तद्रव्य-परिचय—प्रतिहन्ति निपाते यो रसनां स्वदते न च। स तिक्तो मुखवैशद्य शोष-प्रह्लादकारकः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० २।२१। अर्थ स्पष्ट है। तिक्त द्रव्यों में नीम प्रमुख तथा प्रसिद्ध है।

सुश्रुतोक्त तिक्तवर्ग—आरग्वधादिगण (में पठित सभी द्रव्य), गुडूच्यादिगण (में पठित सभी द्रव्य), मण्डूकपर्णी, वेत्रकरीर (वेत का अंकुर), हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, वरुण की छाल, स्वादुकंटक (विकङ्कत), सप्तपर्ण, छोटी-बड़ी कटेरी, शंखिनी, द्रवन्ती, त्रिवृत, कृतवेधन, कर्कोटक, कारवेल्ल (करेला), वार्ताकु (बैंगन), करवीर, सुमन (जाती), शंखपुष्पी, अपामार्ग, त्रायमाणा, अशोक, रोहिणी, वैजयन्ती (तर्कारी), सुवर्चला, (हुलहुल), पुनर्नवा, वृश्चिकाली (विच्छूबूटी, नैनीताल जिले में–सिसूण), ज्योतिष्मती आदि, संक्षेप में यह तिक्तवर्ग कहा गया है। सु० सू० अ० ४२।११। विशेष विवरण के लिए देखें—चरक-सूत्रस्थान अ० २६। इन तिक्त पदार्थों के कल्क को दूध में छानकर उसे गुनगुना करके उसकी वस्ति दें। इसे क्षीरवस्ति कहते हैं।

पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत्। भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ॥३५॥

गुल्म में तिल्वक घृत—गुल्मरोगी की चिकित्सा करने के पहले उसके अग्निबल की परीक्षा कर लेने के बाद तिक्त द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये गुन-गुने दूध से उसे विरेचन करायें, अथवा तिल्वकघृत द्वारा विरेचन करायें।

वक्तव्य—ऊपर गुल्म के रोगी को विरेचन कराने के लिए 'तिल्वकघृत' का आदेश दिया है। आचार्य चक्रपाणि अपनी टीका में लिखते हैं—'तैल्वकं सर्पिरुदरे वक्तव्यम्'। इसका अनुकरण करने वाले परवर्ती टीकाकारों ने भी लिख दिया है कि तिल्वक घृत का उल्लेख आगे उदररोग की चिकित्सा में बताया जायेगा। वास्तव में चरक-चिकित्सास्थान अ० १३ (उदरचिकित्सित) में श्लोक १११ से ११७ तक तथा १३८ से १४५ तक ही घृतयोग दिये गये हैं। इतने में कहीं भी उक्त घृत का नाम नहीं है। इसी के आगे श्लोक १५८ में 'तिल्वक' शब्द अवश्य आया है। परन्तु वहाँ इसका घृत-निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु पाठभेद के अनुसार यहाँ 'तिन्दुक' शब्द को भी स्थान दिया गया है। अतः इसे देखकर हम कृतार्थ नहीं हो सकते। अन्यत्र 'तिल्वका' शब्द के मिलने से इसे लता नाना गया है। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह यज्ञीय काष्ठ नहीं है, न इसका दन्तधावन ही ग्राह्य है। इसे क्षीरिणी ओषधि के रूप में लिया गया है।

सुश्रुत-सूत्रस्थान अ० ४४ श्लोक ६०-६१ में विरेचनोपयोगी तिल्वककल्प का चूर्णरूप में निर्देश किया गया है। किन्तु यहाँ घृतपाक-विधि के अनुसार इसका पाक करके प्रयोग करना चाहिए। यद्यपि पित्तज गुल्म में विरेचन का विधान नहीं है, तथापि यदि रोगी शारीरिक बल तथा अग्निबल से युक्त हो, तो उसे शास्त्रोक्त विरेचन दिया जा सकता है। ऊपर ३४वें पद्य में वस्ति द्वारा तिक्तद्रव्य से युक्त दूध का प्रयोग करना है और प्रस्तुत ३५वें पद्य में तिक्तद्रव्य-युक्त दूध को पिलाकर विरेचन कराना है। लक्ष्य दोनों का एक ही है, केवल प्रयोग-विधियाँ सब की भिन्न-भिन्न हैं।

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥३६॥

पित्तज गुल्म में रक्त-मोक्षण—यदि पित्तज गुल्म में प्यास का अधिक लगना, सम्पूर्ण शरीर में ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, पाचकाग्नि में मृदुता तथा अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा)—ये उपद्रव हों, तो पच्छ लगाकर रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम्।
रक्तं हि व्यम्लतां याति, तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥ ३७ ॥

गुल्म में रक्त-मोक्षण—गुल्मरोग में रक्त को पच्छ आदि लगाकर निकाल देने से उनका मूल ही छिन्न हो जाता है, मूल के छिन्न हो (कट) जाने से उनमें विदाह नहीं हो पाता, अपितु वे क्षीण हो जाते हैं। क्योंकि गुल्मरोग में रक्तधातु (दूष्य) विशेष रूप से अम्लता (विदग्धता) को प्राप्त हुआ रहता है। जब वह रक्त ही नहीं रहेगा, तो उससे सम्बन्धित वेदना कहाँ से होगी।

वक्तव्य—आरम्भ में गुल्म का एक भेद रक्तगुल्म भी है। यद्यपि यह प्रकरण पित्तज गुल्म का है, फिर भी रक्त के विदग्ध होने में पित्त प्रधान कारण होता है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर यहाँ 'छिन्न-

मूलाः' शब्द का सदुपयोग किया गया है। दाहकारिता विदग्ध-पित्त का प्रमुख लक्षण है। गुल्म में विधिवत् रक्तमोक्षण करा देने से न तो दाह होता है, न उसके पकने का ही भय रहता है। पित्तज गुल्म में ही प्रायः पाक होते देखा गया है, क्योंकि व्रणशोथ के पाक में पित्त की ही प्रधानता होती है।

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः। समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥३८॥

रक्तमोक्षण में पश्चात् कर्म—उपर्युक्त प्रकार से रक्तमोक्षण द्वारा दोष का हरण हो जाने पर और रक्त के निकल जाने के कारण रोगी के सुस्त हो जाने पर उसे आश्वस्त कर जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस पिलाकर तृप्त किये हुए उस रोगी को, जिसका रोग तथा रक्तस्रावणजनित पीड़ा शेष रह गयी हो, उस पीड़ा की शान्ति के लिए प्रतिदिन घृत का अभ्यास (जिसमें नागा न हो, इस प्रकार सेवन) करायें।

वक्तव्य—निरन्तर सेवन का नाम ही 'अभ्यास' है। अतएव कहा गया है—'अभ्यासाद् धार्यते विद्या'। चाणक्यनीति। अर्थात् प्रतिदिन के अभ्यास से विद्या की सुरक्षा होती है।

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥३९॥

गुल्म में शस्त्र-चिकित्सा—रक्त तथा पित्त के अधिक बढ़ जाने के कारण अथवा समुचित क्रिया (चिकित्सा) के न हो पाने के कारण यदि गुल्मरोग विदाह (पकने के लक्षणों से) युक्त हो जाता है, तो उस स्थिति में शस्त्र-प्रयोग उत्तम भिषग्जित (चिकित्सा) है।

गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसान्तराश्रयः। अविवर्णः स्थिरश्चैव ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥४०॥

अपक्व गुल्म के लक्षण—गुरु (अपने अनुभव द्वारा रोगी बतलाता है), कठिन आकृति वाला (स्पर्श द्वारा ज्ञातव्य), मांसल स्थान में उत्पन्न और उसी के भीतर अपना स्थान बना लेने वाला, जो विवर्ण न हुआ हो तथा स्थिर हो उसे अपक्व (अधपका या कच्चा) गुल्म कहते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने **'गूढमांसान्तराश्रयः'** के स्थान पर **'गूढमांसोत्तराश्रयः'** पाठ को अधिक उपयोगी माना है। प्रथम पाठ में 'अन्तर' शब्द है, जिसका अर्थ है—भीतर। द्वितीय पाठ में 'उत्तर' शब्द प्रयुक्त है, जिसका अर्थ होता है—'प्रधान, मुख्य' आदि। अब आप स्वयं विचार करें यहाँ कौन-सा पाठ अधिक उपयुक्त है। इसी श्लोक के तृतीय पाद में इन्होंने निर्णयसागरीय प्रति के पाठ **'स्थिरश्चैव'** के स्थान पर **'स्थिरः स्निग्धो'** पाठ-वृद्धि की है। हमारे विचार से 'स्निग्ध' लक्षण त्वचा का है, जिसका अन्तर्भाव 'अविवर्ण' शब्द में हो जाता है।

अविवर्णः—यह लक्षण ऐसा है, जो ऊपर की त्वचा को देखने से जाना जा सकता है, क्योंकि पच्यमान व्रणशोथ से आश्रित स्थान सामान्य त्वचा के वर्ण से विवर्ण (विकृतवर्ण—लाल, पीला वर्ण वाला) हो जाता है।

दाहशूलार्तिसङ्क्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः। विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥४१॥

पच्यमानगुल्म के लक्षण—दाह, शूल, अर्ति (मारने, पीटने की भाँति पीड़ा), संक्षोभ (भीतर से वेदना की इधर-उधर होने की-सी अनुभूति), स्वप्ननाश (नींद का न आना), अरति (किसी काम में मन का न लगना अर्थात् बेचैनी) और ज्वर—इन लक्षणों को देखकर समझ जाना चाहिए कि अब यह फोड़ा पकने वाला है। अतः उस स्थान पर उपनाह (पुल्टिस) का प्रयोग करें।

वक्तव्य—व्रणशोथ अथवा गुल्म जब पकने की स्थिति में आता है, तो वह त्रिदोषात्मक हो जाता है। अतः उसमें वातदोष की प्रबलता के कारण वेदना, पित्तदोष की प्रबलता से पाक और कफदोष के कारण पूय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के व्रणशोथ को शीघ्र पकाने के लिए पुल्टिसों का प्रयोग करना चाहिए। सुश्रुतोक्त सात प्रकार के व्रणोपचार-क्रम में उपनाह का तीसरा स्थान है। देखें—सु० सू० अ० १७।१८।

विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्नते। श्यावे सरक्तपर्यन्ते संस्पर्शे वस्तिसन्निभे ॥४२॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात्। तत्रैव पिण्डिते शूले सम्पक्वं गुल्ममादिशेत् ॥४३॥

पक्वगुल्म के लक्षण—जब गुल्म विदाह (पकने के) लक्षण से युक्त हो, बाहर जो पहले शोथ (सूजन) की आकृति का हो गया था, अब उस पर मुख निकल आया हो, उस स्थान की त्वचा का वर्ण श्याव (Dark browa) हो गया हो और चारों ओर लालिमा छायी हो, स्पर्श करने पर भरी हुई मशक के समान ढीला-ढाला हो, उस स्थान को दबाने पर वहाँ गढ़ा हो जाता है और छोड़ देने पर तत्काल वह भर जाता है, अर्थात् वह स्थान पहले जैसा ही दिखलायी देने लगता है। जिस ओर गुल्म हो उसी ओर करवट करके सो जाने से उस स्थान पर स्तब्धता आ जाती है और बाहरी तरफ वहाँ ऊँचा पिंड-सा बन जाता है तो इन लक्षणों को देखकर समझ लेना चाहिए कि वह गुल्म पक गया है।

वक्तव्य—'बहिस्तुङ्गे'—यह चक्रपाणि-सम्मत पाठ है। 'बहिस्त्वङ्गे'—यह गणनाथसेन सम्मत पाठ है। 'बहिस्त्वग्गे'—यह श्रीजयदेवविद्यालंकार सम्मत पाठ है। आचार्य गणनाथसेन तथा श्रीजयदेव के पाठ प्रायः एकार्थवाची हैं। क्रमशः—'बहिस्त्वङ्गे—बाहरी अंग में। 'बहिस्त्वग्गे'—बाहरी त्वचा में।

चरक ने पित्तज गुल्म की आम, पच्यमान तथा पक्व तीन अवस्थाएँ स्वीकार की हैं, किन्तु सुश्रुत का मत इसके विपरीत है। देखें—सुश्रुत-सूत्रस्थान का आमपक्वैषणीय नामक सम्पूर्ण १७ वाँ अध्याय। महर्षि सुश्रुत ने गुल्म तथा विद्रधि का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है—'विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्टं विद्रधिगुल्मयोः। गुल्मदोषसमुत्थानाद् विद्रधेर्गुल्मकस्य च ॥ कस्मान्न पच्यते गुल्मो विद्रधिः पाकमेति च। न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः स निबन्धनः ॥ गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते। विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा ॥ एवं प्रकारो गुल्मस्तु तस्मात् पाकं न गच्छति। मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः ॥ मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्मः पाकं न गच्छति। गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मश्चापि न पच्यते' ॥

अर्थात् गुल्म और विद्रधि के कारण तथा दोष समान होते हुए भी क्या कारण है कि गुल्म नहीं पकता और विद्रधि में पाक होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए तन्त्रकार कहते हैं—

गुल्म	विद्रधि
गुल्म का विबन्ध (मूल) नहीं होता है, अर्थात् उसमें रक्त आदि द्रव्यों का अभाव होता है। गुल्म में वात आदि दोष स्वयं ही (दूष्यों के बिना) गुल्म का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे पानी में वायु से बुलबुले बन जाते हैं। वैसे ही वातज गुल्म विवर (स्रोतों) का अनुसरण करके कफ, पित्त तथा रक्त में ग्रन्थि रूप हो जाता है। इसलिए गुल्म पकता नहीं। गुल्म में मांस और रक्त नहीं रहता है। अतः वह पकता नहीं। गुल्म वात आदि दोषों पर ही आश्रित रहता है।	विद्रधि का मूल (त्वचा, रक्त, मांस) है। विद्रधि में दोष (वात, पित्त, कफ) रक्त, मांस का आश्रय लेकर गुल्म जैसे हो जाते हैं। विद्रधि में मांस और रक्त की अधिकता रहती है। इसलिये वह पक जाती है। विद्रधि का आश्रय है मांस और रक्त (जिन्हें इसका दूष्य कहा जाता है), इसलिए भी विद्रधि में समय पर पाक हो जाता है।

इस प्रकार यहाँ तक गुल्म तथा विद्रधि में क्रमशः पाक होने और न होने का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

चरक-सूत्रस्थान के त्रिशोथीय नामक १८वें अध्याय के २९वें श्लोक में गुल्म का वर्णन किया गया है। विद्रधि को बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का माना गया है। इसमें अन्तःविद्रधि को गुल्म के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसा कि ऊपर गुल्म और विद्रधि के पाक होने, न होने का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वहाँ एक लक्षण यह भी जोड़ लेना चाहिए—'कृतवास्तुपरिग्रह'—गुल्म में पाक होता है और 'अकृतवास्तुपरिग्रह'—गुल्म में पाक नहीं होता। सुश्रुत ने स्वदोष (स्वतन्त्र) और परसंश्रय (परतन्त्र) गुल्म के सम्बन्ध में अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। अन्य सन्दर्भ-सूत्र—अ० हृ० नि० अ० ११; अ० सं० चि० अ० १३; सु० उ० तं० अ० ४२ का अवलोकन करें।

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ। वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥४४॥

पक्वगुल्म की चिकित्सा—उस पित्तज गुल्म के पक जाने पर व्यधन (शस्त्र द्वारा चीरने), शोधन (पूय आदि को साफ करने) तथा रोपण (घाव को भरने, पूरा करने, मलहम-पट्टी) करने में कृतयोग्य (सफलता प्राप्त) वैद्यों (शल्य-चिकित्सकों—Surgeons) अर्थात् धन्वन्तरि-सम्प्रदाय (शल्य-तन्त्र) के आचार्यों का ही अधिकार है।

वक्तव्य—तन्त्रकार आत्रेय पुनर्वसु की यह स्पष्टोक्ति—'तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः' आदरणीय है। यही 'आप्त' पुरुष का आदर्श है। अल्पज्ञ व्यक्ति ही अपने को 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहने-कहलाने और मानने की इच्छा रखता है। इस प्रकार के ढोंग से अपना और समाज का अहित होता है।

अन्तर्भागस्य चाप्येतत् पच्यमानस्य लक्षणम्। हृत्क्रोडशूनताऽन्तःस्थे[1] बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः॥

पच्यमानगुल्म के लक्षण—भीतरी भाग में स्थित पच्यमान (जो पक रहा हो) गुल्म के ये लक्षण होते हैं—हृदय-प्रदेश तथा क्रोड (कुक्षि या उदर-प्रदेश) में शोथ। बाहरी भाग में स्थित पच्यमान गुल्म में शोथ होकर वह पार्श्वों की ओर निकला हुआ दिखलायी देता है।

वक्तव्य—यद्यपि सभी गुल्म कोष्ठ-प्रदेश में उत्पन्न होते हैं। अतः वे सभी भीतरी भाग के ही हैं। यहाँ तन्त्रकार ने जो अन्तः, बहिः भेद किया है, उसका तात्पर्य यह है—कभी वह गुल्म भीतर की ओर पक जाता है, जिसका पूय बाहर नहीं निकल पाता, यही 'अन्तर्भागस्थ' गुल्म है। बहिस्थ गुल्म वह है, जिसका उभार बाहर की ओर होकर और पककर उसका पूय बाहर की ओर निकल जाता है।

'हृत्क्रोडशूलमन्तःस्थे' इस पाठ-भेद के अनुसार शोथ अर्थ न लेकर 'शूल' अर्थ स्वीकार करना होगा जो यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ उस व्रणशोथ की चर्चा हो रही है, जिसमें पाक होना है। कुछ टीकाकारों ने 'एतत्' शब्द को लेकर बहुत कुछ लिख डाला है। वास्तव में—'अन्तर्भागस्य पच्यमानस्य गुल्मस्य एतत् लक्षणम्'। यही अन्वय तन्त्रकार को अभीष्ट है।

आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'केचित्तु श्लोकमेनं न पठन्ति'। किन्तु उन्होंने इसकी स्वयं व्याख्या लिखकर इस श्लोक का आदर किया है।

पक्वः स्रोतांसि सङ्क्लेद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा। स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनः[2] ॥४६॥
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान्।

पक्वगुल्म के लक्षण—जब गुल्म भीतरी भाग में पक जाता है, तब वह फोड़ा फूटकर पूय द्वारा भीतरी स्रोतों में क्लेद पैदा कर उन्हीं स्रोतों द्वारा ऊपर की ओर कफ के साथ, उल्टी के साथ निकल जाता है और निचली ओर मल-मूत्र के साथ निकलने लगता है। इस प्रकार अपने से फूटकर पूय (मवाद) को निकलते देखकर रोगी को पथ्य (शोधन-रोपण) आहार-विहार का सेवन कराते हुए तथा दस या बारह दिनों तक व्रण सम्बन्धी उपद्रवों से रोगी की रक्षा करते हुए उस दोष (निकलते हुए पूय) की उपेक्षा करे। अर्थात् पूय को स्वतन्त्र रूप से निकलने दें, उसको रोकने का प्रयास न करें।

अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम्॥ ४७॥
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते।

पक्वगुल्म-चिकित्सा—दस या बारह दिनों तक पूय को निकलता देखने के बाद संशोधन-द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया गया घृत का पान उक्त रोगी के लिए हितकर होता है। इस प्रकार के घृत को पीने से जब पूय का निकलना भली-भाँति बन्द हो जाये, तब तिक्तद्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए गाय के घी में मधु मिलाकर सेवन करने के लिए देना चाहिए।

वक्तव्य—संशोधन-द्रव्यों द्वारा सिद्ध घृत 'शोधन' होता है और तिक्तद्रव्यों द्वारा सिद्ध किया हुआ घी 'रोपण' अर्थात् घाव को भरने वाला होता है। कुछ प्रतियों में एक पंक्ति यहाँ पर अधिक है—**'अन्तर्विद्रधिवच्चास्य कार्ये शोधन-रोपणे'**। अर्थात् आभ्यन्तर पक्वगुल्म की शोधन-रोपण-चिकित्सा अन्तर्विद्रधि की भाँति करनी चाहिए।

१. 'हृत्क्रोडशूलमन्तःस्थे' इति पा०।
२. 'हिताशिनः' इति पा०।

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके॥ ४८॥
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः।

कफज गुल्म-चिकित्सा

कफज गुल्म में लंघन—शीतल, गुरु (मात्रा तथा पाक में) तथा स्निग्ध पदार्थों के निरन्तर सेवन करने से उत्पन्न कफज गुल्म रोग में यदि रोगी को वमन न कराये जा सकते हों और उसकी पाचकाग्नि मन्द हो तो उसे सर्वप्रथम लंघन कराने चाहिए।

वक्तव्य—शास्त्र का यह निर्देश होने पर भी 'लङ्घनार्हाः, के च तद्विरुद्धाः' इसका ध्यान देना चाहिए। उचित लंघन से पहले के दोषों का पाचन होकर आगे दोषवृद्धि का भय नहीं होता। यदि कायाग्नि बलवती हो, तो वमन भी कराया जा सकता है। लंघन-कर्म कफदोष की पाचन-प्रक्रिया है और वमन कफदोष की संशोधन चिकित्सा है।

मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता॥ ४९॥
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः।

वमन योग्य गुल्म रोगी—जिस कफज गुल्म-रोगी की पाचकाग्नि मन्द (पाचन-क्रिया में पूर्णतया सक्षम न) हो, उसमें हल्की-हल्की वेदना हो रही हो, जिसका कोष्ठ भारी तथा जकड़ा हुआ प्रतीत हो रहा हो, उत्क्लेश (जी मिचलाने) के साथ ही साथ भोजन के प्रति जिसकी अरुचि भी हो, ऐसा गुल्म का रोगी वमन कराने के योग्य होता है।

वक्तव्य—आप ध्यान से देखें—बढ़े हुए कफदोष ने पाचकाग्नि को ढँक दिया है तथा कोष्ठ में गुरुता आ गयी है। भोजन के प्रति अरुचि का होना भी इसी के कारण है। उत्क्लेश भी इसीलिए हो रहा है कि कफ बाहर निकलना चाहता है। अतएव यह रोगी वमन कराने के योग्य है।

उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलङ्घने॥ ५०॥
योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः।

गुल्म में उष्णोपचार—वमन कराने के योग्य गुल्म-रोगी को वमन कराने के बाद और लंघन कराने के योग्य गुल्म-रोगी को लंघन कराने के बाद उसका उष्ण पदार्थों से ही उपचार करना चाहिए तथा उसके लिए जो आहार-विहार की व्यवस्था की जाये उसमें भी उष्ण पदार्थों एवं औषधवर्गीय कटु और तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों का प्रयोग कराना उचित होता है।

वक्तव्य—तिक्तरस-प्रधान द्रव्य यद्यपि शीतवीर्य होते हैं, तथापि लघु एवं रूक्ष होने के कारण कफज गुल्म रोगी के लिए हितकर और कफदोष रोगी के लिए अहितकर होते हैं। यहाँ उष्णवीर्य तथा उष्ण स्पर्श वाले द्रव्यों को महत्त्व दिया गया है।

सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम्॥ ५१॥
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद् युक्त्या स्विन्नं च विलयेद् भिषक्।

कफज गुल्म में विलयन क्रिया—यदि कफज गुल्म में आनाह (भीतर से तनाव) की प्रतीति हो, मलबन्ध (कब्जियत) हो, छूने पर गुल्म-प्रदेश कठिन स्पर्श वाला हो, देखने में उन्नत (उभार युक्त) हो तो आरम्भ में विधिपूर्वक उस स्थान पर स्वेदन कराने के बाद चिकित्सक उसका विलय कराये।

वक्तव्य—अजगलिका, यवप्रख्या की चिकित्सा में महर्षि वाग्भट ने 'विलय' शब्द का प्रयोग 'विम्लापन' क्रिया के अर्थ में किया है और आगे कहा है—'व्रणवत्साजगलिकाम्'। देखें—अ० हृ० उ० अ० ३२।१-२। विम्लापन के लिए देखें—सु० चि० अ० १।२२। यह क्रिया व्रणशोथ के पैदा होने के साथ ही करनी चाहिए, क्योंकि संचीयमान दोष का ही विलयन हो सकता है, संचित का नहीं। व्रण के साठ उपक्रम सुश्रुत ने दिये हैं और

चरक ने केवल छत्तीस। स्वेदन करने के बाद बाँस की चिकनी नली या अँगूठे के तल भाग से उदीयमान व्रण को रगड़ने की क्रिया को विम्लापन, विलयन या विलय कहते हैं।

लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सम्प्रधुक्षिते ॥ ५२ ॥
कफगुल्मी पिबेत् काले सक्षारकटुकं घृतम् ।

कफज गुल्म में घृतपान—लंघन, वमन तथा स्वेदन कराने के बाद जठराग्नि प्रदीप्त हो जाये तो कफज गुल्म का रोगी समय-समय पर क्षार एवं कटुद्रव्यों के चूर्णों से मिले हुए घी का पान करे।

स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः ॥ ५३ ॥
सस्नेहैर्वस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद् दाशमूलिकैः ।

कफज गुल्म में विरेचन तथा वस्ति-प्रयोग—लंघन, वमन, स्वेदन, विलयन उपचारों से जब कफज गुल्म अपने स्थान से हट गया है, ऐसा मालूम पड़े, तब विरेचनों द्वारा अथवा दशमूल के क्वाथ में स्नेह (औषध-सिद्ध घी) मिलाकर इसे वस्ति-यन्त्र के प्रयोग द्वारा शोधन कराना चाहिए।

मन्देऽग्नावनिले मूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ॥ ५४ ॥
गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम् ।

कफज गुल्म में गुटिकादि प्रयोग—उक्त चिकित्साओं के प्रयोग से पाचकाग्नि के सबल हो जाने पर और वायु की रोगवर्धक शक्ति क्षीण हो जाने पर कोष्ठ भाग को स्निग्ध हुआ जानकर कफज गुल्म के रोगियों के प्रति गुल्मरोगनाशक गुटिका (गोलियाँ), चूर्ण तथा क्वाथों का प्रयोग कराना चाहिए।

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम् ॥ ५५ ॥
जयेत् कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ।

कफज गुल्म में क्षारादि प्रयोग—जो कफज गुल्म अपनी जड़ जमा लिया हो, अर्थात् अपने स्थान से इधर-उधर न हट रहा हो, महावास्तु (जिसने अधिक स्थान घेर रखा हो), जो स्पर्श करने पर कठिन स्पर्श वाला हो, स्तिमित (जकड़ाहट से युक्त) हो, गुरु (भारीपन लिये) हो, इस प्रकार के कफज गुल्म को क्षारों तथा अरिष्टों के पान एवं अग्निकर्म द्वारा जीतना चाहिए।

वक्तव्य—इस अध्याय में सर्वविध गुल्म-चिकित्सा के लिए अनेक घृतयोग, चूर्ण, तैल, क्षार तथा विरेचन योगों की चर्चा की गयी है। किन्तु क्षार-प्रयोगों का संकेत आगे ग्रहणी-चिकित्सा में किया है। यहाँ अग्निकर्म की विशेष चर्चा इसलिए नहीं की है, क्योंकि इसे तन्त्रकार पराधिकार कहते हैं।

दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं बुद्ध्वा कफोल्बणे ॥ ५६ ॥
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् ।

क्षार-प्रयोग-विधि—गुल्म रोग में दोष (कफ जो क्षार-प्रयोग से समाप्त किया जा सकता है), प्रकृति (रोग का स्वभाव या कफप्रकृति), गुल्म (स्थिरता, कृतमूलता, महावास्तु, कठिन, स्तिमित, गुरु) के लक्षणों तथा ऋतु (हेमन्त या शिशिर)—इनके योगों को भली-भाँति समझ कर तथा रोगी के बल (शारीरिक तथा अग्नि बल) और दोष (कफ आदि) के प्रमाण को जानने वाला चिकित्सक गुल्म में क्षार का प्रयोग करे।

वक्तव्य—क्षार-प्रयोग-विधि के लिए सुश्रुत सू० अ० ११ का परिशीलन करें। यह क्षार सामान्य स्थिति में विष, अग्नि, शस्त्र, बिजली के समान दाहक होता है, अतएव कहा है—'तत्राग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्यां, तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मसाध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा'। सु० सू० अ० १२।५। यही सम्मति महर्षि आत्रेय की भी है। अतः शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर कभी भी क्षार का प्रयोग कराया जा सकता है। हमारे विचार से सामान्य स्थिति में ग्रीष्म ऋतु से लेकर शरद् ऋतु तक क्षार-प्रयोग को छोड़ ही देना चाहिए।

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः ॥ ५७ ॥
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः ।

क्षार-प्रयोग-प्रकार—शरीर, बल तथा दोषों के वृद्धि-क्षपण (चढ़ाव-उतार अथवा वृद्धि-क्षय) के प्रकारों को जानने में कुशल चिकित्सक को चाहिए कि वह जब तक कफज गुल्म का शमन न हो जाये, तब तक रोगी तथा रोग की स्थिति को देखते हुए एक दिन का या दो दिन का या तीन दिन का अन्तर दे-देकर अथवा और भी कुछ विश्राम कर (रुक कर) क्षार का प्रयोग करे।

वक्तव्य—दोष के वृद्धि-क्षपण विशेषज्ञ चिकित्सक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह इस बात का निर्णय ले कि आज क्षार का प्रयोग करने के बाद फिर कब क्षार-प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि 'पिप्पली और क्षार' का अनावश्यक तथा अधिक प्रयोग महर्षि आत्रेय द्वारा निषिद्ध है।

श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः ॥ ५८ ॥
छित्त्वा छित्त्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः ।

क्षार-परिभाषा तथा गुण—मांस, दूध तथा घी अर्थात् कफकारक पदार्थों का नित्य-प्रति सेवन करने वाले कफज गुल्म के रोगियों के लिए किया गया क्षार का प्रयोग मधुर तथा स्निग्ध प्रकृति वाले कफ को अपने क्षरण स्वभाव के कारण आशय (आमाशय का ऊपरी भाग ही कफाशय है, उस) से काट-काट कर नीचे की ओर को निकाल देता है।

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम् ॥ ५९ ॥
प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ।

कफज गुल्म में अरिष्ट-प्रयोग—कफज गुल्म रोग से पीड़ित वे रोगी जो स्निग्ध पदार्थों का विशेष रूप से भोजन में प्रयोग करते हों, जिनकी पाचकाग्नि मन्द पड़ गयी हो, जिन्हें भोजन के प्रति अरुचि हो गयी हो और जिन्हें मद्यपान अनुकूल हो—उनके स्रोतों (मार्गों) की शुद्धि के लिए अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ गुल्मनाशक अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिए। **आसव-अरिष्ट का भेद**—'यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात् तयोर्मानं पलोन्मितम्'॥ शा० सं० म० खं० अ० १०।२। विशेष—आचार्य शार्ङ्गधर ने ऊपर जो परिभाषा दी है, उसका पालन चरक तथा सुश्रुत में नहीं हुआ है। देखें—च० चि० अ० ४२।६ तथा सम्पूर्ण अध्याय और सु० उ० तं० अ० ४७।

लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः ॥ ६० ॥
वस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ।
श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद् यस्य गुल्मो न शाम्यति ॥ ६१ ॥
तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः ।

कफज गुल्म में दाहकर्म—जिस रोगी का कफज गुल्म लंघन, उल्लेखन (वमन), स्वेदन, घृतपान, विरेचन, वस्ति, गुटिका (गोलियाँ), चूर्ण, क्षार तथा अरिष्टों के विधिवत् प्रयोग करने से कृतमूल (अपनी जड़ को सुदृढ़ किया हुआ) कफज गुल्म जिसका शान्त न हो सके, तो ऐसी स्थिति में रक्तमोक्षण कराने के बाद शर (बाण) या लोहे को गरम करके उससे (जहाँ रक्तमोक्षण करने के लिए पच्छ लगाया है, उस स्थान पर) दाह करना चाहिए।

वक्तव्य—इस विषय के विशेष विवेचन के लिए अ० हृ० नि० अ० १४।११३-११४ तथा अग्निकर्म की विशेष विधि के लिए अ० हृ० सू० अ० ३० देखें।

औष्ण्यात् तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ ॥ ६२ ॥
तयोः शमाच्च सङ्घातो गुल्मस्य विनिवर्तते ।

दाहकर्म से लाभ—गुल्म रोग में अग्निकर्म (दाह करने) से अग्नि के उष्ण (स्पर्श तथा वीर्यवान्

होने के कारण उससे कफ तथा वायु का शमन हो जाता है। इन दोनों के शान्त हो जाने पर गुल्म का संघात (ठोसपन) समाप्त हो जाता है।

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् ॥ ६३ ॥
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम् ।

दाहादि में विशेषज्ञों का महत्त्व—गुल्म-चिकित्सा में दाहकर्म करने के लिए धन्वन्तरि-सम्प्रदाय के चिकित्सकों (शल्यतन्त्र-विशेषज्ञ) का अधिकार है और क्षारों का प्रयोग करने के लिए क्षारतन्त्र-विशेषज्ञों का अधिकार है।

वक्तव्य—'नहि सर्वः सर्वं जानाति'—इस सिद्धान्त को स्वीकार कर तन्त्रकार महर्षि पुनर्वसु की यह स्पष्टोक्ति है। क्योंकि इन्होंने पराधिकार में टांग अड़ाने का सम्पूर्ण संहिता में कहीं भी प्रयास नहीं किया है। आयुर्वेदशास्त्र आठ अंगों में विभक्त है। उसमें शल्यतन्त्र की भी चर्चा है। इस तन्त्र के अपने निर्धारित विषय हैं। क्षार-प्रयोगों का उल्लेख भी इसी में किया गया है। अतः क्षारतन्त्र का समावेश भी शल्यतन्त्र में ही किया जाता है। अग्निकर्म के लिए देखें—सु० सू० अ० ११ और १२; अ० हृ० सू० अ० ३०।६७; अ० हृ० चि० अ० १४।११५-११७ तथा अ० सं० चि० अ० १६।

व्यामिश्रदोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः ॥ ६४ ॥

सन्निपातज गुल्म-चिकित्सा—जब वात, पित्त, कफ—इन तीनों दोषों के लक्षण गुल्मरोग में एक साथ मिले-जुले दिखलायी दें, तो उसे सन्निपातज गुल्म कहते हैं। इस स्थिति में मिली-जुली चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—इस पद्य के उत्तरार्ध के रूप में आचार्य गंगाधर इतना अंश और जोड़ते हैं—'सन्निपातोद्भवे गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः' ॥ जब कि इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान् ।

गुल्मनाशक योग

गुल्मनाशक योगों का प्रारम्भ—सामान्यरूप से प्रसंगानुसार गुल्म के स्वरूप आदि का वर्णन करने के पश्चात् अब मैं गुल्मनाशक शास्त्रसिद्ध योगों को कह रहा हूँ, अर्थात् उनका वर्णन कर रहा हूँ।

वक्तव्य—इस अध्याय में यहाँ तक गुल्मनाशक-चिकित्सा के विविध प्रकारों का सूत्र रूप में निर्देश किया गया है। इसके आगे गुल्मनाशक योगों का वर्णन किया जा रहा है।

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यविडङ्गचव्यचित्रकैः ॥ ६५ ॥
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ।

इति त्र्यूषणादिघृतम् ।

वातज गुल्म में त्र्यूषणादि घृत—त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), धान्य (धनियाँ), वायविडंग, चव्य, चित्रक—इन सब द्रव्यों को समान भाग में लेकर पानी डालकर पीस लें। जब यह कल्क जैसा हो जाये, तो इसमें दूध मिला लें। इनसे गाय के घी को विधिपूर्वक पकायें, निरन्तर सेवन करने से यह घी वातज गुल्म का नाश करता है।

वक्तव्य—घृतपाक करने के लिए जो कल्क सिद्ध करना होता है, उसकी मात्रा घी से चौथाई होती है और दूध की मात्रा घी से चौगुनी होती है। गाय का घी २ प्रस्थ, दूध ८ प्रस्थ, कल्क १ शराव। मात्रा आधा तोला।

एत एव च कल्काः स्युः कषायः [1]पञ्चमूलिकः ॥ ६६ ॥
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि तद्घृतं गुल्मनुत् परम् ।

इति त्र्यूषणादिघृतमपरम् ।

१. 'पाञ्चमूलिकः' इति पा०।

दूसरा त्र्यूषणादि घृत—ऊपर कहे गये द्रव्यों का कल्क, बृहत् पञ्चमूल का क्वाथ अथवा दोनों पञ्चमूलों के क्वाथ द्वारा घृत का पाक करें। इस प्रकार सिद्ध किया हुआ वह घृत गुल्म का नाश करने के लिए उत्तम होता है।

वक्तव्य—प्रथम वार प्रयुक्त 'पञ्चमूलिकः' का अर्थ पूर्ववर्ती टीकाकारों ने 'बृहत्-पञ्चमूल' केवल इसलिए किया है, कि आगे द्विपञ्चमूली के क्वाथ से घृत-साधन का विधान किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से इसका अर्थ है—दो पञ्चमूल अथवा दो वार पञ्चमूल, अर्थात् एक वार लघु और दूसरी वार बृहत्। इस द्वितीय (द्विः पञ्चमूली–सुजर्थसमास) अर्थ से प्रथम (द्वे पञ्चमूली–कर्मधारय-समास) अर्थ अधिक प्रसंगोचित है।

(षट्पलं वा पिबेत् सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि ॥ ६७ ॥)

षट्पलघृत—अथवा जिस षट्पल नामक घृत का उल्लेख राजयक्ष्म-चिकित्सा के प्रकरण में किया गया है, उसका सेवन करे।

वक्तव्य—'षट्पलं''' राजयक्ष्मणि'। इस अर्धाली को निर्णयसागरीय प्रति में कोष्ठक के भीतर रखा गया है। किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार ने इसे उस बन्धन से मुक्त कर दिया है। जब कि अन्य सभी ने उसे क्रमिक श्लोकांक रूप में रखा है। हमारे विचार से राजयक्ष्म-चिकित्सा (च० चि० अ० ८) में 'षट्पलघृत' नाम से किसी योग का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है। जो योग हैं भी उनके नाम परवर्ती आचार्यों ने निर्धारित किये हैं। छः द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये जाने वाला एक घृत योग यह है—'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम्' ॥ च० चि० अ० ८।१६९। उक्त श्लोकार्ध का संकेत इस घृत की ओर तो नहीं है? विद्वान् विचार करें। उक्त घृत को यह संज्ञा पंचकोल की भाँति है। आचार्य गंगाधर इस पद्यार्ध को प्रामाणिक नहीं मानते।

प्रसन्नया वा [1]क्षीरार्थं सुरया दाडिमेन वा। दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत् ॥६८॥

वातगुल्मनाशक घृत—अथवा (ऊपर ६५ वें श्लोक में कहे गये द्रव्यों के कल्क) दूध के स्थान पर प्रसन्ना (सुरा के ऊपर तैरता हुआ स्वच्छ द्रव भाग) या सुरा या अनार का रस या दही के पानी से घृत-पाक करना चाहिए। यह घी वातज गुल्म का नाश करता है।

वक्तव्य—ऊपर 'क्षीरार्थं' के स्थान पर अन्यत्र 'क्षीरोत्थम्' पाठ प्राप्त होता है। तदनुसार आचार्य गंगाधर दूध के साथ प्रसन्ना आदि विकल्पों में से किसी एक को मिलाकर उसमें से निकाले हुए घी का पाक करने की अनुमति देते हैं। यह भी एक समादरणीय कल्पना-विधि का विकल्प है।

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडदाडिमदीप्यकैः । पुष्करव्योषधन्याकवेतसक्षारचित्रकैः ॥६९॥
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम् । शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ॥७०॥

इति हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम् ।

हिंगुसौवर्चलादि घृत—हींग, सोंचरनमक, जीरा, बिडनमक, अनारदाना, दीप्यक (अजवाइन), पुहकरमूल, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), धनियाँ, अम्लवेत, यवक्षार, चित्रकमूल, कचूर, बालवच, अजमोदा, छोटी इलायची और सुरस (तुलसी भेद)—इन सभी समभाग द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से विधिवत् घी का पाक करें। यह घी शूल तथा आनाह को दूर करता है। यदि इस घी का सेवन दही के साथ किया जाये, तो वातज यह गुल्म का नाश करता है।

वक्तव्य—गाय का घी १ सेर, सभी द्रव्यों को मिलाकर बनाया हुआ कल्क १ पाव, इन्हीं द्रव्यों से तैयार किया हुआ क्वाथ ४ सेर, दही ४ सेर—इनसे यथाविधि घृत का पाक करें। इस योग का समादर सुश्रुत-संहिता तथा अष्टाङ्गसंग्रह में भी किया गया है। देखें–सु० उ० तं० अ० ४२।२७-२८; अ० सं० चि० अ० १३।

हपुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः । साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद् घृतम् ॥७१॥
सकोलमूलकरसं सक्षीरदधिदाडिमम् । तत् परं वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम् ॥७२॥

१. 'क्षीरोत्थम्' इति पा०।

योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान् । वस्तिहृत्पार्श्वशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति ॥७३॥

इति हपुषाद्यं घृतम्।

हपुषादि घृत—हाऊबेर, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), पृथ्वीका, चव्य, चित्रक, सैंधानमक, जीरा, पिप्पलीमूल तथा दीप्यक (अजवाइन)—इन द्रव्यों के कल्क से एवं बेर के फलों का स्वरस, मूली का स्वरस, गाय का दूध, दही, अनार का स्वरस, इनके योग से घी का पाक करें। इस प्रकार सिद्ध किया हुआ यह हपुषादि घृत वातज गुल्म, शूल, आनाह को दूर करता है। योनि सम्बन्धी रोग, अर्श (बवासीर), ग्रहणीविकार, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, वस्ति, हृदय तथा पसलियों में होने वाले शूल का यह घृत शीघ्र विनाश करता है।

वक्तव्य—निर्माण-विधि—गाय का घी १ सेर, बेर का स्वरस १ सेर, मूली का स्वरस १ सेर, दूध १ सेर, दही १ सेर, अनार (दाड़िम) का स्वरस १ सेर; हपुषा आदि ११ द्रव्यों का एक साथ तैयार किया हुआ कल्क १ पाव—इनको लेकर घृतपाक विधि से पकायें। ध्यान रहे घी, तेल तथा गुड़ का जब पाक किया जाता है, तो उन्हें स्वांगशीतल हो जाने के बाद ही पात्र में से अलग करना चाहिए। ऐसे स्थलों पर 'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुः' इस परिभाषा का ध्यान रखें।

महर्षि विश्वामित्र के अनुसार उक्त योग इस प्रकार है—'पृथ्वीकाजीरकव्योषहवुषाजाजिसैन्धवैः। सचव्यपिप्पलीमूलैर्वह्निदीपकसंयुतैः' ॥ दाडिमकोलमूलानां रसे दध्नि पयस्यपि। सिद्धं घृतं जयेद् गुल्मं वह्नि सन्दीपनं परम्' ॥ विश्वामित्रसंहिता, गुल्म-चिकित्सा-प्रकरण।

द्रव्य-विवेचन—पृथ्वीका—जीरा (मद० नि० व० २), हिंगुपत्री (सु० चि० अ० २), बड़ी इलायची (राजनि० व० ६), कृष्णजीरक (च० सू० अ० ५ तथा चक्रदत्त-रक्तपित्त चि०)। परवर्ती टीकाकारों ने कोई एक पर्याय उठाकर लिख दिया। हमारे विचार से यहाँ 'पृथ्वीका' का पर्याय 'हिंगुपत्री' ही समीचीन है। आप भी इसके गुण-धर्मों पर ध्यान दें।

पाठ-भेद-विचार—ऊपर जो ७२वाँ श्लोक दिया गया है, वह निर्णयसागरीय प्रति के अनुसार है, किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा उद्धृत पाठ प्रायः इसके विपरीत है। यथा—'मातुलुङ्गदधिक्षीरकोलमूलक-दाडिमैः। रसैस्तद् वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम्' ॥ औषधयोग में द्रव्य-परिवर्तन का अधिकार चिकित्सक को होता ही है। जहाँ द्रव्यों के निर्धारण में भ्रम हो वहाँ चिकित्सा के दृष्टिकोण से निर्णय कर लेना चाहिए और कुछ द्रव्य योगवाही भी होते हैं, ऐसे स्थलों में उन द्रव्यों की प्रकृति का भी विचार अवश्य कर लें। हवुषा या हपुषा शब्द एक ही द्रव्य के परिचायक हैं।

पिप्पल्याः पिचुरध्यर्धो दाडिमाद् द्विपलं पलम्। धान्यात्पञ्च घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरं चतुर्गुणम्॥
सिद्धमेतद्घृतं सद्यो वातगुल्मं व्यपोहति। योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम् ॥७५॥

इति पिप्पल्याद्यं घृतम्।

पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली डेढ़ पिचु (१½ कर्ष=तोला), दाड़िम (अनारदाना) २ पल (८ तोला), धनियाँ १ पल (४ तोला), गाय का घी ५ पल (२० तोला=१ पाव), सोंठ १ कर्ष (१ तोला), गाय का दूध चौगुना लेकर इनका यथाविधि (पिप्पली, दाड़िम, धनियाँ, सोंठ—इनका कल्क बनाकर गाय के दूध में घी को मिलाकर) पाक करें। इस घी का विधिवत् सेवन करने से वातज गुल्म शीघ्र ही शान्त हो जाता है। योनि-शूल, शिरःशूल, सभी प्रकार के अर्श रोग तथा विषमज्वर भी इसके प्रयोग से शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—पिचु शब्द का प्रयोग अन्यत्र घी या तेल में भिगोये हुए रुई के फाहा के लिए होता है, किन्तु यहाँ वह परिमाणवाचक है। देखें—'अक्षं पिचुः पाणितलं किञ्चित् पाणिश्च तिन्दुकम्। उदुम्बरं च पर्यायैः कर्ष एव निगद्यते ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १। इस योग का संग्रह अष्टांगसंग्रहकार ने भी किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १६।

विशेष—यद्यपि ऊपर कहे गये योग में कल्क की मात्रा अधिक हो जा रही है, फिर भी यहाँ तन्त्रकार के इसी निर्देशानुसार घृतपाक करना उचित है, क्योंकि—'निर्देशः श्रूयते नूनं द्रव्याणां यत्र यादृशः। तस्मिन् स संविधातव्यः शब्दाभावे प्रसिद्धितः' ॥ यह न्यायवेत्ताओं का मत है।

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः। ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम् ॥

उक्त द्रव्यों से चूर्ण आदि का निर्माण—ऊपर घृत-पाक के लिए जिन कल्कद्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उन्ही द्रव्यों से चूर्णों, वर्तियों तथा कषायों की रचना करके उनका गुल्मरोगियों पर प्रयोग करना चाहिए।

कोलदाडिमघर्माम्बुसुरामण्डाम्लकाञ्जिकैः। शूलानाहहरी पेया बीजपूररसेन वा ॥७७॥

गुल्मरोग में अनुपान—उक्त औषधगणों द्वारा बनाये गये चूर्णों को बेर के स्वरस, अनार के स्वरस, गरम जल, सुरामण्ड (सुरा का ऊपरी स्वच्छ भाग), अम्लकाञ्जिक (खट्टी कांजी) अथवा बिजौरे के रस से बनी पेया का पान करना चाहिए। इनसे शूल तथा आनाह शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में **'शूलानाहहरी पेया'** पाठ है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उक्त बेर आदि के स्वरस से पेया का साधन करना चाहिए। किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार ने जिस पाठ का समादर किया है, वह है—**'शूलानाहनुदः पेयाः'**। इसके अनुसार 'पेयाः' शब्द का अर्थ 'पीना चाहिए' होता है। आचार्य गंगाधर के अनुसार चूर्णों के छः अनुपान हैं। वृद्धवाग्भट अपनी संहिता में घृतपाक के लिए कहे गये कल्कद्रव्यों के चूर्णों को उक्त स्वरसों से भावना देने का परामर्श देते हैं। देखें—अ० सं० चि० अ० १६। यदि हम आचार्य गंगाधर से सहमत होते हैं, तो हमें फिर से निर्णयसागरीय पाठ पर विचार करना होगा। क्या 'शूलानाहहरी' के स्थान पर 'शूलानाहहराः' ऐसा पाठ तो नहीं रहा है? यदि इस पाठ को हम स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'शूलानाहहराः चूर्णयोगाः कोलादिस्वरसैः पेयाः'।

चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा। कुर्याद् वर्तीः सगुटिका गुल्मानाहार्तिशान्तये ॥७८॥

मातुलुंगरस-प्रयोग—अथवा मातुलुंग (बिजौरा नीबू) के रस से ऊपर कहे गये द्रव्यों के चूर्णों को भावना देकर उन चूर्णों की वर्त्ती या गोली बनाकर गुल्म तथा अनाह की शान्ति के लिए प्रयोग करें।

वक्तव्य—मातुलुंग या मातुलिंग ये दोनों ही नाम बिजौरा नीबू के संकेतक हैं। यह नीबू पर्वतीय स्थानों में विशेष रूप से पाया जाता है। इसका अगला भाग माता के चूचुक (Nipple) के सदृश होता है। लम्बाई-चौड़ाई में यह पूतना के स्तन के आकार का होता है। इसमें अम्लता वाला अंश बहुत कम किन्तु वह अत्यन्त अम्ल होता है। इसका गूदा सुगन्धित एवं स्वादिष्ट होता है, जिसे लोग खाते भी हैं।

हिङ्गु त्रिकटुकं पाठां हपुषामभयां शटीम्। अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ॥७९॥
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजीं चित्रकं वचाम्। द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥
चूर्णमेतत् प्रयोक्तव्यमन्नपानेष्वनत्ययम्। प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ॥८१॥
पार्श्वहृद्वस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके। आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च शूले च गुदयोनिजे ॥८२॥
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीह्नि पाण्ड्वामयेऽरुचौ। उरोविबन्धे हिक्कायां कासे श्वासे गलग्रहे ॥८३॥
भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद् रसेन वा। बहुशो गुटिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ॥

इति हिङ्ग्वादिचूर्णं गुटिका च।

हिङ्ग्वादिचूर्ण या गोली—हींग (घी में भुनी हुई), त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), पाठा, हाऊबेर, हरड़, कचूर, अजमोदा, अजगन्धा, इमली, अम्लवेत, दाड़िम के बीज, पोहकरमूल, धनियाँ, जीरा, चित्रक, बालवच, दो क्षार (जवाखार, सर्ज्जीखार), दो नमक (सैंधानमक, सांचरनमक) तथा चव्य—इन सबको समभाग लेकर एक साथ कूटकर कपड़छन करके रख ले। इस चूर्ण का खान-पान में किसी प्रकार का अतिक्रमण किये बिना प्रयोग करना चाहिए। अथवा मद्य के साथ या गरम पानी के साथ भोजन करने के पहले इसे पीना चाहिए।

पार्श्वशूल, हृदयवेदना, वस्तिपीड़ा, वात-कफज गुल्म, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुद तथा योनिशूल, ग्रहणी, अर्श, प्लीहा की वृद्धि, पाण्डुरोग, भोजन के प्रति अरुचि, उरःस्थल की जकड़ाहट, हिचकी, कास, श्वास, गल-ग्रह रोगों में इस चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। यदि इस चूर्ण में बिजौरा नीबू के रस की भावना देकर गोलियाँ बना ली जाती हैं, तो ये उस चूर्ण से भी अधिक कारगर होती हैं।

मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं बिडसैन्धवे । सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ॥८५॥

वातगुल्म-पीड़ाहर योग—बिजौरा नीबू का रस, घी में भुनी हींग का चूर्ण, दाड़िम का रस, विरिया नमक, सैंधानमक—इन सब को सुरामण्ड (मद्य के ऊपरी भाग का तरल एवं स्वच्छ द्रव पदार्थ) के साथ पीने से यह पेय वातज गुल्म की वेदना का नाश करता है ।

वक्तव्य—पीने का क्रम—सुरामण्ड में घी में भुनी हुई हींग, दोनों नमकों का चूर्ण, बिजौरा नीबू तथा अनारदाने का रस मिलाकर पीने से वातज गुल्म की वेदना शान्त होती है । इसकी मात्रा का सामयिक निर्देश चिकित्सक की आज्ञा पर निर्भर है । वैसे भी मद्य वेदनाशामक होता है । प्रायः विधिवत् मद्यपान करने वाले मद्य में सोडावाटर मिला लेते हैं और उसके साथ कुछ नमकीन आदि भी ले लेते हैं ।

शटीपुष्करहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारचित्रकान् । धान्यकं च यवानीं च विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ॥८६॥
सचव्यपिप्पलीमूलामजगन्धां सदाडिमाम् । अजाजीं चाजमोदां च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ॥८७॥
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुशुक्तेन वा पुनः । भावितं गुटिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसम्मिताम् ॥८८॥
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम् । हिक्कां हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसो रुजम् ॥८९॥
पाण्ड्वामयं कफोत्क्लेशं सर्वजां च प्रवाहिकाम् । पार्श्वहृद्वस्तिशूलं च गुटिकैषा व्यपोहति ॥९०॥

शट्यादिचूर्ण या गोली—कचूर, पोहकरमूल, हींग (घी में भुनी), अम्लवेत, जवाखार, चित्रकमूल (चीता की जड़), धनियाँ, अजवाइन, वायविडिंग, सैंधानमक, वालवच, चव्य, पिप्पलीमूल, अजगन्धा, दाड़िम के बीज, सफेद जीरा, अजमोदा—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण बनाकर प्रयोग करें, अथवा बिजौरा नीबू के रस से और मधुशुक्त से भावना देकर भली-भाँति पीसकर झड़बेर के आकार की गोलियाँ बनाकर इनका प्रयोग करने से गुल्म, प्लीहावृद्धि, आनाह, श्वास, कास, अरोचक, हिचकी, हृद्रोग, अर्श (बवासीर), शिरोरोग, पाण्डुरोग, कफ की अधिकता के कारण जी मिचलाना, सभी प्रकार की प्रवाहिका, पार्श्वशूल, हृदयशूल तथा वस्तिशूल को यह नष्ट कर देती है ।

वक्तव्य—यहाँ भी उक्त योग का चूर्ण अथवा गुटिका विधि से दो प्रकार उपयोग करने का निर्देश है। केवल कुछ द्रव्यों का अन्तर अवश्य है । **मधुशुक्त**—जम्बीरी नीबू के फल के रस में पिप्पलीमूल का चूर्ण मिलाकर शहद के पात्र में रखकर धान्यराशि में तीन दिन तक रख दें । उसमें जब एक विशेष प्रकार का स्वाद आ जाता है, तत्पश्चात निकालकर पीना चाहिए । इससे पाचनशक्ति बढ़ती है । इसी प्रकार गुडशुक्त आदि का भी संधान किया जाता है । देखें—शा० सं० म० खं० अ० १०।९-१० ।

नागरार्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च । तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन ना पिबेत् ॥९१॥
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलं च नाशयेत् ।

नागरादि योग—सोंठ आधा पल (२ तोला), छिलका निकाले हुए काले तिल दो पल (८ तोला), गुड़ एक पल (४ तोला)—इन सबको एक साथ पीसकर गरम दूध के साथ निम्नलिखित रोगों से पीड़ित पुरुष इसका पान करें । इसका सेवन करने से वातज गुल्म, उदावर्त तथा योनिशूल नष्ट हो जाते हैं ।

पिबेदेरण्डजं तैलं वारुणीमण्डमिश्रितम् ॥ ९२ ॥
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः । श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम् ॥९३॥

वातगुल्म में एरण्डतैल—यदि वातगुल्म रोग में कफदोष का अनुबन्ध हो, तो एरण्ड (रेंडी के) तेल में वारुणी मण्ड (मद्य का ऊपरी स्वच्छ भाग) मिलाकर इसे वातगुल्म का रोगी पीये । यदि वातगुल्म में पित्तदोष का अनुबन्ध हो तो उसी (रेंड़ी के) तेल को दूध के साथ पीये ।

वक्तव्य—गुल्मरोग में वातदोष की प्रधानता होती है, और एरण्डतैल वातनाशक तैलों में प्रधान माना जाता है । वारुणीमण्ड कफनाशक है और दूध पित्तशामक है । शेष स्पष्ट है ।

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम् । [1]क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत् ॥९४॥

१. 'क्षीरे जलाष्टगुणिते' इति पा० ।

वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम् । हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः ॥९५॥
इति लशुनक्षीरम् ।

लशुनक्षीर—शुद्ध (छिलका उतारा हुआ) शुष्क (परिपक्व) लहसुन ४ पल (१६ तोला) को पीसकर आठ गुना दूध और पानी अर्थात् १६ पल दूध, १६ पल पानी को एक में मिलाकर (इसमें उस पिसे हुए ४ पल लहसुन को डालकर) तब तक पकायें जब तक पानी पूर्णरूप से जल न जाये, दूध मात्र शेष रह जाने पर उसे उतार कर छान लें । इस दूध को मात्रानुसार पीने से यह वातगुल्म, उदावर्त, गृध्रसी, विषमज्वर, हृद्रोग, विद्रधि तथा शोथ को शीघ्र साध लेता है, विपरीत स्थिति की ओर नहीं जाने देता ।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि अपनी टीका में लिखते हैं—'क्षीररसोनयोश्च यद्यपि महोपयोगो विरुद्धः तथापि व्याधिमहिम्ना महर्षिवचनादविवादः' । चरक-सूत्रस्थान अ० २६।८४ में परस्पर वैरोधिक द्रव्यों का परिगणन किया गया है । उसमें से श्रीचक्रपाणि ने जिस दृष्टि से इसे विरुद्ध कहा है, वह पंक्ति इस प्रकार है—'न मूलकलशुनकृष्णगन्धार्जकसुमुखसुरसादीनि भक्षयित्वा पयः सेव्यं, कुष्ठाबाधभयात्' । किन्तु इस विरोध निर्देश में विवेचनीय यह है कि यह योग मात्रा-विरुद्ध है, सात्म्य-विरुद्ध है या संस्कार-विरुद्ध है । इस प्रकार का विचार अवश्य कर लेना चाहिए । आप तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखें—क्या जिन द्रव्यों को विरुद्ध कहा जाता है, लोक में उनका सफलता के साथ प्रयोग होता है, या नहीं ? यदि होता है, तो निश्चय ही उसमें उक्त कारणों में से कोई कारण अवश्य होता है । इसी प्रकार उक्त योग में मात्रा तथा संस्कार की अनुकूलता के कारण यह विरुद्ध नहीं माना गया है ।

विशेष—४ पल (१६ तोला) लहसुन, १६ पल (६४ तोला=१२ छटांक ४ तोला) दूध, यह मात्रा एक बार में लेनी है । जो कृश है एवं जिसकी पाचन-शक्ति क्षीण है, ऐसे व्यक्ति के लिए यह मात्रा अधिक है । अतः रोगी की शक्ति को देखकर ही चिकित्सक को इसका निर्माण कराना चाहिए ।

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम् । गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ॥९६॥
इति तैलपञ्चकम् ।

तैल-पञ्चक—१. रेंडी का तेल, २. प्रसन्ना (सुरा के ऊपर वाला स्वच्छ द्रव भाग), ३. गोमूत्र, ४. आरनाल (कांजी) ५. यवाग्रज (जौ के टूसों को जलाकर बनाया गया क्षार)—इन सबको मिलाकर रख लें । इसको पीने से गुल्म, उदररोग तथा आनाह का नाश करके स्वास्थ्य-साधन किया जाता है ।

वक्तव्य—यहाँ तेल सहित पाँच द्रव्यों का उल्लेख है, अथवा तेल की गणना सर्वप्रथम की गयी है । अत एव इसका नाम 'तैलपञ्चक' है, न कि यह 'पञ्चवटी' की भाँति अपने अर्थ का द्योतक है । आचार्य जतूकर्ण ने यहाँ तैल के स्थान पर शब्दतः 'एरण्डतैल' का उल्लेख किया है । यथा—'मदिरारनालमूत्रक्षारैः संयोज्य तैलमैरण्डम्' । जतूकर्णसंहिता ।

पञ्चमूलीकषायेण [1]सक्षारेण शिलाजतु । पिबेत् तस्य प्रयोगेण वातगुल्मात् प्रमुच्यते ॥९७॥
इति शिलाजतुप्रयोगः ।

वातगुल्म में शिलाजीत—वातज गुल्म की शान्ति के लिए जवाखार युक्त लघुपञ्चमूल के कषाय में शिलाजीत मिलाकर पीना चाहिए । इससे उक्त रोग से छुटकारा मिल जाता है ।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर पञ्चमूली शब्द से बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण करते हैं । पञ्चमूल के १ छटांक क्वाथ में २ माशे जवाखार, २ रत्ती शिलाजीत मिलाकर गुनगुना पीना चाहिए । पाठभेद के अनुसार 'क्षार' के स्थान पर 'क्षीर' शब्द प्रयुक्त है । इसके अनुसार क्वाथ के समान इसमें दूध मिला लें । हमारे विचार से योग को दृष्टि में रखते हुए 'क्षार' पाठ अधिक उपयोगी है ।

वाट्यं पिप्पलीयूषेण मूलकानां रसेन वा । भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद् वातगुल्माद्विमुच्यते ॥९८॥

१. 'सक्षीरेण' इति पा० ।

वातगुल्म में वाट्यादि योग—स्निग्ध वाट्य (जौ को भूँजकर उसका चूर्ण बनाकर भीतर से घी या तेल डालकर बनायी गयी रोटी) को पिप्पली प्रधान (मूँग के) यूष से या मूली के स्वरस से खाकर रोगी पुरुष उदावर्त तथा वातगुल्म के रोग से मुक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में **'वाट्यं पिप्पलीयूषेण'** पाठ दिया गया है, जो छन्द की दृष्टि से दोषपूर्ण है। इसी के स्थान पर श्रीजयदेव विद्यालंकार ने जिस पाठ को उद्धृत किया है, उसका हम आदर करते हैं, क्योंकि अर्थ में किसी प्रकार का अन्तर न आते हुए यह पाठ छन्द की दृष्टि से शुद्ध है—**'वाट्यं यूषेण पिप्पल्या'**।

शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद् वातगुल्मिनम्। स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥९९॥

वातगुल्म में स्वेद का प्रयोग—वातगुल्म के रोगी को शूल, आनाह, विबन्ध (कब्जियत) से पीड़ा हो रही हो तो स्वेदविधि (च० सू० अ० १४) में कहे गये नाड़ी, प्रस्तर, संकर आदि विधियों से स्वेदन कराना चाहिए।

वस्तिकर्म परं विद्याद् गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम्। स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति॥

गुल्म में वस्ति-कर्म—गुल्मरोग को शान्त करने के लिए वस्ति का प्रयोग सर्वोत्तम विधि है। यह गुल्म-स्थान पर रहने वाली वायु को सर्वप्रथम जीतकर (प्रतिलोम वायु को अनुलोम कर) शीघ्र ही गुल्म का भी नाश कर देती है।

वक्तव्य—'वस्तिर्वातहराणाम्' देखें—च० सू० अ० २५।४०। वातनाशक प्रयोगों में वस्तिकर्म का प्रमुख स्थान है। अतएव संक्षेप में यहाँ वस्तिकर्म का उल्लेख किया गया है। इसे विस्तारपूर्वक चरक-सिद्धिस्थान में देखें।

तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः। प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः॥
गुल्मघ्ना विविधा दिष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु वस्तयः।

पुनः पुनः वस्ति-प्रयोग—वातनाशक योगों में वस्ति-प्रयोग उत्तम होता है, इसलिये बार-बार निरूह वस्तियों तथा अनुवासनवस्तियों के प्रयोगों से वातज, पित्तज, कफज गुल्म शान्त हो जाते हैं। आगे सिद्धिस्थान में गुल्मनाशक अनेक प्रकार की सिद्ध (सफल या कारगर) वस्तियों का उपदेश किया गया है।

गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके॥ १०२॥
तानि मारुतजे गुल्मे पानाभ्यङ्गानुवासनैः। प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं [1]ह्यनिलजित्परम्॥

वातगुल्म में तेलों का महत्त्व—वातरोगिक (वातव्याधि-चिकित्सित) नामक २८ वें अध्याय में गुल्मनाशक तैल कहे जायेंगे। उन तैलों का प्रयोग वातज गुल्म में पीने, अभ्यंग तथा अनुवासनवस्ति द्वारा करने से वे श्रेष्ठ वातनाशक होते हैं।

नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव च। समलाय प्रदातव्यं शोधनं वातगुल्मिने ॥१०४॥

वातगुल्म में नीलिनी प्रयोग—जिस वातगुल्म के रोगी के उदर में मल का संचय हुआ हो, उसे मल शुद्धि के लिए पूर्वोक्त घृत (इस प्रकरण में पहले कहे गये 'त्र्यूषणादि घृत'), में नीलिनीमूल का चूर्ण उचित मात्रा में मिलाकर देना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रकरण में सर्वप्रथम 'त्र्यूषणादि घृत' कहा गया है। अतः यह पूर्वोक्त है। **नीलिनी**—यह रेचक द्रव्य है। सुश्रुत में इसे अधोभागहर कहा गया है। यह लघु, रूक्ष, तिक्त तथा उष्ण होने के कारण कफ तथा वात का शमन करती है।

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह। शोधनार्थं घृतं देयं सबिडक्षारनागरम् ॥१०५॥

१. 'ह्यनिलजित्वरम्' इति पा०।

नीलिनी घृत—नीलिनी, निशोथ, दन्ती (जमालगोटा), हरड़, कबीला, विड़ (विरिया) नमक, यवक्षार तथा सोंठ के साथ पाक किया हुआ गाय का घी शोधन (विरेचन) के लिए वातगुल्म के रोगी को देना चाहिए।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों का मत है कि उपर्युक्त 'त्र्यूषणादिघृत' में ही नीलिनी आदि द्रव्यों का क्वाथ के रूप में प्रयोग कर तब घी का पाक करें। श्लोक का भाव भी स्वतन्त्र घृत-पाक की ओर संकेत नहीं कर रहा है। हमारे विचार से नीलिनी आदि द्रव्यों द्वारा स्वतन्त्ररूप में घृत-पाक करना ही चाहिए। ऐसा करने से दोनों (त्र्यूषणादि, नीलिनी) घृतों की सत्ता सुरक्षित रहेगी।

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम्। पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ॥१०७॥
ततो घृतपलं दद्याद् यवागूमण्डमिश्रितम्। जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद् रसभोजनम् ॥१०८॥
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान्। श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद् व्यपोहति ॥१०९॥
इति नीलिन्याद्यं घृतम्।

नीलिन्यादि घृत—नीलिनी की जड़, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), रासना, बला, कटुरोहिणी (कुटकी), वायविडंग तथा भटकटैया की जड़—इनमें से प्रत्येक द्रव्य को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर १ आढक (२५६ तोला) जल में क्वाथ तैयार करें। जब वह चौथाई (६४ तोला) शेष रह जाये, तब उसे छानकर १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का घी, १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का दही तथा १ पल (४ तोला) थूहर का दूध मिलाकर विधिपूर्वक घृत-पाक करें। भली-भाँति पाक हो जाने पर दूसरे दिन इसे छानकर सुरक्षित कर दें।

सेवन-विधि—तदनन्तर उसमें से एक पल (४ तोला) घी लेकर यवागूमंड के साथ अथवा यवागू या माँड़ में मिलाकर इसका सेवन करें। यह जब पच जाये और इसके सेवन से रोगी को ठीक प्रकार से विरेचन हो जाये, तब इसे मांसरस के साथ भोजन में दें। इस प्रकार इस घृत का सेवन करने से गुल्म, कुष्ठ, उदररोग, व्यङ्ग, शोफ, पाण्डु-रोग, ज्वर, श्वित्र (श्वेतकुष्ठ), प्लीहा-वृद्धि तथा उन्माद-रोग का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं कि 'नीलिनी आदि द्रव्यों का कल्क-निर्माण-प्रकार नहीं सुना जाता। कल्क के अभाव में पाक का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। पाक के भी मृदु, मध्य, खर तीन भेद होते हैं। इसलिए कल्कों का उल्लेख न होने पर भी पाक-ज्ञान के लिए कल्क का प्रयोग आवश्यक होता है। इसके लिए क्वाथ्य द्रव्यों का ही प्रयोग किया जाता है। इसलिए विशेष प्रपंच न करके आचार्योक्त विधि का ही आश्रय लेना चाहिए'। चरक-कालीन मात्रा की तुलना में आज की मात्रा में अन्तर आना स्वाभाविक है। अतः इसका निर्णय रोग तथा रोगी की स्थिति को देखकर चिकित्सक स्वयं कर ले।

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः। शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम् ॥११०॥

वातगुल्म में मांसरस आदि—कुक्कुट (मुर्गा), मोर, तीतर, क्रौञ्च, बटेर—इन पक्षियों में से किसी का भी मांसरस, शालिधान्य, मदिरा, घी (ऊपर जिस प्रकार के औषधसिद्ध घृतों का वर्णन किया गया है)—ये सभी वातगुल्म में औषध हैं।

वक्तव्य—पथ्य भोजन, सद्वृत्त का आचरण, औषधयोगों के साथ दिया गया अनुपान तथा सहपान, औषधयोगों के सहयोगी होते हैं। अतः प्रकारान्तर से इन्हें भी औषध ही माना जाता है। ऊपर कहे गये मांस-रस आदि ऐसे ही हैं।

हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम्। समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम्॥

वातगुल्म में उष्ण, स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग—वातगुल्म रोग से पीड़ितों के लिए उष्ण स्पर्श तथा वीर्य वाले द्रव, स्निग्ध (घी-तेल के प्रयोग से बनाये गये) भोज्यपदार्थ लाभदायक होते हैं तथा पीने के लिए मण्ड, वारुणी अथवा धान्यक-जल (धनियाँ डालकर पकाया हुआ पानी, न कि धान्यक हिम) लाभप्रद होता है।

मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति । तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम् ॥

गुल्म के वृद्धि-क्षय में अग्नि का सम्बन्ध—जब पाचकाग्नि मन्द हो जाती है, तो गुल्मरोग बढ़ने लगता है और पाचकाग्नि के प्रदीप्त होने पर वह शान्त होने लगता है। इसलिए गुल्मरोग से पीड़ित पुरुष को चाहिए कि वह न तो अधिक भोजन करे और न अधिक लंघन ही करे।

वक्तव्य—ऊपर वातगुल्म का सम्बन्ध पाचकाग्नि से दिखलाते हुए अधिक भोजन तथा अधिक लंघन करने का निषेध किया है। कारण यह है कि अधिक भोजन करने से पाचकाग्नि मन्द पड़ जायेगी और अधिक लंघन करने से वातदोष की वृद्धि होगी, जिससे रोग और भी बढ़ जायेगा। अतएव अधिक भोजन और अधिक लंघन का निषेध किया गया है।

सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेह-स्वेदोपपादिते । या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते ॥११३॥

गुल्म में सर्वप्रथम स्नेहन स्वेदन—सभी प्रकार के गुल्मों में स्नेहन तथा स्वेदन उपचार करने के बाद दोषानुसार जो भी चिकित्सा की जाती है, वह सफल होती है। किन्तु यदि वातगुल्म के रोगी के शरीर में किसी कारण भी रूक्षता आ गयी हो तो उसके ऊपर प्रयुक्त कोई औषधयोग कारगर नहीं होते हैं। अतः चिकित्सा करने के पूर्व रोगी का स्नेहन, स्वेदन अवश्य करा लें।

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत् । वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा [1]तिक्तकेन वा ॥११४॥

पित्तज गुल्म की चिकित्सा—चिकित्सक पित्तज गुल्म को आत्ययिक (नाशक) जानकर विरेचन कारक द्रव्यों अथवा तिक्तक द्रव्यों द्वारा साधित घृत-पान कराकर उसकी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—'अत्यय' शब्द का अर्थ है—'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे, दोषे दण्डेऽपि, अमरकोष। तथा—'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रेऽत्युत्पाते नाशदण्डयोः'। धरणिकोष। उपद्रवकारी, वह उपद्रव है, जिसमें शीघ्र ही पाक हो जाता है। अतः पाक होने के पहले ही विरेचनकारक घृतों का सेवन कराकर इसकी चिकित्सा कर लेनी चाहिए, क्योंकि विरेचन से पित्तदोष का शमन हो जायेगा और घृत युक्त होने के कारण वातदोष की भी वृद्धि नहीं हो सकेगी।

पाठभेद—निर्णयसागरीय प्रति में 'सर्पिषा तिक्तकेन वा' पाठ है, श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'पयसा सर्पिषाऽपि वा' पाठ को आदर दिया है। विधियाँ दोनों ही उपयोगी हैं।

रोहिणीकटुकानिम्बमधुकत्रिफलात्वचः । कर्षांशास्त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले ॥११५॥
द्वे पले च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि । शृताच्छेषं घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम् ॥११६॥
पिबेत् सम्मूर्च्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः । ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा ॥

इति रोहिण्याद्यं घृतम् ॥

रोहिण्यादि घृत—रोहिणी कड़का (कटुकी), नीम की छाल, मुलेठी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), इनकी गुठलियाँ निकालकर छिलके तथा त्रायमाणा प्रत्येक १-१ कर्ष (१-१ तोला), परवल की जड़ तथा निशोथ १-१ पल (४-४ तोला), मसूर की दाल २ पल (८ तोला), घृत से अठगुने जल में डालकर इनका क्वाथ बनायें और जब आठवाँ अंश जल बच जाय तो उसे छान लें, तब उसमें चार पल (१६ तोला) गाय का घी मिलाकर उसे भली-भाँति मथ लें। इसको पीने से पित्तज गुल्म की शान्ति होती है और ज्वर, तृष्णा (प्यास), शूल, भ्रम, मूर्च्छा का भी शमन होता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर **'घृताच्छेषं'** के स्थान पर **'शृताच्छेषं'** पाठ को अधिक युक्ति-युक्त मानते हैं। निर्णयसागरीय प्रति में इसी को मान्यता दी गयी है। इसके आगे **'घृतसमं'** के स्थान पर **'समं सर्पिः'** पाठ उपलब्ध है, जो छन्द की दृष्टि से अधिक रुचिकर है।

रोहिण्यादि घृत में प्रथम सात द्रव्यों का कल्क बनाकर परवल, त्रायमाणा और मसूर की दाल—इनका क्वाथ बनाकर घृत-साधन करना चाहिए, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। शेष उक्त दस द्रव्यों का क्वाथ

१. 'पयसाऽपि वा' इति पा०।

बनाकर घृत-साधन की चर्चा करते हैं। ये विवाद तन्त्रकार की स्पष्टोक्ति के अभाव में उठे हैं। वैसे दोनों ही विधियाँ चिकित्सकों द्वारा समादृत हैं।

चतुष्पलं पिबेत्—यह मात्रा भीमसेन आदि जैसे महाकाय और महाप्राण पुरुषों के लिए निर्धारित की गयी होगी। आज यह मात्रा बहुत अधिक है। आज तो २ तोला क्वाथ में २ तोला घी पूर्ण पुरुष के लिए पर्याप्त मात्रा है। मात्रा-निर्धारण के लिए श्रीशार्ङ्गधराचार्य का निर्देश सभी काल में मान्य है। देखें—'स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं वयो बलम्। प्रकृतिं दोषदेशौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।३७।

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुष्पलम् । पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः ॥
रोहिणीकटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा । कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः ॥११९॥
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च । पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्त्वा सम्यग्विपाचयेत् ॥
पित्तरक्तभवं गुल्मं विसर्पं पैत्तिकं ज्वरम् । हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतद् घृतोत्तमम् ॥१२१॥

इति त्रायमाणाद्यं घृतम् ।

त्रायमाणादि घृत—चार पल (१६ तोला) त्रायमाणा को लेकर दस गुने (४० पल=१६० तोला) जल में उसका क्वाथ करें। जब वह पंचमांश (८ पल=३२ तोला) रह जाये, तो छानकर उसे रख लें। तदनन्तर कुटकी, नागरमोथा, त्रायमाणा, दुरालभा, तामलकी (भुँइआँवला), वीरा (क्षीरकाकोली), जीवन्ती, लालचन्दन, नीलकमल—ये सभी द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर इनका कल्क बनायें। आँवलों का स्वरस, गाय का दूध तथा गाय का घी—ये द्रव्य प्रत्येक ८ पल (३२ तोला) लें और इनका क्वाथ बनायें। फिर कल्क और क्वाथ को एक में मिलाकर भली-भाँति घृतपाक करें। इस उत्तम घृत के सेवन करने से पित्तज गुल्म, रक्तज गुल्म, विसर्प, पित्तज्वर, हृद्रोग, कामला तथा कुष्ठ का विनाश होता है। इसकी मात्रा १ या आधा तोला है।

रसेनामलकेक्षूणां [1]घृतपादं विपाचयेत् । पथ्यापानं पिबेत् सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ॥१२२॥

इत्यामलकाद्यं घृतम् ।

आमलकादि घृत—४-४ सेर आँवलों के स्वरस तथा ईख के स्वरस से चतुर्थांश (१ सेर) गाय के घी को पकायें। इसमें पकाते समय चतुर्थांश हरड़ का कल्क बनाकर मिला दें। इस घृत का पाक करें। जब यह तैयार हो जाये, तब इसका सेवन करना चाहिए। इसके सेवन से पित्तज गुल्म का नाश होता है।

द्राक्षां मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीम् । परूषकाणि त्रिफलां साधयेत् पलसम्मितम् ॥१२३॥
जलाढके पादशेषे रसमामलकस्य च । घृतमिक्षुरसं क्षीरमभयाकल्कपादिकम् ॥१२४॥
साधयेत् तद् घृतं सिद्धं शर्कराक्षौद्रपादिकम् । प्रयोगात् पित्तगुल्मघ्नं सर्वपित्तविकारनुत् ॥१२५॥

इति द्राक्षाद्यं घृतम् ।

द्राक्षादि घृत—मुनक्का, महुए के फूल, खजूर, विदारीकन्द, शतावर की जड़, फालसा, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोले), जल १ आढक (२५६ तोला) लें। जब चौथाई (६४ तोला) जल शेष रह जाये, तब उस क्वाथ में आँवलों का रस, गाय का घी, ईख का रस, गाय का दूध—प्रत्येक १-१ प्रस्थ (६४ तोला), हरड़ का कल्क घी से चतुर्थांश डालकर विधिपूर्वक घृत का पाक करें। पक जाने पर उसे छानकर रख लें। सेवन करते समय इसमें मात्रा का चतुर्थांश चीनी और मधु मिलाकर सेवन करें। इसका प्रयोग करने से पित्तज गुल्म तथा सभी प्रकार के पित्तज विकारों का शमन होता है।

वक्तव्य—कहीं 'मधूकं' के स्थान पर 'मधुकं' पाठ है, वहाँ इसका अर्थ मुलेठी होगा।

वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले । शेषेऽष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत् ॥१२६॥

१. 'घृतप्रस्थम्' इति पा०।

तेन सिद्धं घृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत्। रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम् ॥१२७॥

इति वासाघृतम्।

वासा घृत—अडूसे के नये वृक्ष को समूल उखाड़ कर (जड़ की मिट्टी को साफ कर) उसे कूट डालें। अडूसा से आठ गुने जल में इसे पकायें अर्थात् इसका क्वाथ करें। जब आठवाँ भाग शेष रह जाये, तो उसे रख लें। अडूसे के फूलों का कल्क उसी क्वाथ में मिलाकर इससे गाय के घृत का पाक करें। जब घृत स्वांग शीतल हो जाये, तब इसकी एक मात्रा लें, उसमें शहद मिलाकर सेवन करें। इसका सेवन करने से पित्तज गुल्म का नाश होता है और रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, कास, हृद्रोग का भी नाश होता है।

वक्तव्य—चरक-चिकित्सास्थान रक्तपित्तचिकित्सा अ० ४।८८ में भी एक वासाघृत का योग दिया गया है। उसकी निर्माण-विधि इससे सर्वथा पृथक् है। वहाँ चतुर्गुण जल में अडूसा का क्वाथ बनाकर घृत-पाक का निर्देश है। यहाँ अठगुना जल डालकर अष्टमांश शेष रखने का निर्देश है। सामान्य परिभाषा के अनुसार अडूसा से चौगुना लेने की संस्तुति है। इसे विशेष संस्कार-विधि कहते हैं।

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम्। अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ॥१२८॥
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम्। तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ॥१२९॥

गुल्म में त्रायमाणा प्रयोग—दो पल (८ तोला) त्रायमाणा का २ प्रस्थ (६४ तोला) जल में क्वाथ कर आठवाँ अंश (८ तोला) शेष रहने (ठंडा होने) पर छान लें। जब वह गुनगुना हो जाये, तब उसमें उसके समान (८ तोला) दूध मिलाकर पीने को दें। इस औषध का सेवन करने के बाद रोगी अपने अग्निबल का विचार करके तदनुसार जितना पी सके उतना दूध पीये। इससे दोष (पित्त) के निकल जाने पर उसके कारण उत्पन्न पित्तज गुल्मरोग अपने आप शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—मूल द्रव्य, पाचनार्थ जल तथा दूध इनकी मात्रा आज के पुरुष की शारीरिक स्थिति से अधिक है। अतएव इसका निर्णय देश, काल आदि के ज्ञाता चिकित्सक पर छोड़ दें।

द्राक्षाभयारसं गुल्मे पैत्तिके सगुडं पिबेत्। लिह्यात् कम्पिल्लकं वाऽपि विरेकार्थं मधुद्रवम् ॥

पित्तज गुल्म में विरेचन—पित्तदोष-प्रधान गुल्म रोग में विरेचन कराने के लिए द्राक्षा (मुनक्का) तथा हरड़ के स्वरस में गुड़ मिलाकर पीना चाहिए अथवा कबीला के चूर्ण में मधु मिलाकर चाटना चाहिए।

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य ने नवीन, प्राचीन तथा आर्द्र औषधियों पर विशेष विचार श्लोक ४४ से ५१ तक किया है। इस प्रसंग में जिन बीस आर्द्र द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उनमें केवल हरड़ का उल्लेख है न कि द्राक्षा का। गीले पदार्थों का स्वरस स्वभावतः गुरु होता है, पुटपाक या क्वाथ द्वारा निकाला हुआ रस उससे अल्प गुण वाला होता है। पञ्चकषाय में सर्वप्रथम स्वरस का ही उल्लेख है। ये पंचकषाय उत्तरोत्तर लघु होते हैं। सूखे द्रव्यों से जो रस निकाला जाता है, उसका वर्णन कषायकल्पना प्रकरण में देखें। यहाँ कबीला के चूर्ण की सामान्य मात्रा २ माशा और अनुपान के लिए मधु दो तोला दें।

दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः सर्पिषा पित्तगुल्मिनाम्। चन्दनाद्येन तैलेन तैलेन मधुकस्य वा ॥१३१॥

पित्तज गुल्म में अभ्यंग—पित्तप्रधान गुल्मरोग में पित्तजनित दाह की शान्ति के लिए ऊपर कहे गये औषधसिद्ध किसी घी से, चन्दनादि तेल से अथवा मुलेठी के योग से तैयार किये गये तेल से उक्त रोगी को अभ्यंग कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ अभ्यंग के तीन योगों का वर्णन किया गया है। १. **सर्पिषा**—घी से, किन्तु इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अतः कुछ चिकित्सक इस अध्याय में कहे गये पित्तनाशक किसी एक घी से अभ्यंग करने की अनुमति देते हैं। दूसरे शतधौत, सहस्रधौत घी से। दोनों ही घृत दाह-शान्ति में सहायक होते हैं। २. **चन्दनादि तैल**—इसका उल्लेख च० चि० अ० ३।२५८ ज्वर-चिकित्सा में किया गया है। ३. **मधुकतैल**—मुलेठी का क्वाथ तथा कल्क बनाकर तैलपाक-विधि के अनुसार इसे तैयार करें।

ये च [1]पित्तज्वरहराः सतिक्ताः क्षीरवस्तयः। हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ॥

पित्तज गुल्म में वस्ति-प्रयोग—चरक-चिकित्सास्थान के ज्वर-चिकित्सा प्रकरण में पित्तज्वरनाशक तिक्तद्रव्य युक्त जिन क्षीर-वस्तियों का उल्लेख किया गया है और आगे चरक-सिद्धिस्थान में जिन वस्तियों का उल्लेख किया जायेगा, वे सभी पित्तज गुल्म वाले रोगियों के लिए हितकर होती हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार का यह प्रयोग ग्रन्थ-संक्षेपीकरण के लिए है।

शालयो जाङ्गलं मांसं गव्याजे पयसी घृतम्। खर्जूरामलकं द्राक्षां दाडिमं सपरूषकम् ॥१३३॥
आहारार्थं प्रयोक्तव्यं पानार्थं सलिलं शृतम्। बलाविदारीगन्धाद्यैः पित्तगुल्मचिकित्सितम् ॥

पित्तज गुल्मों में भोज्य पदार्थ—शालि चावल, जांगलदेश में उत्पन्न पशु तथा पक्षियों के मांस या मांसरस, गाय तथा बकरी का दूध और घी, पिण्डखजूर, आँवला, मुनक्का, दाड़िम (खट्टा अनार), फालसा—ये वस्तुएँ गुल्मरोगी को चिकित्साकाल में खाने के लिए देनी चाहिए। पीने के लिए जल की व्यवस्था—बला (बरियारा) तथा विदारीगन्धा आदि अर्थात् लघुपञ्चमूल में कहे गये द्रव्यों से 'षडंग' परिभाषा के अनुसार पकाकर शीतल किया गया (गुन-गुना) जल गुल्म-चिकित्सा में पीने के लिए दें।

आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके। यवागूभिः खडैर्यूषैः सन्धुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते ॥१३५॥

पित्तज गुल्म में लंघन—यदि पित्तज गुल्म में आमदोष का अनुबन्ध (लगाव) हो, अथवा साम कफज गुल्म या साम वातज गुल्म हो, तो उसमें भली-भाँति लंघन कराकर अर्थात् आमदोष के हट जाने पर पाचकाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए उस रोगी को यवागू, खड तथा यूषों का सेवन कराना चाहिए, जिससे पाचकाग्नि सुलग (तीव्र हो) सके।

वक्तव्य—यवागू-निर्माण-विधि का अनेक बार उल्लेख हो चुका है। **खडैर्यूषैः**—खड यूष का ही एक भेद है। देखें—'तक्रं कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वं खडयूषोऽयं··· ॥' चक्रदत्त-अतिसारचिकित्सा। और—'मुद्गयूषरसं तक्रं धान्यजीरकसं युतम्। सैन्धवं सहितं दद्यात् खडयूषमिति स्मृतम्' ॥ भावप्रकाश। यहाँ तन्त्रकार को खड और यूष का अलग-अलग प्रयोग अभीष्ट है। अतः इनका पृथक् परिचय दे दिया है। यूष-निर्माण का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ। तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत् ॥१३६॥

गुल्म में अग्नि रक्षा का महत्त्व—सभी दोषों का सम होना अथवा प्रकोप होना जठराग्नि के अनुकूल-प्रतिकूल होने पर निर्भर है। इसलिए जठराग्नि की सदैव रक्षा करनी चाहिए और गुल्मरोग के पैदा होने में जो कारण हैं उनका परित्याग करें (यही प्रधान चिकित्सा-सूत्र है)।

स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते ॥१३७॥
वमनं वमनार्हाय प्रदद्यात् कफगुल्मिने। भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे न्यसेत् ॥
परिवेष्टच प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान्। वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्याद् गुल्मं प्रमाणवित् ॥
[2]सङ्गृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्। [3]न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत् ॥१४०॥
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत्। मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं

कफज गुल्म की चिकित्सा—सर्वप्रथम कफ गुल्म के रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद जो वमन कराने के योग्य हो, उसे वमन कराना चाहिए। इन क्रियाओं को कराने से उस गुल्म में जब शिथिलता आ जाये, तब एक घड़े में जलते हुए। बल्वज (तृण-विशेष) या कुशों को डाल दे, तदनन्तर घड़े के मुख को गुल्मस्थान के ऊपर रख दे। जब यह मालूम पड़े कि गुल्म घड़े के मुख के भीतर प्रवेश कर गया है, तब घड़े को ऊपर की ओर को उठाये, उस समय शीघ्र ही उस ऊपर उठे हुए गुल्म को वस्त्र से बांध दें, उस गुल्म के

---

१. 'पित्तज्वरार्तानाम्' इति पा०।
२. 'स गृहीतो यदा' इति पा०।
३. 'न त्वत्र हृदयम्' इति पा०।

प्रमाण को जानने वाला चिकित्सक उसका भेदन करे। उसके बाद विमार्ग, अजपद, आदर्श—इनमें से उस समय जो साधन सुलभ हो उस यन्त्र से उसे खूब दबायें, जिससे दोष निकल सकें। इस प्रकार केवल ये सब क्रियाएँ गुल्म के ऊपर ही होनी चाहिए। इस अवसर पर आन्त्र तथा हृदय का स्पर्श न करें, अर्थात् इन अवयवों पर दबाव नहीं पड़ना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान के सातवें अध्याय में १०१ यन्त्रों तथा कुछ उपयन्त्रों का उल्लेख किया गया है और आठवें अध्याय में २० शस्त्रों तथा कुछ अनुशस्त्रों का वर्णन किया है, किन्तु उनमें 'विमार्ग, अजपद, आदर्श' नामक यन्त्रों का कहीं उल्लेख नहीं है। वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने अपनी संहिताओं में कुछ यन्त्रों की अधिक गणना की है। किन्तु इनका उल्लेख वहाँ भी नहीं है। सुश्रुतोक्त २४ प्रकार के यंत्र-कर्मों में 'विवरण, पीड़न, आञ्छन, उन्नमन' नामक जिन क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। उनसे उक्त चरकोक्त 'विमार्ग' आदि का साम्य प्रतीत होता है। आचार्य गङ्गाधर 'विमार्ग, अजपद, आदर्श' नामक यन्त्रों के समर्थक नहीं रहे हैं। उनकी दृष्टि में यहाँ पाठ ही कुछ और है। देखें—'छिन्द्याद् गुल्मं प्रमाणवित्। विमार्गजं यदापहयेद्'। क्योंकि इस पाठ में उन यन्त्रों के नाम ही नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में आचार्य योगीन्द्रनाथसेन की टिप्पणी अवलोकनीय है—'स्निग्धस्विन्नशरीरस्य गुल्मिनः गुल्मे शैथिल्यं शिथिलतामागते प्राप्ते सति, प्रमाणवित् कुम्भादीनां तत्रोचितप्रमाणज्ञः भिषक् प्रदीप्तान् बल्वजा-तुलपान् अथवा कुशान्, कुम्भे घटीयन्त्रमध्ये, परिवेष्टय समावाप्य प्रक्षिप्य वेष्टनेन अन्तःप्रवेशं कारयित्वा तस्य घटस्य मुखे गुल्मं न्यसेत्, प्रज्वलितकुशादिगर्भं तं घटं गुल्मे लागयेत्। अथ स गुल्मः यदा तेन घटेन गृहीतः अन्तःसङ्गृहीतः, तदा तं घटमुद्धरेत् बलादपसारयेत्, भिन्द्याद् वा उद्धरणाशक्तौ। ततो गुल्मं वस्त्रान्तरं वस्त्रव्यव-हितं कृत्वा विमार्गः, अजपदं, आदर्शो दर्पणश्च ते, विमार्गश्चर्मकाराणां चर्मणि रेखाकरणदारुमययन्त्रविशेषः, अजपदस्य प्रान्तं क्रियायोगि, आदर्शस्य धाराक्रियायोगिनी, तैर्यथालाभं विमार्गादिषु यो लभ्यते तेन, एकं केवलं गुल्ममेव प्रपीडयेन्मृद्नीयात् प्रमृज्याच्च। अत्र प्रपीडने हृदयन्तु नैव स्पृशेत्, किन्तु हृदयं वर्जयेत्, अन्त्रं च इति वर्जयेत्' **योगीन्द्रनाथसेनः।**

इस विवेचन से एक लाभ यह हुआ कि 'न त्वन्त्रहृदयं' पाठ अधिक प्रामाणिक है अपेक्षाकृत 'न त्वत्र हृदयं पाठ से। दूसरा एक भ्रम यह उपस्थित हुआ है कि जब 'विमार्ग' एक यन्त्र का नाम है, जिससे चर्मकार चमड़े पर रेखा खींचते हैं और वह लकड़ी का होता है, तब फिर 'विमार्गादिषु यो लभ्यते' यह अर्थ कहाँ से लिया जायेगा? श्लोक १३९ के आरम्भ में दिया गया 'सङ्गृहीतो' पाठ के स्थान पर 'न गृहीतो' पाठभेद से अधिक रुचिकर प्रतीत होता है।

अन्त्र (आँत) और हृदय इन दोनों को बचाकर केवल गुल्म स्थान पर ही शस्त्र-प्रयोग करना चाहिए। यह कर्म धन्वन्तरि-सम्प्रदाय द्वारा दीक्षित चिकित्सकों का है। अतएव तन्त्रकार ने कहा है—'भिन्द्याद् गुल्मं प्रमाणवित्'। इस प्रकार गुल्म को पकड़ने की जिस क्रिया का वर्णन महर्षि आत्रेय ने किया है उसे आजकल घटीयन्त्र (Cupping glasses) कहते हैं। इसमें स्प्रिट डालकर आग लगाते हैं। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में भी गुल्म भेदन की प्रायः चरकोक्त विधि ही दी गयी है और विमार्ग, अजपद, आदर्श यन्त्रों का उपयोग करने की संस्तुति की है।

हमारे कुल में कायचिकित्सा की चिरन्तन परम्परा रही है। तदनुसार गुल्म रोगी के जिस अवयव में अर्थात् उदर के जिस भाग में गुल्म होता है, सने हुए आटे का एक गहरा दीपक बनाकर वहाँ रखकर उस पर घृत का दीप जलाया जाता है। उसकी लौ के ऊपर किसी ताँबे या पीतल की बटलोही को पहले कुछ ऊपर से पकड़े रहते हैं, जब वह पात्र उस दीपक की लौ से कुछ गरम होने लगता है तो उस पात्र से दीपक को ढँक दिया जाता है, ढँकते ही वह भाग उस पात्र के भीतर चला जाता है और दीपक बुझ जाता है। इसी बीच उस पात्र को सबल हाथों से ऊपर की ओर खींच लिया जाता है। शेष क्रिया महर्षि आत्रेय का अनुसरण करती है। यह गुल्म-चिकित्सा की अच्छी विधि है।

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च। श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक् ॥१४१॥

कफज गुल्म में स्वेदन—चिकित्सक को चाहिए कि वह तिल, रेंड़ का बीज, अतसी (तीसी) तथा सरसों के बीजों को समभाग लेकर भली भाँति पीस ले। इस स्नेह-कल्क से कफज गुल्म को लीप दे और इन लौह पात्रों को एक-एक करके गरम करता जाये। जो-जो पात्र गरम होता जाये, उस-उस से कफज गुल्म का स्वेदन करता जाये। इन पात्रों को उतना गरम करे जितना रोगी सहन कर सके, अन्यथा जलने का भय बना रहता है।

वक्तव्य—ये चारों तिलहन के बीज हैं, लौह-पात्रों से इसे सेकना है। यह प्रकारान्तर से कफज गुल्म के स्नेहन, स्वेदन की विधि है। दूसरा लाभ यह भी है कि इस प्रकार सेंक करने से गरम किये हुए लौह-पात्र का सीधा सम्बन्ध त्वचा से न होकर लेप के ऊपर होगा। अनेक पात्रों को गरम करने से स्वेदन का क्रम कुछ समय तक निरन्तर चला रहेगा।

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीशृतं घृतम्। कफगुल्मं जयत्याशु सहिङ्गुविडदाडिमम् ॥१४२॥

इति दशमूलीघृतम्।

दशमूली घृत—व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), यवक्षार, सैंधानमक, हींग, बिरियानमक और दाड़िम (खट्टे अनार) के बीज—इन सबको समभाग लेकर इनका कल्क निर्माण करें तथा दशमूल के क्वाथ में उस कल्क को मिला दें। इनसे गाय के घृत का पाक करें। इस घृत का विधिवत् सेवन करने से कफज गुल्म का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—१ सेर गाय के घृत को पकाने के लिए २ सेर दशमूल का १६ सेर जल में क्वाथ करें, क्योंकि 'अत्यन्त कठिने द्रव्ये नीरं षोडशिकं मतम्'। शा० सं० म० खं० अ० ९।४। जब ४ सेर (चतुर्थांश) शेष रह जाये, तब उसमें व्योष आदि दाड़िम तक के द्रव्यों का १ पाव कल्क मिलाकर पाक करें।

स्नेह-सिद्धि का लक्षण—'यदा फेनोद्गमस्तैले, फेनशान्तिश्च सर्पिषि। गन्धवर्णरसोत्पत्तिः स्नेहः सिद्ध-स्तदा भवेत्' ॥ शा० सं० म० खं० अ० ९।१३।

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम्। साध्यं विदारीगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके ॥
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम्। विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु यावशूकं बिडं शटीम् ॥
चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक्। प्रस्थं च पयसो दत्त्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
एतद् भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम्। प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत् ॥१४६॥

इति भल्लातकाद्यं घृतम्।

भल्लातकादि घृत—शुद्ध भिलावें २ पल (८ तोला), विदारीगन्धादि पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, भटकटैया, बनभंटा, गोखरू)—इन पाँच द्रव्यों को १-१ पल लेकर जौकुट करके १ आढक (२५६ तोला) जल में इनका क्वाथ करें। जब चौथाई (६४ तोला) जल शेष रह जाये, तो उसे कपड़े से छान लें। उस क्वाथ में पिप्पली, सोंठ, बालवच, वायविडंग, सैंधानमक, हींग, जवाखार, बिरियानमक, कचूर, चित्रकमूल, मुलेठी तथा रासना—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला), लेकर इनका कल्क बनायें। इसी में गाय का दूध १ प्रस्थ (६४ तोला) मिला दें। इससे १ प्रस्थ गाय के घी को चिकित्सक अपनी देख-रेख में पकायें। यह भल्लातक घृत कफज गुल्म का नाश करने में श्रेष्ठ होता है और प्लीहावृद्धि, पाण्डुरोग, श्वासरोग, ग्रहणीरोग, कासरोग का नाशक होता है।

वक्तव्य—यहाँ तो 'विदारीगन्धाद्यं पञ्चमूलम्' कहने से उक्त द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, किन्तु सुश्रुत-संहिता सू० ० ३८ में एक विदारीगन्धादि गण का उल्लेख है। यह भी शोष, गुल्म, अंगमर्द, ऊर्ध्वश्वास, कास रोगों का नाश करता है, इसका भी अवलोकन करें।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१४७॥
क्षीरप्रस्थं च तत् सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम्। ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम् ॥

इति क्षीरषट्पलकं घृतम्।

क्षीरषट्पलक घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ, जवाखार—इन छः द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर इनसे क्वाथ तथा कल्क बनाकर इसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का दूध मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का पाक करे। यथाविधि घृत का पाक हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस घृत का सेवन करने से कफज गुल्म, ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, प्लीहावृद्धि, कासरोग तथा ज्वर का नाश होता है।

वक्तव्य—घृतपाक-विधि पूर्ववत् ही होनी चाहिए थी, किन्तु यहाँ घी के समान ही दूध लेने का विधान है। यही विधि चक्रपाणि-सम्मत भी है। क्योंकि 'चतुर्गुणे द्रवे साध्यं' इस वचन के अनुसार एक भाग दूध और तीन भाग जल लेना चाहिए।

नामभेद—निर्णयसागरीय प्रति में इसका नाम 'क्षीरषट्पलक घृत' है, किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में इसे 'पञ्चकोलघृत' कहा गया है।

नामों की अन्वर्थता—'क्षीरषट्पलक घृत' यह नाम छः द्रव्यों को १-१ पल लेने के साथ दूध के मिश्रण से युक्त घृत का बोध कराने के कारण सार्थक प्रतीत होता है। दूसरे नाम (पञ्चकोल) में यदि 'आदि' पद और जोड़ दिया जाये, तो यह अधिक समीचीन प्रतीत होगा।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम्। जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम्॥१४९॥
सर्पिरेरण्डजं तैलं क्षीरं चैकत्र साधयेत्। स सिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत्॥१५०॥
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च। प्रयोज्यो मिश्रकः स्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम्॥१५१॥
इति मिश्रकः स्नेहः।

मिश्रक स्नेह—सफेद निशोथ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्तीमूल, दशमूल (बृहत्पञ्चमूल—१. बेल की गिरी, २. सोनापाठा की छाल, ३. गम्भार की छाल, ४. पाढल की छाल, ५. अरणी तथा लघुपञ्चमूल—१. सरिवन, २. पिठवन, ३. भटकटैया, ४. वनभंटा, ५. गोखरू)—इन द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर जौकुट कर चौगुने जल में क्वाथ पकायें, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाये, तो उसे छानकर रख लें। इसमें गाय का घी, एरण्ड (रेंड़ी) का तेल और गाय का दूध डालकर विधिपूर्वक इसका पाक करें। पाक तैयार हो जानेपर इस मिश्रकस्नेह में मधु मिलाकर (सेवन-काल में ही विषम मात्रा में मधु को मिलाना चाहिए) सेवन करने से कफज गुल्म का नाश होता है और वातदोष के कारण होने वाली कब्जियत, कुष्ठ, प्लीहावृद्धि, उदररोग में यह लाभ करता है। योनिशूल में विशेष करके यह स्नेह हितकर होता है।

वक्तव्य—इस योग को आचार्य जतूकर्ण ने भी अपनी संहिता में इस प्रकार उद्धृत किया है—'त्रिवृता-दन्तीत्रिफलादशमूलसमेनोरुबुकं तैलम्। सर्पिश्च श्रृतं पयसा समुदावर्तशूलार्दौ'॥ इसमें मिश्रकस्नेह के सभी द्रव्य हैं। वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को गद्य रूप में अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में निर्दिष्ट किया है। इन्होंने पाकविधि के लिए स्पष्टतया मान-निर्देश किया है। यथा—१६ गुना जल लेने पर उसका १६वाँ भाग जल शेष रहने की व्यवस्था दी है। इसके टीकाकार श्री इन्दु का मत है कि घी, एरण्ड तैल और दूध—ये सभी क्वाथ के समान ही लेने चाहिए। आचार्य गंगाधर भी उक्त मत की सम्पुष्टि करते हैं। अतः हमने भी ऊपर टीका में घी के समान ही एरण्ड तैल आदि को लेने का समर्थन किया है।

उक्त मतों के विपरीत आचार्य चक्रपाणि का मत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'त्रिवृतामित्यादौ पञ्चदशपलानि क्वाथ्यानि तत्र चतुर्गुणं जलं देयम्। पलोल्लेखविहितत्वात् षष्टिपलानि भवन्ति, क्षीरमपि साहचर्यात् पञ्चदशपलम्, एतदुभयद्रवपादः स्नेहोऽत्र पक्तव्यः। किं वा 'स्नेहसमं क्षीरम्' इति वचनात् स्नेहसमेन क्षीरेण क्वाथेन च पञ्चदशपलेन पञ्चपलः स्नेहो द्रवपादिकः कर्तव्यः'। चक्रः। इसके अनुसार २० तोला दूध, २० तोला स्नेह और ६० तोला क्वाथ लेना चाहिए। उक्त २० तोला स्नेह में समान भाग गोघृत तथा एरण्ड तैल मिलाकर लिया जाता है।

आचार्य वाग्भट ने विरेचनार्थ प्रयुक्त मिश्रकस्नेह का पाक इस प्रकार किया है—पिप्पली, आँवला, दाख, कालीनिशोथ आदि (वे द्रव्य जो विरेचक तथा गुल्मनाशक हों) को १-१ पल लेकर कल्क करें, एरण्ड तैल, गाय का घी १-१ प्रस्थ (समभाग), गाय का दूध छः गुना (१२ प्रस्थ)—इन सबको मिलाकर घृतपाक करें।

यह मिश्रकस्नेह गुल्मरोगियों के लिए उत्तम विरेचक है। वृद्धिरोग, विद्रधि, शूल तथा वातव्याधियों में अमृत के समान हितकर है। देखें—अ० हृ० चि० अ० १४।८९-९०।

यदुक्तं वातगुल्मघ्नं स्रंसनं नीलिनीघृतम्। द्विगुणं तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम्॥१५२॥

विरेचनार्थ नीलिनी घृत—हमने इसके पहले (इसी अध्याय के श्लोक १०५ से १०९ तक) वातगुल्म-नाशक नीलिनीघृत का विरेचन के लिए जो उपदेश किया था, वही घृत कफज गुल्म के रोगियों को दूनी मात्रा में प्रयोग कराना चाहिए।

सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम्। कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां [1]लीढ्वा साधु विरिच्यते॥

कफज गुल्म में त्रिवृता-प्रयोग—सेहुण्ड (थूहर) के दूध में त्रिवृता (निशोथ) चूर्ण को भावित करके १ कर्ष (१ तोला) की मात्रा में मधु-घृत के साथ चाटने से कफज गुल्म के रोगी को भली-भाँति विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—प्राचीन काल में निर्धारित इस योग की १ तोला की मात्रा आजकल की दृष्टि से अधिक है। अतः आजकल रोगी की स्थिति का विचार कर इसकी सामान्य मात्रा १ से २ माशा तक की मात्रा मानी जाती है।

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्च चाभयाः। दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च॥
अष्टभागावशेषं तु रसं पूतमधिक्षिपेत्। दन्तीसमं गुडं पूतं क्षिपेत् तत्राभयाश्च ताः॥१५५॥
तैलार्धकुडवं चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम्। चूर्णितं [2]पलमेकं तु पिप्पलीविश्वभेषजम्॥१५६॥
तत् साध्यं लेहवच्छीते तस्मिंस्तैलं समं मधु। क्षिपेच्चूर्णपलं चैकं त्वगेलापत्रकेशरात्॥१५७॥
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम्। सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयम्॥
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम्। हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम्॥१५९॥
कुष्ठं प्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपसेविता। निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः॥१६०॥
इति दन्तीहरीतकी।

दन्ती हरीतकी—२५ बड़ी हरड़ें (इनको कपड़े की एक ढीली पोटली में बाँध दें), २५ पल (१०० तोला) दन्तीमूल, २५ पल (१०० तोला) चित्रकमूल—इनको जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में पकायें। जब जल अष्टमांश (१२८ तोला) शेष रहे, तब उसे उतार कर छान लें। दन्तीमूल के समान प्रमाण में गुड़ लेकर उसे क्वाथ वाले पानी में घोल तथा छान लें। उक्त क्वाथ के साथ पके हुए हरड़ों को पोटली में से खोलकर आधा कुडव (८ तोला) तिल तैल में भून लें। जब भली-भाँति भुन जाये, तो इसी में गुड़ मिला हुआ वह क्वाथ डाल दें, फिर इसे मन्द-मन्द आँच में पकाते रहें। इसी में सफेद निशोथ का कपड़छन चूर्ण ४ पल (१६ तोला) तथा पिप्पली और सोंठ १ पल (दोनों २-२ तोला=४ तोला) इसी में मिलाकर उसे तब तक चलाते रहें, जब तक वह अवलेह की भाँति गाढ़ा न हो जाये। तैयार हो जाने पर इसे उतार दें। शीतल हो जाने पर इसमें तैल के समान (८ तोला) मधु और दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्ता, नागकेसर—इन सब का कपड़छन चूर्ण १ पल (अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण १-१ तोला) उसमें डालकर अच्छी तरह मिला दें। इस प्रकार दन्तीहरीतकी पाक तैयार हो जाता है। इसमें से उन २५ हरड़ों को छाँटकर अलग रख लेना चाहिए।

स्नेहन-स्वेदन किया हुआ पुरुष तदनन्तर १ पल (४ तोला) उक्त लेह को चाटकर और पकायी हुई हरड़ों में से एक हरड़ को खाकर १ प्रस्थ की मात्रा में दोष (मल-कफ-पित्त) का बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक विरेचन करता है। इसका प्रयोग करने से गुल्म, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग, अरोचक, हृद्रोग, ग्रहणीरोग, कामला, विषमज्वर, कुष्ठ, प्लीहावृद्धि तथा आनाह रोगों का विनाश हो जाता है। इसका प्रयोग निरुपद्रव होता है। इसके सेवनकाल में मांसरस तथा भात का सेवन करना चाहिए।

---

१. 'लीढं साधु विरेचयेत्' इति पा०। २. 'चार्धपलिकम्' इति पा०।

क्षीरषट्पलक घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ, जवाखार—इन छः द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर इनसे क्वाथ तथा कल्क बनाकर इसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का दूध मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का पाक करे। यथाविधि घृत का पाक हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस घृत का सेवन करने से कफज गुल्म, ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, प्लीहावृद्धि, कासरोग तथा ज्वर का नाश होता है।

वक्तव्य—घृतपाक-विधि पूर्ववत् ही होनी चाहिए थी, किन्तु यहाँ घी के समान ही दूध लेने का विधान है। यही विधि चक्रपाणि-सम्मत भी है। क्योंकि 'चतुर्गुणे द्रवे साध्यं' इस वचन के अनुसार एक भाग दूध और तीन भाग जल लेना चाहिए।

नामभेद—निर्णयसागरीय प्रति में इसका नाम 'क्षीरषट्पलक घृत' है, किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में इसे 'पञ्चकोलघृत' कहा गया है।

नामों की अन्वर्थता—'क्षीरषट्पलक घृत' यह नाम छः द्रव्यों को १-१ पल लेने के साथ दूध के मिश्रण से युक्त घृत का बोध कराने के कारण सार्थक प्रतीत होता है। दूसरे नाम (पञ्चकोल) में यदि 'आदि' पद और जोड़ दिया जाये, तो यह अधिक समीचीन प्रतीत होगा।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम्। जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम् ॥१४९॥
सर्पिरेरण्डजं तैलं क्षीरं चैकत्र साधयेत्। स सिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत् ॥१५०॥
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च। प्रयोज्यो मिश्रकः स्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम् ॥१५१॥

इति मिश्रकः स्नेहः।

मिश्रक स्नेह—सफेद निशोथ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्तीमूल, दशमूल (बृहत्पञ्चमूल—१. बेल की गिरी, २. सोनापाठा की छाल, ३. गम्भार की छाल, ४. पाढल की छाल, ५. अरणी तथा लघुपञ्चमूल—१. सरिवन, २. पिठवन, ३. भटकटैया, ४. वनभंटा, ५. गोखरू)—इन द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर जौकुट कर चौगुने जल में क्वाथ पकायें, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाये, तो उसे छानकर रख लें। इसमें गाय का घी, एरण्ड (रेड़ी) का तेल और गाय का दूध डालकर विधिपूर्वक इसका पाक करें। पाक तैयार हो जानेपर इस मिश्रकस्नेह में मधु मिलाकर (सेवन-काल में ही विषम मात्रा में मधु को मिलाना चाहिए) सेवन करने से कफज गुल्म का नाश होता है और वातदोष के कारण होने वाली कब्जियत, कुष्ठ, प्लीहावृद्धि, उदररोग में यह लाभ करता है। योनिशूल में विशेष करके यह स्नेह हितकर होता है।

वक्तव्य—इस योग को आचार्य जतूकर्ण ने भी अपनी संहिता में इस प्रकार उद्धृत किया है—'त्रिवृता-दन्तीत्रिफलादशमूलसमेनोरुबुकं तैलम्। सर्पिश्च शृतं पयसा समुदावर्तशूलादौ' ॥ इसमें मिश्रकस्नेह के सभी द्रव्य हैं। वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को गद्य रूप में अष्टांगसंग्रह चि० अ० १६ में निर्दिष्ट किया है। इन्होंने पाकविधि के लिए स्पष्टतया मान-निर्देश किया है। यथा—१६ गुना जल लेने पर उसका १६वाँ भाग जल शेष रहने की व्यवस्था दी है। इसके टीकाकार श्री इन्दु का मत है कि घी, एरण्ड तैल और दूध—ये सभी क्वाथ के समान ही लेने चाहिए। आचार्य गंगाधर भी उक्त मत की सम्पुष्टि करते हैं। अतः हमने भी ऊपर टीका में घी के समान ही एरण्ड तैल आदि को लेने का समर्थन किया है।

उक्त मतों के विपरीत आचार्य चक्रपाणि का मत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'त्रिवृतामित्यादौ पञ्च-दशपलानि क्वाथ्यानि तत्र चतुर्गुणं जलं देयम्। पलोल्लेखविहितत्वात् षष्टिपलानि भवन्ति, क्षीरमपि साहचर्यात् पञ्चदशपलम्, एतदुभयद्रवपादः स्नेहोऽत्र पक्तव्यः। किं वा 'स्नेहसमं क्षीरम्' इति वचनात् स्नेहसमेन क्षीरेण क्वाथेन च पञ्चदशपलेन पञ्चपलः स्नेहो द्रवपादिकः कर्तव्यः'। चक्रः। इसके अनुसार २० तोला दूध, २० तोला स्नेह और ६० तोला क्वाथ लेना चाहिए। उक्त २० तोला स्नेह में समान भाग गोघृत तथा एरण्ड तैल मिलाकर लिया जाता है।

आचार्य वाग्भट ने विरेचनार्थ प्रयुक्त मिश्रकस्नेह का पाक इस प्रकार किया है—पिप्पली, आँवला, दाख, कालीनिशोथ आदि (वे द्रव्य जो विरेचक तथा गुल्मनाशक हों) को १-१ पल लेकर कल्क करें, एरण्ड तैल, गाय का घी १-१ प्रस्थ (समभाग), गाय का दूध छः गुना (१२ प्रस्थ)—इन सबको मिलाकर घृतपाक करें।

यह मिश्रकस्नेह गुल्मरोगियों के लिए उत्तम विरेचक है। वृद्धिरोग, विदाह, शूल तथा वातव्याधियों में अमृत के समान हितकर है। देखें—अ० हृ० चि० अ० १४।८९-९०।

यदुक्तं वातगुल्मघ्नं स्रंसनं नीलिनीघृतम्। द्विगुणं तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम् ॥१५२॥

विरेचनार्थ नीलिनी घृत—हमने इसके पहले (इसी अध्याय के श्लोक १०५ से १०९ तक) वातगुल्म-नाशक नीलिनीघृत का विरेचन के लिए जो उपदेश किया था, वही घृत कफज गुल्म के रोगियों को दूनी मात्रा में प्रयोग कराना चाहिए।

सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम्। कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां [1]लीढ्वा साधु विरिच्यते ॥

कफज गुल्म में त्रिवृता-प्रयोग—सेहुण्ड (थूहर) के दूध में त्रिवृता (निशोथ) चूर्ण को भावित करके १ कर्ष (१ तोला) की मात्रा में मधु-घृत के साथ चाटने से कफज गुल्म के रोगी को भली-भाँति विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—प्राचीन काल में निर्धारित इस योग की १ तोला की मात्रा आजकल की दृष्टि से अधिक है। अतः आजकल रोगी की स्थिति का विचार कर इसकी सामान्य मात्रा १ से २ माशा तक की मात्रा मानी जाती है।

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्च चाभयाः। दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च ॥
अष्टभागावशेषं तु रसं पूतमधिक्षिपेत्। दन्तीसमं गुडं पूतं क्षिपेत् तत्राभयाश्च ताः ॥१५५॥
तैलार्धकुडवं चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम्। चूर्णितं [2]पलमेकं तु पिप्पलीविश्वभेषजम् ॥१५६॥
तत् साध्यं लेहवच्छीते तस्मिंस्तैलं समं मधु। क्षिपेच्चूर्णपलं चैकं त्वगेलापत्रकेशरात् ॥१५७॥
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम्। सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयम् ॥
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम्। हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम् ॥१५९॥
कुष्ठं प्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपसेविता। निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः ॥१६०॥

इति दन्तीहरीतकी।

दन्ती हरीतकी—२५ बड़ी हरड़ें (इनको कपड़े की एक ढीली पोटली में बाँध दें), २५ पल (१०० तोला) दन्तीमूल, २५ पल (१०० तोला) चित्रकमूल—इनको जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में पकायें। जब जल अष्टमांश (१२८ तोला) शेष रहे, तब उसे उतार कर छान लें। दन्तीमूल के समान प्रमाण में गुड़ लेकर उसे क्वाथ वाले पानी में घोल तथा छान लें। उक्त क्वाथ के साथ पके हुए हरड़ों को पोटली में से खोलकर आधा कुडव (८ तोला) तिल तैल में भून लें। जब भली-भाति भुन जाये, तो इसी में गुड़ मिला हुआ वह क्वाथ डाल दें, फिर इसे मन्द-मन्द आंच में पकाते रहें। इसी में सफेद निशोथ का कपड़छन चूर्ण ४ पल (१६ तोला) तथा पिप्पली और सोंठ १ पल (दोनों २-२ तोला=४ तोला) इसी में मिलाकर उसे तब तक चलाते रहें, जब तक वह अवलेह की भांति गाढ़ा न हो जाये। तैयार हो जाने पर इसे उतार दें। शीतल हो जाने पर इसमें तैल के समान (८ तोला) मधु और दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्ता, नागकेसर—इन सब का कपड़छन चूर्ण १ पल (अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण १-१ तोला) उसमें डालकर अच्छी तरह मिला दें। इस प्रकार दन्तीहरीतकी पाक तैयार हो जाता है। इसमें से उन २५ हरड़ों को छांटकर अलग रख लेना चाहिए।

स्नेहन-स्वेदन किया हुआ पुरुष तदनन्तर १ पल (४ तोला) उक्त लेह को चाटकर और पकायी हुई हरड़ों में से एक हरड़ को खाकर १ प्रस्थ की मात्रा में दोष (मल-कफ-पित्त) का बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक विरेचन करता है। इसका प्रयोग करने से गुल्म, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग, अरोचक, हृद्रोग, ग्रहणीरोग, कामला, विषमज्वर, कुष्ठ, प्लीहावृद्धि तथा आनाह रोगों का विनाश हो जाता है। इसका प्रयोग निरुपद्रव होता है। इसके सेवनकाल में मांसरस तथा भात का सेवन क[illegible] चाहिए।

---

१. 'लीढं साधु विरेचयेत्' इति पा०।

२. 'चार्धपलिकम्' इति पा०।

वक्तव्य—इस योग में पहले अभया (हरीतकी) बाद में दन्ती शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु 'अल्पाच्तरम्' इस सूत्र के अनुसार अल्प अक्षरों वाले 'दन्ती' शब्द का पूर्व प्रयोग किया गया है। वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय चि० अ० १४ में 'दन्तीहरीतकी' प्रयोग दिया है, जिसमें द्रव्य तो प्रायः चरकोक्त ही हैं, किन्तु श्लोकों की रचना अपने ढंग की है। इसमें हर्रे २५ पल लेने का निर्देश है। आप भी देखें। 'सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयम्'। यह पाठ दोनों संहिताओं में समान है। इसका अर्थ है—१ प्रस्थ दोष अर्थात् पुरीष के अतिरिक्त कफ और पित्त भी सुखपूर्वक निकल जाते हैं। अन्यत्र प्रस्थ ६४ तोला का होता है, किन्तु 'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्द्धं त्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः' ॥ परिभाषाप्रदीप खं० १। अर्थात् वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण में प्रस्थ का मान साढ़े तेरह पल का माना जाता है। दन्ती हरीतकी में जो हरीतकी-पाक की विधि दी गयी है, वह गुड़हरीतकी (हरड़ का मुरब्बा) का स्वरूप है। इसमें शुद्ध दन्ती का प्रयोग करना चाहिए।

सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते निरूहाः कफगुल्मिनाम्। अरिष्टयोगाः सिद्धाश्च ग्रहण्यर्शश्चिकित्सिते॥

कफज गुल्म में चिकित्सा-संकेत—कफज गुल्म के रोगियों के लिए सिद्ध (सफल) निरूहबस्तियों का उपदेश आगे सिद्धिस्थान में किया जायेगा और सिद्ध अरिष्ट-योगों का उल्लेख ग्रहणी तथा अर्श-चिकित्सा-प्रकरण में किया जायेगा।

वक्तव्य—एक योग अनेक रोगों में सफलता दिलाता है, ऐसा योगों की फलश्रुतियों से ज्ञात होता है। अतः सिद्धिस्थान के ग्रहणीरोग-चिकित्सा एवं अर्शरोग-चिकित्सा प्रकरणों में गुल्मनाशक योगों का भी उल्लेख किया गया है। विशेष देखें—अ० सं० चि० अ० १६। आजकल इसकी मात्रा १ से २ तोला तक मानी गयी है।

यच्चूर्णं गुटिका याश्च विहिता वातगुल्मिनाम्। द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसास्ताः कफे हिताः॥
य एव ग्रहणीदोषे क्षारास्ते कफगुल्मिनाम्। सिद्धा निरत्ययाः शस्ता दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते॥

कफज गुल्म में चूर्णादि प्रयोग—जो चूर्ण और जो गुटिकाएँ (गोलियाँ) वातज गुल्म के रोगियों के लिए हितकर कही गयी हैं, उनमें दुगुने प्रमाण में क्षार (यवक्षार), हींग, अम्लवेत का चूर्ण मिला देने पर वे (चूर्ण, गुटिकाएँ) कफज गुल्म में हितकर होती हैं। ग्रहणी रोग में जिन क्षारों के प्रयोग की चर्चा की गयी है, वे सभी क्षार कफज गुल्म के रोगियों के लिए भी सिद्ध, हानिरहित एवं लाभदायक कहे गये हैं। इन चिकित्सा विधियों से यदि कफज गुल्म में लाभ न हो, तो अन्त में दाहकर्म की प्रशंसा की गयी है, अर्थात् जहाँ अन्य चिकित्साएँ सफल नहीं होतीं, वहाँ दाह-चिकित्सा करने से उसमें अवश्य लाभ होता है।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक का आशय यह है कि जिन चूर्णों या गुटिकाओं में क्षार, हींग, अम्लवेत—ये द्रव्य एक-एक गुने पड़े हों, उनमें पुनः दुगने अर्थात् तिगुने उक्त द्रव्य डालकर जो चूर्ण, गुटिकाएँ बनायी जायेंगी, वे कफज गुल्म के रोगियों के लिए हितकर होती हैं। इसके पूर्व 'हिंग्वादिचूर्ण' तथा 'हिंग्वादिगुटिका' श्लोक ७९ से ८४; 'शट्यादिचूर्ण' तथा 'शट्यादिगुटिका' श्लोक ८६-९० इसी अध्याय में देखें। इन्हीं में क्षार, हींग और अम्लवेत का प्रयोग १-१ भाग के रूप में हुआ है। यहाँ इन द्रव्यों को दुगना लेने को कहा है, अतः १ भाग पहले वाला और २ भाग यहाँ का, इनको मिलाकर तिगुना हो जाता है।

प्रपुराणानि धान्यानि जाङ्गला मृगपक्षिणः। कौलत्थो मुद्गयूषश्च पिप्पल्या नागरस्य च॥
शुष्कमूलकयूषश्च बिल्वस्य [1]वरुणस्य च। चिरबिल्वाङ्कुराणां च यवान्याश्चित्रकस्य च॥
बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमैः। तक्रेण तैलसर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत्॥१६६॥

गुल्मरोग में पथ्य—अधिक पुराने चावल तथा अन्य धान्य, जांगलदेश में उत्पन्न मृग तथा पक्षियों के मांस, कुलथी, मूंग, पिप्पली, सोंठ, सुखायी गयी मूली का यूष, बेल, वरुण तथा करञ्ज के अंकुर, अजवाइन, चित्रकमूल, बिजौरा नींबू का रस, हींग, अम्लवेत, यवक्षार, खट्टे अनार का रस, मट्ठा, तेल एवं घी से बने खाद्य पदार्थों का उपयोग करना चाहिए।

---

१. 'तरुणस्य' इति पा०।

वक्तव्य—ऊपर जिन पथ्यों का उल्लेख किया गया है, उनका समुचित उपयोग कल्पना-विधिज्ञ पर निर्भर है। आचार्य चक्रदत्त ने कहा है—'कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् सुधीः'। अर्थात् जिस संयोजन क्रम से भोज्य अथवा पेय रुचिकर बन सकें, पाकविधि-विशेषज्ञ द्वारा उस प्रकार के व्यञ्जनों को तैयार करना या कराना चाहिए, शर्त यह है कि प्रयोज्य द्रव्य उपर्युक्त ही रहें, अथवा इनके गुण-धर्म के अनुकूल चिकित्सक द्वारा निर्दिष्ट अन्य द्रव्य भी हो सकते हैं।

पञ्चमूलीशृतं तोयं पुराणं वारुणीरसम्। कफगुल्मी पिबेत्काले जीर्णे माध्वीकमेव वा॥१६७॥
यवानीचूर्णितं तक्रं बिडेन लवणीकृतम्। पिबेत् सन्दीपनं [1]वातकफमूत्रानुलोमनम्॥१६८॥

कफज गुल्म में पेय—रोगी को जब प्यास प्रतीत हो, उस समय लघुपञ्चमूल द्वारा सिद्ध किया हुआ जल उसे पीने के लिए दें या पुराना वारुणी रस (मण्ड–ऊपर निथरा हुआ स्वच्छ अंश), भोजन के पचने पर महुआ से बनी हुई मदिरा दें, या अजवाइन का चूर्ण मट्ठा में मिलाकर और विरिया नमक डालकर उसे नमकीन करके रोगी को पीने के लिए दें। इसको पीने से वात, कफ तथा मूत्र का अनुलोमन हो जाता है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'जीर्णे' पाठ है, किन्तु श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में 'जीर्णं' पाठ दिया गया है, जो प्रसंगानुसार अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। यदि हम 'जीर्णं माध्वीकम्' इस पाठ को आदर देते हैं तो, 'पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः' से हमें एक शास्त्रीय आधार प्राप्त होता है और 'पुराणं वारुणीरसम्' से इसका साहचर्य भी हो जाता है। आप भी ध्यान दें। इसके अगले पद्य में—'वातकफमूत्रानुलोमनम्' तथा टिप्पणीस्थ 'वातमूत्रवर्चोऽनुलोमनम्'—इस पाठ में जहाँ तक अनुलोमन का प्रसंग है, सभी चिकित्सक दोषों को अनुलोमन करने के लिए ही चिकित्सा करते हैं। पहले पाठ में—वात, कफ, मूत्र के अनुलोमन की बात कही गयी है और दूसरे पाठ में वात, मल, मूत्र की चर्चा है। यहाँ कफज गुल्मरोग की चिकित्सा का प्रस्ताव है। इस प्रसंग को ध्यान में रखते हुए 'कफ' दोष का अनुलोमन विशेष अभीष्ट है। पेय द्रव्यों द्वारा की गयी चिकित्सा में 'मूत्र' का अनुलोमन होना स्वाभाविक है और गुल्म रोग में 'वात' की प्रधानता होती है, अतः 'वातदोष' का अनुलोमन भी आवश्यक है। इस दृष्टि से पहला 'निर्णयसागरीय' पाठ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः। कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः॥१६९॥
[2]दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासवम्यरतिज्वरैः। तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति॥१७०॥
गृहीत्वा सज्वरश्वासं वम्यतीसारपीडितम्। हृन्नाभिहस्तपादेषु शोफः कर्षति गुल्मिनम्॥१७१॥

असाध्य गुल्म के लक्षण—धीरे-धीरे जो गुल्म संचित (बढ़ा) हुआ हो, जिसने बहुत स्थान घेर लिया हो, अर्थात् जिसकी नींव गहरी जम गयी हो, जिसकी जड़ जम गयी हो, सिराओं द्वारा जो ऊपर घिर चुका हो और जब वह कछुए की पीठ की भाँति ऊपर को उठा हुआ दिखलायी देता है (और स्पर्श में कठोर हो जाता है), जिसके कारण रोगी में दुर्बलता (पाठभेद के अनुसार—वर्ण में विकृति), अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा), जी मिचलाना, कास, वमन, अरति (बेचैनी), ज्वर, तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना), तन्द्रा, प्रतिश्याय—ये लक्षण आ जाते हैं तब वह गुल्म रोग असाध्य होता है।

गुल्म का जो रोगी ज्वर, श्वास, वमन, अतिसार से पीड़ित रहता है और जिस गुल्म रोगी का शोथ (सूजन) हृदय, नाभि, हाथ, पैर इन अवयवों को पकड़कर अपनी ओर खींचता है, वह गुल्म रोगी स्वास्थ्य लाभ नहीं कर पाता है। ये गुल्म रोग के असाध्य लक्षण हैं।

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे। स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात् स्नेहविरेचनम्॥१७२॥

रक्तगुल्म की चिकित्सा

रक्तगुल्म में स्नेह-विरेचन—रक्तज गुल्म का निर्णय हो जाने के बाद गर्भकाल (१० मास) बीत जाने पर गुल्म रोगिणी को स्नेहन, स्वेदन कराकर उसे स्नेह युक्त द्रव का विरेचन देना चाहिए।

---

१. 'वातमूत्रवर्चोऽनुलोमनम्' इति पा०। २. 'दौर्वर्ण्यारुचि०' इति पा०।

वक्तव्य—यहाँ 'गर्भकालव्यतिक्रमे' यह पद्यांश 'मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः', रक्तज गुल्म चिकित्सा सिद्धान्त का स्मरण दिला रहा है। क्योंकि दस मास बीत जाने पर यह सुखसाध्य होता है।

पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः। गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ॥१७३॥

रक्तगुल्म में क्षार-प्रयोग—पलाश (ढाक) का क्षार २ पात्र=२ आढक (५१२ तोला), २ पात्र तिल का तेल और २ पात्र गाय का घी—इन सबको एक साथ मिलाकर पाक करें। क्षार सिद्ध हो जाने पर उसका उतनी मात्रा में प्रयोग करें, जिससे गुल्म में शिथिलता आ जाये।

वक्तव्य—मुष्कक (मोखा), पलाश, मदार, अपामार्ग, कुटज तथा सेहुण्ड (थूहर) आदि द्रव्यों को जलाकर उनकी भस्म बना ली जाती है, फिर इस भस्म को पानी में घोलकर रख दिया जाता है। जब वह पानी ऊपर स्वच्छ रूप में दिखलायी देता है, तब उस पानी को धीरे-धीरे दूसरे पात्र में ले लिया जाता है। इस जल को खौलाकर उड़ा दिया जाता है, तदनन्तर पात्र की तलहटी में क्षार प्राप्त होता है।

क्षार-निर्माण-विधि—पलाश आदि को जलाकर भस्म बना लें। इस भस्म को ६ या ८ गुने जल में घोल कर रख दें। यह क्षार १२ घंटे में घुल जाता है और क्षारतत्त्व जल में आ जाता है; जो नीचे बैठ जाता है, उसे फेंक दिया जाता है और जल को धीरे से निथार कर ले लिया जाता है। इसे आग में पकाकर या धूप में सुखाकर काँच के पात्र में रख लिया जाता है, क्योंकि लोहे या मिट्टी के पात्रों को यह खराब कर देता है। इसका विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए सु० सू० अ० ११ सम्पूर्ण देखें।

जब क्षारोदक से घृत का पाक किया जाता है, तो उसमें से झाग उठने लगती है, जब कि घृतपाक का यह लक्षण है—**'फेनशान्तिश्च सर्पिषि'**। और उस घी की आकृति फटे हुए दूध के सदृश हो जाती है। तब समझना चाहिए कि क्षारयुक्त घी का पाक हो गया है। इसकी सामान्य मात्रा चौथाई तोला से आधा तोला तक है। मात्रा में ह्रास-वृद्धि रोग, रोगी तथा उसके शारीरिक बल एवं अग्निबल को देखकर की जाती है।

प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद् [1]योनिविशोधनम्। क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः ॥१७४॥
आभ्यां वा भावितान्दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान्। वराहमत्स्यपित्ताभ्यां लक्तकान् वा सुभावितान् ॥

रक्तगुल्म में योनि-शोधन—यदि उपर्युक्त पलाशक्षारघृत का सेवन करने पर भी रक्तगुल्म का भेदन न हो, तो योनि (गर्भाशय) विशोधक (विशेष रूप से शुद्ध करने वाले) औषधयोगों का उपयोग करना चाहिए। जैसे—१. क्षार (जवाखार) से युक्त पलल (मांस) या सुधाक्षीर (सेहुंड के दूध) के साथ पलल को योनि में रखने के लिए दें। २. अथवा जवाखार और सेंहुड के दूध से भावना दी हुई कटुकमत्स्य (सोंठ, मरिच, पीपर के चूर्ण से युक्त मछली) को पारी-पारी से योनि के भीतर रखने को दें। ३. अथवा सूअर और मछली के पित्त से भावित वस्त्र के टुकड़ों को योनि के भीतर रखने को दें।

वक्तव्य—'योनिविशोधनम्' के स्थान पर अन्यत्र 'योनिविरेचनम्' पाठ दिया है, तात्पर्य दोनों का एक ही है। **योनि-परिचय**—'शङ्खनाभ्याऽऽकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता' ॥ सु० शा० अ० ५ श्लोक ४३। इस विशोधन का प्रभाव योनि के तीसरे आवर्त तक पहुँचना चाहिए, जहाँ गर्भशय्या (गर्भः आगत्य शेते यत्र) स्थित रहती है। **पललम्**—इसका अर्थ कुछ टीकाकारों ने 'तिलकल्क' किया है, जो अन्यत्र प्रसंगानुसार ठीक है, किन्तु यहाँ नहीं। उसके गुण-धर्मों पर विचार करें। देखें—भा० प्र०। **लक्तकान्**—इसको हिन्दी में 'लत्ता' या 'लुग्गा' कहते हैं। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने यहाँ 'नक्तकान्' पाठ को आदर दिया है। वैद्यकशब्दसिन्धु में 'नक्तक' शब्द का अर्थ 'कर्पट' किया है। इस दृष्टि से यह पाठ भी उचित ही है।

अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः। किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद् योनिविशोधनम् ॥

योनि-शोधन के अन्य योग—अथवा अधोहर (नीचे मलद्वार से दोष को निकालने वाले) विरेचक द्रव्यों से या ऊर्ध्वहर (ऊपर मुख-द्वार से वमनकारक) द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ में मधु मिलाकर अथवा किण्व

१. 'योनिविरेचनम्' इति पा०।

(सुराबीज), गुड़ तथा यवक्षार से भावना दिये गये पिचुओं (रुई के फाहों या कपड़े के टुकड़ों) का प्रयोग योनि-विशोधन के लिए करें।

वक्तव्य—ये सभी योग आम गर्भ को गिराने के लिए भी कुछ विषम स्थितियों में कुलटाओं, सामाजिकों तथा सरकार द्वारा किये-कराये जाते हैं। समय की गति विचित्र है, कभी हानि भी क्षणिक लाभकर प्रतीत होती है। अस्तु। ध्यान दें—बाहरी त्वचा से भीतरी त्वचाएँ सुकोमल होती हैं, योनि तथा गर्भाशय की स्थिति भी वैसी ही है, इसलिए योनिविशोधन के लिए प्रयुक्त ऊपर कहे गये क्षारीय प्रयोगों को कुशल महिला चिकित्सक द्वारा ही कराना चाहिए, नहीं तो ये क्षार विष एवं अग्नि के समान मारक और दाहक होते हैं। अतः सावधान! यहाँ 'भावितान्' का सम्बन्ध ऊपर १७५ वें श्लोक में दिये गये 'लक्तकान्' शब्द से है। इन पिचुओं तथा कपड़े के टुकड़ों को वर्त्ती की आकृति का बनाकर गर्भाशय के मुख तक डाल दिया जाता है।

रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा। लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत् ॥१७७॥
वस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम्। अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद् गुल्मप्रभेदनम् ॥१७८॥
प्रवर्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम्। घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम् ॥१७९॥
रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहरीः क्रियाः। कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहरीः पुनः ॥१८०॥
घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान्। सुरां समण्डां पूर्वं च पानमम्लस्य सर्पिषः ॥१८१॥
प्रयोजयेदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा। अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनानुवासनम् ॥१८२॥

रक्तगुल्म-नाशक प्रयोग—१. रक्तपित्तनाशक क्षार (देखें—च० चि० अ० ४ श्लोक ९३-९४) को मधु-घृत में मिलाकर चाटने को दें। २. रक्तगुल्मरोग से पीड़ित रोगिणी को खान-पान में लहसुन, तेज मद्य और मछली खाने को दिलायें (मछली को पकाते समय मसाले के रूप में उसमें लहसुन डालें और खाते समय पीने के लिए नशीली शराब दें)। ३. दूध, गोमूत्र, यवक्षार (जवाखार) और दशमूल के क्वाथ से तैयार की हुई उत्तरवस्ति का प्रयोग करायें। यदि इन उपायों से भी गुल्म में से रक्तस्राव न दिखलायी दे रहा हो तो गुल्म-भेदन क्रिया करनी चाहिए, अर्थात् उसको शस्त्र द्वारा काटकर निकाल देना चाहिए (यहाँ तन्त्रकार ने शस्त्रकर्म का दिशा-निर्देश मात्र किया है, विधि नहीं बतलायी है, क्योंकि वे इसे 'पराधिकार क्षेत्र' कह आये हैं)। यदि गुल्म में से रक्तस्राव होने लगे तो रोगिणी को तत्काल जांगलमृग-पक्षियों के मांस रस के साथ भात खाने को दें। घी मिले हुए तेल से उसकी मालिश करायें और पीने के लिए नवीन (ताजी) शराब दें।

यदि रक्त अधिक निकलने लगे, तो उस रक्त को रोकने के लिए अधोमार्गगामी रक्तपित्त की जो चिकित्सा (च० चि० अ० ४ में) कही गयी है, उसका प्रयोग करें (प्रयोग करने के पूर्व यहाँ भी जीवरक्त या दूषित रक्त का परीक्षण कर लें, दूषित रक्त को न रोकें)। यदि वह रोगिणी वातरोग से पीड़ित हो अथवा वातज गुल्म का ही प्रकोप हो, तो उसकी शान्ति के लिए सभी प्रकार की वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए और घी तथा तेल से युक्त अवसेकों (द्रोणी अवगाहनों) का प्रयोग करायें। मुर्गा, तीतर के मांसरस, मण्ड (ऊपरी स्वच्छ सुराभाग, जिसे प्रसन्ना कहते हैं) से युक्त सुरा अथवा अम्लरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा साधित घृत को पीने के लिए दें। अथवा रक्त के अधिक निकलने पर जीवनीयगण के द्रव्यों द्वारा साधित घी की उत्तरबस्ति दें अथवा तिक्त द्रव्यों द्वारा साधित घी की अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

तत्र श्लोकाः—

स्नेहः स्वेदः सर्पिर्वस्तिश्चूर्णानि बृंहणं गुडिकाः।
वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥ १८३ ॥

वातज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र—गुल्मरोग के सम्बन्ध में कुछ उपसंहारात्मक श्लोक यहाँ दिये हैं—वातज गुल्म के रोगियों में स्नेहन, स्वेदन, घृतपान, वस्ति-प्रयोग, चूर्ण, बृंहणकारक गुटिकाएँ, वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रस्रंसनं निरूहाश्च। रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमनयोगाः ॥१८४॥
उपनाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य। संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ॥१८५॥

पित्तज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र—पित्तज गुल्मरोग में तिक्त द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया हुआ घी, दूध, प्रस्रंसन (विरेचन), निरूहणवस्ति, रक्तमोक्षण, आश्वासन, संशमनयोग, उपनाहन, पके हुए गुल्म में शस्त्रकर्म (चीरा लगाना, आपरेशन करना), भीतर की ओर फूटे हुए गुल्म में संशोधन, संशमन (व्रण-रोपण) कर्म करना चाहिए।

स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखनं विरेकश्च । सर्पिर्वस्तिर्गुटिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ॥१८६॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य ।

कफज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र—कफज गुल्म रोग में स्नेहन, स्वेदन, भेदन, लंघन, उल्लेखन (वमन), विरेचन, घृतपान, वस्ति-प्रयोग, तन्त्रोक्त गुटिकाएं, चूर्ण, अरिष्टयोग, क्षार-प्रयोग—इन चिकित्सा-विधियों से यदि लाभ न हो, तो रक्तमोक्षण कर लेने के बाद अन्त में दाह-कर्म करना चाहिए।

गुल्मस्य रौधिरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः ॥ १८७ ॥

रक्तज गुल्म का चिकित्सा-सूत्र—स्त्रियों में होनेवाले आर्तवजनित रक्तगुल्म का चिकित्सा-क्रम इसी अध्याय में पहले यथास्थान कह दिया गया है।

पथ्यान्नपानसेवा हेतूनां वर्जनं यथास्वं च । नित्यं चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्वकर्माणि ॥
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रियाक्रमः साध्यता न योगाश्च ।
गुल्मचिकित्सितसङ्ग्रह एतावान् व्याहृतोऽग्निवेशस्य ॥ १८९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने गुल्मचिकित्सितं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अध्याय का उपसंहार—सभी गुल्मरोगों में पथ्य (हितकर) अन्नों (भोजनों), पानों (पेय पदार्थों) का सेवन, सभी प्रकार के गुल्म-उत्पत्ति-कारणों का परित्याग, प्रतिदिन जठराग्नि की सुरक्षा करना, गुल्मरोगी की स्नेहन करने के बाद की चिकित्सा करना, गुल्म का निदान, लक्षण, चिकित्सा, साध्य-असाध्य अवस्था, गुल्मनाशक अनेक योग, गुल्मचिकित्सा का संग्रह—इस अध्याय में महर्षि अग्निवेश के ये ही उपदेश हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-
चन्द्रिका, हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सा-
स्थान में गुल्मचिकित्सित नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

गुल्मरोग की चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से प्रमेहरोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे, ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—दक्षप्रजापति के यज्ञ में शम्भुकोप से ज्वर आदि रोगों का जो उत्पत्ति क्रम है, तदनुसार गुल्म के बाद प्रमेह रोग की उत्पत्ति हुई है। यथा—'दक्षाध्वरध्वंसे⋯पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्। हविष्प्राशात् प्रमेह-कुष्ठानाम्'। च० नि० अ० ८।११। आगे चलकर इसी प्रकरण में श्लोक १६ से १९ तक जो रोग-परम्परा-क्रम

दिया है, वह भी अवलोकनीय है। उसमें 'प्रमेह' की गणना नहीं की गयी है। वास्तव में इस प्रसंग में जिन रोगों की गणना का गयी है, वे 'निदानार्थकर' रोग हैं। मधुकोशकार आचार्य-द्वय ने 'अश्मरीरोगानन्तरं वस्ति-विकृतिसाम्यात् प्रमेहनिदानमुच्यते' लिखा है। सुश्रुत के अनुसार अश्मरी, भगन्दर, कुष्ठ के बाद प्रमेह की चर्चा है, अस्तु।

'प्रमेह' शब्द प्र-उपसर्गपूर्वक 'मिह' क्षरणे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर बनता है। इसका तात्पर्य है, अधिक मात्रा में विकारयुक्त मूत्र का निकलना। वात, पित्त, कफ भेद से इनके अनेक भेद होते हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। सभी प्रमेहों का सामान्य लक्षण है—'प्रभूताऽऽविलमूत्रता' अर्थात् अधिक मात्रा में पेशाव का गंदलापन लेकर होना।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० ४ में, च० चि० अ० ६ में, सु० नि० अ० ६ में, सु० चि० अ० ११ में, अ० सं० नि० अ० १४ में, अ० हृ० नि० अ० १० तथा अ० हृ० चि० अ० १२ में देखें।

निर्मोहमानानुशयो निराशः पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः ।
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गानुवाच मेहान्शमनं च तेषाम् ॥ ३ ॥

प्रमेह की प्रस्तावना—मोह, मान (अभिमान), अनुशय (द्वेष, पश्चात्ताप, अनुबन्ध) आदि दोषों से सर्वथा रहित, निराश (लोक से किसी प्रकार की आशा न रखने वाले), ज्ञान और तपश्चर्या के बल से महान् आत्मा वाले आचार्य पुनर्वसु ने उचित समय पर अर्थात् अग्निवेश ने जिस समय प्रश्न किया उसी समय प्रमेह रोग के हेतु (रोग के कारणों), लिंग (रोग के लक्षणों) और उनकी चिकित्सा-विधि का वर्णन किया।

वक्तव्य—योग्य शिष्य के प्रति महर्षि पुनर्वसु की उदारता का वर्णन उक्त पद्य द्वारा किया गया है। **निराशः**—किसी प्रकार के प्रत्युपकार की आशा न रखकर महर्षि ने अपने शिष्य अग्निवेश के लिए चिकित्सा तत्व का निर्देश पूछने के साथ ही कर दिया।

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥ ४ ॥

कफज प्रमेह का निदान—आस्यासुख (सुखपूर्वक सुखद आसनों पर बैठे रहना), स्वप्नसुख (सुख-दायक=मुलायम गद्दों से युक्त पलंग पर अधिक समय तक सोते रहना), दही का अधिक सेवन करना, ग्रामीण (पालतू), औदक (जल में या जल के समीप रहने वाले) तथा आनूप मृगों तथा पक्षियों के मांस रसों का अधिक मात्रा में सेवन करना, दूध का अधिक सेवन, नये अन्नों का अधिक सेवन, वर्षा का नया जल, गुड़ विकार—खाँड़, राब, चीनी, मिश्री, विविध प्रकार की मिठाइयाँ और जो भी आहार-विहार कफकारक हों, वह सब प्रमेह का कारण होता है।

वक्तव्य—सुखपूर्वक बैठे रहना या सोये रहना—ये कफ को बढ़ाते हैं। अतएव ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त
अन्य ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है, क्योंकि उससे कफ की वृद्धि होती है। शारीरिक परिश्रम करने
वालों को कफ की वृद्धि नहीं होती। शेष सभी वस्तुएँ कफवर्धक हैं ही। ग्राम्यमांस—बकरा, मुर्गा, सूअर आदि।
यहाँ ग्राम्य शब्द से पालतू प्राणियों से तात्पर्य है। **जलीयमांस**—मछली, मद्गु (जलकौआ आदि)। **आनूप-**
मांस—'जलप्रायमनूपं स्यात्', तराई भूमि में रहने अथवा पैदा होने वाले, मृग एवं पक्षी—ये सभी कफज
प्रमेह के सामान्य कारण कहे गये हैं। विशेष कारणों को चरक-निदानस्थान अ० ४ में विस्तारपूर्वक देखें। महर्षि
सुश्रुत ने 'आस्यासुख' आदि से उत्पन्न कफज प्रमेह की चिकित्सा में रोगी को पर्याप्त परिश्रम करने की अनुमति
दी है। देखें—सु० चि० अ० १२ सम्पूर्ण।

सुश्रुत का मत—'दिवास्वप्नाव्यामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेद्यद्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात्
प्रमेही भविष्यतीति' ॥ सु० नि० अ० ६।३। कुछ आचार्यों का कथन है कि प्रमेह रोग स्त्रियों को नहीं होता है।
वे प्रमाणस्वरूप इस पद्य को उद्धृत करते हैं—'रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति। सर्वं शरीरं
दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः' ॥ यह कथन सार्वकालिक सत्य नहीं है, क्योंकि यह युक्ति-विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष-
विरुद्ध वचन है। हाँ इतना अवश्य है कि जिन स्त्रियों का मासिकधर्म समय पर बिना किसी गड़बड़ी के होता

रहता है, वे प्रमेह रोग से आक्रान्त नहीं हो पाती हैं। देखें—'द्वौ प्रमेहौ भवतः''' सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च'। सु०
चि० अ० ११।३।

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो वस्तिगतं प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि॥ ५॥

कफज प्रमेह की सम्प्राप्ति—ऊपर निदानोक्त कफकारक आहार-विहारों के सेवन करने से बढ़ा हुआ
कफदोष मेद, मांस तथा वस्तिगत (मूत्राशय में स्थित) शरीर सम्बन्धी क्लेद (कफ या गीलापन, जिसका
अगला रूप मूत्र कहा जाता है) को दूषित कर कफज प्रमेहों को उत्पन्न कर देता है।

पित्तज प्रमेह की सम्प्राप्ति—उष्ण स्पर्श तथा वीर्य वाले पदार्थों का सेवन करने से बढ़ा हुआ पित्त
दोष उन्हीं (मेद, मांस तथा शरीर सम्बन्धी क्लेद) एवं पित्त को दूषित कर पित्तज प्रमेहों को उत्पन्न कर
देता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित प्रति में 'वस्तिगतं प्रदूष्य' पाठ के स्थान पर 'वस्ति-
गतः प्रदूष्यः' पाठ उपलब्ध है) इस स्थिति में ये दोनों ही पद 'कफः' के विशेषण हो जा रहे हैं। हमारे
विचार से 'प्रदूष्य' पाठ प्रामादिक है। इसके स्थान पर विसर्ग रहित 'प्रदूष्य' ही उचित है, आगे भी देखें—
'परिदूष्य' पाठ दिया है। किन्तु इस पद्य की 'मधुकोश' व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य वस्तौ धातून् प्रमेहाननिलः करोति।
दोषो हि वस्तिं समुपेत्य मूत्रं सन्दूष्य मेहाञ्जनयेद् यथास्वम्॥ ६॥

वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति—जब वातदोष की अपेक्षा कफ एवं पित्तदोष क्षीण स्थिति में रहते हैं,
तब वह बढ़ा हुआ वातदोष धातुओं (वसा, मज्जा, ओज, लसीका) को मूत्राशय (वस्ति) में खींचकर लाकर
वातज प्रमेह को उत्पन्न कर देता है।

प्रमेहों की सामान्य सम्प्राप्ति—कुपित दोष (कफ, पित्त, वात अपने-अपने प्रदूषक कारणों को
पाकर) वस्ति में पहुँचकर मूत्र को दूषित कर अपने-अपने लक्षणों से युक्त विभिन्न प्रकार के प्रमेहों को
उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—सम्प्राप्ति का विस्तृत विवरण च० नि० अ० ६ में देखें। वस्ति मूत्राशय का वाचक शब्द
है। किन्तु इस प्रकरण में मूत्रवह-संस्थान से सम्बन्धित सभी अवयवों का ज्ञान वस्ति शब्द द्वारा किया
जाता है। सुश्रुत के वचनों पर ध्यान दें—'प्रमेहकारक आहार-विहारों का सेवन करने वाले पुरुष के अपरि-
पक्व (आम) दशा में स्थित वात, पित्त, कफ, मेद, वसा के साथ मिलकर मूत्रवह-स्रोतों से नीचे की
ओर आकर वस्तिमुख का सहारा लेकर जब वे दोष बाहर निकलने लगते हैं, तब प्रमेहों की उत्पत्ति होती है।
देखें—सु० नि० अ० ६।४।

साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड् याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते॥ ७॥

प्रमेहों की साध्यासाध्यता—समान क्रिया वाले होने के कारण कफज दस प्रमेह साध्य होते हैं,
विषम क्रिया वाले होने के कारण पित्तज छः प्रमेह याप्य होते हैं। महात्यय (विनाशकारी) होने के कारण
वातज चार प्रमेह असाध्य होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ कफज, पित्तज, वातज प्रमेहों को क्रमशः समक्रिय, विषमक्रिय और महात्यय होने के
कारण इन्हें क्रमशः साध्य, याप्य एवं असाध्य कहा गया है। यहाँ इनका विवरण प्रस्तुत है।

समक्रियत्वात्—इसका तात्पर्य है—दोष–कफ, दूष्य–मेदस्, मांस, शरीरज क्लेद। इन दोनों की
चिकित्सा कटु-तिक्तरस-प्रधान द्रव्य हैं, जो दोनों में समान प्रभावकारी होते हैं। अतः इसकी साध्यता मानी
गयी है। इसका समर्थन—'प्रमेहे तुल्यदूष्यता। सुखसाध्यस्य लक्षणम्' है। जब कि अन्यत्र दोष और दूष्य
के समान गुण-धर्मी होने पर रोग कृच्छ्रसाध्य होता है, ऐसा कहा गया है। इसी शास्त्रीय वचन के विरुद्ध यह
प्रमेह की सुखसाध्यता रोगविशेष का प्रभाव ही है।

विषमक्रियत्वात्—एक ही प्रकार के औषधोपचार से जहाँ दोष और दूष्यों का शमन हो जाये
उसे 'समक्रिय' कहा जाता है, उसके विपरीत को 'विषमक्रिय' कहते हैं। जैसे—पित्तज प्रमेहों के दोष और
दूष्य चिकित्सा की दृष्टि से विषम (विसदृश) हैं। पित्त की चिकित्सा मधुररस-प्रधान द्रव्य होते हैं। यदि
इस प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग किया जायेगा, तो पित्तज प्रमेह के दूष्यों (मेदस् आदि) की वृद्धि हो जायेगी
और जो मेदो धातु के शामक कटु आदि द्रव्य हैं, यदि इनका प्रयोग किया जायेगा, तो पित्त की अभिवृद्धि
हो जायेगी। अतः उसे विषमक्रिय होने के कारण याप्य कहा गया है। इसकी चिकित्सा विशेष कुशलता से
की जाती है।

महात्ययत्वात्—वातज प्रमेहों को उनकी परिस्थिति के कारण असाध्य संज्ञा दी गयी है। वातदोष
के कारण जो प्रमेह उत्पन्न होते हैं, उनमें वातदोष रोगी की वसा, मज्जा, ओज, लसीका आदि धातुओं पर
अपना प्रभाव डालकर उनका ह्रास करता हुआ अनेक औपद्रविक लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। इसी स्थिति
को महात्यय (विनाशकारी) कहा गया है। इसमें भी पित्तज प्रमेहों की भाँति चिकित्सा का क्रम विषमक्रिय
होता है। ध्यान दें—स्निग्ध पदार्थों के प्रयोग से वायु का शमन होता है, यदि ऐसे पदार्थों का हम वातज
प्रमेही के प्रति प्रयोग करते हैं, तो इससे मेदस् आदि दूष्यों की वृद्धि हो जायेगी। यदि हम मेदस् की
शान्ति के लिए रूक्ष पदार्थों का प्रयोग करेंगे, तो वातदोष की वृद्धि हो जायेगी। अतएव इसे दोनों दृष्टियों
से महात्यय कहा गया है।

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जा रसौजः पिशितं च [1]दूष्याः प्रमेहिणां, विंशतिरेव मेहाः॥ ८॥

प्रमेह के दोष-दूष्य—प्रमेहरोग में कफ, पित्त, वात—इस क्रम से ये दोष होते हैं और मेदस्, रक्त,
शुक्र, अम्बु (शारीरिक क्लेद अर्थात् जलीय भाग), वसा (चर्बी), लसीका (मांस और त्वचा के बीच में
स्थित जलीय भाग), मज्जा, रस, ओज, मांस—ये दूष्य होते हैं। इन दोष-दूष्यों के परस्पर संयोग होने के
कारण बीस प्रकार के प्रमेह होते हैं।

वक्तव्य—वातादि भेद से प्रमेह रोग की सम्प्राप्तियों का वर्णन पृथक्-पृथक् रूप से ऊपर किया जा
चुका है। यहाँ उसी विषय को दोष-दूष्य भेद से कहा गया है। जैसे—कफज प्रमेह में मेद, मांस, शारीरिक
क्लेद—ये तीन दूष्य हैं। ये ही पित्तज प्रमेह के भी दूष्य हैं और वातज प्रमेह में उक्त तीन दूष्यों सहित अन्य
सात धातु भी दूषित हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है—'अनिलः धातून् सन्दूष्य प्रमेहान् करोति'।
श्लोक ६। यद्यपि मूलतः शरीरगत धातुओं की संख्या ७ है, यथा—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा
शुक्र। इनके अतिरिक्त लसीका, अम्बु, वसा, ओजस् का जो यहाँ परिगणन किया है, ये द्रव्य उपधातु के
अन्तर्गत आते हैं।

उपधातु-परिचय—'स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति। शुद्धमांसभवः स्नेहः सा वसा परि-
कीर्तिता॥ स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम्। इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः'॥ शा० सं०
पू० खं० अ० ५।२८-२९। **अम्बु**—'दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन'। च० शा० अ० ७।१५।
लसीका—'यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं तल्लसीका शब्दं लभते'। च० शा० अ० ७।१५। इस प्रकरण को अन्य धातुओं
के परिचय के लिए भी देखें। इन्हीं दोष-दूष्यों के कारण २० प्रकार के प्रमेह होते हैं।

रसौजः—यहाँ रस और ओजस् इन दो शारीरिक धातुओं को एकवचनान्त रूप में देखकर कई टीका-
कारों ने मनमाना अर्थ कर डाला है। आचार्य चक्रपाणि ने जो इसका विग्रह 'रसश्च ओजश्च' करके 'द्वन्द्वश्च
प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' सूत्र से एकवद्भाव किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। यही कारण है कि 'कियन्तः शिर-
शीय' नामक अध्याय में मधुमेह का वर्णन करते हुए तन्त्रकार ने इसमें तीनों दोषों के प्रकुपित होने की स्पष्ट
चर्चा इस प्रकार की है—'समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः। दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः॥
च० सू० अ० १७।८१। महर्षि सुश्रुत ने भी इसे समर्थन दिया है—'वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदसा सहैकत्व-

---

1. 'दूष्यम्' इति पा०।

मुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्याधो गत्वा वस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्भिद्यन्ते तदा प्रमेहाञ्जनयन्ति । सु० नि० अ० ६।४। वास्तव में दोष-दूष्यों के रहने पर भी उन-उनके संयोग-विशेष के कारण तथा मूत्र के वर्ण-भेद के कारण प्रमेहों के भेद किये जाते हैं। सामान्य दृष्टि में सभी प्रमेह रोगियों के मूत्र में गंदलापन (अस्वच्छता) एवं मूत्र का मात्रा से अधिक आना—ये प्रधान लक्षण होते हैं। यद्यपि इस रोग में द्वन्द्वज आदि भेदों की कल्पना करके इसकी बहुविधता स्थापित की जा सकती है। उस प्रपञ्च से बचने के लिए ही इनकी २० संख्या का निर्धारण किया गया है।

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम् ।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा वालुकया युतं वा ॥ ९ ॥
विद्यात् प्रमेहान् कफजान् दशैतान्—

दस कफज प्रमेह—१. जल के सदृश मूत्र वाला, २. इक्षुरस के सदृश मूत्र वाला, ३. घना (गाढ़ा) मूत्र वाला, ४. नीचे का भाग घन (गाढ़ा) ऊपर स्वच्छ भाग वाला मूत्र, ५. सफेद मूत्र वाला, ६. जिस मूत्र में शुक्र मिला हो, ७. स्पर्श में शीतल मूत्र वाला, ८. वेग रहित जिसमें मूत्र आता हो, ९. लाला (लार) के सदृश मूत्र वाला अथवा १०. वालुका (कफदोष के छोटे-छोटे टुकड़ों से) युक्त मूत्र वाला—इन दस प्रमेहों को कफज समझना चाहिए।

वक्तव्य—चरकसंहिता नि० अ० ४ में श्लोक १३ से २२ तक दस कफज प्रमेहों का नाम-निर्देश सहित परिचय दिया गया है। वहाँ दी गयी विस्तृत तालिका में इन्हें देखें। यहाँ केवल उनके नामों को ऊपर दिये गये क्रमानुसार उद्धृत किया जा रहा है—१. उदकमेह, २. इक्षुमेह या इक्षुवालिकारसमेह, ३. सान्द्रमेह, ४. सान्द्रप्रसादमेह ५. शुक्लमेह, ६. शुक्रमेह, ७. शीतमेह, ८. शनैर्मेह, ९. लालामेह, १०. सिकतामेह।

१. उदकमेह—आधुनिक एलोपैथिक चिकित्सक इस प्रमेह को डाइबिटीज इन्सीपीडस् (Diabetes insipidus) कहते हैं और इसे वृक्कशोथ, रक्तचाप आदि के कारण उत्पन्न हुआ मानते हैं। निदान-विशेष के कारण कुछ विद्वानों ने इसे स्थायी और अस्थायी संज्ञा दे रखी है।

२. इक्षुमेह—इसे आधुनिक चिकित्सक एलीमेण्टरी ग्लाईकोसुरिया (Alimentary glycosuria) कहते हैं। यद्यपि इस प्रमेह में भी मधुरता होती है, किन्तु यह 'मधुमेह' से सर्वथा पृथक् है।

३. सान्द्रमेह—इसे एलोपैथी में फास्फेट यूरिया (Phosphate urea) कहते हैं। दूसरे विद्वान इसे 'फाइब्रीन्यूरिया' कहते हैं, क्योंकि इसके मूत्र में 'फाइब्रीन' की मात्रा मिलती है। अतएव इसका वर्ण रक्ताभ होता है। आयुर्वेदिक नाम की सार्थकता के लिए देखें—चरक-निदानस्थान अ० ४।१५।

४. सान्द्रप्रसादमेह—आधुनिक विद्वान 'सान्द्रमेह' और 'सान्द्रप्रसादमेह' के भेदक को आज तक सही रूप से नहीं बतला सके हैं। वे तो इसको भी 'फास्फेट यूरिया' ही मानते हैं। आचार्य सुश्रुत ने इसको 'सुरामेह' संज्ञा दी है। जिस प्रकार कि सुरा का ऊपरी भाग अत्यन्त स्वच्छ और निचला भाग गंदला होता है। वास्तव में यह 'प्रसादेन सहितः सान्द्रो मेहः' ऐसी स्थिति में 'सान्द्र' शब्द का पूर्वनिपात 'लघ्वक्षरं पूर्वम्' इस सूत्र के अनुसार हुआ है।

५. शुक्लमेह—इसे सुश्रुत तथा वाग्भट ने पिष्टमेह (पिष्ट=आटे की आकृति का मेह) कहा है। मूत्र में यह शुक्लता कुछ विद्वानों ने शुद्ध अन्नरस के कारण मानी है, जो विचारणीय है। आधुनिक पैथी के विद्वान् इसे 'एल्ब्यूमिन्यूरिया (Albuminuria) कहते हैं। इस प्रकरण में १२ प्रकार के मेहों की आधुनिक विद्वानों की गणना की है। यथा—१. एल्ब्यूमिन मेह, २. आगन्तुक एल्ब्युमिन मेह, ३. चक्रिक मेह, ४. अज्ञात-हेतुक मेह, ५. कूटमेह, ६. ज्वरजनित मेह, ७. अधःस्थितिज मेह, ८. ऊर्ध्वस्थितिज मेह, ९. शरीरक्रियात्मक मेह, १०. परिश्रमोत्तरमेह, ११. वृक्कज मेह, १२. यथार्थमेह, १३ एल्ब्यूमिनमेहज। इसके साहित्य की गवेषणा आप स्वयं करें।

६. शुक्रमेह—इस रोग में मूत्र शुक्रमिश्रित या शुक्राभ होता है। इसे आधुनिक विद्वान् 'स्पर्मेटोरिया' कहते हैं। यह प्रायः जवानी के जोश का उबाल ही कहा जा सकता है। इसमें विबन्ध भी अन्यतम कारण

होता है, क्योंकि विबन्ध से शुक्रग्रन्थि पर दबाव पड़ता है। अतः मल या मूत्र के साथ शुक्र का क्षरण होते देखा जाता है।

७. शीतमेह—इस रोग में मूत्र का स्वाद मधुर होता है और वह स्पर्श में शीतल होता है। इसमें रोगी बार-बार मूत्र त्याग करता है। सुश्रुत में इसे 'फेनमेह' कहा है, देखें—सु० नि० अ० ६।८। इसमें 'शर्करा' की मात्रा भी पायी जाती है।

८. शनैर्मेह—इसका कुछ परिचय नाम मात्र से ही हो जाता है। इससे पीड़ित रोगी के मूत्रवहस्रोतों में रुकावट आ जाती है, अतः वह धीरे-धीरे मूत्र त्याग करता है।

९. सिकतामेह—इससे पीड़ित रोगी के मूत्र में सिकता (बालू) के छोटे-छोटे अश्मरी के कण मिलते हैं। यह अश्मरी (पथरी) का ही एक भेद है। इसका अन्तर्भाव हम आधुनिक चिकित्सकों के सिद्धान्त के अनुसार लिथूरिनरी (Lithurinary) के अन्तर्गत कर सकते हैं।

१०. लालामेह—इसमें रोगी के मूत्र में लार जैसा दिखलायी देता है। सुश्रुत में इसे 'लवणमेह' की संज्ञा दी गयी है। जहाँ भी तन्त्रकारों के नामों से साम्य दिखलाने का प्रयास किया गया है, वहाँ पूर्णरूप से लक्षण-समन्वय का दायित्व नहीं लिया जा सकता है। आप भी मिलान करके देखें। आधुनिक विद्वानों ने इसे भी 'अल्ब्यूमिन्यूरिया' स्वीकार किया है। मधुकोष व्याख्या के रचयिता लिखते हैं—'सुश्रुतस्तु चरकोक्तशीतमेह-लालामेहयोः स्थाने फेनमेहलवणमेहौ पठितवान्'।

—क्षारोपमं कालमथापि नीलम् ।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान् प्रमेहान् षडुशन्ति पित्तात् ॥ १० ॥

छः पित्तज प्रमेह—१. क्षार के सदृश आकृति वाला, २. काले वर्ण वाला, ३. नीले वर्ण वाला, ४. हल्दी के वर्ण वाला, ५. मजीठ के वर्ण वाला, अथवा ६. लालवर्ण का मूत्र जिसमें निकलता हो, उसे पित्तज प्रमेह कहते हैं। इन प्रमेहों की संख्या छः है और ये पित्तज हैं।

वक्तव्य—पित्तज प्रमेहों की विशेष जानकारी के लिए च० नि० अ० ४ श्लोक २९ से ३४ में इनके जिन नामों की चर्चा की गयी है, उनको हम यहाँ क्रमशः उद्धृत कर रहे हैं—१. क्षारमेह, २. कालमेह, ३. नीलमेह, ४. माञ्जिष्ठमेह, ५. रक्तमेह और ६. हारिद्रमेह। निदानस्थान में इन नामों के पौर्वापर्य-क्रम में कुछ अन्तर आया है। यह सामान्य विषय है।

१. क्षारमेह—इस रोग से पीड़ित पुरुष का मूत्र गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श में क्षार मिले हुए जल जैसा दिखलायी देता है। आधुनिक चिकित्सक इसे अल्कलाइन्यूरिया (Alkalinuria) कहते हैं। यह विकृति वस्ति में मूत्र के देर तक रुकने के कारण उत्पन्न हो जाती है।

२. कालमेह—सुश्रुत ने कालमेह की गणना पित्तज प्रमेहों में नहीं की है। उसके स्थान पर वे अथवा स्वतन्त्र रूप से 'अम्लमेह' की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसमें मूत्र का वर्ण काली स्याही के सदृश होता है। इसे आधुनिक चिकित्सक इण्डीकेन्यूरिया (Indicanuria) कहते हैं, क्योंकि उनका मत है कि इसमें इंडोल की मात्रा बढ़ जाती है।

३. नीलमेह—इसमें मूत्र का वर्ण नीला हो जाता है। यह स्थिति दो प्रकार से देखने को मिलती है। कभी तो पेशाब करते समय ही वह नीली दिखलायी देती है और कभी पेशाब कर लेने के बाद उसका वर्ण नीलाभ हो जाता है।

४. हारिद्रमेह—इसमें मूत्र का वर्ण हल्दी के सदृश होता है। यह रस में कटु होता है। मूत्र-त्याग करते समय रोगी को जलन का अनुभव होता है। यह स्थिति रंजक पित्त की अधिकता से हो जाती है। ऐसी स्थिति प्रायः कामला रोग में भी देखी जाती है। आधुनिक चिकित्सक इसे बिलीरूबिन्यूरिया (Bilirubin-uria) कहते हैं। इसमें जब रक्तकणों का अभाव हो जाता है, तब इसे हिमोग्लोबिनयूरिया (Haemoglo-binuria) कहते हैं।

५. **माञ्जिष्ठमेह**—इसमें रोगी मजीठ के क्वाथ के सदृश पेशाब करता है। मूत्र में जब रक्तरञ्जक पित्त की अधिकता हो जाती है, तब यह स्थिति उत्पन्न होती है। आधुनिक चिकित्सक इसे यूरोबाइलिन्यूरिया (Urobilinuria) कहते हैं।

६. **रक्तमेह**—इसमें रोगी दुर्गन्धित, उष्ण, लवणरस युक्त तथा लालरंग का मूत्र त्याग करता है। आधुनिक पैथी के चिकित्सक इसे हिमेच्यूरिया (Haemeturia) कहते हैं। इसमें मूत्र रक्ताभ, रक्तयुक्त तथा रक्तकणों से मिश्रित होता है।

मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम्।
चतुर्विधं [1]मूत्रयतीह वाताच्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु ॥ ११ ॥

चार वातज प्रमेह—१. मज्जा से, २. ओजस् से, ३. वसा से, ४. लसीका से युक्त मूत्र वाले—ये चार प्रकार के वातज प्रमेह होते हैं। इनमें लसीका युक्त जो मूत्र होता है, उसमें आरम्भ से अन्त तक रुक-रुक कर लार जैसी निकलती है। ये वातदोष की प्रधानता से होने वाले चार प्रकार के प्रमेह शेष धातुओं (पित्त और कफ अथवा मेदस् आदि) के क्षीण हो जाने पर उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—चरकसंहिता नि० अ० ४ श्लोक ४१ से ४४ तक वातज प्रमेहों का नाम-निर्देश इस प्रकार किया गया है—१. वसामेह, २. मज्जमेह, ३. हस्तिमेह, ४. मधुमेह। किन्तु चरक-चिकित्सास्थान अ० ६ श्लोक ११ के अनुसार उक्त क्रम इस प्रकार दिया है—१. मज्जमेह, २. ओजोमेह, ३. वसामेह, ४. लसीकामेह। इसी की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने च० नि० अ० ४ के गद्य ३७ के आधार पर इस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया है—१. 'मज्जया मज्जमेहः, २. ओजसा मधुमेहः, ३. वसया वसामेहः, ४. लसीकया हस्तिमेहः'। सुश्रुत में 'मज्जमेह' को 'सर्पिमेह' और 'मधुमेह' को 'क्षौद्रमेह' कहा है। देखें—सु० नि० अ० ६।१२।

शेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु—इन चार प्रकार के वातज प्रमेहों में वातदोष की प्रधानता होती है, शेष दो दोषों (कफ तथा पित्त) की भी सत्ता रहती है, किन्तु वात की अपेक्षा कुछ कम। इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं—पित्त तथा कफ वृद्ध और वात वृद्धतर। निदानस्थान में इन चार प्रमेहों को 'महात्ययिक तथा विरुद्धोपक्रम' होने के कारण असाध्य कहा है। देखें—च० नि० अ० ४।३८। दोषों की इस परिस्थिति के विरुद्ध स्थिति होने पर प्रमेह साध्य या याप्य कहे गये हैं। 'लसीकामेह' को ही 'हस्तिमेह' कहा गया है। इसमें वस्ति का मुख खुल जाता है। जिससे मूत्र बहता रहता है। इसके लिए रोगी की मूत्रेन्द्रिय में रबर की थैली लगा दी जाती है।

वातज प्रमेह के उपद्रव—इनसे महसा 'हृद्ग्रह' अर्थात् हृदय की गति में रुकावट आने लगती है, फलतः रोगी की नाड़ी रुक-रुक कर चलने लगती है। अनुभवी चिकित्सक नाड़ी की इस गति से परिचित होते हैं। वातज प्रमेह के रोगियों की जीवनलीला हृत्स्तम्भ (हार्टफेल) से समाप्त होते देखी गयी है। उक्त वातज प्रमेह प्रायः सुखी, सुकुमार, मस्तिष्क से काम लेने वालों को अधिकांश होते देखे जाते हैं। शेष देखें—अ० हृ० नि० अ० १०।२२-२४।

१. **मज्जमेह**—ये चारों वातज प्रमेह असाध्य होते हैं, क्योंकि दोष-प्रकोप के कारण मज्जा आदि धातुएँ घुल-घुल कर मूत्र के साथ निकलने लगती हैं। यही स्थिति मज्जमेह की भी है। इसमें आधुनिक चिकित्सकों की शब्दावली के अनुसार अल्ब्यूमिन पदार्थ घुलकर मूत्राशय में आकर मूत्र के साथ निकलने लगता है। यही स्थिति क्षयरोगी के मूत्र में भी देखी जाती है।

२. **ओजोमेह**—इसी को 'मधुमेह' भी कहा गया है, क्योंकि इसमें ओजस् धातु का क्षरण होने लगता है। सुश्रुत में मधुमेही का मूत्र मधु के सदृश तथा मधु के समान मधुर होता है, वर्णित है। अतएव इसे 'क्षौद्रमेह' की संज्ञा दी गयी है। प्रमेहों की अन्तिम अवस्था को ही मधुमेह कहते हैं। देखें—'सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि'। च० नि० अ० ७।२७। आरम्भ में ही उचित चिकित्सा तथा आहार-विहार की व्यवस्था न करने से सभी प्रकार के प्रमेह मधुमेह के रूप में परिणत हो जाते

---

१. 'मूत्रयतेऽनिलेन' इति पा०।

हैं। इसमें शरीर की महत्त्वपूर्ण धातु ओजस् का क्षय हो जाता है। इसे आधुनिक चिकित्सक डाइबिटीज मेलाइटस (Diabetes melitus) कहते हैं।

३. **वसामेह**—इसमें रोगी वसा से मिश्रित तथा वसा के वर्ण, गन्ध से युक्त मूत्र का बार-बार त्याग करता है। इसमें पूय का निकलना भी माना गया है, क्योंकि पूयमेह (Gonorrhoea) में भी मूत्र के साथ पूय का निःसरण होता है। आधुनिक विद्वान् इसे लाइप्यूरिया (Lipuria) कहते हैं।

४. **हस्तिमेह**—हस्तिमेह से पीड़ित रोगी मदमस्त हाथी के समान निरन्तर किन्तु प्रवाह से रहित अर्थात् बूँद-बूँद करके लसीका मिश्रित मूत्र का त्याग करता है। इसी को 'लसीकामेह' भी कहा गया है। इसका कारण आधुनिक दृष्टि से पौरुषग्रन्थि की वृद्धि (Enlarge of prostate gland) माना गया है।

वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं यथास्वदोषं भजते प्रमेहः।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो मज्जादिसाद्गुण्यमुपेत्यसाध्यः ॥ १२ ॥

मूत्र के वर्णादि का दोषों से सम्बन्ध—वात आदि दोषों के अनुसार प्रमेह अपने-अपने वर्ण, रस, स्पर्श तथा गन्ध को प्राप्त हो जाता है। यथा—वातज प्रमेह वर्ण में श्याव (Dark brown), अरुण (Reddish brown), शूल युक्त, मज्जा आदि (वसा, ओज, लसीका) गुणों से युक्त होकर असाध्यता को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि दोष-दूष्यों का सम्बन्ध सभी रोगों में सामान्य रूप से दिखलायी देता है, परन्तु यहाँ उनका पूर्णरूप से होना या दिखलायी देना उस-उस प्रमेह की असाध्य स्थिति की सूचना देता है। क्योंकि यहाँ शरीर की महत्त्वपूर्ण धातुओं का मूत्र रूप में निकल जाना घातक माना गया है। वातज प्रमेहों को आरम्भ में भी असाध्य कह दिया गया था, यहाँ तन्त्रकार द्वारा उसकी पुनरावृत्ति करने का मात्र यही कारण रहा है कि सभी लक्षणों का पूर्णरूप में दिखलायी देना निश्चित ही असाध्यता की सूचना देता है। प्रायः देखा जाता है जिस रोग के जो असाध्यता-सूचक लक्षण होते हैं, उनके दिखलायी देने पर भी रोगी की स्थिति चिन्ताजनक नहीं होती, अतएव वह उन लक्षणों के प्रकट होने के बाद भी संकट को पार कर जाता है।

वातज प्रमेह रोग में देखा गया है कि जब तक मज्जा, वसा, ओज धातुओं का मूत्र द्वारा मूत्र रूप में निकलना आरम्भ नहीं हो जाता, तब तक असाध्य होते हुए भी मध्यम मार्ग को अपना कर चिकित्सा करते रहना चाहिए और रोगी को भी सद्वृत्त का आचरण करते रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा देखा गया कि कभी-कभी अरिष्ट लक्षण या लक्षणों के दिखलायी देने पर भी मनुष्य दैवयोग से बच जाता है। साध्य-असाध्य लक्षण प्रायः चिकित्सकों, परिजनों तथा परिचारकों के प्रेरक होते हैं, न कि पूर्ण रूप से निर्णायक। अरिष्टों का निर्णय इन समस्त लक्षणों पर आधारित होते हुए भी आस्तिकों के लिए ज्योतिष से भी सम्बन्ध रखता है।

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता च शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ॥ १३ ॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥ १४ ॥

प्रमेह के पूर्वरूप—स्वेद की उत्पत्ति, शरीर से गन्ध विशेष का आना, अंगों (शरीरावयवों) का शिथिल हो जाना, शय्या-सुख, आसन-सुख और स्वप्न-सुख के प्रति विशेष इच्छा का होना, हृदय, नेत्र, जीभ तथा कानों में मैल का भरा रहना तथा भारीपन, शरीरावयवों का मोटा हो जाना, केशों व नखों का अधिक बढ़ना, शीतल पदार्थों से अधिक प्रेम होना, गले का और तालु-प्रदेश का बार-बार सूखना, मुख में मधुरता का बना रहना, हाथ-पैरों में जलन का होना, मूत्र में चिउँटियों का लगना—ये सभी लक्षण प्रमेह रोग के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—इस प्रसंग में सु० नि० अ० ६ गद्य ५-६ तथा अ० हृ० नि० अ० १०।७ अवलोकनीय हैं। '**शय्यासनस्वप्नसुखे रतिः**'—इसका वास्तविक क्रम यह है—जब प्रमेह रोग की उत्पत्ति हो जाती है तो उसे शारीरिक परिश्रम के प्रति अनिच्छा हो जाती है, क्योंकि उसके सभी अंग शिथिल पड़ जाते हैं। अतः वह

यदि खड़ा है तो बैठ जाना चाहता है, बैठा है तो लेटना चाहता है और लेटा है तो वह शयन करना चाहता है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत की स्पष्टोक्ति देखें—'स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति। आसनाद् वृणुते शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति' ॥ सु० नि० अ० ६।२५। **मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च**—यह लक्षण विशेष रूप से मधुमेह में देखा जाता है।

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य ॥ १५ ॥

प्रमेह का चिकित्सा-सूत्र—सामान्य रूप से प्रमेह के रोगी दो प्रकार के होते हैं—एक वे होते हैं, जो देखने में स्थूल तथा बलवान् (भीतर से शक्ति-सम्पन्न), और दूसरे वे होते हैं, जो देखने में कृश तथा सब प्रकार से दुर्बल होते हैं। इनकी क्रमशः चिकित्सा इस प्रकार कही गयी है—जिस (प्रथम) व्यक्ति में दोषों तथा बल की अधिकता हो, उसे संशोधन (लंघन, विरेचन तथा अन्य इसी प्रकार की चिकित्सा) का प्रयोग करायें और जो (दूसरे) कृश हैं, उन्हें बृंहण चिकित्सा देनी चाहिए।

वक्तव्य—कफप्रकृति वाला व्यक्ति बेडौल स्थूल होता है। अपने अनुरूप उसमें बल भी होता ही है किन्तु ऐसे रोगी को हम सहज (जन्मजात) प्रमेही नहीं कह सकते। ऐसे रोगियों को उचित संशोधनों का प्रयोग कराना चाहिए। जो वातप्रधान रोगी होते हैं, अथवा सहज प्रमेही होते हैं, वे ही प्रायः कृश एवं दुर्बल देखे जाते हैं। इनकी चिकित्सा बृंहण पदार्थों का सेवन करा कर करनी चाहिए। लोक-व्यवहार में भी कहा गया है—'दुर्बल को न सताइये'। सुश्रुत ने भी मूल रूप से दो प्रकार के प्रमेह होते हैं, कहा है—१. सहज (जन्मजात अर्थात् मातृ-पितृकुल से चला आने वाला) तथा २. अपथ्य सेवन से उत्पन्न। सहज प्रमेह का रोगी शरीर से कृश होता है और दूसरा अपथ्य आहार-विहारों के सेवन से उत्पन्न प्रमेह रोगी स्थूल आदि लक्षणों वाला होता है। इसके आगे इनकी चिकित्सा का संक्षेप में निर्देश भी किया गया है। देखें—सु० चि० अ० ११।३-४।

स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा [1]मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम् ॥ १६ ॥

अन्य चिकित्सा-सूत्र—प्रमेहरोग से पीड़ित बलवान् रोगी को सर्वप्रथम स्नेहन कराना चाहिए। उसके बाद चरक-कल्पस्थान में कहे गये मलशोधन (वमन तथा विरेचन) सम्बन्धी अनेक प्रकार के योगों का प्रयोग कराना चाहिए। इन योगों के सेवन से ऊपर वमन योगों द्वारा तथा नीचे विरेचक योगों द्वारा जब दोषों का निर्हरण हो जाता है, तब प्रमेहों में सन्तर्पण का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—इस विषय की विशेष जानकारी के लिए सु० चि० अ० ११ तथा अष्टांगसंग्रह चि० अ० १४ का अवलोकन करें। इसमें स्नेहन के लिए सरसों, तीसी, इंगुदी, बहेड़ा, नीम आदि के तेलों का प्रयोग कराना शास्त्र-सम्मत है। कफदोष के निर्हरण के लिए वमन का प्रयोग और पित्तदोष के निर्हरण के लिए विरेचन का प्रयोग विहित है। वातदोष का शमन स्नेहन द्वारा किया जाता है। इसके बाद ही कृश रोगियों को सन्तर्पण देने का विधान है। अपतर्पण के लिए लंघन, लघुभोजन आदि प्रकारों को अपनाया जाता है।

गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन।
प्रमेहिणः स्युः [2]परितर्पणानि कार्याणि [3]तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम् ॥ १७ ॥

सन्तर्पण-प्रयोग में हेतु—प्रमेह रोग से युक्त रोगियों को संशोधन-क्रिया (वमन, विरेचन) के बाद यदि अपतर्पण का प्रयोग किया जाता है तो (अपतर्पण के कारण बढ़ी हुई वायु से) गुल्म, क्षय, लिंग (पुरुष मूत्रेन्द्रिय) और बस्ति में वेदना (शूल), मूत्र में रुकावट हो जाती है। इसलिए प्रमेह रोगी को संशोधन कराने के बाद रोगी का अग्निबल देखकर परितर्पण (संतर्पण या बृंहण) कारक आहार-विहार की व्यवस्था करनी चाहिए।

१. 'मलशोधना ये' इति पा०।
२. 'परिबृंहणानि' इति पा०।
३. 'तस्मात्' इति पा०।

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में सन्तर्पण की विधि इस प्रकार दी गयी है—'ततश्च जाङ्गलरसैः क्रमेण सन्तर्पयेत्। अल्पतर्पणेन हि प्रमेहिणो विशेषेण मूत्रकृच्छ्रबस्तिमेढ्रशूलगुल्मातिकार्श्यभ्रमादीनां सम्भवः' ॥ अ० सं० चि० अ० १४। इसलिए जांगल मृग तथा पक्षियों के मांस रस का धीरे-धीरे पान कराकर रोगी का सन्तर्पण करें, अन्यथा मूत्रकृच्छ्र आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः ॥ १८ ॥

संशमन चिकित्सा-निर्देश—प्रमेह का जो रोगी संशोधन (वमन, विरेचन) के योग्य न हो, उसे संशमन (दोषशामक या दोषों को पचाने वाली) चिकित्सा का प्रयोग कराना चाहिए। ऐसे प्रमेह रोगियों में दोषों की शान्ति के लिए मन्थ (जल में घोलकर तैयार किये हुए सत्तू), कषाय, जौ का चूर्ण, लेह (अवलेह) और लघु (सुपाच्य) आहारों का प्रयोग कराना चाहिए।

ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गास्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः।
यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यमद्यात् ससक्तूनपि चाप्यपूपान् ॥ १९ ॥

प्रमेह में मांसरस-प्रयोग—प्रमेह रोगियों को विष्किर पक्षियों, प्रतुद पक्षियों तथा जांगल देश में उत्पन्न मृग-पक्षियों के रुचिकर मांसरसों के साथ जौ का भात, रूखा (स्नेह रहित) वाट्य, सत्तू अथवा अपूप भोजन के लिए दें।

वक्तव्य—यहाँ प्रमेह रोगियों के लिए कतिपय मांसरसों के प्रयोग का निर्देश है। मांसरस उन्हीं के लिए प्रयुक्त करने चाहिए, जिनको ये अनुकूल हों, रुचिकर प्रतीत होते हों। दूसरों की व्यवस्था आगे दी गयी है।

विष्किर—चोंच तथा पैरों या पंजों से चुगने के लिए दिये गये चावल आदि के कणों को बिखेर कर जो खाते हैं, जैसे—कबूतर, मुर्गा, तीतर, बटेर आदि। 'विकीर्य भक्षयन्त्येते यस्मात्तस्माद्धि विष्किराः'।

प्रतुद—गृध्र (गीध), श्येन (बाज), काक आदि पक्षियों को 'प्रतुद' कहते हैं। देखें—राजनिघण्टु।

वाट्य—वाट्यालक, भृष्टयव (शब्दचन्द्रिका), सुकण्डित (भली-भांति कूटे हुए अर्थात् जिनका छिलका तथा तुस निकाल दिया हो, ऐसे हल्के भुने हुए जौ का जो मण्ड होता है, उसे 'वाट्यमण्ड' कहा जाता है। भुने हुए जौ का नाम 'वाट्य' है, इसके साथ स्वार्थ (उसी अर्थ में) 'कन' प्रत्यय जोड़कर 'वाट्यक' शब्द बना है। वाट्य तथा वाट्यक दोनों ही समानार्थक हैं।

पाठभेद के अनुसार कहीं 'अद्यात्' के स्थान पर 'मद्यान्' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। परन्तु आप विचार करें कि 'मद्य' शब्द नपुंसकलिंग है। अतः 'मद्यान्' प्रयोग अपाणिनीय होने से अश्रद्धेय है।

अपूपान्—अपूप (मालपुआ, पुआ, पूप या ठेकुआ—भोजपुरी में)।

मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः पुराणशाल्योदनमाददीत।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम् ॥ २० ॥
सषष्टिकं स्यात् तृणधान्यमन्नं यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही।
यवस्य भक्ष्यान् विविधांस्तथाऽद्यात् कफप्रमेही मधुसम्प्रयुक्तान् ॥ २१ ॥

प्रमेह रोग में आहार—कफज प्रमेह वाला रोगी निम्नलिखित आहारों का सेवन करे—मूंग आदि दालों के यूष से, अथवा तिक्तरस-प्रधान शाकों से पुराने शालिचावलों का भात खाये। दन्ती, इंगुदी, (हिंगोट) अतसी (तीसी) और सरसों के तेल से युक्त (इनमें से किसी एक तेल से दालों के यूषों अथवा शाकों को छौंक कर) पुराने शालिचावलों का भात खायें तथा साठी के चावल, तृणधान्य (सांवा, कंगुनी आदि) और जौ से बने हुए विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों में मधु मिलाकर सेवन करें।

वक्तव्य—ऊपर मूँग आदि दालों के यूष, तिक्त पदार्थों के शाक, शाल्योदन, साठी के चावल, तृणधान्य, जौ से बने हुए पदार्थ तथा अनेक प्रकार के तेल इन सब के योग से बने हुए आहार का सेवन कफज प्रमेही को करना है। अब यहाँ पर पाककल्पना-विशेषज्ञ की आवश्यकता है जो कि इन द्रव्यों से रोगी की रुचि का ध्यान रखते हुए जो-जो भक्ष्य पदार्थ बनाकर दे सके, उसे दे। ध्यान रहे, जिन तेलों का उल्लेख ऊपर किया

गया है, उनका यथेच्छ प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि तेलों का एक गुण कफवर्धक भी होता है। तेलों के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखने योग्य है—'तैलं न सेवयेद् धीमान् यस्य कस्य च यद् भवेत्। गुणत्वाच्च योगे तत्र प्रयोजयेत् ॥ उक्तञ्च—'विषस्य तैलस्य न किञ्चिदन्तरं मृतस्य सुप्तस्य न किञ्चिदन्तरम्'। विषसाम्य- रा० नि० व० १५।१२७-१२८।

निशि स्थितानां त्रिफलाकषाये स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम्।
तान् सीधुयुक्तान् प्रपिबेत् प्रमेही प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव ॥ २२ ॥

प्रमेह में सन्तर्पण-प्रयोग—जौ को कूटकर (उनके तुष तथा छिलके निकाल लें) उन्हें त्रिफला के क्वाथ में रात भर भिगा दें (फिर इन्हें छाया में सुखा कर कूट-पीसकर इनका सत्तू बना लें)। इस सत्तू में मधु मिलाकर और सीधु में घोलकर इनसे तर्पण तैयार करें। इन प्रायोगिक (प्रतिदिन के प्रयोग में आने योग्य) तर्पणों का उपयोग प्रमेह-नाश के लिए करायें, अर्थात् इन तर्पणों का मात्रानुसार प्रतिदिन कफज प्रमेह का रोगी सेवन करें।

वक्तव्य—पानी में घोले हुए सत्तू को 'तर्पण' कहते हैं। यहां त्रिफला के रस की भावना दिये गये जौ का सत्तू बनाकर उसे मधु तथा सीधु में घोलकर बनाने को कहा गया है। सीधु मद्य भेदों में अन्यतम द्रव्य है।

ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषायास्तैर्भावितानां च पृथग् यवानाम्।
सक्तूनपूपान् सगुडान् सधानान् भक्ष्यांस्तथाऽन्यान् विविधांश्च खादेत् ॥ २३ ॥

प्रमेह रोग में पथ्य—कफज प्रमेह की शान्ति के लिए (आगे श्लोक २७-२९ में) जो क्वाथ कहे जायेंगे, उनसे अलग-अलग यवों को भावना देकर बाद में उन्हें सुखाकर बनाये गये सत्तू, अपूप, धाना (भुने हुए जौ) तथा दूसरे प्रकार से निर्मित विविध प्रकार के आहार द्रव्यों में गुड़ मिलाकर सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—भुने हुए जौ के जिन पदार्थों के सेवन का निर्देश ऊपर दिया है, उनके साथ गुड़ खाने का भी विधान है। प्रमेह रोग में केवल पुराना गुड़ ही प्रशस्त है। देखें—राजनिघंटु-गुडप्रकरण।

खराश्वगोहंसपृषद्भृतानां तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः।
देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः ॥ २४ ॥

प्रमेह रोग में अन्य पथ्य—गधा, घोड़ा, हंस, पृषत् (हरिण)—इन प्राणियों को जौ खिलाकर इनके गोबर में से उन यवों को छाँट कर अलग कर लें। फिर इन यवों से अनेक प्रकार के भक्ष्य (सत्तू आदि) पदार्थ तैयार करें तथा वेणुयव (बांस के जौ) से बने हुए विविध प्रकार के भक्ष्य तैयार करें, अथवा यवों के कल्क से गेहूं द्वारा निर्मित भक्ष्य तैयार करें।

वक्तव्य—'यवानां कल्पेन' जिस प्रकार जौ को गधा आदि को खिलाकर उनके गोबर से जौ बीनने की विधि का वर्णन ऊपर किया गया है, उसी प्रकार गेहूं को गधा आदि को खिलाकर करें। गधा आदि को खिलाने से जौ अथवा गेहूं में जो मधुर रस का अंश होता है वह भी निकलकर ये धान्य और भी रूक्ष हो जाते हैं। उन जौ या गेहूँ को धो लें। ध्यान रहे, इस विधि की सूचना किसी भी स्थिति में रोगी को न दें। विशेष देखें—अ० सं० चि० अ० १४।

संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति, पित्तप्रभवान् विरेकः सन्तर्पणः संशमनो विधिश्च ॥ २५ ॥

संतर्पण-संशमन का उपसंहार—ठीक समय पर प्रयुक्त किये गये संशोधन, वमन, लंघन कफज प्रमेहों को जीत लेते हैं और विरेचन, सन्तर्पण तथा संशमन विधियाँ पित्तज प्रमेहों को जीत लेती हैं।

वक्तव्य—यहाँ पहले कहे हुए सिद्धान्तों का पुनः स्मरण कराया गया है, जो तन्त्रकार की अपनी परम्परा है। संशोधन के बाद सन्तर्पण करना उत्तम चिकित्सा विधि है। कफज प्रमेह यदि निरुपद्रव हों, तो वे साध्य होते हैं। किन्तु पित्तज प्रमेहों को याप्य कहा गया है। फिर भी यदि उसमें मेदोधातु दुष्ट न हुआ हो, तो तभी विरेचन, सन्तर्पण, संशमन विधियाँ लाभप्रद होती हैं।

दार्वीं सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत् प्रमेही।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद् रसेनामलकीफलानाम् ॥ २६ ॥

प्रमेहनाशक सामान्य योग—१. दारुहल्दी, देवदारु, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), नागरमोथा इन सबको समान मात्रा में लेकर यथाविधि इनका क्वाथ करके प्रमेह रोगी इसको पीये। अथवा २. आँवलों के स्वरस में हल्दी का चूर्ण और मधु मिलाकर पीना चाहिए। ये दोनों ही सामान्य प्रयोग हैं।

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्रं पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च ॥ २७ ॥
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि।
दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा ॥ २८ ॥
यवान्युशीराण्यभयागुडूचीचव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते दशोपदिष्टा मधुसम्प्रयुक्ताः ॥ २९ ॥

कफज प्रमेह-हर दस योग—१. हरड़, कट्फल (कायफल) का छिलका, नागरमोथा, पठानी लोध; २. पाढल, वायविडंग, अर्जुन की छाल, धन्वन (धामन) की छाल; ३. दोनों हल्दी (हल्दी, दारुहल्दी), तगर, वायविडंग; ४. कदम्ब की छाल, शाल (साखू) की छाल, अर्जुन की छाल, अजवाइन; ५. दारुहल्दी वायविडंग, खदिरसार, धव की छाल; ६. देवदारु, कूठ, काला अगर, लालचन्दन; ७. दारुहल्दी, अरणी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), पाठा; ८. पाठा, मूर्वा, गोखरू; ९. अजवाइन, खस, हरड़ का छिलका; १०. चव्य, हरड़, चित्रकमूल, छतिवन की छाल। एक-एक पाद (श्लोक के प्रत्येक चरण) द्वारा कहे गये ये दस कषाय (क्वाथ) मधु मिलाकर सेवन करने पर कफज प्रमेहों को नष्ट करते हैं।

उशीरलोध्राञ्जनचन्दनानामुशीरमुस्तामलकाभयानाम्।
पटोलनिम्बामलकामृतानां मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम् ॥ ३० ॥
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम्।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणां प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ॥ ३१ ॥
[1]अश्वत्थपाठासनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम्।
पैत्तेषु मेहेषु दश प्रदिष्टाः पादैः कषाया मधुसम्प्रयुक्ताः ॥ ३२ ॥

पित्तज प्रमेह-हर दस योग—१. खस, पठानीलोध, अञ्जन, लालचन्दन; २. खस, नागरमोथा, आँवला, हरड़; ३. परवल की पत्ती, नीम की छाल, आँवला, गिलोय; ४. नागरमोथा, हरड़, पद्मकाठ, वृक्षक (सफेद कुटज की छाल); ५. पठानीलोध, अम्बु (सुगन्धबाला), कालीयक, धव का फूल; ६. नीम की छाल, अर्जुन की छाल, आम्रातक (आमड़ा) की छाल, निशा (हल्दी), उत्पल (नीलकमल); ७. शिरीष की छाल, सर्ज वृक्ष की छाल, अर्जुन की छाल, केसर (नागकेसर); ८. फूलप्रियंगु, पद्म (लालकमल), नीलकमल, किंशुक (पलाश) का फूल; ९. पीपल की छाल, पाठा (पाठभेद के अनुसार—यास = लाल दुरालभा), असन (विजय-सार) की छाल, वेतस; १०. कटंकटेरी (दारुहल्दी), नीलकमल, नागरमोथा। एक-एक पाद द्वारा कहे गये ये दस कषाय मधु मिलाकर सेवन करने पर पित्तज प्रमेहों को नष्ट करते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय एवं अन्य अनेक प्रतियों में ऊपर 'उशीरलोध्राञ्जन' पाठ उपलब्ध होता है। इसकी शब्दशः व्याख्या में श्रीचक्रपाणि सर्वथा मौन हैं। परवर्ती टीकाकारों ने 'अञ्जन' शब्द का पर्याय 'अर्जुन की छाल' दिया है, जब कि कोष साहित्य तथा निघण्टु इस पर्याय को स्वीकार नहीं करते। हाँ 'अन्यान्य शमन कषायों' का उल्लेख करते हुए वाग्भट ने एक योग ऐसा दिया है, देखें—'उशीररोध्रार्जुनचन्दनानाम्'। अ० हृ० चि० अ० १२।८। किन्तु इसको हम चरक का पाठ स्वीकार नहीं कर सकते। पित्तज प्रमेहों की प्रारम्भिक अवस्था में ही इनका प्रयोग तत्परता के साथ करना चाहिए, अन्तिम अवस्था में नहीं।

---

१. 'अश्वत्थयासासनवेतसानाम्' इति पा०।

सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ कषाययोगौ विहितास्तु सर्वे।
मन्थस्य पाने यवभावनायां स्युर्भोजने पानविधौ पृथक् च ॥ ३३ ॥

उक्त योगों का निष्कर्ष—ऊपर २६वें श्लोक में सभी प्रमेहों में प्रयोग करने योग्य दो योग कहे हैं। ऊपर कहे गये (२६वें श्लोक से लेकर ३२वें श्लोक तक के) बाईस योग मन्थ को पीने में, जौ को भावित करने में, विविध प्रकार के भोजनों तथा जल के संस्कार में भी अलग से प्रयोग किये जाते हैं।

वक्तव्य—पहले कहे गये दो योगों का प्रयोग सभी प्रकार के प्रमेहों में सामान्य रूप से करने का आदेश है। प्रथम दस योग कफज प्रमेहनाशक हैं और द्वितीय दस योग पित्तज प्रमेहों की शान्ति के लिए कहे गये हैं। शेष आशय स्पष्ट है।

सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव [1]देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम् ॥ ३४ ॥

प्रमेहों में सिद्धस्नेह-प्रयोग—वातज प्रमेहों में उपर्युक्त कषायों द्वारा अलग-अलग पकाये हुए तैलों तथा घृतों का प्रयोग करना चाहिए। उक्त कषायों के प्रभाव से कफ, पित्त, वात दोष और इनके मेदस् आदि दूष्य शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—यह चिकित्सा उन वातज प्रमेहों की कथमपि नहीं हैं, जिन्हें पहले से ही असाध्य कह दिया गया है। यह तो उन प्रमेहों की चिकित्सा कही गयी है, जिनमें कफ और पित्त प्रवृद्ध हों और वातदोष भी बढ़ा हो, अर्थात् कफ तथा पित्तदोष भी जहाँ क्षीण न हुए हों, ऐसे वातज प्रमेहों में इन योगों का प्रयोग करना चाहिए। देखें—'वातजेष्वपि···भवति'। अ० सं० चि० अ० १४।

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि बैभीतरौहीतककौटजानि।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात् कफपित्तमेही ॥ ३५ ॥

कफ-पित्तज प्रमेह-चिकित्सा—कफज तथा पित्तज प्रमेह का रोगी कम्पिल्ल (कबीला), छतिवन, शाल, बहेड़ा, रोहिड़ा, कुटज तथा कैथ के फूलों का चूर्ण बनाकर मधु के साथ चाटे।

वक्तव्य—अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में उक्त सभी औषधद्रव्यों के फूलों को ग्रहण करने की चर्चा है; जब कि अन्यत्र इनकी छालें ली जाती हैं।

पिबेद् रसेनामलकस्य चापि कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले।
जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं मेही रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ॥ ३६ ॥

कफ-पित्तज प्रमेह में अन्य योग—कफज तथा पित्तज प्रमेह के रोगियों को उचित समय में (उक्त तीन योगों में से) किसी एक योग के कल्क को १ अक्ष (१ तोला) की मात्रा में आँवले के स्वरस के साथ पीने के लिये दें और कल्क के पच जाने पर पुराने चावल, गेहूँ या जौ आदि के भोज्य पदार्थों को जांगल मृग तथा पक्षियों के रुचिकर मांस रस के साथ खाना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त ३५वें श्लोक में जितने चूर्ण द्रव्यों का उल्लेख किया है, उन सबके फूलों का चूर्ण लेने की चर्चा अ० सं० चि० अ० १४ में की गयी है। ऊपर इसकी १ तोला मात्रा निर्धारित की गयी है, किन्तु आजकल इसकी मात्रा रोगी के शारीरिक बल तथा जठराग्नि के बल को देखते हुए २ से ४ मासा तक दी जाती है। महर्षि आत्रेय ने जिन द्रव्यों को तीन योगों में विभक्त किया है, वृद्धवाग्भट ने उन सभी द्रव्यों से मिश्रित एक ही योग माना है।

दृष्ट्वाऽनुबन्धं पवनात् कफस्य पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्यः।
तैलं कफे स्यात् स्वकषायसिद्धं पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः ॥ ३७ ॥

वातज प्रमेह में स्नेह-प्रयोग—वातदोष के साथ यदि कफ अथवा पित्त का अनुबन्ध दिखलायी पड़े, तो ऐसे अवसर पर स्नेहविधि की कल्पना निम्न प्रकार से करनी चाहिए। यदि वातदोष के साथ कफदोष

१. 'योज्यानि' इति पा०।

का अनुबन्ध हो, तो स्व(कफनाशक)कषाय द्वारा पकाये गये तैल का प्रयोग करना चाहिए। यदि वातदोष के साथ पित्तदोष का अनुबन्ध हो, तो स्व(पित्तनाशक)कषाय द्वारा पकाये गये घृत का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कैर्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः।
[1]वचापटोलार्जुननिम्बमुस्तैर्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च ॥ ३८ ॥
मञ्जिष्ठया चागुरुचन्दनैश्च सर्वैः समस्तैः कफवातजेषु।
मेहेषु तैलं विपचेद्, घृतं तु पैत्तेषु, मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु ॥ ३९ ॥

त्रिकण्टकादि स्नेह—कफज तथा वातज प्रमेहों से पीड़ित रोगियों के लिए गोखरू, अश्मन्तक (पाषाणभेद, वास्तव में यह अश्मान्तक है), सोमवल्क (सफेद खैर), शुद्ध भिलावा, अतीस, पठानीलोध, बालवच, परवल, अर्जुन की छाल, नीम की छाल, नागरमोथा, हल्दी, पद्मक (पद्मकाष्ठ=पद्माख), अजवाइन, मजीठ, काला अगर और लालचन्दन—इनके क्वाथ तथा इन्हीं के कल्क द्वारा यथाविधि पकाये गये तेल का प्रयोग करें। पित्तज प्रमेहों से पीड़ित रोगियों के लिए इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क द्वारा पकाये गये घी का प्रयोग करें। यदि तीनों दोषों के लक्षण प्रमेह रोगी में मिले-जुले दिखलायी दें, तो इन्हीं द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ द्वारा घी-तेल के यमक को विधिपूर्वक सिद्ध करके प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—तैल-निर्माण-विधि—तिल-तेल चतुर्थांश, एक भाग कल्क, जल चौगुना—इन सबको एक साथ मिलाकर मन्द अग्नि देकर पाक करें। तैयार हो जाने पर दूसरे दिन कपड़े से छानकर रख दें। मात्रा—३ माशा से लेकर ६ माशा तक। अष्टांगसंग्रह चि० अ० १४ में त्रिकण्टकादि स्नेह का योग दिया गया है। इस प्रसंग में उसका भी अवलोकन करें। आचार्य गंगाधर ने 'समस्तैः' पद के स्थान पर 'समुस्तैः' पाठ स्वीकार किया है। उन्होंने गोखरू से सोमवल्क तक प्रथम योग, शुद्ध भिलावा से पठानीलोध तक दूसरा योग, मीठा-वच से लेकर नागरमोथा तक तीसरा योग, हल्दी से अजवाइन तक चौथा योग और मजीठ से लालचन्दन तक पाँचवाँ योग स्वीकार किया है। इस दृष्टि से 'समुस्तैः' पाठ स्वीकार करने पर नागरमोथा की पुनरावृत्ति प्रतीत होती है। यदि इनके विचार का सम्मान करना आवश्यक है, तो फिर प्रत्येक योग में नागरमोथा मिलाना युक्तियुक्त होगा।

यमकस्नेह—घृत-तैल को मिलाकर जब स्नेहों का प्रयोग किया जाता है, तो उसे यमक-स्नेह कहते हैं। पित्तज प्रमेहों में जब वातदोष का अनुबन्ध होता है, तभी उसकी शान्ति के लिए घृत-पाक कर उसका प्रयोग करना चाहिए।

फलत्रिकं दारुनिशां विशालां मुस्तां च निःक्वाथ्य निशां सकल्काम्।
पिबेत् कषायं मधुसम्प्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु ॥ ४० ॥

फलत्रिकादि क्वाथ—प्रायः सभी प्रकार के समुद्धत (बढ़े हुए) प्रमेहों में फलत्रिक (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दारुहल्दी, विशाला (इन्द्रायण) की जड़, नागरमोथा—इन द्रव्यों द्वारा विधिवत् बनाये गये क्वाथ में हल्दी का कल्क मिलाकर पुनः क्वाथ तैयार करें। क्वाथ को पीते समय इसमें मधु मिला लें।

वक्तव्य—उक्त सभी द्रव्यों को समान भाग में मिलाकर २ तोला लें। ३२ तोला जल में इनको मन्द-मन्द आँच देकर पकायें। जब जल चतुर्थांश अर्थात् ८ तोला शेष रह जाये, तब १ तोला हल्दी का कल्क और १ तोला मधु मिलाकर इसका यथाविधि प्रयोग कराना चाहिए। यह योग सुप्रसिद्ध विरेचक है। हमारा अनुभव है कि इसका कुछ दिनों तक लगातार सेवन कराने से अच्छा परिणाम मिलता है।

लोध्रं शटीं पुष्करमूलमेलां मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यमानीम्।
चव्यं प्रियङ्गुं क्रमुकं विशालां किराततिक्तं कटुरोहिणीं च ॥ ४१ ॥
भार्ङ्गीं नतं चित्रकपिप्पलीनां मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम्।
कलिङ्गकान् केशरमिन्द्रसाह्वां नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च ॥ ४२ ॥

१. 'पाठापटोलार्जुननिम्बमुस्तैः' इति पा०।

द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा पूते चतुर्भागजलावशेषे।
रसेऽर्धभागं मधुनः प्रदाय पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः॥ ४३॥
[1]मध्वासवोऽयं कफपित्तमेहान् क्षिप्रं निहन्याद् द्विपलप्रयोगात्।
पाण्ड्वामयार्शांस्यरुचिं ग्रहण्या दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम्॥ ४४॥

इति मध्वासवः।

मध्वासव या लोध्रासव—लोध, कचूर, पोहकरमूल, छोटी इलायची, मरोड़फली, वायविडंग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), अजवाइन, चव्य, फूलप्रियंगु, सुपारी, इन्द्रायण की जड़, चिरायता, कुटकी, भारंगी, तगर, चित्रकमूल, पिप्पलीमूल, कूठ, अतीस, पाठा, कलिङ्गक (इन्द्रजौ), नागकेसर, इन्द्रसाहा (इन्द्रजौ), नखी, तेजपत्ता, कालीमरिच, प्लव (केवटीमोथा)—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) की मात्रा में लेकर जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में पकायें। जब पकते-पकते चतुर्थांश (२५६ तोला) जल शेष रह जावे (शीतल होने पर इसे छान कर रख लें), तब इसमें क्वाथ की मात्रा का आधा मधु मिलाकर घी चुपड़े हुए मिट्टी के पात्र में उसे डालकर घड़े का मुख बाँधकर पन्द्रह दिनों तक रख दें। यह मध्वासव दो पल (८ तोला) प्रतिदिन सेवन करने से कफज तथा पित्तज प्रमेहों, पाण्डुरोग, अर्श, अरुचि, ग्रहणीदोष, किलास (सफेद कुष्ठ) और अनेक प्रकार के लघु कुष्ठों को नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—पाठभेद के कारण इसके नाम के सम्बन्ध में विवाद है। योगों तथा अध्यायों के नाम-निर्धारण के सम्बन्ध में तन्त्रकार की सुस्थिर नीति है कि जिस द्रव्य का नाम योग के पहले आया हो या अध्याय के पहले आया हो उसी को निमित्त मानकर उस अध्याय या योग का नाम रखा गया है। यहाँ 'लोध्र' शब्द पहले आया है, अतः इसका नाम 'लोध्रासव' ही उपयुक्त है। परवर्ती अष्टाङ्गसंग्रह में भी इसे 'लोध्रासव' ही कहा गया है। इस आसव में कुल मिलाकर जितनी मात्रा अन्य द्रव्यों की है, उतनी अकेले मधु की है। अतः इसकी 'मध्वासव' यह संज्ञा भी निराधार नहीं कही जा सकती।

इन्द्रजौ द्रव्य का इसमें दो बार प्रयोग हुआ है। अतः इसे दूना लिया जाता है। इसकी सेवनीय मात्रा के सम्बन्ध में तन्त्रकार ने २ पल (८ तोला) का निर्देश किया है, जो अद्यतनीय नहीं है। अतः २ तोला से ४ तोला तक इसकी मात्रा पर्याप्त कही जा सकती है। यद्यपि इसको १५ दिन रखने के बाद सेवन करने की अनुमति दे रखी है, किन्तु 'पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवाः', इस सूक्ति को इस अवसर पर भुला देना उचित नहीं है।

क्वाथः स एवाष्टपलं च दन्त्या भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात्।
सितोपला त्वष्टपला विशेषः क्षौद्रं च तावत् पृथगासवौ तौ॥ ४५॥

दन्त्यासव—उपर्युक्त लोध्रासव के द्रव्यों को उसी परिमाण में लेकर उसमें आठ पल (३२ तोला) दन्ती (जमालगोटा) मूल डालकर उसी प्रमाण में जल डालकर क्वाथ करें और अवशिष्ट क्वाथ को छानकर शीतल हो जाने पर उसमें क्वाथ से आधा मधु और ८ पल (३२ तोला) मिश्री मिला दें। इसे भीतर से घी चुपड़े हुए घड़े में डालकर घड़े का मुख बन्द कर १५ दिनों तक रख दें। यह 'दन्त्यासव' है।

भल्लातकासव—लोध्रासव के द्रव्यों को उसी परिमाण में लेकर उसमें ४ पल (१६ तोला) की मात्रा में शुद्ध भिलावा डालकर उसी प्रमाण में जल डालकर क्वाथ करें और बचे हुए क्वाथ को छानकर उसमें क्वाथ से आधा मधु और ८ पल (३२ तोला) मिश्री मिला दें। इसे घी चुपड़े हुए घड़े में डालकर घड़े का मुख बन्द कर १५ दिनों तक रख दें। यह 'भल्लातकासव' है। इसी प्रकार ये दो अलग-अलग आसव (दन्त्यासव और भल्लातकासव) हो जाते हैं।

वक्तव्य—ये दोनों आसव कफज तथा पित्तज प्रमेहों की शान्ति के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा।
सीधुं पिबेद् वा निगदं प्रमेही माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा॥ ४६॥

१. 'लोध्रासवोऽयम्' इति पा०।

प्रमेह में विविध उदक पान—प्रमेह रोगी १. सारोदक (खदिरसार या विजयसार आदि के सार भाग को लेकर षडंगपानीय परिभाषा के अनुसार क्वाथ किया हुआ जल), २. कुशोदक, ३. मधुमिश्रित जल, ४. त्रिफला का स्वरस या क्वाथ, ५. दोषरहित सीधु (जौ से बनी शराब), अथवा ६. उत्तम तथा बहुत समय से रखा हुआ माध्वीक (मधु या मुनक्का से बने हुए मद्य) का सेवन करें।

वक्तव्य—सारोदक और कुशोदक के निर्माण का समान विधान है। **निगदम्**—यह पद सारोदक से सीधु तक सभी का विशेषण मान लेना चाहिए। **माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा**—माध्वीक शब्द से—मध्वासव, मधूकपुष्पकृत मद्य, द्राक्षाकृत मद्य तथा मद्य, इतने अर्थ लिए जा सकते हैं। **अग्र्य**—यह शब्द प्रथम तथा उत्तम अर्थों का वाचक है। **चिरसंस्थितम्**—बहुत समय से रखे हुए सभी आसव गुणवर्धक होते हैं। अतः मधु, महुआ अथवा मुनक्का से बने या सामान्य मद्यों में गुण-धर्म-विवेचन से प्रमेह रोगी के लिए जो अग्र्य (उत्तम) हो उसका ग्रहण करना चाहिए। यदि यह विविधता सुलभ न हो, तो चिरसंस्थित किसी भी मद्य का प्रयोग कराना चाहिए।

मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां खादेद् यवानां विविधांश्च भक्ष्यान्।
संशोधनारिष्टकषायलेहैः सन्तर्पणोत्थाञ्शमयेत् प्रमेहान्॥ ४७॥

सन्तर्पणजनित प्रमेह-चिकित्सा—सन्तर्पण पदार्थों के सेवन के परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रमेहों में रोगी को जांगलप्रदेश में होने वाले मृग तथा पक्षियों के शूल्यमांस को (जिसे सींक में फँसाकर आग पर भूना जाता है, उसे शूल्य कहते हैं) अथवा जौ के आटा द्वारा बनाये गये विविध प्रकार के भक्ष्यों का सेवन करायें और संशोधन (वमन-विरेचन के प्रयोगों), कषाय, अरिष्ट, अवलेहों के प्रयोगों से प्रमेहों का शमन करे।

भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगाञ्छुष्कांश्च सक्तून्न भवन्ति मेहाः।
श्वित्रं च कृच्छ्रं कफजं च कुष्ठं तथैव मुद्गामलकप्रयोगान्॥ ४८॥

प्रमेह में यव-प्रयोग—भुने हुए यवों का, जौ के सत्तुओं का, जौ द्वारा निर्मित अन्य रोटी आदि पदार्थों का सेवन करने वाले पुरुषों को भी प्रमेह रोग नहीं होते हैं और कफज मूत्रकृच्छ्र, श्वित्र (सफेद कुष्ठ) तथा अन्य कुष्ठ भी नहीं होते। उसी प्रकार मूँग की दाल तथा मूँग के अन्य व्यंजनों का एवं आँवलों का सेवन करने वालों को भी मूत्रकृच्छ्र, सफेद कुष्ठ तथा अन्य प्रकार के कुष्ठरोग नहीं होते।

वक्तव्य—जौ, मूँग, आँवला—ये प्रतिदिन खाने योग्य वस्तुएँ हैं। वास्तव में भोजन के पदार्थों का चयन सर्वप्रथम स्वास्थ्य की दृष्टि से, तदनन्तर चिकित्सा की दृष्टि से करना चाहिए।

सन्तर्पणोत्थेषु गदेषु योगा मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः।
विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः॥ ४९॥

प्रमेह रोग में विशेष विधि—सन्तर्पणकारक पदार्थों के निरन्तर सेवन करने से जो रोग पैदा हो जाते हैं, उनके लिए तथा मेदोधातु-प्रधान (अतिस्थूल) पुरुषों के लिए जिन (आहार-विहार) योगों (तन्त्रकार ने चरकसंहिता-सूत्रस्थान के सन्तर्पणीय नामक २३वें अध्याय में कहे हैं, अर्थात् जिन) का उपदेश मैंने किया है, उन सिद्ध प्रयोगों का उपयोग कफज तथा पित्तज प्रमेह रोगियों के रूक्षण से लिए भी करना चाहिए।

वक्तव्य—तन्त्रकार पूर्वापर सूचना द्वारा अपनी रचना को सीमित करना चाहते हैं। उक्त श्लोक में दो सूचनाएँ दी गयी हैं—१. सन्तर्पणजनित रोगों के शमन के लिए चरक-सूत्रस्थान अ० २३ और २. मेदस्वियों के विरूक्षण के लिए चरक-सूत्रस्थान अ० २१ देखें।

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु[1] न सन्ति मेहाः॥ ५०॥

प्रमेह में व्यायामादि प्रयोग—विविध प्रकार के व्यायामों को करने से, बलपूर्वक उबटनों को लगाकर

१. 'विलेपनैश्च प्रशमन्ति' इति पा०।

मालिश कराने से, स्नान एवं जल के परिषेकों (फुहारा आदि के नीचे बैठकर नहाने) से तथा खस, दारु-चीनी, छोटी इलायची, अगुरु तथा चन्दन का विलेपन करने से प्रमेह रोग उत्पन्न नहीं होते।

वक्तव्य—यह प्रमेहरोग की सुकुमार चिकित्सा-विधि है। स्नान के लिए ४६वें श्लोक में कहे गये सारोदकों का प्रयोग कराना अधिक हितकर होता है। उक्त विलेपन पित्तप्रमेह के कारण उत्पन्न दाह का भी शमन करते हैं। तालाब आदि में तैरना भी एक व्यायाम है, जो प्रमेह में हितकर होता है।

क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि ॥ ५१ ॥

प्रमेह में अपतर्पण-प्रयोग—बढ़े हुए क्लेद (आप्य धातु), मेदस् तथा कफधातु को देखकर चिकित्सक को चाहिए कि वह सर्वप्रथम कफज और पित्तज प्रमेहों में रोगी को अपतर्पण कराये।

वक्तव्य—अपतर्पण अर्थात् 'तृप्ति का अभाव'। यही कार्य लंघन तथा लघुभोजन से किया जाता है। व्रणोपचार में प्रथम शान्ति के लिए 'अपतर्पण' का विधान सु० चि० अ० १ में किया गया है। अपतर्पण कराने से गुल्म, धातुक्षय, मूत्रग्रह आदि रोग हो जाते हैं, ऐसा वर्णन इसी अध्याय के १७वें श्लोक में किया गया है। अतः दोष-दूष्यों का विचार करके तभी अपतर्पण का प्रयोग कराना चाहिए।

या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥ ५२ ॥

चिकित्स्य वातज प्रमेह—हमने वातज प्रमेहों की जो चिकित्सा पहले कही है, वह वातप्रधान प्रमेह रोग की समझनी चाहिए। प्रमेह रोग में धातुओं के अत्यधिक निकल जाने के कारण रोगी कृश हो जाता है, जिससे वायु कुपित हो जाती है। इसीलिए अन्य दोषज प्रमेह भी वातप्रधान कहे जा सकते हैं। उन्हीं की चिकित्सा का यहाँ विचार किया गया है। जो असाध्य वातज प्रमेह हैं, उनके सम्बन्ध में तन्त्रकार ने किसी प्रकार की चिन्ता नहीं की है।

वक्तव्य—'चिन्ता' का एक अर्थ है—ध्यान देना। तन्त्रकार ने उन शुद्ध वातज प्रमेहों की चिकित्सा की ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे असाध्य होते हैं।

यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः।
हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ॥ ५३ ॥

प्रमेह में निदान-परिवर्जन—जिन-जिन कारणों से जो (कफज आदि) प्रमेह उत्पन्न होते हैं, उन-उन प्रमेहों में उन-उन कारणों का परित्याग कर देना चाहिए, अर्थात् उनका सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि उत्पन्न हुए रोग की सर्वसामान्य चिकित्सा है—हेतु (प्रमेहोत्पादक कारणों) की असेवा (परित्याग)।

वक्तव्य—इसी को दूसरे शब्दों में 'निदानपरिवर्जन' भी कहा गया है। इससे बढ़े हुए दोष पुनः बढ़ने नहीं पाते और 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' इस सिद्धान्त के अनुसार उस रोग की चिकित्सा भी हो जाती है। अर्थात् हेतु का आश्रय लेना वृद्धि का कारण और हेतु का त्याग करना ह्रास का कारण सिद्धान्ततः होता है।

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत् तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥ ५४ ॥

प्रमेह और रक्तपित्त में भेद—प्रमेह के पूर्वरूपों के बिना यदि किसी रोगी का मूत्र हल्दी के वर्ण का या रुधिर (रक्त) के वर्ण का-सा दिखलायी दे और इसी वर्ण का वह पेशाब करता हो, तो उस मूत्र को देखकर उसे प्रमेह का रोगी नहीं समझना चाहिए। वह सचमुच रक्तपित्त का ही प्रकोप है।

वक्तव्य—प्रमेह और रक्तपित्त में भेद दिखलाने के लिए उक्त श्लोक का उपक्रम किया गया है। हारिद्रवर्ण (हल्दी का जैसा वर्ण) और 'रुधिरं च मूत्रं' लालरंग का मूत्र पित्तज प्रमेह में और रक्तपित्त में भी देखा जाता है। अतः केवल मूत्र के वर्ण को देखकर ही प्रमेह रोग का निर्णय न करें, अपितु उनके पूर्वरूपों पर भी अवश्य ध्यान दें।

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् सन्तर्पणाद् वा कफसम्भवः स्यात् ॥ ५५ ॥

प्रमेह का सापेक्ष निदान—प्रमेह रोगी का मूत्र यदि मधुर (पेशाब किये हुए स्थान पर चींटियों के लगने से ज्ञातव्य), सपिच्छ (चिकनाहट युक्त), आकृति में मधु के सदृश दिखलायी पड़े, तो इसे देखकर दो प्रकार से विचार किया जाता है—१. एक तो यह कि दोषों (कफ-पित्त) तथा दूष्यों (मेदस् आदि) के क्षीण होने पर वे ही प्रमेह वातज जैसे हो सकते हैं। २. अथवा दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि सन्तर्पण के लिए प्रयुक्त आहार-विहारों के सेवन करने से उनमें कफजप्रमेह के जैसे लक्षण हो सकते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक द्वारा तन्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि 'दृष्ट्वा प्रमेहं'—अर्थात् जिस प्रमेह रोगी का मूत्र मधुर (मीठा), सपिच्छ (लासादार) और मधूपम (देखने में तथा स्वाद में मधु जैसा) हो, तो उसके दो कारण हो सकते हैं—१. कफज प्रमेहों में इक्षुमेह के लक्षणों पर और सन्तर्पणकारक पदार्थों के गुण-धर्मों पर ध्यान दें। यदि इनके कारण उक्त लक्षण उत्पन्न न हुए हों, तो फिर २. दूसरा कारण वातज प्रमेह के क्षौद्रमेह तथा लसीकामेह में उक्त लक्षणों का समन्वय किया जा सकता है। **'क्षीणेषु दोषेषु'**—यहाँ दोष शब्द से कफ, पित्त तथा मेदस् आदि दूष्यों का ग्रहण करना प्रसंगोचित है। क्षीण शब्द से तात्पर्य है—बढ़े वातदोष की अपेक्षा क्षीण किन्तु सामान्य स्थिति से बढ़े हुए। यदि कफ तथा पित्तदोष अधिक क्षीण हो जायेंगे, तब तो वातज प्रमेह असाध्य हो ही जायेंगे।

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः।
साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्याः; साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ॥ ५६ ॥

प्रमेहों की साध्यासाध्यता—अपने-अपने पूर्वरूपों के साथ कफज तथा पित्तज प्रमेह एवं क्रम से उत्पन्न वातज प्रमेह भी असाध्य होते हैं। सामान्य रूप से पित्तज प्रमेह याप्य होते हैं। यदि पित्तज प्रमेहों में मेदोधातु दूषित न हुआ हो, तो ये (पित्तज प्रमेह) साध्य होते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि कफज प्रमेह साध्य, पित्तज प्रमेह याप्य और वातज प्रमेह असाध्य होते हैं, ऐसा उल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है। यहाँ उनका विशेष विवरण प्रस्तुत है। च० नि० अ० ४।४७ में तथा इसी अध्याय के १३-१४वें पद्य में प्रमेह के पूर्वरूपों का वर्णन किया गया है। इन्हें सावधानी से देखें। यदि ये सभी पूर्वरूप अथवा अधिकांश पूर्वरूप कफजप्रमेह के साथ दिखलायी दे रहे हों, तो साध्य कफज प्रमेह भी असाध्य हो जाते हैं, क्योंकि जिस प्रकार फल का पुष्प होता है और वह फल को उत्पन्न करने के बाद स्वयं नष्ट हो जाता है; ठीक यही स्थिति पूर्वरूपों की भी होती है। वे रोग के वास्तविक रूप को प्रकट कर देने के बाद स्वयं नष्ट हो जाते हैं। यदि उसके बाद भी बने रहते हैं, तो हम इसे विकृति कहते हैं। इसी प्रकार यदि पित्तज प्रमेह में भी उसके पूर्वरूप दिखलायी दे रहे हों तो इनके कारण याप्य पित्तज प्रमेहों को भी असाध्य माना गया है। यदि इनमें मेदोधातु दूषित न हुआ हो और पूर्वरूपों का सम्बन्ध न हो, तो इसे असाध्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि वातज प्रमेहों को सामान्य रूप से असाध्य कहा गया है फिर भी यदि वे वातज प्रमेह निदानोक्त (वसा, मज्जा, हस्ति या लसीका तथा मधुमेह इस) क्रम में जिसमें दिखलायी दें, तो भी वे असाध्य होते ही हैं। इनमें भी यदि पूर्वरूपों का संसर्ग हो, तो फिर तो इनकी असाध्यता सुनिश्चित है। इस प्रसंग में चरक-इन्द्रियस्थान अ० ५।५ का यह श्लोक भी अविस्मरणीय है—'अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्'॥ हमारे विचार से 'सपूर्वरूपाः' इस पद्य के निर्माण का यही आधार रहा होगा।

क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः—वातज मेहों का क्रम इस प्रकार है—वसामेह, मज्जमेह, हस्तिमेह और मधुमेह—इनके दोष-वात और दूष्य-वसा, मज्जा, लसीका या ओजस् हैं। इन दूष्यों को क्रम से जब वायु दूषित करता है, तभी ये असाध्य देखे जाते हैं। यहाँ वातज प्रमेहों की उत्तरोत्तर असाध्यता वर्णित की गयी है।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥ ५७ ॥

असाध्य कुलज विकार—मधुमेह रोग से पीड़ित पिता से उत्पन्न सन्तान (पुत्र) को यदि प्रमेह
रोग होता है, तो वह (रोग) बीजदोष के कारण असाध्य होता है, क्योंकि जो कोई भी कुलज (वंश-परम्परा-
गत) विकार (प्रमेह, कुष्ठ आदि रोग) होते हैं, वे सभी असाध्य कहे गये हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'मधुमेहिनः जातः प्रमेही' ऐसा अन्वय तन्त्रकार को अपेक्षित है। **बीजदोषात्**—इस
विशेषण का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया गया है, कि रोग की जड़ें चिर-स्थिर हैं, उनको उखाड़ फेंकना आसान
नहीं है। अतएव ऐसे जो प्रारम्भिक स्थिति से प्रमेही हैं, किन्तु जिनके मूल में असाध्य मधुमेह का बीज पड़ा
हुआ है, वे रोगी असाध्य होते हैं। **कुलजा विकाराः**—वंश-परम्परा से प्राप्त रोग, जैसे—गर्मी, सुजाक,
प्रमेह, कुष्ठ, श्वास आदि रोग प्रायः सभी असाध्य होते हैं। यद्यपि इस सिद्धान्त की जड़ें आयुर्वेद में बद्धमूल
हैं, परन्तु होमियोपैथी के चिकित्सक निदान के इस अंश का प्रयोग सभी रोगों में पर्याप्त मात्रा में करते ही हैं।
'प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्' (च० सू० अ० २५।४०) के अनुसार यद्यपि प्रमेह रोग में जल्दी सफलता नहीं
मिलती। फिर भी वंशानुगत प्रमेही की तुलना में सामान्य प्रमेह रोगी शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करते ही हैं।

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च ॥ ५८ ॥

प्रमेहज पिडिका-चिकित्सा—चरक-सूत्रस्थान (कियन्तःशिरसीय नामक) १७वें अध्याय के १०५-१०६
श्लोकों में जो मैं(तन्त्रकार)ने अलग से सात प्रमेह पिडिकाओं का उल्लेख किया है, उनकी चिकित्सा
शल्यशास्त्र-विशेषज्ञ चिकित्सकों से शस्त्र द्वारा करानी चाहिए, तदनन्तर संशोधन और रोपण क्रिया
करनी चाहिए।

वक्तव्य—च० सू० अ० १७ में कफज प्रमेहों में होने वाली तीन—१. शराविका, २. कच्छपिका,
३. जालिनी और पित्तज प्रमेहों में होने वाली चार—१. सर्षपी, २. अलजी, ३. विनता, ४. विद्रधि—इस प्रकार
कुल मिलाकर सात पिडकाएँ होती हैं। तन्त्रकार ने इन्हें शस्त्रसाध्य कहकर सूत्र रूप में इनकी चिकित्सा शस्त्र-
विशेषज्ञ द्वारा कराने की संस्तुति की है।

तत्र श्लोकाः—

हेतुर्दोषो दूष्यं मेहानां साध्यतानुरूपश्च। मेही द्विविधस्त्रिविधं भिषग्जितमतिक्षपणदोषः ॥
आद्या यवान्नविकृतिर्मन्था मेहापहाः कषायाश्च। तैलघृतलेहयोगा भक्ष्याः प्रवरासवाः सिद्धाः ॥
व्यायामविधिर्विविधः स्नानान्युद्वर्तनानि गन्धाश्च। मेहानां प्रशमार्थं चिकित्सिते दिष्टमेतावत् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने प्रमेहचिकित्सितं
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अध्याय का उपसंहार—उस विषय में कुछ श्लोक दिये हैं—सभी प्रकार के प्रमेहों का (भिन्न-भिन्न)
कारण, दोष (कफ, पित्त, वात), दूष्य (मेदस्, वसा आदि), साध्यता, अनुरूप (पूर्वरूप), दो प्रकार का
प्रमेह, तीन प्रकार की प्रमेहों की चिकित्सा, समय पर उनकी चिकित्सा न करने से दोष, जौ द्वारा बने हुए
विविध प्रकार के खाने योग्य पदार्थ, मन्थ, प्रमेहनाशक अनेक कषाय योग, तैल, घृत, लेह (अवलेह) के
योग, अन्य भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थ, उत्तम तथा सिद्ध आसवों के विविध प्रकार, अनेक प्रकार की व्यायाम
विधियाँ, स्नान के अनेक प्रकार, उबटन, सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग—इन सभी का उपयोग प्रमेह रोग की शान्ति
के लिए इस अध्याय में कहा गया है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति से श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीका वाले संस्करण में उक्त तीन पद्यों के
अनेक स्थलों पर पाठ-भेद हैं। पाठकों के विवेचन के लिए उन्हें यहाँ उक्त ग्रन्थों के क्रम से उद्धृत किया जा रहा
है—१. 'साध्यतानुरूपश्च'—निर्णय०। 'साध्यताग्ररूपं च'—जयदेव०। यहाँ 'अनुरूप' इस पाठ से 'अग्ररूपं च'

१. 'द्विविधम्' योगीन्द्रनाथसेनसम्मतः पाठः।

पाठ अनेक दृष्टियों से प्रसंगोचित है। 'मेही द्विविधः'—निर्णय०। 'मेहो द्विविधः'—जयदेव०। यहाँ प्रथम पाठ
से द्वितीय पाठ अधिक युक्तिसंगत है। ध्यान दें—'मेही' शब्द प्रमेह रोगी को संकेत करता है, जब कि हमें
यहाँ प्रमेह के भेदों की चर्चा अपेक्षित है। अतः 'मेही' के स्थान पर 'मेहः' पाठ ही सुसंगत है। **द्विविधः**—
यहाँ प्रमेह को दो प्रकार का कहा गया है, जब कि यह कफज, पित्तज, वातज भेद से तीन प्रकार का और
तीनों के भेदों का योग करने पर बीस प्रकार का कहा गया है। किन्तु जो यहाँ द्विविध कहा गया है, उसको
चरितार्थ करने के लिए हमें थोड़ा विचार करना होगा। जैसे—१. दोषज और २. कुलज। देखें—च० चि०
अ० ६।५७। अथवा वाग्भट के अनुसार—'प्रभूताविलमूत्रता'। अ० हृ० नि० अ० १०।७। अर्थात् १. प्रभूत-
मूत्रता और २. आविलमूत्रता।

त्रिविधं भिषग्जितम्—इनकी व्याख्या में चक्रपाणि लिखते हैं—इसकी चिकित्सा तीन प्रकार की
होती है—१. संशोधन, २. संशमन, ३. निदानवर्जन। श्रीयोगीन्द्रनाथ सेन 'त्रिविधं' के स्थान पर 'द्विविधं'
पाठ को मान्यता देते हैं। इसके आगे निर्णयसागरीय प्रति में 'अतिक्षपणदोषः' पाठ दिया है। इसके स्थान
पर श्रीजयदेव 'तल्लक्षणं दोषः' पाठ को स्वीकार करते हैं। श्लोक ६१ के अन्तिम चरण में निर्णयसागरीय प्रति
में 'दिष्टमेतावत्' पाठ है। श्रीजयदेव इसके स्थान पर 'दृष्टमेतावत्' पाठ को आदर देते हैं। 'दिष्ट' और
'दृष्ट' का अर्थ-भेद सुप्रसिद्ध एवं सर्वविदित है, किन्तु 'दिष्ट' का एक अर्थ 'उपदिष्ट' भी होता है।

प्रायः सभी आयुर्वेदीय संहिताकारों ने प्रमेह रोग के २० भेद स्वीकार किये हैं। यथा—कफज प्रमेह
१०, पित्तज प्रमेह ६ और वातज प्रमेह ४। किन्तु महर्षि वाग्भट ने अष्टांगहृदय में इन सभी प्रमेहों का जो
सामान्य लक्षण दिया है, वह है—'सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताऽऽविलमूत्रता' ॥ अष्टांगहृदय नि० अ० १०।७।
इस दृष्टि से हम समस्त प्रमेहों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। १. प्रभूतमूत्रता (जिनमें मूत्र स्वाभाविक
स्थिति से अधिक आता है) और २. आविलमूत्रता (मूत्र में गदलापन का होना, अर्थात् मूत्र में स्वच्छता का
अभाव)।

१. **प्रभूतमूत्रता** या **बहुमूत्रता** (Polyuria)—इस परिभाषा के अन्तर्गत उदकमेह या जलमेह,
हस्तिमेह, शनैर्मेह की गणना की जा सकती है, क्योंकि इनमें आविलता (गदलापन) नहीं होती अथवा आगे
कहे जाने वाले प्रमेहियों के मूत्र की अपेक्षा कम होती है। हस्तिमेह की प्रवृत्ति प्रायः शरीरावयवों के शिथिल
हो जाने से वृद्धावस्था में देखी जाती है। इस अवसर के हस्तिमेह को कालपरिणामज भी कहा जा सकता है।

शारीरिक अन्य मलों में मूत्र की भी गणना की जाती है। मल और मूत्र आहार के निस्सार तत्त्व हैं, फिर
भी शरीर को स्वस्थ रखने के लिए इनके यथोचित संग्रह की परम आवश्यकता होती है। इसके लिए देखें—
बहुमूत्र रोग द्वारा होने वाली हानियों को। वृक्कों में निर्मित मूत्र गवीनियों (Ureters) द्वारा वस्ति-प्रदेश में
पहुँचता है। वहाँ संचित होने के बाद मूत्रमार्ग से बाहर निकलता है।

मूत्र का पञ्चमहाभूतों से सम्बन्ध—१. पृथ्वी—मूत्र में तीव्रगन्ध है। २. जल—इसमें जल तत्त्व की
अधिकता है। ३. तेज—मूत्र में वर्तमान क्षारीयता, तीक्ष्णता है। ४. वायु—मूत्र में स्पर्श गुण है। ५. आकाश—
मूत्र में शब्द गुण है।

मूत्र का त्रिदोष से सम्बन्ध—१. वात—मूत्र में गतिशीलता वायु का गुण है। २. पित्त—इसमें क्षारीय
तीक्ष्णता पित्त का गुण है। ३. कफ—इसमें जल की प्रधानता होना कफ का गुण है। इसके दो कार्य हैं—१.
वस्तिपूरण और २. क्लेदवाहन।

आधुनिक दृष्टिकोण—पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में मूत्र (Urine) निर्माण की प्रक्रिया आयुर्वेदीय
दृष्टिकोण से बहुत साम्य रखती है। इसके अनुसार यद्यपि वृक्क (Kidneys) गवीनियाँ (Ureters)
तथा वस्ति (Urinary bladder) ये मूत्र सम्बन्धी विशिष्ट अवयव हैं, तथापि इसका सम्बन्ध पक्वाशय से
भी मानना आवश्यक है।

सामान्यतया स्वस्थ पुरुष २४ घंटे में औसतन १५०० मि० ली० मूत्र शरीर से बाहर निकालता है। यह
मात्रा खान-पान (जल, चाय, शरबत, लस्सी, लेमन, मद्य आदि के अधिक पीने), शीतऋतु अथवा ग्रीष्मऋतु
के भेद से कुछ घट-बढ़ भी जाती है। इसी अनुपात को दृष्टि में रखकर बहुमूत्र का निर्णय किया जा सकता है।

२. **आविलमूत्रता**—जो स्वच्छ न हो, जिसमें किसी भी प्रकार की मलिनता हो, उसे 'आविल' कहते हैं। यहाँ यह आविलता जब मेदस् आदि धातु दोषों के प्रकोप से घुलकर मूत्र में मिलकर निकलने लगती है तब दिखलायी देती है। ऊपर 'उदकमेह' आदि का जो बहुमूत्रता में उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त सभी प्रकार के प्रमेहियों के मूत्र में आविलता के दर्शन होते ही हैं। वैसे भी अतिसार आदि रोगों में अपरिपक्व मल अधिक निकल जाता है, अथवा पसीना के अधिक निकल जाने से मूत्र का आपेक्षिक घनत्व बढ़ जाने के कारण मूत्र में कमी आ जाती है।

प्रमेहों का नाम-निर्धारण—चरक, सुश्रुत, वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट संहिताकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रमेहों के लगभग मिलते-जुलते नाम रखे हैं, तथापि नामों के क्रम में आगे-पीछे तथा कुछ पर्याय परिवर्तन के साथ दिये गये हैं। चरक-निदानस्थान, अध्याय ४ में प्रमेहों के नामों का जो क्रम दिया गया है, उससे चरक-चिकित्सास्थान में भी अन्तर है। देखें—चरक-निदानस्थान में वातज प्रमेहों के नाम—१. वसामेह, २. मज्जमेह, ३. हस्तिमेह, ४. मधुमेह। च० चि० में—१. मज्जमेह, २. ओजोमेह, ३. वसामेह, ४. लसीकामेह। चरक में सुश्रुतोक्त सुरामेह, पिष्टमेह, फेनमेह, लवणमेह संज्ञाएँ नहीं हैं। इसी प्रकार अन्य संहिताओं में भी विवाद है। विशेष विवरण निम्नलिखित तालिका में देखें।

प्रमेह-भेद-तालिका

१० कफज प्रमेह

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गसङ्ग्रह	अष्टाङ्गहृदय
१. उदकमेह	१. उदकमेह	१. उदकमेह	१. उदकमेह
२. इक्षुमेह	२. इक्षुवालिकामेह	२. इक्षुमेह	२. इक्षुमेह
३. सान्द्रमेह	३. सान्द्रमेह	३. सान्द्रमेह	३. सान्द्रमेह
४. सान्द्रप्रसादमेह	४. सुरामेह	४. सुरामेह	४. सुरामेह
५. शुक्लमेह	५. पिष्टमेह	५. पिष्टमेह	५. पिष्टमेह
६. शुक्रमेह	६. शुक्रमेह	६. शुक्रमेह	६. शुक्रमेह
७. शीतमेह	७. फेनमेह	७. सिकतामेह	७. शीतमेह
८. सिकतामेह	८. सिकतामेह	८. शीतमेह	८. सिकतामेह
९. शनैर्मेह	९. शनैर्मेह	९. शनैर्मेह	९. शनैर्मेह
१०. लालामेह	१०. लवणमेह	१०. लालामेह	१०. लालामेह

६ पित्तज प्रमेह

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गसङ्ग्रह	अष्टाङ्गहृदय
१. क्षारमेह	१. क्षारमेह	१. क्षारमेह	१. क्षारमेह
२. कालमेह	२. अम्लमेह	२. कालमेह	२. कालमेह
३. नीलमेह	३. नीलमेह	३. नीलमेह	३. नीलमेह
४. रक्तमेह	४. शोणितमेह	४. हारिद्रमेह	४. रक्तमेह
५. माञ्जिष्ठमेह	५. माञ्जिष्ठमेह	५. माञ्जिष्ठमेह	५. माञ्जिष्ठमेह
६. हारिद्रमेह	६. हारिद्रमेह	६. शोणितमेह	६. हारिद्रमेह

४ वातज प्रमेह

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गसङ्ग्रह	अष्टाङ्गहृदय
१. वसामेह	१. वसामेह	१. वसामेह	१. वसामेह
२. मज्जमेह	२. सर्पिमेह	२. मज्जमेह	२. मज्जमेह
३. हस्तिमेह	३. हस्तिमेह	३. हस्तिमेह	३. हस्तिमेह
४. मधुमेह	४. क्षौद्रमेह	४. मधुमेह	४. मधुमेह

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में प्रमेहचिकित्सित नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

प्रमेह-चिकित्सा की व्याख्या करने के बाद अब हम यहाँ से कुष्ठ-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'कुष्ठ' शब्द की व्याख्या रोग अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए अनेक प्रकार से की जा सकती है। जैसे—'कुषनिष्कर्षे (क्र्यादि परस्मैपदी सेट्) 'निकुषि०' उणादिसूत्र (२।२) से 'क्थन्' प्रत्यय लगाकर इसकी निष्पत्ति हुई है। अथवा—'कुत्सितं तिष्ठति'। 'सुपि०' (३।२।४) सूत्र से 'क' प्रत्यय लगाकर इसकी सिद्धि की गयी है। अर्थात् देह को विकृत करने वाले रोग को 'कुष्ठ' कहते हैं। यह रोग शरीर के जिस अवयव पर होता है, उसे विकृत (विकार-युक्त या स्वरूप रहित) कर देता है। सन्दर्भ-संकेत—सु० चि० अ० ९ तथा १०। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २१। अष्टांगहृदय-निदानस्थान अ० १४ का विधिवत् अवलोकन करें।

कुष्ठ शब्द की परिभाषा—'त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तम्'। अ० हृ० अ० १४।३। अर्थात् जिस रोग में कुपित वातादि दोष अपने क्रम से त्वचाओं को विकृत वर्ण वाली बना देते हैं, उस रोग को 'कुष्ठ' कहते हैं। अब यहाँ यह विचार करना है कि **'त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यम्'** इस पद्यांश में बहुवचनान्त 'त्वचः' शब्द यह बतला रहा है कि भिन्न-भिन्न कुष्ठों का आश्रय भिन्न-भिन्न त्वचा है और त्वचाओं की संख्या सात है, यथा—'त्वचः सप्त प्रकीर्तिताः'। शा० सं० पू० खं० अ० ५।१। कौन-सा कुष्ठ किस त्वचा को विवर्ण करता है, इसका परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

'ज्ञेयाऽवभासिनी पूर्वं सिध्मस्थानं च सा मता। द्वितीया लोहिता ज्ञेया तिलकालकजन्मभूः॥ श्वेता तृतीया सङ्ख्याता स्थानं चर्मदलस्य सा। ताम्रा चतुर्थी विज्ञेया किलासश्वित्रभूमिका॥ पञ्चमी वेदिनी ख्याता सर्वकुष्ठोद्भवस्ततः। विख्याता रोहिणी षष्ठी ग्रन्थिगण्डापची स्थितिः॥ स्थूला त्वक्सप्तमी ख्याता विद्रध्यादेः स्थितिश्च सा। इति सप्त त्वचः प्रोक्ताः·····' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।३७-४०।

पहली त्वचा का नाम अवभासिनी है; इसमें सिध्म (छिम्ब या सेहुँआ) नामक कुष्ठ-भेद होता है। दूसरी त्वचा का नाम लोहिता है; इसमें तिल और झाँई का स्थान है। तीसरी त्वचा का नाम श्वेता है; इसमें चर्मदल या चम्बल का स्थान है। चौथी त्वचा का नाम ताम्रा है; इसमें किलास (लालवर्ण का श्वेत-कुष्ठ) या फुलबहरी का स्थान है। पाँचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है; इसमें शेष सभी प्रकार के कुष्ठ होते हैं। छठी त्वचा का नाम रोहिणी है; इसमें ग्रन्थि (बिना मुहँ वाले फोड़े), गलगण्ड (घेघा) तथा अपची (गण्डमाला) का स्थान है। सातवीं त्वचा का नाम स्थूला है; इसमें विद्रधि (Abscess) का स्थान है। इस प्रकार सात त्वचाओं का परिचय यहाँ दिया गया है। विशेष विचार प्रकरणानुसार यहाँ किया ही जायेगा।

सुश्रुतसंहिता चि० अ० ९ में क्षुद्रकुष्ठों का तथा अ० १० में महाकुष्ठों की चर्चा की गयी है। प्राच्य-पाश्चात्य विचारों की कड़ी को जोड़ने के लिए प्राचीन आचार्यों की उदार विचार-सरणि पर ध्यान देना आवश्यक है। आधुनिक चिकित्सक दद्रु, सिध्म आदि को कुष्ठ न मानकर इन्हें केवल चर्मरोग (Skin diseases) कहते हैं और उदुम्बर आदि गलित कुष्ठों को ही कुष्ठ (Leprosy) कहते हैं। यद्यपि त्वचा को विकृत करने के कारण सभी को कुष्ठ कहा जा सकता है। भगवान् आत्रेय ने तो कुष्ठ की विविधता को इस प्रकार स्वीकार किया है—'स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसङ्ख्येयविधो वा भवति'। च० नि० अ० ५।४। आधुनिक विद्वान कुष्ठरोग को संक्रामक नहीं मानते हैं, ऐसा कह देना या स्वीकार कर लेना केवल अपनी अनभिज्ञता का परिचायक है। आचार्य सुश्रुत ने भी इसे संक्रामक रोगों की श्रेणी में रखा है, अतः उससे अन्य परिजनों को बचे रहना चाहिए, कहा है। देखें—'प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सह भोजनात्। सह शय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च सङ्क्रामन्ति नरान्नरम्'॥ सु० नि० अ० ५।३३-३४॥

विशेष—चरक, सुश्रुत आदि ने सभी कुष्ठों की उत्पत्ति का एक कारण कृमियों को भी माना है। एतदर्थ निम्न स्थलों का अवलोकन करें—च० वि० अ० ७। सु० उ० तं० अ० ५४।१५। अष्टांगहृदय नि० अ० १४।५२ तथा माधवनिदान-कृमिरोग ७।११-१२।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० ४ में, च० चि० अ० ७ में, सु० नि० अ० ६ में, अ० सं० नि० अ० १४ में, अ० हृ० नि० अ० १० में तथा अ० हृ० नि० अ० १२ में देखें।

हेतुं द्रव्यं लिङ्गं कुष्ठानामाश्रयं प्रशमनं च। शृण्वग्निवेश ! सम्यग्विशेषतः स्पर्शनघ्नानाम् ॥३॥

विषय-प्रस्तावना—आचार्य पुनर्वसु अपने शिष्य से कह रहे हैं—हे अग्निवेश ! स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) का विनाश करने वाले या उस (त्वचा) को विकृत करने वाले कुष्ठों के हेतु, द्रव्य, लक्षण, आश्रय तथा प्रशमन (चिकित्सा-विधि) को मैं विशेष रूप से कह रहा हूँ, तुम उसे सुनो।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'हेतुं लिङ्गं विविधं' पाठ स्वीकार किया है, जिससे निर्णयसागरीय प्रति में दिये गये 'द्रव्यं' पद की हानि होती है और 'विविधं' पद का व्यर्थ में संग्रह किया है। यदि 'विविधं' पद से अनेकता का लाभ प्रतीत हो रहा हो, तो इसे शुद्ध भ्रम कहा जा सकता है। वास्तव में यहाँ हेतुं, द्रव्यं आदि सभी पद **'जातावेकवचनम्'** के रूप में प्रयुक्त हैं। आयुर्वेद में 'द्रव्य' का महत्त्व सुविदित है।

स्पर्शनघ्नानाम्—यहाँ 'कुष्ठानाम्' इस पद के लिए यह साभिप्राय विशेषण है। इस प्रकरण में उन्हीं कुष्ठों की चिकित्सा कही जायेगी, जो स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के स्पर्श-गुण में बाधा पहुँचाने वाले होते हैं। अर्थात् शरीर के जिस अवयव पर ये कुष्ठ हो जाते हैं, उस अवयव से स्पर्श का ज्ञान नहीं हो पाता। स्पर्श-ज्ञान की हानि अनेक प्रकार के वातरोगों में भी हो जाती है, वे उसके क्षेत्र से बाहर हैं। कुष्ठ का स्पर्शनघ्न विशेषण यह भी संकेत करता है कि यह रोग शरीर के किसी भी अवयव में हो सकता है और जो त्वचा को विकृत तो कर देता है किन्तु स्पर्श-ज्ञान में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करता। जैसे—तिल, पिप्लु, व्यंग, नीलिका, लक्ष्म। यद्यपि इनको कुष्ठ रोग की परिधि से बाहर रखा जा सकता है परन्तु ये त्वचा को विकृत तो करते ही हैं।

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च। भजतामागतां छर्दि वेगांश्चान्यान्प्रतिघ्नताम् ॥४॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वोपसेविनाम्। शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम् ॥
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम्। अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ॥६॥
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्। माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ॥७॥
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा। विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ॥८॥

कुष्ठरोग का निदान—विरोधी अन्न-पानों का एवं अधिक द्रव, स्निग्ध तथा गुरु पदार्थों का सेवन करने वालों, आये हुए वमन के वेगों को रोकने वालों तथा मल, मूत्र, अपानवायु के वेगों को रोकने वालों, अधिक भोजन कर लेने के बाद तत्काल व्यायाम करने वालों अथवा अधिक धूप या आग सेंकने वालों, शीत, उष्ण, लंघन एवं आहार के क्रम को छोड़कर इनका सेवन करने वालों, घाम (धूप), श्रम तथा भय से त्रस्त होकर जल्दी ही शीतल जल का सेवन करने वालों, पहले किये हुए भोजन के पचने के पूर्व ही पुनः भोजन करने वालों एवं पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन) प्रयोगकाल में प्रतिकूल आचरण करने वालों, नया अन्न, दही, मछली, नमक तथा खट्टे पदार्थों का अधिक सेवने करने वालों, उड़द, मूली, पिष्टान्न, तिल, दूध तथा गुड आदि पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने वालों, भोजन के भली-भाँति पचने के पहले मैथुन करने वालों, दिन में सोने वालों, ब्राह्मणों तथा गुरुजनों का अपमान या तिरस्कार करने वालों एवं पापकर्मों को करने वालों को यह कुष्ठ रोग हो जाता है।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये किसी एक अथवा अनेक कारणों के संयोग से कुष्ठ अथवा कुष्ठों की उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु कुछ ऐसे भी पदार्थों का यहाँ वर्णन किया गया है, जिनका समाज में प्रतिदिन सेवन होता है और कुष्ठ रोग नहीं होता, उनके विशेष स्वरूपों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

विरोधीन्यन्नपानानि—जो अन्न (आहार), पान (पेय) प्रकृति से विरुद्ध कहे गये हैं, जैसे—'सर्वान्नैव मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेद् विशेषतस्तु चिलिचिमम्'। इस प्रकार के विशेष वचनों का संग्रह चरक-सूत्रस्थान अ० २६।८४ में है। और भी देखें—'किलासकुष्ठ········विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम्' ॥ च० सू० अ० २६।१०३।

क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्—हितकर पदार्थों के सेवन और अहितकर पदार्थों के त्याग के एक विशिष्ट क्रम का क्रमिक निर्देश च० सू० अ० ७ श्लोक ३६-३७ में प्रस्तुत किया है, उसे इस अवसर पर अवश्य अपना लें। वास्तव में इस प्रसंग में यही 'क्रम' है। उक्त सातवें अध्याय का नाम 'न वेगान् धारणीय' है। अतः श्लोक ४ में आये हुए छर्दि आदि वेगों को रोकने के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

ऊपर ७वें श्लोक में वर्णित सभी पदार्थों का प्रतिदिन सेवन किया जाता है, किन्तु इनका अति सेवन तथा विरुद्ध संयोग के रूप में सेवन वर्जित है। **'तिलक्षीरगुडाशिनाम्'** के स्थान पर श्रीजयदेव विद्यालंकार **'गुडक्षीरतिलाशिनाम्'** पाठ को महत्त्व देते हैं। इसमें क्रमभेद मात्र देखा जाता है, न कि अर्थभेद। माधवकर ने भी कुष्ठ-निदान का पाठ चरकसंहिता से ही लिया है। 'विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्'—चरक के इस आशय को सुश्रुत ने अपनी संहिता में इस प्रकार स्पष्ट किया है—'ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्' ॥ सु० नि० अ० ५।३०।

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च। दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः ॥९॥
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च। न चैकदोषजं किञ्चित् कुष्ठं समुपलभ्यते ॥१०॥

कुष्ठरोग की सम्प्राप्ति—ऊपर कहे गये विरोधी अन्न-पान आदि का सेवन करने आदि कारणों से दुष्ट (कुपित हुए) वात, पित्त, कफदोष त्वचा, रक्त, मांस, अम्बु (लसीका) को क्रमशः दूषित कर देते हैं। संक्षेप में ये सात (तीन दोष और चार उनके दूष्य) द्रव्य कुष्ठों की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इसीलिए (इन सात द्रव्यों के दूष्य-दूषक भाव को प्राप्त होने के बाद) सात और ग्यारह कुल अठारह प्रकार के कुष्ठ होते हैं। इनमें कोई भी कुष्ठ एकदोष से उत्पन्न नहीं होता।

वक्तव्य—भगवान् आत्रेय ने चरक-निदानस्थान, अध्याय ५ गद्य ४ में कुष्ठ को सात प्रकार का, अठारह प्रकार का अथवा अनगिनत भेदों वाला स्वीकार करने के बाद अन्त में सात ही प्रकार का स्वीकार किया है और यहाँ पूर्व प्रतिज्ञानुसार पहले सात तदनन्तर ग्यारह (कुल मिलाकर अठारह) कुष्ठों की स्वीकृति दी है। साथ ही इन सभी कुष्ठों को त्रिदोषज स्वीकार किया है। महर्षि सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में अठारह कुष्ठों का इस प्रकार निर्देश किया है—'तत्र सप्त महाकुष्ठानि, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति'। सु० नि० अ० ५।५। किन्तु यहाँ सभी कुष्ठों को त्रिदोषज स्वीकार करने के साथ कृमियों को भी इसका कारण माना गया है। देखें—'सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि स कृमीणि च भवन्ति'। सु० नि० अ० ५।६। तथा 'कुष्ठैककर्माणः'। माधवनिदान-कृमिनिदान। यह है कुष्ठरोग के सम्बन्ध में प्राचीन आयुर्वेदज्ञों की स्पष्टोक्ति। इनका अनुशीलन किये बिना यह कह देना कि प्राचीन आचार्यों को इस सम्बन्ध में कृमियों का ज्ञान नहीं था, अपनी अज्ञानता प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार कुष्ठरोग का प्रधान कारण बेसिलस लेप्री (Bacillus leprae) नामक दण्डाणु (कृमि) है। पुराने सिद्धान्त पर नया लेबिल (Label) लगा है। शेष सब वही है।

सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः—कुष्ठों की उत्पत्ति में जब उक्त सातों द्रव्य दूष्य-दूषक भाव को प्राप्त हो जाते हैं, तभी कुष्ठों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि विसर्प रोग में भी ये ही दोष और दूष्य हैं। यथा—'रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः'। च० चि० अ० २१।१५। किन्तु यहाँ इन सबका एक साथ दूषित होना अपेक्षित नहीं है, क्योंकि यहाँ (विसर्प के निदान में) **'सप्त धातवः'** ऐसा पाठ दिया है और कुष्ठ में **'सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः'**। सातों द्रव्यों (दोष-दूष्यों) का समूह अर्थ तन्त्रकार को अपेक्षित है। स्पष्टीकरण के लिए देखें—'पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः'। च० चि० अ० २१।१२।

कुष्ठ और विसर्प में भेद—'तत्र किं निबन्धनः कुष्ठविसर्पयोर्भेदः? उच्यते—कुष्ठं चिरक्रियैः स्थिरैरप्रबलरक्तपित्तैर्दोषैर्जन्यते, विसर्पस्त्वचिरविसर्पणशीलैः प्रबलरक्तपित्तैः, कुष्ठे गुरुप्रधर्षणपरद्रव्यापहारादयो निमित्तं, न विसर्पे'। इति मधुकोषटीकायाम्। **कुष्ठ**—चिरक्रिया वाले प्रबल रक्त तथा पित्तदोष-दूष्यों से, गुरुजनों के अनादर तथा परद्रव्य के अपहरण आदि पापकर्मों के फलों से होता है। **विसर्प**—अचिर क्रिया वाले, चारों ओर फैलने वाले, प्रबल रक्त-पित्तदोष-दूष्यों से उत्पन्न होता है। इसमें गुरुजनों के अपमान आदि कारण नहीं होते हैं।

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः । कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥११॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः । [1]दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥

कुष्ठरोग के पूर्वरूप—त्वचा द्वारा स्थानीय स्पर्श का ज्ञान न होना, अधिक पसीना का आना, अथवा उस शरीरावयव से पसीना का न आना, त्वचा के रूप में विकार का आ जाना, कोठों की उत्पत्ति (त्वचा के ऊपर छोटे-छोटे उभारों का होना), रोंगटे खड़े हो जाना, खुजली, तोद (सुई चुभाने की-सी वेदना), श्रम, (थोड़ा श्रम करने पर भी अधिक थकावट की अनुभूति), क्लम (उत्साहहीनता या ग्लानि), व्रणों पर अधिक वेदना का अनुभव, फोड़ों का जल्दी-जल्दी उत्पन्न होना तथा चिकित्सा करने पर भी बहुत दिनों तक उनका न भरना, शरीर में जलन, अंगों में शून्यता—ये कुष्ठरोग के पूर्वरूप होते हैं। अर्थात् कुष्ठरोग की उत्पत्ति के पहले ये लक्षण दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—चरक-निदानस्थान अ० ५ में इसके पूर्वरूपों का विस्तृत वर्णन किया गया है, उन्हें भी देखें। यहाँ कुछ प्रधान पूर्वरूपों की ही चर्चा की गयी है। आधुनिक विद्वान् भी पूर्वरूपों (Prodromals) पर श्रद्धा करते हैं।

कोठ—या कोष्ठ, इनके विभिन्न रूप चिकित्साकाल में देखे जाते हैं। इनको सामान्यदृष्टि से आधुनिक विद्वान् पैच (Patch) कहते हैं। भेद—१. धब्बा, चित्ती, २. अग्रसूचक धब्बा, ३. अल्पसंवेदी धब्बा या स्थल, ४. मैक-कैलम धब्बा, ५. दूधिया धब्बा, ६. श्लेष्मल धब्बा, ७. पेयर पैच, ८. रक्तपित्तज धब्बा, ९. समानवर्णी चित्ती, १०. धूम्रपायी धब्बा।

विशेष लक्षण—नाक, कान, भौंह, हाथ-पैर की अंगुलियाँ इस रोग में विशेष प्रभावित हो जाती हैं। त्वचा रूक्ष हो जाती है, भौंहों तथा सिर के बाल झड़ने लगते हैं।

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणकैककुष्ठचर्मा-ख्यकिटिमविपादिकालसकदद्रुचर्मदलपामाविस्फोटकशतारुर्विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥ १३ ॥

अठारह कुष्ठों का वर्णन—अब इसके आगे अठारह कुष्ठों के नामोल्लेखपूर्वक लक्षणों का उपदेश करेंगे। कुष्ठों के नाम—१. कपाल, २. उदुम्बर, ३. मण्डल, ४. ऋष्यजिह्व, ५. पुण्डरीक, ६. सिध्म, ७. काकणक (यहाँ तक ये ७ महाकुष्ठों के नाम हैं), ८. एककुष्ठ, ९. चर्मकुष्ठ, १०. किटिम, ११. विपादिका, १२. अलसक, १३. दद्रु, १४. चर्मदल, १५. पामा, १६. विस्फोटक, १७. शतारु, १८. विचर्चिका।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से उपर्युक्त सभी कुष्ठ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। १. महाकुष्ठों को लेप्रोसी (Leprosy) कह सकते हैं, और २. शेष क्षुद्रकुष्ठों को स्किन डिजीज (Skin diseases) अर्थात् 'चर्मरोग' कह सकते हैं। मूलतः इसके ७ तथा ११ भेद स्वीकार करने के बाद चरकसंहिता में इसके अनगिनत भेदों की सम्भावना का भी संकेत किया गया है। प्रायः सभी संहिताकारों ने अठारह कुष्ठों की सत्ता को स्वीकार किया है। किन्तु चरक तथा सुश्रुत में कुष्ठों का वर्गीकरण महाकुष्ठ और क्षुद्रकुष्ठ के रूप में किया गया है, अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टांगहृदय में वातादि दोषों के अनुसार इनका क्रम निर्धारित किया गया है और काश्यपसंहिता में 'नव साध्यानि नवासाध्यानि' (कुष्ठचिकित्साध्याय) की दृष्टि से इनकी गणना की गयी है। अष्टांगसंग्रहकार ने 'बाह्यकुष्ठम्' संज्ञा देकर 'श्वित्र' कुष्ठ को अलग माना है। वास्तव में 'श्वित्र' सफेद कोढ़ का प्रभाव प्रायः 'ताम्रा' नामक चौथी त्वचा पर होता है तथा इसमें कुष्ठ के समान कोथ नहीं होता है।

ऋष्यजिह्व तथा ऋक्ष्यजिह्व नाम के सम्बन्ध में विशेष विवेचन च० नि० अ० ५ में देखें। चरक ने **'किटिम'** और अन्य संहिताकारों ने इसके स्थान पर **'किटिभ'** शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार अन्य कतिपय कुष्ठों के नामों में निर्दिष्ट संहिताओं में जो भेद देखे जाते हैं, उनके निदान आदि निर्णायक आधारों का विवेचन करके आप अपना एक सिद्धान्त स्वयं स्थापित करें, कि केवल नाम में ही भेद है या वह भेद सर्वतोभावेन भिन्न कहा ही गया है।

---

१. 'सुप्तत्वमङ्गे दाहश्च' इति पा०।

कुष्ठ नामों की तालिका

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	काश्यपसंहिता	अष्टाङ्गसंग्रह	अष्टाङ्गहृदय
१. कपाल	१. अरुण	१. सिध्म	१. कपाल	१. कपाल
२. उदुम्बर	२. उदुम्बर	२. विचर्चिका	२. उदुम्बर	२. उदुम्बर
३. मण्डल	३. ऋक्षजिह्व	३. पामा	३. मण्डल	३. मण्डल
४. ऋष्यजिह्व	४. कपाल	४. दद्रु	४. विचर्चिका	४. विचर्चिका
५. पुण्डरीक	५. काकणक	५. किटिभ	५. ऋष्यजिह्व	५. ऋक्षजिह्व
६. सिध्म	६. पुण्डरीक	६. कपाल	६. चर्मकुष्ठ	६. चर्मकुष्ठ
७. काकणक	७. दद्रु	७. महारुष्क	७. एककुष्ठ	७. एककुष्ठ
८. एककुष्ठ	८. स्थूलारुष्क	८. मण्डल	८. किटिभ	८. किटिभ
९. चर्मकुष्ठ	९. महाकुष्ठ	९. विषज	९. सिध्म	९. सिध्म
१०. किटिम	१०. एककुष्ठ	१०. पौण्डरीक	१०. अलसक	१०. अलसक
११. विपादिका	११. चर्मदल	११. श्वित्र	११. विपादिका	११. विपादिका
१२. अलसक	१२. विसर्प	१२. ऋष्यजिह्व	१२. दद्रु	१२. दद्रु
१३. दद्रु	१३. परिसर्प	१३. शतारुष्क	१३. शतारु	१३. शतारु
१४. चर्मदल	१४. सिध्म	१४. औदुम्बर	१४. पुण्डरीक	१४. पुण्डरीक
१५. पामा	१५. विचर्चिका	१५. काकण	१५. विस्फोट	१५. विस्फोट
१६. विस्फोटक	१६. किटिभ	१६. चर्मदल	१६. पामा	१६. पामा
१७. शतारु	१७. पामा	१७. एककुष्ठ	१७. चर्मदल	१७. चर्मदल
१८. विचर्चिका	१८. रकसा	१८. विपादिका	१८. काकणक	१८. काकणक

सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० ५। सु० नि० अ० ५। सु० चि० अ० ९ तथा १०। अ० सं० नि० अ० १४। अ० सं० चि० अ० २१। अ० हृ० नि० अ० १४। अ० हृ० चि० अ० १९ का अवलोकन करें।

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु । कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥१४॥

१. कपालकुष्ठ का लक्षण—काले और अरुण वर्ण के कपाल (नये घड़े के टुकड़े) के सदृश कान्ति वाले, रूक्ष, परुष (कठोर), पतलापन लिये, विषम रूप से त्वचा के ऊपर फैले हुए, जिसमें तोद (सुई-चुभने की-सी वेदना) अधिक हो, उसको **कपालकुष्ठ** कहते हैं।

वक्तव्य—सामान्यरूप से विषम का अर्थ ऊँचा-नीचा होता है। किन्तु आचार्य चक्रपाणि तथा मधुकोश टीका के रचयिता इसका अर्थ 'दुश्चिकित्स्य' करते हैं। इसकी महाकुष्ठों में गणना होने के कारण यह अर्थ भी प्रसंगोचित ही प्रतीत होता है। कपाल और कापाल दोनों एकार्थवाचक शब्द हैं।

दाहकण्डूरुजारागपरीतं लोमपिञ्जरम् । उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥१५॥

२. औदुम्बरकुष्ठ का लक्षण—दाह (जलन), खुजली, पीड़ा, चारों ओर से लालिमा से युक्त और शरीर के जिस अवयव पर इस कुष्ठ की उत्पत्ति होती है, उस स्थान के रोयें पिंजर (Reddish yellow or tawny-brown colour) के-से हो गये हों तथा जिस कुष्ठ की आकृति पके हुए गूलर के फल के सदृश दिखलायी दे रही हो, उसे **औदुम्बरकुष्ठ** कहते हैं।

वक्तव्य—आचार्य गणनाथ सेन इस पद्य के प्रथमपाद को **'रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं'** पढ़ते हैं और श्रीजयदेव विद्यालंकार **'कण्डूविदाहरुग्रागपरीतं'** पाठ का सम्मान करते हैं। अर्थ की दृष्टि से सभी समान हैं। वाग्भट ने तो यहाँ तक कहा है कि जैसे पके गूलर के फल में भीतर से कीड़े पाये जाते हैं, उसी प्रकार इसमें भी भीतर से क्रिमि होते हैं। वैद्यकशब्दसिन्धु में 'पिञ्जर' शब्द का पर्याय स्वर्ण, हरिताल तथा पीतवर्ण दिया गया है। वाग्भट ने 'लोमपिञ्जर' शब्द के स्थान पर 'रोमगौरसिरान्वितम्' (अ० हृ० नि० अ० १४।१५) पाठ दिया है, जो और भी स्पष्ट है।

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् । कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥१६॥

३. **मण्डलकुष्ठ का लक्षण**—सफेद तथा लालवर्ण से युक्त, स्थिर (जो धीरे-धीरे अधिक स्थान को न घेरता हो), स्त्यान (घना-(Collected in to a mass) स्निग्ध (चिकना स्पर्श वाला), उभार युक्त घेरे वाला, कष्ट देने वाला अर्थात् कष्टसाध्य, एक-दूसरे से सटे हुए मंडलों वाले कुष्ठ को **मण्डलकुष्ठ** कहते हैं।

वक्तव्य—वाग्भट के अनुसार मण्डलकुष्ठ के लक्षण इस प्रकार है—'जिस कुष्ठ के व्रण स्थिर, गीले, गुरु, स्निग्ध, सफेद तथा लालवर्ण वाले, धीरे-धीरे फैलने वाले, परस्पर मिले हुए, ऊँचे, अधिक खुजली युक्त, स्राव एवं क्रिमियों वाले, श्लक्ष्ण (चिकने) तथा पीताभ किनारों वाले आकृति में गोल होते हैं, उन्हें मण्डलकुष्ठ कहते हैं। देखें—अ० हृ० नि० अ० १४।१६-१७। आचार्य सुश्रुत ने इसका अलग से उल्लेख न करके इसका समावेश पुण्डरीककुष्ठ में कर लिया है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि पुण्डरीक (सफेद कमल) स्वयं श्वेत होता है, किन्तु इसके किनारे रक्ताभ होते हैं। ऊपर कहे गये लक्षणों पर ध्यान दें और विचार करें।

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् । यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ॥१७॥

४. **ऋष्यजिह्वकुष्ठ का लक्षण**—कर्कश (कठोर), चारों ओर लाल किनारों वाला, भीतर से श्याव (Dark brown) वर्ण का, पीड़ा युक्त तथा जो ऋष्य या ऋक्ष (भालू) की जीभ जैसा दिखलायी देता है, उसे ऋष्य(या ऋक्ष)जिह्व नामक कुष्ठ कहते हैं।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ऋष्यजिह्व का परिचय देते हुए लिखते हैं—'ऋष्यो नीलाण्डो हरिणः'। मधुकोश-व्याख्या में भी इसका समर्थन इस प्रकार किया गया है—'ऋष्यजिह्वमाह—ऋष्यो नीलाण्डो हरिणः, रोझु इति प्रसिद्धः, तस्य जिह्वाकारम्'। माधवनिदान-कुष्ठ०। दूसरे आचार्यों ने इसके स्थान पर 'ऋक्षजिह्व' पाठ को स्वीकार किया है। वाग्भट के अनुसार इस कुष्ठ में क्रिमियों की अधिकता होती है। देखें—अ० हृ० नि० अ० १४।१९।

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् । सोत्सेधं च सदाहं च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥१८॥

५. **पुण्डरीककुष्ठ का लक्षण**—बीच में सफेदी लिया हुआ और चारों ओर (किनारों में) लालिमा युक्त, पुण्डरीक नामक कमल की पंखुड़ियों के सदृश, उभार युक्त तथा दाह (जलन) वाले कुष्ठ को पुण्डरीक कुष्ठ कहते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'सदाहं' के स्थान पर 'सरागं' पाठ को स्वीकार किया है, जो रोग की आकृति को देखकर अप्रामाणिक प्रतीत होता है। वाग्भट ने भी स्पष्ट शब्दों में इसके लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'रक्तान्तमन्तरा पाण्डुकण्डूदाहरुजान्वितम्। सोत्सेधमाचितं रक्तैः पद्मपत्रमिवांशुभिः ॥······ पुण्डरीकम्'। अ० हृ० नि० अ० १४।२६-२७। इससे भी 'सरागं' लक्षण की पुष्टि नहीं होती है। सुश्रुत के अनुसार पुण्डरीककुष्ठ कफप्रधान है और चरक ने पुण्डरीक को पित्तप्रधान कहा है। अतएव सामान्य रूप से कुछ लक्षणों में भी भेद है।

श्वेतं ताम्रं तनु च [1]यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति । अलाबूपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि ॥१९॥

६. **सिध्मकुष्ठ का लक्षण**—जो कुष्ठ सफेद (हल्का सफेद), ताम्र (हल्के लाल) वर्ण का और पतला अर्थात् ज्यादा गहरायी लिये नहीं होता, हाथ आदि से रोगाक्रान्त स्थल को घिसने, रगड़ने या मसलने पर जिस स्थान से रज (भूसी) जैसा पदार्थ निकलता है, जो लौकी के फूल के वर्ण जैसा दिखलायी देता है और प्रायः उरस् (वक्षःस्थल) में उत्पन्न होता है, उसे सिध्म नामक कुष्ठ (सेहुआँ) कहते हैं।

वक्तव्य—आचार्य गणनाथ सेन 'प्रायेण' के स्थान पर 'भूयसा' पाठ को आदर देते हैं। दोनों पाठों का दृष्टिकोण एक ही है। आचार्य विजयरक्षित इसकी टीका करते हुए लिखते हैं—'प्रायश्चोरसीत्युरसि तद्बाहुल्येन भवति, कफप्रधानत्वात्। प्रायो ग्रहणादन्यत्रापि भवति'। मा० नि० कुष्ठनि०। महर्षि आत्रेय अनेक प्रकार के सिध्मकुष्ठों की सूचना इस प्रकार देते हैं—'परुषारुणानि ···बहून्यल्पवेदनान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकानि'।

१. 'यद्घृष्टमुद्गिरते रजः' इति पा०।

च० नि० अ० ५।८। सुश्रुत ने सिध्मकुष्ठ को क्षुद्रकुष्ठ की श्रेणी में रखा है। कारण यह है कि चरकोक्त सिध्मकुष्ठ वात-कफप्रधान है और सुश्रुत ने इसे केवल कफप्रधान ही स्वीकार किया है। कफ का प्रधान स्थान ऊर्ध्वकाय है। अतएव 'प्रायेण चोरसि' अर्थात् सिध्मकुष्ठ का प्रधान स्थान उरःप्रदेश है।

यत् काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम् । त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ॥२०॥

इति सप्तमहाकुष्ठानि ।

७. **काकणककुष्ठ का लक्षण**—जो कुष्ठ काकणन्तिका (घुंघची) के वर्ण का हो, जिसमें पाक न होता हो और जिसमें अत्यन्त वेदना होती हो, उसे त्रिदोषज काकणककुष्ठ कहते हैं। यह असाध्य होता है। इस प्रकार यहाँ तक सात महाकुष्ठों का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—सभी कुष्ठ त्रिदोषज (सान्निपातिक) होते हैं। देखें—'न चैकदोषजं किञ्चित् कुष्ठं समुपलभ्यते'। च० चि० अ० ७।१०। तथापि जो यह वातज है या यह पित्तज है आदि व्यवहार होता है, वहाँ-वहाँ उस-उस दोष की प्रधानता समझनी चाहिए। इस प्रकार दोषों के तर-तम भाव का विचार चिकित्सकों को सर्वत्र कर ही लेना चाहिए। **काकणन्तिकावर्णम्**—लोक में इसे 'घुंघची' कहते हैं। यह अनेक वर्णों की होती है, किन्तु यहाँ काले मुख तथा शेष लालवर्ण वाली घुंघची का ही ग्रहण करना उचित होगा न कि सफेद, पीली आदि का।

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् । तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ॥२१॥
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् । वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥२२॥
कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् । सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ॥२३॥
[1]रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत् । तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥२४॥
पामा श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका भृशम् । स्फोटाः श्वेतारुणाभासो विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ॥
रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम् । सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ॥

इत्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि ।

१. **एककुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में पसीना न आता हो, जिसने अधिक स्थान घेर लिया हो तथा जो मछली (बड़ी मछली) के शकल (त्वचा के टुकड़े) के समान दिखलायी देता हो, उसे एककुष्ठ कहते हैं। २. **चर्मकुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में हाथी के चमड़े के सदृश त्वचा मोटी हो जाये, उसे चर्मकुष्ठ कहते हैं। (यह शरीर के किसी भी अवयव में हो सकता है)। ३. **किटिभकुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ का वर्ण श्याव (Dark brown) हो, जो किण (Callosity of corn) के समान खुरदरा तथा कठोर स्पर्शवाला हो, उसे किटिभकुष्ठ कहते हैं। ४. **वैपादिककुष्ठ का लक्षण**—इसमें हाथ-पैरों की त्वचा का फटना तथा उनमें तीव्र वेदना होती है, इसे विपादिकाकुष्ठ कहते हैं। ५. **अलसककुष्ठ का लक्षण**—जिसमें खुजली हो और लालवर्ण की छोटी-छोटी फुड़ियाँ व्याप्त हुई हों, उसे अलसक नामक कुष्ठ कहते हैं। ६. **दद्रुमण्डलकुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ के स्थान पर खुजली, लालिमा और उसमें कुछ गोलायी युक्त उभार-सा दिखलायी देता हो, उसे दद्रुमण्डलकुष्ठ कहते हैं। ७. **चर्मदलकुष्ठ का लक्षण**—जिसमें कुष्ठ का स्थान लालवर्ण का दिखलायी दे, खुजली हो रही हो, फफोले निकले हों, वेदना हो, ऊपर से त्वचा फट जाती हो और जिसमें स्पर्श सहन न हो सकता हो, अर्थात् स्पर्श करने मात्र से जिसमें असह्य वेदना का अनुभव होता हो, उसे चर्मदलकुष्ठ कहते हैं। ८. **पामाकुष्ठ का लक्षण**—जो कुष्ठ सफेद, अरुण या श्याववर्ण का हो, जिसमें अनेक पिडकाएँ हों और उनमें खुजली हो रही हो, तो उसे पामाकुष्ठ कहते हैं। ९. **विस्फोटककुष्ठ के लक्षण**—जिस कुष्ठ में सफेद या अरुण (हल्के लाल) वर्ण के फोड़े उत्पन्न हो गये हों, उन फोड़ों की त्वचा पतली हो, उसे विस्फोटककुष्ठ कहते हैं। १०. **शतारुकुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में लाल तथा श्याववर्ण के जलन और पीड़ा युक्त अनेक व्रण उत्पन्न हुए हों, उसे शतारुकुष्ठ कहते हैं। (अरुष्-शब्द का अर्थ व्रण होता है। अतः शत हैं अरुस् जिसमें उसे 'शतारुस्' कहते हैं। इसका तात्पर्य है—अनेक व्रणों वाला)। ११. **विचर्चिकाकुष्ठ के लक्षण**—जो श्याववर्ण की अनेक पिडकाओं

१. 'रक्तं सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद् दलत्यपि' इति पा०।

से युक्त हो, जिनमें खुजली तथा अधिक स्राव होता हो, उसे विचर्चिकाकुष्ठ कहते हैं। इसमें पूय का स्राव नहीं होता, अपितु केवल पंछा निकलता रहता है।

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे। पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात् काकणं तु त्रिदोषजम् ॥२७॥
वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके। ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते ॥२८॥
चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिमं सविपादिकम्। कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम् ॥२९॥
पामा शतारुर्विस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा। पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका ॥३०॥

कुष्ठों में दोषों की प्रधानता—१. अन्य दोषों से वातदोष की अधिकता होने पर **कापालकुष्ठ**, २. कफदोष की अधिकता होने पर **मण्डलकुष्ठ**, ३. पित्तदोष की अधिकता होने पर **औदुम्बरकुष्ठ**, ४. तीनों दोषों की अधिकता होने पर **काकणकुष्ठ**, ५. वात-पित्तदोष की अधिकता होने पर **ऋष्यजिह्वकुष्ठ**, ६. कफ-पित्तदोष की अधिकता होने पर **पुण्डरीककुष्ठ**, ७. वात-कफदोष की अधिकता होने पर **सिध्मकुष्ठ**—ये सात महाकुष्ठ हैं। प्रायः वात-कफदोष की अधिकता होने पर—१. चर्मकुष्ठ, २. एककुष्ठ, ३. किटिम, ४. विपादिका, ५. अलसक ये कुष्ठ होते हैं। पित्त-कफदोष की अधिकता होने पर—६. पामा, ७. शतारु, ८. विस्फोट, ९. दद्रु, १०. चर्मदल—ये कुष्ठ होते हैं और प्रायः कफदोष की अधिकता होने पर—११. विचर्चिका नामक कुष्ठ होता है।

वक्तव्य—कुष्ठों की दोष-विषयक उत्पत्ति के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत की धारणा को सु० नि० अ० ५ श्लोक ६ से १८ तक देखें। दोनों के विचार में जो अन्तर है, प्रायोगिक स्थिति में इस प्रकार के परिवर्तन अनेक रूप में देखे ही जाते हैं।

सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम्। यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया ॥३१॥
दोषस्य यस्य पश्येत् कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम्। तस्यैव शमं कुर्यात् ततः परं चानुबन्धस्य ॥

कुष्ठ तथा त्रिदोष-विचार—सभी प्रकार के कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, उस पर भी वातादि दोषों के बलाबल को भली-भाँति उन-उन दोषों के लक्षणों को समझकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। विभिन्न प्रकार के कुष्ठों में जिस दोष के लक्षण विशेष रूप से उभड़े हों तो सर्वप्रथम उसी दोष को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, तदनन्तर अनुबन्ध (अप्रधान) दोषों की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, यद्यपि ऐसा पहले भी कहा गया है। यहाँ उसका पुनः कहना तन्त्रकार की पुनरुक्ति नहीं कही जायेगी, क्योंकि यहाँ **'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'** इस नीति का अनुसरण किया गया है। इसके आगे त्रिदोषज कुष्ठ में किस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिए, इस विषय का सूत्ररूप में निर्देश किया गया है।

कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि। ज्ञायन्ते [1]तैर्हेतुर्हेतुस्तांश्च प्रकाशयति ॥३३॥

कुष्ठ एवं दोष परस्पर परिचायक—अब यहाँ दोष-विशेष से उत्पन्न कुष्ठ को तथा कुष्ठजनक हेतु की परस्पर बोधकता को बतलाया जा रहा है—कापाल आदि कुष्ठ-विशेषों के लक्षणों से वातादि दोषों का बोध किया जा सकता है और वातादि दोषों के विशिष्ट लक्षणों से युक्त होने के कारण कापाल आदि कुष्ठों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि कापाल आदि कुष्ठ अपने प्रमुख लक्षणों द्वारा वातादि दोषों से उत्पन्न कारणों को एवं वे वातादि दोषों से उत्पन्न कारण उन (कापाल आदि) कुष्ठों के लक्षण-विशेषों को प्रकट करते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में तन्त्रकार का यह तात्पर्य है कि दोषों का परिचय उन-उन (दोषों) के लक्षणों को देखकर किया जा सकता है, और यदि पहले रोग का ज्ञान हो जाये कि यह कापालकुष्ठ है या औदुम्बर आदि, तो इसके ज्ञान से इस कुष्ठ में पूर्व वर्णित दोष-परिचय द्वारा यह निर्णय भी दिया जा सकता है कि यह वातज कुष्ठ है, यह पित्तज कुष्ठ है। इसी प्रकार उस-उस कुष्ठ के निदान आदि का भी ज्ञान किया जा सकता है। यह रोग से दोषों का परिचय और दोषों के परिचय से रोगों का परिचय प्राप्त करने को नयी प्रणाली तन्त्रकार

१. 'तं हेतुं हेतुस्तांश्च' इति पा०।

ने प्रस्तुत की है। इससे आहार-विहार तथा उन-उन पूर्वजन्म कृत अथवा इस जन्म में किये गये पापकर्मों का भी यथावत् अनुमान किया जा सकता है। यथा—**'पर्वतो धूमवान्, वह्निमत्वात्'**। तर्कसंग्रह।

रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं सङ्कोचनं तथाऽऽयामः। पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ॥३४॥
कुष्ठेषु वातलिङ्गं, दाहो रागः परिस्रवः पाकः। विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम् ॥
श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं चोत्सेधगौरवस्नेहाः। कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः ॥

कुष्ठों में दोषों के लक्षण—१. कुष्ठ रोग में रूखापन, शोष (उस अंग विशेष का सूख जाना), तोद (सुई चुभाने की सी पीड़ा), शूल, त्वचा में संकोच (सिकुड़न) होना, आयाम (तनाव) का होना, परुषता, खुरदरापन, रोमांच, त्वचा का वर्ण श्याव अथवा अरुण (हलका लाल)—ये कुष्ठों में वातदोष के लक्षण होते हैं। २. दाह (जलन), लालिमा, चारों ओर से स्राव का होना, पक जाना, आमगन्ध की उत्पत्ति, क्लेद (गीलापन), अंगपतन (शरीरावयवों का गल-गलकर गिर जाना)—ये सब पित्तदोष के लक्षण होते हैं। ३. कुष्ठ से आक्रान्त स्थान में सफेदी का होना, शीत स्पर्श का होना, खुजली, स्थिरता (व्रण का अधिक इधर-उधर न फैलना), व्रण का उभार युक्त होना, भारीपन, चिकनापन, क्रिमियों द्वारा उस स्थान का भक्षण कर जाना तथा गीलापन का बना रहना—ये कफदोष के लक्षण हैं।

सर्वैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान् विवर्जयेदबलम्। तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ॥३७॥
वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत् कृच्छ्रम्।
कफपित्त-वातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि ॥ ३८ ॥

कुष्ठ की तीन स्थितियाँ—१. असाध्य—बुद्धिमान् (चिकित्सक) को चाहिए कि तीनों दोषों के सभी लक्षणों से युक्त कुष्ठी पुरुष यदि निर्बल (शारीरिक बल से हीन) हो, तृष्णा (प्यास), दाह (जलन) से युक्त, जिसकी पाचकाग्नि शान्त हो गयी हो और जिसके कुष्ठ से आक्रान्त शारीरिक अवयवों को कुष्ठक्रिमियों ने खा लिया हो, ऐसे कुष्ठरोगी की चिकित्सा न करें। उसे असाध्य समझकर छोड़ दें। २. अकृच्छ्र (साध्य)—जिस कुष्ठरोग में वात तथा कफदोष की प्रबलता हो अथवा तीनों दोषों में से किसी एक दोष की प्रधानता हो, तो वह कुष्ठरोग कृच्छ्रसाध्य नहीं होता, अर्थात् उसे साध्य समझना चाहिए। ३. कृच्छ्रसाध्य—जिन कुष्ठ रोगों में कफ-पित्त अथवा वात-पित्त दोषों की प्रबलता देखी जाती है, वे कृच्छ्रसाध्य अथवा याप्य कहे जाते हैं।

वक्तव्य—रोगों की चिकित्सा का क्रम प्रायः साध्य, याप्य (कृच्छ्रसाध्य) और असाध्य रूप में वर्णित देखा जाता है। ऊपर के दो श्लोकों का यह क्रम विचार करने के लिए बाध्य करता है कि क्या तन्त्रकार का आशय कुष्ठों की असाध्य स्थिति को महत्त्व देना तो नहीं रहा ? यदि ऐसा होता, तो फिर वे साध्य स्थिति की अवहेलना न करते, क्योंकि औषधोपयोग साध्यरोगों में ही सफल होते हैं—'भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसम्मताः'। च० सू० अ० १।६२। अतः हमारे विचार से ३८वें श्लोक को ३७वाँ और ३७वें को ३८वाँ इस क्रम से यहाँ रखना चाहिए था।

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ॥३९॥

कुष्ठों का चिकित्सा-क्रम—वातदोष-प्रधान कुष्ठरोगों में सबसे पहले घृतपान कराना चाहिए। कफदोष-प्रधान कुष्ठरोगों में सबसे पहले वमन कराना चाहिए और पित्तदोष-प्रधान कुष्ठरोगों में सबसे पहले रक्तमोक्षण तथा विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—घृतपान वातशामक, वमन कफनाशक तथा रक्तमोक्षण एवं विरेचन के प्रयोग पित्तशामक होते हैं। यह सामान्य दोषों की चिकित्सा का क्रम अन्यत्र भी स्वीकृत है। शेष आगे स्पष्ट है।

वमनविरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः।
प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम् ॥ ४० ॥

कुष्ठ में वमन-विरेचन—कल्पस्थान में कहे गये वमन तथा विरेचन योगों का उपयोग कुष्ठरोग से पीड़ित रोगियों के लिए करना चाहिए। क्षुद्र कुष्ठों में तथा अल्प दोष वाले कुष्ठों में प्रच्छन-कर्म (जहाँ से रक्त निकालना हो उस स्थान को थोड़ा-सा, जिससे कि रक्त निकलने लग जाये, काटकर सिंगी या तुम्बी) द्वारा रक्त निकालना चाहिए और महाकुष्ठों में सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

वक्तव्य—प्रच्छन-प्रयोग के लिए देखें—सुश्रुत चि० अ० २०।२५ तथा सु० क० अ० १।७७।

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्। दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥

कुष्ठ में संशोधन—कुष्ठरोग से पीड़ित व्यक्ति में जब यह देखें कि इसमें दोषों की अधिकता है, तो उसे बार-बार संशोधन (वमन-विरेचन) का प्रयोग कराये, किन्तु संशोधन कराते समय उसके प्राणों की रक्षा का ध्यान अवश्य देना चाहिए। क्योंकि दोष (कफ या पित्त) के अधिक मात्रा में निकल जाने पर प्रकुपित वात-दोष रोगी के शारीरिक बल को शीघ्र ही नष्ट कर डालता है।

वक्तव्य—संशोधन का अर्थ है—वमन तथा विरेचन। इनका प्रयोग रोगी के शारीरिक बल को देखकर ही कराया जाता है। इनसे दोषों का निर्हरण होने के साथ ही साथ शरीर में कमजोरी आ जाती है। क्योंकि वात आदि दोषों को स्वस्थ स्थिति में देह को धारण करने के कारण धातु भी कहा जाता है। अतः इनको कुछ मात्रा में निकाला भी जाता है और कुछ मात्रा में इनकी सुरक्षा भी की जाती है। इनका निर्हरण शारीरिक बल का ध्यान रखते हुए करना चाहिए। अतएव यहाँ 'बहुशः' पद का प्रयोग किया गया है। दूसरा कारण यह भी है—**'मलायत्तं बलं पुंसाम्'** अर्थात् मल के अधीन ही शारीरिकबल की स्थिति होती है। अतः एक ही बार में बहुत वमन-विरेचन न कराकर थोड़ा-थोड़ा अनेक बार में करायें, क्योंकि बल की हानि सबसे बड़ी हानि कही गयी है। चक्रदत्त में इन संशोधनों की अवधि निर्धारित करते हुए कहा गया है—'पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान्मासान्मासात् स्रंसनं चाप्यधस्तात्। त्र्यहात् त्र्यहान्नस्ततश्चावपीडान्मासेष्वस्रं मोक्षयेत् षट्सु षट्सु' ॥ इसका तात्पर्य है—वमन १५-१५ दिन पर, विरेचन १-१ महीने पर, अवपीडनस्य ३-३ दिन पर तथा रक्तमोक्षण ६-६ मास पर कराना चाहिए।

स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते। वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम् ॥

कुष्ठरोग में स्नेहपान—संशोधन (विरेचन) कराने के बाद कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर एवं रक्त-मोक्षण कर लेने के बाद रोगी को स्नेहपान कराना आवश्यक होता है, क्योंकि संशोधन कर लेने से दुर्बल कुष्ठरोगी के शुद्ध कोष्ठ में शीघ्र ही वायु का प्रवेश हो जाता है।

वक्तव्य—संशोधन से शरीर में रूक्षता आ जाती है। अतएव वायु का प्रकोप हो जाता है। खाली स्थान में वायु का प्रवेश स्वाभाविक रूप से हो जाता है। स्निग्ध द्रव्यों के सेवन से वायु का शमन होता है। अतएव यहाँ 'स्नेहपान' कराने की प्रशंसा की गयी है। यही घृत यदि अशुद्ध कोष्ठ वाले को सेवन करा दिया जाये, तो यह रोग को बढ़ा देता है।

दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु। कुटजफलमदनमधुकैः सपटोलैर्निम्बरसयुक्तैः ॥
शीतरसः पक्वरसो मधूनि मधूकं च वमनानि।

कुष्ठरोग में वामक द्रव्य—शरीर के ऊपरी भागों में (नाभि से ऊपर शरीरावयवों को ऊर्ध्वभाग, शेष को अधोभाग कहते हैं) होने वाले कुष्ठों में जब हृदय (या उसके आस-पास, क्योंकि यह कफ का स्थान होता है) में वातादि दोषों का उत्क्लेश (जी मिचलाना) हो तो, कुटज (कुरैया का फल=इन्द्रजौ), मदन (मैनफल), मुलेठी तथा परबल की पत्ती के शीतरस अथवा पक्वरस में नीम की पत्ती का रस मिलाकर वमन कराने के लिए पिलायें। शीतरस, पक्वरस, सभी प्रकार के मधु और मुलेठी—ये द्रव्य वमनकारक होते हैं, अर्थात् इनका प्रयोग कराने से सरलता से वमन हो जाता है।

वक्तव्य—शीतरस और पक्वरस—ये कषाय के भेद हैं। इसका समर्थन आचार्य चक्रपाणि तथा आचार्य गंगाधर करते हैं। उसमें कारण है कि पञ्चविध-कषाय-कल्पना में 'शीतकषाय' का चौथा स्थान है। क्वाथ और फाण्ट तो स्पष्ट रूप में 'पक्वरस' हैं ही। इसके अनन्तर ये मद्य के भेद हैं। क्वाथ-भेद और मद्य-भेदों के

विवेचन के लिये देखें—च० सू० अ० २७।१८४-१८५। आसव (शीतरस-प्रधान) और अरिष्ट (पक्वरस-प्रधान) होते ही हैं।

कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥ ४४ ॥

कुष्ठरोग में विरेचक द्रव्य—कुष्ठरोगों में सफेद निशोथ, दन्तीमूल अथवा त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) का प्रयोग विरेचन कराने के लिए श्रेष्ठ होता है।

सौवीरकं तुषोदकमालोडनमासवाश्च सीधूनि। शंसन्त्यधोहराणां यथाविरेकं क्रमश्रेष्टः ॥४५॥

विरेचनों के आलोडन द्रव—अधोहर (विरेचनकारक) उपर्युक्त द्रव्यों को आलोडित करने (घोलने) के लिए सौवीरक, तुषोदक, विविध प्रकार के आसवों तथा सीधुओं का यथाक्रम ग्रहण करना चाहिए।

वक्तव्य—सौवीर-परिचय—'यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सन्धितं भवेत्' ॥ शा० सं० म० खं० अ० १०।११। तुष रहित परिपक्व यवों का सन्धान करने से जो द्रव तैयार किया जाता है, वह 'सौवीर' कहा जाता है। अन्यत्र 'सौवीर' शब्द से अञ्जन का भी ग्रहण होता है। इसी का एक भेद 'तुषाम्बु' या 'तुषोदक' भी है, दोनों नाम जौ की मद्य (बीयर) के हैं। कुछ विद्वान् इन दोनों को जौ की 'काञ्जी' कहते हैं। सुश्रुत ने सन्धान करने के दिन से छः या सात दिन के बाद इसे सेवन करने की आज्ञा दी है—'षड्रात्रात् सप्तरात्राद् वा ते च पेये प्रकीर्तिते'। सु० सू० अ० ४४।४५। इसके सम्बन्ध में मतभेद देखा जाता है। यथा—'सौवीरकं सुवीराम्लं ज्ञेयं गोधूमसाधितम्। निस्तुषैस्तु यवैः केचित् प्राहुः सौवीरकं बुधाः ॥ यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं साधितं क्वचित्। यवादष्टगुणं तोयं दापयन्ति चिकित्सकाः ॥ घनात्यये तथा ग्रीष्मे सन्धानं षड्दिनं भवेत्। हेमन्ते शिशिरे स्थाप्यं भिषग्दृषदि तेन वै ॥ प्रावृड्वसन्ते सन्धानं भवेदष्टदिनेन वै'। देखें—वैद्यकशब्द-सिन्धु-सौवीरकम्।

तुषोदक—देखें—च० सू० अ० २७।१९१। सु० सू० अ० ४४।४२-४४। भावप्रकाश तथा राजनिघण्टु।

विरेचन कराने से शरीर-स्थित जलीयधातु का अत्यधिक ह्रास हो जाता है। जिस अनुपात में उसका ह्रास हुआ हो तदनुसार पेया आदि का सेवन कराना हितकर होता है। देखें—'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः' ॥ च० सि० अ० १।११ ॥

यथा विरेकम्—दोषों की स्थिति को देखकर ही विरेचन की व्यवस्था की जाती है। यदि दोष अधिक बढ़ा हो तो प्रधानशुद्धि, दोष की स्थिति मध्यम हो तो मध्यशुद्धि और दोष की स्थिति अवर हो तो अवरशुद्धि की व्यवस्था की जाती है। चक्रदत्त में च० सि० अ० १।११ को कुछ बदलकर दिया है। इस प्रसंग में उसका भी अवलोकन कर लेना चाहिए।

दार्वीबृहतीसेव्यैः पटोलपिचुमर्दमदनकृतमालैः। सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः ॥

कुष्ठ में आस्थापनवस्ति—दारुहल्दी, बृहती (बड़ी कटेरी), खश, परबल की पत्ती, नीम की पत्ती, मैनफल, अमलतास की गुद्दी—इनके क्वाथ में इन्द्रजौ तथा नागरमोथा का कल्क बनाकर इससे स्नेह (घी या तेल) मिलाकर कुष्ठरोगी को आस्थापन (निरूहण) वस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—'निरूहण' वस्ति कारण-भेद से कई प्रकार की मानी जाती है। इसका दूसरा नाम 'आस्थापन' भी है। अन्यत्र इसे दोषहर, संशमन, शोधन, लेखन, पिच्छावस्ति भी कहते हैं। आस्थापन के अयोग्य रोगियों में कुष्ठरोगी की भी गणना की गयी है। देखें—च० सि० अ० २।१४। इसी की चर्चा शार्ङ्गधराचार्य ने शा० सं० उ० खं० अ० ६।४-५ में की है। रस-विभाग के अनुसार छः आस्थापनस्कन्धों की चर्चा की गयी है। देखें—च० वि० अ० ८।१३९-१४८।

कभी-कभी शास्त्रपक्ष से व्यवहारपक्ष प्रबल हो जाता है। ऐसे अवसरों पर निषेध होने पर भी आस्थापन वस्ति का प्रयोग कराया ही जाता है। इसी विषय का संकेत तन्त्रकार ने इस प्रकार किया है—'प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणसंयोगे तु गुरुलाघवं सम्प्रधार्य सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम्'। च० वि० अ० ८।१३४। अर्थात् जहाँ

विधि-निषेध के दोनों शास्त्रीय पक्ष मिलते हों, वहाँ चिकित्सक को परिस्थिति देखकर कार्य करना चाहिए। यह उक्त गद्य का आशय है।

वातोल्बणं विरिक्तं निरूढमनुवासनार्हमालक्ष्य ।
फलमधुकनिम्बकुटजैः सपटोलैः साधयेत् स्नेहम् ॥ ४७ ॥

वातज कुष्ठ में अनुवासन—वातप्रधान कुष्ठरोग से पीड़ित रोगी को विरेचन तथा निरूहण (आस्थापन) वस्ति देने के बाद भी यदि चिकित्सक उसे अनुवासन वस्ति देने के योग्य समझे, तो फल (मैनफल), मधुक (मुलेठी), नीम की छाल, कुरैया की छाल, परबल की पत्ती के (क्वाथ तथा कल्क) द्वारा यथाविधि स्नेहपाक करके उक्त रोगी को उस स्नेह की अनुवासनवस्ति दे।

वक्तव्य—अनुवासनवस्ति-परिचय—'अनुवसन्नपि न दुष्यति, अनुदिवसं वा दीयते, इति अनुवासनः'। परिभाषा। महर्षि सुश्रुत के अनुसार—'स दोषनिर्हरणाच्छरीरनीरोहणाद् वा निरूहः। सु० चि० अ० ३५।१८। **विशेष**—जो वस्ति स्नेहद्रव्यों द्वारा दी जाती है, उसे 'अनुवासन' वस्ति कहते हैं और जो कषाय, क्षार, तेलों को मिलाकर दी जाती है, उसे 'निरूह' वस्ति कहते हैं। आजकल निरूहवस्ति साबुन के पानी से दी जाती है, जो स्पष्ट रूप से क्षार तथा तैल का ही मिश्रण है।

सैन्धवदन्तीमरिचं फणिज्झकः पिप्पली करञ्जफलम् ।
नस्यं स्यात् सविडङ्गं क्रिमिकुष्ठकफप्रकोपघ्नम्[1] ॥ ४८ ॥

कुष्ठरोग में नस्य-प्रयोग—सैंधानमक, दन्तीमूल, कालीमिरिच, फणिज्झक (तुलसी) का बीज, पिप्पली, करञ (कंजू) का फल तथा वायविडंग—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर इनका कपड़छन चूर्ण कर रख लें। इसका नस्य (सुँघनी) के रूप में प्रयोग करने से कृमि, कुष्ठ और कफदोष का नाश होता है।

वक्तव्य—नस्य को शिरोविरेचन भी कहते हैं। इसके प्रयोग से ऊर्ध्वजत्रु-स्थित विकार नासिका तथा मुखमार्ग से बाहर निकल जाते हैं। प्रायः इसी योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है—'दन्तीमरिचफणिज्झकार्द्रककरञ्जबीजपिप्पलीविडङ्गसैन्धवैरूर्ध्वजत्रुगते कुष्ठे कृमिषु च शिरोविरेकः'। अ० सं० चि० अ० २१।१०। यहाँ आस्थापन तथा अनुवासन के योग भी प्रायः चरक के अनुरूप ही दिये गये हैं। इस योग का सेवन करने से कुष्ठ के कारण शिरःप्रदेश में स्थित क्रिमि नासिका द्वारा बाहर निकल जाते हैं। अतः इसका कुछ दिनों तक लगातार प्रयोग करना चाहिए।

वैरेचनिकैर्धूमः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति । कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः ॥

कुष्ठ में धूमपान—चरक श्लोक(सूत्र)स्थान अध्याय ५ में कहे गये विरेचनकारक धूमों के प्रयोग से उत्तमांग (शिर) में रोग के कारण स्थित (उत्पन्न) क्रिमि निकल जाते हैं और जत्रु के ऊपरी भाग में व्याप्त कुष्ठ, किलास आदि रोग भी शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—च० सू० अ० ५।२६ में वैरेचनिक धूमपानवर्ति का उल्लेख किया गया है। इसमें आये हुए द्रव्यों से अनेक प्रकार की धूमवर्तियाँ (सिगरेट या बीड़ी जैसी बत्तियाँ) बनायी जा सकती हैं। इसके लिए देखें—च० सू० अ० ५।२०-२६; च० सि० अ० ९ तथा सु० चि० अ० ४०।

स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः । कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ॥
आनूपवारिजानां मांसानां पोट्टलैः सुखोष्णैश्च । [2]स्विन्नोत्सन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥
रुधिरागमार्थमथवा [3]शृङ्गालाबूनि योजयेत् कुष्ठे । प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः ॥

कुष्ठ में रक्तमोक्षण—स्थिर (इधर-उधर न फैलने वाले) तथा कठिन मण्डल (घेरे) वाले कुष्ठों में प्रस्तरस्वेद या नाडीस्वेद (इनका विशेष विवरण च० सू० अ० १४ में देखें) कराने के बाद कूर्च नामक शस्त्र

१. 'कफप्रदोषघ्नम्' इति पा०।
२. 'स्विन्नोत्स्विन्नम्' इति पा०।
३. 'शृङ्गालाबूभिराहरेद्रुधिरम्' इति पा०।

(इसे सु० सू० अ० ८।३ में त्रिकूर्चक कहा गया है) से विघट्टन (घर्षण) करें। तदनन्तर रक्त के उत्क्लेश (उफान) को निकल जाने दें। ऐसा करने से दूषित रक्त निकल जायेगा (इसमें रोग के प्रकोप की शान्ति हो जाती है)। आनूप (जलप्राय) देशज तथा वारिज (जलज) पशु-पक्षियों के मांसों की पोटलियाँ बनाकर उन्हें गरम करें। जब ये सेंकने योग्य गरम रहें तो उनसे स्वेदन करें, तदनन्तर रुग्णस्थान का शस्त्र द्वारा लेखन (भेदन) करके वहाँ से रक्त निकाले, अथवा जब ज्ञात हो जाये कि अब इस कुष्ठ में दोष कम रह गये हैं, तो उसके ऊपर थोड़ा छीलकर वहाँ से सिंगी, लौकी अथवा जोंक द्वारा रक्त का विरेचन करायें, अर्थात् रक्तनिर्हरण करें।

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् । संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत् तेषाम् ॥

कुष्ठों में लेप-प्रयोग—दूषित रक्त को सिंगी, लौकी, जलौका (जोंक) आदि द्वारा निकालने के बाद शुद्ध कुष्ठ वाले रोगियों को जो लेप लगाये जाते हैं, उससे शीघ्र ही सफलता मिलती है।

वक्तव्य—कुष्ठी तथा मधुमेही के घाव जल्दी नहीं भरते हैं। उसमें कारण होता है—शरीर में स्थित दूषित रक्त, पित्त आदि दोषों का संग्रह। जब इनका निर्हरण हो जाता है, तब घाव जल्दी भर जाते हैं। अतएव 'संशोधिताशयानां' और 'निर्हृतास्रदोषाणां' ये दो विशेषण 'कुष्ठानां' शब्द के लिए दिये गये हैं।

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः । तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥

कुष्ठ में क्षार-प्रयोग—जिन कुष्ठों में शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता है अथवा जो कुष्ठ त्वचा का नाश करने वाले हों अर्थात् जिन कुष्ठ-व्रणों के कारण त्वचा संज्ञाशून्य हो गयी हो, उन कुष्ठों में रक्तमोक्षण तथा दोषनिर्हरण करने के बाद क्षार-प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—क्षार का यथाविधि प्रयोग करने से उस स्थान का सड़ा हुआ मांस वहाँ से निकल जायेगा, तदनन्तर व्रण-रोपण हो सकता है या किया जा सकता है।

पाषाणकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च । पीतागदस्य कार्यो विषैः प्रदेहोऽगदश्चानु ॥

कुष्ठ में अगद-प्रयोग—जो कुष्ठ छूने पर पत्थर के समान कठोर प्रतीत हो, जो परुष (खुरदरा) हो, जहाँ की त्वचा सुप्त (स्पर्शज्ञान-हीन) हो गयी हो, जो कुष्ठ स्थिर (हटता, बढ़ता, फैलता न) हो और पुराना हो, ऐसे कुष्ठ रोग में उस रोगी को अगद पिलाकर पहले विषों का तदनन्तर अगदों का लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—'अगद' शब्द का अर्थ कोषकारों ने तथा निघंटुकारों ने 'औषध' किया है। दूसरे लोगों ने विषनाशक औषधयोग लिखा है। आप देखें—च० चि० अ० २३।३५-३७। यहाँ २४ प्रकार के अगदों का वर्णन है और सुश्रुत-कल्पस्थान अ० ५ में—१. महा अगद, २. अजित अगद, ३. तार्क्ष्य अगद, ४. ऋषभ अगद तथा ५. संजीवनी अगद का वर्णन है।

स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनकण्डुलानि कुष्ठानि । कूर्चैर्दन्तीत्रिवृताकरवीरकरञ्जकुटजानाम् ॥
जात्यर्कनिम्बजैर्वा पत्रैः शस्त्रैः समुद्रफेनैर्वा । घृष्टानि गोमयैर्वा ततः प्रदेहैः प्रदेह्यानि ॥५७॥

कुष्ठ में प्रदेह-प्रयोग—जो कुष्ठ स्तब्ध (Motionless) हों, सोये-सोये जैसे हों, जिनमें पसीना न आता हो, खुजली अधिक होती हो तो इस प्रकार के कुष्ठों में कूर्च नामक शस्त्र से, दन्ती (जमालगोटा), त्रिवृत (निशोथ), करञ (कञ्जू), इन्द्रजौ (कुटज बीज), जाती (चमेली), मदार, नीम की पत्ती, समुद्रफेन अथवा सूखे गोबर (वनोपल) से रगड़कर (उसमें से गन्दगी दूर करके) कुष्ठ के उन व्रणों को प्रदेहों (लेपों) से लीप देना चाहिए, अर्थात् उन पर लेप लगाने चाहिए।

वक्तव्य—कुष्ठ संक्रामक एवं घृणित रोग है। इसके घावों को पहले कूर्च आदि शस्त्रों से खुरचें अथवा दन्ती आदि के सहयोग से घिसें। जब ऊपर से सड़ा हुआ मांस घिस जाये और घाव का मुख साफ हो जाये, तब उसके ऊपर व्रणपूरक लेप लगाने चाहिए। जिन कुष्ठों में शस्त्रकर्म निषिद्ध है, केवल उन्हीं के लिए यहाँ उक्त विधि का निर्देश किया गया है।

मारुतकफकुष्ठघ्नं कर्मोक्तं पित्तकुष्ठिनां कार्यम् । कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायैः प्रशमनं च ॥

कुष्ठ में संशमन-प्रयोग—ऊपर जो कुष्ठ रोगियों की वातनाशक, कफनाशक तथा कुष्ठनाशक चिकित्सा कही गयी है, उसका प्रयोग करना चाहिए। कफहरण वमन द्वारा, पित्तहरण विरेचन द्वारा तथा रक्तहरण (रक्त-मोक्षण) पच्छन क्रिया करने के बाद सिंगी, तुम्बी या जौंक लगाकर करना चाहिए। तिक्त एवं कषाय रसों का सेवन कराकर प्रमशन (संशमन) क्रिया करें।

वक्तव्य—कुष्ठ रोग में सर्वप्रथम इसी अध्याय के श्लोक ३९ से ५७ तक कहे गये चिकित्सा-क्रम का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यही कुष्ठ-चिकित्सा का वास्तविक स्वरूप है। अथवा कफदोष को वमन द्वारा, पित्तदोष को विरेचन द्वारा और वातदोष स्नेहपान द्वारा शान्त कर तदनन्तर तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों एवं कषायद्रव्यों के प्रयोग से कुष्ठ रोग को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सर्पींषि तिक्तकानि च [1]यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् कर्म। बाह्याभ्यन्तरमग्र्यं तत् कार्यं पित्तकुष्ठेषु ॥
दोषाधिक्यविभागादित्येतत्कर्म कुष्ठनुत् प्रोक्तम्। वक्ष्यामि कुष्ठशमनं प्रायस्त्वग्दोषसामान्यात् ॥

पित्तज कुष्ठ चिकित्सा—पित्तजनित कुष्ठों में तिक्त द्रव्यों का, विविध प्रकार के घृतों का अथवा तिक्त द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए घृतों का प्रयोग अथवा और भी जो रक्त-पित्तनाशक बाहरी तथा भीतरी उत्तम प्रयोग कहे गये हैं, उनका उपयोग पित्तज कुष्ठों में करना चाहिए। दोषों की अधिकता के कारण यह कुष्ठनाशक चिकित्सा कही गयी है। इसके बाद अब मैं (तन्त्रकार) त्वग्दोष सामान्य अर्थात् प्रायः सभी कुष्ठ त्वचा को दूषित करते हैं, इस दृष्टि से कुष्ठ को शान्त करने वाले प्रयोगों का वर्णन करता हूँ।

वक्तव्य—सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से उनमें भी वात-प्रधान, पित्त-प्रधान तथा कफ-प्रधान कुष्ठों की चिकित्सा इसी प्रकरण में पहले कह दी गयी है। यहाँ अब सामान्य कुष्ठ-चिकित्सा का निर्देश किया जा रहा है।

सर्पींषि तिक्तकानि च—यहाँ 'तिक्तकैः सिद्धानि सर्पींषि' न कहकर दोनों का स्वतन्त्र विभक्ति द्वारा निर्देश किया गया है। अतः कुष्ठ में घृतों तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों का स्वतन्त्र महत्त्व भी है और साध्य-साधक भाव से भी प्रयोग किया जा सकता है।

रक्तपित्तनुत् कर्म—रक्तपित्त—यह एक स्वतन्त्र रोग है। इसमें भी रक्तशोधक पित्तशामक चिकित्सा की जाती है। इन योगों का तथा कुष्ठ-प्रकरण में कही गयी रक्तशोधक तथा पित्तशामक जो चिकित्सा कही गयी है, उनका भी उपयोग यहाँ अपेक्षित है।

बाह्याभ्यन्तरमग्र्यम्—बाह्यकर्म—प्रच्छन, सिंगी, अलाबू, जलौका-प्रयोग, शस्त्र-कर्म, क्षारकर्म, प्रदेह आदि। आभ्यन्तरकर्म—वमन, विरेचन तथा संशमन के विविध प्रयोग।

प्रायस्त्वग्दोषसामान्यात्—कुष्ठ रोग में यद्यपि रक्त, मांस, वसा, मज्जा—ये धातुएँ भी दूषित हो जाती हैं, किन्तु सभी कुष्ठों में त्वचा प्रधानरूप से दूषित हो जाती है। इस दृष्टि से यहाँ से आगे कुष्ठशामक योगों का वर्णन किया जा रहा है। अतएव 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

दार्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम्। अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुडतैला ॥

कुष्ठनाशक योग—१. दारुहल्दी के कल्क को गोमूत्र के साथ पीने से कुष्ठ का नाश होता है। २. अथवा रसवत (रसौत) को गोमूत्र में घोलकर पीने से कुष्ठ का नाश होता है। ३. अथवा व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), गुड़, तिलतैल के साथ हरीतकी का एक मास तक सेवन कराने से कुष्ठ का नाश होता है।

वक्तव्य—रसाञ्जन—दारुहल्दी के क्वाथ को निरन्तर पकाते रहने से यह गुड़ की भाँति गाढ़ा हो जाता है। इस क्रिया को 'रसक्रिया' कहते हैं और इसे 'रसवत्' या 'रसौत' भी कहते हैं। यद्यपि गुड़ और तेल का निरन्तर तथा अधिक मात्रा में सेवन करने से कुष्ठ की उत्पत्ति होती है, किन्तु यहाँ त्रिकटु और हरीतकी के साथ गुड़-तेल का सेवन 'विकृतिविषमसमवेत' होकर अपने विशिष्ट प्रभाव से कुष्ठनाशक होता है।

मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः पृथक् पलांशं [2]त्रिफलात्वचश्च।
स्यात् त्रायमाणा कटुरोहिणी च भागार्धिका नागरपादयुक्ता ॥ ६२ ॥

१. 'यच्चोक्तम्' इति पा०।

२. 'त्रिफलात्रिवृच्च' इति पा०।

पलं तथैषां सह चूर्णितानां जले शृतं दोषहरं पिबेन्ना।
जीर्णे रसैर्धन्वमृगद्विजानां पुराणशाल्योदनमाददीत ॥ ६३ ॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च।
षड्रात्रयोगेन निहन्ति चैष हृद्बस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥ ६४ ॥

पटोलादि कषाय—परवल की जड़, इन्द्रायण की जड़, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) का छिलक (पाठभेद के अनुसार—निशोथ)—इन सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ पल (४-४ तोला) लें। त्रायमाणा और कुटकी प्रत्येक आधा भाग (२-२ तोला), सोंठ चौथाई भाग (१ तोला)—इस अनुपात में लेकर इन्हें मिला लें, फिर इन सबके चूर्ण में से १ पल (४ तोला) लेकर पानी में पका कर इस क्वाथ का कुष्ठ रोगी पुरुष पान करे। इससे दोषों का शमन होता है। क्वाथ के पच जाने पर धन्व (जांगल) देशज मृग एवं पक्षियों के मांसरस के साथ पुराने शालिचावलों के भात को खाये। इसका सेवन करने से सभी प्रकार के कुष्ठ, शोथ, ग्रहणी-विकार, अर्श (बवासीर), मूत्रकृच्छ्र, हलीमक (पाण्डुभेद), हृदयशूल, वस्तिशूल और विषमज्वर छः दिनों में नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—ऊपर ६२वें श्लोक के चतुर्थ पाद में 'भागार्धिका' पाठ दिया गया है। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने यहाँ 'भागाधिका' पाठ स्वीकार किया है। इसे हम तब मान सकते हैं, जब यह मुद्रण दोष न हो, अन्यथा दोनों पाठ समान ही हैं। अब विचार यह करना है कि, क्या यह 'पलांश' का आधा भाग है? यदि हाँ, तो इसे आधा-आधा पल अर्थात् २-२ तोला मानना चाहिए, न कि १½ कर्ष। यदि हम 'भागाधिका' पाठ को ठीक समझते हैं, तो 'एकेन भागेन अधिका=भागाधिका' ऐसा अर्थ होता है, जिससे त्रायमाणा तथा कटुकरोहिणी उक्त द्रव्यों से अधिक मात्रा में लेनी पड़ेगी। इस समादरणीय योग पर प्रायः सभी तन्त्रकारों की दृष्टि रही है। अतएव यह सिद्धयोग चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ उक्त सन्देह को दूर करने के लिए कतिपय अन्य तन्त्रकारों के वचनों को भी उद्धृत किया जा रहा है।

अग्निवेश—'पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलोन्मिता। पलार्धं त्रायमाणा च तथा कटुकरोहिणी ॥ कर्षार्धं नागरं दत्वा षट् पलान्यवचूर्णयेत्। जले शृतं पिबेत् कोष्णं चूर्णस्यात्र पलं पलम्' ॥

चक्षुष्येण—'पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलांशिका। कटुका त्रायमाणा च पलार्धा पादनागरा ॥ तस्मात् षड्भागमुत्क्वाथ्य जले दोषहरं पिबेत्'।

जतूकर्ण—'पटोलमूलत्रिफलागवाक्षीत्रिवृतापलैः। त्रायन्ती कटुका द्वाभ्यां कृत्वा नागरपादिकम् ॥ चूर्ण पलं पिबेत् तस्माच्छृतं जीर्णे रसान्नभुक्' ॥ इसके अतिरिक्त अष्टांगसंग्रह चि० अ० २१।८ तथा अष्टांगहृदय चि० अ० १९।२८-३० का भी अवलोकन करें।

त्रिफलात्रिवृच्च—निर्णयसागरीय प्रति में यह पाठ नहीं है। इसमें 'त्रिवृत्' द्रव्य का प्रयोग दूसरे आचार्य स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि आचार्य चक्रपाणि ने भी 'त्रिवृत्' पाठ का संग्रह नहीं किया है। वाग्भट ने पाठ-परिवर्तन कर द्रव्यों का परिमाण चरक से स्वतन्त्र रखा है—'पटोलमूलत्रिफलाविशालाः पृथक् त्रिभागापचितत्रिशाणाः'। अ० हृ० चि० अ० १९।२८। अर्थात् परवल की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन्द्रायण की जड़—ये पाँच द्रव्य २-२ शाण और तिहाई न्यून १-१ शाण, शेष भाग चरक और इसमें समान है। मात्रा-निर्धारण चिकित्सक स्वयं करें।

सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥
मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूल्यौ द्वे। सप्तच्छदनिम्बत्वक्
भक्ष्यम् ॥
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं [1]समध्वाज्यम्। सिद्धं कुष्ठनिबर्हणमेतत् प्रायोगिकं विनिहन्ति ॥
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि। ब्रध्नभगन्दरपिडकाकण्डूकोठांश्च
इति मुस्तादिचूर्णम्।

मजीठ,
मुस्तादि चूर्ण—नागरमोथा, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), ५. देवदारु, लघु तथा बृहत् (दोनों) पञ्चमूल (१. शालपर्णी, २. पृश्निपर्णी, ३. छोटी कटेरी, ४. बड़ी कटेरी,

१. 'समध्वंशम्' इति पा०।

गोखरू—लघुपञ्चमूल। १. बेल की गुद्दी, २. अरणी की छाल, ३. सोनापाठा, ४. गम्भीर की छाल, ५. पाढ़ल की छाल—बृहत्पञ्चमूल), छतिवन की छाल, नीम की छाल, इन्द्रायण की जड़, चीता की जड़, मूर्वा (मरोड़फली)—इन द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण कर लें। इसमें ९ भाग सत्तू मिला लें। यह मुस्तादि चूर्ण है। इसे मधु-घृत के साथ मात्रानुसार प्रतिदिन सेवन करें। इसके सेवन से कुष्ठ, शोथ, पाण्डुरोग, श्वित्र, ग्रहणीविकार, अर्श, ब्रध्न, भगन्दर, पिडका, कण्डू तथा कोठों का विनाश होता है।

वक्तव्य—'ब्रध्न' शब्द का प्रयोग 'वृद्धि रोग' के अर्थ में केवल चरकसंहिता चि० अ० १२।९४ में आया है। पाठभेद के रूप में यहाँ भी अन्य टीकाकार आचार्यों ने 'वृद्धि' के रूप में उसे स्वीकार किया है। स्वयं महर्षि आत्रेय ने चरक सू० अ० १८।३० में इसे 'वृद्धि' संज्ञा दी है। अन्यत्र 'ब्रध्न' शब्द का अर्थ 'सूर्य' तथा अर्कवृक्ष भी होता है।

आचार्य भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ के वृद्धिब्रध्नरोगाधिकार में ब्रध्नरोग के निदान-लक्षण का पृथक् निर्देश इस प्रकार किया है—'अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नशुष्कपूत्यामिषाशनात्। करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु॥ ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नेति विनिर्दिशेत्'॥ भा० प्र० म० खं०। इस रोग में कूल्हे की ग्रन्थि या कौड़ी सूज जाती है। यह लक्षण प्रायः औपसर्गिक मूत्राघात (सुजाक) में देखा जाता है। यह श्लैष्मिक ग्रन्थि होने के कारण शीघ्र पकती भी नहीं है। प्लेग में भी यह सूज जाती है और क्षुद्ररोगाधिकारोक्त विदारिका भी यही है।

उपर्युक्त चूर्ण प्रतिदिन खाने के काम में लाया जा सकता है। अतएव इसे 'प्रायोगिक' कहा गया है। यद्यपि ऊपर इसकी मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है, तथापि इसे भर पेट खाया जा सकता है। जिसका जितना भोजन हो उतना सत्तू लेकर उसका नवमांश 'मुस्तादिचूर्ण' मिलाकर सेवन करे।

त्रिफलातिविषाकटुकानिम्बकलिङ्गकवचापटोलानाम्।
मागधिकारजनीद्वयपद्मकमूर्वाविशालानाम् ॥ ६८ ॥
भूनिम्बपलाशानां दद्याद् द्विपलं ततस्त्रिवृद्द्विगुणा। तस्याश्च पुनर्ब्राह्मी तच्चूर्णं सुप्तिनुत्परमम् ॥

त्रिफलादि चूर्ण—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), अतीस, कुटकी, नीम की छाल, इन्द्रजौ, बालवच, परवल की पत्ती, पिप्पली, रजनीद्वय (हल्दी, दारुहल्दी), पद्मकाठ, मरोड़फली, इन्द्रायण की जड़, भूनिम्ब (चिरायता), पलाश की छाल—प्रत्येक २-२ पल (८-८ तोला), सफेद निशोथ ४ पल (१६ तोला) और उस (निशोथ) से भी दूनी मात्रा में (३२ तोला) ब्राह्मी का चूर्ण—इन सबको एक में मिलाकर कपड़छन चूर्ण कर लें। यह चूर्ण उचित मात्रा में सेवन करने से कुष्ठरोग में होने वाली त्वचा की शून्यता को नाश करने वाले योगों में सर्वोत्तम है।

वक्तव्य—ऊपर इसकी मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है। अतः इस चूर्ण को २ माशा से लेकर ५ माशा तक चिकित्सक के निर्देशानुसार लिया जा सकता है। अनुपान—मधु-घृत। आचार्य गंगाधर ने जो द्रव्य-मात्रा का विवरण अपनी टीका में दिया है, क्या वह श्रद्धेय है? आप विचार करें। अष्टांगसंग्रह चि० अ० २१।५६-५८ में दिये गये इससे सम्बन्धित पाठ में अनेक द्रव्यों का परिवर्तन है।

[1]लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः। सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण ॥

कुष्ठ में गन्धक प्रयोग—१. शुद्ध लेलीतक (आँवलासार गन्धक) का जाती (आँवला) के स्वरस और मधु के साथ प्रयोग करने से सत्रह प्रकार के कुष्ठरोगों का नाश हो जाता है और २. शुद्ध माक्षिकधातु का गोमूत्र के साथ सेवन करने से सत्रह प्रकार के कुष्ठरोगों का नाश हो जाता है। ये दोनों ही योग उत्तम हैं।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'लेलीत(ह)कः पाषाणभेद, औत्तरापथिकः'। उच्यते हि निघण्टौ—'आसीद् दैत्यो महाबाहुर्लेलिहानो महासुरः। योजनानां त्रयस्त्रिंशत् कायेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ विष्णुचक्रेण सञ्छिन्नो पपात धरणीतले। वसा तस्य समाख्याता लेलीह(त)क इति क्षितौ' ॥ यहाँ चक्रपाणि ने 'निघण्टु' का नाम-निर्देश नहीं किया है, जब कि भावप्रकाश, अभिनवनिघण्टु तथा राजनिघण्टु आदि में उक्त पाठ गन्धक के सम्बन्ध में नहीं है और न 'पाषाणभेद' के सम्बन्ध में ही उक्त निघण्टुकारों ने ऐसा उद्धरण दिया है। इसके

१. 'नवनीतकप्रयोगः' इति पा०।

विरुद्ध आचार्य इन्दु इस प्रकार लिखते हैं—'लेलीतकवसा, उत्तरापथे रसरूपा प्रसिद्धा'। इन्दुः। इस उद्धरण से यह तो सिद्ध होता है कि यह गन्धक जैसा खनिज द्रव्य नहीं है, अपितु कोई प्राणिज द्रव्य है। अतएव इसे 'वसा' कहा गया है। वैद्यकशब्दसिन्धु में 'लेलीनक' का पर्याय 'गन्धक' दिया गया है और उसमें लिखा है कि इसके लिये वै० निघण्टु देखें। किन्तु यहाँ 'लेलीतक' दिया गया है। गन्धक का प्रयोग खाने के लिए शुद्ध किये बिना नहीं करना चाहिए। देखें—अशुद्ध गन्धक के दोष—रसप्रधान ग्रन्थों में। इसी प्रकार 'माक्षिक' का उपयोग भी बिना शुद्ध किये नहीं किया जाता। वास्तव में यहाँ तो माक्षिक शब्द से स्वर्णमाक्षिकभस्म का ग्रहण करना तन्त्रकार को अपेक्षित है, देखें—श्लोक ७१। इसकी सामान्य मात्रा १ से ४ रत्ती तक है।

सप्तदशकुष्ठघाती—'सत्रह कुष्ठों का विनाश करता है' ऐसा कहने का तन्त्रकार का तात्पर्य यह है कि अठारहवाँ 'काकणक' नामक कुष्ठ असाध्य होता है। अतः 'साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते'। असाध्य व्याधियों की कोई चिकित्सा नहीं होती है।

[1]श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा। सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥
वज्रशिलाजतुसहितं सहितं वा योगराजेन। सर्वव्याधिप्रशमनमद्यात्कुष्ठी निगृह्य नित्यं च ॥

कुष्ठ में शिलाजतु प्रयोग—श्रेष्ठ (पाठभेद के अनुसार—इस प्रकार) गन्धक का प्रयोग करने से, अथवा सुवर्णमाक्षिक के योग से निगृहीत (भस्म किये हुए) सभी व्याधियों को दूर करने में समर्थ रस (पारद भस्म) का सेवन कुष्ठरोगी करे। अथवा सभी रोगों का विनाश करने वाले वज्र (हीरक) की भस्म बनाकर शिलाजीत के साथ अथवा योगराज के साथ प्रतिदिन सेवन करे।

वक्तव्य—व्यवहार में आने वाला गन्धक दो नामों से मिलता है—१. आँवलासारगन्धक—इसी को श्रेष्ठ कहा जाता है। २. नोनियागन्धक—यह सामान्य कोटि में आता है। जहाँ भी गन्धक का उपयोग करना होता है, उसके पहले इसका संशोधन अति आवश्यक होता है।

निगृहीत—इसका अर्थ है—'अपने वश में किया हुआ'। सामान्य स्थिति में पारद गृहीत नहीं होता (पकड़ में नहीं आता)। किन्तु भस्म हो जाने पर ऐसी स्थिति नहीं रहती। यहाँ गन्धक अथवा सुवर्णमाक्षिक के योग से पारद को भस्म कर सेवन करने का विधान है। गन्धक, पारद, माक्षिक आदि की शोधन, मारण आदि विधियाँ रसतन्त्रों में सुलभ हैं।

योगराजेन सहितम्—पारद को 'रसराज' तो कहा ही गया है। कहीं ऐसा न हो कि योगवाही होने के कारण इस (पारद) को 'योगराज' की भी उपाधि तन्त्रकारों ने दी हो, अथवा अग्निवेश-तन्त्र में कोई ऐसा योग कहा गया हो, जिसको प्रतिसंस्कर्ता ने उद्धृत न किया हो, क्योंकि उपलब्ध चरकसंहिताओं में कुष्ठचिकित्सा प्रकरण में कहीं भी 'योगराज' नाम से किसी योग का उल्लेख नहीं मिलता।

योगराज—अष्टांगसंग्रह-चिकित्सास्थान के अ० २१ श्लोक १२ से १५ तक योगराज के द्रव्यों, निर्माण-विधि, फलश्रुति आदि का वर्णन है। इस प्रसंग में इस योग का अवलोकन अवश्य करें। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने अपनी चरक की टीका में किसी रसतन्त्र से एक योग उद्धृत किया है। सन्दर्भ-संकेत ठीक न होने के कारण वह श्रद्धेय प्रतीत नहीं होता।

खदिरसुरदारुसारं श्रपयित्वा तद् रसेन तोयार्थः। क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये ते चाष्टपलिके च ॥
त्रिफलैले त्वङ्मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम् ॥७४॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत् तथाऽमूनि। त्रिफलैले त्वङ्मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम्
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे। मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः ॥
इति मध्वासवः।

मध्वासव—खैरसार तथा देवदारु के सार भाग को प्रत्येक ८ पल (३२ तोला) लेकर यथाविधि इनका क्वाथ बनाकर कपड़छन कर ले। तदनन्तर शीतल होने पर उसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) मधु, ८ पल लोहे की भस्म, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), बड़ी इलायची, त्वक् (दालचीनी), कालीमिरिच, तेजपात, नागकेशर—ये सभी द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला), मधु के बराबर मत्स्यण्डिका (राब) उसमें मिलाकर एक

१. 'एवं' इति पा०।

लोहे के पात्र में रख दें। जब मध्वासव तैयार हो जाये, तब इसका प्रयोग करें। इसके सेवन से कुष्ठ तथा किलास कुष्ठ रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—खदिरसार और देवदारुसार—इनको आरी से चिरवा कर छोटे-छोटे टुकड़े करा लें, अन्यथा ठीक प्रकार से क्वाथ नहीं बन सकेगा। **मत्स्यण्डिका मधुसमा**—दो द्रव्यों में किसी का भी मान नहीं दिया गया है। अतः यहाँ १६+१६=३२ पल (१२८ तोला) मधु और राब डालें। सामान्यरूप से आसवों को धान आदि के ढेर में ढँक देते हैं, या जमीन में गाड़ देते हैं। निश्चित अवधि के बाद उसे निकालकर कपड़छन कर प्रयोग में लाया जाता है। मात्रा—१ से २ तोला तक। सहपान—बराबर मात्रा में ताजा जल। विशेष देखें—अ० सं० चि० अ० २१।२३।

कनकम्—इस शब्द का प्रयोग—कासमर्दक्षुप, जयपालवृक्ष, रक्तपलाशवृक्ष, चम्पकवृक्ष, नागकेशरवृक्ष तथा धत्तूरवृक्ष के अर्थ में भी देखा जाता है।

खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य। द्रव्याणि चूर्णितानि च षट्पलिकान्यत्र देयानि॥
त्रिफलाव्योषविडङ्गरजनीमुस्ताटरूषकेन्द्रयवाः। सौवर्णी च तथा त्वक्छिन्नरुहा चेति तन्मासम्॥
निदधीत धान्यमध्ये प्रातः प्रातः पिबेत् ततो युक्त्या। मासेन महाकुष्ठं हन्त्येवाल्पं तु पक्षेण॥
अर्शःश्वासभगन्दरकासकिलासप्रमेहशोषांश्च। ना भवति कनकवर्णः पीत्वाऽरिष्टं कनकबिन्दुम्॥
इति कनकबिन्द्वरिष्टम्।

कनकबिन्दु अरिष्ट—खदिरसार का क्वाथ १ द्रोण (१०२४ तोला) भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में रखकर, उसमें त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), वायविडंग, हल्दी, नागरमोथा, अडूसा, इन्द्रजौ, सौवर्णीत्वक् (दारुहरिद्रा—चक्र०, अमलतास—गंगाधर, आरग्वध-त्वचा—योगीन्द्रनाथ सेन) और गिलोय—इन सभी द्रव्यों को ६-६ पल (२४-२४ तोला) पाठभेद के अनुसार ८-८ पल लेकर चूर्ण कर (घृतभावित मिट्टी के पात्र में डालकर) एक मास पर्यन्त धान्यराशि के मध्य में ढँककर रख दें। तैयार हो जाने पर कपड़छन करके रख लें। इसे प्रतिदिन प्रातःकाल १ से २ तोला तक की मात्रा में बराबर जल मिलाकर भोजन के बाद लें। इसका एक मास तक नियमित सेवन करने से एक मास में महाकुष्ठ और पन्द्रह दिन में क्षुद्रकुष्ठों का विनाश हो जाता है और अर्श (बवासीर), श्वास, भगन्दर, कास, किलास, प्रमेह, शोष (क्षय) रोगों का भी शमन हो जाता है तथा इस कनकबिन्दु अरिष्ट को पीने से मनुष्य सोने के सदृश दिव्य कान्ति वाला हो जाता है।

वक्तव्य—इस योग में गुड़ आदि डालने की चर्चा ही नहीं की गयी है, तो उसके परिमाण की बात ही क्या है। अतः यहाँ चरक की प्रवृत्ति महाभाष्यकार पतञ्जलि के रूप में अनुभूत हो रही है, क्योंकि उन्होंने भी जो पहले सूत्र के भाष्य में कह दिया था उसे दूसरे सूत्र में पुनः नहीं कहा। अतः जो मान मधु और राब का मध्वासव में निर्दिष्ट है, उसी का यहाँ भी ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् ३२ तोला मधु तथा उसी के बराबर खाँड को डालकर उक्त अरिष्ट का निर्माण करना चाहिए।

आचार्य शार्ङ्गधर ने ऐसे स्थलों के लिए निर्देश दिया है—'अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवद्रोणे तुलां गुडम्। क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम्'॥ शा० सं० म० खं० अ० १०।३। इनके अनुसार गुड़ की मात्रा से मधु आधा डालना चाहिए, किन्तु चरक का अपना मत है। शास्त्रों में विविध कल्पना-विधियाँ देखी जाती हैं। उन-उन में तन्त्रकारों का मत प्रधानरूप से समादरणीय माना जाता है। इसके लिए सुश्रुतसंहिता सू० अ० ४५ के मधवर्ग का भी अवलोकन करें।

कुष्ठेष्वनिलकफकृतेष्वेवं पेयस्तथाऽपि पैत्तेषु। कृतमालक्वाथश्चाप्येष विशेषात् कफकृतेषु॥

कनकबिन्दु की फलश्रुति—यह (कनकबिन्दु अरिष्ट) विशेष करके कफज कुष्ठों में लाभ करता है। वातज, कफज, पित्तज कुष्ठों में अमलतास का क्वाथ भी इसी प्रकार (उपर्युक्त अरिष्ट की भाँति) सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में अमलतास का क्वाथ प्रधान द्रव्य है। शेष त्रिफला, व्योष, विडंग, रजनी, मुस्त, आटरूषक, इन्द्रयव, सौवर्णीत्वक् और छिन्नरुहा द्रव्य कनकबिन्दु अरिष्ट के समान लेकर इसका भी पूर्ववत् अरिष्ट बनाकर सेवन करना चाहिए।

कनकबिन्दु अरिष्ट को सामान्यरूप से क्षुद्रकुष्ठों में प्रयुक्त करने का आदेश है। दोषप्रधान कुष्ठों की क्रमिक चिकित्सा पहले कह दी गयी है। आमलक क्वाथ का अथवा इससे बनाये हुए अरिष्ट का प्रयोग कफज कुष्ठों में लाभकारी होता है। इनमें केवल अमलतास के क्वाथ का प्रयोग भी हितकारक देखा गया है।

त्रिफलासवश्च गौडः सचित्रकः कुष्ठरोगविनिहन्ता। क्रमुकदशमूलदन्तीवराङ्गमधुयोगसंयुक्तः॥

त्रिफलासव—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) इनके क्वाथ में गुड़, चित्रक की जड़, सुपारी, दशमूल, दन्ती (जमालगोटा) की जड़, वरांग (दालचीनी)—इन सब द्रव्यों को चूर्ण करके डालें, साथ में मधु भी मिला दें। यह आसव कुष्ठरोग-नाशक है।

वक्तव्य—त्रिफला क्वाथ १ द्रोण (१२ सेर ६४ तोला), मधु तथा गुड़ दोनों को मिलाकर ६ सेर ३२ तोला, चित्रक आदि प्रत्येक द्रव्य १६-१६ पल (६४-६४ तोला) डालें। शेष पूर्वोक्त अरिष्ट के समान है।

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात् कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि।
भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बैर्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव॥ ८२॥
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः।
शस्ता, न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च॥ ८३॥

कुष्ठ में पथ्य—सभी प्रकार के कुष्ठों में लघु (जल्दी पच जाने वाले) अन्न, तिक्तरस-प्रधान शाक हितकर होते हैं। शुद्ध भिलावा, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), नीम (के फूल या कोमल पत्तियों) से युक्त अन्न, घी का सेवन करना हितकर होता है। पुराने धान्य, जांगलदेश में उत्पन्न मृग तथा पक्षियों के मांस, मूँग की दाल तथा परवल के फलों का शाक हितकर समझना चाहिए।

कुष्ठ में अपथ्य—गुरु (देर में पचने वाले तथा मात्रा में गुरु) अन्न, सभी प्रकार के अम्लरस, दूध, दही, आनूपदेशज प्राणियों के मांस, मछली, गुड़ तथा तिलों का सेवन अहितकर होता है।

वक्तव्य—भिलावा ईश्वर की विचित्र रचना है। इसमें अमृत और विष का मर्यादित मिश्रण है। इसका इसका पीताभ भाग अमृत के समान मधुर और भक्ष्य होता है, दूसरा काला भाग केवल विष है। इसका प्रयोग इसे बिना शुद्ध किये नहीं किया जाता। कुष्ठरोगी के लिए यह पीताभ भाग हितकर होता है। त्रिफला के स्वरस अथवा क्वाथ से भावित अन्नों (भक्ष्य पदार्थों) का सेवन, नवीन निम्बपत्रों, उसके फूलों का शाक (भुजिया) के रूप में प्रयोग होता ही है। चैत्रशुक्ल प्रतिपदा के दिन निम्बपत्र का प्राशन एक धार्मिक परम्परा है। इसका सम्बन्ध स्वास्थ्य-संवर्धन से जुटा है। दूसरी ओर कुष्ठ में भल्लातकघृत, त्रिफलाघृत, निम्बादिघृत का सेवन लाभदायक होता ही है।

पुराणधान्यानि—पुराण (पुराना) शब्द केवल धान्यों का ही विशेषण है, न कि इस पंक्ति में कहे गये अन्य द्रव्यों का। 'धान्य' शब्द तीन भागों में विभक्त अन्न समुदाय की सूचना देता है। यथा—शूक-शिम्बी-तृण धान्य-भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं। दूसरे आचार्यों ने इनके पाँच भेद माने हैं—शालि, व्रीहि, शूक, शिम्बी एवं क्षुद्र धान्य।

एला कुष्ठं दार्वी शतपुष्पा चित्रको विडङ्गश्च। कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव॥

कुष्ठनाशक लेप—बड़ी इलायची, कूठ, दारुहल्दी, शतपुष्पा (सोया), चित्रकमूल, वायविडंग रसवत, हरीतकी—इन सबको समान भाग लेकर पानी डालकर पीसें। इसका लेप कुष्ठरोग में हितकर होता है।

वक्तव्य—इसे 'आलेपन' कहा गया है। यह कुष्ठ द्वारा आक्रान्त स्थान पर चारों ओर लगाना चाहिए। श्वेत कुष्ठ, सुनबहरी आदि में इसका प्रयोग लाभप्रद देखा गया है। उक्त द्रव्यों में कुछ द्रव्य घिसने योग्य, तथा शेष पीसने योग्य होते हैं।

[illegible] ॥१४७॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधा गृहाद् धूमः । [2]मूत्रं पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठहा लेपः ॥

मांस्यादि लेप—जटामांसी, कालीमिरिच, सैंधानमक, हल्दी, तगर, सेहुंड की छाल, गृहधूम, गोमूत्र, गोरोचन, पलाश का क्षार—इन सबको मिलाकर लेप तैयार कर लें। इसका लेप कुष्ठ का नाश करता है।

त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकौ बृहती । गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत् ॥

त्र्प्वादि लेप—१. त्रपु (रागां या बंग), सीसक (शीसा) तथा लोहा—इनके चूर्ण (भस्म) का लेप मण्डलकुष्ठ का नाश करता है। २. **फल्ग्वादि लेप**—फल्गु (कठगूलर) की छाल, चित्रकमूल, बृहती (बनभंटा), सैंधानमक, देवदारु—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इसे गोमूत्र तथा गोधा के मांसरस से पीसकर लेप करने से मण्डलकुष्ठ का नाश हो जाता है।

कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन । मांसेषु तोयकार्यं कार्यं पिष्टे च [3]किण्वे च ॥
तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितं प्रलेपनं शस्तम् । मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं क्रिमिघ्नं च ॥

कुष्ठ में विशेष योग—केला, पलाश, पाटला (पाढ़ल), निचुल (जलवेतस)—इनके स्वच्छ क्षारोदक से मांस, चावल का आटा तथा किण्व (सुराबीज) में जल का कार्य (धोना, भावना देना, स्वेदन करना आदि में इस क्षार जल से) करना चाहिए। जांगलदेश में उत्पन्न मृग-पक्षियों के मांस को इस क्षार जल में उबालें। इस मांसरस में पिष्ट (शालिचावलों के चूर्ण) तथा सुराबीज (किण्व) डाल दें। इससे तैयार किये हुए मेदक ('मेदको जगलाद्घनः', परिभाषाप्रदीप, खण्ड ३) का पानी और किण्व (सुराबीज) का प्रलेप करना उत्तम होता है। मण्डलकुष्ठ पर इसका लेप कराकर रोगी को धूप में बैठा दें। इससे मण्डलकुष्ठ का नाश हो जाता है और यह क्रिमिनाशक भी है।

मुस्तं मदनं त्रिफला करञ्ज आरग्वधकलिङ्गयवाः । दार्वी ससप्तपर्णा स्नानं सिद्धार्थकं नाम ॥
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्घर्षः । त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः ॥९२॥

सिद्धार्थक स्नान—नागरमोथा, मदनफल, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), करञ्ज, अमलतास की पत्ती, इन्द्रजौ, दारुहल्दी की छाल, छतिवन की पत्ती—इन सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर पकायें। इनका रस जल में आ जाने पर छान लें। इस जल से कुष्ठरोगी को स्नान करायें। इससे कुष्ठरोगी के (रोग सम्बन्धी) सभी अर्थ सिद्ध हो जाते हैं। अतएव इसे सिद्धार्थक कहते हैं। इन द्रव्यों से साधित क्वाथ को पिलाने से वमन होते हैं। इसी का प्रयोग वमन के लिए भी किया जाता है। इन्हीं द्रव्यों को कूट-पीसकर वर्णक (त्वचा के वर्ण को सुन्दर बनाने वाला लेप) भी बनाया जाता है। इन्हीं को उद्घर्षण (उबटन) के रूप में त्वचा पर मलने से त्वगिन्द्रिय सम्बन्धी ऊपरी विकार, कुष्ठ, शोथ तथा पाण्डुरोग नष्ट होते हैं।
ऊपर जिन द्रव्यों का प्रयोग स्नान, वमन, विरेचन, वर्णक, उद्घर्ष, कुष्ठ, शोथ, पाण्डुरोगों में करने की आज्ञा दी है, उनकी विधि यहाँ दी जा रही है।

---

१. 'निम्बम्' इति पा०।
२. 'गोः पित्तं च' इति पा०।
३. 'क्लिन्ने' इति पा०।

वक्तव्य—स्नान—उक्त दस द्रव्यों द्वारा पकाये गये जल से कुष्ठ रोगी को स्नान कराया जाता है। इन द्रव्यों को जौकुट करके सायंकाल पर्याप्त जल में भिगा दें, जिससे स्नान हो सके, तब उसे प्रातःकाल पकायें। स्नान गुन-गुने जल से कराना चाहिए। प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला डालें। **वमन**—इस कार्य के लिए सभी द्रव्यों को २-२ माशा और मदनफल को ४ माशा की मात्रा में लें। **विरेचन**—इसके लिए सभी द्रव्यों को २-२ माशा और अमलतास की गुद्दी ४ माशा की मात्रा में लें। ध्यान रहे, स्नान के लिए अमलतास के पत्ते लिये जाते हैं तथा विरेचन के लिए अमलतास की गुद्दी। **वर्णक**—उक्त सभी द्रव्यों को गाय के दूध के साथ पीसकर लेप बना लें। इसका लेप वर्णक (वर्णं विशदं करोति, इति वर्णकः) है, इससे मुखाकृति में निखार आ जाता है। **उद्घर्ष**—त्वचा के ऊपर जो द्रव्य रोगनाशन के लिए घिसे जाते हैं, उन्हें 'उद्घर्ष' कहते हैं। उक्त द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण में थोड़ा सरसों का तेल मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

कुष्ठं करञ्जबीजान्येडगजः कुष्ठसूदनो लेपः । प्रपुन्नाडबीजसैन्धवरसाञ्जनकपित्थलोध्राश्च ॥

कुष्ठादि लेप—१. कूठ, करञ्ज (कंजू) का बीज, एडगज (चकवड़) का बीज—इन सबको पानी के साथ पीसकर लेप करने से कुष्ठ का नाश होता है। २—प्रपुन्नाड (चकवड़ या बनाड़) का बीज, सैंधानमक, रसाञ्जन (रसवत), कैथ का गूदा, पठानी लोध—इन सबको पानी के साथ पीसकर लेप करने से कुष्ठ का नाश होता है।

वक्तव्य—साहित्यिक दृष्टि से कुष्ठ से कुष्ठ का नाश होना विरोधाभास है। चरक-सूत्रस्थान के आरग्वधीय नामक तीसरे अध्याय श्लोक ३ से १७ तक में कुष्ठनाशक १५ योगों का वर्णन किया गया है। इन्हें भी देख लें। ऊपर कहे गये दो योगों को पीसने के लिए यहाँ किसी द्रव पदार्थ का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः 'द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यम्'। शार्ङ्गधरोक्त इस परिभाषा के अनुसार यद्यपि जल का ग्रहण किया जाता है, किन्तु च० सू० अ० ३।१३ में प्रथम योग को कैथ के रस से और दूसरे को गोमूत्र से पीसने की स्पष्ट आज्ञा दी गयी है। द्रव्यों की दृष्टि से भी ये योग परस्पर भिन्न हैं। जरा ध्यान से देखें—आचार्य चक्रपाणि ने 'इत्यत्र गोमूत्रपिष्टत्वं विशेषः, तेन न पौनरुक्त्यम्' लिखकर भ्रम पैदा किया है।

श्वेतकरवीरमूलं कुटजकरञ्जयोः फलं त्वचो दार्व्याः । सुमनःप्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ॥

कुष्ठनाशक लेप—सफेद कनेर की जड़, कुटजफल (इन्द्रजौ), करञ्ज के फल, दारुहल्दी की छाल और चमेली की नयी पत्तियों का लेप कुष्ठनाशक के लिए सुप्रसिद्ध है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने उक्त योगोक्त द्रव्यों को तीन भागों में विभक्त करके चमेली के नवीन पत्तों को सबके साथ जोड़ने की बात कही है। व्याकरण की दृष्टि से आप भी विचार करें कि इसको एक योग माना जाये या अलग-अलग। वैसे तो कल्पना की विविधता का अधिकारी चिकित्सक होता ही है। परन्तु ग्रन्थकर्ता के दृष्टिकोण को प्रधानता देना ही उचित होता है।

लोध्रस्य धातकीनां वत्सकबीजस्य नक्तमालस्य । कल्कश्च मालतीनां कुष्ठेषून्मर्दनालेपौ ॥९५॥

कुष्ठ में उबटन और लेप—१. पठानी लोध का कल्क, २. धाय के फूलों का कल्क, ३. वत्सक के बीजों (इन्द्रजौ) का कल्क, ४. करञ्ज के फल का कल्क, ५. मालती पत्र का कल्क—कुष्ठरोग में उक्त कल्कों द्वारा उन्मर्द (उबटन) और लेप हितकर होता है।

वक्तव्य—उबटन के लिए उक्त द्रव्यों के शुष्क चूर्ण में सरसों का तेल मिला लिया जाता है और लेप के लिए इनको पानी द्वारा पीसकर कल्क (चटनी) जैसा बना लिया जाता है। लेप लगाने के बाद धूप में बैठकर इसे सुखा लेना चाहिए।

शैरीषी त्वक् पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि । पिष्टा च काकमाची चतुर्विधः कुष्ठनुल्लेपः ॥
इति लेपाः ।

कुष्ठ-हर चार लेप—१. सिरीष की छाल, २. कपास के फूल, ३. अमलतास की पत्तियाँ, ४. काकमाची (कालीमकोय) की पत्तियाँ—इनको अलग-अलग पीसकर बनाये गये ये चार प्रकार के लेप कुष्ठनाशक होते हैं।

वक्तव्य—लेप के लिए उपर्युक्त सभी द्रव्यों को यथासम्भव आर्द्र (गीला=ताजा) ही लेना चाहिए। इनको खूब बारीक पीसकर लेप तैयार करें। यदि सूखे द्रव्यों से लेप तैयार करना हो, तो इन्हें जल या गोमूत्र डालकर पीसें।

दार्व्या रसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य। आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य॥
इति षट् कषाययोगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्च तिनिशस्य। स्नाने पाने च हितास्तथाऽष्टमश्चाश्वमारस्य॥
आलेपनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः। तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम्॥

कुष्ठ-हर आठ योग—१. दारुहल्दी के क्वाथ से तैयार किया गया रसाञ्जन (रसवत), २. नीम तथा परवल की पत्तियाँ, ३. खदिर (खैर) वृक्ष का सार (मध्यभाग), ४. अमलतास की पत्तियाँ तथा कुटजवृक्ष की छाल, ५. त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) के फल, ६. सप्तपर्ण (छतिवन) की छाल—ये छः कुष्ठनाशक कषायों (क्वाथों) के योग हैं। ७. तिनिश (तिरिच्छ या स्यन्दन) वृक्ष की छाल के क्वाथ का स्नान तथा पान (पीने) में प्रयोग करना चाहिए। ८. अश्वमार (कनेर) की जड़ के चूर्ण का लेप, प्रघर्षण (उद्वर्तन या मर्दन), अवचूर्णन (कुष्ठ के घावों के ऊपर बुरकने) के लिए प्रयोग करना चाहिए और उपर्युक्त आठ कषाय योगों द्वारा कुष्ठरोग की शान्ति के लिए तैल एवं घृतपाक भी कराया जा सकता है।

वक्तव्य—उक्त तीन श्लोकों द्वारा कहे गये ८ कषाय स्नान, पान, आलेपन (कुष्ठ से दूषित अवयवों पर चारों ओर लेप लगाने), प्रघर्षण तथा अवचूर्णन के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इन्हीं कषायों द्वारा सिद्ध तैल एवं घी का प्रयोग भी कुष्ठ-शान्तिकारक होता है।

त्रिफला निम्बपटोलं मञ्जिष्ठा रोहिणी वचा रजनी।
एष कषायोऽभ्यस्तो निहन्ति कफपित्तजं कुष्ठम्॥ १००॥
एतैरेव च सर्पिः सिद्धं वातोल्बणं जयति कुष्ठम्। एष च कल्पो दिष्टः खदिरासनदारुनिम्बानाम्॥

त्रिफलादि कषाय—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), नीम की छाल, परवल की पत्ती, मजीठ, कुटकी, बालवच, हल्दी, (प्रत्येक द्रव्य २-२ माशा, जल १६ गुना शेष अष्टमांश) इनके क्वाथ का कुछ दिनों तक निरन्तर सेवन करने पर कफज-पित्तज कुष्ठों का विनाश हो जाता है। उक्त नौ द्रव्यों के क्वाथ और कल्क के योग से तैयार किया हुआ घी वातप्रधान कुष्ठ को जीत लेता है। यही कल्प खदिरसार, असन (विजयसार), देवदारु और नीम की छाल का कहा गया है।

कुष्ठार्कतुत्थकट्फलमूलकबीजानि रोहिणी कटुका।
कुटजफलोत्पलमुस्तं बृहतीकरवीरकासीसम्॥ १०२॥
एडगजनिम्बपाठा दुरालभा चित्रको विडङ्गश्च। तिक्तालाबुकबीजं कम्पिल्लकसर्षपौ वचा दार्वी॥
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठघ्नं योग एष चालेपः। उद्वर्तनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेष एवेष्टः॥१०४॥

कुष्ठादि तैल—कूठ, मदार की जड़, शुद्ध तूतिया, कट्फल (काफल या कायफल), मूली के बीज, रोहिणी कटुका (कुटकी), इन्द्रजौ, नीलकमल, नागरमोथा, बृहती (बड़ी कटेरी), कनेर की जड़, कासीस, चकवड़ के बीज, नीम की छाल, पाठा, दुरालभा (धमासा), चीता की जड़, वायविडंग, तितलौकी (कटुतुम्बी) के बीज, कम्पिल्ल (कबीला) पीली सरसों, बालवच, दारुहल्दी—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर क्वाथ बनायें। इन्हीं द्रव्यों द्वारा कल्क भी तैयार करें। इनसे विधिपूर्वक पकाये गये तिल-तैल के प्रयोग से कुष्ठों का नाश होता है। इन्हीं द्रव्यों को पीसकर लेप, उबटन, प्रघर्षण एवं चूर्ण भी बनाया जाता है। ये सभी योग कुष्ठ-नाशक होते हैं।

वक्तव्य—'रोहिणी कटुका' यदि इन दो शब्दों को अन्यत्र प्रयुक्त 'कटुरोहिणी' मान लिया जाये, जैसा श्रीजयदेव विद्यालंकार ने स्वीकार किया है, तो इसका अर्थ होगा—'कुटकी'। अन्यथा हरीतकी के सात भेदों में से दूसरा भेद 'रोहिणी' है। इसके गुणों का वर्णन करते हुए भावमिश्र ने कहा है—'रोहिणी व्रणरोहिणी'। भा० प्र० पू० खं० मिश्रवर्गप्रकरण ५।१०। इस दृष्टि से 'रोहिणी' को अलग स्वीकार कर लेना अनुचित नहीं

है, किन्तु आगे १०६ठे श्लोक में 'रोहिणी कटुका' को एक माना है। उद्वर्तन आदि प्रयोगों का स्पष्टी ग ऊपर कर दिया गया है। कुष्ठ-चिकित्सा में तिल-तैल से सरसों के तेल का सम्प्रदायानुसार अधिक समादर है।

श्वेतकरवीरकरसो गोमूत्रं चित्रको विडङ्गश्च। कुष्ठेषु तैलयोगः सिद्धोऽयं सम्मतो भिषजाम्॥
इति श्वेतकरवीराद्यं तैलम्।

श्वेतकरवीरादि तैल—सफेद कनेर की जड़ का रस, गोमूत्र, चित्रकमूल और वायविडंग—इन औषधों द्वारा सिद्ध (पकाया हुआ) तैल कुष्ठरोगों में लाभप्रद होता है, ऐसा चिकित्सकों का मत है।

वक्तव्य—तैल-निर्माण-विधि—सफेद कनेर की जड़ का रस ८ प्रस्थ (२५ सेर ९ छटांक ३ तोला) गोमूत्र ८ प्रस्थ, सरसों का तैल २ प्रस्थ (६ सेर ६ छटांक २ तोला)। चित्रकमूल का कल्क १६ तोला और वायविडंग का कल्क १६ तोला—इनसे सरसों के तेल का पाक करें।

मतभेद—आचार्य गंगाधर कनेरमूल का रस और गोमूत्र को मिलाकर तेल के प्रमाण से चौगुना लेने की चर्चा करते हैं। उनके मत से कनेर के मूल का रस ४ सेर, गोमूत्र ४ सेर, चित्रकमूल तथा वायविडंग का कल्क १-१ पाव और सरसों का तेल २ सेर लिया जाता है। वास्तव में निर्माण-प्रकार वह उत्तम होता है, जिससे तैल, घृत आदि में क्वाथ, कल्क आदि रूप में प्रयुक्त औषध द्रव्यों के समस्त गुण-धर्म आ जाते हैं। इसका निर्णय परिणाम (औषधयोग के प्रभाव) को देखकर ही किया जाता है।

श्वेतकरवीरपल्लवमूलत्वग्वत्सको विडङ्गश्च। कुष्ठार्कमूलसर्षपशिग्रुत्वग्रोहिणी कटुका॥१०६॥
एतैस्तैलं सिद्धं कल्कैः पादांशिकैर्गवां मूत्रम्। दत्त्वा तैलचतुर्गुणमभ्यङ्गात् कुष्ठकण्डूघ्नम्॥
इति श्वेतकरवीरपल्लवाद्यं तैलम्।

श्वेतकरवीरपल्लवादि तैल—सफेद कनेर की नयी पत्तियाँ, सफेद कनेर की जड़, इसी की छाल, वायविडंग, कूठ, मदार की जड़, पीली सरसों, शिग्रु (सहजन) की छाल, रोहिणीकटुका (कुटकी—जब कि दूसरे टीकाकारों ने ऊपर श्लोक १०२ के पूर्वार्ध में इसी पद को दो भागों में विभाजित कर 'रोहिणी' का अर्थ 'हरीतकी और कटुका का अर्थ 'कुटकी' किया है)—इन सभी द्रव्यों का १ पाव कल्क बनाकर १ सेर सरसों के तेल का यथाविधि पाक करें। तेल से चौगुना गोमूत्र डालें। इस तेल के अभ्यंग से कुष्ठ तथा खुजली रोग नष्ट होते हैं।

तिक्तालाबुकबीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे। बृहतीफलमेरण्डः सविशालश्चित्रको मूर्वा॥१०८॥
कासीसहिङ्गुशिग्रुत्र्यूषणसुरदारुतुम्बुरुविडङ्गम्। लाङ्गलकं कुटजत्वक् कटुकाख्या रोहिणी चैव॥
सर्षपतैलं कल्कैरेतैर्मूत्रे चतुर्गुणे साध्यम्। कण्डूकुष्ठविनाशनमभ्यङ्गान्मारुतकफहन्तृ॥११०॥
इति तिक्तेक्ष्वाक्वादितैलम्।

तिक्तेक्ष्वाकादि तैल—तितलौकी के बीज, दोनों तूतिया (ताम्रतुत्थ=नीलाथोथा, खर्परीतुत्थ), गोरोचन, हल्दी, दारुहल्दी, बृहती (बनभंटा का फल), रेंड की जड़, इन्द्रायण की जड़, चित्रकमूल, मूर्वा (मरोड़फली), कासीस, हींग, सहिजन की छाल, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), देवदारु, तुम्बुरु (नेपाली धनियाँ), वायविडंग, लांगलक (कलिहारी की जड़), कुटज की छाल, कटुरोहिणी (कुटकी)—इन सभी समान भाग द्रव्यों को लेकर आधा सेर कल्क तैयार करें। २ सेर सरसों का तेल, ८ सेर अर्थात् तेल से चौगुना गोमूत्र—इन सबको मिलाकर यथाविधि एकत्र पाक करें। इस तैल की मालिश करने से खुजली तथा कुष्ठ रोग का नाश होता है और इससे वातदोष एवं कफदोष का शमन भी होता है।

वक्तव्य—यह तिक्तेक्ष्वाक्वादि तैल वात तथा कफदोष-नाशक भी कहा गया है। अतः इसका बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार से प्रयोग किया जाता है। बाह्यप्रयोग अभ्यंग के रूप में और आभ्यन्तरप्रयोग पिलाकर कराया जाता है। इसलिए इसमें पड़ने वाले द्रव्यों में से दोनों तूतिया, कासीस, हींग तथा कलिहारी की जड़ इनका शोधन कराकर तभी प्रयोग करना चाहिए। इनके शोधन के लिए रसेन्द्रसारसंग्रह, रसरत्नसमुच्चय आदि रस-ग्रन्थों का अवलोकन करें।

कनकक्षीरी शैला भार्गी दन्त्याः फलानि मूलं च । जातीप्रवालसर्षपलशुनविडङ्गं करञ्जत्वक् ॥
सप्तच्छदार्कपल्लवमूलत्वङ्निम्बचित्रकास्फोताः । गुञ्जैरण्डं बृहतीमूलकसुरसार्जकफलानि ॥
[1]कुष्ठं पाठा मुस्तं तुम्बुरुमूर्वावचाः सषड्ग्रन्थाः । एडगजकुटजशिग्रुत्र्यूषणभल्लातकक्षवकाः ॥
हरितालमवाक्पुष्पी तुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासंज्ञः । सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम् ॥
कल्कैरेतैस्तैलं करवीरकमूलपल्लवकषाये । सार्षपमथवा तैलं गोमूत्रचतुर्गुणं साध्यम् ॥११५॥
स्थाप्यं कटुकालाबुनि तत्सिद्धं तेन मण्डलान्याशु ।
भिन्द्याद् भिषगभ्यङ्गात् क्रमींश्च कण्डूं च विनिहन्यात् ॥ ११६ ॥

इति कनकक्षीरीतैलम् ।

कनकक्षीरी तैल—कनकक्षीरी (सत्यानाशी, भड़भाड़ या चोक), शैला (मैनशिल), भारंगी, दन्ती का फल (जमालगोटा) तथा दन्ती का मूल, चमेली की पत्ती, पीली सरसों, लहसुन, वायविडंग, करंज की छाल, छतिवन की छाल, मदार की कोमल पत्ती, मदार के जड़ की छाल, नीम की छाल, चित्रकमूल, आस्फोता (अपराजिता या हाफरमाली), सफेद घुंघची, रेंड़ की जड़, वनभांड़ का फल, मूली के बीज, तुलसी के बीज, अर्जक (वनतुलसी) के बीज, कूठ, पाठा, नागरमोथा, तुम्बल के बीज, मूर्वा (मरोड़फली), वालवच, घोड़वच, चकवड़ के बीज, इन्द्रजौ, सहिजन की छाल, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), भिलावा के शुद्ध बीज, नकछिकनी, हरताल, अवाक्पुष्पी (अपामार्ग), नीला तूतिया (शुद्ध), कम्पिल्लक (कबीला), अमृतासंज्ञ (खर्परीतुत्थ अर्थात् खपरिया), सौराष्ट्री (सोरठी मिट्टी या फिटकिरी), कासीस (शुद्ध हीरा कासीस), दारुहल्दी का छिलका, सज्जीखार, सेंधानमक—इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनका कल्क १ शराव (३२ तोला), कनेर की जड़ तथा पत्तियों का क्वाथ ८ सेर, सरसों अथवा तिल का तैल २ सेर, गोमूत्र तेल से चौगुना (८ सेर) इन सबको मिलाकर पकायें। तैयार हो जाने पर इसे छानकर तितलौकी की तुम्बी में रखें। इस तेल का अभ्यंग कराने से चिकित्सक शीघ्र ही मंडलकुष्ठ का भेदन कर सकता है और क्रिमियों एवं कण्डू (खुजली) का भी विनाश कर सकता है।

वक्तव्य—यह तैल अभ्यंग तथा पीने के रूप में प्रयुक्त होता है। अतः इसमें मैनशिल, गुंजा, हरताल, तूतिया, आदि द्रव्यों को शुद्ध करके ही डालना चाहिए। इसके निर्माण के समय चिकित्सक को पाठभेदों पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए। निर्णयसागरीय प्रति में 'अमृतासञ्ज्ञः' और श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित प्रति में 'अमृतासङ्गः' पाठ दिया गया है। वैद्यकशब्दसिन्धु के अनुसार श्रीजयदेव वाला पाठ अधिक आदरणीय प्रतीत होता है।

आचार्य गंगाधर 'अवाक्पुष्पी' का अर्थ 'सोया' करते हैं। आचार्य इन्दु 'अमृतासङ्ग'—इस शब्द से दो द्रव्यों का ग्रहण करते हैं—अमृता=गिलोय और आसङ्ग=रसाञ्जन। सर्जिकालवण—इसे वे दो पदार्थ न मानकर एक ही मानते हैं, जिसे 'सज्जीखार' कहते हैं। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। द्रव्यों की दृष्टि से इसे अवश्य देखें—अ० सं० चि० अ० २१।१०३-१०८।

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनःशिलं सकासीसम् । तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे ॥
तेनालिप्तं सिध्मं [2]सप्ताहाद्व्येति तिष्ठतो घर्मे । मासान्नवं किलासं स्नानं मुक्त्वा विशुद्धतनोः ॥

इति सिध्मे लेपः ।

सिध्मकुष्ठ में लेप—कूठ, तमालपत्र (तेजपत्ता), कालीमिर्च, मैनसिल, कासीस—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को सरसों के तेल में मिलाकर एक सप्ताह तक ताम्रपात्र में रख दें। तदनन्तर उस लेप को लगातार सात दिन तक लगाकर धूप में बैठने से सिध्मकुष्ठ का नाश हो जाता है और नवकिलास रोग अर्थात् सफेद कुष्ठरोग में एक मास तक प्रतिदिन इस लेप का प्रयोग करने से लाभ हो जाता है। इसके सेवनकाल में स्नान नहीं करना चाहिए। किन्तु अन्य प्रकार से शरीर को शुद्ध रखना चाहिए।

१. कुष्ठं तुम्बरु पाठा मूर्वा मुस्तं वचाऽथ षड्ग्रन्था' इति पा०।
२. 'सप्ताहाद् घर्मसेविनो व्येति' इति पा०।

वक्तव्य—'स्नानं मुक्त्वा' सिध्मकुष्ठ में स्नान न करने की बात विचारणीय है। 'मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने-दिने'। गीतामाहात्म्य। त्वगिन्द्रिय की शुद्धि के लिए ही स्नान का विधान होता है। किन्तु यहाँ रोगाक्रान्त स्थल को जहाँ-जहाँ उक्त लेप लगाया गया है वहाँ-वहाँ धोने का निषेध किया गया है। इस निषेध का तात्पर्य मात्र यह है कि स्नान करने से लेप का प्रभाव समाप्त या कम हो जायेगा।

सर्षपकरञ्जकोषातकीनां तैलान्यथेङ्गुदीनां च । कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरसारस्य ॥

कुष्ठ में तैल-प्रयोग—१. सरसों का तेल, २. करंज (डिठौरी) का तेल, ३. कड़ुतोरई का तेल, ४. इंगुदी (हिंगोटवृक्ष) के फल का तेल और ५. खदिरसार का तेल—ये सभी तेल कुष्ठरोगों में हितकर होते हैं।

वक्तव्य—उक्त सभी तेल बाजारों में मिलते हैं अथवा इनके बीज एकत्र कर इनका तेल निकाला जाता है। प्रत्येक तेल का स्वतन्त्र प्रयोग अथवा इनको परस्पर मिलाकर प्रयोग करने की व्यवस्था यथावसर चिकित्सक देता है। खदिरसार का तेल पातालयन्त्र की सहायता से निकाल लिया जाता है। यह तेल कषायरस-प्रधान होने से कुष्ठों में अच्छा कार्य करता है। वैसे भी खदिर कुष्ठनाशक द्रव्यों में अग्रणी है ही।

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकः पयस्तुत्थम् । एष घृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्जरसः ॥
देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन शाम्यतेऽभ्यक्ता । चर्मैककुष्ठकिटिमं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥

इति विपादिकाहरघृततैले ।

विपादिकाहर घृत-तैल—जीवन्ती, मजीठ, दारुहल्दी, कबीला—इन सबको समान भाग लेकर इनका पय (क्वाथ किया हुआ जल) और शुद्ध तूतिया के कल्क से घी तथा तेल का पाक करें। जब घी और तेल का पाक हो जाये, तब उसमें प्रक्षेप के रूप में सर्जरस (राल) तथा मधूच्छिष्ट (मोम) डालकर मिला दें। इस प्रकार तैयार किये हुए इस यमकस्नेह (घृत-तैल) के प्रयोग (लगाने) से विपादिका नामक कुष्ठ शान्त हो जाता है और चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिमकुष्ठ तथा अलसककुष्ठ भी शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—जीवन्ती से कबीला तक प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा सेर लें। इनको सोलह सेर जल में डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश (४ सेर) जल शेष रह जाये तो उसमें १ तोला तूतिया का चूर्ण मिला दें। कुछ देर बाद तूतिया घुल जाता है। तब इसे छान लें। अब इसमें आधा सेर गाय का घी और उतना ही सरसों का तेल मिलाकर इसको पुनः पकायें। जब क्वाथ जलकर स्नेह मात्र शेष रह जाये, तब इसमें १ पाव मोम और आधा पाव राल का चूर्ण करके मिला दें और इसे चलाते रहें। मलहम के सदृश हो जाने पर इसे उतार कर रख लें। इसका प्रयोग उपर्युक्त विपादिका आदि कुष्ठों में किया जाता है।

[1]किण्वं वराहरुधिरं पृथ्वीका सैन्धवं च लेपः स्यात् । लेपो योज्यः कुस्तुम्बुरूणि कुष्ठं च मण्डलनुत् ॥

मण्डल-कुष्ठनाशक दो लेप—१. किण्व (सुराबीज—आसव, अरिष्ट के नीचे जमा हुआ गाढ़ा भाग), सूअर का रक्त (खून), पृथ्वीका (मँगरैला), सेंधानमक—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर लेप तैयार करें। यह लेप मंडलकुष्ठ का नाश करता है। २. कुस्तुम्बुरु (धनियाँ) और कूठ—इनको कूट-पीसकर तैयार किया हुआ लेप भी मंडलकुष्ठ का नाश करता है।

वक्तव्य—अन्यत्र इन दोनों लेपों का नाम क्रमशः—१. किण्वादि लेप और २. कुस्तुम्बुर्वादि लेप है। इनसे मंडलकुष्ठ फूटकर उसमें से पूयमिश्रित दूषित रक्त निकलकर व्रणरोपण हो जाता है।

पूतीकदारुजटिलाः पक्वसुरा क्षौद्रमुद्गपर्ण्यौ च । लेपः सकाकनासो मण्डलकुष्ठापहः सिद्धः ॥

मण्डलकुष्ठ में तीसरा लेप—३. पूतिकरंज की गुद्दी, दारु (देवदारु), जटिला (जटामांसी), पक्वसुरा (पक्वरस नामक तीक्ष्ण मद्य विशेष), क्षौद्र (मधु), मुद्गपर्णी, काकनासा (कौवाठोडी)—इन समभाग द्रव्यों के योग से बनाया गया यह लेप मण्डलकुष्ठ का नाश करता है।

चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि । खदिरो धवश्च लेपः श्यामा दन्ती द्रवन्ती च ॥

१. 'क्लिन्नम्' इति पा०।

लाक्षारसाञ्जनैलाः पुनर्नवा चेति कुष्ठिनो लेपाः ।
दधिमण्डयुताः सर्वे देयाः षण्मारुतकफकुष्ठघ्नाः ॥ १२५ ॥

वात-कफकुष्ठहर छः योग—१. चीता की छाल, शोभाञ्जनक (सहजन) की छाल, २. गिलोय, अपामार्ग (चिरचिटा), देवदारु, ३. खदिरसार, धाय के फूल, ४. श्यामा (काली निशोथ), दन्तीमूल, द्रवन्ती (बड़ी दन्ती), ५. लाख, रसाञ्जन (रसौत या रसवत), बड़ी इलायची, ६. पुनर्नवा—ये अलग-अलग दही के मण्ड (पानी) में डालकर पीसे गये छः लेप वातज तथा कफज कुष्ठों का विनाश करते हैं।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि **'षण्मारुतकफकुष्ठघ्नाः'** की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'किण्वं वराहरुधिरमित्याद्युक्ताः षड् भवन्ति'। अन्ये चित्रकादीनेव श्लोकपादोक्तान् षड् वर्णयन्ति'। तदनुसार श्लोक १२२ में वर्णित—१. किण्वादि लेप, २. कुस्तुम्बुर्वादि लेप; श्लोक १२३ में वर्णित—३. पूतिकादि लेप, शेष तीन श्लोक १२४-१२५ में वर्णित लेप। दूसरे टीकाकार श्लोक १२४-१२५ में ही छः योगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। आचार्य गंगाधर के मत से खदिर और धव दो स्वतन्त्र लेप हैं। व्याकरण की दृष्टि से फिर दन्ती-द्रवन्ती को भी स्वतन्त्र योग मानना चाहिए था।

हमारे विचार से योग-विभाजन में चिकित्सक का दायित्व है। यहाँ तो तन्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट 'षट्' शब्द इस प्रकार के विवेचन के लिए हमें बाध्य कर रहा है।

एडगजकुष्ठसैन्धवसौवीरकसर्षपैः क्रिमिघ्नैश्च । क्रिमिकुष्ठमण्डलाख्यं दद्रूकुष्ठं च शममुपैति ।

एडगजादि लेप—एडगज (चकवड़), कूट (सुप्रसिद्ध सुगन्धित द्रव्य), सैंधानमक, सौवीरक (काञ्जी का भेद), पीली सरसों और वायविडंग—इन सब समभाग द्रव्यों द्वारा बनाये गये उक्त लेप से क्रिमि, मण्डलकुष्ठ तथा दद्रू कुष्ठ शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—चकवड़ आदि द्रव्यों को सौवीर का रस डालकर पीसना चाहिए। इस लेप को प्रतिदिन बनाना चाहिए, अन्यथा रखे हुए लेप से दुर्गन्ध आने लगेगी। आवश्यकतानुसार प्रतिदिन तैयार किया हुआ यह लेप अधिक हितकर होता है।

एडगजः सर्जरसो मूलकबीजं च सिध्मकुष्ठानाम् । काञ्जिकयुक्तं तु पृथङ्मतमिदमुद्वर्तनं लेपाः ॥

सिध्मनाशक तीन योग—१. चकवड़ के बीज, २. सर्जरस (राल), ३. मूली के बीज—इन तीनों को अलग-अलग काञ्जी के साथ पीसकर सिध्मकुष्ठ के लिए उबटन तैयार किया जाता है और इन्हीं से तीन लेप भी बनाये जाते हैं, जो सिध्मकुष्ठ में प्रयुक्त होते हैं।

वक्तव्य—उद्वर्तन (उबटन) लगाने के पहले तेल की मालिश करानी चाहिए और लेप लगाने के बाद उसे धूप में बैठकर सुखा लेना चाहिए। श्रीजयदेव विद्यालंकार 'लेपाः' के स्थान पर 'क्रमशः' पाठ को स्वीकार करते हैं। तदनुसार पहले चकवड़ के बीजों का उद्वर्तन, फिर सर्जरस का और अन्त में मूली के बीजों का मात्र उबटन लगाना चाहिए, न कि लेप।

वासा त्रिफला पाने स्नाने चोद्वर्तने प्रलेपे च । बृहतीसेव्यपटोलाः ससारिवा रोहिणी चैव ॥
खदिरावघातककुभरोहीतकलोध्रकुटजधवनिम्बाः । सप्तच्छदकरवीराः शस्यन्ते स्नानपानेषु ॥

कुष्ठ में स्नान-पान आदि—१. अडूसा तथा त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) का क्वाथ कुष्ठरोग में पीने के लिए एवं स्नान के लिए श्रेष्ठ होता है। अडूसा और त्रिफला का कुष्ठरोग में उबटन लगाया जाता है (उबटन के लिए इनके चूर्ण में थोड़ा-सा सरसों का तेल मिला लिया जाता है)। इन्हीं द्रव्यों का प्रलेप बनाकर कुष्ठव्रणों के ऊपर लगाया जाता है (उक्त द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को गोमूत्र के साथ घोटकर लेप तैयार कर लिया जाता है)। २. बृहती (वनभंटा या बड़ी कटेरी), खश, परवल की पत्ती, सारिवा (अनन्तमूल), कुटकी, खदिरसार, अवघातक (कर्णिकाकार—चक्र०, पाठभेद के अनुसार—आमयधात=अमलतास), ककुभ (अर्जुन) वृक्ष की छाल, रोहीतक (रोहिड़ा) की छाल, लोध की छाल, इन्द्रजौ, धव के फूल, नीम की छाल, छतिवन की छाल, करवीर (कनेर) के जड़ की छाल—इनके क्वाथों का प्रयोग स्नान के लिए तथा पीने के लिए कुष्ठरोगों में प्रशंसनीय कहा गया है।

वक्तव्य—श्लोक १२८ में निर्दिष्ट योग स्नान, पान, उद्वर्तन तथा प्रलेप में श्रेष्ठ माना गया है और १२९वें श्लोक में कहे गये द्रव्य केवल स्नान-पान के लिए ही नहीं, अपितु उन सभी प्रयोगों के लिए विहित हैं, जो १२८वें पद्य में कहे गये हैं। यह आर्यावृत्त है, जिसके चौथे पाद में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। अतः स्नान-पानेषु' प्रयोग छन्द तथा अर्थ की दृष्टि से उचित है। इसका विग्रह इस प्रकार होगा—'स्नानानि च पानानि च तेषु', इति द्वन्द्वः। द्वन्द्वसमास 'बहुप्रकृति' वाला भी शास्त्रसम्मत है। देखें—सिद्धान्तकौमुदी-द्वन्द्वसमासप्रकरण।

अवघातक—आचार्य चक्रपाणि ने इसका पर्याय 'कर्णिकाकार' लिखा है। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में इसका पर्याय नहीं दिया गया है। भावप्रकाश में योनिरोग-प्रकरण में मांसग्रन्थि रूप एक रोग का नाम 'कर्णिकाकार' है। श्रीजयदेव ने उक्त शब्द के स्थान पर 'आमयवात' का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है—अमलतास। इसकी पत्ती अथवा गूदा का ग्रहण प्रयोग को देखकर किया जाता है।

जलवाप्यलोहकेशरपत्रप्लवचन्दनं मृणालानि । भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥१३०॥

पित्तज, कफज कुष्ठहर लेप—जल (सुगन्धवाला) १ भाग, वाप्य (कूठ) २ भाग, लोह (अगुरु) ३ भाग, नागकेशर ४ भाग, पत्र (तेजपत्ता) ५ भाग, प्लव (केवटीमोथा) ६ भाग, लालचन्दन ७ भाग मृणाल (खश) ८ भाग—इन द्रव्यों को निर्दिष्ट अनुपात में लेकर गोमूत्र डालकर पीसें। इस लेप को लगाने से पित्तज तथा कफज कुष्ठों का शमन होता है। यह सिद्ध योग है।

यष्ट्याह्वलोध्रपद्मकपटोलपिचुमर्दचन्दनरसाश्च । स्नाने पाने च हिताः सुशीतलाः पित्तकुष्ठिभ्यः ॥

पित्तज कुष्ठहर क्वाथ—मुलेठी, लोध, पद्मक (पद्माख), परवल की पत्ती, नीम की छाल, लालचन्दन, इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनका शीतल रस (क्वाथविधि से तैयार किया गया स्वरस) स्नान तथा पान (पीने के लिए) पित्तज कुष्ठरोगी के लिए हितकर होता है।

आलेपनं प्रियङ्गुर्हरेणुका वत्सकस्य च फलानि ।
सातिविषा च ससेव्या सचन्दना रोहिणी कटुका ॥ १३२ ॥

पित्तज कुष्ठ में आलेपन—फूलप्रियंगु, रेणुका, कुटज के फल (इन्द्रजौ), अतीस, खस, लालचन्दन और कुटकी—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर लेप तैयार करें। इसका कुष्ठव्रणों के ऊपर लेप करने से पित्तज कुष्ठ शान्त होते हैं।

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु । तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ॥१३३॥

कुष्ठ में दाहहर अभ्यंग—जिन कुष्ठों में अधिक दाह होता हो, अर्थात मानो कुष्ठ-स्थान जल रहा हो, उनमें तिक्तघृतों, शतधौत या सहस्रधौत घृतों से अभ्यंग कराना चाहिए। अथवा लालचन्दन, मुलेठी, पुण्डरियाकाठ, नीलकमल—इन द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुए तैलों का अभ्यंग करना चाहिए। इनके प्रयोग से कुष्ठज दाह की शान्ति होती है।

वक्तव्य—दह्यमान कुष्ठों में पित्तदोष के प्रकोप की प्रधानता रहती है, अतः ये सब पित्तशामक उपाय हैं। आप भी उक्त द्रव्यों के गुण-धर्मों पर ध्यान दें।

क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके सचर्मदले । शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तम् ॥

विस्फोटक चर्मदल चिकित्सा—कुष्ठ रोगी के कुष्ठज व्रणों में क्लेद (गीलापन या क्लिन्नता) हो जाने पर या अंगों के सड़-सड़कर गिर जाने पर, या दाह (जलन) होने पर, विस्फोटक तथा चर्मदल नामक कुष्ठ में शीतल प्रदेह (लेप), सेक (परिषेक—व्रण-वेदना की शान्ति के लिए किये गये उष्ण क्वाथ का छिड़काव, (देखें—सु० चि० अ० १।१७), व्यध (शिरावेध, रक्तमोक्षण, प्रच्छन-क्रिया), विरेचन और तिक्तघृत का पान कराना चाहिए।

वक्तव्य—प्रदेह, सेक, व्यध आदि कर्मों की चर्चा चरक तथा सुश्रुत दोनों ने की है, अन्तर इतना ही है कि चरक में इनकी संख्या ३६ है और सुश्रुत में ६४ है। ये सभी व्रण के उपक्रम हैं। देखें—च० चि० अ० २५।३८-४३। सुश्रुत चि० अ० १।८।

खदिरघृतं निम्बघृतं दार्वीघृतमुत्तमं पटोलघृतम् । कुष्ठेषु रक्तपित्तप्रबलेषु भिषग्जितं सिद्धम् ॥

कुष्ठ में विविध घृतयोग—जिन कुष्ठ-रोगों में रक्त तथा पित्त की प्रधानता हो, उनमें १. खदिरघृत, २. निम्बघृत, ३. दार्वीघृत, ४. पटोलघृत—इन द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क द्वारा यथाविधि सिद्ध किये हुए घृत उत्तम होते हैं । यही कुष्ठरोग की सिद्ध चिकित्सा है ।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोकों में चार घृतों का उल्लेख कुष्ठरोग के लिए किया गया है । खदिरघृत का निर्माण—खैरसार के छोटे-छोटे टुकड़े कर उसको पीसकर कल्क बनायें और इसी का क्वाथ करें । इनके सहयोग से घी का पाक करें । किन्तु अन्यत्र खदिरघृत को सिद्ध करने के लिए खदिरसार का क्वाथ और त्रिफला का कल्क बनाया जाता है । अस्तु । खदिरघृत की भाँति ही अन्य तीनों घृतों को भी तैयार करना चाहिए ।

त्रिफलात्वचोऽर्धपलिकाः पटोलपत्रं च कार्षिकाः शेषाः ।
कटुरोहिणी सनिम्बा यष्ट्याह्वा त्रायमाणा च ॥ १३६ ॥
एष कषायः साध्यो दत्त्वा द्विपलं मसूरविदलानाम् । सलिलाढकेऽष्टभागे शेषे पूतो रसो ग्राह्यः ॥
[1]ते च कषायेऽष्टपले चतुष्पलं सर्पिषश्च पक्तव्यम् । यावत् स्यादष्टपलं शेषं पेयं ततः कोष्णम् ॥
तद्वातपित्तकुष्ठं वीसर्पं वातशोणितं प्रबलम् । ज्वरदाहगुल्मविद्रधिविभ्रमविस्फोटकान् हन्ति ॥

त्रिफलादि योग—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला—इन तीनों) के छिलके आधे-आधे पल (२-२ तोला), परवल की पत्ती आधा पल (२ तोला), कड़ुरोहिणी (कुटकी), नीम की छाल, मुलेठी तथा त्रायमाणा—ये चार द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) तथा मसूर की दाल २ पल (८ तोला)—इन सब द्रव्यों को १ आढक (२५६ तोला) जल में डालकर मन्द-मन्द अग्नि पर पकायें, जब आठवाँ भाग जल शेष रह जाये तो उस रस को छानकर रख लें । इस आठ पल (३२ तोला) क्वाथ रस में चार पल (१६ तोला) गाय का घी डालकर पकायें । पकते-पकते जब ४ पल क्वाथ जल जाये तो उसे उतार कर रख लें । गुन-गुना घृतमिश्रित यह क्वाथ कुष्ठरोगी को पीने के लिए दें । उस क्वाथ को पीने से वात-पित्त-प्रधान कुष्ठ, विसर्प, प्रबल (पर्याप्त बढ़ा हुआ) वातरक्त, ज्वर, दाह गुल्म, विद्रधि, विभ्रम (चक्करों का आना) और विस्फोट (कुष्ठभेद) ये रोग नष्ट हो जाते हैं ।

वक्तव्य—'ते च कषायेऽष्टपले'—यहाँ पर नपुंसकलिंग ('कषायोऽस्त्री', अमर० तृ० का० ३।१५३) 'कषाय' शब्द का प्रथमा द्विवचनान्त प्रयोग किया गया है, जब कि अन्यत्र इसका पुंल्लिंग प्रयोग ही अधिक देखा जाता है । यथा—'शृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते । शा० सं० म० खं० अ० २।२ । यद्यपि 'ते च' इसके स्थान पर 'तत्र' पाठभेद उपलब्ध होता है, तथापि आचार्य चक्रपाणि 'ते च' पाठ को इस प्रकार समर्थन देते हैं—'अत्र चाष्टाविंशत्युत्तरपलशतमानस्याष्टभागशेषे षोडशपलानि भवन्ति । तच्च द्रवषोडशपलमष्टपलशब्देनाकृत-द्वैगुण्येनैवोच्यते, पलेऽपि यदि द्रव्यद्वैगुण्यं स्यात् तदा षोडशपलेन द्वात्रिंशत्पलानि स्युः । न चेहाढकाष्टभागशेषे द्वात्रिंशत्पलत्वं किन्तु षोडशपलमेव; तेनैतस्मादेवाष्टपलशब्देनाकृतद्वैगुण्याद् द्रवषोडशपलग्रहणादुन्नीयते यत्—पलोल्लेख्यमाने द्वैगुण्यं नास्ति, किञ्च कुडवादावेव द्रवद्वैगुण्यमिहानुमतं तन्त्रान्तरेणाप्यनुमतमिति' ।

आचार्य गङ्गाधर भी इसको समर्थन देते हुए लिखते हैं—'एष सलिलाढकेऽष्टशरावे द्वैगुण्यभावविवक्षातः साध्यः । अष्टभागेऽष्टपले शेषे पूतो वस्त्रपूतं कृत्वा रसो ग्राह्यः । तत्र शरावमिते कषाये घृतस्य चतुष्पलं पक्तव्यं, शेषं तु अष्टपलं कार्यम्' । इति । इस दृष्टि से उक्त त्रिफलादि कषाय को दो जगह आठ-आठ पल रखना स्वीकारा गया है, जब कि मूल में 'द्रवद्वैगुण्य' संकेत नहीं किया गया है । यदि आठ-आठ पल कषाय दो जगह रखना होगा तो निश्चय ही 'द्रवद्वैगुण्य' का प्रयोग करना होगा और उक्त ४ पल गाय के घी को दो बार पकाकर शेष ८ पल रखना होगा । शेष निर्विवाद है ।

मात्रा-निर्देश—इसी विषय का विवेचन अनेक स्थानों पर किया जा चुका है, तथापि यहाँ दी गयी उक्त मात्रा आजकल व्यवहार की दृष्टि से अधिक है । आज तो अधिक से अधिक ४ तोला घी को उत्तम मात्रा माना

१. 'तत्र' इति पा० ।

जा सकता है । इसमें भी देश, काल, वय आदि के विशेष विचार का भार चिकित्सक पर है । वे स्वयं उत्तम, मध्यम तथा हीन मात्रा का निर्धारण करें ।

निम्बपटोलं दार्वीं दुरालभां तिक्तरोहिणीं त्रिफलाम् । कुर्यादर्धपलांशं पर्पटकं त्रायमाणां च ॥
सलिलाढकसिद्धानां रसेऽष्टभागस्थिते क्षिपेत् पूते ।
चन्दनकिराततिक्तकमागधिकास्त्रायमाणां च ॥ १४१ ॥
मुस्तं वत्सकबीजं कल्कीकृत्यार्धकार्षिकान् भागान् । नवसर्पिषश्च षट्पलमेतत् सिद्धं घृतं पेयम् ॥
कुष्ठज्वरगुल्मार्शोग्रहणीपाण्ड्वामयश्वयथुहारि । पामाविसर्पपिडकाकण्डूमदगण्डनुत्सिद्धम् ॥१४३॥
इति तिक्तषट्पलकं घृतम् ।

तिक्तषट्पलकघृत—नीम की छाल, परवल की पत्ती, दारुहल्दी, दुरालभा, कुटकी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) का छिलका, पित्तपापड़ा तथा त्रायमाणा—ये प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा पल (२-२ तोला) लें । इन द्रव्यों को जौकुट करके १ आढक (२५६ तोला) जल में डालकर क्वाथ करें, अष्टमांश (३२ तोला) शेष रहने पर इसे उतार कर कपड़े से छान लें । इसमें लालचन्दन, चिरायता, पिप्पली, त्रायमाणा, नागरमोथा, और वत्सकबीज (इन्द्रजौ)—इन द्रव्यों को आधा-आधा कर्ष (तोला) लेकर इनका कल्क तैयार करें । उक्त क्वाथ तथा इस कल्क द्वारा गाय का घी ६ पल (२४ तोला) को पकायें । यथाविधि घृतपाक होने पर उसे छानकर रख लें । इस घृत का प्रतिदिन सेवन करने से कुष्ठ, ज्वर, गुल्म, अर्श, ग्रहणी, पाण्डुरोग तथा शोथ रोग नष्ट हो जाते हैं ।

वक्तव्य—अन्यत्र घृत या तैलपाक पर्याप्त मात्रा में करके रख लिया जाता है और वह बहुत समय तक प्रयोग में लाया जाता है, किन्तु तन्त्रकार ने यहाँ षट्पल (२४ तोला) घृत का निर्माण करने की जो आज्ञा दी है, उससे यह प्रतीत होता है कि प्रतिदिन घृतपाक करके इसका तीन-चार बार प्रतिदिन सेवन कराना चाहिए । प्राचीनकाल में किया गया यह मात्रा-निर्देश आज के वातावरण में समीचीन प्रतीत नहीं होता । इसकी मात्रा २ तोला से ४ तोला तक ही सीमित रखनी चाहिए ।

आचार्य गंगाधर का मत—'एष सलिलाढकेऽष्टशरावे द्वैगुण्याभावविवक्षातः साध्यः । अष्टभागेऽष्टपले शेषे पूतो वस्त्रपूतं कृत्वा रसो ग्राह्यः । तत्र शरावमिते कषाये घृतस्य चतुष्पलं पक्तव्यं, शेषं तु अष्टपलं कार्यम्' ॥ अर्थात् जिस प्रकार 'त्रिफलायोग' में 'द्रवद्वैगुण्य' परिभाषा का प्रयोग करने की चक्रपाणि ने संस्तुति की है, वैसा इस योग में नहीं करना है । शेष स्पष्ट है ।

इस योग को सुश्रुतसंहिता में केवल 'तिक्तकघृत' की संज्ञा दी है । देखें—'त्रिफला…चेति' । सु० चि० अ० ९।९ । इस योग में चरक ने जहाँ 'दार्वी' द्रव्य का ग्रहण किया है, उसके स्थान पर सुश्रुत ने 'आटरूषक' (अड़ूसा) द्रव्य को अपनाया है । वृद्धवाग्भट ने भी इसका नाम 'तिक्तकसर्पि' रखा है । इस योग में चरक ने जहाँ 'त्रिफला' का प्रयोग किया है, वहाँ इन्होंने 'दार्वी' का ग्रहण किया है और ये 'सर्पिषो द्वादशपलं साधयेत्' कहते हैं । देखें—'पित्तोत्तरे…रोगानपहरति' । अ० सं० चि० अ० २१।२ । वाग्भट ने प्रायः अष्टांगसंग्रहोक्त योग को ही श्लोकबद्ध कर दिया है । शेष देखें—पटोल…गदान्' ॥ अ० हृ० चि० अ० १९।२-७ ।

मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम् ॥
सप्तच्छदं प्रतिविषां शम्पाकं तिक्तरोहिणीं पाठाम् । मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम् ॥
धन्वयवासं चन्दनमुपकुल्यां पद्मकं हरिद्रे द्वे । षड्ग्रन्थां सविशालां शतावरीं सारिवे चोभे ॥
वत्सकबीजं [1]यासं मूर्वाममृतां किराततिक्तं च । कल्कान् कुर्यान्मतिमान्यष्ट्याह्वं त्रायमाणां च ॥
[2]कल्कश्चातुर्भागो जलमष्टगुणं रसोऽमृतफलानाम् । द्विगुणो घृतात्प्रदेयस्तत्सर्पिः पाययेत्सिद्धम् ॥
कुष्ठानि रक्तपित्तप्रबलान्यर्शांसि रक्तवाहीनि । [3]वीसर्पमम्लपित्तं वातासृक् पाण्डुरोगं च ॥
विस्फोटकान्सपामानुन्मादं कामलां ज्वरं कण्डूम् । हृद्रोगगुल्मपिडका असृग्दरं गण्डमालां च ॥

१. 'वासाम्' इति पा० ।
२. 'कल्कश्चतुर्थभागः' इति पा० ।
३. 'वीसर्परक्तपित्तम्' इति पा० ।

हन्यादेतत् सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः। योगशतैरप्यजितान्महाविकारान्महातिक्तम् ॥

इति महातिक्तकं घृतम्।

महातिक्तक घृत—छतिवन की छाल, अतीस, अमलतास की पत्ती अथवा छाल, कुटकी, पाठा, नागरमोथा, खश, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), परवल की पत्ती, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, धन्वयवास (धमासा), लालचन्दन, पिप्पली पद्मककाठ, दोनों हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), घोड़वच, इन्द्रायण की जड़, शतावर, दोनों सारिवा (अनन्तमूल, श्यामलता), वत्सकबीज (इन्द्रजौ), यास (लालदुरालभा, पाठ-भेद के अनुसार—अडूसा), मूर्वा (मरोड़फली) की जड़, गिलोय, चिरायता, मुलेठी, त्रायमाणा—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कल्क तैयार करें। कल्क से चौगुना गाय का घी, घृत से आठ गुना जल और घृत से दूना अमृतफलों (आँवलों) का रस=स्वरस—इन सबको मिलाकर घृतपाक-विधि से इसका पाक करें। जब यह तैयार हो जाये तो स्वांगशीतल होने पर घी को छानकर रख लें।

इस महातिक्तक घृत का उचित काल तथा मात्रा में रोगी के अग्निबल के अनुसार सेवन कराने से रक्त एवं पित्त-प्रधान सभी प्रकार के कुष्ठ रोग, रक्तवाही अर्शरोग (रक्तार्श या खूनी बवासीर), विसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पाण्डुरोग, विस्फोटक, पामा, उन्माद, कामला, ज्वर, कण्डू, हृद्रोग, गुल्म, पिडका, रक्तप्रदर और गण्डमाला रोगों का शीघ्र शमन हो जाता है। अधिक क्या कहा जाय, उपर्युक्त रोग जिनका शमन अन्य सैकड़ों योगों से भी न हो सका हो, उन सबका शमन यह महातिक्तक घृत कर देता है।

वक्तव्य—ऊपर कल्क बनाने के लिए किसी द्रव का उल्लेख नहीं किया गया है। नियमानुसार 'द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यम्'। शार्ङ्गधरसंहिता। यहाँ जल लेना चाहिए, किन्तु प्रकरणानुसार यहाँ यदि जल के स्थान पर गोमूत्र का ग्रहण किया जाये तो अधिक अच्छा होगा। **रसोऽमृतफलानाम्**—यहाँ आँवलों का रस (स्वरस) लेने की आज्ञा है। यदि ऐसे अवसर पर घृतपाक करना हो और जब परिपक्व ताजे आँवले सुलभ न हों तो सूखे आँवलों के क्वाथ से काम लिया जा सकता है।

वीसर्पमम्लपित्तम्—इस पाठ के स्थान पर 'वीसर्परक्तपित्तं' पाठ को श्रीजयदेव विद्यालंकार ने प्राथमिकता दी है, जो समीचीन प्रतीत होता है। जिन टीकाकारों ने 'रक्तपित्तप्रबलानि' में आये हुए 'रक्तपित्त' शब्द को 'कुष्ठानि' का विशेषण न मानकर एक रोग मान लिया है, इस सम्बन्ध में वे क्या तर्क उपस्थित करते हैं, वह मन और वाणी का अगम-अगोचर विषय है।

महाविकार—१. उन्माद, २. त्वग्दोष (कुष्ठरोग), ३. राजयक्ष्मा, ४. श्वास, ५. मधुमेह, ६. भगन्दर, ७. उदररोग, ८. अश्मरी। नारदस्मृति। वाग्भट ने भी आठ महारोगों का इस प्रकार उल्लेख किया है—१. वातव्याधि, २. अश्मरी, ३. कुष्ठ, ४. प्रमेह (मधुमेह), ५. उदररोग, ६. भगन्दर, ७. अर्श (बवासीर), ग्रहणी (संग्रहणी)। अ० हृ० नि० अ० ८।३०।

वृद्धवाग्भट ने भी महातिक्त घृत का योग दिया है, किन्तु इन्होंने 'गजपिप्पली' द्रव्य का संग्रह कल्क निर्माण के लिए किया है। देखें—'सप्तच्छद·········पूर्वस्मात्'। अ० सं० चि० अ० २१।४। सुश्रुत ने जो महातिक्तक घृत का निर्देश किया है। उसमें कुछ द्रव्यों का परिवर्तन कर दिया है। देखें—'सप्तपर्णा······पामादीन्छमयेदिति'। सु० चि० अ० ९।८। यहाँ 'गृष्टिका' शब्द पर विचार करना आवश्यक है—'गृष्टिः एव गृष्टिका', स्वार्थे कप्रत्ययः, स्त्रीत्वे टाप् च। 'गृष्टि' का अर्थ होता है—पहली बार ब्यायी हुई गाय अथवा बेर। गृष्टिका का पर्याय वाराहीकन्द भी दिया गया है। नैनीताल आदि पर्वतीय स्थानों में गृष्टि (गेठी) नाम का फल तथा कन्द होता है, जिसे आलू की भाँति उबाल कर खाया जाता है। यह सुस्वाद एवं पौष्टिक होता है। इस प्रसंग में इसका परिचय भी प्राप्त कर लेना चाहिए।

यथाबलं काले पीतम्—रोगी के अग्निबल (पाचनशक्ति) को देखकर इसकी मात्रा (२ से आधा तोला तक) का निर्धारण कर इसका सेवन प्रातःकाल कराना चाहिए। यही घृतपान का उचित काल है। विशेष परिस्थिति में चिकित्सक के निर्देश का पालन करना चाहिए।

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते [1]शमने। स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमनु[2]वर्तते साध्यम् ॥

कुष्ठ का साध्यासाध्य विचार—वातादि दोषों का (वमन-विरेचन द्वारा) अपहरण कर लेने पर, रक्त का (सिरावेध, जलौका-प्रयोग द्वारा) निर्हरण कर लेने के बाद, बाह्य तथा आभ्यन्तर विकारों का शमन कर लेने पर और समय पर स्नेहन अथवा घृत-तैल आदि का प्रयोग करने पर कुष्ठरोग अवश्य शान्त हो जाता है। यदि इन उपायों से भी कुष्ठरोग शान्त नहीं होता है, तो उसे असाध्य समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इन उपर्युक्त उपायों से दूर किये गये कुष्ठरोग की पुनरावृत्ति नहीं होती है। वह समूल नष्ट हो जाता है।

खदिरस्य तुलाः पञ्च शिंशपासनयोस्तुले। तुलार्धाः सर्व एवैते करञ्जारिष्टवेतसाः ॥१५२॥
पर्पटः कुटजश्चैव वृषः कृमिहरस्तथा। हरिद्रे कृतमालश्च गुडूची त्रिफला त्रिवृत् ॥१५३॥
सप्तपर्णश्च सङ्क्षुण्णा दशद्रोणेषु वारिणः। अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत् ॥१५४॥
धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्। महातिक्तककल्कैस्तु यथोक्तैः पलसम्मितैः ॥१५५॥
निहन्ति सर्वकुष्ठानि पानाभ्यङ्गनिषेवणात्। महाखदिरमित्येतत् परं कुष्ठविकारनुत् ॥१५६॥

इति महाखदिरं घृतम्।

महाखदिर घृत—खदिरसार ५ तुला (५०० तोला), सीसमसार १ तुला (१०० तोला), असनसार १ तुला (१०० तोला), करञ्ज (कंजू) के फल की मज्जा, नीम के वृक्ष की छाल, वेत, पित्तपापड़ा, कुरैया की छाल, अडूसा की पत्ती, वायविडंग, दोनों हरिद्रा (दारुहल्दी, हल्दी), अमलतास की गुद्दी, गिलोय, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), सफेद निशोथ, छतिवन की छाल—इन सभी द्रव्यों को आधी-आधी तुला (५०-५० तोला) लेकर जौकुट करके दस द्रोण (१०२४० तोला) जल में क्वाथ करें। पकते-पकते जब आठवाँ भाग (१२८० तोला) जल शेष रह जाये तो उस कषाय को उतार कर छान लें। तदनन्तर १ आढक (२५६ तोला) गाय का घी और इसी के समान भाग में (१ आढक=२५६ तोला) आँवला का स्वरस उस क्वाथ में मिलाकर ऊपर कहे गये महातिक्तकघृत-पाक में कल्क के लिए प्रयुक्त (छतिवन से लेकर त्रायमाणा तक के जिन द्रव्यों का उल्लेख श्लोक १४४ से १४६ तक किया गया है, उन) द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में जौकुट करके डालकर पकायें। इस प्रकार तैयार किया गया यह महाखदिरघृत पिलाने से तथा अभ्यंग के रूप में प्रयोग कराने से सभी प्रकार के कुष्ठों का विनाश करता है। कुष्ठविकार-नाशक घृतों में इसे श्रेष्ठ कहा गया है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा' के अनुसार जल को दूना लिया है, जब कि तन्त्रकार की 'दशद्रोणेषु वारिणः' यह अत्यन्त स्पष्टोक्ति है। कुछ टीकाकार 'धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्' इस पद्यांश का अर्थ करते समय दिग्भ्रान्त हो गये हैं। आप ध्यान दें—यहाँ तन्त्रकार को यह कहना अभीष्ट है—'सर्पिषः तुल्यांशं धात्रीरसम्' और सर्पिष् (घी) का प्रमाण तो सुतरां स्पष्ट है—'सर्पिषश्चाढकं'। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो यहाँ अलग-अलग द्रव्यों के प्रायः अलग-अलग परिमाण दिये गये हैं, आप किसका 'तुल्यांश' लेंगे? इस घृत का प्रयोग 'पानाभ्यंग' में साथ ही साथ कराना चाहिए, क्योंकि इसका विग्रह इस प्रकार किया जाता है—'पानेन सहितः अभ्यङ्गः=पानाभ्यङ्गः तस्य निषेवणं, तस्मात्'।

प्रपतत्सु लसीकाप्रस्रुतेषु गात्रेषु जन्तुजग्धेषु। मूत्रं निम्बविडङ्गे स्नानं पानं प्रदेहश्च ॥१५७॥

गलित कुष्ठ में व्यवस्था—कुष्ठज कृमियों द्वारा खाये हुए कुष्ठ रोगी के अंग-प्रत्यंगों के गिरने पर और लसीका ('यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीका शब्दं लभते'। च० शा० अ० ७।१५) उपधातु के अंगों से चूने पर गोमूत्र, नीम की छाल का क्वाथ तथा वायविडंग के बीजों का क्वाथ स्नान और पीने के लिए दें। नीम की छाल एवं वायबिडंग के बीजों को गोमूत्र के साथ पीसकर प्रदेह (लेप) लगाने को दें।

वक्तव्य—गलित कुष्ठ इस रोग की चरम सीमा है। यह कुष्ठरोग का बीभत्स दृश्य है। इसमें धैर्यपूर्वक यह चिकित्सा करनी चाहिए। मीमांसा-ग्रन्थों में कृच्छ्र-चान्द्रायण प्रकरणों में गोमूत्र अथवा पंचगव्य का प्राशन विहित है, जिससे दुष्कृतों की शान्ति होती है। कुष्ठरोग को भी महापापों का प्रतिफल स्वीकार किया गया है,

१. 'वमने' इति पा०। २. 'अनिवर्तते' इति पा०।

अस्तु। आयुर्वेदिक दृष्टि में गोमूत्र में कृमिनाशक शक्ति है, अतएव यहाँ इसका विधान किया गया है। नीम और विडंग तो कृमिनाशक हैं ही। इस परिस्थिति में अन्य कृमिनाशक द्रव्यों का प्रयोग भी हितकर होता है।

वृषकुटजसप्तपर्णाः करवीरकरञ्जनिम्बखदिराश्च। स्नाने पाने लेपे क्रिमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः॥

कुष्ठ में स्नान, पान, लेप—अडूसा की पत्ती, कुटज की छाल, छतिवन की छाल, कनेर की छाल, करञ्ज के फल की मींगी, नीम के वृक्ष की छाल, खैर वृक्ष का भीतरी सार भाग—इन सब द्रव्यों के सम्मिलित क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर स्नान करने से तथा इसे पीने से और इन्हीं द्रव्यों में गोमूत्र डालकर पीसे हुए इस लेप को कुष्ठव्रणों के ऊपर लगाने से कृमि तथा कुष्ठ नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्सक सभी कुष्ठों की उत्पत्ति क्रिमियों से ही मानते हैं, किन्तु आयुर्वेद का सिद्धान्त त्रिदोष की पृष्ठभूमि पर आधारित है। अतः आयुर्वेदीय दृष्टि से भी कुष्ठरोगों में कृमियों स्थिति मानी गयी है। देखें—च० वि० अ० ७/५। सु० नि० अ० ५/६। अ० हृ० नि० अ० १४/५१-५२।

पानाहारविधाने प्रसेचने धूपने प्रदेहे च। कृमिनाशनं विडङ्गं विशिष्यते कुष्ठहा खदिरः॥

कुष्ठ में खदिर-विडंगयोग—कुष्ठ रोगी के लिए सभी प्रकार के आहारों तथा पेय वस्तुओं के विधानों (निर्माण-प्रकारों) में, प्रसेचन (पर्याप्त स्नान) में, धूपन (रोगनाशक धूमों के प्रयोग) में, प्रदेह (लेप लगाने) में क्रिमिनाशक (सभी प्रकार के कीड़ों को मारने वाला) वायविडंग का प्रयोग किया जाता है। इससे भी अधिक खदिरसार का प्रयोग कुष्ठनाशक होता है।

वक्तव्य—यहाँ विडंग (वायविडंग) और खदिरसार का प्रयोग क्रमशः क्रिमिनाशन तथा कुष्ठनाशन के लिए निर्दिष्ट है। देखें—'विडङ्गं कृमिघ्नानाम्' तथा 'खदिरः कुष्ठघ्नानाम्'। च० सू० अ० २५/४०। अतः रोग की स्थिति को देखकर (यदि कुष्ठ में कृमियों का प्रकोप अधिक हो तो) वायविडंग का प्रयोग पान, आहार, प्रसेचन, धूपन तथा प्रदेह में करें। यदि क्रिमियों से रहित केवल कुष्ठ का ही प्रकोप हो तो खदिरसार का क्वाथ किया हुआ पानी पीने को दें। इसी पानी से खाना पकायें, इसी से रोगी को स्नान करायें। इन्हीं के चूर्ण का धूपन दें तथा इनको जल अथवा गोमूत्र के साथ पीसकर लेप लगायें।

एडगजः सविडङ्गो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम्। उद्दालनं श्वदन्ता गोश्ववराहोष्ट्रदन्ताश्च॥

कुष्ठनाशक लेप—१. एड़गज (चकवड़) के बीज, वायविडंग, आरग्वध (अमलतास) की जड़—इन सब द्रव्यों को पीसकर लगाया गया लेप कुष्ठरोग के कारण विकृत त्वचा को हटाकर व्रण-स्थान को समतल कर देता है। २. कुत्ते के दाँत, गाय के दाँत, घोड़े के दाँत, सूअर के दाँत तथा ऊँट के दाँत को घिस कर इनके लेप से भी उक्त कार्य होता है।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक की वाक्य-रचना यह प्रकट कर रही है कि ये दो योग हैं। इन द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर या घिसकर तैयार किया गया लेप 'कुष्ठों का उद्दालन' करता है। चक्रपाणि 'उद्दालन' का अर्थ 'प्रमशन' करते हैं और योगीन्द्रनाथसेन 'निविडत्वक्त्याजन' करते हैं। भले ही 'प्रमशन' का अर्थ जो भी लगाया जाये किन्तु 'उद्दालन' का अभिधेयार्थ यह नहीं है। यह उत् उपसर्गपूर्वक 'दलविदारण' धातु का णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययान्त प्रयोग है। इस दृष्टि से योगीन्द्रनाथसेन द्वारा प्रतिपादित अर्थ अधिक समीचीन है।

एडगजः सविडङ्गो द्वे च निशे राजवृक्षमूलं च। कुष्ठोद्दालनमग्र्यं सपिप्पलीपाकलं योज्यम्॥

कुष्ठहर दूसरा योग—चकवड़ का बीज, वायविडंग, दोनों हल्दी (हल्दी, दारुहल्दी), अमलतास की जड़, पिप्पली तथा पाकल (कूठ)—इन सब द्रव्यों को पीसकर लगाया गया लेप कुष्ठरोग के कारण विकृत त्वचा को हटाकर व्रणस्थान को समतल कर देने में श्रेष्ठ होता है।

वक्तव्य—कुष्ठ शब्द का सामान्य प्रयोग रोग अर्थ में भी देखा जाता है। इसका विशेषार्थ 'चर्मरोग' है। हस्तिज्वर के रूप में 'पाकल' शब्द चिकित्साजगत् में प्रसिद्ध है। अतएव यहाँ 'पाकल' शब्द का अर्थ कुष्ठ किया गया है। कुष्ठ द्रव्य को हिन्दी में 'कूठ' कहते हैं।

श्वित्राणां [1]सविशेषं योक्तव्यं सर्वतो विशुद्धानाम्। श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुडः॥

श्वित्रकुष्ठ-चिकित्सा-प्रकरण

श्वेतकुष्ठ में मलपूरस—सफेद कुष्ठ के रोगियों को सर्वप्रथम वमन-विरेचन कराकर उनका संशोधन कर लें। तदनन्तर विशेषरूप से स्रंसन (विरेचन) कराने के लिए मलपू (कठगूलर) का रस और गुड़ का प्रयोग प्रशंसनीय कहा गया है।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार यह शब्द-'मलपू' और 'मलयू' रूप में दो प्रकार से देखा गया है। मलपूः=काकोदुम्बरिका-राजनिघण्टु, मलयूः=बाकुची-वैद्यकनिघण्टु। गूलर और बाकुची दोनों ही द्रव्य कुष्ठ-रोग में लाभदायक होते हैं। **मलपूः**—'मलं पुनाति, इति' अर्थात् जो मल=रोग=पाप को दूर कर शरीर को पवित्र=नीरोग बना देता है, उस द्रव्यविशेष को 'मलपू' कहते हैं। इस परिभाषा में 'अतिव्याप्ति' दोष है। फिर भी तन्त्रकार का यहाँ कुष्ठरोग पापरोग है और यह उसे दूर करता है, इतने मात्र से तात्पर्य है। कठगूलर एक मृदुविरेचक द्रव्य है। अंजीर इसी जाति का एक विशेष फल है।

श्वित्र (Leucoderma)—त्वचा की मैलेनिन कोशिका (Melanocytes) में त्वचा के रंग मैलेनिन (Melanin) की कमी हो तो उसे श्वित्र (सफेद कुष्ठ) कहते हैं। यह रोग बाल्यावस्था अथवा नवयौवनकाल में ही प्रारम्भ हो जाता है। इसकी प्रवृत्ति पैतृक-परम्परा से होती है, ऐसा पाश्चात्य वैज्ञानिकों का मत है। कुछ विद्वान् यह कहते हैं, कि कुष्ठ एक संक्रामक रोग है और श्वित्र संक्रामक नहीं देखा जाता है, अतः इसे १८ कुष्ठों से पृथक् कहा गया है। चरक-निदानस्थान अ० ५/४ में कहा गया है, कि कुष्ठरोग सात प्रकार का, अठारह प्रकार का और असंख्य प्रकार का होता है। ये सभी भेद कुष्ठ कहे जाते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि और रोगों का पहले निदान आदि का निर्देश कर बाद में चिकित्सा कही जाती है, तो इसकी पहले चिकित्सा क्यों कही गयी है? इसका समुचित उत्तर आचार्य चक्रपाणि ने इस प्रकार दिया है—'यहाँ तक जो कुष्ठचिकित्सा कही गयी है, उसका प्रयोग श्वित्र में भी करना चाहिए। यदि बीच में तन्त्रकार निदान आदि का वर्णन करने लग जाते तो पहले से चली आयी उस चिकित्सा में बाधा उपस्थित हो जाती, इसलिए यहाँ चिकित्सा का ही वर्णन पहले कर दिया गया है।

तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसन्तापम्। संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम्॥

१. श्वित्र में अन्य योग—कुष्ठरोग-नाशक विभिन्न प्रकार के स्नेहों में से किसी एक स्नेह का सेवन करने से भली-भाँति स्निग्ध हो जाने पर अग्निबल को ध्यान में रखकर उसे (उपर्युक्त गुड़ के साथ कठगूलर के रस को) पीकर विरेचन हो जाने के पश्चात् तीन दिन तक लगातार धूप सेंके और यदि प्यास लगे तो पेया का सेवन करे।

वक्तव्य—'तं पीत्वा' इस अंश से १६२वें श्लोक में कहा गया 'गुड़ सहित मलपूरस' का पान तन्त्रकार को अभीष्ट है।

श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान्भिन्द्यात्।
स्फोटेषु विस्नुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत् पक्षम्॥ १६४॥
मलपूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम्॥ १६५॥

२. श्वित्र म अन्य योग—श्वित्र रोग के कारण शरीर के जिन अवयवों पर स्फोट (छोटी-बड़ी फुन्सियाँ) हो जाये तो उन्हें काँटे से भेद (फोड़) दें। जब उनमें से पूय या लसीका का स्राव हो जाये, तब एक पक्ष (पन्द्रह दिन) तक प्रतिदिन प्रातःकाल गठगूलर की छाल, विजयसार का सार भाग, प्रियंगु, शतपुष्पा (सोया) इन सभी द्रव्यों को समानभाग में लेकर जौकुट करके इनका क्वाथ बनायें अथवा पलाश का क्षार तथा फाणित (राब) इनको आपस में मिलाकर अग्निबल का विचार कर पीयें।

---

१. 'प्रशमार्थम्' इति पा०।

वक्तव्य—ऊपर १६४-१६५ श्लोकों द्वारा दो योग कहे गये हैं। 'यथाबल' का सम्बन्ध रोगी के अग्निबल (पाचनशक्ति) से है, न कि वह कितनी सामग्री जुटा सकता है, इससे है।

यच्चान्यत् कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम्। खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा॥

३. श्वित्र में अन्य योग—और जो भी कुष्ठरोग-नाशक योग घृत, तैल, चूर्ण, आसव, अरिष्ट आदि जहाँ कहीं कहे गये हैं, वे सभी श्वित्ररोग में प्रशस्त हैं, अर्थात् उनका भी प्रयोग खदिरोदक (खदिरक्वाथ) के साथ करना चाहिए। अथवा केवल खदिरसार के जल को पीना ही श्रेष्ठ है।

समनःशिलं विडङ्गं कासीसं रोचनां कनकपुष्पीम्। श्वित्राणां प्रशमार्थं ससैन्धवं लेपनं दद्यात्॥

मनःशिलादि लेप—मैनसिल (शुद्ध), वायविडंग, काशीश (शुद्ध), गोरोचन, कनकपुष्पी (सत्यानाशी) की जड़ की छाल तथा सेंधानमक—इन सबको कूट-पीसकर लेप तैयार करें। इस लेप का प्रयोग करने से श्वेतकुष्ठ का शमन हो जाता है।

कदलीक्षारयुतं वा खरास्थि दग्धं गवां रुधिरयुक्तम्।
हस्तिमदाध्युषितं वा मालत्याः कोरकक्षारम्॥ १६८॥

श्वेतकुष्ठ में दो लेप—१. केले के क्षार में गदहे की हड्डी की राख तथा गाय का खून मिलाकर लेप करना चाहिए। २. अथवा मालती के फूल की कली का क्षार हाथी के मद में मिलाकर एक-दो दिन रखने के बाद श्वेतकुष्ठ में लगाना चाहिए। इससे रोग की शान्ति हो जाती है।

नीलोत्पलं सकुष्ठं ससैन्धवं हस्तिमूत्रपिष्टं वा। मूलकबीजावल्गुजलेपः पिष्टो गवां मूत्रे॥

१. अन्य दो लेप—१. नीलकमल, कूठ, सेंधानमक—इन द्रव्यों को हाथी के मूत्र के साथ पीसकर श्वेतकुष्ठ में लेप करना चाहिए। २. अथवा मूली के बीज, बाकुची के बीज—इनको गाय के मूत्र के साथ पीसकर लेप तैयार करें। इसका लेप करने से श्वेतकुष्ठ का विनाश होता है।

काकोदुम्बरिका वा सावल्गुजचित्रका गवां मूत्रे। पिष्टा मनःशिला वा संयुक्ता बर्हिपित्तेन॥

२. अन्य दो लेप—कठगूलर की छाल, बाकुची के बीज तथा चीता की जड़—इनको गोमूत्र डालकर पीसें। २. अथवा मोर का पित्त डालकर पिसी गयी शुद्ध मैनसिल के लेप से श्वेतकुष्ठ का नाश हो जाता है।

लेपः किलासहन्ता बीजान्यावल्गुजानि लाक्षा च। गोपित्तमञ्जने द्वे पिप्पल्यः काललोहरजः॥

किलासनाशक योग—बाकुची के बीज, कच्ची लाख, गोरोचन, दोनों अंजन (रसाञ्जन तथा सौवीराञ्जन), पिप्पली चूर्ण, काललोह का चूर्ण (भस्म)—इनको गोमूत्र के साथ पीसकर लेप करने से यह किलास (White leprous spot) रोग का विनाश करता है।

वक्तव्य—लोह शब्द स्वर्ण आदि समस्त धातुओं का वाचक है। अतः लोह (Iron) अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'काललोह' शब्द प्रयुक्त किया गया है। **रजः**—यह चूर्ण-वाचक शब्द है। भस्म भी चूर्ण के सदृश होता है। लोहभस्म त्वचारंजक भी होता है।

वृद्धवाग्भट ने उक्त लेप को अपने ग्रन्थ में इस प्रकार उद्धृत किया है—'लेपः पटुवेल्लशिला कासीसं रोचना कनकपुष्पी। गोपित्तयुक्तमथवा चपलाञ्जनयुग्मलोहरजः' ॥ अ० सं० चि० अ० २२।२५। इस श्लोक के उत्तरार्ध में गोपित्त से लेकर लोहरजः तक जो योग दिया है, उसमें बाकुची और लाक्षा का ग्रहण नहीं किया है। कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक में दो योगों की कल्पना की है, किन्तु वास्तव में यह एक ही योग है। द्रव्यों के गुण-धर्मों पर ध्यान दें।

शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम्। श्वित्रं कस्यचिदेव प्रणश्यति क्षीणपापस्य॥

श्वित्ररोग की कष्टसाध्यता—वमन-विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि कर देने से, रक्तमोक्षण की विभिन्न विधियों के प्रयोग से, विरूक्षणकारक द्रव्यों के प्रयोग से (देखें—च० सू० अ० २२।१४) और निरन्तर सत्तुओं के सेवन से किसी क्षीणपाप पुरुष का श्वेतकुष्ठ शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—श्वेतकुष्ठ को अन्य कुष्ठों की भाँति पापज माना है। कुष्ठरोग पूर्वजन्म अथवा इस जन्म में किये गये पापों का प्रतिफल है, पापों का निराकरण प्रायश्चित करने से होता है। अतः इसमें सफलता 'क्षीणपाप' पुरुष को ही मिलती है, तभी चिकित्सक को भी इसमें सुयश मिल पाता है। अतः इसमें धार्मिक पक्ष का आश्रय (सूर्य की उपासना, रविवार का व्रत, नमक का परित्याग आदि) का आश्रय लेना चाहिए।

[1]दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः। [2]विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत्॥

किलासकुष्ठ के भेद—इसे १. दारुण, २. चारुण, ३. श्वित्र—इन नामों से तीन प्रकार का जानना चाहिए। यह तीन प्रकार का किलासकुष्ठ प्रायः त्रिदोष के कारण होता है।

वक्तव्य—वह किलासकुष्ठ प्रायः त्रिदोषज होता है। इसका तात्पर्य है कि यह कभी-कभी एकदोषज तथा द्विदोषज भी होता है, जैसा कि अगले पद्य में कहा गया है।

दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्॥१७४॥

त्रिविध श्वित्र का वर्णन—१. जब दोष रक्तधातु में आश्रित होकर अपना प्रकोप करता है, तब रक्तवर्ण का, २. जब दोष मांसधातु में आश्रित होकर अपना प्रकोप करता है, तब ताम्रवर्ण का और ३. जब दोष मेदोधातु में आश्रित होकर अपना प्रकोप करता है, तब श्वेतवर्ण का श्वित्रकुष्ठ होता है। ये उत्तरोत्तर गुरु (चिकित्सा की दृष्टि से कठिन) होते हैं।

वक्तव्य—श्वित्र का कारण कुष्ठ के समान होता है। वाग्भट ने इसके तीन नामों की चर्चा की है—१. श्वित्र, २. किलास, ३. दारुण। कुष्ठ तथा श्वित्र में भेद—श्वित्र में किसी प्रकार का स्राव नहीं होता और कुष्ठ से स्राव होता है। श्वित्र केवल रक्त, मांस, मेदस् नामक तीन धातुओं में उत्पन्न तथा आश्रित होता है और कुष्ठ सब धातुओं में आश्रित होता है।

दोषानुसार श्वित्र-परिचय—१. वातज श्वित्र—रूक्ष एवं कालापन लिये लाल वर्ण का। २. पित्तज श्वित्र—ताम्र के सदृश लाल अथवा लालकमल की पंखुड़ी जैसा लाल, दाहवाला, रोमशातन (उस स्थान के रोमों को गिरा देने वाला)। ३. कफज श्वित्र—यह सफेद, घना, गुरु तथा खुजलीयुक्त होता है। वातज श्वित्र रक्ताश्रित, पित्तज श्वित्र मांसाश्रित और कफज श्वित्र मेदोधातु में आश्रित होता है। इनका वास्तविक परिचय केवल वर्णभेद से ही ज्ञात होता है। ये तीनों उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं।

साध्यासाध्य विचार—जिस श्वित्र में रोमों का वर्ण श्वेत न हुआ हो, जो शरीर में अधिक फैला हुआ न हो, जिसके धब्बे परस्पर मिले न हों, जो नया हो, जो आग के जलने से उत्पन्न न हुआ हो वह साध्य होता है। इन लक्षणों के विपरीत श्वित्र असाध्य होता है। गुह्य अंगों (लिंग-भग) पर, हाथों के तलुओं पर तथा होंठों पर उत्पन्न श्वित्र नवीन होने पर भी असाध्य होता है।

कुष्ठ की संक्रामकता—स्पर्श से, एक शय्या पर लेटने से, एक ही पात्र में भोजन करने से, प्रायः सभी (ज्वर, विसूची आदि) रोग संचारी (एक से दूसरे पर संक्रमण करने वाले) होते हैं। अभिष्यन्द आदि नेत्ररोग, कुष्ठ तथा उपदंश आदि त्वचा सम्बन्धी रोग विशेषतः संक्रामक होते हैं। देखें—सु० नि० अ० ५।३१-३४। चरकसंहिता में धातुगत दोषों के कारण श्वित्र को तीन वर्णों वाला माना है। अन्तर यह है कि महर्षि आत्रेय ने दोषों को प्रधान न मानकर दोषाश्रित रक्त आदि धातुओं को प्रधानता दी है। वाग्भट दोषों और धातुओं दोनों को ही प्रधान मानते हैं। परन्तु सुश्रुत ने कुष्ठ और किलास का अन्तर त्वचागत ही माना है। देखें—सु० नि० अ० ५।१७। आधुनिक चिकित्सक तो इसे मात्र चर्म-विकृति या चर्मरोग (Skin diseases) मानते हैं, किन्तु आधुनिक चिकित्सकों ने पल्लवग्राहिता कर के सुश्रुत के एक ही दृष्टिकोण को देखकर अपना मत स्थिर कर लिया; किन्तु सुश्रुत में इसकी स्थिरमूलता के सम्बन्ध में आगे कहा है—'यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्। अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृष्टिविवर्धितैः॥ एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः। क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः' ॥ सु० नि० अ० ५।२०-२१। इस दृष्टि से आरम्भ में सभी कुष्ठों का आक्रमण त्वचा पर ही होता है। समय आने पर

सुश्रुत में किलास को कुष्ठ का ही विकल्प माना है। देखें—सु० नि० अ० ५।१७।

---

१. 'दारुणं वारुणम्' इति पा०। २. 'यदुच्यते तत्त्रिविधम्' इति पा०।

क्रमशः वे अन्य धातुओं पर भी अपना आक्रमण कर डालते हैं। भालुकि-तन्त्र में दारुण को मांसाश्रित, श्वित्र को मेदसाश्रित और दारुण को रक्ताश्रित कहा गया है।

यत् परस्परतोऽभिन्नं बहु यद् रक्तलोमवत्। यच्च वर्षगणोत्पन्नं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति ॥१७५॥

असाध्य श्वित्ररोग—जिस श्वित्ररोग के धब्बे परस्पर भिन्न न हों, अर्थात् एक-दूसरे से सट गये हों, जिनकी संख्या बहुत हो गयी हो, जिस श्वित्ररोग में रोमों का वर्ण लाल या रक्ताभ हो गया हो और जो श्वित्ररोग अनेक वर्षों से उत्पन्न हुआ हो, वह असाध्य होता है।

वक्तव्य—वाग्भट ने किलास या श्वित्ररोग के साथ अग्निदग्ध किन्तु बाद में ठीक हुए उस सफेद धब्बे का इस प्रसंग में स्मरण दिलाया है। वास्तव में अग्निदग्ध स्थान पर जो सफेद दाग चिकित्सक की असावधानी के कारण रह जाता है वह भी ठीक नहीं हो पाता। कुछ अन्य असाध्य लक्षणों की भी इन्होंने चर्चा की है—'गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातम्'। अ० हृ० नि० अ० १४।४१। भोज ने श्वित्ररोग को दोषज तथा व्रणज भेद से दो भागों में विभक्त किया है—'श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद् दोषजं व्रणजं तथा। तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम्॥ पुनः दोषज श्वित्र को आत्मज और परज भेद से दो भागों में बाँटा है—'दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा। परसंस्कारसंस्पर्शाद् यत्तत् परजमुच्यते। तदात्मजं विजानीयाद् यद् देहेष्वनिलादिजम्'॥ १. **परज**— अग्निदग्ध के कारण या गहरे व्रण के कारण व्रणस्थान में जो सफेदी रह जाती है, उसे परज (अन्य कारणों से उत्पन्न श्वेतता) कहते हैं। क्योंकि इन कारणों से भी त्वचा विकृत हो जाती है। अतः इसकी भी गणना श्वेतकुष्ठ में की गयी है। २. **आत्मज**—वात आदि दोषों के कारण उत्पन्न श्वित्ररोग को आत्मज कहते हैं।

अरक्तलोम तनु यत् पाण्डु नातिचिरोत्थितम्। मध्यावकाशे चोच्छूनं श्वित्रं तत्साध्यमुच्यते ॥

साध्य श्वित्ररोग के लक्षण—जिस श्वित्ररोग में रोमों का वर्ण रक्ताभ न हुआ हो, जो पतला हो (कभी-कभी श्वेतकुष्ठ से आक्रान्त स्थल की त्वचा मोटी हो जाती है, वह असाध्य होता है। अतः इसके विपरीत पतलापन साध्य होता है), जो पाण्डु वर्ण का हो, जो बहुत समय का न हो और जिस श्वित्र के बीच में कुछ सूजन-सी हो, उसे साध्य कहते हैं।

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा [1]सुराणां गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् ॥ १७७ ॥

किलास-निदान—असत्य भाषण, किये हुए उपकार को न मानना, देवताओं की निन्दा, (पाठभेद के अनुसार गुरुनिन्दा), गुरुधर्षण (मान्य एवं पूज्य जनों का अपमान करना), पाप-क्रिया (पापकर्मों) में तत्परता, पूर्वजन्म या रोगोत्पत्ति के कुछ समय पूर्व किये गये दुष्कर्म और परस्पर विरोधी आहार तथा पान का सेवन करना किलास रोग की उत्पत्ति में कारण होता है।

तत्र श्लोकाः—

हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधं ये येषु चाधिका दोषाः। कुष्ठेषु दोषलिङ्गं समासतो दोषनिर्देशः ॥
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रं कुष्ठं कुष्ठापहाश्च ये योगाः।
सिद्धाः किलासहेतुर्लिङ्गं गुरुलाघवं तथा शान्तिः ॥ १७९ ॥
इति सङ्ग्रहः प्रणीतो महर्षिणा कुष्ठनाशनेऽध्याये। स्मृतिबुद्धिवर्धनार्थं शिष्याय हुताशवेशाय ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने कुष्ठचिकित्सितं
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. 'गुरूणाम्' इति पा०।

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—उस (कुष्ठ) के विषय में कुछ श्लोक कहे गये हैं—कुष्ठरोग के निदान, द्रव्य (वात आदि तीन दोष; त्वचा, लसीका, रक्त, मांस, मेदस् ये दूष्य), लिंग (विविध कुष्ठों के अपने-२ लक्षण), जो दोष जिन कुष्ठों में अधिक होते हैं, अर्थात् जिन दोषों की जिन कुष्ठों में प्रधानता दिखलायी देती है, कुष्ठों में वात आदि दोषों के लक्षण, संक्षेप में दोषों के निर्देश, साध्य, असाध्य, कृच्छ्रसाध्य कुष्ठों का वर्णन, जो कुष्ठनाशक योग हैं उनका वर्णन, किलासकुष्ठ-नाशक सिद्धयोगों का वर्णन, किलास(श्वित्र)कुष्ठ का कारण, लक्षण, गुरुता, लघुता तथा रोग-शान्ति के उपाय—महर्षि आत्रेय ने प्रस्तुत कुष्ठनाशन नामक अध्याय में अपने शिष्य हुताशवेश (अग्निवेश) की स्मृति तथा बुद्धि की वृद्धि करने के लिए इन सभी विषयों का संग्रह यहाँ किया है।

वक्तव्य—आधुनिक दृष्टि से त्वचारोग (Diseases of the skin) के निम्न बाईस भेदों को महत्त्व दिया गया है—१. पामा (Eczema), २. शीतपित्त (Urticaria), ३. मण्डलरोग (Psoriasis), ४. नर्मदल (Impetigo), ५. युवानपिडिका (Acne vulgaris). ६. कक्षा-विस्फोट (Herpes-zoster), ७. कच्छू (Scabies), ८. शतारुप (Seborrhoea), ९. खालित्य (Alopecia), १०. श्वित्र (Leucoderma), ११. दद्रुमण्डल (Tinea), १२. किटिभ (Lichen planus), १३. कण्डू (Pruritus), १४. रक्तमण्डल (Lupus erythematosus), १५. शीतशोथ (Chillblains), १६. विस्फोट (Pemphigus vulgaris), १७. पिडिका (Boils), १८. सिध्म (Pilyriasis versicolor), १९. विपादिका (Fissures), २०. मषक (Warts), २१. घट्टा (Corns), तथा २२. कुष्ठ (Leprosy)।

आयुर्वेद के सिद्धान्त से मानव-शरीर में त्वचाओं की संख्या सात हैं। किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण से प्रभावित विद्वान् त्वचा को दो भागों में विभक्त करते हैं—१. बहिश्चर्म (Epidermis) तथा २. अन्तश्चर्म (Dermis or corium)। इनमें से बहिश्चर्म केवल सैलों की कुछ तहों से बना है, इसमें रक्तवाहिनियाँ नहीं होती हैं। करतल तथा पादतल में यह तल क्रमशः स्थूल और कठोर होता है।

त्वचा का कार्य—ऊपर वर्णित सभी रोगों को चर्मरोग कहते हैं, अतः यहाँ पहले हम त्वचा के कार्यों का वर्णन करते हैं। त्वचा का बाहरी अर्थात् रक्तवाहिनियों से रहित अतएव शुष्क स्तर बाह्य विषों से शरीर को बचाने का कार्य करता है। आयुर्वेदीय दृष्टि से यह अर्थ 'त्वचसंवरणे' इस धातु के मूल में निहित है। अन्तश्चर्म में अनेक रक्तवाहिनियाँ होती हैं, जिनमें लगभग एक सेर रक्त सदैव प्रवाहित होता रहता है, जो बाहर से प्रविष्ट विषैले द्रव्यों को नष्ट करने का तथा जब किसी अंग-विशेष को अधिक रक्त की आवश्यकता होती है, तो उसे रक्त प्रदान करने का कार्य करती है। त्वचा में रहने वाली स्वेदग्रन्थियाँ भी पारा, सोमल आदि विषैले द्रव्यों को निकालने में सहायक होती हैं। इनकी सहायता से प्रतिदिन दो सेर के लगभग स्वेद शरीर के रन्ध्रों से बाहर निकलता है। स्वेद की मात्रा का प्रमाण काल (ग्रीष्म ऋतु) तथा श्रम पर निर्भर करता है। त्वचा बाहरी शीत से भी बचाने का कार्य करती है। जब बाहर शीत अधिक होता है तो त्वचा की रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं। ये ही गर्मी को पाकर शिथिल हो जाती हैं। त्वचा शरीर के तापमान को नियन्त्रित रखने का भी कार्य करती हैं। यह सब वर्णन स्वस्थ त्वचा का है, विकृत त्वचा अपने कर्मों का निर्वाह करने में असमर्थ हो जाती हैं।

आधुनिक दृष्टि से चर्म-रोगों का संक्षिप्त परिचय

१. **पामा**—(Eczema=ek=out, zes=boil)—त्वचा के ऊपर सुई की नोक की आकृति के सदृश जो उभार या विस्फोट निकल आते हैं, जिसमें दाह और खुजली होती है, दाह युक्त लाल चकत्ते निकल आते हैं, उसे पामा कहते हैं। कभी यह पैतृक परम्परा से होता हुआ भी देखा जाता है। इसके उत्पन्न हो जाने के बाद त्वचा में स्वाभाविक विक्षोभक शक्ति कम हो जाती है। साधारण त्वचा विक्षोभक द्रव्यों, जैसे बालों या चर्म पर लगाये जाने वाले साबुन आदि द्रव्यों, ऊनी वस्त्रों, धूप, चमड़ा आदि के घर्षण से विक्षुब्ध नहीं होती है, क्योंकि त्वचा के बाहरी सैल (Horny layer) इस रोग में क्षत हो जाते हैं।

पामा के लक्षण—इसमें अधिक खुजली, दाह, स्राव युक्त पिडिकाएँ, रोगाक्रान्त स्थान का वर्ण कुछ लालिमायुक्त, खुरदरा, चकत्तोंवाला हो जाता है। बार-बार खुजलाने की इच्छा होती है। **स्थान-विशेष**—पीठ, भुजाओं, गरदन के पिछली ओर, मुख, छाती, पैरों तथा एड़ियों पर इसका विशेषरूप से आक्रमण होते देखा जाता है। आधुनिक विद्वानों ने मूलरूप से इसे तीन भागों में विभक्त किया है—१. **करतल पामा** (Eczema

of the palms and soles)—यह रोग हाथ की हथेलियों तथा नखों के तलों (Matrixs) में भी देखा जाता है। २. **शिशुपामा** (Infantile eczema, Atopic eczema)—यह एक या दो वर्ष के शिशुओं के गाल, मस्तक, ठोढ़ी या पीठ पर देखा जाता है। इसमें बच्चों को श्वास उभड़ आता है। ३. **स्पर्शज पामा** (Contact eczema)—अनेक प्रकार के रासायनिक द्रव्यों के संसर्ग से होने वाले रोग को स्पर्शजनित पामा कहते हैं। इसी का एक भेद 'ललाटपामा' है। यह सिर पर या कान के पृष्ठ भाग पर होता है।

इसी को चरकसंहिता में चर्मकुष्ठ, पामा, चर्मदल कहा गया है। देखें—च० चि० अ० ७।२१ तथा ३०। सुश्रुतसंहिता में इसे चर्मदल (चम्बल) कहा गया है। देखें—सु० नि० अ० ५।१०।

२. **शीतपित्त** (Urticaria)—त्वचा में अस्थायी रूप में उत्पन्न, स्पष्ट किनारों वाले, उभार युक्त, चक्र के आकार के, लालवर्ण के तथा खुजली युक्त उभारों को शीतपित्त कहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी-किसी व्यक्ति के शरीर में विपरीत एवं विजातीय द्रव्य के प्रवेश के फलस्वरूप शरीर के अवयवों की सहनशक्ति के ह्रास होने पर भी ऐसे चकत्ते दिखाई देते हैं। विशेष परिस्थिति में इस प्रकार के अन्य कारण भी हो सकते हैं, जिनसे इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। **उदर्द** (Giant urticaria)—यह भी इसी का एक भेद है। कभी-कभी शरीर के किसी प्रदेश के नीचे मेदोमय स्तर में जब अत्यधिक परिस्रवण हो जाता है, जिससे बहिश्चर्म के उभार युक्त हो जाने से त्वचा के ऊपर १-२ इंच व्यास का एक उभार कुछ समय के लिए प्रकट हो जाता है, नेत्रों के पलक या चेहरे, बाँह का अगला भाग, हाथ, होंठ या जीभ की श्लेष्मकला के नीचे भी ऐसा उभार प्रकट हो जाता है, जिसे उदर्द कहते हैं। **संघर्षज शीतपित्त** (Dermatographism)—इसमें कठोर कपड़े की रगड़ मात्र से ही त्वचा का रंग लाल हो जाता है। यदि यह लक्षण अधिक साफ दिखलायी पड़े तो उसकी गणना भी इसी रोग में कर ली जाती है।

३. **मण्डल** (Psoriasis)—यह १० से ३० वर्ष की वय वालों में शीतकाल तथा आर्द्रकाल (बरसाती मौसम) में अधिक पाया जाने वाला और विपरीत काल में कम पाया जाने वाला रोग है। यह प्रायः गोल आकृति वाला होने के कारण ही मण्डल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त यह विचित्र रूपों में भी देखा जाता है। यह त्वचा के अतिरिक्त **नखमण्डल** में भी होता है। इसके कारण नख रूक्ष, खुरदरे, मोटे, पीले वर्ण के तथा भंगुर हो जाते हैं। विशेष देखें—च० नि० अ० ५।८ तथा च० चि० अ० ७।१६।

४. **चर्मदल** (Impetigo)—यह कॉक्सी (Cocci) के संक्रमण के कारण बाहरी त्वचा में होने वाले छोटे-छोटे छालों वाला एक रोग है। इसके **भेद**—१. श्मश्रुपिडिका, २. श्मश्रुविस्फोट, ३. लोमकूपशोथ (साइकोसिस) आदि। आयुर्वेद के अनुसार आधुनिक कुष्ठों का वर्गीकरण नहीं हुआ है।

५. **युवानपिडिका** (Acne vulgaris)—युवावस्था में होने वाले इस रोग में चेहरे पर कील के सदृश कठोर उभार अथवा पिडिकाएँ (Papules) निकलती रहती हैं। सुश्रुत में इसे मुखदूषिका कहा है। देखें—सु० नि० अ० १३।३९।

६. **कक्षाविस्फोट** (Herpes zoster)—मध्यम आयु, विशेषकर बड़ी आयु के व्यक्तियों में एक ओर की कक्षा में जनेऊ के आकार में छोटी-छोटी फुन्सियाँ निकल आया करती हैं। ये प्रायः कक्षा के नीचे होती हैं, अतः इन्हें कक्षा-विस्फोट कहते हैं। **मस्तकविस्फोट**—यह भी इसी प्रकरण का रोग है। इसका सर्वप्रथम वर्णन Jonathan Hutchinson ने किया है। **सामान्य विस्फोट** (Herpes febrilis)—मलेरिया आदि दीर्घकालिक ज्वरों के बाद कभी-कभी मुखगुहा के दायें-बायें अथवा नासिका द्वार के समीप ये विस्फोट दिखलायी देते हैं। इसका वर्णन सुश्रुत नि० अ० १३।१६ में देखें।

७. **कच्छू** (Scabies)—त्वचा के बहिस्तर स्ट्रैटम कार्नियम (Stratum cornium) में एकेरस (Acarus) के प्रविष्ट हो जाने की स्थिति को कच्छू कहते हैं। यह त्वरित संक्रमण कहलाता है। इसका मूल कारण चर्म-यूकाएँ होती हैं। गुह्यांगों में यह रोग अधिक होता है।

८. **शतारुः तथा दारुणक**—त्वचा में विद्यमान स्नेह-ग्रन्थियों, कपाल, भौंहों, नासिका के समीपवर्ती स्थानों, छाती तथा पीठ के ऊपर की त्वचा में ये अधिकांश देखे जाते हैं। इसी का एक भेद **श्मश्रुशतारुः** (Seborrhoeic sycosis or folliculitis of the beard) है। यह चेहरे पर स्नेह-स्राव की अधिकता के कारण वहाँ के रोमकूपों में पूयजनक कीटाणुओं का संक्रमण करके उनमें शोथ और पूय उत्पन्न कर

देते हैं या दाढ़ी में लाल-लाल चकत्ते निकल आते हैं, जिनमें से हल्का स्राव होता है, फिर इनके ऊपर छिलके जैसे जम जाते हैं।

९. **खालित्य**—कुछ परिवार के युवकों के शिर के अगले भाग के बाल झड़ जाते हैं। इसे **तरुणसुलभ-खालित्य** कहा जाता है। कुछ युवकों के शिर के पिछले भाग में या शिर के दाहिनी या बांयी ओर या दाढ़ी के मण्डलाकार बाल झड़ जाते हैं, इसे **मण्डलखालित्य** या **इन्द्रलुप्त** कहते हैं। इसका वर्णन च० चि० अ० ७ तथा सु० नि० अ० १३ में देखें।

१०. **श्वित्ररोग**—त्वचा में जब अपने स्वाभाविक वर्ण में कमी आ कर सफेद धब्बे-से दिखलायी देते हैं, तो उसे श्वित्र (सफेद) कुष्ठ कहते हैं।

११. **दद्रुमण्डल**—इसको निम्नलिखित भेदों में देखा जाता है। यथा—१. शिरो दद्रु (Tinea tonsurans.) २. वंक्षणदद्रु (Tinea cruris, Dhobie's itch), ३. त्वक्दद्रु, ४. हस्त दद्रु या ५. पाद दद्रु (Tinea circinata, Tinea corporis or body ring worm. Tinea pedis. Tinea manuum) ६. श्मश्रुदद्रु (Tinea barbae, Tinea sycosis, Ring worm of the beard) ७. नखदद्रु (कुनख-रोग) (Tinea unguim. Ring worm of the nails) विशेष देखें—च० चि० अ० ७ तथा सु० नि० अ० ५।

१२. **किटिभ या किटिम**—सर्वप्रथम इस रोग का वर्णन विलियम जेम्स इरस्मस विल्सन (William James Erasmus Wilson) ने सन् १८६७ में किया था। उनकी दृष्टि से अभी इसका ठीक-ठीक पता नहीं लग पाया है। हमारे आयुर्वेदशास्त्रों में इसका विशद वर्णन 'इदम् इत्थम्' के रूप में सुलभ है। देखें—च० चि० अ० ७ तथा सु० नि० अ० ५।

१३. **कण्डू**—आकृति-विशेष को आधार मानकर इसके अनेक भेद होते हैं। उनमें ये तीन प्रमुख हैं—नवीन, प्राचीन तथा गजचर्म। अधिक खुजलाते रहने से त्वचा की रक्तवाहिनियाँ फैल जाती हैं, जिससे बहिश्चर्म को श्लैष्मिक द्रव अधिक मिलने लगता है, अतएव वह स्थूल हो जाता है और उसमें मैलेनिन (Melanin) की उत्पत्ति अधिक होने के कारण ही बहिश्चर्म का रंग भी काला पड़ जाता है।

१४. **रक्तमण्डल**—यद्यपि इस रोग की गणना Rheumatoid arthritis जैसे स्नायुतन्तु अथवा Collagen अवयवों में होने वाले रोगों में की जाती है, तथापि इसे त्वग् रोगों में गिना जाता है।

१५. **शीतशोथ**—शीत लगने के कारण नाक, कान तथा अंगुलियों के अग्रभागों में जो कुछ कालिमा युक्त तथा कण्डूयुक्त रक्तवर्ण का शोथ हो जाया करता है, उसे शीतजनित शोथ कहते हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार इसका अन्तर्भाव शीतपित्त, उदर्द रोग में हो सकता है।

१६. **विस्फोट**—यह रोग कभी-कभी त्वचा के ऊपर छालों के रूप में दिखलायी देता है। शरीर की किसी मोटी त्वचा पर पहले एक छोटा-सा रक्तवर्ण का वेदनायुक्त कठोर उभार (Papule) निकलता है, जो आगे अपने स्वरूप में आ जाता है। यह शरीर के किसी भी अवयव में उत्पन्न हो सकता है।

१७. **पिडिका**—बहिश्चर्म में आमदोष की वृद्धि होने के साथ ही इसकी उत्पत्ति मानी गयी है।

१८. **सिध्म**—छाती में, कन्धों में, पीठ के उपरी भाग में फीके सफेद वर्ण के जो गोल चकत्ते दिखलायी देते हैं और उनसे भूसी जैसी निकलती है, उसे सिध्म या सेहुआँ कहते हैं।

१९. **विपादिका**—पैरों के फटने के रोग को विपादिका या बिवाई कहते हैं।

२०. **मषक**—बालकों तथा युवकों के हाथों, अंगुलियों, सिर, चेहरे तथा जननेन्द्रिय आदि स्थानों पर जो मस्से हो जाया करते हैं, उन्हीं को 'मषक' कहते हैं।

२१. **घट्टा** (Corns)—हाथ, पैर के वे स्थान जिनमें काम करने के कारण रगड़ पड़ जाती है, जिससे वहाँ की त्वचा मोटी पड़ जाती है, उसे घट्टा कहते हैं।

२२. **कुष्ठरोग**—Dr. Gerhard Armauer Hansen ने सन् १८७४ के सितम्बर मास में नार्वे के बर्जन नामक शहर के एक कुष्ठ अस्पताल में अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग कुष्ठरोग के अन्वेषण में लगा दिया, उन्होंने यह बतलाया है कि कुष्ठरोग जन्म से नहीं आता अर्थात् यह पैतृक-परम्परा का रोग नहीं है अपितु यह

संक्रमणजनित होता है। संक्रमण में कुष्ठ के जीवाणु कारण होते हैं। यह गरम देशों में पाये जाने वाला रोग है। इसके दो भेद हैं—१. सुप्ति कुष्ठ, २. काकणक कुष्ठ। यहाँ तक ये सभी आधुनिक वैज्ञानिकों के मतों को उद्धृत कर दिया है। आप भी विचार करें कि कितना शाश्वत तथ्य प्राचीन तन्त्रों में है और कितना नवीन विचारों में।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में कुष्ठचिकित्सित नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कुष्ठ-रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ राजयक्ष्मा की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने चरक-निदानस्थान में इस राजयक्ष्मा को शोष की संज्ञा दी है और कुष्ठ के बाद इसका वर्णन करने में जो तर्क उपस्थित किया है, उसकी शब्दावली इस प्रकार है—'ज्वरनिदानोक्त-सम्बन्धाद् राजयक्ष्मनिदानमुच्यते'। च० नि० अ० ६। किन्तु यहाँ वे राजयक्ष्मा की प्रस्तावना करते हुए लिखते हैं—'त्रिदोषजत्वसामान्यात् कुष्ठमनु राजयक्ष्मचिकित्सितमुच्यते। उन्मादापस्मारौ दक्षाध्वरोद्ध्वंसोत्पन्नावप्या-गन्तुत्वानुबन्धत्वात् पश्चादुक्तौ'। इसके पूर्व महर्षि आत्रेय ने निदानार्थकर जिस व्याधि-परम्परा का वर्णन च० नि० अ० ८ में श्लोक १७ से १९ तक किया है, वह केवल दोषसामान्य सम्बन्ध की चर्चा है, न कि वह अवश्यम्भावी स्थिति का वर्णन है।

आप ध्यान दें—'ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते'। यह स्थिति केवल वहीं दृष्टिगोचर होती है, जहाँ चिकित्सा आदि में किसी प्रकार का प्रमाद होता है, अन्यथा ज्वर रोगी उत्तम चिकित्सा द्वारा ज्वर से मुक्त होता ही देखा जाता है।

राजयक्ष्मा—यह त्रिदोषज होता है। कुष्ठ भी त्रिदोषज कहा गया है। अतः कुष्ठ के बाद इसका वर्णन तन्त्रकार ने किया है। यह वर्णन-क्रम की साहचर्य विधि है। यद्यपि दक्षयज्ञविनाश से उत्पन्न उन्माद तथा अपस्मार रोग भी हैं, किन्तु उनमें आगन्तुक कारणों का भी अनुबन्ध होता है। अतः उनका वर्णन आगे किया जायेगा। **निरुक्ति**—'यक्षपूजायाम्' चुरादिः, मनिन् (उणादिः ४।१४५) यक्षयते, यक्ष्यते वा रोगिणः शुभ-चिन्तकैः यस्मिन् वैद्यः, स यक्ष्मा, राज्ञः चन्द्रमसः यक्ष्मा=राजयक्ष्मा'। इसके पर्याय—रोगराज, क्षय, शोष।

रोगराज—इसको रोगराज इसलिए कहा जाता है कि इसका अनुगमन करने वाले ज्वर, कास, स्वरभेद, रक्तपित्त आदि अनेक रोग होते हैं। **राजयक्ष्मा**—यह रोग सर्वप्रथम अश्विनी आदि नक्षत्रों तथा द्विजों के राजा चन्द्रमा को हुआ था, इसलिए राजयक्ष्मा कहते हैं। **दूसरा कारण**—यक्ष्मा साधारण रोग का भी पर्याय है, यह रोगों का राजा है, जैसा रोगराज के परिचय में कहा गया है। **तीसरा कारण**—इस भयावह रोग में रोगी के परिजनों द्वारा चिकित्सक पूजा जाता है, अतएव इसे यक्ष्मा कहते हैं। **क्षय**—यह देह तथा औषधों की शक्ति का क्षय कर देता है, अतः इसे क्षय कहते हैं। **शोष**—यह शरीरस्थ रस आदि धातुओं को सुखा डालता है, अतः इसे शोष भी कहा जाता है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० ६। च० चि० अ० ८। सु० उ० तं० अ० ४१। अ० सं० नि० अ० ५ एवं ७। अ० हृ० नि० अ० ५।१-३ तथा अ० हृ० चि० अ० ५।

दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा। कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥३॥

यक्ष्मा की प्रथमोत्पत्ति—चन्द्रमा के सम्बन्ध में ये कामव्यसनसंयुक्त थे। इस प्रकार की एक पौराणिक कथा को देवता कह रहे थे, उस कथा को ऋषियों ने पहले सुना था।

रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः। आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥४॥
दुहितॄणामसम्भोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः। क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥
प्रजापतेर्हि दुहितॄरष्टाविंशतिमंशुमान्। भार्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥६॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम्। रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥७॥

यक्ष्मोत्पत्ति की कथा—ऊपर जिस कथा का संकेत किया है, वह इस प्रकार है—दक्षप्रजापति की—१. अश्विनी, २. भरणी, ३. कृत्तिका, ४. रोहिणी, ५. मृगशिरा, ६. आर्द्रा, ७. पुनर्वसु, ८. पुष्य, ९. आश्लेषा, १०. मघा, ११. पूर्वाफाल्गुनी, १२. उत्तराफाल्गुनी, १३. हस्त, १४. चित्रा, १५. स्वाती, १६. विशाखा, १७. अनुराधा, १८. ज्येष्ठा, १९. मूल, २०. पूर्वाषाढ़ा, २१. उत्तराषाढ़ा, २२. श्रवण, २३. अभिजित्, २४. धनिष्ठा, २५. शतभिषा, २६. पूर्वाभाद्रपदा, २७. उत्तराभाद्रपदा, २८. रेवती—इन कन्याओं को चन्द्रमा ने भार्याभाव से स्वीकार किया था, किन्तु वह सबके साथ समान व्यवहार नहीं करता था। उन दक्षप्रजापति की २८ कन्याओं में से केवल रोहिणी नामक स्त्री में अत्यन्त आसक्त होकर अपने शरीर की भी चिन्ता उसने छोड़ दी। इस कारण से चन्द्रमा के शरीर का स्नेह रूप वीर्य और ओजस् का क्षय हो गया, साथ ही देह का भी क्षय हो गया। इधर चन्द्रमा द्वारा उपेक्षित दक्षप्रजापति की शेष कन्याओं ने अपने पिता से चन्द्रमा के प्रति रोष व्यक्त किया। तब दक्षप्रजापति के मुख से मूर्तिमान् निःश्वास रूप से क्रोध प्रकट हुआ, क्योंकि वह शेष सत्ताईस पत्नियों के साथ उचित व्यवहार नहीं कर रहा था, इसलिए गुरु (दक्षप्रजापति) ने क्रुद्ध होकर विचार किया, तदनन्तर ही रजोगुण से युक्त तथा निर्बल चन्द्रमा के शरीर में यक्ष्मारोग ने प्रवेश कर लिया।

वक्तव्य—समुद्र-मंथन से निकले हुए चौदह रत्नों में चन्द्रमा भी एक रत्न है। चन्द्रमा के धब्बे के विषय में अनेक पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार दक्षप्रजापति के शाप से इन्हें राजयक्ष्मा हो गया था। बहुत विनय करने पर उस शाप को दक्ष ने इन्हें १५ दिनों तक ह्रास और १५ दिनों तक वृद्धि हो, इस आशीर्वाद के रूप में बदल दिया। देखें—कालिकापुराण।

ऊपर के चार श्लोकों में जितेन्द्रियता का अभाव, अधिक स्त्री-सहवास, वीर्य तथा ओजस् का क्षय—इनको सांकेतिक रूप में राजयक्ष्मा का कारण कहा गया है।

सोऽभिभूतोऽतिमहता[1] गुरुक्रोधेन निष्प्रभः। देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥८॥

चन्द्रमा द्वारा क्षमा-प्रार्थना—रोहिणी नामक अपनी पत्नी में अत्यन्त आसक्त वह (नक्षत्रपति चन्द्रमा) शापरूप अत्यन्त महान् गुरुक्रोध=राजयक्ष्मा से पराभूत होकर जब निष्प्रभ (ओजस् से रहित) हो गया, तब देवताओं (विष्णु, इन्द्र आदि) तथा देवर्षियों (नारद आदि) को साथ में लेकर गुरु (श्वशुर—दक्षप्रजापति) की शरण में गया।

वक्तव्य—'देवदेवर्षिसहितो गुरुं शरणं जगाम'। इसे अपराध को स्वीकार करने तथा भविष्य में ऐसा नहीं करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा देव, अग्नि, गुरु, ब्राह्मण के सम्मुख करने की एक प्राचीन शास्त्रीय परम्परा रही है, जिसे चन्द्रमा ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए निभाया है।

यहाँ 'गुरु' शब्द दो बार आया है। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने दोनों ही बार उसका अर्थ दक्षप्रजापति किया है। वास्तव में ऐसा नहीं है, आप अगले ११वें पद्य में देखें—'क्रोध' शब्द 'यक्ष्मा' का पर्याय है और 'गुरु' शब्द का अर्थ 'महान्' होता ही है। जैसे मनुष्यों में महान् को 'राजा' कहते हैं, वैसे ही यहाँ यक्ष्मा (रोगों) में महान् को 'राजयक्ष्मा' कहा गया है। अतएव चक्रपाणि ने 'गुरुक्रोधेन' का पर्याय 'यक्ष्मरूपेण' दिया है, जो सर्वथा उचित है। इस प्रसंग में 'अतिमहता' के स्थान पर दो पाठ-भेद दिये हैं, उन पर भी ध्यान दें।

१. 'ऽतिगुरुणा' इति 'ऽतिबलिना' इति च पा०।

शरणम्—इसके दो अर्थ होते हैं—१. गृह और २. रक्षा करने वाला। यहाँ दोनों ही अर्थ उपयुक्त है, आप उनका वाक्य-प्रयोग करके देखें। चन्द्रमा दक्षप्रजापति के घर गये और दक्ष ने उनकी रक्षा की।

इस रोग में रस, रक्त आदि का धीरे-धीरे शोष होने लगता है, अतएव इसे शोष भी कहा जाता है। रस धातु सौम्य ('सोमस्य अयं सौम्यः') है। देखें—'स खलु द्रवानुसारी स्नेहन-जीवन-तर्पण-धारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते'। सु० सू० अ० १४।३। इसे सोमात्मक रसधातु का रोग भी कहते हैं। यही कारण है कि इसका मूल सम्बन्ध चन्द्रमा से जोड़ा जाता है।

अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः। प्रसादं कृतवान् सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः॥
स विमुक्तग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः। [1]ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ॥१०॥

अश्विनीकुमारों द्वारा चिकित्सा—तदनन्तर चन्द्रमा को शरण में आया हुआ देखकर और उसकी बुद्धि निर्मल हो गयी है (अब वह सब पत्नियों के साथ समान व्यवहार करेगा), यह जानकर दक्षप्रजापति चन्द्रमा के प्रति प्रसन्न हो गये, तब उन्होंने अश्विनीकुमारों द्वारा चन्द्रमा की चिकित्सा करा दी, उससे चन्द्रमा शीघ्र ही नीरोग हो गये तथा पहले से भी अधिक शोभित हो गये। अश्विनीकुमारों ने चन्द्रमा के ओजोधातु को बढ़ा दिया और उनका मन सत्त्वगुण-सम्पन्न हो गया।

वक्तव्य—१०वें श्लोक का पूर्वार्द्ध श्रीजयदेव वाली प्रति में इस प्रकार है—'स विमुक्तो ग्रहश्चन्द्रो' सूर्य, चन्द्र आदि को ग्रह भी कहते हैं, ऐसे अर्थ के लिए सूर्य आदि के बाद में ग्रह शब्द का प्रयोग होता है और यहाँ 'ग्रहश्चन्द्रः' ऐसा पाठ है। इसका अर्थ होगा 'रोग से गृहीत चन्द्रमा'। जब इसके पहले 'विमुक्त' विशेषण लग जायेगा तो इसका अर्थ होगा 'रोगमुक्त चन्द्रमा'।

क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःखसंज्ञकः। यस्मात् स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः॥

यक्ष्मा के पर्याय—क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग, दुःख—ये सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, अर्थात् एक दूसरे के ये पर्यायवाचक शब्द हैं। क्योंकि यह रोग सबसे पहले नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को हुआ था, इसलिए इसे राजयक्ष्मा कहा गया है।

स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः। लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवान्॥

यक्ष्मा का भूलोक में आगमन—नक्षत्रराज चन्द्रमा को नीरोग कर देने के बाद अश्विनीकुमारों द्वारा तिरस्कृत वह यक्ष्मा मनुष्य-लोक में चला आया। वह अपने उत्पादक चार प्रकार के कारणों को पाकर मनुष्यों (प्राणिमात्र) के शरीरों में (यथावसर) प्रवेश करता है।

वक्तव्य—चिकित्सा रोगी का सत्कार और रोग का तिरस्कार है, किन्तु देवचिकित्सक अश्विनीकुमारों का यह विशेष प्रभाव ही है कि यह राजरोग स्वर्ग से पाताल में चला आया।

अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम्। यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥१३॥

यक्ष्मा के चार कारण—१. अयथाबल आरम्भ (अपनी शारीरिक शक्ति का अतिक्रमण कर कार्य का आरम्भ करना), २. वेगसंधारण (अधारणीय मल, मूत्र, अपानवायु आदि के वेगों को रोकना), ३. क्षय (रस, रक्त आदि धातुओं का क्षीण हो जाना) तथा ४. विषमाशन (आवश्यकता से अधिक या कम अथवा अकाल में जो भोजन किया जाता है, उसे विषमाशन कहते हैं। देखें—भावप्रकाश)।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में भी इसके चार कारण दिये गये हैं। देखें—अ० हृ० नि० अ० ५।४।

शोष के दो प्रकार—सुश्रुत-उत्तरतन्त्र अ० ४१।१० में जिस शोष का वर्णन किया गया है, वह प्रतिलोम क्षय है, इस दृष्टि से हम यहाँ शोष का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. **अनुलोमक्षय**—कफप्रधान दोषों द्वारा जब रसवाहीस्रोतों में अवरोध उत्पन्न होने पर जो क्षय होता है, उसे 'अनुलोमक्षय' कहते हैं, क्योंकि इसमें रसवाहीस्रोतों के अवरोध होने के कारण अन्य रस आदि धातुओं

१. 'तेजसा' इति पा०।

का उचित रूप से पोषण नहीं हो पाता, क्योंकि अन्न-पान के परिणामस्वरूप उत्पन्न रस ही सब धातुओं का प्रीणन करता है। देखें—सु० सू० अ० १४।११।

२. **प्रतिलोमक्षय**—अति मैथुन से जब शुक्रधातु का क्षय हो जाता है, तो पूर्ववर्ती मज्जा, अस्थि, मेदा, मांस, रक्त, रस पूर्व-पूर्व धातुओं का भी क्षय होने लगता है। फलतः शरीर सूखने लगता है। अनुलोम को शोष और प्रतिलोम को क्षय की संज्ञा दी जा सकती है। राजयक्ष्मा कायचिकित्सा का प्रधान रोग है।

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः। पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः ॥१४॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ प्रधावति ॥१५॥
स शिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः। कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥१६॥
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वर्चोभेदं गुदे स्थितः। जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरःस्थश्चोरसो रुजम् ॥
[1]क्षणनादुरसः कासात् कफं ष्ठीवेत् सशोणितम्। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूलातिपीडितः ॥१८॥
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते। एकादशभिरात्मज्ञो [2]भजेत् तस्मान्न साहसम् ॥१९॥

१. **यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण**—(यक्ष्मा का जो प्रथम कारण 'अयथाबलमारम्भ' कहा गया है, उस राजयक्ष्मा रोग की सम्प्राप्ति तथा लक्षणों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है।) युद्ध (अपनी शक्ति से अधिक शक्ति वाले योद्धा से लड़ाई या कुश्ती) करना, अध्ययन (अपनी शक्ति से अधिक समय तक अथवा जोर-जोर से अध्ययन) करना, अधिक भार का उठाना, अधिक मार्ग को चलकर पार करना, अधिक लंघन करना, प्लवन (शक्ति से अधिक तैरना) आदि ऐसे कार्यों को करने से, ऊँचे स्थान से गिरने से, चोटों के लगने से, इसी प्रकार के अन्य साहसिक कार्यों के करने से जब मनुष्य के छाती में क्षत (घाव) हो जाता है, तो उससे प्रकुपित वायु दोनों (पित्त तथा कफ) दोषों को उभाड़कर समस्त शरीरावयवों की ओर वेग से दौड़ती है। वह प्रकुपित वायु जब—१. शिरःप्रदेश पर आक्रमण करती है, तो शिरःशूल को पैदा करती है, २. कण्ठ-प्रदेश में स्थित कण्ठ की विकृति (गला बैठना), ३. कास, ४. स्वरभेद, ५. अरोचक (भोजन के प्रति अरुचि), ६. पसलियों में पहुँचकर पार्श्वशूल, ७. गुद-प्रदेश में पहुँचकर वर्चोभेद (अतिसार), ८. सन्धियों में स्थित वह वायु जृम्भा (जँभाई) तथा ९. ज्वर, १०. उरःप्रदेश में पहुँचकर छाती में पीड़ा, ११. जब उरःप्रदेश में क्षणन (घाव) होने से तथा खाँसी होने से वह रोगी रक्त सहित कफ को थूकता है, अर्थात् छाती में घाव होने से रक्त और प्रकुपित वातदोष के साथ भ्रमण करने वाला कफ जब कास (खाँसी) के कारण निकलता है, तो वे दोनों (कफ और रक्त) परस्पर मिले रहते हैं। वह रोगी जर्जर (क्षत-विक्षत) उरःप्रदेश के कारण कष्टकारक उरःशूल से पीड़ित हो जाता है। इस प्रकार अधिक साहसिक कार्यों को करने के कारण उत्पन्न यक्ष्मा इन (उपर्युक्त) ग्यारह रूपों को प्रकट करता हुआ उत्पन्न होता है, इसलिए दुःसाहसिक कार्यों को कभी न करे।

वक्तव्य—ऊपर जिस (१८वें) श्लोक को निर्णयसागरीय संस्करण में उद्धृत किया गया है, उसके विपरीत श्रीजयदेव विद्यालंकार ने टिप्पणी में दिये गये पाठ को अपने संस्करण में स्थान दिया है। दोनों पाठों में अर्थ की दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। राजयक्ष्मा के चार कारणों में से यह 'अयथाबलमारम्भ' प्रथम कारण है। इसके उपर्युक्त विविध प्रयोगों से वायु प्रकुपित होकर वह पित्त तथा कफ को भी अपने साथ लेकर इसे त्रिदोषज बना देता है, जो चिकित्सा की दृष्टि से विषम हो जाता है। अतएव साहसिक कार्यों को करने का निषेध किया गया है।

ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः ॥२०॥
तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिलः ॥२१॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्। पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम् ॥२२॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान् ॥२३॥

१. 'क्षणनाच्चोरसो रक्तं कासमानः कफानुगम्। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति' इति पा०।
२. 'सेवेतातो न साहसम्' इति पा०।

२. वेगसन्धारणज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—जब मनुष्य (या नारी) लज्जाशील होने के कारण, घृणाशील होने के कारण या भय के कारण वात (अपानवायु, उदानवायु—डकार, छींक), मूत्र तथा पुरीष के स्वभावतः उत्पन्न वेग (या वेगों) को रोकता है, तब वातज वेगों के प्रतीघात (अवरोध-रुकावट) के कारण वह प्रकुपित वायु कफ और पित्तदोष को उभाड़ती हुई शरीर के भीतर ऊपर की ओर, नीचे की ओर और तिर्यक् (कोष्ठ) प्रदेशों में फैलकर अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर देती है। यथा—१. प्रतिश्याय (जुकाम), २. कास, ३. स्वरभेद (गला बैठ जाना), ४. अरोचक, ५. पार्श्वशूल (पसलियों की पीड़ा), ६. शिरःशूल, ७. ज्वर, ८. अंसावमर्द (कन्धों में मसल देने की-सी पीड़ा), ९. अंगमर्द, १०. बार-बार वमन का होना, ११. तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त अतिसार का होना—वेगरोध के कारण ये ग्यारह लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण यक्ष्मा रोग महान्=राजयक्ष्मा कहा जाता है।

वक्तव्य—कंठोद्ध्वंस, जृम्भा, उरःशूल और इसके साथ खाँसने पर रक्तमिश्रित कफ का निकलना—ये लक्षण साहसिक यक्ष्मा में प्रमुख रूप से देखे जाते हैं।

ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्शनात् । अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते ॥२४॥
ततः स्नेहक्षयाद् वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन् । प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम् ॥२५॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम् । करोति चांससन्तापमेकादशगदानिमान्[1] ॥२६॥
लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम् । सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात् प्राणक्षयप्रदम् ॥२७॥

३. धातुक्षयज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—ईर्ष्या (परोत्कर्षासहिष्णुत्व), उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक—इन कारणों से जिन मनुष्यों (या नारियों) का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है, उनके शरीरों में तथा जो व्यक्ति अधिक मैथुन और अधिक अनशन (उपवास, लंघन या राजनीतिक अनशन) करते हैं, उनके शरीरों में रहने वाले शुक्र तथा ओजो धातु का क्षय हो जाता है। शरीर के स्नेह (शुक्र और ओजो धातु) के क्षय हो जाने से शरीरस्थ वातदोष बढ़कर पित्त तथा कफ को उभाड़ कर शरीर के ऊपर, नीचे, तिरछे भागों में उन दोषों के साथ भ्रमण करता हुआ निम्नलिखित ग्यारह रोगों को पैदा कर देता है—१. प्रतिश्याय, २. ज्वर, ३. कास, ४. अंगमर्द, ५. शिरःशूल, ६. श्वास, ७. विड्भेद (अतिसार), ८. अरुचि, ९. पार्श्वशूल (पसलियों में वेदना), १०. स्वरक्षय; ११. अंससन्ताप। यह राजयक्ष्मा इन ग्यारह लक्षणों को प्रकट करता है। इस प्रकार उत्पन्न इस महागद (राजयक्ष्मा) को सभी धातुओं का क्षय करने के कारण प्राण (जीवन) का क्षय करने वाला भी कहते हैं।

वक्तव्य—यह क्षय अनुलोम तथा प्रतिलोम रूप से दो प्रकार का होता है। प्रतिलोमक्षय का वर्णन सु० उ० तं० अ० ४१।१० में दिया है। तात्पर्य यह है कि जब रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र इस क्रम से धातुओं का क्षय होता है, तब उसे अनुलोमक्षय कहते हैं और जब ओजस्, शुक्र इस विपरीत क्रम में धातुओं का क्षय होता है, तो उसे प्रतिलोमक्षय कहते हैं। यहाँ ईर्ष्या (दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकना आदि) तथा अनशन ये कारण ऐसे हैं, जिनसे रसधातु की उत्पत्ति ही नहीं हो पाती है। ये अनुलोमक्षय के कारण हैं। क्योंकि ईर्ष्यादि कारणों से खाये हुए अन्न का भली-भाँति परिपाक नहीं होता। इसकी चर्चा चरक तथा सुश्रुत ने समान भाव से की है—'मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः' ॥ च० चि० अ० २।९। तथा—'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति' ॥ सु० सू० अ० ४६।५०१। और अतिव्यवाय प्रतिलोमक्षय का कारण है। ओजो धातु शुक्र का उपधातु है और यह भी सोमात्मक है। इसकी सोमात्मकता का वर्णन हम श्लोक ८ के वक्तव्य में कर चुके हैं, अतः पौराणिक कथा के आधार से और आयुर्वेदीय दृष्टि से यह राजयक्ष्मा दोनों (अनुलोम तथा प्रतिलोमक्षय) क्रम से सोमात्मक भी सिद्ध होता है। ओजो धातु की सोमात्मकता के लिए देखें—'ओजः सर्वशरीरस्थं शीतं स्निग्धं स्थिरं सरम्। सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।३६। तथा सु० सू० अ० १५।२१-२२।

1. 'एकादशमहाग्रहः' इति पा०।

ओजस् का परिचय—'तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते' ॥ सु० सू० अ० १५।१९। इस ओजस् की तीन विकृतियाँ होती हैं—१. विस्रंसन (अपने स्थान से विचलित होना), २. व्यापत् (अपने स्थान से ओजस् का विकृत हो जाना), ३. क्षय (अपने परिमाण से ह्रास होना)। देखें—सु० सू० अ० १५।२४। चरक के अनुसार—'बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः। दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये' ॥ च० सू० अ० १७।७३-७५। तन्त्रान्तर के अनुसार—'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः'। 'अर्धाञ्जलिपरिमाणं तु यदोजसस्तदप्रधानम्'। 'तावच्चैव श्लैष्मिकस्यौजसः प्रमाणम्'। च० शा० अ० ७।१५। और भी—'तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसङ्ग्रहः'। च० सू० अ० ३०।७। इसी अध्याय में आगे श्लोक ९ से ११ तक भी देखें।

धातुक्षयजनित राजयक्ष्मा में जो ऊपर ११ लक्षणों का निर्देश किया गया है; इनमें प्रतिश्याय, अंगमर्द, या अंससन्ताप ये विशेष लक्षण होते हैं। अंसावमर्द या अंससन्ताप तीनों में देखा जाता है। वेगसन्धारणज यक्ष्मा में स्वरभेद और धातुक्षयज यक्ष्मा में स्वरक्षय देखा जाता है। लक्षणों के तारतम्य का विवेचन आप स्वयं भी करें।

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः । जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः ॥२८॥
स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः । रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ॥
प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम् । ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुधिरस्य च ॥३०॥
पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च । कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम् ॥३१॥
इति व्याधिसमूहस्य [1]रोगराजस्य हेतुजम् । रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः ॥३२॥

विषमाशनज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—विविध प्रकार के अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चर्व्य आदि पदार्थों) तथा पानों (पेय पदार्थों) का विषम रूप से प्रयोग करने वाले पुरुषों के शरीरों में कुपित वात आदि दोष घोर (भयंकर) तथा विषम (कम-ज्यादा) रूप से अनेक रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। विषम प्रकार के आहारों का सेवन करने से विषमता को प्राप्त वात, पित्त, कफदोष रक्त आदि का वहन करने वाले स्रोतों को रोककर राजयक्ष्मा रोग को पैदा कर देते हैं। दोषों के प्रकोप के कारण रक्त आदि का वहन करने वाले स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाने के कारण रस आदि धातुओं की पुष्टि नहीं हो पाती है। तदनन्तर विषमता को प्राप्त कफ, पित्त, वायु इन तीनों दोषों के कारण ये लक्षण यथाक्रम प्रकट होते हैं—१. प्रतिश्याय, २. प्रसेक (मुख से निरन्तर कफ का आना या लार का चूना), ३. कास, ४. छर्दि (वमन), ५. अरोचक—ये कफ के लक्षण हैं; ६. ज्वर, ७. अंसाभिताप, ८. रुधिरस्य छर्दनं (रक्तवमन=खून की उलटी)—ये पित्त के लक्षण हैं; ९. पार्श्वशूल, १०. शिरःशूल, ११. स्वरभेद—ये वात के लक्षण हैं। इस प्रकार इस रोग समूह रूप राजयक्ष्मा के उपर्युक्त चार प्रकार के कारणों से उत्पन्न होने वाले ग्यारह प्रकार के लक्षणों का वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—यहाँ दोषों का क्रम तन्त्रकार ने बदलकर 'कफपित्तानिलकृतं लिङ्गम्' अर्थात् कफ, पित्त, वायु यह क्रम रखा है और तदनुसार रोगों का वर्णन भी किया है। इसके पहले तीन (साहसज, वेगविधारणज, क्षयज) यक्ष्मा रोगों में दोषों का वात-पित्त-कफ यह क्रम सुस्थिर है। यहाँ चारों प्रकार के राजयक्ष्मा के लक्षणों की तालिका प्रस्तुत की जा रही है। अनेक लक्षण परस्पर समान होने पर भी प्रत्येक राजयक्ष्मा के कुछ विभेदक लक्षण दिये गये हैं, आप उन्हें पहचानने का प्रयास करें।

चतुर्विध राजयक्ष्मा-लक्षण परिचायक तालिका

क्रम	साहसज	वेगविधारणज	क्षयज	विषमाशनज
१.	शिरःशूल	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय
२.	कण्ठोद्ध्वंस	कास	ज्वर	प्रसेक
३.	कास	स्वरभेद	कास	कास
४.	स्वरभेद	अरोचक	अंगमर्द	वमन

1. 'रोगेशस्य समुत्थितम्' इति पा०।

५.	अरोचक	पार्श्वपीडा	शिरःशूल	अरोचक
६.	पार्श्वशूल	शिरःशूल	श्वास	ज्वर
७.	अतिसार	ज्वर	अतिसार	अंसाभिताप
८.	जृम्भा	अंसावमर्द	अरुचि	रक्तवमन
९.	ज्वर	अंगमर्द	पार्श्वपीडा	पार्श्वशूल
१०.	उरःशूल	वमन	स्वरक्षय	शिरःशूल
११.	रक्तकफनिष्ठीवन	अतिसार	अंससन्ताप	स्वरभेद

राजयक्ष्मा-चिकित्सा

क्रम	चरकसंहिता (चि० अ० ८)	सुश्रुतसंहिता (उ० तं० अ० ४१)
१.	दशमूल घृत	क्षय में घृतावलेह
२.	सितोपलादि चूर्ण	मुनक्कावलेह
३.	दुरालभादि घृत	अश्वगन्धादि चूर्ण
४.	जीवन्त्यादि घृत	अश्वगन्धादि क्षीर
५.	बलादि क्षीर	वासाघृत
६.	यवानी खाण्डव	यक्ष्मानिवारक घृत
७.	तालीसादि चूर्ण	दिपंचमूली घृत
८.	रास्नादि चूर्ण	यक्ष्माघ्न घृत
९.	—	यक्ष्मा में अन्य घृतयोग

शास्त्रीय सिद्ध-औषध-संग्रह

क्रम	औषधि नाम	मात्रा एवं अनुपान	ग्रन्थ-नाम
१.	जयमंगलरस	१-१ गोली मधु से	भैषज्यरत्नावली
२.	त्रैलोक्यचिन्तामणिरस	१-१ गोली मधु से	भैषज्यरत्नावली
३.	बृहत्काञ्चनाभ्ररस	१-१ गोली मधु से	भैषज्यरत्नावली
४.	मृगांकरस	२-२ रत्ती मधु से	भैषज्यरत्नावली
५.	यक्ष्मान्तकलौह	२-२ रत्ती मधु से	भैषज्यरत्नावली
६.	रत्नगर्भपोट्टलीरस	१-१ रत्ती मधु से	भैषज्यरत्नावली
७.	राजमृगांकरस	१ से २ रत्ती मधु से	भैषज्यरत्नावली
८.	सर्वांगसुन्दररस	१ से २ रत्ती मधु से	भैषज्यरत्नावली
९.	सुवर्णवसन्तमालतीरस	१ से २ रत्ती मधु से	भैषज्यरत्नावली
१०.	कालरञ्जकरस	१ से २ गोली मधु से	भैषज्यरत्नावली
११.	कुमुदेश्वररस	२ से ३ रत्ती घृत से	रसराजसुन्दर
१२.	क्षयकेसरीरस	२ से ३ रत्ती घृत से	रसराजसुन्दर
१३.	महाभ्रवटी	१ से २ रत्ती मधु से	रसराजसुन्दर
१४.	मुक्तापञ्चामृतरस	२ गोली मधु से	रसराजसुन्दर
१५.	स्वर्णभूपतिरस	२-२ रत्ती मधु से	योगरत्नाकर
१६.	मुक्तापंचामृतरस	१ से २ रत्ती मधु से	योगरत्नाकर
१७.	शतावर्यादि अवलेह	२ गोली मधु से	योगरत्नाकर
१८.	द्राक्षासव	१० ग्राम दूध से	गदनिग्रह
१९.	वासासव	२० ग्राम जल से	गदनिग्रह
२०.	हेमगर्भपोट्टलीरस	२० ग्राम जल से	गदनिग्रह
२१.	लोहासव	१ से २ रत्ती मधु से	शार्ङ्गधरसंहिता
		२० ग्राम जल से	शार्ङ्गधरसंहिता

२२.	वसन्तकुसुमाकररस	१ से २ गोली मधु से	रसचंडांशु
२३.	क्षयकुलान्तकरस	१-१ गोली मधु से	रसचंडांशु
२४.	चन्द्रामृतरस	३ रत्ती पान के साथ	रसकामधेनु
२५.	शंखगर्भपोट्टलीरस	१ से २ गोली मधु से	रसकामधेनु
२६.	काञ्चनाभ्ररस	१ से २ गोली मधु से	रसरत्नाकर
२७.	क्षयकुठाररस	१-१ गोली मधु से	रसयोगसार
२८.	एलादिमन्थ	१० ग्राम दूध से	चक्रदत्त
२९.	लाक्षादि तैल	मालिश के लिए	बृहन्निघण्टुरत्नाकर
३०.	च्यवनप्राश	१० ग्राम दूध से	चरकसंहिता

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥३३॥
घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥३४॥
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ॥३५॥
पतत्त्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्। स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम्॥३६॥
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि। शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ॥३७॥
प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः।

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप—प्रतिश्याय, दुर्बलता, निर्दोष वस्तुओं में भी दोष का दिखलायी देना, शरीर में अकृत्रिम बीभत्सता (घिनौनापन) का दिखलायी देना, अर्थात् इसमें साफ, स्वच्छ पदार्थ भी रोगी को गन्दे-से प्रतीत होते हैं, प्रत्येक पदार्थ से घृणा करना, खाते-पीते हुए भी शारीरिक तथा आध्यात्मिक बल का घटते जाना, मांसक्षय, स्त्री-प्रियता, मद्य-प्रियता तथा मांस-भक्षण के प्रति अधिक रुचि का होना, हर समय कुछ ओढ़े रहने की इच्छा का होना, खान-पान की वस्तुओं में मक्खी, घुन, केश, तृण का गिरना दिखलायी देना, बालों तथा नखों का अधिक बढ़ना, स्वप्न में पक्षियों, पतंगों, श्वापद (Savage—वन्य, बर्बर, पशु) प्राणियों से अपने को आक्रान्त या पराजित देखना, केश, अस्थि, भस्म के ढेरों पर चढ़ना, सूखते हुए जलाशयों, गिरते हुए पहाड़ों, वनों, बाग-बगीचों का सूखना, प्रकाश युक्त ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदि का गिरना देखना—ये अनेक रूप वाले लक्षण राजयक्ष्मा के पूर्वरूप होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर राजयक्ष्मा के जिन पूर्वरूपों का वर्णन किया है, इनके अतिरिक्त कुछ पूर्वरूप चरक नि० अ० ६।१३ में कहे गये हैं। यहाँ उनका भी अनुसन्धान कर लें। ये सामान्य पूर्वरूप हैं। दोषानुसार होने वाले पूर्वरूपों पर भी ध्यान देना चाहिए। 'दौर्बल्यं दोषदर्शनम्' इसका तात्पर्य है कि जब रोग के कारण मानसिक दुर्बलता आ जाती है, तो दोष या दोषों के न होने पर भी उस-उस पदार्थ में वह-वह दोष दिखलायी देने लगता है।

सुश्रुतसंहिता उत्तरतन्त्र अ० ४१।२९-३० में 'स्त्रीमद्यमांसप्रियता' इस चरकोक्त वाक्य के केवल दो पूर्वरूपों का ही लिया है—स्त्रीप्रियता को 'रिरंसुः' के रूप में और 'मांसप्रियता' को 'मांसपरः' के रूप में लिया है। वास्तव में मैथुन की इच्छा का होना यह रोग का अपना माहात्म्य या प्रभाव या मानसिक दोष कहा जा सकता है, यही कारण मद्यप्रियता का भी है; और 'मांसपरता' में कारण यह है कि उस रोगी के मांस का परिक्षय हो गया है, अर्थात् उसका सम्पूर्ण शरीर कृश हो चुका है, अतः वह अपने को पुनः मांसल देखना चाह रहा है। ऐसी स्थिति में शास्त्र कहता है—'तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः'। सु० सू० अ० १५।१०। और भी—'यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः, तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति' ॥ सु० सू० अ० १५।३०। इस दृष्टि से इस अध्याय का मनन करें। बल के परिक्षय होने के कारण ही वह स्वप्न में भी उक्त पशु-पक्षियों से अपने को पराजित होता हुआ देखता है। यदि इन सभी पूर्वरूपों के दर्शन किसी रोगी में दिखलायी दें तो फिर उसे असाध्य भी समझना चाहिए। देखें—च० इ० अ० ५।४-८।

रूपं त्वस्य यथोद्देशं [१]निर्देक्ष्यामि सभेषजम् ॥ ३८ ॥

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः। स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥

राजयक्ष्मा के रूप तथा चिकित्सा—अब राजयक्ष्मा रोग का उद्देश-क्रम (संक्षिप्त रूप) से भेषज सहित रूप का वर्णन कर रहा हूँ। शरीर-स्थित सभी धातुएँ अपनी-अपनी ऊष्मा (गरमी) से उचित रूप से पाक को प्राप्त होती हैं और वे धातुएँ अपने-अपने स्रोतस् द्वारा एक धातु दूसरी धातु तक पहुँचकर उस धातु से दूसरी (अगली) धातु पोषण को प्राप्त करती है।

वक्तव्य—'यथोद्देशं'—'समासकथनम् उद्देशः' ॥ अर्थात् संक्षेप में जो विषय कहा जाता है, उसे 'उद्देश' कहते हैं। देखें—सु० उ० तं० अ० ६५।१२। **यथास्वेनोष्मणा**—यद्यपि एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिविम्बित होने पर भिन्न-भिन्न कहा जा सकता है, यही स्थिति शरीरस्थ अग्नि की भी है। इसे समझने के लिए देखें—'तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति? अत्रोच्यते... आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति'। सु० सू० अ० २१।९-१०। आधुनिक विद्वान् आमाशयिक रसों को भी पाचकरस कहते हैं, परन्तु आयुर्वेद की दृष्टि में वह क्लेदक कफ है। मुख (चेहरे) पर जो लालिमा दिखलायी देती है, वह भी क्लेदक कफ ही है। इस प्रकार यदि पाचकाग्नि तीव्र रहती है, तो रसादि सभी धातुओं का यथोचित पाक तथा पोषण समय-समय पर स्वयं होता रहता है।

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च सङ्क्षयात्। धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥४०॥

यक्ष्मा की सामान्य सम्प्राप्ति—स्रोतों के मार्गों के रुक जाने के कारण रक्त आदि धातुओं के क्षीण हो जाने से और धातुओं की ऊष्मा के अपचय (ह्रास) हो जाने से राजयक्ष्मा रोग स्वयं प्रवृत्त हो जाता है।

वक्तव्य—सर्वप्रथम भोजन के परिणामस्वरूप रसधातु की उत्पत्ति होती है। इसका परिपाक होने पर ही रक्त की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्रोतोमार्ग अवरुद्ध हैं, अतः रक्त आदि धातुओं का निर्माण होना रुक जाता है। पहले निर्मित रक्त आदि धातुओं का क्रमशः क्षय होने लगता है, अतः सभी धातुओं का अपचय हो जाता है या होने लगता है, परिणामतः राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

धातूष्मणां चापचयात्—सुश्रुत में एक ही पित्त का अनेक प्रकार से वर्णन किया है—'प्रकृतिस्थ पित्त १. **रागकृत्**—(रस के श्वेतकणों को) रंगता है। इसी को रंजकाग्निपित्त भी कहते हैं। २. **पक्तिकृत्**—इसका कार्य है आहार को पचाना, इसे पाचकाग्नि पित्त भी कहते हैं। ३. **ओजकृत्**—इसकी स्थिति हृदय-प्रदेश में कही गयी है, इसी को साधकपित्त भी कहते हैं। ४. **तेजकृत्**—इसका कार्य दृष्टि को पुष्टि प्रदान करना है, इसी को आलोचकपित्त भी कहते हैं। ४. **मेधाकृत्**—इसे बुद्धि को बढ़ाने वाला भी कहते हैं, इसे भी साधकपित्त कहते हैं। ५. **ऊष्मकृत्**—इसे शारीरिक गरमी को बढ़ाने वाला कहते हैं। इसका स्थान त्वचा है। इसी को भ्राजकपित्त कहते हैं। आचार्य चक्रपाणि ने यहाँ पर **'ऊष्मणा'** शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'ऊष्मणा रसाग्न्यादिरूपेण त्रयोदशविधेन'। यद्यपि पाचकाग्नि एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न देश में स्थित अथवा भिन्न-भिन्न कार्य करने के कारण वह एक भी अनेक रूपों में परिणत हो जाता है। धातुओं का पाक करने वाली अग्नियों का इसलिये अपचय हो जाता है कि उन्हें पचाने के लिए उपयुक्त धातुओं की उपलब्धि नहीं हो पाती है। आप देखें—'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'। सूक्ति। यदि आग को लकड़ी, भूसा आदि जो उसका आहार है, नहीं मिलता है, तो वह स्वयं बुझ जाती है।

तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्। मलीभवति तत् प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे॥
तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्॥

राजयक्ष्मा में मलरक्षा-विधान—राजयक्ष्मा रोग के उत्पन्न हो जाने पर खाये हुए जिस अन्न-पान को कोष्ठ में स्थित अग्नि (पाचकाग्नि या जठराग्नि) पचाती है, उसको थोड़ा-सा अंश ओजोधातु का निर्माण कर पाता है, शेष अंश प्रायः मल (पुरीष) का रूप धारण कर लेता है। इसलिए विशेष करके यक्ष्मारोगी

१. 'पर शृणु' इति पा०।

के मल की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि सभी धातुओं के क्षीण हो जाने से आर्त (पीड़ित) उस रोगी का केवल पुरीष ही बल होता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि सुश्रुत से कहते हैं—हमारे विचार से ओजोधातु ही शरीर का प्रमुख बल है। देखें—'तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते स्वशास्त्रसिद्धान्तात्'। सु० सू० अ० १५।१९। वास्तव में शुक्र का उपधातु ओजस् शरीर का प्रमुख बल है। राजयक्ष्मा में स्रोतो मार्गों के अधिकांश अवरुद्ध हो जाने के कारण ओजस् का निर्माण अत्यन्त कम हो पाता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। यही सुश्रुत का भी मत है—'अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः। ओजः संक्षीयते...' ॥ सु० सू० अ० १५।२३।

ओजस्—यद्यपि ओजोधातु सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रहता है, इसी के कारण पुरुष को ओजस्वी कहते हैं, तथापि इसका सीधा सम्बन्ध वृषणों से है। ये दो प्रकार का स्राव पैदा करते हैं—१. बहिःस्राव, २. अन्तःस्राव। बहिःस्राव को शुक्र कहते हैं और अन्तःस्राव को ओजस्। मैथुनकाल में ये केवल शुक्र को ही उत्पन्न करते हैं। इस अन्तःस्राव के 'पर' और 'अपर' भेद से दो भाग होते हैं। 'पर' ओज की मात्रा आठ बिन्दु है और 'अपर' ओज की मात्रा आधी अञ्जलि। यह ओजस् धातु द्रव्यों में भी देखा जाता है। जो ओजस् शुद्ध स्वर्ण में पाया जाता है, वह ओजस् मकरध्वज बनाने के बाद तलभाग में बचे हुए सोने में नहीं पाया जाता। आप भी परीक्षण करके देखें।

मलीभवति तत् प्रायः—भुक्त अन्न-पान का पाक होने पर रस बनता है और रस का पाक होने पर सामान्यरूप से यह तीन भागों में विभक्त होता है—१. किट्ट, २. प्रसाद, ३. सार। इनसे क्रमशः कफ, रक्त और ओज का निर्माण होता है। जब रसधातु का सम्यक् परिपाक नहीं हो पाता तो वह कफ मात्र शेष रह जाता है और उससे थोड़ी मात्रा में ओजस् का निर्माण हो पाता है, शेष मल के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में राजयक्ष्मा के रोगी का मल ही उसका बल रह जाता है। अतः यक्ष्मा-रोगाक्रान्त की अतिसार जैसे रोगों अथवा अतिसारकारक औषध योगों के प्रयोगों से सर्वथा रक्षा करनी चाहिए। अतएव आचार्य भावमिश्र ने कहा है—'मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तञ्च जीवनम्। तस्माद् यत्नेन संरक्षेद् यक्ष्मिणां मलरेतसी' ॥ भा० प्र० म० खं० क्षयरोगाधिकार १७। **विशेषाद्राजयक्ष्मिणः**—इसका तात्पर्य यह है कि राजयक्ष्मा के अतिरिक्त और भी जो दुर्बल हैं, उनके मल की भी रक्षा करनी चाहिए। उन्हें भी अधिक या तीक्ष्ण विरेचन न दें।

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो [१]विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते ॥४३॥
जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः। येषां सङ्घातयोगेन राजयक्ष्मेति कथ्यते ॥४४॥

राजयक्ष्मा का अन्य प्रकार—रसवाही स्रोतों के रुक जाने के कारण अपने स्थान (हृदय) में स्थित वह आहार परिणामज रस विदाह को प्राप्त हो जाता है (पाठभेद के अनुसार—वहीं पर बढ़ने लगता है)। तदनन्तर वह विदग्ध रस अनेक रूपों को प्राप्त कर कास के वेग से प्रेरित होकर ऊपर की ओर को आता है। तदनन्तर ६ अथवा ११ प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिन लक्षणों के समूह को राजयक्ष्मा कहा जाता है।

वक्तव्य—इसमें जब रस कफरूप में परिवर्तित हो जाता है, तो वहीं अनेक (प्रारम्भिक छः अथवा ग्यारह) रूपों को धारण कर लेता है। जिनका वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया जा रहा है।

कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा। छर्दनं रक्तकफयोः श्वासवर्चोगदोऽरुचिः ॥४५॥
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मणः षडिमानि वा। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः ॥४६॥

राजयक्ष्मा के ग्यारह रूप—१. कास, २. अंसताप, ३. वैस्वर्य (स्वरभेद), ४. ज्वर, ५. पार्श्वशूल, ६. शिरःशूल, ७. रक्तवमन, ८. कफ का निकलना या वमन, ९. श्वास रोग, १०. वर्चोगद (अतिसार, पाठभेद के अनुसार 'कोष्ठमय'), ११. अरुचि—ये ग्यारह राजयक्ष्मा के लक्षण हैं।

राजयक्ष्मा के छः रूप—१. कास, २. ज्वर, ३. पार्श्वशूल, ४. स्वरभेद, ५. अतिसार, ६. अरुचि—अथवा ये छः लक्षण राजयक्ष्मा के होते हैं।

१. 'विवर्धते' इति पा०।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ४४ में जो क्रम (षडेकादश वा पुनः) प्रस्तावित किया था, बाद के ४५वें तथा ४६वें श्लोक में वह परिवर्तित प्रतीत हो रहा है। किन्तु हम यहाँ ४४वें पद्य की औचित्यपूर्ण प्रस्तावना का सदुपयोग अन्वय बल से करके पहले राजयक्ष्मा के छः रूपों, तदनन्तर ग्यारह रूपों की सत्ता को ही स्वीकार करेंगे, क्योंकि यही इसका प्रायोगिक स्वरूप है।

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये। युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥४७॥

यक्ष्मा का साध्यासाध्य विचार—सभी (११), आधे (६) अथवा तीन इनमें से कोई भी लक्षण हों तथा यदि रोगी के मांस अथवा बल का क्षय हो गया हो तो उस रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, अर्थात् उसे छोड़ देना चाहिए, वह असाध्य होता है। और यदि यक्ष्मा रोगी के मांस तथा शारीरिक एवं मानसिक बल का क्षय नहीं हुआ हो, अर्थात् शरीर पुष्ट हो और आत्मबल बना हो तो किसी भी परिस्थिति में यक्ष्मा रोगी की चिकित्सा करनी ही चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में रोग साध्य होता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने ६ लक्षणों तथा ११ लक्षणों का ऊपर (४५वें तथा ४६वें श्लोक में) वर्णन किया है, किन्तु 'त्रिभिर्वाऽपि' का वर्णन नहीं किया है। सुश्रुत में तीन लक्षण ये हैं—त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः'। सु० उ० तं० अ० ४१।१५। इसके पूर्व ११ तथा ६ लक्षणों का भी इन्होंने अपने शब्दों में परिचय दिया है। देखें—सु० उ० तं० अ० ४१।११-१४। इस प्रकार राजयक्ष्मा के ये तीन रूप—१. ज्वर, २. कास और ३. असृगामय (रक्तस्राव) प्रमुख माने गये हैं।

चक्रपाणि के अनुसार उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—'सर्वैरिति एकादशभिः। अर्धैरिति षड्भिः। एकादशस्य ज्येष्ठभागपरिग्रहात् षडेवार्धं भवति। दृष्टा चैषा विधा, यथा—त्रिशन्मताः कर्मसु वस्तयो हि, कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः। च० सि० अ० १।४७। इत्यादौ त्रिंशद्वस्त्यर्धरूपः कालः श्रेष्ठभागपरिग्रहात् षोडशवस्तिरूप एव'। त्रिभिरित्यत्र यानि कानि त्रीणि यक्ष्मणो रूपाणि ज्ञेयानि, श्रृङ्गग्राहिकयाऽनिर्देशात्'। परन्तु चक्रपाणि का 'यानि कानि त्रीणि' यह निर्णय समीचीन प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टि से सुश्रुतोक्त ज्वर, कास, सृगामय (मुख से खून का निकलना)—ये तीन लक्षण अधिक युक्ति-युक्त हैं।

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा। मारुताध्मातशिरसो मारुतं श्यायते प्रति ॥४८॥
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्शनः। तस्य रूपं शिरःशूलं गौरवं घ्राणविप्लवः ॥४९॥
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिः क्लमः। इन्द्रियाणामसामर्थ्यं यक्ष्मा [1]चातः प्रजायते ॥

यक्ष्मा में प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति—कुपित हुई वायु द्वारा जिन रोगियों का शिर भरा रहता है, ऐसे व्यक्ति की नासिका के मूल में रहने वाला कफ, रक्त अथवा पित्त वायु की ओर चला जाता है। इसके बाद सम्पूर्ण शरीर को कृश कर देने वाला घोर (कष्टप्रद) प्रतिश्याय हो जाता है।

प्रतिश्याय के रूप—'शिरःशूल, गौरव (शिरःप्रदेश में भारीपन का अनुभव का होना), घ्राणविप्लव (सूंघने की शक्ति का ह्रास), ज्वर, कास, कफ का ऊपर की ओर से निकलना, स्वरभेद, भोजन के प्रति रुचि का न होना, क्लम (परिश्रम के बिना थक जाना), ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की अपने-अपने कार्यों को करने में असमर्थता का होना; तदनन्तर यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'श्यैङ् गतौ' धातु से प्रतिश्याय शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है—'प्रतिक्षणं श्यायते यस्मिन् वायुप्रेरितः कफः, स प्रतिश्यायः'। इसी को 'प्रतिश्या' कहते हैं। इसी का एक पर्याय है—'पीनस'। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है—'पीनं स्यति सायति वा पीनसः', 'देहकर्शन' अर्थ को यह पीनस शब्द भली-भाँति परिभाषित करता है। इसी को चरक में 'अपीनस' भी कहा गया है, देखें—च० चि० अ० २६।१३-१४। सु० उ० तं० अ० २२।६। राजनिघंटु। कोषकार अमरसिंह ने भी क्षय के पर्यायों के बाद, प्रतिश्याय तथा पीनस का क्रम रखा है। सुश्रुत ने प्रतिश्याय का निदान इस प्रकार दिया है—'नारीप्रसङ्ग-शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः। सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्'॥ सु० उ० तं० अ० २४।३। इस पद्य के अतिरिक्त इस सम्पूर्ण अध्याय को पढ़ें और इसका मनन करें। दूसरे टीकाकारों

१. 'चाथ प्रवर्तते' इति पा०।

ने **'मारुतं श्यायते प्रति'**, इस पद्यांश को 'प्रतिश्याय' के निर्वचन के प्रति कारण माना है। इसके औचित्य पर आप भी विचार करें।

पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्वेतपीतकम्। कासमानो [1]रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥५१॥

यक्ष्मा रोगी का थूक—यक्ष्मा रोगी खाँसता हुआ पिच्छिल (चिपचिपा), बहल (घना), विस्र (आमगन्ध से युक्त), हरे, सफेद तथा पीले रंग का रस कफ के साथ थूकता है।

अंसपार्श्वाभितापश्च [2]सन्तापः करपादयोः। ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५२॥

यक्ष्मा का सामान्य लक्षण—अंसों अथवा कन्धों में अभिताप (चारों ओर कष्ट), हाथ और पैरों में दाह, सम्पूर्ण शरीर में ज्वर—ये लक्षण सामान्य रूप से राजयक्ष्मा के होते हैं।

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात् कासवेगात् सपीनसात्। स्वरभेदो भवेद्वाताद्रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः ॥
तालुकण्ठपरिप्लोषः पित्ताद् वक्तुमसूयते। [3]कफाद्भेदो विबद्धश्च स्वरः [4]खुरखुरायते ॥५४॥
सन्नो रक्तविबद्धत्वात् स्वरः कृच्छ्रात् प्रवर्तते। कासातिवेगात् [5]कषणः पीनसात् कफवातिकः ॥
पार्श्वशूलं त्वनियतं सङ्कोचायामलक्षणम्। शिरःशूलं ससन्तापं यक्ष्मिणः स्यात्सगौरवम् ॥५६॥

यक्ष्मा में स्वरभेद की सम्प्राप्ति—वात, पित्त, कफ तथा रक्त से, कास के वेग से, पीनस (प्रतिश्याय) से स्वरभेद हो जाता है। जब वातदोष के प्रकोप से स्वरभेद होता है, तो उसमें स्वर रूक्ष, क्षाम (क्षीण) और कम्पन युक्त होता है। जब पित्तदोष के प्रकोप से स्वरभेद होता है, तो उसमें तालु तथा कण्ठ (गले) में चारों ओर दाह होता है और वह बोलना नहीं चाहता। तात्पर्य यह है कि बोलने या भाषण में उसे कष्ट होता है। जब कफदोष के प्रकोप से स्वरभेद होता है, तो उसमें आवाज फटी हुई-सी (पाठभेद के अनुसार—स्वरमन्द), बँधी हुई-सी होती है और आवाज में खुर-खुराहट-सी होती है। ऐसा लगता है कि जैसे बोलने में भीतर से कुछ फँस रहा हो। जब रक्तधातु के विबन्ध (दूषित होने) से स्वरभेद होता है, तब रोगी का स्वर अवरुद्ध हो जाता है और बड़े कष्ट के साथ फिर वह निकलता है। जब कास के अतिवेग से स्वरभेद होता है, तब वह (कास का अतिवेग) कण्ठप्रदेश (स्वरयन्त्र) का कषण (हिंसा) कर देता है, अर्थात् स्वरयन्त्र को विकृत कर देता है। जब पीनस (प्रतिश्याय) के कारण स्वरभेद हुआ हो, तो उसमें कफज तथा वातज स्वरभेद के लक्षण होते हैं। राजयक्ष्मा रोगी को जो पार्श्वशूल होता है, वह निश्चित लक्षणों वाला नहीं होता है। उसमें कभी संकोच (सिकुड़न) का अभाव होता है और कभी आयाम (तनाव) सा प्रतीत होता है तथा इसमें शिरःशूल, सन्ताप (दाह) और शरीर में भारीपन प्रतीत होता है।

वक्तव्य—ऊपर राजयक्ष्मा में होने वाले स्वरभेद के वात आदि छः कारणों का निर्देश किया है। सु० उ० तं० अ० ५३।३ में भी यद्यपि इसके ६ भेद दिये हैं। किन्तु वे इस प्रकार हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. त्रिदोषज, ५. क्षयज, ६. मेदोज। मेदःक्षयजनित स्वरभेद थाईरायड-ग्रन्थि के विकृत होने पर ही देखा जाता है। यहाँ चरक तथा सुश्रुत में जो मतभेद दिखलायी दे रहा है, वह केवल कायचिकित्सा और शल्यचिकित्सा की दृष्टि से ही है। भगवान् आत्रेय ने चरक-विमानस्थान में 'संख्येयत्व, असंख्येयत्व' आदि प्रत्येक विषय पर होने वाले अनेक प्रकार के मतभेदों का समुचित समाधान प्रस्तुत किया है। देखें—'भेत्ता···हन्ति। च० वि० अ० ६।४।

स्वरवाही स्रोतों का वर्णन करते हुए सुश्रुत कहते हैं—'द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति' (सु० शा० अ० ९।५) कि भगवान् धन्वतरि ने जिन चार धमनियों का उल्लेख किया है, उन्हीं को यहाँ स्वरवह स्रोतस् कहा गया है। स्वरभेद में स्वरों एवं व्यञ्जनों के उच्चारण में विकृति आ जाती है। **भाषते**—भाषण उसे कहते हैं, जिससे सुस्पष्ट वाक्यों का उच्चारण हो सके, क्योंकि 'भाष' धातु सुव्यक्त बोलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार 'घुषिर् विशब्दने' धातु से 'घोष' शब्द की निष्पत्ति होती है।

१. 'व्यापन्नं ष्ठीवति रसं कासन् यक्ष्मी' इति पा०।
२. 'तापः पादकरस्य च' इति पा०।
३. 'कफान्मन्दः' इति पा०।
४. 'खुनखुनायते' इति पा०।
५. 'कषणः' इति पा०।

राजयक्ष्मा रोग में होनेवाले 'पार्श्वशूल' का लक्षण सभी प्रकार से अनियत (अनिश्चित) होता है, अर्थात् कभी होता है और कभी नहीं भी होता। कभी पसलियों में सिकुड़न होने की-सी वेदना होती है तो कभी आयाम (तनाव)-सा प्रतीत होने लगता है। वास्तव में पार्श्वशूल में मूलरूप से वायु का प्रकोप ही कारण होता है। वह चल है, स्थिर नहीं। अतएव इसके विविध रूप देखने को मिलते हैं।

[1]अभिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात्। कण्ठात्प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसञ्चितः॥

यक्ष्मा में रक्तष्ठीवन का कारण—शरीर के चारों ओर से अवसाद युक्त हो जाने पर जब रोगी विषम-अशन करता है, तो उत्क्लिष्ट (उत्क्लेश को प्राप्त) तथा संचित कफ रक्त के साथ, अर्थात् रक्तमिश्रित कफ कण्ठ (खून मिला हुआ कफ गले) से निकलता है।

वक्तव्य—'अभिसन्ने' इस अंश के पाठभेद इस प्रकार हैं—१. अभिसन्ने (चक्र०), २. अतिसन्ने (जयदेव), ३. अतिस्विन्ने (गण०), ४. अतिखिन्ने, ५. अभिष्यण्णे। इन पाठभेदों को श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में देखें। इन पाठभेदों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि 'अतिखिन्ने' पाठ ही लिपि-दोष या मुद्रण-दोष से 'अतिस्विन्ने' हो गया है, वैसे भी इस प्रसंग में 'स्विन्न' शब्द का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। 'अभिसन्ने' और 'अतिसन्ने' पाठों में केवल उपसर्ग मात्र का अन्तर है, अर्थ स्पष्ट है। अब रह गया 'अतिखिन्ने' पाठ; विषमाशन से शरीर का अतिखिन्न होना माना जा सकता है, किन्तु 'अभिष्यण्णता' तो तभी मानी जा सकती है जब कि वे सभी विषम-अशन के द्रव्य अभिष्यन्दकारक हों, अन्यथा यह पाठ भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अभिसन्न शब्द के अर्थ—जड़ता युक्त, खिन्न, उदास आदि देखे जाते हैं।

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानु[2]पद्यते। आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात् कण्ठमेति च॥५८॥

यक्ष्मा में रक्तवमन का कारण—वात आदि दोषों द्वारा रक्त आदि धातुओं का वहन करने वाले स्रोतों (मार्गों) के रुक जाने से रक्त, मांस आदि धातुओं के रूप में परिणत नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में वह आमाशय में ही स्थित (एकत्रित) होकर क्रमशः बहुत संचित हो जाने के कारण उत्क्लिष्ट (वमन की इच्छा को प्रकट करने वाला) होकर कंठमार्ग से बाहर निकलने लगता है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने 'आमाशयस्थं रक्तं' से 'मांसाशये एव कृताधिष्ठानं' अर्थ लिया है। जब कि सुश्रुत में आशयों का वर्णन इस प्रकार है—'आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति'। सु० शा० अ० ५।८। वास्तव में आशय का अर्थ है—'आश्रित्य शेते द्रव्यम् अस्मिन् इति आशयः' अर्थात् जिस प्रदेश (भाग) में आकर शयन करे (कुछ समय रुके) उसे 'आशय' कहते हैं। इसी दृष्टि से जो रक्त मांस का रूप धारण करने के लिए रक्ताशय से आगे की ओर को बढ़ता है, अतः उस आशय को उतनी देर के लिए 'मांसाशय' स्वीकार कर लिया गया है। यह क्षणिक आशय है—'फुप्फुस-प्रदेश' न कि आमाशय (Stomach)। पक्व रक्त का आश्रय हृदय है और आमरक्त के आशय फुप्फुस हैं।

उत्क्लेश—'उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्। हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत्'॥ सु० शा० अ० ४।५३। मुख में पानी आने एवं थूक से प्रेरित हुआ अन्न (भुक्त पदार्थ) उत्क्लेशित (बाहर की ओर को आने की प्रवृत्ति का) होकर यदि न निकल रहा हो और उसके हृदय पर दबाव का अनुभव हो रहा तो उसे उत्क्लेश कहना चाहिए।

वातश्लेष्मविबद्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति। दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते॥५९॥

यक्ष्मा में श्वास का कारण—जब उरःप्रदेश का मार्ग वात तथा कफदोष द्वारा अवरुद्ध हो जाता है तब श्वास की वृद्धि होने लगती है। **श्वास में अतिसार का कारण**—वात आदि दोषों द्वारा अग्नि के मन्द पड़ जाने पर अधिक मात्रा में चिकनायी युक्त या झागदार मल निकलने लगता है।

वक्तव्य—'शोणितफेनप्रभवः फुप्फुसः'। सु० शा० अ० ४।२५। फुप्फुस या फुस्फुस का निर्माण रक्त के फेन (झाग) से होता है। यह स्वरूप से भी झाग की आकृति का होता है। यह उदानवायु का आधार माना

१. 'अतिखिन्ने' इति पा०।

२. 'नोपपद्यते' इति पा०।

गया है। कण्ठ से श्वास-मार्ग का आरम्भ होता है। यह मार्ग भीतर की ओर बढ़कर दोनों फुप्फुसों में जाकर मिल जाता है। इस फुप्फुस में असंख्य कोष्ठ-प्रकोष्ठ होते हैं। फलतः श्वास द्वारा ली गयी वायु सम्पूर्ण फुप्फुस के छिद्रों में व्याप्त हो जाती है। इन्हीं को फेफड़ा भी कहते हैं। फुप्फुसों को ही वाताशय भी कहा गया है।

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रितैः। जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरर्थैश्च मानसैः॥६०॥
कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात्। वाताद्यैररुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात्॥६१॥

यक्ष्मा में अरुचि का कारण—यक्ष्मारोग से पीड़ित रोगियों की जीभ तथा हृदय में आश्रित वात, पित्त, कफ इन अलग-अलग स्थित दोषों से अथवा सभी दोषों के सम्मिलित रूप (सन्निपात) से और मन के द्विष्ट अर्थों (अप्रिय पदार्थों) की आहार के रूप में प्राप्ति होने से रोगी पुरुष (नर-नारी) को भोजन में अरुचि हो जाती है। जब मुख का रस (स्वाद) कषैला हो तो क्रमशः वातदोष, तिक्त हो तो पित्तदोष और मधुर हो तो कफदोष समझना चाहिए, और त्रिदोषज अरुचि का निर्णय उक्त रसों के सम्मिलित स्वाद की अनुभूति होने पर समझना चाहिए। अप्रिय भोजन को केवल देखने मात्र से जो भोजन के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है, उसे मानसिक अरुचि कहते हैं।

वक्तव्य—त्रिदोष अरुचि का लक्षण प्रकृतिसमसमवाय से समझना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने अरोचक के निदान का वर्णन इस प्रकार किया है—'अरोचको भवेद् दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रयैः। सन्निपातेन मनसः सन्तापेन च पञ्चमः'॥ कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात्। सर्वोत्थे विरसं शोकक्रोधादिषु यथामलम्'॥ अ० सं० नि० स० ५।३०-३१। इन्होंने मन के सन्ताप से पाँचवाँ भेद माना है और सन्निपातज अरुचि में मुख का स्वाद फीका कहा जाता है। मनःसन्ताप के कारणों में शोक, क्रोध आदि मानसिक विकारों को महत्त्व दिया है।

सुश्रुत में वात आदि दोषों से तीन, सन्निपात से एक, चित्तविपर्यय (काम, क्रोध, भय आदि) से अन्न-वह स्रोतों में तथा हृदय में दोषों के अधिक व्याप्त हो जाने से अन्न में रुचि नहीं होती। इस रोग को चिकित्सक भक्तोपघात (अरोचक) कहते हैं। अन्यत्र मानसिक द्वेष के कारण जो अरुचि हो जाती है, उसे 'भक्तद्वेष' कहा गया है। विशेष देखें—च० वि० अ० २।११।

ऊपर श्लोक में अरुचि के पाँच कारणों का निर्देश किया है, किन्तु उनमें से चार अरोचकों का परिचय देकर सान्निपातक अरुचि का तन्त्रकार ने जो परिचय नहीं दिया है, उसका सामान्य कारण है—तीनों दोषों के सम्मिलित स्वरूप का होना, जिसे अनेक बार सूत्ररूप में तन्त्रकार ने इस प्रकार कहा है-'सर्वजे सर्वजं विद्यात्'।

अरोचकात् कासवेगाद् दोषोत्क्लेशाद्भयादपि। छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः॥६२॥

यक्ष्मा में वमन का कारण—राजयक्ष्मा रोग में अरुचि के कारण, कास के वेगों के बार-बार आने के कारण, दोषों का उत्क्लेश होने के कारण तथा भय के कारण जो छर्दि (वमन) होती है, वह अन्य विकारों में भी उपद्रव के रूप में दिखलायी देती है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने यक्ष्मा में वमन के चार कारण माने हैं और वृद्धवाग्भट ने इसके पाँच कारण दिये हैं—'छर्दिर्दोषैः पृथक् सर्वैर्द्विष्टैरर्थैश्च पञ्चमी'। अ० सं० नि० अ० ५।३२। सच पूछिये तो महर्षि आत्रेय का विवेचन ही विशद है। ध्यान दें—'दोषोत्क्लेश' पद में 'पृथक् सर्वैः' सबका समावेश कर लिया गया है। इसके बाद 'अरोचकात्' इस पद में सभी 'द्विष्ट अर्थों' का अन्तर्भाव हो जाता है। कासवेग और भय ये इसके विशेष कारण हैं।

सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम्। परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत्॥६३॥

यक्ष्मा रोग की चिकित्सा—सभी प्रकार के राजयक्ष्मा त्रिदोषजनित ही होते हैं। अतः चिकित्सक को चाहिए कि रोग की शारीरिक अवस्था के अनुसार और दोषों के बलाबल (कौन दोष बलवान् है और कौन दोष क्षीण बल है) का विचार करके शोष रोगी की चिकित्सा करें।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने निर्णयसागरीय 'आवस्थिकं' पाठ के स्थान पर 'अवस्थितं या आवस्थितं' पाठ को सम्मान दिया है, जो प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता है। तन्त्रकार ने यहाँ 'यक्ष्मा' और 'शोष' को परस्पर पर्याय-

वाचक स्वीकार किया है। **दोषाणां तु बलाबलम्**—इस निर्देश से बलवान् दोषों की विशेष चिकित्सा और सामान्य रूप से उभड़े हुए दोषों की सामान्य चिकित्सा करनी चाहिए, ऐसा सूचित किया है।

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये। पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणीः शृणु॥

यक्ष्मा के कारणों की चिकित्सा-प्रस्तावना—प्रतिश्याय, शिरःशूल, कास, स्वरक्षय तथा पार्श्वशूल—इन विकारों में विविध प्रकार की साधारण चिकित्सा को सुनो।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय राजयक्ष्मा में होने वाले प्रतिश्याय आदि विकारों की साधारण चिकित्सा का उपदेश अपने शिष्यों को कर रहे हैं। अतएव—'मैं कह रहा हूँ, तुम सुनो' ऐसा कहा है।

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च। परिषेकावगाहांश्च [1]यावकं वाट्यमेव च ॥६५॥

पीनस-चिकित्सा—यक्ष्मा रोग में होने वाले पीनस (प्रतिश्याय) में स्वेद, अभ्यंग, धूम-प्रयोग, सिर में आलेपन, परिषेक (स्नान), अवगाह (द्रोणी-अवगाहन) इनका प्रयोग करें। भोजन के लिए यावक तथा वाट्य पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—यावक जौ से बने पदार्थ 'यवागू' आदि को कहते हैं। वैद्यकनिघण्टु में इसके गुण-धर्म का वर्णन है। इस शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में भी होता है। देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु। वाट्य—जौ से बनी दलिया को कहते हैं। यह जौ को भूनकर बनायी जाती है।

लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान् स्नेहोपबृंहितान्। लावतित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत् ॥६६॥

यक्ष्मा में मांस-प्रयोग—राजयक्ष्मा के रोगियों को लावा, तीतर, मुर्गा और बटेर इनके मांसों को घी में भूनकर और इसमें नमक, खटाई, कटुरस (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का चूर्ण मिलाकर तैयार किया गया मांसरस उसे पीने के लिए दें।

वक्तव्य—मांसरस केवल उन्हीं को दें जो उसको खाने की इच्छा रखते हों, अन्यथा शाकाहारी प्रवृत्ति के लोगों को मांसतत्त्व (प्रोटीन) को बढ़ाने वाले अन्य पदार्थ दें। जैसे—दालों का रस, दूध आदि भी मांस तत्त्व को बढ़ाने की क्षमता रखते हैं। 'मांसान्मासं प्रवर्धते'—यह एक सामान्य नियम है। उक्त पद्य में मात्र मांस-कल्पना-विधि दी है। अम्लरस द्रव्यों को पकने में बाधा डालता है। अतः पाककर्म-कुशल व्यक्ति किस द्रव्य को कब डालना चाहिए, इसका स्वयं विचार करें।

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्। दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् ॥६७॥
तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः।

यक्ष्मा में बकरे का मांसरस—पिप्पली, जौ, कुलथी, सोंठ, अनारदाना, आँवला—इन द्रव्यों द्वारा विधिवत् तैयार किया स्नेह युक्त बकरे का मांसरस का रोगी पान करे। इसका सेवन करने से पीनस आदि छः विकार शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—बकरे के मांस को लेकर पर्याप्त घी में भली-भाँति भून लें। तदनन्तर उसमें पानी डालकर पकायें। पिप्पली तथा सोंठ का चूर्ण करके डाल दें तथा उसमें जौ की पोटली बाँधकर छोड़ दें। कुलथी वातनाशक दाल है, जो पकते-पकते गल जाती है। इसे भी आरम्भ में डाल दें। इस श्लोक में नमक नहीं कहा गया है, अतः पड़ोसी श्लोक से ले लें। दाड़िम खट्टे अनार को कहते हैं, आँवला कषायरस-प्रधान होते हुए भी अम्ल होता है, अतः तैयार हो जाने पर इन्हें अन्त में डालें। इसे प्रतिदिन बनाकर रोगी को पीने के लिए दें। इसके सेवन से ऊपर श्लोक ६४ में दिये हुए प्रतिश्याय आदि छः विकार शीघ्र शान्त हो जाते हैं।

छागसेवा-क्रम—आचार्य चक्रपाणिदत्त विरचित 'चक्रदत्त' में राजयक्ष्मा रोगी के लिए बकरे की उपयोगिता इस प्रकार वर्णित है—'छागं मांसं पयश्छागं छागं सर्पिः सशर्करम्। छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्' ॥ चक्रदत्त अ० १०।९२। अर्थात् बकरे का मांस, बकरी का चीनी मिला हुआ दूध, घी, बकरी की सेवा और बकरियों के बीच सोना एवं रहना—ये सभी यक्ष्मारोग का नाश करते हैं।

१. 'पानकम्' इति पा०।

मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा [1]सूपकल्पितैः ॥ ६८ ॥
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत् ।

यक्ष्मारोग में पथ्य—मूली अथवा कुलथी का भली-भाँति बनाये हुए यूषों के साथ जौ, गेहूँ अथवा शालिधान्यों से यथोचित खाद्य सामग्री तैयार कर रुचि एवं सात्म्य का विचार कर रोगी को खिलाना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि ये ही पदार्थ स्वस्थ पुरुष के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, किन्तु जब यक्ष्मारोगी को देना हो, तो इन्हें रोगी की इच्छा आदि का विचार कर उनकी तदनुकूल भली-भाँति कल्पना (रचना) करनी चाहिए। यहाँ पर परिचारक या पाककर्त्ता को इस निर्देश का पूर्णरूपेण ध्यान रखना चाहिए—'कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् सुधीः'।

पिबेत् प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥ ६९ ॥
धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा शृतम्। पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत् ॥७०॥

यक्ष्मा में पेयपदार्थ-निर्देश—यदि रोगी मद्यपान करना चाहता हो तो वारुणी नामक मद्य (ऊपरी स्वच्छ भाग) पीना चाहिए। अथवा लघुपञ्चमूल डालकर पकाया हुआ जल पीने को देना चाहिए। (लघुपञ्चमूल का जल षडंग परिभाषा के अनुसार तैयार करना चाहिए), अथवा—धनियाँ तथा सोंठ डालकर पकाया हुआ जल पीयें (इसमें धनियाँ और सोंठ बिना पीसे ही डालना चाहिए), अथवा तामलकी (भुँइ आँवला) डालकर पकाया हुआ जल पीने को दें। अथवा—चारों पर्णिनियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी) को डालकर पकाया हुआ जल पीने के लिए रोगी को दें। उस-उस (पञ्चमूल आदि द्वारा तैयार किये हुए) जल से अन्नों (भक्ष्य पदार्थों) की भी कल्पना (रचना) करनी चाहिए।

वक्तव्य—उक्त यक्ष्मा के रोगी को जो भी खाने के लिए दें, उन पदार्थों को इनमें से किसी एक के जल से तैयार करके ही रोगी को खिलाना चाहिए।

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः । सङ्करस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः ॥७१॥
स्वेदयेत्—

यक्ष्मा में संकरस्वेद—कृशरा (खिचड़ी==तिलचावल को मिलाकर बनायी जाती है), उत्कारिका (जौ, उड़द, एरण्डबीज, अतसी, कुसुम्भबीज आदि को पीसकर कचौड़ी की भाँति जो रोटी बनायी जाती है, उसे 'उत्कारिका' कहते हैं। देखें—अरुणदत्त-वा० सू० १७ अ०), उड़द, कुलथी, जौ, पायस (खीर) द्रव्यों द्वारा संकरस्वेद की विधि से कण्ठ (गला), पार्श्व (पसलियाँ) तथा उर (छाती) का स्वेदन करना चाहिए।

वक्तव्य—संकरस्वेद की विधि चरकसंहिता-सूत्रस्थान अ० १४ श्लोक ४१ में देखें। उत्कारिका को कहीं लप्सी भी कहा गया है। पदार्थों का उल्लेख ऊपर कर दिया है। स्वेदन की विधि के स्वरूपों की विभिन्नता चिकित्सक पर निर्भर करती है। अन्य स्वेदों का विवरण आगे दिया जा रहा है।

—पत्रभङ्गेन शिरश्च परिषेचयेत्। बलागुडूचीमधुकशृतैर्वा वारिभिः सुखैः ॥७२॥

यक्ष्मा में परिषेकस्वेद—वातहर पत्रों के क्वथित जल से अथवा बला (बरियारा), गुरुच, मुलेठी इन द्रव्यों को डालकर पकाये गये गुन-गुने जलों से शिर का परिषेक (स्नान) कराना चाहिए।

वक्तव्य—परिषेकस्वेद का विवरण च० सू० अ० १४।४४ में दिया है। 'पत्रभङ्ग' शब्द में प्रकरणोचित किसी अर्थ को स्वयं परिभाषित करने की क्षमता नहीं है, फिर भी आचार्य चक्रपाणि प्रसंगानुसार उक्त शब्द की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'पत्रभङ्गेनेति—पत्रभङ्गक्वाथेन। पत्रभङ्गाश्च वातहरपल्लवाः'। साहित्य में प्रयुक्त 'पत्रभंग' शब्द मुख, गंडस्थल, स्तन आदि पर रचित सौन्दर्यवर्धक चित्र आदि रचनाओं का सूचक है। यथा—'कस्तूरीवरपत्रभङ्गनिकरो मृष्टो न गण्डस्थले'। यह इस प्रसंग से सर्वथा विपरीत है। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' ने इस शब्द का संग्रह नहीं किया है। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने यहाँ 'पत्रभङ्ग' शब्द को अपनाया है।

१. 'सूपसंस्कृतैः' इति पा०।

वातहर पत्र—सामान्यरूप से पुदीना, मरुवक, दमनक, शतपुष्पा (सोया), मिश्रेया (सौंफ), नाडीहिंगु—ये पदार्थ वातानुलोमनकारक कहे गये हैं। सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान में ३७ वर्गों में द्रव्यों को विभक्त किया गया है। हम यहाँ वातहर द्रव्यों का संक्षेप में संकेत कर रहे हैं—वीरतर्वादि, एलादि, बृहत्यादि, काकोल्यादि, परूषकादि—इन गणों के द्रव्यों पर ध्यान दें और तन्त्रकार के निर्देशानुसार इन द्रव्यों के पत्रों का ग्रहण करें। द्रव्यों के चयन में चिकित्सक का निर्णय ही सर्वमान्य होता है।

बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्। कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः॥
औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम्। सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदे प्रयोजयेत् ॥७४॥

यक्ष्मा में नाड़ीस्वेद—१. बस्त (बकरा) और मत्स्य (मछली) इनके शिरों को आवश्यकतानुसार पानी में उबालकर, उसी जल से कण्ठ, शिर तथा पसलियों में नाडीस्वेद-विधि से स्वेदन करें। अथवा २. वात-नाशक द्रव्यों को डालकर पकाये गये गरम दूध द्वारा नाडीस्वेद करायें। ३. औदक (जल में ही रहने वाले) प्राणियों तथा आनूप (जलप्राय) देश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस को जल में पकाकर उस (गरम) जल से अथवा ४. पञ्चमूल के द्रव्यों को डालकर पकाये हुए जल से, अथवा ५. काञ्जी में स्नेह (घृत, तैल या वसा) डालकर पकाये हुए जल से नाडीस्वेद कराना चाहिए।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान, अध्याय १४।४३ में नाड़ीस्वेद की विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है, उसे देखें। इसमें दूध गाय का ही लें। वातनाशक द्रव्यों का उल्लेख श्लोक ७२ के वक्तव्य में देखें। आचार्य चक्रपाणि ने तन्त्रान्तर का उल्लेख करते हुए कुछ वातिक तथा उत्तरवातिक द्रव्यों का यहाँ परिगणन किया है। **वातिक द्रव्य**—'बिल्वोऽग्निमन्थः काश्मर्य श्रेयसी पाटला बला। शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका॥ वर्धमानं मूलकञ्च वातिकान्यवतारयेत्'॥ **उत्तरवातिक द्रव्य**—'करमर्दं सबदरं कुलत्थान् शुष्कमूलकान्। श्वदंष्ट्रां वेणुपर्णी च साश्वगन्धां शतावरीम्॥ ऋष्यप्रोक्तां गुडूचीं च मधुकं शिग्रुमेव च। यवान्यारग्वधं चैव यच्चान्यत् किञ्चिदीदृशम्। सर्वमेतद् विजानीयाद् भिषगुत्तरवातिकम्'॥ इति।

जीवन्त्याः शतपुष्पाया बलाया मधुकस्य च। वचाया वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च ॥७५॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाः सुसंस्कृताः। शस्यन्ते सचतुःस्नेहा शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥७६॥

यक्ष्मा में उपनाहस्वेद—यक्ष्मा रोग के कारण जिन रोगियों के सिर में, पसलियों में तथा अंसों (कन्धों) में शूल (वेदना) हो रहा हो, उनके लिए जीवन्ती, शतपुष्पा (सोया), बला (बरियारा), मुलेठी, वालवच, वेशवार, विदारीकन्द, मूली, औदक तथा आनूपमांस—इन द्रव्यों को अलग-अलग चारों स्नेहों से युक्त करके विधिपूर्वक निर्माण कर प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—वेशवार-परिचय—रन्धनोपकरण विशेष का नाम, यथा—'अजाजी मरिच शुण्ठी ग्रन्थि-धान्यनिशाद्वयम्। पिप्पलीदाडिमञ्चेति वेशवारगणो मतः'॥ **पक्वमांस-भेद**—'निरस्थिपिशितं पिष्टं स्विन्नं गुड-घृतान्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः'॥ परिभाषा-प्रदीप अ० ३। यहाँ पक्वमांस भेद का ही ग्रहण किया गया है। **औदकमांस**—पानी में रहने वाले प्राणियों (मछली आदि) का मांस। **आनूपमांस**—'जलप्रायमनूपं स्यात्', जो प्राणी पानी या उसके समीप रहते हैं, उन्हें 'आनूप' कहते हैं। **उपनाह**—इसे हिन्दी में पुल्टिस कहते हैं, इससे वेदना-स्थान को चारों ओर से घेर दिया जाता है। इसकी निष्पत्ति 'उप' उपसर्गपूर्वक 'णहबन्धने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने से होती है। **चतुःस्नेह**—घृत, तैल, वसा, मज्जा।

शतपुष्पा समधुकं कुष्ठं तगरचन्दने। आलेपनं स्यात् सघृतं शिरःपार्श्वांसशूलनुत् ॥७७॥

यक्ष्मा में आलेपन—शतपुष्पा (सोया), मुलेठी, कूठ, तगर, लालचन्दन—इन सभी द्रव्यों को कूट-पीसकर गाय का घी मिलाकर आलेपन तैयार करें। इसका प्रयोग करने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसों (कन्धों) का शूल समाप्त हो जाता है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने अपनी संहिता के चिकित्सास्थान अ० १।८ में व्रण के ६० उपक्रमों में से द्वितीय उपक्रम को आलेप या आलेपन की संज्ञा दी है। इसका विशेष विवरण सु० चि० अ० १।१४-१६ में देखें। अन्तर यह है कि सुश्रुतोक्त उक्त आलेप व्रण को बैठा देते हैं और प्रस्तुत आलेपन शिरःशूल आदि का शमन करते हैं।

बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम्। पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम् ॥७८॥
वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा। शतावरी पयस्या च कत्तृणं मधुकं घृतम् ॥७९॥
चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहाः परिकीर्तिताः। शस्ताः संसृष्टदोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥

यक्ष्मा में चार प्रदेह—१. बला की जड़, रास्ना, काले तिल, गाय का घी, मुलेठी, नीलकमल, २. पलंकषा (गुग्गुलु), देवदारु, लालचन्दन, केसर, घी, ३. वीरा (काकोली), बला मूल, विदारीकन्द, सहिजन की छाल, पुनर्नवा, ४. शतावर की जड़, पयस्या (क्षीरकाकोली), कत्तृण (सुगन्धि तृण), मुलेठी, गाय का घी। आधे-आधे श्लोक द्वारा ये चार प्रदेह (Applying a plaster or plaster thick ointment) कह दिये गये हैं। इनका प्रयोग संसृष्ट (द्वन्द्वज अथवा सान्निपातिक) दोषों से उत्पन्न शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल में उन-उन अंगों में करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर चार प्रदेहों का वर्णन किया है, जिनमें तीसरे में घी मिलाने की संस्तुति तन्त्रकार द्वारा नहीं की गयी है, किन्तु उसमें भी घी मिलाना चाहिए, क्योंकि शूल वातज प्रकोप से होता है। इसके शमन के लिए घी की आवश्यकता होती है। अतः हम उसका यहाँ अध्याहार कर लेंगे।

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः। [1]तैलान्यभ्यङ्गयोगीनि वस्तिकर्म तथा परम् ॥८१॥
शृङ्गालाबुजलौकोभिः प्रदुष्टं व्यधनेन वा। शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत् ॥८२॥

यक्ष्मा में नस्य आदि प्रयोग—यक्ष्मा रोग के कारण होने वाले शिरःशूल, पार्श्वशूल तथा अंसों (कन्धों) के दर्द में जिसके लिए जो अनुकूल हो तदनुसार नावन (नस्य), धूमपान, भोजन करने के बाद स्नेहपान, अभ्यंग के उपयोगी तैल, वस्तिकर्म कराना चाहिए। उसके बाद दुष्ट (वात आदि दोषों से दूषित) रक्त को शृंग (सिंगी), अलाबु (तुम्बी) तथा जलौका-प्रयोग से निकलवा देना चाहिए या सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए। इससे उपर्युक्त विकार शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—रक्तमोक्षण के सम्बन्ध में आगे इस प्रकार निर्देश है—'भिषग् वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्। पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः॥ यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम्'। च० चि० अ० २१।६९। इसकी विशेष विधि देखें—सु० सू० अ० १३ सम्पूर्ण।

प्रदेहः सघृतश्श्रेष्टः पद्मकोशीरचन्दनैः। दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः ॥८३॥

यक्ष्मा में पद्मकादि प्रदेह—यक्ष्माजनित शिरःशूल आदि में पद्मकाष्ठ (पद्माख), खस, लालचन्दन—इन द्रव्यों को पीसकर घी में मिलाकर लेप करना चाहिए। अथवा दूब, मुलेठी, मजीठ तथा नागकेशर इन्हें पीसकर घी में मिलाकर उक्त शिरःशूल आदि में लेप करना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त दोनों लेप शीतवीर्य हैं। यदि शिरःशूल आदि के कारण शरीर के जिस अंग में दाह हो रहा हो, उस अंग में लगायें। ऊपर श्लोक ७८ तथा ७९ में जो चार प्रदेहों का उल्लेख है, वे शूल-शामक हैं और ये दो प्रदेह दाहशामक हैं। इसी प्रकार का एक प्रलेप आगे कहा जा रहा है।

[2]प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम्। कशेरुकाः पयस्या च ससर्पिष्कं प्रलेपनम् ॥८४॥

यक्ष्मा में प्रपौण्डरीकादि प्रलेप—प्रपौण्डरीक (पुण्डरियाकाठ), निर्गुण्डी (मेवड़ी या सम्भालू), कमलकेसर, नीलकमल, कसेरू, पयस्या (क्षीरकाकोली)—इनको कूट-पीसकर घी मिलाकर प्रलेप करना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत-सूत्रस्थान अध्याय १८ में जिसे आदि उपक्रम के रूप में कहा गया है, वह 'व्रणालेपन-बन्धविधि' नामक अध्याय है। इसमें आलेप के तीन भेद बतलाये गये हैं—'स त्रिविधः प्रदेहः प्रलेप आलेपश्च।

---

१. 'तैलान्यभ्यङ्गयोगश्च' इति पा०।
२. 'प्रपौण्डरीकं पद्मस्य केशरं नीलमुत्पलम्' इति पा०।

प्रलेपप्रदेहयोरन्तरं—तत्र प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी वा, प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा, बहलोऽबहुरविशोषी च, मध्यमोऽत्रालेपः' । सु० सू० अ० १८।६ । इस प्रकरण को आगे भी देख लें। श्रीजयदेव ने पद्म और केशर इनको दो अलग-अलग द्रव्य माना है, जब कि आगे 'उत्पल' शब्द दिया ही है। यदि इसे अलग माना ही जावे तो 'पद्म' को लालकमल के रूप में लेना चाहिए।

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा । अभ्यङ्गः, पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ॥८५॥
माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिशृतेन वा । परिषेकः प्रयोक्तव्य इति संशमनी क्रिया ॥८६॥

दाह में अभ्यंग तथा परिषेक—चन्दनादि तैल से अथवा शतधौत घृत से दाहशान्ति के लिए अभ्यंग (मालिश) करना चाहिए, अथवा गाय के ताजे दूध से अथवा मुलेठी के क्वाथ को शीतल करके परिषेक (स्नान) कराना चाहिए, अथवा अत्यन्त शीतल माहेन्द्रजल से अथवा चन्दनादिगण के द्रव्यों को डालकर पकाये गये जल को शीतल करके उसका प्रयोग परिषेक के लिए करें। यहाँ तक यक्ष्मारोग में संशमनी क्रिया (चिकित्सा) का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने **चन्दनाद्य तैल** का वर्णन चरकसंहिता चि० अ० ३।२५८ में किया है, इसे वहाँ देख लें। इसी तैल में प्रयुक्त द्रव्यों का क्वाथ करने की चर्चा ऊपर ८६वें पद्य में की गयी है। **सेक**—सेक, परिषेक, स्नान ये शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। **शतधौतेन सर्पिषा**—इसके निर्माण में आचार्यों का मतभेद है। यथा—'यत् पुनः पुनः सन्ताप्य शीताम्भसा निर्वाप्यते, तथाविधसर्पिषि'। ईशानदेवः। **दूसरा प्रकार**—'शतं वारान् शीततोयेन धौतं फेणितं घृतम्'। इति डल्हणः। चिकित्सक समाज में शतधौत घृत का यह दूसरा प्रकार ही अधिक मान्य एवं प्रचलित है। क्योंकि इसमें दाहशामकता अधिक होती है। **माहेन्द्रजल**—इसका विवरण चरक सू० अ० २७।१९६ तथा २०१ में देखें। इसके अनुसार सभी जल एक प्रकार का होता है—'जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्'। ऐन्द्र को ही माहेन्द्र भी कहा गया है। विशेष देखें—सु० सू० अ० ४५ जल-प्रकरण। श्रीजयदेव ने माहेन्द्रजल को सामान्य रूप से वर्षा-जल कह दिया है, जब कि वर्षा-जल के अनेक भेद हैं। 'माहेन्द्रजल' को चक्रपाणि ने 'आन्तरिक्षजल' कहा है।

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम् । स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न कर्शनम् ॥८७॥
शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि । अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ॥८८॥

यक्ष्मा में वमन-विरेचन—जिन यक्ष्मा रोगियों के शरीर में वात आदि दोषों की अधिकता हो, उनको स्नेहन तथा स्वेदन कराने के बाद स्नेहमिश्रित ऐसा वमन तथा विरेचन देना चाहिए, जिससे रोगी कृश न हो जाये। क्योंकि शोष (यक्ष्मा) रोगी अधिक पुरीष के निकल जाने पर शरीर को छोड़ देता है, अर्थात् मर जाता है और यदि रोगी के शारीरिक तथा मानसिक बल का ध्यान दिये बिना अधिक मात्रा में या तीक्ष्ण विरेचन-कारक औषधद्रव्य दे दिया जाये और उससे जिसे विरेचन होने लगे, उसकी बात तो क्या कहनी है अर्थात् उसकी मृत्यु तो अवश्य ही हो जायेगी।

वक्तव्य—यक्ष्मारोग में रोगी की धातुएँ क्षीण हो जाती हैं, जिनके कारण वह पहले की अपेक्षा कृश तथा दुर्बल हो जाता है। वमन तथा विरेचन दोनों से शक्ति क्षीण होती है। यह दूसरी बात है कि इनसे दोषों का निर्हरण भी होता है। अतः रोगी के बल का ध्यान रखते हुए उतना ही वमन तथा विरेचन कराना चाहिए जितना कि वह आसानी से सहन कर सके, क्योंकि तीक्ष्ण विरेचन इसमें घातक होता है। देखें—च० चि० अ० ८।४२ तथा उसका वक्तव्य। अतएव तन्त्रकार ने **'यन्न कर्शनम्'** पद का प्रयोग ऊपर किया है। वृद्धवाग्भट ने महर्षि आत्रेय की भाँति सूत्ररूप में न कहकर स्पष्ट रूप से वमन तथा विरेचन योगों का निर्देश किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ७।३-४।

योगान् संशुद्धकोष्ठानां कासे श्वासे स्वरक्षये । शिरःपार्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान् प्रयोजयेत् ॥

यक्ष्मा में सिद्धयोग-प्रयोग—वमन तथा विरेचन क्रियाओं द्वारा जिन रोगियों के कोष्ठ (मलाशय) शुद्ध हो गये हों ऐसे राजयक्ष्मा के रोगियों को कास, श्वास, स्वरक्षय, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल होने पर (आगे कहे जाने वाले) इन सिद्ध योगों का प्रयोग कराना चाहिए।

[1]बलाविदारिगन्धाद्यैर्विदार्या मधुकेन वा । सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात् स्वर्यमुत्तमम् ॥९०॥

राजयक्ष्मा में नस्य—बलामूल तथा विदारिगन्धादिगण से, अथवा विदारीकन्द एवं मुलेठी से सिद्ध किये (पकाये) गये गाय के घी में सेंधानमक मिलाकर नस्य लेना चाहिए। यह स्वर को ठीक करने वाले योगों में उत्तम होता है।

वक्तव्य—विदारिगन्धादिगण के द्रव्य ये हैं—विदारिगन्धा (शालपर्णी), बृहती (बड़ी कटेरी), पृश्निपर्णी, निदिग्धिका, (छोटी कटेरी) तथा गोखरू, इसी को लघुपञ्चमूल भी कहते हैं। देखें—च० चि० अ० १ पाद १ श्लोक ४२। आचार्य गङ्गाधर के अनुसार उक्त पाठ इस प्रकार है—'बलाविदारिगन्धाभ्यां विदार्यामधुकेन च। सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्वर्यमनुत्तमम्'॥ ऐसा लगता है कि आचार्य गंगाधर वृद्धवाग्भट से प्रभावित थे, अतः उक्त श्लोक ज्यों का त्यों अ० सं० चि० अ० ७।५९ में है। चरकोक्त विदारिगन्धादि शब्द से अनेक ऐसे द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है, जो प्रसंगोचित हैं; आप भी ध्यान दें। उक्त गंगाधरोक्त पाठ अविकल रूप से अ० हृ० चि० अ० ५।४१ में भी दिया गया है, किन्तु श्रीजयदेव ने जो यह लिखा है कि वह 'विदार्या' के स्थान पर 'पिप्पल्या' पढ़ता है, सर्वथा भ्रामक है। बला आदि द्रव्यों का कल्क तथा क्वाथ बनाकर घृत-पाक कर लेना चाहिए और सेंधानमक का इसमें प्रक्षेप डालना चाहिए। यही सही विधि है।

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला । [2]क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम् ॥९१॥

यक्ष्मा में अन्य नस्य योग—पुण्डरियाकाठ, मुलेठी, पीपर, बृहती (बड़ी कटेरी), बलामूल—इन सभी द्रव्यों को लेकर इनका कल्क बनाकर गाय के दूध का पाक करें और उपर्युक्त कल्क से ही घी का भी पाक करें। जब दूध का पाक तथा घृत का पाक हो जाये तो इनकी नस्य लें। इनकी नस्य लेने से स्वरभेद नष्ट होता है। स्वरभेद-नाशन के लिए यह नस्य उत्तम है।

वक्तव्य—निम्नलिखित पाठभेद के अनुसार यह एक योग है और निर्णयसागरीय पाठ के अनुसार ये दो योग हैं। 'क्षीरसर्पिः' पाठ को स्वीकार करने पर इसका अर्थ होगा 'क्षीरोत्थितं सर्पिः क्षीरसर्पिः' अर्थात् सिद्ध किये हुए दूध से निकाला गया घी। श्रीजयदेव वाले 'क्षीरसर्पिः' पाठ को वृद्धवाग्भट ने भी समर्थन दिया है, अतः वे निर्णयसागरीय पाठ को स्वीकार नहीं करते।

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम् । प्रयुज्यमानं बहुशो घृतं चौत्तरभक्तिकम् ॥९२॥

यक्ष्मा में घृतपान—भोजन करने के बाद पर्याप्त मात्रा में घृतपान का प्रयोग करने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास तथा श्वास रोगों का नाश होता है।

वक्तव्य—यहाँ 'बहुशः' का अर्थ है—**'बहूनि ददाति बहुशः'**। किन्तु इसके प्रयोग करने के पहले रोगी के अग्निबल (पाचनशक्ति) की परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिए।

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च । बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान् प्रबाधते ॥९३॥

दशमूलादि घृत—दशमूल (लघु तथा बृहत्पञ्चमूल) के क्वाथ, गाय के दूध, मांस (बकरे का मांस) रस और बलामूल के कल्क द्वारा सिद्ध किये (पकाये गये) घी का पान करने से उपर्युक्त रोगों का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ भी घी का सेवन औत्तरभक्तिक (भोजन के बाद) ही कराना चाहिए। **रोगानेतान्**—अर्थात् ऊपर श्लोक ९२ में कहे गये रोगों को शान्त करता है। कुछ टीकाकार इस श्लोक में दो योग बतलाते हैं—१. दशमूल, दूध और मांस रस से सिद्ध घी तथा २. बलामूल से सिद्ध घी। किन्तु आचार्य चक्रपाणि इसे एक योग ही स्वीकार करते हैं।

निर्माण-विधि—गाय का घी १ पाव, दशमूल का क्वाथ १ पाव, बलामूल कल्क १ पाव, गाय का दूध १ सेर तथा मांसरस ३ सेर। इन द्रव्यों से यथाविधि घृत-पाक करें। **मात्रा**—आधा तोला से दो तोला तक।

---

१. 'बलाविदारीगन्धाभ्यां पिप्पल्या' इति पा०।
२. 'साधितं क्षीरसर्पिश्च तत् स्वर्यं नावनं परम्' इति पा०।

भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्न्यभ्यवचारितम्। रास्नाघृतं वा सक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम्॥९४॥

यक्ष्मा में घृतपाक—राजयक्ष्मा का रोगी अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार भोजन करने के बाद अथवा भोजन करते समय बीच में रास्नाघृत को दूध के साथ अथवा बलाघृत को दूध के साथ सेवन करे (इससे शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास तथा श्वास रोग नष्ट होते हैं)।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि के अनुसार ऊपर कहे गये दो योग इस प्रकार चार हो जाते हैं—१. रास्नाघृत, २. रास्नाक्षीर, ३. बलाघृत और ४. बलाक्षीर। आचार्य गंगाधर 'रास्नाघृतं वा सक्षीरम्' पद से निर्माण-विधि में इस प्रकार संशोधन करने को कहते हैं—गाय के घी को रास्ना के कल्क तथा उससे चौगुने दूध से तैयार करें। इसी प्रकार 'सक्षीरं वा बलाघृतम्' का भी निर्माण करना है।

हमारे विचार से उक्त दोनों ही टीकाकारों के मत निराधार हैं। आप जरा ध्यान दें—तन्त्रकार ने च० चि० अ० ३ ज्वर-चिकित्सा-प्रकरण के २२४ से २२६ श्लोक तक 'बलादिघृत' का पाठ दिया है। उसके निर्माण-प्रकार तथा उसकी फलश्रुति पर ध्यान दें और इसी प्रकार इसी अध्याय के १७०वें श्लोक में वर्णित रास्नाघृत की निर्माण-विधि को देखें एवं उसकी फलश्रुति का अवलोकन करें। इसके बाद आप स्वयं समझ जायेंगे, किसका विचार स्वतन्त्र है और किसका प्रसंगोचित है। उक्त ९४वें श्लोक में वर्णित दोनों योग वे ही हैं, जिनका परिचय ऊपर दिया गया है।

इसके आगे चक्रपाणि पुनः लिखते हैं—'कासे वक्ष्यमाणं यद् 'रास्नाघृतं' 'बलाघृतं' च वातरक्ते वक्ष्यमाणं, तद् क्षीरेण सहोपयुक्तमेतान् रोगान् प्रबाधत, इत्याचार्यो वक्ष्यति'। जरा आप इन प्रकरणों का भी अवलोकन करें। च० चि० अ० १८ श्लोक ४३ से ४६ तक कासरोग-चिकित्सा के वर्णन में 'रास्नाघृत' का पाठ दिया है, उसमें 'कास' रोग को छोड़कर इस प्रकरण के अन्य रोगों का नाम इसकी फलश्रुति में नहीं दिया गया है। इसी प्रकार च० चि० अ० २९ श्लोक ५६-५७ तक वातशोणित-चिकित्सा के अन्तर्गत 'बलादिघृत' का पाठ दिया है, इसकी फलश्रुति में इस प्रसंग में वर्णित किसी भी रोग का नामोल्लेख नहीं किया गया है। नाम की समानता होने पर भी सभी योगों में द्रव्यों की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती ही है।

लेहान् कासापहान् स्वर्याञ्श्वासहिक्कानिबर्हणान्।
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु॥९५॥

यक्ष्मा में स्नेहोपदेश प्रस्तावना—अब इसके अनन्तर कासनाशक, स्वर को शुद्ध करने में हितकारक, श्वास, हिक्का, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल इनको नष्ट करने वाले स्नेहों तथा लेहों का वर्णन किया जायेगा, उन्हें सुनें।

वक्तव्य—कुछ विद्वान् टीकाकारों ने यहाँ यह शंका उठायी है कि ऊपर दिये गये श्लोक संख्या ९५ में तन्त्रकार ने पहले कास आदि रोगनाशक लेहों का, तदनन्तर उन्हीं रोगों के नाश करने वाले स्नेहों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु वर्णन करते समय प्रतिज्ञा के विपरीत श्लोक ९६ से ९९ तक स्नेह (घृत) योगों का और तदनन्तर श्लोक १०० से लेकर आगे तक लेहों का क्रम दिया है। हमारे विचार से यह शंका ही निराधार है। यदि इसे मान भी लिया जाये तो इसका समाधान अन्वय द्वारा किया जा सकता है। वह अन्वय इस प्रकार होगा—'स्नेहान् अतः परं लेहान् च शृणु'। यही दृष्टिकोण श्रीजयदेव विद्यालंकार का भी रहा है। इसके लिए उनकी लिखित उक्त श्लोक की टीका का अवलोकन करें।

घृतं खर्जूरमृद्वीकाशर्कराक्षौद्रसंयुतम्[1]। सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम्॥९६॥

यक्ष्मा में खर्जूरादि घृत—खजूर तथा मुनक्का का कल्क बनाकर यथाविधि घी का पाक करें। पाक हो जाने पर प्रक्षेप के रूप में पिप्पलीचूर्ण, चीनी और मधु मिलायें। यह घृत वैस्वर्य (स्वरभेद), कास, श्वास तथा ज्वर का विनाश करता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इस योग को अविकल रूप से अपनी संहिता में उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ७।२८। आचार्य गंगाधर के अनुसार उक्त श्लोक का पाठ इस प्रकार है—'घृतं खर्जूरमृद्वीका-

१. 'खर्जूरमृद्वीकामधुकैः सपरूषकैः। सपिप्पलीकैः' इति पा०।

मधुकैः सपरूषकैः। सपिप्पलीकैर्वैस्वर्यकासश्वासनिबर्हणम्'॥ श्रीजयदेव विद्यालंकार ने भी इसी पाठ को अपनी टीका द्वारा शोभित किया है।

दशमूलशृतात् क्षीरात् सर्पिर्यदुदियान्नवम्। सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत् परं स्वरबोधनम्॥९७॥

दशमूलघृत—दशमूल के कल्क द्वारा विधिपूर्वक गाय के दूध का पाक करें। उस दूध को मथकर जो ताजा घी निकाला जाये उसमें पिप्पलीचूर्ण और मधु मिलाकर चाटें। यह घी स्वर-बोधन करने में उत्तम माना गया है, अर्थात् इससे स्वरभेद नामक रोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—दशमूल के द्रव्यों से आठ गुना दूध लें तथा दूध से चौगुना उसमें जल डालें, पकते-पकते जब दूध मात्र शेष रह जाये तो उसे उतार लें। देखें—शा० सं० म० खं० अ० २।१७९। वास्तव में दशमूल के द्रव्यों को दरदरा कूटकर आठ गुने जल में भिगा दें तदनन्तर उसका कल्क तैयार कर लें, शेष स्पष्ट है। उक्त क्षीरपाक की परिभाषा पाठभेद के अनुसार दो प्रकार की देखी जाती है—१. **'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरम्'** अथवा २. **'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात्'**। आशय दोनों का समान है। इस प्रकार पाक किये दूध का दही जमाकर दूसरे दिन मथकर घी निकाल लें। इसी ताजे घी का यहाँ प्रयोग कराने की तन्त्रकार की आज्ञा है। ऐसा प्रतिदिन करके घी तैयार करना चाहिए।

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम्। पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतम्॥

१. पञ्चपञ्चमूलघृत—पाँचों पञ्चमूल के द्रव्यों से दूध का पाक करके जो घी निकाला जाये, उसका सेवन कराने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास, श्वास और ज्वर का विनाश होता है।

वक्तव्य—यहाँ उपर्युक्त क्षीरपाक-विधि से दूध को पकाना चाहिए। इसमें पाँचों पञ्चमूल के द्रव्यों का कल्क १ भाग, दूध २ भाग, जल ८ भाग लेकर क्षीर (दूध) का पाक करें।

पञ्चपञ्चमूल—१. शालपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, गोखरू—इसे 'लघुपञ्चमूल' कहते हैं। २. बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक (सोनापाठा), काश्मर्य, पाटला (पाडल)—इसे 'बृहत्पञ्चमूल' कहते हैं। ३. पुनर्नवा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, बला, एरण्ड। ४. जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, शतावरी। ५. शर (सरपत), ईख, दर्भ, काश, शालि। इन पञ्चमूलों का विशेष विवरण सु० सू० अ० ३८ श्लोक ६६ से ७७ तक देखें।

पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा—इस वाक्य में प्रयुक्त 'वा' अव्यय उपर्युक्त ९७वें श्लोक से इस ९८वें श्लोक का सम्बन्ध जोड़ रहा है। यदि ऐसा है तो इसे भी 'नवम्' लेना चाहिए। अर्थात् प्रतिदिन इसे तैयार करायें और इसमें पिप्पली का चूर्ण तथा मधु भी मिलायें। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने तो इसी आशय से श्लोक ९७ तथा ९८ की एक साथ टीका की है। उक्त ९८वें श्लोक में राजयक्ष्मा के निम्नोक्त 'बलसप्तक' का स्पष्ट निर्देश भी किया गया है। हमने दोनों श्लोकों को अलग-अलग इसलिए स्थान दिया है कि वे भिन्न-भिन्न योगों की सूचना देते हैं।

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे। सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद् यक्ष्मणः सप्तकं बलम्॥९९॥

२. पञ्चपञ्चमूलघृत—पाँचों पञ्चमूल द्रव्यों का क्वाथ दूध से चौगुना लें और गाय का घी एक भाग लेकर इनका घृतपाक-विधि से पाक करें। तैयार हो जाने पर इसे सुरक्षित रख लें। इसका प्रयोग करने से राजयक्ष्मा रोग के सात प्रकार के बलसमूह का नाश होता है।

वक्तव्य—यहाँ आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'रसे क्षीरचतुर्गुण, इति पञ्चानां पञ्चमूलानां क्वाथस्त्रिगुणः, घृतसमं च क्षीरं ज्ञेयम्'। इसी को आचार्य जतूकर्ण ने इस प्रकार समर्थन दिया है—'दशमूलशृतक्षीराज्जातं सर्पिर्नवं पिप्पलीमधुयुक्तं यत्, पञ्चपञ्चमूलक्वथितादुत्थितं च यत् त्रिभागक्वथिततुल्यपयस्के पक्वम्' इति। पाँचों पञ्चमूलों का वर्णन ऊपर श्लोक ९८ के वक्तव्य में किया है।

उपर्युक्त श्लोक ९५ में राजयक्ष्मा (रोगों के राजा) के जिन सात बलों (सेनानियों) का नाम-निर्देश किया गया है, उन्हीं का आगे श्लोक ९८ में भी उल्लेख है, इन्हीं को श्लोक ९९ में **'सप्तकं बलम्'** कहा गया है।

वृद्धवाग्भट ने चरकसंहिता के ९७वें तथा ९८वें श्लोकों को अपने अष्टाङ्गसंग्रह के चिकित्सास्थान अ० ७ में अविकल रूप से दिया है, जिनकी श्लोक संख्या क्रमशः २९, ३० है। इनमें—१. स्वरभेद, २. शिरःशूल,

३. पार्श्वशूल, ४. अंसशूल, ५. कास, ६. श्वास तथा ७. ज्वर का परिगणन किया गया है और चरकसंहिता चि० अ० ८ श्लोक ९५ के अनुसार तन्त्रकार ने जो प्रतिज्ञा की है, कि इसके आगे हम जिन स्नेहों तथा लेहों का वर्णन करेंगे वे राजयक्ष्मा से सम्बन्धित इन रोगों का नाश करेंगे। यथा—१. कास, २. स्वरभेद, ३. श्वास, ४. हिक्का, ५. शिरःशूल, ६. पार्श्वशूल, ७. अंसशूल। उक्त दोनों रोग-सूचियों में **हिक्का** और **ज्वर** विषमता उत्पन्न कर रहे हैं। शास्त्रीय दृष्टि से 'हिक्का' शब्द का प्रयोग अनुचित है। हो सकता है लिपिकर्ता आदि के प्रमाद के कारण '**ज्वर**' के स्थान पर '**हिक्का**' शब्द का प्रयोग हो गया हो, अन्यथा यहाँ प्रसंगोचित '**श्वासज्वर-निबर्हणान्**' ऐसा पाठ होना चाहिए, जिसकी संगति सर्वत्र बैठ जायेगी। आचार्य चक्रपाणि ने 'हिक्का' पद को समर्थन देते हुए अन्य अनेक रोगों के बीच में एक को '**उपद्रव**' कहा है, जो प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता।

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृङ्गी दुरालभा। त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृङ्गाटगुडशर्कराः॥
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुडः। नागरं चित्रको लाजाः पिप्पल्यामलकं गुडः॥
श्लोकार्धैर्विहितानेतांल्लिह्यान्ना मधुसर्पिषा। कासश्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहांस्तथा॥१०२॥

यक्ष्मानाशक लेह—१. पिण्डखजूर, पिप्पली, मुनक्का, हरीतकी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, २. त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), पिप्पली, नागरमोथा, सिंघाड़ा, गुड़, चीनी, ३. वीरा (क्षीरकाकोली), शटी (कचूर), पोहकरमूल, सुरस (तुलसी के बीज), चीनी, गुड़, ४. सोंठ, चित्रक, धान का लावा (खील), पिप्पली, आँवला, गुड़—श्लोक के आधे-आधे पादों द्वारा कहे गये इन चार लेहों को यक्ष्मा रोगी पुरुष या स्त्री मधु तथा घी के साथ चाटे—इनके प्रयोग से कास-श्वास का नाश होता है। ये स्वरभेद का शमन करते हैं तथा पार्श्वशूल को दूर करते हैं।

वक्तव्य—चाटने योग्य पदार्थ को ही 'लेह' अथवा 'अवलेह' कहते हैं। इसकी परिभाषा है—'अव लिह्यते इति अवलेहः'। इसके निर्माण की विधि—'क्वाथादीनां पुनः क्वाथाद् घनत्वं सा रसक्रिया। सोऽवलेहश्च लेहः स्यात् तन्मात्रा स्यात् पलोन्मिता'॥ शा० सं० म० खं० अ० ८।१।

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम्। अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेन्मधुसर्पिषा॥१०३॥
चूर्णितं [1]प्राशयेद् वा तच्छ्वासकासकफातुरम्। सुप्तजिह्वारोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम्॥

सितोपलादिचूर्ण—सितोपला (मिश्री), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), पिप्पली, बहुला (इलायची), दालचीनी—इन द्रव्यों को अन्त से लेकर आदि तक क्रमशः उत्तरोत्तर दूना करके लेना चाहिए। इन द्रव्यों को यथाविधि लेकर कूटकर कपड़छन कर लें। इस चूर्ण को मधु और घी में मिलाकर चाटना चाहिए। अथवा इसे केवल चूर्ण के रूप में ही श्वासरोगी, कासरोगी, कफज व्याधि से पीड़ित रोगी, जिसकी जीभ शून्य (स्वादग्रहण में असमर्थ) हो गयी हो, अरुचि से पीड़ित, मन्दाग्नि वाले रोगी तथा जिसकी पसलियों में पीड़ा हो रही हो उन्हें खिलाना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि सितोपला चूर्ण है, तथापि इसे सबसे पहले '**लेहयेन्मधुसर्पिषा**' घृत-मधु के साथ चाटने का विधान है, अतः इसे भी लेह कहा जा सकता है। **सितोपलादि** शब्द की योगसूचक विशेषता—सि—सिता (मिश्री), **तो**—तुगाक्षीरी (वंशलोचन), **प**—पिप्पली, ला—लार्ची (इलायची), **दि**—दालचीनी। **अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितम्**—दालचीनी १ भाग, इलायची २ भाग, पिप्पली ४ भाग, वंशलोचन ८ भाग, मिश्री १६ भाग। **चूर्णितं प्राशयेद् वा**—अथवा अन्य स्वादिष्ट चूर्णों की भाँति उसी तरह भी इस चूर्ण को खाया जा सकता है।

हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे। वासाघृतं शतावर्या सिद्धं वा परमं हितम्॥१०५॥

वासाघृत, शतावरीघृत-प्रयोग—यक्ष्मारोगियों के हाथ, पैर तथा शरीर के अन्य अवयवों में दाह होने पर एवं ऊर्ध्वग रक्तपित्त रोग में वासाघृत अथवा शतावरीघृत का प्रयोग परम हितकर एवं सिद्ध (कार्य-साधक) होता है।

---

१. 'प्राशयेद्वैतच्छ्वासकासज्वरापहम्' इति ग०।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'वासाघृत' का 'वासासर्पि' नाम से उल्लेख किया है, जब कि चरक चि० अ० ४।८८ में इसे 'वासाघृत' ही कहा गया है। यहाँ इसका योग भी दिया है। 'शतावरीघृत' का योग तथा निर्माण-विधि के लिए देखें—च० चि० अ० ३०।६४-६८। इसे यहाँ 'बृहच्छतावरीघृत' कहा गया है।

दुरालभां श्वदंष्ट्रां च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम्। भागान्पलोन्मितान् कृत्वा पलं पर्पटकस्य च॥
पचेद् दशगुणे तोये दशभागावशेषिते। रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान् समावपेत्॥१०७॥
शट्याः पुष्करमूलस्य पिप्पलीत्रायमाणयोः। तामलक्याः किराततानां तिक्तस्य कुटजस्य च॥
फलानां सारिवायाश्च सुपिष्टान्कर्षसम्मितान्। ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत्॥१०९॥
ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम्। तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिर्व्यपोहति॥११०॥

दुरालभादि घृत—दुरालभा (धमासा), गोखरू, चार पर्णिनी (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), बलामूल, पित्तपापड़ा—इन सभी द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लें, घी से दस गुने जल में इन सबका क्वाथ करें। जब पकते-पकते जल दशमांश शेष रह जाये तो उसे छानकर उसमें शटी (कचूर) पोहकरमूल, पिप्पली, त्रायमाणा, भुँई आवला, चिरायता, इन्द्रजौ तथा सारिवा (अनन्तमूल)—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर पीसकर कल्क बनायें; १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का घी, इनसे दूना (२ प्रस्थ=१२८ तोला) गाय का दूध सबको एकत्र मिलाकर यथाविधि घृत का पाक करें, भली-भाँति तैयार हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस घी का विधिपूर्वक सेवन करने से राजयक्ष्माजनित विकार—ज्वर, दाह, भ्रम, कास, अंशशूल, पार्श्वशूल, शिरःशूल, तृष्णा, छर्दि, अतिसार, इनका नाश हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव आचार्य गणनाथ सेन द्वारा स्वीकृत पाठ 'श्वदंष्ट्रां स दुरालभां' के आधार पर इसका नाम '**गोक्षुरादि घृत**' रखा है। इस पाठ के अनुसार यहाँ प्रथम पाद का सातवाँ वर्ण लघु है और निर्णयसागरीय पाठ छन्द की दृष्टि से भी शुद्ध है। अतः श्रीगणनाथसेन द्वारा उद्धृत पाठ तथा तदनुसार किया गया शीर्षक-परिवर्तन दोनों ही विचारणीय हैं। महर्षि आत्रेय, जतूकर्ण तथा टीकाकार चक्रपाणि ने घृत से दस गुना जल क्वाथ करने के लिए आज्ञा दी है। यथा—'**पचेद् दशगुणे तोये दशभागावशेषिते**', यह अवशिष्ट दसवां भाग घृतपाक के लिए उचित परिमाण से कम है।

इसके लिए सामान्य स्नेहपाक विधि पर ध्यान दें—'कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा। चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता'॥ शा० सं० म० ख० अ० ९।१। इसके अतिरिक्त यहाँ दी गयी अन्य परिभाषाओं पर भी ध्यान दें। विशेष देखें—सु० चि० अ० ३१।

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च। शटीं पुष्करमूलं च व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम्॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्। पिप्पलीं च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत्॥
एतद् व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम्। रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति॥११३॥

जीवन्त्यादि घृत—जीवन्ती, मुलेठी, द्राक्षा (मुनक्का), इन्द्रजौ, कचुर, पुष्करमूल, व्याघ्री, (छोटी कटेरी), गोखरू, बलामूल, नीलकमल, भुँई आँवला, त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली—इनमें द्रव्यों को समभाग में लेकर इन्हें पीस तथा कल्क बनाकर वैद्य इससे घी का पाक करें। यह उत्तम घी राजयक्ष्मा के कारण उत्पन्न व्याधिसमूह के ग्यारह प्रकार के लक्षणों का विनाश करता है।

वक्तव्य—राजयक्ष्मा के एकादशविध रूपों का उल्लेख च० सू० अ० ८ श्लोक १६ से १९ तक किया गया है। **घृत-निर्माण-विधि**—जीवन्ती आदि द्रव्यों का कल्क १ भाग, गाय का घी ४ भाग, जल १६ भाग। इस अनुपात में लेकर यथाविधि घृतपाक करें। यह योग अ० सं० चि० अ० ७।२२-२३ तथा अ० हृ० चि० अ० ५।१६-१७ में भी देखें।

बलां स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम्। साधयित्वा रसे तस्मिन्पयो गव्यं सनागरम्॥
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह। सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत् प्रयोजयेत्॥११५॥

बलादिक्षीर—बलामूल, स्थिरा (सरिवन), पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), निदिग्धिका (छोटी कटेरी)—इन द्रव्यों को समभाग में लेकर क्वाथ तैयार करें, उसी में गाय का दूध, सोंठ, मुनक्का, पिंडखजूर,

गाय का घी, पिप्पली इनको समभाग लेकर पीसकर कल्क बनायें तथा इससे दूध का पाक करें। जब दूधमात्र शेष रह जाये तो इसे छानकर रख लें और इसमें मधु मिलाकर सेवन करें। इसका सेवन करने से ज्वर तथा कास का नाश होता है और यह स्वर को उत्तम बनाता है।

वक्तव्य—उक्त बलादिक्षीर में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों की मात्रा का यहाँ निर्देश नहीं किया गया है। अतः उन्हें इस प्रकार ग्रहण करें—बला आदि प्रत्येक द्रव्य १६ तोला, इन सबको कूटकर ८ सेर पानी में पकायें, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाये तब इसे छानें, इसमें आधा सेर गाय का दूध मिलाकर सोंठ, मुनक्का आदि द्रव्यों को २-२ तोला की मात्रा में लेकर इनका कल्क तैयार करें। इन सबको मिलाकर दूध का पाक करें। दूध मात्र शेष रहने पर उतार कर छान लें।

आजस्य पयसश्चैवं प्रयोगो जाङ्गला रसाः। यूषार्थे चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः॥

यक्ष्मा रोग में पथ्य—बकरी का दूध, जांगलप्रदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस रस तथा यूष निर्माण करने के लिए चना, मूंग, मोठ—इनका प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—'आजस्य पयसः' यहाँ 'अजाया इदम्, आजं तस्य' ऐसा विग्रह होगा।

ज्वराणां शमनीयो यः पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः। यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते॥

यक्ष्मा में ज्वर-चिकित्सा—ज्वरों को शमन करने वाली जो विधि (च० चि० अ० ३ में) पहले कही गयी है, उन्हीं योगों के साथ घृत प्रयोग कराने से वे योग यक्ष्मा-रोगियों के ज्वरसहित दाह अथवा ज्वरजनित दाह का शमन करते हैं।

वक्तव्य—यहाँ अनेक घृतयोगों का वर्णन ऊपर किया गया है। या तो ज्वरनाशक योगों के साथ इस प्रकरण में कहे गये घृतों का सेवन कराना चाहिए, अथवा ज्वरप्रकरण में कहे गये ज्वरनाशक योगों के द्रव्यों का क्वाथ तथा कल्क बनाकर उससे घी तैयार कर प्रयोग करायें। क्योंकि घी में दाहशामकता की अद्भुत शक्ति होती है।

कफप्रसेके बलवाञ्श्लैष्मिकश्छर्दयेन्नरः। पयसा फलयुक्तेन [1]माधुकेन रसेन वा ॥११८॥
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनीयोपसिद्धया। वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम् ॥११९॥

यक्ष्मा में कफप्रसेक चिकित्सा—यक्ष्मा रोग से पीड़ित बलवान् (शारीरिक तथा मानसिक बल से पुष्ट) मनुष्य को कफ का प्रसेक (मुख से लार या बार-बार थूक का निकलना) देखकर निम्नलिखित औषध-योगों द्वारा वमन कराना चाहिए—१. फल (मैनफल) के कल्क द्वारा पकाये गये दूध को पिलाकर, अथवा २. मैनफल का कल्क युक्त जांगलप्राणियों के मधुर मांसरस से, अथवा ३. वमनकारक द्रव्यों के क्वाथ से तैयार की गयी यवागू में पर्याप्त घी मिलाकर रोगी को खिलाकर वमन करायें। जब भली-भाँति वमन हो जाये, तदनन्तर भोजन के समय पर अथवा भूख लगने पर अग्नि को प्रदीप्त करने वाले द्रव्यों से युक्त हलका भोजन उसे दें।

वक्तव्य—यहाँ 'माधुकेन' इस शब्द के स्थान पर 'मधुरेण' यह पाठभेद करके पाठभेद-कर्ता ने अपनी अयोग्यता का परिचय दिया है। आप देखें—दोनों प्रकार की मुलेठी का प्रयोग वमन के लिए श्रेष्ठ माना गया है। देखें—'क्लीतकं द्विविधं स्मृतम्'। च० सू० अ० १।८१। इस पर चक्रपाणि लिखते हैं—'क्लीतकं यष्टीमधुः, अस्य तु यद्यपि सुश्रुते मूलं प्रशस्तं, मूलेनैव व्यवहारः। तथापि विरेचनं प्रति यष्टीमधुद्वयस्यापि फलमेव प्रशस्तं ज्ञेयम्', 'मधुकस्य इदं माधुकम्=मधुयष्टीफलम्', अर्थात् माधुक शब्द से यहाँ मुलेठी का फल लेना चाहिए। सुश्रुत सू० अ० ४३।३ में—'यष्टिमधुककषाये···प्रमृद्य···पाययेत्', यहाँ भी इसका प्रयोग वमन के लिए किया गया है। **सदीपनम् अन्नम् आददीत**—ऐसा अन्वय करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अग्निदीपक पदार्थों से युक्त अन्न (आहार) का ग्रहण करना चाहिए।

यवगोधूममाध्वीकसीध्वरिष्टसुरासवान्। जाङ्गलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत्॥

१. 'मधुरेण' इति पा०।

यक्ष्मा में कफनाशक आहार—जौ, गेहूँ, माध्वीक (मधूक पुष्प द्वारा रचित मद्य), सीधु, अरिष्ट, सुरा, आसव (माध्वीक से लेकर आसव तक सभी मद्य के भेद हैं) तथा जांगलप्रदेशीय पशु-पक्षियों के मांस को लोहे की सींक में पिरोकर भूनकर उसका सेवन करने वाला रोगी कफ विकार को जीत लेता है।

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति। कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्धोष्णेनैव निर्जयेत्॥

कफप्रसेक की चिकित्सा—कफदोष के अधिक प्रसेक (लार आदि के रूप में निरन्तर निकलते रहने) से कुपित हुई वायु कफ को बाहर की ओर को निकालती है। इस प्रकार के कफप्रसेक को विद्वान् चिकित्सक स्निग्ध तथा उष्ण (वीर्य तथा स्पर्श वाले) द्रव्यों के प्रयोग द्वारा जीते।

क्रिया कफप्रसेके या वम्यां सैव प्रशस्यते। हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ॥१२२॥

यक्ष्मा में वमन-चिकित्सा—कफ-प्रसेक की जो चिकित्सा (ऊपर के श्लोक में) कही गयी है, उसी चिकित्सा की वमन-रोग में भी प्रशंसा की जाती है। उसके साथ हृदय के लिए रुचिकर वातनाशक तथा लघु (सुपच) अन्न (सभी प्रकार के भोजन) तथा पान (पेय पदार्थ) हितकारक होते हैं।

प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते। प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति ॥१२३॥

यक्ष्मा में अतिसार की सम्प्राप्ति—प्रायः देखा जाता है कि यक्ष्मा रोग में अग्नि के मन्द पड़ जाने के कारण (रसादि धातुओं के क्रमशः भली-भाँति पाचन न होने से) चिकनापन लिये हुए अतिसार होता है। इसके कारण रोगी के मुख का स्वाद फीका पड़ जाता है और उसे भोजन करने की इच्छा नहीं होती है।

तस्याग्निदीपनान् योगानतीसारनिबर्हणान्। वक्त्रशुद्धिकरान् कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान् ॥१२४॥

अतिसार-चिकित्सा-सूत्र—राजयक्ष्मा के रोगी को जब अतिसार हो जाता है तो उसमें मन्द हुई पाचकाग्नि को प्रदीप्त करने वाले, अतिसारनाशक, मुखशुद्धिकारक तथा अरुचिनाशक योगों का प्रयोग कराना चाहिए।

सनागरानिन्द्रयवान् पाययेत् तण्डुलाम्बुना। सिद्धां यवागूं जीर्णे च चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः ॥१२५॥

अतिसार में यवागू आदि प्रयोग—सोंठ और इन्द्रजौ के समभाग चूर्ण को चावलों के पानी (चावलों का धोवन) के साथ पीने को दें। जब चूर्ण पच जाये उसके बाद चांगेरी (चौपतिया), तक्र (मठा), दाड़िम (खट्टा अनार) का रस डालकर पकायी गयी यवागू खाने के लिए दें।

वक्तव्य—तण्डुलोदक की निर्माण-विधि राजनि० व० १५ में देखें। चांगेरी मठा तथा दाड़िम बीजों का स्वाद खट्टा होता है। अतः यवागू जब भली-भाँति पककर तैयार हो जाये तभी अन्त में इन्हें थोड़ी मात्रा में मिलायें। यवागू का वर्णन च० सू० अ० २।१८-३३ तथा सु० चि० अ० ३९।७ में दिया गया है—'यवागूः स्वल्पतण्डुला'।

पाठा बिल्वं यमानी च पातव्यं तक्रसंयुतम्। दुरालभा शृङ्गबेरं पाठा च सुरया सह ॥१२६॥

यक्ष्मा में पाठादिचूर्ण—पाठा, बेल की गुद्दी (इसे कच्चा तोड़कर सुखा लिया जाता है) तथा अजवाइन इन द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मठा के साथ सेवन करें। **दुरालभादि चूर्ण**—दुरालभा (धमासा), शृंगबेर (सोंठ इसी को गीला होने पर अदरख कहते हैं), पाठा इन द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सुरा के साथ सेवन करें।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक में दो चूर्ण योग कहे गये हैं। ये दोनों ही अग्निदीपन हैं।

जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम्। पेयामण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये ॥१२७॥

जम्ब्वादिचूर्ण—जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेल की गुद्दी, कैथ की गुद्दी तथा सोंठ—इन द्रव्यों को समभाग में लेकर चूर्ण बनाकर रख लें। पेया अथवा मण्ड (माँड़) का निर्माण कराकर उसमें इस चूर्ण को उचित मात्रा में मिलाकर उसको पीना चाहिए। इससे अतिसार की निवृत्ति हो जाती है। यह भी अग्निदीपन चूर्ण है।

एतानेव च योगांस्त्रीन् पाठादीन् कारयेत् खडान् ।
[1]ससूप्यधान्यान् सस्नेहान् साम्लान् सङ्ग्रहणान् परम् ।। १२८ ।।

खडयूष-विधान—इन्हीं पाठा आदि तीन (श्लोक १२६ में दो और १२७ में एक) योगों के क्वाथ से सूप्य धान्यों (जो धान्य दाल बनाने के उपयोग में लिये जाते हैं, उन्हें सूप्य धान्य कहते हैं, जैसे—मूंग, मसूर, उड़द, कुलथी, अरहर, मटर आदि) के खडयूषों में घी तथा अम्लपदार्थ (खट्टा अनारदाना आदि) मिलाकर रोगी को दें । ये 'खडयूष' उत्तम श्रेणी के संग्राहक (मल को बाँधने वाले) होते हैं ।

वक्तव्य—ऊपर पाठा आदि के तीन चूर्ण योग कहे गये हैं । इनको अलग-अलग लेकर खडयूष बनाना है । इसके लिए सूप्य धान्यों और अम्लपदार्थों (कपित्थ, दाडिमबीज, चांगेरी आदि) का सहयोग लेना है । **खडयूष-निर्माण-विधि**—'तक्रं कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः, सुपक्वं खडयूषोऽयं···।' चक्रदत्त, अतिसार-चिकित्सा । और–'मुद्गयूषरसं तक्रं धान्यजीरकसंयुतम् । सैन्धवं सहितं दद्यात्खडयूषमिति स्मृतम्' ।। भावप्रकाश। सुश्रुत सू० अ० ४६ में अनेक प्रकार के यूषों का वर्णन श्लोक ३६६ से ३८० तक किया गया है । सामान्य दृष्टि से यूष दो प्रकार का होता है—१. अकृत (असंस्कृत) और २. कृत (संस्कृत—इसकी परिभाषा इस प्रकार है—जिसमें मसाले डाले गये हों और छौंक लगाया गया हो) । शेष को असंकृत कहते हैं । ये सभी सुपाच्य, अग्नि-वर्धक एवं मल को बाँधने वाले होते हैं ।

वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगन्धयोः । श्रीपर्ण्या मदयन्त्याश्च यूथिकायाश्च पल्लवान् ।।१२९।।
मातुलुङ्गस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत् । स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान्साङ्ग्राहिकान्परम् ।।
चाङ्गेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत् । खडान् दधिसरोपेतान् ससर्पिष्कान्सदाडिमान् ।।

यक्ष्माजनित अतिसार में खडयूष—१. वेत की पत्ती, अर्जुन की पत्ती, जामुन की पत्ती, २. मृणाली (लामज्जक, देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु), कृष्णगन्धा (सहिजन की पत्ती), ३. श्रीपर्णी (गम्भार) की पत्ती, मेंहदी की पत्ती, ४. जूही की पत्ती, ५. बिजौरानीबू की पत्ती, ६. धाय की पत्ती, ७. अनार की पत्ती—इन पत्तियों के स्वरस से अलग-अलग खडयूषों का घी, अम्ल तथा लवण मिलाकर निर्माण करें । ये सभी खडयूष परम सांग्राहिक (मल को बाँधने वाले) होते हैं ।

और चांगेरी (चौपतिया), चुक्रिका (इमली), दुग्धिका (क्षीरिणी)—इन द्रव्यों के नवीन पत्र लेकर अलग-अलग स्वरस निकाल कर, इनका खडयूष तैयार करें । प्रत्येक में दही की मलाई, घी तथा दाडिम (खट्टे अनार) का रस मिला लें । ये भी मल को बाँधने में उत्तम होते हैं ।

मांसानां लघुपाकानां रसाः साङ्ग्राहिकैर्युताः । व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः ।।

यक्ष्मा में मांस-प्रयोग—सांग्राहिक (मल को बांधने वाले) द्रव्यों के स्वरस में शीघ्र पच जाने वाले जांगल पशु-पक्षियों के मांसों का पाक करके उनके रसों को व्यञ्जन के लिए और भोजन के लिए शालिचावलों का भात उत्तम होता है ।

वक्तव्य—व्यञ्जन शब्द का प्रयोग यहाँ दाल, सूप आदि के लिए किया गया है, जिससे भोजन का स्वाद व्यक्त हो सके । यहाँ सिद्ध मांसरस व्यञ्जन है और रक्तशालि का भात भोज्य पदार्थ है ।

स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम् । तक्रं सुरा सचुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः ।।
इत्युक्तं भिन्नशकृतां दीपनं ग्राहि भेषजम् ।

यक्ष्मा में पेय द्रव—स्थिरादि पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहतीद्वय=बड़ी तथा छोटी कटेरी, गोखरू) के द्रव्यों का षडंग-परिभाषा के अनुसार पकाया हुआ जल पीने में श्रेष्ठ होता है । अथवा मठा, सुरा, चुक्रीका (चूका), खट्टे अनार का रस—इनको मिलाकर पीने के लिये दें । यहाँ तक अतिसार वाले रोगियों के मल को बाँधने वाले तथा अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाले औषधयोगों का वर्णन कर दिया गया है ।

---

१. 'सचुक्रधान्यान्' इति पा० ।

वक्तव्य—लघुपञ्चमूल को ही स्थिरादि पञ्चमूल भी कहते हैं, क्योंकि इस योग के आरम्भ में स्थिरा (शालपर्णी=सरिवन) शब्द का प्रयोग हुआ है । इस प्रकार उक्त श्लोक में दो पेयों को कहा गया है । यहाँ श्रीजयदेव ने यह पाठ-भेद स्वीकार किया है—**'दीपनं ग्राहि निर्दिष्टं भेषजं भिन्नवर्चसे'** ।

परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु[1] ।। १३४ ।।

रुचि उत्पादक योग-निर्देश—इसके बाद मुख की विरसता (फीकापन) का नाश करने वाले तथा रुचि को पैदा करने वाले योगों को सुनें ।

द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम् । तद्वत् प्रक्षालयेदास्यं धारयेत् कवलग्रहान् ।।१३५।।
पिबेद् धूमं ततो मृष्टमद्याद् दीपनपाचनम् । भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम् ।।१३६।।

मुखविरसता-नाशक योग—मुख का फीकापन दूर करने के लिए दोनों समय (प्रातःकाल तथा सायं-काल) दन्तपवन (दाँतों को साफ करने के लिए दातौन) को चबाकर कूची बनाकर दाँतों के ऊपर घिसना चाहिए (उस दातौन से मसूढ़ों को न घिसे) । इसी प्रकार मुखशोधक कषायों से मुख के भीतरी अवयवों को धोयें और कवलधारण करें । तदनन्तर प्रायोगिक धूमपान करें । उसके बाद साफ-शुद्ध, दीपक-पाचक औषध-योगों का सेवन करें, फिर शुभचिन्तक व्यक्ति (रसोइये) द्वारा तैयार किये हुए (अन्नों) आहारों, पानों (पेयों) का सेवन करें ।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान अ० ५ में दातौन, धूमपान, कवलग्रह आदि का विशद वर्णन किया है । प्रसंगोचित विषयों के लिए इसका अवलोकन करें ।

त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम् । दार्वीत्वचो यवानी च तेजोह्वा पिप्पली तथा ।।
यवानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः । श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखशोधनाः ।।१३८।।
गुटिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम् । एषामालोडितानां वा धारयेत् कवलग्रहान् ।।१३९।।

मुखविरसता-नाशक ५ योग—१. दालचीनी, नागरमोथा, इलायची, धनियाँ, २. नागरमोथा, आँवला, दालचीनी, ३. दारुहल्दी, दालचीनी, अजवाइन, ४. तेजबल (नेपाली धनिया तुम्बल या तिमूर), पिप्पली, ५. अजवाइन, तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल या अम्लवेतस)—ये पाँच मुख को धोने (शुद्ध करने) वाले योग श्लोक के एक-एक पाद (चरण) द्वारा कहे गये हैं । ये भोजन के प्रति रुचि को उत्पन्न करने वाले तथा मुख को शुद्ध करने वाले योग हैं । इन द्रव्यों की गोली बनाकर मुख में रखकर चूसना चाहिए । अथवा चूर्णों को बनाकर मञ्जन के रूप में मुख (दाँतों) को शुद्ध करें । इन्हीं चूर्णों को पानी में घोलकर कवलग्रह (ग्रास की भाँति मुख में रखना) करना चाहिए ।

वक्तव्य—सुश्रुत चि० अ० ४० में धूम-नस्य-कवलग्रह विधि का विस्तृत विवरण दिया है । व्रण के ६० उपक्रमों में एक रोपणकवल का भी वर्णन है । परन्तु यह मुख के व्रणों के लिए ही किया जाता है । कवलोपयोगी द्रव्यों के लिए देखें—सु० चि० अ० ४०।६१ । जो मात्रा मुख में सुखपूर्वक इधर से उधर घुमायी जा सके उसे **कवल** और जो इधर-उधर हिलायी न जा सके उसे **'गण्डूष'** कहते हैं ।

सुरामाध्वीकसीधूनां तैलस्य मधुसर्पिषोः । कवलान् धारयेदिष्टान् क्षीरस्येक्षुरसस्य च ।।१४०।।

मुखविरसता-नाशक कवल—सुरा, माध्वीक, सीधु (ये तीनों मद्य के भेद हैं), तिल-तैल, मधु, घृत, गाय का दूध, ईख का रस—इनमें जिस रोगी को जो द्रव्य इष्ट (प्रिय या रुचिकर) हो उसका कवलग्रह (धारण) करे ।

वक्तव्य—कवल तथा गण्डूष ये दोनों ही चार प्रकार के होते हैं—१. स्नैहिक, २. शमन, ३. शोधन, ४. रोपण । दोनों में मात्र अन्तर इतना ही है—गण्डूष मुख में रखकर हिलाया नहीं जा सकता और कवल मुख में लेकर इधर-उधर हिलाया जा सकता है ।

यवानीं तिन्तिडीकं च नागरं साम्लवेतसम् । दाडिमं बदरं चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत् ।।१४१।।

---

१. 'वक्ष्याम्यूर्ध्वं रुचिकरं मुखवैरस्यनाशनम्' इति पा० ।

धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम् । पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च ॥१४२॥
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत् । जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम् ॥१४३॥
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम् । कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥१४४॥

इति यवानीषाडवम् ।

यवानीषाडव चूर्ण—अजवाइन, तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल), सोंठ, अम्लवेतस, दाड़िम (खट्टा अनारदाना), खट्टा बेर—प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला), धनियाँ, सोंचरनमक, अजाजी (जीरा), वरांग (दालचीनी), इन द्रव्यों को आधा-आधा कर्ष=तोला लें। पिप्पली गिनकर १०० लें, कालीमिरिच संख्या में २०० लें। इन सबको कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण बनाकर उसमें ४ पल (८ तोला) चीनी मिलाकर रख लें। यह चूर्ण जिह्वाविशोधन (जीभ के स्वाद को ठीक करने वाला), हृदय के लिए हितकर, भोजन के प्रति रुचि पैदा करने वाला, हृदयशूल, प्लीहाशूल, पार्श्वशूल का नाश करने वाला, विबन्ध (कब्जियत) तथा आनाह (अफारा) का नाश करने वाला, कास तथा श्वास रोग को हरने वाला, मल को बाँधने वाला, ग्रहणी एवं अर्शोविकार का नाश करने वाला है। इस प्रकार यवानीषाडव का वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—पिप्पली और मरिच की तौल न लिखकर संख्या में लेने की आज्ञा दी है। आप इसकी तौल का अन्दाज घर में लगा लें तदनुसार बाजार से खरीदें, क्योंकि बनिया गिनकर नहीं देगा।

तालीशपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा । यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके ॥१४५॥
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा । कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम् ॥१४६॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम् । वम्यतीसारशूलघ्नं मूढवातानुलोमनम् ॥१४७॥
कल्पयेद् गुटिकां चैतच्चूर्णं पक्त्वा सितोपलाम् । गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः ॥

इति तालीशाद्यं चूर्णं गुटिकाश्च ।

तालीशादि चूर्ण-गुटिका—तालीशपत्र १ भाग, मरिच २ भाग, सोंठ ३ भाग, पिप्पली ४ भाग, शुभा (वंशलोचन) ५ भाग, इस प्रकार आरम्भ से एक-एक भाग बढ़ाते हुए द्रव्यों को लें। त्वक् (दालचीनी) आधा भाग और एला (इलायची) आधा भाग लें। पिप्पली से आठ गुना (३२ भाग) सफेद चीनी (मिश्री)—इन सब द्रव्यों को यथोक्त परिमाण में लेकर चूर्ण करके रख लें। यह चूर्ण उत्तम अग्निवर्धक है; कास, श्वास, अरुचि नाशक है; हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, शोष (क्षय), प्लीहावृद्धि, ज्वर का नाशक है; वमन, अतिसार, शूल का नाशक है तथा मूढ़वात (जिस दूषित या प्रकुपित वायु की प्रवृत्ति उचित मार्ग की ओर नहीं हो रही है, उस) का अनुलोमन करता है। इसी चूर्ण की गुटिका (गोली) भी बनायी जाती है। उसका विधान इस प्रकार है—सितोपला (मिश्री) को पकाकर अर्थात् चासनी बनाकर इस चूर्ण को उसमें मिलाकर गोली बना लें। मिश्री का अग्नि से पाक हो जाने के कारण ये गुटिकाएँ (गोलियाँ) चूर्ण की अपेक्षा लघु (हल्की) होती हैं।

वक्तव्य—सितोपलादि चूर्ण से तालीशादि चूर्ण का विपरीत क्रम है। ये दोनों ही चूर्ण अपने गुणों के कारण सुप्रसिद्ध हैं। आचार्य चक्रपाणि हारीत और जतूकर्ण के पाठों से प्रभावित होकर **'शुभा'** शब्द को **'पिप्पली'** का विशेषण मानते हैं, किन्तु आचार्य गंगाधर उसे स्वीकार न करके लिखते हैं—**'तत्र, शुभा वंशलोचना'**। अन्यत्र भी 'शुभा' शब्द 'वंशलोचन' के पर्याय रूप में मिलता है—राजनि०। वैद्यकशब्दसिन्धु।

हारीत तथा जतूकर्ण ने अपनी संहिताओं में वंशलोचन का ग्रहण नहीं किया है—'तालीशं मरिचं शुण्ठी पिप्पल्यो भागवर्धिताः। त्वगेलेऽर्धांशके दद्याच्छर्कराष्टपलं भवेत्' ॥ हारीतसंहिता। और—'तालीशमरिचनागर-कृष्णाः कर्षाः, त्वगेले अर्धांशे, द्विकुडवा सिता, गुटिका विपाच्यताम्' ॥ जतूकर्णसंहिता। यहाँ **'सितशर्करा'** शब्द **'सितोपला'** का स्मरण दिला रहा है।

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित् । दद्यान् मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः ॥

यक्ष्मा में मांस-प्रयोग—मांस का पाक कैसे करना चाहिए, कौन-सा मांस ग्रहण करना चाहिए, कितना लेना चाहिए इत्यादि विधान को जानने वाला चिकित्सक यक्ष्मा के उन रोगियों को जिनका मांस क्षीण

हो चुका है और जो दिन प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, ऐसे रोगियों को मांसाद प्राणियों (जो कच्चा मांस खाया करते हैं, जैसे—शेर, बाघ, गीध, चील आदि) का मांस खाने के लिए दें, क्योंकि इनके मांस विशेष रूप से बृंहण (मांस को बढ़ाने वाले) होते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव विद्यालंकार ने 'शुष्यते क्षीणमांसाय' इस प्रकार के पाठ को स्वीकार किया है। निर्णयसागरीय पाठ का स्वरूप ऊपर दिया गया है, पाठ दोनों ही शुद्ध हैं। विशेष मांसों का वर्णन आगे के पद्यों में किया गया है।

शोषिणे बार्हिणं दद्याद् बर्हिशब्देन चापरान् । गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत् सूपकल्पितान् ॥
काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान् । भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि ॥
लोपाकान् स्थूलनकुलान् बिडालांश्चोपकल्पितान् । शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ॥
सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा । मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ॥१५३॥
गजखड्गितुरङ्गाणां वेशवारीकृतं भिषक् । दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये ॥१५४॥
मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् । तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम् ॥

यक्ष्मा में विभिन्न मांसों का प्रयोग—यक्ष्मा रोग से पीड़ित पुरुष को मोर का मांस खाने के लिए दें। इसके अतिरिक्त गृध्र (गीध), उल्लू, चाष—इनके मांसों को भलीभाँति पकाकर खाने के लिए रोगी को दें। उसके पूछने पर कि यह किसका मांस है तो उसे मोर का मांस बतलायें, क्योंकि गीध आदि का नाम लेने से रोगी को घृणा उत्पन्न हो सकती है। ऐसा ही क्रम आगे भी दिया गया है। ये गृध्र आदि भी कच्चा मांस खाने वाले प्राणी हैं। कौए के मांस को तित्तिर का मांस कह कर दें। साँप के मांस को वर्मी नामक मछली का मांस कहकर दें, क्योंकि यह मछली साँप की तरह लम्बी होती है। गण्डूपद (केंचुए) के मांस को मछली की भुनी हुई आँत बतलाकर दें। लोपाक (Kind of jackal लोमड़ी), बड़े नेवले, सियार के बच्चों के मांसों को खरगोश का मांस बतलाकर रोगी को दिलायें। सिंह, ऋक्ष (भालू), तरक्षु (तेंदुआ), बाघ इस प्रकार के मांस खाने वाले प्राणियों के मांसों को मृग का माँस है, ऐसा कहकर रोगी की मांस-वृद्धि को ध्यान में रखकर दें। जिन पशु-पक्षियों के शरीर मांस खाने के कारण पुष्ट हुए हैं, उनके मांसों को खाने से निश्चित ही मांस-वृद्धि होती है। अर्थात् वे मांसवर्धनकारक पदार्थों में श्रेष्ठ होते हैं। तीक्ष्ण, उष्ण, लघु होने के कारण इस प्रकार के प्राणियों के मांसक्षय-रोग के कारण जिनके मांस क्षीण हो गये हैं, उनके लिए हितकर होते हैं। इनमें भी विशेष करके मृग तथा पक्षियों के मांस अधिक हितकारक होते हैं।

वक्तव्य—चरक के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री चक्रपाणिदत्त ने अपने ग्रन्थ में राजयक्ष्मा रोगी के लिए सभी मांसों में उत्तम छागमांस को स्वीकार किया है। यथा—'छागं मांसं पयश्छागं छागं सर्पिः सशर्करम्। छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्' ॥ चक्रदत्त-राजयक्ष्मचि० १०।१२।

मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् । तेषूपधा, सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि ॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत् । तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ॥

यक्ष्मा में जुगुप्सा से मांस-प्रयोग—जिन मांसों को यक्ष्मा का जो रोगी कभी नहीं खाया है, अथवा जिनको खाने का वह अभ्यस्त नहीं है, यदि उसे किसी प्रकार उन प्राणियों का मांस खिला दिया जाये तो वह उनके लिए घातक हो सकता है। इतना समझते हुए भी यदि रोगी के स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर उसको मांस-भक्षण करना आवश्यक है, तो उसे जुगुप्सा (छिपाने की इच्छा) से उसके परोक्ष में तैयार किये हुए इन मांसों को दिलाना चाहिए, अन्यथा यदि वह जान जायेगा कि यह मांस मुझे खिलाया जा रहा है तो वह उसे खायेगा ही नहीं अथवा यदि किसी प्रकार खा भी लिया तो वह उसे उलटी कर देगा।

वक्तव्य—यहाँ 'जुगुप्सा' शब्द 'गुप गोपनकुत्सनयोः' धातु से 'सन्' प्रत्यय करके निष्पन्न है। यह शब्द कुत्सा, निन्दा अर्थों में प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय है—'गोप्तुम् इच्छा' छिपाने की इच्छा। यह शब्द 'शुश्रूषा' की भाँति दो अर्थों का बोधक है।

बर्हितित्तिरिदक्षाणा हंसानां शूकरोष्ट्रयोः। खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम् ॥१५८॥

यक्ष्मी के लिए उत्तम मांस—मोर, तीतर, मुर्गा, हंस, शूकर, उष्ट्र (ऊँट), गधा, गाय तथा भैंस का मांस मांस को बढ़ाने के लिए श्रेष्ठ होते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकरण में क्षीणमांस वाले यक्ष्मा-रोगियों के लिए मांस का सेवन कराने पर तन्त्रकार ने बल दिया है। यहाँ तक कि धोखा देकर भी उन्हें मांस का सेवन कराना चाहिए। इन सब तथ्यों के रहते हुए भी मांस-सेवन का पूरा-पूरा लाभ स्वेच्छा से मांस-भक्षण करने वालों को ही होता है। यहाँ यह विचार करना भी आवश्यक है कि किसके लिए किस प्राणी का मांस रुचिकर होगा। सभी को सब प्राणियों का मांस न तो रुचिकर होता है और न हितकर। जैसे सिंह कभी घास नहीं चर सकता वैसे ही शाकाहारी के लिए मांस-भक्षण भी आवश्यक नहीं है। प्रतिनिधि द्रव्यों पर हमारे आयुर्वेदशास्त्र ने स्थान-स्थान पर बहुत विचार किया है।

योनिरष्टविधा चोक्ता मांसानामन्नपानिके।
तां परीक्ष्य भिषग्विद्वान् दद्यान्मांसानि शोषिणे ॥ १५९ ॥

मांसों की अष्टविध योनियाँ—चरक-सूत्रस्थान के अन्नपान-विधि नामक २७वें अध्याय के श्लोक ३५ से ५५ तक आठ प्रकार की मांसयोनियों का वर्णन किया है। विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह यक्ष्मारोगी की स्थिति को ध्यान में रखकर और उन अष्टविध मांसों के गुण-धर्मों का विचार कर (किस मांस का किस स्थिति में किस शोष के रोगी को सेवन कराना चाहिए) तदनुसार शोष (यक्ष्मा) रोगी को मांस का सेवन कराये।

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः। आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे ॥१६०॥

वातशोषी के लिए मांस—च० सू० अ० २७ में जो मांस की योनियों का वर्णन आया है, उनमें प्रसह, भूशय, आनूप, वारिज और वारिचर पशु-पक्षियों के मांस वातप्रधान शोष (यक्ष्मा) के रोगियों के लिए यथोचित मात्रा के अनुसार खाने के लिए देने चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर के १६० वें श्लोक में ५ प्रकार की मांस-योनियों का वर्णन आया है। ये मांस वात-विकार को शान्त करने के साथ मांस-वृद्धि करने में भी सहायक होते हैं।

प्रतुदा विष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगद्विजाः। कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ॥

कफ-पित्तप्रधान यक्ष्मा में मांस—कफ तथा पित्तदोष-प्रधान शोष रोगियों के लिए प्रतुद, विष्किर, धन्वज पशु-पक्षियों के मांसों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—प्रसह आदि प्राणियों का परिचयात्मक विवरण च० सू० अ० २७।५३-५५ श्लोकों में दिया गया है। इनमें उन प्राणियों के मांस अधिक उपयोगी माने गये हैं, जो मांसाद (दूसरों के कच्चे मांस को खाने वाले) होते हैं।

विधिवत् सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च। रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत् ॥१६२॥

मांसपाक की विशेष विधि—उपर्युक्त प्राणियों के मृदु एवं मन के अनुकूल मांसों को विधिपूर्वक, भली-भाँति पकाकर उन्हें रसेदार तथा मसाले डालकर सुगन्धित बनाकर खाना चाहिए।

मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च। नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥

यक्ष्मा में मद्य-प्रयोग—विविध प्रकार के मांस का आहार करते हुए माध्वीक (महुए के फूलों से बनाये हुए) नामक मद्य का पान करते हुए, जितेन्द्रिय तथा उदार मन वाले पुरुष के शरीर में यक्ष्मा रोग बहुत समय तक नहीं रहता है। अर्थात् इनका सेवन करने से शीघ्र ही यक्ष्मा रोग से मुक्ति हो जाती है।

वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः। अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ॥१६४॥

किस पर यक्ष्मा का आक्रमण नहीं होता—जो पुरुष वारुणी नामक मद्य के मण्ड का प्रतिदिन सेवन करता है, जो बहिर्मार्जन का सेवन करता है और जो कभी भी अधारणीय वेगों को धारण नहीं करता है, उस व्यक्ति के शरीर में यक्ष्मा रोग कभी भी प्रवेश नहीं पा सकता है। जो रोगी पुरुष उक्त वारुणी आदि का सेवन करता है तो वह भी लाभान्वित हो जाता है।

वक्तव्य—मद्यपान की विशेष विधि चरकसंहिता चि० अ० २४।११-२५ तक दी गयी है। चरक सू० अ० २५ में वनस्पतियों के अंग-भेद से आठ आसवयोनियों का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में सु० सू० अ० ४५ भी अवलोकनीय है। अधारणीय वेगों के परिचय के लिए च० सू० अ० ७ को देखें; इसी प्रसंग में धारणीय वेगों पर भी ध्यान दें, इनका वर्णन इसी अध्याय के श्लोक २६ से २९ तक है। **बहिर्मार्जन**—इसी अध्याय में आगे श्लोक १७३ से १७८ तक में इसका वर्णन देखें।

प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ॥१६५॥

यक्ष्मा में विविध मद्य—जिस प्रकार के क्षय रोगी के लिए जो मांस उपयुक्त है, उसका भक्षण करते हुए उसके साथ अनुपान के रूप में प्रसन्ना, वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव, मधु (मद्य विशेष) में से यथायोग्य मद्य का सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—मद्यों के सम्बन्ध में च० सू० अ० २४; सु० सू० अ० ४५; अ० सं० सू० अ० ६ तथा भावप्रकाश का अवलोकन करें।

मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम्।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्त धातवः ॥ १६६ ॥
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति।

मद्य के गुण—मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, विशदताकारक तथा सूक्ष्म गुण वाला होता है, अतएव वह रुके हुए स्रोतों के मुख को मथकर शीघ्र ही खोल देता है। उनके मुखों के खुल जाने से सातों धातुएँ पूर्ववत् पुष्ट होने लगती हैं और धातुओं के पुष्ट हो जाने से शोष (यक्ष्मा) रोग शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—स्रोतों के मुखों के रुक जाने में प्रमुख कारण कफ-प्रधान दोष ही है। इसी से मनुष्य प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। मद्य उसके विपरीत गुण वाला होता है, अतः वह (मद्य) अवरुद्ध स्रोतों के मुखों को खोलकर उन (स्रोतों) के कार्य को पुनः यथावत् कर देता है। इसी कारण यक्ष्मा रोग को समाप्त करने में मद्य सहायक होता है। चरक ने मद्य के गुणों की प्रशंसा करते हुए इसे बहुद्रव्य, बहुगुण तथा बहुकर्मप्रद कहा है। देखें—च० चि० अ० २४।२६-२७।

मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ॥ १६७ ॥
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा।

यक्ष्मा में मांसरस-सिद्ध घृत—१. कच्चा मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के चौगुने मांस रस से पकाये हुए घी का प्रयोग यक्ष्मा-रोग में करना चाहिए। २. अथवा घी से दस गुने गाय के दूध से पकाये गये घृत के साथ मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए। ये दोनों ही प्रयोग यक्ष्मानाशक हैं।

सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायकैः ॥ १६८ ॥
क्षीरमांसरसोपेतैर्घृतं शोषहरं परम्।

दशमूलादि घृत—मधुरक (जीवनीयगण में कहे गये) द्रव्यों का कल्क १ भाग, दशमूल के द्रव्यों द्वारा बनाया गया क्वाथ ४ भाग, गाय का दूध ४ भाग, मांस रस ४ भाग—इन सबको मिलाकर घी का पाक करें। यह घी शोषनाशक द्रव्यों में श्रेष्ठ कहा गया है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥ १६९ ॥
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम्।

पञ्चकोलादि घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार; इन द्रव्यों का सम्मिलित कल्क १ भाग, गाय का दूध १६ भाग, गाय का घी ४ भाग—इन सबको मिलाकर यथाविधि घृतपाक करें। इस घृत का यथाविधि सेवन करने से कफ आदि दोषों से अवरुद्ध स्रोतों का मुख खुल जाता है। यही तात्पर्य है, स्रोतों के शोधन करने का।

रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुसाधितम् ॥ १७० ॥
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद् घृतम् ।

रास्नादि घृत—रास्ना, वलामूल, गोखरू बीज, स्थिरा (शालपर्णी या सरिवन), वर्षाभू (पुनर्नवा) इन सभी द्रव्यों का जौकुट करके क्वाथ करें। यह क्वाथ १६ भाग, जीवन्ती और पिप्पली का मिलित कल्क १ भाग, गाय का दूध १६ भाग, गाय का घी ४ भाग—इन सवका यथाविधि पाक करें। यह घी उचित मात्रा में सेवन करने मे शोष रोग का विनाश करता है।

यवाग्वा वा पिबेन्मात्रां लिह्याद् वा मधुना सह ॥ १७१ ॥
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह । शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः ॥१७२॥

अन्नपान-विधि का उपसंहार—उपर्युक्त औषधसिद्ध घृतों को यवागू में मिलाकर यक्ष्मा-रोगी सेवन करे, अथवा मधु के साथ मिलाकर चाटे, अथवा इन सिद्ध घृतों को अन्न (भोजन) के साथ मिलाकर खावे। शोष रोगियों अर्थात् जो यक्ष्मारोग के कारण प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, उनके लिए यह आभ्यवहारिक (भोजन की) विधियों का निर्देश कर दिया गया है।

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः ।

बहिःस्पर्शन-विधि—अब इस आभ्यवहारिक (भोजन) विधि का वर्णन करने के बाद बहिःस्पर्शन (बहिर्मार्जन) सम्बन्धी विधि का वर्णन किया जा रहा है।

स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥ १७३ ॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्टयर्थमेव च ।

यक्ष्मा में अवगाहन—यक्ष्मा रोग से पीड़ित व्यक्ति के स्रोतों की रुकावट को दूर करने के लिए तथा शरीर की बल-वृद्धि तथा शरीर को पुष्ट करने के लिए वातहर तैलों से भली-भाति मालिश करने के बाद घृत या तैल से भरी हुए द्रोणी (टब) में उसका अवगाहन कराना चाहिए।

वक्तव्य—अभ्यङ्ग के सम्बन्ध में शास्त्रकारों के मत—'जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः। तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥ शिरामुखै रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन्'। सुश्रुत चि० अ० २४। 'स जरा-श्रमवातहा। दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्' ॥ अ० हृ० सू० अ० २।८। और भी—'मूर्ध्नि दत्तं यदा तैलं भवेत सर्वाङ्गसङ्गतम्। स्रोतोभिस्तर्पयेद् वाहू अभ्यङ्गः स उदाहृतः' ॥ चक्रदत्त, ज्वर-चि०।

उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः ॥ १७४ ॥
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम् ।

यक्ष्मा में मर्दन-उत्सादन—द्रोणी (टब) में अवगाहन कर लेने के बाद जब यक्ष्मा का रोगी बाहर निकल आये तब (उसकी देह को भली-भाँति पोंछकर) उसके शरीर पर औषधसिद्ध मिश्रक स्नेह को (घी-तैल दोनों को मिलाकर) मालिश करने वाला व्यक्ति अपने हाथों में लगाकर रोगी को सुखपूर्वक बैठाकर धीरे-धीरे उसे उबटन लगाये।

वक्तव्य—उद्वर्षणम्—'अस्नेहौषधचूर्णादिभिः घर्षणम्'। **उत्सादनम्**—स्नेहकल्केन उद्वर्षणम्'। उद्वर्तनम्'। इन क्रियाओं में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। ये सब अभ्यंग के ही भेद हैं। इनके विशेष परिचय के लिए देखें—सु० चि० अ० २४।५१-५६। **मृद्नीयात्**—मर्दन करे, (मले या मसले)। **उत्सादयेत्**—उबटन लगाये। इनका प्रयोग सदैव **अनुलोम** ही होना चाहिए, न कि **विलोम**।

जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥ १७५ ॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ।
विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥ १७६ ॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ।
यवचूर्णत्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥ १७७ ॥

एतदुत्सादनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् ।

उत्सादनार्थ औषधद्रव्य—जीवन्ती, शतवीर्या (सफेद दूब), विकसा (मजीठ), पुनर्नवा, असगन्ध, अपामार्ग (चिरचिटा), तर्कारी (जयन्ती), मुलेठी, बलामूल, विदारीकन्द, पीली सरसों, कूठ, चावल, अतसी-फल (तीसी या अलसी का दाना), उड़द, कालातिल, किण्व (सुराकिट्ट)—इन सब द्रव्यों का एक साथ चूर्ण बनायें। इस चूर्ण से तिगुना जौ का आटा लें, इसमें दही तथा मधु मिला लें। इससे यक्ष्मा रोगी का उत्सादन करें। इससे शरीर पुष्ट होता है, वर्ण उज्ज्वल होता है तथा शारीरिक शक्ति की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—उक्त औषधद्रव्यों से निर्मित उत्सादन (उबटन) का प्रयोग कफ-प्रधान यक्ष्मा रोग में न करें, क्योंकि इसमें प्रायः शीतवीर्य-प्रधान औषधों का उपयोग किया गया है। अतः इसका प्रयोग पित्तप्रधान यक्ष्मा रोग में ही कराना चाहिए।

गौरसर्षपकल्केन कल्कैश्चापि सुगन्धिभिः ॥ १७८ ॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः शृतैः ।

यक्ष्मा में स्नानार्थ जल—उत्सादन द्रव्यों का प्रयोग करने लेने के बाद जीवनीयगण के औषधद्रव्यों के क्वाथ में पीली सरसों का कल्क मिलाकर और उस जल को सुगन्धित पदार्थों से सुवासित कर जिस ऋतु में जैसा जल सुखकर लगे, तदनुकूल जल से स्नान करे।

वक्तव्य—शीतकाल में गरम जल से तथा उष्णकाल में शीतल जल से स्नान कराना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने कुछ परिवर्तन करके उक्त श्लोक का संग्रह अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—'गौरसर्षपकल्केन स्नानीयौषधिभिश्च सः। स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयोपसाधितैः' ॥ अ० सं० चि० अ० ७।११६। आचार्य गंगाधर गौरसर्षप के कल्क द्वारा साधित उष्ण जल से शीतकाल में और सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित शीतल जल से ग्रीष्म काल में स्नान करने की व्यवस्था देते हैं, जो युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। किन्तु उक्त श्लोक का ऐसा आशय है, यह नहीं कहा जा सकता।

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ॥ १७९ ॥
स्पृश्यान् संस्पृश्य सम्पूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः । इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत् पानभोजनम् ॥१८०॥
इष्टमिष्टैरुपहितं[1] [2]सुखमद्यात् सुखप्रदम् ।

यक्ष्मा में पान-भोजन—उक्त विधि से स्नान करने के बाद यक्ष्मा रोग से पीड़ित व्यक्ति विविध प्रकार के सुगन्धित पुष्प, माला, वस्त्र तथा भूषण आदि से सुशोभित होकर, स्पर्श करने योग्य हरिद्रा, दूर्वा आदि मांगलिक पदार्थों का स्पर्श करके, गणेश, गौरी आदि पूज्य देवगणों, ब्राह्मणों तथा चिकित्सकों की पूजा करके मनोभिलषित रमणीय रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध वाले हितकर पदार्थों को, इष्ट (प्रिय) जनों द्वारा लाकर रखे हुए पान (पेय पदार्थ) तथा भोजन (खाद्य पदार्थ) को सुखपूर्वक खाये।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० ७ श्लोक ११७ से ११९ तक जो विचार वहां प्रकट किये हैं, वे भी आदरणीय हैं, उन्हें अवश्य देख लें। निर्णयसागरीय तथा अन्य प्रतियों में भी **'इष्टैरुपहितं'** पाठ दिया है, किन्तु किसी टीकाकार ने इस पद की टीका नहीं लिखी। वास्तव में समाज परम्परा का अनुकरण करता है। उक्त पद की व्याख्या—'इष्टैः प्रियजनैः, बान्धवैः, हितचिन्तकैः वा उपहितम्—उप+धा+क्त'। धा धातु का अर्थ है—धारण, पोषण तथा दान देना। पाठभेद के अनुसार यह पद **'उपहृत'** है। इसका अर्थ होता है—उपहार स्वरूप दिया हुआ। भोजन कैसा भी हो, यदि वह प्रियजन के हाथों से प्राप्त होता है, तो उसका स्वाद निश्चित ही बढ़ जाता है।

समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम् ॥ १८१ ॥
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च । यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि ॥१८२॥

१. 'उपहृतम्' इति पा०।
२. 'हितमद्यात्' इति पा०।

यक्ष्मा में पथ्यतम पदार्थ—यक्ष्मा रोग से पीड़ित व्यक्तियों को एक वर्ष पुराने धान्यों का सेवन कराना चाहिए। इनके अतिरिक्त जो अन्न हलके (शीघ्र पच जाने वाले) हों, जिनका वीर्य अभी हीन न हुआ हो, जो स्वादु हों, जिनमें अपनी स्वाभाविक गन्ध हो और जिनको खाने से मन प्रसन्न होता हो, वे सभी पदार्थ पथ्यतम (अत्यन्त हितकर) होते हैं।

वक्तव्य—धान्य शब्द एक वर्ग विशेष का सूचक है। इस प्रकार यह शालि, षष्टिक, व्रीहि भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। इसके आगे—शालि, व्रीहि, शूक, शिम्बी, क्षुद्र भेद से पाँच प्रकार का होता है, फिर इसके अठारह भेद भी कहे गये हैं। देखें—निघण्टु-ग्रन्थ। महर्षि वाग्भट ने 'लघुसंवत्सरोषितम्' (अ० हृ० सू० अ० ६।२४) कहकर संक्षेप में इसका परिचय दिया है। आचार्य खरनाद के मत से—'वर्षस्थितं सर्वधान्यं परित्यजति गौरवम्। नतु त्यजति तद्वीर्यं वीर्यं मुञ्चत्यतः परम्'॥ इस प्रकार इन्होंने ऊपर के श्लोक में कहे गये 'अहीनवीर्य' की स्थिति को स्पष्ट कर दिया है।

पथ्य-अपथ्य का विचार रोगी के लिए ही प्रमुख रूप से किया जाता है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जो पदार्थ रोगी के लिए अपथ्य होते हैं, स्वस्थ पुरुष उन्हें खाते हैं और उनके स्वास्थ्य-लाभ में कोई बाधा आते नहीं देखी जाती है। सबसे अधिक अपथ्यतम विष होता है। इसका विधिपूर्वक सेवन करने पर बुद्धिमान् प्राणी उससे रसायन का लाभ लेते हैं। अतः पथ्य-अपथ्य अथवा हित-अहित का विचार प्रत्येक स्थिति में करने पर ही तात्कालिक निर्णय लिया जा सकता है।

यच्चोपदेक्ष्यते [1]पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते। यक्ष्मिणस्तत् प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥१८३॥

यक्ष्मा में पथ्य-विचार—क्षतक्षीण-चिकित्सा नामक ग्यारहवें अध्याय में जिस-जिस पथ्य पदार्थ का उपदेश किया जायेगा, उन-उन पथ्य पदार्थों का सेवन यक्ष्मारोग से पीड़ित व्यक्तियों के बल तथा मांस की वृद्धि के लिए करना चाहिए।

अभ्यङ्गोत्सादनैश्चैव वासोभिरहतैः प्रियैः। यथर्तुविहितैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः ॥१८४॥
वस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः। इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ॥१८५॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः। गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥१८६॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः। ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥१८७॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गल्यैरप्यहिंसया। वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते ॥१८८॥

यक्ष्मा-चिकित्सा का उपसंहार—अभ्यंग, उत्सादन (उबटन), ऋतु के अनुकूल स्नान, अवगाहन, प्रिय एवं नवीन वस्त्रों का धारण, इन बहिःपरिमार्जनों (त्वचा की सफाई या शुद्धि) से, विविध प्रकार की वस्तियों से, दूध, घी, मांस, मांसरस तथा भात से, प्रिय मद्यों से, मन को प्रिय लगने वाले सुगन्धित पदार्थों के सेवन करने से, मित्रों तथा रमण करने योग्य स्त्रियों के देखने से, गीतों एवं विविध प्रकार के वाद्यों को सुनने से, प्रिय समाचारों तथा कथाओं को सुनने से, मन को आनन्दित करने वाले आश्वासनों से, गुरुजनों (माता-पिता, आचार्य, पूज्य सम्बन्धि वर्ग) की उपासना (सेवा) करने से, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने से, दान करने से, तपस्या से, देवताओं की पूजा करने से, सत्यभाषण से, आचार (आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त के सेवन) से, मांगलिक पदार्थों के दर्शन, स्पर्शन, धारण करने से, अहिंसा (इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। अप्रिय भाषण भी हिंसा के क्षेत्र की परिधि में आ जाता है) से, वैद्य (चिकित्सक) तथा ब्राह्मण की पूजा करने से भी रोगराज (यक्ष्मा) की निवृत्ति हो जाती है।

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः। तां वेदविहितामिष्टिम[2]ारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥

यक्ष्मा में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा—प्राचीनकाल में जिस इष्टि (यज्ञ आदि) के प्रयोग करने से राजयक्ष्मा रोग को जीत लिया गया था, अर्थात् यह (राजयक्ष्मा) रोग हारकर (रोगी को छोड़कर) चला गया था; वेदों में बतलायी गयी उस इष्टि (यज्ञ) का आरोग्यार्थी पुरुष प्रयोग करे।

१. 'किञ्चित्' इति पा०।

२. 'आरोग्यार्थम्' इति पा०।

वक्तव्य—वेदों में रोगशामक अनेक प्रकार के मन्त्रों का तथा यज्ञ आदि के अनुष्ठान का विधान मिलता है। 'यया इष्टया पुरा जितः, ताम् आरोग्यार्थी प्रयोजयेत्'। यहाँ इसी संकेत का विशेष महत्त्व है।

तत्र श्लोकौ—

प्रागुत्पत्तिर्निमित्तानि प्राग्रूपं रूपसङ्ग्रहः। समासाद् व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः ॥१९०॥
नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता। इत्युक्तः सङ्ग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने राजयक्ष्मचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस विषय में दो श्लोक नीचे दिये जा रहे हैं—राजयक्ष्म-चिकित्सित नामक इस अध्याय में राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति का प्राचीन इतिहास, पूर्वरूप, रूपों का संग्रह, निमित्त (लक्षण), संक्षेप तथा विस्तार में उक्त रोग की चिकित्सा का व्याख्यान, राजयक्ष्मा नाम पड़ने का कारण, उसकी असाध्यता, साध्यता तथा कृच्छ्रसाध्यता—इन विषयों का संग्रह कर दिया गया है।

वक्तव्य—राजयक्ष्मा रोग प्राचीन है, ऐसा तन्त्रकार ने एक पौराणिक कथा को उद्धृत कर इसकी प्रस्तावना की है। किन्तु इसका पता और भी पहले से हमारे पूर्वज आचार्यों को था। इसके लिए ऋग्वेद १०। १६३।१-६ तथा शौनकीय बृहद्देवता ३।११।१ का अवलोकन करें। और भी देखें—'अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते'॥ अथर्व० २।३३।१। वैदिक वाङ्मय सामान्य रूप से—१. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. उपनिषद् तथा ४. वेदांग—इन चार भागों में विभाजित है। इसके बाद संहिताओं का विभाजन शाखाओं के आधार पर देखा जाता है। शाखाएँ—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भेद से समुपबृंहित हैं। चिकित्साशास्त्र का मूल प्रधानरूप से अथर्ववेद है। वैसे तो प्रसंगवश अन्यत्र भी आयुर्वेद सम्बन्धी स्फुट चर्चाएँ वैदिक वाङ्मय में भी देखी जाती हैं। अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं—१. पैप्पलाद, २. तोद, ३. मोद, ४. शौनकीय, ५. जाजल, ६. जलद, ७. ब्रह्मवद, ८. देवदर्श, ९. चारणवैद्य। इनमें से अनेक शाखाएँ ईसवी पूर्व दूसरी शती तक विद्यमान थीं, ऐसा पतञ्जलि के महाभाष्य से प्रमाणित होता है। देखें—'उदगान् मौदपैप्पलादम्। पा० म० २।४।३, ४।१।१, ४।२।६६।

वैदिक वाङ्मय में अनेक रोगों के नामों का उल्लेख मिलता है। कुछ रोग तो ऐसे हैं जिनके नाम आज भी वही हैं, कुछ के नाम परिवर्तित हो गये हैं। देखें—ऋग्वेद १०।१६३।१-६ और अथर्ववेद २।३३।१-७; ९।८।१-२२। यहीं पर एक रोग 'जायान्य' है, इसे कुछ विद्वान् राजयक्ष्मा मानते हैं, क्योंकि यह रोग स्त्रियों से फैलता है। यथा—'यज्जायाभ्योऽन्वविन्दत्'। तैत्तिरीयसंहिता २।३।५।२। असाध्य व्याधियों की श्रेणी में गिना जाने वाला एक रोग है—'क्षेत्रिय'। 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' (५।२।९२) पाणिनि ने इस सूत्र द्वारा इसे जन्मान्तर में चिकित्सा करने योग्य व्याधि माना है।

जङ्गिड—काष्ठौषधि निर्मित एक वैदिक मणि विशेष का नाम केवल अथर्ववेद में प्राप्त होता है। इसका प्रयोग तक्मन् (ज्वर), शोष (राजयक्ष्मा) आदि रोगों में किया जाता रहा है। देखें—'न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः। विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः'॥ शौनकीय बृहद्देवता १९।३४।६।

जीवाणु-विज्ञान आधुनिक युग के विचारकों की देन है। ये लोग टाइफाइड, राजयक्ष्मा आदि रोगों को क्रिमिज रोग मानते हैं। यद्यपि ऐसी बात नहीं है। आयुर्वेद भी दृश्य, अदृश्य रूप से सभी प्रकार के क्रिमियों का अभिज्ञ रहा है। इनकी रोगोत्पादक क्षमता का उसने समय-समय पर निर्देश किया है, तथापि आयुर्वेद त्रिदोष की तिपाई पर स्थिर है, यह भी एक अविस्मरणीय तथ्य है। ऐतिहासिकों ने यूनान (ग्रीस) के वेपोलियन स्थान से प्राप्त शिलालेखों से यह निष्कर्ष निकाला है, कि राजयक्ष्मा नामक यह घातक व्याधि ईसा से ३००० वर्ष पूर्व एक मरीज को देखने से ज्ञात हुई है, जो कीटाणुजनित होती है। इसके बाद के तो अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिप्पोक्रेट्स (४६० बी० सी०) ने भी इसे घातक रोग के रूप में कहा है। अनेक संहारक

रोगों में इसका भी प्रमुख स्थान है, जिसका अनुपात पहले की अपेक्षा आज बहुत कम है, फिर भी १०० के पीछे १ या २ का अनुपात तो आज भी बना ही है।

आधुनिक दृष्टि से क्षयरोग निम्नलिखित रूपों में देखा जाता है, यथा—१. बालक्षय रोग (Primary tuberculosis.) २. उरःक्षय (Chronic pulmonary t.), ३. वृद्धावस्थाजनित उरःक्षय (Senile phthisis), ४. बालसुलभ तीव्र उरःक्षय (Pulmonary miliary t.) ५. फुफ्फुसावरण क्षय (Pleurisy), ६. स्वरयन्त्र क्षय (Laryngeal t.), ७. उदरक्षय (Peritonitis t.), ८. आन्त्रवंधनीक्षय (Mese-nteric glands t.), ९. आन्त्रक्षय (Enterocolitis t.), १०. अस्थिक्षय (Osteitis t.), ११. पृष्ठवंशक्षय (Spinal caries t.), १२. सन्धिक्षय (Arthritis t.), १३. मस्तिकक्षय (Meningitis t.), १४. चर्मक्षय (Cutaneous t.), १५. जीर्णचर्मक्षय (Lupus vulgaris t.), १६. ग्रन्थिक्षय (Lymphadenitis' t.)—इनका विशेष विवरण आधुनिक ग्रन्थों में देखें।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में राजयक्ष्मचिकित्सित नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

राजयक्ष्म-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ उन्माद-चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'औत्पातिकं शोषमभिधाय दक्षयज्ञे कुष्ठान्तरोत्पन्नमुन्मादं ब्रूते'। वचनं हि—'भयत्रासशोकैरुन्मादापस्माराणाम्'। च० नि० अ० ८।११। **उन्माद शब्द की निरुक्ति**—'उन्मदनम्, उन्मादः', उत् उपसर्गपूर्वक मदीहर्षे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर उन्माद शब्द की निष्पत्ति होती है। अर्थात् चित्त की अस्थिरता को 'उन्माद' कहते हैं। मदात्यय रोग को भी 'उन्माद' कहा गया है। माधवकर ने इसे मानस-व्याधि की संज्ञा दी है। इसमें प्रकुपित हुए वातादि दोष ऊर्ध्वगामी होकर मनोविभ्रम पैदा कर देते हैं। इसीलिए इसे उन्माद कहते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० नि० अ० ७, सु० उ० तं० अ० ६२, अ० सं० उ० अ० ९ तथा अ० हृ० उ० अ० ६ में विस्तार से देखें।

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपोनिवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः।
उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः ॥ ३ ॥

उन्माद रोग सम्बन्धी प्रश्न—बुद्धि, स्मृति, ज्ञान तथा तपस्या के निवास (आश्रय-स्थान), समस्त प्राणधारियों को आश्रय देने एवं उनकी रक्षा करने वाले भगवान् पुनर्वसु ने शिष्य अग्निवेश के पूछे जाने पर समय पर (तत्काल) उन्माद रोग के हेतु (कारण), आकृति (स्वरूप अथवा लक्षण) एवं औषधयोगों को बतलाया।

वक्तव्य—इस प्रकार का गुरु-शिष्य-संवाद विषय की प्रस्तावना कहे जाने की परम्परा प्राचीन ग्रन्थों में देखी जाती है, उसी का निर्वाह यहाँ इन्होंने भी किया है।

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥ ४ ॥

उन्माद रोग के कारण—विरुद्ध (वीर्य से विरुद्ध, प्रकृति-विरुद्ध), दुष्ट (दोष युक्त), अपवित्र खान-पान का सेवन करना, देवता, गुरु (पूज्यवर्ग), द्विज (कर्मनिष्ठ ब्राह्मण), इनका अपमान, निरादर या तिरस्कार, भय अथवा हर्ष के कारण उत्पन्न मानसिक अभिघात (मन को ठेस पहुँचना) एवं अन्य अनेक प्रकार की विषम (अस्वाभाविक) चेष्टाएँ उन्माद रोग में कारण होती हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'उन्मादहेतुः' में एकवचन का प्रयोग यह संकेत कर रहा है, कि ये ऊपर कहे गये सभी कारण स्वतन्त्ररूप से पृथक्-पृथक् उन्माद रोग का हेतु है। ऐसा नहीं है कि जब इतने सभी कारण एकत्र हों तभी उन्माद रोग होगा। यद्यपि उन्माद एक मानसिक रोग है, तथापि उसका प्रभाव मनस् के साथ ही साथ शरीर पर भी पड़ता है, क्योंकि वातादि दोष शारीरिक दोष हैं। अतएव इससे शरीर में कृशता आदि लक्षण दिखलायी देते हैं।

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ ५ ॥

उन्माद-रोग की सम्प्राप्ति—अल्प सत्त्व (जिस पुरुष में सत्त्वगुण की कमी हो अथवा जिसका मनोबल क्षीण हो, ऐसे) पुरुष के उन-उन कारणों से दुष्ट हुए दोष बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूषित कर मनोवाही स्रोतों का आश्रय लेकर अर्थात् उन्हें घेर कर मनुष्य के चेतस् को मोहित कर उन्माद रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—हृदय को चैतन्यसंग्रह का स्थान कहा गया है। देखें—'तत्र चैतन्यसङ्ग्रहः, हृदयम्' च० सू० अ० ३०।७। यहाँ भी—'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य' इसी को उन्माद रोग की सम्प्राप्ति में कारण माना गया है। स्पर्श दो प्रकार का होता है—१. इन्द्रिय सम्बन्धी तथा २. मानस सम्बन्धी। इन्हीं दो प्रकार के स्पर्शों से सभी प्रकार के सुख-दुःखों का ज्ञान होता है। देखें—च० शा० अ० १।१३३। इन्हीं पर जब उन्मादकारक कारणों का प्रभाव पड़ता है, तो ये मोहित अर्थात् संज्ञाशून्य हो जाते हैं। इसी स्थिति को उन्माद कहते हैं। विष या विष के समान गुणों से युक्त मद्य का सेवन करने से जो उन्माद होता है, उसकी प्रारम्भिक अवस्था में पुरुष की वही दशा हो जाती है, जो अफीम, भांग, चरस, हीरोइन आदि के सेवन करने से होती है। इसे मद या नशा कहते हैं। मद से ही मनुष्य मदमत्त हो जाता है। इसकी अगली स्थिति वाले पुरुष को उन्मत्त कहते हैं। यही उन्माद रोग की प्रारम्भिक भूमिका है।

हृदय-परिचय—सुश्रुत ने शरीरावयवों का वर्णन करते हुए हृदय का परिचय इस प्रकार दिया है—**'शोणितकफप्रसादजं हृदयं, ···तद्विशेषेण चेतनास्थानम्'**। सु० शा० अ० ४।३१। अर्थात् यह शरीरारम्भक शुद्ध रक्त तथा कफ के प्रसाद से निर्मित होता है। रक्तवाहिनी शिराओं में धमनक्रिया का आरम्भ यहीं से होता है। इसी कारण शिराओं का एक नाम धमनी भी है। अमरकोष, द्वितीयकाण्ड, मनुष्यवर्ग के ६४वें श्लोक में उसे 'हृदयं हृत्' कहा गया है। इसका परिचय देते हुए 'रामाश्रमी' टीका में दिया गया है—'पद्मकोश-प्रतीकाशं रुचिरं चाप्यधोमुखम्। हृदयं तद्विजानीयात् विश्वस्यायतनं महत्' ॥ इस आशय का हृदय-परिचायक एक पद्य सु० शा० अ० ४।३२ में भी है, मिलान करके देखें।

उसी अमरकोष के रचयिता दूसरे स्थान पर 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' (अमरकोष प्र० का० कालवर्ग श्लोक ३१) हृदय के पर्यायों में मन अथवा मन के पर्यायों में हृदय का उल्लेख करते हैं। परन्तु प्रस्तुत हृत् अथवा हृदय शब्द मनुष्यवर्गोक्त हृदय का वाचक है, न कि 'मनस्' का। इसी को हार्ट (Heart) कहते हैं। इसका प्रथम अक्षर अपने अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करता है—**हृ**='हरति रक्तम्' अथवा **'ह्रियते अनेन रक्तम्'** अर्थात् जो रक्त को लेता है, अथवा जिससे शरीर में रक्त लिया जाता है; इसी अर्थ को लेकर इसे **'हृत्'** कहते हैं। दूसरा शब्द है **हृदय**; इसका प्रत्येक अक्षर अपने अर्थ को इस प्रकार प्रकट करता है—**हृ**= **'हरति रक्तम्'** यह रक्त का आहरण करता है, अर्थात् यह रक्त का ग्रहण कर पुनः उसे शरीरावयवों की ओर भेज देता है। कुछ क्षण रक्त के रुकने के कारण ही इसे 'रक्ताशय' भी कहा जाता है। रक्त का एक नाम 'शोणित' भी है। शोणित का अर्थ होता है—सदैव गतिशील रहना। द='**ददाति धमनीभ्यः'**—जो शुद्ध रक्त को धमनियों को देता है और **य**='**याति ताभ्यः सम्पूर्णे शरीरे'**—इनको धमनी इसलिए कहते हैं कि रक्त-संचरण के कारण इनमें धमन (सामान्य शब्द) होता है, जिसे हम 'स्टेथिस्कोप' यन्त्र की

सहायता से सुन सकते हैं। इन्हीं को प्रामवश इसलिए कहा है कि हृदय (हार्ट) के अपने कार्य (
किया) के वाधित (फेल) हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। ध्यान है। मस्तिष्क के फेल होने पर मृ
नहीं होती, मूर्च्छा में कई घंटों तथा अभिन्यास रोग में कई दिनों तक मनुष्य इसलिए जीवित रहता है कि
मूर्च्छा और अभिन्यास रोग की स्थिति में उसकी हृदय-गति में कोई प्रतिरोध उत्पन्न नहीं होता है। इ
प्रामाणिक विवेचन के बाद भी मस्तिष्क और हृदय को एक समझना दुराग्रह मात्र है। इ

यह हृदय शिरामर्म है—'स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयम्'। सु०
शा० अ० ६।२५। यह रक्त को ले जाने वाली तथा उसे लाने वाली शिराओं का संयोगस्थल एवं रक्ताशय भी
है। देखें—सु० शा० अ० ५।८।

मनः परिचय—अथर्ववेद में हृदय का मस्तिष्क से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाते हुए कहा है—'मूर्धा-
नमस्य संसीव्याऽथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयति पवमानोऽधि शीर्षतः' ॥ अथर्व० १०।२।२६।
अथर्वा (A priest who has to worship Fire and Soma) ने मनुष्य के शिर और हृदय को
परस्पर (एक-दूसरे से) जोड़ दिया है। अतएव वायु मस्तिष्क के ऊपरी भाग में स्थित होकर प्रेरित करता
है। इसी अर्थ की अभिव्यक्ति निम्न गद्य से भी हो रही है—वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा,
प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः'। च० सू० अ० १२।८। अन्नम्भट्ट ने मन का लक्षण
इस प्रकार दिया है—'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः'। तर्कसंग्रह। महर्षि काश्यप के अनुसार—'ज्ञानस्या-
भावो भावश्च मनसो लक्षणम्'। का० सं० शा० अ० १ पंक्ति २१। **मनः**—१. मननात् मनः, २. सर्वेन्द्रिय-
प्रवर्तकान्तरिन्द्रियम्, ३. सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तिमदन्तःकरणम्, ४. सुखदुःखादिसाक्षात्कारकारणत्वे सतीन्द्रि-
यत्वं मनस्त्वम्, ५. स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्वम्। सर्वलक्षणसङ्ग्रहः। सुश्रुत के अनुसार मन उभयात्मक है,
अर्थात् यह बुद्धि-इन्द्रिय तथा कर्म-इन्द्रिय दोनों है। क्योंकि इसकी प्रवृत्ति दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ
होती है। आगे मन के सात्त्विक, राजस एवं तामस गुणों का भी वर्णन किया गया है। देखें—सु० शा०
अ० १ सम्पूर्ण। इस सम्बन्ध में च० शा० अ० १ श्लोक १७ से २३ तक देखें। भेलसंहिता के अनुसार मन का
स्वरूप—'शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तत्रस्थं तद्धि···समस्तान् हि विजानाति'। तैत्तिरीय उपनिषद्
अनु० ६ में 'पुरुषो मनोमयः' कहा गया है। महर्षि काश्यप ने अपनी संहिता के फक्करोगाध्याय के श्लोक ६
में कहा है—प्राणियों की मन सहित सभी इन्द्रियाँ हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। इन सभी सन्दर्भ-सूत्रों से
यह निष्कर्ष निकलता है कि हृदय तथा मस्तिष्क का अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि योगी पुरुष समाधिस्थ अवस्था
में अपने प्राणों को मस्तिष्क में केन्द्रित कर लेते हैं। अतः सत्त्वगुण से परिपूर्ण पुरुषों को यह उन्मादरोग नहीं
होता है।

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

उन्माद का सामान्य लक्षण—धीविभ्रम (बुद्धि का स्थिर न रहना), सत्त्वपरिप्लव (मन का चंचल
हो जाना), दृष्टि में व्याकुलता का दिखलायी देना, किसी एक पदार्थ में दृष्टि का स्थिर न रहना, अधीरता,
असम्बद्ध बोलना (किसी एक विषय पर न बोलकर एक ही समय में इधर-उधर की अप्रासंगिक बातों का
कहना) तथा हृदय की शून्यता—ये लक्षण सामान्य उन्माद रोग में दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—जेज्जट इसे उन्माद रोग का सामान्य पूर्वरूप कहते हैं और चक्रपाणि सामान्य रूप कहते हैं।
'लिङ्ग्यते अनेन इति, लिङ्गम्' अर्थात् जिन लक्षणों से जो वस्तु पहचानी जाये उसे लिंग कहते हैं। इस दृष्टि
से उक्त लक्षणों को रूप कहा जा सकता है। अभी वह पुरुष उन्माद की स्थिति को पूर्णरूप से प्राप्त नहीं
हुआ है, अतः इसे पूर्वरूप कहना अनुचित नहीं होगा। प्रायः देखा जाता है कि किसी प्रकार का नशा सेवन
करने के बाद उस पुरुष में उक्त लक्षण देखे जाते हैं।

हृदयं च शून्यम्—मूढ, मूर्ख, मूर्त, मुर्च्छा, मूर्च्छा, मोह—ये सभी शब्द प्रायः एकार्थवाची हैं। सभी
का प्रभाव हृदय तथा मस्तिष्क पर पड़ता है। अतएव महर्षि चाणक्य ने कहा है—'मूर्खस्य हृदयं शून्यम्',
इन दोनों स्थानों पर मस्तिष्क से सम्बद्ध हृदय का ही ग्रहण करना चाहिए।

स मूढचेता न सुखं न दुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम्।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ॥ ७ ॥

उन्माद में चित्तविभ्रम—स्मरणशक्ति, बुद्धि तथा संज्ञा (चेतना) के नष्ट हो जाने से वह (रोगी) मूढचेता (मोहपूर्ण चित्त वाला) न सुख, न दुःख, न आचार (सदाचार या सद्वृत्त) और न धर्म का ही ज्ञान रखता है, तब वह शान्ति को कहाँ से प्राप्त कर सकता है। अतएव वह पुरुष तथा उसका मन रात-दिन इधर-उधर घूमता रहता है, अर्थात् स्थिर नहीं रह पाता।

समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः।

उन्माद के दो भेद—बुद्धि, मन (चित्त) तथा स्मृति (स्मरणशक्ति) के भ्रमित हो जाने के कारण उन्माद रोग मूलतः दो प्रकार का होता है—१. आगन्तुक और २. निज।

तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ॥ ८ ॥

उन्माद के पाँच भेद—उपर्युक्त दो कारणों से होने वाले उन्माद के पाँच भेद होते हैं। उन भेदों के लक्षण और चिकित्सा का आगे वर्णन किया जायेगा।

वक्तव्य—उन्माद रोग के भेदों के सम्बन्ध में सुश्रुत का निर्णय—'एकैकशः समस्तैश्च दोषैरत्यर्थ-मूर्च्छितैः। मानसेन च दुःखेन स पञ्चविध उच्यते ॥ विषाद् भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्। स चाप्रवृद्धस्त-रुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च' ॥ सु० उ० तं० अ० ६२।४-५। अर्थात् वात आदि दोषों से ३, सन्निपात से १, मानसिक दुःख से १—इस प्रकार यह ५ प्रकार का और विष के कारण छठा होता है। विशेष च० नि० अ० ७ में देखें। **निज**—वात आदि दोषों की विकृति से चार प्रकार का। **आगन्तुक**—एक प्रकार का। यद्यपि इसे एक प्रकार का कहा गया है, किन्तु इसके भी अनेक भेद होते हैं, देखें—आगे १६वाँ श्लोक।

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
[1]चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ९ ॥

वातज उन्माद : हेतु तथा सम्प्राप्ति—रूक्ष (स्नेह रहित), अल्प (मात्रा से कम), शीतान्न (ठंडा या बासी भोजन), विरेक (अधिक विरेचन या वमन का हो जाना), धातु (रस आदि का अधिक) क्षय हो जाना, उपवास (शक्ति से अधिक भूखा रह जाना)—इन कारणों से अत्यन्त बढ़ा हुआ वातदोष चिन्ता आदि कारणों से युक्त (पाठभेद के अनुसार—चिन्ता आदि कारणों से दूषित) होने के कारण हृदय-प्रदेश में पहुँचकर बुद्धि और स्मरणशक्ति को शीघ्र ही नष्ट कर उन्माद रोग को पैदा कर देता है।

वक्तव्य—'विशिष्टं रेचनं विरेचनम्', रिचिर् विरेचने (रु० उ० अ०) ण्यन्त, यह शब्द ऊर्ध्व, अधः भेद से दोषों को शरीर से बाहर निकालना, इस अर्थ का सूचक है। इसीलिए 'शिरोविरेचन' आदि शब्दों का प्रयोग स्वयं तन्त्रकार ने किया है।

अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥ १० ॥

वातज उन्माद के लक्षण—वातज उन्माद का रोगी अस्थान में (बिना किसी कारण) हँसता है, स्मित कराता (मुस्कुराता) है, नाचने लगता है, गाने लगता है, असम्बद्ध बोलने लगता है, शरीर के अवयवों को नचाने लगता है और अकारण रोने लगता है। उसके शरीर में खुरदरापन तथा कृशता आ जाती है और उसका वर्ण अरुण (हल्की लालिमा से युक्त) हो जाता है। आहार के पच जाने पर उक्त लक्षण और भी बलवान् हो जाते हैं।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'जीर्णे बलम्' इस पद्यांश का अर्थ ठीक नहीं किया है। देखें—'जीर्णे आहारे व्याधेर्बलं भवति', मधुकोषटीका। अन्य लक्षणों के लिए देखें—सततमनियतानां च गिरामुत्सर्गः··· उत्पिण्डतारुणाक्षता'। च० नि० अ० ७।७ तथा सु० उ० तं० अ० ६२।८।

---

१. 'चिन्तादिदुष्टम्' इति पा०।

आधुनिक दृष्टि से उन्माद को मेनिया (Mania) कहते हैं। इनकी दृष्टि से इसके निम्नलिखित भेद होते हैं—१. तीव्र उन्माद (Acute m.), २. तीव्र प्रलापी उन्माद (Acute delirious m.), ३. अगतिक उन्माद (Akinetic m.), ४. चिरकारी उन्माद (Chronic m.), ५. प्रलापी उन्माद (Delirious m.), ६. एल्कोहॉली उन्माद (A'potu m.), ७. अपस्मारी उन्माद (Epileptic m.), ८. हिस्टीरियाजन्य उन्माद (Hysterical m.), ९. नियतकालिक उन्माद (Periodical m.), १०. उत्पीडनोन्माद (Persecution m.), ११. प्रासूतिक उन्माद (Puerperal m.), १२. क्षणिक उन्माद (Transitory m.), १३. अनुत्पादी अथवा मूक उन्माद (Unproductire m.).

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि श्रितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ११ ॥

पित्तज उन्माद : हेतु तथा सम्प्राप्ति—अजीर्ण, कटु, अम्ल (खट्टे), विदाही (दाह उत्पन्न करने वाले), तथा अशीत (उष्ण) भोजनों द्वारा संचित (धीरे-धीरे इकट्ठा हुआ) पित्त ऊपर की ओर वेगवान् होकर अनात्मक पुरुष (जिसका खान-पान आदि में संयम नहीं है) के हृदय-प्रदेश में आश्रित हो जाता है और वह पित्त पूर्ववत् (वातज उन्माद की भाँति) शीघ्र ही उन्माद रोग को पैदा कर देता है।

अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः।[1]
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥ १२ ॥

पित्तज उन्माद के लक्षण—अमर्ष (सहनशीलता का अभाव), संरम्भ, विनग्न भाव (अत्यन्त विनीत हो जाना), संतर्जन (डराना या धमकाना), अतिद्रवण (तेजी से इधर-उधर दौड़ना), उष्णता (शरीर में गर्मी का बना रहना), रोष (क्रोध की मुद्रा में बने रहना), शीतल छाया, शीतल अन्न तथा शीतल जल की अभिलाषा करना और सम्पूर्ण शरीर का वर्ण पीला हो जाना—ये सभी लक्षण पित्तज उन्माद के होते हैं।

वक्तव्य—ये सब पित्तज उन्माद के लक्षण हैं। इसमें **'संरम्भ'** शब्द का सभी टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ दिया है। यथा—आचार्य चक्रपाणि ने इसे 'आरभटी' लिखा है। भरतमुनि के अनुसार भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी नामक नाट्य में चार वृत्तियाँ होती हैं। किसी टीकाकार ने इसका अर्थ 'आँखों का लाल होना' लिखा है और श्रीजयदेव 'आडम्बर करना' अर्थ लिखते हैं। वास्तव में यह मानसिक वेग को प्रकट करने का एक प्रकार मात्र है, जो एक प्रकार का आंगिक लक्षण है। 'अतिद्रवण' का अर्थ ऊपर दिया है और 'अभिद्रवण' का एक अर्थ है—चारों ओर दौड़ना।

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् सञ्जनयेद् विकारम् ॥ १३ ॥

कफज उन्माद : हेतु तथा सम्प्राप्ति—शारीरिक परिश्रम कम करने पर भी जो पुरुष पूर्ण भोजन करते हैं, उनके शरीर में पूर्ण शक्ति के साथ कुपित कफदोष हृदय रूपी मर्मस्थान में आकर जब बढ़ जाता है, तब हृदयमर्म में बढ़ा हुआ वह पित्त संयुक्त कफ बुद्धि तथा स्मरणशक्ति को दबाकर (नष्टकर) चित्त (मन) को मोहित करता हुआ कफज उन्माद रोग को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि 'सोष्मा कफः' इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'सह ऊष्मणा कफ उन्मादं करोति न केवल इति। उन्मादकरणे कफस्य ऊष्मसहितत्वरूपं स्वभावं दर्शयति; किं वा ऊष्मशब्देन वीर्यं शक्तिरूपमुच्यते, तेन सोष्मा कफ इति, उत्क्लिष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः'। इसी आशय को मधुकोषकार ने माधवनिदान में दिया है, इन्होंने 'अन्येत्वाहुः' कहकर केवल कफज उन्माद तथा द्वन्द्वज (पित्त-कफज) उन्माद की कल्पना का संकेत किया है। साथ ही इन्होंने 'सोष्मा' शब्द से पित्त का ग्रहण करने के लिए एक युक्ति भी दी है—'केनापि क्रियमाण उन्मादोऽवश्यं सपित्तेन क्रियते व्याधिमहिम्ना, यथा मूर्च्छा'।

---

[1] 'भिद्रवणौ' इति पा०।

दूसरे व्याख्याकार सम्पूर्ण सृष्टि को जैसा कि आयुर्वेद का सिद्धान्त है, पाञ्चभौतिक मानकर तदनुसार गुरु, शीत आदि गुणों वाला कफदोष अपने शीत-विपरीत तेज (ऊष्मा) के साथ मर्मस्थल में बढ़ता है, ऐसा मानते हैं। च० नि० अ० ७७ में कफज उन्माद के जो लक्षण दिये हैं, वहाँ ऊष्मा वाचक किसी भी पर्याय का ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु जितने भी लक्षण दिये गये हैं, वे सभी पूर्ण रूप से कफप्रकोप के दृश्य को ही उपस्थित कर रहे हैं और यही स्थिति सुश्रुत में वर्णित कफज उन्माद की है। यहाँ तो एक लक्षण ऐसा भी दिया है—**'उष्णसेवी'**। देखें—सु० उ० तं० अ० ६२।१०। यदि कफज उन्माद में पित्त (ऊष्मा) का संसर्ग मान लिया जाये तो रोगी उष्ण सेवन की इच्छा नहीं करेगा।

यद्यपि सर्वत्र 'ऊष्मा' शब्द गर्मी या ग्रीष्मऋतु के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ 'सोष्मा कफः' का अर्थ होगा—कफ की तीक्ष्णता; जैसा कि चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में ऊष्मा शब्द से शक्ति अर्थ का ग्रहण किया है। देखें—वी० एस० आप्टे कोप—ऊष्मन्=Warmth. इस दृष्टि से ऊपर कहे गये अन्य सभी टीकाकारों के मत खण्डित हो जाते हैं।

वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुङ्क्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मकस्य ॥ १४ ॥

कफज उन्माद के लक्षण—कफ-जनित उन्माद का रोगी बहुत कम बोलता है तथा चेष्टाएँ (इधर-उधर घूमना फिरना आदि शारीरिक चेष्टाएँ) बहुत कम करता है, उसे भोजन के प्रति अरुचि रहती है, उसे स्त्री-सहवास अधिक अच्छा लगता है, एकान्तवास अच्छा लगता है, अधिक निद्रा आती है, वमन होते हैं, मुख से लार चूती रहती है, भोजन के पचते ही रोग की शक्ति अधिक बढ़ जाती है, नख आदि (नेत्र, जीभ, शरीर के वर्ण) में सफेदी आ जाती है।

वक्तव्य—आधुनिक दृष्टि से जो इसे मेलेन्कोलिया (Melancholia) मानते हैं, वह समीचीन नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ होता है—'विषण्णता'। इसमें केवल विषादभाव ही नहीं, अपितु अन्य अनेक लक्षण भी होते हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १५ ॥

सन्निपातज उन्माद—तीनों दोषों का एक साथ प्रकोप होने से जो उन्माद उत्पन्न होता है, उसे सन्निपातज उन्माद कहते हैं। यह अत्यन्त भयावह होता है। वह सभी दोषों के पूर्वोक्त सभी लक्षणों के साथ होता है। अतएव वह तीनों (वात-पित्त-कफ) दोषों के सभी रूपों को धारण करता है। इसकी चिकित्सा दोषों के परस्पर विपरीत स्वभाव वाले होने के कारण परस्पर विरुद्ध होती है। अतएव सन्निपातज उन्माद के रोगी को असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिए।

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितॄणामभिधर्षणानि।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥ १६ ॥

आगन्तुक उन्माद के कारण—देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस, पितर इनका अपमान (तिरस्कार अथवा उचित स्वागत, सत्कार, पूजन, श्राद्ध, तर्पण न करने) से अथवा विधि-विरुद्ध नियम, व्रत, पूजा आदि के करने से तथा पूर्वदेह द्वारा किये गये मिथ्याकृत कर्म आगन्तुक उन्माद की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में दैत्य और भुजंगों को भी इसका कारण मानते हुए इन्हें ग्रह कहा है। देखें—सु० उ० तं० अ० ६०।८ तथा अ० हृ० उ० तं० अ० ४ श्लोक २ में १८ प्रकार के भूतावेशों की चर्चा की है।

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥

भूतोन्माद के लक्षण—जिस उन्माद रोगी के वचन, विक्रम (पराक्रम), वीर्य (शक्ति), शारीरिक चेष्टाएँ सामान्य मनुष्यों की भाँति न हों अर्थात् उससे बढ़-चढ़कर हों, जिसका ज्ञान, विज्ञान, बल आदि भी

मनुष्य की सीमा से बढ़कर हो और जिसका उन्माद काल (किस दिन किस समय उन्माद का वेग आ जाय इसका समय या दिन) निश्चित न हो, उस उन्माद को भूतज उन्माद कहना चाहिए।

वक्तव्य—इस उन्माद में उपर्युक्त १६वें पद्य में कहे गये देवता आदि का प्रवेश रोगी में किस प्रकार हो जाता है, उसका वर्णन अगले पद्य द्वारा किया जा रहा है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार ग्रहों (भूतों) से आक्रान्त पुरुष में गुह्य (गुप्त) तथा अनागत विज्ञान आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं, जो अमानुष अथवा लोकोत्तर कहे जाते हैं।

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥ १८ ॥

भूतोन्माद में देवादि का प्रवेश—जिस प्रकार दर्पण (शीशा) में छाया (प्रतिबिम्ब) अथवा सूर्यकान्तमणि में आतप (सूर्य की किरणें) अदृश्य रूप से शीघ्र प्रविष्ट हो जाते है, उसी प्रकार देवता, ऋषि, गन्धर्व आदि भी उन्माद रोगी के देह को दूषित न करते हुए अदृश्य रूप से अपने-अपने गुणों के प्रभाव से उसमें प्रवेश कर जाते हैं।

वक्तव्य—ऊपर भूतोन्माद में जिन देवता, ऋषि आदि के प्रवेश होने का वर्णन किया गया है, उस स्थिति में रोगी मनुष्य उस-उसके अनुकूल व्यवहार करते देखा जाता है। मेरे एक मित्र के शरीर में 'जिन्न' ने आवेश किया था। उस बीच वह अंग्रेजी का ज्ञाता युवक फारसी में बोलने लगा। उसे समझने के लिए एक फारसी के ज्ञाता को बुलाया गया। आश्चर्य है कि उस रोगी ने अपने भाषण में जो कुछ कहा उसमें कुछ तो उसके अपने शारीरिक-मानसिक कष्ट का वर्णन था, शेष रोग से छूटने के उपायों का वर्णन था। सूर्यकान्तमणि में सूर्य की किरणों का और दर्पण में छाया का प्रवेश होना सुप्रसिद्ध ही है। इसके लिए देखें—च० नि० अ० ७ तथा सु० उ० तं० अ० ६०।१७। इसी प्रकार बालग्रहपूतना आदि भी शरीरान्तर में प्रवेश करते हैं।

आघातकालो हि स पूर्वरूपः प्रोक्तो निदानेऽथ सुरादिभिश्च।
उन्मादरूपाणि पृथङ्निबोध कालं च गम्यान् पुरुषांश्च तेषाम् ॥ १९ ॥

देवता आदि का आवेश काल—निदानस्थान (अध्याय ७) में देवता आदि के आघात (आवेश) काल का वर्णन उनके पूर्वरूप के साथ कहा जा चुका है। अब इनका समय और किन पुरुषों में इनका आवेश होता है तथा आवेश हो जाने पर उनके क्या लक्षण दिखलायी देते हैं, उनको अलग-अलग सुनें।

वक्तव्य—च० नि० अ० ७।१४ में आघात कालों का वर्णन किया है। तदनन्तर उन देवता आदि से आविष्ट रोगियों के लक्षण कहे गये हैं। यह विषय विस्तार से सुश्रुत उ० तं० अ० ६० में दिया गया है।

तद्यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमधृष्यकोपनमस्वप्नभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं[1] शुभगन्धं फुल्लपद्मवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात्;

१. **देवोन्मत्त के लक्षण**—वह इस प्रकार है—जो पुरुष देवग्रह से आविष्ट होकर उन्मत्त होता है उसकी सौम्य दृष्टि होती है, वह गम्भीर आकृति का होता है, उसे कोई धर्षित (पराजित) नहीं कर पाता है, वह किसी पर क्रोध नहीं करता है, प्रायः वह सोता नहीं है, उसे प्रायः भोजन करने की भी इच्छा नहीं होती है, उसे पसीना, मूत्र, पुरीष, वात (अपानवायु) बहुत कम मात्रा में होता है, उसके शरीर से सुगन्ध निकलती है, उसका मुख खिले हुए कमलपुष्प के समान दिखलायी देता है।

वक्तव्य—देखें—सु० उ० तं० अ० ६०।८; अ० सं० उ० अ० ९ तथा अ० हृ० उ० अ० ४।१३-१५। यहाँ 'देवोन्मत्त' शब्द का अर्थ सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'देवताओं का अनुकरण करने वाले उन्हीं के अनुचरों का ग्रहण करना चाहिए। इसकी सम्पुष्टि करते हुए वे कहते हैं; देखें—सु० उ० तं० अ० ६० श्लोक २१ से २५ तक। यह सब भूतविज्ञान का वर्णन है। जो अष्टांग-आयुर्वेद का अन्यतम अंग है। इसमें देव, असुर आदि भूतों के आवेश का तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन है। यथा—'भूतविद्यानाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्'। सु० सु० अ० १।८।

१. 'वाचम्' इति पा०।

गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपचेष्टाहारव्याहारं तैरुन्मत्तं विद्यात्;

२. **गुरु आदि के शाप से उन्मत्त के लक्षण**—गुरु, वृद्ध (ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध आदि), सिद्ध (तपःसिद्ध अथवा देवयोनि विशेष), ऋषि आदि के शाप से या अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि अनुष्ठानों) से या अभिध्यान (किसी के निरन्तर चिन्तन) से उन्मत्त हुआ व्यक्ति उन-उनके अनुरूप चेष्टाएँ, आहार तथा व्यवहार (बोल-चाल) करने लगता है, तो उसे उसकी चेष्टा आदि लक्षणों को देखकर गुरु आदि के शाप आदि से उन्मत्त समझना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रकार के दुराचारों को समाज करता रहता है और तदनुरूप दण्ड पाकर फिर उनके निराकरण की चेष्टाएँ भी करता है। सचमुच पूज्यजनों का अपमान मानसिक अशान्ति का कारण होता ही है। अभिचार कर्म सदैव घातक होते हैं। इनसे दोनों पक्ष हानि उठाते हैं। आप भी समाज की ओर देखें और इन निन्दनीय कर्मों से सदैव दूर रहें। अभिध्यान से तात्पर्य है—मानसिक व्यथा-जनित चिन्ता का दुष्परिणाम।

अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषमरोचकाविपाकपरीतं च पितृभिरुन्मत्तं विद्यात्;

३. **पितृग्रहोन्मत्त के लक्षण**—जिसकी दृष्टि कभी भी प्रसन्न न दिखलायी पड़े, जो किसी की ओर न देखता हो या एकटक देखता रहता हो, जो अधिक सोता रहता हो, जिसकी वाणी बीच-बीच में रुक जाती हो अर्थात् जो प्रवाह युक्त भाषण न कर सकता हो, भोजन के प्रति जिसकी इच्छा न हो, अरुचि तथा अनपच रोग से आक्रान्त पुरुष को पितृग्रह से उन्मत्त हुआ समझना चाहिए।

वक्तव्य—प्रायः देखा गया है कि जिसके कुल में पितरों का और्ध्वदैहिक कृत्य (तरण-तारण) भलीभाँति नहीं हो पाता, उस कुल में अपने उचित संस्कारों के न हो पाने के कारण वे सद्गति को प्राप्त नहीं हो पाते। वे अपने उत्तराधिकारियों से मरणोपरान्त भी आशा लगाये रहते हैं, यदि सन्तान द्वारा उनके प्रति यथोचित कर्तव्य का पालन नहीं हो पाता है, तो वे इस प्रकार पीड़ित करते हैं। यह भारतीय धर्म-परम्परा के आध्यात्मिक चिन्तन का एक अंग है। इसके लिए **गरुडपुराण-प्रेतकल्प** का अध्ययन करें। सुश्रुतसंहिता में इसका विशद स्वरूप देखें—'प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेषु पिण्डान्, शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः। मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकामस्तद्भुक्तो भवति पितृग्रहाभिभूतः' ॥ सु० उ० तं० अ० ६०।१२। इसी प्रसंग में अ० हृ० उ० अ० ४।४१-४२ का अवलोकन करें। आप देखेंगे कि इसमें महर्षि आत्रेय की शब्दावली का ही अनुकरण किया गया है।

(चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमधृष्यं)[1] मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात्;

४. **गन्धर्वोन्मत्त के लक्षण**—जो पुरुष गन्धर्व ग्रह से ग्रस्त होने के कारण उन्मत्त होता है, वह चण्ड (अत्यन्त क्रोधी), साहसपूर्ण कार्यों को करने वाला, तीक्ष्ण (क्रूर), गम्भीर स्वभाव वाला, अधृष्य (किसी के दबाने से न दबने वाला), मुख से बाजा (सीटी आदि) बजाने वाला, नाच, गाना, खान, पान, स्नान, माला, धूप, गन्धादि द्रव्यों से प्रेम करने वाला, लाल वस्त्र, बलिकर्म, हास्य कथाओं के बारे में पूछने अर्थात् कहने या सुनने में अनुराग रखने वाला तथा शुभ गन्ध से युक्त होता है।

वक्तव्य—गन्धर्वगण गायन-विद्या में प्रवीण तथा विलास-प्रिय होते हैं। अतएव उनके अनुरूप ही उपर्युक्त लक्षणों का वर्णन किया गया है। सुश्रुत के अनुसार—'हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः। नृत्यन् वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः' ॥ सु० उ० तं० अ० ६०।१०। इस प्रसंग को अ० हृ० उ० अ० ४।१८ में भी देख लें। यहाँ 'स्वाचारः' शब्द का अर्थ है—अपने (गन्धर्व के) अनुकूल आचार करने वाला।

निर्णयसागरीय प्रति में **'चण्ड से मधृष्यं'** तक के पाठ को कोष्ठक से बन्द कर नीचे पाद टिप्पणी में लिखा है—'अयं पाठो बहुषु पुस्तकेषु नोपलभ्यते'। किन्तु श्रीजयदेव ने ऐसा स्वीकार नहीं किया है।

१. 'अयं पाठो बहुषु पुस्तकेषु नोपलभ्यते'।

अनक्तस्वप्नरोदनहास्यं[1] नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्यपरिवादिनं रहस्यभाषिणं च यक्षोन्मत्तं विद्यात्;

५. **यक्षोन्मत्त रोगी का लक्षण**—जो पुरुष यक्षग्रह का आवेश होने के कारण उन्मत्त होता है, उसमें निम्न लक्षण होते हैं—वह बार-बार सोता रहता है, जागने पर या तो अकारण रोता है या हँसता है, नाचता है, गाता है, बाजा जैसा बजाता है, यक्ष आदि से सम्बद्ध पाठ, कथा या वार्तालाप करता है। उसका प्रेम अन्न (भोजन), पान (पेय पदार्थ), स्नान, मालाधारण करना, धूप तथा सुगन्धित पदार्थों के प्रति दिखलायी देता है। उसकी आँखें लाल तथा चंचल रहती हैं। वह ब्राह्मणों तथा वैद्यों की निन्दा करता है और अपनी गुप्त बातों को खुले रूप में कह देता है।

वक्तव्य—इसे सुश्रुत उ० तं० अ० ६०।११ तथा अ० हृ० उ० अ० ४।२१-२३ में देखें। यक्ष, गन्धर्व तथा किन्नर प्रायः समान जाति के होते हैं। अतः इनका शील, शौच, आचार, विचार समान ही देखा जाता है।

नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्यतिबलिनं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात्;

६. **राक्षसोन्मत्त रोगी का लक्षण**—जो पुरुष राक्षस ग्रह का आवेश होने के कारण उन्मत्त होता है, उसमें निम्न लक्षण होते हैं—निद्रा का अभाव, खान-पान के प्रति द्वेष रखने वाला, भोजन न करने पर भी अत्यन्त बलवान् होना, शस्त्र (अस्त्र-शस्त्र), रक्त, मांस, लाल फूलों की माला को चाहने वाला तथा अपनी विषम चेष्टाओं से सबको डराने या झिड़कने वाला होता है।

वक्तव्य—'नष्टनिद्रम्' राक्षसों को निशाचर कहते हैं, अतएव उनमें निद्रा का अभाव रहता है। 'अन्नपान-द्वेषिणम्'—मानवोचित अन्न-पान से राक्षस प्रकृति का द्वेष स्वाभाविक होता ही है। 'अनाहारम् अपि अति-बलिनम्'—इसके अर्थ की संगति बैठाने के लिए देखें इसी अध्याय के १७वें श्लोक का प्रथम पाद—'अमर्त्य-वाग्विक्रमवीर्यचेष्टः'। 'सन्तर्जकम्'—यह राक्षसों की प्रकृति ही होती है। शस्त्र आदि के प्रति अभिलाषा का होना राक्षसों का स्वाभाविक स्वरूप है। विशेष देखें—सु० उ० तं० अ० ६०।२४ तथा अ० हृ० उ० अ० ४।२६ से २९ तक।

प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात्;

७. **ब्रह्मराक्षसोन्मत्त रोगी का लक्षण**—जो पुरुष ब्रह्मराक्षस ग्रह से ग्रस्त होने के कारण उन्मत्त होता है, वह हँसी-मजाक तथा नृत्य-प्रिय होता है। वह हँसता एवं नाचता रहता है। वह देवता, ब्राह्मण, चिकित्सक इनसे द्वेष करता है, इनकी आज्ञाओं का उल्लंघन या निरादर करता है। स्तुति (स्तोत्र), वेदमन्त्र तथा शास्त्र की बातों को सदैव कहता रहता है। लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि से स्वयं अपने को पीटता रहता है। इस प्रकार के लक्षणों को देखकर उसे ब्रह्मराक्षसग्रह से ग्रस्त समझना चाहिए।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में भी प्रायः इसी प्रकार के लक्षण दिये गये हैं। अ० हृ० उ० अ० ४।२४-२५। सुश्रुतसंहिता में इसकी चर्चा नहीं की गयी है।

अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं सङ्कुरकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं [2]भिन्नरूक्षस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥ २० ॥

८. **पिशाचोन्मत्त रोगी के लक्षण**—जो पुरुष पिशाचग्रह से ग्रस्त होने कारण उन्मत्त होता है, उसका मन अस्वस्थ रहता है, अर्थात् वह स्थिर विचार का नहीं होता है, कहीं पर भी वह रुक नहीं पाता है (पाठ-भेद के अनुसार वह अभिमान रहित होता है, यह गणनाथसेन द्वारा स्वीकृत पाठ है), वह प्रतिक्षण नाचता, गाता तथा हँसता रहता है, वह सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध अनेक प्रकार की बातें करता रहता है, कूड़ा-करकट

१. 'रोदनहासिनम्' इति पा०।

२. 'भिन्नरूक्षवर्णस्वरम्' इति पा०।

के ढेर के ऊपर, कूट (पर्वत शिखर) के ऊपर, मलिन रथ्या (Main road) अर्थात् गन्दे मार्ग, गन्दे वस्त्र, तृण (घास-फूस), पत्थर (चट्टान), लकड़ी के ढेर इनके ऊपर चलने की इच्छा वाला, फटा तथा रूक्ष स्वर वाला (पाठभेद के अनुसार—रूक्ष वर्ण वाला), नंगा होकर घूमने वाला, विशेष रूप से दौड़ने की आदत वाला, एक स्थान पर कभी भी स्थिर न रहने वाला, सबसे अपने दुःखों को सुनाने वाला तथा जिसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो गयी हो—ऐसे व्यक्ति को पिशाचग्रह से ग्रस्त समझना चाहिए।

वक्तव्य—इसका परिचय सुश्रुत उ० तं० अ० ६०।२५ में तथा अ० हृ० उ० अ० ४।३०-३३ में देखें। वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में अनेक प्रकार के पिशाचों का वर्णन किया है, जो विषय-विवेचन की दृष्टि से अवलोकनीय है—'तत्रापि भोजनं दृष्ट्वा हसन्तं विस्वरं क्रोशन्तं नित्यभीतं कश्मलेन। सर्वगात्राणि स्पन्दयन्तं मुहुर्मुहुर्धावन्तं भीषयमाणं कुशेन ॥ वैद्यं दृष्ट्वा कुप्यन्तं श्रमक्लोजिनं बह्वाशिनं भस्मगुण्ठनशयनं स्त्रियो मार्गे रुन्धानं मूत्रपुरीषविमर्दिनं निस्तेजसा'। अ० सं० उ० अ० ७।२६। इस गद्य में **'कश्मल'** **'कुश'** तथा **'निस्तेजस'** नामक पिशाचों का वर्णन किया गया है। यहाँ विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार उन्मादकारक ग्रहों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **चरकसंहिता**—देव, ऋषि, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, महर्षि (निदान-स्थान अ० ७) तथा—देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस, पितृ, देव, गुरु, द्विज (चिकित्सा-स्थान अ० ९)।

२. **सुश्रुतसंहिता**—देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, पितर, भुजंग, राक्षस, पिशाच (उ० तं० अ० ६०।८ से १५ तक)।

३. **अष्टांगहृदय**—देव, असुर, गन्धर्व, उरग (सर्प या नाग), यक्ष, ब्रह्मराक्षस, राक्षस, पिशाच प्रेत, कूष्माण्डक, कालार्द (निषाद), औकिरण, वेताल, पितृ, ऋषि, गुरु, वृद्ध तथा सिद्ध (उत्तरस्थान ४।३)।

विशेष जानकारी के लिए उक्त प्रकरणों का अध्ययन करना चाहिए।

महर्षि वाग्भट ने **'औकिरण'** नामक जिस ग्रह की चर्चा की है, वह वायुपुराण (२६।४६) में वर्णित **औकार वर्ण** तो नहीं है? ध्यान दें। ग्रहों के परिचय के लिए और भी देखें—वायुपुराण ३.१२। ७.१५। ३०.१४६। ३१.३५। ५१.८। ५३.२९, १०९। ब्रह्माण्डपुराण ४.२.५०। **ग्रह-बलि या ग्रह-शान्ति** के लिए देखें—मत्स्यपुराण—१७.५६। २४.४६। ९३.२ से लेकर ९४.१-२ तक। २३९.१, ४-५। कूष्माण्ड ग्रह का वर्णन मार्कण्डेयपुराण में भी आया है। आचार्य विदेह ने 'गणमातृका' ग्रह से आक्रान्त रोगी का परिचय इस प्रकार दिया है—'क्रोधनः त्रस्तसर्वाङ्गो लालफेनाविलाननः। निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरन्वितः'॥ मातृकाओं के समूह का वर्णन देखें—भागवत ६.६.४२। १०.६.२८। इन्हीं को गणमातृका भी कहते हैं, क्योंकि इनका वर्णन समूहरूप में उपलब्ध होता है। उपर्युक्त देवयोनियों का एक नाम भूत भी है, इसके लिए देखें—वायुपुराण ७२.५०।

तत्र चौक्षाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च [1]छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः, मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः, गन्धर्वाः स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं चौक्षाचारं प्रायो द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियम[2]तिवाक्करणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासब्रह्मचर्यदेवयतिगुरुपूजाऽरतिं भ्रष्टशौचं ब्राह्मणमब्राह्मणं वा ब्राह्मणवादिनं शूरमानिनं देवागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वं पिशुनं [3]स्त्रैणं लुब्धं शठं [4]प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु; इत्यपरिसङ्ख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः ॥ २१ ॥

१. 'देवा धर्षयन्ति' इति पा०।
२. 'अनिवाक्पवणम्' इति पा०।
३. 'स्तेनम्' इति पा०।
४. 'प्रायश्छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति' इति पा०।

असकृत्स्वप्नरोदन[1]हास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्यपरिवादिनं रहस्यभाषिणं च यक्षोन्मत्तं विद्यात्;

५. **यक्षोन्मत्त रोगी का लक्षण**—जो पुरुष यक्षग्रह का आवेश होने के कारण उन्मत्त होता है, उसमें निम्न लक्षण होते हैं—वह बार-बार सोता रहता है, जागने पर या तो अकारण रोता है या हँसता है, नाचता है, गाता है, बाजा जैसा बजाता है, यक्ष आदि से सम्बद्ध पाठ, कथा या वार्तालाप करता है। उसका प्रेम अन्न (भोजन), पान (पेय पदार्थ), स्नान, मालाधारण करना, धूप तथा सुगन्धित पदार्थों के प्रति दिखलायी देता है। उसकी आँखें लाल तथा चंचल रहती हैं। वह ब्राह्मणों तथा वैद्यों की निन्दा करता है और अपनी गुप्त बातों को खुले रूप में कह देता है।

वक्तव्य—इसे सुश्रुत उ० तं० अ० ६०।११ तथा अ० हृ० उ० अ० ४।२१-२३ में देखें। यक्ष, गन्धर्व तथा किन्नर प्रायः समान जाति के होते हैं। अतः इनका शील, शौच, आचार, विचार समान ही देखा जाता है।

नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्यतिबलिनं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात्;

६. **राक्षसोन्मत्त रोगी का लक्षण**—जो पुरुष राक्षस ग्रह का आवेश होने के कारण उन्मत्त होता है, उसमें निम्न लक्षण होते हैं—निद्रा का अभाव, खान-पान के प्रति द्वेष रखने वाला, भोजन न करने पर भी अत्यन्त बलवान् होना, शस्त्र (अस्त्र-शस्त्र), रक्त, मांस, लाल फूलों की माला को चाहने वाला तथा अपनी विषम चेष्टाओं से सबको डराने या झिड़कने वाला होता है।

वक्तव्य—'नष्टनिद्रम्' राक्षसों को निशाचर कहते हैं, अतएव उनमें निद्रा का अभाव रहता है। 'अन्नपानद्वेषिणम्'—मानवोचित अन्न-पान से राक्षस प्रकृति का द्वेष स्वाभाविक होता ही है। 'अनाहारम् अपि अतिबलिनम्'—इसके अर्थ की संगति बैठाने के लिए देखें इसी अध्याय के १७वें श्लोक का प्रथम पाद—'अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टः'। 'सन्तर्जकम्'—यह राक्षसों की प्रकृति ही होती है। शस्त्र आदि के प्रति अभिलाषा का होना राक्षसों का स्वाभाविक स्वरूप है। विशेष देखें—सु० उ० तं० अ० ६०।१४ तथा अ० हृ० उ० अ० ४।२६ से २९ तक।

प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात्;

७. **ब्रह्मराक्षसोन्मत्त रोगी का लक्षण**—जो पुरुष ब्रह्मराक्षस ग्रह से ग्रस्त होने के कारण उन्मत्त होता है, वह हँसी-मजाक तथा नृत्य-प्रिय होता है। वह हँसता एवं नाचता रहता है। वह देवता, ब्राह्मण, चिकित्सक इनसे द्वेष करता है, इनकी आज्ञाओं का उलंघन या निरादर करता है। स्तुति (स्तोत्र), वेदमन्त्र तथा शास्त्र की बातों को सदैव कहता रहता है। लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि से स्वयं अपने को पीटता रहता है। इस प्रकार के लक्षणों को देखकर उसे ब्रह्मराक्षसग्रह से ग्रस्त समझना चाहिए।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में भी प्रायः इसी प्रकार के लक्षण दिये गये हैं। अ० हृ० उ० अ० ४।२४-२५। सुश्रुतसंहिता में इसकी चर्चा नहीं की गयी है।

अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं सङ्कुरकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं [2]भिन्नरूक्षस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥ २० ॥

८. **पिशाचोन्मत्त रोगी के लक्षण**—जो पुरुष पिशाचग्रह से ग्रस्त होने कारण उन्मत्त होता है, उसका मन अस्वस्थ रहता है, अर्थात् वह स्थिर विचार का नहीं होता है, कहीं पर भी वह रुक नहीं पाता है (पाठभेद के अनुसार वह अभिमान रहित होता है, यह गणनाथसेन द्वारा स्वीकृत पाठ है), वह प्रतिक्षण नाचता, गाता तथा हँसता रहता है, वह सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध अनेक प्रकार की बातें करता रहता है, कूड़ा-करकट

१. 'रोदनहासिनम्' इति पा०।
२. 'भिन्नरूक्षवर्णस्वरम्' इति पा०।

के ढेर के ऊपर, कूट (पर्वत शिखर) के ऊपर, मलिन रथ्या (Main road) अर्थात् गन्दे मार्ग, गन्दे वस्त्र, तृण (घास-फूस), पत्थर (चट्टान), लकड़ी के ढेर इनके ऊपर चलने की इच्छा वाला, फटा तथा रूक्ष स्वर वाला (पाठभेद के अनुसार—रूक्ष वर्ण वाला), नंगा होकर घूमने वाला, विशेष रूप से दौड़ने की आदत वाला, एक स्थान पर कभी भी स्थिर न रहने वाला, सबसे अपने दुःखों को सुनाने वाला तथा जिसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो गयी हो—ऐसे व्यक्ति को पिशाचग्रह से ग्रस्त समझना चाहिए।

वक्तव्य—इसका परिचय सुश्रुत उ० तं० अ० ६०।१५ में तथा अ० हृ० उ० अ० ४।३०-३३ में देखें। वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में अनेक प्रकार के पिशाचों का वर्णन किया है, जो विषय-विवेचन की दृष्टि से अवलोकनीय है—'तत्रापि भोजनं दृष्ट्वा हसन्तं विस्वरं क्रोशन्तं नित्यभीतं कश्मलेन। सर्वगात्राणि स्पन्दयन्तं मुहुर्मुहुर्धावन्तं भीषयमाणं कुशेन॥ वैद्यं दृष्ट्वा कुप्यन्तं भ्रमद्भोजिनं बह्वाशिनं भस्मगुण्ठनशयनं क्रियो मार्गे रुन्धानं मूत्रपुरीषविमर्दिनं निस्तेजसा'। अ० सं० उ० अ० ७।२६। इस गद्य में **'कश्मल'** **'कुश'** तथा **'निस्तेजस'** नामक पिशाचों का वर्णन किया गया है। यहाँ विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार उन्मादकारक ग्रहों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **चरकसंहिता**—देव, ऋषि, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, महर्षि (निदानस्थान अ० ७) तथा—देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस, पितृ, देव, गुरु, द्विज (चिकित्सास्थान अ० ९)।

२. **सुश्रुतसंहिता**—देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, पितर, भुजंग, राक्षस, पिशाच (उ० तं० अ० ६०।८ से १५ तक)।

३. **अष्टांगहृदय**—देव, असुर, गन्धर्व, उरग (सर्प या नाग), यक्ष, ब्रह्मराक्षस, राक्षस, पिशाच प्रेत, कूष्माण्डक, कालादं (निषाद), औकिरण, वेताल, पितृ, ऋषि, गुरु, वृद्ध तथा सिद्ध (उत्तरस्थान ४।३)।

विशेष जानकारी के लिए उक्त प्रकरणों का अध्ययन करना चाहिए।

महर्षि वाग्भट ने **'औकिरण'** नामक जिस ग्रह की चर्चा की है, वह वायुपुराण (२६।४६) में वर्णित **औकार वर्ण** तो नहीं है? ध्यान दें। ग्रहों के परिचय के लिए और भी देखें—वायुपुराण ३.१२। ७.१५। ३०.१४६। ३१.३५। ५१.८। ५३.२९, १०९। ब्रह्माण्डपुराण ४.१.५०। **ग्रह-बलि या ग्रह-शान्ति** के लिए देखें—मत्स्यपुराण—१७.५६। २४.४६। ९३.२ से लेकर ९४.१-२ तक। २३९.१, ४-५। कूष्माण्ड ग्रह का वर्णन मार्कण्डेयपुराण में भी आया है। आचार्य विदेह ने 'गणमातृका' ग्रह से आक्रान्त रोगी का परिचय इस प्रकार दिया है—'क्रोधनः स्रस्तसर्वाङ्गो लालफेनाविलाननः। निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरन्वितः'॥ मातृकाओं के समूह का वर्णन देखें—भागवत ६.६.४२। १०.६.२८। इन्हीं को गणमातृका भी कहते हैं, क्योंकि इनका वर्णन समूहरूप में उपलब्ध होता है। उपर्युक्त देवयोनियों का एक नाम भूत भी है, इसके लिए देखें—वायुपुराण ७२.५०।

तत्र चौक्षाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च [1]छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः, मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः, गन्धर्वाः स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं चौक्षाचारं प्रायो द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियम[2]तिवाक्करणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासब्रह्मचर्यदेवयतिगुरुपूजाऽरतिं भ्रष्टशौचं ब्राह्मणमब्राह्मणं वा ब्राह्मणवादिनं शूरमानिनं देवागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वं पिशुनं [3]स्त्रैणं लुब्धं शठं [4]प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु; इत्यपरिसङ्ख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः ॥ २१ ॥

१. 'देवा धर्षयन्ति' इति पा०।
२. 'अनिवाक्प्रवणम्' इति पा०।
३. 'स्तैनम्' इति पा०।
४. 'प्रायश्छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति' इति पा०।

देवादि ग्रहों का आवेश-काल तथा गम्य पुरुष—अब यहाँ देव आदि आठ ग्रहों के आवेश-काल, तिथि तथा कौन ग्रह किस प्रकार के पुरुष पर आक्रमण करता है, का वर्णन किया गया है।

१. **देव ग्रह**—उन अनेक प्रकार के उन्माद रोगियों में जो चौक्ष (पवित्र) आचार-विचार वाले होते हैं, तप (सन्ध्योपासन, देवताओं की आराधना आदि) में लगे रहते हैं और स्वाध्याय (वेदाध्ययन) में कुशल या तत्पर रहते हैं—ऐसे पुरुषों को प्रायः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन तथा त्रयोदशी तिथि के दिन छिद्र (यह छिद्र उनके सदाचार सम्बन्धी कृत्यों में विघ्न-बाधा के रूप में अथवा विधि रहित कृत्य के रूप में उपस्थित होता है, इसे) देखकर उस रोगी को सताते हैं अथवा आविष्ट होते हैं।

२. **ऋषिग्रह**—प्रतिदिन स्नान करने से पवित्र पुरुष को, एकान्तवास-प्रिय को, धर्मशास्त्र (मनुस्मृति आदि) तथा श्रुति(वेद)वाक्य (पाठ-भेद के अनुसार—काव्य; इनके उपदेश) में कुशल व्यक्ति को प्रायः षष्ठी तथा नवमी तिथि को (छिद्र देखकर) ऋषिग्रह सताते हैं (यहाँ प्रायः शब्द का तात्पर्य है, विशेष करके इन तिथियों में अथवा आगे-पीछे भी आक्रमण कर सकते हैं। जहाँ पक्ष का उल्लेख नहीं किया है, वहाँ दोनों पक्षों का ग्रहण कर लेना चाहिए)।

३. **पितृग्रह**—माता, पिता, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य इनके प्रति भक्ति रखने वाले अथवा इनकी सेवा में तत्पर पुरुष की सेवा में जब कहीं कोई गलती हो जाती है, तो उस अवसर पर ये पितृग्रह छिद्र पाकर प्रायः उस पर कृष्णपक्ष की दशमी तथा अमावास्या तिथि को आक्रमण करते हैं।

४. **गन्धर्वग्रह**—स्तुति (स्तोत्र साहित्य), गीत-वादित्र (गाना-बजाना) इनमें अनुराग रखने वाले, परायी स्त्रियों, सुगन्धित द्रव्यों, विविध प्रकार की मालाओं से प्यार करने वाले तथा साफ-सुथरा व्यवहार करने वाले पुरुषों को किसी प्रकार का छिद्र पाकर प्रायः दोनों पक्ष की द्वादशी तथा चतुर्दशी तिथि को गन्धर्वग्रह आक्रमण करते हैं।

५. **यक्षग्रह**—सत्त्व (मनोबल), बल (शारीरिक बल), रूप (सुन्दरता), गर्व (स्वाभिमान) तथा शूरता से युक्त, माला धारण करने वाले, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करने वाले, हास-उपहास प्रिय स्वभाव वाले, अति वाचाल व्यक्तियों पर किसी प्रकार का छिद्र पाकर शुक्लपक्ष की एकादशी तथा सप्तमी तिथि को यक्षग्रह अपना आक्रमण करते हैं।

६. **ब्रह्मराक्षसग्रह**—जो पुरुष स्वाध्याय (वेदाध्ययन), तप (कृच्छ्रचान्द्रायण आदि), नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—इनको नियम कहते हैं, देखें—पातञ्जलयोगसूत्र २।३२) उपवास, ब्रह्मचर्य-धारण, देव, यति (साधु), गुरु इनकी पूजा में प्रेम रखने वाले, शौचभ्रष्ट (पवित्र आचार से रहित), वह व्यक्ति ब्राह्म वर्ण का हो या किसी अन्य वर्ण का हो फिर भी अपने को ब्राह्मण कहता हो, अपने को शूर समझने वाले, देवमन्दिर तथा जलाशय में खेल करने में अनुराग रखने वाले पुरुष को किसी प्रकार का छिद्र पाकर प्रायः शुक्लपक्ष को पञ्चमी तथा पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन होने पर अर्थात् पूर्णिमा तिथि के दिन ब्रह्मराक्षस ग्रह आवेश करते हैं।

७. **राक्षसग्रह** और ८. **पिशाचग्रह**—ये दोनों ग्रह हीनसत्त्व (दुर्बल मन) वाले, पिशुन (चुगलखोर), स्त्रियों में अधिक आसक्त रहने वाले, लोभी तथा धूर्त पुरुष के शरीर में किसी प्रकार का छिद्र देखकर प्रायः द्वितीया, तृतीया तथा अष्टमी तिथियों में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार असंख्य ग्रहों में से जिनका उल्लेख ऊपर किया गया था, उन आठ देवादि ग्रहों के लक्षणों का यहाँ व्याख्यान कर दिया गया है।

वक्तव्य—पाठभेद कभी-कभी दिशा-निर्देश की दृष्टि से अत्यन्त उपकारक होते हैं और कभी सामान्य अर्थ के बोधक होते हैं। यहाँ निर्णयसागरीय पाठ से श्रीजयदेव ने कुछ पाठों को इस प्रकार बदला है। 'भ्रष्टशौचं' को 'नष्टशौचं' इसी के आगे 'ब्राह्मणमब्राह्मणं वा' को इन्होंने स्थान नहीं दिया है। आगे 'लुब्धं' के बाद 'शठं' पद को भी स्थान नहीं दिया है।

विशेष विचार—आचार्य चक्रपाणि **'चौक्षाचारम्'** शब्द की टीका करते हुए लिखते हैं—'चौक्षः= शुचिः आचारो यस्य सः। अष्टाङ्गसङ्ग्रह में उसी शब्द को वृद्धवाग्भट ने **'चोक्षाचारम्'** कहा है। देखें—अ० सं० उ० अ० ७।११। अष्टांगहृदय के रचयिता वाग्भट ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग न करके इनके स्थान में यथावसर 'शुचिम्' शब्द का प्रयोग किया है। देखें—'शुचिसंस्कृतवादिनम्'। अ० हृ० उ० अ० ४।१४। यदि

हम 'चौक्षाचारम्' शब्द पर विचार करते हैं तो 'उक्ष्णः आचारः इव आचारः यस्य सः', इस प्रकार का विग्रह करने पर 'उक्षाचारः', शब्द की निष्पत्ति हो सकती है, जिसका अर्थ होगा—'वृषभसदृश आचार वाला' क्योंकि 'उक्ष्णः अयं औक्षः (अर्थात् वृषभ सम्बन्धी)। च+औक्षाचारः, तम्। देखें—पाणिनीय सूत्र—'औक्षमनपत्ये' ६।४।१७३।

इन सभी विसंगतियों को देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ 'चौक्षाचारम्' के स्थान पर 'शौचाचारम्' पद होना चाहिए, किन्तु 'आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोश' में **'चोखा'** शब्द का संस्कृत रूप लिखते हुए कोशकार ने **'चोक्ष'** शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु इसकी निरुक्ति (प्रकृति-प्रत्यय) का निर्देश नहीं किया है तथा वी० एस० आप्टे ने भी 'चोक्ष' शब्द का अर्थ—Pure दिया है। यदि हम इसे आधार मानते हैं, तो चक्रपाणि द्वारा प्रयुक्त 'चौक्ष' शब्द को अशुद्ध और वृद्धवाग्भट द्वारा प्रयुक्त 'चोक्ष' शब्द को शुद्ध मानना चाहिए।

वृद्धवाग्भट ने चरकोक्त 'छिद्र' काल का परिचय इस प्रकार दिया है—'एवं विधांस्तु पुरुषानेष्वाघातकालेष्वभिगच्छन्ति। तद्यथा—पापस्य कर्मणः समारम्भे पूर्वकृत्यस्य वा परिणामकाले। एकस्य वा शून्यगृहनिवासे। चतुष्पथाधिष्ठाने वा। सन्ध्यावेलायामप्रयतभावे वा पक्षसन्धिषु वा मिथुनीभावे। रजस्वलाभिगमने वा। विगुणेवाध्यापनबलिमङ्गलप्रयोगे। नियमब्रह्मचर्यव्रतभङ्गे वा। महाहवे वा। देशपुरकुलविनाशे वा। महाग्रहोपगमने वा। स्त्रिया वा प्रजननकाले। विविधभूताशुचिसंस्पर्शे वा। वमनविरेचनरुधिरस्रावे वा। अशुचेरप्रयतस्य वा। चैत्यदेवायतनाभिगमने वा। मांसमधुगुडतिलमद्योच्छिष्टे वा। दिग्वाससि वा। निशि नगरचतुष्पथोपवनश्मशानाभिगमने वा। द्विजगुरुसुरयतिपूज्यव्यतिक्रमे वा।' अ० सं० उ० अ० ७।८-९।

इस सम्बन्ध में वाग्भट के विचारों को भी देखें—देव-दानव आदि भेद से १८ प्रकार के भूतों के आवेश के कारण इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में किया गया प्रज्ञापराध (पूज्य-पूजा-व्यतिक्रम आदि अशुभ कर्म) ही है। उस प्रज्ञापराध से जिस काम तथा क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है, उससे मनुष्य के धर्म, व्रत एवं सदाचार लुप्तप्राय हो जाते हैं। वह व्यक्ति पूजनीय देव, गुरु, वृद्ध आदि का अपमान करता है, शास्त्रोक्त मर्यादाओं का उल्लंघन करता है, पाप कर्मों को करता है, जिनसे उसका अहित होता है। इस स्थिति में उस पुरुष को देव आदि ग्रह ग्रस लेते हैं। क्योंकि वे देवादिग्रह छिद्र (अवसर) पाकर मनुष्य के ऊपर आक्रमण करते हैं।

आवेश का छिद्र (अवसर) है—पापकर्म का आरम्भ समय अथवा पापकर्म के परिणाम (परिपाक) का समय, सूने घर में अकेला रहना, या रात्रि में श्मशान, चौराहा एवं वधस्थान में खड़ा रहना, नंगा रहना, गुरु (पूज्य) जनों की निन्दा करना, सन्ध्या समय तथा पर्व (सूर्य-चन्द्रग्रहण) के समय में मैथुन करना, अपवित्र रहकर देवताओं की पूजा करना, प्रसवकाल में शुद्धता न रखना, विधि-विरुद्ध यज्ञ आदि पवित्र कर्मों का करना, विधि-विपरीत मन्त्रसिद्धि का प्रयत्न करना, बलिदान करना, यज्ञ करना, अनुचित ढंग से वमन-विरेचन आदि कर्मों को करना, सामान्य रूप से दिनचर्या आदि स्वस्थवृत्त के नियमों का उल्लंघन करना—इस प्रकार के कार्यों को करने से व्यक्ति के शरीर में भूतावेश हो जाता है। देखें—अ० हृ० उ० अ० ४।३-८।

तन्त्रान्तरों में ग्रहों का आवेशकाल—महर्षि आत्रेय द्वारा निर्दिष्ट आवेशकालों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। **सुश्रुत का दृष्टिकोण**—'देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि। गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ कृष्णक्षये च पितरः पञ्चम्यामपि चोरगाः। रक्षांसि निशि पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च'। सु० उ० तं० अ० ६०।१७-१८।

वृद्धवाग्भट का मत—'तत्र शीलवन्तं चोक्षाचारं शुक्लाम्बरधरं तपःस्वाध्यायपरं प्रायःशुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां पौर्णमास्यां वा देवा गृह्णन्ति। क्रोधनं कदर्यमात्मसम्भाविनं कुलरूपगर्वितं कृष्णद्वादश्यां कृष्णत्रयोदश्यां सन्ध्ययोश्चासुराः। प्रियनृत्तगीतवादित्रगन्धमाल्याम्बरं परदाररतं चोक्षाचारं प्रायश्चतुर्थ्यामष्टम्यां द्वादश्यां चतुर्दश्यां गन्धर्वाः। स्वप्नशीलं चपलमनिमित्तक्रोधनमर्थसिद्धं ब्राह्मणं पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्मध्याह्ने च नागाः। सत्त्वबलरूपगान्धर्वधनशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियमतिव्याकरणं प्रायः शुक्लसप्तम्यामेकादश्यां च यक्षाः॥ स्वाध्यायतपोव्रतचर्यादेवयतिगुरुपूजारतं भ्रष्टशौचं वा ब्राह्मणमब्राह्मणं वा ब्रह्मवादिनं शूरं मानिनं देवागारसलिलक्रीडनप्रियं च स्खलितब्रह्मचर्यं प्रायः शुक्लपञ्चम्यामष्टम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने सन्ध्यासु च ब्रह्मराक्षसाः॥ हीनसत्त्वं पिशुनं स्तेनं लुब्धं शठं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु राक्षसपिशाचादयः। कलिपानप्रियम-

गृधावन्तं परुषभाषिणं बह्वाशिनं च कृष्णनवमीद्वादश्योर्निशि च राक्षसाः ॥ आत्मश्लाघिनं कूटसाक्ष्यप्रदं परोपतापिनं च चतुर्दश्यां पिशाचादयः ॥ मातापितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममवास्यां च पितरः। तद्विधमेव च प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां च गुरुवृद्धसिद्धाः। तथैव च स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिकाव्यकुशलमृषयः' ॥ अ० सं० उ० अ० ७।११-१५।

वाग्भट के विचार—'गृह्णन्ति शुक्लप्रतिपत्त्रयोदश्योः सुरा नरम्। शुक्लत्रयोदशी कृष्णद्वादश्योर्दानवा ग्रहाः ॥ गन्धर्वास्तु चतुर्दश्यां द्वादश्यां चोरगाः पुनः। पञ्चम्यां शुक्लसप्तम्येकादश्योस्तु धनेश्वराः ॥ शुक्लाष्टपञ्चमीपूर्णमासीषु ब्रह्मराक्षसाः। कृष्णे रक्षः पिशाचाद्या नवद्वादशपर्वसु ॥ दशामावास्ययोरष्टनवम्योः पितरोऽपरे। गुरुवृद्धादयः प्रायः कालं सन्ध्यासु लक्षयेत्' ॥ अ० हृ० उ० अ० ४।९-१२ ॥

इस प्रकार विभिन्न मतों की चर्चा करने के बाद अब हम यहाँ उक्त विषय की संक्षिप्त तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं। जहाँ पक्ष का उल्लेख तन्त्रकारों ने नहीं किया है, वहाँ दोनों पक्षों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

ग्रह	चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टांगसंग्रह	अष्टांगहृदय
१. देवग्रह	शुक्ल १।१३।	पूर्णिमा १५	शुक्ल १।१३।१४।१५।	शुक्ल १।१३।
२. ऋषिग्रह	— ६।९।	—	—६।९ मी	—८।९ सायम्
३. पितृग्रह	कृष्ण १०।३०।	अमावास्या	कृष्ण १०।३०।	कृष्ण १०।३०।
४. गन्धर्वग्रह	— १२।१४।	प्रायः ८ मी	—४।८।१२।१४।	— १२।१४।
५. यक्षग्रह	शुक्ल ७।११।	प्रायः १ म	शुक्ल ७।११।	शुक्ल ७।११।
६. ब्रह्मराक्षसग्रह	— ५।१५।	—	शुक्ल ५।८।१५। तीनों सन्ध्याकाल	शुक्ल ५।८।१५।
७. राक्षसग्रह	— २।३।८।	रात्रि १४ शी	कृष्ण ९।१२ रात्रि	—९।१२ पर्वदिन
८. पिशाचग्रह	— २।३।८।	रात्रि १४ शी	कृष्ण १४ शी	—९।१२ पर्वदिन
९. नागग्रह	—	— ५ मी	५ तीनों सन्ध्याकाल	—५ (पञ्चमी)
१०. असुरग्रह	—	दोनों सन्ध्याकाल	कृष्ण १२।१३ दोनों सन्ध्याकाल	शुक्ल १३ कृष्ण १२
११. राक्षसपिशाचादि—		—	२।३।८ मी	—

यद्यपि ऊपर तन्त्रान्तरों में वर्णित कतिपय ग्रहों का वर्णन किया गया है, किन्तु वृद्धवाग्भट ने इनकी अनन्त संख्या का उल्लेख किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ७।२।

सर्वेष्वपि तु खल्वेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसंरम्भान्निःशङ्कमन्येष्वात्मनि वा निपातयेत् स ह्यसाध्यो ज्ञेयः; तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्रप्रवृत्तरक्तः क्षतजिह्वः प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानचर्माऽप्रतिहन्यमानवाणिः सततं विकूजन् [1]दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धश्च स हिंसार्थिनोन्मत्तो ज्ञेयः; तं परिवर्जयेत् ॥२२॥

भूतोन्माद की असाध्य अवस्था—इन अनेक प्रकार के सभी उन्माद रोगों में जो उन्माद रोगी अपने दोनों हाथों को उठाकर क्रोध के वेग के कारण बिना सकोच किये हुए दूसरों पर गिरा देता है, अर्थात् दूसरों को मारता है, अथवा अपने को ही मारने लगता है उस उन्माद के रोगी को असाध्य समझना चाहिए। और भी—जिस उन्माद रोगी की आँखों में आँसू भरे हों, आँसू की बूँदें डब-डबा रही हों, मूत्र-मार्ग से जिसके रक्तस्राव हो रहा हो, जिसकी जीभ कट गयी हो, जिसकी नाक से जल जैसा चू रहा हो, जिसके चर्म में कटने की सी पीड़ा हो रही हो, जो लगातार कुछ बोलता जा रहा हो, अर्थात् जिसकी वाणी कभी रुक न रही हो (श्रीजयदेव द्वारा गृहीत पाठभेद के अनुसार जिसके मर्मस्थान या स्थानों में काट डालने की सी पीड़ा हो रही हो, जिसकी वाणी रुक रही हो), जो लगातार कहर रहा हो, जिसका चेहरा मलिन वर्ण का हो गया हो,

१. 'दुर्वश्यः' इति पा०।

जिसे बार-बार प्यास लग रही हो, जिसके शरीर से दुर्गन्ध आ रही हो, उसे देव आदि किसी ग्रह ने मारने के लिए उन्मत्त कर दिया है, ऐसे रोगी को छोड़ दें।

वक्तव्य—फिर भी इस गद्य के निर्णयसागरीय तथा श्रीजयदेव द्वारा स्वीकृत पाठों पर ध्यान दें। इसमें अनेक स्थानों पर छोटे-मोटे परिवर्तन किये गये हैं, जो किसी महत्त्व के नहीं हैं।

रत्यर्चनाकामोन्मादिनौ तु भिषग[1]भिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत् ॥ २३ ॥

रति-अर्चना के अनुसार चिकित्सा—देव आदि ग्रह रति (प्रेम, सुख) तथा अर्चना (पूजा, सत्कार) की इच्छा से जिस पुरुष के शरीर में आविष्ट होते हैं; चिकित्सक को चाहिए कि उस उन्माद रोगी के अभिप्राय और आचार (व्यवहार) को देखकर समझ ले (कि यह ग्रह इस रोगी से प्रेम करना चाहता है या अपनी पूजा करवाना चाहता है) और तदनुसार उससे सम्बन्धित उपहार एवं बलि से मिश्रित मन्त्रोपचार अथवा औषधोपचार विधि से उसकी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—'रत' तथा 'रति' शब्द पृथक्-पृथक् अर्थ के द्योतक हैं। **रत**—इसका प्रयोग प्रसन्न, तृप्त, अनुरक्त, व्यस्त तथा संलग्न अर्थों में होता है। **'रति'**—प्रस्तुत शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है—'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे'। मनोनुकूल अर्थ के लिए 'रति' शब्द का प्रयोग होता है। यथा—'पापे रतिं मा कृथाः'। नीतिशतक। 'स्वयोषिति रतिः'। वही। अर्थात् रति कामना से यदि ग्रह विशेष का आवेश हुआ होगा तो वह शृंगार-साधनों का उपयोग करेगा तथा प्रेम सम्बन्धी बातें करेगा। **अर्चना**—इस इच्छा से जिस ग्रह ने रोगी पर आवेश किया हो उसकी इच्छा के अनुकूल बलि, पूजा, उपहारों के बारे में वह रोगी या उसमें आविष्ट ग्रह स्वयं बोलता है, कि मुझे इस प्रकार की बलि आदि समर्पित कीजिये। इस प्रकार के व्यवहार से यह भी निर्णय हो जाता है, कि किस ग्रह का आवेश इस रोगी पर हुआ है।

चरकसंहिता नि० अ० ७।१५ में उन्मादकारक भूतों के तीन प्रकार के प्रयोजन बतलाये गये हैं—'हिंसा रतिः अभ्यर्चनं च'। महर्षि वाग्भट ने अष्टांगहृदय उ० के बालग्रहप्रतिषेध नामक तीसरे अध्याय में श्लोक ३२ से ४० तक हिंसा, रति, बलि के लिए आविष्ट ग्रहों के लक्षणों का वर्णन किया है। वास्तव में जन्म से लेकर १६ वर्ष के पूर्व तक की अवस्था वालों को बालक ही कहा जाता है। इसी कालावधि में उनमें बालग्रहों का आवेश होता देखा जाता है।

इसी प्रकार का वर्णन महर्षि आत्रेय ने भी अपनी संहिता में किया है—'तत्र हिंसार्थिनोन्माद्यमानोऽग्निं प्रविशति, अप्सु निमज्जति, स्थलाच्छ्वभ्रे वा पतति, शस्त्रकशाकाष्ठलोष्टमुष्टिभिर्हन्त्यात्मानम्, अन्यच्च प्राणवधार्थमारभते किञ्चित्, तमसाध्यं विद्यात्। साध्यौ पुनर्द्वावितरौ'। च० नि० अ० ७।१५। यह पहला भेद असाध्य होता है, अतएव इसका उल्लेख चिकित्सास्थान में न करके शेष दो भेदों की यहाँ चिकित्सा कही गयी है।

तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समासविस्तराभ्यां भेषजविधिमनुव्याख्यास्यामः ॥

चिकित्सा-प्रस्तावना—अब हम यहाँ उन्माद रोग के उन अनेक भेदों में निज (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज) तथा आगन्तुज कारणों से उत्पन्न दो प्रकार के उन्मादों की ही संक्षेप एवं विस्तार से चिकित्सा-विधि की व्याख्या करेंगे।

उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित्। कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥२५॥

वातज उन्माद-चिकित्सा—वातज उन्माद रोग में उन्माद चिकित्सा के विशेषज्ञ को चाहिए कि वह सर्वप्रथम रोगी को स्नेहपान कराये। यदि कफ तथा पित्तदोष के कारण वायु का मार्ग अवरुद्ध हुआ हो तो उसे स्वल्प स्नेह युक्त मृदुविरेचन दिलाना चाहिए।

वक्तव्य—शरीर में भ्रमण करने वाली वायु यदि किसी कारण से अवरुद्ध हो गयी हो तो उस स्थिति में स्नेहपान नहीं कराना चाहिए। देखें—'मेदःकफाभ्यामनिलो निरुद्धः शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति। स्नेहं

१. 'अभिचाराभिशापाभ्याम्' इति पा०।

नियुञ्जनुधस्तु तस्मै संवर्धयत्येव हि तान् विकारान्'॥ च० सि० अ० १।५७। किन्तु यहाँ जो स्नेहपान का विधान किया गया है, यह तन्त्रकार द्वारा प्रयुक्त विशेष विधि है। सामान्य से विशेष विधि का महत्त्व सर्वत्र स्वीकार्य है।

कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्। स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः॥२६॥

पित्तज, कफज उन्माद-चिकित्सा—कफ तथा पित्तजनित उन्मादों में स्नेहन एवं स्वेदन कराने के बाद सबसे पहले वमन तथा विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार जब शरीर शुद्ध हो जाये, तदनन्तर संसर्जन क्रम का उपयोग करें।

वक्तव्य—वमन-विरेचन के पश्चात् शीतल, मधुर तथा स्निग्ध पेया आदि का प्रयोग पाचकाग्नि को तीव्र करने के लिए करना चाहिए, इसी को संसर्जन कहते हैं। यथा—'हृतदोषो हिमं स्वादु स्निग्धं संसर्जनं हितम्'। अ० हृ० चि० अ० ३।२८। वमन-विरेचन विधि की विशेष जानकारी के लिए देखें—च० सू० अ० १५ एवं १६। च० चि० अ० १-२ तथा ६। सु० चि० अ० ३३ और ३९। अ० सं० सू० अ० २७। अ० हृ० सू० अ० १८। **पञ्चकर्म**—१. वमन, २. विरेचन, ३. नस्य, ४. निरूहण, ५. अनुवासन। देखें—भावप्रकाश।

निरूहं स्नेहबस्तिं च शिरसश्च विरेचनम्। ततः कुर्याद् यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत्॥२७॥

वस्ति-प्रयोग आदि चिकित्सा—उपर्युक्त विधि से वमन-विरेचन कराकर शरीर की शुद्धि कर लेने तथा उसके बाद संसर्जन क्रम द्वारा जठराग्नि को सबल कर लेने के पश्चात् दोषों के अनुसार अधिक या स्वल्प मात्रा में निरूहवस्ति, स्नेहवस्ति (अनुवासनवस्ति) तथा शिरोविरेचन का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—निरूह आदि वस्तियों का प्रयोग 'यथादोष' अर्थात् दोष की स्थिति को देखकर ही करना चाहिए। अतः दोष अधिक प्रवृद्ध हों तो अधिक मात्रा में अन्यथा स्वल्प मात्रा में प्रयोग करायें। स्नेहवस्ति का ही एक नाम अनुवासनवस्ति है, इसी का एक भेद 'मात्रावस्ति' है। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ५ श्लोक ४,५, २० और सु० चि० अ० ३५।१८। इसी के आगे २१वें गद्य में उन्माद रोगी को 'आस्थापनवस्ति' देने का निर्देश किया गया है। निरूहणवस्ति को ही आस्थापनवस्ति भी कहते हैं।

हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः। मनः प्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति॥२८॥

उन्माद में वमनादि प्रयोग का फल—ऊपर वर्णित वमन आदि द्वारा हृदय, इन्द्रिय, शिर तथा कोष्ठ के शुद्ध (दोष रहित) हो जाने पर मन प्रसन्न हो जाता है, वह पुरुष स्मृति (स्मरणशक्ति) तथा संज्ञा (सम्यक् ज्ञान के लाभ) को प्राप्त कर लेता है।

शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम्। ताडनं च [1]मनोबुद्धिदेहसंवेजनं हितम्॥२९॥

उन्माद में अञ्जन-प्रयोग—ऊपर कहे गये वमन आदि द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर भी यदि रोगी के आचार का विभ्रंश हो जाये अर्थात् उसे उचित-अनुचित का ज्ञान प्राप्त न हुआ हो तो उसे तीक्ष्ण नस्य तथा अञ्जन का प्रयोग कराना चाहिए। उसे मारना, पीटना या डरना-धमकाना चाहिए। अथवा मन, बुद्धि एवं देह में जिन उपायों से घबड़ाहट पैदा हो, उनको करें या करायें—ये सभी उपाय इसमें हितकर होते हैं।

वक्तव्य—उन्मादरोग का प्रधान लक्षण 'आचारविभ्रंश' (स्वस्थ पुरुषोचित व्यवहार का अभाव) ही है। तीक्ष्ण नस्य तथा अञ्जनों के प्रयोग से ऊर्ध्वजत्रु-विकारों में आश्चर्यजनक लाभ होता है। ताडन आदि कर्म मन तथा बुद्धि में नयी गति प्रदान करते हैं।

मनोभिघात, मनोवह स्रोतों का अकर्मण्य हो जाना तथा बुद्धि के निवासस्थान हृदय का दूषित होना आदि की चर्चा इसी अध्याय के ४थे ५वें पद्यों में आ चुकी है। पुनः यहाँ 'मनोबुद्धिदेहसंवेजन' की चर्चा की गयी है। अतः इस प्रसंग में हम कुछ तन्त्रान्तर की चर्चा कर रहे हैं—महर्षि भेल ने अपनी संहिता में कहा है कि बुद्धि का निवासस्थान आज्ञाचक्र के मध्य में स्थित है। इसी को ब्रह्महृदय भी कहते हैं। यही जब वायु से विकृत होता है, तो उन्माद नामक रोग उत्पन्न होता है। देखें—'शिरस्तालवन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।

१. 'मनोबुद्धिदेहसन्तर्जनम्' इति पा०।

तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्॥ समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति। तन्मनः प्रभवं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम्'॥ भेलसंहिता चि० अ० ८। महाभारत के वनपर्व में राजा युधिष्ठिर के पूछने पर राजा नहुष उत्तर देते हैं—'स आत्मा पुरुषव्याघ्र! भ्रुवोरन्तरमाश्रितः। बुद्धि द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावरम्॥ बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः'॥ इस प्रसङ्ग से भी दोनों भौहों व भीतरी भाग में चेतना का स्थान माना गया है। योगी पुरुष भी ऐसा ही स्वीकार करते है—'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्'।

आधुनिक दृष्टि से—'ब्रह्मगुहा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तराले मध्यरेखायां दृश्या गुहा, तनुत्रिकोणपरिखाकारा'''तदेव क्वचिद् 'ब्रह्महृदयमिति' 'हृदयम्' इति वा व्यवहरन्ति प्राज्ञाः' इत्याहुः। प्रत्यक्षशारीर, तृतीयखंड अ० ६। और भी—'आज्ञाचक्रं नाम आज्ञाकन्दद्वयवेष्टितो ब्रह्मगुहांशः। तन्मनसोऽधिष्ठानमिति योगिनः'। इति च। प्रत्यक्षशारीर, तृतीयखंड अ० १२।

'तस्माद् 'बुद्धेर्निवासम्' इति साभिप्रायं हृदयविशेषणं युक्तमेव। अन्यथा मांसपेशीरूपं रक्ताधिष्ठानं सुषुप्तौ जीवात्मनो निवासं हृदयं गृह्येत' इति। 'तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च'। च० वि० अ० ५।८।

यः सक्तोऽविनये पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखः। अपेतलोहकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे॥३०॥
तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्। विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः॥३१॥

उद्वेजक प्रयोग—जो उन्माद का रोगी उपर्युक्त वमन-विरेचन आदि कराने के बाद भी अविनय (उद्धत) कार्यों को करने में लगा है, उसे सुदृढ़ कपड़े की पट्टियों से बाँधकर ऐसी अंधेरी कोठरी में डाल दे जिसमें लोहा, लकड़ी आदि शरीर को आघात पहुँचाने वाली वस्तुएँ न हों, तदनन्तर उसे तर्जन (डाटना, फटकारना), त्रासन (घबड़ाहट पैदा कराना—यह कार्य सशस्त्र सिपाहियों द्वारा अधिक सफल होता है), दान (जिस वस्तु को उन्माद रोगी माँग रहा हो, उसे दे देना); हर्षण (कुछ ऐसे व्यवहार उसके साथ किये जायँ जिससे वह प्रसन्न हो सके), सान्त्वना देना, डराना (यह कार्य साँप, शेर, बाघ आदि हिंसक प्राणियों को दिखाकर कराना चाहिए), विस्मय (आश्चर्यजनक व्यवहारों को करना)—इन सब उपायों से वह विस्मृति के मूल कारण उन्माद को नष्ट करके मन को प्रकृत (स्वाभाविक) स्थिति की ओर ले जाते हैं।

वक्तव्य—२९वें पद्य में आचारविभ्रंश को दूर करने वाले उपायों में एक उपाय 'संवेजन' (उद्वेजन) भी है, जिसके विविध प्रकारों का वर्णन उक्त दो श्लोकों में किया गया है। आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन 'सक्तः' के स्थान पर तालव्यादि 'शक्तः' पाठ को स्वीकार कर इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'यः उन्मादी विनये शक्तः, विनीतः विधेयत्वं गच्छति', यह अर्थ प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता। श्रीजयदेव ने अपनी टीका में चक्रपाणि का उल्लेख करते हुए जो 'विनयेत् पट्टैः' पाठभेद दिया है, उसे चक्रपाणि ने स्वीकार नहीं किया है। **'अविनये सक्तः'** का तात्पर्य है—आत्मीयजनों को मारने-पीटने के लिए तत्पर। **पट्टैः संयम्य**—उसे रस्सी आदि से न लपेट कर कपड़े की पट्टियों से बाँधे, जिससे बन्धन वाले स्थानों पर घाव न हों और वह रोगी कहीं इधर-उधर भाग न जाये।

इसमें मनःस्थिति को सुधारने के लिए दो प्रकार के उपायों का वर्णन किया गया है—१. बन्धन, तर्जन, त्रासन, भय, विस्मय और २. दान, हर्षण, सान्त्वन। क्रूर प्रकृति के रोगियों के लिए पहले कहे गये और सरल प्रकृति के रोगियों के लिए दूसरे प्रकार के उपायों का प्रयोग करना युक्ति-युक्त होता है अथवा यथावसर दोनों प्रकार के उपायों का प्रयोग किया जा सकता है।

वृद्धवाग्भट ने इस विषय का विस्तारपूर्वक अष्टांगसंग्रह उ० अ० ९ श्लोक ५२ से ५८ तक वर्णन किया है। इससे अधिक जीवित रखते हुए और किसी प्रकार के कष्ट नहीं दिये जा सकते। अतएव उन्होंने अन्त में कहा है—'देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं मतम्। तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः'॥ अर्थ स्पष्ट है। इस अवसर पर उक्त वाग्भटोक्त पद्यों का परिशीलन अवश्य कर लें।

प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः। प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम्॥३२॥

संज्ञादि प्रबोधन-प्रयोग—उन्माद रोगी के मन, बुद्धि, स्मरण-शक्ति तथा संज्ञा को जगाने वाले प्रदेह, उत्सादन (उबटन), अभ्यंग (तेल-मालिश), धूमपान तथा घृतपान कराना चाहिए।

वक्तव्य—श्लोक २९ में कथित नस्य तथा अञ्जन के योगों का उल्लेख आगे श्लोक ६४ से ६८ तक किया गया है। श्लोक ७३ में धूमपान का विधान है। इसके आगे घृत के अनेक योग दिये हैं, इन्हीं में से रोगी को यथायोग्य किसी घृत का पान कराना चाहिए।

सर्पिष्पानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः।
अतः सिद्धतमान्योगाञ्छृणून्मादविनाशनान्॥ ३३॥

आगन्तुक उन्माद-चिकित्सा की प्रस्तावना—आगन्तुक उन्माद की चिकित्सा घृतपान तथा मन्त्र-प्रयोग आदि कही गयी है। अतः उन्मादनाशक सिद्धतम योगों का हम आगे वर्णन कर रहे हैं। उन्हें ध्यान-पूर्वक सुनिये।

वक्तव्य—उक्त पद्य में आगन्तुक उन्माद रोगों की चिकित्सा-प्रस्तावना दी गयी है। **सर्पिष्पानादि**—शब्द से यहाँ सभी प्रकार की **युक्तिव्यपाश्रय** चिकित्सा का संकेत कर दिया गया है। **मन्त्रादि** शब्द से सभी प्रकार की **दैवव्यपाश्रय** चिकित्सा का ग्रहण किया है। जैसे—विविध प्रकार की मणियों को धारण करना, बलि, होम, देवतार्चन, पूजा, पाठ आदि। **संवेजन**—इसके जो विविध प्रकार यहाँ कहे गये हैं, वे सभी **सत्त्वावजय** चिकित्सा के क्षेत्र को प्रभावित करते हैं।

मूल रूप से उन्माद रोग को दो भागों में बाँटा गया है—१. निज एवं २. आगन्तुक। वातादि दोषों से उत्पन्न उन्माद में सर्वप्रथम वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर-शुद्धि कराना आवश्यक होता है, तदनन्तर औषधयोगों का प्रयोग कराना चाहिए और आगन्तुक उन्माद में वातदोष की प्रधानता होने के कारण घृतपान तथा स्नेहवस्तियों का प्रयोग कराया जाता है।

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम्। चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम्॥३४॥

हिङ्गु आदि घृत-प्रयोग—हींग (घी में भूँजी हुई), सोंचर नमक, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल) इन सभी द्रव्यों को २-२ पल (८-८ तोला) लेकर जल डालकर पीसकर कल्क तैयार कर लें। तदनन्तर १ आढ़क (२५६ तोला) गाय का घी लें, चार आढ़क गाय का मूत्र लें—इन सबको एक में मिलाकर यथाविधि घी का पाक करें। तैयार होने पर इसका प्रयोग करायें। इसके सेवन से उन्माद रोग नष्ट होता है। इसकी सामान्य मात्रा १ तोला है।

वक्तव्य—योगों के निर्माण की सामान्य परिभाषाएँ संहिताओं में यथास्थान निर्दिष्ट हैं। यदि उनके परिमाण अथवा विधि से कहीं विरोध दृष्टिगोचर होता हो तो उसे उस योग के लिए विशेष विधि समझना चाहिए। ध्यान रहे कि उस विशेष विधि का वचन शास्त्रीय होना ही चाहिए।

विशाला त्रिफला [1]कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्। स्थिरा नतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुका॥
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम्। तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम्॥३६॥
विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ। अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैरक्षसमन्वितैः॥३७॥
[2]चतुर्गुणे जले सम्यग्घृतप्रस्थं विपाचयेत्। अपस्मारे ज्वरे कासे शोषे मन्देऽनले क्षये॥३८॥
वातरक्ते प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके। छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च॥३९॥
कण्डूपाण्ड्वामयोन्मादविषमेहगदेषु च। भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामचेतसाम्॥४०॥
शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम्। अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम्॥४१॥
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च।

इति कल्याणकं घृतम्।

१. 'कान्ता' इति पा०।
२. 'चतुर्गुणं जलं दत्त्वा' इति पा०।

कल्याणक घृत—विशाला (इन्द्रायण), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), कौन्ती (रेणुका), देव-दारु, एलवालुक (एलुआ), स्थिरा (शालपर्णी या सरिवन), तगर, हल्दी, दारुहल्दी, दो सारिवा (अनन्तमूल, कृष्णसारिवा), फूलप्रियंगु, नीलकमल, छोटी इलायची, मजीठ, दन्तीमूल, दाड़िम, नागकेशर, तालीशपत्र, बृहती (बनभंटा), मालती के नये फूल, वायविडंग, पिठवन, कूठ, लालचन्दन, पद्मकाष्ठ—इन अट्ठाईस द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य को १-१ अक्ष (पाठभेद के अनुसार १-१ कर्ष, ये दोनों शब्द परस्पर पर्याय हैं) लेकर इनका कल्क तैयार करें। गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), जल चौगुना (२५६ तोला) लेकर घी को पकायें। तैयार हो जाने पर इसे रख लें। यह घी अपस्मार, ज्वर, कास, शोष (शरीर का सूखना; श्रीजयदेव ने यहाँ पर 'श्वास' शब्द को आदर दिया है), अग्निमान्द्य, क्षय, वातरक्त, प्रतिश्याय, तृतीयकज्वर, चतुर्थक-ज्वर, छर्दि (वमन), अर्श, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, कण्डू, पाण्डुरोग, उन्माद, विषविकार, प्रमेहरोग, भूतोन्माद, गद्गदवाणी (जो साफ-साफ नहीं बोल सकते), अचेतस् (दुर्बल मन वाले) रोगियों के लिए तथा बन्ध्या स्त्रियों के लिए यह घृत हितकर होता है, आयु तथा बल को बढ़ाता है, यह अलक्ष्मी (शरीर की असुन्दरता), पापजनित रोगों, राक्षस (भूत-प्रेत) बाधा तथा अन्य सभी प्रकार की ग्रह-बाधाओं का नाशक है। यह कल्याणक नाम का घी पुंसवन-क्रिया में भी श्रेष्ठ कहा गया है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने यहाँ व्योष (त्रिकटु), त्रिफला इस प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख करने के बाद जो **'अष्टाविंशतिभिः'** शब्द का प्रयोग किया है, वह प्रत्येक द्रव्य को समभाग में लेने के लिए ही किया है। इसका विशद विवेचन आचार्य चक्रपाणि ने कल्याणक घृत की टीका में किया है, उसे अवश्य पढ़ें। इसी को अन्यत्र 'पानीयकल्याणक घृत' कहते हैं।

एक अन्य कल्याणक घृत—'कौन्तीदारुमृगादनीविरहितैः कल्याणकोक्तौषधैरित्येभिस्त्रिफलैलवालुवियुतैः क्वाथीकृतैरत्र च। निःक्वाथे मधुरौषधैश्च विपचेत् सर्पिः सदुग्धं पृथु॥ स्यात् कल्याणकमेतदेव हि रुजः कल्याण-कोक्ता जयेत्'॥ चिकित्साकलिका, भूतविद्या-प्रकरण।

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम्॥ ४२॥
रसे तस्मिन् पचेत् सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे। वीरार्द्रमाषकाकोलीस्वयंगुप्तर्षभर्द्धिभिः॥४३॥
मेदया च समैः कल्कैस्तत् स्यात् कल्याणकं महत्। बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम्॥४४॥

इति महाकल्याणकं घृतम्।

महाकल्याणक घृत—कल्याणक घृत में कहे गये प्रथम सात द्रव्यों को छोड़कर और स्थिरा (शालपर्णी)
से लेकर आगे इक्कीस द्रव्यों को उसी प्रमाण में लेकर पानी में डालकर पकायें। क्वाथ तैयार हो जाने पर
छानकर रख लें। गाय के घी से चौगुना प्रथम बार की ब्याई हुई गाय का दूध लें। वीरा (क्षीरकाकोली),
आर्द्रमाष (पुष्ट किन्तु जो अभी सूखे न हों ऐसे उड़द के बीज; अन्यत्र यहाँ पर 'द्विमाष' पाठ है, देखें—
श्रीजयदेव विद्यालंकार टीकायुक्त चरकसंहिता, तदनुसार—माष और महामाष अथवा काले तथा हरे उड़दों का
ग्रहण करना चाहिए), काकोली, स्वयंगुप्ता (किवाँच के बीज), ऋषभक, ऋद्धि, मेदा—इन द्रव्यों को समान
भाग लेकर इनका कल्क घी की मात्रा से चतुर्थांश लें, इस प्रकार यथाविधि घी का पाक करें। इसे महाकल्याणक
घृत कहते हैं। यह सन्निपातज उन्माद का नाशक है तथा विशेष करके शरीरावयवों को पुष्ट करता है।

वक्तव्य—'गृष्टिः, नव प्रसूता गौः' यद्यपि यहाँ प्रथम बार ब्याई हुई गाय के दूध का ग्रहण करने को
कहा है। किन्तु भावमिश्र ने इसके गुण-धर्मों का विवेचन इस प्रकार किया है—'बालवत्सविवत्सानां गवां
दुग्धं त्रिदोषकृत्'। भा० प्र० पू० खं० दुग्धवर्ग १०। अवस्था-भेद से क्षीरगुणों का वर्णन श्रीनरहरपंडित ने
इस प्रकार किया है—'मधुरं त्रिदोषशमनं क्षीरं मध्यप्रसूतानाम्। लवणं मधुरं क्षीरं विदाहजननं चिरप्रसूता-
नाम्॥ गुणहीनं निःसारं क्षीरं प्रथमप्रसूतानाम्। मध्यवयसां रसायनमुक्तमिदं दुर्बलं तु वृद्धानाम्'॥ राजनिघण्टु-
क्षीरादिवर्ग। इस प्रकार नवप्रसूता गाय का दूध अहितकर कहा गया है। अमरसिंह ने 'गृष्टिर्वाराही', अमरकोष
द्वितीयकाण्ड वनौषधिवर्ग १५१ तथा श्रीपुरुषोत्तमदेव ने त्रिकाण्डशेष की टीका में—'वराहकान्तायां काश्मर्यां च
गृष्टिः' कहा है। ऐसा तो नहीं है कि यहाँ गृष्टिक्षीर शब्द से 'वराहकान्ता=शूकरी' के दूध का ग्रहण करना
तन्त्रकार को अभीष्ट हो! प्रायः तन्त्रकारों ने आठ प्रकार के ही दूधों का वर्णन किया है, कहीं एक शफ (खुर)

वाले प्राणियों के दूध के गुणों का सामूहिक रूप से वर्णन कर दिया है, दूसरी ओर देश-विशेष में विचरण करने वाले प्राणियों के दूधों के गुणों का संकेत किया है। यथा—'जाङ्गलानूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम्। पयो गुरुतरं स्नेहो यथाहारं प्रवर्तते' ॥ भा० प्र० पू० खं० दुग्धवर्ग १२। इससे अन्य प्राणियों के दूधों के गुणों का अनुमान किया जा सकता है।

वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को अविकल रूप से अपने अष्टांगसंग्रह में स्थान दिया है। जो परिवर्तन हैं, उनका उल्लेख ऊपर टीका में कोष्टकों के भीतर दिया गया है। देखें--अ० सं० उ० अ० ९।२९-३०। इसी पाठ को परवर्ती वाग्भट ने भी (अ० हृ० उ० अ० ६।३२-३३ में) अपनाया है और दोनों ने ही 'गृष्टि' शब्द का अर्थ **'सकृत् प्रसूता गौः'** किया है। दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि वीरा, आर्द्रमाष, काकोली आदि बृंहणकारक द्रव्यों का योग 'गृष्टिक्षीर' के साथ क्यों किया जायेगा जो 'त्रिदोषकृत्' हो। यहाँ तो वैसा ही दूध अपेक्षित है जो बृंहणकारक हो। गृष्टि का एक अर्थ वाराहीकन्द भी है, इसमें से भी दूध निकलता है। 'गृष्टि' शब्द का एक सामान्य प्रयोग गाय के लिए भी देखा जाता है। यदि हम यहाँ सामान्य गाय के दूध का ग्रहण करते हैं, तो तन्त्रकार द्वारा विशेषरूप से प्रयुक्त 'गृष्टि' शब्द अपना कोई महत्त्व नहीं रखेगा। तब तो वहाँ सरलता से 'धेनुक्षीरे' या 'गवां क्षीरे' पाठ हो सकते थे। विद्वान् विचार करें।

जटिलां पूतनां केशीं चारटीं मर्कटीं वचाम्। त्रायमाणां जयां वीरां चोरकं कटुरोहिणीम् ॥४५॥
वयःस्थां शूकरीं छत्रामतिच्छत्रां पलङ्कषाम्। महापुरुषदन्तां च कायस्थां नाकुलीद्वयम् ॥४६॥
कटम्भरां वृश्चिकालीं स्थिरां चाहृत्य तैर्घृतम्। सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥४७॥
महापैशाचिकं नाम घृतमेतद् यथाऽमृतम्। बुद्धिस्मृतिकरं चैव बालानां चाङ्गवर्धनम् ॥४८॥

इति महापैशाचिकं घृतम्।

महापैशाचिक घृत—जटिला (जटामांसी), पूतना (हरीतकी), केशी (शंखपुष्पी), चारटी (भारंगी), मर्कटी (किवाँच) के बीज, बालवच, त्रायमाणा, जयन्ती, वीरा (क्षीरकाकोली), चोरपुष्पी, कुटकी, ब्राह्मी, वाराहीकन्द, सोया, सौंफ, गुग्गुलु, शतावर, छोटी इलायची, रास्ना, गन्धरास्ना, मालकांगनी, कौवाठोंठी, शालपर्णी—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इन्हीं से कल्क तथा क्वाथ का निर्माण कर यथाविधि घृतपाक करें। सिद्ध किया हुआ यह घृत चातुर्थक ज्वर, उन्माद, ग्रहोन्माद तथा अपस्मार रोगों का नाश करता है। महापैशाचिक नाम का यह घृत उक्त रोगियों के लिए अमृत के समान हितकर है। **लाभ**—यह बुद्धि एवं स्मृति वर्धक है तथा बालकों के अंगों की वृद्धि करता है।

वक्तव्य—यहाँ द्रव्यों की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है, अतः सामान्य विधि से उक्त द्रव्यों का कल्क तथा क्वाथ तैयार करके इनसे घी को पकाना चाहिए। इस घृत को पकाने के लिए जिन औषधद्रव्यों का ग्रहण किया गया है, वे प्रायः दो या इससे अधिक द्रव्यों के वाचक हैं। अतः उनका परिचय यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से तथा टीकाकारों की दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है—१. जटिला (वटवृक्ष, गुग्गुलु—वैं० निघण्टु; जटामांसी—रा० नि०)। २. पूतना—(गन्धमांसी—रा० नि०, इन्दु; पतले छिलके वाली हरीतकी—रा० नि०)। ३. केशी (शूकशिम्बी—रत्नमाला; शंखपुष्पी—गंगाधर; शतावरी—इन्दु), ४. चारटी (नीली नामक क्षुप—रा० नि०, स्थलपद्मिनी—रा० नि०, ब्रह्मयष्टिका—चक्र०), ५. मर्कटी (अपामार्ग, कपिकच्छु=किवाँच—रा० नि०)। ६. वीरा (मद्य सामान्य—रा० नि०, शतावरी, तालमूली, कटुकी, काकोली—रा० नि०, काकोली—इन्दु), ७. चोरक (पृक्का—पर्यायमुक्तावली, स्थलज चोरपुष्पी—गंगाधर; चोरक, चण्डालक, ब्राह्मी, गुडूची—चक्र०; शटी, चण्डा—इन्दु), ८. वयःस्था (हरीतकी भेद—गंगाधर, आमलकी—इन्दु, हरीतकी—पर्यायमुक्तावली; काकोली, क्षीरकाकोली, ब्राह्मी, दारुहरिद्रा—रा० नि०), ९. छत्रा (शताह्वा=सोया—रा० नि०; कुटुम्बक, धान्यक—इन्दु,) १०. अतिच्छत्रा (सौंफ—रा० नि०, शतपुष्पा—इन्दु), ११. महापुरुषदन्ता (महाशतावरी, विष्णुकान्ता, शतावरी—रा० नि०), १२. कायस्था (काकोली, आमलकी, स्थूल एला, सूक्ष्म एला—रा० नि०), आमलकी—गंगाधर, हरीतकी—इन्दु), १३. वृश्चिकाली (चक्रा, उष्ट्रधूमक—इन्दु)।

इस प्रकार परिचय प्राप्त होने पर भी यह निश्चय करना कठिन है कि यहाँ किस द्रव्य का ग्रहण किया जाये। इसका निर्णय एक प्राचीन टीकाकार के अनुसार इस प्रकार है—'जटिला शतपुष्पी स्यान्मांसभेदेऽपि

चेष्यते। पूतना ह्यभया केशी मांसी भूकेश एव च ॥ चारटी ब्राह्मिका ज्ञेया मर्कटीशूकशिम्बिका। वीरा तु पृश्निपर्णी स्याच्चण्डा स्यादिह चोरकः ॥ कायस्था सिन्धुवारस्तु सूक्ष्मैला वाथ सूकरी। वाराहीकन्दकाभावाच्चर्मकारालुकग्रहः ॥ छत्राजाजी त्वतिच्छत्रा शतपुष्पा परे त्विमे। द्रोणपुष्पीद्वयं प्राहुः पलङ्कषा तु गुग्गुलुः ॥ महापुरुषदन्ता च विष्णुकान्ताऽथवा वरी। वयःस्था त्वमृता ज्ञेया नाकुलीद्वयमत्र तु ॥ सर्पगन्धाद्वयं प्राहू रास्नाद्वयमथापि वा। कटम्भरा तु कटभी प्रसारण्यथवाऽमृता ॥ व्यक्तमन्यच्च सकलं महापैशाचिके घृते।

उक्त १३ पंक्तियों में जो निर्णय लिया गया है उसका एक पक्ष यह भी है। वास्तव में इस प्रकार के योगों में द्रव्य-निर्णय, मात्रा-निर्णय आदि का दायित्व पहले शास्त्र पर तदनन्तर योग्य चिकित्सक पर निर्भर करता है। आवश्यकता पड़ने पर वह योगोक्त द्रव्यों को घटा-बढ़ा भी सकता है।

लशुनानां शतं त्रिंशदभयास्त्र्यूषणात् पलम्। गवां चर्ममसीप्रस्थो द्व्याढकं क्षीरमूत्रयोः ॥४९॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थ एभिः सिद्धं प्रयोजयेत्। हिङ्गुचूर्णपलं शीते दत्त्वा च मधुमाणिकाम् ॥५०॥
तद्दोषागन्तुसम्भूतानुन्मादान् विषमज्वरान्। अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः ॥५१॥

इति लशुनाद्यं घृतम्।

लशुनादि घृत—छिले हुए सुपुष्ट लहसुन १००, गुठली रहित हरीतकी ३०, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पिप्पली) कुल मिलाकर १ पल (४ तोला), गाय के चर्म को जलाकर बनायी गयी मसी (राख) १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय का दूध १ आढक (२५६ तोला) तथा गाय का मूत्र १ आढक, गाय का पुराना घी १ प्रस्थ, इन सब द्रव्यों को एक साथ डालकर यथाविधि घी को पकायें, ठीक प्रकार से पक जाने तथा शीतल होने पर इसे छानकर इसमें शुद्ध हींग (हींग को घी में भूंज लेने पर यह शुद्ध हो जाती है) का चूर्ण १ पल और मधु १ माणिका (३२ तोला) मिलाकर रख लें। यह लशुनादि घृत निज अर्थात् दोषज ४ प्रकार के उन्माद, आगन्तुज उन्माद, विषमज्वर, अपस्मार इन रोगों का नाश करता है। इसका प्रयोग पीने के रूप में, मालिश करने में तथा नस्य के लिए करना चाहिए।

वक्तव्य—यह घृत भूताभिषंगज विषमज्वरों में प्रयुक्त होता है, क्योंकि कुछ विद्वान् विषमज्वर को भूताभिषंग-जनित मानते हैं। यथा—'केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्'। सु० उ० तं० अ० ३९।६८। आयुर्वेद प्रायोगिक शास्त्र है। इसमें किसी विषय पर विवाद नहीं है, हाँ मत-मतान्तर अवश्य हैं, किन्तु वे अपने परिणामों द्वारा उनका समाधान स्वयं कर लेते हैं।

उक्त लशुनादि घृत के निर्माण में लशुन कितना लेना चाहिए, इस विषय पर प्राचीन टीकाकारों के विभिन्न मत होने में कारण यह है कि, किसी आचार्य ने **'लशुनानां शतं'** इस प्रकार अन्वय किया है, जो सर्वथा प्रकरण-संगत तथा व्याकरण-सम्मत है। दूसरे आचार्य ने **'लशुनानां शतं पलम्'** अन्वय किया है। जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। यदि तन्त्रकार को ऐसा अन्वय अभीष्ट होता तो वे 'शतं पलानि' ऐसा प्रयोग करते, देखें—'शतं कुलानि धौम्राणां निर्गच्छन्तु ममाज्ञया'। दुर्गासप्तशती। यह विचार शास्त्र-सम्बन्धी है। प्रायोगिक दृष्टि से भी १०० पल (४०० तोला) लहसुन मात्रा में अधिक हो जाता है। अतः छिले हुए सौ लहसुनों का ही ग्रहण करना चाहिए। इसके विशेष विवेचन के लिए जल्पकल्पतरु टीका के साथ प्रकाशित तथा बम्बई से स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित चक्रपाणि-टीका देखें। निर्णयसागर से प्रकाशित चक्रपाणि-टीका में तो 'लशुनानां शतमित्यत्र लशुनकन्दानां शतपलमानम्' लिखा है, जो परस्पर विरुद्ध है। यहाँ लशुनकन्द से अनेक लहसुनों के समूह का ग्रहण तन्त्रकार को भी अभीष्ट नहीं है। अतः उसकी फाँकों को छीलकर १०० की संख्या में लेना चाहिए। यदि आप उसे एक गाँठ के रूप में लेंगे तो योग के निर्माण में अत्यन्त विषमता आ जायेगी, क्योंकि वे लशुन की गाँठें भिन्न-भिन्न आकार की उपलब्ध होती हैं।

पुराणसर्पिषः प्रस्थः—इसकी विशेष चर्चा आगे श्लोक संख्या ५९ से ६२ तक देखें। वृद्धवाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ८ श्लोक ६-७ में 'घृतं पुराणम् अथवा तैलम्' का तथा श्लोक २३ में 'घृतम् अनवम्', कहकर इसके विशेष पुराना होने की कोई चर्चा नहीं की है। आयुर्वेद में 'पुराणसर्पि' का एक विशेष विधान है। देखें—निघण्टु-ग्रन्थों में तथा 'सिद्धयोगसंग्रह' में, किन्तु वे घृत व्रणशोधन, रोपण आदि के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं, न कि खाने के प्रयोग में लिये जाते हैं। अतः जो साधारण पुराना हो उसी घृत का यहाँ ग्रहण करना

चाहिए। निर्णयसागरीय प्रति में 'प्रस्थ' शब्द को पुंल्लिंग स्वीकारा है, अन्यत्र नपुंसकलिंग। इसका समर्थन अमरकोष में इस प्रकार है—**'प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः'**।

मधुमाणिका—'मधुनः माणिका=मधुमाणिका' यहाँ 'माणिका' शब्द परिमाणवाचक है। यथा—'कुडवाभ्यां च मानिका'। शा० सं० प्र० खं० २५। तथा 'कुडवौ द्वौ तु मानिका'। च० क० अ० १२।९३। चरक तथा शार्ङ्गधरसंहिता में **'मानिका'** शब्द का प्रयोग किया गया है, जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। किन्तु निर्णयसागरीय प्रति में तथा श्रीजयदेव की टीकायुक्त प्रति के मूलपाठ में **'मधुमाणिका'** शब्द को स्थान दिया गया है और चक्रपाणि ने भी अपनी टीका में 'माणिका' पद का प्रयोग किया है, जो पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से विचारणीय है।

यद्यपि मूल पाठ में मानों को द्विगुण लेने का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, तथापि चक्रपाणि तथा गंगाधर द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा के अनुसार १ मानिका (३२ तोला) का दूना ६४ तोला मधु मिलाने की आज्ञा देते हैं। इस सन्दर्भ में मानविदों के सिद्धान्तों का परिशीलन अपेक्षित है। देखें—च० क० अ० १२ श्लोक ९८-९९। सु० चि० अ० ३१।७ तथा शा० सं० पू० खं० अ० १ श्लोक ३३-३४। यही कारण है कि कविराज गंगाधर ने भी 'आयुर्वेदीय परिभाषा' ग्रन्थ में 'तत्तु न सम्यक् युक्तिविरोधात् च'। लिखकर अपना मत प्रकट किया है।

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम्। तदर्धं दशमूलस्य द्व्याढकेऽपां विपाचयेत् ॥५२॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा। कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकैः रसैः ॥५३॥
दाडिमाम्बुसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्धिकैः। साधयेत् त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः ॥५४॥
यवानीचव्यहिङ्ग्वम्लवेतसैश्च पलार्धिकैः। सिद्धमेतत् पिबेच्छूलगुल्मार्शोजठरापहम् ॥५५॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषज्वरक्रिमीन्। वातश्लेष्मामयान् सर्वानुन्मादांश्चापकर्षति ॥५६॥
इत्यपरं लशुनाद्यं घृतम्।

द्वितीय लशुनादिघृत—अविनष्ट (समूचे अर्थात् जो टूटे या सड़े-गले न हों) तथा ऊपर का छिलका उतारे हुए लहसुन (यहाँ भी समूचा कन्द न लेकर लहसुन की फाँकें लेनी चाहिए) आधी तुला (५० पल=२०० तोला), उसके आधे (२५ पल=१०० तोला) दशमूल के सभी द्रव्यों—बिल्व, श्योनाक, गम्भारी, पाटला, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी को मिलाकर लें। इन सब द्रव्यों को २ आढक=२५६ तोला जल में जौकुट करके डालकर पकायें, पकते-पकते जब चौथाई जल (६४ तोला) शेष रह जाये, तब उसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का घी तथा उतना ही लहसुन का रस, खट्टे बेर की पत्ती का रस, मूली का स्वरस, विषांविल का स्वरस, बिजौरा नीबू का स्वरस, अदरख तथा दाड़िम (खट्टे अनार) का रस, सुरा, मस्तु (दही का पानी), खट्टी काँजी—इन सबको आधा-आधा प्रस्थ (३२-३२ तोला) डालें, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), देवदारु, सैंधानमक, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), दीप्यक (अजवाइन), यवानी (पारसीक यवानी=खुरासानी अजवाइन), चव्य, हींग, अम्लवेत; इन द्रव्यों को प्रत्येक आधे पल की मात्रा में लेकर इनका कल्क बना लें, इन सबको मिलाकर घृतपाक करें। भलीभाँति पक जाने पर यह घी निम्नलिखित रोगियों को पिलाना चाहिए। इसको पीने से गुल्मरोग, अर्श (बवासीर), उदररोग, ब्रध्नरोग, पाण्डुरोग, प्लीहारोग, योनिदोष, ज्वर, क्रिमिरोग, वातज, कफज रोग तथा सभी प्रकार के उन्माद रोगों का विनाश होता है।

वक्तव्य—इसकी सामान्य मात्रा आधा तोला है। शेष चिकित्सक से परामर्श करें।

हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च सकायस्थवयःस्थया। सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥५७॥
केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेद् घृतम्। पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद् गृहेऽपि वा ॥

अन्य घृतयोग—हींग, हिंगुपत्री, कायस्था (छोटी इलायची), वयःस्था (ब्राह्मी)—इन द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क से तैयार किया गया घी हितकारक होता है। इसीप्रकार वयःस्था (ब्राह्मी), हींग, चोरपुष्पी इन द्रव्यों द्वारा तैयार किया हुआ पुराना घी पूर्ण मात्रा में पिलाना चाहिए। इसे पिलाकर उस उन्माद के रोगी को उसी की नाप के गड्ढे में डाल दे अथवा घर में ही किसी कोठरी में बन्द करके रखें।

वक्तव्य—यद्यपि कायस्था और वयस्था ये दोनों पर्याय हरीतकी के हैं, किन्तु आचार्य चक्रपाणि ने वयःस्था से ब्राह्मी और कायस्था से छोटी इलायची का ग्रहण किया है, जो उचित ही है; क्योंकि एक ही योग में एक ही पदार्थ की द्विरुक्ति यद्यपि दूना लेने की दृष्टि से भी की जा सकती है, तथापि ब्राह्मी मेध्य-द्रव्यों में उत्तम मानी जाती है। राजनिघण्टु वर्ग ६ में छोटी इलायची का पर्याय कायस्था दिया गया है। यह शीतल तथा हृदयरोग-नाशक कही गयी है।

चक्रपाणि के मत से ऊपर ५७ वें श्लोक द्वारा तीन योग कहे गये हैं—१. हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च इत्येकं घृतम्, २. सकायस्थवयःस्थयेति द्वितीयम्, ३. वयःस्थाहिङ्गुचोरकैरित्यनेन तृतीयम्'। किन्तु कविराज गंगाधर 'तद्वत्' पाठ के स्थान पर 'वा स्यात्' पाठ को स्वीकार करके केवल दो योग इस प्रकार मानते हैं—१. हींग से वयःस्था-पर्यन्त प्रथम और २. वयःस्था से चोरक-पर्यन्त तीन द्रव्यों से संयुक्त दूसरा योग।

श्वभ्रे गृहेऽपि वा रुन्ध्याद्—उन्माद रोग में रोगी को घी की पूर्ण मात्रा (Maximum dose) का सेवन कराना चाहिए, इससे उन्माद के वेग की शान्ति होती है। ऐसे अवसर पर वह दौड़ने, भागने का प्रयास भी करने लगता है, अतः उसे रोके रहना आवश्यक है। घी उत्तम हविष्य है, अतः इससे ग्रहावेश दूर होता है। 'श्वभ्र' का अर्थ है—गड्ढा। यह रोगी के शरीर के प्रमाण से अधिक चौड़ा तथा गहरा होना चाहिए, कम चौड़ा होने से रगड़ लगकर शरीर के छिलने और कम गहरा होने से उसके भाग जाने का भय बना रहता है।

विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद् भिषक्। त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद् ग्रहनाशनम् ॥५९॥
गुणकर्माधिकं पानादास्वादात् कटुतिक्तकम्।

उन्माद में पुराने घी का प्रयोग—चिकित्सक को चाहिए कि वह विशेष रूप से उन्माद रोगी को पुराने घृत का पान कराये, क्योंकि यह त्रिदोष-नाशक होता है और पवित्र (हविष्य) होने के कारण यह देवता आदि ग्रहजनित बाधाओं का शमन करता है। अभ्यंग आदि की अपेक्षा इसे पिलाने से इसके गुण और कर्मों का प्रभाव शरीर पर अधिक दिखलायी पड़ता है। पुराना घी स्वाद में कटु तथा तिक्तरस युक्त होता है।

वक्तव्य—इस प्रकरण में कहे गये हिंग्वादिघृत इस दृष्टि से सामान्य हैं और इन सब की तुलना में पुराणघृत विशेष कहा गया है, चिकित्साकाल में इसका ध्यान रखना चाहिए। इसके आगे पुराणघृतों की श्रेणियों का निर्धारण किया जा रहा है।

उग्रगन्धं पुराणं स्याद् दशवर्षस्थितं घृतम् ॥ ६० ॥
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम्। मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम् ॥६१॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत् स्याद् वर्षशतस्थितम्। दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम् ॥
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः।

पुराने घृतों का परिचय—दस वर्ष पुराना घी उग्र (तेज) गन्ध से युक्त होता है। यह सामान्य रूप से 'पुराणघृत' कहा जाता है। इसका वर्ण लाक्षारस के सदृश होता है, यह शीतवीर्य होता है और सभी प्रकार के ग्रहदोषों का विनाश करता है। अब इसके बाद 'प्रपुराणघृत' का वर्णन प्रस्तुत है—सौ वर्ष पुराने घी को 'प्रपुराणघृत' कहते हैं, इस घी के लिए किसी प्रकार का मानसिक रोग असाध्य नहीं है। इसको देखने, छूने तथा सूँघने मात्र के सभी प्रकार के ग्रहदोष शान्त हो जाते हैं। अपस्मार तथा ग्रहान्माद (इसी को भूतोन्माद भी कहते हैं) के रोगियों के लिए यह विशेष रूप में प्रशस्त (प्रशंसनीय) है।

वक्तव्य—यहाँ घृत, पुराणघृत, प्रपुराणघृत तीनों की महिमा का तन्त्रकार ने उल्लेख उसी प्रकार किया है, जैसे श्राद्ध में पितृ, पितामह, प्रपितामह की ज्येष्ठता का उत्तरोत्तर महत्त्व होता है। ताजे मक्खन को पिघला कर निकाला हुआ ताजा घी होता है, तब से लेकर साल भर तक प्राप्त होने वाला घी प्रायः **सामान्य घृत** की श्रेणी में आता है। सालभर के बाद से १० वर्ष तक पुराना घी क्रमशः **पुराणघृत** की श्रेणी में आता है। १० वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक के पुराने घी को **प्रपुराणघृत** कहा जाता है। इन घृतों के सम्बन्ध में आचार्यों का मत-भेद इस प्रकार है। पुराणघृत—'दशाब्दिककौम्भघृते'। रत्नमाला। प्रपुराणघृत—'अतिपुराणघृते', सु० सू० अ० ४५।१०७-१११। सिद्धयोग, उन्माद-चि०। कुम्भसर्पि—'एकादशोत्तरशतवार्षिके पुराणघृते'।

पुराना घी—नवनीत को पिघलाकर जो घी तैयार किया जाता है, उसे ताजा घी कहते हैं। इसके बाद यह क्रमशः पुराना होता जाता है। खाने के लिए ताजा घी ही अच्छा माना जाता है, किन्तु चिकित्सा के क्षेत्र में पुराना घी महत्त्वपूर्ण होता है। यह १ वर्ष पुराना, १० वर्ष पुराना, १०० वर्ष पुराना तथा १११ वर्ष पुराना तक उक्त नामों से जाना जाता है। इससे अधिक पुराने घी को 'महाघृत' कहा जाता है। सबका तात्पर्य यही है कि जितना पुराना हो या मिल सके उतना ही यह अच्छा होता है। भावमिश्र के शब्दों में—यथा यथाऽखिलं सर्पिः पुराणमधिकं भवेत्। तथा तथा गुणैः स्वैः स्वैरधिकं तदुदाहृतम्' ॥ भावप्रकाश। अर्थ स्पष्ट है।

पुराना हो जाने पर घी का वर्ण मोम (मधूच्छिष्ट) के सदृश काला तथा हल्का पीला हो जाता है। उसमें विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न हो जाती है। इसका प्रयोग सन्निपात में—शिर के ऊपर लगाने के लिए तथा श्वास में—छाती तथा पसलियों पर लगाने के लिए प्रयुक्त होता है। अपस्मार एवम् उन्माद रोग में—५-७ बूँदें खिलायी, पिलायी, चटायी जाती हैं।

ध्यान दें—'विशेषतः पुराणं च' से लेकर 'कटुतिक्तकम्' तक का यह डेढ़ श्लोक कुछ प्राचीन पाण्डुलिपियों में प्राप्त नहीं होता। इसीलिए श्रीजयदेव ने इसे कोष्ठक के भीतर रखा है। इसके आगे 'उग्रगन्धं' से लेकर 'शस्तं विशेषतः' तक के साढ़े तीन श्लोकों को कुछ प्राचीन टीकाकार अनार्ष कहते हैं।

एतानौषधयोगान् वा विधेयत्वमगच्छति ॥ ६३ ॥
अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत्।

उन्माद में अञ्जनादि प्रयोग—ऊपर कहे गये इन औषधयोगों का किसी कारण प्रयोग न हो सके तो उपर्युक्त द्रव्यों का अंजन, उत्सादन (उबटन), आलेपन (लेप) तथा नस्य के रूप में प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—श्री जयदेव के अनुसार ('औषधयोगान्' के स्थान पर 'औषधवर्गान्' पाठ है। ये अपनी टीका में टिप्पणी के रूप में एक श्लोक उद्धृत करते हैं, जो इस प्रकार है—'एतैरौषधवर्गैर्वा विधेयत्वं स गच्छति। अञ्जनोत्सादनालेपनावनादींश्च योजयेत्' ॥ चक्रः। किन्तु यह पद्य निर्णयसागर से प्रकाशित चक्रपाणि की टीका में उपलब्ध नहीं है। यही पद्य अ० सं० उ० अ० ९।३९ में भी दिया गया है।

शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं तगरं वचा ॥ ६४ ॥
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम्।

उन्माद में नस्य तथा अंजन—शिरीष के बीज, मुलेठी, हींग, लहसुन, तगर, बालवच एवं कूठ इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीसकर नस्य और अंजन के रूप में प्रयोग करें। इससे उन्माद रोग की शान्ति होती है।

तद्वद् व्योषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठाहिङ्गुसर्षपाः ॥ ६५ ॥
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्।

अन्य प्रयोग—उसी प्रकार व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), दोनों हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), मजीठ, हींग, सरसों, शिरीष के बीज—इन सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीसकर रख लें। इसका प्रयोग नस्य तथा अंजन के रूप में करने से उन्माद तथा ग्रहापस्मार का नाश होता है।

वक्तव्य—नस्य रूक्ष तथा स्निग्ध भेद से दो प्रकार के होते हैं। रूक्ष नस्य—कट्फल चूर्ण आदि। स्निग्ध नस्य—षड्बिन्दु तैल आदि। इसी प्रकार अंजन भी चूर्ण तथा वर्ति भेद से दो प्रकार के देखे जाते हैं। चूर्ण रूप में सुरमा आदि, वर्ति के रूप में चन्द्रोदयावर्ति आदि। सूखे अंजनों में भी मधु आदि मिलाकर लगाने का विधान है। अतः सभी प्रकार के नस्य तथा अंजनों को सुखा करके इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है। ध्यान रहे, यह इच्छा चिकित्सक की होगी न कि रोगी की।

पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गं[1] हिङ्ग्वालं हिङ्गुपत्रिकाम् ॥ ६६ ॥

१. 'मपामार्गहिङ्गुनी' इति पा०।

वर्तिः स्यान्मरिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोशृगालयोः। तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान् ॥
भूतार्तानमरार्तांश्च नरांश्चैव दृगामये।

अन्य प्रयोग—अपामार्ग (चिरचिटा) के बीज, हींग, हरताल, हिंगुपत्रिका—ये सभी द्रव्य १-१ भाग, कालीमिर्च आधा भाग, इन्हें एक साथ लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को गाय के पित्त तथा सियार के पित्त के साथ पीसकर वत्ती बनायें; इस वत्ती को पानी में घिसकर आँखों में लगायें। इसके प्रयोग से अपस्मार, भूतोन्माद तथा ज्वर (विशेषतः विषम-ज्वर) पीड़ा शान्त हो जाती है। विशेष करके भूत-प्रेत से पीड़ित अथवा देवादिग्रहों से पीड़ित रोगियों की आँखों में इसे लगाना चाहिए। अन्य नेत्र-रोगों में भी इससे लाभ होता है, किन्तु इसके लिए चिकित्सक से परामर्श लेना आवश्यक है।

मरिचं चातपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम् ॥ ६८ ॥
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः।

मरिचाञ्जन प्रयोग—कालीमिर्च के कपड़छन किये हुए चूर्ण को (ऊपर ६७ वें श्लोक में कहे गये) गाय तथा सियार के पित्त के साथ पीसकर एक मास-पर्यन्त इसे धूप में रखकर सुखा लें। इसका प्रयोग वात आदि दोषज उन्मादों में, भूतजनित उन्माद में, हतस्मृति (अपस्मार) रोग में जब कि रोगी विकृत रूपों को देखता हो तो उस स्थिति में करना चाहिए।

वक्तव्य—श्री जयदेव ने प्रतिदिन गाय तथा सियार के पित्त की भावना देकर मरिच चूर्ण को धूप में सुखाने की चर्चा की है, दाद के टीकाकारों ने भी उसे दुहराया है, किन्तु उक्त श्लोक में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे प्रतिदिन पित्त-युगल की भावना देना अर्थ प्राप्त होता हो। यहाँ 'मासम्' शब्द में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति निरन्तरता की सूचना देती है, अर्थात् एक मास तक प्रतिदिन इसे धूप में रखकर सुखायें, न कि प्रतिदिन भावना दें। देखें—**मासं कल्याणी**। सिद्धान्तकौमुदी-कारकप्रकरण। चक्रपाणि ने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है।

मरिच चूर्ण उष्णवीर्य होता है, ये दोनों (गाय तथा सियार के) पित्त भी उष्णवीर्य हैं। एक मास तक प्रतिदिन दो-दो पित्तों की भावना देकर तैयार किया हुआ यह अंजन कितना तीक्ष्ण होगा; चिकित्सक स्वयं विचार करें।

पित्त—इसका उत्पत्ति-स्थान यकृत् है तथा संचय पित्तकोष में होता है। यह भैंसा, सूअर, बकरा, मोर, कृष्णसर्प, रोहूमछली तथा बिल्ली आदि से प्राप्त किया जाता है। इसको पित्तगण कहते हैं। देखें—रसेन्द्रचूडामणि अ० ९। **पित्तपञ्चक**—मछली, गाय, घोड़ा, मनुष्य, मोर। देखें—रसार्णव० अ० ५। एलोपैथिक चिकित्सक शोधित वृषपित्त (Purifed ox-bile) का भी प्रयोग करते हैं।

निर्णयसागरीय प्रति तथा श्रीजयदेव की टीका वाली प्रति में **'मासं'** के स्थान पर **'मांसं'** पाठ है, जो विचारणीय है। अन्यत्र 'मासम्' पाठ ही है, जो प्रसंगोचित है।

वैकृतं पश्यतः—जो जैसा नहीं है उसको वैसा देखना, इस वाक्य का क्षेत्र है। जैसे—लाल को सफेद, काले को लाल देखना अथवा बड़े को छोटा, छोटे को बड़ा देखना आदि। ऐसी स्थितियों में उक्त अंजन का प्रयोग करना चाहिए।

सिद्धार्थको वचा हिङ्गु करञ्जो देवदारु च ॥ ६९ ॥
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम्।
समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम् ॥ ७० ॥
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम्। नस्यमालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा ॥७१॥
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः। भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते ॥७२॥

सिद्धार्थक अगद—पीली सरसों, बालवच, हींग, करंज बीज, देवदारु वृक्ष का सार भाग, मजीठ, त्रिफला, (हरड़, बहेड़ा, आँवला), श्वेता (अपराजिता) के बीज, कटभी (कंटकिशिरीष) की छाल, कटुत्रिक (सोंठ, मरिच, पीपल), प्रियंगु, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी—उक्त सभी द्रव्यों को समान परिमाण में

लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीसकर तैयार कर लें। यह सिद्धार्थ नामक अगद (औषध) है। इसका प्रयोग
पान, अंजन, नस्य, आलेपन (लेप), उबटन तथा स्नान के रूप में किया जाता है। इसका सेवन करने से
अपस्मार, विषज विकार, उन्माद, कृत्या (अभिचार-कर्म—मन्त्र द्वारा मारण आदि प्रयोग), अलक्ष्मी (कान्ति-
हीनता) तथा ज्वर रोग का नाश होता है। भूत-प्रेतजनित बाधाओं का शमन करता है। इस महत्त्वपूर्ण
अगद का सम्मान राजद्वार में भी होता है।

वक्तव्य—रोगनाशक द्रव्य-समूह से निर्मित पदार्थ को अगद, भैषज्य तथा औषध कहा जाता है। अन्यत्र
रोगमुक्त पुरुष के लिए भी 'अगद' शब्द का प्रयोग होता है। आयुर्वेद में **अगदतन्त्र** का महत्त्वपूर्ण स्थान
है। इसकी सीमा का निर्देश महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादि-
दष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च'। सु० सू० अ० १।६।

अगद-प्रयोग के प्रकार—१. पान—इस अगद को दूध में मिलाकर पिलाया जाता है। २. **अंजन**—
के लिए इसे बत्ती के आकार का बनाकर रखते हैं, जैसे—चन्द्रोदयावर्ति। ३. **नस्य** के लिए उक्त द्रव्यों का कल्क
बनाकर उसमें बकरे का मूत्र मिलाकर प्रयोग कराया जाता है। ४. **लेप** के लिए भी बकरे के मूत्र से युक्त
कल्क का ही प्रयोग होता है। ५. **उद्वर्तन**—इन्हीं के कल्क में सरसों का तेल मिलाकर उबटन लगाया
जाता है। ६. **स्नान**—इन सभी द्रव्यों के क्वाथ में बकरे का मूत्र मिलाकर रोगी को स्नान कराया जाता है।
इन विधियों से अपस्मार आदि उपर्युक्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

राजद्वारे च शस्यते—कुछ टीकाकारों ने सिद्धार्थकादि अगद का लेप लगाकर राजद्वार में जाने और
वहाँ जाकर सम्मान-प्राप्ति की चर्चा की है, जो बुद्धिगम्य नहीं हो रही है। बकरे के मूत्र की उग्र गन्ध से सभी
चिकित्सक परिचित हैं। राजद्वार की शालीनता भी किसी से छिपी नहीं है, फिर भी इसका सम्मान ! हमारे
विचार से सिद्ध औषधों का सम्मान राजद्वार में भी होता है, क्योंकि इस प्रकार के औषधयोग सद्यःफलप्रद होते
हैं। उन्हीं में से एक सिद्धार्थकादि अगद भी है। अतः राजद्वार के किसी उन्मत्त की इस अगद द्वारा चिकित्सा
करने से चिकित्सक को यश मिल सकता है, यही तात्पर्य तन्त्रकार का है। चक्रपाणि ने इस योग को वशीकरण
कहा है। आप प्रयोग करके देखें कि सचमुच इसका उक्त प्रभाव है या नहीं।

वृद्धवाग्भट ने इसे सिद्धार्थक सर्पि नाम दिया है, जैसा कि अगली पंक्ति में महर्षि आत्रेय ने भी स्वीकार
किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ८।१३-१७। तीसटाचार्य ने भी इसे घृत के नाम से ही अपने ग्रन्थ
'चिकित्साकलिका' में दिया है। आचार्य चन्द्रट ने अपनी टीका में इस घृत के प्रत्येक कल्क द्रव्य को १ कर्ष
परिमाण में लेने की चर्चा की है। वे 'कटभीत्वक्' से 'शालपर्णी' का ग्रहण करते हैं, वास्तव में कटभी=
श्वेतशिरीष ही है। देखें—'शिरीषो विषघ्नानाम्'। च० सू० अ० २५।

सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत्।

सिद्धार्थक घृत—अथवा उपर्युक्त अगद में कहे गये द्रव्यों के कल्क और गोमूत्र के साथ यथाविधि तैयार
किया हुआ यह घृत ऊपर कहे गये सभी गुणों को देने वाला कहा गया है।

प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्तिं कृतां पिबेत् ॥ ७३ ॥
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः।

धूमपान-प्रयोग—उन्माद रोगी के मुख से यदि लार चू रही हो अथवा उसे पीनस (प्रतिश्याय)
रोग हुआ हो तो वैरेचनिक धूम-प्रकरण में निर्दिष्ट गन्ध-द्रव्यों अथवा हींग सहित श्वेता आदि द्रव्यों द्वारा
निर्मित धूमवर्ति (बीड़ी या सिगरेट) को पिलायें, अर्थात् उसका धूमपान करायें।

वक्तव्य—'गन्धैः धूमवर्तिं कृतां पिबेत्'—इस ग्रन्थांश को लगाने के लिए चक्रपाणि ने लिखा है—'गन्धै-
रिति अगुर्वाद्यैस्तगरवर्जितैः'। उक्तं हि सूत्रस्थाने धूमविधौ—'गन्धाश्चागुरुपत्राद्याः'। च० सू० अ० ५।२६।
चरक-चिकित्सास्थान अ० ३।२६७ में ज्वर-रोग की शान्ति के लिए 'अगुर्वादि तैल' का उल्लेख है। इसमें आप
देखें—अगुरु, कुष्ठ, तगर तथा पत्र आदि की गणना की गयी है। तन्त्रकार को यहाँ कुष्ठ और तगर इन दो द्रव्यों
की अपेक्षा नहीं है, अतएव उन्होंने अगुरु के बाद पत्र आदि का ग्रहण किया है।

वास्तव में कुष्ठ तथा तगर ये दोनों द्रव्य अत्यन्त तीक्ष्ण प्रभाव वाले होते हैं। इसी दृष्टिकोण से चक्रपाणि
लिखते हैं—'कुष्ठतगरयोरतितीक्ष्णत्वेन मस्तुलुङ्गकस्रावभयात् परिहारार्थम्'। वक्ष्यति च त्रिमर्मीये—'धूमवर्तिं
पिबेद् गन्धैरकुष्ठतगरैस्तथा'। च० चि० अ० २६।१८२। शालाक्यतन्त्र में भी कहा गया है—'नतकुष्ठे स्रावयतो
धूमवर्तिप्रयोजिते। मस्तुलुङ्गं विशेषेण तस्मात् तेनैव योजयेत्' ॥ इसी का समर्थन आचार्य निमि ने इस प्रकार
किया है—'धूमो हि नतकुष्ठाभ्यां विलालयति शक्तितः। मस्तिष्कं तद्धि विष्यण्णं नाशाय प्रतिपद्यते' ॥ निमितन्त्र।
महर्षि सुश्रुत के अनुसार—'तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन श्लक्ष्णपिष्टेन'। सु० चि० अ० ४०।४।

श्वेताद्यैः—'श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनः शिला'। च० सू० अ० ५।२६। श्वेतादि शब्द से उपर्युक्त
चार द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है। इनमें हींग मिलाकर धूमवर्ति का निर्माण किया जाता है।

शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकवस्तजैः ॥ ७४ ॥
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च। सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ॥७५॥
वातश्लेष्मात्मके प्रायः—

वात-कफज उन्माद की चिकित्सा—प्रायः वातज तथा कफज उन्माद रोग में साही उल्लू, मार्जार
(बिलार), सियार, वृक (भेड़िया), बकरा—इन प्राणियों के मूत्र, पित्त, विष्ठा, लोम, नख, चर्म से सेक
(स्नान), अंजन, प्रधमन, नस्य तथा धूम का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ९।४८ में 'मार्जार' के स्थानपर वृद्धवाग्भट ने 'जतुका' पाठ-भेद किया
है तथा अ० हृ० उ० अ० ६।४२-४३ में 'जलौका' पाठ दिया है। **साही** (Porcupine)—इसे संस्कृत में
शल्लक, शल्य या शल्लकी भी कहते हैं। इसके शरीर पर सफेद तथा काले रंग के काँटेदार रोम होते हैं। पूँछ
पर के काँटे खोखले होते हैं। यह उनमें पानी भरकर रविवार तथा बुधवार को अपना दरवाजा सूर्योदय से पहले
लीपता है। यह इस प्राणी का जन्मजात संस्कार है, इसी लक्षण को देखकर शिकारी इसे मारते हैं।

सेक—उपर्युक्त प्राणियों के मूत्रों से स्नान कराना या शरीर पर सिंचन करना या छिड़कना।

प्रधमन—नस्य रेचन तथा स्नेहन भेद से दो प्रकार का होता है। रेचन नस्य के पुनः दो भेद होते
हैं—१. अवपीड़ एवं २. प्रधमन। **परिचय**—'षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत्। तीक्ष्णं कोलमितं
वक्त्रवातैः प्रधमनं हि तत्' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ८।१३।

प्रधमन के योग्य रोग—'अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते। चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं
यतः' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ८।१७।

—पैत्तिके तु प्रशस्यते। तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ॥७६॥
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि [1]मृदूनि च।

पित्तज-उन्माद चिकित्सा—पित्त-जनित उन्माद में तिक्तक घृत (कुष्ठ अधिकार च० चि० अ० ७ श्लोक
१४४-१५० में वर्णित महातिक्तक घृत), जीवनीय घृत (वातशोणित चि० अ० २९ में कहा जायेगा), मिश्रक स्नेह
(गुल्म चि० अ० ५ में कहा जा चुका है) एवं शीतल, मधुर और मृदु अन्न-पान का प्रयोग हितकर होता है।

शङ्खकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम्।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ ७७ ॥

उन्माद में सिरामोक्षण—अथवा सिरामोक्षण क्रिया में कुशल चिकित्सक को चाहिए कि वह उन्माद
रोग, विषमज्वर तथा अपस्मार रोग में शंख (केशान्तसन्धि) प्रदेश की सिरा का वेध करे।

वक्तव्य—सिरामोक्षण के सम्बन्ध में कविराज गणनाथ सेन द्वारा प्रयुक्त पाठ 'शङ्खकेशान्तसन्धौ'
अधिक उपयुक्त है। श्रीजयदेव ने इसके स्थान पर 'शङ्खे केशान्तसन्धौ' ऐसा पाठ स्वीकारा है, जो भ्रामक
है। 'वा' इस अव्यय का अन्वय ऊपर के पद्य के साथ लग जायेगा। यथा—सेक, अञ्जन आदि प्रयोग करें
अथवा सिरामोक्षण करें, किन्तु केवल 'केशान्तसन्धि' को आप कहाँ-कहाँ ढूँढेंगे ?

---

१. 'लघूनि' इति पा०।

शङ्खकेशान्तसन्धिः—इसका एक निश्चित स्थान है। यदि हम शङ्ख-प्रदेश और केशान्तसन्धि दो शब्दों का अलग-अलग प्रयोग करेंगे तो 'केशान्तसन्धि' का स्थान अनिश्चित हो जायेगा। अतएव आचार्य चक्रपाणि ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—'शङ्खेन केशान्तेन च समं सन्धिः—शङ्खकेशान्तसन्धिः, तत्र च प्रत्यासन्नमर्मपरित्यागेन सुश्रुतोक्तं सिराविभागमवलोक्य शिराव्यधः कर्तव्यः'।

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत् सुखम्।
त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा [1]प्रमुच्यते ॥ ७८ ॥

उन्माद में घृत-मांस-प्रयोग—अथवा उन्माद के रोगी को घृत-मांस से विशेष तृप्त कराकर हवा रहित स्थान (घर) में सुखपूर्वक रखें। ऐसा करने से वह मतिभ्रंश (बुद्धि-विकार) तथा स्मृतिभ्रंश (स्मरणशक्ति के विकार) से छूट कर उचित ज्ञान को प्राप्तकर उक्त रोग से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ 'घृतमांस' के प्रयोग की विधि का निर्देश नहीं किया गया है। जैसे—पकी हुई दाल में कच्चा घी डालकर खाया जाता है, एक प्रकार यह भी हो सकता है कि पके हुए मांस में पर्याप्त घी मिलाकर रोगी को दिया जाये, अथवा पर्याप्त घी में मांस को पका (भून) कर खाने के लिए रोगी को दें।

निर्णयसागरीय प्रति की टिप्पणी में इस प्रकार उद्धृत किया है—'अन्ये तु मांससेवया उन्मादो भवतीति निवृत्तामिषमद्यो य इत्यनेनोच्यते। सोपदंशं तु मांसमुन्मादप्रशमनमिति भिन्नविषयतया न विरोध इति वर्णयन्ति'। 'वितृप्त' का अर्थ है—विशेषरूप से पेट भरा हुआ। 'स्थापयेत्' के स्थान पर अन्यत्र 'स्वापयेत्' पाठ मिलता है।

तन्त्रान्तर में उक्त पाठ इस प्रकार मिलता है—'सम्भोज्य पिशमांसं वा निवाते स्वापयेत् सुखम्। त्यक्त्वा स्मृतिमतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते'॥ इसी आशय का एक पद्य अष्टांगसं० उ० अ० ९।५२ तथा अ० हृ० उ० अ० ६।४६ में देखें—'विध्येच्छिरां यथोक्तां वा तृप्तं मेद्यामिषस्य वा। निवाते शाययेदेवं मुच्यते मतिविभ्रमात्'॥ इसमें मेद्यमांस (जो मेदा को बढ़ाने में समर्थ हो) सेवन का विधान है। यही कार्य 'घृतमांस' सेवन से भी होता है। 'प्रमुच्यते' क्रिया का सम्बन्ध 'रोगात्' से है।

आश्वासयेत् सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः। ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ॥७९॥

उन्माद में आश्वासनादि प्रयोग—अथवा उस उन्माद के रोगी का जो सुहृद् (जो रोगी का हृदय से भला चाहता) हो वह धर्म और अर्थ युक्त वचनों द्वारा उसे आश्वासन दे। अथवा वह जिसे अपना समझता हो उसके विनाश (मृत्यु) की सूचना दे अथवा उसे कुछ ऐसी घटनाएँ दिखलाये जिससे वह अपनी सुध-बुध खोकर उन आश्चर्यजनक घटनाओं को देखने लग जाये।

वक्तव्य—उन्माद रोगी के लिए अथवा कष्ट में पड़े हुए किसी व्यक्ति के लिए सुहृद् के सहयोग का बड़ा महत्त्व होता है। यहाँ तन्त्रकार ने सुहृद् के अन्य मित्र आदि पर्यायों का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया है। सुहृद् का प्रथम लक्षण है—'ययोश्चित्तेन वा चित्तं···तयोर्मैत्री न जीर्यति'। सुभाषित। अस्तु, यहाँ 'आश्वासयेत्, ब्रूयात् तथा दर्शयेत्' इन तीनों क्रियाओं का कर्ता 'सुहृत्' ही है। अतः यहाँ वे ही वाक्य धर्मसंहित हैं, जिनसे उन्माद रोगी आश्वस्त हो जाये और यहाँ अर्थसंहित वाक्य भी वे ही हैं, जिनसे रोगी रोगमुक्त हो जाये, क्योंकि सुहृत् का यही धर्म है और यही उसका रोगी मित्र से अर्थ=स्वार्थ है।

यदि इस युक्ति से लाभ न हो तो सुहृद् के हित के लिए इष्ट-विनाश रूप मिथ्या-भाषण भी करे, जब कि अन्य अवस्थाओं में झूठ बोलना धर्मसंहित वाक्य नहीं है। **इष्ट**—इस शब्द का अर्थ है—प्रियजन या इच्छित वस्तु। किसी को पति, पत्नी, पुत्र, बन्धु, बान्धव, धन अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रिय होते हैं। यथा—'कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम'। रामायण। इस प्रकार जिसे जो अधिक प्रिय हो उसके विनाश की सूचना दें, जिससे उसका ध्यान रोग से हटकर दूसरी ओर हो जाये।

अद्भुतदर्शन—यह प्रकार भी रोगी के ध्यान-परिवर्तन में सहायक होता है, इन्द्रजाल (जादू) दिखलाकर रोगी का ध्यान कुछ समय के लिए दूसरी ओर बदल दिया जाता है, क्योंकि इसमें अलौकिक घटनाओं का प्रदर्शन किया जाता है। इन सभी उपायों से रोगी की लुप्त-सुप्त विचारशक्ति पुनः जागृत हो जाती है।

---

१. 'प्रबुध्यते' इति पा०।

बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद् वोत्तानमातपे। कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत् ॥८०॥

उन्माद रोगी को त्रास देना—अथवा उन्माद रोगी को सरसों का तेल लगाकर और बाँधकर धूप में उत्तान (पीठ के बल) लिटा दें। अथवा किंवाँच की भूसी उसके शरीर पर चुपड़ दें। अथवा तपायी हुई लोहे की छड़ों का, गरम किये हुए तेल अथवा गरम किये हुए जल का स्पर्श करायें, जिससे वह होश में आ सके।

वक्तव्य—बाँधने के लिए निवार आदि मुलायम साधन का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा उन-उन बंधे अवयवों पर घाव हो सकते हैं। तेल लगाकर बांधने से बधे हुए अवयवों पर सहसा रगड़ नहीं लग पायेगी, धूप में सुलाने से भी उसे लाभ ही होगा। अकेले मुझे बाँध दिया है! इसका आतंक उसके मन में हो जायेगा। कपिकच्छु (किंवाँच) की भूसी खुजलाहट पैदा करती है, जिससे घबड़ाहट ही होती है। यही स्थिति तपी हुई लोहशलाका, तेल और जल के स्पर्श कराने से भी होती है। इन सभी उपचारों या उपायों से रोगी होश में आ जाता है।

कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे। रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य तथा शमम् ॥

उन्माद में ताड़न-प्रयोग—अथवा उन्माद रोगी को भली-भाँति बाँधकर चाबुकों से पीटकर शून्य घर (या कमरे) में बन्द कर दें (इस बात का ध्यान रहे कि उसमें खिड़कियाँ अवश्य हों)। ऐसा करने से रोगी का विशेष रूप से चंचल हुआ चित्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्। त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥८२॥

उन्माद में भय-प्रयोग—अथवा जिसके जहरीले दाँत निकाल दिये हों, ऐसे साँप द्वारा तथा दान्त (जिनको वश में कर लिया गया है, ऐसे) शेरों, हाथियों, हाथ में शस्त्र लिये हुए शत्रुओं और चोरों द्वारा उस (उन्माद रोगी) को भयभीत करायें।

वक्तव्य—अन्यत्र 'दान्त' शब्द का अर्थ है—'तपस्या के कष्ट को सहने वाला'। किन्तु यहाँ 'वश में किया हुआ' यही अर्थ सर्वथा प्रसंगोचित है। वृद्धवाग्भट ने आयुर्वेद के अष्टांगों का वर्णन करते समय अगदतन्त्र को 'दंष्ट्रा' शब्द द्वारा संकेतित किया है। साँपों के इन विषैल दाँतों को सपेरे उखाड़ देते हैं, फिर भी सर्प का आतंक तो बना ही रहता है। देखें—'निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा। विषमस्तु न वाप्यस्तु फणाऽऽटोपो भयङ्करः'॥ चाणक्यनीति। वश में किये गये शेर, बाघ, हाथी आदि प्राणी वैसे हिंसक नहीं रह जाते, यह सर्वविदित है। फिर भी उनसे भय तो लगता ही है।

अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्। त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥८३॥

उन्माद रोगी को त्रास देना—अथवा राजपुरुष (सिपाही) राजा की आज्ञा सुनकर उस रोगी को भली-भाँति बाँधकर, घर से बाहर ले जाकर, डाटते-फटकारते हुए मार देने की धमकी देकर डरायें।

वक्तव्य—यहाँ राजा की आज्ञा, सिपाहियों का स्वरूप, मृत्युदण्ड का भय—ये सभी यद्यपि कृत्रिम हैं, किन्तु इनका मूल उद्देश्य है, रोगी को घबड़ाहट पैदा करके उसे वास्तविक स्थिति में लाकर स्वस्थचित्त बना देना।

देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम्। तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥८४॥

उन्माद में ताड़नादि का हेतु—शरीर को जितने प्रकार से दुःख दिया जा सकता है और उन दुःखों से होने वाले भयों से प्राणभय (मृत्युभय) सबसे बड़ा होता है। (प्राणिमात्र को अपने प्राण सबसे अधिक प्रिय होते हैं) अतएव ऊपर कहे गये भयोत्पादक कारणों से जब उन्माद के रोगी को अपने प्राणों का भय दिखलायी देने लगता है, तब उसका चारों ओर (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के ग्रहण) से भटक कर इधर-उधर गया हुआ मन एकाएक शान्ति को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अपना काम करने लग जाता है। अतएव ताड़न आदि (श्लोक ७९ से लेकर ८३ तक की विधियाँ) का प्रयोग इस प्रकरण में कहा गया है।

इष्टद्रव्यविनाशात् तु मनो यस्योपहन्यते। तस्य तत्सदृशप्राप्तिसान्त्वाश्वासैः शमं नयेत् ॥८५॥

सान्त्वना आदि का प्रयोग—इष्ट (इच्छित) द्रव्य के विनाश हो जाने से जिस पुरुष के हृदय पर आघात लगा हो, उसी के कारण जिसको उन्माद रोग हो गया हो, उसको तदनुरूप उसके प्राप्ति की सान्त्वना तथा आश्वासन दिलाकर उसे उसके प्रति आश्वस्त कर.कर उसके हृदय को शान्ति पहुँचाये।

वक्तव्य—श्लोक ७९ के विपरीत परिस्थिति में इसका प्रयोग किया जाता है। यहाँ वास्तविक इष्ट द्रव्य (धन, पति, पुत्र, कलत्र) आदि का विनाश होने से ही उन्माद रोग की उत्पत्ति हुई है। अतः जिसके जिस प्रकार के इष्ट द्रव्य का विनाश हुआ हो, उसे उसी प्रकार के द्रव्य की प्राप्ति का आश्वासन देना चाहिए। यदि धन का नाश हुआ हो तो उससे कहें कि अभी आपकी जीवन बीमा की पालिसी मिलेगी, इस बार की लाटरी का प्रथम पुरस्कार आपको ही मिलने वाला है, आदि-आदि।

कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान् । परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥८६॥

परस्पर विरोधी भावों द्वारा चिकित्सा—यदि काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष (प्रसन्नता), ईर्ष्या तथा लोभ के कारणों में किसी एक कारण से उन्माद रोग की उत्पत्ति हुई हो तो इनके परस्पर विरोधी भावों को पैदा कराकर उन्माद रोग को शान्त कराना चाहिए।

वक्तव्य—उन्माद एक मानसिक व्याधि है। अतः काम, शोक आदि उपर्युक्त किसी भी कारण से जब मनोभिघात होता है, तो उससे उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है। 'निदान-परिवर्जन' चिकित्साशास्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त है। यहाँ उसी विषय को 'परस्पर प्रतिद्वन्द्व' भावों को उत्पन्न कराकर उनकी चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है, यथा—कामज उन्माद की चिकित्सा क्रोध को उत्पन्न कराकर करनी चाहिए, क्रोधज की काम से, शोकज की हर्ष से, हर्षज की शोक से, ईर्ष्याजनित की लोभ से, लोभज की ईर्ष्या से चिकित्सा करें, न केवल प्रतिद्वन्द्वी भावों की उत्पत्ति कराकर ही इनकी चिकित्सा की जा सकती है, अपितु उक्त जिन-जिन कामादि भावों की उग्रता के कारण उन्माद-रोग की उत्पत्ति हुई हो, उनकी शान्ति का भी यथोचित उपाय करना चाहिए, क्योंकि कामज उन्माद की दस दशाओं में अन्तिम एक दशा मृत्यु भी है। चरक के इस ८६वें श्लोक को वाग्भट ने भी अविकल रूप में उद्धृत किया है। देखें—अ० हृ० उ० अ० ६।५४।

प्राचीन तपःपूतान्तरात्मा महर्षियों ने जिस विषय का उपदेश प्रारम्भ किया उसे सांगोपांग ही कहा; यही कारण है कि उनके तन्त्रों में शाश्वतसत्यवचनों का किसी न किसी रूप में आदर हुआ है। आयुर्वेदवाङ्मय के अत्यन्त ज्वलन्त नक्षत्रों में चरक तथा सुश्रुत अपने-अपने सम्प्रदाय के परमादरणीय आचार्य हैं। यही कारण है कि इनके अनेक विचार अनेक स्थलों पर बिना मतभेद के मिलते हैं। फिर भी दोनों के दृष्टिकोण मूलतः भिन्न हैं। महर्षि आत्रेय ने 'इह खलु पञ्चोन्मादा भवन्ति' (च० नि० अ० ७।३) कहा है। इस सूत्र का आगे विस्तार करते हुए वे कहते हैं—'तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वारः पुरुषाणामेवंविधानां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते; तद्यथा—भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वानामुत्सन्नदोषाणां समलविकृतोपहितान्यनुचितान्याहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगमपि विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां व्याधिवेगसमुद्भ्रमितानामुपहतमनसां वा कामक्रोधलोभहर्षभयमोहायासशोकचिन्तोद्वेगादिभिर्भूयोऽभिघाताभ्याहतानां वा मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम्'। इस विस्तृत विवेचन को देखे बिना परवर्ती कतिपय टीकाकार चरक की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में चिन्तित होकर उसका समन्वय करने बैठ गये।

महर्षि सुश्रुत ने भी प्रारम्भ में उन्माद को पाँच प्रकार का ही कहा है, छठे भेद की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—'विषाद् भवति षष्ठश्च'। देखें—सु० उ० अ० ६२।४-५। इन्होंने भी उन्माद का पाँचवां भेद 'मानसेन च दुःखेन' को ही माना है। उपर्युक्त काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक दुःख ही कहे जाते हैं। कुछ विद्वान् टीकाकारों ने काम-शोक-भय आदि मनोवेगों का वात आदि दोषों में अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है, वह सर्वथा शास्त्रसम्मत है। यह भी सत्य है कि उक्त काम आदि मानसिक वेग परस्पर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) होते हैं।

बुद्ध्वा देशं वयं सात्म्यं दोषं कालं बलाबले । चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोषजे ॥८७॥

भूतज, दोषज उन्माद-चिकित्सा-सूत्र—वे भले ही वात आदि दोषज उन्माद हों अथवा देवादि भूतों के आवेश के कारण उत्पन्न उन्माद हों; इनमें देश (अनूप, जांगल, साधारण), वय (रोगी की अवस्था), सात्म्य (कौन-सी चिकित्सा किसके लिए अनुकूल है और किसके लिए नहीं है), दोष (वात, पित्त, कफ) तथा काल इनकी प्रधानता तथा अप्रधानता का भली-भाँति विचार करके ऊपर कही गयी उन्माद सम्बन्धी सभी प्रकार की चिकित्साएँ करनी चाहिए।

देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान् । वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ॥८८॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदु भैषज्यमाचरेत् । पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा ॥८९॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च । वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत् ॥

भूतोन्माद में ताडन आदि का निषेध—देव, ऋषि, पितर तथा गन्धर्व इनमें से किसी ग्रह के आवेश होने से उन्मत्त रोगी की चिकित्सा में बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह पहले कहे गये तीक्ष्ण अञ्जन, नस्य, धूप आदि का प्रयोग एवं क्रूर कर्म (डराना, मारना, पीटना, बाँधना आदि) का प्रयोग न करे। अपितु इनके लिए पुराने घृतों तथा हिंग्वादि घृतों (जिनका उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है) का पान तथा सभी प्रकार के मृदुवीर्य औषधयोगों का प्रयोग कराना चाहिए। और शास्त्रविहित पूजा, बलि, उपहार, मन्त्र, अञ्जन-विधि, शान्तिकर्म (शान्तिपाठ), इष्टि (याग), होम, जप, स्वस्त्ययन (स्वस्तिवाचन), वेदोक्त नियमों तथा प्रायश्चित्तों का भी आचरण करे; यदि सम्भव हो तो रोगी से करायें।

वक्तव्य—ऊपर सौम्य तथा उग्र चिकित्सा-विधियों का वर्णन किया जा.चुका है। यहाँ तदनुसार सौम्य एवं उग्र भूतों का निर्देश किया जा रहा है। **सौम्यभूत**—देव, ऋषि, पितर, गन्धर्व, गुरु, वृद्ध, सिद्ध। **उग्र अथवा क्रूर भूत**—यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि। वाग्भट ने कहा है कि पिशाच नामक भूतों से अतिरिक्त भूतों के लिए प्रतिकूल कर्मों को न करें। क्योंकि वे अतिशक्तिशाली होते हैं, किसी कारण वे क्रुद्ध हो जाते हैं तो वैद्य सहित रोगी का भी वध कर डालते हैं। देखें—अ० हृ० उ० अ० ५।४९। इसी विषय का समर्थन सुश्रुत ने भी किया है। देखें—सु० उ० अ० ६०।५५। अमरकोषकार ने देवयोनि के रूप में विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, रक्षस्, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध इनकी गणना की है। अमरकोष-स्वर्गवर्ग १।११। पिशाचों का विशेष परिचय देखें—ब्रह्माण्डपुराण—३.७, ३०३, ३७६–४११। ८.७१। भागवत—१.१५.४३, २.६.४३, १०.६.३८, ५.८.२५। १०.६.२७। कलियुग के मनुष्य भी ऐसे ही होते हैं। देखें, भागवत—१२.३.४०।

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् । पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥९१॥

भूतोन्माद की दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा—उन्माद रोग से पीड़ित पुरुष पवित्रतापूर्वक भूतों के अधिपति (स्वामी) तथा संसार के स्वामी दिव्यगुणों से सम्पन्न शिव जी की प्रतिदिन पूजा करता हुआ उन्मादरोग-जनित भय से मुक्त हो जाता है।

रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये । तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यः प्रमुच्यते ॥९२॥

उन्माद में रुद्रगणों की पूजा—रुद्र (शिवजी) के प्रमथ नामक गण जो सभी लोकों में विचरण करते रहते हैं, उनकी पूजा करनेवाला व्यक्ति सभी प्रकार के (भूतज) उन्मादों से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—शिव के उग्रस्वरूप को रुद्र कहा गया है। इस अवसर पर उनकी सेवा करनेवालों को प्रमथ कहते हैं। दूसरे विचारक इन्हें रुद्र का पारिषद कहते हैं। भागवत तथा वायुपुराण के अनुसार इनकी संख्या छत्तीस करोड़ है। देखें, भागवत—४.२.१५, ५.५.२१। वायु०—३९.४३, ७२.५०। ये दुष्ट दृष्टिवाले तथा क्रूर पशुओं की जैसी मुखाकृति वाले होते हैं।

बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोषध्यगदधारणैः । सत्याचारतपोज्ञानप्रदाननियमव्रतैः ॥९३॥
देवगोब्राह्मणानां च गुरूणां पूजनेन च । आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥९४॥

आगन्तुज उन्माद की चिकित्सा—विविध प्रकार के बलि-कर्म, मंगलाचार, होम, रोग-प्रतिरोधक ओषधियों का धारण, अगद (विषनाशक ओषधियों का) धारण, सत्यभाषण, सदाचार (सद्वृत्त) का पालन, तपस्या, आध्यात्मिक ज्ञानप्रद विषयों का उपदेश, दान, नियम तथा व्रतों का आचरण, देवता, गाय,

ब्राह्मण तथा गुरुजनों का पूजन, सिद्धमन्त्रों एवं सद्यःफलप्रद औषधयोगों के प्रयोगों से आगन्तुज उन्माद शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—रोगी के शुभचिन्तक को इन कृत्यों का आचरण स्वयं करना चाहिए अथवा उसके किसी अन्य आत्मीय व्यक्ति द्वारा कराना चाहिए। बहुज्ञ एवं बहुश्रुत चिकित्सक ही इन सब कृत्यों का विधिवत् उपदेश रोगी को कर सकता है। यह उन्माद रोग की दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा है।

यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिदपस्मारचिकित्सिते । उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः ॥९५॥

उन्माद-अपस्मार में चिकित्सा-साम्य—अपस्मार रोग की जो कुछ चिकित्सा आगे (च० चि० अध्याय १० में) कही जायेगी, वही उन्माद रोग में भी करनी चाहिए, क्योंकि उन्माद रोग और अपस्मार रोग के वातादि दोष तथा दूष्य (हृदय, मन, बुद्धि) ये समान ही होते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार का यह संकेत, आगे अपस्मार रोग की चिकित्सा के लिए कहे गये योगों का भी प्रयोग करना चाहिए, मात्र इतने के लिए है।

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः । निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥

उन्माद में हित सेवन—जो व्यक्ति मद्य-मांस का सेवन नहीं करता, जो हितकर आहारों का सेवन करता है, जो प्रतिदिन पवित्र आचरण वाला होता है और जो सत्त्वगुण-सम्पन्न होता है, वह निज तथा आगन्तुक उन्मादों से युक्त नहीं होता है।

वक्तव्य—उन्माद रोग के कारणों का निर्देश करते हुए 'विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि' को प्रधान अथवा प्रमुख कारण बतलाया गया है। धर्मशास्त्र की दृष्टि से मद्य और मांस दुष्ट एवं अशुचि भोजन की परिधि में आते हैं। इसी अध्याय के ७८वें श्लोक में कथित 'घृतमांस' सेवन-विधान एक विशेष विधि है। इस पर आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'मांसं च यद्यपि '**निवृत्तामिषमद्यो यः**' इत्यादिनोन्मादे निषिद्धं, तथाऽप्येवंविध-प्रयोगेण मांसस्य यौगिकत्वमाह'। अन्ये तु निवृत्तमांसत्वमागन्तून्मादप्रशमनमिति व्याख्यानयन्ति'। तेनेह निजे मांसविधाने भिन्नविषयतया न विरोध इति वर्णयन्ति'।

उपदंश शब्द का अर्थ रोग-विशेष तथा भक्ष्य पदार्थ (पकौड़ी या बड़ा) होता है। मांस के क्षेत्र में शूल्यमांस जो लोहे की सींक या शलाका में पिरोकर पकाया जाता है, उसको 'उपदंश' कहते हैं।

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा । धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥९७॥

उन्मादरोग-मुक्त का लक्षण—इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, बुद्धि, आत्मा, मन, इनमें प्रसन्नता (मलिनता का अभाव), धातुओं (वात आदि दोषों) का अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाना या हो जाना—ये सब लक्षण उन्माद रोग से मुक्त पुरुष में देखे जाते हैं।

तत्र श्लोकः—

उन्मादानां समुत्थानं लक्षणं सचिकित्सितम् । निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सास्थाने
उन्मादचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—यहाँ एक श्लोक कहा गया है—उत्तम चिकित्सक भगवान् आत्रेय ने निज (दोषज) तथा आगन्तुज (भूतज) उन्मादों के कारणों, लक्षणों और उनकी चिकित्सा-विधियों का उपदेश इस अध्याय में किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ॰ ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में उन्माद चिकित्सित नामक नवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

उन्माद-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ अपस्मार-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—रोगों की प्रथम उत्पत्ति के समय उन्माद के साथ उत्पन्न होने के कारण उसी क्रम से उन्माद के अनन्तर अपस्मार रोग की चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। यही क्रम निदानस्थान में भी तन्त्रकार ने अपनाया है, किन्तु सुश्रुतसंहिता उत्तरतन्त्र में पहले अपस्मार फिर उन्माद का वर्णन है। स्मृति (स्मरण) तथा भूतार्थ (अनुभव किया हुआ विषय) इनके ज्ञान का नष्ट होना या भूल जाना अपस्मार रोग का प्रधान लक्षण है। अपस्मार शब्द की निरुक्ति—'अपगता स्मृतिः यत्र स अपस्मारः'। इसी को मिर्गी या एपिलेप्सी (Epilepsy) भी कहते हैं।

एलोपैथिक सिद्धान्त के अनुसार अपस्मार (एपिलेप्सी) के निम्नलिखित भेद होते हैं—१. सतत आंशिक अपस्मार २. उदरीय अ०, ३. अगतिक अ०, ४. एल्कोहली अ०, ५. हृद् अ०, ६. कैराटिड साइनस अ०, ७. केन्द्रीय अ०, ८. अन्तराग्रमस्तिष्कीय अ०, ९. विकारस्थानी अ०, १०. विकारस्थानी प्रेरक अ०, ११. विकारस्थानी संवेदी अ०, १२. विकारस्थानी लाक्षणिक अ०, १३. अधश्चेतक अ०, १४. हिस्टीरिकल अ०, १५. अज्ञात-हेतुक अ०, १६. जैक्सोनिन अ०, १७. गुरु अ० १८. आर्तव अ०, १९. पेशी अवमोटिनी अ०, २०. प्रकाश-जनित अ०, २१. वर्धी पारिवारिक पेशी अवमोटिनी अ०, २२. प्रतिवर्त अ०, २३. द्वितीयक (आंगिक) अ०, २४. शंखखण्ड अ०, २५. चेतक अ० तथा २६. चेतक-अधश्चेतक अपस्मार।

संक्षिप्त संदर्भ-संकेत—च० नि० अ० ८ में, च० चि० अ० १० में, सु० उ० तं० अ० ६१ में, अ० सं० उ० अ० १० में तथा अ० हृ० उ० अ० ७ में देखें।

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः । तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसम्प्लवात् ॥३॥

अपस्मार की निरुक्ति—चिकित्साशास्त्र को जानने वाले विद्वानों ने स्मृति (याददाश्त या स्मरण-शक्ति) के अपगम (विनाश हो जाने) को अपस्मार कहा है। इस रोग में भी (धारणाशक्ति युक्त बुद्धि) और सत्त्व (मन) के विकृत हो जाने के कारण रोगी की आँखों के सामने अँधेरा आ जाता है या वह अपने को अन्धकार में प्रवेश होते जैसा अनुभव करता है तथा अनेक प्रकार की बीभत्स (घृणित) चेष्टाएँ करने लगता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने अपस्मार की निरुक्ति इस प्रकार की है—'स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत् परिवर्जनम्। अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत्' ॥ सु० उ० तं० अ० ६१।३। इन्होंने भूतार्थविज्ञान को स्मृति कहा है, अप का अर्थ है उस (स्मृति) का परिवर्जन (त्याग या अभाव)। परिभाषाएँ दोनों की ही युक्ति-युक्त हैं। भूतार्थविज्ञान को अन्नम्भट्ट ने भी स्मृति कहा है। यथा—'अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'। तर्कसंग्रह। साहित्य-शास्त्र में स्मरण नाम का एक अलंकार भी है, इस दृष्टि से अपस्मार रोगी अलंकार विहीन विधवा या विधुर जैसा होता है। अतः बुद्धि, स्मृति, ज्ञान से यह रोगी पुनः समृद्ध हो जाये अर्थात् नीरोग हो जाये, यही इस अध्याय की उपयोगिता है, क्योंकि पशु-धरातल से मनुष्य को अलग करने में मात्र ज्ञान ही कारण होता है और अपस्मार रोग में उसी ज्ञान का अभाव हो जाता है।

विभ्रान्तबहुदोषाणाम[1]हिताशुचिभोजनात् । रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि ॥४॥
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा । मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते ॥५॥

१. 'महिताशुचिभोजिनाम्' इति पा०।

अपस्मार के कारण—जिन पुरुषों के वात आदि दोष विपरीत मार्गों में भ्रमण करने के कारण शरीर के ऊपरी भागों में विचरण कर रहे हों और दोष अपनी सम अवस्था से बढ़ चुके हों, जो अहित (अपथ्य) कारक तथा अशुचि (अपवित्र) पदार्थों का भोजन करते हैं; ऐसे पुरुषों के शरीर में रजोगुण तथा तमोगुण के अधिक बढ़ जाने से जब सत्त्वगुण कमजोर पड़ जाता है और हृदय वात आदि दोषों से घिर जाता है, चिन्ता काम, भय, क्रोध, शोक, उद्वेग (घबड़ाहट) आदि के कारण जब मन दोषों से दूषित हो जाता है, तब मनुष्यों में अपस्मार रोग की प्रवृत्ति होती है।

वक्तव्य—इसमें मूलरूप से सत्त्वगुण को रजस् तथा तमस् दबा देते हैं, अर्थात् सत्त्वगुण के प्रभाव को कम कर देते हैं। हृदय-प्रदेश को अनेक कारणों से बढ़े हुए दोष घेर लेते हैं और चिन्ता आदि मानसिक वेगों के कारण मन भी बाधित हो जाता है, इन्हीं के कारण अपस्मार रोग की उत्पत्ति होती है। सत्त्वगुण को बढ़ाने वाले, हृदय को बल देने वाले और मन को प्रसन्न रखने वाले शुद्ध, पवित्र, आचार, विचार, आहार, यम, नियम, संयम आदि होते हैं। इस प्रकार व्यवहार करने वाले पुरुष को अपस्मार रोग नहीं होता है।

धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि। सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥६॥
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि। जिह्वाऽक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥
दोषवेगे च विगते सुप्तवत् प्रतिबुद्ध्यते।

अपस्मार-सम्प्राप्ति-पूर्वरूप—धमनियों द्वारा हृदय-प्रदेश में आश्रय लिये हुए वात आदि दोष जब हृदय को पीड़ित करने लगते हैं, तब वह रोगी पीड़ित होता हुआ, भ्रान्तचित्त होकर, बेहोश होकर दुःख भोगता है। इस स्थिति में जो रूप जैसे नहीं है, उनको वैसा देखता है, उठ-उठकर गिरता है और काँपता अथवा फड़फड़ाता है। उस समय उसके जीभ, आँखों, भौंहों में कम्पन होने लगती है और मुख से लार या झाग निकलने लगती है, पाथ-पाँवों को इधर-उधर फेंकने, पटकने लगता है। दोषों के वेग के समाप्त हो जाने पर अर्थात् दौरा हट जाने पर जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष शान्तिपूर्वक उठ (जग) जाता है, उसी प्रकार यह भी जग जाता (होश में आ जाता) है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'श्रिता' पाठ है। श्रीजयदेव ने इसके स्थान पर 'चिता' पाठ स्वीकार किया है। 'श्रित' का अर्थ है—आश्रित, 'चिता' का अर्थ है—एकत्रित। अब आप स्वयं निर्णय लें कि कौन-सा पाठ यहाँ अधिक उपयुक्त है।

आधुनिक दृष्टि से विचार—मस्तिष्क की कार्यप्रणाली में बाधा उपस्थित हो जाने के कारण जो शारीरिक विकृत चेष्टाएँ प्रतीत होती हैं, उसे अपस्मार कहते हैं। इसका ५० या ६० प्रतिशत प्रकोप बाल्यावस्था में देखा जाता है, शेष अन्य अवस्थाओं में।

कारण—अभी तक इसके कारणों के विषय में कोई उल्लेखनीय सिद्धान्त स्थापित नहीं हो पाया है। साधारणतः मस्तिष्क की कोशिकाओं में जाग्रत अवस्था में जो वैद्युतीय गतियाँ प्रति सेकंड ८ से १० की संख्या में होती हैं तथा सदैव सन्तुलित रूप में होती रहती हैं, जिन्हें अल्फा वेव्स् (Alpha waves) कहते हैं; ये अधश्चेतक (Hypothalamus) से प्रारम्भ होकर प्रान्तस्था (Cortex) में फैलती हैं। किसी-किसी पुरुष में किसी-किसी समय प्रबल एवं विषम रूप (Unrhythmic) में होने लगती हैं।

पूर्वरूप—लगभग एक चौथाई रोगियों में पूर्वरूप दिखलायी देते हैं, शेष में नहीं। वेग के कुछ घंटे पहले अथवा कुछ समय पहले शिरःशूल या माथे में चक्कर होने लगता है, अथवा किसी रोगी में कम्प (कँप-कँपी) सा होता है, अथवा कोई रोगी क्रोधी एवं चिड़चिड़ा हो जाता है, अथवा कोई विचारमग्न (गुम-सुम) सा हो जाता है। इस प्रकार कुछ समय पूर्व रोगी में परिवर्तन आ जाता है, यही इसका पूर्वरूप है।

वेग के प्रारम्भ के कुछ समय पहले जो लक्षण दिखलायी देते हैं, उन्हें पूर्वाभास (Aura) कहते हैं। ये लक्षण इस प्रकार हैं—रोगी अपने हाथ, पैरों में शून्यता का अनुभव करता है, वह शून्यता क्रमशः ऊपर को बढ़ने लगती है। आमाशय-प्रदेश से बेचैनी आरम्भ होकर ऊपर की ओर को बढ़ती हुई शिर तक पहुँच जाती है। किसी को श्वासावरोध होता-सा प्रतीत होता है या हृदय में कम्पन-सा प्रतीत होता है, चक्कर का

अनुभव होता है, आँखें चौंधियाने लगती हैं, आँखों से चिनगारियाँ-सी निकलती प्रतीत होती हैं, सुनायी नहीं देता है, किन्तु अस्पष्ट ध्वनि का आभास होता रहता है।

१. **स्तम्भावस्था**—(Tonic phase)—यह रोग अनेक रूपों में दिखलायी देता है। इस रोग में शरीर की सभी मांसपेशियों में जकड़न-सी प्रतीत होती है। इसमें गरदन, धड़, जाँघें सीधी अकड़-सी जाती हैं। इसके अन्य भयंकर लक्षणों का भी वर्णन किया गया है।

२. **आक्षेपावस्था** (Clonic=अवमोटन)—इसमें प्रधान लक्षण है—मूर्च्छा। इसमें रोगी शिर, हाथ, पैरों को बार-बार इधर-उधर पटकता रहता है, कभी जीभ दाँतों के बीच में आ जाती है जिससे उसके कट जाने का भय भी बना रहता है, श्वास भी रुक जाता है, रोगी खर्राटे लेने लगता है, इससे मुक्त होने पर रोगी का सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो जाता है तथा आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं।

३. **क्षणापस्मार** (Petit mal, minor epilepsy, little illness)—जब किसी १० वर्ष की अवस्था के भीतर के बालक में एक-आध क्षण के लिए अचेतनता आती है, तो उसकी सभी स्वाभाविक चेष्टाएँ रुक जाती हैं तथा उसकी दृष्टि शून्य-सी हो जाती है।

४. **निद्रापस्मार** (Narcolepsy, sleep epilepsy)—प्रायः क्षणापस्मार की अवस्था की परिधि से ऊपर की अवस्था (१५-२० वर्ष) के युवकों में इसका प्रभाव देखा जाता है। कभी-कभी यह रोग वंशपरम्परा में भी देखा जाता है। इसमें सामान्य रूप से रोगी बेहोश होकर पड़ जाता है। इस स्थिति में वह न हिलता है न डुलता है, न बोलता ही है; वास्तव में इसे केवल मूर्च्छा कहना चाहिए। किन्तु इसको भी पाश्चात्य विद्वानों ने अपस्मार का एक भेद स्वीकारा है।

५. **कैटाप्लैक्सी** (Cataplexy)—इसे भी अपस्मार का ही एक भेद माना गया है। इसमें किसी मानसिक आवेश के बाद रोगी सब प्रकार से मौन तथा असमर्थ हो जाता है और नीचे मुँह होकर गिर जाता है, यद्यपि वह भीतर से चेतनता का अनुभव करता है, परन्तु सचेत जैसा नहीं होता। चेतना आने के बहुत समय बाद रोगी की मांसपेशियों में स्वाभाविक शक्ति का संचार हो पाता है।

६. **मानस अपस्मार** (Psychic or psychomotor epilepsy or fugue state or dreamy state)—कभी-कभी कोई नवयुवक बिना बेहोश हुए एकाएक कुछ मिनटों, घंटों या कुछ महिनों के लिए घर से बाहर निकल जाता है, या कुछ अजीब-सा कार्य कर बैठता है, जिसे वह स्वयं भूल जाता है। इन्द्रियों की शक्ति कुछ समय के लिए लुप्त हो जाती है, फिर वह पूर्ववत् हो जाता है।

७. **आक्षेप अपस्मार** (Jacksonian epilepsy, focal or partial seizure)—यह किसी अंग विशेष में आक्षेप (सिकुड़न) पैदा कर देता है। जैसे—हाथ के अँगूठे में आक्षेप आरम्भ हो पूरी बाँह को प्रभावित कर देना, आदि। इस अपस्मार में इस प्रकार के आक्रमण अनेक बार होते हैं। इसमें कभी-कभी अर्धदृष्टि-नाश, बधिरता या शिर में चक्करों का आना—ये लक्षण दिखलायी देते हैं।

८. **दीर्घ अपस्मार** (Status epilepticus)—यदि इसके बार-बार आक्रमण होते जायें, जिनसे रोगी को बीच-बीच में चेतना न आती हो तो उसे दीर्घ अपस्मार कहते हैं। इसमें ज्वर, पसीना का आना, नाड़ी की गति में तीव्रता आदि लक्षण घंटों तक दिखलायी देते हैं। यदि यह क्रम शान्त न हो तो रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। यदि अपस्मार के वेग शीघ्र-शीघ्र होने लगें तो उसे पिक्नोएपिलेप्सी (Pyknoepilepsy) 'क्षुद्र अपस्मार' कहते हैं।

९. **निद्राकालिक अपस्मार** (Nocturnal epilepsy)—इसमें केवल सोते समय ही रोग का वेग होता है। इसमें रोगी की जीभ कट जाया करती है, शिर तथा आँखें किसी एक ओर मुड़ जाती हैं, रोगी सहसा पलंग से नीचे गिर जाता है। ऐसा कभी-कभी रक्तचाप की वृद्धि से भी होते देखा जाता है।

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः ॥ ८ ॥

अपस्मार की संख्या-सम्प्राप्ति—अलग-अलग दोषों से (१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज) तथा समस्त दोषों से (४. सन्निपातज)—इस प्रकार यह चार प्रकार का कहा जाता है।

कम्पते प्रदशेद् दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि । परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥९॥

वातज अपस्मार का लक्षण—इसमें रोगी का शरीर काँपता है, वह दाँतों को किटकिटाता है, मुख से
रूखा झाग निकलता रहता है, लम्बी-लम्बी साँसे लेता रहता है। परुष (रूखे), अरुण (ईंट के वर्ण के सदृश
लाल) तथा काले रूपों को वातदोषज अपस्मार-रोगी देखता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार अपस्मार के आक्रमण के पूर्व ही अर्थात् बेहोश होने के पहले ही रोगी में
उक्त लक्षण दिखलायी देते हैं, यथा—जो रोगी काँपता हुआ, दाँतों को किटकिटाता हुआ, जोर से साँस लेता
हुआ, झाग को मुख से उगलता हुआ, उसे ऐसा लगे कि विकृत आकार वाला कोई काला प्राणी उसकी ओर
दौड़कर आ रहा है और उसे देखकर उसके होश उड़ रहे हों तो, उसे वातज अपस्मार कहते हैं। देखें—
सु० उ० तं० अ० ६१।११-१२।

वृद्धवाग्भट का मत भी देखें—अ० सं० उ० अ० ९।८ में। वाग्भट के अनुसार वातज अपस्मार के लक्षण—
टाँगों का फड़कना, बार-बार गिरना या लड़खड़ाना, बार-बार बेहोशी और पुनः संज्ञा-लाभ, स्वरभेद, रोना,
आँखों की पुतली का गोल-गोल हो जाना, श्वास के क्रम में वृद्धि, झाग की उल्टी का होना, शरीर का काँपना,
शिर का काँपना, दाँतों का लगना, दाँतों को किटकिटाना, ग्रीवा में आध्मान, हाथ-पैरों को पटकना, अँगुलियों
का विषम (ऊँचा-नीचा) होना या झुक जाना, नेत्रों में, त्वचा में, नखों में तथा मुँह में रूखापन, कालापन,
अरुणता, सभी रूपों का काला दिखलायी देना, चंचल, खुरदरे, विकार वाले रूपों और विकृत मुख वाले रूपों
का इसमें दर्शन होता है। देखें—अ० हृ० उ० अ० ७।९-११।

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः । [1]सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥१०॥

पित्तज अपस्मार के लक्षण—इसमें रोगी के मुख से पीले रंग का झाग निकलता है, रोगी के शरीरा-
वयव, मुख तथा आँखें पीली हो जाती हैं। जिस समय इसका वेग होता है, उस समय यह रोगी पीले या लाल
रूपों को देखता है (वास्तव में उन-उन वस्तुओं के स्वाभाविक रूप दूसरे वर्ण वाले होते हैं, किन्तु यह लाल या
पीला दिखलायी देना केवल रोग का प्रभाव होता है)। इस रोगी को तृष्णा (प्यास) अधिक लगती है, शरीर
में तापमान की अधिकता रहती है, वह चारों ओर ऐसा देखता है, मानो आग लग गयी हो। इस प्रकार के
जिसमें लक्षण दिखलायी दें, उसे पित्तज अपस्मार कहते हैं।

वक्तव्य—समन्वय एवं सम्बन्धित विषय की विशेष जानकारी की दृष्टि से यहाँ अन्य तन्त्रकारों के विचार
उपस्थित किये जा रहे हैं। **सुश्रुत का मत**—प्यास, ताप, स्वेद, मूर्च्छा से पीड़ित, अंगों को इधर-उधर पटकना,
बेचैन होना, इन लक्षणों के साथ जो पीले वर्ण के विकृत स्वरूप वाले प्राणी को अपनी ओर दौड़ता हुआ आ
रहा है, ऐसा अनुभव करता हुआ जो रोगी बेहोश हो जाता है, उसे पित्तजनित अपस्मार का रोगी समझना
चाहिए। सु० उ० अ० ६१।१३। **वाग्भट के अनुसार**—पित्तजनित अपस्मार में बार-बार वेग होते रहते हैं और
बीच-बीच में रोगी को होश आता रहता है, मुख से निकलने वाली झाग का वर्ण पीला होता है, नेत्रगोलकों
तथा त्वचा का वर्ण इसमें पीला पड़ जाता है, हाथ-पैरों से वह भूमि को रौंदता है, अथवा वेग के समय भूमि पर
हाथ-पैरों को पटकता है। उस समय यह भयानक, चमकीले तथा क्रूर या हिंसक रूपों को देखता है और
इसे बार-बार प्यास लगती है। अष्टांगहृदय उ० अ० ७।१२-१३। सुश्रुत ने 'स्वेद' का लक्षण अधिक कहा ऐसा
लगता है, क्योंकि इन्होंने 'तापस्वेद' की भी चर्चा की है। महर्षि आत्रेय ने केवल 'ताप' का पर्यायवाची 'उष्ण'
शब्द का प्रयोग किया है।

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतो हृष्टाङ्गजो गुरुः । पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥

कफज अपस्मार के लक्षण—इसमें रोगी के मुख से सफेद रंग का झाग निकलता है, रोगी के शरीरा-
वयव, मुख तथा आँखें सफेद हो जाती हैं। जिस समय इसका वेग होता है, उस समय इसका शरीर शीतस्पर्श
वाला हो जाता है, इसके शरीर में रोमांच होने लगते हैं तथा भारीपन आ जाता है। वेग के समय यह सभी
पदार्थों को सफेद वर्ण का देखता हुआ बेहोश हो जाता है और बहुत देर के बाद इसे चेतना (होश) आती है।

1. 'सतृष्णोष्माऽनलव्याप्तलोकदर्शी' इति पा०।

वक्तव्य—पित्त एवं कफ दोष को पंगु (अगतिक) कहा गया है। सभी प्रकार के अपस्मार रोगों में
मूर्च्छा आती है, वातज मूर्च्छा का वेग सबसे जल्दी समाप्त होता है, उससे अधिक समय तक पित्तज मूर्च्छा और
सबसे अधिक समय तक कफज मूर्च्छा रहती है, किन्तु समय किसी का भी सुनिर्धारित नहीं है और न कहा
ही जा सकता है। क्योंकि **'न रोगस्त्वेकदोषजः'** कोई भी रोग एक दोष से नहीं होता है। तर-तम भेद से
दूसरे दोष या दोषों से वह संसृष्ट अवश्य रहता है। इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के विचार भी देखें—सुश्रुत उ०
तं० अ० ६१।१४-१५। अष्टांगहृदय उ० अ० ७।१४। सुश्रुत ने हृल्लास (जी मिचलाना) और नींद लगना ये
दो लक्षण अधिक बतलाये हैं, जो कफ के स्वाभाविक लक्षण हैं। वाग्भट ने 'चिरेण ग्रहणं चिरेणैव विबोधनम्'
कहा है, यह भी कफ का प्राकृतिक गुण है।

सर्वैरेतैः समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः । अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥१२॥

सन्निपातज अपस्मार के लक्षण—जब वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों के लक्षण एक साथ अपस्मार
रोगी में देखे जाते हैं, तो उन लक्षणों को देखकर उसे त्रिदोषज (सन्निपातज) अपस्मार कहते हैं। यह सन्निपातज
अपस्मार असाध्य होता है तथा जिस पुरुष की रस, रक्त आदि धातुएँ क्षीण हो गयी हों और जिसका यह रोग
पुराना पड़ गया हो, वह अपस्मार रोग असाध्य होता है।

वक्तव्य—क्षीण (कृश) व्यक्ति में सहनशक्ति का अभाव हो जाता है और पुराना होने पर तो रोग
असाध्य हो ही जाता है। इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों ने भी कुछ विशेष नहीं कहा है।

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः । अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम् ॥१३॥

अपस्मार के वेग का काल—प्रकुपित वात आदि दोष १२-१२ दिनों पर, १५-१५ दिनों पर अथवा
१-१ मास पर स्मृति का नाश करने के लिए वेगों को उत्पन्न कर देते हैं और कभी-कभी ऊपर कही गयी काल-
अवधि के भीतर भी वेगों की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—वातादि दोषों के प्रकुपित होने से अपस्मार रोग होता है। समय-समय पर इसके वेग आते हैं।
इसी प्रकार का एक रोग आक्षेप या आक्षेपक भी है, जिसकी गणना वातरोगों में होती है। देखें, अ० हृ० नि० अ०
१५।१६। सु० नि० अ० १। मा० नि० वातव्याधि २७। **सामान्य स्थिति**—आक्षेपक, अपस्मार (मिर्गी) तथा
उन्माद ये रोग ऐसे हैं, कि जिनमें दोषों के शान्त हो जाने पर तथा इनके वेगों की अवधि के समाप्त हो जाने पर
ये कुछ समय के लिए स्वयं शान्त हो जाते हैं। इनकी क्षणिक शान्ति को देखकर प्रसन्न या निश्चिन्त नहीं हो
जाना चाहिए, अपितु 'निदान-परिवर्जन' आदि चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों पर पूर्णरूपेण ध्यान देना चाहिए।

ऊपर जो वेग-काल की अवधि दी है, वह सामान्य है। इसके वेग ६ मास तथा १२ मास के बाद
भी देखे जाते हैं और उक्त अवधि के भीतर भी, जैसा कि तन्त्रकार ने उक्त श्लोक **'वेगं किञ्चिद-
थान्तरम्'** द्वारा कहा है। इसके वेगों के सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार—'देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि
कानिचित्। शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः' ॥ सु० उ० अ० ६१।१९। जिस प्रकार भूमि पर पड़े हुए
कुछ बीज वर्षा होने पर भी अन्य समय पर न उगकर केवल शरद्-ऋतु में ही उगते हैं, उसी प्रकार अपस्मार
रोग का वेग भी होता है। तात्पर्य यह है कि रोग के बीजों (वात आदि दोषों) के शरीर में रहने पर भी वेगों
की उत्पत्ति सदैव उस प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार बीजों से अंकुरों की उत्पत्ति होती है।

यद्यपि महर्षि आत्रेय ने 'इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति' (च० नि० अ० ८।३) अर्थात् सभी प्रकार के
अपस्मारों को दोषजन्य ही माना है। महर्षि सुश्रुत ने दूसरों के विचारों को उद्धृत करके इसे आगन्तुज मानने की
चर्चा की है, उनके अनुसार यह दोषजनित नहीं होता है। देखें—सु० उ० अ० ६१।१७। किन्तु अपना मत
प्रदर्शित कर सुश्रुत ने अपस्मार रोग को दोषज ही स्वीकार किया है। देखें—सु० उ० अ० ६१।१८-२१। इस
विवाद का समाधान भगवान् आत्रेय ने इस प्रकार किया है—'यदा दोषनिमित्तस्य भवत्यागन्तुरन्वयः। तदा
साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्विदः' ॥ च० नि० अ० ८।१४। यहाँ साधारण कर्म से दोषों को दूर करने में
वमनादि संशोधन कर्म तथा देवादिप्रत्यनीक बलि, मंगल, जप, यज्ञ, दान, शान्ति आदि का प्रयोग कराने से
तन्त्रकार का तात्पर्य है।

हमारे विचार से सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट 'वदन्त्यन्ये' शब्द से महर्षि आत्रेय को स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये दोषज अपस्मार का भी समर्थन करते हैं। महर्षि सुश्रुत दोषज तथा आगन्तुज दोनों प्रकार के अपस्मारों के समर्थक हैं। अतएव उन्होंने सु० उ० अ० ६१ श्लोक २३ तथा २६ में आगन्तुज अपस्मारों की चिकित्सा का भी निर्देश किया है।

तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां सम्प्रबोधनम्। तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभिः ॥१४॥

अपस्मार का चिकित्सा-सिद्धान्त—उन (वात आदि दोषों) से आवृत (घिरे हुए) हृदय, स्रोतस् तथा मन को प्रबुद्ध करने के लिए चिकित्सक को चाहिए कि सर्वप्रथम तीक्ष्ण वमन आदि चिकित्सा-विधियों द्वारा उसका उपचार करें।

वक्तव्य—यहाँ वमन, नस्य आदि के लिए प्रयुक्त होने वाले तीक्ष्ण औषधयोगों का इसलिए प्रयोग करना विहित है कि ये सभी हृदय, स्रोतस् तथा मन को दोषों से मुक्त कराने में सहायक होते हैं। 'आदौ' शब्द का तात्पर्य है कि वमन से ऊर्ध्वकाय में संचित दोषों का निर्हरण हो जाता है और नस्य-प्रयोग से मूर्च्छा का नाश हो जाता है, अर्थात् बेहोश हुआ रोगी होश में आ जाता है, तदनन्तर अन्य शास्त्रीय प्रयोगों का उपयोग करते रहना चाहिए।

वातिकं वस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः। श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥१५॥

विशेष विधि—वातज अपस्मार की चिकित्सा में वस्तिप्रयोगों को प्रधानता दी जानी चाहिए, पित्तज अपस्मार की चिकित्सा में विरेचनकारक योगों को महत्त्व देना चाहिए और कफज अपस्मार की चिकित्सा में विशेषरूप से वमनकारक योगों का आश्रय लेना चाहिए।

वक्तव्य—भगवान् आत्रेय ने दोषनिर्हरण के शाश्वत सिद्धान्तों का उक्त पद्य द्वारा पाठकों को पुनः स्मरण मात्र दिलाया है। आप ध्यान दें—वात, पित्त, कफ के आशयों पर बढ़े हुए उक्त दोषों का क्रमशः वस्ति प्रयोग, विरेचन तथा वमन द्वारा निर्हरण कराना ही इनकी उत्तम चिकित्सा है, उसी का यहाँ विधान किया है।

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च। अपस्मारविमोक्षार्थं योगान् संशमनाञ्छृणु ॥१६॥

अपस्मार में संशमन-निर्देश—वस्ति, विरेचन तथा वमन के प्रयोगों से बढ़े हुए सभी (वात, पित्त, कफ) दोषों के निर्हरण द्वारा भली-भाँति शुद्ध और उचित रूप से जिसे आश्वासन प्राप्त हो चुका है, अर्थात् जिसके मन में चिकित्सा सम्बन्धी किसी प्रकार की घबड़ाहट नहीं है, उस अपस्मार रोगी के लिए रोग-मुक्तिदायक संशमन योगों को सुनिये।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र त्रिदोष-सिद्धान्त रूपी तिपाई पर सुस्थिर है, अतः वह संशोधन के बाद संशमन को आदर्श चिकित्सा मानता है। यहाँ भी उसी सिद्धान्त का निर्देश किया गया है। **संशमन**—'सम्यक् शमयतीति संशमनम्'। अन्यच्च—'प्रस्तुतव्याधेः शमनम्, अप्रस्तुतव्याधेरनुदीरणम्'। और भी—'न शोधयति यद् दोषान् समान् नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमाञ्शमनं तद् यथाऽमृता'॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।२। संशमन-द्रव्यों के लिए देखें—सुश्रुतसंहिता सू० अ० ३९।७-९।

गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्। सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम् ॥१७॥

इति पञ्चगव्यं घृतम्।

पञ्चगव्य घृत—१. गाय के गोबर का रस, २. गाय का खट्टा दही, ३. गाय का दूध, ४. गाय का मूत्र, ५. गाय का घी—इन सबको समान भाग लेकर घृतपाक-विधि से तैयार किये हुए घी का सेवन करने से अपस्मार, कामला तथा ज्वर रोग नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—इसकी सामान्य मात्रा ३ माशा है। शेष चिकित्सक के निर्देशानुसार।

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफला रजन्यौ कुटजत्वचम्। सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ॥१८॥
शम्पाकं फल्गुमूलं च [illegible] रं सदुरालभम्। द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ॥१९॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुकं त्रिवृतां निचुलानि च। श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्तीं भूनिम्बचित्रकौ ॥२०॥

द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम्। क्षिपेत्पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि [1]तेन प्रस्थं घृतात् पचेत् ॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः। पञ्चगव्यमिति ख्यातं महत्तदमृतोपमम् ॥२२॥
अपस्मारे [2]तथोन्मादे श्वयथावुदरेषु च। गुल्मार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥२३॥
शस्यते घृतमेतत् तु प्रयोक्तव्यं दिने दिने। अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थकविनाशनम् ॥२४॥

इति महापञ्चगव्यं घृतम्।

महापञ्चगव्य घृत—दोनों पञ्चमूल (१. लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू। २. बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढ़ल की छाल, अरणी की छाल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दोनों हल्दी (हल्दी, दारुहल्दी), कुटज की छाल, छतिवन की छाल, अपामार्ग की जड़, नीलीमूल, कुटकी, शम्याक (अमलतास) की गुद्दी, गूलर के जड़ की छाल या जड़, पोहकर मूल, दुरालभा—ये प्रत्येक द्रव्य २-२ पल (८-८ तोला) लें, इन्हें जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में डालकर क्वाथ करें, जब चतुर्थांश (२५६ तोला) जल शेष रह जाये तो छानकर रख लें। भारंगी, पाठा, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), निशोथ, बेत की छाल, गजपीपल, अरहर की जड़, मरोड़फली, दन्तीमूल, चिरायता, चित्रक, दोनों सारिवा (अनन्तमूल, कृष्णसारिवा), रोहिषतृण, भूतीक, मदयन्ती (मल्लिका या मालती फूल या मेंहदी का फूल) इन सभी द्रव्यों को १-१ अक्ष=कर्ष=तोला लेकर इनका कल्क बनायें। ऊपर तुर्थांश रखे हुए क्वाथ में इस कल्क को मिला दें। गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) और गाय के गोबर का रस, गाय का खट्टा दही, गाय का दूध, गाय का मूत्र इन सबको घी के समान लेकर यथाविधि घृत-पाक करें। यह महापञ्चगव्य घृत कहा जाता है। यह गुणों में अमृत के समान है।

यह घृत अपस्मार, उन्माद, श्वयथु (शोथ रोग), उदररोग, गुल्म, अर्श (बवासीर), पाण्डुरोग, कामला तथा हलीमक—इन रोगों का नाश करता है। इसका प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए। यह दरिद्रता-नाशक या शरीर-शोभावर्धक तथा ग्रहावेश-जनित रोगों एवं चौथिया ज्वर का नाशक है।

वक्तव्य—भैषज्यरत्नावली में 'रोहिष' के स्थान पर 'रोहितक' पाठ दिया है। चरक के टीकाकार इन्दु भी 'रोहिष' को 'रोहितक' ही मानते हैं। ये 'मदयन्ती' को 'धातकी' मानते हैं। सुश्रुतसंहिता उ० अ० ६१।३४-३७ में भी इस घृत का उल्लेख किया है, किन्तु द्रव्यों में कुछ अन्तर है। अष्टांगहृदय उ० अ० ७।१९-२३ में भी महापञ्चगव्यघृत का योग दिया गया है। इस प्रसंग पर इसका भी अवलोकन कर लें।

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च। पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपापनुत् ॥२५॥

ब्राह्मीघृत—ब्राह्मी की पत्तियों का रस (स्वरस या क्वाथ) तथा बालवच, कूठ, शंखपुष्पी इनके कल्क के साथ गाय के पुराने घी का यथाविधि पाक करें। यह घृत उन्माद, अलक्ष्मी (विवर्णता), अपस्मार तथा अन्य पापकर्मों से उत्पन्न होने वाले (कुष्ठ आदि) रोगों का भी विनाश करता है।

वक्तव्य—इसका नाम ब्राह्मीघृत है, अतः यहाँ ब्राह्मी की पत्तियों का क्वाथ करने का और शेष तीन द्रव्यों का कल्क बनाकर घृतपाक करने का निर्देश किया गया है। कुछ टीकाकारों ने वच आदि द्रव्यों का अलग-अलग कल्क बनाकर घृत-पाक का विधान किया है। वास्तव में उक्त श्लोक का पूर्वार्ध जिसमें ब्राह्मी आदि द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, वह पद समस्त है। घृतपाक के लिए क्वाथ, कल्क, घृत इन तीनों की आवश्यकता होती है। उसकी यथोचित व्यवस्था ऊपर टीका में दी गयी है। **द्रव्य-प्रमाण**—गाय का पुराना घी १ सेर, क्वाथ रस ४ सेर, सम्मिलित द्रव्यों का कल्क १६ तोला। सामान्य मात्रा—३ माशा।

चिकित्साकलिका में इसका नाम 'मण्डूकपर्णीघृत' है। वहाँ 'ब्राह्मी' के स्थान पर 'मण्डूकपर्णी को ग्रहण करने का विधान है। आचार्य भावमिश्र ने ब्राह्मी के गुण-धर्मों का वर्णन करते हुए अन्त में 'तद्वन्मण्डूकपर्णिनी' कहा है। देखें—भावप्रकाश। इसका तात्पर्य है, ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी ये दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु सुश्रुत सू० अ० ४६।२६२ की टीका करते हुए श्रीअत्रिदेव ने मण्डूकपर्णी का पर्याय ब्राह्मी दिया है और द्रव्यगुण

---

१. 'तैः प्रस्थं सर्पिषः पचेत' इति पा०।
२. 'ज्वरे कासे' इति पा०।

के आचार्य पं० प्रियव्रत शर्मा जी ने भी 'द्रव्यगुणविज्ञान' में श्रीअत्रिदेव का समर्थन किया है। किन्तु जिन शास्त्रीय उद्धरणों को उन्होंने उद्धृत किया है, वे इस सन्देह का निराकरण नहीं कर रहे हैं।

घृतं सैन्धवहिङ्गुभ्यां वार्षे बास्ते चतुर्गुणे। मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयनाशनम् ॥२६॥

अपस्मार-नाशक घृत—गाय का घी, सेंधानमक तथा उत्तम प्रकार की हींग, बैल तथा बकरे का मूत्र घी से चौगुना—इन द्रव्यों को घृतपाक-विधि के अनुसार तैयार (क्वाथ तथा कल्क बना) कर घी को पकायें। यह घृत अपस्मार का शमन तथा ग्रहजनित उपद्रवों का नाश करता है।

वक्तव्य—इससे पहले योग में 'पुराणं घृतम्' का स्पष्ट उल्लेख था, यहाँ ऐसा न होने से हम नये घी का ही प्रयोग उचित समझते हैं। वैसे तो सुश्रुत ने दोनों प्रकार के (नये-पुराने) घृतों को अपस्मार-नाशक कहा है। देखें—सु० सू० अ० ४५।९६ तथा १०८।

द्रव्य-प्रमाण—गाय का घी १ सेर, बैल और बकरे का मूत्र ४-४ सेर, सेंधानमक ८ तोला, हींग ८ तोला लें। यह मात्रा-निर्धारण हमने सामान्य परिभाषा के अनुसार की है। किन्तु हींग तीक्ष्णवीर्य पदार्थ है, अतः इस मात्रा में इसका प्रयोग करने से वमन हो सकता है। अतएव इसकी मात्रा का निर्धारण निर्माण-कुशल चिकित्सक स्वयं कर लें।

वार्षे बास्ते मूत्रे—सामान्य दृष्टि से 'दुग्धे सर्पिषि मूत्रे च ग्राह्यं गोसम्भवं बुधैः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।५१। दूध, घी, मूत्र का जहाँ ग्रहण करना होता है, वहाँ ये द्रव्य गाय से सम्बन्धित ही लिये जाते हैं। किन्तु सामान्य वचन से विशेष वचन का अधिक आदर होता है, अतः यहाँ तन्त्रकार ने 'वार्षे-वृषस्य इदं, तस्मिन्' और 'बास्ते-बस्तस्य इदं, तस्मिन्' अर्थात् बैल तथा बकरे के मूत्र में घी का पाक करने का निर्देश दिया है। गाय तथा भेड़ी का मूत्र बैल तथा भेड़े के मूत्र से अधिक तीक्ष्ण होता है। अतः यहाँ गाय तथा भेड़ी के मूत्र की अपेक्षा सौम्य बैल तथा भेड़ के मूत्र को ग्रहण करना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—मूत्र प्राणिमात्र के शरीर का पित्तप्रधान द्रव है, अतएव यह पित्त का समानधर्मा है, अर्थात् मूत्र तथा पित्त रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव में समान होते हैं और इन दोनों के कर्म भी समान हैं। मूत्र में जो पीलापन होता है, वह पित्त के मिश्रण का सूचक है। प्राणी जितना लवण खाता है, उसका अधिकांश मूत्र में घुला रहता है, अतएव वह लवणानुरस होता है। कटु, तिक्त आदि रसों का प्रभाव भी मूत्र में पाया जाता है। पित्तमिश्रित होने के कारण मूत्र में तीक्ष्ण, उष्ण आदि गुण पाये जाते हैं। इसके विशेष विवेचन के लिए देखें—सु० सू० अ० ४५।२१७-२२९।

वचाशम्पाककैटर्यवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः। सिद्धं पलङ्कषायुक्तैर्वातश्लेष्मात्मके घृतम् ॥२७॥

वचादिघृत—बालवच, अमलतास की गूदी, कैटर्य (बकायन) की छाल, वयःस्था, हींग, चोरपुष्पी, पलंकषा (गुग्गुलु) इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनका कल्क बनायें, इससे गाय के घी का पाक करें। यह घी वातज, कफज अथवा वातकफज अपस्मार का नाश करता है।

वक्तव्य—यद्यपि वयःस्था शब्द के अनेक पर्याय हैं! यथा—हरीतकी (पर्यायमुक्तावली), गुडूची, काकोली, क्षीरकाकोली दारुहरिद्रा, ब्राह्मी, सोमवल्ली (राजनिघण्टु)। हमारे विचार से 'ब्राह्मी' का प्रयोग यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **द्रव्य**—गाय का घी १ सेर, कल्क के लिए वचा आदि प्रत्येक द्रव्य ३-३ तोला, क्वाथार्थ जल ४ सेर। सामान्य मात्रा—३ माशा।

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः। क्षीरद्रोणे पचेत् सिद्धमपस्मारविनाशनम् ॥२८॥

अपस्मार में यमक स्नेह—तिल का तैल १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय का घी १ प्रस्थ और जीवनीय-गण में निर्दिष्ट प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला), इनका कल्क बना लें, गाय का दूध १ द्रोण (१०२४ तोला) इन सबको एकत्र कर यथाविधि पकाया गया यह घृत अपस्मार रोग का विनाश करता है।

वक्तव्य—जीवनीयद्रव्य—'जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मधुक (मुलेठी)—ये १० द्रव्य हैं। देखें—च० सू० अ० ४।९। यहाँ तैल और घृत को मिलाकर पाक करने का निर्देश है। इस प्रकार के स्नेहयुगल को **यमक स्नेह** कहते हैं।

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे। कार्षिकैर्जीवनीयैश्च घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥२९॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति। तद्वत् काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम् ॥३०॥

अन्य घृतयोग—गाय का दूध १ कंस (२५६ तोला, इसी को आढक भी कहते हैं), ईख का रस १ कंस, गम्भार की छाल का क्वाथ ८ गुना, जीवनीयगण में कहे गये १० औषधद्रव्यों में से प्रत्येक १-१ कर्ष=तोला लेकर इनका कल्क बनायें, इनसे १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का यथाविधि पाक करें। इस घृत का विधिवत् सेवन करने से वातज, पित्तज अपस्माररोग शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

उसी प्रकार कास की जड़, विदारीकन्द, ईख की जड़, कुश की जड़—इनके कल्क तथा क्वाथ द्वारा तैयार किया हुआ घृत वातज-पित्तज अपस्मार का नाश करता है।

वक्तव्य—ऊपर के दो श्लोकों में दो घृतों के निर्माण की चर्चा की है। प्रथम घृत में द्रव्यों के प्रमाणों (मानों) का स्पष्ट निर्देश है और दूसरे में 'तद्वत्' लिखकर ग्रन्थ के विस्तार को बचा लिया है। यह ग्रन्थकार की अपनी सरणि है।

मधुकद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात्। तद्वत् सिद्धो घृतप्रस्थः पित्तापस्मारभेषजम् ॥३१॥

आमलकादि घृत—मुलेठी का कल्क २ पल (८ तोला), आँवलों का स्वरस १ द्रोण (१०२४ तोला) गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), इनके द्वारा विधिपूर्वक घी का पाक कर लें। इसके प्रयोग से पित्तज नित अपस्मार का शीघ्र ही शमन हो जाता है।

अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे। सिद्धं स्याद् गोशकृन्मूत्रैः स्नानोत्सादनमेव च ॥३२॥

अपस्मार में अभ्यंग आदि—सरसों का तेल १ भाग, बकरे का मूत्र ४ भाग—इन दोनों को मिलाकर तैलपाक करें। जब तेल तैयार हो जाये तो इससे अपस्मार रोगी की मालिश करनी चाहिए। गाय के गोबर का उबटन लगाना चाहिए और गाय के मूत्र से उसे स्नान कराना चाहिए (शुद्ध जल का स्नान कुछ समय बाद कराया जा सकता है)।

कटभीनिम्बकट्वङ्गमधुशिग्रुत्वचां रसे। सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते ॥३३॥

कटभ्यादि तैल—कटभी (लता शिरीष अथवा कंटकशिरीष—वैद्यकशब्दसिन्धु) की छाल, नीम की छाल, कट्वंग (सोनापाठा) की छाल, मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) की छाल—इनके रस (क्वाथ) के साथ समभाग मूत्र मिलाकर तैयार किया हुआ यह तैल अपस्मार रोग में अभ्यंग करने के लिए उत्तम कहा गया है।

वक्तव्य—कटभी आदि प्रत्येक द्रव्य को १-१ पाव लेकर अठगुने (१६ सेर) जल में क्वाथ करें। जब जल चतुर्थांश (४ सेर) शेष रह जाये तब छानकर उसमें १ सेर मूत्र तथा १ सेर तेल मिलाकर तैलपाक विधि से पाक करें। तैयार होने पर उतार कर रख लें।

ऊपर ३२वें पद्य में सरसों का तेल और बकरे का मूत्र लिया गया है। यदि हम पूर्व प्रसंग का आधार लेकर यहाँ दूसरे टीकाकारों की भाँति सरसों का तेल और बकरे का मूत्र लेते हैं, तो हानि तो कोई नहीं होती, किन्तु **'अनुक्त द्रव्य परिभाषा'** के अनुसार यह उचित नहीं है। वहाँ तो विशेष वचन के अभाव में मूत्र शब्द से गोमूत्र और तैल शब्द से तिलतैल के ग्रहण करने का निर्देश है।

टीकाकार श्री इन्दु ने यहाँ मूत्र के स्थान पर गोमूत्र लेने की बात कही है, तैल के सम्बन्ध में वे मौन हैं, अतः वे तिलतैल के ही पक्षपाती रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

पलङ्कषावचापथ्यावृश्चिकाल्यर्कसर्षपैः । जटिलापूतनाकेशीनाकुलीहिङ्गुचोरकैः ॥३४॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विड्भिश्च पक्षिणाम्। मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ॥३५॥
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलमपस्मारविनाशनम्। एतैश्चैवौषधैः कार्यं धूपनं सप्रलेपनम् ॥३६॥

पलंकषादि तैल—गुग्गुलु, घोड़वच, हरीतकी, वृश्चिकाली (कौआठोंठी), मदार की छाल, सरसों, जटामासी, भूतकेशी, रास्ना, हींग, चोरक, लहसुन, अतिरसा (मुलेठी), दन्तीमूल, कूठ (कडुआ) तथा मांस खाने वाले जितने पक्षियों की विष्ठा (मल=Stool) मिल सके—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर

इनका कल्क तैयार करें। तेल से चौगुना बकरे का मूत्र डालकर विधिवत् तैलपाक करें। इस तेल का अभ्यंग करने से अपस्मार रोग नष्ट हो जाता है। गुग्गुलु आदि उपर्युक्त द्रव्यों की धूप रोगी के कमरे में देनी चाहिए, इन्हीं का कल्क बनाकर सम्पूर्ण शरीर पर लेप करना चाहिए। इन सभी विधियों से अपस्मार रोग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—पूतनाकेशी द्रव्य का पर्याय जिन टीकाकारों ने हरीतकी स्वीकार किया है, वह उनका भ्रम है। तन्त्रकार ने उसके लिए 'पथ्या' का स्वतन्त्र उल्लेख किया है। अतः पूतनाकेशी का पर्याय भूतकेशी शास्त्र-सम्मत है। आचार्य जतूकर्ण ने इसके स्थान पर गोलोमी पाठ स्वीकार किया है। यह उनका स्वतन्त्र चिन्तन है।

अतिरसा के पर्याय शतावर, मुलेठी, जलज मुलेठी मिलते हैं। हमारे पूर्ववर्ती आचार्य जतूकर्ण ने यहाँ स्पष्टरूप से 'मधुक' शब्द का प्रयोग किया है। इस आधार पर हमने भी अतिरसा का पर्याय मुलेठी लिखा है। महर्षि वृद्धवाग्भट ने अ० सं० उ० अ० १०।५२-५३ में 'चित्रा' के स्थान पर 'छत्रा' द्रव्य का प्रयोग किया है और कहीं 'नाकुली' द्रव्य के स्थान पर 'लाङ्गली' द्रव्य का उल्लेख मिलता है। ये तन्त्रकारों की 'इष्टि' है।

यथालाभं मांसाशिनां पक्षिणां विड्भिः—इस पद्यांश को लिखने का तन्त्रकार का तात्पर्य हमारे विचार से यह रहा होगा—बाज, गिद्ध, बगुला आदि जिन-जिन मांसभक्षी पक्षियों की बीट यथासम्भव मिल सके उन सबकी अलग-अलग संग्रह कर लें, पक्षियों की संख्या जितनी अधिक हो जाये कोई चिन्ता नहीं, किन्तु उन पक्षियों का अंशतः कुल मिलाकर बीट मात्रा से अधिक न हो। यहाँ भी मूत्र की भाँति तैल का नामतः उल्लेख नहीं किया है, अतः तिलतैल का ही ग्रहण करना चाहिए।

पिप्पलीं लवणं [1]चित्रां हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिकाम्। काकोलीं सर्षपान् काकनासां कैटर्यचन्दने॥
शुनःस्कन्धास्थिनखरान् पर्शुकां चेति पेषयेत्। बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात् सधूपनः॥३८॥

अपस्मार में धूपन द्रव्य—पीपल, सेंधानमक, चित्रक (पाठभेद के अनुसार—सहिजन के बीज), हींग, हिंगुशिवाटिका (वंशपत्री), काकोली, पीली सरसों, काकनासा (कौआठोंठी), कैटर्य (बकायन) की छाल, लालचन्दन, कुत्ते के कन्धे की हड्डी, कुत्ते के नाखून, कुत्ते की पसलियों की हड्डी—इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर पुष्य (तिष्य) नक्षत्र के दिन बकरे के मूत्र से खूब बारीक पीस लें। इसका लेप अपस्मार रोगी के शरीर पर लगायें और इन्हीं द्रव्यों को सूखा कूटकर रख लें, इनकी धूप दें। इन उपचारों से अपस्माररोग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—हिङ्गुशिवाटिका के स्थान पर वैद्यकशब्दसिन्धु में 'हिङ्गुशिराटिका' नाम उपलब्ध होता है। वहाँ इसका पर्याय 'वंशपत्रीतृण' दिया हुआ है। यही पर्याय आचार्य चक्रपाणि-सम्मत भी है। किन्तु अन्य टीकाकार इसके स्थान पर हिंगुपत्री पर्याय देते हैं, जब कि दोनों द्रव्य परस्पर भिन्न हैं।

कैटर्य या कैडर्य—यह शब्द दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रसिद्ध पर्याय महानिम्ब=बकायन है। वैद्यकनिघंटु में—श्वेतपाटलवृक्ष। राजनिघंटु में—कट्फलवृक्ष, मदनवृक्ष, घृतकरंज, पूतीकरंज, कृष्ण-कटभीवृक्ष, लघुकाश्मरी। इसका पर्याय आचार्य गंगाधर 'कट्फल' और श्रीइन्दु 'पूतीकरंज' स्वीकार करते हैं।

धूपोपचार दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से भी सम्बन्ध रखता है, अतएव पुष्यनक्षत्र के दिन इसे पीसने की चर्चा भी की गयी है। ज्यौतिष की दृष्टि से यह नक्षत्र बहुविध प्रभावकारी है। यह नक्षत्र प्रत्येक मास में एक बार आता है, अतः उस दिन इसे बकरे के मूत्र में पीसकर रख लें, तदनन्तर इस लेप को पुष्यनक्षत्र के दिन से ही लगाना आरम्भ करें और रोगी के कमरे में प्रतिदिन इस चूर्ण का धूप दिया करें।

अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः। उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम्॥३९॥

अपस्मार में उत्सादनादि—अपेतराक्षसी (तुलसी या काली तुलसी), कूठ, हरीतकी, केशी (भूत-केशी), चोरपुष्पी—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर गोमूत्र से पीसकर अपस्मार रोगी के शरीर पर उबटन लगायें और रोगी को गाय के मूत्र से ही स्नान करायें।

१. 'शिग्रुम्' इति पा०।

वक्तव्य—उत्सादन का अर्थ है—उद्वर्तन=उबटन। इसके गुणों का वर्णन सु० चि० अ० २४।५१-५३ में देखें। इसके अनेक प्रकार देखे जाते हैं। यथा—१. **उद्घर्षण**—चने या मसूर के आटे से शरीर को मलना। २. **उत्सादन** या ३. **उद्वर्तन**—चने के आटे में तेल और दही मिलाकर शरीर को मलना। ४. **फेनक**—रीठे के फलों, सतावर के बीजों या आँवलों के चूर्ण या साबुन से शरीर को मल-मल कर धोना। ५. **उद्घर्षण**—ईंट, झामा, खड़ के स्पंज से शरीर के अवयवों को रगड़ना आदि। इसकी प्रशंसा में सुश्रुत ने कहा है—'उत्सादनात् भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद् वपुः'। वही।

जलौकःशकृता तद्वद् दग्धैर्वा बस्तरोमभिः। खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः॥४०॥

अन्य उत्सादन योग—अथवा जोंक की विष्ठा का उबटन लगायें, या बकरे के बालों को जलाकर या गदहे की हड्डी को जलाकर या हाथी के नाखूनों को जलाकर या गाय की पूँछ के बालों को जलाकर इन द्रव्यों का उबटन अपस्मार रोगी के शरीर पर लगाना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त जोंक की विष्ठा आदि द्रव्यों को बकरी अथवा गाय के मूत्र में पीसकर इनका उबटन लगाना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने चरकसंहिता में कहे गये उक्त श्लोक को अपूर्ण जैसा मानकर अपनी संहिता में उसे इस प्रकार पूर्ण किया है—'गोपुच्छलोमभिर्दग्धैरथवा बस्तरोमभिः। खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तद्वद् वा मूत्रकल्कितैः। उद्वर्तनं सदा कुर्याच्छृतैश्च परिषेचनम्'॥ अ० सं० उ० अ० १०।५७। इन्होंने इसमें केवल 'जलौकाशकृत्' के प्रयोग को न मालूम क्यों छोड़ दिया।

कपिलानां गवां [1]मूत्रं नावनं परमं हितम्। श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च शस्यते॥४१॥

अपस्मार में नस्य—कपिल वर्ण की गायों का मूत्र अपस्मार रोग में नस्य के लिए अत्यन्त हितकर होता है (पाठभेद के अनुसार मूत्र के स्थान पर पित्त पाठ दिया हुआ है)। और कुत्ता, शृगाल (सियार), बिडाल (बिलार), सिंह आदि (शब्द से बाघ, चीता आदि हिंसक श्वापदों=Savages) के मूत्र अपस्मार रोग में नस्य के लिए उत्तम माने जाते हैं।

वक्तव्य—आचार्य गणनाथसेन ने 'श्वशृगाल' के स्थान पर 'सशृगाल' पाठ को महत्त्व दिया है। हमारे विचार से निर्णयसागरीय 'श्वशृगाल' पाठ ही समीचीन है।

भार्गी वचा नागदन्ती श्वेता [2]श्वेता विषाणिका।
ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः॥ ४२॥
योगास्त्रयोऽतः षड् बिन्दून् पञ्च वा नावयेद् भिषक्।

अन्य तीन नस्य योग—१. भारंगी, घोड़वच, नागदन्ती (नागदौन); २. श्वेता (अपराजिता), श्वेता विषाणिका (शतावरी); ३. ज्योतिष्मती (मालकांगुनी), नागदौन—एक-एक पाद (चरण) द्वारा कहे गये इन तीन योगों को गोमूत्र से पीसकर कपड़े में निचोड़कर पृथक्-पृथक् रख लें। इनमें से किसी एक की पाँच या छः बूँदें नाक के छिद्र में डालने का चिकित्सक आदेश दे। इसके प्रयोग से अपस्मार रोग की शान्ति होती है।

वक्तव्य—यहाँ प्रयुक्त दोनों 'श्वेता' शब्द भिन्न अर्थ के सूचक हैं। आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'श्वेता श्वेतापराजिता श्वेतस्यन्दा। श्वेता विषाणिका शतावरी'। पाठभेदों की भिन्नता—निर्णयसागरीय प्रति में—'शत-विषाणिका', श्रीजयदेव वाली प्रति में—'शतश्वेताविषाणिका' और आचार्य गणनाथ सेन ने 'श्वेता शतविषाणिका' पाठ को स्वीकार किया है। वे 'शतविषाणिका' का पर्याय बृहद् अजशृङ्गी लिखते हैं।

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्झकैः॥ ४३॥
श्यामापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रेऽथ बस्तजे। साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम्॥४४॥

त्रिफलादि तैल—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), पीतद्रु (दारुहल्दी), जवाखार, फणिज्झक (वनतुलसी), श्यामा (काली सारिवा), चिरचिटा, करञ्ज के फल की गुद्दी—इन सभी

१. 'पित्तम्' इति पा०।
२. 'शतविषाणिका' इति पा०।

द्रव्यों को समभाग लेकर कल्क तैयार करें और द्रव के स्थान पर बकरे का मूत्र लें। इनसे विधिवत् तैयार किये हुए तेल के नस्य से अपस्मार रोग शान्त हो जाता है।

पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च। भार्गी च चूर्णितं नस्तः कार्यं प्रधमनं परम्॥

अपस्मार में प्रधमन नस्य—पिप्पली, वृश्चिकाली (कौआठोंठी), कूठ, पाँचों नमक तथा भारंगी—इन द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण तैयार करें। प्रधमन विधि से प्रयुक्त यह नस्य अपस्मार रोग की शान्ति के लिए उत्तम होता है।

वक्तव्य—तीक्ष्ण द्रव्यों के चूर्ण को छः अंगुल लम्बी दोनों ओर मुखवाली नलिका में डालें। उसका एक छोर रोगी की नाक में डालकर दूसरी ओर से मुख से फूंकना प्रधमन-नस्य कहा जाता है। विशेष जानकारी के लिए देखें—सु० चि० अ० ४०।४६। शा० सं० उ० खं० अ० ८।१३ तथा १७। प्रधमननस्य शिरोविरेचन का एक विकल्प है। यह चूर्ण रूप में नाक में डाला जाता है। इसे 'सुंघनी' भी कहते हैं, जो स्वयं सूँघी जाती है और प्रधमन-नस्य चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त होता है, स्वयं नहीं।

कायस्थां शारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवांस्तथा। सव्योषान् बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तीः प्रकल्पयेत्॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते। विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः॥४७॥

कायस्थादि वर्ति—कायस्था (बड़ी इलाइची), शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाली मूंग, नागरमोथा, खश, जौ, सोंठ, मरिच, पीपल—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर बकरे के मूत्र से पीसकर वत्तियाँ बना लें। ये बत्तियाँ पानी में घिसकर आँखों में लगाने से अपस्मार, उन्माद, साँप के काटने पर, कृत्रिम विष से पीड़ित होने पर, विष पी लेने पर, पानी में डूबकर मरने की स्थिति आ जाने पर इन रोगों में अमृत के समान होती है।

वक्तव्य—जल में डूब जाने पर मनुष्य चेतनाशून्य हो जाता है, ऐसी परिस्थिति में कायस्थादिवर्ति का प्रयोग अमृत के समान उसको पुनर्जीवित कर देता है। वृद्धवाग्भट ने चरकोक्त प्रधमननस्य तथा कायस्थादिवर्ति को मिलाकर एक योग के रूप में वर्णन किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० १०।४७-४८। इन्होंने 'पिप्पली' के स्थान पर 'बला' और 'शारदान्' के स्थान पर 'शारदां' का परिवर्तन किया है। इन्दु ने 'शारदां' का अर्थ 'जलपिप्पली', और दूसरों ने 'ब्राह्मी' किया है। जब कि यहाँ 'शारदान्' शब्द 'मुद्गान्' का विशेषण है।

मुस्तं वयःस्थां त्रिफलां कायस्थां हिङ्गु शाद्वलम्।
व्योषं माषान् यवान् मूत्रैर्बास्तमैषार्षभैस्त्रिभिः॥ ४८॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत्। किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च॥४९॥

मुस्ताद्यावर्ति—नागरमोथा, वयःस्था (दारुहल्दी), हरड़, बहेड़ा, आँवला, बड़ी इलायची, हींग, शाद्वल (नीलदूर्वा), सोंठ, मरिच, पीपल, उड़द, जौ—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर बकरा, भेड़, बैल के मूत्र के साथ पीसकर वत्ती बनानी चाहिए। इसका प्रयोग पानी में घिसकर अपस्मार, किलास (श्वेतकुष्ठ), उन्माद तथा विषमज्वरों में आँखों में अंजन के रूप में करना चाहिए।

वक्तव्य—किलासकुष्ठ में रोगाक्रान्त स्थान पर इसे घिसकर लगाना चाहिए। यद्यपि ऐसा कोई स्पष्ट संकेत तन्त्रकार का नहीं है, तथापि युक्ति की विशेषता सर्वत्र मान्य होती है।

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्। तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम्॥५०॥

अपस्मार में अंजन-धूपन—पुष्यनक्षत्र के दिन निकालकर रखे गये कुत्ते के पित्त का अंजन लगाने से अपस्मार रोग का विनाश होता है और उसी पित्त को घी में मिलाकर धूप देने से अपस्मार रोगी का अत्यन्त हित होता है।

वक्तव्य—कुत्ते का पित्त, गोरोचन, सर्पवसा आदि प्राणिज द्रव्यों का संग्रह करके रखा जाता है। पुष्यनक्षत्र के दिन संग्रह करना यह इसकी विशेष विधि है। इसे पानी में घिसकर आँख पर लगाया जाता है।

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः। [1]तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद् भिषक्॥५१॥

१. 'ऊर्णैः' इति पा०।

प्राणिज धूपन-प्रयोग—चिकित्सक को चाहिए कि वह नेवला, उल्लू, बिलार, गिद्ध, बिच्छू, कीट (विषैले कीड़े), सर्प, कौआ—इनके मुख या चोंच, पंखे, पुरीष (मल) इनकी धूप तैयार करके उसका प्रयोग करे। यह धूप अपस्मार-नाशक है।

वक्तव्य—विशेष देखें—काश्यपसंहिता-कल्पस्थान, धूपकल्पाध्याय ४।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्हृदयं सम्प्रबुध्यते।
स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति [1]ततः संज्ञां स विन्दति॥ ५२॥

उक्त विधियों से लाभ—ऊपर कही गयी इन चिकित्सा-विधियों द्वारा अपस्मार रोग से आक्रान्त रोगी का हृदय मूर्च्छा से मुक्त होकर चेतन हो जाता है और मनोवाही स्रोतस् भी निर्दोष हो जाते हैं, तदनन्तर वह वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः। दृश्येत तस्य कार्यं स्यादागन्तून्मादभेषजम्॥५३॥

आगन्तुकानुबन्ध अपस्मार-चिकित्सा—जिस अपस्मार के रोगी में दोषज अपस्मार के लक्षणों से अधिक लक्षण दिखलायी दें, उसे आगन्तुक कारणों से होने वाला अपस्मार समझें। उसमें चिकित्सक को चाहिए कि वह आगन्तुज उन्माद के लिए कही गयी चिकित्सा करे। इस आगन्तुक अपस्मार की चिकित्सा आगन्तुज उन्माद के अनुसार करनी चाहिए।

वक्तव्य—अपस्मार मूलतः चार होते हैं। इनमें भूतावेश हो जाने से कभी उन्माद भी हो जाता है। अतः इसका विशेष विवेचन आप इसी अध्याय के श्लोक १३ के वक्तव्य में देखें।

अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः। भगवन्! प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः॥५४॥
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम्। तत्र नोक्तमतः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम्॥

अग्निवेश का अतत्त्वाभिनिवेश विषयक प्रश्न

अतत्त्वाभिनिवेश की प्रस्तावना—अपस्मार रोग के निदान और चिकित्सा का उपदेश सुनने के पश्चात महर्षि अग्निवेश ने अपने गुरु भगवान् आत्रेय से हाथ जोड़कर कहा—हे भगवन्! आपने श्लोकस्थान (सूत्र-स्थान अ० १९।३) में महागद अतत्त्वाभिनिवेश के सम्बन्ध में कहा था, उसका कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन आपने (अभी तक) नहीं किया। मैं उसे सुनना चाहता हूँ, अतः उसका आप यहाँ उपदेश करें।

शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाऽऽह पुनर्वसुः। महागदं सौम्य! शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम्॥५६॥

सुनने की इच्छा वाले महर्षि अग्निवेश के इस प्रकार के विनीत वचनों को सुनकर गुरु के उपदेशों को शिष्य अग्निवेश से आचार्य आत्रेय पुनर्वसु ने कहा—हे सौम्य! मैं महागद के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का उपदेश कह रहा हूँ, उसे सुनो।

मलिनाहारशीलस्य वेगान् प्राप्तान्निगृह्णतः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः॥५७॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः। दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः॥५८॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां [2]बुद्धौ मनसि चावृते। हृदये व्याकुले दोषैरथ [3]मूढोऽल्पचेतनः॥५९॥
विषमां कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते। अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्॥६०॥

अतत्त्वाभिनिवेश के कारण, सम्प्राप्ति तथा लक्षण—मलिन (दूषित, जिसे देखकर खानेवाले का चित्त खिन्न हो जाता हो), आहार को जो प्रतिदिन खाता हो, उभड़े हुए अधारणीय मल-मूत्र आदि के वेगों को जो बलपूर्वक रोकता हो, जो पुरुष शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करता हो, ऐसे पुरुष के इन कारणों से प्रकुपित वात आदि दोष रजोगुण तथा मोह से जिसकी आत्मा आवृत हो गयी हो, अपना स्थान मनोवाही तथा बुद्धिवाहिनी सिराओं में जाकर वे दोष हृदय को दूषित कर मनोवाहिनी और

१. स्मृतिं संज्ञां च' इति पा०। २. 'सत्त्वे' इति पा०। ३. 'मूढाल्पचेतसः' इति पा०।

बुद्धिवाही स्रोतों में बना लेते हैं। रजस् और तमस् दोष के बढ़ जाने पर जब बुद्धि और मन उक्त मानसिक दोषों से घिर जाते हैं, तब दोषों से घिरा हुआ हृदय घबड़ाने लगता है, उस समय वह व्यक्ति मूढ़ (विवेक शून्य) हो जाता है, उसकी चेतनाशक्ति क्षीण हो जाती है, अतएव वह व्यक्ति नित्यभावों अथवा अनित्य भावों की विवेचना नहीं कर पाता, हित-अहित को नहीं समझ सकता है अर्थात् उसकी बुद्धि विषम हो जाती है, भले को बुरा और बुरे को भला समझने लगता है। उस अतत्त्वाभिनिवेश नामक रोग को आप्त (प्रामाणिक= शास्त्रज्ञ) पुरुष महागद कहते हैं।

वक्तव्य—अतत्त्वाभिनिवेश की निरुक्ति—'न तत्त्वम्=अतत्त्वम्, अभितः निविशते=अभिनिवेशः, अतत्त्वे अभिनिवेशः यस्मिन् सः'। यद्यपि तत्त्व शब्द अनेकार्थवाची है, तथापि इसका अधिकांश प्रयोग 'ठीक, वास्तविक, परमात्मा'—इन अर्थों में देखा जाता है। ये ही अर्थ यहाँ भी प्रसंगोचित कहे जा सकते हैं। ये सब लक्षण सत्त्वगुण के अभाव से जब स्मृतिशक्ति का विनाश हो जाता है तभी देखे जाते हैं। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक भी यही मानकर इसे पैराम्नेसिया (Paramnesia)=अपस्मृति कहते हैं। इसके अन्य भेद भी इस पद्धति में देखे जाते हैं। यथा—पुनरावर्ती अपस्मृति (Reduplicate paramnesia), दूसरे विद्वान् इसे पैरानोइया (Paranoia) कहते हैं, किन्तु दोनों के स्वरूप में मूलतः भेद है। श्रीगोविन्ददास विरचित भैषज्यरत्नावली में बुद्धि, स्मृतिभ्रंश-कारक रोगों के प्रकरण में उन्माद, स्मरोन्माद, गदोद्वेग, तत्त्वोन्माद और अपस्मार रोग वर्णित हैं। यहाँ महागद के स्थान पर गदोद्वेग और अतत्त्वाभिनिवेश के स्थान पर तत्त्वोन्माद का प्रयोग तो नहीं किया गया है? महागद और गदोद्वेग का तो समन्वय स्थापित किया जा सकता है, जब कि महर्षि आत्रेय ने महागद को अतत्त्वाभिनिवेश कहा है। वास्तव में अभिनिवेश उन्माद की-सी अथवा अपस्मार की-सी स्थिति है। अब वह तत्त्व-विषयक हो या अतत्त्व-विषयक। क्योंकि तन्त्रकार ने कहा है— 'विषमां कुरुते बुद्धिं'। इससे यह सिद्ध होता है कि जब समबुद्धि होती है तब तत्त्वाभिनिवेश या तत्त्वोन्माद और जब विषमबुद्धि होती है, तब अतत्त्वाभिनिवेश या अतत्त्वोन्माद की स्थिति उत्पन्न होती है।

तत्त्वोन्माद-चर्चा—मनुष्य में अध्ययन या अनुसन्धान-वृत्ति के अति तीव्र हो जाने पर अथवा किसी कारण-विशेष से आहत मन जब धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है, तो सामान्य योग्यता से युक्त या महापुरुषों को भी यह रोग हो जाता है। इस स्थिति में वह पुरुष अपने को किसी कारण-विशेष के बिना महान् समझने लगता है, या वह समझता है कि मेरे ऊपर ईश्वर की विशेष कृपा है, तदनुरूप वह चेष्टाएँ भी करने लगता है। इस भ्रमात्मक मोह को ही तत्त्वोन्माद कहा गया है। इसके पर्याय हैं—ब्रह्ममोह, हर्षमोह या हर्षमौढ्य।

अपदार्थगद—अन्यत्र इस नाम से उक्त रोग की चर्चा उपलब्ध होती है। किसी रोग विशेष के बिना 'मैं रुग्ण हूँ, इस प्रकार का भ्रम होना 'गदोद्वेग' कहा जाता है। पदार्थत्व का अभाव, अर्थात् जो जैसा है, उसको वैसा न समझना 'अपदार्थगद' नामक रोग है। इन सभी प्रकार के रोगों का मूल कारण है—मानसिक स्थिति की अस्वाभाविकता या विषमता।

स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः। कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥६१॥

अतत्त्वाभिनिवेश की चिकित्सा—इस रोगी को विधिवत् स्नेहन तथा स्वेदन कराने के बाद वमन आदि शोधन-विधि द्वारा शरीर का भली-भाँति संशोधन करा कर संसर्जन-क्रम (इसमें रोगी को पथ्य के रूप में सुपाच्य पेया आदि पदार्थों का सेवन कराया जाता है) करा लेने के बाद मेधाशक्ति-वर्धक अन्न-पानों का सेवन कराते हुए उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—संशोधन-क्रम में सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन करा लिया जाता है, तदनन्तर वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन कराया जाता है। स्नेहन आदि उपर्युक्त संशोधन उपचारों के बाद पाचकाग्नि मंद पड़ जाती है। अतः सुपाच्य द्रव्यों के सेवन का विशेष विधान किया जाता है।

सुश्रुतसंहिता उ० तं० अ० ६१।४१ में हनुसन्धिमध्यगत सिरावेध का विधान किया है। सुश्रुत शा० अ० ८ में अपस्मार की शान्ति के लिए हनु की सन्धि में रहने वाली सिरा का वेध करने का विधान है, किन्तु सिरावेध से सर्वांग का शोधन होता है, अतः अन्य स्थान की सिरा का भी वेध किया जा सकता है और व्रणितोपासनीय

नामक सु० सू० अ० १९।२९ में छत्रा, अतिच्छत्रा आदि मांगलिक वस्तुओं का धारण करने की भी चर्चा है। चिकित्साकाल में इन तथ्यों पर भी ध्यान देना चाहिए।

ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम्। तत् सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम् ॥६२॥

ब्राह्मी का प्रयोग—ब्राह्मी-स्वरस से निर्मित (ब्राह्मी घृत) और जो इसी प्रकरण में पञ्चगव्य (लघु एवं महा) घृत कहा गया है, उस-उसका सेवन इसमें करना चाहिए। शंखपुष्पी का सेवन (स्वतंत्र रूप से या घृत निर्माण कर) करना चाहिए और भी जो मेधावर्धक रसायन हो, उसका भी सेवन करना चाहिए।

सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्ता धर्मार्थवादिनः। संयोजयेयुर्विज्ञान[1]धैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥६३॥

अतत्त्वाभिनिवेश में आश्वासन—अनुकूल व्यवहार करने वाले सुहृद् (जिनका हृदय रोगी के प्रति स्वच्छ हो), जो सर्वथा रोगी के विश्वासपात्र हों, धर्मोपदेशक तथा अर्थ (रोगी के हित) की बातें करने वाले हों, ऐसे मित्रजन उस रोगी को विज्ञान, धैर्य, स्मरणशक्ति तथा समाधि से युक्त करें। अर्थात् उसे ज्ञानवान् बनायें, धैर्य दिलायें, स्मरणशक्ति प्रदान करें तथा एकाग्रचित्त होने का उपदेश दें।

प्रयुञ्ज्यात् तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्। ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम् ॥६४॥

अतत्त्वाभिनिवेश में विविध प्रयोग—१. लहसुन के कल्क में तिल का तेल मिलाकर, २. अथवा दूध में शतावरी का कल्क मिलाकर, ३. या दूध में ब्राह्मी का स्वरस मिलाकर (ताजी ब्राह्मी का स्वरस निकाल लें अथवा सूखी ब्राह्मी को पानी में भिगोकर पीसकर कपड़छन कर उसका रस ले लें), ४. या दूध में मीठा कूठ का कल्क मिलाकर, ५. या बालवच का चूर्ण मधु में मिलाकर रोगी को दें।

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी [2]कृतास्पदः। तस्माद् रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत् ॥६५॥

अपस्मार में रसायन-प्रयोग—अपस्मार रोग दुश्चिकित्स्य (बड़ी कठिनता से दूर होने वाला), चिरकारी (उत्तम चिकित्सा करने पर भी बड़ी देर में ठीक होने वाला) तथा कृतास्पद (अपना अड्डा जमा लेने वाला अर्थात् जल्दी साथ न छोड़ने वाला) होता है। इसलिए अधिकांशतः इसकी चिकित्सा रसायनयोगों द्वारा ही करनी चाहिए।

वक्तव्य—रसायनयोग बुढ़ापे के लक्षणों को टाल देने वाले होने के साथ विशिष्ट प्रकार की व्याधियों का भी नाश करते हैं। अपस्मार रोग इसी प्रकार के रोगों में अन्यतम है।

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा। रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ते ॥६६॥

अपस्मार में रक्षा-विधान—अपस्मार तथा उन्माद रोग से पीड़ित रोगी की सदैव जल, अग्नि, वृक्ष, पर्वत एवं विषम (ऊँचे-नीचे) स्थानों से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि ये स्थान उक्त रोगियों के लिए उद्वेजक होने के कारण शीघ्र प्राणनाशक होते हैं।

वक्तव्य—अपस्मार तथा उन्माद के रोगियों के बारे में प्रायः यह देखा-सुना जाता है कि वह रोगी पानी में डूब गया, आग में जल गया, वृक्ष पर फाँसी लगाकर अपने प्राण दे डाला, पर्वत से कूद पड़ा, ऊँचे स्थान से लुढ़ककर नीचे स्थान में गिर जाने से फँस गया, आदि आदि। अतः सावधानी रखने का आदेश दिया गया है।

तत्र श्लोकौ—

हेतुं कुर्वन्त्यपस्मारं दोषा; प्रकुपिता यथा। सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषां च भेषजम् ॥
महागदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम्। मुनिर्व्याससमासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते[3] ॥६८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने-
ऽपस्मारचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

१. 'विज्ञानम्' इति पा०।
२. 'महागदः' इति पा०।
३. 'प्रजाहितार्थं भगवानपस्मारचिकित्सिते' इति पा०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में दो श्लोक दिये गये हैं—इस अपस्मार चिकित्सित नामक अध्याय में आचार्य आत्रेय मुनि ने जो अपस्मार रोग को उत्पन्न करने वाले कारण, उनकी सम्प्राप्ति का तथा जिस प्रकार दोष प्रकुपित होते हैं उनके कारण, सामान्य रूप से उनके लक्षण तथा उनकी चिकित्सा और अतत्त्वाभिनिवेश जिसे आप्तजन महागद भी कहते हैं, उस रोग-विशेष के कारण, लक्षण एवम् औषधयोगों का निरूपण व्यास (विस्तार) से और समास (संक्षेप) से किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका, हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सा-स्थान में अपस्मारचिकित्सित नामक दसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अथातः क्षतक्षीणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अपस्मार-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ क्षतक्षीण-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'क्षतेन क्षीणः=क्षतक्षीणः'। क्षत (चोट लगने) से क्षीण होना इस रोग का प्रथम लक्षण है, इसी के अनुसार इसका नामकरण हुआ है। चरक-निदानस्थान अ० ६ में इसका क्रम कुष्ठ-निदान के बाद दिया है। वहाँ इसका नाम 'शोष' है। जहाँ एक ओर यह शब्द क्षय रोग का पर्याय कहा गया है—'क्षयः शोषश्च यक्ष्मा च'। अमरकोष २।६।५१। वहीं दूसरे कोषकार ने इसका अर्थ शोषण (सुखा देने वाला) किया है—'शोषः शोषणयक्ष्मणोः'। इति हैमः। यद्यपि च० चि० अ० ८ में राजयक्ष्म-चिकित्सा का वर्णन किया जा चुका है, तथापि यह अपने विशिष्ट लक्षणों से युक्त होता है, जिसका विस्तृत वर्णन इस अध्याय में किया जायेगा।

इससे पहले अध्याय के ६६वें श्लोक में 'जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा रक्षेत्' का तन्त्रकार ने उन्माद तथा अपस्मार रोगी के लिए जो निर्देश दिया है, इसका कारण यही है कि इन साहसिक कार्यों को करने से रोगी का उरःक्षत हो जायेगा, जो प्रस्तुत क्षतक्षीण रोग का प्रधान कारण है। आप भी देखें—चरक नि० अ० ६।४। यद्यपि 'क्षतक्षीण' यह संज्ञा महर्षि आत्रेय द्वारा रोगविशेष को प्रदत्त है, इसका इस रूप में दूसरे संहिताकारों ने ग्रहण नहीं किया है, तथापि रोग-परिचय की दृष्टि से उक्त अंश गवेषणीय है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० ११। सु० उ० तं० अ० ५२। अ० सं० नि० अ० ३।३४-३८। अ० सं० चि० अ० ५। अ० हृ० नि० अ० ३।३२-३५। अ० हृ० चि० अ० ३।७२-७६।

उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित्। क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥३॥

क्षतक्षीण चिकित्सा की प्रस्तावना—परमार्थवित् (चिकित्सा सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्तों को जानने वाले), उदारकीर्ति (आयुर्वेद-विदों में सुप्रसिद्ध), ब्रह्मर्षि आत्रेय ने क्षतक्षीण रोगियों की चिकित्सा के लिए यह (निम्नलिखित) चिकित्सा विधि कही है।

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं[1] भारमुद्वहतो गुरुम्। पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः ॥४॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः। शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्। महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥६॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चातिप्रनृत्यतः। तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च ॥७॥

१. 'ऽत्यर्थम्' इति पा०।

विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।

उरःक्षत का निदान—जो व्यक्ति अपनी वास्तविक शारीरिक शक्ति से अधिक अर्थात् दुःसाहस से कठोर धनुष को बार-बार चढ़ाने का प्रयत्न करता हो, शक्ति से अधिक भार को इधर-उधर ले जाता हो, विषम (ऊँचे-नीचे) स्थानों अथवा केवल ऊँचे स्थानों से गिरता या कूदता हो, अपने से अधिक बलवान् पुरुषों के साथ युद्ध (कुश्ती आदि) करता हो, दौड़ते हुए साँड या घोड़ा को पकड़कर रोक लेता हो, अथवा और किसी दमन करने योग्य प्राणी को रोकता (दमन करता) हो (प्रायः घोड़ा, हाथी, शेर, बाघ को वश में करने तथा इनको शिक्षा देने के अवसरों पर ऐसी घटनाएँ होती हैं), चट्टान, काष्ठ (बड़े-बड़े शहतीर, धरन आदि), पत्थर, निर्घात (शस्त्र-विशेष–चक्र०), इनको बलपूर्वक दूर फेंकता हो या इनसे दूसरों को मारता हो, या जोर-जोर से पढ़ता हो, दौड़कर दूर तक जाता हो, महानदी (बड़े पाट वाली नदी) को तैर कर पार करता हो, या घोड़ों के साथ दौड़ता हो, सहसा पर्याप्त दूरी तक उछाल मारता (ऊपर की ओर को कूदता) हो, या शीघ्रतापूर्वक अधिक नृत्य करता हो और इसी प्रकार के दूसरे क्रूर (Cruel) कर्मों के करने से जिसका हृदय अधिक आहत हो गया हो, ऐसे पुरुष का वक्षस् (उरःप्रदेश=फेफड़ों) में क्षत (घाव) हो जाने पर बलवान् व्याधि (उरःक्षत) उत्पन्न हो जाती है।

वक्तव्य—ऊपर जिन क्रूर कर्मों का वर्णन किया है, ये सभी कार्य सामान्य स्थिति में किये ही जाते हैं। किन्तु शक्ति का अतिक्रमण कर उक्त प्रकार के जो कार्य किये जाते हैं, वे सब उरःक्षत में कारण होते हैं। माधव-निदान के व्याख्याकार श्रीविजयरक्षित ने इस प्रकार से हुए उरःक्षत को दुस्साहसजनित कहा है—'साहसादिति साहसं बलवद्विग्रहादिरुरःक्षतहेतुत्वेन कारणम्'। मा० नि० राजयक्ष्म-क्षतक्षीणनिदान।

शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान्—ये सब पाषाण युग के प्रहरण (आयुध) थे। इनमें शिला, काष्ठ, अश्म के अर्थ तो स्पष्ट हैं, किन्तु निर्घात शब्द कुछ विवेचन की अपेक्षा रखता है। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार—'निर्घातः अस्त्रविशेषः, किंवा निर्घातः शिलादीनां प्रेरणविशेषोऽतिबलसम्पादितः'। हमारे विचार से दूसरा अर्थ यहाँ समीचीन प्रतीत नहीं हो रहा है। यह निर्घात=जैविलिन (Javelin) जैसा कोई अस्त्र विशेष ही है, क्योंकि फेंक कर जिन आयुधों से प्रहार किया जाता है, उन्हें अस्त्र कहते हैं।

निर्घात शब्द का अन्य प्रयोग—'निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्'। रघुवंश ९।६४। अन्यत्र—'वायुना निहतो वायुर्गगनाच्च पतत्यधः। प्रचण्डघोरनिर्घोषो निर्घात इति कथ्यते'। देखें—वी० एस्० आप्टे कृत कोष।

स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ ८ ॥
उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते। प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥९॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते। ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधादपि ॥१०॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः। कासमानस्य [1]च श्लेष्मा सरक्तः सम्प्रवर्तते ॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।

क्षत-क्षीण का निदान—जो व्यक्ति केवल रूक्ष पदार्थों का आहार करता है, अल्पाहार करता है या प्रमित (नपा-तुला) आहार करता हुआ भी (ये तीनों प्रकार के आहार मनुष्य को क्षीण कर देते हैं) स्त्री-सहवास में अधिक रूप में तत्पर रहता है (पुष्टिप्रद आहारों के अभाव से तथा शरीर में स्थित वीर्य के नित्य-प्रति क्षीण होने से) उसके उरःप्रदेश (वक्षस्थल) में पीड़ा होने लगती है, उसका वक्षःस्थल फट जाता है या उसके विभाग हो जाते हैं (पाठभेद के अनुसार–विदाह=जलन होने लगती है) तदनन्तर दोनों पसलियों में दबाने की-सी पीड़ा होने लगती है, शरीरावयव सूखने लगते हैं। रोगी काँपने लगता है। रोगी का क्रमशः वीर्य, बल, वर्ण, भोजन के प्रति इच्छा तथा पाचकाग्नि क्षीण होती जाती है; ज्वर, शरीर में पीड़ा, मन में दीनता, विड्भेद (अतिसार), पाचकाग्नि का नाश—ये लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। इस स्थिति में उरःक्षत के कारण जब रोगी खाँसता है, तो दूषित काले रंग वाला, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त, पीला, गाँठदार, अधिक मात्रा में रक्त

१. 'चात्यर्थं श्लेष्मा सास्रः प्रवर्तते' इति पा०।

के साथ मुख से कफ निकलने लगता है। वह उर:क्षत का रोगी शुक्र और ओजस् धातु के विनाश हो जाने से अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

वक्तव्य—निर्णयसागर प्रेस से चक्रपाणि की टीका के साथ सन् १९४१ में प्रकाशित चरकसंहिता की तृतीयावृत्ति के निदान अध्याय ६।८ को देखें, उसमें—'स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः' इस पाठ का जो आशय गद्य में दिया गया है, वह इस प्रकार है—'यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादतिप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद् रेतः क्षयमेति।······स कासप्रसङ्गादुरसिक्षते शोणितं ष्ठीवति'। इसी को आधार मानकर माधवनिदान में श्लोक २१ से २८½ तक इसे उर:क्षत का ही निदान मान लिया गया है।

रूक्षाल्पप्रमिताशिनः—'रूक्षं च अल्पं च प्रमितं च अश्नाति, यः सः, तस्य'—अर्थात् जो व्यक्ति रूक्ष (स्नेहरहित) अन्नों का अल्प (जितनी भूख है, उससे भी कम) अथवा प्रमित=नपा-तुला (Measured) भोजन करते हैं। आप ध्यान दें—भोजन स्निग्ध, रूक्ष भेद से दो प्रकार का होता है। इसका नियम है—'गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते' (च० सू० अ० २७।३४१)—अर्थात् घी-तेल में बनाये गये, खोया आदि से निर्मित भक्ष्य पदार्थ गुरु होते हैं, इनको खाने से जब आधी तृप्ति हो जाये तब भोजन करना छोड़ दें और लघु (रूक्ष) पदार्थों को पेटभर से अधिक न खायें। आहार के गुरु-लघु आदि विचार के लिए चरक, वि० अ० १ तथा सु० सू० अ० ४६ श्लोक ४४३ से आगे देखें। हितकर भोजन का एक नियम यह भी है—**'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्', 'प्रमिताशनं कर्शनीयानाम्'**, च० सू० अ० २५।४०। अतएव रूक्ष, अल्प, प्रमिताशन का अभ्यास हितकर होने के कारण यह क्षत-क्षीण का निदान माना गया है।

इससे हानि—जठराग्नि का प्रधान कार्य है—भोजन को पकाना या पचाना। रूक्ष, अल्प, प्रमित भोजन का पाक शीघ्र हो जाता है, तदनन्तर वह पाचकाग्नि भोजनरूपी इन्धन के अभाव में धातुओं को पकाने (जलाने) लगती है और जब धातुओं का पाक होने लगता है, तो मानव क्षीण हो जाता है। इस स्थिति में यदि स्त्रियों के सहवास की उत्कट इच्छा होकर मनुष्य उसकी पूर्ति में लग जाता है, तो निश्चय ही 'उर:क्षत' हो जाता है।

प्रमिताशनः—आचार्य चक्रपाणि ने इसका अर्थ किया है—'एकरसाभ्यासः किंवाऽतीतकालभोजनम्'। यदि आप भी इस अर्थ से सहमत हों तो, किसी को क्या लेना-देना। फिर भी इस पर विचार करना चाहिए, कि क्या सर्वत्र 'प्रमिताशन' का चक्रपाणि-सम्मत यही अर्थ है, या नहीं ?

स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य—क्षत-क्षीण के दूसरे कारण के रूप में तन्त्रकार ने स्त्रियों में अतिप्रसक्ति को दिया है। इसका प्राचीन इतिहास नक्षत्रराज चन्द्रमा से जुड़ा हुआ है। इसके पहले भी तन्त्रकार ने स्वतन्त्ररूप से इस तथ्य को स्वीकारा है—**'स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकराणाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। किन्तु यहाँ रूक्षाल्पप्रमिताशी होने पर भी स्त्रियों में अतिप्रसक्ति का निषेध किया है। वाजीकरणयोगों से सुपुष्ट शरीर वाले पुरुष के लिए तो 'स्त्रीषु चातिप्रसक्ति' उत्सव है, उत्तम मनोविनोद है, लौकिक जीवन की संस्पर्शज चरम उपलब्धि है, परन्तु इसकी भी एक सीमा होती है, उसका अतिक्रमण निश्चित ही रोग का कारण होता है।

शुक्रौजसोः क्षयात्—क्षय अनुलोम, विलोम भेद से दो प्रकार का होता है। १. **अनुलोमक्षय** वह है, जिसमें रस, रक्त आदि के क्रम से धातुओं का क्षय होता है और २. **विलोमक्षय** उसे कहते हैं, जिसमें शुक्रधातु से क्षय का आरम्भ होता है। इसका मुख्य कारण है—स्त्री-सहवास की अधिकता। रस से लेकर शुक्र तक सात ही धातुएँ होती हैं, किन्तु यहाँ ओजस् का भी ग्रहण किया है। इसकी गणना उपधातुओं में की गयी है। ये उपधातुएँ भी सात ही होती हैं—१. स्तन्य, २. रजस्, ३. वसा, ४. स्वेद, ५. दाँत, ६. केश, ७. ओजस्। देखें-शा० सं० पू० खं० अ० ५।२८-२९। इसका महत्त्व—'ओजः शरीरे सञ्जातं तन्नाशान्नाशमृच्छति'। मा० नि०। वास्तव में यह ओजो धातु रस से लेकर शुक्र-पर्यन्त सभी धातुओं का तेज है। अब आप स्वयं सोचें कि इसके क्षय होने से शरीर की क्या स्थिति होगी।

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ १२ ॥

उर:क्षत का पूर्वरूप—अव्यक्त (अस्पष्ट या ईषत् स्पष्ट) लक्षण ही उर:क्षत का पूर्वरूप माना गया है।

वक्तव्य—होने वाली व्याधिविशेष का आभास जिस लक्षण से प्राप्त हो, उसे पूर्वरूप कहते हैं। इस पर मधुकोष-टीकाकार लिखते हैं—'उर:क्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजानि अव्यक्तानि'। अर्थात् उर:क्षत निदान में कहे गये सभी साहसिक कार्यों को इसका अव्यक्त पूर्वरूप समझना चाहिए। जैसे—यदि कोई दुर्बल किसी बलवान् से भिड़ जायेगा तो वह उसे अवश्य पटक देगा, इससे उसके उर:प्रदेश में क्षत होना अवश्यम्भावी है। बलवान् के साथ दुर्बल का भिड़ जाना व्यक्त लक्षण है और जब तक नहीं भिड़ता तब तक वह लक्षण अव्यक्त है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों पर भी इस व्यक्त-अव्यक्त की परिभाषा का प्रयोग कर देखें।

उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते। क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥१३॥

क्षत-क्षीण के विशेष लक्षण—उर:प्रदेश में क्षत (घाव) हो जाने पर विशेषरूप से वक्षःस्थल (छाती) में पीड़ा, रक्त का वमन और कास (खांसी)—ये लक्षण होते हैं। धातुओं के क्षीण होने पर रक्त-मिश्रित मूत्र का निकलना, पसलियों, पीठ और कमर में जकड़न-सी विशेषरूप से अनुभव होती है।

वक्तव्य—उर:क्षत से खून की उलटी होना, शुक्र आदि धातुओं के क्षीण होने से मूत्र के साथ रक्त का निकलना ये लक्षण होते है। इन कारणों से क्षत-क्षीण रोगी में वायु का प्रकुपित होकर सम्बन्धित अंगों में वेदना और जकड़ाहट के लक्षण उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। विशेष देखें—अ० सं० नि० अ० ३।३४-३८।

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः। परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥१४॥

उर:क्षत की साध्यासाध्यता—यदि उर:क्षत का रोगी बलवान् हो, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो, रोग नया हो और रोग के सभी लक्षण अभी प्रकट न हुए हों, तो उक्त रोग 'साध्य' होता है। यदि एक वर्ष से अधिक पुराना हो तो 'याप्य' होता है और जिस रोगी में निदानोक्त सभी लक्षण दिखलायी दें, उसे असाध्य समझकर छोड़ दें।

वक्तव्य—'वर्जयेत्' का तात्पर्य यह नहीं है कि रोगी की चिकित्सा करना छोड़ दे, किन्तु रोगी के अभिभावकों को इसके असाध्य होने की जानकारी दे दे, जिससे भविष्य में चिकित्सक अपमानित न हो। चिकित्सा तो करनी ही चाहिए, क्योंकि कभी दैवसंयोग से अरिष्ट लक्षणों से युक्त रोगी भी रोग-मुक्त हो जाता है।

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्। सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात् सशर्करम् ॥१५॥
पार्श्ववस्तिरुजी चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम्।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ॥ १६ ॥

उर:क्षत की चिकित्सा—जब निदान द्वारा यह ज्ञात हो जाये कि उर:प्रदेश में क्षत हो गया है, यह जानकर तत्काल दूध और मधु के साथ लाक्षा चूर्ण मिलाकर पी ले। जब यह पच जाये उसके बाद चीनी मिले हुए दूध के साथ रोटी या भात खाना चाहिए। यदि पसलियों और वस्तिप्रदेश में पीड़ा हो और रोगी के शरीर में पित्त एवं पाचकाग्नि की कमी हो तो उस लाक्षा के चूर्ण को मद्य में मिलाकर पिलाना चाहिए। यदि उर:क्षत के रोगी को अतिसार हो रहा हो तो नागरमोथा, अतीस, पाठा, कुटज की छाल तथा लाक्षा के चूर्ण को सादा जल के साथ सेवन करायें।

वक्तव्य—उर:क्षत में दूध के साथ कच्ची लाख के चूर्ण को खौलाकर ठंडा कर लें, तब उसमें मधु मिलाकर दें। यह प्रयोग सद्यः देने को इसलिए कहा है, कि यह तत्काल व्रणरोपण (घाव को भरने वाला) होता है। उसके बाद चीनी मिले दूध के साथ भोजन करने का निर्देश इसलिए दिया है कि घाव में नमक-मिर्च का स्पर्श कष्टप्रद होता है। दूध भी व्रण-रोपण है। दूसरा प्रयोग स्पष्ट है। तीसरे प्रयोग में श्रीजयदेव **'समुस्तातिविषां पाठां सवत्सकाम्'**, पाठ-भेद दिखाकर लाक्षा चूर्ण को हटाकर मोथा, अतीस, पाठा, कुटज की छाल का चूर्ण लेने की बात करते हैं। इससे केवल अतिसार ही ठीक हो पायेगा, घाव नहीं भरेगा। इसमें प्रयुक्त वत्सकत्वक् चूर्ण यद्यपि रोपण हो सकता है, किन्तु यह लाक्षा चूर्ण के समान सद्यः रोपण नहीं होता। उक्त दिये हुए पाठ में दो बार प्रयुक्त सहित-अर्थसूचक 'स' वर्ण का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा, अतः यह पाठ महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता।

लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम् ।
त्वक्क्षीरीं समितां क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ॥ १७ ॥

उरःक्षत में लाक्षादिक्षीर—जिस उरःक्षत रोगी की पाचकाग्नि तीक्ष्ण हो उसे कच्ची लाख, गाय का घी, मधूच्छिष्ट (मोम—Bees wax), जीवनीगण के द्रव्य, चीनी, वंशलोचन—इन सबको समभाग लेकर दूध में पकाकर पिलाना चाहिए ।

वक्तव्य—सामान्य क्षीरपाक-विधि—उपयोगी औषधद्रव्यों से आठ गुना गाय का दूध लें तथा दूध से चौगुना जल मिलाकर उसमें आवश्यक द्रव्यों को डालकर पकायें । पकते-पकते जब दूध मात्र शेष रह जाये तो उसे उतार लें । यह लाक्षादिक्षीर उरःक्षत में अत्यन्त हितकारक होता है । श्रीजयदेव ने इसमें गेहूँ के आटा को घी में भूनकर मिलाने की बात लिखी है, क्या उसकी भी क्षीरसंज्ञा होगी ?

इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः । शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत् क्षती ॥१८॥

इक्ष्वालिकादिक्षीर—इक्ष्वालिका (ईख) की जड़ या काशतृण की जड़, बिसग्रन्थि (कमलनाल की गांठ जो जल के भीतर इसके मूल में पायी जाती है), कमलकेशर, लालचन्दन—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर इनसे दूध का पाक करें । तैयार हो जाने पर इस दूध में मधु मिलाकर पीने से उरःक्षत रोगी के क्षत का सन्धान हो जाता है ।

वक्तव्य—क्षीरपाक-विधि का वर्णन ऊपर १७वें श्लोक के वक्तव्य में दिया है । विशेष देखें—शा० सं० म० खं० अ० २।१७९ । ऊपर श्लोक में कहे गये द्रव्यों को समभाग लेकर उनका कल्क बना लें, कल्क से चौगुना गाय का दूध लें, दूध से चौगुना पानी । शेष स्पष्ट है । संधान का अर्थ है—जोड़ना, भरना या पूरा करना ।

यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम् । ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥१९॥

उरःक्षत में यव-प्रयोग—उरःक्षत रोग में ज्वर हो तो साफ किये हुए यवों का आवश्यकतानुसार चूर्ण (आटा) लेकर उसमें घी मिलाकर दूध में पकाकर सेवन करें । अथवा दाह (अंगों में जलन हो रही) हो तो जौ के सत्तू को चीनी, मधु के साथ दूध में मिलाकर पीना चाहिए । अथवा ज्वर तथा दाह दोनों में दोनों योगों को दिया जा सकता है ।

वक्तव्य—'घृतप्लुतम्' का तात्पर्य तो यह है कि घी में सान लें, किन्तु जौ के आटे को सामान्यतः घी में भूनकर तब दूध में पकाया जाता है । ध्यान रहे, यह हलुआ न बन जाये । इसे पीना है, अतः दूध की मात्रा अधिक रखनी होगी । दूसरे योग का निर्माण करते समय पहले दूध में चीनी और शहद को मिला लें, तब उसमें उतना सत्तू डालें जो पीने लायक हो । ये दोनों प्रकार के पेय उरःक्षत को भर देते हैं ।

मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः । कासी पार्श्वास्थिशूली च लिह्यात् सघृतमाक्षिकाः ॥

मधूकादियोग—उरःक्षत रोग में यदि कास हो गया हो, पसलियों अथवा अस्थियों में शूल हो रहा हो तो उक्त रोगी को चाहिए कि वह महुए के फूल, मुलेठी, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली तथा बरियारा की जड़ इन सबको समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर गाय का घी और मधु में मिलाकर उचित मात्रा में चाटे ।

एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा । सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥२१॥
सञ्चूर्ण्य मधुना युक्ता गुटिकाः सम्प्रकल्पयेत् । अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेन्ना दिने दिने ॥२२॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दि मूर्च्छां मदं भ्रमम् । रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम् ॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतं क्षयम् । गुटिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥२४॥

इत्येलादिगुटिका ।

एलादि गुटिका—छोटी इलायची के दाने, पत्र (तेजपत्ता), त्वक् (दालचीनी), ये तीनों द्रव्य आधा-आधा कर्ष (तोला), पिप्पली आधा पल (२ तोला), मिश्री, मुलेठी, खजूर, मुनक्का—ये सब १-१ पल (४-४ तोला) लेकर इनका चूर्ण बनाकर मधु (शहद) के योग से गोलियाँ बना लें । इसमें से एक अक्ष (तोला) मात्रा को लेकर उरःक्षत का रोगी प्रतिदिन सेवन करे । इसका सेवन करने से कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, छर्दि

(वमन), मूर्च्छा, मद, भ्रम, रक्तनिष्ठीवन (थूक के साथ खून का आना), तृष्णा, पार्श्वशूल (पसलियों की पीड़ा), अरोचक, शोष, प्लीहा, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ-अ० हृ० नि० अ० १५।५१), स्वरभेद, क्षत, क्षय, रक्तपित्त—इन रोगों का नाश होता है । यह गुटिका वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा शरीर को तृप्त करती है ।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने १-१ अक्ष (तोला) की गोली बनानी चाहिए, ऐसा अर्थ किया है, जिससे वे स्वयं भ्रम में पड़ गये हैं, ऐसा लगता है । आप ध्यान दें—'**मधुना युक्ता गुटिकाः सम्प्रकल्पयेत्**' । यहाँ '**गुटिकाः**' शब्द द्वितीया बहुवचन का है और '**अक्षमात्रां**' द्वितीया एकवचन है, ये दोनों शब्द क्या परस्पर विशेष्य-विशेषण हो सकते हैं ? यदि नहीं तो फिर उक्त अर्थ कैसे सम्भव हो सकता है । यहाँ तो उन गोलियों में से १ अक्ष मात्रा लेने का विधान किया है । आप रोगी के शरीर-सम्पत् को देखकर मात्रा का निर्धारण करें । आधुनिक दृष्टि से रक्तनिष्ठीवन को Haemoplysis कहते हैं ।

आढ्यवात—इस रोग का वर्णन च० चि० अ० २७ में, सु० नि० अ० ५ श्लोक ३१-३३ में, अ० सं० नि० अ० १६।५ में तथा अ० हृ० नि० अ० १५ में देखें । इसमें ऊरुओं के भीतर दोषों का संचय हो जाता है, वे अधिक स्थूल हो जाते हैं । इनमें पहले तो चलने में कष्ट होता है और फिर कुछ समय बाद रोगी चल ही नहीं सकता है । यह रोग प्रायः आढ्यों (धनिकों) को होता है, अतः इसे **आढ्यवात** कहा जाता है । इससे दोनों ऊरु स्तब्ध हो जाते हैं, अतः इसे 'ऊरुस्तम्भ' कहते हैं । इस रोग में रोगी भले ही कुछ चल-फिर ले परन्तु वह दौड़ नहीं सकता ।

रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्डं यूषैस्तोयेन वा पिबेत् । चटकाण्डरसं वाऽपि रक्तं वा छागजाङ्गलम् ॥२५॥

रक्तातिप्रवृत्ति में प्रयोग—उरःक्षत रोग में यदि रक्त अधिक मात्रा में निकल रहा हो तो मुर्गी के अण्डे का घोल यूषों के साथ अथवा जल के साथ पिलायें । अथवा चटका (गौरैया) के अण्डे का घोल विविध प्रकार के यूषों के साथ या जल के साथ पिलायें । अथवा बकरे का या जांगलदेश में उत्पन्न वहीं पले हुए पशु-पक्षियों के ताजे रक्त को यूषों या जल के साथ पिलायें ।

वक्तव्य—यहाँ 'दक्षाण्ड' कुक्कुटाण्ड के अर्थ में प्रयुक्त है । इसका अर्थ है मुर्गी का अण्डा । व्याकरणशास्त्र के अनुसार इसका विग्रह इस प्रकार है—'कुक्कुट्याः अण्डम्' । कुछ टीकाकारों ने इसे मुर्गे का अंडा लिख दिया है । ऐसा ही प्रयोग 'चटकाण्ड' का भी है । मुर्गी तथा गौरैया के अंडों के बाहर की सफेदी निकाल कर भीतरी भाग को किसी पात्र में घोल कर तभी यूष आदि में मिलायें । अंडों के घोल तथा जांगलप्राणियों के रक्त उरःक्षत के क्षत-पूरक और रक्तस्राव के क्षति-पूरक होते हैं ।

चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम् । रक्तष्ठीवी पिबेत् सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥२६॥

रक्तष्ठीवन में कर्तव्य—यदि उरःक्षत के रोगी के थूक में बार-बार रक्त जा रहा हो तो वह पुनर्नवा की जड़ तथा शालिचावलों के चूर्ण को मुनक्का के रस, दूध और घी में पकाकर उसमें चीनी मिलाकर पीये ।

मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम् ।

रक्तष्ठीवन में अन्य योग—अथवा महुआ के फूल और मुलेठी को कूट-पीसकर दूध में पकाकर रोगी को पीने के लिए दें । अथवा चौलाई की जड़ को कूट-पीसकर दूध में पकाकर पीने के लिए रोगी को दें । (यहाँ भी क्षीरपाक-विधि को ध्यान में रखकर दूध का पाक करें) ।

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम् ॥२७॥

उरःक्षत में मूढवात-चिकित्सा—उरःक्षत में यदि वायु मूढ़ (बाहर न निकल रही हो, अर्थात् प्रतिलोम) हो गयी हो तो बकरे के मेदा को सुरा में उबालते-उबालते सुखा लें, तब उसमें सेंधानमक मिलाकर खाने के लिए दें ।

वक्तव्य—दूसरे टीकाकारों ने '**सुराभृष्टं**' का अर्थ 'सुरा या मदिरा में भूंजकर' ऐसा किया है, जो बुद्धिगम्य नहीं होता, किन्तु वी० एस० आप्टे ने भृष्टान्न का अर्थ Rice boiled and fried लिखा है । वास्तव में 'भ्रस्ज पाके' धातु से 'भ्रष्ट' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—पका हुआ ।

क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनिले । शृतक्षीरसरेणाद्यात् सक्षौद्रघृतशर्करम् ॥२८॥

विधिभेद से अजामेदः-प्रयोग—यदि उरःक्षत का रोगी कृश तथा क्षीण हो गया हो और उसे निद्रा न आती हो किन्तु उसकी पाचकाग्नि सबल हो (खाये हुए पदार्थों को समय पर पचा लेती हो) तो उक्त बकरे के मेदा को शहद, घी, चीनी के साथ मिलाकर खौलाये हुए दूध और उसकी मलाई के साथ खाये।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने बकरे के मेदा को घी में भूंजकर तब उसमें शहद और चीनी मिलाकर खाने की व्यवस्था दी है। यह भी एक मांस-कल्पना-विधि है, किन्तु श्लोक की प्रकृति से ऐसा अर्थ नहीं निकलता। आचार्य गंगाधर ने **'शृतक्षीरसरेण'** के स्थान पर **'शृतक्षीररसेन'** पाठ देकर रोगियों को दूध की मलाई खाने से वंचित कर दिया और 'क्षीररस' पाठ यहाँ 'जलरस' की भाँति नीरस प्रतीत होता है। क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध शृत अथवा क्वथित कहा जाता है।

शर्करां यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु । शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात् क्षीणः क्षती कृशः ॥२९॥

अन्य योग—अथवा यदि उरःक्षत का रोगी क्षीण हो अर्थात् उसके रसादि धातुओं का क्षय हो चुका हो अतएव वह शरीर से कृश (दुर्बल) दिखलायी दे रहा हो तो जौ का आटा और गेहूँ का आटा और जीवक, ऋषभक का चूर्ण—इन सबको समभाग लेकर चीनी, मधु के साथ चाटे और क्षीरपाक-विधि से तैयार किये दूध को अनुपान के रूप में पीये।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती टीकाकारों में से किसी ने जौ तथा गेहूँ के भुने हुए आटे को मधु के साथ चाटने की बात कही है, जब कि श्लोक में ऐसा कोई विधान नहीं है। दूसरे टीकाकार जौ और गेहूँ के आटे को घी में भूनने की चर्चा करते हैं, उक्त श्लोक में ऐसा भी कोई विधान नहीं है। कच्चा आटा चाटने से तो वे दोनों ही प्रकार अच्छे हैं। आचार्य चक्रपाणि यहाँ सर्वथा मौन हैं। परवर्ती अष्टाङ्गसंग्रहकार ने प्रायः इसी श्लोक को इस प्रकार उद्धृत किया है—'शर्करायवगोधूमं जीवकर्षभकौ मधु। घृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात् क्षीणः क्षती कृशः॥' अ० सं० चि० अ० ५।२०। किन्तु आचार्य इन्दु इसकी टीका में लिखते हैं—'श्रृतक्षीरानुपानमद्यात्'। वृद्धवाग्भट ने भी घृत का प्रयोग अनुपान के लिए किया है, न कि यवगोधूम चूर्ण को भूंजने के लिए। अब हम उक्त टीकाकारों के विचारों से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—यदि भाड़ में भुने हुए जौ या गेहूँ का आटा लेते हैं, तो वह घी में भुने हुए जौ या गेहूँ के आटे से अपेक्षाकृत सुपाच्य होगा। चिकित्सक यथावसर यथोचित प्रयोग करें। उक्त श्लोक में आये हुए 'वा' शब्द पर किसी टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया। हमारे विचार से **'शर्करां यवगोधूमौ'** यह एक योग है और दूसरा योग है—**'जीवकर्षभकौ मधु'**। 'श्रृतक्षीरानुपान' दोनों के लिए समान है।

क्रव्यादमांसनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः । पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम् ॥३०॥

रक्त-मांसवर्धक योग—यदि उरःक्षत का रोगी कृश और क्षीण है तो वह रक्त तथा मांस को बढ़ाने के लिए क्रव्याद (कच्चे मांस को खाने वाले गीध, बाज, कौआ आदि) के मांस को खूब पकाकर उसके रस को घी से छौंककर उसमें पिप्पली चूर्ण और मधु मिलाकर पीये। इससे रक्त तथा मांस की वृद्धि होती है।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः । तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः ॥३१॥
साश्वकर्णैः शृतात् क्षीराद्याज्जातेन सर्पिषा । शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः ॥

उरःक्षत, शुक्रक्षय-चिकित्सा—वट के प्ररोह, गूलर की छाल, पीपल की छाल, पाकड़ की छाल, शाल वृक्ष (साखू) की छाल, फूलप्रियंगु, तालमस्तक (तालवृक्षमस्तक—राजनिघंटु), जामुन की छाल, प्रियाल (चिरौंजी), पद्मकाष्ठ, अश्वकर्ण (शाल-भेद)—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इनके कल्क से यथाविधि गाय के दूध का पाक करें, उस दूध से जो घी निकले उसके साथ शालिचावलों का भात उरःक्षत के रोगियों तथा क्षीणशुक्र वाले रोगियों को खाने के लिए दें।

वक्तव्य—यहाँ 'क्षीराद्यज्जातेन सर्पिषा' का तात्पर्य है—दूध से ही घी निकालना चाहिए। यहाँ भी क्षीरपाक परिभाषा का प्रयोग कर लेना चाहिए। मूल द्रव्यों से ८ गुना दूध और दूध से चौगुना जल लें।

यष्ट्याह्वनागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम् । पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते शुभम् ॥३३॥

उरःक्षत में घृत-प्रयोग—मुलेठी और नागबला (गंगेरन) का यथाविधि तैयार किया हुआ क्वाथ, गाय का घी, घी के बराबर गाय का दूध, पयस्या (विदारीकन्द), पिप्पली, वंशलोचन—इन सबका कल्क तैयार कर लें। इससे सिद्ध किया हुआ घृत उरःक्षत में लाभदायक होता है।

कोललाक्षारसे तद्वत् क्षीराष्टगुणसाधितम् । कल्कैः कट्वङ्गदार्वीत्वग्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम् ॥३४॥

कोललाक्षादि घृत—बेर की छाल और कच्ची लाख का क्वाथ बना लें, घी से आठ गुना दूध, एक भाग गाय का घृत, इनमें कट्वंग (सोनापाठा) की छाल, दारुहल्दी की छाल, कुटज वृक्ष की छाल, इन्द्रजौ (इनका कल्क बनाकर) इनसे घृतपाक करें। यह घी उरःक्षत में लाभ करता है।

वक्तव्य—गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), बेर और लाक्षा का सम्मिलित क्वाथ ४ प्रस्थ, दूध ८ प्रस्थ, सोनापाठा आदि चार द्रव्यों का कल्क ½ शराव (१६ तोला)—इन सबको मिलाकर यथाविधि पाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। सामान्य मात्रा—आधा तोला।

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम् । चतस्रः पर्णिनीर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके ॥३५॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम् । ऋद्धिं परूषकं भार्गी मृद्वीकां बृहतीं तथा ॥३६॥
शृङ्गाटकं तामलकीं पयस्यां पिप्पलीं बलाम् । बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि ॥३७॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान् । धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः ॥३८॥
कुर्यात् प्रस्थोन्मितं तेन घृतप्रस्थं विपाचयेत् । प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलां तथा ॥३९॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैलाहेमत्वङ्मरिचानि च[1] । विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः ॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम् । सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥४१॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान् । स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥४२॥
कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत् । पुत्रदं वमिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥४३॥
इत्यमृतप्राशघृतम् ।

अमृतप्राशघृत—जीवक, ऋषभक, वीरा, जीवन्ती, सोंठ, कचूर, चार प्रकार की पर्णिनी (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), दो मेदा (मेदा, महामेदा), दो काकोली (काकोली, क्षीरकाकोली), दो निदिग्धिका (भटकैया=रिंगिणी, सफेद भटकटैया), दोनों पुनर्नवा (लालपुनर्नवा, कालीपुनर्नवा) की जड़ें, मुलेठी, किवाँच के बीज, शतावरी, ऋद्धि, फालसा, भारंगी, मुनक्का, वनभंटा, सिंघाड़ा, भुंइआँवला, पयस्या (विदारीकन्द), पिप्पली, बरियारा की जड़, खट्टी बेर, अखरोट, खजूर, बादाम, अभिपुक (पिश्ता) तथा इस प्रकार के अन्य फलों को भी एक-एक कर्ष (तोला) में लेकर कल्क तैयार करें। आँवलों का स्वरस, विदारीकन्द का स्वरस (यदि ताजा प्राप्त हो तो, अन्यथा क्वाथ), ईख का रस, बकरे का मांसरस, गाय का दूध तथा गाय का घी १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला)—इन सबको मिलाकर यथाविधि घी का पाक करें। तैयार हो जाने पर इसे छान लें और जब घी शीतल हो जाये तब उसमें आधा प्रस्थ (३२ तोला) मधु मिलायें, आधी तुला (२०० तोला) चीनी डाल दें, तेजपत्ता, छोटी इलायची, हेम (नागकेशर), त्वक् (दालचीनी), कालीमिर्च—प्रत्येक द्रव्यों का चूर्ण २-२ कर्ष (तोला) मिलाकर यथोचित (३ माशा) मात्रा में लेकर इस घृत को सदैव रोगी मनुष्य चाटे।

यह अमृतप्राशघृत मनुष्यों के लिए अमृत के समान हितकर है। दूध और मांसरस सेवन करने वाले पुरुष को चाहिए कि वह इस भूलोक के अमृत का सेवन करे। इस घृत का सेवन करने से जिन व्यक्तियों का शुक्रधातु नष्ट हो गया है, जो क्षत (उरःक्षत) से क्षीण हो चुके हैं, जो शरीर से दुर्बल और रोग के कारण कृश हो गये हैं, जो निरन्तर स्त्री-सहवास में लगे हुए हैं, जो स्वाभाविक रूप में कृश हैं, जिनका वर्ण तथा स्वर हीन हो गया है, वे व्यक्ति इससे स्वास्थ्य-लाभ करते हैं, अर्थात् उन व्यक्तियों के लिए वह बृंहणकारक है।

---

१. 'पलार्धकं च मरिचत्वगेलापत्रकेशरात्' इति पा०।

यह कास, हिक्का, ज्वर, श्वास, दाह, तृष्णा, रक्तपित्त, वमन, मूर्च्छा, योनिरोग तथा मूत्ररोगों का भी नाश करता है। इस घृत के निरन्तर सेवन करने से पुत्र की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—राजनिघण्टु में 'वीरा' शब्द के अनेक पर्याय दिये हैं, उनमें कुछ द्रव्य ऐसे हैं जिनका उल्लेख मूलपाठ में शब्दतः हो चुका है, अतः हम इसका प्रसंगोचित पर्याय 'सफेद मुसली' स्वीकार करते हैं। **द्वे निदिग्धिके**—इसका निर्णय हमने टीका में ही ले लिया है। जो भटकटैया और वनभंटा का प्रयोग करते हैं, वे फिर **'बृहती'** का पर्याय क्या दे पायेंगे? **अभिपुक**—इसका पर्याय कोई टीकाकार 'पिस्ता' लिखते हैं, कोई 'चिलगोजा' और श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'वातामाभिपुकाणि तु औत्तरापथिकानि फलानि'। प्राचीन काल में पिश्ता (Pistacia vera Linn) फारस, हेरात, सीरिया, मेसोपोटामिया तथा खुरासान देशों से आता था। इस फल का इतिहास मार्कोपोलो एवं इब्नवतूता की यात्रा-वर्णनों से प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् 'अभिपुक' शब्द को, दूसरे 'मुकूलक' शब्द को पिश्ता का पर्याय मानते हैं। ये दोनों ही शब्द आयुर्वेदीय संहिताओं में प्राप्त होते हैं, किन्तु वैद्यकशब्दसिन्धु में 'मुकूल' शब्द का पर्याय 'वकुलवृक्ष' और 'मुकूलक' शब्द का पर्याय 'दन्तीवृक्ष' दिया है। यद्यपि हम इतना विवेचन करने के वाद 'अभिपुक' का पर्याय 'पिश्ता' स्वीकार कर चुके हैं, फिर भी सन्देह हो तो ऐसी स्थिति में क्षत, क्षीण, नष्ट-शुक्र आदि व्याधियों से पीड़ित रोगियों के लिए वात-पित्त-नाशक तथा शुक्रवर्धक-गुण युक्त उचित द्रव्य का चयन कर इसका प्रयोग चिकित्सक को कराना चाहिए।

सुधामृतरसं प्राश्यम्—इस शब्द की व्याख्या करते हुए श्री चक्रपाणि लिखते हैं—'सुधा भौमी भोज्या, अमृतं तु देवभोज्यम्'। अन्यथा सुधा और अमृत परस्पर एक-दूसरे के पर्यायवाचक शब्द हैं। यहाँ 'अमृतं घृतम्' यह शब्द 'आयुर्घृतम्' की भाँति लाक्षणिक है।

अमृतप्राशघृत—इस नाम का एक योग भैषज्यरत्नावली के वाजीकरण अधिकार में भी दिया है। 'पुत्रदं' विशेषण देकर तन्त्रकार ने इसके भी वाजीकरण गुणों की ओर संकेत किया है। यह दूसरा योग काशीराजोक्त कहा जाता है, जिसका उल्लेख श्रीजयदेव ने अपनी टीका में किया है।

अमृतप्राशघृत के द्रव्य—यहाँ उक्त घृत में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का परिगणन, प्रयोग तथा मात्रा का स्पष्ट निर्देश किया जारहा है, क्योंकि कुछ टीकाकारों की तन्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट मात्रा से स्वयं भ्रमित होने के कारण विमति है। दूसरे टीकाकारों ने एक ही (उक्त) योग में कहीं **'द्वैगुण्यपरिभाषा'** का प्रयोग किया है, और कहीं नहीं।

गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय का दूध १ प्रस्थ, आँवला आदि पाँच द्रव्यों के स्वरस आदि १-१ प्रस्थ, कल्क के लिए प्रयुक्त जीवक आदि ३६ द्रव्य प्रत्येक १-१ कर्ष=तोला। प्रक्षेप के लिए प्रयुक्त मधु ½ प्रस्थ, शर्करा या खाँड ½ तुला (२०० तोला), तेजपत्ता आदि पाँच द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण प्रत्येक २ कर्ष। विशेष—प्राचीन परिमाणों के पर्याय टीका में देखें।

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम् । दर्भमूलं पृथक्पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिराम् ॥४४॥
पलिकं साधयेत् तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे । कल्कः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः ॥४५॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः । प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्द्र(द्रु)वशूलनुत् ॥४६॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शःकासशोषक्षयापहः । धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः ॥४७॥

इति श्वदंष्ट्रादिघृतम् ।

श्वदंष्ट्रादिघृत—गोखरू, खस, मजीठ, बलामूल, गम्भार की छाल, कत्तृण (सुगन्धतृण), दर्भ (डाभ) की जड़, पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), पलाशवृक्ष की छाल, ऋषभक, स्थिरा (शालपर्णी)—इन सभी द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर क्वाथविधि से जल डालकर इनका क्वाथ बनायें। जब पकते-पकते जल चतुर्थांश शेष रह जाये तो इसे छानकर रख लें। इसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय का घी और घी से चौगुना गाय का दूध मिलाकर रखें। किवाँच के (छिलका रहित) वीज, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावरी, ऋद्धि, मुनक्का, चीनी या खाँड, श्रावणी (गोरखमुण्डी), बिस (कमलनाल)—इन द्रव्यों को प्रत्येक १½ तोला लेकर इनका कल्क मिलाकर यथाविधि घृत-पाक करें। भली-भाँति पक जाने पर घी को छानकर रख लें। इस घृत का सेवन करने से वातज, पित्तज हृदय की दुर्बलता से होने वाले शूल का नाश होता है। मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह,

अर्श (बवासीर), कास, शोष तथा क्षय का नाश होता है। धनुष की प्रत्यञ्चा को बार-बार अधिक खींचने से अधिक स्त्री-सहवास से, अधिक मद्यपान करने से, अधिक बोझ उठाने तथा उसको दूर तक ले जाने से तथा अधिक रास्ता चलने से, जो पीड़ित हैं या कृश हो गये हैं, उन्हें यह बल और मांस देता है, अर्थात् उनकी कृशता को दूर कर देता है।

वक्तव्य—ऊपर जो द्रव्यों का परिमाण घृतपाक के लिए दिया गया है, उस पर टीका करते हुए श्री चक्रपाणि लिखते हैं—'श्वदंष्ट्रेत्यादौ क्वाथ्यद्रव्यपरिमाणानुसारेण पादोनप्रस्थत्रयं जलं दत्वा चतुर्भागावशेषेण चतुश्चत्वारिंशत्क्वाथपलानि भवन्ति। क्षीरं चात्र चतुर्गुणं घृतात्; किं वा क्वाथचतुर्गुणं क्षीरम्'। आचार्य चक्रपाणि की यह व्यवस्था आदरणीय है। इसकी सामान्य मात्रा ६ माशा है।

आचार्य गणनाथसेन ने 'हृद्द्रवशूलनुत्' के स्थान पर 'हृद्भवशूलनुत्' पाठ को आदर दिया है। हमारे विचार से भी यह पाठ अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे घृतं पचेत् । पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥४८॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत् । समसक्तु क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम् ॥४९॥

समसक्तुघृत-प्रयोग—जौकुट की हुई मुलेठी ८ पल (३२ तोला), मुनक्का १ प्रस्थ (६४ तोला), जल ८ गुना (=३२+६४=९६×८=७६८ तोला); जब जल चतुर्थांश (१९२ तोला) शेष रह जाये तो उसे छानकर रख लें। उसमें ८ पल पिप्पली के कल्क को मिलाकर यथाविधि घृत-पाक करें। तैयार हो जानेपर इसमें ८ पल (३२ तोला) मधु और ८ पल चीनी मिला लें। रोगी की पाचन-शक्ति का ध्यान रखते हुए इस घी में साफ किया हुआ समभाग जौ का सत्तू मिलाकर सेवन करें। उरःक्षत के कारण क्षीण पुरुष के लिए तथा रक्त गुल्मी के लिए भी यह घृत हितकारक होता है।

वक्तव्य—८ पल मधु तथा ८ पल चीनी या खाँड मिला लेने के कारण यह घृत मृदुवीर्य हो जाता है। अतः इसकी मात्रा १ तोला से २ तोला तक हो सकती है।

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसैर्घृतम् । अजागोपयसोश्चैव सप्त प्रस्थान् पचेद् भिषक् ॥५०॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्रद्विप्रस्थं विनयेच्च तत् । यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥५१॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम् । घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत् ॥५२॥
लीढं निर्वापयेत् पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम् । आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥५३॥
क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि तु । [1]त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्त्यानानि योजयेत् ॥
सर्पिर्गुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत् । रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥५५॥

इति सर्पिर्गुडाः ।

प्रथम सर्पिगुड—आँवले के फलों का स्वरस, विदारीकन्द का स्वरस (सूखा होने पर क्वाथ कर लें), ईख का रस, जीवनीयगण में कहे गये द्रव्यों का एक साथ तैयार किया गया स्वरस अथवा क्वाथ, गाय का घी, बकरी का दूध, गाय का दूध—इन सात द्रव्यों को १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोले) लें। इन सभी द्रव्यों को एक साथ मिलाकर यथाविधि घृतपाक करें। जब घृतपाक हो जाये तब उसे छानकर रख लें। शीतल हो जाने पर १ प्रस्थ (६४ तोला) मिश्री और १ प्रस्थ (६४ तोला) मधु उसमें मिलाकर सुरक्षित रख लें।

इस घृतगुड़ (घी का गोला या गोली) का सेवन करने से यक्ष्मा, अपस्मार, रक्तपित्त, कास, प्रमेह और क्षय रोग का विनाश हो जाता है। यह घृतगुड़ वयःस्थापक, दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला, मांस, शुक्र, तथा बलवर्धक है। पित्तदोष की अधिकता होने पर इस घृत को चाटना चाहिए और यदि वातदोष की अधिकता हो तो इस घृत को पीना चाहिए। चाटकर सेवन किया हुआ यह घी पित्त को शान्त करता है, कम मात्रा में सेवन किया गया वह घृत जठराग्नि को मन्द नहीं कर पाता ... वातदोष की अधिकता होने पर पिया हुआ घी वायु का नाश तो करता ही है, साथ ही शरीर में फैली हुई ... को भी शान्त करता है। वंशलोचन,

1. 'त्वक्क्षीरीपिप्पलीलाजचूर्णैः' इति पा०।

चीनी, धान के लावों का चूर्ण मिलाकर गाढ़े (गुड़ रूप में तैयार) किये हुए इन घृतों का प्रयोग सूखे, क्षीण, कृश अंग वाले पुरुषों को पुष्ट करने के लिए करें। इन सर्पिगुडों में समान मात्रा में मधु मिलाकर सेवन करने के बाद अनुपान के रूप में गाय का दूध पीना चाहिए। इनके सेवन से मनुष्य को रेतस् (Semen virile= शुक्र), वीर्य, बल, शारीरिक पुष्टि की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है।

वक्तव्य—'सर्पिरेव गुडः=सर्पिगुडः, तान्'। वास्तव में यह एक प्रकार का घृत ही है। इसमें ऊपर जिन मिश्रणों का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है, उनसे यह घृत गुड (गोली या गोले) के आकार का गोल हो जाता है। वयःस्थापन, आयुष्यवर्धन—ये सब घृत के ही प्रधान कार्य हैं। देखें—**घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद् वातेऽधिके पिबेत्'**। यह सर्पि गुड़ों का रूप ऊपर दिये हुए ५४वें श्लोक में धारण करता है। देखें—**'चूर्णैःस्त्यानानि योजयेत्'**। स्त्यान शब्द का अर्थ संघातीकृत (इकट्ठा किया हुआ) है।

अपना अनुभव—दूध में दही डालने से जिस प्रकार सम्पूर्ण दूध जम जाता है, ठीक उसी तरह शहद में घी या घी में शहद मिला देने पर ये जम जाते हैं। बर्फी की भाँति इसे काटकर अलग करके रखा जा सकता है। प्राचीनकाल में वन्य जातियाँ अपने मेहमानों (महामान्यों) का स्वागत इसी मिठाई से करते थे। उपर्युक्त द्रव्यों पर ध्यान दें।

बला विदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा। पञ्चानां क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गा मुष्टचंशका अपि॥
एषां कषाये द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके। जीवनीयैः पचेत् कल्कैरक्षमात्रैर्घृताढकम्॥५७॥
सितापलानि पूते च शीते द्वात्रिंशतं क्षिपेत्। गोधूमपिप्पलीवांशीचूर्णं शृङ्गाटकस्य च॥५८॥
समाक्षिकं कौडविकं तत् सर्वं खजमूर्च्छितम्। स्त्यानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत्॥
ताञ्जग्ध्वा पलिकान् क्षीरं मद्यं वाऽनुपिबेत् कफे। शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्शिते॥
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते। शस्ताः पार्श्वशिरःशूलं भेदे च स्वरवर्णयोः॥६१॥

इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः।

द्वितीय सर्पिगुड—बलामूल, विदारीकन्द, लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), पुनर्नवा, पाँचों क्षीरीवृक्ष—बरगद, गूलर, पीपल, महुआ, प्लक्ष (पाकड़) इनके शुंग (नये अंकुर) इन सब द्रव्यों को १-१ मुष्टि (पल) लेकर जौकुट कर डालें, अठगुने जल में इनका क्वाथ करें, जब क्वाथ जब चौथाई शेष रह जाये तो उसे छान ले और उसमें बचे हुए क्वाथ से दूना गाय का दूध मिला दें, क्वाथ के समान विदारीकन्द का स्वरस या क्वाथ और उतना ही बकरे का मांसरस मिला दें। जीवनीयगण की औषधियाँ प्रत्येक १ कर्ष=तोला लेकर इनका कल्क बनायें, इन सबके साथ १ आढक (२५६ तोला) घृत का पाक करें। घृतपाक हो जाने पर इसमें ३२ पल (१२८ तोला) मिश्री का चूर्ण मिला दें। गेहूं का आटा पिप्पली चूर्ण, वंशलोचन का चूर्ण, सिंघाड़े का आटा, मधु—ये सभी द्रव्य १-१ कुडव (१६-१६ तोला) लेकर उक्त घी में मिला दें और खज (मथानी–Churning stick) से मथकर इन सब द्रव्यों को भली-भाँति मिला लें। इस गाढ़े हुए सर्पिगुड़ों को बनाकर भोजपत्र में लपेट कर रख दें (जैसे—आजकल उत्तम मिठाइयों को प्लास्टिक से लपेट कर या कागज की कटोरियों में भरकर रख देते हैं, जिससे वे आपस में सट नहीं पातीं। इन सर्पिगुड़ों को तन्त्रकार ने १-१ पल (४-४ तोले) परिमाण में बनाने की आज्ञा दी है, इसे खाकर दूध या मद्य का पान करना चाहिए, अर्थात् अनुपान के रूप में दूध या मद्य को पीये। यदि कफदोष की प्रधानता हो तो दूध के स्थान पर मद्य का सेवन करे। शोष, कास, क्षत, क्षीण, श्रम, स्त्री-सहवास या भार ढोने के कारण कृश हो जाने पर, रक्तनिष्ठीवन, ताप, पीनस, उरःक्षत, पार्श्वशूल, शिरःशूल, स्वरभेद तथा वर्णभेद (विवर्णता) में ये सर्पिगुड उत्तम लाभ करते हैं।

वक्तव्य—पाँच क्षीरीवृक्ष—'उदुम्बरो वटोऽश्वत्थो मधूकः प्लक्ष एव च। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षा अस्मिंस्तन्त्रे प्रकीर्तिताः'॥ शालाक्यतन्त्र। **मुष्टचंशकाः**—'शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिः'। शा० सं० पू० खं० अ० १।२४। मुष्टि शब्द यहाँ पल-मान का वाचक है, अंश का अर्थ है—भाग। **जग्ध्वा**—अद्लक्षणे धातु को घस्लृ आदेश तथा क्त्वा प्रत्यय होकर उक्त रूप बना है, इसका अर्थ है—खाकर। दूसरे टीकाकारों ने 'जलाकर' ऐसा अर्थ कर

दिया है, भला फिर उसमें बचेगा ही क्या? इसमें गोधूमचूर्ण (आटा) और शृंगाटक चूर्ण (सिंघाड़े का आटा) मिलाने को लिखा है, यदि इनको घी में भलीभाँति भूनकर मिलाया जायेगा तो कुछ दिनों तक इसे रखा जा सकता है, अन्यथा स्वाद विकृत हो सकता है। इसकी सामान्य मात्रा १ तोला है।

आचार्य जतूकर्ण ने भी इस योग को अपनी संहिता में इस प्रकार उद्धृत किया है—'वृश्चीवं पञ्चमूलं बलां विदारीं वटादिशुङ्गांश्च निष्क्वाथ्य द्विक्षीरे छागविदारीरसे समे। जीवनीयगणकल्कैः पक्त्वा घृताढकमिति'। जतूकर्णसंहिता।

आचार्य चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त-राजयक्ष्मचिकित्सा में 'सर्पिर्गुडाः' योग में अन्तिम तीन पंक्तियों को बढ़ाकर ऐसा लिखा है—'घृत की अपेक्षा क्वाथ्य द्रव के कम होने के कारण घृत से अठगुना जल छोड़ना चाहिए और चतुर्थांश शेष रहने पर उसे उतार लेना चाहिए और क्वाथ के समान विदारीकन्द तथा बकरे का मांसरस लेना चाहिए। कुछ आचार्य क्वाथ्य द्रव कम होने पर भी उसे घृत के समान भाग में ग्रहण करते हैं।

अन्ये तु—'द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिकं जलम्। पादावशेषः कर्तव्य एष पाकविधिः स्मृतः'॥ इति कृष्णात्रेयपरिभाषानुसारेण। अत्र क्वाथ्ये षोडशगुणं जलं दीयमानं षड्विंशतिशरावं भवति। पादशेषाच्च सार्द्धषट्शरावः क्वाथो भवति, क्वाथापेक्षया क्षीरस्य द्वैगुण्यात् त्रयोदशशरावाः, मिलितौ विदार्याजरसावपि क्वाथापेक्षया द्विगुणौ। एवं मिलित्वा सार्द्धद्वात्रिंशच्छरावद्रवैः पाक इति व्याचक्षते। व्यवहारः पुनः प्रायेणानेनैव। इति तत्त्वचन्द्रिकायां शिवदासः।

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः। वीरर्द्धिक्षीरकाकोलीबृहतीकपिकच्छुभिः॥६२॥
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैः। धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात् पचेत्॥६३॥
शर्करार्धतुलां शीते क्षौद्रार्धप्रस्थमेव च। दत्त्वा सर्पिर्गुडान् कुर्यात्कासहिक्काज्वरापहान्॥६४॥
यक्ष्माणं तमकं श्वासं रक्तपित्तं हलीमकम्। शुक्रनिद्राक्षयं तृष्णां हन्युः कार्श्यं सकामलम्॥६५॥

इति तृतीयसर्पिर्गुडाः।

तृतीय सर्पिगुड—वंशलोचन, गोरखमुण्डी, मुनक्का, मरोड़फली, ऋषभक, जीवक, वीरा (विदारीकन्द), ऋद्धि, क्षीरकाकोली, बृहती (वनभंटा), किवाँच-बीज, छुहारा, मेदा—ये प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला) इन सभी द्रव्यों को गाय के दूध में पीसकर कल्क बना लें। आँवलों का स्वरस, विदारीकन्द का स्वरस (यदि ये द्रव्य सूखे मिलें तो इनका क्वाथ बना ले), ईख का रस, गाय का घी इनको १-१ प्रस्थ लें, इन सबको मिला-कर विधिवत् पाक करें। तैयार हो जाने पर जब घी ठंडा हो जाये तब उसमें चीनी आधा तुला (२०० तोला) और मधु आधा प्रस्थ (३२ तोला) भली-भाँति मिलाकर रख दें, अब यह गाढ़ा हो जाये तो इसकी गोलियाँ बनाकर रख दें। इनका सेवन करने से कास, हिक्का, ज्वर, यक्ष्मा, तमकश्वास, रक्तपित्त, हलीमक, शुक्रक्षय, निद्राक्षय, तृष्णा, कृशता तथा कामला रोग का नाश होता है। इसकी सामान्य मात्रा १ तोला है।

नवमामलकं द्राक्षामात्मगुप्तां पुनर्नवाम्। शतावरीं विदारीं च समङ्गां पिप्पलीं तथा॥६६॥
पृथग्दशपलान् भागान् पलान्यष्टौ च नागरात्। यष्ट्याह्वसौवर्चलयोर्द्विपलं मरिचस्य च॥६७॥
क्षीरतैलघृतानां च त्र्याढके शर्कराशते। क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा बिल्वसमान् गुडान्॥६८॥
कुर्यात्तान् भक्षयेत् क्षीणः क्षतः शुष्कश्च मानवः।
तेन सद्यो रसादीनां वृद्ध्या पुष्टिं स विन्दति॥६९॥

इति चतुर्थसर्पिर्गुडाः।

चतुर्थ सर्पिगुड—नया आँवला, मुनक्का, किवाँच के बीज, पुनर्नवा, शतावरी, विदारीकन्द, समंगा, पिप्पली—इन द्रव्यों को अलग-अलग १०-१० पल (४०-४० तोला) लें; सोंठ ८ पल (३२ तोला) मुलेठी १ पल (४ तोला), सौंचर नमक (Sachal salt) १ पल (४ तोला), कालीमिर्च २ पल (८ तोला)—इन सब द्रव्यों को कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। गाय का दूध, तिल का तेल, गाय का घी प्रत्येक १-१ आढक (२५६-२५६ तोला), शर्करा १ तुला (४०० तोला) की चासनी बनाकर ऊपर कहे गये सभी द्रव्यों के चूर्णों को इसमें मिला दें, शीतल हो जाने पर बेल के समान गोलियाँ बना लें। इस गुड को जिसकी रसादि धातुएँ

क्षीण हो गयी हों, उरःक्षत का रोगी तथा जो सूखता जा रहा हो वह पुरुष सेवन करे। इसका सेवन करने से शीघ्र ही रस आदि धातुओं की वृद्धि होगी, जिससे रोगी का शरीर पुष्टि को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—इसमें आँवला न्या तथा सबके समान (१० पल) लेने को कहा है। यदि आँवला नया और अन्य द्रव्य सूखे होंगे तो आँवला मात्रा में कम हो जायगा।· अतः गुठली निकालकर इसे भी सुखा लें, तब १० पल लें। **समङ्गा**—इसके स्थान पर श्रीजयदेव ने **'समांशा'** पाठ दिया है। 'समङ्गा' शब्द के यद्यपि अनेक पर्याय हैं, किन्तु यहाँ 'लज्जालु, लज्जावन्ती, छुईमुई' द्रव्य का ही ग्रहण करना उचित है। 'समांशा' का पर्याय है—'हस्वबला' देखें—वै० निघण्टु। ऊपर 'शर्कराशते' कहा है, उसका मान नहीं दिया है। हमने जतूकर्ण के पाठ के अनुसार १ तुला प्रमाण दिया है।

इस सर्पिगुड़ का निर्माण इस प्रकार भी किया जा सकता है—दूध का खोवा बनाकर उसे घी या तेल में भून लें। बाद में सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर मथनी आदि से भलीभाँति मिला लें। इस प्रकार ये गुड़ बहुत समय तक रखे जा सकते हैं।

आचार्य जतूकर्ण का मत—'घृततैलपयस्त्याढके सितां च तुलां प्रपाच्य, द्राक्षाविदारीवृश्चीवशतावरी-कृष्णाशुण्ठीबलाधात्रीश्च दशपलिकाः प्रपाचयेत्, यष्ट्याह्वं रुचकं च पलिकम्'। इत्यादि।

बिल्वसमान् गुडान्—बेल के समान गोलियों को बनायें। इसका आशय दूसरे टीकाकारों ने एक गोली ८ तोले की बनानी चाहिए, ऐसा अर्थ किया है। बेल फल का कोई आकार तथा भार निश्चित नहीं है, जिसे सभी जानते हैं। हम तो यहाँ मान-परिभाषा में निर्दिष्ट 'बिल्व' को ही प्रमाण मानते हैं, जिससे प्रत्येक गोली १ पल (४ तोला) की होगी। देखें—**'प्रकुञ्चः पोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते'**। शा० सं० पू० खं० अ० १।२५। ४ तोला की एक गोली को लेकर दिनभर में १-१ तोला की मात्रा में रोगी इसका सेवन आसानी से कर सकेगा।

गोक्षीरार्धाढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम्। विदार्याः स्वरसात् प्रस्थं रसात् प्रस्थं च तैत्तिरात्॥
दद्यात् सिध्यति तस्मिंस्तु पिष्टानिक्षुरसैरिमान्। मधूकपुष्पकुडवं प्रियालकुडवं तथा॥७१॥
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः खर्जूराणां च विंशतिम्। पृथग्बिभीतकानां च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम्॥
त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च मधुकात् कर्षमेव च। तथाऽर्धपलिकान्यत्र जीवनीयानि दापयेत्॥७३॥
सिद्धेऽस्मिन् कुडवं क्षौद्रं शीते क्षिप्त्वाऽथ मोदकान्। कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णावचूर्णितान्॥
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासक्षयेषु च। शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते॥७५॥
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम्। योनिदोषकृतस्रावहतानां चापि योषिताम्॥७६॥
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद् यासां म्रियेत वा। धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः॥

इति पञ्चमसर्पिर्मोदकाः।

पञ्चम सर्पिमोदक—गाय का दूध आधा आढक (१२८ तोला), गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) ईख का रस १ आढक (२५६ तोला), विदारीकन्द का स्वरस या क्वाथ १ प्रस्थ (६४ तोला), तित्तिर (तीतर) का मांसरस १ प्रस्थ (६४ तोला)—इन सबको सावधानी से पकायें, जब पकने पर गाढ़ा हो जाये, तब महुए के फूल, चिरौंजी प्रत्येक द्रव्य १-१ कुडव (१६-१६ तोला), वंशलोचन आधा कुडव (८ तोला), खजूर २० पल (८० तोला), बहेड़ा का छिलका २० पल (८० तोला), पिप्पली १ चतुर्थिका=१ पल (४ तोला), खाँड ३० पल (१२० तोला), मुलेठी १ कर्ष (१ तोला), जीवनीयगण की १० ओषधियों को पृथक्-पृथक् आधे-आधे पल (२-२ तोला) लेकर उक्त ईख के रस के साथ पीसकर इनका कल्क बनाकर विधिवत् पाक करें। जब देखें कि उक्त पाक मोदक बनाने योग्य गाढ़ा हो गया है, तो इसे उतार लें, शीतल हो जाने पर इसमें १ कुडव (१६ तोला) मधु मिला दें। अब इसके मोदक बनाकर खुले पात्र में रखें, इन मोदकों के ऊपर कालीमिर्च और जीरा के कपड़छन किये हुए १ पल (४ तोला) चूर्ण को छिड़क (बुरक) दें।

यह मोदक वातरक्त, पित्तज विकारों, उरःक्षत, कास, क्षय, शोप, क्षीणशुक्र, फुफ्फुस से निकलने वाले रक्त में (जब फुफ्फुसों में क्षत होने के कारण मुख से रक्त निकलने लगता है, उसमें) लाभदायक होता है। कृश, दुर्बल, वृद्धजनों के लिए तथा जो पुष्टि, बल, वर्ण की इच्छा रखते हैं उनके लिए और जो योनिदोष,

योनिस्राव से पीड़ित स्त्रियाँ हैं उनके लिए, जो गर्भधारण करना चाहती हैं, जिनका गर्भस्राव हो जाता है या बच्चा होकर मर जाता है, उन स्त्रियों के लिए ये मोदक बलकारक तथा हितकारक होते हैं, अर्थात् उन्हें धन्य बना देते हैं और शुक्र तथा रक्त-वृद्धिकारक होते हैं।

वक्तव्य—इसमें भी सेवनीय मात्रा का कोई विधान नहीं दिया है। अतः 'चतुर्थसर्पिगुड' की भाँति ही इसे भी समझें। निर्णयसागरीय प्रति में—'गोक्षीरार्धाढकं सर्पिः' पाठ है, इसी पाठ को वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० ५।५५ में दिया है, किन्तु श्रीजयदेव ने—'गोक्षीराद् द्व्याढकं सर्पिः' पाठ को उद्धृत किया है और 'पृथग्बिभीतकानां च' के स्थान पर वृद्धवाग्भट ने—'पृथग्बिभीतकान्मज्ज्ञः' पाठ दिया है। इसके अनुसार 'बहेडे का छिलका' न लेकर बहेड़े की गुठली के भीतर की मज्जा लेनी होगी। आगे 'सिद्धेऽस्मिन् कुडवं' के स्थान पर 'सिद्धे द्विकुडवं' पाठ दिया है, इसके अनुसार मधु की मात्रा बढ़ जायेगी। योग-निर्माण की दृष्टि से ये सब पाठभेद विचारणीय हैं।

वस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते। वातघ्नान् बृंहणान् वृष्यान् योगांस्तस्य प्रयोजयेत्॥
शर्करापिप्पलीचूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण च। संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत् कासज्वरापहम्॥७९॥
फलाम्लं सर्पिषा भृष्टं विदारीक्षुरसे शृतम्। स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम्॥८०॥
सक्तूनां वस्त्रपूतानां मन्थं क्षौद्रघृतान्वितम्। [1]यवान्नसात्म्यो दीप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः॥
जीवनीयोपसिद्धं वा जाङ्गलं घृतभर्जितम्। रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थं सशर्करम्॥८२॥
गोमहिष्यश्वनागाजैः क्षीरैर्मांसरसैस्तथा। [2]यवान्नं भोजयेद् यूषैः फलाम्लैर्घृतसंस्कृतैः॥८३॥
दीप्तेऽग्नौ विधिरेष स्यान्मन्दे दीपनपाचनः। यक्ष्मिणां विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते॥

उरःक्षत में कतिपय वृष्य योग—निरन्तर स्त्री-सहवास में लगे रहने के कारण प्रकुपित वायु जिन पुरुषों के वस्तिप्रदेश में जाकर विकार उत्पन्न कर देती है, उन्हें वातनाशक, बृंहण (शरीरवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक) योगों का सेवन कराना चाहिए।

१. चीनी, पिप्पली चूर्ण के साथ घी, मधु और गाय का दूध मिलाकर पीने से कास तथा ज्वर का नाश होता है। सेवन-विधि—गाय के दूध में पिप्पली या पिप्पली चूर्ण को डालकर पका लें, यदि खड़ी पिप्पली डाली हो तो उसे निकाल लें, पिप्पली चूर्ण डाला हो तो उसे छान लें, शीतल होने पर चीनी, घी और मधु मिला लें।

२. अत्यन्त स्त्री-सहवास के कारण जो पुरुष क्षीण हो गया हो, वह विदारीकन्द के स्वरस या क्वाथ तथा ईख के रस में पकायी गयी मूंग की दाल के यूप में घी का छौंक लगाकर दाड़िम के रस से उसे खट्टा करके सेवन करे। यह योग उत्तम जीवनीय तथा बृंहण होता है।

३. उरःक्षत के कारण जो पुरुष क्षीण हो गया हो, किन्तु यदि उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो (मन्द न पड़ गयी हो) और उसे जौ के पदार्थों को खाने का अभ्यास हो तो जौ के सत्तू को कपड़े से छानकर मधु-घृत मिलाकर पानी में घोलकर पतला बनाकर पीये। पानी में घोले हुए सत्तू को **मन्थ** कहते हैं।

४. उरःक्षत के रोगी को खाने के लिए जीवनीयगण के औषधद्रव्यों के क्वाथ से पकाये गये जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस को घी में भूनकर चीनी मिलाकर दें।

५. अथवा उरःक्षत के रोगी को गाय, भैंस, घोड़ी, हथिनी, बकरी के दूध के साथ या इन्हीं के मांसरसों के साथ जौ के आटा द्वारा बने पदार्थों को खिलाये अथवा घी द्वारा छौंके तथा दाड़िम की खटाई से खट्टे किये हुए यूपों के साथ खाये। घृतसंस्कृतैः का सम्बन्ध मांसरसों के साथ भी करना चाहिए। (जौ के आटे से बने हुए पदार्थों को गाय, भैंस, बकरी के दूध तथा घी से छौंके हुए मूंग आदि के यूपों के साथ खिलायें, यह सात्विक आहार है। राजस, तामस आहार—घोड़ी, हथिनी का दूध तथा घी से छौंके हुए मांसरसों के साथ खायें। पाठभेद के अनुसार—अग्निबल को देखकर खायें।)

६. ऊपर कही गयी सभी विधियाँ उनके लिए हैं, जिनकी पाचकाग्नि तीव्र होती है और जिनकी

---

१. 'यावन्न सात्म्यः' इति पा०। २. 'यथाग्नि' इति पा०।

अग्निमन्द हो, तो उन्हें दीपन-पाचन औषध का प्रयोग कराना चाहिए और यदि अतिसार हो रहा हो तो उन यक्ष्मा के रोगियों के लिए ग्राही (गुंठी आदि) औषधियों का प्रयोग बतलाया गया है।

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात् पले । कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात् ॥८५॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके । शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥८६॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत् । रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुत् ॥८७॥

इति सैन्धवादिचूर्णम्।

सैन्धवादि चूर्ण—सैंधानमक १ पल (४ तोला), सोंठ १ पल (४ तोला), साँचर नमक २ पल (८ तोला), वृक्षाम्ल (विषांविल) १ कुडव (१६ तोला), दाडिम बीज १ कुडव (१६ तोला), तुलसी के पत्ते १ कुडव (१६ तोला), कालीमिर्च १ पल (४ तोला), सफेद जीरा १ पल (४ तोला), धनियाँ २ पल (८ तोला), शर्करा (चीनी या खाँड़) १२ पल (४८ तोला)—इन सबके चूर्ण एक में मिलाकर रखें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार भोजन तथा पेय पदार्थों के साथ प्रयोग करें। यह चूर्ण रुचिवर्धक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, बलवर्धक, पसलियों की पीड़ा तथा कास को दूर करता है।

वक्तव्य—'द्वे चतुर्थिके'—'शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिरात्रं चतुर्थिका'। शा० सं० पू० खं० अ० १।२४। यहाँ 'चतुर्थिका' शब्द का अर्थ 'पल' है। चतुर्थिका शब्द स्त्रीलिंग होने के कारण यह प्रयोग किया गया है। इसी पाठ को वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० ५।९३-९५ में दिया है।

एका षोडशिका धान्याद् द्वे द्वेऽजाज्यजमोदयोः । ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लं द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ॥
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात् पञ्च पलानि च । तच्चूर्णं षोडशपले शर्कराया विमिश्रयेत् ॥
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् । मन्दानले शकृद् भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धनः ॥९०॥

इति षाडवः।

षाडव—धनियाँ १ षोडशिका (४ तोला), सफेद जीरा २ षोडशिका (८ तोला), अजमोदा (८ तोला), अनारदाना ४ पल (१६ तोला), वृक्षाम्ल (विषांविल) ४ पल, सोंचर नमक १ पल (४ तोला), सोंठ १ कर्ष (१ तोला), कैथ की गुद्दी ५ पल (२० तोला)—इन सबका कपड़छन चूर्ण कर १६ पल (६४ तोला) चीनी में मिलाकर रख लें। यह षाडव सैन्धवादि चूर्ण की भाँति यक्ष्मा रोग से पीड़ित पुरुषों को अन्न-पान के साथ सेवन करने के लिए दें। अग्नि के मन्द पड़ जाने पर तथा अतिसार होने पर यह यक्ष्मा रोगियों की मन्दाग्नि को तीव्र कर दोषों का पाचन करता है।

वक्तव्य—'षोडशिका' यह शब्द परिमाण-वाचक है। चरक-कल्पस्थान अ० १२ में इस शब्द को १ पल का पर्याय-वाचक माना है। इसी से आचार्य चक्रपाणि भी लिखते हैं—**'षोडशिका पलम्'**। शार्ङ्गधराचार्य की मान-परिभाषा में षोडशिका १ तोला और षोडशी १ पल का वाचक है। देखें—शा० सं० पू० खं० अ० १ श्लोक २२ और २५।

आचार्य जतूकर्ण ने उक्त योग को इस प्रकार दिया है—'पलिके धान्यकरुचके द्वौ जीरकदीप्यकौ शुण्ठ्याश्च पलं कपित्थदाडिमवृक्षाम्लानां कुडवम्' इत्यादि। जतूकर्णसंहिता। **विशेष**—यह शब्द षाडव या खाडव दो रूपों में एक ही अर्थ का द्योतक है। देखें इसका परिचय—'मधुराम्ललवणनानासुगन्धिद्रव्यकृतखाद्यविशेषे'। खाडवाः फलमधुराम्ललवणाः सुगन्धिद्रव्यजा नानाविधाः'। इति शिवदासः।

पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धितम्[1] । पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ॥९१॥
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः । मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा ॥९२॥

नागबला-कल्प—उरःक्षत के कारण जब मनुष्य अधिक कृश हो जाता है, तब उसे नागबला की जड़ का चूर्ण पहले दिन आधा कर्ष (तोला) से आरम्भ कर आधा-आधा कर्ष बढ़ाते हुए १ पल (४ तोला) तक

१. 'मर्धकर्षविवर्धनम्' इति पा०।

ले जाय, फिर इसी क्रम से एक मास-पर्यन्त इसका सेवन करे। इसका जिन दिनों सेवन किया जाय उन दिनों अन्न का सर्वथा त्याग कर दे। भूख अथवा प्यास लगने पर केवल दूध का सेवन करे। यह प्रयोग शरीर को पुष्ट करने वाला और दीर्घ आयु को देने वाला, उत्तम बलकारक तथा आरोग्यप्रद है।

इसी प्रकार मण्डूकपर्णी, सोंठ और मुलेठी का भी कल्प कहा गया है। ये कल्प भी उक्त प्रकार से अपना लाभ देते हैं। इनके सेवनकाल में भी दूध तथा अन्न का त्याग करना चाहिए।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती टीकाकारों ने नागबला का पर्याय **'गंगेरन'** देकर अपद्रव्य का निर्देश किया या पाठकों को दिग्भ्रान्त किया है। आप देखें—ये दोनों परस्पर भिन्न द्रव्य हैं। **नागबला**—यह परूषक कुल का द्रव्य है। इसे संस्कृत में नागबला, हिन्दी में—गुलशकरी, गुलखण्डी, लैटिन में—ग्रीविया हिर्सुटा (Grewia hirsuta Vahl) कहते हैं। इसका प्रयोज्य अंग मूल है। देखें—नागबला रसायन; च० चि० अ० १।२।११ तथा १।४।६।

गाङ्गेरुकी—यह परूषक कुल का द्रव्य है। इसे संस्कृत में—गांगेरुकी, हिन्दी में—गंगेरन, लैटिन में—ग्रीविया टिनैक्स (Grewia tenax (Forsk) Aschers & schwf) कहते हैं। इसका प्रयोज्य अंग त्वक् तथा मूल है। विशेष देखें—च० सू० अ० २७।१४२-१४३। सु० सू० अ० ४६।१६३।

अर्धकर्षविवर्धितम्—कल्प का क्रम किसी क्रम से आरम्भ कर निश्चित परिमाण तक बढ़ाकर उसी क्रम से उसको घटाना बताया गया है। जैसे—वर्धमानपिप्पली आदि को देखें। किन्तु यहाँ उस क्रम का पालन नहीं बतलाया गया है, सहसा ऐसा करना असात्म्यज रोगों का कारण होता है। **दूसरा विचार**—१ पल ४ तोला का होता है, जो आजकल की शारीरिक स्थिति को देखकर अधिक है। यदि उक्त विधि को ही स्वीकार कर लें तो हम इस प्रकार व्यवस्था बैठा सकते हैं—प्रति दो दिन में आधा-आधा कर्ष (तोला) बढ़ायेंगे तो १६वें दिन ४ तोला=१ पल हो जायेगा और फिर उसी क्रम से घटाते जायेंगे तो ३०वें दिन पुनः आधा कर्ष रह जायेगा। प्रयोग-कुशल चिकित्सक ध्यान दें। वैसे आजकल के लिए यह मात्रा २ या ३ माशा से आरम्भ कर अधिक से अधिक १ तोला तक रोगी की परिस्थिति का विचार करते हुए स्वीकार की जा सकती है।

यद्यत् सन्तर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु । अन्नपानं निषेव्यं तत् क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ॥९३॥
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम् । तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यं बलं तथा ॥

क्षत-क्षीण में सन्तर्पण—यदि क्षत-क्षीण (उरःक्षत रोग के कारण रसादि धातुओं का विनाश हो जाने से क्षीण) रोगी 'मैं सुखी रहूँ' ऐसी इच्छा रखता है, तो उसे जो-जो अन्नपान शरीर की धातुओं को तृप्त (पुष्ट) करने वाला हो, शीतल हो, अविदाही (विदाह को उत्पन्न करने वाला न हो), पचने में लघु (आसान) हो तथा सब प्रकार से हितकर हो, उस-उस अन्नपान का सेवन करना चाहिए और जो अन्न-पान यक्ष्मा, कास एवं रक्तपित्त से पीड़ित रोगियों के लिए पथ्य कहा गया है उन सभी पथ्यों तथा चिकित्सा का प्रयोग रोगी के पाचकाग्नि की स्थिति, रोग की स्थिति, रोगी को कौन आहार-विहार अनुकूल पड़ते हैं और कौन विपरीत होते हैं तथा रोगी के शारीरिक एवं मानसिक बल का विचार करके करना चाहिए।

वक्तव्य—शीतल पदार्थ भी अनेक ऐसे हैं, जो स्पर्श में शीतल और तत्काल शान्तिप्रद होते हुए भी बाद में विदाहकारक होते हैं, अतः ऊपर **'शीतमविदाहि'** दोनों विशेषण एक साथ दिये हैं।

उपेक्षिते भवेत् तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः । प्रागेवागमनात्तस्य तस्मात् तं त्वरया जयेत् ॥९५॥

क्षतक्षीण की उपेक्षा से यक्ष्मा—उस (क्षत-क्षीण) की उपेक्षा करने पर ही यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) रोग का अनुबन्ध (अनु पश्चात् बध्यते इति, अनुबन्धः) हो जाता है, अर्थात् उरःक्षत रोग की समय पर चिकित्सा न करने से ही राजयक्ष्मा रोग पीछे लग जाता है। इसलिए जब तक राजयक्ष्मा के लक्षण न दिखलायी दें, उसके पहले ही उरःक्षत रोगी की चिकित्सा शीघ्रता से कर डालनी चाहिए।

तत्र श्लोकौ—

क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यपृथगाकृतिम् । असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिरेव च ॥९६॥

उक्तवाञ्ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीणचिकित्सिते । तत्त्वार्थविद् [1]वीतरजस्तमोदोषः पुनर्वसुः ॥१७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सितस्थाने क्षतक्षीण-
चिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—यहाँ इस विषय से सम्बन्धित दो श्लोक कहे गये हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा के रहस्य को जानेन वाले रजस् और तमस् दोष से सर्वथा मुक्त आचार्य पुनर्वसु ने प्रस्तुत क्षतक्षीण-चिकित्सा नामक अध्याय में अपने ज्येष्ठ शिष्य (अग्निवेश) के लिए क्षत-क्षय का कारण, सामान्य लक्षण तथा उनके पृथक्-पृथक् लक्षण, क्षतक्षीण की असाध्य अवस्था, याप्य अवस्था, साध्य अवस्था और साध्य अवस्था की सिद्धि (चिकित्सा) का उपदेश किया है।

वक्तव्य—पहली अवस्था उरःक्षत और दूसरी अवस्था क्षत-क्षीण है। इसकी पृथक्-पृथक् आकृतियाँ और दोनों का सामान्य स्वरूप है—'उरो विरुज्यते'। यही स्थिति इसके नाम-निर्धारण में भी कारण है। पहले उरःक्षत होता **है**, तदनन्तर रोगी **क्षत** से **क्षीण** होता है या उसकी धातुओं का **क्षय** हो जाता है। अतएव इसे **'क्षतक्षय'** या **'क्षतक्षीण'** कहा गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सा-स्थान में क्षतक्षीणचिकित्सत नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

क्षतक्षीण-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम श्वयुथ(शोथ)रोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—क्षतक्षीण रोग में मर्म (हृदय) में उपघात (चोट लगना) कारण होता है। शोथ में भी मर्मोप-घात कारण कहा गया है, अतएव क्षतक्षीण के बाद शोथ-चिकित्सा का उपक्रम किया गया है। **शोथ शब्द की निरुक्ति**—गतिवृद्धि अर्थ वाले टुओश्वि धातु से 'अथुच्' प्रत्यय जोड़ देने पर शोथ शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—अवयव-विशेष का चर्म तथा मांस का उत्सेधयुक्त होना। **शोथ के पर्याय**—१. शोथ, २. शोथक, ३. शोफ, ४. स्वेलिंग (Swelling).

कभी-कभी यह रोग स्वतन्त्र न होकर किसी दूसरे रोग में भी विशेष लक्षण के रूप में दिखलायी देता है। जैसे—१. पित्ताशयशोथ (Cholecystitis), २. उदरावरणशोथ (Peritonitis), ३. नासास्रोतः-शोथ (Paranasal sinusitis.), ४. गलग्रन्थिशोथ (Tonsillitis), ५. फुप्फुसशोथ (Pneumonia), ६. कासजनित फुप्फुसशोथ (Broncho-pneumonia), ७. वृक्कशोथ (Nephritis, acute), ८. वृक्काशयशोथ (Pyelonephritis), ९. शीतजनित शोथ (Chilblains), १०. अलर्जीजनित मध्यकर्ण-शोथ (Otitis media, allergic), ११. पूय युक्त मध्यकर्णशोथ (Otitis media, suppurative), १२. गलशोथ (Pharyngitis), १३. कण्ठशोथ (Laryngitis), १४. चिरस्थायी भोजन-प्रणालीशोथ

१. 'वीतरजस्तमोमोहः' इति पा०।

(Peptic oesophagitis), १५. हृदय-रोगजनित शोथ (Cardiac dropsy) इत्यादि। ये सभी आगे श्लोक ७ में कहे गये निज शोथ के तीसरे भेद में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १८। च० चि० अ० १२। अ० सं० नि० अ० १३। अ० सं० नि० अ० १९। अ० हृ० चि० अ० १७। सु० सू० अ० १७ एवं सु० चि० अ० २३ का अवलोकन करें।

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः ।
महागदस्य श्वयथोर्यथावत् प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत् ॥ ३ ॥

अग्निवेश का श्वयथु-विषयक प्रश्न—चिकित्सकों में वरिष्ठ (अग्रगण्य अतएव सर्वप्रथम), देवता (अश्विनीकुमार आदि) तथा सिद्धपुरुषों से प्रीति करने वाले, तात्कालिक मुनिजनों में श्रेष्ठ अत्रिपुत्र (आत्रेय) पुनर्वसु से महागद (श्वयथु नामक महारोग) के प्रकोपक कारणों, लक्षणों तथा चिकित्सा को अग्निवेश ने यथावत् (ठीक-ठीक प्रकार से) पूछा।

तस्मै जगादागदवेदसिन्धुप्रवर्तनाद्रिप्रवरोऽत्रिजस्तान् ।
वातादिभेदास्त्रिविधस्य सम्यङ्निजानिजैकाङ्गजसर्वजस्य ॥ ४ ॥

महर्षि आत्रेय का उत्तर—'अगदवेद' (नीरोगता प्रदान करने वाला वेद=आयुर्वेद) रूपी 'सिन्धु' (नदी) के प्रवर्तक अद्रिप्रवर (नगाधिराज हिमालय) के सदृश अत्रिपुत्र (आत्रेय) आचार्य पुनर्वसु ने वात आदि दोष-भेद से तीन प्रकार के—निज, अनिज (आगन्तुक), एकांगज और सर्वांगज शोथ रोग के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का सम्यक् उपदेश उस (अग्निवेश) के लिए किया।

वक्तव्य—'तस्मै अत्रिजः जगाद', इसमें 'जगाद' क्रिया का अर्थ है—'स्पष्ट रूप से कहा'। अत्रिज का विशेषण है—**'अगदवेदसिन्धुप्रवर्तनाद्रिप्रवर'**। इसका व्याख्यान ऊपर किया जा चुका है। महर्षि आत्रेय को आयुर्वेद रूपी विशाल सिन्धु (गंगा नदी) का प्रवर्तन करने वाला पर्वतराज कहा है। निश्चय ही महर्षि ने हिमालय के समान ध्यानमग्न होकर करामलकवत् सम्पूर्ण जगत् को देखकर त्रिकालाबाधित चिकित्सा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, अतएव वे आप्त थे, क्योंकि—'येषां त्रिकालममलम्' और भी—**'हिमवान् औषधि-भूमीनाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। आयुर्वेद दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा का भी पक्षपाती है, इसीलिए इन्हें—अगद-वेद-सिन्धुप्रवर्तक कहा है। अतएव **'औषधं जाह्नवीतोयम्'** यह सूक्ति प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त हिमालय के साथ महर्षि आत्रेय की समानता अनेक सत्त्वगुणों को भी उजागर करने में समर्थ है। इसका दूसरा कारण यह है कि आगे ५वें श्लोक में 'गरोपसृष्टान्ननिषेवण' भी शोथ रोग की उत्पत्ति में अन्यतम हेतु है, जिसके जानकार महर्षि आत्रेय थे।

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ५ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः ।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥ ६ ॥

निजशोथ के कारण—वमन, विरेचन आदि संशोधनों (पञ्चकर्मों) की विकृति के कारण होने वाले ज्वर आदि आमय (रोग), अभक्त (व्रतोपवास अथवा लंघन या विधिविरुद्ध भोजन करने) से, जो कृश हो गये हैं या दुर्बल हो गये हैं, ऐसे पुरुष यदि क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण तथा गुरु पदार्थों का सेवन करने लगते हैं, [illegible], कच्चा (अपक्व) अन्न, मिट्टी, शाक, विरोधी अन्न (आहार), दूषित अन्न और कृत्रिम विष-युक्त अन्नों का सेवन करते हैं। जो अर्श-रोग से रुग्ण हैं, जो कोई कार्य नहीं करते, अर्थात् खाली बैठे रहते हैं, जो कभी वमन, विरेचन आदि विधियों द्वारा आवश्यकता होने पर भी देह (शरीर) की भीतरी और न ही स्नानादि द्वारा बाहरी शुद्धि कराते हैं, जिनके मर्म-स्थानों पर किसी प्रकार की चोट लग जाती है, विषमा प्रसूति (अकाल गर्भ-पतन, मूढ़गर्भ, यमल जन्म), चिकित्सा या वमन, विरेचन आदि कर्मों का मिथ्या प्रयोग—ये सब निज (वात, पित्त, कफ के प्रकोप से होने वाले) शोथ के कारण कहे गये हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेदीय परिभाषा में **निज**—वातादि दोषज विकारों की संज्ञा है। **अनिज**—आगन्तुज कारणों से होने वाले विकारों की संज्ञा है। **एकाङ्गज**—शरीर के किसी एक अवयव में होने वाले विकार को कहते हैं। **सर्वाङ्गज**—सम्पूर्ण शरीर में होने वाले विकार को कहते हैं। यहाँ उक्त चार भेदों से एक ही शोथ का विभाजन किया गया है।

यहाँ प्रथम स्वतन्त्र तथा परतन्त्र हेतुओं से शोथ रोग का परिचय दिया गया है। **स्वतन्त्र**—ऊपर कहा गया दही आदि का सेवन करना स्वतन्त्र हेतु है। शेष परतन्त्र। इस प्रसंग में सुश्रुत सू० अ० १७।३ देखें। इस शोथ से भी विलक्षण जो सर्वसर (सम्पूर्ण शरीर में बाहर-भीतर फैलने वाला) नामक एक शोथ होता है, वह पाँच प्रकार का होता है। सामान्य रूप से इसे 'सूजन' कहते हैं। इसकी चिकित्सा में वर्णित प्रायः सभी योग विरेचक या मूत्रल होते हैं, कारण आप स्वतः समझें।

बाह्यास्त्वचो दूषयिताऽभिघातः [१]काष्ठाश्मशस्त्राग्निविषायसाद्यैः।
आगन्तुहेतुस्त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात्॥ ७॥

आगन्तुक शोथ के कारण—लकड़ी, पत्थर, शस्त्र (तलवार, भाला, छुरी, गड़ासा आदि), अग्नि, विष, आयस (लोहे की छड़) आदि के अभिघात से प्रकुपित दोष बाहरी त्वचा को दूषित कर देते हैं।

तीन प्रकार का निज शोथ—१. सर्वांगज शोथ, २. अर्धांगज शोथ, ३. किसी अवयव विशेष का आश्रय लेकर होने वाला शोथ।

वक्तव्य—उक्त ७वें श्लोक में आगन्तुकशोथ के कारणों तथा निजशोथ के भेदों का उल्लेख किया है। निज शोथ के जो भेद गिनाये हैं, उसी प्रकार आगन्तुक शोथ के भी भेद हो सकते हैं। यद्यपि तन्त्रकार ने आगन्तुक शोथ के भेदों की चर्चा यहाँ नहीं की है। उक्त श्लोक के द्वितीय पाद में निम्नलिखित तीन पाठ भेद हैं। निर्णयसागरीय प्रति में उद्धृत पाठ का अर्थ ऊपर दे दिया है, उसी प्रति में दिये गये टिप्पणीस्थ पाठ-भेद में केवल 'शस्त्र' के स्थान पर 'शल्य' दिया है। श्रीजयदेव ने जिस पाठ को स्वीकारा है, वह है—'**काष्ठास्मशस्त्रारन्यशनी विषाद्यैः**'। इस पाठ में अशनि शब्द विशेष है।

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पत्युत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति॥ ८॥

शोथ की सम्प्राप्ति—जब दूषित वायु (वातदोष) बाहरी सिराओं में जाकर कफ, रक्त तथा पित्त को दूषित कर देता है, तो उन (कफ, रक्त, पित्त) दोषों द्वारा जब उस (वायु) का मार्ग रुक जाता है, तो वह वायु उन दोषों को लेकर उसी स्थान पर उत्सेध (उभार) के लक्षण से युक्त शोथ को पैदा कर देता है।

वक्तव्य—सामान्य शोथ अथवा व्रणशोथ दोनों में ही रक्त सहित तीनों दोष प्रकुपित होते हैं, किन्तु यहाँ जिसे सूजन कहते हैं, उसी शोथ का वर्णन किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में वाग्भट के विचार देखें—अपने कारणों से दूषित (कुपित) वायु अपने कारणों से दुष्ट (विकृत) होकर पित्त, रक्त, कफ को बाहरी सिराओं में ले जाकर उन्हीं पित्त आदि दोषों द्वारा अवरुद्ध होकर त्वचा एवं मांस में उत्सेध (ऊँचाई) पैदा कर देता है। यह उत्सेध संहत (ठोस) होता है, इसे शोफ या शोथ कहते हैं। ये सभी शोथ रक्तमिश्रित त्रिदोष के संयोग से होते हैं।

हेतु विशेष के कारण यह शोथ ९ प्रकार का होता है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज (एकदोषज), ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज (द्वन्द्वज), ७. त्रिदोषज, ८. अभिघातज (चोट आदि के लगने से), ९. विषज। पुनः यह दो प्रकार का माना गया है—१. निज (वातादि दोषज), २. आगन्तुज (अभिघात आदि से)। स्थान-भेद से यह पुनः दो प्रकार का होता है—१. सर्वाङ्गज, २. एकाङ्गज। आकृति-भेद से यह तीन प्रकार का होता है—१. पृथु (चौड़ा या फैला हुआ), २. उन्नत तथा ३. ग्रथित। देखें—अष्टाङ्गहृदय नि० अ० १३।१५-१५ तथा अ० सं० नि० अ० १३।२२-२४।

१. 'काष्ठाग्निशल्याद्यमविषायसाद्यैः' इति पा०।

भगवान् धन्वन्तरि शोफ और सर्वसर भेद से शोथ को दो प्रकार का मानते हैं। वे अवयवज शोफ को छः प्रकार का और सर्वसर को पाँच प्रकार का मानते हैं—'षड्विधोऽवयवसमुत्थः शोफोऽभिहितो लक्षणतः प्रतिकारतश्च, सर्वसरस्तु पञ्चविधः'। सु० नि० अ० १३।३।

[१]उरःस्थितैरूर्ध्वमधस्तु वायोः स्थानस्थितैर्मध्यगतैस्तु मध्ये।
सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थैर्दोषैः क्वचित् स्याच्छ्वयथुस्तदाऽऽख्यः॥ ९॥

शोथ के स्थान तथा दोष-सम्बन्ध—जब कुपित हुए वातादि दोष उरःप्रदेश में आकर स्थित हो जाते हैं, तब वे शरीर के ऊपरी अवयवों पर शोथ को उत्पन्न करते हैं। जब वायु के स्थान (पक्वाशय अथवा वस्ति-प्रदेश) में दोष आकर स्थित हो जाते हैं, तब वे शरीर के निचले अवयवों पर शोथ को उत्पन्न करते हैं और जब वे शरीर के मध्य भाग में स्थित होते हैं, तब मध्यभाग में शोथ को उत्पन्न करते हैं। यदि दोष सर्वगत (सम्पूर्ण शरीर में फैले) हों तो सम्पूर्ण शरीर में शोथ हो जाता है। यदि शरीर के किसी अवयव-विशेष में आकर दोष स्थित हों तो उसी अवयव में शोथ उत्पन्न होता है और वह उसी नाम से भी कहा जाता है; जैसे—मुखशोथ, उदरशोथ, हस्तशोथ आदि।

वक्तव्य—वाग्भट के अनुसार—वक्षःस्थल में स्थित दोषों द्वारा शरीर के ऊपरी भाग में, वस्ति में स्थित दोषों द्वारा शरीर के अधोभाग में, मध्यकाय में स्थित दोषों द्वारा मध्यकाय में, सर्वशरीरगत दोषों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में तथा किसी अंग-विशेष में स्थित दोषों द्वारा उस-उस अंग में शोथ की उत्पत्ति होती है। देखें—अ० हृ० नि० अ० १३।२८-२९।

ऊपर जो कहा गया है कि जिस स्थान पर दोष स्थित हो जाते हैं, उस स्थान पर या उन-उन स्थानो पर शोथ होता है; इसमें आयुर्वेद का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है—'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः स्व(ख)वैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते'॥ सु० सू० अ० २५।१०। अर्थात् प्रकुपित दोष जब शरीर में गति करने लगते हैं, उस समय स्रोतसों के विकार के कारण शरीर के जिस अवयव पर आकर ये दोष रुक जाते हैं, उसी स्थान पर रोग उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के अन्य विचार भी अवलोकनीय हैं। देखें—सु० नि० अ० २३।६।

ऊष्मा तथा स्याद् दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम्।
सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तच्छब्दमभ्येति भिषग्जितं च॥ १०॥

शोथ के पूर्वरूप—जहाँ शोथ होता है, उस स्थान पर ऊष्मा (गर्मी) का प्रतीत होना, दवथु (Pain, anxiety, inflammation of the eye : V. S. Apte) सिराओं में आयाम (तनाव) का होना, सामान्यरूप से शोथ के ये पूर्वरूप होते हैं। सभी शोथ त्रिदोषज होते हैं, फिर भी जिस शोथ में जिस दोष के लक्षण अधिक दिखलायी दें, वह शोथ उसी दोष के नाम से कहा जाता है और उसी के अनुसार उसकी चिकित्सा भी की जाती है।

वक्तव्य—यहाँ इसके तीन पूर्वरूप बतलाये गये हैं—ऊष्मा, दवथु तथा सिराओं में आयाम। वाग्भट के अनुसार दवथु, सिरायाम और अंगगौरव हैं। देखें—अ० हृ० नि० अ० १३।३०। **दवथु**—टुदु परितापे धातु से 'ट्वितोऽथुच्' सूत्र से अथुच् प्रत्यय करने पर उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है और 'दव' तथा 'दाव' शब्द दावाग्नि (जंगल में लगने वाली आग) के वाचक हैं। इतना विचार करने पर 'दवथु' शब्द परितः ताप (सन्ताप) अर्थ का द्योतक होता है। इसी आधार पर कोषकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। माधवनिदानोक्त अंग-गौरव का लक्षण उस-उस अंग-विशेष का समझना चाहिए, जहाँ-जहाँ शोथ को होना होता है।

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षाऽङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥ ११॥

शोथ में सामान्य लक्षण—शोथ से आक्रान्त शरीरावयव पर भारीपन, अनवस्थितता (शोथ का घटते-बढ़ते रहना अथवा स्थान-परिवर्तन होना), उत्सेध (उस स्थान का उभार) युक्त होना, उस अंग में ऊष्मा

१. 'ऊर्ध्वं स्थितैः' इति पा०।

(गरमाहट) का होना, सिराओं का पतलापन, उस स्थान पर रोमहर्ष (रोमांच) का होना, उस अंग के स्वाभाविक वर्ण का बदल जाना—ये सब शोथ के सामान्य लक्षण कहे गये हैं ।

चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥ १२ ॥

वातज शोथ के लक्षण—वातज शोथ चंचल होता है, अर्थात् यह बढ़ता-बढ़ता हुआ एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता । जहाँ यह शोथ होता है उस स्थान की त्वचा पतली पड़ जाती है, उस त्वचा का स्पर्श करने पर खुरदरी प्रतीत होती है, उसका वर्ण अरुण (गहरा लाल) या असित (काला) हो जाता है, त्वचा में कभी शून्यता, कभी रोमहर्ष (Hypersthesia) और कभी पीडा होती है । कभी बिना किसी कारण शोथ कम हो जाता है, वह स्थान दबाने से दब जाता है, किन्तु फिर उभार युक्त हो जाता है । दिन में यह शोथ अधिक बलवान् होता है ।

वक्तव्य—यहाँ च० सू० अ० १८ के ९वें और १०वें श्लोक के विषय का अनुसन्धान कर लें और अ० हृ० नि० अ० १३ श्लोक ३०-३२ का अवलोकन कर लें । **दिवाबली**—इस विशेषण के कारण रात्रि में यह स्वयं शान्त हो जाता है, ऐसी तन्त्रकार की इष्टि है; क्योंकि रात्रि में कफ की प्रधानता होती है ।

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान् भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः ।
य उष्यते [1]स्पर्शरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥ १३ ॥

पित्तज शोथ के लक्षण—जो शोथ स्पर्श करने पर मृदु (मुलायम) मालूम पड़ता हो, विशेष प्रकार की गन्ध से युक्त हो, वर्ण में काला या पीतवर्ण वाला हो, जिसमें रोगी को भ्रम (चक्करों का आना), ज्वर, स्वेद, प्यास तथा मद (नशा जैसा) प्रतीत हो रहा हो, जिस शोथ में दाह, छूने मात्र से पीडा, रोगी के आँखों में लालिमा दिखलायी दे रही हो और जिसमें अत्यन्त दाह होता हो और जो प्रायः पक जाता हो, वह पित्तज शोथ होता है ।

वक्तव्य—ऊपर १२वें श्लोक के वक्तव्य में निर्दिष्ट सन्दर्भों को इस प्रसंग में भी देख लें । वाग्भट ने अष्टांगहृदय नि० अ० १३ श्लोक ३३ में कुछ विलक्षण लक्षण दिये हैं—वह शीघ्र फैलता है, शीघ्र ही शान्त हो जाता है और सबसे पहले मध्यकाय में उत्पन्न होता है । आप ध्यान दें—शीघ्र फैलना और शान्त होना यह वातमिश्रित पित्तज शोथ का लक्षण है । मध्यकाय में उत्पन्न होने का समाधान इसी अध्याय के ९वें श्लोक से लें ।

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत् ।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद् रात्रिबली कफात्मकः ॥ १४ ॥

कफज शोथ के लक्षण—कफ से उत्पन्न होने वाला शोथ गुरु (भारीपन से युक्त), स्थिर (बहुत दिनों तक रहने वाला अथवा अचंचल), पीले वर्ण वाला, भोजन आदि के प्रति अरुचिकारक, मुँह से लार चूते रहना, नींद का अधिक आना, वमन की प्रवृत्ति का होना, अग्नि को मन्द कर देने वाला, देर से अपना स्वरूप ग्रहण करने वाला, बहुत दिनों तक चिकित्सा करने पर शान्त होने वाला और दबा देने पर जल्दी न उठने वाला शोथ कफात्मक होता है । यह रात्रि में बलवान् होता है ।

वक्तव्य—वातज शोथ को दिवाबली कहा है । दिनभर मनुष्य इधर-उधर काम-काज में घूमता फिरता रहता है, जिससे वायु की वृद्धि होती है । रात्रि में मनुष्य विश्राम करता है और रात्रि को तमोभवा कहा गया है, इन दोनों कारणों से कफ की वृद्धि होती है, अतः सभी कफज रोग रात्रि में उग्र हो जाते हैं । दूसरा कारण यह है कि रात्रि में मनुष्य के निश्चेष्ट पड़ जाने के कारण स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है । इसलिए भी कफ की वृद्धि हो जाती है । देखें—च० सू० अ० १८ श्लोक १३-१४; सु० चि० अ० २३।५ तथा अ० हृ० नि० अ० १३ श्लोक ३५-३६ ।

---

१. 'ऽस्पर्शसहोऽक्षिरागकृत्' इति पा० ।

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः ।
स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान् परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः ॥ १५ ॥

शोथ के असाध्य लक्षण—यदि जन्मजात कृश व्यक्ति को अथवा रोगों के कारण दुर्बल व्यक्ति को जो शोथ होता है, अथवा वमन आदि (च० सू० अ० १८।१८ में कहे गये) उपद्रवों से युक्त शोथ यदि मर्मस्थान तक पहुँच जाता है तथा हीनबल वाले व्यक्ति को हुआ राजिमान् (सिराजाल से व्याप्त) सर्वांगशोथ, जिसमें से स्राव हो रहा हो तो वह असाध्य होता है ।

वक्तव्य—शोथ के कुछ असाध्य लक्षणों का उल्लेख तन्त्रकार ने इसके पूर्व भी किया है—'यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत् । जन्तोः स च सुकष्टः स्यात् प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः । यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा । स च कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः' ॥ च० सू० अ० १८।१६-१७ । वमन आदि उपद्रवों का वर्णन अगले १८वें पद्य में किया गया है । इनकी व्याख्या यथास्थान देखें । पुरुषों का ऊपरी भाग गुरु और अधोभाग लघु होता है । यदि पैरों से प्रारम्भ हुआ पुरुषों का शोथ उचित चिकित्सा करने पर ठीक नहीं हो पाता तो ऊपरी (गुरु) भाग में होने वाला शोथ कैसे ठीक किया जा सकता है । इसके विपरीत स्त्रियों के शरीर का अधोभाग गुरु और ऊर्ध्वभाग लघु होता है । इसका विवेचन सुश्रुत में देखें—'पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योषिताम्' । सु० सू० अ० ४६।१३२ । इसका पाठ-भेद तो मिलता है, पर आशय-भेद नहीं ।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में अरिष्ट के लक्षण—'श्वयथुर्मध्यदेशे यः स कष्टः सर्वगश्च यः । अर्धाङ्गेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥ श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः । हिक्कातीसारकासाश्च शूनं सङ्क्षपयन्ति हि' ॥ सु० चि० अ० २३।७-८ । कुछ अरिष्ट-लक्षणों का संग्रह माधवनिदान में भी है, उन्हें भी देख लें ।

आप ध्यान दें—रक्तपित्त रोग में 'कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते' । माधवनिदान । जिस प्रकार पित्तगुण-प्रधान रक्त की ऊष्मा से फैले हुए रोमकूपों के मुखों से रक्त निकलने लगता है, ठीक उसी प्रकार ऊपर उभरे हुए सिराजाल से शोथवारि का स्राव होने लगता है ।

अहीनमांसस्य य एकदोषजो नवो बलस्थस्य सुखः स साधने ।

साध्य शोथ के लक्षण—जिसका मांस क्षीण न हुआ हो, अर्थात् कृश तथा अबल न हो, जो एकदोष से उत्पन्न हो, अर्थात् जिसमें एक दोष की प्रधानता हो, जो शोथ नया हो, जो बलवान् व्यक्ति को हुआ हो (यहाँ बलवान् से तात्पर्य है—चिकित्सा में होने वाले कष्टों को सहने की क्षमता रखने वाला) ऐसा शोथ चिकित्सा करने में सुखद होता है । (पाठभेद—'नवोऽबलस्तस्य'—जो शोथ नया हो और जिसमें दोष बलवान् न हों, शेष पूर्ववत्) ।

निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमैरुपाचरेत् तं बलदोषकालवित् ॥ १६ ॥

शोथ का चिकित्सा-सूत्र—रोग के बल, दोष और काल को भली-भाँति जानने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह निदान (रोग का कारण), दोष, ऋतु के विपरीत क्रम (चिकित्सा-विधियों) से शोथ रोग की चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—यद्यपि इस सूत्र का प्रयोग यहाँ शोथ चिकित्सा के लिए किया गया है, किन्तु यह सर्वसामान्य चिकित्सा-सूत्र है । आयुर्वेद में 'निदान-परिवर्जन' चिकित्सा का सर्वमान्य सिद्धान्त है । बल, दोष, काल का निर्णय करने के बाद ही निदान-विपरीत आदि चिकित्सा का प्रारम्भ साध्य रोगियों में ही करना चाहिए ।

अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः ।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो[1] विरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम् ॥ १७ ॥
उपाचरेत् स्नेहभवं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रूक्षजे ।
विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम् ॥ १८ ॥

---

१. गङ्गाधरस्तु 'अधोविरेचनैरूर्ध्वमधस्तथोर्ध्वगम्' इति पठति, 'ऊर्ध्वगं शोथमधोविरेचनैरुपाचरेत्, तथाऽधःशोथमूर्ध्वविरेचनैरुपाचरेत्' इति च व्याख्यानयति ।

पयश्च मूर्च्छारतिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते ।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत् ॥ १९ ॥

शोथ की सामान्य चिकित्सा—१. यदि शोथ रोग की उत्पत्ति आमदोष के कारण हुई हो तो सर्वप्रथम लंघन तथा पाचन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। २. यदि दोषों के अधिक बढ़ जाने के कारण शोथ रोग की उत्पत्ति हुई हो तो वमन, विरेचन आदि संशोधनों का आरम्भ से ही प्रयोग करना चाहिए। ३. यदि शोथ रोग शिरो भाग में हो तो शिरोविरेचनों (विविध प्रकार के नस्यों) का प्रयोग करना चाहिए। ४. यदि शरीर के निचले भाग में शोथ हुआ हो तो विरेचनों का प्रयोग करना चाहिए। ५. यदि शरीर के ऊपरी भाग में शोथ हो तो वमन कराकर उसकी चिकित्सा करें (यहाँ इस बात का ध्यान देना होगा—जत्रु-अस्थि से ऊपरी भाग के लिए नस्य-प्रयोग, शेष भाग में होने वाले शोथ के शमनार्थ वमन-प्रयोग विहित है)। ६. यदि स्निग्ध (घी या तेल से बने हुए) पदार्थों का सेवन करने से शोथ उत्पन्न हुआ हो तो विरूक्षण (रूक्षताकारक) आहार-विहारों से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। ७. अथवा यदि रूक्ष (स्नेह-हीन) वस्तुओं का सेवन करने से शोथ उत्पन्न हुआ हो तो स्निग्धता उत्पन्न कराने वाले प्रयोगों द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। ८. यदि वातज शोथ हो और उसमें कोष्ठबद्धता (कब्जियत) हो तो निरूहणवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। ९. यदि पित्तवातज (द्वन्द्वज) शोथ हो तो उसमें तिक्त द्रव्यों से तैयार किये हुए घृत का प्रयोग कराना चाहिए। १०. यदि उक्त पित्त-वातज शोथ के कारण रोगी मूर्च्छा, अरति (बेचैनी), दाह (जलन), प्यास से पीड़ित हो तो तिक्त द्रव्यों द्वारा तैयार किया हुआ दूध पीने के लिए दें। ११. यदि उक्त मूर्च्छा आदि लक्षणों से युक्त शोथ-रोगी को शोधन कराना आवश्यक हो तो तिक्तद्रव्यों द्वारा तैयार किये हुए दूध में गोमूत्र मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए अथवा 'समूत्रं पयः' गोमूत्र मिलाकर दूध पिलायें। १२. यदि कफज शोथ हो तो क्षार, कटु एवं उष्ण द्रव्यों से युक्त गोमूत्र, तक्र (मठा), आसव, अरिष्ट आदि का प्रयोग कराकर उसे जीतना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ विविध प्रकार के शोथों का निर्देश तथा उनकी संक्षिप्त चिकित्सा कही गयी है। इस प्रसंग में ऊपर दिये गये संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेतों की भी समालोचना कर लें।

ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं नवान्नं,
गौडं पिष्टान्नं दधि [1]तिलकृतं [2]विज्जलं मद्यमम्लम् ।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि,
स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनं च ॥ २० ॥

शोथ रोग में अपथ्य—शोथ रोग से पीड़ित निर्बल व्यक्तियों को ग्राम, जल तथा अनूप देश में पैदा हुए तथा विचरण करने वाले प्राणियों का मांस, सूखे शाक, नये अन्न, गुड़ के पदार्थ, पीठी के पदार्थ, दही, तिल के बने हुए पदार्थ, विज्जल (पिच्छिल–Slimy) अन्न, सभी प्रकार के मद्य, अम्लद्रव्य, धाना (भुने हुए जौ आदि अन्न), वल्लूर (सुखाया हुआ मांस), समशन (पथ्य तथा अपथ्य पदार्थों को मिला करके खाना), गुरु (देर में पचने वाले) पदार्थ, असात्म्य (जो प्रकृति-विरुद्ध हों या अनुकूल न हों), विदाहकारक अन्नों का सेवन, दिन में सोना तथा मैथुन—इन सबका त्याग करना चाहिए।

वक्तव्य—छन्दः-कौतुकी तन्त्रकार ने यहाँ 'कुसुमितलता' नामक वृत्त का प्रयोग किया है। प्रस्तुत वृत्तानुरोध से शोथ रोगी को वसन्तऋतु में भी मैथुन न करने का संकेत किया है, ऐसा मानना चाहिए। श्रीजयदेव ने उक्त पद्य के प्रथम दो चरणों को 'मन्दाक्रान्ता' छन्दोमय, शेष दो को 'कुसुमितलता' से सुवासित किया है, जब कि छन्दःशास्त्र की दृष्टि से ऐसा प्रयोग अनुचित है। उक्त पद्य को वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० १९ श्लोक १८ में कुछ परिवर्तनों के साथ तथा वाग्भट ने अ० हृ० चि० १७ श्लोक ४१ में समान रूप से दिया है। समानता की दृष्टि से निर्णयसागरीय, गंगाधरोक्त तथा वाग्भट द्वारा उद्धृत सभी के पाठ प्रायः परस्पर भिन्न हैं।

अन्यत्र अपथ्य—'पिष्टान्नमुष्णं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमजाङ्गलञ्च। पयोगुडं तैलमथो गुरूणि शोफं जिघांसुः परिवर्जयेच्च' ॥ भै० र० शोथाधिकार २११। अर्थात् पीठी के भोज्य पदार्थ, उष्ण भोजन, सभी प्रकार

१. 'सलवणम्' इति, 'सक्रशरम्' इति च पा०। २. 'विज्जलं पिच्छिलं द्रव्यम्'।

के नमक, मद्य, मिट्टी का खाना, दिन में सोना, जांगलप्राणियों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों का मांस, अधिक मात्रा में पानी का सेवन, गुड़, तेल तथा गुरु पदार्थ—इनका सेवन न करें, ये शोथ को बढ़ा देते हैं।

पिशितमबलम्—सभी टीकाकार 'गतानुगतिको लोकः' उक्ति को चरितार्थ करते हुए टीका कर गये हैं, किन्तु 'पिशितम्' के बाद जुटा हुआ 'अबलम्' शब्द का किससे सम्बन्ध है, इसका क्या अर्थ है और इसकी यहाँ क्या उपयोगिता है; किसी ने कुछ भी नहीं लिखा।

हमारे विचार से यहाँ **'पिशितमबलः'** ऐसा पाठ होना चाहिए। इस प्रकार अनुस्वार-परिवर्तन विसर्ग संयोजन से पूर्वाचरित मुद्रणदोष स्वीकार किया जा सकता है और यह **'अबलः'** शब्द **'श्वयथुगदवान्'** का विशेषण होकर अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकता है। यह विचार भी **'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया'** इस नीति के आधार पर किया जा रहा है।

धानाः—'यवादयश्च ये भृष्टा धानास्ते परिकीर्तिताः'। राजनिघण्टु व० ६। **समशनम्**—'हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्'। सु० सू० अ० ४६।५०८। इसी का विपरीत **'विषमाशन'** होता है।

विशेष वक्तव्य—यद्यपि हमने निर्णयसागरीय प्रति के पाठ को समादृत किया है, किन्तु इस पाठ में ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि शोथ रोग में लवण का परहेज प्रत्येक चिकित्साधिकारी कराता है। उक्त पद्य में उसका सर्वथा अभाव है। इस प्रसंग में **चक्रदत्त-शोथचिकित्सा श्लोक ६४** देखें। इसमें **'ग्राम्याब्जानूपं पिशितलवणं'** पाठ दिया है—१. **ग्राम्यलवण**—खारी मिट्टी को जल में घोलकर यह लवण प्राप्त किया जाता है। २. **अब्जलवण** सामुद्रलवण को कहते हैं। ३. **आनूपलवण** साँभरनमक को कहते हैं। निघण्टु-ग्रन्थों में लवण-द्वय या लवण-त्रय की अधिक चर्चा है। श्रीजयदेव ने **'पिशितमबलं'** का जो अर्थ लगाया उस पर भी आप अवश्य ध्यान दें।

व्योषं त्रिवृत् तिक्तकरोहिणी च सायोरजस्का त्रिफलारसेन ।
पीतं कफोत्थं शमयेत् तु शोथं गव्येन मूत्रेण हरीतकी च ॥ २१ ॥

कफज शोथ की चिकित्सा—१. व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिवृत् (निशोथ), कुटकी—इन द्रव्यों को समभाग लेकर कूटकर कपड़छन कर लें, तदनन्तर इस चूर्ण में समभाग लौहभस्म मिला लें, त्रिफला के स्वरस या क्वाथ के साथ इसका सेवन करने से कफज शोथ की शान्ति होती है, २. अथवा गाय के मूत्र के अनुपान के साथ केवल हरीतकी के चूर्ण का सेवन करने से भी कफज शोथ का शमन होता है।

वक्तव्य—'भागेऽनुक्ते साम्यं स्यात्'। शा० सं० पू० खं० अ० १।५०। इसके अनुसार उक्त सोंठ आदि द्रव्यों के चूर्ण को समभाग लेना चाहिए। **अयोरज**—इस शब्द का प्रयोग 'लौहकिट्ट' तथा 'लौहचूर्ण' इन अर्थों में कोषकारों तथा शास्त्रकारों ने किया है। किन्तु टीकाकारों ने इसमें स्वतन्त्रता दिखलायी है। **'नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्'**। प्रायः सभी ने 'अयोरज' का अर्थ 'लौहभस्म' कर डाला है, जब कि गुण-धर्म तथा पाचन की दृष्टि से लौहचूर्ण और लौहभस्म में महान् अन्तर है। उदाहरण के लिए देखें, 'नवायसलौह' चक्रदत्त—**'नवायोरजसो भागाः'**। पाण्डुरोग-चिकित्सा। तथा शार्ङ्गधरसंहिता म० खं० चूर्णकल्पना अ० ६ श्लोक १६१-१६३। **'नवभागा हतायसः'**, दोनों स्थानों पर टीकाकारों ने 'लौहभस्म' लेने की सलाह दी है।

मूलरूप में प्रायः सभी धातुओं की स्थिति एक-सी होती है। अशुद्ध धातु को शुद्ध कर फिर उसका मारण किया जाता है, यही भस्म की भी विधि है। लोहे का जो मैल होता है, उसकी भी भस्म बनायी जाती है, उसे **लौहकिट्ट** या **लौहमण्डूर** कहते हैं। यह लौहभस्म से जल्दी पचने वाली और लौहभस्म के समान गुणों वाली होती है। दोनों ग्रन्थकारों ने चूर्ण के समान लौहभस्म लेने का निर्देश दिया है, किन्तु चक्रपाणि का विचार इस प्रकार है—'सायोरजस्केति अनेन मारितमेवात्र अयोरज इच्छन्ति, रसायनेऽपि मृतायोरज एव प्रयोगोपदेशात्। अयोरजो न समं तुल्यमानम्, अयो हि दुष्परिणामं तेनायः प्रयोगेऽल्पमेव लोहं मात्रानुसारेण ज्ञेयम्'। इसके अनुसार वे कम मात्रा में लौहरज को लेने की संस्तुति करते हैं, विद्वान् विचार करें।

वृद्धवाग्भट ने इस सम्बन्ध में अ० सं० चि० अ० १९।३ में अनेक योग दिये हैं, इन्हें भी देखें। इस श्लोक के निर्णयसागरीय पाठ तथा श्रीजयदेव द्वारा स्वीकृत पाठ में कुछ अन्तर है, इस ओर आप ध्यान दें।

हरीतकीनागरदेवदारु सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा।
सर्वं पिबेत् त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ॥ २२ ॥

शोथ की अन्य चिकित्सा—१. हरीतकी, सोंठ, देवदारु, इनके समभाग चूर्ण को कपड़छन करके गुनगुने जल से कफज शोथ के रोगी को देना चाहिए। २. अथवा हरीतकी, सोंठ, देवदारु तथा पुनर्नवा—इनके समभाग चूर्ण को कपड़छन करके गोमूत्र के साथ तीनों प्रकार के शोथों में देना चाहिए। उक्त चूर्ण के पच जाने पर स्नान करके दूध के साथ पुराने चावलों का भात खाना चाहिए।

वक्तव्य—श्लोक २१ और २२ में कुल मिलाकर चार योग चूर्णों के हैं। इनमें से जिसका भी प्रयोग किया जाये उसके पचने पर स्नान करके दूध-भात खाना चाहिए, यह तन्त्रकार की इच्छा है।

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान् प्रस्थेन धीरः पयसाऽक्षमात्रान्।
मयूरकं मागधिकां समूलां सनागरां वा प्रपिबेत् सवाते ॥ २३ ॥

वातज शोथ-चिकित्सा—धीर (सहनशील) पुरुष को यदि वातज शोथ हो गया हो तो पुनर्नवा की जड़, सोंठ, नागरमोथा—प्रत्येक द्रव्य को १ अक्ष (१ तोला) की मात्रा में लेकर इनका कल्क बना लें, इसे १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के दूध में यथाविधि पकाकार पीये अथवा मयूरक (अपामार्ग) की जड़, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ—इनको १-१ अक्ष (तोला) की मात्रा में लेकर इनका कल्क बना लें, इस कल्क से १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के दूध को पकायें, तैयार हो जाने पर वातज शोथ रोग में इस दूध का सेवन करें।

वक्तव्य—उक्त योग के कुछ दिनों तक निरन्तर सेवन करने पर वातज शोथ अवश्य ही शान्त हो जाता है, अतएव रोगी का विशेषण 'धीरः' है। उक्त दूध को प्रतिदिन बनायें और थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिन भर में पिला दें। आचार्य गंगाधर 'समूलां' शब्द से मूली का ग्रहण करते हैं। मदनपाल-निघण्टु में **'शुष्कं तत् शोथघ्नं'** लिखा है, अन्यथा कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है।

दन्तीत्रिवृत्-त्र्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्ना।
द्विप्रस्थमात्रं तु पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते ॥ २४ ॥
सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं श्यामोरुबूकोषणसाधितं वा।
त्वग्दारुवर्षाभुमहौषधैर्वा गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा ॥ २५ ॥
सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं पयः पिबेद् भोजनवारिवर्जी।
गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा ॥ २६ ॥

वातपित्तज शोथ-चिकित्सा—१. दन्ती (जमालगोटा) की जड़, सफेद निशोथ, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), चित्रकमूल—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) लेकर इनका कल्क बना लें, इसे २ प्रस्थ (१२८ तोला) गाय के दूध में पकायें, जब दूध पकाते-पकाते आधा जल जाये तो इसे छानकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिन भर में कई बार पीने के लिए दें। यह दूध विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकाल देता है। २. अथवा सोंठ, देवदारु इनके क्वाथ से पकाये हुए गाय के दूध का सेवन करें। (शेष विधि-मात्रा आदि पूर्ववत् ही समझें)। ३. अथवा श्यामा (कालीनिशोथ), उरुबूक (रेड़) की जड़, ऊषण (कालीमरिच), इनके क्वाथ से पकाये हुए गाय के दूध का सेवन करें। ४. अथवा दालचीनी, देवदारु, वर्षाभू (पुनर्नवा) की जड़, सोंठ इनके क्वाथ से तैयार किये हुए गाय के दूध का सेवन करें। ५. अथवा गुरुच, सोंठ, दन्तीमूल के क्वाथ से तैयार किये हुए गाय के दूध का सेवन करें। ६. अथवा शोथ का रोगी एक सप्ताह तक भोजन-पानी का परहेज करता हुआ अथवा एक मास तक भोजन-पानी का त्याग करके केवल ऊँटनी का दूध पीये (सात दिन, पन्द्रह दिन या एक मास की अवधि का निर्धारण चिकित्सक रोगी की पाचन-शक्ति तथा शारीरिक शक्ति को देखकर कर लेता है)। ७. अथवा गाय के दूध में गोमूत्र मिलाकर पीने के लिए दें। ८. अथवा भैंस के दूध में गोमूत्र मिलाकर पीने के लिए दें। ९. अथवा केवल गाय के दूध को पीता हुआ बीच-बीच में गोमूत्र का पान भी करता रहे।

तक्रं पिबेद् वा गुरुभिन्नवर्चाः सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं च।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः ॥ २७ ॥

शोथज अतिसार में कर्तव्य—शोथ रोग से पीड़ित व्यक्ति को यदि अतिसार हो रहा हो और मल में भारीपन न हो तो—१. सोंठ, मरिच, पिप्पली, सोंचर नमक—इनके कपड़छन चूर्ण के साथ मधु मिलाकर चाटें तथा अनुपान के रूप में तक्र (मठा) का पान करें। अथवा आमदोष युक्त और विबद्ध (गाँठदार मल से युक्त) अतिसार हो रहा हो तो—२. हरड़ के चूर्ण में गुड़ मिलाकर, ३. अथवा सोंठ के चूर्ण में गुड़ मिलाकर रोगी को खिलाना चाहिए।

वक्तव्य—प्रथम योग की मात्रा—प्रत्येक द्रव्य २-२ माशा, मधु १ तोला, मठा १ पाव। दूसरे तथा तीसरे योग की मात्रा—हरीतकी अथवा सोंठ २-२ माशा, गुड़ १ तोला तथा इसके साथ अनुपान के रूप में गुन-गुना पानी दें।

विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा [1]प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम्।
स्रोतोविबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत् सुजातान् ॥ २८ ॥

शोथज विबन्ध में कर्तव्य—शोथ रोग से पीड़ित व्यक्ति को यदि मल या वायु (अपानवायु) में रुकावट प्रतीत हो तो भोजन करने से पहले एरण्ड (रेंडी के) तेल को दूध में मिलाकर या मांस रसों में मिलाकर पीने को दें। स्रोतों में अवरोध (रुकावट) होने पर, अग्नि और भोजन के प्रति रुचि के नाश हो जाने पर विधिवत् तैयार किये हुए उच्चकोटि के मद्यों अथवा अरिष्टों का पान करे।

वक्तव्य—यह प्रयोग मलशोधक तथा अपानवायु का अनुलोमक है। इसके विधिवत् सेवन करने से अपानवायु की दुर्गन्धि भी दूर हो जाती है।

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च।
द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन द्रोणे पचेत् [2]कूर्चिकमस्तुनस्तु ॥ २९ ॥
त्रिभागशेषं च सुपूतशीतं द्रोणेन तत् प्राकृतमस्तुना च।
सितोपलायाश्च शतेन युक्तं लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीनाम् ॥ ३० ॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात् प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान्।
भगन्दरार्शःक्रिमिकुष्ठमेहान् वैवर्ण्यकार्श्यानिलहिक्कनं च ॥ ३१ ॥
इति गण्डीराद्यरिष्टः।

गण्डीरादि अरिष्ट—गाँडर दूब, शुद्ध भिलावा के बीज, चित्रकमूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, वायविडंग, बृहतीद्वय (वनभंटा, भटकटैया)—इन द्रव्यों को मिलाकर २ प्रस्थ (१२८ तोला) लेकर कल्क बना लें। १ द्रोण (१०२४) कूर्चिका मस्तु में मिलाकर गाय के सूखे हुए गोबर (वनोपल, गोहरी, गोइठा) की अग्नि देकर पाक करें। पकते-पकते जब तीसरा भाग शेष रह जाये तब उसे छानकर रख लें। इस छने हुए द्रव में १ द्रोण प्राकृत मस्तु (केवल दही का पानी) मिला दें और उसमें १०० पल (४०० तोला) मिश्री मिलाकर एक मिट्टी के घड़े को भीतर से चित्रकमूल और पिप्पली इन दोनों को समभाग लेकर इनका कल्क बनाकर उससे लीप कर उसे सुखा दें। जब घड़े के भीतर का वह लेप भली-भाँति सूख जाये तब पहले से तैयार किया हुआ वह द्रव पदार्थ उसमें डालकर उस घड़े का मुख बन्द कर उस घड़े को १० दिन तक खुली जगह में रख दें, अर्थात् उसे ऐसी जगह रखें जिसमें दिन में धूप और हवा लग सके और रात में चन्द्रमा की किरणें भी पड़ सकें। दस दिन के बाद इसे छानकर रख लें। इसका नियमित सेवन करने से शोथ, भगन्दर, अर्श, क्रिमि, कुष्ठ, प्रमेह, शारीरिक विवर्णता, कृशता, वातज हिक्का भी नष्ट हो जाती है।

वक्तव्य—'कूर्चिकाक्षीरविकृतिः' अमरकोष। दूध के विकारों का नाम कूर्चिका है। आयुर्वेद के अनुसार कूर्चिका का परिचय—'दध्ना सह च यत् ,पक्वं क्षीरं सा दधिकूर्चिका'। तक्रेण पक्वं यत् क्षीरं सा भवेत् तक्र-

१. 'प्रागुक्तमद्या' इति पा०।
२. 'काञ्जिकमस्तुनस्तु' इति पा०।

कूर्चिका' ॥ वै० निघण्टु । **मस्तु**—'उक्तं दधि द्विगुणवारियुतन्तु मस्तु' । राजनिघण्टु व० १५ । **कूर्चिका**—गरम किये या सादा दूध में किसी प्रकार का अम्ल मिला देने से दूध फट जाता है । उसमें गाढ़े भाग को 'कूर्चिका' और द्रव भाग को 'कूर्चिकामस्तु' कहते हैं । दूध से दही जमाने पर जो द्रव भाग मिलता है, उसे 'प्राकृतमस्तु' कहते हैं ।

अष्टांगसंग्रह चि० अ० १९।१४ में एक 'भल्लातकारिष्ट' का उल्लेख है । जिसमें प्रायः उक्त 'गण्डीरादि अरिष्ट' के ही द्रव्य हैं और निर्माण-प्रकार भी वैसा ही है, फलश्रुति भी प्रायः समान है, अतः इसे भी देख लें ।

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयाक्ष[1]द्राक्षाफलानां च सपिप्पलीनाम् ।
शतं शतं जीर्णगु[2]डात्तुलां च सङ्क्षुद्य कुम्भे मधुना प्रलिप्ते ॥ ३२ ॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं तु शीते स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्ना ।
शोफान् विबन्धान् कफवातजांश्च निहन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च ॥ ३३ ॥

इत्यष्टशतोऽरिष्टः ।

अष्टशत अरिष्ट—गम्भार का फल, आँवला, कालीमिर्च, हरीतकी, बहेड़ा, मुनक्का, पिप्पली—इन सभी द्रव्यों के फलों को सौ-सौ की संख्या में लें । गम्भार आदि सात द्रव्यों को कूटकर १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में १ तुला (४०० तोला) पुराने गुड़ को मिला दें । तदनन्तर एक मिट्टी के घड़े में जिसके भीतर शहद चुपड़ दिया गया हो, उसमें इन सबको डालकर उस घड़े का मुख बन्द कर ग्रीष्मकाल में एक सप्ताह तक खुली जगह पर सुरक्षित रख दें और यदि इसी अरिष्ट का निर्माण शीतकाल में करना हो तो दूने दिनों (१५ दिनों) तक रखें । उतना समय बीतने के बाद इसे छानकर रख लें । यह 'अष्टशत अरिष्ट' विधिवत् सेवन करने से वातकफजनित शोथों, सभी प्रकार के विबन्धों का नाश कर पाचकाग्नि को तीव्र कर देता है ।

विशेष वक्तव्य—इस अरिष्ट का नाम 'अष्टशत' है । इसका तात्पर्य है, आठ द्रव्यों को सौ-सौ के परिमाण में लेना । वह परिमाण है—**'शतं शतं'** । ये दोनों ही शब्द संख्यावाचक हैं, न कि परिमाणवाचक । यदि हम **'शतं शतं तुलां च'** ऐसा अन्वय करना चाहें, तो शतं शतं के बाद 'जीर्णगुडात्' पद का व्यवधान है, अतः ऐसा अन्वय नहीं हो सकता । अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त सात द्रव्यों में से प्रत्येक के सौ-सौ फल लें; इस प्रकार ये फल सात सौ हो गये और एक सौ पल=१ तुला (४०० तोला) जीर्ण गुड़ को लेकर उक्त अरिष्ट की **'अष्टशत'** प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाती है । इस अर्थ की पुष्टि में निम्नलिखित अन्वय पर ध्यान दें—'सपिप्पलीनां काश्मर्यादीनां फलानां शतं शतं, जीर्णगुडात् तुलां च ।

ऐसे अवसरों पर विद्वान् टीकाकार मौन साध लेते हैं; जो मुखरित हो उठते हैं, वे स्वयं भ्रमित होते हुए दूसरों को भी भ्रान्त कर देते हैं । ऐसा ही हुआ है, उक्त अरिष्ट में वर्णित द्रव्यों के परिमाण वर्णन के अवसर पर । पूर्ववर्ती टीकाकार बिना किसी आधार के गम्भार आदि के फलों का परिमाण सौ-सौ पल निर्धारित कर फिर स्वयं चौंकने लगते हैं—अरे ! इतने में तो १ द्रोण जल कम हो जायगा । ऐसे अवसरों पर आप्त पुरुषों की बुद्धि को अपनी बुद्धि से विशिष्ट मानकर तभी कोई निर्णय लेना चाहिए ।

क्षुद्रगुडात्—श्रीजयदेव ने मूल पाठ में 'क्षुद्रगुडात् पुराणात्' को स्थान दिया है और टिप्पणी में पाठभेद के रूप में 'क्षौद्रगुडात्' पाठ दिया है । अब विचार यह करना है कि शोथ रोग में 'जीर्णगुड़' उपकारी है या 'क्षुद्रजीर्णगुड' । महर्षि आत्रेय ने 'क्षुद्रगुड' का परिचय इस प्रकार दिया है—'क्षुद्रो गुडश्चतुर्भागस्त्रिभागार्धावशेषितः' । रसोगुरुर्यथापूर्वं धौतः स्वल्पमलो गुडः' ॥ च० सू० अ० २७।२३९ तथा सु० सू० अ० ४५।१६१ । **'क्षौद्रगुडात्'**—क्षौद्र (मधु) और गुड़; यह पाठ इसलिए निराधार प्रतीत होता है, कि इसके नामकरण में 'अष्ट' पद को प्रधानता दी गयी है । इसे स्वीकार करने पर उक्त योग में द्रव्यों की संख्या ९ हो जायेगी ।

अरिष्ट—चरक सू० अ० २७ के मद्यवर्ग के १८२वें पद्य में एक बार अरिष्ट शब्द का प्रयोग हुआ है, शेष आसवों का वर्णन आया है । यहाँ अरिष्ट का परिचय श्रीचक्रपाणि ने इस प्रकार दिया है—'अरिष्ट औषधक्वाथमध्वादिसम्पादितो वक्ष्यमाणो दन्त्यभयारिष्टादिः' । इसके अतिरिक्त च० सू० अ० २५।५० में ८४ आसवों का

१. 'क्षुद्राफलानाम्' इति पा० । २. 'क्षुद्रगुडात् पुराणात्तुलां तु' इति पा० ।

निर्देश किया गया है । अन्यत्र—'पक्वौषधाम्बुसिद्धं यन्मद्यं तत्स्यादरिष्टकम्' । भावप्रकाश । 'यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः' ॥ भावप्रकाश । ऐसा लगता है कि पक्वौषध-सिद्ध रस से **अरिष्ट** और अपक्वौषध-सिद्ध रस से **आसव** के निर्माण की यह परिभाषा अर्वाचीन है । सुश्रुत ने इस सम्बन्ध में केवल **'आशुत्वादाशु कर्मकृत्'** कहा है । सु० उ० अ० ४७।५ । इसके पूर्व सुश्रुत ने आसव से अरिष्ट की अधिक प्रशंसा की है—**'अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्काराद्धिको गुणैः'** । सु० सू० अ० ४५।१९४ ।

विशेष—आसव एवं अरिष्ट के नामकरण सम्बन्धी ये परस्पर विभेदक परिभाषाएँ बाद की हैं । चरक तथा सुश्रुत में आसव एवं अरिष्ट के पान का समय तथा विधि वही है, जो मद्यपान की । देखें—च० चि० अ० २४।१०-२७ । यही कारण है कि 'अष्टशत अरिष्ट' में कहीं भी क्वाथ का विधान नहीं किया गया है ।

पुनर्नवे द्वे च बले सपाठे [1]दन्तीं गुडूचीमथ चित्रकं च ।
निदिग्धिकां च त्रिपलानि पक्त्वा द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम् ॥ ३४ ॥
पूत्वा रसं द्वे च गुडात् पुराणात् तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम् ।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं पल्ले यवानां परतस्तु मासात् ॥ ३५ ॥
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं [2]पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः ।
गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धे जीर्णे पिबेद् व्याधिबलं समीक्ष्य ॥ ३६ ॥
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं प्लीहाज्वरारोचकमेहगुल्मान् ।
भगन्दरं षड् जठराणि कासं श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः ॥ ३७ ॥
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च हिक्कां किलासं च हलीमकं च ।
क्षिप्रं जयेद् वर्णबलायुरोजस्तेजोऽन्वितो मांसरसान्नभोजी ॥ ३८ ॥

इति पुनर्नवाद्यरिष्टः ।

पुनर्नवादि अरिष्ट—दोनों पुनर्नवा (१. श्वेत, २. रक्त), बलाद्वय (१. बला, अतिबला), पाठा, दन्तीमूल (जमालगोटा की जड़), पाठभेद के अनुसार—अड़ूसा, गिलोय, चित्रकमूल, छोटी कटेरी-प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल (१२-१२ तोला) लेकर जौकुट चूर्ण करके ४ द्रोण (४०९६ तोला) जल में डालकर क्वाथ करें, जब १ द्रोण (१०२४ तोला) जल शेष रह जाये तब उसे छानकर रख लें, उसमें पुराना गुड़ २ तुला (८०० तोला) डाल दें, शीतल हो जाने पर १ प्रस्थ (६४ तोला) मधु मिलाकर भीतर से घी चुपड़े हुए पात्र (घड़े) में उसे भर कर घड़े का मुख बन्द करके एक मास तक रख दें । उसके बाद उस घड़े में तेजपत्ता, दालचीनी, इलायची के बीज, कालीमिर्च, सुगन्धबाला, अगर (पाठभेद के अनुसार—अगर के स्थान पर नागकेसर) इनको आधा-आधा पल अर्थात् २-२ तोला लेकर कपड़छन चूर्ण कर मिला दें, तदनन्तर उस घड़े का मुख बन्द करके जौ के पल्ल=धान्यागार (Lagre granary) में दबा कर पुनः एक मास तक रख दें । तत्पश्चात् स्वाभाविक गन्ध से सम्पन्न उस अरिष्ट को छानकर सुरक्षित कर लें । रोगी द्वारा पथ्य रूप में सेवन किये हुए मधु-घृत के पच जाने पर रोग की शक्ति को देखकर मात्रा का निर्धारण कर इस अरिष्ट का प्रयोग करें । इसके सेवनकाल में मांस रस के साथ भोजन करना चाहिए । यह अरिष्ट हृदयरोग, पाण्डुरोग, बढ़ा हुआ शोथ रोग, प्लीहा रोग, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, छः प्रकार के उदर रोग, कास, श्वास, ग्रहणी रोग, कुष्ठ, कण्डू, शाखागत (हाथ-पैरों में होने वाला) वातविकार, कोष्ठबद्धता, हिक्का, किलास (सफेद कोढ़), हलीमक—इन रोगों को शीघ्र ही जीत लेता है, अर्थात् इसके सेवन करने से उक्त सभी रोग पराजित हो जाते हैं और इसका सेवन करने वाला पुरुष उक्त प्रकार के सभी रोगों से मुक्त होकर वर्ण, बल, आयु, ओजस् तथा तेज से सम्पन्न हो जाता है ।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में **'क्षौद्रघृतप्रदिग्धे'** पाठ है और श्रीजयदेव ने **'क्षौद्रघृतप्रदिग्धं'** पाठ को स्वीकार किया है, किन्तु इस पद्यांश का सम्बन्ध किससे है, पूर्ववर्ती किसी टीकाकार ने स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी, प्रायः टीका-ग्रन्थों में यह अभाव देखने को मिलता ही है, और **'मक्षिकास्थाने मक्षिका'** वाली

१. 'वासाम्' इति पा० ।
२. 'हेमत्वगेलामरिचाम्बुपत्रः' इति पा० ।

प्रवृत्ति भी देखी जाती है, इसके कारण वास्तविक भाव प्रकाश में नहीं आ पाते, अपितु उनका अभाव हो जाता है। अब हम पूर्ववर्ती टीकाकारों के विचारों को प्रस्तुत कर निष्कर्ष के रूप में अपनी भावना को प्रकट करेंगे।

पहला मत—तेजपत्ता आदि द्रव्यों को प्रक्षेप के रूप में डालकर पुनः उस अरिष्ट में गन्ध द्रव्य डालकर मिट्टी के दूसरे पात्र के भीतर मधु और घृत का लेप कर उसे डाल दें और एक सप्ताह तक उसी में रहने दें; जब कि दूसरे पात्र में डालने और सात दिनों तक रखने का तन्त्रकार की ओर से शब्दतः कोई निर्देश नहीं है।

दूसरा मत—इसके समर्थकों का कथन है कि तेजपत्ता आदि छः द्रव्यों को डालने के कारण जब उक्त अरिष्ट अपनी स्वाभाविक गन्ध से युक्त हो जाये तब उसका यथाविधि सेवन करना चाहिए। जैसे प्रथम मत के समर्थकों ने कुछ विषय अपनी ओर से जोड़ दिया था, उसी प्रकार इस मत को मानने वालों ने **'क्षौद्रघृत-प्रदिग्धे'** इस पद्यांश का अर्थ करना ही छोड़ दिया। यह योग भैषज्यरत्नावली, शोथ-प्रकरण में भी उद्धृत है, वहाँ भी इस अंश की टीका नहीं की गयी है।

गन्धान्वितम्—'गन्धद्रव्यैः अन्वितं' अर्थात् गन्धद्रव्यों से युक्त पहला पक्ष ऐसा अर्थ करता है और दूसरा पक्ष कहता है—'स्वाभाविकेन अरिष्टगन्धेन अन्वितं' अर्थात् आसव-अरिष्टों के तैयार हो जाने पर उनमें से एक स्वाभाविक गन्ध आती है, उससे युक्त अरिष्ट का सेवन करें। इस पर कुछ विद्वानों का कहना है, कि जब स्वाभाविक गन्ध आती ही है, तो फिर **'गन्धान्वितम्'** इस पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होगा, क्योंकि इस लक्षण से अरिष्ट के परिपाक की सूचना प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अन्यत्र भी आपको ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। दूसरे पक्ष का विवेचन अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि किसी प्रकार के भी सुगन्धित द्रव्य को डालकर घड़े का मुख बन्द करके रख देंगे तो सुगन्धित द्रव्य की गन्ध समाप्त हो ही जायेगी। चक्रदत्त में कहे गये गन्धद्रव्यों को अलग से डालने की कोई आवश्यकता भी नहीं है और न तन्त्रकार का ही कोई संकेत है, जिनकी आवश्यकता थी उनका उल्लेख ऊपर श्लोक ३६ के प्रथम पाद के उत्तरार्ध में किया ही गया है।

क्षौद्रघृतप्रदिग्धे—हमारे विचार से 'गन्धान्वितम्' का अर्थ, अरिष्ट का स्वाभाविक गन्ध से युक्त होना ही है और प्रस्तुत पद्यांश का सदुपयोग इसी प्रकार किया जा सकता है। कौन जाने तन्त्रकार का भी यही अभिप्राय रहा हो, आप भी ध्यान दें! शोथ रोग में पथ्य का वर्णन करते हुए श्रीगोविन्ददास कहते हैं—**'कूर्मोऽपि शृङ्गी प्रपुराणसर्पिस्तक्रं सुरामाक्षिकमासवञ्च'**। देखें—भैषज्यरत्नावली, शोथाधिकार श्लोक—२०३-२०८। इसमें पुराणसर्पि माक्षिक (मधु) पथ्य पदार्थ के रूप में कहे गये हैं। इन्हीं क्षौद्र (मधु), घृत (पुराणघृत) का जिस शोथ रोगी ने सेवन किया है, उसके **'जीर्णे'**=पच जाने पर **'व्याधिबलं समीक्ष्य अरिष्टं पिबेत्'** इस वाक्य का अन्वय लग जायेगा। मात्रा—१ से २ तोला तक।

'लौह' का पर्याय 'अगरु' होता है, किन्तु जिन्होंने इसके स्थान पर 'हेम' पाठ स्वीकार किया है, उनके मत से यहाँ 'नागकेसर' का प्रयोग होना चाहिए। भैषज्यरत्नावली में 'लौह' के स्थान पर 'हेम' को ही आदर दिया है, कहीं ऐसा तो नहीं है—**'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'**। सूक्ति। जो भी हो, आयुर्वेद में तो ऐसा प्रयोग स्वीकार नहीं किया जा सकता।

फलत्रिकं दीप्यकचित्रकौ च सपिप्पलीलोहरजो विडङ्गम्।
चूर्णीकृतं कौडविकं द्विरंशं क्षौद्रं पुराणस्य तुलां गुडस्य ॥ ३९ ॥
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं यवेषु तानेव निहन्ति रोगान्।
ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च प्रोक्ता हिताः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः ॥ ४० ॥

इति त्रिफलाद्यरिष्टः।

त्रिफलादि अरिष्ट—फलत्रिक (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दीप्यक (अजवाइन), चित्रकमूल, पिप्पली, लोहरज, वायविडंग—इन सबको १-१ कुडव (१६-१६ तोला) परिमाण में लेकर चूर्ण कर लें, मधु २ कुडव (३२ तोला), पुराना गुड़ १ तुला (४०० तोला)—भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में इन सब द्रव्यों को डाल दें (इसमें जल का प्रमाण नहीं है, अतः सामान्य परिभाषा के अनुसार १ तुला गुड़ में १२ सेर १२ छटाँक ४ तोला पानी डालना चाहिए) तदनन्तर घड़े का मुख बन्द करके जौ के धान्यागार में ढँककर एक मास तक रख दें, बाद में छानकर विधिवत् प्रयोग करें। इसका प्रयोग भी पुनर्नवाद्यरिष्ट की भाँति ही करना चाहिए।

यह अरिष्ट भी उन रोगों का विनाश करता है, जिनका उल्लेख पुनर्नवाद्यरिष्ट के योग में कहा गया है। इसके अतिरिक्त अर्श और पाण्डुरोग में जो-जो अरिष्ट लाभदायक कहे गये हैं, वे सभी अरिष्ट शोथ रोगियों के लिए हितकर होते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में इसका नाम 'त्रिफलाद्यरिष्ट' दिया है। अन्यत्र इसे 'फलत्रिकाद्यरिष्ट' संज्ञा दी गयी है। यद्यपि दोनों नामों से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता, परन्तु फलत्रिक शब्द से विषय का आरम्भ होने के कारण इसका नाम 'फलत्रिकाद्यरिष्ट' ही होना चाहिए।

विशेष विचार—यहाँ जिस क्रम में लोहरज की गणना की है वे सब काष्ठौषधियाँ हैं। उनका सार भाग जल में जाने पर शेष भाग छानकर निकाल देते हैं। यदि इसमें हम लौहभस्म को डालेंगे तो वह प्रमाण में अधिक हो जायेगा, अतः यहाँ शुद्ध किया हुआ लौहचूर्ण ही डालना चाहिए। बाद में अन्य द्रव्यों के साथ इसे भी सुखाकर आग लगाकर प्राप्त कर लिया जाता है। काशीस्थ श्रीअर्जुन आयुर्वेद महाविद्यालय की रसायनशाला में लौहभस्म का निर्माण इस प्रकार किया जाता रहा है—लौहचूर्ण को पर्याप्त मात्रा में लेकर पत्थर आदि की खुली नाद में रख दिया जाता था, उसमें त्रिफला का क्वाथ, गोमूत्र, जामुन के फलों का रस या जामुन की छाल का क्वाथ समय-समय पर डालते रहते थे और बीच-बीच में उसे चला दिया जाता था। इस प्रकार 'भानुपाक' विधि से लौहभस्म तैयार हो जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर इसी में से आसव, अरिष्ट में भी लौहचूर्ण उतनी मात्रा में निकालकर डाल दिया जाता था। बाद में आसव, अरिष्ट तैयार हो जाने पर तल भाग में स्थित उस लौहचूर्ण को लेकर पुनः उसी लौह समूह में मिला दिया जाता था। हमारे विचार से तन्त्रकार को यहाँ भी उक्त विधि अभीष्ट है ऐसा प्रतीत होता है, नहीं तो लोहरज का स्वतन्त्र मात्रा के साथ पृथक् पाठ किया गया होता।

कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च निदिग्धिका चित्रकनागरे च।
सपिप्पलीमूलरजन्यजाजीमुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम् ॥ ४१ ॥
हन्यात् त्रिदोषं चिरजं च शोफं कल्कश्च भूनिम्बमहौषधस्य।
अयोरजस्त्र्यूषणयावकशूकचूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन ॥ ४२ ॥

कृष्णादिचूर्ण—१. पिप्पली, पाठा, गजपिप्पली, छोटी कटेरी, चित्रकमूल, सोंठ, पिप्पलामूल, हल्दी, जीरा, मोथा—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इनके कपड़छन चूर्ण को मिलाकर रख लें। इस चूर्ण को २ माशा की मात्रा में गुनगुने जल के साथ सेवन करें, इससे त्रिदोषजनित शोथ तथा चिरकाल जनित शोथ का विनाश होता है। २. भूनिम्ब (चिरायता) तथा सोंठ इन दोनों के समभाग कल्क का भी उपर्युक्त प्रकार से सेवन करने पर त्रिदोषज शोथ एवं चिरकालज शोथ का विनाश होता है। ३. लौहभस्म, सोंठ, मरिच, पीपल, जवाखार इन सबको समभाग लेकर चूर्ण कर लें। मात्रा—१ माशा। अनुपान—त्रिफलाक्वाथ। फलश्रुति—यह चूर्ण त्रिदोषज तथा चिरकालज शोथ का नाश करता है।

वक्तव्य—यहाँ त्रिदोषज का अर्थ है—वातज, पित्तज अथवा कफज शोथों का यह चूर्ण नाश करता है, न कि सन्निपातज शोथ का, क्योंकि वह तो असाध्य कहा गया है।

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वार्ययोरजो व्योषफलत्रिके च।
सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम् ॥ ४३ ॥
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे यष्ट्याह्वयं सातिविषं पलांशम्।
सहिङ्गुकर्षं त्वणुशुष्कचूर्णं द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम् ॥ ४४ ॥
स्याद् भस्मनस्तत् सलिलेन साध्यमालोड्य यावद्घनमप्रदग्धम्।
स्त्यानं ततः कोलसमां तु मात्रां कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुञ्ज्यात् ॥ ४५ ॥
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शःपाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान्।
विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः ॥ ४६ ॥

इति क्षारगुडिका।

क्षारगुडिका—दोनों क्षार (यवक्षार, सज्जीखार), चारों नमक (सोंचर, सैंधा, विड तथा सांभर), लौहभस्म, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पलामूल, वायविडंग, नागरमोथा, अजवाइन, देवदारु, बेर की गुद्दी, इन्द्रजौ, चित्रकमूल, पाठा, मुलेठी, अतीस—इन सभी द्रव्यों को १ पल (४ तोला) की मात्रा में लेकर सुखाकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में १ कर्ष (१ तोला) घी में भुनी हुई हींग का चूर्ण मिला लें। तदनन्तर १ द्रोण सूखी मूली के क्षार को आठ गुने जल में घोलकर छान लें, तत्पश्चात् उस क्षारीय जल में उक्त तैयार किये हुए चूर्ण को मिलाकर मन्द अग्नि पर उसका पाक करें। पकते-पकते जब वह गोली बनाने योग्य गाढ़ा हो जाये तब इसे उतार लें; तदनन्तर बेर की आकृति की गोलियाँ बनाकर भली-भाँति सुखाकर रख लें और इनका विधिपूर्वक उपयोग कराना चाहिए। इसके सेवन से प्लीहा, उदररोग, श्वेतकुष्ठ, हलीमक, अर्शरोग, पाण्डुरोग, अरोचक, शोष, शोथ, विसूचिका, गुल्म, गरदोष, अश्मरी, श्वास, कास तथा कुष्ठरोग का नाश होता है।

वक्तव्य—'चत्वारि लवणानि' इस सम्बन्ध में श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में संकेत किया है—'चत्वारि लवणानि सामुद्रवर्जं दीर्घञ्जीवितीयोक्तानि'। वे चार लवण इस प्रकार हैं—सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च'। च० सू० अ० १।८८। और भी—'सैन्धवं लवणानाम्'। च० सू० अ० २५।३८। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए चक्रदत्त-शोथचिकित्सा-प्रकरण के श्लोक २८ में कहा गया है—'सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च। चतुर्लवणमत्र स्याज्जलमष्टगुणं भवेत्' ॥

मूलकशुण्ठकानाम्—मूलक के साथ जुड़े हुए इस 'शुण्ठक' शब्द का अर्थ है—'शुष्क'। देखें—शुण्ठ= To become dry. V. S. Apte. यहाँ शुण्ठ शब्द के साथ जुड़ा हुआ 'क' प्रत्यय स्वार्थ में प्रयुक्त है। यहाँ 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) सूत्र से समास हुआ है। अन्यत्र विशेषण पहले रहता है और विशेष्य बाद में।

सलिलेन साध्यम्—मूलकक्षार के पानी से उस गुटिका को तैयार करें। यहाँ जल का प्रमाण नहीं दिया गया है। इसके लिए चौगुना, छः गुना तथा आठ गुना जल का प्रयोग टीकाकारों ने किया है। चक्रदत्त-शोथचिकित्सा के २८वें पद्य में ८ गुना जल के प्रयोग की चर्चा की गयी है। अब हम सुश्रुतोक्त क्षार-निर्माण विधि का भी आश्रय ले रहे हैं—सु० सू० अ० ११।११ में मृदु, मध्य, तीक्ष्ण भेद से तीन प्रकार के क्षारों का वर्णन तथा किन-किन द्रव्यों से क्षार का निर्माण किया जाता है, यह सब विषय विस्तारपूर्वक दिया है। यहाँ **'क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्य'** कहकर छः गुना जल डालने का विधान किया गया है और २१ बार छानकर उसके पाक करने का आदेश दिया है।

कोलसमां तु मात्रां—एक 'कोल' शब्द बेर नामक फल का पर्याय है। यह झड़बेर (जंगली बेर) तथा कलमी बेर-भेद से दो प्रकार का होता है। अतः गुटिका (गोली) किस आकार की बनेगी? यह प्रश्न उठता है। यदि हम परिमाणवाचक 'कोल' शब्द को लेते हैं, जिसका परिमाण आधा तोला होता है, यथा—**'कोलद्वयं च कर्षः स्यात्'** (शा० सं० पू० खं० अ० १।२१) तो भी यह मात्रा सर्वसाधारण के लिए अधिक ही जाती है। अतः आधुनिक दृष्टि से इसकी सामान्य मात्रा २ माशा से ६ माशा तक निर्धारित की जा सकती है।

प्रयोजयेदार्द्रकनागरं वा तुल्यं गुडेनार्धपलाभिवृद्ध्या।
मात्रा परं पञ्चपलानि मासं जीर्णे पयो यूषरसाश्च भक्तम्॥ ४७॥
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहाञ् श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान्।
सकामलाशोषमनोविकारान् कासं कफं चैव जयेत् प्रयोगः॥ ४८॥

गुडार्द्रक प्रयोग—अथवा ताजा (जो सूखा न हो) अदरख का कल्क बराबर के गुड़ के साथ मिलाकर आधा पल (२ तोला अर्थात् १ तोला अदरख और १ तोला गुड़) की मात्रा से पहले दिन दें। इसके बाद प्रतिदिन आधे-आधे पल की मात्रा में बढ़ाते जायें, इस प्रकार जब पाँच पल (२० तोला) की मात्रा हो जाये तो उसके आगे इसी मात्रा को एक मास तक चलायें, जब यह मात्रा पच जाये तब दूध, दालों के जूस, मांस रस के साथ अन्न का सेवन कराना चाहिए। इसके सेवन से गुल्म, उदर रोग, अर्श, शोथ, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक (गुम हैजा), अविपाक (भोजन का यथावत् न पचना), कामला, शोष, मनोविकार (मानसिक रोग) कास तथा कफवृद्धि का नाश करता है।

वक्तव्य—हमारी टीका को देखने के बाद जब आप अन्य टीकाकारों के विचारों को देखेंगे तो आप भ्रान्त होने लगेंगे, अतः आप तन्त्रकार के **'मात्रा परं पञ्च पलानि'** इस उपर्युक्त वाक्य को प्रमाण मानकर चलें। अर्थात् इसकी सबसे बड़ी प्रयोज्य मात्रा उस समय ४ पल (२० तोला) और पहले दिन की मात्रा गुड़ तथा अदरख का कल्क मिलाकर आधा पल (२ तोला) रही होगी। अतएव तन्त्रकार ने **'तुल्यं'** शब्द का प्रयोग किया है—दोनों द्रव्यों को तौल कर लें। इस प्रकार प्रतिदिन २-२ तोला बढ़ाने पर १०वें दिन 'गुडार्द्रक' की मात्रा ५ पल (२० तोला) हो जायेगी, जो इसकी सर्वोच्च मात्रा है। ध्यान रहे, इस २० तोला में १० तोला गुड़ है और १० तोला अदरख; इसी के बारे में थोड़ा सोचना भी है। गुड़ तो खाने वाले खाते ही हैं। श्रीचक्रपाणि ने विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से जो टिप्पणी दी है, उसे देखें—'आर्द्रकनागरमिति अशुष्कनागरम्, अर्धपलादारभ्य प्रतिदिनमर्धपलवृद्ध्या दशभिर्दिनैः पञ्चपलं भवति; ततस्तु पञ्चपलस्य यावन्मासमुपयोगः'। इससे भी यही सिद्ध होता है कि १०वें दिन १० तोला अदरख और १० तोला गुड़ लेना चाहिए। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह मात्रा एक बार में न खाकर दिन भर में कई बार में खायी जा सकती है, इसके बावजूद भी आज यह मात्रा अत्यधिक है। यदि हम इसे २ माशा से बढ़ाकर २० माशा तक ले जायें, तो काम चलाया जा सकता है।

आचार्य चक्रपाणिदत्त ने 'चक्रदत्त' नामक ग्रन्थ के शोथचिकित्सा-प्रकरण के १६-१७वें श्लोक में उक्त योग के अनेक विकल्प उपस्थित करते हुए पर्याप्त आधुनिक होते हुए भी १ तोला (आधा तोला अदरख और आधा तोला गुड़) से आरम्भ कर १२ तोला तक सेवन करने का आदेश दिया है—'गुडार्द्रकं वा गुडनागरं वा गुडाभयां वा गुडपिप्पलीं वा। कर्षाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाणं खादेन्नरः पक्षमथापि मासम्' ॥

रसस्तथैवार्द्रकनागरस्य पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्।
जतवश्मजं च त्रिफलारसेन हन्यात् त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य॥ ४९॥

इति शिलाजतुप्रयोगः।

शिलाजतु-प्रयोग—उसी प्रकार ताजे अदरख का रस पीना चाहिए और जब वह पच जाये तो दूध के साथ अन्न खाना चाहिए। त्रिफला के क्वाथ के साथ सेवन किया गया शिलाजतु त्रिदोषज शोथ को बलपूर्वक नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—ऊपर जिस प्रकार 'गुडार्द्रक' प्रयोग को अर्धपल की वृद्धि के क्रम से लेने का निर्देश किया है और ५ पल की मात्रा तक बढ़ाते रहने का विधान है, उसी प्रकार यहाँ केवल अदरख के रस का सेवन करने की बात कही गयी है। ध्यान दें—आधा पल अदरख से आधा पल अदरख का रस अधिक तीव्र होता है, क्योंकि—'ये गुणाः कथिताः शुण्ठ्यास्तेऽपि सन्त्यार्द्रकेऽखिलाः' ॥ भा० प्र० पू० खं० अ० ५।४९। अदरख में वे सभी गुण होते हैं, जो सोंठ में पाये जाते हैं, अतः अदरख भी उष्णवीर्य होता है। इसलिए उक्त मात्रा में आजकल प्रयोग कराना उचित नहीं है। अतः आर्द्रक स्वरस की मात्रा २ माशा से प्रारम्भ करनी चाहिए। शिलाजतु का प्रयोग रोगों का हठात् विनाश करता है, ऐसा विचार शास्त्रकारों के मन में बैठा है। अतएव 'प्रसह्य' शब्द का इसके साथ प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी देखें—'न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपो शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य'।

द्विपञ्चमूलस्य पचेत् कषाये कंसेऽभयानां च शतं गुडस्य।
लेहे सुसिद्धेऽथ विनीय चूर्णं व्योषं त्रिसौगन्ध्यमुपस्थिते च॥ ५०॥
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते किञ्चिच्च चूर्णादपि यावशूकात्।
एकाभयां प्राश्य ततश्च लेहाच्छुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम्॥ ५१॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्मप्लीहत्रिदोषोदरपाण्डुरोगान्।
कार्श्यामवातावसृगम्लपित्तवैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान्॥ ५२॥

इति कंसहरीतकी।

कंसहरीतकी—दोनों पञ्चमूल (१. बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढ़ल की छाल और अरनी की छाल। २. शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=भटकटैया, कण्टकारिका=कटेरी और गोखरू)

१. 'शिलाह्वयम्' इति पा०।

के सभी द्रव्यों को लेकर यथाविधि उनका क्वाथ करे, यह क्वाथ जब १ कंस (१ कंसपात्र=१ आढक=२५६ तोला) रह जाये तब उस क्वाथ में १०० सुपुष्ट हरीतकियों को एक वस्त्र में ढीला बाँधकर डाल दें, जब मालूम हो कि उन हरीतकियों में से गुठलियाँ आसानी से निकाली जा सकती हैं तो उस पोटली को बाहर निकाल कर प्रत्येक की गुठली निकाल कर पुनः उसी क्वाथ में डाल दें और उसी में १ तुला (४०० तोला) गुड़ मिला दें। इस प्रकार जब वह लेह भली-भाँति तैयार हो गया है, ऐसा मालूम पड़े तो इसे आँच से उतार दें और उसमें सोंठ, मरिच, पिप्पली का चूर्ण ४ पल, त्रिसुगन्धि (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्ता) इनका कपड़छन किया हुआ चूर्ण २ पल डालकर उसमें मिला लें, शीतल होने पर आधा प्रस्थ (३२ तोला) मधु मिला दें, इसी में २ तोला यवक्षार का चूर्ण मिला दें। यह कंसहरीतकी तैयार है, इसे सुरक्षित रख ले।

इसमें से १ हरीतकी और १ शुक्ति (=आधा पल=२ तोला) परिमाण में उसके अवलेह को चाटकर खाने से यह बढ़े हुए शोथ का नाश करती है तथा श्वासरोग, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, त्रिदोषज उदररोग, पाण्डुरोग, कृशता, आमवात, रक्तपित्त, अम्लपित्त, विवर्णता, मूत्र सम्बन्धी विकार, वातविकार एवं शुक्रदोषों को दूर करती है।

वक्तव्य—भैषज्यरत्नावली में दी गयी 'दशमूलहरीतकी' के कुछ द्रव्यों तथा पाठों में परिवर्तन कर यह 'कंसहरीतकी' है। भैषज्यरत्नावली में दिया पाठ 'जतूकर्णसंहिता' का है। इसमें गुड़ का मान १ तुला है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के मान भी स्पष्ट दिये हैं। ये स्वयं कहते हैं—**'कंसहरीतकी चैषा चरके पठ्यतेऽन्यथा'**। श्रीजज्जट के अनुसार यवक्षार का चूर्ण आधा पल लेना चाहिए। श्रीगोविन्ददास के अनुसार त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का चूर्ण तथा जवाखार इन सब को मिलाकर ४ पल अर्थात् उक्त चारों द्रव्यों को १-१ पल लेना चाहिए और त्रिसुगन्धि का प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) लेना चाहिए।

आचार्य वृन्द ने उक्त योग के ५१वें पद्य में प्रयुक्त 'किञ्चित्' शब्द का अर्थ 'कर्ष' किया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। देखें—'किञ्चिच्च कर्षपर्यायः शुक्तिरर्धपलं तथा'। इसके समर्थन में देखें—'अक्षं पिचुः पाणितलं किञ्चित् पाणिश्च तिन्दुकम्'। शा० सं० पू० खं० अ० १।२२। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने शोथचिकित्सा-प्रकरण में पहले **'दशमूलहरीतकी'** योग दिया है। जिसका स्वरूप द्रव्य आदि प्रायः अगले योग से मिलते हैं। दूसरा योग है—**'कंसहरीतकी'** इसका पाठ सर्वथा चरकोक्त है। श्रीचक्रपाणि ने 'कंसहरीतकी' को अवलेह स्वीकार कर अगस्त्यहरीतकी, च्यवनप्राश आदि अवलेहों के निर्माण-प्रकार तथा यहाँ अस्पष्ट द्रव्यों के मानों का उन-उन प्रकरणों से अनुकरण करने की चर्चा की है।

पटोलमूलामरदारुदन्तीत्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः ।
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी ॥ ५३ ॥
कर्षोन्मितैस्तैः क्वथितः कषायो घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः ।
वीसर्पदाहज्वरसन्निपाततृष्णाविषाणि श्वयथुं च हन्ति ॥ ५४ ॥

पटोलमूलादिक्वाथ—परवल की जड़, देवदारु, दन्तीमूल, त्रायमाणा, पिप्पली, हरीतकी, इन्द्रायण की जड़, मुलेठी, कुटकी, लालचन्दन, निचुल (हिज्जल) के बीज, दारुहल्दी—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) लेकर जौकुट करके आठ गुना जल डालकर इनका क्वाथ करें, चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर रख लें। उसमें १ कुडव (१६ तोला) गाय का घी मिलाकर पीना चाहिए। इसका सेवन करने से वीसर्प, दाह, ज्वर, सन्निपात, तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), विष तथा शोथ का नाश होता है।

वक्तव्य—चिकित्सक क्वाथ का निर्माण आवश्यकतानुसार करते-कराते हैं। इसमें जल का परिमाण कब कितना होना चाहिए, इस सम्बन्ध में शास्त्रकार की आज्ञा है। **सामान्य परिभाषा**—'पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम्' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१।

आचार्य भावमिश्र इस प्रकार की परिभाषा देते हैं—'कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत्' ॥ चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं जलम्' ॥ भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ५।५५। आजकल की दृष्टि से ये सभी मान अत्यधिक हैं। अतः रोगी की शारीरिक स्थिति का विचार कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। सामान्य मात्रा—क्वाथ १ छटांक, घी १ तोला।

[1]सचित्रकं धान्ययवान्यजाजीसौवर्चलं व्यूषणवेतसाम्लम् ।
बिल्वात् फलं दाडिमयावशूकौ सपिप्पलीमूलमथापि चव्यम् ॥ ५५ ॥
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाढकेन पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात् ।
अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं निहन्ति वह्निं च करोति दीप्तम् ॥ ५६ ॥

चित्रकादि घृत—चित्रकमूल, धनियाँ, अजवाइन, जीरा, सोंचरलवण, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), अम्लवेत, बेल की गुद्दी, दाड़िम के बीज (यह आकार में अनार से छोटा तथा स्वाद में खट्टा होता है), जवाखार, पीपलामूल, चव्य—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) प्रमाण में लेकर पीसकर कल्क तैयार कर लें, १ आढक (२५६ तोला) जल के साथ १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का यथाविधि पाक करें। इस चित्रकादि घृत का विधिपूर्वक सेवन करने से अर्श (बवासीर), गुल्म, शोथ, मूत्रकृच्छ्र (पेशाब का कष्ट के साथ आना) ये रोग नष्ट हो जाते हैं और रोग के कारण मन्द हुई अग्नि पुनः प्रदीप्त हो जाती है।

वक्तव्य—'सचित्रकं' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को बदल कर नया पाठभेद दिया है। योग का निर्माण करते समय उन द्रव्यों पर ध्यान देना चाहिए कि जिस रोगी के लिए इसका निर्माण कराया जा रहा है, उसके हित में कौन से द्रव्य होंगे। आगे—'बिल्वात् पलं' ऐसा पाठ जो स्वीकार करते हैं, उनके मत से बेल की गुद्दी १ पल लेनी चाहिए, शेष द्रव्य १-१ तोला। इस प्रसंग में अष्टांगसंग्रह चि० अ० १९ के ५वें गद्य का आशय भी अवलोकनीय है।

पिबेद् घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम् ।
कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं तिक्तं महद्वाऽप्यथ तिक्तकं वा ॥ ५७ ॥

द्वितीय चित्रकादि घृत—अथवा चित्रकमूल तथा जवाखार का कल्क ४ पल (१६ तोला), गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), जल ८ प्रस्थ (५१२ तोला)—इन सबको एक में मिलाकर विधिपूर्वक घृत का पाक करें। इस उदारवीर्य (महाशक्तिशाली) घृत का रोगी पान करे। **अन्य घृत-निर्देश**—अथवा उन्माद-प्रकरण (च० चि० अ० ९।३३-४२) में निर्दिष्ट कल्याणक घृत, अपस्मार-प्रकरण (च० चि० अ० १०।१४-१६) में कहे गये पञ्चगव्यघृत, कुष्ठ-प्रकरण (च० चि० अ० ७।१४४-१५०) में लिखित तिक्तक अथवा महातिक्तक घृत का सेवन करना चाहिए। (इसका सेवन करने से भी ऊपर श्लोक ५६ में कहे गये सभी रोगों का नाश होता है और पाचकाग्नि की वृद्धि होती है।

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते दध्यागतं साधु विमथ्य तेन ।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम् ॥ ५८ ॥
[2]अर्शोऽतिसारानिलगुल्ममेहांश्चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च ।
तक्रेण चाद्यात् सघृतेन तेन भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ॥ ५९ ॥

इति चित्रकघृतम् ।

चित्रकघृत—मिट्टी के एक घड़े के भीतर चित्रकमूल के कल्क का मोटा लेप करके उसे सुखा दें, तदनन्तर उसमें गाय का दूध डालकर उसे जमा दें, जब दही के रूप में वह दूध बदल जाये तब उसे मथकर उसमें से घी निकाल लें। इस घी को पुनः चित्रकमूल कल्क तथा तक्र (मठा) के योग से यथाविधि पकावें, तैयार होने पर इसे छानकर रख लें। यह चित्रकघृत अर्श, अतिसार, वातज गुल्म तथा प्रमेहों का नाश करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है। इसी घी तथा मठा के साथ अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए अथवा मठा डालकर पकायी गयी यवागू (पतली खिचड़ी) का सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—स्मर्तव्य है, आज भी पर्वतीय क्षेत्रों (अल्मोड़ा, नैनीताल आदि) के चिकित्सक शोथ रोगी को तक्रसिद्ध यवागू (छँसियजौल) का सेवन कराते हैं। यह सुपाच्य एवं अग्निदीपक होता है। सामान्य स्थिति में भी यह वहाँ के लोगों का प्रिय भोजन है।

---

१. 'यवानिकाचित्रकधान्यपाठाः सद्राव्यकत्र्यूषणवेतसाम्लाः' इति पा०।
२. 'अर्शांसि सामानिलगुल्ममेहांस्तद्धन्ति दीप्तं च करोति वह्निम्' इति पा०।

जीवन्त्यजाजीशटिपुष्कराह्वैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः ।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा ॥ ६० ॥
अर्शोऽतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः ।

जीवन्त्यादि यवागू—जीवन्ती, जीरा, कचूर, पुष्करमूल, कारवी (कालाजीरा=मँगरैला), चित्रकमूल, बेल की गुद्दी, जवाखार—इन सभी द्रव्यों को अलग-अलग बदर (बेर=कोल=आधा तोला) लेकर इनको जौकुट करके यथाविधि इनका क्वाथ करें। इसे तैयार होने पर छान लें और इस क्वाथ जल से बराबर यवागू को पकायें। इस यवागू में घी-तेल बराबर मात्रा में मिलाकर छौंक लगायें। इसे वृक्षाम्ल (विषांविल) के रस से खट्टा करके रोगी को खाने को दें। इसके सेवन मे अर्श, अतिसार, वातगुल्म, शोथ तथा हृदयरोगों का नाश होता है। यह अग्निवर्धक है।

या [1]पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् सा च समा तयैव ॥ ६१ ॥

पञ्चकोल यवागू—उपर्युक्त जीवन्त्यादि यवागू की विधि से तैयार की गयी यह यवागू उसी के समान गुणों वाली होती है। इसमें पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल और सोंठ—ये पाँच द्रव्य कोल (आधा तोला) परिमाण में लिये जाते हैं, अतएव इसे 'पञ्चकोल' कहते हैं। इसका प्रयोग भी उक्त सभी रोगों में किया जाता है।

वक्तव्य—'पञ्चकोल' के स्थान पर कहीं 'पञ्चमूल' पाठ उपलब्ध है। इस द्वितीय पाठभेद के पक्षपाती चिकित्सक स्वयं निर्णय करें कि यहाँ वे किस 'पञ्चमूल' का ग्रहण करेंगे। सु० सू० अ० ३८।६६-७७ तक पाँच पञ्चमूलों का वर्णन है। **पञ्चकोल द्रव्य**—'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। 'पञ्चभिः कोलमात्रं तत् पञ्चकोलं तदुच्यते' ॥ भावप्रकाश, चक्रदत्त तथा सिद्धयोगसंग्रह।

कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सत्र्यूषणयावशूकः ।
रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकानाम् ॥ ६२ ॥
सुवर्चला गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम् ।
शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः ॥ ६३ ॥

शोथ रोग में पथ्य—पिप्पली के कल्क से तैयार किया हुआ कुलथी का यूष, सोंठ मरिच, पिप्पली, जवाखार का चूर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ मूंग का यूष, विष्किर (चोंच या पैर से दानों को बिखेर कर खाने वाले मुर्गा आदि पक्षियों) तथा जांगल देश में होने वाले पशु-पक्षियों के मांस रस एवं कछुआ, गोह, शिखि (मोर), शल्लक (साही) इनका मांस रस शोथ रोगों के लिए पथ्य होता है। अथवा सुवर्चला (पाठभेद के अनुसार—सुवर्चिका), गाजर, परवल, वायसी (मकोय), मूली, वेत का अग्रभाग, नीम की नयी पत्तियाँ इनका शाक शाकप्रिय रोगियों को दें। भोज्य पदार्थों में जौ तथा पुराने शालिधान्य (सांठी के चावल) आदि लाभकर होते हैं।

वक्तव्य—आज सामाजिक व्यवस्था को देखकर भोजन की व्यवस्था दो रूपों में विभक्त है-१. शाकाहारी और २. मांसाहारी। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, आप ध्यान दें—कुछ लोग भोजन में दाल आदि के जूष या मांस रस को महत्त्व देते हैं, दूसरे शाकप्रिय होते हैं। वैयाकरण परम्परा में एक ऐसे राजा का नाम आता है, जिसे **शाकपार्थिव** संज्ञा दी गयी है। इसका अर्थ होता है—शाकप्रियः पार्थिवः (शाक है प्रिय जिस राजा को वह)।

सुवर्चला या सुवर्चिका—प्रथम पद निर्णयसागरीय प्रति में और द्वितीय पद श्रीजयदेव ने स्वीकार किया है। ये दोनों द्रव्य परस्पर भिन्न हैं। यहाँ प्रथम को 'आदित्यभक्ता' या हुलहुल और द्वितीय को 'जतुकालता' स्वीकार करना चाहिए।

वेत्रनिम्बम्—वेत या बाँस के जब नये अँकुर निकलते हैं, तो ये अत्यन्त कोमल होते हैं। इनका शाक भी बनाया जाता है। नेपाल में इनका आचार भी डाला जाता है। इसे वहाँ 'तामा' कहते हैं। नीम के कोमल

१. 'पञ्चमूलैः' इति पा०।

पत्तों तथा फूलों का सूखा शाक बनाया जाता है। यह रक्तशोधक तथा शोथनाशक होता है। यह 'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्' (च० सू० अ० २५।४०) का अन्यतम उदाहरण है।

भैषज्यरत्नावली के अनुसार पथ्य—शोथरोग में वमन, विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि, लंघन, रक्तस्राव, स्वेदन, शोथनाशक लेप, सेचन, पुराने शालि-चावल, जौ, कुलथी, मूंग; मांसों में—गोह, साही, मोर, तीतर, मुर्गा, बटेर, जांगलदेशीय विष्किर जाति के पक्षी, कछुआ, सिंगिया, मछली, पुराना घी, तक्र, सुरा, मधु, आसव; शाकों में—सेम, करेला, सहिजन की फली, खेखसा, मानकन्द, हुलहुल, गाजर, परवल, वेत का अग्रभाग, बैंगन, मूली, पुनर्नवा की पत्तियाँ, चौता, फरहद, गम्भार, नीम, तालमखाना के कोमलपत्ते; फलों में पका हुआ मीठा आम; एरण्डतैल (विरेचन के लिए), कुटकी, हल्दी, हरड़, दूध, भिलावा, गुग्गुलु, लोहभस्म तथा कटु, तिक्तरस-प्रधान पदार्थ, दीपनीय द्रव्य, गाय, बकरी, भैंस का मूत्र, कस्तूरी, शिलाजीत और जो पाण्डु रोग के पथ्य-प्रकरण में अग्निकर्म (दाह) का वर्णन किया गया है, वह सब भी पथ्य है।

आभ्यन्तरं भेषजमुक्तमेतद् बर्हिर्हितं यच्छृणु तद् यथावत् ।
स्नेहान् प्रदेहान् परिषेचनानि स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्यात् ॥ ६४ ॥

आभ्यन्तर विधि की समाप्ति, बहिर्विधि की प्रस्तावना—यहाँ तक जिस चिकित्सा-विधि का वर्णन किया गया है, उसमें जो आभ्यन्तर औषधयोगों का निर्देश था वह कह दिया गया है। हे अग्निवेश ! अब यहाँ कही जाने वाली सभी विधियाँ बाहरी प्रयोग के लिए हैं, उन सबको तुम सावधानी से सुनो। यदि रोगी वातप्रधान शोथ से पीड़ित हो तो उसे स्नेहन, प्रदेह, परिषेचन और स्वेदन-विधियों का प्रयोग कराना चाहिए।

शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्तीत्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः ।
प्रियङ्गुथौणेयकहेममांसीतालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥ ६५ ॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः स्पृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम् ।
वातान्वितेऽभ्यङ्गमुशन्ति तैलं सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम् ॥ ६६ ॥

शोथनाशक तैल-प्रदेह—शैलेय (छरीला), कूठ, काला, अगुरु, देवदारु, कौन्ती (रेणुका, सम्हालू) फूलप्रियंगु, के बीज, दालचीनी, पद्मकाठ, छोटी इलायची, सुगन्धवाला, पलाश (ढाक) की छाल, नागरमोथा, तेजपत्ता, धनियाँ, श्रीवेष्टक थौणेयक (गठिवन), हेम (नागकेशर), जटामांसी, तालीसपत्र, प्लव (केवटीमोथा), (गन्धाविरोजा—चीड़ वृक्ष की गोंद; इसे पहाड़ी क्षेत्रों में 'लीसा' कहते हैं), ध्यामक (सुगन्धितृण), पिप्पली, स्पृक्का (इस नाम से प्रसिद्ध सुगन्ध शाक), नखी—ये सभी द्रव्य अथवा समय पर इनमें से जो मिल सकें, उनके योग (कल्क-क्वाथ) से तैयार किये हुए तैल की मालिश वातज शोथ में करनी चाहिए अथवा इन्हीं द्रव्यों को बारीक पीसकर इसका मोटा लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—चक्रदत्त में इसी योग की टीका करते हुए टीकाकारों ने **पलाश** द्रव्य का पर्याय **कचूर** दिया है, जो विचारणीय है। देखें—चक्रदत्त-शोथचि० श्लोक ३८-३९।

[1]जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः ।
[2]स्विन्नो मृदूष्णै रवितप्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः ॥ ६७ ॥

अन्य प्रदेह—वासा (अडूसा), मदार, करंज, सहिजन, गम्भार, अर्जक (तुलसी), इन सभी के ताजे पत्तों (अथवा जैसे मिलें) से यथाविधि तैयार किये हुए गुन-गुने क्वाथ जल से स्वेदन कराकर तत्पश्चात् सूर्य की किरणों से तपे हुए जल से स्नान करने के बाद उस रोगी को सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करना चाहिए। इससे वातज शोथ की शान्ति होती है।

वक्तव्य—वासा आदि द्रव्यों के क्वाथ जल को टब में डालकर रोगी को उसमें बैठा या लेटा देना चाहिए, जब पसीना निकलने लगे तब उसे सूर्य की किरणों से तपे जल से स्नान करायें, तदनन्तर अगरु आदि सुगन्धित

१. 'जलैस्तथैरण्डवृषार्कशिग्रु०' इति पा०। २. 'स्विन्नः कवोष्णैः' इति पा०।

एवं शोथहर द्रव्यों का अनुलेपन लगाना चाहिए। ये सभी क्रियाएँ सर्वथा निवात (जिस कमरे में हवा का सीधा प्रवेश न हो, ऐसे) स्थान में करानी चाहिए।

सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां त्वचः समञ्जिष्ठलतामृणालाः।
सचन्दनाः पद्मकबालकौ च पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः ॥ ६८ ॥

पित्तज शोथ में प्रदेह और तैल—वेत, क्षीरीवृक्ष (बरगद, पिप्पली, गूलर, प्लक्ष या पकड़ी) की छालें, मजीठ, कमलनाल, लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, सुगन्धबाला—इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनके कल्क तथा क्वाथ से विधिपूर्वक तैयार किये गये तेल की मालिश तथा इन्हीं द्रव्यों से निर्मित कल्क का प्रदेह (लेप) पित्तज शोथ का शमन करता है।

आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च ॥ ६९ ॥

पित्तज शोथ में स्नान-अनुलेपन—ऊपर कहे गये वेत आदि द्रव्यों से तैयार किये गये तेल की भली-भाँति मालिश करने के बाद सफेद चन्दन, खस तथा पद्मकाष्ठ का कल्क बनाकर उसे स्नान के लिए धूप में रखे हुए पानी में मिला दें। जब जल स्नान योग्य हो जाये तो इसी जल से रोगी को स्नान कराना चाहिए, अथवा उपर्युक्त क्षीरीवृक्षों की छालों के क्वाथ से, अथवा दूध में पानी मिलाकर रोगी को स्नान कराना चाहिए और स्नान करने के बाद शरीर पर चन्दन का लेप लगाना चाहिए।

कफे तु कृष्णासिकतापुराणपिण्याकशिग्रुत्वगुमाप्रलेपः।
कुलत्थशुण्ठीजलमूत्रसेकश्चण्डागुरुभ्यामनुलेपनं च ॥ ७० ॥

कफज शोथ की बाह्य चिकित्सा—कफज शोथ में पिप्पली चूर्ण, बालू, तिल की पुरानी खली, सहिजन की छाल, उमा (तीसी या अलसी)—इन सबको समभाग लेकर बारीक पीसकर चटनी जैसा बना लें, शरीर के जिस अवयव पर कफज शोथ हुआ हो वहाँ उक्त लेप को गुन-गुना गरम करके लगा दें। सूखने के पूर्व इस लेप को उतारकर कुलथी और सोंठ को समभाग लेकर इसका क्वाथ तैयार करें, इस क्वाथ जल में गोमूत्र मिलाकर रोगी को स्नान करायें, स्नान कराने के बाद चण्डा (चोरपुष्पी) तथा अगुरु का लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—लेप तीन प्रकार का होता है—१. दोषघ्न, २. विषनाशक, ३. वर्ण्य। पुनः इसके दो भेद होते हैं—१. आलेप और २. प्रदेह। इनमें आलेप का प्रयोग पित्तनाशक, शीतल, जल्दी सूखने वाला और पतला होता है तथा प्रदेह वातनाशक, पित्तनाशक, गीला, गाढ़ा और गरम होता है। रात में प्रलेप का निषेध है। केवल व्रण (फोड़ा को पकाने के लिए जो लगाया जाता है, उस) के लिए इसका रात्रि में भी प्रयोग हितकर होता है।

उक्त श्लोक में पहले प्रलेप लगाना, उस स्थान को धोने के साथ स्नान कराना, फिर सम्पूर्ण शरीर पर अनुलेपन लगाना चाहिए, यह विधान है। चण्डा एक सुगन्धित द्रव्य है।

बिभीतकानां फलमध्यलेपः सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रदिष्टः।
यष्ट्याह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः ॥ ७१ ॥

शोथ में सामान्य लेप—प्रायः सभी प्रकार के शोथों में बहेड़ों के फल के भीतर की गिरी को पीसकर लेप करने से उनमें होने वाले दाह (Inflammation) तथा वेदना की शान्ति हो जाती है। यदि शोथ स्थान में पिडकाएँ उत्पन्न हो गयी हों तो मुलेठी, नागरमोथा, कैथ की पत्ती, लालचन्दन इनको आवश्यकतानुसार समभाग पीसकर लेप तैयार कर लें। इस लेप के प्रयोग से पिडकाएँ शान्त हो जाती है।

वक्तव्य—बहेड़े की मींगी बादाम की तरह खायी जाती है, खाने में स्वादिष्ट होती है, किन्तु अधिक खा लेने से नशा जैसा मालूम पड़ता है और बाद में चक्कर आने लगते है। शोथ में पिडकाओं की उत्पत्ति प्रायः पित्तज शोथ में देखी जाती है, उसी में विशेषरूप से दाह की भी अनुभूति होती है। वातज शोथ में तनाव और कफज शोथ में भारीपन, अपना-अपना विशेष लक्षण है।

रास्नावृषार्कत्रिफलाविडङ्गं शिग्रुत्वचो मूषिकपर्णिका च।
निम्बार्जकौ व्याघ्रनखः सदूर्वा सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च ॥ ७२ ॥
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा पुनर्नवा चित्रकनागरे च।
उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्टं शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः ॥ ७३ ॥

शोथ में उन्मर्दन, परिषेचन—रास्ना, अडूसा, मदार, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), वायविडंग, सहिजन की छाल, मूषाकर्णी, नीम की पत्ती, अर्जक (तुलसी) की पत्ती, नखी, नीलदूर्वा, हुलहुल, कुटकी, काकमाची (काली मकोय) की पत्ती, वनभंटा, कूठ, पुनर्नवा की जड़ें, चित्रकमूल, सोंठ—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर गोमूत्र डालकर पीसकर उन्मर्दन (उबटन) लगाना चाहिए। तदनन्तर मूली के क्वाथ जल से इसे सेक (स्नान) कराना चाहिए। इस विधि से सभी प्रकार के शोथों का शमन हो जाता है।

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये ते स्थानदूष्याकृतिनामभेदात्।
[1]अनेकसङ्ख्याः कतिचिच्च तेषां निदर्शनार्थं गदतो निबोध ॥ ७४ ॥

शोथों का नामकरण—जो शोथ शरीर के जिस-जिस अवयव विशेष पर आश्रित होते हैं, वे उस-उस स्थान (अवयव), दूष्य, आकृति (लक्षण) तथा नाम के भेद से अनेक संख्या वाले हो जाते हैं। उनमें से उदाहरण के लिए मैं (तन्त्रकार) कुछ शोथों का नाम-निर्देश कर रहा हूँ, उन्हें तुम समझो।

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।

शिरःशोथ—अपने प्रकोपक कारणों का सेवन करने से कुपित हुए वात, पित्त, कफ दोष शिरःप्रदेश में घोर (भयंकर) शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—यह शोथ शिरःप्रदेश के बाहरी अथवा भीतरी किसी भी भाग में हो सकता है। यह शोथ जब पृथक्-पृथक् दोषज होता है, तभी चिकित्सा के योग्य होता है, अन्यथा कष्टसाध्य होता है। सान्निपातिक स्थिति में ही इसका सुघोर (अत्यन्त भयंकर) रूप देखा जाता है। तन्त्रान्तर में इसे 'उपशीर्षक' रोग कहा गया है। यह शिरोरोग प्रायः बालकों में देखा जाता है। सुश्रुतसंहिता उ० तं० अ० २५ में श्लेष्मज शिरःशूल में एक लक्षण 'शूनाक्षिकूटं वदनं' यह भी इसी प्रसंग का है।

अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि ॥ ७५ ॥

अन्तर्गल-शोथ—जब उपर्युक्त वात आदि दोष अपने प्रकोपक कारणों का सेवन करने से कुपित होकर गल-प्रदेश में अपना स्थान बनाते हैं, तो श्वास की गति में रुकावट पैदा करने वाले तथा घुर्-घुर् ध्वनि को उत्पन्न करने वाले शालूक नामक रोग को पैदा कर देते हैं।

वक्तव्य—यह कफदोष-प्रधान एक गाँठ होती है। कोष साहित्य में कमलकन्द का नाम 'शालूक' है। व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द चलनसंवरणार्थक 'शल' धातु से निष्पन्न होता है। सुश्रुत के अनुसार इसका लक्षण—'कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूलभूतः। खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति' ॥ सु० नि० अ० १६।५१। इसका सुश्रुतोक्त लक्षण स्थिर है और ऊपर धातुगत अर्थ 'चलन' है, ये दोनों विषमताएँ विचार करने के लिए बाध्य करती है। हमारा विचार है कि कफदोष की प्रधानता में यह स्थिर और वातदोष की प्रधानता में इसमें 'चलन' सम्बन्धी लक्षण भी दिखलायी देते हैं, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। एलोपैथिक चिकित्सक इसे एडिनायड (Adenoid) कहते हैं।

गलस्य सन्धौ चिबुके गले च सदाहरागः [2]श्वसनासु चोग्रः।
शोफो भृशार्तिस्तु [3]बिडालिका स्याद्धन्याद्गले चेद् वलयीकृता सा ॥ ७६ ॥

बिडालिका—गले की सन्धि में, चिबुक (ठोडी) में, गले में तथा श्वासवहा प्रणालियों में दाह एवं

१. 'शोफा बहुत्वादनिवृत्तसङ्ख्यास्तेषां तु कांश्चिच्छृणु चोच्यमानान्' इति पा०।
२. 'श्वसनोच्छ्वसोग्रः' इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः। ३. 'वितानिका' इति पा०।

लालिमायुक्त जो भयंकर शोथ अत्यन्त पीड़ायुक्त होता है, उसे विडालिका कहते हैं। यदि यह शोथ गल-प्रदेश में वलय (कंकण) के आकार का होकर उसे चारों ओर से घेर लेता है, तो वह शोथ रोगी को मार डालता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने पैंसठ प्रकार के मुख-रोगों का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—ओठों में ८, दन्तमूलों में १५, दाँतों में ८, जीभ में ५, तालु-प्रदेश में ९, कण्ठ (गले) में १७ और इनके समीपवर्ती स्थानों में ३। देखें—सु० नि० अ० १६।३। **कण्ठगत रोगों का विवरण**—वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त-भेद से रोहिणियाँ ५, कण्ठशालूक ६, अधिजिह्व ७, वलय ८, बलास ९, एकवृन्द १०, वृन्द ११, शतघ्नी १२, गिलायु १३, गलविद्रधि १४, गलौघ १५, स्वरघ्न १६, मांसतान १७, विदारी १८। प्रारम्भ में इन्होंने कण्ठगत रोगों की संख्या १७ मानी थी, यहाँ वह १८ हो रही है। इस व्यतिक्रम का समाधान करते हुए टीकाकार श्रीजेजट लिखते हैं—'एकवृन्दो वृन्द इति एकवृन्द एव दोषविशेषानुगमेनावस्थान्तरं प्राप्तो वृन्दत्वं प्रतिपद्यते, अतो मूलोक्ता सप्तदश संख्या न विरुद्ध्यते'। 'गयी तु वृन्द इति पाठं कल्पितमेव मन्यते'। भले ही पूर्ववर्ती टीकाकारों ने यह समाधान दिया है, कि वृन्द का समावेश कण्ठगत रोगों में अनावश्यक है, किन्तु ग्रन्थकर्ता ने आवश्यकता समझकर इसी अध्याय के ५५, ५६ वें श्लोकों में दोनों के स्वतन्त्र लक्षण दिये हैं, इस ओर टीकाकारों ने ध्यान नहीं दिया है। दोनों के निदान में मूलतः भेद—**एकवृन्द** की उत्पत्ति कफ और रक्त के प्रकोप से और **वृन्द** की उत्पत्ति पित्त और रक्त के प्रकोप से मानी गयी है। इसका समाधान हम सुश्रुत की टीका में करेंगे।

कुछ टीकाकारों की धारणा है कि सुश्रुतोक्त विदारी ही विडालिका है, आप भी लक्षण-समन्वय करें—'सदाहतोदं श्वयथुं सरक्तमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम्। पित्तेन विद्याद् वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात स तु येन शेते' ॥ सु० नि० अ० १६।६३। यही विडालिका जब गले में वलयीकृता (गोल घेरे से युक्त) हो तो यह रोगी को मार डालती है। अतः सुश्रुतोक्त वलय नामक रोग के लक्षणों पर भी ध्यान दें—'बलास एवायतमुन्नतं च शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य। तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति' ॥ सु० नि० अ० १६।५३।

इस प्रकार के गलशोथ को आधुनिक चिकित्सक सार्कोमा (Sarcoma) कहते हैं। इसके अनेक भेद होते हैं—१. अनुमस्तिष्क सा०, २. क्रोकर मूषक सा०, ३. अन्तरस्थि सा०, ४. रोपित सा०, ५. तन्त्रिकाजन्य सा०, ६. अस्थिजनक सा०, ७. सार-ऊतक तर्कु कोशिका सा०, ८. परास्थि सा०, ९. जालिका कोशिका सा०, १०. गोल कोशिकी सा०, ११. तर्कु कोशिकी सा०, १२. द्राक्षागुच्छ सा०।

स्यात् तालुविद्रध्यपि दाहरागपाकान्वितस्तालुनि सा त्रिदोषात्।
जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च ॥ ७७ ॥
यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात् पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः।
स्याद् दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे शोफः कफाच्छोणितसञ्चयोत्थः ॥ ७८ ॥

तालु-विद्रधि—वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों के प्रकुपित होने से दाह (जलन), राग (लालिमा) तथा पाक मे युक्त जो तालु-प्रदेश में शोथ उत्पन्न होता है, उसे तालुविद्रधि कहते हैं। **उपजिह्विका**—उन्हीं वात आदि दोषों के प्रकुपित होने के कारण जो शोथ जीभ के ऊपरी भाग में होता है, उसे उपजिह्विका कहते हैं। **अधिजिह्विका**—जीभ के निचले भाग में होने वाले इस कफ-प्रधान शोथ का नाम अधिजिह्विका है। **उपकुश**—दन्तमांसों (मसूड़ों) में जाकर जब रक्त और पित्तदोष के प्रकोप से मसूड़े पकने लगते हैं, तो उसे उपकुश कहते हैं। **दन्त-विद्रधि**—जब दन्तमांसों (मसूड़ों) में रक्त का संचय होने के कारण कफ द्वारा दन्तमांसों में एक प्रकार का शोथ हो जाता है, उसे दन्तविद्रधि कहते हैं।

वक्तव्य—विद्रधि (Abscess) एक प्रकार का फोड़ा है। इसमें विशेषरूप से विदाह होता है। देखें—च० सू० अ० १७।९१-१०३ तथा सु० नि० अ० ९ सम्पूर्ण। यह विद्रधि जिस स्थान पर होती है, उसी स्थान विशेष के नाम से कही जाती है। **उपजिह्विका** (Ranula)—इसका वर्णन सु० नि० अ० १६।३९ में है। इसी प्रकार का एक 'अधिजिह्व' रोग भी है। देखें इसी प्रसंग में इलोक ५२। **उपकुश**—इसका परिचय सु० नि० अ० १७।२१-२२ में देखें। श्रीजयदेव ने उक्त ७७वें इलोक की प्रथम पंक्ति को यहाँ उद्धृत नहीं किया है।

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥ ७९ ॥

गलगण्ड—गले के आस-पास में एक प्रकार का शोथ होता है, यदि वह एक होता है तो उसे गलगण्ड कहते हैं, यदि ये एक से अधिक संख्या में हों तो इन्हें सामूहिक रूप से गण्डमाला कहते हैं। ये दोनों (गलगण्ड और गण्डमाला) साध्य होते हैं। यदि इन रोगों में पीनस, पार्श्वशूल, कास, ज्वर, वमन आदि उपद्रव के रूप में दिखलायी दें, तो ये दोनों ही असाध्य होते हैं।

वक्तव्य—वातादि दोषों के कारण उत्पन्न गण्ड और गलगण्ड इनकी चिकित्सा यत्र-तत्र वर्णित है, किन्तु ये रोग देश या स्थान-विशेष की देन के रूप में भी देखे जाते हैं, ऐसी स्थिति में न तो ये कष्टकारक होते हैं और न इनकी कोई चिकित्सा होती है, और न ही कोई इनकी चिकित्सा ही कराता है। ये अजागल स्तन की भाँति केवल सुन्दरता नाशक तथा भारकारक होते हैं। उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिला में 'गंगोली हाट' में कुछ परिवार आज भी ऐसे आपको देखने को मिलेंगे जिनके बाहरी गल-प्रदेश में अनेक गलगण्ड विराजमान रहते हैं। इस प्रदेश में उत्पन्न गण्ड तथा गलगण्ड रोगसूचक नहीं माने जाते। गलगण्ड का परिचय, साध्य, असाध्य आदि के सम्बन्ध में सुश्रुत नि० अ० ११ सम्पूर्ण देखें।

माधवकर ने गण्डमाला का वर्णन इस प्रकार दिया है—'कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षामन्यागलवङ्क्षणेषु। मेदः कफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः' ॥ मा० नि० ३८।५। **भोज के अनुसार**—'वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्। जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रथितां-स्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः। तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षः कक्षमन्यागलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा लपची स्मृता। तां तु मालाकृतिं विद्यात् कण्ठहृद्धनुसन्धिषु ॥ गण्डमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्' ॥

गलगण्ड (Goitre) तथा गण्डमाला (Inflammation of the glands of the neck) के सम्बन्ध में आधुनिक विचार—गलग्रन्थि के रोग (Diseases of the thyroid gland)—कण्ठ (Larynx) के निचले भाग के दोनों ओर तथा कण्ठनलिका के ऊपरी भाग के आगे पड़ी हुई, यह २५ ग्राम की ग्रन्थि अपने दो खण्डों (Lateral lobes) तथा नीचे की ओर उनको मिलाने वाले संयोजक खण्ड (Isthmus) के मिलने से बनी हुई है। दोनों पार्श्वीय खण्ड श्वासनलिका (Trachea) के अगल-बगल रहते हैं, बीच का संयोजक खण्ड इस नलिका के दूसरे, तीसरे, चौथे रिंग (Rings) के आगे रहता है और उनके साथ जुड़ा रहता है। शरीर की समुचित वृद्धि के लिए यह ग्रन्थि परम आवश्यक है। शरीर के अस्थिपञ्जर की वृद्धि इसी पर निर्भर है, यह ग्रन्थि चयापचय (मेटाबोलिज्म—Metabolism) की संचालिका है। इसके रुग्ण होने पर शरीर की वृद्धि रुक जाती है। मानसिक वृद्धि तथा लिंग सम्बन्धी वृद्धियाँ इसी ग्रन्थि पर निर्भर हैं।

तेषां सिराकायशिरोविरेका धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम्।
स्याल्लङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि प्रघर्षणं स्यात् कवलग्रहश्च ॥ ८० ॥

सामान्य चिकित्सा-सूत्र—उपर्युक्त शिरःशोथ आदि विकारों में सिरामोक्षण, कायविरेचन (वमन तथा विरेचन), शिरोविरेचन (नस्य), धूमपान तथा पुराने गोघृत का पान करना चाहिए। मुख के भीतरी भाग में होने वाले (कण्ठशालूक) शोथों में लंघन, प्रघर्षण (उस शोथ के स्थान पर शोथहर चूर्णों को घिसना) एवं कवलग्रह हितकर होता है।

वक्तव्य—ऊपर कही गयीस भी विधियाँ सामान्य शोथशामक हैं। अतः इनका उपयोग आरम्भिक स्थिति में ही लाभदायक होता है। गलगण्ड आदि ग्रन्थियों की शल्य-चिकित्सा की जाती है। अतः महर्षि आत्रेय ने पराधिकार की चर्चा का विस्तार यहाँ नहीं किया है।

कवलग्रह—कवल=ग्रास को मुख में रखना। उसे उतनी मात्रा में मुख में लेना चाहिए, जिससे वह आसानी से इधर से उधर घुमाया जा सके। इसके विपरीत 'गण्डूष' होता है। देखें—सु० चि० अ० ४१।६१-६२। दोषविशेष के चिकित्सा-भेद से यह कवलग्रह चार प्रकार का होता है, देखें—सु० चि० अ० ४०।५८-६०।

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात् स्वरूपधारी स्फुरणः सिराभिः।
ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनर्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च ॥ ८१ ॥

ग्रन्थि रोग का वर्णन—शरीर के किसी अवयव पर वात, पित्त, कफ दोषों के कारण स्व (अपने- अपने) रूपों (लक्षणों) को धारण करने वाली ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाती है। जो ग्रन्थि सिराओं की विकृति के कारण पैदा होती है, उनमें स्फुरण (कम्पन) होता है। जो ग्रन्थि मांस की विकृति से होती है, वह आकार में बड़ी तथा पीड़ा रहित होती है और जो ग्रन्थि मेदस् की विकृति से उत्पन्न होती है, वह स्निग्धतम (अत्यन्त चिकनी) तथा चल (स्पर्श करने पर हिलती-डुलती) प्रतीत होती है।

वक्तव्य—पंजाब में ग्रन्थि को 'मोगलीफोड़ा' और गलगण्ड को शिमला की तराई में 'गिल्लड़', अल्मोड़ा, नैनीताल में 'गना' या 'गान' और गोरखपुर की ओर इसे 'घेंघा' कहते हैं। उक्त श्लोक में वात आदि दोषभेद से ३, सिराज १, मांसज १, मेदोज १ कुल मिलाकर छः प्रकार की ग्रन्थियाँ कही गयी हैं। किन्तु सुश्रुत ने वातज, पित्तज, कफज, मेदोज तथा सिराज भेद से पाँच ग्रन्थियों का वर्णन किया है। विशेष विवरण के लिए देखें—सु० नि० अ० ११।४-९। आचार्य भोज ने भी पाँच प्रकार की ही ग्रन्थियों को स्वीकार किया है—'पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन् मर्मजानचलांस्त्यजेत्। कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्यांश्च सन्धिषु'॥ तन्त्रान्तर में मांसज ग्रन्थि अर्बुद के लक्षणों से युक्त होती है, ऐसा वर्णन मिलता है। सिराज ग्रन्थि को आधुनिक चिकित्साविद् 'Tumuor' कहते हैं। वाग्भट ने उक्त ग्रन्थियों के ९ भेदों की चर्चा की है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. रक्तज, ५. मांसज, ६. मेदोज, ७. अस्थिज, ८. सिराज, ९. व्रणज। अ० हृ० उ० अ० १९।२।

एलोपैथी-पद्धति में ग्रन्थिरोग को ग्रन्थिल इन्लार्जमेण्ट (Glandular enlargement) कहते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १२। सु० नि० अ० ११। अ० सं० उ० अ० ३४। अ० हृ० उ० अ० १९। नाड़ीव्रण (नासूर) का विस्तृत वर्णन सु० नि० अ० १० में देखें।

संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्।
विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्॥ ८२॥
अदग्ध ईषत् परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्।
तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताच्छेद्यो भवेद् वीक्ष्य शरीरदेशान्॥ ८३॥

ग्रन्थिरोग की चिकित्सा—ग्रन्थिरोग से पीड़ित पुरुष का वमन, विरेचन, शिरोविरेचन द्वारा भली-भाँति संशोधन कर लेने पर अपक्व ग्रन्थि अथवा ग्रन्थियों का स्वेदन करने के बाद पत्थर, काष्ठ, अँगूठा तथा वेणुदण्ड से घिसकर उस गाँठ का विम्लापन करना (बैठाना) चाहिए। यदि वह ग्रन्थि पक गयी हो तो शस्त्र द्वारा चीरा लगाकर कोश सहित सम्पूर्ण ग्रन्थि को निकालकर उसके मूल को जलाकर व्रण-चिकित्सा की भाँति इस (ग्रन्थि) की भी चिकित्सा करनी चाहिए। जिस ग्रन्थि का दाह नहीं किया जाता है और जिस ग्रन्थि का कुछ भाग शेष रह जाता है, तो वह धीरे-धीरे पुनः बढ़ जाती है। अतः कुशल चिकित्सकों का कर्तव्य है कि वे शरीर के जिन अवयवों पर ग्रन्थि उत्पन्न हुई हो उसे भली-भाँति देखकर चारों ओर से काट दें, जिससे उसका मूल (जड़) रह न जाये।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय बहुज्ञ एवं बहुश्रुत थे। किन्तु उन्होंने कायचिकित्सा-प्रधान विषय के व्याख्यान का व्रत लिया था। अतः उन्होंने आयुर्वेद के अन्य अंगों के विषयों का अपने तन्त्र में विशद विवेचन न करके यथावसर उन विषयों का संकेत अवश्य कर दिया है। यहाँ **'व्रणवच्चिकित्सेत्'**, यह उसी प्रकार का एक संकेतात्मक आदेश है।

विलयेदपक्वम्—विलयन को ही विम्लापन कहते हैं। सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट ६० प्रकार के व्रणोपक्रमों में इस क्रिया का छठा स्थान है। वृद्धवाग्भट ने विम्लापन की विधि का वर्णन इस प्रकार किया है—'अभ्यज्य-स्वेदयित्वा च वेणुनाड्या ततः शनैः। विम्लापनार्थं मृद्नीयात् तलेनाङ्गुष्ठकेन वा'॥ अ० सं० उ० अ० ३०।२४। **सुश्रुत के अनुसार**—स्थिर (कफ की अधिकता के कारण), थोड़ी वेदना वाले, शोथों (व्रणशोथों) में विलयन (Dissolving) क्रिया करनी चाहिए। इसके लिए पहले अभ्यंग करें तब स्वेदन-क्रिया करके त्वचायुक्त बाँस के टुकड़े से, हाथ की हथेली से या अँगूठे से वैद्य धीरे-धीरे मर्दन करें। देखें—सु० चि० अ० १।२२। वास्तव में यह मर्दन का कार्य वैद्य का नहीं है, अपितु वैद्य के निर्देशानुसार इसे परिचारक करे।

व्रणवच्चिकित्सेत्—चरकसंहिता में ३६ व्रणोपक्रमों का वर्णन (च० चि० अ० २५।३९-४३) तथा सुश्रुत-संहिता में ६० व्रणोपक्रमों का वर्णन (सु० चि० अ० १।८) किया गया है। संक्षेप में सुश्रुतोक्त व्रणचिकित्सा को इस प्रकार देखें—**शस्त्रसाध्य ८ उपक्रम**—१. छेदन, २. भेदन या दारण, ३. लेखन, ४. एषण, ५. आहरण, ६. व्यधन, ७. विस्रावण, ८. सीवन। **शोणितास्थापन**—बहते हुए रक्त को रोकने के उपायों को सु० सू० अ० १४ में देखें। **क्षारकर्म**—सु० सू० अ० ११। **अग्निकर्म**—सु० सू० अ० १२। **यन्त्रण-विधि**—सु० सू० अ० ७। **आहार-विधि**—सु० सू० अ० १९। **रक्षा-विधान**—सु० सू० अ० ५।१९-३२ तथा अ० १९। **बन्ध-विधान**—सु० सू० अ० १६ तथा १८। **स्नेहन-विधि**—सु० चि० अ० ३१। **स्वेदन-विधि**—सु० चि० अ० ३२। **वमन-विधि**—सु० चि० अ० ३३। **विरेचन-विधि**—सु० चि० अ० ३३। **वस्तिकर्म**—सु० चि० अ० ३५। **उत्तर-वस्ति**—सु० चि० अ० ३६। **शिरोविरेचन**—धूमपान, नस्य तथा कवलग्रह; सु० चि० अ० ४० का अवलोकन करें।

शस्त्र द्वारा चीरा लगाकर उस गाँठ को निकाल कर उस स्थान को जला दिया जाता है, जला देने पर उस स्थान पर अग्निदग्ध की एक गाँठ-सी बन जाती है, उसकी भी यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए।

शेषे कृते पाकवशेन शीर्यात् ततः क्षतोत्थः प्रसरेद् विसर्पः।
उपद्रवं तं प्रविचार्य तज्ज्ञस्तैर्भेषजैः[1] पूर्वतरैर्यथोक्तैः॥ ८४॥
[2]निवारयेदादित एव यत्नाद् विधानवित् स्वस्वविधिं विधाय।
ततः क्रमेणास्य यथाविधानं व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत्॥ ८५॥

क्षतज-विसर्प की चिकित्सा—ऊपर ग्रन्थिरोग के चिकित्सा-सूत्र ('अदग्ध ईषत्परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्') में यह संकेत किया गया है कि वह ग्रन्थि यदि पूर्णरूप से न निकाली गयी हो अर्थात् उसकी जड़ कुछ शेष रह गयी हो तो वह अपने से पककर गिरने लगती है और यह क्षतज विसर्प धीरे-धीरे फैलने लगता है। ग्रन्थिरोग के उपद्रवस्वरूप इस क्षतज विसर्प को समझकर विद्वान् वैद्य प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित औषधयोगों द्वारा पहले ही चिकित्सा करे। तदनन्तर क्षतज विसर्प में आरम्भ से ही विधिपूर्वक ग्रन्थि-चिकित्सा-विधि विशेषज्ञ (शल्य-चिकित्सक) विसर्प के भेदोपभेद की जो चिकित्सा कही गयी है, तदनुसार उस व्रण की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—विसर्प रोग की चिकित्सा आगे च० चि० अ० २१ में दी गयी है। उक्त पद्यों द्वारा केवल ग्रन्थिरोग की चिकित्सा में सावधानी रखने का निर्देश देकर असावधानी के कारण इसी से विसर्परोग की उत्पत्ति हो जाती है, इसका संकेत किया है।

विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च।
स्थूलः खरश्चापि भवेद् विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम्॥ ८६॥

ग्रन्थिरोग की असाध्यता—ये ग्रन्थियां यदि कुक्षि (Womb=गर्भाशय), उदर, (Belly=पेट), गला तथा मर्म-स्थानों में आश्रित हों तो असाध्य होती हैं। जो ग्रन्थियाँ ऊपर कहे गये स्थानों में भले ही उत्पन्न न हुई हों, अर्थात् शरीर के अन्य अवयवों में पैदा हुई हों, किन्तु आकार में बड़ी हों, खर (खुरदरी) हों तो भी वे असाध्य होती हैं। इनके अतिरिक्त जो ग्रन्थियाँ बालक, वृद्ध तथा दुर्बलों के शरीर में उत्पन्न हों वे भी असाध्य होती हैं।

वक्तव्य—ऊपर कुक्षि और उदर ये दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। इनकी टीका के अवसर पर कुछ ने मौन साध ली है, शेष टीकाकार जैसे का तैसा लिख गये हैं। हमारे विचार से यहाँ कुक्षि का अर्थ है—गर्भाशय (Womb) और उदर (Belly) का अर्थ है—पेट या कोख। यहाँ **'अबलानाम्'**—यह शब्द भी अबल अथवा अबला दोनों अर्थों की ओर आकृष्ट करता है।

---

१. 'स्वैर्भेषजैः' इति पा०।
२. अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।

ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः ।
ततश्चिकित्सेद् विषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥ ८७ ॥

ग्रन्थि-अर्बुद चिकित्सा-सूत्र—ग्रन्थिरोग तथा अर्बुद रोग के प्रदेश (शरीरावय) जहाँ ये उत्पन्न होते हैं, वे स्थान कारण, लक्षण, दोष और दूष्य के अविशेष (समान) होते हैं। इसलिए चिकित्सा-विधि विशेषज्ञ चिकित्सक को चाहिए कि वह ग्रन्थि रोग में कही गयी चिकित्सा-विधि से अर्बुदों की भी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—अर्बुदरोग शस्त्र-चिकित्सा-साध्य रोग है। ग्रन्थिरोग के सम्बन्ध में इसी अध्याय के ८२वें श्लोक के द्वितीय चरण में स्पष्ट निर्देश किया है—**'विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्'**। अतएव तन्त्रकार कहते हैं—**'ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः'**। चिकित्सा की दृष्टि से ग्रन्थिरोग तथा अर्बुदरोग सामान्य हैं, अर्थात् इन दोनों में कोई विशेषता (भेद) नहीं है।

सुश्रुत में अर्बुद का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'संमूर्च्छित अर्थात् कुपित हुए वात आदि दोष शरीर के किसी भी भाग में रक्त तथा मांस को चारों ओर से दूषित करके गोल (आकार में), स्थिर (स्पर्श में), मन्द वेदना युक्त, महान्, विस्तृत मूल वाले, देर में बढ़ने वाले, अपाकी (न पकने वाले) तथा मांस को बटोरकर शोफ (शोथ) को पैदा कर देते हैं। उसे शास्त्रविद् अर्बुद कहते हैं। देखें—सु० नि० अ० ११।१३। यहाँ महर्षि सुश्रुत ने भी आत्रेय की उक्ति का इस प्रकार समर्थन किया है—'वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च। तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति' ॥ सु० नि० अ० ११।१४। **अर्बुद**—अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग १० करोड़ संख्या का वाचक है। आयुर्वेद में दन्तरोग, नेत्ररोग तथा तालुरोग के अन्यतम भेद के रूप में भी इसकी चर्चा देखी जाती है।

ताम्रा [1]सशूला पिडका भवेद् या सा चालजी नाम परिस्रुताग्रा ।
[2]शोफोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः ॥ ८८ ॥
ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षजा या वर्तिर्निरर्तिः कठिनायता च ।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात् ॥ ८९ ॥
विस्रावणं पिण्डिकयोपनाहः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सः ।

१. **अलजी**—जो पिडका (फोड़ा) ताम्र वर्ण की एवं शूलयुक्त (पाठभेद के अनुसार—मूल युक्त अर्थात् जो दबाने पर भी इधर-उधर हिलती-डुलती न हो) तथा जिसके आगे से सदैव स्राव होता रहता हो, उसे अलजी कहते हैं। २. **चर्मनखान्तरशोथ**—चर्म और नख के बीच में जो बिना फूटा हुआ, रक्त और मांस को दूषित कर देने वाला और अत्यन्त शीघ्र पकने वाला एक शोथ होता है। (पाठभेद के अनुसार इसे चर्मनखान्तरक्षत) रोग कहा गया है। ३. **विदारिका**—वंक्षण (ऊरुसन्धि = रान), कक्षा (काँख) स्थानों में वत्ती के सदृश, पीड़ा रहित, स्पर्श करने पर कठिन मालूम पड़ने वाला, आकार में लम्बा जो शोथ ज्वर के साथ उत्पन्न होता है, उसे 'विदारिका' कहते हैं। यह विदारिका कफ तथा वातदोष के प्रकोप से उत्पन्न होती है। उपर्युक्त इन सभी रोगों की चिकित्सा दोषों का विचार करके तदनुसार करनी चाहिए। यदि ये व्रण पके न हों तो इनका रक्तस्रावण कराना चाहिए और जौ आदि के आटे की पिण्डिका बनाकर इसमें उपनाह (Poultice) स्वेद देना चाहिए और जब ये पक जायें तब व्रण के अनुसार चिकित्सा (छेदन, भेदन, शोधन, रोपण) करनी चाहिए।

वक्तव्य—अलजी नामक पिडिका का विशेष विवेचन चरक तथा सुश्रुत के प्रमेह-प्रकरण में देखें। ध्यान देने योग्य यह है, कि जो यहाँ अलजी नामक पिडका का अतिरिक्त वर्णन किया है, उसका कारण बतलाते हुए तन्त्रकार कहते हैं—**'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद् वास्तुपरिग्रहः'** ॥ च० सू० अ० १७।१०४। इस प्रसंग में श्लोक १०५ से १०७ तक को भी देख लें।

१. गङ्गाधरस्तु 'समूला' इति पठति, 'समूला न या चलति प्रपीडनेन सा समूला पीडका' इति च व्याख्यानयति।

२. 'रोगः क्षतः' इति पा०।

महर्षि सुश्रुत ने लिंगवृद्धि की कामना करने वाले पुरुषों में अनियमितता के कारण १८ प्रकार के शूक दोषों का वर्णन किया है, उनमें 'अलजी' नामक एक पिडका का भी उल्लेख इस प्रकार किया है—**'अलजीलक्षणैर्युक्तामलर्जीं च वितर्कयेत्'**। सु० नि० अ० १४।३ तथा ७ देखें। यहाँ प्रथम अलजी प्रमेहरोग से सम्बन्धित है और दूसरे का सम्बन्ध प्रस्तुत प्रकरण से है।

मांसास्रदूषी—यहाँ इसके जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, इस प्रकार का एक **'चिप्परोग'** है। इसके लक्षणों पर ध्यान दें—'नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम्। करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥ तदेवाक्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि' ॥ सु० नि० अ० १३।२१। इसे चिप्प या चिप्य (Whitlow), क्षतरोग या उपनख भी कहते हैं। कुछ विद्वान् 'कुनख' को भी इसी का भेद मानते हैं।

विदारिका—सुश्रुत ने प्रमेह-निदान के १४वें गद्य में विदारिका का उल्लेख किया है। इसके लिए 'कियन्तःशिरसीय' नामक च० सू० अ० १७ का भी अवलोकन करें। आगे क्षुद्ररोग-निदान प्रकरण में पुनः सुश्रुत ने विदारिका की इस प्रकार चर्चा की है—'विदारीकन्दवद्वृत्तां कक्षावंक्षणसन्धिषु। रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्' ॥ सु० नि० अ० १३।२४। यहाँ इस रोग को सन्निपातज माना है, क्योंकि इसमें वात आदि तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। वाग्भट के अनुसार 'विदारी' का लक्षण—'विदारीकन्दकठिना विदारी कक्षवङ्क्षणे'। अ० हृ० उ० अ० ३१।१६। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' कोश में विदारी के पर्याय—बिलाईकन्द, क्षीरविदारी तथा गेठी दिये हैं। यह गेठी कन्द और फल दोनों रूपों में पर्वतीय क्षेत्रों में मिलता है। यह विदारिका ठीक इसी के आकार की होती है।

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु [1]स्फोटाः सरागज्वरतर्षयुक्ताः ॥ ९० ॥

विस्फोटक—शरीर के सभी अवयवों में फफोले की भाँति दिखलायी देने वाली दाह, ज्वर, पिपासा के लक्षणों से युक्त पिडकाओं को विस्फोटक कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में ४४ प्रकार के क्षुद्ररोगों का वर्णन किया गया है, उनमें १३वाँ विस्फोटक रोग है। इसका परिचय—'अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वराः पित्तरक्तनः। क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति' ॥ सु० नि० अ० १३।१८। इसके विशेष विवरण के लिए माधवनिदान, विस्फोटक-प्रकरण देखें।

यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु [2]कक्षाः ।
याश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः ॥ ९१ ॥

१. **कक्षा**—पित्त तथा वायु के प्रकुपित होने के कारण यज्ञोपवीत के आकार से शरीर पर पैदा होने वाली पिडकाओं को कक्षा कहा जाता है। २. **पित्तज पिडका**—इसके अतिरिक्त जो छिट-फुट पिडकाएँ स्थूल (मोटी), मध्य (इससे छोटी), अणु (सबसे छोटी) आकार की होती हैं, उन्हें पित्तज पिडका कहते हैं।

वक्तव्य—यज्ञोपवीत (जनेऊ) को आवश्यकतानुसार दायाँ, बायाँ और माला की भाँति धारण किया जाता है। इन्हीं रूपों में ये कक्षा नामक पिडकाएँ शरीर के ऊपर देखी जाती हैं, ऐसा मत महर्षि आत्रेय का है। कक्षा (Boil) का वर्णन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—बाहु, पार्श्व, अंस और कक्षा में काले रंग के छाले (इस प्रकार के फोड़े जिनके भीतर पानी-सा भरा हो) हो जायें और इनमें वेदना हो तो इन्हें कक्षा कहते हैं। यह रोग पित्त के प्रकोप से होता है। देखें—सु० नि० अ० १३।१६।

क्षुद्रप्रमाणाः पिडकाः शरीरे सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः ।
कण्डूयुताः सारुचिसप्रसेका रोमान्तिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः ॥ ९२ ॥

रोमान्तिका (Measles)—छोटी आकार की तथा सम्पूर्ण शरीर में प्रत्येक रोमकूप के पास पैदा होने वाली पिडकाओं को रोमान्तिका (खसरा) कहते हैं। इसमें ज्वर, दाह, तृष्णा, (प्यास), कण्डू (खुजली), भोजन में अरुचि, मुख से लार का चूना, ये लक्षण होते हैं। ये रोमान्तिकाएँ पित्त और कफदोष की अधिकता से पैदा होती हैं।

१. 'स्फोटाः सदाहा ज्वरतर्षयुक्ताः' इति पा०।

२. 'कक्ष्याः' इति पा०।

वक्तव्य—माधवकर ने रोमान्तिका का वर्णन इस प्रकार किया है—'रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः। कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः' ॥ मा० नि० ५४।१३ तथा भैषज्यरत्नावली, मसूरिका-चिकित्सा प्रकरण देखें।

याः सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः।
वीसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या तां [1]तेषु कुष्ठे च हितां विदध्यात् ॥ ९३ ॥

मसूरिका (Smallpox)—जो सम्पूर्ण शारीरिक अवयवों में मसूर की दाल के समान दाने निकलते हैं, इनकी उत्पत्ति का कारण पित्त और कफदोष को माना गया है। वीसर्प रोग के लिए जिस चिकित्सा-विधि का निर्देश किया गया है और जो चिकित्सा कुष्ठरोग की शान्ति के लिए हितकर है, उन दोनों का यथाविधि यहाँ भी प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत में मसूरिका का वर्णन—'दाहज्वररुजावन्तस्ताम्राः स्फोटाः सपीतकाः। गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिकाः' ॥ सु० नि० अ० १३।३८। इसका विशेष वर्णन श्रीभावमिश्र ने भा० प्र० म० खण्ड के मसूरिकाधिकार में किया है। इसकी फुंसियाँ मसूर, मूंग, उड़द या झरबेर के आकार की होती हैं। इसका उल्लेख मधुकोष टीका में तन्त्रान्तर का उल्लेख करते हुए टीकाकार ने किया है। त्वचागत (रसगत), रक्तगत, पित्त-जनित, कफजनित तथा कफपित्त-प्रधान मसूरिकाएँ सुखसाध्य होती हैं और ये चिकित्सा के बिना भी शान्त हो जाती हैं। इसी कारण इनमें प्रायः औषध-प्रयोग नहीं किया जाता है। सामान्य जनता ने इसे धार्मिक रूप दे रखा है। अतः भा० प्र० म० खं० मसूरिकाधिकार श्लोक २१ का अवलोकन करें। यह जानपदिक (Epidemic) रोग होता है, अतएव इसका संक्रमण अतिशीघ्र होते देखा जाता है।

[2]ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम् ॥ ९४ ॥

१. **ब्रध्न या वृद्धि**—वात आदि दोष अपने कारणों से कुपित होकर अपने-अपने लक्षणों से युक्त ब्रध्न रोग को वृषण (अण्डकोष=Testicles) में पैदा कर देते हैं। जब वह वातदोष की वृद्धि के कारण उत्पन्न होता है, तब इसमें वात के, पित्त-वृद्धि में पित्त के और कफ-वृद्धि में कफ के लक्षण दिखलाई देते हैं। इस स्थिति में क्षुद्रान्त्र (छोटी आँत) वङ्क्षण-प्रदेश के भीतरी छिद्रों से निकलकर बार-बार अण्डकोष में चला जाता है और पुनः अपने स्थान (उदर-प्रदेश) में चला आता है। इसे ब्रध्न या वृद्धि रोग कहते हैं।

२. **मूत्रजवृद्धि**—मूत्र के अधिक संचित हो जाने के कारण जब अण्डवृद्धि होती है, तब अण्डकोष भरा हुआ-सा प्रतीत होता है और स्पर्श करने पर वह मृदु (कोमल) स्पर्शवाला प्रतीत होता है।

३. **मेदोजवृद्धि**—यदि मेदोधातु की वृद्धि के कारण अण्डवृद्धि होती है, तो स्पर्श करने पर अण्डकोष स्निग्ध (चिकना) लगता है और वह शोथ (वृद्धि) कठिन होता है।

वक्तव्य—कोष-साहित्य में ब्रध्न तथा बुध्न दो शब्द एकार्थवाची उपलब्ध होते हैं। दोनों का एक अर्थ 'वृक्षमूल' है। जिस अवयव का यह रोग है, वह शरीररूपी वृक्ष का मूल ही है। सुश्रुत, वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने इसे वृद्धिरोग की संज्ञा दी है और महर्षि आत्रेय ने इसका नाम च० सू० अ० १८।३० में वृद्धि और यहाँ 'ब्रध्न' रखा है, पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह तन्त्रकार की दृष्टि थी अथवा पाठभेद-कर्ताओं की देन रही है, क्योंकि इसकी 'वृद्धि' संज्ञा सर्वथा सार्थक है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी इसका नाम 'वृद्धि' ही स्वीकार किया है, किन्तु **'बध्नः'** का पाठभेद **'वृद्धिः'** होगा, न कि **'वृद्धे'**। ध्यान दें।

अन्त्रवृद्धि के मूलतः दो प्रकार—१. यदि आँत अंडकोष में न जाकर शोथ के कारण वंक्षण सन्धि में रुकी रह जाये और स्पर्श करने पर प्रतीत हो, तो इसे 'अप्राप्तफलकोषा' कहते हैं। अन्त्रवृद्धि का यह भेद सबसे अधिक देखने को मिलता है। २. यदि आँत वंक्षणनलिका (Inguinal canal) के भीतरी छिद्र से निकलकर बाहरी छिद्र से अण्डकोष में प्रवेश कर जाये तो उसे प्राप्तफलकोषा (अन्त्रवृद्धि) कहते हैं। अण्डधारकरज्जुमार्ग जिसे वंक्षणनलिका भी कहते हैं, वह विटपसन्धि के पार्श्वों पर कोष्ठ की भित्ति में कभी अधोमुख, कभी अन्तर्मुख और कभी पुरोमुख की स्थिति में रहता है।

१. 'तासु' इति पा०।
२. 'वृद्धे' इति पा०।

सुश्रुत के अनुसार—कोई एक दोष नीचे की ओर (नाभि से नीचे) अपने कारणों से प्रकुपित होकर अण्डकोष-वाहिनी धमनी में पहुँचकर फलकोषों में वृद्धि रोग को उत्पन्न करता है, अतः उसे वृद्धिरोग कहते हैं।

विशेष वक्तव्य—अन्त्रवृद्धि को बोलचाल की भाषा में 'आँत उतरना' या गिरना कहते हैं। जहाँ क्षुद्रान्त्र का अन्त और बृहदन्त्र का प्रारम्भ होता है, वहाँ एक सींग के आकार का, किन्तु स्पर्श में मृदु ३, ४ अंगुल लम्बा अँगूठे की आकृति का एक अवयव होता है, उसे उपान्त्र कहते हैं। यह अपने स्थान से खिसक कर नीचे कूल्हे में आकर रुक जाता या फँस जाता है, वहाँ देखने तथा छूने पर गाँठ-सी प्रतीत होती है। कभी-कभी उससे भी नीचे आकर वह अंग अण्डकोश में आ जाता है। इसे जब आसानी से दबाया जाता है, तो यह गाँठ ऊपर की ओर को सरक जाती है। बाहर से यह शोथ जैसा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में यह उपान्त्र ही लम्बी गाँठ के रूप में होती है। यह अपने स्थान से खिसकने न पाये अतः इसको रोकने के लिए कुण्डलिका या पेटी का प्रयोग किया जाता है। इसकी शस्त्र-चिकित्सा भी पूर्ण लाभप्रद होती है।

वृद्धिरोग का संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १८।३०। च० चि० अ० १२। सु० सू० अ० २४।९ रोगनाम-परिगणन। सु० नि० अ० १२। अ० सं० नि० अ० ११। अ० हृ० नि० अ० ११।

एलोपैथिक चिकित्सक ब्रध्न या वृद्धि रोग को हर्निया (Hernia) कहते हैं। इसके अनेक भेद इस प्रकार देखे जाते हैं—१. उल्व ह०, २. सहज रज्जुका ह०, ३. सहज नाभि ह०, ४. मध्यच्छद ह०, ५. ऋजु-वंक्षण ह०, ६. हायटस ह०, ७. छेदनोत्तर ह०, ८. तिर्यक् वंक्षण ह०, ९. वंक्षण ह०, १०. आभ्यन्तर ह०, ११. पुनरस्थाप्य ह०, १२. भगोष्ठ ह०, १३. लिटर ह०, १४. नेडिल ह०, १५. रुद्ध ह०, १६. परामासनली ह०, १७. परामासनली हाइटस ह०, १८. पुनः स्थाप्य ह०, १९. रिक्टेर ह०, २०. स्लाईडिंग ह०, २१. विपाशित वंक्षण ह०, २२. नाभि० ह०, २३. अभ्युदर ह० तथा २४. अण्ड-ग्रन्थि बहिःसरण।

मूत्रज वृद्धि को जलवृषण, जलसंग्रह, हाइड्रोसील (Hydrocele) कहते हैं। इसी का एक भेद है—पुटित जलसंग्रह हाइड्रोसील (Encysted hydrocele)।

मेदोज वृद्धि को एलोपैथिक विद्वान् फाइलेरिया (Filaria) कहते हैं। इसके निम्न भेद देखे जाते हैं—१. फाइलेरिया बेन्क्राफ्टाइ, २. फाइलेरिया डाइअर्नी, ३. फाइलेरिया नाक्टर्नी, ४. फाइलेरिया सैंगुइनिस होमिनिस, ५. फाइलेरिया वाल्वुलस।

विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।
[1]स्यान्मूत्रमेदः कफजं विपाट्य विशोध्य सीव्येद् व्रणवच्च पक्वम् ॥ ९५ ॥

सामान्य चिकित्सा-सूत्र—सामान्यरूप से इन वात आदि विकारों से उत्पन्न ब्रध्न रोगों में विरेचन, अभ्यंग, निरूहवस्ति तथा ब्रध्नशामक लेपों का प्रयोग करना चाहिए। यदि ब्रध्न का पाक हो जाये तो व्रण के समान उसकी (शोधन-रोपण आदि) चिकित्सा करनी चाहिए।

मूत्रज, मेदोज तथा कफज ब्रध्नरोग की विशेष चिकित्सा—इनमें शस्त्र द्वारा चीरा लगाकर व्रण स्थान का भली-भाँति शोधन करके उस घाव के मुख को सी दे। यदि सिल देने के बाद भी रोगी की या चिकित्सक की असावधानी से वह घाव पुनः पक जाय तो व्रण के समान इसकी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—सुश्रुत नि० अ० १२ में इन वृद्धियों का विशेष वर्णन किया गया है। चिकित्सा की दृष्टि से आप सु० चि० अ० १,२ तथा ८ का मनन करें।

[2]क्रिम्यस्थिसूक्ष्मक्षणनव्यवायप्रवाहणान्युत्कटकाश्वपृष्ठैः।
गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दरः स्यात् ॥ ९६ ॥

भगन्दर-परिचय—क्रिमि तथा अस्थि (पाठभेद के अनुसार-तृण) द्वारा गुद में क्षत (घाव) होने से, अधिक मैथुन करने से, अधिक प्रवाहण (Evacuation by stool) क्रिया के करने से (इसी को काँखना कहते हैं, इस क्रिया को मल के सूख जाने पर किया जाता है), उत्कट (उकड़ूँ) आसन से बैठने एवं घोड़े की

१. 'स्यान्मूत्रमेकः कफजम्' इति पा०।
२. 'क्रुमेस्तृणादिक्षणनव्यवाय' इति पा०।

नंगी पीठ पर चढ़कर सवारी करने से गुद के पार्श्व में एक पिडका पैदा हो जाती है। जिसमें अत्यन्त पीड़ा होती है। पकने के बाद जब वह पिडका फूट जाती है, तब उसे भगन्दर कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने भगन्दर को इस प्रकार परिभाषित किया है—'ते तु भगगुदबस्तिप्रदेशदारणाच्च 'भगन्दरा' इत्युच्यन्ते। अभिन्नाः पिडकाः, भिन्नास्तु भगन्दराः'। सु० नि० अ० ४।३। सुश्रुत ने इसके पाँच भेद तथा वाग्भट ने तीन भेद और माने हैं। **सुश्रुतोक्त पाँच भेद**—१. वातज शतपोनक, २. पित्तज उष्ट्रग्रीव, ३. कफज परिस्रावी, ४. सन्निपात शम्बूकावर्त, ५. आगन्तुज उन्मार्गी। **वाग्भटोक्त तीन भेद**—१. वातपित्त-जनित परिक्षेपी, २. वातकफ-जनित ऋजु, ३. कफपित्त-जनित अर्शोज भगन्दर। इस सम्बन्ध में सु० नि० अ० ४। श्लोक १०, ११, १२ का भी अवलोकन कर लें। **साध्यासाध्य-विवेक**—'घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः। तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः' ॥ सु० नि० अ० ४।१३।

भगन्दर का सामान्य रूप—'गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत्। भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः, स च पञ्चविधो मतः' ॥ मा० नि० ४६।१। **भोज के अनुसार**—भगं परिसमन्ताच्च गुदं बस्तिं तथैव च। भगवद् दारयेद् यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः' ॥ भोजसंहिता। वृद्धवाग्भट ने साधुगर्हण को भी भगन्दर का एक कारण माना है।

ध्यान दें—गुद के आस-पास होने वाली सभी पिडकाएँ भगन्दर का कारण नहीं होती हैं। इसको स्पष्ट करते हुए महर्षि सुश्रुत कहते हैं—'तेषां पूर्वरूपाणि कटीकपालवेदना कण्डूः दाहः शोफश्च गुदस्य भवति'। सु० नि० अ० ४।४। अर्थात् भगन्दर पिडका उत्पन्न होने के पहले कटी की कपालास्थियों (नितम्बास्थि-त्रिकास्थियों) में वेदना, गुद-प्रदेश में खुजली, जलन एवं शोथ हो जाता है।

भगन्दर रोग का संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १२। सु० नि० अ० ४ तथा सु० चि० नि० ८। अ० सं० उ० अ० ३३। अ० हृ० उ० अ० २८।

भगन्दर को एलोपैथिक साहित्य में 'Fistula in ano' कहते हैं। केवल फिश्चुला नालव्रण या नाड़ी-व्रण (Sinus) या नासूर की सूचना देता है। आधुनिक दृष्टि से इसके तीन भेद माने गये हैं—१. पूर्ण, जो मलाशय से लेकर गुद मार्ग तक हो, २. अन्तर्मुख और ३. बहिर्मुख।

विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः।
स्यात् क्षारसूत्रेण [१]सुपाचितेन च्छिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा ॥ ९७ ॥

भगन्दर की चिकित्सा—इसमें सर्वप्रथम विरेचन करायें। उसके बाद एषणी (Sharp-proves) नामक यन्त्र से उसकी गति का पता लगायें, कि घाव भीतर ही भीतर कितनी दूर तक हुआ है। ठीक-ठीक पता लग जाने पर उसका पाटन करें (उस स्थान पर चीरा लगायें), तब उचित शोधन-विधि से व्रण के स्थान का शोधन हो जाये तब गरम किये हुए तेल को उस व्रण में डालकर दाह-क्रिया करें। अथवा सुपाचित क्षारसूत्र से उस व्रण को बाँध दें। जब इस क्षारसूत्र के प्रयोग से उस व्रण का भेदन हो जाये तब व्रण की भाँति इसकी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—आचार्य आत्रेय ने शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि कर्मों का भार धन्वन्तरि-सम्प्रदाय को सौंप दिया है, किन्तु कायचिकित्सा का क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। काय शब्द का अर्थ भी यही होता है, यथा—'कायति शब्दं करोति, इति कायो जाठराग्निः। अंगुलिविहिते कर्णयुगले 'धुक्' इति शब्दश्रवणात्, तात्स्थ्याद् वा कायशब्देन अग्निरुच्यते'। उक्तं च भोजेन—'जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते। यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः' ॥ इसी का समर्थन महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार किया है—'शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः। रोगी स्याद् विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते' ॥ च० चि० अ० १५।४। अतः कायाग्नि से सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक रोग का वर्णन करना इनके लिए अनिवार्य है। तदनन्तर जो इनके अधिकार से बाहर के रोग हैं, उनका सूत्ररूप में ये निर्देश अवश्य कर दिया करते हैं।

१. 'सुपाटितस्य भिन्नस्य' इति पा०

उक्त श्लोक में कायचिकित्सा की दृष्टि से विरेचन शब्द को छोड़कर शेष सभी शब्दों का व्याख्यान यहाँ अपेक्षित है। **एषण**—इसका अर्थ है—ढूँढ़ना, जहाँ 'एषणी' शब्द का प्रयोग है, वह यन्त्र-विशेष है, जिसे व्रण के भीतर डालकर यह देखा जाता है कि किस ओर और कितनी दूर तक व्रण का विस्तार हुआ है, तदनुसार व्रण की पाटन-क्रिया (चीरा लगाना) की जाती है। यह चीरा किस प्रकार का होना चाहिए, इसके लिए देखें—सु० सू० अ० ५।८। पाटनक्रिया करने के बाद जिस-जिस ओर पूय ने भीतर से मार्ग बनाये हों उनको व्रणशोधन-विधि से शुद्धि कर लें, तदनन्तर उस व्रणस्थान की दाह-क्रिया करें। सम्यग्दग्ध का लक्षण देखें—सु० सू० अ० १२।२६। क्योंकि 'क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद् भेषज-शस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च' ॥ सु० सू० अ० १२।३। कहीं-कहीं स्थान एवं व्रण विशेष की स्थिति में क्षार की भी प्रधानता स्वीकार की गयी है, देखें—सु० सू० अ० ११।३१। **सुपाचितेन क्षारसूत्रेण**—इसके लिए विशेष रूप से सु० सू० अ० ११ का अवलोकन करें। भगन्दर रोग की सर्वतोमुखी सफल चिकित्सा करने के लिए देखें—सु० चि० अ० ८ सम्पूर्ण तथा अ० १७।

सामान्य दृष्टि से भगन्दर व्रण तीन प्रकार के होते हैं—१. **बहिर्मुख**—जिसका एक ही मुख बाहरी त्वचा में होता है। इसे अन्धा भगन्दर (Blind fistula) कहते हैं। **अन्तर्मुख**—जिसका एक ही मुख केवल गुदप्रदेश की श्लैष्मिककला (Mucous membrane) में होता है। ३. **उभयमुख**—इसका एक मुख त्वचा में और दूसरा मुख गुद की श्लैष्मिककला में होता है। एक मुख वाले भगन्दरों में एषणी शस्त्र की सहायता से दो मुख बना लिए जाते हैं, जिससे क्षारसूत्र का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। इसे 'Complete fistula' कहते हैं। क्षारसूत्र-निर्माण एवं प्रयोग-विधि को सुश्रुत नि० अ० १७ में देखें।

व्रणवच्चिकित्सा—इसकी जानकारी के लिए सु० सू० अ० ११, १२, १३, १७, १८, १९, २१, २२, २८, ३५, ३७ इन अध्यायों का मनन करें।

[१]जङ्घासु पिण्डीप्रपदोपरिष्टात् स्याच्छ्लीपदं मांसकफास्रदोषात्।
सिराकफघ्नश्च विधिः समग्रस्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ॥ ९८ ॥

श्लीपद (Filiariasis or elephatiasis)—जंघाओं में, पिंडलियों तथा पैर के उपरी भाग में मांस, कफ, रक्त के दोष से श्लीपद नामक शोथ रोग होता है।

श्लीपद-चिकित्सा—इसमें सर्वप्रथम सिरावेध कराना चाहिए और सभी प्रकार की कफनाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिए। श्लीपद-जनित शोथ के ऊपर सरसों को पीसकर उसका लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—'प्रपदोपरिष्टात्' पैर के पंजे के अगले भाग को 'प्रपद' कहते हैं। इसका तात्पर्य है—पैर के पंजे के ऊपर वाले भाग में, न कि पैर के पिछले भाग में। यहाँ दो पाठभेद उपलब्ध होते हैं—१. निर्णयसागरीय प्रति की टिप्पणी में **'जङ्घासु पिण्डीपु पदोपरिष्टात्'** यह पाठ अत्यन्त स्पष्ट है और २. श्रीजयदेव द्वारा निर्दिष्ट टिप्पणी में **'जङ्घादिपिण्डीप्रपदोपरिष्टात्'** यह पाठ भी रुचिकर है।

सुश्रुत के अनुसार—अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात, पित्त, कफदोष नीचे की ओर सरक कर वंक्षण, ऊरु, जानु तथा जंघा में अपना स्थान बनाकर कुछ समय के बाद पैरों में आकर धीरे-धीरे शोथ को पैदा कर देते हैं। इसी सूजन को श्लीपद कहते हैं। यह वात, पित्त, कफ-भेद से तीन प्रकार का होता है। देखें—सु० नि० अ० १२।१०। श्लीपद को ही फीलपाँव या हाथीपाँव कहते हैं। जब इसका वेग होता है तब रोगी को शीतज्वर भी हो जाता है। इसके विशेष लक्षणों तथा साध्यासाध्य विचार के लिए देखें—सु० नि० अ० १२ श्लोक ११ से १५ तक।

पुष्कलावत के अनुसार—'ग्रीवावङ्क्षणजङ्घोष्ठपादकर्णकराश्रयम्। श्लीपदं मांसमेदोभ्यां श्लेष्मणा च विशेषतः' ॥ श्रीपुरुषोत्तम देव ने त्रिकाण्डशेष कोष में श्लीपद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—'श्लीपदम्—श्रीयुक्तं वृद्धियुक्तं पदम्'। इसका पर्याय दिया है—'पादगण्डीर'। गण्डीर का अर्थ होता है अनेक गाँठों से युक्त।

१. 'जङ्घासु पिण्डीपु पदोपरिष्टात' इति पा०।

श्लीपद संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १२। सु० नि० अ० १२। सु० चि० अ० १९। अ० सं० उ० अ० ३४। अ० हृ० उ० अ० ३०। माधवनिदान प्र० ३९।

चिकित्सकीय अनुभव—यह रोग प्रायः जांगल और साधारण देशों में नहीं देखा जाता। श्लीपद का शोथ वंक्षण की कौड़ी से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे ऊरु, जानु, जंघा, गुल्फ तथा पाँव या पाँवों तक व्याप्त हो जाता है। प्रायः यह एक पाँव में ही देखा जाता है, कभी-कभी किसी के दोनों पाँवों में भी हो जाता है। इतना ही नहीं इसका प्रकोप कभी-कभी ऊपरी अवयवों (लिंग, भगोष्ठ, हाथ, कान, होंठ, नासिका) में भी होता है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है, किन्तु इस मत को वृद्धवाग्भट स्वीकार नहीं करते।

कुछ विद्वान् श्लीपद रोग का कारण फाइलेरिया (Filaria) नामक कीटाणु को मानते हैं और सहायक कारण के रूप में क्यूलेक्स (Culex) नामक मच्छर को मानते हैं, जो इसको एक से दूसरे में फैलने या फैलाने का कार्य करता है। दूसरे विद्वान् माइक्रोफाइलेरिया (Microfilaria) नामक जीवाणु को इसका मूल उत्पादक कारण मानते हैं। इसमें पुरुष-क्रिमि तथा स्त्री-क्रिमि भी होते हैं। पुरुष-क्रिमि स्त्री-क्रिमियों की अपेक्षा छोटे होते हैं। ये दोनों ही प्रकार के क्रिमि लसीकावाहिनियों में इकट्ठा हो जाते हैं। ये क्रिमि दिन में परिसरीय रक्त (Peripheral blood) में नहीं रहते, सायंकाल होते ही ये परस्पर जुटने लगते हैं। पुरुष-क्रिमि बालों के समान पतले फीते के समान १½–२ इंच लम्बे और स्त्री-क्रिमि ३-४ इंच लम्बे होते हैं। अतः इस रोग की रक्त-परीक्षा के लिए रक्त का ग्रहण अर्धरात्रि में किया जाता है। मध्यरात्रि में लिये गये एक बूंद रक्त में ये क्रिमि ३०० से ६०० तक की संख्या में पाये जाते हैं। दिन के समान ये क्रिमि फेफड़े तथा वृक्क में पहुँच जाते हैं। इसके कारण रोगी को ज्वर, वंक्षणों में वेदना, शोथ तथा पैरों में सूजन का अनुभव होता है। एलोपैथिक दृष्टि-कोण से फाइलेरिया के ५ भेद होते हैं, जिनका उल्लेख श्लोक ९४ के वक्तव्य में किया गया है।

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा दोषाः सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्।
कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पणं जालकगर्दभाख्यम्॥ ९९॥

जालकगर्दभ—अपने प्रदूषक कारणों से दूषित हुए पित्त-प्रधान तथा मन्द (कम बढ़े हुए) वात, कफ दोष जब अत्यन्त तीव्र शोथ को पैदा करते हैं, तब यह शोथ पतला दिखलायी देता है और इसमें रक्त का पाक होता है। ऐसे शोथ से युक्त पुरुष में बार-बार ज्वर का आना, प्यास का लगना आदि लक्षण दिखलायी देते हैं। यह शोथ फैलने वाला होता है। इसका नाम जालकगर्दभ है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने ४४ क्षुद्ररोगों में इसका भी परिगणन किया है। चरक ने एक गर्दभरोग का वर्णन किया है, सुश्रुत ने दो गर्दभों (पाषाणगर्दभ और जालगर्दभ) का और एक गर्दभिका का भी उल्लेख किया है। समाज की भाँति रोगों में भी गर्दभ-गर्दभी की आवश्यकता का शास्त्रकारों ने अनुभव किया है। देखें—सु० नि० अ० १३।३,१३-१४। गर्दभिका का समर्थन आचार्य गयी ने किया है। इसी का समर्थन आचार्य माधवकर ने भी क्षुद्ररोग-निदान, अ० ५५ श्लोक ९-१२ में किया है। श्री चक्रपाणि लिखते हैं—'अपाकवानिति ईषत्पाकवान्', क्योंकि 'नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' के अनुसार 'नञ्' का एक अर्थ 'ईषत्' भी होता है। इसको सुश्रुत ने इस प्रकार समर्थन दिया है—'अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः'। सु० नि० अ० १३। **भोज के अनुसार**—'पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः। श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम्॥ विसर्पिणं स दाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम्। विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्'॥ भोज-संहिता। **जतुकर्ण के अनुसार**-'पित्ताधिकस्तत्र तीव्रदाहो रक्तपाको विसर्पज्वरकरो जालगर्दभः'। इति।

ऊपर भोजने इसे विसर्प का ही एक भेद माना है। वाग्भट ने भी अ० हृ० उ० अ० ३२।५ में 'विकृता-दींस्तु जालान्तांश्चिकित्सेदिरिवेल्लिकाम्। पित्तवीसर्पवत्' कहा है। महर्षि आत्रेय और जतूकर्ण ने जालगर्दभ में रक्त का पाक होता है, ऐसा स्वीकार किया है। इसी का समर्थन वाग्भट ने इस प्रकार किया है—'कफजेषु तु शोफेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक्। पक्वलिङ्गं ततोऽस्पष्टं यत्र स्याच्छीतशोफता॥ त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वं घनस्पर्शत्वमश्मवत्। रक्तपाकमिति ब्रूयात्। अ० हृ० सू० अ० २९।८-९। इस का वर्णन वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार किया

है—'कफजेषु तु शोफेषु केषुचित् गम्भीरत्वाद् रक्तमेव विपच्यते। ततश्चास्पष्टं पक्वलिङ्गं भवति। यत्र हि त्वक्सा-वर्ण्यं शीतशोफताल्परुजताश्मवच्च घनता। न तत्र मोहमुपेयात्। तं रक्तपाकमित्याचक्षते'॥ अ० सं० सू० अ० ३८।१०।

विशेष वक्तव्य—कुछ गम्भीर कफज शोफों में केवल रक्तपाक होता है, परन्तु वात एवं पित्तदोषों के शूल और दाह आदि लक्षण जो अ० हृ० सू० अ० २९ के छठे श्लोक में तथा सु० सू० अ० १७ श्लोक ७ में वर्णित हैं, उनके व्यक्त न होने से पाक के लक्षण जो इसी प्रकरण में ऊपर श्लोक ५ में कहे गये हैं, स्पष्ट नहीं होते। क्योंकि जहाँ-जहाँ आदि आमशोथ के लक्षण हों, वहाँ-वहाँ शोथ को आम (अपक्व) ही समझते रहना जैसी भूल न करें। इस विषय को भगवान् धन्वन्तरि ने 'स यदा…वेति' (सु० सू० अ० १७।९) का स्पष्ट निर्देश किया है। रक्तपाक में गम्भीर पाक होता है। इसका समर्थन तन्त्रकार, सुश्रुत तथा जतुकर्ण आदि ने किया है, प्रकरणानुसार यही युक्ति-युक्त भी है।

एलोपैथिक चिकित्सक जालगर्दभक को संयोजक ऊतिशोथ (Cellulitis) कहते हैं।

विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च।
धात्रीप्रयोगाञ्छिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात् सदा जालकगर्दभस्य॥ १००॥

जालकगर्दभ की चिकित्सा—इस रोग में आवश्यकतानुसार लंघन (उपवास या लघु भोजन), जोंक द्वारा रक्तमोक्षण, रूक्षता उत्पन्न करने वाले आहारों का सेवन, विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि, धात्री (आँवला या इससे बने हुए च्यवनप्राश आदि) के विविध प्रयोग तथा शीतल द्रव्यों के प्रलेपों (लेपों) का सदा प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने उक्त श्लोक में **'विलङ्घनं'** के स्थान पर **'विलेपनं'** शब्द का प्रयोग किया है, जब कि इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आगे इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में **'प्रदेहान्'** पद का प्रयोग है ही। अष्टांगहृदय उ० अ० ३२।६ में यह श्लोक अविकल रूप से उद्धृत किया गया है, इसमें श्री जयदेव के पाठ का अनुकरण न करके **'विलङ्घनं'** पाठ को ही महत्त्व दिया गया है, जो सर्वथा उचित है।

सुश्रुत में जालगर्दभ रोग के सम्बन्ध में कहा गया है—'विसर्पवत्सर्पति' देखें—सु० नि० अ० १३।१४। अष्टांगहृदय उ० अ० ३२ श्लोक ५ में निर्देश दिया है कि विवृता, मसूरिका, विस्फोट, विद्धा, गर्दभी, कक्षा, गन्धनामा, राजिका, जालगर्दभ तथा इरिवेल्लिका नामक रोगों की चिकित्सा पित्तविसर्प की भांति करें। इसका उल्लेख अ० हृ० चि० अ० १८ में है।

एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य शोथप्रकाराननिलादिलिङ्गैः।
शान्तिं नयेद् दोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदनभेददाहैः॥ १०१॥

अनुक्त शोथ-चिकित्सा-सूत्र—इस प्रकार के जो अन्य शोथ हों उनकी वात, पित्त, कफ दोषों के लक्षणों के आधार पर भली-भाँति परीक्षा करके उस-उस दोष के नाशक आलेपन, छेदन, भेदन, दाह (क्षारसूत्र-प्रयोगों) द्वारा उनकी शान्ति (चिकित्सा) करे।

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः शोथं सरागं प्रकरोति तत्र।
वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म॥ १०२॥

आगन्तुक शोथ-निदान—प्रायः अभिघात (चोट) आदि के कारण जिस स्थान पर उसका प्रभाव हो वहाँ कुपित हुई वायु रक्त के साथ राग (लालिमा) युक्त शोथ को पैदा कर देती है।

आगन्तुक शोथ-चिकित्सा-सूत्र—वीसर्पनुत (विसर्परोग-नाशक), वातनाशक तथा दुष्टरक्त-शोधक औषधद्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए और विषजनित शोथ में विषनाशक औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर जालगर्दभ की चिकित्सा के वक्तव्य में 'वीसर्पनुत' के सम्बन्ध में जो अभिप्राय व्यक्त किया है, तदनुसार इसमें भी व्यवहार करें।

तत्र श्लोकः—

त्रिविधस्य[1] दोषभेदात् सर्वार्धावयवगात्रभेदाच्च ।
श्वयथोर्द्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितं चोक्तम् ॥ १०३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सितस्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

दोषभेद तथा शरीरावयव भेद से विचार—उस (शोथ) विषय में एक श्लोक है—दोषभेद से एक प्रकार, समस्त शरीर-भेद से, अर्ध शरीर-भेद से तथा अवयव भेद से उत्पन्न तीन प्रकार के तथा निज, आगन्तुज भेद से दो प्रकार से होने वाले शोथरोग के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत अध्याय में कर दिया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में श्वयथुचिकित्सित नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

श्वयथु-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम उदररोग-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—उदर की सीमा के अन्तर्गत अनेक शरीरावयवों, जैसे—क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र, यकृत्, प्लीहा आदि का समावेश होता है। इन अवयवों में होने वाले रोगों को उदर-रोग कहते हैं। यद्यपि अतिसार, ग्रहणी-रोग, शूल आदि अनेक उदर-रोग होते हैं, किन्तु वे उदर के अवयव विशेष में होते हैं और मूलतः यहाँ जिन्हें उदर-रोग की संज्ञा दी गयी है, वे उदर के यकृत्, अन्त्र (क्षुद्र तथा बृहद्) तथा हृदय आदि मध्यकाय में स्थित सभी अवयवों की विकृति से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि महर्षि आत्रेयोक्त 'उदरचिकित्सितं' शब्द उसी अर्थ का प्रतिपादक है, तथापि महर्षि सुश्रुत ने उसी विषय को 'उदराणां चिकित्सितं' इस प्रकार कहा है। जिस प्रकार प्रमेह रोग आरम्भ में ही उचित चिकित्सा करने से शीघ्र शान्त हो जाता है, ठीक यही स्थिति उदररोगों की भी है।

महर्षि आत्रेय ने उदर रोग का मूल कारण जठराग्नि का दोषयुक्त होना अथवा उसका मन्द पड़ जाना स्वीकार किया है। देखें—'वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः'। च० सू० अ० ६।३४। इसी का समर्थन वाग्भट ने इस प्रकार किया है—'रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि तु। अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसञ्चयात्'। अ० हृ० नि० अ० १२।१।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १३। सु० नि० अ० ७। सु० चि० अ० १४। अ० सं० चि० अ० १७। अ० हृ० नि० अ० १२। अ० हृ० चि० अ० १५। माधवनिदान ३५।

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे। तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ॥३॥

१. 'त्रिविधस्य' इति पा०।

आयुर्वेदविदां श्रेष्ठं भिषग्विद्याप्रवर्तकम्। पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद् वचः ॥४॥
भगवन्नुदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः। शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः ॥५॥
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः। दीनाः प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूननाथवत् ॥६॥
तेषामायतनं सङ्ख्यां प्राग्रूपाकृतिभेषजम्। यथावच्छ्रोतुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम् ॥७॥

उदररोग की प्रस्तावना—चारों ओर से सिद्ध तथा विद्याधरों (देवयोनि-विशेषों) से व्याप्त देवराज इन्द्र के बगीचे के सदृश सुरम्य कैलासपर्वत पर निवास करते हुए कठिनतम तपस्या करने वाले साक्षात् धर्म के समान विराजमान, आयुर्वेदविदों में उत्तम तथा आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तक (यहाँ महर्षि आत्रेय के लिए यह विशेषण अग्निवेश द्वारा प्रयुक्त है, क्योंकि आयुर्वेद के प्रवर्तकों की एक लम्बी परम्परा इनके पहले से चली आ रही है) तथा जितेन्द्रिय आचार्य पुनर्वसु से उनके शिष्य अग्निवेश ने इन (निम्नलिखित) वचनों को कहा—हे भगवन्! दुःखदायक उदररोगों से पीड़ित मनुष्य इस प्रकार देखे जाते हैं—जिनके मुख सूख गये हैं, जो शरीर से कृश हैं, उदर (इसकी परिधि का परिचय हम ऊपर के वक्तव्य में दे चुके हैं) तथा कुक्षि (यद्यपि कोषकारों के अनुसार यह भी उदर का ही पर्याय है, फिर भी यह अपना विशेष स्थान रखता है। देखें—'कुष्यते निष्कास्यते मलोऽस्मात्', यहाँ इसका सम्बन्ध बृहदन्त्र से है) में आध्मान से युक्त हैं, जिनकी अग्नि मन्द पड़ गयी है, शारीरिक बल का ह्रास हो गया है, जो पूर्ण आहार नहीं कर पा रहे हैं (दूसरे टीकाकारों ने—अग्निबल का नाश हो गया है—ऐसा अर्थ किया है, वह भी ठीक ही है। वैसे यहाँ अग्नि, बल, आहार—इन तीनों के साथ प्रनष्ट का सम्बन्ध मानना अधिक उपयुक्त है), सभी प्रकार की (शारीरिक तथा मानसिक) चेष्टाओं को करने में असमर्थ दिखलायी दे रहे हैं, वे दीन (शारीरिक शक्तिरूपी धन से रहित) मनुष्य प्रतिक्रिया (चिकित्सा) के अभाव के कारण अनाथ की भाँति अपने प्राणधन का नाश कर देते हैं। अतः गुरुजी द्वारा विधिवत् कहे गये उन उदररोगों के कारण, संख्या (भेद), पूर्वरूप, आकृति (लक्षण) तथा चिकित्सा को मैं विधिवत् सुनना चाहता हूँ। अर्थात् यहाँ गुरु आत्रेय पुनर्वसु से अग्निवेश ने उदररोगों की निदानपूर्वक चिकित्सा को जानना चाहा है।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान १९वें अध्याय का नाम ही 'अष्टोदरीय' है। इसका आरम्भ भी **'इह खलु द्विर्बुद्धं सुबद्धं भवति' ष्टावुदराणि'** इसी वाक्य से हुआ है। यहाँ पुनः उससे सम्बन्धित अग्निवेश का प्रश्न इस न्याय से अथवा प्रकरण के अनुरोध से किया गया है। यह तन्त्रकार की अपनी शैली है। इसी विषय का प्रतिपादन आचार्य चक्रपाणि ने भी अपनी टीका में किया है।

सर्वभूतहितार्थाय शिष्येणैवं प्रचोदितः। सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥८॥

उपदेश का आरम्भ—अग्निवेश (शिष्य) द्वारा इस प्रकार अनुनय-विनय के साथ प्रेरित महर्षि आत्रेय सभी प्राणियों के लिए हितकर वाक्य (एक-एक विषय) को कहने लगे।

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः। मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥९॥
मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसञ्चयः। प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ॥
त्वङ्मांसान्तरमागम्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम्। जनयत्युदरं तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥११॥

उदररोग की सामान्य सम्प्राप्ति—जठराग्नि के दूषित हो जाने से तथा मल (वात आदि दोष, क्योंकि—'मलिनीकरणान्मलाः' अथवा मल, मूत्र आदि) की वृद्धि हो जाने से अनेक प्रकार के रोगसमूह मनुष्यों में उत्पन्न हो जाते हैं। उनमें भी विशेषरूप (अग्नि के मन्द पड़ जाने तथा मलों की वृद्धि हो जाने) से उदर रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। मलिन (दोषों को उत्पन्न करने वाले) आहारों के निरन्तर सेवन करने से अग्नि के मन्द पड़ जाने पर जब आहार द्रव्यों का विधिवत् पाचन नहीं हो पाता, तब उदर-प्रदेश में दोषों का संचय होने लगता है। वह संचित दोषसमूह प्राणवायु, पाचकाग्नि तथा अपानवायु को विशेषरूप से दूषित करके उनके नीचे एवं ऊपर के मार्गों को रोककर वह दोषसमूह त्वचा एवं मांस के बीच में आकर कुक्षि-प्रदेश में आध्मान (अफारा) उत्पन्न कर उदररोग को उत्पन्न कर देते हैं। उस उदर रोग के लक्षण सहित कारण को सुनो।

वक्तव्य—प्रायः सभी रोग मन्दाग्नि होने पर उत्पन्न होते हैं, परन्तु उदररोग तो मन्दाग्नि होने पर प्रायः हो ही जाते हैं और अजीर्ण होने से, मलिन आहारों के सेवन करने तथा उदर में मल का संचय होने से उदर रोग होते हैं। देखें—अ० हृ० नि० अ० १२।१। मधुकोष टीकाकार लिखते हैं—'उदरोत्सेधसाधर्म्यादुदर-निदानम्'। इसी को आधुनिक विद्वान् औदरिक वृद्धि (Abdominal enlargement) कहते हैं। नाभि और स्तनों के मध्यभाग को उदर कहा गया है। इसी के बीच में यकृत्, प्लीहा, वस्ति, गर्भाशय आदि अंगों का समावेश होता है। इनमें किसी प्रकार का आध्मान होता है तो उसे उदररोग कहते हैं। सुश्रुत के अनुसार उदर रोग के लिए देखें—सु० नि० अ० ७।५-६।

अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्। मिथ्यासंसर्जनाद् रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात् ॥१२॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्शनात् कर्मविभ्रमात्। क्लिष्टानामप्रतीकाराद्रौक्ष्याद्वेगविधारणात् ॥१३॥
स्रोतसां दूषणादामात् सङ्क्षोभादतिपूरणात्। अर्शोबालशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात् ॥१४॥
अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्। उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥१५॥

उदररोग का निदान—अत्यन्त उष्ण, लवण, क्षार, विदाहकारक अन्न, अम्लरस, गर पदार्थों का भक्षण करने से, वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर का संशोधन करने के बाद अनुचित रूप से संसर्जन क्रम (पेया, विलेपी आदि का सेवन) करने से, रूक्ष (स्निग्ध पदार्थों से रहित), विरुद्ध, अपवित्र भोजन करने से, प्लीहा, अर्श, ग्रहणी रोग द्वारा शरीर के अत्यन्त कमजोर हो जाने से, कर्म (वमन, विरेचन आदि जिनका पञ्चकर्म में प्रयोग होता है, उन) के विभ्रम (उचित प्रकार से न करने) के कारण, क्लिष्ट (कठिन रोगों) की उचित प्रकार से चिकित्सा न करने से, रूक्षता के कारण, अधारणीय मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से, स्रोतों के दूषित होने से, भोजन के भली-भाँति न पचने से, संक्षोभ (क्षुभसञ्चलने धातु से क्षोभ शब्द की निष्पत्ति होती है, इसका तात्पर्य है—सवारी द्वारा ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलने) से, अतिपूरण (भक्ष्य पदार्थों से पेट को अधिक भर लेने) से, अर्श के अंकुरों से, बाल के कारण, मल के रुक जाने से, आँत के फूट जाने या फट जाने से, जिनके शरीर में वात आदि दोषों का अधिक संचय हो गया है, जो पाप-कर्म करते हों और विशेष करके जिनकी जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो, उन्हें उदररोग पैदा हो जाते हैं।

वक्तव्य—उदररोगों का वर्णन सभी आयुर्वेदीय संहिताओं में प्रायः समान रूप से देखा जाता है। **गर**—अष्टाङ्गहृदय उ० अ० ३५ में अनेक प्रकार के विषों तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है। इसमें गरविष के लिए देखें—श्लोक ४८ से ५९ तक। और भी देखें—च० चि० अ० २३। सु० क० अ० २। अ० सं० उ० अ० ४०। इसकी गणना उपविषों में की जाती है। इसी को संयोगज विष भी कहते हैं।

मिथ्यासंसर्जन—'हृतदोषो हिमं स्वादु स्निग्धं संसर्जनं भजेत्'। अ० हृ० चि० अ० ३।२८। संसर्जन की विशेष विधि का वर्णन अ० हृ० सू० अ० १८ में देखें। इस विधि से विपरीत क्रम को मिथ्यासंसर्जन कहते हैं।

अतिपूरण—इसकी चर्चा माधवकर ने इस प्रकार की है—'अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि'॥ माधवनिदान ६।१४। यहाँ 'अप्रमाणतः पशुवद् भुञ्जते' यह वाक्य उक्त 'अतिपूरण' का ही वाचक है।

अर्शोबालशकृद्रोधात्—इस वाक्य में 'बाल' शब्द विचार करने के लिए बाध्य कर रहा है। चक्रपाणि प्रभृति प्राचीन टीकाकार इसके व्याख्यान में मौन हैं। परवर्ती टीकाकारों में किसी ने 'अर्श या वातदोष के कारण मल के रुक जाने से' ऐसा अर्थ किया है, जो सर्वथा निराधार है। श्रीजयदेव कृत चरकसंहिता की टिप्पणी में एक पाठभेद इस प्रकार दिया है—**'अर्शोवलिशकृद्रोधाद्'** यह 'वलि' शब्द मुद्रण की असावधानी से 'बाल' रूप धारण कर सकता है। यहाँ 'वलि' या 'बलि' शब्द तीन गुदवलियों के लिए प्रयुक्त है, यह प्रकरणोचित भी है। इन वलियों का वर्णन सु० नि० अ० २।५ में देखें।

यदि हम पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा समादृत अतएव मूलपाठ में उद्धृत 'बाल' पर विचार करते हैं, तो यह 'बाल' शब्द हमें मूढगर्भ की याद दिलाता है। उदररोग स्त्री-पुरुष दोनों को ही होते हैं। यह गर्भस्थ मूढ (सही ढंग से योनिमार्ग की ओर प्रवृत्त न हुआ) बाल (शिशु) जब योनिद्वार में आकर अटक जाता है, तो इससे योनि, उदर आदि में पीड़ा और मूत्रावरोध हो जाता है। जिनकी गणना उदररोग में की जाती है।

'बालरोधात्' का एक समाधान इस प्रकार भी किया जा सकता है, अन्यथा हमारी दृष्टि से उपर्युक्त पाठभेद ही आदरणीय है।

क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात्। भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः। शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥१७॥
वृद्धिः [1]पुरीषनिचयो रूक्षोदावर्तहेतुका। वस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाट्यतेऽपि च ॥१८॥
आतन्यते च [2]जठरमपि लघ्वल्पभोजनात्। राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥

उदररोग के पूर्वरूप—भूख न लगना, मुख का मीठा (फीका) स्वाद, स्निग्ध (तेल-घी की अधिकता से युक्त खाद्य पदार्थ) तथा गुरु (देर में पचने वाले मलाई, रबड़ी आदि) भोज्यों का अधिक देर से पचना, सभी प्रकार के खाये हुए भोजन का विदग्ध हो जाना (भोजन करने के बाद गले में जलन-सी प्रतीत होना), भोजन पच गया है या नहीं इसका ज्ञान न होना, अधिक तृप्तिपूर्वक खाये हुए भोजन को सहन न कर पाना, दोनों पैरों में थोड़ा-थोड़ा सूजन का होना, बल का निरन्तर घटते जाना, थोड़े से भी व्यायाम या परिश्रम का कार्य कर देने पर श्वास का प्रमाण से अधिक चलना, रूक्षता तथा उदावर्त (इस रोग में मल, मूत्र तथा वायु में रुकावट आ जाने) के कारण उदर-वृद्धि हो जाना, आँतों में मल का संचय होना, वस्तिसन्धि में पीडा, आध्मान (पेट का फूलना या आनाह—देखें सु० नि० अ० १।८८), फटने की-सी पीड़ा का होना, लघु (सुपच), अल्प (प्रमाण में कम) भोजन करने पर भी पेट का तना रहना, उदर के ऊपर रेखाओं का पैदा होना, पेट के ऊपर दिखलायी देने वाली बलियों (झुर्रियों) का न दिखलायी देना—ये लक्षण होने वाले उदररोगों के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता नि० अ० ७।७ में दिये गये पूर्वरूपों का भी अवलोकन कर लें। यथावसर आगे कहे जाने वाले सभी विषयों का समन्वय उक्त निर्दिष्ट सन्दर्भ-संकेतों के आधार पर स्वयं भी कर लेना चाहिए।

प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥
रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः।

उदररोग की सम्प्राप्ति—उदर-प्रदेश में संचित हुए वात आदि दोष स्वेदवाही तथा जलवाही स्रोतों को रोककर, प्राणवायु, जठराग्नि तथा अपानवायु को दूषित कर मनुष्यों के शरीर में उदररोग को पैदा कर देते हैं।

वक्तव्य—स्वेदवह स्रोतस् तथा अम्बु(उदक)वह स्रोतस् का परिचय चरक ने इस प्रकार दिया है—'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च' तथा 'स्वेदवहानां स्रोतसां मेदोमूलं लोमकूपाश्च'। च० वि० अ० ५।८। यह गद्य उक्त प्रकार से है। श्रीचक्रपाणि ने उक्त गद्य को जैसे उद्धृत किया है, वह उनका कामचार है या सम्पादकों का प्रमाद है। **सुश्रुत के अनुसार**—'उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च' और 'मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटीवृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च'। सु० शा० अ० ९।१२। सामान्य सम्प्राप्ति में उक्त लक्षणों का वर्णन नहीं किया गया था, अतः यहाँ इनका निर्देश कर दिया गया है।

मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम् ॥
कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च।

उदररोग का सामान्य लक्षण—कुक्षि (उदर) में आध्मान, आटोप (वेदनायुक्त गुड़-गुड़ शब्द—मा० नि० तथा मा० प्र०), हाथ-पैरों में शोथ, अग्नि का मन्द पड़ जाना, गण्डस्थल का चिकनापन, उदर के अतिरिक्त शेष शरीर में कृशता—ये उदररोग के लक्षण हैं।

वक्तव्य—माधवकर ने उदररोग के सामान्य लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'आध्मानं गमने-ऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता। शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः॥ दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि'। माधवनिदान ३५।३।

---

1. 'पुरीषनिचये' इति पा०।
2. 'जठरं लघ्वल्पैर्भोजनैरपि' इति पा०।

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः । सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥२२॥

उदररोग की संख्या एवं सम्प्राप्ति—अलग-अलग दोषों से तीन—१. वातोदर, २. पित्तोदर, ३. कफोदर तथा ४. सन्निपातोदर, ५. प्लीहोदर, ६. बद्धोदर, ७. क्षतोदर, ८. जलोदर—इस प्रकार आठ उदररोग होते हैं। उनके अलग-अलग लक्षणों को सुनो।

वक्तव्य—संख्या में तो आठ उदररोग सुश्रुत ने भी स्वीकार किये हैं, किन्तु जिसे चरक ने क्षतोदर कहा है, उसे सुश्रुत ने आगन्तुज उदररोग कहा है। अभिप्राय दोनों तन्त्रकारों का एक ही है, केवल नाम का भेद है। इसमें यकृद्दाल्युदर नामक भी एक उदररोग है, किन्तु इसे नवाँ न मानकर इसका अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही कर दिया गया है। देखें—'सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव'। सु० नि० अ० ७।१६। अर्थात् वही प्लीहोदर जब दक्षिण पार्श्व में कफ, रक्त द्वारा यकृत के दूषित होने पर 'यकृद्दाल्युदर' कहा जाता है।

निष्कर्ष—बायीं ओर की उदरवृद्धि को प्लीहोदर और दाहिनी ओर की उदरवृद्धि को यकृद्दाल्युदर कहते हैं। प्लीहा और यकृत् की स्थिति क्रमशः बायीं और दाहिनी ओर होती है। देखें—'प्लीहामयस्य हेत्वादि समस्तं यकृदामये। किन्तु स्थितिस्तयोर्ज्ञेया वामदक्षिणपार्श्वयोः' ॥ भा० प्र० म० खं० प्लीहयकृदधिकार ९।

रूक्षाल्पभोजनायासवेगोदावर्तकर्शनैः । वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्बस्तिगुदमार्गगः ॥२३॥
हत्वाऽग्निं कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्ततः । आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ॥२४॥

वातोदर के हेतु तथा सम्प्राप्ति—रूखे पदार्थों का खाना, अल्प भोजन, आयास (परिश्रम), अधारणीय (मल-मूत्र आदि के) वेगों को रोकने से, उदावर्त से, और भी शरीर को कृश करने वाले कारणों से कुक्षि, हृदय, बस्ति तथा गुद-प्रदेश में गयी हुई प्रकुपित वायु जठराग्नि को मन्द करके, कफदोष को अपने स्थान से हटाकर स्वयं उसी से मार्ग के रुक जाने के कारण त्वचा और मांस के बीच में अपना आश्रय बनाकर वह वायु उस मनुष्य के उदर की वृद्धि कर देती है।

तस्य रूपाणि—कुक्षिपाणिपादवृषणश्वयथुः, उदरविपाटनम्, अनियतौ च वृद्धिह्रासौ, कुक्षिपार्श्वशूलोदावर्ताङ्गमर्दपर्वभेदशुष्ककासकार्श्यदौर्बल्यारोचकाविपाकाः, अधोगुरुत्वं, वातवर्चोमूत्रसङ्गः, श्यावारुणत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं तन्वसितराजीसिरासन्ततम्, आहतमाध्मातदृतिशब्दवद्भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूलशब्दश्चरति, एतद् वातोदरमिति विद्यात् ॥२५॥

वातोदर के लक्षण—कुक्षि, हाथ, पैर, वृषणों (दोनों अण्डकोषों) में शोथ, उदर-प्रदेश में फटने के समान वेदना, अनिश्चित रूप से शोथ का कभी बढ़ जाना और कभी घट जाना (यह वृद्धि तथा ह्रास का क्रम उदर, हाथ, पैर तथा वृषणों में समान रूप से समझना चाहिए, न कि केवल उदर-प्रदेश में, क्योंकि वायु का एक गुण 'चल' है; किन्तु श्रीचक्रपाणि ने केवल उदर का वृद्धि-ह्रास माना है, जो विचारणीय है), कुक्षि तथा पसलियों में शूल, उदावर्त, अंगमर्द (अंगों में मसलने के समान वेदना), संधियों में फटने की-सी पीड़ा, सूखी खाँसी का आना (इसमें बहुत खाँसने पर भी कफ नहीं निकलता), शरीर में कृशता, शरीर का दुर्बल होना, भोजन के प्रति अरुचि, अविपाक (खाये हुए भोजन का न पचना), उदर के निचले भाग में भारीपन, अपानवायु, मल-मूत्र त्यागने में रुकावट, नाखूनों, आँखों, वदन (मुख-प्रदेश), त्वचा, मूत्र तथा मल के वर्ण का श्याव (Dark brown) तथा अरुण (Reddish brown) होना, सम्पूर्ण उदर में पतली तथा काले रंग की रेखाओं के रूप में फैली हुई सिराओं का दिखलायी देना, पेट के ऊपर अंगुलियों से ठोकने पर हवा से भरी हुई दृति (A leathern bag for holding water) के समान शब्द होना, सम्पूर्ण उदर में वायु ऊपर, नीचे तथा तिरछे शूल तथा शब्द को करती हुई विचरण करती है। इन लक्षणों से युक्त इस रोग को वातोदर समझें।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा प्रयुक्त **'एनद् वातोदरं'** यह पाठ व्याकरण की दृष्टि से अधिक आदरणीय है, अपेक्षाकृत **'एतद् वातोदरं'** से, किन्तु आगे किसी पाठ में इस नियम का पालन नहीं हुआ है। वातोदर के लक्षणों के लिए—अ० हृ० नि० अ० १२।१२-१५ देखें। माधवनिदान में भी इन्हीं श्लोकों को उद्धृत किया है। सु० नि० अ० ७।८ भी देख लें।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः । विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम् ॥२६॥
प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम् । निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः ॥२७॥

पित्तोदर-निदान तथा सम्प्राप्ति—कटु (सोंठ, मरिच, पीपल, लालमिर्च जैसे द्रव्य), अम्ल (नीबू, इमली जैसे द्रव्य), लवण (नमकीन) रसों का अधिक सेवन करने से, अति उष्ण तथा अति तीक्ष्ण आहार पदार्थों के सेवन करने से अग्नि तथा धूप का अधिक समय तक सेवन करने से, विदाह (जलन) कारक आहार पदार्थों के सेवन से, अध्यशन (भुक्तस्योपरि भोजनम्—अर्थात् पहले खाया हुआ भोजन जब तक न पचा हो, उसके पहले ही पुनः भोजन कर लेना) तथा अजीर्ण से शीघ्र संचित पित्त वात एवं कफदोष से मिलकर, उनके मार्गों को रोककर आगे बढ़ता हुआ कुपित हुआ वह पित्त आमाशय में पहुँचकर पाचकाग्नि को नष्ट करके तदनन्तर पित्तोदर की उत्पत्ति कर देता है।

तस्य रूपाणि—दाहज्वरतृष्णामूर्च्छातीसारभ्रमाः, कटुकास्यत्वं, हरितहारिद्रत्वं[1] च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं नीलपीतहारिद्रहरितताम्रराजीसिरावनद्धं, दह्यते, दूयते, धूप्यते, ऊष्मायते, स्विद्यते, क्लिद्यते, मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं च भवति, एतत् पित्तोदरमिति विद्यात् ॥२८॥

पित्तोदर के लक्षण—सम्पूर्ण शरीर में दाह, ज्वर, प्यास का अधिक लगना, मूर्च्छा (बेहोशी), अतिसार, चक्करों का आना, मुख में कडुआपन, नखों, नेत्रों, मुखमण्डल, त्वचा तथा मल-मूत्र में हरापन तथा हल्दी के सदृश पीलापन का दिखलायी देना, उदर-प्रदेश का नीली, पीली, हारिद्र, हरित तथा ताम्रवर्ण की रेखाओं से युक्त तथा सिराजाल से अवनद्ध (बँधा हुआ) जैसा दिखलायी देना; उदर में दाह का होना, वेदना का होना, पेट से धुँआ-सा उठना, पेट से गर्मी का निकलना, पसीना का होना, पेट के ऊपर गीलापन बना रहना, स्पर्श में मृदु प्रतीत होना तथा शीघ्रपाकी स्वभाव वाले लक्षणों से पित्तोदर समझना चाहिए।

वक्तव्य—हमारे विचार से **'हरित-हारिद्रत्वं च'** का यहाँ हरितवर्ण-मिश्रित हारिद्रवर्ण ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि वर्णों के परस्पर मिश्रण के अनेक प्राकृतिक तथा कृत्रिम स्वरूप देखे जाते हैं, ऐसा ही अगले गद्य खण्ड में भी ध्यान दें—**'नीलपीतहारिद्रहरितताम्र'** यहाँ **नीलपीत** और **हारिद्रहरित** वर्णों का मिश्रण कर देना अधिक उपयुक्त है, अन्यत्र भी आप पित्तज व्याधियों के वर्ण-निर्देश पर ध्यान दें, अन्यथा **पीतहारिद्र** का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। देखें—'पीतो गौरो हरिद्राभः'। अमरकोष।

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः । दधिदुग्धौदकानूपमांसैश्चाप्यतिसेवितैः ॥२९॥
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः । तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं [2]बहिरन्त्रगः ॥३०॥

कफोदर-निदान तथा सम्प्राप्ति—व्यायाम (शारीरिक श्रम) न करने से, दिन में सोने से, स्वादु पदार्थों को अधिक खाने से, अत्यन्त स्निग्ध, पिच्छिल (अरुई, घुइयाँ, पिनालू जैसे पदार्थ), दही, दूध, औदक (जलीय) प्राणियों के मांस, आनूपदेशज प्राणियों के मांस का अधिक सेवन करने से क्रुद्ध (कुपित) कफ के कारण स्रोतों के मार्ग रुक जाने से चारों ओर से घिरी हुई आन्त्रगत वायु कफ को पीड़ित करती हुई उदर रोग को उत्पन्न कर देती है।

तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्दाः, सुप्तिः, पाणिपादमुष्कोरुशोफः, उत्क्लेशनिद्राकासश्वासाः, शुक्लत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं शुक्लराजीसिरासन्ततं, गुरु, स्तिमितं, स्थिरं, कठिनं च भवति; एतच्छ्लेष्मोदरमिति विद्यात् ॥३१॥

कफोदर के लक्षण—शरीर में भारीपन, भोजन के प्रति अरुचि, खाये हुए भोजन का न पचना, अंगों में मसल देने की-सी वेदना, अंगों में शून्यता, हाथ, पैर, अण्डकोष, ऊरु में सूजन, जी मिचलाना, नींद का आना, कास तथा श्वास का होना, नख, नेत्र, मुखमण्डल, त्वचा, मल, मूत्र इनमें सफेदी का दिखलायी देना, उदर में और पेट के ऊपर सफेद वर्ण की रेखाओं तथा सिराओं का जाल जैसा बिछा हुआ दिखलायी देना,

१. 'पीतत्वम्' इति पा०।
२. 'बहिरन्तरम्' इति पा०।

भारीपन, स्तिमित (गीले कपड़े से ढँका हुआ-सा प्रतीत होना), शोथ में स्थिरता, कठिनता—ये लक्षण जिसमें होते हैं, उसे कफोदर समझना चाहिए।

दुर्बलाग्नेरपथ्यामविरोधिगुरुभोजनैः। स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः ॥३२॥
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः सञ्चयं त्रयः। शनैः कोष्ठे प्रकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥३३॥

सन्निपातोदर-निदान एवं सम्प्राप्ति—जिसकी पाचकाग्नि दुर्बल है, ऐसा रोगी पुरुष जब अपथ्य (अहितकर), आम (कच्चे), विरोधी (दूध-मछली आदि जैसे), गुरु (देर में पचने वाले) भोजनों को खाता है और स्त्री द्वारा दिये हुए रजस्, रोम, मल, मूत्र, अस्थि, नख, आदि पदार्थों को किसी भोज्य पदार्थ के साथ खा लेता है, अथवा मन्द विषों का सेवन कर लेता है तो उनसे प्रकुपित वात आदि तीनों दोष धीरे-धीरे कोष्ठ में संचित होकर मनुष्यों के शरीर में सान्निपातिक उदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—सभी निज रोगों का मूल कारण मन्दाग्नि है। इसी को यहाँ 'दुर्बलाग्नि' शब्द द्वारा कहा गया है। उसके बाद अपथ्य को इसका कारण बतलाया है। अपथ्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, अतः अन्य कारणों का यहाँ शब्दतः उल्लेख किया है।

स्त्रीदत्तैश्च-विषैश्च—ऊपर स्त्रियों द्वारा दिये गये रजस् आदि जिन द्रव्यों का निर्देश किया गया है, वे सब मन्दविष, संयोगजविष, गर या दूषीविष कहे गये हैं। इनका विस्तृत वर्णन सु० नि० अ० ७।११-१३ में देखें—'दुराचारिणी स्त्रियाँ पुरुषों को अथवा दुराचारी पुरुष अबलाओं को नख, रोम, मल, मूत्र, आर्तवरक्त—इन पदार्थों को जादू-टोना के रूप में एक-दूसरे को अपने वश में करने की दुरिच्छा से भोज्य पदार्थों के साथ खिला देती या देते हैं। अथवा शत्रु जिस व्यक्ति को गर (संजोगज कृत्रिम विष) देते हैं उसको, एवं दूषित जल, दूषीविष के सेवन करने से रक्त तथा वात आदि दोष शीघ्र कुपित होकर त्रिलिंग (वात, पित्त, कफ के लक्षणों वाला) अर्थात् सन्निपातज उदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं। यह रोग शीत से, वायु से, आकाश में बादलों के छा जाने पर विशेषरूप से बढ़ जाता है; इसमें शरीर में जलन होती है, रोगी निरन्तर बेहोश रहता है, रोगी का वर्ण पीला पड़ जाता है, वह कृश हो जाता है, प्यास से उसका गला सूखने लगता है। इस भयानक उदर रोग को दूष्युदर कहते हैं।

सौभाग्य (पति-सुख या पत्नी-सुख) प्राप्ति की इच्छा से युवक-युवतियाँ या नर-नारियाँ एक-दूसरे को अपने वश में करने के लिए उक्त प्रकार के जादू-टोना मूर्खतावश कर डालती हैं। जिसके प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है, वह ऐसे विषों के प्रभाव से घुल-घुलकर मर जाता है। शासन की दृष्टि से भी यह दण्डनीय अपराध है।

ऊपर के गद्य में 'दूषीविष' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी को महर्षि आत्रेय ने मन्दविष कहा है। **सुश्रुत के अनुसार—प्रथम परिभाषा**—'जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति' ॥ सु० क० अ० २।२५। इसी प्रकार के विष को 'Slow poison' कहते हैं। ये सद्यः मारक नहीं होते हैं। **द्वितीय परिभाषा**—'दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः। यस्माद् दूषयते धातून् तस्माद् दूषीविषं स्मृतम्' ॥ सु० क० अ० २।३३।

तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते, वर्णाश्च सर्वे नखादिषु, उदरमपि नानावर्णराजीसिरासन्ततं भवति; एतत् सन्निपातोदरमिति विद्यात् ॥३४॥

सन्निपातोदर के लक्षण—वातज, पित्तज, कफज उदर रोगों के जो पहले पृथक्-पृथक् लक्षण कहे गये हैं, वे सभी लक्षण नख आदि में पाये जाने वाले सभी वर्ण तथा उदर के ऊपर दिखलायी देने वाली भिन्न-भिन्न वर्ण की रेखाएँ, सिराएँ चारों ओर फैली हुई यदि दिखलायी पड़ती हों, तो इसे सन्निपातज उदर रोग समझना चाहिए।

अशितस्यातिसङ्क्षोभाद् यानयानातिचेष्टितैः। अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः ॥३५॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्धते। शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ॥

प्लीहोदर के कारण एवं सम्प्राप्ति—भोजन के तत्काल बाद सवारी द्वारा यात्रा करने से या तीव्र गति से चलने से या अत्यन्त व्यायाम (परिश्रम) आदि चेष्टाओं के करने से, जिनके शरीर में संक्षोभ (हलचल) उत्पन्न हो जाये अथवा अधिक मैथुन करने से, अधिक भार (बोझा) ढोने से, अधिक दूर तक पैदल चलने से, अधिक वमनों के हो जाने से या किसी व्याधि के कारण कृश हो जाने से उदर के बायें भाग में स्थित प्लीहा (तिल्ली) अपने स्थान से च्युत होकर क्रमशः बढ़ने लगती है अथवा रस आदि से बढ़ा हुआ रक्त उस बढ़ी हुई प्लीहा को विशेषरूप से बढ़ा देता है।

वक्तव्य—सुश्रुत नि० अ० ७।१४ का **'प्रदुष्टमत्यर्थमसृक्कफश्च प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति'** यह पद्यांश चरकोक्ति को समर्थन दे रहा है। उपर्युक्त अत्यन्त दूषित रक्त का विवेचन हम यहाँ आधुनिक दृष्टिकोण द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं—शरीरगत रक्त-सिराओं में अनवरत रूप से परिभ्रमण करते हुए लाल रंग के हल्के गाढ़े पदार्थ को रक्त कहते हैं। यह रक्त R. B. C. (Red blood carpuscles) तथा W. B. C. (White blood carpuscles) इन रक्ताणुओं और श्वेताणुओं के संयोग से बनता है। R. B. C. का मुख्य कार्यकारी द्रव्य हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) होता है। प्लीहोदर में उक्त हीमोग्लोबिन की मात्रा कम हो जाती है, फलतः श्वेताणुओं की वृद्धि हो जाती है, यही यहाँ का **'विवृद्धशोणित'** है, जो प्लीहा रोग की वृद्धि में सहायक कारण होता है। इसी प्रकार का एक रोग एलोपैथिक साहित्य में है—ल्यूकीमिया (Leukaemia) इसी को श्वेतरक्तता तथा अधिश्वेतकोशिका-रक्तता भी कहते हैं। यहाँ सुश्रुतोक्त निम्नलिखित गद्य का स्मरण भी कर लेना चाहिए—'द्वितीया रक्तधरा रसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति'। सु० शा० अ० ४।१०।

स्थानात् च्युतः प्लीहा—अष्टोदरीय नामक अध्याय (च० सू० अ० १९।३) में 'पञ्च प्लीहदोषाः' इस प्रकार जो परिगणन किया गया है, उसके सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं—'प्रथमं या (प्लीहा) च्युतस्य वृद्धिरुक्ता सा वातादिसन्निपातत्वेन चतुर्विधा ज्ञेया; तेन रक्तजप्लीहवृद्ध्या समं पञ्च प्लीहदोषा ये उक्तास्ते सङ्गता भवन्ति'।

स्थानच्युत प्लीहावृद्धि पाँच प्रकार की होती है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज और ५. रक्तज। इन्हीं को प्लीहादोष भी कहते हैं।

तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते; स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति ॥३७॥

वृद्धप्लीहा का स्वरूप—उस प्लीहोदर रोग से पीड़ित पुरुष की प्लीहा स्पर्श में अष्ठीला (Stone) के समान अथवा पत्थर के समान कड़ी (पाठ-भेद के अनुसार—पीड़ारहित), प्रारम्भ में जब वह बढ़ने लगती है, तो स्पर्श द्वारा कछुआ के आकार की ज्ञात होती है, उसकी उपेक्षा कर देने से अर्थात् समय पर उचित चिकित्सा न करने से यह क्रम से कुक्षि, उदर, अग्नि के अधिष्ठान को घेर कर उदररोग को पैदा कर देती है।

तस्य रूपाणि—दौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रग्रहतमःप्रवेशपिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसाद-कासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेदकोष्ठवातशूलानि, अपि चोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद्भवति; एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात् तस्य प्लीहजठर एवावरोध इति; एतत् प्लीहोदरमिति विद्यात् ॥३८॥

प्लीहोदर के लक्षण—शरीर में दुर्बलता, भोजन के प्रति अरुचि, खाये हुए भोजन का ठीक प्रकार से पाक न होना, मल तथा मूत्र में रुकावट, आँखों के सामने अँधेरा-सा छा जाना, बार बार प्यास का लगना, अंगों में मसलने की-सी पीड़ा का होना, वमन, मूर्च्छा, अंगों का शिथिल पड़ जाना, या पीड़ित होना, कास, श्वास, मृदु ज्वर अर्थात् ज्वर की प्रारम्भिक अवस्था, आनाह, अग्निनाश (अग्नि का मन्द पड़ जाना), शरीर में कृशता, मुख में फीकापन पर्वभेद (जोड़-जोड़ में दर्द का होना), कोष्ठ (उदर-प्रदेश) में वातजनित पीड़ा

१. 'नीरुजः' इति पा०।

का होना तथा पेट का ऊपरी भाग अरुण वर्ण का या विवर्ण (अपने स्वाभाविक वर्ण से रहित) या नीला, हरा, हल्दी के सदृश पीले वर्ण की रेखाओं से युक्त हो जाना—ये लक्षण प्लीहोदर में पाये जाते हैं।

यकृदुदर के लक्षण—ऐसे ही लक्षणों से युक्त उदर के दाहिने भाग में स्थित जब यकृत् की वृद्धि होती है, तो उसे यकृदुदर कहते हैं। ऊपर प्लीहोदर के जो कारण, लक्षण, औषध (चिकित्सा) कहे गये हैं, वे ही सब यकृदुदर रोग में भी प्रयुक्त होते हैं, अतएव प्लीहोदर रोग में ही यकृदुदर को भी अन्तर्भूत कर लिया जाता है। इसे प्लीहोदर समझ ही लेना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत में प्लीहोदर तथा यकृद्दाल्युदर का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। देखें—सु० नि० अ० ७।१४-१६। यकृदुदर को ही उक्त संहिता में यकृत् को विकृत करने वाला उदररोग कहा है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह नि० अ० १२।२४-२९ में चरकोक्त पाठ को ही उद्धृत किया गया है।

पक्ष्मबालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे। उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा ॥३९॥
अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः। वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥४०॥

बद्धगुदोदर-निदान एवं सम्प्राप्ति—भोजन के साथ पक्ष्मों (पलकों) के बाल अथवा शिर आदि के बाल यदि पेट के भीतर चले जाते हैं, तो उनसे गुदमार्ग के बँध जाने पर, अथवा उदावत, अर्श के मस्सों या आँतों के सम्मूर्च्छन (एक-दूसरे के भीतर प्रवेश) के कारण गुदमार्ग के रुक जाने पर प्रकुपित हुआ अपान वायु जठराग्नि का नाश कर मल, पित्त, कफ इन सबको रोककर उदररोग को उत्पन्न कर देता है। इसे बद्धगुदोदर रोग कहते हैं।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर **'पक्षवालैः'** ऐसा पाठ स्वीकार कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—**'पक्षिणां पक्षैर्नृणां केशैरिति'**—अर्थात् पक्षियों के पंखों और मनुष्यों के बालों से। इस पाठ पर आप भी विचार करें, क्योंकि संसार में असम्भव कुछ भी नहीं है। अन्त्र-सम्मूर्च्छन को एलोपैथिक विद्वान् इन्टस्ससेप्शन (Intussusception) कहते हैं। इसका अर्थ होता है—आन्त्रान्त्रप्रवेश। सामान्यरूप से अन्त्र-सम्मूर्च्छन का अर्थ है—अन्त्र की गति में रुकावट आ जाना। सुश्रुत के अनुसार इसके लक्षण सु० नि० अ० ७।१७-१८ में देखें। बद्धगुदोदर में होने वाला यह अवरोध प्रायः क्षुद्रान्त्र (Small intestine) में होता है। शेष उदावर्त आदि कारणों से होने वाले अवरोध गुदमार्ग में होते हैं। कभी-कभी तो प्रतिलोम गति हो जाने से रुका हुआ मल मुख-नाक से निकलने लगता है। अ० सं० नि० अ० १२।३०-३३ तथा अ० हृ० नि० अ० १२।२८-३१ में देखें। यहाँ समान पाठों द्वारा एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है।

तस्य रूपाणि—तृष्णादाहज्वरमुखतालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रसङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूलानि, अपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणं नीलराजि सिरावनद्धमराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इति; एतद् बद्धगुदोदरमिति विद्यात् ॥४१॥

बद्धगुदोदर के लक्षण—तृष्णा (बार-बार प्यास लगना), दाह, ज्वर, मुख तथा तालु का सूखना ऊरुओं में पीड़ा, कास, श्वास, दुर्बलता, भोजन के प्रति अरुचि, खाये हुए भोजन का न पचना, मल, मूत्र में रुकावट, आध्मान (पेट का फूलना), वमन, छींक का आना, शिर, हृदय, नाभि तथा गुद में शूल का होना, उदर में स्थित वायु का मूढ़ होना अर्थात् वायु का ऊपर (डकार के रूप में) अथवा नीचे (अपानवायु के रूप में) न निकल पाना, शोथ में स्थिरता, अरुण तथा नीलवर्ण की रेखाओं एवं सिराओं से युक्त न होना, या रेखाओं का न दिखलायी देना तो भी सिराजाल का पेट के ऊपर दिखलाई पड़ना, यह शोथ प्रायः गाय की पूँछ के आकार का नाभि के ऊपर दिखलायी देता है—इस प्रकार के लक्षणों को देखकर इसे बद्धगुदोदर समझना चाहिए।

वक्तव्य—इसे वाग्भट ने बद्धोदर की संज्ञा दी है, तदनुसार इसका वर्णन देखें—अ० हृ० नि० अ० १२।२८-३१। ऊपर श्लोक ३९ में उदावर्त रोग की चर्चा की गयी है। इसके लिए देखें—अ० हृ० नि० अ० ७।४६-५२।

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः। भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा ॥४२॥

पाकं गच्छेद्रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवेद् बहिः। पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः ॥४३॥

छिद्रोदर के कारण एवं सम्प्राप्ति—भोजन के साथ शर्करा (बालू के टुकड़े), तृण (तिनका), लकड़ी के टुकड़े, हड्डी के टुकड़े, काँटे जब पेट में पहुँच जाते हैं, तो बार-बार जँभाई लेने से अथवा भोजन के बाद पुनः भोजन कर लेने से जब आँत फट जाती है, तब वह पक जाती है। आँत के उस छिद्र से अन्न का रस बाहर चूने लगता है, इससे धीरे-धीरे गुद और बड़ी आँत भर जाती है, उसके बाद उदररोग पैदा हो जाता है।

वक्तव्य—छिद्रोदर को सुश्रुत में परिस्रावी उदर कहा है। उसके लक्षण इस प्रकार हैं—जिस पुरुष के पेट में अन्न के साथ मिला हुआ शल्य (मछली का काँटा या मछली की हड्डी) या दूसरे (अनुचित रूप में प्रवेश किये गये बाण, भाला, छुरी, छुरा आदि शल्य) रूप से शल्य आकर आँतों को फाड़ देता है, परिणामस्वरूप आँतों से पानी के समान निकला हुआ स्राव गुदमार्ग से बार-बार बाहर आता है। उदर में नाभि के निचले स्थान में इससे वृद्धि होने लगती है, आँतों में चुभने के समान अत्यन्त पीड़ा और विदाह (जलन) होने लगती है। इसे सुश्रुत के अनुसार परिस्रावी उदर कहते हैं। देखें—सु० नि० अ० ७।१९-२०।

तस्य रूपाणि—तदधो नाभ्याः प्रायोऽभिवर्धमानमुदकोदरं भवति, यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयति, अपि चातुरः सलोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्चं उपवेशते, हिक्काश्वासकासतृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति; एतच्छिद्रोदरमिति विद्यात् ॥४४॥

छिद्रोदर के लक्षण—वह छिद्रोदर प्रायः नाभि के नीचे होता है, यही बाद में बढ़ता हुआ उदकोदर हो जाता है और अपने बल के अनुसार दोषों के रूपों को दिखाता (प्रकट करता) है, अर्थात् उसमें जो दोष बलवान् होता है, प्रधानरूप से उसके लक्षण दिखलायी देते हैं। उस रोगी को लाल, नीला, पीला, चिपचिपा मुर्दे की-सी गन्धवाला, आमवर्चः (कच्चा मल) आने लगता है, अर्थात् वह रोगी इस प्रकार के मल (Stool) का त्याग करता है, (यहाँ 'उपवेशते' इस क्रिया का प्रस्तुत अर्थ में आर्ष प्रयोग है, देखें—उपवेशनम्—Voiding by stool : V. S. Apte)। इस रोग से आक्रान्त पुरुष हिचकी, श्वास, कास, प्यास, प्रमेह, अरोचक (भोजन के प्रति अरुचि), अविपाक (अनपच) तथा दुर्बलता—इन लक्षणों से घिर जाता है। इसे छिद्रोदर नामक रोग समझना चाहिए।

वक्तव्य—शर्करा (बालू), तृण, काष्ठ, अस्थि, कण्टक आदि अपद्रव्य जब भोजन के साथ सीधे आमाशय में पहुँच जाते हैं, तब विशेष हानि नहीं होती, किन्तु जब वे आड़े पड़ जाते हैं, तभी वे आन्त्र में छिद्र कर देते हैं, जिससे छिद्रोदर रोग उत्पन्न होता है। यही छिद्रोदर उदकोदर का कारण होता है। एलोपैथी में उदर की ऐसी स्थिति को विद्ध उदर (Perforated abdomen) कहते हैं।

पाठभेद—निर्णयसागरीय प्रति में इसके लिए कोई संकेत नहीं है, किन्तु श्रीजयदेव ने जिस पाठ की टीका की है, वह अनेक स्थान पर इससे भिन्न है और उन्होंने अपनी टिप्पणी में जिस पाठ का निर्देश किया है, वह उनके मूलपाठ से भिन्न है। इस प्रकार यहाँ तीन प्रकार के पाठ उपलब्ध हैं। इस प्रसंग को पूर्वनिर्दिष्ट संकेतों के अनुसार सुश्रुत, वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट में भी देख लें।

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा। अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्नि संस्थितः ॥
स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ ॥४६॥

जलोदर के कारण एवं सम्प्राप्ति—स्नेहपान करने के बाद अथवा मन्द अग्नि वाला या दुर्बल या अत्यन्त कृश व्यक्ति यदि मात्रा से अधिक पानी पी लेता है, तो उसकी जठराग्नि नष्ट हो जाती है, अतः क्लोम में स्थित वायु अन्य स्रोतों के रुक जाने के कारण तथा जल मिश्रित कफ—ये दोनों उदर-प्रदेश में उस जलीय अंश की वृद्धि कर देते हैं, जिसके कारण जलोदर रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—सभी तन्त्रकारों ने आठ प्रकार के उदर रोग माने हैं। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—'अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु। सर्वाण्येव परीपाकात् तदा तानि विवर्जयेत्' ॥ सु० नि० अ० ७।२५। अर्थात् उदररोग का यह अन्तिम एवं असाध्य रूप है, जिसे जलोदर, दकोदर या उदकोदर कहते हैं।

उदररोगों की कष्टसाध्यता—'जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्। बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम्' ॥ अ० हृ० अ० १२।४६। अर्थ स्पष्ट है। इसमें कारण यह होता है कि सभी उदर रोगों में प्रारम्भ से ही मध्यकाय के सभी अवयव दोषाक्रान्त हो जाते हैं, अतः ये कष्टसाध्य होते हैं और जब उनमें जल की उत्पत्ति हो जाती है, तो वे असाध्य हो जाते हैं। कुशल चिकित्सक इस स्थिति में भी चिकित्सा करते हैं, परन्तु निम्न लक्षणों पर ध्यान देते रहते हैं—'पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोथातीसारपीडितम्। विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत्' ॥ मा० नि० ३५। सुश्रुत में जलोदर का स्पष्ट परिचय इस प्रकार दिया है—'यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च, शब्दायते चापि दकोदरं तत्' ॥ सु० नि० अ० ७।२१। जलोदर में पेट के भीतर जल का संचय उदरावरणकला में होता है।

क्लोम-परिचय—वैद्यकशब्दसिन्धु में इसका पर्याय 'Bladder' दिया है। वास्तव में ब्लैडर वस्ति-स्थान या मूत्राशय का पर्याय है। **चरक के अनुसार**—'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च'। च० वि० अ० ५।८। इस पर श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'क्लोम हृदयस्थपिपासास्थानम्'। **सुश्रुत के अनुसार**—'उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च'। सु० शा० अ० ९।१२। अर्थात् उदकवह स्रोत दो हैं, इनका मूल है तालु तथा क्लोम। इसके पहले संधियों की गणना करते हुए सुश्रुत ने—'नाडीषु हृदयक्लोमनि बद्धास्त्वष्टादश' (सु० शा० अ० ५।२६) का उल्लेख किया है। **क्लोम, तिल, कालीयक**—शार्ङ्गधराचार्य के अनुसार इसका परिचय इस प्रकार है—रक्तानिलात् समुत्पन्नं कालीयकमिति स्मृतम्। जलवाहि सिरामूलं तृष्णाच्छादनकं तिलम्' ॥ शा० सं० प्र० खं० अ० ५।८३। **श्रीनरहरि पण्डित के अनुसार**—'स्नेहस्तु तिलकं क्लोम मस्तिष्कं मस्तकोद्भवम्'। राजनिघण्टु व० १८।

एलौपैथिक विद्वानों का मत है कि फेरिंग्स (Pharynx) से क्लोम का ग्रहण करना चाहिए। गर्भावस्था में मुख के स्थान पर एक गह्वर रहता है, जिसे देहगुहा या सीलाम (Coelom) तथा आद्यमुख या स्टोमोडियम (Stomodaeum) कहते हैं। क्लोम और सीलाम आपस में प्रायः मिलते हैं। अतएव सीलाम को कोइलम भी कह दिया जाता है।

चिरस्थायी उदररोग या उदरावरणशोथ (Chronic peritonitis) रोग की स्थिति प्रायः तीन वर्ष से ऊपर और बीस वर्ष की वय में देखी जाती है। इसमें उदरावरणकला के भीतर अनेक क्षयांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें क्षय-जीवाणुओं का संक्रमण फुप्फुस में लसीकावाहिनियों तथा रक्त द्वारा होता है, जो पहले Mesenteric glands में और बाद में Peritoneum में होता है। इन क्षयांकुरों के उत्पन्न हो जाने पर इस उदरावरणकला में से बहुत-सा द्रव निकलता है, जिसके कारण बालक में जलोदर हो जाता है। इसके अतिरिक्त सायंकाल होने वाला ज्वर और कृशता के लक्षण भी दिखलायी देते हैं। इसे Ascitic variety of peritonitis कहते हैं।

जलोदर (Ascites)—उदरावरणकोष (Peritoneal cavity) में जब जल भरने लग जाता है, तो उस स्थिति को जलोदर कहते हैं। इसके निम्न पाँच भेद माने गये हैं—१. यकृत्-वृद्धि-जनित जलोदर (Ascites due to hepatic cirrhosis or portal obstruction), २. वृक्करोग-जनित जलोदर (Ascites due to acute or sub-acute nephritis), ३. हृदयरोग-जनित जलोदर (Ascites due to cardiac failure), ४. उदररोग-जनित जलोदर (Ascites due to peritonitis), ५. कैन्सर-जनित जलोदर (Ascites due to carcinoma)।

तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षापिपासागुदस्रावशूलश्वासकासदौर्बल्यानि, अपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासन्ततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शं भवति, एतदुदकोदरमिति विद्यात् ॥४७॥

जलोदर का लक्षण—भोजन के प्रति इच्छा का न होना, बार-बार प्यास का लगना, गुद-मार्ग से लगातार जल का निकलते रहना, उदर-प्रदेश में शूल, श्वास की अधिकता, कास, दुर्बलता और पेट के ऊपरी भाग में अनेक प्रकार की रेखाओं तथा सिराओं का फैल जाना, स्पर्श करने पर जल से भरी हुई दृति (मशक) की भाँति पेट में क्षोभ (हल-चल) होती है, अर्थात् पानी हिलता प्रतीत होता है और एक ओर से दबाने पर पानी दूसरी ओर हो जाता है। इसे उदकोदर या जलोदर समझना चाहिए।

वक्तव्य—दकोदर, उदकोदर, जलोदर ये नाम मात्र से भिन्न हैं, न कि रोग की दृष्टि से। श्रीजयदेव ने 'अनन्नाकाङ्क्षा' पाठ दिया है, इसके स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'अनन्नकाङ्क्षा' पाठ है। दोनों में केवल आकाङ्क्षा और **काङ्क्षा** के रूप में अन्तर है, अतः दोनों के अर्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमप्राप्तमुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत्; उपेक्षितानां ह्येषां दोषाः स्वस्थानादपवृत्ताः परिपाकाद् द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति; तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमितमाकोठितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पति, ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः। तस्य रूपाणि—कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः, सिरान्तर्धानगमनम्, उदकपूर्णदृतिसङ्क्षोभसंस्पर्शत्वं च ॥४८॥

उदररोग-चिकित्सा-निर्देश—उपर्युक्त उन उदररोगों में जो नया हो, उपद्रवों से रहित हो, जिसमें अभी जल भरा न हो, ऐसे उदररोगी की शीघ्रता से चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में चिकित्सा शीघ्र लाभ करती है। यदि आरम्भिक अवस्था में इन उदररोगों की उपेक्षा (चिकित्सा के प्रति लापरवाही) कर दी जाती है, तो दोष अपने स्थानों से हटकर परिपाक हो जाने के कारण द्रवरूप में होकर सन्धियों (जोड़ों) तथा रसवाही स्रोतों को गीला कर देते हैं। स्वेद (पसीना) बाहरी स्रोतों में न जाकर तिर्यक् अवस्थित होकर अर्थात् शरीर के भीतर ही भ्रमण करता हुआ उस बढ़े हुए जल को और भी बढ़ा देता है। उसमें जल के अधिक बढ़ जाने से पेट में पिच्छा (चिकनेपन या फिसलन) की उत्पत्ति हो जाने पर वह उदर (पेट) को गोल आकार वाला, भारीपन से युक्त, स्तिमित—मानो उसके ऊपर गीला कपड़ा डाल दिया हो, पेट के ऊपर ताड़न करने (टकोरने) पर किसी प्रकार का शब्द नहीं होता है, उसका मृदुस्पर्श होता है, उसमें राजियाँ (झुर्रियाँ) नहीं रह जातीं अर्थात् उसका पेट तन जाता है। जब इस रोग का आक्रमण होता है, तो वह सर्वप्रथम नाभि-प्रदेश के ऊपर ही फैलता है, उसके बाद उदर में उदक (जल) की उत्पत्ति होने लगती है।

जल-उत्पत्ति के लक्षण—जब उदरावरणकला में जल की उत्पत्ति हो जाती है, तब उदर पहले की अपेक्षा अत्यधिक बढ़ जाता है, सिराओं का भीतर की ओर छिप जाना या न दिखलायी देना और उस रोगी का पेट पानी से भरी हुई मशक के सदृश हो जाता है। जैसे पानी से भरी हुई मशक में पानी हिलता-डुलता बाहर से ही प्रतीत होता है और स्पर्श करने पर मालूम पड़ जाता है कि इसके भीतर पानी है, ठीक वही स्थिति जलोदर रोग में जलपूर्ण उदर की होती है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने दो पाठभेदों को इस प्रकार उद्धृत किया है—१. 'आकोटितमशब्दस्पर्शमपगत' ग०। २. सक्षोभस्पर्शत्वं' पा०। ऊपर के गद्य में उदररोग के उपद्रवों की चर्चा की है, उनका वर्णन अगले ४९वें गद्य में किया है। पिच्छा का परिचय देते हुए कुछ विद्वान् लिखते हैं कि यह भात के माँड जैसा पदार्थ होता है।

तदाऽऽतुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति—छर्द्यतीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः, तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति ॥४९॥

जलोदर के उपद्रव—उदररोग में जब उक्त रूपों के दर्शन होने लगते हैं, तब रोगी को ये उपद्रव स्पर्श करते हैं, अर्थात् तब रोगी पर निम्न उपद्रवों का आक्रमण होता है। वमन, अतिसार, तमकश्वास (यह पाँच प्रकार के श्वासों में से साध्य श्वास-भेद है), तृष्णा (प्यास), श्वास (यह तमक श्वास से कष्टतर होता है), हिचकी, दुर्बलता, पसलियों में शूल, भोजन के प्रति अरुचि, स्वरभेद, मल-मूत्र आदि में रुकावट—ये लक्षण जब दिखलायी दें, तब उस रोगी को असाध्य समझें।

भवन्ति चात्र—

वातात्पित्तात्कफात् प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात्। परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत् ॥५०॥

पक्षाद् बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं यथा। प्रायो भवत्यभावाय च्छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥५१॥

उदररोगों की कृच्छ्रसाध्यता-असाध्यता—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर और जलोदर रोग उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं, ऐसा चिकित्सक को निर्देश करना चाहिए। बद्धगुदोदर रोग

पक्ष (१५ दिन) से अधिक हो जाने पर रोगी का अभाव कर देता है, और पेट में पानी आ जाने पर सभी उदररोग इनमें भी विशेषरूप से छिद्रान्त्रोदर और जलोदर रोग मनुष्यों के लिए मृत्युकारक होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर उदररोगों का जिस क्रम से वर्णन किया गया है, वह उनका कष्टसाध्य एवं असाध्य क्रम है। **'प्रायो भवत्यभावाय'**—इसमें 'अभाव' शब्द मुकुमारभाव का द्योतक है, क्योंकि यहाँ मृत्यु शब्द को पर्याय-परिवर्तन करके कहा गया है। दूसरा 'प्रायः' शब्द यह सूचित कर रहा है कि कभी-कभी असाध्य लक्षणों के उपस्थित होने पर भी रोगी बच जाता है। इसमें आयुष्य का शेष होना, चिकित्सा की चतुष्पाद सम्पत्ति का पूर्णरूपेण प्रयोग होना आदि अनेक कारण देखे जाते हैं।

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्। बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत् ॥५२॥
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट्। मूर्च्छा च्छर्दिरतीसारो निहन्त्युदरिणं नरम् ॥
जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्तमं मतम्। बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥५४॥

उदररोग के असाध्य लक्षण—जिस उदररोगी के नेत्रों में सूजन हो, जिसकी मूत्रेन्द्रिय टेढ़ी हो गयी हो (यह लक्षण केवल पुरुषों में देखा जा सकता है), जिसके उदर-प्रदेश की त्वचा गीली रहने लगी हो और पतली पड़ गयी हो, जिसका शारीरिक एवं मानसिक बल क्षीण हो गया हो, रक्त, मांस तथा पाचकाग्नि भी क्षीण हो गयी हो, उस रोगी की चिकित्सा न करे, क्योंकि ऐसा रोगी स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर पाता। और भी—जिस रोगी के हृदय आदि सभी मर्मस्थलों में सूजन हो गयी हो, श्वास, हिक्का, भोजन के प्रति अरुचि, प्यास, मूर्च्छा, वमन, अतिसार हो गया हो तो ये लक्षण उदररोगी को मार डालते हैं। प्रायः सभी उदररोग आरम्भ से ही कष्टसाध्य कहे गये हैं। यदि बलवान् व्यक्ति के उदररोग में जल का संचय न हुआ हो और उदररोग नया हो तो यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से वह भी साध्य होता है।

[1]अजातशोथमरुणं सशब्दं नातिभारिकम्। सदा [2]गुडगुडायच्च सिराजालगवाक्षितम् ॥५५॥
नाभिं विष्टभ्य [3]पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति। हृन्नाभिवङ्क्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः ॥५६॥
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके। [4]लोलस्याविरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विषि ॥५७॥
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः। उपाक्रमेद् भिषग्दोषबलकालविशेषवित् ॥५८॥

अजातोदकरोग-लक्षण एवं चिकित्सा—जिस उदररोगी के उदरप्रदेश में अभी शोथ न हुआ हो, उदर का वर्ण अरुणाभ हो गया हो, आकोटन करने से कुछ शब्द सुनायी पड़ता हो, उदर-प्रदेश अधिक भार से युक्त न हो, पेट में सदैव गुड़गुड़ शब्द होता हो (जिसे स्टेथोस्कोप=Stethoscope से सुना जा सकता है), उदर-प्रदेश में सिराजाल दिखलायी देता हो और सिराओं के कारण गवाक्ष जैसे (खिड़की, मोखे के आकार के) पेट के ऊपर बन गये हों, नाभि-प्रदेश में वायु का अवरोध होकर गुद भाग में वेग को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता हो, हृदय, नाभि, वंक्षण, कटि, गुद—इन अवयवों में शूल होता हो, अपानवायु कर्कश (कर्णकटु) शब्द करता हुआ निकलता हो, जठराग्नि अधिक मन्द न हुई हो, भोजन करने के प्रति जो लोल (लोभी या चंचल) हो और जिसका मुख फीका न हो (पाठभेद के अनुसार—निरन्तर लार निकलने के कारण मुख नीरस हो गया हो), मूत्र कम मात्रा में होता या निकलता हो, मल (पुरीष) सूखकर गांठदार हो गया हो, तो इन (उपर्युक्त) लक्षणों को देखकर भलीभाँति यह जान ले कि यह उदररोग अजातोदक है, अर्थात् अभी इस उदररोगी के पेट में पानी नहीं आया है; यह जानकर दोष, बल, काल के तर-तम भाव को जानने वाला चिकित्सक विधिवत् उसकी शीघ्रता से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'उपक्रामेद्' पाठ को महत्त्व दिया है और निर्णयसागरीय प्रति में 'उपाक्रमेद्' पाठ को अपनाया है: वृद्धवाग्भट के अनुसार—'सर्वं त्वनीयमरुणमशोफं नातिभारिकम्। गवाक्षितं सिराजालैः सदा गुडगुडायते ॥ नाभिमन्त्रं च विष्टभ्य वेगं कृत्वा प्रणश्यति। मारुतो हृत्कटीनाभिपायुवङ्क्षणवेदनः ॥ स शब्दो निश्चरेद्वायुर्विड् बद्धा मूत्रमल्पकम्। नातिमन्दोऽनलो लौल्यं न च स्याद् विरसं मुखम्' ॥ अ० सं० नि० अ० १२।११-१३। इस दृष्टि से श्रीजयदेव द्वारा स्वीकृत 'लालया विरसे चास्ये' पाठ अधिक प्रामाणिक या प्रकरणोचित प्रतीत नहीं होता। **उपाक्रमेद्**—निर्णयसागरीय प्रति में यह पाठ है और श्रीजयदेव ने **उपक्रामेद्** पाठ का संग्रह किया है। अर्थ की दृष्टि से प्रथम पाठ का अर्थ होगा—'चिकित्सा के लिए रोगी पर आक्रमण करें तथा द्वितीय पाठ का अर्थ होगा—चिकित्सा का आरम्भ करें।

---

१. 'सशोथमरुणाभासम्' इति पा०।
२. गुडगुडावन्तम्' इति पा०।
३. 'वायुस्तु' इति पा०।
४. 'लालया विरसे' इति पा०।

वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत्। स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात् स्नेहविरेचनम् ॥ ५९॥
हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद् वाससोदरम्। तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत् पुनः ॥६०॥

वातोदर की चिकित्सा—यदि वातज उदररोग से पीड़ित व्यक्ति शारीरिकबल तथा अग्निबल से युक्त है, तो उसे सर्वप्रथम स्नेहन कराना चाहिए। जब उसका शरीर पूर्णरूप से स्निग्ध हो जाये तब उसे स्वेदन कराना चाहिए। इस प्रकार स्नेहन-स्वेदन करा लेने के बाद उसे स्नेह-युक्त विरेचन देना चाहिए। विरेचन द्वारा दोषों का निर्हरण होने पर जब उसका पेट म्लान (क्षीण) हो जाये अर्थात् पहले की अपेक्षा शोथ घट जाये तो कपड़ा लपेट कर उसके पेट को बाँध दें। इस प्रकार बाँध देने से जब वायु को पुनः प्रवेश करने का स्थान नहीं मिल पायेगा तो उसके पेट में पुनः आध्मान नहीं हो पायेगा।

वक्तव्य—वातदोष के निकल जाने पर मुरझाये या सिकुड़े हुए पेट को कपड़े से बाँध देने की तन्त्रकार की आज्ञा है। आज भी उदरवेष्टन (Abdominal belt) का प्रयोग कराया जाता है। प्रसव होने के बाद स्त्रियों को भी इस उदरवेष्टन का प्रयोग इसी दृष्टि से कराते हैं।

दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात्। सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत् ॥६१॥

उदररोग में शोधन-निर्देश—अधिक मात्रा में दोषों का संचय हो जाने के कारण तथा स्रोतों के मार्गों में रुकावट आ जाने के कारण उदररोग की उत्पत्ति हो जाती है, अतः उदररोग से पीड़ित रोगी को प्रतिदिन विरेचक औषधयोगों का प्रयोग कराकर उसके उदर का शोधन कराना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर सभी उदररोगों में सामान्यरूप से संशोधन का निर्देश किया गया है। इससे दोषों का निर्हरण होता है और उस समय सम्बन्धित स्रोतों के मुख खुल जाते हैं, अतः वात का प्रकोप होने लगता है। इसलिए वातज उदररोग में स्निग्ध विरेचक योगों को ही दें।

शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम्। प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यं च बले लब्धे क्रमात् पयः ॥

संशोधन के पश्चात् कर्तव्य—वातोदर रोग से पीड़ित रोगी को जब विरेचन द्वारा शुद्ध करा दिया जाता है, उसके बाद संसर्जन-क्रम (पेया, विलेपी आदि पेयों का सेवन) कराकर उसे शक्ति-सम्पन्न कराने के लिए दूध का सेवन कराये। कभी-कभी संसर्जन-क्रम के बाद रोगी को दूध पिलाया जाता है, तो उसका जी मिचलाने लगता है (इसी को उत्क्लेश कहते हैं) तो उसकी शान्ति होने (पेया आदि के भली-भाँति पच जाने) पर तब दुग्ध-पान कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ संसर्जन क्रम में पेया, विलेपी इन सुपच (जल्दी पच जाने वाले) पेयों को पिलाने का विधान है। इनका प्रयोग भी बल को बढ़ाने के लिए किया जाता है तथा इसके साथ दूध भी पीना चाहिए। यह परिचारक का कर्तव्य है कि वह थोड़ा-थोड़ा रोगी की इच्छा को ध्यान में रखकर इन पदार्थों का सेवन कराये। यहाँ 'कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् सुधीः' इस नियम का अवश्य ध्यान रखें।

यूषैः रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम्। सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम् ॥६३॥

उदररोग में आस्थापनवस्ति—दाड़िम आदि के रस से हल्का खट्टा किये हुए लवण मिश्रित मूँग आदि के यूषों अथवा मांस रसों के सेवन करने से जब रोगी की मन्द हुई जठराग्नि पुनः तीव्र हो जाये तो उसे आस्थापनवस्ति देनी चाहिए। यदि रोगी को उदावर्त (Disease of the bowells) हो तो पुनः स्नेहन तथा स्वेदन कराने के बाद आस्थापनवस्ति दें। इसी को निरूहवस्ति भी कहते हैं।

स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु। दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत् ॥६४॥

अनुवासन का प्रयोग—जिन उदर रोगियों के शरीर में स्फुरण (अंगों का बार-बार फड़कना), आक्षेप (Convulsion), सन्धिशूल, अस्थिशूल, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल, त्रिकास्थिशूल हो, जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त हो, जिनका मल सूख गया हो और अपानवायु रुक गया हो, ऐसे रूक्षता युक्त रोगियों को भी अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—जो वस्ति स्नेहद्रव्यों के योग से दी जाती है, उसे 'अनुवासन' कहते हैं और जो क्वाथ आदि में क्षार (सोड़ा आदि) तथा तेल मिलाकर दी जाती है, उसे 'निरूहण' वस्ति कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार की वस्तियाँ एक ही प्रकार के यन्त्र द्वारा दी जाती हैं, अन्तर केवल उसमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का है। विशेष देखें—चरक-सिद्धिस्थान तथा सु० चि० अ० ३५, ३६, ३७, ३८। **त्रिक**—'स्फिक्सक्थ्नोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः सन्धिस्तत् त्रिकं मतम्'। वैद्यकशब्दसिन्धु।

तीक्ष्णाधोभागयुक्तोऽस्य निरूहो दाशमूलिकः। वातघ्नाम्लशृतैरण्डतिलतैलानुवासनम् ॥६५॥

निरूह तथा अनुवासन—उदररोगी को अधोभाग के लिए उपयुक्त अर्थात् विरेचन-कारक दशमूल के द्रव्यों द्वारा साधित तीक्ष्ण निरूहवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए तथा वातनाशक अम्ल (कांजी आदि) द्रव्यों द्वारा पकाये गये तथा एरण्ड (रेंड़ी) तैल या तिलतैल मिश्रित द्रव्यों से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—'रिचिर् विरेचने' धातु से 'वि' उपसर्ग लगाकर विरेचन शब्द की निष्पत्ति होती है। यह दो प्रकार का होता है—१. ऊर्ध्वविरेचन (शिरोविरेचन), २. अधोविरेचन। यह 'दाशमूलिक निरूहवस्ति' अधोभाग के विरेचन के लिए प्रयुक्त होती है।

अविरेच्यं तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम्। सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्वणानिलम् ॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः। वस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः ॥६७॥

अविरेच्य में संशमन-प्रयोग—दुर्बल, स्थविर (वृद्ध), बालक, सुकुमार प्रकृति वाले तथा जिनके वात आदि दोष अधिक न बढ़े हों, इस प्रकार के जिन रोगियों को चिकित्सक विरेचन के योग्य न समझे तो उन्हें विरेचन न करायें।

वातज उदररोग चिकित्सा—यदि उपर्युक्त दुर्बल आदि लक्षणों से युक्त रोगियों के शरीर में वातदोष बढ़ा हो तो इनके लिए दोषशामक घी, यूष, मांसरस तथा भात का सेवन कराते हुए, वातनाशक वस्ति, अभ्यंग (मालिश), अनुवासनवस्ति इनका प्रयोग तथा दूध का सेवन कराकर विद्वान् चिकित्सक ऐसे रोगियों की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—यहाँ केवल चिकित्सा के सूत्रों का निर्देश मात्र किया जा रहा है। आगे इन्हीं विधियों के अलग-अलग योगों का उल्लेख तन्त्रकार ने स्वयं किया है। वाग्भट ने अ० हृ० चि० अ० १५ श्लोक २३ में 'विदार्यादिघृत' का वर्णन किया है। इसके आस-पास के अन्य योगों पर भी समन्वय की दृष्टि से ध्यान दें। भगवान् धन्वन्तरि ने वातज उदररोगी की चिकित्सा में 'साल्वण उपनाह' का प्रयोग करने की सलाह दी है। देखें—सु० चि० अ० १४।५। साल्वण उपनाह के लिए देखें—सु० चि० अ० ४।१४-१५।

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत्। दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरवस्तिना ॥६८॥

पित्तज उदररोग-चिकित्सा—पित्तजनित उदर रोगी यदि बलवान् है, तो उसे सर्वप्रथम विरेचन का प्रयोग कराये। यदि रोगी दुर्बल है, तो उसे आरम्भ में अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराकर निरूहणवस्ति के द्रव्यों में दूध की मात्रा को बढ़ाकर उससे उस रोगी का संशोधन करें।

वक्तव्य—संशोधन-विधि में सर्वप्रथम दोषों को निकालने के लिए स्नेहन, स्वेदन का विधान किया है, इससे दोष अपने स्थान को छोड़ देते हैं, तब आसानी से वमन या विरेचन द्वारा उनको निकाला जाता है, किन्तु वातप्रधान में वात, पित्तप्रधान में पित्त, और कफप्रधान में कफ बढ़ा होता है, अतः इनका निर्हरण बिना स्नेहन-स्वेदन के कर लेना चाहिए। इसके विपरीत वाग्भट ने पित्तोदर की चिकित्सा में उक्त रोगी के स्नेहन का विधान किया है। देखें—अ० हृ० चि० अ० १५।५९।

सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत्। पयसा सत्रिवृत् कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥६९॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा। सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा ॥७०॥
पुनः क्षीरप्रयोगं च वस्तिकर्म विरेचनम्। क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत् ॥७१॥

शोधन के पश्चात् क्षीरपान—संशोधन कराने के पश्चात् पित्तोदर रोगी के शरीर तथा उसकी जठराग्नि में शक्ति आ जाय तब उसे पुनः स्नेहन कराने के बाद विरेचन कराना चाहिए। **विरेचन द्रव्य**—१. निशोथ का कल्क और रेड़ की जड़ के क्वाथ के साथ पकाया गया दूध पिलायें। २. सातला (पीले दूधवाला सेहुण्ड) और त्रायमाणा के क्वाथ और कल्क के योग से तैयार किये गये दूध को दें। ३. अथवा अमलतास की गुद्दी के कल्क से पकाये गये दूध को पिलायें। ये सभी विरेचक योग हैं।

यदि पित्तोदर में कफदोष का अनुबन्ध हो तो उपर्युक्त संस्कारित दूधों में से किसी एक को गोमूत्र के साथ मिलाकर पिलायें। यदि पित्तोदर में वातदोष का अनुबन्ध हो तो तिक्त (पञ्चतिक्त) घृत मिलाकर पीने के लिए दें। जब इन प्रयोगों से विरेचन हो जाय तब पहले की भाँति दूध पिलाकर रोगी को शक्ति-सम्पन्न बनाना चाहिए, तदनन्तर वस्ति-प्रयोग तथा विरेचन का प्रयोग करायें। इस क्रम का निरन्तर प्रयोग करते रहने से चिकित्सक पित्तजनित उदररोग को जीत सकता है, अर्थात् उसकी चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है।

वक्तव्य—ऊपर ६९वें पद्य में 'वा' शब्द का प्रयोग 'सत्रिवृत्कल्केन' इस वाक्यांश के पश्चात् करना चाहिए, क्योंकि पहले योग में त्रिवृत् (निशोथ) तथा उरुबूक (एरण्ड) दोनों द्रव्य विरेचक हैं, अतः ये चार योग होते हैं—१. त्रिवृत-सिद्ध दुग्ध, २. उरुबूक-सिद्ध दुग्ध, ३. सातला, त्रायमाणा द्वारा सिद्ध दुग्ध, ४. आरग्वध द्वारा सिद्ध दूध। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है विरेचन कराने के बाद जो कमजोरी आ जाती है, उसको केवल दुग्धपान कराकर दूर करना चाहिए, क्योंकि—'मलायत्तं बलं पुंसाम्' शरीर का बल मल (पुरीष Stool) ही होता है और विरेचन में उसी का क्षय होता है। अतः विरेचन कराने के बाद शक्ति-संवरण करने के लिए दुग्धपान अवश्य कराना चाहिए। पित्त के साथ यदि वात या कफ का अनुबन्ध हो तो उसकी चिकित्सा का निर्देश ऊपर कर दिया गया है। विशेष देखें—सुश्रुत चि० अ० १४।६।

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्। संसर्जयेत् कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ॥७२॥
गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा। सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत् तु कफोदरम् ॥७३॥

कफज उदररोग-चिकित्सा—कफजनित उदररोगी का स्नेहन, स्वेदन करने के बाद विरेचन-प्रयोगों से उसका शोधन करने के बाद कटु तथा क्षार द्रव्यों के चूर्णों को मिलाकर कफनाशक अन्नों द्वारा संसर्जनक्रम (पेया, विलेपी आदि का सेवन) कराना चाहिए। तदनन्तर गोमूत्र तथा कफनाशक अरिष्टों का सेवन करायें, चूर्णों, अयस्कृतियों (लोहभस्म के योग से निर्मित औषधयोगों) से तथा क्षारों एवं तैलों का सेवन कराकर चिकित्सक कफोदर का शमन कराये।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर कफज उदररोगी को वमन कराने की अनुमति देते हैं। सामान्यरूप से कफज व्याधियों में वमन कराया ही जाता है और इस उपचार से लाभ भी होता है, किन्तु उदररोगी को वमन का निषेध किया गया है। अतएव श्री चक्रपाणि लिखते हैं—'विशुद्धमित्यत्र वमनं विना विशुद्धो ज्ञेयः वमनस्योदरे निषिद्धत्वात्'।

वमन के अयोग्य रोगी—तिमिर (नेत्र-रोग या धुन्ध) रोगी, गुल्म (वायुगोला का) रोगी, आठ प्रकार के उदररोगों से पीड़ित, कृश, अत्यन्त वृद्ध, गर्भवती, अत्यन्त स्थूल, उरःक्षत से पीड़ित, मद्यपान-जनित रोगों से पीड़ित, बालक, रूक्ष शरीर वाला, भूख से पीड़ित, जिसे निरूहणवस्ति दी गयी हो, उदावर्त का रोगी, ऊपरी भागों से जिसे रक्तपित्त का रक्त जा रहा हो, जिसे वमन करने में अत्यन्त कष्ट होता हो, केवल वात रोगों से पीड़ित, पाण्डुरोगी, जिसके उदर में क्रिमि हों, जिसका जोर से पढ़ने के कारण गला बैठ गया हो, ऐसे लोगों को वमन नहीं कराना चाहिए। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ३।७-९।

वमन के अयोग्य रोगियों को भी वमन का विधान—'एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः। कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुकक्वाथपानतः' ॥ वही १०। अब आप उपर्युक्त टीकाकार आचार्यों के विवाद का स्वयं निर्णय करें।

चूर्णायस्कृतिभिः—यद्यपि श्रीचक्रपाणि ने 'चूर्णयुक्ताः अयस्कृतयः, चूर्णायस्कृतयः'—इस प्रकार का समास करके चूर्ण और अयस्कृति इन दो शब्दों को एक में मिलाने का यत्न किया है। किन्तु तन्त्रकार ने इसी अध्याय में आगे अनेक चूर्णों का पृथक् निर्देश किया है और अयस्कृतियों का भिन्न-भिन्न प्रसंग में वर्णन किया है। श्रीचक्रपाणि ने यहाँ जिस 'नवायसचूर्ण' के पाठ को उद्धृत किया है, वह पाण्डुरोग-चिकित्सा-प्रकरण का है। देखें—'नवायो रजसो भागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा'। च० चि० अ० १६।७०। आगे वे स्वयं लिखते हैं—'अयस्कृतयस्तु रसायनोक्तलोहप्रयोगे ज्ञेयाः'।

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत् क्रियाः। सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता ॥७४॥

सन्निपातोदर-चिकित्सा—सन्निपात-जनित उदर रोग में वातज, पित्तज, कफज उदर रोगों की जो चिकित्सा कही गयी है, यथाविधि उसका प्रयोग दोषों के तर-तम भाव को देखकर करना चाहिए। यदि यह सन्निपातोदर रोग उपद्रव या उपद्रवों से युक्त हो तो कुशल चिकित्सक को चाहिए कि ऐसे लक्षणों को देखकर यह कह देना चाहिए कि यह रोगी असाध्य है, अतएव उसकी चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—'सोपद्रवं तु निर्वृत्तं' अर्थात् पहले तो सन्निपातोदर स्वयं कष्टसाध्य होता है, उसमें भी उपद्रवों का आक्रमण उसे सर्वथा असाध्य बना देता है। उपद्रवों का वर्णन इसी अध्याय के ५२ तथा ५३वें श्लोक में किया गया है। सुश्रुत में इसे दूष्युदर कहा है। इसकी चिकित्सा सु० चि० अ० १४।८ में तथा च० चि० अ० १३ श्लोक १७५ से १८३ तक देखें।

उदावर्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः । गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम् ॥७५॥
लिङ्गैः[1] प्लीहृयधिकान् दृष्ट्वा रक्तं चापि स्वलक्षणैः। चिकित्सां सम्प्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम्॥

प्लीहोदर में दोष-लक्षण—प्लीहोदर में यदि उदावर्त, रुजा (पीड़ा), आनाह—ये लक्षण हों तो वात दोष; यदि दाह, मोह, तृषा (प्यास) की अधिकता तथा ज्वर हो तो पित्त दोष; यदि उदर-प्रदेश में भारीपन, भोजन में अरुचि, उदर में कड़ापन हो तो कफदोष का सम्बन्ध समझना चाहिए। (पाठ-भेद के अनुसार—यदि सभी दोषों के लक्षण दिखलायी दें, तो उसे सन्निपातज उदर रोग समझें)। यदि रक्त की अधिकता के कारण प्लीहोदर होगा तो वहाँ रक्त के अपने लक्षण दिखलायी देंगे, अतः प्रत्येक दोष के अनुसार भली-भाँति चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर रक्त की अधिकता के कारण जो प्लीहोदर की उत्पत्ति बतलायी गयी है और उसमें 'रक्तं चापि स्वलक्षणैः' इस सूत्रात्मक वाक्य का सम्बन्ध चरक सू० अ० २४ के विधिशोणिताध्याय से है। इसके लिए उक्त अध्याय की श्लोक संख्या १८ से २२ तक देखें। रक्त के दूषित होने पर विदाह, तृष्णा, मुख में विरसता, शरीर में भारीपन तथा मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।

स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम्। समीक्ष्य कारयेद् बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ॥७७॥
षट्पलं पाययेत् सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत्। सगुडामभयां वाऽपि क्षारारिष्टगणांस्तथा ॥७८॥
एष क्रियाक्रमः प्रोक्तो—

प्लीहोदर का चिकित्सा-सूत्र—इसमें स्नेहन, स्वेदन, विरेचन कराने के बाद निरूहण तथा अनुवासन वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। यदि देखे कि इन क्रियाओं से पर्याप्त लाभ नहीं हो रहा है, तो बाँयी बाहु में सिरा का वेध कराना चाहिए। अथवा षट्पलघृत, पिप्पली, गुड़ सहित हरीतकी तथा क्षारों या अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रकार यह उदररोगों का चिकित्सा-क्रम यहाँ कह दिया गया है।

वक्तव्य—स्नेहन से लेकर अनुवासन तक की विधियों का पर्याप्त वर्णन महर्षि आत्रेय ने यथास्थान किया है—**'वामे वा व्यधयेत् सिराम्'**। इसके लिए आप सुश्रुत का आश्रय लें, क्योंकि यह पराधिकार चर्चा

1. 'प्लीहृयधिका तृष्णा रक्तं च पित्तलक्षणैः। विद्यात् समस्तैः सर्वैस्तु सन्निपातं तथा भिषक्' इति पा०।

है—'प्लीहोदर के रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराकर दही के साथ भोजन कराकर बाँयी बाहु की कोहनी से भीतर की ओर जाने वाली सिरा का वेधन करें। रक्त का बहाव भली-भाँति हो, इसके लिए हाथ से प्लीहा को मलते रहें। तदनन्तर फिर विरेचन आदि से शरीर को शुद्ध करके उसे समुद्री सीपी का क्षार दूध के साथ पिलायें, या दूध के साथ हींग और सोंचर नमक को, जल को नितार कर पलाशक्षार, यवक्षार (जवाखार), या अनेक बार नितारे हुए ढाक (पलाश) के क्षारोदक से जवाखार को पिलायें; या पारिजात, तालमखाना, चिरचिटा का क्षार पिलायें; या सहिजन के यूष में तिल-तैल मिलाकर और पिप्पली, सेंधानमक, चीता के मूल का चूर्ण मिलाकर पिलायें; या लताकरंज के क्षार तथा शतावर चूर्ण को खट्टी कांजी में घोलकर छान लें, इसमें विड्लवण (विरिया नमक) और पर्याप्त पिप्पलीचूर्ण मिलाकर पिलायें। देखें—सु० चि० अ० १४।१३ तथा अ० सं० चि० अ० १७।३३।

चरक-चिकित्सास्थान के गुल्मचिकित्सा अ० ५।१४७-१४८ में 'क्षीरषट्पलकघृत' का उल्लेख है। महर्षि आत्रेय का संकेत इसी घृत से रहा होगा। वैसे सु० चि० अ० १४।१४ में भी एक 'षट्पलकसर्पि' का उल्लेख हुआ है, दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि चरकोक्त घृतयोग में 'सैन्धव' का योग नहीं है और सुश्रुत ने उसे स्वीकारा है, जो व्यावहारिक दृष्टि से विचारणीय है।

पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत्—आत्रेय के इस सांकेतिक निर्देश से यहाँ वर्धमानपिप्पली का प्रयोग करना चाहिए। देखें—'पिप्पलीवर्द्धमानं वा कल्पदृष्टं प्रयोजयेत्। जठराणां विनाशाय नास्ति तेन समं भुवि' ॥ चक्रदत्त-उदररोगाधिकार और योगोक्त द्रव्यों के लिए देखें—प्लीहयकृद्-रोगाधिकार। ऊपर जो क्षारों तथा अरिष्टों के सेवन का संकेत किया है, हमारे विचार से इसमें ग्रहणी रोग तथा अर्श रोग में कहे गये क्षारों एवं अरिष्टों का प्रयोग चिकित्सक के निर्देशानुसार करना चाहिए। जैसे—विडंगक्षार, तक्रारिष्ट आदि। इसके समर्थन में देखें—अ० सं० चि० अ० १७।१३।

—योगान् संशमनाञ्छृणु। पिप्पली नागरं दन्ती चित्रकं द्विगुणाभयम् ॥७९॥
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत्।

पिप्पल्यादि चूर्ण—चिकित्सा-क्रम का निर्देश करने के बाद अब संशमन (रोग को शान्त करने वाले) योगों के सम्बन्ध में सुनो, ऐसा महर्षि आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश से कह रहे हैं।

योग—पिप्पली, सोंठ, जमालगोटा की जड़, चित्रकमूल, वायविडंग—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लें और हरीतकी को दूनी मात्रा में लें। इन सबको कूट-पीसकर रख लें। इस चूर्ण का सेवन मात्रानुसार गरम जल के साथ करें।

वक्तव्य—'विडङ्गांशयुतम्' यहाँ अंश का अर्थ १ भाग है। 'द्विगुणाभयम्'—हरीतकी को २ भाग लेना है। आचार्य गंगाधर ने 'चित्रकमूल' के स्थान पर 'हींग' का और विडंग के स्थान पर 'विडलवण' का प्रयोग जिस आधार पर किया है, वह पद्य इस प्रकार है—'पिप्पलीनागरं दन्ती समांशं हिङ्गुनाभयम्। विड्ढांशयुतं चूर्णमिदमुष्णाम्बुना पिबेत्' ॥

विडङ्गं चित्रकं शुण्ठीं सघृतां सैन्धवं वचाम् ॥ ८० ॥
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत्।

विडङ्गादि क्षार—वायविडंग, चित्रकमूल, सोंठ, सेंधानमक, वच—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर एक भाग गाय का घी मिलाकर एक मिट्टी के पात्र में भर कर उसका मुख कपड़मिट्टी से बन्द करके धूप में सुखा लें, भली-भाँति सूख जाने पर इसे फूँक दें, ठंडा हो जाने पर निकालकर रख लें। यह क्षार दूध के साथ पीने पर गुल्म रोग तथा प्लीहोदर रोग को शान्त करता है।

वक्तव्य—यद्यपि यह विडंगक्षार क्षार-निर्माण-विधि से निर्मित नहीं हो पाया है, किन्तु भस्म मात्र को भी अनेक जगह क्षार कहा गया है।

रोहीतकलतानां तु काण्डकानभयाजले ॥ ८१ ॥
मूत्रे वा सुनुयात् तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत्। कामलागुल्ममेहार्शःप्लीहसर्वोदरक्रिमीन् ॥८२॥

स हन्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम् ।

रोहीतकादि योग—रोहीतक (रोहड़ा) की पतली शाखाओं को अधकुट (छोटे-छोटे टुकड़े) करके हरीतकी के क्वाथ में अथवा गाय के मूत्र में सात दिनों तक भिगोकर रख दें । सातवें दिन उसे हाथों से मलकर कपड़े से छानकर पीयें । इसका सेवन करने से कामला, गुल्म, प्रमेह, अर्श, प्लीहा तथा सभी प्रकार के उदर रोग तथा क्रिमिरोग नष्ट हो जाते हैं । जब यह औषधयोग पच जाये तब जांगल देश में होने वाले पशु-पक्षियों के मांस रस के साथ उसे भोजन कराना चाहिए ।

वक्तव्य—श्रीगोविन्ददास ने भैषज्यरत्नावली के प्लीहयकृद्-रोगाधिकार में 'रोहीतकारिष्ट' का उल्लेख किया है । द्रव्य आदि की दृष्टि से आप देख लें । इन्होंने इसकी फलश्रुति में कहा है—**'सर्वोदररुजां जयेत्'**। किन्तु उक्त अरिष्ट में गोमूत्र का प्रयोग नहीं है और धातकी, गुड़ आदि कई अन्य द्रव्य बढ़ाये गये हैं ।

प्लीहा पर प्रभाव डालने वाले द्रव्यों में रोहीतक अग्रणी है । इसका वृक्ष ऊँचा होता है, अतः इसमें लताएँ नहीं होतीं । तन्त्रकार ने यहाँ **'रोहीतकलतानां'** का जो प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य यह है कि रोहीतक (Tecomella undulata G. Don.) की पतली शाखाओं का ही ग्रहण करना चाहिए । वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १७।३६ में इसी योग को गद्य रूप में प्रस्तुत करते हुए इतना अधिक कहा है—'एवमनुपशाम्यत्यप्राप्तपिच्छोदके वातकफोल्बणे गुल्मविधिनाग्निकर्म कुर्यात्' ।

श्रीचक्रपाणिदत्त ने इस योग का निर्माण दूसरे ढंग से किया है । यथा—'रोहितकाभयाक्षोदभावितं मूत्रमम्बु वा । पीतं सर्वोदरप्लीहमेहार्शः कृमिगुल्मनुत्' ॥ चक्रदत्त । आचार्य शिवदास ने भी इसी निर्माण-प्रकार को अपनाया है । इस पर टीका करते हुए श्री श्रीकण्ठ लिखते हैं—'व्यवहारान्मूत्रं विरेचनार्थम् , अम्बुशोधनार्थमिति व्यवस्था' ।

रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम् ॥ ८३ ॥
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् । पलिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया ॥८४॥
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् । प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ॥८५॥
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः ।

रोहीतक घृत—रोहीतक की छाल २५ पल (१०० तोला), छड़बेर २ प्रस्थ (१२८ तोला), इन द्रव्यों को दरदरा कूटकर अठगुने जल में डालकर इनका क्वाथ तैयार कर लें, चतुर्थांश शेष रहने पर कपड़छन करके रख लें । पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ) १-१ पल (४-४ तोला) लें और रोहीतक की छाल ५ पल (२० तोला)—इन सभी द्रव्यों को पानी के साथ पीसकर कल्क तैयार कर लें। उक्त क्वाथ और कल्क को मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का पाक करें, पकने पर इसे छानकर रख लें । इसके प्रयोग से प्लीहा की वृद्धि शीघ्र शान्त हो जाती है, अर्थात् प्लीहा अपने स्वाभाविक रूप को धारण कर लेता है और गुल्मरोग, सभी प्रकार के उदररोग, श्वासरोग, क्रिमिरोग, पाण्डु तथा कामलारोग भी शीघ्र शान्त हो जाते हैं ।

वक्तव्य—चिकित्साकलिका के उदररोगचिकित्सा-प्रकरण में श्लोक १७०-१७१ में कहे गये द्रव्यों को मान की दृष्टि से देखना है ।

अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे ॥ ८६ ॥
पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरवस्तयः । रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ॥८७॥
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः । यकृति प्लीहवत् सर्वं तुल्यत्वाद् भेषजं मतम् ॥८८॥
लघून्यन्नानि संसृज्य दद्यात् प्लीहोदरे भिषक् ।

वातकफज प्लीहोदर में अग्निकर्म—वात तथा कफ-प्रधान प्लीहोदर में चिकित्सक को चाहिए कि वह अग्निकर्म (दाह-क्रिया) करे । पित्त-प्रधान प्लीहोदर में जीवनीयगण के द्रव्यों द्वारा तैयार किये हुए घृतों का प्रयोग, क्षीर(दूध)प्रधान निरूहणवस्तियों का प्रयोग, रक्तमोक्षण (इसी को रक्तावसेचन भी कहते हैं), संशुद्धि (उदररोगियों में यह शोधन-कार्य विरेचन द्वारा ही कराया जाना चाहिए) और दूध का सेवन कराना

उत्तम है । अग्नि को प्रदीप्त करने वाले (अम्ल, तिक्त, कटुरस-प्रधान) द्रव्यों से युक्त मूंग आदि दालों का यूष अथवा मांसरस के साथ लघु (सुपच) अन्नों का सेवन कराना चाहिए । प्लीहा में जिन औषधयोगों तथा उपायों का विधान किया गया है । उन सबका प्रयोग यकृत्रोग में भी करना चाहिए, क्योंकि प्लीहावृद्धि तथा यकृत्वृद्धि के कारण तथा लक्षण समान होते हैं । अतएव उनकी चिकित्सा भी समान ही कही गयी है ।

वक्तव्य—प्लीहावृद्धि में बाँयी कोहनी के बीच में और यकृतवृद्धि में दाहिनी कोहनी के बीच में अग्निकर्म कराना चाहिए । सुश्रुत के अनुसार—'यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः । विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ सिराव्यधः' । सु० चि० अ० १४।१५-१६ । 'संशुद्धि' शब्द से कुछ टीकाकारों ने वमन करने की अनुमति दी है, यह युक्तियुक्त नहीं है । जीवनीयगण का उल्लेख च० सू० अ० ४।९ में किया गया है । यह उसका पहला कषाय है ।

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ॥ ८९ ॥
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् । परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम् ॥९०॥
उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च ।

बद्धोदर-चिकित्सा—इस रोग से पीड़ित रोगी को सर्वप्रथम स्वेदन कराना चाहिए, उसके बाद तीक्ष्ण (विरेचक–सेहुण्ड का दूध आदि) ओषधि मिलाकर गोमूत्र में तिल का तेल और नमक मिलाकर निरूहण-वस्ति तथा अनुवासनवस्ति देनी चाहिए । भोजन का समय आने पर उस रोगी को परिस्रंसी (अनुलोमक) अन्नों (आहारों) का प्रयोग कराना चाहिए और आवश्यकतानुसार तीक्ष्ण विरेचनों का भी प्रयोग कराना चाहिए । इनके अतिरिक्त उदावर्तरोग-नाशक तथा वातरोग-नाशक चिकित्सा का प्रयोग कराना चाहिए ।

वक्तव्य—ऊपर 'स्विन्नाय' शब्द अपने पूर्वकर्म 'स्नेहन' का भी स्मारक है । निरूहणवस्ति का यह सामान्य क्रम है कि आवश्यकतानुसार स्नेहन, स्वेदन कराकर मल, मूत्र तथा अपानवायु का त्याग कराकर बिना भोजन किये हुए व्यक्ति के लिए दिन में घर के भीतर अर्थात् निवात एवं एकान्त स्थान में निरूहणवस्ति का प्रयोग करें । स्नेहवस्ति (अनुवासनवस्ति) के समान ही उक्त वस्ति का भी विधान है ।

द्रव्य-भेद से वस्तुओं का नाम—'यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः । कषायक्षारतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ५।२ । विशेष देखें—सु० चि० अ० ३५।१८-१९ । उक्त परिभाषा के अनुसार निरूहवस्ति उसे कहते हैं, जिसमें कषाय, क्षार और तेल का मिश्रण करके प्रयोग किया जाता है । है । इसके बाद भी तन्त्रकार ने 'सतैललवणं' का जो शब्दतः उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य यह है कि इन (तैल और लवण) का अधिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिए । आगे सिद्धिस्थान अ० २।१४ से २१ तक कौन रोगी किस वस्ति के योग्य हैं और कौन अयोग्य हैं, इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है । फिर भी तन्त्रकार ने चिकित्सक को इस बात का दायित्व सौंपा है कि कब और कहाँ क्या उचित है और क्या अनुचित है, इसका वह स्वयं निर्णय करे । इस विवेचन के लिए देखें—च० सि० अ० २ श्लोक २५-२६ । अतः तन्त्रकार के वचनों में विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

बद्धगुदोदर या बद्धोदर रोग शल्यतन्त्र का रोग है । इसके लिए सु० चि० अ० १४।१७ का अवलोकन करें । इसमें बद्धगुदोदर तथा परिस्रावी उदर दोनों की चिकित्सा का एक साथ वर्णन किया गया है । वृद्धवाग्भट ने भी चरकोक्त चिकित्सा का अनुकरण किया है । देखें—'बद्धोदरे स्विन्नाय सतैललवणमूत्रं तीक्ष्णं निरूहमनुवासनं च दद्यात् । स्रंसनानि चान्नान्युदावर्तहराणि च तीक्ष्णं च विरेचनं यच्च किञ्चिद् वातघ्नम्' । अ० सं० चि० अ० १७।३८ ।

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ॥ ९१ ॥
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद्भिषक् । तृष्णाकासज्वरार्तं तु क्षीणमांसाग्निभोजनम् ॥९२॥
वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।

छिद्रोदर-चिकित्सा—छिद्रोदर रोगी की सभी चिकित्सा कफज उदररोगी के समान ही करनी चाहिए, किन्तु इस रोग में स्वेदन-क्रिया नहीं करनी चाहिए । यदि छिद्रोदर रोग में जल का संचय होने लगे तो उसे

जब-जब जल-संचय हो जाये तब-तब निकालते हुए चिकित्सक को चाहिए कि उसे कष्ट से मुक्त रखकर ले चलना चाहिए, अर्थात् उसका समय बिताना चाहिए। यदि उक्त छिद्रोदर का रोगी तृष्णा, कास, ज्वर से पीड़ित हो; उसका मांस, अग्निबल तथा भोजन-क्रम क्षीण हो गया हो, सभी इन्द्रियाँ दुर्बल पड़ गयी हों, श्वास तथा शूल से पीड़ित हो तो उसे असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'यापयेद्' के स्थान पर 'पाययेद्' पाठ को स्वीकारा है, किन्तु उसका अर्थ कुछ भी नहीं लिखा। हमारे विचार से 'यापयेद्' पाठ ही उचित है, क्योंकि रोग तीन प्रकार के होते हैं—१. साध्य, २. याप्य, ३. असाध्य। उदररोगों में छिद्रोदर रोग याप्य माना गया है, और 'पाययेद्' इस क्रिया का यहाँ कोई कर्म नहीं है, सुश्रुत ने इसे परिस्रावी उदर कहा है और इसमें व्रीहिमुखप्रवेशिनी (Trocar cannula) द्वारा छिद्रोदर में संचित जल को निकाला जाता है। देखें—सु० चि० अ० १४।१७। श्लेष्मोदर की चिकित्सा इसी अध्याय के श्लोक ७२-७३ में देखें।

अपां दोषहराण्यादौ प्रदद्यादुदकोदरे ॥ ९३ ॥
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च। दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ॥९४॥
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः।

जलोदर की चिकित्सा—इसमें सर्वप्रथम जल के दोषों को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। उसके लिए गोमूत्र मिले हुए तीक्ष्ण क्षारों तथा विविध प्रकार के क्षारों से युक्त औषधयोगों, अग्नि को दीप्त करने वाले तथा कफनाशक आहारों से उस रोगी की चिकित्सा करे और क्रमशः उसे जल आदि द्रव पदार्थों का सेवन करने से रोके।

वक्तव्य—जलोदर रोग में स्वाभाविकरूप से जल की वृद्धि हुई रहती है। अतः ऐसे रोगी को कम से कम जल का सेवन करायें। वृद्धवाग्भट ने व्रीहिमुख नामक शस्त्र से नाभि की बांयीं ओर चार अंगुल छोड़कर काटकर जल निकालने का आदेश दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १७।४१। अ० हृ० चि० अ० १५।१०१ तथा १०२ में भी प्रायः इसी विषय की चर्चा अपने ढंग से की गयी है।

अपां दोषहराणि—जल दोष-नाशक चिकित्सा है। पुनर्नवा, गोखरू आदि मूत्रप्रवर्त्तक द्रव्यों के प्रयोग से अधिकाधिक मूत्र का रेचन होता है। इनके प्रयोग से जलपूर्ण उदर हलका होते देखा गया है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जलोदर के रोगी को जल, अनार, सन्तरा, मोसम्मी (सरबती), माल्टा, ईख आदि का रस भी न दिया जाय अथवा कम मात्रा में दिया जाय।

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम् ॥ ९५ ॥
तस्मात् त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वत्र कारयेत्।

उदररोगों में त्रिदोषशामक चिकित्सा—प्रायः सभी उदररोग दोषसमूह (वात, पित्त, कफ) के मिश्रण से ही होते हैं, अर्थात् त्रिदोषज होते हैं। अतः इनमें सर्वत्र वात आदि तीनों दोषों को शान्त करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि अतिसार, ग्रहणी, शूल आदि अनेक उदर रोग होते हैं, किन्तु वे उदर के किसी एक भाग में होते हैं। परन्तु यहाँ जिन्हें उदररोग कहा गया है, वे मध्यकायिक उदर के सभी अवयवों की विकृति से उत्पन्न होते हैं। इन आठ प्रकार के उदररोगों की सुश्रुत ने इस प्रकार साध्य-असाध्य व्यवस्था दी है—असाध्य—बद्धगुदोदर और परिस्रावी। शेष उदर कष्टसाध्य हैं। इनमें वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज—ये चार उदररोग औषधोपचार द्वारा ठीक किये जा सकते हैं। प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, छिद्रोदर, जलोदर—ये चार शस्त्र-चिकित्सा द्वारा साध्य कहे गये हैं। अथवा समय की अधिकता होने के कारण सभी उदररोग शस्त्रसाध्य होते हैं या असाध्य हो जाते हैं। देखें—सु० चि० अ० १४।३। इस प्रसंग में सु० नि० अ० ७।२५ को भी देख लें।

दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ॥ ९६ ॥
तस्माद् भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च।

उदररोग में दीपन-चिकित्सा—उदर-प्रदेश में वात आदि दोषों के पूर्णरूप से भर जाने पर जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। अतः सभी प्रकार के उदर रोगों में अग्नि को प्रदीप्त करने वाले तथा सुपाच्य (जो आसानी से शीघ्र पच जाय) भोज्य पदार्थों (आहार द्रव्यों) का सेवन करना चाहिए।

रक्तशालीन् यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान् ॥ ९७ ॥
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधुसीधुं तथा सुराम्। यवागूमोदनं वाऽपि यूषैरद्याद् रसैरपि ॥९८॥
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः।

उदररोगी के योग्य आहार—लाल शालिचावल, जौ, मूंग—ये अन्न तथा जांगलप्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु (शहद), सीधु, सुरा का प्रयोग करें। पञ्चमूल के क्वाथ से तैयार किए हुए यूष या मांसरस में हलका खट्टे अनार का रस, घी तथा कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर यवागू या भात खाने के लिए दें।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती टीकाकारों में से एक ने लघुपञ्चमूल का और दूसरे ने बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण किया है। आप दोनों के गुण-धर्मों से परिचित हैं, तथापि कुछ विचार किया जा रहा है। लघुपञ्चमूल—वातनाशक, पित्तशामक, बृंहण एवं बलवर्धक है और बृहत्पञ्चमूल—कफनाशक तथा अग्निवर्धक है। प्रत्येक उदररोग में अग्निमन्द पड़ जाती है, उसे तीव्र करने के लिए सम्पूर्ण यत्न किये जाते हैं। अब आप स्वयं निर्णय करें कि आप किसको ग्रहण करना चाहेंगे?

औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान् ॥ ९९ ॥
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानं च वर्जयेत्। तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च ॥
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानं च वर्जयेत्।

उदररोगी के अयोग्य आहार—जल में तथा आनूप (जल-प्रधान) देश में उत्पन्न होने वाले प्राणियों (जैसे—जल में मछली, कछुआ आदि, आनूपदेशज सूअर, साही आदि) के मांस, अनेक प्रकार के पत्रशाक, चावल के आटा द्वारा बनाये गये पदार्थ, तिल, व्यायाम (किसी प्रकार का अधिक श्रम), अधिक रास्ता चलना, दिन में सोना, घोड़े आदि यानों (सवारियों) से यात्रा करना, गरम, नमकीन, खट्टे, विदाहकारक, गुरु (देर में पचने वाले), भोज्यपदार्थों का सेवन और अधिक जल का पीना उदररोगी के लिए वर्जित है, अर्थात् वह इनका सेवन न करे।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ९७ से यहाँ तक पथ्य-अपथ्य आहार-विहारों का ही वर्णन है। इसकी विशेष जानकारी के लिए आप पथ्यापथ्य विषयक साहित्य का अवलोकन करें।

नातिसान्द्रं हितं पाने स्वादु तक्रमपेलवम् ॥ १०१ ॥
त्र्यूषणक्षारलवणैर्युक्तं तु निचयोदरी। वातोदरी पिबेत् तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम् ॥१०२॥
[1]शर्करामधुकोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत्। यवानीसैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी ॥१०३॥
पिबेन्मधुयुतं तक्रं [2]कवोष्णं नातिपेलवम्। मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥१०४॥
युक्तं प्लीहोदरी जातं सव्योषं तूदकोदरी। बद्धोदरी तु हपुषायवान्यजाजिसैन्धवैः ॥१०५॥
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम्। गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम् ॥१०६॥
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते।

अन्य पथ्य-निर्देश—उदररोगी को न अधिक गाढ़ा, न अधिक पतला तथा मधुर स्वाद युक्त मठा पीना चाहिए, यह इसके लिए हितकर होता है।

१. सन्निपातज उदररोगी—इसे सोंठ, मरिच, पीपल, जवाखार, सेंधानमक मिलाकर मठा पीने के लिए दें। **२. वातज उदररोगी**—इसे पीपल का चूर्ण और नमक मिलाकर मठा पीना चाहिए। **३. पित्तज उदररोगी**—यह चीनी तथा मुलेठी का चूर्ण मिलाकर मधुर मठा का पान करे। **४. कफज उदररोगी**—इसे

१. 'शर्करामरिचोपेतम्' इति पा०। २. 'व्यक्ताम्लम्' इति पा०।

अजवाइन, सेंधानमक, जीरा, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल) इनके चूर्णों से युक्त तथा मधु मिश्रित जो अत्यन्त पतला न हो तथा गुनगुना मठा पीने के लिए दें (पाठ-भेद के अनुसार—'कवोष्णं' के स्थान पर जहाँ 'व्यक्ताम्लं' पाठ है, वहाँ इसका अर्थ होगा हलका खट्टा)। ५. **प्लीहोदर रोगी**—इसे मधु, तिल का तेल, मीठा वच, सोंठ, सोया, मीठा कूठ, सैंधा नमक—इन सबका चूर्ण बनाकर मठा में मिलाकर पीने के लिए दें। ६. **जलोदर रोगी**—उदर में जल का संचय हो जाने पर इसे सोंठ, मरिच, पीपल का चूर्ण मिलाकर मठा पीने के लिए दें। ७. **बद्धोदर रोगी**—इसे हाऊबेर, अजवाइन, जीरा, सैंधानमक का चूर्ण मिलाकर मठा पीने के लिए दें। ८. **छिद्रोदर रोगी**—इसे पीपल का चूर्ण तथा मधु मिलाकर मठा पीने के लिए दें। वातदोष तथा कफदोष से पीड़ित व्यक्ति जब शरीर में भारीपन या भोजन के प्रति अरुचि के कारण कष्ट पा रहा हो, मन्दाग्नि से युक्त हो तथा अतिसार रोग से पीड़ित हो तो उसके लिए मठा का सेवन अमृत के समान लाभदायक होता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि—'अपेलवमिति उद्धृतस्नेहम्' ऐसा अर्थ करते हैं, जब कि पेलव का अर्थ तनु (पतला) और 'अपेलव' उसके विपरीत होता है। यदि वे उस स्नेह को न भी निकालें तो कोई हानि नहीं होगी। इसके लिए आप 'नवनीत' के गुण-धर्मों का अवलोकन करें।

शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः ॥ १०७ ॥
शुद्धानां क्षामदेहानां गव्यं छागं समाहिषम्।

उदररोग में दुग्ध-प्रयोग—जो उदर का रोगी शोथ, आनाह (अफारा), वेदना, प्यास तथा मूर्च्छा से पीड़ित हो तो उसे ऊँटनी का दूध पिलाना चाहिए। संशोधन कराने के बाद जिन उदररोगियों का शरीर कृश हो गया है, उनके लिए गाय, बकरी तथा भैंस का दूध हितकर होता है।

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः ॥ १०८ ॥
साश्वगन्धैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं समैः।

उदररोग-नाशक लेप—देवदारु, पलाश के बीज, मदार की जड़, गजपिप्पली, सहिजन की छाल, असगन्ध—इन सबको समभाग लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर गरम करके पेट के ऊपर लेप करें।

वृश्चिकालीं वचां कुष्ठं पञ्चमूलीं पुनर्नवाम् ॥ १०९ ॥
[1]भूतीकं नागरं धान्यं जले पक्त्वाऽवसेचयेत्। पलाशं कत्तृणं रास्नां तद्वत् पक्त्वाऽवसेचयेत् ॥
मूत्राण्यष्टावुदरिणां सेके पाने च योजयेत्।

उदररोग में परिषेक—वृश्चिकाली (कौआठोंठी), वच, मीठा कूठ, बृहत्पञ्चमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढल, अरणी की छाल), सफेद पुनर्नवा, भूतीक (अजवाइन), सोंठ, धनिया—इन द्रव्यों को सम परिमाण में लेकर जल में पकाकर अर्थात् इनका क्वाथ करके उदररोग से पीड़ित रोगियों के उदर के ऊपर गुन-गुना परिषेक (स्नान) कराना चाहिए। पलाश के बीज, गन्धतृण, रास्ना को भी जल में डालकर उसी प्रकार पकाकर उस क्वाथ द्वारा परिषेक करायें। आठ प्रकार के मूत्रों का उदररोगियों के स्नान तथा पान में प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—आठ प्रकार के मूत्र—१. गाय, २. बकरी, ३. भेड़, ४. भैंस, ५. घोड़ा, ६. गधा, ७. ऊँट, ८. हाथी। देखें—चरक सू० अ० १।९३ तथा भावप्रकाश। इन मूत्रों का प्रयोग उदररोगियों के परिषेक (स्नान) एवं पीने के लिए किया जाता है।

रूक्षाणां बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम् ॥ १११ ॥
दीपनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि चक्ष्महे।

उदररोग में दीपनीय घृत—उदररोग से पीड़ित वे व्यक्ति जिनके शरीर रूक्ष हो गये हों या जिनके शरीर में वातदोष की प्रधानता हो, अथवा जिनके लिए संशोधन कराना आवश्यक हो, ऐसे सभी उदररोगियों

१. 'वर्षाभूं' इति पा०।

के लिए उदररोग-नाशक तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले विविध प्रकार के औषधयोगों से सिद्ध घृतों का वर्णन किया जा रहा है।

वक्तव्य—सामान्य दृष्टि से उदररोगों में विरेचन कराना पड़ता है। उसके पूर्व स्नेहन, स्वेदन कराने की आयुर्वेदीय परम्परा है। इसीलिए संशोधन कराने से पहले घृतपान भी कराया जाता है। जब कि उदररोगों में स्नेहन, स्वेदन का साधारणतया निषेध किया गया है। आप ध्यान दें—एक स्नेहपान स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए कराया जाता है, जिसे शरीर में रह जाना है, इसी का यहाँ निषेध समझें। दूसरा स्नेहपान वह है, जिसे संशोधन के लिए कराया जाता है, वह तो कराना ही है। इस विशेष व्यवस्था के लिए च० सि० अ० २।२४-२६ देखें।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥ ११२ ॥
सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विःप्रस्थं सर्पिषः पचेत्। कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य तुलार्धस्वरसेन च ॥११३॥
दधिमण्डाढकोपेतं तत् सर्पिर्जठरापहम्। श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत् ॥११४॥

पञ्चकोलघृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ, यवक्षार (जवाखार)—इन सभी द्रव्यों को आधे आधे पल (२-२ तोला) लें, इन सबका कल्क बना लें, दोनों पञ्चमूल के द्रव्यों का सम्भव हो तो परिमाण में आधा तुला (२०० तोला) स्वरस लें अथवा क्वाथ लें और दही का पानी १ आढक (२५६ तोला) लें, इन सबके साथ २ प्रस्थ (१२८ तोला) गाय के घी को मिलाकर पकायें, तैयार हो जाने पर छान कर रख लें। इस घी का निरन्तर प्रयोग सभी प्रकार के उदररोगों, शोथ, वातविष्टम्भ (वायु के कारण उत्पन्न होने वाली कब्जियत), गुल्मरोग तथा अर्शरोग इन सबका नाश करता है।

वक्तव्य—इसका नाम 'पञ्चकोलादि घृत' होना चाहिए। श्रीचक्रपाणि का कथन—'सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विःप्रस्थं सर्पिषः पचेत्'—इस पद्यांश में प्रयुक्त 'द्विः' शब्द का सम्बन्ध 'प्रस्थ' तथा 'अर्धपलिकैः' इन दोनों के साथ जोड़ना चाहिए। ऐसा करने से पिप्पली आदि उपर्युक्त द्रव्यों की मात्रा दूनी हो जायेगी। काश्मीर में उपलब्ध चरक की प्राचीन प्रति में यहाँ इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—'पलिकैः पिप्पलीक्षारैर्द्विप्रस्थं सर्पिषः पचेत्' यह पाठ श्रीचक्रपाणि के उपर्युक्त कथन को समर्थन दे रहा है। यहाँ 'पिप्पलीक्षारैः' का अर्थ इस प्रकार है—'पिप्पली से आरम्भ कर क्षार-पर्यन्त द्रव्यों को १-१ पल लें'। उक्त विषय को श्रीजतूकर्ण ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'दशमूलतुलार्धरसे सक्षारैः पञ्चकोलकैः सार्धं घृतार्धप्रस्थं सदधि मस्त्वाढकमुदरघ्नम्'। आशय सबका समान है।

वृद्धवाग्भट के अनुसार—'यावशूकपञ्चकोलकषट्पलेन वा मस्तुदशमूलक्वाथाढकद्वयेन च सिद्धं सर्पिः-प्रस्थं प्रयोजयेत्'। अ० सं० चि० अ० १७।७। इस योग को देखकर ऐसा लगता है, कि इन्होंने यहाँ पूर्ववर्ती तन्त्रकारों की ओर ध्यान न देकर स्वतन्त्ररूप से इस योग की कल्पना की है, अन्यथा प्रायः उन्हीं द्रव्यों द्वारा निर्मित घृत में द्रव्यों का मात्रा-साम्य अवश्य होता।

आचार्य गंगाधर के अनुसार—घी ४ प्रस्थ, पिप्पली आदि क्षार-पर्यन्त ६ द्रव्य आधे-आधे पल, दशमूल ५० पल (२०० तोला), क्वथित जल ८ शराव (२५६ तोला), दही का पानी १६ शराव (५१२ तोला), इस अनुपात से द्रव्यों का संग्रह कर घृतपाक करना चाहिए। आचार्यों के मतभेदों में क्या कारण रहा होगा, इस रहस्य की खोज करना अनुसन्धाताओं का कर्तव्य है, क्योंकि 'नह्यमूला जनश्रुतिः' अर्थात् लोकोक्तियाँ निराधार नहीं होती हैं।

नागरत्रिफलाप्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम्। मस्तुनः साधयित्वैतत् पिबेत् सर्वोदरापहम् ॥११५॥
कफमारुतसम्भूते गुल्मे चैतत् प्रशस्यते।

नागरादि घृत—सोंठ, हरीतकी, बहेड़ा, आँवला—इनको समभाग लेकर कल्क बना लें। गाय का घी तथा तिल का तेल इन दोनों को मिलाकर १ आढक (२५६ तोला), दही का पानी १ आढक—इन सबको एक में मिलाकर विधिपूर्वक घी का पाक करें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। इस घृत का पान करने से सभी प्रकार के उदररोगों का नाश होता है तथा कफज एवं वातज गुल्मरोग में भी इसका प्रयोग प्रशंसित है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'नागरत्रिफलाप्रस्थं' के स्थान पर 'नागरं त्रिपलं' पाठ होना चाहिए, ऐसा अपना विचार व्यक्त किया है और वे घृत-तैल इन दोनों को मिलाकर १ प्रस्थ लेने का आग्रह करते हैं। इसी कारण उन्होंने इसका नाम भी नागरादि न लिखकर केवल 'नागरघृतम्' रखा है।

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात् पले ॥ ११६ ॥
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् ।

चित्रकघृत—गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), जल ४ प्रस्थ, घी से दूना (२ प्रस्थ) गोमूत्र, चित्रक-मूल १ पल (इसका कल्क बना लें), जवाखार १ पल (४ तोला)—इन सभी द्रव्यों को मिलाकर यथाविधि घृतपाक करें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस घृत का पान उदररोगी करे।

वक्तव्य—अन्य टीकाकारों ने चित्रक के साथ क्षार को भी कल्क में मिलाने की चर्चा की है। यह सही है कि घृतपाक काल में इन सभी द्रव्यों को परस्पर मिल ही जाना है।

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलरसेन च ॥ ११७ ॥
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वाऽपि पिबेद् घृतम् ।

यवादि घृत—जौ, झड़बेर, (जंगली बेर), कुलथी प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला)—इनका कल्क बना लें, पञ्चमूल (बृहत्) इसका विधिपूर्वक क्वाथ बना लें, या प्राप्त हो सके तो स्वरस ले लें, सुरा और सौवीर इन दोनों को मिलाकर ४ प्रस्थ (२५६ तोला), गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) इन सबको मिलाकर विधि-पूर्वक घृतपाक करें। इस घृत के सेवन से सभी उदररोग नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है—'यवकोलकुलत्थपञ्चमूलकषायेण वा सुरा-सौवीरकयुक्तं सर्पिः'। अ० सं० चि० अ० १७/८। इसके अनुसार जौ, बेर, कुलथी तथा पञ्चमूल—इन सबका एक साथ क्वाथ बनाना चाहिए। इसकी व्याख्या करते हुए श्री इन्दु लिखते हैं—उक्त आठ द्रव्यों का अवशिष्ट क्वाथ घी के समान होना चाहिए, सुरा-सौवीर दोनों को मिलाकर ये भी घी के बराबर हों। पकाये गये अन्न का सन्धान करने से सुरा का निर्माण किया जाता है और गेहूँ या जौ से तैयार की गयी काँजी को सौवीर कहते हैं।

एभिः स्निग्धाय सञ्जाते बले शान्ते च मारुते ॥ ११८ ॥
स्रस्ते दोषाशये दद्यात् कल्पदिष्टं विरेचनम् ।

उदररोग में विरेचन—उपर्युक्त उदररोग-नाशक घृतों के विधिवत् सेवन करने से स्निग्ध हुए रोगी के शरीर में जब कुछ शक्ति का संचार हो जाय, वातदोष की शान्ति हो जाने पर और दोषों तथा उनके आशयों के ढीले पड़ जाने पर आगे कल्पस्थान में जिन विरेचन कल्पों का उदर रोगों की शान्ति के लिए निर्देश किया गया है, उनसे विरेचन कराना चाहिए।

पटोलमूलं रजनीं विडङ्गं त्रिफलात्वचम् ॥ ११९ ॥
कम्पिल्लकं नीलिनीं च त्रिवृतां चेति चूर्णयेत् । षडाद्यान् कार्षिकानन्त्यांस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान् ॥
कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिं गवां मूत्रेण ना पिबेत् । विरिक्तो मृदु भुञ्जीत भोजनं जाङ्गलै रसैः ॥
मण्डं पेयां च पीत्वा ना सव्योषं षडहं पयः । शृतं पिबेत् ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः ॥१२२॥
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि । कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति ॥१२३॥
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम् ।

पटोलादि चूर्ण—परवल की जड़, हल्दी, वायविडंग, हरड़, बहेड़ा, आँवला की गुठलियाँ निकाल कर इनके छिलके १-१ कर्ष (१-१ तोला), कबीला २ कर्ष (२ तोला), नीलीबीज ३ कर्ष, सफेद निशोथ ४ कर्ष (४ तोला) इन सबको कूट-पीस कपड़छन कर चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण को १ मुष्टि (४ तोला) की मात्रा में गाय के मूत्र से उदररोगी पुरुष को पीना चाहिए। इसके सेवन से जब विरेचन हो जाय तब वह रोगी जांगलप्रदेशीय पशु-पक्षियों के मांस रस के साथ मृदु (सुपाच्य) आहार करने योग्य पदार्थों का सेवन करे। सबसे पहले मण्ड और पेया को पीने के बाद छः दिन तक सोंठ, मरिच, पीपल डालकर पकाये हुए दूध को पीये, जब कुछ बल की प्राप्ति हो जाय तब उक्त पटोलादि चूर्ण को इसी क्रम से बार-बार पीये। यह चूर्ण सभी प्रकार के उदररोगों का नाश कर देता है। जिसके उदर में पानी भर गया हो वह भी इसके सेवन से दूर हो जाता है तथा कामला, पाण्डुरोग, शोथ रोग को भी यह दूर करता है। यह पटोलादि चूर्ण उदररोगों में रोगियों एवं चिकित्सकों द्वारा आदरणीय है।

वक्तव्य—'षडहं शृतं पयः पिबेत्'—इन छः दिनों में प्रतिदिन पटोलादि चूर्ण का गोमूत्र के साथ सेवन करना, जांगल प्राणियों के मांस रस से अथवा मूंग आदि के यूष से मृदु पदार्थों का भोजन करना, मण्ड, पेया तथा सोंठ, मरिच, पीपल डालकर पकाये गये दूध को पीना, शक्ति प्राप्त होने पर पुनः पटोलादि चूर्ण का सेवन करना यही क्रम है।

यद्यपि अपने समय में तन्त्रकार ने इस चूर्ण की मात्रा १ मुष्टि (४ तोला) निर्धारित की थी। आज के अनुसार १ माशा से २ माशा तक इसकी पर्याप्त मात्रा है। वैसे तो मात्रा का निर्धारण सर्वत्र देश, काल, वय आदि को देखकर ही किया जाता है।

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम् ॥ १२४ ॥
पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्रकोलकर्कन्धुसीधुभिः ।

गवाक्ष्यादि चूर्ण—गवाक्षी (इन्द्रायण), शंखिनी, दन्तीमूल, तिल्वक (लोध विशेष) का छिलका, बालवच—इन सब द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को उचित मात्रा में लेकर मुनक्का के क्वाथ, गोमूत्र, कोल (बेर) के क्वाथ, कर्कन्धु (झड़बेर) के क्वाथ तथा सीधु (मद्य भेद) के साथ उदररोगी को पीना चाहिए। चूर्ण की मात्रा—१ या २ माशा।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार **शंखिनी** शब्द से **यवतिक्ता (कालमेघ)** का ग्रहण करते हैं, जो युक्तियुक्त प्रतीत होता है। आचार्य गंगाधर ने उसका पर्याय 'शंखपुष्पी' स्वीकार किया है, जो प्रसंगोचित नहीं है। श्रीचक्रपाणि के अनुसार शंखिनी 'श्वेतभल्लातकी' है। विशेष 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में देखें।

यवानी हपुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका ॥ १२५ ॥
कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा । शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी सचित्रका ॥
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम् । विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा ॥
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला स्याच्चतुर्गुणा । एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम् ॥१२८॥
नैनत् प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः । तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना ॥
आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया । दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसैः ॥१३०॥
परिकर्ते सवृक्षाम्लमुष्णाम्बुभिरजीर्णके । भगन्दरे पाण्डुरोगे श्वासे कासे गलग्रहे ॥१३१॥
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे । दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ॥१३२॥
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद् विरेचनम् ।

इति नारायणचूर्णम् ।

नारायण चूर्ण—अजवायन, हाऊबेर, धनियाँ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), स्याहजीरा, कारवी (मगरैला), पिप्पलामूल, अजमोदा, कचूर, मीठावच, सोया, जीरा, सोंठ, मरिच, पीपल, स्वर्णक्षीरी (भड़भाड़) की जड़, चित्रकमूल, जवाखार, सज्जीखार, पोहकरमूल, मीठाकूठ, लवणपंचक (सेंधानमक, सोंचरनमक, विरियानमक, सामुद्रनमक, सांभरनमक), वायविडंग—ये सभी द्रव्य समभाग, जमालगोटा की जड़ ३ भाग, निशोथ और इन्द्रायण की जड़ २-२ भाग, सातला (पीले दूध वाला थूहर) ४ भाग लेकर इन सबका चूर्ण बनाकर कपड़छन करके रख लें।

यह नारायण नामक चूर्ण सभी प्रकार के उदर रोगों का नाश करने वाला है। इसको प्राप्त कर उदर रोग उस प्रकार आक्रमण नहीं कर पाते जैसे विष्णु (नारायण) को पाकर असुर-समूह पुनः आक्रमण नहीं कर सकते। नारायण चूर्ण की अनुपान व्यवस्था—उदर रोगी इस चूर्ण को मठा के साथ पीयें, गुल्म रोग से पीड़ित व्यक्ति बेर के क्वाथ के साथ इसे पीयें, वायु के कारण जब कोष्ठबद्धता हो तब इसे मदिरा के साथ लें, वातरोग

में प्रसन्ना (मद्य के उपरी भाग) के साथ लें, मल के सूख जाने पर दही के पानी के साथ लें, अर्शरोग में दाड़िम के स्वरस से, परिकर्त नामक रोग में वृक्षाम्ल (विषांविल) के रस के साथ, अजीर्णरोग में गुनगुने जल के साथ, भगन्दर, पाण्डुरोग, श्वास, कास, गलग्रह, हृद्रोग, ग्रहणी, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर, दंष्ट्राविष, मूल (स्थावर) विष, गर (संयोगज विष) तथा कृत्रिम विष में इस चूर्ण का प्रयोग रोग की प्रकृति के अनुसार यथायोग्य अनुपान का निर्धारण कर कोष्ठ का सम्यक् स्नेहन करने के बाद प्रयोग कराना चाहिए। यह उत्तम विरेचक चूर्ण है।

वक्तव्य—परिकर्त या परिकर्तिका—सु० चि० अ० ३४।८ में 'गुदपरिकर्तन' शब्द का उल्लेख है। गुदप्रदेश में कैंची से काटने की-सी पीड़ा को परिकर्तिका कहते हैं। **दंष्ट्राविष**—कुत्ता, साँप आदि के विष को कहते हैं। ज्यौतिषशास्त्र में इसी प्रकार का एक 'यमदंष्ट्रा' नामक योग भी है। **मूलविष**—इसमें वत्सनाभ आदि की गणना की गयी है।

कविराज लोलिम्बराज ने वैद्यजीवन नामक अपने ग्रन्थ में नारायण शब्द से आरम्भ होने वाले योगों में इस चूर्ण की भी चर्चा की है—'नारायणं भजत रे पवनेन युक्ता, नारायणं भजत रे जठरेण युक्ताः। नारायणं भजत रे भवतीति युक्ता, नारायणात् परतरं नहि किञ्चिदस्ति' ॥ इसमें पहला सुप्रसिद्ध नारायण या महानारायण तैल है, जो वातव्याधि-विनाशक है और दूसरा है यही नारायण चूर्ण जो समस्त उदर-व्याधियों का नाश करता है, जैसा कि वर्णन ऊपर किया गया है, तीसरा नारायण है—क्षीरसमुद्रशायी साक्षात् भगवान् विष्णु।

श्रीतीसटाचार्य 'स्वर्णक्षीरी' के स्थान पर कंकुष्ठ (रेवन्दसार) और 'सातला' के स्थान पर यवतिक्ता (कालमेघ) की योजना करते हैं। चिकित्साकलिका चिकित्सा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

हपुषां काञ्चनक्षीरीं त्रिफलां कटुरोहिणीम् ॥ १३३ ॥
नीलिनीं त्रायमाणां च सातलां त्रिवृतां वचाम् । सैन्धवं काललवणं पिप्पलीं चेति चूर्णयेत् ॥
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः । पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च ॥१३५॥
श्वित्रे कुष्ठे सरुजके सवाते विषमाग्निषु । शोथार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥१३६॥
वातं पित्तं कफं चाशु विरेकात् सम्प्रसाधयेत् ।

इति हपुषाद्यं चूर्णम् ।

हपुषादि चूर्ण—हाऊबेर, स्वर्णक्षीरी की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कुटकी, नीली का बीज, त्रायमाणा, सातला, सफेद निशोथ, मीठावच, सेंधानमक, विरियानमक, पिप्पली—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को दाडिम (खट्टा अनार) का रस, त्रिफला क्वाथ, जांगल प्राणियों का मांसरस, गोमूत्र, गुन-गुना जल, इनमें से किसी एक के अनुपान के साथ पीना चाहिए। इससे सभी प्रकार के गुल्मरोग, प्लीहारोग, उदररोग, श्वेतकुष्ठ, वेदनायुक्त वातकोष्ठ, विषमाग्नि, शोथ, अर्श (बवासीर), पाण्डुरोग, कामला, हलीमक रोग शान्त हो जाते हैं। यह चूर्ण विरेचन द्वारा वात, पित्त, कफ दोषों को शीघ्र ही शान्त करता है।

वक्तव्य—इस चूर्ण का पहला द्रव्य 'हपुषा' तथा 'हवुषा' इन दोनों नामों से प्रसिद्ध है, अतएव उक्त चूर्ण के नाम में भी इस प्रकार का भेद देखा जाता है।

नीलिनीं निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च ॥ १३७ ॥
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत् ।

इति नीलिन्याद्यं चूर्णम् ।

नीलिन्यादि चूर्ण—नीली का बीज, जलबेत, सोंठ, मरिच, पीपल, जवाखार, सज्जीखार, लवण (सेंधा-नमक, सोंचर नमक, विरिया नमक, सामुद्र नमक, सांभर नमक), चित्रकमूल—इनको समान भाग लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इस चूर्ण को घी के साथ (२ माशा से ६ माशा तक की मात्रा में लेकर) चाटें। इससे सभी प्रकार के उदररोग तथा गुल्मरोगों की शान्ति होती है।

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं दधि ॥ १३८ ॥
जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद् घृतम् । तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ॥
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च । गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये ॥१४०॥

इति स्नुहीक्षीरघृतम् ।

स्नुहीक्षीरघृत—(क) गाय का दूध १ द्रोण (१०२४ तोला), थूहर का दूध आधाप्रस्थ (३२ तोला), इन दोनों को मिलाकर दही जमायें, इस दही को मथकर घी निकाल लें। इस घी को निशोथ का कल्क बनाकर उसके साथ विधिपूर्वक पकायें। इस घी का उदररोगी मात्रानुसार सेवन करें।

(ख) गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय का दूध घी से आठ गुना अर्थात् ८ प्रस्थ (५१२ तोला) १ पल (४ तोला), थूहर का दूध और सफेद निशोथ ६ पल (२४ तोला) इन दोनों का कल्क बनाकर घृत-पाक विधि से पकाया हुआ यह घृत सभी प्रकार के गुल्मों, गरदोषों (संयोगज विषों) तथा उदररोगों की शान्ति के लिए सेवन करना चाहिए। सामान्य मात्रा ३ माशा।

वक्तव्य—यहाँ 'स्नुहीक्षीरघृत' नाम के दो योग दिये हुए हैं, जिन्हें श्री जयदेव ने अलग-अलग रखा है। किन्तु निर्णयसागरीय प्रति में इन दोनों को एक साथ दिया है। इस योग में कल्क द्रव्य का उल्लेख तो किया है, किन्तु चतुर्गुण जल के स्थान पर क्या लेना चाहिए इसका दोनों ही योगों में संकेत नहीं किया गया है, अतः जिस मठा से घी निकाला गया है, उसी जल (मठा) का द्रव के स्थान पर प्रयोग करना चाहिए। यहा श्रीचक्रपाणि ने जो **'तथेति पूर्वप्रकारोत्थितं घृतमेव'** इस प्रकार कहा है, यह प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यहाँ दूसरा योग सर्वथा स्वतन्त्र है। उसकी अपनी सभी सामग्री ऊपर कहे गये योग से भिन्न है।

दधिमण्डाढके सिद्धात् स्नुक्क्षीरपलकल्कितात् । घृतप्रस्थात् पिबेन्मात्रां तद्वज्जठरशान्तये ॥
एषां चानु पिबेत् पेयां पयो वा स्वादु वा रसम् । घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं नागरकैः शृतम् ॥
पिबेदम्बु ततः पेयां यूषं कौलत्थकं ततः । पिबेद्रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं [1]भूयो वा प्रतिभोजितः ॥१४३॥
पुनः पुनः पिबेत् सर्पिरानुपूर्व्या तयैव च । घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात् कुशलो भिषक् ॥
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये । पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम् ॥१४५॥
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत् ।

अन्य स्नुहीक्षीरघृत—दही का मण्ड (पानी) १ आढक (२५६ तोला), कल्क के लिए थूहर का दूध १ पल (४ तोला), गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) इन सबको आपस में मिलाकर घृतपाक विधि से तैयार करें। मात्रा के अनुसार सेवन किया गया यह घी सभी प्रकार के उदररोगों की शान्ति करता है। इन उपर्युक्त घृतों को पीने के बाद पेया, मिश्री मिला हुआ दूध या मांसरस का पान करे। जब घी पच जाय और उससे विरेचन हो जाय तब पहले दिन लघु आहार करने के बाद सोंठ डालकर पकाया हुआ गुन-गुना जल पीना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे दिन भी घी के पच जाने पर उसके द्वारा विरेचन हो जाने पर लघु आहार करने के बाद सोंठ डालकर पकाया हुआ गुनगुना जल पीने के बाद तब पेया पीनी चाहिए, तीसरे दिन घी के पच जाने पर उससे विरेचन होने पर लघु आहार करने के बाद सोंठ डालकर पकाया हुआ गुनगुना जल पीने के बाद कुलथी का यूष पीना चाहिए। इस प्रकार रूक्ष उदर वाला रोगी तीन दिन तक घृतपान, विरेचन, उष्ण जलपान, तब पेया आदि का क्रमशः सेवन करे। यदि रोगी बलवान् तथा आत्मवान् हो और दोष अवशिष्ट हों तो कुछ दिन पुनः यही क्रम चलाया जा सकता है। उपर्युक्त तीनों स्नुहीक्षीर-घृतों का निर्माण कराकर कुशल चिकित्सक इनका प्रयोग गुल्म, गरदोष तथा उदर रोगों की शान्ति के लिए करें, अथवा उदर में हुए आनाह को दूर करने के लिए पीलु के कल्क द्वारा तैयार किए हुए घी का पान करें, अथवा गुल्मरोग-नाशक नीलिनीसर्पि (च० चि० अ० ५।१०५-१०९ में कहे गये) का प्रयोग करे अथवा मिश्रक स्नेह (च० चि० अ० ५।१४९-१५१) का पान करें।

---

१. 'पयोऽन्नम्' इति पा०।

वक्तव्य—यहाँ तीन स्नुहीक्षीरघृतों का वर्णन विरेचन के लिए किया गया है। विरेचन के बाद अग्नि मन्द पड़ जाती है, अतः उसे पुनः तीव्र करने के लिए ही संसर्जन-क्रम (पेया, विलेपी आदि के सेवन) का विधान है। ये घृत विरेचक तथा स्नेहनकारक हैं। ध्यान रहे, जब तक घी की प्रथम मात्रा से विरेचन न हो जाये तब तक दूसरी मात्रा का प्रयोग न करें। उदरस्थ मलों की स्थिति प्रधान, मध्य, अवर भेद से तीन प्रकार की होती है। इसी के आधार पर संसर्जन-क्रम भी किया जाता है—'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं द्विस्त्रिरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः' ॥ चक्रदत्त।

क्रमान्निर्हृतदोषाणां [1]जाङ्गलप्रतिभोजिनाम् ॥ १४६ ॥
दोषशेषनिवृत्त्यर्थं योगान् वक्ष्याम्यतः परम्।

शेष दोषनाशक योग—इस प्रकार क्रमशः जिनके उदरस्थ दोषों को निकाल दिया गया हो, ऐसे उदर-रोगियों को जांगलप्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांस रस के साथ भोजन करा देने के बाद बचे हुए दोषों को निकालने के लिए इसके आगे औषधयोगों का उपदेश किया जा रहा है।

चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिबेत् ॥ १४७ ॥
मासं युक्तस्तथा हस्तिपिप्पली विश्वभेषजम्।

चित्रकादि योग—उदररोगी चीता की जड़ तथा देवदारु का कल्क दूध के साथ पीये, अथवा गजपीपल और सोंठ के कल्क का एक मास तक दूध के साथ सेवन करे।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि के अनुसार चित्रक तथा देवदारु के कल्क को दूध के साथ एक मास तक लेना चाहिए और गजपीपल तथा सोंठ के कल्क को दूसरा योग माना है, यह उचित भी है। वैसे इन दोनों योगों की सेवन की अवधि एक मास माननी चाहिए। वास्तव में ऐसे निर्णय देश, काल आदि की परिस्थिति को देखते हुए चिकित्सक को स्वयं ले लेने चाहिए।

विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः ॥ १४८ ॥
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत्।

विडंगादि योग—वायविडंग, चीता की जड़, जमालगोटा की जड़, चव्य, सोंठ, मरिच, पीपल—इन सभी द्रव्यों को १-१ कोल (आधा-आधा तोला) लेकर इनका कल्क बना लें और इससे दूध का पाक करें। बढ़ा हुआ उदररोग इस दूध के सेवन करने से शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ विडंगादि द्रव्यों के योग से क्षीरपाक करके उसे सेवन करना है। अतः आप क्षीरपाक विधि पर ध्यान दें—१ भाग औषध द्रव्य, उससे ८ गुना दूध और दूध से ४ गुना अधिक जल डाला जाता है। सम्पूर्ण पानी के जल जाने पर दूध उतार कर छान लिया जाता है। यहाँ ऐसा आदेश नहीं है, अतः इस कल्क के साथ भी दूध पी सकते हैं। यदि हम कल्क के रूप में उक्त योग को दूध के साथ पीने की अनुमति देते हैं, तो उक्त मात्रा बहुत अधिक हो जायेगी। अतः आजकल की दृष्टि से इसकी उपयुक्त मात्रा ३-४ माशा पर्याप्त है। उक्त योग का संग्रह वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १७।१३।

पिबेत् कषायं त्रिफलादन्तीरोहितकैः श्रृतम् ॥ १४९ ॥
व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैरद्यात् तु जाङ्गलैः।

त्रिफलादि क्वाथ—हरड़, बहेड़ा, आँवला, जमालगोटा की जड़, रोहीतक की छाल—इन सब द्रव्यों को समान भाग में लेकर क्वाथ विधि से इसका पाक करें। उस क्वाथ में सोंठ, मरिच, पीपल और जवाखार मिलाकर उदररोगी को पीने के लिए दें। जब क्वाथ पच जाय तब जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करे।

वक्तव्य—क्वाथ को प्रतिदिन बनाकर सेवन करने का विधान है। अतः त्रिफला आदि कुल द्रव्य १ तोला लें और प्रक्षेप के लिए निर्दिष्ट सोंठ, मरिच आदि द्रव्य ४-४ रत्ती की मात्रा में आज की दृष्टि से पर्याप्त हैं।

१. 'जाङ्गलप्रतिभोजिनाम्' इति पा०।

मांसं वा भोजनं भोज्यं सुधाक्षीरघृतान्वितम् ॥ १५० ॥
क्षीरानुपानां गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत्।

अन्य प्रकार—ऊपर कहे गये स्नुहीक्षीरघृत से युक्त जांगल पशु-पक्षी का मांस या रोटी, चावल आदि भोज्य पदार्थों का भोजन करे अथवा हरीतकी के चूर्ण को गोमूत्र के साथ सेवन करने के बाद गाय का दूध पीना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने ऊपर 'मांसं वा' पाठ देने पर भी इसका अर्थ 'एक मास तक' किया है। हमारे विचार से ये अ० हृ० चि० अ० १५।४४ की इस पंक्ति से प्रभावित रहे होंगे—'भोज्यं भुञ्जीत वा मांसं स्नुहीक्षीरघृतान्वितम्'। यहाँ हरड़ का चूर्ण गोमूत्र के साथ सेवन कर तदनन्तर दूध पीने की जो व्यवस्था है, उसे आप इस प्रकार समझें—यहाँ हरीतकी का सहपान गोमूत्र है और अनुपान दूध है। स्नुहीक्षीरघृतों का उल्लेख अ० हृ० चि० अ० १५।३१-३७ में भी हुआ है। वृद्धवाग्भट ने भी इसे उद्धृत किया है, देखें—अ० सं० चि० अ० १७।३।

सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरं चानन्नभुक् पिबेत् ॥ १५१ ॥
मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम्। हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु ॥
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत्। शृङ्गबेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो हितः ॥१५३॥
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा।

विभिन्न क्षीर-प्रयोग—प्रायः सभी प्रकार के उदररोगों में अन्न का परित्याग कर एक सप्ताह तक भैंस के मूत्र का पान करते हुए दूध पीना चाहिए। अथवा एक मास तक सोंठ, मरिच, पीपल का चूर्ण मिलाकर ऊँटनी का दूध पीना चाहिए। अथवा तीन मास तक सोंठ, मरिच, पीपल का चूर्ण मिलाकर बकरी का दूध पीना चाहिए। अथवा एक हजार हरीतकी का सेवन केवल गाय के दूध को पीकर करे। अथवा केवल दूध पर आजीविका करते हुए शिलाजीत का प्रयोग करना चाहिए। अथवा शिलाजीत की ही विधि से शुद्ध किये हुए गुग्गुलु का सेवन करना चाहिए। अथवा उदररोगी आर्द्रक (न सूखे हुए) शृङ्गवेर (अदरख) के स्वरस में बराबर की मात्रा में दूध मिलाकर पीये, यह भी हितकर होता है। अथवा तिल के तेल को दस गुने अदरख के रस से पकाकर उदररोगियों को दें।

वक्तव्य—उपर्युक्त सभी योग उदररोगियों के लिए कहे गये हैं। इनमें अन्न का परित्याग करना पहली प्रतिज्ञा है, शेष का प्रत्येक योग में भिन्न-भिन्न प्रकार है। हरीतकी-सहस्र-सेवन की विधि ऊपर नहीं कही गयी है। इसी प्रकार का एक प्रयोग 'पिप्पलीवर्धमान' है; इसका उल्लेख च० चि० अ० १ पाद ३ श्लोक ३६-४० में है। वहाँ उत्कर्ष-अपकर्ष-क्रम के अनुसार सात तालिकाएँ दी गयी हैं, तदनुसार हरीतकी का भी प्रयोग करें। इन हरीतकियों को गोमूत्र से शुद्ध कर तब सेवन करना चाहिए। उक्त तालिकाओं में अद्यतन मात्रा की दृष्टि से ७वीं तालिका उपयुक्त है।

इसी प्रकार शुद्ध शिलाजीत और शुद्ध गुग्गुलु का प्रयोग १ रत्ती की मात्रा से आरम्भ करके उपर्युक्त तालिका के अनुसार १०९ दिन में पूरा करें। अथवा उक्त १५१ तथा १५२वें श्लोक में ७+३०+९०=१२७ दिनों तक उदररोगी की चिकित्सा करने का आदेश दिया है। अतः चिकित्सक ऊपर निर्दिष्ट सातवीं तालिका से भी कम मात्रा में इनका सेवन करा सकते हैं, दिनों के अनुसार औषध मात्रा में तर-तम भाव को चिकित्सक स्वयं स्थिर कर लें। सहस्रपिप्पली तथा और वर्द्धमानपिप्पली इन दोनों का प्रयोग चक्रदत्त तथा भैषज्यरत्नावली दोनों ग्रन्थों में समान रूप से मिलता है।

दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम् ॥ १५४ ॥
शूलानाहविबन्धेषु मस्तुयूषरसादिभिः।

दूष्योदर चिकित्सा—दूष्योदर को ही सन्निपातोदर कहा गया है। इसमें यदि शूल, आनाह और विबन्ध (कोष्ठबद्धता-कब्जियत) हो तो जमालगोटा के बीजों के तेल को दही के पानी, कुलथी के यूष या जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस में मिलाकर पीना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव उक्त श्लोक में 'मस्तु' के स्थान में 'सक्तु' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु टीका में उन्होंने भी 'मस्तु' को ही स्वीकार किया है, अतः हम इसे मुद्रणदोष स्वीकार करते हैं।

सरलामधुशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च ॥ १५५ ॥
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे ।

वातोदर में तैल-प्रयोग—वातज उदररोग में अभ्यङ्ग (मालिश करने) के लिए तथा पीने के लिए सरला (त्रिवृत=निशोथ), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) और मूली के बीजों के तेल का प्रयोग करना चाहिए। ये सभी द्रव्य शूलनाशक हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'सरलामधुशिग्रूणां' के स्थान पर 'सरलामरशिग्रूणां' पाठ को महत्त्व दिया है। वे इसका अर्थ चीड़, देवदारु, सहिजन करते हैं। वृद्धवाग्भट ने भी निर्णयसागरीय उक्त पाठ का आदर किया है—'सरलमधुशिग्रुमूलकबीजस्नेहाश्च पानाभ्यञ्जनेन शूलघ्नाः'। अ० सं० चि० अ० १७।२०।

स्तैमित्यारुचिहृल्लासे मन्देऽग्नौ मद्यपाय च ॥ १५६ ॥
अरिष्टान् दापयेत् क्षारान् कफस्त्यानस्थिरोदरे । श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः ॥

कफोदर में अरिष्ट-क्षार—जो कफज उदररोगी गाढ़कफ से युक्त हो, वहाँ उत्तम चिकित्सक को चाहिए कि वह दोष की परीक्षा करके स्तिमितता (गीले कपड़े से ढके हुए के समान अनुभव का होना), भोजन के प्रति अरुचि, जी मिचलाना तथा अग्नि के मन्द पड़ जाने पर कफ को पिघलाने के लिए मद्यपान करने वाले पुरुष को अरिष्टों तथा क्षारों का प्रयोग करायें।

वक्तव्य—इसी अध्याय के ७८वें श्लोक में अरिष्ट तथा क्षारों की चर्चा तन्त्रकार ने की है। यहाँ इसके प्रयोग का स्पष्टीकरण कर दिया है। अ० सं० सू० अ० १७।२६ में भी इस विषय को देख लें।

पिप्पलीं [1]तिल्वकं हिङ्गु नागरं हस्तिपिप्पलीम् । भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफलां कटुरोहिणीम् ॥
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे [2]वचाम् । कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्च लवणानि प्रकल्प्य च ॥१५९॥
दधिसर्पिर्वसामज्जतैलयुक्तानि दाहयेत् । अन्नादूर्ध्वमतः क्षाराद् बिडालकपदं पिबेत् ॥१६०॥
मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः । हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च ॥१६१॥
विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत् ।

पिप्पल्यादि क्षार—पीपल, तिल्वक (लोध की छाल; पाठभेद के अनुसार—तिन्दुक), हींग, सोंठ, गजपिप्पली, भिलावा, सहिजन की फली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कुटकी, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरल (चीड़), अतीस, वच, कूठ, नागरमोथा, पाँचों नमक (देखें—इसी अध्याय के नारायण चूर्ण की टीका में), इन द्रव्यों को समभाग लेकर जौकुट कर लें। इनमें दही, गाय का घी, वसा, मज्जा तथा तिल का तेल मिलाकर जला दें। इस पिप्पल्यादि क्षार को १ बिडालपदक (१ तोला) मात्रा में लेकर भोजन करने के बाद मदिरा, दही का पानी, गरम जल, अरिष्ट, सुरा या आसव के साथ पीना चाहिए। इसका सेवन करने से हृदयरोग, शोथ, गुल्म, प्लीहा, अर्श, समस्त उदररोग, विसूचिका, उदावर्त तथा वाताष्ठीला रोग नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त काष्ठ-औषधद्रव्यों को आपने समभाग लेकर दरदरा कूट के रख लिया। अब इनको सानने के उद्देश्य से दही आदि तरल द्रव्यों को उतना डालें जिससे कि उक्त चूर्ण कड़ा मान लिया जा सके। अब मात्रा की कल्पना आप स्वयं करें। ध्यान रहे, प्रायः सभी द्रव द्रव्य भी समभाग में हों। इसमें कुछ प्राणिज द्रव्यों का भी प्रयोग हुआ है। उनके लिए इन शास्त्रवचनों पर ध्यान दें—'दुग्धे सर्पिषि मूत्रे च ग्राह्यं गोसम्भवं बुधैः'। शा० सं० पू० खं० अ० १ श्लोक ५०। और—'जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम्। क्षीरमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारे च संहरेत्' ॥ सु० सू० अ० ३६।१६।

इस प्रकार द्रव्य-संग्रह कर लेने पर उन द्रव्यों को दही आदि में कड़ा सानकर मिट्टी की हँडिया में भरकर सकोरा से उसका मुख बन्द कर उसके ऊपर कपड़मिट्टी करके उसे सुखा लें, तदनन्तर उसे गजपुट में गोहरों (कण्डों) की आँच में फूक दें। स्वांगशीतल हो जाने पर उस क्षार का संग्रह कर लें।

१. 'तिन्दुकम्' इति पा०।
२. 'स्थिराम्' इति पा०।

मात्रा-विचार—यद्यपि तन्त्रकार ने इसकी सामान्य मात्रा १ बिडालपदक=१ तोला बतलायी है, किन्तु आज के इस उत्तरोत्तर ह्रास वाले युग के लिए यह मात्रा बहुत अधिक है, अतः इसे २ माशा से प्रारम्भ करें।

क्षारं चाजकरीषाणां स्रुतं मूत्रैर्विपाचयेत् ॥ १६२ ॥
कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च । पिप्पलीं चित्रकं शुण्ठीं त्रिफलां त्रिवृतां वचाम् ॥
द्वौ क्षारौ सातलां दन्तीं स्वर्णक्षीरीं विषाणिकाम् । कोलप्रमाणां वटिकां पिबेत् सौवीरसंयुताम् ॥
श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे च दकोदरे ।

क्षारवटिका—बकरी के पुरीष (लेड़ी या मेंगन) को जलाकर जो राख प्राप्त हो उसे छः गुने गोमूत्र में घोलकर २१ बार छानकर उस क्षारद्रव को आग पर पकाना चाहिए। पकते-पकते जब वह गाढ़ा हो जाय तब पिप्पलीमूल, अलग-अलग पाँचों नमक, पिप्पली, चीता की जड़, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सफेद निशोथ, बच, जवाखार, सज्जीखार, सातला (पीले दूध वाला थूहर), जमालगोटा की जड़, भड़भाड़ की जड़, काकड़ासिंगी—ये प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) की मात्रा में लें और इनका कपड़छन चूर्ण करके उसमें मिला दें, अब उसकी १ कोल (आधा तोला) प्रमाण की गोलियाँ बनाकर रख लें। इस गोली को शोथ, अनपच तथा बढ़े हुए जलोदर में रोगी को सौवीर (जौ या गेहूँ को उबाल कर बनायी गयी काँजी) के साथ सेवन करने के लिए दें।

वक्तव्य—यहाँ क्षार कितना होना चाहिए, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। अतः च० चि० अ० १२ के ४३ से ४६ तक के श्लोकों का अर्थ और वक्तव्य देखें। आचार्य गंगाधर के अनुसार चूर्ण और क्षार की समान मात्रा होनी चाहिए। १ कोल (आधा तोला) की मात्रा सेवन करने की दृष्टि से अधिक है। आजकल १ या २ माशा की मात्रा पर्याप्त है।

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः ॥ १६५ ॥
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम् । पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ॥१६६॥
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवं तथा पित्तकफानिलाः ।

उदररोग-हर यवागू—साठी के चावलों को गोमूत्र की सात भावनाएँ देकर यथाविधि दूध से यवागू का पाक करके उदररोगी को पर्याप्त मात्रा में खिलाये। भोजन कर लेने के बाद वह ईख का रस पीये। ऐसा करने से वात, पित्त, कफ दोष अपने-अपने स्थानों पर स्थित हो जाते हैं, फलतः उदररोग की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यद्यपि 'यवागूः षड्गुणेऽम्भसि' यवागू को छः गुने जल में तैयार करने का शास्त्र का निर्देश है, किन्तु यहाँ उक्त यवागू को दूध में पकाना चाहिए। यहाँ साठी के चावलों को गोमूत्र की भावना देने की आज्ञा दी गयी है। उसकी विधि यह है—जितने द्रव पदार्थ से चूर्ण आदि द्रव्य जिसे भावना देनी है, भली-भाँति भीग जाय, उसमें उतना ही द्रव डालना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० ६।६।

विशेष—जिस द्रव्य को जिस द्रव की भावना देनी होती है, उसे उस द्रव से प्रथम बार पूर्णरूप से भिगाकर सुखा लिया जाता है। इसे १ भावना कहते हैं। यह कार्य गरमी के दिनों में या शीतकाल में करना उचित होता है, वर्षाकाल में भली-भाँति न सूख सकने के कारण वे चूर्ण आदि सड़ जाते हैं।

शङ्खिनीस्नुक्त्रिवृद्दन्तीचिरबिल्वादिपल्लवैः ॥ १६७ ॥
शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद् भिषक्[1] । ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित् ॥
दद्यान्मूत्रयुतं [2]क्षीरं दोषशेषहरं शिवम् ।

विबन्ध चिकित्सा—यदि उदररोगी का मल सूख गया हो और वह कठिनाई के साथ गाँठ के रूप में निकल रहा हो तो शास्त्र को जानने वाला चिकित्सक उसे भोजन करने के पहले शंखिनी (यवतिक्ता),

१. 'त्रिवृताशङ्खिनीदन्तीसुधापूतीकपल्लवैः। शाकं पक्त्वा प्रयुञ्जीत प्राग्भक्तं गाढवर्चसि'। इति पा०।
२. 'क्षारम्' इति पा०।

सेहुँड, निशोथ, जमालगोटा, करञ्ज आदि विरेचक ओषधियों के पत्तों का शाक (पत्रशाक) खाने के लिए दिलाये। इन शाकों के सेवन करने से जब उस रोगी के मल की गाँठें ढीली हो जायें तब उसे शेष दोषों का नाशक तथा कल्याणकारक गोमूत्र युक्त दूध (पाठभेद के अनुसार—क्षार) का सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—'शिथिलीभूतवर्चोदोषाय' इस पद्यांश से वह स्थिति स्पष्ट झलक रही है, जिसके लिए अगली चिकित्सा कराना अति आवश्यक है। आप भी **'शिथिलीभूत'** शब्द के प्रकृति-प्रत्यय की अर्थ-गम्भीरता पर विचार करें।

पार्श्वशूलमुपस्तम्भं हृद्ग्रहं चापि मारुतः ॥ १६९ ॥
जनयेद् यस्य तं तैलं बिल्वक्षारेण पाययेत्। तथाऽग्निमन्थस्योनाकपलाशतिलनालजैः ॥१७०॥
बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः। तैलं पक्त्वा भिषग्दद्यादुदराणां प्रशान्तये ॥१७१॥
निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः।

पार्श्वशूलादि चिकित्सा—(क) उदररोगी के शरीर में कुपित हुई वायु यदि पसलियों में शूल तथा पसलियों के आस-पास उपस्तम्भ (जकड़न) एवं हृद्ग्रह (हृदय की गति में रुकावट) पैदा करे तो उसे बेल की छाल को जलाकर बनाये गये क्षार से तिल-तैल को पकाकर यथाविधि पिलाना चाहिए।

(ख) और अरणी, सोनापाठा, पलाश (ढाक), तिलों के नाल (डंठल), वरियारा, केला, अपामार्ग (चिरचिटा)—इन प्रत्येक द्रव्यों के क्षार तैयार कर लें। इन क्षारों के जल से पकाये हुए तेल को चिकित्सक उदर रोगी को पीने के लिए दें। इस तैल का सेवन करने से उदर रोगियों का वातदोष-जनित हृद्ग्रह दूर हो जाता है, अर्थात् शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'पार्श्वशूल से पिबेत्' तक कितना परिवर्तन कर रखा है और उसका अर्थ क्या होगा, आप भी ध्यान दें। श्रीचक्रपाणि बिल्वफल से क्षार तैयार करने की आज्ञा देते हैं और जब तक क्षार सफेद न हो जाय तब तक उसे परिस्रुत करते रहें, सफेद होने पर ही इसका प्रयोग करना चाहिए, यही उत्तम प्रकार है। श्रीगंगाधर ने 'उपस्तम्भ' के स्थान पर 'ऊरुस्तम्भ' पाठ को स्वीकार किया है, जब कि यह पाठ छन्द की दृष्टि से दूषित है। अन्य अनेक कारणों से भी 'ऊरुस्तम्भ' पाठ युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता।

वृद्धवाग्भट ने भी 'उपस्तम्भ' को ही महत्त्व दिया है, देखें—'वातकृतेषु पार्श्वशूलोपस्तम्भहृद्ग्रहेषु बिल्वक्षाराम्भसा तैलं पाययेत्। स्योनाकाग्निमन्थतिलकुन्तलकदल्यपामार्गान्यतमक्षारेण वा विपक्वं तैलम्'। अ० सं० चि० अ० १७।१४।

कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले ॥ १७२ ॥
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम्।

उदररोग में एरण्ड तैल—यदि उदर रोगी के शरीर में वात या पित्त द्वारा कफदोष के घिर जाने पर अथवा पित्त या कफ द्वारा वातदोष के घिर जाने पर यदि रोगी बलवान् हो तो उदररोग-नाशक औषध योगों के साथ वह एरण्ड तैल का सेवन करे। यह उसके लिए हितकर होता है।

सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मापितो भवेत् ॥ १७३ ॥
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैस्तमुपाचरेत्।

उदररोग में निरूहवस्ति—यदि उदर रोगी का उदर भली-भाँति विरेचन कराने पर भी आध्मान से युक्त हो तो उसे स्नेह की पूर्ण मात्रा के साथ अम्ल (कांजी आदि द्रव) तथा लवण युक्त निरूहवस्ति का प्रयोग कराकर उसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—इस सन्दर्भ में वृद्धवाग्भट के मत का अवलोकन करें—अ० सं० चि० अ० १७।१७।

सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ॥ १७४ ॥
तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्वस्तिभिस्तमुपाचरेत्।

द्वितीय निरूहवस्ति—अथवा यदि सम्यक् प्रकार से विरेचन हो जाने पर भी जिस उदर रोगी के उदर में वायु पुनः आध्मान उत्पन्न कर रही हो तो ऐसे उदर रोगी का तीक्ष्ण वीर्य युक्त द्रव्यों के क्वाथ में क्षार तथा गोमूत्र मिलायी हुई वस्तियों द्वारा उपचार करे।

क्रियातिवृत्ते जठरे त्रिदोषे चाप्रशाम्यति ॥ १७५ ॥
ज्ञातीन् ससुहृदो दारान् ब्राह्मणान् नृपतीन् गुरून्।
अनुज्ञाप्य भिषक् कर्म विदध्यात् संशयं ब्रुवन् ॥ १७६ ॥
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्। एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः ॥१७७॥
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रयोजयेत्।

त्रिदोषज उदररोग में विष-प्रयोग—त्रिदोषज उदररोग में उदररोग-नाशक सभी प्रकार की चिकित्साओं के कर लेने पर भी यदि रोग की शान्ति न हो रही हो तो उस रोगी के ज्ञातियों (बन्धु-बान्धवों), सुहृद (मित्रों-रिश्तेदारों), दारा (स्त्री या स्त्रियों), ब्राह्मणों, नृपति (राजा या उसके जो भी मालिक हों), गुरुजनों को बुलाकर रोगी की परिस्थिति समझा कर रोगी के जीवित रह पाने के सम्बन्ध में अपने मन में स्थित सन्देश को प्रकट करता हुआ कहे—'यदि हम चिकित्सा नहीं करते तो इसकी मृत्यु होना निश्चित है और यदि चिकित्सा करते हैं तो इसके स्वस्थ होने में सन्देह है' ऐसा सबके सामने कहकर और उन सब मित्रगणों (शुभचिन्तकों) की आज्ञा पाकर पीने या खाने के पदार्थों में विष मिलाकर इसे दे देना चाहिए।

वक्तव्य—उदर रोग की कष्टसाध्यता चिकित्सकों को सुविदित है। उपर्युक्त वर्णन उस परिस्थिति का है, जब सभी प्रकार की चिकित्सा करके चिकित्सक हार गया है, रोगी के जीवन से निराश हो चला है; तब यह अपने को बचाने के उपक्रम के साथ चिकित्सा का एक प्रकार है—रोगी को विष देना। इस सम्बन्ध में अनेक विचार-वीथियाँ हैं, यथा—'विषस्य विषमौषधम्' अर्थात् उदररोग-रूपी विष की औषधि विष ही है। इसको अति अल्प मात्रा में देने का विधान है, यथा—'तिलं दद्याद् विषस्य तु'।

वाग्भट ने सन्निपातोदर की चिकित्सा में कुछ विशेष योगों की चर्चा की है। इस प्रसंग में उन्हें अवश्य देख लें—अ० हृ० चि० अ० १५।७६-८४। विष विषयक विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए देखें—च० चि० अ० २३। सु० क० अ० २। अ० सं० उ० अ० ४०। वाग्भट ने विष विषयक शास्त्र (अगदतन्त्र) को 'दंष्ट्राविष' कहा है, देखें—अ० हृ० सू० अ० १।५।

विष का शरीर पर प्रभाव—'रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्'। अ० हृ० शा० अ० ३।१९। रस ही ओजस् कहा जाता है। ये सिराएँ रस रूप ओजस् का वहन करती हैं। इन्हीं पर सब (वाणी, शरीर, मन का) व्यापार निर्भर रहता है। इसी के अभाव से जीवन का नाश हो जाता है। विष में जो गुण हैं, वे ओजस् के गुणों को नष्ट कर देते हैं, फलतः प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

खाया हुआ विष आहार रस के साथ रक्त में मिल जाता है और सर्प आदि के दंश द्वारा शरीर में प्रविष्ट विष तत्काल सीधे रक्त में मिल जाता है और वह विष रक्त को विषाक्त (जहरीला=Poisoned) बनाकर हृदय को प्रभावित कर देता है, फलतः उसकी मृत्यु हो जाती है।

सुश्रुत में उक्त चिकित्सा दूष्योदर रोगी के लिए प्रकारान्तर से कही गयी है—अथवा गन्ने (ईख) के टुकड़े को काले साँप से डसवा कर, ककड़ी, खीरा आदि को साँप से डसवा कर रोगी को खिलायें। मूलज या कन्दज विषों का सेवन करायें। ऐसा करने से या तो रोगी नीरोग हो जायेगा अथवा उसकी जीवनलीला ही समाप्त हो जायेगी। देखें—सु० चि० अ० १४।८।

यस्मिन् वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम् ॥ १७८ ॥
भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः। तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ॥१७९॥
विषेणाशुप्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते। विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम् ॥१८०॥
पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम्। त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयववास्तुकम् ॥१८१॥

भक्षयेत् कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम्[1] । निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक् ॥१८२॥
मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत् । एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात् परं ततः ॥१८३॥
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत् कारभं पयः ।

अन्य उपचार—अथवा कुपित हुआ साँप जिस फल को डस ले, अर्थात् जो फल सर्पदंश के कारण विषाक्त हो गया हो, चिकित्सक विचार करके उस फल को उदर रोगी को खिलाये। इसे खाने से शरीर में स्थिर, रसादि धातुओं में छिपा हुआ तथा विमार्ग (विपरीत मार्ग) में गया हुआ दोष-समूह विष की आशुकारिता तथा प्रमाथी गुण के कारण परस्पर विघटित होकर बाहर आ जाता है। विष-प्रयोग द्वारा दोषों के दूर हो जाने पर चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी को शीतल जल से स्नान कराकर रोगी की पाचनशक्ति का ध्यान रखते हुए उसे दूध अथवा यवागू का सेवन कराये। अन्न का परित्याग किये हुए उस रोगी को निशोथ, मण्डूकपर्णी, जौ, बथुआ या कालशाक (मरसा, चौलाई भेद) की पत्तियों का शाक इन्हीं के रस में पकाया हुआ, इस शाक में नमक तथा तेल या घी का प्रयोग न करे, इनके पत्तों का शाक कच्चा या केवल उबाल कर रोगी को एक मास तक खिलायें। यदि रोगी को प्यास लगे तो इन्हीं पत्तियों का स्वरस उसे पीने के लिए दें। एक मास तक शाकों को खाकर और उन्हीं के रसों को पीकर रोगी एक मास बिता दे। इस बीच वातादि दोष तथा विष का प्रभाव समाप्त हो जाने पर उस दुर्बल उदररोगी को प्राणधारक ऊँटनी का दूध पिलायें।

वक्तव्य—यहाँ काले साँप के विष को पिलाने की चर्चा की गयी है। आप ध्यान दें—माधवनिदान के विषरोग-निदानप्रकरण में जंगमविष से अतिसार होता है, ऐसा वर्णन है और वहीं विषपीत के लक्षणों में अतिसार होना कहा गया है। सुश्रुत-कल्पस्थान अ० १।४२-४३ में पक्वाशय में पहुँचे हुए विष का वर्णन है, साथ ही उसकी चिकित्सा का भी निर्देश किया है। श्रीचक्रपाणि सन्दर्भ-रहित एक उद्धरण को प्रस्तुत कर केवल दंष्ट्राविष का ही यहाँ उपयोग करने को कहते हैं। यथा—'दूष्योदरे बद्धगुदे क्षतान्त्रे च जलोदरे। अपि दंष्ट्राविषस्यैव प्रयोगो वै विशोधने' ॥ यहाँ सर्पविष को भोजन के साथ देने का यह भी एक कारण है। स्थावर विष के लक्षण जंगम विष से सर्वथा भिन्न होते हैं।

सावधानी—सर्पविष या सर्पदष्ट फल आदि का प्रयोग चिकित्सक की देख-रेख में ही कराना चाहिए। ऐसे अवसर पर चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह विषदोष-शामक समस्त औषधयोगों को तैयार रखे, कहीं ऐसा न हो कि विष के कारण ही प्राण का संकट उपस्थित हो जाये।

विष का लक्षण—जो द्रव्य व्यवायी (कामोद्दीपक) हो, विकाशी हो, सूक्ष्म हो, छेदी हो, मदकारी हो, आग्नेय (अग्निगुण-प्रधान) हो, प्राण-नाशक हो और योगवाही (संयोगी द्रव्यों के समान गुणकारक) हो वह विष कहा जाता है। जैसे—संखिया आदि। अर्थात् जिस एक द्रव्य में उक्त सभी गुण हों, उसे विष कहते हैं।

प्रमाथी परिचय—जो द्रव्य शरीर में पहुँचकर अपनी शक्ति से दोषों के संचय (समूह) को निकाल देता है, वह प्रमाथी कहा जाता है। जैसे—मरिच और वच। उक्त दोनों का वर्णन शा० सं० पू० खं० अ० ४।२२-२३ में देखें।

दुग्धं यवागूं वा—कुछ टीकाकार दूध में पकायी गयी यवागू का प्रयोग करने की अनुमति देते हैं, किन्तु उक्त श्लोक की वाक्य-योजना इस विचार के सर्वथा विपरीत है। हाँ, इस प्रकार का आदेश वाग्भट का मिलता है—'यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम्'। अ० हृ० चि० अ० १५।१२३। यही पंक्ति अ० सं० चि० अ० १७।४७ में भी है।

इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम् ॥ १८४ ॥
वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधश्चतुरङ्गुलम् । मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक् ॥
विपाट्यान्त्रं ततः पश्चाद् वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः । सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत् ॥
मूर्च्छनाद्यच्च सम्मूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत् । छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः ॥

1. गङ्गाधरस्तु 'सुरसोदकसाधितम्' इति पठित्वा, 'सुरसस्य पर्णासस्य क्वाथसाधितम्' इति व्याख्यानयति।

बहुशः सङ्गृहीतानि ज्ञात्वा च्छित्वा पिपीलिकान् । प्रतियोगैः[1] प्रवेशयान्त्रं प्रैयैः[2] सीव्येद् व्रणं ततः ॥

बद्धोदर-क्षतोदर में शस्त्रकर्म—यह उन शल्य-चिकित्सकों (Surgeons) का कार्य है, जो दृष्टकर्मा हैं, अर्थात् जिन्होंने अनेक बार इस शल्यक्रिया (Operation) को करते देखा हो और स्वयं भी अनेक बार करते-करते सिद्धहस्त या जितहस्त हो गये हों। नाभि से नीचे बांयी ओर कुक्षि-प्रदेश को नापकर उसके नीचे चार अंगुल छोड़कर बुद्धिमान् शल्यचिकित्सक मात्रा युक्त शस्त्र से वहाँ चीरा लगाये, उस मार्ग से उसकी आँत को बाहर निकालकर उनमें घी चुपड़ कर आँत केश आदि से कहाँ बँध (उलझ) गयी है और काँटा आदि शल्यों से उसमें कहाँ छिद्र हो गया है, इसे भली-भाँति देखकर उन बाल अथवा काँटे आदि को निकालकर फेंक दें और मूर्च्छन (आँतों का परस्पर उलझ कर अपनी किया न कर पाने) के कारण उत्पन्न स्थिति को सुलझाकर छिद्रोदर के कारण आँत में जहाँ-जहाँ छेद हो गये हों वहाँ-वहाँ काले बड़े चिउँटों से कटवा दें। यदि छिद्र बड़े हो गये हों तो अनेक चिउँटों से उसी स्थान पर क्रमश कटवायें। उनके काटने के कारण उस स्थान में सूजन हो जायेगी और छिद्र बन्द हो जायेंगे तो चिउँटों के धड़ को काटकर फेंक दें, फिर आँत को उसी छिद्र से यथास्थान रखकर सुई (Needle) से त्वचा के व्रण को सिल दें।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय विवश होकर 'इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म' तथा 'तदेव युक्तं भैषज्यं' के सिद्धान्त को स्वीकार कर कह रहे हैं, क्योंकि इसमें उनकी योग्यता नहीं है। दृष्टकर्माणाम्—दृष्टकर्मा चिकित्सक भी दो प्रकार के होते हैं—१. सम्यक् दृष्टकर्मा और २. मिथ्या दृष्टकर्मा। इनमें दूसरे प्रकार के निन्दनीय होते हैं। देखें—'मिथ्यादृष्टविकारा हि दुराख्यातास्तथैव च। तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्' ॥ सु० सू० अ० १०।७। महर्षि सुश्रुत ने शल्यचिकित्सक की एक विशेषता और बतलायी है—'शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् विशारदः। दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः' ॥ सु० शा० अ० ५।५१। इस प्रसंग में सु० सू० अ० ३ श्लोक ४८ से ५३ तक का अध्ययन अवश्य कर लें। सुश्रुत ने यकृद्दाल्युदर रोग में दक्षिणबाहु में सिरावेध और प्लीहोदर में हाथ की कलाई को थोड़ा-सा मोड़कर बांये अँगूठे की ओर जाती हुई सिरा को आग में तपाकर लाल किये हुए लोहे के बाण से जलाना, ऐसा विधान किया है। देखें—सु० चि० अ० १४।१५-१६।

बद्धगुदोदर तथा परिस्रावी उदररोग में रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराकर नाभि के नीचे अभ्यङ्ग करके नाभि की बाईं ओर रोमराजी से चार अंगुल बचाकर उदर को चार अंगुल चौड़ा चीर कर आँतों को बाहर निकालकर बद्धगुद में आँत की क्रिया में रुकावट (Obstruction) डालने वाले पत्थर के टुकड़े, बाल या मल की गाँठों को देखकर उन्हें आँत से निकाल करके घी तथा मधु से आँतों पर मालिश करके आँतों को पुनः पेट के भीतर डालकर उन्हें यथास्थान बिठाकर उदर के बाहरी व्रण को सिल दें। यही विधि परिस्रावी उदर में भी करें। इसमें जिस शल्य के कारण आँत फटकर उसमें से स्राव हो रहा हो, उस शल्य को निकालकर आँत के स्रावों का संशोधन करके छेद वाली आँत को ठीक मिलाकर काली चिउँटियों से वहाँ कटवाये, उनके शिरों को वहीं रहने दें, उनके शेष भाग को अलग कर दें फिर आँतों को पूर्ववत् यथास्थान करके सिल दें। उस स्थान पर मुलेठी चूर्ण युक्त काली मिट्टी का लेप करके पट्टी बाँध दें। फिर वायु रहित (जिसमें वायु का सीधा प्रवेश न हो, ऐसे) घर में उसे रखकर पथ्य-परहेज समझा दें अथवा तेल या घी की द्रोणी (Tub) में लेटाये रखें और भोजनपान में रोगी को केवल दूध दें। देखें—सु० चि० अ० १४।१७।

आधुनिक दृष्टिकोण से बद्धगुदोदर तथा परिस्रावी की चिकित्सा—नाभि के नीचे और जघनास्थि के ऊपर रोममय प्रदेश के मध्यभाग में बांयी ओर यह शस्त्रकर्म अद्यतन उपकरणों द्वारा किया जाता है। रोगी के वस्तिप्रदेश को मलकर मल-मूत्र कराकर मोमजामा बिछी हुई शय्या के एक किनारे पीठ के बल लिटा कर कन्धों के नीचे मुलायम तकिया डालकर उसे कुछ ऊँचा कर दिया जाता है। शल्यक्रिया से निकले हुए जल को रखने के लिए कोई गहरा पात्र रख लिया जाता है। जहाँ शल्यकर्म करना है, उस स्थान को शून्य करने के लिए नावोकेन का त्वचा तथा उसके नीचे के धात्वंशों में सूचीवेध का प्रयोग किया जाता है। तदनन्तर उस स्थान पर तिहाई इंच चीरा लगाया जाता है (चरकोक्त मात्रा युक्त शस्त्र से पाटनकर्म यही है)। इस चीरे में

1. 'प्रतीपोग्रैः' इति पा०। 2. 'प्रैयैः सूच्यग्रैः, ग्रैयैः' इति पा०।

ट्रोकार और कैन्युला (Trocar and cannula) को पर्युदर्यागुहा (Peritoneal cavity) में जहाँ जल भरा होता है, उसके भीतर प्रवेश करा देते हैं। जलगुहा में प्रवेश हो जाने के बाद ट्रोकार को निकालकर कैन्युला को लगा रहने देते हैं, इससे जब वह दोषोदक बाहर निकल जाता है, तब कैन्युला को निकालकर व्रण के ऊपर टाँका लगाकर शेष चिकित्सा व्रणोपचार की भाँति की जानी है।

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद् भिषक्। [1]वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत्॥
विस्राव्य च विमृद्नीयाद्वेष्टयेद्वाससोदरम्। तथा वस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत्॥१९०॥
निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्। अतः परं तु षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः॥१९१॥
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत् त्रींश्चापि भोजयेत्। [2]श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेणालवणं लघु॥
नरः संवत्सरेणैवं जयेत् प्राप्तं जलोदरम्।

जलोदर (Ascites) में शस्त्रकर्म—निदान-प्रकरण (इसी अध्याय के श्लोक ४७ से ५८ तक) में वर्णित प्रकार से जब उदर में जल का संचय हो जाये तब वह भले ही कोई उदररोग हो, नाभि के नीचे बांयी ओर (बद्धगुदोदर तथा छिद्रोदर के शल्यकर्म में वर्णित विधि के अनुसार) शल्य-चिकित्सक को चीरा लगाना चाहिए तथा उस छिद्र में नाडीयन्त्र=कैन्युला (Cannula) लगाकर उदरस्थ जल को बाहर निकाल दें, जल निकलते समय हाथ से उदर-प्रदेश को मसलते रहें, जब यह मालूम पड़े कि पानी निकल चुका है, तब वस्त्र से उदर को कसकर बाँध दे। यदि शस्त्र-क्रिया द्वारा उदरस्थ जल को न निकाला गया हो, अपितु वस्ति, विरेचन आदि प्रयोगों द्वारा उदर के मलिन (जलरहित अतएव हलका) हो जाने पर सम्पूर्ण उदर-प्रदेश को वस्त्र से कसकर लपेट दें। इस प्रकार (शस्त्र-चिकित्सा से अथवा काय-चिकित्सा विधि से) जल तथा वात आदि दोषों के निकल जाने पर रोगी को लंघन कराने के बाद जब भूख लगने लगे तो घी-तेल-नमक रहित पेया पिलानी चाहिए। इसके बाद छः मास तक केवल दूध पीकर रहे अर्थात् भूख तथा प्यास की शान्ति दूध पीकर ही करे। छः मास बीत जाने पर पुनः तीन मास तक दूध के साथ पेया का सेवन करे। ९ मास बीत जाने पर नमक का परित्याग करते हुए साँवा, कोदों का भात दूध के साथ अल्प मात्रा में ले। इस प्रकार आचरण करता हुआ रोगी पुरुष एक वर्ष में जलोदर रोग को जीत लेता है।

वक्तव्य—चरक, सुश्रुत के काल में भी व्रीहिमुख (Trocar) शस्त्र द्वारा उदर पर चीरा लगाकर नाडीयन्त्र (Cannula) से उदर-स्थित जल निकाला जाता था, आज भी वही स्थिति है। रूक्ष पदार्थों का भोजन में प्रयोग भी पूर्ववत् है। चिकित्साकाल में जितना भी विश्राम दिया जा सके उतना चिकित्सक तथा रोगी दोनों के लिए अच्छा है, किन्तु तीन मास में यह प्रक्रिया पूरी हो जानी चाहिए।

सुश्रुत ने इसे दकोदर कहकर इसकी चिकित्सा में भी उसी प्रकार के शल्यकर्म को प्रधानता दी है। देखें—सु० चि० अ० १४।१८। इस विषय का एक सामान्य सूत्र यहाँ दिया गया है, उसका भी अवलोकन कर लें। यह चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, देखें—वही, श्लोक १९।

प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत्॥ १९३॥
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च।
प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः। सर्वधातुक्षयार्तानां देवानाममृतं यथा॥१९४॥

उदररोग में दुग्धपान—रोगी की दोषों के अनुबन्ध से रक्षा के लिए एवं बल (शारीरिक बल) में स्थिरता प्राप्त करने के लिए चिकित्सकीय सभी प्रयोगों के बाद उदररोगी को गाय के दूध का प्रयोग कराना चाहिए। अनेक लंघन, विरेचन आदि चिकित्सा के अंगभूत प्रयोगों द्वारा जब रोगी के शरीरावयव क्षीण हो गये हों और जो सभी धातुओं के क्षीण हो जाने के कारण पीड़ित हों उन उदररोगियों के लिए गोदुग्ध का प्रयोग कराना वैसा ही है, जैसा कि देवताओं के लिए अमृत।

---

१. 'वामभागे' इति पा०।
२. 'सकोरदूषं श्यामाकं पयसाऽलवणं नरः' इति पा०।

तत्र श्लोकौ—

हेतुं प्राग्रूपमष्टानां लिङ्गं व्याससमासतः। उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च॥१९५॥
जाताजाताम्बुलिङ्गानि चिकित्सां चोक्तवानृषिः। समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सितस्थाने
उदरचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में दो श्लोक कहे गये हैं—उदररोग चिकित्सित नामक इस अध्याय में महर्षि आत्रेय ने आठ प्रकार के उदररोगों के विस्तार तथा संक्षेप से कारण, पूर्वरूप, लक्षण, उपद्रव, उत्तरोत्तर एक से एक भेद की कष्टसाध्यता, साध्य तथा असाध्य के लक्षण, जातोदकोदर, अजातोदकोदर अर्थात् उदर में पानी भर जाने पर क्या लक्षण होते हैं और उदर में पानी न आने पर क्या लक्षण होते हैं, इनकी संक्षेप तथा विस्तार से चिकित्सा का वर्णन कर दिया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में उदरचिकित्सित नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अथातोऽर्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

उदर-रोग की चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब यहाँ से अर्शोरोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—उदररोग के बाद अर्शोरोग की प्रस्तावना में उसके कारणों का निर्देश करते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'उदरार्शसोस्त्रिदोषजत्वसामान्याद् बद्धगुदोदरकारणत्वाच्चानन्तरमर्शसां चिकित्सितमुच्यते'। सुश्रुत में वातव्याधि के पश्चात् अर्शोरोग की प्रस्तावना दी गयी है। अष्टाङ्गसंग्रह में इसका अवतरण मदात्यय के बाद किया गया है। वहाँ टीकाकार श्रीइन्दु ने लिखा है—प्राणायतनाश्रयत्वसामान्यान्मदात्ययनिदानानन्तरमर्शो-निर्णयाध्यायारम्भः', और माधवकर ने ग्रहणी रोग के अनन्तर इसे स्थान दिया है। वे इसका कारण देते हैं—'अतीसारग्रहण्यर्शसां परस्परानुबन्धित्वादतीसारग्रहण्यनन्तरमर्श उच्यते'। यह प्रत्येक शास्त्र का अपना-अपना तर्क है। महर्षि वाग्भट अर्शोरोग और उदररोग का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहते हैं—'अर्शसां प्रशमे यत्नमाशु कुर्वीत बुद्धिमान्। तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम्'॥ अ० हृ० नि० अ० ७।५९। इसी सिद्धान्त का समर्थन महर्षि आत्रेय ने इसी अध्याय के ३२वें श्लोक में किया है।

अर्श परिभाषा—'अरिवत् प्राणान् शृणाति, इति अर्शः'। वाग्भट भी इसका अर्थ इसी प्रकार करते हैं—'अरिवत् प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत्। अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते'। अ० हृ० नि० अ० ७।१।

संक्षिप्त संदर्भ-संकेत—च० नि० अ० १४। सु० नि० अ० २। सु० चि० अ० ६। अ० सं० नि० अ० ७। अ० सं० चि० अ० १० का अवलोकन करें।

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजाप्यं कृतक्षणम्। पृष्टवानर्शसां [1]युक्तमग्निवेशः पुनर्वसुम्॥३॥

---

१. 'मुक्तिमग्निवेशः' इति पा०।

प्रकोपहेतुं संस्थानं स्थानं लिङ्गं चिकित्सितम् । साध्यासाध्यविभागं च तस्मै तन्मुनिरब्रवीत् ॥

प्रस्तावना—महर्षि अग्निवेश ने अवसर पाकर अव्यग्र (शान्तचित्त), प्रतिदिन के जप, पूजा, पाठ आदि आह्निककृत्यों से निवृत्त (फुर्सत से बैठे हुए) आचार्य पुनर्वसु से अर्श रोग के सम्बन्ध में उचित प्रश्न पूछा। अग्निवेश के पूछने पर आचार्य पुनर्वसु ने अर्शरोग के प्रकोपक कारण, संस्थान (आकार), स्थान (जहाँ-जहाँ वे उत्पन्न होते हैं), लिंग (लक्षण), चिकित्सा और साध्य तथा असाध्य भेदों का वर्णन कर उनको उत्तर दिया।

वक्तव्य—यद्यपि अन्यत्र निदानपंचक में संस्थान और लिंग ये दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं। यथा—'संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः'। अ० हृ० नि० अ० १।५ तथा च० नि० अ० १।३। किन्तु इसे तन्त्रकार की भूल न समझें, अपितु यहाँ संस्थान शब्द से सभी प्रकार के अर्शांकुरों के विविध स्वरूप तथा लिंग शब्द से विविध प्रकार के अर्शों में होने वाली पीड़ा आदि के लक्षणों का ग्रहण करना चाहिए। इसी अध्याय में आगे इसके विविध लिंगों का परिचय दिया गया है।

इह खल्वग्निवेश ! द्विविधान्यर्शांसि—कानिचित् सहजानि, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम् । तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः—मातापित्रोरपचारः, पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम् । तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण, अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ॥ ५ ॥

अर्श के भेद—हे अग्निवेश ! इस चिकित्साशास्त्र में दो प्रकार के अर्श होते हैं—१. कुछ अर्श सहज (जन्मना सह जायन्ते, इति) अर्थात् जन्मजात होते हैं और २. कुछ जन्म होने के बाद पैदा होते हैं, उनको कालज कहते हैं। सहज (जन्मजात) अर्शों के पैदा होने में वह शुक्रशोणित रूप बीज (कारण) है, जिससे गुदवलियों को उत्पन्न करने वाला मूल कारण ही दुष्ट रहता है, तो सहज अर्शों की उत्पत्ति होती है। वहाँ बीज के दुष्ट होने में दो प्रकार के कारण होते हैं—१. माता तथा पिता का अपचार, अर्थात् आहार-विहार का उचित प्रयोग न करना। २. पूर्वजन्म में किये हुए दुष्कर्म; ये पूर्वजन्म कृत दुष्कर्म इसके अतिरिक्त अन्य सहज रोगों में भी कारण होते हैं। उनमें सहज अर्श शरीर के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये अर्श अधिमांस के विकार ही हैं। ये मांस में अधिष्ठित होकर मांसवृद्धि के रूप में पैदा होते हैं। अर्श का ही एक पर्याय अधिमांश शब्द भी है।

वक्तव्य—अर्शों को मूलतः दो प्रकार का माना है—१. सहज, २. कालज। यहाँ हम पहले सहज अर्शों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—चिकित्स्य पुरुष की उत्पत्ति में शुक्रशोणित को प्रधानरूप में बीज माना है। महर्षि आत्रेय ने निर्देश भी किया है—'यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते; तं तमवयवं विकृतिराविशति'। च० शा० अ० ४।३०।

पितृज भाव—ऊपर यह कहा गया है कि शुक्रशोणित से सन्तानोत्पत्ति होती है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि शुक्र से किन-किन शरीरावयवों की उत्पत्ति होती है। यथा—'केशश्मश्रुनखलोमदन्तास्थिसिरास्नायुधमन्यः शुक्रञ्चेति पितृजानि'। च० शा० अ० ३।७। अर्थ स्पष्ट है।

मातृज भाव—शोणित से उत्पन्न होने वाले शरीरावयव—'त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति, मातृजानि'। च० शा० अ० ३।६।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि अर्शोरोग की उत्पत्ति मातृज बीज की दृष्टि से होती है। प्रमुख रूप से इनकी उत्पत्ति गुदवलियों में होती है, वैसे शरीर के अन्य अवयवों में भी इनकी उत्पत्ति होती है। इसकी चर्चा तन्त्रकार आगे इसी अध्याय में करेंगे।

आधुनिक दृष्टि से इन अर्शों के दो भेद किये गये हैं—१. आभ्यन्तर अर्श (Internal piles) की उत्पत्ति भीतरी गुदवलियों में होती है। चिकित्सा की दृष्टि से ये अर्श कष्टकारक होते हैं और २. गुद की बाह्य वलियों पर उत्पन्न होने वाले अर्शों को बाह्यार्श (External piles) कहते हैं। चिकित्सा की सरलता की दृष्टि से ये सुखसाध्य होते हैं।

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः क्षेत्रमिति; केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां—शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति। तदस्त्यधिमांसदेशतया, [1]गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन् । सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं—मेदो मांसं त्वक् च ॥ ६ ॥

सभी अर्शों का क्षेत्र—सभी प्रकार के अर्शों का क्षेत्र (जहाँ ये अर्श पैदा होते हैं) गुद-प्रदेश के साढ़े चार अंगुल भीतर से लेकर गुदद्वार तक है। यह तीन भागों में बटा हुआ तीन गुदवलियों वाला क्षेत्र है। कुछ आचार्य इसके विस्तृत क्षेत्र की चर्चा इस प्रकार करते हैं—शिश्न (पुरुष-लिंग), अपत्यपथ (योनि), गल, तालु, मुख, नासिका, कान, आँखों के वर्त्म (पलक) और त्वचा। वास्तव में ऊपर जिस विस्तृत क्षेत्र की चर्चा की है, वह अधिमांस का क्षेत्र है। इस संहिता में तो उन्हीं की अर्श संज्ञा है जो गुदवलियों में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सभी प्रकार के अर्शों का अधिष्ठान (दृष्य के रूप में) मेदा, मांस और त्वचा है।

वक्तव्य—ऊपर जो गुद का परिचय दिया है, उसके अतिरिक्त सुश्रुत का मत इस प्रकार है—'स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः, तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः, प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी चेति चतुरङ्गुलायताः सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः' ॥ सु० नि० अ० २।५। अर्थात् स्थूलान्त्र (Large intestine) से जुड़े हुए साढ़े चार अंगुल परिमित भाग को गुदा कहते हैं। इनमें तीन वलियाँ आधे-आधे अंगुल के अन्तर पर स्थित हैं। इनके नाम हैं—१. प्रवाहणी, २. संवरणी, ३. विसर्जनी। ये सभी गुदवलियाँ क्रमशः एक एक अंगुल ऊपर स्थित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य संग्रह-ग्रन्थों में भी इसका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। उक्त तीन गुदवलियों को एलोपैथी में इस प्रकार संकेतित किया गया है—१. बाह्य गुदसंवरणी (Sphincter ani externus), २. अन्तरा गुदसंवरणी (S. ani interni), ३. गुदसंवरिणिका (S. muscles of anus)।

अधिमांसदेश—यह शब्द कफज दन्तवेष्टरोग के लिए प्रयुक्त देखा गया है। यथा—'हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान्शोथो महारुजः। लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः' ॥ सु० नि० अ० १६।२५। इसके अतिरिक्त नेत्रमामार्म (Fleshy excrescence on the eye, Cancer of the eye) के अर्थ में भी देखा जाता है। किन्तु यहाँ तो अधिमांस का अर्थ है—मांस के आश्रय में स्थित विकार। इस प्रसंग में सुश्रुतोक्त अर्शोरोग की सामान्य सम्प्राप्ति पर भी ध्यान दें। देखें, सु० नि० अ० २।४।

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि, कानिचिन्महान्ति, कानिचिद्दीर्घाणि, कानिचिद्ध्रस्वानि, कानिचिद् वृत्तानि, कानिचिद् विषमविसृतानि, कानिचिदन्तःकुटिलानि, कानिचिद् बहिःकुटिलानि, कानिचिज्जटिलानि, कानिचिदन्तर्मुखानि, यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि ॥ ७ ॥

सहजार्शों के अंकुर—उस गुदस्थान में उत्पन्न कुछ सहज अर्श सूक्ष्म आकार के होते हैं, कुछ बड़े होते हैं, कुछ लम्बे होते हैं, कुछ छोटे होते हैं, कुछ आकार में गोल होते हैं, कुछ विषम ढंग से फैले रहते हैं, कुछ भीतर की ओर मुड़े रहते हैं, कुछ बाहर की ओर निकलकर फिर मुड़ जाते हैं, कुछ मस्से आपस में ही उलझे जैसे रहते हैं, कुछ अर्श बाहर की गुदवलि में पैदा होने पर भी भीतर की ओर मुखवाले होते हैं। इनका वर्ण (रूप) अपने-अपने दोषों के अनुसार ही होता है।

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शर्कराश्मरीमान्, तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा अन्तराऽन्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुणतनुसान्द्रपिच्छिलकुणपगन्ध्यामपुरीषोपवेशी, नाभिवस्तिवङ्क्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः, सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमेहप्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेपः प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गारः, सुदुर्बलः, सुदुर्बलाग्निः, अल्पशुक्रः, क्रोधनो, दुःखोपचारशीलः, कासश्वासतमकतृष्णाहृल्लासच्छर्द्यरोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतः, तैमिरिकः, शिरःशूली, क्षामभिन्नसन्नसक्तजर्जरस्वरः, कर्णरोगी, शूनपाणि-

१. 'गुदवलिजानि' इति पा०।

पादवदनाक्षिकूटः, सज्वरः, साङ्गमर्दः, सर्वपर्वास्थिशूली च, अन्तराऽन्तरा पार्श्वकुक्षिवस्तिहृदयपृष्ठत्रिकग्रहोपतप्तः, प्रध्यानपरः, परमालसश्चेति; जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृतो [१]मार्गोपरोधाद् वायुरपानः प्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, एते सर्व एव प्रकुपिताः पञ्च वायवः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्ति; इत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि ॥ ८ ॥

सहज अर्श के लक्षण—इन विभिन्न आकृति वाले सहज (जन्मजात) अर्शांकुरों से पीड़ित रोगी जन्म से ही अत्यन्त कृश (दुबला-पतला), विवर्ण (निष्प्रभ या फीका चेहरा वाला), क्षीण तथा दीन होता है। वह विशेषरूप से विबन्ध (कब्जियत) से पीड़ित रहता है और उसका अपानवायु, मूत्र तथा पुरीष रुक-रुककर होता है, उसके मूत्र में से शर्करा (बालू) जैसा पदार्थ निकलता है और उसे अश्मरी (पथरी) रोग होता है। उसे अनिश्चित रूप से मलबन्ध (कब्जियत) रहता है, जब कब्जियत खुल जाती है तो कभी पका हुआ मल निकलता है, कभी आम (कच्चा या अधपका), कभी सूखा और कभी अतिसार होने लगता है। वह व्यक्ति बीच-बीच में सफेद, पाण्डु (पीत-धवल), हरा, पीला, लाल, अरुण (ईंट का-सा रंग), तनु (पतला), सान्द्र (गाढ़ा), पिच्छिल (चिपचिपा), कुणपगन्धि (मुर्दे की-सी गन्धवाला) तथा आम पुरीष का त्याग करता है। नाभि, वस्ति और वंक्षण में उसे पर्याप्त मात्रा में कैंची से काटने के समान वेदना (Colic pain) होती है। उस रोगी के गुद में शूल, प्रवाहिका (Dysentery), परिहर्ष (रोमांच), प्रमेह, कब्जियत का निरन्तर बना रहना, अन्त्रकूजन (वायु के कारण आँतों में गुड़गुड़ाहट का होना), उदावर्त, हृदय तथा इन्द्रियों पर कफ आदि का लेप कर दिया गया हो ऐसा अनुभव होना, अधिक मात्रा में रुके हुए तिक्त अथवा अम्लरस युक्त उद्गारों (डकारों) का आना, रोगी का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो जाना, उसकी पाचकाग्नि का भी अत्यन्त दुर्बल हो जाना, शरीर में वीर्य की कमी हो जाना, स्वभाव का क्रोधयुक्त हो जाना, उसके चिड़-चिड़े स्वभाव के कारण आसानी से चिकित्सा का न हो पाना, अथवा दुःखी पुरुषों के जैसे स्वभाव का होना, कास, श्वास, तमकश्वास, तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना), जी मिचलाना, छर्दि (वमन), अरोचक, अनपच, पीनस (प्रतिश्याय) छींक इन रोगों से घिरा रहता है। तिमिर रोग तथा शिरःशूल से पीड़ित रहता है। उस रोगी की क्षाम (क्षीण), भिन्न (फूटी हुई काँसे की थाली को बजाने जैसी) आवाज आती है, सन्न (अत्यन्त मन्द), सक्त (रुक-रुककर), जर्जर (फटे हुए बांस को पीटने से निकलने वाली आवाज जैसे) स्वर वाला हो जाता है, उसके कान में पीड़ा होती है, हाथ, पैर, मुख (चेहरा), आँखों के चारों ओर सूजन हो जाती है, ज्वर, अंगमर्द (शरीर के अवयवों में मसल देने के समान वेदना) और सभी अस्थि-सन्धियों में शूल, बीच-बीच में पसलियों, कुक्षि, वस्ति, हृदय, पृष्ठ, त्रिकास्थि में वातदोष के कारण जकड़ जाने के समान वेदना से पीड़ित होना, हर समय वह चिन्तित तथा अत्यन्त आलसी होता है।

जन्म से ही इस सहजार्शोरोगी के बवासीर के मस्सों द्वारा गुदमार्ग के चारों ओर से घिर जाने के कारण अपानवायु ऊपर की ओर चढ़ते हुए के समान, व्यान, प्राण तथा उदान वायुओं को तथा पित्त एवं कफदोष को भी प्रकुपित कर देता है। इस प्रकार शरीरस्थ ये पाँचों वायु तथा पित्त-कफ प्रकुपित होकर अर्श रोगी को आक्रान्त करके ऊपर कहे गये इन विकारों को उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार यहाँ तक सहजार्शों का वर्णन कर दिया गया है।

अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तरकालजानि व्याख्यास्यामः—

सहज अर्शों का वर्णन करने के बाद अब हम पैदा हुए व्यक्तियो के जन्म के पश्चात् उत्पन्न होने वाले (उत्तरकालज) अर्शों की व्याख्या करेंगे।

गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद्गव्यमात्स्यवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरदधिमण्डतिलगुडविकृतिसेवनान्माषयूषेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तलशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूकक्रौञ्चादनकशेरुकशृङ्गा-

१. 'गुदमार्गोपरोधात्' इति पा०।

टकतरूटविरूढनवशूकशमीधान्याममूलकोपयोगाद्गुरुफलशाकरागहरितकमर्दकवसाशिरस्पदपर्युषितपूति-
शीतसङ्कीर्णान्नाभ्यवहारान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद्व्यापन्नगुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्वस्ति-
कर्मविभ्रमाद्व्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासनस्थानसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्य-
तिमात्रं, तथोत्कटविषमकठिनासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्वस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद्-
गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्टतृणादिघर्षणात् प्रततातिनिर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगोदीर-
णात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात् स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद्गर्भोत्पीडनाद्विषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुर-
पानस्तं मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ॥ ९ ॥

अर्शों के कारण एवं सम्प्राप्ति—गुरु, मधुर, शीत, अभिष्यन्दि (कफवर्धक), विदाही (दाह को पैदा करने वाले), विरुद्ध आहार, अजीर्णकारक पदार्थ, प्रमिताशन (नपा-तुला भोजन) तथा असात्म्य (स्वभाव विपरीत) पदार्थों का भोजन में सेवन करने से, मछली, सूअर, भैंसा, बकरा, भेड़ा, इनके मांसों को खाने से, कृश प्राणियों के मांस, सूखे हुए मांस तथा पूति (दुर्गन्ध युक्त) मांस इनको खाने से, पैष्टिक (चावल की पीठी से बने हुए), परमान्न (खीर), दूध, दही का पानी, तिल या गुड़ से बने हुए पदार्थ, इनका सेवन करने से, माष (उड़द) की दाल, ईख का रस, पिण्याक (तिल की खली), पिण्डालु (अरुई, घुंइयाँ, बंडा, पिंनालू, गडेरी), सुखाये हुए (मूली, आलू, गोभी, अरुई, भिण्डी आदि) शाकों, लशुन, किलाट (छेना), तक्रपिण्ड (मठा को कपड़ा में बाँधकर लटका देने से कुछ समय बाद तक्रपिण्ड बन जाता है), बिस (भसीडा, कमलनाल, इसका शाक भी बनाया जाता है), मृणाल, शालूक (कमलकंद), क्रौञ्चादन (छोटा कसेरू), कसेरू, सिंघाड़ा, तरूट (कुमुदकन्द) विरूढधान्य (अंकुरित चना आदि), नवशूक, शमीधान्य, कच्चीमूली, इन पदार्थों का उपयोग करने से, गुरु (देर में पचने वाले) फल, शाक, राग (रायता, अचार आदि), हरितक (हरा धनियाँ, अदरख, आदि), मर्दक (कासमर्द), वसा (चर्बी), शिरस्पद (बकरे के शिर और पैर की हड्डी के भीतर की मज्जा), पर्युषित (बासी भोज्यपदार्थ), दुर्गन्धयुक्त पदार्थ, शीतल द्रव्य, संकीर्ण (अनेक प्रकार के परस्पर मिले) भोज्य पदार्थों का सेवन करने से, मन्दक (अधजमा दही) को खाने से, अतिक्रान्त मद्य (सड़ जाने के कारण जिस मद्य के अपने गुण-धर्म नष्ट हो गये हों) को पीने से, व्यापन्न (विकारयुक्त) होने के कारण गुरु जल को पीने से, अधिक स्नेह-पान करने से, उचित समय पर संशोधन (वमन-विरेचनादि) न करने से, वस्तिकर्म का विधिवत् प्रयोग न कराने से, व्यायाम (शारीरिक परिश्रम) न करने से, मैथुन न करने से, दिन में सोने से, सुखद शयन (पलंग) तथा आसन का निरन्तर सेवन करने से जिसकी पाचकाग्नि मन्द पड़ जाती है, उनके उदर-प्रदेश में अधिक मात्रा में मल का संग्रह हो जाता है और उत्कट आसन (मल त्याग करते समय जिस आसन से बैठा जाता है, उसे 'उत्कटासन' कहते हैं), विषम (ऊँचा-नीचा) आसन, कठिन आसन (लकड़ी, पत्थर आदि पर बैठना) के सेवन से, उद्भ्रान्त यान (मतवाले घोड़े आदि की सवारी) तथा ऊँट की सवारी से, अधिक मैथुन करने से, वस्तिनेत्र (यन्त्र) का ठीक प्रकार प्रयोग न करने से, गुद में क्षत होने से, बार-बार गुद में शीतल जल के स्पर्श होने से, वस्त्र, मिट्टी का ढेला, तृण आदि की रगड़ लगने से, निरन्तर अत्यन्त काँखने से, वात, मूत्र, पुरीष के वेग को बलपूर्वक उभाड़ने से, उभड़े हुए इनके वेगों को रोकने से, स्त्रियों में—आमगर्भ के गिरने से, गर्भ का दबाव पड़ने से, विषम प्रसूतियों (प्रसवजनित विकृतियों) से प्रकुपित हुआ अपानवायु अधोगत संचित मल के पास पहुँचकर उस मल के भार को लाकर गुदवलियों में रख देता है, तदनन्तर उनमें अर्शों के उत्पत्ति हो जाती है। आहार-विहारों को ही कारण माना गया

वक्तव्य—सामान्यरूप से अर्शोत्पत्ति में कफ तथा वातवर्धक एक यात्रा में ६ हजार फुट से १९
है। **कृशशुष्कपूतिमांस**—सन् १९६५ में ओषधि अन्वेषणार्थक राजकीय प्रदेशों में जाने का मुझे अवसर मिला,
हजार फुट की ऊँचाई वाले पर्वतीय (मुन्स्यारी, कुटी, पञ्चचूली आदि) चमड़ा (खाल) निकाल लेते
और वहाँ मैंने देखा कि उधर भोटिया लोग भेड़ों को पालते हैं, मर जाने पर उनका लेते हैं। मुझे ऐसा लगता है
है और उस मृत भेड़ के मांस को सुखाकर गेहूँ, धान की भाँति उसका संग्रह कर
कि हिम प्रदेशों में विचरण करते हुए चरक ने ये दृश्य अवश्य देखे होंगे।

शुष्क शाक—कुशल गृहिणियाँ जिस समय छः प्रकार के शाकों में जो शाक उपलब्ध होता है, संग्रह की दृष्टि से तथा बे-मौसम में जो वस्तु दुर्लभ होने के कारण अच्छी लगती है, अतः वे उन-उन शाकों को सुखाकर उनका संग्रह कर बाद में उपयोग किया करती हैं।

बिस, मृणाल, शालूक, तरूट, क्रौञ्चादन, कसेरुक, शृङ्गाटक—ये सभी शाक द्रव्य जल में होने वाले हैं, अतएव ये कफ एवं वातवर्धक होते हैं। प्रथम चार द्रव्य कमल-भेदों के नाल एवं कन्द हैं। निघण्टुकारों ने तरूट को कमलकन्द कहा है, किन्तु नैनीताल आदि पहाड़ी स्थानों में इसी नाम का एक कन्द होता है, जिसे 'तरूड़' कहते हैं। वह भी स्वादिष्ट, पौष्टिक तथा कफ एवं वातवर्धक होता है।

मर्दक—श्रीजयदेव ने यहाँ श्रीगंगाधरोक्त 'कासमर्दक' पाठ दिया है। हिन्दी में इसे कसौंदी कहते हैं। श्रीक्षेमशर्मा ने अपने ग्रन्थ में कासमर्द का परिचय इस प्रकार दिया है—'हिङ्ग्वार्द्रमरिचं जीरं हरिद्रां धान्यकं तथा। क्रमेण वर्धितं सर्वं वेसवारमिदं शुभम् ॥ स्तोकेन वारिणा सर्वं वण्टितं वस्त्रगालितम्। मात्रया व्यञ्जने देयं कासमर्दं च तत्स्मृतम्' ॥ क्षेमकुतूहल (सन् १९२० में आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित)।

अव्यायामाद्—श्रीजयदेव ने अपने ग्रन्थ के मूल में इस पद को उद्धृत नहीं किया है।

चेललोष्ठतृणादिघर्षणात्—मल-मूत्र की निवृत्ति के बाद उन-उन अवयवों को शुद्ध करना स्वास्थ्य तथा धार्मिक दृष्टि से अति आवश्यक है। विदेशों में आज भी भारतीय विधि से जलशौच नहीं किया जाता। अपने देश में खुले मैदानों में शौच करने पर वस्त्र, मिट्टी का ढेला, पत्थर का टुकड़ा या घास, तृण आदि से गुदद्वार को पोंछकर तब जल से धोये जाने की परम्परा है। इनमें कठोर द्रव्यों द्वारा यदि गुदद्वार पर रगड़ लग जाती है, तो अर्शोत्पत्ति हो जाती है।

विषमप्रसूतिभिः—स्वाभाविक रूप से प्रसव होने से किसी प्रकार के विकार की उत्पत्ति नहीं होती। गर्भोपघातकरभाव तथा मूढगर्भ आदि सुख-प्रसव के बाधक भावों को ही यहाँ विषमप्रसृति कहा गया है, न कि अनेक सन्तानों का होना। एक समय वह था जब अनेक पुत्र-सन्तानों का होना शुभ माना जाता था। उसके लिए अनेक प्रकार के उपाय किये जाते थे। देखें—ब्र० नि० अ० १ पाद १ श्लोक ९-१२। और इस प्रकार के आशीर्वाद दिये जाते थे—'दूधन नहाय पूतन फलें'।

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठकयवकलायपिण्डिटिण्टिकेरकेबुकतिन्दुककर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बीबदरकरीरोदुम्बरखर्जूरजाम्बवगोस्तनाङ्गुष्ठकशेरुशृङ्गाटकशृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्डजिह्वापद्ममुकुलकर्णिकासंस्थानानि सामान्याद् वातपित्तकफप्रबलानि ॥ १० ॥

अर्शों के आकार—सरसों, मसूर, उड़द, मूंग, मकुष्ठक, (मोठ), जौ, कलाय (मटर), पिण्डी (पिण्ड के आकार का होने के कारण 'मदनफल' को पिण्डी कहा गया है), टिण्टिकेर (करीर का फल), केबुक करेमू का शाक, तिन्दुक (तेंदू का फल), बेर (जंगली बेर या करबेर), काकणन्तिका (घुंघची), बिम्बी (कुंदरू), बदर (कलमी बेर), करीर (बांस का अंकुर), गूलर, खजूर, जामुन, गोस्तन (द्राक्षा का गुच्छा या गाय का स्तन), अँगूठा, कसेरू, सिंघाड़ा, काकड़ासिंगी, मुर्गा, मोर, शुक इनकी चोंच या जीभ की आकृति के, पद्ममुकुल, पद्मकर्णिका के समान और सदृश आकारवाले वात, पित्त, कफ की प्रधानता के कारण उक्त प्रकार के अर्शांकुर उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—आप ऊपर कही गयी अर्शों के अंकुरों की आकृतियों को वातज, पित्तज और कफज भेद से छाँटकर देखें और ध्यान दें कि उक्त आकृतियों से भी दोषों के लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं। इनके कफज अर्श सबसे बड़ी आकृति वाले हैं। महर्षि वाग्भट ने विस्तार के साथ इनकी आकृतियों का वर्णन पाँच भागों में किया है, देखें—अ० हृ० नि० अ० ७। वातज अर्शांकुर—२८ से ३३, पित्तज अर्शांकुर—३४ से ३६। कफज अर्शांकुर—३७ से ४१। द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज अर्शांकुर—४२ तथा रक्तज अर्शांकुर ४३ से ४५ तक। सुश्रुत में इनका वर्णन सु० नि० अ० २ श्लोक १० से १४ तक में वातज, पित्तज, कफज, रक्तज तथा सन्निपातज क्रम से देखें।

तेषामयं विशेषः—शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि, तीक्ष्णाग्राणि, वक्राणि, स्फुटितमुखानि, विषमविसृतानि, शूलाक्षेपतोदस्फुरणचिमिचिमासंहर्षपरीतानि, स्निग्धोष्णोपशयानि, प्रवाहिकाध्मानशिश्नवृषणवस्तिवङ्क्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रबलानि, प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि, ऊरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिवस्तिशूलशिरोऽभितापक्षवथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायामशोषशोथमूर्च्छारोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघातकराणि, श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ ११ ॥

वातज अर्श के लक्षण—उपर्युक्त अर्शों के आकारों में यह विशेषता है—जो अर्श के अंकुर विशेष रूप से सूखे हुए हों, म्लान (मुर्झाये) हों, कठिन (छूने पर कठोर) प्रतीत होते हों, परुष (खुरदरे) हों, रूक्ष हों, श्याववर्ण के हों, जिनका अगला भाग सुई की नोक की भाँति तीखा हो, जिनके मुख टेढ़े हों, जिनके मुख फटे हुए हों, अथवा विषम रूप से इधर-उधर फैले हों, जिनमें शूल हो, आक्षेप (वेदना का खिंचाव) हो, सुई चुभने की-सी पीड़ा हो रही हो, जो भीतर से फड़कता हो, जिसमें चिमचिमाहट हो और जिसके कारण रोमांच हो रहा हो, स्निग्ध तथा उष्ण चिकित्सा करने पर जिनमें सुख मिलता हो, जिनके कारण प्रवाहिका तथा आध्मान हो, मूत्रेन्द्रिय, अण्डकोष, वस्ति, वंक्षण तथा हृदय में जिनके कारण जकड़न होती हो, अंगों में मसलने की-सी वेदना एवं हृदय में दुर्बलता का अनुभव होता हो, निरन्तर जिन रोगियों के अपानवायु, मूत्र, मल रुक-रुक कर होते हों, ऊरु, कमर, पीठ, त्रिक, पार्श्व (पसलियों), कुक्षि, वस्ति में शूल होता हो, शिर में पीड़ा तथा जलन, बार-बार छींकों का आना, डकारों का आना, प्रतिश्याय (जुकाम) का होना, कास, उदावर्त आयाम (अन्तरायाम-बाह्यायाम—यह दो प्रकार का होता है। श्रीजयदेव ने यहाँ 'आयास' पाठ को अपनाया है), शोष (मुखमण्डल का सूखना), शोथ (सूजन का होना), मूर्च्छा, भोजन के प्रति अरुचि, मुख का फीका पड़ जाना, तैमिर्य (आँखों के सामने अँधेरा छा जाना), अर्शांकुरों में खुजली का होना, नासिका, कान तथा शंखप्रदेश में शूल तथा स्वरभेद का होना, नाखूनों, आँखों, मुख (चेहरा), त्वचा, मूत्र, पुरीष इनका वर्ण श्याव (गहरा भूरा रंग), अरुण (ईंट के जैसा) वर्ण तथा स्पर्श में परुष (खुरदरा) प्रतीत होना—ये लक्षण वातप्रधान अर्शों के होते हैं।

भवतश्चात्र—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम् ॥१२॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥१३॥

वातज अर्शों के कारण—इस विषय में यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—कषाय, कटु, तिक्त, इन रसों का सेवन, रूक्ष, शीत, लघु गुण वाले अन्नों का आहार के रूप में प्रयोग, प्रमित (नपा-तुला) तथा मात्रा से भी अल्प (कम) भोजन, तेज मद्यों का तथा मैथुन का निरन्तर सेवन, उपवास, शीत-प्रधान देश एवं काल का सेवन, शक्ति से अधिक व्यायाम करना, शोक-संतप्त रहना, वात एवं धूप का अधिक सेवन करना—ये सब वातज अर्शों की उत्पत्ति में कारण कहे गये हैं।

मृदुशिथिलसुकुमाराण्यस्पर्शसहानि, रक्तपीतनीलकृष्णानि, स्वेदोपक्लेदबहुलानि, [1]विस्रगन्धितनुपीतरक्तस्राविणि, रुधिरवहानि, दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति शीतोपशयानि, सम्भिन्नपीतहरितवर्चांसि, पीतविस्रगन्धिप्रचुरविण्मूत्राणि, पिपासाज्वरतमकसम्मोहभोजनद्वेषकराणि पीतनखनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १४ ॥

पित्तज अर्श के लक्षण—जो अर्श स्पर्श करने में मृदु (मुलायम), शिथिल (ढीले-ढाले), सुकुमार अतएव जो स्पर्श का सहन न कर सकते हों, जिन अर्शों का वर्ण लाल, पीला, नीला एवं काला हो, जो स्वेद (पसीना) युक्त तथा क्लेद (गीलापन) की अधिकता से युक्त हों, जिन अर्शों से विस्र (कच्चे मांस की गंध के समान) गंध आती हो, जिनमें से विस्रगन्ध युक्त पतला, पीला तथा लाल वर्ण का स्राव निकलता रहता हो, अथवा रक्त का स्राव हो रहा हो, जिन अर्शांकुरों में दाह, खुजली, शूल, चुभने की-सी पीड़ा हो रही हो, जो पक गये हों, जिन अर्शों में शीतस्पर्श सुखद प्रतीत होता हो और जिनमें शीतवीर्य प्रधान द्रव्यों द्वारा की गयी

१. 'विस्रगन्धीनि' इति पा०।

चिकित्सा लाभदायक हो, जिसे पतला, पीला तथा हरे वर्ण का मल हो रहा हो, मूत्र पीला, विस्रगन्धि युक्त किन्तु अधिक मात्रा में जिसे हो रहा हो, इसी प्रकार पुरीष भी विस्रगन्धि युक्त होकर अधिक मात्रा में आता हो, रोगी को बार-बार प्यास लगती हो, जो ज्वर, तमकश्वास, बेहोशी से पीड़ित हो और भोजन के प्रति जिसे द्वेष हो, जिसके नाखून, नेत्र, त्वचा, मूत्र, पुरीष पीले पड़ गये हों—इन लक्षणों से युक्त अर्शों को पित्त-प्रधान अर्श समझना चाहिए।

वक्तव्य—प्रायः पित्तज अर्श के समान ही रक्तज अर्शों की भी स्थिति होती है। देखें—'रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः'। अ० हृ० नि० अ० ७।४३। अतः जब रक्तार्शों से रक्तस्राव होकर उसका क्षय होता है, तो उसके लक्षणों पर ध्यान दें—'रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिशिराशैथिल्यरूक्षता'। अ० हृ० सू० अ० ११।१७। इसी को सुश्रुत ने इस प्रकार कहा है—'शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च'। सु० सू० अ० १५।९। **विशेष**—पित्तार्श में पुरीष (मल) पतला और रक्तार्श में गाढ़ा आता है। दोनों में मूलतः यही भेद है।

भवतश्चात्र—

[1]कटूष्णलवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः । देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥१५॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम् । पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥१६॥

पित्तज अर्श के कारण—इस विषय में यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—कटु, उष्ण, लवण, क्षार पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन, व्यायाम (शक्ति से अधिक सभी प्रकार के शारीरिक श्रम), अग्नि, आतप (धूप) इनकी प्रभा अर्थात् इन दोनों का अधिक सेवन करना, उष्ण-प्रधान देश तथा काल का अधिक सेवन, क्रोध करना, तीक्ष्ण मद्य को पीना, किसी के साथ असूया ('गुणेषु दोषारोपणम्—असूया' अर्थात् किसी के सद्गुणों में मिथ्या दोष के आरोपण को असूया कहते हैं) करना, विदाही, तीक्ष्ण, उष्णगुण वाले सभी प्रकार के पेय पदार्थों, भोजनों तथा औषधद्रव्यों का सेवन पित्त-प्रधान अर्शों की उत्पत्ति में कारण समझना चाहिए।

तत्र यानि प्रमाणवन्ति, उपचितानि, श्लक्ष्णानि, [2]स्पर्शसहानि, स्निग्धश्वेतपाण्डुपिच्छिलानि, स्तब्धानि, गुरूणि, स्तिमितानि, सुप्तसुप्तानि, स्थिरश्वयथूनि, कण्डूबहुलानि, बहुप्रततपिञ्जरश्वेतरक्तपिच्छास्राविणि, गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि, रूक्षोष्णोपशयानि, प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहवन्ति, परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्रशोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियोपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणि, [3]दीर्घकालानुबन्धीनि, अतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराणि, आमविकारप्रबलानि, शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १७ ॥

कफज अर्श के लक्षण—जो अर्श के अंकुर प्रमाण (आकार) में बड़े, मांस के कारण मोटे हों, श्लक्ष्ण (कोमल) हों, जिनमें स्पर्श करने में कष्ट का अनुभव न होता हो, जो चिकने, सफेद या पाण्डुवर्ण के हों, पिच्छिल (चिपचिपे) हों, स्तब्ध (जकड़े) हों, गुरु, स्तिमित (गीले कपड़े से ढके हुए के समान अनुभव वाला), शून्यता युक्त, स्थिर (एक समान रूप वाले), श्वयथु (शोथ) युक्त, जिन मस्सों में खुजली अधिक होती हो और उससे निरन्तर हल्का पीला, सफेद, लाल पंछा अधिक निकलता रहता हो, मल और मूत्र पर्याप्त मात्रा में चिकनेपन से युक्त और सफेद वर्ण से युक्त निकलते हों, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों का सेवन जिनमें सुखद होता हो, प्रवाहिका का अधिक मात्रा में होना, वंक्षण में आनाह का होना, गुदमार्ग में कैंची से काटने की-सी पीड़ा का अनुभव होना, बार-बार जी मिचलाना, बार-बार थूकने की इच्छा होना, कास, अरोचक (भोजन के प्रति अनिच्छा), प्रतिश्याय (जुकाम), शरीर में भारीपन का अनुभव होना, वमन, मूत्र का कठिनाई से होना, मुखमण्डल का सूखना, हाथ-पैरों से सूजन का होना, पाण्डुरोग, शीतज्वर, अश्मरी (पथरी) रोग,

१. 'कट्वम्ललवण' इति पा०। २. 'स्पर्शसुखानि' इति पा०।
३. 'दीर्घकालानुशयानि' इति पा०।

शर्करा रोग का होना, हृदय अथवा इन्द्रियों के ऊपर मानो किसी ने लेप कर दिया हो इस प्रकार का अनुभव होना, मुख का मीठापन, प्रमेह के उत्पादक, दीर्घकाल तक साथ न छोड़ने वाले, पाचकाग्नि को अत्यन्त मन्द कर देने वाले, नपुंसकताकारक, प्रबल आम-विकारों (अजीर्ण सम्बन्धी उपद्रवों) को पैदा कर देने वाले, जिसके नाखून, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र, पुरीष सफेद हो गये हैं, ऐसे पुरुष के शरीर में उत्पन्न इन अर्शांकुरों को कफ-प्रधान अर्श समझना चाहिए।

वक्तव्य—'अश्मरीशर्करा'—वास्तव में यह शर्करा अश्मरी (पथरी) का ही एक विकार मात्र है। महर्षि सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है—'शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्। अश्मर्याः शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना॥ पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः'॥ सु० नि० अ० ३।१३॥ अश्मरी के भेदों की गणना करते हुए सुश्रुत ने—१. शर्करामेह, २. सिकतामेह, ३. भस्ममेह, इन तीनों का वर्णन किया है। अतः यहाँ दोनों का अलग-अलग उल्लेख कर दिया गया है।

भवतश्चात्र—

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥१८॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्। श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ॥

कफज अर्श के कारण—इस विषय से सम्बन्धित दो श्लोक यहाँ कहे गये हैं—मधुर, स्निग्ध (चिकने), शीत (वीर्य), लवण, अम्ल, गुरु (मात्रा तथा पाक में), व्यायाम न करना या मात्रा से कम करना, दिन में सोना, शय्या पर पड़े रहना, आसन पर बैठे रहना या सुख से जिन्हें अधिक प्रेम हो, अर्थात् जो कुछ काम न करना चाहते हों, पुरवय्या हवा का अधिक सेवन करना, शीत-प्रधान देश तथा काल (ऋतु) का सेवन, कभी कुछ सोचने-विचारने का कार्य न करना अथवा सदैव निश्चिन्त रहना—ये सभी कफज अर्शों के कारण कहे गये हैं।

हेतुलक्षणसंसर्गाद् विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च। सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणैः समम् ॥२०॥

द्वन्द्वज सन्निपातज अर्शों के कारण-लक्षण—ऊपर वात, पित्त, कफ भेद से अर्शों के कारण एवं लक्षणों का वर्णन कर दिया है। यहाँ द्वन्द्वज तथा सन्निपातज अर्शों के कारणों और लक्षणों का वर्णन करना है। अतः तन्त्रकार कहते हैं—दो दोषों के कारण और लक्षण यदि किसी एक अर्श रोगी में दिखलायी दें, तो उन्हें द्वन्द्वोल्बण (दो दोष प्रधान अर्थात् द्वन्द्वज) अर्श कहते हैं और जिन रोगियों में तीनों दोषों के कारण तथा लक्षण दिखलायी देते हों, उन्हें सन्निपातज समझना चाहिए। सहज अर्शों में जिसमें जिस दोष की प्रधानता हो उसे उसी नाम से समझें। यथा—सहज वातार्श आदि।

वक्तव्य—चरक ने मूलतः अर्शोरोग के दो भेद किये हैं—१. सहज और २. उत्तरकालज; आगे चलकर वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज ये सब उत्तरकालज अर्शों के ही भेद हैं। अब यदि आप तीन भेद द्वन्द्वज के भी स्वीकार करते हैं, जिनका तन्त्रकार ने नामतः उल्लेख नहीं किया है, तब वात आदि दोषों से ३+द्वन्द्वज ३+सन्निपातज १+सहज १=८ भेद होते हैं। ध्यान यह देना है कि आगे चलकर तन्त्रकार ने दूसरों के मत का संकेत करते हुए पुनः अर्शरोग को दो भागों में बाँटा है—१. शुष्क अर्श, २. आर्द्र अर्श। दूसरे भेद को लेकर इसी अध्याय में आगे रक्तार्श की चिकित्सा भी कही गयी है।

महर्षि सुश्रुत ने अर्श के केवल ६ भेद माने हैं। वे कहते हैं—'षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणित-
सन्निपातैः सहजानि चेति'। सु० नि० अ० २।३। इस प्रकार वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज और
सहज भेद से इन्होंने इस अर्श के छः भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु आगे जाकर वे पुनः कहते हैं—'अर्शःसु
दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः'॥ सु० नि० अ० २।२२। जब
अर्शरोगी में दो-दो दोषों के लक्षण दिखलायी देते हों, उस समय इसे संसर्गज (द्वन्द्वज) मानना चाहिए। यह
दोषों का संसर्ग (परस्पर मिश्रण) छः प्रकार का होता है—१. वातपित्त, २. वातकफ, ३. पित्तकफ, ४. वातरक्त,
५. पित्तरक्त, ६. कफरक्त। इनके लक्षणों को सु० सू० अ० २२ के व्रणवेदना-प्रकरण गद्य ११ में देखें।

सुश्रुत ने रक्तदोष को इन सबसे पृथक् स्वीकार किया है, इसलिए कि वह इस क्षेत्र का अधिकारी है। इसके विपरीत चरक ने उस रक्त को दोष न मानकर आग्नेय पित्त में अग्निगुण-प्रधान रक्त का अन्तर्भाव करके रक्तज अर्श को स्वीकार कर इसी अध्याय में आगे इसकी चिकित्सा कही है।

महर्षि वाग्भट ने भी ६ प्रकार के ही अर्शों की चर्चा की है—'षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयास्रतः। शुष्काणि वातश्लेष्मभ्यामार्द्राणि त्वस्रपित्ततः' ॥ अ० हृ० नि० अ० ७।९। जन्मोत्तर कालज अर्शों की गणना—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. संसर्गज, ५. त्रिदोषज, ६. रक्तज। शुष्कार्श वात-कफ से होते हैं और आर्द्र (स्रावयुक्त) अर्श रक्त एवं पित्त से होते हैं। इतना निर्देश करने पर भी आगे वे पुनः कहते हैं—'संसृष्टलिङ्गाः संसर्गाद् निचयात् सर्वलक्षणाः। अ० हृ० नि० ७।४२। **सहजार्श-परिचय**—'सहजानि विशेषेण रूक्षदुर्दर्शनानि च। अन्तर्मुखानि पाण्डूनि दारुणोपद्रवाणि च' ॥ अ० हृ० नि० अ० ७।८। चर्मकील का परिचय अ० हृ० नि० अ० ७।५७ में देखें।

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥२२॥

अर्श का पूर्वरूप—अन्न (खाये हुए आहार) का उचित रूप में पाक न होना, शरीर में दुर्बलता की उत्पत्ति, उदर में आटोप (गुड़गुड़ाहट) होना, शरीर में कृशता, बार-बार डकारों का आना, टाँगों में पीड़ा का होना, मल का थोड़ा-थोड़ा बार-बार निकलना, संग्रहणी, पाण्डुरोग तथा उदररोग होने की आशंका का होना, ये लक्षण अर्शरोगों की उत्पत्ति के पहले देखे जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त पूर्वरूप के लक्षणों में 'विष्टम्भोऽन्नस्य' आदि ऊपर कहे गये लक्षण सभी प्रकार के अजीर्ण-रोगों तथा विसूची, अलसक, विसूचिका रोगों की उत्पत्ति का भी संकेत कर रहे हैं। महर्षि वाग्भट ने इसी विषय का अ० हृ० नि० अ० ७ के १६ से २० श्लोक में विस्तृत वर्णन किया है। हमारी दृष्टि से वाग्भटोक्त ये सभी पद्य सु० नि० अ० २।८ में कहे गये गद्य का भावानुवाद मात्र हैं।

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात् तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥

सान्निपातिक अर्शों की दोषभेद-कल्पना—यद्यपि सभी अर्श त्रिदोषज होते हैं, अथवा इस प्रकार कहें कि तीनों दोषों के प्रकोप के बिना अर्श होते ही नहीं हैं, फिर भी जिस समय तीन दोषों में से जिस दोष की विशेषता होगी या देखी जायेगी, उस समय उस अर्श को उसी दोष विशेष के नाम से कहा जायेगा। अर्थात् वातदोष की विशेषता देखकर उसे वातज अर्श कहेंगे। इसी प्रकार अन्य नामों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥२४॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥२५॥

अर्शों में त्रिदोष का प्रकोप—गुदजों (सार्धचतुरंगुल गुद-प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण सभी अर्शों को गुदज कहते हैं, इन) के उत्पत्तिकाल में पञ्चात्मा (पाँच रूपों—१. प्राण, २. उदान, ३. समान, ४. व्यान, ५. अपान में विभक्त यह) वायु, पञ्चात्मा पित्त (१. पाचक, २. रञ्जक, ३. भ्राजक, ४. आलोचक ५. साधक) और पञ्चात्मा कफ (१. तर्पक, २. क्लेदक, ३. श्लेषक, ४. अवलम्बक, ५. बोधक) ये तीनों दोष गुद की तीनों (प्रवाहणी, संवरणी, विसर्जनी) वलियों में आकर कुपित होते हैं। इसलिए ये सभी अर्श दुःखदायक तथा अनेक प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न कराने में स्वयं कारण बन जाते हैं, तदनन्तर ये सम्पूर्ण शरीर को सन्तप्त (दुःखी) कर देते हैं और ये सभी प्रायः कष्टसाध्य होते हैं।

वक्तव्य—कुछ पूर्ववर्ती टीकाकार सहज अर्शों में भी पञ्चात्मा वात, पित्त, कफ के प्रकोप को कारण मानते हैं। दूसरे टीकाकार केवल पञ्चात्मा वायु को ही इसका कारण मानते हैं। आचार्य गंगाधर का तर्क है कि जब अर्श मूलतः त्रिदोषज हैं तो इनमें तीनों दोषों का तर-तम भाव से प्रकोप मानना ही चाहिए।

पञ्चात्मा वात, पित्त, कफ—इनके भेदों की चर्चा टीका में कर दी गयी है। अब यहाँ केवल उन-उनके स्थान आदि का निर्देश किया जा रहा है। **वायु-परिचय**—हृदय में प्राणवायु, गुदप्रदेश में अपानवायु, नाभि-

मण्डल में समानवायु, कण्ठदेश में उदानवायु, सम्पूर्ण शरीर में घूमने वाला व्यानवायु। **पित्त-परिचय**—आँखों में आलोचक पित्त, यकृत्प्लीहा में रञ्जकपित्त, हृदय में साधकपित्त, आमाशय-पक्वाशय के बीच में पाचकपित्त, त्वचा में भ्राजकपित्त। **कफ-परिचय**—आमाशय में 'अवलम्बककफ', खाये हुए अन्नसमूह को गीला करने के कारण उसे 'क्लेदक' भी कहते हैं, जीभ में रहकर रस का बोध कराने के कारण उसे 'बोधक' कहते हैं, सिर में रहता हुआ जो आँखों को तृप्त करता है, उसे 'तर्पक' कहते हैं, जो सन्धियों को परस्पर जोड़े या सटाये रहता है उसे 'श्लेषक कफ' कहते हैं।

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥२७॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ २८ ॥

असाध्य अर्शों के लक्षण—अर्श रोग से पीड़ित जिन व्यक्तियों के हाथों, पैरों, मुखमण्डल, नाभिप्रदेश, गुद तथा दोनों अण्डकोषों में शोथ हो, हृदय और पसलियों में शूल हो तो वह अर्शरोगी असाध्य होता है। जिन अर्शरोगियों के हृदय तथा पसलियों में शूल हो, मूर्च्छा, वमन, शरीरावयवों में पीड़ा, ज्वर, तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना), गुद का पक जाना, ये लक्षण होते हैं, वे उस अर्शरोगी को मार डालते हैं; जो अर्श सहज (जन्मजात) हों, त्रिदोषज हों तथा जो भीतरी (तीसरी-प्रवाहिणी नामक) वलि में पैदा हुए हों, इन लक्षणों को देखकर उन्हें असाध्य कह दें।

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने ये अर्श शरीर के किन-किन अवयवों में होते हैं, इस सम्बन्ध में कहा है—'मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं नाभिजानि तु। गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च' ॥ अ० हृ० नि० अ० ७।५६। ये अर्श योनिमार्ग, शिश्न (Penis), गल, तालु, मुख, नासिका, कान, नेत्रों की पलकों तथा त्वचा पर कहीं भी हो जाते हैं। इनका वर्णन उपदंश आदि प्रकरणों में देखें। टॉन्सिल कण्ठ के अर्श हैं। ये कफकारक आहार से बढ़ते हैं और कफनाशक चिकित्सा से शान्त होते हैं। यद्यपि कण्ठरोगों में इसका वर्णन नहीं मिलता, भले ही कोई कह दे कि यह क्लिष्ट कल्पना है, परन्तु आप ध्यान से विचार करें और देखें कि अर्श के समान इसमें भी शल्यक्रिया की जाती है, परन्तु 'भ्रंशस्तत्र सुदारुणः'। च० चि० अ० १४।३४। इसका ध्यान अवश्य रहे।

महर्षि सुश्रुत ने उपद्रवस्वरूप ये अर्श कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते हैं, इसका विस्तृत वर्णन सु० नि० अ० २।१७ के गद्य में किया है। वाग्भट के अनुसार अर्शों के याप्यत्व एवं असाध्यत्व के विचार के लिए देखें—अ० हृ० नि० अ० ७।५३-५५।

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते। याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥२९॥

याप्यत्व प्रत्याख्येयत्व निर्देश—उपर्युक्त असाध्य लक्षणों के पैदा हो जाने पर भी यदि रोगी की आयु (जीवन सीमा) अभी शेष है, चिकित्सा के चतुष्पाद (१. भिषक्, २. द्रव्य-औषधयोग, ३. कुशल उपचारक, ४. जितेन्द्रिय रोगी) उपलब्ध हों और रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो तो वे अर्श कुछ दिनों तक टाले जा सकते हैं, अर्थात् इन अर्श के रोगियों को चिकित्सा के बल पर कुछ दिन और जिलाया जा सकता है, नहीं तो उसके परिजनों को बतला देना होता है, कि अब यह चिकित्सा के योग्य नहीं रह गया, अर्थात् यह अब असाध्य है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न किन्तु अल्प लक्षणों वाले अर्शों को याप्य कहा है। देखें—सु० नि० अ० २।२३ की प्रथम पंक्ति। आप ध्यान दें—यहाँ भी चरकोक्त 'शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते, दीप्तकायाग्नेः' इन पदों को भुलायें नहीं।

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥
बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥

अर्शों की कृच्छ्र तथा सुखसाध्यता—जो अर्शांकुर दूसरी वलि (संवरणी) को दूषित कर उसमें आश्रित हों अथवा जिन्हें एक वर्ष से अधिक समय न हुआ हो वे कृच्छ्र(कष्ट)साध्य होते हैं। जो अर्शांकुर बाहरी वलि (विसर्जनी) में उत्पन्न हों और जिनमें कोई एक दोष प्रधान हो, जो अधिक समय से उत्पन्न न हुए हों, वे अर्शांकुर सुखसाध्य (उचित चिकित्सा करने पर शीघ्र ठीक) हो जाते हैं।

वक्तव्य—सम्पूर्ण चरक तथा सुश्रुत का अध्ययन करने पर दोनों में अनेक स्थल भाषा की दृष्टि से सर्वथा समान हैं, भाव की दृष्टि से तो इन दोनों में समानता की भरमार है। यहाँ भी 'द्वन्द्वजानि' आदि चरकोक्त यह ३०वाँ श्लोक सु० नि० अ० २।२३ से पूर्णरूपेण मिल रहा है। यद्यपि सुश्रुत ने ऊपर अल्प लक्षणों से युक्त त्रिदोषज अर्शों को याप्य कहा है, किन्तु यहाँ सन्निपातज एवं सहज अर्श के रोगियों को असाध्य कहकर छोड़ने की सलाह दे रखी है। क्योंकि सर्वलक्षण सम्पन्न सन्निपातज अर्श असाध्य होते ही हैं। सहज अर्श की भाँति अन्य भी जन्मजात व्याधियों को असाध्य कहा गया है।

तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद् विचक्षणः। तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥३२॥

अर्शोपचार में सतर्कता—कुशल चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह अर्शों को शान्त करने के लिए शीघ्र ही सचेष्ट हो। यदि समय पर उचित प्रयत्न नहीं किया गया तो वे शीघ्र ही गुद को बाँधकर अर्थात् मल-वाही स्रोत को रोककर बद्धगुदोदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—बद्धगुदोदर का वर्णन इसके पहले १३वें अध्याय में किया जा चुका है। इन उदर रोगों का परस्पर सम्बन्ध (एक उदररोग दूसरे को कैसे उत्पन्न करता है) यह भी वहीं देखें।

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम्। दाहं क्षारेण चाप्येके, दाहमेके तथाऽग्निना ॥३३॥
[1]अस्त्येतद्भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा। क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः ॥३४॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः। आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्तनम् ॥३५॥
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च। मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥

अर्श-चिकित्सा—कुछ शल्य-चिकित्सकों का कथन है कि अर्शों को शस्त्र से काटकर निकाल देना उनकी उत्तम चिकित्सा है। क्षारप्रयोग-प्रवीण चिकित्सकों का मत है, कि अर्शों का सफल उपचार क्षार-सूत्रों के प्रयोग से उन्हें जलाकर निर्मूल कर देना है और कुछ अग्निकर्म-निपुण चिकित्सक कहते हैं कि अर्शों की अग्निदाह चिकित्सा श्रेष्ठ है। महर्षि आत्रेय का कथन है कि यह सब सत्य है, अर्थात् अर्शों की शल्य, क्षार तथा अग्निदाह द्वारा चिकित्सा करना, अलग-अलग तन्त्रों के अनुसार ये विभिन्न भेद हैं। इनका प्रयोग वे ही चिकित्सक कर सकते हैं, जिन्होंने अनेक आयुर्वेदीय तन्त्रों का अध्ययन एवं उन-उन अधीत विषयों का गुरु के समीप अनेक बार कर्माभ्यास किया हो, ऐसा चिकित्सक ही ऊपर कहे गये त्रिविध (शस्त्र, क्षार, अग्नि) चिकित्सा-कर्म सफलता के साथ कर सकता है। यदि धीमान् और दृष्टकर्मा चिकित्सक इनका प्रयोग करने लगे और उससे कहीं चूक हो गयी, अर्थात् शस्त्र आदि का प्रयोग जहाँ करना है, वहाँ नहीं हो सका या उससे भिन्न किसी स्थान पर हो गया तो उसके निम्नलिखित भयावह परिणाम होते हैं—पुंस्त्वोपघात (नपुंसकता), गुदमण्डल में शोथ, पुरीष आदि वेग में रुकावट, आध्मान (अफारा), भयंकर उदरशूल, अंशों में पीड़ा, रक्त का अधिक मात्रा में निकलना, जिस अर्श को काट या जला दिया था उसी स्थान पर पुनः दूसरे अर्शांकुर की उत्पत्ति हो जाना, जो अर्शव्रण भर गये थे उनमें क्लेद (Wetness) का बना रहना, गुदभ्रंश (Anal prolapse of the rectum) अथवा शस्त्र, अग्नि, क्षार के विभ्रम (मिथ्या प्रयोग) से शीघ्र मृत्यु भी हो सकती है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने शस्त्र, क्षार, अग्निकर्मों को दूसरों द्वारा समर्थित चिकित्सा मानकर पहले इनकी चर्चा की है। सुश्रुत ने भी ऐसा ही किया है—पहले भेषज (कायचिकित्साविदों द्वारा अपनायी गयी चिकित्सा) का वर्णन करके तब क्षार, अग्नि, शस्त्र की चर्चा की है। देखें—'चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथा—भेषजं, क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति'। सु० चि० अ० ६।३। इस प्रसंग में सुश्रुत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया

---

1. 'अस्त्येतद्' इति पा०।

है, कि किन अर्शों में भेषज-प्रयोग, किन में क्षार तथा अग्नि-प्रयोग करना चाहिए और इन कर्मों के लिए उसमें स्वतन्त्र अध्यायों की रचना की गयी है। अष्टांगसंग्रह चि० अध्याय १० का भी अवलोकन करें।

आजकल दूसरी तथा तीसरी वलि में उत्पन्न अर्शों (Internal piles) पर सूचीवेध का प्रयोग कर इन अर्शों को समाप्त कर दिया जाता है। इसे एक प्रकार का दाहकर्म ही समझना चाहिए।

यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्। तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये ॥३७॥

अर्शों की सुखद चिकित्सा—ऊपर शस्त्र, क्षार, अग्निकर्मों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा को अत्यन्त भयावह बतलाकर अब वे दूसरी (औषध) चिकित्सा की प्रस्तावना करते हुए बतला रहे हैं, कि अब हम उस चिकित्सा का वर्णन करेंगे, जो सुखपूर्वक की जा सके, जिसमें यदि भ्रंश (चूक) हो भी जाये तो कोई बड़ी हानि न हो सके तथा जो भयावह न हो और जो अर्शों को समूल नष्टकर डाले, ऐसी चिकित्सा का उपदेश कर रहा हूँ।

वक्तव्य—अन्यत्र शस्त्र, क्षार, अग्नि-चिकित्सा को आसुरी चिकित्सा कहा गया है। सचमुच कुछ ऐसी बात है भी और कुछ दूसरों की आलोचना-प्रत्यालोचना प्रारम्भ से होती भी रही है। यहाँ **'भ्रंशस्तत्र सुदारुणः'** यह चिकित्सा का उतना दोष नहीं है, जितना कि अयोग्य चिकित्सक का है। महर्षि आत्रेय समन्वय-वादी तन्त्रकार हैं। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक रहा है—'तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते। स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्' ॥ च० सू० अ० १।१३४। इसी प्रकार का मन्तव्य महर्षि सुश्रुत का भी है—'ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमाः। भवन्त्यज्ञैरुपहतास्तस्मादेतान् विवर्जयेत्' ॥ सु० सू० अ० ३।५१। इस प्रसंग को आगे तक देखें।

समूलानां निवृत्तये—वातज अर्शांकुर की निवृत्ति के साथ वातदोष जो उस अर्शांकुर की उत्पत्ति में मूल कारण था, उसकी भी निवृत्ति हो जाये तन्त्रकार का यह दृष्टिकोण प्रशंसनीय है। यह कार्य शस्त्र, क्षार, अग्नि चिकित्सा से सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके प्रयोग से मात्र रोग की निवृत्ति होगी, न कि रोगमूल की। आप ध्यान से देखें—अर्शांकुरों की शल्य-चिकित्सा करने से वह अर्श तो समाप्त हो जाता है, परन्तु दूसरे अर्शांकुर की उत्पत्ति होते देखी जाती है।

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः। प्रस्राविणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥

अर्श के भेद—अर्शरोग-विशेषज्ञ चिकित्सक दो प्रकार के अर्शों का वर्णन करते हैं—१. शुष्क अर्श, २. आर्द्र अर्श। जिन अर्शों में वात या कफ अथवा वात-कफ दोषों की प्रधानता होती है, उन्हें शुष्क (सूखे) अर्श (मस्से) कहा जाता है। जिन अर्शों में रक्त या पित्त अथवा रक्त-पित्त दोषों की प्रधानता होती है, वे आर्द्र (गीले) अर्श कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें से निरन्तर रक्तस्राव हुआ करता है।

वक्तव्य—बोल-चाल की भाषा में इन्हें 'बादी' और 'खूनी' बवासीर कहते हैं।

तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्। स्तब्धानि स्वेदयेत् पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ॥

शुष्कार्श-चिकित्सा—हे अग्निवेश! उपर्युक्त दो प्रकार के अर्शों में से मैं पहले क्रम-प्राप्त शुष्क अर्शों की चिकित्सा को कह रहा हूँ। सबसे पहले उन सूखे, कठोर, सूजन तथा शूल युक्त अर्शों का स्वेदन करना चाहिए।

चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य बुद्धिमान्। यवमाषकुलत्थानां पुलाकानां च पोट्टलैः ॥४०॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा। वचाशताह्वापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥४१॥

अर्शों में स्वेदन-प्रयोग—बुद्धिमान् चिकित्सक चित्रकमूल, जवाखार, बेल की गुद्दी इनका कल्क बनाकर इससे तैलपाक-विधि के अनुसार तैलपाक करके उस तैल से मस्सों का अभ्यंग करके जौ, उड़द, कुलथी, पुलाक (तुच्छ धान्य—साँवा, कोदों आदि) की पोटलियाँ बनाकर उन अर्शांकुरों को सेकें, अथवा गाय, गधा, घोड़ा इनके गोबर की पोटलियों से, या तिल के कल्क की पोटली से, या धान, कोदों आदि की भूसी की पोटली से, या वच, सोया इनकी पोटली बनाकर स्नेह (तेल) मिलाकर गरम करके उन्हें सेकें।

वक्तव्य—ऊपर चित्रकादि तेल से कठोर मस्सों का अभ्यंग (स्नेहन) करके अनेक प्रकार की पोटलियों से सेंकने (स्वेदन करने) का आदेश दिया है। जौ, उड़द, कुलथी, तुच्छ धान्य को सुखाकर कूटकर इनकी दो पोटलियाँ बना लें, दोनों को उक्त तेल में भिगाकर चूल्हे के ऊपर तवा रखकर उसके ऊपर ये पोटलियाँ रखें। एक से सेकें तथा दूसरी को गरम होने के लिए तवा पर रख दें। इसी प्रकार अन्य पोटलियों को भी बनाकर तेल से स्निग्ध करके सहन करने योग्य गरम करके मस्सों को सेकें।

सक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा । शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः ॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्हपुषैरपि । इष्टकस्य खराह्वायाः शार्कंगृञ्जनकस्य वा ॥४३॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत् पोट्टलीकृतैः । वृषार्केरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत् ॥४४॥

अन्य प्रयोग—तेल अथवा घी से अर्शों पर अभ्यंग करने के बाद जब वे भली-भाँति स्निग्ध हो जायें तब जौ के सत्तू की पोटली बनाकर (ऊपर के वक्तव्य में निर्दिष्ट विधि से) गरम करके अर्शों (मस्सों) पर सेंक करें, सूखी मूली के चूर्ण की पोटली, कृष्णगन्ध (सहिजन) की छाल का चूर्ण बनाकर उसकी पोटली, रास्ना के चूर्ण की पोटली, हाऊबेर के चूर्ण की पोटली बनाकर तेल या घी में भिगाकर गर्म करके अर्शांकुरों का स्वेदन करें। कूठ के कल्क द्वारा निर्मित तेल से अर्शांकुरों का अभ्यङ्ग करके ईंट के चूर्ण की पोटली या खुरासानी अजवाइन के चूर्ण की पोटली से या गाजर की पत्ती की पोटली से स्वेदन करना चाहिए। अथवा अडूसा, मदार, एरण्ड तथा बेल की पत्तियों के गरम क्वाथ से मस्सों को सेंकना चाहिए।

वक्तव्य—दुराचारी पुरुष गुद के साथ भी दुराचार कर बैठते हैं। सद्यःप्राणहर मर्मों में गुद का भी प्रमुख स्थान है। इसका सीधा सम्बन्ध स्थूलान्त्र से है। इसकी गणना मांस मर्मों में होती है। उदर के तीन मर्म हैं—१. गुद, २. वस्ति, ३. नाभि। अतः इस स्थान पर सुखोष्ण स्वेद ही कराना चाहिए। इससे अर्शांकुरों के कारण प्रतिलोम वायु का अनुलोमन हो जाता है। ऊपर श्लोक ४०-४१ में जिस प्रकार स्नेहन-स्वेदन की विधि का निर्देश किया गया है, वैसे ही यहाँ भी करना चाहिए। यहाँ केवल द्रव्यों का अन्तर है, प्रयोग विधि का नहीं।

मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च । अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च ॥४५॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् । कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके ॥४६॥
बिल्वक्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके । गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥४७॥

अर्शों में अवगाहन—यदि अर्श का रोगी अर्शशूल से पीड़ित हो तो उसके अर्शांकुरों पर भली-भाँति अभ्यंग (मालिश) कराकर मूली की पत्ती, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मदार की पत्ती, बाँस की पत्ती, वरुण की पत्ती, अश्मन्तक की पत्ती को लेकर इनका क्वाथ तैयार करें। इस गरम क्वाथ को एक द्रोणी (टब) में डाल दें, उसमें इस शूल से पीड़ित रोगी को बैठा दें। इससे अर्शांकुरों का स्वेदन होगा और शूल शान्त हो जायेगा। अथवा कोल (बेर) की पत्तियों के क्वाथ में अथवा गरम सौवीर या तुषोदक में अथवा बेल की पत्तियों के क्वाथ में या मठा में, दही के पानी में या खट्टी काँजी में अथवा गुनगुने गोमूत्र में उसे अवगाहन करायें।

वक्तव्य—अवगाहन का अर्थ है—उस अंग को डुबा देना जो रोगाक्रान्त हो और यह भी अर्थ है कि ऐसे पात्र में डुबाये जिसमें रोगी हिल-डुल सके। इसमें शास्त्रोक्त क्वाथ्य द्रव्यों का क्वाथ करके उतना गरम क्वाथ दिया जाता है, जितना रोगी सहन कर सके। यह एक प्रकार का द्रवस्वेद है। इस प्रकार के स्वेदन में उतने अंग का स्नेहन भी होना चाहिए जितने को द्रवस्वेद में डुबाना हो।

कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजतुकावृषदंशजाम् । वसामभ्यञ्जने दद्याद् धूपनं चार्शसां हितम् ॥४८॥
नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च । अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम् ॥४९॥

अर्शों में अभ्यंग तथा धूपन—काले साँप की वसा (चर्बी), सूअर की चर्बी, ऊँट की चर्बी, जतुका (चमगादड़) की चर्बी, बिलार की चर्बी, इनमें से किसी एक की चर्बी लेकर रोगी के अर्शांकुरों में मसल दें, तदनन्तर मनुष्य के सिर के बालों, साँप की केंचुल, बिलार की त्वचा, मदार की जड़ तथा शमी की पत्तियों का मस्सों के ऊपर धुँआ देना चाहिए।

वक्तव्य—इस क्रिया में यह आवश्यक है कि रोगी को खटिया या आराम कुर्सी आदि पर ऐसे बैठाये जिससे उसका गुद भाग खुला रहे और वह धुँआ सीधा अर्शांकुरों पर लगे। इसके लिए एक मिट्टी के पात्र में जले हुए कोयले रखकर धूप की सामग्री में थोड़ा घी मिलाकर उनके ऊपर डालें। इस प्रयोग से मस्से सूखकर स्वयं गिरने लगते हैं। घी मिलाने की चर्चा वृद्धवाग्भट ने की है। देखें—अ० सं० चि० अ० १०१९।

तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम् । बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसाघृतम् ॥५०॥
वराहवृषविट् चैव धूपनं सक्तवो घृतम् । कुञ्जरस्य पुरीषं तु घृतं सर्जरसस्तथा ॥५१॥

१. **तुम्बुर्वादि धूपन**—धनियाँ, वायविडंग, देवदारु, अक्षत (चावल) इनके चूर्णों को घी में मिलाकर धूप तैयार करें। २. **बृहत्यादि धूपन**—वनभंटा, असगन्ध, पिप्पली, सुरसा (तुलसी) के पत्ते और घी। ३. **वराहादि विट्-धूपन**—सूअर की बीट, बैल का गोबर, जौ का सत्तू, गाय का घी। ४. **हस्तिपुरीषादि धूपन**—हाथी की लीद, सर्जरस (राल) और गाय का घी—इन चारों को अलग-अलग मिलाकर धूप तैयार करें।

हरिद्राचूर्णसंयुक्तं सुधाक्षीरं प्रलेपनम् । गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम् ॥५२॥
शिरीषबीजं कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः । अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफलं च प्रलेपनम् ॥५३॥
पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः । प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रागुडसंयुतः ॥५४॥
दन्ती श्यामाऽमृतासङ्गः पारावतशकृद्गुडः । प्रलेपः स्याद् गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च ॥
प्रलेपः स्यादलं कोष्णं वासन्तकवसायुतम् । शूलश्वयथुहृद्युक्तं चुलूकीवसयाऽथवा ॥५६॥
[1]आर्कं पयः सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः । करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥५७॥

१. **हरिद्राचूर्णादि लेप**—हल्दी के चूर्ण को सेहुंड (थूहर) के दूध में मिलाकर अर्शांकुरों में लेप करें। २. **पिप्पल्यादि लेप**—पिप्पली का चूर्ण, हल्दी का चूर्ण दोनों को समभाग में लेकर गाय के पित्त के साथ पीसकर अर्शांकुरों पर लेप लगायें (ये तीनों द्रव्य सूखे हैं, अतः पीसते समय थोड़ा पानी डालकर लेप जैसा तैयार कर लें)। ३. **शिरीषबीजादि लेप**—सिरस के बीज, कूठ, पिप्पली, सैंधानमक, गुड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन सबको समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण को मदार के दूध तथा सेहुँड के दूध में मिलाकर लेप बना लें, इसका प्रयोग अर्शांकुरों पर करें। ४. **पिप्पल्यादि लेप** (द्वितीय)—पिप्पली, चीता की जड़, श्यामा (कालीनिशोथ), किण्व (सुराबीज), मैनफल के बीज, मुर्गा की बीट, हल्दी, गुड़ इनको समभाग लेकर चूर्ण कर लें, इस चूर्ण को गुड़ और सुराबीज में मिलाकर लेप तैयार कर लें, इसका लेप मस्सों पर करें। ५. **दन्त्यादि लेप**—जमालगोटा की जड़, कालीनिशोथ, अमृतासंग (तूतिया), कबूतर की बीट, गुड़ इन सबको समभाग लेकर थोड़ा पानी डालकर पीसकर लेप तैयार कर लें, इसका प्रयोग अर्शांकुरों पर करें। ६. **गजास्थ्यादि लेप**—हाथी की हड्डी, नीम के बीज तथा भिलावे के बीज इनको समभाग लेकर लेप तैयार करें। इसका प्रयोग अर्शांकुरों पर करें। ७. **हरतालादि लेप**—ऊँट की वसा (चर्बी) से युक्त पिण्ड हरताल का गुनगुना लेप तैयार कर अर्शांकुरों पर लगाना चाहिए। अथवा—पिण्ड हरताल को चुलुकीमत्स्य (गोधा मछली) की चर्बी में घिसकर लेप करने से अर्शांकुरों का शोथ तथा उनके कारण उत्पन्न शूल की शान्ति हो जाती है। ८. **अर्कक्षीरादि लेप**—मदार का दूध, थूहर की कच्ची लकड़ी, कड़वी तुम्बी के पत्ते, करंज बीज की गुद्दी, बकरे का मूत्र इन सबको पीसकर लेप तैयार कर लें। यह लेप मस्सों पर लगाने से मस्से सूखकर गिर जाते हैं। यह उत्तम लेप है।

वक्तव्य—ऊपर जितने भी योग कहे गये हैं, इन सबके सूखे द्रव्यों को चिकित्सक संग्रह करके रखे रहते हैं। जिन गीले पदार्थों के साथ लेप तैयार करने का शास्त्र का आदेश है, उस-उस में पीसकर लगाने के लिए रोगी से कह दिया जाता है। लेप तथा प्रलेप व्यवहार में एक ही है। ऊपर कहे गये कुछ लेप भी हैं, उन्हें केवल मस्सों पर ही लगाना चाहिए। अभ्यंग तो सम्पूर्ण गुद-प्रदेश का करना चाहिए, किन्तु लेप केवल अंकुरों पर ही करें, क्योंकि कुछ लेप अर्शांकुरों को जला कर शान्त कर देते हैं और कुछ उन्हें सुखाकर गिरा देते हैं।

१. 'अर्कपत्रम्' इति पा०।

श्रीचक्रपाणिदत्त ने अपने ग्रन्थ चक्रदत्त में 'सुधाकाण्ड' के स्थान पर 'सुधाक्षीर' का प्रयोग किया है। देखें—चक्रदत्त, अर्श-चिकित्सा, श्लोक ५। ऐसा लगता है कि ये वृद्धवाग्भट के पाठ से प्रभावित रहे होंगे। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।९ में 'अथानवचारणीय···से···कल्पपेत्' तक के गद्यखण्ड को। इस प्रसंग में सुश्रुतोक्त लेपों पर भी ध्यान दें। देखें—सु० चि० अ० ६।१२।

अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः। स्तम्भश्वयथुकण्ड्वर्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः॥
प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि। सञ्चितं दुष्टरुधिरं ततः सम्पद्यते सुखी॥५९॥
शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति। रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत्॥६०॥
जलौकोभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः। अवर्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत्॥६१॥

उपर्युक्त योगों की फलश्रुति—कृष्णसर्प की चर्बी आदि (श्लोक ४८) अभ्यंग योग से लेकर 'आर्कं पयः' (श्लोक ५७) तक कहे गये प्रदेह (प्रलेप या लेप) पर्यन्त जो ये योग कहे गये हैं, इन सभी योगों के प्रयोग से अर्शांकुरों में होने वाली जकड़न, शोथ, खुजली, पीड़ा आदि की शान्ति होती है। यद्यपि प्रदेह (प्रलेप) के लिए जिन योगों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनका प्रयोग करने पर अर्शांकुरों से विकारयुक्त (मस्सों में संचित) रक्त का स्राव होने लगता है (इससे भयभीत नहीं होना चाहिए)। जब उन मस्सों में संचित पूरा रक्त निकल जाता है, तब वह रोगी सुखी हो जाता है, अर्थात् इन उपचारों से वह रोगमुक्त हो जाता है। रक्त के दूषित हो जाने पर जब शीतवीर्य, उष्णवीर्य, स्निग्ध तथा रूक्ष चिकित्सा से लाभ नहीं होता तब चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी का रक्तमोक्षण कराये।

रक्तमोक्षण-विधियाँ—यदि ऊपर कहे गये प्रदेहों (प्रलेपों) का प्रयोग करने पर भी शुष्कार्शों से रक्त-स्राव न हो पा रहा हो तो जोंक लगाकर, शस्त्र से पच्छ लगाकर तुम्बी द्वारा अथवा सुइयों द्वारा छेद करके उनमें से रक्त निकाल कर उसे बहा देना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने चरक-सूत्रस्थान में रक्तज व्याधियों का विस्तृत परिचय दिया है। विशेष सूत्र को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—'शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक् साध्याः न सिद्ध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत्'॥ च० सू० अ० २४।१७। इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में श्लोक ११ से १६ तक भी देख लें। प्रस्तुत प्रसंग में शुष्क अर्शांकुरों की यही स्थिति है। उक्त प्रदेहों के प्रयोगों से प्रायः वातप्रकृति प्रधान रोगियों के मस्सों से ही रक्तस्राव नहीं हो पाता, ऐसा देखा जाता है। शस्त्र, क्षार, अग्नि में से किसी का भी प्रयोग करने के पूर्व सु० चि० अ० ६ के गद्य ४ से ११ तक का सम्यक् परिशीलन अपने सुयश की रक्षा के लिए अवश्य कर लें।

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत् तु तम्। त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिङ्गु सचित्रकम्॥६२॥
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेषिकाम्। बिडं यवानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम्॥६३॥
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन वा। तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद् विमुच्यते॥६४॥

त्र्यूषणादि चूर्ण—जो अर्शरोगी गुदप्रदेश में शोथ तथा शूल के कारण पीड़ित हो और उसकी जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो तो उसे सोंठ, मरिच, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, हींग, चीता की जड़, सोंचरनमक, पुष्कर-मूल, सफेद जीरा, बेल की गुद्दी, विडलवण, अजवाइन, हाऊबेर, वायविडंग, सेंधानमक, वच, तिन्तिडीक (विषांविल)—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण करें। मात्रा के अनुसार इस चूर्ण ो दही के साथ, मद्य के साथ या गरम पानी के साथ लें। इसके सेवन से अर्श, ग्रहणीदोष, शूल, आनाह), इनसे रोगी मुक्त हो जाता है। चूर्ण की मात्रा—१ या २ माशा।

पाचनं पाययेद् वा तद्यदुक्तं[1] ह्यातिसारिके। सगुडामभयां वाऽपि प्राशयेत् पौर्वभक्तिकीम्॥६५॥

अन्य व्यवस्था—अथवा अतिसार रोग की शान्ति के लिए जिन पाचनचूर्णों की व्यवस्था शास्त्रकारों ने की है, उनका सेवन यहाँ भी कराना चाहिए। अथवा भोजन करने से पहले गुड़ में मिलाकर हरीतकी का चूर्ण रोगी को खिलाये।

---

१. 'यद्वक्ष्याम्यतिसारिणे' इति पा०।

वक्तव्य—यहाँ 'प्राशयेत्' इस क्रिया का 'प्रकर्षेण अशनम्' ऐसा अर्थ नहीं है, तब तो बालक के 'अन्न-प्राशन' में आप क्या करेंगे और क्या कहेंगे। यहाँ **'यदुक्तं ह्यातिसारिके'** वाक्य से तन्त्रकार का प्रयोजन यह है—अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका, अर्श तथा समस्त उदर रोग मन्दाग्नि के कारण ही होते हैं।

गुड़-हरीतकी—अग्निवर्धक योगों में इसका सर्वत्र सम्मान है। २ माशा हरड़ का चूर्ण और २ माशा पुराना गुड़ इस एक सामान्य मात्रा में इसका प्रयोग किया जाता है। सुपुष्ट बड़ी हरड़ों को लेकर बिना पानी डाले मंद आँच पर पका लिया जाता है। इधर गुड़ की चासनी तैयार रहती है, इसमें डालकर इन्हें कुछ देर और पकाकर रख लिया जाता है, यह गुड़हरीतकी का एक उत्तम प्रकार है। इसी प्रकार **गुड़बिल्व** भी तैयार किया जाता है।

पाययेद् वा त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलारससंयुतम्। हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि[1] सङ्क्षयम्॥६६॥

त्रिवृत् त्रिफला योग—त्रिवृत् (सफेद निशोथ) के चूर्ण को त्रिफला के क्वाथ में मिलाकर उसे अर्श-रोगी को पिलायें। इसको पीने से विरेचन होगा। विरेचन होने से गुदमार्ग में आश्रित सभी दोषों की समाप्ति हो जायेगी। मात्रा—निशोथ का चूर्ण २ माशा और त्रिफला-क्वाथ १ छटांक।

गोमूत्राध्युषितां दद्यात् सगुडां वा हरीतकीम्। हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत्॥६७॥
सनागरं चित्रकं वा सीधुयुक्तं प्रयोजयेत्। दापयेच्चव्ययुक्तं वा सीधुं साजाजिचित्रकम्॥६८॥
सुरां सहपुषापाठां दद्यात् सौवर्चलान्विताम्। दधित्थबिल्वसंयुक्तं युक्तं वा चव्यचित्रकैः॥६९॥
भल्लातकयुतं वाऽपि प्रदद्यात् तक्रतर्पणम्। बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण च॥७०॥

अर्शोनाशक योग—१. अथवा हरड़ का चूर्ण २ माशा, पुराना गुड़ २ माशा, दोनों को १ छटांक गोमूत्र में मिलाकर रात्रि में रख दें, प्रातःकाल उसका सेवन करें। २. अथवा हरड़ के चूर्ण को मठे के साथ सेवन करें। ३. अथवा त्रिफला के चूर्ण को मठा के साथ लें। ४. अथवा सोंठ तथा चित्रकमूल के चूर्ण को सीधु के साथ सेवन करें। ५. अथवा चव्य, जीरा, चित्रकमूल इनके चूर्ण को सीधु के साथ पीने के लिए दें। ६. अथवा हाऊबेर, पाठा इनके चूर्ण में सोंचरनमक मिलाकर सुरा के साथ सेवन करें। ७. अथवा दधित्थ (कैथ) और बेल की गुद्दी का चूर्ण सुरा के साथ लें। ८. अथवा चव्य तथा चित्रकमूल के चूर्ण को सुरा के साथ लें। ९. अथवा शुद्ध भिलावा के साथ मठा का तर्पण देना चाहिए। १०. अथवा बेलगिरी और सोंठ से युक्त चूर्णों को अजवाइन एवं चित्रकमूल के क्वाथ से सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने उक्त श्लोकों में ११ योगों की कल्पना की है, जिसमें दूसरा योग 'स्वचित्त-कल्पित' है। इसकी पुष्टि के लिए वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १० के गद्य १२ से १५ तक में कुछ योग दिये हैं, साथ ही अ० हृ० चि० अ० ८ में ३० से ४९ तक के श्लोकों को भी देख लें। **तर्पण-प्रयोग**—पानी में घोले हुए सत्तू तृप्तिकारक होते हैं, अतएव इनको 'तर्पण' कहा गया है। इन तर्पणों में जहाँ भिलावा आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग करना हो तो उनका अल्पमात्रा में प्रयोग करना चाहिए। यहाँ शुद्ध भिलावे का चूर्ण १ से ३ रत्ती तक लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सत्तू ९ गुना अधिक लेना चाहिए।

पाठभेद-विचार—श्लोक ७० के पूर्वार्ध में 'तक्रतर्पणम्' के स्थान पर 'तत्र तर्पणम्' ऐसा पाठ श्रीजयदेव ने स्वीकृत किया है। ऐसी स्थिति में हम यहाँ तक्र=मठा का प्रयोग नहीं कर पायेंगे। वृद्धवाग्भट भी तक्र-प्रयोग के ही पक्षपाती हैं—**'सक्तुमन्थं वा भल्लातकचूर्णयुक्तं नातिलवणं तक्रेण'**। अ० सं० चि० अ० १०।१४। हमारे विचार से भी अग्नि को प्रदीप्त करने वाले तक्र की उपेक्षा ऐसे अवसरों पर नहीं की जा सकती।

चित्रकं हपुषां हिङ्गु दद्याद् वा तक्रसंयुतम्। पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत्॥७१॥

१. **चित्रकादि चूर्ण**—चीते की जड़, हाऊबेर, घी में भुनी हींग कासमा न भाग चूर्ण बनाकर मठा के साथ पीने के लिए दें। २. **पञ्चकोल चूर्ण**—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ—इन पाँचों द्रव्यों को १-१ कोल (आधा-आधा तोला) की मात्रा में लेकर चूर्ण तैयार कर लें। मात्रा के अनुसार इस चूर्ण को मठा में घोलकर पीना चाहिए।

---

१. 'गुदजा यान्ति' इति पा०।

हपुषां कुञ्चिकां धान्यमजाजीं कारवीं शटीम् । पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्॥
यवानीं चाजमोदां च चूर्णितं तक्रसंयुतम् । मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेद् घृतभाजने ॥७३॥
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं मुखप्रियम् । प्रपिबेन्मात्रया कालेष्वन्नस्य तृषितस्त्रिषु ॥७४॥
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम् । गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम् ॥७५॥

इति तक्रारिष्टः।

तक्रारिष्ट—हाऊबेर, कालाजीरा, धनियाँ, जीरा, कारवी (मँगरैला), कचूर, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चीता की जड़, गजपिप्पली, अजवाइन, अजमोदा—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर लें। विद्वान् चिकित्सक इस चूर्ण को मठा में मिला दें। अब इस समय यह मठा अपने स्वभाव से मन्द अम्ल है, पिप्पली आदि द्रव्यों को मिला देने से मन्द कटु भी है; अब इसे भीतर से घी चुपड़े हुए एक घड़े में भरकर उसका मुख बन्द करके रख दें, जब इसमें खट्टा और कडुआपन स्पष्ट प्रतीत होने लगे और जब यह मुखप्रिय (खाने में स्वादिष्ट) लगने लगे तब इसे मात्रानुसार अन्नकालों (भोजन के तीनों समय) में प्यास लगने पर पीये। यह तक्रारिष्ट मन्द हुई जठराग्नि को दीप्त (तेज) करता है, भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाता है, रूप-सौन्दर्य को बढ़ाने वाला है, कफ तथा वात का अनुलोम करता है, गुदा में उत्पन्न अर्शों के कारण पैदा हुए शोथ, कण्डू (खुजली), तत्सम्बन्धित पीड़ा का नाश करने वाला और शारीरिक बल को बढ़ाने वाला है।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती टीकाकार श्रीजयदेव ने 'यवानी' और 'अजमोदा' दोनों को एक ही मानकर अन्तःसम्मार्जन और बहिःसम्मार्जन विषय को लेकर बहुत लिख डाला है। आप भी देखें कि निघण्टुओं की दृष्टि से क्या उक्त दोनों द्रव्यों को किसी प्रकार एक माना जा सकता है ?

यवानी—शतपुष्पा-कुल में उत्पन्न इस द्रव्य को लैटिन में—ट्रेकीस्पर्मम अम्नी (Trachyspermum amni (Linn) Sprague) कहते हैं। यवानी का विग्रह व्याकरणशास्त्र में मिलता है—'दुष्टो यवो यवानी'—'यवाद्दोषे' (वा० २४७३)। अतएव इसे अजमोदिका (छोटी अजमोदा) कहते हैं। शेष गुण-धर्म निघण्टु-ग्रन्थों में यथास्थान देखें।

अजमोदा—शतपुष्पा-कुल में उत्पन्न इस द्रव्य को लैटिन में—कैरम् रॉक्सबर्गियानम् (Carum roxburghianum (DC) craib) कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'अजस्य मोदः इव मोदः यस्याः सा'। बकरे के समान गन्धवाली।

मन्दाम्लकटुकम्—आरम्भ में मठा कम खट्टा होता है। कटुक (पिप्पली आदि उपर्युक्त) द्रव्यों को मिला देने पर मन्द कटुक हो जाता है। कटु स्वाद मिर्च का होता है, वह लालमिर्च हो या कालीमिर्च। यही कुछ दिन रख देने पर 'व्यक्ताम्लकटुक' अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक खट्टा और अधिक कटु हो जाता है, अतएव पीने में अच्छा लगता है।

अन्नस्य त्रिषु कालेषु—इसका व्याख्यान करते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अन्नस्य त्रिषु कालेष्विति भोजनादिमध्यान्तेषु'। अर्थात् इस तक्रारिष्ट को भोजन के आदि, मध्य तथा अन्त में थोड़ा-थोड़ा पीना चाहिए। कुछ टीकाकारों ने प्रातः, मध्याह्न, सायं को तीन काल लिखा है, वह समीचीन नहीं है। एक तक्रारिष्ट का वर्णन ग्रहणी-चिकित्सा में भी किया गया है। इस प्रसंग में उसका भी अवलोकन कर लेना चाहिए। देखें—च० चि० अ० १५।१२१।

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् । तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ॥७६॥

अर्शोनाशक मठा और दही—चीते के जड़ की छाल को पीसकर इससे एक नये मिट्टी के घड़े को भीतर से लीप दे। उस घड़े में दूध डालकर उसे जमा दे। जब दही तैयार हो जाये तो उसका सेवन अर्श के रोगी को करायें अथवा इसी प्रकार जमाये हुए दही को मथकर उसका मठा बना लें और इसका सेवन करायें।

वक्तव्य—यदि उसी घड़े में दही को मथकर मठा बनायेंगे तो वह लेप मठा में घुल मिल जायेगा। अतः हमारे विचार से उसमें से दही निकालकर मथें तो ठीक होगा।

वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम् । तत् प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ॥७७॥

सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा । बलकालविशेषज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत् ॥७८॥

तक्र का महत्त्व—वातकफज अर्शों का शमन करने के लिए मठा से बढ़कर दूसरा कोई औषधयोग नहीं है, किन्तु उसका प्रयोग दोषानुसार करना चाहिए। वातज अर्शों में तक्र का प्रयोग स्नेह सहित करना चाहिए अर्थात् उसमें से मक्खन को न निकालें और कफज अर्शों में तक्र का प्रयोग स्नेह रहित (मक्खन को निकाल कर) करना चाहिए।

तक्र-प्रयोग की अवधि—रोगी तथा रोग की शक्ति एवं काल का विशेषज्ञ चिकित्सक इस रोगी के लिए तक्र का प्रयोग कितने दिनों तक कराना उचित है, इसका निर्णय करके सात दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन अथवा एक मास (३० दिन) तक तक्र का प्रयोग कराये।

वक्तव्य—मठा के सम्बन्ध में तन्त्रकार का निर्देश—'तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानाम्'। च० सू० अ० २५।४०। **तक्र का सर्वरोगहरत्व**—'वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम्। पिबेत् तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम्'॥ सु० सू० अ० ४५।८९। अर्थ स्पष्ट है। अवधि सम्बन्धी निर्णय चिकित्सक पर निर्भर होता है, क्योंकि वह शास्त्र का प्रतिनिधि होता है।

अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् । सायं वा लाजशक्तूनां दद्यात् तक्रावलेहिकाम् ॥७९॥
जीर्णे तक्रं प्रदद्याद् वा तक्रपेयां ससैन्धवाम् । तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ॥८०॥
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत् तक्रसंयुतैः । यूषे रसेन वाऽप्यूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत्[1] ॥८१॥
कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवर्तयेत् । तक्रप्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः ॥८२॥
अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते । शक्त्यागमनरक्षार्थं दार्ढ्यार्थमनलस्य च ॥८३॥
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः । रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ॥८४॥
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत् प्रयोजयेत् । हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु ॥८५॥
भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम् । किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥८६॥
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः । तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥८७॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते । नास्ति तक्रात् परं किञ्चिदौषधं कफवातजे ॥८८॥

तक्र-प्रयोग-विचार—जिन अर्श-रोगियों की जठराग्नि अत्यन्त मृदु (पाचन में असमर्थ) हो गयी हो, उन रोगियों को स्नेह-रहित मठा का प्रयोग कराना चाहिए। अथवा सायंकाल के समय धान के लावा (खील) का सत्तू बनाकर मठा में डालकर अवलेह जैसा बनाकर चाटने के लिए दें। जब वह अवलेहिका (लपसी) पच जाये तो सेंधानमक मिलाकर मठा के साथ धान के लावा की पेया बनाकर पिलायें। इसके साथ अब मक्खन सहित मठा पीने के लिए दें। यह भी पच जाये तो मठा के साथ, मूंग के यूष के साथ अथवा मांस रस के साथ खाने के लिए भात दें, अथवा यूष या मांसरस के पहले मठा में चावल पकाकर खाने के लिए दें। काल-क्रम को जाननेवाले चिकित्सक को चाहिए कि वह सहसा रोगी के तक्र-सेवन को न रोके। कम-से-कम ऐसे अर्श रोगी को एक मास तक किसी-न-किसी प्रकार मठा का सेवन कराते रहें। ३० दिन पूरे हो जाने पर तक्र-प्रयोग को धीरे-धीरे घटाना चाहिए। जिस प्रकार पहले मठा अधिक देकर अन्न कम दिया जा रहा था, उसी प्रकार अब अन्न की मात्रा को पाचन-शक्ति के अनुसार बढ़ाते हुए मठा की मात्रा को घटाना चाहिए, क्योंकि सात्म्य वस्तु का सहसा ह्रास और असात्म्य वस्तु का सहसा सेवन हानिकारक होता है। तक्र के उत्कर्ष (वृद्धि) तथा अपकर्ष (ह्रास) का यह क्रम शक्ति की प्राप्ति के लिए, प्राप्त हुई शक्ति की रक्षा के लिए और प्रदीप्त हुई जठराग्नि को सुस्थिर करने के लिए बतलाया गया है।

क्रम से तक्र-प्रयोग करें—शारीरिक एवं मानसिक बल के उपचय (वृद्धि) और स्वाभाविक वर्ण की प्राप्ति के लिए ही मठा-सेवन के इस क्रम का निर्देश किया जा रहा है। रोगी के शरीर में कौन-सा दोष बढ़ा हुआ है और रोगी का अग्निबल (मृदु, मध्य, तीक्ष्ण) कैसा है, इन सबका ज्ञान रखने वाला चिकित्सक उस मठा

---

१. 'अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।

का तीन प्रकार से प्रयोग कराये—१. रूक्ष तक्र (जिसमें से सम्पूर्ण मक्खन निकाल लिया गया हो), २. अर्धोद्धृतस्नेह तक्र (जिसमें से आधा मक्खन निकाला गया हो) और ३. अनुद्धृतघृत तक्र (जिसमें से जरा भी मक्खन न निकाला गया हो)—इन तीन प्रकार के तक्रों का प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रकार सावधानी से अर्शरोगी पर मठा का प्रयोग करने से नष्ट हुए वे अर्शांकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं। आप देखें कि वही तक्र यदि भूमि पर डाल दिया जाता है तो तृण (घास-भूसा), उलप (लता आदि) को भी जला देता है। फिर क्या कहना है, यदि यह तक्र मनुष्य की जठराग्नि को प्रज्वलित कर उसके अर्शांकुरों को समूल नष्ट कर देता है।

तक्र का प्रभाव-क्रम—तक्र के निरन्तर प्रयोग द्वारा रसवाही स्रोतों के सम्यक् प्रकार से शुद्ध हो जाने पर जो आहार-रस स्रोतों में आता है, उससे शरीर की पुष्टि, बलवृद्धि, वर्ण की निर्मलता तथा मन में प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। तक्र-सेवन के प्रभाव से इस प्रकार के सैकड़ों वातकफज विकार निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए वातज और कफज व्याधियों का विनाश करने लिए तक्र से बढ़कर दूसरी कोई चिकित्सा नहीं है।

वक्तव्य—यहाँ तक्र-प्रयोग की परम अवधि एक मास की बतलायी गयी है। इसमें भी परिस्थिति के अनुसार चिकित्सक कम, ज्यादा कर सकता है। श्लोक ८४ के उत्तरार्ध में एक स्थान पर 'अर्धोद्धृतस्नेह' और दूसरी जगह 'अनुद्धृतघृतम्' का प्रयोग किया है। 'स्नेह' और 'घृत' दोनों का तात्पर्य स्नेह रूपी मक्खन से ही है। इन दो प्रकार के तक्रों में स्नेह कम तथा ज्यादा का भेद रोगियों की पाचनशक्ति को देखकर किया गया है।

तृणोलुपम्—यहाँ 'तृण' और 'उलुप' दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं, जैसा कि हमने ऊपर टीका में स्पष्ट किया है। यह दुराग्रह केवल निर्णयसागरीय प्रति का है। श्रीजयदेव ने भी 'तृणोलपम्' पाठ को समादृत किया है। व्याकरण की दृष्टि से भी 'उलप' शब्द ही प्रामाणिक प्रतीत हो रहा है—'विटपविष्टपविशिपोलपाः' (उ० ३। १४५)। वलेः सम्प्रसारणं कपश्च।' वैद्यकशब्दसिन्धु 'तृणोलुपम्' शब्द का अर्थ देता है—उलुपतृणे और यही दूसरे स्थान पर 'उल(लु)प' शब्द का इस प्रकार देकर अर्थ देता है—'प्रतानवत्यां लतायाम्'। जिसे अमर, हेम, मेदिनी तथा विश्वकोष ने 'उलप' माना है।

वातश्लेष्मविकाराणां शतम्—चरकसंहिता-सू० अ० २० गद्य ११ में ८० प्रकार के वातरोगों का वर्णन किया गया है और उसी के आगे १७ वें गद्य में २० कफज रोगों का उल्लेख है। इन दोनों को मिलाकर १०० की संख्या होती है। प्रस्तुत तन्त्रकार का कथन है कि इस प्रकार नियमित तक्र का प्रयोग करने से ये सभी रोग समूल नष्ट हो जाते हैं।

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्। शृङ्गवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरु ॥८९॥
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत्। फलाम्लां यमकैर्भृष्टां तां दद्याद् गुदजापहाम् ॥

शुष्कार्शों में पेया-प्रयोग—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, गजपिप्पली, सोंठ, जीरा, मंगरैला, धनियाँ, तुम्बुरु (नेपाली धनियाँ या तिमूर के बीज), बेल की गिरी, कर्कटक (काकड़ासिंगी), पाठा—इन सबको समभाग लेकर पीस कर इनके कल्क से विधिपूर्वक पेया को पकायें और घी तथा तेल (दोनों प्रकार के स्नेहों को) मिलाकर इसे छौंक लें और दाड़िम के रस से इसे कुछ खट्टी कर लें। इसे अर्श के रोगी को पीने के लिए दें। यह पेया सभी प्रकार के शुष्कार्शों का नाश करती है।

एतैश्चैव खडान् कुर्यादेतैश्च विपचेज्जलम्। एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये ॥९१॥

खडयूष आदि प्रयोग—इन्हीं (ऊपर श्लोक ८९-९० में कहे गये पिप्पली आदि) द्रव्यों के कल्क द्वारा खडयूषों का निर्माण कराना चाहिए। इन्हीं द्रव्यों को जल में पकाकर रोगी को पीने लिए तैयार रखें। इन्हीं द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से घृतपाक करें। इन्हीं का विधिवत् प्रयोग कराने से अर्शों की निवृत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—खडयूष-परिचय—'तक्रं कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्'। चक्रदत्त, अर्श चि० २८। भावप्रकाश में भी देखें।

शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा। दद्याद् यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम् ॥९२॥

यवागू—कचूर तथा पलाश के बीजों के चूर्ण के कल्क द्वारा तैयार की गयी, अथवा पीपल तथा सोंठ के कल्क द्वारा तैयार की गयी यवागू को मठा डालकर कुछ खट्टी कर लें और उसके ऊपर मरिच के चूर्ण को बुरक कर अर्श पीड़ित रोगी को सेवन करने के लिए दें।

शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा। दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम् ॥९३॥
छागलं वा [1]रसं दद्याद्यूषैरेभिर्विमिश्रितम्। लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम् ॥९४॥

यूष—१. सूखी मूली का यूष, २. अथवा कुलथी की दाल का यूष, ३. अथवा कैथ और बेल की गुद्दी का यूष, ४. अथवा कुलथी तथा मकुष्ठ (मोठ) का यूष, ५. अथवा ऊपर कहे गये चार यूषों के साथ बकरे का मांस रस मिलाकर, ६. अथवा लवा पक्षी आदि शब्द से बटेर पक्षी का ग्रहण कर लेना चाहिए। इनके मांस रस को दाड़िम के बीजों के रस से खट्टा कर लें अथवा उसमें मठा मिलाकर और इनमें कुछ ग्राही (मल को बाँधने वाले पाठा, सोंठ आदि) द्रव्यों के चूर्णों को डालकर अर्श रोगी को पीने के लिए दें।

रक्तशालिर्महाशालिः कलमो लाङ्गुलः सितः। शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम् ॥९५॥

अर्श रोग में पथ्य—रक्तशालि (लाल धान) के चावलों का, महाशालि (बासमती) के चावलों का, कलम धान (रोपनी करके उगाये गये धान—इनको कालिदास ने रघुवंश के प्रथम सर्ग में 'उत्खातप्रतिरोपिताः' कहा है) के चावलों का, लांगुल (पाठभेद के अनुसार जांगल) तिन्नी आदि धान के चावलों का, सित (जिन धानों के चावल सफेद होते हैं उन) चावलों का, शारद (शरद् ऋतु में पकने वाले) धान के चावलों का तथा साँठी के चावलों का भात, यवागू या पेया आदि का निर्माण कराकर अर्शरोगियों को खाने-पीने के लिए देना चाहिए। यह अर्श रोगियों के लिए अन्न-विधि कह दी गयी है।

वक्तव्य—ऊपर जिन-जिन धानों के चावलों का ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है, वे उत्तरोत्तर अधिक गुणकारी हैं। इन्हें कम से कम १ वर्ष पुराना लेना चाहिए। इनके सेवन से मल सूख जाता है, अतः इनका प्रयोग उन रोगियों के लिए करें, जिनको पतला मल आ रहा हो।

इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च क्रियाक्रमः। येऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥९६॥

विबन्ध-चिकित्सा की प्रस्तावना—यहाँ तक जिन अर्शरोगियों को पतला मल निकलता है, उनकी चिकित्सा बतलायी गयी है। अब यहाँ से उन अर्शरोगियों की चिकित्सा कही जायेगी जिनको कब्जियत होने से सूखा (गाढ़ा) मल निकलता है।

सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम्। दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम् ॥९७॥

अर्शज विबन्ध में कर्तव्य—जिन अर्श के रोगियों को सूखा (गाँठदार) मल निकल रहा हो, उन्हें सोंठ का चूर्ण, मत्स्यण्डिका (राव), घी, जौ का सत्तू इनमें हलका नमक मिलाकर पहले खिला दें, उसके बाद प्रसन्ना (मदिरा का ऊपरी स्वच्छ भाग) पिला दें।

वक्तव्य—यद्यपि **'औषधार्थे सुरां पिबेत्'**, ऐसी धर्मशास्त्र की व्यवस्था है और आयुर्वेदशास्त्र का भी निर्देश है—'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्', फिर भी कुछ महानुभाव मदिरा का सेवन नहीं करना चाहते, उन्हें उत्तम परिस्रुत आसव या अरिष्ट पीने को दें, अथवा काँजी तैयार कराकर दें।

गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम्। गुडं घृतयवक्षारयुक्तं वाऽपि प्रयोजयेत् ॥९८॥

विबन्धनाशक योग—१. खट्टे दाड़िम के रस में सोंठ तथा पाठा के चूर्ण में गुड़ मिलाकर अर्शरोगी को सेवन करने के लिए दें। २. अथवा गाय के घी में जवाखार और गुड़ मिलाकर चाटने के लिए अर्श-रोगी को दें।

वक्तव्य—अनार का रस, पाठा, सोंठ—ये सभी द्रव्य अपने गुण-धर्मों के अनुसार मल-संग्राहक हैं। इन द्रव्यों के परस्पर मिल जाने से यदि संयोगज प्रभाव के कारण यह योग विबन्धनाशक हो तो प्रयोग करके देखें, क्योंकि **'प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते'**। शा० सं० पू० खं० अ० २।३७। दूसरा योग तो बहुशोऽनुभूत है।

---

१. 'घृतम्' इति पा०।

यवानीं नागरं पाठां दाडिमस्य रसं गुडम् । सतक्रलवणं दद्याद् वातवर्चोऽनुलोमनम् ॥९९॥

अनुलोमन—अजवाइन, सोंठ, पाठा इनका चूर्ण दाड़िम का रस, गुड़, मठा और नमक मिलाकर सेवन करने से यह अपानवायु तथा मल का अनुलोमन करता है, अर्थात् अनुकूल मार्ग की ओर इन दोनों (मल तथा वायु) को प्रवृत्त करता है।

वक्तव्य—हमारे विचार से अजवाइन से गुड़ तक के द्रव्यों के चूर्णों को मात्रानुसार लेकर पहले खाकर बाद में नमक मिलाया हुआ मठा पीना चाहिए। यह इसके सेवन की उत्तम विधि होगी।

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा । एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम् ॥१००॥

आर्शोवेदनाहर योग—१. दुरालभा (जवासा या धमासा) और पाठा, २. बेल की गुद्दी और पाठा, ३. अजवाइन और पाठा, ४. अथवा सोंठ और पाठा, इनमें से किसी एक योग का सेवन करने से अर्शजनित वेदना का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—इन चार योगों में से जिसका प्रयोग करना हो, उसके तैयार किये हुए चूर्ण को २ माशा के परिमाण में लेकर नमक मिले हुए मठा के साथ उसे भी पीयें। श्रीजयदेव ने इस योग को ६ भागों में विभक्त किया है। हमारे विचार से पाठा के साथ एक-एक द्रव्य वाला प्रयोग करने के बाद यदि लाभ में कुछ कमी हो तो फिर सब द्रव्यों को मिलाकर सेवन कराना चाहिए।

[1]प्राग्भक्तं यमके भृष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान् । करञ्जपल्लवान् दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान् ॥

अन्य अनुलोमन योग—भोजन करने के पहले करञ्ज के पत्तों को यमक स्नेह (घी-तेल) में भूँजकर उसमें जौ के सत्तू को मिलाकर अर्शरोगी को खाने के लिए देना चाहिए। इसके सेवन से अपानवायु और मल का अनुलोमन होता है।

मदिरां वा सलवणां सीधुं सौवीरकं तथा । [2]गुडनागरसंयुक्तं पिबेद् वा पौर्वभक्तिकम् ॥१०२॥

अन्य योग—अथवा वायु तथा मल की प्रवृत्ति को अनुलोम करने के लिए—१. सोंठ का चूर्ण सेंधानमक तथा गुड़ मिलाकर भोजन करने के पहले मदिरा से साथ पीयें, अथवा २. उन्हीं द्रव्यों को सीधु के साथ, अथवा ३. सौवीरक के साथ सेवन करें।

वक्तव्य—यह अग्निदीपक, पाचक तथा मल-वातानुलोमक उत्तम योग है। इसका प्रयोग हम कुमार्यासव के साथ भी कराते हैं।

पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः । फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं दापयेद् घृतम् ॥१०३॥

अन्य योग—पिप्पली, सोंठ, जवाखार, कारवी (मंगरैला), धनियाँ, सफेद जीरा—इनका कपड़छन चूर्ण कर लें। इसकी एक मात्रा (२ माशा) लेकर दाड़िम के रस से खट्टा करके फाणित (राब) तथा घी में मिलाकर अर्श के रोगी को चाटने के लिए दें। इससे अर्शरोग का शमन होता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने उक्त श्लोक में 'दापयेद् घृतम्' के स्थान पर **'साधयेद् घृतम्'** पाठ को महत्त्व दिया है। परवर्ती वृद्धवाग्भट की जिस पंक्ति को टीकाकार ने यहाँ अपनी चर्चा के समर्थन में उद्धृत किया है, उससे घृत-साधन की गन्ध तक प्रतीत नहीं होती; वह पंक्ति इस प्रकार है—'रूक्षकोष्ठश्चार्शसो नागरक्षारकृष्णाजाजीधान्यकारवीगर्भं फलाम्लं सफाणितं सर्पिः पिबेत्'। अ० सं० चि० अ० १०।२७। श्रीचक्रपाणि को भी उक्त विषय का आभास था, अतएव वे लिखते हैं—पिप्पलीनागरेत्यादौ अपक्वमेव केचिद् घृतमिच्छन्ति'। यदि यहाँ तन्त्रकार को घृतपाक अभीष्ट नहीं था, तो श्रीचक्रपाणि को 'केचिद्' न लिखकर 'अन्ये' लिखना चाहिए था, क्योंकि श्रीचक्रपाणि तो चरक के मूल टीकाकार हैं।

---

१. 'प्राग्भक्तान्' इति पा०।
२. 'सगुडामभयां वाऽथ प्राशयेत्' इति पा०।

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली । शृङ्गवेरयवक्षारौ तैः सिद्धं वा पिबेद् घृतम् ॥

पिप्पल्यादि घृत—अथवा पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, गजपिप्पली, सोंठ तथा जवाखार इन सबको समभाग लेकर कल्क तैयार कर लें, इससे यथाविधि घृतपाक करें, तैयार हो जाने पर उसे छानकर पात्र में रख लें। अर्शरोगी को इस घृत का सेवन कराना चाहिए।

चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम् । पिप्पलीमूलसिद्धं वा [1]सगुडक्षारनागरम् ॥१०५॥

चव्यादि घृत—अथवा चव्य तथा चित्रक की जड़ के कल्क द्वारा तैयार किये हुए गाय के घी में गुड़ तथा जवाखार मिलाकर मात्रा के अनुसार अर्शरोगी को सेवन करने के लिए दें।

पिप्पलीमूलादि घृत—अथवा पिप्पलीमूल के कल्क द्वारा यथाविधि तैयार किए हुए गाय के घी में गुड़, जवाखार तथा सोंठ का चूर्ण मिलाकर मात्रानुसार अर्शरोगी को सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपनी टीका में योग-नामकरण की शास्त्रीय परम्परा की चिन्ता छोड़कर इसका नाम 'पिप्पल्याद्यघृत' रखा है। हमने अपनी टीका में इसे 'चव्यादिघृत' की संज्ञा दी है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलदधि[2]दाडिमधान्यकैः । सिद्धं सर्पिर्विधातव्यं वातवर्चोविबन्धनुत् ॥१०६॥

द्वितीय पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, धनियाँ प्रत्येक द्रव्य ७-७ तोला, गाय का घी १ सेर, गाय का दही ४ सेर, दाड़िम का रस ४ सेर—इन द्रव्यों से यथाविधि घृतपाक करें। तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख लें। मात्रा—½ तोला। इसका सेवन करने से अपानवायु तथा मल की रुकावट दूर हो जाती है।

चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च । यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च विडसैन्धवे ॥१०७॥
चित्रकं बिल्वमभयां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् । शकृद्वातानुलोम्यार्थं जाते दध्नि चतुर्गुणे ॥१०८॥
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् । गुदवङ्क्षणशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति ॥१०९॥

चव्यादि घृत—चव्य, सोंठ, मरिच, पीपल, पाठा, जवाखार, कुस्तुम्बुरु (धनियाँ), अजवाइन, पिप्पली-मूल, विडनमक, सेंधानमक, चित्रकमूल, बेल की गुद्दी, हरड़—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इनको पीसकर कल्क बना लें। उसमें १ भाग गाय का घी और घी से चौगुना दही मिलाकर घृतपाक करें। तैयार होने पर छानकर रख लें। इस चव्यादि घृत का सेवन करने से अर्शरोगी के मल तथा अपानवायु का अनुलोमन हो जाता है और प्रवाहिका, गुदभ्रंश (Prolapsus ani), मूत्रकृच्छ्र, परिस्रव (गुद से पंछा जैसे बहते रहना), गुदशूल, वंक्षणशूल, उक्त समस्त रोगों की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ पर घृतपाक के लिए घी से चौगुना दही लिया गया है, अतः इसके साथ चौगुना जल भी डालना चाहिए। इस प्रकार पाक करने से घृत में अधिक शक्ति आ जाती है। यह 'द्वितीय चव्यादिघृत' है।

नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली । श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यवानिका ॥
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत् । चतुर्गुणेन दध्ना च तद्घृतं कफवातनुत् ॥१११॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् । गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद् व्यपोहति ॥११२॥

नागरादि घृत—सोंठ, पिप्पलीमूल, चीता की जड़, गजपिप्पली, गोखरू, पिप्पली, धनियाँ, बेल की गुद्दी, पाठा, अजवाइन—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क तैयार करें। चांगेरी (तिपतिया) का स्वरस ४ सेर, गोघृत १ सेर, दही ४ सेर—इन सबको मिलाकर घृतपाक करें। तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख लें। इस घृत का सेवन करने से अर्श, ग्रहणीविकार, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, गुदशूल, आनाह, इन रोगों का शमन होता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने इस घृत के पाक में कुछ विशेष विधि का प्रयोग किया है। पहले **'चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः विपाचयेत्'** कहा है और इसके आगे **'चतुर्गुणेन दध्ना च विपाचयेत्'** यह भी कहा है और श्रीचक्र-

---

१. 'गुडक्षारसमन्वितम्' इति पा०।
२. 'नागरधान्यकैः' इति पा०।

पाणि भी लिखते हैं—'नागरमित्यादिके घृते चाङ्गेरीस्वरसस्यापि चतुर्गुणेन दध्ना चेति चकाराच्चातुर्गुण्यम्'। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस नागरादिघृत का चौगुने चाङ्गेरी स्वरस के साथ समान भाग जल डाल कर पाक करना चाहिए और चौगुने दही के साथ जब पाक करना होगा तब समान भाग (चौगुना) जल डालकर पकायेंगे। इस प्रकार दो बार पकाने के बाद तब इसको तैयार हुआ समझ कर प्रयोग करना चाहिए।

पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक् पृथक्। भागांस्त्रिपलिकान् कृत्वा कषायमुपकल्पयेत्॥
गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं च चित्रकम्। पिष्ट्वा कषाये विनयेत् [1]पूते द्विपलिकं भिषक्॥
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशत् प्रदापयेत्। चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषा दधि षड्गुणम्॥
मृद्वग्निना ततः साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत्। तदाहारे विधातव्यं पाने प्रायोगिके विधौ ॥११६॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद्रोगनाशनम्। शोथप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम् ॥११७॥
कासहिक्कारुचिश्वाससूदनं पार्श्वशूलनुत्। बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसन्दीपनं परम् ॥११८॥

तृतीय पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, सोंठ, पाठा, गोखरू—इन सभी द्रव्यों को अलग-अलग ३-३ पल (१२-१२ तोला) लेकर क्वाथ करें। गण्डीर (शमठ शाक), पिप्पलामूल, सोंठ, मरिच, पीपर, चव्य, चीता की जड़—इन सबको अलग-अलग २-२ पल (८-८ तोला) लेकर पीसकर कल्क बना लें और इसे उस क्वाथ में चिकित्सक मिला दे। गाय का घी ४० पल (१६० तोला), चांगेरी स्वरस घी के बराबर (१६० तोला), घी के प्रमाण से ६ गुना (९६० तोला) दही—इन सबको उक्त क्वाथ के साथ मिलाकर यथाविधि मन्द आँच में घृतपाक करें, तैयार हो जाने पर इस घी को छानकर सुरक्षित रख लें। इस घृत का प्रतिदिन आहार के साथ पीने के लिए प्रयोग करना चाहिए।

इसके सेवन से ग्रहणीरोग, अर्शरोग, गुल्मरोग, हृदयरोग, शोथ, प्लीहाविकार, उदररोग, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, कास, हिक्का, अरुचि, श्वासरोग, पार्श्वशूल—इन रोगों का शमन होता है। इससे बल की वृद्धि तथा शरीर की पुष्टि होती है। इससे शरीर-सौन्दर्य की वृद्धि होती है एवं जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले योगों में यह श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि का कथन है कि तन्त्रकार ने केवल 'कषायमुपकल्पयेत्' कहा है। कितने जल में पकाये और कितना शेष रहे, इसकी चर्चा नहीं की है। अतएव वे लिखते हैं—'पिप्पलीमित्यादौ भूरिमानसान्निध्ये क्वाथस्यानुक्तमानत्वात् स्नेहसमत्वमेव, तेन द्वादशपलेऽपि क्वाथ्यद्रव्ये त्रिप्रस्थं पानीयं दत्वा चत्वारिंशत्पलानि स्थाप्यानि'। इसके विपरीत श्रीगङ्गाधर क्वाथ्य द्रव्यों के परिमाण से आठ गुना (९६ पल) जल डालकर शेष चतुर्थांश (२४ पल) रखने की बात करते हैं। वैसे सामान्य परिभाषा के अनुसार १ पल (४ तोला) द्रव्य में १६ गुना पानी डालने का विधान है और अष्टमांश शेष रहने पर उसे छानकर पी लिया जाता है। व्यवहार में शास्त्रीय परिभाषाओं के मान प्रायः शिथिल करने पड़ते हैं। इस परिस्थिति से सभी चिकित्सक परिचित होते हैं। यह किसी प्रकार से विवाद का विषय नहीं है।

सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम्। त्रिवृद्दन्तीयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम् ॥११९॥
विड्वातकफपित्तानाम[2]नुलोम्येऽथ निर्वृते। गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्धते ॥१२०॥

अन्य योग—गाय के घी में भुने हुए हरीतकी के चूर्ण को पिप्पली के चूर्ण तथा गुड़ के साथ मिलाकर लें। २. अथवा गाय के घी में भुने हुए हरीतकी के चूर्ण को निशोथ तथा दन्तीमूल के चूर्ण के साथ सेवन करने से मल तथा अपानवायु का अनुलोमन हो जाता है। मल, वात, कफ, पित्त उनके अनुलोम हो जाने से निश्चिन्त रोगी के गुद में उत्पन्न अर्श (मस्से) शान्त हो जाते हैं और जठराग्नि भी प्रबल होने लगती है।

वक्तव्य—चिकित्सक रोगी की स्थिति के अनुसार द्रव्यों के मृदु-तीक्ष्ण गुणों का विचार कर यथोचित मात्रा का नि[illegible]रण कर लें। ऊपर कहे गये प्रत्येक चूर्ण का सेवन करने के बाद मठा का सेवन अवश्य करें।

बर्हितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान्। दक्षाणां वर्तकानां च दद्याद् विड्वातसङ्ग्रहे॥

1. 'पूतेऽर्धपलिकम्' इति पा०। 2. 'आनुलोम्येन निर्मले' इति पा०।

अर्श में मांसरस-प्रयोग—मल एवं वात (अपानवायु) में अर्शांकुरों के कारण रुकावट आ गयी हो तो मोर, तीतर, लावा, मुर्गा, वर्तक (बटेर या बतख) इन पक्षियों में से किसी एक के मांस को अच्छी तरह पकाकर घी से छौंककर, दाडिम की खटाई से उसे हल्का खट्टा करके रोगी को पिलायें। इससे मल तथा वात की रुकावट दूर हो जाती है।

वक्तव्य—अर्श रोग अग्निमान्द्य के कारण होता है। इसमें रोगी को खान-पान के प्रति अरुचि हो जाती है। अतः परिचारक का यह परम कर्तव्य है कि जिस विधि से पथ्य पदार्थ रोगी को रुचिकर प्रतीत हों, उस विधि से उसे खिलाये। देखें—'कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् सुधीः'। चक्रदत्त, ज्वरचिकित्सा ४४।

त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च। यमके भर्जितं दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम् ॥१२२॥
उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तुकपल्लवान्। सुवर्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम् ॥१२३॥
काकमाचीं रुहापत्रं महापत्रं तथाऽम्लिकाम्। जीवन्तीं शटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च॥
दधिदाडिमसिद्धानि यमके भर्जितानि च। धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत् ॥१२५॥

शुष्कार्श में शाक-प्रयोग—निशोथ की पत्ती, दन्ती (जमालगोटा) की पत्ती, पलाश की पत्ती, चांगेरी (तिपतिया) की पत्ती, चित्रक की पत्ती, इनकी ताजी पत्तियों को लेकर यमक (घी-तेल) में भूंजकर इस शाक को दही मिलाकर रोगी को खिलायें। उपोदिका (पोई) का शाक, चौलाई के पत्ते, वीरा (शतावरी) के कोमल पत्ते, बथुआ के पत्ते, सुवर्चला (हुरहुर) की पत्ती, लोणी (कुलफा) का शाक, जौ की पत्तियाँ, बाकुची की पत्ती, मकोय की पत्ती, रुहापत्र (मांसरोहिणी के पत्ते), महापत्र (मानकन्द की पत्ती), इमली की पत्ती, जीवन्ती का शाक, कचूर की पत्ती, गाजर की पत्तियों का शाक इन सबको एक में मिलाकर अथवा अलग-अलग लेकर यमक स्नेह (घी-तेल) में भूँजकर धनियाँ, सोंठ, दाड़िम की खटाई और दही मिलाकर खाने के लिए देना चाहिए।

गोधालोपाकमार्जारश्वाविदुष्ट्रगवामपि। कूर्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद् रसान् ॥१२६॥
रक्तशाल्योदनं दद्याद्रसैस्तैर्वातशान्तये। ज्ञात्वा वातोल्बणं रूक्षं मन्दाग्निं गुदजातुरम् ॥१२७॥

शुष्कार्शों में मांस-प्रयोग—शुष्कार्श वात और कफ की प्रधानता से होते हैं। यदि ये वात की प्रधानता से हुए हों तो वातदोष की शान्ति कराने तथा मन्द हुई जठराग्नि को तीव्र कराने के लिए निम्नलिखित मांस रसों का सेवन अर्श रोगी को कराना चाहिए। **मांसरस**—गोधा (गोह), लोमड़ी, बिलार, श्वाविद (साही), ऊँट, गाय, कछुआ, शल्लक के मांसों को शाक की भाँति पकाकर, लाल शालिचावलों को उस मांस रस के साथ खाने के लिए दें। इसके सेवन से वातप्रकोप की शान्ति होती है, मन्द हुई जठराग्नि तीव्र हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ अनेक प्राणियों के मांस रसों का प्रयोग मांसप्रिय रोगियों के लिए लिख दिया है। उक्त प्राणियों में **श्वाविध्** और **शल्लक** दो प्राणियों के नाम दे दिये हैं। इस प्रसंग में कुछ टीकाकार मौन हैं, शेष जो मन में आया लिख गये हैं, अब उनसे भेंट कहाँ, जिनसे जिज्ञासु पूछ सकें। श्वाविध्—साही का पर्याय है, शल्लक—इसका प्रसिद्ध प्रयोग शोणवृक्ष के लिए होता देखा जाता है, जिसकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। यदि हम इसे शल्की माने तो उसका पर्याय भी 'साही' होता है। आचार्य पुरुषोत्तम देव ने त्रिकाण्डशेष के तीसरे काण्ड के ५वें वर्ग के १८ वें श्लोक में शल्लक का अर्थ **भेक=मेंढक** किया है।

साधयेच्छाकवद् रसान्—इसी अध्याय के १२५वें श्लोक में शाक को पकाने की विधि दी है, तदनुसार उक्त प्राणियों के मांसों में से किसी एक का मांस लेकर पानी में भली-भाँति पकायें। जब प्रायः पक जाय तब उसमें दाड़िम का रस और दही भी डाल दें। पक जाने पर मात्र मांस रस को निकाल कर यमक स्नेह से छौंक लगाकर उसमें धनिया और सोंठ का चूर्ण मिलाकर शालि के भात के साथ खाने के लिये रोगी को दें। श्रीजयदेव की टीका युक्त चरकसंहिता में उक्त पाठ में कुछ परिवर्तन है और कुछ श्रीगंगाधर ने किया है, यथावसर उन्हें देख लें।

मदिरां शार्करं जातं सीधुं तक्रं तुषोदकम्। अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम्॥
कण्टकार्या शृतं वाऽपि शृतं नागरधान्यकैः। अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ॥१२९॥

शुष्कार्श में अनुपान—मदिरा, चीनी से निर्मित मद्य, सीधु (ईख के रस से तैयार किया हुआ मद्य), मठा, तुषोदक, अरिष्ट, दही का पानी, पकाया हुआ जल या शीतल जल, कण्टकारी का क्वाथ रस, सोंठ, धनियाँ का क्वाथ रस; चिकित्सक को चाहिए कि वे इन अनुपानों का प्रयोग करायें, ये सभी वात (अपानवायु) तथा वर्च (मल) का अनुलोमन करते हैं।

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः। विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ॥१३०॥

शुष्कार्श में अनुवासनवस्ति—जिन शुष्कार्श के रोगियों को उदावर्त हो गया हो, या जिनके शरीर अत्यन्त रूखे पड़ गये हों, या जिनकी अपानवायु विलोम हो गयी हो, या जो शूल से पीड़ित हों उन सबको अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम्। कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ॥१३१॥
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं [1]पयसा द्विगुणेन च। अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ॥१३२॥
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्। कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम् ॥१३३॥
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम्। उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ॥१३४॥

पिप्पल्यादि अनुवासन—पिप्पली, मैनफल, बेल की गुद्दी, शताह्वा (सोया), मुलेठी, वचा, कूठ, कचूर, पुहकरमूल, चीता की जड़, देवदारु—इन सब द्रव्यों को समभाग (२-२ तोला) लेकर पीसकर (१ पाव) कल्क तैयार कर लें, कल्क से चौगुना (१ सेर) तिल-तैल लें, तैल से दूना (२ सेर) गाय का दूध लें, इन सबको मिलाकर यथाविधि तैलपाक करें। तैयार हो जाने पर दूसरे दिन छानकर रख लें। जिन अर्श रोगियों की अपानवायु भीतर ही मूढ़ हो गयी हो, अर्थात् बाहर नहीं निकल पा रही हो, उनके लिए इस तेल की अनुवासनवस्ति दें। जिनका गुद बाहर निकल जाता हो, जिन्हें शूल हो रहा हो, जिनके मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटि, ऊरु, पीठ में दुर्बलता हो, वंक्षण की ओर आनाह (अफारा) हो, जिनके गुदमार्ग से पंछा जैसा निकल रहा हो, गुद में शोथ हो, वात तथा मल में रुकावट आ गयी हो, वायु के विकृत हो जाने से बार-बार मलत्याग करने के लिए उठना पड़ रहा हो, इन सभी विकारों को पिप्पल्यादि अनुवासनवस्ति के प्रयोग से चिकित्सक जीत लेता है।

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः। [2]दार्वन्तैः स्तब्धशूलानि गुदजानि प्रलेपयेत् ॥
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम्।
कण्डूः स्तम्भः सरुक् शोफः स्रुतानां विनिवर्तते ॥ १३६ ॥

शुष्कार्शों पर लेप—ऊपर श्लोक १३१ में पिप्पली से लेकर देवदारु पर्यन्त जो ग्यारह द्रव्य अनुवासन वस्ति के लिए कहे गये हैं, उन सबको एक साथ पीसकर उनमें घी या तेल मिलाकर उस लेप को गुनगुना करके स्तब्ध (कड़े) तथा शूलयुक्त मस्सों के ऊपर उसका मोटा लेप करें। लेप करने पर वे अर्शांकुर शीघ्र ही रक्त-कफ-मिश्रित पंछा का स्राव करने लगते हैं, जब उनमें से पूर्णरूप से स्राव निकल जाता है, तब उनकी जकड़न, खुजली, पीड़ा एवं सूजन कम हो जाती है।

वक्तव्य—बाहरी वलि में उत्पन्न मस्सों के लिए ही उक्त लेप की विधि है, शेष दो के लिए नहीं। यदि आप लगाने का प्रयत्न भी करेंगे तो वह लेप उस प्रकार बाहर निकल आयेगा जिस प्रकार गुदद्वार से मल बाहर निकल जाता है, क्योंकि उक्त वलियों में एक प्रकार की गति तब तक होती रहती है जब तक मल पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकल जाता है। अतः द्वितीय एवं तृतीय वलियों में उत्पन्न अर्शांकुरों के प्रशमनार्थ अनुवासन वस्ति का प्रयोग ही उत्तम उपचार है। वस्ति विषयक विशेष विवेचन सिद्धिस्थान में देखें।

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम्। समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ॥१३७॥

---

१. 'द्विगुणक्षीरसंयुतम्' इति पा०।
२. 'दर्व्या तैरौषधैर्देह्याः स्तब्धाः शूना गुदेरुहाः' इति पा०।

शुष्कार्शों में निरूहवस्ति—अथवा वातज-कफज अर्शों से पीड़ित रोगियों को दशमूल के क्वाथ में गाय का दूध, गोमूत्र, स्नेह (घी या तेल), सेंधानमक तथा मैनफल आदि के कल्क को मिलाकर विधिवत् निरूहवस्ति दें।

वक्तव्य—इसका विशेष विवेचन च० सि० अ० ३ में देखें।

हरीतकीनां प्रस्थार्धं प्रस्थमामलकस्य च। स्यात् कपित्थाद्दशपलं ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी ॥१३८॥
विडङ्गं पिप्पलीं लोध्रं मरिचं सैलवालुकम्। द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् ॥१३९॥
द्रोणशेषे रसे तस्मिन् पूते शीते समावपेत्। गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत्तत् पक्षं घृतभाजने ॥१४०॥
पक्षादूर्ध्वं भवेत् पेया ततो मात्रा यथाबलम्। अस्याभ्यासादरिष्टस्य गुदजा यान्ति सङ्क्षयम् ॥
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः । कुष्ठशोफारुचिहरो बलवर्णाग्निवर्धनः ॥१४२॥
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः। कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत् ॥१४३॥
इत्यभयारिष्टः।

अभयारिष्ट—हरड़ आधा प्रस्थ (३२ तोला) (इन्हें गुठली रहित लेना चाहिए), आँवला १ प्रस्थ (६४ तोला) (ये भी गुठली रहित हों), कैथ का गूदा १० पल (४० तोला), कैथ से आधी इन्द्रायण की जड़ (२० तोला), वायविडंग, पिप्पली, पठानी लोध, कालीमिर्च, एलुआ इनको अलग-अलग २-२ पल (८-८ तोला)—इन सभी द्रव्यों को जौकुट करके ४ द्रोण (४०९६ तोला) जल में डालकर पकायें, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाये तो शीतल होने पर उसे छान लें। उस क्वाथ किये हुए जल में गुड़ २०० पल (८०० तोला) घोलकर भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में डालकर १५ दिनों तक उसका मुख बन्द करके रख दें। १५ दिन के बाद इसे कपड़े से छानकर रख दें। तदनन्तर रोगी तथा रोग के बल को देखकर मात्रा निर्धारित कर रोगी को पीने के लिए दें। इस सिद्ध अरिष्ट के सेवन से गुदज (अर्श) रोग, ग्रहणी, पाण्डु, हृद्रोग, प्लीहा-रोग, गुल्मरोग, कुष्ठ, शोथ, अरोचक, कामला, श्वेतकुष्ठ, कृमिरोग, ग्रन्थिरोग, अर्बुद, व्यङ्ग्य, राजयक्ष्मा, ज्वर ये रोग शान्त हो जाते हैं और बल तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—अभया सभी रोगों से अभयदान देने वाली है। अतः अभया शब्द से प्रारम्भ होकर आयुर्वेद शास्त्र में अनेक अभयारिष्टों की चर्चा है। वृद्धवाग्भटोक्त अभयारिष्ट के लिए देखें—अ० सं० चि० अ० १०।१९। भैषज्यरत्नावली-अर्शोरोगाधिकार का अभयारिष्ट इससे सर्वथा भिन्न है।

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः। भागान् पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत् ॥१४४॥
त्रिपलं त्रिफलायाश्च दलानां तत्र दापयेत्। रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत् ॥१४५॥
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेन्मासार्धं घृतभाजने। तन्मात्रया पिबन्नित्यमर्शोभ्यो विप्रमुच्यते ॥१४६॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्चोऽनुलोमनम्। दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः ॥१४७॥
इति दन्त्यरिष्टः।

दन्त्यरिष्ट—जमालगोटा की जड़, चित्रकमूल, दोनों पञ्चमूल (१. बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, अरणी की छाल; २. लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू) हरड़, बहेड़ा, आँवला तीनों द्रव्यों को बीज (गुठली) रहित लें, इन द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में भिगा दें, भीग जाने पर उसी जल में पकायें, जब पकते-पकते चौथाई (२५६ तोला) जल शेष रह जाये तो उतार कर ठंडा हो जाने पर सभी द्रव्यों को हाथ से मसलकर छान लें, तब इसमें १ तुला (४०० तोला) गुड़ डालकर घोल दें। मिट्टी के घड़ा को भीतर से घी चुपड़कर उसमें उक्त गुड़सहित क्वाथ को डालकर घड़े का मुख बाँधकर १५ दिन तक रख दें।

इस दन्ती आदि अरिष्ट का मात्रा के अनुसार सेवन करने से रोगी अर्शरोग से मुक्त हो जाता है। यह अरिष्ट ग्रहणी तथा पाण्डुरोग का विनाशक है। मूढ अपानवायु तथा मल का अनुलोम करता है। यह अग्नि को दीप्त करता है और अरुचि का नाश करता है। इसे लोग दन्त्यरिष्ट के नाम से जानते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १०।२० में दन्त्यरिष्ट का वर्णन किया है। इसमें उन्होंने धातकी पुष्प १ कुडव डालने का निर्देश दिया है और आधे मास के स्थान पर 'मासमुषितः' कहकर उसकी अवधि और बढ़ा दी है, इस दृष्टि से उसे भी देख लें।

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च । विशालाया दधित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः ॥१४८॥
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम् । पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत् ॥१४९॥
गुडस्यैकां तुलां वैद्यस्तत् स्थाप्यं घृतभाजने । पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान् ॥१५०॥
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम् । वर्चोमूत्रानिलकृतान् विबन्धानग्निमार्दवम् ॥१५१॥
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति । अग्निसन्दीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥१५२॥

इति फलारिष्टः।

प्रथम फलारिष्ट—गुठली रहित हरीतकी १ प्रस्थ (६४ तोला), गुठली रहित आँवले १ प्रस्थ, इन्द्रायण की जड़, कैथ की गुद्दी, पाठा, चीता की जड़ २-२ पल (८-८ तोला)—इन सभी द्रव्यों को जौकुट करके २ द्रोण (२०४८ तोला) जल में डालकर पकायें, जब चौथाई (५१२ तोला) जल शेष रह जाय तो उसे उतारकर छान लें, शीतल हो जाने पर १ तुला (४०० तोला) गुड़ मिलाकर भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में भर दें, उसका मुख बन्द करके १५ दिन तक रखे रहें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस फलारिष्ट का ग्रहणीविकार से युक्त तथा अर्श का रोगी सेवन करे। इससे हृदयरोग, पाण्डुरोग, प्लीहारोग, कामला, विषमज्वर, इन सबका शमन हो जाता है। यह मल, मूत्र तथा वात (अपानवायु) की रुकावट तथा अग्नि की मन्दता को दूर करता है, कास, गुल्मरोग एवं उदावर्त रोगों की शान्ति करता है, यह अग्निवर्धक है। इस फलारिष्ट का उपदेश कृष्णात्रेय ने किया था।

वक्तव्य—दन्त्यरिष्ट की ही भाँति वृद्धवाग्भट ने अपने द्वारा कथित अभयारिष्ट में कुछ अधिक द्रव्य दिये हैं तथा कुछ की मात्रा में परिवर्तन आदि भी किये हैं। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।११।

कृष्णात्रेयेण भाषितः—ऐतिहासिक दृष्टि से यह शब्द **'इति ह स्माह भगवानात्रेयः'** के गौरव से गौरवान्वित चरकसंहिता के सन्दर्भ में विचार करने के लिए बाध्य करता है। प्रस्तुत संहिता में यह शब्द दो बार आया है—१. 'त्रिंशेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता'। च० सू० अ० ११।३५। २. 'कृष्णात्रेयेण भाषितः'। च० चि० अ० १४।१५२। सम्पूर्ण चरकसंहिता में १. पुनर्वसु आत्रेय, २. कृष्णात्रेय, ३. भिक्षु आत्रेय; इस प्रकार के ये तीन नाम मिलते हैं। भिक्षु आत्रेय का निर्णय तो चरक-सूत्रस्थान अध्याय २५।२४ के '[illegible]' से हो जाता है कि ये कोई बौद्धभिक्षु थे। इनके द्वारा प्रस्तावित कालवाद का पुनर्वसु आत्रेय ने खण्डन किया है। महाभारत में भी **'कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्'** कहा गया है। आयुर्वेदीय संहिता के प्राचीन टीकाकारों ने भी 'कृष्णात्रेय' नाम की अपनी टीकाओं में चर्चा की है, जिससे ऐसा लगता है कि ये 'शालाक्यतन्त्र' के आचार्य थे।

दुरालभायाः प्रस्थः स्याच्चित्रकस्य वृषस्य च । पथ्यामलकयोश्चैव पाठाया नागरस्य च ॥१५३॥
दन्त्याश्च द्विपलान् भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत् । पादावशेषे [1]पूते च सुशीते शर्कराशतम् ॥
प्रक्षिप्य स्थापयेत् कुम्भे मासार्धं घृतभाविते । प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियङ्गुक्षौद्रसर्पिषा ॥१५५॥
तस्य मात्रां पिबेत् काले शार्करस्य यथाबलम् । अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्तमरोचकम् ॥१५६॥
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम् । हृद्रोगं पाण्डुरोगं च सर्वमेतेन साधयेत् ॥१५७॥

इति द्वितीयफलारिष्टः।

द्वितीय फलारिष्ट—दुरालभा (धमासा) १ प्रस्थ (६४ तोला), चीते की जड़, अडूसा की पत्ती, बीजरहित हरड़, बीजरहित आँवला, पाठा, सोंठ, जमालगोटा की जड़—इन सब द्रव्यों को अलग-अलग २-२ पल (८-८ तोला) लेकर जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में डालकर पाक करें, जब चौथाई जल शेष

१. 'शीते च पूते तस्मिन् सिताशतम्' इति पा०। २. 'शार्करोऽरिष्टः' इति पा०।

रह जाय तो उसे उतारकर छान लें, ठंडा हो जाने पर उसमें १०० पल (४०० तोला) चीनी डालकर भली-भाँति घोल दें। पिप्पली, चव्य, फूलप्रियंगु, इनको समभाग लेकर पीसकर कल्क तैयार करें, इस कल्क में मधु और घी मिलाकर इससे एक मिट्टी के घड़े को भीतर से लीप दें, इसी घड़े में उस चीनी मिले हुए क्वाथ को भरकर मुख बन्द करके १५ दिन तक रख दें। १५ दिनों के बाद उसे खोलकर छानकर रख लें। इस शर्करासव को समय पर रोगी अपने अग्निबल को देखकर पीये। इसका सेवन करने से अर्शरोग, ग्रहणीरोग, उदावर्त, अरोचक, मल, मूत्र, अपानवायु तथा उद्गार (डकार) के विबन्धों, जठराग्नि की मन्दता, हृद्रोग, पाण्डु-रोग—इन सबका नाश किया जा सकता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १०।२० में दुरालभा आदि द्रव्यों से बने हुए इस अरिष्ट को 'दुरालभारिष्ट' कहा है। फलासव और शर्करासव ये नाम तो निश्चित ही बाद के निर्धारण हैं, यदि ऐसी ही छूट हो तो अन्य अनेक नाम भी रखे जा सकते हैं।

नवस्यामलकस्यैकां कुर्याज्जर्जरितां तुलाम् । कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा ॥१५८॥
[1]पाठां च पिप्पलीमूलं क्रमुकं चव्यचित्रकौ । मञ्जिष्ठैल्वालुकं लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत् ॥१५९॥
कुष्ठं दारुहरिद्रां च सुराह्वं सारिवाद्वयम् । इन्द्राह्वं भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम् ॥१६०॥
चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च । द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत् ॥
पादावशेषे पूते च शीते तस्मिन् प्रदापयेत् । मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्यूहसम्मितम् ॥१६२॥
शर्करायाश्च भिन्नाया दद्याद् द्विगुणितां तुलाम् । कुसुमस्य रसस्यैकमर्धप्रस्थं नवस्य च ॥१६३॥
त्वगेलाप्लवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान् । चूर्णयित्वा तु मतिमान् कार्षिकानत्र दापयेत् ॥१६४॥
तत् सर्वं स्थापयेत् पक्षं सुचौक्षे घृतभाजने । प्रलिप्ते सर्पिषा किञ्चिच्छर्करागुरुधूपिते ॥१६५॥
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः । पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद् भक्तरोचनः ॥१६६॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम् । हृद्रोगं पाण्डुतां शोथं गुल्मं वर्चोविनिग्रहम् ॥१६७॥
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सर्वनिवापकर्षति । वलीपलितखालित्यं दोषजं च व्यपोहति ॥१६८॥

इति कनकारिष्टः।

कनकारिष्ट—ताजे आँवलों को कुचलकर अर्थात् गुठली निकालकर १ तुला (४०० तोला) लें, पिप्पली, वायविडंग, कालीमरिच प्रत्येक १-१ कुडव (१६-१६ तोला), पाठा, पिप्पलीमूल, सुपारी, चव्य, चीता की जड़, मँजीठ, एलुआ, पठानी लोध प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोला), कूठ, दारुहल्दी, देवदारु, दोनों सारिवा (कृष्ण-सारिवा, श्वेतसारिवा), इन्द्रायण की जड़, नागरमोथा इन्हें आधा-आधा पल (२-२ तोला), नये नागकेशर को ४ पल (१६ तोला)—इन सब द्रव्यों को लेकर जौकुट करके २ द्रोण (२०४८ तोला) जल में पका (क्वाथ) करके जब चौथाई जल शेष रह जाय तब उतार कर उसे छानकर रख लें। २ आढक (५१२ तोला) मुनक्का का क्वाथ शीतल हो जाने पर, पहले वाले क्वाथ रस में मिला दें। उसमें कुटी हुई चीनी २ तुला (८०० तोला) तथा ताजा मधु १½ प्रस्थ (९६ तोला) मिला दें। दालचीनी, छोटी इलायची, नागरमोथा, तेजपत्ता, सुगन्धवाला, खश, सुपारी, नागकेशर—इन सबको १-१ कर्ष (१-१ तोला) की मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण करके इन्हें भी उसी में मिला दें। भीतर से घी चुपड़े हुए एक घड़े के भीतर चीनी और अगर की धूप देकर उसमें वे सभी क्वाथजल भर दें और उस घड़े का मुख बन्द कर एक पक्ष (१५ दिनों) तक रख दें। १५ दिन बाद इसका मुख खोलकर उव द्रव को रख लें। यह कनकारिष्ट है। पीने में यह स्वादु होता है। इसका सेवन करने से भोजन के प्रति रुचि बढ़ती है। यह अरिष्ट अर्शरोग, ग्रहणीविकार, आनाह, उदररोग, ज्वर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, शोथ, गुल्म, कब्जियत, कास तथा भयंकर कफज विकारों को दूर कर देता है। शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाना, अकाल में बालों का सफेद हो जाना, खालित्य (शिर के बालों का झड़ जाना), इन सबका यह अरिष्ट नाश कर देता है।

१. 'यवासः' इति पा०।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १०।२१ में इसे 'आमलकारिष्ट' नाम से उद्धृत किया है। इन्होंने योग-निर्माण के सम्बन्ध में भी जो अपने परिवर्तन किये हैं, उन्हें भी ध्यानपूर्वक देखें। श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में श्रीजतूकर्ण के मत को उद्धृत किया है, उसका भी अवलोकन करें। इसकी मात्रा—२ से ४ तोला तक है। शेष चिकित्सक से परामर्श कर लें।

निर्णयसागरीय प्रति में 'शर्करागुरुधूपिते' पाठ है। श्रीजयदेव ने यहाँ 'शर्करागुडधूपिते' पाठ दिया है और वृद्धवाग्भट ने भी श्रीजयदेव के पाठ को ही महत्त्व दिया है। यह कनकारिष्ट कनक के समान कमनीय कान्ति को देने वाला है और उपर्युक्त सभी प्रकार के कष्टों का नाशक है।

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा। इति शुष्कार्शसां सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम्॥

शुष्कार्श में शौच-विधि—अर्श-नाशक पत्तियों को पानी में खौला कर उस गरम पानी से मस्सों सहित गुद को धोना चाहिए अथवा केवल गरम पानी से। इस प्रकार यहाँ तक शुष्क अर्शों की चिकित्सा कह दी गयी है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'पत्रभंग' का अर्थ 'भांग की पत्ती' किया है। साहित्य में यह शब्द विशेष महत्त्व का है, देखें—'कस्तूरीवरपत्रभङ्गनिकरो भ्रष्टो न गण्डस्थले'। शृंगारतिलक। किन्तु यहाँ यदि भांग की पत्ती ही अपेक्षित होती तो **'भङ्गपत्रोदकैः'** ऐसा पाठ हो सकता था। यहाँ ऐसे पत्तों को उबाल कर उसके पानी से शौच करना है, जिससे शुष्कार्श मुलायम हो जायें तथा वेदना तथा शोथ की शान्ति हो। अर्थात् जिस उपचार से तात्कालिक सुख मिल सके। आप नीचे दिये गये पत्तों पर ध्यान दें।

वेदनास्थापक-पत्र—रास्ना, कदम्ब, पद्मक, वेतस, एरण्ड, पारसीक यवानी, निर्गुण्डी तथा देवदारु। **कण्डूघ्न-पत्र**—करञ्ज, निम्ब, सरसों, जयन्ती। **शोथहर-पत्र**—पाटला, अग्निमन्थ, गम्भारी, हिंस्रा, शाखोटक। **शूलप्रशमन-पत्र**—यवानी, अजमोदा, चन्द्रशूर, धत्तूर। **अर्शोघ्न-पत्र**—बकायन, करीर, सूरण, चौलाई।

चिकित्सितमिदं सिद्धं स्राविणां शृण्वतः परम्[1]। तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च॥

स्रावी अर्शों की प्रस्तावना—शुष्कार्शों की सांगोपांग चिकित्सा का वर्णन सुनने के बाद हे अग्निवेश! जिन अर्शों में से स्राव होता रहता है, अब उनकी चिकित्सा सुनो। स्रावी अर्शों में कफदोष तथा वातदोष का अनुबन्ध दो प्रकार का होता है।

वक्तव्य—शुष्कार्शों में वातदोष तथा कफदोष की ही प्रधानता होती है, रक्त का सम्बन्ध नहीं होता कदाचित् पित्त का सम्बन्ध देखा जाता है। उसके विपरीत स्रावीअर्शों में पित्त एवं रक्त ही प्रधानता होती है, परन्तु इनमें वात तथा कफदोषों का भी अनुबन्ध बना रहता है। इस अनुबन्ध को समझने के लिए अ० हृ० चि० अ० ८ श्लोक ९४ से ९७ तक देखें।

विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाधो वायुर्न वर्तते। तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्॥१७१॥
कटचूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम्। तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्॥१७२॥

वातानुबन्धी रक्तार्श का लक्षण—अर्श रोगियों का मल यदि श्याव (गहरा भूरे रंग का), कठिन (कड़ा) तथा रूक्ष निकलता हो, अपानवायु नीचे की ओर न खुलती हो, अर्शांकुरों से पतला, अरुणवर्ण (ईंट के रंग) का झागदार रक्त निकलता हो, कटि, ऊरु तथा गुद-प्रदेश में शूल होता हो, रोगी दुर्बल होता जा रहा हो, यदि रूक्ष आहार-विहारों का सेवन ही अर्शों की उत्पत्ति में कारण हो तो उस अर्श में निश्चित रूप से वात दोष का अनुबन्ध समझना चाहिए।

शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम्। यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम्॥
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम्। श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः॥

कफानुबन्धी रक्तार्श का लक्षण—यदि अर्श रोगियों का मल शिथिल (जो बँधा न) हो, सफेदी युक्त पीला, चिकना, गुरु (भारी), शीतल निकलता हो, अर्श के अंकुरों से गाढ़ा, तन्तुल (रेशेदार), पाण्डुवर्ण का,

१. 'चिकित्सितमतः सिद्धं स्राविणां सम्प्रचक्ष्महे' इति पा०।

पिच्छिल (चिपचिपा) रक्त का स्राव हो रहा हो, गुद पिच्छायुक्त हो, रोगी को गीले वस्त्र से ओढ़े हुए के समान अनुभव होता हो, गुरु तथा स्निग्ध कारणों से ही अर्श की उत्पत्ति हुई हो तो विद्वान् चिकित्सकों को समझना चाहिए कि उस रक्तार्श में कफदोष का अनुबन्ध है।

स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे। चिकित्सितमिदं तस्मात् सम्प्रधार्य प्रयोजयेत्॥१७५॥

रक्तार्श का चिकित्सा-सूत्र—वातानुबन्धी रक्तार्श में स्निग्ध तथा शीतवीर्य आहार-विहार तथा औषधों का प्रयोग कराना हितकर होता है। कफानुबन्धी रक्तार्श में रूक्ष तथा शीतवीर्य आहार-विहार एवं औषधयोगों का प्रयोग कराना हितकर होता है। इस चिकित्सा-सूत्र को ध्यान में रखकर वातानुबन्धी अथवा कफानुबन्धी अर्शों की चिकित्सा विचार कर करनी चाहिए।

पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत्। स्रवणं चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत्॥१७६॥
प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान्। शोणितं दोषमनिलं तद्रोगाञ्जनयेद् बहून्॥१७७॥

पित्तकफाधिक रक्तार्श-चिकित्सा—रक्तार्श में पित्त तथा कफदोष की अधिकता के लक्षणों को देखकर सर्वप्रथम उसे शोधन (वमन-विरेचन) कराना चाहिए। अथवा यदि मस्सों से रक्त का स्राव हो रहा हो तो उसकी उपेक्षा करके, अर्थात् रक्त को रोकने वाले उपायों का प्रयोग न करके रोगी को लंघन कराने चाहिए। जो अकुशल चिकित्सक आरम्भ में ही अर्शों से होने वाले रक्तस्राव को रोकता है, तो उसके कारण रुका हुआ दूषित रक्त और वातदोष ये दोनों अनेक प्रकार के निम्नलिखित रोगों को पैदा कर देते हैं।

वक्तव्य—यहाँ चिकित्सा की दो विधियाँ दी गयी हैं—१. शोधन (वमन-विरेचन) २. लंघन। बलवान् या आत्मवान् पुरुष पर ही शोधन-विधियों का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि ये दोनों ही कष्टकारक होते हैं। इसके विपरीत बलहीन पुरुषों को लंघन देकर भी शोधन का कार्य कर लिया जाता है। इन दोनों ही विधियों से रोगी को प्राथमिक लाभ मिलने लगता है।

रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निसादमरोचकम्। कामलां श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम्॥१७८॥
कण्ड्वरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं गदम्। वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम्॥
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान्।

रक्त रोकने से होने वाले रोग—रक्तपित्त, ज्वर, प्यास का अधिक लगना, अग्नि का मन्द पड़ जाना, अरोचक, कामला, शोथ, गुद और वंक्षण में शूल, खुजली, छोटी-छोटी फुंसियाँ, शरीर में चकत्तों का दिखलायी देना, पिडकाएँ, कुष्ठ, पाण्डुरोग, वात, मूत्र, पुरीष में रुकावट, शिर में पीड़ा, शरीर को गीले कपड़े से ओढ़ा दिया गया हो ऐसा प्रतीत होना, शरीर का भारीपन तथा इस प्रकार के अन्य अनेक रक्तविकार-जनित रोग पैदा हो जाते हैं।

वक्तव्य—रक्त के विकृत होने से किन-किन रोगों की उत्पत्ति हो जाती है, इसका विस्तृत वर्णन चरक सू० अ० २४ श्लोक ११ से १७ तक देखें। यहाँ अगले १८ तथा १९वें पद्य में रक्तज रोगों की सूत्ररूप में चिकित्सा का भी निर्देश किया गया है।

तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसङ्ग्रहणं हितम्॥ १८०॥

रक्त-संग्रहण-काल—इसलिए दूषित रक्त के स्वयं निकल जाने के बाद अथवा रक्तस्रावण कराने के बाद ही रक्त को रोकने के उपाय करने चाहिए।

वक्तव्य—दूषित रक्त का निकल जाना स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम है। सुश्रुत शा० अ० २।१७ में शुद्ध
आर्तव का स्वरूप दिया है, जो समय पर स्वयं रुक जाता है। कभी-कभी आर्तव के रूप में 'जीवरक्त' भी
जाने लगता है, उसे रोकने का शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि **'रक्तं जीव इति स्थितिः'**। सु० सू० अ०
१४।४४। रक्त को ही प्राण कहा गया है। आजकल जीवरक्त को 'मेनोरेजिया' और आर्तव (अशुद्ध) रक्त को
'मेटोरेजिया' कहते हैं। यही आशय ऊपर की पंक्ति का भी है—दुष्टरक्त के निकल जाने पर, उस मार्ग के बन्द न
होने से 'जीवरक्त' निकलने लगेगा, अतः उसे अवश्य रोकना चाहिए।

हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित् । कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् ॥१८१॥

दूषित रक्त का स्राव होने दें—रक्तार्श की उत्पत्ति के कारण लक्षण और काल को जानने वाला तथा रोगी की शक्ति का ज्ञान रखने वाला, दुष्टशोणित एवं शुद्धशोणित के वर्ण को पहचानने वाला चिकित्सक तब तक उस दूषित रक्त को निकलने दे, जब तक कोई संकट उपस्थित होने की सम्भावना प्रतीत न हो। अर्थात् अत्यय (मृत्युसंकट) की सम्भावना के पहले ही रक्तस्राव को रोक दें।

वक्तव्य—रक्त-परिचय की दृष्टि से सु० सू० अ० १४ तथा १५ का परिशीलन करें।

अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसङ्ग्रहणाय च । दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥१८२॥

चिकित्सार्थ तिक्तद्रव्य-प्रयोग—रक्तार्श रोगी का जब दुष्टरक्त निकल जाये तब जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए, रक्त को रोकने के लिए और दोषों को पचाने के लिए तिक्तरस-प्रधान औषधद्रव्यों द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च । वर्तते स्नेहसाध्यं तत् पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥१८३॥

अर्शों में स्नेह-प्रयोग—वातप्रधान एवं जिनके अन्य दोष क्षीण हो गये हों, ऐसे रोगियों के मस्सों से यदि रक्तस्राव हो रहा हो तो वह स्नेहसाध्य होता है। अतः उस रोगी को पीने के लिए स्नेह (औषध-सिद्ध घृत), अभ्यंग (मालिश) तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग करायें।

यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते । स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद् वातकफानुगम् ॥१८४॥

रक्तस्राव को रोकने का काल—यदि ग्रीष्मकाल में पित्तप्रधान रक्तार्श से रक्तस्राव हो रहा हो और वात तथा कफ का अनुबन्ध न हो तो उस रक्तस्राव को निश्चित रूप से तत्काल रोक देना चाहिए।

कुटजत्वङ्निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसङ्ग्रहणः ।
त्वग्दाडिमस्य तद्वत् सनागरश्चन्दनरसश्च ॥ १८५ ॥
चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाः सनागराः क्वथिताः ।
रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च ॥ १८६ ॥
सातिविषा कुटजत्वक् फलं च सरसाञ्जनं मधुयुतानि ।
रक्तापहानि दद्यात् पिपासवे तण्डुलजलेन ॥ १८७ ॥

रक्तरोधक योग—१. कुटज की छाल तथा सोंठ इन दोनों को समभाग लेकर इनका क्वाथ तैयार करें, इसमें गाय का घी मिलाकर रोगी को पिलायें। इससे निकलता हुआ रक्त रुक जाता है। २. दाड़िम के फल का छिलका, सोंठ, लालचन्दन तीनों को समभाग लेकर इनका क्वाथ करें, इस क्वाथ में पूर्ववत् गाय का घी मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें। इसके सेवन से भी रक्त का जाना रुक जाता है। ३. लालचन्दन, चिरायता धन्वयवास (धमासा), सोंठ इन सबको समभाग लेकर यथाविधि निर्मित क्वाथ में गाय का घी मिलाकर पीने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। ४. दारुहल्दी, दालचीनी, खस, नीम की छाल इन सबको समभाग लेकर यथाविधि निर्मित क्वाथ में गाय का घी मिलाकर पीने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। ५. अतीस, कुरैया की छाल, इन्द्रजौ, रसौत इन सबको समभाग लेकर यथाविधि निर्मित क्वाथ में गाय का घी मिलाकर पीने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। ६. यदि रक्तार्श के रोगी को प्यास अधिक लगती हो तो उक्त योगों का सेवन कराकर अनुपान के रूप में तण्डुलोदक में मधु मिलाकर पीने के लिए दें।

वक्तव्य—४ तोला चावलों को ८ गुने शुद्ध जल में भिगा दें, १-२ घंटा के बाद निकाले हुए उस जल को तण्डुलोदक कहते हैं। इसी को चावलों का धोवन भी कहते हैं। देखें—शा० सं० म० खं० अ० १।३२।

कुटजत्वचो विपाच्यं पलशतमार्द्रं महेन्द्रसलिलेन ।
यावत्स्याद्गतरसं तद् द्रव्यं पूतो रसस्ततो ग्राह्यः ॥ १८८ ॥

मोचरसः समङ्गा फलिनी च [1]समांशिकैस्त्रिभिस्तैश्च ।
वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णितमत्र प्रदातव्यम् ॥ १८९ ॥
पूतोत्क्वथितः सान्द्रः स रसो दर्वीप्रलेपनो ग्राह्यः ।
मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक् स्रावम् ॥ १९० ॥

छगलीपयसा पीता पेया मण्डेन वा यथाग्निबलम् । जीर्णौषधश्च शालीन्पयसा छागेन भुञ्जीत ॥
रक्तार्शांस्यतिसारं रक्तं सासृग्रुजो निहन्त्याशु । बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा [2]जयत्युभयभागम् ॥

इति कुटजादिरसक्रिया ।

कुटजादि रसक्रिया—कुरैया की गीली छाल १०० पल (४०० तोला) को दरदरा कूटकर माहेन्द्र जल में डालकर तब तक पकायें, जब तक उसका सम्पूर्ण रस पानी में न आ जाय, तदनन्तर उसे उतारकर ठंडा होने पर हाथ से मसलकर कपड़े से छानकर रख लें। उस क्वाथ में मोचरस, समंगा (मजीठ), फलिनी (प्रियंगु) इन तीनों द्रव्यों को समभाग (पाठभेद के अनुसार १-१ पल) लें, इन तीनों के बराबर इन्द्रजौ (कुटज) के बीजों (३ पल=१२ तोला) को लेकर कपड़छन चूर्ण कर उस क्वाथ में मिला दें। पुनः इसका पाक करें। जब पकते-पकते गाढ़ा होने लगे और दर्वी (चम्मच) में लगने लगे, तो उसे उतार कर कुछ देर तक चलाते रहें, शीतल हो जाने पर सुरक्षित रख लें।

रोगी की जठराग्नि और उसके बल का ध्यान रखकर इस रसक्रिया को मात्रा और समय का विचार कर बकरी के दूध से अथवा पेया के मण्ड से पीने पर यह रक्तस्राव को जीत लेती है, अर्थात् इसको पीने के बाद फिर रक्तस्राव नहीं होता है। जब यह रसक्रिया की मात्रा पच जाय तब बकरी के दूध से शालिचावलों का भात खाना चाहिए। इस प्रकार सेवन करने से यह रसक्रिया रक्तार्श (खूनी बवासीर), अतिसार, रक्तातिसार तथा सभी रक्तज व्याधियों को शीघ्र नष्ट कर देती है। ऊपरी भाग तथा अधोभाग से निकलने वाले रक्तपित्त-जनित रक्त के वेग को भी यह रसक्रिया जीत लेती है।

वक्तव्य—वर्षा के जल को महेन्द्र या माहेन्द्र दोनों ही कहा जाता है। यह अनुपान के लिए भी उत्तम माना गया है—'सर्वेषामनुपानानां महेन्द्रं तोयमुत्तमम्। सात्म्यं वा यस्य यत्तोयं तत्तस्मै हितमुच्यते' ॥ सु० सू० अ० ४७।४३४। इसी जल को 'गगनाम्बु' भी कहा गया है, देखें—सु० सू० अ० ४५।२५-२६। इसी जल को वाग्भट ने 'दिव्याम्भस्' कहा है। अ० हृ० चि० अ० ८।१०४। इस जल का संग्रह करते समय यह ध्यान रखें कि वर्षाकाल का आरम्भिक जल न लें। जब कुछ वर्षा होकर वायुमण्डल में बिखरी हुई धूल आदि शान्त हो जाय तभी इसका संग्रह करें। आजकल इसके स्थान पर आधुनिक यन्त्रों द्वारा परिस्रुत जल (Distilled water) का प्रयोग किया जाता है।

वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में एक ही स्थान पर दो कुटजावलेहों का निर्देश किया है। इनमें पहला 'कुटजावलेह' प्रायः वही है, जिसे चरक ने 'कुटजादिरसक्रिया' संज्ञा दी है। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।३१।

रसक्रिया—'क्वाथादीनां पुनः क्वाथाद् घनत्वं सा रसक्रिया'। वैद्यकशब्दसिन्धु। रसक्रिया-विधि से क्वाथ में जो घनापन आ जाता है, वह उसको स्थायित्व प्रदान करता है। कुटजादि रसक्रिया में द्रव्य से दूना वर्षा का जल लें, जब चतुर्थांश शेष रहे तब उसे उतार लें, ठंडा होने पर पकी हुई कुरैया की छाल को खूब मसलकर छान लें। उपर्युक्त अन्य द्रव्यों को डालकर मन्द-मन्द आँच पर पकायें। ध्यान रहे कि उक्त द्रव्य जिसका पाक किया जा रहा है, पेंदी में लगकर जल न जाय।

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम् ।
पीत्वा च्छगलीपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम् ॥ १९३ ॥
छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसं च ।
धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा ॥ १९४ ॥

---

१. 'पलांशिकैः' इति पा०। २. 'ह्युभयभागम्' इति पा०।

रक्तार्श में विविध योग—१. नीलकमल, मजीठ, मोचरस, लालचन्दन, काले तिल, पठानी लोध, इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर कूटकर कपड़छन चूर्ण करके मात्रानुसार खाकर अनुपान के रूप में बकरी का दूध पीयें। बकरी के दूध के साथ ही शालि चावलों का भात खाना चाहिए। २. बथुआ की पत्तियों के रस में बकरी का दूध मिलाकर पीना चाहिए, इसके सेवन से रक्तार्श में से निकलने वाले रक्त का प्रशमन हो जाता है। ३. धन्व (जांगल) प्रदेश में उत्पन्न मृग तथा पक्षियों के मांसरस का बिना अम्लरस मिलाये हुए अथवा थोड़ा अम्ल मिलाकर सेवन करना चाहिए।

पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जनं नागरं यवान्यश्च । बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि शूलेषु ॥
दार्वी किराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम् ।

अन्य योग—१. पाठा, इन्द्रजौ, रसवत, सोंठ, अजवाइन, बेल की गुद्दी—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्णकर उसे कपड़छन करके मात्रा के अनुसार रक्तार्श के रोगी को जब शूल के कारण कष्ट हो तब पीना चाहिए। २. दारुहल्दी, चिरायता, नागरमोथा, धमासा—इनका समभाग चूर्ण कपड़छन करके सेवन करना चाहिए, यह रक्तस्राव को बन्द करता है।

वक्तव्य—ऊपर दो योग कहे गये हैं—१. शूलनाशक और २. रक्तनाशक। दोनों में ही किसी द्रव का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः **'द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यम्'** (शा० सं० पू० खं० अ० १।५०) के अनुसार जल के साथ इनका सेवन करना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १० के ३२वें गद्य में तीन विभिन्न योग अनुपान के साथ कहे हैं—१. पहले सामान्य योग का अनुपान बकरी का दूध है। २. दूसरे शूलशामक योग का अनुपान पकाया हुआ गुनगुना पानी अथवा तक्र (मठा) है। ३. तीसरे शूलशामक तथा रक्तस्रावशामक योग का अनुपान औषध-सिद्ध घृत है। आप भी इनमें से किसी का अथवा इस प्रकार के किसी अन्य अनुपान की समयोचित कल्पना करके रोगी को दिलायें।

रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम् ॥ १९६ ॥

रक्तार्श में घृत-प्रयोग—यदि रक्तार्श के रोगी के अर्शों से अधिक रक्तस्राव हो रहा हो और शूल (वेदना) भी हो तो उसकी शान्ति के लिए औषध-सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए।

कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः । सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा ॥

कुटजफलादि घृत—इन्द्रजौ, कुरैया की छाल, नागकेशर, नीलकमल, पठानीलोध, धाय के फूल—इन सबको समानभाग लेकर इनका कल्क तैयार कर लें। घी १ प्रस्थ, जल ४ प्रस्थ इससे तैयार किये हुए घी का प्रयोग रक्तार्श के कारण उत्पन्न शूल में करना चाहिए। मात्रा—२ से ६ माशा तक।

सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं शृतं जयत्याशु । रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकादुग्धिकासिद्धम् ॥

अन्य घृतयोग—१. दाडिम के रस में गाय का घी और जवाखार मिलाकर पीने से रक्तार्श के कारण उत्पन्न शूल शान्त हो जाता है। अथवा २. छोटी कटेरी और दुग्धिका के कल्क द्वारा यथाविधि निर्मित घृत का सेवन करने से रक्तार्श-जनित शूल की शान्ति हो जाती है। मात्रा पूर्ववत् है।

लाजापेया पीता सचुक्रिका केशरोत्पलैः सिद्धा । हन्त्याश्वस्रस्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम् ॥
ह्रीवेरबिल्वनागरनिर्यूहे साधितां सनवनीताम् । वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्लां सकोलाम्लाम् ॥
गृञ्जनकसुरासिद्धां दद्याद् यमकेन भर्जितां पेयाम् । रक्तातिसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ॥

अन्य योग—चुक्रिका (चांगेरी या तिपतिया), नागकेशर, नीलकमल, (नीलोफर)—इनके स्वरस या क्वाथ द्वारा यथाविधि तैयार की गयी लाजा (धान के लावा या खील) की पेया, अथवा बलामूल, पृश्निपर्णी (पिठवन) इनके क्वाथ से बनायी गयी लाजा की पेया का सेवन करने से मस्सों से होने वाले रक्तस्राव का शीघ्र विनाश होता है।

ह्रीवेर (सुगन्धबाला), बेल की गुद्दी तथा सोंठ के क्वाथ रस से विधिवत् तैयार की गयी लाजपेया को ताजा मक्खन युक्त विषांविल के रस या दाड़िम के रस, इमली के घोल या बेर के रस से खट्टा करके रक्तार्श

के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। गाजर के रस तथा सुरा को मिलाकर पकायी गयी लाजपेया को यमक स्नेह (घी-तेल) से छौंककर रक्तार्श के रोगी को पीने के लिए दें। इन लाजपेयाओं का सेवन करने से रक्तातिसार (जिस अतिसार में मल के साथ खून जा रहा हो), शूल, प्रवाहिका तथा शोथ रोगों का निग्रह (शमन) हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने 'गृञ्जनकसुरासिद्धां' के स्थान पर 'गृञ्जनकसुरससिद्धां' पाठ को महत्त्व दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।३७। निघण्टुओं में 'सुरस' शब्द के पर्याय—बोल, सुगन्धतृण, तुलसी, पर्णास तथा मोचरस दिये हैं। सुश्रुत सू० अ० ३८।१८-१९ में एक सुरसादिगण भी दिया है और वाग्भट ने अ० हृ० सू० अ० १५।३०-३१ में दिया है।

काश्मर्यामलकानां [1]सकर्बुदारान् फलाम्लांश्च । गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रिकायाश्च ॥
न्यग्रोधशुङ्गकानां खडांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम् । दध्नः सरेण सिद्धान् दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ॥

रक्तार्श में खड-प्रयोग—गम्भार की छाल, आँवला के फल, सफेद कचनार के क्वाथ से तैयार किये गये खडयूष को दाड़िम या इमली के रस से खट्टा करके, अथवा गाजर, सेमल की छाल या फूल से, अथवा दुग्धिका से, या तिपतिया के स्वरस से या बरगद के प्ररोह (बरोह) से, या लाल कचनार के फूलों के स्वरस से तैयार किये हुए खडयूष को दही की मलाई डालकर यथाविधि पाक करके रक्तार्श के रोगी को अर्शों से रक्त के अधिक निकलने पर सेवन करने के लिए दें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में अनेक स्थलों के पाठों को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है—'काश्मर्यामलकानां सकच्छुराणां खलान् फलाम्लांश्च। गृञ्जनकशाल्मलीनां दुग्धीकाचुक्रिकाणाञ्च ॥ न्यग्रोधशुङ्गिकानां खलाँस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्। दध्नः सरेण सिद्धान् दद्याद् रक्ते प्रवृत्तेऽति' ॥ अ० सं० चि० अ० १०।३८-३९। वृद्धवाग्भट ने 'खड' के लिए 'खल' शब्द को अपेक्षाकृत उत्तम माना है, ऐसा लगता है।

खडयूष—यह दो प्रकार का होता है—१. सतक्रशमीधान्य, २. सतक्रशाक। 'खडकाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे हितौ। सु० सू० अ० ४६।३७६। परवर्ती संग्रह-ग्रन्थों में इनका पर्याप्त संग्रह है। महर्षि काश्यप ने अपनी संहिता में खिलस्थान के चतुर्थ अध्याय में फलयूष, पुष्पयूष, पत्रयूष आदि का वर्णन किया है। ये यूष कृत=संस्कृत अर्थात् घी या तेल से छौंककर नमक, मसाला आदि डालकर भी बनाये जाते हैं और अकृत=असंस्कृत सादे भी होते हैं। **कर्बुदार**—इसे पर्वतीय प्रदेश में 'क्वेराल' कहते हैं।

सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम् । रुधिरस्रवे प्रदद्यान्मसूरसूपं च तक्राम्लम् ॥

रक्तस्राव में शाक-प्रयोग—यदि रक्तार्शों से अधिक रक्तस्राव हो रहा हो तो पलाण्डु (प्याज) का शाक पकाकर तक्र (मठा) के साथ दें, अथवा पोई के शाक में खट्टे बेरों को मिलाकर तक्र के साथ दें, अथवा मसूर की दाल में मठा मिलाकर पीने के लिए दें।

पयसा शृतेन यूषैर्मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम्[2] । भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम् ॥

रक्तार्श में अन्न-प्रयोग—शालि के चावल, साँवा के चावल तथा कोदों के चावल का भात बनाकर खौलाये हुए दूध से, मसूर, मूँग, अरहर, मोठ इन दालों के यूष के साथ कोई अम्ल द्रव मिलाकर रोगी को खिलायें।

शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयकैः सुसिद्धैश्च । भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत् समरिचैर्वा ॥
दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुद्लोपाकजैश्च मधुराम्लैः ।
अद्याद् रसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः ॥ २०७ ॥

रक्तार्श में मांस-प्रयोग—१. शश (खरगोश), हरिण (हिरन), लवा, गौरैया, एण (मृग भेद, कृष्णमृग या बारहसिंघा)—इनके मांसों को मांसपाक-विधि से पकाकर उनमें अम्लरस, थोड़ा मधुररस तथा कुछ कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर इन्हीं के साथ साठी आदि चावलों का भात खाने के लिए रोगी को दें।

---

१. 'सकर्बुदारफलाम्लानाम्' इति पा०।　　२. 'सतीनमुद्गाढकीमसूराणाम्' इति पा०।

२. मुर्गा, मोर, तीतर—इनके मांस रसों में खट्टा, मीठा, कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर इनके साथ सांठी के चावलों का भात आदि खाने के लिए दें। ३. द्विककुद (ऊँट) और लोमड़ी के मांस रसों को मधुर, अम्ल रसयुक्त करके उनमें कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर इनके साथ भोजन करे। इनके सेवन से वात-प्रधान शरीर वाला अर्शोरोगी जिसके अर्शों (मस्सों) से अत्यन्त रक्त निकल रहा हो, लाभान्वित होता है।

[१]रसखडयूषयवागूसंयोगतः केवलोऽथवा जयति। रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः॥

रक्तार्श में प्याज का प्रयोग—रक्तार्श से सम्बन्धित अधिक निकलता हुआ रक्त तथा वातदोष उपर्युक्त सर, खडयूष, यवागू का सेवन कराने से शान्त हो जाता है अथवा केवल पलाण्डु (प्याज) के सेवन से भी वातदोष और रक्तस्राव का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में जहाँ 'सर' शब्द का प्रयोग किया है, अन्यत्र इसके स्थान पर 'रस' अथवा 'यूष' पाठ मिलता है। आयुर्वेद में 'सर' शब्द 'मांसरस' का, अन्यत्र सरोवर अथवा दही की मलाई का भी वाचक है। किन्तु 'यूष' पाठ सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि आगे स्वयं उसी शब्द का प्रयोग किया गया है।

छागान्तराधि तरुणं सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु।
व्यत्यासान्मधुराम्लं विट्शोणितसङ्क्षये देयम्॥ २०९॥

रक्तार्श में छागरक्त-प्रयोग—रक्तज अर्श से पीड़ित जिस रोगी के मल तथा रक्त का अधिक क्षय हो गया हो तो उसे तरुण बकरे के मध्य शरीर के रक्तसहित मांस को विधिपूर्वक पकाकर उसमें पर्याप्त मात्रा में प्याज मिलाकर कभी मधुररस और कभी अम्लरस मिलाकर उक्त रोगी को देना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि श्रीचक्रपाणि ने 'अन्तराधिशरीरमध्यं, तच्च तरुणछागस्यैवाग्रात्' लिखा है। हमारे विचार से श्रीअत्रिदेव ने शारीरस्थान के अन्त में कुछ तालिकाएँ दी हैं। उपर्युक्त छाग की अन्तराधि के लिए उनका अवलोकन करें—पृष्ठ ३६९—(२) अन्तराधौ (५९), पृ० ३७२—(२) अन्तराधिगताः अव्यधनीयाः सिराः तथा पृ० ३७३, ३२—अन्तराधिगताः श्रोण्याम् (गुदमेढ्राश्रयाः)। इसे देखें और समझें।

बहु पलाण्डु—मांस पकाने के साथ ही प्याज को पर्याप्त मात्रा में डालें। वाग्भट केवल 'पलाण्डु' का ही प्रयोग कराते रहे। देखें—अ० हृ० चि० अ० ८।१२१। कुछ टीकाकार पुरीषक्षय में मधुररस युक्त और रक्त-क्षय में अम्लरस युक्त मांस देने की संस्तुति करते हैं, किन्तु श्लोक का ऐसा भाव प्रतीत नहीं होता है। मधुर एवं अम्ल रस रोगी की रुचि को देखकर देना चाहिए। व्यत्यास का अर्थ है—विपरीत क्रम, अर्थात् बदल-बदल कर।

नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि॥ २१०॥

रक्तार्शों में तिलादि प्रयोग—१. काले तिलों के चूर्ण में मक्खन मिलाकर निरन्तर खाने से, २. नागकेशर का कपड़छन चूर्ण, मक्खन और चीनी मिलाकर सेवन करने से, अथवा ३. दही की मलाई और मथित (सर-रहित मथित; देखें—'मथितं सर्वाञ्जितम्'। चक्रपाणिदत्त कृत द्रव्यगुणसंग्रह) का कुछ दिनों तक लगातार सेवन करने से रक्तज अर्शो का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीजतूकर्ण भी इसी प्रकार के एक पद्य को प्रस्तुत करते हैं—'नवनीतं तिलैर्युक्तं शर्कराकेशरेण वा। नवनीतं घृतं वाजं दध्नो वा खजितः सरः' ॥ जतूकर्णसंहिता, अर्शश्चिकित्सा। 'केसर' शब्द से 'नागकेशर' तथा 'पद्मकेसर' दोनों का ग्रहण प्राचीन टीकाकारों ने किया है। आचार्य वाग्भट पद्मकेशर के ही पक्षपाती हैं—'शर्कराम्भोजकिञ्जल्कसहितं सह वा तिलैः। अभ्यस्तं रक्तगुदजान् नवनीतं नियच्छति' ॥ देखें—अ० हृ० चि० अ० ८।११८।

नवनीतघृतं छागं मांसं च सषष्टिकः शालिः। तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यस्रम्॥

१. 'रसखडशाकयवागूसंयोगतः' इति पा०।

रक्तार्श में अन्य योग—ताजा घी, बकरी का मांस, सांठी के चावल, शालि धान के चावल, ताजी मदिरा का मण्ड, ताजी सुरा—इनका प्रयोग रक्तस्राव को समाप्त कर देता है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'नवनीतघृतं' का अर्थ 'मक्खन और गाय का घी' किया है। ऐसा अर्थ तब होता जब कि 'नवनीतं घृतं' इस प्रकार का पाठ होता, किन्तु ऐसा पाठ मिलता नहीं। अब रही बात घी की तो वह 'गाय' का हो या 'बकरी' का? विशिष्ट गुण-सम्पन्न होने के कारण गाय के घी की सर्वत्र प्रशंसा देखी जाती है। यथा—'घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्। निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम्' ॥' च० सू० अ० १३।१४ और च० सू० अ० १३।४१-४३। 'गव्यं सर्पिः सर्पिषां' (हिततमम्)। च० सू० अ० २५।३८ आदि।

अजाघृत-गुण—'आजमाज्यन्तु चक्षुष्यं दीपनं बलवर्द्धनम्। कासश्वासकफान्तकं राजयक्ष्मसु शस्यते' ॥ रा० नि० व० १४।७९। वाग्भट ने भी बकरी के घृत के प्रयोग की संस्तुति की है—'छागानि नवनीताज्यक्षीर-मांसानि जाङ्गलः। अनम्लो वा कदम्लो वा सवास्तुकरसो रसः॥ रक्तशालिः सरो दध्नः षष्टिकस्तरुणी सुरा। तरुणश्च सुरामण्डः शोणितस्यौषधं वरम्' ॥ अ० हृ० चि० अ० ८।११९-१२०।

हमारे विचार से अर्शरोग में रोगी की अग्निमन्द पड़ जाती है, उसको बढ़ाने का गुण इसमें विद्यमान है और 'छागं घृतं, छागं मांसं' इस प्रकार अन्वय करने पर प्रकरणोचित अर्थ भी प्राप्त हो जाता है। अतः यहाँ बकरी के दूध से निकाला गया ताजा घी का ही ग्रहण करना चाहिए। उक्त आशय वाला एक पद्य वृद्धवाग्भट ने भी दिया है, उसमें भी 'नवनीतघृतं' पाठ ही है। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।४७। श्रीजयदेव ने 'नवनीत घृतं' इस प्रकार का पाठ अष्टांगसंग्रह में दिया है, ऐसी जो सूचना दी है, वह भ्रामक है।

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते। दुष्टेऽपि च कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः॥

अर्शों में वात की प्रधानता—प्रायः देखा जाता है कि अर्शों से अधिक रक्तस्राव हो जाने तथा कफ और पित्त के अधिक दूषित हो जाने पर वातदोष की अधिकता हो जाती है, इसलिए इनमें वातदोष की प्रधानता स्वीकार की जाती है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त पद्य के द्वितीय पाद में सामान्य परिवर्तन कर अपना स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किया है—'प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते। दुष्टेऽपि हि कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिकं ज्ञेयः' ॥ अ० सं० चि० अ० १०।४८। प्रायः बवासीर के मस्सों से रक्तस्राव के अधिक हो जाने पर उनमें वातदोष की अधिकता देखी जाती है, यद्यपि उनमें कफ-पित्तदोषों के भी दर्शन होते हैं, तथापि प्रयत्न यह करना चाहिए कि जिससे वातदोष का प्रशमन पहले हो।

दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पं च।
शीता क्रिया प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते [१]चान्या॥ २१३॥

अर्शों में विशेष चिकित्सा—रक्तार्श के रोगी में रक्त तथा पित्तदोष की प्रबलता को देखकर तथा कफ एवं वातदोष के लक्षणों की कमी को देखकर इससे पहले (पित्तार्शों की शान्ति के लिए) कही गयी और जो आगे (इसी प्रकरण में) बतलायी जायेगी, उस-उस शीत चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

मधुकं सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरं धवपटोलम्। परिषेचने विदध्याद्वृषककुभयवासनिम्बांश्च॥

अर्शों में परिषेचन—मुलेठी, पंचवल्क (बरगद की छाल, पीपल की छाल, पाकड़ की छाल, गूलर की छाल, वेतस की छाल), बेर की छाल, गूलर की छाल, धाय की छाल या फूल, परवल की पत्तियाँ, अड़ूसा की पत्तियाँ, अर्जुन की छाल, जवास तथा नीम की छाल के गुनगुने क्वाथ का अर्शांकुरों पर परिषेचन करना चाहिए, अर्थात् रोगी के अर्शों के ऊपर थोड़ा-थोड़ा उक्त क्वाथ के गरम पानी को कुछ देर तक टालता रहे।

वक्तव्य—पञ्चवल्क या पञ्चवेतस—'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः। सर्वैरेकत्र मिलितैः पञ्चवेत-समुच्यते' ॥ रा० नि० व० २२।२५। इस प्रकार 'बरगद, गूलर, पीपल, पाकड़, वेतस' इन पाँच वृक्षों का ग्रहण होता है और मूल पाठ में स्वतन्त्र रूप से गूलर का उल्लेख हुआ है। इन्हीं द्रव्यों को पञ्चवल्क के रूप में

१. 'चान्या' इति पा०।

भैषज्यरत्नावली के व्रणशोथाधिकार श्लोक ७ में भी उद्धृत किया गया है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त योग में गूलर की छाल को दूना लेना चाहिए, किन्तु कुछ टीकाकारों ने 'शिरीष' की छाल का ग्रहण किया है, इस पर आप भी विचार करें।

रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे क्लेदेऽवगाहयेच्चापि । मधुकमृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिष्क्वाथे॥

रक्तार्शों में उष्ण अवगाहन—यदि रक्तार्श के रोगी को अधिक रक्तस्राव हो रहा हो और गुदप्रदेश में सदैव गीलापन बना रहता हो तो उस रोगी को मुलेठी, अमृणाल (खस), पद्माख, लालचन्दन, कुश तथा काश इन द्रव्यों को समभाग में लेकर इनका क्वाथ कर लें। इस क्वाथ के गुनगुने जल को एक टब में डाल दें, उसी क्वाथ जल में रोगी को उस प्रकार बिठा दें, जिससे उसके मस्से उसमें भीग सकें।

इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् । अवगाहयेत् प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन॥

शीतल अवगाहन—यदि रोगी को रक्तस्राव हो रहा हो, गुद-प्रदेश में सदैव गीलापन बना रहता हो, तो उस रोगी के अर्शांकुरों को ठंडे तेल से मलकर ईख का रस, मुलेठी और वेत का शीतल क्वाथ अथवा शीतल जल में उसे अवगाहन करायें।

दत्त्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे गुदे त्रिकदेशे च । शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या॥

रक्तार्श में जलधारा-प्रयोग—मस्सों से अधिक रक्तस्राव होने पर चीनी और गाय के घी को एक साथ मिलाकर मूत्रेन्द्रिय के चारों ओर, गुद के चारों ओर तथा त्रिकास्थि (चूतड़ और पृष्ठवंश की निचली अस्थि का जोड़) पर चुपड़ कर स्पर्श में सुखद शीतल जलधारा इन स्थानों पर डालनी चाहिए।

वक्तव्य—घृतशर्करा का योग शीतल होता है, उसमें भी शीतल जलधारा का प्रयोग और अधिक शीतलता प्रदान करता है। देखें—घी तथा शर्करा (चीनी) के गुण-धर्म। सु० सू० अ० ४५।९६ तथा १६८।

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः । प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च॥
दूर्वाघृतप्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः । व्यजनपवनः सुशीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ॥२१९॥

रक्तार्श में अन्य शीतोपचार—१. केले की नयी पत्तियाँ, २. कमल की नयी पत्तियाँ, ३. नीलकमल की नयी पत्तियाँ, इनके ऊपर शीतल जल छिड़क कर बार-बार इनसे गुदप्रदेश को ढकें। दूब के स्वरस और गाय के घी को आपस में अच्छी प्रकार मिलाकर मस्सों के ऊपर लेप कर दें, शतधौत (सौ बार पानी डालकर धोया हुआ घी) या सहस्रधौत (हजार बार पानी डालकर धोया हुआ घी) का गुदांकुरों पर लेप और पंखे से हवा करना—इन उपचारों से रक्तस्राव शीघ्र ही रुक जाता है।

वक्तव्य—इस रोग में स्त्री रोगिणी के लिए स्त्री और पुरुष रोगी के लिए पुरुष परिचारक का ही चुनाव करना चाहिए, अन्यथा इस प्रकार की सेवाएँ सम्भव न हो सकेंगी। कदली पत्र आदि को बदलते रहें, जैसे कि सेंक करते समय पोटली को बदला जाता है। गुदांकुरों पर घृत लेप करने के बाद पंखे की हवा रोगी को सुख प्रदान करती है।

समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम् ।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां वा ॥ २२० ॥
दार्वीत्वक् सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम् ।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः ॥ २२१ ॥

प्रतिसारण लेप—रक्तार्श वाले रोगी के गुद में दाह (जलन होती) हो, क्लेद (गीलापन) हो तथा गुदभ्रंश (काँच बाहर निकल आती) हो, तो उसके अर्शांकुरों पर—१. मजीठ, मुलेठी, २. कालातिल, मुलेठी, ३. रसौत का चूर्ण तथा गाय का घी, ४. सर्जरस (राल) का चूर्ण और गाय का घी, ५. नीम की पत्ती का रस, गाय का घी, ६. मधु (शहद) और गाय का घी, ७. दारुहल्दी का चूर्ण और गाय का घी, ८. लाल और सफेद चन्दनों को घिसकर उसमें घी मिलाकर लेप लगाना चाहिए। उक्त सभी प्रतिसारण लेप हैं।

वक्तव्य—व्रण या मस्से आदि को घिसने के लिए जिन लेपों का प्रयोग होता है, उन्हें 'प्रतिसार' या 'प्रतिसारण' लेप कहते हैं। वास्तव में क्षार के मौलिक रूप से दो भेद होते हैं—१. प्रतिसारणीय, २. पानीय। प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग लेप या लेपन, मलना, लगाना, रगड़ना, घिसना आदि के रूप में होता है। सोडावाटर आदि पेयों की गणना पानीय क्षार में ही की जाती है। विशेष देखें—सु० सू० अ० ११ सम्पूर्ण।

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य तिष्ठति न रक्तम् ।
तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान् ॥ २२२ ॥
अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः । क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैस्तमुपाचरेदाशु ॥
कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम् । पिच्छावस्तिं दद्यात् काले तस्याथवा सिद्धम् ॥

रक्तार्श में विशेष व्यवस्था—ऊपर कही गयी इन चिकित्सा-विधियों से अथवा अन्य शीतोपचारों द्वारा जिन अर्श रोगियों के गुदांकुरों से रक्त निकलना बन्द न हो, तो चिकित्सा-कुशल व्यक्ति को चाहिए कि वह समय पर उस रोगी को स्निग्ध तथा उष्ण मांस रसों का सेवन कराकर तृप्त करे। उसे अवपीडक सर्पि (घृत) को पिलाकर, गुनगुने घी तथा तेलों की मालिशों से तथा गुनगुना दूध, घी एवं तेल के परिषेचन से शीघ्र ही उसकी चिकित्सा करे। वातप्रधान रक्तार्श में कुछ गरम घृतमंड से शीघ्र अनुवासनवस्ति दें, अथवा उचित समय पर पिच्छावस्ति का प्रयोग करें।

वक्तव्य—भोजन करने के बाद पर्याप्त मात्रा में जो घृतपान कराया जाता है, उसे अवपीडक घृत कहते हैं। इसमें प्रयोग कराये जाने वाले घृत का पाक पञ्चवल्कल आदि संकोचक द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ के योग से किया जाता है। **वाग्भट के अनुसार**—'रसैः कोष्णैश्च सर्पिर्भिरवपीडकयोजितैः। सेचयेद् तं कवोष्णैश्च कामं तैलपयोघृतैः' ॥ अ० हृ० चि० अ० ८।१२४।

पिच्छावस्ति—निरूहणवस्ति का ही एक नाम पिच्छिलवस्ति या पिच्छावस्ति भी है। इसके अन्य नाम इस प्रकार हैं—दोषहर, संशमन, शोधन, लेखन। इसमें वे द्रव्य डाले जाते हैं, जो चिपचिपाहट युक्त या लुआबदार हों। यह वस्ति रक्तातिसार में विशेष रूप से प्रयुक्त की जाती है। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ६।३३-३४। इसी का वर्णन आगे भी किया जा रहा है।

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलम् । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥२२५॥
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत् क्षीरप्रस्थं च साधयेत् । क्षीरशेषं कषायं च पूतं कल्कैर्विमिश्रयेत् ॥२२६॥
कल्काः शाल्मलिनिर्यासमङ्गाचन्दनोत्पलम् । वत्सकस्य च बीजानि प्रियङ्गुः पद्मकेशरम् ॥
पिच्छावस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः । प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ॥२२८॥

पिच्छावस्ति—यवास की जड़, काश की जड़, सेमल का फूल, बरगद की जटा के अंकुर या शुंग, गूलर के अंकुर, पीपल के अंकुर, ये प्रत्येक द्रव्य २-२ पल (८-८ तोला) लें, इनको जौकुट करके जल ३ प्रस्थ (१९२ तोला) और दूध १ प्रस्थ (६४ तोला) में डालकर इन्हें यथाविधि पकायें, जब पकते-पकते दूध मात्र शेष रह जाय तब उस क्वाथ को छान लें। तदनन्तर शाल्मलिनिर्यास (मोचरस), मजीठ, लालचन्दन, नीलकमल (नीलोफर), वत्सक बीज (इन्द्रजौ), फूलप्रियंगु, कमल का केसर, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क तैयार करें, इस कल्क को ऊपर तैयार किये गये क्वाथ रस में मिला दें, इसी में घी, मधु, चीनी भी मिला दें। इस प्रकार यह पिच्छावस्ति तैयार हो जाती है। इसका प्रयोग प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव तथा ज्वर की शान्ति के लिए करना चाहिए। यह उक्त रोगों का शीघ्र शमन करती है।

वक्तव्य—वस्ति विषयक विशेष विवेचन आगे सिद्धिस्थान में तन्त्रकार ने किया है। मात्रा आदि की भी समुचित व्यवस्था वहाँ दी गयी है। तो भी जिस पदार्थ को वस्ति-यन्त्र द्वारा भीतर प्रवेश कराया जाता है, उसे तरल रखें, गाढ़ा न करें। इसी दृष्टि से उक्त कल्कद्रव्यों की मात्रा का निर्धारण कर वस्ति देने के पूर्व एक बार उस द्रव को पुनः छान लें।

प्रपौण्डरीकं मधुकं [1]पिच्छावस्तौ यथेरितान् । पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥

इति पिच्छावस्तिः ।

रक्तार्श में अनुवासन-विधि—ऊपर पिच्छावस्ति में निर्दिष्ट मोचरस आदि द्रव्यों तथा पुण्डरियाकाष्ठ एवं मुलेठी को विधिवत् पीसकर कल्क तैयार करें। स्नेह (तेल या घी) से दूना दूध मिलाकर स्नेहपाक करें। इस औषधसिद्ध स्नेह से अनुवासनवस्ति दें।

वक्तव्य—कल्क १ शराव (३२ तोला), स्नेह २ प्रस्थ (१२८ तोला), गाय का दूध ८ प्रस्थ (५१२ तोला) इस अनुपात से द्रव्यों का प्रयोग करें। वाग्भट ने भी इसी योग को प्रकारान्तर से उद्धृत किया है। देखें—अ० हृ० चि० अ० ८ श्लोक १२५ से १२९ तक।

ह्रीबेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गाचव्यचन्दनम् । पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च ॥२३०॥
दार्वीत्वङ् नागरं मांसी मुस्तं क्षारो यवाग्रजः । चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम् ॥
ऐकध्यं साधयेत् सर्वं तत् सर्पिः परमौषधम् । अर्शोऽतिसारग्रहणीपाण्डुरोगे ज्वरेऽरुचौ ॥२३२॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे वस्त्यानाहे प्रवाहणे । पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले योज्यमेतत् त्रिदोषनुत् ॥२३३॥

इति ह्रीबेरादिघृतम् ।

ह्रीबेरादि घृत—हाऊबेर, नीलोफर, पठानीलोध, मजीठ, चव्य, लालचन्दन, पाठा, अतीस, बेल की गुद्दी, धाय के फूल, देवदारु, दारुहल्दी, दालचीनी, नागर (सोंठ), जटामांसी, नागरमोथा, जवाखार, चीते की जड़, इन द्रव्यों को समान मात्रा में पीसकर कल्क तैयार करें, कल्क की मात्रा से गाय का घी चौगुना और घी से चौगुना चांगेरी (तिपतिया) का स्वरस लेकर इन सबको एक में मिलाकर घृतपाक-विधि से इसका पाक करें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। यह ह्रीबेरादि घृत उत्तम औषध है। इसका प्रयोग अर्शोरोग, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डुरोग, ज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, वस्ति का फूल जाना, प्रवाहिका, गुदमार्ग से निरन्तर पंछा जैसा निकलना तथा अर्श-जनित शूल में करना चाहिए। यह घृत तीनों दोषों का नाश करता है।

वक्तव्य—महर्षि वाग्भट ने इसका नाम **चांगेरीघृत** रखा है। देखें—अ० हृ० चि० अ० ८।१३०-१३३।

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥
कषाय एषां पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी । पिप्पली पिप्पलीमूलं नागरं सुरदारु च ॥२३५॥
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्पं वीरा [2]चन्दनमुत्पलम् । कट्फलं चित्रको मुस्तं प्रियङ्ग्वतिविषास्थिराः ॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका । बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमन्विताः ॥
चतुष्प्रस्थे शृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत् । त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो द्विपलाधिकः ॥२३८॥
सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च । सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥२३९॥
एतदर्शःस्वतीसारे रक्तस्रावे त्रिदोषजे । प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च ॥२४०॥
उत्थाने चातिबहुशः शोथशूले गुदाश्रये । मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि ॥२४१॥
प्रयोज्यं विधिवत् सर्पिर्बलवर्णाग्निवर्धनम् । विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम् ॥२४२॥

इति सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम् ।

सुनिषण्णकचांगेरीघृत—अवाक्पुष्पी (अंधाहुल), बलामूल, दारुहल्दी, पिठवन, गोखरू, वटशुंग (टूसा), गूलर का टूसा, पीपल का टूसा, प्रत्येक द्रव्य २-२ पल (८-८ तोला), जौकुट किये हुए इन द्रव्यों का क्वाथविधि से पाक करें। जीवन्ती, कुटकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, देवदारु, इन्द्रजौ, सेमल के फूल, शतावरी, लालचन्दन, नीलोफर (नीलकमल; पाठभेद के अनुसार—अंजन), कट्फल (कायफल या काफल के पेड़ का छिलका), चीते की जड़, नागरमोथा, फूलप्रियंगु, अतीस, सरिवन, लालकमल तथा नीलकमल का केसर, मजीठ, भटकटैया, बेल की गुद्दी, मोचरस, पाठा—इन सभी द्रव्यों का १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर

१. 'पिच्छान वस्तौ' इति पा०। २. 'चन्दनमञ्जनम्' इति पा०।

इनका कल्क तैयार करें। ऊपर कहे गये अवाक्पुष्पी आदि ८ द्रव्यों को ४ प्रस्थ (२५६ तोला) जल में डालकर पकायें, जब १ प्रस्थ (६४ तोला) पानी शेष रह जाये तब उस कषाय (क्वाथ) को उतार लें।

विशेष परिभाषा—केवल इस घृत के पाक में ३२ पल का प्रस्थ लेना चाहिए (ऊपर जो मान दिये गये हैं, वे साधारण मागधमान हैं)। सुनिषण्णक (चौपतिया) और चांगेरी (तिपतिया) का पृथक् पृथक् १-१ प्रस्थ स्वरस लें। अब उक्त क्वाथ, कल्क, स्वरस इन सबको एक में मिलाकर १ प्रस्थ गाय के घी को पकायें। विधिवत् पाक हो जाने पर इसे छानकर रख लें।

यह सुनिषण्णकचाङ्गेरी घृत अर्शोरोग, अतिसार, त्रिदोषज रक्तस्राव, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, विविध प्रकार के पिच्छास्राव, बार-बार शौच लगने पर, गुद में होने वाले शोथ तथा शूल में, मूत्रावरोध में, मूढवात (अपान-वायु के बाहर न निकल पाने) में, मन्दाग्नि में, अरुचि में प्रयोग करने से लाभदायक होता है। इस घृत का विधिपूर्वक सेवन करने से शारीरिक बल, वर्ण (रूप) तथा अग्नि (जठराग्नि) की वृद्धि होती है। अनेक प्रकार के भोजनों तथा पेय पदार्थों के साथ अथवा स्वतन्त्ररूप से भी इसका सेवन सर्वथा निरापद होता है।

वक्तव्य—ऊपर तन्त्रकार ने 'त्रिंशत्पलानि तु प्रस्थो विज्ञेयो द्विपलाधिकः'। यहाँ एक विशेष वचन प्रस्तुत किया है। इसकी व्याख्या करते हुए श्रीजयदेव ने लिखा है—'सामान्य प्रस्थ १५ पल का होता है' यह भ्रामक वचन है। चरक, सुश्रुत, शार्ङ्गधर तथा आधुनिक सभी मान इस अंश में एक होकर १६ पल का १ प्रस्थ स्वीकार करते हैं, जो ६४ तोला के बराबर होता है। यहाँ तन्त्रकार का यह वचन 'द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा' का समर्थक है। इस अनुपात से आप ऊपर के मानों को दूना करके प्रयोग करें। वृद्धवाग्भट ने इस योग को उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।३३। श्रीइन्दु ने चांगेरी स्वरस को घी के प्रमाण से चौगुना लेने की आज्ञा दी है।

भवन्ति चात्र—

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत् । नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान् ॥

अर्श में कर्म-वैपरीत्य—इस सम्बन्ध में कुछ पद्य यहाँ दिये गये हैं—अर्शोरोगी के अग्निबल को बढ़ाने की अपेक्षा (इच्छा) करता हुआ चिकित्सक प्रतिदिन व्यत्यास (विपरीत क्रम) से कभी मधुररस-प्रधान पदार्थों को तो कभी मधुर के विपरीत अम्लरस-प्रधान पदार्थों को खाने के लिए दें, इसी प्रकार कभी शीतल पदार्थों को दे तो कभी उसके विपरीत उष्ण पदार्थों का प्रयोग कराये। इस प्रकार के आहार-विहार क्रम से अर्शो-रोग को जीता जा सकता है।

वक्तव्य—मधुररस-प्रधान पदार्थ सुखद तथा शक्तिवर्धक होते हैं, अम्लरस-प्रधान पदार्थ रुचि तथा अग्नि को बढ़ाने वाले होते हैं। अर्शोरोगी के लिए बदल-बदलकर दोनों की आवश्यकता है। शीतवीर्य द्रव्य दाहनाशक, रक्तस्तम्भक आदि गुणों से युक्त होते हैं। उष्णवीर्य द्रव्य वातकफदोष-नाशक होते हैं। जैसे—सूरण। व्यत्यास-क्रम का प्रयोग कुशल चिकित्सक पर निर्भर करता है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्थलों पर इसका प्रयोग करना ही पड़े।

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः । अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥२४४॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः । तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ॥२४५॥

अर्शादि में अग्निबल की रक्षा—अर्श, अतिसार और ग्रहणी—ये तीनों रोग प्रायः एक दूसरे रोग के कारण (निदान) स्वरूप होते हैं। इन रोगों में जब रोगी का अग्निबल क्षीण हो जाता है, तो रोग की वृद्धि हो जाती है और जब अग्निबल की वृद्धि हो जाती है तब रोग का बल घट जाता है। इसलिए उक्त तीनों रोगों में विशेष करके अग्निबल की रक्षा करनी चाहिए।

वक्तव्य—उक्त पद्य में अर्श, अतिसार और ग्रहणीरोग इन तीनों को परस्पर एक-दूसरे का कारण बतलाया है, क्योंकि अग्निबल के क्षीण होने से तीनों रोगों की वृद्धि होती है और अग्निबल की वृद्धि होने पर ये तीनों रोग क्षीण हो जाते हैं। इन तीनों का एक हेतु तो अग्निबल का क्षीण होना स्पष्टतः कहा ही है। दूसरा कारण है—ग्रहणी नामक छठी पित्तधराकला में विकृति का आ जाना; यह आमाशय और पक्वाशय के मध्य में रहती है। पाचकाग्नि के दूषित होने पर जब यह दूषित हो जाती है, तब यही रोग का रूप धारण कर लेती है।

अजीर्ण चिकित्सा की भाँति ही ग्रहणी का भी उपचार किया जाता है। यही स्थिति अतिसार रोग की भी है। अतएव इनको परस्पर हेतु कहा गया है।

श्रीवाग्भट ने भी एक पद्य इसी प्रकार का दिया है—'अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः। सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम्' ॥ अ० हृ० चि० अ० ८।१६४। यही पद्य अ० सं० चि० अ० १०।६३ में भी दिया है।

भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः। क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विविधैर्गुदजाञ्जयेत् ॥२४६॥

अर्श में विविध प्रयोग—घी या तेल अथवा यमक स्नेह में भूंजे गये तथा इस अध्याय में कहे गये शाकों, यवागुओं, यूषों, मांसरसों, खडयूषों तथा विविध औषधद्रव्यों द्वारा पकाये गये दूधों एवं मठा के प्रयोगों से अर्शरोगों को जीतना चाहिए।

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये। अन्नपानौषधद्रव्यं तत् सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥२४७॥

अर्शरोग में पथ्य—अर्श रोगियों को चाहिए कि जो आहार-विहार तथा वातदोष का अनुलोमन करने में समर्थ हों और जो अग्नि (पाचकाग्नि या जठराग्नि) की शक्ति को बढ़ाने में सक्षम हों, उन-उन आहार-विहार एवं औषधद्रव्यों का अर्श रोगी प्रतिदिन सेवन करें।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने उक्त पद्य द्वारा अर्श रोगियों के लिए अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों में जो हितकर पदार्थ कहे हैं, उन सबके सेवन का अनुमोदन कर दिया है। यह है प्राचीन मनीषियों की उदार परम्परा।

यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यच्च दर्शितम्। गुदजाभिपरीतेन तत् सेव्यं न कदाचन ॥२४८॥

अर्शरोग में अपथ्य—अर्शरोगियों के लिए ऊपर कही गयी हितकर विधियों के जो विपरीत हों और निदानस्थान में वर्णित, अर्थात् जिनके कारण अर्शरोग की उत्पत्ति होती है, उन सबका अर्शरोग से पीड़ित व्यक्तियों को कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए।

तत्र श्लोकाः—

अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च। स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः॥
अभ्यङ्गाः स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः। शोणितस्यावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः ॥२५०॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः। योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि विविधानि च ॥२५१॥
वस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः। [1]शुष्काणामर्शसां शस्ताः स्राविणां लक्षणानि च॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम्। रक्तसङ्ग्रहणाः क्वाथाः पेष्याश्च विविधात्मकाः॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः। प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च ॥२५४॥
अतिवृत्तस्य रक्तस्य विधातव्यं यदौषधम्। तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते ॥२५५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में कुछ श्लोक कहे गये हैं—गुदज अर्थात् अर्श चिकित्सा नामक इस अध्याय में दो प्रकार के अर्शों की उत्पत्ति के अलग-अलग कारण, स्थान, संस्थान (आकृति) लिङ्ग, साध्य तथा असाध्य का निर्णय अभ्यङ्ग, स्वेदन, धूम, अवगाहन, प्रलेपन, रक्तावसेचन (रक्त का निर्हरण), अग्नि को दीप्त करने तथा भोजन को पचाने वाले योग, वात (अपानवायु) तथा मल को अनुलोमन करने वाले प्रमुख अन्न-पानों का विधान, अर्श-शामक प्रयोग, अनेक प्रकार के घृतयोग, वस्तियाँ, मठे के प्रयोग, उत्तम प्रकार के अरिष्ट तथा शर्करारिष्ट, जो शुष्कार्शों में प्रशस्त कहे गये हैं; जिन अर्शों में से स्राव निकलता है, उनके लक्षण, रक्तार्श में वात एवं कफ का अनुबन्ध, उनकी श्रेष्ठ चिकित्सा, रक्तस्राव-नाशक

१. 'शुष्कार्शसां प्रशमनाः' इति पा०।

क्वाथ, अनेक प्रकार के पेष्य (कल्क) प्रयोग, स्नेहप्रयोग-विधि, उत्तम आहार-विधि, प्रतिसारण-प्रयोग, गुद-प्रक्षालन, अवगाहन, प्रदेह, परिषेचन, अधिक निकलने वाले रक्त की क्या चिकित्सा करनी चाहिए, वह सब इस अध्याय में वर्णित है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने अपनी-अपनी संहिताओं में अर्शरोग में प्रायः होने वाले उदावर्त रोगी की चर्चा की है। देखें—अ० सं० चि० अ० १०।५४ तथा अ० हृ० चि० अ० ८।१३५-१३९। महर्षि आत्रेय ने इसकी चर्चा च० चि० अ० २६।५-३१ में की है।

वाग्भट ने अपनी संहिता में अर्शोरोगियों के लिए कुछ ऐसे प्रयोग कहे हैं, जो वास्तव में अर्शरोग पर आशुफलप्रद देखे गये हैं। वैसे तो यह रोग ही दुर्नाम (बदनाम) है जो कि शीघ्र ठीक होता ही नहीं, फिर भी निम्नलिखित योगों का प्रयोग कराकर आप यशस्वी बनें और रोगियों को सुखी करें—१. चित्रकावलेह, २. गुडादिगुटिका, ३. सूरणपुटपाक, ४. सूरणगुटिका, ५. सूरणपिण्डी, ६. वडवामुखचूर्ण, ७. भल्लातक योग (इन्हें देखें—अ० हृ० चि० अ० ८ श्लोक १५३ से १६० तथा १६२) सूरण और भल्लातक योग विधिपूर्वक तैयार करायें अन्यथा ये प्रत्यक्ष हानिकारक होते हैं। सुश्रुत में भी भल्लातककल्प के सेवन करने की आज्ञा है, इसके सेवन काल में वृद्धि तथा ह्रास क्रम से १००० भिलावों को खाने या खिलाने का विधान है। विधिवत् सेवन करने के बाद इसका लाभ प्रत्यक्ष दिखलायी देता है। भिलावों के सेवन की विशेष विधि के लिए देखें—च० चि० अ० १ पाद २।१३। इनका उभयविध प्रभाव तन्त्रकार ने इस प्रकार प्रकट किया है—'भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च। भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि' ॥ च० चि० अ० १ पाद २।१७।

विशेष वक्तव्य—ये अर्श मूलतः दो प्रकार के होते हैं—१. सहज (जन्मजात), २. उत्तरकालज। पुनः इनके दो भेद किये जाते हैं—१. स्थानिक (जो गुदवलियों पर होते हैं) २. सार्वदैहिक (जो शरीर के किसी अवयव में भी उत्पन्न हो सकते हैं)। मूल रूप में ये अर्श चार प्रकार के होते हैं, जिनका क्रमिक परिचय तथा उनकी चिकित्सा का विधान यहाँ दिया जा रहा है।

१. **औषधयोगों से**—अभिनव अर्श, अल्पदोषज तथा अल्प लक्षणों से युक्त अर्श एवं वे अर्श जो भीतरी वलियों में होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते, वे सभी साध्य होते हैं।

२. **क्षारकर्म से**—उन अर्शांकुरों की चिकित्सा की जा सकती है, जो सुकोमल (मृदु) हों, फैले हों, जो रक्त-पित्तज हों उन पर प्रतिसारणीय क्षार या क्षार-सूत्रों का प्रयोग किया जाता है। क्षार, अग्नि तथा शस्त्रकर्म की विशेष विधि के लिए सु० चि० अ० ६ को विस्तार से देखें।

३. **अग्निकर्म से**—उन अर्शांकुरों की चिकित्सा की जाती है, जो खुरदर, कठोर, चौड़े, स्थिर तथा वात-कफदोष-प्रधान होते हैं। इसमें लौहशलाका को आग में तपाकर मस्सों को जलाया जाता है। इसके सम्यग्दग्ध, हीनदग्ध, अतिदग्ध आदि भेद होते हैं। ये सभी कर्म सम्यक् कर्माभ्यास के बिना नहीं करना चाहिए।

४. **शस्त्रकर्म से**—पतली जड़ वाले, त्वचा के स्तर से ऊपर उठे हुए, क्लेदयुक्त, दोषज, सहज तथा सार्वदैहिक सभी प्रकार के अर्श शस्त्र द्वारा काटकर दूर किये जाते हैं। इसकी विशेष विधि के लिए सु० चि० अ० ६ को सम्पूर्ण देखें।

अर्शचिकित्सा में सुश्रुत का यह वचन ध्यान देने योग्य है—'जिस प्रकार सभी कुष्ठों को खैर और विजयसार के प्रयोगों से नष्ट किया जा सकता है, उसी प्रकार सभी अर्शों को भिलावों तथा कुटज के प्रयोग नष्ट करते हैं। जिस प्रकार हरिद्रा के सेवन से सोलह प्रकार के प्रमेह नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार दिखलायी देने वाले गुदांकुर (मस्से) क्षार तथा अग्नि के प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं। देखें—सु० चि० अ० ६।१९-२०।

निष्कर्ष—वातज, कफज अर्शों में भिलावा का और रक्तज, पित्तज अर्शों में कुटज का प्रयोग अधिक लाभदायक होता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में अर्शश्चिकित्सित नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो ग्रहणीदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अर्श-चिकित्सा का व्याख्यान करने के पश्चात् अब हम ग्रहणीदोष-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—पहले अध्याय में तन्त्रकार यह स्वीकार कर चुके हैं—'त्रयो विकारा प्रायेण ते परस्परहेतवः। अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च'॥ च० चि० अ० १४।२४४। अर्थात् जठराग्नि के मन्द पड़ जाने के कारण अर्श, अतिसार, ग्रहणीरोगों की उत्पत्ति होती है। 'अन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता' अन्न का ग्रहण करने के कारण इसे ग्रहणी कहते हैं, जैसा कि आगे कहा जायेगा। वास्तव में छठी पित्तधराकला का नाम ग्रहणी है। जब यह अग्नि के मन्द पड़ जाने से अपने कर्म में असमर्थ हो जाती है, तो यही रोग का रूप धारण कर लेती है, इसी की प्रस्तावना आगे की जा रही है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १५। अ० सं० नि० अ० ८। अ० सं० चि० अ० १२। अ० हृ० नि० अ० ८। अ० हृ० चि० अ० १०। सु० उ० अ० ४०।

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥३॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः। रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥४॥

आयु आदि का देहाग्नि से सम्बन्ध—आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, शरीर की वृद्धि, प्रभा (कान्ति), ओज, तेज, अग्नियाँ तथा प्राण—ये सभी देह में स्थित अग्नि (पाचकाग्नि या जठराग्नि) के तीव्र होने पर ही अपनी उत्तम स्थिति में बने रहते हैं। यदि वह जठराग्नि शान्त हो जाती है, अर्थात् बुझ जाती है तो मनुष्य मर जाता है, उसके ठीक चलते रहने पर वह चिरकाल तक नीरोग रहकर जीवित रहता है और उसके विकृत (विकारयुक्त) हो जाने पर अर्थात् मन्द पड़ जाने पर अथवा अतितीव्र हो जाने पर वह रोगी हो जाता है। इसलिए अग्नि को मूल (जीवन का प्रधान) कारण कहा गया है।

वक्तव्य—कफ, पित्त, वायु की अधिकता या उनकी समानता के कारण जठराग्नि क्रमशः मन्द, तीक्ष्ण, विषम एवं सम भेद से चार प्रकार की होती है। चक्रपाणि के अनुसार भूताग्नियाँ पाँच हैं और धात्वग्नियाँ (जो रसादि सात धातुओं का पाक करती हैं, वे) सात हैं—इस प्रकार १२ अग्नियाँ आयुर्वेद में मानी गयी हैं। प्रथम पाँच अग्नियाँ शरीर के विभिन्न अंगों में रहने वाले पाँच पित्त हैं। १. **पाचकपित्त**—इसका स्थान है—अग्न्याशय; यह आहार को पचाता है, अतएव इसे पाचकपित्त कहते हैं—'पाचयति आहारम्, इति'। २. **भ्राजकपित्त**, इसका स्थान है—त्वचा; यह लेप, अभ्यंग आदि द्वारा वर्ण को प्रकाशित करता है, अतएव इसे भ्राजकपित्त कहते हैं—'भ्राजयति प्रकाशयति वर्णम्, इति'। ३. **रञ्जकपित्त**—इसका स्थान है—यकृत्; यह आहार रस का रंजन कर रस को रक्त के रूप में परिवर्तित कर देता है, अतएव इसे रञ्जकपित्त कहते हैं—'रञ्जयति रक्तीकरोति रसम्, इति'। ४. **आलोचकपित्त**—इसका स्थान है—नेत्रयुगल; यह रूप का दर्शन करता है, अतएव इसे आलोचकपित्त कहते हैं—'आलोचयति दर्शयति रूपम्, इति'। ५. **साधकपित्त**—इसका स्थान है—हृदय; यह मेधा (बुद्धि) तथा प्रज्ञा (सोचने, विचारने की शक्ति) का कारण है, अतएव इसे साधकपित्त कहते हैं—'साधयति कार्याणि, इति'। वास्तव में ताप या सन्तापजनक पदार्थ का नाम 'पित्त' है। पित्त शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—अपि+दो+क्त—अपेः अकारलोपः। देखें—अमरकोष।

देहाग्निहेतुकाः प्राणाः—अग्नि (पित्त के पाँचों भेद), सोम (कफ, रस, शुक्र) वायु, सत्त्व, रज, तम, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और भूतात्मा इनकी प्राण संज्ञा है। देखें—सु० शा० अ० ४।३। अतएव यहाँ 'प्राणाः' इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है। प्राणवायु के रूप में इस शब्द का एकवचनान्त रूप भी प्रयुक्त होता है। देखें—'यो वायुर्वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तःप्राणांश्चाप्यवलम्बते'॥ सु० नि० अ० १।१३। इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त प्राण शब्द प्राणवायु का सूचक है और यही शरीर के भीतर प्रवेश कर सु० शा० अ० ४ में निर्दिष्ट प्राणों की भी सहायता करता है।

सामान्य चिकित्सा-सूत्र—'ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्। अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विपाचयेत्'॥ इसके लिए अजीर्ण एवं अतिसार की चिकित्सा-विधियों पर सावधानीपूर्वक ध्यान दें।

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः॥५॥

जठराग्नि की प्रधानता—जो अन्न (खाया हुआ आहार) शरीर, धातु, ओजस्, बल, वर्ण आदि को प्रतिदिन पुष्ट करता है। उसमें जठराग्नि (भोजन को पचाने वाली अग्नि) ही प्रधान कारण होती है, क्योंकि अपक्व आहार से रस आदि धातुओं की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

वक्तव्य—रस आदि शब्द से रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र; इनका तथा इनकी समष्टि से प्राप्त शारीरिक बल, ओजस्, वर्ण आदि की उपलब्धि भी भोजन के सम्यक् परिपाक से ही सम्भव है। अतः हमारे जीवन के सम्यक् निर्वाह के लिए जठराग्नि का विशेष महत्त्व दिखलाया गया है।

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद् द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥६॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः[1] पवनोद्वहः। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥७॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥८॥

आहार के पाचन की व्यवस्था—भुक्त आहार को अपनी ओर लेने की अभ्यस्त प्राणवायु उसे कोष्ठ (आमाशय) की ओर ले जाती है, जब वह संघातरूप अन्न (आहार) आमाशय में पहुँच जाता है, तो आमाशय में रहने वाला द्रव (क्लेदक कफ) उसे गीला करके अलग-अलग कर देता है तथा अपने स्नेह से अर्थात् उससे सटकर उस भोजन को कोमल बना देता है। तदनन्तर नाभिमंडल-स्थित समान वायु द्वारा प्रदीप्त की गयी वह उदरस्थ अग्नि समय पर सममात्रा में खाये हुए आहार को मनुष्य की आयु को बढ़ाने के लिए ठीक प्रकार से पचाती है। जिस प्रकार भात बनाने के लिए बटलोई में चावल और पानी डालकर उसके नीचे से आग सुलगा दी जाती है, तो कुछ ही समय में भात तैयार हो जाता है, उसी प्रकार जठराग्नि भुक्त आहार का रस तथा मल का विभाजन करने के लिए उसका पुनः पाक करती है।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में खाये गये भोजन का किस प्रकार और किस लिए परिपाक होता है, का परिचय दिया गया है। ऊपर हमने ३, ४ श्लोक के वक्तव्य में सु० नि० अ० १।१३ का एक पद्य उद्धृत किया है उसका और यहाँ दिये गये ६-७ वें पद्यों का आशय समान है।

उदर्यः पवनोद्वहः—इसके स्थान पर 'उदीर्णः पवनेन तु' पाठभेद दिया गया है। आप ध्यान दें—यहाँ 'अवधूत' शब्द का अर्थ है—धौंकना; आग को बुझाने के लिए नहीं अपितु सुलगाने के लिए धौंका जाता है। उद्वहः—इसकी लपटें ऊपर को उठती हैं। 'पवनेन+उद्वहः=पवनोद्वहः'। दोनों पाठों में ये अर्थ समान रूप से मिल जायेंगे। किन्तु यह 'उदरस्थित अग्नि' है। यह अर्थ केवल निर्णयसागरीय 'उदर्यः' पाठ से ही प्राप्त हो रहा है न कि 'उदीर्णः' पाठ से।

भुक्त अन्न परिपाक का फल—१. रस और २. मल है। रस से शेष ६ धातुओं का पोषण होता है तथा मल का महत्त्व है—'मलायत्तं बलं पुंसाम्'। यहाँ 'पुंसाम्' शब्द प्राणिमात्र का बोधक है। ये दोनों ही फल उसे प्राप्त हो सकते हैं, जो समय पर सम परिमाण में भोजन करेगा। आहार-विधान का विस्तृत विवेचन च० वि० अ० १।२४ से २५ तक के गद्य में देखें। आहार को पचाने वाले कारणों में—ऊष्मा (अग्नि), वायु, क्लेद (जल तथा क्लेदक कफ), स्नेह, काल (अवधि) इन सबका समयोग आवश्यक होता है।

खाया हुआ भोजन जब भीतर जाता है, तो उसका सम्पर्क द्रव तथा स्नेह से होता है। ये दोनों स्वरूप कफ के हैं। आप कफ के गुण-धर्मों को देखें—वह क्लेदन एवं स्नेहन दोनों गुणों वाला होता है। यही आशय आचार्य गंगाधर का भी है।

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात् कफो भावात् [2]फेनभूत उदीर्यते॥९॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥१०॥

१. 'उदीर्णः पवनेन तु' इति पा०।
२. 'फेनभावः' इति पा०।

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना । परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥

अन्न-परिपाक से दोष-वृद्धि—षड्रसात्मक भोजन का आमाशय में जाकर जब पुनः पाक होता है, तो वे छहों रस पहले मधुररस के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, उस फेन(झाग)स्वरूप मधुर आहाररस से कफ की वृद्धि हो जाती है। तदनन्तर वह पकता हुआ आहार विदग्ध (अम्लपाक) होकर जब अम्लरस के रूप में बदल कर आमाशय से निकलकर पक्वाशय में जाने लगता है, तो अम्लरस के कारण तरल पित्त की वृद्धि हो जाती है। जब वह आहार क्रमशः पक्वाशय में पहुँच जाता है और अग्नि द्वारा सुखा दिया जाता है, तब वह पककर पिण्ड का रूप धारण कर लेता है, तदनन्तर इस आहार मल के कटुभाव को प्राप्त होने के कारण ही वायु की वृद्धि हो जाती है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने इस प्रकार के पाक को 'अवस्थापाक' कहा है और स्वतः शंका की है—'ननु यद्यत्रावस्थापाकवशात् षण्णामेव रसानां कफादिकर्तृत्वमुच्यते तदा कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। च० सू० अ० २६।५८। इत्यादिना यो विपाक उच्यते स विरुध्यते, अवस्थापाकेनैव बाधितत्वात्; मैवं नह्यवस्थापाकोऽयं रसस्वभावं निष्ठापाकं च बाधते। किन्त्ववस्थायां स्वकार्यं करोति। यथा—मधुरतिक्तादिषड्रसेऽन्ने उपयुक्ते मधुरोऽपि स्वकार्यं करोति, तिक्तादयश्च स्वं कार्यं कुर्वन्ति। अयन्तु विशेषः—यन्मधुराख्यस्यावस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति, तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति, यदा त्ववस्थापाको विपरीतकटुपाकादिपरिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति; एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि वाच्यम्'।

भोजन जब पचने लगता है, तो क्रमशः कफ, पित्त एवं वात की वृद्धि होती है। यही कारण है कि संशोधन-प्रक्रिया में आमाशय-स्थित कफदोष का वमन द्वारा और वात-पित्त का विरेचनकारक योगों द्वारा निर्हरण किया जाता है।

षड्रसस्य प्रपाकतः—उत्तम आहार की परिभाषा है—छहों रसों का सम्मिलित भोजन और अधम आहार वह है, जिसमें केवल एक रस का प्रयोग हो। देखें—च० सू० अ० २५।४०। 'प्रपाक' शब्द का तात्पर्य है—बाहर पकाये गये अन्न का आमाशय में जाकर पुनः पाक होना।

मधुराद्यात्—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'मधुरश्च असौ आद्यश्चेति, मधुराद्यः, तस्मात्'। किंवा 'मधुरात् प्राक् कफो भावात्'। श्रीजयदेव ने मूल में 'मधुरात् प्राक्' पाठ को स्वीकार कर अपनी टिप्पणी में श्रीगणनाथ सेन सम्मत 'मधुराख्यात्' पाठ को उद्धृत किया है, जो अर्थ की दृष्टि से विशेष महत्त्व का नहीं है।

अन्नमिष्टं [1]ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्। देहे प्रीणाति गन्धादीन् [2]घ्राणादीनीन्द्रियाणि च ॥

प्रिय आहार से लाभ—गन्ध, वर्ण, रस आदि से समृद्ध, मन के अनुकूल हितकर आहार द्रव्यों का सेवन, शरीर, गन्ध आदि विषयों एवं उनको ग्रहण करने वाली घ्राण (नासिका) आदि ज्ञानेन्द्रियों को भी तृप्त करता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद में तीन प्रकार की ऐषणाओं का उल्लेख है। उनमें प्राणैषणा का आधार उत्तम भोजन ही है। क्योंकि कहा है—'अन्नं वृत्तिकराणाम्'। च० सू० अ० २५।४०। भोजन रुचिकर और इष्ट (प्रिय) गन्धों से युक्त हो जिससे उदरपूर्ति के साथ इन्द्रियों की भी तृप्ति होनी चाहिए। हितकर सर्वांगपूर्ण भोजन अपने पार्थिव गुणों से सर्वविध गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, शब्द का ग्रहण करने वाली इन्द्रियों को तृप्त करता है। संसार का सम्पूर्ण व्यवहार भोजन के लिए ही है। देखें—'सर्वम् अन्ने प्रतिष्ठितम्'। सूक्ति।

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥१३॥
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥

भूताग्नियों के कार्य—ऊपर कही गयी पाँच भूताग्नियों द्वारा पार्थिव आदि पाँच प्रकार के आहार-गुणों का परिपाक भौम (भूमि-सम्बन्धी), आप्य (जल-सम्बन्धी), आग्नेय (अग्नि-सम्बन्धी), वायव्य (वायु-

१. 'ह्युपकृत' इति पा०। २. 'घ्राणादीनिन्द्रियाणि' इति पा०।

सम्बन्धी), नाभस (आकाश-सम्बन्धी), ये पाँच प्रकार की ऊष्माएँ अपने-अपने पार्थिव आदि पाँच आहार गुणों का पाचन करती हैं। इस प्रकार भूताग्नियों द्वारा पकाये गये उक्त आहार द्रव्यों के गुण अपने-अपने देहद्रव्य-गुणों का पोषण करते हैं। ध्यान रहे कि पार्थिव आहारगुण पार्थिव देहगुण का ही पोषण करेंगे, दूसरों का नहीं। इसी प्रकार शेष गुणों को भी समझना चाहिए।

वक्तव्य—संसार के सभी पदार्थ औषधिभूत हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसका प्रयोग चिकित्सा के लिए न किया जा सके। देखें—च० सू० अ० २६।१२। इसे शास्त्र ने 'प्रतिनियतद्रव्यगुणोपदेश' कहा है। दूसरा सिद्धान्त है—**'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे; तच्चेतनावदचेतनं च, तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः'**। च० सू० अ० २६।१०। अर्थात् इस आयुर्वेद में सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं या ग्रहण किये जाते हैं। वह द्रव्य चेतन और अचेतन भेद से दो प्रकार का होता है। उस द्रव्य के गुण शब्द आदि (पाँच) और गुरु से लेकर द्रव पर्यन्त (बीस) होते हैं। इसका विशेष विवेचन 'चरक-चन्द्रिका टीका' पृ० ४७० से ४७१ तक देखें। इस प्रकरण में भौम आदि सभी द्रव्यों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति—पाञ्चभौतिक गुणों की समष्टि से सम्पूर्ण आहार द्रव्य अपने-अपने गुण से शरीर-स्थित अपने-अपने तत्त्व का पोषण करते हैं, ऐसा जो ऊपर कहा गया है यह त्रिकालाबाधित सत्य है। देखें—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'। च० सू० अ० १।४४। इसका व्याख्यान चरकचन्द्रिका टीका प्रथम भाग के पृ० १५-१६ में देखें। सामान्य-विशेष भावों का संक्षेपतः उल्लेख च० सू० अ० १ के २८वें पद्य की टीका में किया जा चुका है। 'यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति' कहने के बाद फिर तन्त्रकार ने 'पार्थिवाः पार्थिवानेव पुष्णन्ति' की जो पुनरुक्ति की है, इसका तात्पर्य है कि पार्थिव आहारगुण-प्रधान पदार्थ शरीरस्थित मांस धातु का ही विशेष रूप से पोषण करते हैं, क्योंकि मांस धातु पार्थिवगुण-प्रधान है। इसी प्रकार अन्य जलीय आदि पदार्थों के बारे में भी समझें।

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति [1]किट्टप्रसादवत् ॥१५॥

प्रसाद तथा किट्ट पाक—देह को धारण करने वाली रस आदि सात धातुएँ अपनी-अपनी धात्वग्नियों द्वारा प्रसाद तथा किट्ट रूप में दो प्रकार से पाक को प्राप्त होती हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार बाहर की अग्नि द्वारा पका हुआ आहार द्रव्य भोजन कर लेने के बाद आमाशय आदि अवयवों में जाकर पुनः पकता है, अथवा वे अवयव उस आहार को अपने ढंग से पकाकर उसे दो भागों—१. रस और २. किट्ट (मल) में विभक्त कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार धात्वग्नियाँ रस आदि सातों धातुओं का क्रमशः पाक करके उनको अग्रिम रूप (रस को रक्त का, रक्त को मांस का इत्यादि) देती जाती हैं और साथ ही इन रसादि धातुओं के मल शरीर से बाहर होते रहते हैं।

सप्त धातुओं के मल—१. जीभ, नेत्र और कपोल (गाल का भीतरी भाग) से निकलने वाला जल रसधातु का मल है। २. रस को रंग कर रक्त रूप में परिणत करने वाला रञ्जकपित्त रक्तधातु का मल है। ३. कान से निकलने वाला मैल (Wax of the ear) मांसधातु का मल है। ४. जीभ, दाँत, काँख एवं लिंग आदि में उत्पन्न होने वाला मल मेदोधातु का मल है। ५. नख, केश, रोम ये अस्थिधातु के मल हैं। ६. आँखों से निकलने वाली मैल (कीचड़) मज्जाधातु का मल है। ७. मुख (चेहरा) पर दिखलायी देने वाली चिकनाई और युवान पिडिकाएँ शुक्रधातु का मल है। देखें—'कफः पित्तं मलं खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। नेत्रविट्त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।२५-२७। प्रथम मत को हिन्दी में विस्तारपूर्वक दे दिया है, द्वितीय मत उसी से मिलता-जुलता है, अतः उसे श्लोक रूप में ही दे दिया है। इसी का वर्णन चरक ने १८वें तथा १९वें श्लोकों में किया है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ॥
रसात् स्तन्यं [2]ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः [3]स्नायुसम्भवः ॥

१. 'किट्टप्रसादतः' इति पा०। २. 'स्त्रियाः' इति पा०। ३. 'स्नायुसन्धयः' इति पा०।

रसादि धातुओं का उत्पत्ति क्रम—रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि (हड्डी), अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र (वीर्य) और शुक्र से गर्भ की उत्पत्ति होती है। इनमें से पूर्व पूर्व धातु के प्रसाद (उत्तम अंश) से अगली-अगली धातुओं की उत्पत्ति होती है।

उपधातु—रस से स्तन्य (स्त्रियों के स्तनों में उत्पन्न होने वाला दूध) और आर्तव तथा रक्त से कण्डराएँ, शिराएँ, मांस से वसा एवं छः त्वचाएँ और मेदो धातु से स्नायुओं की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—शास्त्रानुमोदित आहार में उन सभी तत्त्वों का समावेश होता है, जिन तत्त्वों की आवश्यकता शरीर-पोषण के लिए अपेक्षित होती है। इस प्रकार के आहार का परिपाक होने पर जो सारभूत पदार्थ आहार से प्राप्त होता है, वह है 'रस' धातु। यह उत्तरोत्तर सभी धातुओं का पोषण करता है। देखें—'धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति; ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः' । च० शा० अ० ६।१०। और भी—'तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण' । च० शा० अ० ६।१०। वास्तव में रसधातु का जितना भाग रञ्जकपित्त द्वारा रंग दिया जाता है, वह रक्त रूप को धारण कर रक्तवाहिनी धमनियों द्वारा सम्पूर्ण धातुओं का पोषण करता है। इसे कुछ न्यायमति टीकाकारों ने 'केदारकुल्या न्याय' की संज्ञा दी है, इस प्रकार के कुछ अन्य न्यायों का भी यहाँ समावेश किया है। इस प्रकार के न्याय व्याख्येय विषय के साथ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों के कारण कभी अन्याय कर बैठते हैं। मांस मांसपेशियों के रूप में रहता है, मेदा घी के समान जमा हुआ एक पदार्थ है, जो त्वचा के नीचे पाया जाता है, अस्थि सुपरिचित धातु है, मज्जा हड्डियों के भीतर पाये जाने वाला स्नेह द्रव है और भोजन का सर्वोत्तम सार धातु शुक्र है।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में रस आदि धातुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। पहला प्रकार वह है, जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। दूसरा प्रकार है—'पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम्' । सु० सू० अ० १५।१८। जब पहली धातु की अधिक वृद्धि हो जाती है, तब वह बाद वाली धातु को बढ़ाती है। दोनों बात एक ही है, दोनों में केवल उक्तिवैचित्र्य है। सच तो यह है कि सभी धातु पञ्चमहाभूतात्मक हैं, अतः सभी धातुओं में उनके मूल तत्त्व विद्यमान रहते हैं। सबका मूल कारण है—'तत्रैषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता' । सु० सू० अ० १४।११। अन्न-पान का सार भाग रस ही वास्तव में रक्त आदि धातुओं का पोषक है।

सात उपधातुएँ—शार्ङ्गधराचार्य ने उपधातुओं का परिचय इस प्रकार दिया है—'स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति। शुद्धमांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥ स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम्। इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।२८-२९। चरक में त्वचाओं को उपधातु माना है और इनकी संख्या छः स्वीकार की है। इसके विशेष विवेचन के लिए आप चरकचन्द्रिका टीका प्रथम खंड पृष्ठ ९१९-९२० देखें। शार्ङ्गधराचार्य ने इन त्वचाओं को धातुओं का मल कहा है और इनकी संख्या सुश्रुत आदि के अनुसार सात मानी गयी है।

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं, मांसस्य खमला, मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥
स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्। प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं[1]विधर्च्छतः ॥
[2]परस्परोपसंस्तम्भधा धातुस्नेहपरम्परा।

धातुओं के मल—खाये हुए भोजन के मल—मल और मूत्र, रस का मल कफ, रक्त का मल पित्त (रञ्जकपित्त), मांस का मल कान आदि की मैल, मेदस् का मल पसीना, अस्थि के मल केश तथा लोम, मज्जा का मल त्वचा का स्नेह और आँख की मैल (कीचड़) है। इस प्रकार धातुओं के पाक से दो प्रकार के परिणाम होते हैं—१. प्रसाद और २. किट्ट। ये परस्पर एक दूसरे को धातु-स्नेह परम्परा से धारण किये रहते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'संस्तम्भधा' पाठ दिया है, इससे 'संस्तब्धा' पाठ अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। ऊपर श्लोक १५ के वक्तव्य में हमने धातुओं के मलों का विस्तृत परिचय दिया है। उसे देखें।

१. 'पाकादेवाविगर्हतः' इति पा०। २. 'परस्परोपसंस्तम्भाद्धत्ते देहे परस्परम्' इति पा०।

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ॥ २० ॥
षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्। सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥२१॥

वृष्य आहारों का प्रभाव—वृष्य (वीर्यवर्धक) औषध द्रव्यों का प्रभाव शीघ्र ही बलकारक होता है। कुछ आचार्यों का कथन है कि उक्त धातुओं का परिवर्तन वृष्य आहारों का सेवन करने के बाद छः अहोरात्र (दिन+रात=२४ घंटा=१ अहोरात्र) में हो जाता है। उपर्युक्त भोज्य वस्तुओं का निरन्तर सेवन करने से चक्र की भाँति शुक्र-निर्माण का क्रम चालू रहता है।

वक्तव्य—'धातवो हि धात्वाहारा···मनुवर्तयतः' (च० सू० अ० २८।३-४) इस गद्य के अर्थ, वक्तव्य आदि को इसी के प्रथम खंड पृष्ठ ५४५-५४६ में देखें। वृष्य (शुक्रवर्धक) औषधों तथा आहार रसों का मानव शरीर पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। ये रस तीन प्रकार के होते हैं—१. वाजीकरण, २. शुक्रल, ३. शुक्रप्रवर्तक। क्रमशः परिचय—**१. वाजीकरण**—जिस द्रव्य के सेवन से मैथुनकर्म में हर्ष (अधिक आनन्द या उत्तेजना) प्राप्त हो, उसे वाजीकरण द्रव्य कहते हैं। जैसे—नागबला (खिरेटी) आदि औषध द्रव्य तथा किवाँच के बीज। ये द्रव्य नपुंसकता को भी दूर करते हैं। **२. शुक्रल**—जिस द्रव्य के सेवन से शुक्र (वीर्य) धातु की वृद्धि होती है, उसे शुक्रल कहा जाता है। जैसे—नागौरी असगन्ध, सफेद मुसली, शर्करा (मिश्री, खाँड़, चीनी) और शतावर की जड़। **३. शुक्र-प्रवर्तक**—जिन द्रव्यों के सेवन से वीर्य की उत्पत्ति हो और सरलता से वीर्य निकल सके उन्हें शुक्रप्रवर्तक द्रव्य कहते हैं। जैसे—दूध, उड़द, शुद्ध भिलावा, फल (बादाम, अखरोट, चिलगोजा आदि) की मज्जा (गिरी) तथा आँवले। उक्त द्रव्यों का सेवन करने से कभी-कभी स्वप्नदोष भी हो जाता है, अतः सावधान रहें।

सुश्रुत के अनुसार—'वाजीकरिण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद् विरेचनवदुपयुक्ताः शीघ्रं विरेचयन्ति। सु० सू० अ० १४।१७। वाजीकरण औषधियाँ अपने बल (प्रभाव) की उत्कर्षता से, संकल्प से, कान्ता स्पर्श आदि से, अपने गुणों की उत्कर्षता से, दूध, घी आदि के सेवन से विरेचक ओषधियाँ जिस प्रकार शीघ्र विरेचन करा देती हैं, उसी प्रकार ये शुक्र का स्राव करा देती हैं। यह शुक्रधातु बालकों में भी होती है, परन्तु उनमें यह शुक्र व्यक्त (प्रकट) नहीं हो पाता।

शुक्र की क्रमिक उत्पत्ति—कुछ विद्वानों का मत है कि भुक्त आहार रस छठे दिन वीर्य का रूप धारण कर लेता है, दूसरे विद्वान् सातवें दिन की चर्चा करते हैं, सबका अपना-अपना मत है। आचार्य पराशर का मत है कि आज किये हुए भोजन का रस कल बन पाता है, तीसरे दिन रक्त, चौथे दिन मांस, पाँचवें दिन मेदा, छठे दिन अस्थि, सातवें दिन मज्जा और आठवें दिन शुक्र की उत्पत्ति नियमानुसार होती है। पराशरसंहिता। सुश्रुत के अनुसार—'तत्र 'रसगतौ' धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः। स खलु त्रीणि-त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते, एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति'। सु० सू० अ० १४।१३-१४। रस शब्द का अर्थ है—प्रतिदिन गतिशील होना। यह रस प्रत्येक धातु में ३०१५ कला तक रहता है। इस प्रकार गति करता हुआ यह रसधातु एक मास में पुरुषों में शुक्र का और स्त्रियों में आर्तव का रूप धारण करता है। वास्तव में तीक्ष्णाग्नि तथा मध्यमाग्नि के भेद से भी रस का शुक्ररूप में परिवर्तित हो जाने तक की काल-सीमा का विचार विद्वानों ने किया है।

([1]इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्। रसाद्रक्तं [2]विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते ॥२२॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्। द्रवाद्रक्तात्स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥
[3]द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः सम्भवः कथम्। श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा। मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥२५॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः। तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥२६॥

१. 'इत्युक्तवन्तम्' इत्यादिः 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' इत्यन्तः पाठश्चक्रपाणिदत्तेनाव्याख्यातत्वादनार्ष इति प्रतिभाति।
२. 'प्रविशतः' इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः।
३. 'रसाद्रक्तात्तथा मांसान्मेदसः श्वेतता कथम्' इति पा०।

छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम् ।

अग्निवेश के प्रश्न—इस प्रकार उपदेश देते हुए आचार्य आत्रेय पुनर्वसु को अपने प्रश्नों के समाधान के लिए शिष्य (महर्षि अग्निवेश) ने प्रेरित किया—१. परस्पर एक-दूसरे के सदृश न होते हुए भी शरीर में रस से रक्त की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। रस में लालिमा है ही नहीं तो वह लालिमा को कैसे प्राप्त हो जाता है। २. रक्त द्रवस्वरूप है, उससे स्थिर मांस की उत्पत्ति कैसे हो जाती है ? ३. द्रव धातु (रस, रक्त) और स्थिर मांस से मेदो धातु की उत्पति कैसे हो जाती है ? ४. श्लक्ष्ण (कोमल, स्निग्ध) मांस और मेदो धातुओं से उत्पन्न अस्थियों में खरत्व (मृदु, द्रव, श्लक्ष्ण से विपरीतत्व) किस प्रकार आ जाता है ? ५. खर अस्थियों के बीच में स्निग्ध तथा मृदुगुण-प्रधान मज्जा की उत्पत्ति किस प्रकार हो जाती है ? ६. यदि मज्जा के परिणाम (परिपाक) से शुक्र की उत्पत्ति होती है, तब कैसे शरीरशास्त्रवेत्ता विद्वान् कहते हैं, कि शुक्र सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है ? ७. यदि हम यह मान लें कि हड्डियों के भीतर जो मज्जा रहती है, वही शुक्र के रूप में परिणत हो जाती है, अस्थियों में कहीं भी छिद्र नहीं दिखलायी देता तब वह (शुक्र) अवसर आने पर बाहर कैसे निकलता है ?

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ।। २७ ।।
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते । पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ।।२८।।

आत्रेय पुनर्वसु के उत्तर—रक्त आदि धातुओं के सम्बन्ध में शिष्य (अग्निवेश) द्वारा पूछे गये प्रश्नों का गुरु (आत्रेय) ने इस प्रकार उत्तर दिया—**रक्तधातु**—मनुष्य (जीव) मात्र में जो आहार रस का तेज कहा जाता है, उस तेज और पित्त की ऊष्मा के राग से वह रस रक्तता (लालिमा) को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—ऊपर सात प्रकार के धातुओं की सात धात्वग्नियों की चर्चा की गयी है। तदनुसार रसगत अग्नि धीरे-धीरे रस का पाक करती रहती है। इसे यहाँ पर 'रसानां तेजः' कहा गया है। इस प्रकार रस की धात्वग्नि और रञ्जकपित्त इन दोनों के सहयोग से रस में रक्तता आ जाती है। यह चरक का अभिमत है। सुश्रुत के अनुसार—'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति'। और भी—'रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते'॥ सु० सू० अ० १४।४-५। यह जलीय (श्वेत) रस यकृत्-प्लीहा में पहुँचकर लाल हो जाता है तथा प्राणियों के शरीर में स्थित शुद्ध तेज (रञ्जकपित्त) से रंगे गये अर्थात् लाल किये गये अदूषित जलीय रस को रक्त कहते हैं।

विशेष वक्तव्य—इसको 'आप्य' इसलिए कहा गया है कि वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और होता रहता है। **रक्त-निर्माण-प्रक्रिया**—रस धातु पहले रक्त के साथ मिल जाता है, फिर वह रक्त के साथ-साथ यकृत् तथा प्लीहा में जाता है, वहाँ पहुँचने पर रञ्जकपित्त के सहयोग से वह लाल हो जाता है। रक्त में जो श्वेतकण पाये जाते हैं, वे रस के ही कण हैं। आजकल चिकित्सक मांसाहारी पाण्डु रोगियों को बकरे का यकृत् खाने की सलाह देते हैं। सुश्रुत ने भी अधिक रक्तस्राव को रोकने के उपायों में बकरे का कच्चा यकृत् पित्त सहित खाने का आदेश दिया है। देखें—सु० उ० अ० ४५।२८ तथा च० सि० अ० १०। यहाँ रक्तस्राव में यकृत् को खाने की सलाह देना चिकित्सा की दृष्टि से 'स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोग' ही कहा जायेगा, अर्थात् शरीर में जिस द्रव्य की कमी आ जाती है, उस गुण वाले द्रव्यों का सेवन कराना ही उसकी उत्तम चिकित्सा होती है।

वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम् ।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत्[1] ।। २९ ।।
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते । पृथिव्यग्न्यनिलादीनां सङ्घातः [2]स्वोष्मणा कृतः ।।
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् । करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः ।।

१. 'शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम् । तदेव मांसं जानीयात् स्थिरं भवति देहिनाम्' ।। इति पा० ।
२. 'श्लेष्मणा वृतः' इति पा० ।

मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः । तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रः सञ्जायते ततः ।।
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु । तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ।।
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् [1]समन्ताच्छुक्रवाहिभिः । हर्षेणोदीरितं वेगात् सङ्कल्पाच्च मनोभवात् ।।
विलीनं घृतवद्व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
वस्तौ सम्भृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ।। ३५ ।।)

मांसधातु—वायु, जल और तेज की ऊष्मा से युक्त तथा अपनी (रक्त की) ऊष्मा से पका हुआ रक्त जब द्रव रूप से स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, तब उसे मांस कहा जाता है। **मेदोधातु**—वह मांस अपनी ऊष्मा (धात्वग्नि) से पककर, अपनी अग्नि तथा अपने जलीय गुणों से युक्त होकर मेदो रूप में बदल जाता है। **अस्थिधातु**—मेदोधातु अपनी धात्वग्नि से पक कर, पृथ्वी, अग्नि तथा वायु आदि तत्त्वों के परस्पर मिल जाने से जब वह उसे खर (कठोर) बना देती है, तब वही अस्थि का रूप धारण कर लेती है। **मज्जाधातु**—उन अस्थियों के बीच में वायुतत्त्व सुषिरता (खोखलापन) पैदा कर देता है। अस्थि के भीतर होने वाले वे समस्त छिद्र मेदोधातु से भर जाते हैं, या भरे रहते हैं, उसी स्नेह को मज्जा कहा जाता है। **शुक्रधातु**—उस मज्जा धातु का जो स्नेह होता है, उसी से शुक्र की उत्पत्ति होती है। वायु, आकाश आदि पञ्चमहाभूतात्मक भावों से अस्थियों में जो छिद्र हो जाते हैं, उन्हीं से उस प्रकार शुक्र का स्राव होता है, जिस प्रकार नवीन मिट्टी के घड़े से जल का स्राव होता है। वह शुक्र कामिनी या प्रियतमा स्त्री के दर्शन या स्पर्शजनित हर्ष (प्रसन्नता) से, मनोभव संकल्प (मैथुन सम्बन्धी विचारों) से, तथा मैथुनकाल के वेग से प्रेरित होकर शरीर में स्थित सम्पूर्ण शुक्रवाही स्रोतों से चू-चू कर निकलने लगता है। जिस प्रकार अग्नि का संयोग पाकर घी पिघलने लगता है, उसी प्रकार मैथुन-जनित व्यायाम की गर्मी से सम्पूर्ण शरीर से पिघलकर आया हुआ अतएव स्थान-च्युत वह शुक्र वस्ति में एकत्रित होकर मूत्रमार्ग (लिंग) से उस प्रकार बाहर निकल जाता है, जिस प्रकार जल ढालुवें स्थान से अनायास बह जाता है।

वक्तव्य—श्लोक सं० २२ से ३५ तक के श्लोकों पर श्री चक्रपाणि की टीका उपलब्ध नहीं होती, अतः परवर्ती टीकाकार इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। शुक्र के सम्बन्ध में चरक के विचार देखें—'सङ्कल्पो वृष्याणां (श्रेष्ठतमः)'। च० सू० अ० २५।४० और च० चि० अ० २ पाद ४ श्लोक ४७-४९ को व्याख्या सहित देखें। इस पर सुश्रुत के विचार—'सप्तमी शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी, यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा। शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः॥ द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः। मूत्रस्रोतः-पथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते'॥ और भी—'कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा। स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् सम्प्रवर्तते'॥ सातवीं कला का नाम 'शुक्रधरा' है, यह सभी प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। जिस प्रकार दूध में घी और गन्ने में रस छिपा रहता है, वैसे ही मनुष्यों के शरीर में शुक्र को समझना चाहिए। वस्तिद्वार के नीचे दो अंगुल दाहिनी ओर मूत्रस्रोत के मार्ग से ही पुरुषों में शुक्र की प्रवृत्ति होती है। सु० शा० अ० ४।२०-२२। अन्य धातुओं की रचना का विवरण भी आप इसी अध्याय में देखें।

वृद्धवाग्भट का कथन है—'सप्तमी शुक्रधरा नाम द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्याधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्तयति'। अ० सं० शा० अ० ५।२४। कविराज गणनाथसेन 'द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे' सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट की इस उक्ति का विरोध करते हुए लिखते हैं—'इत्यत्र द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे, इत्येव साधीयान् पाठः। अन्यथा प्रत्यक्षविरोधः'। प्रत्यक्षशारीर-उपोद्घात पृ० ७२।

विशेष वक्तव्य—'शुक्रवहे द्वे'। सु० शा० अ० ९।१२। शुक्र का वहन करने वाले दो स्रोतस् हैं, ये वस्ति (मूत्राशय) द्वार के दो अंगुल नीचे पुरुष के मूत्रमार्ग में खुलते हैं। अतः श्रीगणनाथ सेन की 'दक्षिणे वामे' उक्ति अक्षरशः युक्ति-युक्त है। नारी के भग की दीवारों में ये अनेकमुखी होकर व्याप्त रहते हैं। मैथुन करते समय शुक्र समस्त शरीर से आकर इन्हीं स्रोतों में से होकर बाहर आता है। शुक्र को अकारण बहने से रोकने वाली कला का नाम 'शुक्रधरा' है। पुरुषों के शुक्र की प्रवृत्ति और स्त्रियों के स्तन्य की प्रवृत्ति में स्नेह ही

१. 'समेतं' इति पा० ।

कारण होता है, किन्तु दोनों के स्नेह के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। इसके लिए आप देखें—सु० नि० अ० १० श्लोक १८ से २२ तक।

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥३६॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः। [1]करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥३७॥
दोषाणामपि चैवं [2]स्यादेकदेशप्रकोपणम्। इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम् ॥३८॥

व्यानवायु के कार्य—उचित विधि से विक्षेपकरणशील (इधर-उधर ले जाने, पहुँचाने के स्वभाव वाली) व्यानवायु जब रसधातु को एक साथ सम्पूर्ण शरीर में (नीचे-ऊपर, दाँयें-बाँयें, आगे-पीछे) पहुँचाती है, तब उस व्यानवायु द्वारा इधर-उधर भेजा गया वह रस (रसवाही) स्रोत की विकृति के कारण कहीं जाकर रुक जाता है, तो वह उस स्थान में अनेक प्रकार की विकृतियों को पैदा कर देता है। जैसे आकाश में मड़राते हुए बादल जहाँ रुक जाते हैं, वहीं बरसने लगते हैं, यही स्थिति शरीर के विभिन्न अवयवों में भ्रमण करते-करते एकाएक किसी स्थान पर रुके हुए दोषों की भी होती है, अर्थात् जहाँ वे दोष सहसा रुक जाते हैं, वहाँ प्रकुपित होकर रोग विशेष को उत्पन्न कर देते हैं। दोषों की चलती हुई स्थिति को 'प्रसर' और रुकी हुई स्थिति को 'स्थानसंश्रय' कहा जाता है। इस प्रकार पाँच प्रकार की भौतिक अग्नियों, सात प्रकार की धात्वग्नियों और अन्न को पकाने या पचाने वाली अग्नि का कर्म कह दिया गया है।

वक्तव्य—सभी दोष (पित्त-कफ) और धातुएँ पंगु हैं, केवल वायु ही इन सबका एक ऐसा वाहन है जिसकी सहायता से ये एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये या पहुँचाये जा सकते हैं। शरीरस्थ चार वायुओं के स्थान निश्चित हैं। केवल व्यानवायु ही एक ऐसी है, जो सम्पूर्ण शरीर में निर्बाध गति से विचरण करती रहती है। सुश्रुत के अनुसार—'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः ख(स्व)वैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते' ॥ सु० सू० अ० २४।१०। यहाँ भी कुपित हुए दोषों को सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करने या कराने में व्यानवायु का ही हाथ रहता है।

सङ्ग—इसका अर्थ है—मिलना; यह कार्य दो या इससे अधिक में हो सकता है। किसी प्रकार का भी मिलन रुकावट डालता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में 'सङ्ग' का अन्तिम परिणाम विनाश बतलाया है—'सङ्गात् सञ्जायते कामः···बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। आगे पुनः कहा है—'निःसङ्गो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्'। यद्यपि ये प्रसंग अध्यात्म की ओर मानव को प्रवृत्त करते हैं, किन्तु 'सङ्ग' तो सब जगह मिलकर रुकावट डालता है। गुब्बारे में रुकी हुई वायु उसमें शोथ उत्पन्न करती है, नाली में रुका हुआ जल, क्लेद, सड़न आदि पैदा कर देता है, चूल्हा में रुकी हुई पाचकाग्नि दाह, पाक आदि कर्मों को करती है; ठीक यही स्थिति शरीर के भीतर रुके हुए वात आदि दोषों तथा रक्त आदि दूष्यों के कारण उत्पन्न हो जाती है, जो कालान्तर में रोग विशेष का रूप धारण कर लेते हैं।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद् वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥३९॥
तस्मात् तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥४०॥

पाचकाग्नि की प्रधानता—ऊपर ३८वें पद्य में जिन १३ प्रकार की अग्नियों का संकेत किया गया है अथवा जो उपधातुओं एवं धातुमलों का पाचन करने वाली अग्नियाँ हैं, उन सब अग्नियों में पाचकाग्नि प्रधान है। यही सब अग्नियों का मूल है। इस पाचकाग्नि की वृद्धि होने पर शेष सभी अग्नियों की वृद्धि होती है और इसके क्षय होने पर सभी अग्नियों का क्षय हो जाता है। इसलिए विधिपूर्वक उचित अन्न-पान रूपी ईन्धनों (जो पाचकाग्नि को प्रज्वलित कर सकें) के प्रयोग द्वारा पाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि पाचकाग्नि के समभाव में स्थित रहने से शारीरिक बल तथा दीर्घायु की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—पाचकपित्त का अधिष्ठान ग्रहणी है। पाचकपित्त की ही विकृति से ग्रहणीकला में विकार आ जाते हैं। वायु और बल की सम्यक् स्थिति होने पर इसमें वर्ण, कान्ति आदि की भी प्राप्ति हो जाती है।

---

१. 'तस्मिन् विकारान् कुरुते विवर्षमिव तोयदः'। इति पा०। २. 'स्यात्तत्र देशे प्रकोपणम्' इति पा०।

यो हि भुङ्क्ते विधिं त्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान्।
स लौल्याल्लभते शीघ्रं, वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ते ॥ ४१ ॥

ग्रहणी रोग की उत्पत्ति—जो मनुष्य जीभ के स्वाद के वश में होकर चंचलता से उचित आहार-विधि को छोड़कर भोजन करता है, वह ग्रहणीदोष-जनित रोगों को शीघ्र प्राप्त करता है। अब इसके बाद ग्रहणीकला की विकृति से होने वाले रोगों का वर्णन किया जायेगा।

वक्तव्य—चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित चरकसंहिता प्रथम खण्ड के विमानस्थान अ० १ पृष्ठ संख्या ६६२ गद्य २१ से पृ० सं० ६६९ गद्य २५ तक में दिये गये आहार सम्बन्धी विशेष निर्देशों का सम्यक् पालन करना चाहिए, अन्यथा ग्रहणी विकृत हो जायेगी।

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद् विषमाशनात्। असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसन्दुष्टभोजनात् ॥४२॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात्। देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात् ॥४३॥
दुष्यत्यग्निः, स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि। अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं [1]विषरूपताम् ॥

अजीर्ण: सामान्य निदान एवं सम्प्राप्ति—भोजन का सर्वथा परित्याग (अनशन या उपवास) करने से, अजीर्ण होने पर भोजन कर लेने से, अति भोजन कर लेने से, विषमाशन (कभी कम और कभी ज्यादा भोजन) करने से, असात्म्य (जो अपनी प्रकृति के अनुकूल न हो), गुरु (देर में पचनेवाले—दूध, मलाई, खीर, मांस आदि), शीत, अति रूक्ष तथा दूषित आहारों का सेवन करने से, विरेचन, वमन, स्नेह-विभ्रम (स्नेहपान के अतियोग से उत्पन्न विकार) से, रोग के कारण उत्पन्न कृशता से, देश, काल, ऋतु की विषमता से, अधारणीय वेगों को सहसा रोकने से पाचकाग्नि दूषित हो जाती है। वह दूषित हुई अग्नि थोड़े अन्न को भी भली-भाँति नहीं पचा सकती और न पचा हुआ वह अन्न (आहार) शुक्तता (अम्लता) को प्राप्त होकर विष का रूप धारण कर लेता है।

वक्तव्य—उक्त कारणों से मन्द पड़ी हुई पाचकाग्नि **'लघु अपि अन्नं न पचति'** थोड़ी मात्रा में खाये हुए शीघ्र पचने वाले पदार्थों को भी नहीं पचा सकती, तब वह आम अन्न रस अम्लता को प्राप्त होकर विषरूप में परिणत हो जाता है, फलतः अनेक व्याधियों का मूल कारण बन जाता है। महर्षि आत्रेय ने अजीर्ण के कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—'मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः'। च० वि० अ० २।९। सु० उ० अ० ४०।१६६-१६८ को भी देख लें। माधवकर ने अजीर्ण के कारणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अत्यम्बुपानाद् विषमाशनाच्च सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च। कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य॥ ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति'॥ मा० नि० ६।७-८। 'कर्मविपाक' ग्रन्थ के अनुसार—'गोमांसभक्षको मन्दजठराग्निर्भवेन्नरः। प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च'। वै० श० सि०। 'आमरस' को सिद्धयोगसंग्रह तथा श्रीकण्ठकृत अजीर्णचिकित्सा में विष कहा है।

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा। शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम्। अरोचकोऽविपाकश्च, घोरमन्नविषं च तत् ॥
[2]संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्। जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम्। करोति वातसंसृष्टं [3]वातजांश्च गदान् बहून् ॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥

अर्जीण का सामान्य लक्षण—उस खाये हुए आहार के भली-भाँति न पचने के कारण उत्पन्न अजीर्ण के ये लक्षण होते हैं—विष्टम्भ (मल का पक्वाशय में पूर्ण रूप से रुका रहना या उचित परिमाण में न निकलना), सदन (शरीर में ढीलापन), शिरःशूल, मूर्च्छा (बेहोशी), भ्रम (चक्करों का आना), पीठ और कमर में

---

१. 'विषतां च तत्' इति पा०।
२. 'पित्तेन सह संसृष्टं तृष्णादाहमुखामयान्' इति पा०।
३. 'वातजांश्चापरान् गदान्' इति पा०।

जकड़न, जँभाई, अंगमर्द, तृष्णा, ज्वर, वमन, प्रवाहण (कुन्थन या मल को बाहर निकालने की चेष्टा करना), अरोचक, अविपाक (अन्न का ठीक प्रकार से पाक न हो पाना)। वह आमरस रूपी घोर (भयावह) अन्नविष जब पित्तदोष से युक्त होता है, तब दाह, तृष्णा, मुख का पकना (मुख के भीतर छाले पड़ जाना) अम्लपित्त तथा अन्य पित्तज रोगों को पैदा कर देता है। जब वह आम अन्नविष कफदोष से युक्त होता है, तब यक्ष्मा, पीनस (प्रतिष्याय), प्रमेह आदि कफज रोगों को पैदा कर देता है। जब वह आम अन्नविष वातदोष से युक्त होता है तो अनेक वातज रोगों को पैदा कर देता है। जब वह आम अन्नविष मूत्र से युक्त होता है तो मूत्र सम्बन्धी अनेक विकारों को पैदा कर देता है। जब वह आम अन्नविष मल से युक्त होता है तो उदरसम्बन्धी अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। जब वह रस, रक्त आदि धातुओं से युक्त होता है, तो उन-उन से सम्बन्धित रोगों को पैदा कर देता है।

वक्तव्य—यहाँ अजीर्ण के कारण उत्पन्न आम विष से जिन दोषज एवं दूष्यज व्याधियों का नाम लेकर उल्लेख किया है और जिनका सांकेतिक निर्देश किया है, उन सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन च० सू० अ० २८ श्लोक ९ से ३० तक किया गया है। इनका विशेष व्याख्यान चरकचन्द्रिका टीका पृष्ठ ५४८ से ५५० तक में देखें।

अजीर्ण के भेद—१. आमाजीर्ण, २. विदग्धाजीर्ण, ३. विष्टब्धाजीर्ण (ये क्रमशः कफ, पित्त, वातदोषों से होते हैं), ४. रसशेषाजीर्ण (सु० सू० अ० ४६।४९९), ५. दिनपाकी अजीर्ण, ६. प्राकृताजीर्ण (माधवनि० ६।५-६)। चरक ने अजीर्ण से अन्नविष की उत्पत्ति मानकर और उस (अन्नविष) का वात आदि दोषों तथा रक्त आदि दूष्यों के साथ सम्पर्क बतलाकर वात आदि ३+मल, मूत्र २+रस आदि ७=१२ भेद कहे हैं।

अजीर्ण के उपद्रव—मूर्च्छा, अंट-संट बकना, उलटी, मुख से लार का निकलना, शरीर में शिथिलता, चक्कर आना—ये उपद्रव दिखलायी देते हैं। अजीर्ण से कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है।

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्। तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः ॥५०॥
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्। दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥५१॥

चार प्रकार की अग्नियाँ—१. विषमाग्नि—विषम (कभी कम कभी ज्यादा हो जाने वाली) अग्नि खाये हुए आहार का विषम रूप से पाक करके वात आदि दोषों तथा रस आदि धातुओं में विषमता उत्पन्न कर देती है। २. तीक्ष्णाग्नि—तीक्ष्ण (पर्याप्त पाचनशक्ति में समर्थ) अग्नि को यदि आहार रूपी ईंधन पर्याप्त मात्रा में न मिले या कम मिले तो वह रस आदि धातुओं को विशेष रूप से सुखा देती है। ३. समाग्नि—यह अग्नि उचित मात्रा में किये गये आहार को पचाकर धातुओं को सम मात्रा में बनाये रखती है। (यही अग्नि मानव मात्र को चिर स्वास्थ्य प्रदान करती है)। ४. दुर्बलाग्नि—उचित मात्रा में किये गये आहार को भी पचाने में असमर्थ, अतएव दुर्बल अग्नि उस (आहार) को विदग्ध कर देती है। तब वह बिना पचे ही या तो वमन द्वारा ऊपरी मार्ग से अथवा विरेचन द्वारा अधोमार्ग से निकल जाता है। इसी को 'मन्दाग्नि' भी कहते हैं।

वक्तव्य—'विदग्धश्चाम्लतां व्रजेत्'। विदग्ध होने पर उसका स्वाद अम्ल हो जाता है। इसका प्रमाण यह है—वमनकर्ता से पूछने पर वह बतलायेगा कि उस वमन से दाँत खट्टे हो गये हैं और इसके पूर्व वह गले में विदाह (जलन) का भी अनुभव करता है।

अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः। उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ॥५२॥

ग्रहणीरोग का स्वरूप—जब दुर्बलाग्नि द्वारा विदग्ध होकर पका हुआ थवा कच्चा आहार अधोमार्ग (गुदमार्ग) से निकलता है, तो उसे ग्रहणीरोग कहा जाता है। प्रायः इस रोग में जो भी मल निकलता है, वह विदग्ध होकर ही निकलता है।

वक्तव्य—ग्रहणी रोग में मन्दाग्नि के कारण ग्रहणी दूषित हो जाती है। इसके दूषित होने के कारण खाया हुआ अन्न प्रायः विदग्ध होकर निकलता है; यह तन्त्रकार का मत है। सुश्रुत के अनुसार—'सा दुष्टा बहुशो मुक्तमाममेव विमुञ्चति। पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्' ॥ सु० उ० अ० ४०।१७१। ग्रहणीरोग में प्रायः कच्चा विदग्ध मल ही निकलता है, किन्तु शारीरिक स्थिति ठीक रहने और लघुपाकी भोजन किये रहने पर आहार का परिपाक होकर भी मल निकलता है।

अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपदिश्यते। तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः ॥५३॥
शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः। [1]लोहामगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ॥५४॥

ग्रहणी रोग के लक्षण—ग्रहणी रोगी का मल अत्यन्त पतला, बँधा हुआ या पानी जैसा पतला कहा जाता है। इस प्रकार के मलों के निकलने में रोगी के जठराग्नि की विषमता प्रकट होती है। वह रोगी तृष्णा, अरुचि, मुख का फीकापन, लार का चूना तथा तमकश्वास के लक्षणों से युक्त दिखलायी देता है। उसके हाथ-पैरों में सूजन हो जाती है। हड्डियों और शरीर की सन्धियों में पीड़ा होने लगती है, उलटियाँ होती हैं, ज्वर आ जाता है, इसको जो डकार आते हैं, उनमें से गरम लोहे को पानी में बुझाने पर जिस प्रकार की गन्ध आती है, वैसी गन्ध आने लगती है और इसके डकारों का स्वाद कच्चे भोजन के समान, तीता तथा खट्टा होता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने सम्प्राप्ति के रूप में इसके कुछ और लक्षण कहे हैं। उन्हें सु० उ० अ० ४० श्लोक १७१-१७२ तथा १७४-१७५ में देखें।

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः। विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम् ॥५५॥

ग्रहणी के पूर्वरूप—ग्रहणी रोग होने से पहले रोगी में ये लक्षण होते हैं—तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना), आलस्य, शरीर में शक्ति का अनुभव न होना, खाये हुए अन्न का विदाह होना (इसका लक्षण है—गले में जलन होना तथा खट्टी डकारें आना), भोजन देर में पचना और शरीर में भारीपन का अनुभव होना।

वक्तव्य—इसके पूर्वरूप सु० उ० अ० ४० श्लोक १७३ में देखें।

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपर्यग्निबलेनोपष्टब्धोपबृंहिता[2] ॥५६॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। [3]दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥५७॥

ग्रहणी का स्थान, निरुक्ति, कर्म—ग्रहणी नाम की कला अग्नि (पाचकाग्नि) का अधिष्ठान (आश्रय-स्थान) है। अन्न (खाये हुए आहार) का ग्रहण करने के कारण इसे ग्रहणी कहा गया है। वह कोष्ठ के अन्तर्गत नाभि के ऊपरी स्थान में अग्नि के बल का सहारा पाकर पुष्ट होती है। स्वस्थ स्थिति में वह खाये हुए अपक्व अन्न को (पचाने के लिए) धारण करती है अर्थात् रख लेती है और पक्व (पकाये हुए) अन्न को बगल से आगे की ओर ढकेल देती है। अग्नि के दुर्बल पड़ जाने से जब वह ग्रहणी दूषित हो जाती है, तब वह कच्चे (जठराग्नि द्वारा अपरिपक्व) अन्न को ही निकाल देती है।

वक्तव्य—ग्रहणी की आकृति और कार्यों के स्पष्ट विवरण के लिए देखें—प्रत्यक्षशारीरम्, चित्र संख्या १४१। इसका क्षेत्र है—आमाशय तथा बृहदन्त्र का अनुप्रस्थ भाग। आशय खण्ड, अध्याय ३। आधुनिक दृष्टि से क्लोमरस तथा क्षुद्रान्त्रीय रसों के मिलने से खाये हुए अन्न का सम्यक् परिपाक होता है। सुश्रुत का दृष्टिकोण भी प्रायः ऐसा ही है। देखें—सु० उ० अ० ४०।१६९-१७०।

वातात् पित्तात् कफाच्च स्यात् तद्रोगस्त्रिभ्य एव च।
हेतुं लिङ्गं [4]रूपभेदाञ्छृणु तस्य पृथक् पृथक् ॥ ५८ ॥

ग्रहणीरोग के भेद—यह ग्रहणीरोग वातज, पित्तज, कफज तथा सन्निपातज भेद से चार प्रकार का होता है। उसके कारण, लक्षण तथा रूप-भेदों का मैं अलग-अलग वर्णन कर रहा हूँ, उन्हें सुनो।

कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीतलभोजनैः । प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥५९॥
करोति कुपितो मन्दमग्निं सञ्छाद्य मारुतः[5]। तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥६०॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः। पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका। गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥६२॥

---

१. 'लोहानुगन्धिः' इति पा०। २. 'नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता' इति पा०।
३. 'दुर्बलाग्निबलाद्दुष्टा' इति पा०। ४. 'चिकित्सां च' इति पा०।
५. 'मारुतः कुपितो वह्निं सञ्छाद्य कुरुते गदान्' इति पा०।

जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च । स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् । पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥

वातज ग्रहणी : निदान एवं सम्प्राप्ति—कटु, तिक्त, कषायरस-प्रधान आहार द्रव्यों का निरन्तर सेवन करने से, अतिशीत भोज्य पदार्थों का सेवन करने से, प्रमित (Limited or few) या अनशन (उपवास, लंघन) करने से, अधिक रास्ता चलने से, अधारणीय (मल-मूत्र आदि) वेगों को रोकने से, अधिक मैथुन करने से कुपित हुआ वातदोष अग्नि को संछादित (छिपा) कर अर्थात् उसे पाचन-कर्म से विमुख करके उसे मन्द कर रोग को पैदा कर देता है ।

वातज ग्रहणी के लक्षण—ग्रहणीरोग से पीड़ित व्यक्ति द्वारा खाया भोजन दुःख से पचता है, उस अन्न का अम्लपाक हो जाता है, अर्थात् पचने पर खट्टी डकारें आने लगती हैं, अंगों में रूखापन पैदा हो जाता है, गला और मुख सूखने लगते हैं, भूख तथा प्यास अधिक लगती है, आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, कानों के भीतर साँय-साँय शब्द सुनायी देने लगता है, पसलियों, टाँगों, वंक्षणों तथा गर्दन में अत्यन्त पीड़ा, विसूचिका, हृदय में पीड़ा, शरीर में कृशता, दुर्बलता, मुख का फीका पड़ना, गुद में कैंची से काटने की सी पीड़ा, षड्रस भोजन की लालसा और मन का उदास रहना—ये लक्षण उक्त रोगी में देखे जाते हैं । भोजन के पच जाने पर तथा उसके पाचनकाल में अफारा होता है । भोजन कर लेने पर वह अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। वह रोगी अपने सम्बन्ध में वातज गुल्म, हृद्रोग तथा प्लीहा रोग की आशंका करता है । वह रोगी अधिक देर से दुःख के साथ पतला, सूखा, थोड़ा, आमयुक्त, शब्द (अपानवायु) तथा झागयुक्त मल का बार-बार त्याग करता है और कास (सूखी खाँसी) तथा श्वासरोग से पीड़ित रहता है । ये सब लक्षण वातज ग्रहणीरोग में दिखलायी देते हैं ।

वक्तव्य—वह रोगी वातगुल्म, हृद्रोग एवं प्लीहा रोग हो जाने की आशंका करता है, जो बहुश्रुत हो, सर्वसाधारण को ऐसा ज्ञान नहीं होता है । वास्तव में उक्त रोगों में अधिकांश लक्षण ग्रहणी के समान ही पाये जाते हैं ।

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम् । [1]अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम् ॥६५॥

पित्तज ग्रहणी : निदान एवं सम्प्राप्ति—कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षार आदि के सेवन से बढ़ा हुआ पित्तदोष अग्नि को आप्लुत करके उसे नष्ट कर देता है, जैसे कि गरम किया हुआ जल भी आग पर डालने से उसको बुता देता है । तात्पर्य यह है कि पित्त और जठराग्नि दोनों समान गुण-धर्म वाले हैं, अतः पित्त से जठराग्नि की वृद्धि होनी चाहिए थी, किन्तु जलीय अंश की वृद्धि होने के कारण वह तरल पित्त उस जठराग्नि को मन्द कर देता है । अतएव तन्त्रकार ने दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—गरम जल यद्यपि आग्नेय तत्त्व से युक्त है तथापि उसे जब हम जलती हुई आगपर डालते हैं, तो वह अग्नि को बुझा देता है; ठीक वही स्थिति यहाँ जठराग्नि की भी है ।

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम् । पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥६६॥

पित्तज ग्रहणी के लक्षण—पित्तज ग्रहणी के रोगी का वर्ण पीताभ दिखलायी देता है, वह अजीर्ण (बिना पचे), नीले अथवा पीले वर्णवाले मलद्रव को गुदमार्ग से निकालता है, अर्थात् उसके मल का वर्ण नीला, पीला (जो पित्तदोष का अपना वर्ण है) होता है और उसे पतली टट्टियाँ आने लगती हैं । उसे दुर्गन्धयुक्त खट्टे डकार आते हैं, हृदय और गले में जलन होती है, भोजन के प्रति उसे अरुचि होती है तथा उसे बार-बार प्यास लगती है, इन सभी लक्षणों से वह पीड़ित रहता है ।

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात् । भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥६७॥

कफज ग्रहणी : निदान एवं सम्प्राप्ति—गुरु (स्वभावगुरु–देर में पचने वाले, मात्रागुरु–प्रमाण में अधिक) अतिस्निग्ध (घी, तेल, वसा, मज्जा) पदार्थों का सेवन, शीत आदि (मधुर, पिच्छिल) द्रव्यों को खाने

१. 'आप्लावयद्धन्त्यनलम्' इति पा० ।

से, अधिक भोजन करने से, भोजन करते ही सो जाने से कुपित कफ जठराग्नि को मार देता है, अर्थात् बढ़ा हुआ कफ उसे कार्यक्षम नहीं रहने देता ।

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः । आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः ॥६८॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु । दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥६९॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् । अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥७०॥

कफज ग्रहणी के लक्षण—उक्त रोगी द्वारा खाया हुआ भोजन बड़ी कठिनता से पचता है और उस रोगी को हृल्लास (जी मिचलाना), वमन, भोजन के प्रति अरुचि होती है, उसके मुख के भीतर कफ के लेप जैसा लगा प्रतीत होता है, मुख का स्वाद मीठा हो जाता है, कास, बार-बार थूकना, पीनस (जुकाम) से रोगी पीड़ित रहता है, वह अपने हृदय के फैलाव में वृद्धि हुई है, ऐसा अनुभव करता है; पेट के ऊपर मानो किसी ने गीला कपड़ा डाल दिया है, ऐसा उसे प्रतीत होता है; उदर में भारीपन मालूम पड़ता है, कफदोष से दूषित तथा मीठे डकार उसे आते रहते हैं, शरीर में शिथिलता, स्त्रियों को पाकर भी उनके साथ रमण करने की इच्छा उसे नहीं होती, उस रोगी का मल बँधा नहीं होता, अपितु टूट-टूट कर पतला, कच्चा (जिसका उचित रूप से पाक न हुआ हो), कफ मिश्रित, गुरु (जो पानी में डालने पर डूब जाता है) रूप में निकलता है । शरीर से कृश न दिखलायी देने पर भी वह रोगी दुर्बलता का अनुभव इस कफज ग्रहणीरोग में करता है ।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने संक्षेप में तीनों दोषों से युक्त ग्रहणीरोग का वर्णन सु० उ० अ० ४० श्लोक १७६-१७७ में किया है । इसके अतिरिक्त इसी अध्याय के विषयों का भी श्लोक ६३ के उत्तरार्ध में समर्थन किया है । और भी देखें—अ० सं० नि० अ० ८।२४-३१ ।

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः । तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे ॥७१॥

ग्रहणीरोग में तीन अग्नियाँ कारण—रोगानीक नामक अध्याय (च० वि० ६) में जो चार प्रकार की अग्नियों का वर्णन किया है, उनमें से 'सम अग्नि' को छोड़कर शेष तीन अग्नियाँ इस रोग में कारण मानी गयी हैं । उन्हीं तीनों को हम ग्रहणीदोष कहते हैं ।

वक्तव्य—'अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति' । तद् यथा—'तीक्ष्णो मन्दः समो विषमश्चेति' । च० वि० अ० ६।१२ । इनमें सम अग्नि स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य को चिर-स्थिर रखती है, क्योंकि सम अग्नि ही एक ऐसी है, जिसके कारण ग्रहणी दूषित नहीं होती है, शेष तीनों प्रकार की अग्नियाँ ग्रहणी को दूषित कर देती हैं । पित्त-प्रकोप से तीक्ष्णाग्नि, वात-प्रकोप से विषमाग्नि और कफ-प्रकोप से मन्दाग्नि होती है । इनका वर्णन देखें—अ० सं० नि० अ० ८।३२ ।

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे । त्रिदोषं निर्दिशेत् तेषां भेषजं शृण्वतः परम्[1] ॥७२॥

त्रिदोषज ग्रहणी के लक्षण—ऊपर जो वातज, पित्तज, कफज ग्रहणी के हेतु और लक्षण अलग-अलग कहे गये हैं, उन सबके हेतु तथा लक्षण किसी एक रोगी में सम्मिलित रूप से प्राप्त हों तो उसे त्रिदोषज ग्रहणी समझना चाहिए । इसके पश्चात् अब इनकी चिकित्सा सुनो ।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अतिसार और ग्रहणी रोग का भेद उनके लक्षणों को उद्धृत करके इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है—'सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनाऽतिसार्यते । सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः ॥ सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैव वा । अकस्माद् वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः । चिरकृद्ग्रहणीदोषः सञ्ज्ञयाचोपवेशयेत्' ॥ अ० सं० नि० ८।१८-२० ।

अतिसार-परिचय—भोजन के पचने पर साम (आम दोष से युक्त) अथवा निराम (आम दोष से रहित) पुरीष जब अधिक पतला निकलता है, तब उसे अतिसार (दस्त) कहते हैं । यह रोग आशुकारी होता है ।

ग्रहणीरोग-परिचय—इसमें जब अन्न पचा नहीं रहता तभी साममल तत्काल खाये हुए उस अन्न के साथ मलद्वार से निकलता है अथवा नहीं निकलता अर्थात् बद्धकोष्ठता बनी रहती है । इस ग्रहणीरोग में

१. 'तेषामतो वक्ष्यामि भेषजम्' इति पा० ।

एकाएक कभी बँधा हुआ मल और कभी पतला मल बार-बार निकलता रहता है। यह चिरकारी (देर में होने वाला) रोग है। इसमें मल की प्रवृत्ति दोष या दोषों के सञ्चित होने पर होती है।

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम् । सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः ॥७३॥
आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत् । फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा ॥७४॥

सामग्रहणी-लक्षण, चिकित्सा—विदग्ध आहार से मूर्च्छित (कुपित) वात और दोष जब ग्रहणी रोग को पैदा करते हैं और उसमें विष्टम्भ (मल का कोष्ठ में रुका रहना), प्रसेक (मुख से लार का चूना), आर्ति (पीड़ा), विदाह (पेट में जलन) अरुचि तथा शरीर में भारीपन मालूम होता हो तो उसे आमदोष युक्त ग्रहणी विकार समझना चाहिए। उक्त लक्षणों को भली-भाँति देखकर रोगी को गुनगुना पानी पिलायें, अथवा मैनफल के काढ़े में पिप्पली और सरसों का कल्क मिलाकर पिलायें।

वक्तव्य—सामग्रहणी के लक्षणों का निर्देश करके यहाँ उसकी सामान्य चिकित्सा वमन का विधान किया गया है। **'सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्'** का तात्पर्य वमन कराने से है। गुनगुना पानी पिलाने से प्रायः वमन हो जाते हैं, यदि न हों तो उसमें थोड़ा नमक मिला दें। मैनफल तो वमनकारक द्रव्यों में प्रमुख माना ही गया है। यथा—**'मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्'**। च० सू० अ० २५।४०।

लीनं पक्वाशयस्थं वाऽऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः । शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥७५॥

ग्रहणीरोग का चिकित्सा-सूत्र—यदि आमदोष उदर में लीन (छिपा) हो, अथवा पक्वाशय में वर्तमान हो तो अग्नि को प्रदीप्त करने वाले तथा विरेचनकारक औषधयोगों के प्रयोग से उस आमदोष को निकाल देना चाहिए। यदि आमदोष युक्त रस शरीर में व्याप्त हो गया हो तो ऐसी स्थिति में रोगी को लंघन करायें और उसे पाचन औषधों का सेवन करायें।

वक्तव्य—आमदोष विष के समान हानिकारक होता है। जब वह कम मात्रा में रहने के कारण लीन (छिपा हुआ) जैसा प्रतीत हो, जो आमदोष की प्रारम्भिक स्थिति है तो इस अवस्था में अग्निदीपक और मृदु-विरेचक औषधों का प्रयोग करायें। जब सम्पूर्ण शरीर में सामरस व्याप्त हो जाय तब लंघन इसलिए कराते हैं कि पहले का तो पाचन हुआ नहीं है अतएव पाचकाग्नि के ऊपर और अतिरिक्त भार न पड़े। इधर सामदोष को पचाने के लिए पाचन-विधियों का प्रयोग कराना चाहिए। क्षुद्रान्त्र (Small intestine) को पच्यमानाशय और बृहदन्त्र (Large intestine) को पक्वाशय भी कहते हैं। आमदोष की लीन स्थिति पक्वाशय में माननी चाहिए, यही उचित भी है, क्योंकि यह बृहदन्त्र है, इसमें बड़ी-बड़ी वस्तु लीन हो जाती है। शरीरानुगत सामरस की स्थिति और प्रसार का सम्बन्ध क्षुद्रान्त्र से रखना ही युक्ति-युक्त है।

विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम् । दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान् ॥

पञ्चकोलादि पेया—इस प्रकार वमन, विरेचन, दीपन, लंघन, पाचन चिकित्सा-विधियों से जिस रोगी का आमाशय (आमदोष के निकल जाने के कारण) शुद्ध हो गया हो, उसे पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ—प्रत्येक १-१ कोल=आधा-आधा तोला) आदि अग्नि को प्रदीप्त करने वाले द्रव्यों के क्वाथ रस से तैयार की गयी पेया आदि लघु (शीघ्र पचने वाले) अन्नों (पेयों) का सेवन कराना चाहिए। इसके बाद उसे अन्य दीपनयोगों को दें।

ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम् । दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक् ॥७७॥

वातज ग्रहणी-चिकित्सा—जब यह ज्ञात हो जाय कि वातज ग्रहणी में उपर्युक्त पेया तथा अग्निदीपक योगों का सेवन कराने से रोगी के आमदोष का पाचन हो गया है, तब चिकित्सक को चाहिए कि उस रोगी को दीपनीय द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर उसे थोड़ा-थोड़ा घृतपान करायें।

वक्तव्य—'दीपनीययुतं सर्पिः'—इसके दो प्रकार हो सकते हैं—१. 'दीपनीय द्रव्यों के चूर्ण डालकर और २. दीपनीय द्रव्यों के कल्क क्वाथ के योग से पकाया गया घी। दीपनीयगण के द्रव्य—'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लातकास्थिहिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति'। च० सू० अ० ४।९।

किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् । द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥

वातज ग्रहणी में घृत-प्रयोग—दीपनीय द्रव्यों से युक्त घी के सेवन से जब अग्नि पहले की अपेक्षा कुछ दीप्त हो जाय तो जिस वातज ग्रहणी रोगी के मल, मूत्र, अपानवायु अभी भी उचित प्रकार से न हो रहे हों या रुक-रुककर हो रहे हों तो उस रोगी का दो दिन तक या तीन दिन तक घृतपान द्वारा स्नेहन करायें। उसके बाद स्वेदन, तदनन्तर वातनाशक तैलों से अभ्यंग कराकर उसे निरूहणवस्ति देनी चाहिए।

तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा । सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥७९॥

वातज ग्रहणी में विरेचन—निरूहणवस्ति का प्रयोग कराने के बाद वातदोष के शिथिल पड़ जाने पर एरण्ड (रेंड़ी के) तेल में क्षार मिलाकर अथवा तैल्वकघृत में क्षार मिलाकर रोगी को पिलायें, उसके बाद रोगी को विरेचन करायें।

शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत् । दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ॥८०॥

वातज ग्रहणी में अनुवासनवस्ति—उपर्युक्त विरेचन योगों से जब उचित रूप में शोधन हो जाय, कोष्ठ रूक्ष हो जाय, फिर भी मलबन्ध (कब्जियत) बना हो, तो दीपनीय द्रव्यों, अम्लरसों तथा वातनाशक द्रव्यों द्वारा सिद्ध (तैयार) किये गये तेल द्वारा मात्रा के अनुसार अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम् । लघ्वन्नं प्रतिसम्भुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥८१॥

वातज ग्रहणी में घृत-प्रयोग—वातज ग्रहणी के रोगियों को निरूहण, विरेचन तथा अनुवासन कराने के पश्चात् लघु अन्नों द्वारा तैयार की गयी पेयाओं को पिलाते हुए, घृतपान का प्रयोग अग्निबल का विचार करके थोड़ा-थोड़ा और बार-बार करायें।

द्वे पञ्चमूले सरलं देवदारु सनागरम् । पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥८२॥
शणबीजं यवान् कोलान् कुलत्थान् [1]सुषवीं तथा । पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥
चतुर्भागावशेषेण पचेत् तेन घृताढकम् । स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ दत्त्वा च युक्तितः ॥८४॥
सैन्धवौद्भिदसामुद्रबिडानां रोमकस्य च । ससौवर्चलपाक्यानां भागान् द्विपलिकान् पृथक् ॥
विनीय चूर्णितात् तस्मात् पाययेत् प्रसृतं बुधः । करोत्यग्निं बलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम् ॥
इति दशमूलाद्यं घृतम् ।

दशमूलादि घृत—दोनों पञ्चमूल (१. बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार की छाल, पाढल, अरणी। २. शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), सरल (चीड़ की लकड़ी), देवदारु की लकड़ी, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चीता की जड़, गजपीपल, सन का बीज, जौ, बेर (जंगली), कुलथी, सुषवी (पाठभेद के अनुसार सुरभी) इन द्रव्यों को समभाग लेकर जौकुट करके आरनाल (कांजी), दही अथवा सौवीर (कांजी का ही एक भेद है, इसका निर्माण सूखे जौ-गेहूँ को पानी में डालकर किया जाता है। यह तीन चार दिन में तैयार हो जाती है) के साथ पकायें, जब द्रव चतुर्थांश शेष रह जाय तब छानकर इस द्रव भाग को रख लें। तदनन्तर इस क्वाथ रस से १ आढक (२५६ तोला) गाय के घी का पाक करें। जब विधिवत् घृतपाक हो जाय, तब उसमें युक्तिपूर्वक सज्जीखार और जवाखार मिलायें, सेंधानमक, उद्भिद (रेह) नमक, समुद्रनमक, विडनमक, रोमक (साँभर) नमक, सोंचर नमक, पाक्य (कालवण) इन सबका अलग-अलग दो-दो पल (८-८ तोला) चूर्ण घृत में मिला दें। इस घृत को भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के पात्र में सुरक्षित रख दें। इस घृत को १ प्रसृत (८ तोला) की मात्रा में रोगी को पिलाना चाहिए। इसका सेवन करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, शारीरिक बल तथा वर्ण (सुरूपता) की वृद्धि होती है, वातविकार दूर होते हैं, खाये गये भोजन को यह भली-भाँति पचाने में सहायक होता है।

वक्तव्य—गाय का घी १ आढक (२५६ तोला), क्वाथार्थ द्रव्य—दोनों पञ्चमूल से लेकर सुषवी-पर्यन्त २२ द्रव्य ८ प्रस्थ (प्रत्येक २३ तोला ३ माशा के लगभग) लें। क्वाथार्थ जलीय द्रव्य—६४ प्रस्थ (४०९६

१. 'सुरभिम्' इति पा०।

तोला)। शेष क्वाथ—१६ प्रस्थ (१०२४ तोला)। द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ऊपर कहे गये सभी मानों को दुगुना कर लें।

ऊपर सज्जीखार, जवाखार की मात्रा का निर्देश न करके उसे चिकित्सक की युक्ति पर छोड़ दिया है, किन्तु आचार्य जतूकर्ण ने स्पष्ट निर्देश किया है—'दशमूलं पञ्चकोलं कुलत्थं सुरभिं यवम्। शणबीजञ्च कोलञ्च साधयेत् काञ्जिकेन तु ॥ दध्ना सौवीरकेणैव तेन पक्वे घृताढके। द्वौ क्षारौ सप्तलवणं दापयेद् द्विपलोन्मितम्'॥ जतूकर्णसंहिता।

वृद्धवाग्भट के अनुसार—'द्विपञ्चमूलपञ्चकोलसरलसुरदारुसुरभिगजपिप्पलीशणबीजयवकोलकुलत्थान् मस्तुनारनालेन वा पाचयेत्। तेन पादावशेषेण पञ्चलवणद्विक्षाराम्लबदरयुक्तं सर्पिर्विपक्वम्'। अ० सं० चि० अ० १२।८। उक्त दोनों संहिताकारों के वचन महर्षि आत्रेय के अनुगामी हैं। यदि हम दही के स्थान पर मस्तु का तथा सप्तलवणों के स्थान पर पञ्चलवणों का प्रयोग बतलाने वाले वृद्धवाग्भट को छोड़ भी दें, तो आत्रेय के प्रमुख शिष्य अग्निवेश के सहपाठी जतूकर्ण को इस अवसर पर नहीं छोड़ सकते। ध्यान दें—जतूकर्ण ने 'पञ्चकोल' के द्रव्यों का सामूहिक ग्रहण किया है और अग्निवेश ने अपने पाठ में पञ्चकोल के चार द्रव्यों का ग्रहण कर 'चव्य' को छोड़ दिया है, ऐसा कुछ टीकाकारों का कथन है।

हमारे विचार से महर्षि आत्रेय को 'हस्तिपिप्पली' शब्द द्वारा 'चव्य' और 'गजपिप्पली' दोनों का ग्रहण अभीष्ट था। प्रायः तन्त्रकार या संहिताकार योगों का उल्लेख करते समय उस द्रव्य का कौन-सा अंग प्रयोज्य है, इस प्रकार का निर्देश कर देते हैं और कभी उस द्रव्य का नाम मात्र देकर युक्तिज्ञ चिकित्सक पर इस भार को छोड़ देते हैं। इस दृष्टि से अब आप गजपिप्पली का परिचय प्राप्त करें—**'गजोपणा चव्यफला चव्यजा गजपिप्पली'** (रा० नि० व० ६।१४) और **'चविकायाः फलं प्राज्ञैः कथिता गजपिप्पली'** (भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ५।६६) चव्यलता के फल को ही 'गजपिप्पली' कहते हैं। अतः उसकी लता 'चव्य' तथा उसका फल 'गजपिप्पली' दोनों का ग्रहण करना चाहिए। अतएव जतूकर्ण ने 'चव्य' का उल्लेख करके 'गजपिप्पली' शब्द को उद्धृत नहीं किया। इस प्रकार का समाधान इसलिए किया जा रहा है कि 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'। अर्थात् प्राचीन ऋषि महर्षि जो कह गये हैं, उनकी वाणी के पीछे अर्थ दौड़ा करता है। साथ ही विषय एवं प्रसंग का औचित्य उससे बाधित न होता हो तो वह अर्थ सर्वसम्मत भी होता है। आत्रेय के समय की कही गयी मात्रा आज के लिए व्यावहारिक नहीं है। अतः इसे आधा तोला से एक तोला तक मान लें।

त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात् पले। सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत्॥

इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणादि घृत—सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला इन द्रव्यों को ८-८ माशा लेकर कल्क तैयार करें, यह कल्क कुल मिलाकर १ पल (४ तोला) होगा। इसी में गुड़ १ बिल्व (४ तोला) पीसकर मिला दें। इससे ८ पल (३२ तोला) घी का पाक करें (इसमें घी से चौगुना जल पाक करते समय मिला लें), मन्दाग्नि वाले रोगियों के अग्निबल की परीक्षा करके चिकित्सक उचित मात्रा के अनुसार उन्हें पीने के लिए दें।

पञ्चमूलाभयाव्योषपिप्पलीमूलसैन्धवैः । रास्नाक्षारद्वयाजाजीविडङ्गशटिभिर्घृतम् ॥८८॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च । शुष्कमूलककोलाम्बुचुक्रिकादाडिमस्य च ॥८९॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः । काञ्जिकेन च तत् पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥९०॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् । सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥९१॥
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं च तैलमेतैः प्रयोजयेत् । एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥९२॥
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते । दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ॥९३॥

इति पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च।

पञ्चमूलादि घृत—पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल—बेल की छाल, सोनापाठा की छाल, गम्भारी की छाल, अरलू की छाल, अरणी की छाल), अभया (हरड़), व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), पिप्पलीमूल, सेंधानमक, रासना, क्षारद्वय (जवाखार, सज्जीखार), जीरा, वायविडंग, कचूर—समभाग लिये गये इन द्रव्यों के कल्क तथा

शुक्त (इसका निर्माण-प्रकार भावप्रकाश में देखें), विजौरानीबू के स्वरस, अदरख के स्वरस, सूखी मूली के क्वाथ, खट्टे बेरों के क्वाथ, चुक्रिका (अम्ललोणिका) के स्वरस, दाड़िम के रस, तक्र, दही का पानी, सुरामण्ड, सौवीर (यवनिर्मित काँजी), तुषोदक, काञ्जी इन सबको एक में मिलाकर गाय के घी का विधिपूर्वक पाक करें। तैयार हो जाने पर घी को छानकर रख लें।

इसका सेवन करने से रोगी की मन्दाग्नि प्रदीप्त हो जाती है, यह अग्नि को दीप्त करने वाले घृतों में उत्तम है। इस घृत के सेवन से शूल, गुल्म, उदररोग, श्वास, कास तथा वात-कफजनित विकार नष्ट हो जाते हैं।

अथवा गाय के घी को उपर्युक्त औषधद्रव्यों के कल्क तथा विजौरानीबू के रस से विधिपूर्वक पकाकर रोगी को पिलायें। (इसको तैयार करने के लिए कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना बिजोरा का रस मिलाना चाहिए)।

पञ्चमूलादि घृत में कहे गये कल्क द्रव्यों तथा शुक्त आदि काञ्जी-पर्यन्त द्रवों द्वारा विधिपूर्वक पकाये गये तेल का रोगी को अभ्यंग कराने के लिए प्रयोग करना चाहिए।

पञ्चमूलादि चूर्ण—अथवा पञ्चमूलादि घृत में कहे गये द्रव्यों को समभाग में लेकर उनका कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार गुनगुने जल से सेवन करायें। यह चूर्ण वात और कफ से घिरे हुए ग्रहणी विकार में, साम कफ की वृद्धि में तथा वायु के अत्यन्त बढ़ जाने पर देना चाहिए। भोजन को पचाने के लिए भी इस चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यह उत्तम अग्निदीपक है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में इस योग के अन्त में इसका नाम 'पञ्चमूलादि घृत' और 'पञ्चमूलादि चूर्ण' दिया है। परन्तु इस योग के बीच में एक अन्य **'बीजपूरकरससिद्ध घृत'** का पृथक् निर्देश किया गया है। इन्हीं द्रव्यों से एक तैल-निर्माण का भी निर्देश दिया है, जिसे हम **'पञ्चमूलादि तैल'** कह सकते हैं। **'पञ्चमूलादि चूर्ण'** तो पहले से ही संकलित है। वृद्धवाग्भट ने इसका नाम **'अग्निघृत'** रखा है। देखें—'अथवा सैन्धवव्योष···परमग्निदीपनमग्निघृताख्यम्'। अ० सं० चि० अ० १२।८। वाग्भट (वाग्व्यवहारपद्ध) आचार्य का 'अग्निघृतम्' 'अग्निरेवेदम्' के रूप में यह सारोपा लक्षणा का अच्छा उदाहरण है। देखें—काव्य-प्रकाश, द्वितीय उल्लास, श्लोक १२।

मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनाऽतिद्रवसङ्घातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥९४॥

आम-पक्व-पुरीष परीक्षा—आम (कच्चा) मल भारी होने के कारण पानी में डालने पर डूब जाता है, परिपक्व मल पानी में डालने पर ऊपर तैरता रहता है, डूबता नहीं है। यदि वह मल अत्यन्त पतला या अत्यन्त बँधा या अधिक शीतल या कफदोष से दूषित हो तो, इन स्थितियों में उसका ठीक-ठीक परीक्षण नहीं हो पाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने आम अनेक प्रकार का होता है, इस बात को प्रमाणित करने के लिए यहाँ एक कारिका दी है—'आममनेकविधमाहुः, यदुच्यते—आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्। प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते'॥ जिसका आशय है कि कुछ विद्वान् अन्नरस की प्रारम्भिक अवस्था को आम कहते हैं, कुछ मलसंचय को आम कहते हैं, कुछ सर्वप्रथम दोष से दूषित होने को आम कहते हैं। **भोज का मत**—'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः। आद्य आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः'॥ **ईश्वरसेन के अनुसार**—'एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ्न जीर्यति। चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमाप्नुयात्'॥ इन्हीं परिभाषाओं के साथ यहाँ भी आम पुरीष का विचार करें।

परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणम् । विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥९५॥

साम-निराम मल चिकित्सा—ऊपर निर्दिष्ट आम-निराम की परीक्षा करके यदि साममल हो तो पाचन औषधयोगों से उसकी चिकित्सा करें और यदि निराममल हो तो संशमन औषधयोगों से उसकी भली-भाँति चिकित्सा करें।

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च । व्योषं हिङ्ग्वजमोदां च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥
गुटिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा । कृता विपाचयत्यामं दीपयत्याशु चानलम् ॥९७॥

इति चित्रकाद्या गुटिका।

चित्रकादि गुटिका—चित्रकमूल, पिप्पलामूल, जवाखार, सज्जीखार, सभी नमक (सोंचर, सेंधा, विड= विरिया, औद्‌भिद, समुद्री), सोंठ, मरिच, पिप्पली, हींग, अजवाइन, चव्य—इन सबको समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर इसमें बिजौरानीबू के रस या दाड़िम के रस की भावना देकर गोलियाँ बनाकर रखें। इस गुटिका के सेवन से आमदोष का पाचन होता है और इससे जठराग्नि शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है।

वक्तव्य—चित्रकादि गुटिका का चिकित्सक समाज भोजन के बाद मठा के साथ अथवा गुनगुने जल के साथ सेवन कराता है। चित्रक का एक पर्याय अग्नि भी है, अथवा अग्नि के सभी पर्याय चित्रक के हैं। अतः यह चित्रक अकेले भी अग्नि को बढ़ाने में श्रेष्ठ है।

नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः । मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा ॥

आमपाचन योग—सोंठ, अतीस, नागरमोथा इनका क्वाथ आम का पाचन करता है। अथवा सोंठ, अतीस, नागरमोथा का कल्क, केवल पथ्या (हरड़) का चूर्ण, अथवा सोंठ का चूर्ण गरम पानी के साथ सेवन करने से आम का पाचन होता है। मात्रा ४ रत्ती से १ माशा तक।

देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाभयाः । वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वाऽलवणाः पिबेत् ॥९९॥
वर्चस्यामे सशूले च पिबेद्वा दाडिमाम्बुना । विडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम् ॥१००॥

अन्य आम-पाचन योग—मल के आम होने पर अथवा उसके कारण शूल होने पर निम्नलिखित योगों का सेवन कराना चाहिए—देवदारु, बालवच, नागरमोथा, सोंठ, अतीस, हरड़—इन द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण करके वारुणी (मद्यविशेष) में भिगाकर रखें या गुनगुने जल में भिगाकर रखें, तदनन्तर इसे पीयें। अथवा बेल की गुद्दी, चीता की जड़, सोंठ इनके समभाग चूर्ण में विरिया नमक मिलाकर खट्टे दाड़िम के रस के साथ पिलायें।

वक्तव्य—देवदारु आदि ६ द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके उसे सात दिन तक वारुणी में भिगाकर रख दें, सातवें दिन उसे छानकर रोगी को पीने के लिये दें। इसका प्रयोग मल की आम अवस्था मे करना चाहिए। दूसरी विधि—देवदारु आदि द्रव्यों के उक्त चूर्ण को फाण्ट विधि से गरम पानी में डालकर (चाय की भाँति) छान लें। इसका सेवन शूल की शान्ति के लिए करें, इसमें नमक न मिलायें। अन्य योग—बेल की गुद्दी, चीता की जड़, सोंठ इनके चूर्ण को विडलवण से नमकीन बनाकर दाड़िम के रस के साथ सेवन करें।

वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्‌धृत किया है—'स प्रवाहे वा वर्चसि चूर्णीकृतान् विडलवणयुक्तान् बिल्वमध्यनागरचित्रकान् दाडिमाम्भसा, स कफे वा'। अ० सं० चि० अ० १२।३। आचार्य गंगाधर 'विडेन लवणं' पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'विडेन लवणेन लवणं कृत्वा', जो युक्ति-युक्त है।

सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत् । कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः ॥१०१॥

कलिङ्गादि चूर्ण—यदि ग्रहणी रोगी का मल आमयुक्त हो अथवा वातकफ-जनित ग्रहणी रोग हो और उदर में शूल हो तो कलिंग (इन्द्रजौ), घी में भुनी हींग, अतीस, बालवच, सोंचरनमक और हरड़ इनके समभाग चूर्ण को लेकर गरम जल के साथ इसका सेवन करे। मात्रा—६ माशा।

छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा । पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम् ॥१०२॥

अन्य योग—यदि ग्रहणी रोगी को वमन हो रहे हों, अर्शरोग से पीड़ित हो, ग्रन्थि शूल हो तो हरड़, सोंचर नमक, जीरा, कालीमिर्च—इन सबका कपड़छन चूर्ण लेकर गरम पानी के साथ पीयें।

वक्तव्य—ग्रन्थिरोग का विस्तृत विवरण सु० नि० अ० ११ में देखें। वृद्धवाग्भट ने इस योग को उद्‌धृत किया है—'छर्दिशूलानाहानुग्रन्थिषु तु मरिचाजाजिसौवर्चलाभयाः'। अ० हृ० चि० अ० १२।३। अनुग्रन्थि की टीका करते हुए श्री इन्दु लिखते हैं—'शूलवदधोजठरवृद्धिरनुग्रन्थिः'।

अभयां पिप्पलीमूलं वचां कटुकरोहिणीम् । पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥१०३॥
पिबेन्निष्क्वाथ्य चूर्णं वा कृत्वा कोष्णेन वारिणा । पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥

अभयादि क्वाथ या चूर्ण—हरड़, पिप्पलामूल, बालवच, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, चीता की जड़, सोंठ इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर इनका क्वाथ बनाकर, उसका सेवन करें अथवा चूर्ण बनाकर मात्रा के अनुसार गरम जल के साथ सेवन करें। इनका सेवन करने से पित्त तथा कफ से दूषित ग्रहणी-जनित शूल का नाश हो जाता है, अर्थात् उस रोग में यह हितकर होता है। सामान्य मात्रा २ से ३ माशा तक।

वक्तव्य—क्वाथविधि—हरड़ आदि प्रत्येक द्रव्य को २-२ माशा की मात्रा में लेकर जौकुट करके अठगुने जल में डालकर पकायें, जब पकते-पकते आठवाँ अंश शेष रह जाय तो उसे छानकर रोगी को पीने के लिए दें। चूर्ण की विधि सामान्य है। मात्रा—२ से ३ माशा तक।

सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गु च । निःक्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥

आम मल की चिकित्सा—पित्त-कफज ग्रहणी रोग में यदि मल आम (कच्चा) निकलता हो तो अतीस, सोंठ, मरिच, पीपल के क्वाथ में सेंधानमक, जवाखार, घी में भुनी हींग का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए। अथवा उक्त द्रव्यों का चूर्ण बनाकर गरम पानी के साथ उसे खिलाना चाहिए।

वक्तव्य—क्वाथ के लिए उक्त प्रत्येक द्रव्य को २-२ माशा तथा जल आधा सेर लें। १ छटांक शेष रह जाने पर इसे छानकर पिलायें। यदि इनके चूर्ण का सेवन कराना हो तो २ से ३ माशा तक गरम पानी से दें।

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम् । चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥१०६॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः । पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं नरः ॥१०७॥

पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पली, सोंठ, पाठा, अनन्तमूल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चीता की जड़, इन्द्रजौ, पाँचों नमक (सेंधा, सोंचर, विरिया, समुद्री, औद्भिद), जवाखार—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें। इसे मात्रानुसार जठराग्नि की वृद्धि के लिए तथा कोष्ठगत वायु की शान्ति के लिए दही के घोल के साथ, गुनगुने जल के साथ अथवा मद्य के साथ पीने के लिये दें।

वक्तव्य—सुरादिभिः—यहाँ आदि शब्द से सौवीर, कांजी, बिजौरानीबू तथा दाड़िम के रस का ग्रहण करना चाहिए। मात्रा २ से ३ माशा तक।

मरिच कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक् । [1]पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलाधिकम् ॥
सौवर्चलं विडं पाक्यं यवक्षारः ससैन्धवः । शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिका ॥१०९॥
तत् सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् । हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा ॥११०॥
इति मरिचाद्यं चूर्णम् ।

मरिचादि चूर्ण—कालीमिर्च, कुञ्चिका (मंगरैला), अम्बष्ठा (पाठा), वृक्षाम्ल (विषांबिल), प्रत्येक द्रव्य १-१ कुडव (१६-१६ तोला), अम्लवेत १० पल (४० तोला), सोंचरनमक, विरिया नमक, पाक्य (रेह) नमक, जवाखार, सेंधानमक, कचूर, पुष्करमूल, घी में भूनी हींग, हिंगुशिवाटिका (वंशपत्री) प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा पल (२-२ तोला) की मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग वातज ग्रहणीरोग में तथा अरुचि में कराना चाहिए।

वक्तव्य—अनुपान—उष्ण जल, कांजी, बिजौरानीबू का रस, दाडिम का रस, सुरा आदि। मात्रा—रोगी की स्थिति के अनुसार या सामान्य मात्रा २ से ३ माशा तक। निर्णयसागरीय प्रति में दिये गये श्लोक विभाजन की परम्परा के अनुसार 'मरिचादि चूर्ण' का नाम ९८ से ११० श्लोक के अन्त में दिया गया है, जब कि इस बीच में अनेक योगों का वर्णन किया जा चुका है। पाठकों के भ्रम-निवारणार्थ यह विवेचन प्रस्तुत किया है। वास्तव में 'मरिचादिचूर्ण' का योग श्लोक १०८ से ११० तक ही है।

विशेष—श्लोक १०८ का निर्दिष्ट पाठभेद व्याकरण की दृष्टि से 'पलानीमाश्चापि' होना चाहिए, क्योंकि 'पल' शब्द इस अर्थ में नित्य नपुंसकलिंग है।

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणस्य पलत्रयम् ।

१. 'दशाम्लवेतसपलानिमांश्चापि पलांशिकान्' इति पा०।

लवणानां च चत्वारि शर्कराया: पलाष्टकम् ।
सञ्चूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत् ॥ १११ ॥
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्ड्वामयशूलनुत् ।

चार अम्लद्रव्यों का प्रयोग—चतुरम्ल (खट्टी बेर, दाड़िम, वेतस, वृक्षाम्ल) को मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला—प्रत्येक द्रव्य १६-१६ तोला), सोंठ, मरिच, पीपल १-१ पल (४-४ तोला), पाँचों नमक (सेंधा, सोंचर, विरिया, औद्भिद, सामुद्र) मिलाकर ४ पल (१६ तोला), चीनी ८ पल (३२ तोला)—इन सबको उक्त परिमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर रख लें। यह स्वादिष्ट चूर्ण है। इसका प्रयोग शाक, दाल, अन्न (खिचड़ी आदि), राग (रायता) आदि में मिलाकर भी किया जाता है और कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृद्रोग, पाण्डुरोग तथा शूलरोग में भी यह लाभप्रद होता है।

वक्तव्य—चतुरम्ल-पञ्चाम्ल की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं। अतः विद्वान् चिकित्सक उन-उन द्रव्यों का यथोचित प्रयोग करें—'अम्लवेतसवृक्षाम्लबृहज्जम्बीरनिम्बुकैः। चतुरम्लं हि पञ्चाम्लं बीजपूरयुतैर्भवेत्' ॥ भा० प्र० फलवर्ग १३४। और देखें—रा० नि० व० २२।३४-३६। श्री जयदेव ने भी एक परिभाषा प्रस्तुत की है—कोलदाडिमवृक्षाम्लैः साम्लवेतससङ्गतैः। चतुरम्लं तु पञ्चाम्लं मातुलुङ्गसमायुतम्'। अन्य परिभाषा—'वृक्षाम्लं दाडिमञ्चापि कोलमप्यम्लवेतसम्। चतुरम्लं समाख्यातं पञ्चाम्लं मातुलुङ्गयुक्' ॥

लवणानां च चत्वारि—यद्यपि सौवर्चल (कालानमक) को **एकलवण,** सौवर्चल, सैंधानमक को **द्विलवण,** सौवर्चल, सेंधानमक, विडनमक को **त्रिलवण,** सौवर्चल, सेंधा, विड, औद्भिद को **चतुर्लवण** और उक्त सभी नमकों का ग्रहण कर **पञ्चलवण** कहा जाता है। देखें—'सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिद एव च। सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ॥ एकद्वित्रिचतुःपञ्च लवणानि क्रमाद् विदुः' ॥ चक्रदत्त, परिशिष्ट १, परिभाषावर्णन। यदि हम 'लवणानां च **'चत्वारि'** का अर्थ चार नमक मान भी लें तो फिर इन चार लवणों का मान (परिमाण) क्या होगा ? चरक के टीकाकार श्रीगंगाधर ने इन्हें पलाष्टक लेने को कहा है। दूसरी भूल यह भी हुई है—यदि ये प्रत्येक लवण को पलाष्टक के परिमाण में लेने की बात करते हैं, तो एक नमक ८ पल (३२ तोला) और चार नमक ३२ पल (१२८ तोला) हो जायेंगे। क्या यह चूर्ण उचित अनुपात का माना जायेगा ? स्वयं विचार करें।

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान् ॥ ११२ ॥
कपित्थं बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम्। शिलोद्भेदं तथाऽजाजीं पिष्ट्वा बदरसम्मितम्॥
परिभर्ज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद्भिषक्। रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च ॥११४॥
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शःप्लीहनाशिनी ।

ग्रहणीहर यवागू पञ्चक—१. चव्य, दालचीनी, पीपरामूल, धाय के फूल, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), चित्रकमूल, कैथ की गुद्दी, बेल की गुद्दी, पाठा, सेमल की गोंद (मोचरस), गजपीपल, पाषाणभेद, जीरा इन सब द्रव्यों को वदरसंमित (आधा कर्ष—'कोलद्वयं च कर्षः स्यात') लेकर पानी डालकर चटनी की भाँति पीस लें, तब गाय के घी में भूंजकर दही मिलाकर यवागू का पाक करे। २. उपर्युक्त द्रव्यों के कल्क को उसी प्रकार भूंजकर कैथ का स्वरस मिलाकर इसे पकायें। ३. इसे चांगेरी (तिपतिया) के स्वरस में सिद्ध करें। ४. इसे वृक्षाम्ल (विषांविल या कोकम) के रस से तैयार करें। ५ इसे दाड़िम के स्वरस से पकायें। उक्त प्रत्येक यवागू सभी प्रकार के अतिसारों, ग्रहणीरोग, गुल्म, अर्श तथा प्लीहा रोग का नाश करती है।

वक्तव्य—उक्त पाँच प्रकार की यवागुओं में औषधद्रव्य समान हैं, किन्तु पाकार्थं दही, कैथ का रस आदि के भेद से इनके पाँच भेद किये गये हैं। यवागू के पहले मण्ड, पेया, विलेपी ये तीन भेद शास्त्रों में वर्णित हैं, तत्पश्चात् चौथे क्रम में यवागू की गणना होती है। ये उत्तरोत्तर गुरुपाकी होते हैं। ग्रहणीरोगी की पाचकाग्नि का ध्यान रखते हुए उक्त औषधद्रव्यों से तैयार किये हुए मण्ड आदि का प्रयोग कराना चाहिए। पेया आदि के निर्माण, गुण-धर्म के परिचय के लिए च० सू० अ० २७।२५० से २८५ तक देखें।

पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः ॥ ११५ ॥

स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः। क्रव्यादस्वरसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः ॥
तक्रारनालमद्यानि पानायारिष्ट एव च ।

अन्य योग—पंचकोलादि यूष—१. पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़, सोंठ—इनके कल्क से तैयार किया हुआ मूंग की दाल का यूष, २. अथवा मरिच का चूर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ मूली का यूष, ३. जांगल प्रदेश के पशु-पक्षियों के घी से भुने तथा दाड़िम और मठा डालकर खट्टे किये सुपाचित मांस रस, ४. क्रव्याद (कच्चे मांस को खाने वाले शेर, बाघ आदि पशु तथा गिद्ध आदि पक्षी) प्राणियों के मांस को दीपनीय औषधद्रव्यों के साथ पकाकर उसका रस ग्रहणीरोग से पीड़ित व्यक्तियों को भोजन के लिए दें, अर्थात् इन यूषों, मांसरसों के साथ उसे भात खाने को दे। प्यास लगने पर तक्र (मठा), आरनाल (काँजी), मद्य, अरिष्ट आसव पीने के लिए दें।

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात् ॥ ११७ ॥
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत्। कषायोष्णविकाशित्वाद् रौक्ष्याच्चैव कफे हितम् ॥
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ।
तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथाऽर्शसाम् ॥ ११९ ॥
विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत् ।

ग्रहणीरोग में तक्र-प्रयोग—ग्रहणी विकार में मठा को अग्निदीपक होने के कारण, मल को बाँधने की शक्ति होने के कारण और सुपच होने के कारण उत्तम माना गया है। इसके और भी गुण देखें—मठा का विपाक मधुर होता है अतः वह पित्त को प्रकुपित नहीं करता। यह कषायरस, उष्णवीर्य, विकाशी तथा रूक्षगुण वाला होता है, अतः कफज विकारों में लाभप्रद होता है। मधुर, अम्ल, सान्द्र (गाढ़ा) होने के कारण वातविकार में हितकर होता है। इस प्रकार यह त्रिदोषनाशक होता है। तत्काल तैयार किया हुआ मठा विदाहकारक नहीं होता है। इसलिए उदररोगों तथा अर्शज विकारों में जिन-जिन तक्र-प्रयोगों का विधान किया गया है, उन सभी का ग्रहणीरोग में भी प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने कहा है—'शोफार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहोदरारुचौ। स्नेहव्यापदि पाण्डुत्वे तक्रं दद्याद् गरेषु च' ॥ च० सू० अ० २७।२२९। और भी देखें—'रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्। तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत् प्रयोजयेत्' ॥ च० चि० अ० १४।८४। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार तक्र के भेद—सर रहित (मलाई निकालकर मथे हुए दही) तथा ससर (मलाई सहित मथे हुए दही) के तीन भेद—१. निर्जल (घोल), २. पादजल (तक्र), ३. उदश्वित (अर्धजल)। चक्रपाणिदत्तकृत द्रव्यगुणसंग्रह।

भावमिश्र तक्र के पाँच भेद स्वीकार करते हैं—१. घोल, २. मथित, ३. तक्र, ४. उदश्वित, ५. छच्छिका (इसमें पानी अधिक मिला दिया जाता है, मक्खन तो नाम मात्र भी नहीं रहता), भा० प्र० पू० खं० तक्रवर्ग, प्रकरण ५। श्रीनरहरिपण्डित के अनुसार—'अम्लेन वातं मधुरेण पित्तं कफं कषायेण निहन्ति सद्यः। यथा सुराणाममृतं हिताय तथा नराणामिह तक्रमाहुः' ॥ रा० नि० व० १५।५६। अन्य अवलोकनीय स्थल—च० सू० अ० २५।४० तथा सु० सू० अ० ४५।८९।

यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम् ॥ १२० ॥
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् ।
'तक्रे तदासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः। दीपनं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहम् ॥१२१॥
इति तक्रारिष्टः ।

तक्रारिष्ट—यवानी (अजवाइन), आँवला, हरड़, मरिच प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल (१२-१२ तोला) पाचों नमक (सैंधा, सोंचर, विड, सामुद्र, औद्भिद) प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोला)—इन सबका कपड़छन चूर्ण करके उक्त चूर्ण को एक आढक (२५६ तोला) तक्र में मिलाकर एक मिट्टी के पात्र में डालकर उस पात्र का मुख बन्द कर दें। जब उसमें अम्लता तथा औषधद्रव्यों का रस प्रतीत होने लगे तब उसे छानकर रोगी को

मात्रानुसार पीने के लिए दें। यह तक्रारिष्ट अग्नि को दीप्त करता है तथा शोथ, गुल्म, अर्श (बवासीर), क्रिमिरोग, प्रमेह तथा उदररोगों का नाश करता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १२।४ में इसी योग को उद्धृत किया है। यहाँ तक्र का परिमाण और अरिष्टपाक की कालावधि का सम्यक् निर्देश किया है, जो ऊपर के पद्यों में नहीं दिया है।

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्। पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद् वमनेन वा ॥१२२॥
अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः। जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि ॥१२३॥
दाडिमाम्लैः सर्सर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः। तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः ॥१२४॥

पित्तज ग्रहणी-चिकित्सा—जठराग्नि को बुझाने वाला द्रवरूप पित्तदोष अपने स्थान पर स्थित हो, उसमें उत्क्लेश हो रहा हो, पित्त के इस स्वरूप को जानकर चिकित्सक उस पित्तदोष का निर्हरण विरेचन-क्रिया द्वारा अथवा वमन द्वारा कराये। विदाह को उत्पन्न न करने वाले, तिक्त द्रव्यों से युक्त शीघ्र पच जाने वाले अन्नों के साथ जांगल प्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांस रसों, मूंग आदि दालों के यूषों तथा खडयूषों में दीपन एवं ग्राही औषधचूर्णों, दाड़िम का रस और घी मिलाकर उस रोगी को भोजन कराना चाहिए। दीपनीय-द्रव्यों के चूर्णों तथा कुष्ठचिकित्सा-प्रकरण में कहे गये ('तिक्तषट्पलक घृत' च० चि० अ० ७।१४०-१४३ एवं 'महातिक्तक-घृत' वही, श्लोक १४४ से १५० तक) घृतों के प्रयोग से उसकी जठराग्नि को प्रदीप्त करायें।

वक्तव्य—अग्निनिर्वापक पित्त का वर्णन इसी अध्याय के ६५वें श्लोक में देखें। पित्त का निर्हरण प्रधान रूप से विरेचन द्वारा ही होता है, अतः पहले विरेचन का निर्देश करके तब वमन का विधान किया गया है। इस प्रसंग में 'सम्यग्वान्त' के लक्षणों पर ध्यान दें—'हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वं च लाघवम्। कफपित्त-विनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम्' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ३।३२। अर्थात् वमन कराने से कफ के साथ अन्त में पित्त का भी निर्हरण हो जाता है।

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम्। षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ॥१२५॥
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनान्। कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम् ॥१२६॥
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत्। किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ॥१२७॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे। तिक्तकं यद् घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥१२८॥
इति चन्दनाद्यं घृतम्।

चन्दनादि घृत—लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, पाठा, मूर्वा की जड़, कुटन्नट (केवटीमोथा), षड्ग्रन्था (बालवच), अनन्तमूल, आस्फोता (अपराजिता), छतिवन की छाल, अडूसा की पत्ती, परवल की पत्ती, गूलर की छाल, पीपल की छाल, बरगद की छाल, पाकड़ की छाल, कपीतन (आमड़ा) की छाल, कुटकी, नागरमोथा, नीम की छाल—इन सब द्रव्यों को २-२ पल (८-८ तोला) लेकर जौकुट करके एक द्रोण (२५६ तोला) जल में डालकर क्वाथ करें, जब चौथाई जल शेष रह जाय तब उसे उतार कर छान लें। इस क्वाथ से १ प्रस्थ (६४ तोला) घी को पकायें; घृतपाक करते समय इसमें चिरायता, इन्द्रजौ, क्षीरकाकोली, पिप्पली, नीलकमल प्रत्येक को १-१ अक्ष (१-१ तोला) लेकर इनका कल्क बनाकर मिला दें। तैयार होने पर घी को छानकर रख लें। इस घी को पित्तज ग्रहणीरोग की शान्ति के लिए पीना चाहिए। कुष्ठरोग-चिकित्सा में जो तिक्तक घृत (च० चि० अ० १४ श्लोक १४४-१५० में) कहा गया है, उसे भी दिलाना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर केवल श्लोकानुवाद मात्र है। अतः घृतपाक का क्रम ऊपर नीचे हो गया है। कल्क और क्वाथ एक साथ मिलाकर तब घृतपाक करें। ऊपर क्वाथार्थ २० द्रव्यों को ८-८ तोला लेना है, अतः कुल मिलाकर ये द्रव्य १६० तोला होते हैं। इन्हें १ द्रोण (२५६ तोला) जल में पकाकर चतुर्थांश जल (६४ तोला) शेष रहने पर उतार कर छान लेना है। इस क्वथित जल से १ प्रस्थ (६४ तोला) घी का पाक करना है। जब कि घृतपाक की सामान्य परिभाषा है—१ भाग कल्क, कल्क से चौगुना अर्थात् ४ भाग घी, घी से चौगुना द्रव पदार्थ होना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० ९।१। श्रीजयदेव ने द्रव्यद्वैगुण्य परिभाषा के साथ घी को भी दूना ले लिया है, जिससे समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है।

हमारे विचार से १ पाव कल्क, घृत १ सेर और क्वथित जल ४ सेर की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। क्योंकि निर्माण की सरलता औषध-निर्माण कुशल व्यक्ति पर निर्भर होती है।

नागरातिविषे मुस्तं धातकीं च रसाञ्जनम्। वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां कटुकरोहिणीम् ॥
पिबेत् समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना। पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥१३०॥
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम्। नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥१३१॥
इति नागराद्यं चूर्णम्।

नागरादि चूर्ण—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, धाय के फूल, रसौत, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, बेल की गुद्दी, पाठा, कुटकी—इन सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर के रख लें। मात्रानुसार इस चूर्ण में मधु मिलाकर सेवन करें। उसके बाद तण्डुलाम्बु (चावल का धोवन) पीयें। यहाँ सहपान मधु और अनुपान तण्डुलाम्बु है। इसका प्रयोग पित्तज ग्रहणीरोग, गुदमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त, अर्शरोग, गुदशूल तथा प्रवाहिका में करना चाहिए। इस नागराद्यचूर्ण का आदर कृष्णात्रेय ने किया है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'कृष्णात्रेयेण पूजितत्वोपदर्शनादस्य सिद्धयोगत्वं दर्श्यते। कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न एवेति वृद्धाः'। वे लिखते हैं कि यह योग महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका आदर 'कृष्णात्रेय' ने भी किया है। कृष्णात्रेय और पुनर्वसु आत्रेय एक ही हैं या भिन्न-भिन्न; इस विवाद का भार वृद्धों के ऊपर डालकर श्रीचक्रपाणि स्वयं निश्चिन्त हो गये हैं।

पुनर्वसु आत्रेय के साथ लगे अनेक प्रकार के विशेषण यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय ये तीनों आचार्य एक हैं, या भिन्न-भिन्न। चरकसंहिता के अनेक स्थलों पर कृष्णात्रेय शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—'त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता'। च० सू० अ० ११।६५। 'कृष्णात्रेयेण भाषितः'। च० चि० अ० १४।१५२। 'कृष्णात्रेयेण पूजितम्'। च० चि० अ० १५।१३१। भेलसंहिता में भी अनेक बार 'कृष्णात्रेय' का नाम आया है। इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह में भी वृद्धवाग्भट ने यत्र-तत्र 'कृष्णात्रेय' नाम का स्मरण किया है। शिवदास एवं श्रीकण्ठदत्त ने पुनर्वसु आत्रेय से 'कृष्णात्रेय' को भिन्न व्यक्ति माना है, किन्तु इन दोनों ने इन्हें शालाक्यतन्त्र का उपदेष्टा मानने का निराधार यत्न किया है, क्योंकि इनके नाम से इधर-उधर जो भी योग उपलब्ध होते हैं, वे सब कायचिकित्सा-परक ही हैं।

कुछ विद्वानों के मत से चरकसंहिता के प्रतिसंस्कर्ता दृढबल ने कृष्णात्रेय के नाम को इस संहिता में स्थान दिया है। यह धारणा भी निराधार है, क्योंकि यह निश्चय हो चुका है कि मूल चरकसंहिता में आचार्य दृढबल ने चिकित्सास्थान के १७ अध्याय, सम्पूर्ण कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान को पूर्ण किया (चि० १७ अ०+कल्प० १२+सिद्धि० १२=कुल योग ४१ अध्याय)। अग्निवेश तथा चरक ने अपने-अपने समय में इस संहिता को पूरा किया था। यदि हम दृढबल पूरित अध्यायों तथा स्थानों को छोड़ भी देते हैं, तो च० सू० अ० ११।६५ में आये हुए कृष्णात्रेय का कोई समाधान नहीं मिलता। भिक्षु आत्रेय कोई आत्रेयगोत्र में उत्पन्न बौद्धभिक्षु प्रतीत होता है। महाभारत में कृष्णात्रेय को चिकित्सा विषयक आचार्य इस प्रकार कहा है—'कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्'। इस वाक्यांश से बल मिल रहा है कि हम उक्त दोनों को एक मान लें। हो सकता है पुनर्वसु इनका नाक्षत्र नाम हो और पुनर्वसु नक्षत्र के प्रथम चरण में आये हुए 'क' वर्ण से इनका नाम 'कृष्ण' रख दिया हो। अस्तु।

तण्डुलोदक-निर्माण—नये धान के चावलों को ६ गुने या ८ गुने जल में कुछ समय तक भिगाकर उन्हें हाथों से मलकर छान लिया जाता है। यही 'तण्डुलोदक' या 'तण्डुलवारि' है।

इस नागरादि चूर्ण को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है—'नागररसाञ्जनाति…गुदशूलं च व्यपोहन्ति' ॥ अ० सं० चि० अ० १२।१२।

भूनिम्बकटुकाव्योषमुस्तकेन्द्रयवान् समान्। द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ॥१३२॥
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत्। कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत् ॥१३३॥
इति भूनिम्बाद्यं चूर्णम्।

भूनिम्बादि चूर्ण—भूनिम्ब (चिरायता), कुटकी, व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), नागरमोथा, इन्द्रजौ, इन सब द्रव्यों को १-१ भाग लें, चीता की जड़ २ भाग, कुटज (कुरैया) की छाल १६ भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर डालें। शीतल जल में गुड़ को घोल लें अर्थात् शरबत जैसा बना लें। इस चूर्ण को गुड़ के शरबत के साथ ग्रहणी रोगी को पिलाये। यह ग्रहणी रोग तथा गुल्म रोग का शमन करता है और कामला ज्वर, पाण्डु रोग, प्रमेह, भोजन के प्रति अरुचि, अतिसार रोगों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—'गुडशीताम्बुना' इसी को अन्यत्र 'गुडाम्बु' कहा गया है। उतने जल में गुड़ घोलना चाहिए, जितना एक बार में पीना हो और उतना गुड़ डाले जिससे पानी गुड़ के घोल जैसा दिखलायी देने लगे। उक्त चूर्ण अत्यन्त कड़ुवा होता है तथा यह ग्रहणी रोग में लाभ करता है, अतः दोनों दृष्टि से इसका प्रयोग किया कराया जाता है।

गुड़-प्रशंसा—'श्लेष्माणमाशु विनिहन्ति सदार्द्रकेण पित्तं निहन्ति च तदेव हरीतकीभिः। शुण्ठ्या समं हरति वातमशेषमित्थं दोषत्रयक्षयकराय नमो गुडाय' ॥ भा० प्र० पू० खं० इक्षुवर्ग २९। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को अविकल गद्य रूप में उद्धृत किया है। देखें, अ० सं० चि० अ० १२।१२।

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम्। स्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वग्दुरालभाः ॥१३४॥
दार्वीं पर्पटकं पाठां यवानीं मधुशिग्रुकम्। पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान् ॥१३५॥
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च। तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत् ॥

वचादि चूर्ण—बालवच, अतीस, पाठा, छतिवन, रसौत, श्योनाक (सोनापाठा), उदीच्य (गन्धबाला), कट्वङ्ग (अरलु) की छाल, कुटज की छाल, दुरालभा, दारुहल्दी, पितपापड़ा, पाठा, अजवाइन, मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) की छाल, परवल की पत्तियाँ, पीली सरसों, जूही की पत्तियाँ, चमेली की पत्तियाँ, जामुन तथा आम की गुठलियाँ, बेल की गुद्दी, नीम की गुठलियाँ (निबौलियाँ), शाक (सागौन) के फल—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण से भी उन सभी रोगों को शान्ति होती है, जिनकी शान्ति के लिए 'भूनिम्बादि चूर्ण' का प्रयोग बतलाया गया है।

वक्तव्य—श्री चक्रपाणि ने लिखा है—'स्योनाककट्वङ्गशब्दाभ्यां द्वावपि पृथुशिम्बाल्पशिम्बौ स्योनाकौ गृह्येते'। वास्तव में श्योनाक (सोनापाठा) और कट्वङ्ग (अरलु) दो भिन्न द्रव्य हैं। दोनों द्रव्यों के गण, गुण, प्रयोग, नाम आदि भिन्न-भिन्न हैं। दूसरों के कह देने या लिख देने मात्र से आप भी अन्धानुकरण न करें। देखें—आचार्य प्रियव्रतशर्मा कृत द्रव्यगुणविज्ञान, द्वितीयभाग पृ० ४६९ तथा ४६६। इस योग में 'पाठा' द्रव्य दो बार आया है, अतः इसे प्रमाण में दूना लेना चाहिए—'एकमप्यौषधं योगे यस्मिन् यत् पुनरुच्यते। मानतो द्विगुणं प्रोक्तं तद् द्रव्यं तत्त्वदर्शिभिः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।५२।

भूनिम्बाद्येन योजयेत्—श्रीचक्रपाणि इस पद्यांश को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'भूनिम्बाद्युक्तद्रव्यगणेन यथोक्तमानेन योजयेद् वचादीन्। अपरे तु भूनिम्बाद्येनेति वचनेनात्र भूनिम्बाद्युक्तगुडशीताम्बुपेयतामस्याप्यतिदिशन्ति, इति वदन्ति'। अर्थात्—भूनिम्बादि चूर्ण के द्रव्यों को जिस परिमाण में लिखा गया है, उसी प्रमाण में वचा आदि द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिए। वे कहते हैं—दूसरे टीकाकारों का कथन है कि जिस प्रकार भूनिम्बादि चूर्ण को गुडशीताम्बु के साथ लेने को कहा गया है, उसी प्रकार इसे (वचादि चूर्ण को) भी लें।

हमारे विचार से दोनों का विचार युक्ति-युक्त है। अतः द्रव्यों की मात्रा और चूर्ण का अनुपान दोनों का ग्रहण भूनिम्बादि चूर्ण के अनुसार करना चाहिए, क्योंकि इस चूर्ण में दोनों विषयों का अभाव है। यदि हम भूनिम्बादि चूर्ण में कहे गये परिमाण में वचादि के द्रव्यों को लेने को तैयार होते हैं, तो देखते हैं कि उक्त चूर्ण में तीन प्रकार के मान हैं। अतः दूसरी पंक्ति में कथित दो विशिष्ट मानों को छोड़कर शेष द्रव्यों के लिए सममान का इस चूर्ण में आश्रय लेना हम युक्ति-युक्त समझ रहे हैं।

किराततिक्तः षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम्। चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वीत्वक् कटुरोहिणी ॥
कुटजत्वक्फलं मुस्तं यवानी देवदारु च। पटोलनिम्बपत्रैलासौराष्ट्र्यतिविषात्वचः ॥१३८॥

मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्पटकस्तथा। तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्येर्जलेन वा ॥१३९॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान्। कामलां सन्निपातं च मुखरोगांश्च नाशयेत् ॥१४०॥

इति किराताद्यं चूर्णम्।

किरातादि चूर्ण—चिरायता, बालवच, त्रायमाणा, सोंठ, मरिच, पीपल, लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, दारुहल्दी, कुटकी, कुरैया की छाल, इन्द्रजौ, नागरमोथा, अजवाइन, देवदारु, परवल की पत्ती, नीम की पत्ती, बड़ी इलायची, सौराष्ट्री (फिटकिरी), अतीस, दालचीनी, मीठे सहिजन के बीज, मूर्वामूल, पितपापड़ा—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार मधु में मिलाकर चाटें तथा उसके बाद मद्य या जल पीयें। इसका सेवन करने से हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, गुल्म, शूल, अरुचि, ज्वर, कामला, सन्निपात (पाठभेद के अनुसार—अतिसार) तथा मुख रोगों का नाश होता है। मात्रा—२ माशा।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा स्वीकृत उक्त पाठ में 'सन्निपात' के स्थान पर 'अतिसार' शब्द प्रयुक्त है। अ० सं० चि० अ० १२।११ में भी 'अतिसार' का ही ग्रहण किया गया है। इसकी टीका करते हुए श्रीइन्दु ने मूर्वादि चूर्ण को जो तिक्तक चूर्ण की संज्ञा दी है, उसमें चरक का ही प्रभाव परिलक्षित होता है।

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि। कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत् ॥१४१॥

कफज ग्रहणी की चिकित्सा—कफदोष के कारण दूषित ग्रहणी में यथाविधि वमन करा देने के बाद कड़ु, अम्ल, लवण, क्षार एवं तिक्त द्रव्यों का प्रयोग कराकर मन्द हुई अग्नि को पुनः प्रदीप्त करना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने कफज ग्रहणी में पहले वमन कराकर तब कड़ु, अम्ल आदि द्रव्यों के प्रयोग का आदेश दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।१३।

पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम्। पिप्पलीं पिप्पलीमूलं पाठां नागरधान्यकम् ॥१४२॥
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम्। पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधयेत् ॥१४३॥

पलाशादि पानीय—कफज ग्रहणीरोग में रोगी को वमन कराने के बाद जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए पलाश (ढाक), चीता की जड़, चव्य, बिजौरानीबू, हरड़, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, सोंठ, धनियाँ प्रत्येक द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर जौकुट करके १ प्रस्थ (६४ तोला) जल में भिगा दें, उसके बाद उसी जल में इन्हें पकाएँ, जब पकते-पकते चौथाई (१६ तोला) जल रह जाय, तो इसे छानकर रख लें। प्यास लगने पर यही जल रोगी को पीने के लिए दें। इसी प्रकार के क्वाथ किये हुए जल से यवागू आदि का पाक कराकर रोगी को खिलायें।

वक्तव्य—रोगी के अग्निबल को ध्यान में रखकर मण्ड, पेया, विलेपी तथा यवागू का प्रयोग करायें। ये उत्तरोत्तर पाचन की दृष्टि से गुरु (देर में पचने वाले) होते हैं।

कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥१४४॥
शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः। कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥१४४॥
शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः। मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सीधुमेव वा ॥१४५॥
अम्लं चानु पिबेत् तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा। मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सीधुमेव वा ॥१४५॥

अन्य प्रयोग—उपर्युक्त पलाशादि पानीय के प्रयोग से अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर रोगी को सूखी मूली के यूष अथवा कुलथी के यूष में कड़ु द्रव्यों (सोंठ, कालीमिर्च, पीपल) का चूर्ण, अम्ल (दाड़िम आदि का) रस, क्षार (जवाखार) तथा नमक मिलाकर लघु (शीघ्र पचने वाले) अन्नों (आहार द्रव्यों) को खिलायें। भोजन कर लेने के बाद अम्लतक्र (खट्टा मठा) तथा इसी अध्याय (श्लोक १२०-१२१) में कहा गया तक्रारिष्ट, मदिरा अथवा निर्दोष सीधु (मद्य भेद) पीने के लिए दें।

वक्तव्य—यहाँ पेय पदार्थों के विकल्प की जो कल्पना तन्त्रकार ने की है, उसमें मात्र कारण है, रोगी की रुचि को बढ़ाना, क्योंकि भोजन के प्रति रुचि का न होना अग्निमान्द्य का स्पष्ट लक्षण है।

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गानां ततोऽर्धतः। चित्रकस्य ततोऽर्धं स्यात् तथा भल्लातकाढकम् ॥

[1]मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत् । द्रोणशेषं तु तच्छीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥१४७॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते । कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥१४८॥
ग्रहणीं दीपयत्येव [2]बृंहणः कफपित्तजित् । शोथं कुष्ठं किलासं च प्रमेहांश्च प्रणाशयेत् ॥१४९॥
इति मधूकासवः ।

मधूकासव—महुए के फूल १ द्रोण (१०२४ तोला), वायविडंग उससे आधा (५१२ तोला), चीता की जड़ उससे आधा (२५६ तोला), भिलावा १ आढक (२५६ तोला), मजीठ ८ पल (३२ तोला, पाठभेद के अनुसार—३ पल=१२ तोला)—इन सब द्रव्यों को लेकर जौकुट करके ३ द्रोण (३०७२ तोला) जल में इनका क्वाथ करें। जब १ द्रोण (१०२४ तोला) जल शेष रह जाय, तो इसे उतारकर छान लें। शीतल हो जाने पर इसमें आधा आढ़क (१२८ तोला) मधु मिलायें। इसमें छोटी इलायची, खश, अगरु, चन्दन इन द्रव्यों का लेप तैयार करके एक मिट्टी के घड़े को भीतर से लीपकर उसमें उक्त द्रव को भरकर उस घड़े का मुख बन्द करके एक मास तक रख दें। जब आसव तैयार हो जाय तो उसे छानकर सुरक्षित कर लें। इसके प्रयोग से ग्रहणीकला अपने कार्य में सक्षम हो जाती है। यह आसव शरीर के अवयवों को पुष्ट करता है, कफ और पित्त विकार को जीत लेता है अर्थात् ये दोष अपने द्वारा किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न नहीं कर सकते। यह आसव शोथ, कुष्ठ, किलास (श्वित्रकुष्ठ) और प्रमेहों का विनाश करता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने द्रव्यों के परिमाण में कुछ अन्तर किया है। देखें—'मञ्जिष्ठाचित्रकारुष्कर···पाण्डुहृद्रोगजिच्च'। अ० सं० चि० अ० १२।१३।

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम् । क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥१५०॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषाञ्जयेत् सर्वान् हिताशनः । तद्वद् [3]द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥

मधूकासव (द्वितीय)—महुए के फूलों के स्वरस का क्वाथ करें, जब आधा पानी (स्वरस) जल जाय तो उसे उतारकर शीतल कर लें, तदनन्तर उसमें एक चौथाई शहद मिलाकर पहले मधूकासव की भाँति (छोटी इलायची, खश, अगरु, चन्दन का लेप तैयार कर घड़े के भीतर उसका लेप करके इस मधु मिले हुए महुए के फूलों के रस के क्वाथ को उसमें डालकर उसका मुँह बन्द करके) रख दें। तैयार हो जाने के बाद उसे छानकर रख लें। हितकर आहार-विहार करने वाला ग्रहणी रोगी इस आसव का सेवन करता हुआ सभी प्रकार के ग्रहणी दोषों को जीत लेता है। उसी प्रकार मुनका, ईख, खजूर इनके स्वरसों का आसव बनाकर ग्रहणी रोगी को पीना चाहिए। (पाठभेद के अनुसार खजूर के स्थान पर 'गम्भारी' को लें)।

वक्तव्य—'पूर्ववत्' शब्द का सम्बन्ध मधूकासव में जिस प्रकार १ द्रोण मधूक (महुए) के पुष्पों को लेने का विधान बतलाया गया है, उसी प्रकार यहाँ मधूकपुष्प-स्वरस लेकर तथा घड़ा के भीतर छोटी इलायची आदि द्रव्यों का लेप करके उसका आसव बनाने से है। 'तद्वत्' इसका सम्बन्ध 'पूर्ववत्' शब्द से समझना चाहिए।
पाठभेद—'खर्जूर' के स्थान पर 'काश्मर्य' पाठ उतना समीचीन प्रतीत नहीं हो रहा है। आप भी गुण-धर्म का विवेचन कर स्वतः निर्णय लें। यद्यपि वृद्धवाग्भट भी 'काश्मर्यफल' के पक्षपाती हैं। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।१४। मात्रा २ से ६ माशा तक।

प्रस्थौ दुरालभाया द्वौ प्रस्थमामलकस्य च । [4]दन्तीचित्रकमुष्टी द्वे प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ॥१५२॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम् । सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम् ॥१५३॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानां च चूर्णितैः । कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत् ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठवीसर्पमेहनुत् । स्वरवर्णकरश्चैष रक्तपित्तकफापहः ॥१५५॥
इति दुरालभासवः ॥

१. 'मञ्जिष्ठात्रिपलम्' इति पा० ।
२. 'बृंहणोऽनिलरोगजित्' इति पा० ।
३. 'द्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वरसा' इति पा० ।
४. 'मुष्टी चित्रकदन्त्योर्द्वे' इति पा० ।

दुरालभासव—दुरालभा २ प्रस्थ (१२८ तोला), आँवला १ प्रस्थ (६४ तोला), दन्तीमूल १ मुष्टि (१ पल=४ तोला), चीता की जड़ १ मुष्टि, ताजे हरड़ एक सौ—इन सबको जौकुट करके ४ द्रोण (४०९६ तोला) जल में पकायें, जब १ द्रोण (१०२४ तोला) जल शेष रह जाय तो उसे उतारकर छान लें। इस क्वाथ रस में २०० पल (८०० तोला) गुड़ डालकर घोल दें और उसी में मधु १ कुडव (१६ तोला) मिला दें। उसी प्रकार प्रियंगु, पिप्पली, वायविडंग—इन द्रव्यों को १-१ कुडव (१६-१६ तोला) लेकर चूर्ण करके भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में डाल दें, उसके बाद उस घड़े का मुख बन्द करके पन्द्रह दिनों तक रख दें। तैयार हो जाने पर उसे छानकर रख लें।

इस दुरालभासव का सेवन करने से ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, अर्श (बवासीर), कुष्ठ, विसर्प, प्रमेह, रक्तपित्त तथा कफज विकारों का नाश होता है। इससे स्वर तथा वर्ण आकर्षक हो जाता है।

वक्तव्य—'कुडवायुतम्'—श्रीजयदेव इसका मान ८ पल मानते हैं। मान-परिभाषा के अनुसार ४ पल का १ कुडव होता है। भाषा की दृष्टि से इसका अर्थ—'कुडवेन आसमन्ताद् युतम्' ऐसा होगा, 'कुडव-अयुत' ऐसा विग्रह अनर्थकारी हो जायेगा। मात्रा—२ या ३ तोला।

हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरर्षभकजीवकम् । [1]एषां पञ्चपलान् भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥१५६॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक् । चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान् ॥
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान् । लोध्रं शाबरकं चैव मासार्धस्थं पिबेत् तु तम् ॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तजित् । आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत् ॥१५९॥
इति मूलासवः ।

मूलासव—हल्दी, दोनों पञ्चमूल (१. बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढ़ल की छाल, अरणी की छाल। २. लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), क्षीरकाकोली, ऋषभक तथा जीवक—इन सभी द्रव्यों को अलग-अलग ५-५ पल (२०-२० तोला), लेकर जौकुट करके ४ द्रोण (४०९६ तोला) जल में डालकर पकायें, जब १ द्रोण (१०२४ तोला) रस शेष रह जाय, तब इसे उतारकर छान लें। चिकित्सक को चाहिए कि वह क्वाथ के शीतल हो जाने पर २०० पल (८०० तोला) गुड़ को उस (क्वाथरस) में घोल दे; मधु, प्रियंगु, नागरमोथा, मजीठ, वायविडंग, प्लव (केवटीमोथा), सावरलोध इन द्रव्यों को आधा-आधा कुडव (८-८ तोला) लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर इन चूर्णों को उक्त क्वाथरस में डालकर मिला दें। उक्त रस को भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में भरकर उस घड़े का मुख बन्द कर १५ दिन तक रख दें, तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख लें। यह मूलादि आसव अग्नि को प्रदीप्त करता है, रक्तपित्त, आनाह, कफजरोग, हृद्रोग, पाण्डुरोग और शरीर की शिथिलता का नाश करता है, अतः इसे पीना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस 'मूलासव' को उद्धृत किया है। इसमें चरकोक्त योग से त्रिफला के द्रव्यों का अधिक उपयोग किया है और कुछ द्रव्यों के परिमाणों में भी अन्तर किया है। शेष द्रव्य समान हैं। देखें—'दशमूलवीरा···समानः पूर्वेण'। अ० सं० चि० अ० १२।१५।

[2]प्रास्थिकं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं मध्यं बिभीतकात् । उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत् ॥१६०॥
तस्मात् पलं सुजातात् तु सलिलाञ्जलिसंयुतम् । पिबेत्पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः ॥
स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः [3]स्निग्धरसाशनः । इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं रोगाणां येऽत्र कीर्तिताः ॥
इति पिण्डासवः ।

पिण्डासव—पिप्पलीचूर्ण, गुड़, बहेड़ा की मज्जा (यह बहेड़ा की गुठली के भीतर होती है) का चूर्ण, जल—इन सबको १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला) लेकर घृतभावित (भीतर से घी चुपड़े हुए) एक घड़े में डालकर

१. 'पृथक्' इति पा० ।
२. 'प्रास्थिकीम्' इति पा० ।
३. 'सिद्धं रसायनम्' इति ।

उस घड़े का मुख बन्द करके जौ के ढेर में ढककर १५ दिन तक रख दें, तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख लें। यह पिण्डासव तैयार है। इसमें से १ पल (४ तोला) आसव लेकर उसे १ अंजलि (१६ तोला) जल में मिलाकर भोजन करने के बाद पीयें। यह आसव रोगसमूह का नाश करता है। स्निग्धरसों (मांसरसों अथवा मूंग आदि दालों का यूष) के साथ भोजन करने वाला व्यक्ति भी यदि एक मास तक इस आसव का सेवन करता है तो यहाँ जिन रोगों की चर्चा की गयी है, वे रोग उसे कभी उत्पन्न नहीं होते।

वक्तव्य—यद्यपि योगों का नाम-निर्धारण जिस द्रव्य से योग का प्रारम्भ होता है या किया जाता है, उसी के अनुसार होता है, किन्तु कभी-कभी इस नियम का अतिक्रमण भी देखा जाता है, जैसा कि ऊपर 'पिण्डासव' है। इस दृष्टि से इस आसव का नाम 'पिप्पल्यासव' या 'पिप्पल्याद्यासव' होना चाहिए था। मूल पाठ में आया हुआ पिण्ड शब्द हमें उसकी विवेचना के लिए बाध्य करता है। वी० एस० आप्टे ने अपने कोष में इसके प्रसंगोचित दो अर्थ दिये हैं—१. संग्रह, २. शक्तिप्रद। यद्यपि ये दोनों ही अर्थ इस प्रसंग में अतिव्याप्ति दोष से दूषित हैं, तथापि कुछ निष्कर्ष तो निकलता ही है।

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते। मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ॥१६३॥
कुडवार्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा। चतुर्थिकांशां त्वक्क्षीरीं केशरं मरिचानि च ॥१६४॥
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनान्। हरेण्वेल्वालुतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान् ॥१६५॥
कार्षिकांस्तत् स्थितं मासमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्। मन्दं सन्दीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ॥१६६॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान्। वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति ॥१६७॥
इति मध्वरिष्टः।

मध्वरिष्ट—पिप्पली-चूर्ण को मधु में मिलाकर मिट्टी के एक नये कलश (घड़ा) के भीतर इसका लेप कर उसके भीतर अगरु की धूप दें, इसके बाद घड़ा में मधु १ आढक (२५६ तोला) और जल १ आढक दोनों को घोलकर डाल दें, और उसी घड़ा में आगे कहे गये द्रव्यों का चूर्ण बनाकर भी डाल दें—वायविडंग का चूर्ण आधा कुडव (८ तोला), पिप्पली का चूर्ण १ कुडव (१६ तोला), वंशलोचन १ पल (४ तोला), केसर, कालीमिर्च, दालचीनी, छोटी इलायची के बीज, तेजपत्ता, कचूर, सुपारी, अतीस, नागरमोथा, हरेणु (संभालू या मेवड़ी के बीज), एलुआ, चव्य, पीपरामूल तथा चित्रकमूल, इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लें। इनको घड़े में डालकर खूब मिलाकर घड़ा का मुख बन्द करके एक मास तक रहने दें। तदनन्तर उसे छानकर रख दें। इस मध्वरिष्ट का यथाविधि सेवन करने से यह मन्द अग्नि को प्रदीप्त कर देता है, विषम अग्नि को सम कर देता है और हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, कुष्ठ, अर्श, शोथ, ज्वर तथा अन्य वातज एवं कफज रोगों को भी नष्ट कर देता है। मात्रा—२ या ३ तोला।

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च। मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम् ॥१६८॥
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत् प्रातः सुखाम्बुना। श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम् ॥१६९॥

पिप्पलीमूलादि चूर्ण—पिप्पलीमूल, जवाखार, सर्जीखार, पाँचों नमक (सैंधा, सौंचर, समुद्र, विड, औद्भिद=रेह), बिजौरानीबू, हरड़, रास्ना, कचूर, कालीमिर्च, सोंठ इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। मात्रा के अनुसार इस चूर्ण का सेवन गुनगुने जल से प्रातःकाल करना चाहिए। इससे कफज ग्रहणीदोष का शमन होता है, यह शारीरिक बल, वर्ण तथा जठराग्नि को बढ़ाता है।

वक्तव्य—निघण्टुओं के अनुसार इसके प्रयोज्य अंग—फलमज्जा, फलकेसर, फलरस, वृक्ष त्वचा तथा मूल है। देखें—भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ८ फलवर्ग। सु० सू० अ० ४६ फलवर्ग। यह नीम्बू जाति में सबसे बड़े आकार का होता है। आकार के अनुरूप इसमें अम्लीय अंश बहुत कम होता है। श्रीगंगाधर इसके मूल का उपयोग करने की सलाह देते हैं। दूसरे टीकाकार इसके रस से उक्त चूर्ण को भावित करने की चर्चा करते हैं। बिजौरा के जड़ का प्रयोग बालकों के शय्यामूत्र रोग पर भी किया जाता है।

एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते। गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत् ॥१७०॥

पिप्पलीमूलादि घृत—ऊपर कहे गये पिप्पलीमूल आदि द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा विधिपूर्वक पाक किये गये घृत का सेवन करने से वातकफज ग्रहणीरोग शान्त हो जाता है। चरक-चिकित्सास्थान (अ० ५ श्लोक १४३ से १४६ तक) में भल्लातकादिघृत तथा क्षीरषट्पलकघृत का वर्णन आया है। इनका सेवन भी वातकफज ग्रहणीरोग में करना चाहिए।

बिडं कालोत्थलवणं सर्जिकायवशूकजम्। सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चेति दाहयेत् ॥१७१॥
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य [1]क्षारस्य द्व्याढकेन तु। आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिबेदग्निविवर्धनम् ॥
इति क्षारघृतम्।

क्षारघृत—विड (विरिया) नमक, कालानमक (पाठभेद के अनुसार—काचलवण), सज्जीखार, जवाखार, सप्तला (सेहुण्ड भेद), कण्टकारी, चीता की जड़—इन सब द्रव्यों को एक साथ कूटकर गजपुट में रखकर फूँक दें, स्वांग शीतल हो जाने पर पुट को खोलकर इसका संग्रह कर लें। भस्म को छः गुने जल में घोलकर जब राख बैठ जाय तब उस जल को नितारें (इस जल में राख का अंश नहीं आना चाहिए), ऐसा ७ बार करें। इस प्रकार छाने हुए २ आढक (५१२ तोला) क्षार द्रव में १ आढक (२५६ तोला) गाय के घी का पाक करें। इस प्रकार तैयार किया हुआ यह घी यथाविधि सेवन करने से ग्रहणीरोग के कारण मन्द हुई जठराग्नि को बढ़ाता है।

समूलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम्। चित्रकातिविषे हिङ्गु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम् ॥१७३॥
वचां च कार्षिकं पञ्चलवणानां पलानि च। दध्नः प्रस्थद्वये तैलसर्पिषोः कुडवद्वये ॥१७४॥
खण्डीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे। अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ॥१७५॥
पिबेत् पाणितलं तस्मिञ्जीर्णे स्यान्मधुराशनः। वातश्लेष्मामयान्सर्वान्हन्याद्विषगरांश्च सः ॥

क्षार-प्रकरण

पिप्पलीमूलादि क्षार—पिप्पलीमूल, पाठा, चव्य, इन्द्रजौ, सोंठ, चीता की जड़, अतीस, हींग, गोखरू, कुटकी एवं बालवच—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) लें, पाँचों नमक (सैंधा, समुद्र, सौंचर, विड, औद्भिद) १-१ पल (४-४ तोला), दही २ प्रस्थ (१२८ तोला), तिल तेल और गाय का घी ये दोनों १-१ कुडव (१६-१६ तोला), इन सबको उक्त परिमाणों के अनुसार लेकर जौकुट कर लें, तदनन्तर दही को मथकर उसमें तेल और घी मिला दें, जौकुट किये हुए सभी द्रव्यों को उसमें डालकर मन्द-मन्द अग्नि पर रख कर पाक करें। जब जलीय अंश सूख जाय, तब इसका मुख बन्द कर ऊपर कपड़मिट्टी करके सुखा लें, इसके बाद इसे गजपुट विधि से फूँक दें। स्वांग शीतल हो जाने पर इस क्षार को सुरक्षित कर लें। इसमें से पाणितल (१ तोला) क्षार लेकर घी में मिलाकर इसे पीये। इस क्षार के पच जाने पर मधुर भोजन पदार्थों को खाना चाहिए।

इस पिप्पलीमूलादि क्षार के विधिवत् सेवन करने से वातकफज सभी प्रकार के रोगों, विषविकारों तथा गर (कृत्रिम विषविकार) दोषों की शान्ति होती है।

वक्तव्य—उपर्युक्त १ तोला की मात्रा अद्यतन मात्रा की दृष्टि से बहुत अधिक है। अतः २ माशा क्षार १ तोला गाय का घी या इस प्रकरण में कहे गये सिद्धघृत के साथ सेवन करना चाहिए। ऊपर टीका में क्षार-निर्माण की विधि का जो उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार इस प्रकरण में सर्वत्र समझें।

भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रयम्। अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ॥१७७॥
स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये वाऽप्यवचूर्णितः। हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगुल्मोदावर्तशूलनुत् ॥१७८॥

भल्लातक क्षार—भिलावा, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, तीनों नमक (सैंधा, सौंचर, विरिया)—इन सभी द्रव्यों को मिट्टी के पात्र में रखकर उसका मुख बन्द कर उसपर कपड़मिट्टी करके उसे सुखा

---

१. 'क्षारस्यार्धाढकेन' इति पा०।

ले, तदनन्तर करीष (गोहरी, सुखाये गये गोबर) की आग में रखकर उसे फूँक दें। शीतल हो जाने पर सावधानी से खोलकर उसमें से क्षार का संग्रह कर लें। इस क्षार को घी में मिलाकर पीने से अथवा भोज्य द्रव्यों में मिलाकर खाने से हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीदोष, गुल्म, उदावर्त तथा शूल का विनाश होता है। मात्रा आदि का निर्णय पूर्ववत् समझें।

दुरालभां करञ्जौ द्वौ सप्तपर्णं सवत्सकम्। षड्ग्रन्थां मदनं मूर्वां पाठामारग्वधं तथा ॥१७९॥
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत्। दग्ध्वा च तं पिबेत् क्षारं ग्रहणीबलवर्धनम् ॥

दुरालभादि क्षार—दुरालभा, दोनों करञ्ज (लताकरञ्ज, पूतिकरंज या वृक्षकरञ्ज), छतिवन, कुड़ा, धाय के फूल, वालवच, मैनफल, मूर्वामूल, पाठा, अमलतास का गूदा—इन द्रव्यों को समभाग लेकर जौकुट कर लें, सबके बराबर इसमें गोमूत्र मिला दें। इसे मन्द आँच पर रखकर पकायें, जब गोमूत्र सूख जाय तब इन द्रव्यों को एक मिट्टी के पात्र में रखकर उसका मुख बन्द करके उसके ऊपर कपड़मिट्टी कर दें, सूख जाने पर गोहरी या वनोपलों की आग पर रखकर इसे जला डालें। शीतल होने पर इस क्षार का संग्रह कर लें। मात्रानुसार इसमें से क्षार लेकर घी में मिलाकर सेवन करें। इसका सेवन करने से ग्रहणीकला की शक्ति बढ़ती जाती है।

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम्। दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः ॥१८१॥

भूनिम्बादि क्षार—चिरायता, कुटकी, परवल की पत्तियाँ, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, इन सब द्रव्यों को समभाग लें, सबके बराबर भैंस का मूत्र मिलाकर इनको मन्द अग्नि पर पकायें, मूत्र के सूख जाने पर उपर्युक्त द्रव्यों का क्षारपाक-विधि से अन्तर्धूम पाक करें। तैयार होने पर उसे निकालकर रख लें। इसका यथाविधि प्रयोग करने से ग्रहणी रोग के कारण मन्द हुई अग्नि की वृद्धि हो जाती है।

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी। मुस्तं च बस्तमूत्रेण दहेत् क्षारोऽग्निवर्धनः ॥१८२॥

हरिद्रादि क्षार—दोनों हल्दी (हल्दी, दारुहल्दी), वच, कूठ, चीता की जड़, कुटकी, नागरमोथा—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर, इनके बराबर बकरे का मूत्र लें, उसमें उक्त द्रव्यों को पकाकर मूत्र को सुखा लें, फिर कपड़मिट्टी कर उक्त द्रव्यों को फूँक कर क्षार का संग्रह कर लें। यह क्षार अग्निवर्धक है।

चतुष्पलं सुधाकाण्डात् त्रिपलं लवणत्रयात्। वार्ताकीकुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात् पले ॥१८३॥
दग्धानि वार्ताकुरसे गुटिका भोजनोत्तराः। भुक्तं भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः ॥
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः। इत्येषा क्षारगुटिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता ॥१८५॥
इति क्षारगुटिका।

क्षारगुटिका—थूहर का डंठल ४ पल (१६ तोला), सेंधानमक, सौंचरनमक, विरियानमक प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला), बड़ी कटेरी १ कुडव (१६ तोला), मदार की पत्तियाँ ८ पल (३२ तोला), चीता की जड़ २ पल (८ तोला)—इन द्रव्यों को लेकर पूर्ववत् फूँक दें। क्षार तैयार हो जाने पर कण्टकारी के रस में इस क्षार को घोटकर गोलियाँ तैयार कर लें। इनका सेवन भोजन के पश्चात् करना चाहिए। ये गोलियाँ अपने प्रभाव से बार-बार किये हुए भोजन को शीघ्र पचा देती हैं (पाठभेद के अनुसार—खाये हुए भात आदि को शीघ्र पचा देती हैं); ये कास, श्वास तथा अर्श रोगियों के लिए हितकर हैं और विसूचिका, प्रतिश्याय (जुकाम) तथा हृद्रोग का भी शमन करती हैं। इस 'क्षारगुटिका' का उपदेश कृष्णात्रेय ने किया था।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को गद्य रूप में उद्धृत किया है—'महावृक्षकाण्डचतुष्पलं ... श्वयथुमेहाऽरोचकगुल्महराः' ॥ अ० सं० चि० अ० १२।१५। मात्रा—४ रत्ती से १ माशा।

वत्सकातिविषे पाठां दुःस्पर्शां हिङ्गु चित्रकम्। चूर्णीकृत्य पलाशाग्रक्षारे मूत्रस्रुते पचेत् ॥१८६॥
आयसे भाजने [1]सान्द्रात् तस्मात् कोलं सुखाम्बुना। मद्यैर्वा ग्रहणीदोषशोथार्शःपाण्डुमान् पिबेत् ॥
इति चतुर्थक्षारः।

चतुर्थ क्षार—कुरैया की छाल, अतीस, पाठा, यवासा, हींग, चीता की जड़—इन द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण कर लें, इसे गोमूत्र में पकाकर बनाये गये पलाशक्षार को घोकर निथारे गये जल द्वारा उक्त चूर्णों को लौह पात्र में पकायें। जब पकते-पकते गाढ़ा हो जाय तो उसे उतार लें। इसमें से १ कोल (आधा तोला) की मात्रा लेकर गरम जल से या मदिरा के साथ इसका सेवन करें। इससे ग्रहणीरोग, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग शान्त हो जाते हैं। अर्थात् इन रोगों से युक्त रोगी को उक्त **वत्सकादि क्षार** का सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में इस **वत्सकादि क्षार** को **'चतुर्थक्षार'** की संज्ञा दी गयी है, जब कि इसी प्रसंग में इसके पहले चार क्षारों और पाँचवीं क्षारगुटिका का वर्णन किया जा चुका है; क्या यह परम्परागत सम्पादन की त्रुटि तो नहीं चली आ रही है? श्रीजयदेव ने अपनी टीका में 'चतुर्थक्षार' 'पञ्चमक्षार' ऐसे शीर्षक नहीं दिये हैं। क्षारों की विशेष जानकारी के लिए—सु० सू० अ० ११।११ देखें। श्रीजयदेव ने 'पलाशाग्रक्षारे' पाठ को स्वीकार न करके 'पलाशानां क्षारे' पाठ को सम्मान दिया है, जो उक्त पाठ से अधिक स्पष्ट है।

त्रिफलां कटभीं चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः। रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठां च हिङ्गु च ॥
मधुकं मुष्ककयवक्षारौ त्रिकटुकं वचाम्। विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिकां निम्बचित्रकौ ॥१८९॥
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च। कार्षिकं लवणानां च पञ्चानां पलिकान्पृथक् ॥१९०॥
भागान् दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितम्। अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात् पाणितलं पिबेत् ॥
सर्पिषा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान्। प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान् ॥१९२॥
शोषातिसारौ श्वयथुं प्रमेहानाहहृद्ग्रहान्। हन्यात् [1]सर्वविषं चैव क्षारोऽग्निजननो वरः ॥१९३॥
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात् पयसाऽपि वा।
इति पञ्चमक्षारः।

पञ्चम क्षार—हरड़, बहेड़ा, आँवला, कटभी, चव्य, बेल की गुद्दी, लोहरज, कुटकी, नागरमोथा, कूठ, पाठा, हींग, मुलेठी, मुष्कक (मोखा), जवाखार, सोंठ, मरिच, पीपल, वालवच, वायविडंग, पिप्पलीमूल, सज्जीखार, नीम की छाल, चीता की जड़, मूर्वा की जड़, अजमोदा, इन्द्रजौ, गुरुच, देवदारु—इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला), पाचों नमक (सैंधा, सोंचर, सामुद्र, विड, औद्भिद) प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोला), दही ३ कुडव (४८ तोला), घी ३ कुडव, तेल ३ कुडव—इन सभी द्रव्यों को मिलाकर एक मिट्टी के पात्र में भरकर उसका मुख बन्द करके उसके ऊपर कपड़मिट्टी करके उसे सुखाकर वनोपलों में फूँक दें। शीतल हो जानेपर क्षार को निकालकर रख लें। इसकी मात्रा १ पाणितल (१ तोला) है। इसे घी में मिलाकर पीना चाहिए। इस **त्रिफलादि क्षार** का कफ-वातज अर्शरोगी, ग्रहणीरोगी तथा पाण्डुरोगी सेवन करें। यह क्षार प्लीहारोग, मूत्रकृच्छ्र, श्वास, हिक्का, कास, क्रिमि, ज्वर, शोष, अतिसार, शोथ, प्रमेह, आनाह, हृद्ग्रह—इन रोगों का विनाश करता है तथा सभी प्रकार के विषविकारों को दूर करता है, यह अग्नि को प्रदीप्त करने में श्रेष्ठ है, इस क्षार के पच जाने के बाद दूध के साथ अथवा मधुर मांस रसों के साथ चावलों के भात को खाना चाहिए। मात्रा—१ से २ माशा तक। अनुपान—गाय का घी।

त्रिदोषे विधिविद् वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत् ॥ १९४ ॥
घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान्।

त्रिदोषज ग्रहणीरोग-चिकित्सा—पञ्चकर्म की विधि को जानने वाला चिकित्सक त्रिदोषज ग्रहणीरोग में विधिपूर्वक पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन) का प्रयोग कराये। तदनन्तर जब देखे कि पूर्णरूप से कायसंशोधन हो गया है, तब अग्निवर्धक घृत, क्षार, आसव तथा अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिए, क्योंकि पञ्चकर्म कराने के बाद जठराग्नि मन्द पड़ जाती है।

क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति ॥ १९५ ॥
व्यत्यासात् तां समस्तां वा कुर्याद् दोषविशेषवित्।

---

१. 'सर्वविषाणां न क्षारोऽयं शमनो वरः' इति पा०।

समास-व्यत्यास चिकित्सा—वातज, पित्तज, कफज ग्रहणी रोग की चिकित्सा इसी अध्याय में पहले अलग-अलग बतलायी गयी है। दोषविशेष का जानने वाला चिकित्सक तन्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट विधि से क्रमशः चिकित्सा करे अथवा सबको मिला-जुलाकर चिकित्सा करे।

वक्तव्य—आयुर्वेद में पर्यायक्रम (Alternately) को ही व्यत्यास क्रम कहा गया है। यहाँ '**अनिलादीनां क्रिया**' कहकर केवल तीन दोषों का ही ग्रहण होता है। जब सान्निपातिक ग्रहणी रोग की चिकित्सा करनी होगी, तब उक्त तीनों दोषों की चिकित्सा को मिलाकर किया जायगा। इस अवसर पर वही चिकित्सक सफलता प्राप्त कर सकता है, जो '**दोषविशेषवित्**' होगा, दूसरा नहीं।

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत् ॥ १९६ ॥
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः। विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम् ॥१९७॥
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः—

ग्रहणीदोषनाशक विधियाँ—ग्रहणी रोगियों के लिए स्नेहन, स्वेदन, शुद्धि (वमन, विरेचन आदि), लंघन, दीपन, चूर्ण, लवण, क्षार, मध्वरिष्ट, सुरा, आसव, विविध प्रकार के तक्र-प्रयोग तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले घृतों का प्रयोग करना चाहिए।

—क्रियां चावस्थिकीं शृणु। ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम् ॥१९८॥

कफज ग्रहणी में आवस्थिकी चिकित्सा—यहाँ तक विस्तृत रूप से दोषानुसार ग्रहणी रोग की चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है। अब यहाँ से ग्रहणीरोग की आवस्थिकी (अवस्था के अनुसार) चिकित्सा कही जा रही है, उसे सुनो (महर्षि आत्रेय अग्निवेश से कह रहे हैं)—कफज ग्रहणी में रूक्ष, अग्निदीपक तथा तिक्तरस-प्रधान औषधद्रव्यों का क्वाथ बनाकर रोगी को कवल धारण करायें और बार-बार वह थूकता रहे, इस क्रिया से कफ निकलकर उसकी मुख-शुद्धि होगी।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १२।१७ में चरक का स्पष्ट अनुकरण किया है।

सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम्। परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ॥१९९॥

कफज ग्रहणी चिकित्सा-सूत्र—यदि ग्रहणी रोगी कृश हो, उसमें कफदोष की प्रधानता दिखलायी देती हो तो एक बार रूक्ष द्रव्यों का, एक बार स्निग्ध द्रव्यों का बदल-बदलकर प्रयोग करना चाहिए। इस अवसर पर आमदोष की परीक्षा कर लेने के बाद स्नेह संयुक्त दीपन (अग्निवर्धक) औषधद्रव्यों का सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—पहले से ही कृश रोगी को यदि हम निरन्तर रूक्ष द्रव्यों का सेवन करायेंगे तो वह अधिक कृश हो जायेगा। यदि निरन्तर स्नेहों का सेवन करायेंगे तो अग्नि मन्द पड़ जाने के कारण कफ की वृद्धि हो जायेगी, अतएव उसे पर्यायक्रम से रूक्ष तथा स्निग्ध योगों का सेवन कराते रहना चाहिए।

पाठभेद—श्री जयदेव ने 'परीक्ष्यामं शरीरस्य' के स्थान पर 'क्षीणक्षामशरीरस्य' पाठ को अपनाया है। आचार्य गंगाधर का कथन है कि 'परीक्ष्यामं शरीरस्य' से 'क्षीणक्षामशरीरस्य' पाठ ही समीचीन है। आप भी विचार करें।

दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम्। बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम् ॥२००॥
सन्धुक्षति तथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः।

पित्तज ग्रहणी चिकित्सा-सूत्र—यदि ग्रहणीरोग में पित्तदोष की प्रधानता हो तो तिक्त तथा मधुररस युक्त जठराग्नि को प्रदीप्त कराने वाले औषधद्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

वातज ग्रहणी चिकित्सा-सूत्र—यदि ग्रहणी रोग में वातदोष की प्रधानता हो तो स्निग्ध, लवण एवं अम्लरस युक्त दीपन औषधद्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

कफज, पित्तज तथा वातज ग्रहणी विकारों में उपर्युक्त चिकित्सा-सूत्रों का विधिपूर्वक प्रयोग करने से उक्त रोग के कारण मन्द हुई अग्नि उस प्रकार पुनः तीव्र हो जाती है, जिस प्रकार निरन्तर लकड़ियों को डालते रहने से चूल्हे की अग्नि प्रदीप्त होती रहती है अर्थात् बुझने नहीं पाती है।

स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानलदीपनम् ॥ २०१ ॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।

अग्निदीपन में घृत की श्रेष्ठता—दुर्बल (मन्द) अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए स्नेह (घृत) उत्तम पदार्थ होता है, क्योंकि स्नेह द्वारा प्रदीप्त हुई अग्नि को अत्यन्त गुरु भोजन भी शान्त (मन्द) करने के लिए सक्षम नहीं होता है।

वक्तव्य—'दुर्बलानलदीपनम्' कुछ टीकाकारों ने 'दुर्बल' शब्द को पुरुष का विशेषण माना है। ग्रहणी-रोग से रोगी और अग्नि दोनों ही दुर्बल हो सकते हैं, किन्तु हमें पहले दुर्बल (मन्द) अग्नि की चिकित्सा करके उसे सबल (तीव्र—सर्वविध आहार पाचन समर्थ) बनाना है, पुरुष का सबल होना भी इसी पर निर्भर करता है।

मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते ॥ २०२ ॥
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः।

आमातिसार में दीपनीयघृत—ग्रहणीरोग से पीड़ित मनुष्य अग्नि के मन्द पड़ जाने के कारण यदि बिना पचे हुए मल का अतिसरण कर रहा है, अर्थात् ग्रहणीरोगी को यदि अपक्व मल के दस्त आ रहे हों तो वह दीपनीयगण में कहे गये औषधद्रव्यों से युक्त घृत का मात्रानुसार सेवन करें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इसी आशय का समर्थन अपनी संहिता में किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।२०।

तया समानः पवनः [1]प्रसन्नो मार्गमास्थितः ॥ २०३ ॥
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम्।

घृतमात्रा का लाभ—मात्रा पूर्वक किये गये घृत के सेवन से नाभिमण्डल में स्थित समान वायु प्रसन्न (दोषरहित, पाठभेद में दिये हुए 'प्रशान्त' का भी यही दृष्टिकोण है) होकर अपने मार्ग में स्थित हो जाती है। अग्नि के समीप रहने के कारण यह जठराग्नि को प्रदीप्त करती रहती है।

वक्तव्य—समान वायु—'आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि। गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्' ॥ सु० नि० अ० १।१६। इसका पूरा अधिकार पाचन क्रिया पर है। इस प्रसंग में अन्य वायुओं का भी परिचय दिया है। 'मार्गमास्थितः' का तात्पर्य है—यह वात-दोष का भी अनुलोमक होता है।

काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ॥ २०४ ॥
सघृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्।

मलविबन्ध में कर्तव्य—जो ग्रहणी रोग से पीड़ित मनुष्य मल के कठोर होने के कारण अत्यन्त कठिनता से मल त्याग कर पाता हो, वह घी में नमक मिलाकर भोजन के बीच में उसे पीये।

वक्तव्य—इस योग का उपयोग वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट दोनों ने समान रूप से किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।२२। अ० हृ० नि० अ० १०।७१। 'सैन्धवसर्पि' का प्रयोग मुखशोधक तथा कफ का उत्क्लेषक होता है, अतः इसे खाने के बाद तत्काल रुचिकर भोजन कर लेने से उसका वह क्षणिक विकार शान्त हो जाता है। यह 'सैन्धवसर्पिःप्रयोग' पेट में पड़ी हुई मल की गाँठों को खोलने या ढीला करने के गुणों से वैद्यसमाज में समादृत है।

रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत् सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम् ॥ २०५ ॥
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः। भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥२०६॥

---

१. 'प्रशान्तः' इति पा०।

घृत-तैल अरिष्ट-प्रयोग—१. आँतों में रूक्षता आ जाने के कारण यदि ग्रहणी रोगी की अग्नि मन्द हो जाय तो दीपनीय औषधद्रव्यों द्वारा पाक किया गया घृत अथवा तैल पीना चाहिए। अथवा दीपनीय औषध-द्रव्यों के चूर्णों को घृत या तैल में मिलाकर पीयें। २. आँतों में अधिक स्निग्धता आ जाने के कारण यदि जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो तो इसी अध्याय में कहे गये चूर्ण, अरिष्ट तथा आसवों का प्रयोग हितकर होता है। ३. गुदद्वार के मल से लिप जाने पर यदि मल भेद (पतला) होकर निकले तो तैल, सुरा तथा आसव का रोगी को यथाविधि सेवन कराना चाहिए।

उदावर्तात् तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहवस्तयः। दोषवृद्धया तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत्॥
व्याधियुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम्। उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम्॥
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत्।

मन्दाग्नि-चिकित्सा—१. उदावर्त के कारण यदि जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो तो उसकी चिकित्सा निरूहवस्ति तथा अनुवासनवस्ति के प्रयोगों द्वारा करनी चाहिए। २. वात आदि दोषों के बढ़ जाने के कारण यदि अग्नि मन्द पड़ गयी हो तो वमन, विरेचन कराने के बाद दोषों को शान्त करने वाली विधि (चिकित्सा) करनी चाहिए। ३. रोगयुक्त (पाठभेद के अनुसार—व्याधिमुक्त) रोगी की यदि अग्नि मन्द हो तो उसे अग्नि को दीप्त करने वाला घी पिलाना चाहिए। ४. उपवास (लंघन) करने के कारण यदि अग्नि मन्द पड़ गयी हो तो यवागू के साथ घृतपान करना चाहिए। अन्न (आहार) के साथ मिलाकर सेवन किया गया घी बलकारक, अग्नि को दीप्त करने वाला और शरीर को बढ़ाने वाला होता है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'व्याधियुक्तस्य' पाठ है और श्रीजयदेव इसके स्थान पर 'व्याधिमुक्तस्य' पाठ को महत्त्व देते हैं। प्रकरण की दृष्टि से भी 'व्याधिमुक्त' पाठ ही ठीक लगता है। वृद्धवाग्भट भी 'व्याधिमुक्त' पाठ के ही पक्षपाती हैं। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।२५। आचार्य गंगाधर 'व्याधियुक्त' पाठ का समर्थन करते हुए लिखते हैं—अतिसार, ज्वर तथा रक्तज अतिसार आदि व्याधियों से युक्त ग्रहणीरोग जनित अग्निमान्द्य में अग्नि को प्रदीप्त करने वाले दीपनीय द्रव्यों से तैयार किये गये घृत का ही यहाँ सेवन कराना चाहिए। इसके आगे 'सर्पिरेवाग्निदीपनम्', इस पद्यांश में 'सर्पिः एव' शब्द यह संकेत कर रहा है कि यहाँ केवल घी लेना है, न कि औषधसिद्ध घी। वृद्धवाग्भट चरकोक्त पंक्ति को अपनी दृष्टि से दुहरा रहे हैं—'दोषातिवृध्या मन्देऽग्नौ संशुद्धोऽन्नविधिं चरेत्'। अ० सं० चि० अ० १२।२४। इसके टीकाकार श्री इन्दु 'अन्नविधि' का अर्थ संसर्जनक्रम (जिसमें पेया आदि का प्रयोग कराया जाता है) करते हैं।

दीर्घकालप्रसङ्गात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान्॥ २०९॥
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत् पिशिताशिनाम्।
लघु, तीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम्॥ २१०॥
मांसोपचितमांसत्वात् तथाऽऽशुतरबृंहणाः।

दीर्घकालिक ग्रहणीरोग में मांसरस—यदि चिरकालिक ग्रहणी रोग के कारण मनुष्य का शरीर क्षाम (सूख), क्षीण तथा कृश (दुर्बल) हो गया हो तो झपटकर मांस-भक्षण करने वाले (गीध आदि) पक्षियों के मांसरसों को खट्टा करके रोगी को खिलायें। मांस खाने वाले पशु पक्षियों का मांस लघु (जल्दी पचने वाला), तीक्ष्ण, उष्ण तथा शोधन करने वाला होता है, अतएव वह शीघ्र ही जठराग्नि को प्रदीप्त कर देता है। उक्त प्रकार के पशु-पक्षियों का मांस दूसरों के मांस द्वारा ही बढ़ता है, इसीलिए ऐसे प्राणियों के मांसों को खाने से शीघ्र ही रोगी के शरीर में मांसधातु की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस विषय में दो पद्य दिये हैं। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।२६-२७।

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्॥ २११॥
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः। [1]स्नेहान्नविधिभिश्चित्रैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः॥२१२॥

1. 'स्नेहान्नपानैर्विविधैः' इति पा०।

सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा बलमग्नेः प्रवर्धते। यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम्॥२१३॥
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत् स्थिरः।

उचित मात्रा में आहार-निर्देश—भोजन के सर्वथा न करने से भी जठराग्नि प्रदीप्त नहीं होती और न अधिक भोजन करने से ही अग्नि प्रदीप्त होती है। जिस प्रकार बाहरी आग में यदि लकड़ी बिल्कुल न डाली जाय तो आग स्वयं बुझ जायेगी और अग्नि बहुत कम मात्रा में हो और उसके ऊपर पर्याप्त लकड़ियाँ रख दी जायें तो भी आग नहीं जलेगी, अपितु वह बुझ जायेगी। अतः भोजन का सर्वथा न करना या बहुत कर लेना ये दोनों ही प्रकार अग्नि की वृद्धि में बाधक होते हैं। सम मात्रा में किया हुआ सन्तुलित आहार अग्नि की सुरक्षा में समर्थ होता है। यदि चिकित्सक अग्नि के मन्द हो जाने पर उचित विधि से स्नेह, अन्न, पान, चूर्ण, अरिष्ट, सुरा, आसव का प्रयोग कराये तो जठराग्नि का बल (पाचनशक्ति) बढ़ जाता है। जिस प्रकार सारवान् लकड़ी की अग्नि बहुत समय तक स्थिर रहती है, उसी प्रकार स्नेह, अन्न, पान आदि के समुचित प्रयोग से जठराग्नि बहुत समय तक स्थिर रहती है।

वक्तव्य—इसी विषय को संक्षेप में वृद्धवाग्भट ने कहा है—'स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः। सम्यक्प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्धते॥ दीप्तो यथैव स्थास्नुश्च बाह्योऽग्निः सारदारुभिः। सस्नेहैर्जायते तद्वदाहारैः कोष्ठगोऽनलः'॥ अ० सं० चि० अ० १२।२८-३० भी देखें।

हितं जीर्णे मितं चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते॥ २१४॥
अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना। समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः॥२१५॥
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये। दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान्॥२१६॥
वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते।

हित आहार के लाभ—उक्त प्रकार के आहारों का सेवन करने से जब जठराग्नि प्रज्वलित हो जाती है, तब हितकर आहार करने से मनुष्य चिरकाल तक स्वस्थ रह सकता है। रोगी को चाहिए कि वह रस आदि धातुओं की समता को ध्यान में रखता हुआ जठराग्नि की वृद्धि का प्रयास करे। शरीर में स्थित अग्नि की वह ऊष्मा वात, पित्त, कफ के सम अवस्था में रहने पर ही समभाव में रह पाती है और वही आरोग्य, शरीर-पुष्टि, आयु तथा बल की वृद्धि के लिए अन्न का पाक करती है। वात आदि दोषों के कारण मन्द अथवा अत्यन्त तीव्र अग्नि विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार मन्द अग्नि की चिकित्सा यहाँ तक कह दी गयी है। अब इसके आगे अत्यन्त बढ़ी हुई अग्नि की चिकित्सा कही जायेगी।

नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्॥ २१७॥
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति। तदा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः॥२१८॥
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः। पक्त्वाऽन्नं स ततो धातूञ्छोणितादीन् पचत्यपि॥
ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपनयेन्नरम्। भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति॥२२०॥
तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः।

तीक्ष्णाग्नि—मनुष्य के शरीर में जब कफधातु क्षीण हो जाता है, पित्तदोष कुपित होकर वह वातदोष से सम्बद्ध हो जाता है, अथवा उस कुपित पित्त के साथ वातदोष भी लगा रहता है, तब वह पित्त ग्रहणीकला में पहुँचकर जठराग्नि को बलवान् कर देता है। इस प्रकार बल को पाकर वह जठराग्नि, पित्त (अग्नि) तथा वातदोष कफ के क्षीण हो जाने के कारण रूक्ष हुए उसके शरीर में विचरण करता हुआ उस मनुष्य द्वारा खाये हुए आहार के गुरु आदि गुणों को दबाकर उसे शीघ्र ही पचा देता है, अतः उसे बार-बार भूख लगती है और वह बार-बार खाता है, वह तीक्ष्णाग्नि उस खाये हुए आहार को पचा देती है, आहार कर लेने पर उसे शान्ति मिलती है और उसके पचते ही आँखों के सामने अँधेरा जैसा छा जाता है। यदि उसे समय पर भोजन नहीं मिल पाता है, तो वह अग्नि रक्त आदि धातुओं को पचाने लगती है, तब वह व्यक्ति दुर्बल होने लगता है, अनेक प्रकार के रोग उसे होने लगते हैं और वह उसे मार भी देती है। तीक्ष्णाग्नि के कारण होने वाले ये रोग हैं—बार-बार प्यास का लगना, श्वास की मात्रा में वृद्धि, दाह तथा मूर्च्छा आदि।

वक्तव्य—माधवकर ने १. सम, २. मन्द, ३. विषम और ४. तीक्ष्ण—इस प्रकार चार अग्नियों का उल्लेख किया है। इस पर टीका करते हुए मधुकोशकार लिखते हैं—'अतितीक्ष्णाग्निरेव भस्मकः' इत्युच्यते। इस दृष्टि से कुछ सात्त्विक पुरुष 'समाग्नि' की प्रशंसा करते हैं और कुछ पेटू वर्ग 'तीक्ष्णाग्नि' की प्रशंसा करता है। इस सम्बन्ध में च० सू० महारोगाध्याय २० का अवलोकन अवश्य कर लें। पाचक अग्नियों में प्रशंसनीय है—समाग्नि। मन्दाग्नि और विषमाग्नि दोनों ही ग्रहणीकला के विकृत स्वरूप हैं, तीक्ष्णाग्नि से ग्रहणीकला स्वयं विकृत हो जाती है, अतः प्रसंगवश इसका भी यहाँ वर्णन कर दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।३१-३२।

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः ॥ २२१ ॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः। मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥२२२॥
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत्।

भस्मक रोग-चिकित्सा—जिस प्रकार प्रदीप्त हुई बाहरी अग्नि को जल डालकर शान्त करते हैं, उसी प्रकार उदरस्थ अग्नि के अत्यधिक तीव्र हो जाने पर गुरु, स्निग्ध, शीतल, मधुर एवं विज्जल (पिच्छिल) अन्न-पानों द्वारा उसे शान्त करना चाहिए। भोजन के भली-भाँति न पचने पर भी इसे बार-बार भोज्य पदार्थ देते रहना चाहिए, जिससे वह तीक्ष्णाग्नि भोजन रूपी ईंधन को न पाकर कभी इसे मार न डाले।

वक्तव्य—'अजीर्णेऽपि'—यह भुक्त आहार की वह स्थिति है, जिसे अगले क्षण में जीर्ण हो जाना (पच जाना) है। जैसे 'सारदार्वग्नि' (श्लोक २१३) में अग्नि बहुत देर तक रहती है, किन्तु आग न बुझे इसके लिए पहले से ही दूसरी लकड़ी को उससे जोड़ देते हैं। जैसे यहाँ अग्नि ईन्धन का संयोग है वैसे ही वहाँ जीर्ण होने के कुछ क्षण पूर्व भोज्यवस्तुओं का प्रयोग करने या कराने का तन्त्रकार का संकेत है। क्योंकि तीक्ष्णाग्नि में चिरस्थायी अजीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं आता है। **अग्नि का पाचनक्रम**—जठराग्नि सबसे पहले आहार को पचाती है, आहार के न मिलने पर दोषों को पचाती है, दोषों के क्षीण होने पर रस आदि धातुओं का क्षय करने के बाद प्राण का विनाश कर देती है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।३३-३४।

पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥ २२३ ॥
अद्यात् तथौदकानूपपिशितानि भृतानि च। मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचरांस्तथा ॥

भस्मक रोग में आहार—भस्मक रोग से पीड़ित पुरुष को खाने के लिए ये पदार्थ देने चाहिए—पायस (खीर), कृशरा (तिल, चावल, उड़द की खिचड़ी), चावल या गेहूँ के आटा से बने मालपुआ आदि (इसे स्निग्ध पौष्टिक आहार कहते हैं), गुड़ के विकार (चीनी, खाँड़ आदि) औदक तथा आनूप प्राणियों के मांसों को घी में भूँजकर खाना (खिलाना) चाहिए। आनूप मांस में विशेष करके उन मछलियों का मांस जो तालाब या पोखरे के स्थिर जल में रहती हैं, उनके मांसों को घी में भूनकर भस्मकरोगी को खिलाना चाहिए।

आविकं च भृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम्[1]। यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत् ॥२२५॥

भेड़ के मांस आदि का प्रयोग—पालतू भेड़ का मांस उस भस्मक रोगी को खिलायें, इससे भस्मक रोग का नाश होता है। अथवा भूख लगने पर यवागू में मोम मिलाकर खिलायें, अथवा उसे केवल घृतपान करायें।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'आविकं च भृतं' के स्थान पर 'आविकं सभृतं' पाठ उद्धृत किया है, जो प्रकरणानुसार युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। 'भृतं' का अर्थ घी में भूँजकर नहीं होता है। 'भृतं' का अर्थ है—पालित-पोषित। देखें—'डुभृञ्धारणपोषणयोः' धातु से (भृ+क्त) यह रूप निष्पन्न हुआ है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२ के श्लोक ३६ पर श्री इन्दु की टीका—'सुभृतं गृहे पुष्टम्'।

गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत्। पयो वा शर्करासर्पिर्जीवनीयौषधैः शृतम् ॥२२६॥

भस्मक में गोधूम-प्रयोग—सिरावेध कराकर गोधूमचूर्ण-मन्थ (गेहूँ के आटा को घी में भूँजकर चीनी और पानी मिलाकर) पीयें, अथवा जीवनीय औषधद्रव्यों को डालकर पकाये गये दूध में चीनी और घी मिलाकर पीयें।

[1] 'दत्यग्निरावलम्' इति पा०।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने यह योग प्रकारान्तर से उद्धृत किया है। उसमें सिरावेध का कोई उल्लेख नहीं है। देखें—अ० सं० चि० अ० १२।३७ और अ० हृ० चि० अ० १०।८८।

फलानां [1]तैलयोनीनामुत्कुञ्चाश्च सशर्कराः। मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा ॥२२७॥

तैलीयफलों के प्रयोग—तैलयोनि फलों (बादाम, पिस्ता, चिलगोजा, सरसों, तिल आदि) के उत्कुञ्च (उक्त तैलीय फलों को पीसकर तेल निकालने की दृष्टि से गरम पानी मिलाकर तैयार किये गये पिण्ड का नाम) को चीनी मिलाकर तथा स्निग्ध (पर्याप्त घी में भूँजे गये) मांस के सेवन करने से यह बढ़ी हुई अग्नि की तीव्रता को मृदु कर देता है।

वक्तव्य—'तैलयोनीनामुत्कुञ्चाश्च' इस स्थान पर 'मृत्कुञ्चाः' पाठभेद दिया है। उत्कुञ्च का अर्थ श्रीचक्रपाणि ने इस प्रकार दिया है—'तिलवातामादीनां दृषदि पिष्टानामुष्णोदकमृदिताः पिण्डा उत्कुञ्चा उच्यन्ते'। 'उत्कारिका' इत्यन्ये। हमारे विचार से यहाँ 'उत्कारिका' (रोटी) से तन्त्रकार का तात्पर्य नहीं है। पाठभेद के अनुसार यहाँ 'मृत्कुञ्च' शब्द है, जिसका अर्थ होता है—गरम जल में घोले हुए मिट्टी के ढेले का पानी।

पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन संयुतम्। गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ॥२२८॥

घी तथा मोम का प्रयोग—गाय के घी और मोम को गरम करके मिला ले। इस पिघले हुए घोल को शीतल जल के साथ पीना चाहिए अथवा गेहूँ के आटा को पर्याप्त घी में भूँजकर दूध में घोलकर पीयें। इन योगों का सेवन करने से भस्मक रोग से निवृत्ति हो जाती है।

आनूपरससिद्धान् वा त्रीन् स्नेहांस्तैलवर्जितान्। पयसा [2]सम्मितं चापि घनं त्रिस्नेहसंयुतम् ॥

स्नेह-प्रयोग—अथवा भस्मक रोगी को आनूपदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांस रस से तैयार किये गये तेल को छोड़कर तीन स्नेहों (घृत, वसा, मज्जा) को पीने के लिए दें। युक्त तीनों स्नेहों से युक्त घन (दही) को दूध के साथ सेवन करने के लिए दें।

वक्तव्य—आनूपदेश के प्राणियों के मांस रस से एक बार में उतना ही स्नेहत्रय का पाक करना चाहिए जितना रोगी पी सके, उसे अधिक तैयार न करे। यद्यपि मांसरस स्नेह-पक्व होने से जल्दी बिगड़ता नहीं, फिर भी वह दिन भर में अनेक बार देना पड़ता है। उक्त तीनों स्नेहों को मिलाकर जितनी मात्रा हो, उससे चौगुना मांसरस होना चाहिए, जब पकते-पकते मांसरस जल जाय तब उक्त स्नेह को उतार लें। निर्णयसागरीय प्रति में **'पयसा सम्मितं चापि घनं'** पाठ है और श्रीजयदेव ने **'पयसा समितां चापि घनं'** पाठ उद्धृत किया है। श्रीचक्रपाणि 'घनं' शब्द का अर्थ दही करते हैं—'घनशब्देन दध्युच्यते'। यहाँ 'सम्मितं' का अर्थ 'बराबर' है। देखें—सिद्धान्तकौमुदी के सूत्र-'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' की व्याख्या-'तुलया सम्मितं तुल्यम्', इसी प्रकार 'पयसा सम्मितं घनं दधि'। **समिताम्**—'गोधूमा धवला धौताः कुट्टिताः शोधितास्ततः। प्रोक्षिता यन्त्रनिष्पिष्टाश्चालिताः समिताः स्मृताः'॥ हेमचन्द्र तथा वैद्यकशब्दसिन्धु। इस प्रसंग में कौन-सा पाठ युक्तिसंगत होगा, विचार करें।

नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम्। ताभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये ॥२३०॥

स्त्रीदुग्ध-गूलर प्रयोग—उदुम्बर (गूलर) की छाल का कल्क बनाकर स्त्री के दूध में मिलाकर पीयें। अथवा स्त्री के दूध और गूलर के छाल के कल्क द्वारा तैयार की गयी खीर को अत्यग्नि (भस्मक) रोग की शान्ति के लिए पीना चाहिए।

वक्तव्य—आज के युग में स्त्रीस्तन्य (स्त्री का दूध) बालक के लिए दुर्लभ हो गया है, जो विधाता ने केवल उसी के लिए बनाया है, फिर खीर बनाने के लिए तो क्या कहा जाय। उसमें भी अपनी स्त्री का दूध ?

श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद् विरेचनम्। असकृत् पित्तशान्त्यर्थं पायसप्रतिभोजनम् ॥२३१॥
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद् विधानवित्।

[1] 'तैलयोनीनां मृत्कुञ्जाः' इति पा०। [2] 'पयसा समितां चापि घनां त्रिस्नेहसंयुताम्' इति पा०।

श्यामात्रिवृत् प्रयोग—अत्यग्नि (भस्मक) रोग की चिकित्सा को विधिपूर्वक जानने वाला विद्वान् वैद्य रोगी का विधिपूर्वक परीक्षण तथा निरीक्षण करके पित्तदोष की शान्ति के लिए कालीनिशोथ को डालकर क्षीरपाक-विधि से दूध को पकाकर विरेचन कराने के लिए बार-बार रोगी को पिलाये, विरेचन हो जाने के बाद उस रोगी को खीर खिलाना चाहिए।

यत्किञ्चिन्मधुरं मेद्यं श्लेष्मलं गुरुभोजनम् ॥ २३२ ॥
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ।

अत्यग्नि में आहार-सिद्धान्त—जो कोई आहार द्रव्य स्वाद में मधुर, मेदो धातु को बढ़ाने वाला, कफवर्धक, देर में पचने वाला हो वह सब अग्नि रोग से पीड़ित रोगियों के लिए हितकर होता है और भोजन करने के बाद दिन में सोना यह भी कफवर्धक होने से हितकर होता है।

मेद्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रेतान्तः[1] समश्नुते ॥ २३३ ॥
न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च ।

अन्य प्रयोग—जो अत्यग्नि रोग से पीड़ित पुरुष निरन्तर मेद्य (मेदो धातु को बढ़ाने वाले) अन्नों (आहारों) तथा पानों (पेय पदार्थों) का सेवन करता रहता है। वह उक्त (भस्मक) रोग के कारण उत्पन्न हुए कष्ट को प्राप्त नहीं करता, अपितु वह पुष्ट हो जाता है।

कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः ॥ २३४ ॥
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।

समाग्नि की महत्ता—इस प्रकरण में ऊपर कही चिकित्सा-विधियों द्वारा क्षीण कफ के बढ़ जाने पर पित्त तथा वातदोष को जीत लेने पर सम हुई जठराग्नि समधातु वाले पुरुष द्वारा खाये गये अन्न (आहार) को उसके शरीर की पुष्टि के लिए तथा आयु और बल की वृद्धि करने के लिए पचाती है।

वक्तव्य—इसके पूर्व श्लोक २१७ में 'नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं पवनानुगम्' एक स्थिति ऐसी आयी थी जिसमें रोगी का कफ क्षीण हो गया था और पित्त, वायु की वृद्धि हो गयी थी, उसी का स्मरण कराते हुए तन्त्रकार समाग्नि का महत्त्व बतला रहे हैं।

भवन्ति चात्र—

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ॥ २३५ ॥
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः । भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ॥२३६॥
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन्सृजन्ति वा ।

समशन, विषमाशन, अध्यशन-परिभाषा—इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ श्लोक कहे गये हैं—१. समशन—एक साथ पथ्य तथा अपथ्य पदार्थों को मिलाकर खाना 'समशन' कहा जाता है। २. विषमाशन—आहार-मात्रा से कम या ज्यादा भोजन करना अथवा भोजन के निश्चित काल से आगे-पीछे या समय बिताकर जो आहार किया जाता है, उसे 'विषमाशन' कहते हैं। ३. अध्यशन—पहले खाये हुए आहार का पाचन हुए बिना पुनः भोजन कर लेना 'अध्यशन' कहा जाता है। ये तीनों प्रकार के अशन (आहार) घोर (भयंकर) व्याधियों को उत्पन्न कर देते हैं अथवा मृत्युकारक भी हो जाते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार के उपदेश मानव मात्र के लिए अविस्मरणीय होते हैं, जिनसे वे अपना हित सम्पादन कर सकते हैं। इन उपदेशों का समावेश सद्वृत्त (सदाचार) की श्रेणी में किया जाता है।

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ॥ २३७ ॥
दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् । तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ॥२३८॥

१. 'प्रशान्तः' इति पा०।

आहारकाल-विवेचन—प्रातःकाल (दिन में) किया हुआ भोजन यदि भली-भाँति न पचा हो तो भी सायंकाल का भोजन कर लेना चाहिए, इससे स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई हानि नहीं होती (तथापि भोजन की मात्रा पर अवश्य ध्यान देना चाहिए) क्योंकि प्रातःकाल सूर्योदय होने पर जिस प्रकार कमल विकसित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार दिन में हृदय के विकसित रहने पर शरीर के सभी स्रोतस् खुले रहते हैं।

व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः । न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत् तेषु न दुष्यति । अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम् ॥२४०॥
नैव दूष्यति तेनैव समं सम्पद्यते यथा ।

अन्य कारण—व्यायाम करने, विहार (आना-जाना, घूमना-फिरना आदि के) करने तथा अनेक प्रकार के कार्यों में मन के लगे रहने से मनुष्य का मन इधर-उधर लगा रहता है; इन कारणों से भी रसादिवाही स्रोतों के द्वार खुले रहते हैं। इसलिए खाये हुए आहार से धातुएँ क्लेद उत्पन्न नहीं कर पातीं। इस प्रकार प्रातःकाल खाया हुआ भोजन जब क्लेद को प्राप्त नहीं हुआ रहता तब उसके ऊपर जो सायंकाल आहार द्रव्य पड़ता है, वह भी क्लेद युक्त नहीं होता, अतः प्रातःकाल के भोजन के साथ जब सायंकाल का भोजन मिल जाता है, तो उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता है। जिस प्रकार पहले से रखे हुए कच्चे दूध में दूसरा कच्चा दूध मिला देने से उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता, उसी प्रकार प्रातःकाल के अजीर्ण भोजन के रहने पर भी सायंकाल के समय किया भोजन समानता को प्राप्त हो जाता है।

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च । यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते देहधातवः ॥२४१॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति । विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तमिवार्पितम् ॥२४२॥
नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान् । तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी ॥२४३॥

दूसरे दिन के भोजन पर विचार—रात्रि में हृदय के मुरझा जाने पर, स्रोतों के मार्गों के बन्द हो जाने पर देह में स्थित सभी धातुएँ तथा कोष्ठ (आमाशय) में स्थित (बन्द) आहार क्लेद युक्त हो जाता है। क्योंकि रात्रि में स्रोतों के मुख बन्द हो जाते हैं, अतः शरीर स्थित धातुएँ उचित गति को न पाकर क्लेदयुक्त हो जाती हैं, उनमें सड़न पैदा हो जाती है। स्रोतों में आहार रस का समुचित वहन न होने के कारण एक ही स्थान पर रुके रहने से अन्न क्लेद युक्त होने लगता है। उस रस के क्लिन्न तथा अपक्व होने पर यदि दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः भोजन कर लिया जाय तो वह दूषित हो जाता है। जिस प्रकार विदग्ध (अम्लता को प्राप्त) दूध में दूसरा ताजा गरम किया हुआ दूध मिला देने से दोनों ही विकृत हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि रात्रि में किया हुआ भोजन न पचा हो तो वह अपने बल तथा आयु की रक्षा करने की इच्छा करता हुआ फिर दूसरे दिन प्रातःकाल का भोजन न करें।

तत्र श्लोकाः—

अन्तरग्निगुणा देहं यथा धारयते च सः । यथाऽन्नं पच्यते यांश्च यथाऽऽहारः करोत्यपि ॥२४४॥
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान् । रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च ॥
वृष्याणामाशुकृद्धेतुर्धातुकालोद्भवक्रमः । रोगैकदेशकृद्धेतुरन्तरग्निर्यथाऽधिकः ॥२४६॥
प्रदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगाञ्जनयत्यपि । ग्रहणी या [1]यथा यच्च ग्रहणीदोषलक्षणम् ॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम् । चतुर्विधस्य निर्दिष्टं तथा चावस्थिकी क्रिया ॥
जायते च यथाऽत्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम् । उक्तवानिह तत् सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः ॥२४९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने ग्रहणीचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

१. 'समासाच्च' इति पा०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में कुछ श्लोक दिये गये हैं—महर्षि आत्रेय ने इस ग्रहणीदोष-चिकित्सा अध्याय में अन्तरग्नि (जठराग्नि) के गुण तथा वह जिस प्रकार इस शरीर को धारण करती है, जिस प्रकार अन्न (खाया हुआ आहार) पचता है, वह आहार जिस विधि से जिनको लाभ पहुँचाता है, जो अग्नियाँ जिन्हें पोषण देती हैं, जितने प्रकार की शरीर में अग्नियाँ हैं, जो-जो अग्नियाँ जिन-जिन को पचाती हैं, रस आदि धातुओं की क्रमशः उत्पत्ति, फिर उन्हीं धातुओं से मलों की उत्पत्ति, वृष्य पदार्थों का शीघ्र कार्य करने में कारण, रसादि धातुसमूह का कालोत्पत्ति क्रम (कौन धातु किस धातु से कितने समय बाद उत्पन्न होता है, शरीर के एक देश में रोग की उत्पत्ति होने में कारण, अन्तरग्नि की अन्य अग्नियों में प्रधान होने में कारण, अन्तरग्नि के दूषित होने का प्रकार, दुष्ट होकर जिन रोगों को उत्पन्न करती है, जिसे ग्रहणी कहते हैं, संक्षेप में ग्रहणीदोष के लक्षण, ग्रहणी-चिकित्सा, आवस्थिकी (रोग की अवस्था को देखकर) चिकित्सा, जिस प्रकार अत्यग्नि (भस्मक) रोग होता है और उसकी चिकित्सा; इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के सभी विषयों का वर्णन कर दिया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में ग्रहणीदोषचिकित्सित नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ग्रहणीदोष-चिकित्सा का व्याख्यान करने के पश्चात् अब हम यहाँ पाण्डुरोग-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—ग्रहणीदोष-चिकित्सा के बाद पित्त-प्रधान पाण्डुरोग की चिकित्सा का वर्णन तन्त्रकार द्वारा किया जा रहा है। यहाँ पाण्डु शब्द द्वारा कहे गये हरित आदि अन्य वर्णों से युक्त होने पर भी प्रधानवर्ण के कारण इसे पाण्डुरोग कहा गया है। भगवान् धन्वन्तरि प्रस्तुत रोग के नामकरण की सार्थकता को इन शब्दों द्वारा प्रकट कर रहे हैं—'सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः'। सु० उ० अ० ४४।४। अर्थात् इन सब वातादि भेदों में पाण्डुता का सबसे अधिक होने के कारण इस रोग को 'पाण्डुरोग' कहते हैं।

पाण्डुभाव—इस रोग में रक्त की लालिमा घट जाती है, यही कारण है कि पूरा शरीर पाण्डुवर्ण का हो जाता है। सबसे पहले यह लक्षण आँखों द्वारा ज्ञात होता है, फिर तो नख, मल, मूत्र, त्वचा आदि पीले हो जाते हैं। कामला में हल्दी के वर्ण के सदृश पीलावर्ण हो जाता है और हलीमक में हरापन लिये पीला वर्ण दिखलायी देता है, क्योंकि पित्त का वर्ण पीला तथा हरा दोनों प्रकार का होता है।

गर्भवती स्त्रियाँ प्रायः मिट्टी खाती देखी जाती हैं, छोटे बच्चों को भी मिट्टी खाते देखा गया है, अतः इनको भी मृद्भक्षण-जनित पाण्डुरोग हो जाता है। गर्भवती स्त्रियों का यह रोग प्रसव होने के बाद प्रायः स्वयं शान्त हो जाता है। ८-१० वर्ष तक के बालकों में उत्पन्न इस रोग की सावधानीपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए। कामला में मन्त्र, झाड़-फूंक आदि से भी लाभ होता है। यह अन्धविश्वास नहीं अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पाण्डु (Pale white), पाण्ड्वामय (Jaundice), शरीर का वर्ण हरा, पीलापन जिनमें दिखलायी देता है, वे सब पाण्डुरोग के ही भेद हैं। जिनका वर्णन इसी अध्याय में आगे किया जायेगा।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १६। सु० उ० अ० ४४। अ० सं० नि० अ० १३। अ० सं० चि० अ० १८। अ० हृ० नि० अ० १३। अ० हृ० चि० अ० १६।

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥३॥

पाण्डुरोग के पाँच भेद—पाण्डुरोग पाँच प्रकार के होते हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ये तीन, ४. सन्निपातज और ५. मिट्टी खाने से।

वक्तव्य—इसी को संख्या-सम्प्राप्ति भी कहते हैं। भगवान् धन्वन्तरि ने वात आदि दोषों से तीन और चौथा सन्निपातज माना है, मिट्टी खाने से उत्पन्न पाँचवें भेद को ये स्वीकार नहीं करते। इनका कथन है कि शरीर में पाण्डुता उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं। यथा—मिट्टी खाना, पुरीषज सूक्ष्म क्रिमियों का उत्पन्न होना, अधिक मद्यपान, मछलियों को अधिक खाना, मांस-भक्षण, तीक्ष्ण गुण-प्रधान द्रव्यों का सेवन, पिष्टमय पदार्थों का भक्षण, दिन में सोना, तिल, माष आदि का अधिक सेवन करना—ये सभी पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देते हैं। अतः हमने केवल चार भेद स्वीकार किये हैं। अस्तु।

महर्षि आत्रेय ने भी मिट्टी खाने से होने वाले पाण्डुरोग के सम्बन्ध में कहा है—'कषाया मारुतं पित्त-
मूषरा मधुराः कफम्। कोपयेद् मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्षयेत्' ॥ च० चि० अ० १६।२७। इसका
व्याख्यान यथास्थान देखें। महर्षि आत्रेय ने चरक-सूत्रस्थान के 'अष्टोदरीय' नामक १९ वें अध्याय में 'पञ्च
कासाः' प्रतिज्ञा की थी। आचार्य जेज्जट का कथन है—'चरके अष्टोदरीयाध्याये 'पञ्च पाण्डुरोगाः'। इत्यभि-
धायापि 'पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च' इति यदेतत् पुनश्चरकवचनं तत् पञ्चानामपि साध्यत्वं बोधयति, ननु पञ्चोन्मा-
देष्विव सान्निपातिकस्यासाध्यत्वम्', इति। चक्रपाणि ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है—ऐसा नहीं है अपितु
'न्यूनसङ्ख्याव्यवच्छेदार्थम्'। कोई इस संख्या में कम-ज्यादा न कर दे, इसलिए दो बार 'पञ्च' शब्द का प्रयोग
किया गया है।

आचार्य हारीत ने भी अग्निवेश की भाँति कामला तथा कुम्भकामला को स्वीकार करने के बाद एक
'हलीमक' भेद और स्वीकार किया है—'वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च। द्वे कामले चैव
हलीमकाऽऽख्यः स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः' ॥ सुश्रुत का कथन है कि इस पाण्डुरोग को कामला, अपानकि,
पाण्डुरोग, कुम्भाह्वय, लाघरक तथा अलसक नाम से कहते हैं। देखें—सु० उ० अ० ४४।६। इसी प्रसंग में उक्त
सभी के लक्षणों का निर्देश किया गया है। वाग्भट ने उक्त 'लाघरक' को ही 'लोढर' नाम दिया है, ऐसा प्रतीत
होता है। और हलीमक ही 'कालाजार' का विकृत रूप है।

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु। शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ॥४॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः। व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥५॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः। वैवर्ण्यं भजते, तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥६॥

पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—जिस व्यक्ति के पित्त-प्रधान वात आदि दोष रक्त आदि धातुओं में जाकर
कुपित हो जाते हैं, उसकी उन-उन धातुओं में शिथिलता आ जाती है और शरीर में भारीपन हो जाता है।
तदनन्तर शरीरस्थ दोषों (वात आदि) तथा दूष्यों (रक्त आदि) के दूषित हो जाने के कारण उस व्यक्ति का
वर्ण, बल, स्नेह एवं ओज के सभी गुणों का अत्यन्त क्षय हो जाता है। इस प्रकार ओजस् के गुणों के क्षीण हो
जाने के कारण उसके शरीर में रक्त एवं मेदो धातु की कमी, स्वयं ओजस् की कमी, इन्द्रियों में ढीलापन
और चेहरे पर फीकापन आ जाता है। उस पाण्डुरोग के कारणों तथा लक्षणों को सुनो (मैं उनका उपदेश
कर रहा हूँ)।

वक्तव्य—पाण्डुरोग में वात आदि प्रत्येक दोष के साथ पित्त की प्रधानता अवश्य रहती है, किन्तु रोग
का प्रारम्भ वातादि के रूप में ही होता है, नकि पित्त दोष से। अतः दोष-भेद से इनकी संज्ञा का निर्धारण किया
गया है और कारण-भेद से पित्त की प्रधानता स्वीकार की जाती है।

ओजस् के गुण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, सान्द्र, स्वादु, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल, सूक्ष्म—ये १० गुण
ओज के कहे गये हैं। महर्षि आत्रेय ने ओजस् का परिचय इस प्रकार दिया है—'प्रथमं जायते ह्योजः शरीरे-
ऽस्मिञ्छरीरिणाम्। सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते' ॥ च० सू० अ० १७।७५। इसी के साथ एक प्रक्षिप्त
पद्य दिया है, वह भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसंग में च० सू० अ० १७।७३-७४ का भी अवलोकन करें।

सुश्रुत के अनुसार—'तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते स्वशास्त्रसिद्धान्तात्'। सु० सू० अ० १५।१९। इसी सम्बन्ध में आगे के २१-२२ श्लोक भी देखें। जब ओजस् का क्षय हो जाता है, तब वह पुरुष निःसार (बलहीन) हो जाता है, जो स्वयं स्पष्ट है। श्रीचक्रपाणि तन्त्रान्तर की चर्चा करते हुए लिखते हैं—'प्राणाश्रयस्योजसोऽष्टौ विन्दवो हृदयाश्रयाः'। एतच्चाष्टविन्दुकं परमोजो ज्ञेयम्'। अर्धाञ्जलिपरिमाणं तु यदोजस्तदप्रधानम्'॥ च० सू० अ० १७।७५ की टीका में देखें। ओजःक्षय के कारणों का उल्लेख करते हुए महर्षि सुश्रुत ने कहा है—'अभिघात से, धातुओं के क्षय से, क्रोध, शोक, चिन्ता (मानसिक विकृतियों), श्रम तथा भूख से धातुवह स्रोतों से निकला हुआ ओज उक्त कारणों से क्षीण हो जाता है। देखें—सु० सू० अ० १५।२३। पाण्डुरोग में विकृत पित्त के कारण रोगी के शरीरादि अवयवों का वर्ण पाण्डु, ईषत्पाण्डु, हरित आदि हो जाता है।

क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात् । निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥७॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा । प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥८॥
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः । समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् ॥९॥
वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश । प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ॥१०॥
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत् । पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि ॥
स पाण्डुरोग इत्युक्तः—

पाण्डुरोग : निदान एवं लक्षण—क्षार, अम्ल, लवण, अत्यन्त उष्ण, परस्पर विरोधी तथा असात्म्य आहारों का सेवन करने से, निष्पाव (शिम्बीधान्यों), सेम, उड़द आदि के सेवन से, पिण्याक (तिल की खली) तथा तिल के तेल का सेवन करने से अन्न (भुक्त आहार) के विदग्ध हो जाने से, दिन में सोने से, अधिक व्यायाम (शारीरिक परिश्रम) से, मैथुन करने से, चिकित्सा की विषमता से, ऋतुओं की विषमता से अर्थात् ऋतुचर्या के यथाविधि सेवन न करने से, अधारणीय वेगों को रोकने से, काम, चिन्ता, भय, क्रोध, शोक आदि मानसिक विकारों के कारण जिनका मन आक्रान्त हो चुका है, ऐसे पुरुषों के हृदय में रहने वाला साधक-पित्त बढ़ जाता है और वह बढ़ा हुआ पित्त बलवान् वायु द्वारा प्रेरित होकर हृदयस्थित दस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। यह पित्त त्वचा और मांस के बीच में अपना स्थान बनाकर कफ, वात, रक्त, त्वचा तथा मांसधातु को दूषित करके त्वचा के ऊपर पीला, हल्दी के सदृश, हरित अथवा विविध वर्णों को उत्पन्न कर देता है, उसे पाण्डुरोग कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसे संक्षेप में कहा है—'व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीवतीक्ष्णम्। निषेवमाणस्य विदूष्य रक्तं कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्'॥ सु० उ० अ० ४४।३। 'व्यवाय' के स्थान पर अन्यत्र 'व्यायाम' शब्द का ग्रहण किया है। वास्तव में दोनों ही व्यायाम हैं, उद्देश्य एवं फल दोनों के भिन्न-भिन्न हैं।

—तस्य लिङ्गं भविष्यतः । हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥१२॥

पाण्डुरोग के पूर्वरूप—पैदा होने वाले उस पाण्डुरोग के निम्नलिखित पूर्वरूप होते हैं—हृदय में धड़कन, शरीर के अवयवों में रूखापन, पसीने का अभाव, बिना परिश्रम किये ही शरीर में थकावट का अनुभव होना।

वक्तव्य—वाग्भट ने वातज आदि सभी पाण्डुरोगों के पूर्वरूपों तथा उसके विशिष्ट लक्षणों का विस्तृत वर्णन किया है। देखें—सु० नि० अ० १३।८-१२। सुश्रुतोक्त पूर्वरूप—'त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसादौ, मृद्भक्षण-प्रेक्षणकूटशोथाः। विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि'॥ सु० उ० अ० ४४।४। गर्भवती स्त्री का मृद्भक्षण पाण्डुरोग का कितना स्पष्ट पूर्वरूप है।

सम्भूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः । दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥१३॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः । मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥१४॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः । कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥१५॥

पिण्डिकोद्वेष्टकटयूरुपादरुक्सदनानि च । [1]भवन्त्यारोहणायासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते ॥१६॥

पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण—इसके उत्पन्न हो जाने पर सभी प्रकार के पाण्डुरोगों में कर्णक्ष्वेड (कानों में साँय-साँय शब्द का होना—सुश्रुतोक्त २८ कर्णरोगों में चौथा रोग, देखें—सु० उ० अ० २०।३)। मन्दाग्नि, दुर्बलता, शरीर में शिथिलता, भोजन के प्रति अरुचि, थोड़ा-सा श्रम करने पर थकावट का अनुभव होना तथा चक्करों का आना इन विकारों से रोगी पीडित रहता है। शरीरावयवों में शूल, ज्वर, श्वास की मात्रा में वृद्धि, शरीर में भारीपन तथा उसे किसी कार्य के प्रति रुचि नहीं होती है। उसे ऐसा अनुभव होता है, मानो जैसे उसके अंग मसल दिये गये हों या उसे दबा दिया गया हो अथवा मथ (झकझोर) दिया गया हो, उसके आँखों या कोनों में हलकी सूजन दिखलायी देती है, उसका वर्ण हरित हो जाता है, लोम झड़ जाते हैं, उसका चेहरा कान्तिहीन तथा स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, शीतल पदार्थों से द्वेष करना, नींद का अधिक आना, बार-बार थूकते रहना, कम बोलना (यह लक्षण यदि स्वाभाविक न हो तो), पिण्डलियों में ऐंठन का होना (इसी को खल्ली रोग कहते हैं), ऊँचे स्थान पर चढ़ने के परिश्रम से कमर, ऊरु तथा पैरों में वेदना, ये लक्षण सामान्यरूप से पाण्डुरोग में होते हैं। इस प्रकार सामान्य लक्षणों का वर्णन करने के बाद अब वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले पृथक्-पृथक् पाण्डुरोगों के लक्षणों का वर्णन आगे किया जायेगा।

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः । जनयेत्[2]कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥१७॥
अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम् । वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥१८॥

वातज पाण्डुरोग : निदान एवं लक्षण—वातकारक आहार-विहारों का सेवन करने से कुपित हुआ वातदोष रोगी के शरीर में काला तथा पीला वर्ण उत्पन्न कर देता है तथा शरीरावयवों में रूक्षता और लालिमा पैदा कर देता है। इनके अतिरिक्त अंगों में मसलने की-सी पीड़ा, पीड़ा, सुई चुभने की-सी पीड़ा, शरीर में कम्पन, पसलियों तथा शिर में पीड़ा, मल का सूख जाना, मुख का फीका पड़ना, शोथ, आनाह, बलक्षय—ये लक्षण वातज पाण्डुरोग में होते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'कृष्णपाण्डुत्वम्' पाठ दिया है और इसके पाठभेद में—'कृच्छ्रपाण्डुत्वम्' दिया गया है। यहाँ सुखसाध्य या कृच्छ्रसाध्य का प्रसंग नहीं है, अतः 'कृष्णपाण्डुत्वम्' पाठ ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हो रहा है। वातदोष रजोगुणमय होता है, अतः यह अरुणाभ तथा रूक्ष तो होता ही है। साथ में सुश्रुतोक्त लक्षणों पर भी ध्यान दें—'कृष्णेक्षणं कृष्णसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च, वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद् युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च'॥ सु० उ० अ० ४४।७। वृद्धवाग्भट भी सुश्रुत को समर्थन दे रहे हैं—'सादः श्रमोऽनिलात् तत्र गात्ररुक् तोदकम्पनम्। कृष्णरूक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता'॥ अ० सं० नि० अ० १३।१०। ऊपर १८वें पद्य में 'रुजं' के स्थान पर श्रीजयदेव ने 'ज्वरं' पाठभेद स्वीकार किया है, जब कि अन्य किसी संहिताकार ने 'ज्वर' के लक्षण का उल्लेख नहीं किया है। व्यवहार में भी पाण्डुरोगी में प्रायः ज्वर-लक्षण नहीं देखा जाता।

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः । दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ॥

पित्तज पाण्डुरोग : निदान एवं सम्प्राप्ति—पित्त प्रकृति वाले पुरुष के शरीर में पित्तदोष को प्रकुपित करने वाले कारणों (आहार-विहार आदि) से पित्त संचित (इकट्ठा) होकर रक्त आदि धातुओं को दूषित करके पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देता है।

स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः । [3]तृष्णामूर्च्छापिपासार्तः पीतमूत्रशकृन्नरः ॥२०॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति । कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥२१॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते । दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥

१. 'स्युरध्वारोहणायासैः' इति पा०।
२. 'कृच्छ्रपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाभताम्' इति पा०।
३. 'छर्दिमूर्च्छापिपासार्तः' इति पा०।

पित्तज पाण्डुरोग के लक्षण—पित्त की विकृति के कारण उत्पन्न पाण्डुरोगी के शरीर का वर्ण पीताभ या हरिताभ दिखलायी देता है, वह ज्वर, दाह, तृष्णा (प्यास) के कारण उत्पन्न मूर्च्छा और प्यास के कारण (पाठभेद के अनुसार—छर्दि, मूर्च्छा, प्यास से) पीड़ित होता है, उसका मल-मूत्र पीले वर्ण का होता है, उसे पसीना आता रहता है, उसकी इच्छा शीतल वस्तुओं का सेवन करने की होती है। उसे भोजन के प्रति रुचि नहीं होती है, खाने पर उसे अच्छा भी नहीं लगता, उसके मुख का स्वाद कड़ुआ होता है, इसे उष्ण आहार-विहार अनुकूल नहीं होते और न खट्टे पदार्थ ही लाभकर होते हैं। जब खाया हुआ आहार आधा पच जाता है तब उसे खट्टी डकारें आने लगती हैं और विदाह होता है, शरीर से दुर्गन्ध आती है, उसका मल पतला हो जाता है, शरीर में दुर्बलता आ जाती है, आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है—ये सब पित्तज पाण्डुरोग के लक्षण हैं।

वक्तव्य—देखें—सुश्रुत उ० अ० ४४।८ तथा अ० सं० नि० अ० १३।११-१२।

विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत्। करोति गौरवं तन्द्रां छर्दि श्वेतावभासताम्॥
प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम्। श्वासं कासं तथाऽऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम्॥
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम्। श्वयथुं [1]मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात्॥

कफज पाण्डुरोग का निदान—कफ को बढ़ाने वाले आहार-विहारों से बढ़ा हुआ कफदोष पूर्ववत् (वातज तथा पित्तज पाण्डुरोगों की भाँति रक्त आदि धातुओं को दूषित कर) पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देता है।

लक्षण—शरीर में भारीपन, तन्द्रा (उँघाई), वमन, सफेदी दिखलायी देना, मुख से लार का निकलते रहना, बार-बार रोमाञ्च का होना, शरीर में शिथिलता, मूर्च्छा, चक्करों का आना, हर समय सुस्ती का बना रहना, श्वास, कास, आलस्य, भोजन के प्रति अरुचि, वाक्ग्रह (बोलने में रुकावट का होना), स्वरग्रह (स्वरभेद), मल, मूत्र तथा आँखों में सफेदी का दिखलायी देना, कटु, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों की आहार-विहार में इच्छा का होना, सूजन एवं मुख का स्वाद मीठा प्रतीत होना—ये सभी लक्षण कफज पाण्डुरोग में दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट की दृष्टि से—'वर्चोभेदोऽम्लको दाहः कफाच्छुक्लसिरादिता। तन्द्रालवणवक्त्रत्वं रोमहर्षः स्वरक्षयः' ॥ अ० सं० नि० अ० १३।१२। सुश्रुत उ० अ० ४४।९।

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्॥२६॥

त्रिदोषज पाण्डुरोग : निदान एवं लक्षण—वात, पित्त, कफवर्धक आहारों का सेवन करने वाले पुरुष के सभी (तीनों) दोष दूषित होकर तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त त्रिदोषज (सान्निपातिक) अत्यन्त कष्टकारक पाण्डुरोग को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार—'सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येत्'। सु० उ० अ० ४४।१०। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'निचयान्मिश्रलिङ्गोऽतिदुस्सहः'। अ० सं० नि० अ० १३।१३।

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः। कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम्॥२७॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं [2]विरूक्षयेत्। पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च॥२८॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा। पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम्॥२९॥

मृत्तिकाभक्षण-जनित पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—मिट्टी खाने के अभ्यास वाले पुरुष का वात आदि तीनों मलों (दोषों) में से कोई एक मल (दोष) कुपित हो जाता है। जैसे—कषायरस-प्रधान मिट्टी को जो खाता है, उसका वातदोष; ऊषर भूमि की मिट्टी को जो खाता है, उसका पित्तदोष तथा मधुररस-प्रधान मिट्टी को जो खाता है, उसका कफदोष प्रकुपित हो जाता है। क्योंकि मिट्टी रूक्ष होती है, अतः वह मिट्टी में रहने वाले रसों, खाये हुए आहाररस तथा शरीरगत रसादि धातुओं को भी विशेषरूप से रूक्ष कर देती है। जठराग्नि द्वारा मिट्टी का आहार की भाँति पाक नहीं हो पाता है, अतः वह इसी प्रकार आगे जाकर रसादि

१. 'लवणास्यत्वमिति' इति पा०। २. 'विरूक्ष्य च' इति पा०।

धातुओं का वहन करने वाले स्रोतों को भर देती है, तदनन्तर उनके मार्ग रुक जाते हैं, फलतः धातुओं का पोषण सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाता। अतः उस मिट्टी के कारण प्रकुपित हुआ दोष इन्द्रियों की शक्ति का हनन करके तेज, वीर्य और ओजस् को क्षीण करके बल, वर्ण और जठराग्नि का नाश करने वाले पाण्डुरोग को शीघ्र ही उत्पन्न कर देता है।

[1]शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः। क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम्॥३०॥

मृत्तिकाभक्षण-जनित पाण्डुरोग के लक्षण—मिट्टी खाने के कारण उत्पन्न पाण्डुरोग में रोगी के गालों, अक्षिकूटों (अक्षिगोलकों) तथा दोनों भौंहों, पैरों, नाभि एवं मूत्रेन्द्रिय में शोथ हो जाता है। कोष्ठ (उदर) में क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी को रक्त तथा कफ युक्त अतिसार (दस्त) होने लग जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट पाण्डुरोग के ९ भेदों को स्वीकार करते हैं। देखें—'रूपभेदान्नवात्मकम्'। अ० सं० नि० अ० १३।२३। वाग्भट इसके पाँच भेद स्वीकार करते हैं—'स पञ्चधा पृथग्दोषैः समस्तैर्मृत्तिकाशनात्'। अ० हृ० नि० अ० १३।७। सुश्रुत प्रारम्भ में इसके ४ भेद मानकर (सु० उ० अ० ४४।४) आगे श्लोक ६ में इसके ६ भेदों की चर्चा करते हैं। वास्तव में मृद्भक्षण-जनित पाण्डुरोग को महर्षि आत्रेय ने अलग से माना है। उसमें प्रधान कारण यह है, कि उक्त पाण्डुरोग में निदान (पाण्डुरोग का मूल कारण—मिट्टी खाने) का यदि रोगी में त्याग करा दिया जाता है और अभी तक जो मिट्टी खायी गयी है उसकी संशोधन प्रकारों से चिकित्सा कर दी जाती है तो उसका वह पाण्डुरोग शीघ्र शान्त हो जाता है। अतः मृद्भक्षण-जनित पाण्डुरोग की स्वतन्त्र सत्ता मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती है।

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति। [2]कालप्रकर्षाच्छूनो ना यश्च पीतानि पश्यति॥३१॥
बद्धाल्पविट्कं सकफं हरितं योऽतिसार्यते। दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः॥३२॥
स नास्त्यसृक्क्षयाच्च यः पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्। इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम्॥

पाण्डुरोग की असाध्यता—जो पाण्डुरोग बहुत पुराना हो गया हो (भले ही वह उपेक्षा करने से पुराना हो गया हो अथवा समुचित चिकित्सा न करने के कारण अभी तक ठीक न हो पाया हो) और जिसके कारण शरीर रूक्ष हो गया हो अर्थात् ओजोधातु जिसका समाप्त हो गया हो, वह पाण्डुरोगी असाध्य हो जाता है। यदि पाण्डुरोग बहुत दिनों तक ठीक न हुआ हो तो उसके शरीर में उपद्रवस्वरूप शोथ हो जाता है, वह भी असाध्य होता है। जो पाण्डुरोगी सभी पदार्थों को पीला देखने लगता है, वह भी असाध्य होता है। कफ मिला हुआ और हरे वर्ण वाला, सूखा मल जिसका निकलता हो, वह भी असाध्य होता है। जो पाण्डुरोगी अत्यन्त दया का पात्र हो गया हो, जिसके शरीर पर सफेदी आ गयी हो, जिसे ऐसा लगता हो कि उसके शरीर पर कुछ लीप दिया गया हो, जिसे वमन हो रहे हों, बेहोशी आ रही हो, बार-बार प्यास लगने से जो दुःखी हो, वह भी असाध्य होता है। जो पाण्डुरोगी रक्त के अधिक क्षीण हो जाने से सफेद दिखलायी देने लगा हो, वह भी असाध्य होता है। इस प्रकार पाँच प्रकार के पाण्डुरोग के (असाध्य) लक्षण कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—माधवनिदान में इन्हीं को असाध्य लक्षणों के रूप में उद्धृत किया है। पाण्डुरोग की असाध्यता की सूचना देने वाले कुछ उपद्रवों की चर्चा सुश्रुत में मिलती है। आप उपर्युक्त असाध्य लक्षणों से इनका सामञ्जस्य बैठा कर विचार करें कि कब तक ये उपद्रव के रूप में रहते हैं और कब घातक हो जाते हैं—'उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा छर्दिर्ज्वरो मूर्धरुजाग्निसादः। शोफस्तथा कण्ठगतोऽबलत्वं मूर्च्छा क्लमो हृदयपीडनं च' ॥ सु० उ० अ० ४४।१३। और भी—'अन्तेषु शूनं परिहीनमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम्। गुदे च शेफस्यथ मुष्कशूनं प्रताम्यमानं च विसंज्ञकल्पम्' ॥ विवर्जयेत् पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथातिसारज्वरपीडितञ्च' ॥ सु० उ० अ० ४४।३९-४०। अन्यदपि—'पाण्डुदन्तनखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्। पाण्डुसङ्घातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति' ॥ सु० सू० अ० ३३।२३।

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥३४॥

१. 'शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूनाभिपादाग्रमेहनः' इति पा०।
२. 'कालप्रकर्षाच्छूनाङ्गः' इति पा०।

कामला-प्रकरण

(Chapter of Jaundice)

कामलारोग : निदान एवं सम्प्राप्ति—जो पाण्डुरोग से पीड़ित व्यक्ति पित्तल (पित्त को प्रकुपित करने वाले) आहार-विहारों का अधिक सेवन करता है, उसका बढ़ा हुआ पित्त रक्त एवं मांस धातु को जलाकर (कामला) रोग को पैदा कर देता है।

वक्तव्य—पित्तज पाण्डुरोग में पित्तवर्धक आहार-विहारों के सेवन का दुष्परिणाम ही कामला रोग है। यद्यपि तन्त्रकार ने उक्त श्लोक में 'कामला' शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उनके उक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है और आगे नाम-संकेत भी किया ही है। पहले जो पाण्डुरोग पाँच प्रकार के होते हैं, ऐसी प्रतिज्ञा की है, वह सर्वात्मना ठीक है, क्योंकि कामला आदि जिन अन्य भेदों का इन्होंने तथा दूसरे ग्रन्थकारों ने वर्णन किया है, उन सबका अन्तर्भाव चरकोक्त पाण्डुरोग के पाँच भेदों के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। वास्तव में भेद-उपभेदों का वर्णन विषय को विशद करने का एक माध्यम मात्र होता है। प्राचीन संहिताकारों में किसने कितने भेद और उपभेद पाण्डुरोग के किये या माने हैं, उसका विवेचन हम इसके पहले इसी अध्याय में कर चुके हैं।

कामला तथा कुम्भकामला के सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट की समान धारणा है। देखें—अ० सं० नि० अ० १३।१६-१८ और अ० हृ० नि० अ० १३।१५-१७॥ इस सम्बन्ध में आचार्य हाराणचन्द्र को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। **कामला**—'कामशब्दोऽयं साधारणः शब्दः, विशेषात् स्वल्पे भक्ताद्यभिलाषे प्रवर्तते, तं लातीति कामला। दुष्टत्वेन कुत्सितोऽपानोऽपानकः सोऽस्यास्तीति अपानकी, कामलाख्याऽपानकी पाण्डुरोगः कामलापानकी पाण्डुरोगः। कुम्भकामलाख्याऽपानकी पाण्डुरोगस्त्वत्र कुम्भाह्वय उच्यते, भीमो भीमसेन इति वत्। रोगस्याऽस्य कुम्भकामलेति संज्ञा तन्त्रान्तरे व्यपदिश्यते। स एव पुनः ज्वरादिलाघवं करोति, सत्यपि सामर्थ्ये कर्मस्वनुत्साहं च जनयति, इति अलसाऽऽख्योऽपानकिपाण्डुरोगस्तु लाघवक उच्यते, इति'।

सुश्रुत ने कामला का वर्णन इस प्रकार किया है—'वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः। यो ह्यामयान्ते सह-सान्नमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्॥ करोति पाण्डु वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च'। सु० उ० अ० ४४।१०॥। इसका अर्थ स्पष्ट है। तन्द्रा का परिचय—सु० शा० अ० ४।४९ में तथा बलक्षय का लक्षण—सु० सू० अ० १५ के गद्य १९-२० में देखें। कामलारोग किसी रोग के अन्त में उपद्रव के रूप में भी दिखलायी देता है।

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥३५॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः । कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥३६॥

कामला रोग के लक्षण—कामला रोग से आक्रान्त पुरुषों की आँखें हल्दी के सदृश पीतवर्ण की हो जाती हैं। उसकी त्वचा, नख तथा मुख का वर्ण भी अत्यन्त पीला हो जाता है। उसका मल-मूत्र भी रक्तमिश्रित पीतवर्ण का हो जाता है, शरीर का वर्ण बरसाती मेंढक का जैसा हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का भली-भाँति ग्रहण नहीं कर पाती हैं। वह रोगी दाह, अविपाक (अनपच), दुर्बलता, शिथिलता, भोजन के प्रति अरुचि हो जाने से विशेष कृश हो जाता है। यह कामला रोग पित्त की अधिकता से होता है। यह कोष्ठाश्रय तथा शाखाश्रय भेद से दो प्रकार का होता है।

वक्तव्य—यह कामला रोग शाखागत होता है—यहाँ शाखा शब्द से रक्तधातु और त्वचा का ग्रहण किया जाता है—'शाखा रक्तादयो धातवः त्वक् च'। च० सू० अ० ११।४८। 'कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीर-मध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे'। च० सू० अ० ११।४८। इसी विषय का विवेचन सुश्रुत में देखें—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते'॥ सु० नि० अ० २।१२। अर्थात् आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक और फुप्फुस इतने अंगों के समूह को कोष्ठ कहते हैं। कुछ विद्वान् कामला को शाखाश्रया और कुम्भकामला को कोष्ठाश्रया मानते हैं। उनका कथन है कि यहाँ कुम्भ शब्द ही 'कोष्ठ' का वाचक है। इस पर आप भी विचार करें।

निष्कर्ष—प्रारम्भ में जब कामला का प्रभाव शाखाओं में आश्रित रहता है, तब उसमें पित्त और कफ-दोष का विशेष प्रभाव रहता है। जब शाखा (रक्तादि धातु और त्वचा) में पित्तदोष की अधिकता हो जाती है, तब वह कफ के आवरण को तोड़कर मल कोष्ठ में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार कामला रोग शाखागत तथा कोष्ठगत भेद से दो प्रकार का होता है।

वृद्धवाग्भट का कथन है कि कामला रोग पाण्डुरोग के बिना भी होता है। देखें—'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च'। अ० सं० नि० अ० १३।१८। वाग्भट ने भी उक्त पंक्ति को अविकल रूप से अपनी संहिता में उद्धृत किया है। देखें—अ० हृ० नि० अ० १३।१७। यही मान्यता सुश्रुत की भी है—'यो ह्यामयान्ते सह-सान्नमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्। करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च'॥ सु० उ० अ० ४४।११। यहाँ **'आमयान्ते'** यह पद विवेचनीय है; इसका प्राकरणिक अर्थ है—पाण्डुरोग के अन्त में अथवा किसी ऐसे रोग के अन्त में जिसमें पित्त प्रधानरूप से कुपित होकर उसने रक्तादि धातुओं को दूषित कर दिया हो, वहाँ कामला के दर्शन होते हैं। जैसे प्रमेहपिडकाएँ प्रमेह रोग में होती हैं और दुष्टमेदोरोग वाले पुरुष में वे पिडिकाएँ बिना प्रमेह के भी देखी जाती हैं, ठीक ऐसा ही एक कामला रोग भी है।

आधुनिक विचार—एलोपैथिक चिकित्सा की दृष्टि से इस कामला के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है, उनमें कुछ प्रमुख नाम यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—१. यकृत् कामला (Hepatic jaundice) २. तीव्रयकृत्-बाह्य अवरोधी कामला (Acute extrahepatic obstructive jaundice) ३. संक्रामी कामला (Infective jaundice) ४. अभिष्यन्द कामला (Catarrhal jaundice) ५. यकृत्कोशिकीय कामला (Hepato-cellular jaundice)।

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला। 'कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति। दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः॥३८॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते।

कुम्भकामला—कामला रोग का जब बहुत दिनों तक निराकरण नहीं हो पाता तो उसके बहुत समय तक रह जाने के कारण शरीर की सभी धातुएँ जो पहले खर (रूक्ष) नहीं थीं, वे इस रोग के कारण खर हो जाती हैं, तो उसी को कालान्तर (कुछ समय के बाद) में 'कुम्भकामला' कहते हैं।

कुम्भकामला के असाध्य लक्षण—जिस रोगी के मल, मूत्र काले तथा पीले पड़ गये हों, जिसके शरीरावयवों पर सूजन दिखलायी दे रही हो, जिसके आँख, मुख लालवर्ण के हो गये हों तथा रोगी द्वारा की गयी उलटी, मल एवं मूत्र का रंग लाल हो गया हो, जिसे मूर्च्छा आती हो, दाह, अरुचि, प्यास, आनाह, तन्द्रा तथा मोह (बेहोशी) से जो पीड़ित हो, जिसकी जठराग्नि तथा संज्ञा (होश, चेतना या Consciousness) नष्ट हो गयी हो, ऐसा कामला तथा कुम्भकामला का रोगी शीघ्र ही मर जाता है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने कुम्भकामला के दो विशेष लक्षणों का उल्लेख किया है—शोथ एवं पर्वभेद (जोड़ों में फटने की-सी पीड़ा का होना)। सु० उ० अ० ४४।११। वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने अ० सं० नि० अ० १३।१९ तथा अ० हृ० नि० अ० १३।१७ में कामला रोग की उपेक्षा करने से 'कुम्भकामला' की उत्पत्ति स्वीकार की है। कुम्भकामला ही कोष्ठाश्रित कामला है।

साध्यानामितरेषां तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्॥ ३९॥

चिकित्सा-प्रस्तावना—अब यहाँ असाध्य स्थिति वाले पाण्डुरोग के भेदों को छोड़कर शेष सभी साध्य पाण्डुरोगों की चिकित्सा का मैं (आत्रेय) वर्णन करता हूँ।

तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः॥ ४०॥
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत्।
शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान्॥ ४१॥

१. 'कृष्णमूत्रशकृन्नेत्रः' इति पा०।

मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः । यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत् ॥४२॥

पाण्डु, कामला-चिकित्सा—साध्य पाण्डु रोगी को स्नेहन कराने के पश्चात् तीक्ष्ण वमन, विरेचन कराकर ऊपर तथा नीचे के दोषों का निर्हरण कराना चाहिए। अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग में संचित दोषों का निर्हरण ऊपरी मार्ग (मुख) द्वारा तथा अधोभाग में स्थित दोषों का निर्हरण अधोमार्ग (गुद) द्वारा कराना, यहाँ यही तन्त्रकारोक्त आनुलोमिक विधि है। कामलारोग से पीड़ित व्यक्ति का तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये मृदुविरेचक औषधयोगों द्वारा संशोधन कराना चाहिए। जब उपर्युक्त संशोधन-विधियों से पाण्डुरोगी तथा कामला रोगी के कोष्ठ शुद्ध हो जायें तब उन्हें पथ्य (हितकर) अन्न (आहार द्रव्य) दिलाने चाहिए।

पथ्य आहार द्रव्य—पुराने शालिधानों के चावल, जौ, गेहूँ तथा यूष-निर्माण के लिए हितकर मूंग, अरहर, मसूर की दालें तथा जांगलदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के हितकर मांसरसों का सेवन कराना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था कर देने के बाद पाण्डुरोग एवं कामलारोग के दोष-विशेषों का सम्यक् विवेचन कर तदनुसार औषधयोगों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—वमन, विरेचन का प्रयोग अन्तःसंशोधन के लिए किया जाता है। अतः संशोधन के पहले स्नेहन, स्वेदन कराने का विधान है, किन्तु असंस्कृत (बिना औषधद्रव्यों से पकाया गया) घृत पित्तरोगों में नहीं दिया जाता है और साम पित्त में तो विशेषरूप से केवल घी का निषेध किया गया है। अतः जब भी घृतपान कराना हो तो उसे विरेचक औषधयोगों के कल्क, क्वाथ द्वारा पकाकर ही दें। इस प्रकार तैयार किया हुआ घी वातज तथा पित्तज विकारों में श्रेष्ठ माना जाता है, विशेषकर पित्तविकारों पर वस्ति आदि उपायों द्वारा प्रयुक्त घृत अमृत के समान सुखद होता है। यद्यपि पाण्डुरोग में वमन कराना निषिद्ध है (देखें, शा० सं० उ० खं० अ० ३।६-९) तो भी औषधसिद्ध घृतों के प्रयोग से देश, काल, प्रकृति तथा रोगी की शारीरिक स्थिति को देखकर वमन कराया जा सकता है।

वमन की भाँति पाण्डुरोग में स्वेदन का भी निषेध है। देखें, शा० सं० उ० ख० अ० २।११-१२। अतः ऐसी स्थिति में भी चिकित्सक यदि उस रोगी को स्वेदन कराना आवश्यक समझे तो मृदुस्वेद का प्रयोग कराया जा सकता है। पाण्डुरोग पित्तप्रधान होता है, अतः पित्तविकार में स्नेहन कराने के लिए घी का ही प्रयोग कराना चाहिए—'रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम्। हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिष्पानं प्रशस्यते' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० १।१२।

पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा । स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ॥४३॥

विविध घृत-प्रयोग—कामला तथा पाण्डुरोग में रोगी को स्नेहन कराने के लिए—१. पञ्चगव्य घृत, २. महातिक्त घृत तथा ३. कल्याणक घृत का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर जिन घृतों के नाम आये हैं, उन्हें आप क्रमशः इस प्रकार ढूँढ़ लें—१. च० चि० अ० १०।१७; २. च० चि० अ० ७।१४४-१५० तथा ३. च० चि० अ० ९।३३-४१।

दाडिमात् कुडवो धान्यात् कुडवार्धं पलं पलम् । चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा ॥
तैः कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके । सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत् ॥४५॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते । दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम् ॥४६॥
इति दाडिमाद्यं घृतम् ।

दाडिमादि घृत—दाड़िम के बीज १ कुडव (१६ तोला), धनियाँ आधाकुडव (८ तोला), चीता की जड़ १ पल (४ तोला), सोंठ १ पल (४ तोला), पिप्पली १ अष्टमिका (२ तोला), इन सभी द्रव्यों को यथा-प्रमाण लेकर पानी डालकर कल्क तैयार कर लें। गाय का घी २० पल (८० तोला), जल १ आढक (२५६ तोला) इन सबको मिलाकर विधिपूर्वक घी को पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। यह दाड़िमादि घृत हृदयरोग, पाण्डुरोग, गुल्म, अर्श (बवासीर), प्लीहा (Spleen), वातज तथा कफज रोगों से उत्पन्न कष्ट को दूर करता है। यह अग्नि को प्रदीप्त करता है, श्वास, कास का नाशक है, मूढ़वात (वातदोष के विलोम हो

जाने पर) में भी इसका प्रयोग कराया जाता है, प्रसवकाल में होने वाले कष्ट का भी यह निराकरण करता है, इसके प्रयोग से वन्ध्या स्त्रियाँ भी गर्भवती हो जाती हैं।

वक्तव्य—घृतपाक की सामान्य परिभाषा है—१ भाग कल्क, ४ भाग घी या तेल और १६ भाग जल में पाक करना। यहाँ कल्क के लिए निर्दिष्ट द्रव्यों का कुल मान (१६+८+४+४+२=) ३४ तोला है। घी ८० तोला और जल २५६ तोला। ऐसे विशिष्ट अवसरों पर सामान्य परिभाषा के स्थान पर विशेष परिभाषा को स्वीकार कर तन्त्रकारोक्त निर्देश के अनुसार घृतादि का पाक कर लेना चाहिए।

कटुकारोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात् पलम् । पटोलं चन्दनं मूर्वा त्रायमाणा दुरालभा ॥४७॥
कृष्णा पर्पटको निम्बो भूनिम्बो देवदारु च । तैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः क्षीरचतुर्गुणः ॥४८॥
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम् । अर्शांस्यसृग्दरं चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा ॥४९॥
इति कटुकाद्यं घृतम् ।

कटुकादि घृत—कुटकी, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी, कुटज की छाल १-१ पल (४-४ तोला), परवल की पत्ती, चन्दन, मूर्वामूल, त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली, पितपापड़ा, नीम की छाल, चिरायता, देवदारु ये सभी द्रव्य १-१ कर्ष=तोला लेकर कल्क तैयार कर लें, गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) और घी से चौगुना (२५६ तोला) गाय का दूध, सबको एक साथ लेकर पाक करें। यह कटुकादि घृत रक्तपित्त, ज्वर, दाह, शोथ, भगन्दर (Fistula), अर्श (Piles), रक्तप्रदर तथा विस्फोटक (Boil or small-pox) रोगों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—यद्यपि इस योग की फलश्रुति में पाण्डु, कामला आदि रोगों का नाम नहीं दिया गया है, फिर भी प्रकरणवश उनको स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रीजयदेव ने अपनी टीका के अन्त में 'कटुकारोहिणी' के स्थान पर श्रीगणनाथ सेन सम्मत पाठ 'कटुका रोहिणी' को उद्धृत किया है। यह पाठ व्याकरण की दृष्टि से आपत्तिजनक है। हाँ यह है कि इससे कटुका और रोहिणी ये दो भिन्न द्रव्य माने जायेंगे। ऊपर ४७ वें पद्य के प्रथमपाद के अन्त में **'वत्सकात् पलम्'** पाठ है। श्रीजयदेव ने यहाँ पर **'वत्सकात् फलम्'** पाठ स्वीकार किया है, तदनुसार एक तो द्रव्य बदल जाता है और दूसरा कुटकी आदि प्रथम पाँच द्रव्यों के विशिष्ट मानों का भी अपमान हो जाता है।

चक्रदत्त में इस योग की भाषा तथा कुछ द्रव्यों को बदल कर इसका नाम 'मूर्वादि घृत' रखा है। देखें—पाण्डुरोग-चिकित्सा ५४-५५। वृद्धवाग्भट ने उक्त योग में औषधद्रव्यों का क्रम बदलकर उसका नाम 'दुरालभादि घृत' रखा है। देखें—अ० सं० चि० अ० १८।३। इसमें मूर्वा, पिप्पली, नीम नहीं हैं और गुरुज तथा अजमोदा ये द्रव्य अधिक हैं।

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान् । प्रस्थः सिद्धो घृतात् पेयः सः पाण्ड्वामयगुल्मनुत् ॥
इति पथ्याघृतम् ।

पथ्याघृत—सौ ताजी हरड़ों के रस में पचास हरड़ों के फलों की डंठलों को लेकर उनका कल्क तैयार करें, इससे १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का पाक करें (चतुर्गुण द्रव के स्थान पर २५६ तोला पानी डालें)। पाक हो जाने पर छानकर सुरक्षित कर लें। यह घृत पाण्डुरोग तथा गुल्म को नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—ऊपर सौ हरड़ों का रस लेने के लिए कहा गया है। यदि ये ताजी न मिल सकें तो इनका क्वाथ कर लें। इसमें उतना पानी डालें, जिससे हरड़ें अच्छी तरह पककर उनका सम्पूर्ण रस पानी में आ जाय और वह क्वाथरस घृत से चौगुना शेष रहे। इस क्वाथ को छानने के पहले उन पकायी गयी हरड़ों को हाथ से मसल लें। यद्यपि उक्त पद्य में कही गयी १०० हरड़ों का उतना रस नहीं निकल सकता जो घृतपाक के लिए पर्याप्त हो।

गुल्म—दूषित वातादि दोष दोनों पसलियों में हृदय, नाभि तथा वस्ति इन पाँच स्थानों में गाँठ के समान गुल्म को पैदा कर देते हैं। आर्तव की विकृति के कारण होने वाला गुल्म स्त्रियों में ही पाया जाता है और सामान्य रक्तगुल्म स्त्री-पुरुष दोनों में होता है।

दन्त्याश्चतुष्पलरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः । तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः प्लीहपाण्ड्वर्तिशोफजित् ॥५१॥

इति दन्तीघृतम्।

दन्ती घृत—दन्ती का स्वरस ४ पल (१६ तोला) तथा दन्ती के कच्चे फलों की गिरी का कल्क बनाकर उपर्युक्त पथ्याघृत की भाँति १ प्रस्थ गाय के घी का पाक करें। इस घी का विधिवत् सेवन करने से प्लीहा, पाण्डु तथा शोथ रोग नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—भावप्रकाश में दन्तीद्वय शब्द द्वारा लघुदन्ती तथा बृहद्दन्ती (द्रवन्ती) का ग्रहण किया गया है। देखें—भा० प्र० गुडूच्यादिवर्ग १८४-१८६। चरकसंहिता क० अ० १२ का नाम ही दन्तीद्रवन्तीकल्प है। इस अध्याय में इनके विशेष प्रयोगों का अवलोकन करें। लघुदन्ती के प्रयोज्य अंग हैं—मूल, बीज और पत्र। बृहद्दन्ती (जमालगोटा) के प्रयोज्य अंग हैं—बीज तथा बीजतैल। अब आप विचार करें—तन्त्रकार ने बृहद्दन्ती के शलाटु (आम फलों) का ग्रहण कर लिया है, अब उसे दन्ती का रस या स्वरस अथवा क्वाथ करना है, इसके लिए मूल का क्वाथ या पत्तों का रस लेना यही उचित प्रतीत होता है।

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः । कामलागुल्मपाण्ड्वर्तिज्वरमेहोदरापहः ॥५२॥

इति द्राक्षाघृतम्।

द्राक्षा घृत—दस वर्ष पुराना गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), मुनक्का आधा प्रस्थ (३२ तोला) इसका कल्क बनाकर (घी से चौगुना २५६ तोला पानी डालकर) इस घी को पकायें, पकने पर छानकर रख लें। यही घी कामला, गुल्म, पाण्डुरोग, ज्वर, प्रमेह और उदर रोगों का विनाश करता है।

वक्तव्य—कुछ आचार्य 'द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यम्' के अनुसार चौगुना जल लेते हैं, कुछ द्रव के स्थान पर दूध का प्रयोग करते हैं, कुछ मुनक्का का कल्क और उसी का क्वाथरस लेते हैं। यह कल्पना-विधि की विविधता है। मात्रा—२ या ३ माशा।

हरिद्रात्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम् । सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥५३॥

इति हरिद्रादिघृतम्।

हरिद्रादि घृत—हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम की छाल, बलामूल, मुलेठी इन सब द्रव्यों को सम-भाग लेकर कल्क बना लें, भैंस का दूध, भैंस का घी इन सबको एक में मिलाकर घृतपाक करें। इसका विधि-पूर्वक सेवन करने से कामला रोग का विनाश करने वाले घृतों में यह उत्तम है।

वक्तव्य—इस योग में द्रव्यों की मात्रा का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः कल्क के लिए कहे गये द्रव्यों को कुल मिलाकर १ पाव, घृत १ सेर, दूध ४ सेर लें, पकते-पकते जब मात्र घी शेष रह जाय तब इसे उतार कर छान लें। मात्रा आधा से १ तोला तक।

गोमूत्रे द्विगुणे दार्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितः । दार्व्याः पञ्चपलक्वाथे कल्के कालीयके परः ॥५४॥
माहिषात् सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः ।

पाण्डु-कामलानाशक घृत—१. भैंस का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), गोमूत्र २ प्रस्थ, दारुहल्दी का कल्क २ अक्ष (तोला)—इन सब द्रव्यों को एक साथ मिलाकर घृतपाक करना चाहिए। २. दारुहल्दी ५ पल (२० तोला) इसका क्वाथ तैयार करें, कालीयक (पीतवर्ण का सुगन्धियुक्त काष्ठ विशेष—कालानुसारी) का कल्क तैयार करके भैंस का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) इन सबको मिलाकर यथाविधि घृतपाक करें। इनमें पहला घृत पाण्डुरोगनाशक है और दूसरा घृत कामलारोग का विनाश करता है।

वक्तव्य—इन घृतों का पाक सामान्य घृतपाक-विधि के अनुसार भी द्रव्यों का परिमाण संशोधित कर किया जा सकता है। इनमें प्रथम योग का नाम दार्वीघृत और दूसरे योग का नाम कालीयकघृत रखा जा सकता है।

स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ॥ ५५ ॥
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा । दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना शृतम् ॥५६॥

द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात् पाण्ड्वामयापहम् । द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत् ॥

स्नेहन के बाद विरेचन—उपर्युक्त स्नेहों (घृतों) का प्रयोग करने के पश्चात् जब पाण्डुरोगी तथा कामला रोगी का शरीर स्निग्ध हो गया है, ऐसा मालूम पड़े तब उक्त रोगियों को निम्नलिखित योगों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। **विरेचक योग**—गोमूत्र के साथ दूध मिलाकर अथवा केवल दूध बार-बार पिलायें, दन्तीफल के गरम क्वाथ रस में गम्भारी का फल १ अंजलि (१६ तोला) अथवा मुनक्का १ अंजलि (१६ तोला) मिलाकर हाथ से मलकर छानकर इस विरेचक द्रव को पाण्डु रोगी को पीने के लिए दें, ये प्रत्येक विरेचन पाण्डुरोग का विनाश करते हैं अथवा निशोथ के चूर्ण में दूनी चीनी मिलाकर आधा पल (२ तोला) की मात्रा में पित्तज पाण्डुरोगी को पीने के लिए दें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इस सन्दर्भ में कुछ विशेष कहा है—'पुनश्च स्निग्धं मूत्रयुक्तं गव्यं माहिषं वार्ध-मासं पयः पाययेत्'। अ० सं० चि० अ० १८।४। अर्थात् जब रोगी का उचित प्रकार से स्नेहन हो जाय तब उसे गाय या भैंस के दूध में गोमूत्र या महिषी मूत्र को मिलाकर १५ दिनों तक पिलाना चाहिए, इससे विरेचन होते हैं। चरकोक्त पद्यों में कालावधि का निर्देश नहीं किया गया है। यह पन्द्रह दिन का समय सामान्य निर्देश है। चिकित्सक इस अवधि को परिस्थिति के अनुसार घटा-बढ़ा सकते हैं। आधा पल (२ तोला) की मात्रा अधिक है। इसकी अद्यतन मात्रा ३ माशा से ६ माशा तक समझें।

कफपाण्डुस्तु [1]गोमूत्रक्लिन्नयुक्तां हरीतकीम् । [2]आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च ॥५८॥
सत्र्यूषणं बिल्वपत्रं पिबेन्ना कामलापहम् ।

कफज पाण्डुरोग-हर योग—कफदोष-प्रधान पाण्डुरोगी गोमूत्र में भिगायी गयी हरड़ को खाये (पाठ-भेद के अनुसार—गोमूत्र में भिगायी गयी हरड़ को पीसकर गोमूत्र में मिलाकर पीयें), अथवा अमलतास की गुद्दी को सोंठ, मरिच, पीपल के चूर्ण के साथ, बेल के हरे पत्तों का कल्क ईख के रस के साथ अथवा विदारीकन्द के स्वरस के साथ अथवा आँवलों के स्वरस के साथ कामला रोग से पीड़ित पुरुष सेवन करे।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'आरग्वधं' को अलग पढ़ा गया है, तदनुसार अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। 'आरग्वधरसेन' इस पाठभेद के अनुसार अमलतास के रस का सम्बन्ध पहले योग के साथ हो जाता है। ईख, विदारी, आमलक रस आदि का प्रयोग कामला रोग के साथ किया जाता है। श्रीजयदेव ने 'बिल्वपत्र' के स्थान पर 'बिल्वमात्रं' पाठ दिया है; इसका तात्पर्य होगा—इस औषधयोग को बिल्व (१ पल) परिमाण में लेना चाहिए। इस प्रकार पाठभेद और भिन्न-भिन्न टीकाकारों के दृष्टिकोण योग-निर्धारण में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसे अवसरों पर वृद्धवैद्य-वचन उपयोगी होते हैं, अतः हम वृद्धवाग्भट के वचनों को उद्धृत कर रहे हैं। इन्होंने चरकोक्त प्रथम योग को पाण्डुरोग-चिकित्सा प्रकरण में इस प्रकार दिया है—'सप्ताहं मूत्रेण वा हरीतकीः कल्किताः'। अ० सं० चि० अ० १८।४ और कामला चिकित्सा वाला योग कामला रोग चिकित्सा में दिया है—'आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य वा। सत्र्यूषणं बिल्वमात्रं पाययेत् कामलापहम्'॥ अ० सं० चि० अ० १८।२८। यद्यपि कफज पाण्डु तथा कामला में बिल्वपत्र का उपयोग है, तथापि परिमाणवाचक होने के कारण ही यहाँ 'बिल्वमात्र' शब्द के प्रति हमारा आदरभाव है।

दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥ ५९ ॥
कामली त्रिवृतां वाऽपि त्रिफलाया रसैः पिबेत् ।

कामला-नाशक दो योग—१. दन्ती की जड़ का कल्क आधा पल (२ तोला), इसमें दूना गुड़ मिलाकर शीतल जल के साथ लें। २. अथवा निशोथ के चूर्ण को त्रिफला के क्वाथ रस के साथ कामला रोगी को पीना चाहिए। मात्रा—२ या ३ माशा।

॥ ६० ॥
विशालात्रिफलामुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान् ।
कार्षिकानर्धकर्षांशान् कुर्यादतिविषां तथा । कर्षौ मधुरसाया द्वौ [3]सर्वमेतत् सुखाम्बुना ॥६१॥

---

१. 'गोमूत्रयुक्तां क्लिन्नाम्' इति पा०।
२. 'आरग्वधरसेने०' इति पा०।
३. 'सर्वं चूर्णम्' इति पा०।

मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च मध्वनु । कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम् ॥६२॥
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत् ।

विशालादि फाण्ट—विशाला (इन्द्रायण) की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, कूठ, देवदारु, इन्द्रजौ—इन सब द्रव्यों को प्रत्येक १-१ कर्ष=तोला लें, अतीस आधा कर्ष (६ माशा), मधुरसा (मूर्वा) की जड़ २ कर्ष (२ तोला) परिमाण में लेकर इनका कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें, इसे मात्रानुसार गुनगुने जल में डालकर मर्दन करके उस रस को छानकर पी लें, बाद में शहद चाटें। इसके सेवन से कास, श्वास, ज्वर, दाह, पाण्डुरोग, अरोचक, गुल्म, आनाह (अफारा), आमवात तथा रक्तपित्त रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—फाण्ट-निर्माण-विधि—उचित रूप से कुटे हुए ४ तोला द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख दे, उसमें १६ तोला उष्ण (खौलता हुआ) जल डालें, इसे साफ वस्त्र से छान लें। इसे **'चूर्णद्रव'** या **'फाण्ट'** कहते हैं। इसकी मात्रा ८ तोला होती है। इसमें मधु, चीनी, गुड़ आदि (जिनका उल्लेख जिस योग में हो) का प्रक्षेप डालना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० ३।१-२।

निर्माण-प्रकार—यह आपकी इच्छा पर निर्भर है कि आप उस चूर्ण को गरम पानी पर छोड़ें या चूर्ण के ऊपर गरम पानी छोड़ें। आजकल 'चाय' का निर्माण इसी प्रकार किया जाता है। ऊपर के योग में जो 'सुखाम्बुना' कहा है, अतएव वह पीते समय सुखाम्बु (जिससे हाथ-मुख न जल सकें) होना चाहिए। 'चाय' की मात्रा का निर्धारण आप जो भी करें, परन्तु इसकी मात्रा ४ तोला से अधिक नहीं होनी चाहिए।

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम् ॥ ६३ ॥
शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः ।

प्रातःकालिक योग—कामला रोग से पीड़ित पुरुष प्रातःकाल त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) का स्वरस या क्वाथरस, गुरुच का स्वरस, दारुहल्दी का स्वरस या क्वाथरस, नीम का शीतल रस मधु मिला हुआ पीये।

वक्तव्य—रस शब्द से स्वरस या क्वाथरस का ग्रहण किया जाता है। यदि उक्त द्रव्यों के स्वरस प्राप्त हो सकें तो मधु मिलाकर पीयें। यदि क्वाथ करके इनका रस प्राप्त किया गया हो तो शीतल हो जाने पर ही उसमें मधु मिलायें।

क्षीरमूत्रं पिबेत् पक्षं गव्यं माहिषमेव वा ॥ ६४ ॥
पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलारसम् ।

क्षीरमूत्र-प्रयोग—१. गाय के दूध में गाय का मूत्र मिलाकर १५ दिन तक लें, अथवा २. भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर १५ दिन तक लें, अथवा ३. पाण्डुरोगी को एक सप्ताह तक त्रिफला रस में गोमूत्र मिलाकर पिलायें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट का भी कथन है कि त्रिफला को गोमूत्र में पकाकर उसका रस पाण्डु रोगी को पीने के लिए दें।

तरुजान् ज्वलितान्मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान् ॥ ६५ ॥
मातुलुङ्गस्य तत् पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत् ।

मातुलुङ्ग-प्रयोग—बिजौरानीबू के नवीन अंकुरों को आग में जलाकर गोमूत्र में बुझाकर उन्हें हाथ से खूब मसलकर छान दें। मात्रानुसार इस गोमूत्र को पीने से पाण्डुरोग तथा शोथ का विनाश होता है या पाण्डुरोग-जनित शोथ का हरण करता है।

स्वर्णक्षीरी त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम् ॥ ६६ ॥
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं मूत्रे वा क्वथितं पिबेत् । क्षीरमेभिः शृतं वाऽपि पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥

स्वर्णक्षीर्यादि योग—स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी, भड़भाँड़), सफेद निशोथ, काली निशोथ, देवदारु, सोंठ इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर १ अंजलि (१६ तोला) गोमूत्र से पीसकर उसी में घोल लें, अथवा ऊपर

कहे गये द्रव्यों का गोमूत्र में क्वाथ करके, अथवा उक्त द्रव्यों का दूध में क्वाथ करके पीना चाहिए, ये सभी योग दोषों का अनुलोमन करते हैं।

वक्तव्य—ऊपर न रूक्ष द्रव्यों की और न द्रव द्रव्यों की मात्रा का निर्देश किया गया है, अतः प्रत्येक द्रव्य को २-२ माशा की मात्रा में लेकर गोमूत्र डालकर सिल पर पीसकर कल्क तैयार कर लें और उसी गोमूत्र में घोलकर उसे पी लें, शेष स्पष्ट है। इस योग को दोषानुलोमन कहा है। यहाँ प्रधान दोष पित्त है, वह इस विरेचनकारक योग का सेवन करने से मल के साथ सुखपूर्वक निकल जाता है। यदि उक्त द्रव्यों से क्षीरपाक करना हो तो पहले उन द्रव्यों का चूर्ण कर लें या कल्क बना लें, तब उससे यथाविधि क्षीरपाक करें—'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम् । क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१७९। इसके दूसरे चरण में यह पाठभेद भी मिलता है—'क्षीरावशेषं तत्पीतं शूलमामोद्भवं जयेत्'।

त्रिवृच्छ्यामे—महर्षि आत्रेय ने त्रिवृत् का अनेक स्थानों पर परिचय दिया है। यथा—'त्रिवृद् सुखविरेचनानाम्'। च० सू० २५।४० तथा च० क० अ० ७।५-११। इस प्रकरण में उन्होंने कहा है—'मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च'। किन्तु भावमिश्र ने इसके दो भेदों का वर्णन इस प्रकार किया है—१. सफेद निशोथ और २. काली निशोथ। देखें—भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ५।१८०-१८३। यहाँ आचार्य प्रियव्रत शर्मा कृत द्रव्यगुणविज्ञान भाग दो का भी अवलोकन करें, वे लिखते हैं—'संहिताओं में जो त्रिवृत् के साथ श्यामा वनस्पति आती है, वह पृथक् ओषधि है'। देखें—पृष्ठ ७८२।

हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत् । जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥६८॥

गोमूत्रहरीतकी—पाण्डुरोग से पीड़ित रोगी हरीतकी के चूर्ण को गोमूत्र के साथ प्रतिदिन पीये और जब औषधि पच जाय तब गाय के दूध से अथवा मधुर मांसरस के साथ वह खाना खाये।

वक्तव्य—इस गोमूत्र-हरीतकी का प्रयोग एक सप्ताह तक करना चाहिए, ऐसा वृद्धवाग्भट का मत है। देखें—श्लोक ५८ के वक्तव्य को। शेष अवधि चिकित्सक पर निर्भर है।

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः । पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक् ॥६९॥

लौहभस्म-प्रयोग—चिकित्सक को चाहिए कि वह पाण्डुरोग की शान्ति के लिए सात दिन तक गोमूत्र द्वारा भावना दिये गये, अर्थात् गोमूत्र में भिगाये हुए लौहभस्म का दूध के साथ पाण्डुरोगी को सेवन कराये। मात्रा—२ या ३ रत्ती, दूध—पावभर प्रत्येक बार।

त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गचित्रकाः समाः । नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं क्षौद्रसर्पिषा ॥७०॥
भक्षयेत् पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम् । नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥७१॥
इति नवायसचूर्णम् ।

नवायसचूर्ण—सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, वायविडंग, चीता की जड़, सबको समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, इसमें नौ भाग लौहभस्म मिला दें (नौ काष्ठौषधियों में उन्हीं के समान भाग में लौहभस्म मिला देने से इसको नवायसचूर्ण कहते हैं)। इस नवायस चूर्ण को मधुघृत के अनुपान के साथ उचित मात्रा में सेवन करें। इससे पाण्डुरोग, हृद्रोग, कुष्ठ, अर्श (बवासीर) तथा कामला रोग शान्त हो जाते हैं। इस नवायस चूर्ण का उपदेश महर्षि कृष्णात्रेय ने दिया था।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणिदत्त ने अपने 'चक्रदत्त' में इसे 'नवायसलौह' की संज्ञा दी है। देखें—पाण्डुरोग-चिकित्सा १०-११। योग में कोई परिवर्तन नहीं है। किन्तु यह नाम 'सज्जन पुरुष' इस वाक्य-प्रयोग के समान दुःखदायी है। ध्यान दें—'नव+आयस+लौह' यहाँ 'आयस और लौह' दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं। जिन्होंने 'चूर्ण' शब्द को हटाकर वहाँ 'लौह' शब्द प्रयुक्त कर उसका अर्थ भस्म किया है, इसका पूर्ण दायित्व उन्हीं पर है। अस्तु, नवायस चूर्ण—यकृत् दोष से उत्पन्न रक्त की न्यूनता, प्रमेह, प्लीहावृद्धि तथा शोथरोग में भी लाभदायक होता है।

गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान् । पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे ॥७२॥

मण्डूरभस्म-प्रयोग—पुराना गुड़, सोंठ का चूर्ण, मण्डूरभस्म, काले तिल—इन द्रव्यों को सम मात्रा में लें, पिप्पली चूर्ण को २ भाग लें, गुड़, तिल इनको पीसकर इसमें सभी द्रव्यों को मिलाकर गोलियाँ बनाकर रख लें। इनका प्रयोग पाण्डुरोगी के लिए करें।

त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ। दार्वीत्वङ्माक्षिको धातुर्ग्रन्थिकं देवदारु च ॥७३॥
एतान् द्विपलिकान्भागांश्चूर्णं कुर्यात् पृथक् पृथक्। मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत् प्रक्षिपेत् ततः। उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान् यथाग्नि ना ॥
उपयुञ्जीत तक्रेण सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्। मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥
कुष्ठान्यजीर्णकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान्। अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहानं शमयन्ति च ॥७७॥

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूरवटक—सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, वायविडंग, चव्य, चित्रकमूल, दारुहल्दी की छाल, स्वर्णमाक्षिक भस्म, ग्रन्थिक (पिप्पलामूल), देवदारु—इन सभी द्रव्यों को २-२ पल (८-८ तोला) की मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें; शुद्ध अंजन के सदृश (काले वर्ण वाले) मण्डूर को उक्त द्रव्यों के चूर्ण से मात्रा में दूना लेकर आठगुने गोमूत्र में पकाकर उक्त चूर्ण को इस मण्डूर के साथ मिला दें। उदुम्बर के समान इसकी गोलियाँ बनाकर रख दें। जठराग्नि के बल (पाचनशक्ति) को देखकर इस वटक (गोली) का मठा के साथ प्रयोग करें, औषध के पच जाने पर सात्म्य (पथ्य) भोजन करें। ये मण्डूरवटक पाण्डुरोगियों को प्राणदान देते हैं। कुष्ठ, अजीर्ण, शोथ, ऊरुस्तम्भ (टाँगों का जकड़ जाना), कफज रोग, अर्श (बवासीर), कामला, प्रमेह तथा प्लीहा रोग का शमन करते हैं।

वक्तव्य—उदुम्बर (गूलर) एक फल और परिमाणवाचक शब्द भी है। जैसा कि पूर्ववर्ती टीकाकारों ने ने गूलर के बराबर गोलियाँ बनाने की सम्मति दी है, तदनुसार गोलियों का कोई स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रारम्भ से पकने तक वे क्रमशः बड़े होते जाते हैं, अतः यहाँ कर्ष (तोला) प्रमाणवाचक 'उदुम्बर' शब्द को लेना ही उचित है। देखें—'उदुम्बरं च पर्यायैः कर्ष एव निगद्यते'। शा० सं० पू० खं० अ० १।२३। एक तोला भर की गोलियाँ उस समय की एक मात्रा हो सकती हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। उस समय भी 'यथाग्निना उपयुञ्जीत' लिखा है, आज भी उसी नियम का पालन करना चाहिए। आजकल की दृष्टि से इसकी सामान्य मात्रा ३-४ रत्ती पर्याप्त है।

श्रीचक्रपाणि ने चक्रदत्त में इस योग को 'त्र्यूषणाद्यं मण्डूरम्' नाम से उद्धृत किया है। इस योग के अन्त में इन्होंने स्पष्ट लिखा है—मण्डूर चूर्ण को अनेक बार आग में तपाकर गोमूत्र में बुझाकर तभी उसका औषध के लिए प्रयोग करें। देखें, अ० सं० चि० अ० १८।७ तथा अ० हृ० चि० अ० १६।१६-१९। जब आठगुने गोमूत्र में मण्डूर का पाक हो जाय, अर्थात् गोमूत्र नाममात्र शेष रह जाय तभी सोंठ आदि द्रव्यों को उसमें मिला दें, शीतल होने पर ३-४ रत्ती की गोलियाँ बना लेना प्रयोग की दृष्टि से अच्छा रहेगा।

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक्। चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पलिकैः सह ॥७८॥
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः। अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे हितमिताशिना ॥
कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा।

स्वर्णमाक्षिकादि योग—स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध शिलाजीत, रूप्यमल (रजतमाक्षिक) तथा अयोमल (मण्डूर) प्रत्येक द्रव्य ५-५ पल (२०-२० तोला), चित्रकमूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पीपल, वायविडंग इनका कपड़छन चूर्ण १-१ पल (४-४ तोला), चीनी ८ पल (३२ तोला) इन सबको मिलाकर रख लें, यह स्वर्णमाक्षिकादि योग है। इस योग की मात्रा १ अक्ष (१ तोला) है। इस प्रमाण में लेकर मधु मिलाकर इसे चाटें, औषध के पच जाने पर रोगी को उचित परिमाण में हितकर पदार्थों को खाना चाहिए। इस अवसर पर कुलथी, मकोय तथा कबूतर का मांस इन सबका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि ये इसके सेवन काल में अपथ्य होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ रूप्यमल, अयोमल के स्थान पर इनके भस्मों का प्रयोग करना चाहिए। महर्षि आत्रेय निम्नोक्त योग को योगराज कहते हैं, किन्तु वृद्धवाग्भट ने 'स्वर्णमाक्षिकादि योग' में कहे गये द्रव्यों को योगराज की संज्ञा दी है। देखें—अ० सं० चि० अ० १८।८।

त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च ॥ ८० ॥
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च। पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च ॥८१॥
माक्षिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा। अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम् ॥
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भोजने शुभे। उदुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद् यथाग्नि ना ॥८३॥
दिने दिने प्रयुञ्जीत जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम्। वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमाचीं कपोतकम् ॥
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः। रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम् ॥८५॥
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम्। कुष्ठान्यजीर्णकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम् ॥८६॥
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च।

इति योगराजः।

योगराज—हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पीपल, चीता की जड़, वायविडंग इन सभी द्रव्यों को १-१ भाग लें, शुद्ध शिलाजीत, रूप्यमल (रजतमाक्षिक) भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, लौहरज (भस्म) इन प्रत्येक द्रव्यों को ५-५ भाग लें, मिश्री ८ भाग—इन सबका कपड़छन चूर्ण कर लें, इनको एक शुद्ध लोहे के पात्र में रखकर उतना मधु मिलायें जिससे चूर्ण गीला हो जाय या उस शहद में डूब जाय। इसे एक उदुम्बर (१ तोला) की मात्रा में अग्निबल के अनुसार खायें। इसी प्रकार प्रतिदिन इस योगराज का सेवन करें। औषधि के पचने पर इच्छित पथ्य पदार्थों का भोजन करें। इस योग का सेवन करते समय अपथ्य द्रव्य जैसे—कुलथी, काकमाची (काली मकोय) और कबूतर का मांस नहीं खाना चाहिए। यह योगराज नाम से प्रसिद्ध है। यह योग रोगियों के लिए अमृत के समान जीवनदायक है, यह श्रेष्ठ रसायन है, सभी रोगों का विनाश करने वाला तथा कल्याणकारक है। इसका सेवन करने से पाण्डुरोग, विषदोष, कास, राजयक्ष्मा, विषमज्वर, कुष्ठ, अजीर्ण, प्रमेह, शोथ, श्वास, अरुचि रोगों का शमन होता है, विशेष करके यह अपस्मार, कामला तथा अर्श (बवासीर) का विनाशक है।

वक्तव्य—'भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च'—यहाँ शब्द की प्रकृति, प्रसंग तथा द्रव्य संख्या को ध्यान में रखते हुए **'विडङ्गस्य तथैव च'** यह पाठ समीचीन प्रतीत होता है। 'उदुम्बरसमां मात्रां' के समाधान के लिए इसी अध्याय के श्लोक ७३-७७ में दिया गया 'मण्डूरवटक' का वक्तव्य देखें। मात्रा—४ से ८ रत्ती।

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ॥ ८७ ॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा। शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥८८॥
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कर्कटाख्या पलोन्मिता।
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम् ॥ ८९ ॥
चूर्णितं मधुनः कुर्यात् त्रिपलेनाक्षिकान् गुडान्। दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥९०॥
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा। पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरान् ॥९१॥
[1]पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्निदोषशोषगरोदरान्। कासासृग्दरपित्तासृक्शोथगुल्मगलामयान् ॥९२॥
ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः।

इति शिलाजतुवटकाः।

शिलाजतुवटक—कुटज की छाल या इन्द्रजौ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम की छाल, परवल की पत्ती, नागरमोथा, सोंठ—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर बनाये गये क्वाथ के रस से ८ पल (३२ तोला) शिला-

१. 'हृद्रोगशुक्र' इति पा०।

जीत को १० दिन, २० दिन या ३० दिन तक भावना देनी चाहिए। भावना देने के बाद उतनी ही (८ पल) सफेद चीनी, वंशलोचन, पिप्पली, आँवला, काकड़ासिंगी—प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला), छोटी कटेरी के फल तथा मूल इन दोनों को मिलाकर १ पल (४ तोला) और त्रिसुगन्ध (दालचीनी, इलायची, तेजपत्ता) १-१ पल (४-४ तोला) इन सबका युक्तिपूर्वक चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में तीन पल (१२ तोला) मधु मिलाकर १-१ अक्ष (तोला) की गोलियाँ बनानी चाहिए। इन गोलियों का सेवन प्रातःकाल भोजन करने के पहले अथवा भोजन करने के बाद करें। इसका सेवन जब भी करें उसके बाद अनुपान के रूप में दाडिम का स्वरस, गाय का दूध, पक्षियों (लावा, तीतर, बटेर आदि) के मांस का रस, जल, सुरा अथवा आसव (द्राक्षासव आदि) इनमें किसी एक का पान करें।

इस प्रकार शिलाजतु गुड़ (वटक) का सेवन करने से पाण्डुरोग, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहा-जनित विकार, तमकश्वास, अर्श (बवासीर), भगन्दर, शरीर से दुर्गन्धि का आना, हृदयरोग, शुक्रविकार, मूत्रविकार, जठराग्नि की दुर्बलता, शोष, गर (कृत्रिम विषज) विकार, उदररोग, कास, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, शोथ, गुल्म, गले के रोग तथा सभी प्रकार के व्रण नष्ट होते हैं। अधिक क्या कहा जाय, ये वटक सर्वरोगनाशक और कल्याणकारक होते हैं।

वक्तव्य—कौटज शब्द से इन्द्रजौ तथा कुटज की छाल दोनों का ग्रहण हो सकता है। गुड, गुटिका, पिण्डी, मोदक, वटी, वटक तथा वर्ति ये सभी शब्द परस्पर पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं, अतः श्लोक के क्रम में इसे 'गुड' कहकर शीर्षक के रूप में 'वटक' शब्द का प्रयोग भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करता है।

भावना—जितने द्रव पदार्थ से चूर्ण आदि वह द्रव्य जिसे भावना देनी है, भली-भाँति भीग जाय उतना द्रव पदार्थ उस चूर्ण आदि में डालना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० ६।६। द्रव्य के गुणों को बढ़ाने के लिए ही भावनाएँ दी जाती हैं। श्रीचक्रपाणि तन्त्रान्तर का एक उद्धरण यहाँ भावना के सम्बन्ध में उद्धृत कर रहे हैं—'तुल्यं गिरिजेन जले चतुर्गुणे भावनौषधं क्वाथ्यम्। तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम्। तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद् रसे भूयः'॥ अर्थ स्पष्ट है। किसी भी द्रव्य के रस को किसी द्रव्य के चूर्ण में भावना दी गयी हो तो उसे छाया में घोटते-घोटते सुखा देना चाहिए, धूप या अग्नि पर सुखा देने से पूर्ण रूप से भावना द्रव्य के गुणों का आधान नहीं होता है। **त्रिगन्धक**—इसी को अन्यत्र 'त्रिसुगन्धि' तथा 'त्रिजात' भी कहा गया है—'त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्'। भा० प्र० पू० खं० कर्पूरादिवर्ग ६५।

'युक्त्या' शब्द का सम्बन्ध 'चूर्णितं' से है। यद्यपि यहाँ भी अनेक रोगों में शिलाजतुवटक का प्रयोग होता है ऐसा कहा गया है, किन्तु चरक चि० अ० १ पाद ३ श्लोक ६५ में तो इसकी यहाँ तक प्रशंसा की गयी है कि कोई भी असाध्यरोग ऐसा नहीं है, जिसे शिलाजीत का प्रयोग ठीक न कर देता हो। इसीलिए अन्त में लिखा है—**'सर्वरोगहराः शिवाः'**।

वृद्धवाग्भट ने भी इन्हीं द्रव्यों से युक्त एक योग दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० १८।९। इसमें त्रिजात (त्रिगन्धक) को तीन कर्ष (तोला) लेने का आदेश दिया है। यद्यपि इन द्रव्यों के सुगन्ध के अतिरिक्त भी अन्य अनेक गुण हैं, किन्तु इनका प्रयोग विशेष रूप से सम्बन्धित पदार्थ को सुगन्धित करने के लिए किया जाता है। यहाँ कुल द्रव्यों का परिमाण २१ पल है, उसमें ३ पल त्रिगन्धक द्रव्य सुगन्ध की दृष्टि से अधिक प्रतीत होता है। मात्रा—४ या ५ रत्ती।

पुनर्नवा त्रिवृद् व्योषविडङ्गं दारु चित्रकम् ॥ ९३ ॥
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः। [1]पिप्पली पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम् ॥
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रे द्वयाढके पचेत्। कोलवद् गुटिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत् ॥
ताः पाण्डुरोगान् प्लीहानमर्शांसि विषमज्वरम्। श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं क्रिमींस्तथा ॥
इति पुनर्नवामण्डूरम्।

पुनर्नवामण्डूर—पुनर्नवा, निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपल, वायविडंग, देवदारु, चीता की जड़, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्ती (जमालगोटा), चव्य, इन्द्रजौ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, नागर-

१. 'कडका' इति पा०।

मोथा—इन द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) लेकर इनका कपड़छन चूर्ण कर लें, इन २० द्रव्यों के परिमाण से दूना (४० पल अर्थात् १६० तोला) मण्डूर लें, उसे २ आढक (५१२ तोला) गोमूत्र में डालकर मन्द-मन्द अग्नि पर रखकर पकायें। जब गोमूत्र सूखने लगे तब उक्त २० द्रव्यों का चूर्ण मण्डूर में डालकर अच्छी तरह मिला दें और इसकी बेर के समान गोलियाँ बनाकर रख दें। इन गोलियों को मठा में घोलकर निम्नलिखित रोगी पीयें—ये पाण्डुरोग, प्लीहावृद्धि, अर्श (बवासीर), विषमज्वर, शोथ, ग्रहणीदोष, कुष्ठ तथा क्रिमिरोग का विनाश कर देती हैं।

वक्तव्य—'मण्डूरवटक'—श्लोक ७३-७७ के वक्तव्य में हमने मण्डूरचूर्ण का योगों में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध की कुछ शास्त्रीय चर्चा की है। उसका स्मरण यहाँ भी कर लेना चाहिए। इतना और ध्यान रखें कि इस मण्डूर को कड़ाही में रखकर तपायें और गोमूत्र आदि जिस द्रव्य में बुझाना हो, बुझाकर प्रत्येक बार लोहे के खरल में डालकर कूट लें, इससे मण्डूर क्रमशः अपनी कठोरता छोड़कर मृदु होता जाता है। भैषज्यरत्नावली के पाण्डुरोगाधिकार में पञ्चामृतलौहमण्डूर तथा वज्रवटकमण्डूर का भी संग्रह है। इसी को योगरत्नाकर में हंसमण्डूर कहा गया है। रसरत्नसमुच्चय नामक ग्रन्थ में भी इस योग को हंसमण्डूर संज्ञा दी गयी है, किन्तु वहाँ इस योग में दारुहल्दी द्रव्य को अतिरिक्त मिलाया गया है।

कोलवद् गुटिकाः कृत्वा—आज की दृष्टि से कोल (बेर) के समान गोली मात्रा से अधिक हो जायेगी। यदि हम जंगली बेरों को देखें तो उनमें भी आकृति-साम्य नहीं है, यदि कलमी बेरों को देखें तो वे उनसे भी बड़े आकार के होते हैं, अतः वह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यदि परिमाणवाचक कोल शब्द को लें जो आधा तोला का होता है तो वह आजकल के परिमाण से अधिक है। अतः इसकी सामयिक उचित मात्रा ३ से ६ रत्ती तक दी जा सकती है।

दार्वीत्वक् त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रसः। मधुसर्पिर्युतं लिह्यात् कामलापाण्डुरोगवान् ॥

दार्व्यादि लेह—दारुहल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पीपल, वायविडंग, लौहरज (भस्म); दारुहल्दी से वायविडंग तक के द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके इसी में लौहभस्म भी मिला दें। इसे उचित मात्रा में मधु तथा घी मिलाकर कामला अथवा पाण्डुरोग से पीड़ित व्यक्ति चाटे।

वक्तव्य—'लौहसर्वस्व' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य सुरेश्वर ने उसमें उक्त योग को इस प्रकार उद्धृत किया है—'दार्वीवराव्योषविडङ्गकृष्णाः समाः समं ताम्रियोरजश्च। क्षौद्राज्यलीढं विनिहन्ति सद्यः सकामलं पाण्डुगदं नराणाम्'॥ लौहसर्वस्व, पाण्डुरोग-चि०। अन्यत्र इस योग को 'दार्व्यादि लौह' कहा गया है। इसी प्रकार अगले योग को 'कामलाहर लौह' कहा गया है।

तुल्या अयोरजःपथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा। चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः ॥

कामला-हर दो योग—१. समभाग लौहभस्म, हरड़ तथा हल्दी के कपड़छन किये हुए चूर्ण को एक साथ मिलाकर मधु और घी के साथ कामला रोगी को चाटना चाहिए। अथवा २. हरड़ के चूर्ण को गुड़ तथा शहद में मिलाकर कामलारोगी को चाटना चाहिए।

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः। चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां स लेहः कामलापहः ॥९९॥

त्रिफलादि योग—हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, दारुहल्दी, कुटकी—इन छः द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, इनमें १ भाग लौहभस्म भी मिला लें। इस योग को मात्रा के अनुसार (४ से ८ रत्ती तक) लेकर मधु-घी के साथ मिलाकर चाटने से कामलारोग का नाश हो जाता है।

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम्। प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्धतुलां शुभाम् ॥
धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत् पचेत्। शीतं मधुप्रस्थयुतं लिह्यात् पाणितलं ततः ॥१०१॥
हन्त्येष कामलां पित्तं पाण्डुं कासं हलीमकम्।
इति धात्र्यवलेहः।

धात्री अवलेह—वंशलोचन, सोंठ, मुलेठी, ये तीनों द्रव्य २-२ पल (८-८ तोला), पिप्पली १ प्रस्थ (६४ तोला), मुनक्का १ प्रस्थ, शुद्ध चीनी ½ तुला (२०० तोला), आँवलों का स्वरस १ द्रोण (१०२४ तोला); वंशलोचन से पिप्पली तक के द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके चीनी के साथ उक्त स्वरस में मिला दें और मुनक्कों को सिल पर पीसकर इसे भी मिला दें। अब इसका मन्द-मन्द आँच में पाक करें, जब यह अवलेह जैसा तैयार हो जाय तब इसे उतार दें, नीचे उतारने के बाद भी कुछ देर चलाते रहें। शीतल हो जाने पर उसमें मधु १ प्रस्थ (६४ तोला) मिलाकर इसे भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के पात्र में सुरक्षित रख दें। इसमें से १ पाणितल (१ तोला) लेकर चाटना चाहिए। इसका सेवन करने से कामलारोग, सभी प्रकार के पित्तज विकारों, पाण्डुरोग, कास तथा हलीमक (पाण्डुभेद) रोग का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—मूल औषधद्रव्य को पहले क्वाथ करके छान लें, उस क्वाथ रस को पुनः पकाकर चाटने योग्य गाढ़ा कर लेते हैं, इसी लिए इसे 'अवलेह' कहते हैं। इसकी मात्रा १ पल (४ तोला) कही गयी है। 'अव- लिह्यते, इति अवलेहः'। **अवलेह-लक्षण**—उचित रूप से पाक हो जाने पर अवलेह में तन्तु (तार) पड़ने लगते हैं और वह पानी में डालने पर डूब जाता है, उसमें गाढ़ापन आ जाता है, हाथ से दबाने पर हाथ या अँगूठे का निशान पड़ जाता है। उसमें उचित गन्ध, वर्ण तथा रस की उत्पत्ति हो जाती है। देखें—शा० सं० म० खं० अ० ८।३।

शर्करार्धतुलां शुभाम्—ईख के रस से बने हुए पदार्थों में चीनी या मिश्री सबसे अधिक निर्मल होती है, परन्तु चासनी बनाते समय भी इसमें से मैल निकलती है। इस मैल को निकाल देने पर वह और भी निर्मल हो जाती है। इसके बाद उस चासनी में शेष द्रव्यों को डालकर मन्द-मन्द पाक करें। तैयार होने पर सुरक्षित रख लें। मात्रा—१-२ तोला।

त्र्यूषणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च ॥ १०२ ॥
विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत्। मण्डूरतुल्यं तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ॥१०३॥
शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः। यथाग्नि भक्षणीयास्ते प्लीहपाण्ड्वामयापहाः ॥
ग्रहण्यर्शोनुदश्चैव तक्रवाट्याशिनः स्मृताः।

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूरवटक—सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चव्य, चित्रकमूल, देवदारु, वायविडंग, नागरमोथा, इन्द्रजौ—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें और सम्पूर्ण चूर्ण के बराबर शुद्ध मण्डूरचूर्ण लें। इस मण्डूरचूर्ण से ८ गुना ज्यादा गोमूत्र लेकर उसमें इसे पकायें, जब गोमूत्र सूखने लगे तब उसमें उपर्युक्त चूर्ण डालकर भली-भाँति मिला दें। शीतल हो जाने पर १ कर्ष (१ तोला) की गोलियाँ बना लें, जठराग्नि की पाचनशक्ति के अनुसार इसकी मात्रा का निर्धारण कर सेवन करें। इसके सेवन से प्लीहारोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीदोष तथा अर्श (बवासीर) का विनाश हो जाता है। इसके सेवनकाल में रोगी को भुने हुए जौ के आटा से बने हुए खाद्यों के साथ मठा का सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—इसी अध्याय में श्लोक ७३ से ७७ तक एक 'मण्डूरवटक' पहले कहा जा चुका है। उसके वक्तव्य को सावधानी से पढ़ लें। जो अंश यहाँ के लिए उपयोगी हो, यहाँ उसका उपयोग अवश्य कर लें।

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः ॥ १०५ ॥
लोध्रं चैतेषु गौडः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम्।

इति गौडोऽरिष्टः।

गौड (गुड़ का) अरिष्ट—मजीठ, हल्दी, मुनक्का, बलामूल, पठानीलोध, लौहचूर्ण—इन द्रव्यों के साथ गुड़ डालकर बनाये गये अरिष्ट का सेवन पाण्डुरोग का विनाश करता है।

वक्तव्य—निर्माण-विधि—मजीठ से लेकर लोध तक के द्रव्यों को ४-४ तोला के अनुपात में लेकर इन्हें ८ गुना जल (२० सेर) में पकायें, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब उसे छान लें, उसमें अढाई सेर गुड़ डालकर पकायें, अब इसे पुनः छानकर एक घड़ा में डालकर उसका मुख बन्द करके पन्द्रह दिन तक रहने दें। उसके बाद इसे सुरक्षित रख लें, यह 'गौड़-अरिष्ट' तैयार है। गुड़ की मात्रा सभी द्रव्यों से अधिक होने के कारण इसका नाम **'गौड-अरिष्ट'** है। मात्रा १ या २ तोला।

बीजकात् षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः ॥ १०६ ॥
द्राक्षायाः पञ्च लाक्षायाः सप्त द्रोणे जलस्य तत्। साध्यं पादावशेषे तु पूतशेषे समावपेत् ॥
शर्करायास्तुलां प्रस्थं माक्षिकस्य च कार्षिकम्। व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम् ॥
मधुकं कुष्ठमित्येतच्चूर्णितं घृतभाजने। यवेषु दशरात्रं तद्ग्रीष्मे द्विः शिशिरे स्थितम् ॥१०९॥
पिबेत् तद्ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःशोथगुल्मनुत्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातजित् ॥११०॥
बीजकारिष्ट इत्येष आत्रेयेण प्रकीर्तितः।

इति बीजकारिष्टः।

बीजकारिष्ट—विजयसार की लकड़ी का सारभाग १६ पल (६४ तोला), हरड़, बहेड़ा, आँवला तीनों मिलाकर २० पल (८० तोला), मुनक्का ५ पल (२० तोला), कच्ची लाख ७ पल (२८ तोला)—इन सभी द्रव्यों को जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में डालकर इनका यथाविधि क्वाथ करें, जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब इसे उतार कर छान लें। तदनन्तर उसमें १ तुला (४०० तोला) चीनी, १ प्रस्थ (६४ तोला) मधु तथा सोंठ, मरिच, पीपल, नखी, खस, सुपारी, एलुआ, महुआ के फूल, कूठ—इन द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण १-१ कर्ष=तोला उसी में मिला दें। इन सभी द्रव्यों को भीतर से घी चुपड़े हुए एक मिट्टी के घड़े में भरकर उसका मुख बन्द करके गर्मी के मौसम में १० दिन तक और जाड़े के मौसम में २० दिन तक जौ के ढेर में ढककर रख दें, तैयार होने पर उसे छानकर सुरक्षित कर लें। इस 'बीजकारिष्ट' का उपदेश महर्षि आत्रेय ने किया था। इसे ग्रहणी, पाण्डु, अर्श (बवासीर), शोथ (सूजन), गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह, कामला तथा सन्निपात रोगियों को पीना चाहिए। इससे उक्त रोगों की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। किन्तु ये त्रिफला को २० पल के स्थान पर २५ पल लेने की अनुमति देते हैं। इन्होंने इसका नाम 'बीजकसारारिष्ट' रखा है। देखें—अ० सं० चि० अ० १८।१२। इसकी सामान्य मात्रा—१ से २ तोला तक होती है।

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं तु तम् ॥ १११ ॥
क्षौद्राष्टांशेन संयुक्तं कृष्णार्धकुडवेन च। शर्करार्धतुलोन्मिश्रं पक्षं स्निग्धघटे स्थितम् ॥११२॥
प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे हितमिताशनः। कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्विषमज्वरान् ॥ ११३॥
कासहिक्कारुचिश्वासांश्चैषोऽरिष्टः प्रणाशयेत्।

इति धात्र्यरिष्टः।

धात्री-अरिष्ट—ताजे आँवले के फलों को दो हजार लें, इनको पीसकर स्वरस निकाल लें, उस रस का आठवाँ भाग शहद उसमें मिला दें, पिप्पलीचूर्ण आधा कुडव (८ तोला), चीनी आधी तुला (२०० तोला) इन सबको मिलाकर भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में भरकर १५ दिन तक रख दें। १५ दिन बाद इसे सुरक्षित रख लें। इसे मात्रा के अनुसार प्रातःकाल पीना चाहिए। अरिष्ट की मात्रा पच जाने पर हित (पथ्य) कारक आहार को परिमित ढंग से लें। इस प्रकार उक्त धात्री अरिष्ट का सेवन करने से कामला, पाण्डुरोग, हृद्रोग, वातरक्त, विषमज्वर, कास, हिक्का (हिचकी), अरुचि तथा श्वास रोगों का विनाश हो जाता है। मात्रा—पूर्ववत्।

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते ॥ ११४ ॥
पाण्डूनां, कामलार्तानां मृद्वीकामलकीरसः।

पाण्डुरोगों में पेय पदार्थ—पाण्डुरोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए स्थिरा (शालपर्णी) आदि लघु-पञ्चमूल के शेष चार द्रव्यों (पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) द्वारा पकाये गये क्वाथ जल का प्रयोग केवल पीने में अथवा भोजन के निर्माण में करना चाहिए।

कामलारोग में पेय पदार्थ—कामला रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए मुनक्का डालकर पकाया हुआ जल अथवा आँवलों का स्वरस या क्वाथ रस का प्रयोग पीने में अथवा भोजन के निर्माण में करना चाहिए।

वक्तव्य—क्वाथ करके शीतल किये हुए जल आदि के लिए जो षडंगपानीय परिभाषा का प्रयोग होता है, उसका निर्माण इस प्रकार करना चाहिए—मूल द्रव्य १ तोला, जल १ प्रस्थ (६४ तोला); जब आधा जल शेष रह जाय तब उसको पीने के लिए अथवा पेया आदि के निर्माण के लिए प्रयोग करना चाहिए। यही क्रम उक्त पेय पदार्थों का भी है।

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा ॥ ११५ ॥
विकल्प्यमेतद् भिषजा पृथग्दोषबलं प्रति ।

सामान्य चिकित्सा-निर्देश—यहाँ तक पाण्डु रोग की शान्ति के लिए जिस-जिस योग को महर्षि आत्रेय ने ऊपर कहा है, दोषों तथा अग्निबल का विचार कर चिकित्सक को उनकी विभिन्न कल्पनाएँ करके अन्यान्य स्थितियों में भी उनका प्रयोग कराना चाहिए।

वातिके स्नेहभूयिष्ठं, पैत्तिके तिक्तशीतलम् ॥ ११६ ॥
श्लैष्मिके [1]कटुतिक्तोष्णं, विमिश्रं सान्निपातिके ।

पाण्डुरोग-चिकित्सा-सूत्र—वातज पाण्डुरोग में स्नेह-प्रधान औषधद्रव्यों का, पित्तज पाण्डुरोग में तिक्तरस-प्रधान शीतल द्रव्यों का, कफज पाण्डुरोग में कटु तथा तिक्तरस-प्रधान एवं उष्ण द्रव्यों का और सन्निपातज पाण्डुरोग में तीनों दोषों की शान्ति के लिए कहे गये योगों के मिश्रित द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

निपातयेच्छरीरात् तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ॥ ११७ ॥
युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् । शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत् ॥

मृद्भक्षणजनित पाण्डुरोग-चिकित्सा—युक्तिज्ञ (युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा पद्धति को जानने वाले चिकित्सक) को चाहिए कि वह रोगी के अग्निबल तथा शारीरिकबल का विचार कर तीक्ष्ण संशोधनों (वमन तथा विरेचनों) की सहायता से रोगी द्वारा खायी गयी मिट्टी को शरीर से बाहर निकालने का यत्न करे। इन संशोधनों द्वारा रोगी का शरीर शुद्ध हो जाय अर्थात् खायी हुई मिट्टी निकल जाय, तब उसे बलवर्धक एवं अग्निवर्धक औषधसिद्ध घृतों का प्रयोग करायें।

व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे । मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥११९॥
वृश्चिकाली च भार्गी च [2]सक्षीरैस्तैः समैर्घृतम् । साधयित्वा पिबेद् युक्त्या नरो मृद्दोषपीडितः ॥

व्योषादि घृत—मिट्टी खाने के दोष से पीड़ित पाण्डु रोगी प्रस्तुत व्योषादि घृत का युक्तिपूर्वक सेवन करे। द्रव्य—सोंठ, मरिच, पीपल, बेल की गुद्दी, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दो पुनर्नवा (सफेद तथा लाल पुनर्नवा), नागरमोथा, लौहरज (भस्म), पाठा, वायविडंग, देवदारु, वृश्चिकाली (काकनासा), भारंगी—इन द्रव्यों को समभाग लेकर जौकुट करके इनका क्वाथ तैयार कर लें, उसी में दूध भी मिला दें। इनका यथाविधि घृतपाक करें, तैयार होने पर इसे छानकर रख लें।

वक्तव्य—यदि यहाँ उक्त द्रव्यों का क्वाथ करना हो तो दूध को घृत के समान लेना चाहिए, यदि दूध में ही पाक करना हो तो घी से चार गुना अधिक दूध लेना चाहिए। हमारे विचार से उक्त सोंठ आदि द्रव्यों का क्वाथविधि से क्वाथ करके चतुर्थांश क्वाथ शेष रखें, जो घी से चौगुना हो फिर दूध और घी समभाग लेकर पाक करना चाहिए। अथवा उक्त द्रव्यों का कल्क बनाकर चतुर्गुण दूध तथा १ भाग घी लेकर पाक करना चाहिए। यही मत आचार्य इन्दु तथा अरुणदत्त का भी है।

तद्वत् केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षारशाद्वलैः । मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिर्वतिनः ॥१२१॥
द्वेष्यार्थं भावितां कामं दद्यात् तद्दोषनाशनैः । विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ॥१२२॥

१. 'कटुरूक्षोष्णम्' इति पा०। २. 'सक्षारैः' इति पा०।

वार्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा ।

मृद्भक्षण-निवारण-विधि—उसी प्रकार नागकेशर, मुलेठी, पिप्पली, यवक्षार, शाद्वल—इनका कल्क बनाकर इससे यथाविधि घी का पाक करें। मिट्टी खाने के कारण उत्पन्न पाण्डुरोग वाले रोगी को इस घी का प्रयोग यथोचित मात्रा में करायें।

यदि रोगी लोभवश मिट्टी खाना अब भी नहीं छोड़ रहा हो तो उसकी उस आदत को छुड़ाने के लिए मिट्टी खाने से उत्पन्न दोष को नष्ट करने वाले द्रव्यों की पर्याप्त भावना दी हुई मिट्टी को उसे खाने के लिए दें, इससे उसे मिट्टी खाने के प्रति मन में द्वेष (चिढ़) पैदा हो जायेगा। मिट्टी के दोष को दूर करने वाले द्रव्य—वायविडंग, इलायची, अतीस, नीम की पत्ती, पाठा, बैंगन, कुटकी, कुटज की छाल, मूर्वा की जड़ इन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की अनेक भावनाएँ देकर उस मिट्टी को रोगी के पास रख दें।

वक्तव्य—नागकेशर आदि द्रव्यों द्वारा जो ऊपर घृतपाक करने को कहा गया है, उसे उपर्युक्त 'व्योषादि-घृत' की भाँति तैयार करें। ऊपर **'शाद्वल'** शब्द का अर्थ चक्रपाणि से लेकर परवर्ती टीकाकारों ने **'दूर्वा'** लिखा है। जब कि भावप्रकाश, राजनिघण्टु, द्रव्यगुणविज्ञान आदि में दूर्वा के पर्यायों में 'शाद्वल' शब्द का समावेश नहीं किया गया है। हाँ भावमिश्र ने 'नीलदूर्वा' का एक पर्याय 'शष्प' दिया है और अमरसिंह ने 'शाद्वलः शादहरिते' शाद्वल का पर्याय दिया है, इससे कुछ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में तथा अ० हृ० चि० अ० २ श्लोक ४७ में 'शाद्वल' शब्द का अर्थ 'दूर्वा' दिया है। खेद है कि व्याख्याकार ने किसी निघण्टु या कोष को उद्धृत नहीं किया।

यथादोषं, प्रकुर्वीत भैषज्यं पाण्डुरोगिणाम् ॥ १२३ ॥
क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुर्विशेषतः ।

मृद्भक्षणज पाण्डुरोग-चिकित्सा—जिस रोगी में जिस दोष का जिस मात्रा में प्रकोप हो उसके अनुसार पाण्डुरोगियों की चिकित्सा करनी चाहिए। इस (मिट्टी खाने के कारण उत्पन्न होने वाले) पाण्डुरोग में रोगी द्वारा मिट्टी खाना एक विशेष कारण है। अतः विशेष कारण की विशेष चिकित्सा का यहाँ वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—मिट्टी खाने से यह पाण्डुरोग उत्पन्न होता है, अतः इसमें तुरन्त खायी हुई मिट्टी वमन से निकल जायेगी और पहले की खायी हुई मिट्टी विरेचन से मल के साथ निकल जायेगी। तीक्ष्ण वमन-विरेचन से उत्पन्न कमजोरी को दूर करने के लिए ऊपर दो घृतों का विशेष विधान किया गया है—१. व्योषादिघृत और २. केशरादिघृत।

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ॥ १२४ ॥
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत् ।

शाखाश्रित कामला में विशेष कर्तव्य—कामला रोगी यदि तिल की खली के सदृश सूखा मल त्याग करता हो तो, यह समझकर कि इसका पित्तमार्ग कफ द्वारा रुक गया है, ऐसी परिस्थिति में पित्तदोष का शमन करने के लिए कफनाशक औषधोपचार का प्रयोग करना चाहिए। जब कफ का आवरण दूर हो जायेगा तब पित्त की शान्ति करना सरल हो जायेगा अथवा पका हुआ पित्त स्वयं गतिशील हो जायेगा।

रूक्षशीतगुरुस्वाद्वव्यायामैर्वेगनिग्रहैः ॥ १२५ ॥
कफसम्मूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद् बली । हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः ॥
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च । दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः ॥
[1]क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ।

शाखाश्रित कामलारोग : निदान एवं सम्प्राप्ति—रूक्ष, शीतल, गुरु, मधुर द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करने से, अधिक व्यायाम (शारीरिक श्रम) करने से, अधारणीय (मल-मूत्र आदि के) वेगों को रोकने से, कफदोष से युक्त बलवान् वातदोष पित्त को उसके स्थान से हटाकर उसे शाखाश्रित कर देता है।

१. 'क्रमेणाल्पेन सज्येत' इति पा०।

लक्षण—तब उस रोगी की आँखें, मूत्र तथा त्वचा का रंग हल्दी के सदृश पीला पड़ जाता है, उसके मल का वर्ण सफेद होता है, उसके पेट में आटोप (गुड़गुड़ाहट), विष्टम्भ (कब्जियत) और हृदय भारी-सा लगने लगता है। पित्त के रक्त आदि धातुओं तथा त्वचा में आश्रित हो जाने के कारण रोगी के कोष्ठ में कमी आ जाती है, अतः दुर्बलता, अग्नि का मन्द पड़ जाना, पसलियों में पीड़ा, हिचकी, श्वास, अरुचि, ज्वर आदि से वह रोगी पीड़ित हो जाता है।

बर्हितित्तिरिदक्षाणां रूक्षाम्लैः कटुकै रसैः ॥ १२८ ॥
शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्। मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पलीमरिचान्वितम् ॥१२९॥
सनागरं पिबेत् पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम्।

कामलारोग में पथ्य—कामला रोग से पीड़ित मनुष्य को मोर, तीतर, मुर्गा इनमें से किसी एक पक्षी का मांसरस जो रूक्ष (जिसमें घी या तेल का प्रयोग न किया गया) हो, दाड़िम आदि के रस से जो खट्टा किया गया हो, जिसमें कटुक द्रव्य (सोंठ, मरिच, पीपल आदि) का चूर्ण डाला गया हो, अथवा सूखी मूली के जूष, कुलथी के जूष के साथ रोटी, भात आदि भोज्य पदार्थों को खिलायें, अथवा बिजौरा नीबू के रस में मधु, पिप्पली चूर्ण, मरिच चूर्ण, सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीना चाहिए। इस प्रयोग से शाखाओं में बिखरा हुआ पित्त पुनः अपने आशय में आ जाता है।

वक्तव्य—हमारे आचार्यों ने आयुर्वेद का सार्वभौम उपदेश किया गया है, अतएव उन्होंने शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के मानव समाज को ध्यान में रखकर आहार तथा पथ्य पदार्थों का स्थान-स्थान पर विशेष निर्देश किया है।

कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः ॥ १३० ॥
[1]आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत्। स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते ॥
निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः।

शाखाओं से दोष का प्रत्यावर्तन—जब तक पित्त मल को रंगने न लग जाय और जब तक वातदोष का प्रशम (शान्ति) न हो जाय तब तक अत्यन्त कटु, तीक्ष्ण, उष्ण लवण तथा अम्ल द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। उक्त चिकित्सा विधियों से जब पित्त शाखाओं से लौटकर पित्ताशय में आ जाय, पुरीष (मल= Stool) पित्त के रंग से रंजित होने लगे और शोथ आदि उपद्रव शान्त हो गये हों तभी सामान्य कामला रोग की चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—जब पित्त शाखाओं में आश्रित होता है तब मल का वर्ण सफेद हो जाता है। देखें—श्लोक संख्या १२६। दोषों का अपने स्थान से हटकर शाखाओं में चले जाने के कारणों का उल्लेख महर्षि आत्रेय इस प्रकार कर रहे हैं—'व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्। कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च' ॥ और भी—'वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। शाखामुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्' ॥ च० सू० अ० २८।३१, ३३। इनका व्याख्यान यथास्थान देखें। आचार्य गंगाधर 'आपित्तरोगात्' इस पद्यांश से नख, नेत्र, त्वचा आदि का पीलापन जब तक न हो जाय, ऐसा कहते हैं। बात एक ही है, क्योंकि शाखाश्रित पित्त के ही कारण ये लक्षण नेत्र आदि अवयवों में होते हैं। यहाँ चिकित्सा भी वही की जा रही है, जिससे शाखाश्रित पित्त कोष्ठ में पुनः लौटकर आ जाय।

पाण्डुरोग के उपद्रव—अरुचि, प्यास का लगना, वमन, ज्वर, शिर में शूल, अग्नि का मन्द पड़ जाना, सूजन, गले में निर्बलता, मूर्च्छा, क्लम (थक जाना) और हृदय में पीड़ा का होना। इन्हीं को ध्यान में रखते हुए साध्य-असाध्य का भी निर्णय किया जाता है।

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः ॥ १३२ ॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः। स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ॥

---

१. गङ्गाधरस्तु 'आपित्तरोगात्' इति पठित्वा 'उक्तहारिद्रनेत्रत्वादिरोगसद्भावपर्यन्तम्' इति व्याख्यानयति।

हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः।

हलीमक रोग वर्णन—जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरा, श्याव (गहरा भूरे रंग का) तथा पीले वर्ण का हो जाय, शारीरिक बल तथा उत्साह का क्षय हो जाय, हर समय उँवाई-सी प्रतीत हो, अग्नि की मन्दता, हलका ज्वर हो, मैथुन की इच्छा का अभाव, अंगों में मसल देने की-सी वेदना, श्वास, प्यास, भोजन के प्रति अरुचि और भ्रम (चक्करों का आना) ये लक्षण दिखलायी दें, तो इसे हलीमक रोग कहते हैं। इस रोग में वात तथा पित्तदोष की प्रधानता होती है।

वक्तव्य—वाग्भट ने इस रोग को 'लोढर', 'हलीमक' तथा 'अलस' कहा है। हलीमक परिचय के अवसर पर 'कालाजार' के लक्षणों पर भी ध्यान दें कि क्या ये दोनों एक ही तो नहीं हैं। विशेष देखें—सु० उ० अ० ४४।१२। वास्तव में पाण्डुरोग एक व्याधि है। कामला, कुम्भकामला, हलीमक उसी की विशेष अवस्थाएँ हैं।

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् ॥ १३४ ॥
स पिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु। विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम् ॥१३५॥
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च। यापनान् क्षीरवस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ॥१३६॥
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद् युक्त्याऽग्निवृद्धये।

हलीमक रोग-चिकित्सा—गुरुच के स्वरस और भैंस के दूध से विधिपूर्वक पकाये गये भैंस के घी को हलीमक रोग से पीड़ित व्यक्ति पीये। जब उसका शरीर उक्त घृत के सेवन से स्निग्ध हो जाय तब आँवला के रस में निशोथ का चूर्ण मिलाकर सेवन करें। जब इससे विरेचन हो जाय तो पित्त एवं वातनाशक मधुररस-प्रधान अन्न (आहार) का सेवन करे। इसी अध्याय में पहले कहा गया 'द्राक्षावलेह' तथा मधुर द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये विविध घृतों का प्रयो करें। चरक-सिद्धिस्थान में कही गयी यापनक्षीरवस्तियों तथा अनुवासन-वस्तियों का उपयोग करें। मुनक्का आदि से तैयार किये अग्निवर्धक योगों का यथाविधि सेवन करें।

वक्तव्य—'द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं' इस प्रकरण में 'द्राक्षालेह' नाम से कोई योग नहीं है। निर्णयसागरीय प्रति के श्लोक १००-१०१½ का नाम 'धात्र्यवलेह' है। योगों के नाम-निर्धारण का एक प्रधान क्रम यह देखा जाता है कि जिस द्रव्य से योग प्रारम्भ होता है, उसी के नाम से उस योग का नाम रखा जाता है, अथवा जो द्रव्य प्रमाण में अधिक हो उसके नाम से भी योग का नाम रख दिया जाता है। इस योग के नाम-निर्धारण में यह दूसरा आधार ही लिया गया है, क्योंकि धात्री की मात्रा उक्त योग के द्रव्यों में सबसे अधिक है। अब विचार यह करना है कि तन्त्रकार ने 'धात्रीलेहं' न कहकर 'द्राक्षालेहं' क्यों कहा? हमारे विचार से यहाँ 'द्राक्षालेहं' न होकर निश्चय ही 'धात्रीलेहं' रहा होगा, जो प्रतिलिपि कर्ता आदि के प्रमाद से यह परिवर्तन आ गया है।

यापनान् क्षीरवस्तीन्—इनका उल्लेख च० सि० अ० १२।१६ से आगे तक देखें। यहाँ 'यापन' शब्द का प्रयोग दीर्घायु प्रदान करने के अर्थ में किया गया है। देखें—'आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वन्तीति, यापनावस्तयः'। चक्रपाणि। सामान्य पाण्डुनाशक योग, यापनावस्ति, शिरोवस्ति तथा अनुवासनवस्तियों का प्रयोग इस रोग की प्रधान चिकित्सा है। वस्तियों के प्रयोग दोषनाशक एवं शक्तिवर्धक होते हैं।

कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् ॥ १३७ ॥
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम्।

अभयालेह-प्रयोग—कासचिकित्सा-प्रकरण अ० १८ में निर्दिष्ट 'अभयावलेह' (जिसे अगस्त्यहरीतकी केवल इसलिए कहते हैं कि महर्षि अगस्त्य ने इसका उपदेश किया था) का प्रयोग रोगी के दोष तथा अग्नि-बल का विचार कर पिप्पली, मुलेठी, बलामूल, इनके समभाग कल्क द्वारा यथाविधि सिद्ध किये हुए दूध के साथ सेवन कराना हलीमक रोग में लाभदायक होता है।

तत्र श्लोकौ—

पाण्डोः पञ्चविधस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम् ॥ १३८ ॥

कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ।
तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः ।
तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ॥ १३९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने पाण्डुरोग-चिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—पाँच प्रकार के पाण्डुरोगों का निदान, लक्षण और चिकित्सा, दो प्रकार का कामला रोग (१. कामला, २. कुम्भ-कामला), इनके साध्य, असाध्य लक्षण, उनके अन्य भेद एवं महाव्याधि हलीमक रोग का संक्षेप में लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में पाण्डुरोगचिकित्सित नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अथातो हिक्का-श्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पाण्डुरोग-चिकित्सा का व्याख्यान करने के पश्चात् अब हम हिक्काश्वास-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने अन्य ज्वर आदि रोगों का अलग-अलग वर्णन किया, किन्तु हिक्का-श्वास का वर्णन एक साथ कर दिया है। इस विषय पर आगे वे स्वयं कहते हैं—'पाण्डुरोगाद् विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ'। च० चि० अ० १७।१४। वृद्धवाग्भट ने यद्यपि नाम-क्रम में आगे-पीछे किया है, किन्तु यह क्रम चिकित्सा की दृष्टि से बाधक नहीं कहा जा सकता। इन्होंने भी उक्त दोनों रोगों की चिकित्सा का वर्णन एक ही अध्याय में किया है। इसके टीकाकार श्रीइन्दु लिखते हैं—'निदानस्थानप्रदर्शितप्रकारेण श्वासे हिध्मायां च यतो हेत्वादिकं समानमतः साधनमपि समानमेव वेदितव्यम्'। अर्थ स्पष्ट है। यही स्थिति वाग्भट की भी है। इन्होंने भी दोनों रोगों का वर्णन साथ ही साथ किया है। सुश्रुत ने इन दोनों रोगों का वर्णन क्रमशः तो किया है पर भिन्न-भिन्न अध्यायों में, किन्तु इनकी विचारधारा में भी कोई अन्तर नहीं है। देखें—'यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्तते। तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम्' ॥ सु० उ० अ० ५१।३। इस विचार की तुलना के लिए आप देखें—च० चि० अ० १७।७०।

हिक्का-श्वास-निरुक्ति—सुश्रुत ने हिक्का के स्वरूप को इस प्रकार चर्चित किया है—'मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्। स घोषवानाशु निहन्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते' ॥ सु० उ० अ० ५०।६। 'हिक्क अव्यक्ते शब्दे' धातु से—'हिक्क+अ+टाप्' प्रत्यय जोड़कर हिक्का शब्द की निष्पत्ति होती है, इसी को 'हिचकी' भी कहते हैं, दोनों वाग्भट इसे हिध्मा कहते हैं। श्वास-परिचय—'विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः। श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते' ॥ सु० उ० अ० ५१।४। माधवकर ने श्वास रोग की सम्प्राप्ति इस प्रकार दी है—'यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा

श्वासान् करोति सः' ॥ मा० नि० प्र० १२।१७। **श्वास**—'श्वस् प्राणने' धातु से 'श्वस्+घञ्+सु' प्रत्यय जोड़कर श्वास शब्द की निष्पत्ति होती है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १७। सु० उ० अ० ५० एवं ५१। अ० सं० नि० अ० ४। अ० सं० चि० अ० ६। अ० हृ० नि० अ० ४। अ० हृ० चि० अ० ४।

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम्। अपृच्छत् संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥३॥
य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः। रोगा नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥

महर्षि अग्निवेश के प्रश्न—समस्त वैदिक वाङ्मय के विषयों के रहस्य को तथा समस्त लौकिक व्यवहारों को जानने वाले (अन्यत्र 'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ' विशेषण का भी इन्हीं के लिए प्रयोग किया गया है) ऋषिगण में श्रेष्ठ महर्षि आत्रेय से धीमान् अग्निवेश ने हाथ जोड़कर हिक्का-श्वासरोग विषयक अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए पूछा—हे भगवन्! जो ये दो प्रकार के (१. निज तथा २. आगन्तुज भेद से) वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों से पैदा होने वाले और असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम इन तीन कारणों से प्रकुपित होने वाले, विविध स्वरूपों वाले रोग कहे गये हैं, उन रोगों में से कौन-सा रोग ऐसा है, जो दुर्जय (कठिनता से जीता जा सकता) है, उसका उपदेश मुझे दीजिये। यही मेरा संशय है, अतः इसका निराकरण कीजिये।

वक्तव्य—यद्यपि इस तन्त्र का प्रयोजन 'धातुसात्म्यक्रिया' कहा गया है। किन्तु विषम धातुओं को सम करना भी इसी का कार्य है। यहाँ जो चौथे श्लोक का पूर्वार्ध है, उसका सम्बन्ध इस पद्य से है—'कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः' ॥ च० सू० अ० १।५४। इसी के साथ तीन सन्दर्भ और देख लें—च० नि० अ० ७।२१, च० वि० अ० ३ तथा च० शा० अ० १।१०४।

अग्निवेशस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः। उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥५॥
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणनाशु निकृन्ततः ॥६॥

महर्षि आत्रेय के उत्तर—आयुर्वेदविदों में श्रेष्ठ महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के उपर्युक्त उस वाक्य को सुनकर प्रसन्न होकर वास्तविक आत्मज्ञान से परिपूर्ण एवं रहस्यमय वचनों को कहा—संसार में ऐसे अनेक रोग हैं, जो प्राणों का अपहरण कर डालते हैं, अर्थात् प्राणी को मार डालते हैं, किन्तु वे रोग उतने शीघ्र प्राणघातक नहीं होते जितने कि शीघ्रमारक श्वास और हिक्का रोग होते हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने श्वास और हिक्का रोग को दुर्जय—'दुःखेन जेतुं शक्यः' कहा है।

अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः। अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥७॥

हिक्का-श्वास की भयंकरता—भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्य रोगों से पीड़ित पुरुष जब मरणासन्न हो जाता है, तो उस समय अत्यन्त कष्टकारी हिक्का तथा श्वास रोग उसे हो जाते हैं।

वक्तव्य—प्रायः स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न हुई व्याधि समुचित चिकित्सा प्रयोग से शान्त हो जाती है, किन्तु किसी मूल व्याधि में कोई अन्य व्याधि जब उपद्रव के रूप में प्रकट हो जाती है, तो वह मारक होती है। इसी प्रकार हिक्का-श्वास रोग भी दुर्जय (मारक) होते हैं।

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ। हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥८॥
तस्मात् साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ। मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हत आशीविषाविव ॥९॥

हिक्का-श्वास में समानता—ये दोनों ही रोग कफजनित तथा वातजनित होते हैं। इनकी उत्पत्ति पित्ताशय से होती है। ये दोनों ही रोग उचित उपचार न होने पर हृदय तथा रस आदि धातुओं को सुखा देने वाले होते हैं। इसलिए साधारण रूप से भी जब इनका आक्रमण होता है, तो ये अत्यन्त कठिनता से जीते जाते हैं। यदि इनके उत्पन्न हो जाने पर भी जो व्यक्ति अनुचित (अपथ्य) आहार-विहार का सेवन करता है, तो ये रोग क्रोधित हुए जहरीले साँपों की भाँति अपना आक्रमण कर उस रोगी को मार डालते हैं।

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसङ्ग्रहे। तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम्॥

हिक्का-श्वास के भेद—ये दोनों रोग अलग-अलग ५-५ प्रकार के होते हैं, ऐसा रोग-संग्रह (चरक-सूत्र-स्थान के अष्टोदरीय नामक १९वें अध्याय) में कहा गया है। उनके कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन यहाँ मुझसे सुनो।

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात्। व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात्॥
आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात्। दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः॥१२॥
अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात्। रक्तपित्तादुदावर्ताद् विसूच्यलसकादपि॥१३॥
पाण्डुरोगाद् विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ।

हिक्का-श्वास-निदान—श्वास मार्ग में धूल या धुँआ के प्रवेश हो जाने से, शीतल स्थान में रहने से या शीतल जल को पीने से, अधिक व्यायाम करने से, अधिक मैथुन करने से, अधिक रास्ता चलने से, रूक्ष (स्नेह रहित) अन्नों का निरन्तर सेवन करने से, विषम (मात्रा तथा काल की विषमता से युक्त) भोजन करने से, आमदोष से, आनाह से, शरीर में रूक्षता के बढ़ जाने से, अपतर्पण (अधिक उपवास करने) से, अधिक दुर्बलता के आ जाने से, मर्मस्थानों पर चोट लगने से, द्वन्द्व (शीत-उष्ण आदि विपरीत भावों के निरन्तर प्रयोग) से, संशोधनों (वमन-विरेचनों) के अतियोग से, अतिसार, ज्वर, वमन, प्रतिश्याय (जुकाम), क्षत (घाव लगने), क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूची (हैजा), अलसक (गुम हैजा), पाण्डुरोग तथा विष-भक्षण से उक्त दोनों रोग उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर विषमाशन की चर्चा की गयी है। इसी के साथ 'समशन' तथा 'अध्यशन' को भी जोड़ लेना चाहिए। इनके तथा आमदोष के लक्षणों के लिये देखें—सु० सू० अ० ४६।५०८-५०९।

निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ १४ ॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात्। जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात्॥१५॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात्। कण्ठोरसः प्रतीघाताद् विबन्धैश्च पृथग्विधैः॥

अन्य निदान—सेम, ईख, तिल की चटनी, तिल तेल इनका अधिक सेवन करने से, पिष्ट (चावल का आटा), शालूक (कमलकन्द), विष्टम्भि (कब्जियत पैदा करने वाले) भोज्य पदार्थ, विदाही, गुरु (मात्रा गुरु तथा देर में पचने वाले भोज्य) पदार्थों को खाने से, पानी में होने या रहने वाले तथा आनूपदेशज प्राणियों के मांस का भक्षण करने से, दही एवं कच्चे दूध का सेवन करने से, अभिष्यन्दी (दोष, धातु, मल तथा स्रोतों में क्लिन्नता उत्पन्न करने वाले) पदार्थों का सेवन करने से, कफकारक पदार्थों का अधिक सेवन करने से, कण्ठ तथा छाती पर आघात (चोट आदि) के लगने आदि विविध कारणों से हिक्का तथा श्वास रोग उत्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—श्लोक १५ में दधि, श्लोक १६ में 'अभिष्यन्दी उपचार' आगे 'श्लेष्मल' पदार्थों का सेवन प्रायः एक ही जैसी वस्तुएँ हैं। देखें—'पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः शिराः। धत्ते यद्गौरवं यत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि'॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।२४। विशेष देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु। ऊपर १५वें तथा १६वें पद्यों के प्रायः सभी द्रव्य अभिष्यन्दी एवं श्लेष्मल हैं। जैसा कि हमने ऊपर बतलाया है, सुश्रुत ने दोनों रोगों को अलग-अलग कर उनका स्वतन्त्र वर्णन किया है, तदनुसार हिक्का रोग का निदान सु० उ० अ० ५०।३-५ में देकर श्वास रोग का निदान अगले (५१वें) अध्याय के तीसरे पद्य में इस प्रकार दिया है—'यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्तते। तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम्'॥

वाग्भट ने दोनों रोगों का एक अध्याय में वर्णन करने पर भी श्वास रोग का पहले वर्णन कर बाद में हिक्का का वर्णन किया है। अतः वे कहते हैं—'कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्वैर्वा दोषकोपनैः। आमातीसारवमथुविषपाण्डुज्वरैरपि॥ रजोधूमानिलैर्मर्मघातादतिहिमाम्बुना'। अ० हृ० नि० अ० ४।१-२। तथा—'श्वासैकहेतुप्राग्रूपसङ्ख्याप्रकृतिसंश्रयाः; हिध्मा'। अ० हृ० नि० अ० ४।१८। वास्तविकता यह है कि तन्त्रकार जिन सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करते हैं, वे अधिकांश उस रूप में देखे जाते हैं, अपवाद तो सभी का किसी न किसी अंश में देखा ही जाता है।

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः॥
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च।

हिक्का-श्वास की सम्प्राप्ति—निदानोक्त कारणों से बढ़ी हुई वायु प्राणवायु को वहन करने वाले स्रोतों में प्रवेश कर कुपित हो जाती है। वह कुपित हुई वायु उरःप्रदेश में स्थित होकर कफदोष को उभाड़ (प्रकुपित) कर प्राणियों के प्राणवायु में रुकावट पैदा करने के लिए कष्टप्रद पाँच प्रकार की हिक्का और पाँच प्रकार के श्वास रोग को उपन्न कर देती है।

उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम्॥ १८ ॥
कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता। हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च॥१९॥
आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च। प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम्॥२०॥

हिक्का-श्वास के पूर्वरूप—महर्षि पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं, कि अब हम इसके बाद दोनों (हिक्का तथा श्वास रोग) के पूर्वरूपों को कहते हैं, तुम उन्हें सुनो—कण्ठ और छाती में भारीपन, मुख का स्वाद कसैला जैसा प्रतीत होना, कुक्षि (उदर) में आटोप (गुड़गुड़ाहट) का होना, ये हिक्का रोग के पूर्वरूप हैं; आनाह (पेट का फूलना) पसलियों में दर्द का होना, हृदय में पीड़ा, प्राणवायु का विलोम (विपरीत) होना ये श्वास-रोग के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—ईश्वर की सृष्टि की विचित्रता का वर्णन करते हुए वृद्धचाणक्य ने कहा है—'एकोदरसमुद्भूता एकनक्षत्रजातकाः। न भवन्ति समाः शीलैर्यथा बदरिकण्टकाः'॥ चाणक्यनीति। जब इतनी समानता होने पर भी 'बेर' और उसके 'काँटे' सब प्रकार भिन्न गुण-धर्म वाले होते हैं, तब हिक्का-श्वास में भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। अतएव सभी तन्त्रकारों ने इसके भिन्न-भिन्न पूर्वरूपों का वर्णन किया है।

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्काः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक् शृणु॥

हिक्का की विशेष सम्प्राप्ति—कफ के साथ वातदोष प्रकुपित होकर प्राणवाही, उदक(रस)वाही तथा अन्नवाही स्रोतों को रोककर अथवा रुकावट डालकर हिक्का के विविध भेदों को पैदा कर देता है। उनके लक्षणों को अलग से सुनो।

वक्तव्य—कुछ विद्वान् टीकाकार हिक्का शब्द की निरुक्ति 'हिष्क् हिंसायाम्' या 'विष्क् हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न करना चाहते हैं। आप ध्यान दें—सभी हिक्काएँ मारक नहीं होती हैं, उस स्थिति में अर्थ की अव्याप्ति वास्तविक अर्थ की प्रतीति में बाधक होगी। अतः हमने 'हिक्क अव्यक्ते' धातु से ही हिक्का शब्द की निष्पत्ति स्वीकार की है, 'हिक् इति अव्यक्तं शब्दं कृत्वा कायति शब्दं करोति, इति हिक्का'।

क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः। गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवर्ती भृशम्॥२२॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा। प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च॥२३॥
मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्ध्युपहतस्मृतेः॥२४॥
संज्ञां मुष्णाति गात्राणां स्तम्भं सञ्जनयत्यपि। सक्तजल्पप्रलापस्य निर्वृतिं नाधिगच्छतः॥२५॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः। सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता॥२६॥
महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला। महाहिक्केति
इति महाहिक्का।

महाहिक्का के लक्षण—जिस पुरुष का रोग आदि अन्य किसी कारण से भी मांस, बल (अग्निबल तथा शारीरिक बल), प्राण, तेजस् (पित्त) क्षीण हो गये हैं; ऐसे पुरुष के शरीर में कफ सहित वायु सहसा (एकाएक) कण्ठ के ऊपरी भाग स्वरयन्त्र को आक्रान्त कर अत्यधिक ऊँचे शब्द को पैदा करने वाली हिक्का को बार-बार पैदा कर देती है। यह हिक्का (हिचकी) कभी एक बार आकर रुक जाती है, कभी दो, तीन या इससे भी अधिक बार वेग के साथ आती है। प्रकुपित कफ के साथ वह वातदोष प्राणवाही स्रोतों, मर्मों या

मर्मवहस्रोत-रूप हृदय तथा ऊष्मा (जठराग्नि) को रोककर, उस व्यक्ति को बेहोश कर देता है, शरीरावयवों में जकड़न पैदा कर देता है, तदनन्तर उस बेहोश रोगी के अन्नवाही, जल(रस)वाही स्रोतों की रोक देता है, उस बेहोश पुरुष की आँखों से आँसू निकलते रहते हैं, शंख (भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपर्यनुकर्णललाटे) प्रदेश में स्तब्धता आ जाती है, भौंहें नीचे की ओर झुक जाती हैं, जब रोगी बोलने की इच्छा करता है, तो साफ-साफ नहीं बोल सकता और जो बोलता है वह प्रलाप (अंट-संट) ही होता है, उसे शान्ति का अनुभव नहीं होता, वह हिक्का महामूला, महावेगा, महाशब्दा तथा महाबला नामक होती है, इस हिक्का के ये सभी नाम सार्थक हैं। अनेक महाविशेषणों से जुड़ी हुई यह हिक्का रोगी के प्राणों का शीघ्र ही अपहरण कर डालती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार महाहिक्का के लक्षण—'बस्ति, हृदय, शिर इन मर्मस्थानों को कष्ट पहुँचाती हुई, जो हिक्का निरन्तर होती (आती) रहती है, शरीर को खींचकर वेग के साथ हिक्-हिक् ऐसा शब्द करती है, रोगी को अधिक प्यास लगती है, वह सम्पूर्ण शरीर को कँपा देने वाली महाहिक्का है। देखें—सु० उ० अ० ५०।१४। इस अवसर पर वृद्धवाग्भट एवं वाग्भट की मान्यताओं पर भी विचार कर लें।

महर्षि आत्रेय के अनुसार प्राणवह, उदकवह तथा अन्नवह स्रोतों में सर्वत्र विचरणशील वह वायु कफदोष के कारण रुक जाता है और जब वह कफ को हटाकर निकलता है तो वह हिक्का जिसे चरक ने 'सद्यः प्राणहरा' कहा है, शीघ्र प्राणों का हरण करने वाली होती है।

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ॥२७॥
सञ्जृम्भन् सङ्क्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन्। पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः॥
नाभेः पक्वाशयाद् वाऽपि हिक्का चास्योपजायते। क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः॥
रुणद्धयुच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतसः। गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता॥
इति गम्भीरा हिक्का।

गम्भीरा हिक्का—जो अत्यन्त वृद्ध हो गया है, अथवा जिसके शरीर में कफ तथा वात दोष अधिक मात्रा में बढ़ गये हों, अधिक कृश हो गया हो, उदास रहता हो, जर्जरित उर (फेफड़ों) से बड़ी कठिनता से गम्भीर तथा अस्पष्ट शब्द का उच्चारण करता हुआ, जँभाई लेता हुआ, अपने अंगों को कभी सिकोड़ता हुआ और कभी फैलाता हुआ, दाहिनी, बांयी दोनों पसलियों को समेटता हुआ, कहरता हुआ, जकड़न तथा वेदना से पीड़ित पुरुष की नाभि अथवा पक्वाशय से इसे जो हिक्का होती है, वह सम्पूर्ण शरीर को क्षुभित (डाँवा-डोल) करती हुई, शरीर को धनुष की भाँति झुका देती है, उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, वह श्वास-प्रश्वास के मार्ग को रोक देती है, यह रोगी के बल तथा मानसिक शक्ति को नष्ट कर देती है, ऐसे पुरुष के प्राणों को यह 'गम्भीरा' नाम की हिक्का अपहरण कर लेती है।

वक्तव्य—यह भी महाहिक्का के समान प्राणों का संहार कर डालती है। इसकी उत्पत्ति भी पक्वाशय (मलाशय) अथवा नाभि (क्षुद्रान्त्र) से प्रारम्भ होती है। इसके लक्षण भी उसी प्रकार के होते हैं। इसमें रोगी को बार-बार जँभाई आती है, वक्षस् आदि के फैलने से उसका नाद (अव्यक्त शब्द) भी गम्भीर होता है, अतः इसे 'गम्भीरा हिक्का' कहते हैं। देखें—अ० हृ० नि० अ० ४।२८ तथा अ० सं० नि० अ० ४।३२। सुश्रुत के अनुसार इसमें प्यास के कारण रोगी के होंठ, गला, जीभ एवं मुख सूख जाते हैं, साँस फूलने लगती है, पसलियों में वेदना होती है, इसके अतिरिक्त भी इसमें अनेक उपद्रव होते हैं। गम्भीर परिस्थिति को उत्पन्न कर देने के कारण इसे 'गम्भीरा हिक्का' कहते हैं। सु० उ० अ० ५०।१२-१३। इस हिक्का के असाध्य होने में सभी तन्त्रकार एकमत हैं।

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे। आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥३१॥
प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः। जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः॥३२॥
पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता। सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी॥
इति व्यपेता हिक्का।

व्यपेता हिक्का के लक्षण—जो चार प्रकार के आहारों (अशित, खादित, लीढ़, पीत) के सेवन करने के बाद उत्पन्न होती है और उन-उन आहारों के पच जाने पर एक बार पुनः जिस हिक्का का बल बढ़ जाता है अर्थात् उस समय जो हिक्का पुनः शुरू हो जाती है, उसके वेग के बढ़ने पर वह अंट-संट बकने लगता है, उसे उल्टियाँ आती हैं, अतिसार होता है, प्यास लगती है, बेहोशी छा जाती है, जँभाइयाँ आने लगती हैं, आँखों में आँसू भर जाते हैं, मुख सूख जाता है, धनुष की भाँति शरीर आगे या पीछे की ओर झुक जाता है, उदर में आध्मान (अफारा) हो जाता है, यह हिक्का जत्रुमूल (ग्रीवास्थि या हँसुली) से उत्पन्न होती है, इसका वेग रुक-रुककर होता है, प्राणों का नाश करने वाली इसे 'व्यपेता हिक्का' कहते हैं।

वक्तव्य—'व्यपेता—'वि+अप्+इण्+क्त+टाप्'; प्राणों से वियुक्त करने या करा देने वाली हिक्का। यथा—व्यपेतभीः, व्यपेतकल्मषः आदि। श्रीजयदेव ने इसे 'यमिका' हिक्का भी लिखा है। सुश्रुत में 'व्यपेता' का वर्णन नहीं है, परन्तु उसके लक्षणों से मिलते-जुलते जिसका वर्णन किया है, वह है 'यमलाहिक्का'—'चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्तते। कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत्' ॥ सु० उ० अ० ५०।१०। कुछ विद्वानों ने व्यपेता और यमला को भिन्न माना है, वैसे नामतः तो ये भिन्न हैं ही, फिर भी उसके भीतरी स्वरूप पर विचार करना पड़ेगा।

वृद्धवाग्भट के अनुसार इसका वर्णन—'चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते। परिणामोन्मुखे वृद्धिं परिणामे च गच्छति ॥ कम्पयन्ती शिरोग्रीवामाध्मातस्यातितृष्यतः। प्रलापच्छर्द्यतीसारनेत्रविप्लुतिजृम्भिणः॥ यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा'। अ० सं० नि० अ० ४।२७-२९। इसके लक्षण प्रायः चरकोक्त ही हैं। केवल इन्होंने अनेक स्वतन्त्र नाम रख दिये हैं। यथा—यमला, वेगिनी, परिणामवती। यही मार्ग वाग्भट ने भी अपनाया है। देखें—अ० हृ० नि० अ० ४।२३-२४। ध्यान रहे कभी-कभी साधारण हिक्का जिसे रोग नहीं मानना चाहिए, उसमें भी एक साथ दो बार हिक्का (हिचकी) आती है। निदान में सावधानी रखें। शास्त्रकारों के विचारों का निर्णय रोगी के निदान के अवसर पर ही किया जा सकता है। प्रायः किसी में भी शुभ अथवा अशुभ लक्षण सम्पूर्ण रूप में दृष्टिगोचर नहीं होते। निदान तथा चिकित्सा-काल में ये विषय विचारणीय होते हैं।

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद् व्यायामपरिघट्टितः। कण्ठे प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः॥३४॥
अतिदुःखा न सा चोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी। न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति॥३५॥
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम्। यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्तते॥३६॥
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता। मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता॥
इति क्षुद्रहिक्का।

क्षुद्रा हिक्का के लक्षण—व्यायाम आदि श्रमकारक भावों से क्षुद्र (अल्प मात्रा में प्रकुपित) वातदोष परिघट्टित होकर अर्थात् ठेस पाकर कोष्ठ (उदर) से कण्ठ की ओर चला आता है, तब वह 'क्षुद्रा' नामक हिक्का को उत्पन्न कर देता है। यह 'क्षुद्राहिक्का' अधिक कष्टप्रद नहीं होती है। यह छाती, शिर तथा मर्मस्थलों को कष्ट नहीं पहुँचाती है। इसमें वात आदि दोष श्वासमार्ग, अन्नवाही स्रोत तथा उदकवह स्रोत में आश्रित नहीं रहते। यह हिक्का आयास (श्रम) करने पर ही उभड़ती है और भोजन कर लेने के साथ ही दब जाती है, अर्थात् उसका वेग शान्त हो जाता है। जिस आयास के कारण पहले यह प्रारम्भ होती है, उस आयासदायक कार्य को छोड़ देने मात्र से शान्त भी हो जाती है। क्षुद्राहिक्का हृदय, क्लोम (ग्रसनी—Pharynx), कंठ, तालु आदि स्थानों में आश्रित रहती है। यह हिक्का मृदु होती है, अतएव इसे 'क्षुद्राहिक्का' कहते हैं। मनुष्यों में होने वाली हिक्काओं में यह साध्य होती है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'क्षुद्रवात' शब्द का अर्थ 'अल्पवात' लिखा है और दूसरों के मत का उल्लेख करते हुए 'उदानवायु' को 'क्षुद्रवात' कहा है। हमारे विचार से इसका ऐसा विग्रह करना चाहिए—'क्षुद्रः प्रकुपितः वातः=क्षुद्रवातः (मध्यमपदलोपीसमास)। अथवा उदानवायु का क्षुद्रवात अर्थ जिसके भी मत में हो, वहाँ उदान और क्षुद्र शब्द कैसे एक-दूसरे के सूचक माने जायेंगे? यह प्रश्न अपने स्थान पर अडिग बना रहेगा। उक्त समास का थोड़ा-सा संकेत हमें वाग्भट द्वारा 'क्षुद्रः' शब्द अलग प्रयुक्त करने से भी मिला है।

आप देखें—अ० हृ० नि० अ० ४।२१-२२। इस दृष्टि से सुश्रुतोक्त लक्षण अधिक स्पष्ट है—'विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्द्रैः समभिवर्तते। क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात् प्रधाविता'॥ सु० उ० अ० ५०।११।

सहसाऽत्यभ्यवहृतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः। ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वाऽतिमदप्रदैः ॥३८॥
तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः। वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः ॥३९॥
उरःस्रोतः समाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽन्नजाम्। तथा शनैरसम्बन्धं क्षुवंश्चापि स हिक्कते ॥
न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी। हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा ॥

इत्यन्नजा हिक्का।

अन्नजा हिक्का के लक्षण—जो व्यक्ति एकाएक अधिक मात्रा में भक्ष्य (रोटी, दाल, चावल आदि) का तथा पानों (दूध, शरबत आदि) का सेवन करता है, अथवा अधिक तीक्ष्ण मद्यों (नशीली शराबों) का पान करने से, उनसे पीड़ित वायु कोष्ठ (उदरप्रदेश) से ऊपरी भागों की ओर आ जाती है और अत्यन्त क्रोध, अधिक जोर से बोलना या ऊँचे स्वर से पढ़ना, दूर तक पैदल चलना, जोर से हँसना (अट्टहास करना), शक्ति से अधिक बोझ ढोना, इन (तथा इस प्रकार के अन्य) कारणों से कुपित कोष्ठगत (उदरप्रदेश में स्थित) वायु अधिक सेवन किये गये खान-पानों द्वारा पीड़ित होकर वक्षःस्थल के स्रोतों (फुफ्फुसों तथा श्वासनलिका आदि) में घुसकर अन्नजा हिक्का को पैदा कर देती है। तब वह धीरे-धीरे हिचकियाँ लेने लगता है, यद्यपि छींक से हिक्का का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, तथापि उसे छींके भी आने लगती हैं, जो न तो मर्मस्थानों को पीड़ित करती है और न इन्द्रियों को कष्ट देती है। जब यह हिक्का आने लगती है, तब कुछ खा लेने से या जल पी लेने मात्र से शान्त हो जाती है। उसे 'अन्नजा हिक्का' कहते हैं।

वक्तव्य—'शनैरसम्बन्धम्' का एक अर्थ तो हमने ऊपर दिया है, दूसरा अर्थ है जो लगातार न हो, इस छींक के आने में भोजन का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वृद्धवाग्भट का कथन है कि जैसा ऊपर दिया है **'पीते भुक्ते शमं याति'** अर्थात् खा-पी लेने पर वह शान्त हो जाती है, इसके साथ उन्होंने जो **'सात्म्यान्नपानेन'** और जोड़ दिया है, स्पष्टता की दृष्टि से भले ही हम उक्त पदावली का सम्मान करें, किन्तु यह भाव **'शमं याति'** पद के गर्भ में स्वयं फड़क रहा है।

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥४२॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्। यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता ॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः। तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥

हिक्का की साध्यता-असाध्यता—जिस रोगी के शरीर में वात आदि दोष अधिक मात्रा में इकट्ठे हो गये हों, अथवा जो भक्तच्छेद (भोजन का विच्छेद हो जाने), भोजन न करने या न मिल पाने के कारण कृश हो गया हो, जो अनेक व्याधियों का आक्रमण हो जाने के कारण क्षीणदेह (कमजोर) हो गया हो, वृद्ध हो जाने के कारण तथा अधिक मैथुन करने वाला, इनको यदि हिक्का रोग उत्पन्न हो जाता है, तो वह हिक्का रोगी के प्राणों का शीघ्र ही हरण कर लेती है।

यमिका हिक्का की साध्यता-असाध्यता—इस रोग में रोगी यदि अंट-संट बक रहा हो, उसके शरीर में वेदना हो, प्यास अधिक लग रही हो, बेहोशी आ रही हो तो वह असाध्य होती है, इन दुर्लक्षणों से युक्त यह हिक्का रोगी को मार डालती है। उक्त लक्षणों के विपरीत यदि रोगी कमजोर न हो, दीन न हुआ हो, उसकी रस, रक्त आदि धातुएँ स्थिर (अपना-अपना कार्य करने में समर्थ) हों और जिसकी सभी इन्द्रियाँ स्थिर हों, ऐसे पुरुष को यदि यमिका हिक्का होती है तो वह ठीक की जा सकती है, अर्थात् वह साध्य होती है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने इसी अध्याय के श्लोक ३१ से ३३ तक में **व्यपेता हिक्का** का वर्णन किया है, उसमें कहीं भी 'यमिका' का नाम-निर्देश नहीं किया है। यहाँ पर 'यमिका' का संकेत क्षुद्रा और अन्नजा नामक उन दो हिक्काओं से है, जो साध्य होती हैं। यमल वेग वाली अर्थात् जिसमें दो-दो हिचकियाँ साथ आती हैं, वह भी यमला है। चरक में 'व्यपेता' का वर्णन है। सुश्रुत में इस भेद के दर्शन नहीं होते, इन्होंने 'यमला' का लक्षण सहित वर्णन किया है। आचार्य डल्हण व्यपेता और यमला को एक ही मानते हैं। अब आप

सु० उ० अ० ५० श्लोक १० से अ० हृ० नि० अ० ४ श्लोक २३-२४ की तुलना कर चरकोक्त 'व्यपेता' के लक्षणों का मनन करें। यह सत्य है कि नाम की दृष्टि से उक्त दोनों हिक्काएँ भिन्न हैं, किन्तु 'अन्नपाने चतुर्विधं जायते', 'कम्पयन्ती शिरोग्रीवम्' और 'जत्रुमूलादसन्तता' इन स्थलों को देखकर आप अपलाप नहीं कर सकते।

वृद्धवाग्भट एवं वाग्भट दोनों आचार्यों की हिक्का के साध्य-असाध्य लक्षणों को सूचित करने वाली पदावली सर्वथा समान है, क्रमशः देखें—अ० सं० नि० अ० ४।३३-३४ और अ० हृ० नि० अ० ४।२९-३०। उक्त दोनों आचार्यों ने 'अतिसञ्चितदोषस्य' के स्थान पर **'सञ्चितामस्य'** कहकर आमदोष का संचय होना स्वीकार किया है। सुश्रुत के विचार देखें—'हिचकी लेते समय जिस रोगी के अंगों में तनाव आ जाता है, वे खिंच जैसे जाते हैं, आँखें ऊपर की ओर को तन जाती हैं, आँखों के सामने गहरा अँधेरा छा जाता है, क्षीण, भोजन के प्रति द्वेष रखने वाले जिस हिक्का के रोगी को खांसी आती हो, ऐसे अन्तिम दो (महाहिक्का और गम्भीरा हिक्का वाले) रोगी असाध्य होते हैं। आयुर्वेद में सद्यःप्राणहर (तत्काल प्राणनाश) की अवधि ७ दिन के भीतर मानी गयी है। देखें—सु० शा० अ० ६।२३। महर्षि जतूकर्ण के मत से—'आद्या दुःसाध्या, यमिका तृष्णामोहवतां सद्यःप्राणहृत्, गम्भीराव्यपेते च' इत्युक्तम्। इन्होंने लक्षण-निर्देश करते हुए उक्त हिक्काओं की साध्यता-असाध्यता का निर्देश किया है, जो सर्वथा आप्तपुरुषोचित है।

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥४५॥

श्वास-प्रकरण

(Chapter of Asthma)

श्वासरोग की सम्प्राप्ति—जब कफ के साथ प्रकुपित वातदोष प्राणवह, अन्नवह तथा उदकवह स्रोतों को रोककर और कफ के कारण स्वयं अवरुद्ध होकर विलोम गति से शरीर में चारों ओर फैलने लगता है, तब वह वातदोष (पाँच प्रकार के) श्वासों को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ श्वासरोग की सम्प्राप्ति अलग से दी गयी है, किन्तु आप इसी अध्याय के श्लोक १० से १७½ तक का पुनः परिशीलन करें। यहीं इनके पूर्वरूपों की भी चर्चा हो चुकी है। देखें—श्लोक १८ से २० तक। सुश्रुत भी अपने वचनों से चरक को समर्थन दे रहे हैं—'यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्तते। तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम्' ॥ सु० उ० अ० ५१।३। अर्थ स्पष्ट है। सुश्रुत में श्वासरोग के भेदों का वर्णन इस प्रकार किया है—'क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चधा। भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः' ॥ सु० उ० अ० ५१।५। अर्थात्—१. क्षुद्रक, २. तमक, ३. छिन्न, ४. महान्, ५. ऊर्ध्वश्वास, ये पाँच प्रकार के होते हैं। माधव-निदान में इन श्वासों की गणना विलोम क्रम से की गयी है।

मूलकारण—'श्लेष्माशयः स्यादुरसि'। शा० सं० पू० खं० अ० ५।११। उरःस्थल के भीतर श्लेष्मा (कफ) का आशय है और उसके नीचे आमाशय है। यदि आमाशय में कफ की वृद्धि न हो तो वह वायु के मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकेगा, फलतः श्वासरोग की उत्पत्ति ही नहीं हो पायेगी। चिकित्साकाल में इस दृष्टिकोण का पूर्णतया ध्यान रखना चाहिए।

विश्वग्व्रजति—यही कारण है कि श्वासरोगी के सम्पूर्ण शरीरावयव कृश हो जाते हैं, क्योंकि उस काल में प्राणवायु आदि का वहन करने वाले सभी स्रोतस् दूषित हो जाते हैं, जिनके कारण श्वास की गति ठीक प्रकार नहीं हो पाती। कारणों पर ध्यान दें—१. 'तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च, प्रदुष्टानां तु खलु एषाम् इदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अतिसृष्टमप्रतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहानि अस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानि इति विद्यात्'।

२. 'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च, प्रदुष्टानां तु खलु एषाम् इदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिवृद्धां दृष्ट्वा उदकवहानि अस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानि इति विद्यात्'।

३. 'अन्नवहानां स्रोतसाम् आमाशयो मूलं वामं च पार्श्वं, प्रदुष्टानां तु खलु एषाम् इदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अनन्नाभिलषणम् अरोचकविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वा अन्नवहानि अस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानि इति विद्यात्'। च० वि० अ० ५।८। इन्हीं का संक्षिप्त परिचय आगे श्लोक १० से १२ तक देखें।

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः । उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥४६॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः । विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥४७॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद् विज्ञायते भृशम् । महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥४८॥

इति महाश्वासः ।

महाश्वास में लक्षण—जो श्वास रोगी मतवाले साँड़ (बछिया के ताऊ) की भाँति वायु की ऊर्ध्वगति हो जाने के कारण रात-दिन जोरदार शब्द के साथ लम्बी-लम्बी साँसें लेता रहता है, उस समय श्वास की गति में रुकावट आ जाती है, अतः वह रोगी ज्ञान-विज्ञान से रहित हो जाता है, उसकी दृष्टि नशे में चूर हुए व्यक्ति की सी हो जाती है, उसकी आँखों और मुख में विकृति आ जाती है, उसके मल-मूत्र की गति रुक जाती है, आवाज (वाणी) टूट-टूटकर निकलती है, वह स्वयं दीन (दया का पात्र) हो जाता है, इसके जोरदार श्वास-प्रश्वास की आवाज दूर से सुनायी देने लगती है, महाश्वास के इन लक्षणों से युक्त वह रोगी शीघ्र ही विपत्ति (मृत्यु) को प्राप्त हो जाता है ।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत के अनुसार महाश्वास का लक्षण—'निःसंज्ञः पार्श्वशूलार्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान् । संरब्धनेत्रस्त्वायम्य यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः' ॥ महर्षि आत्रेय ने 'विभ्रान्तलोचन' लक्षण दिया है और सुश्रुत ने 'संरब्धनेत्र'; ये दोनों ही परिस्थितियाँ परस्पर भिन्न हैं, किन्तु ये दोनों प्रकार के लक्षण अलग-अलग अवसरों पर दिखलायी देते हैं ।

क्षिप्रमेव विपद्यते—यहाँ 'क्षिप्र' शब्द 'सद्यः' का पर्याय है, जिसकी कालावधि सात दिन के भीतर की होती है । देखें—'तत्र सद्यः प्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति' । सु० शा० अ० ६।२३ ।

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः । श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥४९॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः । प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥५०॥
ऊर्ध्वश्वासे [1]प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते । मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥

इत्यूर्ध्वश्वासः ।

ऊर्ध्वश्वास के लक्षण—जिस रोगी के श्वास का वहन करने वाले स्रोतों का मुखभाग कफ से घिरा रहता है, अतः भीतर से बाहर न निकल पाने के कारण क्रुद्ध गन्धवह (वायु) कुपित होकर रोगी को पीड़ित करता है, इस स्थिति में रोगी ऊपर की ओर लम्बी साँस लेता है, किन्तु वह साँस तत्काल नीचे को लौटकर नहीं आ पाती (क्रुद्ध होकर जो जाता है वह या तो आता ही नहीं या आता भी है तो देर में, यह लोक-व्यवहार यहाँ भी दिखलायी देता है)। अतः वह रोगी ऊपर की ओर दृष्टि किये रहता है, अर्थात् उसकी आँखें ऊर्ध्व-श्वास के साथ टँगी-सी रह जाती हैं, आँखें चौंधियायी-सी रहती हैं, वह इधर-उधर देखा करता है, श्वास के कष्ट से पीड़ित होकर वह बेहोश हो जाता है, मुख सूखने लगता है, बेचैनी से पीड़ित हो जाता है, ऊर्ध्वश्वास के प्रकुपित होने (स्वाभाविक रूप से न लिये जाने) पर अधःश्वास (श्वास ग्रहण करने की क्रिया) रुक जाता है। वह बेहोश होने लगता है, उसकी आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है । इन लक्षणों को प्रकट करता हुआ 'ऊर्ध्वश्वास' उस रोगी के प्राणों का अपहरण कर लेता है ।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार हृदय, वस्ति, शिर इन मर्मस्थानों में तनाव तथा खिंचाव होने पर जो रोगी बेहोश होकर बार-बार श्वास लेता है, ऊपर की ओर ताकता रहता है, जिसका स्वर बैठ जाता है, उसे ऊर्ध्वश्वास का रोगी कहते हैं । देखें—सु० उ० अ० ५१।१३ । शरीर में जितने भी मर्मस्थान हैं, वे सब जीवाधारक भाग हैं, उनको पीड़ित करने वाला रोग निश्चित ही प्राणघातक होता है, ऐसा सुश्रुत का मन्तव्य है ।

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः । न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥५२॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन वस्तिना । विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥५३॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः । छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं प्रजहात्यसून् ॥

इति छिन्नश्वासः ।

---

१. 'प्रवृत्ते तु यश्चाधःश्वासरोधभाक्' इति पा० ।

छिन्नश्वास के लक्षण—जो श्वास का रोगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाने पर भी रुक-रुककर साँस ले पाता है; जो हृदय आदि मर्म स्थानों को काटने के समान होने वाली वेदना से पीड़ित होने के कारण दुःखी होकर भी श्वास नहीं ले पाता है: जो आनाह, पसीना, मूर्च्छा, वस्तिदाह, आँखों में पानी का भर जाना (आँखों का आँसुओं से डबडबाये रहना), शरीर का सूख जाना, निरन्तर साँस लेते रहने पर एक आँख का लाल हो जाना, बेहोश हो जाना, मुख का सूख जाना, चेहरे के रंग का फीका पड़ जाना, अंट-संट बकना—ये सभी लक्षण छिन्नश्वास के हैं । इस प्रकार छिन्नश्वास से पीड़ित वह रोगी शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है ।

वक्तव्य—'न वा श्वसिति' अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी कभी श्वास नहीं ले पाता। 'दह्यमानेन वह्निना' इस पद्यांश से वातदोष का पित्तदोष से सम्बन्ध दिखाया गया है । 'रक्तैकलोचनः' यह रोग का अपना विशेष प्रभाव मात्र है । यदि यह दोषजनित लक्षण होता, तो दोनों आँखें लाल होतीं, इसमें कोई भी आँख लाल हो सकती है । देखें—सु० उ० अ० ५१।११ । आप रोगी की नाक पर हाथ रखकर देखें, उसका श्वास-प्रश्वास कुछ समय के लिए बन्द हो जाता या रुक जाता है, अर्थात् वह रोगी प्रकुपित हुई उसी प्राणवायु से पीड़ित होता है, जो सदैव उसे सुख देती थी । यह केवल रोग का प्रभाव है ।

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते । ग्रीवां शिरश्च सङ्गृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥५५॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरुकं तथा । अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥५६॥
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते । प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥५७॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः । तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥५८॥
अथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् । न चापि निद्रां लभते शयानः श्वासपीडितः ॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः । आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥६०॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् । विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते । स याप्यस्तमकश्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥

इति तमकश्वासः ।

तमकश्वास की सम्प्राप्ति—श्वासवाही स्रोतों में रुकावट पैदा होने के बाद जब कुपित हुआ वातदोष प्राण-वह स्रोतों में प्रतिलोम (विलोम) गति से चलने लगता है, तब वह गर्दन तथा शिरःप्रदेश में जकड़ाहट पैदा कर और कफदोष को उभाड़कर पीनस (प्रतिश्याय या अपीनस) रोग को पैदा कर देता है । कफदोष द्वारा रुकी हुई प्रकुपित वायु कण्ठप्रदेश में घुर-घुर या घर-घर शब्द करने लगती है । वह अत्यन्त तीव्र गति से प्राणों को पीड़ित कर देने वाले श्वासरोग के वेगों को बढ़ा देती है ।

तमकश्वास के लक्षण—वह रोगी श्वासों के वेग के अत्यन्त बढ़ जाने से उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, या उसे ऐसा अनुभव होता है कि उसके चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा है, वह बार-बार खाँसता है, और उसकी खांसी रुक जाती है, वह खांसता-खांसता बार-बार बेहोश हो जाता है, जब बार-बार खाँसने पर भी भीतर जमा हुआ कफ नहीं निकल पाता, तब वह अत्यन्त दुःखी हो जाता है और जब वह कफ निकल जाता है, तो थोड़ी देर उसे सुख का अनुभव होता है, बार-बार खाँसने के कारण इस रोगी का कंठोध्वंस (गला खराब) हो जाता है, बड़ी कठिनाई से बातचीत कर पाता है, लेटे रहने पर भी श्वास रोग से पीड़ित हो जाने कारण वह सो नहीं पाता, सोये या लेटे हुए उस श्वास रोगी की दोनों पसलियों को वह कुपित वायु जकड़ लेती है । वह बैठे रहने पर सुख का अनुभव करता है, गरम आहार-विहार को प्राप्त करना चाहता है, उनके मिलने पर प्रसन्न रहता है । हर समय उसकी आँखें ऊपर की ओर उठी रहती हैं, माथे पर पसीना आया रहता है, वह प्रतिक्षण अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता है, उसका मुख सूखा रहता है, बार-बार श्वास के वेग आते रहते हैं और बार-बार रुक जाते हैं, (धौंकनी को चलाने से जिस प्रकार हवा निकलती है और रोक देने पर रुक जाती है, वही स्थिति तमक श्वास रोगी के श्वास की भी होती है)।

यह श्वासरोग बादलों के छा जाने से, पानी बरसने से, शीतस्पर्श तथा शीतवीर्य वाले आहार-विहारों के सेवन करने से, प्राग्वात (पुरवा हवा) में और कफवर्धक पदार्थों का सेवन करने से बढ़ता है । सालभर से

अधिक पुराना हो जाने पर यह रोग याप्य (जब तक चिकित्सा की जाय तथा रोगी को पथ्य पर रखा जाय तब तक वह ठीक रहता है, इन प्रयोगों को छोड़ देने पर पुनः पूर्ववत्) हो जाता है। यदि नया उभड़ा (सालभर के भीतर का) हो तो गद साध्य होता है।

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्। उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥६३॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति। मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात् सन्तमकं तु तम् ॥६४॥
इति प्रतमकसन्तमकश्वासौ।

प्रतमकश्वास के लक्षण—यदि तमक श्वास रोगी में अपने लक्षणों के साथ ही साथ ज्वर और मूर्च्छा के लक्षण भी दिखलायी दें, तो उसे प्रतमक श्वास कहते हैं।

सन्तमकश्वास के लक्षण—जो श्वासरोग उदावर्त (इस रोग से मल-मूत्र तथा अपानवायु की स्वाभाविक गति में रुकावट आ जाती है) के कारण, मुख, नासिका आदि में धूलि के चले जाने के कारण, अजीर्ण के कारण, शरीर के हर समय गीला रहने से, अधारणीय वेगों को रोकने के कारण, तमोगुण को बढ़ाने वाले आहार-विहारों से अथवा रात्रि के समय इस रोग की अधिक वृद्धि होती है। यह शीतल आहार-विहारों के प्रयोग से जल्दी शान्त हो जाता है। इस रोग का आक्रमण होने पर रोगी को ऐसा अनुभव होता है, मानो वह अन्धकार में डूबा जा रहा है। इन लक्षणों को देखकर इसे सन्तमकश्वास समझना चाहिए।

वक्तव्य—पित्तदोष का सम्बन्ध हो जाने के कारण तमकश्वास को ही प्रतमकश्वास कहा गया है। अतः उपर्युक्त श्वास के पाँच भेदों से इसे अलग (छठा) नहीं समझना चाहिए। यद्यपि तमकश्वास-जनित कष्ट 'मेघ-अम्बु-शीत-प्राग्वात-श्लेष्मल' पदार्थों मे बढ़ जाता है, इसके विपरीत पित्त के सम्बन्ध से उत्पन्न प्रतमकश्वास शीत-स्पर्श तथा शीतवीर्य पदार्थों के सेवन से शान्त होता है—'**शीतैश्चाशु प्रशाम्यति**'। श्रीचक्रपाणि ने ऊपर श्लोक ६३ के उत्तरार्ध की टीका में लिखा है—'कायनिरोधो वेगानां निरोधः, किं वा क्लिन्नकायो वृद्धः, निरोधः वेगनिरोधः'।

हमारे विचार से उक्त श्लोकार्ध समस्तपद है, इसका पदविभाग इस प्रकार करना चाहिए—उदावर्त, रजस्, अजीर्ण, क्लिन्नकाय, निरोधज। श्रीचक्रपाणि ने 'क्लिन्नकाय' का जो 'वृद्ध' अर्थ किया है, वह खटकता है। श्रीजयदेव आदि ने इसका अर्थ 'देह की क्लिन्नता' किया है, जो सर्वथा उचित है।

कुछ विद्वान् 'क्लिन्न' शब्द को अलग मानकर 'कायनिरोधजः' से योगासनों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। कुम्भक आदि प्राणायाम की विधियों में यदि किसी प्रकार की भूल या क्रमभंग हो जाता है तो श्वास में विकृति आ जाती है, प्रकारान्तर से यह विषय प्रमाणित हो सकता है। यहाँ पर तो 'निरोधज' का सीधा संकेत आधारणीय वेगों को रोकने से ही है। सुश्रुत तथा वाग्भट की दृष्टि से सन्तमक भेद की कोई सत्ता नहीं है। तमक श्वास में वात-कफ की प्रधानता होती है, प्रतमक और सन्तमक रोग के आरम्भक भी यद्यपि ये ही दो दोष होते हैं, किन्तु इनमें पित्तदोष भी विशेष रूप से रहता है।

श्वास सम्बन्धी रोग (Respiratory diseases)—श्वासप्रणाली (Trachea) १०-११ सेंटीमीटर लम्बी, २ से० मी० के लगभग चौड़ी होती है। यह एक लचीली स्नायु तन्तु की झिल्ली से जिसमें तरुणास्थियों के छल्ले जो पीछे की ओर अपूर्ण होते हैं, बनी होती है। इसके पीछे एक अनैच्छिक मांसपेशी (Tracheal muscle) भी रहती है। इस झिल्ली के भीतर की ओर जिसमें रक्तवाहिनियाँ नाड़ियाँ तथा श्लेष्मग्रन्थियाँ रहती हैं, उसके भीतर श्लेष्मकता रहती है, जिसके भीतरी स्तम्भ की आकृति वाले सेलों पर रोमक (Cilia) रहते हैं। ये ऊपर से आरम्भ होकर नीचे तक आते हैं।

ये श्वासनलियाँ ३ दाहिनी और २ बांयी शाखाओं में विभक्त होती हुई अन्त में सूक्ष्म श्वास-प्रणालिकाओं का रूप धारण कर लेती हैं। सूक्ष्म श्वास-प्रणालिकाओं की दीवारें लचीले स्नायुतन्तुओं तथा गोल आकृति वाली मांसपेशियों से बनी होती हैं, उनमें तरुणास्थियाँ नहीं होती हैं, वे श्लेष्मकला से आवृत होती हैं, लोहार की धौकनी की भाँति छाती की दीवाल में फैलने तथा सिकुड़ने की क्रिया के क्रमिक रूप में चालू रहने से श्वास-प्रश्वास का क्रम चलता रहता है। यह क्रम व्यायाम आदि शारीरिक परिश्रम के समय जब शरीर को आक्सीजन की सामान्यतः आवश्यक मात्रा ३०० सी० सी० की अपेक्षा १०-१५ गुना अधिक अपेक्षित

होती है, तब फुफ्फुस भी उस अधिक आक्सीजन की मात्रा को अपने भीतर समा लेते हैं। किन्तु रोग की स्थिति इससे विषम होती है। तब श्वास रोग अपने वेगों को प्रकट करता है, वेग प्रारम्भ होने के पहले इसके कोई पूर्वरूप नहीं होते। आधुनिक दृष्टि से श्वासरोग को 'Asthma or bronchial asthma' कहते हैं। यह अनेक कारणों से होता है, तदनुसार इसके नामभेद होते हैं।

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्। क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥६५॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे। न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि काञ्चिदापादयेद्रुजम्। स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥

क्षुद्रश्वास के लक्षण—रूक्षताकारक आहारों का सेवन करने से तथा आयास (किसी प्रकार का भी श्रम) करने से उत्पन्न हुई क्षुद्र (प्रमाणवाली) वायु कोष्ठ (उदरप्रदेश) में प्रकुपित होकर ऊपर (श्वास-नलिका) की ओर बढ़ती हुई क्षुद्रश्वास को उत्पन्न कर देती है। यह क्षुद्रश्वास कष्टप्रद तो होता है, किन्तु अन्य श्वास रोगों की भाँति अंग-प्रत्यंगों को पीड़ा पहुँचाने वाला नहीं होता है और न यह उतना दुःखदायी होता है, न शरीर के अवयवों के कार्यों की गति में बाधा पहुँचाता है जिस प्रकार दूसरे श्वासरोग बाधक होते हैं। न यह खान-पान की गति में किसी प्रकार की रुकावट ही करता है, न इससे ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा), कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, गुद, लिंग) तथा मन को ही कोई विशेष पीड़ा होती है और न यह किसी अन्य रोग को ही उत्पन्न करता है। अतः यह (क्षुद्रश्वास) साध्य कहा गया है। अन्य श्वासरोग जिनको पहले असाध्य कहा गया है, यदि उनके लक्षण अभी तक स्पष्ट न हुए हों और रोगी बलवान् है, तो वे भी साध्य होते हैं।

वक्तव्य—थोड़ा दौड़ने, सीढ़ियाँ चढ़ने, पहाड़ पर चढ़ने तथा अधिक परिश्रम करने आदि से जो साँस (दम) फूलने लगती है और थोड़ी देर विश्राम करने पर आराम मिल जाता है, वही क्षुद्रश्वास है। ऊपर दिये गये लक्षणों पर ध्यान दें। यह श्वास किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता, इस सम्बन्ध में सभी तन्त्रकार एकमत हैं। साध्य-असाध्य का निर्देश सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च'॥ सु० उ० अ० ५१।१४। वास्तव में साध्य-असाध्य का विवेचन रोगी की स्थिति को देखकर चिकित्सक को करना होता है। शास्त्र तो केवल दिग्दर्शन कराते हैं। महा, ऊर्ध्व, छिन्न ये तीन श्वासरोग जब अपने सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होते हैं, तब निश्चित ही प्राणघातक होते हैं। आप देखें कि अनेक व्यक्तियों की मृत्यु इन्हीं से होती है अथवा मृत्युकाल में इन श्वास रोगों का आक्रमण हो ही जाता है। आश्चर्य है, जो श्वास प्राणों का संचालक रहा वही अन्त में मृत्यु का कारण भी?

सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः—इस पद्यांश से जहाँ उक्त तीन महाश्वासों को साध्य बतलाया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि श्वासरोग का संकेत मिलते ही उसकी उत्तम चिकित्सा करें अन्यथा साध्य रोग भी असाध्य हो जाते हैं। अतएव इनकी शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए, इसका निर्देश आगे तन्त्रकार द्वारा किया जा रहा है।

इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः। एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः ॥
भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत्। उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ॥६९॥

हिक्का-श्वास की शीघ्र चिकित्सा करें—इस प्रकार अपने-अपने लक्षणों द्वारा हिक्का रोगों तथा श्वास रोगों का निदान कह दिया गया है; इनमें जो अपने भयंकर लक्षणों के कारण प्राणों का नाश करने वाले हैं (प्राण-नाशक हिक्काएँ—१. महती, २. गम्भीरा, ३. व्यपेता तथा प्राणनाशक श्वास—१. महा, २. ऊर्ध्व, ३. छिन्न) उन्हें छोड़ देना चाहिए, (ऐसे रोगों से युक्त रोगियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इनसे अपयश मिलता है। यदि चिकित्सा करनी भी हो तो उसके परिजनों को इसके असाध्य लक्षणों की सूचना पहले ही दे देनी चाहिए) क्योंकि ये रोग आशुकारी (शीघ्र प्राणनाशक) होते हैं। चिकित्सक को चाहिए कि वह पहले साध्य लक्षणों वाले तथा याप्य लक्षणों वाले रोगियों की शीघ्र लाभदायक चिकित्सा करें। उपेक्षा करने पर ये रोग रोगी को उस प्रकार जला डालते हैं, जिस प्रकार घास-भूसा के ढेर को आग जला देती है।

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम्। द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ॥७०॥

हिक्का-श्वास की सामान्य चिकित्सा—हिक्का तथा श्वास रोग, इन दोनों के कारण (निदान), स्थान (रोग की उत्पत्ति के शारीरिक अवयव) तथा मूल (दोष), इन सबके एक होने से इनकी चिकित्सा भी एक ही होती है। इन दोनों के सम्बन्ध में प्राचीन महर्षियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से जैसा देखा, उसे आप से सुनें।

वक्तव्य—उपर्युक्त ये दोनों (हिक्का-श्वास) रोग समान होते हैं, इनका स्पष्टीकरण आचार्य पहले इसी अध्याय में कर चुके हैं। देखें—च० चि० अ० १७ श्लोक ८-९।

हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् । आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥७१॥
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते । खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥७२॥
यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम् । श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥

हिक्का-श्वास-चिकित्सा-सूत्र—हिक्का और श्वास रोग से पीड़ित पुरुष को सबसे पहले सेंधानमक और गाय के घी (पुराना हो तो और अच्छा है) की छाती पर मालिश करे, यह उनका स्नेहोपचार है, इसके बाद विविध प्रकार के नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद तथा संकरस्वेदों के प्रयोग से उनकी चिकित्सा करें। इन उपचारों को करने से उन रोगियों के स्रोतों में गाँठ के समान बँधा हुआ वह कफ पिघलकर स्रोतों में विलीन हो जाता है, स्रोतों के छिद्र मृदु हो जाते हैं, तदनन्तर विलोम हुआ वायु अनुलोम हो जाता है। जिस प्रकार पहाड़ों की कन्दराओं में जमी हुई बर्फ सूर्य की तीव्र किरणों के पड़ने से पिघल जाती है, उसी प्रकार शरीर के स्रोतों में स्थिर (जमा हुआ) कफदोष स्वेदन-क्रिया द्वारा पिघल कर निकल कर जाता है।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान अध्याय १४ में स्वेदों का वर्णन किया गया है; उसे इस क्रम से देखें—प्रस्तर-स्वेद, श्लोक २७। नाड़ीस्वेद श्लोक २९-३३। संकरस्वेद गद्य ४१।

स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम् । मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत् तु तम् । पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वाताविरोधि यत् ॥७५॥
निर्हृते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे । स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ॥७६॥

वमन-प्रयोग—स्नेहन के पश्चात् जब उपर्युक्त विधियों से उचित प्रकार से स्वेदन हो गया है, ऐसा जानकर उस रोगी को शीघ्र ही स्निग्ध (स्नेह युक्त) मछली या सूअर के मांसरस के साथ अथवा दही के साथ भात खिलाना चाहिए। उसके बाद जब इस प्रकार के भोजनों से कफ की वृद्धि हो जाय, तब उसे पिप्पली का चूर्ण तथा सेंधानमक मधु के साथ वमन कराने के लिए पिलायें। इसके अतिरिक्त यदि कोई वामक (वमनकारक) औषध का प्रयोग कराया जाय तो उसमें यह विचार कर लेना चाहिए कि इन द्रव्यों में कोई वातवर्धक द्रव्य तो नहीं है? यदि हो तो हटा दें। वमन कराने से जब दूषित कफ शरीर से बाहर निकल जाता है, तब वह रोगी सुख का अनुभव करता है और स्रोतों के शुद्ध हो जाने पर वायु अनुलोम होकर बिना रुकावट के विचरण करने लग जाता है।

वक्तव्य—कफ की वृद्धि कराकर और वामक द्रव्यों या घी, सेंधानमक आदि के सेवन से उत्क्लेश उत्पन्न होने पर सरलता से वमन कराया जा सकता है। महर्षि आत्रेय ने कहा है—'श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखम्'। च० सि० अ० १।९। ऊपर पद्य में भात, मछली का मांस, सूअर का मांस, दही ये सभी पदार्थ कफ को बढ़ाने वाले हैं। इस प्रकरण को सुश्रुत में देखें—सु० उ० अ० ५१ श्लोक ४६-५०। आगे कहा है—यदि रोगी बलवान् हो और वह कफ के बढ़ जाने से पीड़ित हो तो उसे वमन के साथ विरेचन भी करायें। सु० उ० अ० ५१।५३। श्वास तथा हिक्का रोग में मृदु वमन कराना चाहिए, आवश्यकता होने पर विरेचन भी करायें। स्वेदन की आवश्यकता पर वाग्भट ने कहा है। देखें, अ० हृ० चि० अ० ४।१५-१६। इसके आगे शोधनोत्तर उपचार दिये हैं। ये उपचार भी हिक्का-श्वास रोग में लाभदायक होते हैं।

लीनश्चेद् दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः । हरिद्रां पत्रमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्ति प्रकल्पयेत् । तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥७८॥
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसम्पुटे । कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं वालं वा स्नायु वा गवाम् ॥७९॥

स्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा । पद्मकं गुग्गुलुं लोहं शल्लकीं वा घृताप्लुतम् ॥

धूमपान-निर्देश—हिक्का अथवा श्वास रोगी को वमन कराने के बाद भी यदि कफदोष स्रोतों में लीन (चिपका हुआ) होने के कारण शेष रह जाय तो कुशल चिकित्सक को चाहिए कि ऐसे रोगी को धूमपान कराये, जिससे वह स्रोतों में सटा हुआ कफ निकाल सके।

हरिद्रादि धूमवर्ति—हल्दी, पत्र (तेजपत्ता), रेड़ की जड़, कच्ची लाख, मैनसिल, देवदारु, हरताल, जटामांसी, इन्हें पीसकर धूमवर्ति का निर्माण करायें, उसे घी में भिगाकर धूमपान विधि से (चिलम पर रखकर) उसका सेवन करें। अथवा जौ के बीजों को गाय के घी में मिलाकर उक्त विधि से धूमपान करें। अथवा मधूच्छिष्ट (शहद निकाल लेने के बाद बचा हुआ भाग—जिस शहद के छाते में शहद भरा रहता है, उसे निचोड़ कर शहद ले लिया जाता है, शेष भाग को आग में गला कर तेल जैसा जो द्रव निकलता है, उसे मधूच्छिष्ट=मोम कहते हैं), सर्जरस (राल) तथा घी को मल्लकसंपुट (एक मिट्टी के सकोरा या कसोरा में रखें दूसरे की पेंदी में छेद करके उससे ढँक दें, दोनों सकोरों के जोड़ को बन्द कर दें—यह 'मल्लकसम्पुट' है) में रखकर धूमपान करें। अथवा गाय के सींग का चूर्ण करके या उसके बालों को या उसके स्नायुतन्तुओं को चिलम में भरकर उसका धूमपान करें, सोनापाठा, एरण्ड (रेड़) इनके पत्तों की सूखी डंडियाँ जिनमें छेद हों एवं कुश की डंटी को घी में भिगाकर उसके एक सिरे को जलाकर धूमपान करें, अथवा पद्मक (पद्मकाष्ठ), गुग्गुलु, लोह (अगर), शल्लकी (साखू का एक भेद) का सार भाग इनमें से किसी एक के चूर्ण को चिलम में भरकर धूमपान करें।

वक्तव्य—ऊपर वमन विधि का निर्देश किया गया था, तदनन्तर इस प्रकरण में कहे गये विविध प्रकार के धूमपानों का विधान किया गया है। प्रायोगिक (प्रतिदिन सेवन करने योग्य) धूमपान की चर्चा चरक-सूत्रस्थान अ० ५ श्लोक २० से २४½ तक की गयी है और स्नैहिक धूमपान की चर्चा अगले २५वें पद्य में है। मूर्ध (शिरः) विरेचन श्लोक २६ में देखें। धूमपान से किन-किन रोगों में लाभ होता है, इसके लिए श्लोक २७ से ३२ तक देखें। इस अध्याय में यह धूमपान का प्रकरण श्लोक २० से प्रारम्भ होकर ५५ श्लोक तक दिया गया है। इसी बीच में धूमवर्ति-निर्माण, धूमनेत्र का परिमाण आदि का विस्तृत वर्णन 'चरक-चन्द्रिका' टीका में देखें।

मल्लकसंपुट के चारों ओर जलते कोयले रखने से ऊपर के छिद्र से जो धूआँ निकले उसे धूमनेत्र (नली) से पीना चाहिए। पद्मकाठ आदि द्रव्यों का चिलम में भरकर या धूमवर्ति बनाकर दोनों प्रकार से धूमपान किया जा सकता है। ध्यान दें—सोनापाठा, रेड़ की पत्ती तथा कुश की डंडी उत्तरोत्तर पतली होती है, इनमें से धूम सीधा मुख में आयेगा, धूमनेत्र से आने वाले धूम की स्थिति इससे अच्छी होती है, अतः युक्तिविशारद चिकित्सक की सहायता से उक्त साधनों द्वारा धीरे-धीरे धूमपान कराना चाहिए। तन्त्रकार ने धूमपान से 'हिक्का-श्वास' की शान्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है। देखें—श्लोक २८। सावधान ! धूमपान में गाँजा, चरस, तमाखू, सिगरेट, बीड़ी आदि का सेवन कहीं भी स्वीकृत नहीं है। ये सभी अत्यन्त हानिकारक होते हैं।

स्योनाकवर्धमानानाम्—यहाँ स्योनाक और वर्धमान ये दो द्रव्य हैं, अतः व्याकरण के नियमानुसार इस पद को द्विवचनान्त होना चाहिए था, किन्तु ऐसा है नहीं। **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** किं वा **'वाचमर्थोऽनुधावति'** के अनुसार आर्षवाक्य की सार्थकता स्पष्ट की जा रही है। चिकित्सा के सभी आवश्यक उपकरणों से समृद्ध रहना यह उत्तम चिकित्सक का लक्षण है। अतः वह अनेक स्योनाक वृक्षों तथा विविध वर्धमान वृक्षों से धूमपान के उपयोगी सूखी डण्डियों का संग्रह करके रख लेता है। इस दृष्टि से हम यहाँ 'स्योनाकाश्च वर्धमानाश्च तेषाम्' ऐसा विग्रह करके उक्त शंका का समाधान कर लेंगे।

स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान् । मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥८१॥

उपद्रवों का उपचार—यदि हिक्का तथा श्वास रोगी का स्वर क्षीण हो गया हो, अतिसार हो रहा हो, रक्तपित्त तथा दाह ये विकार उक्त रोगों के अनुबन्ध स्वरूप मालूम हों, तो इन उपद्रवों की चिकित्सा मधुर, स्निग्ध एवं शीतगुण-प्रधान औषधद्रव्यों से करनी चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव 'स्वरक्षीण' के स्थान पर 'क्षतक्षीण' पाठ को महत्त्व देते हैं। यहाँ मधुर तथा स्निग्ध-पदार्थ बृंहणकारक और शीतपदार्थ पित्तनाशक हैं।

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः। क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥८२॥

स्वेदन के अयोग्य रोगी—यदि हिक्का तथा श्वास के रोगियों में पित्त की अधिकता हो और वे दाह (जलन) से पीड़ित हों, अधिक रक्तस्राव हो रहा हो, पसीना अधिक आ रहा हो, जिनकी रस, रक्त आदि धातुएँ क्षीण हो गयी हों, बल क्षीण हो गया हो, जो रूक्ष (स्नेह तत्त्व से हीन) हो गये हों, गर्भिणियों तथा पित्तप्रकृति-प्रधान पुरुषों को स्वेदन नहीं कराना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि इसी अध्याय के श्लोक ७१ में हिक्का-श्वास के रोगियों को सामान्य परिस्थिति में स्नेहन, स्वेदन कराने का विधान किया गया है। यहाँ विशेष स्थिति का वर्णन करके स्वेदन का निषेध किया है। स्वेदन अनेक प्रकार से कराया जाता है। यहाँ अग्निगुण-प्रधान स्वेदों का ही निषेध किया गया है, न कि निवातगृह में निवास, गरम कपड़े पहनना या ओढ़ना आदि उपकरणों का, क्योंकि इनसे भी स्वेदन कराया जाता है, आगे देखें।

कोष्णैः काममुरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः। उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन् मृदुभिः क्षणम् ॥८३॥

मृदुस्वेद की विधि—ऊपर जिस प्रकार के हिक्का तथा श्वास के रोगियों को स्वेदन नहीं कराना चाहिए, कहा गया है, यदि चिकित्सा की दृष्टि से उन्हें भी स्वेदन कराना आवश्यक हो तो गुनगुने स्नेहद्रव्यों से आवश्यकतानुसार छाती तथा गला (कण्ठप्रदेश) को सेकें, अथवा चीनी डालकर बनायी गयी उत्कारिका (रोटी या लप्सी) से थोड़ी देर स्वेदन करें, अथवा उपनाहस्वेद का उक्त अवयवों पर स्वेदन कराने के लिए उपयोग करें।

वक्तव्य—स्वेदविधि का वर्णन च० सू० अ० १४; सु० चि० अ० ३२ तथा अ० सं० सू० अ० २६ में देखें। उत्कारिका का प्रयोग वाग्भट ने अ० हृ० सू० १७।६ में किया है। इसी अध्याय के २ से ५ तक श्लोकों को उपनाहस्वेद के लिए देखें। उत्कारिका-निर्माण-विधि आगे श्लोक ८४ में देखें। अग्नि के अतिरिक्त अन्य स्वेदों का परिचय इस प्रकार है—'निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम्। उपनाहाऽऽहवक्रोधा भूरिपानं क्षुधाऽऽतपः' ॥ अ० हृ० सू० अ० १७।२८। उपर्युक्त स्वेदनकारक सभी विषय स्पष्ट हैं, भूरिपान—अधिक मद्य पीना; क्षुधा—भूख का लगना या भूखे रहना। ध्यान दें, ज्वर का प्रधान लक्षण है—'स्वेदावरोध और सन्ताप'। इस स्वेद के अवरोध को दूर करने के लिए ही उपवास या लंघन कराया जाता है, इसे आप भी भूखा रहना कहेंगे, इससे स्रोतों के मुखों के खुल जाने से स्वेद आने लगता है, अर्थात् स्वेदन हो जाता है। उक्त सभी प्रकारों को **'अनग्निस्वेद'** कहते हैं।

स्नेहसेकैः—'स्नेहयुक्तः सेकः' किंवा 'स्नेह एव सेकः तैः', इसका विशेषण है—'कोष्णैः' यही 'उत्कारिकोपनाहैः च' का भी विशेषण है।

तिलोमामाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह। स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृता हिता ॥८४॥

उत्कारिका-निर्माण-विधि—काले तिल, तीसी (अलसी), उड़द तथा गेहूँ इनको पीसकर वातनाशक तेल या तेलों का मोयन डालकर उसे आटा में खूब मिला लें। फिर काँजी आदि अम्लद्रव्यों से आटा सानकर उत्कारिका का निर्माण करें, अथवा काँजी के स्थान पर दूध से छानकर बना लें। इसी प्रकार तैयार की हुई गरम उत्कारिका से स्वेदन करें।

वक्तव्य—उत्कारिका का पर्याय रोटी तथा लपसी दोनों स्वीकार किया है। यहाँ यदि उक्त द्रव्यों की लपसी बनाकर उक्त अवयवों पर लगायी जायेगी तो प्रयोग की दृष्टि से अधिक अच्छा होगा। यदि लपसी बनानी हो तो उक्त सभी द्रव्यों के आटा को घी में भूनकर दूध डालकर पकाना चाहिए और पकते समय इसमें अम्ल द्रव्य भी मिला दें।

नवज्वरामदोषेषु रूक्षस्वेदं विलङ्घनम्। समीक्ष्योल्लेखनं वाऽपि कारयेल्लवणाम्बुना ॥८५॥

वमन-प्रयोग—नवज्वर से पीड़ित रोगियों तथा आमदोष से युक्त रोगियों के बल तथा दोष का विचार करके रूक्षस्वेद तथा लंघन कराना चाहिए, अथवा गरम जल में सैंधानमक मिलाकर रोगी को पिलायें, इससे उसे वमन कराने चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'वमन' का पर्याय 'उल्लेखन' दिया है, जो साभिप्राय है। देखें, लेखन का अर्थ है—खुरचना। ध्यान दें—शिलालेख में पत्थर को खोदकर या खुरचकर अक्षर लिखे जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी स्रोतों की भीतरी पर्तों पर कफ सटा है, उसे खुरचकर निकालने के लिए यह वमन (उल्लेखन) कराया जाता है।

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्। रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥८६॥

वातहर द्रव्य-प्रयोग—हिक्का-श्वास रोग में यदि वमन के अतियोग हो जाने से वातदोष की वृद्धि हो गयी है, ऐसा देखकर वातनाशक मांसरसों के साथ भोजन कराना चाहिए और समशीतोष्ण प्रकृति वाले ऐसे स्नेहों द्वारा अभ्यंग (मालिश) कराकर वातदोष को शान्त करायें।

वक्तव्य—यहाँ वृद्धवाग्भट ने अपनी शब्दावली में तन्त्रकार की भावना का इस प्रकार समर्थन किया है—'अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः। स्निग्धैरसाद्यैर्नात्युष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत्' ॥ अ० सं० चि० अ० ६।१८।

उदावर्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः। हिङ्गुपीलुबिडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥८७॥

वातानुलोमन-निर्देश—यदि हिक्का तथा श्वास रोगों में उदावर्त एवं आध्मान रोग हो गया हो तो बिजौरा नीबू का रस, अम्लवेतस का चूर्ण, घी में भुनी हुई हींग, पीलु नामक फल का चूर्ण एवं विरियानमक मिला हुआ भोजन रोगी को खिलायें। इस प्रकार खाया हुआ यह अन्न वायु को अनुलोम करता है।

वक्तव्य—उदावर्त और आध्मान (अफारा) में वायु विलोम होकर रोगी को कष्ट देता है। उक्त योग के सेवन से वह अनुलोम होकर अपानवायु के रूप में निकल जाता है। उक्त द्रव्यों में से कौन किस मात्रा में डालना चाहिए, कुशल परिचारक सब जानता है। हींग को घी में भूंज लेने से वह शुद्ध हो जाती है और दाल, शाक में उसका बघार भी डाला जाता है।

हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः। कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः ॥८८॥

हिक्का-श्वास रोगियों के भेद—कोई हिक्का-श्वास का रोगी बलवान् दिखलायी देता है और कोई दुर्बल। उनमें से एक कफ की अधिकता वाला होता है तथा दूसरा रूक्षता युक्त, जो रूक्षता युक्त होता है उसके शरीर में वातदोष की अधिकता होती है।

कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम्। कुर्यात् पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः ॥८९॥

बलवान् रोगी के प्रति कर्तव्य—जो हिक्का-श्वास का रोगी बलवान् हो, किन्तु कफदोष की अधिकता से पीड़ित हो, तो उसे पथ्य आहार-विहार कराते हुए विरेचन करायें (यह विरेचन स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद ही दें, अन्यथा पूरी सफलता नहीं मिलेगी। देखें—इसी अध्याय का ७१वाँ श्लोक)। उसके बाद धूमपान, अवलेह आदि संशमनकारक द्रव्यों का यथाविधि सेवन करायें।

वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः। तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः ॥९०॥

वातरोगियों में तर्पण-प्रयोग—वातदोष-प्रधान हिक्का-श्वास के वे रोगी जो दुर्बल हैं, बालक हैं तथा वृद्ध हैं, उन्हें वातशामक विविध प्रकार के स्नेहों (घृतों या तेलों), मूंग आदि दालों के यूषों तथा मांस रस आदि तर्पणों (तृप्तिकारक पेयों) से तृप्त कराना ही चाहिए।

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात्। वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥९१॥

संशोधन के अयोग्य रोगी—जिन हिक्का-श्वास के रोगियों के शरीर में अभी तक कफदोष उभड़ा न हो, जिनको पहले स्वेदन न कराया गया हो, जो शरीर से दुर्बल हों, ऐसे रोगियों को यदि संशोधन (वमन) कराया जाता है, तो वातदोष उचित अवसर पाकर मर्मस्थान (हृदय) को सुखाकर शीघ्र ही प्राणों का हरण कर लेता है, अर्थात् मार डालता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने 'मर्मसंशोष्य' कहा है। इस दृष्टि से इस हिक्का-श्वास से सम्बन्धित प्रधान मर्म हृदय ही है। वैसे फुफ्फुस और श्वासनलिका पर भी इस प्रकुपित वायु का प्रभाव पड़ता ही है, जिससे वह उन अवयवों को सुखा देती है, फलस्वरूप उस रोगी की प्राणहानि हो जाती है।

दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः। तृप्तान्विशोधयेत्स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक् ॥९२॥

हिक्का-श्वास में बृंहण-चिकित्सा—अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह जो रोगी दृढ़ (बलवान्) हों, जिनके शरीर में कफ की मात्रा अधिक हो, उन्हें आनूपदेश में उत्पन्न अथवा जलचर पशु-पक्षियों के मांस से तृप्त कराकर (इस विधि से कफ उभड़ जाता है) जिन्हें स्वेदन कराया गया है, ऐसे श्वास-कास के रोगियों को शोधन (वमन) करायें। जो रोगी बलवान् न हों अर्थात् दुर्बल हों तथा जिनके शरीर में कफदोष बढ़ा न हो, उनकी बृंहण-चिकित्सा करनी चाहिए।

बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः। दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः ॥९३॥

बृंहणीय द्रव्य—दुर्बल तथा वातदोष की प्रधानता वाले हिक्का एवं श्वास रोगियों का बृंहण करने के लिए मोर, तीतर, मुर्गा, जांगलदेशीय पशु-पक्षियों के मांस को दशमूल के क्वाथ के साथ तैयार करके अथवा कुलथी के साथ तैयार करके उसका रस रोगी को पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, बहल अर्थात् घन, स्थूल, पिच्छिल, मन्द (देर में कार्य करने वाला), स्थिर एवं श्लक्ष्ण होता है, उसे बृंहण कहते हैं। बृंहण का अर्थ है—शरीर को बृहत् अर्थात् बड़ा करने वाला। देखें—च० सू० अ० २२।१३।

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम्। त्रिकण्टकं गुडूचीं च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥
जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः। सनागरः सलवणः स्याद् यूषो भोजने हितः ॥९५॥

निदिग्धिकादि यूष—भटकटैया, बेल की गुद्दी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, गोखरू, गुडूची, कुलथी, चीता की जड़—इन सबको समान भाग लेकर यूष-निर्माण-विधि से तैयार कर छान लें। इस रस को घी से छौंक दें, इसमें पिप्पली, सोंठ का चूर्ण तथा सैंधानमक मिलाकर हिक्का तथा श्वास के रोगी को भोजन के साथ पीने के लिए दें। यह उक्त रोगों में हितकर होता है।

वक्तव्य—निर्माण-विधि—कुलथी को छोड़कर शेष सभी द्रव्यों को समभाग लेकर जौकुट कर क्वाथ तैयार कर लें। उक्त क्वाथरस को छानकर इसमें कुलथी को पकाकर उसका यूष तैयार करें। शेष स्पष्ट है। यदि हम छोटी कटेरी आदि द्रव्यों को १ तोला के प्रमाण में लेते हैं, तो कुलथी ४ तोला लें। १ प्रस्थ (६४ तोला) उक्त द्रव्यों के क्वाथरस में कुलथी का यूष तैयार करें।

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान्।
पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन् यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥ ९६ ॥

रास्नादि यूष—रास्ना, बरियारा की जड़, ह्रस्व पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू), मूंग, चीता की जड़—इन सबको समभाग लेकर षडंगपरिभाषा के अनुसार इन द्रव्यों को पानी में डालकर पकायें, तैयार होने पर छान लें। उसके बाद उस छने हुए जल में मूंग की दाल डालकर पहले की भाँति उसका यूष तैयार करें। यह रास्नादि यूष हिक्का-श्वास के रोगी को भोजन के साथ पीने के लिए दें।

वक्तव्य—पूर्ववत् का तात्पर्य है कि उपर्युक्त 'निदिग्धिकादि यूष' की भाँति इस रास्नादि यूष को भी तैयार कर उसी प्रकार इसका सेवन भी करें।

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च। पक्त्वा मुद्गांश्च सव्योषान् क्षारयूषं विपाचयेत् ॥

मातुलुङ्गादि यूष—बिजौरानीबू की नयी पत्तियाँ, नीम की पत्तियाँ, परवल की पत्तियाँ इनको समान भाग में लेकर पूर्ववत् पानी में पकायें, उसे छानकर उसमें मूंग का यूष तैयार करें। तैयार हो जाने पर इस यूष में सोंठ, मरिच, पिप्पली का चूर्ण तथा क्षार (यवक्षार या अपामार्ग क्षार) का चूर्ण करके मात्रानुसार मिलायें।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'क्षारान् यूषं' पाठ को सादर उद्धृत किया है, किन्तु निर्णयसागरीय प्रति में उसके स्थान पर 'क्षारयूषं' पाठ दिया है। श्रीचक्रपाणि इसका अर्थ करते हैं—'क्षारेण युक्तो यूषः क्षारयूषः, तम्= क्षारयूषम्' जो सर्वथा व्याकरण-सम्मत, प्रसंगोचित एवं युक्ति-युक्त है।

दत्त्वा सलवणं क्षारं शिग्रूणि मरिचानि च। युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारनुत् ॥

सामान्य यूष—युक्तिपूर्वक मूंग आदि का यूष बनाकर उसमें नमक, जवाखार, सहिजन के बीज, कालीमिरिच इन सबका मात्रानुसार चूर्ण मिलाकर हिक्का-श्वास के रोगी को पिलाने से उसके उक्त रोगों का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ यूष द्रव्य का नाम नहीं दिया गया है। ऊपर अनेक योगों में मूंग का नाम स्पष्ट रूप से आया है। सहिजन के बीजों का उल्लेख लवण, क्षार, मरिच के बीच में आया है; अतः इन्हें चूर्ण करके मिलाना ही उचित प्रतीत होता है, अन्यथा इन बीजों को पकते समय मूंग के साथ डाला जा सकता है। सहिजन की फलियाँ तो शाक के रूप में प्रिय होती ही हैं।

कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च। शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः ॥९९॥

अन्य अनेक यूष—१. कासमर्दक (कसौंदी) के पत्तों का यूष, २. सहिजन का यूष, ३. सुखायी गयी मूली का यूष—ये तीनों यूष हिक्का-श्वास रोगों का विनाश करते हैं।

सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्ताकजो हितः। शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च ॥१००॥

वार्ताक यूष—बैंगन के स्वरस या क्वाथ से बनाये गये यूष को छान लें। उसमें दही, सोंठ, मरिच, पीपल इनका चूर्ण और घी मिलाकर हिक्का-श्वास के रोगियों को दें।

हिक्का-श्वास में पथ्य—शालिधान का चावल, सांठी का चावल, गेहूं का आटा, जौ का आटा—ये सभी पुराने अन्न हिक्का-श्वास रोगी के लिए पथ्य होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर अनेक यूष कहे गये हैं। यहाँ पथ्य के रूप में भात अथवा रोटी बनाने के लिए पुराने धान्यों का परिगणन कर दिया गया है। इनके भात या रोटी बनाकर यूषों के साथ खाना चाहिए। ये यूष रुचिवर्धक तथा रोगनाशक होते हैं।

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडपौष्करचित्रकैः। सिद्धा कर्कटशृङ्ग्या च यवागूः श्वासहिक्किनाम् ॥

हिङ्ग्वादि यवागू—हींग, सोंचर नमक, जीरा, बिरिया नमक, पोहकरमूल, चीता की जड़, काकड़ासिंगी—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर पहले क्वाथ कर लें, तैयार होने पर छान लें, इस क्वाथरस से यवागू तैयार करें। यह यवागू श्वासरोगियों तथा हिक्कारोगियों के लिये हितकर होती है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने उक्त श्लोक में दो योग माने हैं, जो तन्त्रकार की भाषा से स्पष्ट नहीं होते और जिनका कोई औचित्य भी प्रतीत नहीं होता। यथा—१. हिंगु से चित्रक तक तथा २. केवल कर्कटशृंगी वाला योग।

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीमूलपौष्करैः। शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागराम्बुभिः ॥१०२॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः। कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये ॥१०३॥

दशमूलादि यवागू—दशमूल (लघुपञ्चमूल तथा बृहत्पञ्चमूल के सभी द्रव्य), कचूर, रास्ना, पिप्पलीमूल, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, भुईं आँवला, भार्गी, गुरुच, सोंठ इनको समानभाग लेकर क्वाथ कर लें, तैयार होने पर छान लें। इस क्वाथरस से तैयार की हुई यवागू का सेवन कास, हृद्ग्रह (हृदय के स्पन्दन में रुकावट का आ जाना), पसलियों में पीड़ा का होना तथा हिक्का और श्वास रोगों को शान्त करने के लिए करें। अथवा केवल उक्त द्रव्यों से तैयार किये गये कषाय (क्वाथ) का पान करें।

पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः। योजयेदन्नपानानि सर्सापिर्बिडहिङ्गुभिः ॥१०४॥

पुष्करादि योग—पोहकरमूल, कचूर, सोंठ, मरिच, पीपल, बिजौरानीबू, अम्लवेतस इनका समभाग चूर्ण तैयार करें। घी, विरियानमक तथा हींग इन सभी द्रव्यों से संयुक्त अन्न एवं पान का प्रयोग हिक्का-श्वास रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए करें।

वक्तव्य—हिक्का-श्वास रोगियों के लिए यवागू, पेया आदि जो भी अन्नपान तैयार किया जाय उसे घी और हींग से छौंक दें। उसमें पुष्करादि चूर्ण तथा विरियानमक मात्रानुसार मिलाकर तब रोगियों को सेवन करायें।

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः। तृषितो मदिरां वाऽपि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः ॥१०५॥

हिक्का-श्वास में पेय—हिक्का तथा श्वास के रोगी को जब प्यास लगे, तब वह दशमूल का क्वाथ अथवा देवदारु के सारभाग का क्वाथ या मदिरा को पीये।

वक्तव्य—पीने के लिए जिन क्वाथों की आवश्यकता समझी जाती है, उनको दिनभर के लिए प्रातः काल बनवाकर रख लिया जाता है। इस प्रकार के क्वाथों का निर्माण 'षडंगपरिभाषा' के अनुसार करना चाहिए। इन क्वाथों को थोड़ा-थोड़ा और बार-बार दें।

पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च। प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत् ॥१०६॥
तं मन्दलवणं कृत्वा भिषक् प्रसृतसम्मितम्। पाययेत्तु ततो हिक्का श्वासश्चैवोपशाम्यति ॥१०७॥

पाठादि आसव—पाठा, मूर्वा की जड़, रास्ना, सरल (चीड़ का सारभाग), देवदारु का सार भाग, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इन्हें पानी से धोकर साफ कर लें, उसके बाद इन्हें चूर्ण करके (द्रव्यों के कुल परिमाण से चौगुना अथवा आठगुना) सुरामण्ड (मद्य के ऊपरी द्रव) में डालकर उस पात्र का मुख बन्द करके (१ या २ दिन) रख दें, उसके बाद छानकर उस द्रव को रख लें। उसे १ प्रसृत (८ तोला) की मात्रा में लेकर उसमें हलका नमक मिलाकर रोगी को पिलाये। इससे हिक्का तथा श्वास रोग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—आयुर्वेदीय दृष्टि से हम इसे आसव भले ही कह लें, परन्तु इसकी निर्माण-विधि को देखकर इसे Tincture या Distillation कहा जा सकता है। पाठा आदि सभी सूखे द्रव्य हैं, सुरामंड के बहुत से द्रवांश को ये स्वयं पी जाते हैं, अतः इस तथ्य को ध्यान में रखकर द्रव द्रव्य उसमें डालना चाहिए। आचार्य गंगाधर ने सुरामण्ड के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—सूखे द्रव्य सब मिलाकर जितने परिमाण में हों, उससे चौगुना या छः गुना सुरामण्ड लें। हमारे विचार से सुरामण्ड को चौगुना लेना प्रारम्भिक सीमा है और आठगुना लेना उसकी अन्तिम सीमा है। यदि चौगुना सुरामण्ड डालकर इसका निर्माण किया गया तो इसकी मात्रा और भी कम करनी होगी। १ प्रसृत की मात्रा तो सोमपान युग की मात्रा है।

वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है—'पाठां मधुरसां दारु सरलं च निशि स्थितम्। सुरामण्डेऽल्पलवणं पिबेत् प्रसृतसम्मितम्' ॥ अ० सं० चि० अ० ६।३१½ ॥ महर्षि आत्रेय ने, कब तक सुरामण्ड में रखा जाय, इसका कोई परिमाण नहीं दिया है और वृद्धवाग्भट ने मात्र १ रात्रि रखने का परामर्श दिया है। एक रात्रि में उक्त पाठा आदि द्रव्यों का तत्त्व उस सुरामण्ड में तभी आ सकता है, जब हम उक्त द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके उसमें डालें। इसकी सामयिक मात्रा ४० से ५० बूंद तक है।

हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम्। मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन वा पिबेत् ॥१०८॥

हिङ्ग्वादि चूर्ण—घी में भुनी हुई हींग, सोंचर नमक, जंगलीबेर, समङ्गा (मजीठ), पिप्पली, बला की जड़—इनके समभाग कपड़छन चूर्ण को बिजौरानीबू के रस से पीसकर अथवा काँजी से पीसकर पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इसी प्रकार के एक योग को पेय विकल्पों के साथ अपनाया है—'आरनालेन पिष्ट्वा वा मातुलुङ्गरसान्वितान्। हिङ्गुसौवर्चलकणाकोलमुद्गान् जलेन वा' ॥ अ० सं० चि० अ० ६।३३½ ॥ इसकी टीका करते हुए श्री इन्दु लिखते हैं—'हिङ्ग्वादिमुद्गान्तान् काञ्जिकेन पिष्ट्वा पिबेत, मातुलुङ्गरसान्वितान् वा पिबेत्'। उक्त पाठ में मूंग अधिक है और समंगा, बला का अभाव है। आचार्य गंगाधर ने 'आरनालेन वा पिबेत्' के स्थान पर 'आरनालेन ना पिबेत्' पाठभेद किया है। इसका तात्पर्य है—बिजौरानीबू का रस डालकर उक्त चूर्णों को चटनी की भाँति पीसे और आरनाल (काँजी के) साथ उसे पीये। द्रव्य-परिमाण—हींग ४ रत्ती, शेष द्रव्य १-१ माशा लें।

सौवर्चलं नागरं च भार्गीं द्विशर्करायुतम्। उष्णाम्बुना पिबेदेतद्धिक्काश्वासविकारनुत् ॥१०९॥

सौवर्चलादि चूर्ण—सोंचर नमक, सोंठ, भारंगी—इन तीन द्रव्यों को समान भाग लें और चीनी २ भाग; उक्त तीनों द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके उसमें चीनी मिला लें। इसे १ माशा की मात्रा में लेकर गरम पानी से सेवन करें। यह चूर्ण हिक्का-श्वास रोग का विनाशक है।

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा। पीतद्रुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत् ॥११०॥

भार्गीनागरादि योग—१. भार्गी और सोंठ, २. कालीमिर्च तथा जवाखार, ३. पीतद्रु (देवदारु या दारुहल्दी), चीता की जड़, आस्फोता (सारिवा), मूर्वामूल इन द्रव्यों के अलग-अलग कल्क तैयार करके चिकित्सक की अनुमति के अनुसार गरम पानी के साथ रोगी पीये।

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा। उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ॥१११॥

उत्कारिका प्रयोग—मधूलिका, वंशलोचन, सोंठ, पीपल इन द्रव्यों को समभाग में लेकर इनका कपड़छन चूर्ण कर पानी में सानकर घी में पकायी गयी उत्कारिका का प्रयोग पित्तप्रधान श्वासरोग में करना चाहिए।

वक्तव्य—वैद्यकशब्दसिन्धु में 'मधूलिका' के अनेक पर्याय दिये हैं—१. मूर्वा (रा० नि० व० ३ तथा भा० प्र० पू० खं०), यष्टीमधु (भा० प्र० पू० खं०), मधूली (सु० सू० अ० ४६।२५), मध्यदेशज गोधूम (भावप्रकाश पू० खं० प्र० १०।३१) इसी का नाम स्वल्पगोधूम भी है, अतः यहाँ प्रसंगोचित यही लग रहा है। इसे चार भाग लें, शेष द्रव्य १-१ भाग लें। इनको घी में भून लें तब पानी डालकर लपसी तैयार करें; यही रोगी को खिलायें। हम तो श्वास रोग में उचित चिकित्सा के साथ पथ्य के रूप में उत्तम प्रकार से तैयार की गयी खीर, हलुआ या मालपूआ, पीने के लिए गुन-गुना जल दिलाते हैं, किन्तु यह व्यवस्था सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही दी जा सकती है।

श्वाविधं शशमांसं च शल्लकस्य च शोणितम्। पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे ॥

श्वासरोग में मांस-प्रयोग—वातदोष के अनुबन्ध के कारण उत्पन्न श्वासरोग में श्वाविध (श्वानं विध्यति, अन्यत्र—शुना आविध्यते—श्वन्+आ+व्यध्+क्विप्=साही) का मांस, खरगोश का मांस और शल्लक (साही) का ताजा रक्त इनको अलग-अलग घी के साथ पकाकर तैयार होने पर पिप्पलीचूर्ण मिलाकर उक्त श्वासरोगी को खिलाने तथा पिलाने चाहिए।

वक्तव्य—'पिप्पलीघृतसिद्धानि' इस समस्त वाक्य से यह सिद्ध होता है—कि १. श्वाविध का मांस, २. खरगोश का मांस, ३. शल्लक का रक्त इन तीनों का अलग-अलग पाक करना चाहिए, जो उचित भी है, किन्तु वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को एक साथ तैयार कर उससे उत्कारिका-निर्माण की सलाह दी है। देखें—अ० सं० चि० अ० ६।३६-३७। वास्तव में कल्पना-विधि में तन्त्रकारों से लेकर चिकित्सकों तक सभी में स्वतन्त्रता देखी जाती है। श्वाविध, शल्लक, शल्लकी शब्दों का चरक में अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। ये सभी शब्द एक ही प्राणी को सूचित करते हैं। साही के रक्त तथा मांस दोनों का अलग-अलग प्रयोग करना बताया है। जब किसी प्राणी के रक्त का संग्रह किसी पात्र में किया जाता है, तो वह अपनी उष्णता समाप्त होते ही जम जाता है। इसको भी मांस की तरह पकाया जाता है। घी मिलाने के दो प्रकार होते हैं—१. पर्याप्त घी में मांस को भूंजकर पकाया जाय, २. अथवा जब मांस पकने लगे तो उसी में घी डाल दिया जाय; कालीमिर्च का चूर्ण पहले भी डाला जा सकता है, अथवा खाते समय भी मिला लेते हैं

सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम्। शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम् ॥११३॥

सुवर्चलादि चूर्ण—वातदोष तथा पित्तदोष का जिस श्वासरोग में अनुबन्ध (लगाव) हो, ऐसे रोगी को शाली चावल का भात खाने के लिए दें, तदनन्तर सुवर्चला (हुरहुर) के स्वरस में दूध, घी और सोंठ, मिरिच, पिप्पली का कपड़छन चूर्ण मिलाकर यह पेय उसे पीने के लिए दें।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर इस श्लोक में तीन योगों की सत्ता इस प्रकार स्वीकार करते हैं—१. सुवर्चला स्वरस, २. दूध, ३. घी में सोंठ, मिरिच, पिप्पली का चूर्ण मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए। किन्तु वृद्धवाग्भट इसे एक ही योग मानते हैं। इसके लिए मूल पाठ पर ध्यान दें—अ० सं० चि० अ० ६।३८।

शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः। पिप्पलीमधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मतः ॥११४॥

कफपित्तानुग श्वास-चिकित्सा—यदि श्वास रोगी में कफदोष तथा पित्तदोष दोनों का सम्बन्ध दिखलायी देता हो, तो शिरीष के फूलों के स्वरस अथवा सप्तपर्ण (छतिवन) की पत्तियों के स्वरस में पिप्पली चूर्ण और मधु मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए, ऐसा महर्षि आत्रेय का मत है।

मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो [1]गोश्वशकृद्रसः। कृतं क्षौद्रं कासश्वासहिक्काभिष्यन्दिनां शुभम् ॥११५॥

मधुकादि योग—मुलेठी, पिप्पलीमूल, गुड़, गाय के गोबर तथा घोड़ा की लीद का रस घी और मधु मिलाकर पीने से कास, श्वास, हिक्का एवं अभिष्यन्द रोगियों का हित होता है।

वक्तव्य—यहाँ अभिष्यन्द शब्द से स्रोतों के भीतर स्थित कफ के कारण उत्पन्न क्लिन्नता को समझना चाहिए, न कि नेत्र रोगों में परिगणित 'अभिष्यन्द रोग'।

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च। शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत् ॥११६॥

कफप्रधान हिक्का-श्वास-चिकित्सा—गधा, घोड़ा, सूअर, भेड़ा, हाथी इनमें से प्रत्येक प्राणी का मल (गोबर) लेकर उसका रस निकाल लें, उस रस में मधु मिलाकर पीते रहना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ सभी पुरुष-प्राणियों के मल का ग्रहण किया गया है। इस योग को वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट दोनों ने उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ६।४०। अ० हृ० चि० अ० ४।३७। **एकैकम्**—इस शब्द का अन्य टीकाकारों ने 'किसी एक प्राणी का मल लेकर' ऐसा अर्थ किया है, ऐसा प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से उचित नहीं है।

क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लिह्यान्ना क्षौद्रसर्पिषा। मयूरपादनालं वा शकलं शल्लकस्य वा ॥११७॥
[2]श्वाविज्जाण्डकचाषाणां रोमाणि कुररस्य वा। [3]भृङ्गचैकद्विशफानां वा चर्मास्थीनि खुरांस्तथा॥
सर्वाण्येकैकशो वाऽपि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्।
चूर्णं लीढ्वा जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् ॥ ११९ ॥

विविध प्रयोग—१. हिक्का-श्वास का रोगी असगन्ध के क्षार को घी-शहद के साथ चाटे। २. अथवा मोर के पैरों की नलकास्थियों का क्षार, ३. शल्लक के शकलों का क्षार, ४. साही के काँटों का क्षार, ५. जाण्डक के रोमों का क्षार, ६. चाप पक्षी के रोमों का क्षार, ७. कुरर पक्षी के रोमों का क्षार, ८. सींगवाले, एक खुर वाले तथा दो खुर वाले प्राणियों के चर्म, हड्डी तथा खुरों का क्षार। सबको एक-एक बार जलाकर मात्रानुसार शहद और घी में मिलाकर चाटें। इसके सेवन से भयंकर कास, हिक्का तथा श्वास रोगों को जीतना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये ये सभी योग स्वतन्त्र हैं। **मयूरपादनालम्**—यद्यपि इसका अर्थ श्रीचक्रपाणि 'मयूरपिच्छस्यैव नालम्' लिखते हैं, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है। उन्होंने पाद का अर्थ पीठ में उत्पन्न पंख और उसकी डंडी कैसे लिख दिया, विचारणीय है। यद्यपि मयूरपिच्छ भस्म श्वास-कास में दी जाती है। यदि तन्त्रकार को यही अभीष्ट होता तो क्या वे 'मयूरपिच्छनालं' नहीं लिख सकते थे? श्रीजयदेव के सम्मुख भी चक्रपाणि की टीका थी, किन्तु उन्होंने 'मोर के पैर की नली' ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है।

---

१. 'गोशकृतो रसः' इति पा०।
२. 'श्वाविद्रोहकचाषाणाम्' इति, 'श्वाविज्जाहकचाषाणाम्' इति च पा०।
३. 'एकद्विशफश्ृङ्गाणि' इति पा०।

शकलं शल्लकस्य वा—श्रीगणनाथसेन यहाँ 'शकल' के स्थान पर 'शलल' पाठ को महत्त्व देते हैं, इस स्थिति में स्पष्ट अर्थ होगा 'साही का काँटा'। यदि हम निर्णयसागरीय पाठ 'शकल' का आदर करते हैं, तो श्रीचक्रपाणि की टीका पर ध्यान जाता है; वे लिखते हैं—'शकलमिति मत्स्यशकलाकारम्'। ऐसा लिखकर वे अन्तर्धान हो जाते हैं, बात अधर में ही रह जाती है। शल्लक शब्द से मिलता-जुलता शब्द शल्लकी है, इस को 'शल्लक' भी कहते हैं, तब इसका रूप 'शल्लकस्य' हो जायेगा। इस वृक्ष के बाहर से 'शकल' चप्पड़ की भांति छिलके निकला करते हैं। 'शल्लक' के लिए देखें—बृहत् हिन्दी कोष, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, संवत् २०३०। किसी टीकाकार ने 'मछली की चोइं (छिलका) का क्षार' ऐसा अर्थ किया है। यह अर्थ तब होता, जब कि **'शल्कल्याः शल्कलस्य वा'** ऐसा पाठ होता, किन्तु ऐसा है नहीं। उक्त शब्द के लिए देखें—ज्ञानमण्डल द्वारा प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोष'।

एते हि कफसंरुद्धगतिप्र[1]ाणप्रकोपजाः। तस्मात्तन्मार्गशुद्धचर्थं देया लेहा न निष्कफे ॥१२०॥

क्षार-प्रयोग से लाभ—इस प्रकरण में ऊपर जो लेह तथा क्षार कहे गये हैं, वे सभी कफ द्वारा जब श्वास मार्ग रुक जाता है, प्राणवायु कुपित हो जाती है, तो ये क्षार उसके रुके हुए मार्ग को शुद्ध कर देते हैं। यदि रोगी के शरीर में कफ की वृद्धि न हुई हो या कफ द्वारा श्वासमार्ग न रुका हो तो, ऐसी स्थिति में इनका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

कासिने च्छर्दनं दद्यात् स्वरभङ्गे च बुद्धिमान्। वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥१२१॥

श्वास में वमन-विरेचन—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह हिक्का तथा श्वास रोग से पीड़ित व्यक्ति को यदि खाँसी आ रही हो और स्वर-भंग (गला बैठ गया) हो, तो उसे वातनाशक एवं कफनाशक द्रव्यों के योग से वमन कराये और तमकश्वास के लक्षण हों तो उसे विरेचन दे।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर '**वातश्लेष्महरैर्युक्तम्**' इस पद्यांश का सम्बन्ध केवल 'छर्दनं' (वमन) के साथ ही करने की अनुमति देते हैं। हमारे विचार से यह पद्यांश 'विरेचनम्' का भी विशेषण है। आप भी विचार करें।

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद् वहज्जलम्। यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥१२२॥

वातमार्गशोधन-निर्देश—जिस प्रकार नदी आदि का बहता हुआ जल मार्ग के रुक जाने या रोक दिये जाने के कारण ऊपर की ओर को बढ़ने लगता है, या उभड़ जाता है, उसी प्रकार निरन्तर गतिशील वायु के मार्ग को कफदोष रोक देता है, तो वायु भीतर ही भीतर प्रकुपित हो जाती है। अतः प्रतिदिन वायु के मार्ग का शोधन करते रहना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इसी विषय को विस्तार के साथ दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ६।९-१०।

शटीचोरकजीवन्तीत्वङ्मुस्तं पुष्कराह्वयम्। सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥१२३॥
बालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम्। सर्वथा तमके श्वासे हिक्कायां च प्रयोजयेत् ॥१२४॥

शटी आदि चूर्ण—कचूर, चोरपुष्पी, जीवन्ती, दालचीनी, नागरमोथा, पोहकरमूल, सुरस (तुलसी) की पत्तियाँ, भुई आँवला, इलायची, पिप्पली, अगरु, सोंठ, सुगन्धबाला—इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। चूर्ण से आठ गुना अधिक चीनी उस चूर्ण में मिला दें। इस चूर्ण का प्रयोग पूर्णरूप से तमकश्वास और हिक्का रोग में करें।

वक्तव्य—चूर्ण द्रव्यों को समभाग लेने से कूटने के बाद समभाग चूर्ण प्राप्त नहीं होता, अतः जहाँ द्रव्यों को समान लेने की चर्चा हो वहाँ कुटे हुए चूर्ण को समान मात्रा में लेना चाहिए। मात्रा—२ या ३ माशा।

मुक्ताप्रवालवैदूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम्। [2]ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥१२५॥
ताम्रायोरजसी रूप्यं [3]ससौगन्धिकसीसकम्। जातीफलं शणाद्वीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥१२६॥

---

१. 'प्राणप्रकोपहाः' इति पा०।
२. 'सक्षारगन्धकाचार्क' इति, 'सक्षारगन्धकाचानि' इति च पा०।
३. 'सौगन्धिककसेरुकम्' इति पा०।

एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा। हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति॥
अञ्जनात् तिमिरं काचं नीलिकां पुष्पकं तमः। [1]मल्यं कण्डूमभिष्यन्दमर्मं चैव प्रणाशयेत्॥
इति मुक्ताद्यं चूर्णम्।

मुक्तादि चूर्ण—मोती भस्म, प्रवाल (मूंगा) भस्म, वैदूर्य (लहसुनिया) भस्म, शंख भस्म, स्फटिक (बिल्लौर पत्थर) भस्म, अंजन भस्म, ससार (शीशा-काच) भस्म, शुद्धगन्धक, मदार, छोटी इलायची, सौंचर-नमक, सैंधानमक, ताम्रभस्म, लौहभस्म, चाँदीभस्म, सौगन्धिक (माणिक्य मणि भेद-पद्मराग) भस्म, सीसा भस्म, जायफल, सनई के बीज, अपामार्ग के चावल—इन सबके पाणितल (१ तोला) मात्र चूर्ण को मधु-घृत के साथ मिलाकर चाटें। इसका सेवन करने से हिक्का, श्वास तथा कास रोग शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। इसका अञ्जन लगाने से तिमिररोग, काच, नीलिका, पुष्पक (आँख फूली), आँखों से कम दिखलायी देना, आँखों से कीचड़ निकलना, आँखों में खुजली होना, अभिष्यन्द नामक नेत्ररोग एवं अर्मरोग का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—'ससारगन्धकाचार्क' निर्णयसागरीय इस पाठ के स्थान पर अनेक पाठ उपलब्ध होते हैं—१. 'सक्षारगन्धकाचार्क'। २. 'सक्षारगन्धकाचानि'। ३. 'ससारकाचगन्धार्क' ग०। ४. 'मसारगल्लस्फटिक' वृद्धवाग्भट। यदि हम निर्णयसागरीय प्रति के पाठ पर विचार करते हैं, तो 'ससार' का अर्थ हुआ 'काचमणि', आगे है—'गन्धकाचार्क' यदि हम 'गन्ध' शब्द से 'गन्धक' लेते हैं, तो फिर 'काच' का क्या अर्थ करेंगे ? क्योंकि 'काच' शब्द 'काचमणि' का ही वाचक है। इसके अन्य पर्याय यहाँ प्रसंग के अनुकूल नहीं प्रतीत होते। इसका एक पर्याय 'काचलवण' भी है, यदि उसका प्रयोग यहाँ कर लिया जाय तो उचित होगा, क्योंकि यह 'कफ-वात-नाशक' होता है। देखें—रा० नि० व० ६।

पाठभेद—विभिन्न पाण्डुलिपियों के पाठों को देखने से तथा अर्थ के असंगत प्रतीत होने से ही प्रायः इन पाठभेदों का जन्म होता है। प्रथम कारण में तो कुछ कहा नहीं जा सकता किन्तु दूसरा कारण विचारहीनता का संकेतक होता है। ऐसी स्थिति में दिये गये पाठभेदों पर विचार करना चाहिए और मूल को बदलना नहीं चाहिए। विद्वान् टीकाकार अपने विचार को वक्तव्य आदि के रूप में दे दें।

इस पाठ में कई द्रव्य भस्म करके प्रयुक्त किये जाने वाले हैं, कुछ चूर्ण करके दिये जाने वाले हैं। इसमें शुद्धगन्धक भी चूर्ण करके ही डाला जायेगा। श्रीचक्रपाणि ने 'मुक्तेत्यादौ ससारः स्फटिक एव' लिखकर विचार करने के लिए बाध्य किया है, कि इस श्लोक में पहले शब्दतः 'स्फटिक' शब्द का प्रयोग हुआ है और फिर 'ससार' को भी यदि 'स्फटिक' माना जाय तो इसे दूना लेना चाहिए। 'अर्म' एक प्रकार का नेत्र रोग है, यह पाँच प्रकार का होता है। देखें—म.धवनिदान, नेत्ररोग प्रकरण। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट द्वारा प्रदत्त योग का भी अवलोकन कर लें—अ० सं० चि० अ० ६।४३-४४।

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च। मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम्॥१२९॥

शटी आदि योग—कचूर, पोहकरमूल—इन दोनों का कपड़छन किया हुआ समभाग चूर्ण, अथवा आँवलों का चूर्ण, अथवा काललौह (इस्पाती लोहा) का चूर्ण (अयस्कृति) मधु के साथ चाटने से हिक्का-श्वास रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—'काललौहजम्'—अन्यत्र लौह शब्द सभी प्रकार की धातुओं का सूचक है। देखें—'सर्वं स्वाद तैजसं लौहम्' अमरकोष। किन्तु केवल 'लौह' को 'कालायस' कहा गया है। उसी का पर्याय है—'काललौह'।

सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोश्वशकृद्रसम्। तुल्यं गुडं नागरं च प्राशयेन्नावयेत् तथा॥१३०॥

प्राशन-नावन योग—चीनी, भुँइ आँवला, मुनक्का, गाय तथा घोड़ा के गोबर का रस, गुड़ एवं सोंठ का चूर्ण इन सबको समभाग में लेकर चाटें तथा इसी की नस्य भी लें।

वक्तव्य—कुछ विद्वान् उक्त श्लोक में दो योगों की कल्पना करते हैं। उस स्थिति में 'शर्करां' से लेकर 'गोश्वशकृद्रसम्' तक एक योग तथा शेष को दूसरा योग मानना चाहिए।

---

१. 'पिल्लम्' इति पा०।

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा। नावयेच्चन्दनं वाऽपि नारीक्षीरेण संयुतम्॥१३१॥

हिक्का-श्वास में नस्य—जब हिक्का या श्वास रोग अपने पूर्ण वेग में हो उस समय लहसुन, प्याज तथा गाजर के मूल का स्वरस नस्य के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। अथवा लालचन्दन को घिसकर स्त्री के दूध में मिलाकर इसका नस्य दें।

वक्तव्य—यहाँ 'मूलं' शब्द लहसुन, प्याज, गाजर सबका विशेषण है। इससे उक्त द्रव्यों के अन्य अवयवों (फूल, पत्ती, बीज आदि) का निषेध हो जाता है। 'नारीक्षीरेण' शब्द से स्त्री मात्र का दूध लिया जा सकता है।

सुखोष्णं घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम्। नावयेन्माक्षिकीं विष्ठामलक्तकरसेन वा॥१३२॥
नारीक्षीरेण सिद्धं वा सर्पिमधुरकैरपि। पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिक्कां नियच्छति॥१३३॥
सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्धिक्किनां पयः। पाने नस्तःक्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम्॥१३४॥

अन्य नस्य योग—१. अथवा गुन-गुने घी के मंड (मक्खन को आँच पर रखने से जो ऊपर साफ घी दिखलायी देता है, उसे घृतमंड कहते हैं) तथा सैंधानमक का चूर्ण मिलाकर नस्य दें। २. अथवा अलक्तक (आलता या महावर) के रस में मक्खी की बीट को पीसकर मिलाकर नस्य दें। ३. स्त्री के दूध तथा मधुरक (जीवनीय) गण में कहे गये द्रव्यों के कल्क से विधिपूर्वक पकाये गये गाय के घी को पीने से, नस्य के लिए नाक में डालने से शीघ्र ही हिक्का का वेग रुक जाता है। ४. अथवा चीनी तथा मधु मिश्रित दूध को एक बार गरम करके पीने के लिए दिया जाय और उसी गरम दूध की नस्य दी जाय फिर दूसरी बार चीनी मधु मिला हुआ ठंडा दूध पीने के लिए दें और उसी ठंडे दूध की नस्य भी दें, बार-बार इस क्रम को अपनाने से हिक्का के वेग शान्त हो जाते हैं।

अधोभागैर्घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति। पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः॥

हिक्का-नाशक योग—१. अथवा अधोभाग पर प्रभाव डालने वाले विरेचक द्रव्यों के क्वाथ से तैयार किया हुआ घी शीघ्र ही हिक्का रोग को शान्त करता है। रोगी इस घी को पीये। २. अथवा आँवला और कैथ के रस में पिप्पली चूर्ण एवं मधु मिलाकर चाटने से हिक्का के वेग शान्त हो जाते हैं।

लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान्। लिह्यात् कोलमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा॥

अन्य योग—१. धान का लावा (खील), लाक्षा चूर्ण, मधु, मुनक्का, पिप्पली, घोड़े की लीद का रस इनको मात्रानुसार मिलाकर चाटना चाहिए। २. अथवा झड़बेर, मधु, मुनक्का, पिप्पली तथा सोंठ का चूर्ण इनको मात्रानुसार रोगी को चटवाना चाहिए।

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम्। क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यावना मताः॥

हिक्कावेग-शामक प्रयोग—जिस समय हिक्का रोग का वेग बढ़ जाय, उस समय एकाएक शीतल जल का छिड़काव, भय दिलाना या घबड़ाहट पैदा करना, आश्चर्य पैदा करना, भय, क्रोध हर्ष या प्रिय वस्तु, प्रियजन की प्राप्ति या उद्वेगजनक समाचार ये सभी या इनमें से कोई एक प्रयोग हिक्का के वेग की समाप्ति करा देता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त विधियों से रोगी का ध्यान दूसरी ओर कुछ समय के लिए बँट जाता है, उतनी देर हिक्का या श्वास के वेग समाप्त हो जाते हैं। यह क्षणिक चिकित्सा है।

हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत् प्रकीर्तितम्। वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्काश्वासविकारिभिः॥

निदान-परित्याग—हिक्का तथा श्वास रोगों का जो निदान (कारण) कहा गया है, आरोग्यता की इच्छा रखने वाले पुरुषों को चाहिए कि वह उस-उस कारण का सतर्कता पूर्वक परित्याग करें।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में निदान (रोग के मूल कारण या कारणों) का परिवर्जन सबसे सरल एवं उत्तम चिकित्सा है। ऐसा करने से रोग को बल नहीं मिल पाता और उत्पन्न दोष का शमन तो करना ही पड़ता है। देखें—'केचित् तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्'। च० सू० अ० १६।२८।

[1]हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः। प्रकृत्या रूक्षदेहाश्च सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत्॥

घृत-प्रयोग—हिक्का-श्वास रोग के साथ होने वाले छाती, गला, तालु की शुष्कता आदि उपद्रवों तथा स्वभाव से सूखे (अल्प मांस वाल) रोगियों की चिकित्सा रोगनाशक औषधद्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए घृतों को पिलाकर करनी चाहिए।

दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डे च साधयेत्। कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः॥१४०॥
कायस्थया च तत् पानाद्धिक्काश्वासौ प्रणाशयेत्।

दशमूलादि घृत—दशमूल (लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू। बृहत् पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, अग्निमन्थ=अरणी) के क्वाथ और दही के मंड (जल) से पिप्पली, सौंचर नमक, जवाखार, वयःस्था (आँवला), हींग, चोरक, कायस्था (हरीतकी) इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर इनका कल्क तैयार कर इनसे घृतपाक करें। इसका विधिवत् सेवन करने से हिक्का और श्वास की शान्ति होती है।

वक्तव्य—घृत-निर्माण-विधि का वर्णन पूर्व प्रसंगों में किया जा चुका है, तदनुरूप कल्क, क्वाथ को भी बना लें। मात्रा—६ माशा से १ तोला तक।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी॥१४१॥
भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी। सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका॥१४२॥
तालीसपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसम्मितैः। हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत् तोये चतुर्गुणे॥१४३॥
एतद् यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः। [2]शोथानिलार्शोग्रहणीहृत्पार्श्वरुज एव च॥१४४॥
इति तेजोवत्यादिघृतम्।

तेजोवत्यादि घृत—तेजबल (नेपाली धनियाँ), हरड़, कूठ, पिप्पली, कुटकी, भूतीक, पोहकरमूल, पलाश, चीता की जड़, कचूर, सौंचर नमक, भुँइ आँवला, सैंधानमक, बेल की गुद्दी, तालीसपत्र, जीवन्ती, बालवच इन द्रव्यों को प्रत्येक १-१ अक्ष (१-१ तोला) लें, हींग चौथाई हिस्सा लेकर इनको पीसकर कल्क तैयार करें। घी १ प्रस्थ (६४ तोला), घी से चौगुना (२५६ तोला), जल लेकर इस घृत का पाक करें, तैयार हो जाने पर इसे छान कर रख दें। रोगी के अग्नि बल को ध्यान में रखकर इसकी मात्रा का निर्धारण करें। उस अनुपात में इसको पीने से यह घृत हिक्का, श्वास, शोथ, वातज अर्श, ग्रहणीरोग, हृदयरोग, पसलियों की पीड़ा को जीत लेता है। अर्थात् उक्त सभी रोगों के रोगी अपने-अपने रोग से मुक्त हो जाते हैं।

मनःशिलासर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः। मञ्जिष्ठैलैश्च कर्षांशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः॥१४५॥
इति मनःशिलादिघृतम्।

मनःशिलादि घृत—मैनसिल, सर्जरस (राल), कच्ची लाख, हल्दी, पद्मक काष्ठ, मजीठ, हरिताल, ये सभी द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर इनका कल्क तैयार करें। गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) इसको चार गुना जल डालकर पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। यह घृत भी हिक्का-श्वास रोगियों के लिए हितकर होता है।

वक्तव्य—इसी प्रकार का एक योग वृद्धवाग्भट ने भी अपनी संहिता में निबद्ध किया है। उसमें 'रजनि' के बदले 'पुर' (गुग्गुलु) का प्रयोग किया है। वह इस प्रकार है—'सिद्धं वा पुरमञ्जिष्ठालाक्षासर्जरसैः पिबेद्। सपद्मकमनोह्वालैर्घृतप्रस्थं पिचून्मितैः॥' अ० सं० चि० अ० ६।६५।

जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद् घृतम्। त्र्यूषणं दाधिकं वाऽपि पिबेद् वासाघृतं तथा॥१४६॥

विविध घृत योग—जीवनीयगण (च० सू० अ० ४।९ के प्रथम गण) में कहे गये औषधद्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा तैयार किये गये घी में मधु मिलाकर चाटना चाहिए। अथवा त्र्यूषणादि घृत (च० चि०

१. 'शुष्कक्षीणकफोरस्का हिक्काश्वासानुबन्धिनः' इति पा०। २. 'शाखानिलार्शो' इति पा०।

अ० १८।३९-४२), दाधिक घृत (दध्ना संस्कृतं, दही डालकर पकाया गया घी च० चि० अ० ५।७१-७३। इस 'हपुषादि घृत' का निर्माण दही डालकर किया गया है), वासाघृत (च० चि० अ० ५।१२६-१२७) इनका भी प्रयोग हिक्का-श्वास के रोगियों को करना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० १६।६ में 'दाधिकघृत' का योग दिया है। एक अन्य 'दाधिक-घृत' योग—'पिप्पलीनागरं बिल्वं कारवी चव्यचित्रकम्। हिङ्गु दाडिमवृक्षाम्लं वचा क्षाराम्लवेतसम्॥ वर्षाभू-कृष्णलवणमजाजीबीजपूरकम्। दधि त्रिगुणितं सर्पिस्तत् सिद्धं दाधिकं घृतम्'॥ भै० र० शूलरोगाधिकार ९३-९५।

यत्किञ्चित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्। भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने॥१४७॥

श्वास-हिक्का में हितकर द्रव्य—श्वास तथा हिक्का रोगियों के लिए जो-जो द्रव्य कफनाशक, वात-नाशक, उष्णवीर्य, वायु का अनुलोमन करने वाले होत हैं, वे सभी द्रव्य, औषध, अन्न (आहार), पान (पीने योग्य द्रव) हितकर होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर पद्य में 'वातघ्नं' और 'वातानुलोमनम्' ये दो पद सामान्य दृष्टि से परस्पर विरुद्धार्थक प्रतीत होते हैं। 'वातघ्न' का सामान्य अर्थ होता है—वातनाशक। जब उसने वात का नाश ही कर दिया तो फिर वह किस वात का अनुलोमन करेगा? ध्यान दें—'वातं हन्ति, इति वातघ्नः, तम्'। यहाँ 'हन् धातु' हिंसा–मारना और गति–गमन करना, इन दो अर्थों से युक्त है। हन् धातु का पहला अर्थ है—हिंसा; अतः प्रकुपित स्वरूप को दबाना यह तो हिंसा हो गयी तदनन्तर उस मन्द वेग वाली वायु का अनुलोमन कराना, यह दोनों का क्रमप्राप्त सामञ्जस्य है, चिकित्सा की दृष्टि से अब आप ऐसे द्रव्यों का चयन करें, जो प्रकुपित वातदोष को मन्द गति कर उसे अनुकूल गति वाला बना सकें। यही तन्त्रकार का दृष्टिकोण है।

वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम्। कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम्॥१४८॥

दोषानुसार चिकित्सा-विधान—जो औषध तथा अन्न (आहार), पान (पेय द्रव्य), वातकारक अथवा कफनाशक, कफकारक अथवा वातनाशक हों उनके प्रयोग से हिक्का-श्वास रोगियों की चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसे अवसरों पर उक्त दोनों रोगों के लिए एकान्तिक (केवल एक ही दोषनाशक) चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। प्रधान रूप से प्रायः वातनाशक चिकित्सा कल्याणकारक होती है।

वक्तव्य—हिक्का तथा श्वास रोगों की सम्प्राप्ति पर थोड़ा ध्यान दें—'मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः'॥ च० नि० अ० १७।१७। यहाँ भी प्रमुख दोष वात ही है, जो अग्रणी होकर अन्य दोषों को तर-तम भाव से प्रकुपित करता है। अतएव उक्त श्लोक में भी वातदोष का उल्लेख करते हुए तन्त्रकार ने श्लोक का आरम्भ किया है तथा वातदोष का नाम लेकर ही श्लोक को समाप्त किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिक्का-श्वास रोगों में वातशमन तथा वातानुलोमन प्रधान कर्म हैं, शेष गौण हैं, यद्यपि कफदोष का भी इसमें कम महत्त्व नहीं है।

चिकित्सा के अवसर पर वात तथा कफ दोषों में कौन अधिक बढ़ा हुआ है, पहले इसका निदान करके जो दोष बढ़ा हो, उसकी पहले चिकित्सा करनी चाहिए। बढ़ा हुआ कफदोष वातवह स्रोतों में अवरोध उत्पन्न कर देता है, बढ़ा हुआ वातदोष कफ को निकालने में सहायक होता है। इन सभी विषयों को ध्यान में रखकर हिक्का-श्वासरोगों में चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए।

श्रीइन्दु के अनुसार—हिक्का तथा श्वास रोग वातकफात्मक होते हैं। इनमें वातदोष कफ से आवृत है और कफ उसका आवरक होता है। इस स्थिति को देखकर कभी वातवर्धक चिकित्सा करनी पड़ती है, जिससे वातदोष प्रबल होकर अपने आवरक कफ को निकालकर फेंक दे और जब देखा जाता है कि कफदोष अत्यन्त बलवान् है, तो कफनाशक औषधोपचार किया जाता है। इस दृष्टि से वातकफनाशक चिकित्सा को एक साथ न करके स्थिति का विचार कर उसकी व्यवस्था अलग-अलग ही करनी चाहिए। इतना विवेचन करने पर भी इनमें वातनाशक कर्म अधिक श्रेयस्कर होता है।

श्रीचक्रपाणि का मत—हिक्काश्वास की चिकित्सा का विधान तीन प्रकार का है—१. कफवातहर, २. वातकारक कफहर और ३. कफकारक वातहर। यदि मिला-जुलाकर चिकित्सा करनी हो तो उसमें अधिक उचित है कि पहले वातनाशक चिकित्सा की जाय।

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् । [1]नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥१४९॥

विभिन्न चिकित्सा-सिद्धान्तों पर विचार—सभी हिक्का तथा श्वास रोगियों को बृंहण-चिकित्सा कराने में थोड़ी हानि हो सकती है, फिर भी वे प्रायः सुखसाध्य होते हैं। यदि इनकी शमन (शान्त करने वाली) चिकित्सा की जाती है, तो उसमें भी अधिक अपाय (हानि) नहीं होता है और यदि कर्शन (शरीर को कृश कराने वाली) चिकित्सा की जाती है, तो ये दोनों रोग अशक्य हो जाते हैं, अर्थात् चिकित्सा द्वारा सम्भालने योग्य नहीं रह जाते।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में हिक्का-श्वास रोगियों के लिए उत्तम, मध्यम, अधम रूप से क्रमशः बृंहण, शमन, कर्शन तीन प्रकार की चिकित्सा विधियों का सहेतुक निरूपण किया गया है। यद्यपि इनका विचार इस अध्याय में किया गया है, तथापि तन्त्रकार की यह अपनी वर्णन-शैली है। **बृंहण-क्रिया** द्वारा कफदोष को बढ़ाकर, उत्क्लेशकारक (जी मिचलाने वाली) औषधियाँ देकर वमन द्वारा कफ का निर्हरण किया जाता है, यह इस रोग की उचित चिकित्सा है। **शमन-क्रिया** सभी परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं देखी जाती। इसका क्षेत्र प्रारम्भिक अवस्था का माना जा सकता है, किन्तु उसके बाद दबे हुए वे दोष कभी भी उभड़ सकते हैं, अतः इसे पूर्ण या सफल चिकित्सा नहीं कहा जा सकता। देखें—'दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥' च० सू० अ० १६।२०। और भी देखें—'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्' ॥ च० सू० अ० १६।३४।

कर्शन-क्रिया—यह अपतर्पण, लंघन, उपवास के रूप में प्रयुक्त की जाती है, इससे यदि एक ओर कफ घटेगा तो दूसरी ओर निश्चित वातदोष की वृद्धि हो जायेगी, साथ ही शरीर में कृशता आ जाने से रोगजनित कष्ट के सहन की शक्ति नहीं रह जायेगी। अतः हिक्का-श्वास रोग की उत्तम चिकित्सा बृंहणचिकित्सा मानी गयी है। श्री अरुणदत्त ने भी अपनी टीका में इन्हीं भावों को समर्थन दिया है।

उक्त पद्य को सामान्य परिवर्तन के साथ वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है—'सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेद्। नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने' ॥ अ० सं० चि० अ० ७।७३। श्रीजयदेव 'नात्यर्थं' के स्थान पर 'नावश्यं' पाठ स्वीकार करते हैं। जिन्होंने 'कर्शने' पाठ को 'कर्षणे' किया है, वह प्रमाद मात्र है।

तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि। हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥१५०॥

हिक्का-श्वासचिकित्सा-निष्कर्ष—इसलिए हिक्का तथा श्वास रोग से पीड़ित रोगियों के संशोधनों द्वारा शुद्ध किये गये शरीरों की अथवा असंशोधित शरीरों की प्रायः शमन तथा बृंहण चिकित्सा विधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

तत्र श्लोकः—

दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम्। लिङ्गं पथ्यं च हिक्कानां श्वासानां चेह दर्शितम् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सितस्थाने

हिक्काश्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—उस विषय में एक श्लोक दिया जा रहा है—प्रस्तुत हिक्का-श्वास चिकित्सित नामक अध्याय में हिक्का तथा श्वास रोगों के दुर्जयत्व (असाध्यता) में, दोनों की चिकित्सा का समान होने में कारण, उन दोनों लिंग (लक्षण-सम्प्राप्ति आदि) एवं उनके पथ्य आदि का यहाँ वर्णन कर दिया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में हिक्का-श्वासचिकित्सित नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥

१. 'नावश्यम्' इति पा०।

अथाष्टादशोऽध्यायः

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

हिक्का-श्वास-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से कास-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—चरकसंहिता में निदानार्थकर रोगों का जो क्रम दिया गया है, वह इस प्रकार है—'तद् यथा ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते। रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्चोथ एव च। अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः' । च० नि० अ० ८।१७-१९। भगवान् धन्वन्तरि ने भी हिक्का-श्वास के बाद ही कासरोग-प्रतिषेध की प्रस्तावना की है। देखें—सु० उत्तरतन्त्र अ० ५२। वाग्भट-द्वय ने रक्तपित्त के अनन्तर कासरोग को प्रस्तुत किया है। वे रक्तपित्त के ही समान कास को भी क्षिप्रकारी स्वीकार करते हैं। देखें—'आशुकारी यतः कासस्तमेवातः प्रवक्ष्यते' । अ० सं० नि० अ० ३।१९। वृद्धवाग्भट ने अपने विशेष अनुभव के रूप में 'क्षतक्षयकास' के लिए अलग अध्याय का प्रयोग किया है।

हिक्का-श्वास रोग के बाद जो यहाँ कासरोग का निरूपण किया गया है, उसमें प्रधान कारण यह है कि इन तीनों रोगों के कारण एवं चिकित्सा प्रायः समान हैं। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में देखें—उक्ता ये हेतवो नृणां रोगयोः श्वासहिक्कयोः। कासस्यापि च विज्ञेयास्त एवोत्पत्तिहेतवः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५२।३। हमारे शरीर के अवयव अनपेक्षित विजातीय द्रव्यों को बाहर निकालने के लिए सदा सचेष्ट रहते हैं। अतएव हमारी श्वासप्रणाली में बाहर से आकर प्रविष्ट हुए धुआँ, धूल आदि अपद्रव्यों को बाहर निकालने के लिए जो धक्का-सा लगाती है, वही कास या खाँसी है। यह रोग उदानवायु की विकृति से होता है। इस उदान वायु का मूलस्थान कण्ठप्रदेश है।

कास शब्द की निरुक्ति—'कसनात् कासः' । च० चि० अ० १८।८। 'कासृ शब्दकुत्सायाम्' । 'कासते अनेन इति कासः' । 'कस गतौ' इत्यस्मात् 'कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति, वायुरिति कासः' ।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १९। च० नि० अ० १८। सु० उ० अ० ५२। अ० स० नि० अ० ३। अ० सं० चि० अ० ४ तथा ५। अ० हृ० नि० अ० ३। अ० हृ० चि० अ० ३।

तपसा यशसा धृत्या धिया च परयाऽन्वितः।
आत्रेयः कासशान्त्यर्थं प्राह सिद्धं चिकित्सितम् ॥ ३ ॥

विषय-प्रस्तावना—कठिनतम तपस्या के प्रभाव से, उज्ज्वल सुयश से, असीम धैर्य से, कुशाग्र बुद्धि से युक्त महर्षि आत्रेय ने कास रोग की शान्ति के लिए सिद्ध (बहुशोऽनुभूत) चिकित्सा का उपदेश (अग्निवेश आदि शिष्यों को) दिया या उनसे कहा।

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा। पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥४॥

कास के भेद—वातज, पित्तज, कफज, ये तीन, क्षतज और क्षयज इस प्रकार कुल मिलाकर कास रोग के पाँच भेद मनुष्यों में होते हैं। जब वे बढ़ने लगते हैं तो क्षय (शरीर-नाश) कारक होते हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार सन्ताप लक्षण को प्रमुख मानकर ज्वर एक ही प्रकार का होता है तथा पाण्डुता लक्षण को प्रमुख मानकर पाण्डुरोग एक ही प्रकार का होता है, उसी प्रकार 'कसनं कासः' इस दृष्टि से 'कास' भी एक ही प्रकार का होता है, किन्तु दोषों के लक्षण-भेद से, कास की ध्वनि को देखकर ये भी पाँच प्रकार के होते हैं। यद्यपि ऊपर जिन ५ कासों का नामतः उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त एक 'जराकास' भी होता है, जो केवल वृद्धावस्था में होता है या देखा जाता है। उसका आचार्यजन उक्त पाँच कासों में अन्तर्भाव कर लेते हैं, यही उचित भी है।

अन्य रोगों की भाँति इसमें शिष्य (अग्निवेश) द्वारा किये जाने वाले प्रश्न की भूमिका दृढबल ने नहीं निभायी, क्योंकि बिना कुछ पूछे गुरुजन स्वयं कुछ उपदेश नहीं देते। देखें—'क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,

विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्। नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य' ॥ सूक्ति। अर्थ स्पष्ट है। हमारे विचार से महर्षि अग्निवेश ने उक्त श्लोक से पहले और **'कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः'** के बाद अवश्य इस सम्बन्ध में प्रश्न किया होगा।

क्षतज कास—'क्षतात् जायते, इति क्षतजः'। घाव आदि के लगने तथा उरःक्षत रोग जिन कारणों से उत्पन्न होता है, उन सभी कारणों से यह 'कास' उत्पन्न होता है। क्षतज रक्त का नाम भी है और इस कास में थूक या कफ के साथ कम या अधिक मात्रा में रक्त दिखलायी देता है। यक्ष्मा रोग में भी यह कभी दृष्टिगोचर होता है। इस प्रसंग में विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से क्षतक्षीण के लक्षणों को देखें।

क्षयज कास—'स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते'। च० चि० अ० ८।४३। इस प्रसंग को आप श्लोक ४६ तथा उसके आगे ५३ से ५५ तक देखें। आपको इन लक्षणों में कास का एकछत्र राज्य दिखलायी देगा, इसकी व्याख्या भी वहीं देखें। आगे जो **'क्षयप्रदाः'** लिखा है, उसका तात्पर्य है—सभी प्रकार की धातुओं का विनाश करने वाले। सुश्रुत में तो यहाँ तक कहा है कि यह कास बढ़ जाने पर यक्ष्मा रोग को उत्पन्न कर देता है। देखें—सु० उ० अ० ५२।६। महर्षि आत्रेय का भी यही मन्तव्य है। इन दोनों की केवल भाषा में भेद है, न कि भाव में।

पूर्वरूपं भवेत् तेषां शूकपूर्णगलास्यता। कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥५॥

कास का पूर्वरूप—जब कास रोग पैदा होने को होता है, तो उसके पहले ऐसा प्रतीत होने लगता है कि गले और मुख के भीतर शूक (जौ की बाल) की भाँति कुछ चुभ रहा है, गले के भीतर खुजली (खुर-खुराहट या सुर-सुराहट या खिच-खिच) प्रतीत होती है तथा भोज्य पदार्थ गले से नीचे उतरते ही नहीं अर्थात् उनमें रुकावट पैदा हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार कास के पूर्वरूप—कास के होने से पहले गले में भीतर की ओर खुजली, कौर का गले में फँस जाना अर्थात् निगलने में कठिनता, गले और तालु में लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, शब्दों के उच्चारण में विषमता (पहले की भाँति स्पष्ट उच्चारण का न होना), भोजन के प्रति रुचि का न होना, अग्नि की मन्दता, ये लक्षण होते हैं। देखें—सु० उ० अ० ५२।७।

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतःसमाश्रितः। उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥६॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥७॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः। शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ॥८॥

कास-सम्प्राप्ति—नीचे की ओर से प्रतिहत (रोका गया) वायु (अपानवायु) ऊपरी स्रोतों में जाकर (अपना आश्रय बनाकर) उदान वायु के रूप में परिणत होकर कण्ठ तथा उरःप्रदेश में रुककर, शिरःप्रदेश के छिद्रों (स्रोतों) में प्रवेश करके उन सबको हवा से भर कर सम्पूर्ण शरीर, हनु (ऊपरी जबड़ा, देखें—बृहत् हिन्दी कोष; ज्ञानमण्डल), मन्या (गले के पिछले भाग की एक शिरा) तथा आँखों को टेढ़ा तथा आक्षेप (खिंचाव) युक्त करती हुई, आँख, पीठ, छाती तथा पसलियों को टेढ़ाकर इनमें जकड़न पैदा कर देती है, तदनन्तर सूखी या कफयुक्त खाँसी उत्पन्न होती है।

कास-निरुक्ति—यह कसन (पीड़ित या दंडित) करने के कारण कास कहा जाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'कसन' शब्द की चरितार्थता को व्यक्त करते हुए लिखा है—'कसनादितीति यथोक्तातिमत्वात् तथा उरःप्रभृतिशातनाच्च 'कास' इत्यन्वर्थसंज्ञयोच्यते। 'कस' गतिशातनयोः, इत्यस्य धातोरयं प्रयोगः'। किन्तु जिस धातु का श्रीचक्रपाणि ने ऊपर प्रयोग किया है वह वैसा नहीं है। वास्तव में वह इस प्रकार है—'१०२४ कसि गतिशासनयोः। अयमनिदित् इत्येके'। यह 'कसन' शब्द अनिदित् 'कस्' धातु का ल्युट् प्रत्ययान्त रूप है।

श्रीजयदेव इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—'कासनात् कास उच्यते', यह पाठ भी हो सकता है। तब 'काश शब्दे' इस धातु से कास शब्द की सिद्धि होगी। ऐसा हमें तब करना पड़ता जब महर्षि आत्रेय का उक्त वचन अपाणिनीय प्रतीत होता।

ज्वर, अतिसार, शोथ तथा कास आदि कुछ ऐसे रोग होते हैं, जो प्रायः अन्य रोगों में भी अप्रधान रूप से देखे जाते हैं। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नीति के अनुसार प्रधानता उसी को दी जाती है जो अपने सम्पूर्ण या प्रधान लक्षणों से युक्त होता है। इस रोग की उत्पत्ति चरक की दृष्टि में—'उदानभावमापन्नः' है और सुश्रुत की दृष्टि में यह 'उदानानुगतः' है। इसकी विवेचना के लिए निम्न सन्दर्भों का अवलोकन करें—सु० उ० अ० ५२।४-५। अ० सं० नि० अ० ३।२२-२६। अ० हृ० नि० अ० ३।१८-२१।

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। [1]वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते ॥९॥

वेदना तथा शब्द-विचार—वह प्रकुपित वायु जब वेग के साथ जिन स्थान विशेषों में पहुँचकर टकराती है, तब उन-उन स्थानों में वेदना होती है और तदनुसार कास के शब्दों में भी परस्पर भिन्नता आ जाती है।

वक्तव्य—इसके लिए 'पाणिनीय शिक्षा' के ध्वनिविचार-प्रकरण का अवलोकन करें।

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥१०॥

वातज कास के प्रवर्तक—रूक्ष, शीत, कषायगुण-प्रधान आहारों का सेवन करने से, अल्प भोजन, प्रमित भोजन, अनशन (भूखा रहना या उपवास करना), अधिक स्त्री-सहवास, अधारणीय वेगों को धारण करना, शक्ति से अधिक परिश्रम करना—इन कारणों वातज कास की उत्पत्ति हो जाती है।

हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्। शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥११॥
निर्घोषदैन्यस्तननदौर्बल्यक्षोभमोहकृत्।
शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान् मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥ १२ ॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति। ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥१३॥

वातज कास के लक्षण—वातजनित कासरोग में हृदय-प्रदेश, पसलियों, छाती तथा शिर में शूल (पीड़ा) होने लगता है, प्रकुपित वायु स्वरभेद (गला बैठना) कर देता है। इसके कारण छाती, गला और मुख लगातार सूखता है, बार-बार रोमांच (रोंगटे खड़े होना) होता है तथा आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, जब खाँसी का वेग बढ़ जाता है, तो खाँसते समय जोरदार अव्यक्त शब्द मुख से निकलता है। चेहरे पर दीनता छायी रहती है, स्तनन (दहाड़ने की-सी आवाज का सुनायी देना), दुर्बलता, क्षोभ (झकझोर देना) तथा खाँसते-खाँसते रोगी को बेहोश कर देती है। ये सब सूखी खाँसी के लक्षण हैं, इसमें कफ सूखा रहता है। इसमें थोड़ा-सा भी कफ बड़े कष्ट के साथ निकलता है, तब खाँसी का वेग कुछ कम होता है। स्निग्ध, अम्ल (खट्टे), नमकीन, उष्ण पदार्थों को खाने-पीने से यह (वातज कास) कुछ शान्त होता है। भोजन के पच जाने पर इस वातदोष की गति ऊपर की ओर अत्यन्त वेगवती हो जाती है।

वक्तव्य—आधुनिक दृष्टि से इसे सूखी खाँसी (Dry cough) कहते हैं। इसी प्रकार की एक कुकर कास या काली खाँसी (Whooping cough) होती है। इसी को कुछ लोग संक्रामक कास भी कहते हैं।

कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्। पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥१४॥

पित्तज कास के प्रवर्तक—कटु, उष्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षारीय द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करने से, क्रोध करने से, अग्नि तथा सूर्य की गर्मी का अधिक सेवन करने से ये पित्तज कास को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त सभी द्रव्य अग्निगुण-प्रधान हैं और पित्त भी अग्निगुण-प्रधान होता है, अतः 'सामान्यं वृद्धिकारणम्'—इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ उक्त द्रव्यों को पित्तवृद्धि का कारण कहा गया है।

पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः। उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ॥१५॥
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति। श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥१६॥

१. 'वेदनाशब्दवैषम्यम्' इति वेदनाशब्दवैशेष्यम्' इति च पा०।

पित्तज कास के लक्षण—इसमें रोगी जो थूकता है, उसका वर्ण पीला होता है, उसकी आँखें पीली पड़ जाती हैं, मुख का स्वाद तीता हो जाता है, स्वरामय (स्वरभेद–गला बैठ जाता है) हो जाता है, छाती से धुआँ उठता-सा प्रतीत होता है, बार-बार प्यास लगती है, दाह (जलन) होता है, बेहोशी, अरुचि तथा चक्कर आने लगते हैं और निरन्तर खाँसता हुआ यह कासरोगी आँखों के सामने चिनगारियाँ, तारे जैसी चमकीली वस्तुओं को देखता है। यह पित्तज कास का रोगी पित्त मिले हुए (पीले) कफ को बार-बार थूकता है।

वक्तव्य—पित्त उष्णवीर्य होता है। यह द्रव (तरल पदार्थ के) रूप में पाया जाता है। इसका वर्ण पीला तथा नीला होता है। अतएव इसके लक्षणों में 'पीतनिष्ठीवन और पीत-अक्षित्व' कहा गया है। 'उरोधूमायनं' का तात्पर्य है—छाती से धुआँ-सा उठना। इसे आप इस प्रकार समझें—पित्त की वृद्धि हो जाने के कारण रोगी को प्यास लगती है और रोगी प्यास बुझाने के लिए पानी पीता है, उससे जो भाप-सी उठती है, वही **'उरोधूमायन'** है। मोह (बेहोशी)—**'रजःपित्तानिलाद् भ्रमः'** अर्थात् रजोगुण, पित्तदोष और वातदोष के कारण चक्कर, बेहोशी आदि लक्षण होते हैं। महर्षि सुश्रुत ने पित्तज कास के ये लक्षण दिये हैं—'उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः। पित्तेन पीतानि वमेत् कटूनि कासेत् स पाण्डुः परिदह्यमानः' ॥ सु० उ० अ० ५२।९। इन्होंने ज्वर-लक्षण की विशेष चर्चा की है। तन्त्रकार ने शब्दतः ज्वर का उल्लेख किये बिना प्रकारान्तर से पित्तज्वर के लक्षणों का निर्देश इस प्रकार किया है। ध्यान दें—'तिक्तास्यत्व, तृष्णा, दाह, मोह, अरुचि, भ्रम।

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः। वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा [1]कफकासं करोति हि ॥

कफज कास के प्रवर्तक—गुरु (देर में पचने वाले), अभिष्यन्दी (कफवर्धक), मधुर, स्निग्ध (काजू, बादाम, चिरौंजी आदि फल, मलाई, घी तथा पक्वान्न), दिन में सोना, किसी प्रकार की चेष्टा (शारीरिक श्रम) न करने से बढ़ा हुआ कफदोष वात के मार्ग को रोककर कफज कास को पैदा कर देता है।

मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः। लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥१८॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम्। कासमानो ह्यरुग् वक्षः सम्पूर्णमिव मन्यते ॥१९॥

कफज कास के लक्षण—अग्नि का मन्द पड़ जाना, भोजन के प्रति इच्छा का न होना, बार-बार कफ युक्त वमन होना, पीनस (प्रतिश्याय–जुकाम), उत्क्लेश (जी मिचलाना), शरीर में भारीपन, रोमांच का होना, मुख का मीठा बना रहना, शरीर में क्लिन्नता (चिपचिपापन) और शरीरावयवों में अवसाद होना ये लक्षण होते हैं। अनेक बार वह रोगी स्वाद में मधुर (जिसका अनुभव रोगी स्वयं करता है), स्निग्ध (चिकनायी युक्त) गाढ़ा कफ बार-बार थूकता है। खाँसते समय उसकी छाती में वेदना नहीं होती। वह अपने वक्षःस्थल को कफ से भरा हुआ-सा अनुभव करता है।

वक्तव्य—कफ के गुण—'कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा। तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।५१। ऊपर कहे गये कफज कास के लक्षणों को ध्यान से देखें, उनमें कफ के उक्त सभी गुणों के दर्शन होते हैं।

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः। रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥२०॥

क्षतज कास के प्रवर्तक—अत्यन्त मैथुन (इसकी कमी तथा अधिकता का प्रमाण पुरुष की वीर्य-सम्पत्ति पर निर्भर करता है), अधिक भार को उठाना तथा ढोना, अधिक रास्ता चलना, अपनी शक्ति से अधिक शक्ति वाले शत्रु से युद्ध करना, घोड़ा या हाथी से लड़ना इन दुःसाहसिक कार्यों को करने से रूक्षतायुक्त पुरुष की छाती में क्षत (घाव) होकर उस क्षत स्थान पर प्रकुपित वायु कासरोग को पैदा कर देता है।

स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्। कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥२१॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना। दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥२२॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः। पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥२३॥

१. 'कफकासमुदीरयेत्' इति पा०।

क्षतज कास के लक्षण—वह क्षत के कारण उत्पन्न कासरोग वाला व्यक्ति सूखा-सूखा खाँसता है, फिर उसके मुख से रक्त सहित कफ (थूक) निकलता है, क्षतज कास के वेग के कारण रोगी का कण्ठ तथा छाती पीड़ित होने लगती है, अथवा उसे गला तथा छाती के फटने की सी अनुभूति होने लगती है। उसको सम्पूर्ण शरीर में सुई चुभाने की-सी वेदना होती है, शूल होता है। उसके शरीर को कहीं भी स्पर्श करें तो उसे वह दुःखद प्रतीत होता है, अवयवों में फटने का-सा अनुभव होता है, शरीर में जलन होने लगती है। सन्धियों में फटने की-सी पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृष्णा (प्यास), स्वर में विकृति, इन कारणों में वह पीड़ित रहता है। वह निरन्तर कबूतर की भाँति कहरता रहता है।

वक्तव्य—क्षत (घाव) किसी भी कारण हो, क्योंकि क्षत के अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु क्षत होने के बाद वात का प्रकोप होने से जो कासरोग उत्पन्न होगा उसमें ये ही लक्षण होंगे। वृद्धवाग्भट ने इसके कुछ और लक्षण कहे हैं, किन्तु ये लक्षण तब उत्पन्न होते हैं, जब समय पर रोगी की चिकित्सा नहीं की जाती है। वे लक्षण इस प्रकार हैं—'क्रमाद् वीर्यं रुचिः पक्तिर्बलं वर्णश्च हीयते। क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः' ॥ अ० सं० नि० अ० ३।३८। इन्होंने क्षतज कास को केवल वातप्रकोपज न मानकर उसमें पित्त का अनुबन्ध भी स्वीकार किया है—'उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली'। वही, ३४।

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद् वेगनिग्रहात्।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥ २४ ॥
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्।

क्षयज कास : कारण एवं सम्प्राप्ति—विषम (जिसकी मात्रा तथा काल सम न हो) एवं असात्म्य (प्रकृति के प्रतिकूल) भोजन (खान-पान) का सेवन करना, अधिक मैथुन करना, अधारणीय (मल-मूत्र आदि के) वेगों को रोकना, इन कारणों से, दयाशील अथवा सुकुमार हृदय वाले तथा सदैव अफसोस, रंज, दुःख, विलाप करने वाले ऐसे पुरुषों के शरीरों में जब जठराग्नि विकारयुक्त हो जाती है, तब वात आदि तीनों दोष कुपित होकर शरीर की धातुओं को क्षीण करने वाले क्षयज कास को उत्पन्न कर देते हैं।

दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम् ॥ २५ ॥
स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्[1]। अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः ॥२६॥
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः[2]। पाणिपादतलैः श्लक्ष्णैः [3]सततासूयको घृणी ॥२७॥
ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः। भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः[4] ॥

क्षयज कास के लक्षण—क्षयज कास का रोगी दुर्गन्धयुक्त, हरे या लाल रंग के पूय (मवाद) के सदृश कफ को थूकता है। जब वह रोगी खाँसने लगता है, तो उसे ऐसा अनुभव होता है, मानो हृदय अपने स्थान से हट गया हो। उसे अचानक कभी गर्मी और कभी सर्दी सताने लगती है, (ऐसे अवसरों पर क्रमशः पित्त तथा कफ का प्रकोप समझना चाहिए) यह रोगी खाता बहुत है किन्तु बलहीन और देखने में कृश होता है। उसका चेहरा, वर्ण तथा त्वचा चिकनी और निर्मल दिखलायी देती है। उसकी आँखें कान्तिमान् दिखलायी देती हैं (पाठभेद के अनुसार—उसकी आँखें और दाँत भव्य दिखलायी देते हैं), उसके हाथ और पैर के तलवे चिकने होते हैं, वह निरन्तर दूसरों के सद्गुणों से ईर्ष्या करता है, दूसरों के प्रति घृणा करता है। उसे जो ज्वर होता है, वह तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है, उसकी पसलियों में पीड़ा होती है, हर समय जुकाम बना रहता है, भोजन के प्रति उसे अरुचि होती है। उसका मल कभी अतिसार युक्त और कभी एकदम बँधा हुआ होता है। बिना कारण के ही इसे स्वरभेद हो जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने स्वरभेद का पहला कारण **'अत्युच्चभाषण'** दिया है। देखें—सु० उ०

१. 'कासमानश्च हृदयं स्थानभ्रष्टं स मन्यते' इति पा०।
२. 'प्रसन्नस्निग्धवदनः श्रीमद्दशनलोचनः' इति पा०।
३. 'घृणावानभ्यसूयकः' इति पा०।
४. 'स्वरभेदोऽनिमित्तश्च भिन्नवृत्तपुरीषता' इति पा०।

अ० ५।३।३। प्रायः क्षयज कास में वातज कास की भाँति रोगी निरन्तर जोर-जोर से नहीं खाँसता है, न उसे वैसे वेग ही उत्पन्न होते हैं, तथापि 'स्वरभेद' हो जाता है। अतएव कहा गया है—**'स्वरभेदोऽनिमित्ततः'**। इन्हीं भावों को वाग्भट-द्वय ने भी लिपिबद्ध किया है। सुश्रुत ने 'प्राणक्षयश्चोपलभेत कासी' यह एक लक्षण अधिक दिया है। एदतर्थ उक्त संहिताओं का अवलोकन करें।

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः। साध्यो बलवतां वा स्याद् याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः॥
नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ। स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः॥

क्षयज-क्षतज की साध्यासाध्यता—इस प्रकार का यह क्षयज कास क्षीण (रसादि धातु जिसके नष्ट हो गये हैं, ऐसे) पुरुषों के शरीरों का नाश कर देता है। जो क्षीण नहीं हैं, जिनमें अग्निबल तथा शारीरिक बल है, उन रोगियों में यह कास साध्य होता है। क्षीण व्यक्तियों में होने वाला क्षतज कास असाध्य होता है और बलवान् पुरुषों में वही कास याप्य (चिकित्सा द्वारा चलाने लायक) होता है। ये दोनों (क्षयज तथा क्षतज) कास रोग नये होने पर तथा चतुष्पाद-चिकित्सा (वैद्य, द्रव्य, परिचारक, रोगी) के समुचित रूप में उपलब्ध होने पर कदाचित् (कभी) सिद्ध भी हो जाते हैं, किन्तु वृद्ध व्यक्तियों में बुढ़ापे के कारण शरीर को क्षय करने वाला सभी प्रकार का कासरोग याप्य होता है। ये दोनों कास उचित उपचार न होने से आगे चलकर असाध्य हो जाते हैं।

त्रीन्साध्यान् साधयेत् पूर्वान् पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत्।
चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु शृणु कासनिर्बर्हणीम्॥ ३१॥

चिकित्सा-व्यवस्था—सर्वप्रथम वातज, पित्तज, कफज इन तीन कास रोगों की चिकित्सा करें, क्योंकि उपद्रव रहित ये तीन कास साध्य होते हैं। जो कास याप्य कहे गये हैं, उन्हें पथ्य आहार-विहारों द्वारा चलाते रहें। (यहाँ 'पथ्य' शब्द चिकित्सा का भी संकेत करता है, इसे न भूलें)। इसके आगे अब मैं कासनाशक चिकित्सा का उपदेश करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

वक्तव्य—यदि तन्त्रकार को याप्य के रूप में केवल क्षतज और क्षयज कास ही अभीष्ट होते तो वे **'पथ्यैर्याप्यौ च यापयेत्'** ऐसा पाठ करते। इसका समाधान हम दो प्रकार से कर रहे हैं—१. क्षतज अथवा क्षयज कास जिन-जिन व्यक्तियों को हों, उन्हें याप्य समझें, अर्थात् तदनुसार उस-उसकी चिकित्सा करें। २. कभी वात आदि दोषों से उत्पन्न साध्य कासरोग भी रोगी अथवा चिकित्सक आदि की असावधानी से जब विकारों से युक्त हो जाता है, तो वह पहले याप्य की स्थिति में आता है, तदनन्तर असाध्यता को प्राप्त हो जाता है।

रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्। सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः॥३२॥
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः। अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान्॥३३॥
बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः। घृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः॥३४॥

वातज कास-चिकित्सा—रूक्ष शरीर वाले वातज कास रोगी का पहले स्नेहन कराना चाहिए। उक्त रोगी को स्निग्ध करने के लिए बुद्धिमान् चिकित्सक वातनाशक द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये घी, बस्ति, पेया, यूष, क्षीर, मांसरसों, घृत के अतिरिक्त अन्य स्नेहों, धूमपानों, विविध प्रकार के लेहों (अवलेहों), अभ्यङ्गों, परिषेकों तथा स्निग्ध स्वेदों का प्रयोग करे। इन स्नैहिक उपचारों से जब रूक्ष शरीर वाले उस कास रोगी का शरीर स्निग्ध हो जाय, तब उसे अनुवासनबस्ति द्वारा उक्त औषधसिद्ध स्नेहों में से किसी का भी प्रयोग कराना चाहिए। जिन रोगियों का मल शरीर के रूक्ष होने के कारण सूख गया हो, जिनके अपानवायु की गति विलोम होने के कारण ऊपर की ओर हो गयी हो, उन्हें भोजन करने के बाद घृतपान कराना चाहिए। जिन रोगियों में वात के साथ पित्तदोष का अनुबन्ध (लगाव) हो उन्हें भी घृतपान कराना चाहिए और जिन रोगियों में वात के साथ कफदोष का अनुबन्ध हो तो उन्हें स्नेह द्रव युक्त विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए वृद्धवाग्भट की पदावली पर ध्यान दें—'केवलानिलजं कासं स्नेहैरादावुपाचरेत्। वातघ्नसिद्धैः स्निग्धैश्च पेयायूषरसादिभिः॥ लेहैर्धूमैस्तथाभ्यङ्गस्वेदसेकावगाहनैः। बस्तिभिर्बद्धविड्वातं सपित्तं त्वौर्ध्वभक्तिकैः॥ घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः'॥ अ० सं० चि० अ० ४।२-३।

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलाद् रसे। प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः॥३५॥
इति कण्टकारीघृतम्।

कण्टकारी घृत—भटकटैया तथा गुरुच का क्वाथ ३० पल (१२० तोला) शेष रहने पर १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी का यथाविधि पाक करें, तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख दें। इस घृत का मात्रानुसार सेवन करने से यह कास रोग का नाश तथा अग्नि (जठराग्नि) की वृद्धि करता है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। धान्यपाठावचारास्नायष्ट्याह्वक्षारहिङ्गुभिः॥३६॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद् दशमूलीरसाढके। सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयामण्डं पिबेदनु॥३७॥
तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत्। पिप्पल्याद्यं घृतं चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम्॥३८॥
इति पिप्पल्यादिघृतम्।

पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़, सोंठ, धनियाँ, पाठा, बालवच, रास्ना, मुलेठी, जवाखार, हींग, इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ कोल (१/२-१/२ तोला) प्रमाण में लेकर इनका कल्क तैयार करें, उसके बाद दशमूल का शेष क्वाथ १ आढक (२५६ तोला) इन दोनों (कल्क तथा क्वाथ) की सहायता से १ प्रस्थ (६४ तोला) घी का पाक करें, तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख लें। इसमें से १ चतुर्थिका (४ तोला) मात्रा में पीकर उसके बाद पेया या मण्ड को पीना चाहिए। वह पिप्पल्यादि घृत श्वास, कास, हृदय-शूल, पार्श्वशूल, ग्रहणीदोष का नाश करता है। इस घृत का उपदेश महर्षि आत्रेय ने किया है।

वक्तव्य—ऐसे प्रसंगों को देखकर आत्रेय और कृष्णात्रेय परस्पर अभिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं क्योंकि यदि ये पुनर्वसु आत्रेय हैं तब यहाँ इस शब्द की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि यह शब्द कृष्णात्रेय के लिए प्रयुक्त है, तब तो यह पद 'अवाचकत्व' दोष का सूचक है। इसकी सामान्य मात्रा १ तोला है।

त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षां काश्मर्याणि परूषकम्। द्वे पाठे देवदार्वृद्धि स्वगुप्तां चित्रकं शटीम्॥
[1]ब्राह्मीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम्। त्रिकण्टकं विदारीं च पिष्ट्वा कर्षसमं घृतात्॥
प्रस्थं चतुर्गुणे क्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत्। ज्वरगुल्मारुचिप्लीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत्॥४१॥
कामलार्शोऽनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम्। त्र्यूषणं नाम विख्यातमेतद् घृतमनुत्तमम्॥४२॥
इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणादि घृत—सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुनक्का, गम्भारी, फालसा, छोटी-बड़ी दोनों पाठा, देवदारु, ऋद्धि, किवाँच का बीज, चीता की जड़, कचूर, ब्राह्मी, भुँइ आँवला, मेदा, काकनासा, शतावर, गोखरू, विदारीकन्द—इन द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर जल डालकर इनका कल्क तैयार करें। गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), घी से चौगुना ४ प्रस्थ (२५६ तोला) गाय का दूध लेकर घी का विधिवत् पाक करें, तैयार होने पर छानकर रख दें।

यह त्र्यूषणादि घृत विधिपूर्वक पीने से कासरोग का विनाश करता है। ज्वर, गुल्म, अरुचि, प्लीहा, शिरो-रोग, हृदयशूल, पार्श्वशूल का विनाश करता है। कामला (पाण्डुरोग का भेद), अर्शोरोग, वाताष्ठीला, क्षत, शोष, क्षय—इन रोगों को दूर करता है। त्र्यूषणादि नाम से प्रसिद्ध यह घी सर्वोत्तम है।

दशमूलीं शतावरीम्। पलिकां माणिकांशांस्तु कुलत्थान्बदरान्यवान्॥४३॥
द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम्। पलिकां माणिकांशांस्तु कुलत्थान्बदरान्यवान्॥४३॥

तुलार्धं चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च। घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः॥४४॥
सिद्धं तद्दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः। समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत्॥४५॥
पञ्चकासान् शिरःकम्पं शूलं वङ्क्षणयोनिजम्। सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत्॥
इति रास्नाघृतम्।

१. 'व्याघ्रीं' इति पा०।

रास्नादि घृत—रास्ना, दशमूल (बृहत् पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाठला, अरणी। लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), शतावर ये प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला), कुलथी, जंगली बेर, जौ ये द्रव्य १-१ मानिका (३२-३२ तोला), बकरे का मांस आधी तुला (२०० तोला)—इन सभी द्रव्यों को कूटकर १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में पकाकर अर्थात् क्वाथ कर जब चौथाई जल शेष रह जाय तो छानकर रख लें। १ आढक (२५६ तोला) गाय का घी, उतना ही गाय का दूध लेकर उसी में मिला दें और जीवनीयगण (च० सू० अ० ४।९ में निर्दिष्ट) के दस द्रव्यों को प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोला) लेकर उनका कल्क तैयार कर उसी में डाल दें, इस प्रकार सब को एक में मिलाकर मन्द अग्नि पर चढ़ाकर घी का पाक करें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस घृत का प्रयोग नस्य, पान, अनुवासनवस्ति, में करना चाहिए। वातरोगों में रोगी और रोग के बल-निर्बल भाव का तथा रोगी एवं रोग की अवस्था का विचार कर इसका प्रयोग करना चाहिए।

यह घी पाँच प्रकार के कासों, शिर के कम्पन, वंक्षण (ऊरुसन्धि), शूल, योनिशूल, सर्वांगरोग, एकांग-रोग, प्लीहावृद्धि तथा ऊर्ध्ववात विकारों को जीत लेता है।

वक्तव्य—'माणिकांशांस्तु'—यहाँ 'मानिकांशांस्तु' ऐसा शुद्ध प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि 'नकार' को 'णकार' जिन परिस्थितियों में व्याकरण के नियमानुसार होता है, उनमें से एक भी स्थिति यहाँ नहीं है। इसे प्रमाणित करने के लिए देखें—च० क० अ० १२ श्लोक ९३ में 'मानिका' शब्द।

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम्। भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ॥४७॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिक्काहताग्निषु।

विडङ्गादि चूर्ण—वायविडंग, सोंठ, रास्ना, पिप्पली, हींग, सैंधानमक, भारंगी, जवाखार—इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कूट-पीस कर कपड़छन चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण को मात्रानुसार घी में मिलाकर पीयें या चाटें। इससे कफज या वातज कास की शान्ति होती है। श्वासरोग, हिक्कारोग तथा अग्निमान्द्य में भी इसके सेवन से लाभ होता है।

द्वौ क्षारौ पञ्चकोलानि पञ्चैव लवणानि च ॥ ४८ ॥
शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम्। पाययेत घृतोन्मिश्रं वातकासनिबर्हणम् ॥४९॥

वातज कासहर दो योग—१. जवाखार, सज्जीखार, पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़, सोंठ), पाँचों नमक (सैंधा, सोंचर, विरिया, साँभर, सामुद्र), इन सबको समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इस को गाय के घी में मिलाकर रोगी को पिलायें। इससे वातज कास दूर होता है। अथवा २. कचूर, सोंठ, उदीच्य (सुगन्धवाला) इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर कल्क बना लें, कपड़े से छानकर इस कल्क का रस ले लें, उसमें घी मिलाकर पीने से वातज कास नष्ट होता है।

दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गबेरं सितोपलाम्। लिह्यात् कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ॥५०॥

दुरालभादि लेह—दुरालभा, कचूर, मुनक्का, शृंगवेर (सूखा–सोंठ, कच्चा–अदरख), मिश्री इनका कपड़छन चूर्ण बनाकर तेल के साथ चाटना चाहिए। अथवा काकड़ासिंगी के कपड़छन चूर्ण को तेल में मिलाकर चाटने को लिए दें।

वक्तव्य—हमारे विचार से यहाँ दुरालभा आदि चूर्णों से दूनी सितोपला लेनी चाहिए और तैल के स्थान पर तिल-तैल का प्रयोग करना चाहिए।

दुःस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकीं शटीम्। पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वाऽपि लेहयेत् ॥

दुःस्पर्शादि लेह—दुःस्पर्शा, पिप्पली, नागरमोथा, भारंगी, काकड़ासिंगी, कचूरा—इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके पुराना गुड़ और तिल-तेल में मिलाकर चाटें।

वक्तव्य—ऊपर ५० वें तथा ५१ वें पद्य में दुरालभा तथा दुःस्पर्शा दो द्रव्यों का प्रारम्भ में प्रयोग हुआ है। पूर्ववर्ती टीकाकार कुछ लिखकर आगे बढ़ गये। आप ध्यान दें—गोक्षुरकुल में उत्पन्न 'धन्वयास' का पर्याय 'दुरालभा' है, इसी को 'दुःस्पर्शा' भी कहा गया है, 'कण्टकारी' को भी 'दुःस्पर्शा' कहा गया है। देखें—भा० प्र० गूडूच्यादि वर्ग ३७। 'यवास' का एक पर्याय 'दुःस्पर्श' इसलिए है कि वह भी कण्टकित होता है। अब आप प्रकरण को ध्यान में रख उचित द्रव्य को चुनें।

विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम्। मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन्[1] ॥

विडङ्गादि लेह—वायविडंग, सैंधानमक, कूठ, सोंठ, मरिच, पीपल, घी में भुनी हींग, शुद्ध मैनसिल इन द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को मात्रा के अनुसार लेकर मधु-घृत में मिलाकर चाटने से कास, हिक्का और श्वास रोग जीते जा सकते हैं।

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिङ्गु दुरालभाम्। शटीं पुष्करमूलं च श्रेयसीं सुरसां वचाम् ॥५३॥
भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्षिकान्।
कल्कानर्धतुलाक्वाथे निदिग्ध्याः पलविंशतिम्[2] ॥ ५४ ॥
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत्। सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम् ॥
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत्। लेहयेत् कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम् ॥५६॥
इति चित्रकादिलेहः।

चित्रकादि लेह—चीता की जड़, पिप्पलीमूल, सोंठ, मरिच, पीपल, घी में भुनी हींग, दुरालभा, कचूर, पोहकरमूल, गजपीपल, तुलसी, बालवच, भारंगी, गिलोय, रास्ना, काकड़ासिंगी, मुनक्का—इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) लेकर इनका कल्क तैयार करें। छोटीकटेरी का पंचाग आधी तुला (२०० तोला) लेकर १ द्रोण (१०२४ तोला) पानी में इसे पकायें, जब चौथाई (२५६ तोला) जल शेष रह जाय तब उस जल को छानकर रख लें। तदनन्तर १ कुडव (१६ तोला) गाय के घी में ऊपर लिखे हुए चित्रकमूल आदि के कल्क को भून लें, छोटी कटेरी के क्वाथ रस में २० पल (८० तोला) मत्स्यण्डिका (राब) डालकर उसकी चासनी तैयार कर लें। इस चासनी में घी में भुने हुए चित्रकमूल आदि का कल्क मिलाकर धीरे-धीरे पकायें, लेह जैसा तैयार हो जाने पर चूल्हे से नीचे उतार लें, किन्तु लेह को चलाते रहें, शीतल हो जाने पर अलग-अलग १-१ कुडव (१६-१६ तोला) मधु, पिप्पली चूर्ण और वंशलोचन का चूर्ण इसमें मिला लें। इस अवलेह को भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में सुरक्षित रख दें। इस अवलेह को मात्रानुसार चाटने से रोगी कास, हृदयरोग, श्वास तथा गुल्म से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—मत्स्यण्डिका (राब) की चासनी बनाने के पहले उसे यथोचित विधि से साफ कर लें, तभी अन्य द्रव्यों के प्रक्षेप आदि को उसमें डालें।

हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥५७॥
दशमूलीं स्वयङ्गुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम्। हरीतकीशतं चैकं जले पञ्चाढके पचेत् ॥५८॥
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम्। पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतात् ॥५९॥
यवैः स्विन्नैः कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम्।
तैलात् सपिप्पलीचूर्णात् सिद्धशीते च माक्षिकात्।
लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद् रसायनात् ॥ ६० ॥
तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम्। पञ्चकासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरम् ॥६१॥
हन्यात् तथाऽर्शोग्रहणीहृद्रोगारुचिपीनसान्। अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥६२॥
इत्यगस्त्यहरीतकी।

अगस्त्यहरीतकी—दशमूल (बृहत् पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाढ़ल, अरणी। लघु पञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), किवाँच के बीज, शंखपुष्पी, कचूर, बलामूल, गजपिप्पली, अपामार्ग (चिरचिटा), पिप्पलीमूल, चीता की जड़, भारंगी, पोहकरमूल—इन सभी

१. 'हिक्काश्वासेषु कासे च लिह्यात् क्षौद्रघृतप्लुतम्' इति पा०।
२. 'कल्कान् निदिग्ध्यर्धतुलां निष्क्वाथ्य पलविंशतिम्' इति पा०।

द्रव्यों को २-२ पल (८-८ तोला) की मात्रा में लें। १ आढक (२५६ तोला), समान सुपुष्ट १०० हरड़ों को लेकर उन्हें ढीली पोटली में बाँधकर जौ के साथ ५ आढक (१२८० तोला) जल में तब तक पकायें जब तक कि जौ भली-भाँति पक न जाय, उसके बाद उस पात्र को चूल्हे से नीचे उतार लें, शीतल होने पर जौ को हाथों से मसलकर कपड़े से छान लें। हरड़ों की पोटली निकाल कर उन्हें अलग रख लें। शीतल हो जाने पर हरड़ों को चीर कर गुठलियों को निकाल लें, हरड़ों की आकृति को बिगड़ने न दें। इन हरड़ों को यमक स्नेह में भून लेना चाहिए, यह पाक का सुलझा हुआ प्रकार है। इन हरड़ों को भूनने के लिए १ कुडव (१६ तोला) गाय का घी और उतना ही तिल का तेल लें, इसी को 'यमक स्नेह' कहते हैं। उस जौ के क्वाथ में पुराना गुड़ १ तुला (४०० तोला) मिलाकर चासनी तैयार करें, तैयार हो जाने पर घी-तेल में भुने हुए हरड़ों को डाल दें, कुछ देर और पकाकर उस चासनी को देख लें, उतारने लायक होने पर उसे उतार लें, शीतल हो जाने पर उसमें ४ पल (१६ तोला) पिप्पली का चूर्ण और उतना ही मधु मिलाकर स्वच्छ पात्र में रख दें।

यह अगस्त्यहरीतकी रसायन है। इसमें से प्रतिदिन दो हरड़ों को लेकर चासनी को चाटकर हरड़ों को भी चबाकर खा लें। यह रसायन चेहरे की झुर्रियों तथा अकालपलित (बेसमय में बालों का सफेद होना) का नाश करता है तथा वर्ण, आयु, बल को बढ़ाता है। पाँच प्रकार के कासों, क्षय, श्वास, हिक्का, विषमज्वर, अर्श, ग्रहणीदोष, हृद्रोग, अरुचि, पीनस (प्रतिश्याय) इन सबका विनाश करता है। यह श्रेष्ठ रसायन महर्षि अगस्त्य द्वारा बनाया हुआ शुभकारक है।

वक्तव्य—दशमूल आदि २० द्रव्यों, १ आढक जौ तथा १०० हरड़ों को एक बड़ी कड़ाही में डालकर पकायें; जब भात की भाँति जौ गल जाय तब कड़ाही को नीचे उतार कर हरड़ों को निकाल लें, शीतल होने पर जौ सहित सभी द्रव्यों को मसलकर छान लें, उस पानी में गुड़ डालकर चासनी बनायें। हरड़ों की गुठली निकाल कर उन्हें पर्याप्त भून लें, चासनी तैयार हो जाने पर हरड़ों को चासनी में डालकर पुनः पका लें। शीतल होने पर मधु तथा पिप्पली चूर्ण मिलाकर रख दें। दो हरड़ों को लें उतनी ही चासनी भी लें यह एक मात्रा है। यह रसायन वैसा ही महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि सुप्रसिद्ध 'च्यवनप्राश'। अन्तर इतना ही है कि च्यवन महर्षि ने 'च्यवनप्राश' का सेवन कर स्वयं लाभ उठा लिया और महर्षि अगस्त्य इसे स्वयं न खाकर लोकोपकार के लिए कह गये। सामयिक मात्रा—१ तोला लेह (चासनी) और एक हरड़।

सैन्धवं पिप्पलीं भार्गीं शृङ्गबेरं दुरालभाम्। दाडिमाम्लेन कोष्णेने भार्गीनागरमम्बुना ॥६३॥

सैन्धवादि योग—सैंधानमक, पिप्पली, भारंगी, शृंगवेर (अदरख), दुरालभा—इन सबको समभाग लेकर चूर्ण कर लें, मात्रानुसार इसे लेकर दाड़िम का रस पीना चाहिए। अथवा भारंगी तथा सोंठ को समान भाग लेकर इस चूर्ण का गुनगुने जल से सेवन करें।

[1]पिबेत् खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः। अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥६४॥

कास में खदिरसार-प्रयोग—अथवा खैर की लकड़ी में जो बीच का सार (लाल वर्ण का ठोस) भाग होता है, उसके चूर्ण को खाकर अनुपान के रूप में मदिरा या दही का पानी पीयें। अथवा पीपल के कल्क को घी में भूनकर सैंधानमक मिलाकर लें, उसके बाद अनुपान के रूप में मदिरा या दही का पानी पीयें।

शिरसः पीडने स्रावे नासाया हृदि ताम्यति। कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥६५॥

कास रोग में धूमपान—कासरोग अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) के कारण रोगी के सिर में पीड़ा हो रही हो या नासिका से जलस्राव हो रहा हो या हृदय में अन्धकार जैसा छाया प्रतीत होता हो तो वैद्य को चाहिए वह ऐसे रोगियों को धूमपान कराये।

दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टाङ्गुलोन्मिताम्। शरावसम्पुटच्छिद्रे कृत्वा जिह्मां विचक्षणः ॥
वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत्। तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद् वमेत् पुनः ॥६७॥
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छिद्य श्लेष्माणमुरसि स्थितम्। निष्कृष्य शमयेत् कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥

---

1. 'पिबेद्धदरसारम्' इति पा०।

धूमपान-विधि—एक शराव सम्पुट (एक सकोरे) में धूमपानोचित द्रव्य को रखकर बीच में छेद किये गये दूसरे सकोरे से पहले सकोरे का मुख बन्द कर दें। बुद्धिमान् चिकित्सक उस शराव सम्पुट के छिद्र में १० अंगुल लम्बी या ८ अंगुल लम्बी एक टेढ़ी नली लगा दे। अब वह कास रोगी अपने मुख से इस शिरोविरेचन-कारक धूम का पान करे, वह धूम जब छाती तक पहुँच जाय तब उसे पुनः मुख से ही बाहर निकाले। वह धुआँ हृदय-प्रदेश में जमे हुए कफ को अपनी तीक्ष्णता के कारण काट-काट कर बाहर निकाल देता है, जिससे वातकफज कास शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

वक्तव्य— रक-सूत्रस्थान अ० ५ में श्लोक २० से ५५ तक धूमपान-विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यहाँ जो तन्त्रकार ने स्मरण दिलाने के रूप में 'मुखेनैवोद् वमेत् पुनः' कहा है, उसके लिए इस पद्य को देखें—'आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत्। प्रतिलोमं गतो ह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी' ॥ च० सू० अ० ५।४७। अर्थ स्पष्ट है।

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदैः पिबेत्। धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥६९॥
एष कासान् पृथग्दोषसन्निपातसमुद्भवान्। धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगशतैरपि ॥७०॥

मनःशिलादि धूम—मैनसिल, हरताल, मुलेठी, नागरमोथा, इंगुदी का फल इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर बारीक पीसकर (चरक-सूत्रस्थान, अध्याय ५ श्लोक २० से ५५ तक में निर्दिष्ट धूमपान-प्रकरण के अनुसार) धूमवर्ति बना लें और उसका सेवन करें। धूमपान कर लेने के बाद गाय के गुनगुने दूध में गुड़ मिलाकर पीना चाहिए। यह 'मनःशिलादिधूम' वात, पित्त, कफ दोषों से उत्पन्न तथा सन्निपातज उन कास रोगों को नष्ट करता है, जो अन्य सैकड़ों कासनाशक योगों का प्रयोग करने पर भी ठीक न हो सके हों।

वक्तव्य—यद्यपि आरम्भ में कास रोग पाँच प्रकार का कहा गया है। उसमें द्वन्द्वज या सन्निपातज भेदों की गणना नहीं की गयी है, परन्तु दोषों की अंशांश कल्पना करने पर सब कुछ देखने को मिलता है। यह भी एक सिद्धान्त है—**'न रोगोऽप्येकदोषजः'** अर्थात् कोई भी रोग एकदोष से उत्पन्न नहीं होता है। महर्षि आत्रेय ने चरक-सूत्रस्थान के अष्टोदरीय नामक १९वें अध्याय में उदर आदि रोगों की संख्या का निर्देश किया है। यह तो **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** इस न्याय के अनुसार है। मत-मतान्तरों की चर्चा तो भेदमूलक होती ही है। यही कारण है कि महर्षि आत्रेय ने यहाँ तथा आगे १८८वें श्लोक में 'सन्निपातज' कास की भी चर्चा कर डाली है। सुश्रुत ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह तीनों दोषों के लक्षणों से समन्वित क्षयज कास है—'शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम्'। स सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति' ॥ सु० उ० अ० ५२।१२ $\frac{1}{2}$। महर्षि आत्रेय ने जिस सन्निपातज (सुश्रुत की दृष्टि से क्षयज) कास में मनःशिलादि धूम का प्रयोग करने की आज्ञा दी है, वहाँ उस रोग की प्रारम्भिक अवस्था समझनी चाहिए, क्योंकि 'नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ'। च० नि० अ० १८।३९।

श्रीचक्रपाणि 'इङ्गुद' शब्द से 'पुत्रजीवक' द्रव्य का ग्रहण करते हैं। वास्तव में इङ्गुद तथा इङ्गुदी ये दोनों एक ही द्रव्य हैं। **इङ्गुदी**—साइमारुबेसी (Simaroubaceae) कुल का द्रव्य है, इसी को हिन्दी में हिंगोट या हिंगुआ कहते हैं। **पुत्रजीवक**—यूफार्बिएसी (Euphorbiaceae) कुल का द्रव्य है। इसे हिन्दी में जियापोता या पितौजिया कहते हैं, विचार करें।

आचार्य शिवदास उक्त श्लोक की टीका करते हुए लिखते हैं कि मैनशिल, हरताल आदि धूमोपयोगी द्रव्यों को बकरे का मूत्र डालकर पीसें। पिसे हुए इन द्रव्यों का नये साफ वस्त्र पर लेप करके धूप में सुखा लें। उसके बाद इसे शराव सम्पुट में रखकर बेर की लकडी के जलते हुए कोयलों को रखकर धूमपान करायें। यह टीकाकार की प्रसंगोचित युक्ति है।

प्रपौण्डरीकं मधुकं शार्ङ्गेष्टां समनःशिलाम्। मरिचं पिप्पलीं द्राक्षामेलां सुरसमञ्जरीम् ॥७१॥
कृत्वा वर्ति पिबेद् धूमं क्षौमचेलानुवर्तिताम्। घृताक्तामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा ॥७२॥

प्रपौण्डरीकादि धूम—पुण्डरिया काठ, मुलेठी, शार्ङ्गेष्टा (गुंजा), मैनशिल, मरिच, पिप्पली, मुनक्का, बड़ी इलायची, तुलसी की मञ्जरी—इन सभी द्रव्यों को पानी डालकर भली-भाँति पीसकर क्षौम चैल (रेशमी

वस्त्र, सन से बनाये हुए वस्त्र या अतसी=अलसी की छाल से बनाये गये वस्त्र) के ऊपर उसका लेप करके धूप में सुखा लें, सूख जाने पर उसे लपेट कर बत्ती बना लें, उस बत्ती को घी में भिगाकर यथाविधि धूमपान करें। तदनन्तर गरम दूध पीयें अथवा गुड़ को पानी में घोलकर पीयें। यह भी विरेचनकारक तीक्ष्ण धूम है।

मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः । [1]वंशलेखनसेव्यालक्षौमलक्तकरोहिषैः ॥७३॥
पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते । मनःशिलाले तद्वच्च पिप्पलीनागरैः सह ॥७४॥
त्वगिङ्गुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला । कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥७५॥

धूमपान के विविध योग—१. मैनशिल, बड़ी इलायची, कालीमिर्च, जवाखार, कालाञ्जन, कुटन्नट (सोनापाठा), वंशलेखन (वंशनीलिका—चक्रपाणि, पाठभेद के अनुसार—वंशलोचन) खश, हरिताल, क्षौमलक्तक (असली या तीसी की छाल से बने हुए वस्त्र का टुकड़ा) और रोहिषतृण—इन सब द्रव्यों से पहले की भाँति धूमवर्ति बनाकर घी में चुपड़कर सम्पुट में रखकर धूमपान करे, उसके बाद दूध या गुड़ का शर्वत पीये। २. उसी प्रकार मैनसिल, हरताल, पिप्पली, सोंठ—इन द्रव्यों को पीसकर धूमवर्ति बना एवं सुखाकर घी में चुपड़कर धूमपान करें, बाद में दूध या गुड़ का शरबत पीयें। ३. उसी प्रकार इङ्गुदी के फल की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मुसली, मैनशिल, कपास की गुठली (बिनौला), असगन्ध—इन सबकी पूर्ववत् धूमवर्ति बनाकर धूप में सुखाकर घी में भिगोकर धूमपान करना चाहिए। उसके बाद दूध या गुड़ का शर्वत पीयें।

वक्तव्य—उक्त तीन श्लोकों का सम्बन्ध 'पूर्वकल्पेन' इस वाक्य के अनुसार श्लोक ७१-७२ में दिये गये प्रयोग तथा अनुपानविधि से है। **क्षौमलक्तक**—पूर्ववर्ती टीकाकारों ने इस एक पद को स्वेच्छया अलग करके कुछ का कुछ अर्थ कर डाला है। आप उसपर ध्यान न देकर ऊपर लिखे हुए सही अर्थ पर ध्यान दें। जिस 'लक्तक' शब्द का अर्थ 'महावर' किया गया है, वह शब्द वास्तव में 'अलक्तक' है। यदि हम उसे 'अलक्तक' मानते हैं, तो फिर यह पाठ **'क्षौमालक्तक'** हो जायेगा न कि 'क्षौमलक्तक'।

हमारे विचार से मैनसिल से लेकर हरताल तक तथा रोहिषतृण इन दस द्रव्यों को पीसकर 'क्षौमलक्तक' के ऊपर लेप करके वर्ति तैयार करना तन्त्रकार को अभीष्ट रहा है, शेष स्पष्ट है।

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान् । रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥७६॥

वातज कास में पथ्य—ग्राम्य (पालतू), आनूपदेशज तथा औदक (जल में होने वाले) प्राणियों के मांसरसों के साथ, अथवा उड़द के जूष से या किवाँच के फल के जूष से हितकारक शालिधान के चावलों का भात या सांठी के चावलों का भात अथवा जौ, गेहूँ की रोटियाँ खिलायें।

यवानीपिप्पलीबिल्वमध्यनागरचित्रकैः । रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशशटिपौष्करैः ॥७७॥
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत् । कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिक्काप्रणाशिनीम् ॥

कासरोग में पेया—अजवायन, पिप्पली, बेल की गुद्दी, सोंठ, चीता की जड़, रास्ना, जीरा, पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), पलाश (ढाक) वृक्ष की छाल, कचूर, पोहकरमूल—इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर जौकुट करके षडंगपरिभाषा के अनुसार पकाकर तैयार होने पर उस जल को छानकर रख लें। उस जल से पेया सिद्धकर उस पेया में घी मिला दें (या उसे घी से छौंक दें) और दाड़िम का रस डालकर उसे कुछ खट्टा बना लें, उसमें मात्रानुसार नमक मिलाकर वातज कास रोगियों को पथ्य के रूप में पीने के लिए दें। यह पेया कटि, हृदय, पसलियों, कोष्ठ (उदर) की पीड़ा या शूल का हरण करती है तथा श्वास, हिक्का (तथा कास) रोग का विनाश करती है।

वक्तव्य—कासप्रकरण में कही गयी यह पेया, कासविनाशिनी न हो, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जो योग हिक्का-श्वास का विनाश करते हैं, वे कास का भी शमन करते ही हैं। इस प्रकार प्रसंगोचित अर्थ को तन्त्रकार द्वारा न कहे जाने पर भी ग्रहण करने की विधि को व्याकरणशास्त्र में 'अध्याहार' कहते हैं।

दशमूलरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्वितम् । सिद्धां समतिलां दद्यात् क्षीरे वाऽपि ससैन्धवाम् ॥७९॥

१. 'वंशलोचनशैवाल' इति पा०।

अन्य पेया योग—१. उसी प्रकार दशमूल के सभी द्रव्यों को सम परिमाण में लेकर जौकुट करके षडंग-परिभाषा के अनुसार पकाकर पानी को छानकर ले लें, उस जल से विधिपूर्वक पेया तैयार करके पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ) का चूर्ण और गुड़ डालकर कासरोगी को पिलायें। २. अथवा तिल और शालिधान के चावलों को समभाग में लेकर दूध में पकाकर रोगी को खिलायें। ३. अथवा तिल और शालि चावलों को समभाग में लेकर पानी में पकाकर उसमें हलका नमक मिलाकर रोगी को खिलायें।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने दूध में पकायी गयी पेया में ही नमक डालने का निर्देश दिया है। वृद्धवाग्भट ने भी उक्त योग को उद्धृत किया है—'दशमूलरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम्। पिबेत् समतिलां पेयां क्षैरेयीं वा ससैन्धवाम्' ॥ अ० सं० चि० अ० ४।२४। इन दोनों पाठों को देखने से यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि दूध डालकर बनायी हुई पेया में ही नमक भी डाल दिया जाय। उसका निर्माण अलग भी किया जा सकता है। निर्माण कार्य का दायित्व परिचारक पर निर्भर होता है। यदि रोगी की इच्छा हो तो मिलाया भी जा सकता है। बहुत लोग खिचड़ी में दूध मिलाकर खाते हुए देखे जाते हैं। वास्तव में **'ससैन्धवाम्'** विकल्प पक्ष है। दूध में पेया तैयार करने के बाद उसमें गुड़ आदि मधुर द्रव्य अवश्य डालना चाहिए।

मात्स्यकौक्कुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम् । सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबेन्नरः[1] ॥

मांसरस-निर्मित पेया—अथवा मछली, मुर्गा, सूअर इनके मांसरसों से बनायी गयी पेया में घी और सेंधानमक मिलाकर वातज कास के रोगी को पीने के लिए दें।

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम् । स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥८१॥
दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च । शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥८२॥
इति वातकासचिकित्सा ।

वातज कास में विविध शाक—बथुआ की पत्तियों का शाक, मकोय की पत्तियों का शाक, कच्ची मूली, सुनिषण्णक (चौपतिया) इनका रुचि के अनुसार शाक वातज कासरोगी को दें, तिल-तैल आदि स्नेह पदार्थों का प्रयोग करायें। दूध, ईख का रस, गुड़ से बने हुए भक्ष्य पदार्थों को खाने के लिए दें। दही, काँजी, खट्टे फलों का रस, प्रसन्ना (मद्य का ऊपरी स्वच्छ अंश), अन्य हितकर पेय पदार्थ, स्वादु (मधुर), अम्ल, लवण रस वाले द्रव्यों का सेवन भी हितकर होता है।

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम् । तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः ॥८३॥
यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसायुतैः । हृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत् ॥८४॥

पित्तज कास-चिकित्सा—१. यदि पित्तज कास में कफदोष का संसर्ग हो तो वमनकारक द्रव्यों द्वारा तैयार किये हुए घृत को पिलाकर रोगी को वमन कराना लाभप्रद होता है। २. अथवा मैनफल, गम्भार का फल, मुलेठी इन द्रव्यों को समभाग लेकर क्वाथ करें, इस क्वाथ को पिलाकर रोगी को वमन करायें। ३. अथवा मुलेठी तथा मैनफल के कल्क को ताजे विदारीकन्द के स्वरस अथवा ईख के रस को पिलाकर वमन कराना चाहिए। इस प्रकार जब दोष निकल जाय तब शीतल तथा मधुर (पेया एवं विलेपी आदि) आहारों का क्रमशः सेवन आरम्भ करे।

पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् । दद्याद् घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थं युतां भिषक् ॥८५॥
स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने । क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ॥८६॥

अन्य योग—पित्तज कास में जब कफदोष का अनुबन्ध साधारण रूप में हो अथवा कफ पतला हो गया हो तो निशोथ के चूर्ण में चीनी मिलाकर देना चाहिए। यदि पित्तज कास में गाढ़ा कफ निकल रहा हो तो चिकित्सक को चाहिए कि वह तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों के साथ निशोथ का चूर्ण विरेचन के लिए दें। यदि खाँसते समय पतला कफ निकल रहा हो तो स्निग्ध तथा शीतल आहार-द्रव्यों का भोज्य पदार्थों के रूप में सेवन करायें। यदि गाढ़ा कफ निकल रहा हो तो रूक्ष तथा शीतल पेया आदि का आहार में प्रयोग कराना चाहिए।

१. 'ससैन्धवां पाययेत यवागूं वातकासिनम्' इति पा०।

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीलीसाराणि पिप्पली । पिप्पलीमुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वामहौषधम् ॥८७॥
लाजाऽमृतफला द्राक्षा त्वक्क्षीरी पिप्पली सिता । पिप्पलीपद्मकद्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः ॥८८॥
खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्च ते । घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम् ॥

पित्तज कासहर पाँच लेह—१. सिंघाड़ा, कमलगट्टा, नील का सारभाग, पिप्पली । २. पिप्पली, नागरमोथा, मुलेठी, मुनक्का, मूर्वामूल, सोंठ । ३. धान का लावा (खील), आँवला, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली, मिश्री । ४. पिप्पली, पद्मकाठ, मुनक्का, बड़ी कण्टकारी के फल का स्वरस । ५. खजूर, पिप्पली, वंशलोचन, गोखरू । उपर्युक्त श्लोकों के एक-एक चरण द्वारा कहे गये इन पाँच औषधयोगों द्वारा स्नेह तैयार करके शीतल होने पर उनमें घी और मधु मिलाकर पित्तज कास वाले रोगियों को सेवन करायें ।

शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः । पैत्ते, समुस्तमरिचः सकफे, सघृतोऽनिले ॥९०॥

दोषानुसार अन्य लेह—६. पित्तज कासरोग में चीनी, सफेद चन्दन, मुनक्का, मधु, आँवला, नील-कमल—इन द्रव्यों द्वारा निर्मित लेह का प्रयोग करायें । कफयुक्त पित्तज कास में उक्त योग में नागरमोथा और कालीमिरिच का चूर्ण डालकर लेह तैयार किया जाता है । वातयुक्त पित्तज कास में उक्त योग द्वारा लेह तैयार करके उसमें घी मिलाकर पिलाना चाहिए ।

वक्तव्य—श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने लाल तथा सफेद चन्दन के प्रयोग-भेद का विचार करते हुए कहा है—'चूर्णस्नेहासवा लेहाः प्रायशश्चन्दनान्विताः । कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।५३ । पाठभेद के रूप में—'साध्या धवलचन्दनैः' । किन्तु इस श्लोक में प्रयुक्त प्रायः शब्द उत्तम चिकित्सक पर इसका निर्णय छोड़ देता है कि कब, कहाँ, कौन-सा चन्दन लेना आवश्यक होता है ।

मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीः शर्करापलम् । लेहयेन्मधुना गोर्वा [1]क्षीरपं च शकृद्रसम् ॥९१॥

अन्य योग—७. मुनक्का ५०, पिप्पली ३०, चीनी १ पल (४ तोला), इन सबको पीसकर मधु मिलाकर चाटना चाहिए । इसका सेवन करने के बाद केवल गाय का दूध पीकर रहें, भोजन आदि न करें । अथवा गाय के गोबर का रस निकालकर मधु के साथ चाटें ।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार—'दूध में गोबर के रस को पकाकर' चाटें । 'क्षीरपं च' के स्थान पर श्रीजयदेव ने 'क्षीरपस्य' ऐसा पाठ स्वीकार किया है, जो निर्णयसागरीय पाठ से अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है, हो सकता है कि कहीं मूल संहिता में भी 'क्षीरपस्य' ही रहा हो । देखें—अ० सं० चि० अ० ४।३४ ।

त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः । लाजामुस्तशटीरास्नाधात्रीफलबिभीतकैः ॥९२॥
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः । श्वासं हिक्कां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत् ॥९३॥

त्वगादि लेह—८. दालचीनी, इलायची, सोंठ, मरिच, पिप्पली, मुनक्का, पिप्पलामूल, पोहकरमूल, धान का लावा (खील), नागरमोथा, कचूर, रास्ना, आँवला, बहेड़ा, चीनी, मधु तथा घी से तैयार किये हुए इस लेह को चाटने से यह कासरोग, श्वास, हिक्का, क्षय तथा हृदयरोग का भी विनाश करता है ।

पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजां सितोपलाम् ।
क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात् क्षौद्राष्टभागिकम् ॥ ९४ ॥

पिप्पल्यादि लेह—९. पिप्पली, आँवला, मुनक्का, कच्चीलाख, धान का लावा (खील), मिश्री—इन सब द्रव्यों को दूध में पकाकर उतार लें, शीतल होने पर आठवाँ भाग मधु मिला दें । इस लेह को पित्तज कास के रोगी को चाटने के लिए दें । यह शीघ्र लाभ करता है ।

विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम् । पिबेद् वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥९५॥

विदार्यादि योग—अथवा विदारीकन्द का स्वरस, ईख का स्वरस, कमलनाल का स्वरस, गाय का दूध, मिश्री और मधु—इन सबको समभाग में लेकर मिलाकर पीयें, यह पित्तज कास विनाशक योगों में श्रेष्ठ है ।

१. 'क्षीरे पक्त्वा शकृद्रसम्' इति पा० ।

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः । मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ॥९६॥

पित्तज कास में पथ्य—जांगलप्रदेशीय पशु-पक्षियों के मधुर मांसरसों के साथ, अथवा मूँग आदि दालों के यूषों के साथ, तिक्तरस-प्रधान शाकों के साथ मात्रा के अनुसार साँवा, कोदों, जौ द्वारा निर्मित आहारों का सेवन करना चाहिए ।

घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः । शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ॥९७॥

अन्य पथ्य—यदि पित्तज कास रोगी को गाढ़ा कफ निकल रहा हो तो तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों के योग से बनाये गये लेहों में मधु मिलाकर सेवन कराना चाहिए, यदि पतला निकल रहा हो तो शालिधान के चावलों अथवा साठी के चावलों का भात जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ खाने के लिए दें ।

शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसाः पयः । सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ॥९८॥

पित्तज कास में अनुपान—चीनी का शर्बत, मुनक्का का रस, ईख का रस, दूध और सभी मधुर द्रव्य, शीतल द्रव्य, जो विदाह उत्पन्न नहीं करते वे सभी पित्तज कास रोग के अनुपान के लिए उत्तम माने जाते हैं ।

काकोलीबृहतीमेदायुग्मैः सवृषनागरैः । पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ॥९९॥

अन्य अनुपान द्रव्य—काकोली, बड़ी कटेरी, मेदा, महामेदा, अड़ूसा, सोंठ—इन द्रव्यों के क्वाथ रस से मांसरसों, यूषों तथा दूध को तैयार करें ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि पहले उक्त द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसे छानकर रख लें, उस क्वाथरस द्वारा मांस को पकाकर उसका रस लें, विविध प्रकार के यूषों को तैयार करें और दूध को भी पकायें । तैयार होने पर इन्हें रोगी को दें ।

शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा । कषायेण शृतं क्षीरं पिबेत् समधुशर्करम् ॥१००॥

शरादि क्षीरपाक—शरादिपञ्चमूल (कुश, काश, शर, दर्भ, ईख) की जड़ें पिप्पली एवं मुनक्का इनके क्वाथरस से पकाया हुआ दूध मधु और चीनी मिलाकर पित्तज कास का रोगी पीये ।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार उक्त श्लोक में दो योगों को स्वीकार करते हैं । किन्तु श्लोक की वाक्य-रचना से ऐसा प्रतीत नहीं होता है । शरादि पञ्चमूल का क्वाथ षडंगपरिभाषा के अनुसार तैयार करना चाहिए ।

स्थिरासितापृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः । जीवकर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ॥१०१॥
शृतं पयः पिबेत् कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी ।

स्थिरादि क्षीरपाक—स्थिरा (शालपर्णी), मिश्री, पृश्निपर्णी, गोरखमुण्डी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, जीवक, ऋषभक, काकोली, भुँइ आँवला, ऋद्धि, जीवक—इन द्रव्यों के क्वाथ से यथाविधि पकाये गये दूध को कास, ज्वर, दाह, उरःक्षत तथा क्षय रोग से पीड़ित रोगी पीये ।

वक्तव्य—उक्त पाठ में 'जीवक' द्रव्य का दो बार ग्रहण किया गया है, अतः इसे दूनी मात्रा में लें । श्रीजयदेव ने जिस पाठ को उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—'**वीरर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः**' और अन्तिम '**जीवकैः**' के स्थान पर 'जीरकैः' पाठ भी कुछ प्रतियों में प्राप्त होता है । इन सभी पाठभेदों का संग्रह श्रीजयदेव कृत टीका युक्त चरकसंहिता में है । ऐसे स्थलों में दिये गये विभिन्न द्रव्यों के गुण-धर्मों की प्रसंगोचित विवेचना करके स्वयं निर्णय लेने की क्षमता अर्जित करनी चाहिए ।

तज्जं वा साधयेत् सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ॥ १०२ ॥
तज्जं वा साधयेत् सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ॥ १०२ ॥
शृतं पयः पिबेत् कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी । ... सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत् ॥१०३॥

अन्य योग—अथवा १०१वें श्लोक में कहे गये शालपर्णी आदि द्रव्यों द्वारा पकाये गये दूध से घी निकाल कर उस घी को पुनः चिकित्सक दूध, ईख का रस, जीवक आदि (च० सू० अ० ४।९ में कहे गये) प्रथम १० द्रव्यों तथा अभिषुक (पिस्ता) आदि फलों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) परिमाण में लेकर इन सबका कल्क बनाकर पकायें। जब भली-भाँति घृतपाक हो जाय तो उसे छान लें; तब उसमें चीनी, पिप्पली, वंशलोचन, कालीमिर्च, सिंघाड़ा प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में कपड़छन चूर्ण कर तथा १ पल (४ तोला) मधु, उतना ही गेहूँ का आटा उस घी में मिलाकर गोली बनाकर रख दें। पथ्य आहारों का सेवन करता हुआ कास रोगी मात्रा के अनुसार इन गोलियों का सेवन करे। इससे शुक्रदोष, मासिक सम्बन्धी दोष, शोष, कास, उरःक्षत तथा क्षय रोग नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—च० चि० अ० ११ श्लोक५६-६१ में 'द्वितीय सर्पिगुड' का जो विधान दिया गया है, तदनुसार इसका भी निर्माण करना चाहिए। आचार्य गंगाधर का कथन है, कि उक्त प्रत्येक गुड (गोली) के भीतर मधु ऐसे भरना चाहिए, जैसे कचौड़ी के भीतर उड़द की पीठी भरते हैं, तदनन्तर घी में उन गुड़ों को पकायें। उक्त श्लोकों से श्रीगंगाधर-सम्मत अर्थ की गन्ध तक नहीं आ रही है, जिससे हम गुड़ बनाकर पाक करने का संकेत पा सकें। दूसरा तथ्य यह भी है कि मधु को गरम नहीं करना चाहिए। इस विषय की जानकारी के लिए देखें—सु० सू० अ० ४५।१४३ से १४५ तक। किन्तु वमन कराने के लिए मधु को उष्ण पदार्थों के साथ मिलाकर देते हैं। देखें—उक्त सन्दर्भ का अगला श्लोक १४६।

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शटीं समम्। पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ॥१०६॥

शर्करादि योग—चीनी, सोंठ, सुगन्धबाला, कण्टकारी, कचूर, इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर पानी डालकर बारीक पीसकर कल्क बना लें, फिर उसे कपड़े से छानकर उस रस में घी डालकर मिला लें। इसे पित्तज कास रोगी को १ तोला की मात्रा में पिलायें।

महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समः। सर्पिः सिद्धं पिबेद् युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम् ॥१०७॥

इति पित्तकासचिकित्सा।

पित्तज कास में घृतपान—भैंस का दूध, बकरी का दूध, भेड़ी का दूध, गाय का दूध, आँवलों का स्वरस इन सबको समान मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृतपाक करें, मात्रा के अनुसार इसको पीयें। इससे पित्तज कास का विनाश हो जाता है।

बलिनं वमनैरादौ शोधितं कफकासिनम्। यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत् ॥१०८॥

कफज कास-चिकित्सा—यदि कफज कास का रोगी बलवान् हो तो सबसे पहले उसे वमन कराना चाहिए। वमन कराने से जब उसका कफदोष शान्त हो जाय, तब उसे कफनाशक कटु, रूक्ष तथा उष्णगुण युक्त औषधद्रव्यों एवं जौ के आटा से बना हुआ पथ्य भोजन कराना चाहिए।

पिप्पलीक्षारिकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च। लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ॥१०९॥
धान्वबैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपबिल्वजैः। मध्वम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ॥११०॥

कफज कास में अन्न-पान—पिप्पली चूर्ण तथा जवाखार के चूर्ण को मिलाकर तैयार किये हुए कुलथी अथवा मूली के यूष से, अथवा लघु (शीघ्र पचने वाले सांठी के चावलों का भात आदि) आहारों का सेवन करे, अथवा कटुरस-प्रधान द्रव्यों से युक्त मांसरसों के साथ लघु आहारों का सेवन करे, अथवा धन्व (जांगल) देश में उत्पन्न तथा बैल (बिलेशय-चूहा आदि) प्राणियों के मांसरसों के साथ एवं तिल, सरसों, बेल के बीजों के तेलों के साथ कफज कास के रोगी को लघु (शीघ्र पचने वाले) आहारों को भोजन के लिए दें। भोजन कर लेने के बाद अथवा औषधि-सेवन के बाद अनुपान के रूप में मधु (शहद), अम्लपदार्थ (दाड़िम का रस, काँजी), गुनगुना जल, मठा अथवा रोगनाशक उत्तम प्रकार का मद्य पीने के लिए दें।

पौष्करारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम्। जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु ॥१११॥

पुष्करमूलादि हिम—पोहकरमूल, अमलतास के जड़ की छाल, परवल की पत्तियाँ, फल, फूल तथा लता इन सबको समभाग लेकर जौकुट करके रात्रि में पानी में भिगा दें, प्रातःकाल उसे मसलकर छान लें। इसमें मधु मिलाकर भोजन के आदि, मध्य, अन्त में एक-एक बार पीने के लिए दें। इसे शीतकषाय या हिम भी कहते हैं।

कट्फलं कत्तृणं भार्गी मुस्तं धान्यं वचाभये। शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गीं सुराह्वं च शृतं जले ॥११२॥
मधुहिङ्गुयुतं पेयं कासे वातकफात्मके। कण्ठरोगे मुखे शूने श्वासहिक्काज्वरेषु च ॥११३॥

कट्फलादि क्वाथ—यदि वात-कफज कास हो तो उसमें कायफल (काफल) की छाल, गन्धतृण, भारंगी, नागरमोथा, धनियाँ, बालवच, हरड़, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकड़ासिंगी, देवदारु इन द्रव्यों को समभाग लेकर यथाविधि क्वाथ बनाकर मधु और (घी में भुनी हुई) हींग मिलाकर पीना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस क्वाथ का प्रयोग गले के रोगों में, मुख के रोगों में, शोथ में, श्वास, हिक्का तथा ज्वरों में भी करना चाहिए।

पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वां गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम्। पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिङ्गुसैन्धवाभ्यां युतां पिबेत्॥

पाठादि कल्क—पाढल, सोंठ, कचूर, मूर्वा की जड़, इन्द्रायण की जड़, नागरमोथा, पिप्पली, इन द्रव्यों को पानी डालकर पीसकर कल्क जैसा बना लें, इसमें घी में भुनो हींग और सेंधानमक पीसकर मिला दें तब इसे गरम पानी के साथ पीयें।

नागरातिविषे मुस्तं शृङ्गीं कर्कटकस्य च। हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत् ॥११५॥

नागरादि कल्क—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, काकड़ासिंगी, हरड़, कचूर—इनका सेवन भी ऊपर के श्लोक में कही गयी विधि के अनुसार ही करें। अर्थात् द्रव्य इस योग के लें और सेवन उक्त प्रकार से करें। इस नागरादि कल्क में भी हींग और सेंधानमक का योग करके तब इसे गुनगुने जल के साथ पीना चाहिए।

तैलभृष्टं च पिप्पल्याः कल्काक्षं ससितोपलम्। पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं कुलत्थरससंयुतम् ॥११६॥

पिप्पली-सेवन-विधि—१ कर्ष (तोला) पिप्पलियों के कल्क को तिल के तेल में भूँजने के बाद उसमें १ कर्ष अर्थात् समभाग पिसी हुई मिश्री मिलाकर कुलथी के रस में घोलकर पीयें या इसमें मधु मिलाकर सेवन करें।

कासमर्दाश्वविड्भृङ्गराजवार्ताकजो रसः। सक्षौद्रः कफकासघ्नः सुरसस्यासितस्य च ॥११७॥

कासमर्दादि योग—कसौंदी, घोड़े की लीद, भृंगराज (भंगरैया), वार्ताक (बैंगन या बड़ी कटेरी) इन सभी द्रव्यों का स्वरस और काली तुलसी की पत्तियों का स्वरस लें, इसमें मधु मिलाकर सेवन करने से कफज कासरोग का विनाश होता है।

देवदारु शटी रास्ना कर्कटाख्या दुरालभा। पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ॥११८॥
मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे।

वातदोषयुक्त कफज कास-चिकित्सा—१. देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ासिंगी, दुरालभा; २. पिप्पली, सोंठ, नागरमोथा, हरड़, आँवला, मिश्री ये दो योग हैं। इनमें निर्दिष्ट सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर मधु तथा तिल का तेल मिलाकर वातानुग कफज कास के रोगी को सेवन करायें।

वक्तव्य—इनमें पहले का नाम **'देवदार्वादि लेह'** और दूसरे का नाम **'पिप्पल्यादि लेह'** रखा जा सकता है। ये दोनों लेह वात के अनुबन्ध से युक्त कफज कास में हितकर होते हैं।

॥ ११९ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥१२०॥
पथ्या तामलकी धात्री भद्रमुस्ता च पिप्पली। देवदार्वभया मुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥
विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत्। चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक् ॥

कफज कासहर चार योग—१. पिप्पली, पिप्पलीमूल, चीता की जड़, गजपिप्पली। २. हरड़, भुंइ आँवला, आँवला, नागरमोथा और पिप्पली। ३. देवदारु, हरड़, नागरमोथा, पिप्पली, सोंठ। ४. विशाला (इन्द्रायण की जड़), पीपर, नागरमोथा, निशोथ। इन चारों योगों का अलग-अलग पूर्वोक्त विधि से लेह तैयार

कर मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिए। ये चारों योग कफज कास का विनाश करते हैं। अतः चिकित्सक को चाहिए कि इन्हें रोगी को सेवन करने के लिए दे।

वक्तव्य—उक्त द्रव्यों का कल्क बनाकर यदि चाटने के लिए देते हैं तो प्रतिदिन उतना ही कल्क बनायें जितना प्रतिदिन समाप्त हो जाय। यदि चूर्ण बनाकर रखना हो तो एक साथ पर्याप्त मात्रा में बनाकर रखा जा सकता है। क्योंकि चाटना तो मधु के साथ ही है। मात्रा–१ माशा। वृद्धवाग्भट ने कफकासहर सात योगों का एक साथ वर्णन किया है। यहाँ ऊपर जो चौथा योग दिया है, उसे इन्होंने कुछ परिवर्तन के साथ इस प्रकार दिया है—'विशाला पिप्पलीमूलं त्रिवृता च मधुद्रवाः'। अ० सं० चि० अ० ४।५६। सात योगों के लिए श्लोक ५३ से ५६ तक देखें। चरकोक्त 'पिप्पली मुस्तं' के स्थान पर इन्होंने 'पिप्पलीमूलं' पाठ दिया है।

सौवर्चलाभयाधात्रीपिप्पलीक्षारनागरम् । चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत् ॥१२२॥

सौवर्चलादि चूर्ण—सोंचर नमक, हरड़, आँवला, पिप्पली, जवाखार, सोंठ—इन द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को समान भाग लेकर एक साथ मिला दें। इसे घी में मिलाकर पीयें या चाटें। इससे वातज तथा कफज कास नष्ट होता है।

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् । पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसव्योषहिङ्गुभिः ॥१२३॥
पेयानुपानं तत् पेयं कासे वातकफात्मके । श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च ॥१२४॥

इति दशमूलादिघृतम् ।

दशमूलादि घृत—दशमूल का क्वाथ १ आढक (२५६ तोला), गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला) और पोहकरमूल, कचूर, बेल की गुद्दी, तुलसी की पत्तियाँ, सोंठ, मरिच, पीपल, हींग (प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला) इनका कल्क तैयार करके इसे तथा घी को उक्त क्वाथ में मिला दें, अब घृतपाक-विधि से इसे पकायें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। अब रोगी के लिए इसी प्रकरण में कही गयी पेयाओं में से किसी एक पेया को तैयार कर रोगी को पिलायें, उसके बाद अनुपान के रूप में इस घृत को मात्रानुसार दें। यह घृत वातज-कफज कास का विनाश करता है साथ ही सभी प्रकार के वातज तथा कफज श्वासरोगों में इसका प्रयोग कराना चाहिए। मात्रा–आधा तोला।

समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके । घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिचित्रकैः ॥१२५॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैः । वृश्चीरबृहतीपथ्यायवानीदाडिमर्द्धिभिः ॥१२६॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालम्भाम्लवेतसैः । शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत् ॥१२७॥
कल्कैस्तत् सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते । कण्टकारीघृतं ह्येतत् कफव्याधिनिसूदनम् ॥१२८॥

इति कण्टकारीघृतम् ।

कण्टकारीघृत—कण्टकारी का मूल, फल और पत्ते—इनका स्वरस १ आढक (२५६ तोला) लें। यदि ताजी (स्वरस निकालने योग्य) कण्टकारी न मिले तो इसका क्वाथ बनाकर उस रस का ग्रहण करें। गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), बलामूल, सोंठ, मरिच, पीपल, वायविडंग, कचूर, चीता की जड़, सोंचरनमक, जवाखार, पिप्पलीमूल, पोहकरमूल, लालपुनर्नवा, बड़ीकटेरी, हरड़, अजवाइन, दाडिम के बीज, ऋद्धि, मुनक्का, पुनर्नवा, चव्य, दुरालभा, अम्लवेत, काकड़ासिंगी, भुँइआँवला, भारंगी, रास्ना, गोखरू—इन सभी द्रव्यों को १-१ तोला लेकर इनका कल्क तैयार करें, फिर सबको एक में मिलाकर विधिपूर्वक घृतपाक करें। तैयार होने पर छानकर रख लें। इस 'कण्टकारी घृत' का प्रयोग सभी प्रकार के कासरोगों में, हिक्का तथा श्वासरोगों में उत्तम कहा गया है। यह घृत कफ सम्बन्धी सभी रोगों का विनाशक है।

वक्तव्य—इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है, किन्तु इन्होंने चरकोक्त पाठ **'पिप्पलीमूलपौष्करैः'** के स्थान पर **'मूलामलकपौष्करैः'** पाठ कर दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ४।७१ से ७४ तक। आचार्य गंगाधर भी वृद्धवाग्भटोक्त पाठ को स्वीकार कर यहाँ 'आँवला' द्रव्य को उक्त योग के अतिरिक्त ग्रहण करने का आग्रह करते हैं।

कुलत्थरसयुक्तं वा पञ्चकोलभृतं घृतम् । पाययेत् कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते ॥१२९॥

इति कुलत्थादिघृतम् ।

कुलत्थादि घृत—अथवा पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़, सोंठ, इन प्रत्येक पाँच द्रव्यों को ३ तोला की मात्रा में लेने पर इन्हें पञ्चकोल कहते हैं। इनके कल्क द्वारा पकाये गये घी में कुलथी का रस मिलाकर पिलाने से कफज कास, हिक्का तथा श्वासरोग नष्ट होते हैं। अतएव यह उक्त रोगों का विनाश करने में प्रशंसित है।

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम् । कोशातकीफलान्मध्यं पिबेद् वा समनःशिलम् ॥

कफज कास में धूमपान—जिन धूमों का प्रयोग वातज कासरोगियों के लिए करने का विधान किया है, उन्हीं धूमों का प्रयोग कफज कास में भी करना चाहिए। अथवा सूखी कोशातकी (कड़वी तोरई) के बीजों की गुद्दी तथा मैनसिल को समभाग में मिलाकर पी लें।

वक्तव्य—इसका धूमपान करना चाहिए। इससे आँतों में एवं हृदय-प्रदेश के आस-पास सटा हुआ कफ निकल जाता है। यह अत्यन्त तीक्ष्ण धूमपान है, अतः यहाँ इसी अध्याय के ७२वें श्लोक में कहे गये विधान के अनुसार धूम की तीक्ष्णता को दूर करने के लिए दूध में गुड़ मिलाकर पिलाना चाहिए।

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत् पित्तानुबन्धजः । पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥१३१॥

विशेष अवस्था में निर्देश—यदि कफज कास में पित्त का अनुबन्ध रहने पर तमकश्वास की उत्पत्ति हो जाय तो उस रोगी की जो अवस्था (स्थिति) हो, तदनुसार उस रोगी पर पित्तज कास चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रकार के अन्य परिवर्तनों का निर्णय रोग और रोगी की परिस्थिति को देखकर चिकित्सक को स्वयं कर लेना चाहिए। उसमें भी शास्त्रीय दृष्टिकोण की अवहेलना उचित प्रतीत नहीं होती है।

वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात् कफहरीं क्रियाम् । पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम् ॥१३२॥

अन्य अवस्था-निर्देश—वातज कासरोग में यदि कफदोष का अनुबन्ध हो तो, उस स्थिति में कफ-विकार-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। वात-कफज कासरोग में पित्तदोष का अनुबन्ध हो तो पित्तदोष-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि का मत है—यदि वातज या कफज कास में पित्त प्रधानरूप में हो अथवा पित्त का अनुबन्ध हो तो दोनों ही परिस्थितियों में पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

आर्द्रे विरूक्षणं शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके । कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम् ॥१३३॥

इति कफजकासचिकित्सा ।

कासचिकित्सा-सिद्धान्त—यदि वात-कफज कास आर्द्र हो अर्थात् रोगी खाँसने के साथ पर्याप्त कफ थूकता हो तो विशेष रूप से रूक्ष अन्न-पान का प्रयोग कराना चाहिए। यदि वातकफज कास शुष्क हो, अर्थात् खाँसी आती हो और कफ न निकलता हो तो उसे स्निग्ध अन्न-पान का प्रयोग कराना चाहिए और यदि कफज कास में पित्तदोष का अनुबन्ध हो तो तिक्त रस वाले द्रव्यों से युक्त अन्न (आहार) पान (पेय द्रव्यों) का प्रयोग कराना चाहिए।

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत् । मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः ॥१३४॥

क्षतज कास-चिकित्सा—क्षत (घाव लगने) के कारण उत्पन्न कासरोग को विनाशकारक मानकर उसकी शीघ्रतापूर्वक मधुर एवं जीवनीयगण के द्रव्यों तथा जो द्रव्य बल और मांस को बढ़ाने वाले हैं, उनके प्रयोग से चिकित्सा करानी चाहिए।

वक्तव्य—आत्ययिक (अत्यय+ठक्)=नाशकारी या पीड़ादायक। **मधुरैर्जीवनीयैश्च**—इसमें मधुर-वर्ग तथा जीवनीयवर्ग ये दो वर्ग हैं। प्रत्येक का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। **मधुरस्कन्ध**—च० वि०

अ० ८।१३९ तथा सुश्रुत में प्रायः उन्हीं द्रव्यों को **मधुरवर्ग** कहा है—सु० सू० अ० ४२।११। जीवनीयद्रव्य—च० सू० अ० ४।९ में देखें। यहाँ क्षतज कास का तात्पर्य उरःक्षत से होने वाले कासरोग से है।

पिप्पली मधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम्। प्रास्थिकं गव्यमाजं च क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥१३५॥
यवगोधूममृद्वीकाचूर्णमामलकाद्रसः। तैलं च प्रसृतांशानि तत् सर्वं मृदुनाऽग्निना ॥१३६॥
पचेल्लेहं घृतक्षौद्रयुक्तः स क्षतकासहा। श्वासहृद्रोगकार्श्येषु हितो वृद्धेऽल्परेतसि ॥१३७॥

पिप्पल्यादि लेह—पिप्पली, मुलेठी, मिश्री इनका कपड़छन चूर्ण १ कर्ष (तोला), गाय का दूध १ प्रस्थ, बकरी का दूध १ प्रस्थ, ईख का रस १ प्रस्थ (६४ तोला), जौ तथा गेहूँ का आटा, मुनक्का, आँवले का रस, तिल का तेल—इन सबको १-१ प्रसृत (८-८ तोला) लेकर एक में मिलाकर मन्द आँच पर इसका पाक करें, जब पकते-पकते गाढ़ा हो जाय तब इसे उतार कर रख लें। शीतल होने पर इसमें घी और शहद मिला लें, इसका सेवन करने से क्षतज कास, श्वास, हृद्रोग तथा कृशता दूर हो जाती है। यह वीर्य को बढ़ाता है और कृश पुरुषों का हितकारक है।

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात् पित्तकासिकी। क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम् ॥१३८॥
वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्हितः। तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीडयमाने च वायुना ॥१३९॥

क्षतज कास-चिकित्सा—क्षतज कास से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा पूर्वोक्त पित्तज कास के समान करनी चाहिए। इसमें रोगी को विशेष करके दूध पीना, घी तथा मधु को चाटना हितकर होता है। यदि इसमें किसी अन्य दोष या उपद्रव का संसर्ग (संपर्क) हो तो उसकी विशेष चिकित्सा की जाती है।

वातपित्तज कास-चिकित्सा—वात तथा पित्तदोष-जनित यदि कासरोग हो और उसमें शरीर के अवयवों में फटने की-सी पीड़ा हो रही हो तो औषधसिद्ध घी का अभ्यंग (मालिश) हितकर होता है। यदि केवल वातविकार हो और शरीर में वातजनित पीड़ा हो तो वातनाशक औषधों से तैयार किये हुए तेलों से अभ्यंग कराना हितकर होता है।

हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः। सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले ॥१४०॥

क्षतज कास में जीवनीय घृत—यदि क्षतज कास के रोगी की जठराग्नि सबल हो, उसे दाह हो रहा हो, खाँसते समय थूक के साथ रक्त निकल रहा हो और उसके हृदय तथा पसलियों में पीड़ा होती हो तो उसे (च० चि० अ० २९।६१-७० में कहे गये) जीवनीयगण के द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए घृत का पान कराना चाहिए।

मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः।
तृष्णार्तानां पयश्छागं शरमूलादिभिः श्रृतम् ॥ १४१ ॥

क्षतज कास में मांस-प्रयोग—जिनको मांस अनुकूल होता है, यदि उनका शरीर सूख चुका हो या सूख रहा हो तो उनके लिए लवा आदि पक्षियों के मांसरस हितकर होते हैं। जिन क्षतज रोगियों को बार-बार प्यास लगती हो उनके लिए शरमूल आदि (शर, कुश, काश, ईख, नल) द्रव्यों द्वारा पकाया गया बकरी का दूध पीने के लिए देना चाहिए।

रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद् वाऽप्यागते क्षीरजं घृतम्।
नस्यं पानं यवागूर्वा श्रान्ते क्षामे हतानले ॥ १४२ ॥

क्षतज कास में विविध पेय—यदि क्षतज कास युक्त रोगी के स्रोतोमार्गों से रक्त निकल रहा हो तो उसे ताजे दूध से निकाले गये मक्खन का नस्य देना चाहिए और उस घी (मक्खन) को पीने के लिए भी दें। अथवा उक्त रोगी मन्दाग्नि युक्त हो, श्रान्त (थका हुआ) हो, क्षाम (क्षीण) हो तो, उसे यवागू का सेवन कराना चाहिए।

स्तम्भायामेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत्। कुर्याद् वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ॥

घृतपान—यदि क्षतज कासरोगी के शरीर में जकड़न हो, तनाव हो तो उसे घृत की उत्तम मात्रा (उसके अग्निबल का विचार करके) पिलानी चाहिए। अथवा जो घृत वातरोग का नाशक तथा पित्त-रक्त का विरोधी न हो उसका सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—स्तम्भ—शरीरावयवों का जकड़ जाना। **आयाम**—यह दो प्रकार का होता है—१. अन्तरायाम, २. बहिरायाम। घी की उत्तम मात्रा उसे कहते हैं, जो २४ घंटे में स्वभावतः पच जाय। तन्त्रकार के समय में यह मात्रा ८ पल (३२ तोला) की थी। आजकल यह मात्रा ५ से १० तोला तक हो सकती है। वास्तव में इसे चिकित्सक अपने विवेक से और भी कम करके प्रयोग करे।

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्धे [1]उरःक्षते। दाल्यते कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान् ॥१४४॥

क्षतज कास में धूमपान—उक्त चिकित्सा करने पर यदि क्षत के सभी दोष समाप्त हो गये हों और फिर भी जहाँ उरःक्षत हुआ था वहाँ कफदोष बढ़ गया हो, उसके कारण कासरोगी का उरःप्रदेश फट-सा रहा हो तो उस रोगी को यहाँ कहे जाने वाले धूमों का पान करना चाहिए।

द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकैः। वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ॥१४५॥

धूमपान-विधि—मेदा, महामेदा, मुलेठी, बला, महाबला, इन द्रव्यों को समभाग लेकर पानी डालकर कल्क बनायें। इस कल्क का रेशमी वस्त्र या अलसी की छाल से बनाये हुए वस्त्र पर लेप कर दें। सूखने पर इसकी बत्ती बनाकर घी में डुबाकर धूमपान-विधि से इसका धूमपान करें। तदनन्तर जीवनीय द्रव्यों से तैयार किये हुए घृत का पान करें।

मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः। भावयित्वा पिबेत् क्षौममनु चेक्षुगुडोदकम् ॥१४६॥

मनःशिलादि धूम—मैनशिल, पलाश, अजमोदा, वंशलोचन, सोंठ, इन द्रव्यों को समभाग लेकर पानी डालकर पीसें, कल्क जैसा तैयार करके क्षौमवस्त्र के ऊपर इसका लेप करके इसे सुखा लें। सूख जाने पर इस वस्त्र को घी में भिगाकर इसका यथोचित विधि से धूमपान करें। इसके पश्चात् ताजा ईख का रस पीयें या गुड़ को घोलकर उसका शरबत पीयें। यह भी तीक्ष्णधूम है।

पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया। सर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥१४७॥

अन्य धूमपान—मैनशिल और ताजे वटशुंग (बरोह या प्ररोह) इनको समान मात्रा में लेकर पीसें, बारीक पिस जाने पर इसे क्षौमवस्त्र के ऊपर लेप करके सुखा ले फिर उस वस्त्र को घी में भिगाकर यथाविधि धूमपान करें। तदनन्तर तित्तिर पक्षी के मांसरस के साथ हितकर भोजनों का सेवन करे।

वक्तव्य—यह भी तीक्ष्ण धूमपान है। यद्यपि उक्त पद्य में क्षौमवस्त्र पर लेप चढ़ाकर सुखाने आदि का उल्लेख नहीं है, तथापि हम 'सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र, लघुकौमुदी के 'हलन्त्यम्' सूत्र की वृत्ति में देखें। इसी दृष्टिकोण का प्रयोग सर्वत्र महर्षि आत्रेय ने भी किया है, अतः उसी प्रसंग में कहे गये विषय का पुनः निरूपण यथासम्भव तन्त्रकार ने नहीं किया है; जहाँ किया है, उसकी उपादेयता वहाँ स्वयं स्पष्ट हो जाती है। कुछ टीकाकार मैनसिल की टिकिया बनाकर धूमपान करने का निर्देश करते हैं, यह भी एक प्रकार हो सकता है, किन्तु उस लेप या टिकिया की मात्रा का निर्धारण अवश्य कर लें, अन्यथा हानि हो सकती है। मात्रा का निर्धारण रोग और रोगी के तर-तम भाव को देखकर कर लेना चाहिए।

भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः। क्षौमं धूमं पिबेत् क्षीरं श्रृतं चायोगुडैरनु ॥१४८॥
इति क्षतजकासचिकित्सा।

अन्य धूमपान—अथवा कुलिंग (गौरैया) के अंडों के रस से युक्त जीवनीयगण (च० सू० अ० ४।९) में कहे गये द्रव्यों को पीसकर क्षौमवस्त्र में उसका लेप कर सुखा ले, उसके बाद उसकी बत्ती जैसी बनाकर इसका धूमपान करें। उसके बाद लोहे के गोलों को आग में तपाकर उन्हें दूध में बुझाकर गरम किये गये दूध को पीना चाहिए।

---

[1] 'उरःशिरः' इति पा०।

वक्तव्य—यद्यपि उक्त धूमवर्ति को घी में न भिगाकर कुलिंगाण्डरस में भिगाना सम्भवतः उसी का प्रतिनिधित्व कर रहा है, इसीलिए तन्त्रकार का यहाँ कोई स्वतन्त्र आदेश नहीं है। लोहे के गोलों को तपा-तपा कर दूध को गरम करने का यह विशेष विधान किया गया है। इससे वह दूध गरम होकर लौह अंश से युक्त भी हो जाता है।

सम्पूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत्। नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१४९॥

क्षयज कास-चिकित्सा—यदि दुर्बल पुरुष को क्षयज कास हुआ हो और उसमें उक्त कास के सम्पूर्ण लक्षण दिखलायी देते हों, तो उस क्षयज कास रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह असाध्य होता है। यदि रोगी बलवान् हो और उसे यह क्षयज कास अभी कुछ ही दिनों में हुआ हो, अर्थात् नया हो तो भी उसका प्रत्याख्यान (यह पूर्णरूप से ठीक नहीं हो सकता, फिर भी आप लोग कहें तो मैं चिकित्सा करता हूँ, ऐसा कह) कर उसकी चिकित्सा करे।

तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम्। बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद् विरेचनम् ॥१५०॥

क्षयज कास में बृंहण-प्रयोग—नये क्षयज कास रोग में सबसे पहले शरीर को पुष्ट करने वाले तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले औषधयोगों को देना चाहिए। यदि क्षयज कास अनेक दोषों से युक्त हो तो उसे स्नेहपान कराने के बाद मृदु विरेचन देना चाहिए।

वक्तव्य—मृदु विरेचन से अधिक दस्त नहीं होते, केवल दोष निकल जाते हैं। इसमें तीक्ष्ण विरेचन का निषेध इसलिए है, कि यक्ष्मारोगी को मल का ही बल होता है—'तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्' ॥ च० चि० अ० ८।४२।

शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया। तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥१५१॥
सर्पिः सिद्धं पिबेद् युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम्। (हितं तद्देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम्[1]) ॥

क्षयज कास में मृदु शोधन—नये क्षयज कास रोग में यदि रोगी का शरीर क्षीण हो गया हो तो अमलतास के फल की गुद्दी से या मुनक्का के स्वरस से युक्त निशोथ के कल्क से या तिल्वक (लोध) के क्वाथ से, या विदारीकन्द (वाराहीकन्द) के स्वरस से विधिपूर्वक गाय के घी को पकाकर रख लें। इस घी को मात्रा के अनुसार विशोधन (विरेचन) कराने के लिए उक्त रोगी को पिलायें। (वह घी क्षयज कास रोगी के शरीर तथा बल का संरक्षण करता है)।

पित्ते कफे च सङ्क्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु। घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥१५३॥

वातप्रधान क्षयज कास-चिकित्सा—क्षयज कास से युक्त रोगी के शरीर में पित्त तथा कफदोष क्षीण हो गये हों और शरीरस्थ रसादि धातुएँ भी क्षीण हो गयी हों, अर्थात् केवल वातदोष की वृद्धि हो गयी हो तो काकड़ासिंगी, दूध, दोनों बला (बला, महाबला) से तैयार किया हुआ घी उक्त रोगी को पिलायें।

वक्तव्य—इसमें घृतपाक का विधान नहीं दिया गया है। इसे सामान्य विधि से तैयार कर लें। क्षयज कास अपने में एक बला है, तन्त्रकार ने इसे दूर करने के लिए 'द्विबला' का प्रयोग श्रेयस्कर बतलाया है।

विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैस्तथा शृतम्। घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥१५४॥

मूत्र-विवर्णता-चिकित्सा—यदि क्षयज कास के रोगी के मूत्र का वर्ण विकृत हो गया हो अथवा कष्ट के साथ निकल रहा हो तो विदारीकन्द, कदम्ब की छाल, ताड़ के फल का क्वाथ, कल्क आदि से घी तथा दूध का पाक करके रोगी को पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—मूत्र की विवर्णता—नीरोग पुरुष का मूत्र सर्वदा स्वच्छ होता है, किन्तु वही रोगावस्था में लाल, पीला, गदला, तन्तुओं वाला हो जाता है। पुरुषों का मूत्र गुरु, स्त्रियों का मूत्र लघु तथा नपुंसकों का मूत्र अमंगलकारी होने के कारण अग्राह्य होता है। देखें—च० सू० अ० १।१०४ श्लोक के नीचे श्रीचक्रपाणि की टीका।

१. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवङ्क्षणे। घृतमण्डेन [1]मधुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ॥१५५॥

क्षयज कास में शोथ-चिकित्सा—यदि पुरुष-लिंग (Penis), गुद, श्रोणिफलक तथा वंक्षणप्रदेश में शोथ हो गया हो और पीड़ा भी होती हो तो घृतमंड (बिलोये गये घी का ऊपरी स्वच्छ भाग) में मधु मिलाकर अथवा मिश्रक स्नेह से (घी और तेल को मिलाकर) रोगी को अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—'मिश्रक स्नेह' को ही 'यमक स्नेह' भी कहते हैं। **शून**—'टुओश्विगतिवृद्ध्योः' श्वि+क्त। इसका अर्थ है—शोथ युक्त।

जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः। क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥
औष्ण्यात् प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते।
कफं शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात् सम्यग्वहन् रसः ॥ १५७ ॥

कफज कास में मांस-प्रयोग—कफजनित क्षयज कास का रोगी यदि मांस-भक्षण करने वाला है तो उसे अनुवासनवस्ति देने के बाद सबसे पहले जांगलप्रदेश में उत्पन्न तथा रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस रस के साथ हितकर आहारद्रव्यों को खाने के लिए दें। इसके बाद क्रमशः वर्तक (बटेर), बिलेशय (बिल में रहने वाले—चूहा, खरगोश, साही आदि) एवं प्रसह (झपटकर अपने आहार का हरण करने वाले—बाज, चील आदि) इनके मांसरसों से हितकर आहार का सेवन कराना चाहिए। इन सभी प्राणियों के मांस उष्णवीर्य वाले होते हैं, गुण में प्रमाथी होते हैं। इसलिए इनका सेवन करने से स्रोतों में एकत्रित अथवा उनकी दीवालों में जो कफ सटा रहता है, उसे ये निकालकर बाहर ला देते हैं। इस प्रकार जब ये मांसरस स्रोतों को शुद्ध कर देते हैं, तदनन्तर आहार रस शरीरगत स्रोतों में भली-भाँति पहुँचकर शरीर की पुष्टि करता है।

वक्तव्य—संसार में पाये जाने वाले सभी द्रव्य चिकित्सोपयोगी हैं। मांस-भक्षण तथा सुरापान की प्राचीन परम्परा व्यक्ति विशेष के साथ चली आ रही है। चिकित्सक को सभी को नीरोग करना है, अतः सभी को 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव रखकर महर्षि आत्रेय ने अन्न-पान की व्यवस्था का निर्देश किया है, अतएव उन्होंने **'पिशिताशिनः'** विशेषण देकर उनकी भी व्यवस्था बतलायी है। **प्रमाथी-परिचय**—'निजवीर्येण यद् द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम्। निरस्यति प्रमाथि स्यात् तद्यथा मरिचं वचा' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।२३। अर्थ स्पष्ट है।

द्विपञ्चमूलीत्रिफलाचविकाभार्गिचित्रकैः। कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ॥१५८॥
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः। कल्कैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥१५९॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च। दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ॥
इति द्विपञ्चमूल्यादिघृतम्।

द्विपञ्चमूल्यादि घृत—दोनों पंचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, भटकैया की जड़, बड़ी कटेरी, गोखरू। बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भारी, पाटला, अरणी), हरड़, बहेड़ा, आँवला, चव्य, भारंगी, चित्रकमूल, कुलथी, पिप्पलीमूल, पाठा, झड़बेर, जौ इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर विधिपूर्वक क्वाथ करें। सोंठ, जवासा, पिप्पली, कचूर, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी इन द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क बनायें, इन सबके साथ गाय के घी का पाक करें। जब घृतपाक हो जाय, तो उसे छानकर रख लें। अब उस घी में निम्नलिखित द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को युक्तिपूर्वक मिलायें—दो क्षार (जवाखार, सज्जीखार), पाँचों नमक (सेंधा, सोंचर, सामुद्र, विरिया, औद्भिद)। इस घी को रोगी की शक्ति के अनुसार मात्रा का निर्धारण कर उसे पीने के लिए दें।

वक्तव्य—द्रव्यों का अनुपात—गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला); क्वाथ द्रव्य कुल मिलाकर १ प्रस्थ, जल १६ प्रस्थ (१०२४ तोला); शेष जल ४ प्रस्थ (२२६ तोला)। कुल कल्क १ पाव। क्षार तथा पाँचों नमक की उतनी मात्रा युक्तिपूर्वक छोड़ें जिससे अधिक नमकीन न हो।

१. 'लघुना' इति पा०।

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां हरिद्रां श्रेयसीं वचाम्। निदिग्धिकां कासमर्दं पाठां चित्रकनागरम् ॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम्। सिद्धं सर्पिः पिबेद् गुल्मश्वासार्तिक्षयकासनुत् ॥१६२॥
इति गुडूच्यादिघृतम्।

गुडूच्यादि घृत—गुरुच, पिप्पली, मूर्वामूल, हल्दी, रास्ना, वच, भटकटैया, कासमर्द (कसौंदी), पाठा, चित्रकमूल, सोंठ—इन सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर चौगुने जल में क्वाथ करें, जब चौथाई जल शेष रह जाय तब उसे छानकर रख लें। इस क्वाथ के समान मात्रा में गाय के घी को लेकर पकायें। इस गुडूच्यादि घृत के सेवन करने से गुल्म, श्वास, क्षयज कास जनित पीड़ा शान्त हो जाती है।

वक्तव्य—अन्यत्र घृतपाक चतुर्गुण द्रव द्वारा किया जाता है। यहाँ तन्त्रकार के निर्देश के अनुसार समान द्रव से घृतपाक का विधान किया गया है। सामान्य परिभाषा से विशेष परिभाषा का मान अधिक होता है, क्योंकि वह तन्त्रकार की इष्टि होती है और वह विशेष स्थलों में ही प्रयुक्त भी होती है।

कासमर्दाभयामुस्तपाठाकट्फलनागरैः। पिप्पलीकटुकाद्राक्षाकाश्मर्यसुरसैस्तथा ॥१६३॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके। पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ॥१६४॥

कासमर्दादि घृत—कसौंदी, हरड़, नागरमोथा, पाठा, कायफल की छाल, सोंठ, पिप्पली, कुटकी, मुनक्का, गम्भार की छाल, तुलसी की पत्तियाँ इन द्रव्यों को १-१ अक्ष (१-१ तोला) की मात्रा में लेकर इनका कल्क तैयार करें। इस कल्क के साथ दूध और मुनक्का का रस १ आढक (२५६ तोला) मिलाकर घृतपाक करें, तैयार होने पर घी को छानकर रख लें। यह 'कासमर्दादि घृत' शोष, ज्वर, प्लीहावृद्धि तथा सभी प्रकार के कासरोगों का विनाशक एवं कल्याणकारक होता है।

धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाऽप्यवचूर्णितम्। द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम् ॥१६५॥
पिबेदुपरि भक्तस्य यवक्षारघृतं नरः। पिप्पलीगुडसिद्धं वा च्छागक्षीरयुतं घृतम् ॥१६६॥
एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम्। स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये ॥१६७॥

विविध घृत-योग—१. अथवा दूध में पकाये गये आँवलों को शीतल होने पर चूर्ण करके घी में मिलाकर रोगी को सेवन करायें। २. घी से दूने दाड़िम के रस तथा घी से चतुर्थांश सोंठ, मरिच, पीपल के कल्क से घृतपाक करें। तैयार हो जाने पर उसमें जवाखार का प्रक्षेप देकर क्षयज कास का रोगी पुरुष भोजन कर लेने के बाद इस घी का सेवन करे। ३. अथवा पिप्पली और गुड़ के कल्क से तथा बकरी के दूध के साथ पकाये गये घी को उसे पिलाना चाहिए। ये (ऊपर कहे गये) सभी घृत क्षयज कासरोग से पीड़ित व्यक्तियों की अग्नि को बढ़ाने के लिए, कफदोष से लिपे कोष्ठ, छाती तथा स्रोतों की शुद्धि के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं।

हरीतकीर्यवक्वाथद्व्याढके विंशतिं पचेत्। स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणं गुडषट्पलम् ॥
दद्यान्मनःशिलाकर्षं कर्षार्धं च रसाञ्जनात्। कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत् ॥
इति हरीतकीलेहः।

हरीतकी लेह—विधिपूर्वक बने हुए जौ के २ आढक (५१२ तोला) क्वाथ में मध्यम मान के २० हरड़ों को पकायें, पक जाने पर नीचे उतार लें, शीतल होने पर उन्हें निकालकर दोनों हाथों से मसल लें, गुठलियाँ निकालकर अलग कर दें, फिर उस गूदे को मोटे कपड़े में रगड़कर उनके रेशे अलग कर दें, इस छने हुए गूदा को उसी क्वाथ में डालकर मन्द आँच में पुनः पकायें; जब गाढ़ा होने लगे तब उसमें ६ पल (२४ तोला) पुराना गुड़, १ कर्ष (तोला) शुद्ध मैनसिल, आधा कर्ष (½ तोला) रसवत और आधा कुडव (८ तोला) पीपल का चूर्ण मिला दें। इस हरीतकी लेह का सेवन करने से श्वास तथा कासरोग नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त 'हरीतकी अवलेह' में मनःशिला (मैनसिल) का योग है। इसमें मल्लविष (Arsenic) का योग होता है। शुद्ध मल्ल का प्रयोग अनुपान भेद से श्वास, कास, पाण्डुरोग, हलीमक आदि अनेक रोगों में शीघ्र लाभकारक होता है।

श्वाविध. सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः। श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा क्षौद्रसर्पिषा ॥१७०॥

क्षयज कास-नाशक दो योग—शाही के काँटों को अथवा मोर के पैरों को शरावसम्पुट में अन्तर्धूम जलाकर उसकी भस्म को घी, मधु, चीनी के साथ मिलाकर मात्रानुसार सेवन करने से श्वासरोग तथा कासरोग की समाप्ति हो जाती है।

एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम्। लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम् ॥१७१॥

अन्य योग—१. अथवा रेड़ के पत्तों के क्षार को सोंठ, मरिच, पिप्पली का चूर्ण, तिल का तेल तथा गुड़ मिलाकर चाटना चाहिए। २. अथवा तुलसी की पत्ती और एरण्ड पत्रों का क्षार पूर्वार्ध में कही गयी विधि के अनुसार चाटना चाहिए।

द्राक्षापद्मकवार्ताकपिप्पलीः क्षौद्रसर्पिषा। लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ॥१७२॥

द्राक्षादि लेह—मुनक्का, पद्मकाठ, पककर सूखे हुए बृहती (बड़ीकटेरी के बीज), पिप्पली—इन सबको समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण करें, मात्रा के अनुसार इसमें मधु-घृत मिलाकर चाटना चाहिए।

शुण्ठ्यादि लेह—अथवा सोंठ, मरिच, पिप्पली इनका चूर्ण पुराने गुड़ और घी के साथ चाटें।

वक्तव्य—ऊपर जिसे 'द्राक्षादि लेह' कहा गया है, उसका निर्माण इस प्रकार करें—पद्मकाठ आदि द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण के साथ उतनी ही मात्रा में लिये गये मुनक्कों को अलग से चटनी की भाँति पीसकर मिला लें। शेष स्पष्ट है। इसी श्लोक में दूसरा योग 'शुण्ठ्यादि लेह' है।

चित्रकं त्रिफलाजाजी कर्कटाख्या कटुत्रिकम्। द्राक्षां च क्षौद्रसर्पिभ्यां लिह्याद्द्याद् गुडेन वा ॥

चित्रकादि लेह—चीता की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, जीरा, काकड़ासिंगी, सोंठ, पिप्पली, मरिच, मुनक्का—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। मात्रा के अनुसार इसमें मधु-घृत मिलाकर क्षयज कास, श्वास रोगों में चाटने के लिए दें अथवा इसे गुड़ मिलाकर चाटें। यदि हम 'लिह्यात्' क्रिया को सार्थक करना चाहें तो राब के साथ चाटने के लिए दें।

पद्मकं त्रिफलां व्योषं विडङ्गं सुरदारु च। बलां रास्नां च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रं घृतं सिताम्। विमथ्य लेहयेल्लेहं सर्वकासहरं शिवम् ॥१७५॥
इति पद्मकादिलेहः।

पद्मकादि लेह—पद्मकाठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, वायविडंग, देवदारु, बरियारा, रास्ना समभाग लिये गये इन द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को उसके समान मधु, घी, चीनी लेकर एक साथ मथकर मिला लें। यह लेह सभी प्रकार के कासरोगों का नाशक तथा सेवन करने वालों के लिए कल्याणकारक है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में श्लोक १७९ के अन्त में दिया गया 'पद्मकादिलेह' शीर्षक प्रामादिक है।

जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम्। मुस्तैले पद्मकं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम्।
सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यां रसाञ्जनम्। पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम् ॥
भार्गीं तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम्। क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च ॥१७८॥
चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत् क्षौद्रसर्पिषा। चूर्णात् पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति ॥१७९॥

जीवन्त्यादि लेह—जीवन्ती, मुलेठी, पाठा, वंशलोचन, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कचूर, नागरमोथा, इलायची, पद्मककाठ, मुनक्का, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, धनियाँ, सारिवा (अनन्तमूल), पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, रसौत, पुनर्नवा, तीक्ष्ण लौहभस्म, त्रायमाणा, अजवाइन, भारंगी, भुँइआवला, ऋद्धि, वायविडंग, धमासा, जवाखार, चीता की जड़, चव्य, अम्लवेत, सोंठ, मरिच, पिप्पली, देवदारु—इन सबको समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को १ पाणितल (१ तोला) की मात्रा में लेकर मधु-घृत में मिलाकर चाटने से पाँच प्रकार के अर्थात् सभी प्रकार के कासरोग नष्ट हो जाते हैं।

बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥१८०॥

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्।

[1]स्वरभेदे च कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत्।

क्षयज कास-नाशक दो भेद—१ मरिच के चूर्ण को मात्रा के अनुसार लेकर घृत, मधु और चीनी के साथ चाटना चाहिए। २. अथवा झड़बेरी के ताजे पत्तों के कल्क को घी में भूँजकर सेंधानमक मिलाकर खाना चाहिए। इस लेह को स्वरभेद तथा कासरोग में प्रयोग करना चाहिए।

पत्रकल्कं घृतैर्भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम्॥ १८१॥
पेया चोत्कारिका च्छर्दितृट्कासामातिसारनुत्।

पेया-उत्कारिका-प्रयोग—तिल्वक (लोध) के सुकोमल पत्तों को लेकर उनका कल्क तैयार करें, उसे घी में भूनें, इसमें चीनी मिलाएँ, तदनन्तर पेया तथा उत्कारिका के रूप में इसका सेवन करने से वमन, तृष्णा, कास एवं आमातिसार रोग नष्ट होते हैं।

गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान्। साभयान् साधयेत् तोये यवागूं तेन चाम्भसा॥१८२॥
सर्सर्पिर्लवणां कासे हिक्काश्वासे सपीनसे। पाण्ड्वामये क्षये [2]शोथे कर्णशूले च दापयेत्॥

यवागू-प्रयोग—पीली सरसों, गण्डीर (शमठशाक), वायविडंग, सोंठ, मरिच, पिप्पली, चीता की जड़, हरड़ इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर षडंगपानीय निर्माण-विधि से जल को पकाकर, इस जल से यवागू का निर्माण करें। तैयार हो जाने पर उस यवागू में थोड़ा घी और नमक भी मिला दें। इस यवागू को कास, हिक्का, श्वास, पीनस, पाण्डुरोग, क्षय, शोथ तथा कर्णशूल के रोगियों को खिलाना चाहिए या खाने के लिए देना चाहिए।

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः। सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्॥

मुद्गयूष-प्रयोग—कण्टकारी (छोटी कटेरी) के क्वाथ रस या स्वरस द्वारा तैयार किये हुए मूंग के यूष में पीली सरसों तथा आँवलों का कल्क मिलाकर और उसे अम्ल पदार्थ युक्त करके कास रोगी को पिलाना चाहिए। यह यूष सभी प्रकार के कासों की उत्तम चिकित्सा है।

वातघ्नौषधनिष्क्वाथं क्षीरं यूषान् रसानपि। वैष्किरप्रतुदान् बैलान् दापयेत् क्षयकासिने॥

क्षयज कास-नाशक योग—वातनाशक औषधद्रव्यों के क्वाथ द्वारा तैयार किया हुआ दूध, यूष एवं विष्किर (बिखेर कर अपना चारा ढूँढने वाले पक्षी जैसे-मुर्गा आदि), प्रतुद, बैल (बिल में रहने वाले—खरगोश, साही, चूहा आदि) प्राणियों का मांसरस क्षयज कास के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निर्दशिताः। क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत्॥

क्षयज कास में धूमपान—इसी प्रकरण में पहले क्षतज कास में जिन धूमों का जिस-जिस अनुपान के साथ सेवन करने का निर्देश दिया गया है, उन्हीं योगों का अवस्थानुसार क्षयज कास में भी प्रयोग करना चाहिए।

दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम्। व्यत्यासात् क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत्॥

क्षयज कास का चिकित्सा-सूत्र—क्षयज कास रोगियों को दीपन (जठराग्नि को दीप्त करने वाली), बृंहण (शरीर को मोटा करने वाली), स्रोतों में सटे हुए दोषों को निकालकर उन्हें शुद्ध करने वाली औषधियों का प्रयोग व्यत्यास (एक के बाद दूसरा) क्रम से करना चाहिए, सभी क्रियाओं का उपयोग एक साथ नहीं करना चाहिए और क्षयज कासरोगियों के लिए जो औषधयोग या आहार-विहार बलवर्धक हों, वे सभी हितकर होते हैं।

सन्निपातभवोऽप्येष क्षयकासः सुदारुणः। सन्निपातहितं तस्मात् सदा कार्यं भिषग्जितम्॥

१. 'स्वरोपघाते' इति पा०।
२. 'शोषे' इति पा०।

सन्निपातज क्षयकास का चिकित्सा-सूत्र—तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त दिखलायी देनेवाला यह क्षयकास अत्यन्त भयावह होता है। अतः क्षयकास तथा सन्निपातज कास में हितकर चिकित्साओं का सदा प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—इस अध्याय में वातज, पित्तज, कफज कासों की चिकित्सा का विशद वर्णन किया गया है। रोगी के दोषों के चयापचय का विचार करके उन्हीं चिकित्साओं का रोगी पर यथावसर प्रयोग करना ही सन्निपातज कासरोग की समुचित चिकित्सा है।

दोषानुबलयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्। कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम्॥१८९॥

वातादि कासों की बलवत्ता—क्षयज कासरोग में दोषों के बल का विचार कर अथवा कौन दोष बलवान् है और कौन दोष निर्बल है, इसका विचार कर पहले बलवान् दोष को जीतने का उपाय करना चाहिए। उस पर विजय पा जाने के बाद हीनबल वाला दोष सरलता से जीता जा सकता है। यहाँ पाँच प्रकार के जो कास गिनाये गये हैं, उनमें पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा इसी क्रम से इनको बलवान् समझना चाहिए।

भोज्यं पानानि सर्पींषि [1]लेहाश्च सह पानकैः। क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसङ्ग्रहः॥

कास-चिकित्सा में विविध कल्पना—इस अध्याय में भोज्यपदार्थ, पेय, घृत, लेह, पानक (पेय भेद), दूध, सर्पिर्गुड तथा धूमपान ये सभी कास-भैषज्य का संग्रह किया गया है।

वक्तव्य—उक्त पद्य में 'कास-भैषज्य' शब्द द्वारा उन सब पदार्थों का संग्रह किया गया है, जिन औषध-योगों से कासरोग की चिकित्सा की जा सके और चिकित्साकाल में जो आहार-विहार कास रोगी के लिए हितकर होते हैं।

तत्र श्लोकः—

सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च। कासानां भेषजं प्रोक्तं गरीयस्त्वं च कासिनः॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
कासचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—उस विषय में एक श्लोक है—कासरोग की संख्या, निदान, लक्षण, साध्यता, कासरोग की चिकित्सा और कासरोग का उत्तरोत्तर बलवान् होना इस (कासचिकित्सक नामक) अध्याय में वर्णित किया गया है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'तत्र श्लोकः' के बाद एक ही श्लोक १९१ दिया है, किन्तु श्रीजयदेव ने १९० तथा १९१ इन दो श्लोकों के ऊपर 'तत्र श्लोकौ' को उद्धृत किया है। अन्य अध्यायों के उपसंहार पद्यों में जिस प्रकार के आशय से युक्त पद्यों की परम्परा देखी जाती है, तदनुसार दोनों ही पद्यों का ग्रहण यहाँ भी किया जा सकता है, अस्तु।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकसंहिता चिकित्सा-चन्द्रिका, हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सा-स्थान में कासचिकित्सित नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त॥ १८॥

१. 'लेहाः पाचनकानि च' इति पा०।

अथैकोनविंशोऽध्यायः

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कास-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ अतिसार-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने सर्वरोगनिदान नामक अध्याय में रोगोत्पत्ति का पुरातन इतिहास इस प्रकार दिया है—ज्वर से रक्तपित्त, फिर गुल्म, विद्रधि, वृद्धि, जठर, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, शोफ, अतीसार, उन्माद, अपस्मार, ग्रहबाधा, राजयक्ष्मा, श्वास, कास आदि। देखें—अ० सं० नि० अ० १।५। रोगावतरण क्रम प्रायः सभी तन्त्रकारों का भिन्न-भिन्न देखा जाता है। केवल ज्वर को प्रायः सभी ने प्रथम माना है। वाग्भट की धारणा है कि अर्श, अतिसार तथा ग्रहणीरोग परस्पर सम्बद्ध हैं—'अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः, प्रायेण चान्योन्य-निदानभूताः। सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते, रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम्' ॥ अ० हृ० नि० अ० ८।१६४। मधु-कोश के टीकाकार लिखते हैं—'पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्यान्योपद्रवाच्च ज्वरानन्तरमतीसारमाह'। मा० नि० अतिसारप्रकरण। पुरीष तथा उसके साथ निकलने वाले जलधातु के अतिसरण को ही अतिसार कहा जाता है। शरीर में लगभग ६०-६२ भाग जल तत्त्व रहता है। वह यदि वमन के रूप में, अतिसार में अथवा विसूची (हैजा) में चतुर्थांश या पञ्चमांश निकल जाता है, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अतिसार शब्द की निरुक्ति—'अति+सृ+णिच्+अच्'=अतिशयेन सारयति (रेचयति) मलम्, इति=अतिसारः। यह शब्द ह्रस्व इकार मध्य (अतिसार) तथा दीर्घ ईकार मध्य (अतीसार) दोनों प्रकार का देखा जाता है और दोनों ही शब्द व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० १९। सु० उ० अ० ४०। (चरक तथा सुश्रुत के निदानस्थान में अतिसारनिदान नहीं है)। अ० सं० नि० अ० ८। अ० सं० चि० अ० ११। अ० हृ० नि० अ० ८। अ० हृ० चि० अ० ९।

भगवन्तं खल्वात्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगणपरिवृतमुत्तरे हिमवतः पार्श्वे विनयादु-पेत्याभिवाद्य चाग्निवेश उवाच––भगवन् ! अतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि प्रजा-नुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति ॥ ३ ॥

अग्निवेश का अतिसार सम्बन्धी प्रश्न—एक समय भगवान् आत्रेय अपने आह्निक कृत्य (स्नान, सन्ध्या, तर्पण, स्वाध्याय) तथा अग्निहोत्र से निवृत्त होकर हिमालय पर्वत की उच्चतम चोटी के समीप ऋषि-मुनियों से सेवित से बैठे थे, उस समय विनम्रतापूर्वक उनके समीप जाकर तथा प्रणाम करके अग्निवेश ने कहा—भगवन् ! अतीसार नामक रोग की सबसे पहले कैसे उत्पत्ति हुई, उसकी उत्पत्ति का क्या कारण है, उसके क्या-क्या लक्षण होते हैं और उसकी क्या चिकित्सा है, जिससे उसे शान्त किया जा सके, इन सभी प्रश्नों का समाधान प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए आप कह सकते हैं।

वक्तव्य—'उत्तरे हिमवतः पार्श्वे'—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है, हिमालय पर्वत के उत्तर की ओर। **परिवृतम्**—इसका अर्थ होता है चारों ओर से घिरा हुआ, किन्तु यहाँ सभी ऋषिगण उपदेश सुनने की अभि-लाषा से उपस्थित थे; अतः हमने परिवृत' का अर्थ सेवित किया है। **प्रजानुग्रहार्थम्**—'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने'। अमरकोष। प्रजा शब्द का अर्थ है—सन्तान और जन=जनता (प्राणिमात्र)। यहाँ प्रश्नकर्ता अग्निवेश उनके सभी शिष्यों में अग्रणी हैं। गुरु पिता के तुल्य होता है। देखें—'जनिता चोपनीता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः' ॥ चाणक्यनीति। इस दृष्टि से पहले अग्निवेश अपना हित चाहता हुआ ज्ञान प्राप्त करना चाह रहा है, तदनन्तर वह प्रजा (प्राणिमात्र) का हित करने के लिए तत्पर है।

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच––श्रूयतामग्निवेश ! सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्। आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद्गवामालम्भः प्रवर्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्य-त्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ॥ ४ ॥

पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर—तदनन्तर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के वचन को सुनकर कहा—अग्निवेश ! मैं तुम्हारे सभी प्रश्नों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर रहा हूँ, तुम सुनो। आदिकाल (सत्ययुग) में यज्ञों में पशुओं को 'समालभनीया' इत्यादि मन्त्र द्वारा उनका अभिमन्त्रण, पूजन आदि करके उन्हें छोड़ दिया जाता था, न कि यज्ञ में पशुओं का वध किया जाता था। उसके कुछ समय बाद अर्थात् दक्ष-प्रजापति के पश्चात् मनु के पुत्र नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति आदि के यज्ञों में पशुओं की हत्या का उन्हीं द्वारा अनुमोदन प्राप्त होने से उन (पशुओं) का अभिमन्त्रण कर वध होने लगा। उसके भी बाद वाले समय में राजा पृषध्र ने बहुत दिनों तक चलने वाले एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। अन्य पशुओं के अभाव में उन्होंने गायों का वध प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार गोवध को प्रारम्भ होते देखकर संसार के सभी प्राणी अत्यन्त दुःखी हुए। उन यज्ञों में मारी गयी गायों के मांसों को जो गुरु (देर में पचने वाला), उष्णवीर्य, असात्म्य (प्रकृति-विरुद्ध या अनुपशय) होने के कारण खाने में अशस्त (अप्रशंसित) था, उसका सेवन कर लेने के कारण जिनकी जठराग्नि मन्द पड़ गयी है और जिसके कारण मानसिक कष्ट बढ़ गया है, इस प्रकार के व्यक्तियों को सर्वप्रथम यह अतिसार पृषध्र राजा के यज्ञ में ही उत्पन्न हुआ।

वक्तव्य—यज्ञ, याग, सव, अध्वर, मख ये सब यज्ञ के ही पर्याय हैं। किन्तु वेदों के व्याख्याता आचार्य सायण ने हिंसा रहित यज्ञ को 'अध्वर' कहा है। ऊपर जो 'आलभनीयाः' प्रयोग है, वह छान्दस् प्रयोग है। अन्यत्र यह शब्द 'आलम्भन' के रूप में ही देखा जाता है—आलम्भनम्—डुलभष् प्राप्तौ (भ्वा० आ० अ०) वस् (३।३।१८), लभेश्च (७।१।६४) उपसर्गात् खल् घञोः (७।१।६७) इति नुम्'। **नालम्भनाय प्रक्रियन्ते स्म**—मारने के लिए उनका प्रोक्षण आदि संस्कार नहीं किया जाता था।

पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'पशूनामेव प्रेरणया', अर्थात् पशु स्वयं आकर अपने वध के लिए उपस्थित होते थे। क्योंकि यज्ञ के लिए होने वाली हिंसा में मरने वाला पशु तथा मारने वाला व्यक्ति दोनों ही पुण्य लाभ करते थे। प्रोक्षण का अर्थ है—यज्ञीय विधि-विधान के अनुसार मारना। इसका विशेष विवेचन 'पूर्वमीमांसा' में देखें।

पृषध्र—वैवस्वतमनु तथा श्रद्धा से उत्पन्न दस पुत्रों में से एक। ये अपने गुरु महर्षि च्यवन की आज्ञा से उनकी गायों की रक्षा करते थे। एक दिन रात्रि में बाघ ने आकर उनकी एक गाय पर आक्रमण किया, अन्ध-कार में दिखलायी न देने के कारण इन्होंने बाघ के धोखे से एक गाय का शिर और बाघ का कान काट दिया। गोवध के कारण ये गुरुशाप से शूद्र हो गये उससे छूटने के लिए इन्होंने यज्ञ किया। देखें—भागवत ८।१३।३। आचार्य डल्हण ने महर्षि आत्रेयोक्त गद्य के आख्यान को पद्यों द्वारा इस प्रकार वर्णित किया है—'दीर्घ-सत्रेण यजतः पृषध्रस्य महात्मनः। आलम्भ्याः पशवः क्षीणस्ततो गावः प्रकल्पिता' ॥ तासामुपाकृतानाञ्च गवा-मत्यर्थसेवनात्। असात्म्यत्वादथोष्णत्वाद् गौरवाच्च विशेषतः ॥ अतिस्नेहाच्च सङ्क्षीणो जाठरोऽग्निस्तदा किल। अतीसारः पुरोत्पन्नो दोषधातुमलाश्रयः ॥ अथ तेनैव कल्पेन सम्प्रत्येष महागदः। डल्हण (सु० उ० अ० ४०।३-५) की टीका।

निष्कर्ष—उक्त पौराणिक कथा को सुनाकर महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश को यह उपदेश दिया कि गुरु, उष्ण, असात्म्य आहारों के सेवन से पाचक अग्नि मन्द पड़ जाती है और असात्म्य (प्रतिकूल) आहारों का सेवन करने से मन भी अस्वस्थ हो जाता है, इसके कारण भी अतिसार की उत्पत्ति हो जाती है। जिनके लिए

---

१. गङ्गाधरस्तु अस्याग्रे 'स्वाद्वपयोगाच्च' इत्यधिकं पठति।

सदा से गोमांस भक्ष्य है उन्हें वह सात्म्य भी होता है। उनमें शेष कारणों से अतिसार की उत्पत्ति माननी चाहिए।

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते, पक्ता चोपहन्यते, स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य, ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतीसाराय प्रकल्पते।

वातज अतिसार का निदान—राजा पृषध्र के यज्ञ के पश्चात् से जो वात प्रकृति का पुरुष वात, आतप (धूप), व्यायाम (शारीरिक श्रम) का अधिक सेवन करता है, रूक्ष, अल्प (मात्रा से कम) तथा प्रमित आहार करता है, तीक्ष्ण मद्यों का सेवन करता है, अधिक मैथुन करता है, मल-मूत्र आदि के वेग को रोकता है, इन कारणों से वेगवान् वायु उसके शरीर में प्रकुपित हो जाता है और उससे उसकी अग्नि मन्द पड़ जाती है।

वातज अतिसार की सम्प्राप्ति—तदनन्तर वह प्रकुपित हुआ वातदोष अग्नि के मन्द पड़ जाने पर मूत्र और स्वेद को पुरीषाशय में लाकर इन दोनों द्रवों से पुरीष को पतला करके अतिसार रोग को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—वातज अतिसार में वायु की प्रधानता रहती है, यह अपने प्रकोपक कारणों (जिनका ऊपर वर्णन किया गया है) से प्रकुपित होकर पाचकाग्नि को मन्द कर देता है, अतः शरीर-स्थित जिस जलीयांश को पहले यह सुखाती थी, इसके मन्द पड़ जाने से उसकी वृद्धि हो जाती है, दूसरा वह प्रकुपित वायु मूत्र तथा स्वेद के रूप में बाहर निकल जाने वाली जलीय धातुओं को पुरीषाशय (मलाशय) में ले आती है, जिससे मल द्रवीभूत (पतला) हो जाता है। सुश्रुत के अनुसार अतिसार की सम्प्राप्ति—'बढ़ा हुआ शरीर का जलीय धातु अन्तरग्नि (जठराग्नि) को मन्द करके मल के साथ मिलकर वायु से प्रेरित होकर अधिक मात्रा में नीचे की ओर गुदमार्ग से निकलता है। अतः उस घोरव्याधि को अतिसार कहते हैं। देखें—सु० उ० अ० ४०।६।

तस्य रूपाणि—विज्जलमामं विप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छब्दमशब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात्।

वातज आमातिसार के लक्षण—वातजनित आमातिसार में विज्जल (चिपचिपा) आमदोष से युक्त, विप्लुत (फलने के स्वभाववाला), अवसादि (शरीर में शिथिलता उत्पन्न करने वाला तथा मल-परीक्षण काल में जल में नीचे बैठ जाने वाला), रूक्ष (स्नेहहीन), द्रव (पतला), शूलयुक्त, कच्चे मांस की गन्ध के समान गन्ध वाला, शब्दयुक्त अथवा हलके शब्द वाला, मूत्र और अपानवायु को बाँध (रोक) कर मल बाहर निकलता है। रुकी हुई वायु कोष्ठ के भीतर शब्द (गुड़गुड़ाहट) और शूल को उत्पन्न कर तिरछी घूमती है, ये वातज आमातिसार के रूप (लक्षण) हैं।

वक्तव्य—वाग्भट ने अतिसार के दो भेद किये हैं—१. साम (आमातिसार), २. निराम (पक्वातिसार)। सुश्रुत में इस प्रकार आम, पक्व भेदों की चर्चा नहीं है। किन्तु अतिसार की संख्या-सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए छः प्रकार के अतिसारों की चर्चा इस प्रकार की है—'एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठः आमेन चोक्तः। केचित् प्राहुर्नैकरूपप्रकारं नैवेत्येवं काशिराजस्त्ववोचत ॥ दोषावस्थास्तस्य नैकप्रकाराः काले-काले व्याधितस्योद्भवन्ति'। सु० उ० अ० ४०।७। श्रीभावमिश्र कृत भावप्रकाश में इसके अनेक भेदों का वर्णन किया गया है। आमातिसार में निकलने वाला मल जल में डालने पर डूब जाता है और पक्वातिसार में निकलने वाला मल पानी के ऊपर ही तैरता रहता है।

पाठभेद—'सशब्दमीषच्छब्दं वा' के स्थान पर 'सशब्दमशब्दं वा' ऐसा पाठ भी किसी प्रति में मिलता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि 'अशब्द' नञ् समास से बना हुआ है, अतः 'नञ्' का एक अर्थ 'ईषत्' भी होता है।

पक्वं वा विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिःश्वसञ्शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्; तमाहुरनुग्रथितमित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् ॥ ५ ॥

वातज पक्वातिसार के लक्षण—वातजनित पक्वातिसार में बँधा हुआ किन्तु थोड़ा-थोड़ा गुड़गुड़ाहट शब्द के साथ शूल, फेन, पिच्छा (चिपचिपापन वाला), परिकर्तिक (कैंची से काटने की-सी पीड़ा) का होना, बार-बार रोमांच का होना, श्वास की गति का तेज हो जाना, मुख का सूख जाना, कटि, ऊरु, त्रिक-प्रदेश, जानु, पीठ तथा पसलियों में शूल का होना, काँच का निकल जाना, बार-बार बँधी हुई मल की गाँठे मल के रूप में वातज दोष के कारण निकलती है। कुछ विद्वान् इसे अनुग्रथित कहते हैं, क्योंकि इसमें वातदोष के कारण मल की गाँठें बँध जाती हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने पक्वातीसार का लक्षण इस प्रकार दिया है—'एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु। लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्' ॥ सु० उ० अ० ४०।१८। अतिसार मल-प्रधान व्याधि है, अतः दोषों का मल पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस दृष्टि से चरक ने विचार किया है। अन्य संहिताकारों ने अतिसार रोग का रोगी पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसका वर्णन किया है।

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते। तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयविसृतमौष्ण्याद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय प्रकल्पते।

पित्तज अतिसार का निदान—पित्त प्रकृति का पुरुष जब अम्ल (खट्टे), लवण (नमकीन), कटुक (कडुवे), क्षार (खारे), उष्ण (स्पर्श तथा वीर्य में गरम) तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का अधिक सेवन करता है तथा लगातार आग के समीप बैठा रहता है, या धूप में बैठा रहता है अथवा गरम वायु से उसका शरीर आहत होता है या वह व्यक्ति क्रोध या ईर्ष्या करता है, तो उसका पित्तदोष प्रकुपित हो जाता है।

पित्तज अतिसार की सम्प्राप्ति—वह प्रकुपित पित्त द्रव होने के कारण पुरीषाशय (पक्वाशय) में आश्रित ऊष्मा को नष्ट करके उष्ण, द्रव, सर होने के कारण मल का भेद न करके अतिसार को उत्पन्न कर देता है।

तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं [1]रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं, तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः ॥ ६ ॥

पित्तज अतिसार के लक्षण—पित्तविकृति के कारण उत्पन्न अतिसार रोग में रोगी का मल हल्दी के सदृश पीला, हरा, नीला, काला और रक्तपित्त से मिश्रित अत्यन्त दुर्गन्धि वाला निकलता है। इस स्थिति में रोगी को प्यास, जलन, पसीना, बेहोशी, उदरशूल, गुदप्रदेश में जलन और कभी-कभी गुदपाक के लक्षणों से घिरा हुआ पित्तज अतिसार का रोगी होता है, अर्थात् पित्तज अतिसार के ये रूप (लक्षण) हैं।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ वातज आमातिसार की भाँति पित्तज आमातिसार के लक्षणों का निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु पित्तातिसार-चिकित्सा-प्रसंग में 'आमान्वय' का संकेत तन्त्रकार ने अवश्य किया है। देखें—च० चि० अ० १९।५०। सुश्रुत में पित्तातिसार के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—'दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोयप्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतितीक्ष्णम्। पित्तात् पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णन्मूर्च्छादाहपाकज्वरार्तः' ॥ सु० उ० अ० ४०।१०।

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते।

कफज अतिसार का निदान—कफ प्रकृति का पुरुष जब गुरु (देर में पचने वाले), मधुर, शीत (स्पर्श तथा वीर्य वाले), स्निग्ध (घी, तेल आदि से बने हुए) द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करता है, जो

१. 'रक्तपित्तोपगतम्' इति पा०।

पेट को अधिक से अधिक भर लेता है, जो सब प्रकार से निश्चिन्त रहता है, जो दिन में सोने का अभ्यासी है, जो आलसी है, ऐसे पुरुष के शरीर में कफ प्रकुपित हो जाता है।

कफज अतिसार की सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से कुपित वह कफदोष स्वभाव से गुरु, मधुर, शीत तथा स्निग्ध होने के कारण नीचे की ओर को सरक कर अग्नि (जठराग्नि) को बुझाकर अपने सौम्य (सोमगुण-प्रधान) स्वभाव के कारण पुरीषाशय (पक्वाशय) में पहुँचकर मल को गीला करके अतिसार को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—उपहत्य—यहाँ दो बार उप उपसर्गपूर्वक हनहिंसागत्योः धातु का ल्यप् प्रत्ययान्त प्रयोग हुआ है। पहली बार का अर्थ है—अग्नि की हिंसा करके अर्थात् अग्नि को मन्द करके और दूसरी बार का अर्थ है—पुरीषाशय में पहुँचकर। इस प्रकार पहले प्रयोग में हन धातु का हिंसा अर्थ और दूसरे में गति अर्थ का मनोरम प्रयोग हुआ है। यह है महर्षि आत्रेय का भाषा में एकाधिपत्य। **पुरीषाशयमुपहत्य**—इससे यहाँ आशय का ग्रहण न होकर उसमें रहने वाले पुरीष का ग्रहण करना तन्त्रकार को अभीष्ट है।

तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं, गुरूदरगुदवस्तिवङ्क्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ॥ ७ ॥

कफज अतिसार के लक्षण—उस कफज अतिसार के ये लक्षण होते हैं—स्निग्ध (चिकना), सफेद, पिच्छिल (चिपचिपा), तन्तुओं वाला, आम (जो परिपक्व न हो), गुरु, दुर्गन्धयुक्त, कफ से युक्त, जिसमें बार-बार शूल होता हो, थोड़ा-थोड़ा बार-बार काँखने पर मल निकलना रहता है। इस रोगी का उदर, गुदप्रदेश, वस्ति (मूत्राशय), वंक्षण-प्रदेश गुरु प्रतीत होते हैं। मलत्याग करने पर भी मैंने मलत्याग कर लिया है, ऐसी प्रतीति उसे नहीं होती, रोमांच होता रहता है, जी मिचलाता रहता है, नींद और आलस्य से हमेशा वह घिरा रहता है, सदन (शरीर में शिथिलता) तथा भोजन के प्रति उसे द्वेष हो जाता है। यह कफज अतिसार है।

वक्तव्य—वातज आमातिसार की भाँति यहाँ कफज आमातिसार के लक्षण नहीं दिये हैं। पित्तज आमातिसार के लक्षण नहीं दिये थे तो आगे उसकी चिकित्सा का संकेत किया गया था, किन्तु इसकी चिकित्सा का कहीं विधान नहीं किया है। कारण यह है कि कफज अतिसार की भाँति ही अन्य अपेक्षित भेदों की भी चिकित्सा की जाती है, अतः उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है। यह तो महर्षि आत्रेय पक्ष की ओर का समाधान है, किन्तु अग्निवेश के ही सहपाठी आचार्य क्षारपाणि ने सभी अतिसारों में आमदोष होता है, का वर्णन स्पष्ट रूप से किया है। यथा—'वातातिसारः सामश्च सशूलः फेनिलस्तनुः। श्यावः सशब्दो दुर्गन्धो विबद्धोऽल्पाल्प एव च ॥ एवं पित्तकफे साममतीसारं विनिर्दिशेत्' ॥ क्षारपाणिसंहिता, अतिसारचि०। इस संहिता के उद्धरण जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण, शिवदाससेन, अरुणदत्त आदि टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीकाओं में उद्धृत किये हैं। ऐसा लगता कि यह क्षारपाणि की बुद्धि की विशेषता मात्र थी। देखें—च० सू० अ० १।३२। चरक की भाँति सुश्रुत में भी साधारण कफज अतिसार के ही लक्षणों का वर्णन किया गया है।

पाठभेद-विचार—निर्णयसागरीय प्रति में 'सप्रवाहिकं' पाठ दिया है, किन्तु श्रीजयदेव ने यहाँ पर 'सप्रदाहिकं' पाठ को स्वीकार किया है, जो कफज अतिसार के वर्णन में प्रसंगोचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद् यत्किञ्चिदभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद् वेगविधारणादृतुविपर्ययादयथाबलमारम्भाद् भयशोकचित्तोद्वेगातियोगात् कृमिशोषज्वरार्शोविकारातिकर्षणाद् वा व्यापन्नाग्नेस्त्रयो दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्यातीसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति ॥ ८ ॥

सन्निपातज अतिसार का निदान—जब कोई व्यक्ति अत्यन्त शीतल, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, गुरु, कठिन, विषम, विरुद्ध, असात्म्य (प्रकृति-विरुद्ध) भोजन, अभोजन (उपवास), समय बिताकर भोजन करने से, जो कुछ खाने को मिले उसी को खा लेने से, अर्थात् पथ्य-अपथ्य का विचार किये बिना जो मिल गया उसी को

खा लेने से, दूषित मद्य, दूषित जल को पी लेने से, अधिक मद्यपान करने से, वमन-विरेचन आदि संशोधनों का समुचित प्रयोग न करने से, चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली औषधियों के समुचित ढंग से प्रयोग न होने से, विधिवत् चिकित्सा न होने से, अग्नि, सूर्य, गरम हवा (लू लगना), जल आदि का अधिक सेवन करने से, न सोने से, अधिक सोने से, अधारणीय वेगों को रोकने से, ऋतुओं के विपरीत प्रभाव से, अर्थात् वर्षाऋतु मे वर्षा के न होने और गर्मी में गर्मी न पड़ने आदि इन प्रकार के कारणों से, अपनी शक्ति के विपरीत कार्यों को करने से, जैसे कोई पुरुष एक मन बोझा उठाकर ले जा सकता है, वह दो या तीन मन बोझा उठाने लगे, अथवा कोई दौड़ती हुई बकरी को रोकने की शक्ति रखता हो, वह घोड़ा को रोकने लगे आदि-आदि कारणों से, भय से, शोक से, चित्त की घबड़ाहट से अथवा इन कार्यों के अधिक प्रयोग से, कृमि, शोष, ज्वर, अर्श विकारों द्वारा अधिक कृश हो जाने से जिन व्यक्तियों की जठराग्नि विकार युक्त हो गयी हो, उनके शरीरों में वात आदि तीनों दोष एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं।

सन्निपातज अतिसार की सम्प्राप्ति—उक्त प्रकार से प्रकुपित ये वात आदि तीनों दोष फिर से उस विकार युक्त जठराग्नि को विनष्ट कर पक्वाशय में पहुँचकर सभी (तीनों) दोषों के लक्षणों से युक्त अर्थात् सन्निपातज अतिसार को उत्पन्न कर देते हैं।

अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रकृष्टं[1] दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृतानतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति। तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनसन्निकाशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वराहमेदःसदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद् ग्रथितमामं सकृत्, सकृदपि पक्वमनतिक्षीणमांसशोणितबलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च; तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्।

कष्टसाध्य अतिसार—अब यहाँ विकृतिविषमसमवाय से आरम्भ होने वाले त्रिदोषज लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है। और भी; उक्त प्रकार से प्रकुपित वात आदि तीनों दोष रक्त आदि धातुओं को अधिक मात्रा में दूषित करते हुए धातुओं और दोषों के स्वाभाविक वर्णों से युक्त अतिसार को उत्पन्न कर देते हैं। उन वर्णों का उल्लेख आगे किया जा रहा है—उस अतिसार में रक्त आदि धातुओं के अधिक दूषित हो जाने पर हल्दी के सदृश पीला, हरा, नीला, मजीठ के सदृश, मांस को धोये हुए जल जैसा, लाल, काला, सफेद, सूअर की चर्बी जैसा, निरन्तर वेदना युक्त अथवा वेदना रहित वह रोगी मल का त्याग करता है, अर्थात् उस रोगी के मल का वर्ण ऊपर कहे गये रंगों वाला कभी संक्षेप से और कभी विस्तार से देखा जाता है। इसका पुरीष (Stool) कभी आमयुक्त गाँठदार निकलता है और कभी आमरहित पक्व (पका हुआ) निकलता है। वह रोगी जिसका रक्त, मांस और बल अधिक क्षीण न हुआ हो, किन्तु जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो और मुख का रस जिसका फीका पड़ गया हो, वैसे रोगी को कृच्छ्र(कष्ट)साध्य समझना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर हमने 'विकृतिविषमसमवाय' शब्द का प्रयोग किया है। इसको 'चरक-चन्द्रिका' व्याख्या युक्त चरकसंहिता के विमानस्थान अ० १।१० की टीका में विस्तार से देखें।

एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत; तद्यथा—[2]पक्वशोणिताभं यकृत्खण्डोपमं मेदोमांसोदकसन्निकाशं दधिघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेसवाराभमतिनीलमतिरक्तमतिकृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषायवर्णं कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूतिपूयगन्ध्यामाममत्स्यगन्धि [3]मक्षिकाकान्तं कुथितबहुधातुस्रावमल्पपुरीषमपुरीषं वाऽतिसार्यमाणं तृष्णादाहज्वरभ्रमतमकहिक्काश्वासानुबन्धमतिवेदनमवेदनं वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबलमांसशोणितं सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसम्मोहपरीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यात्; इति सन्निपातातिसारः ॥ ९ ॥

असाध्य अतिसार—इन (आगे कहे जाने वाले) वर्णों से युक्त जिस रोगी का मल अधिक मात्रा में निकल रहा हो और जिसका अतिसार रोग उपद्रवों से युक्त हो उसे असाध्य कहकर छोड़ देना चाहिए, अर्थात्

१. 'प्रदुष्टान्' इति पा०।
२. 'क्वाथशोणिताभं' इति पा०।
३. 'मक्षिकाक्रान्तं' इति पा०।

चिकित्सक को अपने सुयश की रक्षा करने की और रोगी के अभिभावकों को सावधान कर देने की दृष्टि से अपनी जानकारी प्रकट कर देनी चाहिए। यह तन्त्रकार का दृष्टिकोण है। लक्षण इस प्रकार हैं—

जिस सन्निपातज अतिसार के रोगी का मल पके हुए रक्त के सदृश, यकृत खण्ड के समान, मेदा या मांस धोये हुए जल के समान, दही, घी, मज्जा, तेल, वसा, दूध, वेसवार (पिसे हुए मांस) जैसा, अत्यन्त नीला, अत्यन्त लाल, अत्यन्त काला, पानी के सदृश स्वच्छ (साफ), सुरमा के आकार का, अत्यन्त चिकना, हरा, नीला, कषाय वर्ण (यद्यपि कषाय शब्द रस विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है, किन्तु विश्वकोष ने इसे 'लोहित' वर्ण का भी पर्याय माना है), कर्बुर (चितकबरा), आविल (गदला), पिच्छिल (चिपचिपा), तन्तुमत् (ताँतों वाला), आम (कच्चा), चन्द्रकोपगत (मयूरपंख के सदृश चन्द्रिकाओं वाला), अतिकुणप (सड़े हुए मुर्दा की-सी गन्ध वाला), दुर्गन्धित, पूय की-सी गन्ध वाला, ताजी मछली की-सी गन्धवाला, मक्खियों को प्रिय लगने वाला (पाठभेद के अनुसार भी यही अर्थ होगा), जो मल अनेक प्रकार के धातुस्रावों से सटा हुआ निकलता हो, मल कम निकलता हो अथवा न निकलता हो, अर्थात् विना मल के केवल जलीय धातु निकलता हो, इस प्रकार के लक्षणों वाले अतिसार से पीड़ित रोगी में तृष्णा, दाह, ज्वर, भ्रम, (चक्करों का आना), तमक नामक श्वास, हिक्का (हिचकी) तथा श्वास ये उपद्रव हों, अत्यन्त वेदना हो अथवा वेदना न हो, गुद-द्वार ढीला हो गया और पक गया हो, जिसका गुद (काँच) बाहर निकल आया हो, अर्थात् जब-जब वह मलत्याग करे तब-तब काँच बाहर निकल आती हो, जिसका बल, मांस, रक्त अत्यन्त क्षीण हो गया हो, शरीरगत सभी अस्थिसन्धियों में शूल के समान वेदना हो रही हो, अरोचक (भोज्य पदार्थों के प्रति अनिच्छा हो), अरति (बेचैनी, किसी प्रकार के सुख का अनुभव न होना), अंट-संट बकना तथा बेहोशी से युक्त, जिसके सभी विकार एकाएक शान्त हो गये हों, इस प्रकार के सन्निपातज अतिसार के रोगी को असाध्य समझना चाहिए।

वक्तव्य—वेसवार—'मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम्। पिप्पलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिः समन्वितम् ॥ ऐकध्यं पाचयेत् सम्यग् वेसवार इति स्मृतः' ॥ सु० सू० अ० ४६।३६४-३६५। यह मांस पाक का एक भेद है।

चन्द्रकोपगतम्—'मयूरपिच्छचन्द्रकैरिव धातुस्नेहैरुपगतम्'। अर्थात् इस अतिसार में वसा आदि धातु भी उस मल के साथ निकलने लगते हैं, अतएव उस जल-प्रधान मल में चन्द्रिकाएँ जैसी दिखलायी देती हैं। आप किसी पात्र में पानी रखकर उसमें दो चार बूँद तेल डालकर देखें। इस सम्बन्ध में श्रीकरवीराचार्य की उक्ति देखें—'चन्द्रकैः शिखिपिच्छाभैर्नीलपीतादिराजिभिः। आवृतं वेशवाराम्बुमज्जक्षीरोपमं त्यजेत्' ॥

कुथितबहुधातुस्रावम्—इस वाक्य में 'कुथित' शब्द का अर्थ सभी टीकाकारों ने छोड़ दिया है। कारण यह है कि किसी कोषकार ने भी इस शब्द का संग्रह संभवतः नहीं किया है। हमने इसका अर्थ लगाने की जो चेष्टा की है, उसका आधार यह है—'कुथ संश्लेषणे' (क्र्यादि० प० सेट्) 'कुथ' इति दुर्गः धातु से कुथित रूप बनाकर 'कुथित' का अर्थ 'सटा हुआ' किया है।

'पतितगुदवलि' के बाद 'मुक्तनालं' पाठ साथ ही साथ प्रयुक्त है। श्रीचक्रपाणि ने इसका अर्थ 'मुक्तगुदम्' किया है। भावमिश्र ने 'नाल' शब्द का अर्थ लिंग किया है। भा० प्र० मूत्राघाताद्यधिकार श्लोक १०। अन्यत्र स्नायु के अर्थ में भी 'नाल' शब्द प्रयुक्त है।

सुश्रुत ने सन्निपातज अतिसार की स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की है—'तन्द्रायुक्तो मोहसादास्यशोषी वर्चः कुर्यान्नैकवर्णं तृषार्तः। सर्वोद्भूते सर्वलिङ्गोपपत्तिः कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः' ॥ सु० उ० अ० ४०।१२। और भी देखें—'श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्' ॥ सु० सू० अ० ३३।१९। 'सर्पिर्मेदोवेसवाराम्बुतैलमज्जाक्षीरक्षौद्ररूपं स्रवेद् यत्। मञ्जिष्ठाभं मस्तुलुङ्गोपमं वा विस्रं शीतं प्रेतगन्धं जनाभम् ॥ राजीमद् वा चन्द्रकैः सन्ततं वा पूयप्रख्यं कर्दमाभं तथोष्णम्। हन्यादेतद् यत् प्रतीपं भवेच्च क्षीणं हन्युश्चोपसर्गाः प्रभूताः' ॥ 'असंवृतगुदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम्। गुदे पक्वे गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्' ॥ सु० उ० अ० ४०।१९-२१। माधवकर के अनुसार—'वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम्। कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद् दोषत्रयोद्भवम्' ॥ मा० नि० प्र० ३।८। महर्षि आत्रेय द्वारा निर्दिष्ट असाध्य लक्षणों की माधवनिदानोक्त निम्न श्लोकों से तुलना करें—'पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं तनु। घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि ॥

मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्। मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥ कुणपं मस्तुलुङ्गाभं दुर्गन्धि कुथितं बहु। तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम् ॥ सम्मूर्च्छारतिसम्मोहयुक्तं पक्ववलीगुदम्। प्रलापयुक्तं च भिषग् वर्जयेदतिसारिणम् ॥ मा० नि० प्र० ३।

तमसाध्यतामसम्प्राप्तं चिकित्सेद् यथाप्रधानोपक्रमेण हेतूपशयदोषविशेषपरीक्षया चेति ॥१०॥

विशेष परीक्षा-निर्देश—सभी प्रकार के अतिसारों में जो असाध्यता को प्राप्त न हुआ हो उसके असाध्य होने से पहले यह देखकर कि इस रोगी में कौन-सा दोष प्रधान है, उसका ध्यान रखते हुए अतिसार के निदान, उपशय तथा दोष विशेष की परीक्षा करने के बाद सावधानीपूर्वक उस रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए।

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ। तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम् ॥११॥

आगन्तुज अतिसार—मानसिक दोष भय तथा शोक के कारण जो दो अतिसार होते हैं, उन्हें आगन्तुज अतिसार कहते हैं। उन दोनों के वे ही लक्षण होते हैं, जो वातज अतिसार के। ये लक्षण इसी प्रकरण में कहे गये हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने ज्वरचिकित्सा प्रकरण में कहा है कि 'कामशोकभयाद् वायुः···कुप्यन्ति'। च० चि० अ० ३।११५। अतः यहाँ भय और शोक से उत्पन्न होने वाले अतिसार में वातदोष के लक्षणों का होना स्वाभाविक ही है। सुश्रुत ने शोकज अतिसार के जो लक्षण दिये हैं वे ऊपर दिये गये चरकोक्त लक्षणों से भिन्न हैं। देखें—सु० उ० अ० ४०।१३-१४। भावमिश्र ने भी भयातिसार तथा शोकातिसार के लक्षणों तथा उनको चिकित्सा का सविधि वर्णन किया है। देखें—भा० प्र० म० खं०, ज्वरातिसार-प्रकरण।

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति। तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥१२॥

आगन्तुज अतिसार-चिकित्सा—भय तथा शोक के कारण शरीर-स्थित वातदोष शीघ्र ही कुपित हो जाता है। इसलिए इन दोनों अतिसारों में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए, साथ ही साथ भयज अतिसार के रोगी को प्रसन्न कराने का और शोकज अतिसार वाले रोगी को आश्वासन (दिलासा, तसल्ली) दिलाने का प्रयास करें।

वक्तव्य—भयज तथा शोकज अतिसारों में औषध-चिकित्सा से उतनी सफलता नहीं मिलती है, जितनी कि हर्षण एवं आश्वासन क्रियाओं से, क्योंकि यहाँ भी 'निदानपरिवर्जन' पद्धति का सहारा लेना ही चाहिए। इस कार्य में मित्र-मण्डली की उपस्थिति एवं भय तथा शोक को दूर करने वाली चर्चाएँ शीघ्र लाभ करती हैं।

इसी प्रकार का एक अतिसार और होता है, उसे कहते हैं—**'नाड़ा उखड़ना'**। इसके अनेक कारण होते हैं—भारी भार या बोझ का उठाना, ऊँचे-नीचे पैर का पड़ जाना, कूदना या फाँदना आदि। इन कारणों या इस प्रकार के किन्हीं अन्य कारणों से नाड़ा उखड़ गया हो तो अतिसार होने लगता है। आश्चर्य है कि वह किसी भी अतिसारनाशक चिकित्सा से ठीक नहीं हो पाता। अतः पास-पड़ोस में पता करें, आपको नाड़ा बैठाने वाले मिलेंगे; वे दो प्रकार के होते हैं—१. मन्त्र के विशेषज्ञ, २. मालिश के जानने वाले।

नाड़ा उखड़ा है या नहीं इसका निर्णय करने के लिए नाभि के आस-पास दबाने पर रोगी को पीड़ा का अनुभव होता है और कुछ शब्द सुनायी पड़ता है। जैसे—कुल-कुल। उसकी परीक्षा करने के लिए जो पेट को दबाता है, उसे रोगी की अँतड़ियों में कड़ापन प्रतीत होता है। आप भी ध्यान दें—चिकित्साशास्त्र के अनेक विषय आज भी विशेष अवसरों पर ग्राम्य-चिकित्सा की प्रतीक्षा करते हैं।

इत्युक्ताः षडतीसाराः, साध्यानां साधनं त्वतः। प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत् तन्निबोधत ॥१३॥

इस प्रकार यहाँ तक छः प्रकार के अतिसारों का वर्णन कर दिया गया है। अब यहाँ से साध्य अतिसारों की चिकित्सा का वर्णन क्रमशः कहता हूँ, उसे समझो।

वक्तव्य—चरकोक्त छः अतिसार ये हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. भयज, ६. शोकज। यथा—'षडतीसारा इति वातपित्तकफसन्निपातभयशोकजाः'। च० सू० अ० १९।४। यद्यपि सुश्रुत ने भी संख्या में छः अतिसार स्वीकार किये हैं, किन्तु उनके नामों में भेद है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज

४. सन्निपातज, ५. शोकज, ६. आमज। यथा—एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः'। सु० उ० अ० ४०।७। **अन्तर**—चरकोक्त शोकज अतिसार साध्य है, किन्तु इसके लक्षणों से सर्वथा विपरीत सुश्रुतोक्त शोकजातिसार अतिमात्र दुश्चिकित्स्य है। सुश्रुत ने छठे अतिसार के रूप में जिसका परिगणन किया है, उसके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—'आमाजीर्णोपद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषाः सम्प्रदुष्टाः सभक्तम्। नानावर्णं नैकशः सारयन्ति कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति' ॥ सु० उ० अ० ४०।१६। इस श्लोक की शब्दावली से ऐसा प्रतीत होता है कि, इस आमातिसार का अन्तर्भाव सन्निपातज अतिसार में किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न आचार्यों की वर्णनशैली स्वतन्त्र होती है।

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः। अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्तयेत् ॥

अतिसार में शोधन-प्रयोग—आहार के विदग्ध हो जाने के कारण कुपित वातादि दोष शरीर में संचित होकर अतिसार रोग को पैदा कर देते हैं। इसलिए अतिसार रोग की चिकित्सा में सर्वप्रथम उन दोषों को (जिनके कारण आम, विदग्ध, दिष्टब्ध, रसशेष नामक अजीर्णों की उत्पत्ति होती है) निकालने के लिए प्रवृत्त करना चाहिए।

न तु सङ्ग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे। विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥१५॥
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा। शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ॥१६॥

अतिसार में चिकित्सा-सूत्र—आमदोष के कारण उत्पन्न अतिसार में संग्राहक (जो पतले मल को बाँध दें, जैसे—सोंठ तथा इसी प्रकार के) औषधयोगों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि प्रारम्भ में ही उक्त संग्राहक औषधियों द्वारा मल को बाँधने का प्रयास किया जाता है, तो उसके कारण निम्नोक्त अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं—दण्डकालसक, आध्मान, ग्रहणीदोष, अर्शोरोग, शोथ, पाण्डुरोग, प्लीहावृद्धि, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग तथा ज्वर।

वक्तव्य—सुश्रुत ने चरकोक्त भाव को अपने शब्दों द्वारा इस प्रकार दुहराया है—'आमातीसारिणां कार्यां नादौ सङ्ग्रहणं नृणाम्, तेषां दोषा विबद्धाः प्राग् जनयन्त्यामयानिमान् ॥ प्लीहपाण्ड्वामयानाहमेहकुष्ठोदरज्वरान्। शोफगुल्मग्रहण्यर्शोऽलसकहृद्ग्रहान् ॥ सु० उ० अ० ४०।२९-३०। संग्राहक औषधियों के प्रयोग का निषेध अगले १७वें पद्य के उत्तरार्ध में भी किया गया है। आचार्य गोविन्ददास ने आमातिसार में संग्राहिभेषजनिषेध का आदेश दिया है—'न तु सङ्ग्रहणं दद्यात् पूर्वमामातिसारिणे। दोषा ह्यादौ रुध्यमाना जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ शोथपाड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान्। दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा' ॥ भै० र० अतिसाराधिकार ८।९।

श्रीभावमिश्र ने महर्षि काश्यप के वचन को उद्धृत कर 'अलसक' रोग की उत्तम परिभाषा इस प्रकार दी है—काश्यपस्त्वाह—नाधो याति न चाप्यूर्ध्वमाहारो यत्र पच्यते। कोष्ठे स्थितोऽलसीभूतस्ततोऽसावलसः स्मृतः' ॥ भा० प्र० म० खं०, जठराग्निविकाराधिकार ३०। दण्डकालसक का विस्तृत परिचय च० वि० अ० २।१२ चरकचन्द्रिका टीका में देखें। चरक में अलसक को ही दण्डकालसक कहा गया है। सामान्य रूप से 'अलसक' नाम के आयुर्वेद में विभिन्न रोग पाये जाते हैं—विसूचिका का अवस्थाभेद, जिह्वारोग, कुष्ठ का एक भेद, पादरोग, क्षुद्ररोग तथा व्यालजाति का ज्वर विशेष।

तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्। कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्तिनीम् ॥

प्रारम्भिक स्थिति में दोषों को निकलने दें—जब मलदोष स्वयं निकलने के लिए तैयार हो तो उसे निकलने देना चाहिए, अर्थात् उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करें। यदि वे मल कष्टपूर्वक निकल रहे हों तो उसे हरीतकी का चूर्ण या कल्क गरम जल के साथ सेवन कराना चाहिए, क्योंकि इसे मल की प्रवर्तिनी कहा गया है।

तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः। जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ॥१८॥

हरीतकी प्रयोग का फल—उक्त प्रकार से हरीतकी का सेवन करने से जब मलदोष निकल जाता है और उदररोग (अतिसार) शान्त हो जाता है, अर्थात् उसका मल बँध करके निकलने लग जाता है और शरीर में हलकापन आकर जठराग्नि पुनः प्रदीप्त हो जाती है।

प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद् दीपनपाचनीम्। लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥१९॥

अतिसार में कर्तव्य—अब यहाँ दोष की स्थिति को देखकर चिकित्सा की व्यवस्था का निर्देश दिया जा रहा है—यदि अतिसार रोगी के शरीर में दोषों का प्रकोप मध्यम स्थिति का हो तो दीपन-पाचन द्रव्यों से सिद्ध की गयी प्रमथ्या का सेवन कराना चाहिए। यदि दोष सामान्यरूप से कुपित हों तो रोगी को लंघन कराना चाहिए, जिससे दोषों का पाचन आसानी से हो सके।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट कहते हैं—'प्रायेणातिसारो ह्यग्निमुपहत्य प्रागामाधिष्ठानो भवति। तस्मादनिलजमप्यामपाचनार्थमादौ लङ्घनोपक्रमेत'। अ० सं० चि० अ० ११।२। इस प्रकार इन्होंने सर्वप्रथम वातज अतिसार में लंघन कराने की अनुमति दी है। इसी क्रम में आगे अन्य उपचारों की भी चर्चा की है, क्योंकि लंघन दोषपाचन की सर्वोत्तम विधि है। संग्राहक औषधयोगों का प्रयोग दोषों के निकल जाने के बाद ही कराना चाहिए, तभी वे प्रभावी और लाभकारी भी होते हैं।

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा। ह्रीबेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥२०॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका। तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम् ॥

प्रमथ्या-प्रयोग—ऊपर मध्य दोष में प्रमथ्या के प्रयोग का निर्देश किया गया है, तदनुसार यहाँ तीन प्रमथ्याओं का वर्णन किया जा रहा है—१. पीपल, सोंठ, धनियाँ भूतीक (सुगन्धितृण), हरड़, बालवच। २. सुगन्धबाला, नागरमोथा, बेल की गुद्दी, सोंठ, धनियाँ। ३. पिठवन, गोखरू, मजीठ, भटकटैया की जड़। इन प्रमथ्याओं का विधान प्रत्येक श्लोक के अर्धपाद द्वारा किया गया है, ये सभी प्रमथ्याएँ यहाँ अतिसार रोगियों के लिए कही गयी हैं।

वक्तव्य—उक्त तीन योगों को क्रमशः—१. पिप्पल्यादि प्रमथ्या, २. ह्रीबेरादि प्रमथ्या, ३. पृश्निपर्ण्यादि प्रमथ्या कहते हैं। श्रीचक्रपाणि उक्त तीन प्रमथ्याओं को क्रमशः वातज, पित्तज और कफज अतिसार में देने की चर्चा करते हुए लिखते हैं—**'इति वदन्ति'**। अर्थात् यह दूसरों का मत है, न कि चक्रपाणि का।

प्रमथ्या का लक्षण—'प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृतात्। तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम्। अर्थात् ४ तोला औषधद्रव्यों की चटनी बनाकर आठगुने जल में पकाने पर जो द्रव्य तैयार होता है, उसे 'प्रमथ्या' कहते हैं। इसे एक बार में ८ तोला पीना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० २।१६८। यह भी एक प्रकार का क्वाथ ही है। अन्तर केवल यह है कि इसमें द्रव्यों का कल्क बनाकर अठगुने पानी में पकाया जाता है और क्वाथ में जौकुट करके डाले हुए द्रव्यों को सोलह गुने पानी में पकाया जाता है। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'षडङ्गविधिनाऽत्र जलसाधनं ज्ञेयम्', किन्तु षडंगविधि तथा प्रमथ्या-निर्माण-विधि में जल की मात्रा में कितना अन्तर है, आप ध्यान दें—'यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि ॥ अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ'। भै० र० ज्वराधिकार २७।

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा। ह्रीबेरशृङ्गबेराभ्यां पक्वं वा पाययेज्जलम् ॥२२॥

अतिसार में पाचक जल—१. बालवच, अतीस, २. अथवा नागरमोथा, पितपापड़ा, ३. अथवा सुगन्धबाला, सोंठ—इनमें से किसी को भी षडंगपरिभाषा के अनुसार पकाकर, उस जल को आमदोष को पचाने के लिए रोगी को पिलायें।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों का मत है, कि इन तीनों योगों को भी पूर्ववत् वातज, पित्तज तथा कफज अतिसारों में क्रमशः देना चाहिए।

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत्। तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥

अतिसार में सुपाच्य अन्य प्रयोग—भूख से पीड़ित अतिसार के रोगी को भोजन का समय हो जाने पर अर्थात् जिस समय प्रतिदिन उसे भोजन दिया जाता है, उस समय हलके (सुपच) अन्न (भोज्य पदार्थ) उसे खिलायें, जिससे उसकी रुचि (भोजन के प्रति इच्छा) और जठराग्नि बढ़ सके, क्योंकि अतिसार रोगी का अग्निबल ही बल होता है।

४. सन्निपातज, ५. शोकज, ६. आमज। यथा—एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः'। सु० उ० अ० ४०।७। **अन्तर**—चरकोक्त शोकज अतिसार साध्य है, किन्तु इसके लक्षणों से सर्वथा विपरीत सुश्रुतोक्त शोकजातिसार अतिमात्र दुश्चिकित्स्य है। सुश्रुत ने छठे अतिसार के रूप में जिसका परिगणन किया है, उसके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—'आमाजीर्णोपद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषाः सम्प्रदुष्टाः सभक्तम्। नानावर्णं नैकशः सारयन्ति कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति' ॥ सु० उ० अ० ४०।१६। इस श्लोक की शब्दावली से ऐसा प्रतीत होता है कि, इस आमातिसार का अन्तर्भाव सन्निपातज अतिसार में किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न आचार्यों की वर्णनशैली स्वतन्त्र होती है।

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः। अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्तयेत् ॥

अतिसार में शोधन-प्रयोग—आहार के विदग्ध हो जाने के कारण कुपित वातादि दोष शरीर में संचित होकर अतिसार रोग को पैदा कर देते हैं। इसलिए अतिसार रोग की चिकित्सा में सर्वप्रथम उन दोषों को (जिनके कारण आम, विदग्ध, विष्टब्ध, रसशेष नामक अजीर्णों की उत्पत्ति होती है) निकालने के लिए प्रवृत्त करना चाहिए।

न तु सङ्ग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे। विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥१५॥
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा। शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ॥१६॥

अतिसार में चिकित्सा-सूत्र—आमदोष के कारण उत्पन्न अतिसार में संग्राहक (जो पतले मल को बाँध दें, जैसे—सोंठ तथा इसी प्रकार के) औषधयोगों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि प्रारम्भ में ही उक्त संग्राहक औषधियों द्वारा मल को बाँधने का प्रयास किया जाता है, तो उसके कारण निम्नोक्त अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं—दण्डकालसक, आध्मान, ग्रहणीदोष, अर्शोरोग, शोथ, पाण्डुरोग, प्लीहावृद्धि, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग तथा ज्वर।

वक्तव्य—सुश्रुत ने चरकोक्त भाव को अपने शब्दों द्वारा इस प्रकार दुहराया है—'आमातीसारिणां कार्या नादौ सङ्ग्रहणं नृणाम्, तेषां दोषा विबद्धाः प्राग् जनयन्त्यामयानिमान् ॥ प्लीहपाण्ड्वामयानाहमेहकुष्ठोदरज्वरान्। शोफगुल्मग्रहण्यर्शःशूलालसकहृद्ग्रहान् ॥ सु० उ० अ० ४०।२९-३०। संग्राहक औषधियों के प्रयोग का निषेध अगले १७वें पद्य के उत्तरार्ध में भी किया गया है। आचार्य गोविन्ददास ने आमातिसार में संग्राहिभेषजनिषेध का आदेश दिया है—'न तु सङ्ग्रहणं दद्यात् पूर्वमामातिसारिणे। दोषा ह्यादौ रुध्यमाना जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान्। दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा' ॥ भै० र० अतिसाराधिकार ८१।

श्रीभावमिश्र ने महर्षि काश्यप के वचन को उद्धृत कर 'अलसक' रोग की उत्तम परिभाषा इस प्रकार दी है—काश्यपस्त्वाह—नाधो याति न चाप्यूर्ध्वमाहारो यत्र पच्यते। कोष्ठे स्थितोऽलसीभूतस्ततोऽसावलसः स्मृतः' ॥ भा० प्र० म० खं०, जठराग्निविकाराधिकार ३०। दण्डकालसक का विस्तृत परिचय च० वि० अ० २।१२ चरकचन्द्रिका टीका में देखें। चरक में अलसक को ही दण्डकालसक कहा गया है। सामान्य रूप से 'अलसक' नाम के आयुर्वेद में विभिन्न रोग पाये जाते हैं—विसूचिका का अवस्थाभेद, जिह्वारोग, कुष्ठ का एक भेद, पादरोग, क्षुद्ररोग तथा व्यालजाति का ज्वर विशेष।

तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्। कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्तिनीम् ॥

प्रारम्भिक स्थिति में दोषों को निकलने दें—जब मलदोष स्वयं निकलने के लिए तैयार हो तो उसे निकलने देना चाहिए, अर्थात् उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करें। यदि वे मल कष्टपूर्वक निकल रहे हों तो उसे हरीतकी का चूर्ण या कल्क गरम जल के साथ सेवन कराना चाहिए, क्योंकि इसे मल की प्रवर्तिनी कहा गया है।

तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः। जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ॥१८॥

हरीतकी प्रयोग का फल—उक्त प्रकार से हरीतकी का सेवन करने से जब मलदोष निकल जाता है और उदररोग (अतिसार) शान्त हो जाता है, अर्थात् उसका मल बँध करके निकलने लग जाता है और शरीर में हलकापन आकर जठराग्नि पुनः प्रदीप्त हो जाती है।

प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद् दीपनपाचनीम्। लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥१९॥

अतिसार में कर्तव्य—अब यहाँ दोष की स्थिति को देखकर चिकित्सा की व्यवस्था का निर्देश दिया जा रहा है—यदि अतिसार रोगी के शरीर में दोषों का प्रकोप मध्यम स्थिति का हो तो दीपन-पाचन द्रव्यों से सिद्ध की गयी प्रमथ्या का सेवन कराना चाहिए। यदि दोष सामान्यरूप से कुपित हों तो रोगी को लंघन कराना चाहिए, जिससे दोषों का पाचन आसानी से हो सके।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट कहते हैं—'प्रायेणातिसारो ह्यग्निमुपहत्य प्रागामाधिष्ठानो भवति। तस्मादनिलजमप्यामपाचनार्थमादौ लङ्घनोपक्रमेत'। अ० सं० चि० अ० ११।२। इस प्रकार इन्होंने सर्वप्रथम वातज अतिसार में लंघन कराने की अनुमति दी है। इसी क्रम में आगे अन्य उपचारों की भी चर्चा की है, क्योंकि लंघन दोषपाचन की सर्वोत्तम विधि है। संग्राहक औषधयोगों का प्रयोग दोषों के निकल जाने के बाद ही कराना चाहिए, तभी वे प्रभावी और लाभकारी भी होते हैं।

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा। ह्रीबेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥२०॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका। तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम् ॥

प्रमथ्या-प्रयोग—ऊपर मध्य दोष में प्रमथ्या के प्रयोग का निर्देश किया गया है, तदनुसार यहाँ तीन प्रमथ्याओं का वर्णन किया जा रहा है—१. पीपल, सोंठ, धनियाँ भूतीक (सुगन्धितृण), हरड़, बालवच। २. सुगन्धबाला, नागरमोथा, बेल की गुद्दी, सोंठ, धनियाँ। ३. पिठवन, गोखरू, मजीठ, भटकटैया की जड़। इन प्रमथ्याओं का विधान प्रत्येक श्लोक के अर्धपाद द्वारा किया गया है, ये सभी प्रमथ्याएँ यहाँ अतिसार रोगियों के लिए कही गयी हैं।

वक्तव्य—उक्त तीन योगों को क्रमशः—१. पिप्पल्यादि प्रमथ्या, २. ह्रीबेरादि प्रमथ्या, ३. पृश्निपर्ण्यादि प्रमथ्या कहते हैं। श्रीचक्रपाणि उक्त तीन प्रमथ्याओं को क्रमशः वातज, पित्तज और कफज अतिसार में देने की चर्चा करते हुए लिखते हैं—**'इति वदन्ति'**। अर्थात् यह दूसरों का मत है, न कि चक्रपाणि का।

प्रमथ्या का लक्षण—'प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृतात्। तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम्। अर्थात् ४ तोला औषधद्रव्यों की चटनी बनाकर आठगुने जल में पकाने पर जो द्रव्य तैयार होता है, उसे 'प्रमथ्या' कहते हैं। इसे एक बार में ८ तोला पीना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० २।१६८। यह भी एक प्रकार का क्वाथ ही है। अन्तर केवल यह है कि इसमें द्रव्यों का कल्क बनाकर अठगुने पानी में पकाया जाता है और क्वाथ में जौकुट करके डाले हुए द्रव्यों को सोलह गुने पानी में पकाया जाता है। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'षडङ्गविधिनाऽत्र जलसाधनं ज्ञेयम्', किन्तु षडंगविधि तथा प्रमथ्या-निर्माण-विधि में जल की मात्रा में कितना अन्तर है, आप ध्यान दें—'यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि ॥ अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ'। भै० र० ज्वराधिकार २७।

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा। ह्रीबेरशृङ्गबेराभ्यां पक्वं वा पाययेज्जलम् ॥२२॥

अतिसार में पाचक जल—१. बालवच, अतीस, २. अथवा नागरमोथा, पितपापड़ा, ३. अथवा सुगन्धबाला, सोंठ—इनमें से किसी को भी षडंगपरिभाषा के अनुसार पकाकर, उस जल को आमदोष को पचाने के लिए रोगी को पिलायें।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों का मत है, कि इन तीनों योगों को भी पूर्ववत् वातज, पित्तज तथा कफज अतिसारों में क्रमशः देना चाहिए।

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत्। तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥

अतिसार में सुपाच्य अन्य प्रयोग—भूख से पीड़ित अतिसार के रोगी को भोजन का समय हो जाने पर अर्थात् जिस समय प्रतिदिन उसे भोजन दिया जाता है, उस समय हलके (सुपच) अन्न (भोज्य पदार्थ) उसे खिलायें, जिससे उसकी रुचि (भोजन के प्रति इच्छा) और जठराग्नि बढ़ सके, क्योंकि अतिसार रोगी का अग्निबल ही बल होता है।

वक्तव्य—अतिसार रोग में आमदोष प्रमुख रूप से रहता है। जब तक आमदोष रहता है, तब तक पूर्ण रूप से भूख नहीं लगती है। भूख लगना ही उसके आमदोष-पाचन का लक्षण है, अतः उसे सुपाच्य पदार्थ खाने के लिए दें। अन्नकाल में भोजन न देने से अन्य अनेक रोगों के हो जाने की सम्भावना बनी रहती है।

तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा। सुरया मधुना चादौ यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥२४॥

तक्र आदि प्रयोग—ऊपर तन्त्रकार ने आदेश दिया है—**'लघून्यन्नानि भोजयेत्'**, उन लघु अन्नों आहारों तथा पेयों) का यहाँ निर्देश किया जा रहा है—अतिसार में आमदोष की समाप्ति हो जाने के बाद तक्र (मक्खन निकाला हुआ मठा), अवन्तिसोम (काँजी), यवागू, तर्पण (पानी में घोला हुआ सत्तू), सुरा (उत्तम कोटि की मदिरा) अथवा मधु जो पदार्थ जिस रोगी को सात्म्य (अनुकूल) हों उसे देकर चिकित्सा करें।

यवागूभिर्विलेपीभिः खडैर्यूषै रसौदनैः। दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम् ॥२५॥

यवागू आदि प्रयोग—उसके बाद दीपन (अग्निवर्धक), ग्राही (मल को बाँधने वाले) द्रव्यों से युक्त यवागू, विलेपी, खड, यूष, मांसरस के साथ भात का क्रमशः सेवन कराना चाहिए। ये सभी अग्निदीपक तथा संग्राही प्रयोग हैं।

शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम्। बलां श्वदंष्ट्रां बिल्वानि पाठां नागरधान्यकम् ॥
शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम्। यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥२७॥
वृक्षाम्लं दाडिमाम्लं च सहिङ्गु बिडसैन्धवम्। प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम् ॥२८॥
वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः। ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम् ॥

दीपन आदि द्रव्य—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, बलामूल, गोखरू, बेल की गुद्दी, पाठा, सोंठ, धनियाँ, कचूर, पलाश, हाऊबेर, बालवच, सफेद जीरा, छोटी पिप्पली, अजवाइन, पिप्पलीमूल, चीता की जड़, गजपिप्पली, बिषाँबिल, दाड़िम के बीज, घी में भुनी हींग, बिरियानमक, सैंधानमक—इन द्रव्यों का विधिपूर्वक किसी कल्पना विशेष द्वारा अन्न-पान में सेवन कराना चाहिए। यह शालपर्णी आदि औषधगण वात तथा कफ का नाश करता है, अग्नि को प्रदीप्त करके भोजन को पचाता है, मल को बाँधता है, बल को बढ़ाता है, भोजन के प्रति रुचि को बढ़ाता है, इसलिए यह गण अतिसार के रोगियों के लिए हितकर है, प्रशस्त है।

आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते। सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥३०॥
यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा। उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्या वास्तुकस्य वा ॥३१॥
सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा। शट्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा ॥
लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः। दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत् ॥३३॥

अतिसार में शाक-प्रयोग—आमदोष के परिणत (परिपक्व) हो जाने पर जो अतिसार का रोगी शूल और आँव से युक्त बँधे हुए मल को प्रवाहिका के साथ थोड़ी मात्रा में अनेक बार निकालता है, ऐसे रोगी को मूली के अथवा झड़बेर के यूष से, या पोई के शाक से या क्षीरिणी (दुद्धी) के शाक से, अजवाइन की पत्तियों के शाक से, सुवर्चला (हुलहुल) के शाक से, चंचु (नाड़ी शाक या चेंचुना) के शाक से, अवल्गुज (बाकुची), कचूर, कर्कारुक (कच्चा तर्बूज), जीवन्ती शाक, चिर्भट (फूट), लोणिका (कुल्फा) शाक, पाठा का शाक अथवा सूखे शाकों के रस जिनमें दही और दाड़िम का रस मिलाया हो, ऐसे सभी शाकों को (जो जिसे रुचिकर प्रतीत हो) पर्याप्त स्नेह (घी) मिलाकर शालि आदि के चावलों के भात के साथ खिलाना चाहिए।

वक्तव्य—'स प्रवाहिकम्'—सुश्रुत ने इसका लक्षण दिया है—'वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य। प्रवाहमाणस्य मुहुर्मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'॥ **प्रवाहिका के भेद**—'प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च। सशोणिता शोणितसम्भवा तु ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु'॥ सु० उ० अ० ४०।१३८-३९। इसे इन्होंने वातज, पित्तज, कफज तथा रक्तज भेद से चार प्रकार का माना है। प्रवाहिका रोग में रोगी काँखता है, अर्थात् वह प्रयत्न करता है कि किसी प्रकार मल निकल जाय, उसके पेट में ऐंठन होती है, साधारण बोल-चाल के शब्दों में इसे आँव पड़ना या पेचिस होना कहते है।

'बहुस्नेहेन भोजयेत्'—इसमें पर्याप्त घी मिलाकर खिलाना चाहिए, यदि रोगी की अग्नि प्रज्वलित न हुई हो तो 'बहुस्नेह' न दें, अपितु बड़े प्यार से रूक्ष पदार्थों को ही खिलायें।

कल्कः स्याद् बालबिल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः।
दध्नः सरोऽम्लस्नेहाढ्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥ ३४ ॥

खडयूष-प्रयोग—कच्ची बेल की गुद्दी का कल्क तथा इसी के समान काले तिलों का कल्क तैयार करके इसमें दही की मलाई पर्याप्त मात्रा में, घी तथा तेल मिलाकर बनाया हुआ खडयूष प्रवाहिका रोग का विनाश कर देता है।

वक्तव्य—खडयूष तथा काम्बलिक का परिचय देखें—'चक्रदत्त-अतिसारचिकित्साप्रकरण ३, श्लोक २८-२९। मूल रूप से यूष दो प्रकार का होता है—१. अकृत, २. कृत। जिसमें मसाले आदि नहीं डाले जाते और न घी आदि से छौंक ही लगाया जाता है, उसे अकृत यूष कहते हैं। मसाला डालकर, छौंक लगाकर तैयार किये हुए यूष को कृत कहते हैं। देखें—'अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम्'॥ सु० सू० अ० ४६।३७९।

महर्षि काश्यप ने उक्त दो भेदों के अतिरिक्त एक भेद और माना है—'कृताकृत'। इसकी रचना मध्यम मार्ग से की जाती है, अर्थात् कम घी-तेल, मसाले डालकर जो यूष बनाया जाता है, वही 'कृताकृत' है। शूक-धान्यों से यवागू का और शिम्बी धान्यों से यूष का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त महर्षि काश्यप ने फलयूष, पुष्पयूष, पत्रयूषों की भी चर्चा की है। इन्होंने जो तीन प्रकार के यूषों की कल्पना की है, उसका तात्पर्य है कि इनका प्रयोग इस प्रकार तीनों दोषों में किया जाना चाहिए। यथा—'कृताकृताकृतकृताः पित्तश्लेष्मानिलात्मसु। रोगेषु स्नेहयोगाच्च ते यूषास्त्रिविधाः स्मृताः'॥ का० सं० खिल० अ० ४।

यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च। कोलानां बालबिल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसारिकम्। वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥३६॥

धान्ययूष-प्रयोग—जौ, मूँग, उड़द, शालिधान के चावल, तिल, झड़बेर, कच्चे बेल की गुद्दी इन द्रव्यों को समभाग लेकर यूष-निर्माण-विधि से धान्ययूष का निर्माण करें। उस यूष को यमक (घी-तेल) में भूनकर (छौंककर) दही का घोल और दाड़िम का रस मिलाकर उस यूष के साथ शालिधान के चावलों का भात उस रोगी को खिलायें, जिसका मलक्षय हो जाने के कारण मुख सूख गया हो।

वक्तव्य—इस योग में शूकधान्य जौ, धान तथा शमीधान्य मूंग, उड़द का प्रयोग होने के कारण ही इसे 'धान्ययूष' कहा गया है। **बालबिल्व**—आयुर्वेद में सूखे बेल का प्रयोग किसी प्रकार के योग में नहीं देखा जाता है। यह केवल बालबिल्व तथा आमबिल्व के रूप में ही प्रयुक्त होता है।

दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम्। सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत् ॥३७॥

अन्य प्रयोग—दही की मलाई को यमक स्नेह (घी-तेल) में छौंककर उसमें गुड़ और सोंठ का चूर्ण मिलाकर भोजन के समय व्यञ्जन (मिर्च, मसाला, अचार, चटनी के रूप में स्वाद बढ़ाने) के लिए दें, अथवा यमक स्नेह द्वारा छौंकी गयी सुरा का भोजन के साथ सेवन करायें। इसमें भी गुड़ और सोंठ का चूर्ण मिलाकर सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—हमने ऊपर व्यञ्जन शब्द का जो अर्थ किया है, इसका आधार है—श्रीहर्ष द्वारा रचित 'नैषध-महाकाव्य' १६।१०४। यहाँ भोजन के साथ प्रयोग किये जाने वाले दो व्यञ्जनों का निर्देश किया है।

फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा। लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥

अतिसार में मांस-प्रयोग—दाड़िम आदि फलों के रस को यमकस्नेह (घी-तेल मिलाकर इस) से छौंककर अथवा गाजर के यूष को यमकस्नेह से छौंककर अथवा लोमड़ी के मांसरस को अथवा कछुआ के मांसरस को दाड़िम आदि के रस से खट्टा करके और यमकस्नेह से छौंककर भोजन के साथ सेवन करने के लिए दें।

वक्तव्य—यहाँ फल शब्द से दाड़िम के बीजों के रस का ग्रहण किया गया है, सर्वत्र ऐसा नहीं देखा जाता है। गृञ्जन शब्द से गाजर, मूली, शलजम, चुकन्दर, प्याज का भी चिकित्सक ग्रहण करते हैं। **लोपाक**—'लोपम् अदर्शनम् आप्नोति, इति लोपाकः'। लोमड़ी एक प्रकार का सियार या गीदड़। सुश्रुत की दृष्टि से दाड़िम रस युक्त मांसरस की 'सौराव' संज्ञा है—'स दाडिमयुतो वृष्यः संस्कृतो दोषनाशनः। प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम्। क्षुत्तृष्णापहरः श्रेष्ठः सौरावः स्वादुशीतलः॥ सु० सू० अ० ४६।३६१-३६२। मांसरस को स्नेह या यमकस्नेह से छौंककर उसमें दाड़िम का रस मिला देने से वह वृष्य हो जाता है। इसे बोलचाल की भाषा में 'शोरबा' कहते हैं। यद्यपि यह शब्द फारसी है, तथापि दोनों में समानता झलकती है।

बर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां तथा रसाः। स्निग्धाम्लाः शालयश्चाग्र्या वर्चःक्षयरुजापहाः॥

अन्य मांसरस—मोर, तीतर, दक्ष (मुर्गा), वर्तक (बटेर), इनके पृथक्-पृथक् तैयार किये गये मांसरसों को स्नेह (यमक स्नेह) से छौंककर दाड़िम आदि अम्लरस-प्रधान फलों के रस से खट्टा करके पुराने शालि धानों (चावलों) का भात बनाकर उसको खाने के लिए दें। उक्त मांसरसों के साथ इस प्रकार के भात [illegible]ने से पुरीषक्षय-जनित समस्त विकार दूर हो जाते हैं।

वक्तव्य—मल को शरीर का बल कहा गया है। अतः अतिसार के रूप में उसका क्षय हो जाना शरीर को दुर्बल बना देता है। पुराने शालितण्डुलों (चावलों) का भात पतले मल को बाँध [illegible] में अग्र्य (श्रेष्ठ) होता है। मांसरसों के साथ शालिओदन का सेवन बलकारक भी होता है। कविराज लालम्बराज ने निम्नलिखित पद्य में प्रयुक्त 'अतिसार' शब्द के दो अर्थ किये हैं—'अतिसारप्रशमनी चित्रपत्रकशोभिता। वृद्धिदातनुवहेश्च श्यामा श्यामेव शोभते'॥ चमत्कारचिन्तामणि पर मेरी टीका देखें।

अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम्। पचेद् दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम् ॥४०॥
[1]ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तत्। तथा वर्च्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥४१॥

पुरीषक्षय में मांस-प्रयोग—मेष (भेड़ा) के मध्य शरीर के मांस को लेकर उससे यथाविधि तैयार किये गये मांसरस को कपड़े से छानकर उसी में भेड़ा के ताजा रक्त को मिला दें, उसी में दाड़िम के बीजों का रस, धनियाँ का चूर्ण, स्नेह (घी और तेल), सोंठ का चूर्ण डालकर पुनः पकायें, पाक हो जाने पर इसके साथ लाल शालिचावलों का भात खाना चाहिए और उक्त मांसरस को पीना भी चाहिए। ऐसा करने से मलक्षय के कारण उत्पन्न रोगों से वह (रोगी) मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—'अन्तराधि' का वर्णन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ'। सु० शा० अ० ५।२५। ये तो अस्थि-सन्धियाँ हैं, अन्तराधिगत व्यधनीय सिराएँ १०४, अव्यधनीय सिराएँ ३२ ये कुल १३६ होती है। ऊपर जो मांस लेने के लिए कहा गया है, वह इन्हीं उपर्युक्त अंगों का लेना चाहिए।

कुछ टीकाकारों ने **'सधान्यस्नेहनागरम्'** इस समस्त पद में से 'स्नेह' शब्द को अलग निकाल कर मांसरस के तैयार हो जाने पर उससे छौंक लगाने की अनुमति दी है। ऐसा करने पर कोई हानि भी नहीं है। हमारे विचार से यहाँ स्नेह शब्द से यमकस्नेह का ग्रहण कर उसका मांसरस के साथ पाक करना ही तन्त्रकार को अभीष्ट था, अन्यथा वे तदनुरूप पदावली की रचना कर सकते थे।

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः। प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ॥४२॥

गुदभ्रंश-चिकित्सा—यदि निराम (आमदोष रहित) मल वाले अतिसार रोगियों का गुदप्रदेश बाहर निकल जाता हो अथवा गुद में शूल हो रहा हो तो अम्ल रस युक्त घी को पिलाना चाहिए। इस विधि की चिकित्सक प्रशंसा करते हैं। अथवा उसी घी द्वारा अनुवासनवस्ति दें।

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम्। घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥४३॥

इति चाङ्गेरीघृतम्।

१. 'भोजनं' इति पा०।

चांगेरीघृत—चांगेरी (तिपतिया), झड़बेर, खट्टी दही, सोंठ, जवाखार—इन सबको समभाग लेकर यथाविधि तैयार किये हुए घी को मात्रानुसार पीने से गुदभ्रंश (Prolapse of the anus) के कारण पैदा होने वाला कष्ट दूर हो जाता है।

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषबिडदाडिमम्। पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम् ॥४४॥

इति गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम्।

चव्यादि घृत—ऊपर कहे गये चांगेरी घृत में चव्य, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, विरियानमक, दाड़िम के बीजों का रस, धनियाँ, जीरा और चीता की जड़ इनके कल्क से तैयार किये हुए इस अम्ल रस युक्त घी को युक्तिपूर्वक (मात्रा और विधिवत्) पीना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त योग का निर्देश इस प्रकार किया है—'गुदभ्रंशे शूले चाम्लबदरचाङ्गेरीरसदधिक्षारनागरकल्केन शृतमम्लं सर्पिर्निशमातुरं पाययेत्'। अ० सं० चि० अ० ११।१४।

चव्यादि घृत में द्रव्यों का परिमाण—गाय का घी १ सेर, चांगेरी स्वरस १ सेर, बेर की पत्तियों का स्वरस १ सेर, खट्टी दही और ४४ वें श्लोक में वर्णित चव्य से लेकर चित्रकमूल तक तथा यवक्षार इन सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क तैयार करके, उक्त घृत का यथाविधि पाक करें। यहाँ आवश्यकतानुसार उक्त ४३ वें पद्य में कहे गये चांगेरी स्वरस आदि का ग्रहण किया गया है।

दशमूलोपसिद्धं वा सबिल्वमनुवासनम्। शटीशताह्वाबिल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा ॥४५॥

इति गुदभ्रंशेऽनुवासनम्।

दशमूलादि अनुवासन—अथवा बेल की गुद्दी के कल्क तथा दशमूल के क्वाथ रस से तैयार किये गये घी से गुदभ्रंश के रोगी को अनुवासनवस्ति दें। अथवा कचूर, सोया, बेल की गुद्दी अथवा बालवच से अथवा चीता की जड़ के कल्क से तैयार किये गये घी से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अनुवासनमिति अनुवासनस्नेहः'। यहाँ तक तो सभी टीकाकार सहमत हैं, किन्तु स्नेह शब्द से कुछ घी का ग्रहण करते हैं, दूसरे तेल का। इसका निर्णय उस-उस देश के व्यवहार को देखकर किया जा सकता है। उक्त श्लोक द्वारा चार योग कहे गये हैं। दशमूल के द्रव्यों का परिगणन सुप्रसिद्ध होने के कारण यहाँ नहीं किया गया है।

स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्। सुस्विन्नं तं मृदूभूतं पिचुना सम्प्रवेशयेत् ॥४६॥

भ्रष्टगुद की व्यवस्था—यदि गुद में जकड़न आ गयी हो अथवा भ्रंश हो, अर्थात् काँच निकल आयी हो तो सबसे पहले उसमें स्नेहन और स्वेदन का प्रयोग कराना चाहिए। जब यह ज्ञात हो जाय कि गुदप्रदेश का भली-भाँति स्वेदन हो गया है, फलतः वह भाग मृदु हो गया है, तब उसे घी या तेल में भिगायी गयी रूई की सहायता से भीतर प्रवेश करा दें।

वक्तव्य—विकार युक्त वायु गुदप्रदेश में जकड़न पैदा कर देती है और कभी गुद को बलियों सहित बाहर की ओर को ढकेल देती है, इसे काँच निकलना या गुदभ्रंश कहते हैं। **मृदूभूतम्**—जो पहले कड़ा था किन्तु स्नेहन तथा स्वेदन उपचारों से अब मृदु हो गया हो। **पिचु**—सामान्य रुई का फाहा, किन्तु भावप्रकाश मध्यमखण्ड भाग ४, योनिरोगचिकित्सा श्लोक ३४ में इसका अर्थ तेल में भिगाया हुआ रुई का फाहा है। 'गुदभ्रंश' की भाँति ही 'योनिभ्रंश' भी होता है।

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः। सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ॥४७॥
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः। शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा [1]पयः ॥४८॥
एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति। शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति ॥४९॥

विबन्ध-चिकित्सा—जिस अतिसार के रोगी की अपानवायु रुक गयी हो और मल भी विबद्ध (रुक गया) हो, शूल तथा प्रवाहिका से पीड़ित हो, रक्त के साथ पंछा निकलने के कारण जो रोगी पीड़ित हो उसे

१. 'पुनः' इति पा०।

पर्याप्त दूध पिलाकर तृप्त कर देना चाहिए। अथवा यमकस्नेह (समभाग में घी-तेल मिलाकर) पीने के बाद वह गाय का धारोष्ण दूध पीये। अथवा रेड़ की जड़ का कल्क मिलाकर पकाया हुआ गाय का दूध पीये। अथवा कच्चे बेल की गुद्दी के कल्क से पकाया गया दूध उसे पिलायें। इस प्रकार के क्षीरप्रयोगों से मलद्वार से निकलने वाला रक्त तथा पिच्छा (झाग का आना), शूल, प्रवाहिका (अतिसार का ही एक भेद) तथा विबन्ध भी शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने अपनी संहिता के उ० अ० ४०।१३६ में प्रवाहिका का वर्णन किया है, उसे देखें। इसमें होने वाली ऐंठनों में ठीक उसी प्रकार की वेदना होती है, जैसी प्रसवकाल में स्त्रियों को आवीप्रादुर्भाव में होती है। प्रवाहिका रोग में पुरीष का अतिसरण नहीं होता है, इसमें मल की छोटी-छोटी गाँठें पड़ जाती हैं। यह वातज, पित्तज, कफज, रक्तज भेद से चार प्रकार की होती हैं। अष्टांगहृदय चि० अ० ९ तथा अ० सं० चि० अ० ११ में भी इसका उल्लेख किया गया है। इस प्रवाहिका को विम्बसी, निःसारक, निश्वारक, निस्तानिका, अन्तर्गन्थि आदि नामों से भी जाना जाता है।

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य यथाबलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत्। तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्तकोदीच्यवारिभिरुपचारः। लङ्घितस्य चाहारकाले बलातिबलासूर्पपर्णीशालपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकाशतावरीश्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः। मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाढकीयूषैर्वा लावकपिञ्जल-शशहरिणैणकालपुच्छकरसैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत्। अनुबन्धे त्वस्य दीपनीयपाच-नीयोपशमनीयसङ्ग्रहणीयान् योगान् सम्प्रयोजयेदिति ॥ ५० ॥

पित्तातिसार-चिकित्सा—यदि अतिसार के रोगी में पित्तज अतिसार के निदान, उपशय, आकृति (लक्षण) मिलते हों और उस रोगी में आमदोष का सम्बन्ध दिखलायी देता हो, तो उस रोगी की सर्वप्रथम चिकित्सा लंघन (लघु भोजन) तथा पाचन-विधियों से करें।

यदि पित्तज अतिसार के रोगी को प्यास लग रही हो तो उसे नागरमोथा, पितपापड़ा, खश, सारिवा, लालचन्दन, किराततिक्त (चिरायता), सुगन्धवाला, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर षडंगपानीय विधि से से पकाया हुआ जल पीने के लिए दें।

जिस पित्तज अतिसार के रोगी को लंघन कराये गये थे, उसे भोजन के समय पर बला, अतिबला, सूर्पपर्णी (मुद्गपर्णी, माषपर्णी), शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन), बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, शतावर की जड़, गोखरू—इन सबको समान भाग लेकर षडंगपरिभाषा के अनुसार इसका निर्यूह (काढ़ा) तैयार कर जिस रोगी को जो यवागू, मण्ड आदि अथवा तर्पण (जल में घोले हुए सत्तू) सात्म्य (अनुकूल) हो, उसका सेवन करा कर क्रमशः चिकित्सा करनी चाहिए।

मूंग, मसूर, हरेणु (बड़ा चना), मकुष्ठ (मोठ), इनके अलग-अलग यूषों से अथवा लवा, कपिञ्जल (गौरैया), खरगोश, हरिण, एण (काला मृग विशेष), कालपुच्छक (काली पूँछ वाला मृग) इनके ऐसे मांस रसों से, जिनमें किसी प्रकार की खटाई न मिलायी गयी हो, क्रमशः अतिसार रोग के कारण मन्द हुई अग्नि को पुनः सुलगाये (तेज करने का प्रयत्न करे)।

यदि फिर भी अतिसार का सम्बन्ध न टूटे तो दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय तथा पित्तदोष को शान्त करने वाले तथा मल को बाँधने वाले विभिन्न योगों का भली-भाँति प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ पित्तातिसारशामक अनेक विधियों का वर्णन किया गया है। कभी-कभी देखा जाता है कि उचित चिकित्सा करते हुए भी रोग की शान्ति नहीं देखी जाती है। ऐसी स्थिति में उसके लिए अन्त में विशेष निर्देश दिया गया है। हमारे विचार से प्रत्येक रोग की चिकित्सा में इस प्रकार की सूझ-बूझ को अपनाना चिकित्सक की विशेष योग्यता मानी जाती है। **'यथासात्म्यं'** का विचार करना चिकित्सा का प्रधान अंग है। और इसे भुला देना अयोग्यता कही जाती है।

सूर्पपर्णी—निर्णयसागरीय प्रति के अनुसार 'यहाँ 'दन्त्य सकार' युक्त 'सूर्पपर्णी' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु च० चि० अ० १ पाद १ श्लोक ४३ में तालव्य शकार युक्त उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। कोषकारों ने इस प्रकार प्रयुक्त होने वाले एकार्थवाची शब्दों का संग्रह किया है। यथा—कलश, कलस; कैलाश, कैलास; वशिष्ठ, वसिष्ठ आदि। इसके विशेष ज्ञान के लिए पुरुषोत्तमदेव कृत 'वर्णदेशना' का अवलोकन करें। कहीं-कहीं इस प्रकार के परिवर्तन अनर्थकारी भी हो जाते हैं। जैसे—शकृत (पुरीष या गू) और सकृत (एक बार); स्वजन और श्वजन; सकल और शकल इत्यादि।

सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम्। पिबेत् पित्तातिसारघ्नं तण्डुलोदकसंयुतम् ॥५१॥

अति विषादि योग—अतीस, कुटज के बीज (इन्द्र जौ) तथा कुटज की छाल, इन्हें शहद के साथ पीसकर उसमें चावलों का धोवन मिलाकर पीयें, इससे पित्तज अतिसार का नाश होता है।

किराततिक्तको मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः। बिल्वं दारुहरिद्रा त्वक् ह्रीबेरं सदुरालभम् ॥
चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम्। तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥
उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम्। कट्फलं नागरं पाठा जम्ब्वाम्रास्थिदुरालभाः ॥
योगाः षडेते सक्षौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः। पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निर्दशिताः ॥

पित्तज अतिसार-नाशक योग—१. चिरायता, नागरमोथा, इन्द्रजौ, रसौत। २. बेल का गूदा, दारुहल्दी, दालचीनी, सुगन्धवाला, दुरालभा। ३. लालचन्दन, मृणाल (खश), सोंठ, पठानीलोध, नीलकमल। ४. तिल, मोचरस, लोध, समंगा (लजालू या मजीठ), लालकमल, नीलकमल। ५. नीलकमल, धाय का फूल, दाड़िम का छिलका, सोंठ। ६. कायफल, सोंठ, पाठा, जामुन की गुठली, दुरालभा, आधे-आधे श्लोक द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त ये छः योग मधु मिलाकर चाटने चाहिए, उसके बाद चावलों का धोवन पीना चाहिए। ये सभी पित्तातिसार-नाशक होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर छः योग कहे गये हैं। प्रत्येक योग के द्रव्यों को समान भाग में लेकर कूट-पीसकर कपड़छन करके रख लें। २ माशा चूर्ण लेकर इसे मधु के साथ चाटें। करीब २½ छटाँक चावल का धोवन उसके बाद पी लें। यह चिकित्सक का कर्तव्य है, कि कौन-सा योग किस रोग के लिए किस स्थिति में लाभकर होगा, इसका विचार कर वह प्रयुक्त करे।

जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः। रसैः साङ्ग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ॥

मांसरस-रक्तशालि-प्रयोग—ऊपर निर्दिष्ट औषधयोग जब रोगी को पच जाय तब विधिपूर्वक तैयार किये गये मल को बाँधने की क्षमता को रखने वाले मांसरसों के साथ पुराने लाल शालितण्डुओं का भात अतिसार रोगियों के लिए हितकर होता है।

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति। अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ॥५७॥

बकरी के दूध का प्रयोग—जिस अतिसार रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो चुकी हो, उसे यदि बकरी के दूध का विधिवत् प्रयोग कराया जाता है, तो उक्त रोग शान्त होकर प्रतिदिन उसका बल बढ़ने लगता है और उसके वर्ण में भी निखार आने लगता है।

बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति। पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥५८॥

गाय के दूध का प्रयोग—जिसके शरीर में वात आदि दोषों की अधिकता है, किन्तु रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त है, वह स्वयं आत्मवान् (हिम्मती) है। यदि उसे पित्तज अतिसार हो गया हो और वह किसी उपचार से शान्त न हो रहा हो तो उसे गाय का दूध पिलाकर विरेचन कराये :

पलाशफलनिर्यूहं पयसा सह पाययेत्। ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥५९॥
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः। पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी ॥६०॥

अन्य योग—१. पलाश (ढाक) के फल के क्वाथ को गाय के दूध के साथ पित्तज अतिसार के रोगी को पिलाना चाहिए। तदनन्तर उतना गुनगुना दूध पिलायें जितना वह पी सके। उस प्रयोग से जब मल (पित्तदोष तथा संचित या अवशिष्ट पुरीष) निकल जाता है, तब उदरामय (अतिसार) शान्त हो जाता है।

२. ऊपर पलाश के बीज का जिस प्रकार प्रयोग बतलाया गया है, उसी प्रकार मलाशय का शोधन करने वाली त्रायमाणा का भी प्रयोग कराना चाहिए। इसके साथ भी गुनगुने दूध का प्रयोग अग्निबल का विचार करके करना चाहिए।

वक्तव्य—गाय का दूध (जिसमें पानी न मिलाया गया हो) वात तथा पित्तनाशक होता है। अतः उक्त पलाश या त्रायमाणा के क्वाथ के बाद गुनगुने दूध को भरपेट पीने का विधान किया गया है। अधिक मात्रा में पिया गया दूध स्वयं ही रेचक (विरेचनकारक) होता है। वृद्धवाग्भट ने भी इसी योग को गद्य द्वारा कहा है। देखें—अ० सं० चि० अ० ११।२०।

सांसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते। स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ॥६१॥

अनुवासनवस्ति का प्रयोग—यदि विरेचन द्वारा दोष (पित्तदोष युक्त मल) के निकल जाने के बाद संसर्जनक्रम (पेया, विलेपी आदि) का सेवन कराने पर भी उदरशूल हो रहा हो तो, ऐसे रोगी को दोष के अनुसार औषधद्रव की कल्पना करके अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च। तैलपादं घृतं सिद्धं सबिल्वमनुवासनम् ॥६२॥

शतपुष्पादि वस्ति—सोया, शतावरी, मुलेठी, बेल की गुद्दी, इनका कल्क तैयार करें। चतुर्थांश तिल का तेल, तेल से चौगुना गाय का घी लें और घी से चौगुना गाय का दूध लेकर विधिपूर्वक घी का पाक करें। इससे अनुवासनवस्ति दें।

वक्तव्य—तिलतेल १ पाव, गाय का घी १ सेर, गाय का दूध ४ सेर और सोया आदि द्रव्यों का कल्क इन सबको एक में मिलाकर घृतपाक करें।

कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च। वर्तते यद्यतीसारः पिच्छावस्तिरतः परम् ॥६३॥

पिच्छावस्ति-प्रयोग—पित्तज अतिसार के रोगी को अनुवासनवस्ति देने के बाद संसर्जन क्रम (पेया, विलेपी आदि सेवन कराने) के बाद भी यदि अतिसार रोग दूर नहीं होता है, तो उसके बाद पिच्छावस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्सकों की दृष्टि से पित्तातिसार की कई प्रकार की आवृत्ति होती है। यथा—१. दीर्घकालीन आवृत्ति (Long term relapse), २. सौम्य आवृत्ति (Minor relapse) और परजीवी आवृत्ति (Parasite relapse)। इन भेदों की पुष्ट कल्पना आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राचीनकाल से है। आप स्वस्थ दृष्टि से अपने साहित्य का अवलोकन करें।

परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः। कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद् गोमयाग्निना ॥६४॥
सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः। शृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखले ततः ॥
पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः। [1]स्नेहितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ॥
वस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागते ततः। स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ॥
पित्तातिसारज्वरशोथगुल्मजीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान्।
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान् विरेचनास्थापनयोश्च [2]वस्तिः ॥ ६८ ॥

पिच्छावस्ति—सेमल के पत्तों के गीले वृन्तों (डंडियों) को ताजे अतएव हरे कुशों से भली-भाँति लपेटकर काली (चिकनी) मिट्टी से लीप दें और गोबर (गोहरी या कण्डों) की आग में डालकर उसका स्वेदन करें। जब मालूम पड़े कि मिट्टी सूख गयी है, तो कुछ ठंडा हो जाने पर सेमल के उन स्विन्न पत्रवृन्तों को निकाल कर साफ ऊखल में कूटकर उसमें से १ मुष्टि (४ तोला) के समान एक पिण्ड (गोला) लेकर उसे उबले हुए १ प्रस्थ (६४ तोला) दूध में डालकर खूब मलें, उसके बाद स्वच्छ वस्त्र से छानकर तेल और घी से उसे स्निग्ध करके मात्रा के अनुसार मुलेठी के कल्क के साथ रोगी को इस द्रव से अनुवासनवस्ति दें। इस वस्ति का प्रयोग करने के पहले रोगी के शरीर पर तेल का अभ्यंग (मालिश) करा दें।

१. 'योजितं' इति पा०। २. 'वृत्तिः' इति पा०।

जब वस्ति द्वारा दिया गया द्रव पदार्थ गुदमार्ग से बाहर आ जाय तब रोगी स्नान करके पुराने शालि-चावलों के भात को दूध से अथवा जांगलप्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांस रस के साथ खाये। यह पिच्छावस्ति बढ़े हुए पित्तज अतिसार, ज्वर, शोथ, गुल्म, पुराना अतिसार, ग्रहणीदोष को शीघ्र ही जीत लेती है और विरेचन तथा आस्थापनवस्ति के अतियोग आदि के कारण उत्पन्न उपद्रवों को भी शीघ्र ही शान्त कर देती है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को उद्धृत किया है। उसमें मधु का प्रयोग अधिक है और भोजन के रूप में प्रयुक्त होने वाले दूध को कच्छुरा (लाल दुरालभा) के कल्क से पकाने का विधान किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ११।२१।

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते। पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥
कुर्याद् रक्तातिसारं तु रक्तमाशु प्रदूषयेत्। तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम् ॥७०॥

रक्तातिसार का निदान—पित्तज अतिसार का रोगी यदि उपर्युक्त चिकित्सा को छोड़कर पित्तकारक, अर्थात् पित्तवर्धक अन्न (आहार), पान (पेय पदार्थों) का सेवन करता है, तो उसके शरीर में अधिक रूप में बढ़ा हुआ वह महान् बलशाली पित्त शीघ्र ही रक्तातिसार को उत्पन्न करके रक्तधातु को दूषित कर देता है।

रक्तातिसार के उपद्रव—इसमें अत्यधिक प्यास का लगना, पक्वाशय शूल, विदाह (दाह) और भयावह गुदपाक हो जाता है।

तत्र च्छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्। पानार्थं भोजनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा ॥७१॥

रक्तातिसार-चिकित्सा—यदि रक्तातिसार रोग में उपर्युक्त तृष्णा, शूल आदि उपद्रव दिखलायी दें तो उनको शान्त करने के लिए बकरी के दूध को उबालकर शीतल कर लें, तब उसमें मधु और चीनी मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए। इसी को भोजन के रूप में भी दें और इसी से गुद-प्रक्षालन (शौच) भी करें।

ओदनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत्। रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः ॥७२॥

अन्य योग—रक्तातिसार के रोगी को ऊपर कहे गये मधु-शर्करा मिश्रित बकरी के शीतल दूध के साथ लाल शालिचावलों का भात खिलायें अथवा कबूतर आदि पक्षियों के मांसरस को घी से छौंककर उसमें चीनी मिलाकर उसके साथ उक्त भात खिलायें।

शशपक्षिमृगाणां च शीतानां धन्वचारिणाम्। रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत् तं सशर्करैः ॥७३॥

रक्तातिसार में मांसरस-प्रयोग—धन्व (जांगल) देश में रहने वाले तथा शीतवीर्य शश (खरगोश), पक्षी एवं मृगों के शर्करा तथा घी मिलाये गये मांसरसों जिनमें दाड़िम आदि का खट्टा रस न मिलाया गया हो, के साथ लाल शालिचावलों का भात रक्तातिसार के रोगी को खिलायें।

वक्तव्य—मांस को पकाते समय भी घी डाल दिया जाता है और बाद में छौंकने के रूप में भी उसका प्रयोग किया जाता है, जैसा कि ऊपर ७२ वें पद्य में किया गया है, दोनों ही स्थितियों में वह मांसरस सघृत कहा जायगा। ऐसे अवसरों पर जठराग्नि के बलाबल का विचार कर लेना चाहिए। यदि जठराग्नि प्रबल हो तो अधिक मात्रा में पकाते समय ही घी मिला दें, अन्यथा थोड़े से घी से छौंक दें।

रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते। काश्मर्यफलयूषो वा किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥७४॥

अन्य प्रयोग—मृग (हिरन) अथवा बकरे के रक्त को लेकर घी में भूँजकर खिलाना हितकर अथवा प्रशंसनीय होता है। अथवा गम्भार के फल का यूष बनाकर उसमें खट्टे अनार का रस और चीनी मिलाकर खिलाना लाभदायक होता है।

नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गा पद्मकेशरम्। अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम् ॥७५॥
दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत्। प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥७६॥

नीलोत्पलादि योग—नीलकमल, मोचरस, समंगा (लज्जावन्ती या मजीठ), कमल का केसर, इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनका कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को बकरी के दूध के साथ रक्तातिसार के रोगी

को पीने के लिए दें। जब यह औषधि पच जाय उसके बाद बकरी के दूध के साथ लाल शालिचावलों का भात खाने के लिए दें। यदि रक्तातिसार का रोगी शरीर से दुर्बल हो गया हो तो उसे उक्त नीलकमल आदि चूर्ण मिश्रित दूध पिलाकर फिर उसी दूध के साथ उसे लाल शालि के चावलों का भात खिलायें, अथवा भोजन करने के पहले उसे मधु और चीनी मिलाकर मक्खन खाने लिए दें।

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः। त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा ॥७७॥

रक्तातिसार में मांसरस—कपिंजल (गौरैया) के मांसरस के साथ भोजन करने वाला रक्तातिसार का रोगी अथवा दूध से निकले हुए मक्खन को खाकर केवल दूध पीकर रह जाने वाला रोगी तीन दिन में ही रक्तातिसार रोग से छुटकारा पा जाता है। इसी प्रकार का एक योग ऊपर ७३ वें श्लोक द्वारा भी निर्दिष्ट है।

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग्जयेत्। रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥७८॥

शतावरी-प्रयोग—रक्तातिसार का रोगी शतावरी के कल्क को दूध के साथ पीकर केवल दूध का ही आहार करता हुआ रक्तातिसार को शीघ्र ही जीत लेता है अथवा शतावरी के कल्क तथा क्वाथ से पाक किये गये घी को पीने वाला उक्त रोगी रक्तातिसार से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम्। पेयं तस्यानु पातव्या पेया रक्तोपशान्तये ॥७९॥

इन्द्रयव-प्रयोग—इन्द्रजौ के कल्क से पकाये हुए गाय के घी को यवागू के मण्ड (मांड़) के साथ पीकर उसके बाद पेया को पीना चाहिए। इससे रक्तातिसार में आने वाला जीवरक्त रुक जाता है, अर्थात् रोगी रक्तातिसार से मुक्त हो जाता है।

त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च। पिप्पली शृङ्गबेरं च द्राक्षा कटुकरोहिणी ॥८०॥
षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम्। अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥८१॥

दार्व्यादिघृत—दारुहल्दी की छाल, इन्द्रजौ, पिप्पली, सोंठ, मुनक्का, कुटकी इन छः द्रव्यों को समभाग लेकर कल्क तैयार कर लें, इससे यथाविधि तैयार किये गये घी को पेया, मण्ड (मांड़) आदि में मिलाकर पीने से त्रिदोषज अतएव भयंकर अतिसार को भी यह घृत शीघ्र ही जीत लेता है।

वक्तव्य—इस 'दार्व्यादिघृत' का प्रयोग सभी प्रकार के अतिसारों में किया जा सकता है। **शृंगवेर**—यह आयुर्वेदोक्त द्रव्यगुण का सुपरिचित द्रव्य है। दोनों के प्रयोग तथा स्वरूप में स्पष्टतया भेद है। इसका मूल रूप अदरख (आर्द्रक) है और विधिपूर्वक सुखा लेने के बाद इसे ही सोंठ कहते हैं। इसके शरीर में सींग जैसे होते हैं, अतः इसे उक्त नाम से सम्बोधित किया गया है। दोनों की ही समान आकृति को देखकर 'भावमिश्र' ने अदरख तथा सोंठ को 'शृङ्गबेर' संज्ञा दी है। विचार यह करना है कि हमें यहाँ कौन-सा द्रव्य लेना चाहिए—'आर्द्रिका भेदिनी'। अदरख दस्तावर है। 'सङ्गृह्णाति मल शुण्ठी' अर्थात् सोंठ मल को रोकती है। अब आप जिसे प्रकरणोचित समझें, उसे लें। इस प्रसंग में कतिपय टीकाकारों ने 'शृंगबेर' का अर्थ 'अदरख' कर दिया था, अतः इतना लिखना पड़ा। देखें—भावप्रकाश, हरीतक्यादि प्रकरण ५ में शुण्ठी ४३-४७ और आर्द्रक ४८-५१।

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम्। पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसङ्ग्रहणं परम् ॥८२॥

कृष्णमृत्तिकादि योग—काली (चिकनी) मिट्टी, मुलेठी, शंखभस्म, बकरे का ताजा रक्त इन्हें मात्रानुसार समान भाग लेकर मधु मिलाकर तण्डुलोदक (चावल के धोवन) के साथ सेवन करने से अतिसार के साथ निकलने वाला रक्त शीघ्र ही रुक जाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि दूसरे (अज्ञातनामा किसी) टीकाकार के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—'रुधिरं शोणितम्, केचित् कुङ्कुममाहुः'। शंख की भस्म का प्रयोग अथवा शंख को घिसकर देने का भी प्रचलन कई परम्पराओं में देखा जाता है।

पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्भसा। रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥८३॥

रक्तातिसार में प्रियंगु-प्रयोग—धन्व (जांगल) देश के पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ रक्तशालि के चावलों का भात खाने वाला अतिसार का रोगी यदि प्रियंगु के फलों के कल्क में मधु मिलाकर उसे चावलों

के धोवन के साथ पीता है, तो शीघ्र ही रक्तातिसार के कारण निकलने वाले रक्तस्राव को जीत लेता है, अर्थात् इस योग से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः। आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥८४॥

काले तिलों का प्रयोग—एक भाग काले तिलों के कल्क में चार भाग चीनी (देशी चीनी) मिलाकर बकरी के दूध के साथ पीने से रक्तस्राव शीघ्र ही रुक जाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'शर्करापञ्चभागिकः' का अर्थ इस प्रकार किया है—'अत्र शर्करायाः पञ्चमेन भागेन कृष्णतिलदानम्'। आचार्यजतूकर्ण ने उक्त विषय को अपनी संहिता में इस प्रकार कहा है—'कृष्णतिलाञ्शर्करापादिकाञ्छागीपयसा', जतूकर्णसंहिता, अतिसार-चिकित्सा-प्रकरण। वास्तव में यही प्रसंगोचित अर्थ है। देखें—'कृष्णानां तिलानां कल्कः शर्करापञ्चभागिकः'।

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्। यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥८५॥

इन्द्रजौ का अन्य प्रयोग—वत्सकबीज (इन्द्रजौ) को १ पल (४ तोला) की मात्रा में लेकर उसका विधिवत् क्वाथ करके पीना चाहिए और जो पुरुष मांसरस के साथ लाल शालि के चावलों का भात खाता है, वह शीघ्र ही पित्तज जठरामय (अतिसार) को जीत लेता है।

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा। दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ॥८६॥

सफेद चन्दन का प्रयोग—चावल के धोवन के साथ घिसे हुए सफेद चन्दन को चीनी और मधु मिलाकर पीने से दाह, तृष्णा (प्यास), प्रमेह (पित्तज प्रमेह) तथा रक्तस्राव से रोगी मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—यह योग रक्तस्राव को रोकने के लिए सुप्रसिद्ध है। कुछ चिकित्सक यहाँ रक्तचन्दन के प्रयोग को प्रशंसा करते हैं, किन्तु **'कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्'**। देखें—शा० सं० पू० खं० अ० १।५३।

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते। सेचयेत् तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥८७॥

गुद-प्रक्षालन योग—बहुत बार मलत्याग करने के लिए प्रयत्न करने के कारण पित्तदोष से जिसका गुद-प्रदेश पक गया हो, उसे परवल की पत्ती और मुलेठी के शीतल क्वाथ जल से सेचन करें, अर्थात् गुद को धोयें अथवा टब में उक्त पानी डालकर उसके ऊपर रोगी को बैठायें, जिससे पित्तज दाह की शान्ति हो।

पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः। छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥८८॥

गुदपाक-हर योग—पित्तज अतिसार में गुदपाक हो जाने पर पञ्चवल्कल (बरगद की छाल, पीपल की छाल, गूलर की छाल, पाकर या पकड़ी की छाल, वेतस् की छाल), महुआ के पेड़ की छाल, इन सबकी छालों के रसों (क्वाथ) से अथवा ईख के रस से, घी से, बकरी या गाय के दूध में चीनी और मधु मिलाकर गुद को देर तक धोना चाहिए। इससे गुदपाक शान्त हो जाता है।

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा सर्पिष्कैः प्रलेपयेत्। एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥८९॥

प्रलेपन-प्रतिसारण—गुद को धोने के लिए जिन औषधयोगों का ऊपर विधान किया गया है, उन द्रव्यों का कल्क बनाकर उसमें घी मिलाकर गुदद्वार में लेप करें। अथवा उन्हीं द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके प्रतिसारण करना चाहिए।

वक्तव्य—प्रतिसारण—घिसना या औषधचूर्ण को बुरकना। यह क्रिया व्रण, दांत, जीभ, मुख आदि रोगों में भी की जाती है। अन्यत्र यह क्रिया लवण, सोंठ, मरिच आदि कटु द्रव्यों से की जाती है और यहाँ (गुदपाक में) विशिष्ट योग ऊपर दिया है। हमारे विचार से गुदपाक में उक्त चूर्ण को बुरक देना चाहिए, न कि घिसना चाहिए। प्रतिसारण को Dusting भी कहते हैं। वृद्धवाग्भट ने प्रतिसारण के स्थान पर अवचूर्णन शब्द का प्रयोग किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ११।२६।

धातकीलोध्रचूर्णैर्वा समांशैः प्रतिसारयेत्। तथा स्रवति नो रक्तं गुदं तैः प्रतिसारितम् ॥९०॥

पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति ।

धातक्यादि प्रतिसारण—धाय के फूलों तथा पठानीलोध की छाल के चूर्ण को समान भाग में लेकर गुद के ऊपर प्रतिसारण करे, ऐसा करने से पुनः रक्तस्राव नहीं होता है और जो गुद पक गया था वह पूर्ववत् हो जाता है और उसके कारण होने वाली वेदना शान्त हो जाती है।

यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणितेऽतिस्रवत्यपि ॥ ९१ ॥

गुदवङ्क्षणकटचूरु सेचयेद् घृतभावितम् । चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ॥९२॥
कार्पाससङ्गृहीतेन सेचयेद् गुदवङ्क्षणम् ।

अधिक रक्तस्राव की चिकित्सा—जैसा ऊपर कहा गया है, उन शीतल क्वाथ आदि का सेवन करने पर भी यदि रक्तस्राव अधिक हो रहा हो तो गुद, वंक्षण, कमर और ऊरु भाग पर घी की मालिश करके पुनः उक्त प्रकार से परिषेचन करना चाहिए। चरक-चिकित्सास्थान अ० ३।२५८ में कहे गये चन्दनादि तैल अथवा शतधौत (सौ बार धोये गये) घी को रुई से लेकर गुद के भीतर प्रवेश करा दे और उसी तैल अथवा घी को वंक्षण (ऊरुसंधि या पेडू और जाँघ के ऊपर का भाग) पर उससे सेचन करना चाहिए।

वक्तव्य—वंक्षण (ऊरुसन्धि) पर रखना हो तो तैल या शतधौत घी से रुई को भिगा लें और रोगी को लिटाकर दोनों ओर रखें। गुद के भीतर रखना हो तो लम्बा-सा रुई का फाहा बनाकर गुद के भीतर प्रवेश करा दें। इस शीतोपचार से रक्तस्राव रुक जाता है।

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ॥ ९३ ॥

यदा वायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा । पिच्छाबस्तिं सदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत् ॥९४॥
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ।

पिच्छावस्ति-प्रयोग—जब रक्तातिसार का रोगी थोड़ा-थोड़ा या बहुत-सा रक्त से मिला हुआ शूल के साथ मल का त्याग करने के लिए बैठता है, जब कोष्ठ (उदर-प्रदेश) में रुकी हुई वायु मल के साथ निकलती है, या नहीं निकलती, तब विधिपूर्वक उसे इसी अध्याय में कही गयी पिच्छावस्ति देनी चाहिए। उसके बाद पुण्डरियाकाठ को पीसकर बनाये हुए कल्क तथा इसी के क्वाथ से तैयार किये हुए घी से उक्त रोगी को अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः ॥ ९५ ॥
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ।

स्थानीय स्नेह-प्रयोग—प्रायः जिन अतिसार रोगियों के गुद या गुदवलियाँ बहुत समय से अतिसार होने के कारण दुर्बल हो गये हैं। इस कारण से बार-बार उनके गुद में स्नेह (तैल या घी) से भिगाया गया पिचु (फाहा) का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—स्नेहयुक्त पिचु को गुद के भीतर रखने से उन अवयवों में होने वाले वातविकार नहीं होते, वायु अनुलोम होता है और गुदवलियाँ सशक्त हो जाती हैं।

पवनोऽतिप्रवृत्तो हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम् ॥ ९६ ॥
बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थे वस्तिरुत्तमः ।

वस्ति-चिकित्सा का महत्त्व—अतिसार के अधिक हो जाने से वातदोष की अधिक प्रवृत्ति हो जाती है, तब वह वायु अपने स्थान (पक्वाशय) में अधिक बलवान् हो जाता है, उसके साथ पित्तदोष भी कुपित हो जाता है। अतः पित्तयुक्त वातदोष को जीतने के लिए वस्ति का प्रयोग करना सर्वोत्तम होता है।

वक्तव्य—वस्ति दो प्रकार की होती है—अनुवासन और निरूहण। ऊपर सभी वस्तियों को घी या तैल से देने का निर्देश दिया गया है, इसलिए हम इसे अनुवासनवस्ति स्वीकार करते हैं और निरूहणवस्ति कषाय, क्षार, तैल आदि के योग से दी जाती है। वस्ति द्रव्यों को देखकर इसका निर्णय कर लेना चाहिए। सफल वस्ति-प्रयोग उसे कहते हैं, जिसमें अपानवायु और मल के साथ वस्ति द्वारा दिया गया द्रव पदार्थ भी लौट आता है तथा कोई उपद्रव भी नहीं होता। वैसे भी वातनाशक चिकित्सा में वस्ति-प्रयोग को श्रेष्ठ माना गया है—'वस्तिर्वातहराणाम्'। च० सू० अ० २५।४०। यहाँ वस्ति के लिए किसी विशेषण का प्रयोग किया गया है, अतः उक्त वस्ति शब्द से अनुवासन और निरूहण दोनों प्रकार की वस्तियों का ग्रहण कर लेना चाहिए। कुछ टीकाकार केवल अनुवासनवस्ति का ग्रहण करते हैं।

हमारा विचार तो है कि यदि अनुवासन से कार्य-सिद्धि हो जाय तो ठीक है अन्यथा निरूहण का भी प्रयोग कर लें, क्योंकि हमें तो दोषों को निकालना है। इसलिए इस चिकित्सा को 'युक्तिव्यपाश्रय' की संज्ञा दी गयी है।

रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद् वा योऽतिसार्यते ॥ ९७ ॥
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ।

शतावरीघृत-प्रयोग—जिस अतिसार के रोगी के मल में पहले या मल निकल जाने के बाद रक्त आता हो, उसे शतावर के कल्क द्वारा तैयार किया गया घी चाटने के लिए देना चाहिए।

शर्कराधांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ॥ ९८ ॥
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ।

नवनीत-प्रयोग—अथवा जिस हितकर आहार करने वाले अतिसार के रोगी के मल में पहले या मल निकलने के बाद रक्त आता हो, तो उसे ताजा निकाले हुए मक्खन में आधा भाग चीनी और चौथाई भाग मधु मिलाकर चाटने के लिए दें। इस प्रयोग से शीघ्र ही वह उस रोग पर विजय प्राप्त कर लेता है।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ॥ ९९ ॥
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् । तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात् सक्षौद्रपादिकम् ॥१००॥
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ।

रक्तस्राव में घृत-प्रयोग—बरगद, गूलर, पीपल इन वृक्षों के ताजे अंकुरों को कूटकर गरम जल में डालकर एक दिन तथा एक रात रख दें। उस जल से घी को पकायें, घी के तैयार हो जाने पर उसे छानकर रख दें। इस घी को मात्रानुसार लेकर आधा भाग चीनी और घी तथा चौथाई भाग मधु मिलाकर जिसके गुदमार्ग से अथवा मुखमार्ग से रक्त का स्राव हो रहा हो, उस रोगी को चाटने के लिए दें।

यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात् पित्तलान्येव सेवते ॥ १०१ ॥
दारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ।

अरिष्ट-लक्षण-निर्देश—जो शरीर से कृश रक्तातिसार का रोगी मोह (मूर्खता अथवा अज्ञान) के कारण पित्त को बढ़ाने वाले खान-पान का ही सेवन करता रहता है, वह भयंकर रूप से गुदवलियों के पक जाने के कारण शीघ्र ही विपत्ति को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मर जाता है।

वक्तव्य—अर्शरोग-चिकित्सा-प्रकरण में गुदवलियों का विस्तारपूर्वक परिचय दिया है। अतिसार में भी वलियों में पाक हो जाता है। आधुनिक चिकित्सक संवरणी या अवरोधिनी वलि को 'Sphincter' कहते हैं।

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम् ॥ १०२ ॥
योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः ।

कफज अतिसार-चिकित्सा—कफज अतिसार वाले रोगी को सबसे पहले लंघन कराना चाहिए, तदनन्तर पाचन औषधयोगों का प्रयोग कराना चाहिए और आमातिसार-नाशक दीपनीयगण, जो पहले कहा जा चुका है, उसका भी प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—दीपनीयगण के लिए इसी अध्याय के श्लोक २६-२९ की टीका देखें, साथ ही च० सू० अ० ४।६-९ भी देखें।

लङ्घितस्यानुपूर्व्या च कृतायां न निवर्तते ॥ १०३ ॥

कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ।

चिकित्सा-सूत्र—कफज अतिसार के रोगी को लंघन कराने के बाद क्रमशः पाचनयोगों का उपयोग, आमातीसार-नाशक चिकित्सा तथा दीपन (अग्निवर्धक) योगों का सेवन कराने पर भी यदि कफज अतिसार शान्त नहीं होता है, तो आगे जिनका निर्देश किया जा रहा है, उन कफनाशक औषधों से चिकित्सा करें ।

बिल्वं कर्कटिका मुस्तमभया विश्वभेषजम् ।। १०४ ।।
वचा विडङ्गं भूतीकं धान्यकं देवदारु च । कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी ।।१०५।।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली । योगाञ्छ्लोकार्धविहितांश्चतुरस्तान् प्रयोजयेत् ।।
श्वृताञ्छ्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्धनान् ।

कफज अतिसारनाशक चार योग—१. बेल की गुद्दी, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, हरड़, सोंठ । २. बालवच, वायविडंग, भूतीक (अजवाइन), धनियाँ, देवदारु । ३. कूठ, अतीस, पाठा, चव्य, कुटकी । ४. पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, गजपिप्पली । आधे श्लोकों द्वारा कहे गये उक्त चार योगों का अलग-अलग क्वाथ करके कफज अतिसारों में प्रयोग करना चाहिए । ये जठराग्नि तथा शारीरिक बल को बढ़ाते हैं ।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर के अनुसार बिल्व और कर्कटिका दो भिन्न द्रव्य हैं । निर्णयसागरीय प्रति के अनुसार भी गंगाधर के मत का ही समर्थन हो रहा है । इसी के अनुसार हमने भी अर्थ किया है । वैद्यकनिघण्टु में 'बिल्वकर्कटिका' को एक द्रव्य मानकर उसका अर्थ 'कच्चे बेल का गूदा' किया है, किन्तु वृद्धवाग्भट ने इस झगड़े को मिटाते हुए उस स्थान पर 'बिल्वशलाटु' शब्द का निर्भ्रान्त प्रयोग किया है । देखें—अ० सं० चि० अ० ११।२७ । 'शलाटु' का अर्थ है—कच्चा फल । आप दोनों योगों का उपयोग करके देखें, किसका क्या फल होता है ।

अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च ।। १०७ ।।
धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसाप्लुतम् ।

अजाज्यादि चूर्ण—कालाजीरा (मंगरैला), पाठा, सोंठ, मरिच, इन द्रव्यों को एक-एक भाग लें, धाय के फूल को दो भाग लें, इन सबको कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण बना लें । मात्रा के अनुसार इसे बिजौरानीबू के रस के साथ सेवन करें ।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अजाजीमित्यादौ असितामिति पिप्पलीम्' । जतूकर्णे ह्ययं योगः—'पाठाऽजाजीव्योषफलपूरं धातकीद्विगुणम्' इत्युक्तः । ऐसा प्रतीत होता है कि यह दूसरा ही कोई स्वतन्त्र योग है । कुछ टीकाकार उक्त चूर्ण में मातुलुंग (बिजौरानीबू) के रस की भावना देने की चर्चा करते हैं । यह संग्रह करने की दृष्टि से उत्तम प्रकार है । मात्रा—२ माशा ।

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च ।। १०८ ।।
धातकीद्विगुणं दद्यात् पातुं सक्षौद्रनागरम् ।

रसाञ्जनादि चूर्ण—रसौत, अतीस, कुटज के फल (इन्द्रजौ) १-१ भाग, धाय के फूल २ भाग लेकर सब का एक साथ चूर्ण तैयार कर लें । इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार मधु और सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए ।

वक्तव्य—'पातुं दद्यात्' यह प्रयोग और 'सक्षौद्रनागरम्' पाठ विचार करने के लिए बाध्य करते हैं । क्षौद्र=मधु और नागर=सोंठ—इन दोनों का परिमाण भी नहीं दिया है । अतः यहाँ यदि हम सोंठ को ऊपर चूर्ण के साथ मिलाने की योजना करते हैं, तो इस चूर्ण को पीने के लिए अलग से गुनगुने पानी की आवश्यकता पड़ेगी । अथवा सोंठ का क्वाथ करके उसे ठंडा कर लें, तब उसमें मधु मिलाकर पीने के लिए दें, अथवा पीने का अर्थ चाटना माना जाय । इसका निर्णय चिकित्सकाधीन है । चूर्ण की मात्रा २ माशा ।

धातकी नागरं बिल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम् ।। १०९ ।।
जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला ।

समङ्गा धातकी बिल्वमध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचः ।। ११० ।।
कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ।
चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान् कफोत्तरे ।। १११ ।।
श्लोकार्धविहितान् दद्यात् सस्नेहलवणान् खडान् ।

कफज अतिसार में योग—१. धाय का फूल, सोंठ, बेल की गुद्दी, पठानीलोध, कमल केशर । २. जामुन की छाल, सोंठ, धनियाँ, पाठा, मोचरस, बरियारा की जड़ । ३. समंगा (लाजवन्ती या मजीठ), धाय के फूल, बिल्वमध्य (कच्चे बेल का गूदा), जामुन की छाल, आम की छाल । ४. कैथ, वायविडंग, सोंठ, काली-मिर्च, इनका कपड़छन चूर्ण करके चांगेरी स्वरस, झड़बेर का रस अथवा मठा की भावना देकर इन्हें सुरक्षित रख लें, आधे श्लोकों द्वारा कहे गये इन चार योगों का प्रयोग कफ प्रधान अतिसार में करना चाहिए । तदनन्तर घी और सैंधानमक मिलाकर खडयूषों का प्रयोग करें ।

वक्तव्य—'खडयूष' का परिचय चक्रदत्त-अतिसारचिकित्सा श्लोक, २८-२९ में देखें ।

कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम् ।। ११२ ।।
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ।

कपित्थादि चूर्ण—कच्चे कैथ को सुखायी हुई गुद्दी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, तदनन्तर इसकी एक मात्रा लेकर मधु तथा चीनी के साथ चाटे अथवा कायफल के चूर्ण को मधु के साथ चाटे । इन योगों का सेवन करने से मानव उदररोग (अतिसार) से मुक्त हो जाता है । चूर्ण मात्रा—१ माशा ।

कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ।। ११३ ।।
जग्ध्वा वा बालबिल्वानि मुच्यते जठरामयात् ।

पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पली का चूर्ण ३ रत्ती मधु के साथ मिलाकर चाटें, उसके बाद चित्रक चूर्ण १ माशा मठा में मिलाकर पी लें, अथवा कच्चे बेल की गुद्दी को खायें, इन प्रयोगों से मनुष्य उदररोग (अतिसार) से मुक्त हो जाता है ।

वक्तव्य—बालबिल्व अर्थात् बेल की कच्ची गुद्दी को खाने का जो विधान तन्त्रकार ने किया है, इसी दृष्टिकोण से आजकल अतिसार, रक्तातिसार या पेचिश में बेल का मुरब्बा खिलाया जाता है, लाभ भी होता है ।

सचित्रकं तक्रं पीत्वा—यह अनुपान किसी प्रकार के भी रक्तातिसार में सेवन कराया जा सकता है । चित्रक तथा तक्र के गुण-धर्मों को देखें ।

बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम् । लिह्याद् वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ।।११४।।
भोज्यं मूलकषायेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः । वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ।।११५।।

बालबिल्व-प्रयोग—वायु के प्रतिलोम हो जाने पर जब शूल के साथ प्रवाहिका (पेचिश) हो रही हो अर्थात् बार-बार मलत्याग करने की इच्छा होने पर आँव युक्त थोड़ा-थोड़ा मल शूल (ऐंठन) के साथ निकलता हो, तो उक्त रोगी कच्चे बेल की गिरी को पीसकर उसमें पिप्पली, सोंठ का चूर्ण मिलाकर गुड़ और तिल के साथ चाटे । भोज्य पदार्थ (पुराने लाल शालिचावलों का भात) को मूली के यूष से तथा वातनाशक औषध द्रव्यों के क्वाथजल से तैयार किये गये उपसेवनों (व्यञ्जनों) से तथा जो वातज अतिसार में यूष, मांसरस, खडयूष कहे गये हैं, उनके साथ खिलायें ।

वक्तव्य—बालबिल्व सदा कच्चा नहीं मिल पाता, ऐसे अवसर पर सूखा लेकर उसका उपयोग करें ।

पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम् । पुराणं वा घृतं दद्याद् यवागूमण्डमिश्रितम् ।।११६।।

अतिसार में घृतपान—श्लोक ४३ में कहा गया अम्लसर्पि (चाङ्गेरी घृत), अथवा षट्पलघृत (च० चि० अ० ५।६७ चि० अ० ५।१४७-१४८ में कहा गया 'क्षीरषट्पलक घृत, और एक 'षट्पल घृत' की सूचना च० चि० अ० ५।६७

में मिलती है, उसका खोजपूर्ण उत्तर हमने 'चरक-चन्द्रिका टीका' के वक्तव्य में दिया है, उसे भी देखें। अथवा १० वर्ष पुराना घी यवागू के माँड में मिलाकर पीने के लिए दें।

वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि । शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्तिं प्रयोजयेत् ॥

पिच्छावस्ति-प्रयोग—वात तथा कफ की रुकावट होने पर अथवा कफदोष (Mucus) के अत्यधिक निकलने पर, उदरशूल (मरोड़) अथवा प्रवाहिका हो तो इसी प्रकरण में कही गयी पिच्छावस्ति का प्रयोग करें।

पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि । कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत् ॥११८॥

पिच्छावस्ति के द्रव्य—पूर्वोक्त (११७ श्लोक की) स्थिति में निम्नलिखित द्रव्यों द्वारा पिच्छावस्ति को तैयार कराकर प्रयोग कराना चाहिए। पिप्पली, बेल की गुद्दी, कूठ, सोया, वालवच—इन द्रव्यों का कल्क बनाकर उसमें नमक मिलाकर वस्ति देनी चाहिए।

प्रत्यागते सुखं स्नातं कृताहारं दिनात्यये । बिल्वतैलेन मतिमान् सुखोष्णेनानुवासयेत् ॥११९॥

अनुवासनवस्ति-प्रयोग—उपर्युक्त द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी पिच्छावस्ति का प्रयोग करने के कुछ समय बाद मल सहित पिच्छावस्ति में दिये गये द्रव्य बिना किसी उपद्रव के लौट आयें, तब उस रोगी को स्नान कराकर दिनात्यय (मध्याह्न के बाद) पथ्य आहार खिलाकर विश्राम कराये। दूसरे दिन बुद्धिमान् चिकित्सक गुनगुने बिल्वतैल द्वारा उसे अनुवासनवस्ति दें।

वक्तव्य—बिल्वतैल का योग च० सि० अ० ४।४-६ में दिया गया है।

वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् । बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम् ॥१२०॥

अन्य अनुवासन-योग—यदि अतिसार का रोगी कफदोष तथा वातदोष से अधिक पीड़ित हो, तो ऊपर श्लोक ११८ में कहे गये पिप्पली, बेल की गुद्दी, कूठ, सोया तथा वालवच—इन पाँच द्रव्यों को तन्त्रकार ने 'वचान्त' कहा है—इनके कल्क से तिलतैल का विधिवत् पाक करके उस तेल को छानकर रख लें। इस तेल से उक्त रोगी को अनुवासनवस्ति दें। इससे उसकी कफ तथा वातविकार के कारण होने वाली पीड़ाएँ दूर होती हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'बहुशः' का अर्थ बहुतायत के साथ है, कभी नहीं भी होता है; ऐसी स्थिति में चिकित्सक लाभ होने में बाधक कारणों का विचार कर उनका प्रतिकार करने का प्रयत्न करे।

स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसङ्क्षये । स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥१२१॥

वात-चिकित्सा-निर्देश—कफ के क्षय हो जाने पर अथवा कफनाशक चिकित्सा के प्रभाव से अपने स्थान (पक्वाशय) में स्थित वायु की निश्चित वृद्धि हो जाती है, वह सहसा बढ़ी हुई वायु उस रोगी का शीघ्र ही विनाश कर सकती है, इसलिए उस पर शीघ्रता से विजय प्राप्त करे।

वातस्यानु जयेत् पित्तं, पित्तस्यानु जयेत् कफम् । त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः ॥

सन्निपातज अतिसार-चिकित्सा—सन्निपातजनित अतिसार रोग में सर्वप्रथम किस दोष की चिकित्सा करनी चाहिए, इसका सामान्य निर्देश करते हुए तन्त्रकार कह रहे हैं—सबसे पहले वातदोष को जीतना चाहिए, उसके बाद पित्तदोष को, तदनन्तर कफदोष को, अथवा इन तीनों में से पहले उस दोष को जीतना चाहिए जो उस रोगी में सबसे बलवान् दिखलायी दे रहा हो।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने यहाँ दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—पहला शास्त्रीय पक्ष और दूसरा व्यावहारिक पक्ष। शास्त्रीय पक्ष में दोषों को अपने स्थान से इधर-उधर ले जाने आदि में वायु का प्रमुख देखा-सुना जाता है। वात, पित्त, कफ दोषों का यह भी अपना एक क्रम है। व्यावहारिक पक्ष में चिकित्सक को दोषों को अंशांशकल्पना करके प्रथम निदान तदनन्तर चिकित्सा करनी चाहिए। यहाँ **'यो भवेद् बलवत्तमः'** जो दोष सबमें अधिक बढ़ा हुआ हो उसकी पहले चिकित्सा करने का निर्देश दिया है। ऐसे ही अवसरों पर चिकित्सक की कुशलता की परीक्षा होती है।

महर्षि सुश्रुत का विचार इस प्रकार है—'समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत् । ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्राऽप्यत्र मारुतम्' ॥ सु० उ० अ० ४०।१६१ । इस पद्य की टीका करते हुए आचार्य डल्हण लिखते हैं—'यद्यपि ज्वरचिकित्सिते 'शमयेत् पित्तमेवादौ' इत्यादिना ज्वरे दोषाणां समवाये पूर्वं पित्तमुपाचरेदिति प्रोक्तं, तथाऽप्यत्र 'ज्वरे चैव' इति पुनर्यदुक्तं तज्ज्वरेऽतिशयेन पूर्वं पित्तमुपाचरेदिति प्रतिपादनार्थम् । ये च तन्त्रान्तरीया अतिसारे पूर्वं वातोपक्रममिच्छन्ति तेषामभिप्रायः—यत्रातीसारे कफवातसमवायः स्यात् तत्र पूर्वं वातमुपाचरेत्, यस्मात् पाचनेन आमकफक्षयाद् वायोर्वृद्धिः' । सुश्रुतोक्त पद्य का विशेष कर ज्वरचिकित्सा में ही पित्त को शान्त करने का आग्रह है। परिस्थिति के अनुसार अतिसार चिकित्सा में भी प्रथम पित्त की शान्ति को जा सकती है। श्रीडल्हण का यह समाधान अत्यन्त रुचिकर है।

तत्र श्लोकः—

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च ।
क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टा ह्यतिसारिणाम् ॥ १२३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थानेऽतिसारचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में एक श्लोक है—इस अतिसार-चिकित्सित नामक अध्याय में सर्वप्रथम अतिसार रोग की उत्पत्ति का इतिहास, उसके कारण, लक्षण, साध्यता, असाध्यता रोग के लक्षणानुसार उनकी प्रत्येक अवस्था की सिद्ध (निश्चित रूप से लाभ करने वाली) चिकित्साओं का निर्देश कर दिया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में अतिसारचिकित्सित नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अतिसार-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से छर्दि-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—छर्दि—यह शब्द 'छर्द वमने' धातु से 'इन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इसके अन्य रूप इस प्रकार हैं—'छर्दः, छर्दनं, छर्दिः, छर्दिका, ये सभी समानार्थक हैं। शरीर में मल निकलने के दो मार्ग मुख्य रूप से कहे गये हैं। अतः अधोमार्ग से निकलने वाले अतिसार का वर्णन करने के बाद अब ऊपर मुख-मार्ग से निकले वाली कै, उल्टी, वमन या छर्दि रोग की यहाँ प्रस्तावना की जा रही है। किन्तु माधवनिदान की मधुकोश टीका के रचयिता ने अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है—'छर्द्यामप्यरुचेर्भावात् तथाऽरोचकवत् पञ्चविधत्वादरोचकानन्तरं छर्दिः । इस दृष्टि से अन्य संहिताओं का भी अवलोकन कर लें, क्योंकि सबके सिद्धान्त तथा दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं।

छर्दि की निरुक्ति—छर्दि निदानोक्त कारणों से जब दोष सहसा उत्क्लेश को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् उभड़ जाते हैं, तब वे भीतरी मुखमण्डल को आच्छादित कर तथा अंग-प्रत्यंगों को पीड़ित करते हुए मुख द्वारा

बाहर निकल जाते हैं, इसी को छर्दि कहते हैं। देखें—सु० उ० अ० ४९।५-६। और भी ध्यान दें—'छादयति मुखम्, अर्दयति, चाङ्गानीति छर्दिः। छद अपवारणे, अर्दहिंसायाम्, अनयोः पृषोदरादित्वेन। रूपसिद्धिः'। देखें—मधुकोष टीका।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० २०। सु० उ० अ० ४९। अ० सं० नि अ० ५। अ० सं० चि० अ० ८। अ० हृ० नि० अ० ५। अ० हृ० चि० अ० ६।

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युतिभ्यां ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम्।
पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं पप्रच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः॥ ३॥
याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ!।
तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम्॥ ४॥

अग्निवेश के प्रश्न—ब्रह्मज्ञान तथा तपस्या द्वारा अर्जित कान्ति से जलती हुई अग्नि एवं सूर्य के सदृश प्रभावशाली समस्त प्राणियों के हित में तत्पर यशस्वी आत्रेय पुनर्वसु से उनके शिष्य महर्षि अग्निवेश ने पूछा—चिकित्सकों में श्रेष्ठ गुरुवर्य्य! आपने जो रोगाधिकार (च० सू० अ० १९ अष्टोदरीयाध्याय) में 'पञ्च छर्दयः' पहले कहा था, उनका निदान, लक्षण एवं चिकित्सा का विधिवत् उपदेश मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए करने की कृपा करें।

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद।
याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्तास्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध॥ ५॥

पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर—उपर्युक्त प्रकार से अग्निवेश के वचनों को सुनकर प्रसन्न तथा भिषक् समाज में श्रेष्ठ पुनर्वसु आत्रेय ने यह कहा—पहले 'अष्टोदरीयाध्याय' में मैंने जिन पाँच छर्दियों की गणना मात्र की थी, उनका मैं यहाँ विस्तार से वर्णन कर रहा हूँ, उसे भली-भाँति समझो।

दोषैः [1]पृथक्त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्।

छर्दि के पाँच भेद—वात आदि दोषों से—१. वातजा, २. पित्तजा, ३. कफजा, इन तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाली और ४. सन्निपातजा एवं ५. द्विष्ट (अप्रिय) वस्तु आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाली मानी जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने छर्दि के भेद इस प्रकार किये हैं—जिस छर्दि में सभी दोषों के लक्षण दिखलायी देते हैं, उसे सन्निपातज समझना चाहिए। १. बीभत्सजा (घृणित पदार्थों के दर्शन से उत्पन्न होने वाली), २. दौर्हृदजनित (गर्भावस्था के कारण), ३. आमजनित, ४. सात्म्यप्रकोपज, ५. कृमिज। देखें—सु० उ० अ० ४९।१२। माधवकर ने इन्हें आगन्तुज छर्दि कहा है।

द्विष्टार्थयोग—अर्थात् जिन-जिन विषयों से द्वेष हो, उन-उन से संयोग हो जाने पर भी छर्दि (वमन, कै, उलटी) हो जाती है। यदि द्विष्टार्थयोग रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रूप में होता देखा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को किसी वस्तु आदि से द्वेष हो गया हो तो उसे उस व्यक्ति या वस्तु मात्र को देखने से वमन हो जायेगा।

तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम्॥ ६॥

छर्दि के पूर्वरूप—हृदय का उत्क्लेश (उत्+क्लिश्+घञ्) जी मिचलाना, मुख से कफ या लार का बहना, भोजन के प्रति द्वेष (अरुचि)—ये इसके पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—माधवकर ने इसके पूर्वरूपों का वर्णन इस प्रकार किया है—जी मिचलाना, डकारों में रुकावट, मुख से पतली एवं नमकीन लार का चूना, खान-पान के प्रति द्वेष का होना, ये सभी प्रकार के वमनों के पूर्वरूप कहे गये हैं। देखें—माधवनिदान-छर्दिप्रकरण १५।

१. 'पृथक् त्रिप्रभवा चतुर्थी' इति पा०।

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्शितस्य।
[1]वायुर्महास्रोतसि सम्प्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन्॥ ७॥
आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत् तु।

वातज छर्दि-निदान—अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषधद्रव्यों का सेवन, शोक, रोग, भय, उपवास आदि से जो व्यक्ति अत्यधिक कृश (दुर्बल) हो जाता है, उसके महास्रोतस (अन्नवहस्रोतस) में कुपित वायु उसमें रहने वाले दोषों को उत्क्लेशित (उभाड़) कर ऊपर की ओर फेंक देती है।

सम्प्राप्ति—दोषों को ऊपर की ओर फेंकते समय उत्क्लेश हो जाने के कारण मर्म (हृदय) प्रदेश को पीड़ित करती हुई वायु वमन रोग को उत्पन्न कर देती है।

वक्तव्य—उत्क्षेपण, अधःक्षेपण आदि वायु के कर्म कहे गये हैं। अतः यहाँ भी वायु के कुपित होने के कारण ही आमाशय में विपरीत क्रिया होने लगती है, फलस्वरूप जिस अन्न को क्रमशः पक्वाशय की ओर जाना चाहिए था, वह अब प्रकुपित वायु के कारण आमाशय की ओर आकर मुख से बड़े वेग के साथ बाहर निकल जाता है। इसी को छर्दि या वमन कहते हैं। नीचे पाठभेद दिया गया है, उसके अर्थ का भी अनुसन्धान इस प्रसंग में कर लेना चाहिए।

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्धनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः॥ ८॥
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम्॥ ९॥

वातज छर्दि के लक्षण—वह कुपित वायु हृदय तथा पसलियों में पीड़ा, मुख सूखना, मूर्धा (मस्तिष्क) तथा नाभि में पीड़ा, कास, स्वरभेद तथा शरीर में सुई चुभने की-सी पीड़ा पैदा कर देती है, इसमें डकार का शब्द जोरदार होता है, वमन में निकलने वाले द्रव्य के साथ झाग निकलता है, वमन द्रव्य बिखरा-सा होता है, उसका वर्ण काला होता है, वह द्रव पतला तथा स्वाद में कसैला होता है। वमन अत्यन्त वेग के साथ तो होता है, किन्तु उसमें थोड़ा-सा पदार्थ बड़े कष्ट के साथ बाहर निकलता है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त वातज छर्दि के लक्षण भी देख लें। सु० उ० अ० ४९।९।

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्।
रसायनीभिर्विसृतं प्रपीडय मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति॥ १०॥

पित्तज छर्दि : निदान एवं सम्प्राप्ति—अजीर्ण (भोजन के भली-भाँति न पचने) से, कटु तथा अम्ल रसों, विदाहकारक एवं उष्ण आहारद्रव्यों के अधिक सेवन करने से बढ़ा हुआ पित्त आमाशय में पहुँचकर इकट्ठा होता है। इस प्रकार पित्त के बढ़ जाने के कारण उसका वेग भी बढ़ जाता है। यह बढ़ा हुआ पित्त रसवाहिनियों द्वारा फैलकर ऊपर की ओर जाकर मर्म (हृदयप्रदेश) को पीड़ित करता हुआ वमन को कराता है।

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत् सदाहम्॥ ११॥

पित्तज छर्दि के लक्षण—मूर्च्छा (बेहोशी), प्यास की अधिकता, बार-बार मुख का सूखना, मस्तिष्क (शिर), तालु, आँख, इनमें जलन का होना, आँखों के सामने अन्धकार का छा जाना, चक्करों का आना तथा इन रोगों से पीड़ित होना, वमन द्वारा आमाशय से जो पदार्थ निकलते हैं, उनका वर्ण पीला, हरा तथा धूम्र होता है, वह स्पर्श में उष्ण (गरम), स्वाद में तिक्तरस-प्रधान होता है और वमन करते समय रोगी के गले में दाह (जलन) होती है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त पित्तज छर्दि के लक्षण भी देख लें। सु० उ० अ० ४९।१०।

१. 'क्रुद्धो महास्रोतसि मातरिश्वा दोषान्समुत्क्लिश्य तदूर्ध्वमस्यन्। आमाशयोद्रेककृतां च मम प्रपीडयन् छर्दिमुदीरयेच्च॥' इति पा०।

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः ।
उरः शिरो मर्म रसायनीश्च सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥ १२ ॥

कफज छर्दि : निदान एवं सम्प्राप्ति—स्निग्ध (घी तथा तेल से युक्त), अत्यन्त गुरु (देर में पचने वाले अथवा मात्रा में अधिक), आम (कच्चे), विदाही (जलन पैदा करने वाले) खान-पान के पदार्थों से तथा दिन में सोने आदि के कारण अत्यन्त बढ़ा हुआ कफदोष छाती, सिर के मर्मों तथा रसवाहिनियों को घेरकर या ढँककर कफज छर्दि को उत्पन्न कर देते हैं।

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः ।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद् विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत् तु ॥ १३ ॥

कफज छर्दि के लक्षण—तन्द्रा (उँघाई), मुख का मीठापन, निरन्तर लार का चूना, सन्तोष (बिना खाये हुए पेट का भरा हुआ-सा प्रतीत होना), हर समय नींद लगी है ऐसा प्रतीत होना, अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा का होना), शरीर में भारीपन, इन कारणों से पीड़ित होना, वमन में जो पदार्थ मुख से बाहर निकलता है, वह चिकना, गाढ़ा, मधुर स्वाद युक्त तथा शुद्ध कफ के रूप वाला होता है। इस कफज छर्दि (वमन) के होते समय रोगी को रोमांच होता है और वातज एवं पित्तज छर्दियों से इसमें कम वेदना होती है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त कफज छर्दि के लक्षण भी देख लें। सु० उ० अ० ४९।११।

समश्नतः सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च ।
सर्वे प्रकोपं युगपत् प्रपन्नाश्छर्दि त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः ॥ १४ ॥

सन्निपातज छर्दि : निदान एवं सम्प्राप्ति—जो व्यक्ति पथ्य-अपथ्य का विचार न करते हुए भोजन में सभी रसों का एक साथ निरन्तर प्रयोग करता रहता है, जिसे आयुर्वेदीय परिभाषा की दृष्टि से समशन कहते हैं, उससे, आमदोष के उभड़ने से, ऋतु-विपर्यय (ग्रीष्म ऋतु में गर्मी का न होना, वर्षा ऋतु में वर्षा का न होना इन लक्षणों का किसी अन्य ऋतु में होना) होने से सभी (वात, पित्त, कफ) दोष एक साथ प्रकुपित होकर त्रिदोषज छर्दि को पैदा कर देते हैं।

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने **'समश्नतः'** शब्द की टिप्पणी करते हुए लिखा है—'समश्नतः—सर्वरसानिति पथ्यापथ्यमेकरूपतया भजतः'। उक्तं हि—'पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्'। च० चि० अ० १५। २३५। सुश्रुत में समशन की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्'। सु० सू० अ० ४६।५०८। अन्यत्र समश्नतः का अर्थ केवल भोजन करना भी होता है।

सर्वरसान्—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्'। च० सू० अ० २५।४०। भोजन में सभी रसों की उपलब्धि प्रशंसनीय होती है। वही पूर्ण भोजन भी है। इस प्रकार का भोजन स्वास्थ्यवर्धक होता है। किन्तु यहाँ 'सर्वरसान् समश्नतः' इस प्रकार का अन्वय हो जाने से शब्दों में अन्तर न आने पर भी भोज्यपदार्थों के पथ्यापथ्य प्रयोग के कारण ही उक्त विपरीतता आ गयी है।

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् ।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥ १५ ॥

सन्निपातज छर्दि रोग के लक्षण—उदर में शूल (ऐंठन, चुभन) का होना, भोजन का समुचित रूप से न पचना, भोजन के प्रति अनिच्छा, दाह होना, प्यास का लगना, श्वास की गति में तीव्रता आना तथा प्रमोह (बेहोशी)—ये लक्षण सन्निपातज छर्दि में अधिक प्रबल हो जाते हैं। वमन द्वारा निकला पदार्थ त्रिदोषज होने के कारण नमकीन, अम्ल (खट्टा), नीले वर्ण का, गाढ़ा, उष्ण तथा रक्त मिश्रित दिखलायी देता है।

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति ।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ १६ ॥
विण्मूत्रयोस्तत् समवर्णगन्धं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम् ।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात् तयार्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ १७ ॥

असाध्य छर्दि रोग की स्थिति—प्रकुपित वायु जब मलवह, स्वेदवह, मूत्रवह तथा अम्बुवह स्रोतों की गति को रोककर ऊपर की ओर आ जाती है, तब जिस व्यक्ति के शरीर में इकट्ठे हुए ये दोष उभड़ जाते हैं, उन्हें वह कुपित वायु कोष्ठ से निकालकर ऊपर की ओर ले जाती है। इस स्थिति में वमन के साथ निकले हुए उस द्रव्य में मल-मूत्र के सदृश वर्ण तथा गन्ध भी होती है। ऐसा वह रोगी प्यास, श्वास, हिक्का (हिचकी) से निरन्तर कष्ट पाता रहता है। जब उसे वमन होता है, तो वह अत्यन्त वेग के साथ होता है। उस वमन वेग से पीड़ित रोगी शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।
यच्छर्दयेत् तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥ १८ ॥

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि—जिसके प्रति द्वेष हो गया हो, जो मन के विपरीत हो, अपवित्र हो, दुर्गन्धित हो, जो अमेध्य (धारणाशक्ति का विनाशक) हो, बीभत्स (घृणित) हो, ऐसी गन्धों को सूँघने तथा भोजनों के दर्शन से जिसका मन दुःखी हो जाता है, फलतः जो वमन करने लगता है, उसे द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि कहते हैं।

वक्तव्य—चरक ने द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि रोग को पाँचवाँ माना है। द्विष्ट का अर्थ होता है—द्वेष युक्त, विरोधी, घृणित, अप्रिय। अर्थ=विषय, इनके संयोग से उत्पन्न होने वाली अप्रियता छर्दि को उत्पन्न करने में कारण होती है। ऊपर गन्ध, अशन, दर्शन, मन इनके द्विष्ट विषयों के संयोग को प्रधानता दी गयी है। जैसे—नासिका का विषय गन्ध है, यह गन्ध सुगन्ध तथा दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार की होती है। दुर्गन्ध से प्रायः सभी को द्वेष होता है, कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी निश्चित सुगन्ध से किसी-किसी का द्वेष भी देखा जाता है, वहाँ वह सुगन्ध भी छर्दि का कारण हो जाती है। ऐसी ही एक छर्दि मोटर (Bus) द्वारा की जाने वाली पर्वतीय यात्राओं में भी होती है, जिसमें प्रधान कारण होता है—पेट्रोल या डीजल की दुर्गन्ध या बाहर की ओर देखने से चक्करों का आना। अशन=भोजन इसका स्वाद लेना रसनेन्द्रिय का विषय है। किसको कौन-सा रस प्रिय है और उसे किससे द्वेष है, उसके अनुसार छर्दि की उत्पत्ति मानी जा सकती है। दर्शन=नेत्र, इसका विषय है—देखना। इनका प्रेम तथा द्वेष अपने ढंग का होता है, किसकी आँख किससे प्रेम करेगी और किससे द्वेष, इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति की रुचि पर निर्भर है और यही स्थिति मन की भी है। इस प्रकार द्विष्ट अर्थ के संयोग से होने वाली छर्दि का विस्तृत परिचय दे दिया गया है।

सुश्रुत ने गर्भजा या दौर्हृदजा, आमदोषजा और कृमिजा छर्दियों को पृथक् स्वीकार किया है। चरक के द्विष्टार्थसंयोगजा छर्दि में 'दौर्हृदजा छर्दि' का अन्तर्भाव हो जाता है और त्रिदोषज छर्दि में आमदोषजा छर्दि समा जाती है। कृमिजा छर्दियों में कृमिरोग के लक्षण प्रधान रूप से होते हैं, अतः स्वतन्त्र न होने के कारण इनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

आधुनिक दृष्टि से गर्भिणी स्त्री को होने वाली सामान्य कै को 'Morning sickness' कहते हैं और यही कै जब उग्ररूप धारण कर लेती है, तब इसे 'Hyperemesis gravidarum' कहते हैं। साधारण स्थिति में होने वाले अधिक वमन को भी 'Hyperemesis' कहते हैं।

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रवृद्धा सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च ॥ १९ ॥

असाध्य छर्दिरोग—छर्दि रोगी यदि शरीर से कृश हो गया हो, छर्दि के वेग अत्यन्त तीव्र गति से आ रहे हों, जो उपद्रवों से युक्त हो, जिसमें रक्त तथा पूय (मवाद) मिला हो और जिसमें चन्द्रिकाएँ दिखलायी दे रही हों, उस छर्दि को असाध्य कहते हैं। यदि उक्त रोगी में उपद्रव न दिखलायी दें तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए और जिन्हें साध्य कहा गया है, उनकी भी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—'सोपद्रवा' छर्दि के उपद्रवों का वर्णन माधवकर ने इस प्रकार किया है—'कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्यमेव च। हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः' ॥ माधवनिदान, छर्दिनिदान १५। 'सचन्द्रिकाम्'—ये चन्द्रिकाएँ शरीरज धातु वसा के निकलने से दिखलायी देती हैं। यह भी इसकी असाध्यता में एक प्रमुख कारण है।

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् ।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ २० ॥

छर्दिरोग-चिकित्सा—सभी प्रकार की छर्दियाँ (वमन रोग) आमाशय-जनित उत्क्लेश से उत्पन्न होती हैं। इसलिए सबसे पहले इस रोग में लंघन ही करना चाहिए। वातज छर्दिरोग को छोड़कर अन्य कफज तथा पित्तज छर्दिरोगों में कफ एवं पित्तनाशक संशोधन (वमन-विरेचन) करने चाहिए।

वक्तव्य—संशोधन की दृष्टि से कफनाशक वमन तथा पित्तनाशक विरेचन सर्वोत्तम चिकित्सा प्रकार हैं। वातज विकारों में विशेषतः वातज छर्दि में लंघन का निषेध इसलिए किया गया है कि लंघन करने से वातदोष की वृद्धि होती है, वही स्थिति वमन-विरेचन की भी है। केवल बलवान् रोगी को ही लंघन कराना चाहिए। वाग्भट ने चरक के शब्दों का अनुसरण करते हुए लिखा है—'आमाशयोत्क्लेशभवाः प्रायश्छर्द्यो हितं ततः। लङ्घनं प्रागृते वायोर्वमनं तत्र योजयेत्' ॥ अ० हृ० चि० अ० ६।१। यही मत सुश्रुत का भी है—'आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वास्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु' ॥ सु० उ० अ० ४९।१५। विशेष विवेचन उक्त प्रकरणों में यथास्थान देखें।

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि ।
मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम् ॥ २१ ॥

छर्दि में हरीतकी-प्रयोग—छर्दिरोग में विरेचन कराने के लिए हरड़ के चूर्ण को मधु के साथ चाटें। इसके अतिरिक्त और भी जो हृदय के लिए हितकर द्रव्य हों, उनका प्रयोग मद्य के साथ या दूध के साथ करना चाहिए। ये प्रयोग ऊपर की ओर को प्रवृत्त दोष को नीचे (गुदमार्ग) की ओर ले जाते हैं।

वक्तव्य—ऊपर तन्त्रकार ने हरीतकी के अतिरिक्त किसी अन्य हृद्य विरेचन को देने का संकेत किया है। यथा—इसबगोल। गुण-धर्म का परीक्षण आप भी कर लें। वमन एक अस्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और मल के रूप में उस दोषसमूह का निकलना स्वाभाविक प्रवृत्ति का स्वरूप है। अतः उक्त हरीतकी-प्रयोग उस उभड़े हुए दोष को ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर अनुलोम कर देता है। इसी विषय को वाग्भट ने इस प्रकार कहा है—'ततो विरेकं क्रमशो हृद्यं मद्यैः फलाम्बुभिः। क्षीरैर्वा सह सद्यूर्ध्वगतं दोषं नयत्यधः' ॥ अ० हृ० चि० अ० ६।२।

वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद् वा यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् ।
रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥ २२ ॥

छर्दि में वमन-प्रयोग—अथवा वल्लीफल (ककड़ी, खीरा, तरबूज, लौकी, तोरई, घिया या नेनुआँ, कडुतुम्बी आदि) के बीजों के साथ वमनकारक द्रव्यों का प्रयोग करे और जो दुर्बल रोगी हो, उसकी दोष शामक (संशमन) चिकित्सा करे। इसमें विविध प्रकार के मन को अच्छे लगने वाले सुपाच्य मांसरसों, रुचिकर सूखे भक्ष्य-भोज्यों तथा विविध पेय पदार्थों का सेवन कराकर चिकित्सा करानी चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने भी 'वल्लीफल' शब्द का प्रयोग किया है। 'कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेद् वल्लीफलानि वा'। सु० चि० अ० १४।८ तथा रा० नि० व० ११। यद्यपि **'वल्लीफल'** नाम से अनेक फलों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किन्तु यहाँ उन्हीं का ग्रहण अपेक्षित है, जिनके बीज वामक होते हैं। जैसे—कडुआ नेनुआ और कुडतुम्बी (तितलौकी)।

शमनैश्चिकित्सेत्—शमन द्रव्यों की परिभाषा—'न शोधयति यद् दोषान् समान् नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान्शमनं तद् यथाऽमृता' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।२। ध्यान दें—दोषों का शमन अनेक प्रकार से होता है—दीपन, पाचन, लंघन, प्यासा रहना, व्यायाम करना, आतप-सेवन तथा वायु-सेवन।

निष्कर्ष—बलवान् रोगी की संशोधन तथा दुर्बल की संशमन चिकित्सा करनी चाहिए।

सुसंस्कृतास्तित्तिरिबर्हिलावरसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम् ।
छर्दि तथा कोलकुलत्थधान्यबिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः ॥ २३ ॥

वातज छर्दि-चिकित्सा—वातजनित छर्दि के रोगी को तीतर, मोर तथा लवा पक्षियों में से किसी एक पक्षी के मांसरस को विधिपूर्वक तैयार कर उसे छौंककर सेवन कराने से वातज छर्दि का नाश हो जाता है। जो रोगी मांसाहारी नहीं हैं, उनके लिए कोल (झड़बेर), कुलथी, धान्य (धनियाँ), बिल्वादि मूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार की छाल, पाढ़ल, अरणी—बृहत् पञ्चमूल), अम्लरस (दाड़िम का रस), जौ—इन द्रव्यों का विधिपूर्वक बनाया गया यूष वातज वमन का शमन करता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने 'बिल्वादि' शब्द को अलग करके 'मूलाम्ल' को अलग माना है। इस प्रकार वे 'मूलाम्ल' का अर्थ मूली की काँजी करते हैं। **निर्माण-प्रकार**—बिल्वादि पञ्चमूल के क्वाथ रस में कुलथी तथा जौ का यूष तैयार करके छान लें, उसमें धनिया, बेर तथा दाड़िम का रस मिलाकर स्वादिष्ट होने पर पीने के लिए वातज छर्दि के रोगी को दें।

[1]वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो नरः पिबेत् सैन्धववद्घृतं तु ।
सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥ २४ ॥

घृतपान-विधान—वातज छर्दि में यदि रोगी का हृदय दुर्बल हो गया हो तो उसे सैंधानमक मिश्रित घी पीना चाहिए। अथवा धनिया तथा सोंठ के कल्क से, दही का घोल, दाड़िम के रस से घी का पाक करके, मात्रानुसार घी का पान कराना चाहिए।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में 'नरः' के स्थान पर 'कामं' पाठ है; इसका अर्थ होता है—'पर्याप्त'। किन्तु इस पाठ को स्वीकार कर लेने के बाद चिकित्सक का दायित्व होता है, कि वह रोगी के अग्नि की परीक्षा करके घृत की मात्रा का निर्धारण करे। घृत-निर्माण-प्रकार—धनियाँ तथा सोंठ का कल्क १ पाव, गाय का घी १ सेर, दही का घोल ४ सेर, दाड़िम का रस ४ सेर, सबको मिलाकर घृतपाक करे।

व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात् ।
स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः ॥ २५ ॥

प्रक्षेपद्रव्य तथा हृद्य भोजन—अथवा ऊपर के श्लोक में वातज छर्दि के रोगी को घृतपान कराने की जो व्यवस्था की गयी है, मात्रा के अनुसार उस घी को लेकर उसमें सोंठ, मरिच, पिप्पली, तीनों नमक (सैंधा, सोंचर, विरिया), इनका कपड़छन चूर्ण मिलाकर पीने के लिए दें। घृतपान करने के बाद जब यह पच जाय तब उस रोगी को जो भोज्य तथा पेय रुचिकर लगते हों उन भोजनों को स्निग्ध करके (घी मिलाकर) दें उनमें तथा शाकाहारियों के लिए तैयार किये यूषों में दही एवं दाड़िम का रस मिलाकर खट्टा करके दें। यहाँ 'हृद्य' शब्द पर पर्याप्त ध्यान दें, क्योंकि अहृद्य पदार्थ स्वयं वमनकारक होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'हृद्य' शब्द का अर्थ है—हृदय को अच्छे लगने वाले तथा हृदय के लिए हितकर।

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत् स्यात् ।
कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत् स्वादुभिरूर्ध्वमेव ॥ २६ ॥

पित्तज छर्दि की चिकित्सा—पित्तज छर्दि (वमन) रोग में दोषों को अनुलोमन (ऊपर की ओर प्रवृत्त दोषों को अधोमार्ग की ओर प्रवृत्त) करने के लिए मुनक्का, विदारीकन्द, ईख के रस के साथ निशोथ का चूर्ण सेवन कराना चाहिए। यदि अधिक बढ़ा हुआ पित्त कफाशय (आमाशय या उरःप्रदेश) में स्थित हो तो मधुर द्रव्यों (मुलेठी आदि) का सेवन कराकर उसे ऊपर के मार्ग से ही वमन द्वारा निकाल देना चाहिए।

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम् ।
प्रदापयेन्मुद्गरसेन वाऽपि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा ॥ २७ ॥

संशोधन के पश्चात् कर्तव्य—ऊपर के श्लोक में पित्त की अवस्था के अनुसार वमन-विरेचन की व्यवस्था दी गयी है। यदि उक्त रोगी का विधिवत् संशोधन हो जाय तो उसे भोजन के अवसर पर पान के

---

१. 'वातात्मके हृद्गदकासयुक्तः' इति पा०।

लावा का सत्तू अथवा पेया में मधु मिलाकर सेवन करने के लिए दिलायें, अथवा मूँग के यूष के साथ अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरसों के साथ पुराने लाल शालिचावलों का भात खाने के लिए दें। यहाँ भी रोगी की रुचि का ध्यान देना आवश्यक है।

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जान् ।
खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ॥ २८ ॥

पित्तज छर्दि में लेह—इस रोग में कुल्माष (आधा उबाले गये गेहूँ, चना आदि), धान का लावा या खील, जौ का सत्तू, गृञ्ज (माँड मिला हुआ जौ का भात), खजूर का गूदा (गुठली छोड़कर शेष भाग), नारियल की गरी, मुनक्का अथवा झड़बेर का चूर्ण, इनमें से किसी एक द्रव्य को मिश्री-मधु और पिप्पली के चूर्ण के साथ चाटें।

वक्तव्य—कुल्माष—काञ्जी–रा० नि० व० २३। कुलथी, गन्धशालि–पर्यायमुक्तावली। आधे उबले हुए धान्य, गोधूम आदि, भा० प्र० पू० खं०। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'कुल्माषा उत्स्विन्नयवपिष्टकृता भक्ष्याः'। पारियात्रास्तु—'मुद्गान् मसूरानुतस्विन्नमृदितान्, कुल्माषानाहुः। विन्ध्यपर्वतश्रेणी के अन्तर्गत एक पर्वत जो सात कुलपर्वतों में अन्यतम है, वहाँ के निवासियों को 'पारियात्र' कहते हैं। उक्त श्लोक में कुल्माष से लेकर बदर तक आठ स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इनमें से किसी एक को रोगी की रुचि के अनुसार मिश्री-मधु तथा पिप्पली के चूर्ण के साथ सेवन करायें।

स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्जचूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयां च ।
कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्लाजासितामागधिकाकणान् वा ॥ २९ ॥

छर्दि में अन्य लेह—१. शुद्ध किया हुआ सौवीराञ्जन का चूर्ण, धान का लावा, नीलकमल, झड़बेर के गूदा का चूर्ण, इन सबका चूर्ण करके मात्रा के अनुसार मधु के साथ चाटना चाहिए। २. अथवा अभया (हरड़) के चूर्ण को मधु के साथ चाटने के लिए दें। ३. अथवा बेर की गुठली की मींगी, अञ्जन (सौवीराञ्जन), मक्खी का बीट (मल), लाजा (खील) का चूर्ण, मिश्री, मागधिका-कण (पिप्पली के बीज या चावल) इन सबको एक साथ पीसकर मात्रा के अनुसार मधु के साथ चाटें

वक्तव्य—स्रोतोञ्जन का उल्लेख सु० सू० अ० ३८।४१ में है। रत्नमाला ग्रन्थ में इसके पर्याय इस प्रकार दिये हैं—सौवीर, कापोताञ्जन, यामुन, नदीज, पीतसारि, वारिभव, स्रोतोनदीभव, स्रोतोभव, सौवीरभव, कपोतसार, कापोतसार, वल्मीकशीर्ष।

द्राक्षारसं वाऽपि पिबेत् सुशीतं मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा ।
जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं पिबेत् सुशीतं मधुसंयुतं वा ॥ ३० ॥

पित्तज छर्दि में पेय—१. अथवा मुनक्के का शीतल रस पीने के लिए दें। २. अथवा पके हुए मिट्टी के ढेला (या ईंट) को आग में तपाकर जल में बुझाकर उस जल को पीने के लिए दें। यह कार्य फूटे घड़े के टुकड़ों से भी किया जा सकता है। ३. अथवा जामुन तथा आम के सुकोमल पल्लवों के कषाय (क्वाथ) को शीतल करके उसमें मधु मिलाकर पीना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने यहाँ इससे मिलते-जुलते दो योगों की चर्चा की है—१. 'मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं सुशीतं सलिलं पिबेत्'। अ० सं० चि० अ० ८।१३। तथा २. 'जम्ब्वाम्रपल्लवोशीरवटाश्वत्थाङ्कुरोद्भवः। क्वाथः क्षौद्रयुतः पीतः शीतो वा विनियच्छति ॥ छर्दिज्वरमतीसारं मूर्च्छां तृष्णां च दुर्जयाम्' ॥ अ० सं० चि० अ० ८।१४। अर्थ स्पष्ट है।

निशि स्थितं वारि समुद्गकृष्णं सोशीरधान्यं चणकोदकं वा ।
गवेधुकामूलजलं गुडूच्या जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा ॥ ३१ ॥

अन्य छः पेय—१. मूंग, कृष्ण (पिप्पली), खश, धनियाँ समान भाग में इनका जौकुट चूर्ण लेकर छः गुने जल में डालकर रातभर रहने दें, प्रातःकाल छानकर इस जल को पीयें। २. अथवा उसी प्रकार चनों

को छः गुने जल में भिगोकर दूसरे दिन प्रातःकाल छानकर पानी पीयें। ३. अथवा गवेधुका (गरहेडुआ) की जड़ को जौकुट करके पूर्ववत् पानी में भिगोकर सेवन करें। ४. अथवा गिलोय के जल को पीयें। ५. अथवा ईख के रस को रातभर चन्द्रमा की किरणें जहाँ पड़ सकें, ऐसे स्थान पर रखकर प्रातकालः उसे पीयें। ६. अथवा उसी प्रकार दूध को रखकर प्रातःकाल उसे छर्दिरोग से पीड़ित व्यक्ति पीये।

वक्तव्य—'निशि स्थित वारि' का अर्थ है—शीतकषाय। इसकी निर्माण-विधि—'क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम्। निशोषितं हिमः स स्यात् तथा शीतकषायकः ॥ तन्मानं फाण्टवज्ज्ञेयं सर्वत्रैवेष निश्चयः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० ४।१। यही कारण है कि पूर्ववर्ती टीकाकारों ने इसमें छः गुने जल का प्रयोग तन्त्रकार के निर्देश के बिना किया है। इसमें आधार है—'निशि स्थितं वारि'।

सेव्यं पिबेत् काञ्चनगैरिकं वा सबालकं तण्डुलधावनेन ।
धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि ॥ ३२ ॥

अन्य योग—१. अथवा खश के चूर्ण को चावल के धोवन के साथ मधु मिलाकर पीयें। २. अथवा शुद्ध स्वर्णगैरिक (हिरौंजी) तथा सुगन्धवाला के चूर्ण को उसी प्रकार पीयें। ३. अथवा सफेद चन्दन को घिसकर आँवलों के रस में मधु मिलाकर पीयें। ये सभी योग तृष्णा (प्यास) तथा छर्दि (वमन) का नाश करते हैं।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने उक्त श्लोक के सम्बन्ध में कुछ निर्देश दिया है—'काञ्चनगैरिकमिति गैरिकं दाक्षिणात्यप्रसिद्धं काञ्चनवर्णम्। सबालकं तण्डुलधावनेनेति विधानम् 'सेव्यं पिबेत्' इत्यनेन तथा 'काञ्चनगैरिकं वा' इत्यनेन च द्वितीययोगेन सम्बध्यते'। वास्तव में 'सेव्यं तण्डुलधावनेन पिबेत्, वा सबालकं काञ्चनगैरिकं तण्डुलधावनेन पिबेत्'—ऐसा अन्वय रुचिकर प्रतीत होता है। यदि ऐसा अन्वय करें—'सबालकं सेव्यं पिबेत्' तो इसमें दूरान्वयित्वदोष आ जाता है।

ऊपर श्लोक ३० से यहाँ तक कहे गये सभी योग पित्तज वमन तथा तृष्णा की शान्ति के लिए कहे गये हैं। मात्रा का निर्धारण रोगी के अग्निबल आदि का विचार कर चिकित्सक को स्वयं कर लेना चाहिए।

कल्कं तथा चन्दनचव्यमांसीद्राक्षोत्तमाबालकगैरिकाणाम् ।
शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं मूर्वां तथा तण्डुलधावनेन ॥ ३३ ॥

अन्य योग—१. चन्दन, चव्य, जटामांसी, उत्तम कोटि के मुनक्के, सुगन्धवाला, शुद्ध स्वर्णगैरिक (हिरौंजी) इन द्रव्यों को समानभाग लेकर इनका कल्क बनाकर पीयें। २. अथवा शुद्ध स्वर्णगैरिक और शालिचावलों के चूर्ण को शीतल जल के साथ पीयें। ३. अथवा मूर्वा (मरोड़फली) के चूर्ण को चावलों के धोवन के साथ पीयें। ये तीनों योग तृष्णा और वमन रोग को नष्ट करते हैं। मात्रा-निर्धारण चिकित्सक स्वयं कर लें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने मूर्वा चूर्ण का अनुपान मधु दिया है। तन्त्रान्तर में कुछ अन्तर तो होना ही चाहिए।

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः ।
पिण्डीतकैः सैन्धवसम्प्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम् ॥ ३४ ॥

कफज छर्दि-चिकित्सा—कफज छर्दि में कफाशय, (उरःप्रदेश) तथा आमाशय को शुद्ध करने (उन स्थानों में स्थित दोषों को निकालने) के लिए पिप्पली, सरसों (राई नहीं) तथा नीम के क्वाथजल में मैनफल का चूर्ण और सैंधानमक मिलाकर वमन कराना उत्तम होता है।

वक्तव्य—प्रायः सभी छर्दियाँ कफप्रधान होती हैं और जिसमें कफ की ही प्रधानता हो उसमें तो वमन कराना ही चाहिए। क्योंकि कफाशय ऊपरी भाग में ही होता है, अतः उसका निर्हरण मुख द्वारा आसानी से कराया जा सकता है। पिप्पली, सर्षप आदि कफ के उत्क्लेशक तथा लेखनकारक भी होते हैं। निम्बतोय से यद्यपि पूर्ववर्ती टीकाकारों ने नीम का क्वाथ अर्थ किया है। किन्तु नीम के पेड़ से कभी-कभी निकलने वाला रस भी 'द्विष्टगन्धयुक्त' होने से वमनकारक होता है। यह भी 'निम्बतोय' (नीम की ताड़ी) कहा जाता है।

'निम्बतोय' रक्तशोधक द्रव्यों में उत्तम माना गया है। हमारे विचार से यहाँ 'निम्बतोय' शब्द से 'नीम की ताड़ी' का प्रयोग कराना चाहिए, परन्तु यह सदैव सर्वत्र सुलभ नहीं होती है।

गोधूमशालीन् सयवान् पुराणान् यूषैः पटोलामृतचित्रकाणाम्।
व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात् ॥ ३५ ॥

छर्दि में आहार-पदार्थ—कफज छर्दि रोग से पीड़ित रोगी पुराने गेहूँ, पुराने शालिधान के चावल तथा पुराने जौ इनका तथा परवल, गुरुच, चीता की जड़ इन द्रव्यों को षडंगपानीय विधि से पकाये गये यूषों के साथ जौ, गेहूँ की रोटी, शालितण्डुलों का भात खाये अथवा सोंठ, मरिच, पिप्पली और नीम की पत्तियों का क्वाथ-विधि से पकाया हुआ जल तथा मठा द्वारा सिद्ध यूष में खट्टे फलों (दाड़िम आदि) का रस तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर खाये।

वक्तव्य—'तक्रसिद्धयूष' मठा को डालकर पकाया हुआ यूष स्वयं अत्यन्त खट्टा हो जाता है, फिर अम्ल-फलों के रस से उसे अम्ल करना विचारणीय विषय है। दही से तक्र तैयार किया जाता है, दही के अनुसार तक्र का स्वाद मधुर, अम्ल, अत्यम्ल होता है। अतः यहाँ मधुर तक्र द्वारा ही उक्त यूष का निर्माण करना चाहिए, अन्यथा पाककर्ता की अयोग्यता रोगी के लिए हानिकारक होगी।

रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां मांसानि जीर्णान्मधुसीध्वरिष्टान्।
रागांस्तथा षाडवपानकानि द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥ ३६ ॥

राग, षाडव, पानक के प्रयोग—विविध प्रकार के जांगलप्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरसों, शूल्य मांसों (अस्थि रहित मांस को काट-काटकर बड़े जैसे बनाकर एक लोहे की सींक में पिरोकर मन्द आँच में उन्हें भूना=पकाया जाता है, इसी को शूल्यमांस कहते हैं), पुराना मधु, पुराने सीधु (सिरकों), पुराने अरिष्टों तथा द्राक्षा (मुनक्का), कैथ के फल, बिजौरानीबू से तैयार किये हुए राग (अचार, चटनी), षाडव या खाडव, पानक का सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—जीर्ण अरिष्ट ताजे से अधिक गुणकारक होते हैं। **षाडव या खाडव**—दोनों ही शब्द एकार्थ-वाची हैं—'मधुराम्ललवणनानासुगन्धिद्रव्यकृतखाद्यविशेषे। खाडवाः फलमधुराम्ललवणाः सुगन्धिद्रव्यजा नानाविधाः'। इति शिवदासः। **पानकम्**—खाँड़ आदि मीठे द्रव्यों को पानी में घोलकर इसे तैयार किया जाता है। इसे शर्बत, शिकंजी या शिकंजबीन भी कहते हैं। यह थकावट आदि को दूर करके मूत्र को साफ करता है, यह शीतल होता है।

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कलायान् भृष्टान् युतान्नागरमाक्षिकाभ्याम्।
लिह्यात् तथैव त्रिफलाविडङ्गचूर्णं [1]विडङ्गप्लवयोरथो वा ॥ ३७ ॥

कफज छर्दि नाशक तीन योग—कफज छर्दि वाले रोगी के लिए मूंग, मसूर, चना, मटर को भूँजकर पीस लें और उसमें सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर मात्रानुसार सेवन करायें। २. अथवा हरड़, बहेड़ा, आँवला और वायविडंग इन सबको समभाग में लेकर चूर्ण कर लें, उसमें सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर मात्रानुसार सेवन करें। ३. अथवा वायविडंग, केवटीमोथा इनका चूर्ण बनाकर उसमें सोंठ का चूर्ण तथा मधु मिलाकर मात्रानुसार सेवन करें।

वक्तव्य—उपर तीन योग दिये गये हैं, सभी के साथ सोंठ का चूर्ण प्रक्षेप के रूप में और माक्षिक (मधु) अनुपान के रूप में प्रयुक्त होता है। त्रिफला, विडंग और विडंगप्लव ये दो योग कृमिज वमन में अधिक लाभ करते हैं। 'विडङ्गप्लवयोरथो वा' के स्थान पर जो पाठभेद दिया है, तदनुसार दोनों का क्वाथरस देना चाहिए।

सजाम्बवं वा [2]बदराम्लचूर्णं मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्।
दुरालभां वा मधुसम्प्रयुक्तां लिह्यात् कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम् ॥ ३८ ॥

१. 'विडङ्गप्लवयोरसं वा' इति पा०।
२. 'बदरस्य चूर्णम्' इति पा०।

कफज छर्दि-नाशक योग—१. अथवा जामुन तथा खट्टे बेरों का चूर्ण, २. अथवा नागरमोथा और काकड़सिंगी का चूर्ण, ३. अथवा दुरालभा का चूर्ण—इनमें से किसी को भी मधु के साथ कफज छर्दि का विशेष रूप से निग्रह करने के लिए चाटना चाहिए।

वक्तव्य—'निग्रह' का अर्थ है—रोकना या रोके रहना या दमन करना। 'सजाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं' इनकी गुठलियों का ही चूर्ण प्रायः प्रयुक्त किया जाता है। यदि आप इन फलों का अथवा गुठलियों का चूर्ण लेंगे तो दोनों ही स्थितियों में इन्हें सुखाना होगा। स्वाद की दृष्टि से जामुन और बेर के गूदा का चूर्ण उत्तम होता है। कफज छर्दि के सामान्य वेग का ही ये योग नियन्त्रण कर पाते हैं, तीव्र प्रकोप में तो वमन करना ही चाहिए। वृद्धवाग्भट ने जामुन तथा बेर के स्थान पर कैथ के प्रयोग पर बल दिया है।

मनःशिलायाः फलपूरकस्य रसैः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम्।
क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं लिहञ्जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥ ३९ ॥

छर्दि में मनःशिला-प्रयोग—यदि छर्दि का वेग अधिक बढ़ा हुआ हो तो उस पर विजय पाने के लिए शुद्ध मैनसिल को बिजौरानीबू के रस एवं मधु में अथवा पिप्पली तथा मरिच के चूर्ण में मधु और कैथ का रस मिलाकर चाटना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने उक्त योग का सम्बन्ध इस प्रकार जोड़ा है—'मनःशिलायाश्चूर्णं मरिचैश्च युक्तं क्षौद्रेण युतं फलपूरकरसैर्लिहन्, तथा कपित्थस्य रसैः पिप्पलीनां चूर्णं मरिचैश्च युक्तं क्षौद्रेण युतं लिहन्निति योज्यम्'। इस प्रकार इन्होंने उक्त श्लोक में दो योग हैं, ऐसा स्वीकार किया है। यही आचार्य गंगाधर को भी मान्य है। वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को इस प्रकार दिया है—'लीढं मनःशिलाकृष्णामरिचं बीजपूरकात्। स्वरसेन कपित्थाच्च सक्षौद्रेण वमिं जयेत्'॥ अ० सं० चि० अ० ८।२३।

मात्रा-विचार—मैनसिल १ रत्ती, पिप्पली, मरिच चूर्ण मिलित २ माशा, बीजपूररस तथा मधु उतना डालें जिससे औषध चाटने योग्य हो जाय।

यैषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेऽपि [1]समस्य बुद्ध्या।
दोषर्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रविदप्रमत्तः ॥ ४० ॥

सन्निपातज छर्दि-चिकित्सा—इस अध्याय में जो मैंने (आत्रेय ने) वात आदि दोषों से उत्पन्न छर्दि रोग की अलग-अलग रूप में चिकित्सा कही है, उसी चिकित्सा को आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञाता चिकित्सक सावधानी पूर्वक अपनी बुद्धि से उन-उन योगों को एकत्र करके सन्निपातज छर्दि रोग में दोष, ऋतु (काल), रोग और रोगी के अग्निबल का विचार कर प्रयोग करे।

वक्तव्य—ऊपर सन्निपातज छर्दि रोग की चिकित्सा करने का तन्त्रकार कितनी कुशलता से निर्देश दे रहे हैं, ध्यान दें—'शास्त्रवित् अप्रमत्तः'—शास्त्र को जानने वाला और सावधान बुद्धि वाला चिकित्सक ही यदि इसकी चिकित्सा करना चाहे, तो कर सकता है, दूसरा नहीं। इसी अध्याय के १९वें श्लोक में छर्दि के असाध्य लक्षणों का निर्देश किया गया है। शास्त्रवित् चिकित्सक सर्वप्रथम देखेगा कि रोगी असाध्य लक्षणों तथा उपद्रवों से युक्त तो नहीं है, यदि है तो उसके अभिभावकों को रोगी की स्थिति को समझा देगा और अनुकूल स्थिति को देखकर उसकी चिकित्सा करेगा।

महर्षि सुश्रुत ने भी उपद्रव आदि से युक्त छर्दि रोगी की चिकित्सा का निषेध इस प्रकार किया है—'क्षीणस्योपद्रवैर्युक्तां सासृक्पूयां स चन्द्रिकाम्। छर्दिं प्रसक्तां कुशलो नारभेत चिकित्सितुम्'॥ सु० उ० अ० ४९।१४।

मनोभिघाते तु मनोनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि।
लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः ॥ ४१ ॥
गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृत्पुष्पशुक्ताम्लफलादिकानाम्।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाडवरागलेहाः ॥ ४२ ॥

१. 'समीक्ष्य' इति पा०।

यूषा रसाः काम्बलिका खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः ।
फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ॥ ४३ ॥

द्विष्टार्थसंयोगज वमन-चिकित्सा—मन पर घृणित वस्तुओं के आघात होने के कारण जो वमन रोग उत्पन्न होता है, उसमें रोगी के मन के अनुकूल वार्तालाप, आश्वासन (तुम चिन्ता मत करो, मैं यह सब पूरा कर दूँगा, आदि बातें), उसके मन को प्रसन्न रखने वाले कार्य, लोकप्रसिद्ध कथा-कहानियाँ जो शृंगाररस युक्त हों, उन्हें मित्र-मण्डली सुनाती रहे, हितकारक विहार (घूमना-फिरना) मित्रजन उसे कराते रहें। मन को प्रसन्न रखने वाले विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्य जो मिट्टी, फूल, शुक्त (सिरका), खट्टे फल आदि से प्राप्त होते हैं। मन को अच्छे लगने वाले पत्रशाक, भोज्य पदार्थ, पानक (शर्बत), अच्छी प्रकार तैयार किये गये षाडव (खाडव), राग (चटनी-आचार आदि), लेह (अवलेह) यूष, मांसरस, काम्बलिक, खडयूष, मांस, धान का लावा (खील), विविध प्रकार के भक्ष्य (भोज्य, लेह्य, चूष्य, चर्व्य आदि) पदार्थों तथा गन्ध, वर्ण, रस से युक्त फल एवं मूल—इनका सेवन वमन रोग का शमन करता है।

वक्तव्य—जिन वस्तुओं से व्यक्ति को चिढ़ है, यदि वे वस्तुएँ खाने, देखने, सूँघने आदि के रूप में सामने आती हैं अथवा उनसे किसी प्रकार का संयोग होता है, तो वमन होने लगता है या उबकाइयाँ आने लगती हैं, इसी को संस्कृत में 'द्विष्टार्थसंयोग' कहते हैं। इसकी चिकित्सा है—मनोनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति; किन्तु उन मनोनुकूल पदार्थों को न दें जो छर्दि रोग में अपथ्य कहे गये हैं, उनके अतिरिक्त अन्य (पथ्य) पदार्थ दें।

रस शब्द से मांसरस, **यूष** शब्द से मूंग आदि को पकाकर प्राप्त किया गया रस, **खड** शब्द से फलों का रस, **काम्बलिक** शब्द से मूलों तथा तिलकल्क अम्ल युक्त द्रव पदार्थ का ग्रहण किया जाता है। फल तथा मूलों का तभी तक प्रयोग करें, जब तक उनमें स्वाभाविक गन्ध, वर्ण और रस हो।

गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम् ।
तदेव दद्यात् प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ॥ ४४ ॥

असात्म्य द्रव-प्रयोग—ऊपर के तीन पद्यों में द्विष्टार्थसंयोगज छर्दिरोग की चिकित्सा के लिए मनोनुकूल वातावरण को महत्त्व दिया गया है, किन्तु यहाँ उसके विपरीत चर्चा प्रस्तुत की गयी है—द्विष्टार्थसंयोगज वमन के सुखपूर्वक प्रशमन के लिए जो-जो गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और रूप छर्दि रोगी के मन को प्रिय लगता हो, भले ही वह उस रोगी के लिए असात्म्य क्यों न हो, यदि वह रोगी उस द्रव्य की इच्छा करता हो तो उसे दें, उससे रोग की शान्ति होती है। क्योंकि अप्रिय गन्ध, रस आदि से उत्पन्न छर्दि रोग इसी प्रकार सुखपूर्वक जीता जा सकता है, अर्थात् उसकी चिकित्सा की जा सकती है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'गन्धदीनां प्रियाणामुपयोगेन छर्द्याः प्रशमे सति, तज्जो हि रोग इति गन्धादीनामसात्म्यजनितरोगो जेतुं सुख एव सुखोपाय एव भवति, मूलव्याधेर्महात्ययस्य जितत्वादित्यभिप्रायः। 'सुखमेव जेतुम्' इति पाठे सुखं यथा भवति तथा जेतुं पार्यते, इति शेषः'। आचार्य गङ्गाधर के अनुसार—'यद्यस्य प्रियमस्य नरस्यासात्म्यञ्च तदेव तस्य प्रशमे दद्यात। कस्मात् ? हि यस्मात् तज्जो यस्य यत्प्रियमथ चासात्म्यं तदसात्म्यजो रोगस्तदसात्म्यस्य प्रियस्य गन्धादेर्दानेन जेतुं सुख एव भवति'।

यद्यपि असात्म्य रस, गन्ध आदि सभी उपादान अहितकर होते हैं, किन्तु द्विष्टार्थसंयोगज प्रस्तुत छर्दिरोग में मन के प्रिय जो भी पदार्थ हैं, वे इसलिए रोग-शान्ति में सहायक होंगे कि मन उनको प्राप्त करना चाहता है, अतः उनका प्रयोग कराना चाहिए, यही तन्त्रकार की आज्ञा है। यदि कभी असात्म्य वस्तु के सेवन से कोई दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है, तो वह आसानी से जीता जा सकता है।

छर्द्युत्थितानां च चिकित्सितात् स्याच्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम् ।
अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य कर्मातियोगे विहितं विधेयम् ॥ ४५ ॥

उपद्रवों की चिकित्सा—यदि उचित प्रकार की चिकित्सा करने पर भी छर्दि रोग में उपद्रवों की उत्पत्ति हो गयी हो तो उन-उन उपद्रवों की पृथक्-पृथक् चिकित्सा करनी चाहिए, यदि छर्दि (वमन) की अति

प्रवृत्ति हो जाय, अर्थात् वमन अधिक संख्या या अधिक मात्रा में होने लगें तो वमन-विरेचन के अतियोग में आगे जो कुछ कहा गया है, उसे करना चाहिए।

वक्तव्य—छर्दि रोग में होने वाले उपद्रवों के नाम—कास, श्वास, ज्वर, हिक्का, तृष्णा, बुद्धिविभ्रम, हृद्रोग, तमकश्वास। इनमें से जो उपद्रव दिखलायी देता हो उसकी चिकित्सा उस-उस प्रकरण में दी गयी विधि के अनुसार करनी चाहिए। वमन-विरेचन के अतियोग की चिकित्सा का विशद वर्णन च० सि० अ० ६।३१-३४ तथा ४५ से ५७ तक देखें।

वमिप्रसङ्गात् पवनोऽप्यवश्यं धातुक्षयाद् वृद्धिमुपैति तस्मात् ।
चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि ॥ ४६ ॥

दीर्घकालिक छर्दि-चिकित्सा—बहुत दिनों तक वमन का शमन न होने के कारण धातुक्षीणता से वातदोष की अवश्य ही वृद्धि हो जाती है। अतः बहुत दिनों से होने वाली छर्दियों में वातदोष-नाशक स्तम्भन और बृंहण चिकित्साओं के प्रयोग कराने चाहिए।

वक्तव्य—स्तम्भन तथा बृंहण चिकित्सा का समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ८।२७-२९। **स्तम्भन द्रव्य**—'रौक्ष्याच्छैत्यात् कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद् भवेत्। वातकृत्स्तम्भनं तत् स्याद्यथा वत्सकटुण्टुकौ' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।१२। ग्राही एवं स्तम्भन द्रव्य शरीर से बाहर निकलने वाले द्रव्यों को रोक लेने की क्षमता रखते हैं। **बृंहण द्रव्य**—'गुरु शीतं मृदुस्निग्धं बहलस्थूलपिच्छिलम्। प्रायो मन्दस्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।२७। इसका वर्णन च० सू० अ० २२।१३ में भी देखें। यहाँ बहल का अर्थ 'घन' है।

विशेष—स्तम्भनकारक प्रायः सभी द्रव्य वातकारक होते हैं। यदि इनका प्रयोग बृंहण द्रव्यों के साथ कराया जायेगा तो स्तम्भक द्रव्यों का वातकारक प्रभाव द्रव्यसंयोग के कारण समाप्त हो जायेगा। इनके प्रयोग से छर्दि रोग तथा वातदोष का उपस्तम्भन और धातुओं का बृंहण हो जाता है।

सर्पिर्गुडाः क्षीरविधिर्घृतानि कल्याणकत्र्यूषणजीवनानि ।
वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहाश्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति ॥ ४७ ॥

सर्पिगुड़ आदि प्रयोग—बहुत समय से पीछे लगे छर्दि रोग में सर्पिर्गुड, क्षीरपाक-विधि, विविध प्रकार के घृत, कल्याणकघृत, त्र्यूषणघृत, जीवनीयघृत, वृष्ययोग, मांसरस तथा अवलेह छर्दि रोग को जीत लेते हैं, अर्थात् उसे नष्ट कर देते हैं।

वक्तव्य—सर्पिर्गुड—इसका वर्णन च० चि० अ० ११ श्लोक ५० से ७७ तक अनेक विधियों से किया गया है। इस प्रकरण में चार सर्पिर्गुड (घी के लड्डू) और पाँचवां 'सर्पिर्मोदक' है। 'गुड़' तथा 'मोदक' ये दोनों परस्पर पर्याय हैं। क्षीर-विधि—औषध योगों द्वारा जो दूध पकाया जाता है, उसे 'क्षीरविधि' या 'क्षीरपाकविधि' कहते हैं। कल्याणकघृत—इसका वर्णन चरक-उन्मादचिकित्सा अ० ९ श्लोक ४२-४४ में देखें। त्र्यूषणादि घृत—च० चि० अ० १८।३९-४२ में देखें। जीवनीयघृत—च० चि० अ० २९ (वातशोणित-चिकित्साध्याय) श्लोक ६१-७० में देखें। इनके अतिरिक्त अन्य वृष्ययोग, जांगलदेश में रहने वाले प्राणियों के मांसरस, लेह (च्यवनप्राश आदि) का प्रयोग करना चाहिए।

तत्र श्लोकः—

हेतुं सङ्ख्यां लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां न योगांश्च ।
छर्दीनां प्रशमार्थं प्राह चिकित्सितं मुनिवर्यः ॥ ४८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में एक श्लोक है—महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने छर्दि (वमन) रोग के निदान, संख्या (भेद), लक्षण, उपद्रव, साध्यता, असाध्यता का वर्णन तथा छर्दिरोग-नाशक अनेक योगों की चिकित्सा इस अध्याय में कही है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में छर्दिचिकित्सित नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

छर्दिरोग-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से विसर्प-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने चरक-सूत्रस्थान के 'नवेगान्धारणीय' नामक सातवें अध्याय में छर्दि के वेग को रोकने से होने वाले अनेक रोगों की इस प्रकार चर्चा की है, जैसे—'कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठहृल्लासवीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः' ॥ श्लोक १४। उन्हीं में से एक 'विसर्प' रोग भी है। इसके आगे च० सू० २४वें अध्याय में कहा गया है—'छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात्। श्रमाभिघातसन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा ॥ शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति' ॥ श्लोक ९-१०। चिकित्साकाल में इन तथ्यों का भी ध्यान अवश्य कर लेना चाहिए। सुश्रुत ने क्षुद्रकुष्ठों में 'विसर्प' नामक एक कुष्ठ का भी उल्लेख किया है। यह 'विसर्प' उससे सर्वथा भिन्न है। देखें—सु० नि० अ० ५।५।

चरक-चिकित्सास्थान अ० १२।९१ में एक विलक्षण प्रकार के विसर्प का वर्णन मिलता है, जो कभी-कभी देखने को मिलता है। यह विसर्प यज्ञोपवीत की भाँति बाँये कन्धे से प्रारम्भ होकर दाहिनी ओर को उसी क्रम से शरीर पर दिखलायी देता है, जिस प्रकार शरीर पर जनेऊ पड़ी रहती है।

यह विसर्प शब्द ह्रस्व इकारादि तथा दीर्घ ईकारादि दोनों (विसर्प-वीसर्प) रूपों में शुद्ध है। वि उपसर्गपूर्वक सृप् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर यह रूप सिद्ध होता है। इसकी विशेष निरुक्ति आगे इसी अध्याय के ११वें पद्य में दी गयी है।

इन समस्त कारणों को देखकर सुश्रुत ने विद्रधि के बाद और दोनों वाग्भटाचार्यों ने शोथ या शोफ के बाद विसर्प की उत्पत्ति मानी है। उक्त आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न होते हुए भी सभी तर्कसम्मत हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० २१। सु० नि० अ० १०। सु० चि० अ० १७। अ० सं० नि० अ० १३। अ० सं० चि० अ० २०। अ० हृ० नि० अ० १३। अ० हृ० चि० अ० १८।

कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे। पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसम्पदा ॥३॥
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान् सर्वतः स्वभ्यलङ्कृते। विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥४॥
महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम्। अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ॥५॥

विषय-अवतरणिका—किन्नरों से व्याप्त, अनेक झरने जहाँ झर रहे हैं, अनेक प्रकार की औषधियाँ जहाँ सुलभ हैं, हरे-भरे चिकनी त्वचा वाले पेड़ जहाँ उगे हुए हैं, जहाँ सदैव फूल खिले रहते हैं, जिनसे चारों ओर का वातावरण सुरभित हो उठा है, इस प्रकार से सुशोभित कैलास पर्वत पर विहार (विचरण) करते हुए अनेक ऋषियों के प्रणम्य, जितेन्द्रिय, अनेक महर्षियों द्वारा घिरे हुए, सभी प्राणियों के हित में तत्पर गुरु महर्षि आत्रेय से उचित अवसर पर अग्निवेश ने अत्यन्त विनीत भाव से यह विषय कहा (पूछा)।

भगवन्! दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम्। विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षये ॥६॥
सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा। विनश्यन्त्यनुपक्रान्तास्तत्र नः संशयो महान् ॥७॥
स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना। कतिभेदः कियद्धातुः किं निदानः किमाश्रयः ॥८॥
सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः। कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवन्! तस्य भेषजम् ॥

अग्निवेश के प्रश्न—गुरुदेव! प्राणियों के शरीरों में जहरीले साँप के विष के समान शीघ्र फैलने वाले, अत्यन्त भयंकर एक रोग को मैं देख रहा हूँ। उस शीघ्रकारी रोग के सहसा आक्रमण हो जाने पर मनुष्य शीघ्र ही काल के गाल में चले जाते हैं और यदि उस रोग की चिकित्सा न की जाय तो इस सम्बन्ध में हमको बहुत सन्देह है। वह सन्देह इस प्रकार है—उस रोग को किस नाम से जाना जाय? अर्थात् इसका नाम क्या रखा जा सकता है? किस प्रधान कारण से इसका नाम-निर्धारण किया जाय? इसके कितने भेद होते हैं? यह किन-किन शारीरिक धातुओं को दूषित करता है? इसका निदान क्या है? इस रोग का क्या आश्रय है? यह रोग सुखसाध्य है या कृच्छ्र(कष्ट)साध्य है या अनुपक्रम (असाध्य) है? यह किन लक्षणों से किस प्रकार जाना जा सकता है? हे गुरुदेव! इस रोग की क्या चिकित्सा है?

तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रेयः पुनर्वसुः। यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥१०॥

आत्रेय पुनर्वसु का उत्तर—इस प्रकार अपने शिष्य अग्निवेश के प्रश्नों को सुनकर महर्षियों में श्रेष्ठ आत्रेय पुनर्वसु ने उनके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया।

वक्तव्य—ऊपर अग्निवेश ने विसर्प रोग के सम्बन्ध में आठ प्रश्न किये हैं, जिनके उत्तर इसी अध्याय में आगे दिये गये हैं।

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः। परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥११॥

विसर्प नाम की निरुक्ति—यह रोग अनेक प्रकार से शरीर के सभी अवयवों में उत्पन्न होकर फिर अपने चारों ओर सरकता (फैलता) है, इसलिए इसे विसर्प कहा गया है। अथवा 'परितः सर्पति' चारों ओर फैलने के कारण इसे परिसर्प भी कहते हैं।

वक्तव्य—इस श्लोक द्वारा प्रथम दो प्रश्नों का उत्तर दे दिया गया है। विसर्प नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे की ओर भी फैलता है।

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः। पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥१२॥

विसर्प के सात भेद—वह विसर्परोग वात, पित्त तथा कफ दोषों से धातुओं को दूषित करके सात प्रकार का होता है। जैसे—अलग-अलग (वात आदि) दोषों से ३, सन्निपात के कारण १ और द्वन्द्वज दोषों के कारण ३=कुल ७।

वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः। चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥१३॥
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः। यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसम्भवः ॥

सात भेदों की गणना—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज—इस प्रकार ये चार विसर्प गिना दिये गये हैं। इसके आगे द्वन्द्वज तीन विसर्प और कहे जायेंगे—५. वातपित्तज इसे आग्नेयविसर्प, ६. वातकफज इसे ग्रन्थिविसर्प और ७. पित्तकफज जिसे कर्दमविसर्प कहते हैं, यह अत्यन्त कष्टदायक होता है।

वक्तव्य—यहाँ श्लोक १२, १३, १४ में तीसरे **'कतिभेदः'** प्रश्न का तथा चौथे **'कियद्धातुः'** प्रश्न का भी उत्तर आगे १५वें श्लोक द्वारा दिया जा रहा है।

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥

विसर्प में दोष-दूष्य—इसमें रक्त, लसीका (Lymph), त्वचा तथा मांस ये चार दूष्य होते हैं और तीन दोष (वात, पित्त, कफ); विसर्प रोग की उत्पत्ति में ये सात धातुएँ कारण होती हैं।

वक्तव्य—कुष्ठ और विसर्प में दोष-दूष्यों की समानता होने पर भी विसर्प में शीघ्रकारिता और कुष्ठ में मन्थरता परस्पर विभेदक लक्षण हैं। वात आदि की दोष, मल तथा धातु संज्ञा उनके कार्यों के अनुसार होती

है और रस, रक्त आदि को सदैव धातु संज्ञा होती है। इस दृष्टि से आवश्यकता के अनुसार इन सातों को धातु कहा जा सकता है। यह 'कियद्धातुः' इस ४थे प्रश्न का उत्तर है।

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्। दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥१६॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्। शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥१७॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च। दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात् ॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च। ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ॥१९॥
प्रक्लिन्नानामसात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात्। अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात् ॥
[1]क्षतबन्धप्रपतनाद्धीनकर्मातिसेवनात्। विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥२१॥

विसर्परोग का निदान—लवण, अम्ल (खट्टा), कटु (जैसे—कालीमिर्च, लालमिर्च), उष्ण रसों का अधिक सेवन करने से, खट्टा दही, मस्तु (दही का पानी), सिरका, मद्य, सौवीर (तुष रहित जौ का सन्धान करके बनायी काँजी का एक भेद), विकृत मदिरा (स्प्रिट) का अधिक सेवन करने से, उष्ण पदार्थों के अधिक सेवन से, राग (आचार, चटनी), षाडव आदि के अधिक सेवन से, हरित शाकों (पत्रशाकों) तथा विदाहकारक पदार्थों के अधिक सेवन से, कूर्चिका, किलाट (छेना, किसी अम्ल पदार्थ से दूध को फाड़कर प्राप्त किया हुआ दुग्ध विकार), मन्दक दही (जो दही ठीक से जमी न हो) के अधिक सेवन से, शण्डाकी आदि आसुत (मद्य के रूप में जिनका सन्धान किया गया हो, ऐसे) द्रव्यों के अधिक सेवन से, तिल, उड़द, कुलथी, तिल के तेल, पिष्टक (चावलों के आटे से बने हुए भक्ष्य पदार्थों), ग्राम्य (पालतू प्राणियों के), आनूप (जल के समीपवर्ती) तथा औदक (जल में रहने वाले) प्राणियों के मांसों, लशुन, सड़े हुए, असात्म्य (जो भक्ष्य पदार्थ प्रकृति के अनुकूल न हों उनके विरुद्ध) आहारद्रव्यों के लगातार सेवन करने से, अधिक भोजन करने से, दिन में सोने से, अजीर्ण के बने रहने से, अध्यशन (पहले का किया हुआ भोजन न पचा हो उसके पहले पुनः भोजन कर लेने) से, किसी प्रकार घाव के लग जाने से, घाव के ऊपर लगाये गये बन्ध के गिर जाने से, हीनकर्मों (शास्त्र द्वारा वर्जित कार्यों) का अधिक सेवन करने से, विषदोष, वातदोष तथा अग्नि के दोष से भी विसर्पों की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—यह पाँचवें प्रश्न—**'किं निदानः'** का उत्तर है। लवण से लेकर लशुन तक ऊपर जिन द्रव्यों का परिगणन किया गया है, वे सभी द्रव्य खाये-पीये जाते हैं, सभी मात्रानुसार सेवन करने पर स्वास्थ्य के लिए हितकर भी होते हैं, किन्तु सभी कार्यों की एक सीमा होती है, वहीं तक वे अपने होते हैं, उसके आगे नहीं। यही स्थिति ऊपर कहे गये द्रव्यों की भी है, मात्रानुसार सेवन करने पर ये सभी हितकर होते हैं। इसीलिए **'अतिसेवनात्'** विशेषण दिया है। महर्षि चाणक्य ने तो सीधे-सीधे कह दिया है—'शाकेन रोगा वर्धन्ते'। चाणक्यनीति। किन्तु यह एकान्ततः सत्य नहीं है। महर्षि के वाक्य को सत्य करने के लिए यहाँ भी अतिसेवन विशेषण लगाना ही होगा।

कूर्चिका—यह दो प्रकार की होती है—१. दही के साथ जो दूध पकाया जाता है, उसे **दधिकूर्चिका** कहते हैं, और २. मठा के साथ मिलाकर जो दूध पकाया जाता है, उसे **तक्रकूर्चिका** कहते हैं। इसका उल्लेख च० सू० अ० ५।११ में आया है। श्रीचक्रपाणि ने इसका परिचय अपनी टीका में दिया है। **हीनकर्म**—स्वास्थ्य के लिए अहितकर सभी कर्म हीन माने गये हैं।

एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः। दूष्यान् सन्दूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥

विसर्परोग की सम्प्राप्ति—उपर्युक्त भोज्य पदार्थों से अथवा इन्हीं को परस्पर मिलाकर सेवन करने से कुपित हुए वात, पित्त, कफ दोष एक साथ मिलकर अपने रक्त आदि दूष्यों (रक्त, लसीका, त्वचा और मांस) को दूषित करके अहितकर भोजन करने वाले पुरुषों के शरीर में ये विसर्प विशेषरूप से फैलते हैं, अर्थात् विसर्प रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

---

१. 'वधबन्धप्रपतनाद्दंष्ट्रादन्तनखक्षतात्' इति पा०।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने विसर्प की सम्प्राप्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—अपने कारणों से कुपित वात आदि दोष परस्पर मिलकर त्वचा, मांस तथा रक्त का आश्रय लेकर सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में फैलकर तथा एक स्थान पर स्थिर न रहकर, अपने सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त शरीर पर फैलकर ऊँचायी रहित सूजन को उत्पन्न कर देते हैं। यह शोथ चारों ओर फैलता है, अतः इसे विसर्प कहते हैं। देखें—सु० नि० अ० १०।३।

बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः। विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥२३॥

विसर्प के आश्रय तथा भेद—१. बाहरी धातु (त्वचा) में स्थित, २. भीतरी धातुओं (रक्त, लसीका, मांस) में स्थित, ३. बाहरी और भीतरी धातुओं में स्थित। इस प्रकार आश्रय भेद से ये तीन प्रकार के विसर्प होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से ये उत्तरोत्तर गुरु (कष्टसाध्य) होते हैं।

वक्तव्य—प्रस्तुत श्लोक द्वारा महर्षि आत्रेय अग्निवेश के छठे प्रश्न **'किमाश्रयः'** का उत्तर दे रहे हैं—त्वचाश्रित विसर्प अपेक्षाकृत अन्य दो विसर्पों से कम कष्टकारी होता है।

बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम् ॥

साध्यासाध्यता—बाहरी मार्ग (त्वचा) में आश्रित विसर्प साध्य होता है, उभयाश्रित अर्थात् बाहरी मार्ग तथा भीतरी मार्गों में आश्रित विसर्प असाध्य होता है। जो विसर्प भीतरी धातुओं में आश्रित होता है, वह अत्यन्त कष्टसाध्य होता है।

वक्तव्य—प्रस्तुत श्लोक द्वारा महर्षि आत्रेय अग्निवेश के सातवें प्रश्न **'सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः'** का उत्तर दे रहे हैं। साध्य, कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य क्रम के अनुसार उपर्युक्त श्लोक के विषय का क्रम यह है—बहिर्मार्गाश्रित विसर्प साध्य होता है, अन्तराश्रित विसर्प कष्टसाध्य और उभय मार्गाश्रित विसर्प असाध्य होता है। इसकी तीनों अवस्थाओं में किसी भी अवस्था को सुखसाध्य नहीं कहा जा सकता। चरक सूत्रस्थान अ० ११।४८-४९ में तीन प्रकार के रोगमार्गों का वर्णन करते हुए कहा गया है—'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः'। इसी के आगे कहा है—'बहिर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः'।

सुश्रुत ने साध्य-असाध्य का विचार दूष्यों के अनुसार न करके दोषों के अनुसार किया है—'सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः, सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति। पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिङ्गौ सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्याः' ॥ सु० नि० अ० १०।८। भोज के अनुसार—'वर्ज्यस्तु क्षतजस्तेषां सन्निपातात्तु यो भवेत्। भिषजा जानता त्याज्याः सर्व एव तु मर्मजाः ॥ भोजसंहिता, विसर्पचिकित्सा-प्रकरण।

अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये। बहिर्बहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥२५॥

दोष-प्रसर्पण-प्रकार—जब वात आदि दोष भीतरी धातुओं में जाकर प्रकुपित होते हैं, तब उनका विसर्पण (फैलाव) भीतर होता है, जब वात आदि दोष बाहरी धातु (त्वचा) में प्रकुपित होते हैं। तब उनका विसर्पण बाहर की ओर ही होता है और जब कुपित वात आदि दोषों का सम्बन्ध बाहरी और भीतरी दूष्यों (त्वचा, रक्त, लसीका, मांस) के साथ होता है, तब वे दोनों (बाहरी-भीतरी) मार्गों पर विसर्प रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

मर्मोपघातात् सम्मोहादयनानां विघट्टनात्। तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात् ॥२६॥
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात्। अतो विपर्ययाद् बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणैः ॥२७॥

आभ्यन्तराश्रित विसर्प के लक्षण—मर्मस्थलों पर आघात लगने से सम्मोह (मूर्च्छा या बेहोशी) से, श्वास-मार्ग तथा आहार-मार्ग के विघट्टन (किसी कारण परस्पर टकरा जाने या रुक जाने) से, प्यास के अधिक लगने से, अथवा तृष्णा के अतियोग से जिसके कारण तालु आदि सूखने लगते हैं उससे, वेगों (मल, मूत्र, अपानवायु) के विषम रूप से प्रवृत्त होने से, अग्निबल के क्षीण होने से अन्तराश्रित विसर्प को जानना चाहिए।

बाह्याश्रित विसर्प के लक्षण—उपर्युक्त लक्षणों तथा कारणों के विपरीत लक्षणों वाले तथा अपने (अन्य विसर्प के) लक्षणों से युक्त विसर्प को बाह्याश्रित समझना चाहिए।

वक्तव्य—अन्तराश्रित विसर्प आहारनलिका में फैला रहता है। अतएव उसमें मर्म पीड़ा आदि विशेष लक्षण पाये जाते है। यह अत्यन्त घातक होता है। कभी-कभी इसका प्रकोप मुख-मार्ग से लेकर गुद-मार्ग तक देखा जाता है, रोगी इस स्थिति में असाध्य हो जाता है। बाह्य विसर्प में त्वचा में शोथ, पाक होने के साथ वात आदि दोषानुसार लक्षण देखे जाते हैं।

यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्। यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः॥

विसर्प की असाध्य स्थिति—जिस विसर्प रोग में सभी लक्षण हों, अर्थात् जो उभयाश्रित (आभ्यन्तर तथा बाह्य मार्ग में आश्रित) हो, जिस विसर्प रोग के उत्पत्ति-कारण बलवान् हों, जिसमें कष्टकारक सभी उपद्रव उपस्थित हों और जो विसर्प मर्मस्थानों तक पहुँच चुका हो, वह रोगी को मार डालता है।

वक्तव्य—श्रीमाधवकर ने विसर्प के उपद्रवों की गणना इस प्रकार की है—'ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः। अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः' ॥ माधवनिदान ५२।२४।

रूक्षोष्णैः केवलो वायुः पूरणैर्वा समावृतः। प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम्॥

वातज विसर्प : निदान एवं सम्प्राप्ति—रूक्ष, उष्ण आहार-विहारों के सेवन से यदि केवल वायु कुपित हुई हो अथवा अधिक मात्रा में किये गये आहार के कारण आवृत (घिरी हुई) तथा दूषित वायु रक्त आदि दूष्यों (जिन्हें वात आदि दोष दूषित करते हैं) को दूषित करती हुई अपने बल के अनुसार वातज विसर्प को उत्पन्न कर देती है।

तस्य रूपाणि—भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमककासास्थिसन्धिभेदविश्लेषणवेपनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिकासञ्चार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो [1]विसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणाभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायामसङ्कोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविशदारुणाल्पास्रावैः, विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः॥ ३०॥

वातज विसर्प के लक्षण—वातज विसर्प रोग में भ्रम (चक्करों का आना), दवथु (दाह, पीड़ा या आँखों में सूजन), प्यास का लगना, शरीर में चुभने की-सी पीड़ा, शूल, अंगों में मसल देने की-सी पीड़ा, उद्वेष्टन (अंगों में ऐंठन का होना), शरीर में कम्पन के साथ ज्वर का होना, तमकश्वास, कास, अस्थि-सन्धियों में फटने की-सी पीड़ा का होना, सन्धियों का ढीला पड़ना, कम्पन का होना, अरोचक, अविपाक (भोजन का ठीक प्रकार से न पचना), आँखों के सामने चकाचौंध का होना, आँखों से आंसुओं का निकलते रहना, शरीर पर चिउँटियों के रेंगने का-सा अनुभव होना, शरीर के जिस अवयव पर विसर्प रोग होकर फैलता है, वह अवयव श्याव (गहरा भूरे रंग का) तथा अरुण वर्ण की आभा वाला हो जाता है, शोथ युक्त उस अवयव में सुइयों के चुभने की-सी पीड़ा, फटने की-सी पीड़ा, शूल, आयाम (तनाव), संकोच (सिकुड़न), हर्ष (रोमांच), बार-बार अंगों का फड़कना तथा पीड़ा—ये लक्षण होते हैं। यदि इसकी उचित चिकित्सा नहीं हो पाती है, तो शीघ्र फटने वाली, पतली, अरुणवर्ण वाली अथवा श्याववर्ण वाली, पतले, विशद, अरुणवर्ण के स्रावयुक्त पिडकाओं से वह अवयव भर जाता है, उसके मल, मूत्र, अपानवायु के स्वाभाविक क्रम में रुकावट आ जाती है। विसर्परोग के निदान में कहे गये कारणों का सेवन इसमें अनुकूल नहीं होता और उसके विपरीत कारणों (आहार-विहारों) का सेवन इसके लिए हितकारक (उपशय) होता है। यह वातज विसर्प है।

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम्। दूष्यान् सन्दूष्य [2]धमनीः पूरयन् वै विसर्पति॥

पित्तज विसर्प : निदान एवं सम्प्राप्ति—उष्ण एवं उष्णवीर्य वाले पदार्थों से युक्त आहार-विहारों के सेवन से, विदाहकारक पदार्थों एवं अम्लरस के सेवन से संचित हुआ पित्तदोष विसर्परोग के दूष्यों (त्वचा, रक्त, लसीका तथा मांस) को दूषित करके धमनियों को पूरित करता हुआ विसर्परोग को उत्पन्न कर देता है।

१. 'अनुसर्पति' इति पा०।　　२. 'मार्गांश्च' इति पा०।

वक्तव्य—वात आदि दोषों के प्रकोप में धमनियाँ उस-उस दोष के कारण फूल जाती हैं, अर्थात् भर जाती हैं। अन्तर इतना ही है, कि इस प्रकरण में उक्त विषय को स्पष्टरूप से शब्दतः कह दिया है और दोषों के वर्णन में नहीं कहा गया है, अतः इसका सम्बन्ध सर्वत्र जोड़ लेना चाहिए।

तस्य रूपाणि—ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं हरितहारिद्ररूपदर्शनं च यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसम्भेदनपरीतैः स्फोटकैरुपचीयते तुल्यवर्णास्रावैश्चिरपाकैश्च, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः॥ ३२॥

पित्तज विसर्प के लक्षण—पित्तज विसर्प रोग में तीव्रज्वर, तृष्णा (प्यास का बार-बार लगना), मूर्च्छा (बेहोशी), मोह, छर्दि (वमन), भोजन के प्रति रुचि का न होना, अंगों में फटने की-सी वेदना का होना, बार-बार पसीना आना, अत्यन्त भीतरी जलन का होना, प्रलाप (अंट-संट बकना), शिर में पीड़ा, आँखों में आँसुओं का भर जाना, नींद का न आना, बेचैनी, चक्करों का आना, ठंडी हवा तथा शीतल जल की अधिक इच्छा होना, आँख, मल, मूत्र का हरा या पीला हो जाना, हरे-पीले पदार्थों का दिखलायी देना, जिस स्थान पर यह पित्तज विसर्प फैलता है, वह स्थान ताम्रवर्ण, हरा, पीला, नीला, काला अथवा लाल वर्णों में से किसी एक वर्ण को पुष्ट कर देता है, अर्थात् वह स्थान इनमें से किसी एक वर्ण के सदृश दिखलायी देने लगता है। वह स्थान उत्सेध (ऊँचाई) युक्त हो जाता है, उस स्थान पर अत्यन्त दाह होने लगता है, फटने की-सी पीड़ा होती है, इसी वर्ण की पिडिकाएँ उसपर उभर आती हैं और उसी वर्ण का उन पिडकाओं से स्राव होने लगता है, ये पिडकाएँ देर में पकती हैं, पित्तज विसर्प के जो निदानोक्त कारण कहे गये हैं, वे इसमें लाभकारक नहीं होते, उनसे विपरीत द्रव्यों का सेवन इसमें लाभदायक होता है। यह पित्तज विसर्प है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'तुल्यवर्णास्रावैश्चिरपाकैश्च' यह पाठ उपलब्ध है। श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित प्रति में 'तुल्यवर्णास्रावैरचिरपाकैश्च' यह पाठ मिलता है, जो विषय की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। आप ध्यान दें—प्रत्येक व्रणशोथ का पाक पित्तदोष के बिना नहीं होता और यहाँ पित्तज विसर्प में ही उसे 'चिरपाकवान्' कहा गया है, यह निश्चय ही परवर्ती संस्कर्ताओं की भूल है। अन्य संहिताकारों ने भी पित्तज विसर्प को 'अचिरपाकी' कहा है। देखें—पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाकस्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः। दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात् स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिद्ध्येत्' ॥ सु० नि० अ० १०।५। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः'। अ० सं० नि० अ० १३।४९। इन सभी उल्लेखों से पित्तज विसर्प व्रणों की शीघ्रपाकिता सिद्ध होती है, न कि चिरपाकिता।

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसञ्चितः। कफः सन्दूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति॥३३॥

कफज विसर्प : निदान एवं सम्प्राप्ति—स्वादु (मधुर), अम्ल (खट्टे), नमकीन, स्निग्ध (चिकने) तथा गुरुपाकी द्रव्यों का सेवन करने से, दिन में अधिक सोने से संचित हुआ कफदोष विसर्प रोग के दूष्यों (त्वचा, रक्त, लसीका और मांस) को दूषित करते हुए बड़ी कठिनता के साथ अर्थात् धीरे-धीरे शरीर के अवयवों में फैलकर विसर्परोग को उत्पन्न कर देता है।

तस्य रूपाणि—शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं स्निग्धमास्रावं स्रवति, ऊर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहुलत्वगुपलेपैर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः॥३४॥

कफज विसर्प के लक्षण—कफज विसर्परोग में रोगी शीत (सर्दी) से पीड़ित रहता है, उसे जाड़ा देकर ज्वर आता है, शरीर में भारीपन, निद्रा का लगना, तन्द्रा (उंघाई), भोजन के प्रति अरुचि, मुख का मीठापन, मुख के भीतर कफ से लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, बार-बार थूकने की प्रवृत्ति का होना, वमन, आलस्य, गीले कपड़े से शरीर का ढका-सा प्रतीत होना, जठराग्नि का मन्द पड़ जाना, दुर्बलता का अनुभव होना और जिस स्थान पर विसर्प रोग उत्पन्न होता है, उस स्थान पर सूजन का होना, पीलापन दिखलायी देना, हलका लाल वर्ण वाला होना, ऊपर से चिकनापन, सुप्ति (स्पर्शज्ञान का अभाव), जकड़न युक्त तथा भारीपन से युक्त, थोड़ी वेदना वाला, बहुत देर में पकने वाला, चिरकारी (बहुत दिनों तक ठीक न होने वाला), उस स्थान की त्वचा मोटी हो जाती है, गाढ़े मवाद वाले फोड़ों से युक्त होती है, उन फोड़ों का वर्ण सफेद या पीला दिखलायी देता है, फूट जाने पर सफेद, चिकनायी युक्त, ताँतों वाला, गाढा, लगातार स्निग्ध पूय का स्राव होता रहता है, उस त्वचा के ऊपर मोटे, स्थिर रहने वाले जाल बिछे रहते हैं। चिकने, मोटे, त्वचा के ऊपर लगे हुए व्रणों का सम्बन्ध निरन्तर बना ही रहता है, यह कफज विसर्प जल्दी साथ नहीं छोड़ता है। इस रोग के कारण रोगी के नाखून, नेत्र, मुख, त्वचा, मल एवं मूत्र इनका वर्ण सफेद हो जाता है। कफज विसर्प के जो-जो निदानोक्त कारण कहे गये हैं, वे कारण इसके अनुकूल नहीं होते हैं, उनके विपरीत आहार-विहार इसको अनुकूल होते हैं। यह कफज विसर्प है।

वक्तव्य—इस प्रसंग में भी सुश्रुत एवं वृद्धवाग्भट के वचनों का अनुशीलन संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत के अनुसार कर लेना चाहिए।

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः। परस्परं लब्धबलं दहद्गात्रं विसर्पति ॥३५॥

वातपित्तज विसर्परोग की सम्प्राप्ति—अपने-अपने प्रकोपक कारणों से अधिक मात्रा में कुपित हुए वात तथा पित्तदोष आपस में एक-दूसरे के बल को प्राप्तकर शरीर के अवयवों को जलाते हुए शरीर में फैलकर द्वन्द्वज विसर्प को पैदा कर देते हैं।

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्यतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसन्धिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति, अग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाशुेव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां, हिक्काश्वासौ जनयति, नाशयति निद्रां, स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलभते अरतिपरीतः स्थानादासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति, क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति, दुर्बलो दुःखप्रबोधश्च भवति; तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ३६ ॥

वातपित्तज विसर्परोग के लक्षण—उन (वातज-पित्तज विसर्प रोग) के उपताप (पीड़ा) से पीड़ित रोगी को ऐसा लगता है, मानो उसके सम्पूर्ण शरीर के ऊपर जलते हुए आग के अंगार फैला दिये हों, क्योंकि पित्त स्पष्ट रूप से आग है और वातदोष उसे प्रज्वलित कर रहा है। और वह छर्दि (वमन), अतिसार, मूर्च्छा, दाह, मोह, ज्वर, तमकश्वास, अरोचक (भोजन के प्रति अनिच्छा), अस्थि-सन्धियों में फटने की-सी पीड़ा, तृष्णा, भोजन का ठीक प्रकार से पाक न होना (इसमें कारण यह है कि पित्त (अग्नि) के रहते हुए भी इसमें वातदोष का संपर्क पाक होने में बाधक होता है। आप देखें—चूल्हे की आग से सामान्य स्थिति में भोजन का पाक होता है, यदि आँधी या तेज हवा चलती रहती है, तो वह आग को उड़ा ले जाती है, फलतः ठीक पाक नहीं हो पाता, वही स्थिति यहाँ भी है), अंगों में फटने की-सी पीड़ा का होना—इन कारणों से वह पीड़ित रहता है।

शरीर के जिस-जिस अवयव में विसर्प सरकता (फैलता) है, वह-वह शरीरावयव शान्त (बुझे हुए) अंगार के वर्ण का अथवा अत्यन्त रक्तवर्ण वाला हो जाता है। उन-उन स्थानों में आग से जल जाने पर जैसे फफोले पड़ जाते हैं, उस प्रकार के फफोलों से युक्त हो जाता है। यह (द्वन्द्वज) विसर्प शीघ्रगामी (जल्दी इधर-उधर फैलने वाला) होने के कारण शीघ्र ही मर्म (हृदय) की ओर फैलने लगता है। जब मर्म प्रदेश

(हृदय) में जाकर यह अपना कष्ट देता है, तब अत्यन्त बलवान् वायु अंगों को फाड़ देने के समान पीड़ा उत्पन्न कर देती है तथा रोगी को बेहोश कर देती है, हिक्का और श्वास को पैदा कर देती है, निद्रा का नाश कर देती है, नींद के न आने एवं बेहोशी के कारण दुःखित चित्त वाला वह रोगी किसी प्रकार सुख नहीं पाता, वह बेचैन रहता है, अपने स्थान (आसन) से अपनी शय्या पर चला जाना चाहता है, इस तरह अत्यन्त कष्ट उठा लेने के बाद उसे शीघ्र ही नींद आ जाती है। ऐसा दुर्बल रोगी सो जाने के बाद जल्दी जागता नहीं। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त वह 'अग्निविसर्प' का रोगी चिकित्सा के अयोग्य हो जाता है।

वक्तव्य—अग्नि की भाँति जलन पैदा करता हुआ यह विसर्प शरीर में फैलता है, अतएव इसे **'अग्निविसर्प'** कहते हैं; इसीलिए इसे 'अचिकित्स्य' या असाध्य कहते हैं। वृद्धवाग्भट ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। देखें—अ० सं० नि० अ० १३।५१-५७। प्रारम्भ के लक्षणों में महर्षि आत्रेय ने **'नाशयति निद्राम्'** और बाद में **'क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति'** कहा है। किन्तु वृद्धवाग्भट ने उस निद्रा में—'मनोदेहश्रमोद्भवाम्, निद्राम् अश्नुते' ऐसा कहकर स्पष्ट कारण-निर्देश किया है, अतएव वह **'दुष्प्रबोध'** होता है, अर्थात् वह रोगी जगाने पर भी शीघ्र नहीं जागता है। इस प्रसंग में वास्तविक निद्रा तथा अवास्तविक निद्रा के सम्बन्ध में तन्त्रकारों ने क्या कहा है; इसका पर्यवेक्षण करें, देखें—च० सू० अ० २१।३५, ५८-५९; सुश्रुत-शारीरस्थान अ० ४।३३ भी देख लें।

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना। विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति देहिनम् ॥३७॥

कफपित्तज विसर्परोग की सम्प्राप्ति—अपने-अपने प्रकोपक कारणों के अत्यधिक सेवन करने से अधिक मात्रा में कुपित हुए कफ और पित्तदोष शरीर के किसी एक अवयव पर संचित होकर विसर्प रोग को पैदा कर देते हैं। वह विसर्प शरीर के जिस अवयव पर उत्पन्न हो जाता है, उस स्थान पर पूय (मवाद) युक्त व्रणों को पैदा कर देता है।

तद्विकाराः—शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रायोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायश्चामाशये विसर्पत्यलसक एकदेशग्राही च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभः कालो मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसन्दर्शी कुणपगन्धी च भवति संज्ञास्मृतिहन्ता च; तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ३८ ॥

कफपित्तज विसर्प रोग के लक्षण—कफपित्तज विसर्प रोगी को शीत (जाड़ा लगकर) ज्वर आता है, शिर में भारीपन, शरीर में जलन, शरीर का गीले कपड़े से ढका हुआ-सा मालूम पड़ना, अंगों में पीड़ा, नींद का लगना, तन्द्रा (उँघाई का बना रहना), मोह (अज्ञान), अन्न (आहारद्रव्य) के प्रति अनिच्छा, प्रलाप (अंटसंट बकना), जठराग्नि का मन्द पड़ जाना, दुर्बलता, हड्डियों में फटने की-सी पीड़ा, मूर्च्छा (बेहोशी), प्यास का अधिक लगना, शरीर के स्रोतों (छिद्रों) में कफ का लेप हुआ-सा प्रतीत होना, इन्द्रियों में जड़ता (अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति का अभाव), प्रायोपवेशन (उपवास अथवा प्रायः मल त्याग करना, किन्तु यह अर्थ प्रसंग-प्राप्त प्रतीत नहीं होता, इसके स्थान पर अन्य संस्करणों में 'आमोपवेशन' शब्द पाठभेद के रूप में देखा जाता है, जिसका अर्थ होता है—आँव युक्त मल का त्याग), अंगविक्षेप (हाथ-पैरों का इधर-उधर पटकना), अंगों में मसलने की-सी पीड़ा का होना, अरति (बेचैनी), उत्सुकता की उत्पत्ति—ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यह कफपित्तज विसर्प प्रायः आमाशय में उत्पन्न होता है अथवा शरीर के किसी एक अवयव पर अपना आक्रमण करता है। जिस स्थान पर यह विसर्प रोग फैलने लगता है, वह स्थान लाल, पीली, पाण्डुवर्ण की पिड़िकाओं से घिर जाता है, वह स्थान मेचक वर्ण का, काला, मलिन, स्निग्ध, अत्यन्त ऊष्मा वाला, गुरु, अल्प-वेदना वाला, सूजन वाला, भीतर तक पकने वाला, स्रावरहित, जल्दी ही गीलापन वाला, उसकी त्वचा तथा

मांस में स्वेद (पसीना), क्लेद (गीलापन) तथा दुर्गन्ध आ जाती है। धीरे-धीरे उसकी वेदना कम होने लगती है। जहाँ विसर्परोग हुआ है, उसे हाथ से स्पर्श करने पर उस स्थान का चर्म आदि फटने, फटने लगता है, यदि उस स्थान को दबाया जाय तो उस जगह पर कीचड़ की भाँति उसमें गड्ढा हो जाता है, उस स्थान से विलक्षण युक्त तथा दुर्गन्धित मांस निकलता रहता है, उस घाव में से सिराएँ तथा स्नायु दिखलायी देने लगती है, उस घाव में से सड़े हुए मुर्दे की-सी गन्ध आने लगती है, यह विसर्प संज्ञा और स्मृति (यादगार) का विनाश कर देता है, इन लक्षणों को देखकर उसे कर्दम विसर्प का रोगी समझना चाहिए। यह कर्दम विसर्प रोग अचिकित्स्य (असाध्य) होता है।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से इस कर्दम विसर्प रोग को सेल्यूलो क्यूटेनियस एरिसिपेलस (Cellulo cutaneous erysipelas) कहते हैं। आयुर्वेदीय तथा एलोपैथिक दोनों दृष्टियों से यह रोग असाध्य होता है। यदि इसके सभी लक्षण न हों और कोई उपद्रव न हों तो चिकित्सा करने पर लाभ हो सकता है। इसे कर्दम विसर्प इसलिए कहते हैं कि जिस स्थान पर यह विसर्प उत्पन्न होता है, उस स्थान को गलाकर कीचड़ जैसा बना देता है।

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिकर्मशीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते; तत्र वायुः श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये सञ्जनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितं ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां वा दीर्घवृत्तरक्तानां, तदुपतापाज्ज्वरातिसारकासहिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचका-विपाकप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनाद्याः प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः; स एतैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ॥ ३९ ॥

कफवातज विसर्परोग की सम्प्राप्ति—स्थिर, गुरु, कठिन, मधुर, शीत, स्निग्ध अन्न (आहार), पान (पेयों) का सेवन करने से तथा अभिष्यन्दी (कफकारक) अन्न-पानों के सेवन से, व्यायाम (किसी प्रकार का भी शारीरिक श्रम) न करने से, जो समय पर बढ़े हुए दोषों का वमन-विरेचन आदि द्वारा निर्हरण (संशोधन) नहीं करते उनके शरीर में कफ तथा वातदोष प्रकुपित हो जाते हैं। वे दोनों दुष्ट (दूषित) तथा प्रवृद्ध (अत्यन्त बढ़े हुए) अतएव बलवान् होकर विसर्परोग के दूष्यों (त्वचा, रक्त, लसीका, मांस) को दूषित करके विसर्प रोग की उत्पत्ति कर देते हैं। इसमें कफ तथा वायु दोनों बढ़े होते हैं, किन्तु बढ़े हुए वायु-मार्ग को जब बढ़ा हुआ कफ रोक देता है, तब वह बलवान् वायु उस कफ को अनेक भागों में बाँटकर (टुकड़े-टुकड़े करके) कफाशय (श्लेष्माशयः स्यादुरसि) अर्थात् उरःप्रदेश में कठिनता से पकने वाली अतएव कष्टसाध्य ग्रन्थियों की माला (अनेक ग्रन्थियों) को उत्पन्न कर देती है। जिस व्यक्ति के शरीर में रक्त की मात्रा अधिक बढ़ी हो, उस रक्त को प्रकुपित कफ तथा वातदोष दूषित करके शिरा, स्नायु, मांस, त्वचा में आश्रित ग्रन्थियों की माला को पैदा कर देते हैं। इन ग्रन्थियों (गाँठों) में अधिक वेदना होती है, ये ग्रन्थियाँ कुछ बड़ी, कुछ छोटी, कुछ लम्बी, कुछ गोलाकार तथा कुछ लालिमायुक्त होती हैं।

ग्रन्थि-विसर्प के उपद्रव—इन ग्रन्थि-विसर्पों के उपताप (कष्ट) से ज्वर, अतिसार, कास, हिक्का, श्वास, शोष, प्रमोह (बेहोशी), विवर्णता, भोजन के प्रति अरुचि, अविपाक (भोजन का ठीक प्रकार से न पचना), प्रसेक (मुख से लार का निकलना), छर्दि (वमन), मूर्च्छा, अंगों का टूटना, निद्रा, बेचैनी, शरीर का शिथिल हो जाना आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वह रोगी इन उपद्रवों से युक्त तथा ग्रन्थि-विसर्प रोग से पीड़ित सभी प्रकार की चिकित्साओं के अयोग्य हो जाता है, अतएव उसे छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह ग्रन्थिविसर्प असाध्य होता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी प्रायः इसी प्रकार का वर्णन किया है। देखें—अ० सं० नि० अ० १३।५८-६१। चरकसंहिता में कहे गये ग्रन्थि-विसर्प के उपद्रवों के रूप में एक लक्षण 'शोष' भी दिया है, जो अनेक प्रकार के शोष का संकेतक है, किन्तु वृद्धवाग्भट ने उसके स्थान पर 'आस्यशोष' कहा है, जिसका एक ही अर्थ होता है—मुख का सूखना। हो सकता है महर्षि आत्रेय को भी यही अभीष्ट रहा हो। अन्यत्र ग्रन्थि-विसर्प में मेदोधातु को दूष्य माना गया है, किन्तु यहाँ तो स्पष्टरूप से रक्त को ही दूष्य स्वीकार किया गया है। देखें—'प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितं ग्रन्थीनां मालां कुरुते'। गाँठों के रूप में उत्पन्न होने के कारण ही इसे 'ग्रन्थिविसर्प' कहते हैं।

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा, रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणभूत[1] उपद्रवः, तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्; तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत ॥ ४० ॥

उपद्रव का लक्षण—प्रधान रोग के उत्पन्न होने के बाद जिस अन्य व्याधि का जन्म उसी रोग के साथ हो जाता है, उसे 'उपद्रव' (Complication) कहते हैं, वह भले ही बड़ा हो या छोटा। प्रधान रोग से बाद में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम उपद्रव है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार समझें—प्रधान मूलव्याधि होती है और उसी व्याधि का गुणभूत (अप्रधान) उसका उपद्रव कहा जाता है। प्रायः देखा जाता है कि मूलव्याधि की समुचित चिकित्सा करने पर उस उपद्रव की भी शान्ति (निवृत्ति) हो जाती है। वह उपद्रव व्याधि की तुलना में अधिक पीड़ा करने वाला होता है, क्योंकि पहले मूलव्याधि के कारण ही शरीर कष्ट पा रहा था, उसके बाद उपद्रव के रूप में उत्पन्न अन्य व्याधि और भी कष्टकारक हो जाती है। इसलिए उस उपद्रव की शीघ्रतापूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर ३९वें गद्य में ग्रन्थि-विसर्प में होने वाले ज्वर आदि उपद्रवों की गणना की गयी है। यहाँ केवल उपद्रव किसे कहते हैं और उसके उत्पन्न हो जाने पर क्या करना चाहिए, इसका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उपद्रव का जो लक्षण महर्षि आत्रेय ने दिया है, कालान्तर में उसी आशय को भावमिश्र ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है—'रोगारम्भकदोषस्य प्रकोपादुपजायते। योऽन्यो विकारः स बुधैरुपद्रव इहोदितः'॥ भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ५। ये उपद्रव एक अथवा अनेक भी होते हैं, या हो सकते हैं। प्रायः इन उपद्रवों का उल्लेख तन्त्रकारों ने प्रत्येक रोग-वर्णन के साथ किया है। अरिष्ट-लक्षण उपद्रव से सर्वथा भिन्न होते हैं।

जिस रोग-सामान्य के जो लक्षण कहे गये हैं, जब वह रोग अपना विशिष्ट रूप धारण करता है, इन दोनों अवस्थाओं में उसके लक्षणों में जो अन्तर आता है, उन्हें उपद्रव नहीं कहा जा सकता है। जैसे—सामान्य ज्वर के लक्षण कुछ और कहे गये हैं तथा वात ज्वर आदि के अपने-अपने स्वतन्त्र लक्षण कहे गये हैं। देखें—ज्वरनिदान-प्रकरण। उपद्रव की एक परिभाषा इस प्रकार की भी मिलती है, जिसमें उस उपद्रव को **'उपक्रमाविरोधी'** कहा गया है। यह परिभाषा 'तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति', इस गद्यांश को समर्थन देती है, किन्तु इसी प्रसंग में कहा गया 'तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत' यह गद्यांश कुछ मतभेद-सा उपस्थित करता है, इसका तात्पर्य उक्त गद्यांश का विरोध करना नहीं है, अपितु यह उपद्रव मूलव्याधि की अपेक्षा अधिक कष्टदायक होता है, अतएव उसकी शीघ्र शान्ति करनी चाहिए, यह तन्त्रकार का आशय है।

व्याधेर्गुणभूतः—यद्यपि निर्णयसागरीय प्रति में ऐसा पाठ दिया गया है, किन्तु इससे 'गुणीभूतः' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि हम 'गुणभूतः' पाठ को ही ठीक मानें तब हमें इस प्रकार की अर्थ-योजना करनी होगी। गुण दो प्रकार के होते हैं—१. सद्गुण और २. दुर्गुण; उपद्रव को सद्गुण मानना कोई स्वीकार नहीं करेगा, हाँ व्याधि का गुण उसे कहा जा सकता है, क्योंकि वह व्याधि को बढ़ा रहा है। यहाँ पर जब मूलव्याधि को प्रधान कहा है, तो 'उपद्रव' को गौण कहा ही जायेगा। इस 'गौण' अर्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य 'गुणीभूत' शब्द में ही है।

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपात-विसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ४१ ॥

---

१. 'गुणीभूतः' इति पा०।

असाध्य सन्निपातज विसर्प रोग—सन्निपातज विसर्परोग में कहे गये सभी के निदानों से उत्पन्न सभी दोषों के अपने-अपने लक्षण होते हैं। इस रोग की गति सभी धातुओं में होती है। यह शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखलाने वाला तथा अत्यन्त विनाशक होता है, अतः इस सन्निपातज विसर्प को चिकित्सा के अयोग्य (असाध्य) समझना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में दिया गया पाठ 'सर्वलिङ्गव्यापिनं' है, अन्यत्र 'सर्वलिङ्गं सर्वाङ्गव्यापिनं' इस प्रकार का पाठ मिलता है, जो विचारणीय है। वात आदि विसर्पों के दूष्य त्वचा, रक्त, लसीका तथा मांस ही बतलाये गये हैं, किन्तु सन्निपातज विसर्प में इसके दूष्य सभी (सातों) धातु हो जाते हैं। अतः इसे 'अचिकित्स्य' (चिकित्सा के अयोग्य) कहा गया है, दूसरा कारण यह भी है कि यह शीघ्र ही अपना मारक प्रभाव दिखला देता है, इसलिए भी अचिकित्स्य है।

सुश्रुत के अनुसार अपक्व तथा पक्व भेद से यह दो प्रकार का होता है—१. कष्टसाध्य, २. असाध्य। देखें—'सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढः। पक्वो न सिध्यति च मांसशिराप्रशातात्' ॥ सु० नि० अ० १०।६। यह मांस और शिराओं के नष्ट हो जाने पर और विसर्प व्रणों के पक जाने पर तो असाध्य हो जाता है, इसके विपरीत अवस्था में इसे कृच्छ्रसाध्य कहा जाता है। सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट के मत से विसर्परोग का एक भेद और भी होता है, वह है 'क्षतजविसर्प'। इसका परिचय देखें—सु० नि० अ० १०।७ तथा अ० सं० नि अ० १३। ६७-६८। सुश्रुत ने सर्वात्मक (सन्निपातज) एवं क्षतज विसर्पों को असाध्य कहा है—'सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति'। सु० नि० अ० १०।८।

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्या भवन्ति; अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टे मर्मणि अनुपगते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्, अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्याद् देहमाश्वेवाशीविषवत्; तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम्, उपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्; सन्निपातजं तु सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात् ॥ ४२ ॥

विसर्पों की साध्यता-असाध्यता—वातज, पित्तज, कफज ये तीन विसर्प साध्य होते हैं, अग्नि विसर्प एवं कर्दम विसर्प ये दोनों यदि अपने-अपने उपद्रवों से युक्त न हों और ये दोनों विसर्प मर्म-स्थानों में व्याप्त न हुए हों अथवा सिरा, स्नायु, मांस यदि गले न हों, तो साधारण चिकित्सा क्रम (जो उस-उस द्वन्द्व का नाशक) हो, उसका निरन्तर सावधानी के साथ प्रयोग करने से वे दोनों ही शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। यदि अनादर से (प्रमादवश या उपेक्षावश) उनकी चिकित्सा की जायेगी तो उक्त दोनों विसर्पों में से कोई एक आशीविष (जहरीले साँप) की तरह शीघ्र ही शरीर का विनाश कर डालता है। अतः उक्त प्रकार के उपद्रवों से जो ग्रन्थि-विसर्प युक्त न हुआ हो उसकी आरम्भ से ही चिकित्सा करना प्रारम्भ कर दें। उपद्रवों से युक्त ग्रन्थि-विसर्प के रोगी को चिकित्सा की दृष्टि से छोड़ दे और जो सन्निपातज विसर्प का रोगी हो तो उसे सभी धातुओं में आक्रमण करने वाला समझकर, शीघ्र ही अपना कुप्रभाव दिखलाने वाला होने के कारण और चिकित्सा के विरुद्धोपक्रम होने के कारण, अर्थात् वातदोष को शान्त करते समय पित्त की वृद्धि, कफदोष का शमन करते समय वातदोष की वृद्धि आदि विरुद्ध फल दिखलायी देने से इसे असाध्य समझना चाहिए।

वक्तव्य—किसी भी रोग के भेदों की चर्चा प्रत्येक तन्त्रकार ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है, ऐसा एक ही विषय की विभिन्न संहिताओं को देखने से ज्ञात होता है। जैसे—चरक में विसर्प के सात भेद मिलते हैं, किन्तु सुश्रुत, वाग्भट आदि आचार्य क्षतज विसर्प के भी पक्षपाती हैं। महर्षि आत्रेय ने च० सू० अ० १८।३७ में कुछ ऐसे रोगों की चर्चा की है, जो 'ये हन्युरनुपक्रान्ताः' की श्रेणी में आते हैं, इस प्रकार के रोगों में एक 'सन्निपातज विसर्प' भी है। श्री चक्रपाणि ने ३९वें गद्य की टीका में लिखा है—'अयं च ग्रन्थिस्तन्त्रान्तरे अपचीसंज्ञया कथ्यत इत्याहुः'। इसके लिए सुश्रुत नि० अ० ११।१०-१२ देखें।

तत्र साध्यानां साधनमनुव्याख्यास्यामः ॥ ४३ ॥

लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम्। कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपयेत् ॥४४॥

विसर्पचिकित्सा-सूत्र—उन विसर्परोग के भेदों में जो साध्य भेद हैं, उनकी चिकित्सा का हम इसके बाद व्याख्यान करेंगे। यदि विसर्प रोगी के कफाशय में सामदोष स्थित हो तो रोगी के लिए लंघन तथा वमन का प्रयोग प्रशस्त होता है। औषध तथा आहार में तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों का प्रयोग उत्तम होता है। लेप द्वारा उपचार करना हो तो रूक्ष तथा शीतल औषध द्रव्यों का लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय अग्निवेश द्वारा पूछे गये आठवें प्रश्न **'किं तस्य भेषजम्'** का उत्तर यहाँ से दे रहे हैं। श्रीचक्रपाणि ने कफस्थान ऊर्ध्वकाय (श्लेष्माशयस्याद् उरसि), पित्तस्थान से मध्यशरीर (पित्ताशय ही अग्न्याशय है, जो नाभि की बांयी ओर है), मारुताशय शब्द से पक्वाशय से निचले भाग का ग्रहण होता है (आमाशय के नीचे पक्वाशय है)। वाताशय, पित्ताशय तथा कफाशय के विशेष परिचय के लिए देखें—च० सू० अ० २०।८।

पित्तस्थानगतेऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम्। शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥४५॥

पित्तस्थानगत दोषचिकित्सा—यदि विसर्परोग में सामदोष पित्तस्थान में पहुँच गया हो तो लंघन, वमन तथा तिक्त द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। विशेष चिकित्सा के रूप में रक्तमोक्षण और विरेचन भी कराना चाहिए।

वक्तव्य—'विरेकं च विशेषतः' इसका समर्थन चरक सू० अ० २५।४० में इस प्रकार किया गया है—'विरेचनं पित्तहराणां श्रेष्ठम्'। इसमें जो लंघन का विधान किया गया है, वह केवल आमदोष का पाचन करने के लिए है। सभी प्रकार के रक्तविकारों में रक्तमोक्षण उसके दोषों को दूर करने की एक समुचित एवं उत्तम चिकित्सा होती है।

मारुताशयसम्भूतेऽप्यादितः स्याद् विरूक्षणम्। रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥४६॥

वातस्थानगत दोषचिकित्सा—वाताशय में दोष प्रकुपित होकर उनके कारण यदि विसर्प रोग की उत्पत्ति हुई हो, तो सबसे पहले वाताशय को रूक्षताकारक औषधयोगों से उसमें रूक्षता उत्पन्न करनी चाहिए। यदि विसर्प रोग में रक्त या पित्त का अनुबन्ध हो तो ऐसी स्थिति में सबसे पहले स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—इसी का समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० २०।१२।

वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते। लघुदोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद् विरेचनम् ॥४७॥

घृतपान तथा विरेचन-प्रयोग—वातप्रधान विसर्परोग में तथा जिस पित्तज विसर्प में दोषों का प्रकोप अधिक न हुआ हो, उक्त दोनों परिस्थितियों में तिक्त द्रव्यों के योग से तैयार किया हुआ घी अथवा कुष्ठचिकित्साधिकार के श्लोक १४०-१४३ में कहा गया 'तिक्तषट्पलकघृत' का सेवन प्रशंसनीय माना गया है। महादोषयुक्त पित्तज विसर्प में सबसे पहले विरेचन करायें।

न घृतं बहुदोषाय देयं [1]यन्न विरेचयेत्। तेन दोषो ह्युपष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥४८॥

तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद् विसर्पिणः। रुधिरस्यावसेकं च तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम् ॥४९॥

विरेचक घृत-प्रयोग—यदि विसर्प रोग में दोषों की अधिकता हो तो ऐसे घी का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे भलीभाँति विरेचन न हो सके, क्योंकि ऐसे घृत का प्रयोग कर देने से शरीरावयवों में फँसे हुए दोष वहीं रुक जाते हैं और रुके हुए वे दोष क्रमशः त्वचा, रक्त, मांस को पकाने लगते हैं। अतः विसर्प रोग से पीड़ित रोगी को सर्वप्रथम विरेचनकारक औषधयोगों का प्रयोग कराना ही श्रेष्ठ होता है और रुधिर का अवसेचन (मोक्षण) पच्छ लगाकर सिंगी आदि उपायों से करना चाहिए, क्योंकि विसर्परोग को रक्त का आश्रय कहा गया है, आश्रय के विनाश से आश्रयी का विनाश होना स्वतःसिद्ध है।

वक्तव्य—श्लोक ४८ में 'यन्न' के स्थान पर 'तं च' पाठभेद मिलता है। श्रीचक्रपाणि ने यहाँ 'बहुदोषाय' का अर्थ 'बहुपित्ताय' किया है। इसका अर्थ यह होगा—जिस रोगी का पित्तदोष अधिक बढ़ा हो, उसे तीक्ष्ण

१. 'तं च' इति पा०।

विरेचनकारक घृत का सेवन कराना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने प्रायः अविकल रूप से उक्त पाठ को इस प्रकार संग्रह किया है—'न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचनम्। तेन दोषो ह्युपस्तब्धस्त्वग्रक्तपिशितं पचेत्'॥ अ० सं० चि० अ० २०।१७। इसकी टीका करते हुए आचार्य इन्दु ने 'बहुदोषाय' का सम्बन्ध 'विसर्पिणे' शब्द के साथ किया है, न कि 'बहुपित्ताय'। दूसरा उन्होंने 'यन्न' पाठ को महत्त्व दिया है।

इति वीसर्पनुत् प्रोक्तं समासेन चिकित्सितम्। एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यते ॥५०॥

विसर्प की विस्तृत चिकित्सा का प्रस्ताव—इस प्रकार संक्षेप से यहाँ तक विसर्परोग-नाशक चिकित्सा का वर्णन कर दिया है। इसी विषय को मैं पुनः आगे विस्तार से कह रहा हूँ।

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च। वमनं सम्प्रदातव्यं विसर्पे कफपित्तजे ॥५१॥

वामक द्रव्य-प्रयोग—कफपित्तज (द्वन्द्वज) विसर्प रोग में मैनफल, मुलेठी, नीम की छाल, कुटज के फल (इन्द्रजौ), इनका सेवन कराकर रोगी को वमन कराने चाहिए।

वक्तव्य—इन द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके शीतल जल के साथ, या ईख के रस में मिलाकर अथवा नीम की छाल के क्वाथ रस में मिलाकर रोगी को सेवन कराना चाहिए।

पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च। विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ॥५२॥

पटोलादि वामक-प्रयोग—परवल की नाल तथा पत्ते, नीम की छाल, पिप्पली, मैनफल तथा इन्द्रजौ का प्रयोग वमन कराने के लिए विसर्परोग में प्रशंसनीय माना गया है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार उक्त श्लोक में दो योगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। जैसे—१. परवल की पत्ती, नीम छाल और २. पिप्पली तथा मैनफल। इन्द्रजौ के चूर्ण का प्रक्षेप के रूप में प्रयोग करने की सलाह देते हैं। वृद्धवाग्भट ने भी इसी प्रकार का एक योग दिया है—'तत्र मदनेन्द्रयवपटोलपिचुमन्दमधुकेक्षुरसान् वमनेऽवचारयेत्'। अ० सं० चि० अ० २०।३। हमारे विचार से परवल की पत्ती (पित्तनाशक), परवल की नाल (वातनाशक) तथा नीम की छाल, इनका क्वाथ करके पिप्पली, मैनफल तथा इन्द्रजौ के चूर्णों का प्रक्षेप देना चाहिए।

यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम्। विसर्पिणां प्रयोज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥

कल्पस्थानोक्त योग-निर्देश—कफ-पित्त के रोगियों को वमन कराने के लिए जिन योगों को मैं आगे कल्पस्थान में कहूँगा, उनका प्रयोग भी विसर्परोगियों में कराना चाहिए। वे योग दोष-नाशक तथा कल्याणकारक हैं।

वक्तव्य—इन कल्पस्थानोक्त योगों को च० क० अ० १ में धैर्यपूर्वक देखें।

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि। सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः ॥५४॥
कषायान् पाययेद् वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान्।

मुस्तादि तीन कषाय—१. नागरमोथा, नीम की छाल, परवल की पत्तियाँ इन सबको मिलाकर दो तोला द्रव्य लेकर १६ तोला जल में क्वाथ करें, ४ तोला जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। २. लालचन्दन, नीलोफर का भी उसी प्रकार क्वाथ तैयार करें। ३. सारिवा (अनन्तमूल), आँवला, खश, नागरमोथा, इनका भी पूर्ववत् क्वाथ करें। विद्वान् चिकित्सक इन तीनों विसर्पनाशक सिद्ध क्वाथों का पाक कराकर रोगियों को पिलायें।

किराततिक्तकं लोध्रं चन्दनं सदुरालभम् ॥ ५५ ॥
नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सबिभीतकम्। मधुकं नागपुष्पं च दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥५६॥

किराततिक्तादि क्वाथ—चिरायता, पठानीलोध, लालचन्दन, दुरालभा, सोंठ, कमल का केशर, नीलकमल (नीलोफर), बहेड़ा, मुलेठी, नागकेशर इन सब द्रव्यों को मिलाकर दो तोला द्रव्य लेकर १६ तोला जल में पकाकर जब ४ तोला शेष रह जाय तो उसे छानकर विसर्परोग की शान्ति के लिए प्रयोग करें।

प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम्। नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥५७॥

प्रपौण्डरीकादि क्वाथ—पुण्डरियाकाठ, मुलेठी, कमल का केशर, नीलोफर, नागकेशर, पठानीलोध इन सबको समभाग लेकर पूर्वोक्त विधि से क्वाथ तैयार करके विसर्प के रोगी को पीना चाहिए।

द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीं गुडूचीं धन्वयासकम्। निशापर्युषितं दद्यात् तृष्णावीसर्पशान्तये ॥५८॥

द्राक्षादि शीतकषाय—मुनक्का, पितपापड़ा, सोंठ, गिलोय, धमासा—इन सब द्रव्यों को समान भाग में लें, उसमें से दो तोला लेकर छः गुने जल में भिगाकर रातभर पड़ा रहने दें, प्रातः काल उसे दोनों हाथों से मलकर छानकर विसर्प रोगी को पीने के लिए दें। इससे प्यास तथा विसर्परोग की शान्ति होती है।

पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम्। यष्टचाह्वां त्रायमाणां च दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥५९॥

पटोलादि शीतकषाय—परवल की पत्ती, नीम की छाल, दारुहल्दी, कुटकी, मुलेठी, त्रायमाणा, इन सबको समभाग लेकर रख लें। इसमें से दो तोला लेकर शीतकषाय तैयार करके विसर्प के रोगी को पीने के लिए दें, इससे विसर्परोग की शान्ति हो जाती है।

पटोलादिकषायं वा पिबेत् त्रिफलया सह। मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ॥६०॥

विसर्प-नाशक योग—अथवा ऊपर कहे गये पटोलादि शीतकषाय के द्रव्यों में त्रिफला और मसूर की दाल मिलाकर क्वाथ करें। चिकित्सक को चाहिए कि जब क्वाथ तैयार हो जाय तब उसमें घी मिलाकर विसर्परोगी को पीने के लिए दिलाये।

पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च। पाययेत घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ॥६१॥

पटोलादि कषाय—परवल के पत्ते, मूंग की दाल तथा आँवला इन तीनों के क्वाथ रस में घी मिलाकर विसर्परोग से युक्त पुरुष को पिलाना चाहिए।

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिबर्हणम्। निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥६२॥
त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम्। विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात् तदपि बुद्धिमान् ॥६३॥

विविध घृतों का प्रयोग—पित्तज कुष्ठ का विनाशक कुष्ठाधिकार में (च० चि० अ० ७।१४४-१५०) जो 'महातिक्तक घृत' योग कहा गया है, उसका प्रयोग बुद्धिमान् चिकित्सक विसर्प रोगी को भी करायें, उससे विसर्परोग की शान्ति होती है। गुल्मरोग चिकित्सा में (च० चि० अ० ५।११८-१२१) जो 'त्रायमाणादि घृत' कहा गया है, उस सिद्ध घृत को विसर्प रोग की शान्ति के लिए बुद्धिमान् चिकित्सक रोगी को दिलाये।

त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा। घर्माम्बुना वा संयोज्य मृद्वीकानां रसेन वा ॥
विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम्। त्रायमाणाशृतं वाऽपि पयो दद्याद् विरेचनम् ॥६५॥
त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह। प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरनाशनम् ॥६६॥
रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत्। स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥६७॥
दोषे कोष्ठगते भूय एतत् कुर्याच्चिकित्सितम्।

कतिपय विरेचन योग—१. निशोथ के चूर्ण को गाय का घी, दूध, गरम जल अथवा मुनक्के के रस में मिलाकर विरेचन के लिए देना चाहिए, इससे विसर्प रोग का नाश हो जाता है। (इस योग में जितने अनुपान दिये गये हैं, उनमें से किसी एक का ही प्रयोग करना चाहिए। यहाँ अमीरों के लिए घी, दूध, मुनक्के का रस अनुपान है, गरीब के लिए गरम जल)। २. अथवा त्रायमाणा के कल्क को डालकर पकाया गया गाय का दूध पीने के लिए दें, यह भी एक विरेचक योग है। ३. त्रिफला के क्वाथ में घी और निशोथ का चूर्ण मिलाकर पीने के लिए दें, इससे विसर्प तथा ज्वररोग की शान्ति होती है। ४. अथवा आँवलों के रस में घी मिलाकर पीने के लिए दें, इससे विरेचन हो जाता है। यदि रोगी क्रूरकोष्ठ वाला (जिसे सामान्य विरेचक द्रव्यों से विरेचन नहीं हो पाता, उसे गुरुकोष्ठ या क्रूरकोष्ठ कहते हैं) हो तो उसे घी मिलाये हुए आँवलों के रस में निशोथ का चूर्ण भी मिलाकर पीने के लिए दें। उपर्युक्त इन चार योगों का, जब दोष कोष्ठगत हो जाते हैं, तभी प्रयोग किया जाता है, अर्थात् अन्य स्थितियों में इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥ ६८ ॥

भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत् । पित्तान्वितं जलौकोभिः, कफान्वितमलाबुभिः ॥६९॥

यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम् । त्वङ्मांसस्नायुसङ्क्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥७०॥

शाखागत विसर्प-चिकित्सा—कोष्ठगत विसर्प दोषों की चिकित्सा का वर्णन करने के बाद अब हम शाखागत विसर्प की चिकित्सा का वर्णन कर रहे हैं—यदि शाखागत रक्त दूषित हो गया हो तो सबसे पहले रक्तमोक्षण कराना चाहिए। यहाँ शाखा शब्द से रक्त आदि धातु तथा त्वचा का ग्रहण किया जाता है। वातदोष से यदि रक्त दूषित हुआ हो तो चिकित्सक को चाहिए कि वह विषाण (सिंगी) से रक्त का निर्हरण करें। यदि पित्तदोष से रक्त दूषित हुआ हो तो जौंक लगाकर रक्त को निकालना चाहिए (इसके लिए सु० सू० अ० १३ सम्पूर्ण का अध्ययन कर लें)। यदि कफदोष से रक्त दूषित हुआ हो तो तुम्बी लगाकर रक्त निकालना चाहिए। जिस स्थान में विकार (विसर्प रोग) हो उसके समीप वाली सिरा का बेधन करायें। क्योंकि रक्त की क्लिन्नता से त्वचा, मांस, स्नायु आदि भी सड़ने लगते हैं। अतः रक्तमोक्षण-क्रिया द्वारा सबसे पहले रक्त की शुद्धि कर लेनी चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय के लिए रक्तमोक्षण विषय 'पराधिकार-चर्चा' है। वे इसमें विस्तारपूर्वक कुछ नहीं कहना चाहते थे, अतएव उन्होंने संक्षेप में सब कुछ कह दिया। इसके लिए सुश्रुत का अवलोकन, मनन तथा योग्य चिकित्सक की देख-रेख में कर्माभ्यास की आवश्यकता है।

[1]अन्तःशरीरे संशुद्धे दोषे त्वङ्मांससंश्रिते । आदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते ॥७१॥

विसर्प में बहिःपरिमार्जन—वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण आदि जिन चिकित्सा-विधियों का वर्णन इस प्रसंग में किया गया है, उन विधियों द्वारा शरीर का अन्तःपरिमार्जन (भीतरी शुद्धि) हो जाने या कर लेने के बाद जब दोष त्वचा और मांस पर आश्रित हों अथवा प्रारम्भ से ही यहाँ अल्पदोष वाले विसर्प रोगियों की बाह्य चिकित्सा (बहिःपरिमार्जन) विधि का वर्णन किया जा रहा है।

वक्तव्य—यहाँ तक कहे गये योग प्रायः अधिक दोष-दूष्यों से युक्त विसर्प रोगियों के लिए कहे गये हैं, जिनमें अन्तःपरिमार्जन (वमन, विरेचन, लंघन, रक्तमोक्षण) की आवश्यकता होती है। अब यहाँ से त्वचा तथा मांस पर आश्रित विसर्प रोग की चिकित्सा के लिए लेप आदि के प्रयोगों का निर्देश किया जा रहा है। यद्यपि ऐसी अवस्था में भी अन्तःपरिमार्जन-कर्म रोग की शान्ति में सहायक होते हैं। केवल त्वचा पर आश्रित विसर्प में भले ही वमन, विरेचन आदि का प्रयोग दोषों की कमी को देखकर न करें, किन्तु मांसाश्रित विसर्प में शीघ्र लाभ की दृष्टि से इनका सामान्य प्रयोग करा ही लेना चाहिए।

पाठभेद—अनेक संस्करणों में 'अन्तःशरीरे संशुद्धे' के स्थान पर 'एवं निर्हृतदोषाणाम्' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, प्रकरणानुसार दोनों ही पाठ एक ही विषय का संकेत करते हैं।

उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् । नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ॥७२॥

उदुम्बरादि प्रदेह—गूलर की छाल, मुलेठी, कमल का केशर, नीलकमल, नागकेशर, फूलप्रियंगु—इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर पानी डालकर पीस लें, लगाते समय इसमें थोड़ा घी मिला लें, इससे विसर्पजनित व्रणों का रोपण होता है।

वक्तव्य—इन द्रव्यों को उतना ही लेकर पीसें जितने से विसर्प व्रणों पर मोटा-सा लेप लग सके, बासी लेप हितकर नहीं होता है। कुछ परम्पराएँ इस लेप में शतधौतघृत का प्रयोग करती हैं। आप भी करके देखें, क्या सामान्य घृत और इसके प्रयोग में कुछ अन्तर आता है? घृत मिला देने से यह प्रदेह (लेप) जल्दी सूखता नहीं है।

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः । बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः ॥७३॥

1. 'एवं निर्हृतदोषाणाम्' इति पा०।

न्यग्रोधपादादि लेप—बरगद की ताजी जड़ें (जो ऊपर से नीचे को लटकती रहती हैं), केले के पेड़ का भीतरी सुकोमल भाग, बिसग्रन्थि (कमलकन्द), इन सब द्रव्यों को लेकर बारीक पीस डालें, इसमें शतधौत घृत मिलाकर जहाँ विसर्प व्रण हुआ हो उस स्थान पर लेप लगाएँ।

वक्तव्य—यह लेप अत्यन्त शीतल होता है। आग के समान सन्ताप देने वाले विसर्प व्रणों पर इसका लेप करने से रोगी को शान्ति लाभ होता है। शतधौतघृत वैद्यों का सुपरिचित है।

कालीयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ । एला मृणालं फलिनी प्रक्षेपः स्याद् घृताप्लुतः ॥७४॥

कालीयादि प्रलेप—कालीय (कृष्ण चन्दन या पीत चन्दन), मुलेठी, नागकेशर, वन्य (केवटीमोथा), लाल चन्दन, पद्मकाठ, एला (इलायची), मृणाल (खस), फूलप्रियंगु, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर रख लें। इसमें से दो तोला लेकर पानी से बारीक पीसकर उसमें घी मिलाकर विसर्प व्रण के ऊपर मोटा लेप लगायें।

शाद्वलं च मृणालं च शङ्खं चन्दनमुत्पलम् । वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्यात् सतण्डुलः ॥७५॥

शाद्वलादि प्रदेह—दूब, मृणाल (खश), शंख भस्म, चन्दन, नीलकमल, बेत की जड़, चावल इन सबको समान भाग लेकर पानी डालकर बारीक पीस लें, इसके मोटे लेप को विसर्प व्रण में आक्रान्त स्थान पर लगाना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि इस लेप में तन्त्रकार ने घी मिलाने के लिए नहीं कहा है, तथापि यदि इसमें घी मिला लिया जाता है, तो किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। **शाद्वल**—इस शब्द का साहित्यिक प्रयोग इस प्रकार है—**'शादाः हरिततृणानि सन्ति अत्र, वलच्'**। तृणयुक्त या हरी-भरी नयी घास युक्त भूमि। किन्तु आयुर्वेद में इस शब्द से अधिकांश 'दूब' का ग्रहण किया गया है। देखें—अ० हृ० चि० अ० २१४७। दूब उक्त साहित्यिक अर्थ का भी निर्वाह कर देती है।

सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम् । मञ्जिष्ठा चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ॥७६॥

सारिवादि प्रलेप—अनन्तमूल, कमल का केसर, खश, नीलकमल, मजीठ, चन्दन, पठानीलोध, हरड़, इनको समभाग लेकर बारीक पीसकर विसर्प व्रण के ऊपर मोटा लेप लगाना चाहिए।

नलदं च हरेणुश्च लोध्रं [1]मधुकपद्मकौ । दूर्वा सर्जरसश्चैव सघृतं स्यात् प्रलेपनम् ॥७७॥

नलदादि प्रलेप—नलद (खश), हरेणु (सम्भालू के बीज), पठानीलोध, मुलेठी, पद्मक (पद्मकाष्ठ), दूब, राल इन सब द्रव्यों को पीसकर लेप तैयार कर लें, उसमें घी मिलाकर विसर्प व्रण के ऊपर लगायें। इससे शीघ्र लाभ होता है।

यावकाः सक्तवश्चैव सर्पिषा सह योजिताः । प्रदेहो मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः ॥७८॥

यावक प्रदेह—यावक (जौ द्वारा निर्मित यवागू) अथवा जौ के सत्तू को घी के साथ मिलाकर प्रदेह लगायें।

मधुकादि प्रदेह—अथवा मुलेठी, शतावर की जड़, जौ का सत्तू इन्हें समभाग लेकर पीसें, उसमें घी मिलाकर विसर्पज व्रणों के ऊपर लेप करें।

बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम् । कुर्यादालेपनं वैद्यो मृणालं च बिसान्वितम् ॥७९॥

बलादि आलेप—बरियारा की जड़, कमलकन्द, शतावर की जड़, अगरु, लाल चन्दन (कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्'। शार्ङ्गधर) इनको पीसकर लेप तैयार करें।

मृणालादि आलेप—अथवा कमल की डंठी तथा कमलकन्द इन दोनों को समान भाग लेकर बारीक पीसकर लेप तैयार करें। इसको विसर्प व्रण पर लगायें।

यवचूर्णं समधुकं सघृतं च प्रलेपनम् । हरेणवो मसूराश्च समुद्गाः श्वेतशालयः ॥८०॥

1. 'मधुकमुत्पलम्' इति पा०।

पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः सर्वे वा सर्पिषा सह । पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव वा ॥
शङ्खः प्रवालः शुक्तिर्वा गैरिकं वा घृताप्लुतम् ।
(पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम्[1] ।)
प्रपौण्डरीकं मधुकं बला शालूकमुत्पलम् ॥ ८२ ॥

विविध प्रदेह—जौ का आटा, मुलेठी का चूर्ण इन दोनों को समान भाग में लेकर पानी और घी मिलाकर लेप तैयार करें। यद्यपि इसमें जल का विधान नहीं है, तथापि प्रयोग की दृष्टि से ऐसा किया जाता है। पहले पानी डालकर उसे मिला लें, फिर घी डालकर लगा दें अथवा—हरेणु (मटर के बीज या चना), मसूर की दाल, मूंग की दाल, श्वेतशालि (सफेद चावल) इन सबको अलग-अलग पिसवाकर रखें या एक साथ पिसवाकर घी मिलाकर इनका प्रदेह (लेप) विसर्प व्रणों के ऊपर लगायें। (इनका प्रयोग प्रदेह के लिए स्वतन्त्ररूप से भी और एक साथ मिलाकर भी किया जा सकता है। इनको सानने के लिए भी पहले पानी का प्रयोग करना युक्ति-युक्त है और बाद में घी मिलायें।) अथवा—कमलिनी के जड़ में लगा हुआ शीतल कीचड़, पिसी हुई मोती, शंख, प्रवाल (मूंगा), शुक्ति, गेरू इनको अलग-अलग घी में लेप तैयार कर लगायें। ये सभी अलग-अलग तैयार किये गये प्रदेह विसर्प रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए हितकर होते हैं।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'पृथगेते···विसर्पिणाम्'। इस अर्धाली को कोष्ठ के अन्तर्गत दिखाकर नीचे टिप्पणी में लिखा है—'अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते'। किन्तु अन्य संस्करणों में इसकी कोष्ठ-बद्धता दूर हो गयी है।

न्यग्रोधपत्रदुग्धीके सघृतं स्यात् प्रलेपनम् । बिसानि च मृणालं च सघृताश्च कशेरुकाः ॥८३॥
शतावरीविदार्योश्च कन्दौ धौतघृताप्लुतौ । शैवालं नलमूलानि गोजिह्वा वृषकर्णिका ॥८४॥
इन्द्राणिशाकं सघृतं [2]शिरीषत्वग्बलाघृतम् । न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थपल्लवैः ॥८५॥
त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिर्भिः शीतैरालेपनं हितम् । प्रदेहाः सर्व एवैते [3]वातपित्तोल्बणे शुभाः ॥८६॥

न्यग्रोधपत्रादि प्रलेप—बरगद के पत्ते तथा दुधी के पत्तों को पीसकर उसमें घी मिलाकर लेप लगायें। अथवा—विसकन्द, मृणाल (कमलनाल) तथा कसेरूकन्द इनको पीसकर उसमें घी मिलाकर लेप करें। अथवा—शतावरी की जड़ तथा विदारीकन्द इन दोनों को लेकर बारीक पीसकर उसमें शतधौत घी मिलाकर विसर्पों में लेप करें। अथवा—शैवाल (सेवार या काई), नरकट की जड़, वनगोभी, मूषाकर्णी, निर्गुण्डीशाक, इनका लेप बनाकर विसर्प व्रणों पर प्रयोग करें। अथवा—शिरीष (सिरस) की छाल, बरियारा के जड़ की छाल इन दोनों छालों को बारीक पीसकर घी मिलाकर विसर्प व्रणों पर लेप लगायें। अथवा—बरगद, गूलर, पाकड़, बेत एवं पीपलवृक्ष इन सभी के पत्तों तथा छाल का कल्क तैयार करके इसमें पर्याप्त घी मिलाकर विसर्प व्रणों के ऊपर शीतल लेप (इसे गरम न करें) लगायें। यहाँ तक कहे गये ये सभी प्रदेह (आलेप, प्रलेप, लेप) वात-पित्त-प्रधान विसर्परोग में लाभकर होते हैं।

[4]सकफे तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान् । त्रिफलां पद्मकोशीरं समङ्गां करवीरकम् ॥८७॥
नलमूलान्यनन्तां च प्रदेहमुपकल्पयेत् । खदिरं सप्तपर्णं च मुस्तमारग्वधं धवम् ॥८८॥
कुरण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं भिषक् । आरग्वधस्य पत्राणि त्वचं श्लेष्मातकस्य च ॥८९॥
इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरीषकुसुमानि च । शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियङ्गुकाम् ॥९०॥
त्रिफलां मधुकं वीरां शिरीषकुसुमानि च । प्रपौण्डरीकं ह्रीबेरं दार्वीत्वङ्मधुकं बलाम् ॥९१॥
पृथगालेपनं कुर्याद् द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा ।

कफज विसर्प-नाशक प्रदेह—वातपित्तज विसर्पनाशक लेपों का वर्णन करने के बाद अब मैं कफज-विसर्प में हितकारक अन्य प्रदेहों का उपदेश कर रहा हूँ—

१. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।
२. 'देयं वा दाहशान्तये' इति पा०।
३. 'रक्तपित्तोल्बणे हिताः' इति पा०।
४. 'कफजे' इति पा०।

त्रिफलादि प्रदेह—हरड़, बहेड़ा, आँवला इन तीनों के गुठली रहित छिलके, पद्मकाठ, खश, समंगा (मजीठ), कनेर का फूल, नरकट की जड़, अनन्तमूल—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर बारीक पीसकर लेप तैयार करायें। इसका लेप कफज विसर्प रोगी के व्रणों पर लगायें।

खदिरादि आलेप—खैर की छाल से तैयार किया हुआ कत्था, छतिवन की छाल, नागरमोथा, अमलतास, धाय की छाल, कुरण्टक (पिली झिंटी), देवदारु इन द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका लेप तैयार कराकर चिकित्सक इसे लगाने की आज्ञा दे। अथवा-अमलतास की पत्ती, लिसोड़ा की छाल इनका लेप बनाकर लगाने के लिए दें। अथवा—इन्द्राणीशाक (सम्भालू के पत्ते), काकाह्वा (कालीमकोय), शिरीष के फूल इनका लेप तैयार कराकर लेप करने के [illegible] दें। अथवा—सेवार, नरकट की जड़, विदारीकन्द, फूलप्रियंगु, इनका लेप तैयार कराकर विसर्प रोगी को व्रणों पर लगाने के लिए दें। अथवा—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला इनके छिलके), मुलेठी, विदारीकन्द, शिरीष के फूल इनको पीसकर लेप तैयार करें। अथवा—पुण्डरिया काठ, ह्रीबेर (सुगन्धवाला), दारुहल्दी का छिलका, मुलेठी, बरियारा की जड़ इन द्रव्यों का लेप तैयार कर इन सब में थोड़ा-सा घी मिलाकर अलग-अलग आलेपन करें या दो-दो द्रव्यों को अथवा सबको एक साथ मिलाकर प्रयोग करें। ये सभी योग कफज विसर्परोग में लाभदायक होते हैं।

प्रदेहाः सर्व एवैते देयाः स्वल्पघृताप्लुताः ॥ ९२ ॥
वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्ते घृताधिकाः ।

प्रदेहों में घृत-प्रयोग—कफज विसर्प में कहे गये सभी प्रदेहों (प्रलेपों, आलेपों, लेपों) में थोड़ा-सा घी का प्रयोग करना चाहिए और इसके पहले जिन प्रदेहों का उल्लेख वातपित्त-प्रधान विसर्पों के लिए किया गया है, उनमें कफज प्रदेहों से कुछ अधिक घी मिलाना चाहिए।

वक्तव्य—घृत अल्प अभिष्यन्दी तथा कफकारक होता है। देखें—भा० प्र० नि० घृतवर्ग। अतएव कफज विसर्पों में इसका प्रयोग अल्पमात्रा में करने का निर्देश दिया है। घृत में वात तथा पित्त-शामक गुण सर्वाधिक होते हैं, अतएव वातपित्तोल्बण विसर्पों में इसकी अधिक मात्रा लेने का विधान किया गया है।

घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात् केवलेन वा ॥ ९३ ॥
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना । पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा ॥९४॥
वातासृक्पित्तबहुलं विसर्पं बहुशो भिषक् । सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः ॥९५॥
ते चूर्णयोगा वीसर्पव्रणानामवचूर्णनाः । दूर्वास्वरससिद्धं च घृतं स्याद् व्रणरोपणम् ॥९६॥
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरं चावचूर्णनम् । पटोलः पिचुमर्दश्च त्रिफला मधुकोत्पले ॥९७॥
एतत् प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणचूर्णं प्रलेपनम् ।

वात, रक्त, पित्त प्रधान विसर्प-चिकित्सा—बढ़े हुए वात-पित्तदोष के कारण जब रक्त दूषित हुआ हो तो विसर्प रोगी के व्रणों पर केवल घी का प्रदेह (लेप) लगाना चाहिए। अथवा शीतल घृतमण्ड (नवनीत को पिघलाकर घी का जो ऊपरी स्वच्छ भाग होता है, उसे घृतमण्ड कहते हैं) का लेप करना चाहिए, इससे रोगी को सुख-प्राप्ति भी होती है और विसर्पव्रणों का रोपण भी होता है। अथवा गाय का दूध और मुलेठी के शीतल क्वाथ का उन घावों पर सिंचन करना चाहिए। अथवा पञ्चवल्ककषाय को शीतल करके उससे विसर्प व्रणों को सींचें। अथवा ऊपर जो प्रदेह कहे गये हैं, उन्हीं द्रव्यों का क्वाथ तैयार कर उनसे परिषेचन भी कराया जा सकता है। उन्हीं द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथरस से घृत-निर्माण किया जा सकता है। उन्हीं द्रव्यों का चूर्ण तैयार करके उन विसर्पजनित व्रणों पर अवचूर्णन भी किया जा सकता है। दूब के स्वरस से सिद्ध किया गया व्रणरोपण (घावों को भरने के लिए) उत्तम होता है। दारुहल्दी की छाल, मुलेठी, पठानीलोध, नागकेशर, इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके विसर्प के कारण उत्पन्न घावों पर अवचूर्णन (बुरकना) करने से घाव जल्दी भर जाता है। परबल की पत्तियाँ, पीपल की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलेठी, नीलकमल इन द्रव्यों को समभाग लेकर इनसे तैयार किये गये क्वाथरस से विसर्प

के व्रणों को धोना चाहिए। अथवा इन्हीं के चूर्ण का अवचूर्णन भी किया जा सकता है। अथवा इन्हीं द्रव्यों के कल्क और क्वाथ से विधिपूर्वक तैयार किये गये घी का लेप लगाने से विसर्पव्रण शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—श्रीनरहरिपण्डित ने पञ्चवेतस में कहे गये द्रव्यों की छाल को पञ्चवल्कल कहा है—'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः। सर्वैरेकत्र मिलितैः पञ्चवेतसमुच्यते'॥ रा० नि० मिश्रकादिवर्ग २२।२५। दूसरे आचार्य सिरस की छाल, पीपल की छाल, बरगद की छाल, पाकर की छाल तथा वेतस की छाल को पंचवल्क के रूप में मानते हैं। देखें—अ० हृ० उ० अ० ३६।६३। भावमिश्र के अनुसार—'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक् पञ्चवल्कलम्'॥ केचित्तु पारीषस्थाने शिरीषं वेतसं वा वदन्तीति शेषः। 'त्वक्पञ्चकं हिमं ग्राहि व्रणशोथविसर्पजित्'॥ भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ७।१३, १५।

प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः [1]सम्प्रसादनाः॥ ९८॥
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम्।

प्रदेह-प्रयोग-प्रकार—ऊपर कहे गये सभी प्रदेहों को इस प्रकार लगाना चाहिए जिससे वे रोगनाशन द्वारा रोगी को प्रसन्न करने वाले हों और जिस स्थान पर रोग उत्पन्न हुआ है, उस अवयव को प्रसन्न, स्वच्छ, निर्मल करने वाले हों, इसके लिए पहले लगाये गये लेप को सूखने न दें और उसके पहले ही दूसरा ताजा लेप लगा दें।

वक्तव्य—प्रदेह, प्रलेप, लेप, आलेप, लेपन, लिप्त इतने पर्यायों से लेपन क्रिया को संकेतित किया जाता है। यह सौन्दर्य-वृद्धि की दृष्टि से मुखमंडल पर भी लगाया जाता है। उसके तीन भेद होते हैं—१. दोषघ्न, २. विषहा और ३. वर्ण्य (जो वर्ण के लिए हितकर या वर्ण की कान्ति को बढ़ाने वाला होता है) मोटा तथा पतला भेद से भी यह तीन प्रकार का होता है—१. चौथाई अंगुल मोटा, २. तिहाई अंगुल मोटा, ३. आधा अंगुल मोटा। यह लेप जब तक गीला रहता है, तब तक रोग का नाश करता है और सूख जाने पर उस शरीरावयव की कान्ति को मलिन कर देता है। देखें—आर्द्रो व्याधिहरः स स्याच्छुष्को दूषयति च्छविम्'॥ शा० सं० उ० खं० ११।१-२।

सम्प्रसादनाः—इसका अर्थ कुछ टीकाकार शरीर के वर्ण के सदृश उस व्रण-स्थान को बना देने के लिए लेप का प्रयोग मानते हैं; लेप का एक उद्देश्य यह भी होता है। विसर्प के कारण उस स्थान की त्वचा विवर्ण हो जाती है, अतः उसे पूर्ववत् कर लेने की रोगी की इच्छा होती है, उसके लिए भी इस प्रकार के योग कहे गये हैं। लेप के ऊपर दूसरा लेप कभी नहीं लगाना चाहिए, वह किसी प्रकार से लाभप्रद नहीं होता। एक बार का लगाया हुआ लेप जब सूखने लगे तो उसके पहले ही उसे उतार लेना चाहिए। सूखने पर लेप को उतारना थोड़ा कष्टकारक भी होता है, क्योंकि सूखने पर वह रोमों या केशों के साथ सट जाता है। इसीलिए कहा गया है—'क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः'। यहाँ पर 'क्षण' मात्र काल की अवधि लेप सूखने से पहले तक की है। इसी का स्पष्टीकरण अगले पद्य में भी किया जायेगा।

वृद्धवाग्भट ने लेप की विधि का वर्णन इस प्रकार किया है—'पित्ते तनवः सुशीताः सघृता वस्त्रान्तरिताः क्षणे क्षणे चापनीयाऽन्ये प्रयोज्याः'। अ० सं० चि० अ० २०।८। इन्होंने पित्तज विसर्प में पतला लेप लगाने की विशेष संस्तुति की है और व्रण या व्रणों के ऊपर पतला कपड़ा रखकर उसके ऊपर लेप लगाने का भी निर्देश दिया है।

अधावनोद्धृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः॥ ९९॥
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्याधानोद्धृते घनाः।

---

1. गङ्गाधरस्तु 'सम्प्रधावनाः' इति पठित्वा 'यस्मिन् विसर्पे ये प्रदेहास्ते सर्व एव क्वाथयित्वा सम्प्रधावनाः कर्तव्याः, ते सम्प्रधावनाः पूर्वं प्रलेपनमुद्धृत्य क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः। पूर्वं प्रलेपने अधावनोद्धृते धावनेनानुद्धृते बहुशोऽघनाः तनुद्रवप्रदेहा देयाः। कफजे विसर्पे पर्याधानस्य चतसृषु दिक्षु लिप्तस्य लग्नस्योद्धृते घनाः प्रदेहा देयाः' इति व्याख्यानयति।

अन्य विचार—वातज तथा पित्तज विसर्प के व्रणों के ऊपर ऐसा लेप लगायें, जो धोकर निकालना न पड़े, अपितु जो आसानी से निकाला जा सके। इसके लिए अधिकांशरूप में पतले लेप ही लगाने चाहिए और पहले लगाये हुए लेप के सूखने से पूर्व ही उसे निकालकर दूसरा लेप लगा दें। कफज विसर्प के व्रणों के ऊपर पहले से लगाये हुए लेप को निकाल कर पुनः मोटा लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपनी टिप्पणी में दो पाठभेद दिये हैं—१. 'अनवीने घृते पूर्वे प्रदेहा बहुशो घनाः'। यह पाठ उपर्युक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इसके सम्बन्ध में टीकाकार लिखते हैं—'इति पाठान्तरं तु प्रमादपूर्णम्', दूसरी पंक्ति के द्वितीय पाद में आये हुए **'पर्याधानोद्धृते'** के स्थान पर **'पर्याधानोद्धते'** श्रीगणनाथ सेन सम्मत पाठ दिया है। यह भी कोई महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता।

श्रीजयदेव ने 'अधावनोद्धृते' इस पद के स्थान पर अपनी ओर से एक पाठभेद दिया है—'अनावानोद्धृते'। इस पर विचार करना है—कोषकारों ने कच्चे फल को 'शलाटु' और सूखे फलों, मेवे आदि को 'वान' की संज्ञा दी है। अब विचार करना है कि 'अनावान' शब्द पर यदि हम 'वान' शब्द के साथ नञ् समास करते हैं, तो 'न वानः=अवानः' ऐसा रूप बनता है। यदि आ उपसर्गपूर्वक 'आवान' शब्द से नञ् समास करते हैं, तो इनकी तपस्या सफल हो जाती है, तब इसका अर्थ होगा—जो लेप चारों ओर से सूखा न हो उसके पहले ही निकाल लिया गया हो।

त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः॥ १००॥
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः।

प्रलेप की परिभाषा—जिस औषधद्रव्य से लेप तैयार करना हो उसे कल्क के समान बारीक पीसकर अपने अँगूठे की मोटाई के तीसरे भाग के बराबर मोटा लेप लगाना चाहिए। वह लेप अधिक स्निग्ध (घी मिला हुआ) तथा अधिक रूक्ष (जिसमें घी डाला ही न गया हो) नहीं होना चाहिए। न पिण्ड के समान ठोस हो और न पानी के समान पतला ही होना चाहिए।

न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्॥ १०१॥
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत्।

प्रलेप लगाने की विधि—बासी (एक, दो दिन पहले का तैयार किया हुआ) लेप कभी नहीं लगाना चाहिए और न कभी एक बार लगाया हुआ लेप पुनः लगाना चाहिए।

वक्तव्य—लेप का सर्वांगीण परिचय प्राप्त करने के लिए सुश्रुत सू० अ० १८ का अनुशीलन करें। कुछ प्रमुख विषय—१. लेप को प्रतिलोम लगाना चाहिए, २. इसे सूखने न दें, ३. दोषानुसार लेप में घी की मात्रा का निर्धारण करें—पित्तज विकारों में लेप का छठा हिस्सा, वातज विकारों में चौथा हिस्सा और कफज विकारों में आठवां हिस्सा स्नेह का प्रयोग करना चाहिए, ४. लेप की मोटाई भैंस के गीले चमड़े के बराबर होनी चाहिए, ५. रात में लेपों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

विशेष—सुश्रुत में भी 'न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्' चरकोक्त यह पंक्ति अविकल रूप से उद्धृत है, क्योंकि सिद्धान्तवचन सर्वत्र समादृत होते ही हैं।

क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्णाभावात् प्रवर्तयेत्॥ १०२॥
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम्। स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते॥१०३॥

विधि-भेद से लेप के दोष—यदि लेप को कपड़ा पर लगाकर उस कपड़े को विसर्प व्रणों के ऊपर लगाया जाता है, तो शरीर के उस अवयव की गर्मी लेप युक्त कपड़े से ढके रहने के कारण बाहर नहीं निकल पाती, अतः गर्मी के कारण उस स्थान पर क्लेद, वीसर्प, शूल होने लगते हैं। वहाँ पसीना रुकने के कारण छोटी-छोटी फुन्सियाँ और उनमें खुजली होने लगती है।

उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते। तानेव दोषाञ्जनयेत् पट्टस्योपरि यान् कृतः॥१०४॥

लेप के ऊपर लेप लगाने का निषेध—ऊपर के श्लोक में वस्त्र के ऊपर लेप लगाकर विसर्पज व्रणों के ऊपर लेप लगाने से अनेक हानियों का वर्णन किया गया है। वे ही हानियाँ लेप के ऊपर यदि पुनः दूसरा लेप लगा दिया जाता है, तो हो जाती हैं।

वक्तव्य—यदि लेप अधिक पतला होगा, तो वह त्वचा पर लगेगा ही नहीं, उस स्थिति से कुछ गाढ़ा है, तो वह चन्दन की भाँति लगाते ही सूख जायगा और सूखते ही वह त्वचा को छोड़कर ऊपर की ओर को उठ जायेगा, अतः उससे रोगी को कोई लाभ नहीं होगा। अतः लेप न अधिक सूखा या कड़ा हो और न अधिक पतला हो, वही लाभप्रद होता है।

अतः पहला लेप हटाकर तभी दूसरा लेप लगाना चाहिए, अन्यथा शरीर की जो गर्मी पहले लेप से ढके रहने के कारण बाहर नहीं निकल पा रही थी और अब उस पर दूसरा लेप लग जाने से उस स्थान के रोमकूपों का मुख और भी बन्द हो जाता है, जिसके कारण उस स्थान पर क्लेद, विसर्प, शूल, व्रण और खुजली उत्पन्न हो जाती हैं, अतः इसका निषेध किया गया है।

अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते। त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि ॥१०५॥

अतिस्निग्ध, अतिद्रव लेप का निषेध—जिस लेप में अधिक स्नेह (घी) मिला दिया गया हो अथवा जो लेप अधिक पतला बना दिया गया हो, ऐसे लेपों का यदि विसर्पज व्रणों पर प्रयोग किया जाता है, तो वह लेप न तो त्वचा में सट पाता है और न दोष को शान्त कर सकता है।

वक्तव्य—अतिस्निग्ध, अतिद्रव लेप का पहला दोष है कि वह **'त्वचि न श्लिष्यते'** त्वचा के ऊपर टिक नहीं पाता है। क्योंकि अधिक स्नेह अथवा अधिक पानी पड़ जाने से वह एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। फिर फल कहाँ से मिलेगा। अतः लेप को न अधिक कड़ा और न अधिक पतला करें।

तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यपुटायते। न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति ॥

पतले लेप के दोष—पतला लेप कभी न लगायें, क्योंकि वह सूखने पर दोना की भाँति त्वचा को छोड़कर ऊपर को उठ जाता है जिससे उस लेप में प्रयुक्त ओषधियों का रस रोग पर ही अपना प्रभाव नहीं डाल पाता है, क्योंकि वह शीघ्र ही सूख जाता है।

तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद् भृशम्। संशुष्कः पीडयेद् व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः ॥

स्नेहरहित लेप के दोष—ऊपर जो दोष पतले लेप के कहे गये हैं, वे ही दोष स्नेहरहित लेप में भी होते हैं। यदि लेप का स्नेह (घी या तेल) के बिना उपयोग किया जाता है, तो वह सूखते ही व्याधित (रोग से युक्त) शरीरावयव को पीड़ा पहुँचाता है। अतः लेप के लिए संगृहीत द्रव्यों को पानी डालकर पीसकर और उसमें घी मिलाकर फेंटने के बाद तभी उसका प्रयोग करना चाहिए। इससे वह लेप जलतत्त्व के सूखने के बाद भी मुलायम रहता है।

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये। लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः ॥१०८॥
मधुरः किञ्चिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः। सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः शृताम्बुना ॥१०९॥
तर्पणैर्यवशालीनां सस्नेहा चावलेहिका।

विसर्प-नाशक अन्नपान—अब मैं (आत्रेय) यहाँ से विसर्परोग-नाशक अन्नों (सभी प्रकार के आहारों) तथा पानों (पेय पदार्थों) का वर्णन कर रहा हूँ। जिन विसर्प रोगियों को लंघन दिलाया गया था, उनके लिए रुक्ष (घी रहित), मधु और चीनी मिला हुआ मन्थ (पानी में घोला हुआ जौ का सत्तू) पिलाना चाहिए। उक्त मन्थ को मधुर जैसा ऊपर कहा गया है अथवा दाड़िम का रस, आँवला का चूर्ण या रस डालकर कुछ खट्टा करके पीने के लिए दें। उसके बाद फालसा, मुनक्का, पिण्डखजूर इनको पानी में पकाकर इस जल से जौ या शालिधान के चावलों का तर्पण (पानी में घोले गये जौ या चावलों के सत्तू) को घी में मिलाकर अवलेह के रूप में चाटने को दें।

वक्तव्य—ये अन्न-पान सुपाच्य, सुस्वादु एवं विसर्प रोगी के लिए हितकर होते हैं।

जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम् ॥ ११० ॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् यूषार्थमुपकल्पयेत्। अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह ॥

विसर्प में लघु आहार—ऊपर के श्लोक में निर्दिष्ट अन्न-पान जब विसर्प रोगी को पच जाय, तब मूंग, मसूर, चना इनका विधिवत् यूष तैयार कराकर इन यूषों के साथ पुराने शालिचावलों का भात खाने के लिए उसे दें। उक्त मूंग आदि के यूषों को रोगी की इच्छा के अनुसार बिना दाड़िम के रस से युक्त या दाड़िम का रस मिलाकर दे। यूष तैयार करते समय उक्त दालों के साथ परवल और आँवला भी उसमें डाल दें।

वक्तव्य—मूंग, मसूर, चना इनका यूष बनाते समय परवल तो प्रारम्भ में ही डाला जा सकता है, किन्तु आँवला जब दालें गल जायँ तभी डालना चाहिए। आँवला डालने से यूषों में अम्लता आ जाती है, उसके बाद भी अम्लता की आवश्यकता प्रतीत हो तो दाड़िम (खट्टे अनार) का रस डालना चाहिए। यहाँ 'जीर्णे' का तात्पर्य है—भोजन के प्रति रुचि होने पर ही उसे भोजन दें।

जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत्। रूक्षान् परूषकद्राक्षादाडिमामलकान्वितान् ॥

मांसरस-प्रयोग—विसर्प रोगी के लिए जांगलप्रदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांसरसों को विधिवत् तैयार करायें। इन मांस रसों में घी या तेल का प्रयोग नहीं होना चाहिए और फालसा, मुनक्का, दाड़िम तथा आँवला से ये युक्त हों। इन फलों का प्रयोग पाक-विधि विशेषज्ञ की युक्ति पर निर्भर करता है, अथवा मांस के साथ डालकर इन्हें भी पका लें।

रक्ताः श्वेता महाह्वाश्च शालयः षष्टिकैः सह। भोजनार्थे प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिस्रुताः ॥

विविध चावलों का प्रयोग—विसर्प रोगियों को पथ्य के रूप में भोजन के लिए लाल चावल, सफेद चावल, महाशाली (सुगन्धशाली-हंसराज या बासमती) चावल, साठी चावल जो अधिक पुराने हों, उनका भात बनाकर उसे भली-भाँति पसा लें, अर्थात् उसका माँड निकाल कर तब वह भात दें।

वक्तव्य—'सुपरिस्रुताः' का अर्थ है—जिस भात में से माँड अच्छी भाँति निकाल दिया हो।

यवगोधूमशालीनां सात्म्यान्येव प्रदापयेत्। येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः ॥

सात्म्य अन्नों का प्रयोग—विसर्प रोगी को जौ, गेहूँ, शालिचावल इनमें से जो उसे सात्म्य हो वही खाने के लिए दिलाना चाहिए। जो कफ प्रकृति के हैं, या जिनके शरीर में कफ की अधिकता है और जिन्हें शालिधान्य अनुकूल न होते हों, उन्हें जौ, गेहूं आदि धान्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपनी टीका में **'यवगोधूमषष्टीनां'** पाठ को संगृहीत किया है—साँठी धानों की एक जाति विशेष है और शालिधान्य में सभी प्रकार के हैमन्तिक धान्यों का समावेश हो जाता है। आजकल प्राचीन धानों की जातियाँ प्रायः अपरिचित हो चली हैं, नयी जातियाँ सुपरिचित होती जा रही हैं। यह काल का प्रभाव है। धानों की प्राचीन जातियों का परिचय सभी संहिता-ग्रन्थों तथा निघण्टुओं में देखा जा सकता है। पुराने जौ, गेहूँ भी कफ-नाशक होते हैं।

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवा। क्रोधव्यायामसूर्याग्निप्रवातांश्च विवर्जयेत् ॥११५॥

विसर्प रोग में अपथ्य—जो अन्न (आहार), पान (पेय वस्तुएँ) विदाहकारक हों उनका त्याग कर दें, और जो परस्पर विरुद्ध आहार कहे गये हैं, उन्हें भी छोड़ दें। दिन में सोना, क्रोध करना, व्यायाम का अधिक करना, धूप में अधिक देर तक बैठे रहना, अधिक देर तक आग सेंकना, प्रवात (आँधी का सामना करना या वायु) का अधिक सेवन करना, इन्हें छोड़ दें।

कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके। रूक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके॥११६॥
वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पणे हितम्। कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते ॥११७॥

विसर्परोग-चिकित्सासूत्र—ऊपर विस्तार से विसर्प के सभी भेदों की क्रमशः चिकित्सा कही जा चुकी है, उनमें शीतगुण-प्रधान योगों का उपयोग पित्तज विसर्प रोग में करना चाहिए, रूक्षता-प्रधान योगों का उपयोग कफज विसर्प में और स्निग्ध द्रव्य प्रधान योगों का प्रयोग वातज विसर्प में करना चाहिए। अग्निविसर्प

रोग में वात-पित्त का प्रशमन करने वाले योगों का उपयोग करना चाहिए तथा कर्दम नामक विसर्प रोग में कफ पित्त-शामक योगों का प्रयोग प्रायः हितकर होता है।

वक्तव्य—उक्त दो श्लोकों में वातज, पित्तज, कफज तथा द्वन्द्वज विसर्पों की चिकित्सा का सूत्ररूप में निर्देश करने के साथ सान्निपातिक चिकित्सा को इन्होंने छोड़ दिया है। वास्तव में इस प्रकार के निर्देश सामान्य विधि के सूचक होते हैं। वातादि तीनों विसर्पों की चिकित्सा का जो परामर्श ऊपर दिया है, वही सान्निपातक विसर्प की चिकित्सा विधि है। यद्यपि द्वन्द्वज चिकित्सा सूत्र में ग्रन्थिविसर्प का भी समावेश किया गया है, किन्तु उसके अवस्था-भेदों की चिकित्सा विविध प्रकार की होती है, अतः उसका आगे स्वतन्त्र रूप से विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है।

रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थिवीसर्पमादितः। रूक्षणैर्लङ्घनैः सेकैः प्रदेहैः पाञ्चवल्कलैः ॥११८॥
सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनैः सविरेचनैः। [१]घृतैः कषायतिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत् ॥११९॥

ग्रन्थिविसर्प-चिकित्सा—ग्रन्थिविसर्प रोग में रक्त तथा पित्त की प्रधानता देखकर प्रारम्भ से ही रूक्षण विधियों से, लंघनों से, पञ्चवल्कल (श्लोक ९४ की टीका तथा वक्तव्य में देखें) के क्वाथ जल के परिषेचन से, इनकी ही छालों को पीसकर तैयार किये गये प्रदेहों से, सिरामोक्षण द्वारा रक्त निकालने से, जलौका (जोंकों) द्वारा रक्त निकलवाने से, वमनों तथा विरेचनों से, कषाय तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये घृतों के प्रयोगों से कब किस चिकित्साविधि का उपयोग करना चाहिए, इस प्रकार समय का जानकार चिकित्सक रोगी की चिकित्सा करे।

ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते। वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् ॥१२०॥

ग्रन्थिविसर्प में सिरामोक्षण—वमन तथा विरेचन कराकर जब ऊपर तथा नीचे के शरीर के दोष पूर्णतया दूर गये हों तदनन्तर जिसका रक्तमोक्षण करा दिया गया हो, ऐसे ग्रन्थिविसर्प के रोगी के लिए वात-कफनाशक चिकित्सा हितकर होती है।

उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहः प्रशस्यते। स्निग्धाभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनाम् ॥१२१॥

ग्रन्थिविसर्प में उपनाह प्रयोग—ग्रन्थिविसर्प रोग में शूल (वातवेदना) होने पर स्निग्ध तथा उष्ण उत्कारिकाओं (रोटियों) को उस स्थान पर बाँधकर उपनाहस्वेद करायें, अथवा स्निग्ध (स्नेह युक्त) तथा उष्ण वेशवारों (देखें—रा० नि० व० २२।६२। इसके अतिरिक्त अस्थिरहित मांस द्वारा निर्मित एक व्यञ्जन) से पुल्टिस बाँधना हितकर होता है।

दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत्। कुष्ठतैलेन चोष्णेन पाक्यक्षारयुतेन च ॥१२२॥
गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत्।

ग्रन्थिविसर्प में परिषेचन—दशमूल (दोनों पञ्चमूल) के द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से विधिपूर्वक पकाये गये जल से ग्रन्थिविसर्प में परिषेचन करें। अथवा कूठ के कल्क तथा क्वाथ से विधिपूर्वक तैयार किये गये गरम तेल में पाक्य क्षार मिलाकर परिषेचन करें। अथवा गाय के ताजा गोमूत्र से ग्रन्थिविसर्प का परिषेचन करें। अथवा वात-कफनाशक पत्तों के गरम क्वाथ जल से परिषेचन करें।

वक्तव्य—श्री चक्रपाणि पाक्यक्षार के सम्बन्ध में लिखते हैं—'पाक्यक्षारयुतेनेति सुश्रुतायुक्तविधानेन कृतः क्षारः, पाक्यक्षारः, किं वा 'यवक्षारयुतेन' इति पाठः'। पर्यायमुक्तावली में 'पाक्यक्षार' का पर्याय 'यवक्षार' दिया है। सुश्रुत ने अपनी संहिता के सू० अ० ११ में क्षारपाक-विधि तथा उसके प्रयोग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। **पत्र-निर्यूह**—वात तथा कफ-नाशक किन्तु जो रक्तपित्त को प्रकुपित करने वाले न हों, ऐसे रेंड़ आदि के पत्तों का क्वाथ देना चाहिए।

सुखोष्णया प्रदिह्याद् वा पिष्टया चाश्वगन्धया ॥ १२३ ॥

१. 'श्रृतैः' इति पा०।

शुष्कमूलककल्केन नक्तमालत्वचाऽपि वा। बिभीतकत्वचां [१]वाऽपि कल्केनोष्णेन लेपयेत् ॥१२४॥

ग्रन्थिविसर्प में प्रदेह—असगन्ध को पानी में डालकर पीसकर लेप तैयार कर लें और उस लेप को गुन-गुना करके ग्रन्थिविसर्प के ऊपर लेप करें। अथवा सूखी मूली को पीसकर कल्क तैयार कर लें, इस कल्क को गरम करके लेप करें। अथवा नक्तमाल (करंज) की छाल को पीसकर उसे गरम करके प्रयोग करें। अथवा बहेड़े के छिलकों को पीसकर बनाये गये उस लेप को गरम करके व्रणस्थान पर लगाना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'बिभीतकस्य वा ग्रन्थि' ऐसा पाठ छन्द की दृष्टि से शुद्ध है।

बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थिं बिभीतकम्। वंशपत्राण्यग्निमन्थं कुर्याद् ग्रन्थिप्रलेपनम् ॥१२५॥

बलादि प्रलेप—बरियारा की जड़, नागबला, हरड़, भोजपत्र की गाँठ, बहेडा, बाँस की पत्तियाँ, अग्निमन्थ (अरणी) इनको बारीक पीसकर किये हुए लेप का ग्रन्थिविसर्प में प्रयोग करें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अपने इस योग में बला द्रव्य का प्रयोग नहीं किया है—'विजयाक्षनागबलाग्नि-मन्थभूर्जग्रन्थिवंशपत्राणां वा'। अ० सं० चि० अ० २०।१०। उक्त श्लोक की टीका करते हुए श्रीजयदेव लिखते हैं, कि सम्भवतः 'बला' के स्थान पर 'यद्वा' पाठ हो। यह सोचना श्रीजयदेव का दुराग्रह मात्र है, क्योंकि ऐसा तो तब सोचा जाता, जब कि अष्टांगसंग्रह के सभी योग चरकोक्त योगों से अविकल मिलते होते, किन्तु ऐसा दिखलायी नहीं देता, अनेक योगों में कुछ द्रव्य कम-ज्यादा, आगे-पीछे सर्वत्र देखे ही जाते हैं।

दन्ती चित्रकमूलत्वक् सुधार्कपयसी गुडः। भल्लातकास्थि कासीसं लेपोभिन्द्याच्छिलामपि ॥
बहिर्मार्गस्थितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसम्भवम्।

दन्त्यादि लेप—दन्ती (जमालगोटा) के जड़ की छाल, चित्रकमूल की छाल, थूहर (सेहुंड) का दूध, अर्क (मदार) का दूध, गुड़, भिलावा की गुठली, हीराकसीस—इन सब द्रव्यों को एक साथ पीसकर लेप तैयार करें। इसे कफदोष से उत्पन्न बहिर्मार्ग (त्वचा तथा मांस) में स्थित ग्रन्थि में लगायें, इससे पत्थर भी फूट जाते हैं तब कफज विसर्पग्रन्थि के फूटने में तो कोई सन्देह ही नहीं है।

वक्तव्य—यदि कफज या वातज विसर्पग्रन्थि में यह लेप लगाना हो तो इसे गरम करके लगाना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने जो लेप दिया है, उसे भी गरम करके ही लगाना चाहिए। देखें—अ० सं० चि० अ० २०।११। **भिन्द्याच्छिलामपि**—यह फलश्रुति योगोक्त प्रभाव को पुष्ट करने के लिए ही प्रयुक्त है।

दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद् वा भेषजैरिमैः ॥ १२७ ॥
मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः।

मूलकादि यूष—ग्रन्थिविसर्प की गाँठ यदि बहुत पुरानी हो तो उसे इन औषधयोगों के लेप से फोड़ना चाहिए। सूखी मूली तथा कुलथी का यूष बनाकर उसमें यवक्षार और दाड़िम का रस मिलाकर रोगी को पिलायें।

गोधूमान्नैर्यवान्नैर्वा ससीधुमधुशर्करैः ॥ १२८ ॥
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः।

आहार द्रव्य—गेहूँ अथवा जौ से बने हुए भोज्य पदार्थों को सीधु (मद्य विशेष), मधु, चीनी के साथ रोगी को खाने के लिए दें। अथवा वारुणी मण्ड (मद्य का ऊपरी स्वच्छ भाग) मधु और बिजौरानीबू का रस मिलाकर पीने के लिए दें।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक में दो योग दिये गये हैं—१. गेहूँ या जौ के खाद्य पदार्थ बनाकर मधु तथा चीनी के साथ खाकर जल के स्थान पर शीधु (मद्य विशेष या सिरका) इसे हलका करके पीये, २. इसमें खाद्य पदार्थ वही हैं, केवल पेय में परिवर्तन किया है, वह है वारुणीमण्ड में मधु और बिजौरानीबू का रस मिलाकर पीना।

१. 'बिभीतकस्य ग्रन्थिं वा' इति पा०।

त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैः ॥१२९॥

मुस्तभल्लातशक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च । देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च ॥१३०॥
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः । अयोलवणपाषाणहेमताम्रप्रपीडनैः ॥१३१॥

ग्रन्थिविसर्प में विविध योग—ग्रन्थिविसर्प के रोगी को हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा पिप्पली इनका समभाग कपड़छन चूर्ण मात्रानुसार मधु के साथ चाटने के लिए दें। अथवा मुस्तशक्तु (इसी को च० नि० अ० ७।६५-६७ में मुस्तादिचूर्ण संज्ञा दी गयी है) और भल्लातकसक्तु (इसे च० चि० अ० १ पाद २।१३-१९ तक देखें) के प्रयोग से, अथवा स्वर्णमाक्षिक भस्म के प्रयोग से, अथवा देवदारु, गुडूची के प्रयोग से, अथवा शुद्ध शिलाजीत के प्रयोग से, अथवा धूमपान से, अथवा शिरोविरेचन से, अथवा गुल्मभेदन के लिए जिन योगों का वर्णन च० चि० अ० ५ में किया गया है, उनके प्रयोग से ग्रन्थिविसर्प का भी भेदन करना चाहिए। लोहा, सैंधानमक, पत्थर, सोना, ताँबा इन्हें आग में तपाकर कपड़े से लपेटकर पकड़ें फिर उसका स्पर्श उस ग्रन्थि के ऊपर करें, इस क्रिया से भी ग्रन्थि का कड़ापन दूर होकर वह फूट जाती है।

वक्तव्य—यहाँ 'त्रिफलायाः' से लेकर 'गुल्मभेदनैः' तक के योगों का अन्तःप्रयोग किया जाता है, इनसे भी ग्रन्थि का भेदन होता है और 'अयोलवण' आदि का बाहरी प्रयोग विहित है। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को अपनी संहिता में उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० २०।११।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिरः ।
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति ॥ १३२ ॥
अथास्य दाहः क्षारेण [1]शरैर्हेम्नाऽथ वा हितः ।

ग्रन्थिविसर्प में दाहकर्म—ऊपर कही गयी ग्रन्थिविसर्प-शामक विविध सिद्ध क्रियाओं (चिकित्सा-विधियों) से यदि वह बलवान्, पत्थर के समान कठिन (न फूटने वाली), स्थिर (इधर-उधर न सरकने वाली) विसर्प-जनित गाँठ जब शान्त नहीं होती, अर्थात् फूटती नहीं, तब इसे क्षारों के प्रयोग से अथवा शर (बाण) या सोने की शलाका को तपाकर जलाना चाहिए।

वक्तव्य—क्षार दाहक होता है तथा अग्नि भी। इनका प्रयोग चिकित्सा की दृष्टि से किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय की विशेष जानकारी के लिए आप सुश्रुत सू० अ० ११ और १२ का विशद रूप से अध्ययन करें। यदि इनका प्रयोग करना हो तो योग्य गुरु के निर्देशानुसार ही करें, अन्यथा आपको अपयश और रोगी को कष्ट मिलेगा।

पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत् ॥ १३३ ॥
मोक्षयेद् बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् । [2]पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ॥१३४॥
धूमो विरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम् ।

ग्रन्थिविसर्प में शल्य आदि प्रयोग—अथवा जब उपर्युक्त क्रिया-विधियों से ग्रन्थिविसर्प में कोई लाभ प्रतीत न हो तब फोड़े को पकाने वाले लेपों, प्रदेहों, पुल्टिसों आदि से उसे पकाकर शस्त्र द्वारा चीरकर उसे निकाल दे, उस ग्रन्थि को निकाल देने पर रक्त में उत्क्लेश (उत्तेजना) हो जाता है, इसलिए उसे निकालने के लिए अनेक बार रक्तमोक्षण करना चाहिए। इस प्रकार जब रक्तमोक्षण हो जाय तब उस व्रण स्थान पर वात तथा कफ-नाशक औषधियों का लेप लगाना चाहिए और रोगी को वात-कफनाशक धूमपान एवं शिरोविरेचनों (नस्य आदि) का प्रयोग कराना चाहिए, ग्रन्थिविसर्प के स्थान पर स्वेदन तथा मर्दन करायें। इन सभी क्रियाओं का बार-बार प्रयोग कराते रहें।

वक्तव्य—ऊपर ग्रन्थिविसर्प की शान्ति के लिए अनेक उपायों का निर्देश किया गया है। चिकित्सा काल में कभी-कभी देखा गया है कि इस प्रकार के व्रणशोथों या विसर्पग्रन्थियों पर जब क्षार-प्रयोग या दाह-प्रयोग किया जाता है और वह सम्यग्दग्ध नहीं हो पाता तो वह पक जाता है, ऐसी स्थिति में उसमें चीरा लगाकर

1. 'शरैर्लोहेन वा' इति पा०।   2. 'पुनश्चास्य हृते' इति पा०।

पूयशल्य को निकाल देना चाहिए। इस प्रकार चीरा लगाकर पूय को निकालने से उस स्थान का दूषित रक्त भी जो बाहर निकलना चाहता है, उसे निकल जाने दें, अथवा रक्तमोक्षण विधियों से उस दूषित रक्त को निकाल देना चाहिए। इस क्रिया के लिए सु० सू० अ० २७ सम्पूर्ण और १७वें अध्याय आदि का भी अवलोकन करें। धूमपान, शिरोविरेचन का वर्णन च० सू० अ० ५ में और स्वेदन के लिए च० सू० अ० १४ देखें।

वृद्धवाग्भट के अनुसार—'तथाप्यभेदे क्षारेणाग्निना वा दहेत्। पाटयित्वा वा शस्त्रेण परिशोधयेत्। विदग्धं वा रक्तमपनीयापनीय पुनः पुनः स्वेदयेत्। एवं पर्यायेण रक्तपित्ते वातश्लेष्मणि चोत्तिप्रेत्'। अ० सं० चि० अ० २०।१२।

अप्रशाम्यति [1]दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते ॥ १३५ ॥
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः । बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत् ॥१३६॥

अन्य प्रयोग—यदि ऊपर कही गयी चिकित्सा-विधियों से दोष शान्त न हो रहा हो तो, उस विसर्पज ग्रन्थि को पकाने का प्रयत्न करें, इस विधि की चिकित्सक प्रशंसा करते हैं। जब क्षार तथा अग्नि द्वारा दाह या पाक क्रिया कर दी जाती है तो अत्यन्त क्लेद (सड़न) युक्त उस ग्रन्थि की व्रण के समान शोधन-रोपण क्रियाएँ तथा बाह्य लेप आदि और आभ्यन्तर (खिलाने-पिलाने से जो औषधयोग व्रण का शमन कर सकते हैं, जिनका इसी अध्याय के प्रारम्भ में वर्णन किया गया है, उन) योगों का चिकित्सक को युक्तिपूर्वक प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—चिकित्साकाल में चिकित्सक के सामने जिस प्रकार की अनेक परिस्थितियाँ आती हैं, उन सभी का स्मरण कर तन्त्रकार ने शिष्यों को विविध योगों का विविध प्रकार से उपदेश दिया है।

कम्पिल्लकं विडङ्गानि दार्वीं कारञ्जकं फलम् । पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम् ॥

कम्पिल्लकादि तैल—कबीला, बायविडंग, दारुहल्दी, करंज के फल का गूदा, इन सबका कल्क तैयार करके यथाविधि तैलपाक करना चाहिए, जब तैयार हो जाय उसे छानकर रख लें। यह तैल विसर्पज ग्रन्थिव्रण की अच्छी चिकित्सा है। यह व्रणरोपण तेल है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर उक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति को इस प्रकार पढ़ते हैं—'कम्पिल्लकं विडङ्गानि त्वचो दार्व्यास्तथैव च'। ऐसा लगता है कि इन्होंने यह संशोधन अष्टांगसंग्रह से प्रभावित होकर कर डाला है। देखें—'तैलं च दार्वीविडङ्गकम्पिल्लकैः, ग्रन्थिव्रणसाधनं साधयेत्'। अ० सं० चि० अ० २०।१३। इसी विषय को वाग्भट ने पद्य रूप में इस प्रकार दिया है—'दार्वीविडङ्गकम्पिल्लैः सिद्धं तैलं व्रणे हितम्'। अ० हृ० चि० अ० १८।३५।

आचार्य गंगाधर ने वृद्धवाग्भट या वाग्भट जिससे भी प्रभावित होकर उक्त पाठ को परिवर्तित कर डाला, यह उतनी चिन्ता का विषय नहीं है, जितनी चिन्ता इस बात से हो रही है कि उन्होंने महर्षि आत्रेय द्वारा निर्दिष्ट पाठ के कम्पिल्ल द्रव्य के गुण-दोषों का विचार किये बिना उसे कैसे हटा दिया? आप देखें—यह कम्पिल्ल कफ-वातशामक है, व्रणशोधन, रोपण है तथा रक्तवह-संस्थान पर इसका अच्छा प्रभाव होता है। इसके लिए निघण्टुओं का अवलोकन करें।

द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत् । देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः ॥१३८॥
इति ग्रन्थिविसर्पचिकित्सा ।

विसर्पज व्रण-चिकित्सा—देश तथा काल के विभाग को जानने वाला बुद्धिमान् चिकित्सक विसर्प रोग में कहे गये व्रणों की चिकित्सा द्विव्रणीय (च० चि० अ० २५) नामक अध्याय में कहे जाने वाली विधियों के अनुसार करे।

य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये । स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ॥१३९॥
गलगण्डास्तु वातोत्था ये [2]कफानुगता नृणाम् । घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते ॥१४०॥

1. 'दाहेन पाटनम्' इति पा०।   2. 'कफानुबलाः' इति पा०।

गलगण्ड-चिकित्सा—विसर्पज ग्रन्थि रोग का शमन करने के लिए ऊपर जिस-जिस विधि का उपदेश किया गया है, उस-उस विधि का प्रयोग कफज गलगंडों की शान्ति के लिए भी करना चाहिए। मनुष्यों के जो गलगण्ड वातविकार की प्रमुखता के कारण उत्पन्न हुए हों तथा जिन गलगण्डों में कफ का अनुबन्ध हो, उनमें यदि रोगी पुरुष घी, दूध तथा वात-कफनाशक कषायों का अभ्यास (निरन्तर सेवन) करे तो उत्पन्न हुए वे (गल-गण्ड) शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—गलगण्ड और गण्डमाला ये दो भिन्न रोग हैं। गलगण्ड की उत्पत्ति वात-कफप्रधान दोषों तथा मेदो धातु की विकृति से होती है और गण्डमाला की उत्पत्ति कफदोष तथा मेदो धातु के दूषित हो जाने से होती है। देखें—सु० नि० अ० ११। कहीं-कहीं गलगण्ड रोग कुल परम्परा से अगली पीढ़ी को दायभाग के रूप में प्राप्त होता है, वह ठीक होते नहीं देखा जाता, क्योंकि 'ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान्' । च० चि० अ० ६।५७।

आधुनिक दृष्टि से इसे गलाग्र-ग्रन्थि का रोग (Diseases of the thyroid gland) कहते हैं तथा सामान्य गलगण्ड को 'Simple goitre' कहते हैं। यह रोग काश्मीर से लेकर नेफा, नागालैण्ड तथा पश्चिमोत्तर भारत में अधिकांश देखा जाता है। इस रोग के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है, कि जहाँ जल में आयोडिन (Iodine) कम होता है या कैल्शियम कार्बोनेट (Calcium carbonate) या फ्लोराइड (Fluoride) अधिक मात्रा में होता है, उन स्थानों में यह रोग अधिक संख्या में देखा जाता है।

यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये। एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥१४१॥

विसर्प में रक्तमोक्षण का महत्त्व—प्रस्तुत विसर्परोग-चिकित्सा नामक इस अध्याय में विसर्परोग की शान्ति के लिए जिन चिकित्सा-विधियों का वर्णन किया गया है, वे सब एक ओर हैं और रक्तमोक्षण (विविध प्रकार से उसके समीप से रक्त को निकालना) एक ओर है। अर्थात् रक्तमोक्षण विधि अकेले ही उन सबकी बराबरी कर लेती है, अतएव यहाँ इस चिकित्सा-विधि का विशेष महत्त्व है।

वक्तव्य—विसर्प रोग में रक्त दूषित हो जाता है, अतः उसका यथोचित प्रकार से निर्हरण करना ही विसर्प रोग की प्रमुख चिकित्सा है। यही तन्त्रकार का दृष्टिकोण है।

विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते। तस्मात् साधारणं सर्वमुक्तमेतच्चिकित्सितम् ॥१४२॥
विशेषो दोषवैषम्यात्र च नोक्तः समासतः। [1]समासव्यासनिर्दिष्टां क्रियां विद्वानुपाचरेत् ॥१४३॥

विसर्प की सामान्य-विशेष चिकित्सा—विसर्प रोग रक्त तथा पित्त के दूषित हुए बिना पैदा नहीं होता है। इसलिए इस रोग की समस्त साधारण चिकित्सा इस अध्याय में कह दी गयी है। वास्तव में यह विसर्प रोग वात, पित्त, कफ के स्वतन्त्र भेद से, द्वन्द्वज भेद से, सन्निपातज भेद से सात प्रकार का होता है। इसके दूष्य हैं—त्वचा, रक्त, लसीका, मांस। इनके परस्पर मिश्रण से यह रोग होता है, अतः इन समस्त भेदों की चिकित्सा यहाँ कह दी गयी है। दोषों की विषमता से होने वाले जो इसके विशेष भेद हैं, उनकी चिकित्सा यहाँ नहीं कही गयी, ऐसा नहीं है। इस प्रकार समास (संक्षेप) और व्यास (विस्तार) पूर्वक कही गयी चिकित्सा-विधियों द्वारा विद्वान् चिकित्सक विसर्परोग के समस्त भेदों की चिकित्सा करे।

तत्र श्लोकाः—

निरुक्तं नामभेदाश्च दोषा दूष्याणि हेतवः। आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम् ॥१४४॥
लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवः। साध्यत्वं, न च, साध्यानां साधनं च यथाक्रमम् ॥
इति पिप्रक्षवे सिद्धिमग्निवेशाय धीमते। पुनर्वसुरुवाचेदं विसर्पाणां चिकित्सितम् ॥१४६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने विसर्प-
चिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

१. 'समासव्यासनिर्देशैरुक्तं चैतच्चिकित्सितम्' इति पा०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में कुछ श्लोक कहे गये हैं—विसर्प शब्द की निरुक्ति (परिभाषा), नाम, भेद, दोष, दूष्य, हेतु-(निदान), मार्ग के अनुसार आश्रय, विसर्पों की परस्पर गुरुता (किससे कौन बड़ा है, इसका विवरण) तथा लघुता, लक्षण, उपद्रव-लक्षण, साध्यता, असाध्यता और उनकी क्रमशः चिकित्सा, इन सभी विषयों मे युक्त विसर्परोग की चिकित्सा का उपदेश भगवान् पुनर्वसु ने विसर्परोग के सम्बन्ध में प्रश्न करने वाले अपने बुद्धिमान् शिष्य अग्निवेश के प्रति किया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में विसर्पचिकित्सित नामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

अथातस्तृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

विसर्प-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से तृष्णारोग-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—सुश्रुत में पानात्यय के बाद तृष्णा रोग का प्रस्ताव है। अष्टांगसंग्रह में राजयक्ष्मा, छर्दि, हृद्-रोग, तृष्णा एक साथ निदानस्थान में दिये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी इसका क्रम देखा जाता है। माधवनिदान के टीकाकार श्रीविजयरक्षित लिखते हैं—छर्दि रोग के उपद्रवों में तृष्णा का भी उल्लेख है, अतः छर्दि रोग के बाद यहाँ इसकी प्रस्तावना की जा रही है।

सुश्रुत में उदकवह दो स्रोतों का वर्णन है—सु० शा० अ० ९।१२। इनका मूल तालु तथा क्लोम है। इनका वेधन होने पर अत्यन्त तृष्णा (प्यास) लगती है और तत्काल मृत्यु भी हो सकती है। 'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्' ॥ च० वि० अ० ५।८। इसके आगे पुनः तन्त्रकार कहते हैं—'औष्ण्यादामाद् भयात् पानादतिशुष्कान्नसेवनात्। अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात्' ॥ च० वि० अ० ५।११।

तालुस्थान मुख के भीतर का ऊपरी भाग है। 'इचुयशानां तालु', 'इ च छ ज झ ञ य श' इनका उच्चारण तालु से ही होता है। कुछ विद्वान् ग्रसनी (Pharynx) को क्लोम स्वीकार करते हैं। क्लोम और गुहा, देवगुहा या सीलोम (Coelom) ये दोनों अवयव आपस में प्रायः मिलते हैं। स्वाभाविक तृष्णा सभी को होती है, उसकी चिकित्सा जल पी लेना मात्र है। अस्वाभाविक होने वाली तृष्णा को ही रोग माना गया है, उसी की चिकित्सा का यहाँ उपक्रम किया जा रहा है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १९।४। च० नि० अ० २२। सु० उ० अ० ४८। अ० सं० नि० अ० ६। अ० सं० चि० अ० ८। अ० हृ० नि० अ० ५। अ० हृ० चि० अ० ६।

ज्ञानप्रशमतपोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः।
तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम् ॥ ३ ॥

तृष्णारोग-प्रस्तावना—संसार के प्राणियों के हितचिन्तन में तत्पर, अपने ज्ञान, शान्त स्वभाव तथा तपस्या से प्रसिद्ध महर्षि आत्रेय ने तृष्णा रोग के भेदोपभेद का शमन करने के लिए पाँच प्रकार के तृष्णारोग की चिकित्सा का उपदेश दिया है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने पाँच प्रकार की तृष्णा का वर्णन चरक में इस प्रकार किया है—'पञ्च तृष्णा इति वात-पित्तामक्षयोपसर्गात्मिकाः' । च० सू० अ० १९।४ । सुश्रुत ने इसे सात प्रकार का स्वीकार किया है—'तिस्रः स्मृता स्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात् तथाऽन्याऽऽमसमुद्भवा च । स्यात् सप्तमी भक्षनिमित्तजा तु निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु' ॥ सु० उ० अ० ४८।६ । यथा—१. वातजा, २. पित्तजा, ३. कफजा, ४. क्षतजा, ५. क्षयजा, ६. आमसमुद्भवा, ७. भक्षनिमित्तजा । सुश्रुतोक्त कफजा और भक्षणनिमित्तजा तृष्णाओं का अन्तर्भाव चरक के वातजा तृष्णा में हो जाता है । आगे कहे जाने वाले वातजा तृष्णा के लक्षणों पर ध्यान दें ।

क्षोभाद् भयाच्छ्रमादपि शोकात्क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात् ।
क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ॥ ४ ॥

धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसन्तापैः । पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान्धातूंश्च शोषयतः ॥५॥
रसवाहिनीश्च नालीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः । संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ ॥

तृष्णारोग : निदान एवं सम्प्राप्ति—शारीरिक अथवा मानसिक क्षोभ (हलचल) से, भय से, श्रम से, शोक से, क्रोध से, विशेष लंघनों से, अधिक मद्य (शराब) पीने से, क्षार, अम्ल, लवण, कटु रसों के अधिक सेवन करने से, उष्ण, रूक्ष, शुष्क अन्नों का अधिक सेवन करने से, (शुष्कान्न से यहाँ बासी रोटी, चावल, पूड़ी आदि का ग्रहण करना चाहिए), धातु (रसादि धातुओं या शुक्रधातु के) क्षय से, गदकर्षण (चिरकालीन रोग के कारण कृश होने) से, वमन तथा विरेचन के अतियोग से, सूर्य की गर्मी का अधिक सेवन करने से बढ़े हुए पित्त और वातदोष सौम्य (सोमगुण-प्रधान जलीय) धातुओं का शोषण कर देते हैं, जिह्वामूल (जीभ की जड़), गला, तालु तथा क्लोम में स्थित रसवाहिनी नलिकाओं को सुखाकर अत्यन्त बलवान् ये दोनों पित्त एवं वातदोष तृष्णा रोग को पैदा कर देते हैं ।

वक्तव्य—प्रायः चरकोक्त लक्षणों के समान ही सुश्रुत में तृष्णारोग का निदान दिया गया है । देखें—सु० उ० अ० ४८।४-५ । पित्तदोष-जनित तृष्णा, प्यास, तृषा या पिपासा में जलधातु का शोषण हो जाने के कारण प्यास लगती है और वातजनित तृष्णा रोग में पिया हुआ जल उदर में छलकता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु मुख सूखता रहता है, फलतः पानी पीने की इच्छा बनी रहती है ।

पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो न याति शमम् । घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा ॥[2]

उपसर्गज तृष्णारोग—वे दोनों पित्त एवं वातदोष रोगी द्वारा बार-बार पिये गये जल को सुखाते हुए जब उतने जलधातु से शान्ति को प्राप्त नहीं होते, तब वह (प्यास) भयंकर रोगों से कृश पुरुषों में अधिक रूप से उत्पन्न होती है । इसको उपसर्गज (उपद्रव-जनित) तृष्णा कहते हैं ।

वक्तव्य—तृष्णारोग का परिचय देते हुए सुश्रुत में कहा गया है—'सततं यः पिबेद् वारि न तृप्तिमधिगच्छति । पुनःकाङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्' ॥ सु० उ० अ० ४८।३ । सामान्य तृष्णा शीतल जल के पीने से कुछ देर के लिए शान्त हो जाती है । तृष्णा की असामान्य स्थिति को ही रोग संज्ञा दी गयी है ।

प्राग्रूपं मुखशोषः, स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम् । तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥

तृष्णारोग का पूर्वरूप—बार-बार मुख का सूखना, यह उसका प्रमुख पूर्वरूप है । वह रोगी लगातार पानी पीने का इच्छुक बना रहता है । यह भी उसका अपना एक लक्षण है ।

तृष्णा का नाश—सभी प्रकार की तृष्णाओं के साथ उन-उनके लक्षणों में कमी होना तृष्णा का अपाय (नाश) है ।

वक्तव्य—यद्यपि 'तृष्णा' शब्द का प्रयोग इच्छा, लालसा, लालच, लोभ, लिप्सा आदि अनेक अर्थों में होता है, तथापि यहाँ तृष्णा का अर्थ है—'जल पीने की इच्छा' । जिसे सु० उ० अ० ४८ श्लोक २ में स्वीकार किया गया है । वास्तव में इस रोग के यदि सभी लक्षण प्रकट हो जायें तो रोगी की मृत्यु भी हो सकती है, जैसा कि हमने इसी अध्याय के प्रारम्भिक वक्तव्य में निर्देश किया है । जिस प्रकार ज्वर का स्वलक्षण सन्ताप है, पाण्डु-

१. 'धमनीः' इति पा० ।

२. 'त्युपसर्गरूपा' इति पा० ।

रोग का पाण्डुता है, ठीक उसी प्रकार तृष्णा रोग का स्वलक्षण है—'मुखशोष' । इसी को अन्यत्र 'मुखतालुशोष' भी कहा गया है ।

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसन्तापप्रलापसंस्तम्भान् । ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशं च ॥९॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम् । तृष्णोद्भूता कुरुते, पञ्चविधां लिङ्गतः शृणु ताम् ॥

तृष्णा के सामान्य लक्षण—मुख का सूखना, स्वरभेद (गले का बैठ जाना, पहले की भाँति स्पष्ट आवाज का न निकलना), भ्रम (चक्करों का आना), सन्ताप, प्रलाप (अंट-संट बकना), संस्तम्भ (जकड़न), तालु, होंठ, कण्ठ, जीभ इन अवयवों में कर्कशता (कठोरता), मानसिक विकृति या बेहोशी, जीभ का बाहर निकल जाना, भोजन के प्रति अरुचि, शब्द का सुनायी न देना, मर्मस्थानों में पीड़ा, शरीर में शिथिलता—ये लक्षण तृष्णा रोग में होते हैं । पाँच प्रकार से होने वाली उस तृष्णा रोग के लक्षणों को सुनो ।

अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति ।
तस्मिञ्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥ ११ ॥
निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च ।
स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः ॥ १२ ॥

वातज तृष्णारोग की सम्प्राप्ति—शरीरस्थित जलधातुओं को प्रकुपित हुई वायु जब सुखा देती है, तब जलांश के शोषित हो जाने पर वह दुर्बल रोगी पुरुष भी सूख जाता है और सूखता हुआ वह तृष्णा रोग से पीड़ित हो जाता है ।

वातज तृष्णारोग के लक्षण—निद्रानाश, शिर में चक्करों का आना, मुख का सूखना तथा फीका स्वाद युक्त हो जाना, स्रोतों में रुकावट का आ जाना—ये वातज तृष्णा के लक्षण हैं ।

वक्तव्य—पित्त सर्वत्र आग्नेय द्रव्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है, वह भले ही द्रवरूप क्यों न हो । आप ध्यान दें—क्या खौलता हुआ जल अग्निगुण-प्रधान नहीं कहा जायेगा ? चरकोक्त पित्त का लक्षण देखें—च० शा० अ० ७।१६ । परवर्ती आचार्य शार्ङ्गधर ने भी पित्त के उपर्युक्त लक्षणों का परिचय इस प्रकार दिया है—'पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणोत्तरम्' । शा० सं० पू० खं० अ० ५।४७ । इस लोकसम्मित पुरुष में वे सभी भाव विद्यमान हैं, जो संसार में प्राप्त होते हैं । यथा—'यावन्तो हि लोके (मूर्तिमन्तो) भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके' । च० शा० अ० ५।३ । इसके अनुसार शरीर में सौम्य (जलधातु प्रधान) तथा आग्नेय सभी प्रकार के तत्त्व वर्तमान हैं । यह व्यवस्था शरीर को स्वस्थ रखने की दृष्टि से ही की गयी है ।

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं चेत्तापयत्यपां धातुम् । सन्तप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्बणां नृणाम् ॥

पित्तज तृष्णा की सम्प्राप्ति—पित्तदोष को अग्नितत्त्व-प्रधान माना गया है । जब वह अपने ही प्रकोपक कारणों से कुपित हो जाता है, तो वह जलीय धातु को तपाने लगता है । तपी हुई वह जलीय धातु दाहयुक्त होकर मनुष्यों के शरीर में अत्यधिक तृष्णा को पैदा कर देता है ।

तिक्तायस्त्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा । पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः ॥

पित्तज तृष्णा के लक्षण—मुख के स्वाद का तीता (नीम के जैसा स्वाद) होना, शिर में जलन, शीतल वस्तुओं को सेवन करने की इच्छा, मूर्च्छा (बेहोशी), आँखों तथा मल, मूत्र एवं आकृति का पीला पड़ जाना—ये सब पित्तज तृष्णा के लक्षण हैं ।

वक्तव्य—प्रकुपित वायु द्वारा जब सम्पूर्ण शरीर का जलीय भाग सूखने लगता है, तो उसके फलस्वरूप जिह्वामूल, तालु, क्लोम ये अंग अधिक प्रभावित हो जाते हैं । इन अंगों से सम्बन्धित स्रोतों से जो स्राव निकलता है, उसी से मुख-प्रदेश गीला रहता है, जिसके कारण प्यास नहीं लगती है । इसके विपरीत स्थिति में मुँह सूखने लगता है और उसकी पूर्ति के लिए रोगी पानी पीना चाहता है, किन्तु यह प्यास शीतल जल के पीने से और भी बढ़ती है । देखें—सु० उ० अ० ४८।८ तथा अ० सं० नि० ५।५३ ।

आधुनिक मत से तृष्णारोग का सम्बन्ध निम्नलिखित तीन ग्रन्थियों के स्रोतों से है—१. कर्णमूलग्रन्थि स्रोत, २. हन्वधोवर्तिग्रन्थिस्रोत, ३. जिह्वाधोवर्तिग्रन्थिस्रोत। साधारणतः मुखमण्डल के भीतर तैयार होने वाली लाला (लार) में अन्य श्लैष्मिक ग्रन्थियों का स्राव भी मिला रहता है। शारीरिक जलीय भाग के सूखने पर इनमें भी शिथिलता आ जाती है, अर्थात् ये भी पूर्ववत् अपना कार्य नहीं कर पाते।

तृष्णा याऽऽमप्रभवा [1]साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्।
लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ॥ १५ ॥

आमज तृष्णा—आमरस के कारण जो तृष्णा रोग पैदा होता है, वह भी आम तथा पित्तज दोष से उत्पन्न होने के कारण आग्नेय मानी जाती है। इस आमज तृष्णा में भोजन के प्रति अरुचि, आध्मान (अफारा), मुख से बार-बार कफप्रसेक (लार का चूते रहना) ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—खाये गये जिस भोजन के रस का भली-भाँति परिपाक नहीं हो पाता उसे 'आम' कहते हैं। इससे जब स्रोतोमार्ग ढक जाते हैं, तो शरीर का विधिवत् तर्पण नहीं होता, फलतः शरीर में वात-पित्तदोषों की वृद्धि होने लगती है। बढ़े हुए ये दोष शरीर में स्थित जलीय भाग को सुखाकर तृष्णारोग को पैदा कर देते हैं। इसमें कफ के लक्षणों को देखकर ही सुश्रुत में एक स्वतन्त्र कफज तृष्णा भेद को भी मान लिया गया है। जैसा कि इसी प्रकरण में कहा जा चुका है।

सुश्रुत में तृष्णारोग की उत्पत्ति में एक कारण मद्यपान को भी स्वीकार किया है—'मद्य के आग्नेय और वायव्य गुण जलवाही स्रोतों को सुखा देते हैं, इससे तृष्णा उत्पन्न होती है'। देखें—सु० उ० अ० ४७।५०। इसी का समर्थन च० वि० अ० ५।८ तथा ११ में भी मिलता है। सुश्रुतोक्त कफज तृष्णा की सम्पुष्टि आचार्य हारीत ने भी इस प्रकार की है—'स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा। प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां सञ्जनयेन्नृणाम् ॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च। भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात् तृष्णां कफसमुद्भवाम्' ॥ हरीतसंहिता, तृष्णानिदान।

वास्तव में केवल बढ़ा हुआ कफ प्यास को बढ़ाने में सर्वथा असमर्थ होता है, अतएव सुश्रुत में कफज तृष्णा-निदान में स्पष्ट कर दिया है कि कफ के साथ वात-पित्त का संसर्ग अवश्य होता है। हमारे विचार से चिकित्सा में सरलता हो, इस दृष्टि से एक भेद यह भी कर लिया गया है। क्योंकि आगे इसी अध्याय के १९वें पद्य में महर्षि आत्रेय सिद्धान्तरूप में कह रहे हैं—'नाग्निं विना तर्षः पवनाद् वा तौ हि शोषणे हेतू'। तथापि आमज तृष्णा में कफ के लक्षण अधिक देखे जाते हैं। वृद्धवाग्भट भी सुश्रुतोक्त कफज तृष्णा को समर्थन दे रहे हैं। देखें—'कफो रुणद्धि···आलस्यमविपाकस्य'। अ० सं० नि० अ० ५।५५-५६। इस प्रकार देखने से सबका दृष्टिकोण एक है, किन्तु विषय-प्रतिपादन का प्रकार भिन्न-भिन्न है, इसी को मौलिकता भी कहते हैं।

सुश्रुत में कफज तृष्णा के सम्बन्ध में दिये गये दो प्रकार के पाठ मिलते हैं। यथा—१. कफावृताभ्यामनिलानलाभ्यां कफोऽपि शुष्कः प्रकरोति तृष्णाम्'। यह दाक्षिणात्य पाठ है। २. 'बाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत् तथा तु'। इसी में 'भक्तसमुद्भवा' नामक तृष्णा का भी अन्तर्भाव किया जा सकता है। वृद्धवाग्भट ने आमजा तथा भक्तजा तृष्णाओं का अन्तर्भाव वातपित्तज तृष्णा में किया है। देखें—अ० सं० नि० अ० ५।५७। शेष विवेचन 'संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत' की सहायता से स्वयं करें।

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि। दीनस्वरः प्रताम्यन् [2]संशुष्कहृदयगलतालुः ॥

रसक्षयज तृष्णा—यह देह रस से उत्पन्न होता है, रस जल से उत्पन्न होता है, उस रस के क्षीण होने पर प्यास लगनी चाहिए। रसक्षय के कारण उत्पन्न तृष्णा रोग में रोगी का स्वर दीन (शोचनीय या कष्टयुक्त) हो जाता है, आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, हृदय, गला तथा तालु-प्रदेश सूख जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में सम्पूर्ण शरीर को रसज (रस से उत्पन्न) कहा गया है। इस विषय का महर्षि आत्रेय ने पहले इस प्रकार प्रतिपादन किया है—'शरीरस्याभिनिर्वृत्तिः, अभिवृद्धिः, प्राणानुबन्धः तृप्तिः, पुष्टिः, उत्साहः च, इति रसजानि'। च० शा० अ० ३।१२। रस जल से उत्पन्न होता है, इसीलिए रस को आप्य, सौम्य

१. 'साऽप्याग्नेयी न पित्तजनितत्वात्' इति पा०। २. 'दीनः संशुष्कगलतालुः' इति पा०।

(सोमगुण-प्रधान) कहा गया है। यही आप्य रस आगे जाकर यकृत्-प्लीहा का संयोग पाकर रक्त का रूप धारण कर लेता है। 'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति'। सु० सू० अ० १४।४। महर्षि सुश्रुत ने रसक्षय के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च'। सु० सू० अ० १५।९। इस प्रकार का रसक्षीण मनुष्य अपनी क्षीणता को दूर करने वाले खान-पान की इच्छा करता है। उसे वह देना भी चाहिए। देखें—सु० सू० अ० १५।२९। यहाँ तृष्णा रोग से पीड़ित पुरुष को यदि शीतल जल देंगे तो उसकी प्यास और बढ़ेगी। अतः इस प्रकरण में निर्दिष्ट चिकित्सा-विधियों पर ध्यान दें।

भवति खलु योपसर्गात् तृष्णा सा शोषिणी कष्टा। ज्वरमेहक्षयशोष[1]श्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥

उपसर्गज तृष्णा—ज्वर, प्रमेह, क्षय, शोष (कास–पाठभेद), श्वास आदि रोगों से जो रोगी पीड़ित रहते हैं, उन्हें उपद्रव रूप में जो तृष्णा रोग हो जाता है, वह शरीर को सुखा देता है, वह अत्यन्त कष्ट देनेवाला होता है। उसे उपसर्गज तृष्णा रोग कहते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने शोष, मेह (प्रमेह), ज्वर इन तीन रोगों का नाम लेने के बाद उन सभी दीर्घकालीन रोगों को स्मरण कर लिया है, जिनमें उपद्रवस्वरूप तृष्णा रोग उत्पन्न हो जाता है। अत्यन्त तीव्र इसी तृष्णारोग को उपसर्गात्मिका तृष्णा भी कहा है। माधवकर ने उपसर्गज तृष्णा का परिचय देने के लिए जिस श्लोक की संरचना की है, वह चरक के अनुसार रसक्षयज तृष्णा के लक्षण का उत्तरार्ध और उपसर्गज तृष्णा का पूर्वार्ध है। आप भी ध्यान से देखें। उपसर्ग शब्द स्वयं भी रोगवाचक है।

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्। घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥

तृष्णारोग की असाध्यता—ऊपर उपसर्गज तृष्णा में कहे गये अथवा अन्य इसी प्रकार की महाव्याधियों से ग्रस्त होने के कारण जो व्यक्ति अत्यन्त कृश हो गये हों तथा जो निरन्तर छर्दि रोग से पीड़ित हों और तृष्णारोग में होने वाले भयंकर उपद्रव जिसमें दिखलायी दे रहे हों, इस प्रकार की पाँचों तृष्णाएँ मारक होती हैं, ऐसा जानना चाहिए।

नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद् वा तौ हि शोषणे हेतू। अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ॥

तृष्णा में पित्त-वायु का महत्त्व—बिना अग्नि (पित्त) तथा वातदोष के तृष्णारोग की उत्पत्ति नहीं होती है। अधिक मात्रा में बढ़े हुए ये पित्त तथा वातदोष अप्धातु (शरीर में स्थित जलीय पदार्थ) को सुखाने में कारण होते हैं। इनके कारण जब शरीर में जलीय धातु का क्षय हो जाता है या होने लगता है, तब मनुष्य को प्यास लगने लगती है। वास्तव में यह दोषज तृष्णारोग की सम्प्राप्ति मात्र है।

गुर्वन्नपयःस्नेहैः सम्मूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च। यस्तृष्येद्वृतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ॥२०॥

अन्नजा तृष्णा—गुरु अन्न (घी-तेल में पकाये पूरी, मालपुआ आदि) दूध, स्नेह (घृत, तेल, वसा मज्जा) इन द्रव्यों का उदरप्रदेश में जाकर जब सम्मूर्च्छन (परस्पर संमिश्रण) होता है, तदनन्तर इनके विदाह (परिपाक) के समय स्रोतों के आवृत (ढके) होने के कारण रोगी तृष्णा रोग से पीड़ित हो जाता है, उसे अन्नजा तृष्णा कहते हैं। इस तृष्णा में वात तथा पित्तदोष ही कारण होते हैं।

वक्तव्य—यह अन्नजा तृष्णा नाम सुश्रुत ने रखा है। चरकोक्त इस तृष्णा में भी गुर्वन्न सेवन प्रथम कारण है, अतः इसे 'अन्नजा तृष्णा' यहाँ भी कहा जा सकता है। परन्तु तन्त्रकार ने अन्त में इसके मूल कारण वात तथा अनल (पित्त) को ही माना है। इनके पृथक्-पृथक् लक्षणों का विवेचन पहले किया जा चुका है। खाये हुए सभी पदार्थों का सम्मूर्च्छन (एक साथ मिला लेना) वात का कार्य है, उसका पाक करना पित्त का कार्य है, जो स्वयंसिद्ध है।

तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान्मद्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति।
शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशीलानाम् ॥ २१ ॥

१. 'कास' इति पा०।

मद्यज तृष्णा—प्रायः सभी मद्य तीक्ष्ण, उष्ण तथा रूक्ष होते हैं, अतः प्रत्येक मद्य पित्त और वातदोष को प्रकुपित कर देता है। ये दोनों ही दोष मद्यपान करने वालों (शराबियों) के शरीर में स्थित जलधातु को सुखा देते हैं। अतः इसे मद्यज तृष्णा कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने मद्यपान के कारण होने वाली तृष्णा का इस प्रकार वर्णन किया है—'मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां तेन तृष्णोपजायते'॥ सु० उ० अ० ४७।५०। इसी का समर्थन च० वि० अ० ५ में भी किया गया है। अष्टाङ्गसंग्रह में इस प्रकार के लक्षणों से युक्त तृष्णा को 'पित्तजा' संज्ञा दी है। अ० सं० नि० अ० ५।५८। यहाँ मद्यज तृष्णा का परिगणन नहीं किया है।

तप्तास्विव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्तम्।
तेषां सन्तप्तानां हिमजलपानाद् भवति शर्म॥ २२॥

मद्यज तृष्णा का आलंकारिक रूप—जिस प्रकार तपे हुए बालू के ढेर पर डाला गया जल जल्दी ही सूख जाता है, उसी प्रकार मद्यपान करने से तपे हुए मद्यपी के शरीर में भी पिया हुआ जल जल्दी ही सूख जाता है, अतएव उसे बार-बार प्यास लगती है। ऐसे पुरुषों को शीतल जल या बरफ का पानी पीने से सुख मिलता है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने मद्यपी की तृष्णा (प्यास) की चिकित्सा इस प्रकार कही है—पाढल, कमलकन्द तथा मुद्गपर्णी से तैयार किये गये हिमशीतल (हिम के समान शीतल) अथवा बरफ डालकर ठंडे किये गये जल में पिप्पली चूर्ण मिलाकर पीना चाहिए, इससे शीघ्र ही प्यास बुझ जाती है। देखें—सु० उ० अ० ४७।५१। **'तप्तास्विव सिकतासु'** का एक आशय यह भी है, कि तपे हुए बालू में थोड़ा-सा पानी तो सूख जाता है, किन्तु पर्याप्त जल उसे भी ठंडा कर देता है। अतः मद्यज तृष्णा का अन्तर्भाव पित्तज तृष्णा में कर लेना सुकर है।

शिशिरस्नातस्योष्मा रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति। तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जलं शीतम्[1]॥

उष्णक्लान्त व्यक्ति के लिए निर्देश—शीतलजल से स्नान किये हुए व्यक्ति की रुकी हुई ऊष्मा (गरमी) कोष्ठ तक पहुँचकर तृषा को उत्पन्न कर देती है, इसलिए उष्णता से पीड़ित व्यक्ति को चाहिए कि वह एकाएक शीतल जल को न पीये।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त विषय का स्पष्टीकरण अपनी संहिता में इस प्रकार किया है—'उष्णक्लान्तस्य सहसा शीताम्भो भजतस्तृषम्। ऊष्मा रुद्धो गतः कोष्ठं यां कुर्यात् पित्तजैव सा'॥ अ० सं० नि० अ० ५।५७। गर्मी या सर्दी में शीतताप-नियन्त्रित घर में से सहसा बाहर जाना अथवा धूप या सर्दी में से सहसा इस प्रकार के घर में प्रवेश करना स्वास्थ्य के लिए सर्वथा हानिकारक होता है। शेष पाठभेद देखें।

लिङ्गं सर्वास्वेतास्वनिलक्षयपित्तजं[2] भवत्यथ तु।
पृथगागमाच्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णानाम्॥ २४॥

वात के क्षीण होने पर पित्तज लक्षण—उपर्युक्त इन सब तृष्णा रोगियों में जब वातदोष क्षीण हो जाता है, तो पित्तज लक्षण दिखलायी देने लगते हैं। अतः शास्त्र के अनुसार उन-उन तृष्णा रोगियों की अलग-अलग चिकित्साओं को कहता हूँ।

वक्तव्य—पित्तदोष तृष्णारोग में प्रधान कारण होता है। जहाँ वात-पित्त का संसर्ग होता है, वहाँ वातदोष भी पित्त का सहायक होकर उसके बल को बढ़ा देता है। इस प्रकार जब वातसहकृत पित्त के कारण शरीर में गर्मी अधिक हो जाती है, तो प्रधानरूप से पित्त के ही लक्षण दिखलायी देने लगते हैं। फिर भी इन पाँचों प्रकार की तृष्णाओं की अलग-अलग चिकित्सा यहाँ कही जा रही है।

अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु। तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्गुणं वाऽन्यत्॥

ऐन्द्रजल का प्रयोग—शरीरस्थ जलीय धातुओं का क्षय हो जाने से तृष्णारोग मनुष्य को सुखाकर उसे शीघ्र मार डालता है। इसलिए समय रहते हुए जलधातु की वृद्धि करने के लिए ऐन्द्र (वर्षाकालिक) जल में

१. तस्माद्भजेत सहसा नोष्णः स्नाने जलं शीतम्' इति पा०। २. 'स्वनिलक्षयात् पित्तजम्' इति पा०।

मधु मिलाकर पीना चाहिए। ऐन्द्रजल वर्षाकाल के अतिरिक्त समय में नहीं मिल सकता, अतः उन्हीं गुणों से युक्त अन्य जल में मधु मिलाकर रोगी को देना चाहिए।

वक्तव्य—ऐन्द्रजल परिचय—देवराज इन्द्र द्वारा बरसाया हुआ जो जल आकाश से गिरता है और यथोक्त पात्रों में जिसका संग्रह किया जाता है, उसे ऐन्द्रजल कहते हैं। वह जल राजाओं के पीने योग्य होता है। च० सू० अ० २७।२०१। **तद्गुणं वा अन्यत्**—'जो हलका, कषैला, मधुर, गन्दगी रहित, अतएव स्वच्छ, हल्का, रूक्ष तथा कफकारक न हों, इन गुणों से युक्त सभी जल उत्तम होते हैं। करकाजल (ओले का पानी) भी इस प्रकरण में ग्राह्य है। इस प्रसंग में प्रस्तुत गद्य का भी अवलोकन करें—'तत्र नद्यः...बलोरोग्यकर्य इति'। सु० सू० अ० ४५।२१।

किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसं च।
अनभिष्यन्दि च यत् तत्क्षितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम्॥ २६॥

ऐन्द्रजल के अभाव में पेय जल—पृथिवी में रहने वाला वह जल जिसमें पीने के बाद कुछ कसैलापन प्रतीत होता हो, जो पतला, हल्का, शीतल, अच्छी गन्ध वाला, अच्छे रस से युक्त, जो कफकारक न हो उसे भी ऐन्द्रजल के समान सेवन करने योग्य समझें।

भृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन। 'लाजासक्तुसिताह्वमधुयुतमैन्द्रेण वा मन्थम्[1]॥

तृणपञ्चमूल जल—अथवा जब ऐन्द्रजल उपलब्ध न हो तब षडंगपरिभाषा के अनुसार तृणपञ्चमूल (कुश, कास, शालि, ईख, दर्भ) का क्वाथ तैयार कर उसके जल में मिश्री मिलाकर शीतल करके तृष्णा रोगी को पिलायें। अथवा धान के लावा के सत्तू में मिश्री तथा मधु मिलाकर ऐन्द्र (वर्षा के) जल में मन्थ तैयार कर रोगी को पीने के लिए दें।

वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात्। पेयां वा शालीनां दद्याद् वा कोरदूषाणाम्॥

अन्न-पान-व्यवस्था—वाट्य (चक्रपाणि के अनुसार भुने हुए जौ का भात, देखें—च० सू० अ० २७।२६५ की टीका। अन्य टीकाकारों ने वाट्य का अर्थ मण्ड किया है। किन्तु यहाँ वाट्य का निर्माण तन्त्रकार को कच्चे यवों से तैयार कराने की भी इच्छा है)। अतः कच्चे किन्तु सुपुष्ट यवों को लेकर उनको भात की तरह पकाकर उनका माँड़ निकालकर ठंडा कर लें, तब उसमें मधु-चीनी मिलाकर पीने के लिए दें। अथवा शालि चावलों की पेया बनाकर पीने के लिए दिलायें, अथवा कोदों (मडुवा) के चावलों की पेया बनवाकर पीने के लिए दिलायें।

पयसा शृतेन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं योज्यम्।
पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाऽप्यलवणाम्लैः॥ २९॥

दूध-भात का प्रयोग—अथवा तृष्णा रोगी के लिए जो भोजन (शालिचावलों या कोदों के चावलों के भात को) तैयार किया हो, उसे खौलाये हुए दूध को ठंडा करके उसमें मधु एवं खांड मिलाकर खाने के लिए दें।

मांसरस-प्रयोग—अथवा नमक तथा अम्ल रस की मिलावट किये बिना कबूतर आदि पक्षियों के मांस को पकाकर उसके रस को घी में भूनकर उसमें मधु तथा चीनी मिलाकर भोजन के साथ सेवन करने के लिए दें।

तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः प्रियालैश्च जाङ्गलाः सुकृताः।
शस्ता रसाः पयो वा तैः सिद्धं शर्करामधुमत्॥ ३०॥

अन्य भोज्य पदार्थ—तृणपञ्चमूल (कुश, काश, शालि, ईख, दर्भ), मुंजातक (मुंजाराकन्द), चिरौंजी, इनको षडंगपानीय विधि से पकाकर छानकर उसका रस ले लें। इस रस से जांगल प्रदेशीय पशु अथवा पक्षियों के मांसरस को तैयार करें। अथवा उपर्युक्त द्रव्यों द्वारा दूध का पाक करें और उस दूध में चीनी और मधु मिलाकर तृष्णा रोग के रोगी को पिलायें।

१. 'लाजानां सक्तूनां समधुसितं मन्थमैन्द्रेण' इति पा०।

शतधौतघृतेनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य ।
मुद्गमसूरचणकजा रसास्तु भृष्टा [1]घृते देयाः ॥ ३१ ॥

अवगाहन तथा यूष-प्रयोग—तृष्णा रोगी के शरीर को शतधौत घृत से मलकर उसे शीतल जल से पूर्ण द्रोणी में अवगाहन (Tub bath) करायें, उसके बाद दूध पीने को दें तथा मूँग, मसूर अथवा चने के जूष को भूनकर पीने के लिए दें ।

मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरम् । पानाभ्यञ्जनसेकेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम् ॥

अन्य प्रयोग—मधुरगण (सु० सू० अ० ३८।३५ में जो काकोल्यादिगण है, उसे मधुरगण भी कहते हैं । इसमें कहे गये द्रव्यों), काकोल्यादिगण के द्रव्यों, शीतवीर्य तथा तिक्त द्रव्यों द्वारा विधिपूर्वक पकाये गये दूध में मधु एवं चीनी मिलाकर पीने के लिए, अभ्यंग तथा परिषेचन के लिए प्रयोग कराना उचित होता है ।

तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात् ।
नारीपयः सशर्करमुष्ट्र्या अपि नस्यमिक्षुरसः ॥ ३३ ॥

नस्य-प्रयोग—अथवा मधुरगण, काकोल्यादिगण, शीतवीर्य तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों से विधिपूर्वक पकाये गये दूध से घी निकालकर उसका पीने के लिए, मालिश करने के लिए तथा नस्य के लिए प्रयोग करना चाहिए, अथवा स्त्री या ऊँटनी के दूध में चीनी मिलाकर नस्य के लिए देना चाहिए । अथवा ईख के रस की नस्य देनी चाहिए । ये सभी योग तृष्णारोग-नाशक हैं ।

क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रसीधुर्मा[2]र्द्वीकैः । वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥३४॥

तालुशोषनाशक गण्डूष—गाय का दूध, ईख का रस, गुड़ का शरबत, मिश्री का घोल, मधु, सीधु (सिरका), माध्वीक (मधु से तैयार की गयी शराब), विषांविल, बिजौरानीबू का रस इनको मुख में रखकर गंडूष (कुल्ला) करने से तृष्णा रोग के कारण उत्पन्न तालुशोष नष्ट हो जाता है ।

जम्ब्वाम्रातकबदरीवेतसपञ्चवल्कपञ्चाम्लैः ।
हृन्मुखशिरःप्रदेहाः सघृता मूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः स्युः ॥ ३५ ॥

तृष्णानाशक प्रलेप—जामुन की छाल, आम्रातक (आमड़ा) की छाल, बेर की छाल, बेत की छाल, पञ्चवल्कल (बरगद की छाल, पीपल की छाल, पाकड़ की छाल, पारिषपीपल की छाल, गूलर की छाल), पंचाम्ल (खट्टी बेर, दाड़िम, इमली, चांगेरी, चूक) इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क बना लें, इसमें घी मिलाकर छाती के ऊपर, मुख पर तथा शिर पर लेप करने से मूर्च्छा, भ्रम तथा तृष्णा रोग का नाश होता है।

दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः । लेपो गौरामलकैर्घृतारनालायुतैश्च हितः ॥
शैवलपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च शक्तुभिर्लेपः ।

तृष्णानाशक अन्य लेप—दाड़िम (खट्टा अनार), दधित्थ (कैथ की गुद्दी), पठानी लोध, विदारीकन्द, बिजौरानीबू का रस—इन सबको एक साथ पीसकर लेप तैयार करें । यह लेप शिर पर लगाया जाता है। अथवा गौरामलक (जो पककर पीला हो गया हो) को काँजी के साथ पीसकर उसमें थोड़ा-सा घी मिलाकर शिर पर लेप करने से तृष्णा रोग का शमन होता है । अथवा सिंवार, कमल की जड़ का कीचड़, कमल का फूल इन सबको काँजी के साथ पीसकर उसमें घी मिलाकर शिर पर लेप लगायें । अथवा जौ के सत्तू को काँजी में घोलकर घी मिलाकर शिर पर लेप लगायें ।

वक्तव्य—हमारे विचार से ये दो योग हैं । जैसे—दाड़िम के रस के साथ कैथ की गुद्दी तथा पठानीलोध को पीसकर लेप तैयार करें और विदारीकन्द को बिजौरानीबू के रस में पीसकर लेप तैयार करें, ये दोनों लेप शिर पर लगाने चाहिए । कुछ टीकाकारों ने इसे एक ही लेप माना है । वाक्य-विनियोग प्रकार को देखकर हमने

१. 'घृतभर्जिताः' इति पा० ।
२. 'माध्वीकैः' इति पा० ।

इसे दो योगों में बाँट दिया है । और भी विचार करें—पहले योग का लेप तैयार करने के लिए अम्ल दाड़िम रस का निर्देश है और दूसरे योग के लिए बिजौरे का रस है ।

गौरामलक—कुछ आँवलों पर पकने के बाद लाल रंग के छींटे-से दिखलायी देते हैं और कुछ पीताभ गौरवर्ण के हो जाते हैं, यहाँ इसी प्रकार के आँवलों का ग्रहण तन्त्रकार को अभीष्ट है । रसरत्नाकर में 'गौरामलक' को 'परिणतामलक'=पका हुआ आँवला कहा गया है । कहीं इसका 'प्राचीनामलक' पर्याय भी मिलता है । लेप तैयार करते समय ध्यान रखना चाहिए कि वह न अधिक पतला हो, न अधिक सूखा हो और उसमें किसी प्रकार का घृत आदि स्नेह अवश्य हो ।

मस्त्वारनालार्द्रवसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ॥ ३७ ॥
शिशिराम्बुचन्दनार्द्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः ।
क्षौमार्द्रनिवसनानां वराङ्गनानां प्रियाणां च ॥ ३८ ॥
हिमवद्दरीवनसरित्सरोऽम्बुजपवनेन्दुपादशिशिराणाम् ।
[1]रम्यशिशिरोदकानां स्मरणं कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥ ३९ ॥

गात्रसंस्पर्श द्रव्य—मस्तु (दही का पानी), आरनाल (काँजी), गीला वस्त्र (आजकल बरफ की पट्टी, नीलगिरि के तेल में भिगायी गयी कपड़े की पट्टी, आइस-बॉक्स में बरफ के टुकड़े भरकर जो रखे जाते हैं, वे आर्द्र निवसन के ही पर्याय हैं), कमल के कोमल किसलय, पुष्प-मालाएँ, मणियों की मालाएँ, इनके स्पर्श मात्र से अर्थात् कुछ समय तक धारण किये रहने से तृष्णा का नाश होता है । अथवा शीतल जल से तथा चन्दन से जिनके स्तन तट तथा हाथ के तलवे गीले हों, ऐसी रमणियों के अंगों के स्पर्श से तृष्णा रोग शान्त हो जाता है । रेशम के गीले वस्त्रों को धारण करने वाली सहृदय तथा प्रियतम कुलांगनाओं के शरीर का स्पर्श तृष्णा रोग की शान्ति करता है । हिमालय की कन्दराओं, सुरम्य वनों, सरस सरिताओं, सरसिज सम्पन्न सरोवरों, विकसित कमलकुसुमों, शीतल, मन्द, सुगन्ध पवनों, चन्द्रमा की शीतल किरणों, रमणीय शीतल जलों का स्मरण अथवा मित्रों द्वारा इन वस्तुओं से सम्बन्धित कही गयी कथाएँ तृष्णारोग को समाप्त कर देती हैं ।

वक्तव्य—वरांगनाओं का स्पर्श या आलिगन तृष्णा की शान्ति के लिए ही निर्दिष्ट है । शान्ति-लाभ हो जाने पर उन्हें विदा करा दें, अधिक सम्पर्क हानिकारक होता है । इस प्रकार के वर्णनों की भरमार कामज्वर की शान्ति के लिए भी चिकित्सा-ग्रन्थों में तथा कुछ हेमन्त, शिशिर ऋतुचर्या वर्णनों में भी देखी जाती है ।

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं च वाततृष्णायाम् ।
क्षयकासनुच्छृतं क्षीरघृतमूर्ध्ववाततृष्णाघ्नम्[2] ॥ ४० ॥

वातज तृष्णा-चिकित्सा—वातजनित तृष्णा रोगियों के लिए मृदु, लघु, शीतल तथा वातविकार-नाशक अन्न (आहार) पानों (पेय द्रवों) का सेवन हितकारक होता है । क्षय एवं कास को दूर करने वाले औषध-द्रव्यों द्वारा पकाया गया दूध तथा घृत का सेवन ऊर्ध्ववात एवं तृष्णा रोगों का नाश करता है ।

वक्तव्य—क्षयनाशक द्रव्यों का उल्लेख च० चि० अ० ८ में आया है तथा च० चि० अ० १८ में कास विनाशक योगों की विपुल चर्चा है । चिकित्सक रोगी की परिस्थिति आदि का विचार कर द्रव्यों का चयन करके तृष्णा-नाशन में समर्थ दूध तथा घृत का निर्माण कराये ।

स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे । पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम् ॥४१॥

वातपित्तज तृष्णा में दुग्ध-घृत प्रयोग—जीवनीयगण (च० सू० अ० ४।९) में कहे गये द्रव्यों द्वारा विधिपूर्वक पकाये गये दूध एवं घी का उपयोग वातज-पित्तज तृष्णा रोग में करना चाहिए । केवल पित्तज तृष्णा रोग में मुनक्का, चन्दन, खजूर, खश इनको क्वाथविधि से पकायें, शीतल हो जाने पर उस जल को छानकर उसमें मधु मिलाकर पीने से पित्तज तृष्णा की शान्ति होती है ।

१. 'रम्योदकशिशिराणाम्' इति पा० ।
२. 'क्षीरघृतं वाततृष्णाघ्नम्' इति पा० ।

लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः ।
मधु पक्वलोष्टमेव च जले स्थितं शीतलं पेयम् ॥ ४२ ॥

संस्कारित शीतल जल-प्रयोग—लाल शालिधान के चावल, पिण्डखजूर, फालसा, नीलकमल, मुनक्का, मधु, पकाया हुआ ईंट का टुकड़ा—इन द्रव्यों को कुछ समय पानी में रख दें। शीतल हो जाने पर इस जल को छानकर पीने से तृष्णारोग दूर हो जाता है।

लोहितशालिप्रस्थः सलोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः क्षुण्णः ।
[1]पक्वामलोष्टजलमधुसमायुतो मृन्मये पेयः ॥ ४३ ॥

अन्य प्रयोग—लाल शालिधान का चावल १ प्रस्थ (६४ तोला) को आठगुने (५१२ तोला) जल में भिगाकर रख दें, उसमें पठानीलोध, मुलेठी, अंजन (रसाञ्जन), नीलकमल इन द्रव्यों को चार पल (१६ तोला) की मात्रा में लेकर कूट कर मिला दें, अब एक कच्चे मिट्टी के ढेले को आग में पकाकर (खूब लाल कर) उसे उस पानी में बुझा दें। कुछ देर बाद शीतल हो जाने पर उस मिट्टी के ढेले को निकाल लें। जब पानी शीतल हो जाय तब उसमें चतुर्थांश मधु मिलाकर नये मिट्टी के पात्र में रखकर उस जल को पीयें।

वक्तव्य—श्लोक ४२ तथा ४३ दोनों की प्रकृति तथा द्रव्य प्रायः समान गुण वाले हैं, अतः दोनों की सेवन-विधि भी समान प्रतीत होती है। आचार्य चक्रपाणि इन योगों के सेवन के लिए एक वृद्ध-चिकित्सक परम्परा का उल्लेख कर रहे है—'लोहितशालिप्रस्थ इत्यादौ लोध्रादीनां मिलितानां चतुष्पलं प्रक्षेप्यन्यायात पादिकं मधु, पक्वामलोष्टप्रसादनं (चालोडनयोग्यमात्रं) दत्वा शालितण्डुलप्रस्थः क्षपायां स्थाप्यते, तदन्नं (तस्य पानयोग्यमात्रमधुप्रक्षेपं) मृन्मये पात्रे पीयते, इति वृद्धैरुपदर्शितः कर्ममार्गः'। अर्थात् उन सभी द्रव्यों को जिनका वर्णन ऊपर श्लोक में किया गया है, रात को पानी में डालकर रख दें, प्रातःकाल उन्हें मसल कर छान कर रख लें। यही जल तृष्णा रोगी को थोड़ा-थोड़ा बार-बार पीने के लिए दें।

वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्टयाह्वैः ।
सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभां कृष्णमृदं कृष्णसिकतां वा ॥ ४४ ॥
तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम् ।
आपाकशर्करं वाऽमृतवल्ल्युदकं तृषां हन्ति ॥ ४५ ॥

अन्य प्रयोग—बरगद के पत्ते, बिजौरानीबू के पत्ते, बेत के पत्ते, कुश तथा काश की जड़, मुलेठी इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर षडंगपरिभाषा की विधि से पकायें, शेष जल में काली मिट्टी अथवा काले वर्ण की बालू को आग में तपाकर लाल करके बुझायें, अथवा मिट्टी के नये घड़े के टुकड़ों को बार-बार गरम करके उस जल में बुझायें, फिर इस जल को पकाने के लिए इसमें चीनी अथवा अमृतवल्ली (गुरुच) डालकर पकायें, शीतल हो जाने पर तृष्णा रोगी को यह जल पिलाना चाहिए। इसके सेवन से तृष्णारोग नष्ट होता है।

क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुविमिश्राः ।
शीतकषाया मृद्भृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः ॥ ४६ ॥

अन्य प्रयोग—क्षीरीवृक्षों (जिनके पत्तों तथा छाल आदि से दूध निकलता है) की छालों से मधुर-गण (काकोल्यादिगण) के द्रव्यों से, शीतवीर्य औषधद्रव्यों से तैयार किये शीतकषाय में मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर बार-बार बुझायें, शीतल हो जाने पर उसमें चीनी और मधु मिलाकर पीने से पित्तज तृष्णारोग की शान्ति होती है।

वक्तव्य—श्लोक ४४ से ४६ तक के योगों के सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचारों का भी अवलोकन कर लें। अ० सं० चि० अ० ८।६७ तथा ७७।

१. 'पक्त्वाऽऽमलोष्टमधुजलसमायुतः' इति पा०।

व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णाघ्नाः ।
यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात् ॥ ४७ ॥

आमज तृष्णा-चिकित्सा—व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), बालवच, भिलावा, तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग करने से आमदोष-जनित तृष्णा का नाश होता है और जो कफज वमन (छर्दि) रोग की चिकित्सा कही गयी है, उसका भी यहाँ प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर 'कषायाः··· तृष्णाघ्नाः' इस वाक्य की संगति से ऐसा प्रतीत होता है कि ये अनेक कषाय हैं। टीकाकार इसे एक ही योग मानते चले आ रहे हैं। श्रीजयदेव के अनुसार 'तृष्णाघ्नाः' के स्थान पर 'तृष्णायाम्' पाठ है, फिर भी आशय वही है, किन्तु 'तृष्णाघ्नाः' पाठ 'कषायाः' शब्द की विशेषता भी सूचित करता है, यह निर्णयसागरीय पाठ की विशेषता है।

स्तम्भारुच्यविपाकालस्यच्छर्दिषु कफानुगां तृष्णाम् ।
ज्ञात्वा दधिमधुतर्पणलवणोष्णजलैर्वमनमिष्टम् ॥ ४८ ॥

तृष्णा के उपद्रवों की चिकित्सा—शरीर में जकड़न, भोजन के प्रति अरुचि, भोजन का विधिपूर्वक पाक न होना, हर समय आलस्य के बने रहने पर उस तृष्णा रोग में कफ का संसर्ग समझना चाहिए। इस स्थिति में दही, मधु, तर्पण (पानी में घोला हुआ सत्तू), नमक और गरम पानी पिलाकर तृष्णारोगी को वमन कराना चाहिए।

दाडिममम्लफलं वाऽप्यन्यत् सकषायमथ लेहम् । पेयमथवा [1]प्रदद्याद्रजनीशर्करायुक्तम् ॥४९॥

लेह-पेय-प्रयोग—खट्टा दाड़िम का फल, अथवा कोई और कषाय लेह (अवलेह) अथवा पेय (पीने योग्य पदार्थ), हल्दी और चीनी से युक्त द्रव को तृष्णा रोग की शान्ति के लिए रोगी को देना चाहिए।

क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम् ।
क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात् तां भेषजैः शमयेत् ॥ ५० ॥

क्षयज तृष्णा-कास-चिकित्सा—मनुष्यों के लिए क्षयज कास के समान ही भयंकर क्षयज तृष्णारोग भी होता है। अतः क्षत-क्षीण तथा शोषरोगों में जो चिकित्सा हितकर कही गयी है, उन-उन चिकित्सायोगों से क्षयज तृष्णा की भी चिकित्सा करनी चाहिए।

पानतृषार्तः पानं त्वर्धोदकमम्ललवणगन्धाढ्यम् ।
शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः ॥ ५१ ॥

मद्यज तृष्णा में मद्यपान-विधि—मद्यपान करने से यदि तृष्णा रोग हुआ हो तो उस रोगी को मद्य में आधा भाग जल मिलाकर उसमें दाड़िम का अम्ल रस, सेंधानमक तथा सुगन्धित द्रव्य इलायची आदि मिलाकर पिलाना चाहिए। अथवा शीतल जल से स्नान करके मद्य में आधा जल मिलाकर या गुड़ का शरबत तृष्णारोग से पीड़ित पुरुष को पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—मद्यज तृष्णा रोग में जो उपर्युक्त चिकित्सा बतलायी गयी है, यह विपरीतार्थकारी चिकित्सा का उदाहरण है, क्योंकि मद्य उष्ण होता है, अतएव यह पित्त को बढ़ाता है। तृष्णारोग की उत्पत्ति में पित्त का विशेष महत्त्व है, अतः मद्य में आधा जल मिलाकर देने का विधान किया गया है।

भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृषार्तोऽथवा तनुयवागूम् ।
प्रपिबेद् गुरुणा तृषितो भुक्तेन तदुद्धरेद् भुक्तम् ॥ ५२ ॥
मद्याम्बु वाऽम्बु कोष्णं बलवांस्तृषितः समुल्लिखेत् पीत्वा ।
मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम् ॥ ५३ ॥

१. 'हरिद्राम्बुशर्कराक्षौद्रसंयुक्तम्' इति पा०।

भक्तज तृष्णा-चिकित्सा—भोजन का उपरोध करने से, अर्थात् लंघन या उपवास करने से अथवा स्नेहपान की अधिकता से यदि तृष्णारोग की उत्पत्ति हुई हो तो उसे शान्त करने के लिए पतली यवागू का पान करना चाहिए। यदि गुरु (देर में पचने वाले) पदार्थ को खाने से प्यास की उत्पत्ति हुई हो तो मद्य में जल मिलाकर अथवा गुनगुना पानी मिलाकर बलवान् रोगी को वमन करा देना चाहिए। पिप्पली के दानों को चबाने से जब रोगी का मुख शुद्ध हो जाय तब वह रोगी जौ के सत्तू को जल में घोलकर उसमें चीनी मिलाकर पीये।

बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद् घृतं तृष्यमद्याच्च । सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसांश्चाबलः स्निग्धान् ॥५४॥

तृष्णारोग में पौष्टिक प्रयोग—यदि बलवान् तृष्णारोगी का तालु-प्रदेश सूख रहा हो तो उसे हितकर घृतपान कराना चाहिए। यदि दुर्बल व्यक्ति को तृष्णारोग हुआ हो और उसका तालु-प्रदेश सूख रहा हो तो उसे घी से छौंके हुए दूध तथा घी से छौंके हुए मांसरस को पिलायें।

अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः । छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः ॥

दुग्ध तथा मांसरस-प्रयोग—यदि तृष्णा रोगी का शरीर अधिक रूक्ष अथवा दुर्बल हो गया हो तो उसे गाय का दूध पिलाना चाहिए, इससे तृष्णारोग की शान्ति होती है, अथवा घी में भुने हुए बकरे का शीतल किया हुआ मांसरस जो मधुर (लवण वर्जित) तथा हृदय के लिए बलकारक हो, पीने के लिए दें। इसका सेवन करने से तृष्णारोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत् ।
तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहैर्हन्यात् ॥ ५६ ॥

मूर्च्छागत तृष्णा में चिकित्सा—स्निग्ध अन्नों (पूरी, कचौरी, हलुआ, मालपुआ आदि) के खा लेने के बाद जो तृष्णारोग उत्पन्न होता है, उसे शान्त करने के लिए गुड़ का शरबत पिलाना चाहिए। यदि मूर्च्छा रोगी को तृष्णारोग हो जाय तो रक्त-पित्त-शामक औषधयोगों द्वारा उसका शमन करना चाहिए।

[1]तृड्दाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययास्रविषपित्ते ।
शस्तं स्वभावशीतं, शृतशीतं सन्निपातेऽम्भः ॥ ५७ ॥

शीतल जलपान का विधान—तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम (सुस्ती), मदात्यय (अधिक मद्यपान करने से उत्पन्न रोग विशेष), रक्तविकार—उक्त रोगों के कारण या विष-सेवन के कारण यदि पित्तदोष की वृद्धि हुई हो तो स्वभाव शीतल जल (न कि बरफ डालकर ठंडा किया हुआ जल) पीने के लिए दें, अथवा पकाकर शीतल किया गया जल सन्निपात-जनित रोग में दें।

हिक्काश्वासनवज्वरपीनसघृतपीतपार्श्वगलरोगे ।
कफवातकृते स्याने सद्यःशुद्धे च हितमुष्णम् ॥ ५८ ॥

उष्ण जलपान-निर्देश—हिक्का, श्वास, नवज्वर, पीनस (प्रतिश्याय या जुकाम), इन रोगों में घृत-पान करने के बाद, पसलियों तथा गले के रोगों में, कफवात-जनित रोगों के फैलने पर तथा वमन-विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि करने के बाद पकाया हुआ जल पीना चाहिए।

पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दानलातिसारेषु । प्लीह्नि च तोयं न हितं काममसह्ये पिबेदल्पम् ॥५९॥

अल्प जलपान-निर्देश—पाण्डुरोग, उदररोग, पीनस (प्रतिश्याय या जुकाम), प्रमेह, गुल्म, मन्दाग्नि (अग्नि का मन्द पड़ जाना), अतिसार तथा प्लीहारोग में जल पीना हितकर नहीं होता है। यदि जल पीना अत्यन्त आवश्यक हो जाय तो थोड़ा-सा जल पी लें।

पूर्वामयातुरः सन् दीनस्तृष्णार्दितो जलं काङ्क्षन् ।
न लभेत स चेन्मरणमाश्वेवाप्नुयाद् दीर्घरोगं वा ॥ ६० ॥

१. 'छर्द्यम्लदाहमूर्च्छा' इति पा०।

शीघ्र जल देने की स्थिति—ऊपर कहे गये रोगों से पीड़ित व्यक्ति यदि तृष्णारोग के कारण पानी पीने की इच्छा प्रकट करता हुआ दीन हो जाय तो उस समय उसे पीने के लिए अवश्य तथा शीघ्र जल देना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति में भी उसे जल नहीं दिया जाता है तो वह रोगी या तो मर जाता है, अथवा उसका वह रोग चिरस्थायी हो जाता है।

तस्माद्धान्याम्बु पिबेत् तृष्यन् रोगी सशर्कराक्षौद्रम् ।
यद्वा तस्यान्यत्स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम् ॥ ६१ ॥

धान्याम्बु-प्रयोग—तृष्णारोग से पीड़ित रोगी को यदि प्यास लगती है, तो उसे चीनी तथा मधु मिलाकर धान्याम्बु पीने के लिए दें। अथवा रोग की स्थिति के अनुसार जो उसे तथा उस रोग में सात्म्य (अनुकूल) हो, वैसा जल देना चाहिए।

वक्तव्य—धनियाँ को सिल पर बारीक पीसकर किसी पात्र में उठाकर उसमें पानी डालकर बारीक कपड़ा से छान लें और चीनी, कपूर आदि मिलाकर पीने के लिए रोगी को दें। इस धान्याम्बु के सेवन का परामर्श वृद्धवाग्भट ने भी दिया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ८।८९।

तस्यां विनिवृत्तायां तज्जन्य उपद्रवः सुखं जेतुम् ।
तस्मात् तृष्णां पूर्वं जयेद् बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः ॥ ६२ ॥

उपद्रवों की चिकित्सा—तृष्णारोग के शान्त हो जाने पर तृष्णाजनित उपद्रव सुखपूर्वक जीते जा सकते हैं। इसलिए अन्य अनेक रोगों से पहले तृष्णारोग को जीतना चाहिए।

तत्र श्लोकः—

हेतू यथाऽग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवां च पञ्चानाम् ।
तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनं चोक्तम् ॥ ६३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने तृष्णारोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में एक श्लोक कहा है—जिस प्रकार अग्नि (पित्त) और वायु कारण बनकर पाँच प्रकार की तृष्णाओं को तथा उनके उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं; तथा सभी प्रकार के तृष्णारोगों के पृथक्-पृथक् लक्षण, साध्यता, असाध्यता और उसके सभी भेदों की चिकित्सा का उपदेश महर्षि आत्रेय ने इस अध्याय में किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में तृष्णारोग-चिकित्सित नामक बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

तृष्णारोग-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से विष-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—मूल रूप में विष दो प्रकार का होता है—१. स्थावर और २. जंगम। इन्हीं के फिर अनेक मिश्रित रूप देखने को मिलते हैं। गरविष जिसे कृत्रिम विष भी कहते हैं, ये सद्योमारक (तत्काल प्राणों का नाश कर देने वाले) तथा दूषीविष कालान्तर में मारने वाले होते हैं।

विष का लक्षण—जो द्रव्य व्यवायी (कामोद्दीपक) हो, सूक्ष्म हो अर्थात् शरीर के सभी अवयवों में शीघ्र फैल जाता हो, विकाशी (जो द्रव्य धातुओं से ओजस्—कार्य करने की शक्ति—को अलग करके सन्धियों के बन्धनों को शिथिल=ढीला कर देता है, उसे विकाशी कहा जाता है, जैसे—सुपारी और कोदों=मडुआ के चावल) हो, छेदी (जो द्रव्य सटे हुए कफ आदि दोषों को बलपूर्वक उखाड़ कर फेंक देता है, उसे छेदी=छेदनकारक कहते हैं, जैसे—जवाखार, मरिच और शिलाजीत) हो, मदकारी हो, आग्नेय (जो अग्नि-गुण-प्रधान) हो, प्राणों का नाशक हो और जो योगवाही (संयोगी द्रव्यों के समान गुण करने वाला) हो, उसे विष कहते हैं, जैसे—वत्सनाभ, शंखिया तथा अन्य प्राणिज विष। देखें—शा० सं० पू० खं० अ० ४।२२। अर्थात् उक्त सभी गुण जिस एक द्रव्य में हों, उसे विष कहते हैं। वाग्भट-युगल ने अपनी-अपनी संहिताओं के सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में अगदतन्त्र को मात्र 'दंष्ट्रा विष' की संज्ञा दी है। इस शब्द से अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना करने के बाद भी स्थावरविषों का ग्रहण नहीं हो पाता है, किन्तु उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

विष-निरुक्ति—विष्लृव्याप्तौ (जु० उ० अ०)+क प्रत्यय के योग से 'विष' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—शरीर में शीघ्र व्याप्त होने वाला द्रव्य विशेष। तृष्णारोग के बाद विषचिकित्सा-वर्णन में केवल चिकित्सा-साधर्म्य ही एक कारण हो सकता है, वह है शीतल द्रव्यों द्वारा होने वाली चिकित्सा। सुश्रुत में स्थावर विष के १० आश्रय और जंगम विष के १६ आश्रय माने गये हैं। विशेष विवरण के लिए सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय २, ३ देखें। जो सद्योमारक विष के गुणों से कुछ कम शक्ति वाला विष होता है, उसे दूषीविष (Slow poison) कहते हैं।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० चि० अ० २३। सु० वि० अ० २ तथा ३। अ० सं० उ० अ० ४० तथा ४१। अ० हृ० उ० अ० ३५ तथा ३६।

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगाँल्लिङ्गान्युपक्रमान्। विषस्य ब्रुवतः सम्यगग्निवेश ! निबोध मे॥

विषय-प्रस्तावना—हे अग्निवेश ! अब मैं विष की सर्वप्रथम उत्पत्ति, विष के गुण, विष की योनियाँ (यह कहाँ-कहाँ उत्पन्न होता है तथा पाया जाता है), विष के कितने वेग होते हैं, विष के लक्षण एवं उसकी चिकित्सा को कह रहा हूँ, तुम सावधान होकर सुनो।

अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः। जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः॥ ४॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरिकेशोऽनलेक्षणः। जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा [1]तेनासौ विषसंज्ञितः॥ ५॥

सर्वप्रथम विष की उत्पत्ति—जब अमृत को पाने के लिए देव-दानव क्षीरसमुद्र का मन्थन कर रहे थे, तब अमृत की उत्पत्ति होने के पहले एक भयावह स्वरूप वाला पुरुष उस (समुद्र) से प्रकट हुआ, वह अत्यन्त तेजस्वी था, उसके बड़े-बड़े चार दाँत थे, हरित वर्ण के उसके केश थे, अग्नि के सदृश प्रकाशमान नेत्र थे, उसे देखकर सम्पूर्ण संसार अर्थात् वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति विषाद युक्त हो गये, अतएव इसे 'विष' कहा गया है।

जङ्गमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत्। तदम्बुसम्भवं तस्माद् द्विविधं पावकोपमम्॥ ६॥
अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम्।

विष की योनियाँ—जब ब्रह्माजी ने देखा कि इस विष-पुरुष को देखकर समस्त प्राणी दुःखी हो रहे हैं, तब उन्होंने उसे जंगम (गच्छन्तीति जङ्गमाः, अर्थात् साँप, बिच्छू आदि) प्राणियों में तथा स्थावर (तिष्ठन्तीति स्थावराः, अर्थात् वत्सनाभ, शंखिया आदि) योनियों के रूप में उत्पन्न होने की आज्ञा दी। तब उस समुद्र से उत्पन्न अग्नि के समान दाहक विष-पुरुष ने उक्त दो प्रकार के शरीर धारण किये। **विष के वेग**—ये आठ

१. 'विषं स तु विषादनाद्' इति पा०।

प्रकार के होते हैं। **विष के गुण**—ये दस प्रकार के होते हैं। **विष के उपक्रम**—चौबीस प्रकार की विष-चिकित्सा होती है।

वक्तव्य—पुराणों के अनुसार समुद्र-मन्थन से १४ रत्न निकले। उनमें से एक था विष-कलश—जिसकी त्रैलोक्यनाशक विभीषिका को देखकर सभी भयभीत हो गये थे। देवताओं की प्रार्थना को सुनकर भगवान् शिव उसे पी गये, जिसे आज भी **'विषं शंकरभूषणम्'** कहते हैं। तभी से शिव का नाम 'शितिकण्ठ' प्रसिद्ध हुआ। उनके पीने से बचा हुआ विष स्थावर-जंगमभेद से प्रसिद्ध है। दूसरा था अमृत-कलश, जिसे देवताओं ने आपस में बाँट लिया। शेष अंश आज भी लोकोपकार के लिए भगवान् धन्वन्तरि के हाथ में सुरक्षित है।

यहाँ तक संक्षेप में विष की उत्पत्ति, गुण, योनि, वेग, लिंग तथा उपक्रमों का सूत्ररूप में वर्णन कर दिया गया है। इसके आगे श्लोक १५वें तथा १६वें में इसके लक्षणों का निर्देश किया जायेगा।

तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वात् सङ्क्लेदं गुडवद् गतम्॥ ७॥
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च। प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये॥ ८॥

ऋतुओं का विष पर प्रभाव—वह विष अम्बुयोनि (जल से उत्पन्न) होने के कारण वर्षाऋतु में गुड़ के समान क्लिन्नता (गीलापन) को प्राप्त होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। अम्बुधरों (वर्षाकालिक मेघों) के समाप्त हो जाने पर जब अगस्त्य नामक तारा का उदय होता है, तो वह विष के प्रभाव को नष्ट कर देता है। अतः अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने के बाद अर्थात् वर्षाऋतु के समाप्त होने पर विष की शक्ति मन्द हो जाती है।

अगस्त्य नाम से प्रसिद्ध—मैत्रावरुणि, और्वशेय, कुम्भसम्भव, पीताब्धि, समुद्रचुलुक, विन्ध्यगुरु नाम वाले ऋषि से यह सर्वथा पृथक् हैं। भाद्रपद मास में जब सिंह का सूर्य हो उस समय अगस्त्य नामक एक तारा आकाश में दक्षिण की ओर उदय होता है। इसकी तिथि आगे-पीछे हो जाती है। इसके उदय होने के पश्चात् वर्षाऋतु समाप्त हो जाती है। यह लुब्धक नाम के तारा से ३५° दक्षिण की ओर उदय होता है। इसे अंग्रेजी में कनोपस (Canopus) कहते हैं। विशेष देखें—ब्रह्माण्डपुराण २।२१।१०१ तथा वायुपुराण ५०।१५५।

विष को अम्बुयोनि (जल से उत्पन्न होने वाला) कहा है, अतः इसकी वृद्धि वर्षाऋतु में होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि 'समः समं वर्द्धयति' अथवा 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'। च० सू० अ० १।४४। और वर्षाऋतु की समाप्ति होने पर अगस्त्य उस विष का नाश करता है। यह भी स्वाभाविक ही है। विष शब्द एक तो अपने अभिधेय को व्यक्त करने में स्वयं समर्थ है, जिसे 'जहर' कहते हैं। विष का एक दूसरा अर्थ जल भी होता है। जल को समाप्त करने वाले के रूप में हठात् कुम्भज का स्मरण हो आता है।

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः। जलौकामत्स्यमण्डूकाः [1]कणभाः सकृकण्टकाः॥
श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः। [2]दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम्॥१०॥

जंगमविष के आश्रय—साँप, कीट (कीड़े, मकोड़े, कनखजूरा, गोजर, चिउँटी आदि), उन्दुर (चूहा), लूता (मकड़ी), बिच्छू, गृहगोधिका (छिपकली), जोंक, मछली, मेढक, कणभ (इसके पाठभेद में—'शलभाः' शब्द आया है, सभी टीकाकारों ने उसका अर्थ लिखा है—टिड्डी; किन्तु यदि हम 'कणभ' को कणभक्षक मान लेते हैं, तो इसका अर्थ होगा—श्यामचटक या भारुंडपक्षी, जिसकी दो गरदनें तथा दो मुख होते हैं। देखें—'एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः। असंहता विनश्यन्ति भारुण्डा इव पक्षिणः'॥ पञ्चतन्त्र।), कृकण्टक, कुत्ता, शेर, व्याघ्र (बाघ), गोमायु (गीदड़), तरक्षु (लकड़बग्घा), नकुल (नेवला) आदि जो दाँतों वाले प्राणी हैं, उनकी दाढ़ों से पैदा होने वाले विषों को जंगम (दंष्ट्रा) विष कहा जाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि के अनुसार आचार्य पुनर्वसु ने विष-वर्णन को भी पराधिकार स्वीकार करके विष की जंगम तथा स्थावर इन्हीं दो योनियों का वर्णन किया है। यहाँ ऊपर जंगमविष के अधिष्ठानस्वरूप कतिपय प्राणियों के नामों की चर्चा की गयी है। इस जंगमविष के सोलह अधिष्ठान कहे गये हैं। सुश्रु[illegible]

१. 'शलभाः' इति पा०। २. 'दंष्ट्रिणोऽमी' इति पा०।

दिव्य तथा भूमि पर विचरण करने वाले सर्पों का भी विवरण दिया है। दिव्य सर्प देखने मात्र से अथवा निःश्वास के स्पर्शमात्र से आघात करते हैं और भौमसर्प दंष्ट्राविष वाले होते हैं। इस सम्बन्ध में सु० क० अ० ३।५ का अवलोकन करें। चूहे के काटने से भी विष का आक्रमण हो जाता है। इसे आजकल 'Rat bite fever' कहते हैं। कुछ प्राणियों के शुक्र, मूत्र, पुरीष का शरीर पर स्पर्श होते ही विष का प्रभाव दिखलायी देता है। जंगमविष के १६ अधिष्ठानों का परिचय सु० क० अ० ३।३-४ में देखें। सभी सविष प्राणियों में सर्प की प्रधानता स्वीकार कर महर्षि आत्रेय ने जंगमविष में सर्प को प्रधान मानकर सर्वप्रथम उसी का उल्लेख किया है।

मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चं वत्सनाभं बलाहकम्। कर्कटं कालकूटं च करवीरकसंज्ञकम् ॥११॥
पालकेन्द्रायुधं तैलं मेघकं कुशपुष्पकम्। रोहिषं पुण्डरीकं च लाङ्गलक्यञ्जनाभकम् ॥१२॥
सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा। एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ॥१३॥

स्थावर विष के आश्रय—मुस्तक, पौष्कर, क्रौञ्च, वत्सनाभ, बलाहक, कर्कट, कालकूट, करवीरक (कनेर), पालक, इन्द्रायुध, तैल (तेलिया विष), मेघक (पाठभेद के अनुसार—मेचक), कुशपुष्पक, रोहिष, पुण्डरीक, लांगलकी (कलिहारी) अञ्जनाभ, संकोच, मर्कट, शृंगीविष (सिंगिया), हालाहल—इस प्रकार के और भी अन्य मूलविषों को स्थावर विष कहा जाता है।

वक्तव्य—ऊपर २१ स्थावर विषों का परिगणन करने के बाद अन्य मूलज विषों को भी स्थावर विष माना जा सकता है, ऐसा तन्त्रकार ने संकेत किया है। सुश्रुत के अनुसार स्थावर विष के केवल दस अधिष्ठान कहे गये हैं—'मूल, पत्र, फल, पुष्प, त्वचा, क्षीर (दूध), सार, गोंद, धातु (ताम्र आदि) तथा कन्द। सु० क० अ० २।४। इन दस प्रकार के विषों का विस्तृत वर्णन अगले गद्य में किया गया है। देखें—सु० क० अ० २।५।

इन विषों में आज का चिकित्सक-समाज प्रायः वत्सनाभ (Aconitum ferox), सिंगिया, हरताल इन सुप्रसिद्ध विषों से ही काम चलाता है। सुश्रुत ने चार प्रकार के वत्सनाभ, दो प्रकार के मुस्तक तथा सर्षप के छः भेद स्वीकार किये हैं। शेष द्रव्यों का एक-एक ही भेद माना है। मूल विषों से—हाथ-पैरों में ऐंठन, प्रलाप (अंट-संट बकना) और बेहोशी होती है। पत्र विषों से—जँभाई, अंगों में ऐंठन, श्वास की वृद्धि हो जाती है। फल विषों से—अण्डकोषों में शोथ, दाह तथा अन्न (आहार) के प्रति द्वेष हो जाता है। पुष्प विषों से—वमन, आध्मान और बेहोशी होती है। त्वचा, सार तथा निर्यास (गोंद) सम्बन्धी विषों से—मुख में दुर्गन्धि, शरीर में कड़ापन, शिरःशूल, मुख से कफ का स्राव होने लगता है। दूध सम्बन्धी विषों से—मुख से झाग का आना, अतिसार का होना तथा जीभ में भारीपन हो जाना है। धातु विषों से—हृदय में पीड़ा, बेहोशी, तालु में दाह हो जाना है। ये सभी विष कुछ समय बाद मारक प्रभाव दिखलाते हैं, अर्थात् सद्यः मारक नहीं होते हैं।

श्रीभावमिश्र के अनुसार स्थावर विषों के नौ भेद इस प्रकार हैं—१. वत्सनाभ, २. हारिद्र, ३. सक्तुक, ४. प्रदीपन, ५. सौराष्ट्रिक, ६. शृङ्गिक, ७. कालकूट, ८. हालाहल, ९. ब्रह्मपुत्र। सिंगिया विष का प्रभाव घुन पर नहीं होता, अतः उसे जल्दी ही घुन लग जाते हैं, उसे सुरक्षित रखने के लिए उसे तेल में भिगाकर सुखा लिया जाता है। इसी को मीठा तेलिया कहते हैं। इन विषों का विस्तारपूर्वक परिचय भावप्रकाश के धात्वादिवर्ग अ० ९ में श्लोक १८३ से १९८ तक है। दुरुपयोग करने पर ही विष घातक होते हैं, अन्यथा इनकी प्रशंसा इस प्रकार की गयी है—'तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम्। योगवाहि त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्धनम्' ॥ भा० प्र० प्र० १०।१९९।

उपविष-परिचय—'अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः। गुञ्जाहिफेनौ धत्तूरः सप्तोपविषजातयः' ॥ मूल (प्रधान) विषों अथवा उपविषों का प्रयोग बिना शुद्ध किये कभी नहीं करना चाहिए। शुद्ध करने पर उनके दोषकारक अंश समाप्त हो जाते हैं और गुणों में वृद्धि हो जाती है। इन विषों का उपयोग रसतन्त्रों में अधिक हुआ है। आशुकारी होने के कारण चिकित्सकों ने रसादि औषधयोगों तथा विषों के संयोग से बने योगों को अधिक अपनाया है। अन्य योगों की अपेक्षा आज भी ये योग सम्मान के साथ प्रयोग में लाये जाते हैं।

[1]गरसंयोगजं चान्यद् गरसंज्ञं गदप्रदम्। कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून् ॥१४॥

गरविष—ऊपर जंगम, स्थावर भेद से दो प्रकार के विषों का वर्णन किया गया है; इनके अतिरिक्त एक संयोगज विष और होता है, जिसे गर कहते हैं। यह विविध प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है। इस संयोगज विष का विपाक कालान्तर में होता है, अतः यह शीघ्र प्राणनाशक नहीं होता है।

वक्तव्य—संयोगज विष को 'गर' संज्ञा दी गयी है। एकाधिक द्रव्यों के संयोग से होने वाला यह संयोगज विष भी दो प्रकार का होता है—१. विषरहित द्रव्यों के संयोग से, जैसे—मधु-घृत का संयोग, मछली के मांस के साथ दूध का संयोग। २. सविष द्रव्यों के साथ निर्विष द्रव्य का संयोग। इसमें प्रथम भेद से उत्पन्न विष को 'गर' की संज्ञा दी जाती है और द्वितीय भेद से उत्पन्न विष को कृत्रिम विष कहा जाता है। दूषी विष का आगे ३१वें पद्य में वर्णन होगा, उसका स्पष्टीकरण यथास्थान दिया जायेगा। गरविष का स्वतन्त्र वर्णन वाग्भट ने अ० हृ० उ० अ० ३५।४८-५४ तक किया है, उसे देखें।

निद्रां तन्द्रां क्लमं [2]दाहं सपाकं लोमहर्षणम्। शोफं चैवातिसारं च जनयेज्जङ्गमं विषम् ॥१५॥

जङ्गमविष के लक्षण—निद्रा, तन्द्रा (ऊँघाई), क्लम (सुस्ती), दाह (जलन), पाक, रोमांच का होना, शोथ, अतिसार—ये सभी लक्षण जंगम (प्राणिज या दंष्ट्रा) विषों में देखे जाते हैं।

स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्। फेनवम्यरुचिश्वासमूर्च्छाश्च [3]जनयेद् विषम् ॥१६॥

स्थावर विष के लक्षण—ज्वर, हिक्का (हिचकी), दाँतों का खट्टा हो जाना, गलग्रह (गले का बैठ जाना या गला पकड़ लेना), मुख से झाग का निकलना, वमन का होना, अरुचि (भोजन करने की इच्छा का न होना), श्वास की गति का बढ़ जाना, मूर्च्छा (बेहोशी)—ये लक्षण स्थावर विष का सेवन हो जाने से होते हैं।

वक्तव्य—इस अध्याय में अग्निवेश द्वारा पूछे गये उक्त सभी प्रश्नों का क्रमिक उत्तर दिया जा चुका है। यह अन्तिम प्रश्न 'लिङ्गानि' का उत्तर उक्त दो श्लोकों द्वारा दिया गया है।

[4]जङ्गमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजम्। [5]तस्माद्दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मौलं च [6]दंष्ट्रजम् ॥

विषों की गति—जब व्यक्ति के शरीर से जंगमविष का सम्पर्क होता है, अर्थात् जब साँप मनुष्य को डस लेता है, तब उसकी गति शीघ्र ही ऊपर की ओर होने लगती है। और मूलज (स्थावर) विष का जब व्यक्ति के शरीर से सम्पर्क होता है, अर्थात् जब मनुष्य कोई जहरीला पदार्थ खा लेता है तो उसकी गति नीचे की ओर को होने लगती है। इसलिये जंगम विष का सम्पर्क हो जाने पर मूल (स्थावर) विषों का और मूल-विष का सम्पर्क होने पर जंगम विष का प्रयोग कराना चाहिए। क्योंकि ये दोनों विष परस्पर विरुद्ध गति वाले होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कहा गया है कि जंगमविष स्थावरविषों का प्रभाव कम कर देते हैं और इसी प्रकार स्थावरविष जंगमविषों के प्रभाव को कम कर देते हैं। इसके कारण का निर्देश तन्त्रकार ने पहले ही कर दिया है। देखें—'विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्'। च० सू० अ० २६।६९। यहाँ गति शब्द और वहाँ प्रभाव शब्द आया है, अतः ये परस्पर विरुद्धवचन हैं; ऐसा जिन्होंने सोचा है, वह श्रद्धेय नहीं है। आप देखें कि गति का एक अर्थ—'कार्यक्षेत्र' भी होता है और आयुर्वेद में तो प्रभाव को अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न माना ही गया है। उसके उदाहरण भी चिकित्साकाल में सामने आते ही हैं।

तृण्मोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्लमा भवन्त्याद्ये। वेगे रसप्रदोषादसृक्प्रदोषाद् द्वितीये तु ॥१८॥

---

१. 'परं संयोगजम्' इति 'गरं संयोगजम्' इति च पा०।
२. 'दाहमपाकम्' इति पा०।
३. 'जनयेद् भृशम्' इति पा०।
४. 'गङ्गाधरस्तु 'जङ्गमं स्यादूर्ध्वभागमधोभागं तु मूलजम्' इति पा०।
५. तस्माद् दंष्ट्रिविषम्' इति पा०।
६. 'दंष्ट्रिजम्' इति पा०।

वैवर्ण्यभ्रमवेपथुमूर्च्छाजृम्भाङ्गचिमिचिमातमकाः ।
दुष्टपिशितात् तृतीये मण्डलकण्ड्वश्वयथुकोठाः ॥ १९ ॥
वातादिजास्तुर्ये दाहच्छर्द्यङ्गशूलमूर्च्छाद्याः । नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमे वेगे ॥ २० ॥
षष्ठे हिक्का, भङ्गः स्कन्धस्य तु सप्तमेऽष्टमे मरणम् । नृणां—

विष के आठ वेग—१. पहले वेग में—प्यास, बेहोशी, दाँतों का खट्टा हो जाना, मुँह से लार का आना, वमन, क्लम (सुस्ती) ये सभी लक्षण रसधातु के विकृत हो जाने से होते हैं। २. दूसरे वेग में—रक्त में विकृति हो जाती है, शरीर में विवर्णता, शिर में चक्करों का आना, कम्पन, मूर्च्छा, जँभाई का आना, सम्पूर्ण शरीर में चुनचुनाहट का होना तथा तमकश्वास के लक्षण दिखलायी देते हैं। ३. तीसरे वेग में—मांस धातु की विकृति हो जाती है, अतः शरीर में गोल-गोल चकत्ते उभर आते हैं, खुजली, सूजन, कोठ—ये लक्षण पैदा हो जाते हैं। ४. चौथे वेग में—वात आदि दोषों के अधिक कुपित हो जाने से दाह, वमन, अंगों में शूल, मूर्च्छा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ५. पाँचवे वेग में—दृष्टिमंडल के दूषित हो जाने से वह नील आदि (जो जैसे नहीं है, वैसे) रूपों को देखता है, उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है। यह विष के आग्नेय गुण का प्रभाव है। ६. छठे वेग में—हिक्का रोग पैदा हो जाता है, अर्थात् उसे हिचकियाँ आना प्रारम्भ हो जाती हैं। ७. सातवें वेग में—उसका कन्धा लटका हुआ-सा प्रतीत होने लगता है, वह चाहता हुआ भी अपने कन्धे को उठा नहीं पाता है तथा ८. आठवें वेग में—उक्त रोगी की मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—छठे वेग में जो हिचकियों का प्रारम्भ होना निर्दिष्ट है, यहाँ से उसकी मृत्यु का स्पष्ट संकेत प्राप्त हो जाता है। वाग्भट ने कुछ लक्षण बदल कर सात वेगों का वर्णन अपनी संहिता में किया है। देखें—अ० हृ० उ० अ० ३५।११-१६। वृद्धवाग्भट ने स्वयं सात वेगों की चर्चा करते हुए आचार्य पुनर्वसु द्वारा निर्दिष्ट किये गये आठ वेगों का स्मरण किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४०।२८। इसके आगे सात विष-वेगों का वर्णन कर आठवें में मृत्यु का निर्देश किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४०।२९-३१।

सुश्रुत में सात विष-वेगों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—स्थावर विष के सेवन करने पर होने वाले प्रथम विषवेग में मनुष्य की जीभ काले वर्ण से युक्त तथा जड़ हो जाती है; जैसे जड़ को उचित, अनुचित का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार विष का सेवन किये हुए पुरुष की जीभ को किसी प्रकार के स्वाद का ज्ञान नहीं रह जाता है, रोगी मूर्च्छित हो जाता है, उसके श्वास की गति में वृद्धि हो जाती है; दूसरे वेग में शरीर में कँपकपी, शरीर में ढीलापन, जलन, गले में वेदना होती है। विष के आमाशय में पहुँचने पर हृदय-प्रदेश में वेदना होती है। तीसरे वेग में तालु सूखने लगता है, आमाशय में अत्यन्त शूल, आँखों का वर्ण धूमिल तथा हरा हो जाता है, आँखों में सूजन आ जाती है। चौथे वेग में आमाशय एवं पक्वाशय में सुई चुभाने के समान पीड़ा, हिचकी, कास, आँतों में गड़गड़ाहट, शिर में भारीपन प्रतीत होता है। पाँचवें वेग में मुँह से लार का चूना, वर्ण का मलिन हो जाना, सन्धियों में फटने की-सी पीड़ा का होना, सभी वातादि दोषों का प्रकुपित होना, पक्वाशय में पीड़ा का होना। छठे वेग में बुद्धि का नाश, तीव्र अतिसार और सातवें वेग में कन्धे, पीठ, कमर का टूट-सा जाना तथा श्वास की गति का रुक जाना—ये लक्षण होते हैं। विषपान करने या विषैले प्राणी द्वारा डसे जाने पर जो लहरें उठती हैं, उन्हीं को विष-वेग भी कहते हैं।

सुश्रुत के अनुसार एक-एक कला के अतिक्रमण से सात वेग उत्पन्न होते हैं, यथा—'धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः सम्परिकीर्तिताः। तास्वेकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम्' ॥ सु० क० अ० ४।४०। वास्तव में रस तथा रक्त के बीच में स्थित कला का अतिक्रमण करने पर पहला वेग होता है; इसी प्रकार रक्त और मांस की कला का अतिक्रमण करने पर दूसरा वेग होता है; मांस तथा मेदस् की कला का जब वह अतिक्रमण करता है, तब तीसरा वेग होता है; मेदस् और कफ की कला को पार करने पर चौथा वेग; कफ और पुरीष की कला को पार करने पर पाँचवाँ वेग; पुरीष तथा पित्त की कला को पार करने पर छठा तथा पित्त और शुक्र की कला को पार करने पर सातवाँ वेग होता है। पुरीषधराकला को ही अस्थिधराकला कहते हैं और पित्तधराकला को ही मज्जधराकला कहते हैं। देखें—सु० क० अ० ४।४० पर आचार्य डल्हण की टीका। वेगान्तर की परिभाषा के लिए देखें—सु० क० अ० ४।४१ तथा अ० सं० उ० अ० ४०।३८। उक्त सात कलाओं के बाद अष्टम मारकवेग जंगम, स्थावर दोनों प्रकार के विषों में समान होता है। इस पर सुश्रुत और चरक के विचारों में भेद है, किन्तु आप इन दोनों के विवेचनों पर ध्यान देंगे तो सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। सातवें वेग तक ही दोनों ने लक्षणों की चर्चा की है, आठवें में तो मृत्यु ही है। सब कुछ लिखने के बाद भी वृद्धवाग्भट ने मृत्यु को आठवें वेग में ही स्वीकार किया है। देखिये—'सप्तमे स्कन्धभङ्गोऽस्य जायते मृत्युरष्टमे'। अ० सं० उ० अ० ४०।३१। आप विचार करें। वह व्यक्ति सातवें वेग तक तो जीवित ही था, अस्तु। सर्पविषों के भी सात ही वेग होते हैं। देखें—सु० क० अ० ४।३९।

1. 'तन्द्राः' इति पा०।

विशेष—वृद्धवाग्भट ने विषवेगों के सम्बन्ध में आचार्य नग्नजित्, आलम्बायन तथा धन्वन्तरि के मतों का क्रमशः उल्लेख किया है। इन महत्त्वपूर्ण वचनों का आप भी सादर अवलोकन करें। अ० सं० उ० अ० ४०।३२ से ३७ तक।

—चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः, पक्षिणां त्रिविधः ॥२१॥

अन्य प्राणियों में वेगों के भेद—चार पैर वाले प्राणियों (हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि) में स्थावर तथा जंगम विष के चार वेग होते हैं। पक्षियों (पंख वाले प्राणियों) में सभी प्रकार के विषों के मात्र तीन ही वेग होते हैं।

वक्तव्य—कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जीवनीयशक्ति अधिक होती है, अतएव विष का प्रभाव हो जाने पर वह अन्य प्राणियों की तुलना में देर तक जीवित रह लेता है।

सीदत्याद्ये भ्रमति च, चतुष्पदो वेपते, ततः [1]शून्यः ।
मन्दाहारो म्रियते श्वासेन हि चतुर्थवेगे तु ॥ २२ ॥

पशुओं में वेगों के लक्षण—चार पैर वाले पशुओं के शरीर में स्थावर-जंगम विषों का किसी प्रकार यदि सम्बन्ध हो जाता है, तो प्रथम वेग में शरीर में पीड़ा तथा उसे चक्कर आने लगते हैं, दूसरे वेग में वह काँपने लगता है, तीसरे में शून्य (निष्क्रिय) हो जाता है, भोजन के प्रति उदासीन हो जाता है और चौथे वेग में श्वास की वृद्धि हो जाने पर वह मर जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार पशुओं में वेगों के लक्षण—'शून्याङ्गः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः। लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णाङ्गः पीड्यते हृदि ॥ तृतीये च शिरो दुःखं कण्ठग्रीवं च भज्यते। चतुर्थे वेपते मूढः खादन् दन्तान् जहात्यसून् ॥ केचिद्वेगत्रयं प्राहुरन्तं चैतेषु तद्विदः' ॥

[2]ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे, प्रभ्राम्यति द्वितीये तु ।
स्रस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम् ॥ २३ ॥

पक्षियों में वेग के लक्षण—जंगम अथवा स्थावर विष का प्रभाव यदि पक्षियों में हो जाता है, तो प्रथम वेग में वह चिन्तित-सा दिखलायी पड़ता है (पाठभेद के अनुसार—वह पक्षी जमीन पर चक्कर जैसा लगाता है), दूसरे वेग में तेजी से चक्कर लगाने लगता है, तीसरे वेग में उसके सभी अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ जाते हैं और वह पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार पक्षियों में विष वेग के ये लक्षण होते हैं—'ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम्। द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति'। सु० क० अ० ४।४४। इस दृष्टि से चरक का जो पाठभेद नीचे टिप्पणी में दिया है, वह अधिक आदरणीय प्रतीत नहीं होता है। सुश्रुत ने किसी अन्य आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए कहा है—'केचिदेकं विषवेगमुशन्ति हि'। अर्थात् कुछ आचार्य पक्षियों में एक ही वेग होता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ यदि 'आदरार्थं बहुवचनम्' का प्रयोग किया गया हो तो वह इस तरह का सिद्धान्त स्थिर करने वाला कोई एक ही आचार्य होगा।

1. 'शूनः' इति पा०। 2. 'आद्ये वेगे पक्षी भ्राम्यति द्वितीयवेगे तु' इति पा०।

इसके आगे महर्षि सुश्रुत ने उन प्राणियों का भी स्मरण किया है, जिन पर विष का प्रभाव नहीं होता है, या अधिक नहीं होता—'मार्जारनकुलादीनां विषं नाति प्रवर्तते'। सु० क० अ० ४।४५। यहाँ आदि शब्द से गरुड़, मोर इनका संकेत है। देखा गया है कि साँप और नेवले की लड़ाई में जब मौका पाकर साँप नेवला को डस लेता है, तो वह आस-पास में जाकर कुछ ओषधि को खाकर चला आता है और वह निश्चिन्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि उन पर विष का अधिक प्रभाव नहीं होता है।

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ २४॥

विष के दस गुण—लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण, अनिर्देश्य रस (जिस रस का स्पष्ट रूप से कोई नाम नहीं बतलाया जा सकता, अर्थात् अव्यक्त) ये दस गुण सभी प्रकार के विष में पाये जाते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त विष के कतिपय निम्ननिर्दिष्ट गुणों का शार्ङ्गधरसंहिता में स्पष्ट वर्णन किया गया है—सूक्ष्म, व्यवायी, विकासी, रूक्ष, विशद, तीक्ष्ण। देखें—शा० सं० पू० खं० अ० ४। यहीं इन्होंने जो विष का लक्षण दिया है, वह इस प्रकार है—'व्यवायि च विकासि स्यात् सूक्ष्मं छेदि मदावहम्। आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम्'॥ वही २२। सुश्रुत के अनुसार विष के गुण—'रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च। विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम्'॥ सु० क० अ० २।१९। जिस प्रकार विष में दस गुण पाये जाते हैं, उसी प्रकार कुछ द्रव्य और भी हैं, जैसे—मद्य, ओज, दूध। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ विष या मद्य ओजो धातु का विनाश कर देते हैं, वहाँ उसे पूरा कर देने की पूर्ण क्षमता गाय के दूध में होती है। अस्तु।

वृद्धवाग्भट ने भी विष के दस गुणों का उल्लेख किया है—'द्विविधमपि चैतद् विषं तीक्ष्णोष्णरूक्षविशदसूक्ष्मव्यवाय्याशुकारिविकाशिलघ्वव्यक्तरसत्वैर्दशभिर्गुणैर्युक्तमपाकि च'। अ० सं० उ० अ० ४०।१२। इसकी टीका में श्रीइन्दु लिखते हैं—'अपाकित्वं तु मन्त्रतन्त्राभ्यामन्तरेण पाकाभावात्। पाको वीर्यहानिः। पक्वेऽप्यन्ने विषस्यापक्वस्यैवोपलब्धेः'।

अनिर्देश्य रस—इसी को दूसरे आचार्यों ने अव्यक्त रस कहा है। जिस प्रकार अव्यक्त रस वाला जल आकाश से बरस कर विभिन्न भूखण्डों पर गिरकर उन-उन स्थानों के रसों का ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार विष भी जिस-जिस द्रव्य का आश्रय लेता है, स्वाभाविक रूप से वह उसी द्रव्य के रसवाला हो जाता है।

रौक्ष्याद् वातमशैत्यात्पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति।
कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते[1] शीघ्रम्॥ २५॥
शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात्॥
दुरुपक्रमं लघुत्वाद् वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्। दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति॥

विष के गुणों का प्रभाव—१. विष में रूक्ष गुण होता है, अतः वह वातदोष को कुपित करता है। २. अशैत्य (विष में शीत गुण का अभाव) होने से वह पित्त को कुपित करता है। ३. सूक्ष्मगुण वाला होने के कारण वह रक्त को कुपित करता है। ४. अव्यक्त रस होने के कारण वह कफ को कुपित करके शीघ्र ही दूसरे रसों का अनुगमन कर लेता है, अर्थात् उन-उन रसों के रूप में बदल जाता है। ५-६. शीघ्र (आशु) गुण तथा व्यवायी गुण होने के कारण वह सम्पूर्ण शरीर में जल्दी ही व्याप्त हो जाता है। ७. तीक्ष्ण गुण वाला होने के कारण वह हृदय आदि मर्मस्थानों पर अपना घातक प्रभाव दिखाता है। ८. विकाशी गुण वाला होने के कारण वह मारक होता है। ९. लघुगुण युक्त होने से यह दुश्चिकित्स्य होता है। ९. विशद गुण वाला होने से वातादि दोषों की गति सुस्थिर नहीं रह पाती है। यद्यपि अपने गुणों के कारण विष तीनों दोषों को प्रकुपित करता है, किन्तु दोषों के स्थान और मनुष्य की प्रकृति के अनुसार ही इनका अधिक प्रकोप देखा जाता है या उक्त तीन दोषों में से वह किसी एक दोष को उभाड़ देता है, अर्थात् प्रकुपित कर देता है।

१. 'अनुरसांश्चानुवर्तते' इति पा०।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार विष के गुणों का प्रभाव—वह विष रूक्ष होने से वातदोष को, उष्ण होने के कारण रक्त के साथ पित्त को कुपित कर देता है, तीक्ष्ण होने से मतिभ्रम उत्पन्न कर मर्म-बन्धनों को काट देता है, सूक्ष्मगुणवान् होने के कारण शरीर के समस्त अवयवों में प्रवेश करके विकार (रोग) को पैदा कर देता है। आशुगुण वाला होने से शीघ्र मारक होता है। व्यवायी होने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। विकाशी होने से दोषों, धातुओं तथा मलों का नाश करता है। विशद होने के कारण यह कहीं स्थिर नहीं रहता है। लघु होने से इसकी चिकित्सा नहीं की जा सकती है। अविपाकी होने से यह कठिनाई से निकाला जा सकता है, अतएव यह देर तक कष्ट देता रहता है। इसी विषय पर वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार विचार किया है—अ० सं० उ० ४०।१३। इसकी टीका में श्रीइन्दु ने लिखा है—यद्यपि यह विष मन्त्र आदि के बल से शान्त हो जाता है, फिर भी यदि विष के समान किसी अन्य कारण की प्राप्ति हो जाती है, तो यह विषदोष पुनः प्रकुपित हो जाता है।

स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्तु। [1]तृण्मोहारतिमूर्च्छागलग्रहच्छर्दिफेनादि॥२८॥

वातप्रकृति के अनुसार दोष-प्रकोप—वातप्रकृति वाले व्यक्तियों के वातस्थान (पक्वाशय) में विष पहुँचकर शरीर में कफ तथा पित्त के लक्षणों को कम करके तृट् (प्यास), मोह (बेहोशी), बेचैनी, मूर्च्छा, गलग्रह (गला का जकड़ जाना), वमन तथा मुख से झाग का निकलना आदि लक्षणों को पैदा करता है।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक २५ से २७ तक विष के गुणों के प्रभावों में विष को त्रिदोष-प्रकोपक कहा गया है, किन्तु यहाँ विषदोष वातस्थान में स्थित है, अतः स्थान की प्रधानता को देखकर ही विष सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। क्योंकि 'स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानं स्थाने स्थितः कापुरुषोऽपि शूरः'। सूक्ति। वृद्धवाग्भट ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है—'विषं यद्दोषभूयिष्ठं तं दोषं प्राक् प्रपद्यते। आशये यस्य यस्यैव तत्तत्दवतिष्ठते॥ तज्जान् विकारान् कुरुते यान् सर्वेषूपदेक्ष्यति'॥ अ० सं० उ० अ० ४०।२१। इसी प्रकार का विवेचन पित्तप्रकृति तथा कफप्रकृति के पुरुषों में भी करना चाहिए कि यह पुरुष किस प्रकृति का है। कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। यथा—'वाताशयस्थं कुरुते तथा श्लेष्मामयानपि। पित्तश्लेष्माशयगतं तद्वद् पित्तकफोद्भवान्'॥ अ० सं० उ० अ० ४०।२२।

पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य [2]कफवातयोर्विषं तद्वत्।
[3]तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोतिसारादि॥ २९॥

पित्तप्रकृति के अनुसार दोष-प्रकोप—पित्त प्रकृति वाले पुरुष के पित्ताशय में जब पित्तगुण-प्रधान विष पहुँचकर शरीर में कफ और वातदोष के लक्षणों को कम करके पित्त के लक्षणों को बढ़ा देता है, तब प्यास, कास, ज्वर, वमन, क्लम (सुस्ती), शरीर में दाह, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, अतिसार आदि लक्षण हो जाते हैं।

कफदेशगं [4]कफस्य च दर्शयेद्वातपित्तयोश्चेषत्। लिङ्गं श्वासगलग्रहकण्डूलालावमथ्वादि॥३०॥

कफप्रकृति के अनुसार दोष-प्रकोप—कफ प्रकृति वाले व्यक्ति के कफाशय में स्थित विष के कारण श्वास की वृद्धि, गलग्रह (गल-प्रदेश का जकड़ जाना), खुजली, मुख से लालास्राव, वमन आदि लक्षण हो जाते हैं और यह वात तथा पित्त के अपने लक्षणों को कम कर देता है।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है कि वाताशय (पक्वाशय) में स्थित विष प्रधानरूप से वातज रोगों को पैदा करता है और यह सामान्यरूप से कफज तथा पित्तज रोगों को भी पैदा करता है। पित्ताशय में स्थित विष प्रधानरूप से पित्तज रोगों को, सामान्यरूप से कफज एवं वातज रोगों को, इसी प्रकार कफस्थान में स्थित विष प्रधानरूप से कफज रोगों को और सामान्यरूप से वात-पित्तज रोगों को उत्पन्न करता है। प्रधान दोष और हीन दोषों का प्रभाव सर्वत्र इसी प्रकार से दृष्टिगोचर होता है।

दूषीविषं तु शोणितदुष्ट्यरुःकिटिमकोठलिङ्गं च। विषमेकैकं दोषं सन्दूष्य हरत्यसूनेवम्॥

१. 'हृन्मोहारुचि' इति पा०।
२. 'कफपित्तयो' इति पा०।
३. 'तृट्पाकज्वरशोषक्लम' इति पा०।
४. 'कफाधिकस्य वातपित्तयोश्च दर्शयति' इति पा०।

दूषीविष के लक्षण—दूषीविष शरीरस्थ रक्त को दूषित कर फुन्सियाँ, किटिम (कुष्ठभेद) तथा कोठ रोग को पैदा कर देता है। इस प्रकार यह दूषीविष वात आदि एक-एक दोष को कुपित कर प्राणी को मार देता है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'किटिम' शब्द का उल्लेख है। अन्य अनेक संस्करणों में उसके स्थान पर 'किटिभ' देखा जाता है। आयुर्वेद में दोनों ही शब्द भिन्नार्थक उपलब्ध होते हैं। यथा—'किटिम' सु० नि० अ० ५।१४। एक क्रिमि विशेष जिसके काटने पर कफज रोग होते हैं। 'किटिभ' को कोषकारों ने केशकीट=जूं या लीख कहा है, कुछ ने इसका पर्याय 'खटमल' लिखा है। किन्तु कहीं-कहीं **किटिभ (म)** इस प्रकार विद्वानों द्वारा सम्पादित भी मिलता है।

हमारे विचार से **'किटिभ'** क्रिमि विशेष का नाम और **'किटिम'** क्षुद्रकुष्ठों में अन्यतम कुष्ठ है। देखें—च० चि० अ० ७।२२। निर्णयसागरीय चरकसंहिता, तृतीयावृत्ति सन् १९४१।

दूषीविष—स्थावर या जंगम या कृत्रिम विष का वह अंश जो शरीर में पड़ा रह जाने के कारण कालान्तर में धातुओं को दूषित कर प्राणान्त कर देता है। इसका परिचय महर्षि सुश्रुत ने विस्तारपूर्वक दिया है। देखें—सु० क० अ० २।२५ से ३३ तक। इसी को Slow poison कहते हैं, क्योंकि यह शीघ्र मारक नहीं होता। आजकल कुछ विद्वान् इसी को अलर्जी (Allergy) मानने लगे हैं, परन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता।

क्षरति विषतेजसाऽसृक् तत् खानि निरुध्य मारयति जन्तुम्।
पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्धयोर्दंशदेशे स्यात् ॥ ३२ ॥

विष के कुप्रभाव—प्रारम्भ में विष की उष्णता से शरीर के अवयवों से रक्त चूने लगता है। तदनन्तर वह रक्तस्रोतों को रोककर प्राणी को मार डालता है। मनुष्य द्वारा पिया गया वह विष उसके मर जाने के बाद हृदय-प्रदेश में आकर जम जाता है। सर्प आदि प्राणियों द्वारा डसकर भीतर गया हुआ तथा विषैले (जहरीले) अस्त्र-शस्त्रों द्वारा बिंधा हुआ विष, ये दोनों दष्ट और विद्ध स्थान में ही रहते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अनन्वय अलंकार की छटा से सुशोभित पद्य द्वारा विष के कुप्रभाव का सुन्दर वर्णन किया है—'व्याप्यैवं सकलं देहमुपरुध्य च वाहिनीः। विषं विषमिव क्षिप्रं प्राणानस्य निरस्यति' ॥ अ० सं० उ० अ० ४०।२५। किन्तु कुवलयानन्द में प्रतीपालंकार के उदाहरणस्वरूप उद्धृत इस पद्य में विष से भी बढ़कर प्रभाव वाले दुर्जनों के वचन होते हैं, का रुचिकर वर्णन किया गया है—'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात मास्म दृप्यः। ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्' ॥ १४।

उक्त श्लोक के उत्तरार्ध के विषय का समर्थन भी वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार किया है—'पीतं मृतस्य हृदये जग्धदिग्धाभिविद्धयोः। दंशे तिष्ठति भूयिष्ठं सर्वतः पिण्डितं विषम् ॥ नाद्यादतो विशेषेण तेषां मांसं तदाश्रयम्' ॥ अ० सं० उ० ४०।२६।

नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः। शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी स्यात् ॥
क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि।
एभ्योऽन्यथा चिकित्स्यास्तेषां चोपक्रमाञ्छृणु मे ॥ ३४ ॥

विष से मृत्यु होने का लक्षण—यदि स्थावर या जंगम विष से पीड़ित पुरुष के होंठ नीले वर्ण के हो गये हों, दाँतों में ढीलापन आ जाय, बाल टूट कर गिरने लगे हों या हाथ से पकड़ कर आसानी से नोचे जाते हों, अंग-भंग हुए जैसे प्रतीत होते हों, वह व्यक्ति इधर-उधर हाथ-पैर पटकता हो, शीतल जल के स्पर्श से जिसे रोमाञ्च न होता हो, डण्डा से मारने पर शरीर पर साट न पड़ते हों, घाव कर देने (काट देने) पर घाव से रक्त न आता हो, ये सब रोगी की मृत्यु के लक्षण हैं। इन लक्षणों से अतिरिक्त व्यक्तियों की चिकित्सा करनी चाहिए। उनकी चिकित्सा विधि मुझसे सुनो।

वक्तव्य—ऊपर ३२वें श्लोक में विषपान करने से जो मनुष्य मर जाता है, उसके हृदय में आकर वह विष एकत्रित हो जाता है, इसका तात्पर्य है कि तब हृदय गतिशील नहीं रह जाता है। इस स्थिति को हार्टफेल या Cardiac failure कहते हैं। सुश्रुत ने विष के प्रभाव से मरे हुए प्राणी के लक्षणों का वर्णन सु० क० अ० ३।४०-४४ में किया गया है।

मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः। अवगाहरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि ॥३५॥
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रशमनानि[1]। प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः ॥३६॥
मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः।
स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र च योज्याः शृणु तथा तान् ॥ ३७ ॥

२४ प्रकार की विष-चिकित्सा—१. मन्त्र, २. अरिष्टाबन्धन, ३. उत्कर्तन, ४. निष्पीडन, ५. चूषण, ६. अग्निदाह (दंश स्थान को आग से जलाना), ७. परिषेचन, ८. अवगाहन, ९. रक्तमोक्षण, १०. वमन, ११. विरेचन, १२. उपधान, १३. हृदयावरण, १४. अञ्जन, १५. नस्य, १६. धूम, १७. लेह (अवलेह), १८. औषध-प्रयोग, १९. प्रशमन (पाठभेद के अनुसार—प्रधमन), २०. प्रतिसारण, २१. प्रतिविष, २२. संज्ञास्थापन, २३. लेप, २४. मृतसञ्जीवन—इस प्रकार चौबीस चिकित्सा-विधियों का यहाँ निर्देश किया गया है। इन चिकित्साओं का कब और कहाँ प्रयोग करना चाहिए, उनका मैं (आत्रेय) निर्देश कर रहा हूं, उन्हें सावधान होकर सुनो।

वक्तव्य—विषवैद्य या सपेरे मन्त्र के जानकार होते हैं। ये साँप, बिच्छू आदि से डसे हुए रोगी को मन्त्रों के प्रभाव से शीघ्र ही स्वस्थ कर देते हैं। **अरिष्टाबन्धन**—यदि सर्प ने हाथ या पैर पर काटा हो तो दंश स्थान से चार अंगुल ऊपर किसी सुकोमल वस्त्र आदि से मन्त्र पढ़कर कसकर अरिष्टा बाँधनी चाहिए, क्योंकि अरिष्टा से रोका हुआ विष शेष शरीर में नहीं फैलता। देखें—सु० क० अ० ५।३-४। बाँधने के दोष का प्रतिफल देखें आगे श्लोक ५६ में। **उत्कर्तन-निष्पीडन**—इनका प्रयोग भी शरीर में विष के फैलने के पहले ही करना चाहिए। कुछ ऐसे भी दंशक (मधुमक्षिका आदि) हैं, जिनके दंश को निकाल कर तब चिकित्सा करनी चाहिए। यथा—'निष्पीड्य चोद्धरेद् दंशं मर्मसन्ध्यगतं तथा। न जायते विषावेगो बीजनाशादिवाङ्कुरः' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।८। **उपधान**—यदि सिर पर विष का प्रभाव हो तो उस स्थान की त्वचा को काटकर लेप आदि का प्रयोग करना। **प्रतिविष**—स्थावरविष का विनाशक जंगमविष और जंगमविष का विनाशक स्थावरविष होता ही है। यही प्रतिविष शब्द का तात्पर्य है। **मृतसञ्जीवन**—यह एक विद्या है, जिससे मरे हुए प्राणियों को पुनरुज्जीवित किया जाता है। आजकल यह विद्या लुप्तप्राय है। इसकी चर्चा विष्णुशर्मा ने अपने पञ्चतन्त्र में की है। इसका योग आगे श्लोक ५४-६० में दिया गया है।

दंशात् तु विषं दष्टस्याविसृतं वेणिकां भिषग्बद्ध्वा। निष्पीडयेद् भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ॥
तं दंशं वा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन।

वेणिकाबन्धन—जिस पुरुष को सर्प आदि विषैले प्राणी ने डस दिया हो और जब तक उसके शरीर में वह विष फैला न हो तो चिकित्सक उसके ऊपर वेणिका बाँधकर हाथ से दबाकर विष को उस दंश स्थान से निकालने का तत्काल प्रयत्न करे। दंशस्थान पर थोड़ा-सा काट कर उसके मुख को चौड़ा कर दे, यदि जहाँ काटा गया हो वह मर्मस्थान न हो तो। अथवा जौ का आटा और धूल को मुख में भरकर उस दंशस्थान को चूसना चाहिए, जिससे रक्त के साथ विष बाहर निकल सके।

वक्तव्य—वेणी या वेणिका शब्द अन्यत्र स्त्रियों की चोटी के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ जिसे सुश्रुत ने अरिष्टाबन्धन कहा है, वही वेणिकाबन्धन भी है। यदि रोगी के हाथ-पैरों में दंश हुआ हो तो दंश स्थान से चार अंगुल ऊपर इसे कसकर बाँधना चाहिए। इतना भी न कस दे, कि बन्धनस्थान पर घाव हो जाय और ऐसा बन्धन-साधन भी न हो जो बन्धन स्थान पर गड़ता या चुभता हो। जंगम विषों पर मन्त्र का प्रभाव आशुफलप्रद देखा जाता है। यदि गारुड़िक या विषवैद्य सुलभ हो तो शीघ्र ही उसे बुलाकर दष्ट प्राणी के प्राणों की रक्षा करा लेनी चाहिए। वेणिकाबन्धन भी तात्कालिक उपचार ही है, विलम्ब हो जाने पर यह प्रभावकारी नहीं होता है, अतएव ऊपर 'अविसृतम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

वृद्धवाग्भट ने जंगमविष दष्ट स्थान पर कब तक रहता है और कब शरीर में फैलने लगता है, इसका वर्णन किया है—'मात्राशतं विषं स्थित्वा दंशे दष्टस्य देहिनः। देहं प्रक्रमते धातून् रुधिरादीन् प्रदूषयत् ॥ एत-

---

१. 'प्रधमनानि' इति पा०।

स्मिन्नन्तरे कर्म दंशस्योत्कर्तनादिकम् । कुर्याच्छीघ्रं यथा देहे विषवल्ली न रोहति' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।२-३।
मात्राशत का तात्पर्य है—संख्या १ से १०० तक गिनने का समय; इसी बीच में अरिष्टा या वेणिकाबन्धन, उत्कर्तन, निष्पीडन तथा चूषणकर्म कर लेने चाहिए। जब विष शरीर में फैल जायेगा तब ये सब व्यर्थ हो जाते हैं। अरिष्टाबन्धन का परिचय हमने श्लोक ३५ से ३७ के वक्तव्य में दिया है, देखें।

चूषण—यह प्रयोगात्मक कर्म है। गुरु के सान्निध्य में जिसने यह प्रयोग किया हो वही दष्ट रोगी की इस प्रकार चिकित्सा करे। चूसने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह सबसे पहले अपने मुख के अवयवों में घी चुपड़ ले और जौ का आटा या धूल भर कर तब उस जहरीले रक्त को चूसे। यह भी ध्यान रखे कि चूसने वाले के मुख में कोई घाव या छाला आदि पहले से न हो, नहीं तो विष का प्रभाव उस पर भी आ सकता है। यदि मुख से चूसना रुचिकर न लगे तो इस क्रिया में आचूषक यन्त्र का प्रयोग सर्वथा निरापद होता है। चूषण-क्रिया के बाद वह विषनाशक द्रव्यों से अपने मुख को भली-भाँति साफ कर ले।

जिस स्थान पर अरिष्टा या वेणिका-बन्धन न हो सके वहाँ दंश स्थान को काटकर आग से जला दे। क्योंकि चूषण, छेदन तथा दहन ये क्रियाएँ सभी स्थानों पर की जा सकती हैं; केवल मण्डली साँप के दंश में दाह-क्रिया का निषेध है। चूषण-विधि सुश्रुत में भिन्न है। वह मुख के भीतर कपड़ा भर कर चूसने की आज्ञा देते हैं। सुश्रुत ऐसी भी आज्ञा देते हैं कि जिसे साँप ने काटा हो उस साँप को सर्पदष्टपुरुष भी काटे, किन्तु वह सर्वसाधारण के लिए सम्भव कार्य नहीं है। उक्त विवरणों के लिए देखें—सु० क० अ० ५।५-६।

प्रच्छनशृङ्गजलौकाव्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम् ॥ ३९ ॥
रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत् प्रकृतिस्ततस्त्यजेत् प्राणान् ।
तस्मात् प्रघर्षणैरसृगवर्तमानं प्रवर्त्यं स्यात् ॥ ४० ॥

रक्तमोक्षण—प्रच्छन—इसी को पछ लगाना भी कहते हैं (तीक्ष्ण धार वाले किसी शस्त्र से दंश स्थान पर या जहाँ से रक्तमोक्षण कराना हो थोड़ा-सा काट दिया जाता है, फिर उस स्थान पर सिंगी, तुम्बी, जौंक को लगाकर रक्त निकाल लिया जाता है), शृंग (यह गाय, बैल की सींग होती है, इसका चौड़ा मुख व्रण पर लगाकर दूसरी ओर मुख द्वारा रक्त को चूसा जाता है), जलौका (ये सविष और निर्विष दो प्रकार की होती हैं, इनमें निर्विष जलौकाओं=जौंकों को चिकित्सक पाले रहते हैं, जहाँ से रक्तमोक्षण कराना होता है, वहाँ थोड़ा घाव करके जौंक को लगा दिया जाता है, वह सब दूषित रक्त पी जाती है, तदनन्तर उसे हटा दिया जाता है) और सिरावेध द्वारा दंशस्थान से रक्तस्राव करा देना चाहिए। क्योंकि रक्त के विष से दूषित हो जाने पर मनुष्य की प्रकृति दूषित हो जाती है, तदनन्तर वह मर जाता है। इसलिए उक्त प्रच्छन आदि क्रियाओं द्वारा भी यदि रक्त नहीं निकल पाता तो प्रघर्षण (प्रतिसारण) क्रिया से रक्त की प्रवृत्ति करानी चाहिए।

वक्तव्य—विष-चिकित्सा में मन्त्र-प्रयोग श्रेष्ठ होता है। यदि विधिहीन या स्वर-वर्ण विकृत मन्त्र का प्रयोग किया जाता है, तो उससे सफलता नहीं मिलती, इसीलिए व्याकरणशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व है। ऐसी स्थिति में अगद-प्रयोगों का आश्रय लेना चाहिए। विष के प्रभाव से कभी-कभी रक्त का स्राव भली-भाँति नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में सिरामोक्षण उत्तम साधन है। देखें—'रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्। तस्माद् विस्रावयेद् रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया' ॥ सु० क० अ० ५।१५। इसी का समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है—'विषे प्रविसृते विध्येत् सिरां सा परमा क्रिया' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।१२। इस प्रकार सिरावेध से सफलता न मिलने पर निम्नलिखित चूर्ण द्वारा प्रघर्षण क्रिया करनी चाहिए।

पाठभेद-विचार—श्रीजयदेव ने जिस पाठ को उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—'तस्मात् प्रघर्षणैरसृग्वर्तमानं प्रवर्त्यं स्यात्'। वे अपनी टीका में लिखते हैं—**'असृग्वर्तमानं'** के स्थान पर **'अप्रवर्तमानं'** यह पाठ भी शुद्ध प्रतीत होता है। वास्तव में यहाँ **'असृग्वर्तमानं'** पाठ ही अशुद्ध है। यहाँ **'असृगवर्तमानं'** पाठ ही प्रकरणानुसार ठीक है, दूसरे टीकाकार जो भी कहें या लिखें।

त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणरोचनाः सवार्ताकाः[1] । घर्षणमतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलैर्लेपः ॥

१. 'पञ्चलवणचोरकाः' इति पा०।

प्रघर्षणार्थं चूर्ण—त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), गृहधूम, हल्दी, पाँचों नमक (सेंधा, सोंचर, सामुद्र, बिरिया, औद्भिद), गोरोचन, बड़ी कटेरी—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, इस चूर्ण का दष्ट स्थान पर घर्षण करें। इससे रुका हुआ रक्त बहने लगता है। यदि इसके प्रयोग से रक्तस्राव अधिक होने लगे तो बरगद आदि क्षीरी वृक्षों की छाल का लेप तैयार कराकर व्रण स्थान पर लगवा दें।

रक्तं हि [1]विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत् ।
शीतैः स्कन्दति तस्मिन् स्कन्ने व्युपयाति विषवेगः ॥ ४२ ॥

विष को फैलाने में रक्त का सहयोग—रक्त के कारण ही सम्पूर्ण शरीर में विष उस प्रकार फैलता है, जिस प्रकार एक स्थान पर जली हुई अग्नि को वायु चारों ओर फैला देती है। इसलिए शीतल प्रदेहों (प्रलेपों) तथा परिषेकों (स्नान-द्रोणी अवगाहन आदि क्रियाओं) से वह रक्त जम जाता है। अर्थात् उसकी गति मन्द पड़ जाती है और गति के मन्द पड़ जाने पर विष-वेग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—निरन्तर गतिशील रसधातु से निर्मित रक्त भी उसी संस्कार से निरन्तर गतिशील रहता है। देखें—सु० सू० अ० १४।४ तथा १३। अतः जब विष रक्त में मिल जाता है, तो वह उसके साथ सम्पूर्ण शरीर में गति करने लगता है। इसलिए रक्त के वेग को कम करने के लिए ही उक्त चिकित्साओं का निर्देश किया गया है, क्योंकि विष शरीर में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम रक्त के साथ मिल जाता है।

विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृदयद्रवाः प्रवर्तन्ते । शीतैर्निवर्तयेत्तान् [2]वीज्यश्चालोमहर्षात् स्यात् ॥

विष के उपद्रव—विष के वेग से मद, मूर्च्छा, विषाद (मन में मलिनता), हृदय की गति का तेज हो जाना, ये उपद्रव हो जाते हैं। इन उपद्रवों को शान्त करने के लिए शीतल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। विषजुष्ट रोगी को पंखा डुला कर सुख देना चाहिए। ये शीत क्रियाएँ तब तक करते रहना चाहिए, जब तक रोगी को रोमांच न हो जाय।

वक्तव्य—इस पर वृद्धवाग्भट के विचारों का भी अवलोकन करें। अ० सं० उ० अ० ४२।१७-१८।

तरुरिव मूलच्छेदाद् दंशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम् ।
आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः ॥ ४४ ॥

दंश छेद से लाभ—जिस प्रकार जड़ से काट देने पर वृक्ष फिर पनप नहीं पाता, ठीक उसी प्रकार दंशस्थान के काट देने से विष का वेग बढ़ नहीं पाता, अर्थात् स्वयं नष्ट हो जाता है।

आचूषण से लाभ—इस क्रिया से आस-पास तक रक्त के साथ गया हुआ विष दंशस्थान तक ले आया जाता है और वहाँ से बाहर कर दिया जाता है।

अरिष्टा-बन्धन—विष-निर्हरण के लिए यह वैसा ही उपाय है, जैसा जलधारा का परिवर्तन कर देने के लिए सेतुबन्धन। जिस प्रकार बाँध द्वारा जिस ओर पानी ले जाना हो ले जाया जा सकता है, उसी प्रकार ऊपर शरीर की ओर जाने वाले विष को अरिष्टाबन्धन द्वारा बाहर की ओर निकाल दिया जाता है।

वक्तव्य—महाकवि कालिदास ने भी कहा है—'त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता'। रघुवंश प्र० स०।

त्वङ्मांसगतं दाहो दहति विषं स्रावणं हरति रक्तात् । पीतं वमनैः सद्यो हरेद्विरेकैर्द्वितीये तु ॥

प्रथम विषवेग-चिकित्सा—यदि विष का वेग त्वचा और मांस तक ही फैला हो तो इस परिस्थिति में दाहकर्म करना चाहिए, इससे स्थानीय विषवेग का शमन हो जाता है। यदि विष का वेग रक्त में पहुँच गया हो तो, इसकी सर्वोत्तम चिकित्सा है—रक्तस्रावण या रक्तमोक्षण। यदि किसी व्यक्ति ने स्थावर विष का पान कर लिया हो तो उसे शीघ्र ही वमन कराना चाहिए। इससे वमन के साथ विष निकल आयेगा। जब यह ज्ञात हो कि अब पिया हुआ विष विलम्ब होने के कारण आमाशय से पक्वाशय की ओर चला गया है, तो उसे तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। दूसरे विष वेग की चिकित्सा आगे कही जा रही है।

१. 'रक्तं विषादनं हि' इति पा०।
२. 'न वीज्यश्च लोमहर्षः स्यात' इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः।

आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद् यथालाभम्। मधुघृतमज्जक्षीरं[1] गैरिकमथ गोमयरसं वा॥
[2]इक्षुं सुपक्वकाकं निष्पीड्य तद्रसं वरणम्। छागादीनां वाऽसृग्भस्म मृदं वा पिबेदाशु॥

द्वितीय विषवेग की चिकित्सा—सबसे पहले विषपीड़ित पुरुष के हृदय की रक्षा करनी चाहिए। उसकी रक्षा के लिए मधु, गाय का घी, मज्जा, मधु, शुद्ध स्वर्णगैरिक पिलायें। अथवा ईख के पोरों का रस, पकाया हुआ ईख का रस, पकाये हुए कौए के मांस को निचोड़कर निकाला हुआ रस, बकरा आदि अन्य पशुओं का ताजा रक्त, गोबर की राख या काली मिट्टी को घोलकर पीना चाहिए। ऊपर कहे गये ये सभी द्रव्य हृदय का वरण (आवरण) करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—'आदौ हृदयं रक्ष्यम्' का तात्पर्य प्रथम वेग के पहले हृदय की रक्षा करनी चाहिए, ऐसा तन्त्रकार का तात्पर्य नहीं है। 'आदौ' का अर्थ पहले होता है, वह किसी के भी पहले हो सकता है। आप ध्यान दें—विष के वेग की एक निश्चित गति होती है और तदनुसार उसके लक्षण होते हैं। प्रथम वेग में विष 'त्वङ्मांसगत' होता है, अतः उस अवसर पर विष से हृदय की रक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यों तो हृदय मर्मस्थान है, उसकी रक्षा करनी चाहिए। हृदय की रक्षा के लिए हृदयोत्तेजक 'काफी' आदि पदार्थों का सेवन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट की सम्मति भी देख लें—अ० सं० उ० अ० ४२।१९-२३।

क्षारागदस्तृतीये [3]शोफहरैर्लेखनं समध्वम्बु। गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुसर्पिः॥४८॥
काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्च्योतनाञ्जने नस्यम्।
स्यात्पञ्चमेऽथ षष्ठे संज्ञायाः स्थापनं कार्यम्॥ ४९॥
गोपित्तयुता रजनी मञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम्। विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते॥

तृतीय विषवेग की चिकित्सा—इसमें शोथ का नाश करने वाले तथा लेखन गुण वाले क्षारागद का मधु तथा जल के साथ सेवन कराना चाहिए। (क्षारागद का वर्णन आगे १०१ से १०४ तक किया गया है)। **चतुर्थ वेग**—इसमें गोबर के रस और कैथ की पत्ती के रस में गाय का घी मिलाकर पिलाना चाहिए। **पञ्चम वेग**—काकाण्ड (काकतिन्दुक, महानिम्ब, कौए का अंडा) और शिरीष की पत्ती का रस आँख में डालने, अंजन लगाने तथा नस्य के प्रयोग में देना चाहिए। **षष्ठ वेग**—इसमें संज्ञास्थापन औषधयोगों का प्रयोग करना चाहिए। संज्ञास्थापन के लिए गाय का पित्त (गोरोचन), हल्दी, मजीठ, मरिच, पिप्पली इनके सम भाग चूर्ण को जल में घोलकर पिलाना चाहिए। **सप्तम वेग**—इसमें यदि रोगी साँप से डसा गया हो तो उसे स्थावरविष का पान कराना चाहिए अथवा यदि रोगी स्थावर विष को पी लिया हो तो उसे विषैले सर्प आदि से डसवा देना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि 'अन्ते' का 'सर्वोपक्रमशेषे सप्तमे वेगे' यह अर्थ करते हैं। किन्तु दूसरे टीकाकार 'अन्ते' का अर्थ शाखाओं अर्थात् हाथों या पैरों में करते हैं। हमारे विचार से श्रीचक्रपाणि का ही अर्थ अधिक उपयुक्त है, क्योंकि षष्ठे के बाद 'सप्तमे' पद का प्रयोग या उसके वाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग करना तो आवश्यक ही था, वह शब्द है—'अन्ते' अर्थात् 'सप्तमे'।

शिखिपित्तार्धयुतं स्यात् पलाशबीजमगदो मृतेषु वरः।
वार्ताकुफाणितागारधूमगोपित्तनिम्बं वा॥ ५१॥

अष्टम वेग की चिकित्सा—जब विष पीया हुआ या सर्पदष्ट प्राणी मरे हुए से कुछ अच्छा अर्थात् मरे के समान हो तो उसकी चिकित्सा इस प्रकार करें। पलाशबीज से आधा मोर का पित्त उसे पीने के लिए दें। अथवा बड़ी कटेरी का बीज, फाणित (खाँड़), घर का धुआँ, गोरोचन, इनका चूर्ण नीम की पत्ती के रस में घोलकर पीने के लिए दें।

वक्तव्य—मृतसञ्जीवन अगद का प्रकरण यहाँ से प्रारम्भ हो गया है। ये अगद मरे हुए प्राणी को नहीं जिलाते अपितु **'मृतेषु वरः'** मरे हुओं में जो अच्छा होता है, उसे ये अगद-प्रयोग पुनरुज्जीवित कर देते हैं।

१. 'मज्जानं गैरिकमथ' इति पा०।
२. 'दक्षं सपक्षमथवा', इति पा०।
३. 'शोथहरैश्छर्दनम्' इति पा०।

'मृतवत् पुरुषं सञ्जीवयन्ति, इति मृतसञ्जीवनोऽगदः'। इन्हें अन्यत्र 'शिखिपित्तादियोग' तथा 'वार्ताक्वादियोग' कहा गया है।

गोपित्तयुतैर्गुटिकाः [1]सुरसाग्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैः।
शस्ताऽमृतेन तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डकरसैर्वा॥ ५२॥

सुरसादि योग—तुलसी की पत्ती, पिप्पलामूल, हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी, कूठ—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, मात्रानुसार गोपित्त से पीसकर गोली बना लें। विषपीत या सर्पदष्ट प्राणी को ऐसी स्थिति में सेवन करायें। अथवा उक्त चूर्ण को शिरीष के फूल का रस और काकाण्डक (काकतिन्दुक या बकायन) के रस में पीसकर गोली बनाकर खिलाने से इसका प्रभाव अमृत के तुल्य होता है, अर्थात् रोगी पुनः जीवित हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अपने इस योग में ग्रन्थि (पिप्पलामूल) द्रव्य का उल्लेख नहीं किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४०।७५ से ८४ तक।

काकाण्डसुरसगवाक्षीपुनर्नवावायसीशिरीषफलैः। उद्बन्धविषजलमृते [2]लेपौषधिनस्यपानानि॥

काकाण्डादि योग—काकाण्ड (काकतिन्दुक या महानिम्ब=बकायन), सुरस (तुलसी की पत्ती), गवाक्षी (इन्द्रायण का बीज), पुनर्नवा, वायसी (काकमाची), शिरीष के फल, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर उपधि (काकपद) पर लेप, नस्य तथा पान (पीने) के लिए उन रोगियों को देना चाहिए, जो उद्बन्ध (फाँसी लगाये) हों, विषपान कर लिए हों या जंगम विषों से पीड़ित हों, या जल में डूबकर मरणासन्न हो गये हों।

वक्तव्य—इन सभी स्थितियों में ये अगद वहाँ प्रयुक्त होते हैं, जहाँ रोगी की स्थिति **'मृतेषु वरः'** अर्थात् मरे हुए से अच्छी हो, अन्यत्र नहीं।

स्पृक्काप्लवस्थौणेयकाङ्क्षीशैलेयरोचनातगरम्। ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रैलालकुष्ठघ्नम्॥
बृहती शिरीषपुष्पं श्रीवेष्टकपद्मचारटिविशालाः। सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनःशिलाकौन्त्यः॥
जात्यर्कपुष्परसरजनीद्वयहिङ्गुपिप्पलीलाक्षाः। जलमुद्गपर्णिचन्दनमधुकमदनसिन्धुवाराश्च॥
शम्पाकलोध्रमयूरकगन्धफलानाकुलीविडङ्गाश्च। पुष्ये संहृत्य समं पिष्ट्वा गुटिका विधेयाः स्युः॥
सर्वविषघ्नो जयकृद्विषमृतसञ्जीवनो ज्वरनिहन्ता। ध्रेयविलेपनधारणधूमग्रहणैर्गृहस्थश्च॥५८॥
भूतविषजन्त्वलक्ष्मीकार्मणमन्त्राग्न्यशन्यरीन् हन्यात्।
दुःस्वप्नस्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम्॥ ५९॥
धनधान्यकार्यसिद्धिः श्रीपुष्ट्यायुर्विवर्धनो धन्यः।
मृतसञ्जीवन एष प्रागमृताद् ब्रह्मणा विहितः॥ ६०॥

इति मृतसञ्जीवनोऽगदः।

मृतसञ्जीवन अगद—स्पृक्का (सुगन्धि द्रव्य, शाकविशेष, असवरग, देखें—भा० प्र० कर्पूरादिवर्ग ११०-१११), प्लव (केवटीमोथा), स्थौणेय (गठिवन), कांक्षी (फिटकिरी), छरीला, गोरोचन, तगर, ध्यामक (कत्तृण या तृणविशेष या खश), कुंकुम (केसर), जटामांसी, सुरसाग्र (तुलसी की मञ्जरी) इलायची, आल (हरिताल), कुष्ठघ्न (खदिर की छाल और सार भाग), बड़ी कटेरी के बीज, शिरीष के फूल, श्रीवेष्टक (गन्धाविरोजा, लीसा), पद्मचारटी (स्थलकमलिनी), विशाला (इन्द्रायण के बीज), देवदारु, कमलकेशर, सावरलोध, मैनसिल, कौन्ती (रेणुका), चमेली के फूल, अर्कपुष्प (मदार के फूल), रस, हल्दी, दारुहल्दी, हींग, पिप्पली, लाख, जल (सुगन्धवाला), मुद्गपर्णी, चन्दन, मुलेठी, मैनफल, सिन्धुवार (सम्भालू) की पत्ती, शम्पाक (अमलतास), पठानीलोध, मयूरक (अपामार्ग), गन्धफला (प्रियंगु), नाकुली (रास्ना), वायविडंग—इन सभी द्रव्यों को पुष्यनक्षत्र में इकट्ठा करके सबको एक साथ पीसकर गोली बनाकर रख लें।

१. 'सुरसोग्राद्विरजनी' इति पा०।
२. 'लेपाञ्जननस्यपानानि' इति पा०।

इसके प्रयोग से सभी प्रकार के विष-विकार शान्त हो जाते हैं। सभी प्रकार के विषविकारों को यह मृतसञ्जीवनी नामक अगद जीत लेता है। यह सभी प्रकार के ज्वरों का विनाश करता है। इसका प्रयोग प्रेय (नस्य-सूँघने), लेपन, धारण (मणि आदि की भाँति धारण करने), धूमग्रहण (धूमपान) तथा घर में रखने के योग्य होता है। इसके प्रभाव से भूत-प्रेत-बाधाएँ, विषैले प्रागियों का विष, अलक्ष्मी (दरिद्रताकारक मन्त्रों का प्रभाव), कार्मण (जादू-टोने) का प्रभाव, अनिष्टकारक (मारण, मोहन, उच्चाटन) मन्त्रों का प्रभाव, अग्निभय, वज्रभय, शत्रुभय, दुःस्वप्न, स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त गरविषों तथा अकालमृत्यु इन सबका भी विनाश हो जाता है। इनके अतिरिक्त जल में डूबना तथा चौरभय भी नहीं होता, धन-धान्य की समृद्धि, कार्यसिद्धि, श्रीवृद्धि, शरीर का पोषण, दीर्घायु का लाभ प्राप्त होकर वह पुरुष धन्य हो जाता है।

वक्तव्य—मृतसञ्जीवन अगद का यह मन्त्रशास्त्रोक्त अतएव अलौकिक प्रभाव है। ऐसे योगों के निर्माण में जैसे पुष्यनक्षत्र के दिन द्रव्य-संग्रह करना आवश्यक बतलाया है, उसी प्रकार अन्य विधियाँ भी हैं। अच्छे दिन, वार, मुहूर्त्त, पक्ष, अयन, मास, ग्रहों के उदय-अस्त का विचार करके इस औषध का निर्माण करके रखना चाहिए, तभी उक्त लाभ होते हैं। वृद्धवाग्भट ने एक 'सञ्जीवन' योग का उल्लेख अपनी संहिता में किया है, जिसका निर्माण प्रारम्भ में ब्रह्मा जी ने किया था, उस योग को भी देखें। अ० सं० उ० अ० ४०।५९-६७। इसके मूलपाठ में श्रीजयदेव ने कुछ परिवर्तन किये हैं, उनका भी अवलोकन कर लें।

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽवमार्जनं कार्यमात्मरक्षा च। दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात् तं जयेत्पूर्वम्॥

स्थानीय दोष चिकित्सा—जंगम विष से हाथों या पैरों के प्रभावित होने पर दंश स्थान से चार अंगुल ऊपर की ओर रक्तवाहिनी धमनी का बन्धनमन्त्रों द्वारा बन्धन करना चाहिए, मन्त्रों द्वारा ही अवमार्जन (आत्मशुद्धि या झाड़ना) करें। मन्त्रों द्वारा आत्मरक्षा की व्यवस्था करें। विष का प्रभाव जिस दोष के स्थान पर हो, उस स्थान में स्थित दोष या दोषों को पहले जीतना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में **'अवमार्जन'** शब्द है और श्रीजयदेव वाले संस्करण में **'अपामार्जन'**। शब्दों का स्वरूप जो भी हो आशय दोनों का एक है। विष का प्रभाव नीचे से ऊपर को होता हो तो मन्त्रज्ञ पुरुष को चाहिए कि वह ऊपर से नीचे दंश स्थान की ओर झाड़े। सन्ध्यावन्दन आदि में जो मार्जन किया जाता है, वह केवल आत्मशुद्धि के लिए होता है, मन्त्रों में अचिन्त्य शक्ति होती है, उनसे कई प्रकार के बन्धों का प्रयोग किया जाता है, उन्हीं में एक 'धमनीबन्ध' भी है। आत्मरक्षा के लिए वैदिक तथा पौराणिक अनेक कवच आदि ऐसे प्रयोग हैं, जिनसे आत्मरक्षा विश्वासपूर्वक की जाती है। शरीर में वात आदि दोषों के स्थान निश्चित हैं, अतएव कहा गया है—'यस्य दोषस्य स्थाने विषं स्यात्'। इसी का स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

वातस्थाने स्वेदो दध्ना नतकुष्ठकल्कपानं च। घृतमधुपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे ॥६२॥
क्षारागदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिराव्यधनम्।

दोषानुसार विष-चिकित्सा—यदि वातस्थान में सर्प आदि के दंशज विष का प्रभाव हो अथवा स्थावर विष वातस्थान पर पहुँचकर अपना प्रभाव दिखला रहा हो, तो सबसे पहले उस स्थान पर स्वेदन करना चाहिए, तदनन्तर तगर तथा कूठ का कल्क बनाकर उस कल्क को दही में घोलकर विष पीड़ित पुरुष को पिलाना चाहिए। यदि पित्तस्थान में विष का प्रभाव हो तो घी, मधु, दूध तथा जल मिलाकर पिलाना चाहिए, साथ ही अवगाहन और परिषेचन भी कराना चाहिए। यदि कफस्थान में विष का प्रभाव हो तो सर्वप्रथम स्वेदन कराने के बाद सिरावेध कराकर रक्तमोक्षण कराकर उसे क्षारागद का सेवन करायें।

वक्तव्य—'क्षारागद' का वर्णन आगे इसी अध्याय के श्लोक ९५ से १०४ तक में किया गया है।

दूषीविषेऽथ रक्तस्थिते सिराकर्म पञ्चविधम् ॥ ६३ ॥
भेषजमेवं कल्प्यं भिषग्विदाऽऽलक्ष्य सर्वदा सर्वम्। स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च ॥

रक्तस्थित दूषीविष में पञ्चकर्म—दूषीविष का प्रभाव यदि रक्तधातु पर हो तो पञ्चकर्म कराकर सिरावेध (रक्तमोक्षण) करायें। चिकित्सक को चाहिए कि वह परिस्थिति को देखकर इस प्रकार की औषध-व्यवस्था

करे, जिससे जहाँ विष का प्रभाव हो उस स्थान के अनुकूल करते हुए वह विष दोष को शान्त कर दे। क्योंकि आक्रान्त स्थान पर विजय प्राप्त कर लेने से अन्य स्थानों का विषदोष आसानी से दूर किया जा सकता है।

वक्तव्य—ऊपर ६३ वें श्लोक के उत्तरार्ध में श्रीजयदेव ने दूसरे पाठ को उद्धृत किया है। तदनुसार 'सिराकर्म' शब्द ही समाप्त हो जाता है। शेष रह जाता है, केवल 'पञ्चकर्म' जो आयुर्वेदिक चिकित्सा का मूल सिद्धान्त है। यदि हम **'सिराकर्म पञ्चविधम्'** इस पाठ को महत्त्व देते हैं तो दो हाथों की दो सिराएँ, दो पैरों की दो सिराएँ और एक सिरा मध्यकाय की, ये पाँच सिराएँ होती हैं। सामान्य रोगी इस प्रकार के सिरामोक्षण की क्षमता नहीं रख सकता और सभी सिरामोक्षण के अधिकारी भी नहीं होते। अतः चिकित्सा-कुशल चिकित्सक पर ही यह भार छोड़ा जाता है कि वह यथावसर इसका निर्णय लेकर यथोचित करें।

वृद्धवाग्भट ने दोनों विषयों का अलग-अलग वर्णन इस प्रकार किया है—'रक्तगे स्रावयेद् र[illegible] पित्तवच्च क्रियाक्रमः। दूषीविषे पुनस्तत्स्थे पञ्चकर्माणि चाचरेत्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४०।१६९। अर्थात् यदि विषदोष रक्त में आश्रित हो तो रक्तस्रावण कराकर बाद में पित्त के समान उसकी चिकित्सा करे और यदि [illegible]षीविष रक्त में आश्रित हो तो पञ्चकर्म द्वारा उस रोगी का संशोधन कराना चाहिए। इस दृष्टि से श्रीजयदे[illegible] द्वारा स्वीकृत पाठ अधिक उचित प्रतीत हो रहा है।

'स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च'—इसको स्पष्ट करते हुए वृद्धवाग्भट ने जो पद्य कहा है, वह इस प्रकार है—'आश्रये यस्य दोषस्य विषं तिष्ठति तं पुरः। आश्रयाश्रयिणोर्विद्वानविरोधेन साधयेत्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४०।१७३। आश्रय (स्थान), आश्रयी (वहाँ रहने वाला) इन दोनों का जिस चिकित्सा से विरोध न हो, उसे स्वीकार या प्रयोग करने की संस्तुति यहाँ की गयी है। यथा—वातस्थान में यदि आश्रयी पित्त हो तो पहले वातदोष को इस प्रकार जीतने का प्रयत्न करे, जिससे वातदोष तो शान्त हो जाय किन्तु पित्तदोष की वृद्धि न हो, क्योंकि प्रायः वातशामक द्रव्य उष्ण होते हैं, जो स्वाभाविक रूप से पित्तवर्धक होते हैं। अतः घृत, तैल आदि वातशामक द्रव्यों का प्रयोग यथावसर करे।

विषदूषितकफमार्गः स्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु। मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च ॥
चर्मकषायाः कल्कं बिल्वसमं मूर्ध्नि काकपदमस्य। कृत्वा दद्यात् कटभीकटुकट्फलप्रधमनं च ॥

कफावरोध-चिकित्सा—जब कफ का मार्ग किसी प्रकार के विष से दूषित होकर स्रोतों के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है, तब इन मार्गों के रुक जाने से वायु भी रुक जाती है। वायु का अवरोध हो जाने से वह मनुष्य मरे हुए की भाँति अर्थात् जो अधमरा हो गया हो उसकी तरह श्वास लेने लगता है। यदि इस स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर भी वह असाध्य लक्षणों से रहित हो तो उसके शिर के ऊपर काकपद की आकृति का एक घाव बना कर उस घाव के ऊपर बिल्व (४ तोला) तथा चर्मकषा (सातला) के कल्क को लगाकर कटभी (ज्योतिष्मती जिसे मालकांगनी कहते हैं), मरिच तथा कायफल के छिलके का चूर्ण बनाकर इसका प्रधमन नस्य देना चाहिए।

वक्तव्य—'श्लेष्माशयः स्यादुरसि'। शा० सं० पू० खं० अ० ५।११। अर्थात् उरःस्थल के अन्तर्गत ही कफ का स्थान है। जब यह विष के कारण दूषित हो जाता है तो कण्ठनलिका तथा कण्ठ दूषित कफ से भर जाता है, फलतः वह प्राणी बड़े कष्ट से किसी प्रकार श्वास-प्रश्वास क्रिया कर पाता है। ऐसी स्थिति में उसे मुख-मार्ग से कोई दवा नहीं दी जा सकती है। इसलिए उसके लिए विशेष व्यवस्था ऊपर कही गयी है। **मृत इव**—यहाँ 'इव' शब्द का अर्थ है, ईषत्=थोड़ा। नहीं तो मरे के समान श्वास लेना, यह अर्थ अपने में हास्यास्पद है। अर्थात् शीघ्र मरने वाले प्राणी के समान साँस लेना। देखें—'प्राणान् प्रयाणसमये कफवातपित्तैः, कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते'। सूक्ति।

द्रव्य-विचार—अष्टांगसंग्रह के टीकाकार श्रीइन्दु 'चर्मकषा' शब्द से 'कटुरोहिणी' का ग्रहण करते हैं। इस प्रकरण में दिये गये इन दो श्लोकों को विषय तथा द्रव्य की दृष्टि से देखें। अ० सं० उ० अ० ४०।१७१-१७२। राजनिघण्टु के अनुसार चर्मकषा—सातला है। देखें—रा० नि० व० ४।१९४-१९५। किन्तु 'चर्मकषा—कटुरोहिणी नहीं है। देखें—रा० नि० व० ६।१३२-१३५। यद्यपि भावमिश्र के अनुसार 'कटभी' द्रव्य का पर्याय 'ज्योतिष्मती' है। देखें—भा० प्र० हरीतक्यादिवर्ग प्र० ५।१५९-६०। किन्तु आचार्य प्रियव्रतशर्मा अपने द्रव्यगुण-विज्ञान में

शिरीष के एक भेद की चर्चा करते हुए लिखते हैं—कटभी या किणिही नाम का एक शिरीष भेद पाया जाता है, जिसे A. Procera Benth कहते हैं। इसलिए भी इस तथ्य की ओर बुद्धि आकृष्ट हो रही है, कि **'शिरीषो विषघ्नानाम्'**। च० सू० अ० २५।४०।

काकपद—चरक में कफमार्गावरोध होने पर जो चिकित्सा-निर्देश किया गया है, उसमें काकपद की चर्चा की गयी है, किन्तु सुश्रुत में यह चिकित्सा-क्रम विष के सातवें वेग के विषम अवसर पर बतलाया गया है। सिर को छुरे से मुड़वाकर काकपद के आकार का पच्छ लगाकर उसके ऊपर रक्त मिश्रित मांस रख दे। देखें— सु० क० अ० २।४३। कौए का पंजा तीन अंगुलियों वाला होता है, इसी प्रकार सिर के मध्य में इस काकपद का निर्माण करना चाहिए और उस पर सातला के कल्क का या सिरीष की छाल का कल्क लगा दें।

प्रधमन नस्य—मूलरूप में नस्य के दो भेद माने गये हैं—१. रेचन (शोधन) नस्य, २. स्नेहन नस्य। इन्हीं को क्रमशः अपतर्पण तथा सन्तर्पण नस्य भी कहते हैं। पुनः इन्हीं के दो भेद किये जाते हैं—१. अवपीड नस्य और २. प्रधमन नस्य।

प्रयोग-विधि—सोंठ, मरिच तथा पीपल जैसे तीक्ष्ण द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण तैयार करें। इसे दो मुखवाली नलिका में थोड़ा-सा भरकर जिस ओर नस्य चूर्ण भरा हो उस छोर को रोगी की नाक में डालें और दूसरी ओर मुख लगाकर मुख की वायु से उसे नाक के भीतर पहुँचा दें। प्रधमन नस्य एक प्रकार की सुँघनी है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार 'चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत्'। सु० चि० अ० ४०।४६। इसकी टीका लिखते हुए आचार्य डल्हण ने विदेह के वचन को इस प्रकार उद्धृत किया है—'नाडी षडङ्गुलायामा द्विमुखी च तया धमेत्। त्रिश्चूर्णं मुच्चटीमात्रमेष प्रधमने विधिः॥ शुक्तिप्रमाणं जिघ्रेद् वा बद्धं सूक्ष्मेण वाससा'। इति। मुच्चटी का प्रमाण है—तर्जनी और अंगूठे के बीच में जितना चूर्ण अट जाय, उसे मुच्चटी या चुटकी कहते हैं।

[1]छागं गव्यं माहिषं वा मांसं कौक्कुटमेव वा। दद्यात् काकपदे तस्मिंस्ततः सङ्क्रमते विषम्॥

काकपद पर मांस-प्रयोग—बकरा, गाय, भैंसा, कुक्कुट (मुर्गा) इनमें से किसी एक का मांस लेकर सिर पर जहाँ काकपद बनाया गया है, वहाँ रखें। इस विधि से रक्त में फैले हुए उस विष का इस मांस पर संक्रमण हो जाता है।

वक्तव्य—एक पाठभेद निर्णयसागरीय प्रति की टिप्पणी में उद्धृत है। जिसका संग्रह यहाँ भी किया गया है, किन्तु श्रीजयदेव की टीकायुक्त चरकसंहिता में एक पाठ इसके अतिरिक्त और है, जो इस प्रकार है—'छागैणगव्यमाहिषाविककौक्कुटाब्जमांसं च। दद्यात् काकपदोपरि मत्ते विषेणैव सहसा'॥ इन दोनों में से किस पाठ को आर्ष माना जाय और किसे प्रक्षिप्त, विद्वान् विचार करें। काकपद के ऊपर यह मांस रखने की क्रिया तब तक चलती रहनी चाहिए जब तक विषाक्त रक्त निकलता रहे, अतः यह एक बार की क्रिया नहीं है। इसी प्रकार चर्मकषा का प्रयोग भी समझें। इस लेप को भी थोड़ी-थोड़ी देर में बदलते रहें। इन विषाक्त मांसों तथा लेपों को ले जाकर जमीन में गाड़ दें।

नासाक्षिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात्। वार्ताकुबीजपूरज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः॥

विषविकार में नस्य-प्रयोग—नाक, आँख, कान, जीभ तथा कण्ठप्रदेश में यदि विष के प्रभाव से रुकावट हो रही हो तो नस्य प्रयोग करना चाहिए। **नस्य द्रव्य**—बड़ी कटेरी के बीज, बिजौरानीबू की जड़ का छिलका, ज्योतिष्मती (मालकांगनी) आदि (नस्य कर्म में उपयोगी) द्रव्यों को पीसकर प्रयोग करें।

वक्तव्य—ऊर्ध्वजत्रु विकारों में नस्य कर्म अत्यन्त लाभप्रद होता है। गले के नीचे की हड्डी को हिन्दी में हँसली तथा संस्कृत में जत्रु-अस्थि (Collarbone) कहते हैं। इसके ऊपरी अवयवों के विकारों में नस्य सेवन से शीघ्र लाभ होता है और गले के ऊपर के सभी अवयवों में चेतनता आ जाती है। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट का नस्ययोग भी देख लें—अ० सं० उ० अ० ४०।९३।

अञ्जनमक्ष्युपरोधे कर्तव्यं बस्तमूत्रपिष्टैस्तु। दारुव्योषहरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु॥

---

१. 'छागगव्यमाहिषाविककौक्कुटाब्जमांसानि च। दद्यात् काकपदोपरि मत्ते विषेणैव च सहसा' इति पा०।

विष-विकार में अंजन-प्रयोग—यदि विष-विकार के कारण आँखों से न दिखलायी देता हो तो देवदारु, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, हल्दी, कनेर की पत्ती, करंज के फल की गुद्दी, नीम के बीज, तुलसी की मंजरी इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर बकरे के मूत्र में पीसकर अंजन लगाना चाहिए।

श्वेता वचाऽश्व[1]गन्धा हिङ्ग्वमृता कुष्ठसैन्धवे लशुनम्।
सर्षपकपित्थमध्यं [2]टुण्टुककरञ्जबीजानि॥ ७०॥
[3]व्योषं शिरीषपुष्पं द्विरजन्यौ [4]वंशलोचनं च समम्।
पिष्ट्वाऽजस्य मूत्रेण [5]गोश्वपित्तेन सप्ताहम्॥ ७१॥
व्यत्यासभावितोऽयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम्।
सर्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्तीः॥ ७२॥
उन्मादापस्मारौ काचपटलनीलिकाशिरोदोषान्।
शुष्काक्षिपाकपिल्लार्बुदार्मकण्डूतमोदोषान्॥ ७३॥
क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डुगदांश्चाञ्जनात् तथा मोहान्।
लेपाद् विषदिग्धक्षतलीढदष्टपीतविषघाती॥ ७४॥
अर्शःस्वानद्धेषु च गुदलेपो योनिलेपनं स्त्रीणाम्।
मूढे गर्भे दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये॥ ७५॥
[6]वृद्धौ किटिभे कुष्ठे श्वित्रविचर्चिकादिषु लेपः।
गज इव तरून् विषगदान्निहन्त्यगदगन्धहस्त्येषः॥ ७६॥

इति गन्धहस्तीनामाऽगदः।

गन्धहस्ती नामक अगद—श्वेता (मालकांगनी), वालवच, असगन्ध, हींग, गुरुच, कूठ, सेंधानमक, लहसुन, पीली सरसों, कैथ की गुद्दी, टुण्टुक (सोनापाठा), करंज का बीज, सोंठ, मरिच, पीपल, शिरीष का फूल, हल्दी, दारुहल्दी, वंशलोचन इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके बकरे के मूत्र की उसके बाद गाय के पित्त (गोरोचन) तथा घोड़ा के पित्त की एक-एक दिन का अन्तर देकर सात दिन तक भावना दें। इस अगद का प्रयोग करने से शिरःप्रदेश में फैला हुआ स्थावर अथवा जंगम विष का प्रभाव शीघ्र ही समाप्त हो जाता है तथा सभी प्रकार के ज्वर, भूतग्रह, विसूचिका, अजीर्ण, मूर्च्छा, विविध प्रकार की पीड़ाएँ, उन्माद, अपस्मार, काच, पटल, नीलिका (ये तीन नेत्रमण्डल के रोग हैं), शिर में होने वाले सभी विकार, शुष्काक्षिपाक, पिल्ल (ये दो नेत्ररोग हैं), अर्बुद, अर्म (नेत्ररोग), कण्डू (खुजली), आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, क्षय, दुर्बलता, मदात्यय, पाण्डुरोग तथा मोह (बेहोशी) रोग—ये सब इस अगद का अंजन लगाने से दूर हो जाते हैं। विषदिग्ध (जिस अस्त्र या शस्त्र को गरम करके विष में बुझाया गया हो, उससे जो घाव लग जाता है, तो वह घाव जल्दी नहीं भरता), जहरीले प्राणियों द्वारा चाटा गया व्यक्ति, साँप आदि विषैले प्राणियों द्वारा डसा गया तथा जिसने स्थावर विषों का पान कर लिया हो, इस अगद का लेप लगाने से उन सब विकारों का नाश हो जाता है। फूले हुए बवासीर के मस्सों पर इस अगद का लेप करना चाहिए, मूढगर्भ हो जाने पर इस अगद का लेप प्रसवाक्रान्ता की योनि पर लगाना चाहिए, प्रतिश्याय (जुकाम) होने पर इसका लेप माथे पर लगाना चाहिए। अण्डकोष की वृद्धि होने पर, किटिम नामक कुष्ठ में, श्वित्रकुष्ठ में, विचर्चिका आदि रोगों में इस अगद का प्रयोग करना चाहिए। यह गन्धहस्ती नामक अगद (अगद रूपी मदमत्त हाथी) पेड़ों की भाँति विषज रोगों को जड़ सहित उखाड़ कर फेंक देता है।

वक्तव्य—ऊपर ७१ वें श्लोक के उत्तरार्ध में पाठभेद है। अतः अगद के निर्माण में विधि भेद का हो जाना स्वाभाविक ही है। निर्णयसागरीय प्रति में 'पिष्ट्वाऽजस्य मूत्रेण, गोऽश्वपित्तेन सप्ताहम्'—ऐसा पाठ है और

---

१. 'विडङ्गम्' इति पा०।
२. 'बन्धूककरञ्जबीजानि' इति पा०।
३. 'बृहती' इति पा०।
४. 'वंशलेखनम्' इति पा०।
५. 'गोश्व पित्तेन' इति पा०।
६. 'दद्री' इति 'कण्ड्वां' इति च पा०।

श्रीजयदेव द्वारा संगृहीत पाठ इस प्रकार है—पिष्ट्वाऽथ वस्तमूत्रेण गोश्व मूत्रेण सप्ताहम्'। उक्त दोनों पाठों का विवेचन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रथम पाठ—इसके अनुसार उक्त चूर्ण को बकरी के मूत्र की, गाय के पित्त की और घोड़े के पित्त की एक दिन का अन्तर देकर एक सप्ताह या प्रत्येक द्रव की सात-सात दिन इस प्रकार भावना दें। पहले दिन बकरे के मूत्र से, दूसरे दिन गाय के पित्त से, फिर तीसरे दिन घोड़े के पित्त से, इसी को व्यत्यास क्रम कहते हैं। इस प्रकार तीनों द्रवों की भावना २१ दिनों में तब पूरी हो सकेगी जब प्रतिदिन जिससे भावना दी गयी हो वह द्रव सूख जाय, अन्यथा विलम्ब हो सकता है।

द्वितीय पाठ—इसके अनुसार उक्त चूर्ण को बकरे के मूत्र की और गाय के पित्त की एक-एक दिन का अन्तर देकर एक सप्ताह या प्रत्येक द्रव द्वारा सात-सात दिन तक भावना दें। क्योंकि 'सप्ताहं भावितोऽयम् अगदः' ऐसा अन्वय करना होगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव की भावना सात-सात दिन देनी होगी।

भाषा शुद्ध होने पर भी छन्द की दृष्टि से निम्न संशोधन करना आवश्यक था—

प्रथम पाठ का शुद्ध रूप—'व्योषं शिरीषपुष्पं द्वे च निशे वंशलोचनं च समम्।
पिष्ट्वाऽथ वस्तमूत्रे सप्ताहं गोऽश्वपित्तेन'॥

द्वितीय पाठ का शुद्ध रूप—'व्योषं शिरीषपुष्पं द्विरजन्यौ वंशलोचनं समम्।
पिष्ट्वाऽथ वस्तमूत्रे सप्ताहं गोश्च पित्तेन'॥

इन पाठों के अनुसार पहले में बकरे के मूत्र में पीसकर गाय और घोड़े के पित्त की भावना देनी है और दूसरे में केवल गाय के पित्त की भावना देनी है, अर्थ में यह परिवर्तन आ जायेगा। वृद्धवाग्भट ने भी 'गन्धहस्ती' नामक अगद का उल्लेख इस प्रकार किया है—उक्त द्रव्यों को गाय तथा बकरी के मूत्र के साथ पीसकर सुखा लें, तदनन्तर गाय तथा बकरे के पित्त द्वारा पर्याय-क्रम से सात दिन भावना दें। देखें—अ० सं० उ० अ० ४०।४९-१००। इसमें 'अश्वगन्धा' के स्थान पर 'सुगन्धा' और 'वंशलोचन' के स्थान पर 'वंशलेखन' द्रव्यों का ग्रहण किया गया है।

पत्रागुरुमुस्तैला निर्यासाः पञ्च चन्दनं स्पृक्का।
त्वङ्नलदोत्पलबालकहरेणुकोशीरवन्यनखाः ॥ ७७ ॥
सुरदारुकनककुङ्कुमध्यामककुष्ठप्रियङ्गुवस्तगरम्।
पञ्चाङ्गानि शिरीषाद् व्योषालमनःशिलाजाज्यः ॥ ७८ ॥
[1]श्वेतकटभीकरञ्जौ रक्षोघ्नी सिन्धुवारिका रजनी।
सुरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बनिर्यासाः ॥ ७९ ॥
वंशत्वगश्वगन्धाहिङ्गुदधित्थाम्लवेतसं लाक्षा।
मधुमधुकसोमराजीवचारुहारोचनातगरम् ॥ ८० ॥
अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्टयङ्गः।
अप्रतिहतप्रभावः ख्यातो महागन्धहस्तीति ॥ ८१ ॥
पित्तेन गवां पेष्यो गुटिकाः कार्यास्तु पुष्ययोगेन।
पानाञ्जनप्रलेपैः प्रसाधयेत् सर्वकर्माणि ॥ ८२ ॥
पिल्लं कण्डूं तिमिरं रात्र्यान्ध्यं काचमर्बुदं पटलम्।
हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम् ॥ ८३ ॥
विषमज्वरानजीर्णान् दद्रुं कण्डूं विसूचिकां पामाम्।
विषमूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानां च।
आशु विषं नाशयति समूलजमथ कन्दजं सर्वम् ॥ ८४ ॥

१. 'श्वेता कटभी करजो' इति पा०।

एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम्।
[1]कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः ॥ ८५ ॥
आनद्धे गुदलेपो योनौ लेपश्च मूढगर्भाणाम्।
मूर्च्छार्तिषु च ललाटे प्रलेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥ ८६ ॥
भेरीमृदङ्गपटहाच्छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः।
लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यं प्रध्वनयेद् दर्शयेन्मतिमान् ॥ ८७ ॥
यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि।
न च कार्मणवेताला [2]वहन्ति नाथर्वणा मन्त्राः ॥ ८८ ॥
सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः।
लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति ॥ ८९ ॥
पिष्यमाण इमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत्।
'मम माता जया नाम [3]जयो नामेति मे पिता ॥ ९० ॥
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च।
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ॥ ९१ ॥
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च।
तेजो वृषाकपेः साक्षात् तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ॥ ९२ ॥
यथाऽहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम्।
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ॥ ९३ ॥
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम्।
हिलिमिलिसंस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा'[4] ॥ ९४ ॥
इति महागन्धहस्तीनामाऽगदः।

महागन्धहस्ती नामक अगद—तेजपत्ता, अगर, नागरमोथा, इलायची, पाँचों निर्यास (राल, गुग्गुलु, अफीम, शिलाजीत, लोहवान), लालचन्दन, स्पृक्का (सुगन्धि द्रव्य विशेष—असवर्ग), त्वक् (दालचीनी), नलद (जटामांसी), नीलकमल, सुगन्धबाला, हरेणुका, खश, वन्य (केवटीमोथा), नख (व्याघ्रनख), देवदारु, कनक (नागकेशर), कुंकुम (केसर), ध्यामक (सुगन्धितृण), कूठ, फूलप्रियंगु, तगर, शिरीषवृक्ष का पञ्चांग (मूल, छाल, पत्ती, फूल, फल), सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरिताल, मैनसिल, जीरा, श्वेतकटभी (सफेदगुंजा), करंज की गुद्दी, रक्षोघ्नी (पीली सरसों), सिन्धुवारिका (सम्भालू की पत्तियाँ), हल्दी, तुलसी, रसवत, गेरू, मजीठ, नीम की गोंद, बाँस का बाहरी छिलका, असगन्ध, हींग, कैथ का गूदा, अम्लबेत, कच्ची लाख, मधु, मुलेठी, बाकुची के बीज, बालवच, रुहा (दूब), गोरोचन, कालातगर—इन साठ द्रव्यों द्वारा निर्मित इस महा-गन्धहस्ती नामक अगद का उपदेश शिवजी ने वैश्रवण (कुबेर) के लिए किया था। यह अगद अप्रतिहत प्रभाव वाला है, अर्थात् इसका जिस विषविकार में प्रयोग किया जाय, यह सभी जगह सफल सिद्ध होता है।

निर्माण-विधि—उक्त ६० द्रव्यों को जिस दिन पुष्यनक्षत्र हो उस दिन समान भाग लेकर, कूट-पीसकर कपड़छन चूर्ण कर लें, तदनन्तर गाय के पित्त (गोरोचन) के साथ पीसकर गोलियाँ बना लें। **प्रयोग**—यह अगद पान (पीने), अंजन (आँखों में लगाने से) तथा प्रलेप विधि से लगाने से उन-उन उद्देश्यों की पूर्ति कर देता है। इसके लिए रोगियों को हिताहार, मिताहार और पथ्याहार करना चाहिए। इस प्रकार यह सभी प्रकार के विष सम्बन्धी रोगों को दूर कर देता है। यथा—पिल्ल (नेत्र रोग), कंडू (आँखों में होने वाली खुजली),

१. 'कालातीतोऽपि हि' पा०।
२. 'कार्मणमन्त्रा भजन्ति' इति पा०।
३. 'विजयो ना मे पिता' इति पा०।
४. 'हिलि हिलि मिलि मिलि संसृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा' इति पा०।

तिमिर रोग, रतौंधी, काच (मोतियाबिन्द), अर्बुद, पटल आदि नेत्र विकारों का शीघ्र विनाश करता है (रोग-परिचय के लिए नेत्ररोग-प्रकरण देखें)।

अन्य रोग—विषमज्वर, अजीर्ण, दद्रु (दाद), कण्डु (खुजली), विसूचिका (हैजा—Cholera), पामा, इन रोगों का विनाश करता है। सभी प्रकार के सर्पों, जहरीले चूहों तथा लूताविषों, मूलज विषों एवं कन्दज विषों का शीघ्र नाश कर देता है।

इस अगद का शरीर पर लेप कर मनुष्य साँपों को हाथ से पकड़ लेता है और स्थावर विषों को खा सकता है। यदि स्थावर अथवा जंगम विष से पीड़ित मनुष्य मरणासन्न स्थिति को भी पहुँच गया हो तो वह भी रोग रहित होकर पुनः जीवन धारण कर लेता है। यदि पेट में आनाह (अफारा) हो गया हो तो इस अगद का गुद में लेप लगा देने से शीघ्र लाभ हो जाता है, यदि गर्भिणी स्त्री का मूढ़गर्भ (गर्भ के टेढ़े हो जाने) से प्रसव न हो रहा हो तो ऐसी स्त्रियों की योनिमार्ग पर इस अगद का लेप कर देने से सुखपूर्वक प्रसव हो जाता है। मूर्च्छा रोग से यदि रोगी कष्ट में हो तो मुख्य रूप से रोगी के ललाट (माथा) में इसका लेप लगा दें।

बुद्धिमान् चिकित्सक सर्पविष के आतंक को दूर करने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न करे—भेरी (धौंसा या बड़ा ढोल), मृदंग, पटह (नगारा), छाता, ध्वज, पताका (ये दोनों शब्द परस्पर पर्याय वाचक है, किन्तु जब दोनों एक साथ प्रयुक्त होते हैं, तो 'ध्वज' का अर्थ 'ध्वजदण्ड' होता है) पर उक्त अगद का लेप करके भेरी आदि वाद्यों को बजवाये और छाता, ध्वज, पताका को दिखलाये (फहराये)। जहाँ यह अगद रखा रहता है, वहाँ बालग्रहों, राक्षसों, वेतालों आदि का प्रवेश नहीं हो पाता और न वहाँ जादू-टोना के लिए प्रयोग होने वाले अथर्वण वेदोक्त मन्त्र ही अपना प्रभाव दिखा पाते हैं। न वहाँ क्रूर ग्रहों का ही प्रभाव होता है, न अग्नि-भय, नृपभय, चोरभय ही होता है, जिस घर में यह 'महागन्धहस्ती' नामक अगद रहता है, उस घर में लक्ष्मी सदा निवास करती है।

मान्त्रिक प्रयोग—श्लोक ९० के उत्तरार्ध से ९४ श्लोक तक मन्त्र भाग है। इस मन्त्र को विधिवत् सिद्ध करके पुष्यनक्षत्र के दिन गाय के पित्त के साथ उक्त चूर्ण को पीसते समय श्रद्धापूर्वक इस मन्त्र का तब तक पाठ करता रहे, जब तक वह भली-भाँति पिस न जाय। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—मेरी माता का नाम जया है, मेरे पिता का नाम जय है, जय तथा जया का पुत्र मैं विजय हूँ, अतएव मैं सभी प्रकार के विष विकारों को जीत लेता हूँ। सभी पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी विश्वकर्मा विष्णु भगवान् के लिए नमस्कार है, सनातन, कृष्ण, भव (शिव) और विभव के लिए नमस्कार है। मैं साक्षात् वृषाकपि (शिव और विष्णु) का तेज हूँ, ब्रह्मा और इन्द्र का तेज हूँ, यमराज में जो तेज है, वही मुझ में है। जैसा कि मैं नहीं जानता कि कभी वासुदेव किसी से पराजित हुए हों, जैसे मैं अपनी माता के विवाह के सम्बन्ध में नहीं जानता हूँ और मैं यह भी नहीं जानता कि कभी समुद्र सूखा हो, इस सत्य वचन से यह अगद सिद्ध हो। इस प्रकार 'हिलि-मिलि' इत्यादि मन्त्र का मन ही मन पाठ करते हुए प्रस्तुत अगद को पीसकर तैयार करना चाहिए। तैयार हो जाने पर गोलियाँ बनाकर रख दें।

वक्तव्य—इस महाअगद का एक नाम 'षष्ट्यङ्ग' भी है, अर्थात् इसमें ६० द्रव्यों का योग है, ६१ वाँ द्रव्य है—गाय का पित्त। कुछ टीकाकारों ने कनककुंकुम को एक में मिला दिया है और 'श्वेतकटभीकरञ्जौ' इस द्विवचनान्त पद में तीन द्रव्यों (श्वेता, कटभी, करञ्ज) को स्वीकार किया है। यद्यपि पाठभेद के अनुसार तीन द्रव्यों को मानना तो ठीक है, किन्तु तन्त्रकार की प्रतिज्ञा का भी ध्यान रखना टीकाकारों का ही दायित्व होता है।

'विषमूषिकलूतानां' इस पाठ के स्थान पर श्री जयदेव ने 'विषं मूषिकलूतानां' पाठ उद्धृत किया है, जो छन्द की दृष्टि से अशुद्ध है। इसका समाधान ऊपर की टीका में देखें। श्रीजयदेव वाले संस्करण में यह एक पंक्ति अधिक मिलती है—'कुष्ठं किटिभं श्वित्रं विचर्चिकां चोपहन्ति नृणाम्', जो निर्णयसागरीय प्रति के ८४वें श्लोक की द्वितीय पंक्ति हो सकती है। ऐसा न करने से यह ८४ वाँ श्लोक ३ पंक्ति का हो रहा है, ध्यान दें।

पञ्च निर्यास—निर्यास का अर्थ गोंद या रस होता है। कुछ विद्वान् निर्यास शब्द से 'छाल' अर्थ स्वीकार करते हैं। उसका दायित्व उन्हीं पर है। हमने निर्यास शब्द से गोंद का ही ग्रहण किया है। दूसरे विद्वान् पञ्चक्षीरी वृक्षों की छालों को लेने की संस्तुति करते हैं।

मूलज विष—स्थावरविषों से आश्रित क्लीतक, अश्वमार (कनेर), गुञ्जा (घुँघची), सुगन्ध, गर्गरक, करघाट, विद्युच्छिखा, विजया आदि को मूल विष कहते हैं।

कन्दज विष—शक्तुक, मुस्तक, कौर्म्य, दर्वीक, सर्षप, सैकत, वत्सनाभ, शृंगी—ये आठ कन्दज विष कहे जाते हैं।

ऋषभकजीवकभार्गीमधुकोत्पलधान्यकेशराजाज्यः ।
ससितगिरिकोलमध्याः पेयाः श्वासज्वरादिहराः ॥ ९५ ॥

ऋषभकादि अगद—ऋषभक, जीवक, भारंगी, मुलेठी, नीलकमल, धनियाँ, नागकेसर, जीरा, सफेद अपराजिता, बेर की गुठली की मींगी—इन सबको समभाग लेकर चूर्ण बनाकर रख लें। इस चूर्ण को उचित मात्रा के अनुसार जल के साथ पीने से श्वास, ज्वर आदि विषविकार-जनित सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है—'···अजाजी जीवकर्षभकोत्पलम्। कोलमज्ज-सिताधान्यभार्ङ्गीयष्ट्याह्वकेसरम् ॥ विषज्वरवमिश्वासकासतृष्णानिबर्हणम्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४७।५-६।

हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमग्र्यलवणं च ।
समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिक्काश्वासकासघ्नौ ॥ ९६ ॥

हिङ्ग्वादि योग—हींग और पिप्पली इन दोनों के चूर्ण को मधु तथा मिश्री मिलाकर पीना चाहिए, अथवा सैंधानमक, कैथ का रस, मधु तथा मिश्री मिलाकर पीना चाहिए। अनुपान भेद से ये दोनों योग विष-विकार के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न ज्वर, हिक्का (हिचकी), श्वास तथा कास का विनाश करते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में यद्यपि अनुपान भेद से एक योग को दो प्रकार से सेवन करने का विधान किया गया है, किन्तु इसी योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। तदनुसार ऐसा नहीं लगता है कि इसे दो योग माना जा सके। वह पद्य इस प्रकार है—'वैदेहिकारामठकं कपित्थरससैन्धवम्। ससितामाक्षिकं लीढं कासश्वासज्वरापहम्'। अ० सं० उ० अ० ४७।८। वैदेहिका=पिप्पली, रामठकं=हिङ्गु।

लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजोत्पलमधुघृतैर्वम्याम् । बृहतीद्वयाढकीपत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी ॥९७॥

वमननाशक योग—यदि विषविकार युक्त रोगी को वमन हो रहा हो तो बेर की गुठली की मींगी, रसाञ्जन (रसवत), धान का लावा (खील), उत्पल (नीलकमल), इन सबको समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। मात्रानुसार लेकर उसे मधु और घृत के साथ रोगी को दें।

हिक्कानाशक योग—यदि विषविकार युक्त रोगी को हिक्का (हिचकी) आती हो, तो छोटी तथा बड़ी कण्टकारी, अरहर की पत्तियाँ इनको पीसकर धूमवर्ति तैयार कर धूमपान कराना चाहिए। यह धूमपान विषज हिक्का रोग को शीघ्र शान्त करता है।

शिखिबर्हिबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम् ।
धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत् ॥ ९८ ॥

धूम-प्रयोग—मोर का पंख, बगुला की हड्डियाँ, पीली सरसों तथा चन्दन—इन सबका चूर्ण बनाकर उस घी में मिलाकर जलते हुए कोयलों पर डालकर घर में धूप देनी चाहिए। इस धूप से घर, शयन (बिस्तरा, चारपायी, चौकी आदि), आसन, वस्त्र आदि में किसी प्रकार का विष विकार हो तो उसका शीघ्र ही विनाश हो जाता है।

घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च । धूमागदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नं श्वयथुहृच्च ॥

सर्वविषनाशक धूम—तगर, कूठ, भुजगपतिशिर (दुमुहाँ साँप का शिर—चक्र०) शिरीष का फूल, इन सबको लेकर कूट लें, इस चूर्ण में घी मिलाकर धूप दें। यह धूमागद सभी प्रकार के विषों का और विषविकार से उत्पन्न शोथ (सूजन) का विनाशक है।

वक्तव्य—प्रायः देखा जाता है कि विष विकार से रोगी के शरीर में शोथ हो जाता है। सञ्जीवनी बटी बनाने के लिए वत्सनाभ विष का शोधन करना पड़ता है, उसका शोधन करते समय कर्माभ्यास करने वालों के जो हाथ-मुँह सूज जाते हैं, वह विष का ही प्रभाव होता है।

जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुकुभपुष्पसर्जरसाः । श्वेता च धूम उरगाखुकीटवस्त्रक्रिमिनुदग्र्यः ॥

जत्वादि धूमागद—लाख, खश, तेजपत्ता, गुग्गुलु, भिलावा, अर्जुन का फल, साल की राल, सफेद अपराजिता, इन सब द्रव्यों को समानभाग लेकर चूर्ण करके घी मिलाकर धूप देने से साँप, चूहे, कीड़े-मकोड़े, वस्त्रक्रिमि (कपड़ों में लगने या रहने वाले कीड़े) भली-भाँति नष्ट हो जाते हैं।

तरुणपलाशक्षारं स्रुतं पचेच्चूर्णितैः सह समांशैः । लोहितमृद्रजनीद्वयशुक्लसुरसमञ्जरीमधुकैः ॥
लाक्षासैन्धवमांसीहरेणुहिङ्गुद्विसारिवाकुष्ठैः । सव्योषैर्बाह्लीकैर्दर्वीविलेपनं घट्टयेद् यावत् ॥
सर्वविषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीह्नः । शोथापस्मारक्रिमिभूतस्वरभेदपाण्डुगदान् ॥१०३॥
मन्दाग्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम् ।
गुटिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः ॥ १०४ ॥

इति क्षारागदः ।

क्षारागद—नये पलाश वृक्ष को जौकुट करके सम्पुट में फूँककर स्वांगशीतल हो जाने पर उसकी भस्म को ले लें। इसे पानी में भिगाकर १२ घंटे बाद नितार लें, तदनन्तर इस क्षार को आँच पर रखकर सुखा लें। क्षार के परिमाण के बराबर उसमें लालमिट्टी (गेरू), हल्दी, दारुहल्दी, सफेद तुलसी की मञ्जरी, मुलेठी, कच्चीलाख, सेंधानमक, जटामांसी, हरेणु, हींग, सफेद सारिवा, काली सारिवा, कूठ, सोंठ, मरिच, पिप्पली, बाह्लीक (हींग) इन सब द्रव्यों को लेकर चूर्ण करके मिला दें। अब क्षारसहित इन द्रव्यों को उस क्षार जल में डालकर पकायें और करछुल से चलाते रहें, जब वह गाढ़ा होकर करछुल में लगने लगे तब उसे उतारकर उसकी गोलियाँ बनाकर सुखा लें। इस क्षारागद का सेवन करने से सभी प्रकार के विषविकार, विषजनित शोथ, गुल्म, चर्मरोग, अर्श, भगन्दर, प्लीहा (तिल्ली), शोथ, अपस्मार (मिर्गी), क्रिमि, भूत-प्रेत का आवेश, स्वरभेद (गला बैठना), पाण्डुरोग, जठराग्नि का मन्द पड़ना, कास, उन्माद—इन रोगों का नाश हो जाता है। मात्रा १ कोल (आधा तोला)।

वक्तव्य—इस प्रकार तैयार किये हुए पलाशक्षार को परिस्रुत करके क्षार के समान अन्य सभी द्रव्यों को लेना चाहिए। इसकी विशेष विधि को जानने के लिए सु० सू० अ० ११ का परिशीलन करें। इस योग में हिङ्गु और **बाह्लीक** दो समानार्थक द्रव्य आये हैं, अतः हींग को दूना लेना चाहिए। देखें—'एकमप्यौषधं योगे यस्मिन् यत् पुनरुच्यते। मानतो द्विगुणं प्रोक्तं तद् द्रव्यं तत्त्वदर्शिभिः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।५२।

विषपीतदष्टविद्धेष्वेतद्दिग्धे च वाच्यमुद्दिष्टम् । सामान्यतः पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृणु यथावत् ॥

सामान्य चिकित्सा का उपसंहार—जिन व्यक्तियों ने स्थावरविषों को पी लिया हो, जिन्हें विषैले प्राणियों ने डस लिया हो, विष में बुझाये हुए शस्त्रों द्वारा जिन्हें आघात लग गया हो या वस्त्र आदि पर जो विष का लेप कर दिया गया हो, इन विषयों के लिए जो इस प्रकरण में कहना था, वह सामान्यरूप से कह दिया गया है। अब इसके आगे उनके लिए जिस विशेष चिकित्सा का निर्देश किया जायेगा, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः ।
आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत ॥ १०६ ॥

राजाश्रित पुरुषों की परीक्षा—राजा को शत्रु से सम्बन्धित अपने व्यक्तियों से तथा स्त्रियों से सदैव आहार-विहार सम्बन्धी कार्यों में भय बना रहता है, अतः उसे चाहिए कि वह अपने भृत्यवर्ग की सदा परीक्षा करता रहे।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता का कल्पस्थान अगदतन्त्र ही है। देखें—'अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च'। सु० सू० अ० १।६। सुश्रुत के इस स्थान में विषों की कल्पना की गयी है, अतः यहाँ इसे कल्पस्थान कहते हैं। इसके प्रथम अध्याय में उन सभी विषयों का विचार किया गया है, जो-जो राजा को हानि पहुँचा सकते हैं और जिनसे राजा को सावधान रहना चाहिए। किस प्रकार

सावधान रहा जा सकता है, इसका भी विशद वर्णन सुश्रुत-कल्पस्थान के अन्नपानरक्षाकल्प नामक प्रथम अध्याय में किया गया है।

सेवकों की परीक्षा—राजा के भय से, शीघ्रता के कारण अथवा उसकी आज्ञा से पराधीन होकर कभी सज्जन भी असज्जनों की सी चेष्टा कर बैठते हैं, इसलिए इनकी परीक्षा आदर तथा मधुर व्यवहार के साथ करे, तभी वह सही निर्णय ले सकता है। देखें—सु० क० अ० १।२३-२४।

स्त्रियों से सावधान—स्त्रियों के माध्यम से विविध प्रकार के विष-प्रयोग देखे तथा सुने जाते हैं। विषकन्याएँ अनेक प्रकार की होती हैं, इनका सम्पर्क घातक होता है। ज्योतिष में वैधव्यकारक ग्रहों से युक्त कन्या को भी विषकन्या कहा है। उपदंश आदि संक्रामक रोगों से पीड़ित कन्या (स्त्री) भी विषकन्या ही है। महर्षि चाणक्य ने पर्वतेश्वर को विषकन्या प्रयोग से ही मरवाया था।

अत्यर्थशङ्कितः स्याद् बहुवागथवाऽल्पवाग्विगतलक्ष्मीः ।
प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः ॥ १०७ ॥

विषदाता की पहचान—जो पुरुष विष देने जाता है, या विष दे देता है, वह अत्यन्त शंकित स्वभाव का होता है। वह या तो अधिक बोलता है अथवा बहुत कम बोलता है, उसका चेहरा उदास-सा प्रतीत होता है। उसकी प्रकृति में विकार आ जाता है; जैसा वह विष देने के पहले तक था वैसा उसके बाद नहीं लगता है। इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति को ही विषदाता समझना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत क० अ० १।१८-२२ तक के श्लोकों को अवश्य पढ़ें, क्योंकि आपको विषदाता के अनेक नये लक्षण इसमें मिलेंगे और उसको पहचानने में सहायता करेंगे। सुश्रुत ने इस प्रकार के अपराधियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत अच्छे ढंग से किया है।

दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं कुर्यात् [1]तदन्नमग्नौ तु ।
सविषं हि प्राप्यान्नं बहून् विकारान् भजत्यग्निः ॥ १०८ ॥
शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णा[2]क्षमरूक्षकुणपधूमश्च ।
स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च स्यात् ॥ १०९ ॥

विषाक्त अन्न की परीक्षा—रसोईघर के व्यक्तियों या परोसने वालों के उपर्युक्त लक्षणों को देखकर सहसा अन्न का सेवन नहीं करना चाहिए। अपितु भोजन के लिए आये हुए उस अन्न की परीक्षा अग्नि में डालकर कर लेनी चाहिए। यदि वह विष युक्त अन्न है तो आग में डालने पर अग्नि का स्वरूप विकृत हो जाता है। मोर के पंख की चन्द्रिका के सदृश विचित्र उसकी लौ दिखलायी देने लगती है, उसका धुआँ तीक्ष्ण, असह्य, रूक्ष, सड़ाँध से युक्त होता है, अग्नि में फूटने की सी चट-चट आवाज होती है, एक लौ-सी निकलकर फिर वह बुझ जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत में कहा गया है—जब राजा अपने उस जहरीले भोजन में से कुछ ग्रास निकाल कर नीचे रख देता है, तो उसे जो खाते हैं, वे मक्खी, कौए आदि तत्काल वहीं मर जाते हैं। उसमें से कुछ अंश अग्नि में डालना चाहिए, उससे भी विष की परीक्षा होती है। कुछ अंश पालतू पक्षियों को देना चाहिए, उनसे विभिन्न प्रकार के समाधान मिलते है। अतः आप देखें—सु० क० अ० १।२८-३३। घर में पाले हुए प्राणी आपकी सदैव सहायता करते हैं। आज भी मकान बनाते समय कबूतरों के लिए घर के छज्जों पर स्थान बनाये जाते हैं।

गृहस्थ कभी भी केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाता है, उसे सबसे पहले अग्नि पर चढ़ाया जाता है, गोग्रास दिया जाता है, पशु-पक्षियों का भी उसमें हिस्सा होता है, अतिथि का तो उस पर पूर्ण अधिकार ही होता है। इन सबको देकर खाने पर धार्मिक लाभ तथा स्वास्थ्यलाभ भी होता है। आज के वैज्ञानिक युग में ये धार्मिक कृत्य उपहासास्पद हो गये हैं।

---

१. 'तदग्रमग्नौ तु' इति पा०।
२. 'तीक्ष्णाक्षमकुणपगन्धिश्च' इति 'तीक्ष्णः सरूक्षकुणपगन्धिश्च' इति च पा०।

पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकाश्च मारयति ।
क्षामस्वरांश्च काकान् कुर्याद् विरजेच्चकोराक्षि ॥ ११० ॥

विषयुक्त अन्न के लक्षण—थाली में परोसा हुआ विषयुक्त भोज्य पदार्थ का स्वाभाविक रूप नहीं रह जाता। उस पर बैठी हुई मक्खियाँ मर जाती हैं। यदि उस अन्न को कौवा देख ले अथवा खा ले तो उसका स्वर रूखा-सूखा हो जाता है। यदि चकोर उस अन्न को खा लेता है तो उसकी आँखें लालवर्ण की हो जाती है।

पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वां च नेक्षते छायाम् ।
पश्यति विकृतामथवा लवणाक्ते फेनमाला स्यात् ॥ १११ ॥

विषयुक्त पेयद्रव्य-परीक्षा—पानी, दूध आदि में यदि विष मिला होता है, तो उसमें नीले वर्ण की रेखाएँ दिखलायी देती हैं। उस पेय द्रव्य का स्वाभाविक वर्ण नष्ट हो जाता है। उस जल में यदि आप अपनी छाया देखना चाहेंगे तो वह दिखलायी नहीं देती है। यदि दिखलायी देगी भी तो वह वास्तविक नहीं अपितु विकृत दिखलायी देगी। यदि पेय पदार्थ नमकीन हो तो और उसमें विष मिला दिया गया हो तो उसमें झाग उठ आयेगी।

वक्तव्य—सभी प्रकार के द्रव (जलीय) द्रव्यों (पानीय, क्षार, मद्य, जल आदि) में विष की मिलावट कर देने पर अनेक प्रकार की रेखाएँ दिखलायी देने लगती हैं, उसमें झाग तथा बुलबुले उठने लगते हैं। उन जलीय द्रव्यों में या तो छायाएँ दिखलायी नहीं देती और यदि दिखलायी भी देती हैं, तो वे यमल (जुड़वाँ जैसी), बीच में छेद वाली, पतली अथवा विकृत स्वरूप वाली होती हैं। अर्थात् वास्तविक स्वरूप के उसमें दर्शन नहीं होते हैं। देखें—सु० क० अ० १।४४-४५ ।

पानान्नयोः सविषयोर्गन्धेन शिरोरुग्घृदि च मूर्च्छा च ।
स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदाः ॥ ११२ ॥

गन्ध तथा स्पर्श-परीक्षा—विष युक्त अन्न (आहार-द्रव्य), पान (पेय-द्रव्य) में स्वाभाविक गन्ध नहीं होती, यदि इसकी गन्ध सुँघायी पड़ जाती है तो शिरःशूल होने लगता है, हृदय में पीड़ा और मूर्च्छा हो जाती है। उस अन्न-पान को छू लेने मात्र से हाथों में सूजन, अंगुलियों में संज्ञा-शून्यता, दाह, सुई चुभाने की-सी पीड़ा होती है और नख टूट कर गिरने लगते हैं।

[1]मुखगे त्वोष्ठचिमिचिमा जिह्वा शूना जडा विवर्णा च ।
द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः ॥ ११३ ॥

विपाक्त अन्न-भक्षण के लक्षण—यदि इतनी सावधानी के बाद भी विष युक्त अन्न का भक्षण कर लिया गया हो तो होंठो में चिमचिमाहट, जीभ में सूजन, जड़ता (स्वाद-ग्रहण करने की शक्ति का समाप्त हो जाना), स्वाभाविक वर्ण का न दिखलायी देना, दाँतों का खट्टा हो जाना, हनुस्तम्भ, मुख-प्रदेश में दाह का होना, मुख से लार का चूते रहना तथा गले के रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—कुछ व्यक्ति ग्रास (कौर) को मुख में डालकर सीधा निगल जाते हैं, न दाँतों को पता लगता और न जीभ को। यह क्रम स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। अतः मुख के जिन-जिन अंगों के साथ उस विषैले अन्न-पान का स्पर्श होता है, वे सभी उससे प्रभावित हो जाते है, जिनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है। भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को बतलाया है, कि यदि मनुष्य अज्ञानतावश या आलस्य के कारण विषयुक्त अन्न को खा लेता है, तो उसकी जीभ अष्ठीला (पत्थर) की भाँति कड़ी होकर रसज्ञान से शून्य (रहित) हो जाती है। अतः उसे मीठा, नमकीन आदि रसों का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसमें चुभने की-सी पीड़ा तथा जलन होती है। मुख से लार चूने लगती है। देखें—सु० क० अ० १।३८-३९ ।

आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः । दृष्टिहृदयोपरोधो बिन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥

१. 'मुखताल्वोष्ठचिमिचिमा' इति पा० ।

आमाशयगत विष-लक्षण—जब भोजन द्वारा विष का प्रवेश आमाशय में हो जाता है तो शरीर का वर्ण अस्वाभाविक हो जाता है, पसीना आने लगता है, अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ जाते हैं तथा क्लेद (कफ जनित क्लिन्नता) का ऊपर की ओर प्रवृत्त होना अर्थात् जी मिचलाना, आँखों से ठीक-ठीक न दिखलायी देना, हृदय की गति में रुकावट का आना, शरीर के ऊपर सैकड़ों बूँद-बूँद जैसी फुन्सियों की उत्पत्ति का होना, ये लक्षण दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—विष अग्नितत्त्व-प्रधान द्रव्य होता है, अतएव ये लक्षण दिखलायी देते हैं। महर्षि सुश्रुत ने आमाशयगत विष के ये लक्षण दिये हैं—'मूर्च्छा, छर्दि (वमन), अतिसार, आध्मान (अफारा या पेट का फूलना), दाह, शरीर में कम्पन, इन्द्रियों में विकृति का आ जाना। देखें—सु० क० अ० १।४० । यहाँ चरकोक्त लक्षणों से सुश्रुतोक्त लक्षण उग्रतर हैं। इसमें कारण यह है कि चरक ने विषयुक्त भोजन के आमाशय में पहुँचने पर होने वाले लक्षणों का परिचय प्रस्तुत किया है, किन्तु सुश्रुत ने विषपीत पुरुष के लक्षणों का वर्णन किया है, अतएव उनमें चरकोक्त लक्षणों की अपेक्षा तीव्रता दिखलायी देती है, जो स्वाभाविक ही है।

पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात् ॥

पक्वाशयगत विष के लक्षण—यदि विषयुक्त आहार द्रव्य आमाशय से आगे पक्वाशय में पहुँच जाय तो मूर्च्छा, मद (नशा की-सी स्थिति का होना), मोह (बेहोशी), सम्पूर्ण शरीर में दाह, बल का नाश, ये लक्षण होते हैं और तन्द्रा (उँघाई), कृशता (दुर्बलता), शरीर के अवयवों में पीलापन, ये लक्षण उदर में विष के पहुँचने पर होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार पक्वाशयगत विष के निम्न लक्षण होते हैं—'दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णा-मिन्द्रियवैकृतम्। आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम्' ॥ सु० क० अ० ४०।४२ । यहाँ पक्वाशय और उदरगत विष के भिन्न-भिन्न लक्षणों की चर्चा की गयी है। जैसे—**पक्वाशयं तु याते विषे, उदरस्थे विषे।** तदनुसार श्लोक के पूर्वार्ध में पक्वाशयगत विष के लक्षण और उत्तरार्ध में उदरस्थ विष के लक्षण दिये गये हैं।

अब हम इस प्रसंग में पक्वाशय और उदर की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं—'श्वसनान्नविपचनशोणित-संवहनादिक्रियाकरा बहवः। तेषां तिसृषु गुहास्ववस्थानम्। तास्तु यथा—शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा चेति'। प्रत्यक्षशारीरे द्वितीयोऽध्यायः। अन्यत्र नाभिस्तनमध्यभाग को उदर की संज्ञा दी गयी है। श्रीनरहरिपण्डित ने उदर के ये पर्याय दिये हैं—'कुक्षिः पिचण्डो जठरं तुन्दं स्यादुदरञ्च तत्'। रा० नि० व० १८।६३ ।

आमाशय-परिचय—भोजन कर लेने पर आहारद्रव्य आमाशय में आकर रुकता है। कुछ समय के बाद वह अन्त्र में जाने लगता है। **पक्वाशय**—'पक्वस्य जातपाकस्य आहारसमूहस्य य आशयः, स पक्वाशयः'। इसके आगे जब पका हुआ आहारद्रव्य अन्त्र में जाता है, तो वहाँ वह रुकता नहीं, अतः इस क्षुद्रान्त्र को न आशय माना जाता है और न मानना ही चाहिए, क्योंकि यह आगे जाकर मलाशय में ही रुकता है।

ग्रहणी-परिचय—'षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणीत्यभिधीयते' ॥ भा० प्र० गर्भप्रकरण २।२०४ । सुश्रुत के अनुसार—'षष्ठी पित्तधरा, या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति'। सु० शा० अ० ४।१८ । अर्थात् आमाशय से निकलकर पक्वाशय में जाने के लिए जो अन्न-पान को धारण करती है, उसे ग्रहणी नामक कला कहते हैं। इस प्रकार पक्वाशय से ग्रहणी तथा क्षुद्रान्त्र का एवम् उदर से बृहदन्त्र का ग्रहण कर लेना चाहिए, यह यहाँ का समाधान है।

दन्तपवनस्य कूर्चो[1] विशीर्यते दन्तौष्ठमांसशोफश्च ।
केशच्युतिः शिरोरुग्ग्रन्थयश्च सविषेऽथ शिरोभ्यङ्गे ॥ ११६ ॥

विपाक्त दातौन-प्रयोग के लक्षण—दातौन में यदि विष का संयोग किया गया हो तो उसकी कूची स्वयं टूटने लग जाती है, दाँतों के मसूड़ों तथा मांस में सूजन आ जाती है।

विपाक्त अभ्यंग-प्रयोग के लक्षण—अभ्यंग में यदि विष का मिश्रण किया गया हो तो बाल झड़ने लगते हैं, शिर में शूल हो जाता है और शिर में छोटी-छोटी गाँठे पैदा हो जाती हैं।

१. 'विशिरश्च कूर्च इत्यत्र कूर्चः कङ्कतिका, विशिरस्तु दीपदन्तकः, विशिरः शीर्णशिर इत्यन्ये' इति पा० ।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में सुश्रुत का मत देखें—'विशीर्यंते कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे। जिह्वादन्तौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते' ॥ सु० क० अ० ४०।४८ ॥ इस प्रकार विषयुक्त दातौन के लक्षणों का वर्णन कर आगे विषयुक्त अभ्यंग-प्रयोग के लक्षणों का निर्देश किया जा रहा है—'पिच्छिलो बहुलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः। स्फोटजन्मरुजास्रावत्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः ॥ दरणं चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते'। सु० क० अ० ४०।५१-५२।

दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहस्रावातुपदेहशोथरागाश्च। खाद्यैरादौ कोष्ठः स्पृश्यैस्त्वग्दूष्यते दुष्टैः ॥११७॥

विषयुक्त अंजन-प्रयोग के लक्षण—यदि विषयुक्त अंजन का प्रयोग आँखों में हो जाता है, तो आँखों में दाह, आँसुओं का निकलना, आँखों में उपदेह (कीचड़) का उत्पन्न होना, सूजन तथा लालिमा पैदा हो जाती है। यदि विष को खाद्य पदार्थों में मिलाकर दे दिया जाता है, तो कोष्ठ में विकार आ जाता है और विषयुक्त पदार्थों का स्पर्श हो जाने पर उस स्थान की त्वचा में विकृति आ जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार—'अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः। अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि च' ॥ सु० क० अ० ४०।६९। चरक के अतिरिक्त इन्होंने दृष्टिविभ्रम (आँखों का चौंधिया जाना), वेदना और आन्ध्य (आँखों से न दिखलायी देना) ये तीन लक्षण अधिक बतलाये हैं।

स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः। कण्ड्वर्तिकोठपिडकारोमोद्गमचिमिचिमा शोथाः॥

विषयुक्त जलादि प्रयोग के लक्षण—स्नान के लिए रखे हुए जल में, अभ्यंग (मालिश) के तेल में, उत्सादन (उबटन) में, वस्त्रों में, अलंकारों (आभूषणों) में, वर्णक (वर्ण को सुरूप बनाने वाले उपादानों—क्रीम, पाउडर, लिपिस्टिक, काजल आदि) में यदि विष मिला दिया गया हो तो खुजली, पीड़ा, कोठ (चकत्ते), फोड़े, रोमांच, पूरे शरीर में चुनचुनाहट तथा सूजन ये लक्षण हो जाते हैं।

वक्तव्य—ऊपर ११६ वें पद्य के उत्तरार्ध में जो विषयुक्त अभ्यंग-प्रयोग के लक्षण मूल तथा वक्तव्य में तन्त्रान्तर से कहे गये हैं, उन सबको यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

एते करचरणदाहतोदक्लमाविपाकाश्च। भूपादुकाश्वगजवर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ॥११९॥

विषयुक्त भूमि आदि प्रयोग के लक्षण—भूमि, पादुका (खड़ाऊँ, जूता, चप्पल आदि), अश्व (घोड़ा) की पीठ, हाथी की पीठ, वर्म (कवच या जिरहवख्तर), केतु (ध्वजा), शयन (बिस्तर, चारपाई, चौकी आदि), आसन (बैठने की गद्दी) ये जब विष से युक्त होते हैं या कर दिये जाते हैं और इनका शरीर के किसी अंग से स्पर्श हो जाता है, तो हाथ-पैरों में दाह, सुई चुभाने के समान कष्ट, क्लम (सुस्ती) और अविपाक (भोजन का न पचना) ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा अनूदित संस्करण की टिप्पणी में उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में दो प्रकार के पाठभेद दिये हैं—१. 'एते च करचरणतोददाहक्लमाविपाकाश्च'। ग०। २. 'एते करचरणदाहतोदक्लमाङ्गविपाकाश्च', पा०। इस प्रथम पाठ को निर्णयसागरीय प्रति ने सादर उद्धृत किया है। इसी के अनुसार ऊपर अर्थ भी किया गया है। अब शेष रहते हैं दो पाठ १. जो श्रीजयदेव ने उद्धृत किया है—'क्लमा विपाकाश्च'। क्लम और विपाक (पकना), २. 'क्लमाङ्गविपाकाश्च', क्लम और अङ्गविपाक (अंगों का पकना)। हमारे विचार से इन दोनों पाठों को एक ही मानना चाहिए, क्योंकि पाठभेदों का संग्रह अर्थवैशिष्ट्य को सूचित करने के लिए किया जाता है। अब ध्यान देने योग्य विषय यह है—**'क्लमा विपाकाश्च'** इस पद्यांश को समस्त रूप में लिखने से इसका अर्थ वही होगा जो हमने ऊपर टीका में दिया है और असमस्त रूप में (क्लमा विपाकाश्च) लिखने से जो अर्थ की भिन्नता आयेगी, वह भी इसी वक्तव्य में निर्दिष्ट है।

निष्कर्ष—यदि हम अपनी ओर से उक्त विषैली वस्तुओं से शोथ होने की कल्पना करते हैं, तब तो पाक वाला अर्थ भी संगत हो जाता है। यदि हम केवल निर्णयसागरीय पाठ का ही आदर करते हैं तब शेष सब को विपजुष्ट या विषदुष्ट समझकर त्याग देना होगा। कुछ टीकाकारों ने उक्त पद्य द्वारा निर्दिष्ट न होने पर भी शोथ की सत्ता को तो स्वीकार किया है, किन्तु उन शोथों को अविपाकी (न पकने वाला) कहा है।

उन प्राणियों पर भी इस विष-प्रयोग का प्रभाव पड़ता है, जो वाहन के लिए उपयोग में लाये जाते हैं। यथा—'अस्वास्थ्यं कुञ्जरादीनां लालास्रावोऽक्षिरक्तता। स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु यातुश्च स्फोटसम्भवः ॥ तत्राभ्यङ्ग-

वदेवेष्टा यातृवाहनयोः क्रिया' ॥ सु० क० अ० १।६२। अर्थात् हाथी-घोड़ा आदि वाहनों की पीठ पर विष-प्रयोग करने से उन वाहनों के मुख से लार चूने लगती है और उन प्राणियों की आँखें लाल-लाल हो जाती हैं। उन पर सवार होकर जो यात्रा करता है उसके नितम्ब, गुद, मूत्रमार्ग तथा अण्डकोषों पर फफोले पड़ जाते हैं। इनकी चिकित्सा विषदूषित अभ्यंग के प्रयोग से उत्पन्न विकार की भाँति ही की जाती है। और भी देखें—'क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु शिलातलं तीर्थमथेरिणं वा। स्पृशन्ति गात्रेण तु येन येन गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा। तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च विशीर्यते रोमनखं तथैव' ॥ सु० क० अ० ३।१०-११।

माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजालोमहर्षकरम्।
स्तम्भयति खानि नासामुपहन्ति दर्शनं च धूमः ॥ १२० ॥

विषयुक्त माला-प्रयोग के लक्षण—यदि माला मुरझा जा रही हो, यदि उसके फूलों की स्वाभाविक गन्ध मलिन हो जाती हो, अर्थात् जैसी गन्ध उसकी वास्तविक रूप में होती है, वैसी गन्ध न आ रही हो, सूँघने पर शिर में पीड़ा होती हो, रोमांच होता हो, यदि धूम को सूँघने पर मुख, नाक आदि छिद्रों में जकड़न पैदा हो जा रही हो, नासिका द्वारा गन्धज्ञान न हो और आँखों से दिखलायी न दे रहा हो, तो यह जान लेना चाहिए कि माला, धूम आदि में विष का प्रयोग किया गया है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने उक्त लक्षणों को इस प्रकार दिया है—'गन्धहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत्। जिघ्रातश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने' ॥ सु० क० अ० १।६५। और—'शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्कफसंस्रवः। नस्यधूमगते लिङ्गमिन्द्रियाणां च वैकृतम्' ॥ सु० क० अ० १।६३।

कूपतडागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णं च। पीतं श्वयथुं कोठान् पिडकाश्च करोति मरणं च ॥

विषयुक्त कूपादि के प्रयोग के लक्षण—जिन कूपों या तालावों आदि के जल में विष का प्रयोग कर दिया गया हो तो उनका जल दुर्गन्धित, मैला, विवर्ण (स्वाभाविक वर्ण से विपरीत) दिखलायी देता है। यदि उसे पी लिया जाता है, तो सूजन, शरीर पर चकत्ते, छोटी-छोटी पिड़काएँ उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो जाती है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने विष से दूषित जल का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है—'दुष्टं जलं पिच्छिलमुग्रगन्धि, फेनान्वितं राजिभिरावृतं च, मण्डूकमत्स्यं म्रियते विहङ्गा मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमन्ति। मज्जन्ति ये चात्र नराश्व नागास्ते छर्दिमोहज्वरदाहशोफान्। ऋच्छन्ति तेषामपहृत्यदोषान् दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत' ॥ सु० क० अ० ३।८।

आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि।
कुर्याद् भिषक् चिकित्सां दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ॥ १२२ ॥

इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः--

स्थावरविष-चिकित्सा का उपसंहार—यदि स्थावरविष आमाशय में चला गया हो तो रोगी को वमन कराने चाहिए। यदि विषदोष त्वचा में स्थित हो तो प्रदेह (लेप), सेक (परिषेक) आदि कराना चाहिए (यह विष के बाहरी प्रयोग की चिकित्सा है)। उपर्युक्त वमन आदि का प्रयोग रोग में वात आदि दोषों के बल का विचार करके ही कराना चाहिए। यहाँ तक मूल विष सम्बन्धी विशेषताओं को कह दिया गया है।

--शृणु जङ्गमस्यातः। सविशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम् ॥१२३॥

इसके बाद—जंगम विष के सम्बन्ध में कहा जा रहा है, उसे सुनो। इसी प्रकरण

जङ्गमविष-वर्णन—अब यहाँ से जंगमविषों के सम्बन्ध में कहा जा रहा है, उसे सुनो। इसी प्रकरण में जंगमविषों के भेद एवं उनकी चिकित्सा का भी मैं वर्णन करूँगा। इस समय सबसे पहले सर्पों के सम्बन्ध में मैं कह रहा हूँ।

[1]इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमानिति। त्रयो यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ॥१२४॥

१. 'दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च। सर्पा यथाक्रमम्' इति पा०।

सर्पों के भेद—१. दर्वीकर, २. मंडली और ३. राजिमान्; प्रधानरूप से ये तीन प्रकार के साँप यहाँ स्वीकार किये गये हैं। ये तीनों क्रमशः वात, पित्त, कफदोष को अपने दंश द्वारा प्रकुपित कर देते हैं। यथा—दर्वीकर साँप के काटने से वात का प्रकोप होता है, मंडली सर्प के काटने से पित्त का प्रकोप होता है और राजिमान् सर्प के काटने से कफ का प्रकोप होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार दर्वीकर आदि सर्पों का परिचय यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—प्रधान रूप से सर्प ८० प्रकार के हैं। ये पाँच भागों में विभक्त हैं—१. दर्वीकर, २. मण्डली, ३. राजिमान्, ४. निर्विष, ५. वैकरञ्ज। आकार-भेद से ये पुनः तीन प्रकार के होते हैं—१. दर्वीकर, २. मण्डली, ३. राजिमान्। उनमें दर्वीकर साँप २६ प्रकार के, मण्डली साँप २२ प्रकार के, राजिमान् साँप १० प्रकार के, निर्विष १२ प्रकार के, और वैकरञ्ज ३ प्रकार के होते हैं। चित्रितमण्डलिराजिमान् वैकरञ्ज साँपों से उत्पन्न साँपों की संख्या ७ होती है। यहाँ निर्विष का अर्थ है—अन्य सर्पों की अपेक्षा कम विष वाले। महर्षि सुश्रुत ने कुछ महाप्रभावशाली नागेन्द्र हैं, जो दृष्टिमात्र से सम्पूर्ण जगत् का विनाश कर सकते हैं, उन नागराजों को सादर प्रणाम किया है। वैकरञ्ज सर्पों को वर्णसंकर माना गया है। इनके दंश से दो दोष प्रकुपित होते हैं। वैकरञ्ज सर्पों का वर्णन महर्षि आत्रेय ने नहीं किया है। उन्होंने उपर्युक्त तीन ही साँपों को महत्त्व दिया है। विशेष विवरण के लिए देखें—सु० क० अ० ५ तथा ६ सम्पूर्ण।

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः। बिन्दुलेखविचित्राङ्गः पन्नगः स्यात् तु राजिमान्॥

सर्प-परिचय—जिन सर्पों की करछुल (दर्वी) के आकार का फण होता है, उन्हें दर्वीकर कहते हैं, जिन सर्पों का फण-मण्डल कुछ गोलायी लिये होता है, उन्हें मण्डली कहते हैं तथा जिन सर्पों के शरीर पर बिन्दु और रेखाएँ दिखलायी देती हैं, उन्हीं के मिश्रण से जिनके अंग विचित्र वर्ण वाले होते हैं, उन्हें राजिमान् कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत में उक्त सर्पों का परिचय इस प्रकार दिया है—**दर्वीकर**—'रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः। ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः' ॥ **मण्डली**—'मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः। ज्ञेया मण्डलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः' ॥ **राजिमान्**—'स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः। चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः' ॥ सु० क० अ० ४।२२-२४। सर्पों की सृष्टि का भी विस्तृत इतिहास है। उसके अनेक भेदोपभेद हैं। महाभारत के आदि पर्व में साँपों का प्रशस्त परिचय प्राप्त होता है। इसके लिए संक्षेप में पौराणिक कोश में आये हुए नाग, नागकूट, नागखंड, नागगण, नागगिरि, नागतीर्थ, नागपञ्चमी, नागपुर आदि शब्दों के मूल साहित्य को देखें। मानव जाति की भाँति नाग भी चार वर्णों में विभक्त हैं। देखें—सु० क० अ० ४।२५-२८।

विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादु शीतलम्। विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद् वातादिकोपनम् ॥१२६॥

सर्पविष की विशेषता—दर्वीकार साँप का विष रूक्ष एवं कटु होता है, मण्डली साँप का विष अम्ल और उष्ण होता है और राजिमान् साँप का विष स्वादु (मधुर) और शीतल होता है, यही कारण है कि इनका विष क्रमशः वात, पित्त, कफ को प्रकुपित करने वाला होता है।

वक्तव्य—इनके विष वातादि दोषों के प्रकोपक होते हैं। इसे सुश्रुत ने भी स्वीकार किया है—'कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु। पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥ सु० क० अ० ४।३९। हमारे विचार से ऊपर जो यह कहा गया है कि सर्पों का दंश वातदोष का प्रकोपक होता है, वहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिए, कि सभी प्रकार के दर्वीकर सर्पों का दंश वातदोष-प्रकोपक होता है, क्योंकि प्रकरण दर्वीकर सर्पों का ही है।

दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः। निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः ॥१२७॥

दर्वीकरदष्ट व्यक्ति के लक्षण—यदि दर्वीकर साँप द्वारा दंश किया गया हो, तो दंशस्थान पर काले वर्ण का छोटा-सा घाव होता है। उस स्थान से रक्त नहीं निकलता। दष्टस्थान शोथ के कारण कछुए की पीठ जैसा दिखलायी देता है। इसके काटने से वातव्याधियों की उत्पत्ति होने लगती है।

वक्तव्य—इसके सुश्रुतोक्त लक्षणों को देखने के लिए आप सु० क० अ० ४ गद्य ३७ तथा ३८ का अध्ययन करें।

पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिना कृतः। पीताभः पीतरक्तश्च सर्वपित्तविकारकृत् ॥१२८॥

मण्डलीदष्ट व्यक्ति के लक्षण—मण्डली साँप द्वारा काटा हुआ स्थान चौड़ा, गहरा, सूजन युक्त होता है, वहाँ पर की त्वचा का वर्ण पीताभ या पीला-लाल हो जाता है। यह सभी प्रकार के पित्तविकारों को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—इसके सुश्रुतोक्त लक्षणों को देखने के लिए आप सु० क० अ० ४।३७-३८ का अध्ययन करे।

कृतो राजिमता दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत्।
स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक् श्लेष्मव्याधिसमीरणः ॥ १२९ ॥

राजिमान् दष्ट-व्यक्ति के लक्षण—यदि राजिमान् साँप ने मनुष्य को काटा हो तो वह स्थान पिच्छिल, स्थिर (कुछ समय तक बने रहने) शोथ वाला, चिकना तथा पीले वर्ण वाला होता है। उस दंशस्थान से गाढ़ा रक्त निकलता है। इसके दंश के कारण कफज व्याधियाँ होती हैं।

वक्तव्य—इसके सुश्रुतोक्त लक्षणों को देखने लिए आप सु० क० अ० ४।३७-३८ का अध्ययन करें।

वृत्तभोगो महाकायः श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान्। स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद् विपर्ययात ॥
[1]क्लीबस्त्रसति—

पुरुष-स्त्री-नपुंसक सर्पों की पहचान—जिस सर्प का फण गोल हो, शरीर महान् हो, जो फुँफकारता हो, जिसकी दृष्टि ऊपर की ओर हो, जिसका सिर मोटा हो तथा शरीर सम आकार का हो वह पुरुष सर्प होता है। इनसे विपरीत लक्षणों से युक्त जो हो उसे स्त्री सर्प समझना चाहिए। जो साँप सदा दूसरों से डरता है, आक्रमण नहीं करता उसे नपुंसक समझना चाहिए।

-अधोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते। स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुंसा नरो मतः ॥१३१॥
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीबदष्टं नरं वदेत्। इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंक्लीबनिदर्शनम् ॥१३२॥

दष्ट व्यक्ति के लक्षण—यदि स्त्री जाति के सर्प ने मनुष्य को काटा हो तो उस पुरुष की दृष्टि सदैव नीचे की ओर रहती है, वह पुरुष स्वरहीन हो जाता है, अर्थात् उसका स्वर पहले की भाँति स्पष्ट नहीं होता है। वह काँपता रहता है। यदि पुरुष जाति का साँप मनुष्य को काटता है तो उक्त लक्षणों से सभी विपरीत लक्षण दिखलायी देते हैं। यदि स्त्री तथा पुरुष दोनों के दंशलक्षणों से युक्त दष्ट पुरुष हो तो उसे नपुंसक सर्प से डसा हुआ समझना चाहिए। यहाँ तक साँपों के स्त्री, पुरुष, नपुंसक लक्षणों का परिचय उनके दंशलक्षणों द्वारा कह दिया गया है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने उक्त विषय को संक्षेप में इस प्रकार कहा है—'पुरुषाभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया, सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे, नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति'। सु० क० अ० ४।३८। इसके लक्षणों को अ० सं० उ० अ० ४१।५५-५६ में भी देखें।

पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः। जृम्भाक्रोधोपजिह्वार्तः सूतया रक्तमूत्रवान् ॥१३३॥

गर्भिणी द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण—यदि सर्पिणी गर्भिणी हो और वह काट दे, तो उस व्यक्ति का मुख पाण्डु (पीले) वर्ण का हो जाता है, होंठों में सूजन हो जाती है, आँखों का वर्ण काला पड़ जाता है। यदि सद्यःप्रसूता सर्पिणी किसी को काट देती है, तो उस व्यक्ति को जँभाइयाँ आने लगती हैं, उसको क्रोध आता है, उपजिह्वा (Ranula. देखें—सु० नि० अ० १६।३९) रोग से पीड़ित हो जाता है तथा उस रोगी का मूत्र रक्त मिश्रित निकलता है या मूत्रमार्ग से केवल रक्त ही निकलता है।

वक्तव्य—ऊपर गर्भिणी सर्पिणी तथा प्रसूता सर्पिणी के दंश लक्षणों का परिचय दिया गया है। इस

१. 'क्लीबः, स्त्रस्तस्त्वधोदृष्टिः' इति पा०।

सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार देखें—'गर्भिण्या पाण्डुमुखो ध्मातश्च, सूतिकया कुक्षिशूलार्तः, सरुधिरं मेहति, उपजिह्विका चास्य भवति'। सु० क० अ० ४।३८।

सर्पो गौधेर(य)को नाम गोधायां स्याच्चतुष्पदः। कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः॥

गौधेरक सर्प-परिचय—गोधा (घड़ियाल की मादा) से उत्पन्न चार पैर वाला एक गौधेरक नाम का का साँप होता है। इसके दंश के प्रभाव से वे ही लक्षण होते हैं, जो कृष्णसर्प (दर्वीकर) के दंश लक्षण कहे गये हैं। इसकी अनेक मिश्रित जातियाँ होती हैं।

वक्तव्य—गोधा के पुत्र गौधेरक के चार पैर होते हैं। किन्तु इसे भी सर्पों के साथ परिगणित किया गया है। वृद्धवाग्भट ने इसका वर्णन करते हुए कहा है—'गोधासुतस्तु गौधेरो विषे दर्वीकरैः समः। चतुष्पात्'। अ० सं० उ० अ० ४१।१०। किन्तु इसे चौपाया कहा है। इसी विषय को इन्हीं शब्दों में वाग्भट ने अ० हृ० उ० अ० ३६।७ में दुहराया है। इस प्रकरण में 'व्यन्तर' शब्द का अर्थ 'संकर' किया गया है। पञ्चतन्त्र में प्रयुक्त यह 'व्यन्तर' शब्द भूत-प्रेत का वाचक है। देखें—'व्यन्तरान् विद्यादेतेषामेव सङ्करात्। व्यामिश्रलक्षणास्ते हि सन्निपातप्रकोपणाः'॥ अ० सं० उ० अ० ४१।११। ये व्यन्तर (दोगले) सर्प पापी प्रवृत्ति के होने से रास्ता रोककर पड़े रहते हैं और जो प्राणी उस ओर से निकलता है, उसे डस लेते हैं। देखें—'व्यन्तरः पापशीलत्वान्मार्गमावृत्य तिष्ठति'। अ० सं० उ० अ० ४१।३५।

दोगले साँप—'वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः'। तद्यथामाकुलिः पोटगलः स्निग्धराजिरिति। तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः, राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः, कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद् विषोत्कर्षो, द्वयोर्मातृवदित्येके'। सु० क० अ० ४।३४।

गोनस सर्प की उत्पत्ति—'गोनसा घर्मतप्तानां गवां नासासमुद्भवाः'। अ० सं० उ० अ० ४१।१९। अर्थात् गोनस नामक सर्प वे हैं, जो घाम से संतप्त गायों की नासिका से निकलते हैं। इनकी आयु ५०० वर्ष की होती है। सुश्रुत के अनुसार ये मण्डली सर्प की जाति के माने गये हैं।

गूढसम्पादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम्। सर्पितं च भृशाबाधं, दंशा येऽन्ये न ते भृशाः॥

गूढसंपादित दष्ट लक्षण—जो दंश भीतर तक पहुँचा दिया गया हो, गोल आकार वाला हो, जो भीतर की ओर दबा हुआ प्रतीत हो, जिसपर साँप के दाँत (दाढ़) का चिह्न बना हुआ हो और जो सर्पित के लक्षण से युक्त हो, ये दंश जितने कष्टकर होते हैं, दूसरे दंश इस प्रकार के कष्टदायक नहीं होते।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'गूढसम्पादित' के आशय को स्पष्ट करने के लिए 'गाढसम्पादितम्' यह पाठ बदल दिया है जो ठीक ही है, अन्यथा 'गूढ' का अर्थ 'गुप्त' तो होता ही है। जो दंश भीतर तक जाने से गुप्त हो गया हो, ऐसा अर्थ किया ही जा सकता है। 'गाढ' का अर्थ तो दृढ, गहरा और घुसा हुआ होता है। अस्तु। उपर्युक्त लक्षण प्रायः असाध्यता की सूचना देते हैं।

सुश्रुत के अनुसार तीन प्रकार के सर्पदंश होते हैं, कुछ एक भेद और भी कहे हैं, यथा—'सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम्। सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः'॥ सु० क० अ० ४।१४। इसके आगे ५२ श्लोकों में इनके स्वरूपों का वर्णन किया गया है। साँप के ऊपर जबड़े में दो दाढ़ें होती हैं—एक दाहिनी ओर दूसरी बायीं ओर। इसका अगला भाग कुछ झुका हुआ एवं नोकदार होता है, सर्प इन्हीं से डंक मारता है। सर्पाङ्गाभिहत दंश प्रकार का वर्णन महर्षि आत्रेय ने आगे 'दुरन्धकारे···एतच्छङ्काविषं मतम्' (इसी अध्याय के २२१वें) श्लोक द्वारा किया है। साध्य तथा असाध्य की दृष्टि से 'सर्पित' को असाध्य माना गया है, शेष सभी को समय रहते चिकित्सा कर लेने पर साध्य बतलाया है।

तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा। राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः॥

आयु के अनुसार विष का प्रभाव—काले सर्प (दर्वीकर) अपनी तरुण अवस्था में, गोनस नामक सर्प स्थविर (वृद्ध) अवस्था में और राजिमान् सर्प मध्यम अवस्था में आशीविष के समान अत्यन्त विषैले होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर कृष्णसर्प शब्द दर्वीकरों के अर्थ में और गोनससर्प मण्डली सर्पों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सुश्रुत-कल्पस्थान अ० ४ के ३४वें गद्य में दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज साँपों के भेद गिनाये गये हैं। दर्वीकार साँपों में ही आशीविष सर्प की भी गणना की गयी है। अमरकोष के टीकाकार श्रीभानुजि दीक्षित लिखते हैं—'आशीस्तालुगता दंष्ट्रा तया विद्धो न जीवति'। अर्थात् उस प्रकार के विषवाला एक साँप। सुश्रुत के अनुसार—'दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा। राजिमन्तो वयोमध्ये जायन्ते मृत्युहेतवः'॥

सर्पों का विषवृद्धि काल—दर्वीकर नामक सापों का विष तरुण अवस्था तथा वर्षाकाल में, मण्डली नामक साँपों का विष मध्य आयु एवं शीतकाल में, राजिमान् नामक साँपों का विष वृद्धावस्था और उष्णकाल में तथा संकर जाति के साँपों का विष ऋतुसन्धियों में बढ़ता है। यह मत वृद्धवाग्भट का है, जो चरक तथा सुश्रुत से विरोध रखता है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४१।७। दोनों मान्य एवं आद्य संहिताकारों के मत से इनका मत विरुद्ध तो नहीं होना चाहिए। आप इस तालिका का अवलोकन करें—

सर्प-विष-वृद्धि-अवस्था

संहिता	दर्वीकर सर्प	मण्डली सर्प	राजिमान् सर्प
चरक	तरुणावस्था	वृद्धावस्था	मध्यम वय
सुश्रुत	तरुणावस्था	वृद्धावस्था	मध्यम वय
वृद्धवाग्भट	तरुणावस्था	मध्यम वय	वृद्धावस्था

क्या **'तारुण्यमध्यवृद्धत्वे'** के स्थान पर कहीं ऐसा पाठ तो नहीं रहा—**'तारुण्यवृद्धमध्यत्वे'**, अथवा तरुण, मध्य (यौवन), वृद्ध—इस प्राकृतिक क्रम को ध्यान में रखकर ऐसी रचना की गयी हो। विद्वान् विचार करें और विषवैद्य निर्णय दें।

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधरासिता। पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा [1]रक्तश्यावाऽधरोत्तरा॥१३७॥

साँप की चार दाढ़ें—साँप के मुख में चार प्रकार की दाढ़ें होती हैं। इनमें जो वामभाग में नीचे की ओर होती है, वह काली होती है। ऊपर के वामभाग में होने वाली दाढ़ पीली होती है। दाहिनी ओर की निचली दाढ़ लाल होती है तथा उपरी भाग में स्थित दाहिनी ओर की दाढ़ श्याव (गहरे भूरे) रंग की होती है।

यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात् सलिलोद्धृतात्। वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहेर्विषम्॥

एकद्वित्रिचतुर्वृद्धविषभागोत्तरोत्तराः। सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः॥१३९॥

सर्पविष की मात्रा—गाय की पूँछ का एक बाल पानी में डालकर उठाने से उसमें से पानी की जितनी बूँद गिरती है, उतना ही विष साँप के बाँये भाग की निचली दाढ़ में होता है। इसी क्रम से सर्प की अन्य दाढ़ों में एक, दो, तीन, चार भाग विष अधिक होता है, अर्थात् इस प्रकार उसकी प्रत्येक दाढ़ में उत्तरोत्तर एक-एक बूँद विष अधिक होता है। साँप द्वारा किये हुए दंश उस-उस दाँत (दाढ़) के वर्ण के सदृश हो जाते हैं। उपर्युक्त दाँतों के विष के क्रम से इनके दंश कष्टदायक होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर १३७ वें पद्य में साँप के चार दाँतों के वर्णों का परिचय दिया गया है। उक्त दो श्लोकों में उन दाँतों में विष की मात्रा का निर्देश किया है तथा उसी क्रम से उनके विषों की तीव्रता का वर्णन किया गया है। वृद्धवाग्भट ने भी इसका वर्णन किया है—'वामाधराऽसिता पीता तदूर्ध्वा दक्षिणात्वधः। रक्ताश्यावोत्तरैकद्वित्रिचतुर्विषविन्दुकाः॥ ताः क्रमान्मुद्गमात्रोऽत्र बिन्दुः'। अ० सं० उ० अ० ४१।१७। इन्होंने जो उस बिन्दु को मूँग के बराबर कहा है, वह तौलने में नहीं, अपितु देखने में है।

विशेष—दंश या दष्ट (डसे हुए) स्थान में साँप के दाँत का वह वर्ण तभी तक दिखलायी देता है, जब तक वह विष शरीर में न फैल जाय। अतः यह परीक्षण शीघ्र ही कर लेना चाहिए। इस परीक्षण से साध्य-असाध्य का निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

सर्पाणामेव विण्मूत्रात् कीटाः स्युः कीटसम्मताः। दूषीविषाः प्राणहरा इति सङ्क्षेपतो मताः॥

---

१. 'रक्तश्यावेऽधरोत्तरे' इति 'रक्तश्यावे तथाऽपरे' इति च पा०।

कीटों की उत्पत्ति तथा भेद—साँपों के ही मल-मूत्र से जिन कीटों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकरण में उन्हीं को कीट कहा गया है। उन कीटों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है। वे कीट नाम भेद से दो प्रकार के होते हैं—१. दूषीविष कीट और २. प्राणहर कीट।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान के आठवें अध्याय का नाम 'कीटकल्प' है। इसमें उन कीटों का प्रमुख रूप से वर्णन है, जो विषैले होते हैं। यही कारण है कि सामान्य जनता साँप को भी कीड़ा कहती है। अतः कीटविष के सर्वांगीण परिचय के लिए इस अध्याय का अवलोकन अवश्य करें।

सुश्रुत के अनुसार—'सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसम्भवाः। वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः॥ सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः। कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः सर्व एव चतुर्विधाः' ॥ सु० क० अ० ८। ३-४। चरक में साँपों के मल-मूत्र से कीटों की उत्पत्ति लिखी है, किन्तु सुश्रुत में शुक्र, मल-मूत्र, शव, पूति अण्ड इनसे भी कीटों की उत्पत्ति मानी है। आप ध्यान दें—जब कभी कोई साँप को मारकर छोड़ देता है, तो उसमें जो चिउँटियाँ लग जाती हैं, वे यदि काट लेती हैं, तो उनसे भी विष का प्रभाव शरीर में हो जाता है और उस साँप के शरीर के सड़ जाने पर उससे उत्पन्न कीड़े तो जहरीले होते ही हैं। उक्त चार प्रकार के कीटों के आगे चलकर वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज भेद से क्रमशः २४+१८+१३+१२=६७ भेद होते हैं। इस दृष्टि से महर्षि आत्रेय द्वारा किया गया कीट-विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी व्यापक दृष्टिकोण से युक्त है।

गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम्। सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात् कुथितं तथा॥
कीटैर्दूषीविषैर्दष्टं—

दूषीविषकीट-दष्ट के लक्षण—शरीर के जिस अवयव पर दूषीविष कीट काटता है, वह अवयव लाल, सफेद, काला अथवा श्याव (गहरे भूरे) रंग का हो जाता है। वहाँ अनेक पिड़काएँ (फुन्सियाँ) पैदा हो जाती हैं और उस स्थान पर खुजली, दाह, विसर्प होकर वे पिड़काएँ पकने वाली होती हैं तथा वह स्थान सड़ जाता है।

—लिङ्गं प्राणहरं शृणु। सर्पदष्टे यथा शोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक् ॥१४२॥
दंशोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा स रुगार्तः श्वसित्यपि। तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद् दूषीविषार्दितः ॥१४३॥

प्राणहरकीटदष्ट के लक्षण—अब प्राणहर कीट के लक्षणों को सुनो। जिस प्रकार साँप के काटने से शरीर में सूजन बढ़ने लगती है, उसी प्रकार प्राणहर कीट के डस लेने पर भी सूजन बढ़ने लगती है। जहाँ वह कीट डस देता है, उस से भयंकर दुर्गन्ध निकलती है। उस दंश के कारण आँखों में भारीपन, मूर्च्छा, शरीर में पीड़ा, साँस लेने में पीड़ा, तृष्णा तथा भोजन के प्रति अरुचि ये लक्षण दिखलायी देते हैं, जिसे दूषीविष कीट द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षणों में आगे कहा जायेगा।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इसके लक्षणों का वर्णन किया है—'वेगाश्च सर्पवच्छोफो वर्द्धिष्णुर्विस्ररक्तता। शिरोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा भ्रमः श्वासोऽतिवेदना' ॥ अ० सं० उ० अ० ४३।१४।

दंशस्य मध्ये यत् कृष्णं श्यावं वा जालकावृतम्।
'दग्धाकृति भृशं पाकि क्लेदशोथज्वरान्वितम् ॥ १४४ ॥
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत्।

दूषीविषलूता-दंश के लक्षण—दूषीविष नामक लूताएँ शरीर के जिस अवयव पर काटती हैं, उस दंश (डंक) के बीच में काला या श्याव (गहरा भूरा) रंग दिखलायी देता है, उसमें सिराओं का जाल बन जाता है। उस स्थान की आकृति आग से जले हुए के सदृश हो जाती है, वह स्थान शीघ्र ही पक जाता है, वहाँ सड़न और सूजन बनी रहती है। कीट दष्ट व्यक्ति को ज्वर हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर उसे दूषीविष लूताओं ने काटा है, ऐसा समझना चाहिए।

१. 'दग्धाकृति भृशं पाकक्लेदकोथज्वरान्वितम्' इति पा०।

वक्तव्य—'लूताभिः दष्टम्', अर्थात् अनेक लूताएँ एक पुरुष को एक साथ नहीं काटती हैं। अतः किसी भी लूता नामक कीट ने यदि काटा हो तो उसमें ये उपर्युक्त लक्षण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। इसके पहले हम दूषीविष तथा प्राणहर कीटों का वर्णन कर चुके हैं। अब यहाँ कीट और लूता में क्या भेद होता है, इसका वर्णन हम सुश्रुत की दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे हैं—'यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः। तस्माल्लूतेति भाष्यन्ते सङ्ख्यया ताश्च षोडश' ॥ सु० क० अ० ८।९३। कीटों की संख्या पहले बतला दी गयी है, लूताओं की संख्या मात्र १६ है। चिकित्सा की दृष्टि से ये दो प्रकार की होती हैं। इनमें प्रारम्भिक ८ कष्टसाध्य होती हैं और शेष ८ असाध्य।

सुश्रुत के मत से ऊपर लूता की उत्पत्ति का संकेत कर दिया गया है। वृद्धवाग्भट ने अन्य दो आचार्यों के मतों का उल्लेख अपनी संहिता में इस प्रकार किया है—१. 'खाण्डवे दह्यमानानामसुराणां शरीरतः। ये स्फुलिङ्गा विनिश्चेरुस्ते लूता इति केचन' ॥ अ० सं० उ० अ० ४४।३। और २. 'अन्ये वदन्ति भुक्तस्य दुष्टस्यान्नस्य दूषणात्। सम्भवन्ति विषस्फोटा ये लूताः...' ॥ अ० सं० उ० अ० ४४।४। आगे चलकर ये कहते हैं—यदि लूताएँ कीटों के लक्षणों से युक्त होती हैं, तो उन्हें कीट भी कहा जा सकता है और यदि कीट लूताओं के लक्षणों से युक्त होते हैं, तो उन्हें लूता भी कहा जा सकता है। विशेष अध्ययन के लिए अष्टाङ्गसंग्रह का ४४वाँ सम्पूर्ण अध्याय देखें।

सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते ॥ १४५ ॥
शोफः श्वेतासिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः।
प्राणान्तिको भवेच्छ्वासो दाहहिक्काशिरोग्रहाः ॥ १४६ ॥

प्राणहर लूताओं के दंश-लक्षण—इन सभी प्रकार की लूताओं के दंश के अनुसार लक्षण यहाँ कहे जा रहे हैं। प्राणहरलूताएँ जिस स्थान पर काटती हैं, उस स्थान पर शोथ हो जाता है, वहाँ सफेद, काली लाल, पीली पिडकाएँ पैदा हो जाती हैं, यह व्यक्ति ज्वर से पीड़ित हो जाता है, उसके श्वास की गति इतनी बढ़ जाती है, मानो मृत्यु ही हो जायेगी तथा श्वास, हिचकी, शिर में जकड़न ये लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः। लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥१४७॥

दूषीविषमूषकदंश-लक्षण—दूषीविष वाला चूहा जिस स्थान पर काटता है, उस स्थान पर पाण्डुवर्ण वाला रक्त निकलता है, उस स्थान पर मण्डल (चकत्ते) पैदा हो जाते हैं, उस व्यक्ति को ज्वर हो जाता है, भोजन में अरुचि, रोमांच, दाह, ये लक्षण आखुविष (चूहे के विष) से पीड़ित व्यक्ति में देखे जाते हैं।

वक्तव्य—जिस प्रकार सर्प दो प्रकार के कहे गये थे, उसी प्रकार चूहे भी सविष और निर्विष भेद से दो प्रकार के होते हैं। कुछ पाठभेद के साथ वाग्भट-युगल ने मूषक विष के सम्बन्ध में वर्णन किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४६।१-९ तथा अ० हृ० उ० अ० ३८।१-७।

दूषीविषमूषकों की १८ जातियाँ—१. लालन, २. चपल, ३. पुत्र या पुत्रक, ४. हशिर, ५. चिक्किर, ६. अजिर, ७. कषायदन्त, ८. कुलक, ९. कोकिल, १०. कपिल, ११. अखित, १२. अरुण, १३. शबल, १४. श्वेत, १५. कपोत, १६. पतितोन्दुरु, १७. छुछुन्दुरु, १८. रसाल। इन चूहों का शुक्र जहाँ लग जाता है या छू जाता है, मनुष्यों का वह अंग विषविकार युक्त होकर वहाँ का रक्त दूषित हो जाता है। शरीर का वह अवयव सफेद हो जाता है, वहाँ शोथ या गाँठ पैदा होकर वह सड़ने लगती है, चकत्ते पैदा हो जाते हैं, भ्रम, अरुचि, शीतज्वर, शरीर में वेदना, ढीलापन, कम्पन, जोड़ों में फटने की-सी पीड़ा, रोमांच, शोथों में से स्राव का निकलना, मूर्च्छा आदि लक्षण देखे जाते हैं।

प्लेग या ग्रन्थिक ज्वर—इसके अन्य अनेक कारणों में एक कारण यह मूषिकविष भी है और वह विष जब एक से दूसरे में फैलने लगता है, तो घातक रूप धारण कर लेता है, यह एक प्रकार का दूषीविष है। इसकी शान्ति के लिए दूषीविष-नाशक उपचार करने चाहिए। यह रोग प्रायः बादलों के छा जाने पर बड़ी तेजी से

बढ़ता है। इस प्रकार के चूहों के शुक्र आदि से रोग फैलने की बात तो ऊपर कही जा चुकी है, इसके अतिरिक्त इसके शरीर में रहने वाले पिस्सुओं के दंश से भी रोग-संक्रमण होते देखा गया है।

सुश्रुत और वाग्भट ने चूहे के शुक्र में ही विष होता है, ऐसा स्वीकार किया है। किन्तु आलम्वायन के अनुसार चूहों के शुक्र, मल, मूत्र, नख तथा दाँतों में भी विष होता है।

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः। शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥१४८॥

मूषिकदंश के असाध्य लक्षण—चूहा के काटने (दंश करने) पर यदि मूर्च्छा, शरीर के अवयवों में शोथ (सूजन), विवर्णता, क्लेद (दंश स्थान पर चिपचिपापन), शब्द का न सुनायी देना, ज्वर, शिर का भारी होना, लार में रक्त का जाना, खून का वमन होना, ये असाध्य लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—चरक ने चूहों को भी कीटों की भाँति दो भागों में विभक्त किया है—१. दूषीविष मूषक और २. प्राणहर मूषक। उक्त असाध्य लक्षण प्राणहर मूषकों के काटने के कारण ही उत्पन्न होते हैं। मूर्च्छा, शरीर में शोथ, विवर्णता, सड़न, दष्टस्थान से पंछा बहना, बहरापन, ज्वर, शिर में भारीपन, रक्त युक्त लार का निकलना, रक्त की उलटी होना, रोगी के शरीर से छुछुन्दर की-सी गन्ध का आना कहीं-कहीं ये लक्षण भी पाये जाते हैं।

श्यावत्वमथ कार्ष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा। मोहः पुरीषभेदश्च दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥१४९॥

छिपकली के दंश का लक्षण—दूषीविष कृकलासक (छिपकली) द्वारा काटा हुआ स्थान श्यावता (गहरा भूरापन) या कालापन अथवा अनेक वर्णों से युक्त हो जाता है। उस व्यक्ति को बेहोशी तथा अतिसार होने लगता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने पाँच प्रकार के गौधेरकों का वर्णन किया है—१. प्रतिसूर्यक, २. पिङ्गाभास, ३. बहुवर्ण, ४. निरुपम, ५. गोधेरक'। सु० क० अ० ८।२८। इनकी चिकित्सा आगे इसी अध्याय के ५६वें पद्य के पूर्वार्ध में दी है। कोषग्रन्थों में प्रतिसूर्यक का पर्याय छिपकली दिया है। छिपकली के विशेषणों पर आप भी ध्यान दें—१. प्रतिसूर्य—प्रायः अँधेरे में रहने वाली, २. पिङ्गाभास—हल्के पीलेवर्ण वाली, ३. बहुवर्ण—देखें मुहावरा—वह व्यक्ति तो छिपकली की तरह रंग बदलता है, ४. निरुपम—रंग बदलने वाले को कौन-सी उपमा दी जाय। ५. गोधेरक—यह भी गोधा के आकार की चार पैरों वाली होती है। इनमें एक छिपकली को **'विषखोपड़ा'** कहा जाता है, निश्चित ही उसे प्राणहर समझना चाहिए।

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च। वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥१५०॥

बिच्छू के दंश का लक्षण—दूषीविष बिच्छू जिस स्थान पर दंश करता है, वहाँ सबसे पहले आग से जले हुए के समान दाह (जलन) होता है। बाद में कोई उस स्थान को फाड़ रहा हो, ऐसी पीड़ा होती है तथा विष का वेग शीघ्र ही ऊपर की ओर जाता है और बाद में काटे हुए स्थान में बहुत समय तक कष्ट बना रहता है।

वक्तव्य—'दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च। याति'। इस अंश का ऊपर जो अर्थ लिखा है, यह वेदना का क्रम बहुत समय तक बड़े वेग के साथ चलता रहता है, यह मेरा अपना अनुभव है। कुछ देर बाद बेहोशी भी आ जाती है। बिच्छू अनेक प्रकार के होते हैं। वेदना का स्वरूप सबका भिन्न-भिन्न होता है। असाध्य वृश्चिकदंश के लक्षण आगे दिये जा रहे हैं।

दष्टोऽसाध्यस्तु [1]दृग्घ्राणरसनोपहतो नरः। मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥१५१॥

असाध्य वृश्चिक दंश के लक्षण—प्राणहर बिच्छू यदि मनुष्य को डस लेता है, तो उस व्यक्ति की दृष्टि, नासिका तथा जीभ अपना-अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं, (पाठभेद के अनुसार—हृदय न कि दृष्टि), जिस स्थान पर बिच्छू दंश किये रहता है, उस स्थान से अधिक मात्रा में मांस कट-कटकर गिरने लगता है तथा काटे हुए स्थान में इतनी अधिक पीड़ा होती है, जिससे दष्ट व्यक्ति अपने प्राणों को छोड़ देता है अर्थात् मर जाता है।

१. 'हृद्घ्राण' इति पा०।

वक्तव्य—सुश्रुत में बिच्छुओं के तीन भेद माने हैं—१. मन्द विष वाले १२ प्रकार के, २. मध्यम विष वाले ३ प्रकार के और ३. उत्तम (तीक्ष्ण) विषवाले १५ प्रकार के, इस प्रकार कुल मिलाकर ये ३० भेद होते हैं। श्रीगयदास के अनुसार इनकी संख्या २७ है—१. प्राणहर १३, २. मध्यम विष वाले ३ तथा ३. मन्द शक्ति वाले ११। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—'गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः। सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसम्भवाः' ॥ सु० क० अ० ८।५७। इनका विस्तृत वर्णन इसी प्रसंग में देखें।

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च। लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते ॥१५२॥

कणभ दंश के लक्षण—यदि कणभ नामक कीट दंश कर देता है, तो उस स्थान के चारों ओर विसर्प, शोथ, शूल हो जाता है और उसे ज्वर तथा वमन होता है। जहाँ दंश किया होता है, उस स्थान का मांस कट-कर क्रमशः गिरने लगता है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'कणभ' का अर्थ 'भौंरा' किया है, किन्तु इसका कहीं कोई आधार मिलता नहीं। एक भ्रामक आधार यह मिला है—'जीरककुम्भीरमक्षिकापिप्पलीषु च'। इति मेदिनी। इसमें कुम्भीर या कुम्भील जिसे 'मगरमच्छ' भी कहते हैं, इसका वाचक 'कण' शब्द है, न कि 'कणभ'। यही स्थिति 'मक्षिका' शब्द के साथ भी है, अस्तु। चक्रपाणि प्रभृति सभी टीकाकारों ने इसे क्रिमि-विशेष ही कहा है। सुश्रुत ने कणभ जाति के चार कीटों का इस प्रकार उल्लेख किया है—'एकजातीनतस्तूर्ध्वं कीटान् वक्ष्यामि भेदतः। सामान्यतो दष्टलिङ्गैः साध्यासाध्यक्रमेण च ॥ त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः। चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥ तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति'। सु० क० अ० ८।२५-२७। तथा इसी अध्याय के श्लोक ८ से ११ तक को भी देखें।

हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्। दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥

उच्चिटिंगदंश के लक्षण—यदि यह कीट किसी व्यक्ति को काट लेता है, तो उसे तत्काल रोमांच हो जाता है, उसकी मूत्रेन्द्रिय जकड़ जाती है, शरीर भर में अत्यन्त पीड़ा होने लगती है। इसका दंश होने पर उस व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि उसके ऊपर किसी ने शीतल जल का सिंचन कर दिया हो अर्थात् उसके अंग-प्रत्यंग शीतल हो जाते हैं।

वक्तव्य—पूर्ववर्ती टीकाकारों ने 'उच्चिटिङ्ग' को 'झींगुर' माना है। कोषकारों के मत से 'उर्च्चिगट' एक तरह का 'केकड़ा', एक तरह की 'झींगुर' है। अतः आप भी विचार कर लें। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में इसके विपरीत वर्णन है, 'उर्च्चिगट' को वे 'तृणगडमत्स्ये' लिखते हैं और 'उच्चिटिङ्ग' को 'A sort of cricket' लिखते हैं, जिसका अर्थ है—'झींगुर' का एक भेद। सुश्रुत-कल्पस्थान अ० ८।५-७ में अठारह प्रकार के वायव्य कीटों का वर्णन आया है, इन्हीं में 'उच्चिटिंग' की भी गणना की गयी है। वृद्धवाग्भट कहते हैं—'उच्चिटिङ्गस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः'। अ० सं० क० अ० ४३।३६। इसकी टीका करते हुए श्री इन्दु लिखते हैं—'उच्चिटिङ्गाख्यो वृश्चिकस्तु वक्त्रेण दशति अधिकव्यथश्च भवति। उच्चिटिङ्ग-परिचय—'वृश्चिकस्तनुदीर्घोच्च उच्चिटिङ्गः स्मृतो बुधैः'। मञ्जरी।

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुक् स्यात् पीतकः सतृट्। छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम् ॥

दूषीविष मेढक के दंश के लक्षण—इस प्रकार के मेढक जब किसी व्यक्ति को काटते हैं, तो उस दंश में एक ही दाँत का चिह्न दिखलायी देता है, दंश स्थान पर शोथ होता है, दंश स्थान पर पीड़ा तथा उसका वर्ण पीला हो जाता है, दष्ट पुरुष को अत्यन्त प्यास लगती है, वमन होते हैं तथा नींद अधिक आती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने आठ प्रकार के मेंढकों का वर्णन किया है। उनके द्वारा किये गये दंश में खुजली होती है, मुख से पीला झाग निकलता है, दोनों भौंहों में दाह होता है, वमन तथा मूर्च्छा ये लक्षण अत्यधिक मात्रा में होते देखे जाते हैं। सु० क० अ० ८।३१।

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहशोफरुजस्तथा । कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥१५५॥

सविष मछलियों के दंश के लक्षण—विषैली मछलियाँ जिस स्थान पर काट काटती हैं, उस स्थान पर दाह, सूजन तथा पीड़ा होती है।

सविष जौंकों के दंश के लक्षण—विषैली जौंकें जिस स्थान पर काटती हैं, उस स्थान पर खुजली तथा सूजन हो जाती है, उनसे डसे हुए पुरुष को ज्वर और मूर्च्छा हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने सूत्रस्थान अ० १३ में जलौकाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। उक्त अध्याय के ११वें गद्य में सविष जौंकों के और १२वें गद्य में निर्विष जौंकों के भेद की विशद चर्चा की है। इन विषैली जौंकों के दंश की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—इनके काटने पर अधिक सूजन, खुजली, बेहोशी, ज्वर, दाह, वमन, मद (नशा) तथा शरीरावयवों में पीड़ा होती है।

दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गृहगोधिका[1] । दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥१५६॥

गृहगोधिका दंश के लक्षण—गृहगोधिका द्वारा किये गये दंश स्थान पर दाह, सुई चुभाने की-सी पीड़ा, पसीना तथा शोथ (सूजन) हो जाता है।

शतपदीदंश के लक्षण—गोजर या कनखजूरा (देखें, कोष : वी० एस० आप्टे) से काटे हुए स्थान पर पसीना, पीड़ा तथा जलन पैदा हो जाती है।

वक्तव्य—'बृहत् हिन्दी कोष' में गृहगोधा या गृहगोधिका का पर्याय छिपकली दिया है और अमरसिंह ने 'कृकलास'; जिसका वर्णन इसी अध्याय के १४९वें श्लोक में किया गया है, को छिपकली कहा है। गृहगोधिका और कृकलास के दंश-लक्षणों में भी पर्याप्त भेद है। अतः इनका गोधेरक के प्रतिसूर्यक आदि भेदों में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जिसे निर्णयसागरीय प्रति में 'गृहगोधिका' नाम से स्वीकार किया है, उसे श्रीजयदेव ने 'गलगोडिका' लिखा है। सुश्रुत ने गलगोली जाति के कीट के छः भेद किये हैं। ल और ड ये वर्ण व्याकरण की दृष्टि से समानार्थक होते हैं। उन्होंने इनके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—'ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति। सर्षपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च, तासु मध्ये सर्षपिका प्राणहरी'। सु० क० अ० ८।२९। इस दृष्टि से गृहगोधिका और गलगोलिका दोनों कीट सर्वथा परस्पर भिन्न हैं। वृद्धवाग्भट ने भी उसे गृहगोधिका कहा है, देखें—अ० सं० क० अ० ४३।२२-२३। किन्तु श्रीजयदेव ने वाग्भटोक्त पाठ में भी 'गृहगोलिकया' पाठ न मालूम किस संस्करण से उद्धृत किया है। श्रीचक्रपाणि ने भी अपना मत न देकर दूसरों के मत का इस प्रकार संग्रह किया है—'गृहगोधिकां ज्येष्ठामित्याहुः, अन्ये तु सरटमित्याहुः।

कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः । असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥१५७॥

विषैले मच्छरों के दंश के लक्षण—विषैले मच्छरों के दंशस्थान में थोड़ा शोथ और थोड़ी वेदना होती है। असाध्य मशकों (मच्छरों) के दंश का प्रभाव प्राणहर कीटदंश के समान ही होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार पाँच प्रकार के मच्छर होते है—१. सामुद्र, २. परिमण्डल, ३. हस्तिमशक, ४. कृष्ण, ५. पार्वतीय। इनके काटने से अत्यधिक खुजली तथा दंशस्थान पर सूजन हो जाती है। पार्वतीय मशक (पहाड़ी मच्छर) प्राणहर कीटों के समान लक्षणों वाले होते है ; देखें—सु० क० अ० ८।३६।

सद्यःप्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता । पीडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥

विषैली मक्षिकाओं के दंश-लक्षण—विषैली मक्खियों के काटने से शीघ्र ही दंशस्थान से स्राव होने लगता है, उस स्थान पर गहरे भूरे रंग की फुन्सियाँ निकल आती हैं, उन पिड़काओं में अधिक मात्रा में दाह होता है। मूर्च्छा तथा ज्वर से दष्ट पुरुष पीड़ित हो जाता है। उक्त मक्खियों में एक स्थगिका नामक मक्खी होती है, जिसके काटने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने क० अ० ८।३५ में मक्खियों के छः भेद किये हैं—१. कान्तारिका, २. कृष्णा, ३. पिंगला, ४. मधूलिका, ५. कषायी, ६. स्थालिका। इनके काटने पर खुजली, सूजन, दाह तथा वेदना होती है।

१. 'विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं तु गृहगोधिका' इति पा०।

कषायी तथा स्थालिका (इसे ही चरक ने 'स्थगिका' कहा है) ये दोनों प्राणनाशक होती हैं। इस प्रसंग में अ० सं० उ० अ० ४३।२५ भी देखें।

श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये । पक्षसन्धिषु मध्याह्ने सार्धरात्रेऽष्टमीषु च ॥१५९॥
न सिद्धयन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च । दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैराशीविषैस्तथा ॥१६०॥
विनश्यन्त्याशु सम्प्राप्ता दष्टाः सर्वेषु मर्मसु ।
(येन केनापि सर्पेण सम्भवः सर्व एव च) ॥ १६१ ॥

विष की असाध्य स्थिति—अब यहाँ स्थान तथा काल विशेष के आधार पर विषैले प्राणियों के काटने पर होने वाली असाध्य स्थिति का वर्णन किया जा रहा है—यदि उपर्युक्त विषैले जन्तु श्मशान, चैत्य (चिता सम्बन्धी, समाधि मन्दिर, गाँव की सीमा पर उत्पन्न बड़ा वृक्ष), वल्मीक, यज्ञाश्रम, देवालय इन स्थानों में, पक्ष की सन्धियों, मध्याह्न काल, अर्धरात्रि, सभी अष्टमी तिथियों, इन कालों में विषैले प्राणियों द्वारा काटे गये व्यक्ति जीवित नहीं रह पाते हैं तथा पाषंडायतनों (कापालिकों, बौद्धभिक्षुओं अथवा नास्तिकों के आश्रमों) में विषैले प्राणियों द्वारा दष्ट प्राणी असाध्य होते हैं। दृष्टि, श्वास, मल तथा स्पर्श से भी जो अपने विष से प्राणियों को विषयुक्त कर देते हैं एवं आशीविषों (दिव्य साँपों) के साथ सम्पर्क होने से, इनके श्वास के लग जाने से, मल के स्पर्श से मृत्यु हो जाती है। जिन व्यक्तियों के किसी भी मर्मस्थल में ये कीट दंश कर देते हैं, वे शीघ्र ही मर जाते हैं। (जिस किसी साँप के दंश से अथवा साँपों से पैदा होने वाले अन्य कीटों द्वारा मर्मस्थान में काट लेने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है।)

वक्तव्य—यहाँ स्थान तथा काल विशेष का वर्णन किया गया है, जहाँ सर्प आदि के दंश का विशेष मारक प्रभाव पड़ता है। १. **स्थान**—श्मशान भूमि, चैत्य, वल्मीक (दीमकों द्वारा लगाया हुआ मिट्टी का ढेर, प्रायः इनके भीतर साँप अपना निवास बना लेते हैं), यज्ञाश्रम, सुरालय (मन्दिर) तथा पाषण्डायतन। २. **काल**—पक्षसन्धि (पूर्णिमा तथा अमावास्या), दिन का मध्य, रात्रि का मध्य, प्रत्येक पक्ष की अष्टमी (यह सर्प-प्रिय शिव की तिथि है)। वृद्धवाग्भट ने 'दिव्यक' आदि नाम से जो सोलह सर्पों का वर्णन किया है, वे साँप निर्विष होते हैं। देखें—अ० सं० उ० अ० ४१।१२-१३। आशीविष के समान सर्पों का परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है—'श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रयसुरालये। चतुष्पथे जलस्थाने जीर्णोद्यानेषु कोटरे ॥ क्षीरिद्रुमे निम्बतरौ निर्झरे गिरिगह्वरे। चक्रवज्रगदाकुन्तत्रिशूलाङ्कजटाधराः ॥ रक्तास्यनयना ये च ते स्युराशीविषोपमाः। न तेषां कालनियमो न च वेगेष्वनुक्रमः ॥ मन्त्रतन्त्रबलान्नापि प्रसह्य विनिवर्तनम् ॥ उपहारनमस्कारजपशान्तिपरायणः। कश्चिज्जीवति तैर्दष्टो विरूपो विकलोऽपि वा' ॥ अ० सं० उ० अ० ४०।७२-७५। ऊपर आशीविष नामक सर्पों के विशेष लक्षणों को देखकर ही उन्हें दिव्यसर्प कहा गया है। देखें—'तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः'। सु० क० अ० ३।५।

इन्होंने चरकोक्त वर्णन की सम्पुष्टि इस प्रकार की है—'श्मशानचितिचैत्यादौ पञ्चमीपक्षसन्धिषु। अष्टमी नवमी सन्ध्यामध्यरात्रिदिनेषु च ॥ याम्याग्नेयमघाऽऽश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते। नैर्ऋताऽऽख्ये मुहूर्ते च दष्टं मर्मसु च त्यजेत्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४१।७६-७७। अर्थात् श्मशान, यज्ञस्थान, चैत्य—ये स्थान; पञ्चमी (इस तिथि का स्वामी सर्प होता है), अष्टमी, नवमी ये तिथियाँ और पक्षसन्धि—पूर्णिमा, अमावास्या ये तिथियाँ। काल—मध्य रात्रि, मध्य दिन। नक्षत्र—याम्य (भरणी), आग्नेय (कृत्तिका), मघा, आश्लेषा, विशाखा, तीनों पूर्वा, मूल और नैर्ऋत नाम का १२वाँ मुहूर्त इन अवसरों पर यदि मर्मस्थानों पर दंश हुआ हो तो उसे छोड़ दे।

आयुर्वेदीय संहिताओं के टीकाकार श्रीजेज्जट ने आशीविष शब्द की इस प्रकार निरुक्ति दी है—'आशी-विषाभुजङ्गस्य परमाशासनेन वा। इच्छामात्रेण वा नाशादित्थमाशीविषा मताः' ॥ अस्तु। अन्यत्र इनके सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है—'दृष्टिश्वासादिभिर्ज्ञेयाः सर्पा आशीविषाः'। कुछ भी हो ये विषैले सर्पों की एक परम्परा है, जो देखने आदि से भी घातक होते हैं, दंश की बात तो कहनी ही क्या है।

उक्त श्लोक की अन्तिम अर्धाली कोष्ठक के भीतर भी है और उसमें श्लोक संख्या भी दी गयी है। इस प्रथम आश्चर्य के साथ पाठ पर जब ध्यान गया तो श्रीजयदेव को भी इस पाठ में आया हुआ 'सम्भव' शब्द

अर्थ की दृष्टि से 'असम्भव' सा प्रतीत हुआ। उन्होंने समाधान देते हुए लिखा है—'सुघोराः सर्व एव तु'। हमारी दृष्टि से भी यह परिवर्तन समादरणीय है।

भीतमत्ताबलोष्णक्षुत् तृषार्ते वर्धते विषम्। विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ [१]प्राप्याल्पमन्यथा ॥१६२॥

विषवृद्धि की स्थितियाँ—जो किसी भी कारण से डरा हुआ हो, किसी कारण से मत्त (पागल) हो गया हो, निर्बल हो, गर्मी या भूख-प्यास से पीड़ित हो, उस व्यक्ति में विष का प्रभाव शीघ्र हो जाता है, अर्थात् विष वेग बढ़ जाता है। विष अपने अनुरूप पुरुष की प्रकृति तथा काल को पाकर भी बढ़ जाता है। उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त अवस्था में वह अल्प मात्रा में बढ़ता है।

वक्तव्य—इसके पहले सर्पों की वात, पित्त, कफ प्रकृतियों तथा प्रातः, मध्याह्न, सायं आदि कालों का वर्णन किया गया है। उसी को यहाँ प्रकारान्तर से स्पष्ट किया जा रहा है—भयभीत आदि उपर्युक्त परिस्थितियों में वात का प्रकोप होता है, ऐसे अवसर पर दर्वीकर जाति के सर्प जो वात प्रकृति के कहे गये हैं, यदि ये डस लेते हैं और वह पुरुष भी वातप्रकृति का है, तो उसके शरीर में विष का फैलाव बड़ी शीघ्रता के साथ हो जाता है। इसी प्रकार कालों का भी सामञ्जस्य बैठा लें। पित्त प्रकृति के पुरुष को यदि उसी प्रकृति का सर्प अपने अनुकूल समय (मध्याह्न या मध्यरात्रि) में डस लेता है अथवा कफ प्रकृति के पुरुष को यदि उसी प्रकृति का साँप अपने अनुकूल समय (दिन का तथा रात्रि का आरम्भ काल) में क्रमशः मण्डली और राजिमान् सर्प डस लेते हैं, तो विष की वृद्धि अधिक होती है। ऋतुओं के अनुसार वात, पित्त, कफ का प्रकोपण क्रमशः वर्षा, ग्रीष्म तथा शरद् में होता है।

वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः।
वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृता ॥ १६३ ॥

मन्दविष सर्प के लक्षण—जो सर्प पानी के प्रहार से आहत होते हैं, क्षीण (कृश), किसी कारण से डरे हुए, नेवले से लड़ने के कारण पराजित, वृद्ध या छोटी अवस्था वाले, जिन्होंने अभी केंचुल छोड़ी हो, वे सभी साँप मन्द विष वाल कहे जाते हैं।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'वृद्धाः' का अर्थ करते समय लिखा है—'गोनसवर्जं ज्ञेयाः, गोनसस्य तु वार्धक्ये एव वृद्धविषत्वं प्रागुक्तम्'। यह ठीक माना जा सकता है। किन्तु आप विचार करें कि ऊपर 'वारिविप्रहत आदि कारणों का उल्लेख किया है, उनका प्रभाव गोनस सर्प पर नहीं पड़ेगा क्या ? हाँ, सामान्य स्थिति में वृद्ध गोनस सर्प का विष बलवान् हो सकता है। जैसे—बीमार अथवा लात खाया हुआ पहलवान्, अथवा दीमक लगी साल की धरन।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वृद्धवाग्भट ने कहा है—'जलाप्लुता रतिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रमपीडिताः ॥ तूर्णं देशान्तरायाता विमुक्तविषकञ्चुकाः। कुशौषधीकण्टकवद् ये चरन्ति च काननम्। देशं च विद्याध्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मताः ॥' अ० सं० उ० अ० ४१।७०-७१। अतः वृद्ध गोनस सर्प भी स्वस्थ स्थिति में ही विषैला होता है, अन्य विषम परिस्थितियों में नहीं। जहाँ सर्पविद्या के विशेषज्ञ रहते हैं, उस देश में भी विष का पूर्ण प्रभाव नहीं हो पाता, क्योंकि उस देश को 'विद्याध्युषित' कहा गया है। अर्थात् सर्पविद्या विशेषज्ञों की निवास-भूमि में विष अधिक नहीं फैलता, कारण स्पष्ट है।

सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद् विषं सर्पो विमुञ्चति। तदेवाहारहेतोर्वा भयाद् वा न प्रमुञ्चति ॥१६४॥

सर्पविष का स्थान—सर्प के सम्पूर्ण शरीर में विष रहता है। जब वह क्रोधित होता है, तब वह दाँतों द्वारा विष को बाहर निकालता या छोड़ता है। वही सर्प जब आहार के लिए यत्न करता है अथवा भयभीत रहता है, तब वह विष को नहीं त्याग पाता।

वक्तव्य—इस पद्य का भी सीधा सम्बन्ध १६३ वें पद्य के साथ है। इसका तात्पर्य है कि सविष सर्प भी सभी समय दंश करने की स्थिति में नहीं होते। यद्यपि कोषकारों ने सर्प का एक पर्याय 'पवनाशन' भी दिया

---

१. 'प्राणाल्पमन्यथा' इति पा०।

है, जिसका अर्थ होता है—वायु का आहार करने वाला। ऐसा लगता है कि सर्प वायु-सेवन करके बहुत समय तक जीवित रह सकते हैं, किन्तु स्वस्थ नहीं। ऐसे ही सर्पों को ऊपर सम्भवतः 'क्षीणा' कहा गया है। साँप का विष सम्पूर्ण शरीर में रहता है। इस विषय को सुश्रुत ने भी स्वीकार किया है—'शुक्रवत् सर्वसर्पाणां विषं सर्वशरीरगम्। क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्यः शुक्रं निर्मन्थनादिव ॥ तेषां बडिशवद् दंष्ट्रास्तासु सज्जते चागतम्। अनुद्धृता विषं तस्मान्न मुञ्चन्ति च भोगिनः' ॥ सु० क० अ० ३।२८-२९।

महाभारत के आदि पर्व में शतानीक-सुमन्तु संवाद है, उसमें से कुछ उपयोगी अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—व्यासशिष्य महर्षि सुमन्तु ने राजा शतानीक से कहा—'अतः परं प्रवक्ष्यामि दंष्ट्राणां विषलक्षणम्। दंष्ट्राणान्तु विषं नास्ति नित्यमेव भुजङ्गमे ॥ दक्षिणं नेत्रमासाद्य विषं सर्पस्य तिष्ठति। सङ्क्रुद्धस्यैव सर्पस्य विषं गच्छति मस्तके ॥ मस्तकाद्धमनीं याति ततो नाडीषु तिष्ठति। नाडीभ्यो याति दंष्ट्रासु विषं तत्र प्रवर्तते' ॥ यह वर्णन सर्वदेहव्यापी विष की सत्ता को प्रमाणित करता है।

वातोल्बणविषाः प्राय उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः। वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिका कणभादयः ॥

विषकीटों का दोष-सम्बन्ध—प्रायः उच्चिटिंग तथा बिच्छुओं के विष वातदोष-प्रधान होते हैं। अन्य कीटों का विष वात-पित्तदोष-प्रधान होता है और कणभ आदि का विष कफ-प्रधान होता है इनका परिचय इसी प्रसंग में पहले दे दिया गया है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उच्चिटिंग कीट को आकृति के अनुसार 'उष्ट्रधूमक' की संज्ञा दी है और रात में इधर-उधर जाने वाला होने के कारण इसे 'रात्रिक' भी कहा है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४३।३८। श्रीजयदेव इसको दृढ़ता के साथ झींगुर मानते हैं। वृद्धवाग्भट ने कीटों को वात-पित्तदोष-प्रधान, कणभ, उन्दुरु आदि को कफदोष-प्रधान तथा वृश्चिक और उष्ट्रधूमक आदि को वातप्रधान प्रकृति का स्वीकार किया है। अ० सं० उ० अ० ४३।३९। यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है, कि इसके विपरीत भी अन्य आचार्यों के मत देखे जाते हैं। चिकित्सक-सम्प्रदाय उग्रविष वाले कीट आदि की चिकित्सा भी सर्पदंश की भाँति ही करता है।

यस्य यस्य हि दोषस्य लिङ्गाधिक्यानि लक्षयेत्। तस्य तस्यौषधैः कुर्याद् विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥

दोष-विपरीत क्रिया—चिकित्सक जिस-जिस दोष के लक्षणों को सर्प आदि द्वारा डसे हुए पुरुष में अधिक मात्रा में देखे, उस-उस दोष के विपरीत गुण वाले औषधयोगों द्वारा उस-उस की चिकित्सा करे।

हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्वरुक्। घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे ॥

वातिक विष के लक्षण—इसमें हृदय में पीड़ा, वायु की ऊपर की ओर को गति का होना अर्थात् बार-बार डकारों का आना, अंगों में जकड़न, सिराओं में आयाम (तनाव), हड्डी की सन्धियों (जोड़ों) में वेदना, घूर्णन (चक्करों का आना), हाथ-पैर की पिंडलियों में ऐंठन का होना, शरीर का श्याव (भूरे) वर्ण का हो जाना—ये लक्षण होते हैं।

संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता। [१]दंशावदरणं शोथो रक्तपातश्च पैत्तिके ॥१६८॥

पैत्तिक विष के लक्षण—संज्ञानाश (बेहोशी), गरम-गरम श्वास का निकलना, हृदय-प्रदेश में जलन, मुख का कड़ुआ हो जाना, दंशस्थान का फट जाना, दंशस्थान पर सूजन का हो जाना और दंशस्थान से रक्त का निकलना—ये पित्त-प्रधान विष के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने पैत्तिक विष के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता। मांसावदरणं शोफो रक्तपित्तं च पैत्तिके' ॥ अ० सं० उ० अ० ४३।४२। इनके लक्षणों से ऊपर चरकोक्त पाठ में कहे गये 'दंशावदरण' का अर्थ इस प्रकार किया जाय तो अधिक अच्छा होगा—'दंशस्थान से मांस का गल-गलकर गिरना'। दूसरा विचार—इनका 'रक्तपित्त' यह पाठ 'रक्तपीतं' ऐसा होना चाहिए था, जिससे दंशस्थान के रक्त का स्वरूप स्पष्ट हो जाता। श्रीजयदेव विद्यालंकार महोदय का यह विचार सराहणीय है।

---

१. 'मांसावदरणम्' इति पा०।

वम्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशगौरवैः । सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम् ॥१६९॥

श्लैष्मिक विष के लक्षण—वमन, भोजन के प्रति अरुचि का होना, जी मिचलाना, मुख से लार का चूना, बार-बार वमन होने की इच्छा होना, शरीर का भारीपन, शरीर में शीतलता, मुख का मीठा बने रहना, ये लक्षण विष में कफ की अधिकता के कारण होते हैं।

खण्डेन च व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके । स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥१७०॥

वातिक विष की चिकित्सा—विषैले कीट के दंश से यदि वातिक विष का प्रकोप हुआ हो तो उस घाव के ऊपर खण्ड (खाँड—पाठभेद के अनुसार तिल की खली) का लेप लगाना चाहिए। वातनाशक तेलों की शरीर पर मालिश करनी चाहिए, नाड़ीस्वेदन करायें अथवा पुलाक (पुवाल) आदि को जलाकर उसका सेंक दिलायें। इसके अतिरिक्त बृंहण (शक्ति को बढ़ाने वाली) चिकित्सा विधि हितकर होती है।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में 'खण्डेन च' इसके स्थान पर किसी पाठभेद को स्वीकार नहीं किया है, किन्तु श्रीजयदेव ने 'पिण्याकेन' पाठ सम्भवतः अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४३।४० से प्रभावित हो स्वीकार कर लिया है, क्योंकि उक्त संकेत में अविकल पद्य वृद्धवाग्भट ने उसी प्रकार उद्धृत किया है।

सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम् । लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥१७१॥

पैत्तिक विष की चिकित्सा—पित्तज विष-विकार में अत्यन्त शीतल सेक (परिषेचन—स्नान, अवगाहन), प्रदेह आदि से चिकित्सा करनी चाहिए।

श्लैष्मिक विष की चिकित्सा—कफज विष में लेखन (कफ को खुरच कर निकालने वाली), छेदन (कफ को काटने वाली), स्वेदन तथा वमन विधियों द्वारा उसे जीतना चाहिए।

विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च । अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः ॥१७२॥

सभी विषों में शीतोपचार—वृश्चिक और उच्चिटिंग इन दो कीटों के विष को छोड़कर शेष सभी विकारों में शीतोपचार विधि हितकर होती है, भले ही वह दंश शरीर के किसी अवयव पर क्यों न हो। विष स्वभावतः उष्ण होता है, उस पर शीतोपचार स्तम्भन-क्रिया है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट उक्त शीतोपचार का प्रायः विरोध करते हैं। देखें—'स्वेदालेपनसेकांस्तु कोष्णान् प्रायोऽवचारयेत् । अन्यत्र मूर्च्छिताद् दंशणकतः कोथतोऽपि वा' ॥ यदि रोगी मूर्च्छित हो गया हो, दंशस्थान में पाक हो गया हो या दंशस्थान पर सड़न पैदा हो गयी हो तब केवल शीतोपचार करे, अन्यथा स्वेदन, लेपन, प्रदेह आदि सभी उपचारों को कोष्ण (गुन-गुने) रूप में ही प्रयोग करना चाहिए। हमारे विचार से यह कोष्ण चिकित्सा कफज एवं वातज विष-विकारों में ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है, अन्यत्र नहीं।

इस विवाद का उचित समाधान सुश्रुत ने इस प्रकार दिया है—'यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम् । अतः सर्वविशेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ॥ मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम् । अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥ कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत् समुपाचरेत्' ॥ सु० क० अ० ३।३०-३१। महर्षि आत्रेय ने ऊपर जो शीत-चिकित्सा-विधि का निर्देश किया है, वह सामान्य विधि है। विशेष विधि के अवसर पर सामान्य विधि तटस्थ हो जाती है।

वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च । सेकांश्चोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः ॥१७३॥

वृश्चिकदंश-चिकित्सा—जिस स्थान पर बिच्छू ने दंश किया हो वहाँ सर्वप्रथम स्वेदन करे फिर सम्पूर्ण शरीर पर घी और सेंधानमक की मालिश करे, उष्ण औषध जलों द्वारा सेक (परिषेक, स्नान, अवगाहन) करे और खाने, पीने में रोगी की पाचनशक्ति के अनुसार घी का प्रयोग करे।

वक्तव्य—'सेकांश्चोष्णान्' के आशय को स्पष्ट करते हुए वृद्धवाग्भट कहते हैं—'लवणोत्तमयुक्तेन सर्पिषा वा पुनः पुनः । सिञ्चेत् कोष्णारनालेन सक्षीरलवणेन वा' ॥ अ० सं० उ० अ० ४३।६६। इसके अनुसार सेंधानमक मिले हुए घी से स्नान कराये अथवा गरम काँजी में दूध और नमक मिलाकर स्नान कराये। काँजी के साथ दूध मिलाने पर वह फट जाता है, इससे मात्र संयोगज संस्कार का लाभ हो पाता है।

एतदेवोच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांशुभिः । उद्वर्तनं सुखाम्बूष्णैस्तथाऽवच्छादनं घनैः ॥१७४॥

उच्चिटिंगदंश चिकित्सा—ऊपर जो चिकित्सा वृश्चिक दंश की कही गयी है, वही चिकित्सा उच्चिटिंग (झींगुर) के दंश में भी करनी चाहिए। विशेष विधि—गुन-गुने पानी में धूल को सान (मिला) कर सम्पूर्ण शरीर पर प्रतिलोम (बालों के विपरीत) उबटन लगाकर गुनगुनी बालू से दंशस्थान को ढक देना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने उक्त श्लोक की दूसरी पंक्ति में 'सुखाम्बूष्णैः' के स्थान पर 'सुखाम्लोष्णैः' पाठ दिया है। यह भी वृद्धवाग्भटोक्त पाठ का ही प्रभाव है। देखें—'क्रियेयमुच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमे च पांसुभिः। उद्वर्तनं सुखाम्लोष्णैस्तथा प्रच्छादनं घनैः' ॥ अ० सं० उ० अ० ४३।८७। हमारे विचार से बिना किसी कारण के संहिता के मूलपाठ को बदल देना तन्त्रकार की अवहेलना मात्र है, जो किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

श्वा त्रिदोषप्रकोपात् तु तथा धातुविपर्ययात् । शिरोऽभितापी लालास्राव्यधोवक्त्रस्तथा भवेत् ॥

पागल कुत्ते का लक्षण—कुत्ता में जब तीनों दोषों का प्रकोप हो जाता है, तो उससे उसके शरीर में स्थित सभी रस आदि धातुएँ विकृत हो जाती हैं, उसके कारण कुत्ता के सिर में वेदना होने लगती है, उसके मुख से लार चूने लगती है और उसका मुख हर समय नीचे की ओर लटका रहता है, अर्थात् ऊपर की ओर वह नहीं देख पाता।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने पागल कुत्तों के कुछ अन्य लक्षणों का भी निर्देश किया है, वे इस प्रकार हैं—'शुनः श्लेष्मोल्वणा दोषाः संज्ञां संज्ञावहाश्रिताः । मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम् ॥ लालावानन्धबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति । स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धः शिरोदुःखी नताननः' ॥ अ० सं० उ० अ० ४४।१०-११।

चरक के अनुसार त्रिदोष प्रकोप से रसादि शुक्रान्त धातु प्रकुपित हो जाते हैं। उनके फलस्वरूप कुत्ता में अन्य विकार उत्पन्न होते हैं, किन्तु वृद्धवाग्भट के अनुसार—कफ-प्रधान वातादि दोष संज्ञावाहिनी सिराओं में पहुँचकर उन्हें निष्क्रिय करके उसको संज्ञाहीन कर देते हैं, तब उसकी रस आदि समस्त धातुएँ दूषित हो जाती हैं, अतएव उसमें ये लक्षण पैदा हो जाते हैं—उसके मुख से लार चूने लगती है, आँखों से दिखलायी तथा कानों से सुनायी नहीं देता है, वह अकारण चारों ओर दौड़ता रहता है, उसकी पूँछ पहले की-सी टेढ़ी नहीं रह जाती है, अपितु वह नीचे की ओर स्वयं झुक जाती है, उसके हनु-अस्थि तथा स्कन्ध ढीले पड़ जाते हैं। उसके शिर में वेदना होती है, अतएव वह सदैव नीचे की ओर मुख लटकाये रहता है।

अलर्क—पागल कुक्कुर विष के लिए अथवा कुक्कुर ज्वर के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—'अलम् अर्क्यते, अर्च्यते वा—अर्क+अन्, अर्च+घञ् वा—शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्—वार्तिक।

अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः । हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः ॥१७६॥

अन्य पागल जन्तुओं के लक्षण—कुत्तों के अतिरिक्त और भी इस प्रकार के डसने वाले व्याल (सर्प, खूनी हाथी, बाघ, चीता, ग्राह) आदि प्राणी हैं, जिनके डसने, काटने आदि से दष्ट पुरुष के शरीर में कफ तथा वातदोष को प्रकुपित कर उनके हृदय तथा शिर में अधिक पीड़ा ज्वर, जकड़न, प्यास तथा बेहोशी—ये लक्षण हो जाते हैं।

वक्तव्य—कोषकारों ने 'व्याल' शब्द को अनेकार्थक स्वीकार किया है। अतएव तन्त्रकार ने उपयुक्त स्थल पर इसका प्रयोग किया है। चरक में उन अन्य हिंस्र प्राणियों का संकेतमात्र कर दिया है। शेष आचार्यों ने उन-उन प्राणियों के कतिपय नामों का परिगणन कर दिया है। क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत हैं—'श्वशृगाल-तरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः । श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽति-लालवान् । अव्यक्तबधिराऽन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥ तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु । सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ॥ दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः' । सु० क० अ० ७।४३-४५। इस प्रकार पागल हुए ये प्राणी मानव के अतिरिक्त भी जिस किसी को काट देते हैं, वह भी पागल हो जाता है।

इसी प्रकार वृद्धवाग्भट ने भी अपना वक्तव्य दिया है—'अनेनाऽन्येऽपि बोद्धव्या व्याला दंष्ट्राप्रहारिणः । सृगालाश्वतराश्वर्क्षद्वीपिव्याघ्रवृकादयः' ॥ अ० सं० उ० अ० ४६।१३।

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम् । विदाहरागरुक्पाकाः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम् ॥१७७॥
[1]दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च । ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे ॥१७८॥

विषैले प्राणियों के दंश के लक्षण—दष्ट स्थान पर खुजली, सुई चुभने के समान पीड़ा, उस स्थान की त्वचा के रंग का बदल जाना या वहाँ के वर्ण का विकृत हो जाना, सुप्ति (स्पर्श-ज्ञान का अभाव), गीलापन, उस दंश के चारों ओर सूख जाना, विदाह (जलन), उस स्थान पर लालिमा का दिखलायी देना, पीड़ा का होना, दंश स्थान का पक जाना, सूजन का होना, वहाँ गाँठ का पड़ जाना, त्वचा का सिकुड़ जाना, दंश के स्थान का फट जाना, चारों ओर फफोलों का पैदा होना, कर्णिका (दंश स्थान के चारों ओर किनारा जैसा उभार का होना), मण्डल (चकत्तों का उभर जाना) और उस व्यक्ति को ज्वर हो जाता है।

निर्विष प्राणियों के दंश के लक्षण—ऊपर सविष दंश के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, उन सबसे विपरीत अर्थात् उन सभी लक्षणों का अभाव निर्विष प्राणी के दंश में होता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भटोक्त लक्षणों के साथ भी इनकी तुलना कर लें। अ० सं० उ० अ० ४६।१४-१५। श्रीजयदेव लिखते हैं कि चरकोक्त पाठ 'उपशोषणम्' के स्थान पर 'उपवृर्णनम्' रहा होगा।

तत्र सर्वे [2]यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः । पूर्वोक्ता विधिमन्यं च यथावद् ब्रुवतः शृणु ॥१७९॥

विशेष विधि-निर्देश—इसके पहले विषैले प्राणियों के दंशों की जो २४ प्रकार की चिकित्सा (इसी अध्याय के श्लोक ३५ से ३७ तक) कही गयी है, उनमें से जब जिसकी जहाँ उपयोगिता हो, उसका अथवा किसी दूसरी विधि का प्रयोग करें। मैं उन विधियों को कह रहा हूँ, ध्यान से सुनो।

हृद्विदाहे प्रसेके वा विरेकवमनं भृशम् । यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥१८०॥

शोधन-चिकित्सा—हृदय में विदाह हो रहा हो या मुख से लाल चू रही हो, तो दोषों की तथा रोगी की अवस्था के अनुसार उसे बार-बार वमन तथा विरेचन कराना चाहिए। जब देखें कि रोगी का शरीर विष आदि दोषों से शुद्ध हो गया है, तब उसे संसर्जन-क्रम (पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष) का प्रयोग कराकर उसकी जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए।

वक्तव्य—वमन, विरेचन करने के बाद जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। अतः संसर्जन-क्रम के प्रयोग से उसे पुनः प्रदीप्त करना यही चिकित्सा-क्रम है। ऊपर कहे गये 'प्रसेक' शब्द से आमाशयगत विष का और हृद्विदाह से पक्वाशयगत विष का अनुमान करना चाहिए।

शिरोगते विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान् । बन्धुजीवस्य भार्ग्याश्च सुरसस्यासितस्य च ॥

नस्य-प्रयोग—यदि विष का प्रभाव शिरःप्रदेश में प्रतीत होता हो, तो बुद्धिमान् चिकित्सक बन्धुजीव की जड़, भारंगी की जड़ तथा काली तुलसी की जड़—इन तीनों की जड़ों को पीसकर रस निकालकर इसकी नस्य दिलायें अथवा इनके चूर्ण की नस्य दें।

वक्तव्य—चिकित्सक-समाज में नस्य के लिए इनके स्वरस तथा चूर्ण दोनों का प्रयोग किया जाता है। इनमें स्वरस यत्नसाध्य होता है और चूर्ण का संग्रह सरलता से किया जा सकता है। नस्य का प्रयोग शिरोरोगों में अत्यन्त हितकर होता है।

बन्धुजीव—'वैद्यकशब्दसिन्धु' में इसका पर्याय 'Pentapetes phoenicea' दिया है। परिचय—'यस्य पुष्पं मध्याह्ने विकसति, पराह्ने च सूर्योदये शुष्यति'। रत्नमाला। इस गद्य का अन्वय यह है—यस्य पुष्पं सूर्योदये मध्याह्ने विकसति, पराह्ने च शुष्यति। अतएव इसे हिन्दी में 'दुपहरिया' कहते हैं।

दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ्मस्तके क्षते । [3]उपधेयमधोदष्टस्योर्ध्वदष्टस्य पादयोः ॥१८२॥

१. 'मांसावदरणम्' इति पा०।
२. 'यथादोषम्' इति पा०।
३. 'मूर्ध्नि देय' इति पा०।

काकपद-प्रयोग की विशिष्ट विधि—यदि साँप आदि विषैले प्राणी ने किसी व्यक्ति के शरीर के निचले भाग में दंश किया हो और विष का वेग ऊपर की ओर हो रहा हो अथवा सम्पूर्ण शरीर में फैल गया हो तो उस व्यक्ति के बालों को छुरे या ब्लेड से कटवाकर काकपद के समान घाव करके वहाँ मुर्गा, कौआ या मोर का रक्तयुक्त अर्थात् ताजा मांस रख दें। यदि शरीर के ऊपरी भाग में साँप आदि विषैले प्राणी ने दंश किया हो तो पैर के तलुवे में काकपद के समान घाव करके उसके ऊपर मुर्गा, कौआ या मोर का ताजा रक्त युक्त मांस रखें।

वक्तव्य—इस प्रसंग में इसी अध्याय के श्लोक ६६ तथा ६७ के वक्तव्यों पर विशेष ध्यान दें। महर्षि आलम्बायन ने व्यवहार की दृष्टि से बतलाया है कि यदि शिर पर काकपद का प्रयोग करना हो तो पहले छुरे से बालों को कटवा लें, तब तेज चाकू से कौए के पैर की आकृति जैसे तीन चीरे लगाएँ, जब उनमें से रक्त आने लगे तब उसके ऊपर कहे गये प्राणियों का ताजा मांस काट कर रख दें। इसी का समर्थन महर्षि सुश्रुत ने भी किया है—'कृत्वा काकपदं चर्मसासृग्वा पिशितं क्षिपेत्' ॥ सु० क० अ० ५।२४।

विशेष—यदि रोगी बैठ सकता हो, तो सिर के काकपद में उक्त प्राणियों का ताजा चर्म अथवा मांस रख दे अन्यथा उसे किसी पट्टी आदि से बाँध दे। पैर के तलुओं में तो बाँधना ही पड़ता है।

पिप्पलीमरिचक्षारवचासैन्धवशिग्रुकाः । पिष्टा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगतमञ्जनात् ॥१८३॥

पिप्पल्यादि अंजन—यदि विष का प्रभाव दष्ट पुरुष की आँखों में हो गया हो, तो पिप्पली, कालीमिर्च, जवाखार, बालवच, सैंधानमक, सहिजन के बीज, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लें, इस चूर्ण को रोहू मछली के पित्त से पीसकर अंजन लगाना चाहिए। इसके प्रयोग से आँखों में गया हुआ विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये अंजन योग में सभी द्रव्य तीक्ष्ण हैं। आश्चर्य है, कि जब तक विष का प्रभाव रहता है, तब तक आँखों में इसकी तीक्ष्णता का अनुभव (कष्ट) नहीं होता। जैसे-जैसे विष का प्रभाव कम होने लगता है, वैसे-वैसे इसकी तीक्ष्णता का अनुभव होने लगता है।

कपित्थमामं ससिताक्षौद्रं कण्ठगते विषे । लिह्यादामाशयगते ताभ्यां चूर्णपलं नतात् ॥१८४॥

कण्ठगत विष-चिकित्सा—जब विष का प्रभाव कण्ठ-प्रदेश पर पड़ा हो तो कच्चे कैथ की गुद्दी को पीसकर उसमें मिश्री और मधु मिलाकर चाटने के लिए देना चाहिए।

आमाशयगत विष-चिकित्सा—यदि विष का प्रवेश आमाशय में हो गया हो, तो एक पल (४ तोला) तगर के चूर्ण को मिश्री और मधु मिलाकर चाटने के लिए देना चाहिए।

वक्तव्य—प्रथम योग में कैथ की गुद्दी की मात्रा भी एक पल ही समझनी चाहिए। हाँ, यह मात्रा आधुनिक दृष्टि से एक बार में अधिक प्रतीत होती है, किन्तु यह मात्रा एक बार में नहीं खानी है। देखें—'मुहुर्मुहुश्च तृट्च्छर्दिहिक्काश्वासगरेषु च' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० २।१०। यहाँ 'गर' शब्द से सभी प्रकार में विषों का ग्रहण किया गया है। अतः विष युक्त मनुष्य को बार-बार औषधयोगों का प्रयोग करते रहना चाहिए।

विषे पक्वाशयगते पिप्पलीं रजनीद्वयम् । मञ्जिष्ठां च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन नरः पिबेत् ॥

पक्वाशयगत विष-चिकित्सा—स्थावर अथवा जंगम विष का प्रभाव यदि पक्वाशय पर पड़ा हो तो पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ इन द्रव्यों को समान भाग लेकर गोपित्त (गोरोचन) के साथ पीसकर उक्त व्यक्ति को पिलाना चाहिए। मात्रा—३ से ६ माशा।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी प्रकारान्तर से उक्त योग को उद्धृत किया है। अ० सं० उ० अ० ४२।५४।

रक्तं मांसं च गोधायाः शुष्कं चूर्णीकृतं हितम् । विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम् ॥१८६॥

रसगत विष-चिकित्सा—यदि विष रसधातु में पहुँच गया हो, तो गोह के सूखे रक्त तथा मांस का चूर्ण करके कैथ के रस के साथ मात्रानुसार पीने के लिए देना चाहिए।

शेलोर्मूलत्वगग्राणि बादरौदुम्बराणि च । कटभ्याश्च पिबेद् रक्तगते, मांसगते पिबेत् ॥१८७॥

सक्षौद्रं खदिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा । सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम् ॥१८८॥

रक्तगत विष-चिकित्सा—यदि रक्तधातु में विष का प्रवेश हो गया हो, तो लिसोढ़ा की जड़, छिलका और उसकी कोमल पत्तियों अथवा बेर की कोमल पत्तियों अथवा गूलर की पत्तियों या कटभी (शिरीष या मालकांगनी) की पत्तियों को पीसकर उसका रस पिलाना चाहिए।

मांसगत विष-चिकित्सा—यदि मांसधातु में विष का प्रवेश हो गया हो, तो खदिरारिष्ट में मधु मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा कुरैया की जड़ को पानी के साथ पीसकर पीने के लिए दें।

सर्वधातुगत विष-चिकित्सा—यदि विष का प्रभाव सभी धातुओं में हो गया हो, तो वरियारा की जड़, महाबला (ककही या अतिबला) की जड़, महुआ, मुलेठी, तगर—इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण बनाकर मात्रा के अनुसार जल के साथ सेवन करें।

वक्तव्य—इस प्रकरण से सम्बन्धित वृद्धवाग्भट के विचारों के लिए अ० सं० उ० अ० ४२ श्लोक ४३ से ४५ तक देखें। श्रीचक्रपाणि खदिरारिष्ट को खदिर और अरिष्ट के रूप में अलग-अलग मानते हैं। फिर स्वयं एक भी मानते हैं। अतः दोनों प्रकार का प्रयोग हितकर होता है। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार खदिरादिमूल मधु तथा जल के साथ पीने को लिखते हैं, किन्तु इस स्थिति में यहाँ प्रयुक्त 'अरिष्ट' शब्द को उन्होंने न आगे जोड़ा और न पीछे। पाठ की संगति को देखते हुए यहाँ 'सक्षौद्रं खादिरारिष्टं' ऐसा ही पाठ होना चाहिए था। खदिरारिष्ट और खादिरारिष्ट शब्दों में जो भेद दीखता है, वह 'स्वार्थे' में प्रयुक्त अण् प्रत्यय के ही कारण है।

पिप्पलीं [1]नागरं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् । कफे भिषगुदीर्णे तु विदध्यात्प्रतिसारणम् ॥१८९॥

कफप्रधान विष-चिकित्सा—पिप्पली, सोंठ (पाठभेद के अनुसार—मरिच), जवाखार, इन सबके समभाग चूर्ण को मात्रानुसार मक्खन में मिलाकर जहरीले प्राणी द्वारा काटे गये स्थान पर कफ की अधिकता होने पर प्रतिसार-क्रिया के लिए इसका प्रयोग करे।

वक्तव्य—प्रतिसारण—नमक अथवा सोंठ, मरिच, पिप्पली आदि के चूर्ण के साथ जिस व्रण को घिसा जाता है, उसे 'प्रतिसारण' कहते हैं। चरक के अनुसार इस प्रतिसारण योग का प्रयोग दंशस्थान पर करना चाहिए, यही इसकी परिभाषा भी है, किन्तु वृद्धवाग्भट का विचार सर्वथा इसके विपरीत है—'पिप्पलीनागरक्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् । प्रवृद्धे कण्ठगे दद्याच्छ्लेष्मणि प्रतिसारणम्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।५५। चरक ने कण्ठगत विष की जो चिकित्सा ऊपर १८४ वें श्लोक में कही है, उसमें कफ की प्रधानता प्रतीत नहीं होती है। सचमुच इस सम्बन्ध में दोनों ही आचार्यों के मत विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

मांसीकुङ्कुमपत्रत्वग्रजनीनतचन्दनैः । मनःशिलाव्याघ्रनखसुरसैरम्बुपेषितैः ॥१९०॥
पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः ।

मांस्यादि योग—जटामांसी (बालछड़), केसर, तेजपत्ता, दालचीनी, हल्दी, तगर, चन्दन, मैनसिल, बाघ का नाखून, सुरसा (तुलसी), इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर मात्रा के अनुसार पानी से पीसकर पीने, नस्य, अञ्जन, लेप के प्रयोग में लेना चाहिए। यह योग सभी प्रकार के शोथों तथा विषों का विनाश करता है।

वक्तव्य—व्याघ्रनख शब्द से कुछ टीकाकार 'नखी' द्रव्य का ग्रहण करते हैं। 'नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता'। भावप्रकाश, कर्पूरादि वर्ग ७३-७४।

चन्दनं तगरं कुष्ठं हरिद्रे द्वे त्वगेव च ॥ १९१ ॥
मनःशिला तमालश्च रसः केशर एव च । शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना ॥१९२॥
हन्ति सर्वविषाण्येव वज्रिवज्रमिवासुरान् ।

चन्दनादि योग—लालचन्दन, तगर, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, दालचीनी, मैनशिल, तमाल की पत्ती, रस (पारद), नागकेसर, व्याघ्रनख, इन सबको समान भाग लेकर आवश्यकतानुसार चावल के धोवन के साथ

१. 'मरिचं' इति पा०।

पीसकर प्रयोग करें। यह सभी प्रकार के विषों का उस प्रकार विनाश करता है, जिस प्रकार देवराज इन्द्र का वज्र असुरों का विनाश करता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव एक टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार यह योग कुछ संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता। उक्त योग को तण्डुलाम्बु के साथ पीसकर क्या करना चाहिए, इस प्रकार का कोई स्पष्ट आदेश नहीं दिया है। यदि हम ऊपर के श्लोक को देखकर इसका प्रयोग भी पान, नस्य, अञ्जन और लेप के रूप में करें, तो ऐसी परम्परा सर्वत्र स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके प्रयोग को जानने की इच्छा से जब हम वृद्धवाग्भट की ओर देखते हैं, तो वे पीने की आज्ञा देते हैं—'त्वङ्मनोह्वा निशे वक्त्रं रसः शार्दूलजो नखः । तमालः केशरः शीतं पीतं तण्डुलवारिणा ॥ हन्ति सर्वविषाण्येतद् वज्रिवज्रमिवासुरान्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।७८ ॥

रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम् ॥ १९३ ॥
भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम् ।

शिरीषपुष्प-प्रयोग—शिरीष के फूलों के स्वरस में एक सप्ताह तक सितमरिच (सहिजन) के बीजों को भावना देकर उसका चूर्ण बनाकर रख लें। साँप द्वारा काटे गये व्यक्तियों को इसकी नस्य दें, जल के साथ पीने के लिए दें तथा इसी का अञ्जन के रूप में प्रयोग करें। यह हितकारी होता है।

वक्तव्य—श्वेतमरिच या सितमरिच का पर्याय 'सहजन का बीज' है। स्वतन्त्र रूप से जिस प्रकार 'काली मरिच' होती है, उसी प्रकार वैसी ही स्वाद वाली 'सफेद मरिच' भी होती है। वास्तव में कालीमिर्च को ही पानी में भिगाकर उसके छिलके निकाल लेने पर वही सफेद मरिच हो जाती है या कही जाती है। चरक के टीकाकार आचार्य शिवदास सेन ने 'सितम्' के स्थान पर 'नतम्' पाठ स्वीकार किया है। तदनुसार ये मरिच और तगर दो द्रव्य हो जाते हैं।

यह विवाद वृद्धवाग्भट के वचनों से भली-भाँति निरस्त हो जाता है। देखें—'शिरीषपुष्पस्वरसे सप्ताहं मरिचं सितम् । भावितं सर्पदष्टानां पाननस्याञ्जने हितम्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।४०।

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम् ॥ १९४ ॥
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत् सुखप्रदम् ।

तक्षकविष-नाशक योग—तगर और कूठ १-१ पल (४-४ तोला)—इनके चूर्ण को ४ पल (१६ तोला) घृत तथा मधु में मिलाकर पिलाने से तक्षक सर्प द्वारा डसे गये पुरुषों के लिए भी यह योग लाभप्रद होता है।

वक्तव्य—तक्षक—यह कश्यप और कद्रू का पुत्र था। इसी ने महाराजा परीक्षित को श्रृंगीऋषि के शाप के कारण डसा था। देखें—भाग० ५।२४।२९। 'अपि तक्षकदष्टानां' यहाँ पर 'अपि' शब्द संभावना वाचक है। अर्थात् जब तक्षक के विष का भी यह योग निराकरण कर सकता है, तो और सर्पों के विषों की तो बात ही क्या कहनी है। आधुनिक दृष्टि से उक्त योग में वर्णित द्रव्यों तथा अनुपानों की मात्रा एक कालिक मात्रा नहीं है। उक्त अनुपात में आप इस योग को मिलाकर रख लें, तदनन्तर उसे थोड़ा-थोड़ा लेकर रोगी को चाटते रहने की सलाह दें।

सिन्धुवारस्य मूलं च श्वेता च गिरिकर्णिका ॥ १९५ ॥
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधु पाकलम् ।

दर्वीकरदष्ट-चिकित्सा—सिन्दुवार (सम्भालू) की जड़, सफेद अपराजिता की जड़, इन दोनों के चूर्ण को समभाग में लेकर पानी में घोलकर दर्वीकर (Serpent) साँप द्वारा डसे हुए व्यक्ति को मात्रानुसार पिलायें। यह नस्य-प्रयोग भी

नस्य-प्रयोग—पाकल (कूठ) के चूर्ण को मधु में मिलाकर चटाना चाहिए। यह नस्य-प्रयोग भी दर्वीकर नामक सर्प से डसे हुए पुरुष के लिए ही है।

मञ्जिष्ठा मधुयष्टी च जीवकर्षभकौ सिता ॥ १९६ ॥
काश्मर्यं वटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे ।

मण्डलीदष्ट-चिकित्सा—मजीठ, मुलेठी, जीवक, ऋषभक, मिश्री, गम्भार, बरगद के अंकुर (दूसे), इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर मात्रानुसार जल के साथ पीसकर मण्डली सर्प के दंश के कष्ट की शान्ति के लिए पिलाना चाहिए।

व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका ॥ १९७ ॥
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम् ।

राजिमान्-विष-चिकित्सा—सोंठ, मरिच, पिप्पली, अतीस, कूठ, गृहधूम, सम्भालू के बीज, तगर, कुटकी इनके समभाग चूर्ण में से मात्रानुसार लेकर मधु के साथ चाटने से राजिमान् साँप का विष नष्ट होता है।

गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम् ॥ १९८ ॥
अपि वासुकिना दष्टः पिबेन्मधुघृताप्लुतम्[1] ।

वासुकिविष-चिकित्सा—गृहधूम, हल्दी, दारुहल्दी, चौलाई की जड़, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण बना लें। मात्रानुसार इसे मधु तथा घी के साथ मिलाकर चाटें। इसका सेवन करने से वासुकि साँप द्वारा डसा पुरुष भी विष के प्रभाव से युक्त हो जाता है। इसमें मधु की अपेक्षा घी की मात्रा अधिक होनी चाहिए।

वक्तव्य—तक्षक, वासुकि प्रभृति दिव्य साँप हैं, जिनके देखने, स्पर्श होने या श्वास के स्पर्श मात्र से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। फिर भी इनकी चिकित्सा में जो योग कहे गये हैं, वे सर्पविष-नाशन में श्रेष्ठ हैं, इस आशय से कहे गये हैं। यह फलश्रुतियों का अपना दृष्टिकोण है। दिव्य सर्पों की चिकित्सा के लिए देखें—सु० क० अ० ४।५-८।

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ॥ १९९ ॥
मुक्तालेपो वरः शोथदाहतोदज्वरापहः ।

कीटविष-चिकित्सा—वमन, विरेचन द्वारा शरीर का भली-भाँति शोधन हो जाने के पश्चात् सभी प्रकार के विषैले कीटों के दंश पर क्षीरीवृक्षों (बरगद, पीपल, पाकड़, गूलर, पारसपीपल) की छालों को लेकर बारीक पीसकर उसका लेप लगाना चाहिए, जिससे सभी प्रकार के कीटों का विष दूर हो जाता है।

दूसरा योग—मोती को पीसकर लगाया हुआ लेप शोथ, दाह, तोद (सुई चुभाने की-सी पीड़ा), ज्वर इन विकारों का नाश करता है। यह लेप श्रेष्ठ होता है।

चन्दनं पद्मकोशीरं शिरीषः सिन्धुवारिका ॥ २०० ॥
क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठं पाटलोदीच्यसारिवाः ।
शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकार्मिकः ॥ २०१ ॥
(यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीक्ष्यालेपनादिषु) ।

लूताविष-चिकित्सा—लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, खश, शिरीष के बीज, सिन्धुवारिका (सम्मालू या मेवड़ी) की पत्ती, क्षीरविदारी, तगर, कूठ, पाटला (पाढ़ल), सुगन्धवाला, अनन्तमूल की छाल, इन सबको समान भाग में लेकर उसे लिसोड़े की पत्ती के स्वरस के साथ पीसकर सभी प्रकार के लूता विषों में इसका प्रयोग खाने, लगाने आदि में करना चाहिए। (वैद्य को चाहिए कि परिस्थिति को देखकर पान, नस्य, अंजन, लेपन आदि में इसका यथायोग्य प्रयोग करे)।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी उक्त योग को उद्धृत किया है, किन्तु इन्होंने 'क्षीरशुक्ला' के स्थान पर 'क्षीरिशुङ्ग' का ग्रहण किया है। आप ऐसे अवसरों पर पृथक्-पृथक् योगों का परीक्षण करके देखें और उस अनुभव का प्रकाशन करें। उस पाठ को इस संकेत पर देखें—अ० सं० उ० अ० ४४।७०-७१।

मधूकं मधुकं कुष्ठं शिरीषोदीच्यपाटलाः । सनिम्बसारिवाक्षौद्राः पानं लूताविषापहम् ॥२०२॥

१. 'दधिघृताप्लुतम्' इति पा०।

लूताविष-नाशक योग—महुआ, मुलेठी, कूठ, शिरीष का फूल, सुगन्धवाला, पाढ़ल की छाल, नीम की छाल, अनन्तमूल, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। मात्रानुसार उसे जल में घोलकर उसमें मधु मिलाकर पीने से लूताविष का नाश हो जाता है।

कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट् । दन्ती त्रिवृत्सैन्धवं च कर्णिकापातनं तयोः ॥

कर्णिकानाशक योग—कुसुंभ का फूल, गाय का दाँत, स्वर्णक्षीरी (भड़भाँड़) की जड़, कबूतर की बीट, जमालगोटा की जड़, निशोथ, सेंधानमक, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जल डालकर पीस लें। इसका लेप करने से लूता एवं कीटदंश-स्थान पर उत्पन्न हुई कर्णिका (मांस के अंकुर) कट कर गिर जाते हैं।

वक्तव्य—ये कर्णिकाएँ (मांस के अंकुर या छोटे-छोटे मस्से) चूहा आदि के दंश स्थान पर उत्पन्न हो जाती हैं। उक्त लेप को लगाने से ये कुछ दिन बाद गिरकर त्वचा समतल हो जाती है। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को कर्णिका-पातन के लिए प्रयोग करने की सलाह दी है। देखें—अ० सं० उ० अ० ४४।८१।

कटभ्यर्जुनशैरीषशेलुक्षीरिद्रुमत्वचः । कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः ॥२०४॥

कीट, लूतादंश-नाशक योग—कटभी (मालकाँगनी) की छाल, अर्जुन की छाल, शिरीष वृक्ष की छाल, लिसोड़े की छाल, क्षीरी वृक्षों की छाल (देखें—श्लोक १९९ की टीका), इन सब को समान भाग लेकर इनके क्वाथ, कल्क और चूर्ण के प्रयोग से कीट तथा लूता के दंश स्थान पर होने वाले व्रण नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने यद्यपि द्रव्य वे ही लिये हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। वे उक्त द्रव्यों का प्रयोग कल्क, चूर्ण, परिषेक के लिए करना चाहते हैं। देखें—अ० सं० उ० अ० ४४।८६। यदि हम ऊपर के योग में भी कषाय का प्रयोग परिषेक के रूप में और कल्क का प्रयोग लेप के रूप में और चूर्ण का प्रयोग खाने के लिए करें तो अच्छा होगा। श्रीचक्रपाणि ने अपने ग्रन्थ 'चक्रदत्त' में शिरीष के स्थान पर 'शैरीय' द्रव्य का ग्रहण किया है। देखें—विषचिकित्सा-प्रकरण, श्लोक १८।

त्वचं च नागरं चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम् । पेयमुष्णाम्बुना सर्वं मूषिकाणां विषापहम् ॥२०५॥

मूषकदंश-चिकित्सा—दालचीनी तथा सोंठ इन दोनों द्रव्यों को समान भाग लेकर बारीक पीसकर गरम पानी के साथ पीने से सभी प्रकार के चूहों के विषों का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी । तिक्तेक्ष्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रधमनादिभिः ॥ २०६॥
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषं हरेत् । समानो ह्यमृतेनायं गराजीर्णं च नाशयेत् ॥२०७॥

कुटजादि योग—कुरैया के फल (इन्द्रजौ), तगर, जालमालिनी (देवदाली), तितलौकी इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर मात्रानुसार पीने के लिए क्वाथ बनायें, प्रधमन नस्य के लिए चूर्ण तैयार करें। आदि पद से लेप का ग्रहण किया जा सकता है, लेप के लिए कल्क तैयार कर प्रयोग करना चाहिए। यह योग अमृत के समान हितकर है, अतः यह बिच्छू, चूहा, लूता तथा सर्पविष का नाश करता है, साथ ही गर (कृत्रिम विष) और अजीर्ण का भी नाश करता है।

वक्तव्य—'जालमालिनी' का परिचय स्पष्ट विदित नहीं होता। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने जो दिशा दी है, तदनुसार हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहे हैं। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में देवताड(क) तथा देवदाली इनका परस्पर भिन्न परिचय दिया है, पहला वृक्ष है तो दूसरी लता है। वैसे तो संस्कृत-साहित्य में कल्पवृक्ष को वृक्ष तथा लता दोनों ही कहा जाता है। किन्तु वहाँ विवाद इसलिए नहीं होता कि कहने और सुनने के सिवाय कुछ करना नहीं पड़ता। आयुर्वेद प्रयोगात्मक शास्त्र है, अतः यहाँ किसी निष्कर्ष पर पहुँचना ही होगा।

जालमालिनी—यदि हम जालों की माला वाली ऐसा विचार कर आगे बढ़ते हैं, जैसा कि इसकी फलमज्जा जाल युक्त होती है तो हमें 'जालिनी' नामक एक कोषातकी कुल का द्रव्य मिलता है, जिसे 'कृतवेधन' कहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन च० क० अ० ६।४ में देखें। अन्यथा उसी कुल का एक द्रव्य और है, जिसे श्रद्धेय प्राचीन टीकाकारों ने उद्धृत किया है—वह है देवदाली या देवताडक। ये दोनों एक ही द्रव्य के नाम हैं। देखें—'द्रव्यगुणविज्ञान' आचार्य प्रियव्रत शर्मा। ये दोनों ही द्रव्य विषघ्न हैं और वमन-विरेचन में प्रयुक्त भी किये जाते हैं।

सर्वेऽगदा यथादोषं प्रयोज्याः स्युः कृकण्टके ।

कृकण्टक विष-चिकित्सा—ऊपर जिन अगद (विषनाशक) योगों का वर्णन किया गया है, उन सबका दोषानुसार प्रयोग कृकण्टक विष में भी करना चाहिए ।

वक्तव्य—जङ्गमविषयुक्त प्राणियों का जो परिगणन सुश्रुत-कल्पस्थान, अध्याय ३ गद्य ५ में किया गया है, उन प्राणियों में 'कृकण्टक' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । वृद्धवाग्भट ने भी अष्टांगसंग्रह-उत्तरस्थान, अध्याय ४३ श्लोक ३-४ में जो पचपन प्रकार के कीटों का वर्णन किया है उसमें न 'कृकण्टक' का नाम आया है और न इस नाम से प्रमुख कोषकार ही परिचित हैं, अतएव प्राचीन टीकाकारों ने भी इसके व्याख्यान में मौन साध लिया है । इसी अध्याय के ९वें श्लोक में जिस प्रकार इसका परिगणन किया गया है और यहां जिस प्रकार इसकी चिकित्सा का सामान्य वर्णन किया है, इन दोनों स्थितियों को देखकर यह कोई कीट सामान्य प्रतीत होता है । इसके स्थान पर एक पाठभेद मिलता है—'त्रिकण्टक' । इसकी चर्चा अन्यत्र भी प्राप्त होती है। कौन जानता है, यही मूल पाठ रहा हो ?

त्रिकण्टक—इस पाठ को श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में उद्धृत किया है । सुश्रुत के अनुसार त्रिकण्टक आदि चार प्रकार के कीट समान गुण-धर्म वाले कहे गये हैं । यथा–'त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः। चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः' ॥ सु० क० अ० ८।२६ । श्रीजयदेव ने त्रिकण्टक का परिचायक पद्य इस प्रकार उद्धृत किया है—'वृक्षालयो दन्तविषः कृकलास इति स्मृतः । चन्द्राभः कृकलासोऽन्यस्तद्भेदस्तु त्रिकण्टकः' ॥ इसके अनुसार कृकण्टक या त्रिकण्टक या कृकलास (छिपकली) का पर्याय समझ में आता है और चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल वर्ण का कृकलास 'त्रिकण्टक' कहा जा सकता है ।

कपोतविण्मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद् रसः ॥ २०८ ॥
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्श्चिके ।

बिच्छूविष-चिकित्सा—कबूतर की बीट, बिजौरानीबू का रस, शिरीष के फूलों का रस, शंखिनी, मदार का दूध, सोंठ तथा करंज की गुद्दी—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण बना लें । चूर्ण को आवश्यकतानुसार लेकर मधु मिलाकर बिच्छू ने जहाँ काटा हो, उस स्थान पर लगा देने से विष-विकार का विनाश हो जाता है ।

वक्तव्य—इस योग में सूखे तथा गीले दो प्रकार के द्रव्य हैं । सूखे द्रव्यों के चूर्ण को गीले द्रव्यों में मिलाकर उसे छाया में सुखाकर रख लें, शेष स्पष्ट है ।

शिरीषस्य फलं पिष्टं स्नुहीक्षीरेण दार्दुरे ॥ २०९ ॥
मूलानि श्वेतभण्डीनां व्योषं सर्पिश्च मत्स्यजे ।

मेंढकविष-चिकित्सा—मेंढक के काट लेने पर शिरीष के बीजों को पीसकर सेहुंड के दूध के साथ मिलाकर दंशस्थान पर लेप करने से शीघ्र लाभ होता है ।

मछलीविष-चिकित्सा—मछली के काट लेने पर श्वेतभण्डी (सफेद अपराजिता) की जड़, सोंठ, मरिच, पिप्पली, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर वारीक पीस लें । आवश्यकतानुसार चूर्ण को घी में मिलाकर दष्टस्थान पर लेप लगायें । (यहाँ दूसरे पाठभेद भी मिलते हैं, उन्हें भी देख लें) ।

वक्तव्य—'वैद्यकशब्दसिन्धु' में 'श्वेतभण्डा' का पर्याय 'सफेद अपराजिता' दिया है । वृद्धवाग्भट ने मत्स्य-विषनाशक अगद के रूप में जिस योग का निर्देश किया है, वह इस प्रकार है—'मधु त्रिकटुकं श्वेतपिण्डामूलं च मत्स्यजे' । अ० सं० उ० अ० ४३।५६ । इसकी टीका करते हुए श्रीइन्दु लिखते हैं—'श्वेतपिण्डामूलं, मदनमूलम्', 'श्वेतभिण्डा' इति च पाठः । भण्डा-परिचय—भिण्डा भिण्डीतको भिण्डी भिण्डकः क्षेत्रसम्भवः । चतुष्पदः सुशाकश्च करपर्णोऽसुपत्रकः ॥ वृत्तबीजश्चतुष्पुण्ड्रो भिण्ड इत्यभिधीयते । ग्राहिण्युष्णा रुचिकरी साम्ला भिण्डा प्रकीर्तिता ॥ राजनिघण्टु । श्रीइन्दु का यह विवेचन एकांगीण है, क्योंकि चरक में 'श्वेतभण्डी' शब्द दिया है, न कि केवल भिण्डा या भिण्डी । अतः यह उद्धरण यहाँ निर्णायक नहीं माना जा सकता । भावमिश्र ने 'शिरीष' का एक पर्याय 'भण्डी' दिया है । इसके बीज श्वेताभ अवश्य होते हैं, यह विषनाशक भी है, किन्तु

श्वेतभण्डी के रूप में इसे भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसके गुण-धर्मों को देखकर प्रयोग करने की आज्ञा दी
जा सकती है । 'अष्टाङ्गसंग्रह-सूत्रस्थान' अध्याय १६।११ में केवल 'भण्डी' का उल्लेख है, न कि 'श्वेतभण्डी'
का । क्या यह 'श्वेतात्रिवृत्' तो नहीं है ? जरा शान्तचित्त से विचार करें । देखें—भा० प्र० गुडूच्यादिवर्ग,
प्रकरण ५।१८०-१८१ ।

कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम् ॥ २१० ॥
वातपित्तहरी चापि क्रिया प्रायः प्रशस्यते ।

जलौकाविष-चिकित्सा—ऊपर जो-जो चिकित्सा विषैले कीटों के दंश की कही गयी है, वही विषैली जोंकों की भी है । सामान्यरूप से वात-पित्तनाशक सभी चिकित्साएँ इन दंशों की शान्ति के लिए कही जाती हैं, क्योंकि चिकित्सकों द्वारा वह चिकित्सा प्रशंसित है ।

वार्श्चिको हयुच्चिटिङ्गस्य [1]कणभस्यौन्दुरोऽगदः ॥ २११ ॥

वृश्चिक आदि दंश-चिकित्सा—बिच्छू के दंश में जिस अगद का प्रयोग किया जाता है, उसी का प्रयोग
उच्चिटिंग (झींगुर) के विष की शान्ति के लिए भी करना चाहिए । मूषक विष का शमन करने के लिए इसी
प्रकरण में जिन अगदों (विषनाशक योगों) का निर्देश किया गया है, वे ही 'कणभ' विष का भी नाश करते हैं ।

वचां वंशत्वचं पाठां नतं सुरसमञ्जरीम् । द्वे बले नाकुलीं कुष्ठं शिरीषं रजनीद्वयम् ॥२१२॥
गुहामतिगुहां श्वेतामजगन्धां शिलाजतु । कत्तृणं कटभीं क्षारं गृहधूमं मनःशिलाम् ॥२१३॥
रोहीतकस्य पित्तेन पिष्ट्वा तु परमोऽगदः । नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु ॥२१४॥

परम-अगद—बालवच, बाँस की छाल, पाठा, तगर, तुलसी की मंजरी, बलामूल, अतिबलामूल, नाकुली (रास्ना), कूठ, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी, श्वेता (अपराजिता), अजमोदा, शिलाजीत, कत्तृण (गन्धतृण), कटभी (ज्योतिष्मती अथवा शिरीष की छाल), जवाखार, गृहधूम, मैनसिल इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, इस चूर्ण को रोहीतक के पित्त से पीसकर रख लें । यह उत्तम अगद है । इसका प्रयोग नस्य, अञ्जन आदि पद से लेप तथा परिषेक के रूप में करना चाहिए । इसको विश्वम्भर आदि सौम्य कीटों के दंश में भी प्रयोग करना चाहिए ।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में वचादि योग नामक इस **'परम-अगद'** में 'वचा' से लेकर 'मैनसिल'
तक के सभी द्रव्य द्वितीयान्त दिये गये हैं और 'रोहीतक' शब्द षष्ठ्यन्त है, किन्तु श्रीजयदेव वाले संस्करण में
वह षष्ठ्यन्त शब्द भी द्वितीयान्त दिया है । श्रीजयदेव उक्त षष्ठ्यन्त पाठ को अपपाठ स्वीकार करते हैं और
वे कहते हैं कि इसका संग्रह प्रमादवश हो गया है । श्रीचक्रपाणि के सम्मुख भी 'रोहीतकं' ही पाठ रहा
होगा, तभी उन्होंने **'पित्तेनेति, गोपित्तेन'** यह अर्थ किया है । नहीं तो वे 'रोहीतकपित्तसे' ऐसा अर्थ करते ।
आचार्य जेज्जट के सामने भी द्वितीयान्त पाठ ही रहा होगा । वे भी 'पित्तेन' का अर्थ 'गोपित्त' ही मानते हैं ।

रोहीतकस्य पित्तेन—जब हम इस पाठ पर विचार करते हैं, तो 'रोहीतक' और 'रोहित' शब्द अपने-
अपने अर्थ के बोधक हैं, न कि एक दूसरे के पर्याय हैं । यही कारण रहा होगा कि आचार्य गंगाधर ने उक्त
पाठ में गृहीत वृक्ष विशेष वाचक 'रोहीतक' शब्द में मत्स्यवाचक 'रोहित' शब्द की अभिधेयता का अभाव
देखकर ही इस प्रकार परिवर्तन किया होगा—'रोहीतमत्स्यपित्तेन पिष्टोऽयं परमोऽगदः' । वृद्धवाग्भट ने भी
इस योग को उद्धृत किया है । देखें—अ० सं० उ० अ० ४३।५७-५९ । इस प्रसंग में एक विचार और कर लेना
चाहिए कि, क्या रोहीतक का प्रयोग अगद के लिए करना युक्तियुक्त है ? जरा इसके गुण-धर्मों को देख लें ।
हमने निर्णयसागरीय प्रति को आधार मानकर उक्त अनुवाद किया है ।

विश्वम्भरादिषु—सुश्रुत-कल्पस्थान अ० ८।१२-१४ में विश्वम्भर आदि तेरह प्रकार के सौम्य कीटों का
उल्लेख किया गया है । इनके दंश से शरीर में कफ का प्रकोप हो जाता है । इसी के आगे का ३२वाँ गद्य
भी देख लें ।

---

१. 'शलभस्यौ' इति पा० ।

स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः सुरसाऽथाक्षिपीडकः। मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतपदीविषे ॥२१५॥

शतपदीविष-चिकित्सा—गोजर या कनखजूरा के दंश में सज्जीखार, बकरे की मेंगन का क्षार, तुलसी की पत्तियाँ, अक्षिपीडक इन सबको पीसकर मदिरा के स्वच्छ ऊपरी भाग में घोलकर छानकर पिलायें। नस्य, लेप तथा अञ्जन के रूप में भी इसका प्रयोग करें। इससे विषदोष शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—अक्षिपीडक—आचार्य गंगाधर के अनुसार जो औषधद्रव्यों का रस निचोड़कर निकाल कर आँख में डाल जाता है, उसे अवपीड या अक्षिपीडक कहते हैं—**'अक्षिपीडकः-पीडयित्वा यद् रसोऽक्षिणि दीयते सोऽवपीडोऽक्षिपीडकः'**। इति गंगाधरः। इसके विपरीत श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—**'अक्षपीडकः-श्वेतपीतशिम्बीभेदः'**। आपाततः दोनों आचार्यों के विचार मनोहर प्रतीत होते हैं। किन्तु हमारे विचार से तन्त्रकार किसी एक के ही पक्षपाती रहे होंगे।

इस पर थोड़ा विचार कर लिया जाय—ऊपर २१४वें श्लोक में 'परम अगद' का प्रयोग नस्य, अञ्जन तथा लेप आदि के लिए कहा गया है। प्रकरणानुसार हम इस योग का भी उन्हीं अर्थों में प्रयोग करेंगे। आचार्य गंगाधर ने 'अक्षिपीडक' को ही अवपीडक माना है, जो विरेचन नस्य का एक भेद है। इसका प्रयोग गले से ऊपर के विकारों में, कफज स्वरभेद में, अरुचि में, प्रतिश्याय में, शिरोरोग में, शोथ में, अपस्मार में तथा कुष्ठरोग में किया जाता है। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ८।१४-१५। हो सकता है कि विष के कारण उत्पन्न शिरोरोग या शोथ की दृष्टि से आचार्य गंगाधर ने यह अर्थ किया हो। श्रीचक्रपाणि ने जिस अक्षपीडक को सफेद और पीला शिम्बी धान्य का एक भेद कहा है, ऐसा एक धान्य 'मूंग' है और दूसरा 'सरसों'। देखें—भावप्रकाश, शिम्बीधान्य-प्रकरण १०।३७-३९ तथा ६३-६६। श्रीभावमिश्र के अनुसार यह 'मूंग' काली, पीली, हरी, सफेद, लालवर्णों की भी पायी जाती है। गुणों की दृष्टि से हरे रंग की मूंग उत्तम होती है। हमें ऐसा लगता है कि मूंग या सरसों का संकेत श्रीचक्रपाणि को नामतः करना चाहिए था, न कि वर्ण द्वारा। इससे सिद्ध होता है कि वे स्वयं किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये होंगे और मूलपाठ में दिये गये 'अक्षिपीड' शब्द को वे 'अक्षपीड' लिखते हैं। यही अक्षिपीड शब्द अगले श्लोक में भी आया है। इस विवाद से श्रीगंगाधर का मत अधिक स्पृहणीय है। लेप के लिए उक्त द्रव्यों को कुछ गाढ़ा तैयार करें।

कपित्थमक्षिपीडोऽर्कबीजं त्रिकटुकं तथा। करञ्जो द्वे हरिद्रे च [1]गृहगोधाविषं जयेत् ॥२१६॥

गृहगोधाविष-चिकित्सा—कैथ की गुद्दी, अक्षिपीड, मदार का बीज, सोंठ, मरिच, पिप्पली, करंज, हल्दी, दारुहल्दी इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का नस्य के लिए प्रयोग करें। पानी डालकर पीस लें, तब इसका अञ्जन एवं लेप आदि में प्रयोग करें। इससे छिपकली का विष शान्त हो जाता है।

[2]काकाण्डरससंयुक्तो विषाणां तण्डुलीयकः। प्रधानो बर्हिपित्तेन तद्वद् वायसपीलुकः ॥२१७॥

सर्वविध विषनाशक योग—काकाण्ड (काकतिन्दुक का फल, किवाँच का बीज, शूकर शिम्बी, मालकांगनी या कौए का अंडा) के तथा चौलाई के रस से तैयार किया गया यह योग सभी प्रकार के विषों में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार मोर के पित्त से पीसी गयी कुचिला सभी प्रकार के विषों का नाश करती है।

वक्तव्य—'वायसपीलुकः' यदि यह एक शब्द है, तो फिर श्रीचक्रपाणि ने 'वायसी' शब्द को अलग उद्धृत करके उसका अर्थ 'काकमाची'=मकोय दिया है। तब तो 'पीलु' को अलग द्रव्य मानना चाहिए, जो कोंकण देश में 'पीलु' नाम से ही प्रसिद्ध है। इसके गुण-धर्म के लिए देखें—सु० सू० अ० ४६।१९५। यदि हम 'वायसपीलुक' स्वीकार करते हैं, जो उचित भी प्रतीत होता है, तब इसका पर्याय 'काकादनीलता' होगा। हम विश्वास के साथ 'वायसपीलुक' का अर्थ 'कुचिला' करते हैं, जब कि पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अपनी-अपनी ढपलियों को पीटकर अलग-अलग राग निकाले हैं। ध्यान दें—काकपीलु का एक नाम 'कुपीलु' भी है। कुचिला स्वयं विष है, शुद्ध कर लेने के बाद ही इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें विषहर आदि अनेक गुण हैं।

१. 'गलगोड्या विषम्' इति पा०।

२. 'काकाण्डयुक्तः सर्वेषाम्' इति पा०।

वृद्धवाग्भट ने भी उक्त योग को इस प्रकार उद्धृत किया है—'काकाण्डयुक्तः सर्वेषां विषाणां तण्डुलीयकः। प्रशस्तो बर्हिणोऽण्डेन तद्वद् वायसपीलुकः'॥ अ० सं० उ० अ० ४३।६२। इस पर टीका करते हुए श्रीइन्दु लिखते हैं—'काकस्याण्डेन युक्तस्तण्डुलीयकः सर्वविषाणां प्रशस्तोऽगदः। तद्वद् मयूराण्डेन वायसपीलुकः काकपीलुकफलानि। काकपीलुको गुञ्जा'। इन्होंने 'काकाण्डरस' से कौए के अंडे का रस और 'वायसपीलुक' से गुञ्जा का ग्रहण किया है। ऐसे विवाद-ग्रस्त स्थलों पर प्रयोग करके निर्णय लेना ही प्रशस्त मार्ग है।

शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्घृतैः। श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे ॥२१८॥

इति पञ्चशिरीषोऽगदः।

पञ्चशिरीष अगद—शिरीष वृक्ष के फल, मूल, छाल, फूल, पत्ती इनको समभाग में लेकर पीसकर गाय का घी मिलाकर सेवन करने से यह सभी प्रकार के विषों का नाश करने में श्रेष्ठ है। इस पञ्चशिरीष नामक अगद को पीना चाहिए और दष्ट स्थान पर इसका लेप भी करना चाहिए।

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिर्वा नखदन्तक्षतं तु यत्। शूयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥२१९॥

नख-दन्तक्षत के लक्षण—चार पैर वाले कुत्ता आदि, द्विपद (दो पैर वाले वनमानुष, बन्दर आदि) के नख तथा दाँत से यदि घाव हो जाता है, तो उस स्थान पर शोथ (सूजन) हो जाता है, पक जाता है तथा स्राव होने लगता है, कभी-कभी ज्वर भी हो जाता है।

सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्यपि। रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥२२०॥

नख-दन्तक्षत-चिकित्सा—सफेद खैर की छाल, अश्वकर्ण (साखू) की छाल, गोजिह्वा (गाजवाँ), हंसपदी (हंसराज), हल्दी, दारुहल्दी, गेरू—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर जल मिलाकर पीस लें, इसका लेप करने से नखक्षत तथा दन्तक्षत से उत्पन्न विष का प्रभाव दूर हो जाता है।

दुरन्धकारे [1]विद्धस्य केनचिद् विषशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत्॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्चाप्येतच्छङ्काविषं मतम्।

शंका-विष के लक्षण—गहरे अन्धेरे में किसी काँटे आदि के चुभ जाने से जिसे चुभते समय देखा नहीं जा सका हो, उसके सम्बन्ध में जब मनुष्य को शंका हो जाती है कि किसी विषैले प्राणी ने उसे डस दिया है; इस भयज विष के वेग से ज्वर, वमन बेहोशी अथवा दाह (जलन), ग्लानि, मोह, अतिसार होने लगे तो उसे शंका विष कहा जाता है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने शंका विष के प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है—'सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः। कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत्'॥ सु० क० अ० ४।१९। सुश्रुत में इसे 'सर्पाङ्गाभिहत' कहा है, अर्थात् सर्पदंश के अतिरिक्त किसी अंग के स्पर्श मात्र से जो भय उत्पन्न होता है, उसे 'सर्प+अंग+अभिहत' कहते हैं।

चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासयन् बुधः॥ २२२॥

सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु। पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम् ॥२२३॥

शंकाविष-चिकित्सा—कुशल चिकित्सक परिस्थिति को समझकर सबसे पहले उस व्यक्ति को आश्वासन दे, तदनन्तर चिकित्सा प्रारम्भ करे—मिश्री, वैगन्धिक (शुद्ध गन्धक), मुनक्का, क्षीरकाकोली, मुलेठी, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण कर लें। मात्रानुसार लेकर मधु के साथ इसे चाटें या पीयें, शान्तिकर्म में प्रयुक्त अथर्ववेदोक्त मन्त्रों से अभिमन्त्रित किये गये जल को उसके शरीर पर छिड़कें, शान्ति के लिए उन मन्त्रों का पाठ करें तथा उसे प्रसन्न रखने का निरन्तर प्रयास करे।

वक्तव्य—राजनिघण्टु के अनुसार विगन्धिका का पर्याय हवुषा या अजगन्धा है। देखें—रा० नि० वर्ग ४। श्रीजयदेव ने वैगन्धिक शब्द का विशिष्ट गन्ध युक्त यह अर्थ करते हुए इसे चतुर्जात (दालचीनी, तेजपत्ता,

१. 'दष्टस्य' इति पा०।

छोटी इलायची, नागकेशर) स्वीकार किया है। हमने ऊपर जो अर्थ दिया है, वह श्रीचक्रपाणि-सम्मत अर्थ है। 'वैगन्धिकं' पाठ को श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में उद्धृत किया है।

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः। भोजनार्थे प्रशस्यन्ते लवणार्थे च सैन्धवम् ॥२२४॥
तण्डुलीयकजीवन्तीवार्ताकसुनिषण्णकाः। चुच्चूर्मण्डूकपर्णी च शाकं च कुलकं हितम् ॥२२५॥
धात्री दाडिमम्लार्थे यूषा मुद्गहरेणुभिः। रसाश्चैणशिखिश्वाविल्लावतैत्तिरपार्षताः ॥२२६॥
विषघ्नौषधसंयुक्ता रसा यूषाश्च संस्कृताः। अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानां भिषग्जितम् ॥

विष में पथ्य—स्थावर अथवा जंगम विष से पीड़ित पुरुषों के लिए चावलों में शालि के चावल, साठी के चावल, कोरदूष (कोदों के चावल), प्रियंगु इनका भोजन के लिए प्रयोग करें। नमकों में सैंधानमक का सेवन करे। शाकों में—चौलाई, जीवन्ती, बैगन, सुनिषण्णक (चौपतिया), चुच्चू (चैंचू), मण्डूकपर्णी तथा परवल हितकर होते हैं। अम्ल पदार्थों में आँवला तथा दाड़िम (खट्टे अनार) लाभदायक होते हैं। यूषों के लिए मूंग तथा हरेणु (बड़ा चना या मटर) का ग्रहण करना चाहिए। मांसरसों में—कालाहरिण, मोर, साही-भेद, लवा पक्षी, तीतर, पार्षत हरिण विशेष (Spotted antelope; V. S. Apte), विषनाशक औषध-द्रव्यों से तैयार किये गये तथा संस्कार युक्त मांस रस एवं जो विदाहकारक न हों, इस प्रकार के सभी अन्नों (आहारों) का प्रयोग कराना विष पीड़ितों के लिए उत्तम चिकित्सा है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव २२६वें पद्य के उत्तरार्ध को इस प्रकार पढ़ते हैं—'रसाश्चैणाश्च शिखिनां लावतैत्तिरपार्षताः'। इससे केवल निर्णयसागरीय प्रति में पठित 'श्वावित्' शब्द का ग्रहण नहीं हो पा रहा है।

विरुद्धाध्यशनक्रोधक्षुद्भयायासमैथुनम्। वर्जयेद् विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः ॥२२८॥

विषविकार में अपथ्य—इस अध्याय में निर्दिष्ट चिकित्सा से विष मुक्त हो जाने पर भी विरुद्ध भोजन (जैसे—दूध-मछली), अध्यशन (पहला भोजन न पचा हो तब तक दूसरा भोजन कर लेना), क्रोध करना, भूखा रहना, भय, शक्ति से अधिक परिश्रम करना, मैथुन (स्त्री-सहवास) तथा दिन में सोना, विशेष करके इन सबका उसे त्याग करना चाहिए।

मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः [1]स्रस्तौष्ठकर्णता। ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनम् ॥
रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः। चतुष्पदां भवत्येतद् दष्टानामिह लक्षणम् ॥२३०॥

पशुओं में दंश के लक्षण—चार पैर वाले (गाय, भैंस आदि) पशुओं को सर्प आदि विषैले प्राणी जब काट देते हैं, तो वे पशु बार-बार शिर को जमीन पर रखते हैं, उनके शरीर में सूजन हो जाती है, उनके होंठ और कान ढीले पड़ कर लटक जाते हैं, ज्वर हो जाता है, उनकी आँखें और शरीर के अवयव जकड़ जाते हैं, हनु (ठोढ़ी) काँपने लगती है, अंगों में मसलने की-सी पीड़ा होने लगती है, रोम टूट-टूटकर झड़ने लगते हैं। चेहरे पर मलिनता छा जाती है, बेचैनी, कँप-कँपी, चक्करों का आना, ये लक्षण उनमें दिखलायी देते हैं।

देवदारु हरिद्रे द्वे [2]सरलं चन्दनागुरु। रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुल्विक्षुरसो नतम् ॥२३१॥
चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम्। चतुष्पदानां दष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ॥२३२॥

विषयुक्त पशु-चिकित्सा—देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरल (चीड़ की लकड़ी, यह वृक्ष प्रायः देवदारु के जैसा ही होता है), चन्दन, काला अगरु, रास्ना, गोरोचन, जीरा, गुग्गुलु, ईख का रस, तगर, सैंधानमक, अनन्तमूल, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण कर लें, इस चूर्ण में गाय का पित्त मिलाकर रख लें। यह दष्ट विष पीड़ित चौपायों के सभी प्रकार के काम में आता है। अर्थात् इसे पशुओं को मधु मिलाकर पिलाया, सुंघाया तथा चटाया भी जाता है। इसे अंजन के रूप में भी प्रयोग में लाया जाता है। इसका दंशस्थान पर लेप भी किया जाता है।

---

१. 'शुष्कौष्ठकण्ठता' इति पा०।
२. 'सुरसं' इति पा०।

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोनानाङ्गजान् मलान्।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥२३३॥

स्त्रियों द्वारा गरविष-प्रयोग—सौभाग्य प्राप्ति के लिए स्त्रियाँ अपना पसीना, रज, अनेक अंगों से निकले हुए मलों को अन्न (भोजन) के साथ मिलाकर अथवा शत्रुओं द्वारा प्रेरित गरों (कृत्रिम विषों) को दे देती हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने भी इस प्रकार के आशय का एक पद्य इस प्रकार दिया है—'सौभाग्यार्थं स्त्रियो भर्त्रे राज्ञे वाऽरातिचोदिताः। गरमाहारसम्पृक्तं यच्छन्त्यासन्नवर्तिनः।' अ० सं० उ० अ० ४०।११ तथा अ० हृ० उ० अ० ३५।४८। कभी-कभी स्त्रियाँ—मेरा पति मुझे छोड़ न दे या अन्य स्त्री के साथ स्नेह न करने लगे, इन कारणों से—अपने पति या जिससे प्रेम-सम्बन्ध हो गया हो उसे अथवा कभी शत्रुओं द्वारा प्रेरित होकर राजा को भोजन के साथ गर विष खिला देती हैं।

यहाँ सौभाग्य का अर्थ है—'सुभगायाः सुभगस्य वा भावः, सौभाग्यम्'। पति के कारण पत्नी सौभाग्यवती और पत्नी के कारण पति सौभाग्यवान् होता है। पति-पत्नी का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्छल होता है और बनावटी जोड़े प्रायः बिछुड़ जाते हैं, या बिछुड़ सकते हैं, ऐसे ही अवसरों पर इस प्रकार के कुकृत्य होते हैं। इनसे कुछ समय तक प्रेमभाव भले ही बना रहे, किन्तु जिसे यह गरविष दिया जाता है, वह दिनों दिन क्षीण होता जाता है।

गरविष की परिभाषा—अनेक सर्प आदि विषैले प्राणियों के अंग-प्रत्यंग, मल, विरोधी द्रव्यों की भस्मों तथा हीन वीर्य विषों का योग 'गरविष' कहा जाता है। प्राचीन काल में होने वाला विषकन्या-प्रयोग भी प्रायः इसी प्रकार का एक ऐतिहासिक कुकृत्य है।

तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते। मर्मप्रधमनाध्मानं श्वयथुं हस्तपादयोः ॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः[1]। एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥
स्वप्ने मार्जारगोमायुव्यालान् सनकुलान् कपीन्।
प्रायः पश्यति नद्यादीञ्छुष्कांश्च सवनस्पतीन् ॥२३६॥
कालश्च गौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम्। विकर्णनासिकं वाऽपि [2]प्रपश्येद् विहतेन्द्रियः ॥

गरविष के लक्षण—उन विभिन्न प्रकार के गर (कृत्रिम) विषों का सेवन हो जाने पर मनुष्य का शरीर पाण्डुवर्ण का तथा कृश हो जाता है। उसकी पाचक अग्नि मन्द पड़ जाती है, मर्म (हृदय) प्रदेश की धकड़न तेज हो जाती है, पेट फूलने लगता है, हाथ-पैरों पर सूजन हो जाती है, उसे विविध प्रकार के उदररोग हो जाते हैं, ग्रहणी-विकार, यक्ष्मा, गुल्म, धातुक्षय, ज्वर तथा इसी प्रकार अन्य व्याधियों के लक्षणों को भी वह प्रकट कर देता है। वह आगे चलकर अशुभ स्वप्नों को देखने लगता है, यथा—बिलार, गोमायु (सियार), व्याल (शेर, बाघ, भालू आदि हिंसक प्राणी), नेवला, बन्दर तथा सूखी नदियों, वनों को देखता है। यदि रोगी जन्म से श्यामवर्ण का है तो वह अपने को स्वप्न में गौरवर्ण का और यदि गौरवर्ण का है तो अपने को कालेवर्ण का देखता है, अर्थात् अपने वास्तविक वर्ण को बदला हुआ देखता है; वह अपने को कान, नाक रहित देखता है। जागृत अवस्था में वह अनुभव करता है कि उसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में पूर्ण रूप में समर्थ नहीं हैं।

वक्तव्य—ऊपर जो 'सौभाग्यार्थं' पद का प्रयोग किया गया है, यह प्रेमी या प्रेमिका को भुलावा देने का एक प्रकार है। भोले-भाले प्राणी दुष्टों की भाषा और उनके कुटिल भावों को न पहचान कर इस प्रकार के कुकृत्य कर बैठते हैं। जो पत्नी अपने जीवन संगी (पति) के साथ ऐसा व्यवहार करेगी, क्या वह सुखी रह सकती है, उसका पति उसे किसी प्रकार का सुख दे सकता है? कभी नहीं। यही स्थिति प्रजा की प्रजापति (राजा) के साथ भी होती है।

---

१. 'जठरं ग्रहणीरोगं यक्ष्माणं विषमज्वरम्' इति पा०।
२. 'प्रपश्येदहतेन्द्रियः' इति पा०।

इन्हीं लक्षणों का प्रतिपादन वाग्भट ने भी किया है। उन्होंने इतना अधिक कहा है—'एतैरन्यैश्च बहुभिः क्लिष्टो घोरैरुपद्रवैः। गरार्तो नाशमाप्नोति कश्चित् सद्योऽचिकित्सितः' ॥ अ० हृ० उ० अ० ३५।५४ तथा अ० सं० उ० अ० ४०।११३-११७। ऊपर कहे गये अरिष्टलक्षण-सूचक स्वप्नों के लिए आप चरक-इन्द्रियस्थान अ० ५ श्लोक २७ से ४६ तक देखें और **'विहतेन्द्रिय'** शब्द के परिचय के लिए चरक इ० अ० ४ सम्पूर्ण देखें।

गरविष—यह उपविष, संयोगजविष या कृत्रिमविष नाम से प्रसिद्ध है। यह निर्विष द्रव्यों के योग से भी बन जाता है। जैसे—विरुद्धाशन, मधु-घृत का योग, दूध-मछली आदि। अतः जिस प्रकार के द्रव्यों के योग से इसका निर्माण किया जाता है, तदनुसार उसमें ये उपर्युक्त लक्षण प्रकट हो जाते हैं, जिसे इन गरविषों का सेवन कराया जाता है।

तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत् किं कैः कदा सह। जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद् वमनं भिषक्॥

गरविष में वमन-प्रयोग—ऊपर कहे गये लक्षणों से युक्त व्यक्ति को देखकर विद्वान् चिकित्सक रोगी से पूछे कि तुमने कब किसके साथ क्या खा लिया और उस वस्तु को तुम्हें किसने दिया, इन प्रश्नों से जानकारी प्राप्त कर चिकित्सक शीघ्र ही उसे वमन कराने वाली औषधियाँ पीने के लिए दिलाये।

वक्तव्य—गरविष सेवन का परिज्ञान रोगी को शीघ्र नहीं हो पाता है। यदि पता हो जाय, तो उसे शीघ्र ही चिकित्सक से परामर्श लेना चाहिए। महर्षि दयानन्द को जब घातकविष दिया गया, तो उन्होंने यौगिक क्रिया से वमन द्वारा विष को बाहर निकाल दिया था, वह गरविष नहीं था। कभी गरविष से पीड़ित व्यक्ति को यह पता भी नहीं लगता कि कब, किसने, कैसे क्या खिला दिया; ऐसी स्थिति में उक्त लक्षणों को देखकर ही चिकित्सा की जा सकती है।

सूक्ष्मं ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद् विशोधनम्। शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ॥२३९॥
हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति। न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत् ॥२४०॥

वमन आदि योग—गरविष से पीड़ित व्यक्ति को वमन कराने के लिए अशुद्ध ताँबे का सूक्ष्म चूर्ण अल्प मात्रा में मधु के साथ चटा दें (क्योंकि अशुद्ध ताम्र में ही 'वान्ति भ्रान्ति' दोष होते हैं, शुद्ध में नहीं)। यह उत्तम वमनकारक होता है, इससे वमन होकर हृदय शुद्ध हो जायेगा। हृदय के शुद्ध हो जाने पर एक शाण (४ माशा) भर सुवर्ण चूर्ण में मधु मिलाकर दिलायें, क्योंकि सुवर्ण सभी प्रकार के विषों तथा गरविषों को शीघ्र ही नष्ट कर देता है। सुवर्ण का पान करने वाले के अंगों में विष उस प्रकार नहीं टिक पाता है, जिस प्रकार कमल-पत्र पर पानी।

वक्तव्य—हृदय के शुद्ध हो जाने पर सुवर्ण भस्म का प्रयोग कराना चाहिए। जिस प्रकार रोगमुक्त व्यक्ति को पथ्य का सेवन कराया जाता है, विष से आक्रान्त हृदय रुग्ण हो जाता है, अतः विषदोष को दूर करने के बाद हृदय को बल प्रदान करने के लिए यहाँ सुवर्ण प्रयोग बतलाया गया है।

सुवर्णभस्म के गुण—'हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विपुद्धिस्थिरत्वकृत्। विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोष-जित्' ॥ भा० प्र० धातुशोधनमारणविधि। १८। **हेमपाङ्गे**—'हेम पिबति, इति हेमपः, तस्य अङ्गे शरीरे'। विशेष देखें—अ० सं० सू० अ० ८।९३-९४।

नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुक्पयःफलैः। साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम् ॥२४१॥
सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये।

नागदन्त्यादि घृत—नागदन्ती, निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती, थूहर का दूध, मैनफल—इन द्रव्यों के कल्क तथा १ आढक (२५६ तोला) गोमूत्र से यथाविधि भैंस का घी १ प्रस्थ=६४ तोला पकाकर सभी प्रकार के सर्पविष, कीटविष एवं गरविष से पीड़ितों को विषशान्ति के लिए देना चाहिए।

वक्तव्य—यह योग जतूकर्णसंहिता में इस प्रकार उद्धृत है—'नागदन्तीस्नुकक्षीरफलैर्गोमूत्रसिद्धं माहिषं घृतं पाययेत्'। इस योग में नागदन्ती, थूहर का दूध, मैनफल, गोमूत्र तथा भैंस का घी, इतने ही द्रव्य हैं। अर्थात् निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती ये तीन द्रव्य नहीं हैं। **नागदन्ती**—महाराष्ट्र प्रदेश में यह द्रव्य इसी नाम से

प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख सु० चि० अ० १७ में, च० वि० अ० ८ में तथा रा० नि० वर्ग ५ में द्रष्टव्य है। भाव-प्रकाश में दन्तीद्वय नाम से दन्ती, द्रवन्ती का परिचय दिया है।

ऊपर नागदन्ती आदि द्रव्यों का परिमाण नहीं दिया है। वृद्धवाग्भट ने **'फलैः'** के स्थान पर परिमाण वाचक **'पलैः'** शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु श्री इन्दु ने इस पर कोई टीका या टिप्पणी नहीं की है। वह पाठ इस प्रकार है—'नागदन्ती त्रिवृद्दन्ती द्रवन्ती स्नुक्पयः पलैः। साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम् ॥ सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये' ॥ अ० सं० उ० अ० ४०।१२९। किन्तु चरकसंहिता के अनेक संस्करणों में 'फलैः' पाठ ही देखा गया है। 'फलैः' शब्द का ग्रहण श्रीजतूकर्ण ने भी किया है।

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफलां चन्दनोत्पले ॥ २४२ ॥

द्वे बले सारिवास्फोतासुरभीनिम्बपाटलाः। बन्धुजीवाढकीमूर्वावासासुरसवत्सकान् ॥२४३॥
पाठाङ्कोलाश्वगन्धार्कमूलयष्टयाह्वपद्मकान्। विशालां बृहतीं लाक्षां कोविदारं शतावरीम् ॥
कटभीदन्त्यपामार्गान् पृश्निपर्णीं रसाञ्जनम्। श्वेतभण्डाश्वखुरकौ कुष्ठदारुप्रियङ्गुकान् ॥२४५॥
विदारीं मधुकात् सारं करञ्जस्य फलत्वचौ। रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम् ॥
तुल्याम्बुच्छागगोमूत्रत्र्याढके तद्विषापहम्। अपस्मारक्षयोन्मादभूतग्रहगरोदरम् ॥२४७॥
पाण्डुरोगक्रिमीगुल्मप्लीहोरुस्तम्भकामलाः। हनुस्कन्धग्रहादींश्च पानाभ्यञ्जननावनैः ॥२४८॥
हन्यात् सञ्जीवयेच्चापि विषोद्बन्धमृतान्नरान्। नाम्नेदममृतं सर्वविषाणां स्याद् घृतोत्तमम् ॥
इत्यमृतघृतम्।

अमृतघृत—शिरीष की छाल, सोंठ, मरिच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चन्दन, नीलकमल, बरियारा की जड़, ककही मूल, अनन्तमूल, अपराजिता, सलई, नीम, पाटला, बन्धुजीव (दुपहरिया), अरहर, मूर्वामूल, अड़ूसा की पत्ती, तुलसी की पत्ती, कुटज की छाल, पाठा, अंकोल, असगन्ध, मदार की जड़, मुलेठी, पद्मकाठ, इन्द्रायण की जड़, बड़ी कटेरी, कच्चीलाख, कचनार, शतावर, मालकांगनी, दन्तीमूल, अपामार्ग, पृश्निपर्णी, रसौत, सफेद कटसरैया, अश्वखुरक (नखी या घोड़े का खुर), कूठ, देवदारु, प्रियंगु, विदारीकन्द, महुआ वृक्ष की भीतर की लकड़ी, करंज की गुद्दी तथा छाल, हल्दी, दारुहल्दी तथा लोध इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ अक्ष (१-१ तोला) प्रमाण में पीसकर कल्क तैयार करें, गाय का घी १ आढक (२५६ तोला), जल १ आढक, गाय तथा बकरी का मूत्र ३ आढक, इन सबको एक में मिलाकर विधिपूर्वक घृतपाक करें। तैयार हो जाने पर उसे दूसरे दिन छानकर रख लें।

यह 'अमृतघृत' सभी प्रकार के विकारों का नाश करता है। अपस्मार, क्षय, उन्माद, भूतग्रह, गरविष, उदररोग, पाण्डुरोग, क्रिमि, गुल्म, प्लीहा, ऊरुस्तम्भ, कामला, हनुग्रह (हनु का जकड़ जाना), स्कन्धग्रह (कन्धा का जकड़ जाना) आदि रोगों का विनाश करता है। इसका प्रयोग पीने के रूप में, मालिश के रूप में, नस्य के रूप में किया जाता है। विष के प्रकोप से अथवा फाँसी पर लटक कर तत्काल मृतप्राय पुरुषों को यह पुनः जीवित कर देता है। यह घृत विषनाशक घृतों में सर्वोत्तम है।

वक्तव्य—श्री चक्रपाणि ने 'अश्वखुरक' का पर्याय तालमखाना या स्यन्दन दिया है, किन्तु भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी इनको अश्वखुरक का पर्याय नहीं माना है। काश्मीरी नरहरपंडित ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार उसकी चर्चा की है—'अश्वक्षुराद्रिकर्णी च कटभी चापराजिता'। रा० नि० गुडूच्यादिवर्ग। श्रीजयदेव ने 'विषोद्बन्धमृतान्नरान्' के स्थान पर विषोद्बन्धधृतान्नरान्' पाठ अपनाया है। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को कुछ परिवर्तनों के साथ अपनाया है। अ० सं० उ० अ० ४०।१३४-१४०। आप भी देखें, कहाँ-कहाँ क्या क्या परिवर्तन किये हैं।

आचार्य गङ्गाधर ने 'श्वेतभण्डाश्वखुरकौ' के स्थान पर 'श्वेतौ बालाश्वखुरकौ' पाठ की नयी रचना कर डाली है। इसके अनुसार सफेद वर्ण के घोड़े के बच्चे का खुर लेना निर्विवाद है। तब तो तालमखाना, स्यन्दन, अपराजिता किसी की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। श्रीजयदेव द्वारा स्वीकृत **'करञ्जस्य फलं वचाम्'** पाठ के स्थान पर निर्णयसागरीय **'करञ्जस्य फलत्वचौ'** इस पाठ को आचार्य गङ्गाधर ने महत्त्व दिया है, जो सर्वथा उचित है।

भवन्ति चात्र--

छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ तथा दिवा। तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगाः ॥२५०॥

छाता, वंशदण्ड-धारण के लाभ—इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ पद्य दिये हैं—दिन तथा रात में जहाँ सर्प का भय हो, वहाँ छाता ओढ़कर और झर्झर को हाथ में लेकर चले। छाता की छाया तथा झर्झर के शब्द से घबड़ाकर साँप शीघ्र भाग जाते हैं।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने दिन में छाता तथा रात में डंडा लेकर चलने की व्यवस्था दे रखी है, जो उचित प्रतीत होती है। कुछ ने दोनों को साथ-साथ लेकर चलने की सलाह दी है। छत्र की छाया प्रकाश रहने पर दिन-रात सब समय दिखलायी देती है। **झर्झर**—अमरसिंह इसे वाद्य भेद मानते हैं। अमरकोष-नाट्यवर्ग। ८। अन्य टीकाकारों ने इसे बाँस का फटा डंडा स्वीकार किया है। पञ्चतन्त्र में दी गयी 'हिरण्यक कथा' को देखें—एक चूहे को डराने के लिए स्वामी जी 'जर्जर' वंश खंड को लिये हैं, उसी को बार-बार जमीन पर पटकते हैं। झर्झर का अर्थ 'वृहत् हिन्दी कोष' में 'झांझ' दिया है। यह दो हाथों से बजाया जा सकता है, फिर छाता पकड़ना कठिन हो जायगा। वाग्भट-द्वय एक ही प्रकार के श्लोक को उद्धृत करते हैं। तदनुसार विशेष रूप के छत्र और झर्झर का धारण रात्रि में ही करना चाहिए। श्रीइन्दु 'झर्झर' को 'झणझण' शब्द करने वाला लौहनिर्मित कटक (कड़ा या चूड़ी) के आकार का मानते हैं, जिसे बाँस डंडे में पहनाकर रात को चलने से आवाज होती है। कुछ लोग डंडे में घुंघरू पिरोकर उसे साथ लेकर रात में चलते हैं।

विशेष—नैनीताल जिला में रानीबाग के समीप गौला नदी के दक्षिण तटपर कुछ समय पहले एक **'बेतिया'** साँप का आतंक था, जो सर्प १२ अंगुल लम्बा होता था और उछल कर सिर पर दंश करता था, उसके प्रतीकार के लिए स्थानीयजन सिर पर कड़ाही डालकर या छाता ओढ़कर उस स्थान की दूरी को पार करते थे। सम्भव है यह 'छत्रधारण' का निर्देश तन्त्रकार ने इस दृष्टि से भी किया हो।

दष्टमात्रो दशेदाशु तं सर्पं लोष्टमेव वा। उपर्यरिष्टां बध्नीयाद् दंशं छिन्द्याद्दहेत्तथा ॥२५१॥

तात्कालिक चिकित्सा-निर्देश—साँप के काट लेने पर शीघ्र ही वह साँप को काट ले, अथवा किसी मिट्टी के ढेले को काट ले, तदनन्तर उस दंशस्थान के ऊपर अरिष्टा बाँध ले, उसके बाद दंशस्थान को चाकू आदि से काटकर उस स्थान को जला देना चाहिए।

वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका। कर्केतनः सर्पमणिर्वैदूर्यं गजमौक्तिकम् ॥२५२॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः। खगाश्च शारिकाक्रौञ्चशिखिहंसशुकादयः ॥२५३॥

सर्पदंश-निवारक मणि-प्रयोग—सर्प दंश न कर सके अथवा उसके विष का प्रभाव शरीर पर न पड़े इसके लिए वज्र (हीरा), मरकतमणि (मरकं तरति, अनेन=पन्ना) का सारभाग (निर्दोष अंश), पिचुक (मणिविशेष—जो उत्तरापथ में प्रसिद्ध है), विषमूषिका (विषमणि), कर्केतनमणि (पद्मराग), सर्पमणि (यह साँप के शिर पर होती है), वैदूर्य (लहसुनिया), गजमौक्तिक (हाथी के मस्तिष्क से प्राप्त होने वाली मणि), गरमणि (ये कृत्रिम विष-नाशक मणियाँ होती हैं) और भी जो विषनाशक श्रेष्ठ औषधियाँ कही गयी हैं, उनको धारण करना चाहिए। घर में सारिका (मैना), क्रौंच (जलमुर्गी, कुररी), मोर, हंस, शुक (तोता) इनको भी पालना चाहिए। इनसे विष का प्रभाव नहीं पड़ने पाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने विषनाशक मणियों की चर्चा इस प्रकार की है—'कर्केतनं मरकतं वज्रं वारण-मौक्तिकम्। वैदूर्यं गर्दभमणिं पिचुकां विषमुष्टिकाम् ॥ हिमवद्गिरिसम्भूतां सोमराजीं पुनर्नवाम्। तथा द्रोणीं महाद्रोणं मानसीं सर्पजं मणिम् ॥ विषाणि विषशान्त्यर्थं वीर्यवन्ति च धारयेत्' ॥ अ० सं० उ० अ० ४२।१०७-१०८। इन्होंने कुछ योग बृहस्पति के नाम से उद्धृत किये हैं। इनका अवलोकन भी करें और इन योगों का प्रयोग विषदोष की रक्षा के लिए करें तथा करायें। देखें—अ० सं० सू० अ० ८।६२ से ७३ तक। विषत्रास से मुक्ति प्राप्त करने के लिए श्लोक ६७-६८ में कहे गये मणि का धारण करें।

तत्र श्लोकः—

इतीदमुक्तं द्विविधस्य विस्तरैर्बहुप्रकारं विषरोगभेषजम्।
अधीत्य विज्ञाय तथा प्रयोजयन् व्रजेद् विषाणामविषह्यतां बुधः ॥ २५४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अध्यायगत विषयों का उपसंहार—इस अध्याय में दो प्रकार (१. स्थावर तथा २. जंगम विषों) के विषों के सेवन भेद से होने वाले विषरोगों की अनेक प्रकार से चिकित्सा बतलायी गयी है। इन चिकित्सा विधियों को भली-भाँति समझकर विद्वान् चिकित्सक प्रयोग करता हुआ विषों के दुष्प्रभाव से विषदष्ट रोगी को सुखी कर सकता है।

वक्तव्य—सविष तथा निर्विष दोनों ही प्रकार के सर्प दंश करते हैं। चिकित्सा के पहले यह निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक होता है, अन्यथा रोगी को कष्ट और चिकित्सक को अपयश मिलता है। अतः यहाँ कतिपय सुप्रसिद्ध साँपों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **दर्वीकर या कोबरा** (Cobra)—सबसे विस्तृत फण इसी का होता है, अतएव इसे फणी कहते हैं। इसके फण के ऊपरी भाग में एक विशेष प्रकार का चिह्न होता है, जिसे विष्णुपद कहते हैं। फण के भीतरी भाग में भी एक लक्षण दिखलायी देता है, जैसा अन्य किसी में नहीं होता है। इसका रंग काला, भूरा तथा गेहुआँ होता है। यह शीघ्र क्रुद्ध हो जाता है। इसका विष अत्यन्त घातक होता है। इसके काटने पर यदि तत्काल चिकित्सा नहीं कर ली जाती है, तो रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। कृष्ण सर्प की ही भाँति इसकी अनेक मिश्र जातियाँ होती हैं। यह वात प्रकृति वाला अतएव शीघ्र मृत्युकारक होता है।

२. **मण्डली या गोनस** (Russell's viper)—इस जाति के सभी साँप पित्त प्रकृति के होते हैं। ये महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल में अधिकांश पाये जाते हैं। इसकी लम्बाई प्रायः ४-५ फुट होती है। इसके शरीर पर काले वर्ण के मंडल होते हैं, अतएव इसे मंडली कहते हैं। यह बार-बार फुँफकारता रहता है तथा दंश करते समय बहुत देर तक वहीं फँसा रहता है।

३. **राजिमान्**—इसी को 'करैत' भी कहते हैं। यह कफ प्रकृति का होता है। इसके शरीर पर सफेद, हल्की पीली रेखाएँ होती है। इसका मुख अपेक्षाकृत अन्य साँपों से छोटा होता है, दाँत भी छोटे होते हैं। यह साँप शान्त तथा डरपोक होता है, रात में अधिक घूमता है। चरक में प्रधानरूप से इन्हीं साँपों का वर्णन किया गया है। अग्निपुराण तथा भविष्यपुराण में साँपों का विशेष वर्णन मिलता है।

कुछ अन्य सर्प भी लोकप्रसिद्ध हैं, यथा—**थाल** (Vipers)—इनके सिर में, आँखों में तथा नाक के बीच में गड्ढा होता है। ये साँप १५०० से १० हजार फुट की ऊँचाई तक पाये जाते हैं। **फुरसा** (Foris carinata)—ये जब क्रुद्ध होते हैं, तो इनके फण के भीतरी भाग में 'S' जैसा चिह्न दिखलायी देता है। इसकी पीठ पर दो टेढ़ी रेखाएँ बीच में चौकोर धब्बे जैसी दिखलायी देती हैं। यह रेतीले स्थानों में दिन में घूमता हुआ पाया जाता है। कुछ साँप जल के भीतर भी रहते हैं। ये विषैले तथा निर्विष दोनों प्रकार के होते हैं।

चिकित्सा के मूल सिद्धान्त—१. विष शरीर में फैल न सके, इसका प्रयत्न करें। २. किसी भी प्रकार विष को शरीर से बाहर निकालना तथा ३. दंशस्थान से विष के प्रभाव को समाप्त करना, ४. विष का प्रकोप मालूम होते ही सर्वप्रथम हृदय की रक्षा का पूर्णरूप से प्रयत्न करना, ५. विष को निर्विष करने के लिए प्रति-लोम विष का प्रयोग करना। जैसे—जंगमविष के प्रभाव को स्थावरविष के प्रयोग से और स्थावरविष के प्रभाव को जंगमविष द्वारा शान्त कराना। इसके अतिरिक्त पूर्ण चिकित्सा का निर्देश यहाँ किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में विषरोगचिकित्सित नामक तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

विषरोग-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से मदात्ययरोग-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—विष और मद्य का कितना सम्बन्ध है, इसका विशद विवेचन महर्षि आत्रेय ने इसी अध्याय के १८ श्लोक से १०७ श्लोक तक किया है, अतः वहीं देखें। विष और मद्य के गुण समान हैं। इसके लिए आप सु० क० अ० २।१९-२३ देखें। ईश्वर की लीला विचित्र है। जहाँ विष और मद्य जैसे हानिकारक द्रव हैं उनके दोषों को दूर करने वाला तथा इनके सर्वथा विपरीत गुणों वाला गाय का दूध भी मानव के लिए सुलभ किया है। **गोदुग्ध के दस गुण**—'स्वादु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न। विष के गुणों की चर्चा तेईसवें अध्याय में की जा चुकी है। अब मद्य के गुण तथा दुर्गुणों की चर्चा की जायेगी।

मदात्यय की निरुक्ति—'मद+अच्, अति+इ+अच्', मद का आक्रमण अथवा सुरापान के कारण होने वाला विकार।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० २४। च० चि० अ० २४। सु० उ० अ० ४६-४७। अ० सं० नि० अ० ६। अ० सं० चि० अ० ९। अ० हृ० नि० अ० ६। अ० हृ० चि० अ० ७।

सुरैः सुरेशसहितैर्या [1]पुरा परिपूजिता। सौत्रामण्यां हूयते या कर्मिभिर्या प्रतिष्ठिता ॥३॥
यज्ञौही या यया शक्रः सोमातिपतितो भृशम्। निरोजस्तमसाऽऽविष्टस्तस्माद् दुर्गात् समुद्धृतः ॥
विधिभिर्वेदविहितैर्वा यजद्भिर्महात्मभिः। दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च यज्ञीया यज्ञसिद्धये ॥५॥

मदिरा की प्रशंसा—देवराज इन्द्र सहित सभी देवताओं ने जिस मदिरा का प्राचीनकाल में समादर किया था, अर्थात् विविध प्रकार के यज्ञीय अनुष्ठानों के अवसर पर उसका सेवन किया था, सौत्रामणी (सुत्रामा =इन्द्र है देवता जिसका, इस प्रकार का एक यज्ञ, जो इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है) नामक यज्ञ में हवन करने वालों द्वारा जिसकी आहुति दी जाती हैं, यज्ञ करने वाले जिसका सम्मान करते हैं, जो मदिरा यज्ञीय कार्यों का निर्वाह करती है, जिस मदिरा रूप सोमरस का अधिक सेवन करने से इन्द्र अत्यन्त निर्बल, ओज रहित होकर आँखों के सामने अन्धकार छा गया था, उस दुर्गति से जिस मदिरा ने उनका उद्धार किया, वेदोक्त विधियों द्वारा यज्ञ करते हुए ऋषि-महर्षियों द्वारा यज्ञ में सफलता प्राप्त करने के लिए जिस (मदिरा) का दर्शन और स्पर्श करना आवश्यक होता है, उसी का वर्णन इस प्रकरण में किया जायगा।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्यों में मदिरा का ऐतिहासिक महत्त्व बतलाते हुए संक्षेप में उसके गुण-दोषों की चर्चा की गयी है। प्राचीनकाल में यह सुरा रोग-निवारण करने के लिए भी प्रयुक्त होती थी। अतएव यह सूक्ति प्रसिद्ध है—**'औषधार्थे सुरां पिबेत्'**। इसका आशय यह है—**'औषधं विना सुरां न पिबेत्'**। औषधीय उपयोग के बिना मद्य का पान न करे, क्योंकि मद्यपान की गणना महापातकों में है। इनमें भी धार्मिक दृष्टि से ये सुराएँ निषिद्ध हैं—**पैष्टी** (जौ, गेहूँ आदि से बनायी गयी), **गौड़ी** (गुड़ द्वारा निर्मित), **माध्वी** (महुआ के फूलों से निर्मित), और सुराएँ उतनी निषिद्ध नहीं मानी गयी हैं। प्राचीनकाल में इसका निर्माण अश्विनीकुमार आदि ने किया था। 'विधिभिर्वेदविहितैर्वा' के स्थान पर 'विधिभिर्वेदविहितैर्या' पाठ होना चाहिए।

सौत्रामणि यज्ञ-निर्देश—इस सूक्त के मन्त्रों का प्रजापति ऋषि, सुरा देवता और छन्द अनुष्टुप् है। **मन्त्र**—ॐ स्वाद्वीन्त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणाऽमृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि स सोमेन सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व, सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व' ॥ इन मन्त्रों को विस्तार से यजुर्वेद-काण्डशाखा अ० २१ से २३ तक और यजुर्वेदसंहिता अ० १९ में भी देखें।

योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या। भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात् ॥६॥

१. 'सुरा' इति पा०।

मद्य की निरुक्ति—यद्यपि मदिरा योनि (उत्पत्ति-स्थानों) तथा संस्कार-भेदों के कारण अनेक नामों वाली होती है, तथापि सभी प्रकार की मदिराओं में मदकारिता एक ऐसा सामान्य लक्षण है, जिसके कारण वह एक ही प्रकार की कही जाती है।

वक्तव्य—आसवयोनियों की विस्तारपूर्वक चर्चा च० सू० अ० २५ गद्य ४९ में देखें। संस्कार सम्बन्धी चर्चा भी उक्त गद्य के अन्तिम पंक्तियों में निर्दिष्ट है।

या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ॥ ७ ॥

मद्य के विभिन्न रूप—जो मदिरा अमृतरूप होकर देवताओं का, स्वधा रूप होकर पितरों का और सोम रूप धारण कर यज्ञकर्मतत्पर द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) का कल्याण करती है, अर्थात् इसका मात्रानुसार सेवन करने से सभी शक्तिसम्पन्न होते हैं।

आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या। वीर्यमैन्द्रं च या सिद्धा सोमः सौत्रामणौ च या ॥
शोकारतिभयोद्वेगनाशिनी या महाबला। या प्रीतिर्या रतिर्या वाग् या पुष्टिर्या च निर्वृतिः ॥
या सुरासुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः। रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ॥१०॥

मात्रानुसार मद्य-सेवन से लाभ—जो मदिरा अश्विनीकुमारों का महान् तेज है, जो सरस्वती का बल स्वरूप है, जो इन्द्र का वीर्य (शक्ति) स्वरूप है, जो सौत्रामणि यज्ञ में सिद्धिप्रद सोमरस रूप है, जिसका सेवन कर लेने पर शोक, अरति (बेचैनी), भय, घबड़ाहट का नाश हो जाता है, जो अत्यन्त शक्तिशाली होती है, जिसको पीने के बाद प्रसन्नता उत्पन्न होती है, जो कामवासना को बढ़ाती है, जो बुद्धि को बढ़ाती है अर्थात् जिससे वाक् शक्ति की वृद्धि होती है, जिससे शरीर की पुष्टि होती है, जिससे निर्वृति (निश्चिन्तता) प्राप्त होती है, जिसे सुर (देव), असुर (दैत्य), गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा मनुष्यों ने रति एवं सुरा संज्ञा दी है, उस सुरा को विधिपूर्वक पीना चाहिए।

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान्। प्रावृतो निर्मलैर्वस्त्रैर्यथर्तूद्दामगन्धिभिः ॥११॥
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः। देवद्विजातीन् सम्पूज्य स्पृष्ट्वा मङ्गलमुत्तमम् ॥१२॥
देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते। [1]सरसासम्मते मुख्ये धूपसम्मोदबोधिते ॥१३॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने। उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ॥१४॥
सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि। भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥१५॥

१. मद्य-सेवन-विधि—मद्यपान करने की इच्छा वाले व्यक्ति स्नान आदि द्वारा अपने शरीर को सुसंस्कृत करके पवित्र होकर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों को लगाकर, निर्मल वस्त्रों को धारण कर ऋतु के अनुसार उत्तम गन्ध वाले रंग-बिरंगे फूलों की माला को पहनकर, रत्नजटित आभूषणों से अलंकृत होकर, देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा करके उत्तम मांगलिक द्रव्यों का स्पर्श कर, ऋतु के अनुसार अच्छे स्थान में जहाँ फूल बिखेरे गये हों, सहवास के लिए उत्सुक कामिनियों द्वारा समर्थित, उत्तम धूप की सुगन्ध से सुगन्धित स्थान पर, जहाँ तकिया (मसनद) बिस्तरों के ऊपर रखे हों, जहाँ सोने तथा बैठने की सुव्यवस्था हो, बैठकर अथवा लेटकर, अपने शरीर को सुख देता हुआ सोने, चाँदी तथा मणिजटित पात्रों (चषक, प्याला आदि) में रखकर मात्रानुसार सदैव मद्यपान करना चाहिए।

रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः। वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः ॥१६॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः। [2]संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ॥१७॥

२. मद्य-सेवन-विधि—सुन्दर रूप तथा यौवनमद से मत्त, विशेषरूप से शिक्षित अर्थात् शिष्टाचार को जानने वाली, ऋतु के अनुकूल वस्त्रों को धारण करने के कारण सुशोभित, पवित्रता तथा अनुराग युक्त

१. 'संवाससम्मते' इति पा०। २. 'सम्बार्यमाणमिष्टाभिः' इति पा०।

[illegible] करना चाहिए।

[illegible]

[illegible] ॥१८॥
[illegible] ॥१९॥
[१]पूजयित्वा सुरान् पूर्वमाशिषः प्राक् प्रयुज्य च । प्रदाय [illegible] वसुमातले ॥२०॥

मद्य के साथ अवदंश-प्रयोग—मद्य पीते समय उसके साथ स्वाद को बदलने के लिए मद्यपी जो कुछ करते हैं, उसका स्पष्ट वर्णन त्रिकालज्ञ महर्षि आत्रेय कर रहे हैं—मद्य के साथ सेवन करने योग्य ऋतु के अनुकूल अनेक प्रकार के फलों, हरीतक (अदरख, हरीमिर्च, प्याज, चना आदि), लवणीय पदार्थों, अपने गन्ध की सूचना देने वाले अवदंशों (चिखना, चाट, चटनियाँ आदि), भूमिचारी, जलचारी तथा आकाशचारी प्राणियों के भुने हुए मांस, विशेष रूप से छोटी मछलियों (सिधरी, झींगा) को भूनकर खाते देखा गया है, इन मछलियों में काँटे नहीं होते। और भी पौरोगवर्ग (पौरोग राजा का प्रधान रसोइया, उस वर्ग में रहने वाले सामान्य रसोइयों) द्वारा तैयार किये गये विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों के साथ मद्यपान करना चाहिए।

मद्यपान की शास्त्रीय विधि—सर्वप्रथम देवताओं का पूजन कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर (कि हम पागल होने तक मद्यपान न करने लगें), मद्य की कामना करने वालों (बलराम, चण्डी तथा यक्ष आदि) के निमित्त थोड़ा-सा मद्य भूमि पर गिराकर, तब जल सहित मद्यपान करना चाहिए। अर्थात् मद्य में जल मिलाकर पीना चाहिए, इससे उसकी तीव्रता समाप्त हो जाती है।

वक्तव्य—मद्य अथवा ताड़ी पीने वालों को ध्यान से देखें। वे आज भी इस विधि का प्रयोग करते हैं—अवदंश (चिखना, चाट, बड़े, पकौड़े, भुनी हुई मछलियाँ) का सेवन करते हैं और दो चार बूँदें मद्य की जमीन पर भी गिराते हैं। केवल इन्हें देवपूजन करते नहीं देखा जाता।

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूपानुलेपनैः । स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैर्वातिको मद्यमाचरेत् ॥२१॥

वातिक पुरुष के लिए मद्यपान-विधि—वातप्रकृति-प्रधान पुरुष अभ्यंग (मालिश), उत्सादन (उबटन) स्नान, वस्त्रधारण, धूप, अनुलेपन, चिकने तथा गरम आहारों का सेवन कर मद्यपान करे।

वक्तव्य—स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थों से भावित अन्न, घी या तेल में पकाये गये सभी अन्न स्निग्ध कहे जाते हैं। उष्णभावित—जब तक भोज्य पदार्थ गरम रहते हैं, उन्हें उष्णभावित कहा जा सकता है। स्नान भी उष्ण जल से करना या कराना चाहिए क्योंकि यह सुखद होता है।

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः । पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति ॥२२॥

पैत्तिक पुरुष के लिए मद्यपान-विधि—पित्तप्रकृति-प्रधान पुरुष अनेक प्रकार के शीतल उपचारों से, मधुर, स्निग्ध (स्नेह-घृत, तेल, वसा युक्त) तथा शीतवीर्य अन्नों का सेवन करें तो उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।

उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत् । श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मारिचकैः सह ॥२३॥

श्लैष्मिक पुरुष के लिए मद्यपान-विधि—कफप्रकृति-प्रधान पुरुष अशिशिर (उष्ण) उपचारों का सेवन करे। चावल, जौ तथा गेहूँ के बने हुए पदार्थों को खाता हुआ, धन्व (जांगल) प्रदेश में उत्पन्न प्राणियों के मांसों में कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर खाये और उसी के साथ मद्यपान करे।

विधिर्वैसुमतामेष भविष्यद् विभवाश्च ये । यथोपपत्ति तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥२४॥

---

१. 'पिबेत् सम्पूज्य विबुधानाशिषः सम्प्रयुज्य च । प्रदाय यजनं चाग्रे त्वर्थिभ्यः पृथिवीतले' इति पा०।

मद्यपान-विधि का उपसंहार—ऊपर जो मद्यपान की विधियाँ कही गयी हैं, वे सब धनिक पुरुषों के लिए तथा जो भविष्य में धनी होने वाले हैं, उनके लिए है। ऐसे पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार मात्रापूर्वक मद्यपान करना चाहिए। ऐसा करने से उनका हित होता है, अर्थात् वे दुर्दशा को प्राप्त नहीं होते।

वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम् । कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं माधवं च यत् ॥२५॥

प्रकृति के अनुसार मद्य-निर्देश—वात प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिए चावल, जौ, गेहूँ द्वारा तथा गुड़ द्वारा निर्मित मदिरा हितकर होती है। कफ और पित्त प्रकृति वालों के लिए मुनक्का एवं मधु द्वारा निर्मित मदिरा हितकर होती है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में अन्वय का आश्रय लिए बिना अर्थ करना या क्रमशः शब्दों का प्रयोग करना अहितकर हो जायेगा। अतः 'कफाधिकेभ्यः माधवं मद्यम्' और 'पित्ताधिकेभ्यः मार्द्वीकं मद्यम्' इस प्रकार शब्दों का सम्बन्ध जोड़ लेना प्रकरण के अनुसार उचित होगा। ऐसा न करने पर उनका प्रयोग घातक सिद्ध होगा।

बहुद्रव्यं बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम् । गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते ॥२६॥

गुण-दोषकारक मद्य—अनेक द्रव्यों से मद्य का निर्माण होता है, अतः उसमें अनेक गुण पाये जाते हैं, तदनुसार इसके कर्म (उपयोग) भी अनेक होते हैं। सभी मद्य मदकारक होते हैं। इस प्रकार मद्य में गुण भी देखे जाते हैं और दोष भी, क्योंकि सम्पूर्ण प्रकृति गुण-दोषमयी होती ही है।

वक्तव्य—उपर्युक्त गुण-दोष में मात्र एक कारण है—सविधि प्रयोग गुणकारक होता है और अविधि प्रयोग दोषकारक। इस दृष्टि से आप जागतिक समस्त पदार्थों को एक बार देख डालें। सभी आपको गुण-दोषमय दिखलायी देंगे। क्या अविधि प्रयुक्त जीवनाधार अन्न दोषकारक नहीं होता ? अस्तु।

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् । प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥२७॥

विधिपूर्वक सेवित मद्य—जो व्यक्ति शास्त्रोक्त विधि से मात्रा के अनुसार उचित समय पर हितकारक आहार द्रव्यों के साथ, शक्ति के अनुसार प्रसन्नचित्त होकर मद्यपान करता है, उसके लिए वह मद्य अमृत के समान लाभदायक होता है।

यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद् येन पीयते । रूक्षव्यायामनित्येन विषवद् याति तस्य तत् ॥२८॥

विधिहीन सेवित मद्य—जिस पुरुष का शरीर रूक्ष (स्नेह रहित) है तथा जो प्रतिदिन शारीरिक श्रम किया करता है, वह यदि जैसी मदिरा मिल जाय और जब मिल जाय उसे पी लेता है, तो उसके लिए वह मदिरा विष के समान हानिकारक होती है।

वक्तव्य—च० चि० अ० १ पाद ४।३० में आचार-रसायन के 'निवृत्तं मद्यमैथुनात्', यह निर्देश देकर सभी स्थितियों में मद्य-सेवन का निषेध इसलिए किया है कि इसकी बुरी लत फिर कभी छूटती नहीं। इसीलिए चाणक्य ने कहा है—'व्यसने योजयेच्छत्रुम्'। चाणक्यनीति। भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में विधिहीन मद्य सेवन का स्वरूप और उससे होने वाले विकारों की चर्चा इस प्रकार है—'निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्। उत्पादयेत् कष्टतमान् विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम्'॥ और भी—'क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन। व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि॥ अत्यम्लभक्ष्यावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन। उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान् विकारान्'॥ सु० उ० अ० ४७।१४-१६। सु० उ० अ० ४६।११। इसे

विष और मद्य में रूक्ष आदि दस गुण तीव्र तथा तीव्रतर रूप से रहते हैं। दोनों में यही भेद है। इसका विशेष स्पष्टीकरण च० चि० अ० २४ श्लोक ९८ की व्याख्या में किया गया है। आगे महर्षि आत्रेय ने युक्ति-युक्त मद्य को अन्न के समान जीवनोपयोगी, अमृत तथा रसायन कहा है। देखें—श्लोक ५९-६०। आप इस प्रकार समझें—विष में रूक्षादि गुण तीव्रतर रूप में और मद्य में तीव्ररूप में रहते हैं।

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान् । दशभिर्दश सङ्क्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥२९॥

मद्य का प्रभाव—जब व्यक्ति मदिरा का सेवन करता है, तो वह हृदय-प्रदेश में प्रविष्ट होकर अपने दस गुणों से ओजोधातु के दस महान् गुणों को विचलित करके मन में विकार उत्पन्न कर देती है।

लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च । रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥३०॥

मद्य के दस गुण—सभी प्रकार के मद्यों में ये दस गुण पाये जाते हैं—१. लघु, २. उष्ण, ३. तीक्ष्ण, ४. सूक्ष्म, ५. अम्ल, ६. व्यवायी, ७. आशुग, ८. रूक्ष, ९. विकासी, १०. विशद।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त मद्य के दस गुणों को भी देखें—सु० उ० अ० ४७।३।

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् । प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥३१॥

ओजस् के दस गुण—१. गुरु, २. शीत, ३. मृदु, ४. श्लक्ष्ण, ५. बहल, ६. मधुर, ७. स्थिर, ८. प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त), ९. पिच्छिल, १०. स्निग्ध—ये दस ओजस् के गुण होते हैं।

गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः । माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात् प्रसादं चाशुभावनात् ॥३२॥
रौक्ष्यात् स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि ।
विकासिभावात् पैच्छिल्यं वैशद्यात् सान्द्रतां तथा ॥ ३३ ॥
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान् । सत्त्वं तदाश्रयं चाशु सङ्क्षोभ्य जनयेन्मदम् ॥३४॥

मद्य का ओजस् पर प्रभाव—ऊपर मद्य तथा ओजस् के १०-१० गुणों का वर्णन किया गया है, जो परस्पर विपरीत हैं। अतः मद्य का प्रत्येक गुण ओजस् के प्रत्येक गुण का विनाशक होता है। उसका यहाँ क्रमिक वर्णन किया जा रहा है—मद्यपान करने से उसका लघु गुण ओजस् के गुरु गुण को, मद्य उष्ण होता है अतः ओजस् के शीत गुण को, मद्य तीक्ष्ण होता है अतः वह ओजस् के मृदु गुण को, मद्य अम्ल होता है अतः वह ओजस् के मधुर गुण को, मद्य आशुग गुण वाला होता है अतः वह ओजस् के प्रसन्न (प्रसाद या निर्मल) गुण को, मद्य रूक्ष होता है अतः वह ओजस् के स्निग्ध गुण को, मद्य व्यवायी होता है अतः वह ओजस् के स्थिर गुण को, मद्य विकासी होता है अतः वह ओजस् के श्लक्ष्ण गुण को, मद्य विशद गुण वाला होता है अतः वह ओजस् के पिच्छिल गुण को, मद्य सूक्ष्म गुण वाला होता है अतः वह ओजस् के बहल (सान्द्र) गुण को नष्ट कर देता है। इस प्रकार मद्य द्वारा ओजस् के गुणों का नाश हो जाने पर वह (मद्य) ओजस् के आश्रय पर रहने वाले 'सत्त्व' संज्ञक मन को विचलित करके शीघ्र ही मद को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—इसका वर्णन सु० सू० अ० ४५।२०४-२०५ में देखें। शुक्रधातु का उपधातु ओजस् है, अधिक मद्यपान करने से जब यह क्षीण हो जाता है तो शरीर कान्तिहीन एवं निर्बल हो जाता है। ऊपर मद्य के १० गुणों तथा ओजस् के १० गुणों का जिस क्रम से वर्णन किया है, उसी क्रम से इनकी मारकता नहीं बतलायी गयी है, अतः उसे समझने के लिए निम्न तालिका का अवलोकन करें—

मद्य के गुणों का ओजस् के गुणों पर मारक प्रभाव

मद्य-गुण—	लघु	उष्ण	अम्ल	तीक्ष्ण	आशुग	रूक्ष	व्यवायी	विकासी	विशद	सूक्ष्म
ओजस्-गुण-	गुरु	शीत	मधुर	मृदु	प्रसाद	स्निग्ध	स्थिर	श्लक्ष्ण	पिच्छिल	सान्द्र

[1]रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥३५॥

रस आदि का स्थान हृदय—रस, वात आदि को ले जाने वाली दस धमनियों का स्थान हृदय है। वास्तव में हृदय से आश्रित जो रस को ले जाने वाली धमनियाँ हैं, वे ही वात आदि का भी वहन करती हैं। और सत्त्व (मन), बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा एवम् ओजस् का स्थान भी हृदय ही है।

वक्तव्य—इस विषय में तन्त्रकार ने अन्यत्र इस प्रकार कहा है—'वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांसि अयनभूतानि'। च० वि० अ० ५।७। और—'अर्थे दश महामूलाः समासक्ता महाफलाः। महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः॥ षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्' ॥ च० सू० अ० ३०।३-४ ॥ तात्पर्य यह है, कि जब मद्यपान द्वारा हृदय विकृत हो जाता है,

१. 'रसधात्वादिमार्गाणाम्' इति पा०।

तो रस आदि धातुएँ, मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, आत्मा और ओजस् सभी अव्यवस्थित हो जाते हैं। अर्थात् वह व्यक्ति मद-मत्त हो जाता है।

अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत् । हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥३६॥

अधिक मद्यपान का प्रभाव—जब मनुष्य अधिक मात्रा में मद्यपान कर लेता है, तो उसके प्रभाव से ओजो धातु प्रभावहीन हो जाता है इसके निष्प्रभ हो जाने से हृदय तथा जिनका मूलमार्ग हृदय है, वे सभी धातुएँ विकृत हो जाती हैं।

वक्तव्य—ऊपर यह कहा गया है कि विष के गुणों से ओजस् के गुण नष्ट हो जाते हैं। उसमें रहस्य यह है कि बलवान् ही दुर्बल को दबा सकता है। मात्रा के अनुसार पिया गया मद्य अन्न के समान उपादेय है, रसायन की भाँति शक्तिवर्धक है और इस प्रकार सेवन किया गया मद्य अल्पबल वाला होने के कारण ओजस् की हानि नहीं कर सकता, अतः अधिक मद्यपान नहीं करना चाहिए। इसी को सुश्रुत ने 'पानात्यय' कहा है। यह वातादि भेद से तीन प्रकार का होता है।

ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते । मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो मदः ॥३७॥

मद की तीन अवस्थाएँ—१. जब मद्य ओजस् के गुणों पर अपना हानिकारक प्रभाव नहीं डालता और हृदय जागरूक स्थिति में रहकर अपने-अपने कार्यों को करता रहता है, उसे पूर्व या प्रथम मद कहते हैं। २. जब मद्य का प्रभाव ओजोधातु में पड़ने से उसके गुणों की थोड़ी हानि होने लगती है, तो उसे मध्यम या द्वितीय मद कहते हैं। ३. जब मद्य के प्रभाव से ओजोधातु पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, तो उसे उत्तम या तृतीय मद कहते हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने ऊपर तीन प्रकार के मदों की चर्चा की है। किन्तु महर्षि वाग्भट कहते हैं—'ऐसे पुरुषों पर मद का प्रभाव अधिक नहीं होता, जो बलवान् हों, जो भोजन कर चुके हों, जिनका आहार अधिक हो, जो स्निग्ध पदार्थों का अधिक सेवन करते हों, जो सत्त्वगुण-सम्पन्न हों, जो युवक हों, जो प्रतिदिन मद्य सेवन करते हों, जिनके माता-पिता मद्य-सेवन करते हों, जिनके शरीर में कफ तथा मेदोधातु पर्याप्त रूप में हो, वात तथा पित्त कम हो और अग्नि तीक्ष्ण हो। देखें—अ० हृ० नि० अ० ६।११-१२।

सुश्रुत के अनुसार मद की तीन अवस्थाएँ—'त्र्यवस्थश्च मेदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः'। सु० उ० अ० ४७।११। किन्तु माधवकर ने जो मद की चार अवस्थाओं की चर्चा 'माधवनिदान' में की है और जिनकी टीका करते हुए श्रीविजयरक्षितने लिखा है—'सुश्रुते चतुर्थः पठित इत्यविरोधः'। उन चार भेदों को किसी ने भी मूलग्रन्थ के रूप में उद्धृत नहीं किया है और श्रीडल्हणाचार्य उक्त चार भेदों की टीका में उद्धृत करते हुए 'केचित्' लिखते हैं, अर्थात् इन्हें सभी नहीं मानते।

नैवं विघातं जनयेन्मद्यं पैष्टिकमोजसः । विकाशिरूक्षविशदा गुणास्तत्र हि नोल्बणाः ॥३८॥

पैष्टिक मद्य के गुण—पिष्ट द्वारा तैयार किया मद्य दूसरे मद्यों की भाँति ओज के गुणों का विनाश इसलिए नहीं करता कि उसमें विकासी, रूक्ष तथा विशद गुण प्रधानरूप में नहीं होते हैं।

वक्तव्य—राजनिघण्टु में पिष्टक शब्द से 'तिलकल्क' का ग्रहण किया है। चावल आदि (जौ, गेहूँ) द्वारा बनाया चूर्ण (आटा)। इसका अलग प्रयोग इस प्रकार देखने को मिलता है—शालितण्डुलपिष्ट, वैदलकृतपिष्ट, गुडादिकृतपिष्ट आदि।

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् । विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ॥३९॥
जायन्ते मोहनिद्रान्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् । स मद्यविभ्रमो नाम्ना 'मद' इत्यभिधीयते ॥४०॥

मदविभ्रम का लक्षण—मात्रा से अधिक मद्य का सेवन करने से जब मद्य के गुणों का हृदय में प्रवेश हो जाता है, तो हर्ष (रोमांच), बार-बार प्यास का लगना, रति (प्रीति), सुख (आनन्द की अनुभूति), मोह (विचारशक्ति का अभाव), निद्रा का आना तथा राजस, तामस भावों का उदय हो जाता है या होने लगता है। यह मद्यजनित विभ्रम 'मद' नाम से कहा जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त 'पानविभ्रम' ही 'मदविभ्रम' है। देखें—सु० उ० अ० ४७।२१।

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः । प्रथमो मध्यमोऽन्त्यश्च लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ॥

मद की तीन अवस्थाएँ—पीये गये मद्य से उत्पन्न 'मद' की तीन अवस्थाएँ होती हैं, इन सभी को 'मद' कहते हैं। इनके नाम हैं—प्रथम मद, मध्यम मद और अन्त्य मद। इन मदों के लक्षण आगे कहे जा रहे हैं।

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः । वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः ॥४२॥
न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः । सुखनिद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः ॥४३॥

प्रथम मद के लक्षण—मद्य की प्रथम मात्रा से होने वाले मद (नशा) का यह वर्णन है—यह प्रहर्षण (आनन्द की अनुभूति) कराने वाला, प्रसन्नता को बढ़ाने वाला, अन्न (आहार) तथा पान (पेय) पदार्थों के गुणों को प्रकट कराने की क्षमता वाला, वाद्यों को बजाने की रुचि को पैदा करने वाला, गाना गाने की प्रवृत्ति को जगाने वाला, हास-परिहास का प्रवर्तक, कथाओं को सुनने-सुनाने का प्रेरक होता है। यह बुद्धि तथा स्मृति का अपहरण नहीं करता, इसका सेवन करने से इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करने में वह सक्षम होता है, सुखपूर्वक उसे नींद आती है और सुखपूर्वक वह जागता है। इस प्रकार प्रथम मद सब प्रकार से सुखद होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार प्रथममद अर्थात् मद्य की पूर्व अवस्था में वीर्य (उत्साह शक्ति), रति, हर्ष, प्रीति, भाषण में मृदुता आदि गुणों की उत्पत्ति होती है। सु० उ० अ० ४७।१२। माधवनिदान के मदात्यय-निदान श्लोक ७ को भी देखें। इस श्लोक को श्रीभावमिश्र ने भी उद्धृत कर इसे 'सात्त्विकमद' की संज्ञा दी है। इसे आधुनिक विद्वान् 'First stage of alcoholism' कहते हैं। इसी श्लोक को श्री भावमिश्र ने भी उद्धृत कर इसे 'सात्त्विकमद' की संज्ञा दी है।

मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहो(ऽ)व्यक्ता[1] सज्जति वाङ्मुहुः । युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रचलायनमेव च ॥४४॥
स्थानपानान्नसाङ्कथ्ययोजना सविपर्यया । लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ॥४५॥

मध्यम मद के लक्षण—प्रथम मद से जब अधिक मात्रा में मद्य का सेवन किया जाता है तो उससे शरीर में जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसे मध्यम मद कहते हैं। उसमें मद्यपान करने वाले की स्मृति (यादगार) कभी ठीक रहती है और कभी उस स्मृति का नाश हो जाता है, वह बार-बार बोलता है और बार-बार उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है, अर्थात् वह चाहता हुआ भी बोल नहीं सकता है, कभी वह ठीक बातें करता है और कभी अयुक्त (अनर्थक) बातों को करने लगता है, जो न कहने लायक या गुप्त बातें होती हैं, उन्हें भी नशे के आवेश में आकर बकने लगता है, उसका शिर घूमने लगता है, उसे चक्कर आने लगते हैं, उठना-बैठना, खाना-पीना, बात-चीत आदि सभी कार्यों में इसका क्रम बदलता रहता है, अर्थात् उचित-अनुचित दोनों प्रकार के व्यवहार चलते रहते हैं। ये सभी लक्षण मध्यम मद में देखे जाते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार मध्यम मद की द्वितीय अवस्था में मोह (बेहोशी), प्रलाप (अंट-संट बकना), कभी उचित कार्यों का करना और कभी अनुचित कार्यों का करना, ये लक्षण होते हैं। सु० उ० अ० ४७।१२। माधवनिदान के मदात्यय-निदान श्लोक ८ को भी देखें। इसी श्लोक को श्रीभावमिश्र ने भी उद्धृत कर इसे 'राजसमद' की संज्ञा दी है।

मध्यनं मदमुत्क्रम्य [2]मदमाप्राप्य चोत्तमम् । न किञ्चिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥४६॥
को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम् । गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ॥४७॥

मध्यम-उत्तम मद के बीच की स्थिति—मध्यम मद की सीमा को पार कर उत्तम मद की सीमा तक पहुँचने के पूर्व, अर्थात् दोनों मदों के बीच की स्थिति में रजोगुण तथा तमोगुण-प्रधान पुरुष के लिए कोई ऐसा कुकृत्य शेष नहीं रह जाता, जिसे वे नहीं कर डालते। कौन विवेकशील पुरुष ऐसा होगा जो उन्माद की स्थिति में पहुँचा देने वाले कष्टप्रद इस मद्य का सेवन करेगा ? अर्थात् कोई नहीं। इसका सेवन करना ठीक वैसा ही है,

१. 'व्यक्ताऽव्यक्ता च' इति पा०।
२. 'मदमप्राप्य' इति पा०।

जैसे पथिक उस अत्यन्त कण्टकाकीर्ण मार्ग—जिस पर चलना अन्ततोगत्वा दुःखद ही होता है—पर चलना नहीं चाहता।

वक्तव्य—इस परिस्थिति का वर्णन वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार किया है—'मध्यमोत्तमयोः सन्धिं प्राप्य राजसतामसः। निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः ॥ इयं भूमिरवद्यानां दौश्शील्यस्येदमास्पदम्। एकोऽयं बहुमार्गाया दुर्गतेर्देशिकः परम्' ॥ अ० सं० नि अ० ६।६-७। यद्यपि तन्त्रकार ने तीन मदों के वर्णन की प्रस्तावना की थी, यहाँ द्वितीय-तृतीय मद-सन्धि का वर्णन भी उसी का अंग विशेष है। जैसे सन्धियों के वर्णन में आया हुआ 'ऋतुसन्धि' का वर्णन अलग नहीं कहा जाता, उसी प्रकार यह भी है; अन्तर इतना ही है, कि द्वितीय मद से आगे बढ़कर तृतीय मद की स्थिति तक पहुँचने के पूर्व वह मद्यपी भला-बुरा कुछ करने की स्थिति में रहता है और तृतीय मद में वह भी नहीं रह जाता है। स्पष्टीकरण के लिए अगले पद्यों को देखें। माधवनिदान और भावप्रकाश का तृतीय मद यहाँ विवेचित मध्यम-उत्तम की सन्धि में समाविष्ट किया जा सकता है।

तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः । मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥४८॥
रमणीयान् स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम् । यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ॥४९॥
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम् । यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः ॥
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाग्राह्य एव च । व्यसनित्वादुदर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते ॥५१॥

तृतीय मद के लक्षण—तीसरे मद की अवस्था को पाकर वह मद्यपी टूटी हुई लकड़ी के समान निष्क्रिय (किसी कार्य को करने में असमर्थ) हो जाता है, मद (नशा) और मोह से उसका मन घिर जाता है, वह कुछ सोचने की स्थिति में भी नहीं रह जाता, वह जीवित रहता हुआ भी मरे हुए प्राणी के समान हो जाता है। उसका आकर्षण किसी भी मनोहारी विषय की ओर नहीं हो पाता और न वह अपने मित्रों (शुभचिन्तकों) को ही पहचान पाता है, जिस रति (सुख-प्राप्ति) के लिए वह मद्यपान करता है, इस अवस्था में पहुँचकर वह उस सुख को भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, क्या सुख है, क्या दुःख है, संसार में क्या हित है और क्या अहित है, जिस (तृतीय मद की) स्थिति में पहुँचकर मानव उपर्युक्त बातों को नहीं समझ पाता, ऐसी अवस्था को पहुँचना कौन सूझ-बूझ वाला पुरुष चाहेगा। तृतीय अवस्था को प्राप्त ऐसा व्यक्ति दोष युक्त हो जाता है, वह निन्दनीय होता है, वह अग्राह्य (किसी प्रामाणिक कार्य में लेने योग्य नहीं रह जाता) हो जाता है, दुर्व्यसनी हो जाने के कारण वह दुःखद व्याधि (मदात्यय) को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् ऐसे पुरुष को आगे जाकर मदात्यय रोग हो जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार तृतीय मद में उस पुरुष के कर्म तथा गुण नष्ट होकर वह भूमि पर निश्चेष्ट होकर सो जाता है अर्थात् मर जाता है। सु० उ० अ० ४७।१२। माधवनिदान के मदात्यय-निदान में श्लोक १०-११ को भी देखें। इन्हीं श्लोकों को भावमिश्र ने भी उद्धृत कर इसे 'अतितामस' की संज्ञा दी है।

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत् परम् । मनःसमाधौ तत् सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥

मनःसमाधि का महत्त्व—सभी पुरुषों के लिए इस लोक में तथा मृत्यु होने के बाद जो श्रेय है तथा मोक्ष में जो परम श्रेय है, वह सब मन को एकाग्र करने पर ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वक्तव्य—कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय का विशद विवेचन उपलब्ध है। उसमें इस लोक के (सांसारिक) सुख को 'प्रेय' की संज्ञा दी है। अध्यात्मज्ञानी नचिकेता ने सांसारिक सुखों को क्षणभंगुर कहा है, किन्तु प्रत्यक्ष सुख के उपादान कारण—उत्तम स्वास्थ्य, पत्नी, पुत्र, गृह, दास, दासी, धन, सम्पत्ति, हाथी, घोड़े आदि ही माने जाते हैं। इनका उपभोग करने के साथ सत्कर्मशील पुरुष स्वर्ग को प्राप्त कर वहाँ के सुख का भी उपभोग करता है। महर्षि आत्रेय ने इसे भी 'श्रेय' ही कहा है। असत्कर्मशील पुरुषों को यह स्वर्ग-सुख सुलभ नहीं होता है। तीसरा है—मोक्ष श्रेय; वास्तव में दार्शनिक दृष्टि में यही श्रेय अपनी अभिधा को चरितार्थ करता है। नचिकेता यमराज से कहते हैं—**'न तत्र त्वम्'** उस मोक्ष में तुम्हारा अधिकार नहीं है। इन सबका प्रथम सोपान है—'मनःसमाधि' अर्थात् चित्त की एकाग्रता। मन की एकाग्रता के अभाव में मनुष्य को अपने द्वारा किये गये कार्य का ध्यान नहीं रहता और खाये गये भोजन का स्वाद प्रतीत नहीं हो पाता।

अतएव महर्षि आत्रेय ने आदेश दिया है—**'तन्मना भुञ्जीत'**। च० वि० अ० १।२५। यह आदेश प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए स्मरण रखना चाहिए। जैसे—'तन्मना पठेत्' दत्तचित्त होकर पढ़े। इस प्रवृत्ति के लाभ को प्रत्येक व्यक्ति समझता है, परन्तु उपेक्षावृत्ति ने इसकी भी उपेक्षा करा दी है। अतः सभी प्रकार के सुखों का मूल 'मनःसमाधि' है।

मद्येन मनसश्चास्य सङ्क्षोभः क्रियते महान्। महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः ॥५३॥

मन द्वारा मनःक्षोभ—अधिक मात्रा में मद्यपान करने वाले मनुष्य का मन आँधी के चलने पर नदी के तट पर स्थित वृक्ष की भाँति अत्यन्त डाँवाडोल हो जाता है।

वक्तव्य—आँधी चलने पर सभी पेड़ काँपने लगते हैं। किन्तु तीर का वृक्ष महान् होने पर भी तटस्थ होने के कारण असहाय होता है। इसीलिए महर्षि चाणक्य ने भी कहा है—'नदीतीरेषु ये वृक्षाः'। देखें—चाणक्यनीति। इसी आलोक में आप देखें—'नातिमाद्यन्तिबलिनः कृताहारा महाशनाः। स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः॥ मेदः कफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाग्नयः॥ भावप्रकाश-मदात्ययाधिकार ४०-४१। अतः जिस प्रकार तेज आँधी के चलने पर नदी के तीर पर स्थित वृक्ष धराशायी हो जाता है, वही स्थिति अधिक मद्य पान करने से विचलित चित्त वाले पुरुष की भी हो जाती है।

मद्यप्रसङ्गं तं चाज्ञा महादोषं महागदम्। सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः ॥५४॥

दोष तथा रोग का कारण मद्य—मद्य अनेक दोषों तथा रोगों की खान होता है, फिर भी रजोगुण एवं मोह से घिरे हुए पुरुष, अर्थात् जो मद्यपान के अभ्यास से परवश हो गये हैं, ऐसे मद्यपी पुरुष मद्य प्रसंग की चर्चा को जीवन का सबसे बड़ा सुख यही है, ऐसा समझते हैं।

मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ताः सात्त्विकैर्गुणैः। श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मदलालसाः ॥५५॥

मद्यपान के दोष—विधि-विरुद्ध मद्यपान करने से जिन पुरुषों की ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है और जो सात्त्विकगुणों से बिछुड़ गये हैं, अर्थात् जो रजोगुण एवं तमोगुणों से जुड़ गये हैं, वे मदान्ध तथा मद्यपान के लालची सांसारिक सभी प्रकार के श्रेयों (सुखों) से वंचित हो जाते हैं।

वक्तव्य—गीता अ० २ में **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** कहा है, वही स्थिति यहाँ भी है। यह 'मद्योपहतविज्ञान' बुद्धिनाश ही है। देखें—'बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्'॥ शा० सं० पू० खं० अ० ४।२१। अर्थात् मात्रातीत मद्य का सर्वप्रथम प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है, इसीलिए वह कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान से वञ्चित हो जाता है। 'न च बुद्धिस्मृतिहरः'। च० चि० अ० २४।४३। अथवा 'बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः' माधवनिदान, मदात्ययनि० श्लोक ७ में जो कहा गया है, उसकी स्थिति स्वयं स्पष्ट है, क्योंकि वह प्रथम अवस्था का प्रसन्न मद है, अल्पमात्रा में प्रतिदिन विधिवत् सेवन किया गया मद है। इसी परिधि से घिरे हुए मद्य को अन्न, अमृत तथा रसायन की उत्तम उपाधियों से अलंकृत किया गया है।

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः। सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥

मद्यपान-जनित रोग—मोह, भय, शोक, क्रोध, मृत्यु इन सबका अधिकरण मद्य का विधि-विहीन सेवन है। इनके अतिरिक्त उन्माद (पागलपन), मद, मूर्च्छा, अपस्मार (मिर्गी) तथा अपतानक रोग भी इसी के आश्रित होते हैं।

वक्तव्य—सु० नि० अ० १।५१ में आक्षेपक रोग की चर्चा आयी है। वही आक्षेपक जब रोगी को बीच-बीच में बेहोश कर देता है, तो उसे 'अपतानक' कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—१. दण्डापतानक, २. अन्तरायाम, ३. बहिरायाम, ४. धनुस्तम्भ। महर्षि आत्रेय की दृष्टि में यह कष्टसाध्य होता है—'वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम्'॥ च० सि० अ० ९।१५॥

यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत्। इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं गर्हन्ति यत्नतः ॥५७॥

स्मृतिनाशक मद्य—जिस मद्य में स्मृतिविभ्रंश (स्मरण-शक्ति का विनाश) जैसा एक महान् दोष है, उसमें सभी प्रकार की बुराइयाँ हैं। इस प्रकार मददोष के जानने वाले विद्वान् यत्नपूर्वक (अनेक उदाहरणों

को प्रस्तुत कर) मद्य (पान) की निन्दा करते हैं। अर्थात् न वे स्वयं मद्यपान करते हैं और न किसी को मद्य पीने की सलाह ही देते हैं।

सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः। अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम् ॥५८॥

युक्ति-युक्त समाधान—विधिहीन, अधिक मात्रा में तथा अहितकर मद्य को पीने से निःसन्देह ऊपर कहे गये सभी दोष मद्य में पाये जाते हैं, यह सत्य है।

किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥५९॥

युक्ति-युक्त मद्य-प्रशंसा—ऊपर कहे गये दोषों के रहने पर भी मद्य स्वभाव से ही अन्न के (आहार) के समान मनुष्य मात्र का हितकारी माना गया है। यह रोगकारक तभी होता है, जब इसका प्रयोग विधि-रहित किया जाता है, उचित विधि से सेवन करने पर यह अमृत के समान गुणवाला होता है।

वक्तव्य—'यथैवान्नं तथा स्मृतम्'। **'अन्नं'** जो पदार्थ खाया जाता है, उसे अन्न कहते हैं। **'अन्ने प्राणाः प्रतिष्ठिताः'**। प्राणों का आधार ही अन्न है और प्रतिदिन अन्न (आहार) का सेवन किया जाता है। इस दृष्टि से मद्य का दैनिक प्रयोग शास्त्र द्वारा अनुमोदित है। सावधानी यही है—**'युक्तियुक्तम्-अमृतम्'** और **'अयुक्तियुक्तं रोगाय'**। इसी सम्बन्ध में आगे भी विवेचन प्रस्तुत है।

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥६०॥

अन्न और विष की समानता—प्राणियों के प्राणधारण में सहायक अन्न (आहार) ही है, वही अन्न विधि-विपरीत सेवन करने से प्राणों का नाशक हो जाता है। ठीक उसी प्रकार विष भी प्राणों का नाश करने वाला होता है, किन्तु वही युक्ति-युक्त रसायन (जरा=बुढ़ापा और रोगों का नाशक) होता है।

वक्तव्य—दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय इस प्रकार चिकित्सा के तीन भेद होते हैं। इनमें युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा का विशाल क्षेत्र है। इसी क्षेत्र की घोषणा है कि 'नानौषधीभूतं जगति किञ्चित्' और इसमें प्रधान कारण है—'युक्ति'। अर्थात् किस वस्तु का किसके लिए, कब, कितनी मात्रा में और कब तक प्रयोग करना चाहिए, इत्यादि विचार का ही नाम 'युक्ति' है। इसी के अभाव में अमृत भी विष हो जाता है और इसी के कारण विष भी अमृत हो जाता है यह वह युक्ति है, जिसका हमारे आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञों ने यथावसर प्रकरणानुसार उपदेश दिया है।

हर्षमूर्जं मुदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम्[1]। युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं सुखमदप्रदम् ॥६१॥

युक्ति-युक्त मद्य के गुण—युक्तिपूर्वक किया गया मद्य का सेवन शीघ्र ही प्रसन्नता, ऊर्ज (सामर्थ्य या बल), मुद (प्रेम), पुष्टि (पोषण), आरोग्य, उत्तम पुरुषार्थ तथा सुखद नशा को देता है।

रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्। प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ॥६२॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनम्। बोधनं चातिनिद्राणां विबद्धानां विबन्धनुत् ॥६३॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्। मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम् ॥६४॥
रतिविषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनम्। अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम् ॥६५॥

मद्य के गुण—उचित मात्रा में किया गया मद्यपान भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, हृदय के लिए हितकारक है, स्वर को सुरीला बनाता है, अथवा मद्यपी को उस समय ऐसा लगता है कि मेरा स्वर अत्यन्त मधुर है और वह कुछ गाने लगता है, जो और किसी को प्रिय लगे या न लगे परन्तु वह अपनी उमंग में गाता रहता है। मद्य चेहरे के रंग को दर्शनीय बना देता है, शरीर को तृप्त करता है, देह को स्थूल बनाता है, बलकारक है, भय, शोक तथा श्रम (थकावट) को दूर करता है, अर्थात् वह नशे की धुन में इन सबको भूल जाता है। जिन्हें नींद न आती हो उन्हें यह सुला देता है, क्योंकि यह तमोगुण को बढ़ा देता है (देखें—सु० शा० अ० ४।३३-३४) उसके बाद वह प्राणी कभी भी सो सकता है। मूकों (जिनका कम

१. 'बलम्' इति पा०।

बोलने का स्वभाव है उन) को यह वाचाल बना देता है। जिनको अधिक नींद आती है, उन्हें यह जगाने वाला है। जिन्हें मलावरोध हो जाता है, उनके मल को ढीला करके बाहर निकालता है। वध तथा बन्धन से उत्पन्न कष्टों या अन्य कष्टों का यह अनुभव नहीं होने देता, अधिक मद्यपान के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों में विधिपूर्वक किया गया मद्यपान ही चिकित्सा है। यह रतिकारक है, अर्थात् इसका सेवन कर लेने पर स्त्री-पुरुष में परस्पर रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का जब परस्पर संयोग होता है, तब यह प्रेम को बढ़ाता है, अर्थात् मद्यपान के बाद जब शब्द आदि विषयों का .अपनी-अपनी वाक् आदि इन्द्रियों से संयोग होता है, तब इसके कारण प्रीति (प्रेम) और संयोग उसमे दूर न होने की इच्छा को यह बढ़ाता है, जो व्यक्ति अधिक अवस्था वाले (वृद्ध) हो गये हैं, उनके लिए भी यह उत्सवकारक एवं आनन्ददायक होता है।

वक्तव्य—'भयशोकश्रमापहम्' तथा 'वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्'—इन दोनों स्थितियों में अधिकांश एकरूपता है, अर्थ पर ध्यान दें। 'स्वापनं नष्टनिद्राणाम्' और 'बोधनं चातिनिद्राणाम्' ये दो स्थल परस्पर विरोधी लक्षण वाले हैं, किन्तु मद्य में सुलाने तथा जगाने की दोनों ही शक्तियाँ हैं, ऐसा विवेचन ऊपर किया गया है। ध्यान दें—चरक सू० अ० २१।५८ में अनेक प्रकार की निद्राओं की चर्चा की गयी है, उनमें एक निद्रा है—'तमोभवा' जो मद्य का प्रधान गुण है, इससे तो 'स्वापनं नष्टनिद्राणाम्' का आशय स्पष्ट हो जाता है, किन्तु यह निद्रा है कैसी ? 'तमोभवामाहुरघस्य मूलम्'। च० सू० अ० २१।५९। अर्थात् यह पापमूलक निद्रा है। अब प्रश्न यह उठता है, कि वही मद्य 'अतिनिद्राणां बोधनम्' कैसे हो गया ? सुनिये—मद्य के गुण कफ और वात को नाश करने वाले हैं, कफ के नाश होने पर निद्रा स्वयं समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि कुम्भकर्ण को जगाते ही पर्याप्त मद्यपान कराने की चर्चा रामायण में आती है। इसी प्रकार मद्यपान-जनित विकारों की चिकित्सा भी पुनः उसे युक्ति-युक्ति मद्यपान कराना ही है, क्योंकि—'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'समः समं शमयति', इसे दूसरे शब्दों में 'हेतुविपरीतार्थकारिता' कहते हैं। यद्यपि पाँच इन्द्रियों के जो पाँच विषय हैं, उनमें स्वाभाविक रूप से प्रीति होती है, किन्तु यह प्रथम मद उस स्वाभाविक प्रीति-संयोग को बढ़ाने वाला होता है। इसी विषय को आगे कहा जा रहा है।

पञ्चस्वर्थेषु कान्तेषु या रतिः प्रथमे मदे। यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि ॥

प्रथममद की प्रशंसा—युवकों अथवा वृद्धों में मद्यपान (प्रथम मद) की सीमा में चक्षु आदि (आँख, कान, नासिका, जीभ, त्वचा, इन) पाँच ज्ञानेन्द्रियों को जिन अभीष्ट (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, इन) पाँच अर्थों को ग्रहण करने में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसकी कोई उपमा भूलोक में नहीं है। क्योंकि उस आनन्द को दिव्य या स्वर्गीय ही कहा जा सकता है।

बहुदुःखहतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च। विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम् ॥६७॥

मद्यसेवन से दुःखनाश—विविध प्रकार के दुःखों से जो पीड़ित है, जो शोक से सन्तप्त है, ऐसे पुरुष के लिए युक्तियुक्त सेवन किया गया मद्य ही विश्रामदायक है।

अन्नपानवयोव्याधिबलकालत्रिकाणि षट्। त्रीन्दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत्सदा ॥६८॥

छः त्रिकों का वर्णन—अन्न, पान, वय (अवस्था), व्याधि (रोग), बल, काल ये छः त्रिक (तीन-तीन का एक वर्ग) कहे जाते हैं। इनके साथ तीन दोषों और तीन प्रकार के सत्त्व (मन) का विचार कर सदैव युक्तिपूर्वक मद्यपान करना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ ऊपर श्लोक में आये हुए त्रिकों का क्रमिक परिचय दिया जा रहा है—१. **अन्नत्रिक**—वातकारक, पित्तकारक, कफकारक। २. **पानत्रिक**—इसके भेद भी अन्नत्रिक के समान ही होते हैं। ३. **वयस्त्रिक**—बचपन, जवानी, बुढ़ापा। ४. **व्याधित्रिक**—इस पर अनेक प्रकार से विचार हो चुका है। यथा—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज। अथवा—१. सौम्य, २. आग्नेय, ३. वायव्य। अथवा—१. मृदु, २. मध्य, ३. तीव्र। ५. **बलत्रिक**—१. उत्तम, २. मध्यम, ३. अवर (अधम या हीन)। ६. **कालत्रिक**—१. शीतकाल, २. उष्णकाल, ३. वर्षा-काल। इसके आगे यद्यपि दो त्रिकों का और वर्णन किया गया है, किन्तु इनको यहाँ छः से

अलग माना गया है और आगे पद्य में इनको भी जोड़ लिया है। **त्रिविध दोष**—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज। **त्रिविध सत्त्व**—१. सात्त्विक, २. राजस, ३. तामस।

विशेष—अन्नत्रिक के सम्बन्ध में महर्षि आत्रेय ने इसी अध्याय के २१, २२, २३ तथा २५ श्लोकों में विशद विवेचन उपस्थित किया है। वृद्धवाग्भट ने इस सम्बन्ध में जो व्यवस्था दी है, उसे भी देखें—प्राक् पिबेच्छ्लैष्मिको मद्यं भुक्तस्योपरि पैत्तिकः। वातिकस्तु पिबेन्मध्ये समदोषो यथेच्छति' ॥ अ० सं० चि० अ० ९। ११३। कुछ टीकाकारों ने 'सदा' शब्द को 'पिबेत्' का क्रियाविशेषण माना है, वास्तव में '**सदा ज्ञात्वा पिबेत्**' ऐसा अन्वय करना चाहिए। इससे यह अर्थ निकलेगा—जब भी पीना हो, तब उक्त बातों पर ध्यान देकर ही पीना चाहिए।

तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते। यया युक्त्या पिबन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते ॥६९॥

युक्तियुक्त मद्यपान-परिभाषा—उपर्युक्त आठ त्रिकों की उचित प्रकार की गयी योजना को युक्ति कहते हैं और जिस युक्ति द्वारा मद्यपान करता हुआ पुरुष मद्य के दोषों से युक्त नहीं होता है, वही युक्ति है।

मद्यस्य च गुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते। धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोच्छ्रितः ॥

युक्तिपूर्वक मद्यपान से लाभ—ऊपर श्लोक ६१ से ६५ तक मद्य के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, युक्तिपूर्वक मद्यपान करने वाला व्यक्ति उन सभी गुणों को प्राप्त कर लेता है। उस विधि से सेवन किया गया मद्य धर्म और अर्थ प्राप्ति के मार्ग में बाधक नहीं होता है। इसके सेवन से मनुष्य में सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है।

सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे। द्वितीयेऽव्यक्ततां यान्ति मध्ये चोत्तममध्ययोः ॥७१॥

मद्य का सत्त्व पर प्रभाव—प्रायः प्रथममद में सत्त्वों (सात्त्विक=शुद्ध, राजस, तामस मनों) का जागरण होता है, अर्थात् वे उत्तेजित हो जाते हैं, तदनन्तर दूसरे (मध्यम) मद तथा मध्यम और उत्तम मद की सन्धि अवस्था में वे सत्त्व सर्वथा अव्यक्त (असंवेदनशील) हो जाते हैं।

वक्तव्य—मध्यम और उत्तममद सन्धि का उल्लेख तन्त्रकार ने इसी अध्याय के श्लोक ४६ में किया है। उसका वक्तव्य भी देखें। जिस अनुपात में सत्त्व मद्य से प्रभावित होता जाता है, तदनुसार उसकी आंगिक चेष्टाएँ भी विकृत होती जाती हैं।

सस्यसम्बोधकं वर्षं, हेमप्रकृतिदर्शकः। हुताशः, सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम् ॥७२॥

मद्य की उभयार्थकारिता—जिस प्रकार सूखती हुई फसल को वर्षा हरा-भरा कर देती है, जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण के वास्तविक रूप को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार मात्रानुसार पिया गया मद्य प्राणियों के सभी प्रकार के मनों तथा उनके गुण-दोष का प्रबोधक एवं प्रकाशक होता है।

वक्तव्य—वर्षा द्वारा जिस प्रकार फसल में शक्ति का संचार होने लगता है, वैसे ही अल्पशक्ति वाले मनुष्य में मद्य पान करने से कुछ समय के लिए कार्यक्षमता आ जाती है। जिस प्रकार अग्नि सुवर्ण के उत्तम, मध्यम, अधम स्वरूपों को प्रकट करा देती है, उसी प्रकार मद्य सेवन करने पर मनुष्य की वात आदि प्रकृति का भी परिज्ञान हो जाता है। श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में उक्त पद्य के कुछ पाठभेदों का संग्रह किया है, उन्हें भी यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'सत्त्वसम्बोधकं हर्षमोहप्रकृतिदर्शकम्' अथवा 'सस्यसम्बोधकं वर्षं लोहप्रकृतिदर्शकः', दूसरा 'हुताश इव सत्त्वानाम्'। यहाँ 'लोह' शब्द सभी सुवर्ण आदि धातुओं का वाचक है। सर्वसत्त्वानां का तात्पर्य है—सात्त्विक मन, राजस मन, तामस मन। इनमें राजस, तामस मन वाले पुरुषों पर मद्य का प्रभाव अधिक नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि मद्यपान करने से दोषों की प्रकृति तथा मानस प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सुश्रुत ने उक्त विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'मदेन करणानान्तु भावान्यत्वे कृते सति निगूढमपि भावं स्वं प्रकाशीकुरुतेऽवशः' ॥ सु० उ० अ० ४७।१०। अर्थात् अधिक मद्यपान कर लेने से जब मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की प्रकृति बदल जाती है, तब वह मद्यपी व्यक्ति अपने मन में छिपे हुए भावों को भी नशे की स्थिति में स्वयं प्रकाशित कर देता है।

प्रधानावरमध्यानां [1]रूपाणां व्यक्तिदर्शकः । यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥७३॥

प्रकृति-दर्शक मद्य—जिस प्रकार (सुवर्ण आदि धातुओं के) प्रधान (उत्तम), मध्य (मध्यम) तथा अवर (हीन) रूपों का व्यञ्जक (प्रदर्शक) अग्नि होता है, उसी प्रकार मनुष्य-सत्त्वों (मनों) का प्रकृति-दर्शक मद्य को कहा गया है।

वक्तव्य—'रूपाणां' के स्थान पर 'रुक्माणां' पाठ दिया हुआ है, जिसका अर्थ होता है 'सुवर्णों'। जिस प्रकार आग पर तपाने से सोने के शुद्ध, अशुद्ध तथा अन्य धातु के मिश्रण का पता लग जाता है, उसी प्रकार मद्य का सेवन करने से मद्य पीने वाले की प्रकृति का पता चल जाता है। दूसरी बात यह है, कि मद्य के वश में हुआ पुरुष अपने मन की सभी बातें कह डालता है। महर्षि चाणक्य ने सुवर्ण-शोधन के चार उपाय बतलाये हैं, न कि केवल अग्नि-परीक्षा। देखें—'यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः'। चाणक्यनीति।

सुगन्धिमाल्यगन्धर्वं सुप्रणीतमनाकुलम् । मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसङ्कथम् ॥७४॥
[2]सुखप्रपानं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्धनम् । स्वन्तं सात्त्विकमापानं न चोत्तममदप्रदम् ॥७५॥

सात्त्विक मद्यपान—जिस स्थान को सुगन्धित मालाओं से सजाया गया हो, नाच, गाना, बजाना हो रहा हो, सुसज्जित किया गया हो, जहाँ अधिक भीड़ न हो, अतएव वातावरण शान्त हो, सफाई के साथ मधुर खान-पान की व्यवस्था हो, मनोनुकूल किस्सा-कहानियाँ तथा प्रेमालाप हो रहा हो, मद्यपान के सुखद साधन जहाँ समुपलब्ध हों, जिससे सुखद मद की अनुभूति हो रही हो, जो आनन्द तथा प्रेम को अधिक बढ़ाता हो, जिस मद्यपान का सुखद अन्त हो और जो अधिक मदकारक न हो, उसे 'सात्त्विक आपान' कहते हैं।

वैगुण्यं सहसा यान्ति मद्यदोषैर्न सात्त्विकाः । [3]मद्यं हि बलवत्सत्त्वं गृह्णाति सहसा न तु ॥७६॥

सात्त्विक पुरुषों पर मद्य का प्रभाव—मद्य से होने वाले दोषों का प्रभाव एकाएक सत्त्व प्रकृतिवाले पुरुषों पर नहीं पड़ता है, अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान पुरुषों की प्रकृति सामान्य मद्यपान से विकृत नहीं होती है, क्योंकि सात्त्विक पुरुषों का मन बलवान् होता है, अतः उस बलवान मन वाले पुरुष को सहसा मद्य की मादकता अपने वश में नहीं कर पाती है।

सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं क्षणात् । चित्रं राजसमापन्नं प्रायेणास्वन्तकाकुलम् ॥७७॥

राजस मद्यपान—जिस स्थान पर सौम्य (अच्छी), असौम्य (दुश्चरित्रता, उद्दण्डता पूर्ण) बात-चीत होती हो, जहाँ का वातावरण क्षण-क्षण में भला-बुरा होता रहता हो, जहाँ आश्चर्यकर भाव दिखलायी देते हों, जिस मद्य की रचना उत्तम प्रकार से न की गयी हो, उसे पीने से जिस मद्यपान का अन्त सुखद न हो और जिसमें मद्यपान करने वाला पुरुष आकुल बना रहे, उसे 'राजस मद्यपान' कहते हैं।

हर्षप्रीतिकथापेतमतुष्टं पानभोजने । सम्मोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम् ॥७८॥

तामस मद्यपान—आनन्ददायक तथा प्रेम को उत्पन्न करने वाली बात-चीत से रहित, अर्थात् गाली-गलौज, मार-पीट के वातावरण में युक्त, जिसे मद्यपान से तथा भोजन से सन्तोष न हो, बेहोशीकारक, क्रोध का उत्पादक, पीते-पीते नींद आ जाय और भरपूर नींद आ जाने के बाद अर्थात् जगने पर ही नशा उतरता हो, ये सब लक्षण 'तामस मद्यपान' के होते हैं।

आपाने सात्त्विकान् बुद्ध्वा तथा राजसतामसान् । जह्यात्सहायान् यैः पीत्वा मद्यदोषानुपाश्नुते ॥

मद्यपान-गोष्ठी में त्याज्य भाव—मद्यपान-गोष्ठी में अपनी प्रकृति के समान प्रकृति वाले व्यक्तियों के साथ बैठकर मद्यपान करना चाहिए। अतः सात्त्विक, राजस, तामस भावों वाले व्यक्तियों के साथ बैठकर यदि वह (प्रथम मद का अभ्यासी) पुरुष मद्यपान करने लगता है, तो संग-साथ के कारण वह भी अधिक मद्यपान कर लेता है, जिसके कारण वह मद्यदोषों (नशा आदि) से पीड़ित हो जाता है।

---

१. 'रुक्माणाम्' इति पा०। २. 'सुखप्रमाणं' इति पा०।
३. 'सहसा नावगृह्णाति मद्यं सत्त्वबलाधिकम्' इति पा०।

सुखशीलाः सुसम्भाषाः सुमुखाः सम्मताः सताम् । कलास्वबाह्या विशदा विषयप्रवणाश्च ये ॥
परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया । प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्धयन्ति ये ॥८१॥
उत्सवादुत्सवतरं येषामन्योन्यदर्शनम् । ते सहायाः सुखाः पाने तैः पिबन् सह मोदते ॥८२॥

मद्यपान के योग्य भाव—सुखद स्वभाव वाले, जिनकी मधुर वाणी हो, जो प्रसन्नचित्त हों, अपशब्द न बोलते हों, सज्जन जिनका सम्मान करते हों, जो नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं में कुशल हों, जो शरीर तथा मन से स्वच्छ हों, जो अपने-अपने विषयों में कुशल हों, जो एक-दूसरे के आज्ञाकारी हों, मित्रता के कारण जिनमें एकता हो, हँसी-मजाक, प्रेम, मधुर भाषण आदि सद् व्यवहारों से जो पानगोष्ठी के सुख को बढ़ाने वाले हों, जिनका परस्पर मेल-मिलाप, भेंट उत्सव से भी बढ़कर उत्सव हो, वे पानगोष्ठी में सहायक होते हैं, उनके साथ बैठकर मद्यपान करने से आनन्द की अनुभूति होती है।

रूपगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चापि मनोरमैः । पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः ॥८३॥

मद्यपान में सुसहायों का महत्त्व—मन के अनुकूल रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मधुर (कानों को अच्छे लगने वाले) शब्दों के तथा अच्छे साथियों के साथ बैठकर जो व्यक्ति मद्यपान करते हैं, वे पुण्यात्माओं के समान कहे जाते हैं।

पञ्चभिर्विषयैरिष्टै[1]रुपेतैर्मनसः प्रियैः । देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥८४॥

अनुकूल परिस्थिति में मद्यपान—मद्यपान करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह पाँचों इन्द्रियों (आँख, कान, नासिका, जीभ, त्वचा) के प्रिय विषयों से युक्त और जो पदार्थ मन को प्रिय हों, उन पदार्थों के साथ उचित देश (स्थान) तथा काल में प्रसन्नचित्त होकर मद्यपान करे।

स्थिरसत्त्वशरीरा ये पूर्वान्ना मद्यपान्वयाः । बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न ते ॥८५॥

जिन पर देर में मद्य प्रभावी होता है—जिन पुरुषों का सत्त्व (मन) तथा शरीर स्थिर (चञ्चल तथा कृश न) हो, जो आहार का ग्रहण करने के बाद मद्य का सेवन करते हैं, जो मद्यपान करने वाले माता-पिता की सन्तान हों तथा जो अधिक मद्यपान करने के अभ्यासी हों, ऐसे व्यक्तियों पर मद्य का प्रभाव शीघ्र नहीं होता है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने उक्त विषय को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—'श्लैष्मिकानल्पपित्तांश्च स्निग्धान् मात्रोपसेविनः। पानं न बाधतेऽत्यर्थं विपरीतांस्तु बाधते' ॥ सु० उ० अ० ४७।१३। प्रसंगानुसार वृद्धवाग्भट के वचनों का भी संग्रह किया जा रहा है—'नातिमाद्यन्ति बलिनः कृताहारा महाशनाः। स्निग्धाः सत्त्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः ॥ मेदः कफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाग्नयः ॥ अ० सं० नि० अ० ६।१२।

[2]क्षुत्पिपासापरीताश्च दुर्बला वातपैत्तिकाः । रूक्षाल्पप्रमिताहारा विष्टब्धाः सत्त्वदुर्बलाः ॥८६॥
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणा परिश्रान्ता मदक्षताः ।
स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः ॥ ८७ ॥

मद्यपान के अयोग्य व्यक्ति—जो व्यक्ति भूख, प्यास से व्याकुल हों, जो दुर्बल हों, वात तथा पित्त प्रकृति वाले हों, रूखा, इच्छा से कम तथा मात्रा से कम आहार करते हों, जिन्हें विष्टब्धाजीर्ण हो, जिनका मन दुर्बल हो, जो क्रोधी हों, जिनको मद्यपान के अयोग्य बतलाया गया हो, जिनका शरीर किन्हीं कारणों से क्षीण हो गया हो, जो थके हुए हों, अधिक मद्यपान करने से जो क्षीण हो गये हों, जो थोड़ा भी मद्य पी लेने पर शीघ्र नशे से पीड़ित हो जाते हों, उन्हें मद्यपान नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में जहाँ पर '**विष्टब्धाः**' पाठ है, वहाँ श्रीजयदेव ने '**विश्रब्धाः**' पाठ स्वीकारा है और पाठभेद में 'विस्तब्धाः' को उद्धृत किया है। वाग्भटद्वितय ने निदानस्थान में 'विश्रब्धाः' पाठ को समादर प्रदान किया है। साथ ही उसी पद्य की दूसरी पंक्ति में 'साजीर्णे' पाठ भी है। वह पाठ इस

---

१. 'रिष्टैरुपेतो मनसः' इति पा०। २. 'प्राङ्मद्याः क्षुत्पिपासार्ता' इति पा०।

प्रकार है—'विपर्ययेऽति नार्धान्ति विश्रब्धाः कुपिताश्च ये । मद्येन चाम्लरूक्षेण साजीर्णे बहुनाति च' ॥ अ० सं० नि० अ० ६।१३ ॥ इसी पाठ को अविकल रूप से वाग्भट ने भी उद्धृत किया है ।

ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः सम्भवं स्वस्वलक्षणम् ।
अग्निवेश ! चिकित्सां च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

मदात्यय-प्रकरण
(Topic of Alcoholism)

मदात्यय की प्रस्तावना—महर्षि आत्रेय अपने शिष्य से कह रहे हैं—अग्निवेश ! मद्य के सम्बन्ध में इतनी चर्चा करने के बाद अब मैं मदात्यय रोग की उत्पत्ति का कारण, उसके भेदों के अपने-अपने लक्षण और चिकित्सा, इनको क्रमशः कहता हूँ ।

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्शितः । रूक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया ॥८९॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च । करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ॥९०॥

वातज मदात्यय का निदान—जो पुरुष निरन्तर स्त्री-सहवास के कारण, शोक से, भय से, अधिक भार को उठाने से, अधिक रास्ता चलने से तथा अधिक काम करने से अत्यन्त कृश (दुर्बल) हो गया हो, रूक्ष, अल्प तथा प्रमित (मात्रा से भी कम) भोजन करता हो और रूक्षगुण-प्रधान तथा परिणत (पुरानी अतएव पूर्ण शक्तिशाली) मदिरा का सेवन अधिक मात्रा में करता हो, तो वह मद्य रात्रि में निद्रा का नाश करके शीघ्र ही वातप्रधान मदात्यय रोग को उत्पन्न कर देता है ।

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः । विद्याद् बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥९१॥

वातज मदात्यय के लक्षण—इसमें रोगी अधिक अंट-संट बकता रहता है, हिचकी, श्वास, शिर में चक्करों का आना, पसलियों में वेदना और नींद का न आना ये लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—वातज मदात्यय के सुश्रुतोक्त लक्षण देखें—'स्तम्भाङ्गमर्दहृदयग्रहतोदकम्पाः पानात्ययेऽनिलकृते शिरसो रुजश्च' । सु० उ० अ० ४७।१८ । तथा—'विशेषाज्जागरश्वासकम्पमूर्धरुजोऽनिलात् । स्वप्ने भ्रमत्युत्पतति प्रेतैश्च सह भाषते' ॥ अ० सं० नि० अ० ६।१८ ।

तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लं च योऽतिमात्रं निषेवते ।
अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्न्यातपप्रियः ॥ ९२ ॥
तस्योपजायते पित्ताद् विशेषेण मदात्ययः ।

पित्तज मदात्यय का निदान—जो पुरुष निरन्तर खट्टे, उष्ण (स्पर्श तथा वीर्य में उष्ण) तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का भोजन के रूप में सेवन करता है, क्रोधी स्वभाव का है, आग एवं धूप (घाम) का अधिक सेवन करता है, वह पुरुष यदि तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल गुणों वाली मदिरा को अधिक मात्रा में पीता हो तो उसे विशेष करके पित्तदोषज मदात्यय रोग हो जाता है ।

[1]स तु वातोल्वणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ९३ ॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः । विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥९४॥

पित्तज मदात्यय के लक्षण—यदि वह पित्तज मदात्यय वातप्रकृति-प्रधान पुरुष को हो जाता है, तो या तो वह शीघ्र शान्त हो जाता है अथवा उस रोगी को मार डालता है । यदि रोगी का शरीर हरे वर्ण का हो जाता हो, रोगी को प्यास अधिक लगती हो, जलन होती हो, ज्वर, पसीना, मूर्च्छा, अतिसार (दस्त) तथा चक्कर आ रहे हों तो उसे पित्तप्रधान मदात्यय समझना चाहिए ।

१. 'लक्षणानि भवन्त्यस्य यानि तानि निबोध मे' इति पा० ।

वक्तव्य—'स तु···वा' । इसके स्थान पर आचार्य गंगाधर ने नीचे टिप्पणी में दिये गये जिस पाठ को स्वीकार किया है, उसकी भाषा प्रकरण के अनुसार ठीक प्रतीत होती है और जिसे ऊपर उद्धृत किया गया है, उसकी भाषा 'असाध्य लक्षणों' की जैसी है । श्रीचक्रपाणि इसी का समर्थन करते हुए लिखते हैं—'यत्र सद्यःफला क्रिया तत्र शीघ्रमेव शाम्यति, अक्रियायां च शीघ्रं हन्ति' । पित्तज मदात्यय के सुश्रुतोक्त लक्षण देखें—'स्वेदप्रलाप मुखशोषणदाहमूर्च्छाः पित्तात्मके वदनलोचनपीतता च' ॥ सु० उ० अ० ४७।१८ । तथा—'पित्ताद् दाहज्वरस्वेद-मोहातीसारतृड्भ्रमाः ॥ देहो हरितहारिद्रो रक्तनेत्रकपोलता' ॥ अ० सं० नि० अ० ६।१९ ।

तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा । मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥९५॥
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः । मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति ॥९६॥

कफज मदात्यय का निदान—जो पुरुष व्यायाम नहीं करता, दिन में सोता है, लेटा रहता है, बैठा रहता है, मधुर, स्निग्ध, आहारद्रव्यों का सेवन करता हुआ यदि तरुण (नयी), मधुररस-प्रधान गुड़ तथा चावल आदि के आटा से बनी हुई मदिरा का अधिक मात्रा में सेवन करता है, तो वह पुरुष कफप्रधान मदात्यय रोग को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।

छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः । विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥९७॥

कफज मदात्यय के लक्षण—जिसके शरीर में शीत का प्रभाव अधिक होता हो, वमन, भोजन के प्रति अरुचि, जी मिचलाना, तन्द्रा (उँघाई), स्तैमित्य (शरीर गीले कपड़े से ढका हो, ऐसी अनुभूति का होना) और शरीर का भारीपन, ये कफज मदात्यय के लक्षण होते हैं ।

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः । त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥९८॥

विष तथा मद्य के गुणों में समानता—सन्निपात (तीनों दोषों के समूह) को प्रकुपित करने में समर्थ जो गुण विष में देखे गये हैं, वे सभी गुण मद्य में भी देखे जाते हैं । किन्तु मद्य की तुलना में वे गुण विष में तीव्र-तर देखे जाते हैं ।

वक्तव्य—मद्य के १० गुणों का वर्णन इसी अध्याय के तीसवें पद्य में किया जा चुका है । वहाँ मद्य को अम्ल कहा है, किन्तु महर्षि सुश्रुत ने 'केचिल्लवणवर्ज्यास्तु रसानत्रादिशन्ति हि' (सु० उ० अ० ४७।६) कहा है । कई आचार्य लवण रस को छोड़कर इसमें शेष सभी रसों की सत्ता को स्वीकार करते हैं । ऐसी ही स्थिति विष की भी है—'यथाऽव्यक्तरसं तोयमन्तरीक्षान्महीगतम् । तेषु तेषु प्रदेशेषु रसं तं तं नियच्छति ॥ एवमेव विषं यद् यद् द्रव्यं व्याप्यावतिष्ठते । स्वभावादेव तं तस्य रसं समनुवर्तते' ॥ सु० क० अ० ३।२३-२४ । अतः मधुरप्राय विष से मद्य का साम्य किया जा सकता है । चरक की छाया में वृद्धवाग्भट के विचार देखें—'तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताश्चित्तोपप्लाविनो गुणाः । जीवितान्ताय जायन्ते विषे तूत्कर्षवृत्तितः' ॥ अ० सं० नि० अ० ६।३ ।

हन्त्याशु हि विषं किञ्चिद् किञ्चिद् रोगाय कल्पते ।
यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः ॥ ९९ ॥

विषतुल्य मद्य-मद—जिस प्रकार कोई विष मनुष्य को शीघ्र ही मार डालता है और कोई रोगी बना देता है, उसी प्रकार मद्य रोगोत्पादक भी होता है और अधिक मात्रा में पी लेने से वह मारक भी होता है, अर्थात् मद्य का जो अन्त्य (तीसरा) मद कहा गया है, वह मारक होता है ।

वक्तव्य—जैसे कृत्रिम (गर) विष रोगोत्पादक होते हैं, हल्के विष दूर किये जा सकते हैं और तीक्ष्ण विष सद्यःमारक होते हैं, वही स्थिति मद्य की भी होती है ।

तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये । दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वं [1]चास्य लक्ष्यते ॥१००॥

मदात्ययों में त्रिदोषज लक्षण—सभी प्रकार के मदात्ययों में त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के लक्षण देखे जाते हैं । वात आदि दोषों के भेद से इसके अलग-अलग लक्षण भी होते हैं ।

१. 'चापि' इति पा० ।

शरीरदुःखं बलवत् [1]सम्मोहो हृदयव्यथा । अरुचिः [2]प्रततं तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः ॥१०१॥
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां[3] विद्युत्तुल्या च वेदना । जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः ॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः । शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः ॥१०३॥
छर्द्यतीसारहृल्लासा वातपित्तकफात्मकाः । भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम् ॥१०४॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम् । प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते ॥१०५॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च । मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत् ॥

मदात्यय का सामान्य लक्षण—शरीर में अधिक पीड़ा का होना, संमोह या प्रमोह (पहले की भाँति इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान न हो पाना), हृदय में पीड़ा, भोजन के प्रति अरुचि, निरन्तर प्यास का लगना, कभी सर्दी कभी गर्मी युक्त ज्वर का होना, शिर, पसलियों तथा अस्थि-सन्धियों में बिजली के आघात की भाँति वेदना का होना, बार-बार जँभाई का आना, अंगों का फड़कना, काँपना, थक जाना, छाती का जकड़ जाना, कास, हिक्का, श्वास, प्रजागर (नींद का आना), शरीर का काँपना, कान, आँख तथा मुख सम्बन्धी रोगों का होना, त्रिकग्रह (इसकी गणना वातविकारों में की गयी है, देखें—च० सू० अ० २०।११ । और 'त्रिकसंश्रितमेकम्' । सु० शा० अ० ५।१९ । यह इसी अवयव का रोग है), वमन, अतिसार, जी मिचलाना, वातज, पित्तज तथा कफज रोगों की उत्पत्ति, भ्रम (चक्करों का आना), प्रलाप (अंट-संट बकना), जो नहीं हैं, उन रूपों का दिखलायी देना, तृण (घास फूस), राख, लता, सूखे पत्ते, धूल आदि से अपने को ढकना या इनको अपने शरीर पर लगाना, पक्षियों द्वारा डराया जाना, चित्त के भ्रमित हो जाने पर उसे ऐसे (उपर्युक्त) अनुभव होने लगते हैं । स्वप्न में व्याकुल हो जाना एवं अशुभ स्वप्नों का देखना, ये सभी मदात्यय के सामान्य लक्षण हैं ।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने मदात्यय के स्वतन्त्र रूप से कुछ सामान्य लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है—'सामान्यं लक्षणं तेषां प्रमोहो हृदयव्यथा । विड्भेदः सततं तृष्णा सौम्याग्नेयो ज्वरोऽरुचिः । शिरःपार्श्वास्थिरुक्कम्पो मर्मभेदस्त्रिकग्रहः । उरो विबन्धस्तिमिरं कासश्वासप्रजागराः ॥ स्वेदोऽतिमात्रं विष्टम्भः श्वयथुश्चित्तविभ्रमः । प्रलापश्छर्दिरुत्क्लेशो भ्रमो दुःस्वप्नदर्शनम्' ॥ अ० सं० नि० अ० ६।१५-१७ ।

सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम् । दोषं मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत् ॥

मदात्यय का चिकित्सा-सूत्र—सभी प्रकार के मदात्यय रोग त्रिदोषजनित होते हैं, किन्तु उन दोषों में तर-तम भाव अवश्य देखा जाता है । अतः चिकित्सा करते समय जिस दोष को अधिकता देखे, पहले उस दोष की चिकित्सा करनी चाहिए ।

कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये । पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः ॥१०८॥

वैकल्पिक चिकित्सा-क्रम—अथवा मदात्यय रोग में कफस्थान (कफ) के क्रम से चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि पित्त तथा वातदोष का प्रकोप कफ के बाद होता है ।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'यं दोषमधिकं पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत् ; कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यदोषे मदात्यये ॥ पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः' । अ० सं० चि० अ० ९।२ । ये कहते हैं—जिस मदात्यय में तीनों दोष समान हों, वहाँ सबसे पहले कफदोष की चिकित्सा करनी चाहिए । अर्थात् पहले कफ, फिर पित्त और अन्त में वातदोष की चिकित्सा करनी चाहिए । अन्यथा जिस दोष की प्रधानता दिखलायी दे, उसकी पहले चिकित्सा करें, यह सर्वसम्मत मत है । यहाँ दोषों के प्रकोप का प्रधान क्रम प्रायः इस प्रकार देखा जाता है—कफ, पित्त, वात, इसी को सन्निपातज मदात्यय भी कहते हैं । अतः इस रोग में कफस्थान (उरःप्रदेश) की सुरक्षा उत्तम चिकित्सा द्वारा शीघ्र करनी चाहिए ।

मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते । समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥१०९॥

मदात्यय में मद्य-प्रयोग—मिथ्यापीत, अतिपीत और हीनपीत मद्य के कारण जो व्याधि (मदात्यय) उत्पन्न हो जाती है, वह व्याधि उसी मद्य को सममात्रा में पीने से शान्त हो जाती है ।

१. 'प्रमोहः' इति पा० । २. 'सन्ततं' इति पा० । ३. 'वेदना विक्षते यथा' इति पा० ।

वक्तव्य—कुछ विद्वान् यहाँ चिकित्सा में प्रतिपादित सिद्धान्त (स्थावरविष से जंगमविष की और जंगमविष से स्थावरविष की शान्ति होती है, इस) को ध्यान में रखकर उसे मदात्यय रोग में इस प्रकार प्रयोग करना चाहते हैं, कि जिस द्रव्य से निर्मित मदिरा के अधिक सेवन करने से मदात्यय रोग उत्पन्न हुआ हो उसके विपरीत द्रव्य से निर्मित मदिरा के प्रयोग से मदात्यय रोग की शान्ति हो जाती है, किन्तु तन्त्रकार का आग्रह है—**'तेनैव'** अर्थात् उसी मद्य को पीने से लाभ होगा । ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ मदात्यय रोग हुआ था अविधिपीत मदिरा से और अब 'समपीतेन' मात्रा के अनुसार पीये गये उसी मद्य से उस रोग की शान्ति भी हो जायेगी । यह **'विपरीतार्थकारी'** चिकित्सा का प्रभाव कहा जायेगा ।

जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत् । प्रकाङ्क्षालाघवे जाते यद्यदस्मै हितं भवेत् ॥११०॥

मद्य के पच जाने पर व्यवस्था—अधिक मद्य पीने के कारण जिस पुरुष को मदात्यय रोग हो गया हो उसे उचित मात्रा में मद्य का ही सेवन कराना चाहिए । जब शरीर हलका हो जाय और भूख लगने लगे, तब उस रोगी को वे-वे पदार्थ दें, जो-जो उसके स्वास्थ्य के लिए हितकर हों ।

वक्तव्य—अधिक मात्रा में पीया गया मद्य शरीर में भारीपन ला देता है और जठराग्नि को मन्द कर देता है, उसे पचने में कुछ समय लगता है । जब शरीर में हलकापन प्रतीत होने लगता है और भूख लगने लगती है, तब समझना चाहिए कि मद्य का पाचन हो गया है । इस बीच में मात्रानुसार मद्य का सेवन कराना चाहिए । वात आदि दोषों की शान्ति के लिए किस प्रकार का मद्य देना चाहिए, इसका स्पष्ट निर्देश इसी अध्याय में आगे किया गया है ।

सौवर्चलानुसंविद्धं शीतं सबिडसैन्धवम् । मातुलुङ्गार्द्रकोपेतं जलयुक्तं [1]प्रमाणवित् ॥१११॥

सुसंस्कृत मद्य-प्रयोग—मद्य के प्रमाण (उसकी मात्रा) को जानने वाला चिकित्सक मद्य में सोंचरनमक, विरियानमक, सेंधानमक, बिजौरानीबू का रस, अदरख का रस तथा ठंडा जल मिलाकर रोगी को पीने के लिए दे । इस प्रकार यह मदकारक नहीं होता है ।

वक्तव्य—यह प्रयोग 'समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति' । ऊपर १०९वें श्लोक द्वारा कही गयी मद्यदोषशामक विधि है, अतएव यहाँ किसी मद्य विशेष का उल्लेख नहीं किया गया है । क्योंकि जिस मद्य के अधिक पी लेने से विकार उत्पन्न हुआ हो, उसी मद्य में ऊपर कहे गये द्रव्यों को मिलाकर पीने के लिए उचित मात्रा में देना चाहिए ।

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना । मद्येनान्नरसोत्क्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः ॥११२॥
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम् । जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रदापयेत् ॥११३॥

मद्यपान से हानि—तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल तथा विदाही गुण वाले मद्य को अधिक मात्रा में पी लेने से अन्न का रस क्लेद युक्त तथा विदग्ध होकर क्षार का स्वरूप धारण कर लेता है, तब वह आमाशय-प्रदेश में जलन, ज्वर, प्यास, प्रमोह, चक्कर आना, मद (नशा), इन विकारों को उत्पन्न कर देता है । इन सभी विकारों की शान्ति के लिए उसे सविधि मद्यपान ही कराना चाहिए ।

क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः । श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु ॥११४॥
मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः । मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च ॥११५॥
गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः । सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति ॥११६॥

अम्ल-क्षार की परस्पर प्रतिक्रिया—अम्लरस से युक्त हो जाने पर क्षार द्रव मधुर हो जाता है । अम्ल रस वाले द्रव्यों में जिन गुणों के कारण मद्य श्रेष्ठ होता है, इसके बाद अब उन गुणों को सुनो—अम्ल स्वभाव वाले मद्य में चार प्रकार के अनुरस (अप्रधान रस) होते हैं—१. मधुर, २. कषाय, ३. तिक्त और ४. कटु । इसके पहले मद्य में दस गुण होते हैं, ऐसा बतलाया गया था; इस प्रकार मद्य में १४ गुण हो जाते हैं । अतः इन चौदह गुणों के कारण मद्य सभी अम्लरस वाले द्रव्यों में प्रधान माना जाता है । देखें—च० सू० अ० २७।१७८ ।

१. 'प्रमाणवत्' इति पा० ।

वक्तव्य—अविधिपीत कोई भी मद्य क्षार का रूप धारण कर लेता है, जैसा कि ऊपर श्लोक ११२ में कहा गया है। अतः उसकी शान्ति के लिए पुनः सविधि मद्यपान की व्यवस्था इसलिए दी गयी है, कि पहले पिये गये मद्य में जब विधिपीत मद्य मिलेगा जो अम्लगुण-प्रधान है, तो क्षार रूप मद्य और अम्ल मद्य दोनों परस्पर मिल कर मधुररस में परिणत हो जायेंगे, फलतः मद्य की क्षारता नष्ट हो जायेगी, क्षारता नष्ट हो जाने से उससे सम्बन्धित सभी प्रकार के उपद्रव भी स्वयं शान्त हो जायेंगे। यही कारण है कि अविधिपीत मद्य की चिकित्सा सविधि मद्यपान है।

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण [1]रुद्धः स्रोतःसु मारुतः। करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥
[2]दोषविष्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः।
व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्ले(न्ये)षु सत्स्वपि ॥ ११८ ॥

मदात्यय में मद्य-प्रयोग का महत्त्व—अधिक मद्यपान करने के कारण उभड़े हुए दोषों (वात, पित्त, कफ) से स्रोतों में रुकी हुई वायु सिर, अस्थियों और सन्धियों में अत्यन्त पीड़ा को पैदा कर देती है। ऐसी स्थिति में दोषों को ढीला या गीला करने के लिए उसे विशेष रूप से मद्य का प्रयोग ही कराया जाता है, यद्यपि अन्य अनेक अम्ल द्रव्य पाये जाते हैं, तथापि व्यवायि, तीक्ष्ण, उष्णगुण विशिष्ट अम्लता मद्य में ही पायी जाती है, अतः मदात्यय में मद्य का ही विशेष प्रयोग कराना तन्त्रकार द्वारा अनुमत है।

स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम्। रोचनं दीपनं चाग्नेरभ्यासात् सात्म्यमेव च ॥११९॥

यथाविधि मद्यपान से लाभ—विधिपूर्वक मद्यपान का अभ्यास करने से स्रोतों में जो रुकावट प्रतीत होती है, वह खुल जाती है, इसके कारण वायु अनुलोम हो जाती है, भोजन में रुचि उत्पन्न हो जाती है, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है और अभ्यास (निरन्तर अथवा प्रतिदिन सेवन करते रहने) से मद्य सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो जाता है।

वक्तव्य—मदात्यय (मद का अधिक सेवन करने से उत्पन्न रोग) में पुनः चिकित्सा के रूप में मद्यपान कराना 'विपरीतार्थकारी चिकित्सा-सिद्धान्त' है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उस मदात्यय के रोगी को चिकित्सा के रूप में जो मद (शराब) पिलाया जाय वह मदनाशक द्रव्यों द्वारा संस्कारित होना ही चाहिए। उसे इसलिए मदपान कराना चाहिए कि वह अन्य औषधद्रव्यों की अपेक्षा मदपान करना सरलता से स्वीकार कर लेगा। यह मद्य चिकित्सक के परामर्श से उचित मात्रा में पिलाना चाहिए।

[3]रुजः स्रोतःस्वरुद्धेषु मारुते चानुलोमिते। निवर्तन्ते विकाराश्च शाम्यन्त्यस्य मदोदयाः ॥१२०॥

मदपान से अन्य लाभ—उपर्युक्त प्रकार से स्रोतों की रुकावट के समाप्त हो जाने पर और वायु के अनुलोम (अनुकूल) हो जाने पर अर्थात् अपानवायु का विधिवत् संचार होने पर मदात्यय रोग के सभी विकार शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—यहाँ उक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति में दो पाठभेद उपलब्ध होते हैं—१. 'उरःस्रोतःसु शुद्धेषु'। श्रीगणनाथ सेन। २. 'रसस्रोतःस्वरुद्धेषु'। ये दोनों ही विचारणीय हैं। 'मदोदय' यद्यपि यह शब्द यहाँ मदात्यय रोग का वाचक है, किन्तु इस शब्द से 'मद के वेगों का उदय' यह भी एक अर्थ प्रकट हो रहा है। विषवेगों की भाँति मद के भी अनेक वेग होते हैं। अन्य संस्करणों में यहाँ 'शाम्यत्यस्य मदोदयः' इस प्रकार एकवचनान्त प्रयोग देखा जाता है। जिससे मदवेगों वाला विचार निर्मूल हो जाता है। श्रीगणनाथ सेन यहाँ 'सात्म्यस्तस्य मदोदयः' इस पाठ को स्वीकार करते हैं, किन्तु निर्णयसागरीय संस्करण में यह पाठभेद उद्धृत नहीं है। इन सब पर आप भी विचार करें।

बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम्। यवानीहपुषाजाजीशृङ्गवेरावचूर्णितम् ॥१२१॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमवदंशैर्विरोचितम्[4]। दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये ॥१२२॥

१. 'क्रुद्धः' इति पा०।
२. 'विष्यन्दनार्थं दोषस्य तस्य' इति पा०।
३. 'उरःस्रोतःसु शुद्धेषु' इति पा०।
४. 'श्विरोत्थितम्' इति पा०।

बीजपूरकादि-मद्य—बिजौरानीबू, वृक्षाम्ल (विषांविल), झड़बेर का चूर्ण, खट्टे अनार का रस, अजवाइन हाऊबेर, जीरा, सोंठ इनका समानभाग चूर्ण बनाकर, पैष्टिक मद्य में इन सबको मात्रानुसार मिलाकर स्नेह मिश्रित सत्तुओं तथा अवदंश (चिखना) को साथ में लेकर नमक मिलाकर मद्यपान करने से वातज मद रोग की शान्ति होती है।

वक्तव्य—'विरोचितम्' के स्थान पर 'श्विरोत्थितम्' पाठभेद है। इसके अनुसार पुराना मद्य पीने के लिए रोगी को देना चाहिए। **'सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तम्'**। इस प्रकार के मद्यपान काल में यह भोजन की व्यवस्था है। बिजौरानीबू से लेकर दाड़िम तक अम्ल पदार्थ हैं। इनके रस मद्य में मिलाकर यवानी आदि का चूर्ण मात्रानुसार उसके ऊपर बुरककर और हलका नमक मिलाकर पैष्टिक मद्य का सेवन स्निग्ध अवदंश (चिखना, चाट, पकौड़ियाँ आदि) के साथ करना चाहिए।

दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत्। लावतित्तिरदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि ॥
पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां च संस्कृतैः। भूशयप्रसहानां च रसैः शाल्योदनेन च ॥१२४॥

वातिक मदात्यय में मांस-प्रयोग—वातप्रधान मदात्यय रोग के लक्षणों को देखकर लवा, तीतर, मुर्गा, मोर इन पक्षियों के, आनूपदेश के निवासी मृग तथा मछलियों के, भूशयों (बिल के भीतर रहने वाले गोह, नेवला आदि प्राणियों) के तथा प्रसहवर्ग के प्राणियों के सुसंस्कृत मांस रसों के साथ शालिधान के चावलों के भात को खिलाकर रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—भूशय तथा प्रसह प्राणियों के परिचय के लिए च० सू० अ० २७।५३-५८ तक देखें।

स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः। [1]चित्रैर्गौधूमिकैश्चान्नैर्वारुणीमण्डसंयुतैः ॥१२५॥
पिशितार्द्रकगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूपवर्तिभिः। माषपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत् ॥१२६॥

वातिक मदात्यय में पथ्य—स्निग्ध (चिकने), उष्ण, नमकीन, खट्टे, मुख-प्रिय (सुस्वादु), वेशवार, गेहूँ के आटा से बनाये गये विविध प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, वारुणीमण्ड, मांस तथा अदरख को पीसकर बनायी गयी पीठी की कचौड़ियाँ अथवा उड़द की पीठी की कचौड़ियाँ बनाकर उक्त वातिक मदात्यय के रोगी को खिलाकर उसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—मद्य स्वभाव से ही उष्ण होता है। अतः स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग इसमें शास्त्र-सम्मत है। साथ ही यह वातिक मदात्यय है, इसलिए भी स्निग्धता प्रधान पदार्थों के सेवन का निर्देश दिया गया है। **वेशवार**—हड्डी रहित मांस को पकाकर पीस लें। उसमें गुड़, घी, पिप्पली, कालीमिर्च मिलाकर तैयार किये गये मांस को वेशवार कहा गया है। इस वेशवार को पीठी की भाँति भरकर वैसे ही कचौड़ी बनायी जाती है, जैसे उड़द की पीठी की। **मुखप्रिय**—सबको एक ही प्रकार की वस्तु रुचिकर नहीं लगती, क्योंकि सबकी रुचि अलग-अलग प्रकार की होती है, अतएव कहा गया है—**'भिन्नरुचिर्हि लोकः'**। यही आशय मुखप्रिय का भी है।

नातिस्निग्धं न चाम्लेन युक्तं समरिचार्द्रकम्। मेद्यं प्रागुदितं मांसं दाडिमस्वरसेन वा ॥१२७॥
पृथक्त्रिजातकोपेतं सधान्यमरिचार्द्रकम्। [2]रसप्रलेपि सम्पूपैः सुखोष्णैः सम्प्रदापयेत् ॥१२८॥

पथ्य के संस्कार-भेद—मांसवर्ग में मेद्य (मेदा को बढ़ाने वाले) द्रव्यों का पहले वर्णन किया जा चुका है, उन प्राणियों के मांस में कालीमरिच का चूर्ण और अदरख मिलाकर अथवा मांस में दाडिम (खट्टा अनार) का रस मिलाकर वातज मदात्यय रोगी को खिलायें, किन्तु वह मांस अधिक घी या तेल में पकाया गया न हो और न उसमें अधिक अम्ल द्रव्यों का ही प्रयोग किया गया हो। अथवा उस मांस में त्रिजातक (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्ता—इसी को त्रिसुगन्धि भी कहते हैं) का चूर्ण मिलाकर दें, अथवा धनिया, कालीमिर्च, अदरख मिलाकर तैयार किये गये उस मांस रस को लेप (अवलेह) की भाँति बनाकर गरम अपूपों (मालपुओं या पूड़ी, कचौड़ियों) के साथ खाने के लिए दें।

१. 'स्निग्धै' इति पा०।
२. 'रसप्रलेहयूपैश्च' इति पा०।

वक्तव्य—आचार्य क्षेमशर्मा कृत आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'क्षेमकुतूहल' में प्रलेह-निर्माण की विधि इस प्रकार दी गयी है—'स्थूलानि मांसखण्डानि क्षालितानि च वारिणा। तप्तस्नेहे विनिक्षिप्य द्रव्यां सञ्चालयन् पचेत्॥ ततस्तत्र विनिक्षिप्य लवणं जलमल्पकम्। पचेत् पटपटाशब्दं तस्मिन् मांसे प्रकुर्वति॥ प्रक्षिपेद् दाडिमीनीरं बहु तेन पचेत् पुनः। मांसपिण्डेषु सिद्धेषु देया शुण्ठी सजीरका॥ तत उत्तार्य तन्मांसं पृथक् कुर्यात् प्रलेहतः। प्रलेहं वाससा पूतं स्थापयेदन्यभाजने॥ हिङ्गुना घृतयुक्तेन धूपं तत्रैव दापयेत्॥ क्षेमकुतूहल।

[1]भुक्ते तु वारुणीमण्डं दद्यात् पातुं पिपासवे। दाडिमस्य रसं वाऽपि जलं वा पाञ्चमूलिकम्॥
धान्यनागरतोयं च दधिमण्डमथापि वा। अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा॥१३०॥

वातिक मदात्यय में पेय—इस रोगी को भोजन कर लेने के बाद जब प्यास लगे तब वारुणी (मद्य) के ऊपर का स्वच्छ भाग पीने के लिए देना चाहिए, अथवा दाडिम का रस, अथवा षडंगपरिभाषा द्वारा सिद्ध किया हुआ पञ्चमूल का शीतल किया गया जल, धान्य (धनियाँ) और सोंठ का क्वाथ जल, अथवा दही का पानी, अथवा खट्टी काँजी का मंड, अथवा शुक्त (सिरका) में पानी मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ पञ्चमूल शब्द से दोनों पञ्चमूलों का परिस्थिति के अनुसार ग्रहण किया जा सकता है। ध्यान यह रखना चाहिए कि लघुपञ्चमूल वात और पित्त का नाशक है और बृहत् पञ्चमूल वात एवं कफनाशक है। केवल प्यास को शान्त करने की दृष्टि से लघुपञ्चमूल का प्रयोग उत्तम माना जाता है। वृद्धवाग्भट ने भी लघुपञ्चमूल का ही ग्रहण किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ९।१६।

कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति। मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्धते॥१३१॥

मात्रा एवं कालानुसार चिकित्सा—ऊपर कही गयी चिकित्साविधि का उपयोग मात्रा तथा काल के अनुसार करने से मदात्यय रोग शान्त हो जाता है, तदनन्तर उसका शारीरिक बल और वर्ण भी बढ़ता है।

रागषाडवसंयोगैर्विविधैर्भक्तरोचनैः। पिशितैः शाकपिष्टान्नैर्यवगोधूमशालिभिः॥१३२॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः। घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः॥१३३॥
नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः। श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः॥१३४॥
शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः। मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः॥१३५॥

वातिक मदात्यय-चिकित्सा का उपसंहार—भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न कराने वाले राग-षाडव (आचार-चटनियों) के संयोग से, मांसरसों से, शाकों से, चावल के आटे द्वारा बने हुए पदार्थों से, जौ, गेहूँ, शालिचावलों से बने हुए व्यञ्जनों से, अभ्यंग (मालिश) से, उत्सादन (उबटन) से, गरम पानी द्वारा स्नान करने से, मोटे वस्त्रों को ओढ़ने से, शरीर पर अगरु का गाढ़ा लेप लगाने से, अगरु की धूप से, यौवन की गर्मी से युक्त स्त्रियों का जोर से आलिंगन करने से तथा उन स्त्रियों जिनके नितम्ब, ऊरु (टाँगें) एवं स्तन मांसल हों उनके भार से उत्पन्न सुखद उष्णता से, उष्ण बिस्तरे से, ओढ़ने के उष्ण साधनों (रजाई, कम्बल आदि) से, अन्तर्गृह (जहाँ सहसा बाहरी हवा का प्रवेश न हो सके) में निवास करने से, वात प्रधान मदात्यय रोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

[2]भव्यखर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम्। सदाडिमरसं शीतं सक्तुभिश्चावचूर्णितम्॥१३६॥
सशर्करं शार्करं वा मार्द्वीकमथवाऽपरम्। दद्याद् बहूदकं काले पातुं पित्तमदात्यये॥१३७॥

पैत्तिक मदात्यय-चिकित्सा—पित्तज मदात्यय रोग में भव्य (पाठभेद के अनुसार—मद्य), खजूर, मुनक्का, फालसा, दाडिम (खट्टा अनार) इनके रस में सत्तू और चीनी मिलाकर प्यास को शान्त करने के लिए पिलायें। अथवा चीनी, मुनक्का या इसके अतिरिक्त द्रव्य की बनी हुई मदिरा जो पित्त का शमन कर सके उसमें पर्याप्त जल मिलाकर पीने के लिए दें।

वक्तव्य—मद्य भी उष्ण गुण वाला होता है और पित्त भी। अतः इस रोग में रोगी को प्यास अधिक लगती है, उसकी शान्ति के लिए तन्त्रकार ने यहाँ अनेक के प्रकार पेयों की कल्पना की है। इसमें पहला द्रव्य

---

१. 'भुक्ते न' इति पा०। २. 'मद्यं' इति पा०।

'भव्य' है जिसे पूर्ववर्ती टीकाकारों ने विवादास्पद माना है। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'भव्यम् औत्तरापथिकम्, अन्ये कर्मरङ्गमाहुः'। केवल औत्तरापथिक लिख देने मात्र से उस द्रव्य का निर्णय नहीं हो पाता। ऐसी बात नहीं है, कि सम्पूर्ण उत्तरापथ में केवल 'भव्य' नाम का एक ही फल होता हो, अस्तु।

श्रीनरहरि पण्डित ने इसका परिचय दिया है—'भव्यं भवं भविष्यञ्च भावनं वक्त्रशोधनम्। तथा पिच्छलबीजञ्च तच्च लोमफलं मतम्॥ भव्यमम्लं कटूष्णं च वालं वातकफापहम्। पक्वन्तु मधुराम्लञ्च रुचिकृत् समशूलहृत्॥ कोङ्कणे 'नींवे' इति, गौडदेशे-'चाल्तागाछ' नाम्ना प्रसिद्धः। रा० नि० आम्रादिवर्ग ९६-९७। च० सू० अ० २७।१३१ भी देखें। पाठभेद के अनुसार 'भव्य' के स्थान पर 'मद्य' शब्द दिया गया है। श्रीजयदेव ने 'मार्द्वीक' के स्थान पर 'माध्वीक' शब्द का प्रयोग किया है, इसका अर्थ होगा—'**मधुना, मधूकपुष्पेण वा निर्वृत्तम्**'। एक प्रकार की मदिरा जो मधु से या महुए के फूलों से बनायी गयी हो।

शशान् कपिञ्जलानेणांल्लावानसितपुच्छकान्। मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान्॥
पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद् रसम्। सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम्॥१३९॥
द्राक्षामलकखर्जूरपरूषकरसेन वा। कल्पयेत् तर्पणान् यूषान् रसांश्च विविधात्मकान्॥१४०॥

पैत्तिक मदात्यय में आहार द्रव्य—पित्त की विकृति से होने वाले मदात्यय रोग में खरगोश, कपिञ्जल (पपीहा; वी० एस० आप्टे) एण (काला हरिण), लवा, काली पूँछ वाले मृग के मांस को मधुर एवम् अम्ल द्रव्यों से सुस्वादु बनाकर उनके साथ शालि तथा साँठी के चावलों का भात खाने के लिए रोगी को दें। अथवा पहले परवल या मटर या मूंग का यूष तैयार कर लें, उसी यूष से बकरे के मांस को पकाकर मांस रस तैयार करें। तैयार हो जाने पर उसमें मात्रानुसार दाड़िम का रस अथवा आँवलों का रस मिलाकर उपर्युक्त भात खाने के लिए दें। अथवा मुनक्का, आँवला, खजूर, फालसा इनके रसों से तैयार किये गये अनेक प्रकार के तर्पण (मन्थ) यूष, मांस रसों का निर्माण कराना चाहिए, फिर इनके साथ रोगी को शालि तथा साँठी के चावलों का भात खाने के लिए दें।

आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये। विज्ञाय बहुदोषस्य [1]दह्यमानस्य तृष्यतः॥१४१॥
मद्यं द्राक्षारसं तोयं दत्त्वा तर्पणमेव वा। निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद् विमुच्यते॥१४२॥

पैत्तिक मदात्यय में वमन—यदि जिस मदात्यय रोगी के शरीर में अधिक मात्रा में दोष पाया जाय और शरीर में जलन हो रही हो, उसे प्यास लग रही हो तो आमाशय में स्थित कफ तथा पित्त उभड़ चुके हैं, ऐसा समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में मद्य, मुनक्का का रस और पानी इन तीनों को एक में मिलाकर उसमें सत्तू को घोलकर पिला दें। इससे शीघ्र ही वमन हो जायेगा, वमन के साथ उसके उभड़े हुए कफ-पित्त बाहर निकल आयेंगे और रोगी रोग से मुक्त हो जायेगा।

वक्तव्य—आचार्य गङ्गाधर ने 'तोयं' के स्थान पर 'तोये' पाठ को ठीक समझा है। इससे निर्माण-विधि में कोई अन्तर नहीं आता है, यह केवल इन्हीं की सूझ है। वृद्धवाग्भट भी इसके स्थान पर 'अम्बुशीतं' प्रयोग करते हैं। देखें—'कफपित्तं समुत्क्लिष्टमुल्लिखेत् तृड्विदाहवान्। पीत्वाम्बुशीतं मद्यं वा भूरीक्षुरससंयुतम्॥ द्राक्षारसं वा'। अ० सं० चि० अ० ९।२२।

काले पुनस्तर्पणाद्यं क्रमं कुर्यात् प्रकाङ्क्षिते। तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः॥१४३॥

तर्पणादि कर्म का विधान—वमन कराने के बाद जब भोजन के प्रति इच्छा मालूम पड़े तो ठीक समय पर तर्पण आदि का क्रम से प्रयोग करें। ऐसा करने से उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है, जिससे शेष दोष तथा अन्न का पाचन होता है।

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च। तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि॥१४४॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक्। रसं सनागरं दद्यात् [2]तित्तिरिप्रतिभोजनम्॥१४५॥

---

१. 'तृड्विदाहान्वितस्य च' इति पा०।
२. 'तैत्तिरैः प्रतिभोजिनम्' इति पा०।

कासादि लक्षणों की चिकित्सा—पित्तजनित मदात्यय रोग में खाँसी के साथ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

वक्तव्य—भोजन में शालि तथा साँठी के चावलों का [illegible] [illegible] [illegible]

तृष्यते चातिबलवद् वातपित्ते समुद्धते । दद्याद् द्राक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम् ॥१४६॥
जीर्णे समधुराम्लेन छागमांसरसेन तम् । भोजनं भोजयेन्मद्यमनुतर्षं च पाययेत् ॥१४७॥

पैत्तिक मदात्यय में द्राक्षारस-प्रयोग—यदि पित्तज मदात्यय रोग में अधिक बलवान् वात तथा पित्त दोष बढ़े हुए हों, इनके कारण रोगी को बार-बार प्यास लग रही हो तो उक्त दोषों को अनुलोम करने के लिए उसे द्राक्षारस पीने के लिए दें। जब वह द्राक्षारस पच जाय तब उसे बकरा के मांसरस में मधुर तथा अम्ल (खट्टे) रस मिलाकर शालि या साँठी के चावलों (भात) को खाने के लिए दें और प्यास लगने पर पीने के लिए मद्य दें।

अनुतर्षस्य मात्रा सा यया [1]नो दूष्यते मनः । तृष्यते मद्यमल्पाल्पं प्रदेयं स्याद् बहूदकम् ॥१४८॥
तृष्णा येनोपशाम्येत मदं येन च नाप्नुयात् ।

प्यास लगने पर मद्य की मात्रा—अनुतर्ष की वह मात्रा उचित होती है, जिसे पीने से मन में किसी प्रकार का विकार न आ सके। प्यास लगने पर मद्य को कम से कम मात्रा में दें और उसमें पर्याप्त जल मिलाकर दें। अर्थात् जितनी मात्रा से उसकी प्यास बुझ जाय और उसे नशा न हो, वही उसकी उचित मात्रा है।

वक्तव्य—कोषकारों ने 'अनुतर्ष' का अर्थ 'सुरापानपात्र' किया है। यदि केवल 'पानपात्र' नाम रखा गया होता, तो अधिक अच्छा होता क्योंकि 'पान' शब्द 'सुरापान' के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। हमारे विचार से—'तर्ष=तृष्णा=प्यास को बुझाने योग्य पेय पदार्थ की मात्रा जिसमें समा सके या उसके अनु=अनुकूल जो पात्र हो, उसे 'अनुतर्ष' कहा जाना चाहिए। ध्यान रहे; एक ही बार में पर्याप्त जल, मद्य आदि पेय पदार्थों का प्रयोग प्यास की शान्ति के लिए नहीं करना चाहिए।

परूषकाणां पीलूनां रसं [2]शीतमथापि वा ॥ १४९ ॥
पर्णिनीनां चतसृणां पिबेद् वा शिशिरं जलम् । [3]मुस्तदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेज्जलम् ॥

विविध पेय योग—फालसा का शीतल रस, या पीलु फल का रस, या [illegible] शीतल जल, या चारों प्रकार की पर्णिनियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) के क्वाथ को ठंडा करके, अथवा नागरमोथा, दाडिम, लाजा (खील या लावा) इनके जल को [illegible] [illegible] [illegible]

वक्तव्य—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पीलु-परिचय—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] ॥१५०॥

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]

अम्लद्रव्यज मुखलेप—अड़बेर या जंगली बेर, दाड़िम (खट्टा अनार), वृक्षाम्ल (बिषांबिल या इमली), चुक्रीका (चांगेरी), चुक्रिका (चूक) इन पाँचों के रस का मुख के भीतर लेप करने से शीघ्र ही प्यास की शान्ति हो जाती है।

[illegible] [1][illegible] च । [illegible] च ॥१५३॥
[illegible] च [illegible] [illegible] च । [illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] ॥१५४॥
[illegible] [illegible] च [illegible] । [illegible] च [illegible] [illegible] ॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत् सर्वं विनियोजयेत् ।

पित्तज मदात्यय में आहार-विहार—शीतल अन्न (आहार), पान (पेय द्रव्य) का सेवन, शीतल शय्या (बिछौना), आसन (पाठभेद के अनुसार—शीतल घर, जमीन के भीतर बनाये गये कमरे), शीतल हवा तथा जल का स्पर्श करना, शीतल बगीचे जहाँ फुहारे लगे हों, धारण करने के लिए रेशमी वस्त्र या तीसी (अलसी) के रेशों से बना हुआ वस्त्र, श्वेतकमल, नीलकमलों का स्पर्श करना, मणियों और मोतियों को धारण करना, चन्दन के घोल से शीतल पदार्थों का स्पर्श करना, शीतल चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श करना, शीतल जल से भरे हुए सोने, चाँदी तथा कांसे के पात्रों का स्पर्श, बरफ से भरी हुए मशकों या आइस बैग (बरफ भरी हुई थैली) का स्पर्श, शीतल हवा के थपेड़ों का स्पर्श, चन्दन के घोल से गीले शरीर वाली युवतियों का स्पर्श और चन्दन जल से गीले पंखों की वायु का स्पर्श इस रोग में लाभदायक या सुखद होते हैं। इनके अतिरिक्त और भी जो शीतवीर्य पदार्थ हों, उन सबका भी इसमें प्रयोग करना चाहिए।

कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना ॥ १५६ ॥
हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते ।

कमलों का प्रयोग—अधिक मद्यपान करने के कारण अर्थात् मदात्यय रोग में यदि दाह हो रहा हो तो चन्दन के घोल से गीले किये गये मनमोहक कुमुद (कमलभेद) तथा नीलकमल के पत्तों का स्पर्श हितकर (सुखद) होता है।

वक्तव्य—प्रसिद्धि है कि कमल के पत्तों तथा उनकी पंखुड़ियों पर जल नहीं टिकता, फिर भी चन्दन के घोल में डुबाकर रखे हुए ये पत्ते सुवासित तथा शीतल तो होते ही हैं। कामज्वर-पीड़ित युवक एवं युवतियों को शान्ति प्रदान कराने के लिए इनका स्पर्श कराया भी जाता है, परन्तु इस प्रयोग से उन्हें कोई शान्ति नहीं मिलती, वास्तव में वह काम-दाह ही दूसरे प्रकार होता है।

कथाश्च विविधाः [3]शस्ताः शब्दाश्च शिखिनां शिवाः ॥ १५७ ॥
तोयदानां च शब्दा हि शमयन्ति मदात्ययम् ।

मदात्यय की प्राकृतिक चिकित्सा—इसकी शान्ति के लिए मित्रों द्वारा कही गयी विविध प्रकार की मनोरम कहानियों का सुनना, मयूरों की केका ध्वनि का सुनना और बादलों की गर्जन का सुनायी देना लाभकर होता है।

जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहानि च ॥ १५८ ॥
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च ।

दाहशामक यन्त्र-प्रयोग—पानी को निरन्तर बरसाने वाले जलयन्त्र (फुहारा), वातवह यन्त्र (जिनसे निरन्तर हवा मिल सके, इसके लिए प्राचीनकाल में विविध प्रकार के यंत्रों की व्यवस्था की जाती थी) तथा धारागृहों (फौवारा लगे हुए स्नानगृहों) की व्यवस्था चिकित्सक को इन रोगों के लिए करवानी चाहिए, इनसे रोगी को दाह में शान्ति प्राप्त होती है।

1. 'शीतानि मदनानि च' इति पा०।
2. '[illegible]' इति पा०।
3. 'चित्राः' इति पा०।

वक्तव्य—इस प्रकार की चर्चा महर्षि आत्रेय ने रक्तपित्त-चिकित्सित नामक चौथे अध्याय के १०६ श्लोक से लेकर १०९ श्लोक तक में की है। इसे शिशिर चर्चा या शीतल कथा कहा है और अ० सं० चि० अ० ९ में दिये गये श्लोक ३३ से ३९ तक भी देखें।

फलिनीसेव्यलोध्राम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम् ॥ १५९ ॥
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ।

प्रियङ्ग्वादि लेप—फूलप्रियंगु, खस, पठानीलोध, सुगन्धवाला, हेम (नागकेशर), पत्र (तेजपत्ता), कुटन्नट (केवटीमोथा) इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कालीयक (चन्दन भेद) की पत्ती के रस में पीसकर इसका लेप लगाने से दाह की शान्ति होती है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने उक्त श्लोक में कहे गये द्रव्यों का अर्थ लगाने में सम्भवतः भूल कर दी है। आप वृद्धवाग्भट द्वारा उद्धृत इस पद्य के द्रव्यों से मिलान कर लें—'प्रियङ्गुपत्रप्लवलोध्रसेव्यह्रीबेरकालेयकनागपुष्पैः। शीताम्बुपिष्टैर्नवकर्परस्थैस्तृड्दाहहा सर्वशरीरलेपः' ॥ अ० सं० चि० अ० ९।४०। इस प्रकार आप देखेंगे कि द्रव्य वे ही हैं, केवल लेप-निर्माण की विधि स्वतन्त्र है।

बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः ॥ १६० ॥
फेनिलायाश्च यः फेनस्तं दाहे लेपनं शुभम् ।

बदरीपल्लवादि फेन लेप—बेर की पत्तियों, नीम की पत्तियों और रीठा के छिलकों को पीसकर निकाले गये झाग का लेप लगाना दाह में शान्तिदायक होता है।

वक्तव्य—स्वार्थ में सर्वत्र बहुधा कप्रत्यय होता है। पाणिनि के व्याकरण में भी एक 'क' प्रत्यय ऐसा है, जो स्वार्थ में होता है। जैसे—'अरिष्ट एव अरिष्टकः'। आयुर्वेद में 'अरिष्ट' शब्द अनेकार्थ वाचक होता हुआ भी 'नीम' के लिये प्रयुक्त है तथा 'अरिष्टक' शब्द 'रीठा' का वाचक है। वैद्यकशब्दसिन्धु में 'फेनिल' के ये पर्याय दिये हैं—रीठाकरंज, रीठा, बदरवृक्ष, बदरीफल। कुछ टीकाकारों ने 'फेनिल' का अर्थ—सोमराजी या बाकुचीरा किया है, जो एक ही द्रव्य है। अतः ऊपर दिया गया अर्थ ही उचित है। उक्त तीनों द्रव्यों का कल्क बनाकर किसी पात्र में डालकर मथानी से मथकर इसका झाग निकालकर रोगी के शरीर में लेप करना चाहिए। इससे दाह की शान्ति होती है।

सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु ॥ १६१ ॥
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः ।

परिषेक तथा प्रदेह-प्रयोग—खट्टी कांजी के साथ सुरामण्ड (सुरा का ऊपरी स्वच्छ भाग), खट्टा दही, बिजौरानीबू का रस तथा मधु इनका प्रयोग परिषेक (स्नान) के लिए और प्रदेह (लेप) के लिए किया जाता है। इनके प्रयोग से दाह का नाश होता है।

वक्तव्य—दाहपीड़ित पुरुष को जब इन द्रव्यों से परिषेचन (स्नान) कराना हो, तब इनमें शीतल जल भी मिला लिया जाता है, अथवा कांजी की मात्रा अधिक कर दी जाती है। कांजी का प्रयोग भोजन के साथ भी किया जाता है। उसमें अपने स्वाद के अनुसार नमक, कालीमिर्च का चूर्ण आदि भी मिला देते हैं, किन्तु स्नान के लिए तैयार की गयी कांजी में ऐसा न करें।

परिषेकावगाहेषु व्यञ्जनानां च सेवने ॥ १६२ ॥
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये ।

शीतलजल का प्रयोग—शारीरिक दाह (जलन) तथा प्यास की शान्ति के लिए, परिषेक (स्नान), अवगाह (द्रोणी अवगाहन—Tub bath) और भोजन करते समय शीतल जल को उत्तम माना गया है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर के अनुसार यह पद्य प्रक्षिप्त है, अर्थात् मूलपाठ में यह नहीं है। इसलिए उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया है; किन्तु प्रकरणानुसार ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

[1]मात्राकालप्रयुक्तेन कर्मणाऽनेन शाम्यति ॥ १६३ ॥
धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः ।

सुखसाध्य मदात्यय की स्थिति—बुद्धिमान् (अपने हित-अहित को जानने वाले) तथा चिकित्सक की आज्ञा में रहने वाले रोगी का पित्तज मदात्यय रोग मात्रा तथा समयानुसार प्रयुक्त किये गये उपर्युक्त चिकित्सा-विधान से शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफमदात्ययम् ॥ १६४ ॥

कफज मदात्यय चिकित्सा—इसमें रोगी को वमन तथा उपवास कराना चाहिए। इन दो विधियों से कफज मदात्यय को जीता जा सकता है।

तृष्यते सलिलं चास्मै दद्याद्ध्रीबेरसाधितम् । बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम् ॥
सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम् । दुःस्पर्शेन समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा ॥१६६॥
जलं मुस्तैः शृतं वाऽपि दद्याद् दोषविपाचनम् । एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये ॥१६७॥
निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम् ।

कफज मदात्यय में विविध पेय—इसमें यदि रोगी को प्यास लगे तो ह्रीबेर (सुगन्धबाला) द्रव्य का षडंगपानीय परिभाषा द्वारा तैयार किया हुआ जल पीने के लिए देना चाहिए। अथवा बला की जड़ तथा पृश्निपर्णी का जल दें, अथवा कण्टकारी (छोटी कटेरी) का जल दें, अथवा सोंठ के साथ ऊपर कहे गये सभी द्रव्यों को मिलाकर उक्त विधि से तैयार किया हुआ जल दें, अथवा दुरालभा, मोथा का जल दें, अथवा मोथा, पित्तपापड़ा का जल दें, अथवा केवल मोथा डालकर उक्त विधि से पकाया गया जल पीने के लिए दें। इससे अधिक मद्यपान करने से उत्पन्न होने वाले दोषों की शान्ति होती है। सभी प्रकार के मदात्यय में इस प्रकार तैयार किये गये उक्त जलों का प्रयोग सर्वथा निरापद होता है और इनमें से किसी जल को पीने से मदात्यय के कारण उत्पन्न प्यास तथा ज्वर का नाश हो जाता है।

निरामं काङ्क्षितं काले [2]सक्षौद्रं पाययेत् तु तम् ॥ १६८ ॥
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा । [3]रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् ॥१६९॥

निराम कफज मदात्यय-चिकित्सा—इस प्रकार के मदात्यय के रोगी को जब भोजन करने की इच्छा हो तो समय पर मधु अथवा चीनी से तैयार किया गया पुराना अरिष्ट या मधु अथवा सीधु (सिरका), रूक्ष (घी से रहित), तर्पण (पानी में घोला हुआ सत्तू) के साथ मात्रानुसार अजवाइन और सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीने के लिए दें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त पाठ को इस प्रकार उद्धृत किया है—निरामं क्षुधितं काले पाययेद् बहुमाक्षिकम्। शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा ॥ रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम्' ॥ अ० सं० चि० अ० ९।४४। ऊपर जिन रूक्षतर्पण को देने का विधान कहा गया है, उसमें सत्तू की मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए। वह पिया जा सके ऐसा तैयार करें।

यावगौधूमिकं चान्नं रूक्षयूषेण भोजयेत् । कुलत्थानां सुशुष्काणां मूलकानां रसेन वा ॥१७०॥
तनुनाऽल्पेन लघुना कट्वम्लेनाल्पसर्पिषा ।

कफज मदात्यय के आहार द्रव्य—जौ तथा गेहूँ से तैयार किये गये भक्ष्य पदार्थ को रूक्ष (घी रहित) यूष के साथ, कुलथी के यूष के साथ, सूखी मूली के यूष के साथ खाने के लिए दें। अथवा ऊपर कहे गये यूषों को और पतला करके थोड़ी मात्रा में कटु (कालीमिर्च) तथा अम्ल रस तथा जिसमें थोड़ा-सा घी भी मिला हो, ऐसे यूष के साथ भक्ष्य पदार्थ खाने के लिए दें।

---

१. 'कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति' इति पा०।
२. 'पाययेद् बहुमाक्षिकम्' इति पा०।
३. 'रूक्षं तर्पणसंयुक्तं यवान्नं वा प्रदापयेत्' इति पा०।

पटोलयूषमम्लं वा यूषमामलकस्य वा ।। १७१ ।।
प्रभूतकटुसंयुक्तं सयवान्नं प्रदापयेत् ।

अन्य आहार-द्रव्य—अथवा दाड़िम आदि का रस मिलाकर खट्टा किया हुआ परवल का यूष, अथवा आँवलों के यूष में पर्याप्त मात्रा में कटु (मरिच आदि) द्रव्यों को मिलाकर जौ से बने हुए भक्ष्य पदार्थों को खाने के लिए दें ।

व्योषयूषमथाम्लं वा यूषं वा साम्लवेतसम् ।। १७२ ।।
छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम् ।

कफज मदात्यय में मांस-प्रयोग—दाड़िम के रस से खट्टा किया हुआ व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का यूष, अथवा अम्लवेतस के रस के साथ बकरे के मांसरस को रूक्ष (बिना घी का), अथवा जांगलदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरस को अम्ल करके सेवन कराना चाहिए ।

स्थाल्यां वाऽथ कपाले वा भृष्टं [1]निर्द्रववर्तितम् ।। १७३ ।।
कट्वम्ललवणं मांसं भक्षयन् वृणुयान्मधु ।

भूँजे हुए मांस का प्रयोग—बटलोई अथवा कपाल (मिट्टी के फूटे घड़े के टुकड़े) में भूँजकर कटु, अम्ल, लवण पदार्थों को मिलाकर उस द्रव रहित मांस को पीसकर खाता हुआ रोगी मधु का सेवन करे ।

वक्तव्य—'निर्द्रववर्तितम्' के स्थान पर 'नीरसवर्तितम्' पाठ दिया गया है । इस पर श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'नीरसवर्तितमिति अनतिद्रववर्तितं शुष्काख्यं व्यञ्जनमित्यर्थः' । यदि 'भृष्ट' का अर्थ भूँजना है तो वह अवश्य निर्द्रव (द्रवरहित) होगा ही । श्रीचक्रपाणि नीरस का अर्थ अल्पद्रव करते हैं और उसके बाद भी शुष्कद्रव्य कहते हैं । इसका तात्पर्य है कि मांस को भूँजकर ऐसा तैयार करें जो 'न अधिक गाढ़ा हो और न अधिक पतला' । किन्तु श्रीजेज्जट इसके विपरीत अपना मन्तव्य देते हैं—'नीरसवर्तितमिति निर्गतो रसोऽस्येति नीरसं वर्तितं वृत्ततां यातं परिशुष्कं व्यञ्जनमिति यावत्, इति । हमारे विचार से **'निर्द्रव या नीरसवर्तितम्'** का अर्थ यह होना चाहिए—'बिना पानी डाले पीसा हुआ' । शेष सब स्पष्ट है । मांस को भूँजकर उसे पीसकर उसमें नमक-खटाई आदि मसाले डालकर खाने का यह एक प्राचीन प्रकार है ।

व्यक्तमारीचकं मांसं मातुलुङ्गरसान्वितम ।। १७४ ।।
प्रभूतकटुसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् । भृष्टं दाडिमसाराम्लमुष्णपूपोपवेष्टितम् ।।१७५।।
यथाग्नि भक्षयेत् काले प्रभूतार्द्रकपेशिकम् । पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये ।।१७६।।

मांस के विविध प्रयोग—कफ-प्रधान मदात्यय रोग में जिसमें कालीमिर्च के चूर्ण का स्वाद स्पष्ट रूप से मालूम पड़े, उसमें बिजौरानीबू का रस मिलाकर उसके बाद पर्याप्त कटु द्रव्य (सोंठ तथा पिप्पली चूर्ण) से युक्त (पाठभेद के अनुसार पटु=नमक युक्त) हो, अजवाइन और सोंठ जिसमें मिला हो, इस प्रकार के भूँजे हुए उस मांस को अनार के रस से खट्टा करके उसमें पर्याप्त अदरख कतर कर मिला दें तब गरम-गरम कचौड़ी, पूड़ी आदि से लपेट कर समय पर अग्निबल को देखकर खायें, उसके साथ दोष रहित उत्तम मद्य को पीयें ।

वक्तव्य—'मरिच' और 'मरीच' ये दोनों शब्द 'कालीमिर्च' के लिए प्रयुक्त होते हैं । 'भृष्ट' शब्द 'मांस' का विशेषण है । 'प्रभूतकटुसंयुक्तम्' के स्थान पर 'प्रव्यक्तपटुसंयुक्तम्' ऐसा पाठ भी उपलब्ध है, जो यहाँ इसलिए प्रसंगोचित प्रतीत होता है, कि मांस में नमक का प्रयोग भी स्वाद की वृद्धि के लिए करना ही है, एक कारण यह भी है कि ऊपर 'मरिच चूर्ण' का प्रयोग हो चुका है, नागर (सोंठ) का भी उल्लेख किया गया है । क्या केवल 'पिप्पली' के लिए ही यहाँ 'कटु' शब्द का प्रयोग किया गया है ? यदि नहीं तो 'पटु' का प्रयोग युक्ति-युक्त प्रतीत होता है अथवा 'कटु' शब्द से 'कटुस्कन्ध' (च० वि० अ० ८।१४२ में कहे गये द्रव्यों) का यथोचित ग्रहण करें ।
उष्णपूपोपवेष्टितम्—इसका अर्थ कुछ टीकाकारों ने 'कचौड़ी में भरकर' ऐसा किया है । 'उष्णपूप' पकाने के बाद

१. 'नीरसवर्तितम्' इति पा० ।

होता है और पीठी आदि कच्चे आटे की लोई में भरी जाती है । वास्तव में इसका अर्थ है पूपों से लपेट कर उस मांस के भरता को खाये । **आर्द्रकपेशिकम्**—अदरख के लम्बे-लम्बे टुकड़ों को कतरकर रखना । इसके स्थान पर 'प्रभूतार्द्रकपेशितम्' पाठ भी उपलब्ध है । इसका अर्थ होगा—पर्याप्त अदरख पीसकर मिलाना । **निगद**—अर्थात् जो रोगकारक न हो, अपितु रोगनाशक हो ।

वृद्धवाग्भट मधु से निर्मित मद्य का प्रयोग भृष्ट मांस के साथ करने की चर्चा करते हैं, किन्तु यहाँ कहे गये द्रव्य अधिकांश उससे भिन्न हैं । देखें—'प्रभूतशुण्ठीमरिचहरितार्द्रकपेशिकम् । बीजपूररसाद्यम्लं भृष्टं नीरसवर्तितम् ॥ करीरकरमर्दादिरोचिष्णुबहुसालनम् । प्रव्यक्ताष्टाङ्गलवणं विकल्पितनिमर्दकम् ॥ यथाग्नि भक्षयन् मांसं माधवं निगदं पिबेत्' ॥ अ० सं० चि० अ० ९।४७-४८ ।

सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् । त्वगेलामरिचार्धांशं शर्कराभागयोजितम् ।।१७७।।
एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसन्दीपनं परम् । मदात्यये कफप्राये दद्यात् स्रोतोविशोधनम् ।।१७८।।

अष्टाङ्ग लवण—सौंचरनमक, जीरा, इमली या विषांविल, अम्लवेतस—ये प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग, दालचीनी, छोटी इलायची, कालीमिर्च आधा-आधा भाग, एक भाग चीनी—यह अष्टांगलवण जठराग्नि को बढ़ाने वाला है, स्रोतों को शुद्ध करने वाला है । इसका प्रयोग कफप्रधान मदात्यय रोग में करना चाहिए ।

एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम् । गोधूमान्नयवान्नानां मांसानां चातिरोचनम् ।।१७९।। ।

चटनी का प्रयोग—इसी अष्टांगलवण को फिर युक्तिपूर्वक मधुर तथा खट्टे पदार्थों द्वारा पतला करके, अर्थात् चटनी बनाकर चाटने से गेहूँ तथा जौ द्वारा बने हुए खाद्य पदार्थों को एवं मांस को खाने के लिए रुचि पैदा होती है ।

पेषयेत् कटुकैर्युक्तां श्वेतां बीजविवर्जिताम् । मृद्वीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ।।१८०।।
सौवर्चलैलामरिचैरजाजीभृङ्गदीप्यकैः । स रागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो [1]रोचनदीपनः ।।१८१।।

मुनक्का की चटनी—सोंठ, मरिच आदि कटु द्रव्यों से युक्त, बीज निकाले हुए सफेद मुनक्कों को सौंचरनमक, छोटी इलायची के बीज, कालीमिर्च, जीरा, तज, अजवाइन, इसके साथ बिजौरानीबू का रस अथवा दाड़िम के बीजों का रस मिलाकर पीसें । इस राग (चटनी) में मधु मिलाकर सेवन करने से भोजन के प्रति रुचि बढ़ती है और यह अग्नि को तीव्र करती है ।

वक्तव्य—चरक-विमानस्थान अ० ८ के १४२वें गद्य में 'कटुकस्कन्ध' नाम से कुछ द्रव्यों का उल्लेख किया गया है उनमें से आवश्यकतानुसार द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए । श्वेतमृद्वीका काश्मीरी मुनक्का । 'भृङ्ग' शब्द का अनुवाद कुछ टीकाकारों ने दालचीनी किया है । भावमिश्र ने 'तज' के पर्यायों में तथा 'भृंगराज' के पर्यायों में भी 'भृंग' शब्द का ग्रहण किया है । दालचीनी और तज में थोड़ा अन्तर है—दालचीनी के वृक्ष की बाहरी मोटी छाल को 'तज' कहते हैं और उसी की भीतरी पतली छाल को 'दालचीनी' कहते हैं । राजनिघण्टु में 'भृङ्गाह्वा' नाम से प्रसिद्ध एक अन्य द्रव्य है । देखें—मूलकादिवर्ग ४७ । वृद्धवाग्भट के अनुसार उक्त योग इस प्रकार है—'कटुस्कन्धयुतां श्वेतां मृद्वीकां निष्कुलीकृताम् । रसेन मातुलुङ्गस्य कल्कयेद् दाडिमस्य वा ॥ तथा क्षौद्रयुतो रागः कृतो रोचनदीपनः' ॥ अ० सं० चि० अ० ९।५० ।

मृद्वीकाया विधानेन कारयेत् कारवीमपि । शुक्तमत्स्यण्डिकोपेतं रागं दीपनपाचनम् ।।१८२।।

मंगरैला की चटनी—ऊपर जो मुनक्का की चटनी बनाने की विधि कही गयी है, उसी के अनुसार कारवी (कालाजीरा, मंगरैला) की चटनी बनानी चाहिए । उसमें केवल सिरका तथा राब मिलायी जाती है, यह अन्तर है । यह राग (चटनी) भी अग्नि को दीप्त करता है और खाये हुए भोजन को पचाता है ।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इस कारवी राग में सौंचरनमक, छोटी इलायची, कालीमिर्च, अजवाइन, जीरा, आदि डालने को भी कहा है । देखें—अ० सं० चि० अ० ९।५१ । जेज्जट के अनुसार यह दूसरी कोई कारवी

१. 'रोचनदीपनम्' इति पा० ।

है, जो जिसे द्राक्षा भेद कहा जाता है—'कारवी द्राक्षाविशेषो वा गोस्तनिकेत्युच्यते'। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में लघु-द्राक्षा 'किशमिश' को माना है, किन्तु 'कारवी' के पर्यायों में 'लघुद्राक्षा' का परिगणन नहीं किया गया है।

आम्रामलकपेशीनां रागान् कुर्यात् पृथक् पृथक्। धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान् ॥
[1]गुडेन मधुयुक्तेन व्यक्ताम्ललवणीकृतान्। तैरन्नं रोचते दिग्धं सम्यग्भुक्तं च जीर्यति ॥१८४॥

राग के अन्य प्रयोग—आम अथवा आँवलों की फाँकें बनाकर इनके अलग-अलग आचार डालें। उनमें ये मसाले पड़ेंगे—धनियाँ, सोंचरनमक, जीरा, मंगरैला (कालाजीरा) और कालीमिर्च इन सबका चूर्ण करके मात्रा के अनुसार उनमें मिला दें, तदनन्तर उनमें मधु और गुड़ मिला दें, हलका-सा नमक तथा खटाई भी मिला दें। इनका सेवन करने से भोजन के प्रति रुचि बढ़ती है, पेट में इकट्ठा हुआ आहार भली-भाँति पच जाता है।

वक्तव्य—'मधुयुक्तेन' के स्थान पर 'मधुशुक्तेन' पाठ दिया गया है। वास्तव में राग-षाडव आदि के अनेक भेद हैं, शुक्त-सिरका डालकर जो अचार-चटनियाँ बनायी जाती हैं, वे अलग होती हैं। मसालेदार अचार-चटनियों में सिरका डालने की परम्परा सर्वत्र नहीं है। वृद्धवाग्भट ने भी 'मधुयुक्तेन' पाठ ही ठीक माना है। देखें—अ० सं० चि० अ० ९।५२। केवल वे मरिच को अधिक डालने की आज्ञा देते हैं।

[2]रूक्षोष्णेनान्नपानेन स्नानेनाशिशिरेण च। व्यायामलङ्घनाभ्यां च युक्त्या जागरणेन च ॥
कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च। [3]प्राणवर्णकराणां च प्रघर्षाणां च सेवया ॥१८६॥
सेवया वसनानां च गुरूणामगुरोरपि। सङ्कोचोष्णसुखाङ्गीनामङ्गनानां च सेवया ॥१८७॥
सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च। मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रमेवोपशाम्यति ॥१८८॥

कफज मदात्यय में आहार-विहार—रूक्ष (स्नेह रहित) तथा उष्णगुण-प्रधान अन्न (आहारों), पान (पेय पदार्थों) का सेवन करने से, गरम जल से स्नान करने से, युक्तिपूर्वक व्यायाम (शारीरिक श्रम) तथा उपवास करने से, जागरण करने (न सोने) से, समयानुसार रूक्ष स्नान तथा उबटन से, प्राणवर्धक एवं वर्ण (सौन्दर्य) वर्धक प्रघर्षों (चूर्णों को शरीर पर रगड़ने) से, गुरु (भारी) वस्त्रों को निरन्तर धारण करने से, अगुरु का लेप लगाने से, संकोच (लज्जा) शील अथवा केसर का शरीर पर लेप लगायी हुई, उष्णता युक्त, सुखद अंगों वाली युवतियों की सेवा (निरन्तर सम्पर्क) से, सुखद एवं शिक्षित (अभ्यस्त) हाथों वाली स्त्रियों द्वारा संवाहन (शरीर के अंग-प्रत्यंग को दबाना या मुठियाना) से, कफप्रधान मदात्यय रोग प्रायः शीघ्र शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इसको उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ९।५३।

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति। सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा ॥१८९॥

सन्निपातज मदात्यय चिकित्सा-सूत्र—यहाँ तक इस अध्याय में अलग-अलग वात आदि दोषों की अधिकता के अनुसार जो चिकित्सा-क्रम बतलाया गया है, तदनुसार दस प्रकार के सन्निपातज मदात्यय में भी चिकित्सक को चाहिए कि वह विवेकपूर्ण कल्पनाएँ कर ले।

वक्तव्य—यद्यपि बढ़े हुए दोषों द्वारा सन्निपात तेरह प्रकार का होता है, जिसका वर्णन विस्तृत रूप से ज्वर-चिकित्सा-प्रकरण में किया जा चुका है। सभी मदात्यय त्रिदोषज होते हैं, देखें—श्लोक १०७। अतः वातप्रधान, पित्तप्रधान, कफप्रधान मदात्ययों की चिकित्सा इसी प्रकरण में पहले कही जा चुकी है। अब द्विदोषज, हीन, मध्य, अधिक तथा सम सन्निपातों के जो दस भेद अवशिष्ट हैं, उन्हीं का उक्त श्लोक में संकेत किया गया है। दो दोष प्रधान—३, हीन, मध्य, अधिक भेद से—६, यदि तीनों दोष समान भाव से उभड़ कर मिले हों, तो—१, इस प्रकार मदात्यय के ३+६+१=दस भेद होते हैं। एक दोषप्रधान—३, कुल मिलाकर मदात्ययज सन्निपात के १३ भेद होते हैं।

---

१. 'गुडेन मधुशुक्तेन व्यक्ताम्लमधुरीकृतान्' इति पा०।
२. 'रूक्षाम्लेनान्नपानेन' इति पा०।
३. 'स्नानवर्णकवासानां' इति पा०।

यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित्।
स साध्यान् साधयेद् व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित् ॥ १९० ॥

उत्तम चिकित्सक-परिचय—दोषों के विकल्प को जानने वाला, अर्थात् रोगी में कौन दोष कितनी मात्रा में है, इसे जानने वाला और जो तदनुरूप औषध-कल्पना में जो कुशल हो एवं जो रोग के साध्य-असाध्य का विभाग करना जानता हो, वही चिकित्सक साध्य रोगों का निराकरण कर सकता है।

वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः। विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥१९१॥
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च। गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठ्यश्च हृदयप्रियाः ॥
सङ्कथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः। प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥

मदात्यय में प्रहर्षण-चिकित्सा—रमणीय बाग-बगीचे, विकसित कमलों से युक्त सरोवर, स्वच्छ एवं पवित्र अन्न (आहार द्रव्य), पान (विविध प्रकार के पेय पदार्थ, जिनका वर्णन इसी अध्याय में किया गया है), मनोविनोद-कारक सहायक, सुगन्धित फूलों की मालाएँ, विविध प्रकार के सुगन्धित इत्रों तथा चन्दन आदि का प्रयोग, साफ-सुथरे वस्त्रों को धारण करना, गाने बजाने वालों के कर्ण-मधुर शब्द, हृदय को प्रिय लगने वाली कान्ताएँ एवं मनोरंजक गोष्ठियाँ, कथा-वार्ता, हास-परिहास, गीत-वाद्य की उत्तम योजनाएँ, आज्ञाकारिणी एवं प्रिय स्त्रियों का सहवास—ये उपाय मदात्यय का नाश करते हैं।

नाक्षोभ्यं हि मनो मद्यं शरीरमविहत्य च। कुर्यान्मदात्ययं तस्माद्देष्टव्या हर्षणी क्रिया ॥१९४॥

हर्षणीक्रिया का सैद्धान्तिक रहस्य—मन को बिना विचलित किये तथा शरीर को बिना पीड़ित किये मद्य द्वारा कभी भी मदात्यय रोग की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। अर्थात् जब भी मदात्यय रोग होता है, तब मन में अवश्य क्षोभ उत्पन्न होता ही है और शरीर पर उससे उपघात भी होता है। अतः उसकी शान्ति के लिए जिस उपाय से मन प्रसन्न हो, वह चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने यहाँ पूर्णरूपेण महर्षि अत्रेय के वचनों का अनुसरण किया है, देखें—अ० सं० चि० अ० ९।६०।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः।
न चेन्मद्यविधिं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत् ॥ १९५ ॥

मदात्यय में दुग्ध-प्रयोग—देखा गया है कि ऊपर कही गयी सिद्ध (सर्वत्र सफल) चिकित्साओं द्वारा मदात्यय रोग शान्त हो जाता है। यदि शान्त नहीं होता तो मद्यपान विधि को छोड़कर उस (मदात्यय के) रोगी को दुग्ध-पान कराना चाहिए।

वक्तव्य—इस पद्य के पहले तन्त्रकार ने इस बात पर बल दिया था कि विधिरहित मद्य पीने से जो मदात्यय होता है, उसकी चिकित्सा विधिपूर्वक पिलाये गये मद्य से ही होती है। देखें—च० चि० अ० २४।११७-११८। इतना कहने पर भी यहाँ जो दुग्ध-सेवन का विधान बताया गया है, यह तन्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट विशेष विधि है।

लङ्घनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि। विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे ॥१९६॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च। ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ॥१९७॥

दुग्ध-प्रयोग में उपमा—मद्य-सेवन का परित्याग कर देने के बाद मदात्यय के रोगी को लंघन (उपवास), पाचन (जो दोषों को पचाने की क्षमता रखते हों, उन औषधयोगों का प्रयोग), दोषों को दूर करने वाली तथा शमन-चिकित्साओं द्वारा कफदोष के क्षीण हो जाने पर जब शरीर में दुर्बलता तथा हलका-पन प्रतीत होने लगे, तब उस मद्यविदग्ध अर्थात् मदात्यय रोग से पीड़ित तथा जिसके शरीर में वात एवं पित्त दोष बढ़े हुए हैं, ऐसे पुरुष के लिए दुग्धपान ठीक वैसा ही है, जैसे गर्मी से तपे हुए वृक्ष के लिए वर्षा का जल सुखद होता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट इसमें कारण का निर्देश करते हुए कहते हैं—'ओजस्तुल्यं गुणैः सर्वैर्विपरीतं च मद्यतः'। अ० सं० चि० अ० ९।६४। श्लोक ६२-६३ भी देख ले।

पयसाऽभिहते रोगे बले जाते निवर्तयेत्। क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ॥१९८॥

मद्य का पुनः क्रमशः प्रयोग—इस प्रकार दुग्ध का सेवन कराने पर जब मदात्यय रोग शान्त होने लगता है तथा वल की प्राप्ति होने लगती है, तब दुग्ध-प्रयोग और मद्य का प्रयोग थोड़ी-थोड़ी मात्रा में प्रारम्भ कर दें।

वक्तव्य—पुनः मद्य का सेवन केवल इसलिए कराया जाता है, कि उसे मद्य सात्म्य होता है, सात्म्य द्रव्य का सहसा त्याग हानिकर होता है, अतः उसका पुनः क्रमिक सेवन कराना चाहिए। देखें—'उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः। हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते॥ प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्। एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा'॥ चं० सू० अ० ७।३६-३७। आगे भी कहा है—'क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचितागुणाः। सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च'॥ च० सू० अ० ७।३८। इनकी व्याख्या यथास्थान देखें।

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। [1]ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥१९९॥
व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ।

ध्वंसक, विक्षय रोगोत्पत्ति—जो मद्यपी व्यक्ति मद्य का त्याग करने के पश्चात् पुनः सहसा अति मद्यपान करने लगता है, उसे ध्वंसक (या ध्वंस) एवं विक्षय (या विक्षेपक) नामक रोग हो जाता है। रोग के कारण जिसका शरीर क्षीण हो गया है, ऐसे व्यक्ति के लिए वे दोनों ही रोग अत्यन्त दुःसाध्य माने गये हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त दोनों रोगों का उल्लेख अष्टांगसंग्रह के निदानस्थान अ० ६।२० में किया है। चरक में इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

तयोर्लिङ्गं चिकित्सा च यथावदुपदेक्ष्यते ॥ २०० ॥

ध्वंसक, विक्षय निदान-चिकित्सा-प्रस्तावना—अब ध्वंसक तथा विक्षय रोग के लक्षण एवं चिकित्सा का यहाँ उपदेश किया जा रहा है।

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता। तन्द्रानिद्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥२०१॥

ध्वंसक के लक्षण—मुख से श्लेष्मा (कफ या लार) का निरन्तर निकलते रहना, गला और मुख का सूखना, ऊँचे स्वर वाले शब्द को सहन न कर पाना, तन्द्रा (ऊँघाई) तथा निद्रा का अधिक आना—ये सभी ध्वंसक रोग के लक्षण होते हैं।

हृत्कण्ठरोगः सम्मोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः। तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद् विक्षयलक्षणम् ॥२०२॥

विक्षय के लक्षण—हृदय रोग, गल रोग, संमोह (बेहोशी), वमन, शरीर के अवयवों में पीड़ा, ज्वर, बार-बार प्यास का लगना, कास, शिरःशूल—ये विक्षय के लक्षण हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने जिन पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण तथा पानविभ्रम—इन चार रोगों का उल्लेख किया है, संक्षेप में उन्हें आप इस प्रकार समझें—१. **पानात्यय**—यह मादक द्रव्य या द्रव्यों के अधिक सेवन से होता है। २. **परमद**—यह रोग मद्यपान से उत्पन्न अत्यन्त नशा की अवस्था का सूचक है। ३. **पानाजीर्ण**—अधिक मद्यपान के कारण जब भोजन के प्रति अनिच्छा हो जाती है, उस स्थिति का परिचायक है। ४. **पानविभ्रम**—यह मद्य के मिथ्यायोग से उत्पन्न स्थिति का नाम है। देखें—सु० उ० अ० ४७।१७। सुश्रुत के उक्त चार भेदों से चरक में कहे गये ध्वंसक तथा विक्षय का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सुश्रुतोक्त ये भेद प्रारम्भ से ही मद्यपान करने वालों के हैं। चरक में जो ये दो भेद कहे गये हैं, ये रोग एक बार मद्यपान छोड़ देने के बाद पुनः अधिक मात्रा में मद्यपान करने के कारण होते हैं। इन्हें 'दुश्चिकित्स्यतम' कहा गया है।

१. 'ध्वंसो विक्षेपकश्चैव' इति पा०।

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये। तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायते दुर्बलस्य वै ॥२०३॥

ध्वंसक-विक्षय-चिकित्सा—वातज मदात्यय में जिस चिकित्सा का वर्णन पहले किया जा चुका है, वही चिकित्सा इन रोगों में भी करनी चाहिए। ये दोनों रोग उसी पुरुष को होते हैं, जिसका शरीर क्षीण हो गया हो और जिसका शारीरिक तथा मानसिक बल घट गया हो।

वस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगः क्षीरसर्पिषोः। अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातनुत् ॥२०४॥
ध्वंसको विक्षयश्चैव कर्मणाऽनेन शाम्यति। युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ॥२०५॥

वातनाशक चिकित्सा-निर्देश—वातनाशक वस्तियाँ दें, वातनाशक औषधद्रव्यों द्वारा तैयार किये गये घी को पिलायें, दूध और घी का सेवन तथा वातनाशक अभ्यंग (तेल-मालिश), उबटन, स्नान, खान, पान का प्रयोग करायें। इस प्रकार के उपचार से ध्वंसक तथा विक्षय रोग शान्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति सदैव विधिपूर्वक मद्य का सेवन करता है, उसे मद्यविकार से होने वाली कोई व्याधि नहीं होती है।

निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः। शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥२०६॥

मद्यपान न करने से लाभ—जो जितेन्द्रिय (सच्चरित्र) पुरुष सभी प्रकार के मद्यों के सेवन से दूर रहता है, वह विद्वान् (विवेकी पुरुष) शारीरिक तथा मानसिक रोगों के बन्धन से सदैव मुक्त रहता है।

वक्तव्य—यद्यपि इस प्रकरण में विधिपूर्वक मद्य-सेवन की प्रशंसा करते हुए उसे अमृत, रसायन तथा अन्न के समान दैनिक उपयोग में आने वाला कहा गया है, तथापि सभी प्रकार के मद्य मदकारक होते हैं, बुद्धि का नाश करते हैं। अतः यहाँ मद्यपान न करने वाले व्यक्ति को धीमान् एवं जितेन्द्रिय कहा गया है। महर्षि वाग्भट ने मद्य की निन्दा इस प्रकार की है—'मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रिताः। सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः। यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधु यत्'॥ अ० हृ० नि० अ० ६।९।

तत्र श्लोकाः—

यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा। यद् द्रव्या यस्य या चेष्टा योगं चापेक्षते यथा ॥
यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा। यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥२०८॥
ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः। यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वं च लक्षणम् ॥
ये सहायाः सुखाः [1]पाने चिरक्षिप्रमदा नराः। मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणं यद् यथा च यत् ॥
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः। सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने मदात्ययचिकित्सितं
नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में कुछ श्लोक कहे गये हैं—भगवती (अपने मादक आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न) सुरा का जो प्रभाव (हितकर तथा अहितकर) है, लाभ की दृष्टि से जिस विधि के अनुसार तथा जिन द्रव्यों के साथ सुरा (मदिरा) का पान करना चाहिए, जिस पुरुष के लिए जो सुरा प्रिय है, जिस प्रकार पीने से वह स्वास्थ्य के लिए हितकर होती है, जिस प्रकार वह नशा करती है, जिन गुणों से युक्त होकर वह सुरा महान् गुणों वाली हो जाती है, मद के लक्षण, मद के तीन भेद, उन तीनों भेदों के अपने-अपने लक्षण, जो मद्य के दोष हैं, जो मद्य के गुण हैं, तीन प्रकार की पानगोष्ठी, सात्त्विकादि भेद वाले मन के अनुसार मद का लक्षण, पानगोष्ठी में जिन मित्रों का साथ सुखदायक होता है, जिन्हें देर में मद का प्रभाव होता है, जिन्हें शीघ्र ही मद प्रभावित कर देता है, मदात्यय रोग का कारण, मदात्यय के लक्षण, जो मद्य मदात्यय रोग

१. 'ये च' इति पा०।

को नष्ट कर सकता है, इनका जो चिकित्सा-क्रम है; ये सभी विषय मदात्यय-चिकित्सा नामक अध्याय में महर्षि आत्रेय ने कह दिये हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका, हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सा-स्थान में मदात्ययचिकित्सित नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

मदात्यय-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम द्विव्रणीय-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—दो प्रकार के व्रणों की चिकित्सा का इस अध्याय में व्याख्यान किया जायेगा। पूर्व अध्याय की समाप्ति के बाद जो अगला अध्याय आरम्भ किया जाता है, उन दोनों में परस्पर कुछ सम्बन्ध रहता है। मदात्यय-रोग की कुछ स्थितियों में रोगी अपनी स्मृति खो देता है, इसके परिणामस्वरूप उसे जो आघात (चोट) लगता है, उससे आगन्तुज व्रण (घाव) की उत्पत्ति हो जाती है; यही दोनों का सामीप्य सम्बन्ध है, जैसा कि चरक-सूत्रस्थान अध्याय १९।४ में कहा गया है—**'द्वौ व्रणाविति निजश्चागन्तुजश्च'**। इसी का संकेत आगे श्लोक ४ में तन्त्रकार ने स्वयं किया है। प्रथम व्रण वातादि दोष प्रकोपज और दूसरा व्रण आगन्तुज होता है।

व्रण शब्द की निरुक्ति—'व्रणशब्दे (भ्वा० प० से०) व्रण+अच्। अथवा 'व्रणगात्रविचूर्णने' (चु० उ० से०), व्रण+अच्। हमारे विचार से प्रथम से दूसरी निरुक्ति अधिक उपयुक्त है। इसका अर्थ है—घाव, क्षत, चोट। प्रथम प्रयोग वाला धातु अव्यक्त शब्द के अर्थ में मानना चाहिए।

व्रण शोथ तथा व्रण—'व्रणाय शोथः' आगे चलकर घाव बनाने के लिए जो शोथ होता है, उसे व्रणशोथ (फोड़ा-Boil) कहते हैं और व्रण का अर्थ होता है—घाव (Wound), क्षत (Sore), जख्म (Bruise), अर्थात् फोड़ा होने के पहले जो सूजन पैदा होती है, यदि समय रहते उसे बैठाने का सफल प्रयास किया जाता है, तो वह सूजन बैठ जाती है, नहीं तो कुछ समय के बाद वह पक जाती है। अतः उसे 'व्रणशोथ' कहते हैं। जब यह पककर फूट जाता है, तो उस स्थान पर घाव हो जाता है, तब उसे 'व्रण' कहा जाता है। प्रारम्भ से ही उसे 'व्रण' कहना प्रज्ञापराध है। जो सामान्यरूप से सभी स्थितियों में 'व्रण' शब्द का प्रयोग लोक में देखा जाता है, वह 'सूत्रशाटकन्याय' है। इसी को 'भाविसंज्ञानिर्देश' भी कहा गया है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १९। च० चि० अ० २५। सु० सू० अ० १७-१९, २१-२३, तथा २८। सु० चि० अ० १। अ० सं० उ० अ० २९। अ० हृ० उ० अ० २५।

परावरज्ञमात्रेयं गतमानमदव्यथम्। अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमब्रवीत् ॥३॥

प्रस्तावना—पर (मोक्ष), अवर (सांसारिक) विषयों को जानने वाले, मान (घमंड), मद तथा व्यथा (रोगों) से रहित महर्षि गुरुवर आत्रेय की शरण में जाकर उचित अवसर पाकर अग्निवेश ने नम्रतापूर्वक यह कहा, अर्थात् व्रणविषयक प्रश्न पूछा।

भगवन्! पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसङ्ग्रहे। तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च वक्तुमर्हसि शर्मद! ॥४॥

अग्निवेश का प्रश्न—भगवन् (गुरु जी)! रोगसंग्रह (चरक-सूत्रस्थान अध्याय १९) में आपने पहले व्रण दो प्रकार के होते हैं, ऐसा कहा है। अपने उपदेशों से प्राणिमात्र को सुख देने वाले भगवन्, आप उन दोनों के लक्षणों का वर्णन तथा चिकित्सा का उपदेश देने में समर्थ हैं। अतः उनका उपदेश करें।

इत्यग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्। यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥५॥
श्रूयतां विधिवत् सौम्य! तयोर्लिङ्गं [1]च भेषजम्। निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुजः ॥

महर्षि आत्रेय का उत्तर—इस प्रकार अपने शिष्य अग्निवेश के प्रश्न को सुनकर गुरु (आत्रेय) ने उत्तर दिया। जिन दो प्रकार के व्रणों (१. निज और २. आगन्तुज) की चर्चा हमने चरक-सूत्रस्थान अ० १९ में की थी, सौम्य (अग्निवेश)! उनके लक्षणों तथा चिकित्सा को मैं कह रहा हूँ, तुम उसे विधिवत् सुनो। निज व्रण शारीरिक (वात आदि) दोषों से और आगन्तुज व्रण आघात आदि बाहरी कारणों से उत्पन्न होते हैं।

वधबन्धप्रपतनाद् दंष्ट्रादन्तनखक्षतात्। आगन्तवो व्रणास्तद्वद् विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ॥७॥
मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते। लिङ्गैकदेशैर्निर्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणैः ॥८॥

आगन्तुज व्रण के कारण—वध (मृत्यु के लिए किया गया यत्न), बन्धन (खुरदरी रस्सी आदि से जोर से बाँधना), किसी ऊँचे स्थान से गिर पड़ना, दाढ़ या दाँत, नाखून द्वारा घाव लगने आदि कारणों से उत्पन्न होने वाले व्रणों को आगन्तुज कहते हैं। इनके अतिरिक्त विष के स्पर्श से या विषैले प्राणियों के स्पर्श से, आग द्वारा जल जाने से, मन्त्र, अगद, प्रलेप आदि कारणों से जो किसी स्थान विशेष में व्रण के लक्षण दिखलायी देते हैं, वे सभी आगन्तुज व्रण के भेद हैं। ये सभी निज कारणों से उत्पन्न होने वाले व्रणों से भिन्न होते हैं।

वक्तव्य—आगन्तुज व्रण पीड़ा के साथ उत्पन्न होता है। तदनन्तर वह वात आदि धातुओं को प्रकुपित करता है। यथा—'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति; निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैशम्यमापद्यन्ते, जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति'। च० सू० अ० २०।७।

व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम्। कुर्याद् दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथा ॥९॥

आगन्तुज व्रण-चिकित्सा—वात, पित्त, कफ से अर्थात् जिन कारणों से होने वाले आगन्तुज व्रण यदि (मन्त्र, अगद तथा प्रलेप आदि से) शान्त न हो रहे हों तो, निज व्रणों की चिकित्सा की भाँति वात आदि दोष तथा उन दोषों के बल की अपेक्षा रखने वाला चिकित्सक यथोचित औषधों द्वारा व्रणों की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—यद्यपि व्रणों की मूल उत्पत्ति दो प्रकार से कही गयी है, तथापि सभी प्रकार के आगन्तुज व्रण बाद में निज (वात आदि के) लक्षणों से युक्त हो जाते हैं। अतः उनमें भी निज व्रणों के समान चिकित्सा करने से लाभ होता है। आगन्तुज व्रणों में मन्त्र, अगद, प्रलेप आदि का यथाविधि प्रयोग न होने पर ही इनकी असफलता देखी जाती है, अन्यथा नहीं।

जिस प्रकार विष का प्रकोप मन्त्र-प्रयोग से शीघ्र दूर हो जाता है, उसी प्रकार व्रण-वेदना की भी शान्ति मन्त्र-प्रयोग से हो जाती है। मन्त्र—**'श्रीगुरुभ्यो नमः। धन्वन्तरये नमः हूँ फट्'**। रोगी को सामने रखकर जिस अंग में व्रण उत्पन्न हुआ हो, उस अंग को ऊपर से नीचे की ओर मोरपंख या दाड़िम की डाल से उक्त मन्त्र को तीन बार पढ़ते हुए झाड़े। इसके पहले इस मन्त्र को सवालाख बार सूर्यग्रहण के दिन जपकर सिद्ध कर लें। इस मन्त्र का प्रयोग धर्मार्थ करें।

वृद्धवाग्भट ने भी इसी विषय का प्रतिपादन किया है—'स च द्विविधो निज आगन्तुश्च। तत्र निजो दोषसमुत्थः। आगन्तुः शस्त्रानुशस्त्रोपललगुडनखदशनविषाणविषारुष्करादिनिमित्तः। सोऽपि पुनर्वातादिभिरधिष्ठितो निजतां लभते'॥ अ० सं० उ० अ० २९।३।

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम्। बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान् ॥१०॥

निजव्रणों का निदान एवं सम्प्राप्ति—अपने-अपने कारणों से दूषित हुए वात, पित्त तथा कफदोष बाहरी मार्ग में आश्रित होकर मनुष्यों के शरीरों में निजव्रणों को पैदा कर देते हैं।

वक्तव्य—चरक में तीन प्रकार के रोगमार्गों में बाह्य रोगमार्ग का निर्देश इस प्रकार किया गया है—'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। च० सू० अ० ११।४८। चरक ने शाखा शब्द से

१. 'सभेषजम्' इति पा०।

रक्त आदि धातुओं का ग्रहण किया है। देखें—शाखानुसारी रोगों की गणना च० सू० अ० ११।४९ में। किन्तु सुश्रुत ने दो हाथ, दो पैरों को शाखा माना है। देखें—सु० शा० अ० ५।३।

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्[1]। तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसम्भवः ॥

वातज व्रण के लक्षण—वातदोष से युक्त व्रण स्तब्ध (घेराबन्दी किया हुआ, ठोस, गतिहीन, अचल), छूने पर कड़ा लगने वाला, कम स्राव होने वाला, अत्यन्त वेदना युक्त, सुई चुभाने की-सी वेदना वाला, फड़कने वाला तथा श्याव वर्ण वाला होता है।

वक्तव्य—यह शल्यतन्त्र का रोग है, इसलिए महर्षि आत्रेय ने इसका विस्तृत वर्णन अपनी संहिता में नहीं किया है। सुश्रुत ने सूत्रस्थान के व्रणस्रावविज्ञानीय नामक बाईसवें अध्याय में व्रणों का वर्गीकरण स्राव तथा व्रणवेदना को दृष्टि में रखकर किया है। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के विचार भी देखें। अ० सं० उ० अ० २९।७।

सम्पूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः। प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत् ॥१२॥

वातज व्रण-चिकित्सा-सूत्र—सम्पूरण (बृंहणकारक) प्रयोग, स्नेहपान, स्नेहयुक्त स्वेदन, उपनाहन (पुल्टिस), प्रदेह (मोटे लेप) तथा परिषेकों द्वारा वातज व्रण की चिकित्सा करे।

तृष्णामोहज्वरस्वे(क्ले)ददाहदुष्टयवदारणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥

पित्तज व्रण के लक्षण—इसके कारण रोगी को प्यास का अधिक लगना, मोह, ज्वर, स्वेद या क्लेद, दाह, व्रणस्थान का दूषित रहना, व्रण में चीरने की-सी पीड़ा का होना, इन लक्षणों से उस व्रण को पित्तज समझना चाहिए। पित्तज व्रण में दुर्गन्ध युक्त स्राव भी होता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इसके लक्षणों को विस्तारपूर्वक इस प्रकार दिया है—'क्षिप्रजः पीतनीलहरितकृष्णकपिलपिङ्गलो गोमूत्रभस्मशङ्खकिंशुकोदकमार्द्वीकतैलाभोष्णभूरिक्लेदो दाहोषाज्वररागपाकावदरणधूमायनान्वितः क्षारोक्षितक्षतोपमवेदनः पिटकाजुष्टश्च पित्तात्'। अ० सं० उ० अ० २९।८। विशेष सु० सू० अ० २२ का अवलोकन करें।

शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः[2] प्रदेहपरिषेचनैः। सर्पिष्पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम् ॥१४॥

पित्तज व्रण-चिकित्सा-सूत्र—शीतवीर्य, मधुर तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों से तैयार किए हुए कल्कों का प्रदेह (लेप), इन्हीं से तैयार किये हुए क्वाथ जल को शीतल करके इस जल से परिषेचन, घृतपान, विरेचक औषधयोगों का प्रयोग पित्तज व्रण को शान्त करता है।

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसङ्क्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥१५॥

कफज व्रण के लक्षण—इसमें पिच्छिलता अधिक होती है; वह गुरु, स्निग्ध (चिकनापन वाला), स्तिमित (उस स्थान पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह गीले वस्त्र से ढका गया हो), मन्द वेदना वाला, व्रण स्थान का वर्ण पीला हो जाता है, उसमें थोड़ा-सा गीलापन होता है और वह देर तक बना रहने वाला होता है, उसे कफज व्रण कहते हैं।

कषायकटुरूक्षोष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः। कफव्रणं प्रशमयेत् तथा [3]लङ्घनपाचनैः ॥१६॥

कफज व्रण-चिकित्सा—कषाय, कटु, रूक्ष, उष्ण द्रव्यों द्वारा निर्मित कल्कों का व्रणों के ऊपर प्रदेह (लेप) लगायें, उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ जल द्वारा परिषेचन करें, उस व्रण रोगी को लंघन कराएँ और पाचन द्रव्यों का सेवन कराएँ। यह कफज व्रण का सामान्य चिकित्सा-सूत्र है।

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः। तेषां परीक्षा त्रिविधा, प्रदुष्टा द्वादश स्मृताः ॥

व्रणों के अन्य भेद—वे दो (जिनका उल्लेख पहले सूत्रस्थान अ० १९।४ में और उसके बाद इस अध्याय के श्लोक ५ में कहे गये) १. निज, २. आगन्तुज भेद वाले व्रण आगे चलकर अनेक कारणों से विभक्त होकर

१. 'महारुजः' इति पा०। २. 'स्निग्धैः' इति पा०। ३. 'लङ्घनशोधनैः' इति पा०।

बीस प्रकार के कहे गये हैं। उक्त सभी प्रकार के व्रणों की त्रिविध परीक्षा होती है। दुष्ट व्रण बारह प्रकार के होते हैं।

स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः, परिस्रावाश्चतुर्दश। षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा ॥
तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत् समुदाहृताः। [1]विभज्यमानाञ्छृणु मे सर्वानेतान् यथेरितान् ॥

व्रण-स्थान आदि का वर्णन—व्रण के **आठ** स्थान, उसमें **आठ** प्रकार की गन्ध, **चौदह** प्रकार के स्राव (व्रण से निकलने वाले दोष), **सोलह** प्रकार के उपद्रव, **चौबीस** प्रकार के दोष और इनकी **छत्तीस** प्रकार की सिद्ध चिकित्साएँ कही गयी हैं। इस प्रकार जिस व्रण के विभागों का निर्देश किया गया है, उन सबको क्रमशः तुम मुझसे सुनो।

[2]कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च। संवृतो दारुणः स्रावी सविषो विषमस्थितः ॥
उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च व्रणान् विद्याद् विपर्ययात्। इति नानात्वभेदेन [3]निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः ॥

नानात्व भेद से व्रण के २० प्रकार—१. कृत्य, २. उत्कृत्य, ३. दुष्ट, ४. अदुष्ट, ५. मर्मस्थित (अर्थात् जो व्रण मर्मस्थान पर उत्पन्न हुआ हो), ६. मर्म में अस्थित, ७. संवृत, ८. विवृत, (या असंवृत), ९. दारुण, १०. मृदु, ११. स्रावी, १२. अस्रावी, १३. विषयुक्त, १४. विषरहित (या निर्विष), १५. विषमस्थित, १६. समस्थित, १७. उत्संगी, १८. अनुत्संगी, १९. उत्सन्न, २०. अनुत्सन्न। नानात्व भेद से ये बीस प्रकार के व्रण के भेद कहे गये हैं।

वक्तव्य—'कृत्योत्कृत्य' के स्थान पर 'कृत्याऽकृत्यः' पाठभेद निर्णयसागरीय प्रति की टिप्पणी में उद्धृत है,
तदनुसार १. कृत्य, २. अकृत्य, ये दो भेद होते हैं। श्रीजयदेव ने भी श्रीगणनाथ सम्मत 'कृत्योऽकृत्यः' पाठ को
स्वीकार किया है। व्रण भेदों का क्रमशः परिचय—१. **कृत्य**—'कृती छेदने' धातु से इस शब्द की निष्पत्ति हुई है,
अर्थात् जो सुई आदि द्वारा छेदन या भेदन से साध्य हो। २. **उत्कृत्य या अकृत्य**—कृत्य के बाद प्रसंगानुसार
देखने से जितना अच्छा प्रयोग 'अकृत्य' है, उतना 'उत्कृत्य' नहीं है, किन्तु बहिर्मुख व्रण का उत्कर्तन किया
जाता है, जिसका क्षेत्र 'कृत्य' ने ले लिया है। अतः यहाँ '**कृत्य**' पाठ ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। जिस व्रण
में छेदन या भेदन की आवश्यकता नहीं होती, केवल सामान्य उपचार से जो फूटकर बह जाता है, वह अकृत्य'
है। जो विद्वान् 'अकृत्य' का अर्थ असाध्य करते हैं, उनकी दृष्टि से अगले भेदों के अर्थ की संगति कैसे बैठेगी तथा
इसके स्थान पर प्रयुक्त 'उत्कृत्य' का अर्थ भी असाध्य हो जायेगा? ३. **दुष्ट**—जो व्रण दोष युक्त हो। इसका
विस्तृत लक्षण सु० सू० अ० २२।७ में देखें। ४. **अदुष्ट**—दुष्ट व्रण के लक्षणों से रहित। ५. **मर्म-स्थित**—हृदय
आदि मर्मस्थानों पर पैदा हुआ व्रण। मर्म-परिचय के लिए सु० शा० अ० ६ सम्पूर्ण देखें। ६. **मर्म में अस्थित**—
जो व्रण मर्मस्थानों से अन्यत्र उत्पन्न हुआ हो। ७. **संवृत**—जिस व्रण का मुख खुला न हो, अर्थात् बिना मुख
का फोड़ा। ८. **विवृत**—संवृत से विपरीत लक्षणों वाला, अर्थात् जो फूट गया हो। ९. **दारुण**—जो व्रण स्पर्श
करने पर कठोर प्रतीत होता हो, १०. **मृदु**—जो व्रण छूने पर कड़ा प्रतीत न होता हो। ११. **स्रावी**—जिस
व्रण से पूय न निकलकर केवल पंछा बह रहा हो। १२. **अस्रावी**—स्रावरहित व्रण। १३. **विषयुक्त**—जो व्रण
विषैला हो, ऐसे ही व्रण को 'जहरवाद' या 'जहरीला व्रण' कहते हैं। १४. **विषरहित**—इस व्रण में विष का
सम्बन्ध नहीं रहता। १५. **विषमस्थित**—जो व्रण आकार में विषम दिखलायी देता हो। १६. **समस्थित**—
जिस व्रण का आकार समान हो, अर्थात् ऊँचा-नीचा न हो। १७. **उत्संगी**—जिस व्रण में भीतर पाक हो चुका
हो, देखें—सु० चि० अ० १।३४। १८. **अनुत्संगी**—जिस व्रण में अभी तक पाक न हुआ हो। १९. **उत्सन्न**—
उभार युक्त व्रण। २०. **अनुत्सन्न**—जिस व्रण में अधिक उभार न हुआ हो।

विशेष—प्रथम छः भेदों का वर्णन तन्त्रकार ने नामतः सम-विषम भेद दिखाकर किया है। आगे उसी विधि के अनुसार पूर्ववर्ती टीकाकारों ने विषम भेदों को जोड़कर व्रणों के बीस भेदों का निर्वचन किया है। व्रणों

१. 'विभाव्यमानान्' इति पा०।
२. 'कृत्याकृत्यः' इति पा०।
३. 'भिन्नाः स्युर्विंशतिर्व्रणाः' इति पा०।

के इस प्रकार के स्थानीय परीक्षण को 'Local examination' कहते हैं। इस प्रकार का व्रण-परीक्षण प्रस्तुत कर महर्षि आत्रेय ने अपने 'Clinical methods in surgery' ज्ञान का संक्षिप्त संकेत किया है, क्योंकि—ये इस प्रकार के आप्त आचार्य थे—'येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा'। च० सू० अ० ११।१८। ऊपर जो भेद दिखलाये गये हैं, उनके साथ-साथ उन्हीं के विषम भेद भी दिये हैं, उनको सर्वथा विपरीत गुण-धर्म वाला नहीं समझना चाहिए। 'नञ्' प्रत्यय का 'ईषत्' अर्थ भी होता है, यहाँ उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिए और कभी लगभग वैसा, इस प्रकार का अर्थ भी कर लेना चाहिए, अन्यथा संगति नहीं बैठेगी। जैसे—दुष्ट और अदुष्ट भेद को ही ले लें। सभी व्रण वात आदि दोषों से दूषित होते ही हैं, भले कोई कम दूषित हो या अधिक। देखें—व्रणों के परिपाक काल में व्रणशोथ को तीनों दोष मिलकर ही पकाते हैं। सु० सू० अ० १७।७। इनका विशेष विवेचन चिकित्सा के अवसर पर किया जायेगा।

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता। वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात् ॥२२॥
हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः। स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये ॥२३॥

व्रणों की त्रिविध परीक्षा—१. दर्शन (देखना), २. प्रश्न (रोगी से रोग के सम्बन्ध में पूछना), ३. स्पर्श (रुग्ण स्थान को छूकर देखना)। यह तीन प्रकार की सामान्य परीक्षा होती है। **दर्शन-परीक्षा**—इससे रोगी की अवस्था (बालक, युवक, वृद्ध, नर या नारी), व्रण (रोगी तथा व्रग का रूप कैसा है, देखना), शरीर (वातप्रकृति, पित्तप्रकृति, कफप्रकृति) तथा इन्द्रियों को देखने से रोग तथा रोगी की परीक्षा की जाती है। **प्रश्न-परीक्षा**—इससे हेतु (यह रोग कैसे हो गया ? इससे कारण का ज्ञान होता है), अर्ति (पीड़ा किस प्रकार की हो रही है, इससे वात आदि दोषों का निर्णय करने में सहायता मिलती है), सात्म्य (रोगी को क्या-क्या अनुकूल होता है, क्या विपरीत), अग्निवल (पाचन-क्रिया ठीक है, कम है, भूख लगती है, या नहीं लगती है, आदि) का निर्णय रोगी से पूछने पर भली-भाँति हो जाता है। **स्पर्श-परीक्षा**—इससे व्रण का परिवेश मृदु है या कठोर, उष्ण है या शीतल इत्यादि उससे सम्बन्धित विषयों का ज्ञान हो जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ प्रकरणानुसार त्रिविध परीक्षा का ही निर्देश किया है किन्तु तन्त्रकार चरक-विमानस्थान अध्याय ८ में परीक्षा-विधि का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। परीक्षा के प्रयोजन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—'परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्तिर्नाम यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम्'॥ च० वि० अ० ८।१३२। **इन्द्रियाणां च दर्शनात्**—वास्तविक इन्द्रियाँ तन्मात्रारूप में स्थित होने के कारण अनुमान द्वारा गोचर होती हैं। अतः यहाँ इन्द्रिय शब्द से उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठानों का ग्रहग किया गया है। चरक-विमानस्थान में अन्य भावों की भी परीक्षा अनुमान की सहायता से करने का निर्देश इस प्रकार किया है—'अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन'। च० वि० अ० ४।८। इस सम्पूर्ण अध्याय का अवलोकन परीक्षा की दृष्टि से अवश्य करें।

सुश्रुत ने रोग को जानने के छः प्रकारों का वर्णन इस प्रकार किया है—'ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके तत्तु न सम्यक्। षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः तद् यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति'। सु० सू० अ० १०।४। महर्षि सुश्रुत ने यहाँ स्पष्ट रूप से महर्षि आत्रेय के मत का खण्डन किया है, क्योंकि उपर्युक्त त्रिविध-परीक्षा-सिद्धान्त महर्षि आत्रेय का है। सुश्रुत ने रसना (जीभ) का भी उपयोग परीक्षा में लिया है। इसका विरोध महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार किया है—'रसं तु खलु आतुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्, यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्'। च० वि० अ० ४।७। सुश्रुत ने यहाँ पूर्वोक्त अनेक दूत-निमित्त आदि विषयों की जो अवहेलना की है, वह युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती है।

[1]श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूलवर्त्माऽतिपिञ्जरः। नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः ॥

१. 'श्वेतोऽवसन्नचर्मा च स्थूलचर्माऽतिपिञ्जरः' इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः।

रोप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः। [1]चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण वै ॥२५॥

बारह प्रकार के दुष्टव्रण—१. श्वेत (सफेद वर्ण वाला), २. अवसन्नवर्त्मा (जिस व्रण का मार्ग अवसाद युक्त हो गया हो), ३. अतिस्थूलवर्त्मा (जिस व्रण का मार्ग अधिक मोटा हो गया हो), ४. अतिपिञ्जर (जो व्रण अधिक पीला हो गया हो), ५. नीला, ६. श्याव, ७. अतिपिडक (जिस एक व्रण में अनेक पिडकाएँ उत्पन्न हो गयी हों), ८. लाल, ९. काला, १०. अतिपूतिक (अधिक दुर्गन्ध वाला), ११. रोप्य (रोपण=घाव को भरने योग्य), १२. कुम्भीमुख (जिसका मुख छोटा हो और भीतर व्रण का आयतन अधिक हो), इस प्रकार दुष्टव्रण के बारह भेद कह दिये गये हैं। अन्यत्र इनके चौबीस दोष भेद कहे गये हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने २५वें पद्य के उत्तरार्ध वाली पंक्ति को आगे ३१वें पद्य के साथ जोड़ा है। यही आचार्य गंगाधर ने भी स्वीकार किया है। ऊपर जो रोप्य शब्द दिया गया है, उसका परिचय भोज ने इस प्रकार दिया है—'रूढाः रूढाः प्रकुप्यन्ति सान्तर्दोषाः पुनः-पुनः। बहिः शुद्धा इवाभान्ति रोप्यास्ते सम्प्रकीर्तिताः'॥ भोजसंहिता। कुम्भीमुख का व्याख्यान ऊपर कर दिया गया है।

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः। व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि सङ्ग्रहे ॥

व्रण के आठ स्थान—१. त्वचा, २. सिरा, ३. मांस, ४. मेदा, ५. अस्थि, ६. स्नायु, ७. मर्म, ८. अन्तराश्रय (कोष्ठान्तर्गत अवयव)—ये संक्षेप में व्रण के ८ स्थान होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार व्रण के आठ अधिष्ठान ये हैं—त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्मस्थान। इन्हीं आठ स्थानों पर सभी प्रकार के व्रण पैदा होते हैं। इन्हें 'व्रणवास्तु' कहा गया है। सु० सू० अ० २२।३। चरक के अनुसार 'मेदा' और सुश्रुत के अनुसार 'सन्धिस्थल' व्रण के स्थान हैं। यही दोनों के विचारों में अन्तर है।

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः। व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः ॥२७॥

आठ प्रकार की व्रण गन्ध—व्रण गन्ध के विशेषज्ञ चिकित्सकों ने व्रण की आठ प्रकार की गन्धों का वर्णन किया है—१. घृत, २. तैल, ३. वसा, ४. पूय (Pus), ५. रक्त, ६. श्याव, ७. अम्ल, ८. पूतिक (दुर्गन्ध युक्त), अर्थात् घृत आदि की स्वाभाविक गन्ध से युक्त व्रणों की गन्ध होती है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि 'श्यावगन्ध' का अर्थ ताम्रपात्र में दही को मसलने से जिस प्रकार की गन्ध आती है, वैसी गन्ध स्वीकार करते हैं। अन्यत्र 'श्याव' वर्णवाची शब्द है। इसके स्थान पर पाठभेद के रूप में 'शावः' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका स्पष्ट अर्थ है मुर्दा की जैसी गन्ध—'शवस्य अयं शावः'। **अम्लगन्ध**—खट्टे पदार्थों से जो एक विशिष्ट प्रकार की गन्ध आती है, वही 'अम्लगन्ध' है। पूतिगन्ध—इसका अर्थ है, दुर्गन्ध।

लसीकाजलपूयासृग्घारिद्रारुणपिञ्जराः। कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः ॥२८॥
इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश।

व्रणस्राव के चौदह भेद—१. लसीका, २. जल के सदृश, ३. पूय (मवाद), ४. रक्त (पूय के साथ निकलने वाला अथवा अपक्व व्रग से निकलने वाला रक्त), ५. हल्दी के वर्ण वाला, ६. अरुणवर्ण वाला, ७. पिञ्जर (ललाई लिये पीले वर्ण वाला) ८. कषाय वर्ण वाला, ९. नीला, १० हरा, ११. स्निग्ध, १२. रूक्ष, १३. सित (सफेद), १४. असित (काला) स्राव। इस प्रकार स्वरूप भेद से व्रणों के चौदह प्रकार के स्राव होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत-सूत्रस्थान अ० २२।८ में सभी प्रकार के स्रावों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ॥ २९ ॥
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः। कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ॥३०॥
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः।

१. गङ्गाधरस्त्वेतमर्धश्लोकं 'षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः' इत्यनन्तरं पठति।

व्रणों के उपद्रव—व्रण-विषय-विशेषज्ञ चिकित्सकों ने व्रणों के सोलह उपद्रवों का वर्णन किया है—१. विसर्प, २. पक्षाघात (लकवा), ३. शिरास्तम्भ (शिराओं में जकड़न), ४. अपतानक (वातरोग विशेष), ५. मोह, ६. उन्माद (पागलपन), ७. व्रणवेदना (व्रणस्थान पर पीड़ा का होना), ८. ज्वर, ९. तृष्णा (प्यास का लगना), १०. हनुग्रह (हनु-अस्थि में जकड़न), ११. कास, १२. वमन, १३. अतिसार, १४. हिचकी, १५. श्वास (दमा) तथा १६. वेपथु (शरीर में कम्पन का होना)।

स्नायुक्लेदात्सि[1]राक्लेदाद् गाम्भीर्यात्क्रिमिभक्षणात् ॥ ३१ ॥
अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् [2]सविषत्वाच्च सर्पणात् । नखकाष्ठप्रभेदाच्च [3]चर्मलोमातिघट्टनात् ॥
मिथ्याबन्धादतिस्नेहादतिभैषज्यकर्षणात् । अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात् ॥३३॥
शोकात् क्रोधाद् दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात् तथा ।
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥ ३४ ॥

व्रण के चौबीस दोष—१. स्नायुओं के क्लेद युक्त होने से, २. सिराओं के क्लेद युक्त होने से, ३. व्रण के अधिक गहरा हो जाने से, ४. व्रण में उत्पन्न क्रिमियों द्वारा सिरा, स्नायु आदि को खा लेने से, ५. अस्थियों के टूट जाने से, ६. व्रण के भीतर शल्य के रह जाने से, ७. व्रण में विष का संयोग हो जाने से, ८. व्रणों के इधर-उधर फैलने से, ९. व्रण पर नखक्षत हो जाने से, १०. व्रण के ऊपर काष्ठ (लकड़ी) आदि से चोट, खरोंच आदि लग जाने से, ११. व्रणस्थान की त्वचा के घिस जाने से, १२. व्रणस्थान स्थित रोमों के घिस जाने से, १३. व्रण के ऊपर मिथ्या बन्धन से, अर्थात् अधिक जोर से बाँध देने से अथवा पैत्तिक व्रण को कई बार लपेट कर बाँधने से, १४. व्रण के ऊपर अधिक स्नेह के लग जाने से, १५. व्रण के ऊपर अधिक लेप, पुल्टिस आदि लगा देने के कारण कृशता आ जाने से, १६. गुरु पदार्थों को खा लेने के कारण उत्पन्न अजीर्ण से, १७. अधिक भोजन करने से, १८. विरुद्ध भोजन करने से, १९. असात्म्य (प्रकृति के प्रतिकूल) भोजन करने से, २०. शोक से, २१. क्रोध करने से, २२. दिन में सोने से, २३. व्यायाम करने से (व्रण रोगी को व्यायाम करना वर्जित है), २४. मैथुन (स्त्री-सहवास) करने से और उचित चिकित्सा न करने से मनुष्यों के व्रण शान्त नहीं होते।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ३१ में 'सिराक्लेदात्' के स्थान पर 'सिराच्छेदात्' पाठ प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में सिरा का अनुचित ढंग से कट जाना, यह भी एक दोष माना गया है। इसके आगे 'सर्पणात्' के स्थान पर 'अतर्कणात्' पाठ मिलता है, इसका आशय यह होगा, जैसा कि श्रीजयदेवविद्यालंकार ने लिखा है—'व्रण का विशेष ज्ञान (वातजत्वादि) न होने से, यह होगा', आप ध्यान दें ! यदि हम ऐसा अर्थ स्वीकार करते हैं, तो यह व्रणदोष नहीं होगा, अपितु चिकित्सक का दोष माना जायेगा। हमारे विचार से यह पाठ श्रद्धेय प्रतीत नहीं होता। यहाँ 'सर्पणात्' का एक अर्थ ऊपर दिया गया है। चूँकि यह शब्द, 'सविषत्वाच्च' के साथ पढ़ा गया है, अतः इसका एक अर्थ 'व्रण के ऊपर विषैले कीटों के रेंगने से' ऐसा भी किया जा सकता है, जो सर्वथा युक्ति-युक्त होगा। इसके लिए आप विषचिकित्सित नामक २३वें अध्याय का मनन करें।

'नखकाष्ठप्रभेदाच्च' के स्थान पर 'नखकाष्ठाववाधाच्च' पाठ भी है, जिसे सब ने उद्धृत नहीं किया है। इसमें 'प्रभेद' का अर्थ है—फाड़ना, 'अववाध' का अर्थ है—मारना या पीटना। 'चर्मलोमातिघट्टनात्' के स्थान पर 'मर्मलोमाभिघट्टनात्' पाठ श्रीगणनाथसेन को प्रिय है। हमारे विचार से ये दोनों ही पाठ श्रद्धेय हैं, क्योंकि व्रणदुष्टि में ये कारण हो सकते हैं। 'लोमाभिघट्टन' से बालतोड़ नामक व्रण का भी स्मरण करें।

चरक की भाँति यद्यपि वृद्धवाग्भट का आग्रह चौबीस संख्या पर नहीं है, तथापि इन्होंने इसी प्रकार की कतिपय व्रणविकृतियों को असाध्य लक्षण माना है। देखें—अ० सं० उ० अ० २९।३०-३२।

परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह । व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते ॥३५॥

---

१. 'सिराच्छेदात्' इति पा०।
२. 'सविषत्वादतर्कणात्' इति पा०।
३. 'मर्मलोमाभिघट्टनात्' इति पा०।

कष्टसाध्य व्रण—जिन व्रणों में वात आदि दोषों की अधिकता हो, वे दोष उपद्रवों के साथ हों, जिनमें से स्राव अधिक आ रहा हो, जिनमें से अनिष्टकारक गन्ध आ रही हो और जो व्रणदोषों से युक्त हों, वे कृच्छ्र (कष्ट) साध्य व्रण होते हैं, अर्थात् उनकी चिकित्सा कठिनता से होती है।

वक्तव्य—व्रण के १४ स्रावों का श्लोक २८ में, व्रण की ८ गन्धों का श्लोक २७ में, व्रण के १६ उपद्रवों का श्लोक ३० में तथा व्रण के २४ दोषों का श्लोक ३१ से ३४ तक इसी अध्याय में वर्णन किया गया है, इन्हें यथास्थान देखें।

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः । धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः ॥

सुखसाध्य व्रण के लक्षण—धीमान् (जो अपने हित-अहित को जानता हो), तरुण (युवक) अर्थात् सत्स्वास्थ्य-सम्पन्न व्यक्ति के शरीर में त्वचा तथा मांस पर, सुखद (जहाँ मलहम-पट्टी आदि करने, देखने-दिखाने योग्य) स्थान पर उत्पन्न, उपद्रवों से रहित, नया व्रण अनुकूल काल (जाड़े के दिनों) में सुखसाध्य माना गया है।

गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः । सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो [1]निरुपक्रमः ॥३७॥

असाध्य व्रण के लक्षण—सुखसाध्य व्रण के जो लक्षण ऊपर कहे गये हैं, ये सभी व्रण के गुण कहे जाते हैं। उन गुणों में से किसी एक गुण की भी कमी होने पर व्रण कष्टसाध्य माना जाता है। यदि उक्त गुणों में से एक भी गुण न हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए, क्योंकि उसकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती (पाठभेद के अनुसार—वह अनेक उपद्रवों से युक्त होता है) ऐसा समझना चाहिए।

व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम् । ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्वस्तिभिरेव च ॥३८॥

विशोधन चिकित्सा—सभी प्रकार के व्रणों में प्रारम्भ से ही विशोधन (वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण आदि) कराना चाहिए। ऊपरी भाग में दोष हों तो वमन द्वारा, अधोभाग में दोष हों तो विरेचन तथा वस्ति-प्रयोग कराना चाहिए। स्थानीय दोष को दूर करने के लिए शस्त्र-क्रिया द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने कई अध्यायों में विशेष विधि के साथ व्रण-परिचय तथा उसकी चिकित्सा का वर्णन किया है। यद्यपि सामान्य व्रणों की चिकित्सा वमन, विरेचन, वस्ति-प्रयोग, प्रमेह, पुल्टिस आदि के प्रयोग से की जाती है और सफलता भी मिलती है, किन्तु शस्त्रक्रिया-साध्य विद्रधि आदि व्रण उक्त क्रियाओं से ठीक नहीं हो पाते हैं। अतः उनमें पच्छ लगाकर जलौका या तुम्बी आदि से रक्तमोक्षण कराया जाता है। इसे स्थानीय विशोधन कहते हैं। यहाँ वस्ति शब्द से 'व्रणवस्ति' का भी प्रकरणानुसार ग्रहण कर लेना चाहिए। इसका प्रयोग व्रण को धोने के लिए किया जाता है।

व्रणवस्ति का स्वरूप—'व्रणवस्तेस्तु नेत्रं स्याच्छ्लक्ष्णमष्टाङ्गुलोन्मितम् । मुद्गच्छिद्रं गृध्रपक्षनालिका-परिणाहि च' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ५।१४।

सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः । यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान् ॥३९॥
शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्मावपीडनम् । निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम् ॥४०॥
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ । [2]द्वे तैले तद्गुणे पत्रं छादने द्वे च बन्धने ॥४१॥
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः । काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने शुभे ॥४२॥
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं रोपणं लोमरोहणम् । इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः ॥४३॥

व्रण के छत्तीस उपक्रम—जिनके शरीर की शुद्धि कर दी गयी हो अथवा शरीर के जिस अवयव पर व्रण की उत्पत्ति हुई हो उसकी शुद्धि कर लेने पर व्रण शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। इसके बाद अब हम व्रण चिकित्सा की सभी विधियों का वर्णन कर रहे हैं, उन्हें सुनो—१. शोफघ्न (सूजन को दूर करने के लिए किया जाने वाला रक्तस्रावण), २-७. षड्विधशस्त्रकर्म (१. पाटन, २. व्यधन, ३. छेदन, ४. लेखन, ५. प्रच्छन, ६.

---

१. 'भूर्युपद्रवः' इति पा०।
२. 'द्वे तैले च घृते' इति पा०।

सीवन), ८. अवपीडन (लेप, पुल्टिस आदि द्वारा व्रण से पूय निकालने का प्रयत्न), ९. निर्वापण (दाहशमनाथ शीतल उपचार), १०. सन्धान (सीवन कर्म द्वारा व्रण के मुख को बन्द करना), ११. स्वेदन (व्रणवास्तु का स्वेदन करना), १२. शमन (व्रग के कष्टों को शान्त करने के उपाय), १३. एषण, १४. शोधन कषाय, १५. रोपण कषाय, १६. शोधन प्रलेप, १७. रोपण प्रलेप, १८. शोधन तेल (घी), १९. रोपण तेल (घी), २०. पत्र, २१. बाह्यछादन, २२. आभ्यन्तरछादन, २३-२४. बन्धन के दो प्रकार (१. बन्धन, २. उपबन्धन), २५. पथ्य भोजन, २६. उत्सादन (दबे हुए व्रण को उभाड़ना), २७-२८. दो प्रकार का दाह, २९. अवसादन (उभड़े या बढ़ते हुए व्रगों को बैठाने का उपाय), ३०. व्रण को कठिन बनाने वाले धूपों का प्रयोग, ३१. व्रण को मुलायम बनाने वाले धूपों का प्रयोग, ३२. व्रण को कठिन बनाने वाले आलेपनों का प्रयोग, ३३. व्रण को मुलायम बनाने वाले आलेपनों का प्रयोग, ३४. व्रग के वर्ण को सुन्दर बनाने वाले अवचूर्णनों का प्रयोग, ३५. व्रणरोपण चूर्णों का प्रयोग, ३६. व्रगवास्तु में रोम उत्पन्न करने वाले द्रव्यों के चूर्णों का प्रयोग करना, इस प्रकार ऊपर व्रणों के छत्तीस उपचार कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—पाठभेद—निर्णयसागरीय प्रति में 'द्वे तैले तद्गुणे' का पाठभेद 'द्वे तैले च घृते' दिया है। श्रीजयदेव ने अनेक पाठभेद इस प्रकार एकत्रित किये हैं—'शमनमेषणम्' के स्थान पर 'शमनमेव च'। 'पत्रं च्छादने' के स्थान पर 'पत्रच्छादने'। 'रोपणम्' के स्थान पर 'लेपनम्'। सुश्रुत ने व्रण के साठ उपक्रमों (उपचारों) की चर्चा की है। देखें—सु० चि० अ० १।८। इनका सभी व्रणों में सदैव प्रयोग नहीं होता है, वे भले ही चरक अथवा सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट क्यों न हों, हाँ यह अवश्य है कि इनका प्रयोग यथावसर किया ही जाता है। श्रीडल्हण ने लिखा है कि यदि उक्त उपक्रमों में 'प्रतिसारण' को न गिना जाय तो ६० उपक्रम पूरे होते हैं, अन्यथा ये इकसठ हो जाते हैं। ध्यान दें—इस पाठ में 'सर्पि' द्रव्य को दो बार उद्धृत किया है। यदि एक सर्पि को कम करके गिना जाय तो ६० की संख्या पूरी हो जाती है। 'प्रतिसारण' तो आवश्यक कर्म है।

प्रथम उपचार शोफघ्न—सुश्रुत के अनुसार शोफ (सूजन) छः प्रकार का होता है। इसके ग्यारह उपक्रम होते हैं। यह शोथ (सूजन) जब व्रग के रूप में बदल जाता है, तब इसकी व्रग की भाँति चिकित्सा होती है। देखें—सु० चि० अ० १।१०। शोथ का विशेष विवरण सु० सू० अ० १७ में देखें।

षड्विध शस्त्रकर्म—इसी अध्याय के श्लोक ५५ में इसका स्पष्ट निर्देश स्वयं तन्त्रकार ने किया है। सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट प्रमुख उपक्रमों का विवेचन इस प्रकार देखें—शस्त्र द्वारा किये जाने वाले आठ उपक्रम—१. छेदन, २. भेदन या दारण, ३. लेखन (खुरचना), ४. एषण, ५. आहरण, ६. व्यधन, ७. विस्रावण ८. सीवन। **शोणितास्थापन**—अर्थात् रक्तमोक्षण काल में निकलते हुए रक्त को रोकने का उपाय, देखें—सु० सू० अ० १४। **क्षारकर्म**—सु० सू० अ० ११ में। **अग्निकर्म**—सु० सू० अ० १२ में। **यन्त्रण (पीडन)**—सु० सू० अ० ७ में। **आहारविधि**—सु० सू० अ० १९ तथा २० में। **रक्षाविधान**—सु० सू० ५ तथा १९ में। **व्रणबन्धविधान**—सु० सू० अ० १६ तथा १८ में। **स्नेहनकर्म**—सु० चि० अ० ३१ में। **स्वेदनकर्म**—सु० चि० अ० ३२ में। **वमनकर्म**—सु० चि० अ० ३३ में। **विरेचनकर्म**—सु० चि० अ० ३३ में। **वस्तिकर्म**—सु० चि० अ० ३५ में। **उत्तरवस्ति**—सु० चि० अ० ३६ में। **शिरोविरेचन**—सु० चि० अ० ४० में। **धूमपान**—सु० चि० अ० ४१ में। **नस्यविधि**—सु० चि० अ० ४० में। **कवलग्रह**—सु० चि० अ० ४० में।

द्वे तैले तद्गुणे—दो प्रयोग तैल के, स्नेह सामान्यता के कारण यहाँ श्रीचक्रपाणि ने घृत के प्रयोग को भी स्वीकार किया है। यह पाठ काश्मीर में मुद्रित पुस्तकों में देखा जाता है। अन्यत्र इसके स्थान पर '**द्वे तैले च घृते**' पाठ देखा जाता है। **अवपीडन**—स्नेह रहित (रूखा) आलेपन व्रण को दबाकर पूय को बाहर निकाल देता है। यथा—'सूक्ष्माननाः कोशवन्तो ये व्रणास्तान् प्रपीडयेत्'। और भी—'कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडनाः'। व्रण-बन्धनों को बन्धन, उपबन्धन के भेद से ऊपर दो प्रकार का कहा गया है, किन्तु सव्य (बायीं ओर गाँठ लगाकर बाँधा हुआ) और दक्षिण (दाहिनी) ओर गांठ लगाकर बाँधा हुआ। यह श्रीजज्जट की टीका में से सादर उद्धृत किया है।

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः। रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥४४॥

रक्तमोक्षण-निर्देश—चिकित्सक को चाहिए कि वह शोथ मात्र व्रण के पूर्वरूप को देखकर जब तक वह शोथ व्रण का रूप धारण नहीं कर लेता उसके पहले ही वह रक्तावसेचन (रक्तमोक्षण) करा दे।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने रक्तमोक्षण के अनेक लाभों की चर्चा इस प्रकार की है—'वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च। अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम्'। सशोफे कठिने ध्यामे (श्यामे) सरक्ते वेदनावति। संरब्धे विषमे चापि व्रणे विस्रावणं हितम्॥ सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा। वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा'॥ सु० चि० अ० १।२७-२९। पच्छ लगाने अथवा जोंक लगाने से व्रण स्थान से रक्त निकाला जाता है, जिससे शीघ्र लाभ होता है।

शोधयेद् बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत्। पूर्वं कषायसर्पिर्भिर्जयेद् वा मारुतोत्तरान् ॥४५॥

व्रणशोधन-निर्देश—यदि व्रण में दोषों की अधिकता हो तो रोगी को शोधन कराना चाहिए। यदि व्रणरोगी में दोषों की कमी हो तो उसे लंघन कराये। यदि व्रणों में वातदोष की प्रधानता हो तो ऐसी स्थिति में व्रणरोगी को कषायरस-प्रधान द्रव्यों से तैयार किया हुआ घृतपान करा कर वातदोष को जीतना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी चरक की भाँति (देखें—च० नि० अ० २५।३८) व्रण रोग में वमन कराने की संस्तुति की है—'सूजन के कारण मांस उभरा होने पर विशेष रूप से कफज व्रणों में रक्त दूषित एवं साँवला हो जाने पर वमन कराना हितकर होता है'। सु० चि० अ० १।३१। यदि व्रग वात तथा पित्तदोष से सम्बन्धित हो और बहुत दिनों से चला आ रहा हो तो ऐसी स्थिति में व्रण-विषय-विशेषज्ञ विरेचन कराने की अनुमति देते हैं। ध्यान रहे यदि व्रण में केवल वातदोष बढ़ा हो तो वमन अथवा विरेचन नहीं कराये जाते, क्योंकि इनसे वात की और भी वृद्धि हो जाती है। चिकित्सा में सर्वत्र युक्ति का आदर होता है।

व्रणों की विभिन्न स्थितियों में चिकित्सा में भी विविधता देखी जाती है। यथा—वातदोष से दूषित व्रण जिसमें फट जाने की-सी अत्यन्त वेदना हो रही हो और जो व्रण शरीर के निचले भाग में हुआ हो, तो उसकी शान्ति के लिए वस्ति-प्रयोग करना चाहिए। यदि व्रण शरीर के ऊपरी भाग में उत्पन्न हुआ हो और उसमें वात दोष के प्रकुपित होने के लक्षण दिखलायी दे रहे हों तो उस स्थिति में वातहर द्रव्यों के क्वाथ के साथ घी मिलाकर पिलाना चाहिए। यह सुश्रुत का मत है। अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त ये सभी क्रियाएँ व्रणशोधन के अन्तर्गत आती हैं। देखें—सु० चि० अ० १।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः। ससर्पिष्कैः प्रलेपः स्याच्छोफनिर्वापणः परम् ॥४६॥

शोथशामक वटादिलेप—१. बरगद का टूसा, २. गूलर की छाल, ३. पीपल की छाल, ४. पाकड़ की छाल, ५. वेत की छाल, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर जल से पीसकर कल्क तैयार करें, उस कल्क में घी मिलाकर लेप करने से उत्तम प्रकार से शोथ की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी लेप के प्रयोग की प्रशंसा करते हुए कहा है—जिस प्रकार जलते हुए घर को बुझाने के लिए उसमें पानी डाला जाता है और वह आग को बुझा देता है, ठीक वैसे ही व्रण-वेदना को शान्त करने के लिए लेप का प्रयोग किया जाता है। देखें—सु० चि० अ० १।१५। व्रणशोथ (व्रण को पैदा करने के लिए जो शोथ=सूजन) होता है, बाद में वही व्रण का रूप धारण कर लेता है। इसमें पहले शोधन किया जाता है, जब पूय (मवाद) निकल जाता है तदनन्तर रोपण (घाव भरने की) क्रिया की जाती है। साधारण बोलचाल में शोधन तथा रोपण दोनों प्रकार के लेपों को मलहर (मलहम) कहते हैं।

विजया मधुकं वीरा बिसग्रन्थिः शतावरी। नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात् सचन्दनः ॥४७॥

विजयादि प्रदेह—विजया, मुलेठी, क्षीरकाकोली, बिसग्रन्थि (कमल के जड़ की गांठ), शतावरी, नीलकमल, नागकेशर, चन्दन इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर आवश्यकतानुसार लेकर पानी डालकर बारीक पीस लें। यह प्रदेह (लेप) व्रण की सूजन को बैठा देता है।

वक्तव्य—जहाँ व्रण की उत्पत्ति होती है, वहाँ सबसे पहले शोथ (सूजन) दिखलायी देता है। सबसे पहले उसे बैठाने का प्रयास शारीरिक सुख की दृष्टि से किया जाता है। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए सु० सू० अ० १७ देखें। बैठाने की एक निश्चित अवधि होती है, तब तक यदि उचित ध्यान नहीं दिया गया, तो

वह स्वयं पाकोन्मुख हो जाता है अर्थात् पकने की स्थिति में आ जाता है। पक जाने पर जब वह स्वयं फूट जाता है या फोड़ दिया जाता है, तो उसके भीतर से पूय निकलता है और वहाँ घाव बन जाता है, उसी घाव को व्रण कहते हैं। देखें—**'व्रणाय शोथः-व्रणशोथः'**।

विजया—'विजया' को सु० क० अ० २/५ में मूल विष कहा है। इसमें मूल, पत्र, फल, पुष्प, निर्यास, क्षीर, धातु, कन्द विषों के ५५ भेदों का वर्णन है। किन्तु कुछ टीकाकार अपने विशेष वक्तव्य में 'विजया' को भाँग लिख रहे हैं, जब कि भाँग के प्रयोज्य अंग के रूप में प्रायः उसकी पत्तियाँ ली जाती हैं। हरीतकी को भी 'विजया' कहते हैं। सात प्रकार की हरीतकी में प्रधान 'शेफालिका' तथा 'जयन्ती'—रा० नि० व० ४; शमी, मजीठ, नीलदूर्वा, अग्निमन्थ, बला—रा० नि० व० ९ में देखें। श्रीचक्रपाणि के अनुसार यह 'बला' है। निघण्टु ग्रन्थों में बला के अन्तर्गत अनेक क्षुप आते हैं। **बलाद्वय**—बला, अतिबला। **बलात्रय**—इसमें 'नागबला' का संग्रह कर लिया जाता है। **बलाचतुष्टय**—भावप्रकाश में एक 'महाबला' का उल्लेख है, इसे मिलाकर ये चार हो जाते हैं। **बलापञ्चक**—यदि 'राजबला' (प्रसारणी) को भी जोड़ लिया जाय तो एक वर्ग यह भी हो जाता है। भगवान् जाने चक्रपाणि वाली कौन-सी 'बला' है।

हमारे विचार से यहाँ 'हरीतकी' का भी प्रयोग किया जा सकता है। यदि 'बला' का प्रयोग करना हो तो बलाचतुष्टय में से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है। हमने केवल बला की पत्ती के प्रयोग से उत्पत्स्यमान (उभड़ते हुए) व्रण को बैठाने में सदैव सफलता पायी है। पोथकी व्रण में हरीतकी को घिसकर लेप लगाने से आश्चर्यजनक लाभ होता है। पोथकी (बिलनी) यह आँख के पलक का रोग विशेष है। उपर्युक्त योग में सभी द्रव्य शीतवीर्य वाले हैं, उनमें विजया (भाँग) का प्रयोग उष्ण होने से युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। इसकी पुल्टिस लगाने से व्रण पकने लगता है। ध्यान दें—इस श्लोक का सम्बन्ध आगे ६३वें श्लोक में कहे गये 'बलादिक' से भी जोड़ा जा सकता है।

सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात् सशर्करः। अविदाहीनि चान्नानि शोफे भेषजमुत्तमम् ॥४८॥

सक्तु आदि प्रदेह—सत्तू तथा मुलेठी का कपड़छन चूर्ण, घी, चीनी, इन द्रव्यों को मात्रा के अनुसार लेकर भली-भाँति मिला लें (यदि चीनी दानेदार हो तो उसे पीसकर डालें), इस प्रदेह (लेप) को व्रणों के ऊपर लगायें। रोगी को भोजन के लिए ऐसे पदार्थ दें, जो विदाह (जलन) पैदा न करें। यह व्रणज शोफ की उत्तम चिकित्सा है। ये सत्तू केवल जौ के बने हों, अन्य अन्नों के नहीं।

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत्। तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥४९॥

व्रणपाटन-विधि—यदि वह व्रण इस प्रकार चिकित्सा करने पर भी शान्त नहीं हो पाता तो उपनाह द्रव्यों के प्रयोग से पके हुए उस व्रण की पाटन-क्रिया करे, क्योंकि व्रण के पक जाने पर पाटन (चीरा लगाना) क्रिया हितकर कही गयी है।

वक्तव्य—व्रण के ३६ उपक्रमों में सर्वप्रथम शोफघ्न (सूजन को समाप्त करने वाली) क्रिया का निर्देश किया गया था। उसकी चिकित्सा ऊपर ४८वें श्लोक तक कह दी गयी है। यदि शोफ (व्रणोत्पादक शोथ) उक्त चिकित्सा विधियों से शान्त नहीं हो पाता, तब उस व्रणशोथ को उपनाहों (विविध प्रकार की व्रण को पकाने वाली पुल्टिसों) के प्रयोग से पकाकर षड्विध शस्त्रोपचार में से प्रथम पाटन-क्रिया करनी चाहिए। कभी-कभी व्रणशोथ पकने पर स्वयं भी फूट जाता है, जो अत्यन्त शुभलक्षण माना जाता है।

उपनाह (Poultice) प्रयोग—'उप समन्तात्, नह्यते, व्रणशोथः, अनेन इति'। अर्थात् जिस लेप को लगाने से व्रणशोथ चारों ओर से घिर कर बँध जाय, उसे उपनाह कहते हैं। इसका प्रयोग आमव्रण को बैठाने के लिए और पच्यमान (पकने वाले) व्रण को जल्दी पकाने के लिए होता है। देखें—'शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः। अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च' ॥ सु० चि० अ० १।२३। उपनाह के लिए उपयोग में आने वाले द्रव्यों का परिचय सु० सू० अ० ३७ श्लोक ३ से ८ तक देखें। यहाँ पर उपनाह का प्रयोग व्रण को पकाने के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। ऐसी आज्ञा सुश्रुत में भी दी है—'निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः। तस्य सम्पाचनं कुर्यात् समाहृत्यौषधानि तु' ॥ देखें—सु० चि० अ० १।२४।

तैलेन सर्पिषा वाऽपि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका। सुखोष्णा शोफपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥५०॥

व्रणशोथ में उपनाह—तेल या घी से अथवा तेल और घी दोनों को मिलाकर सत्तू का पिण्ड (गोला) सा बनाकर उसे कुछ गरम करके शोथ को पकाने के लिए उपनाह (पुल्टिस) बाँधना चाहिए।

वक्तव्य—तैल, घी का प्रयोग यदि वात आदि दोषों को दृष्टि में रखकर किया जाय तो अधिक अच्छा होगा—१. वातदोष-प्रधान व्रण में तेल में मिलाये हुए सत्तू का उपनाह, कफदोष में घृतमिश्रित सत्तू का और पित्तदोष में तैल-घृत मिश्रित सत्तू का उपनाह लगायें।

सतिला सातसीबीजा दध्यम्ला सक्तुपिण्डिका। सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने ॥५१॥

तिलादि उपनाह—तिल के बीज, अतसी (अलसी या तीसी) के बीज, खट्टा दही, सुराबीज, कूठ का चूर्ण, सेंधानमक इन सबको मिलाकर तैयार की हुई सत्तू की पिण्डिका का उपनाह लगाना हितकर होता है।

रुग्दाहरागतोदैश्च विदग्धं शोफमादिशेत्। जलबस्तिसमस्पर्शं सम्पक्वं पीडितोन्नतम् ॥५२॥

पच्यमान व्रण के लक्षण—यदि व्रणशोथ में पीड़ा हो रही हो, जलन हो रही हो, व्रणशोथ के ऊपर लालिमा छा गयी हो तथा बार-बार सुई चुभाने की-सी पीड़ा हो तो उसे विदग्ध (पच्यमान) व्रण समझना चाहिए। इस स्थिति में व्रण भीतर से अधपका हो जाता है।

पक्वव्रण के लक्षण—यदि स्पर्श करने पर पानी से भरी हुई वस्ति (मशक) के समान लगे तथा व्रण-शोथ को दबाने पर वह स्थान दब जाय और पुनः पूर्ववत् हो जाय तो उसे पका हुआ समझ लेना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रकरण का विस्तृत विवरण सु० सू० अ० १७।५ में देखें। अवस्था-भेद से व्रणशोथ तीन प्रकार का होता है—१. आमव्रणशोथ, २. पच्यमान (विदग्ध) व्रणशोथ, ३. पक्व व्रणशोथ। **पहली परीक्षा**—अभिघातज तथा कफज व्रणशोथ में भीतर ही भीतर पाक हो जाता है, किन्तु बाहर से पक्वव्रणशोथ के लक्षण नहीं दिखलायी देते। ऐसी स्थिति में मूर्ख चिकित्सक व्रणशोथ अभी नहीं पका है, ऐसा विचार कर उसकी उपेक्षा कर बैठता है और कुशल चिकित्सक पाटन-क्रिया करके उसके पूयशल्य को निकालकर रोगी को वेदनामुक्त कर देता है। अन्य व्रण प्रायः स्वयं भी फूट जाते हैं। **दूसरी परीक्षा**—आमव्रणशोथ में मन्द वेदना, पच्यमान (विदग्ध) व्रणशोथ में तीव्र और पक्वव्रणशोथ में पुनः मन्द वेदना होती है। इनका सहेतुक वर्णन महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्। जानीयात् स भवेद् वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः' ॥ और भी—'वाताद्दृते नास्ति रुजा न पाकः पित्ताद्दृते नास्ति कफाच्च पूयः। तस्मात् समस्तान् परिपाककाले पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः' ॥ सु० सू० अ० १७।६-७।

उमाऽथो गुग्गुलुः सौधं पयो दक्षकपोतयोः। विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मुकूलकः ॥५३॥
इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोथप्रभेदनः। सुकुमारस्य, कृच्छ्रस्य शस्त्रं तु परमुच्यते ॥५४॥

पक्वशोथ-भेदक गण—उमा (तीसी, अलसी), गुग्गुलु, सेहुंड का दूध, मुर्गा तथा कबूतर की बीट (मल), पलाशक्षार, हेमक्षीरी (कुंकुष्ठ या भड़भांड़), मुकूलक (दन्ती) इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कूट-पीसकर लेप तैयार करें, यह लेप सुकुमार व्यक्तियों के व्रणशोथ का भेदन कर देता है। कष्ट सहने की क्षमता रखने वाले व्यक्तियों के लिए शस्त्र-प्रयोग सबसे उत्तम होता है, जिसे आगे कहा जायेगा।

वक्तव्य—उपनाह आदि उपचारों के प्रयोग से स्वयं फूटा हुआ व्रण बहुत जल्दी भर जाता है और शस्त्र द्वारा चीरा हुआ व्रण देर में भरता है।

पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेपनं तथा। प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥५५॥

छः प्रकार के शस्त्रकर्म—१. पाटन, २. व्यधन, ३. छेदन, ४. लेखन, ५. प्रच्छन, ६. सीवन।

वक्तव्य—एलोपैथी में इन कर्मों के क्रमशः ये नाम हैं—१. पाटन (Incision), २. व्यधन (Puncturing), ३. छेदन (Excision), ४. लेपन, पाठभेद के अनुसार लेखन (आखुरण या खुरचना—Scraping), ५. प्रच्छन (चिकित्सीय गोदन—Therapeutic tattooing), ६. सीवन (Suturing)।

सुश्रुत के अनुसार यह शस्त्र-कर्म आठ प्रकार का होता है—१. छेद्य, २. भेद्य, ३. लेख्य, ४. वेध्य, ५. एष्य, ६. आहार्य, ७. विस्राव्य, ८. सीव्य। सु० सू० अ० ५।५। इस दृष्टि से जब हम देखते हैं, तो एक एष्य (एषणी यन्त्र शलाका) से नाड़ीव्रण को ढूँढा जाता है, कि वह भीतर ही भीतर कहाँ तक फैला है, न कि इससे शस्त्र के योग्य कोई कार्य लिया जाता है और दूसरा है, आहार्य—इसका प्रयोग दाँतों से निकालने में होता है। इन दो शस्त्र-कर्मों को चरक ने उद्धृत नहीं किया है। सुश्रुतोक्त 'विस्रावण' क्रिया का 'प्रच्छन' क्रिया में और 'भेदन' का 'पाटन' क्रिया में अन्तर्भाव किया है। वाग्भट ने उत्पाटन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण तथा दाहन इन कर्मों को अधिक माना है।

नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम्। अन्तःशल्याश्च ये [1]शोफाः पाट्यास्ते तद्विधाश्च ये॥

पाटनकर्मोचित रोग—नाडीव्रण (नासूर), पका हुआ व्रणशोथ, क्षतोदर, बद्धगुदोदर तथा वे शोथ जिसमें भीतर किसी प्रकार शल्य घुस गया हो, इस प्रकार के और भी जो रोग हों, उन सब में पाटन क्रिया करनी चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने उक्त श्लोक में कतिपय पाटन (भेदन) कर्म के योग्य रोगों का वर्णन किया है। सुश्रुत के अनुसार भेद्य रोगों की गणना इस प्रकार है—सन्निपातज विद्रधि को छोड़कर अन्य सभी विद्रधियाँ, वातज, पित्तज, कफज ग्रन्थियाँ, वातज, पित्तज, कफज तीन विसर्प, सभी प्रकार के वृद्धि रोग, विदारिका, प्रमेहपिडकाएँ, व्रणशोफ, स्तनविद्रधि, अवमन्थक (शूकदोष), कुम्भिका, अनुशयी, नाडीव्रण, दो वृन्द (१. एकवृन्द, २. वृन्द—सु० नि० अ० १६।५५-५६), पुष्करिका, अलजी, प्रायः सभी क्षुद्ररोग, तालुपुप्पुट, दन्तपुप्पुट, तुण्डिकेरी, गिलायु, कण्ठशालूक अर्थात् जो रोग पकने वाले हैं, अश्मरी (पथरी) को निकालने के लिए वस्ति का और जो कोई मेदोजनित रोग होते हैं, उनमें भेदन कार्य करना चाहिए। सु० सू० अ० २५। ५-८। सुकुमारों के लिए क्षार आदि का प्रयोग करके कार्यसिद्धि कर लेनी चाहिए।

दकोदराणि सम्पक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः। व्यध्याः शोणितरोगाश्च विसर्पपिडकादयः॥

व्यधन के योग्य रोग—सभी प्रकार के जलोदर, पके हुए सामान्य गुल्म, पके हुए रक्तज गुल्म, विसर्प, पिडिका आदि रक्तज रोगों में व्यधन-क्रिया करनी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने अनेक प्रकार की सिराओं, मूत्रवृद्धि तथा जलोदर में वेधन-क्रिया का निर्देश किया है। सु० सू० अ० २५।१०। और—साध्य रोग या रोगों में उद्देश (लक्ष्य) तथा प्रमाण (गहरा, लम्बा, चौड़ा) का विचार करके व्यधन क्रिया द्वारा दोष को निकाल दें। जैसा कि कहा गया है—'बहुत बड़े व्रणपाकों में भी दो या तीन अंगुल गहरा शस्त्र चलाना चाहिए'। सु० चि० अ० १।४४। इस श्लोक द्वारा व्यधन और विस्रावण दो कर्मों का निर्देश कर दिया गया है।

उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान्। अर्शःप्रभृत्यधीमांसं छेदनेनोपपादयेत्॥५८॥

छेदन के योग्य रोग—उद्वृत्त (जिन व्रणों के मुख ऊपर को उठकर मुड़ गये हों), जिन व्रणों के अगले भाग मोटे हों, उभरे हुए हों तथा कठिन (स्पर्श करने पर कठिन लगते) हों, ऐसे अर्श, अधिमांस, अर्बुद आदि की छेदन चिकित्सा कर देनी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार छेदन कर्म के योग्य निम्नलिखित रोग हैं—भगन्दर, कफज आमग्रन्थि, तिलकालक (इसका वर्णन सुश्रुत-क्षुद्ररोगाधिकार (नि० अ० १३।४३), व्रणवर्त्म, अर्बुद (सभी प्रकार के), अर्श, चर्मकील (त्वचा पर उभड़े हुए मांसांकुर), अस्थि में चुभा शल्य, जतुमणि, मांससंघात, गलशुण्डिका गलित-स्नायु, गलितमांस, गलितसिरा, वल्मीक, शतपोनक (विशेष प्रकार का व्रण), अधुष (मुखरोग), उपदंश, मांस-कन्दी (कन्द के आकार का मांस) तथा अधिमांस ये छेदन योग्य होते हैं। देखें—सु० सू० अ० २५।३-४। आगे भी कहा है—जिन व्रणों में भीतर पूय हो गया हो किन्तु बाहर से मुख प्रकट न हुआ हो, ऐसे भीतर ही भीतर गति वाले व्रणों का भेदन कर देना चाहिए। सु० चि० अ० १।३४।

---

१. 'देशाः' इति पा०।

इस पर सुश्रुत में अन्य विचार भी मिलते हैं—'मेदस्, कफ, ग्रन्थि, मांस आदि न पकने वाले अथवा कभी-कभी थोड़ा पाक हो जाने वाले, कठिन तथा स्थित (इधर-उधर न हटने वाले) व्रणशोथों में एवं स्नायुकोथ (सिरा के सड़ जाने) आदि में छेदन करना उत्तम होता है। जैसे—Gangrene—गैंग्रीन=कोथ आदि में। सु० चि० अ० १।३३। और भी—'स्पर्श में कठिन, मोटे तथा गोल किनारों वाले, बार-बार फट जाने वाले, कठिन तथा ऊपर की ओर को उठे हुए मांस वाले व्रणों में चिकित्सक को चाहिए कि वह लेखन-कर्म करे। इस प्रकार लेखन करे कि व्रणस्थान ऊँचा-नीचा न हो जाय, अतः भली-भाँति चारों ओर लेखन-कर्म करे, जिससे व्रण के किनारे समान प्रमाण वाले हो जाँय।

किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान्।

लेखन योग्य रोग—बुद्धिमान् चिकित्सक कुष्ठरोगों के साथ उन किलास कुष्ठों में भी लेखन-क्रिया करे, जो लेखन-क्रिया के योग्य हों।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार लेखन-कर्म के योग्य रोग—'वातज, पित्तज, कफज तथा रक्तज चार प्रकार की रोहिणियाँ, किलासकुष्ठ, उपजिह्विका, दुष्टमेदजनित ग्रन्थिरोग, दन्तवैदर्भ (सु० नि० अ० १६।२३), नेत्र-ग्रन्थि, नेत्रवर्त्म, अधिजिह्विका, अर्श, मण्डलकुष्ठ, मांसकन्द, मांसवृद्धि। इनमें यथावसर लेखन-कर्म करना चाहिए।

वातासृग्ग्रन्थिपिडकाः सकोठा रक्तमण्डलम्॥५९॥
कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथाश्च प्रच्छयेद्भिषक्।

प्रच्छन योग्य रोग—वातरक्त, ग्रन्थि, पिडिका, कोठ, रक्तमण्डल, कुष्ठ और जिन अंगों में आघात (चोट) लगा हो, अथवा शोथ उत्पन्न हुआ हो, इस प्रकार के रोगों में चिकित्सक को प्रच्छन-कर्म करना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने बतलाया है कि शस्त्र द्वारा जो रक्तमोक्षण किया जाता है, वह दो प्रकार का होता है—१. प्रच्छान और २. शिराव्यधन। सु० सू० अ० १४।२५। इसके आगे सम्पूर्ण अध्याय को प्रच्छन-क्रिया की दृष्टि से देखें, क्योंकि इस क्रिया से शरीर में स्थित रक्त बाहर निकलता है और 'रक्त ही जीव' (जीवन) है।

सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम्॥६०॥
इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः।

सीवन योग्य रोग—कुक्षि, उदर आदि प्रदेशों में यदि गहरा फट जाय अर्थात् किसी प्रकार गहरा घाव हो जाय, अथवा जिन मांसल स्थानों में उत्पन्न व्रण या विद्रधि (Abscess) में जो गहरा चीरा लगाया जाता है, उसमें सीवन कर्म (Suturing) करना चाहिए। इस प्रकार मनीषियों ने छः प्रकार के शस्त्र-कर्म कहे हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार—'जो रोग मेदोजनित हों, जो व्रण स्वयं फट गये हों, जिनमें भली-भाँति लेखन कार्य किया जा चुका हो तथा चलसन्धियों का आश्रय लेकर जो सद्योव्रण हों उनमें शीघ्र ही सीवन कर्म करना चाहिए'। सु० सू० अ० १५।१६। और भी—'जिन व्रणों में कोई भी पाकजनित उपद्रव नहीं हुए हैं, जिनका मुख खुला है और जो व्रण मांस में स्थित हैं, उनमें उपर्युक्त विधि से सीवनकर्म करके उनका सन्धान करना चाहिए'। सु० चि० अ० १।४५। चरकोक्त छः शस्त्रकर्मों का वर्णन सुश्रुत के अभिप्राय के साथ यहाँ तक कर दिया गया है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है, कि जिस रोग में जो शस्त्रकर्म कहा गया है उसके अतिरिक्त अन्य कर्मों की उसमें आवश्यकता नहीं होती या अन्य कर्मों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि देखा भी जाता है कि कोई रोग एक ही कर्म से, कोई दो तथा कोई तीन कर्मों के प्रयोग से ठीक हो पाता है। जैसे—अर्बुद रोग में लेखन, भेदन तथा छेदन कर्मों की आवश्यकता देखी जाती है।

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान् प्रपीडयेत्॥६१॥

पीडन योग्य रोग—जिन फोड़ों का मुख सूक्ष्म हो, अर्थात् जिन व्रणों में से स्वयं पूय बाहर न निकल पा रहा हो और जिनके भीतर पूय का कोष (संग्रह) हो, ऐसे व्रणों को चारों ओर से पीडन करना (दबाना) चाहिए।

वक्तव्य—पूय को 'शल्य' कहा गया है, अतः उसका भीतर रह जाना अहितकर होता है। यहाँ कोष का अर्थ है—'Pus cavity' 'प्रपीडयेत्' इस क्रिया का अर्थ है—व्रणवास्तु को दबाना चाहिए। इस अवपीडन के लिए आयुर्वेद में अनेक प्रकार के लेपों का वर्णन किया गया है। यह लेप व्रण के छिद्र को छोड़कर चारों ओर लगा दिया जाता है। इसके सूखने पर जब व्रण के चारों ओर दबाव पड़ता है, तो पूय स्वयं बाहर निकल जाता है।

सुश्रुतोक्त विधि इस प्रकार है—'पूय से भरे हुए, सूक्ष्म मुख (छिद्र) वाले, मर्मस्थानों में उत्पन्न व्रणों के लिए जिन पीडन द्रव्यों का प्रयोग करना कहा गया है, उन्हीं का अन्यत्र भी पीडन के लिए प्रयोग करना चाहिए। पीडन की दृष्टि से लगाये गये प्रदेह (लेप) को सूखने देना चाहिए, उसके मुख (छिद्र) को बन्द न करें, क्योंकि उस मार्ग से दोष (पूय) बाहर निकलता है। ऐसे अवसरों पर वृद्धवाग्भट वर्ति-प्रयोग की प्रशंसा करते हैं। देखें—अ० सं० उ० ३०।३०-३१ तथा ४४।

कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः। कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडने ॥६२॥
शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवाः।

व्रणपीडन-द्रव्य—१. प्रथम योग—कलाय (मटर), मसूर, गेहूँ, हरेणु इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर कल्क जैसा बना लें और इस लेप में किसी प्रकार का द्रव्य न मिलायें। इस कल्क (लेप) को व्रणपीडन के लिए प्रयोग करें। २. द्वितीय योग—सेमल की छाल, बला की जड़ तथा बरगद के पत्ते इन सबका पूर्ववत् कल्क (लेप) तैयार करके प्रयोग करें। इससे पूय स्वयं सरलता से निकल जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट व्रणपीडन के लिए मटर, जौ, गेहूँ, मूंग, माष (उड़द), हरेणु (बड़ा चना या निर्गुण्डी के बीजों को 'रेणुका' या 'हरेणुका' कहा जाता है) इस प्रकार के पिच्छिल (चिकनाहट वाले) द्रव्यों की जड़ों का लेप पक्वव्रण पीडन के लिए प्रयुक्त होता है। अ० सं० उ० अ० ३०।३३। सुश्रुत ने पूय को अनवबद्ध शल्य माना है। इसका निर्हरण प्रक्षालन क्रिया द्वारा करना चाहिए। देखें—सु० सू० अ० २७।५।

न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा ॥ ६३ ॥
आलेपनं निर्वपणं [1]तद्विद्यात् तैश्च सेचनम्।

निर्वापण-लेप—न्यग्रोधादि अथवा बलादि औषधद्रव्यों से आलेपन तथा निर्वापण करना चाहिए और इन्हीं औषधद्रव्यों के क्वाथ से व्रण का परिषेचन भी करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर आये हुए न्यग्रोधादि द्रव्यों का उल्लेख इसी अध्याय के श्लोक ४६ में और बलादि द्रव्यों का उल्लेख श्लोक ४७ में (विजया, मधुक आदि) में देखें। आचार्य गंगाधर 'बलादि क्वाथ' से आगे श्लोक ७५ के उत्तरार्ध से कहे जाने वाले योग को महत्त्व देते हैं। आलेपन, आलेप, प्रलेप, प्रदेह ये समानार्थक शब्द हैं। निर्वपण या निर्वापण—दाहशामक उपाय को कहते हैं, परिषेचन क्रिया से भी दाह की शान्ति होती है।

सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥ ६४ ॥
निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान्।

शतधौतघृत-प्रयोग—रक्त तथा पित्तदोष-प्रधान व्रणों पर सौ बार पानी डालकर धोये हुए गाय के घी के लेप से, गाय के ठंडे दूध से अथवा मुलेठी के क्वाथ को शीतल करके शान्त करे। अर्थात् उनकी उष्णता को शान्त करे।

वक्तव्य—शीतल उपचारों में 'निर्वापण' की भी गणना है। चन्दन को पीसकर या घिसकर उसका गाढ़ा ले भी दाहशान्ति का उत्तम उपाय है। सुश्रुत के अनुसार—'पित्तप्रकोप के कारण दाह, पाक, ज्वर होने पर अथवा रक्तदोष से युक्त व्रणों में निर्वापण प्रयोग किया जाता है। इसके लिए दूब आदि द्रव्यों को दूध के साथ पीसकर उसमें घी मिलाकर पतला लेप करें, इन्हीं द्रव्यों को पतला करके परिषेक (व्रण का सेचन) करें।

---

१. 'तद्विधान्यैश्च' इति पा०।

लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ॥ ६५ ॥
सन्दधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत्।

व्रणसन्धान-प्रयोग—चिकित्सक को चाहिए कि व्रण हो जाने के कारण लटके हुए व्रण मांसों को मधु तथा घी के लेप से लीपकर उन मांसों को यथास्थान ठीक रख करके फिर उन्हें पट्टी से बाँध दे।

वक्तव्य—चोट आदि लग जाने के कारण जब त्वचा फट जाती है, तो तत्काल उस घाव में समभाग में लिया हुआ मधु-घृत फेंटकर लगा दें और लटकती हुई त्वचा या मांस को यथास्थान बैठाकर पट्टी से बाँध दें। यह लेप व्रण-रोपण, शोधन तथा व्रण के विषाक्त प्रभाव को समाप्त करता है। समभाग मधुघृत द्वारा बनाया हुआ यह मलहम पूतिरोधी (Antiseptic) होता है।

तान्समान्सुस्थिताञ्ज्ञात्वा फलिनीलोध्रकट्फलैः ॥ ६६ ॥
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत्।

फलिन्यादि अवचूर्णन—उन आगन्तुज व्रणों में घाव लगने के कारण लटके हुए मांस वाले व्रणों में उपर्युक्त क्रिया द्वारा मांस को अपने स्थान पर सुस्थित (व्यवस्थित) हो गया है, ऐसा जानकर फलिनी (प्रियंगु), लोध, कायफल, समंगा (मजीठ या लज्जावन्ती) तथा धाय के फूल, इनके चूर्णों को उस घाव के ऊपर बुरकना (Dusting) चाहिए।

वक्तव्य—'मधुघृत' का लेप त्वचा तथा मांस को जोड़ने में सहायक होकर वह व्रण-रोपण करता है। ऊपर वाले घाव को फलिनी आदि का सम्मिलित चूर्ण शीघ्र ही सुखा देता है। व्रण-रोपण के लिए कुटज की छाल का कपड़छन चूर्ण भी अत्यन्त उपयोगी होता है।

पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः ॥ ६७ ॥
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः।

पञ्चवल्कलादि अवचूर्णन—अथवा शुक्ति (सीप) के चूर्ण मिले हुए पञ्चवल्कल (पाँच क्षीरीवृक्षों की छाल) के चूर्णों का, अथवा शुक्ति के चूर्ण मिले हुए धाय के फूलों तथा लोध की छाल के चूर्णों का अवचूर्णन करने से व्रण (घाव) शीघ्र भर जाते हैं।

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः ॥ ६८ ॥
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः। स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम् ॥६९॥
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुखम्।

अस्थिसन्धान-विधि—यदि किसी कारण अस्थिभंग (Fracture) हो गया हो, अर्थात् हड्डी टूट गयी हो या सन्धिच्युत (Dislocation जोड़ उखड़ गया) हो तो बुद्धिमान् (अस्थि-विशेषज्ञ) को चाहिए कि वह अन्य अंगों की भाँति उस अंग को भी समान स्थिति में रखकर उसे जोड़ दे, तदनन्तर उसके ऊपर-नीचे कवलिका (Cotton pad) लगाकर बांध दें और उसके ऊपर स्थिरीकरण के लिए 'कुशानुप्रयोग' (Splinting) करे। इस प्रकार अस्थिभंग या सन्धिच्युत अस्थि अपने स्थान पर स्थिर हो जाती है। उसके ऊपर पर्याप्त घी लगायी हुई पट्टियों से दृढ़तापूर्वक उसे बाँध दें।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार सभी प्रकार के अस्थिभग्नों का उस-उस रूप में अनुसन्धान करने पर प्रधानरूप से दो प्रकार के ही अस्थिभग्न प्राप्त होते हैं—१. सन्धिमुक्त (Dislocation) तथा काण्डभग्न (Fracture)। तदनन्तर इनके भेद कहे गये हैं—१. सन्धिमुक्त छः प्रकार का और २. काण्डभग्न बारह प्रकार का होता है। सु० नि० अ० १५।४। इस प्रसंग को सु० चि० अ० ३ में देखें। टूटी हुई नलकास्थियों को जोड़ने के लिए लकड़ी की लम्बी पट्टियाँ नीचे रखकर बाँध दिया जाता है उन पट्टियों को 'कुश' कहते हैं। ये पट्टियाँ महुआ, गूलर, पीपल, ढाक, अर्जुन इनकी मोटी छाल या बाँस, सर्ज, बरगद की छाल इनका कुश के नाम से प्रयोग होता है। सु० चि० अ० ३।६। उपर्युक्त सभी छालें तथा काष्ठ शीतवीर्य एवं शीतस्पर्श होते हैं। अतः इनके प्रयोग से भग्न स्थान पर पाक नहीं होने पाता। इसी विषय का प्रतिपादन वाग्भट ने अ० हृ० उ० अ० २७।११-१५ में किया है और कहा है—इन काष्ठपट्टियों को शल्यशास्त्र में 'कुश' कहते हैं।

अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत् ॥ ७० ॥
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका ।

रोगी को प्रसन्न रखें—काण्डभग्न (Fracture) और सन्धिमुक्त (Dislocation) वाले रोगी को दाह उत्पन्न करने वाले तथा पैष्टिक (चावल के आटे से बने हुए) पदार्थों को खिलाकर उसका उपचार करे। उसे किसी प्रकार की ग्लानि (हर्षक्षय) न होने दें, अन्यथा उसकी जोड़ी हुई अस्थि हिल-डुल जायेगी, जिससे उसको जुड़ने में बाधा उपस्थित हो सकती है।

विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान् ॥ ७१ ॥
[1]उपाचरेद् यथाकालं कालज्ञः स्वाच्चिकित्सितात् ।

उपद्रवों की चिकित्सा—जिनकी सन्धियाँ अपने स्थान से हट गयी हैं और जिनके अंगों में किसी प्रकार का आघात लगने से अस्थि टूट गयी हो, उस-उस (च्युत, भग्न) की चिकित्सा करते हुए यदि विसर्प आदि उपद्रवों का प्रकोप हो जाय तो काल (समय) के प्रभाव को जानने वाला चिकित्सक समय रहते हुए रोगी की कुशलतापूर्वक चिकित्सा करे।

शुष्का महारुजः स्तब्धा ये व्रणा मारुतोत्तराः । स्वेद्याः सङ्करकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः ॥
ग्राम्यबैलाम्बुजानूपैर्वेशवारैश्च संस्कृतैः । उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्याद् व्रणितस्तथा ॥

व्रणों में स्वेदन-कर्म—सूखे हुए, अधिक पीड़ाकारक, स्तब्ध (जकड़े हुए) तथा जो व्रणशोथ वातदोष प्रधान हैं, उन सभी में गरम खिचड़ी, खीर, ग्राम्य पशु-पक्षियों के मांसों, बिल में रहने वाले प्राणियों (साही, नेवला, चूहा) के मांसों, जल में रहने वाले कछुआ, मछली आदि के मांसों से वेशवार (हड्डी रहित मांस को पकाकर सिल में पीसकर) तैयार करके तथा गरम उत्कारिकाओं से व्रणशोथ के ऊपर संकरस्वेद की विधि से (च० सू० अ० १४।४१ में देखें) स्वेदन करने से वातदोष का शमन होने के कारण व्रणरोगी सुखी हो जाता है।

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः । तेषामुमां तिलांश्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान् ॥७४॥
तेनैव पयसा पिष्ट्वा कुर्यादालेपनं भिषक् ।

वातप्रधान व्रणों में लेप—जो व्रण दाह से युक्त होते हैं और वेदना वाले होते हैं, वे वातदोष-प्रधान होते हैं, अतः उनमें तीसी (अलसी) और तिलों को हलका भूँजकर गाय के दूध में भिगाकर कुछ देर बाद जब वे भली-भाँति भीग जाँय तब उसी दूध के साथ उन्हें पिसवाकर चिकित्सक व्रणशोथ पर लेप करवाये।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने दाहयुक्त व्रणों को पित्तदोष-प्रधान और वेदना वाले व्रणों को वातदोष-प्रधान माना है। सु० सू० अ० १७।७।

बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी ॥ ७५ ॥
जीवन्ती शर्करा क्षीरं तैलं मत्स्यवसा घृतम् । संसिद्धा समधूच्छिष्टा शूलघ्नी स्नेहशर्करा ॥७६॥

स्नेहशर्करा मलहम—बला (बरियारा), गिलोय, मुलेठी, पृश्निपर्णी, शतावर, जीवन्ती इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इसमें चीनी, दूध, तिल का तेल, मछली की चर्बी, गाय का घी इन सबको एक साथ मिलाकर पका लें, जब दूध जल जाय तब इसमें देशी मोम मिलाकर रख लें। इसका लेप व्रणज शूल को शान्त करता है।

वक्तव्य—वास्तव में यह एक प्रकार का घृतपाक ही है, अतः इसका घृत की भाँति पाक करें। घृतपाक हो जाने पर इस घी को छान लें, इसमें मोम को पिघलाकर डालें और भली-भाँति मिला लें, यह उत्तम मधु की भाँति जम जाता है, अतः इसे 'स्नेहशर्करा' नामक मलहम कहते हैं।

द्विपञ्चमूलक्वथितेनाम्भसा [2]पयसाऽथवा । सर्पिषा वा सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत् ॥७७॥

---

१. 'उपक्रमेद्' इति पा०। २. 'मस्तुनाऽथवा' इति पा०।

दशमूलादि परिषेचन—लघु तथा बृहत् दोनों पञ्चमूलों के द्रव्यों को लेकर उनका क्वाथ तैयार करें और उस क्वाथ जल से, अथवा गरम दूध से, अथवा गरम घी से, अथवा गरम तेल से शूल युक्त व्रणशोथ का परिषेचन करें।

यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा । दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥७८॥

दाहशूलनाशक लेप—जौ का आटा, मुलेठी का चूर्ण, पिसे हुए काले तिल इन सबको घी में मिलाकर गरम करके लेप करने से व्रण में होने वाले दाह तथा शूल की शान्ति होती है।

उपनाहश्च कर्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः । रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेष विधिर्हितः ॥७९॥

दाहशूलनाशक उपनाह—काले तिल और मूंग को समभाग लेकर इन्हें दूध में पकाकर खीर तैयार करें। इस खीर का गरम-गरम उपनाह (पुल्टिस) व्रणशोथ पर लगायें, इससे व्रण पीड़ा और दाह की शान्ति होती है। अतः यह विधि अत्यन्त हितकर है।

सूक्ष्मानना बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः । न च मर्माश्रितास्तेषामेषणं हितमुच्यते ॥८०॥

व्रण में एषण-कर्म—जिन व्रणों के मुख (जहाँ से पूय=Pus निकलता है) अधिक छोटे हों, किन्तु जिनमें से अधिक स्राव निकल रहा हो, जिनके भीतर पूय का संचय (कोष) अधिक हो और जो मर्म (हृदय) आदि स्थानों पर उत्पन्न न हुए हों, उन्हीं व्रणों में एषण-क्रिया करनी चाहिए।

वक्तव्य—एषण (अन्वेषण या ढूँढना) यह क्रिया छोटे मुख वाले व्रणों में करनी पड़ती है, क्योंकि पूय शल्य है, उसे भीतर छोड़ देने से वह शरीरावयवों को गलाता हुआ आगे बढ़ता जाता है, अतः उसे ढूँढ करके निकाल दिया जाता है। इसके निकलने के बाद ही व्रणरोपण किया जाता है तथा वह सफल भी होता है। सुश्रुत के अनुसार एषण-कर्म—'एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये'। सु० सू० अ० २५।११। अर्थात् नाडीव्रण (नासूर), शल्ययुक्त व्रण और ऊपर-नीचे तथा तिरछे जाने वाले व्रणों में शलाका यन्त्र द्वारा एषण-कर्म करना चाहिए। एषणी शलाका का आधुनिक पर्याय प्रोब (Probe) है। इससे यह देखा जाता है कि पूय की गति कितनी दूर तक और किस ओर है।

द्विविधामेषणीं विद्यान्मृद्वीं च कठिनामपि । औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया ॥८१॥

एषणी के दो भेद—एषणी (Probe) दो प्रकार की होती है—१. मृदु और २. कठिन। मृदु-एषणी प्राचीनकाल में उद्भिद (वृक्ष) के तनों या लता की नालों से बनायी जाती रही है। लौह आदि धातुओं की सींकों से कठिन एषणी का निर्माण किया जाता रहा है।

वक्तव्य—इस प्रसंग में सुश्रुत का मन्तव्य भी देखें—सु० चि० अ० १।४१-४२। एषणी का पहला कार्य है—व्रण भीतर ही भीतर कहाँ तक हो चुका है, इसका पता लगाना। दूसरा कार्य है—उन-उन स्थानों तक औषध या मलहम लगी हुई बत्तियों को पहुँचाना अथवा शस्त्र द्वारा वहाँ तक भेदन करके शोधन, रोपण तथा उपचार योग्य उस स्थान को बनाने में सहायता करना।

गम्भीरे मांसले देशे पाट्यं लौहशलाकया । एष्यं विद्याद् व्रणं नालैर्विपरीतमतो भिषक् ॥८२॥

एषणी के उपयोग—जो व्रण मांसल-प्रदेश (जाँघ, चूतड़ आदि) में पैदा हुआ हो, उसे लोहे की कठिन एषणी (शलाका) से ढूँढना चाहिए। इसके विपरीत अर्थात् जो व्रण मांसल स्थानों में पैदा न होकर सामान्य शरीरावयवों में उत्पन्न हुए हों, चिकित्सक को चाहिए कि उन्हें उपर्युक्त मृदु नाल से ढूँढे।

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च बहुस्रावान्महारुजः । व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् ॥८३॥

अशुद्ध व्रण के लक्षण—जिन व्रणों से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलती हो, जिन व्रणों के ऊपरी त्वचा का स्वाभाविक वर्ण नष्ट हो गया हो, जिनमें से बहुत-सा स्राव निकल रहा हो और जिन व्रणों में अत्यन्त पीड़ा होती हो, उन व्रणों को अशुद्ध (समस्त दोषों से ग्रस्त) समझकर उनकी शोधन-औषधयोगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—दुर्गन्ध वाले, क्लेद (सड़न) युक्त, विशेषकर पिच्छिल व्रणों में शोधन-कषायद्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। यह सुश्रुत का मत है। देखें—सु० चि० अ० १।५३।

त्रिफला खदिरो दार्वी [1]न्यग्रोधादिर्बला कुशः। निम्बकोलकपत्राणि कषायाः शोधना मताः॥

व्रणशोधक कषाय—हरड़, बहेड़ा, आँवला, खैर की छाल या खैर-सार, दारुहल्दी, बरगद आदि (बरगद, गूलर, पीपल, प्लक्ष, बेतस्) की छाल, बला, कुशमूल, नीम की पत्तियाँ, बेर की पत्तियाँ (पाठभेद के अनुसार—कूलक-परवल की पत्तियाँ), इनके कषाय (क्वाथ) रस व्रणशोधनकारक होते हैं। इनसे व्रणों का उपचार करना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि के अनुसार 'निम्ब एव मृदुर्निम्बकोलक उच्यते'। नीम के सुकोमल पत्र ही 'निम्बकोलक' हैं। यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो 'कोलक' के स्थान पर प्रयुक्त 'कूलक' शब्द निराधार हो जाता है। आगे चलकर वृद्धवाग्भट ने 'कोलपत्र' को अलग इस प्रकार उद्धृत किया है—'शङ्खिन्यङ्कोल-सुमनः करवीरसुवर्चलाः। त्रिफला खदिरो दार्वी कोलपत्रं पलङ्कषा॥ प्रक्षालने कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः'॥ अ० सं० उ० अ० ३०।३५।

तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद्घृतम्। मधुकं निम्बपत्राणि प्रलेपो व्रणशोधनः॥८५॥

व्रणशोधक-प्रलेप—नमक मिला हुआ तिल का कल्क, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, मुलेठी, नीम के पत्ते इनको बारीक पीसकर कल्क (लेप) तैयार कर लें। इसमें थोड़ा घी मिलाकर व्रण के ऊपर लेप करने से यह व्रणविकारों का शोधन करता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इस योग में परवल की पत्ती और दन्ती (जमालगोटा) ये दो द्रव्य अधिक कहे हैं। देखें—अ० सं० उ० अ० ३०।३६। महर्षि सुश्रुत ने शोधन-कार्य के लिए वर्ति-प्रयोग, घृत, तैल, चूर्ण आदि का निर्देश किया है। देखें—सु० चि० अ० १।५३ से ६२ तक।

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्।
न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः॥ ८६॥

शुद्ध व्रण के लक्षण—जिस व्रण की आकृति अधिक लालवर्ण की न दिखलायी देती हो, अधिक पाण्डु वर्ण को न हो, अधिक श्याव (गहरे भूरे) रंग की न हो, जिसमें अधिक पीड़ा न हो, जिसमें अधिक उभार न हो और जो उत्संगी (भीतर से पोला) न हो उस व्रण को शुद्ध कहते हैं। ऐसे ही लक्षणों वाले व्रण में रोपण क्रिया (Healing application) करनी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार शुद्ध व्रण के लक्षण—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकीसमः। अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते'॥ सु० सू० अ० २३।१८। इसके आगे भी देखें—'जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति'। सु० चि० अ० ३०।७। और भी—'शुद्ध-लक्षणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम्। तत्र कार्यं यथोद्दिष्टैर्द्रव्यैर्वैद्येन जानता'॥ सु० चि० अ० ३०।६३। शल्य-कर्म करने के बाद जब तक व्रण का आशय शुद्ध न हो जाय तब तक रोपण-क्रिया नहीं करनी चाहिए—'न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्, स ह्यल्पेनाप्यवचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति'। सु० सू० अ० ५।३७।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकदम्बप्लक्षवेतसाः। करवीरार्ककुटजाः कषाया व्रणरोपणाः॥८७॥

न्यग्रोधादि रोपण क्वाथ—बरगद, गूलर, पीपल, कदम्ब, प्लक्ष, बेत, कनेर, मदार और कुटज इन द्रव्यों द्वारा यथाविधि निर्मित क्वाथ व्रणरोपण (घाव को भरने वाले) होते हैं। इन सब द्रव्यों को मिलाकर एक साथ अथवा प्रत्येक द्रव्य का अलग-अलग क्वाथ बनाने की भी परम्परा है।

चन्दनं पद्मकिञ्जल्कं दार्वीत्वङ्नीलमुत्पलम्। मेदे मूर्वा समङ्गा च यष्ट्याह्वं व्रणरोपणम्॥८८॥

---

१. 'न्यग्रोधोऽतिबला' इति पा०।

चन्दनादि लेप—चन्दन, कमलकेसर, दारुहल्दी, नीलकमल, दोनों मेदा (मेदा, महामेदा), मूर्वा, समंगा (मजीठ या लाजवन्ती), मुलेठी, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार करें, इस कल्क का व्रण पर लेप करने से व्रण का रोपण हो जाता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने इस योग को व्रणरोपण लेप कहा है। इसी योग में कुछ द्रव्यों का परिवर्तन कर वृद्धवाग्भट ने इसे 'वर्णसाधन' लेप कहा है—'पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दार्वी मूर्वा तिलोत्पलम्। मेदा समङ्गा यष्ट्याह्वं प्रलेपो वर्णसाधनः'॥ अ० सं० उ० अ० ३०।७६। इस लेप का प्रयोग व्रण के कारण त्वचा में जो कुरूपता आ जाती है, उसे पूर्ववत् बनाने के लिए किया जाता है, न कि अन्यत्र सौन्दर्यवर्धन के लिए इसे प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार इस योग में चन्दन के स्थान पर पद्मक तथा 'तिल' द्रव्य की विशेषता है।

प्रपौण्डरीकं जीवन्ती गोजिह्वा धातकी बला। रोपणं सतिलं दद्यात् प्रलेपं सघृतं व्रणे॥८९॥

प्रपौण्डरीकादि लेप—पुण्डरियाकाठ, जीवन्ती, गोजिह्वा (गावजवान), धाय का फूल, बलामूल, काले तिल इन सबको कूट-पीसकर कल्क (लेप) तैयार करें। इस कल्क में थोड़ा घी मिलाकर व्रण पर लगाने से व्रण शीघ्र भर जाता है।

कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम्। पटोलं पिचुमर्दं च लोध्रं मुस्तं प्रियङ्गुकम्॥
खदिरं धातकीं सर्जमेलामगुरुचन्दने। पिष्ट्वा साध्यं भवेत् तैलं तत् परं व्रणरोपणम्॥९१॥

कम्पिल्लकादि तैल—कबीला, वायविडंग, कुटज की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, बलामूल, परवल की पत्ती, नीम की पत्ती, पठानीलोध, नागरमोथा, फूलप्रियंगु, खदिरसार, धाय का फूल, सर्ज (राल), छोटी इलायची, काला अगुरु, चन्दन इन सबको पीसकर कल्क तैयार करें। इस कल्क द्वारा तैलपाक विधि से तैल-पाक करें। तैयार होने पर इस तैल को छान कर रख लें। इस तैल को व्रण में लगाने से भली-भाँति व्रण-रोपण होता है।

वक्तव्य—इन सब द्रव्यों का कल्क पाव भर, तिलतैल १ सेर, जल ४ सेर, इन सबको एक पात्र में डालकर तैलपाक करें। यह तेल व्रण-शोधन तथा रोपण भी करता है। वृद्धवाग्भट ने इन्हीं द्रव्यों द्वारा घृत अथवा तैल सिद्ध करने का आदेश दिया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३०।७४-७५।

प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे च चन्दने। सिद्धमेतैः समैस्तैलं परं स्याद् व्रणरोपणम्॥९२॥

प्रपौण्डरीकादि तैल—पुण्डरियाकाठ, मुलेठी, काकोली, क्षीरकाकोली, सफेदचन्दन, लालचन्दन, इन सभी द्रव्यों को लेकर इनका कल्क तैयार करें। इस कल्क से यथा विधि तैलपाक करें। इस तैल का विधि-पूर्वक प्रयोग करने से उत्तम प्रकार से व्रणरोपण होता है।

दूर्वास्वरससिद्धं वा तैलं कम्पिल्लकेन वा। दार्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम्॥९३॥

दूर्वा तैल—तिलतैल से चौगुना दूब का रस लेकर पाक करें। इसे 'दूर्वा तैल' कहते हैं। **कम्पिल्लक तैल**—कबीला के कल्क से तैयार किये हुए तैल को 'कम्पिल्लक तैल' कहते हैं। **दार्वीत्वक् तैल**—दारुहल्दी के कल्क से तैयार किये हुए तैल को 'दार्वीतैल' कहते हैं। ये तीनों तेल प्रमुख रूप से व्रणरोपण करते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि द्रव्य वे ही हैं, तथापि वृद्धवाग्भट ने उक्त द्रव्यों द्वारा तैल तथा घृत दोनों को सिद्ध करने की आज्ञा दी है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३०।७३।

येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत्। रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा रोपणीयं व्रणं भिषक्॥९४॥

व्रण में घृत-प्रयोग—चिकित्सक रक्तपित्त-प्रधान रोपण करने योग्य व्रण को देखकर जिस विधि से (जिन-जिन द्रव्यों को जितनी-जितनी मात्रा में कल्क आदि के लिए लेकर) तैलपाक किया गया था, उसी विधि से घृत का पाक भी करें।

वक्तव्य—तैलपाक तथा घृतपाक की विधि समान ही है। देखें—शा० सं० म० खं० अ० ९।१ और सु० चि० अ० ३१। स्नेहसिद्धि का लक्षण अवश्य देखें, क्योंकि घृत-तैल के सिद्धि लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। शा० सं०

म० खं० अ० ९।१२-१३। सुश्रुत में पृथक्पर्ण्यादि द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग पित्त-रक्तज, विषज, आगन्तुज एवं गम्भीर व्रणों में करने की संस्तुति की गयी है। देखें—सु० चि० अ० १।७०।

कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च। व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ॥

व्रणों में पत्तों द्वारा आच्छादन—विद्वान् चिकित्सक निम्नलिखित द्रव्यों के पत्तों से व्रण का आच्छादन करने का उपचारक को आदेश दे। आच्छादनोपयोगी पत्ते—कदम्ब, अर्जुन, नीम, पाटला, पीपल और मदार।

वक्तव्य—सुश्रुत ने व्रण को ढकने के लिए जिन पत्तों का निर्देश दिया है, उसका सहेतुक वर्णन इस प्रकार है—स्थिर तथा कम मांस वाले अवयवों पर एवं रूक्षता के कारण न भरने वाले व्रणों में वात आदि दोषों तथा जाड़ा, गर्मी, बरसात का ध्यान देकर पत्तों का प्रयोग करना चाहिए। **वातज व्रणों में**—एरण्ड (रेंड) पत्र, भोजपत्र, करञ्ज तथा हल्दी की पत्तियाँ रखें। **रक्तपित्तज व्रणों में**—अश्वबला, गम्भारी आदि क्षीरी वृक्षों के पत्ते, तथा कमल के पत्ते रखें। **कफज व्रणों में**—पाठा, मूर्वा, गिलोय, मकोय, हल्दी, शुकनास (टेसू) के पत्ते रखें। **ग्राह्य पत्तों के लक्षण**—जो खुरदरा, फटा, पुराना तथा कीड़ों द्वारा खाया हुआ न हो, स्पर्श में कोमल हो, व्रणों के ऊपर आच्छादन के लिए इस प्रकार के पत्तों का ग्रहण करना चाहिए। **पत्राच्छादन से लाभ**—औषध (लेप आदि) के ऊपर पत्तों को रख देने से औषधसार या स्नेह आदि को पट्टी अपने में सुखा नहीं सकती। इस प्रकार पत्राच्छादन का व्रणबन्धन (Bandaging) में अत्यन्त महत्त्व है। सु० चि० अ० १।११२-११८।

वार्क्षोऽथवाऽऽजिनः क्षौमः पट्टो व्रणहितः स्मृतः।
बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः ॥ ९६ ॥

व्रणबन्धन-विधि—वृक्ष की छाल अथवा अजिन (मृगचर्म), क्षौम (अलसी या तीसी के रेशों से बनाया गया वस्त्र अथवा रेशमी वस्त्र) से व्रण के ऊपर पट्टी बाँधना हितकर बतलाया गया है। व्रणों के ऊपर दो प्रकार का बन्धन हितकर होता है—१. वाम और २. दक्षिण।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार व्रणबन्धन द्रव्य—क्षौम, कार्पास (सूती वस्त्र), आविक (भेड़ के बालों से तैयार किया गया), दुकूल (पट्ट वस्त्र), कौशेय (कोषाकार कृमि से बनाया गया रेशमी वस्त्र), चीनांशुक, चर्म (हरिण की छाल), अन्तर्वल्कल (भोजपत्र आदि), अलाबुशकल (लौकी का टुकड़ा), लता, विदल (बांस की छाल), रस्सी, तूल फल, सन्तानिका, लौह (प्रायः सभी धातु) ये सभी व्रणबन्धन में उपयोगी होते हैं। सु० सू० अ० १८।१६।

इसके आगे चौदह प्रकार की पट्टियों का वर्णन किया गया है। प्रसंगानुसार उन्हें उद्धृत किया जा रहा है—१. कोश, २. दाम, ३. स्वस्तिक, ४. अनुवेल्लित, ५. उत्तोली, ६. मण्डल, ७. स्थगिका, ८. यमक, ९. खट्वा, १०. चीन, ११. विबन्ध, १२. वितान, १३. गोफण, १४. पञ्चांगी। सु० सू० अ० १८।१७। इन चौदह बन्धनों का कहाँ-कहाँ प्रयोग होता है, इसका वर्णन सु० सू० अ० १८।१८ में दिया गया है।

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च। वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च ॥९७॥

व्रण में अपथ्य—नमक, खट्टा, कटु (मरिच, मिर्चा आदि), उष्ण वीर्य वाले, विदाहकारक, गुरु (देर में पचने वाले), इस प्रकार के अन्न (आहार) एवं पानों (पेय पदार्थों) को तथा स्त्री-सहवास को व्रण रोगी छोड़ दे, क्योंकि ये सभी अहितकर होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत-सूत्रस्थान में १९वें अ० का नाम 'व्रणितोपासनीय' है। इसमें व्रण रोगी की किस प्रकार उपासना (सेवा) करनी चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन है। यहाँ 'उपासना' का अर्थ है—देख-रेख। इसमें अन्य पथ्य-अपथ्य की चर्चा के साथ स्त्री-सहवास नहीं करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में सहेतुक कुछ निर्देश दिये हैं—'गम्यानां च स्त्रीणां सन्दर्शनसम्भाषणसंस्पर्शनानि दूरत एव परिहरेद्'। क्योंकि—'स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेद्। ग्राम्यधर्मकृतान् दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयाद्' ॥ सु० सू० अ० १९।१४-१५। अर्थात् महर्षि चरक ने तो स्पष्ट रूप से मैथुन का ही निषेध किया है। सुश्रुत तो सहवास के योग्य स्त्रियों को देखना, उनका स्पर्श करना और उनसे बातचीत करना इनका भी इसलिए निषेध किया है कि कहीं इन व्यवहारों से शुक्रधातु द्रवित हो गया तो उसे सहवास न करने पर भी उससे होने वाले दुःखद परिणामों को भोगना पड़ेगा।

नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम्। अन्नपानं व्रणहितं हितं चास्वपनं दिवा ॥९८॥

व्रणरोग में पथ्य—व्रण में किस दोष की प्रधानता है, इस बात का विचार कर जो अन्न-पान अधिक शीतल, अधिक गुरु, अधिक स्निग्ध, तथा विदाहकारक न हो और व्रण के लिए हितकारक हो उसका सेवन करना चाहिए एवं व्रण रोगी को दिन में सोना भी नहीं चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत-सूत्रस्थान अ० १९ के श्लोक ३२ से ३६ तक के विषयों का अनुसन्धान इस प्रकरण को स्पष्ट करने के लिए परम आवश्यक है।

स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च। उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत् ॥

निम्न-व्रणों की चिकित्सा—निम्न (नीचे की ओर को धँसे हुए) व्रणों में उनको ऊपर की ओर को उठाने के लिए उत्सादन-क्रिया की जाती है। इसमें स्तन्यजनन (दुग्धवर्धक), जीवनीयगण तथा बृंहणीयगण के द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—स्तन्य शब्द से यहाँ दो अर्थ लिये जा सकते हैं—१. स्तन के आकार को बढ़ाने वाला उपचार (स्तनाय हितम्) अथवा (स्तने भवं स्तन्यम्) दूध की वृद्धि करने वाले द्रव्य; दोनों प्रकार के उपचारों से स्तन पुष्ट होते हैं। यहाँ नीचे धँसे हुए व्रणशोथ को चिकित्सा के लिए ऊपर उठाने का प्रयत्न करना है, अतः स्तनों की उपमा का प्रयोग किया है। उक्त गणों का विवरण आप चरक-सूत्रस्थान, अध्याय ४ में स्तन्यजनन वर्ग गद्य १२, जीवनीय वर्ग गद्य ९ तथा बृंहणीय वर्ग गद्य ९ में देखें।

सुश्रुत के अनुसार—'परिशुष्काल्पमांसानां गम्भीराणां तथैव च। कुर्यादुत्सादनीयानि सर्पीष्यालेपनानि च ॥ मांसाशिनाञ्च मांसानि भक्षयेद् विधिवन्नरः। विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते' ॥ सु० चि० अ० १।८१-८२। व्रणोपचार ऊपर से व्रणदोष को दूर करने की दृष्टि से किये जाते हैं, तदनुरूप लाभ भी होता है। व्रणस्थान उभर कर अपने बराबरी में पुनः आ जाय इसके लिए उत्सादन-क्रिया की जाती है। मांस-भक्षण करने से मांस की वृद्धि होती है, जो मांस-भक्षण नहीं करते, उन्हें अन्य पौष्टिक पदार्थ जिनमें प्रोटीन (मांसतत्त्व) अधिक हो, उन द्रव्यों का सेवन कराकर उसकी पूर्ति करानी चाहिए। और भी देखें—सु० उ० अ० ३०।४७-४८।

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार 'निम्नव्रण' उन्हें कहते हैं, जिन व्रणों की परिसीमा (चारों ओर के किनारे) अथवा उपान्त (Margin) नीचे की ओर धँस गये हों। ऐसे व्रण प्रायः यक्ष्मिकीय (Tubercular) होते हैं, इनमें बृंहण (पोषण देने वाली) चिकित्सा लाभदायक होती है।

भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमधोभागानि गुग्गुलुः। व्रणावसादनं तद्वत् कलविङ्ककपोतविट् ॥१००॥

व्रणों में अवसादन—भोजपत्र वृक्ष की गाँठ, हीराकासीस, अधोभाग के लिए हितकर द्रव्य (त्रिवृत्, निशोथ आदि), गुग्गुलु, गौरेया तथा कबूतर की बीट इनको पीसकर कल्क तैयार कर व्रण पर लेप करने से अवसादन (उठा हुआ मांस बराबर) हो जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त अवसादन द्रव्य—'हीराकासीस, सैंधानमक, किण्व (सुराबीज), कुरुविन्द, मैनसिल, मुर्गी के अंडों के छिलके, चमेली की कली, शिरीष तथा करञ्ज के फल, धातु (हरिताल, पुष्प कासीस, तुत्थ, रसांजन आदि) के चूर्ण ये द्रव्य उभरे हुए मांस को काटने (अवसादन) के लिए उत्तम होते हैं। सु० सू० अ० ३७।३२-३३। वृद्धवाग्भट ने चित्रक और अग्निमन्थ (अगेथू) के चूर्ण का भी प्रयोग अवसादन कर्म के लिए स्वीकार किया है।

महर्षि सुश्रुत ने अवसादन के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—'उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम्। कुर्याद् द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह' ॥ सु० चि० अ० १।८३। व्रणरोपण हो जाने के बाद कभी-कभी त्वचा के धरातल से मांस ऊपर उठ जाता है, वह सौन्दर्य की दृष्टि से भद्दा दिखलायी देता है, उसे समतल करने के लिए अवसादन-क्रिया की जाती है। यह क्रिया 'लेखन-कर्म' की भाँति ही कार्य करती है। ध्यान रहे—अवसादन-क्रिया के लिए प्रयुक्त लेप आदि उसी अंग पर लगाने चाहिए, अन्यथा अन्य पड़ोसी अवयवों पर भी उसका प्रभाव पड़ सकता है, जो अहितकर होता है। प्रारम्भिक चिकित्सा की असावधानी से ही व्रणों में अवसादन कर्म की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा व्रणस्थान पर मांस का उभार नहीं देखा जाता है।

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु च्छिन्ने च्छेद्येऽधिमांसके। कफग्रन्थिषु गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु ॥१०१॥
गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु स्थिरेषु च। [1]क्लृप्तेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्नेः सम्प्रशस्यते ॥१०२॥

व्रणों में अग्निकर्म—व्रण में से रक्त के अधिक निकलने पर, किसी अंग विशेष के कट जाने पर, छेदन क्रिया के योग्य अधिमांस रोग में, कफजनित ग्रन्थिरोग में, गलगण्ड रोग में, वातदोष के कारण उत्पन्न जकड़न में, वातजनित विविध पीडाओं में, जिन व्रणों में पूय तथा लसीका भीतर रह गयी हो, गम्भीर व्रणों में, स्थिर व्रणों में, जो शरीरावयव सुन्न हो गये हों, उनमें दाहकर्म प्रशंसित होता है।

वक्तव्य—सामान्यरूप से अग्निकर्म शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु में न करें। यह दो प्रकार का होता है—१. त्वग्दग्ध, २. मांसदग्ध। जीवरक्त के अधिक निकलने पर—१. सन्धान, २. स्कन्दन, ३. पाचन, ४. दहन (अग्निकर्म) ये चार कर्म किये जाते हैं। अग्निकर्म का विस्तृत व्याख्यान सु० सू० अ० १२ में किया गया है। यह अग्निकर्म जिन व्रणों से रक्त बहता है, उसके अतिरिक्त अश्मरी (पथरी) जनित जिन घावों से मूत्र बहता है तथा जो सन्धियाँ सम्पूर्ण रूप से काट दी गयीं हों उनमें भी किया जाता है। सु० चि० अ० ७।८९। अश्मरी निकालने के सात दिन बाद उस घाव में अग्निकर्म करे, तत्काल नहीं। त्वचा के घिस जाने या खरोंच लग जाने पर जो द्रव निकलता है, उसे 'लसीका' कहते हैं। इसका दूषित होकर एकत्रित होना अनेक उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है।

मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जक्षौद्रवसाघृतैः। तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद् दाहविशेषवित् ॥१०३॥

अग्निकर्मोचित द्रव्य—मोम, तेल, मज्जा, मधु, वसा (चर्बी), घी इनमें से किसी एक को गरम करके अथवा अनेक प्रकार के लौह (धातुज) यन्त्रों से अग्निकर्म-कुशल चिकित्सक को दाहकर्म करना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने दहन कार्य के लिए निम्न साधनों का उल्लेख किया है—'पिप्पली, बकरी की मेंगन, गाय का दाँत, शर, शलाका, जामुन की लकड़ी, इतर लौह (लोहा तथा अन्य धातु), मधु, गुड़, घी, तेल। इनमें पिप्पली से शलाका तक त्वचा सम्बन्धी रोगों में, शेष द्रव्यों से सिरा, स्नायु तथा सन्धिगत रोगों में अग्निकर्म करना चाहिए'। देखें—सु० सू० अ० १२।४। आजकल इन सब उपकरणों को छोड़कर केवल विद्युत् दहन (Electric cautery) द्वारा दाहकर्म किया जाता है। यह दाहकर्म व्रणरोपण में सहायक होता है। **दाहविशेषवित्**—सम्यक् दग्ध के लक्षण आदि को जानने वाला चिकित्सक।

रूक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान्। दहेत् स्नेहमधूच्छिष्टैर्लोहैः क्षौद्रैस्ततोऽन्यथा ॥

अग्निकर्म के योग्य व्यक्ति—रूक्ष तथा सुकुमार पुरुषों के गंभीर एवं वातदोष-प्रधान व्रणों में स्नेह (घी, तेल, वसा, मज्जा, मोम) से दाहकर्म करें। इसके विपरीत व्यक्तियों (जो स्निग्ध तथा कष्ट सहन करने में समर्थ हैं) के कफ-प्रधान व्रणों में लोह-शलाका आदि से अथवा मधु से दाहकर्म करना चाहिए।

बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्। तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम् ॥१०५॥
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च। सविषेषु च शल्येषु नेत्रकुष्ठव्रणेषु च ॥१०६॥

अग्निकर्म के अयोग्य व्यक्ति—बालक, दुर्बल, वृद्ध, गर्भिणी, रक्तपित्त के रोगी, तृष्णातुर, ज्वर-पीड़ित स्त्रियाँ, विषादयुक्त (जिनका मन किन्हीं कारणों से दुःखी हो) उनमें अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए। स्नायुओं तथा मर्मस्थानों में जिनके व्रण हुआ हो, विषयुक्त व्रणों में, जिन व्रणों के भीतर शल्य (काँटा आदि) हो, नेत्रव्रणों तथा कुष्ठजनित व्रणों में अग्नि द्वारा दाह नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर जिन व्यक्तियों को अग्निकर्म के योग्य कहा गया है, यदि उनमें भी उपर्युक्त लक्षण हों तो अग्नि द्वारा उनके व्रणों की चिकित्सा न करें। क्योंकि रक्तपित्तरोग, तृष्णा, ज्वर, विषाद उनको भी हो सकता है और स्नायुमण्डल तथा मर्मस्थानों में उन पुरुषों के शरीरों में भी व्रण हो सकते हैं। उक्त श्लोक में 'अबलानाम्' का अर्थ केवल स्त्रियाँ ही होना चाहिए, न कि 'निर्बल' शब्द का। क्योंकि 'दुर्बल' शब्द का प्रयोग श्लोक १०५ के पूर्वार्ध में किया जा चुका है। 'गर्भिणी' अन्य 'अबलाओं' से अधिक सुकुमार होती है, अतः पहले गर्भिणी का उल्लेख करके तब 'अबला' शब्द का ग्रहण किया है।

१. 'सुप्तेषु' इति पा०।

सुश्रुत में कष्ट सहन करने में अक्षम वर्ग को इस प्रकार स्मरण किया है—'न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः'। सु० चि० अ० १।१३। अर्थात् इस वर्ग को लंघन नहीं कराना चाहिए। और देखें—'बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि'। सु० चि० अ० १।३५। इनके व्रणों को शस्त्र से न चीरें।

सुश्रुत के अनुसार अग्निकर्म के अयोग्य रोगी—'पित्तप्रकृति, अन्तःशोणित, भिन्नकोष्ठ, जिसके शरीरावयव से शल्य न निकला हो, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु (डरपोक), अनेक व्रणों से पीड़ित पुरुष तथा जिन्हें स्वेदन के अयोग्य कहा गया है। सु० सू० अ० १२।१४। अस्वेद्य पिडकाओं का वर्णन सु० चि० अ० १२।७ में तथा च० सू० अ० १४।१६-१९ में देखें।

रोगदोषबलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः। शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् ॥१०७॥

व्रण में क्षार-कर्म—रोग और उससे सम्बन्धित वात आदि दोषों के बल का विचार करने वाला, मात्रा, काल तथा रोगी के अग्निबल को जानने वाला चिकित्सक जिन स्थानों पर शस्त्रकर्म, अग्नि (दाह) कर्म करना चाहता है, उन स्थानों पर क्षारों का भी प्रयोग कर सकता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने क्षार की प्रधानता इस प्रकार स्वीकार की है—'शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः'। सु० सू० अ० ११।३। अगले अध्याय में 'क्षारादग्निर्गरीयान्' (सु० सू० अ० १२।३) कहा है। दोनों ही वाक्य श्रद्धेय हैं। आप उन-उन प्रकरणों को देखें। सुश्रुत ने क्षार-प्रयोग की विशेष परिस्थिति का निर्देश इस प्रकार किया है—'जिन व्रणों में मांस ऊपर की ओर उठा हो, जो व्रण कड़े हो गये हों, जिनमें खुजली होती हो, जो व्रण पुराने हो गये हों और जिनमें कठिनाई से शोधन होता हो, ऐसे व्रणों का क्षारकर्म द्वारा शोधन करना चाहिए। सु० चि० अ० १।८८।

कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैः सारैश्च धूपिताः। सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ॥
रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः। शैथिल्यं मार्दवं चापि धूपनेनोपशाम्यति ॥

व्रणकाठिन्यकर धूप—अगुरु आदि सुगन्धित गन्धों, तथा सार (चन्दन, विजयसार) आदि द्रव्यों की धूपों का प्रयोग करने से व्रण (घाव) कड़े हो जाते हैं। **व्रणमृदुताकारक धूप**—घी, मज्जा, वसा, इन द्रव्यों की धूप देने से कठिन व्रण शिथिल (ढीले) हो जाते हैं। **धूप-प्रयोग से लाभ**—व्रणों में धूप का प्रयोग करने से सभी प्रकार की पीड़ाएँ, व्रणों में से होने वाले स्राव, गन्ध, व्रणों में रहने वाले क्रिमि नष्ट हो जाते हैं। व्रण का ढीलापन तथा कोमलता शान्त हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त उपक्रमों से यहाँ तीन कर्मों (१. मृदुकर्म, २. दारुणकर्म, ३. धूपनकर्म) का उल्लेख किया है—**१. मृदुकर्म**—कठिन, थोड़े मांस वाले तथा वातदोष से दूषित व्रणों में मधुर, स्निग्ध, नमक युक्त गुनगुने जल से बाहरी तथा भीतरी मृदु उपचार करना चाहिए। यदि रक्तानुगत वातदोष हो तो उसमें रक्तमोक्षण करें। कफ का योग वातदोष के साथ होने पर भद्रदारु आदि वातहर औषधद्रव्यों से युक्त स्नेहों तथा सेंकों का प्रयोग करें। व्रण के ऊपर कसकर बाँधी हुई पट्टी भी व्रणों का जल्दी ही रोपण कर देती है। सु० चि० अ० १।८४-८५। इससे व्रण की दारुणता दूर हो जाती है।

२. दारुण-कर्म—'कोमल मांस वाले व्रणों को कठिन बनाना चाहिए। इसके लिए धव, फूलप्रियंगु, अशोक, रोहिणी (हरीतकी) इन वृक्षों की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धाय के फूल, लोध, राल इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके व्रणों पर बुरकें। सु० चि० अ० १।८६-८७।

३. धूपन-कर्म—वातदोष-प्रधान व्रणों को, तीव्र वेदना युक्त व्रणों को, जिन व्रणों में से स्राव निकल रहा हो, ऐसे व्रणों में अलसी (तीसी), जौ, घी और जो धूपन के अंग कहे गये हैं, उन द्रव्यों को लेकर व्रण को धूपित करना चाहिए। सु० चि० अ० १।८०। अन्यत्र व्रण-धूपन योग—'श्रीवेष्टक, सर्जरस (राल), सरल (चीड़ के वृक्ष की छाल), देवदारु, सार (सालसारादिगण में कहे गये वृक्षों के सार, देखें—सु० सू० अ० ३८।८-९) से व्रणों का धूपन करना चाहिए। सु० सू० अ० ३७।२२।

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि खदिरस्त्रिफला घृतम्। प्रलेपो व्रणशैथिल्यसौकुमार्यप्रसाधनः ॥११०॥

व्रणकठिनताकारक प्रलेप—पठानीलोध, बरगद के शुंग (टूसे, बरोह या प्ररोह), खदिरसार, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर आवश्यकतानुसार प्रलेप तैयार करें। इस प्रलेप में थोड़ा-सा घी मिलाकर लगाने से यह लेप व्रण की शिथिलता (ढीलापन) तथा कोमलता (मृदुता) को दूर करता है।

सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्रावाश्च ये व्रणाः। यवचूर्णैः सर्सर्पिष्कैर्बहुशस्तान् प्रलेपयेत् ॥

व्रणमृदुताकारक प्रलेप—पीड़ा से युक्त, स्पर्श में कठोर, स्तब्ध (जकड़न युक्त), स्राव रहित जो व्रण होते हैं, घी के साथ जौ के आटा को मिलाकर इसका व्रणों में बार-बार लेप करना चाहिए।

वक्तव्य—यह प्रलेप कुछ समय तक लगाते रहने से व्रण स्थान पर जो कड़ापन आ जाता है, उसे सामान्य स्थिति जैसा मृदु बना देता है। वृद्धवाग्भट ने 'यवचूर्ण' से जौ के सत्तू का ग्रहण किया है। अ० सं० उ० अ० ३०।५३।

मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम्। सघृतैर्जीवनीयैर्वा तर्पयेत् तानभीक्ष्णशः ॥११२॥

व्रणतर्पण योग—अथवा मूंग, सांठी तथा शालिधान के चावलों की दूध में पकाकर खीर तैयार कर क्रम से उसका गरम-गरम लेप करें। इन तीनों (मूंग, सांठी के चावल, शालि के चावल) की अलग-अलग खीर तैयार कर प्रयोग करें। अथवा जीवनीय वर्ग के द्रव्यों का कल्क बना (लेप) बनाकर उसमें घी मिलाकर बार-बार उन कठोर व्रणों का तर्पण करना चाहिए।

वक्तव्य—व्रण में वातदोष के कारण कठोरता आती है। वातज कठिनता उपर्युक्त स्निग्ध द्रव्यों के प्रयोग से दूर हो जाती है। जीवनीयगण के द्रव्यों का उल्लेख च० सू० अ० ४।९ में किया गया है, देखें।

ककुभोदुम्बराश्वत्थलोध्रजाम्बवकट्फलैः। त्वचमाश्वेव गृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः ॥११३॥

त्वक्संजनन योग—अर्जुन, गूलर, पीपल, लोध, जामुन, कायफल (काफल) इन वृक्षों की छालों को लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इनका अवचूर्णन करने से अर्थात् इनके चूर्णों को बुरकने (Dusting) से घाव के ऊपर शीघ्र ही त्वचा पैदा हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के दारुणीकरण योग में भी प्रायः इन्हीं वृक्षों की छालों के चूर्ण को बुरकने के लिए कहा गया है। देखें—सु० चि० अ० १।८६-८७।

[1]मनःशिलैला मञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम्। प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परः ॥११४॥

त्वग्विशुद्धिकर प्रलेप—मैनसिल, इलायची (पाठभेद के अनुसार—हरिताल), मंजिष्ठा (मजीठ या लज्जावन्ती), कच्चीलाख, हल्दी, दारुहल्दी इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण तैयार करें। इस चूर्ण में आवश्यकतानुसार बराबर का घी और मधु मिलाकर लेप तैयार कर लें। यह लेप व्रणस्थान पर उत्पन्न त्वचा की विकृति को दूर करके त्वचा के स्वाभाविक वर्ण को ला देता है।

वक्तव्य—देखें—अ० सं० उ० अ० ३०।७८ का त्वग्विशुद्धिकर लेप।

अयोरजः सकासीसं त्रिफलाकुसुमानि च। करोति लेपः कृष्णत्वं[2] सद्य एव नवत्वचि ॥११५॥

त्वचा को काला करने वाला लेप—हीराकासीस, लोह चूर्ण या भस्म, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इनके फूल इनको समान भाग लेकर कूट-पीसकर लेप तैयार करें। इस लेप का प्रयोग व्रण के ऊपर आयी हुई नयी त्वचा (Skin) पर करना चाहिए। इससे उसकी सफेदी दूर होकर कालापन अर्थात् त्वचा के समान वर्ण हो जाता है।

वक्तव्य—प्रायः देखा जाता है कि आग से जले व्रण या चोट आदि के कारण, अथवा बड़े व्रणों का जब घाव भर जाता है, तो उनके ऊपर की त्वचा का वर्ण सफेद (श्वेतकुष्ठ के आकार का) हो जाता है। उसे त्वचा के सदृश बनाने का यह उपाय है। यहाँ 'कृष्णत्वग्' या 'कार्ष्ण्यम्' का अर्थ है—सफेद वर्ण के विपरीत वर्ण का होना। यहाँ त्रिफला पुष्पों के अभाव में उसके फलों का भी ग्रहण कर लिया जाता है।

---

१. 'मनःशिलाले' इति पा०। २. 'प्रलेपः कुरुते कार्ष्ण्यम्' इति पा०।

कालीयकनतात्रास्थिहेमका[1]न्तारसोत्तमैः। लेपः सगोमयरसः सवर्णीकरणः परः ॥११६॥

त्वक्सवर्णीकरण लेप—कालीयक काष्ठ (चन्दन भेद), नत (तगर), आम की गुठली, हेम (नागकेशर), कान्ता (मजीठ), रसोत्तम (पारा), इन सबको गोबर के रस में पीसकर व्रण के स्थान पर उत्पन्न त्वचा पर लेप करने से यह त्वचा के वर्ण को समान कर देता है।

वक्तव्य—द्रव्यों को लेकर पूर्ववर्ती टीकाकारों का कुछ विवाद इस प्रकार देखा जाता है। इसका पहला कारण है, पाठभेदों की बहुलता—१. कालायसोत्तमैः। २. कालरसोत्तमैः। ३. 'नत' के स्थान पर 'लता' पाठ। वृद्धवाग्भट ने उक्त पाठ को इस प्रकार दिया है—'कालेयकलताऽऽम्रास्थिहेमकालारसोत्तमैः। लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परम्' ॥ अ० सं० उ० अ० ३०।८०। इनके अनुसार 'कालेयक' द्रव्य दारुहल्दी है, 'लता'—'दूब' अथवा 'प्रियंगु' है। श्रीजेज्जट 'काला' पद से 'सारिवा' का ग्रहण करते हैं। दूसरे विद्वान् 'रसोत्तम' शब्द से घी का ग्रहण करने की सलाह देते हैं। अन्यत्र 'गुड़' को भी 'रसोत्तम' कहा गया है। आप भी विचार करें। इस प्रकार के विवाद प्रायोगिक निर्णयों की प्रतीक्षा करते हैं।

ध्यामकाश्वत्थनिचुलमूलं लाक्षा सगैरिका। सहेमश्चामृतासङ्गः कासीसं चेति वर्णकृत् ॥११७॥

वर्णकर लेप—ध्यामक (सुगन्धितृण), पीपल तथा वेतस् का मूल, कच्ची लाख, गेरू, हेम (नागकेशर), अमृतासंग (नीलाथोथा), हीराकासीस—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर लेप तैयार करें। यह लेप व्रण के ऊपर की त्वचा को शरीर के समान वर्ण वाली कर देता है, अतएव इसे 'वर्णकृत' कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने अपने कुछ विचार दिये हैं, उन्हें भी इस प्रसंग में देख लें। कभी-कभी रूढ व्रणों के ऊपर काला दाग पड़ जाता है, उसे त्वचा के अनुरूप कराने के लिए रोगी चिकित्सक के पास आते हैं। उसे पाण्डुकर्म कहा गया है। इसे आप सु० चि० अ० १।९४-९८ में देखें। गहरे व्रणों का चिह्न तो अपनी याद दिलाने के लिए रह ही जाता है।

चतुष्पदानां त्वग्लोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना। तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः ॥११८॥

रोमसंजनन प्रयोग—व्रणभूमि पर प्रायः रोम नहीं उगते। इसके लिए चार पैर वाले मृत प्राणियों के त्वचा, लोम, खुर, शृंग (सींग), हड्डी इन्हें लेकर सम्पुट यन्त्र में फूँककर इस भस्म को रख लें। जिस व्रण-स्थान पर रोम न आये हों वहाँ तेल चुपड़कर इस भस्म को बुरक दें। ऐसा कुछ दिनों तक करने से उस स्थान पर पुनः बाल उग आते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने 'लोमसञ्जनन' के लिए तीन योगों का वर्णन किया है, उनमें एक योग तो अक्षरशः चरकोक्त पाठ ही है, दो और हैं। प्रथमयोग इस प्रकार है—हाथीदाँत के भस्म में उत्तम प्रकार के रसाञ्जन (रसौत) को मिलाकर (आचार्य डल्हण के अनुसार—बकरी के दूध के साथ) लगाने से हथेली में भी बाल उग आते हैं। देखें—सु० चि० अ० १।१०१-१०३।

यद्यपि हथेली में बालों का उगना असम्भव कार्य है—'तलेष्वसम्भवो रोम्णाम्' और यदि उग भी जाँय तो उनसे कोई लाभ नहीं है, तथापि इसकी चरितार्थता इस अर्थ में है, कि यह योग असम्भव को भी सम्भव कर देता है। अर्थात् इस चिकित्सा-विधि से व्रणभूमि पर भी शेष शरीर की भाँति रोम उग जाते हैं। कभी-कभी बिना उपचार के भी व्रणभूमि पर रोम उग जाते हैं, वे शिर के बालों के समान मोटे समूह में उग जाते हैं, उनको दूर करने के लिए लोमापहरणक्रिया भी करनी पड़ती है। इसके लिए सु० चि० अ० १ श्लोक १०४ से १०८ तक देखें। इन योगों के प्रयोग से अनिच्छित स्थानों के बालों को भी हटाया जाता है। आज भी शंखचूर्ण (भस्म) और हरताल का चूर्ण (इसकी भस्म नहीं की जाती अपितु इसे इसी प्रकार पीस लिया जाता है) इन दोनों को समान भाग लेकर लेप कर देने से बाल उखड़ जाते हैं। इसी को साबुन का रूप देने के लिए इसमें तेल डालकर जमा दिया है। यह सुश्रुत के समय का **'बालसफा साबुन'** था।

षोडशोपद्रवा ये च व्रणानां परिकीर्तिताः। तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते ॥

---

१. 'कालायसोत्तमाः' इति पा०।

सोलह उपद्रवों की चिकित्सा—व्रणों के जो सोलह उपद्रव के रूप में रोग कहे गये हैं, उनकी चिकित्सा उन-उन रोगों के चिकित्सा-प्रकरणों में कह दी गयी है।

वक्तव्य—व्रण के सोलह उपद्रवों का उल्लेख इसी अध्याय के श्लोक २९-३० में किया जा चुका है। इन सभी रोगों की जो चिकित्सा चरक-चिकित्सास्थान में यथास्थान दी गयी है, वही व्रणों के उपद्रवरूप में भी की जाती है।

तत्र श्लोकौ—

द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च। स्थानानि गन्धाः स्रावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्च याः॥
व्रणाधिकारे सप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान्। मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धीमते॥१२१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस विषय में दो श्लोक कहे गये हैं—प्रस्तुत द्विव्रणीय-चिकित्सा नामक अध्याय में १. द्विविध व्रण, २. व्रणों के भेद, ३. व्रणों की परीक्षा, ४. व्रणदुष्टिप्रकार, ५. व्रण के स्थान, ६. व्रणों की गन्ध, ७. व्रणों के स्राव, ८. व्रणों के उपद्रव, ९. व्रणों की चिकित्सा। इस प्रकार व्रणाधिकार में इन नौ प्रश्नों के आधार पर महर्षि आत्रेय ने व्यास (विस्तार) तथा समास (संक्षेप) पद्धति से विद्वान् अग्निवेश को उपदेश दिया।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में द्विव्रणीय-चिकित्सित नामक पचीसवाँ अध्याय समाप्त॥ २५॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

द्विव्रणीय-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से त्रिमर्मीय-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'द्विव्रणीय' अध्याय के बाद 'त्रिमर्मीय' अध्याय का वर्णन संख्या-क्रम से प्राप्त था, अतः इसका वर्णन यहाँ किया गया है। दश प्राणायतनीय अध्याय में 'मर्मत्रयं' का महत्त्व तन्त्रकार ने स्वीकार किया है। च० सू० अ० २९।३ में 'मर्मत्रय' शब्द से—हृदय, वस्ति तथा सिर इन तीन अंगों का ग्रहण किया गया है। इस अध्याय में इन तीन अंगों से सम्बन्धित प्रमुख रोगों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसी विषय का प्रतिपादन च० शा० अ० ७।९ में भी किया गया है। इसका विशेष विवरण सु० शा० अ० ६ में देखें।

अध्याय नाम निरुक्ति—मर्म+मनिन्, 'त्रयाणां मर्मणां समाहारः, त्रिमर्म, तदधिकृत्य कृतं चिकित्सितं, त्रिमर्मीयचिकित्सितम्। अर्थात् अनेक मर्मों से प्रधान तीन मर्मों को लेकर किया गया अध्याय। तथा—'म्रियते अस्मिन् इति मर्म'। 'मारयतीति मर्म'। इत्यादि।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—इस नाम से अन्य संहिताकारों ने रोगों का संग्रह नहीं किया है।

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेभ्यः।
मर्माणि वस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञाः॥ ३॥

प्राणाश्रयात्, तानि हि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति।
तत्संश्रितानामनुपालनार्थं महागदानां शृणु सौम्य रक्षाम्॥ ४॥

तीन प्रधान मर्म—शरीरसंख्या नामक अध्याय (च० शा० अ० ७।१४) में जो एक सौ सात मर्म होते हैं, ऐसा कहा गया है, उन मर्मों में से वस्ति, हृदय, शिर ये तीन प्रधान होते हैं, ऐसा मर्म-विशेषज्ञ कहते हैं। क्योंकि ये तीनों ही प्राणों के आश्रय होते हैं। इनके विनाश से प्राणों का विनाश हो जाता है। इन मर्म-स्थानों पर दबाव पड़ने पर वात आदि दोष प्राणों को भी पीड़ित करते हैं। अतः उक्त मर्मस्थानों में होने वाले महान् रोगों से मनुष्य को बचाने के लिए हे सौम्य (अग्निवेश)! रक्षा (बचने या बचाने) के उपायों को मुझसे सुनो।

वक्तव्य—मर्म १०७ सात कहे गये हैं। ये पाँच भागों में विभक्त किये गये हैं—१. मांसमर्म, २. सिरा-मर्म, ३. स्नायुमर्म, ४. अस्थिमर्म और ५. सन्धिमर्म। इसमें हृदय सिरामर्म है, वस्ति स्नायुमर्म है। शिरःप्रदेश में अपाङ्ग, स्थपनी, अधिपति, आवर्तद्वय, उत्क्षेपद्वय और शंख ये आठ मर्म पाये जाते हैं। हृदय, वस्ति, शिर ये तीनों मर्म सद्यःप्राणहर होते हैं। अतः इनमें होने वाले रोग प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी प्रायः कष्टसाध्य होते हैं। देखें—सु० शा० अ० ६।४३। आगे त्रिमर्मीयासिद्धि नामक अध्याय में तीन प्रधान मर्मों की चर्चा तन्त्रकार ने इस प्रकार की है—'हृदये मूर्ध्नि वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः। तस्मात् तेषां सदा यत्नं कुर्वीत परिपालने॥ आबाधवर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम्। उत्पन्नार्तिविघातश्च मर्मणां परिपालनम्'॥ च० सि० अ० ९।९-१०।

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः [1]सन्धारणाभोजनमैथुनैश्च।
पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा॥ ५॥
करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम्।

उदावर्त : निदान एवं सम्प्राप्ति—कषाय, तिक्त, कटुरस-प्रधान पदार्थों के खाने से, अधारणीय वेगों को रोकने से, उपवास या लंघन करने से, अधिक स्त्री-सहवास करने से, यदि पक्वाशय में स्थित अपानवायु कुपित हो जाता है, तो वह बलवान् वातदोष नीचे की ओर जाने वाले मल-मूत्रवह स्रोतों को रोक कर अपानवायु, मल, मूत्र इनकी स्वाभाविक गति में अवरोध उत्पन्न करके उदावर्तत रोग को उत्पन्न कर देता है, अतएव यह रोग अत्यन्त कष्टकारक होता है।

वक्तव्य—'उदावर्त' एक घृणित रोग होता है। इसके तेरह भेद होते हैं। महर्षि आत्रेय ने चरक-सूत्र-स्थान अध्याय ७ में इसका वर्णन किया है। श्रीगोविन्ददास ने भैषज्यरत्नावली में केवल वात, मूत्र, पुरीष के वेगों को रोकने के कारण उत्पन्न तीन प्रकार के उदावर्तों की ही चर्चा की है। वास्तव में यह रोग अपानवायु के विलोम होने से ही होता है और अपानवायु जिस प्रकार अनुलोम हो सके वही इसकी चिकित्सा है। सुश्रुत ने स्पष्ट निर्देश किया है कि किन-किन प्रकार के वेगों को रोकने से उदावर्त होता है, उन्हें देखें—वात, मल, मूत्र, जृम्भा, आँसू, छींक, उद्गार (डकार), वमन, इन्द्रिय (यहाँ इन्द्रिय शब्द से शुक्र के वेग का ग्रहण करना चाहिए) और भूख, प्यास, श्वास, निद्रा। सु० उ० अ० ५५।४-५।

उदावर्त शब्द की निरुक्ति—'उत्+आ+वृत्+घञ्। **उत्**=ऊपर की ओर अर्थात् प्रतिलोम वायु का जो **आवर्त**=घुमाव होता है, उसे उदावर्त कहते हैं। श्रीविजयरक्षित के अनुसार—'उद्भूतेन वेगविधारणेना-वृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः। अन्ये तु वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तमित्याहुः, तत्र, अश्रुस्रावादेर-व्यापकत्वात्; छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन वा समर्थनीयम्। जिस ओर अपानवायु की स्वाभाविक गति होती है, उस ओर उसे न जाने देना वेगरोध है, वह बलवान् वायु कहीं से निकलेगा तो सही, ऐसी स्थिति में वह विलोम होकर मुखमार्ग से निकलने लगता है और मल-मूत्र को भी अपने साथ ऊपरी मार्ग से प्रवृत्त करा देता है।

संक्षिप्त संदर्भ-संकेत—च० सू० अ० ७। च० चि० अ० २६। सु० उ० अ० ५५। अ० सं० सू० अ० ५। अ० हृ० सू० अ० ४।

१. 'सन्धारणोदीरणमैथुनैश्च' इति पा०।

रुग्वस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् ॥ ६ ॥
आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सवस्तिशोथः ।
वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात् ॥ ७ ॥
कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद् वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता ।

उदावर्त का लक्षण—वस्ति, हृदय, कुक्षि तथा उदर-प्रदेश में बार-बार पीड़ा का होना, पीठ और पसलियों में विशेष वेदना का होना, उदर में आध्मान (अफारा), जी मिचलाना, गुद-प्रदेश में कैंची से काटने की सी पीड़ा का अनुभव होना, शरीर में सुई चुभने की-सी पीड़ा, भोजन का ठीक ढंग से पाक न होना, वस्ति प्रदेश में सूजन, मल का न निकलना, पेट में मल की गाँठों का बँध जाना, गुदमार्ग से न निकलने के कारण उस वायु का ऊपर की ओर को प्रवृत्त होना ये लक्षण दिखलायी देते हैं। इस प्रकार वह सूखा हुआ मल बड़े कष्ट के साथ बहुत समय के बाद कभी निकल भी जाता है, कभी नहीं भी निकलता। ऐसे व्यक्ति का शरीर (दुर्बल), खर, रूक्ष तथा शीतल हो जाता है।

वक्तव्य—'शुष्कस्य' के स्थान पर कुछ संस्करणों में 'शुक्रस्य' पाठ मिलता है। इस स्थिति में यह अर्थ होगा—मैथुन करते समय देर में शुक्र निकलता है अथवा नहीं भी। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं कि किस प्रकार अपानवायु कुपित होकर अपानवायु को ही रोक देता है ? इसका वे उत्तर देते हैं—वेगनिग्रह के कारण दूषित यह वायु जब गुदमार्ग से नहीं निकल पाता है या नहीं निकलने दिया जाता है, तो यह स्वयं उधर जाने से अपने को रोक लेता है, जिस प्रकार मन अपना निग्रह स्वयं करता है। यथा—'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः'। च० शा० अ० १।२१। अर्थात् मन का कार्य है—इन्द्रियों का और अपना भी निग्रह करना। **ऊर्ध्वश्च**—इसका तात्पर्य है—वायु का स्वभाव ऊर्ध्वगमन वाला होता है।

ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्रप्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः ॥ ८ ॥
वम्यान्ध्यबाधिर्यशिरोऽभितापवातोदराष्ठीलमनोविकाराः ।
तृष्णास्रपित्तारुचिगुल्मकासश्वासप्रतिश्यार्यादितपार्श्वरोगाः ॥ ९ ॥
अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः ।

उदावर्तज रोग—तदनन्तर ज्वर, मूत्रकृच्छ्र (पेशाब होने में कठिनायी), प्रवाहिका (पेचिश), हृदयरोग, ग्रहणीरोग, वमन, अन्धापन, बहरापन, शिरःप्रदेश में जलन, वातज उदररोग, अष्ठीला (वातरोग विशेष—मा० नि० वातव्याधि), मानसिक रोग, तृष्णा, रक्तपित्त, अरुचि, गुल्म, कास, श्वास, प्रतिश्याय, अर्दित (मुखमण्डल का लकवा), पसलियों के रोग और भी अनेक वातविकार-जनित रोग उदावर्त के कारण हो जाते हैं, जो अत्यन्त भयावह होते हैं।

वक्तव्य—उदावर्त की उत्पत्ति अन्यत्र दूसरे कारणों से भी दिखलायी है। यथा—रूक्ष, कषाय, कटु, तिक्त, गुण वाले भोज्य पदार्थों को खाने से कोष्ठगत वायु कुपित होकर शीघ्र ही उदावर्त की उत्पत्ति हो जाती है।

चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश ! ॥ १० ॥

चिकित्सा-प्रस्तावना—अग्निवेश ! अब हम इसके आगे उदावर्त रोग की चिकित्सा का वर्णन करेंगे। उसे तुम सावधानी से सुनो।

तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम् ।
उपाचरेद् वर्तिनिरूहवस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः ॥ ११ ॥

चिकित्सा-सिद्धान्त—शीतज्वर-नाशक तेल की शरीर पर मालिश कराने के बाद वातनाशक द्रव्यों द्वारा यथाविधि स्वेदन कराने से यदि उस उदावर्त के रोगी के दोष द्रवित हो जाते हैं, तो उनको निकालने के लिए वर्ति, निरूहवस्ति, स्नेह-प्रयोग, विरेचन द्रव्यों का प्रयोग तथा अपानवायु का अनुलोमन कराने वाले आहार द्रव्यों को खिलाकर उस उदावर्त रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए।

१. 'जठरे च गण्डो ह्यूर्ध्वं च वायौ विहते गुदे स्यात' इति गङ्गाधरसम्मतः पाठः।

वक्तव्य—शीतज्वरनाशक तैल—च० चि० अ० ३।२६७ में कहा गया 'अगुर्वादि तैल' है। स्वेदन प्रकरण के लिए च० सू० अ० १४ को सम्पूर्ण देखें। वर्ति—गुदमार्ग में प्रवेश करायी जाने वाली बत्ती, जिससे अपानवायु आदि की अनुलोमता होती है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है। विलोम का विपरीत अनुलोम होता है।

श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम् ।
सनीलिकां द्विर्लवणां गुडेन वर्ति कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात् ॥ १२ ॥

श्यामादि गुदवर्ति—काली निशोथ, सफेद निशोथ, पिप्पली, दन्तीमूल, नीलीमूल—इन द्रव्यों को १-१ भाग लें। माष (उड़द) १० भाग, नमक दो भाग इन सभी को इस अनुपात से लेकर गोमूत्र के साथ पीस लें (इसे अधिक गीला न करें) इसमें गुड़ मिलाकर अपने हाथ के अँगूठे के बराबर मोटी बत्ती तैयार करें। इसमें गुड़ का मान नहीं दिया है, अतः जितने से वर्त्ति बन सके उतना गुड़ डालें।

पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः ।
क्रिमिघ्नकम्पिल्लकशङ्खिनीभिः सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः ॥ १३ ॥
स्यात् पिप्पलीसर्षपराढवेश्मधूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः ।

पिण्याकादि वर्ति—पिण्याक (तिलकल्क), सोंचरनमक, हींग, पीली सरसों, सोंठ, मरिच, पीपल, जवाखार, इन सभी द्रव्यों को एक साथ पीसकर, गुड़ मिलाकर हाथ के अँगूठा के बराबर बत्ती बनायें। **क्रिमिघ्नादि वर्ति**—वायविडंग, कबीला, शंखिनी (यवतिक्ता), सेहुंड का दूध, मदार का दूध तथा गुड़ इन सभी द्रव्यों द्वारा पहले की भाँति वर्ति तैयार करें। **पिप्पल्यादि वर्ति**—पिप्पली, पीली सरसों, राढ (मैनफल—चक्रपाणि, वैद्यकशब्दसिन्धु में—राठ), घर का धुआँ, इन द्रव्यों को लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर, गुड़ मिलाकर अँगूठा के बराबर मोटी बत्ती बनायें।

वक्तव्य—यहाँ तक जिन वर्तियों का निर्माण करने की विधि बतलायी गयी है, वे सभी वर्तियाँ अपानवायु को अनुलोम करके मल को मलद्वार से सुखपूर्वक निकालने में सहायक होती हैं। अतः गुदद्वार पर घी लगाकर इन बत्तियों को अँगुली के सहारे से गुद के भीतर प्रवेश करा देना चाहिए। ये सभी वर्तियाँ समान कार्य को करती हैं।

श्यामाफलालाबुकपिप्पलीनां नाड्याऽथवा तत् प्रधमेत्तु चूर्णम् ॥ १४ ॥
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णाचूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा ।
स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥ १५ ॥

श्यामादि प्रधमन चूर्ण—अथवा कालीनिशोथ, मैनफल, कड़वीतुम्बी के बीज, पिप्पली इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को नाड़ीयन्त्र से गुद के भीतर प्रधमन करे। **रक्षोघ्नादि प्रधमन चूर्ण**—अथवा पीली सरसों, कड़वीतुम्बी के बीज, मैनफल, पिप्पली, जीमूतक (देवदाली), सैंधानमक इनका कपड़छन चूर्ण करके उक्त प्रकार से स्निग्ध गुदमार्ग में प्रधमन करे। इन चूर्णों के प्रधमन से उस रोगी पुरुष के अपानवायु, मल, मूत्र की रुकावट का अनुलोमन हो जाता है।

वक्तव्य—ऊपर अपानवायु आदि के अनुलोमन के लिए वर्तियों के प्रयोग का निर्देश किया गया था, यदि उनसे लाभ न हो तो उक्त प्रधमन चूर्णों का प्रयोग करना चाहिए। **नाड़ी-प्रयोग**—लोहा आदि धातु की दोनों ओर छिद्र वाली एक नली ले लें, उसके ऊपरी भाग में प्रधमन चूर्ण को भरकर उसे गुदमार्ग के भीतर थोड़ा-सा प्रवेश कराकर दूसरी ओर से उसे फूँकें। इस प्रयोग से कुछ समय के बाद मल-मूत्र तथा अपानवायु अनुलोम हो जाते हैं।

तेषां विघाते तु भिषग्विदध्यात् स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरूहम् ।
ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैलक्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥ १६ ॥

निरूहवस्ति का प्रयोग—उदावर्त रोग में उपयुक्त वर्ति तथा प्रधमन प्रयोग यदि असफल हो जाँय, अर्थात् उचित रूप से अपानवायु, मल तथा मूत्र अपने-अपने मार्ग से न निकल रहे हों, तो चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी के शरीर में भली-भाँति स्नेहन, स्वेदन कराकर वमनकारक तथा विरेचनकारक औषधद्रव्यों को गोमूत्र, तेल, क्षार, अम्ल आदि वातहर द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी तीक्ष्ण निरूहवस्ति का प्रयोग कराये।

वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं, क्षीरेण पित्ते तु, कफे समूत्रम्।
स मूत्रवर्चोऽनिलसङ्गमाशु गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति ॥ १७ ॥

दोषानुसार निरूहवस्ति—यदि उदावर्त रोग में वातदोष की प्रधानता हो, तो अम्ल (काञ्जी) तथा लवण रस के साथ तेल मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। यदि पित्तदोष की प्रधानता हो तो दूध की वस्ति और कफदोष की प्रधानता हो तो गोमूत्र की वस्ति दें। यह निरूहवस्ति मूत्र, मल तथा वात (अपानवायु) की रुकावट को दूर करके गुद के अवयवों तथा सिराओं को कार्य करने में समर्थ बना देती है।

वक्तव्य—उदावर्त रोग में वात की प्रधानता होती है, पित्त तथा कफ इसके सहयोगी दोष हैं। अतः वात का प्रकोप सभी में समझना चाहिए।

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाकग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम् ।
अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात् प्रसन्नागुडसीधुपायी ॥ १८ ॥

यवान्नादि प्रयोग—उदावर्तरोग में प्रसन्ना (मद्य का ऊपरी स्वच्छ भाग), गुड तथा सीधु को पीता हुआ रोगी जौ द्वारा बनाये भोज्य पदार्थों को सफेद निशोथ, सुधापत्र (सेहुण्ड की पत्ती), तिल आदि के पत्रशाकों, ग्राम्य (बकरा आदि), औदक (मछली, कछुआ आदि) एवं आनूप (जल के समीप रहने वाले पशु-पक्षियों) के मांस रसों के साथ तथा इसी प्रकार के अन्य भोज्य पदार्थों जो अपानवायु, मल, मूत्र को निकालने वाले हों, उनके साथ उक्त भोज्य पदार्थों का सेवन करें।

वक्तव्य—यहाँ उस प्रकार के खान-पानों का उपयोग करने को कहा गया है, जो मल, मूत्र तथा अपानवायु का अनुलोमन कर सकें।

भूयोऽनुबन्धे तु भवेद् विरेच्यो मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः।
स्वस्थं तु पश्चादनुवासयेत् तं रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत् ॥ १९ ॥

विरेचन द्रव्य-प्रयोग—निरूहवस्ति का प्रयोग कराने तथा यवान्न आदि का पथ्य देने पर भी यदि उदावर्त रोग दूर न हुआ हो, तो गोमूत्र, प्रसन्ना, दधिमण्ड (दही का पानी), शुक्त (सिरका) इनमें से किसी एक द्रव के साथ उसे विरेचन द्रव्य पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। यदि विरेचन हो जाने से रूक्षता के कारण अपानवायु और मल में रुकावट आ जाय तो उस स्वस्थ पुरुष को अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—विरेचन के प्रयोग से कोष्ठशुद्धि हो जाने पर रूक्षता आ जाना स्वाभाविक होता है। उस रूक्षता को दूर करने के लिए अनुवासन (स्निग्ध) वस्ति का प्रयोग किया जाता है। निरूहवस्ति के सात दिन बाद विरेचन कराया जाता है। इसका विशेष विवेचन चरक-सिद्धिस्थान अध्याय १ में देखें।

द्विरुत्तरं हिङ्गु [1]वचाग्निकुष्ठं सुवर्चिका चैव विडङ्गचूर्णम् ।
सुखाम्बुनाऽऽनाह[2]विसूचिकार्तिहृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥ २० ॥

द्विरुत्तरहिंग्वादि चूर्ण—द्विरुत्तर अर्थात् प्रत्येक द्रव्य पहले द्रव्य से दूना अर्थात् हींग १ भाग, वचा २ भाग, अग्नि (चित्रकमूल) ४ भाग, कूठ ८ भाग, सज्जीखार १६ भाग, वायविडंग ३२ भाग, इन सभी द्रव्यों को उक्त प्रमाण के अनुसार लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इस चूर्ण का मात्रानुसार आनाह, विसूचिका, पीड़ा (पाठभेद के अनुसार—अर्श रोग), हृदयरोग, गुल्मरोग, ऊर्ध्ववात, इन रोगों में गरम पानी के साथ सेवन करने से यह सभी प्रकार की वातव्याधि को दूर करता है।

---

१. 'वचा सकृष्णा' इति पा०। २. 'विलिम्बिकार्शो' इति पा०।

वक्तव्य—चक्रदत्त में 'द्विरुत्तरं हिङ्गु वचाग्निकुष्ठम्' के स्थान पर 'द्विरुत्तरं हिङ्गु वचा सकुष्ठा' यह पाठ है। इस दृष्टि से श्रीचक्रपाणि ने 'अग्नि' (चित्रकमूल) का ग्रहण नहीं किया है। ऐसा करने पर द्रव्यों की मात्रा में परिवर्तन आ जायेगा। मात्रा का यह क्रम राजयक्ष्मा चिकित्सा में 'सितोपलादि' चूर्ण का जैसा है। देखें—'अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितम्'। च० चि० अ० ८।१०३।

वचाभयाचित्रकयावशूकान् सपिप्पलीकातिविषान् सकुष्ठान् ।
उष्णाम्बुनाऽऽनाहविमूढवातान् पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी ॥ २१ ॥

वचादि चूर्ण—वालवच, हरड़, चित्रक, जवाखार, पिप्पली, अतीस, कुष्ठ (कूठ), इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर रख लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार गरम पानी से लेकर आनाह (अफारा) तथा मूढवात पर रोगी विजय प्राप्त कर लेता है। इस वाचादि चूर्ण का सेवन करने के बाद रोगी को मांसरस के साथ शाली के चावलों का भात खाना चाहिए।

हिङ्गूग्रगन्धाविडशुण्ठ्यजाजीहरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम् ।
यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत् प्लीहोदराजीर्णविसूचिकासु ॥ २२ ॥

हिङ्ग्वादि चूर्ण—हींग १ भाग, उग्रगन्धा (वालवच) २ भाग, विडनमक ३ भाग, सोंठ ४ भाग, जीरा ५ भाग, हरड़ ६ भाग, पोहकरमूल ७ भाग, कूठ ८ भाग, इन द्रव्यों को उत्तरोत्तर १-१ भाग बढ़ाकर बनाया गया यह चूर्ण प्लीहा, उदररोग, अजीर्ण तथा विसूचिका (हैजा) रोगों में प्रयुक्त किया जाता है।

वक्तव्य—'हिङ्ग्वादि' नाम से आयुर्वेद में अनेक चूर्णों का वर्णन है, उन सबके योग तथा प्रयोग भिन्न-भिन्न हैं। सुप्रसिद्ध 'हिङ्ग्वष्टक' चूर्ण इन सबसे भिन्न है। चक्रदत्त में यह चूर्ण कुछ परिवर्तन के साथ 'गुल्माधिकार' में दिया गया है।

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः शम्पाकपूतीककरञ्जयोश्च ।
सिद्धः कषाये द्विपलांशिकानां प्रस्थो घृतात् स्यात् प्रतिरुद्धवाते ॥ २३ ॥

स्थिरादि घृत—स्थिरादिवर्गोक्त द्रव्य ये हैं—सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू—(इन्हीं को लघुपञ्चमूल भी कहते हैं), पुनर्नवा, अमलतास, पूतिकरंज, प्रत्येक द्रव्य को २ पल (८ तोला) लेकर इनका यथाविधि क्वाथ तैयार करें। इस क्वाथ में १ प्रस्थ (६४) तोला गाय का घी डालकर विधिपूर्वक इनका पाक करें। इस घी का सेवन करने से प्रतिरुद्ध (विलोम हुआ) वातदोष अनुलोम होकर शान्त हो जाता है।

फलं च मूलं च विरेचनोक्तं हिङ्ग्वर्कमूलं दशमूलमग्र्यम् ।
स्नुक् चित्रकश्चैव पुनर्नवा च तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च ॥ २४ ॥
स्नेहैः समूत्रैः सह जर्जराणि शरावसन्धौ विपचेत् सुलिप्ते ।
पक्वं सुपिष्टं लवणं तदन्नैः पानैस्तथाऽऽनाहरुजाघ्नमद्यात् ॥ २५ ॥

विरेचनोक्त फल-मूल-प्रयोग—विरेचन कराने के लिए कहे गये फल तथा मूल—हींग, मदार का मूल, दशमूल (लघु तथा बृहत् पञ्चमूल के सभी द्रव्य), थूहर, चित्रकमूल, पुनर्नवा इन सभी द्रव्यों को समान भाग लें, इनके समान पाँचों नमकों (सैन्धव, सौवर्चल=सोंचर, सामुद्र, औद्भिद, विड) को लेकर एक साथ कूटकर गोमूत्र तथा घृत आदि स्नेहों के साथ मिला दें। तदनन्तर इन द्रव्यों को शरावसम्पुट (एक मिट्टी की हँडिया में भरकर उसके मुख पर एक मिट्टी का ढकन रखकर उसके छिद्रों को बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखा लें) में रखकर गोहरी की आँच में फूँक दें। इस लवण (नमक) को पीसकर रख लें। आनाह-जनित वेदना की शान्ति के लिए भोजन के साथ तथा पेय द्रवों के साथ इसका प्रयोग करें।

वक्तव्य—विरेचनोक्त फल-मूल का परिचय महर्षि आत्रेय ने स्थान-स्थान पर विविध प्रकार से दिया है—'मूलिन्यः षोडशैकोना फलिन्यो विंशति स्मृताः'। च० सू० अ० १।७४। अर्थात् मूल प्रधान १६ द्रव्यों को मूलिनी कहा गया है और उन्नीस द्रव्यों को फल की प्रधानता होने के कारण फलिनी कहा गया है। मूलिनी द्रव्यों में

तनई, कुन्दरु, बालवच इन तीनों का प्रयोग वमन के लिए और श्वेता तथा ज्योतिष्मती का प्रयोग शिरोविरेचन के लिए होता है, इनके अतिरिक्त ११ द्रव्यों का प्रयोग विरेचन के लिए किया जाता है। इसी के आगे च० सू० अ० १।८१-८४ में फलिनी द्रव्यों का वर्णन है। अथवा चरक सू० अ० २।९-१० में विरेचन के लिए द्रव्य कहे हैं, किन्तु इनका वर्गीकरण फलिनी-मूलिनी के रूप में नहीं है। चरकसंहिता के कल्पस्थान में भी विरेचनोक्त द्रव्यों का विशद विवेचन है।

हृत्स्तम्भमूर्धामयगौरवाभ्यामुद्गारसङ्गेन सपीनसेन ।
आनाहमामप्रभवं जयेत् तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च ॥ २६ ॥

आनाह-उदावर्त-प्रकरण

आनाहरोग-लक्षण तथा चिकित्सा-सूत्र—हृदय में जकड़न, शिरोरोग, शरीर में भारीपन, पीनस (प्रतिश्याय-जुकाम) तथा उद्गार (डकार) में रुकावट का होना ये आनाह रोग के लक्षण हैं। आमदोष-जनित आनाह रोग से छुटकारा पाने के लिए वमन, लंघन तथा पाचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—आनाह रोग दो प्रकार का होता है—१. आमाशय की विकृति के कारण और २. पक्वाशय की विकृति के कारण। यह रोग उक्त आशयों की स्वाभाविक गति में अवरोध आ जाने से होता है। अतः उक्त आशयों को गतिशील बनाने का शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि आमाशय-जनित आनाह में हृत्स्तम्भ (हार्टफेल) होकर तथा पक्वाशय-जनित आनाह में अलसक (गुमहैजा) होकर मृत्यु हो सकती है।

उदावर्त रोग के लक्षणों से प्रायः समानता होने के कारण ही यहाँ आनाह रोग का भी वर्णन कर दिया है। फिर भी जो लक्षण उदावर्त से भिन्न हैं, उनका यहाँ अलग से वर्णन किया गया है। यहाँ केवल आम-दोष जनित आनाह का ही वर्णन है। मल के वेग को रोकने के कारण होने वाले आनाह का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रस्तुत आनाह का परिचय इस प्रकार दिया है—'क्रमशः न पचा हुआ अन्नरस और मल (पुरीष), संचित होकर अपने प्रकोपक कारणों से कुपित होकर ऊपर की ओर को प्रवृत्त होने वाली अपानवायु से अवरुद्ध होने पर और भी अधिक बढ़कर अपने स्वाभाविक मार्ग की ओर जब प्रवृत्त नहीं होता तब उस अवस्था को 'आनाह' कहते हैं। सु० उ० अ० ५६।२०। जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि यह रोग दो प्रकार का होता है। इसके कारण आमाशय, अन्त्र तथा मलाशय की गति में अवरोध हो जाता है। सामान्य रूप से यह दो प्रकार का होता है—प्रथम आमसमुद्भव आनाह का वर्णन सु० उ० अ० ५६।२१ में तथा द्वितीय पक्वाशयज, अर्थात् मलाशय की गति के रुक जाने के कारण होने वाले आनाह का वर्णन सु० उ० अ० ५६।२२ में किया गया है। आनाह और आध्मान ये दो पृथक् रोग हैं। आध्मान रोग में वायु की विकृति के कारण पेट फूलने लगता है आनाह में उदर स्तब्ध हो जाता है। आप आनाह के लक्षणों के साथ विष्टब्धाजीर्ण के लक्षणों की तुलना करें, आपको कितनी समानता प्राप्त होती है। देखें—सु० सू० अ० ४६।५०२।

(गुल्मोदरब्रध्नार्शःप्लीहोदावर्तयोनिशुक्रगदे । मेदःकफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च ॥२७॥
गृध्रसिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु । वाते विबद्धमार्गे मेदःकफपित्तरक्तेन ॥२८॥
पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिराभिः । दोषानुबन्धयोगात् प्रशस्तमेरण्डजं तैलम् ॥२९॥

एरण्डतैल-प्रयोग—गुल्म, उदररोग, ब्रध्नरोग, अर्श, प्लीहावृद्धि, उदावर्त, योनिरोग, शुक्ररोग, मेदस् तथा कफयुक्त गम्भीर वातरक्त रोग, गृध्रसी (Sciatica), पक्षवध (पक्षाघात, लकवा) आदि विरेचन कराने योग्य वातरोगों में मेदस्, कफ, पित्त एवं रक्त की विकृति से वायु का मार्ग रुक जाने पर दूध के साथ अथवा जांगलप्राणियों के मांसरसों से या त्रिफला के क्वाथ के साथ, मूंग के यूष के साथ या गोमूत्र के साथ या मदिरा के साथ दोषों का विचार करके रोगी को एरण्ड (रेंड़ी) का तैल पिलाना हितकर होता है।

तद्वातनुत्स्वभावात् संयोगवशाद्विरेचनाच्च जयेत् । मेदोऽसृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित् तस्मात् ॥

बलकोष्ठव्याधिवशादापञ्चपला भवेन्मात्रा । मृदुकोष्ठाल्पबलानां सह भोज्यं तत्प्रयोज्यं स्यात् ॥
इत्युदावर्तचिकित्सा ।)

एरण्डतैल के गुण-कर्म—यह एरण्ड तैल अपने स्वाभाविक गुणों के कारण वातरोग का विनाश करता है। अन्य वातनाशक द्रव्यों के साथ संयोग पाकर, विरेचक गुणों से युक्त होने के कारण मेदस्, रक्त, पित्त, कफ से मिले हुए वातजनित विकारों को जीतने वाला कहा जाता है। मनुष्य की शारीरिक स्थिति, रोग का बल, कोष्ठरोग आदि को देखकर इस एरण्ड तेल की मात्रा पाँच पल (२० तोला) तक कही गयी है। मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों तथा दुर्बल रोगियों को इस एरण्ड तैल का प्रयोग भोजन के साथ कराना चाहिए।

वक्तव्य—२७ से लेकर ३१ तक के श्लोकों पर चक्रपाणि और गङ्गाधर ने टीका नहीं लिखी है। अतः इन श्लोकों को आयुर्वेदविद प्रक्षिप्त मानते हैं। एरण्डतैल की इस मात्रा का निर्धारण प्राचीनकाल में हुआ था। आज की दृष्टि से यह सचमुच अधिक है, मृदुकोष्ठ वालों के लिए न कि क्रूरकोष्ठ वालों के लिए। मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों को गरम दूध पिलाने तथा मुनक्कों के साथ दूध पिलाने से भी पर्याप्त विरेचन हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए आटे में रेंड़ी का तेल मोयन के रूप में डालकर उसे सानकर उसकी रोटी खिलाने से भी विरेचन हो जाता है। एरण्डतैल को ही 'Castor oil' कहते हैं।

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥ ३२ ॥

मूत्रकृच्छ्र-प्रकरण

(Chapter of Dysuria)

मूत्रकृच्छ्र-निदान—अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषधों का सेवन, रूक्ष पदार्थों का प्रयोग, मद्य का अधिक सेवन, प्रतिदिन तेज चलने वाले वाहनों (घोड़ा आदि) के पीठ पर बैठकर इधर-उधर जाने से, आनूप-देशज प्राणियों तथा मत्स्य (मछली आदि) एवं मांसों का निरन्तर सेवन करने से, अध्यशन (पहले का खाया भोजन न पचा हो तबतक पुनः भोजन कर लेने) से तथा अजीर्ण से आठ प्रकार के मूत्र-कृच्छ्ररोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—एक सौ सात मर्मों में तीन मर्मों को प्रधान मानकर इस अध्याय का प्रारम्भ किया है। उसी प्रतिज्ञा के अनुसार हृदय सम्बन्धी विकारों का वर्णन करने के बाद अब वस्तिमर्म के 'मूत्रकृच्छ्र' रोग की यहाँ प्रस्तावना की जा रही है। आधुनिक दृष्टि से मूत्रकृच्छ्र को 'Dysuria' और मूत्राघात को 'Suppression of urine' कहते हैं।

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ ३३ ॥

मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति—वात आदि दोष अपने-अपने कुपित होने वाले कारणों से अलग-अलग अथवा सब एक साथ मिलकर वस्तिप्रदेश में कुपित होकर जब-जब मूत्रमार्ग को कष्ट पहुँचाते हैं, तब-तब वह रोगी अत्यन्त कष्ट के साथ मूत्र त्याग करता है।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान अ० १९।४ में इसे मूत्रकृच्छ्र न कहकर मूत्राघात कहा है—'अष्टौ मूत्राघाता इति वातपित्तकफसन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितजाः। श्रीमाधवकर ने सुश्रुत के अनुसार मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात का वर्णन अलग-अलग अध्यायों में किया है। इस दृष्टि से ये दो भिन्न-भिन्न रोग हैं। १. मूत्राघात में प्रयत्न करने पर भी मूत्र नहीं निकल पाता और २. मूत्रकृच्छ्र में मूत्र निकलता है, परन्तु कृच्छ्रता (कठिनता) के साथ थोड़ा-थोड़ा निकल पाता है। श्रीविजरक्षित ने मूत्राघात-निदान में इन दोनों के भेदक लक्षणों के इस प्रकार विवरण दिये हैं—'मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायं विशेषः—'मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विबन्धः, मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान् कृच्छ्रत्वमल्पमिति'। महर्षि सुश्रुत ने मूत्राघात का वर्णन सु० उ० अ० ५८ में तथा मूत्रकृच्छ्र का वर्णन सु० उ० अ० ५९ में किया है। सुश्रुत के अनुसार मूत्राघात के बारह भेद होते हैं—१. वातकुण्डलिका, २. अष्ठीला, ३. वातवस्ति, ४. मूत्रातीत, ५. मूत्रजठर, ६. मूत्रोत्सङ्ग, ७. मूत्रक्षय, ८. मूत्रग्रन्थि, ९. मूत्रशुक्र,

१०. उष्णवात, ११-१२. मूत्रौकसाद (ये दो होते हैं)। चरक सि० अ० ९।४६ में इसका एक भेद 'वस्तिकुण्डल' कहा गया है, इस प्रकार मूत्राघात के तेरह भेद माने जाते हैं। महर्षि आत्रेय ने मूत्राघात सम्बन्धी विस्तृत विवरण च० सि० अ० ९ में दिया है, वहाँ देखें।

तीव्रा रुजो वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्॥ ३४॥
वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत् कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम्॥ ३५॥

वातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—इसमें वात की विकृति से वंक्षण (ऊरुसन्धि—पेड़ू और जाँघ के बीच का भाग), मूत्राशय तथा मूत्रेन्द्रिय में अत्यन्त पीड़ा होती है और रोगी थोड़ा-थोड़ा एवं बार-बार मूत्र त्याग करता है।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—इसमें मूत्र का वर्ण पीला (यह थोड़ा रक्त निकलने का लक्षण है), रक्त के साथ (यह अधिक रक्त निकलने का लक्षण है), कष्ट के साथ, जलन के साथ, बड़े कष्ट के साथ, बार-बार रोगी मूतता है।

कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—इसमें लिंग (मूत्रेन्द्रिय) के साथ-साथ वस्ति (मूत्राशय) में भारीपन और शोथ हो जाता है, मूत्र में पिच्छिलता (चिपचिपापन) युक्त मूत्र आता है।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—सन्निपात (तीनों दोषों के प्रकुपित हो जाने) के कारण होने वाले इस रोग में ऊपर कहे गये वात आदि दोषों के लक्षण दिखलायी देते हैं, अतः चिकित्सा की दृष्टि से इसे कष्टसाध्य माना जाता है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने इन भेदों का परिचय सु० उ० अ० ५९ के ४ से ७ तक के श्लोकों में संक्षेप से कहा है। कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षणों में जो मूत्र में पिच्छिलता लक्षण कहा गया है, उसका कारण है—श्लैष्मिक कला अथवा पौरुषग्रन्थि (Prostate gland) के स्राव से मूत्र का युक्त हो जाना।

विशोषयेद् वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनं कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः॥ ३६॥

अश्मरी की सम्प्राप्ति—वस्ति (मूत्राशय) में गये हुए शुक्र के साथ, पित्त के साथ अथवा कफ के साथ मूत्र को जब प्रकुपित हुई वायु सुखा देती है, तब अश्मरी रोग उत्पन्न होता है। जैसे—क्रमशः गाय का पित्त (Bile) सूखकर गोरोचन बन जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने चार प्रकार का अश्मरी रोग माना है। अश्मरी के भेद—१. कफज, २. वातज, ३. पित्तज, ४. शुक्रज। देखें—सु० नि० अ० ३।३। अश्मरी को ही हिन्दी में पथरी कहते हैं। यह वृक्क की विकृति से मूत्राशय में आये हुए कफ को आधार बनाकर धीरे-धीरे बनती जाती है। यह कभी वृक्क में भी अपना रूप धारण कर लेती है। एलोपैथी के विशेषज्ञ यकृत् अथवा पित्ताशय (Gall bladder) में जिस अश्मरी की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, उससे हमारे पूर्वाचार्य सुपरिचित थे। देखें—'पित्तेषु इव रोचना गोः'। च० चि० अ० ५६।३६। जैसे—गाय के पित्त में रोचना (पित्तज ग्रन्थि) का निर्माण होता है।

अश्मरी प्रारम्भ में छोटी होती है, तब मूत्र के वेग के साथ कभी बाहर आ जाती है, बड़ी होने पर भी यदि उचित उपचार किया जाता है, तो वह टूट-टूट कर कण रूप में बदल कर मूत्र के साथ निकल जाती है। इसके कण नुकीले होते हैं, अतः जब ये मूत्रमार्ग पर टकराते हैं, तो वहाँ-वहाँ काट देते हैं, मूत्र की क्षारात्मकता से उस समय रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है। जैसे पत्थर टूटकर सिकता (बालू) का रूप धारण कर लेता है, ठीक वही स्थिति शर्करा की भी होती है। मूल पथरी के कणों का नाम ही 'शर्करा' है। देखें—'शर्करासिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्'। सु० नि० अ० ३।१३।

कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या श्लक्ष्णा त्रिपुटाप्यथवाऽपि मृद्वी।
मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा मूत्रं रुजं तस्य करोति वस्तौ॥ ३७॥

ससेवनीमेहनवस्तिशूलं विशीर्णधारं च करोति मूत्रम्।
मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहते च॥ ३८॥

अश्मरियों के रूप—अश्मरी कदम्ब के पुष्प जैसी, पत्थर जैसी चिकनी, त्रिपुटी (तीन पहलों वाली) अर्थात् छोटी इलायची की आकृति वाली तथा स्पर्श में कोमल होती है। जब यह मूत्रमार्ग पर आ जाती है, तो उसे रोककर मूत्र को बाहर निकलने में बाधा उत्पन्न कर देती है, तब वह मूत्र भीतर रुककर वस्तिप्रदेश को कष्ट देता है। तदनन्तर सेवनी, मूत्रेन्द्रिय तथा वस्ति में शूल उत्पन्न कर देता है। यदि ऐसी स्थिति में कुछ मूत्र निकलता भी है, तो उसकी धारा टूटी रहती है. अर्थात् उसका मूत्र वेग के साथ नहीं निकल पाता है। रोगी उस वेदना से पीड़ित होकर बार-बार अपनी मूत्रेन्द्रिय को हाथ से मसलने लगता है और उस वेदना के कारण वह मल तथा मूत्र का त्याग करता है (पाठभेद के अनुसार—काँपता है)।

वक्तव्य—सुश्रुत ने कफज, पित्तज तथा वातज अश्मरियों के विस्तारपूर्वक लक्षण सु० नि० अ० ३ गद्य ७ से १० तक में क्रमशः दिये हैं, उन्हें यथास्थान देखें। महर्षि आत्रेय ने अपने वर्णन में दोष-भेद से अश्मरियों के रूपों का वर्णन नहीं किया है, फिर भी इन्होंने 'अश्मतुल्या' अर्थात् कठोर और मृद्वी (सुकोमल) ये जो दो भेद किये हैं, इनसे प्रतीत होता है कि वातदोष के कारण कठोर तथा शेष मृदु अश्मरियाँ कफ, पित्त तथा शुक्रज समझनी चाहिए।

आधुनिक दृष्टि से इन अश्मरियों के ये नाम देखे जाते हैं—१. कफज अश्मरी (Phosphatic stone), २. पित्तज अश्मरी (Calculi), ३. वातज अश्मरी (Oxalate stone)।

क्षोभात् क्षते मूत्रयतीह सासृक् तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात्।
एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती॥ ३९॥

अश्मरीजनित मूत्र की प्रवृत्ति—मूत्राशय में अश्मरी (पथरी) के इधर-उधर टकराने से रोगी का मूत्र रक्त युक्त आता है, जिसे रक्तमेह (Haematuria) कह सकते हैं। यदि वह अश्मरी मूत्रमार्ग से इधर-उधर हट जाती है, तो वह सुखपूर्वक मूत्र त्याग करता है।

शर्करा का स्वरूप—जब वस्तिगत वायु के कारण यह अश्मरी टूट-टूट कर बालू का रूप धारण कर लेती है, तो उसी अश्मरी को शर्करा कहते हैं और यह मूत्र के वेग के साथ मूत्रमार्ग से बाहर निकल आती है।

वक्तव्य—अश्मरी और शर्करा की उत्पत्ति के समान कारण होते हैं। इसको सामान्यरूप से हम इस प्रकार कह सकते हैं, जैसे—मिश्री और उसका चूरा। इसी विषय को महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार कहा है—'अश्मरी शर्करा चैव तुल्ये सम्भवलक्षणैः। शर्कराया विशेषं तु शृणु कीर्तयतो मम॥ पच्यमानस्य पित्तेन भिद्यमानस्य वायुना। श्लेष्मणोऽवयवा भिन्नाः शर्करा इति संज्ञिताः'॥ सु० उ० अ० ५९।११-१२। अश्मरी आकार में बड़ी होती है और शर्करा (बालू) उसी का चूरा है।

(रेतोऽभिघाताभिहतस्य पुंसः प्रवर्तते यस्य तु मूत्रकृच्छ्रम्।
स्याद् वेदना वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते॥ ४०॥
शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह।
तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति रेतोऽभिघातात् प्रवदन्ति कृच्छ्रम्'[1]॥ ४१॥)

शुक्रवेगरोधज मूत्रकृच्छ्र—जो पुरुष निकलते हुए शुक्र के वेग को रोकता है, उसे यदि शुक्र वेग को रोकने के कारण मूत्रकृच्छ्र रोग होता है, तो उसके वंक्षण-प्रदेश, मूत्राशय तथा लिंग में पीड़ा होती है। इसका अंडकोष फूल जाता है, उसमें पीड़ा होने लगती है। मूत्रमार्ग में शुक्र के रुक जाने से वह कठिनता से मूत्र को बाहर निकाल पाता है। ऐसी स्थिति में उसे वीर्य के रुकने के कारण 'अण्डस्तब्ध' मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

---

१. अयं पाठोऽनार्ष इति प्रतिभाति।

वक्तव्य—मूत्राघात तथा मूत्रकृच्छ्र समान आशय के रोग हैं, तथापि इनमें परस्पर भेद है, जैसा कि हम पहले इसी प्रकरण में विवेचन कर चुके हैं। चरक ने शुक्रवेगरोधज मूत्रकृच्छ्र की चर्चा नहीं की है और न इस पर श्रीचक्रपाणि ने टीका ही की है। अतः इन दो पद्यों को सभी टीकाकार प्रक्षिप्त मानते चले आ रहे हैं, परन्तु किसी ने क्रम संख्या में भेद नहीं किया है।

शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग्वा मूत्राशयस्थाः प्रतिवारयन्ति ।
तद्व्याहतं मेहनवस्तिशूलं मूत्रं सशुक्रं कुरुते विबद्धम् ॥ ४२ ॥
स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च तुद्येत वस्तिर्वृषणौ च तस्य ।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र—मूत्राशय में स्थित वात आदि दोष अलग-अलग अथवा मिलकर (सान्निपातिक रूप से) शुक्र की प्रवृत्ति को रोक देते हैं। इस प्रकार जब उस शुक्र का निकलना बन्द हो जाता है, तब लिंग (मूत्रेन्द्रिय) और वस्ति (Bladder) में शूल उत्पन्न हो जाता है और धीरे-धीरे शुक्र के साथ मूत्र निकलने लगता है। उसकी मूत्रेन्द्रिय जकड़ जाती है, उसमें सूजन हो जाती है, अत्यन्त वेदना होने लगती है और उसके वस्तिप्रदेश तथा वृषणों (Testicles) में सुई चुभाने की-सी पीड़ा होने लगती है।

क्षताभिघातात् क्षतजं क्षयाद् वा प्रकोपितं वस्तिगतं विबद्धम् ॥ ४३ ॥
तीव्रार्ति मूत्रेण सहाश्मरीत्वमायाति तस्मिन्नतिसञ्चिते च ।
आध्माततां विन्दति गौरवं च वस्तेर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन् ॥ ४४ ॥

इति मूत्रकृच्छ्रनिदानम्।

रक्तज मूत्रकृच्छ्र—मूत्रनलिका के भीतर किसी प्रकार का क्षत (घाव) हो जाने के कारण, जैसे—मूत्र को निकालने के लिए प्रयुक्त कैथीटर के दुष्प्रयोग से कभी-कभी घाव हो जाता है। किसी प्रकार की चोट के लग जाने आदि कारणों से, शुक्र का अधिक क्षय होने के कारण प्रकुपित तथा रुका हुआ रक्तधातु वस्ति नामक आशय में तीव्र वेदना के साथ पहुँचकर थोड़ा-थोड़ा मूत्र रक्त के साथ उस प्रकार निकलता है, जैसे मानो पथरी या उसके कण मूत्र के साथ निकल रहे हों, इस स्थिति में रोगी को मृत्यु के समान कष्ट होता है। जब वह रक्त अधिक मात्रा में वस्ति में संचित हो जाता है, तो वस्ति में आध्मान तथा भारीपन हो जाता है और जब वह मूत्रमार्ग से निकल जाता है, तो वस्ति में हलकापन आ जाता है।

वक्तव्य—ऊपर निर्णयसागरीय प्रति के अनुसार अर्थ दिया गया है। श्रीजयदेव ने 'तीव्रार्ति मूत्रेण सहाल्पमल्पम्' ऐसा पाठ दिया है, जो अर्थ की दृष्टि से सरल है। जब क्षत-जनित रक्त मूत्राशय में जाकर थक्का की भाँति जम जाता है, तो यह भी लगभग पथरी का रूप धारण कर लेता है। उस रक्तज मूत्रकृच्छ्र को आधुनिक भाषा में 'Dysuria due to blood clot' कहते हैं।

अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहवस्तिस्नेहोपनाहोत्तरवस्तिसेकान् ।
स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान् दद्याद् रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥ ४५ ॥

मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा

(Treatment of Dysuria)

वातज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—इसमें वातविकार-नाशक तैलों की मालिश, स्नेहवस्ति, निरूहणवस्ति, स्नेह युक्त द्रव्यों से उपनाह (पुल्टिस) लगाना, उत्तरवस्ति (वातहर द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए तैलों का मूत्रमार्ग में पिचकारी द्वारा प्रवेश कराना), वातनाशक तैलों तथा क्वाथों का परिषेक कराना चाहिए। स्थिरादि (लघुपंचमूल) द्रव्यों तथा अन्य वातनाशक द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये गये जल में पकाये गये मांसों को पीने के लिए वातज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को दें।

पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः ।
द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोलयवैश्च तोयोत्क्वथिते कषाये ॥ ४६ ॥

तैलं वराहर्क्षवसा घृतं च तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम् ।
तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम् ॥ ४७ ॥

मूत्रकृच्छ्र में मिश्रक स्नेह—पुनर्नवा, रेड़ की जड़, शतावर की जड़, पत्तूर (शालिंचशाक, जल-पिप्पली, पर्कटीवृक्ष, शमीवृक्ष, कुचन्दन या पतंग), वृश्चीर (काला पुनर्नवा), बरियारा की जड़, पाषाणभेद (इसके कई भेद पाये जाते हैं, प्रयोग करके देखें), दोनों पञ्चमूल के दस द्रव्य (बेल, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, अरणी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), कुलथी, खट्टीबेर, जौ—इन सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर जौकुट कर क्वाथ बना लें, जब क्वाथ का जल चतुर्थांश शेष रह जाय तब उसे छानकर अलग रखें। तदनन्तर उक्त पुनर्नवा आदि सभी द्रव्यों को लेकर उनका कल्क तैयार करें तथा उस कल्क में एक भाग सेंधानमक भी मिला लें। उक्त क्वाथ तथा कल्क से तिल-तैल, सूअर की वसा (Marrow or fat) भालू की वसा (चर्बी) और गाय का घी समान भाग में मिलाकर स्नेहपाक-विधि से इसे पकायें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। इसका मात्रापूर्वक सेवन करने से शूलयुक्त वातज मूत्रकृच्छ्र रोग का विनाश होता है।

एतानि चान्यानि वरौषधानि पिष्टानि शस्तान्यपि चोपनाहे ।
स्युर्लाभतस्तैलफलानि चैव स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ॥ ४८ ॥

उपनाह-प्रयोग—ये (ऊपर मिश्रक स्नेह में कही गयी बीस ओषधियाँ) तथा वातदोष का नाश करने के लिए श्रेष्ठ ओषधियाँ शास्त्रों में कही गयी हैं, उन सभी का प्रयोग यहाँ उपनाह के लिए करना चाहिए और जो-जो तैल फल (जिनको पेरकर तेल निकाला जाता है, जैसे—तिल, सरसों, तीसी, रेंड़ी के बीज, मूंगफली, बादाम आदि) को पीसकर स्नेह (तेल आदि) तथा अम्ल (काँजी आदि) से उपनाह तैयार कर प्रयोग करना चाहिए। इनसे स्वेदन होता है।

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्वस्तिपयोविरेकाः ।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥ ४९ ॥

पित्तज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—इस रोग में पित्तनाशक द्रव्यों के क्वाथ को शीतल करके परिषेक (स्नान), अवगाहन (Tub bath), शरीर पर शीतल द्रव्यों (चन्दन आदि) का लेप तथा गरमी के दिनों में जो शीतचर्या की जाती है उसका प्रयोग, वस्ति-प्रयोग, दूध को ठंडा करके पीना, विरेचनों का प्रयोग, मुनक्का का रस, ताजे विदारीकन्द का स्वरस तथा ईख का रस पिलाना तथा घी का अभ्यंग आदि चिकित्साएँ करनी चाहिए।

शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्राविदारिशालीक्षुकसेरुकाणाम् ।
क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री ॥ ५० ॥

शतावर्यादि क्वाथ—पित्तज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को शतावर, काश, कुश, गोखरू, विदारीकन्द शालि-धान, ईख, कसेरू, इन सबका शीतकषाय (शा० सं० म० खं० अ० ४।१। हिम को ही शीतकषाय कहते हैं), तैयार कर उसमें मधु और चीनी मिलाकर पीना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह नि० अ० १३ में इस प्रकार के अनेक योगों का प्रयोग मूत्राघात चिकित्सा के प्रसंग में किया है। यथावसर देखें।

पिबेत् कषायं कमलोत्पलानां शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः ।
[1]दण्डैरकाणामथवाऽपि मूलं पूर्वेण कल्पेन तथाऽम्बु शीतम् ॥ ५१ ॥

पित्तज मूत्रकृच्छ्रहर योग—कमल एवं नीलकमल अथवा सिंघाड़ा अथवा विदारीकन्द अथवा दण्डैरका (होग्गल इति चक्र०) की जड़, इन द्रव्यों का अलग-अलग शीतकषाय (हिम) मधु तथा चीनी मिलाकर रोगी को पहले योग की भाँति दें और रोगी की इच्छा के अनुसार शीतल जल भी पीने के लिए दें।

१. 'दण्डोत्पलानाम्' इति पा०।

वक्तव्य—ग्रीष्मऋतु में श्रीमान् लोगों के परिवार में मूत्रकृच्छ्र रोग के न होने पर भी इस प्रकार के शीतल पेय पीने तथा पिलाने के लिए बना करते हैं, जिनको पीने से मूत्राशय की शुद्धि होती है।

एर्वारुबीजं त्रपुषात् कुसुम्भात् सकुङ्कुमः स्याद् वृषकश्च पेयः।
द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः॥ ५२॥

मूत्रकृच्छ्रनाशक योग—ककड़ी के बीज, खीरा के बीज, कुसुम्भ के बीज, नागकेसर, अडूसा की पत्ती का रस और मुनक्का का रस, इनके शीतलकषाय को पिलाने से सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों में शीघ्र लाभ होता है, अतएव यह योग प्रशंसित है।

वक्तव्य—श्रीगंगाधर के अनुसार ये चार योग हैं। प्रत्येक में नागकेशर का चूर्ण मिलाकर मुनक्का के घोल के साथ पीना चाहिए। यह अर्थसंगति है।

एर्वारुबीजं मधुकं [1]सदारु पैत्ते पिबेत् तण्डुलधावनेन।
दार्वीं तथैवामलकीरसेन समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे॥ ५३॥

अन्य दो योग—१. ककड़ी के बीज, मुलेठी, देवदारु इन्हें पित्तज मूत्रकृच्छ्र में चावल के धोवन के साथ पीयें (ककड़ी के बीजों को पीस लें, मुलेठी और देवदारु की लकड़ी के सार भाग को चन्दन की भाँति घिसकर चावल के धोवन के साथ मिलाकर पीयें)। २. दारुहल्दी के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटें, अनुपान के रूप में आँवलों का रस पीयें। इससे पित्तज मूत्रकृच्छ्र रोग से छुटकारा होता है।

वक्तव्य—जिस द्रव के साथ औषध सेवन किया जाता है, वह 'सहपान' है और उसके बाद जो द्रव पदार्थ पीया जाता है वह 'अनुपान' है।

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे॥ ५४॥

कफज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—इस रोग में क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण तथा कटुरस-प्रधान अन्न (आहार), पान (पेय) का सेवन, स्वेदन द्रव्यों का प्रयोग, जौ द्वारा निर्मित भोज्य पदार्थों का सेवन, वमन, निरूहण वस्ति, मट्ठा का प्रयोग, तिक्तरस-प्रधान औषधद्रव्यों द्वारा किये गये तैल का अभ्यंग तथा इसी तैल को पिलाना अत्यन्त हितकर होता है।

व्योषं श्वदंष्ट्रात्रुटिसारसास्थि[2] कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम्।
पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैडर्यरसेन वाऽपि॥ ५५॥

व्योषादि चूर्ण—१. सोंठ, मरिच, पीपल, गोखरू, छोटी इलायची, सारसपक्षी की हड्डी, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण तैयार करें। इस चूर्ण को मात्रानुसार लेकर मधु के साथ चाटें तदनन्तर गोमूत्र पीयें। २. अथवा छोटी इलायची के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटें, उसके बाद केले का रस या बकायन की पत्तियों का रस पीयें।

वक्तव्य—'कदल्या रसेन' इस शब्द से केले के नाल का रस ग्रहण करना चाहिए, यह मूत्रल होता है। कैडर्य—महानिम्ब (बकायन) का नाम है।

तक्रेण युक्तं शितिवारकस्य बीजं पिबेत् कृच्छ्रविनाशहेतोः।
पिबेत् तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे॥ ५६॥

कफज मूत्रकृच्छ्रनाशक योग—कफज मूत्रकृच्छ्र रोग का शमन करने के लिए मठा में शालिञ्च शाक के बीजों का चूर्ण मिलाकर पीना चाहिए। अथवा कफज मूत्रकृच्छ्र में चावल के धोवन के साथ प्रवालभस्म का सेवन करना चाहिए।

---

१. 'सदार्वि' इति पा०। २. 'कृमिमारकास्थि' इति पा०।

सप्तच्छदारग्वधकेबुकैलाधवं करञ्जं कुटजं गुडूचीम्।
पक्त्वा जले तेन पिबेद् यवागूं सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा॥ ५७॥

सप्तच्छदादि प्रयोग—छतिवन की छाल, अमलतास, केबुक (करेमू), इलायची के बीज, धव की छाल, करंज की छाल, कुटज की छाल, गुरुच, इन द्रव्यों को समभाग में लेकर जल डालकर षडंगपानीय विधि से पकायें। शेष जल को छानकर रख लें। उस पानी में यवागू का पाक करके रोगी को पिलायें अथवा छतिवन आदि द्रव्यों के क्वाथ को मधु मिलाकर पिलायें।

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्।
त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु वस्तिः॥ ५८॥

इति मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा।

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—सन्निपात-जनित मूत्रकृच्छ्र रोग में वायु किस स्थान पर आश्रित होकर अपना प्रभाव दिखला रहा है, इसका विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए। यदि तीन दोषों में कफदोष की अधिकता हो तो सर्वप्रथम वमन करायें, यदि पित्तदोष की अधिकता हो तो विरेचन करायें और यदि वातदोष की अधिकता हो तो रोगी को सबसे पहले वस्तिप्रयोग कराना चाहिए।

क्रिया हिता साऽश्मरिशर्कराभ्यां कृच्छ्रे यथैवेह कफानिलाभ्याम्।
कार्याऽश्मरीभेदनपातनाय विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम्॥ ५९॥

अश्मरी-शर्करा-चिकित्सा—अश्मरी अथवा शर्करा से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में कफवातज मूत्रकृच्छ्र के समान चिकित्सा करनी चाहिए। अश्मरी (पथरी) को फोड़ने और उसे निकालने के लिए जिस विशेष सिद्ध चिकित्सा को करना चाहिए, उसे मैं कहता हूँ, तुम सुनो।

पाषाणभेदं वृषकं श्वदंष्ट्रापाठाभयाव्योषशटीनिकुम्भाः।
हिंस्राखरा[1]श्वाशितिवारकाणामेर्वारुकाणां त्रपुषस्य बीजम्॥ ६०॥
उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं स्याद् द्वे बृहत्यौ हपुषा वचा च।
चूर्णं पिबेदश्मरिभेदपक्वं सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः॥ ६१॥

पाषाणभेदादि चूर्ण—पाषाणभेद, अडूसा की पत्ती, गोखरू, पाठा, हरड़, सोंठ, मरिच, पीपल, कचूर, दन्तीमूल, हिंस्रा (हंसपदी), अजवाइन, शितिवारक (शालिञ्च) के बीज, ककड़ी के बीज, खीरा के बीज, मंगरैला, हींग, अम्लवेत, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, हाऊवेर, बालवच, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर डालें। मात्रा के अनुसार इस चूर्ण को जल के साथ पीने से अश्मरी (पथरी) गल जाती है।

पाषाणभेदादि घृत—उपर्युक्त पाषाणभेद आदि का कल्क बना लें, गाय के घी से चौगुना गोमूत्र लेकर इन द्रव्यों से यथाविधि घृतपाक करें। इसका सेवन करने से अश्मरी का भेदन हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने यहाँ दो भिन्न पाठों का संग्रह किया है—१. 'चूर्णं पिबेदश्मरिभेदि', २. चूर्णं पिबेदश्मरिभिद्विपक्वम्'। तात्पर्य की दृष्टि से उक्त दोनों पाठ समानार्थक हैं।

मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरकोरुबूकात् क्षीरेण पिष्टं बृहतीद्वयाच्च।
आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय॥ ६२॥

गोक्षुरादि योग—गोखरू की जड़, इक्षुरक (तालमखाना) की जड़, रेड़ की जड़, छोटी कटेरी तथा बड़ी कटेरी की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर, दूध के साथ पीसकर मीठी दही के साथ घोल-कर सात दिन तक इसे पीना चाहिए। इसके सेवन से अश्मरी टूट जाती है। अर्थात् पथरी को चूर-चूर करने के लिए इसका सेवन करें। यह टूट जाने पर मूत्र के साथ स्वयं निकल जाती है।

---

१. 'खराह्वा' इति पा०।

पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्राफलगुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः ।
क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः सुपिष्टं पेयं भवेदश्मरिशर्करासु ॥ ६३ ॥

पुनर्नवादि योग—पुनर्नवा, लोहभस्म, हल्दी, गोखरू, कुश के फूलों के साथ फल्गु (गूलर) की सुकोमल पत्तियाँ, इन द्रव्यों को दूध, जल, मद्य, ईख का रस, इनसे पीसकर अश्मरी तथा शर्करा रोग का विनाश करने के लिए पीना चाहिए । दूध आदि किसी एक से पीसकर उसी द्रव में घोलकर उक्त योग को कुछ दिनों तक पीना चाहिए ।

त्रुटिं [1]सुराह्वं लवणानि पञ्च यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदौ ।
कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीजमेर्वारुबीजं त्रपुषस्य बीजम् ॥ ६४ ॥
चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गुमांसीयवानितुल्यं त्रिफलाद् विभागम् ।
अम्लैरशुक्तैः रसमद्ययूषैः पेयं हि गुल्माश्मरिभेदनार्थम् ॥ ६५ ॥

त्रुटयादि चूर्ण—छोटी इलायची, सुराह्व (देवदारु, पाठभेद के अनुसार—सोया), पाँचों नमक (सेंधा, सोंचर, सामुद्र, औद्भिद, विड), जवाखार, कुन्दरू, पाषाणभेद, कबीला, गोखरू के बीज, ककड़ी के बीज, खीरा के बीज, चित्रकमूल, हींग, जटामासी, अजवाइन—ये द्रव्य १-१ भाग और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) अलग-अलग द्रव्य दो-दो भाग लेकर सभी का कपड़छन चूर्ण बना लें । शुक्त (सिरका) के अतिरिक्त अन्य अम्ल-द्रव्यों के साथ या मांसरस के साथ या मद्य के साथ अथवा मूंग के यूष के साथ इसका सेवन गुल्म तथा अश्मरी का भेदन करने के लिए करना चाहिए ।

बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टो यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्कात् ।
शीतोऽश्मभित् स्याद् दधिमण्डयुक्तः पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः ॥ ६६ ॥

शिग्रु-प्रयोग—सहिजन की जड़ का कल्क बिल्व प्रमाण (४ तोला) लेकर घी और तेल में भूनकर उसका यूष बनायें, उस यूष में दही का पानी मिलाकर शीतल होने दें, तदनन्तर उसमें हल्का नमक मिलाकर मूत्रकृच्छ्र के रोगी को पीने के लिए दें । इसका कुछ दिनों तक निरन्तर सेवन करने से अश्मरी चूर-चूर हो जाती है ।

जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः शीतो हितश्चाश्मरिशर्करासु ।
सितोपला वा समयावशूका कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि भेषजं स्यात् ॥ ६७ ॥

अश्मरी-शर्कराहर योग—सहिजन की जड़ के शीतल कल्क का सेवन करने से अश्मरी और शर्करा रोग में लाभ होता है । अर्थात् यह अश्मरी को गलाकर शर्करा (बालू) जैसा बना देता है, तदनन्तर उस बालू के कणों के रूप में परिवर्तित उस अश्मरी को मूत्र के साथ बाहर निकालने में सहायक होता है ।

मूत्रकृच्छ्रहर योग—अथवा जवाखार के समान भाग में चीनी मिलाकर (जल के साथ) सेवन कराने से यह योग सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों में लाभदायक होता है । अर्थात् यह भी अश्मरी का भेदन करके उसे बाहर निकाल देता है ।

पीत्वाऽथ मद्यं निगदं रथेन हयेन वा शीघ्रजवेन यायात् ।
तैः शर्करा प्रच्यवतेऽश्मरी तु शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत् ताम् ॥ ६८ ॥

अश्मरी-नाशक उपाय—उपर्युक्त अश्मरी-भेदक औषधोपचार से यदि अश्मरी भेदन-पातन न हुआ हो तो निगद (दोषरहित एवं निर्मल) मद्य को पीकर द्रुतगामी रथ अथवा घोड़ा पर सवार होकर कुछ दूर तक यात्रा करे । उन उपायों से अश्मरी और शर्करा बाहर निकल आती है । यदि इतना करने पर भी न निकले तो शल्यशास्त्रवेत्ता चिकित्सक उसे शल्यचिकित्सा द्वारा निकाल दे ।

---

१. 'शताह्वां' इति पा० ।

वक्तव्य—रथ पर या घोड़ा पर सवारी करते समय ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर चलना चाहिए, जिससे रोगी के शरीर पर धक्के-से लगते रहें, जिसके कारण पथरी मूत्र के वेग के साथ बाहर निकल जाती है ।

अश्मरी की शल्य-चिकित्सा—इसके लिए सु० चि० अ० ७ सम्पूर्ण को देखें । शास्त्रकार चिकित्सक को लोकव्यवहार सिखलाते हुए कह रहे हैं—शल्यचिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी के अभिभावकों को शल्य-चिकित्सा करने के पहले बतला दे, कि यदि हम इसकी शल्यचिकित्सा नहीं करते हैं तो इसकी मृत्यु होना निश्चित है और यदि चिकित्सा करते हैं तब जीवन-लाभ भी हो सकता है अथवा मृत्यु भी । अतः आप हमें अपनी लिखित अनुमति दें, तो हम इसकी चिकित्सा करें । देखें—सु० चि० अ० ७।२८-२९ ।

ऊपर हमने वस्ति को मर्म कहा है और इसमें मर्मस्थान पर शस्त्र का प्रयोग करना होता है, अतः इस प्रकार की सावधानी रखना चिकित्सक के लिए परम आवश्यक है, क्योंकि वस्तिप्रदेश के आस-पास ये आठ मर्म होते हैं—१. सेवनी. २. शुक्रवहा, ३. मुष्क (अण्डकोष), ४. गुद, ५. मूत्रप्रसेक, ६. मूत्रवहस्रोत, ७. योनि और ८. वस्ति । सु० चि० अ० ७।३८ । इन मर्मों के परिचय के लिए सु० शा० अ० ६ का अवलोकन करें ।

रेतोऽभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात् ।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—शुक्र के वेग को रोकने के कारण उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र रोग में वात आदि दोषों की स्थिति का विचार करके प्रतिकर्म (निदानपरिवर्जन रूप चिकित्सा) करना चाहिए । यह शुक्रज मूत्रकृच्छ्र रोग का सामान्य चिकित्सा-सूत्र है ।

कार्पासमूलं वृषकाश्मभेदौ बला स्थिरादीनि गवेधुका च ॥ ६९ ॥
वृश्चीर ऐन्द्री च पुनर्नवा च शतावरी मध्वसनाख्यपर्ण्यौ ।
तत्क्वाथसिद्धः पवने रसः स्यात् पित्तेऽधिके क्षीरमथापि सर्पिः ॥ ७० ॥
कफे च यूषादिकमन्नपानं संसर्गजे सर्वहितः क्रमः स्यात् ।

कार्पासमूलादि योग—कपास की जड़, अडूसा की जड़, पाषाणभेद, बला, स्थिरादि वर्ग (इसी को लघुपंचमूल भी कहते हैं—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), गवेधुका (धान्यविशेष—गरहेडुआ, श्रीचक्रपाणि इसे 'बुलुब्र' कहते हैं, देखें—च० सू० अ० २ श्लोक २५ की टीका 'गवेधुकाश्च तण्डुल-स्थाने') की जड़, वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), इन्द्रायण की जड़, लालपुनर्नवा की जड़, शतावर की जड़, मधु-पर्णी (गुरुच, रा० नि० व० ३), असनपर्णी (अपराजिता) इन द्रव्यों को समानभाग लेकर क्वाथ बनाकर वातज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को पीने के लिए दें । पित्तज अश्मरी के कारण उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र रोग में उपर्युक्त द्रव्यों द्वारा पकाया गया दूध अथवा घी पीने के लिए दें । कफज अश्मरी के कारण उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र रोग में षडंग-परिभाषा द्वारा पकाये गये जल से यूप आदि अन्न (आहारों) तथा पानों (पेयों) का सेवन करना चाहिए और संसर्गज (द्वन्द्वज अथवा सन्निपातज) मूत्रकृच्छ्र में दोनों दोषों या तीनों दोषों के लिए जो हितकर चिकित्सा हो उसका उपयोग कराना चाहिए ।

एवं न चेच्छाम्यति तस्य युञ्ज्यात् सुरां पुराणां मधुकासवं वा ॥ ७१ ॥
विहङ्गमांसानि च बृंहणाय वस्तींश्च शुक्राशयशोधनार्थम् ।
शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥ ७२ ॥

विविध विधान—यदि ऊपर कहे गये चिकित्सिकीय उपायों को करने पर भी शुक्रज अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ्र रोग शान्त नहीं होता हो तो पुरानी सुरा अथवा मधुकासव (महुआ से बनी हुई शराब) को पीने के लिए देना चाहिए । रोगी के स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिए उसे पक्षियों के मांस खाने के लिए दिलायें और शुक्राशय को शुद्ध करने के लिए निरूह, अनुवासन अथवा उत्तरवस्तियों का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार जब रोगी का शुक्राशय शुद्ध हो जाय और वह उत्तम वृष्य योगों के सेवन से तृप्त हो जाय तब उसके पास प्रिय और उसके शील-स्वभाव के अनुकूल स्त्रियों को भेजें ।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी शुक्राश्मरी से मुक्त रोगी के लिए स्त्री-सहवास की अनुमति दी है। देखें—अ० सं० चि० अ० १३।२४। वास्तव में स्त्री-सहवास इसलिए आवश्यक है, कि उस रोगी को पुनः शुक्राश्मरी न हो जाय, शेष आशय स्पष्ट है।

रक्तोद्भवे तूत्पलनालतालकासेक्षुबालेक्षुकशेरुकाणि।
पिबेत् सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं विदारीं त्रपुषाणि चैव ॥ ७३ ॥

रक्तज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—इस रोग में नीलकमल की नाल, ताड़ का फल, कास, इक्षुवाल (ईख का भेद), ईख की जड़, कसेरू, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर, इनका आवश्यकतानुसार क्वाथ करें, अष्टमांश शेष रह जाने पर उतार कर छान लें। शीतल हो जाने पर मिश्री और मधु मिलाकर पीये। उस रोगी को चूसने के लिए ईख दें, खाने के लिए ताजा विदारीकन्द अथवा सूखा होने पर उसी का चूर्ण और खीरा दें।

वक्तव्य—ताजा विदारीकन्द नैनीताल की पहाड़ियों में पर्याप्त मिलता है। इसे साही, भालू आदि जानवर भी खा जाते हैं। इसकी लताओं को घास के रूप में घोड़ों को देते हैं। इसका पहले साल का कन्द अत्यन्त मधुर होता है, इसका अनुरस कषाय होता है। पुराना होने पर उतना उपादेय नहीं होता है। यह वीर्यवर्धक होता है।

घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं क्षीरेण चैवाष्टगुणेन पेयम्।
स्थिरादिकानां कतकादिकानामेकैकशो वा विधिनैव तेन ॥ ७४ ॥

१. **श्वदंष्ट्रादि घृत**—गोखरू का स्वरस, गाय का घी और घी से आठ गुना गाय का दूध इन सबको मिलाकर घृतपाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। इसे मात्रा के अनुसार पीयें। अथवा स्थिरादि वर्ग (लघुपंचमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी तथा गोखरू) के क्वाथ तथा कल्क से घृतपाक करके इसका सेवन करें। अथवा कतकादि वर्ग ('कतकं काश्मर्य'''मधुवल्ली चेति'। च० वि० अ० ८।१३९। तक के द्रव्यों का यहाँ ग्रहण करना चाहिए) के द्रव्यों को लेकर ऊपर निर्दिष्ट विधि द्वारा निर्मित घी का यथाविधि सेवन करें। इन योगों से भी रक्तज मूत्रकृच्छ्र रोग का शमन हो जाता है। यहाँ दो घृतों का भी वर्णन किया गया है—२. **स्थिरादि घृत** और ३. **कतकादि घृत**।

क्षीरेण वस्तिर्मधुरौषधैः स्यात् तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन।
यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितं तु पैत्ते कार्यं तु तच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे ॥ ७५ ॥

मधुरगण का प्रयोग—इस गण का उल्लेख च० वि० अ० ८।१३९ में किया गया है। इस गण के औषध-द्रव्यों के क्वाथ के साथ अथवा मधुर फलों (बादाम, काजू, किसमिस, चिलगोजा, चिरौंजी, अखरोट, तिल आदि) के तेल के साथ दूध मिलाकर उत्तरवस्ति देनी चाहिए। पित्तज मूत्रकृच्छ्र रोग में जिन उपचारों का निर्देश इस प्रकरण में किया गया है, उन सभी उपचारों का उपयोग रक्तज मूत्रकृच्छ्र रोग में भी करना चाहिए।

व्यायामसन्धारणशुष्करूक्षपिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान्।
खर्जूरशालूककपित्थजम्बूबिसं कषायं न रसं भजेत ॥ ७६ ॥

इत्यश्मरीचिकित्सा।

अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र रोग में अपथ्य—व्यायाम, अधारणीय वेगों को रोकना, सूखे, रूखे तथा मीठे खाद्य पदार्थों को खाना, खुली हवा में बैठना, तेज धूप में बैठना या चलना-फिरना, स्त्री-सहवास करना, खजूर, कमलकन्द या अन्य कन्दों को खाना, कैथ, जामुन इन फलों को खाना, कमलमूल का तथा कषायरस-प्रधान द्रव्यों का सेवन रोगी न करे।

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्तिचिन्ताभयत्रासगदातिचाराः।
छर्द्यामसन्धारणकर्शनानि हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघातः ॥ ७७ ॥

हृद्रोग-प्रकरण

(Chapter of Heart Disease)

हृदयरोग-निदान—अधिक व्यायाम करना, तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त आहार का सेवन, अधिक विरेचन तथा वस्ति का प्रयोग, चिन्ता, भय, घबड़ाहट एवं किसी रोग की चिकित्सा का अनुचित प्रयोग, अधिक वमनों का होना, आमदोष की अधिकता, अधारणीय वेगों को रोकना, शरीर को कृश करने वाले खान-पान का सेवन तथा शरीर या हृदय पर आघात का लगना, इन कारणों से हृदयरोग की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—हृदयरोग का परिचय चरक सू० अ० १७ श्लोक ३० से ४० तक, सु० उ० अ० ४३ में तथा ० हृ० चि० अ० ६ में देखें।

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥ ७८ ॥

हृदयरोग के लक्षण—चेहरे का उदास-सा दिखलायी देना, मूर्च्छा, ज्वर, कास, हिक्का (हिचकी), श्वास, मुख का फीकापन, तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), मोह, वमन, कफ का उभड़ना, वेदना, भोजन के प्रति अरुचि, इसी प्रकार के अन्य लक्षण हृदयरोग में दिखलायी देते हैं।

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद् विशेषः।

वातज हृद्रोग के लक्षण—इसमें विशेषरूप से हृदय में सूनापन प्रतीत होता है, हृदय सूख जाता है, फटने तथा जकड़ने का-सा अनुभव होता है, बेहोशी प्रतीत होती है, ये सभी वातज हृदयरोग के लक्षण हैं।

पित्तात् तमोदूयनदाहमोहाः सन्त्रासतापज्वरपीतभावाः ॥ ७९ ॥

पित्तज हृद्रोग के लक्षण—इसमें आँखों के सामने अँधेरा-सा छा जाता है, उसका शरीर बाहर से झुलस-सा जाता है, भीतर से जलन प्रतीत होती है, बेहोशी आ जाती है, घबड़ाहट होने लगती है, शरीर में ताप (गर्मी) बढ़ने लगता है, ज्वर हो जाता है और त्वचा पीली पड़ जाती है।

स्तब्धं गुरु स्यात् स्तिमितं च मर्म कफात् प्रसेकज्वरकासतन्द्राः।
विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं कृमिजं सकण्डूम् ॥ ८० ॥

कफज हृद्रोग के लक्षण—इसमें हृदय में जकड़न, भारीपन, हृदय का गीले वस्त्र से ढका हुआ-सा प्रतीत होना, मुख से लार का चूना, ज्वर, खाँसी, उँघाई ये लक्षण दिखलायी देते हैं।

सन्निपातज हृद्रोग के लक्षण—यदि ऊपर कहे गये तीनों दोषों के लक्षण एक साथ पाये जाते हैं, तो उस हृद्रोग को सन्निपातज समझना चाहिए।

कृमिज हृद्रोग के लक्षण—यदि हृदय में खुजली तथा अत्यन्त पीड़ा प्रतीत होती हो और सुई चुभाने की-सी वेदना हो रही हो तो उसे कृमिज हृद्रोग समझना चाहिए।

वक्तव्य—कृमिज हृदयरोग में जिन कृमियों की उत्पत्ति होती है, उनको महर्षि आत्रेय ने 'हृदयचर' (पाठभेद के अनुसार-हृदयाद) कहा है। देखें—च० वि० अ० ७।१२। इसका अर्थ है—हृदय-प्रदेश पर विचरण करने वाले तथा हृदय को खाने वाले, क्योंकि 'चर' धातु का अर्थ है—गति और भक्षण। ये दोष भेद से कफज कृमि होते हैं। इस रोग का विशेष विवेचन चरक सू० अ० १७ श्लोक ३६ से ४० तक ध्यान से देखें।

सुश्रुत के अनुसार कृमिज हृद्रोग के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—'उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः शूलो हृल्लासकस्तमः। अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च कृमिजे भवेत्' ॥ सु० उ० अ० ४३।९। वास्तव में सन्निपातज हृदय-रोग में जब रोगी मिथ्या आहार-विहार करने लगता है तो कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। इसके आगे सुश्रुत ने हृद्रोग के उपद्रवों की चर्चा की है। इसमें भ्रम, सुस्ती, अंगों में ढीलापन, शरीर तथा धातुओं का क्रमशः सूखना ये उपद्रव होते हैं।

तैलं ससौवीरकमस्तुतक्रं वाते प्रपेयं लवणं सुखोष्णम् ।
मूत्राम्बुसिद्धं लवणैश्च तैलमानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम् ॥ ८१ ॥

वातज हृद्रोग-चिकित्सा--इसमें रोगी को सौवीर, दही का पानी, मट्ठा तथा नमक डालकर पकाया गया तेल पिलाना चाहिए। अथवा सौवीर (काँजी का एक भेद—यह जौ को उबालकर बनायी जाती है), दही का पानी, मट्ठा, सैंधानमक को गरम तेल में मिलाकर पीयें। अथवा गोमूत्र, काँजी और पाँचों नमकों को मात्रानुसार मिलाकर गरम किये हुए तिल-तैल में मिलाकर पीयें। अथवा गोमूत्र, काँजी तथा पाँचों नमकों से तिल के तेल को पकाकर पीयें। ये योग आनाह, गुल्म तथा हृदय-पीड़ा का विनाश करते हैं।

पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं रास्नां यवान् बिल्वकुलत्थकोलम् ।
पक्त्वा जले तेन विपाच्य तैलमभ्यङ्गपानेऽनिलहृद् गदघ्नम् ॥ ८२ ॥

पुनर्नवादि तैल—पुनर्नवा, देवदारु, पञ्चमूल (बेल की गुदी, सोनापाठा की छाल, गम्भारी की छाल, पाढ़ल की छाल, अरणी की छाल); रास्ना, जौ, बेल की गुदी, कुलथी, झड़बेर, इन द्रव्यों को समान भाग लेकर यथाविधि क्वाथ करें, तैयार हो जाने पर छान लें। इस क्वाथ जल में तिल-तैल मिलाकर और उक्त पुनर्नवा आदि औषधद्रव्यों का कल्क करके इसका विधिपूर्वक पाक करें। तैल-पाक हो जाने पर छानकर उसे रख लें। मात्रा के अनुसार उस तैल का प्रयोग अभ्यंग तथा पिलाने के लिए करना चाहिए। यह तैल अनेक प्रकार के वातविकारों एवं हृदयरोग का विनाश करता है।

वक्तव्य—इसमें बेल की गुदी का दो बार उल्लेख हुआ है। अतः इस द्रव्य को दुगुना लेना चाहिए। पहले पुनर्नवा आदि बारह द्रव्यों का क्वाथ तैयार करें। इसमें पानी कितना डालना चाहिए, इसके सामान्य परिमाण को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—क्वाथ द्रव्य ४ तोले, जल १६ गुना, पकने के बाद ८ वाँ अंश शेष रहने पर उसे छान कर प्रयोग करें। **स्नेहपाक विधि**—१ भाग कल्क, ४ भाग घी या तेल, इनसे ४ गुना द्रव जिससे स्नेहपाक किया जायेगा। यथा—कल्क १ पाव, घी १ सेर और तेल या घी से पानी की मात्रा ४ सेर। जहाँ पानी डालने का विधान नहीं है, वहाँ गोमूत्र आदि जो द्रव डालना हो, उसे चौगुना डालना चाहिए।

हरीतकीनागरपुष्कराह्वैर्वयःकयस्थालवणैश्च कल्कैः ।
सहिङ्गुभिः साधितमग्र्यसर्पिर्गुल्मे सहृत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे ॥ ८३ ॥

हरीतक्यादि घृत—हरड़, सोंठ, पुष्करमूल, वयस्था (गुरुच), कायस्था (आँवला), सेंधानमक तथा हींग—इनका कल्क बनाकर यथाविधि घृतपाक करना चाहिए। यह घृत हृदय रोग, पसलियों में वेदना तथा वातज गुल्मरोग में उत्तम लाभदायक है।

सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं महौषधं शटचभया च कल्काः ।
क्षाराम्बुसर्पिर्लवणैर्विमिश्राः स्युर्वातहृद्रोगविकर्तिकाघ्नाः ॥ ८४ ॥

पुष्करमूलादि कल्क—पुष्करमूल, बिजौरानीबू की जड़, सोंठ, कचूर, हरड़, इन द्रव्यों को समान भाग लेकर तैयार करें। उस कल्क में जवाखार, जल, गाय का घी और सैंधानमक मिलाकर पिलाना चाहिए। इसका सेवन करने से वातज हृद्रोग एवं विकर्तिका रोग का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—विकर्तिका रोग का उल्लेख वाग्भट ने अपने अ० हृ० चि० अ० ६।३१ में किया है। इसमें कैंची से काटने के समान कष्ट की अनुभूति होती है। यह हृदयरोग का ही एक भेद है।

क्वाथः कृतः पौष्करमातुलुङ्गपलाशभूतीकशटीसुराह्वैः ।
सनागराजाजिवचायवानीक्षारः सुखोष्णो लवणश्च पेयः ॥ ८५ ॥

पुष्करमूलादि क्वाथ—पुष्करमूल, बिजौरानीबू की जड़, पलाश वृक्ष की छाल, भूतीक, कचूर, सुराह्व (देवदारु) की सारभाग लकड़ी इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट करके इनका विधिवत् क्वाथ करें। तैयार हो जाने पर उसे कपड़े से छान लें, इस क्वाथ में सोंठ, जीरा, मीठावच, अजवाइन, जवाखार, सेंधानमक

इनके चूर्णों का आवश्यकतानुसार प्रक्षेप देकर, अर्थात् ऊपर से बुरक कर उस क्वाथ को गुनगुना होने पर पिलाना चाहिए।

पथ्याशटीपौष्करपञ्चकोलात् समातुलुङ्गाद् यमकेन कल्कः ।
गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो हृत्पार्श्वपृष्ठोदरयोनिशूले ॥ ८६ ॥

पथ्यादि कल्क—हरड़, कचूर, पुष्करमूल, पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ), बिजौरानीबू की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क तैयार कर यमक स्नेह (तेल और घी) में भूँजकर गुड़, नमक तथा प्रसन्ना (मद्य का ऊपरी स्वच्छ भाग) के साथ पीना चाहिए। इसके सेवन से हृदय-शूल, पसलियों का शूल, पृष्ठशूल, उदरशूल तथा योनिशूल नष्ट होते हैं।

स्यात् त्र्यूषणं द्वे त्रिफले सपाठे निदिग्धिकागोक्षुरकौ बले द्वे ।
ऋद्धिस्त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता मेदे मधूकं मधुकं स्थिरा च ॥ ८७ ॥
शतावरी जीवकपृश्निपर्ण्यौ द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सुपिष्टैः ।
प्रस्थं घृतस्येह पचेद् विधिज्ञः प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण ॥ ८८ ॥
मात्रां पलं चार्धपलं पिचुं वा प्रयोजयेन्माक्षिकसम्प्रयुक्ताम् ।
श्वासे सकासे त्वथ पाण्डुरोगे हलीमके हृद्ग्रहणीप्रदोषे ॥ ८९ ॥

त्र्यूषणादि घृत—त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल), दो त्रिफला (१. हरड़, बहेड़ा, आँवला। २. गम्भार का फल, मुनक्का, फालसा), पाठा, भटकटैया, गोखरू, बला, अतिबला, ऋद्धि, छोटी इलायची, भुँई आँवला, किवाँच, मेदा, महामेदा, मधुआ, मुलेठी, स्थिरा (शालपर्णी), शतावर, जीवक, पृश्निपर्णी, इन सभी द्रव्यों को १-१ अक्ष (१-१ तोला) की मात्रा में लेकर इनका कल्क तैयार करें। भैंस के दूध का दही १ प्रस्थ (६४ तोला) और गाय का घी १ प्रस्थ, इन सबको एक साथ आवश्यकतानुसार जल मिलाकर अर्थात् ३ प्रस्थ जल में दही को मथकर घृतपाक-विधि को जानने वाला चिकित्सक उसका पाक करे, तैयार होने पर छानकर रख ले। सेवन करते समय इसकी मात्रा १ पल (४ तोला), आधा पल (२ तोला) या पिचु (१ तोला) है। इस त्र्यूषणादि घृत में मधु मिलाकर सेवन करने से श्वास (दमा), कास (खांसी), पाण्डुरोग, हलीमलक (पाण्डुरोग का एक भेद), हृदय रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने प्रायः इसी प्रकार का एक योग अ० सं० चि० अ० ८।४६-४९ में दिया है, देखें।

शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे ।
द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्याच्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम् ॥ ९० ॥

पित्तज हृद्रोग-चिकित्सा—पित्तदोष से हृदय के दूषित होने पर शीतवीर्य द्रव्यों के प्रदेह (लेप), शीतल द्रव्यों के ठंडे किये गये क्वाथ जल से परिषेचन तथा मुनक्का, मिश्री, मधु, फालसा के रस के साथ विरेचक द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए। इन विधियों से जब हृदय पित्त-विकार से शुद्ध हो जाय तदनन्तर उसे पित्तदोष-नाशक अन्न (आहार), पान (पेय द्रव) दें।

[1]यष्ट्याह्विकातिक्तकरोहिणीभ्यां कल्कं पिबेच्चापि सिताजलेन ।
क्षते च सर्पींषि हितानि सर्पिर्गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक् ॥ ९१ ॥
दद्याद् भिषग्धन्वरसांश्च गव्यक्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु ।
तैरेव सर्वे प्रथमं प्रयान्ति पित्तामयाः शोणितसंश्रया ये ॥ ९२ ॥

मुलेठी आदि द्रव्यों का प्रयोग—मुलेठी, तिक्तकरोहिणी (कुटकी), इन दोनों को समान भाग लेकर कल्क कर लें। इसे मिश्री के शर्बत में घोलकर हृदयरोग से पीड़ित पुरुष को पीना चाहिए। क्षतक्षीण-चिकित्सा (च० चि० अ० ११) में औषध-सिद्ध घृत तथा गुड़ का भी चिकित्सक भली-भाँति विचार करके पित्तज

---

१. 'पिष्ट्वा पिबेच्चापि सिताजलेन यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणीं च' इति पा०।

हृदयरोग में प्रयोग करे। तथा पित्तज हृदयरोग में गाय का दूध पीने वाले रोगियों को चिकित्सक धन्व (मरु) भूमि में पाये जाने वाले पशु-पक्षियों के मांस रसों का भी सेवन करायें। उपर्युक्त चिकित्सा-विधियों से पित्तज रोग एवं रक्त के आश्रय से होने वाले रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—कुछ प्रतियों में 'षष्ट्याह्विका' पाठ मिलता है, अन्यत्र इसके स्थान पर 'यष्ट्याह्विका' पाठ है जो शुद्ध है। मुलेठी का संस्कृत पर्याय 'यष्टी' है। हो सकता है कि यहाँ संस्करण-कर्त्ताओं के प्रमादवश 'य' के स्थान पर 'प' छप गया हो। **'गव्यक्षीराशिनां धन्वरसांश्च दद्यात्'**। हृदयरोग की इस 'अहृद्य' चिकित्सा से चिन्तित होकर चरक के टीकाकार श्रीगणनाथ सेन ने 'धन्वरसान् न' इस पाठभेद की युक्तियुक्त कल्पना की है। निश्चित ही तन्त्रकार को भी यही पाठ अभीष्ट रहा होगा, क्योंकि वे 'नीरजस्तम' थे।

द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्कराभिः खर्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च।
काकोलिमेदायुगजीवकैश्च क्षीरेण सिद्धं महिषीघृतं स्यात्॥ ९३॥

द्राक्षादि घृत—मुनक्का, बलामूल, रास्ना, चीनी, खजूर, शतावरी, ऋषभक, नीलकमल, काकोली, मेदा, महामेदा, जीवक, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क तैयार करें। इस कल्क तथा गाय के दूध से भैंस के घी का पाक करें। (यह घी पित्तज हृदय रोगी को सेवन कराना चाहिए)।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है—'श्रेयसीशर्कराद्राक्षा जीवकर्षभकोत्पलैः। बला-खर्जूरकाकोलीमेदायुग्मैश्च साधितम्॥ सक्षीरं माहिषं सर्पिः पित्तहृद्रोगनाशनम्'॥ अ० सं० चि० अ० ८।५३। इन्होंने केवल 'वीरा' द्रव्य का ग्रहण उक्त योग में नहीं किया, शेष पूर्ववत् है।

कशेरुकाशैवलशृङ्गबेरप्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य।
ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत् तैः क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम्॥ ९४॥

कशेरुकादि घृत—कशेरू, शैवाल (सेंवार), अदरख, पुण्डरियाकाठ, मुलेठी, कमलनाल की गाँठ, काकोली, मेदा, महामेदा, जीरक इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क बनाकर भैंस के दूध से बनाये गये घी का यथाविधि पाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। मात्रा के अनुसार इसे लेकर मधु मिलाकर इसका सेवन करें। यह घी पित्तज हृदय रोग का विनाश करता है।

स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि।
सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे॥ ९५॥

स्थिरादि घृत—१. स्थिरादि वर्ग (लघुपञ्चमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) इनका कल्क तैयार करें, घी से चौगुना गाय का दूध लेकर घृतपाक करें। २. स्थिरादि वर्ग के द्रव्यों से कल्क तैयार करें, घी से चौगुना मुनक्का का रस लेकर घृतपाक करें। ३. अथवा स्थिरादि वर्ग के द्रव्यों से कल्क तैयार करें, घी से चौगुना ईख का रस लेकर घृतपाक करें। उक्त तीनों घृत पित्तज हृदयरोग में हितकर होते हैं।

वक्तव्य—ऊपर तीन घृतों का वर्णन किया गया है। इनमें उक्त द्रव्यों का कल्क १ भाग, कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना दूध लेकर घृतपाक-विधि से इनका पाक करना चाहिए। उक्त रोगी को स्वतन्त्र रूप से दूध, मुनक्का का रस और ईख का रस भी दिया जा सकता है।

स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे।
कौलत्थधान्यैश्च रसैर्यवान्नं पानानि तीक्ष्णानि [1]च शङ्कराणि॥ ९६॥

कफज हृद्रोग-चिकित्सा—इस रोग में जिस रोगी को स्वेदन करा दिया गया हो, वमन करा दिया गया हो और लंघन आदि कफ-नाशक क्रियाएँ करा दी गयी हों, उसे जांगलदेश के प्राणियों के मांसरस के साथ अथवा कुलथी आदि शमी धान्य के यूषों के साथ जौ से बने हुए आहारों का सेवन कराना एवं तीक्ष्ण (सोंठ, मरिच, पीपल आदि) द्रव्यों से पकाये गये जल को पीने के लिए देना चाहिए।

---

१. 'सशर्कराणि' इति पा०।

मूत्रे शृताः कट्फलशृङ्गबेरपीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः।
[1]कृष्णाशटीपुष्करमूलरास्नावचाभयानागरचूर्णकं च॥ ९७॥

१. कट्फलादि कषाय—कायफल, अदरख, दारुहल्दी, हरड़, अतीस इन द्रव्यों को समान भाग लेकर गोमूत्र में पकाकर रोगी को देना चाहिए। **२. कृष्णादि चूर्ण**—पिप्पली, कचूर, पोहकरमूल, रास्ना, बालवच, हरड़, सोंठ इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण बनाकर गोमूत्र के साथ पीने के लिए रोगी को दें।

वक्तव्य—नीचे टिप्पणी में इस श्लोक के उत्तरार्ध का पाठभेद दिया है, तदनुसार इसका नाम **शट्यादि-चूर्ण** होगा। मूलपाठ में **'च'** अव्यय का एवं पाठभेद में **'तथा'** शब्द का प्रयोग होने के कारण इस चूर्ण का प्रयोग भी गोमूत्र में पकाकर करना चाहिए। किन्तु तन्त्रकार ने पूर्वार्ध के लिए स्पष्टरूप से 'मूत्रे शृताः' निर्देश किया है, अतः इस योग का क्वाथ करके प्रयोग कराना चाहिए और श्लोक के उत्तरार्ध में 'चूर्ण' शब्द का उल्लेख करने के कारण यहाँ मूत्र को चूर्ण का अनुपान मान लेना उचित है। 'च' और 'तथा' के प्रयोग से हम यह अर्थ लगा लेंगे, जैसे कफज हृदयरोग में कट्फलादि कषाय लाभदायक होता है, वैसे ही 'कृष्णादि चूर्ण' भी। वृद्धवाग्भट ने भी क्वाथ बनाने के लिए कहा है। देखें—अ० सं० चि० अ० ८।५८।

उदुम्बराश्वत्थवटार्जुनाख्ये पालाशरौहीतकखादिरे च।
क्वाथे त्रिवृत् त्र्यूषणचूर्णसिद्धो लेहः कफघ्नोऽशिशिराम्बुयुक्तः॥ ९८॥

उदुम्बरादि लेह—गूलर की छाल, पीपल की छाल, बरगद की छाल, अर्जुन की छाल, पलाश की छाल, रोहीतक (रोहेड़ा) की छाल, खैर की छाल—इन सबको समान भाग लेकर जौकुट करके सोलह गुना जल से इसका क्वाथ तैयार करें। आठवाँ भाग शेष रह जाने पर उतार कर छान लें। उस क्वाथ में सफेद निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपल इनका चूर्ण मिलाकर मन्द आँच पर रखकर इसे पकायें। जब यह चाटने योग्य हो जाय तो उतार कर रख लें। यह गुनगुने पानी के साथ सेवन करने पर कफनाशक होता है।

वक्तव्य—अवलेह या लेह की परिभाषा शार्ङ्गधराचार्य ने इस प्रकार दी है—'क्वाथादीनां पुनः क्वाथाद् घनत्वं सा रसक्रिया। सोऽवलेहश्च लेहः स्यात् तन्मात्रा स्यात् पलोन्मिता'॥ शा० सं० म० खं० अ० ८।१। कुछ टीकाकारों ने स्नेह डालना, दूसरों ने गुड़, चीनी डालने की बात कही है। सचमुच वे लेह या अवलेह के भेद हैं। सब लेह एक ही प्रकार के हों, ऐसा कहना या मानना मात्र दुराग्रह है और स्नेह कफकारक भी होता है। यह कफनाशक योग है। यहाँ त्रिवृत् (निशोथ) तथा त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पिप्पली) द्रव्य प्रक्षेप के लिए निर्दिष्ट हैं। अतः इनकी मात्रा क्वाथ से चतुर्थांश होगी। मात्रा—३ माशा।

शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः प्रयोजयेत् कल्पविधानदिष्टम्।
प्राशं [2]तथाऽगस्त्यमथापि लेहं रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः॥ ९९॥

कफज हृद्रोग में शिलाजतु-प्रयोग—चिकित्सक को चाहिए कि वह सावधान होकर रसायनकल्प में कही गयी विधि के अनुसार रोगी को शिलाजतु का प्रयोग कराये। इसके अतिरिक्त च्यवनप्राश, अगस्त्यहरीतकी अवलेह तथा ब्राह्मरसायन, आमलकरसायन का भी प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—चरक-चिकित्सास्थान अ० १ के करप्रचितीय रसायनपाद ३।४८-६५ में शिलाजतु रसायन; च० चि० अ० १ रसायनपाद १।६२-७४ में च्यवनप्राश; च० चि० अ० १८।५७-६२ में अगस्त्यहरीतकी (पाठ भेद के अनुसार यह योग सुश्रुत तथा भैषज्यरत्नावली-कासरोगाधिकार में भी है); ब्राह्मरसायन—च० चि० अ० १ रसायनपाद १ श्लोक ४१-६१ तथा आमलकरसायन च० चि० अ० १ रसायनपाद ३।३-८ देखें। वृद्ध-वाग्भट ने भी उक्त योग को अपनाया है। देखें—अ० सं० चि० अ० ८।६०-६१।

एक संस्मरणीय तथ्य—उपर्युक्त ब्राह्मरसायन तथा आमलकरसायन का कुटीप्रावेशिक प्रयोग सन् १९४८-४९ में महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी को कराया गया था। तदनन्तर कुछ वर्षों के बाद अनन्त

---

१. 'तथा शटीशुण्ठीवचोपकुल्यारास्नावचापुष्करमूलचूर्णं' इति पा०।
२. 'तथाऽगस्त्यहरीतकीं च' इति पा०।

श्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज ने मीरघाट स्थित विश्वनाथमन्दिर के सामने रसायन-सेवनयोग्य शास्त्रोक्त कुटी का निर्माण कराकर किया था।

त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्यादन्नं च सर्वेषु हितं विधेयम्।
हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम्॥ १००॥

त्रिदोषज हृद्रोग-चिकित्सा—इसमें सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिए। तदनन्तर जो अन्न (आहार) तीनों दोषों के लिए हितकर हो, अर्थात् जो किसी दोष को प्रकुपित न करता हो वैसा आहार उसे देना चाहिए। उसमें भी तीनों दोषों के हीन, मध्य, अधिक स्वरूप का विवेचन करके चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—प्रायः सभी त्रिदोषज व्याधियों में जो दोष सबसे प्रधान होता है, पहले उसकी, फिर मध्यम दोष की, तदनन्तर हीनबल वाले दोष की चिकित्सा करनी चाहिए। इसी का संकेत ऊपर पद्य में किया गया है।

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं जीर्णे स्थितं चेत् सुरदारुकुष्ठम्।
सतिल्वकं द्वे लवणे विडङ्गमुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत् सः॥ १०१॥

हृदयशूल में सुरदार्वादि चूर्ण—जिन हृदयरोगियों को भोजन करने के बाद हृदय में अधिक शूल उत्पन्न होता है तथा भोजन के पचने पर शूल कम हो जाता है तथा भोजन के भली-भाँति पच जाने पर शूल पूर्णरूप से शान्त हो जाता है। ऐसे रोगी को देवदारु, कूठ, पठानीलोध, सेंधानमक, सोंचरनमक, वायविडंग तथा अतीस इन सभी द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण करके मात्रा के अनुसार गरम जल के साथ सेवन करने के लिए देना चाहिए।

जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात् फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात्।
त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात्॥ १०२॥

हृदयशूल में अन्य योग—यदि भोजन के पच जाने पर हृदय में शूल बढ़ जाता हो, तो रेड़ी आदि के तेल से स्नेह-विरेचन कराना चाहिए। यदि भोजन के परिपाक काल में शूल अधिक हो रहा हो तो मुनक्का आदि विरेचक फलों का रस पिलाकर उसे विरेचन कराना चाहिए। यदि तीनों कालों में (१. भोजन करने के बाद, २. भोजन के पचते समय और ३. भोजन के पच जाने पर) शूल अधिक मात्रा में होता हो तो उसे मूल द्रव्यों (दन्तीमूल=जमालगोटा की जड़, त्रिवृत्=निशोथ मूल आदि) का यथाविधि सेवन कराकर विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त दोनों श्लोक परस्पर शूल की विपरीतावस्था के सूचक हैं। अतः चिकित्सा की दृष्टि से दोनों ही सदैव स्मरणीय हैं।

प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात्।
कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद्गदे च॥ १०३॥

इति हृद्रोगचिकित्सा।

कृमिज हृद्रोग-चिकित्सा—जब वायु का मार्ग प्रायः रुक जाता है, तो वह रुका हुआ वायु आमाशय में पहुँचकर प्रकुपित हो जाता है। अतः उसमें शोधन, लंघन, पाचन कराना चाहिए। कृमिजनित हृदयरोग में कृमिनाशक सभी प्रकार के औषधयोगों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—कृमिरोग के अतिरिक्त वातनाशक उत्तम चिकित्सा वस्ति-प्रयोग है, किन्तु आमाशय को शुद्ध करने के लिए तथा कृमिजनित कष्ट को दूर करने के लिए विरेचन-विधि सब में उत्तम है। अतः यहाँ शोधनकर्म से विरेचन का ही ग्रहण किया जाता है। आमाशय का शोधन हो जाने से वायु की गति अनुलोम हो जाती है। वायु के बिना पीड़ा नहीं होती है, किन्तु यहाँ पीड़ा के कारण कृमि भी हैं। सुश्रुत के अनुसार—'कृमिहृद्रोगिणं स्निग्धं भोजयेत् पिशितौदनम्। दध्ना च पललोपेतं त्र्यहं पश्चाद् विरेचयेत्॥ सुगन्धिभिः सलवणैर्योगैः साजाजिशर्करैः॥ सु० उ० अ० ४३।२०-२१। इसी के आगे इसकी चिकित्सा का विधान भी दिया गया है, उसे भी देखें।

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोऽभितापैः।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः॥ १०४॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत् तु।

शिरोरोग-प्रकरण

प्रतिश्याय : निदान एवं सम्प्राप्ति—अधारणीय वेगों को रोकने से, अजीर्ण से, धूलि के सम्पर्क से, अधिक बोलने से, अधिक क्रोध करने से, ऋतुओं की विषमता से, शिर में वेदना होने से, रात में अधिक जागरण से, दिन में अधिक सोने से, ओस में पड़े रहने से, अधिक मैथुन करने से, अधिक आँसू गिराने से, अधिक धुआँ लगने से, शिरःप्रदेश में कफदोष की वृद्धि हो जाने से प्रकुपित हुआ वातदोष प्रतिश्याय (Catarrh) रोग को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—सु० उ० तं० अ० २५।३-४ में ११ प्रकार के शिरोरोगों की चर्चा की गयी है। उनमें प्रतिश्याय रोग का संग्रह नहीं किया गया है। प्रतिश्याय का स्वतन्त्ररूप से वर्णन सु० उ० अ० २४ में किया गया है। चरक के इस तिस्रैषणीय नामक अध्याय में वस्ति, हृदय और सिर इन तीन मर्मों में होने वाले रोगों का वर्णन करने की प्रस्तावना की गयी थी, तदनुसार वस्ति तथा हृदय पर आश्रित रोगों की चर्चा की जा चुकी है। अब शिरो-रोगों अर्थात् शिरःप्रदेश के भीतर होने वाले रोगों की चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। महर्षि आत्रेय ने इसके पहले भी प्रतिष्याय का वर्णन राजयक्ष्मचिकित्सित में इस प्रकार किया है—'घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा। मारुताध्मातशिरसो मारुतं श्यायते प्रति॥ प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्शनः'। च० चि० अ० ८।४८। अन्यत्र भी महर्षि ने इसकी चर्चा इस प्रकार की है—'प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः कासात् सञ्जायते क्षयः'। च० नि० अ० ८।१९। इस प्रकार प्रतिश्याय रोग की दुष्टता किंवा रोगोत्पादक क्षमता को देखकर सर्वप्रथम उसी की चर्चा की जा रही है। सुश्रुतोक्त प्रतिश्याय-निदान देखें—सु० उ० अ० २४।३। यद्यपि शिरःशारीर में अनेक शरीरावयवों का समावेश होता है, किन्तु यहाँ शिरोरोग के अन्तर्गत केवल सिर, नासा तथा मुखरोगों का ही वर्णन किया गया है।

घ्राणार्तितोदौ क्षवथुर्जलाभः स्रावोऽनिलात् सस्वरमूर्धरोगः॥ १०५॥
नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोषतृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात्।
कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः कफाद् गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः॥ १०६॥
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्युः पीनसे [1]तीव्ररुजेऽतिदुःखे।

वातज प्रतिश्याय के लक्षण—वातजनित प्रतिश्याय रोग में नासिका में पीड़ा, सुई चुभने की सी पीड़ा, बार-बार छींकों का आना, नासिका से पानी के सदृश स्राव का होना, स्वरभेद (गला बैठना) तथा शिरः प्रदेश में वेदना का होना, ये लक्षण होते हैं।

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण—इसमें नासिका के अगले भाग का पक जाना, ज्वर, मुख का बार-बार सूखना, प्यास की अधिकता, नासिका से उष्ण एवं पीले वर्ण का स्राव होना, ये लक्षण होते हैं।

कफज प्रतिश्याय के लक्षण—इसमें कास, भोजन के प्रति इच्छा का न होना, नाक से गाढ़े स्राव का निकलना, शरीर तथा सिर में भारीपन, नासिका के स्रोतों में खुजली होना, ये लक्षण होते हैं।

सन्निपातज प्रतिश्याय के लक्षण—इसमें अत्यन्त वेदना, तीनों दोषों के लक्षणों का तर-तम भेद से दिखलायी देने वाला यह प्रतिश्याय अत्यन्त दुःखदायी होता है।

वक्तव्य—प्रतिश्याय अत्यन्त दुःखदायी रोग है। समय रहते सावधानीपूर्वक यदि इसकी उचित चिकित्सा नहीं की जाती है, तो इससे अनेक रोगों की उत्पत्ति होने लगती है। महर्षि सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र के तीन (२२ से २४ तक के) अध्यायों में इसका विस्तारपूर्वक स्पष्ट वर्णन किया है। इन्होंने इकत्तीस प्रकार के नासारोगों का उल्लेख कर उनकी चिकित्सा भी वर्णन किया है। उपर्युक्त वातज आदि प्रतिश्यायों के लक्षणों के तुलनात्मक विवेचन के लिए देखें—सु० उ० अ० २४।६-११।

---

१. 'ऽतीव रुजोऽनिदुःखे' इति पा०।

सर्वोऽतिवृद्धोऽहितभोजनात्तु दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात् ॥ १०७ ॥
ततस्तु रोगाः क्षवथुश्च नासाशोषः प्रतीनाहपरिस्रवौ च ।
घ्राणस्य पूतित्वमपीनसश्च सपाकशोथार्बुदपूयरक्ताः ॥ १०८ ॥
अरूंषि शीर्षश्रवणाक्षिरोगखालित्यहर्यर्जुनलोमभावाः ।
तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्तवैस्वर्यशोषाश्च ततो भवन्ति ॥ १०९ ॥

दुष्टप्रतिश्याय के लक्षण—यदि प्रतिश्याय रोग से युक्त पुरुष अहितकर भोजन करता हुआ प्रतिश्याय रोग की उपेक्षा कर देता है, तो सभी प्रकार के प्रतिश्याय भेद बढ़कर दुष्ट (दोषयुक्त) प्रतिश्याय का रूप धारण कर लेते हैं। तदनन्तर बार-बार छींकों का आना अर्थात् क्षवथु रोग, नासाशोष, नासाप्रतीनाह, नासापरिस्राव, पूतिनासा रोग, अपीनसरोग, नासापाक, नासाशोथ, नासाअर्बुद, पूयरक्त (नासिका से मवाद तथा रक्त का निकलना), फुंसियों का निकलना, शिर, कान तथा आँखों के अन्य रोग, खालित्य (गंजापन), लोमों का भूरा तथा सफेद हो जाना, प्यास, श्वास, कास, ज्वर, रक्तपित्त, स्वरभेद अथवा स्वर में भारीपन, शोषरोग ये सभी दुष्टप्रतिश्याय के कारण उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—जिसकी उपेक्षा करेंगे वह दुष्ट हो ही जाता है, यही स्थिति प्रतिश्याय रोग की भी है। सुश्रुत ने शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी रोगों का विस्तृत वर्णन किया है। चरक ने नासाशोथ तथा नासार्बुद के भेदों की चर्चा नहीं की है। सुश्रुत ने चार प्रकार के नासाशोथ तथा सात प्रकार के नासार्बुदों का वर्णन एवं चिकित्सा का विधान किया है। देखें—सु० उ० अ० २२।३-५। सुश्रुत के अनुसार ३१ प्रकार के नासारोग होते हैं। जिनका वर्णन चरक में नहीं किया गया है, क्योंकि वे सभी शालाक्यतन्त्र के रोग हैं।

रोधाभिघातस्रवशोषपाकैर्घ्राणं युतं यश्च न वेत्ति गन्धम् ।
दुर्गन्धि चास्यं बहुशः प्रकोपि दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत् तम् ॥ ११० ॥

दुष्टप्रतिश्याय के लक्षण—जब नासिका में रुकावट प्रतीत होती है, किसी प्रकार का अभिघात हो जाता है, नासिका से स्राव होने लगता है, नासाशोष हो जाता है, नासापाक हो जाता है, इन कारणों से युक्त होने के कारण रोगी को गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता, मुख दुर्गन्धित हो जाता है और प्रतिश्याय का बार-बार प्रकोप होने लगता है, तब उसे दुष्टप्रतिश्याय कहा जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार दुष्टप्रतिश्याय के लक्षण—'प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति। मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा ॥ निःश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान् न वेत्ति च। एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम्' ॥ सु० उ० अ० २४।१४-१५। इसी को यूनानी चिकित्सक 'बिगड़ा हुआ जुकाम' कहते हैं।

संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति ।
क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासाशृङ्गाटकघ्राणविशोषणं च ॥ १११ ॥

१. **क्षवथु के लक्षण**—अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ वातदोष शिरःप्रदेश के सभी अवयवों में व्याप्त होकर विशेष करके नासिका क्षेत्र के मर्मों से सम्बन्धित होकर क्षवथु (छींक) रोग को उत्पन्न कर देता है।

२. **नासापरिशोष के लक्षण**—कुपित वातदोष नासिका-प्रदेश में कफदोष को, नासाशृंगाटक और नासिका को सुखाकर उक्त रोग उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—क्षवथु (छींक आना) तथा नासापरिशोष अथवा सभी प्रकार के नासारोगों में गन्ध ग्रहण की क्षमता समाप्त हो जाती है। नासिकागुहा में शृंगाटक नाम का मर्म है, इस रोग में वह दूषित हो जाता है। देखें—सुश्रुत-शारीरस्थान अ० ६ में नासाशारीर का वर्णन। सुश्रुत के अनुसार यह क्षवथु (Sneezing) रोग एक दोषप्रकोपज तथा दूसरा आगन्तुज होता है। इसके अतिरिक्त एक 'भ्रंशथु' रोग भी स्वीकार किया गया है। इन तीनों के लक्षण सु० उ० अ० २२।११-१४ में देखें। सुश्रुत में 'क्षवथु' का परिचायक जो श्लोक दिया है—'घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टे यस्यानिलो नासिकया निरेति'। इस पाठ में 'सम्प्रदुष्टे' के स्थान पर 'सम्प्रदुष्टो यस्यानिलः' ऐसा पाठ होना चाहिए, क्योंकि 'सम्प्रदुष्ट' शब्द 'अनिल (वायु)' का विशेषण है। 'भ्रंशथु' रोग

में नाक से पीला-पीला नासामल (Mucus of the nose) अधिक मात्रा में निकलता है, जिससे शिर में सूनेपन का अनुभव होता है।

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत् तम् ।
यो मस्तुलुङ्गाद् घनपीतपक्वः कफः [1]स्रवेदेष परिस्रवस्तु ॥ ११२ ॥

३. **नासाप्रतीनाह के लक्षण**—जब वातदोष के साथ प्रकुपित कफदोष उच्छ्वास (ऊपर की ओर को साँस लेने वाले) मार्ग में रुकावट पैदा कर देता है, तो उसे नासाप्रतीनाह कहते हैं।

४. **नासापरिस्रव के लक्षण**—जब मस्तुलुंग (मस्तिष्क=शिरःप्रदेश स्थित अवयव विशेष) से गाढ़ा, पीला, पका हुआ कफ का स्राव होने लगता है, तो उसे नासापरिस्रव कहते हैं।

वक्तव्य—इन दोनों रोगों का उल्लेख महर्षि सुश्रुत ने भी किया है, किन्तु लक्षणों में पर्याप्त अन्तर है। आप भी ध्यान दें—जिसे चरक में 'परिस्रव' अथवा पाठभेद के अनुसार 'स्राव' कहा है, उसे सुश्रुत में 'परिस्राव' बतलाया है। लक्षणों की दृष्टि से 'रात्रौ विशेषेण हितं विकारं' (सु० उ० अ० २२।१७) कहकर चरक से इसकी पृथक्ता दिखलायी है। सुश्रुत की उक्त मान्यता का समर्थन श्रीवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० हृ० उ० अ० १९।१९।

हमारे विचार से सुश्रुत तथा वाग्भट ने जो देखा-सोचा हो, किन्तु प्रत्यक्षतः देखा यह जाता है कि दिन में नासास्राव अधिक होता है और रात्रि में थोड़ा, नींद आ जाने पर बिल्कुल नहीं होता। यहाँ दिये गये नासा-परिस्रव के लक्षणों के साथ आप सुश्रुतोक्त भ्रंशथु सु० उ० अ० २२।१३ के लक्षणों का मिलान करें, आपको स्वयं आभास होगा कि समानता किधर अधिक है। व्याकरण की दृष्टि से भी 'स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु (भ्रंशु) अवस्रंसने धातु' के ही ये रूप हैं—स्रव, स्राव, भ्रंशथु।

वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु स्यात् पूतिनस्यं श्वयथुर्भ्रमश्च ।
आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ॥ ११३ ॥
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत् तमपीनसेन ।
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥ ११४ ॥

५. **पूतिनस्य के लक्षण**—नासापरिस्रव रोग की समय पर चिकित्सा न करने के कारण नासिका में विवर्णता (कुरूपता), दुर्गन्धि, शोथ (सूजन), चक्करों का आना ये लक्षण दिखलायी देते हैं। दुर्गन्ध की अधिकता के कारण ही इसे 'पूतिनस्य' कहते हैं।

६. **अपीनस के लक्षण**—जिस रोगी की नासिका में आनाह हो, अर्थात् ऐसा लगता हो कि नासिका चारों ओर से बाँध दी गयी है या फँस गयी है, सूख गयी या उसमें गीलापन हो या नाक से धुआँ-सा निकलता प्रतीत होता हो, जिसे किसी प्रकार का गन्ध का ज्ञान न होता हो और न रसों (खट्टा, मीठा आदि) का ज्ञान होता हो, ऐसे व्यक्ति को अपनीस रोग से पीड़ित समझना चाहिए। वात तथा कफ की विकृति से उत्पन्न होने वाले उस विकार (रोग) को प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला समझना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अपीनस रोग में पीनस रोग से अधिक कष्ट होता है, कहा है और इसी प्रसंग में 'अवीनस' का भी वर्णन किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० २३।२०-२१। वृद्धवाग्भट ने जिसे 'अवीनस' कहा है, उसी पाठ में अष्टांगहृदयकार वाग्भट 'अपीनस' कहते हैं। कोषकारों ने 'प्रतिष्याय' को ही 'पीनस' कहा है। देखें—अमरकोष। पूतिनस्य को सुश्रुत और वाग्भट ने 'पूतिनास' संज्ञा दी है, परन्तु लक्षणों में कुछ-कुछ अन्तर है। देखें—सु० उ० अ० २२।७-८ और अ० हृ० उ० अ० १९।२३। इसका प्रमुख लक्षण है—नासिका से दुर्गन्ध युक्त वायु का निकलना।

सदाहरागः श्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात् ।
घ्राणाश्रितासृक्प्रभृतीन् प्रदूष्य कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च ॥ ११५ ॥

१. 'घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत् स्रावमुदाहरेत् तम्' इति पा०।

७. **घ्राणपाक के लक्षण**—नासिका-प्रदेश में रक्त तथा पित्तदोष का प्रकोप हो जाता है, तो नासिका के भीतर जलन, लालिमा या रक्तिमा तथा शोथ हो जाता है, वही शोथ आगे चलकर पक जाता है, इसे घ्राण (नासिका) पाक कहते हैं।

८. **घ्राणशोथ**—घ्राण (नासिका) शरीर के आश्रय में रहने वाले अवयवों में कुपित हुए वात, पित्त, कफदोष नासिका में स्थित रक्त आदि धातुओं को दूषित कर जिस शोथ को उत्पन्न कर देते हैं, उसे घ्राण (नासिका) शोथ कहते हैं।

वक्तव्य—'घ्राण' शब्द नासिका का पर्याय है। अतः नाम में किसी प्रकार का भेद नहीं है, किन्तु तन्त्रान्तरों में दिये गये लक्षणों में पर्याप्त भेद है। सुश्रुत उ० अ० २२।८-९ तथा अष्टांग सं० उ० अ० २३।१८ में देखें। चरक के अनुसार इन्होंने भी इसको 'घ्राणपाक' कहा है। इनका कथन है कि इसमें दोनों नासापुट पकने लग जाते हैं और दाह तथा शूल विशेष रूप से होता है।

घ्राणे तयोच्छ्वासगतिं निरुध्य मांसास्रदोषादपि चार्बुदानि ।
घ्राणात् स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पित्तास्रमस्रं त्वपि पूयरक्तम् ॥ ११६ ॥

९. **नासार्बुद के लक्षण**—वात आदि दोष नासिकामंडल में रक्त तथा मांसधातुओं को दूषित कर एवं श्वास की गति को रोक कर नासिका के स्रोतों में अर्बुद (Tumour) रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

१०. **पूयरक्त के लक्षण**—इसमें नासिका, कान या मुख से पित्त मिला हुआ रक्त का स्राव होता है, अतः इस रोग को पूयरक्त कहते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'पित्तास्रमस्रं' के स्थान पर 'पूयास्रमस्रं' पाठ को स्वीकार किया है, तदनुसार 'पूय (मवाद) से युक्त रक्त' निकलता है, ऐसा अर्थ किया जायेगा। सुश्रुत उ० अ० २२।९ में '**वक्ष्यामि भूयः खलु रक्तपित्तम्**' कहा गया है। वास्तव में यह नासारोग का होने वाला एक उपद्रव है। श्रीजयदेव का कथन है कि 'पित्तास्रमस्रं' के स्थान पर '**पूयास्रमस्रम्**' पाठ ही होना चाहिए। इसके लिए सुश्रुतोक्त 'पूतिनासा' का लक्षण देखें—सु० उ० अ० २२।७।

कुर्यात् सपित्तः पवनस्त्वगादीन् सन्दूष्य चारूंषि सपाकवन्ति ।
नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति ॥ ११७ ॥

इति नासारोगनिदानम्।

११. **अरूंषिका के लक्षण**—पित्तदोष के साथ कुपित हुआ वातदोष नासिका सम्बन्धी त्वचा आदि धातुओं को दूषित कर पकने वाली अरूंषिकाओं (फुन्सियों) को पैदा कर देता है। इसे अरूंषिका रोग कहते हैं।

१२. **दीप्तरोग के लक्षण**—यह भी पित्तदोष-प्रधान रोग है। इसमें रोगी की नासिका के भीतर बार-बार जलन होती रहती है।

वक्तव्य—सुश्रुत में अरूंषिका को स्वतन्त्र रोग नहीं माना गया है। नासापाक में होने वाली फुन्सियों का वर्णन अवश्य किया है। चरक ने दुष्टप्रतिश्याय सम्बन्धी रोगों की प्रस्तावना में दीप्त नामक रोग का उल्लेख किया है, किन्तु रोग के रूप में उसके बारे में आगे कुछ नहीं दिया है। वाग्भट ने इसे रक्तप्रधान रोग स्वीकार करते हुए इसे एक स्वतन्त्र रोग माना है। इस रोग के सम्बन्ध में सु० नि० अ० १३, सु० उ० अ० २२, २४ तथा २५ का अवलोकन करें।

भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात् पित्तात् सदाहार्ति कफाद् गुरु स्यात् ।
सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिभिस्तु कण्डूदौर्गन्ध्यतोदार्तियुतं शिरः स्यात् ॥ ११८ ॥

इति शिरोरोगनिदानम्।

शिरोरोग-निदान—यदि सिर में वातदोष का प्रकोप होता है, तो सिर में अत्यन्त पीड़ा तथा शूल होने लगता है। यदि सिर में पित्तदोष का प्रकोप होता है, तो दाह तथा पीड़ा होने लगती है और कफदोष का प्रकोप होने पर सिर में भारीपन प्रतीत होता है। उपर्युक्त वातादि दोषों के लक्षण यदि एक साथ प्रतीत

हों तो उसे त्रिदोषज शिरोरोग कहते हैं। यदि यह शिरोरोग क्रिमियों के उत्पन्न होने से हुआ हो तो इसमें शिरःप्रदेश में खुजलाहट, दुर्गन्धता, सुई चुभाने की-सी पीड़ा तथा वेदना होने लगती है, अर्थात् ये लक्षण दिखलायी देने लगते हैं।

वक्तव्य—चरक ने इस प्रकरण में पाँच शिरोरोग आगे त्रिमर्मीयसिद्धि नामक नवें अध्याय में शंखक, अर्धावभेदक, सूर्यावर्त, अनन्तवात नामक अन्य शिरोरोगों का उल्लेख कर कुल ९ शिरोरोगों का वर्णन किया है। सुश्रुत ने रक्तज और क्षयज दो अधिक शिरोरोगों का वर्णन किया है, जिसे तन्त्रकार की परिभाषा के अनुसार '**बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीत्**' कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से सुश्रुत का रक्तज रोगों में एकाधिपत्य है, अतः यह 'रक्तज' भेद इनकी मौलिक सूझ है। शेष रहा 'क्षयज' भेद, जिसका अन्तर्भाव चरक ने वातज शिरोरोग में कर लिया है। सुश्रुत ने पृथक् रूप से इसका वर्णन किया है, अतः इसे कोई मौलिक भेद नहीं कहा जा सकता है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए च० सू० अ० १७ को देखें। आचार्य विदेह ने सूर्यावर्तविपर्यय नामक एक अतिरिक्त भेद को माना है।

मुखामये मारुतजे तु शोषकार्कश्यरौक्ष्याणि चला रुजश्च ।
कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं प्रस्रंसनस्पन्दनतोदभेदाः ॥ ११९ ॥

वातज मुखरोग-निदान—वातदोष के प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न मुखरोग में मुख का बार-बार सूखना, कर्कशता (खुरदरापन), रूखापन, पीड़ा का इधर-इधर हटना-बढ़ना, शरीर के वर्ण का काला अथवा अरुण वर्ण (ईंट के सदृश दिखलायी देना), मुख से शीतल स्राव का निकलना, मुख का शीतस्पर्श युक्त होना, दाँतों का गिरना, शरीर में कँप-कँपी का होना, सुई चुभाने की-सी पीड़ा तथा फटने की-सी पीड़ा का होना, ये लक्षण होते हैं।

'तृष्णाज्वरस्फोटकतालुदाहा धूमायनं चाप्यवदीर्णता च ।
पित्तात् समूर्च्छा विविधा रुजश्च वर्णाश्च शुक्लारुणवर्णवर्ज्याः ॥ १२० ॥

पित्तज मुखरोग-निदान—पित्तदोष के प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न मुखरोग में तृष्णा, ज्वर, विस्फोट (फफोलों का पैदा होना), तालु में जलन, मुख से धुँआ निकलता हुआ-सा प्रतीत होना, होंठों का फटना, मूर्च्छा (बेहोशी), अनेक प्रकार की पित्तजनित वेदनाएँ, सफेद तथा अरुण वर्ण को छोड़कर शेष वर्णों का मुख पर दिखलायी देना, ये लक्षण पित्तज मुखरोग में होते हैं।

कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं स्नेहोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ ।
उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे ॥ १२१ ॥

कफज मुखरोग-निदान—कफदोष के प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न मुखरोग में—मुखप्रदेश में खुजली, भारीपन, सफेदी, पिच्छिलता, मुख में स्निग्धता, भोजन के प्रति अरुचि, मुख में जड़ता (विभिन्न रसों के ज्ञान का अभाव), मुख से निरन्तर कफ का निकलते रहना, जी मिचलना, जठराग्नि की मन्दता, उँघाई का आना, थोड़ी-थोड़ी पीड़ा का होना—ये लक्षण कफज मुखरोग में देखे जाते हैं।

सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्ररोगे भवन्ति यस्मिन् स तु सर्वजः स्यात् ।
संस्थानदूष्याकृतिनामभेदाच्चैते चतुःषष्टिविधा भवन्ति ॥ १२२ ॥
शालाक्यतन्त्रेऽभिहितानि तेषां निमित्तरूपाकृतिभेषजानि ।
यथाप्रदेशं तु चतुर्विधस्य क्रियां प्रवक्ष्यामि मुखामयस्य ॥ १२३ ॥

इति मुखरोगनिदानम्।

सन्निपातज मुखरोग-निदान—जिस मुखरोग में वातज, पित्तज, कफज मुखरोगों के सभी लक्षण होते हैं, अर्थात् दिखलायी देते हैं, उसे सन्निपातज मुखरोग कहते हैं। उपर्युक्त चार प्रकार के मुखरोग संस्थानों (मुखमंडल के भीतर स्थित उसके सम्पूर्ण अवयवों—होंठ, दाँत, जीभ, तालु, कंठ आदि), रक्त आदि दूष्यों तथा

१. 'तृष्णाज्वरस्फोटकदाहपाकाः' इति पा०।

आकृति के अनुसार नामभेद से ये ६४ प्रकार के होते हैं। इनका वर्णन शालाक्यतन्त्र में कारण (निदान) लक्षण, आकृति (रूप) तथा औषधयोगों के साथ किया गया है। उपर्युक्त चार प्रकार के मुखरोगों की चिकित्सा का वर्णन आगे यथास्थान किया जायेगा।

वक्तव्य—सुश्रुत-निदानस्थान अ० १६ में ६५ प्रकार के मुख रोगों के नाम दिये गये हैं, देखें—गाथ ३। महर्षि आत्रेय ने जो ऊपर मुखरोगों की ६४ संख्या दी है, इससे सिद्ध होता है कि वे विदेहपति रचित 'विदेहतन्त्र' नामक शालाक्यतन्त्र से प्रभावित थे। सुश्रुत ने तो स्पष्टतः विदेहाधिप को शालाक्यतन्त्र का आचार्य कहा है। देखें—'शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः' ॥ सु० उ० अ० १।५। आज शालाक्यतन्त्र सम्बन्धी उल्लेखों के संकेत हमें निम्नलिखित ग्रन्थों के रूप में मिलते हैं—१. विदेहतन्त्र, २. निमितन्त्र, ३. कांकायनतन्त्र, ४. गार्ग्यतन्त्र, ५. गालवतन्त्र, ६ सात्यकितन्त्र (इस संप्रदाय के अनुयायी आज भी काशी आदि स्थानों में विद्यमान हैं। ये अपने को 'सात्यकेय' कहते हैं। मोतियाबिन्द के आपरेशन की इनकी विशेष विधि द्रष्टव्य है), ७. भद्रशौनकतन्त्र, ८. शौनकतन्त्र, ९. करालतन्त्र, १०. चक्षुष्यतन्त्र, ११. कृष्णात्रेयतन्त्र (ये चरक में आये हुए कृष्णात्रेय से भिन्न हैं), १२. कात्यायनतन्त्र।

इनके अतिरिक्त तन्त्रों की शल्यतन्त्र में गणना है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. सुश्रुत, २. औपधेनव, ३. औरभ्र, ४. पौष्कलावत, ५. वैतरण, ६. वृद्धभोज, ७. भोज, ८. कृतवीर्य, ९. करवीर्य, १०. गोपुररक्षित, ११. भालुकि, १२. कपिल, १३. गौतम। चरकसंहिता कायचिकित्सा-प्रधान संहिता-ग्रन्थ है। मुखरोग शालाक्यतन्त्र का रोग है। सुश्रुत ने ६५ प्रकार के मुखरोगों के ७ संस्थानों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में भोज ने सुश्रुत को इस प्रकार समर्थन दिया है–'दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेपु दश पञ्च च। नव तालुनि जिह्वायां पञ्चसप्तदशामयाः॥ कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुः परा' ॥ भोजसंहिता। ये भी ६५ मुखरोग ही मानते हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए—च० चि० अ० १२ तथा २६। सु० चि० अ० २२। अ० सं० उ० अ० २६। अ० हृ० उ० अ० २२ का अवलोकन करें।

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः।
अरोचकाः स्युः परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १२४ ॥

अरोचक-प्रकरण

अरोचकरोग-निदान—वात, पित्त तथा कफदोषों के प्रकुपित होने से, शोक, भय, अतिलोभ, अतिक्रोध, मन के प्रतिकूल भोजन, गन्ध एवं रूपों के प्राप्त हो जाने से अरोचकरोग हो जाते हैं।

वातज अरोचक के लक्षण—जब केवल प्रकुपित वातदोष के कारण अरोचक रोग की उत्पत्ति होती है, तो उसमें ये लक्षण होते हैं—दन्तहर्ष (दाँतों में ठंडा पानी लगने का-सा अनुभव होना) तथा मुख का कसैला हो जाना।

वक्तव्य—अरोचक अथवा अरुचि रोग में प्रतिदिन खाये तथा पीये जाने वाले अत्यन्त प्रिय अन्न-पानों के प्रति भी अनिच्छा हो जाती है। कभी-कभी तो देखने और नाम लेने पर कष्ट का अनुभव होता है और फिर रोग की निवृत्ति हो जाने पर वे ही द्रव्य प्रिय लगने लगते हैं। इस रोग की उत्पत्ति में वातादि दोषों के साथ मानसिक विकारों का भी प्रभाव पड़ता है। यह **'रसशेषाजीर्ण'** का ही अन्यतम रूप है। सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ० ४६, श्लोक ४९९ में अजीर्ण के भेदों की गणना एवं कुछ आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए चौथे 'रसशेषाजीर्ण' का निर्देश किया गया है। इसके लक्षणों का वर्णन वहाँ इस प्रकार किया गया है—'उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य। रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्' ॥ सु० सू० अ० ।५०३। इसी का समर्थन महर्षि चरक ने भी किया है—'मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ता-
२. ...धक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः' ॥ च० वि० अ० २।९।

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसम्बद्धयुतं[1] कफेन ॥ १२५ ॥

१. विबद्धसंस्तम्भयुतं' इति पा०।

पित्तज अरोचक के लक्षण—पित्तदोष के प्रकुपित होने के कारण जब अरोचक रोग हो जाता है, तब रोगी का मुख कड़ुआ, खट्टा, गरम, फीका, दुर्गन्धियुक्त हो जाता है।

कफज अरोचक के लक्षण—कफदोष के प्रकुपित होने के कारण जब अरोचक रोग हो जाता है, तब रोगी का मुख नमकीन, मधुरतायुक्त, चिपचिपाहट वाला, भारीपन तथा शीतलता युक्त प्रतीत होता है। इसमें रोगी के उदर में निबन्ध (कब्जियत) बना रहता है।

वक्तव्य—पित्तज अरोचक में मुख का नमकीन होना कुछ टीकाकारों ने स्वीकार किया है, जो पित्त की प्रकृति के प्रतिकूल है। इसके लिए श्लोक की भाषा पर भी ध्यान दें और परवर्ती तन्त्रकारों के विचारों को भी देखें—'हृद्दाहनोषबहुता मुखतिक्तता च। मूर्च्छा सतृड्भवति पित्तकृते तथैव' ॥ सु० उ० अ० ५७।४।

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशनगन्धजे[1] स्यात्।
स्वाभाविकं वक्त्रमथारुचिश्च त्रिदोषजे नैकरसं भवेत् तु ॥ १२६ ॥

इत्यरोचकनिदानम्।

आगन्तुक अरोचक के लक्षण—शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध आदि (काम, चिन्ता, निद्रानाश आदि) कारणों तथा अहृद्य पदार्थों (जो हृदय को रुचिकर न हों) के सेवन से, अप्रिय गन्ध को सूँघ लेने से होने वाले अरोचक रोग में यद्यपि मुख स्वाभाविक रस आदि से युक्त रहता है, फिर भी रोगी को भोजन आदि के प्रति अरुचि बनी रहती है। इसे मानसिक विकार-जनित अथवा चित्तविपर्यय-जनित अरोचक रोग कहते हैं।

त्रिदोषज अरोचक के लक्षण—त्रिदोषज अथवा सन्निपातज अरोचक रोग में मुख का स्वाद वातादि दोषों के अनुसार अनेक रसों वाला होता है।

वक्तव्य—जब जिस दोष की प्रधानता रहती है, मुख का स्वाद भी विशेष कर उसी दोष के रसवाला प्रतीत होता है। अरोचक रोग का विस्तृत विवरण सु० उ० अ० ५७ में देखें। यद्यपि राजयक्ष्म-चिकित्सित नामक च० चि० अ० ८ में श्लोक १३४ से १४० तक अरोचकरोग का आनुषंगिक वर्णन किया गया है। यहाँ जो उक्त रोग का वर्णन किया गया है, वह सर्वथा स्वतन्त्र है।

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्।
शोफः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥ १२७ ॥

कर्णरोग-प्रकरण

वातज कर्णरोग के लक्षण—अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ वातदोष कर्णनाद, कर्णशूल, कान में स्थित मल को सुखा देना, कर्णस्राव तथा अश्रवणता आदि विकारों को उत्पन्न कर देता है।

पित्तज कर्णरोग के लक्षण—अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ पित्तदोष कर्णशोथ, लालिमा, कान की पाली या पालियों का फट जाना, कान में जलन, पीले वर्ण का दुर्गन्धयुक्त स्राव का निकलना, इन लक्षणों को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने कर्णरोगों का वर्णन सु० सू० अ० १६, सु० चि० अ० २५ तथा सु० उ० अ० २० में विस्तारपूर्वक किया है। इन्हें आप क्रमशः इस प्रकार समझें—१६वें अध्याय में कर्णपाली में, २५वें अध्याय में कर्णशष्कुली पर आधारित रोग और अध्याय २० में कर्णविवर पर होने वाले रोगों की चर्चा की गयी है। सुश्रुत ने कर्णगत रोगों की संख्या २८ मानी है। देखें—सु० उ० अ० २०।३-५। महर्षि चरक ने वातादि दोषभेद से उक्त अट्ठाईस प्रकार के कर्णरोगों का अन्तर्भाव वातज, पित्तज, कफज तथा सन्निपातज इन चार भेदों में इसलिए किया है, कि ये सभी रोग शालाक्यतन्त्र द्वारा उपचारित होते हैं और महर्षि चरक कायचिकित्सा-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं, अतः वे दूसरे के क्षेत्र में कैसे और क्यों प्रवेश करते।

अश्रवणम्—यहाँ श्रवण क्रिया के साथ नञ् समास किया गया है। 'नञ्' इस अव्यय के छः अर्थ होते हैं—१. तत्सादृश्य (उसके सदृश), २. अभाव, ३. तदन्यत्व, ४. तदल्पता (उससे कुछ कम होना), ५.

१. 'क्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे' इति पा०।

अप्राशस्त्य (प्रशस्तता का अभाव), ६. विरोध। देखें—सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा टीका, सूत्र 'नलोपो नञः' की टीका में। इस प्रकार इसका अर्थ होता है—लगभग वैसा सुनना, न सुनायी देना, कुछ और ही सुनायी देना, कम सुनायी देना, अच्छी प्रकार न सुनायी पड़ना, कुछ का कुछ सुनायी देना। जो कर्णरोग का मूल स्वरूप है, न कि श्रवणेन्द्रिय का अभाव।

वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्लस्निग्धश्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक् च।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः॥ १२८॥

इति कर्णरोगनिदानम्।

कफज कर्णरोग के लक्षण—कर्णविवर में कफदोष के प्रकुपित होने पर रोगी को ठीक-ठीक शब्द सुनायी नहीं देता है, अथवा विकृत शब्द सुनायी देता है, कान के भीतर खुजलाहट होती है, चिरकाल तक रहने वाली सूजन हो जाती है, कान के भीतर से सफेद वर्ण का तथा चिकना स्राव होता है और मन्द-मन्द वेदना होती है।

सन्निपातज कर्णरोग के लक्षण—ऊपर कहे गये वात, पित्त, कफ के सभी लक्षणों से युक्त कर्णरोग को सान्निपातिक कहते हैं। इसमें कान में से उस दोष के वर्ण का स्राव निकलता है, जब जिस दोष की तीनों दोषों में प्रधानता होती है।

[1]अल्पस्तु रागोऽनुपदेहवांश्च सतोदभेदोऽनिलजाक्षिरोगे।
पित्तात् सदाहोऽतिरुजः सरागः पीतोपदेहः [2]सुभृशोष्णवाही॥ १२९॥

नेत्ररोग-प्रकरण

वातज नेत्ररोग के लक्षण—नेत्रशारीर में वातदोष के प्रकुपित होने से आँखों में हलकी लालिमा, आँखें कीचड़ (Rheum of the eyes) रहित होती हैं, आँखों में सुई चुभाने की-सी पीड़ा होती है और चीरने की-सी पीड़ा होती है।

पित्तज नेत्ररोग के लक्षण—नेत्रशारीर में पित्तदोष के प्रकुपित होने से नत्रों में जलन, पीड़ा में अधिकता, लालिमा, पीले वर्ण वाले कीचड़ का निकलना, अधिक गरम आँसुओं का निकलना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र अध्याय १ से १९ तक अवयव भेद से नेत्ररोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नेत्ररोगों से सुपरिचित होने के लिए इन अध्यायों का यथाविधि अध्ययन करें। नेत्र एक तेजोमय अवयव है। इसमें १० पित्तवाहिनी सिराएँ पहुँचती हैं। इसका निर्माण पञ्चमहाभूतों के सारमय भाग से होता है। नेत्रगोलक के मध्य में जो 'पीतविन्दु' है, वह 'आलोचक पित्त' है, दृश्यों के दर्शन में यही सहायक होता है। सु० शा० अ० ५।३७ के अनुसार 'द्वे नेत्रयोः', आँख में दो मांसपेशियाँ होती हैं। ये दो मांसपेशियाँ नेत्रबुद्बुद की होती हैं। आँख में स्थित रक्त एवं पीतविन्दु अग्नितत्त्व से निर्मित हैं। श्वेतमण्डल जलीयांश है। इस प्रकार सम्पूर्ण नेत्र तेजोमय कहा गया है। देखें—च० सू० अ० ५।१६।

शुक्लोपदेहं बहुपिच्छिलाश्रु नेत्रं कफात् स्याद् गुरुता सकण्डूः।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातान्नेत्रामयाः षण्णवतिस्तु भेदात्॥ १३०॥

कफज नेत्ररोग के लक्षण—नेत्रशारीर में कफदोष के प्रकुपित होने से सफेद रंग का कीचड़ आँखों से निकलता है, आँसू अधिक चिपचिपे निकलते हैं, आँखों में भारीपन तथा खुजली होती है।

सन्निपातज नेत्ररोग के लक्षण—नेत्रशारीर में तीनों दोषों के प्रकुपित होने से वात आदि दोषों के जो लक्षण ऊपर अलग-अलग कहे गये हैं, वे सभी एक साथ देखे जाते हैं। नेत्ररोग स्थानभेद, आकृतिभेद तथा दोष भेद से ९६ प्रकार के होते हैं।

---

१. 'अल्पाश्रुरागानुपदेहताश्च प्रस्पन्दतोदातिरुजश्च वातात्' इति पा०।
२. 'सुभृशोष्णमश्रु' इति पा०।

वक्तव्य—सुश्रुत ने दोष-भेद से नेत्ररोगों की गणना इस प्रकार की है—वातज १०, पित्तज १०, कफज १३, रक्तज १६, सर्वज २५, बाह्यज २=७६। देखें—सु० उ० अ० १।२८। स्थान-भेद से नेत्ररोगों की गणना—नेत्रसन्धि पर आश्रित होने वाले ९, वर्त्मज २१, शुक्लभाग स्थित ११, कृष्णभाग में होने वाले ४, सर्वाश्रयज १७, दृष्टिज १२, बाह्यज (नेत्र के बाहरी भाग में होने वाले) २ रोग होते हैं। आचार्य विदेह ने भी ७६ नेत्ररोग स्वीकार किये हैं। आचार्य कराल ने ९६ नेत्ररोगों की गणना की है। यहाँ महर्षि आत्रेय ने विदेह के मत को छोड़कर महर्षि 'कराल' का आश्रय लिया है। इनके अनुसार नेत्ररोगों की गणना—'विंशतिः सप्तवर्त्मस्था नव सन्धौ प्रकीर्तिताः। त्रयोदश तु शुक्लस्थाः षोडशैव च सर्वगाः'॥ करालतन्त्र। सात्यकि ने अपने तन्त्र में नेत्ररोगों की संख्या ८० बतलायी है।

तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः॥ १३१॥

इति नेत्ररोगनिदानम्।

पराधिकार में विस्तार का निषेध—इस प्रसंग में ९६ प्रकार के नेत्ररोगों का उल्लेख किया गया है, किन्तु यहाँ लक्षण-निर्देश चार प्रकार के नेत्ररोगों का ही किया गया है। अतः उन सभी के निदान-चिकित्सा आदि का अवलोकन शालाक्यतन्त्रों में करना चाहिए। क्योंकि जिस क्षेत्र में जिसका अधिकार नहीं होता उसके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहना उचित नहीं होता है। इसी कारण हमने उस ओर प्रयास नहीं किया है।

तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात् खलतिं नरस्य।
किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्॥ १३२॥
इत्यूर्ध्वजत्रूत्थगदैकदेशस्तन्त्रे निबद्धोऽयमशून्यतार्थम्।
अतः परं भेषजसङ्ग्रहं तु निबोध सङ्क्षेपत उच्यमानम्॥ १३३॥

इति खालित्यरोगनिदानम्।

खालित्यरोग का निदान—वात आदि दोषों के साथ अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित तेजोधातु (पित्त) मनुष्य की केशभूमि (जहाँ-जहाँ बाल उगते हैं) में पहुँचकर केशों की जड़ों को जलाकर शीघ्र ही खालित्य (गंजापन) रोग को पैदा कर देता है। यह रोग शरीर के किसी स्थान की केशभूमि पर अपना प्रभाव दिखला सकता है।

पलितरोग का निदान—वात आदि दोषों के साथ अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित तेजोधातु (पित्त) यदि रोमकूपों की जड़ों को थोड़ी मात्रा में जला देता है, तब पलित नामक रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

हरिकेशता का निदान—वात आदि दोषों के साथ अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित तेजोधातु (पित्त) यदि रोमकूपों की जड़ों को ओर कम मात्रा में जलाता है, तो उसके बाल बानर के बालों के सदृश वर्ण वाले अथवा कपिशवर्ण वाले हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ तक जत्रु (ग्रीवास्थि=हँसुली) अस्थि से ऊपरी भाग में होने वाले कतिपय रोगों के एकदेश का वर्णन इसलिए कर दिया है कि प्रस्तुत कायचिकित्सा ग्रन्थ अपूर्ण न कहा जा सके। अब इसके बाद संक्षेप से यहाँ भेषज (चिकित्सा के योगों का) संग्रह का उपदेश किया जा रहा है, उसे तुम सावधानी के साथ सुनो।

वातात् सकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्। पिबेद्रसं पयश्चोष्णं स्नैहिकं धूममेव वा॥१३४॥

वातज पीनसरोग-चिकित्सा—वातज पीनसरोग में यदि कास (खाँसी), तथा स्वरभेद (गला बैठना) भी हो तो उसमें यवक्षार (जवाखार) मिलाकर गाय का घी पीना चाहिए। अथवा गरम मांसरस या गरम दूध या स्नैहिक धूमपान करना चाहिए।

---

१. 'प्रोक्तश्चिकित्सां तु परं निबोध। विस्तारतः सङ्ग्रहतश्च सम्यग्यथाक्रमं सौम्य मयोच्यमानाम्' इति पा०।

शताह्वा त्वग्बला मूलं स्योनाकैरण्डबिल्वजम् । सारग्वधं पिबेद् वर्तिं मधूच्छिष्टवसाघृतैः ॥

शताह्वादि धूमवर्ति—शताह्वा (सोया), दालचीनी, बरियारा की जड़, सोनापाठा की छाल, रेंड़ के जड़ की छाल, बेल की छाल, अमलतास की छाल, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मोम, चर्वी तथा घी में मिलाकर इसकी बत्ती तैयार करें, फिर इसका धूमपान करें।

अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसम्पुटे । नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥१३६॥

नव प्रतिश्याय में धूमपान—अथवा नये प्रतिश्याय वाले रोगियों को वैद्य जौ के सत्तू को घी में मिलाकर मल्लकसंपुट (चिलम) में भरकर धूमपान कराये।

शङ्खमूर्धललाटार्तौ पाणिस्वेदोपनाहनम् । स्वभ्यक्ते क्षवथुस्रावरोधादौ सङ्करादयः ॥१३७॥

प्रतिश्याय-जनित पीड़ा में कर्तव्य—प्रतिश्याय (जुकाम) से पीड़ित रोगियों के यदि शंख (कनपटी की हड्डी), मस्तक, ललाट (माथा) में वेदना होती हो तो हाथों को तपाकर उन-उन अवयवों को सेंकना चाहिए तथा उन अंगों पर उपनाह (पुल्टिस) बाँधनी चाहिए। यदि प्रतिश्याय के कारण छींकें आ रही हों, नासिका से स्राव निकल रहा हो अथवा स्राव में रुकावट (नासाप्रतीनाह रोग) हो तो भली-भाँति तेल की मालिश करके संकरस्वेद (देखें च० सू० अ० १४।४१) आदि का प्रयोग करना चाहिए।

घ्रेयाश्च रोहिषाजाजीवचातर्कारिचोरकाः । त्वक्पत्रमरिचैलानां चूर्णा वा सोपकुञ्चिकाः ॥

प्रतिश्यायरोग में नस्य-प्रयोग—रोहिषतृण, जीरा, वच, तर्कारी (अरणी), चोरक (चोरपुष्पी) इनका अथवा दालचीनी, तेजपत्ता, कालीमिरिच, छोटी इलायची, मगरैला (कालीजीरी), इनके समभाग चूर्ण का नये प्रतिश्याय में प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—तर्कारी का कुछ टीकाकारों ने 'जयन्ती' पर्याय स्वीकार किया है। वास्तव में इसे अग्निमन्थ (अगेथू) या बड़ी अरणी कहते हैं, यह उसी का एक भेद है। तर्कारी को टेकार या छोटी अरणी कहते हैं। इसे लैटिन में Clerodendrum phlomidis Linn F. कहते हैं।

वृद्धवाग्भट ने उपर्युक्त श्लोक के द्रव्यों को एक ही योग माना है। देखें—'रोहिषाजाजीवचाचोरकोपकुञ्चिकातर्कारीचातुर्जातकरजो वस्त्रावबद्धं मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेद्' । अ० सं० उ० अ० २४।४ । यदि हम इस वचन को आदर्श मानते हैं, तो ऊपर के श्लोक में आये हुए 'वा' का प्रयोग इसे स्वतन्त्र योग मानने के रूप करेंगे।

स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षिशोषे तैलं च नावनम् । प्रभाव्याजे तिलान् क्षीरे तेन पिष्टांस्तदूष्मणा ॥
मन्दस्विन्नान् सयष्ट्याह्वचूर्णांस्तेनैव पीडयेत् । दशमूलस्य निष्क्वाथे रास्नामधुककल्कवत् ॥
सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वोऽणु तत् स्मृतम् ।

स्निग्धनस्य-प्रयोग—यदि वातज प्रतिश्याय के कारण नासास्रोतों, शृंगाटक, नासिका तथा नेत्रों में शोष (सुखापन) का अनुभव हो तो तेल का नस्य देना चाहिए।

अणुतैल-निर्माण-विधि—बकरी के दूध में तिलों को भावित करके अर्थात् जितने तिलों का तेल बनाना हो, उस प्रमाण में तिलों को लेकर साफ कर लें, इन्हें एक पात्र में डालकर बकरी के उतने दूध में भिगा दें जो प्रातःकाल तक उन तिलों में सब सूख जाय। इन तिलों को लेकर बकरी के दूध के साथ पीस लें। एक मिट्टी के पात्र में बकरी का दूध रखकर गरम करें। गरम होने के बाद उस मिट्टी के पात्र के मुखपर एक वस्त्र को इस प्रकार बाँधें, जिससे वह गिर न सके। इस वस्त्र के ऊपर पिसी हुई तिलों की पीठी को रखें और एक पात्र से उस पीठी को इस प्रकार ढक दें जिससे नीचे से दी गयी आँच उसमें भली-भाँति लग सके और उस तिल की पीठी का स्वेदन हो जाय। जब मालूम हो कि उस पीठी का स्वेदन हो गया है, तब उसे नीचे उतार कर उसमें मुलेठी का चूर्ण मिलाकर उस पीठी को मिट्टी के पात्र में रखे हुए दूध के ऊपर निचोड़ दें। ऐसा करने से जो तेल निकले उसका संग्रह कर उस तेल को दशमूल के क्वाथ तथा रास्ना, मुलेठी, सैंधानमक के कल्क द्वारा दस बार इसी प्रकार पाक करें। तैयार हो जाने पर इसे **'अणुतैल'** कहते हैं।

वक्तव्य—ऊपर 'अणुतैल' के निर्माण की जिस विधि का वर्णन किया गया है, वे सभी विधियाँ प्रत्येक बार करनी चाहिए। इसके पाक में तिलतैल से चौगुना दशमूल का क्वाथ, चतुर्थांश रास्ना आदि द्रव्यों कल्क लेकर यथाविधि पाक करें। यह तैल अत्यन्त शक्तिशाली होता है। इसकी अणुता इसी रूप में है कि यह अणु से भी अणु स्रोतों में शीघ्र प्रवेश कर जाता है। विदेह के अनुसार—'भावनात् पाचनाद् वापि तैलानामणुतैलता । मर्दनादपि सर्वेषां देहानामणुतैलता' ॥ विदेहतन्त्र ।

स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरेद् वातपीनसे ॥ १४१ ॥

वातज पीनस में आस्थापनवस्ति—वातजनित प्रतिश्याय रोग में स्नेहन कराने के बाद आस्थापन (निरूह) वस्ति का प्रयोग कराकर दोषों को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम् ।
उष्णाम्बुना स्नानपाने निवातोष्णप्रतिश्रयः ॥ १४२ ॥

वातज पीनस में पथ्य—ग्राम्य (बकरा) आदि पशु-पक्षियों के स्नेह युक्त, अम्ल तथा उष्ण मांसरसों के साथ हलके (सुपच) अन्नों (आहारों) का सेवन करना हितकर होता है। गरमजल से स्नान, गरम किये जल को पीना, निवातस्थान तथा गरम घरों में निवास करना वातज पीनस रोग में हितकर होता है।

चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टाव्यवायविरतो भवेत् । वातजे पीनसे धीमानिच्छन्नेवात्मनो हितम् ॥

वातज पीनस में अपथ्य—जो रोगी वातज पीनस रोग से बचना चाहता है या उक्त रोग से छुटकारा पाना चाहता है, ऐसे बुद्धिमान् रोगी को चाहिए कि वह चिन्ता, अधिक व्यायाम, अधिक बोलना, अधिक स्त्री-सहवास इनसे दूर रहे, अर्थात् इनका सेवन न करे।

पैत्ते सर्पिः [1]पिबेत् सिद्धं शृङ्गबेरशृतं पयः । पाचनार्थं पिबेत् पक्वे कार्यं मूर्धविरेचनम् ॥

पित्तज पीनस-चिकित्सा—पित्तज प्रतिश्याय रोग में दोष का पाचन करने के लिए शृंगबेर (अदरख) के कल्क द्वारा पकाया गया घी अथवा शृंगबेर से पकाया हुआ दूध पीना चाहिए, जब दोष का पाचन हो जाय तब मूर्ध(शिरो)विरेचन के लिए नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

पाठाद्विरजनीमूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः । दन्त्या च साधितं तैलं नस्यं स्यात् पक्वपीनसे ॥

पीनस में पाठादि तैल—पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, मूर्वा, पिप्पली, चमेली की पत्तियाँ तथा दन्ती (जमालगोटा) की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार कर इससे पकाये गये तिलतैल की पीनसरोग में नस्य लेनी चाहिए, इससे पीनसरोग की शान्ति होती है।

पूयास्रे रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च । [2]पाकदाहाढ्यरूक्षेषु शीता [3]लेपाः ससेचनाः ॥
पैत्ते प्रतिश्याये स्निग्धः कुर्याद् विरेचनम् ॥
[4]व्रेयनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः । मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धः कुर्याद् विरेचनम् ॥

पूयरक्तरोग-चिकित्सा—इस रोग में रक्तपित्तनाशक कषाय (क्वाथ) तथा नस्यों का प्रयोग करना चाहिए। यदि इस रोग में नासापाक हो गया हो, नासिका के भीतर अधिक दाह होता हो, रूक्षता की वृद्धि हो गयी हो तो शीतवीर्य द्रव्यों के लेपों का प्रयोग करना चाहिए एवं शीतवीर्य द्रव्यों द्वारा निर्मित क्वाथों के शीतल हो जाने पर उनसे परिषेचन कराना चाहिए। कषाय, स्वादु (मधुर) रस-प्रधान तथा शीतवीर्य द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण बनाकर उनका सूंघने योग्य नस्य दें। यदि प्रतिश्याय रोग में पित्त सामान्य रूप में कुपित हुआ हो तो स्निग्ध (स्नेहद्रव्यों से युक्त) द्रव्यों द्वारा रोगी को विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता उत्तरतन्त्र के २४वें अध्याय का नाम 'प्रतिष्यायप्रतिषेध' है। इस प्रसंग में उसका पर्यालोचन कर लेना चिकित्सा की दृष्टि से हितकर है।

---

१. 'पिबेत् तिक्तम्' इति पा० ।
२. 'पाकदाहाढ्यरुक्षेषु' इति पा० ।
३. 'सेकाः प्रलेपनाः' इति पा० ।
४. 'स्नेहनस्योपचाराश्च' इति पा० ।

घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः ।
शीताम्लास्तिक्तशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः ॥ १४८ ॥

पित्तज पीनस में पथ्य—पित्तज प्रतिश्याय में घी, दूध, जौ, शालि धान के चावल, गेहूँ, जांगलप्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरस, शीतवीर्य, अम्ल तथा तिक्तरस-प्रधान शाक एवं मूंग आदि द्वारा तैयार किये गये यूष लाभकारक होते हैं।

गौरवारोचकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे । स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ॥

कफज पीनस-चिकित्सा—कफजनित प्रतिश्याय रोग में यदि शरीर में विशेषकर शिरःप्रदेश में भारीपन तथा अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा) आदि विकार हों तो लंघन कराना चाहिए (जिनके लिए लंघन का निषेध किया गया है, जैसे—बाल, वृद्ध, स्त्री, सुकुमार उन्हें लघुभोजन कराना चाहिए), तदनन्तर शिर के ऊपर घी का लेप कराकर कफदोषज प्रतिष्याय को पकाने के लिए स्वेदन और प्रतिष्यायहर क्वाथों के गरम जल से परिषेक (स्नान) कराना चाहिए।

लशुनं मुद्गचूर्णेन व्योषक्षारघृतैर्युतम् । देयं कफघ्नवमनमुत्क्लिष्टश्लेष्मणे हितम् ॥१५०॥

कफज पीनस में वमन-प्रयोग—मूंग, सोंठ, मरिच, पीपर का चूर्ण, जवाखार तथा घी के साथ लशुन का स्वरस कफज प्रतिश्याय में सेवन करने के लिए रोगी को दें। यदि कफ स्वयं निकलने के लिए प्रवृत्त हो, तो ऐसे अवसर पर कफनाशक वामक (वमन कराने वाले) द्रव्यों का प्रयोग करायें, क्योंकि कफज विकारों का सर्वोत्तम उपचार वमन है।

अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे सकण्डुके । धूमः शस्तोऽवपीडश्च कटुभिः कफपीनसे ॥१५१॥

धूमपान तथा अवपीड नस्य—यदि खुजली के साथ अपीनस, पूतिनस्य, नासास्राव तथा कफज प्रतिश्याय हो तो उसमें कटु द्रव्यों से तैयार किये गये धूम को पीना एवं अवपीड नस्य का प्रयोग करना लाभदायक होता है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने ३१ नासारोगों में सर्वप्रथम 'अपीनस' रोग का उल्लेख किया है, देखें—सु० उ० अ० २२।३ और २३-२४ में भी, च० चि० अ० ८ तथा २६। अ० सं० उ० अ० २४। अ० हृ० उ० अ० २०। इन सब प्रकरणों को देखने से पीनस-अपीनस ये दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं, यह प्रमाणित हो जाता है। आचार्य गंगाधर ने उक्त श्लोक के अर्थ का विभाजन इस प्रकार किया है—अपीनस आदि सामान्य प्रतिष्यायों में धूमपान तथा अवपीड नस्य का प्रयोग करना चाहिए और कफज पीनस में कटुद्रव्यों द्वारा निर्मित अवपीड नस्य देना चाहिए, जो उचित ही है।

मनःशिला वचा व्योषं विडङ्गं हिङ्गु गुग्गुलुः । चूर्णो प्रेयः प्रधमनं कटुभिश्च फलैस्तथा ॥१५२॥

मनःशिलादि नस्य—मैनसिल, बालवच, सोंठ, मरिच, पिप्पली, वायविडंग, हींग तथा गुग्गुलु इनको समान भाग लेकर चूर्ण बनाये, इस चूर्ण का प्रयोग नस्य के लिए करें और इस श्लोक में जो कटुरस वाले फल कहे गये हैं, उनके चूर्णों का प्रधमन नस्य के रूप में प्रयोग करें।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने प्रधमन नस्य में 'सोंठ' का भी ग्रहण कर लिया है, किन्तु यह अर्थ तन्त्रकार की इच्छा के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वे 'कटुभिः फलैः प्रधमनम्' चाहते हैं। 'सोंठ' फल नहीं है, वह 'कन्द' है। यहाँ पर आचार्य गंगाधर ने जिस पाठ को उद्धृत किया है, वह अधिक उपकारक प्रतीत नहीं होता है। आप भी देखें—'चूर्णैः प्रायः प्रधमनं कटुभिस्त्रिफलैः सह'। इस प्रकार यहाँ पिप्पली, मरिच, विडंग का ही प्रधमन नस्य के लिए ग्रहण करना चाहिए। यदि हम उक्त श्लोक से बाहर के भी कटुरस-प्रधान फलों का प्रधमन नस्य के लिए ग्रहण करेंगे, तो उनकी संख्या अत्यधिक हो जायेगी।

प्रयोग—इसके लिए बीच में छिद्रवाली एक नली लें, उसके एक छिद्र में उक्त चूर्ण को थोड़ा-सा रखकर रोगी की नाक के भीतर डाल दें, दूसरी ओर उसे अपने मुख में लेकर फूँक दें। इस प्रकार वह चूर्ण उसकी नाक के भीतर चला जायेगा। प्रधमन नस्य की यही प्रयोग-विधि है।

भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचिते । मूत्रे लाक्षा वचा लम्बा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली ॥१५३॥
कृत्वा कल्कं करञ्जं च तैलं तैः सार्षपं पचेत् । पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोनिभे कफे ॥१५४॥

भार्ग्यादि तैल—भारंगी, मैनफल, तर्कारी (अरणी) की छाल, सुरसा (तुलसी) की पत्तियाँ—इन सबको समभाग लेकर कल्क करके गोमूत्र में पकायें। उस गोमूत्र में कच्ची लाख, बालवच, कड़वीलौकी के बीज, वायविडंग, कूठ, पीपर तथा करञ्ज की गुद्दी का कल्क बनाकर मिला दें। इस कल्क युक्त गोमूत्र से सरसों के तैल को पकायें, जब तैलपाक हो जाय तो उसे छानकर रख लें। प्रतिष्याय में कफदोष का पाक हो जाने पर जब कफ गाढ़ा होकर मेदा के सदृश थक्के के थक्के निकलने लगें तब इस तेल की नस्य लेनी चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ गोमूत्र का दो बार पाक करने की बात कही गयी है, अतः पहली बार उतना गोमूत्र लें जो पकने पर तेल से चौगुना शेष रह जाय, क्योंकि तैलपाक की विधि है—'चतुर्गुणे द्रवे साध्यम्', इसलिए पहली बार में तेल से आठ गुना गोमूत्र लें उसमें भारंगी आदि के कल्क को डालकर पकायें, जब पकते-पकते चार गुना गोमूत्र जल जाये तो उसे उतार कर छानकर रख लें, फिर उसी गोमूत्र में लाक्षा आदि द्रव्यों के तेल से चतुर्थांश कल्क को डालकर और कल्क से चौगुना तेल को डालकर यथाविधि पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। आचार्य गंगाधर ने उक्त दोनों श्लोकों को इस प्रकार संशोधित किया है—'भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचितम्। तैलं सर्षपजं बल्यं कफपीनसशान्तये ॥ आर्तकालवचालं वा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली। कृत्वा कल्कं करञ्जञ्च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥ पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोऽन्विते कफे' ॥

हमारे विचार से उक्त पाठ को इस प्रकार बदलने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि उपर्युक्त पाठ सर्वथा प्रसंगोचित एवं निर्भ्रान्त है।

स्निग्धस्य व्याहते वेगे च्छर्दनं कफपीनसे । वमनीयशृतक्षीरतिलमाषयवागुना ॥१५५॥

पीनस में वमन-प्रयोग—कफज प्रतिश्याय का वेग मन्द हो जानेपर जिस रोगी को स्नेहन कराया गया है, उसे वमन कराना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वमन कराने के पहले रोगी को स्नेहन करा लेना चाहिए। वमनकारक (मैनफल आदि) द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाये गये दूध में तिल या उड़द की यवागू तैयार कर रोगी को पिलानी चाहिए। इससे रोगी को सरलता से वमन हो जाता है।

वार्ताककुलकव्योषकुलत्थाढकिमुद्गजाः । यूषाः कफघ्नमन्नं च शस्तमुष्णाम्बुसेच(व)नम् ॥

कफज पीनस में पथ्य—बैंगन, परवल, सोंठ, मरिच, पीपल, कुलथी, अरहर, मूंग इनका यूष, कफनाशक अन्न (आहार) तथा गरम जल का सेवन प्रतिश्याय रोग में हितकर होता है।

सर्वजित् पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे च शोफजित् । क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया शेषेष्ववेक्ष्य च ॥
इति पीनसनासारोगचिकित्सा ।

दुष्टपीनस-चिकित्सा—इस रोग में सभी (तीनों) दोषों का नाश करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिए। नासाशोथ में सामान्य शोथनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। नासिकार्बुद तथा अधिमांस रोग में क्षार-प्रयोग करना चाहिए। जिन रोगों का यहाँ नामतः उल्लेख नहीं किया है, उन सबमें दोष-दूष्य आदि का विचार करके तदनुसार उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वातिके शिरसो रोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान् । पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद् वातामयापहान् ॥

वातज शिरोरोग-चिकित्सा—इसमें वातरोगनाशक नस्यों के साथ विविध प्रकार के स्नेहनों, स्वेदनों का एवं वातरोगहर अन्नों (आहारों), पानों (पेयों) तथा उपनाहों का प्रयोग करना चाहिए।

तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः सुखोष्णैरुपनाहनम् । जीवनीयैः सुमनसा मत्स्यैर्मांसैश्च शस्यते ॥१५९॥

उपनाह-प्रयोग—वातज शिरोरोग में तेल में भुने हुए तथा सुखोष्ण (गुनगुने) अगुरु आदि द्रव्यों का उपनाह लगाना चाहिए। जीवनीयगण (च० सू० अ० ४।९ में कथित द्रव्य), चमेली, मछली तथा अन्य प्राणियों के मांसों से तैयार किया हुआ गुनगुना उपनाह लगाना चाहिए।

रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमर्तिनुत् । तैलं रास्नाद्विकाकोलीशर्कराभिरथापि वा ॥

रास्नादि तेल—रास्ना, स्थिरादि वर्ग (लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), इनके कल्क और गाय के दूध के द्वारा तैयार किया हुआ तेल; अथवा रास्ना, काकोली, क्षीरकाकोली, चीनी इन सबके कल्क तथा गाय के दूध के साथ पकाये गये तेल की नस्य लेने से वातज शिरःशूल नष्ट हो जाता है।

बलामधूकयष्ट्याह्वविदारीचन्दनोत्पलैः । जीवकर्षभकद्राक्षाशर्कराभिश्च साधितः ॥१६१॥
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो जाङ्गलार्धतुलारसे । नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातपित्तामयापहम् ॥१६२॥

बलादि तेल—बरियारा की जड़, महुआ का फूल, मुलेठी, विदारीकन्द, लालचन्दन, नीलकमल, जीवक, ऋषभक, द्राक्षा (मुनक्का), चीनी इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार करें। जांगल पशु-पक्षियों में से किसी का मांसरस आधा तुला (२०० तोला), तिल-तैल १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय का दूध १ प्रस्थ (६४ तोला) इन सब द्रव्यों को एक में मिलाकर यथाविधि पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तेल की नस्य लेने से जत्रु (ग्रीवास्थि) के ऊपरी भाग के सभी प्रकार के वातज, पित्तज रोग नष्ट हो जाते हैं।

दशमूलबलारास्नात्रिफलामधुकैः सह । मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत् तुण्डाङ्घ्रिवर्जितम् ॥१६३॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत् । मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम् ॥
कर्णाक्षिनासिकाजिह्वाताल्वास्यगलरोगनुत् । मायूरमिति विख्यातमूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥१६५॥
इति मायूरघृतम् ।

मायूरघृत—दशमूल (बृहत् पञ्चमूल—बेल की गुदी, सोनापाठा, गम्भार, पाढ़ल, अरणी। लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), बरियारा की जड़, रास्ना, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलेठी को समान भाग लें और पंख, पित्त, आँत, मल, तुण्ड (चोंच) तथा पैरों को छोड़कर सम्पूर्ण मोर को पानी में डालकर पकायें। उस मयूर रस में मधुर (जीवनीय) वर्ग की औषधियों का कल्क बनाकर मिला दें, उसमें समान भाग गाय का दूध मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला) घी को पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस घी का मात्रानुसार सेवन करने से शिरोरोग, अर्दित (चेहरे का लकवा), कान के रोग, आँख के रोग, नाक के रोग, जीभ के रोग, तालु के रोग, मुख के रोग तथा गले के रोग नष्ट हो जाते हैं। यह मायूरघृत ऊर्ध्वजत्रु में होने वाले सभी प्रकार के रोगों का विनाश कर देता है।

वक्तव्य—श्रीगोविन्ददासकृत भैषज्यरत्नावली में उक्त पाठ इस प्रकार है—'दशमूलीबलारास्नामधुकैस्त्रिपलैः सह। मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत्पादास्यवर्जितम् ॥ जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत्। मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम् ॥ कर्णनासाक्षिजिह्वास्यगलरोगविनाशनम्। मयूराद्यमिदं सर्पिरूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥ आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान्। कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरूर्ध्वगदापहम् ॥ दशमूलादिना तुल्यो मयूर इह गृह्यते। अन्ये त्वाकृतिमानेन मयूरग्रहणं विदुः' ॥ भै० र० शिरोरोगाधिकार श्लोक ५२-५६। और ऊपर दिया गया भैषज्यरत्नावली का अन्तिम पद्य चक्रपाणिदत्त कृत 'चक्रदत्त' में भी अविकल रूप में है। इसमें यह विशेष बात कही गयी है, कि इस तेल को चूहा, कुक्कुट (मुर्गा), हंस तथा खरगोश के मांसरस से भी तैयार किया जा सकता है। इस विषय का उल्लेख महर्षि आत्रेय ने आगे १७५वें श्लोक में किया है।

इन्होंने मधुर शब्द से काकोल्यादिवर्ग का ग्रहण किया है। इस वर्ग के द्रव्य—'काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुरुच, काकड़ासिंगी, वंशलोचन, पद्माख, सफेदकमल, ऋद्धि, वृद्धि, मुनक्का, जीवन्ती, मुलेठी। देखें—सु० सू० अ० ३८।३५। श्रीशिवदास के मत से 'मधुरः' शब्द से जीवनीयगण के द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है।

भैषज्यरत्नावली के अनुसार द्रव्यों की मात्रा और निर्माण-विधि—गाय का घी २ प्रस्थ, क्वाथ के लिए दशमूल के प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल, बलामूल ३ पल, रास्ना ३ पल, मुलेठी ३ पल, मयूर ३० पल, जल २ द्रोण, शेष क्वाथ आधा द्रोण, दूध २ प्रस्थ, कल्क के लिए प्रत्येक द्रव्य २-२ तोले—इनका यथाविधि पाक करें। इस योग में जिस परिमाण में द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, वह श्लोकोक्त विधान नहीं है, अपितु यहाँ 'द्र-

द्वैगुण्यपरिभाषा' का उपयोग किया गया है। इस 'मायूरघृत' का प्रयोग पित्त रोगों में नहीं किया जाता है। यद्यपि चरक में योगों का नाम-निर्धारण प्रारम्भिक द्रव्य के नाम के अनुसार देखा जाता है, किन्तु इस योग के नाम-निर्धारण में अधिक मात्रा वाले द्रव्य 'मयूर' को महत्त्व प्रदान किया गया है, ऐसा लगता है। हमारे विचार से सर्वप्रथम अंग-भंग किये हुए मयूर को तौल लें, तदनुसार शेष द्रव्यों की मात्रा का निर्धारण करना चाहिए, क्योंकि मोर का कोई निश्चित परिमाण नहीं होता।

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् । चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः ॥१६६॥
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्वीकार्धिपरूषकैः । समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीसुरदारुभिः ॥१६७॥
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमस्तकैः । मृणालबिसशालूकशृङ्गीजीवकपद्मकैः[1] ॥१६८॥
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः । मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः ॥१६९॥
रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशटिपौष्करैः । पुनर्नवातुगाक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः ॥१७०॥
[2]खर्जूराक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकैरपि । द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेन साधितम् ॥१७१॥
नस्ये पाने तथाऽभ्यङ्गे वस्तौ चैव प्रयोजयेत् । शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे ॥१७२॥
मन्यापृष्ठग्रहे शोषे स्वरभेदे तथार्दिते । योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वन्ध्यासुतप्रदम् ॥१७३॥
ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते । महामायूरमित्येतद् घृतमात्रेयपूजितम् ॥१७४॥
इति महामायूरघृतम् ।

महामायूरघृत—इसी (पहले कहे गये दशमूल आदि द्रव्यों के) क्वाथ से तथा चौगुने गाय के दूध से एवं जयन्ती, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मेदा, मुनक्का, ऋद्धि, फालसा, मजीठ, चव्य, भारंगी, गम्भार की छाल, देवदारु, किवाँच, महामेदा, तालमस्तक (ताड़-फल), खजूरमस्तक (खजूर-फल), मृणाल (भसिंडा), बिस (कमलनाल), शालूक (कमलकन्द), काकड़ासिंगी, जीवक, पद्मकाठ, शतावरी, विदारीकन्द, ईख की जड़, बड़ी कटेरी, अनन्तमूल, श्यामलता, मूर्वा की जड़, गोखरू, ऋषभक, सिंघाड़ा, कसेरू, रासना, शालपर्णी, भुँई आँवला, छोटी इलायची, कचूर, पोहकरमूल, पुनर्नवा, वंशलोचन, काकोली, जवासा, खजूर, अखरोट, बादाम, चिलगोजा, पिस्ता इन द्रव्यों में जो सुलभ हों उन्हें १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर कल्क बना लें, इनसे उपर्युक्त मायूरघृत की भाँति १ प्रस्थ घृत का पाक करें, जब घृत सिद्ध हो जाय तब उसे छानकर रख लें। यह महामायूर घृत सभी प्रकार के शिरोरोग, कास, श्वास, मन्यास्तम्भ (गरदन का जकड़ जाना), पृष्ठवंश की जकड़न, शोष रोग, स्वरभेद, अर्दित रोग (चेहरे का लकवा), योनि रोग, रक्तविकार, शुक्रदोष को दूर करता है। वन्ध्या स्त्रियों को इसके सेवन से पुत्र-प्राप्ति होती है। जो स्त्री इस घृत का ऋतुस्नान करने के दिन से प्रतिदिन सेवन करती है, वह पुत्र को जन्म देती है। यह 'महामायूर घृत' महर्षि आत्रेय द्वारा विशेषरूप से सम्मानित है।

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान् । कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरूर्ध्वगदापहम् ॥१७५॥

मूषकादि मांस-साधित घृत-प्रयोग—बुद्धिमान् (औषध-निर्माण-कुशल) चिकित्सक को चाहिए कि उपर्युक्त मायूरघृत की भाँति चूहों, मुर्गों, हंसों, खरगोशों के मांस रसों से भी घृतपाक करे। ये घृत भी ऊर्ध्वजत्रु (ग्रीवास्थि के ऊपरी भाग) में होने वाले सभी प्रकार के रोगों को दूर हटा देते हैं।

वक्तव्य—'कल्पेनानेन विपचेत्'—पद्यांश का यह तात्पर्य है, कि मायूरघृत के 'मयूर' को छोड़कर शेष सभी द्रव्य, मात्रा, पाक-विधि उसी प्रकार रहेगी। केवल मोर के मांस के स्थान पर ऊपर श्लोक में कहे गये शिर, पैर, पूँछ, पित्त, पंख रहित प्राणी का ग्रहण किया जाना चाहिए। इन घृतों के नाम भी उन-उन प्राणियों के नामानुसार रखे जायेंगे। यथा—आखुघृत, महा आखुघृत आदि आदि।

विशेष वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने मयूर के स्थान पर चूहा आदि के ग्रहण करने पर अपनी भावना इस प्रकार अभिव्यक्त की है—'अत्र मयूरस्थाने मूषकादीन् दर्शयन्नाह—आखुभिरित्यादिना। आखुना मयूरापेक्षया स्वल्पमानेनाप्यत्रैकेनापि साधनं कर्तव्यमित्याहुः'। किन्तु श्रीचक्रपाणि ने इतना उद्गार प्रकट करने के पूर्व क्या

१. 'खर्जूरमधुकैश्च सजीरकैः' इति पा०।
२. 'मधुकाक्षोट' इति पा०।

तन्त्रकार की शब्दावली ('मयूरं' एकवचन और 'आखुभिः, कुक्कुटैः, हंसैः, शशैः' इन शब्दों में बहुवचन) पर ध्यान नहीं दिया होगा ? बड़े मयूर की तुलना में कितने चूहों का प्रयोग करना चाहिए इसे 'औषधकल्पक' स्वयं समझ सकता है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए।

हमारे विचार से किसी योग को कम से कम मात्रा में, अधिक से अधिक मात्रा में तथा किसी दूसरे योग के बराबर भी बनाया जा सकता है। यदि कम मात्रा में 'आखुघृत' बनाना हो तो उसकी दिशा का निर्देश श्रीचक्रपाणि ने कर ही दिया है। यदि मायूरघृत के बराबर परिमाण में बनाना हो तो चूहा आदि प्राणियों को उतनी मात्रा में ले लेना चाहिए, जिसका संकेत तन्त्रकार ने बहुवचन के प्रयोग से कर दिया है।

पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः । जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत् ॥

पित्तज शिरोरोग-चिकित्सा—इसमें रोगी को घृतपान, दुग्धपान, नस्य के साथ शीत द्रव्यों द्वारा साधित क्वाथ जलों का परिषेक (स्नान), लेप, जीवनीय द्रव्यों द्वारा निर्माण किया गया घी और खान-पान भी जो पित्तनाशक हों उन्हीं का प्रयोग कराना चाहिए।

चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः । क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम् ॥१७७॥

चन्दनादि प्रदेह तथा परिषेक—गाय के दूध में पिसे हुए चन्दन, खस, मुलेठी, बरियारा की जड़, नखी तथा नीलकमल का माथे पर प्रदेह (लेप) लगाना चाहिए, अथवा इन्हीं द्रव्यों को क्वाथविधि से पकाकर शीतल करके सिर पर परिषेक करना चाहिए।

त्वक्पत्रशर्कराकल्कः सुपिष्टस्तण्डुलाम्बुना । कार्योऽवपीडः सर्पिश्च नस्यं तस्यानु पैत्तिके ॥१७८॥

पित्तज शिरोरोग में अवपीड नस्य—दालचीनी, तेजपत्ता तथा चीनी इन सबका कल्क तैयार कर इसे पुनः चावल के धोवन से पीसें। इसका पित्तज शिरोरोग में नस्य दें, इसके बाद गाय के घी की नस्य दें। इससे शिरोरोग की शान्ति होती है।

यष्ट्याह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम् । नावनं शर्कराद्राक्षामधूकैर्वाऽपि पित्तजे ॥१७९॥

मधुयष्ट्यादि घृत—पित्तज शिरोरोग में मुलेठी, चन्दन, अनन्तमूल, इनका कल्क तथा गाय के दूध के साथ पकाया गया गाय का घी नस्य कार्य के लिए हितकर होता है। अथवा चीनी, मुनक्का, मुलेठी इनके कल्क तथा गाय के दूध से पकाया गया गोघृत पित्तज शिरोरोग में नस्य करने से लाभकर होता है।

वक्तव्य—घृतपाक की विधि—घी से चौथाई कल्क और घी से चौगुना द्रव इनके संयोग से घृतपाक करना चाहिए। यह सामान्य विधि है।

कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः । शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत् ॥१८०॥
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्वस्तिभिरेव च । कफानिलोत्थिते दाहः शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥१८१॥

कफज शिरोरोग-चिकित्सा—इसमें सबसे पहले रोगी के शिर पर स्वेदन-क्रिया करनी चाहिए, तदनन्तर धूमपान, प्रधमन नस्य का प्रयोग करना चाहिए। जब इन क्रियाओं से रोगी का शिरःप्रदेश शुद्ध हो जाय तब कफनाशक द्रव्यों का प्रलेप, कफनाशक अन्न (आहार), पान (पेय) द्रव्य और पुराने घृत को पिलाना तथा तीक्ष्ण वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए।

कफवातज शिरोरोग-चिकित्सा—यदि इस प्रकार दो दोषों के प्रकोप से शिरोरोग उत्पन्न हुआ हो, तो उसमें दाह क्रिया करनी चाहिए।

सन्निपातज तथा क्रिमिज शिरोरोग-चिकित्सा—सन्निपातज एवं क्रिमिज शिरोरोग में रक्तमोक्षण क्रिया द्वारा रक्त निकाल देना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ तक पित्तज, कफज तथा कफवातज शिरोरोगों की चिकित्सा का निर्देश तन्त्रकार ने कर दिया था। तदनन्तर उन्होंने जो 'शेषयोः' पद का प्रयोग किया है, उससे सान्निपातिक तथा क्रिमिज शिरोरोग का ग्रहण किया गया है, यही श्रीगंगाधर का भी अभिमत है। दूसरे आचार्य रक्तज शिरोरोग की मान्यता प्रकट करते हैं। दाह क्रिया का समर्थन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'तत्र शिरोरोगाधिमन्थयोर्भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्'।

सु० सू० अ० १२।९। वृद्धवाग्भट रक्तमोक्षण के एकान्ततः पक्षपाती नहीं हैं, वे कहते हैं—'न जातु रुधिरमवसेचयेत्। जन्तुभिः पीतशोणिते हि शिरसि पुनरस्रावसेकादकाण्डे मृत्युः स्यात्। क्रिमिचिकित्सितं चेक्षेत' । अ० सं० उ० अ० २८।२५।

एरण्डनलदक्षौमगुग्गुल्वगुरुचन्दनैः । धूमवर्तिं पिबेद् गन्धैरकुष्ठतगरैस्तथा ॥१८२॥

एरण्डादि धूमवर्ति—रेड़ की जड़, जटामांसी, क्षौम (अलसी या तीसी की छाल के रेशों से बना हुआ) वस्त्र, गुग्गुलु, अगरु, चन्दन इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर पीस लें। इसकी धूमवर्ति बनाकर चिलम पर रखकर धूमपान करना चाहिए। जहाँ गन्ध द्रव्यों द्वारा धूमवर्ति के निर्माण का विधान हो वहाँ कूठ और तगर को छोड़कर अन्य द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए।

वक्तव्य—धूमवर्ति की निर्माण-विधि, उसमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों तथा उसके गुण-दोषों का वर्णन चरक-सूत्रस्थान अ० ५।२० से ५५ तक में किया गया है। यहाँ **'अकुष्ठतगर'** का सम्बन्ध च० चि० अ० ३।२६७ में वर्णित अगुर्वाद्य तेल के द्रव्यों से है। इस सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणि च० सू० अ० ५।२६ की टीका करते हुए लिखते हैं—'कुष्ठतगरयोरतितीक्ष्णत्वेन मस्तुलुङ्गकस्रावभयात् परिहारार्थम्। वक्ष्यति च त्रिमर्मीये—'धूमवर्तिं पिबेद् गन्धैरकुष्ठतगरैस्तथा' । च० चि० अ० २६।१८२। इति, शालाक्येऽप्युक्तम्—'नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते। मस्तुलुङ्गं विशेषेण तस्मात् ते नैव योजयेत्' ॥ विदेहतन्त्रे। सुश्रुतेऽप्युक्तम्—'एलादिना तगरकुष्ठवर्ज्येन' । सु० चि० अ० ४०।४।

मस्तुलुङ्ग—शिरःप्रदेश में मस्तुलुङ्ग पिण्ड (भेजा, दिमाग Brain) कपालास्थियों के भीतर रहता है। देखें—सु० शा० अ० ६।२७। शृंगाटक नामक मर्म—शिर के भीतर मस्तिष्क, शिरोमज्जा, भेजा, दिमाग नामक अवयव है। इससे सम्बन्धित चार केन्द्र हैं—घ्राण, श्रोत्र, अक्षि तथा रसना। इन्हें सिरामर्म भी कहते हैं। इन पर चोट लगने से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

क्षौम—धूमवर्ति के निर्माण में क्षौमवस्त्र का उपयोग चरक तथा सुश्रुत दोनों ने किया है। टीकाकारों ने इसका अर्थ रेशमी वस्त्र किया है, ऐसा उचित नहीं है। रेशमी वस्त्र को जलाने पर दुर्गन्ध आती है। वास्तव में 'क्षौम' का अर्थ है—**'क्षुमायाः=अतस्याः—इदं क्षौमम्'** अलसी या तीसी के रेशों से बनाया गया वस्त्र। धूमपान का विशेष विधान च० सू० अ० ५, च० सू० अ० ८ तथा सु० चि० अ० ४० में देखें।

सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया । क्रिमिजे चैव कर्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ॥१८३॥

सन्निपातज शिरोरोग-चिकित्सा—सन्निपातज रोग में जो हितकारक चिकित्सा हो उसका प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् सन्निपातज शिरोरोग में जिस दोष का अधिक प्रकोप हो सर्वप्रथम उस दोष की चिकित्सा करनी चाहिए। क्रिमिज शिरोरोग में तीक्ष्ण शिरोविरेचन द्रव्यों या योगों का प्रयोग करना चाहिए। इससे क्रिमि नाक तथा मुख के मार्ग से बाहर आ जाते हैं, यही उनका विरेचन कहा जाता है।

त्वग्दन्तीव्याघ्रकरजविडङ्गनवमालिकाः ।
अपामार्गफलं बीजं नक्तमालशिरीषयोः । क्षवकोऽश्मन्तको बिल्वं हरिद्रा हिङ्गु यूथिका ॥१८४॥
फणिज्झकश्च तैस्तैलमविमूत्रे चतुर्गुणे । सिद्धं स्यान्नावनं चूर्णं चैषां प्रधमनं हितम् ॥१८५॥

त्वगादि तैल, प्रधमनचूर्ण—दालचीनी, जमालगोटा जी जड़, नखी, वायविडंग, नवमालिका का फूल, अपामार्ग (चिरचिटा) के बीज, करंज के बीज, शिरीष के बीज, नकछिकनी, अश्मन्तक, बेल की गुद्दी, हल्दी, हींग, जूही, वनतुलसी, इन द्रव्यों का कल्क तैयार कर चौगुने भेड़ के मूत्र में तेल का पाक करें। तैयार होने पर छानकर रख लें। अथवा इन्हीं द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण कर लें। यह प्रधमन नस्य के लिए प्रयुक्त होता है। ये तेल और चूर्ण शिरोरोग का शमन करते हैं।

फलं शिग्रुकरञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकः । कषायः स्वरसः क्षारश्चूर्णं कल्कोऽवपीडकः ॥१८६॥
शुक्ततिक्तकटुक्षौद्रकषायैः कवलग्रहः ।

इति शिरोरोगचिकित्सा ।

अवपीड नस्य तथा कवलग्रह—सोंठ, मरिच, पीपर के साथ सहिजन तथा करंज के बीजों को पानी में डालकर कपड़े में निचोड़कर इस रस द्वारा अवपीड़ नस्य देना चाहिए। अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ, स्वरस, क्षार, चूर्ण, कल्क द्वारा अवपीड नस्य का प्रयोग करना चाहिए। शुक्त (सिरका), तिक्त (नीम आदि), कटु (सोंठ, मरिच, पीपल आदि) द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग और मधु का कवल धारण करना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय प्रति में उक्त प्रकार से यहाँ पर शिरोरोग चिकित्सा समाप्त हो रही है। श्रीजयदेव विद्यालंकार की टीका युक्त चरकसंहिता में—'सिद्धं...हितम्', श्लोक में ही 'शिरोरोगचिकित्सा' को समाप्त कर दिया गया है। चरक-सूत्रस्थान अध्याय १७ का नाम 'कियन्तःशिरसीय' है। इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन करें और 'चरकचन्द्रिका' टीका का अनुशीलन करें। उसमें पाँच प्रकार के शिरोरोगों का संकेत, परिचय और 'शिरःशारीर' का क्षेत्र बतलाया गया है। इस दृष्टि से आप देखें कि 'श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च', च० सू० अ० १७।१२ के अनुसार आँख, कान, नाक, मुख, जीभ आदि के सभी रोग शिरोरोग ही हैं, किन्तु चिकित्सा निर्देश की सुविधा के लिए इन्हें नेत्ररोग, कर्णरोग आदि संज्ञा प्रदान की गयी है। ऊपर अवपीडक नस्य तथा कवलग्रह का उल्लेख किया गया है। अतः स्पष्ट है कि 'नस्य' नासिका तथा ऊर्ध्वजत्रुविकारों में प्रयुक्त होती है और 'कवलग्रह' का प्रयोग मुखरोगों में किया जाता है। यह अविस्मरणीय है कि मुखमण्डल शिरःप्रदेश का ही अविभाज्य अंग है।

कवल-गण्डूष में भेद—'सुखं सञ्चार्यते या तु मात्रा स कवलः स्मृतः। असञ्चार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः' ॥ सु० चि० अ० ४०।६२।

धूमः प्रधमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घनम् ॥१८७॥
भोज्यं च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम् ।

मुखरोग-चिकित्सा-सूत्र—मुखरोगों में प्रधमन (नस्य), अधःशुद्धि (विरेचन), छर्दन (वमन), लंघन तथा उस-उस (वात, पित्त, कफ) दोष का नाशक अन्न (आहार), पान (पीने योग्य द्रवों) का सेवन हितकर होता है।

पिप्पल्यगुरुदार्वीत्वग्यवक्षाररसाञ्जनम् ॥ १८८ ॥
पाठां तेजोवतीं पथ्यां समभागं विचूर्णयेत् । मुखरोगेषु सर्वेषु सक्षौद्रं तद्विधारयेत् ॥१८९॥
सीधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः ।

पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पली, अगुरु, दारुहल्दी की छाल, जवाखार, रसौत, पाठा, तेजबल (तुम्बुरु या तिमूर), हरड़ इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर आवश्यकतानुसार मधु के साथ मिलाकर मुख में उतना धारण करे, जिसे मुख में आसानी से इधर-उधर हिलाया अथवा घुमाया जा सके। इसके अतिरिक्त सीधु (सिरका), माधव (मधु से तैयार की गयी मदिरा), माध्वीक (महुआ के फूलों से निर्मित मदिरा), इन द्रवों से भी कवल धारण करना उत्तम होता है।

वक्तव्य—यद्यपि कवल के रूप में धारण किये गये द्रव्यों को बाद में थूक दिया जाता है, निगला या पीया नहीं जाता, फिर भी उसकी मात्रा का निर्धारण इस दृष्टि से किया जाता है कि मुख में लेने के बाद उसे हिलाया-डुलाया जा सके, जिससे मुख के भीतर के दोष उस द्रव्य या द्रव में आ सकें। इसकी मात्रा का निर्देश हम ऊपर श्लोक १८६ के वक्तव्य में कर चुके हैं। कवल का अर्थ है—कौर या ग्रास। देखें—अमरकोश कां० २ वर्ग ९।५४।

तेजोह्वाभयामेलां समङ्गां कटुकां घनम् ॥ १९० ॥
पाठां ज्योतिष्मतीं लोध्रं दार्वीं कुष्ठं च चूर्णयेत् । दन्तानां घर्षणं रक्तस्रावकण्डूरुजापहम् ॥१९१॥

तेजोह्वादि चूर्ण—तुम्बुरु (तिमूर या नेपाली धनियाँ), हरड़, इलायची, मजीठ, कुटकी, नागरमोथा, पाठा, मालकांगनी, पठानीलोध, दारुहल्दी, कूठ इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर डालें। इस चूर्ण को दाँतों पर घिसने से मसूड़ों से होने वाला रक्त का स्राव, खुजली और पीड़ा का विनाश होता है।

वक्तव्य—इसी प्रकार का एक योग वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है, जिसका प्रयोग दाँतों तथा मसूड़ों के विकारों में किया जाता है। वह योग इस प्रकार है—'तेजोवतीव्योषहरिद्राद्वयकुष्ठपाठाकटुरोहिणीलोध्रसमङ्गा-मुस्तैः प्रतिसारणं सर्वदन्तमांसामयेषु कण्डूश्वयथुवेदनारक्तस्रुतिहरम्'। अ० सं० उ० अ० २६।२३।

पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः । पलाशमुष्ककक्षारयवक्षाराश्च चूर्णिताः ॥१९२॥
गुडे पुराणे द्विगुणे क्वथिते गुटिकाः कृताः । कर्कन्धुमात्राः सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि ॥१९३॥
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः ।

क्षारगुटिका—पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ), तालीसपत्र, इलायची, मरिच, दालचीनी, पलाश वृक्ष की छाल, मोखा की छाल, जवाखार इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। चूर्ण से दूनी मात्रा में पुराना गुड़ लेकर उसे पकायें, जब चासनी तैयार हो जाय तो उसमें उक्त चूर्ण को भली-भाँति मिलाकर उसकी बेर के समान गोलियाँ बनायें। इन गोलियों को काले मोखा की भस्म में एक सप्ताह तक ढककर रख दें। इन गुटिकाओं का प्रयोग सभी प्रकार के कंठ रोगों में मुख में रखकर करें। ये अमृत की भाँति लाभप्रद होती हैं।

वक्तव्य—श्रीगोविन्ददास ने इस योग को मुखरोगाधिकार में अविकल रूप से 'क्षारगुडिका' नाम से उद्धृत किया है। यह गुडिका कफप्रधान गले के रोगों में विशेष लाभ करती है। इससे बढ़ी हुई गलग्रन्थियाँ शान्त हो जाती हैं। भैषज्यरत्नावली के शोथाधिकार में एक 'क्षारादिगुटिका' का पाठ दिया है, वह प्रस्तुत पाठ से सर्वथा भिन्न है। इसी योग को चक्रदत्त ने भी ग्रहण किया है। वृद्धवाग्भट ने लगभग ऐसा ही किन्तु अनेक द्रव्यों की भिन्नता वाला एक पाठ अ० सं० उ० अ० २६।४१ में दिया है, किन्तु किसी ने भी इस योग को 'क्षार' पद से प्रारम्भ नहीं किया है।

हमारे विचार से इस योग का नाम **'पञ्चकोलादि क्षारगुटिका'** होना चाहिए। पारम्परिक दृष्टि से ढूँढने के अभ्यास वाले व्यक्ति भ्रम में न पड़ें, इस दृष्टि से हमने भी उसी नाम को स्वीकार कर लिया है।

कर्कन्धुमात्राः—कर्कन्धु शब्द बेर का पर्याय है। इसे 'कोल' भी कहते हैं। झड़बेर या जंगली बेर आकार में कलमी बेर से बहुत छोटा होता है। सम्भवतः मागधमान में जो 'कोलद्वयं च कर्षः स्यात्' (शा० सं० पू० खं० अ० १।२१) कहा है, वह दो जंगली बेरों का ही भार हो सकता है, नये कलमी बेरों का नहीं। जो V. S. Apte ने 'कोलम्' को एक तोले का भार लिखा है। श्रीजयदेव ने 'कर्कन्धु' को कोलप्रमाण का वाचक मानकर ८ माशे (१ तोला) अपनी टीका में लिखा है तथा श्रीचक्रपाणि ने **'कर्कन्धूमात्रा इति अष्टमापकमानाः'** लिखा है, ये सभी विचारणीय स्थल हैं। जब कि महर्षि आत्रेय कहते हैं—'कोलं बदरमेव च। विद्याद् द्वौ द्रङ्क्षणौ कर्षम्'। च० क० अ० १२।८९-९०। इसका तात्पर्य है कि यहाँ श्रीचक्रपाणि ने चरकोक्त मान का अपमान किया है और यदि हम श्रीचक्रपाणि के अनुसार आठ माशा का एक 'कोल' मानते हैं, तो तब 'कर्ष' का परिमाण १६ माशा=१ तोला मानना होगा, जो अव्यावहारिक है।

हमारे विचार से मागधमान और चरकोक्तमान दोनों ही ठीक हैं। यहाँ 'कर्कन्धुमात्राः' का तात्पर्य यह है—जंगली बेर के आकार की छोटी-छोटी गोलियाँ बनानी चाहिए, तौलकर नहीं। इस प्रकार ये हानिकार नहीं होगी। मात्र या मात्रा शब्द आकार को भी इंगित करते हैं। ये शब्द केवल परिमाणवाचक ही नहीं हैं। यथा—एतावन्मात्रो गजः। एतावन्मात्रं स्तनम्' आदि।

गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम् ॥ १९४ ॥
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकश्चेति चूर्णितम् । सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम् ॥१९५॥
कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ।

इति कालकचूर्णम् ।

कालकचूर्ण—घर का धुआँ, जवाखार, पाठा, सोंठ, मरिच, पिप्पली, रसवत, तेजबल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पठानीलोध, चीता की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करें। इस चूर्ण को मात्रानुसार लेकर मधु के साथ मुख में रखकर चूसें। इसका सेवन करने से गले के रोगों का नाश होता है। यह 'कालक' नाम का चूर्ण दाँतों, मुख तथा गले के रोगों का विनाश करता है।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में इस योग का नाम 'काणक' भी दिया गया है। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं कि उपर्युक्त 'रोध्र' के स्थान में कुछ विद्वान् 'लोह' शब्द का ग्रहण करते हैं। तदनुसार 'लौह' शब्द से काललौह (उत्तमलौह) अथवा 'अगर' का ग्रहण किया जायेगा। आप विचार करें, क्या काललौह के कारण ही इस योग का नाम 'कालक' तो नहीं पड़ा ?

मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम् ॥ १९६ ॥
दार्वीत्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम्। मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् ॥१९७॥
मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम्।

इति पीतकचूर्णम्।

पीतकचूर्ण—शुद्ध मैनसिल, जवाखार, हरिताल, सैंधानमक, दारुहल्दी की छाल, इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इस चूर्ण को मधु तथा घृतमंड (ऊपर के साफ-शुद्ध घी) में मिलाकर (भलीभाँति फेंटकर) रख लें। इसे आवश्यकतानुसार कण्ठरोगों एवं मुखरोगों में सेवन करना चाहिए। यह पीतक नाम का चूर्ण है। मुखमण्डल में होने वाले रोगों का विनाश करने में यह श्रेष्ठ है। यह चूर्ण पीताभ होता है, यही इसके नाम की सार्थकता है।

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वीत्वक् त्रिफला घनम् ॥ १९८ ॥
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत्।
पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वेति च चूर्णितम् ॥ १९९ ॥
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम्। योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ॥२००॥

मृद्वीकादि चूर्ण—मुनक्का, कुटकी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, दारुहल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, पाठा, रसाञ्जन, मूर्वा, तेजोह्वा (तेजबल, तुम्बुल, तिमूर) इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को घृतमंड (नवनीत या मक्खन को बिलोने पर ऊपर जो साफ घी मिलता है, उस) में तथा मधु में मिलाकर कण्ठरोगों तथा गलरोगों में धारण करना चाहिए। इससे सभी प्रकार के कण्ठरोग शान्त हो जाते हैं। उपर्युक्त ये तीन योग (कालक चूर्ण, पीतक चूर्ण और मृद्वीकादि चूर्ण) वात, पित्त, कफ सम्बन्धी कण्ठरोगों के विनाशक हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोक १९९ के पूर्वार्ध को मूल ग्रन्थ का भाग न मानते हुए श्री जयदेव ने इसे नीचे टिप्पणी में दिया है। इसके आगे तीन पंक्तियों का समावेश भी उन्होंने 'मृद्वीकादिचूर्ण' के ही अन्तर्गत किया है, जो युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नहीं तो तन्त्रकार की यह उक्ति—**'योगास्त्वेते त्रयः'** व्यर्थ हो जाती। साथ ही इस प्रकार श्लोकों का विभाजन करने पर चार योग (१. कालकचूर्ण, २. पीतकचूर्ण, ३. मृद्वीकादिचूर्ण और ४. पाठादिचूर्ण) हो जाते। श्रीचक्रपाणि भी 'कालकचूर्ण' से लेकर **'योगास्त्वेते त्रयः'** के बीच में तीन ही योगों की सत्ता स्वीकार करते हैं। श्रीजयदेव ने जिस पद्यार्ध को टिप्पणी में दिया है, वास्तव में वही तीन योगों को चार योग बनाने में कारण है और जब उसको लेकर तीन योग बनाते हैं, तो एक ही योग में कण्ठरोग और [illegible] मुखरोगादिदोष को चरितार्थ करते हैं। घृत-मधु का योग पीतकचूर्ण में भी है और मृद्वीकादिचूर्ण में भी, जो किसी प्रकार बाधक प्रतीत नहीं होता है।

कटुकातिविषापाठादार्वीमुस्तकलिङ्गकाः। गोमूत्रक्वथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः ॥२०१॥

कटुकादि क्वाथ—कुटकी, अतीस, पाठा, दारुहल्दी, नागरमोथा, इन्द्रजौ इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट करके गोमूत्र में डालकर अलग-अलग क्वाथ-विधि से पकाकर पीना चाहिए। इनसे कण्ठरोगों का विनाश होता है।

वक्तव्य—दूसरे टीकाकारों ने इस श्लोक के द्रव्यों को एक साथ मिलाकर एक योग के रूप में सेवन करने की सम्मति दी है। आप विद्वान् हैं, श्लोक की भाषा पर ध्यान दें। श्रीचक्रपाणि ने 'चक्रदत्त' में उक्त पाठ को इस प्रकार परिवर्तित किया है—'कटुकातिविषादारुपाठामुस्तकलिङ्गकाः'। इसके अनुसार 'दारुहल्दी' के स्थान पर 'देवदारु' का ग्रहण करना होगा। निघण्टु-साहित्य का पर्यालोचन कर आप स्वयं निर्णय करें कि

यहाँ दारुहल्दी की उपयोगिता अधिक है या देवदारु की ? समाधान अनेक प्रकार से किये जा सकते हैं, दलीलें बहुत होती हैं। परन्तु हमारे विचार से यहाँ जो महत्त्व दारुहल्दी का है, वह देवदारु का प्रतीत नहीं होता है।

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया। सक्षौद्रा मुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहा ॥२०२॥

रसक्रियाविधि एवं उसके लाभ—दारुहल्दी के स्वरस को पकाते-पकाते जो गाढ़ा कर दिया जाता है, उसे रसक्रिया कहते हैं। इसे मात्रानुसार शहद के साथ मुख में रखने से सभी प्रकार के मुखरोग, रक्तविकार और नाड़ीव्रण (नासूरों) का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—अन्यत्र रसक्रिया का विधान इस प्रकार है—'क्वाथादीनां पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया'। शा० सं० म० खं० अ० ८।१। सामान्यरूप से दारुहल्दी का क्वाथ करके छान लिया जाता है, उसी क्वाथ को पुनः पकाते-पकाते गाढ़ा कर लिया जाता है, उसे 'रसवत या रसौत' कहते हैं। इस प्रकार यह 'रसौत' चिर-स्थायी हो जाता है। नाड़ीव्रणों में इसे शहद के साथ घिसकर व्रणस्थान पर लगाया जाता है। वृद्धवाग्भट ने इसकी विशेष विधि देते हुए इसमें गेरू मिलाने की सम्मति दी है। देखें—अ० सं० उ० अ० २६।५२। वाग्भट भी इस विधि का समर्थन करते हैं। दारुहल्दी के छिलकों से आवश्यकतानुसार रस या स्वरस (उस द्रव्य का अपना रस) नहीं निकल पाता, अतः उसके लिए अन्य विधियों का प्रयोग करना पड़ता है। शार्ङ्गधरसंहिता में स्वरस-निर्माण की तीन विधियाँ दी गयी हैं। ऐसे अवसरों पर प्रथम विधि को छोड़कर दूसरी तथा तीसरी विधि का आश्रय लेना चाहिए। देखें—शा० सं० म० खं० अ० १।३-४।

तालुशोषे [1]त्वतृष्णस्य सर्पिरौत्तरभक्तिकम्। नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसा हिताः ॥

तालुशोषरोग-चिकित्सा—इस रोग में यदि रोगी को प्यास न लग रही हो तो उसे भोजन कर लेने के बाद शीघ्र ही घृतपान कराना चाहिए। नस्य, मधुर, स्निग्ध (स्नेह युक्त) तथा शीतल मांसरसों का सेवन हितकर होता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने **'स्नेह्याः के, के न च'** इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—'तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः। न स्नेह्याः'। च० सू० अ० १३।५४,५६। एक ओर इस प्रकार तालुशोषी को तन्त्रकार स्नेहपान का निषेध कर चुके हैं और यहाँ उसी स्नेहपान का विधान कर रहे हैं। इस 'अतृष्णस्य' के स्थानपर दो पाठभेद नीचे टिप्पणी में दिये गये हैं। इस पर श्रीचक्रपाणि अपने मत को इस प्रकार उपस्थापित कर रहे हैं—'तालुशोषे यद्यपि स्नेहपानं निषिद्धं, तथापीह औत्तरभक्तिकं सर्पिर्विशेषविधानात् कर्तव्यमेव'। यहाँ अन्य पाठभेदों की दृष्टि से 'अतृष्णस्य' पाठ ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि तन्त्रकार ने स्वयं यहाँ 'अतृष्ण' के लिए विशेष परिस्थिति में भोजन के बाद घृतपान का विधान किया है।

मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम्। मूत्रतैलघृतक्षौद्रक्षीरैश्च कवलग्रहाः ॥२०४॥

मुखपाक-चिकित्सा—इसमें सिराकर्म (सिरावेध), शिरोविरेचन, कायविरेचन, गोमूत्र, तेल, घी, मधु तथा दूध का कवलग्रहण कराना चाहिए।

वक्तव्य—मुखपाक में वातदोष की शान्ति के लिए तेल-घी का, पित्तदोष की शान्ति के लिए गाय के दूध का और कफदोष की शान्ति के लिए गोमूत्र तथा मधु का कवलग्रह धारण करना अधिक उपयुक्त होगा। मुखरोग में शिरावेध के स्थल हैं—तालु और जिह्वा।

सक्षौद्रास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः। कषायतिक्तकाः शीताः क्वाथाश्च मुखधावनाः ॥

मुखधावन द्रव्य—हरड़, बहेड़ा, आँवला, पाठा, मुनक्का, चमेली की पत्तियाँ इनके क्वाथ में शीतल हो जाने पर मधु मिलाकर मुखशोधन के लिए कवल धारण करना चाहिए। इसी प्रकार तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा निर्मित अन्य कषायों का भी प्रयोग शीतल हो जाने पर करना चाहिए। इससे मुखशुद्धि होती है।

तुलां खदिरसारस्य द्विगुणामरिमेदसः। प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥२०६॥

१. 'सतृष्णस्य' इति, 'सतृप्तस्य' इति च पा०।

द्रोणशेषं कषायं तं पूत्वा भूयः पचेच्छनैः। ततस्तस्मिन् घनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम् ॥२०७॥
चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठा धातकी घनम्। प्रपौण्डरीकं यष्टयाह्वत्वगेलापद्मकेशरम् ॥२०८॥
लाक्षां रसाञ्जनं मांसीत्रिफलालोध्रबालकम्। रजन्यौ फलिनीमेलां समङ्गां कट्फलं वचाम् ॥
यवासागुरुपत्तङ्गगैरिकाञ्जनमावपेत्। लवङ्गनखकक्कोलजातिकोशान् पलोन्मितान् ॥२१०॥
कर्पूरकुडवं चापि क्षिपेच्छीतेऽवतारिते। ततस्तु गुटिकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत् ॥२११॥
तैलं चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत्। दन्तानां चलनभ्रंशशौशिर्यक्रिमिरोगनुत् ॥२१२॥
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्यजाड्यारोचकनाशनम्। स्रावोपलेपपैच्छिल्यवैस्वर्यगलशोषनुत् ॥२१३॥
दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत् परायणम्। खदिरादिगुटीकेयं तैलं च खदिरादिकम् ॥२१४॥
इति खदिरादिगुटिका तैलं च।

खदिरादि गुटिका, खदिरादि तैल—खैरवृक्ष के बीच की लकड़ी १ तुला (४०० तोला), अरिमेद (विट्खदिर) २ तुला (८०० तोला) (अरिमेद, इरिमेद ये एक ही द्रव्य के नाम हैं। इसका लैटिन नाम 'Acacia farnisiana Willd' है। इन्हें जल से धोकर साफ कर लें, तदनन्तर जौकुट कर लें। इन्हें ४ द्रोण (४०९६ तोला) जल में डालकर क्वाथ-विधि से पकायें। जब वह जल पकते-पकते १ द्रोण (१२ सेर १२ छ० ४ तोला) शेष रह जाय, तब उसे उतार कर छान लें। उस छने हुए क्वाथरस को पुनः मन्द आँच में पकायें, जब कुछ गाढ़ा हो जाय तब उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण १-१ अक्ष=तोला की मात्रा में मिलायें।

द्रव्यों के नाम—चन्दन, पद्मकाठ, खस, मजीठ, धाय के फूल, नागरमोथा, पुण्डरियाकाठ, मुलेठी, दालचीनी, छोटीइलायची, कमल का केसर, लाख, रसाञ्जन, जटामांसी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पठानीलोध, सुगन्धवाला, हल्दी, दारुहल्दी, फूलप्रियंगु, बड़ी इलायची, समंगा (लजालू या मजीठ), कट्फल (कायफल), बालवच, जवासा, अगर, पतंग, शुद्धगेरू, शुद्ध अंजन। उसके बाद इन्हें उस गाढ़े क्वाथ में भली भाँति मिलाकर उतार लें। जब यह अपने आप ठंडा हो जाय तब १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में लवंग, नखी, शीतलचीनी, जावित्री का चूर्ण तथा १ कुडव (१६ तोला) कपूर का चूर्ण डालकर मिला दें। भली-भाँति मिला लेने पर गोलियाँ बनाकर सुखाकर रख लें। इन्हें मुख में रखकर चूसें। इसी प्रकार उक्त चन्दन आदि द्रव्यों का कल्क बनाकर तथा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से तैलपाक करें।

फलश्रुति—इस प्रकार तैयार किये हुए इस तैल या उक्त गुटिका को मुख में धारण करने से दाँतों का हिलना, गिरना, दन्तशौशिर्य (सु० नि० अ० १६।१८-१९ में देखें—शौषिर, महाशौषिर), क्रिमिरोग, मुखपाक आस्य (मुख से) दुर्गन्धि का आना, मुख में जीभ की जड़ता (स्वाद का ज्ञान न होना) तथा अरोचक रोग नष्ट हो जाते हैं। मुख से लार का चूना, मुख के भीतर कफ का लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, मुखमण्डल में चिपचिपापन, स्वर का बिगड़ जाना या बैठ जाना तथा गलशोष रोगों को यह हटाता है। यह सभी प्रकार के दाँत, मुख और गल रोगों की चिकित्सा का उत्तम मार्ग है, अर्थात् इस गुटिका तथा तैल से बढ़कर इन रोगों की और कोई चिकित्सा नहीं है। इस गुटिका का नाम 'खदिरादि गुटिका' और तैल का नाम 'खदिरादि तैल' है।

वक्तव्य—गुटिका-निर्माण में क्वाथ के शीतल होने पर लवंग से लेकर कर्पूर तक के द्रव्यों को डालने का ऊपर विधान दिया गया है, इसी प्रकार तैलपाक हो जानेपर उक्त सुगन्धित द्रव्यों का यथाविधि प्रयोग करना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है, किन्तु इन्होंने द्रव्य और मात्रा में कुछ हेर-फेर अवश्य किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० २६।२४। चरक में एला द्रव्य दो बार आया है, वृद्धवाग्भट ने एला तथा एलेय का ग्रहण किया है। अन्य अन्तरों का आप स्वयं निरीक्षण करें। चरक के अनुसार चतुर्थांश क्वाथ शेष रहना चाहिए, वृद्धवाग्भट के अनुसार अष्टमांश। चक्रदत्त में भी यह योग उद्धृत है, परन्तु उसमें अनेक परिवर्तन देखे जा रहे हैं। देखें—चक्रदत्त, मुखरोगचि० ५८-६२।

विशेष—श्रीजयदेव ने २१४वें श्लोक के उत्तरार्ध को कोष्ठांकित किया है, किन्तु श्लोकों की क्रमसंख्या में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया है।

अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः। मनोज्ञमन्नपानं च हर्षणाश्वासनानि च ॥२१५॥

अरोचक-चिकित्सा—भोजन के प्रति अरुचि होने पर कवलों का धारण, मुखधावन, धूमपान, मन के अनुकूल अन्नपान की व्यवस्था, चित्त को प्रसन्न रखने के उपाय और रोगी को आश्वस्त करना चाहिए।

कुष्ठसौवर्चलाजाजीशर्करामरिचं बिडम्। धात्र्येलापद्मकोशीरपिप्पल्युत्पलचन्दनम् ॥२१६॥
लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्। आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजीशर्करायुतः ॥२१७॥
सतैलमाक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः। चतुरोऽरोचकान् हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान् ॥२१८॥

अरोचक में कवलग्रह—१. कूठ, सोंचरनमक, जीरा, चीनी, कालीमिर्च, विरिया नमक। २. आँवला, इलायची, पद्माख, खस, पिप्पली, नीलकमल, चन्दन। ३. पठानीलोध, तेजबल (तुम्बुल या तिमूर), हरड़, सोंठ, मरिच, पीपल, जवाखार। ४. अदरख का स्वरस, दाड़िम के बीजों का रस, जीरा, चीनी। इनमें तेल और मधु मिलाकर अलग-अलग प्रयोग करने चाहिए, क्योंकि ये आधे-आधे श्लोकों द्वारा कहे गये चार कवलग्रह हैं। ये चारों क्रमशः वातज, पित्तज, कफज तथा सर्वज (सन्निपातज) अरोचकों का विनाश करते हैं।

कारवीमरिचाजाजीद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम्। सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम् ॥२१९॥

अरोचक-नाशक द्रव्य—कारवी (मंगरैला या कालीजीरी), कालीमिर्च, जीरा, मुनक्का, विषाविल, दाड़िम के बीज, सोंचरनमक, गुड़ और शहद इन्हें एक साथ मिलाकर गोलियाँ बना लें। इनका सेवन करने से सभी प्रकार के अरोचकों का नाश हो जाता है।

वस्तिं समीरणे, पित्ते विरेकं, वमनं कफे। कुर्याद्धृद्यानुकूलानि हर्षणं च मनोघ्नजे ॥२२०॥
इत्यरोचकचिकित्सा।

अरोचक-चिकित्सा-सूत्र—इस रोग में वातदोष की अधिकता होने पर वस्ति-प्रयोग, पित्तदोष की प्रधानता होने पर विरेचन, कफदोष की अधिकता होने पर वमन और मानसिक आघात के कारण होने वाले अरोचक रोग में मन को प्रसन्न रखने वाले तथा हृदय के अनुकूल व्यवहारों, खान-पान आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने आयुर्वेदीय चिकित्सा के सार्वभौम सिद्धान्त का प्रयोग अरोचक-चिकित्सा पर कर डाला है। आप ध्यान से देखें—आमाशय के नीचे वात का प्रधान स्थान (वाताशय) है, अतः उस पर जितना शीघ्र स्नेहवस्ति का प्रभाव पड़ता है, उतना दूसरी चिकित्सा का नहीं। पित्ताशय—आमाशय के ऊपर नाभि के बाईं ओर है। पित्त-विकृति पर विरेचन-क्रिया का एकाधिपत्य है और श्लेष्माशय उरःस्थल के भीतर है। इस पर जितना प्रभाव वमन का होता है, उतना अन्य किसी प्रकार के उपचार का नहीं। इनका ध्यान सर्वत्र चिकित्सा-क्षेत्र में रखना चाहिए।

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत् क्रिया। प्रदेहाः पूरणं नस्यं पाकस्रावे व्रणक्रियाः ॥२२१॥
भोज्यानि च यथादोषं कुर्यात् स्नेहांश्च पूरणान्।

कर्णरोग-चिकित्सा—कर्णशूल में प्रतिश्याय रोग की भाँति वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त कर्णशूल में वातदोष-नाशक औषधद्रव्यों को पीसकर उनका प्रदेह (लेप) लगाना चाहिए। वातनाशक तेलों को कान में डालना चाहिए। वातनाशक द्रव्यों का चूर्ण करके उसकी अथवा तेलों की नस्य लेनी चाहिए। यदि कान पक गया हो या कान में से पूय (मवाद) बह रहा हो तो व्रण के समान (शोधन, रोपण) चिकित्सा करनी चाहिए। रोगी के लिए दोषानुसार पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए और कानों में व्रणरोपण तेल डालना चाहिए।

हिङ्गुतुम्बरुशुण्ठीभिस्तैलं तु सार्षपं पचेत् ॥ २२२ ॥
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूलनिवारणम्।

हिङ्ग्वादि तैल—हींग, तुम्बुल के बीज (तेजबल, नेपाली धनियाँ या तिमूर), सोंठ इनके कल्क से सरसों के तेल को पकायें। यह तेल कान के घावों को भरने (पूरा करने) में श्रेष्ठ होता है और इसके सेवन से कर्ण रोगों का नाश होता है।

वक्तव्य—अनेक टीकाकारों ने 'तुम्बुरु' का अर्थ धनियाँ लिख दिया है, जो भ्रामक है। धनियों का पर्याय
है—'कुस्तुम्बुरु' न कि 'तुम्बुरु'। इसे 'नेपाली धनियाँ' कहते हैं।

देवदारुवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥ २२३ ॥
तैलं सिद्धं वस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम्।

देवदार्वादि तैल—देवदारु, वालवच, सोंठ, सोया, कूठ, सेंधानमक, इन सब द्रव्यों को समान भाग
लेकर इनका कल्क तैयार करें, इस कल्क तथा सरसों के तेल से चौगुना बकरे का मूत्र इनके योग से पकाया गया
यह तेल कान में डालने से कर्णशूल का निवारण करता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपनी टीका में लिखा है, कि 'चक्रपाणि कृत संग्रह में यह तैल 'कुष्ठाद्य तैल'
नाम से पूतिकर्ण के नाशार्थ लिखा है'। सचमुच उस पाठ में पहला द्रव्य 'कुष्ठ' है, अतः नाम में परिवर्तन होना
स्वाभाविक था और उसमें एक द्रव्य 'हींग' अधिक भी है। आप 'देवदार्वादि तेल' का प्रयोग पूतिकर्ण में भी करके
देखें, लाभ होगा। यह 'युक्तिव्यपाश्रय' चिकित्सा है, इसमें तो 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस नियम का
ध्यान रखना चाहिए। शूलनाशन हींग का एक प्रधान गुण है। यह क्रमि तथा वातनाशक भी होती है।

वराटकान् समाहृत्य दहेन्मृद्भाजने नवे ॥ २२४ ॥
तद्भस्म [1]श्च्योतयेत्तेन गन्धतैलं विपाचयेत्। रसाञ्जनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत्॥

गन्धतैल—सुपुष्ट कौड़ियों को नये मिट्टी के पात्र में भरकर उसका मुख बन्द करके उसपर कपड़मिट्टी
करके सुखा लें, सूख जाने पर कंडों (वनोपलों, गोहरी) की आँच में फूँक दें। स्वांगशीतल हो जाने पर
उसे खोल कर देख लें कि भली-भाँति भस्म हो गयी है, या नहीं। यदि भस्म न हुई हो तो पुनः उसी प्रकार
पात्र में रखकर कपड़मिट्टी करके फूँकें। इस भस्म को लेकर इससे क्षारजल या क्षारोदक का निर्माण कर उससे
तथा रसौत और सोंठ के कल्क से तिल-तेल का पाक करें। तदनन्तर इसे सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित करें।

वक्तव्य—क्षारोदक-निर्माण-विधि—कौड़ियों की भस्म को आवश्यकतानुसार पानी में घोलकर रख दिया
जाता है। जब क्षार द्रव्य नीचे बैठ जाय और ऊपर स्वच्छ पानी रह जाय तब कुछ देर के बाद उस पात्र को
बिना हिलाये उसका स्वच्छ जल नितार करके ले लिया जाता है, यही क्षारोदक है। विशेष देखें—सु० सू०
अ० ११।११।

सुगन्धित तेल-निर्माण-विधि—सर्वप्रथम तेल को मूर्च्छित किया जाता है। इस क्रिया से उसका 'आम-
दोष' दूर किया जाता है। यह विधि प्रायः सभी प्रकार के तेलों के निर्माण के पूर्व कर लेनी चाहिए। इसके लिए
देखें—शा० सं० म० खं० अ० ९।१२-१४। तेल की गन्ध-वृद्धि के लिए जिन 'पत्र-कल्कों' का प्रयोग किया जाता
है, उन्हें तैलपाक हो जाने पर जब वह शीतल हो जाय तो चूल्हे से उतार लिया जाय, तदनन्तर 'पत्रकल्क'
डालने के बाद कुछ समय तक तेल को उसी प्रकार पड़ा रहने दें और बाद में उसे छानकर रख लें।

[2]शुष्कमूलकशुण्ठानां क्षारो हिङ्गु महौषधम्। शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम्॥
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम्। भूर्जग्रन्थिबिडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम्॥२२७॥
मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च। [3]सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत्॥२२८॥
बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः। क्रिमयः कर्णशूलं च [4]पूरणादस्य नश्यति॥२२९॥

क्षारतैल—सूखी मूली का क्षार, गुण्डासिनीतृण का क्षार, हींग, सोंठ, शतपुष्पा (सोया), वालवच,
कूठ, देवदारु, सहिजन की छाल, रसाञ्जन (रसवत), सोंचरनमक, जवाखार, सज्जीखार, औद्भिदनमक, सेंधा-
नमक, भोजपत्र वृक्ष की गाँठ, विरियानमक, नागरमोथा—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार

---

१. 'स्रावयेद्' इति पा०। २. 'वालमूलकशुण्ठानाम्' इति पा०।
३. 'तैलमेभिर्विपक्तव्यं कर्णशूलहरं परम्' इति पा०।
४. 'पूरणादस्य तैलस्य क्रिमयः कर्णमाश्रिताः। क्षिप्रं प्रणाशं गच्छन्ति कृष्णात्रेयस्य शासनात्॥ क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदन्तामयापहम्'। इति पा०।

करें, तेल से चौगुना मधुशुक्त लें, बिजौरानीबू का रस और केले के स्तम्भ का रस ये दोनों तेल के बराबर लें।
इन सबको एक में मिलाकर तेल को यथाविधि पकायें। इस क्षार तेल का कान में डालकर प्रयोग करने से
बधिरता, कर्णनाद (कान के भीतर साँय-साँय शब्द का सुनायी देना), दारुण पूयस्राव (कान में से निरन्तर
मवाद का निकलना), कान के भीतर क्रमियों का पैदा होना तथा कर्णशूल (कान के भीतर होने वाली पीड़ा)
इन सब रोगों का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—'शुष्कमूलकशुण्ठानाम्' यह पाठ प्राचीन टीकाकारों के लिए भी सिर-दर्द रहा, ऐसा लगता है।
श्रीचक्रपाणि तो इसकी व्याख्या में मौन दिखलायी देते हैं। आचार्य गंगाधर ने इस प्रकार पाठ ही बदल डाला—
'बालमूलक०'; दूसरा एक पाठभेद है—'बालमूलकशुण्ठीनाम्'। इसमें 'शुण्ठी' शब्द के आगे 'महौषध' शब्द का
प्रयोग दिखलायी देने से यह पाठ आदरणीय प्रतीत नहीं होता। इस पाठभेद को श्रीजयदेव ने भी उद्धृत किया
है। निर्णयसागरीय प्रति में उक्त पाठ इस प्रकार है—**'बालमूलकशुण्ठानाम्'**। अर्थ की दृष्टि से यह पाठ
उत्तम है—छोटी मूलियों को सुखाकर उनका क्षार। हमने ऊपर टीका में 'शुण्ठानां' का अर्थ गुण्डासिनी तृण
किया है, उसका आधार वैद्यकनिघंटु तथा वैद्यकशब्दसिन्धु है। गुण्डासिनी तृण का उल्लेख राजनिघण्टु में
भी है, परन्तु उसके पर्यायों में शुण्ठ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। 'शुण्ठ' शब्द का अर्थ है—सूखा हुआ।
अतः हमारा भी अभीष्ट पाठ 'बालमूलकशुण्ठानाम्' ही है।

मधुशुक्त—जम्बीरीनीबू का रस १ प्रस्थ (६४ तोला), मधु १ कुडव (१६ तोला), पिप्पलामूल १ कुडव
(१६ तोला), इन द्रव्यों को एक मिट्टी के घड़े में रखकर उसका मुख बन्द करके धानों के ढेर के भीतर ढक कर
एक मास तक रख दें। तदनन्तर निकालकर प्रयोग करें। इसे मधुशुक्त कहते हैं। देखें-चक्रदत्त, प्रथम परिशिष्ट।

मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम्। कुर्याद् भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम्॥
इति कर्णरोगचिकित्सा।

मुख, कर्ण, नेत्र-चिकित्सा-सूत्र—मुख, कान, आँख इन रोगों में सबसे पहले दोष (वात, पित्त, कफ),
काल (शीत, उष्ण, वर्षा) इनके बलाबल का विचार कर पीनस (प्रतिश्याय) रोग में कही गयी विधि का
चिकित्सक को प्रयोग करना चाहिए।

उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः। कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः॥२३१॥

नेत्ररोग में बिडालक-प्रयोग—पैदा होते ही नये नेत्ररोग में दाह, उपदेह (आँखों से निकलने वाले
कीचड़), आँसुओं का अधिक निकलना, सूजन तथा लालिमा का दूर करने वाले बिडालक का प्रयोग करना
चाहिए।

वक्तव्य—बरौनियों को छोड़कर नेत्र के बाहरी भाग (पलकों) में जो लेप किया जाता है, उसका नाम
'बिडालक' है। उसकी मात्रा (मोटाई तथा धारण काल) मुखलेप के समान होती है। देखें—शा० सं० उ०
खं० अ० १३।३०। बिडालक के अनेक योग आगे दिये जा रहे हैं।

नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया। निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम्॥२३२॥
तथा शावरकं लोध्रं घृतभृष्टं बिडालकः। तद्वत् कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः॥२३३॥

वातज नेत्ररोगहर बिडालक—१. सोंठ, सेंधानमक को घृतमंड (तत्काल पिघलाये गये घी का ऊपरी
स्वच्छ भाग) में पीसकर रसक्रिया की भाँति गाढ़ा कर लेने पर उसका नेत्र पर लेप लगाना चाहिए। २. मधु,
सेंधानमक और गेरू का लेप लगाना चाहिए। ३. सावरक (सफेद) लोध को पीसकर घी में भूनकर बिडालक
लेप लगाना चाहिए। उसी प्रकार ४. हरड़ों को पीसकर घी में भूँजकर उसका लेप लगाना चाहिए। ये सभी
योग नेत्र-पीड़ा का शमन करते हैं।

वक्तव्य—दूसरे टीकाकार 'रसक्रिया' शब्द से 'रसवत्' का ग्रहण करने की अनुमति देते हैं, जो नेत्र
रोगों में हित करती है। किन्तु श्लोक की पदावली ने हमें उक्त अर्थ करने के लिए बाध्य किया है, आप भी
विचार करें।

पैत्तिके चन्दनानन्तामञ्जिष्ठाभिर्बिडालकः । कार्यः पद्मकयष्ट्याह्वमांसीकालीयकैस्तथा ॥२३४॥

पित्तज नेत्ररोगहर बिडालक—१. चन्दन, अनन्तमूल, मजीठ इन द्रव्यों से निर्मित, अथवा २. पद्मकाठ, मुलेठी, जटामांसी, कालीयक इन द्रव्यों से तैयार किये हुए बिडालक लेप का प्रयोग आँखों पर करना चाहिए। उक्त दोनों का लेप शीतल जल में पीसकर तैयार कराना चाहिए।

गैरिकं सैन्धवं मुस्तं रोचना च[1] रसक्रिया । कफे कार्या तथा क्षौद्रं प्रियङ्गुः समनःशिला ॥

कफज नेत्ररोगहर बिडालक—१. कफज नेत्ररोग में गेरू, सैंधानमक, नागरमोथा, गोरोचन इन्हें समभाग लेकर मधु अथवा पानी डालकर रसक्रिया की भाँति पीसकर गाढ़ा बनाकर लेप करें। २. मधु के साथ मैनसिल और फूलप्रियंगु को पीसकर रसक्रिया की भाँति गाढ़ा लेप तैयार कर नेत्रों के ऊपर बिडालक नामक लेप लगायें।

सन्निपाते तु सर्वैः स्याद् बहिरक्ष्णोः प्रलेपनम् ।
[2]पक्ष्माण्यल्पस्रुतता कार्यं सम्यङ्नेत्राञ्जनं व्यहात् ॥ २३६ ॥

सान्निपातिक नेत्ररोग में बिडालक—इसमें वातादि दोषों के अनुसार [illegible]

[illegible]

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः । कोष्णः सएरण्डतर्कारीबृहतीमधुशिग्रुभिः ॥

वातज नेत्ररोग में आश्च्योतन—रेंड़ की जड़, तर्कारी (छोटी अरणी), बड़ी कटेरी की जड़ और मधु शिग्रु (मीठा सहिजन) की छाल के साथ बिल्वादि पञ्चमूल (बिल्व = बेल की छाल, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, अरणी) के गुनगुने क्वाथ का आँखों में आश्च्योतन करना (बूँदें टपकाना) हितकर होता है।

वक्तव्य—'तर्कारी' को छोटी अरणी कहा गया है, देखें—द्रव्यगुणविज्ञान, आचार्य प्रियव्रतशर्मा। इसका लैटिन नाम है—क्लेरोडेण्ड्रम फ्लोमिडिस (Clerodendrum phlomidis Linn. f.)।

आश्च्योतन—आँखों में औषधद्रव डालने की विधि का नाम आश्च्योतन है। इसी को 'नेत्रसेचन', 'अक्षिसेक' भी कहा गया है। यह क्रिया केवल दिन में ही करनी चाहिए, देखें—'अथाश्च्योतनकं कार्यं निशायां न कथञ्चन। उन्मीलितेऽक्षिण दृङ्मध्ये बिन्दुभिर्द्व्यङ्गुलाद्धितम् ॥ बिन्दवोऽष्टौ लेखनेषु स्नेहने दश बिन्दवः। रोपणे द्वादश प्रोक्तास्ते शीते कोष्णरूपिणः ॥ उष्णे च शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवैष निश्चयः।' शा० सं० उ० खं० अ० १३। १२-१४। अर्थात् खुली हुई आँख में दो अंगुल ऊँचे से औषध द्रव की बूँदों को टपकाने का नाम आश्च्योतन है। इसके अनेक उपयोग होते हैं, तदनुसार इसके बूँदों की संख्या शास्त्रकार ने इस प्रकार निर्धारित की है—लेखन-क्रिया के लिए जो औषध द्रव डाले जाते हैं, उनकी मात्रा ८ बूँदें हैं, स्नेहन के लिए १० बूँदें तथा रोपण के लिए १२ बूँदें टपकानी चाहिए। शीतकाल में इन औषध द्रवों को कुछ गुनगुना करके और उष्णकाल में शीतल ही डालें। ऐसा ही विधान वैद्यकनिघण्टु में भी है।

वृद्धवाग्भट ने भी अक्षिसेक के लिए एक योग दिया है, उसमें महर्षि आत्रेय की भाँति पञ्चमूल की स्पष्टोक्ति नहीं है, अतः यहाँ भी बिल्वादि पञ्चमूल का ही ग्रहण करना चाहिए! देखें—अ० सं० उ० अ० १९।६१।

१. 'रोचनामुस्तलवणगैरिकैश्च' इति पा०।
२. 'प्रक्षाल्य स्रुशता कार्यं सम्यङ्नेत्राञ्जनं व्यहात्' इति पा०।

इस प्रकरण को आगे भी देखें। कुछ टीकाकार उक्त श्लोक को दो भागों में विभक्त कर इसमें दो योगों की कल्पना करते हैं—१. बिल्वादि पञ्चमूल से और २. एरण्डमूल आदि से। आचार्य जतूकर्ण अपनी संहिता में इसे एक ही योग स्वीकार करते हैं—'महत्पञ्चमूलरुबुकशिग्रुतर्कारीसिंहीक्वाथः'। जतूकर्णसंहिता, नेत्ररोगाधिकार। हमारे विचार से भी महर्षि आत्रेय द्वारा कहा गया योग भी एक ही है, दो नहीं। आप जरा श्लोक की शब्द-शय्या पर विचार करें। आँखों में बूँदें टपकाने के लिए या तो रुई के फाहा का प्रयोग करें अथवा साफ शुद्ध (जिसका प्रयोग दूसरे कार्य के लिए न किया गया गया हो, उस) ड्रापर (Dropper) का सहारा लें।

पृथ्वीकादार्विमञ्जिष्ठालाक्षाद्विमधुकोत्पलैः । क्वाथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत् ॥२३८॥

पित्तज नेत्ररोग में आश्च्योतन—मंगरैला, दारुहल्दी, मजीठ, कच्चीलाख, दोनों मुलेठी (१. जलज मुलेठी, २. स्थलज मुलेठी), नीलकमल, इन द्रव्यों को समान भाग लेकर क्वाथ करें। इस क्वाथ में चीनी मिलाकर आँखों में डालने से रक्तजनित तथा पित्तजनित नेत्र-विकार शान्त होते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद में मुलेठी का जलज और स्थलज भेद से वर्णन किया गया है। जलज मुलेठी को मधूलिका भी कहते हैं। यूनानी हकीम इसे तीन प्रकार की मानते हैं—१. मिस्री, २. अरबी, ३. तुर्की। इसका विशेष परिचय निघण्टु-ग्रन्थों में देखें।

नागरत्रिफलामुस्तनिम्बवासारसः[1] कफे । कोष्णमाश्च्योतनं मिश्रैरौषधैः सान्निपातिके ॥२३९॥

कफज नेत्ररोग में आश्च्योतन—सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, नीम की पत्तियाँ, अडूसा की पत्तियाँ इन सबको समान भाग लेकर क्वाथ करें, उसे छानकर गुनगुना आँखों में डालने से कफज नेत्ररोगों का शमन हो जाता है।

सन्निपातज नेत्ररोग में आश्च्योतन—ऊपर वात आदि दोषों की शान्ति के लिए जिन आश्च्योतनोपयोगी द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उन सबका मिलित रूप में प्रयोग सन्निपातज नेत्ररोग में करना चाहिए।

वक्तव्य—चिकित्सक को इस प्रकार के योगों के पाठभेदों पर भी चिकित्साकाल में प्रायोगिक रूप से ध्यान देना चाहिए, कि मूल में दिया गया द्रव्य अधिक हितकारी होगा या पाठभेद में दिया हुआ।

बृहत्येरण्डमूलत्वक् शिग्रोः पुष्पं ससैन्धवम् । अजाक्षीरेण पिष्टं स्याद् वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ॥

बृहत्यादि वर्ति—बड़ी कटेरी, रेंड़ की जड़ की छाल, सहिजन के फूल, सैंधानमक इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर बकरी के दूध से पीसकर बत्ती बनाकर इसे आँखों में लगाना चाहिए। इससे सभी प्रकार के वातरोगों का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ से उन नेत्र-रोगों की चिकित्सा का निर्देश किया जा रहा है, जिनमें दोषों का पाक हो चुका है। ऊपर बृहत्यादि वर्ति का निर्माण मात्र बतलाया गया है! इसे प्रयोग करते समय बकरी के दूध में घिसकर आँखों में लगाना चाहिए।

पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा ॥२४१॥

सुमनःकोरकाः शङ्खस्त्रिफला मधुकं बला ।

सुमनःकोरकादि वर्ति—चमेली की कली, शंखभस्म, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलेठी, बरियारा की जड़ इन सबको समान भाग लेकर दिव्य (वर्षा के निर्मल) जल से पीसकर बत्ती बनाकर छाया में सुखाकर रख लें। आवश्यकतानुसार इसे दिव्यजल में घिसकर लगाने से पित्तज एवं रक्तज नेत्रविकार नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने इस श्लोक से सम्बन्धित दो पाठभेद नीचे टिप्पणी में उद्धृत किये हैं—१. सुमनःक्षारकाः', पा०। २. 'सुमनःक्षारकं शङ्खं त्रिफलां मधुकं बलाम्। पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्ट्वा दिव्येन वारिणा' ॥ गंगाधर।

सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः । फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत् ॥

१. 'निम्बवासालोध्ररसः कफे' इति पा०।

सैन्धवादि वर्ति—सेंधानमक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, शखनाभि, समुद्रफेन, शैलेयक (छरीला), सर्ज (राल), इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर दिव्यजल से पीसकर वत्ती वनाकर सुखा लें। इस बत्ती को जल में घोलकर आँखों में लगायें, यह सभी प्रकार के कफज नेत्ररोगों का विनाश करती है।

अमृताह्वा बिसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत् । प्रपौण्डरीकं यष्टयाह्वं दार्वी कालानुसारिवा ॥
एषामष्टपलान् भागान् सुधौताञ्जर्जरीकृतान् । तोये पक्त्वा रसे पूते भूयः पक्वे रसे घने ॥
कर्षं च श्वेतमरिचाज्जातीपुष्पान्नवात् पलम् । चूर्णं क्षिप्त्वा कृता वर्तिः [1]सर्वघ्नी दृक्प्रसादनी ॥

अमृतादि वर्ति—गुरुच, कमलनाल, बेल की छाल, परबल की पत्तियाँ, बकरी की मेंगन, प्रपौण्डरीक (पुण्डरियाकाठ), मुलेठी, दारुहल्दी, कालानुसारिवा (तगर या कृष्णसारिवा), इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर अच्छी तरह धोकर जौकुट करके क्वाथ तैयार करें। क्वाथ के तैयार हो जाने पर उसे छानकर पुन पकायें जब वह गाढ़ा होने लगे तो उसमें सफेद मरिच (सहिजन के बीज) १ कर्ष=तोला, चमेली के नये फूल १ पल (४ तोला), इन दोनों का कपड़छन चूर्ण करके उस क्वाथ में मिलाकर बत्तियाँ बनाकर उन्हें सुखाकर रख लें। यह बत्ती तीनों प्रकार के नेत्रदोषों का नाश करती है और इसके सेवन से दृष्टि स्वच्छ हो जाती है।

शङ्खप्रवालवैदूर्यलोहताम्रप्लवास्थिभिः । स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत् ॥२४६॥

शङ्खादि वर्ति—शंखभस्म, प्रवालभस्म, वैदूर्य (विल्लौर) भस्म, लौहभस्म, ताम्रभस्म, प्लवास्थियों (पानी पर तैरने वाले पक्षियों की हड्डियों) की भस्म, सफेद सुरमा तथा श्वेतमरिच (सहिजन के बीज) का चूर्ण, इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर दिव्य जल के योग से इनकी बत्ती वनायें। इस वत्ती का प्रयोग आँखों में करने से सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने जिस पाठ को उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—**'लोहिताक्षप्लवास्थिभिः'**, इस स्थिति में लोहिताक्ष (सारस) तथा इसी प्रकार के अन्य प्लव (पानी में तैरने वाले पक्षी) आदि की हड्डियों की भस्म का यहाँ ग्रहण करना चाहिए। आप भी प्रयोग करके देखें इस पाठभेद की प्रेरणा का मूल स्रोत निश्चित ही वृद्धवाग्भट का निम्न श्लोक है—'शङ्खविद्रुमवैडूर्यलोहिताक्षप्लवास्थिभिः। स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगजित्' ॥ अ० सं० उ० अ० १९।७२।

शाणार्धं मरिचाद् द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः । शाणार्धं सैन्धवाच्छाणा नव सौवीरकाञ्जनात् ॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम् । कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम् ॥

१. **चूर्णाञ्जन**—मरिच आधा शाण (२ माशा), पिप्पली १ शाण (४ माशा), समुद्रफेन १ शाण (४ माशा), सैंधानमक आधाशाण (२ माशा), काला सुरमा ९ शाण (३ तोला) इन द्रव्यों को एकत्र करके चित्रा नक्षत्र के दिन इन्हें बारीक पीस कर के इस शुभकारक अञ्जन को रख लें। यह अञ्जन आँखों में होने वाली खुजलाहट, काचरोग तथा कफदोष युक्त आँखों में लगाने के लिए एवं नेत्ररोगों को दूर करने के लिए अत्यन्त हितकर होता है।

बस्तमूत्रे त्र्यहं [2]स्याप्यमेलाचूर्णं सुभावितम् । चूर्णाञ्जनं हि तैमिर्यक्रिमिपिल्लमलापहम् ॥२४९॥

२. **चूर्णाञ्जन**—छोटी इलायची के चूर्ण को बकरा के मूत्र में तीन दिन तक रखकर फिर उसका चूर्ण कर कपड़छन कर के रख लें। इसका भी नाम 'चूर्णाञ्जन' है। इसको आँखों में लगाने से तिमिर (नजला), नेत्रस्थ कृमिरोग, पिल्लरोग तथा नेत्र के मल का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—पिल्लरोग के १८ भेदों का वर्णन वाग्भट ने इस प्रकार किया है—१. कफज उत्क्लिष्टवर्त्म, २. पित्तोक्लिष्टवर्त्म, ३. रक्तोत्क्लिष्टवर्त्म, ४. निचयवर्त्म, ५. कुकूणक, ६. पक्ष्मोपरोध (अ० ८), ७. शुष्काक्षिपाक (अ० १५), ८. पूयालस (अ० १०), ९. विसवर्त्म (अ० ८), १०. पोथकी (अ० ८), ११. अम्लोषित (अ० १५), १२. अल्पशोफ (अ० १५), १३. पित्ताभिष्यन्द, १४. पित्ताधिमन्थ, १५. कफाभिष्यन्द, १६.

---

१. 'दोषघ्नी' इति पा०। २. 'स्थाप्यं विडचूर्णं' इति पा०।

कफाधिमन्थ, १७. रक्ताभिष्यन्द, १८. रक्ताधिमन्थ। ये रोग यदि दीर्घकाल तक बने रह जाते हैं, तो 'पिल्ल' कहे जाते हैं! देखें—अ० हृ० उ० अ० १६।४४-४५। ऊपर कोष्ठांकित संख्याएँ अ० हृ० उ० के अध्यायों की हैं। अ० सं० उ० अ० २० को भी देखें।

सौवीरमञ्जनं तुत्थं ताप्यो धातुर्मनःशिला । चक्षुष्या मधुकं लोहा मणयः पौष्पमञ्जनम् ॥२५०॥
सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा कतकं चाञ्जनं शुभम् । तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्तिर्वेयमनुत्तमा ॥२५१॥

तिमिरादि रोग-चिकित्सा—सौवीराञ्जन (काला सुरमा), शुद्ध तूतिया, स्वर्णमाक्षिक (सोनामाखी) शुद्ध मैनसिल, चक्षुष्या (चाकसू या वनकुलथी), मुलेठी, लौहभस्म अथवा सातों लौह आदि धातुओं की भस्में, मणियों की भस्में, पौष्पाञ्जन (सफेद सुरमा), सैंधानमक, सूअर की दाढ़, निर्मली फल, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर विधिपूर्वक नेत्र-कल्याणकारक अञ्जन, चूर्ण या वर्ति का निर्माण करें। नेत्र-रोगों के लिए इस योग से बढ़कर कोई दूसरा उत्तम योग नहीं है।

कतकस्य फलं शङ्खः सैन्धवं त्र्यूषणं सिता । फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला ॥२५२॥
कुक्कुटाण्डकपालानि वर्तिरेषा व्यपोहति । तिमिरं पटलं काचं मलं चाशु सुखावती ॥२५३॥
इति सुखावती वर्तिः ।

सुखावती वर्ति—कतक (निर्मली का फल), शंखभस्म, सैंधानमक, सोंठ, मरिच, पीपल, मिश्री, समुद्रफेन, रसाञ्जन (रसवत), मधु, वायविडंग, शुद्ध मैनसिल, मुर्गी के अण्डों के छिलके, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके बत्ती के आकार की गोलियाँ बना लें। इसका नाम सुखावतीवर्ति है। इसको घिसकर आँखों में लगाने से तिमिररोग, नेत्रपटल में होने वाले रोग, काचरोग, आँखों से निकलने वाले मल (कीचड़) को शीघ्र ही दूर कर देती है।

वक्तव्य—सुखावती वर्ति में १३ द्रव्य हैं। उनमें एक द्रव्य मधु भी है, जो कुल चूर्ण का तेरहवाँ भाग है, इतने मधु से इतने द्रव्यों का चूर्ण बत्ती बनाने योग्य गीला नहीं हो पायेगा। इसके लिए दिव्य (वर्षा का) जल लें। जब बत्ती बनकर सूख जाय तो उसे सुरक्षित रख लें। इस बत्ती को मधु के साथ घिसकर आँखों में लगायें। वृद्धवाग्भट ने भी इस सुखावतीवर्ति के पाठ को उद्धृत किया है। उन्होंने इसमें 'चन्दन' द्रव्य अधिक दिया है। मधु को योग के मध्य में न पढ़कर 'मधुना घृष्टा' ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० १६।३०-३१। इसका उल्लेख श्रीचक्रपाणिदत्त के 'चक्रदत्त' में और श्रीगोविन्ददास की 'भैषज्यरत्नावली' में भी उपलब्ध होता है। यह इसकी उपयोगिता की प्रामाणिकता है।

त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः । नीलोत्पलं विडङ्गानि फेनं च सरितां पतेः ॥२५४॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत् ताम्रभाजने । सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत् ॥
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः ।
इति दृष्टिप्रदा वर्तिः ।

दृष्टिप्रदा वर्ति—हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुर्गी के अण्डों के छिलके, शुद्ध कासीस, लोहरज, नीलकमल, वायविडंग, समुद्रफेन, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके बकरी के दूध से पीसकर इसे ताम्रपात्र में लीपकर सात रात्रि तक रख दें। सात दिन के बाद उस लेप को ताम्रपात्र में से खुरचकर पुनः बकरी के दूध से पीसकर बत्तियाँ बनाकर छाया में सुखाकर रख लें। इस बत्ती को बकरी के दूध में घिसकर जिसकी नेत्रतारिका नष्ट न हुई हो, ऐसे अन्धे पुरुष की आँख में लगाते रहने से उसे भी देखने की शक्ति प्रदान करती है। अतएव इसे 'दृष्टिप्रदा' वर्ति कहते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने सुखावतीवर्ति के बाद अपने संग्रह में भी इस योग को स्थान दिया है। इन्होंने 'भावयेत्ताम्रभाजने' के स्थान पर 'लेपयेत् ताम्रभाजनम्' लिखकर विषय को स्पष्ट किया है। इस पाठ को देखें—अ० सं० उ० अ० १६।३२-३३।

वबने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम् ॥ २५६ ॥

ततस्तस्मात् समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद् बुधः । सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च ॥२५७॥
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् ।

तिमिरनाशक नेत्राञ्जन—काले साँप के मुख के भीतर काला सुरमा को एक मास तक रखकर तदनन्तर उसे निकालकर विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह उस सुरमा के परिमाण से आधी मात्रा में सूखी चमेली की कलियाँ और सेंधानमक लेकर इनके साथ उस सुरमा को भी बारीक पीस लें। यह नेत्राञ्जन तिमिर-रोग का विनाश करने के लिए सबसे श्रेष्ठ माना गया है।

वक्तव्य—इस योग के निर्माण में सँपेरा की सहायता आवश्यक होती है। जिस कृष्णसर्प के विषैले दाँत न उखाड़े गये हों, उसके मुख में इस अंजन को रखना चाहिए और उस सर्प को एक मास तक सुरक्षित रखना चाहिए, इसमें मृतसर्प की सुरक्षा आवश्यक होती है। इसी प्रकार का एक योग 'सर्पवसाञ्जन' भी है, जिसमें सँपेरा की आवश्यकता पड़ती है। वृद्धवाग्भट ने उस सर्प के मुख को कुश की पत्तियों से लपेट देने का विधान बतलाया है, जो अञ्जन की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। देखें—अ० सं० उ० अ० १६।३४-३५।

पिप्पल्यः किंशुकरसो वसा सर्पस्य सैन्धवम् ॥ २५८ ॥
जीर्णं घृतं च सर्वाक्षिरोगघ्नी स्याद् रसक्रिया ।

पिप्पल्यादि रसक्रिया—पिप्पली, पलाश की पत्तियों का स्वरस, साँप की वसा (चर्बी), सेंधानमक, पुराना घी इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर एक साथ पीस डालें। तदनन्तर रसक्रिया विधि से इसे गाढा कर लें। इसका अंजन की भाँति आँखों में प्रयोग करने से सभी प्रकार के नेत्ररोगों का विनाश होता है।

कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया ॥ २५९ ॥
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचार्बुदमलेषु च ।

कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया—काले साँप की वसा (चर्बी), मधु, आँवलों का रस, इन सबको एक में मिलाकर पकायें, जब यह पकते-पकते गाढ़ा हो जाय तो इसे रख लें। इसका प्रयोग सभी प्रकार के नेत्ररोगों विशेषतः काचरोग, नेत्रार्बुद तथा आँखों की मैल को दूर करने में किया जाता है। इसके प्रयोग से उत्तम लाभ होता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने यह अविकल योग अपने संग्रह-ग्रन्थ में उद्धृत किया है। अन्तर केवल यह है कि महर्षि आत्रेय ने 'काचार्बुदमलेषु च' पाठ दिया है और इन्होंने उसके स्थान पर 'काचार्मपटलेषु च' पाठभेद कर रोगभेद का संकेत कर दिया है। यह प्रयोग का विषय है। देखें—अ० सं० उ० अ० १९।७४।

धात्रीरसाञ्जनक्षौद्रसर्पिर्भिस्तु रसक्रिया ॥ २६० ॥
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी तैमिर्यपटलापहा ।

अन्धत्वहर योग—आँवलों का रस, रसवत, मधु, गाय का घी इन सब द्रव्यों को समानभाग लेकर आपस में घोटकर की गयी रसक्रिया पित्तदोष तथा रक्तविकार-जनित नेत्ररोग का नाश करती है तथा तिमिर रोग, नेत्रपटल में उत्पन्न रोगों को भी दूर करती है।

वक्तव्य—मधु को पकाने का विधान सामान्य दृष्टि से नहीं है। अतः आँवलों के स्वरस या क्वाथ में रसौत तथा घी डालकर पहले पकाकर गाढा करके नीचे उतार लिया जाता है। शीतल हो जाने पर उसमें मधु मिलाकर प्रयोग करना चाहिए अथवा प्रयोग के समय मधु में घिसकर आँखों में लगाना चाहिए। 'चक्रदत्त' में इसे 'धात्र्यादिरसक्रिया' संज्ञा देकर इस प्रकार पाठ भी बदल डाला है—'पित्तानिलाक्षिरोगघ्नी'। देखें—चक्रदत्त, नेत्ररोगचिकित्सा १४०।

नेत्रपटल-विचार—सुश्रुत की दृष्टि से चार प्रकार के नेत्रपटल होते हैं—१. बाह्यपटल जलाश्रित तेज है, २. यह मांस में आश्रित है, ३. यह मेदस् में आश्रित है और ४. यह कालकास्थि (Orbital cavity) में आश्रित है, देखें—सु० उ० अ० १।१८। बाह्यपटल में तेजस् (अग्नि) तत्त्व तथा जलतत्त्व अधिक रहता है, 'हमारे शरीर की रचना' के लेखक डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में—'बाह्यपटल पीले और श्वेत सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित होता है'। ये चारों पटल (क्रमशः नीचे से ऊपर को) बढ़ते हुए कैटेरेक्ट (Cataract)

तिमिर रोग को सूचित करते हैं, चतुर्थपटलगत दोष को लिंगनाश कहते हैं। इसी को पाश्चात्य विद्वान् मैच्योर कैटेरेक्ट (Mature cataract) कहते हैं।

धात्रीसैन्धवपिप्पल्यः स्युरल्पमरिचाः समाः ॥ २६१ ॥
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यं पटलं च रसक्रिया ।

इति नेत्ररोगचिकित्सा ।

धात्र्यादि रसक्रिया—आँवला, सेंधानमक, पिप्पली, इन तीनों द्रव्यों को समान भाग में लें और थोड़ी मात्रा में कालीमिर्च लेकर सूक्ष्मचूर्ण बना लें। इनको मधु के साथ प्रयुक्त करें। यह रसक्रिया अन्धता रोग तथा पटलगत रोगों को नष्ट करती है।

वक्तव्य—यहाँ उक्त कपड़छन चूर्णों में उतना शहद मिलाकर रख लें, जो आँख में लगाने में सुविधाजनक हो। यदि पकाने की इच्छा तन्त्रकार की होती तो किसी द्रव का उल्लेख अवश्य किया होता है।

खालित्ये पलिते वल्यां हरिलोम्नि च शोधितम् ॥ २६२ ॥
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्रप्रलेपैश्चाप्युपाचरेत् ।

शिरोरोग-चिकित्सा—खालित्य (गंजापन), पलित (समय के पहले बालों का पकना), वली (त्वचा में वृद्धावस्था के पहले झुर्रियों का पड़ जाना), हरिलोम (बालों का भूरा हो जाना), इन रोगों में सबसे पहले रोगी को संशोधन (वमन, विरेचन आदि) कराना चाहिए, तदनन्तर स्नैहिक नस्य, शिर पर तेल की मालिश, मुखमण्डल पर विविध प्रलेप आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

सिद्धं विदारीगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि च ॥ २६३ ॥
नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम् ।

विदारीगन्धादि तैल—विदारीगन्धादि द्रव्य (देखें—सु० सू० अ० ३८।४) तथा जीवनीय वर्ग (देखें—च० सू० अ० ४।९) के औषधद्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क से यथाविधि तैयार किये गये तेल का नस्य अथवा अणु तेल का नस्य खालित्य (गंजापन) एवं पलित रोग को दूर करता है।

वक्तव्य—अणुतैल-निर्माण-विधि—अणुतैल का प्रयोग काल, उसके गुण तथा प्रयोग-विधि का विस्तृत विवरण च० सू० अ० ५ श्लोक ५६ से ७० तक 'चरक-चन्द्रिका' टीका में देखें।

क्षीरात् सहचराद् भृङ्गराजाच्च सौरसाद् रसात् ॥ २६४ ॥
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैलाद् यष्ट्याह्वपलकल्कितः । सिद्धः शिलासमे भाण्डे मेषशृङ्गादिषु स्थितः ॥
नस्यं स्याद् भिषजा सम्यग्योजितं पलितापहम् ।

सहचरादि तैल—गाय का दूध १ प्रस्थ (६४ तोला), सहचर (कटसरैया) की पत्तियों का स्वरस १ प्रस्थ (६४ तोला), भंगरैया की पत्तियों का स्वरस १ प्रस्थ, तुलसी की पत्तियों का स्वरस १ प्रस्थ, तिल का तैल १ कुडव (१६ तोला), मुलेठी का कल्क १ पल (४ तोला), इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर तैल-पाक विधि से पाक करें। तैयार होने पर छानकर पत्थर के पात्र में (पाठभेद के अनुसार—असन वृक्ष की लकड़ी से निर्मित काष्ठ पात्र में) अथवा भेड़ के सींग आदि पात्र में सुरक्षित रखें। चिकित्सक अपनी देख-रेख में यदि विधिपूर्वक प्रयोग कराये तो इससे पलित रोग का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को इन्हीं परिमाणों के साथ उद्धृत किया है। इन्होंने भी तैल को एक कुडव ही स्वीकार किया है। दूसरे टीकाकार यहाँ द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा को अपना कर इन द्रव्यों को दूना लेने का संकेत करते हैं, किन्तु कुडव परिमाण में दूना नहीं करना चाहिए।

भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ ॥ २६६ ॥
उत्पाट्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ ।

१. **पलितनाशक योग**—चिकित्सक को चाहिए कि वह दुग्धिका (दूधिया) अथवा कनेर की जड़ को दूध के साथ पीसकर सफेद बालों को उखाड़कर (या छुरे से कटवाकर) उस स्थान के ऊपर उक्त दोनों में से किसी एक का लेप लगायें। ये दोनों ही योग पलितरोग-नाशक हैं।

वक्तव्य—पीसना, बालों को उखाड़ना अथवा छुरे से बाल बनाना ये सब कार्य चिकित्सक को परिचारक आदि से कराने चाहिए। उसके कर्तव्यों का निर्देश तन्त्रकार ने च० सू० अ० ९।२६ में दिया है।

मार्कवस्वरसात् क्षीराद् द्विप्रस्थं मधुकात् पलम् ॥ २६७ ॥
तैः पचेत् कुडवं तैलात् तन्नस्यं पलितापहम् ।

२. **पलितनाशक योग**—भंगरैया का स्वरस १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय का दूध १ प्रस्थ, मुलेठी १ पल (४ तोला) का कल्क बना लें, तिल का तेल १ कुडव (१६ तोला), इन सब द्रव्यों को उक्त परिमाण में लेकर तैलपाक विधि से पकायें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। इसका नस्य पलितरोग का नाश करता है।

आदित्यवल्ल्या मूलानि कृष्णशैरेयकस्य च ॥ २६८ ॥
सुरसस्य च पत्राणि [1]पत्रं कृष्णशणस्य च । मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च ॥२६९॥
पृथग्दशपलांशानि पिप्पल्यस्त्रिफलाऽञ्जनम् । प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम् ॥
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणालं रक्तचन्दनम् । नीली भल्लातकास्थीनि कासीसं मदयन्तिका ॥
सोमराज्यसनः शस्त्रं कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ । पुष्कराज्र्जुनकाश्मर्याण्याम्रजम्बूफलानि च ॥२७२॥
पृथक् पञ्चपलांशानि तैः पिष्टैराढकं पचेत् । बैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम् ॥२७३॥
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद् रसः । लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत् ॥२७४॥
पाने नस्यक्रियायां च शिरोभ्यङ्गे तथैव च । एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत् ॥२७५॥
महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम् ।

इति महानीलतैलम् ।

महानील तैल—सूरजमुखी की जड़, काली कटसरैया की जड़, तुलसी की पत्तियाँ, काले फूल वाले सन की पत्तियाँ, भंगरैया की पत्तियाँ, काली मकोय की पत्तियाँ, मुलेठी, देवदारु, इनमें से प्रत्येक द्रव्य १०-१० पल (४०-४० तोला) की मात्रा में लें; पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, काला सुरमा, पुण्डरियाकाठ, मजीठ, पठानी लोध, काला अगरु, नीलकमल, आम की गुठली, कमल की जड़ का काला कीचड़, मृणाल, लालचन्दन, नील का बीज, भिलावा की गुठली, कासीस, मेंहदी के बीज, बाकुची के बीज, विजयसार, शस्त्र (लोहा), मैनफल, काला चित्रक, पुष्करमूल, अर्जुन की छाल, गम्भार की छाल, आम की छाल, जामुन के फल, इन द्रव्यों को प्रत्येक ५-५ पल (२०-२० तोला) की मात्रा में लेकर इनका कपड़छन चूर्ण करके पानी से पीसकर तैयार कराकर इनसे १ आढक (२५६ तोला) बहेड़ा का तेल सिद्ध करने के लिए तेल से चौगुना आँवलों का स्वरस उसमें मिलाकर एक पात्र में कल्क, तेल तथा आँवलों का रस डालकर सूर्य की किरणों की गरमी से उसका पाक हो, इसके लिए धूप में रख दें। इसको तब तक धूप में रहने दें जब तक आँवलों का रस सूख न जाय, सूख जानेपर उसे छानकर रख दें अथवा उक्त द्रव्यों को धूप में रखे बिना लोहे की कड़ाही में रखकर विधिपूर्वक पाक करें तथा पक जाने पर छानकर रख लें।

फलश्रुति—यह तेल पीने के लिए, नस्य के लिए तथा सिर पर मालिश करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह आँखों के लिए हितकर, आयुवर्धक अर्थात् चिरकाल तक देखने की शक्ति को स्थिर रखने वाला, सभी प्रकार के शिरोरोगों को दूर करने वाला तथा पलितरोग नाशक तेलों में सर्वश्रेष्ठ है।

वक्तव्य—इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० २८।५४-६०।

---

१. 'फलम्' इति पा०।

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ॥ २७६ ॥
कार्षिकैस्तैलकुडवो द्विगुणामलकीरसः । सिद्धः स प्रतिमर्शः स्यात् सर्वमूर्धगदापहः ॥२७७॥
([1]पलितघ्नो विशेषेण कृष्णात्रेयेण भाषितः ।)

प्रपौण्डरीकादि तैल—पुण्डरियाकाठ, मुलेठी, पीपल, लालचन्दन, नीलकमल—प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष =तोला लेकर इनका कल्क तैयार करें, तिल-तैल १ कुडव (१६ तोला), तेल से दूना आँवलों का स्वरस इन सबको एक में मिलकार तैलपाक करें। इसका प्रतिमर्श नस्य लेने से सभी प्रकार के शिरोरोग नष्ट हो जाते हैं। (विशेष करके अकाल पलित रोग में यह तैल लाभदायक होता है। यह योग कृष्णात्रेय ने कहा है)।

वक्तव्य—उक्त तैल का निर्माण नस्य के लिए किया जाता है, अतः 'नस्यार्थं स्यान्मृदुः पाकः'। शा० सं० म० खं० अ० ९।१७। अर्थात् नस्य के लिए जिस तेल का पाक किया जाता है, उसका मृदुपाक होना चाहिए। प्रतिमर्श नस्य का विधान, प्रतिमर्श की मात्रा, काल, सेवन-विधि आदि का विस्तृत विधान शा० सं० उ० खं० अ० ८।४६ से ५३ तक देखें।

क्षीरं प्रियालयष्टयाह्वे जीवकाद्यो गणस्तिलाः ॥ २७८ ॥
कृष्णा वक्त्रे प्रलेपः स्याद्धरिलोमनिवारणः ।

प्रियालादि योग—गाय का दूध, चिरौंजी, मुलेठी, जीवकादिगण (इसी को जीवनीयवर्ग भी कहते हैं। इसमें दस द्रव्यों का संग्रह है। देखें—च० सू० अ० ४।९) काला तिल, पिप्पली इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर लेप तैयार करें, इस लेप को वक्त्र प्रदेश पर लेप करने से लोमों का कपिशवर्ण दूर हो जाता है।

वक्तव्य—दूसरे टीकाकारों ने 'वक्त्र' का अर्थ 'शिरोभाग' किया है, जो 'वक्त्र' शब्द की अभिधाशक्ति से बाहर है। केशों की 'कपिशता' शरीर के किसी प्रदेश में भी हो सकती है। अतः 'वक्त्र' शब्द से मुखमण्डल का ही ग्रहण करना चाहिए। पाठभेद को देखने से भी 'वक्त्र' का अर्थ मुखमण्डल ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। श्रीजयदेव ने इस प्रकार पाठभेद को उद्धृत किया है—'वक्त्रप्रलेपः स त्वचि रोमवलीहितः'। वृद्धवाग्भट को भी यही पाठ अभीष्ट है—'प्रलेपो वक्त्रस्य हरिलोमवलीहितः'। देखें—अ० सं० उ० अ० २८।६१। यहाँ पर लोम और केश का अन्तर तथा वलियाँ कहाँ होती हैं? इन बातों पर विचार करने से 'वक्त्र' शब्द का क्षेत्र सुनिश्चित हो जायेगा।

[2]तिलाः सामलकाश्चैव किञ्जल्को मधुकं मधु ॥ २७९ ॥
बृंहयेद् रञ्जयेच्चैतत् केशान् मूर्धप्रलेपनात् ।

तिलादि योग—आँवलों के साथ काले तिल, कमल का केसर, मुलेठी इन सभी द्रव्यों का समान भाग चूर्ण लेकर मधु में मिलाकर शिर पर लेप करने से केशों की वृद्धि होती है और यह बालों को काले रंग से रंग देता है।

पचेत्सैन्धवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम् ॥ २८० ॥
तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि । तत् प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात् कृष्णमृदुमूर्धजम् ॥
अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलो वरः ।

पलितहर योग—सैंधानमक, सिरका, अम्ल (काँजी), इनसे चावल का चूर्ण और लोहे के चूर्ण को पकाये, जब पकाते-पकाते गाढ़ा हो जाय तब इसे उतार लें। शिर को साफ करके उसमें तेल लगा हो तो उसे भी निकाल दें, तब उक्त गुनगुना लेप रात में सोते समय लगायें, इस लेप को रात भर लगा रहने दें। प्रातःकाल इसे हटाकर सिर को त्रिफला के क्वाथ से धो लें। ऐसा करने से सिर के बाल काले और मुलायम हो जाते हैं। अथवा हरड़, बहेड़ा, आँवला और लोहे के चूर्ण को किसी अम्ल द्रव से पीस लेने पर उत्तम केशराग (खिजाब) तैयार हो जाता है।

---

१. 'अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।
२. 'यष्टयाह्वतिलकिञ्जल्कक्षौद्रमामलकानि च' इति पा०।

कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ।
शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते ।। २८२ ।।

इति खालित्यादिचिकित्सा ।

शिरोरोग का उपसंहार—जिन शिरोरोगों का वर्णन इस त्रिमर्मीय अध्याय में किया गया है, उनसे अतिरिक्त रोगों की चिकित्सा उन-उन रोगों के चिकित्सा-प्रकरण में कह दी गयी है। अतः उनकी चिकित्सा उसी विधि से करनी चाहिए। शेष रोगों की चिकित्सा आगे सिद्धिस्थान में कही जायेगी।

सर्पींष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके । तैलैश्चतुष्प्रयोगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः ।।२८३।।
बर्हितित्तिरिदक्षाणां पञ्चमूलशृतान् रसान् । मायूरं क्षीरसर्पिर्वा पिबेत् त्र्यूषणमेव वा ।।२८४।।

वातज स्वरभेद-चिकित्सा-सूत्र—इस रोग में भोजन करने के पहले घृतपान कराना चाहिए। बला, रास्ना, अमृता (गुरुच) नाम से प्रयुक्त होने वाले १. बलातैल, २. रास्नातैल, ३. अमृतादितैल (इन्हें वातरोग चिकित्सा च० चि० अ० २८।११८ से १८१ तक देखें), इनका चार प्रकार से प्रयोग करें। इसका तात्पर्य है— १. पान, २. अभ्यंग, ३. नस्य तथा ४. अनुवासन करना। इस प्रकार चिकित्सा करें।

वातज स्वरभेद-चिकित्सा—इस रोग में लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्नीपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) के क्वाथ जल में पकाया हुआ मोर, तीतर तथा मुर्गा का मांस रस अथवा मायूरदुग्ध या मायूरघृत, अथवा त्र्यूषणक्षीर या त्र्यूषणघृत को पिलाना चाहिए।

पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरैः शृतम् । सर्पिर्गुडा घृतं तिक्तं जीवनीयं वृषस्य वा ।।२८५।।

पित्तज स्वरभेद-चिकित्सा—इसमें सबसे पहले रोगी को विरेचन कराना चाहिए, उसके बाद मधुर द्रव्यों द्वारा पकाया गया दूध या सर्पिर्गुड (इसे च० चि० अ० ११।५०-७७ में कहा गया है) या तिक्तकघृत (च० चि० अ० ७।१३६-१५६) या जीवनीय घृत (च० चि० अ० २९।५५-७०) या अडूसा के कल्क तथा क्वाथ द्वारा तैयार किया गया घी (च० चि० अ० ४।८८-९०) इनका प्रयोग करें।

कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् । विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम् ।।२८६।।
चव्यभार्ग्यभयाव्योषक्षारमाक्षिकचित्रकान् । लिह्याद् वा पिप्पलीपथ्ये तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः ।।

कफज स्वरभेद-चिकित्सा-सूत्र—इसमें तीक्ष्ण शिरोविरेचन, नस्य, वमन, विरेचन, धूमपान, जौ से तैयार किये गये भक्ष्य पदार्थों का सेवन एवं कटुरस-प्रधान द्रव्यों का सेवन हितकर होता है।

कफज स्वरभेद-चिकित्सा—१. इसमें चव्य, भारंगी, हरड़, सोंठ, मरिच, पीपर, जवाखार, चीता की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कूटकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इसे मात्रानुसार मधु में मिलाकर चाटें, २. अथवा पिप्पली तथा हरड़ इनके समभाग चूर्ण को कपड़छन करके मात्रानुसार लेकर मधु में मिलाकर चाटें, तदनन्तर तीक्ष्ण मद्य का पान करें।

रक्तजे स्वरभेदे तु [1]सघृता जाङ्गला रसाः । द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ।।२८८।।

रक्तज स्वरभेद-चिकित्सा—इस रोग में जांगल पशु-पक्षियों के मांस रस में घी मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें। अथवा गाय के घी में मधु तथा चीनी मिलाकर अंगूर का स्वरस पीने के लिए दें। अथवा गाय के घी में मधु तथा चीनी मिलाकर विदारीगन्धा के स्वरस या ईख के स्वरस के साथ पीने के लिए दें।

यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम् । पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे ।।२८९।।

पित्तज स्वरभेद-चिकित्सा—क्षयज कास का शमन करने के लिए जो चिकित्सा-क्रम कहा जा चुका है, वह संक्षेप में सभी प्रकार के पित्तज स्वरभेदों की चिकित्सा है। रक्तज स्वरभेद में सिरावेध या सिरामोक्षण का विशेष विधान है।

---

१. 'संस्कृताः' इति पा०।

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः ।
इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम् ।। २९० ।।

इति स्वरभेदचिकित्सा ।

सन्निपातज स्वरभेद-चिकित्सा—इसमें वातज, पित्तज, कफज स्वरभेदों की जो चिकित्सा ऊपर कही गयी है, वह सभी हितकर होती है, किन्तु उन चिकित्साक्रमों में सिरावेध करने की भी जो अनुमति दी गयी है, वह सन्निपातज स्वरभेद में हितकर नहीं होती। इस प्रकार संक्षेप से स्वरभेद की चिकित्सा कह दी गयी है।

भवन्ति चात्र—

वातपित्तकफा नृणां वस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः । तस्मात् तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः ।।

त्रिमर्मीयरोगों का सामान्य चिकित्सा-सूत्र—इस सम्बन्ध में कतिपय पद्य यहाँ कहे गये हैं—मनुष्यों के वस्ति-प्रदेश में वात, हृदयप्रदेश में पित्त तथा शिरोभाग में कफ आश्रित रहता है। अतएव जिस दोष का स्थान समीप में पड़ता हो, तदनुसार वमन, विरेचन, वस्ति-प्रयोगों से उन दोषों को निकालना चाहिए।

वक्तव्य—वस्ति, हृदय तथा मस्तिष्क ये तीनों मर्मस्थान हैं। इस सम्बन्ध की पर्याप्त चर्चा इस अध्याय के प्रारम्भ में हो चुकी है। वस्तिस्थान वात का स्थान है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है, किन्तु हृदय पित्त का स्थान है, यह विचारणीय विषय है। अन्यत्र सभी स्थानों पर हृदय श्लेष्माशय है, इस प्रकार की घोषणा की गयी है, किन्तु यहाँ तन्त्रकार के विचार को संगत करने के लिए लिखा जा रहा है। वायु के समान एक ही पित्त को कार्य-भेद तथा स्थान-भेद से पाँच भागों में विभक्त किया गया है—१. पाचक, २. भ्राजक, ३. रञ्जक, ४. आलोचक, ५. साधक।

हृदयस्थ पित्त का वर्णन—'यत्पित्तं हृदये तिष्ठेन्मेधाप्रज्ञाकरं च तद्'। शा० सं० पू० खं० अ० ५।५०। शेष स्पष्ट है। संशोधन-विधि द्वारा दूर किये गये दोषों की उत्पत्ति पुनः नहीं होती है। अतः उनका संशोधन करने का यहाँ विधान किया गया है।

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः । पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा ।।२९२।।

वात, पित्त, कफ का महत्त्व—जिस प्रकार बाह्य संसार की स्थिति वायु, सूर्य, चन्द्रमा के स्वाभाविक रूप में रहने पर स्थिर रहती है और इनके विकृत हो जाने पर बाह्य जगत् में विकृतियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, उसी प्रकार प्राकृत (स्वाभाविक) अवस्था में रहने वाले वात, पित्त, कफ धातुओं से अध्यात्मलोक (मनुष्य शरीर) का धारण होता है और अप्राकृत (विषम) अवस्था में रहने वाले वात, पित्त, कफ इस शरीर को पीड़ित करते हैं, अर्थात् रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् विषं घोरमहीनिव ।।२९३।।

वात, पित्त, कफ परस्पर घातक नहीं—जिस प्रकार साँप के शरीर में रहने वाला भयंकर विष उसे नष्ट नहीं करता, उसी तरह जन्म से ही सहोदर भाव को प्राप्त अतएव सात्म्य हुए ये वात आदि दोष परस्पर गुणों में विरुद्ध होने पर भी एक-दूसरे के गुण को नष्ट नहीं करते हैं।

वक्तव्य—गर्भावस्था से ही शिशु में तीनों दोषों की सत्ता स्वीकार की जाती है। ये दोष तभी कहे जाते हैं, जब इनकी अपनी सम अवस्था से वृद्धि हो जाती है, अन्यथा इनकी 'धातु' संज्ञा भी है, जिनके कारण शरीर की स्थिति बनी रहती है। अतः ये सम अवस्था में रहकर किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं करते।

तत्र श्लोकः—

त्रिमर्मजानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम् । विस्तरेण पृथग्दिष्टं त्रिमर्मीये चिकित्सिते ।।२९४।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में एक श्लोक है—प्रस्तुत त्रिमर्मीय नामक अध्याय में वस्ति, हृदय, शिर इन तीन मर्मों में होने वाले रोगों का निदान, लक्षण तथा औषधयोगों का वर्णन विस्तार से अलग-अलग उपदिष्ट है। अर्थात् इस अध्याय में कहे गये रोगों की चिकित्सा इसके अतिरिक्त अन्य अध्यायों तथा स्थानों में भी कही गयी है और आगे भी कही जायेगी।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में त्रिमर्मीय-चिकित्सित नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

त्रिमर्मीय-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से ऊरुस्तम्भ-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—विराट् पुरुष के जिस अवयव से वैश्यवर्ण की उत्पत्ति हुई, उस अंग का नाम 'ऊरु' है। देखें—'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः'। ऋक् १०।९०।१२। कटि-प्रदेश से नीचे जानु से ऊपरी भाग का नाम 'ऊरु' (Thigh) है। यह एक अवयव विशेष पर होने वाला वातव्याधि का ही रोग विशेष है। अतएव महर्षि सुश्रुत ने इसका अलग वर्णन न करके महावातव्याधि के अन्तर्गत ही किया है। चरक ने भी माना तो कुछ ऐसा ही है, किन्तु वे इसमें पहले आवरक श्लेष्मा की चिकित्सा करने का निर्देश देते हैं। देखें—च० चि० अ० २७।१४। क्योंकि स्तम्भ (जड़ता, स्थिरता) कफदोष का ही प्रधान गुण है। अतएव चरक ने इस रोग को वातव्याधि रोगाध्याय से पृथक् स्थान दिया है।

ऊरुस्तम्भ की निरुक्ति—तन्त्रकार ने इस अध्याय के १४वें पद्य में हेतुगर्भ एवं सारगर्भ निरुक्ति स्वयं प्रस्तुत की है, आप भी उसे देखें।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १९। च० चि० अ० २७। सु० चि० अ० ५। अ० सं० नि० अ० १५। अ० सं० चि० अ० २३। अ० हृ० नि० अ० १५। अ० हृ० चि० अ० २१ का अवलोकन करें।

श्रिया परमया ब्राह्मया परया च तपःश्रिया। [1]अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम् ॥३॥
धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम्। [2]अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ॥४॥

आत्रेय का परिचय, अग्निवेश का प्रश्न—ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी सर्वोत्तम शोभा तथा उत्कृष्ट तपः सम्बन्धी शोभा से सम्पन्न, चन्द्रमा एवं सूर्य के प्रकाश से संयुक्त सुमेरुपर्वत के समान अपने आसन पर विराजमान, बुद्धि, धैर्य, स्मरणशक्ति, ज्ञान, विज्ञान, सुयश तथा क्षमा के आलय (भंडार) गुरुवर पुनर्वसु आत्रेय से उनके शिष्य अग्निवेश ने अवसर पाकर ऊरुस्तम्भ सम्बन्धी अपने संदेह को पूछा।

वक्तव्य—महर्षि पुनर्वसु आत्रेय का इस पद्य द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर परिचय प्रस्तुत किया गया है। महर्षि आत्रेय जिस समय आह्निक अनुष्ठान में संलग्न हैं, उस समय का यह वर्णन है। यहाँ ब्राह्मी श्री (शोभा) चन्द्रमा के प्रकाश के सदृश सौम्य है और तपःश्री सूर्य के तेज के सदृश उग्र है। ऐसा ही है सुमेरु पर्वत, जिसके समीप सदैव चन्द्र-सूर्य विराजमान रहते हैं और वह उनके प्रकाश से प्रकाशित रहता है। पर्वत का एक आशय

१. 'अहीनपूर्वं चन्द्रार्कादिभ्यो मेरुमिवाचलम्' इति पा०।
२. 'अग्निवेशोऽत्रिजम्' इति पा०।

है—अडिग होना, दूसरा है—अनेक रत्नों का आकर होना। महर्षि भी धी, स्मृति आदि अनेक अमूल्य रत्नों की खान हैं। इनकी एक और विशेषता है—ब्राह्मी (सारस्वत) शोभा के कारण ये अभिगम्य (आश्रयणीय) हैं और तपःश्री के कारण ये अधृष्य हैं, अर्थात् इन्हें कोई किसी क्षेत्र में पराजित नहीं कर सकता। आप देखें—चरकसंहिता में आयी हुई अनेक सम्भाषा-परिषदों के निर्णायक आचार्य के रूप में ये विराजमान थे। इनका युक्तियुक्त निर्णय सभी महर्षियों ने सादर स्वीकार किया है। इन्होंने भी अनेक स्थानों पर दूसरों के मतों को अन्ये, इतरे, केचन शब्दों के साथ उनके मत उद्धृत किये हैं।

भगवन् पञ्च कर्माणि समस्तानि पृथक् तथा। निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम् ॥५॥
दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद् यस्य तानि भिषग्वर !।
न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ॥ ६ ॥

पञ्चकर्म-चिकित्सा की सीमा—भगवन्! आपने सभी प्रकार के रोगों की चिकित्सा में पञ्चकर्मों का निर्देश चिकित्सा के रूप में किया है। भिषग्वर (चिकित्साशास्त्र के विशेषज्ञ)! क्या कोई रोग ऐसा भी है, जो केवल चिकित्सा से ही साध्य हो और जिसमें पञ्चकर्म समर्थ न होता हो, अर्थात् जिस रोग में पञ्चकर्म करने से लाभ न होता हो, उस रोग के सम्बन्ध में मेरा प्रश्न है।

वक्तव्य—वाग्भट ने इस रोग में पञ्चकर्म-विधान का स्पष्ट निषेध इस प्रकार किया है—'ऊरुस्तम्भे न च स्नेहो न च संशोधनं हितम्'। अ० हृ० चि० अ० २१।४४। यहाँ स्नेह का तात्पर्य है—पीने के रूप में स्नेह का प्रयोग, अनुवासनवस्ति एवं अभ्यंग लाभप्रद नहीं होते और न संशोधन (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण वस्ति) ही लाभप्रद होते हैं। चरक में भी देखें—च० चि० अ० २७।१६, २० तथा २१।

अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम्। सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तेनाब्रवीद् गुरुः ॥७॥

महर्षि आत्रेय का उत्तर—हाँ ऐसा रोग ऊरुस्तम्भ है। गुरु के ऐसा कहने पर अग्निवेश ने पुनः ऊरुस्तम्भरोग के कारण, लक्षण तथा औषधयोगों के सम्बन्ध में पूछा। इस प्रकार पूछने पर गुरु (आत्रेय) ने निम्नलिखित उत्तर दिया।

[1]स्निग्धोष्णलघुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः। द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः ॥ ८ ॥
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः। लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः ॥ ९ ॥
स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन्मेदसा सह। रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिरादिभिः ॥
पूरयन् सक्थिजङ्घोरु दोषो मेदोबलोत्कटः। अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ॥११॥

ऊरुस्तम्भ : निदान एवं सम्प्राप्ति—जो पुरुष भोजन के पच जाने पर अथवा भोजन के पचने के पहले ही स्निग्ध (स्नेह युक्त), उष्ण (स्पर्श तथा वीर्य में), लघु एवं शीतल आहारद्रव्यों का सेवन करते हैं तथा द्रव, शुष्क, दही, दूध, ग्राम्य, आनूप तथा जल में रहने वाले प्राणियों के मांसों का अधिक सेवन करते हैं, पिष्ट (चावल के आटा) से बने हुए खाद्य पदार्थों अथवा विकृत मद्य का सेवन करते हैं, दिन में अधिक सोना और रात में अधिक जागरण करते हैं, लंघन (उपवास), अध्यशन (भोजन कर लेने के तत्काल बाद पुनः भोजन), आयास (शक्ति से अधिक परिश्रम) करते हैं, जो भयभीत रहते हैं, अधारणीय मल, मूत्र, अपानवायु आदि वेगों को धारण करते हैं, स्नेह युक्त पदार्थों का अधिक सेवन करते हैं, उनके कोष्ठ में संचित हुआ आमदोष मेदो धातु के साथ मिलकर वात आदि दोषों को रोककर भारी होने के कारण स्वयं नीचे की ओर जाने वाली सिराओं द्वारा शीघ्र ही ऊरुप्रदेश में चला जाता है। मेदा के बल से वृद्धि को प्राप्त वात आदि दोष सक्थि, जंघा, ऊरु स्थानों पर अपना प्रभाव डालते हुए इन अवयव विशेषों को अविधेयपरिस्पन्द (मन की प्रेरणा के विरुद्ध अर्थात् इच्छा होने पर उठने, बैठने तथा चलने में अक्षम) बना देता है तथा पहले की तुलना में शक्तिहीन भी बना देता है।

१. 'स्निग्धोष्णगुरुशीतानि' इति पा०।

वक्तव्य—अमरसिंह ने उक्त अवयवों का परिचय इस प्रकार दिया है—'जङ्घा तु प्रसृता, जानूरुपर्वाऽष्ठीवदस्त्रियाम्। सक्थि क्लीवे पुमानूरुः'। अमरकोश कां० २ वर्ग ६।७२-७३। इससे इनका परिचय स्पष्ट नहीं होता देखकर हम सुश्रुत का सहारा ले रहे हैं—'तानि पञ्चदश तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं जङ्घायां द्वे जानुन्येकम्, एकमूराविति त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति'। सु० शा० अ० ५।१९। यह एक टाँग (सक्थि) का पूरा वर्णन है। इसी के अवयव हैं—जंघा और ऊरु। श्रीचक्रपाणि ने भी लिखा है—'सक्थिग्रहणेनैव यद्यपि जङ्घोर्वोर्ग्रहणं प्राप्तं, तथापि तयोरभिधानं विशेषेणं तत्पूरणोपदर्शनार्थम्'।

महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा। तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः ॥१२॥

ऊरुस्तम्भ का आलंकारिक स्वरूप—जल से भरे हुए बहुत बड़े तथा गहरे सरोवर के मध्य में जिस प्रकार जल स्तिमित (निश्चल) रहता है, ठीक उसी प्रकार ऊरु-प्रदेश में पहुँचा हुआ कफदोष स्थिर हो जाता है और वह अक्षोभ्य हो जाता है, अर्थात् इधर-उधर हिलाया-डुलाया नहीं जा सकता।

वक्तव्य—'स्तिमित' शब्द का अन्यत्र 'गीला' अर्थ भी होता है, उसका तात्पर्य 'निश्चल, निश्चेष्ट, शान्त' होता है। ध्यान दें—सूखा वस्त्र हवा की सहायता पाकर सचल हो जाता है और वही गीला कर देने पर 'निश्चल'। देखें—'क्षुभितमुत्कलिकातरलं मनः पय इव स्तिमितस्य महोदधेः'। मातंगलीला ३।१०।

गौरवायाससङ्कोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः[1]। भेदस्फुरणतोदैश्च युक्तो देहं निहन्त्यसून् ॥१३॥

ऊरुस्तम्भ के लक्षण—ऊरुस्तम्भ से पीड़ित रोगी के शरीर में यदि भारीपन, आयास (थकावट), संकोच, दाह (जलन), पीड़ा, सुप्ति (संज्ञा-हीनता), कंपन, भेद (फटने की सी पीड़ा), स्फुरण (अंग विशेष का फड़कना), तोद (सुई के चुभाने का-सा अनुभव) ये लक्षण हों तो वे शीघ्र ही रोगी के प्राणों को समाप्त कर देते हैं, अर्थात् रोगी को मार देते हैं।

वक्तव्य—ऊपर ऊरुस्तम्भ के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, वे सभी लक्षण अन्तिम अथवा असाध्य अवस्था में देखे जाते हैं। इनको देखकर रोगी को प्रायः असाध्य मानना चाहिए। इसके आगे श्लोक १९ को देखें।

ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु। स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततस्तु सः ॥१४॥

ऊरुस्तम्भ की निरुक्ति—जब मेदो धातु के साथ कफदोष वात तथा पित्तदोषों को दबाकर ऊरुप्रदेश में पहुँचकर अपनी स्थिरता तथा शीतता आदि गुणों के कारण स्तम्भित (जड़) कर देता है, तब इस रोग को 'ऊरुस्तम्भ' कहा जाता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने आरम्भ में प्रतिज्ञा की है, कि ऊरुस्तम्भ का एक ही भेद होता है—'एक ऊरुस्तम्भ इत्यामत्रिदोषसमुत्थः'। च० सू० अ० १९।४। इसका विशेष व्याख्यान आप हमारी 'चरकचन्द्रिका' टीका में देखें। सुश्रुत के अनुसार यह वातप्रधान रोग है, अतएव उन्होंने इस रोग का संग्रह वातव्याधि-चिकित्सा प्रकरण में किया है, परन्तु सुश्रुत ने भी इसकी सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम 'कफ' का उल्लेख किया है—'कफमेदावृतो वायुर्यदोरूः प्रतिपद्यते। तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः। निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलाप्रचेतनौ। गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते॥ तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे। सु० चि० अ० ५।३१-३२। ऊरुस्तम्भ को ही कुछ आचार्य आढ्यवात भी कहते हैं।

चरक, सुश्रुत से परवर्ती होने के कारण वृद्धवाग्भट पर इन दोनों संहिताओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि इनके संग्रह-ग्रन्थ की प्रधान रूप से ये दोनों संहिताएँ उपजीव्य रही हैं। ऊरुस्तम्भ रोग का जो वर्णन वृद्धवाग्भट ने यहाँ किया है, उसमें वे पूर्ण रूप से सुश्रुत से प्रभावित हैं। आप ध्यान दें—अ० सं० नि० अ० १५।४९-५३। यह ऊरुस्तम्भ दोनों टाँगों अथवा एक टाँग में भी देखा जाता है। यह गठिया (सन्धि आमवात Articular rheumatism) से सर्वथा भिन्न है।

प्राग्रूपं ध्याननिद्रातिस्तैमित्यारोचकज्वराः। लोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥१५॥

---

१. 'याम' इति पा०।

ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप—ध्यान (चिन्ता में पड़ा रहना), नींद की अधिकता, स्तिमितता (गीले वस्त्र से ढके रहने के समान अनुभव का होना), भोजन के प्रति अरुचि, ज्वर, बार-बार रोंगटों का खड़ा हो जाना, वमन का होना, जाँघों तथा ऊरुओं का कष्टग्रस्त होना, ये इसके पूर्वरूप होते हैं।

वातशङ्किभिरज्ञानात् तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः। पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥

स्नेहन-क्रिया के दोष—इस रोग में अज्ञान के कारण वातरोग की आशंका करने वाले चिकित्सक पञ्चकर्म में कही गयी स्नेहन-क्रिया का प्रयोग करते हैं, तो उससे पैरों में पीड़ा, पैरों में स्पर्श-ज्ञान का न रह जाना तथा वह रोगी अपने पैरों को बड़ी कठिनता से उठा पाता है।

वक्तव्य—यहाँ 'पाद' शब्द से सम्पूर्ण टाँग (कमर से नीचे पैर के पंजा तक) का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस पद्य द्वारा तन्त्रकार ने ऊरुस्तम्भ में स्नेहनकर्म का सहेतुक निषेध किया है।

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदना। पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥१७॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः। अन्यनेयौ हि सम्भग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥१८॥

ऊरुस्तम्भ के लक्षण—इस रोग से पीड़ित रोगियों में अधिकांश जंघा तथा ऊरुओं में ग्लानि (कार्यक्षमता के न होने से हर्षक्षय) देखी जाती है। जमीन पर पैर रखने पर अधिक पीड़ा होती है। उस रोगी के पैरों पर यदि शीतल जल आदि का स्पर्श होता है, तो उसे उस स्पर्श की जानकारी नहीं हो पाती है। उस रोगी को खड़ा होने में, अपने हाथ से पैरों को दबाने में, पैरों को इधर-उधर हिलाने में तथा चलने में असमर्थता का अनुभव होता है। मेरे पैरों को दूसरे चला रहे हैं, मेरे पैर टूट गये हैं तथा मेरी टाँगें भी टूट गयी हैं, वह रोगी ऐसा अनुभव करता रहता है।

वक्तव्य—इस ऊरुस्तम्भ रोग में ऊरुओं (टाँगों) के भीतर दोषों का संचय हो जाता है। पैर भारी तथा मोटे हो जाते हैं, चलने का प्रयास करने पर कष्ट होता है, किसी प्रकार खड़े हो जाने के बाद वह चल नहीं सकता। यह रोग प्रायः आढ्यों (धनिकों को, जिन्हें कहीं भी चलने-फिरने की जरूरत पहले भी नहीं पड़ती थी) को होता है, अतएव इसे 'आढ्यवात' कहते हैं। इसमें दोनों ऊरु (टाँगें) स्तब्ध (जकड़ जाती) हो जाती हैं, अतः इसे 'ऊरुस्तम्भ' भी कहते हैं। किन्तु च० चि० अ० २८।६५ में जो 'आढ्यवात' के लक्षण दिये हैं, वे इनसे भिन्न हैं। क्या 'अपरे' शब्द से सुश्रुत ने चरक का संकेत तो नहीं किया है?

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्। ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम् ॥१९॥

ऊरुस्तम्भ की साध्यता-असाध्यता—जब इस रोग से पीड़ित रोगी के पैरों में दाह, पीड़ा, सूई चुभने के समान वेदना और सम्पूर्ण शरीर में कँपकपी होने लगे तो वह ऊरुस्तम्भ रोग उस रोगी को मार डालता है और इन लक्षणों की विपरीत स्थिति होने पर नये (उभड़ते हुए) ऊरुस्तम्भ रोग की चिकित्सा करने पर चिकित्सक को सफलता मिलती है।

तस्य न स्नेहनं कार्यं न वस्तिर्न विरेचनम्। न चैव वमनं यस्मात् तन्निबोधत कारणम् ॥२०॥

ऊरुस्तम्भ में पञ्चकर्म का निषेध—जिन कारणों से ऊरुस्तम्भ रोग में स्नेहन, वस्तिप्रयोग, वमन तथा विरेचन नहीं किया जाता है, उसका कारण मैं बतला रहा हूँ, उसे तुम सुनो।

वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं वस्तिकर्म च। तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ॥२१॥

ऊरुस्तम्भ में पञ्चकर्म की असमर्थता—इसमें प्रतिदिन स्नेहन तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराने से कफदोष की वृद्धि होने लगती है तथा ऊरु एवं जाँघ के स्रोतों में प्रविष्ट कफदोष को बाहर निकालने में विरेचन-विधि भी समर्थ नहीं होती है।

कफं कफस्थानगतं पित्तं च वमनात् सुखम्। हर्तुमामाशयस्थौ च स्रंसनात् तावुभावपि ॥२२॥
पक्वाशयस्थाः सर्वेऽपि वस्तिभिर्मूलनिर्जयात्। शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः ॥

पञ्चकर्म के प्रभाव की सीमा—कफस्थान (उरःप्रदेश) में स्थित कफदोष और उसी प्रदेश में स्थित पित्तदोष का वमनकर्म द्वारा सुखपूर्वक निर्हरण किया जा सकता है। जब ये दोनों दोष आमाशय में स्थित न हों तो इनका स्रंसन (विरेचन) क्रिया द्वारा सुखपूर्वक निर्हरण किया जा सकता है। पक्वाशय में स्थित वात, पित्त, कफ दोषों का विविध प्रकार की वस्तियों के प्रयोग से तीनों दोषों के मूल को जीता जा सकता है, किन्तु आमदोष और मेदोधातु द्वारा जकड़े गये वात आदि दोष यदि जाँघ तथा ऊरु-प्रदेश में स्थित हों तो उन्हें वमन, विरेचन तथा वस्ति-प्रयोगों द्वारा नहीं निकाला जा सकता।

वातस्थाने [1]हि तच्छैत्याद् द्वयोः स्तम्भाच्च तद्गताः।
न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात्॥ २४॥

पञ्चकर्म की असफलता में कारण—जंघा और ऊरु-प्रदेश मूलरूप से वातदोष के स्थान हैं। रोगी अवस्था में ये दोनों अवयव शीतल हो जाते हैं, शीतलता के कारण जंघा तथा ऊरु में प्रविष्ट दोष स्वभावतः स्तम्भित हो जाते हैं, अर्थात् जकड़ जाते हैं। इन कारणों से उपर्युक्त शरीरावयवों में प्रविष्ट दोष उस प्रकार सुखपूर्वक नहीं निकाले जा सकते हैं, जिस प्रकार अत्यन्त गहरे स्थान में स्थित जल सुखपूर्वक बाहर नहीं निकाला जा सकता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी महर्षि आत्रेय के विचारों को ही उद्धृत कर ऊरुस्तम्भ में पञ्चकर्म क्यों असफल होते हैं? उसका समाधान किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० २३।३१।

तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा। [2]युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधिकत्वात् कफामयोः॥२५॥

ऊरूस्तम्भ में कफ तथा आमदोष चिकित्सा—इस रोग में कफ एवं आमदोष की अधिकता रहती है, अतः युक्ति बल की अपेक्षा रखने वाले चिकित्सक को चाहिए कि प्रस्तुत रोग में दोषों का शमन, क्षपण (क्षीण करना) तथा शोषण (सुखा देना) इन विधियों का प्रयोग करें।

वक्तव्य—यहाँ ऊरुस्तम्भ रोग में दो विशेष प्रकार की चिकित्सा-विधियों का निर्देश किया गया है—१. क्षपण (दोषों का क्षय करना) और २. शोषण (भीतर ही भीतर दोषों को सुखा देना)। आप भी ध्यान दें—जब निम्न स्थान से जल नहीं निकाला जा सकेगा तो उसका क्षपण और शोषण करना हो तो दो उपाय शेष रह जाते हैं, उन्हीं उपायों का आश्रय तन्त्रकार ने भी लिया है।

सदा रूक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान्। शाकैरलवणैर्दद्याज्जलतैलोपसाधितैः॥२६॥

ऊरुस्तम्भ में रूक्ष चिकित्सा—इस रोग में रोगी के शरीर में रूक्षता को पैदा कराने के लिए जौ, साँवा, कोदों की रोटियाँ, जल और सामान्य मात्रा में तेल डालकर पकाये गये बिना नमक डाले हुए पत्रशाक खाने के लिए रोगी को दें।

वक्तव्य—ऊपर शमन, क्षपण, शोषण चिकित्सा का निर्देश मात्र किया गया था। उपर्युक्त श्लोक द्वारा तन्त्रकार ने उसका प्रायोगिक स्वरूप भी समझा दिया है।

सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्रारग्वधपल्लवैः। वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च कुलकादिभिः॥२७॥

ऊरुस्तम्भ में पत्रशाक—सुनिषण्णक (चौपतिया), नीम की पत्तियाँ, मदार की पत्तियाँ, बेत की पत्तियाँ, अमलतास की पत्तियाँ, मकोय की पत्तियाँ, बथुआ की पत्तियाँ, परवल की पत्तियाँ तथा तिक्तवर्ग के द्रव्यों की पत्तियाँ इस रोग में शाक के लिए प्रयोग करनी चाहिए।

क्षारारिष्टप्रयोगाश्च हरीतक्यास्तथैव च। मधूदकस्य पिप्पल्या ऊरुस्तम्भविनाशनाः॥२८॥

ऊरूस्तम्भहर द्रव्य—विविध प्रकार के क्षारों तथा अरिष्टों के प्रयोग, हरड़ का प्रयोग, मधूदक (शहद में पानी मिलाकर बनाये हुए शरबत) का प्रयोग एवं पिप्पली का प्रयोग ये सभी योग ऊरुस्तम्भ रोग का विनाश करते हैं। इन योगों का कुछ दिनों तक निरन्तर सेवन करते रहना चाहिए।

१. 'तयोः' इति पा०। २. 'आधिक्यादामकफयोर्युक्त्यपेक्षः सदा भिषक्' इति पा०।

समङ्गां शाल्मलीं बिल्वं मधुना सह ना पिबेत्। तथा श्रीवेष्टकोदीच्यदेवदारुनतान्यपि॥२९॥
चन्दनं धातकीं कुष्ठं तालीसं नलदं तथा।

ऊरुस्तम्भहर योग—१. समंगा (लाजवन्ती, छुईमुई), सेमर की गोंद (मोचरस), बेल की गुद्दी, अथवा २. श्रीवेष्टक (गन्धाविरोजा), सुगन्धबाला, देवदारु, तगर अथवा ३. चन्दन, धव का फूल, कूठ, तालीसपत्र, खश—उपर्युक्त तीनों योगों को अलग-अलग समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके अलग-अलग रखें। इन्हें आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में मधु के साथ सेवन करना चाहिए।

मुस्तं हरीतकीं लोध्रं पद्मकं तिक्तरोहिणीम्॥३०॥
देवदारु हरिद्रे द्वे वचां कटुकरोहिणीम्। पिप्पलीं पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च॥३१॥
चव्यं चित्रकमूलानि देवदारु हरीतकीम्। भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत्॥३२॥
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरुग्रहापहान्।

ऊरुस्तम्भहर पाँच योग—१. नागरमोथा, हरड़, पठानीलोध, पद्मकाठ, कुटकी, २. देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, बालवच, कुटकी, ३. पिप्पली, पिप्पलीमूल, सरल (चीड़), देवदारु, ४. चव्य, चित्रकमूल, देवदारु, हरड़, ५. भिलावा की गुठली, पिप्पली, पिप्पलीमूल। आधे श्लोक द्वारा कहे गये इन पाँच योगों का अलग-अलग कल्क बनाकर मधु के साथ पीना (सेवन करना) चाहिए, ये सभी ऊरुस्तम्भ रोग का विनाश करते हैं।

वक्तव्य—उक्त पाँच योगों को जल के साथ पीसकर कल्क (चटनी) बनाना चाहिए। इन कल्कों का अनुपान मधु बतलाया गया है। इससे चाटा जा सकता है। तन्त्रकार ने इन योगों को पीने की आज्ञा दी है, अत इसे मधूदक (शहद के शर्बत) के साथ पीना चाहिए। अन्य टीकाकारों ने इन ५ योगों के नाम इस प्रकार दिये हैं—१. मुस्तादि योग, २. देवदार्वादि योग, ३. पिप्पल्यादि योग, ४. चव्यादि योग और ५. भल्लातकादि योग। इनकी मात्रा १ माशा से ३ माशा तक सेवन की जा सकती है। पाचवें योग में भिलावा पड़ा है, इसलिए इसकी मात्रा सबसे कम होगी।

शार्ङ्गेष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं [1]वचाम्॥ ३३॥
मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा। पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाऽऽप्लुतम्॥३४॥
सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाऽप्यूरुस्तम्भविनाशनम्।

शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण—शार्ङ्गेष्टा (घुँघची या गुञ्जा), मैनफल, दन्तीमूल, वत्सकफल (इन्द्रजौ), बालवच (पाठभेद के अनुसार—दालचीनी); मूर्वा, अमलतास की गुद्दी, पाठा, करंज, कुलक (परवल की पत्तियाँ), इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। मात्रा के अनुसार लेकर मधु मिलाकर अथवा जल में घोलकर पीये, अथवा दही के पानी में मधु मिलाकर इस चूर्ण का सेवन करें, इससे ऊरुस्तम्भरोग का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'शार्ङ्गेष्टा' का पर्याय 'गुञ्जा' दिया है। इसके आगे 'स्वादुकण्टक' का पर्याय 'विकङ्कत' दिया है, किन्तु मूल में वह श्लोकांश आज उपलब्ध होने वाली किसी चरकसंहिता में दृष्टिगोचर नहीं होता है। विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि चक्रपाणि के टीकाकाल में वह पाठ अवश्य रहा होगा। स्वादुकण्टक गोखरू का भी पर्याय है, परन्तु वह यहाँ अपेक्षित नहीं है। आप स्वादुकण्टक का परिचय राजनिघण्टु के प्रभद्रादिवर्ग में देखें।

श्रीजयदेव ने अपनी टीका युक्त चरकसंहिता की टिप्पणी में आचार्य गंगाधर द्वारा स्वीकृत एक पंक्ति को इस प्रकार उद्धृत किया है—'भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं क्वथितां पिबेत्। वे इस पंक्ति को ऊपर ३३वें श्लोक के आगे जोड़ने को कहते हैं। आप ध्यान दें—यह पंक्ति ३२वें श्लोक के उत्तरार्ध के रूप में पहले इसी प्रकरण में पढ़ी गयी है।

ऊपर के सम्पूर्ण श्लोक को श्रीजयदेव ने टिप्पणी में इस प्रकार दिया है, जो युक्ति-युक्त प्रतीत होता है—'शार्ङ्गेष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं तथा। पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाप्लुतम्॥ आरग्वधं मरुवकं

१. 'त्वचाम्' इति पा०।

करञ्जं कुलकं तथा। स्वादुकण्टकपाठे च दार्वी सञ्चूर्ण्य सम्पिबेत् ॥ सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाप्यूरुस्तम्भविनाशनम्' ॥ श्रीजयदेव ने यह नहीं लिखा है कि यह पाठभेद उन्होंने कहाँ से लिया है। चरक-सुश्रुत पर श्रद्धा रखने वाले संग्रहकार श्रीवाग्भट ने अ० सं० चि० अ० २३।३२ में चक्रपाणि-सम्मत द्रव्यों से युक्त पाठ को गद्य के रूप में उद्धृत किया है। इस ऊपर दिये गये पाठभेद के द्रव्य वृद्धवाग्भट के गद्य में आगे-पीछे मिल रहे हैं, आप मिलाने का प्रयास करें।

मूर्वामतिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम् ॥ ३५ ॥
[1]पूर्ववद् गुग्गुलुं मूत्रे रात्रिस्थितमथापि वा ।

मूर्वादि योग—१. मूर्वा, अतीस, कूठ, चीता की जड़, कुटकी इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार लेकर मधु के साथ, जल के साथ अथवा मधु को दही के पानी में घोलकर सेवन करें। २. अथवा गुग्गुलु को रातभर गोमूत्र में भिगाकर रखें और प्रातःकाल उसे छानकर पी लें। गुग्गुल का प्रयोग उसे शुद्ध करके ही करना चाहिए। इसकी मात्रा—३-४ रत्ती है।

स्वर्णक्षीरीमतिविषां मुस्तं तेजोवतीं वचाम् ॥ ३६ ॥
सुराह्वं [2]चित्रकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम् । लेहयेन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलाप्लुतम् ॥३७॥
फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद् वा मधुसंयुतम् । त्रिफलां पिप्पलीं मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणीम् ॥३८॥
लिह्याद् वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः ।

स्वर्णक्षीर्यादि चूर्ण—१. स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी, भड़भांड़) की जड़, अतीस, मोथा, तेजोवती (तेजवल, तिमूर, नेपाली धनियाँ या तुम्बुल), बालवच, देवदारु, चीता की जड़, कूठ, पाठा, कुटकी इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर मात्रा के अनुसार मधु के साथ मिलाकर चाटें, अथवा मधु को पानी में घोलकर उसके साथ उक्त चूर्ण को पीयें। २. फली (बरगद की छाल या उसके अंकुर बरोह या प्ररोह), व्याघ्रनख (नखी), हेम (नागकेशर), इनके समानभाग चूर्ण को मधु के साथ सेवन करने के लिए दें। ३. अथवा हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली, नागरमोथा, चव्य, कुटकी इन द्रव्यों को समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार मधु के साथ ऊरुस्तम्भ का रोगी चाटे।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने जिस विश्वास के साथ 'फली' का पर्याय 'न्यग्रोध' दिया है, तदनुसार भावप्रकाश, राजनिघण्टु आदि ने उनका सहयोग नहीं दिया है। शब्दकल्पद्रुम में 'फली' शब्द का परिचय इस प्रकार दिया है—'फलम् अस्ति अस्या, इति 'अर्श आदिभ्योऽच्', स्त्रियां ङीप्=फली'। अमरकोश में—'प्रियङ्गुः फलिनी फली'। कां० २ वर्ग ४।५५। इसी का समर्थन वैद्यकरत्नमाला में देखें—'विश्वक्सेना प्रियाकान्ता प्रियङ्गुः फलिनी फली'। वाचस्पत्यम् भी शब्दकल्पद्रुम के भावों की पुनरावृत्ति 'फली' शब्द के सन्दर्भ में करता है। अमरकोष की व्याख्यासुधा टीका में 'वनस्पति' शब्द का परिचय देते हुए टीकाकार ने लिखा है—'वनस्पतिर्ना द्रुमात्रे विना पुष्पं फलिद्रुमे'। अमरकोष २।४।६। इसी का समर्थन मनु ने भी किया है—'विना पुष्पं फलिद्रुमः'। मनुस्मृति १।४७।

निष्कर्ष—विना फूल के फल वाले अनेक वृक्ष हैं, वनस्पति संज्ञक वृक्षों की सीमा का भी कोई अन्त नहीं है। इतना होने पर भी श्रीचक्रपाणि ने जो फली शब्द बरगद के वृक्ष को ही स्वीकार किया है, उसके दो प्रधान कारण हैं—१. बरगद के गुण-धर्म प्रसंगानुकूल हैं, २. वह विना फूल के फल लगने वाले वृक्षों में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है और हमारा भी कर्तव्य युक्तियुक्त तथ्यों का समर्थन करना है।

श्रीजयदेव ने वृद्धवाग्भट की निम्न पंक्ति—'चित्रकदेवदारुकुष्ठपाठातिक्तकरोहिणीर्वा मधुना लिह्याद्'। (अ० सं० चि० अ० २३।३२) को उद्धृत करके चरकोक्त उक्त योग को भी दो भागों में बाँटना चाहा। इसके लिए उन्हें जब इधर कोई मार्ग नहीं मिला तो उन्होंने ३६वें श्लोक के अन्तिम शब्द 'वचाम्' को 'तथा' शब्द के रूप में बदल डाला, जो उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सभी जगह **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** के आधार

---

१. 'पूर्ववद्वा पिबेत् तोये' इति पा०। २. 'कटुकम्' इति पा०।

पर प्राचीन महर्षियों के वाक्यों में सहसा परिवर्तन कर देना उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में संग्रहकार ने अपने ग्रन्थ में अपनी इच्छा के अनुसार ही संग्रह किया है, अतः वृद्धवाग्भट या वाग्भट आदि की दृष्टि से चरक के पाठों को सन्तुलित करना बहुत बड़ी भूल होगी।

अपतर्पणजश्चेत् स्याद् दोषः सन्तर्पयेद्धि तम् ॥ ३९ ॥
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः ।

ऊरुस्तम्भ में मांसरस—यदि अपतर्पण (लंघन, उपवास आदि) करने से दोष (वायु) कुपित हो गया हो तो, ऊरुस्तम्भरोग से पीड़ित रोगी को युक्ति से, अर्थात् शास्त्र के अनुसार जांगलप्रदेश में होने वाले पशु-पक्षियों के मांसरसों से पुराने शालिचावलों का भात बनाकर खाने के लिए दें। इनका सेवन करने से सन्तर्पण होता है, क्योंकि निदानपरिवर्जन ही प्रधान चिकित्सा होती है।

वक्तव्य—देखें—सु० चि० अ० ५।३७-३८।

रूक्षणाद् वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः ॥ ४० ॥
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ।

वातप्रकोप में स्नेहन-स्वेदन—यदि रूक्षण अन्न-पानों के निरन्तर सेवन करने से निद्रानाश, बेचैनी के साथ वातदोष का प्रकोप हो जाय तो ऐसी स्थिति में यद्यपि ऊरुस्तम्भ में स्नेहन तथा स्वेदन का निषेध किया गया है, तथापि वातरोग-नाशक औषधद्रव्यों से सिद्ध किये हुए स्नेहों एवं स्वेदों का क्रमिक प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी यहाँ स्नेहादिकर्म करने की स्पष्ट अनुमति इस प्रकार दी है—'यदा स्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी। तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत्'॥ सु० चि० अ० ५।३९। यह स्नेह आदि का प्रयोग तभी करें, जब कि रोगी के कफ और मेदोधातु अधिक मात्रा में क्षीण हो जायें, अन्यथा इस रोग की चिकित्सा तो क्षपण और शोषण ही है, जिसका उल्लेख इसी अध्याय के २५वें श्लोक में किया जा चुका है।

ऊपर बतलाया गया है कि ऊरुस्तम्भ में आमदोषपूर्वक वात आदि दोषों की प्रधानता होती है और स्नेहन आदि क्रियाओं को करने से आमदोष बढ़ जाता है, अतः इसमें रूक्षण चिकित्सा का विधान किया गया है। कभी-कभी रोगी तथा परिचारक की असावधानी से जब रूक्षण विधियों का अधिक प्रयोग हो जाता है, तो उन दोष को दूर करने के लिए यहाँ पुनः स्नेहन आदि चिकित्साओं का विधान किया गया है।

पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरको वचा ॥ ४१ ॥
सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत् । सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वाऽपि ना पिबेत् ॥४२॥

पीलुपर्ण्यादि तैल—पीलुपर्णी (मोरट, देखें—रा० नि० गुडूच्यादिवर्ग तथा चक्रपाणि), पयस्या (विदारीकन्द), रास्ना, गोखरू, वच, सरल (चीड़), अगरु, पाठा, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार करें। इस कल्क से (कल्क तेल से चतुर्थांश और तेल से जल चार गुना अधिक लेकर) तेल को पकायें। तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तेल को १ पसर (आधी अंजली या २ पल का एक मान) अथवा १ अञ्जलि (४ पल=१६ तोला) भर लेकर मधु के साथ मिलाकर पीये। आजकल इसकी मात्रा आधा से एक तोला तक स्वीकार की जाती है।

कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम् । अजगन्धाऽश्वगन्धा च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥४३॥
सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत् । (रौक्ष्यान्मुक्त ऊरुस्तम्भात्तश्च स विमुच्यते[1] ॥)

कुष्ठादि तैल—कूठ, श्रीवेष्टक (गन्धाविरोजा, चीड़ की गोंद=लीसा), सुगन्धबाला, सरल (चीड़ की भीतरी लकड़ी), देवदारु, नागकेशर, अजमोदा, असगन्ध इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनको बारीक पीसकर कल्क तैयार कर लें। इससे सरसों का तेल (तेल से चौगुना जल लेकर) पकायें, तैयार होने पर

---

१. 'अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।

छानकर रख लें। इस तैल को मात्रानुसार लेकर मधु में मिलाकर सेवन करने से रोगी ऊरुस्तम्भ रोग की पीड़ा से मुक्त हो जाता है।

वक्तव्य—इस प्रकार प्रस्तुत किये गये तैल का सेवन करने से ऊरुस्तम्भ का रोगी रूक्षता से मुक्त होकर उसके बाद मूल रोग से भी मुक्त हो जाता है।

द्वे पले सैन्धवात् पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात्। द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके॥
आरनालात् पचेत् प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम्। गृध्रस्यूरुग्रहार्शोर्तिसर्ववातविकारनुत्॥४६॥

सैन्धवादि तैल—सेंधानमक २ पल (८ तोला), सोंठ ५ पल (२० तोला), पिप्पलामूल २ पल (८ तोला), चीता की जड़ २ पल (८ तोला), भिलावा की गुठलियाँ गिनती में २०, इन द्रव्यों को उक्त परिमाण में लेकर कल्क तैयार कर लें, २ आढक (५१२ तोला) आरनाल (कांजी) तथा १ प्रस्थ (६४ तोला) सरसों का तेल इन सबको एक पात्र में रखकर तैलपाक विधि से पकायें। तैयार होने पर इसे छानकर रख लें। मात्रा के अनुसार इस तेल को लेकर सेवन करें। इसका सेवन करने से गृध्रसी (Sciatica), ऊरुस्तम्भ, अर्शोरोग (बवासीर), सभी प्रकार की वातविकार-जनित पीड़ाओं का नाश होता है तथा जिन स्त्रियों को सन्तान नहीं होती, उन्हें इसके सेवन से सन्तान की प्राप्ति भी होती है।

पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागराद्ष्टकट्वरः। तैलप्रस्थः समो दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः॥४७॥
इत्यष्टकट्वरतैलम्।

अष्टकट्वर तैल—पिप्पलामूल १ पल (४ तोला), सोंठ १ पल (४ तोला), इन दोनों को समभाग लेकर कल्क तैयार करें, कल्क से आठगुना कट्वर (सारयुक्त दही का मट्ठा—Butter milk), सरसों का तेल १ प्रस्थ (६४ तोला), गाय के दूध का दही १ प्रस्थ (६४ तोला) इन सबको लेकर यथाविधि तैलपाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। इसको मात्रानुसार पीने से गृध्रसी (Sciatica) तथा ऊरुस्तम्भ रोगों का विनाश होता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'समो दध्ना' के स्थान पर 'स गोदध्ना' ऐसा पाठ दिया है। यहाँ पिप्पलीमूल और नागर इन दो द्रव्यों को १-१ पल लिया जाता है। चक्रपाणि आदि आचार्य इसी क्रम का समर्थन करते हैं, किन्तु कुछ टीकाकार उक्त दोनों द्रव्यों को २-२ पल लेने की संस्तुति करते हैं। चक्रदत्त में लिखा है कि इस तैल को सरसों के तेल से बनाना चाहिए, न कि तिल तेल से। इसकी मात्रा आधा तोला से एक तोला तक मानी गयी है।

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमूरुस्तम्भस्य भेषजम्। श्लेष्मणः क्षपणं त्वन्यद् बाह्यं शृणु चिकित्सितम्॥

बाह्य चिकित्सा का उपदेश—यहाँ तक ऊरुस्तम्भ के आभ्यन्तर चिकित्सा-विधियों तथा चिकित्सा-योगों का वर्णन कर दिया है। अब जिनसे कफदोष क्षीण हो उन बाह्यचिकित्सा-विधियों का इसके आगे वर्णन करने जा रहा हूँ, तुम उसे सुनो।

वल्मीकमृत्तिका मूलं करञ्जस्य फलं त्वचम्। इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम्॥४९॥

वल्मीकमृत्तिकादि उत्सादन—वल्मीकमृत्तिका (दीमक, चींटी आदि द्वारा चाली हुई मिट्टी), करंज की जड़, करंज का फल, करंज की छाल, ईंट, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर चूर्ण बनाकर उसे कपड़छन कर लें, तदनन्तर इस चूर्ण से उत्सादन करें।

वक्तव्य—यद्यपि उद्घर्षण, उत्सादन, उद्वर्तन समान क्रिया के भेद हैं, किन्तु विधिभेद होने के कारण इनके नामों में भी भेद आ गया है। इनका उदाहरण सहित संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—१. बिना स्नेह (घी-तेल आदि) के ही जो चना, मसूर आदि के आटा से शरीर को मला जाता है, उसे 'उद्घर्षण' कहते हैं। २. स्नेहयुक्त कल्क, यथा—चने के आटे में तेल और दही मिलाकर, अथवा सरसों को पीसकर तैयार किये गये कल्क में तेल मिलाकर शरीर में जो मला जाता है, उसे उत्सादन या उद्वर्तन कहते हैं। इसका विस्तृत परिचय सु० चि० अ० २४।५१-५३ में देखें।

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टम्—श्लोक ४८ के पहले जिन चार तेलों का वर्णन किया गया है, उन सबका आभ्यन्तर प्रयोग (पीने के लिए) बतलाया गया है। श्लोक ४९ में बतलाये गये उपचार के रूप में यहाँ रूक्ष उत्सादन का निर्देश किया है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि आत्रेय को स्निग्ध द्रव्यों का बाह्य प्रयोग ऊरुस्तम्भ में स्वीकार्य नहीं था।

मूलैर्वाऽप्यश्वगन्धाया मूलैरर्कस्य वा भिषक्। पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः॥५०॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक्। गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे प्रलेपनम्॥५१॥
दन्तीद्रवन्तीसुरसासर्षपैश्चापि बुद्धिमान्।

अश्वगन्धादि उत्सादन—चिकित्सक को चाहिए कि वह निम्नलिखित द्रव्यों के चूर्णों से ऊरुस्तम्भ के रोगी का बलपूर्वक उत्सादन (उबटन) करायें—१. असगन्ध, २. मदार की जड़, ३. नीम की जड़, ४. देवदारु की जड़—इनमें से किसी एक द्रव्य के चूर्ण में मधु, पिसी हुई सरसों तथा वल्मीक की मिट्टी मिला लें।

दन्त्यादि प्रलेप—दन्ती, द्रवन्ती, तुलसी के बीज तथा सरसों, इन द्रव्यों को समभाग में लेकर कल्क (लेप) तैयार करें। इसका प्रयोग बुद्धिमान् चिकित्सक ऊरुस्तम्भ में लेप के रूप में करायें।

तर्कारीशिग्रुसुरसाविश्ववत्सकनिम्बजैः॥५२॥
पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णं च सेचनम्।

तर्कार्यादि लेप—तर्कारी, सहिजन, तुलसी, सोंठ, कुटज, नीम—इनके पत्ते, जड़ एवं फल के कल्क से पकाये गये गरम जल से ऊरुस्तम्भ रोग में परिषेचन करना चाहिए।

पिष्टं तु सर्षपं मूत्रेऽध्युषितं स्यात् प्रलेपनम्॥५३॥

सर्षपलेप—सरसों को पीसकर गोमूत्र में भिगाकर रातभर रख दें। प्रातःकाल उसका लेप करें। ध्यान यह रहे कि गोमूत्र अधिक न डाल दें, नहीं तो लेप नहीं हो सकेगा।

वत्सकः सुरसं कुष्ठं गन्धास्तुम्बुरुशिग्रुकौ। [1]हिंस्रार्कमूलवल्मीकमृत्तिकाः सकुठेरकाः॥५४॥
दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्यमेतैः प्रलेपनम्। (ऊरुस्तम्भविनाशाय भिषजा जानता क्रमम्[2]॥)

वत्सकादि लेप—कुटज वृक्ष की छाल, तुलसी की पत्तियाँ, कूठ, अगर, धनियाँ, सहिजन की छाल, हिंस्रा (हईस) की जड़ (पाठभेद के अनुसार—हींग वृक्ष की जड़), मदार की जड़, वल्मीक (दीमक) की मिट्टी, तुलसी का भेद—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर दही डालकर पीसकर इसका लेप लगायें। (चिकित्सा-क्रम को जानने वाले चिकित्सक को उक्त वत्सकादि लेप का प्रयोग ऊरुस्तम्भ रोग का विनाश करने के लिए करना चाहिए)।

श्योनाकं खदिरं बिल्वं बृहत्यौ सरलासनौ। शोभाञ्जनकतर्कारीश्वदंष्ट्रासुरसार्जकान्॥५६॥
अग्निमन्थकरञ्जौ च ज्वलेनोत्क्वाथ्य सेचयेत्। प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाऽप्यूरुस्तम्भनिवारणः॥५७॥

श्योनाकादि परिषेक तथा लेप—सोनापाठा (अरलू) की छाल, खैर की लकड़ी (भीतर का सार भाग), बेल वृक्ष की छाल, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, सरल (चीड़ की लकड़ी), असन (विजयसार) की लकड़ी, सहिजन की छाल, तर्कारी, गोखरू, तुलसी की पत्तियाँ, अर्जक (तुलसी भेद) की पत्तियाँ, अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, करंज के बीज—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर पानी में पकाकर क्वाथ बनायें, उसके गुनगुने जल से पीड़ित अवयव पर परिषेक करें अथवा उपर्युक्त सभी द्रव्यों को समान परिमाण में लेकर गोमूत्र डालकर उन्हें पीसें और इस लेप को ऊरुस्तम्भ से पीड़ित अवयव पर लगायें। इस परिषेक तथा लेप से उक्त रोग का निवारण हो जाता है। इस लेप को भी गुनगुना गरम करके लगायें।

१. 'हिङ्ग्वर्कमूल' इति पा०।
२. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

कफक्षयार्थं [1]शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत् । स्थलान्याक्रामयेत् कल्यं शर्कराः सिकतास्तथा ॥
प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम् । सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः ॥५९॥
तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत् ।

ऊरुस्तम्भ में हितकर विहार—इस रोग में बढ़े हुए कफदोष को क्षीण करने (समान स्थिति में लाने) के लिए जिन्हें वह कर सके, ऐसे व्यायामों को करने के लिए रोगी को प्रेरित करना चाहिए। उसे प्रातःकाल जंगली स्थानों तथा पहाड़ियों पर चढ़ने के लिए प्रेरित करें। कंकरीली या बालुकामय भूमि पर उसे चलायें। शीतल जल वाली, कल्याणकारक (जिसमें डूबने या फँसने या हिंसक प्राणियों आदि का भय न हो ऐसी) नदी में जिधर बहाव हो उसके विपरीत दिशा की ओर उसे तैरायें अथवा स्वच्छ, शीतल तथा बहाव रहित जल वाले सरोवर में उसे बार-बार तैराना चाहिए। इन क्रियाओं को करने से जब ऊरु-प्रदेश में जाकर फँसा हुआ कफ सूख जाता है, तो ऊरुस्तम्भ रोग शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'ननु जलप्रतरणं कथमस्य श्लेष्मक्षयकरं भवति ? यस्माज्जलसम्बन्धमात्रेण श्लेष्मवृद्धिरेव प्राप्ता। उच्यते—जलेन बहिर्निर्गच्छदूष्मणो निरुद्धस्यान्तःप्रवेशाच्छ्लेष्मसङ्घातभेदनं भवति, तथा प्रतरणक्रियया श्लेष्मा विच्छिद्यते, समाभिमता क्रियाऽप्यत्र योग्यत्वात् क्रियत एव। उक्तं हि—'भवेत् कदाचित् कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया'। च० चि० अ० ३०।३२२। अर्थात् यद्यपि शीतल जल का सेवन करने से कफ की वृद्धि अवश्य होती है, किन्तु व्यायाम के कारण उस (कफ) का नाश भी होता है। अतएव तन्त्रकार का कथन है कि कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर विरुद्ध चिकित्सा भी करनी पड़ती है।

श्लेष्मणः क्षपणं यत् स्यान्न च [2]मारुतमावहेत् ॥ ६० ॥
तत् सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम् । शरीरं बलमग्निं च कार्यंषा रक्षता क्रिया ॥६१॥

ऊरुस्तम्भ में संक्षिप्त चिकित्सा-सूत्र—जो आहार-विहार तथा औषधयोग कफ का विनाश करते हों, किन्तु जो वातदोष को प्रकुपित न करते हों, उन सब (आहार-विहार तथा औषधयोगों) का सदैव ऊरुस्तम्भ रोग में सेवन करना चाहिए। उक्त चिकित्सा करते समय शारीरिक बल तथा अग्निबल का सदैव ध्यान रखते हुए सावधानी से इसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

तत्र श्लोकः—

हेतुः प्राग्रूपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वकारणम् । द्विविधं भेषजं चोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते ॥६२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त सम्बन्ध में एक श्लोक दिया गया है—प्रस्तुत ऊरुस्तम्भ चिकित्सा नामक अध्याय में इस रोग का निदान, पूर्वरूप, लक्षण, पञ्चकर्मों की अयोग्यता का कारण अर्थात् सर्वत्र हितकर पञ्चकर्म-चिकित्सा-विधि इस रोग में प्रयुक्त नहीं की जाती, उसका दो प्रकार की चिकित्सा (अन्तः प्रयोग एवं बहिः प्रयोग) में प्रयुक्त होने वाले औषधयोगों का वर्णन इसमें किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में ऊरुस्तम्भ-चिकित्सित नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥

---

१. 'व्यायामेष्वेनं शक्येषु चोत्सृजेत्' इति पा०।
२. 'मारुतकोपनम्' इति पा०।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऊरुस्तम्भ-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वातव्याधि-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—वायु का ऐतिहासिक परिचय—उपनिषद् तथा वेदान्त के अनुसार यह आकाश से उत्पन्न हुआ है। वैशेषिकदर्शन इसे द्रव्य मानता है। न्यायदर्शन के अनुसार यह पंचमहाभूतों में अन्यतम पदार्थ है। सांख्यमतानुसार यह स्पर्शतन्मात्रा से उत्पन्न होता है। इसे देवता कहा गया है। देखें—ब्रह्माण्डपुराण २।२५।१२। वेदों में वायु को इन्द्र का मित्र कहा गया है। वर्षाकाल में इनकी मित्रता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। निरुक्त के अनुसार पृथ्वी पर के अग्निदेव वायुमंडल के पवनदेव, स्वर्ग के इन्द्रदेव, आकाश के सूर्यदेव इनकी अधिक घनिष्ठता है। वायुदेव ने कुशनाभ की एक सौ पुत्रियों को कुबड़ी बना दिया था, जिनके नाम पर कान्यकुब्ज देश का नामकरण हुआ है।

वातव्याधि-प्रस्तावना—ऊरुस्तम्भ रोग की एक चिकित्सा विरूक्षण कही गयी है। जब इसका अतियोग हो जाता है, तब वातदोष का प्रकोप होता है। अतएव ऊरुस्तम के बाद वातव्याधि को तन्त्रकार ने स्थान दिया है। कुछ विद्वान् **'वात एव व्याधिः, वातव्याधिः'** ऐसा विग्रह स्वीकार करते हैं, इसमें अतिव्याप्ति दोष आ जाता है, क्योंकि शरीर में सदा तीनों दोषों की स्थिति बनी रहती है, अतः यह मत स्पृहणीय नहीं है। किन्तु इस विग्रह को आदर देने वालों का कथन है कि वात ही उन-उन दूष्यों से मिलकर सर्वांगव्याधि, एकांगव्याधि के रूप से प्रकट होता है। दूसरा पक्ष है—**'वाताद् व्याधिः, वातव्याधिः'** इस विग्रह के अनुसार जब वातदोष से दूष्यों का सम्बन्ध होता है, तब सर्वांग अथवा एकांग वातव्याधि की उत्पत्ति होती है। ज्वर आदि रोगों में भी वातदोष का सम्बन्ध होता है, तो क्या उन्हें भी वातव्याधि कहा जा सकता है ? नहीं, क्योंकि वे रोग दूसरे दोषों से भी होते देखे जाते हैं, अतः उनकी गणना वातव्याधि में नहीं की जा सकती। वातव्याधि नाम से जो रोग यहाँ कहे जायेंगे, उनमें भी यद्यपि कफ एवं पित्तदोषों का संसर्ग रहता है, तथापि उन रोगों में प्रधानता वातदोष की ही रहती है।

शंका—तन्त्रकार ने जिस प्रकार यहाँ वातव्याधि का एक स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया है, उसी प्रकार पित्तव्याधि, कफव्याधि का स्वतन्त्र वर्णन क्यों नहीं किया ? **उत्तर**—वास्तव में जिस प्रकार तीनों दोषों में वात दोष की प्रधानता मानी गयी है, न कि पित्त तथा कफ की; वही स्थिति रोगों के सम्बन्ध में भी पित्त, कफदोषों की है। क्योंकि इन दोनों से सम्बन्धित रोगों की बहुलता एवं प्रधानता रोग-समुदाय में नहीं देखी जाती है। इसलिए यहाँ केवल वात सम्बन्धी विकारों की ही चर्चा विशेष अध्याय के रूप में तन्त्रकार द्वारा की गयी है।

वातव्याधि की निरुक्ति—'वातः एव व्याधिः'। अथवा 'वातात् (वातप्रकोपात्) जनितः व्याधिः' अथवा 'वातेन (हेतुना) व्यधिः=वातव्याधिः'। देखें—'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' २।३।२५। इस सूत्र के अनुसार उक्त विग्रह में पञ्चमी तथा तृतीया विभक्ति विकल्प से हुई है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १२। च० नि० अ० २७-२८। च० सि० अ० ९। सु० नि० अ० १। सु० चि० अ० ४ एवं ५। अ० सं० नि० अ० १५। अ० सं० चि० अ० २३। अ० हृ० नि० अ० १५। अ० हृ० चि० अ० २१।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् । वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥३॥

वायु का महत्त्व—वायु को ही आयु कहा जाता है। वायु ही शरीर का बल है। जीवधारियों के शरीर को धारण करने वाला वायु ही है। यह सम्पूर्ण संसार वायु रूप है और वायु को ही प्रभु (स्वामी—सब कुछ करने में समर्थ) कहा गया है।

वक्तव्य—वायु का सम्पूर्ण वर्णन महर्षि आत्रेय ने च० सू० अ० १२ में किया है। यहाँ जो वर्णन किया जा रहा है, उसका तात्पर्य यह है—वायु ही आयु (प्राण) है। देखें—'शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुरुच्यते।

कालेन तद्वियोगाच्च पञ्चत्वं कथ्यते बुधैः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।९१ । इस प्रकार शरीर तथा प्राणवायु के संयोग को आयु (जीवन) कहा जाता है। समय आने पर उन (शरीर और प्राण) का वियोग हो जाने पर विद्वान् पुरुष उसे पञ्चत्व (मृत्यु) कहते हैं। साहित्यिक दृष्टि से 'आयुर्घृतम्' की भाँति यह लाक्षणिक प्रयोग है। यहाँ वायु पद के लक्ष्य होने पर आयु पद में कार्यत्व का व्यवहार किया गया है। देखें—चन्द्रालोक, लक्षणा-निरूपण-प्रकरण ९।९ ।

वायु ही बल है—इसके समर्थन में आप देखें—शरीर के जिस अंग में वायु का प्रकोप नहीं होता या नहीं हुआ रहता है। वह अंग सम अवस्था में स्थित वायु के कारण बलवान् अपना कार्य करने में समर्थ दिखलायी देता है, इसके विपरीत वह-वह अंग असमर्थ हो जाता है। इसे समझने के लिए तर्कसंग्रह में दिये गये वायु के लक्षण तथा उसके भेदों का अवलोकन करें और वायु के पञ्चविध कर्मों—१. उत्क्षेपण (ऊपर की ओर फेंकना), २. अपक्षेपण (नीचे की ओर फेंकना), ३. आकुञ्चन (समेटना या बटोरना), ४. प्रसारण (फैलाना) तथा ५. गमन (चलना, आना या जाना) के होने में भी वायु ही कारण है।

वायु ही धाता है—'शरीरधारणाद् धातवः' इस दृष्टि से वायु को शरीर-धारियों का धाता भी कहते हैं।

वायु ही संसार है और **वायु ही प्रभु है**—इन दोनों का तात्पर्य है कि जिस प्रकार भगवान् कण-कण में व्याप्त हैं, ठीक उसी प्रकार प्राणिमात्र में वायु भी व्याप्त है तथा यह वायु सांसारिक सम्पूर्ण कार्यों का संचालक है। अंग-प्रत्यंगों का तथा पित्त एवं कफ दोषों का स्वामी, नियन्ता और प्रेरक है।

वाग्भट के अनुसार वायु की महिमा—'सर्वार्थानर्थकरणे विश्वस्यास्यैककारणम्। अदुष्टदुष्टः पवनः शरीरस्य विशेषतः ॥ स विश्वकर्मा विश्वात्मा विश्वरूपः प्रजापतिः। स्रष्टा धाता विभुर्विष्णुः संहर्ता मृत्युरन्तकः ॥ तद्दुष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सदा' ॥ अ० हृ० नि० अ० १५।१-२ । अर्थ स्पष्ट है। इसमें वायु के सौम्य तथा उग्र दोनों प्रकार के गुणों का वर्णन किया गया है। इसीलिए अन्त में कहा गया है कि जिस प्रकार यह परम शक्तिशाली वातदोष विकृत न हो, वैसा प्रयत्न चिकित्सक को सदैव करना चाहिए।

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद् वीतरोगः समाः शतम् ॥

वायु का जीवन से सम्बन्ध—जिस पुरुष के शरीर में बिना रुकावट के साथ वायु का संचार होता रहता है, जिस पुरुष के शरीर में सभी प्रकार के वायु अपने-अपने स्थान पर स्थित हों और वातदोष स्वाभाविक स्थिति में हो, वह व्यक्ति सौ वर्षों तक नीरोग रहता है।

वक्तव्य—इस पद्य द्वारा जीवनदायक वायु के महत्त्व का वर्णन किया गया है तथा प्राकृत वायु को कतिपय बन्धनों द्वारा आबद्ध कर दिया गया है, जिसके फलस्वरूप वह (प्राणी) सौ वर्षों तक जीवित रहता है। वेद में भगवान् से प्रार्थना की गयी है—'जीवेम शरदः शतम्' और 'भूयश्च शरदः शतात्'। इन सभी सद्भावनाओं का सम्बन्ध यहाँ प्राकृत वायु के साथ जोड़ दिया गया है, न कि विकृत वायु के साथ।

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा। देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥५॥

वायु के पाँच भेद—१. प्राण, २. उदान, ३. समान, ४. व्यान, ५. अपान—इस प्रकार वायु के ५ भेद होते हैं। पाँच भागों में विभक्त यह वायु अपने-अपने स्थान पर बिना रुकावट के चलती हुई भलीभाँति शरीर का सञ्चालन करती रहती है।

वक्तव्य—सुश्रुत का वायु-वर्णन प्रकार—'प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च। स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम्' ॥ सु० नि० अ० १।१२ । कोषकार अमरसिंह ने शरीरस्थ वायुओं की गणना इस प्रकार की है—'प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः। शरीरस्था इमे'। का० १।१।६३ । इसी की सुधा व्याख्या में—'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः' ॥ इस प्रकार पाँचों वायुओं के पृथक्-पृथक् स्थान-निर्देश कर दिये गये हैं।

स्थानं प्राणस्य [1]मूर्धोरःकण्ठजिह्वास्यनासिकाः। ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च ॥६॥

---

१. 'मूर्धोरःकर्णजिह्वास्यनासिकाः' इति पा०।

प्राणवायु-परिचय

प्राणवायु का स्थान तथा कर्म—शिरःप्रदेश, छाती, कण्ठ (पाठभेद के अनुसार—कान), जीभ, मुख, नासिका ये स्थान प्रमुख रूप से प्राणवायु के हैं। ष्ठीवन (थूकना), छींकना, डकारों का आना, श्वास तथा उच्छ्वास (साँस लेना तथा उसे छोड़ना), आहार (भोजन को निगलना), आदि (शब्द से पीने का ग्रहण कर लेना चाहिए)—ये प्राणवायु के प्रमुख कर्म हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार प्राणवायु का वर्णन—'यो वायुर्वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणाँश्चाप्यवलम्बते ॥ प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्'। सु० नि० अ० १।१३ । अर्थात् इन पाँच वायुओं में जो मुख-प्रदेश (मुख, उर, कण्ठ) में संचरण करता है, उसका नाम 'प्राण' है, वह शरीर को धारण करता है, भोजन को उदर के भीतर पहुँचाता है, अग्निसोमीय प्राणों का यही अधिष्ठान (आधारभूत स्थान) है। यही प्राणवायु जब दूषित हो जाता है, तब हिक्का, श्वास, प्रतिश्याय आदि रोगों को उत्पन्न कर देता है। वाग्भट के अनुसार प्राणवायु—'प्राणादिभेदात् पञ्चात्मा वायुः प्राणोऽत्र मूर्धगः। उरःकण्ठचरो बुद्धि-हृदयेन्द्रियचित्तधृक् ॥ ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशकृत्' ॥ अ० हृ० सू० अ० १२।४ । इसमें प्राणवायु को 'मूर्धगः' कहा गया है। इस मूर्धा (शिरःस्थान) में ३७ मर्मस्थान हैं। सु० शा० अ० ६।२७ । शिरः परिचय के लिए—च० सू० अ० १७।१२ तथा च० सि० अ० ९।४ देखें।

प्राण शब्द की निरुक्ति—'प्र+अन्+अच्+घञ्+सु=प्राणः या प्राणाः'। अथवा 'प्रकर्षेण अनिति =जीवति'। जिस वायु के कारण प्राणी जीवित रहता है। इसका स्थान है—नाभि। शरीर में दो अवयव 'नाभि' नाम से जाने जाते हैं—१. नाभि, ढोंढी जो पेट के बीचो-बीच छिद्र के आकार में होती है, गर्भ में भ्रूण का पालन इसी से होता है। २. 'पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिः' ॥ सु० शा० अ० ६।२५ । मलाशय और आमाशय का मध्य अर्थात् क्षुद्रान्त्र नाम का अवयव नाभिमर्म है। यहीं से रसवाहिनी सिराओं का प्रारम्भ होता है। और भी देखें—'शिराधमन्यो नाभिस्थाः सर्वा व्याप्य स्थितास्तनुम्। पुष्णन्ति चोनिशं वायोः संयोगात् सर्व-धातुभिः'। शा० सं० पू० खं० अ० ५।८८ । सिराएँ तथा धमनियाँ नाभि से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती हैं और वे वायु के संयोग से सब धातुओं द्वारा शरीर का निरन्तर पोषण करती रहती हैं। इसमें मूल कारण है—नाभिप्रदेश में स्थित 'प्राणवायु'। देखें—च० सू० अ० २८।४ तथा सु० सू० अ० १४।२० ।

वायु शब्द की निरुक्ति—'तत्र 'वा गतिगन्धनयोः' धातुः'। सु० सू० अ० २१।५ । इस धातु से औणादिक 'त' प्रत्यय करने से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। इसलिए 'वात' का अर्थ गति से है। शरीर में जितनी या जितने प्रकार की गतियाँ होती हैं, उन सबका कारण वात ही है। वात की महिमा का वर्णन च० सू० अ० १२ में देखें।

प्राणवायु—नाभि (आमाशय तथा पक्वाशय) में रहने वाली प्राणवायु हृदय के भीतरी भाग को स्पर्श करती हुई कण्ठ (श्वासमार्ग) से बाहर विष्णुपद (आकाश) में व्याप्त अमृत (शुद्ध वायु) का पान करने के लिए निकलती है और आकाश के अमृत को पीकर शीघ्र ही पुनः शरीर में प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार वह जीवनभर सम्पूर्ण शरीर को तृप्त या प्रसन्न करती हुई जठराग्नि को प्रदीप्त करती है। देखें—शा० सं० पू० खं० अ० ५।८९-९० । वास्तव में प्राणवायु नाभि से चलकर हृदय, फुफ्फुस तथा कण्ठ (श्वासमार्ग) से होती हुई श्वास के रूप में बाहर निकलती है और विष्णुपद (आकाश) में सदैव व्याप्त रहने वाले अमृत को पीकर फिर प्रश्वास के रूप में शरीर में चली आती है। प्राणिमात्र के शरीर में यह क्रिया जीवनभर चलती रहती है। इस स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की गति के चलते रहने पर वह प्रसन्न रहता है और उसकी जठराग्नि अपने मित्र (वायु) को पाकर प्रदीप्त होती रहती है। क्योंकि—'एष ह वा अग्नेयोनिर्यः प्राणः'। जाबालोपनिषद् ४ । अर्थात् जिसे प्राणवायु कहते हैं, यही अग्नि (जठराग्नि) का कारण है। यहाँ प्रमुख रूप से नाभि, हृदय, कण्ठ (शिरःप्रदेश) को प्राणवायु का आश्रय कहा गया है, किन्तु प्राणवायु के आश्रय-स्थान वे सभी मर्म माने गये हैं, जिन्हें प्राणहर मर्म कहा गया है।

हमने ऊपर दो नाभियों का परिचय दिया है, उनमें जो उदर के मध्य में छिद्राकार दिखलायी देती है, उसके सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार इस प्रकार हैं—'नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता। सिरा-

भिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः' ॥ सु० शा० अ० ७।५। ऐसा लगता है कि महर्षि सुश्रुत की यह कल्पना गर्भाशय में स्थित भ्रूण की अवस्था को देखकर की गयी है। गर्भस्थित भ्रूण (शिशु) का जीवन इसी नाभि के आधार पर रहता है, क्योंकि इसी मार्ग से उसे पोषण मिलता है। प्रसव होने के बाद उसके जीवन का आधार नाभि नामक मर्म है। इसी का वर्णन आचार्य शार्ङ्गधर ने अपनी संहिता में किया है।

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च । वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जो बलवर्णादि कर्म च ॥७॥

उदानवायु-परिचय

उदानवायु का स्थान तथा कर्म—उदानवायु का स्थान नाभि, उरःप्रदेश तथा कण्ठप्रदेश है। वाक्प्रवृत्ति (बोलने, शब्द के उच्चारण करने की प्रवृत्ति), प्रत्येक कार्य को करने लिए प्रयत्न करना, ऊर्जा (प्राणन या उत्साहशक्ति की वृद्धि), बल तथा वर्ण आदि को उचित रूप में रखना, ये सब उदानवायु के कर्म हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार उदानवायु—'उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते। ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः॥ सु० नि० अ० १।१४-१५। जो उत्तम वायु नाभिप्रदेश से ऊपर को जाती है, उसका नाम 'उदान' है। इसके स्थान हैं—नाभि, उर और कण्ठ (नाभि का परिचय हमने ऊपर प्राणवायु के विवेचन में प्रस्तुत किया है, वहाँ देखें)। इसी वायु द्वारा भाषण (बोलना-चालना), गाना आदि विशेष (प्राणवायु के कर्मों से भिन्न) कार्य होते हैं। यह वायु जब विकृत हो जाती है, तब विशेषरूप से जत्रु (वक्षस् एवं अंससन्धि) के ऊपर के अवयवों आँख, कान, नाक, मुख तथा सिर के रोगों को उत्पन्न कर देती है। इसको प्रमाणित करने के लिए उक्त अवयवों पर होने वाले रोगों के निदानों पर ध्यान दें। वाग्भट के अनुसार उदानवायु—'उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्। वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः' ॥ अ० हृ० सू० अ० १२।५।

उदान-निरुक्ति—'उद्+अन्+घञ्+सु=उदानः' अथवा—'उत् ऊर्ध्वम् अनिति प्राणिति, इति उदानः'। इसका परिचय देने के लिए V. S. Apte ने यह श्लोक उद्धृत किया है—'स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः। उद्वेजयति मर्माणि ह्युदानो नाम नामतः' ॥ उदानवायु की विकृति से कास, श्वास, हिक्का रोगों की उत्पत्ति होती है। गम्भीरा हिक्का की उत्पत्ति में भी यही मूल कारण होती है। व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि पाणिनि ने 'पाणिनीयशिक्षा' में शब्द की उत्पत्ति में उदानवायु को कारण माना है—'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुतः॥ वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः' ॥

पाँच प्रकार का वर्ण-विभाग—मूलरूप से इसका वर्ण-विभाग इस प्रकार होता है—१. कण्ठ, २. तालु, ३. मूर्धा, ४. दन्त, ५. ओष्ठ। इसके छः मिश्रित भेद और हैं—१. कण्ठतालु, २. कण्ठओष्ठ, ३. दन्तओष्ठ, ४. उपर्युक्त पाँचों भेदों से युक्त नासिका, ५. जिह्वामूलीय, ६. उपध्मानीय। इसके आभ्यन्तरप्रयत्न और बाह्यप्रयत्न ये भी ५-५ प्रकार होते हैं। अतः उदानवायु के कारण ही स्वर-व्यंजनों की उत्पत्ति, उनका सस्वर (लय के साथ) उच्चारण भी हो पाता है।

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः । अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ॥८॥

समानवायु-परिचय

समानवायु का स्थान तथा कर्म—स्वेद (पसीना), वात आदि दोषों तथा जल का वहन करने वाले स्रोतों में आश्रित एवं जठराग्नि के समीप में रहने वाली समानवायु जठराग्नि के बल को बढ़ाने वाली होती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार समानवायु—'आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि॥ गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्' ॥ सु० नि० अ० १।१६। अर्थात् पच्यमान आहार के आशय (आमाशय) में जठराग्नि से संगत (मिली हुई) वह समानवायु अन्न का पाचन करती है और अन्न (आहार) से उत्पन्न होने वाले रस, दोष, मल, मूत्रों को अलग-अलग करती है एवं विकार युक्त होने पर गुल्म, अग्निमान्द्य, अतीसार आदि अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देती है। वाग्भट के अनुसार समानवायु—'समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः। अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति' ॥

अ० हृ० सू० अ० १२।८। अर्थात् यह (समानवायु) जठराग्नि के समीप रहती है, कोष्ठप्रदेश में चारों तरफ घूमती रहती है, अन्न को पचाने में सहायता करती है, भली-भाँति पच जाने तक अन्न (आहार) को आगे नहीं जाने देती है। उस पचे हुए आहार को रस, मल तथा मूत्र के रूप में विभाजित करके सबको अपने-अपने स्थान की ओर जाने के लिए छोड़ देती है। स्वेदवह आदि स्रोतों का वर्णन च० वि० अ० ५।८ में देखें। ये ही स्रोत दोषों का भी वहन करते हैं। इन सभी स्रोतों में समानवायु आश्रित रहता है। इसी वायु से अवस्थापाक तथा धातुपाक भी होता है। आचार्य शार्ङ्गधर भी इसी के समर्थक हैं।

समान-निरुक्ति—'सम्+अन्+अण्+सु'। 'समन्तात् कोष्ठे सम्यक् समं वा अनिति, इति समानः'। 'सं सम्यक् अनिति प्राणिति, इति समानः'। इस वायु का प्रभाव पाचन-क्रिया पर होता है।

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् । गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ॥९॥

व्यानवायु-परिचय

व्यानवायु का स्थान तथा कर्म—शीघ्र गतिशील व्यानवायु मनुष्यों (प्राणियों) के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। इस वायु का कार्य सदैव शरीर में गति उत्पन्न करना, अंगों को फैलाना, आक्षेप (सिकोड़ना), निमेष क्रिया (पलक गिराना) आदि शब्द से उन्मेष क्रिया (पलक उठाना) है। उपर्युक्त क्रियाएँ सदैव शरीर में व्यानवायु के कारण होती हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार व्यानवायु—'कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥ क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्॥ सु० नि० अ० १।१७-१८। यह सम्पूर्ण शरीर में विचरण करती रहती है। शरीर में स्थित रस आदि धातुओं को यह प्रेरित करती रहती है। यह स्वेद तथा रक्तधातु का विस्रावण करती है। इसकी पाँच प्रकार की चेष्टाएँ ये हैं—१. प्रसारण, २. आकुञ्चन, ३. विनमन, ४. उन्नमन, ५. तिर्यग्गमन, अथवा—१. गति, २. प्रसारण, ३. उत्क्षेप, ४. निमेष, ५. उन्मेष। जब व्यानवायु कुपित हो जाती है, तो यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने वाले ज्वर, अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न कर देती है। वाग्भट के अनुसार—'व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः। गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः॥ प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० १२।६-७।

व्यान-निरुक्ति—'व्याप्य सर्वं शरीरम् अथवा विशेषेण सर्वशरीरे अनिति इति 'व्यानः'। इसका प्रभाव समस्त शरीर पर होता है। केवल वाग्भट ने उक्त उद्धरण के अनुसार विशेष रूप से इसका स्थान हृदय बतलाया है, और किसी तन्त्रकार ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया है, अतः यह विचारणीय है।

वृषणौ वस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम् । अपानस्थानमन्त्रस्थः [1]शुक्रमूत्रशकृन्ति च ॥१०॥
सृजत्यार्तवगर्भौ च युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते । स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैरनामयः ॥११॥

अपानवायु-परिचय

अपानवायु का स्थान तथा कर्म—दोनों अण्डकोष, वस्ति (मूत्राशय), मेढ्र (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय), नाभि, ऊरु, वंक्षण, गुद ये सब अपानवायु के स्थान हैं। आँत में रहने वाली अपानवायु शुक्र, मूत्र, मल, आर्तव तथा गर्भ को बाहर निकालने में सहायक होती है। यहाँ तक कही गयी ये पाँचों वायुएँ यदि अपने-अपने स्थानों में स्थित रहती हैं तथा अपना-अपना कार्य करती हैं, तो इनसे देह का धारण होता है और इन्हीं के कारण शरीर नीरोग रह सकता है।

वक्तव्य—ऊपर अपानवायु के स्थानों का उल्लेख करते हुए तन्त्रकार ने 'मेढ्र' (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) का जो नामतः उल्लेख किया है, उससे स्त्री-मूत्रेन्द्रिय का भी ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि आयुर्वेद का अधिकरण 'पुरुष' है। इसी से स्त्री, बाल, वृद्ध सबका ग्रहण हो जाता है। देखें—च० सू० अ० १।४७ तथा च० शा० अ० १।१६। शास्त्र में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधान का ग्रहण कर लेने से उससे सम्बन्धित सभी का ग्रहण हो जाता है। नहीं तो मल, मूत्र आर्तव तथा गर्भ का सम्बन्ध नहीं बैठेगा।

---

१. 'शुक्रमूत्रशकृत्क्रियः' इति पा०।

सुश्रुत के अनुसार अपानवायु—'पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः । समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्तवानि च ॥ क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान्' ॥ सु० नि० अ० १।१९ । इनके अनुसार अपानवायु का प्रधान स्थान पक्वाशय है । समय आने पर यह वायु मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ, आर्तव को नीचे की ओर खींचती (ढकेलती) है । जब यह अपानवायु प्रकुपित हो जाती है, तो वस्ति पर आश्रित रहने वाली अश्मरी आदि एवं गुदप्रदेश पर आश्रित रहने वाले अर्श (बवासीर) तथा भगन्दर आदि भयंकर रोगों को उत्पन्न कर देती है । वाग्भट के अनुसार अपानवायु—'अपानोऽपानगः श्रोणि-वस्तिमेढ्रोरुगोचरः । शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः' ॥ अ० हृ० सू० अ० १२।९ । इनका भी विचार चरक, सुश्रुत के अनुरूप ही है । इस प्रकार बड़ी आँत से लेकर गुदद्वार तक अपानवायु का स्थान सर्वसम्मति से माना गया है ।

अपान-निरुक्ति—'अपसरणेन अधो वा, अधः शरीरे वा अनिति, इति अपानः' । अथवा 'अप अधस्तात् अनिति, इति अपानः' । इसका प्रभाव मलाशय, मूत्राशय, गर्भाशय, शुक्रवहस्रोतस्, डिम्बकोश तथा वस्ति-गह्वर के अवयवों पर होता है । उक्त पाँचों प्रकार के वायु यदि प्रकुपित हो जायँ तो निश्चित ही ये मानव शरीर का विनाश कर सकते हैं । देखें—सु० नि० अ० १।२१ । जैसे बहिश्चर सभी वायुओं के प्रकोप से सम्पूर्ण लंका जलकर नष्ट हो गयी थी, उसी प्रकार अन्तश्चर वायुओं का प्रकोप भी घातक होता है ।

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः । शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च ॥१२॥

विकृत वातों का परिणाम—अपने मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्गों पर स्थित या विचरण करने वाली अयुक्त (विकारयुक्त) उपरोक्त ये पाँच प्रकार की वायुएँ अपने स्थान तथा कर्म के अनुसार उत्पन्न होने वाले रोगों से मानव शरीर को पीड़ित करती हैं । अधिक विकृत हो जाने पर शीघ्र ही प्राणों का नाश भी कर देती हैं, अर्थात् प्राणियों को मार डालती हैं ।

वक्तव्य—यहाँ वायुओं के दो स्वरूप माने गये हैं—१. प्राकृत या युक्त (स्वाभाविक स्थिति में रहने वाली) और २. वैकृत या अयुक्त (अस्वाभाविक स्थिति में रहने वाली) । इनमें प्रथम स्वास्थ्य-वर्द्धन करने वाली होती है और दूसरी स्वास्थ्य-हानि करके मृत्युकारक होती है ।

सङ्ख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः । अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः ॥

अस्सी प्रकार की वातव्याधियाँ—अनेक संख्या में उत्पन्न होने वाले वातरोगों के मुख्यरूप से नखभेद आदि ८० भेद होते हैं । इनकी इन संख्याओं का उल्लेख चरक-सूत्रस्थान में किया गया है ।

वक्तव्य—च० सू० अ० २०।११ में ८० नानात्मज वातविकारों का उल्लेख किया गया है और सामान्य विकारों का वर्णन अष्टोदरीय नामक च० सू० अ० १९ में किया गया है । सामान्यज होने से ऊरुस्तम्भ की निदान चिकित्सा च० चि० अ० २७ में अलग से कही गयी है । किन्तु निर्णयसागरीय प्रति (सन् १९४१ के संस्करण) में जिन वातविकारों का उल्लेख किया गया है, उनकी संख्या ८१ है । उसी की टिप्पणी में 'कुब्जत्व' और 'पक्षवध' को उद्धृत किया है । ये रोग कुछ संस्करणों में नहीं मिलते जो विवादास्पद हैं । यदि इस संकेत को हम आधार मान लेते हैं, तो इन रोगों की संख्या ८१ न रहकर ७९ हो जायेगी । इनकी प्रतिज्ञा 'सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः, नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः' (च० सू० अ० २०।१०) के अनुसार यहाँ ऊरुस्तम्भ रोग को उद्धृत करना उचित प्रतीत नहीं होता, ऐसा करने से उक्त संख्या और भी कम हो जाती है । इस ओर आजतक किसी टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया । चरक के जितने भी संस्करण उपलब्ध हो सकते थे, इस अवसर पर हमने उन्हें देखने का प्रयास किया, किन्तु किसी निर्णय की स्थिति पर हम नहीं पहुँच पाये । वायु का एक लक्षण भ्रम भी है, जिसका प्रभाव टीका करते समय पूर्ववर्ती टीकाकारों पर भी पड़ा है, ऐसा लगता है ।

यद्यपि इसका निर्णय करने के लिए 'तद्विद्यसम्भाषा-परिषद्' का गठन कर उसका निर्णय लेना चाहिए, तथापि इस विषय पर हम अपना विचार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—महर्षि आत्रेय ने जो 'अशीतिर्वातविकाराः' यह प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार 'ऊरुस्तम्भ' रोग जिसका स्वतन्त्र उल्लेख तन्त्रकार ने च० सू० अ० १९।४ में किया है, उसे यहाँ न गिनने से यह ८० संख्या पूर्ण हो जाती है । आप भी इस दृष्टि से विचार करें । भावप्रकाश म० खं० वातव्याधि-अधिकार में श्लोक ५ से १७ तक ८० वातरोगों की गणना की गयी है, इन्हें भी देख लें ।

महर्षि आत्रेय तथा भावमिश्र द्वारा निर्दिष्ट ८० वातरोग

चरकसंहिता			भावप्रकाश		
१. नखभेद	२८. उदरावेष्ट	५६. अक्षिशूल	१. शिरोग्रह	२९. पार्श्वशूल	५३. अपतानक
२. विपादिका	२९. हृन्मोह	५७. अक्षिव्युदास	२. अंगकृशता	३०. त्रिकशूल	५४. पक्षाघात
३. पादशूल	३०. हृद्द्रव	५८. भ्रूव्युदास	३. अतिजृम्भा	३१. मुहुर्मूत्रण	५५. सर्वाङ्गवात
४. पादभ्रंश	३१. वक्षोद्धर्ष	५९. शंखभेद	४. हनुग्रह	३२. मूत्रनिग्रह	५६. कम्पन
५. पादसुप्तता	३२. वक्षोपरोध	६०. ललाटभेद	५. जिह्वास्तम्भ	३३. मलगाढता	५७. स्तम्भ
६. वातखुड्डता	३३. वक्षस्तोद	६१. शिरोरुक्	६. गद्गदत्व	३४. मलाप्रवृत्ति	५८. व्यथा
७. गुल्फग्रह	३४. बाहुशोष	६२. केशभूमि-स्फुटन	७. मिन्मिनत्व	३५. गृध्रसी	५९. तोद
८. पिण्डिकोद्वेष्टन	३५. ग्रीवास्तम्भ	६३. अर्दित	८. मूकता	३६. कलाय-खंजता	६०. भेद
९. गृध्रसी	३६. मन्यास्तम्भ	६४. एकाङ्गरोग	९. वाचालता	३७. खंजता	६१. स्फुरण
१०. जानुभेद	३७. कण्ठोद्ध्वंस	६५. सर्वाङ्गरोग	१०. प्रलाप	३८. पङ्गुता	६२. रौक्ष्य
११. जानुविश्लेष	३८. हनुभेद	६६. पक्षवध	११. रसाज्ञान	३९. क्रोष्टुशीर्षक	६३. कृशता
१२. ऊरुसाद	३९. ओष्ठभेद	६७. आक्षेपक	१२. बाधिर्य	४०. खल्ली	६४. कृष्णता
१३. पांगुल्य	४०. अक्षिभेद	६८. दंडक	१३. कर्णनाद	४१. वातकण्टक	६५. शीतता
१४. गुदभ्रंश	४१. दन्तभेद	६९. तम	१४. स्पर्शाज्ञान	४२. पादहर्ष	६६. रोमहर्ष
१५. गुदार्ति	४२. दन्तशैथिल्य	७०. भ्रम	१५. अर्दित	४३. पाददाह	६७. अंगमर्द
१६. वृषणाक्षेप	४३. मूकत्व	७१. वेपथु	१६. मन्यास्तम्भ	४४. दण्डाक्षेप	६८. अंगविभ्रंश
१७. शेफःस्तम्भ	४४. वाक्संग	७२. जृम्भा	१७. बाहुशोष	४५. वातपित्त-कृताक्षेप	६९. सिरासंकोच
१८. वंक्षणानाह	४५. कषायास्यता	७३. हिक्का	१८. अपबाहुक	४६. दण्डापतानक	७०. अंगशोष
१९. श्रोणिभेद	४६. मुखशोष	७४. विषाद	१९. विश्वाची	४७. अभिघाताक्षेप	७१. भीरुत्व
२०. विड्भेद	४७. अरसज्ञता	७५. अतिप्रलाप	२०. ऊर्ध्ववात	४८. अन्तरायाम	७२. मोह
२१. उदावर्त	४८. घ्राणनाश	७६. रौक्ष्य	२१. आध्मान	४९. बाह्यायाम	७३. चलचित्तता
२२. खञ्जता	४९. कर्णशूल	७७. पारुष्य	२२. प्रत्याध्मान	५०. धनुर्वात	७४. निद्रानाश
२३. कुब्जत्व	५०. अशब्दश्रवण	७८. श्यावारुणावभासता	२३. वाताष्ठीला	५१. कुब्जक	७५. स्वेदनाश
२४. वामनत्व	५१. उच्चैःश्रुति	७९. अस्वप्न	२४. प्रत्यष्ठीला	५२. अपतन्त्रक	७६. बलहानि
२५. त्रिकग्रह	५२. बधिरता	८०. अनवस्थित-चित्तता	२५. तूनी		७७. शुक्रक्षय
२६. पृष्ठग्रह	५३. वर्त्मस्तम्भ		२६. प्रतितूनी		७८. रजोनाश
२७. पार्श्वावमर्द	५४. वर्त्मसंकोच		२७. विषमाग्नि		७९. गर्भनाश
	५५. तिमिर		२८. आटोप		८०. भ्रम

तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमाञ्छृणु । केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात् तथाऽऽवृतम् ॥१४॥

वातव्याधि की प्रस्तावना—उन (च० सू० अ० २०।११ में कहे गये) रोगों को, उनके निदानों को और उनकी चिकित्सा-विधियों के साथ नामान्तरों एवं स्थानभेद से केवल (अन्य दोषों से अमिश्रित) वातरोगों का और आवृत वातरोगों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है, उन्हें तुम ध्यानपूर्वक सुनो ।

वक्तव्य—वातप्रकोप दो प्रकार का होता है—१ केवल वातप्रकोप (जिसमें अन्य दोषों का संसर्ग नहीं होता है, जैसे—'शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः' । सु० नि० अ० १।६३ । इस सम्पूर्ण श्लोक को देखें) । २. जब वातदोष कफ तथा पित्त से संयुक्त हो, इसी को कफावृत वायु या पित्तावृत वायु कहा गया है । उक्त श्लोक में इसी दृष्टिकोण को रखा गया है ।

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः । विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादति ॥१५॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः । धातूनां सङ्क्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥१६॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद् दिवास्वप्नाद्भयादपि । वेगसन्धारणादामादभिघातादभोजनात् ॥१७॥
मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् । देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ॥

करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान् ।

वायु के प्रकोपक कारण—रूक्ष (स्नेहरहित) पदार्थों तथा शीतवीर्य पदार्थों का सेवन, मात्रा में कम एवं शीघ्र पच जाने वाले आहारों का सेवन, अधिक स्त्री-सहवास, रात्रि में अधिक जागना, विषम चिकित्साओं से अर्थात् वमन, विरेचन आदि शोधन चिकित्सा-विधियों के न्यूनाधिक प्रयोगों से, मल-मूत्र, रक्त आदि के अधिक निकल जाने से, अधिक लंघन (उपवास या अल्प भोजन), प्लवन (कूदना, लाँघना, फाँदना आदि), अधिक मार्ग चलना, अधिक व्यायाम करना या अन्य चेष्टाओं को उचित रूप से न करने से, रस आदि धातुओं के क्षीण हो जाने से, चिन्ता, रोग, शोक तथा चिरकालज रोगों के कारण अधिक कृश हो जाने से, कष्टप्रद शय्या पर लेटने से तथा कष्टदायक आसन पर बैठने की बाध्यता से, क्रोध करने से, दिन में सोने से, भय से अधारणीय वेगों को रोकने से, आमदोष से, अभिघात (चोट) लग जाने से, भोजन न करने से, मर्मस्थलों पर चोट लगने से, यान (हाथी, घोड़ा आदि) से गिर जाने से, अथवा अवतंसन (धातुओं का ह्रास होने) से शरीर में खाली हुए स्रोतों में बलवान् वायु प्रवेश कर प्रकुपित हो जाती है, तदनन्तर वह प्रकुपित हुआ वातदोष अनेक प्रकार के सर्वांगगत वातदोषों को तथा एकांगगत वातदोषों को उत्पन्न कर देता है ।

वक्तव्य—सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में वातादि दोष ही कारण होते हैं । किन्तु यहाँ केवल उन वातविकारों का वर्णन करना तन्त्रकार को अभीष्ट है, जो ८० प्रकार की नानात्मज वातव्याधियाँ कही गयी हैं। क्योंकि नानात्मज वातव्याधियों का कारण शुद्ध वातदोष है और सामान्यज रोगों में वातदोष के प्रकोपक अन्य कारण भी होते हैं, या हो सकते हैं ।

अतिप्रजागर और दिवास्वप्न—रात में जागना और दिन में सोना, ये दोनों प्रकृति के विपरीत कर्म हैं, किन्तु लोकव्यवहार पर आश्रित जीविकोपार्जन के लिए इन नियमों का कभी-कभी विरोध भी देखा जाता है। वहाँ इस विवेचन को परिस्थिति के अनुकूल विचार लेना बुद्धिमानी होगी । इस विषय को महर्षि सुश्रुत ने सुविशद रूप से निरूपित किया है । आप देखें—सु० शा० अ० ४।३४ से लेकर ४८ तक ।

अपतंसन—चरक द्वारा प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ श्रीखरनाद ने इस प्रकार किया है—'विलिखत्यति-तैक्ष्णाद् यत् स्मृतमुल्लेखनं हि तत् । विकर्षत्यतिधातून् यत् तच्चोक्तमव(प)तंसनम्' ॥

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ १९ ॥

वातव्याधियों का पूर्वरूप—उन नानात्मज वातव्याधियों के लक्षणों का अव्यक्त (अस्पष्ट) होना ही उनका पूर्वरूप होता है, अर्थात् ज्वर आदि की भाँति इनका कोई विशिष्ट रूप नहीं होता है ।

आत्मरूपं तु तद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ।

वातव्याधि का लक्षण—वही अव्यक्त रूप जब प्रकट हो जाता है, तो वह वातव्याधि का आत्मरूप (लक्षण) कहा जाता है । वातव्याधि में उसके लक्षणों में लघुता का आ जाना ही उसके अपाय (विनाश) का लक्षण होता है ।

वक्तव्य—यहाँ 'अपाय' शब्द से इस प्रकार का अर्थ लेना चाहिए—वायु का स्वभाव चल होता है, इसके कारण शरीर के अवयवों में जड़ता, संकोच, कम्पन आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । यदि इन लक्षणों में अभाव आ जाय तो उसे स्वास्थ्य का लक्षण समझना चाहिए, क्योंकि वाग्भट ने कहा है—'गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु' । अ० हृ० नि० अ० १५।२८ ।

सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि ॥ २० ॥
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः । खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ॥२१॥
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता । शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ॥२२॥
भेदस्तोदार्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च । एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ॥२३॥

कुपित वायु के लक्षण—शरीरावयवों में संकोच (सिकुड़न) का होना, शरीर की समस्त सन्धियों में जकड़न, हड्डियों तथा उनकी गाँठों में फटने के समान पीड़ा, रोमांच का होना, प्रलाप (अंट-संट बकना), पैरों में, पीठ में तथा शिर में जकड़न, खञ्जता (लँगड़ापन), पंगुता (लूलापन), कुब्जत्व (कुबड़ापन), अंगों का

सूखना, नींद का न आना, गर्भ का नाश, शुक्र का नाश, मासिकधर्म का न होना, शरीर में कम्पन का होना, शरीर का सुन्न हो जाना, शिर, नासा, अक्षि (नेत्र), जत्रुसन्धि (ग्रीवास्थि) तथा गरदन इनकी क्रियाओं का हुण्डन (वध) होना, शरीर में फटने की-सी पीड़ा का होना, सुई चुभाने की-सी पीड़ा का होना, सामान्य पीड़ा, अंगों में आक्षेप (सिकुड़न) की प्रतीति होना, मोह (बेहोशी), परिश्रम-साध्य कार्यों के न करने पर भी थकावट का मालूम होना—इस प्रकार के अन्य अनेक रूपों को कुपित वायु प्रकट करती है ।

वक्तव्य—'हुण्डनम्' शब्द का अर्थ श्रीचक्रपाणि ने 'शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशः' किया है । दूसरे किसी आचार्य का मत इस प्रकार उद्धृत किया है—'अन्ये तु केशभूमिस्फुटनं, शङ्खललाटभेदश्च शिरोहुण्डनं, नासाहुण्डनं घ्राणनाशः, अक्षिहुण्डनम् अक्षिव्युदासः, जत्रुहुण्डनं वक्ष-उपरोधः, ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भः' ।

हुण्डन शब्द की निष्पत्ति—'हुडि सङ्घाते' अथवा 'हुडि वरणे' नाम की दो धातुएँ भ्वादि-प्रकरण में उपलब्ध हैं । इनमें प्रथम संघात वाचक 'हुडि' धातु से हम 'हुण्डन' शब्द का निर्माण इसलिए करना चाहते हैं, कि संघात का एक अर्थ 'वध' भी होता है, जो यहाँ अपने अर्थ को चरितार्थ करता है । हुडि+नुम्+णत्व+ल्युट् । संघात का वध अर्थ देखने के लिए वी० एस० आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी-कोश देखें ।

हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत् ।

वायु के लक्षणों में विशेषता—वही वायु कारणों की विशेषता से तथा स्थान (शरीर के अवयव) की विशेषता से अलग-अलग रोगों को उत्पन्न करने वाली होती है ।

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः ॥ २४ ॥
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते ।

कोष्ठाश्रित वात के लक्षण—जब दूषित वायु कोष्ठप्रदेश में आश्रित रहती है, तब मल-मूत्र में रुकावट, ब्रध्नरोग (इसी को वृद्धिरोग=अण्डवृद्धिरोग भी कहते हैं, देखें—च० सू० अ० १८।३०), हृद्रोग, गुल्मरोग, अर्श (बवासीर), पसलियों में पीड़ा, इन लक्षणों को उत्पन्न कर देती है ।

वक्तव्य—ब्रध्नरोग को ही वृद्धिरोग कहते हैं । अण्डवृद्धि और अन्त्रवृद्धि ये दो भिन्न रोग हैं । **ब्रध्न-परिचय**—अत्यन्त अभिष्यन्दी, देर में पचने वाले तथा कच्चे पदार्थों का सेवन करने से संचित हुए दोष वंक्षण (Inguinal) संधि में ग्रन्थि (गिल्टी) के सदृश जो शोथ पैदा हो जाता है, उसे ब्रध्नरोग (Hydro-cele) कहते हैं । **अन्त्रवृद्धि-परिचय**—अनेक प्रकार के क्रूर कर्मों को करने के कारण अन्त्र का एक भाग उदर-स्थित छिद्र को भेदकर बाहर निकल आता है, उसे अन्त्रवृद्धि (Hernia) कहते हैं ।

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ॥ २५ ॥
वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ।

सर्वाङ्गकुपित वात के लक्षण—यदि वातदोष का प्रकोप सम्पूर्ण शरीर में हो जाय तो शरीर के अवयवों में स्फुरण (कंपन या फड़कना), भंजन (टूटने के समान पीड़ा का अनुभव होना) तथा वेदनाओं से घिरे हुए इस रोगी को मानो सन्धियाँ फूट रही हों, ऐसा प्रतीत होता है ।

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ॥ २६ ॥
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ[1] गुदस्थिते ।

गुदगत वात-लक्षण—यदि गुदप्रदेश में स्थित वातदोष कुपित हो जाता है, तो मल, मूत्र तथा अपान-वायु में रुकावट आ जाती है । उदर में शूल, आध्मान, मूत्राशय में अश्मरी का पैदा होना, जंघा, ऊरुप्रदेश, त्रिकप्रदेश, पैरों तथा पीठ में पीड़ा का होना, शोष अथवा शोथ (सूजन) ये लक्षण होते हैं ।

हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ॥ २७ ॥
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ।

---

१. 'रोगशोथौ' इति पा० ।

आमाशयगत वात-लक्षण—आमाशय में जब वातदोष कुपित होता है, तो उसके कारण हृदय, नाभि, पसलियों एवं उदर (पेट) में पीड़ा होती है, प्यास लगती है, बार-बार डकारें आती हैं, विसूचिका (हैजा), कास, श्वास, गला तथा मुख का सूखना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार आमाशय में स्थित प्रकुपित वातदोष के लक्षण—'आमाशय में कुपित हुआ वातदोष वमन आदि रोगों को पैदा कर देता है और मोह, मूर्च्छा, पिपासा, (प्यास का लगना), हृदयग्रह (हृदय की गति में रुकावट डालना) तथा पसलियों में वेदना को उत्पन्न करता है। इसमें वातदोष के साथ पित्त का भी सम्मिश्रण होता है, जिसके कारण मोह और मूर्च्छा के लक्षण दिखलायी देते हैं। सु० नि० अ० १।२२।

मोह-मूर्च्छा—यद्यपि ये दोनों शब्द परस्पर एक-दूसरे के पर्याय हैं, तथापि जब इन दोनों का एक साथ प्रयोग होता है, तो ये भिन्न विषय के अभिधेयक हो जाते हैं। अतः इनकी भिन्नार्थकता का यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है। 'मुह् वैचित्ये' वैचित्यम् अविवेकः। यह दिवादिगण की धातु है। मुह्+घञ्+सु=मोहः। इसका अर्थ है—अविवेक। 'अथ मोहो नृलिङ्गः स्यादविद्यायां च मूर्च्छने'। इति मेदिनी। मूर्च्छा—'मुर्च्छा मोह-समुच्छ्राययोः'। 'उपधायां च'। ८।२।७८ इति उपधादीर्घः। 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहोऽपि'। अमरकोश २।८।१०९। उक्त दोनों शब्द एकार्थक होते हुए भी इस प्रकार ये भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं। यथा—मोह का अर्थ है—अविवेक अर्थात् उचित एवं अनुचित के ज्ञान से शून्य होना और मूर्च्छा का अर्थ है—बेहोशी।

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ॥ २८ ॥
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्।

पक्वाशयगत वात-लक्षण—जब कुपित हुआ वातदोष पक्वाशय में पहुँच जाता है, तो वह आँतों में कूजन (गुड़गुड़ाहट), उदर में शूल (पीड़ा), पेट का फूलना, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र का कष्ट से उतर पाना), मल का कठिनता से निकल पाना अर्थात् बद्धकोष्ठता, आनाह तथा त्रिकास्थि (Sacral region—रीढ़ की हड्डी का निचला भाग या कूल्हे के पास का भाग, इसी को आयुर्वेद में त्रिकास्थि कहते हैं) में वेदना की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—चरक तथा सुश्रुत के अनेक पाठ अविकल रूप में मिलते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु पक्वाशयगत वायु के लक्षणों का परिचायक यह पद्य भी दोनों संहिताओं में प्रायः समान है, फिर भी उतना समान नहीं है, जैसा कि पूर्ववर्ती टीकाकार लिख आये हैं। आप भी देखें, सुश्रुतोक्त उस पद्य को—'पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च। कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्' ॥ सु० नि० अ० १।२३ का उत्तरार्ध और २४वें श्लोक का पूर्वार्ध। पाठभेद—'शूलं नाभौ' के स्थान पर 'शूलाध्मानौ' का टिप्पणी में संग्रह किया गया है। इस दृष्टि से उक्त श्लोक को अविकल नहीं कहा जा सकता है।

चरक-सुश्रुत के समान दृष्टिकोण वाले अंशों के लिए निम्न संकेतों को देखें—

च० चि० अ० ३।१९	सु० सू० अ० १२।१४
च० चि० अ० ३।६३	सु० नि० अ० २।२३
च० चि० अ० १४।३०	सु० चि० अ० १।१०२
च० चि० अ० २१।१०१	सु० चि० अ० ३७।९८
च० चि० अ० २५।११८	सु० चि० अ० ३९।१५०
च० चि० अ० २६।११४	सु० उ० अ० २२।६
च० चि० अ० ३०।८	सु० उ० अ० ३८।५
च० सि० अ० ४।४१	सु० उ० अ० ६१।२६
च० सि० अ० १५।४५	सु० उ० अ० ६५।७

श्रीजयदेव ने मधुकोष टीका में दिये गये वक्तव्य से प्रभावित होकर इस श्लोक को सुश्रुत से उद्धृत मानकर दृढ़बल की भूल स्वीकार कर ली है। मधुकोषकार श्रीकण्ठविजयरक्षित का कथन है कि 'ग्रहो विण्मूत्र गुदस्थिते' तक यह पद्य 'दृढबल' का है और 'पक्वाशयस्थो…वेदनाम्' तक का श्लोक 'सुश्रुत' का है।

समाधान—तन्त्रकार ने प्रारम्भ में ही प्रतिज्ञा की है कि 'हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत्'। च० चि० अ० २८।२४ का पूर्वार्ध। अर्थात् कारण और स्थानभेद से उन-उन स्थानों पर स्थित वातदोष अपने विशेष लक्षणों को उत्पन्न करता है। जो शंका गुदस्थित और पक्वाशयस्थित वात के भिन्न लक्षणों को देखकर उठायी गयी है, क्या वह शंका कोष्ठाश्रित वायु के लक्षणों पर नहीं सूझी ? जब कि आयुर्वेद में कोष्ठ शब्द अनेक अवयवों को अपने में केन्द्रित करता है। देखें—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' ॥ सु० चि० अ० २।१२। इसी को आभ्यन्तर रोगमार्ग भी कहा गया है। देखें—च० सू० अ० ११।४८।

चरक में उत्तरगुद और अधरगुद इस प्रकार गुद-प्रदेश को दो भागों में बाँटा है। देखें—च० शा० अ० ७।१०। इसकी टीका करते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'उत्तरगुदः यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदम्'। किन्तु श्रीगणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशारीरम्' में गुदनलिका (Rectum) का परिचय देते हुए इस प्रकार लिखा है—'अथास्याख्यो भागाः कल्पन्ते वर्णनासौकर्याय—१. उत्तरगुदम्, २. मध्यगुदम्, ३. अधरगुदञ्चेति। इसका विशेष वर्णन देखें—आशय खण्ड चित्र १५० के सामने। इस प्रकार चरकोक्त प्रमाण से और प्रत्यक्षशारीर के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गुदगत वायु और पक्वाशयगत वायु इन दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उत्तरगुद शब्द का तात्पर्य पक्वाशय से है और अधरगुद शब्द का तात्पर्य मलाशय से है। इस प्रकार विचार करने पर न तो पुनरुक्तिदोष आता है और न गुदगत वायु और पक्वाशयगत वायु के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रान्ति ही उपस्थित होती है। उपर्युक्त दोनों के लक्षणों में प्रायः भिन्नता भी दृष्टिगोचर हो रही है। जो कुछ समानता दिखलायी दे रही है, वह दोनों अवयवों के समीप होने के कारण ही है, जो सर्वथा स्वाभाविक है।

यही देखकर श्रीवाग्भट ने मध्यममार्ग को अपना कर दोनों का वर्णन एक ही स्थान पर इस प्रकार कर किया है—'तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहान्त्रकूजनम्। मलरोधाश्मवर्ध्मार्शस्त्रिकपृष्ठकटीग्रहम् ॥ करोत्यधरकायेषु तांस्तान् कृच्छ्रानुपद्रवान्' ॥ अ० हृ० नि० अ० १५।७ ॥

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टसमीरणः ॥ २९ ॥

इन्द्रियगत वात के लक्षण—कान आदि (नाक, जीभ, नेत्र, त्वचा) इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों में आकर यदि वायु का प्रकोप होता है, तो वह कुपित वायु इन्द्रियों के अपने स्वाभाविक कार्यों का नाश कर देती है। जिससे उक्त इन्द्रियाँ अपने शब्द आदि विषयों का समुचित प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाती हैं।

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥ ३० ॥

त्वचागत वात के लक्षण—जब दूषित वायु का प्रकोप त्वचा के ऊपर होता है, तो त्वचा रूखी, फटी हुई, सुप्त (स्पर्शशून्य), पतली, काली पड़ जाती है और उसमें सुई चुभाने की-सी पीड़ा होती है, उसमें तनाव (खिंचाव) होने लगता है, उसके ऊपर लालिमा छा जाती है तथा सन्धियों में पीड़ा होती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार त्वचागत वायु के लक्षण—त्वचा में स्थित कुपित वातदोष के कारण त्वचा में विवर्णता, अंगों का फड़कना, रूक्षता, स्पर्श-ज्ञान का नष्ट हो जाना, चुमचुमायन (शरीर पर सरसों का कल्क लगाने के समान अनुभव का होना), सुई चुभाने के समान पीड़ा का होना, त्वचा का फटना तथा परिपोटन हो जाता है। सु० नि० अ० १।२५। इस प्रसंग में (कर्णरोग विशेष, देखें—माधवनिदान, कर्णरोग-प्रकरण) अन्य वातरोगों का भी अवलोकन कर लें।

यहाँ कुछ टीकाकार त्वक् शब्द से रसधातु का ग्रहण करते हैं, क्योंकि आगे रसधातु को छोड़कर रक्त धातु में स्थित वातदोष के लक्षणों का वर्णन किया गया है। 'भारतीय भैषज्यतत्त्व' के रचयिता कार्तिकचन्द्र वसु का कथन है कि रस हृदयस्थायी होता है, हृदय आमाशय के समीप है, आमाशयाश्रित वात के लक्षणों का निर्वचन कर देने से रसाश्रित वात के लक्षणों का ज्ञान हो जाता है। अतएव तन्त्रकार ने 'रसगत' वात के लक्षणों का पृथक् वर्णन नहीं किया है।

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः। गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥

रक्तगत वात के लक्षण—रक्तधातु में वायु के दूषित हो जाने पर शरीर में अधिक वेदनाएँ होने लगती हैं, सन्ताप (जलन) होने लगता है, शरीर का वर्ण मलिन हो जाता है, शरीर में कृशता, भोजन के प्रति अरुचि, सम्पूर्ण शरीर में फुन्सियों की उत्पत्ति तथा खाये हुए भोजन का भली-भाँति पाक न होकर उसमें विष्टम्भ हो जाता है।

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं तथा। सरुक् [1]श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले॥३२॥

मांस-मेदोगत वात के लक्षण—मांस तथा मेदोगत वायु के दूषित हो जाने पर शरीर में भारीपन, अंगों में सुई चुभाने की-सी पीड़ा एवं ऐसा लगता है जैसे मानो किसी ने शरीर के ऊपर डंडों या मुट्ठियों से मारा हो, उस प्रकार की वेदना का होना, ये लक्षण मांसगत तथा मेदोगत वातदोष में होते हैं।

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः। अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले॥३३॥

मज्जा-अस्थिगत वात के लक्षण—मज्जा तथा अस्थिगत वायु के दूषित हो जाने पर अस्थियों तथा उनके पोरों में फटने की-सी पीड़ा, संधियों (जोड़ों) में शूल, मांसक्षय, बलक्षय, उचित रूप से नींद का न आना और लगातार पीड़ा का बना रहना, ये लक्षण मज्जागत तथा अस्थिगत वातदोष में हो जाते हैं।

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा। विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः॥३४॥

शुक्रगत वात के लक्षण—शुक्रगत वायु के दूषित हो जाने पर या तो शीघ्र ही शुक्र का स्राव हो जाता है, अथवा वह शुक्र को बाँध देती है, अर्थात् मैथुन करने पर भी शुक्र का स्राव नहीं हो पाता है, या बहुत देर बाद शुक्र निकल पाता है। यही कुपित वायु स्त्रियों में शीघ्र गर्भ को गिरा देती है, या गर्भ को बाँध देती है, अर्थात् समय पर प्रसव नहीं होने देती। कभी-कभी यह गर्भ-स्थित भ्रूण को गर्भ में ही सुखा देती है, जो वर्षों तक गर्भ में ही रह जाता है और शुक्र तथा गर्भ में विविध प्रकार की विकृतियों को पैदा कर देती है।

बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च। सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः॥

स्नायुगत वात के लक्षण—दूषित हुई वायु जब स्नायुओं में आश्रित होती है, तब बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जत्व (कुबड़ापन), सर्वांगवात, एकांगवात आदि रोगों को उत्पन्न कर देती है।

शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा। सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते॥

सिरागत वात के लक्षण—जब दूषित वायु सिराओं में आश्रित होती है, तब शरीर में हलकी पीड़ा, शोफ (सूजन), शरीर का सूखना, अंगों में स्पदन का होना, सिराओं का संज्ञाशून्य हो जाना या पतली पड़ जाना या उनका फूल जाना, ये सब लक्षण दिखलायी देते हैं।

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले। प्रसारणाकुञ्चनयोः [2]प्रवृत्तिश्च सवेदना॥३७॥
([3]इत्युक्तं स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च।)

सन्धिगत वात के लक्षण—जब दूषित वायु सन्धियों में आश्रित होती है, तब सन्धिस्थलों को स्पर्श करने पर हवा से भरी हुई मशक को छूने के समान अनुभव होता है और उन-उन स्थानों में सूजन हो जाती है। दबाने पर गड्ढा जैसा पड़ जाता है, छोड़ देने पर शीघ्र ही पुनः वह गड्ढा भर जाता है। जब हाथ-पैर फैलाने या सिकोड़ने की इच्छा होती है तो उस समय कष्ट प्रतीत होता है। (यहाँ तक स्थान-भेद से शरीर के उन-उन स्थानों में आश्रित वायु-जनित विकृति के लक्षण कह दिये गये हैं)।

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते। यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च॥३८॥
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्धे मुखं जिह्मं करोति च। वक्रीकरोति नासाभ्रूललाटाक्षिहनूस्तथा॥३९॥

१. 'स्तिमितमत्यर्थम्' इति पा०।
२. 'अप्रवृत्तिः' इति पा०।
३. 'अयमर्धश्लोकः क्वचित्पुस्तके न पठ्यते।

ततो वक्रं व्रजत्यास्ये भोजनं [1]वक्रनासिकम्। स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवथुश्च निगृह्यते॥४०॥
दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता [2]कला सज्जति चास्य वाक्।
दन्ताश्चलन्ति बाध्येते श्रवणौ भिद्यते स्वरः॥ ४१॥
[3]पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डरुक्। अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात् तदर्दितम्॥४२॥

अर्दित (Facial paralysis) **के लक्षण**—वही वातदोष जब अधिक मात्रा में बढ़ जाता है, तब वह प्रकुपित वायु शरीर के आधे भाग में पहुँचकर उस भाग के रक्त का शोषण करके किसी एक हाथ (बाँह), पैर या जानु को संकुचित कर देती है। उस ओर के मुख भाग को टेढ़ा कर देती है और नासिका, भौंह, ललाट, आँख, हनु (ठुड्डी) को टेढ़ा कर देती है। इसके बाद जब वह मनुष्य भोजन करता है, तो वह भी टेढ़ा करके ही मुख में प्रवेश कर पाता है, बोलते समय उसकी नासिका भी टेढ़ी हो जाती है, आँख स्तब्ध हो (जकड़) जाती है, छींक आने में रुकावट पैदा हो जाती है, उसकी वाणी दीन (दयनीय), टेढ़ी, अत्यन्त लड़खड़ाती हुई, अस्पष्ट एवं रुक-रुककर निकल पाती है। दाँत हिलने लग जाते हैं, कानों से सुनायी नहीं देता या कम सुनायी पड़ता है, स्वर फटा-फटा सा निकलता है। हाथ, पैर, आँख, जाँघ, ऊरु, शंखप्रदेश, कान और गण्डस्थलों के आधे भाग में पीड़ा होने लगती है, अथवा केवल मुख के आधे भाग में पीड़ा होती है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने **'केवल इति अर्धे एव न कृत्स्ने'** ऐसा लिखकर भ्रम पैदा कर दिया है। ध्यान दें—**'केवले मुखार्धे'**। इसका अर्थ होता है—'केवल (Only) मुख के आधे भाग में'। यदि हम 'केवल' शब्द का अर्थ भी आधा करें तो इसका हमें अर्थ की दृष्टि से क्या लाभ होगा। वैसे 'केवल' शब्द की अभिधेयता है—'एक' तथा 'संपूर्ण'। देखें—'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः'। अमरकोष ३।३।२०३। आप इस २२वें श्लोक के उत्तरार्ध को ध्यान से देखें—इसमें दो 'अर्ध' शब्द पहले से हैं, जिनमें एक का प्रयोग शरीर के उस आधे भाग के लिए हो जायेगा, जिस ओर वातदोष कुपित है तथा दूसरा 'अर्ध' शब्द 'मुखस्यार्धे' के रूप में है ही; और यदि हम श्रीचक्रपाणि का कहना मानकर 'केवल' शब्द का 'आधा' अर्थ मान भी लें तो उसका सम्बन्ध हम किसके साथ करेंगे?

यह रोग शरीर के आधे भाग में अथवा मुख के आधे भाग में होता है, ऐसा ऊपर कहा गया है, तथापि **'श्रवणौ बाध्येते'** अर्थात् दोनों कानों की श्रवण रूपी क्रिया बाधित हो जाती है, यह एक विलक्षण लक्षण दिया है। इसका समाधान श्रीचक्रपाणि ने इस प्रकार दिया है—'यद्यपि एकपार्श्वाश्रयो विकारोऽयं; तथापि प्रभावात् कर्णयोर्बाधाऽत्र भवति'। हमारे विचार से यह पाठ ऐसा तो नहीं था—**'बाध्यते श्रवणं दन्ताश्चलन्ति भिद्यते स्वरः'**। इस परिवर्तन में दो कारण हैं—१. श्रवण शब्द नपुंसकलिंग होता है। देखें—'श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः'। अमरकोष २।६।९४। और 'श्रवणं च श्रुतौ कर्णे नक्षत्रे न नपुंसकम्'। इति मेदिनी। अतः यहाँ जो 'श्रवणौ' प्रयोग किया गया है, वह 'अशुद्ध' है। २. प्रायः देखा गया है कि अर्दित रोगी उस कान से नहीं सुन पाता है जिस ओर यह विकार हुआ रहता है। अन्य संहिताकारों ने भी दोनों कानों का बाधित होना नहीं लिखा है। 'दन्ताश्चलन्ति' में जो बहुवचन का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य है कि उस ओर नीचे-ऊपर के सभी दाँत हिलने लगते हैं, न कि बत्तीसो दाँत।

सुश्रुतोक्त अर्दित के लक्षणों को देखें—सु० नि० अ० १।६८-७२। शरीर के अवयव-भेद से यह लकवा का ही एक भेद है, जिसका प्रभाव आधे मुखमंडल पर अथवा ऊपर से नीचे के आधे भाग पर होता है। सुश्रुत ने केवल आधे मुख भाग पर होने वाले रोग को ही 'अर्दित' कहा है, किन्तु चरक ने शरीर अथवा मुख के आधे भाग में होने वाले इस रोग को भी 'अर्दित' संज्ञा दी है। चरक के ही सिद्धान्त को वृद्धवाग्भट ने भी स्वीकारा है। देखें—अ० सं० नि० अ० १५।३४-३९।

आधुनिक दृष्टि से अंगघात या लकवा (Paralysis) के अनेक भेदों का इस प्रकार उल्लेख मिलता है—१. तीव्र आरोही अंगघात, २. सामान्य अंगघात, ३. बेल अंगघात, ४. उभय पुनरावर्ती स्वरयन्त्रतन्त्रिकाघात, ५. मेरुशीर्षघात, ६. प्रमस्तिष्क अंगघात, ७. ग्रीवा सम्बन्धी अनुकम्पीघात, ८. सहजसंस्तम्भी अंगघात, ९. संयुग्म

१. 'वक्रदर्शिनः' इति पा०।
२. 'ऽबला' इति, 'ऽफला' इति च पा०।
३. 'पार्श्व' इति पा०।

नेत्रघात, १०. व्यत्यस्त अंगघात, ११. तरंगितपादाङ्गुष्ठघात, १२. निमज्जक अंगघात, १३. एव अंगघात, १४. एर्बडूशेन अंगघात, १५. एवं का सिफिलिसी मेरु अंगघात, १६. अर्दित, १७. पारिवारिक आवर्ती अंगघात, १८. पारिवारिक संस्तम्भी अंगघात, १९. शिथिल अंगघात, २०. पागल का व्यापक अंगघात, २१. जिह्वा-ओष्ठ-ग्रसनीघात, २२. अति पोटैशियम रक्तीघात, २३. हिस्टीरिया अंगघात, २४. अचलताजन्य अंगघात, २५. शिशु अंगघात (पोलियो), २६. अवकेन्द्रक आननघात, २७. बालसर्वांगघात, २८. लैंड्री अंगघात, २९. स्वरयन्त्रघात, ३०. स्वरयन्त्र अपावर्तनी पेशीघात, ३१. अधोजालिकाघात, ३२. पेशीवैकृत स्वरयन्त्रघात, ३३. प्रासृतिक अंगघात, ३४. नेत्रानुकम्पीघात, ३५. नियतकालिक अंगघात, ३६. ग्रसनीघात, ३७. तालुग्रसनीघात, ३८. रोहिणी उत्तर स्वरयन्त्रघात, ३९. रोहिणी उत्तर तालुघात, ४०. रोहिणी उत्तर ग्रसनीघात, ४१. मस्तिष्कशोथोत्तर अंगघात, ४२. वर्धमान मेरुशीर्षजघात, ४३. कूटमेरुशीर्षजघात, ४४. प्रतिवर्त अंगघात, ४५. श्वसनघात, ४६. संस्तम्भी अंगघात, ४७. संस्तम्भी प्रमस्तिष्क अंगघात, ४८. मेरुरज्जुशोषी अंगघात, ४९. अधिकेन्द्रक अर्दित, ५०. अनुकम्पीघात, ५१. अवटुविषज आवर्ती अंगघात, ५२. टिक अंगघात, ५३. टॉड अंगघात, ५४. पूर्णजालिकाघात, ५५. एकल पुनरावर्ती स्वरयन्त्रघात, ५६. ऊर्ध्वजालिकाघात, ५७. वाहिकाप्रेरकघात, ५८. सकम्प अंगघात। हम भी शरीरावयवों के भेद से तथा विकृति भेद से लकवा के अनेक भेदोपभेदों की गणना प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु यह श्रम ग्रन्थगौरव-कारक ही कहा जायेगा।

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते। मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम् ॥४३॥
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तम्यते भृशम्। दन्तानां दंशनं लाला [1]पृष्ठायामः शिरोग्रहः॥
जृम्भा वदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम्। ([2]इत्युक्तस्त्वन्तरायामो--

मन्यास्तम्भ के लक्षण—जब दूषित वायु दोनों मन्या नामक नाडियों का आश्रय लेकर उनके भीतर प्रवेश कर जाती है, तब 'अन्तरायाम' नामक मन्यास्तम्भ रोग हो जाता है। इस रोग में ग्रीवा (गर्दन) भीतर की ओर को खिंच जाती है। यह वात मन्याओं को अत्यन्त जकड़ देता है। इस रोग से आक्रान्त रोगी दाँतों को बार-बार किटकिटाता है, उसके मुख से लार चूती रहती है और उसकी गर्दन पीछे की ओर खिंच जाती है, इसे 'पृष्ठायाम' नामक मन्यास्तम्भ कहते हैं। इसमें सिर में जकड़न, जँभाई का आना और वदनसंग (वाणी के निकलने में रुकावट) हो जाती है। ये अन्तरायाम तथा पृष्ठायाम मन्यास्तम्भ के लक्षण हैं। यहाँ तक अन्तरायाम रोग का वर्णन कर दिया गया है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त मन्यास्तम्भ के लक्षणों पर भी ध्यान दें—'दिवास्वप्नासनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः। मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः'॥ सु० नि० अ० १।६७। दिन में सोने से, विषम आसन (बिस्तर) से, विवृत मार्ग को देखने से, अथवा मुख खोलकर ऊपर की ओर देखने से कफमिश्रित वायु 'मन्यास्तम्भ' रोग को उत्पन्न कर देती है। विशेष—इस रोग में गरदन जकड़ जाती है। उसे इधर-उधर घुमाने में वेदना होती है। इसकी टीका करते हुए आचार्य डल्हण ने 'विवृताध्वनिरीक्षणैः' का अर्थ 'वक्रमार्गावलोकनैः' किया है।

आचार्य गणनाथ सेन ने ग्रीवास्थ मांसपेशियों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अशीतिरेकाधिकाः पेश्यो ग्रीवायाम्। तत्र गलबाह्याः षट्पञ्चाशत्। ताः पञ्चसु प्रदेशेषु विभज्य वर्ण्यन्ते। तद्यथा—गलपार्श्वयोश्चतस्रः। गलमूलतः षोडश। ग्रीवावंशस्य पुरस्तादष्टौ। पार्श्वयोश्चाष्टौ। शिरोग्रीवापृष्ठतो विंशतिरिति। तासु द्वयोः पृष्ठच्छदयोः पृष्ठपेशीषु सङ्ख्यानात् इह चतुःपञ्चाशदेव सङ्ख्यायन्ते'। प्रत्यक्षशारीरम्, पेशीखण्ड। इनमें शिरोग्रीवाविवर्तिनी तथा पृष्ठच्छदा आदि पेशियों में जकड़न आ जाती है, जिसके कारण वह गरदन को सुख से इधर-उधर नहीं कर पाता। कुछ टीकाकारों ने इसे Tetanus माना है। वास्तव में धनुस्तम्भ को 'Tetanus' कहते हैं।

--बहिरायाम उच्यते ॥४५॥)

पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा सिरा बली। वायुः कुर्याद्धनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम्॥
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः। उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवाऽवमृद्यते ॥४७॥

१. 'पृष्ठाक्षेपः' इति पा०।
२. 'अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

दन्तानां दशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः। जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ॥४८॥

धनुस्तम्भ के लक्षण—अब यहाँ से बहिरायाम के सम्बन्ध में कहा जायेगा। बलवान् वातदोष पीठ तथा मन्या के आश्रय में रहने वाली बाहरी शिराओं को सुखाकर बहिरायाम नामक 'धनुस्तम्भ रोग को पैदा कर देता है, धनुष के सदृश झुकाये जाते हुए व्यक्ति के शिर को पीछे की ओर वह बलवान् वायु ले जाता है। इस अवसर पर छाती बाहर की ओर उभर आती है, मन्या (गले के पिछले भाग की शिराएँ) जकड़ जाती हैं, गर्दन टेढ़ी हो जाती है, रोगी दाँतों को कटकटाने लगता है, जँभाई आने लगती है, मुख से लार बहने लगती है, वाणी रुक जाती है, अर्थात् वह बोल नहीं सकता। जब वात-वेग के साथ ये लक्षण दिखलायी देते हैं, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है। यदि किसी कारण रोगी की मृत्यु नहीं होती है, तो उसमें विकलता आ जाती है, अर्थात् किसी अंग विशेष से वह वंचित हो जाता है। ऐसे ही व्यक्ति को 'विकलांग' कहते हैं।

वक्तव्य—व्यायाम करते समय व्यक्ति स्वाभाविक रूप से जब अपनी हाथ की अंगुलियों से अपने पैर के दोनों अँगूठों को पकड़ता है, तो वह स्थिति अन्तरायाम की जैसी होती है और जब वही पीठ के बल झुककर अपने शिर को अपने पैर की एड़ियों के पास पहुँचा देता है, तो वह स्थिति बाह्यायाम की जैसी होती है। व्यायाम में ये स्थितियाँ स्वास्थ्यवर्धक हैं, किन्तु रोग की स्थिति में दोनों ही घातक हैं। इस बाह्यायाम की स्थिति को धनुस्तम्भ (Tetanus) कहते हैं।

सुश्रुत के अनुसार—'बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च। तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम्॥ च० नि० अ० १।५७। अर्थ स्पष्ट है। इसके अनुसार यह रोग असाध्य होता है। ऐसा ही देखा भी जाता है। अष्टांगसंग्रह में दिये गये लक्षण प्रायः चरकोक्त लक्षणों का अनुकरण कर रहे हैं। देखें—अ० सं० नि० अ० १५। २६-२८। श्रीभावमिश्र ने इस प्रकार लक्षण दिये हैं—'धनुस्तुल्यो नमेद् यस्तु स धनुस्तम्भसंज्ञितः। विवर्णवद्धवदनः स्रस्ताङ्गो नष्टचेतनः॥ प्रस्विद्येच्च धनुःस्तम्भो दशरात्रं न जीवति'॥ भा० प्र० म० खं० वातव्याध्यधिकार। १८४।

हनुमूले स्थितो बन्धात् स्रंसयत्यनिलो हनू। विवृतास्यत्वमथवा [1]कुर्यात् स्तब्धमवेदनम् ॥४९॥
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुं(नू)संवृतवक्त्रताम्।

हनुस्तम्भ के लक्षण—हनु (ठुड्डी) के मूल में रहने वाली दूषित वायु दोनों ओर के हनुबन्धनों को ढीला कर मुख को खुला रख देती है, अर्थात् हनुबन्धनों के सरक जाने से मुख बन्द नहीं हो पाता, अथवा हनु को जकड़ देती है, जिसके कारण मुख खुल नहीं पाता है। इस रोग में वेदना नहीं होती है। इस रोग को 'हनुस्तम्भ' या 'हनुस्रंस' अथवा 'हनुग्रह' कहते हैं। जिसमें मुख खुला रह जाता है, उसे 'विवृतास्यत्व' कहते हैं।

वक्तव्य—वाग्भट के अनुसार हनुस्तम्भ—'जिह्वातिलेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः। कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनू॥ करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम्। हनुस्रंसः स तेन स्यात् कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम्॥ अ० हृ० नि० अ० १५।२९-३०। अर्थात् जीभ को साफ करने के कारण, सूखा चना आदि को चबाकर खाने से, अभिघात (चोट) लगने से, हनु के मूल में स्थित वायु कुपित होकर हनु-सन्धि का स्रंसन (Dislocation) करा देता है। इस दशा में मुख खुला ही रह जाता है, अथवा संवृत (बन्द) ही रह जाता है। इस रोग को 'हनुस्रंस' या 'विवृतास्य हनुस्तम्भ' कहते हैं। यह रोग दो प्रकार का होता है, पहले में मुख खुला ही रह जाता है, अतएव इसे 'विवृतास्य' भी कहते हैं, दूसरे में मुख बन्द हो जाता है, इसी में नीचे-ऊपर के दाँत सट जाते हैं। ५०वें पद्य के पूर्वार्ध के नीचे कई संस्करणों में यह पंक्ति अधिक दिखलायी देती है—'हनुमूले स्थितो वायुः करोति बहुकष्टदम्'। किन्तु इसकी क्षमता मूलपाठ में स्थान प्राप्त करने योग्य नहीं है।

मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः॥ ५०॥
पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः।

आक्षेपक के लक्षण—प्रकुपित वातदोष जब हाथ, पैर, सिरा तथा कण्डरा आदि अंगों को सुखाकर बार-बार शरीर में खिंचाव उत्पन्न करता है, तो उसे आक्षेपक कहते हैं।

१. 'कुर्यात् संवृतमाननम्' इति पा०।

वक्तव्य—सुश्रुत ने विस्तारपूर्वक उक्त लक्षण को इस प्रकार दिया है—'यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः। तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः॥ मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः'॥ सु० नि० अ० १।५१। इस रोग में वायु के वेग बार-बार आते हैं, अतएव इसका नाम 'आक्षेप या आक्षेपक' रखा है। वातरोगों में प्रायः रोग के आक्रमण काल में रोगी दौरा आने का-सा अनुभव करता है। इसमें झटका लगने के समान अनुभव भी होता है।

पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः॥ ५१॥
दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः।

दण्डक के लक्षण—अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुई वायु हाथ, पैर, सिर, पीठ, श्रोणि-प्रदेश (नितम्ब या चूतड़, Hip) को जकड़ देती है। इस प्रकार शरीरावयवों के जकड़ जाने के कारण उक्त रोग को दण्डक कहते हैं। इस रोग का आक्रमण हो जाने के बाद वह रोगी चिकित्सा के योग्य नहीं रह जाता है, अतएव उसे अनुपक्रम (असाध्य) कहा गया है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने इसे दण्डापतानक की संज्ञा देकर कृच्छ्रसाध्य माना है—'कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति। स दण्डवत्स्तम्भयति कृच्छ्रोदण्डापतानकः'। सु० नि० अ० १।५२। अपतानक रोग इससे भिन्न होता है। वृद्धवाग्भट ने भी इसे चरक की भाँति असाध्य ही माना है और सुश्रुत की भाँति इसमें कफदोष का अनुबन्ध स्वीकार किया है। देखें—अ० सं० नि० १५।४४। कृच्छ्रसाध्यता असाध्यता की पहली सीढ़ी है, जिसमें ठीक हो जाने की कुछ सम्भावना होती है। ऐसे अवसरों पर '**प्रत्याख्याय समाचरेत्**' इस नियम का पालन करना चाहिए, क्योंकि जब तक रोगी के प्राण शेष हैं, तब तक उसकी चिकित्सा तो करनी ही चाहिए, भले ही कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य ही क्यों न हो। आयुर्वेद का सिद्धान्त है—'कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति'। कभी-कभी अरिष्ट लक्षण के दिखलायी देने पर भी रोगी बच जाता है। अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह अपने यश की रक्षा के लिए रोगी के अभिभावकों को उसकी असाध्यता की सूचना देकर चिकित्सा करे।

स्वस्थः स्यादर्दितादीनां [1]मुहुर्वेगे गतेऽगते॥ ५२॥
पीड्यते पीडनैस्तैस्तैर्भिषगेतान् विवर्जयेत्।

वातरोगों में चिकित्सा-विचार—अर्दित आदि जितने भी वेगवाले वातरोग हैं, यदि उनमें वात का वेग चला जाता है, तो रोगी अपने को स्वस्थ (नीरोग) समझने लगता है। यदि वायु का वेग समाप्त न हुआ हो तो वह अनेक प्रकार के कष्टप्रद वातरोगों से रोगी को पीड़ित कर देता है। अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह इस प्रकार के वातरोगियों की चिकित्सा न करे।

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा॥ ५३॥
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं [2]वाक्स्तम्भमेव च।

पक्षवध के लक्षण—प्रकुपित वातदोष अपने आक्रमण से किसी एक दाहिने या बाएँ पक्ष (शरीर के भाग) का वध करके शारीरिक चेष्टाओं (उठना, बैठना, चलना, घूमना आदि) का नाश करके शरीर में पीड़ा तथा वाणी में रुकावट उत्पन्न कर देता है। अर्थात् या तो वह बिलकुल नहीं बोल सकता है, अथवा कुछ अस्पष्ट बोलने की चेष्टा करता है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत के विचारों का भी अवलोकन करें—'अत्यन्त कुपित वायु नीचे की ओर जाने वाली, तिरछे जाने वाली और शरीर में ऊपर को जाने वाली धमनियों में जब व्याप्त हो जाती है, उस समय वह शरीर के एक भाग की सन्धियों या सन्धिबन्धों को शिथिल करके पक्ष (आधे शरीर) का वध कर देती है। इसे रोगनिदान-कुशल चिकित्सक 'पक्षाघात' कहते हैं। जिससे उस पुरुष का सम्पूर्ण आधा शरीर

१. 'मुहुर्वेगागमे गते' इति पा०।
२. 'वाक्सङ्गमेव च' इति पा०।

चेष्टारहित तथा स्पर्शज्ञान रहित हो जाता है। इस प्रकार के वातरोग से पीड़ित वह पुरुष शीघ्र ही मर भी जाता है। पक्षवध और पक्षाघात एक ही है।

पक्षाघात को कई दौर में देखा-सुना जाता है। यह दो, तीन बार भी होते देखा गया है। यदि दो दौर तक वह अभागा जीवित रह जाता है, तो तीसरे दौर में तो वह चला ही जाता है, उसे चले भी जाना चाहिए, वह बचकर ही क्या करेगा। उसकी स्थिति अत्यन्त बिगड़ जाती है। सम्पन्न परिवारों में समय पर चिकित्सा हो जाने से यह रोग दो, तीन सप्ताह में पिण्ड छोड़ देता है। यदि रह गया तो वह रोगी को लेकर ही जाता है, अर्थात् जीवन भर रह जाता है।

यदि वातदोष का कफ आदि दोषों के साथ संसर्ग न हो तो केवल वायु के कारण उत्पन्न हुआ पक्षाघात रोगी को कष्टसाध्य होने के कारण शीघ्र मार डालता है। अन्य दोषों (कफ तथा पित्त) से यदि पक्षाघात का संसर्ग होता है, तो सुखसाध्य होता है। यदि धातुक्षय के कारण उत्पन्न पक्षाघात हो तो वह असाध्य होता है। देखें—सु० नि० अ० १।६० से ६३ तक और अ० सं० नि० अ० १५।४३ भी देखें।

गृहीत्वाऽर्धं शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च॥ ५४॥
पादं सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत्। एकाङ्गरोगं तं विद्यात् [1]सर्वाङ्गं सर्वदेहजम्॥५५॥

एकांगरोग के लक्षण—प्रकुपित वातदोष शरीर के आधे भाग को लेकर उस भाग में स्थित सिराओं तथा स्नायुओं को सुखाकर एक पैर या एक हाथ को सुखाकर उसे संकुचित कर उसमें तोद (सुई चुभाने की-सी पीड़ा) और शूल उत्पन्न कर देता है, उसे एकांगरोग कहते हैं। यदि उक्त विकार सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न हो जाय तो उसे सर्वांगरोग कहते हैं।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचारों को पढ़ें—'गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च। पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्॥ कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः। एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः॥ सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले'॥ अ० सं० नि० अ० १५।४०-४२। चरक तथा वृद्धवाग्भट के विचारों तथा भाषा की समानता पर ध्यान दें। शरीर के एक भाग में होने पर दूसरों के मतानुसार इसी को पक्षवध भी कहा गया है।

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्। गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः॥५६॥
वाताद् वातकफात् तन्द्रागौरवारोचकान्विता।

गृध्रसी (Sciatica) के लक्षण—इस रोग में सबसे पहले स्फिक् (नितम्ब, चूतड़ या Hip) से वेदना प्रारम्भ होकर कमर, जानु, जाँघ, पैर तक क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर जकड़न, पीड़ा, सुई चुभाने का-सा अनुभव होता है। बार-बार उस ओर फड़कन होती है। ये लक्षण प्रकुपित वायु के कारण होते हैं। यदि इस रोग में वात और कफ का प्रकोप हो तो रोगी को उँघाई, शरीर में भारीपन, भोजन के प्रति अरुचि तथा ऊपर कहे गये लक्षण भी होते हैं।

वक्तव्य—चरक-सूत्रस्थान अध्याय १९।४ (७) में दो प्रकार की गृध्रसी की चर्चा की जा चुकी है—१. वातज और २. वातकफज। महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार इसका लक्षण दिया है—'पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याऽनिलार्दिता। सक्थ्नः क्षेपं निगृह्णीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता'॥ सु० नि० अ० १।७४। पार्ष्णि (गुल्फ Ankle) के नीचे एड़ी एवं अंगुलियों से सम्बन्धित स्थूलकण्डरा वातदोष से पीड़ित होकर टाँगों की गति (पैर उठाना, पैर रखना) को जो रोक देती है, उसे गृध्रसी कहते हैं। कुछ लोग 'गृध्रसी' नामक एक शरीरस्थ नाड़ी है, ऐसी चर्चा करते हैं। किन्तु चरक, सुश्रुत तथा 'प्रत्यक्षशारीरम्' के रचयिता श्रीघाणेकर ने इसका उल्लेख नहीं किया है, अतः यह प्रलापमात्र है। श्रीमाधवकर ने गृध्रसी को वातज तथा वातकफज भेद से दो प्रकार का कहा है और उनके लक्षण भी दिये हैं।

वाग्भट का गृध्रसी-लक्षण इस प्रकार है—'पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनां या कण्डरा मारुतार्दिता। सक्थ्युत्क्षेपं निगृह्णाति गृध्रसीं तां प्रचक्षते॥ विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता'। अ० हृ० नि० अ० १५।५४।

१. 'पवनात् कुशलो भिषक्। सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वदेहानुगेऽनिले' इति पा०।

टाँग की जो कण्डरा (प्रत्यक्षशारीरम् के पेशीखण्ड में दिया गया ९० वाँ चित्र इसकी जानकारी के लिए देखें) एड़ी से लेकर अंगुलियों तक गयी है, वह जब वायु के प्रकोप से पीड़ित होकर सक्थि उत्क्षेप (टाँग के उठाने) को रोक देती है, तब उसे गृध्रसी कहते हैं। आगे जो विश्वाची, गृध्रसी और खल्ली वाली बात कही गयी है, वह चरक तथा सुश्रुत के लक्षणों की तुलना में हृदयग्राहिणी प्रतीत नहीं होती है। निश्चित ही विश्वाची बाँह का रोग है, खल्ली बाँहों और टाँगों का रोग है, जैसा कि खल्ली का विवरण आगे प्रस्तुत है।

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥ ५७ ॥
स्थानानामनुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत् ।

खल्लीरोग-लक्षण—जब प्रकुपित वातदोष के कारण पैर, जाँघ, ऊरु तथा हाथों के मूल (बाहों) में अवमोटन (मसल देने) की भाँति पीड़ा होती है, उसे खल्ली कहते हैं। यहाँ तक जिन वातरोगों का वर्णन कर दिया है, उनसे बचे हुए जो वातरोग हैं जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है, उन नखभेद आदि रोगों के स्थान एवं नाम के अनुरूप तथा दिखलायी देने वाले लक्षणों के अनुसार उनसे परिचित होना चाहिए।

वक्तव्य—ग्रन्थ-विस्तार के भय से कहीं सूत्ररूप में, कहीं व्याख्यानरूप में और कहीं तन्त्रान्तर का निर्देश करते हुए अपने विषय का समापन करना, यह तन्त्रकार की स्वतन्त्र वर्णन-शैली है। यहाँ शेष वात-विकारों के वर्णन के सम्बन्ध में भी उसी शैली का प्रयोग किया गया है। च० सू० अ० २० महारोगाध्याय में इन्होंने १३वें गद्य का वर्णन वातरोग-चिकित्सासूत्र के रूप में किया है। उसकी विशद व्याख्या 'चरकचन्द्रिका' नामक हिन्दी व्याख्या में यथास्थान देखें।

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥ ५८ ॥
वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च (वा) ।

वातव्याधि में अन्य दोषों का अनुबन्ध—उपर्युक्त तथा उनसे शेष सभी प्रकार की वातव्याधियों में पित्त एवं कफदोषों के संसर्ग (अनुबन्ध) का ज्ञान करना चाहिए। वात का प्रकोप दो प्रकार से होता है—१. धातुओं का क्षय होने से तथा २. वायु के मार्गों का आवरण (उनमें रुकावट) आ जाने के कारण।

वक्तव्य—वातविकार दो प्रकार होते हैं—१. सामान्यज (जिनका वर्णन अष्टोदरीय नामक च० सू० अ० १९ में किया जा चुका है), २. नानात्मज (जो केवल वातविकार से ही होते हैं, जैसा कि श्रीचक्रपाणि ने लिखा है—'नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासम्पृक्तैर्जन्यन्ते')। वायु के सम्बन्ध में विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए च० सू० अ० १२ देखें। आयुर्वेद में वायु को 'उभयार्थकृत्' कहा गया है, क्योंकि वह कफदोष के संसर्ग से शीत हो जाता है और वही पित्त के संसर्ग से उष्ण हो जाता है। लोक में भी देखें—जाड़ों में वही हवा 'शीतलहरी' के रूप में और गर्मियों में 'लू' के रूप में चलती या बहती है।

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ॥ ५९ ॥
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् [1]द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ।

सभी दोषों का प्रकोपक वायु—शरीर में वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष सभी स्रोतों का अनुसरण करते हैं। उक्त तीनों दोषों में वातदोष ही सूक्ष्म है, इसलिए वही वायु अन्य दो दोषों के साथ अपने को भी प्रेरित करती है। पाठभेद के अनुसार वायु ही सब में सूक्ष्म होने के कारण शेष दो दोषों (पित्त और कफ) को भी प्रेरित करती है।

वक्तव्य—इसी को अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है—'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्' ॥ अर्थात् पित्त तथा कफ दोनों दोष स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में असमर्थ होते हैं। इनका नियामक या संचालक वायु ही है।

कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान् ॥ ६० ॥
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयेत् ।

१. 'वायोस्तत्राप्युदीरणः' इति पा०।

वातदोष द्वारा धातुशोषण—शरीर में कुपित हुआ वातदोष पित्त तथा कफ दोषों को उभाड़ कर भिन्न-भिन्न अवयवों में फेंक देने से वायु का मार्ग रुक जाता है। अतः वह भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों को पैदा कर देता है और रस आदि धातुओं को भी सुखा देता है।

वक्तव्य—यहाँ से लेकर ७२वें श्लोक के पूर्वार्ध तक विविध दोषों तथा धातुओं द्वारा आवृत (घिरे हुए) वातदोष का वर्णन किया गया है।

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः [1] ॥ ६१ ॥
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता ।

पित्तावृत वात के लक्षण—जब वातदोष पित्त से घिरा होता है, तो सम्पूर्ण शरीर में दाह, प्यास की अधिकता, उदर में शूल, शिर में चक्करों का आना, आँखों के आगे अँधेरा छा जाना तथा कटु, अम्ल, लवण रस एवं उष्णवीर्य वाली वस्तुओं का सेवन करने से विदाह (जलन) का होना तथा इसी के कारण शीतल पदार्थो का सेवन करने की इच्छा का होना, ये लक्षण होते हैं।

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ॥ ६२ ॥
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ।

कफावृत वात के लक्षण—जब वातदोष कफ से घिरा होता है, तो सम्पूर्ण शरीर में शीतता का अनुभव होना, भारीपन तथा वेदना होती है। उसे अधिकांश कटु, अम्ल, लवण रस वाले पदार्थ तथा उष्णस्पर्श एवं उष्णवीर्य वाले द्रव्य उपशय होते हैं, अर्थात् अनुकूल पड़ते हैं। इन द्रव्यों का सेवन करने से कफावृत वायु शान्त हो जाती है। लंघन, आयास (परिश्रम) करने की तथा रूक्ष, उष्ण पदार्थों का सेवन करने की इच्छा बनी रहती है।

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम् ॥ ६३ ॥
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ।

रक्तावृत वात के लक्षण—जब वातदोष रक्त से घिरा रहता है, तब त्वचा और मांसपेशियों के बीच में दाह तथा वेदना अधिक होती है। शरीर पर लालिमा युक्त सूजन एवं स्थान-स्थान पर मण्डल (चकत्ते) उभर आते हैं।

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा ॥ ६४ ॥
हर्षः पिपीलिकानां च सञ्चार इव मांसगे ।

मांसावृत वात के लक्षण—जब वातदोष मांसपेशियों से घिरा रहता है, तब स्पर्श में कठोर एवं विकृत वर्णवाली अनेक पिडकाएँ हो जाती हैं। शरीर में सूजन, हर्ष (रोमांच) तथा रोगी को अपने शरीर पर चींटियों के चलने का जैसा अनुभव होता है।

चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा ॥ ६५ ॥
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः ।

मेदस् से आवृत वात के लक्षण—जब वातदोष मेदोधातु से घिरा रहता है, तब शरीर के अवयवों पर चल (स्थिर न रहने वाला अथवा अपना स्थान बदलने वाला), स्निग्ध (चिकना), मृदु (कोमल), स्पर्श में शीतल, सूजन और भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है, तो इसे आढ्यवात कहते हैं। यह मेदो धातु से घिरा होने के कारण कृच्छ्रसाध्य होता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'आढ्यवातेति आयुर्वेदसंज्ञेयं मेदसावृतवातस्य'। सुश्रुत ने, ऊरुस्तम्भ ही दूसरों के मत में आढ्यवात है, ऐसा कहा है। देखें—सु० चि० अ० ५।३१-३३। महर्षि आत्रेय ने ऊरुस्तम्भ के लक्षण च० चि० अ० २७।१७-१९ में दिये हैं। इन लक्षणों को देखकर ऊरुस्तम्भ और आढ्यवात

१. 'क्लमः' इति पा०।

को एक ही समझना या कहना कहाँ तक युक्ति-संगत है, विद्वान् विचार करें। दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि ऊरुस्तम्भ का निर्वचन तन्त्रकार ने स्वतन्त्र अध्याय में करके वहाँ उसकी निदान-चिकित्सा को उद्धृत किया है। अतः यहाँ प्रस्तुत मेदसावृत वायु के स्वतन्त्र लक्षणों की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए और उसे 'आढ्यवात' संज्ञा देनी चाहिए। यद्यपि अन्य पित्तावृत आदि वात के लक्षणों की संज्ञा का निर्धारण तन्त्रकार ने कहीं नहीं किया है। वृद्धवाग्भट ने मेदसावृत वायु को 'आढ्यवात' संज्ञा दी है। देखें—अ० सं० नि० अ० १६।३७। वाग्भट भी इसे 'आढ्यवात' कहते हैं—अ० हृ० नि० अ० १६।३६। इन्होंने २२ प्रकार के वायु के आवरणों की चर्चा की है। श्रीभावमिश्र सुश्रुत के अनुसार लक्षणों को मानते हुए अन्त में उसे **'आमवात'** स्वीकार कर इस प्रकार कहते हैं- **'तमूरुस्तम्भमित्याहुरामवातमथाऽपरे'** ॥ भा० प्र० म० खं० ऊरुस्तम्भाधिकार २-५।

हमारे विचार से महर्षि आत्रेय द्वारा निर्धारित इस रोग की 'आढ्यवात' संज्ञा स्वीकरणीय है, किन्तु यदि हम परे, अपरे आदि के रूप में विचार करने लगेंगे तो निर्णय लेने की सीमा दूर होती जायेगी, क्योंकि उसे इस स्थिति में आमवात माना जाय या आढ्यवात? इस प्रकार के विवाद के उपस्थित होने पर लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

स्पर्शमस्थ्नाऽऽवृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति ॥ ६६ ॥
सम्भज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते ।

अस्थ्यावृत वात के लक्षण—जब वातदोष अस्थिधातु से घिर जाता है, तो वह रोगी उष्णस्पर्श तथा शरीर के अवयवों को दबाना अधिक पसन्द करता है। उसे अंगों के टूटने जैसा कष्ट का अनुभव होता है। वह सदैव दुःखी रहता है। शरीर में सुइयों के चुभाने जैसा उसे कष्ट होता है।

मज्जावृते [1]विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम् ॥ ६७ ॥
शूलं तु पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ।

मज्जावृत वात के लक्षण—जब वातदोष मज्जाधातु से घिर जाता है, तब उस रोगी का शरीर कुछ झुक जाता है, उसे जँभाइयाँ आने लगती हैं, शरीर में मरोड़ देने के समान कष्ट होता है और शूल होता है, उसके शरीर को हाथों से दबाने पर उसे सुख का अनुभव होता है।

शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे ॥ ६८ ॥
भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ।

शुक्रावृत वात के लक्षण—जब वातदोष शुक्रधातु से घिर जाता है, तब शुक्रधातु में वेग नहीं रह जाता, अर्थात् शुक्र वेग से बाहर नहीं निकल पाता, अथवा शुक्र में पहले की तुलना में अधिक वेग आ जाता है, अथवा दोनों ही स्थिति में उसमें निष्फलता आ जाती है, अर्थात् उसमें गर्भाधान करने की शक्ति नहीं रह जाती है। चाहे शुक्र में वेग रहे या न रहे। यह दुष्ट वायु का ही प्रभाव होता है।

अन्नावृत वात के लक्षण—जब वातदोष अन्न से घिर जाता है, तब भोजन कर लेने के बाद उदर में शूल होता है और जब वह अपने समय में पच जाता है, तो उक्त शूल की शान्ति हो जाती है।

मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ॥ ६९ ॥

मूत्रावृत वात के लक्षण—जब वातदोष मूत्र से घिर जाता है, तब मूत्र का बाहर न निकल पाना तथा मूत्राशय में आध्मान (वस्ति-प्रदेश का फूल जाना) ये लक्षण होते हैं।

वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति। व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ॥७०॥
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत्। श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः ॥७१॥
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ।

१. 'विनमति जृम्भते परिचेष्टते' इति पा०।

मलावृत वात के लक्षण—जब वातदोष मल (पुरीष, Stool) से घिर जाता है, तब मल अत्यन्त सूखा होने के कारण नीचे की ओर नहीं सरक पाता, अतः वह जहाँ (पक्वाशय में) रहता है, वहाँ परिकर्तिका रोग को उत्पन्न कर देता है, वहाँ कैंची से काटने की-सी पीड़ा होने लगती है। भोजन में खाये हुए स्नेह अथवा स्निग्ध पदार्थों का परिपाक शीघ्र ही हो जाता है और भोजन कर लेने के बाद उस रोगी के पेट में आनाह (अफारा) हो जाता है। इस प्रकार खाये हुए आहार से पीड़ित वह पुरुष दुःख (कष्टपूर्वक), सूखे मल का बड़ी देर में त्याग करता है। श्रोणि (कूल्हा, नितम्ब, चूतड़), वंक्षण (Inguinal) तथा पीठ में उसे वेदना होती है और उसके वायु की गति सदा विलोम (विपरीत) रहती है, उस रोगी का हृदय अस्वस्थ बना रहता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने वृद्धवाग्भट के पाठ से प्रभावित होकर ऊपर के पाठ को प्रामादिक कहा है। आप भी दोनों पाठों को सामने रखकर विचार करें कि वह प्रमाद कहाँ और क्यों हुआ तथा किससे हुआ? वह पाठ इस प्रकार है—'विड्वावृते विबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति। व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः॥ शकृत्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात् सृजेत्। सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठरुक्॥ विलोमो मारुतोऽस्वास्थ्यं हृदयं पीड्यतेऽति च' ॥ अ० सं० नि० अ० १६।४१-४३।

[1]सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः ॥ ७२ ॥
[2]पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता। स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये ॥
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद् यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा ।
नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ॥ ७४ ॥

कतिपय वातव्याधियाँ—१. सन्धिच्युति (सन्धियों का अपने स्थान से सरक जाना या सन्धिभ्रंश), २. हनुस्तम्भ, ३. कुञ्चन (सिकुड़ जाना या खिंचाव का होना), ४. कुब्जता (कुबड़ापन), ५. अर्दित (आधे मुख का लकवा), ६. पक्षाघात, ७. अंगसंशोष (अंगों का सूखना), ८. पंगुता, ९. खुडवात (जांघ और पैर की संधियों में वात का प्रकोप होना, कुछ इसे संधिगत वात कहते हैं और कुछ वातरक्त रोग मानते हैं), १०. स्तम्भन (अंगों में होने वाली जकड़न), ११. आढ्यवात, १२. मज्जागत वातरोग, १३. अस्थिगत वातरोग, ये सभी वातरोग स्थान की गम्भीरता के कारण प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर कभी-कभी ठीक हो जाते हैं और कभी नहीं ठीक होते। यदि ये रोग नये हों अर्थात् अभी-अभी उत्पन्न हुए हों, बलवान् पुरुष के शरीर में उत्पन्न हुए हों और किसी प्रकार के उपद्रवों से युक्त न हों तो इनकी सावधानीपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थात् रोग पुराना हो गया हो, कमजोर पुरुष में उत्पन्न हुआ हो तथा उपद्रवों से युक्त हो तो उसकी चिकित्सा में सफलता नहीं मिलती है।

क्रियामतः परं सिद्धां वायुरोगापहां शृणु। केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ॥७५॥
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः ।

वातव्याधि-चिकित्सा—अब इसके आगे वातरोग-नाशक सिद्ध (अनुभूत) चिकित्सा-विधियों को सुनो। यदि निरुपस्तम्भ (आवरण रहित) वातदोष हो तो सर्वप्रथम घृत, तैल, वसा, मज्जा इस स्नेह-चतुष्टय का पान कराकर उसकी चिकित्सा करके वातदोष को जीतना चाहिए।

स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः ॥ ७६ ॥
यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः। पायसैः कृशरैः साम्ललवणैरनुवासनैः ॥७७॥
नावनैस्तर्पणैश्चा[3]न्नैः सुस्निग्धं स्वेदयेत् ततः ।

वातव्याधि में वस्ति-प्रयोग—उक्त प्रकार से स्नेह-चतुष्टय का सेवन कराने के कारण क्लान्त (थके हुए) रोगी को आश्वासन देकर पुनः निम्नोक्त विधियों द्वारा उसका स्नेहन कराना चाहिए। यथा—दूध, यूष,

१. 'गात्रश्लेषः' इति पा०।
२. 'सन्धिच्युतिः पक्षवधः' इति पा०।
३. 'श्चान्यैः' इति पा०।

ग्राम्य पशु-पक्षियों, जलीय पशु-पक्षियों अथवा आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस में घी आदि स्नेहों को मात्रानुसार मिलाकर अथवा खीर या अम्लरस तथा सैंधानमक मिलाकर बनायी गयी खिचड़ी खिलाकर अनुवासनवस्ति का प्रयोग करायें, स्निग्ध नस्य दें, शरीर को तृप्त करने वाले आहारों में स्नेहद्रव्यों को मिलाकर खिलायें, तदनन्तर रोगी का स्वेदन करें।

स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥ ७८ ॥
तथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत् ।

वातव्याधि में स्वेदन—जब रोगी का भली-भाँति स्नेहनकर्म करा लिया गया हो, तो सम्पूर्ण शरीर पर अथवा जो अंग वातरोग से आक्रान्त हो उस पर वातहर तेल की उत्तम प्रकार से मालिश कराकर स्नेहयुक्त नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद, सकरस्वेद तथा इनके अतिरिक्त और स्वेदों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—च० सू० अ० १४ में १३ प्रकार के स्वेदों, १० प्रकार के निरग्निस्वेदों और प्रकारान्तर से ६ प्रकार के स्वेदों का जो वर्णन किया है, उनमें जहाँ जिस स्वेदन की अधिक उपयोगिता हो, उसका प्रयोग कराना चिकित्सक पर निर्भर है, इन स्वेदों की विस्तृत विधि 'चरक-चन्द्रिका' टीका में देखें।

[1]स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धमथापि वा ॥ ७९ ॥
शनैर्नामयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत् ।

वातव्याधि में स्नेहन-स्वेदन से लाभ—जिसे पहले स्नेहन कराया गया हो, उसे पुनः स्वेदन कराने से टेढ़े अथवा वातप्रकोप से सूखे हुए अंगों को सीधा किया जा सकता है, जिस प्रकार स्नेहन और स्वेदन की हुई सूखी लकड़ी को सीधा कर लिया जाता है।

वक्तव्य—इसी आशय का एक पद्य तन्त्रकार सामान्य दृष्टि से पहले भी कह चुके हैं—'शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः। नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवितो नरान्' ॥ च० सू० अ० १४।५।

हर्षतोदरुगायामशोथस्तम्भग्रहादयः ॥ ८० ॥
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते ।

स्नेहन-क्रिया से लाभ—भली-भाँति स्नेहन क्रिया कर लेने के बाद स्वेदन क्रिया करने से रोमांच, सुई चुभने की जैसी पीड़ा, अन्तरायाम, बहिरायाम (शरीर का भीतर की ओर को मुड़ना या बाहर की ओर को मुड़ना), सूजन होना, शरीर के अवयवों का जकड़ जाना, अंगों का जड़ (निश्चल) हो जाना, ये विकार दूर होकर शरीर में मृदुता आ जाती है।

स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः ॥ ८१ ॥
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत् ।

स्नेहन-क्रिया के अन्य लाभ—जब स्नेहन-क्रिया का भलीभाँति प्रयोग कर लिया जाता है, तो वह शरीर के भीतर पहुँचा हुआ स्नेह सूखी हुई धातुओं को शीघ्र पुष्ट कर देता है। शारीरिक बल, शरीर की पुष्टि (मांसलता) तथा जठराग्नि के बल को बढ़ाकर प्राणों को भी आप्यायित (तृप्त) कर देता है।

असकृत् तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत् ॥ ८२ ॥
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः ।

स्नेहन-स्वेदन का बार-बार प्रयोग—वास्तव में स्नेहन-स्वेदन स्वस्थ रहने के लिए सभी को सदैव करने ही चाहिए, जबकि वातरोगी के लिए तो ये क्रियाएँ परम आवश्यक होती हैं। अतः वातव्याधि से पीड़ित मनुष्य के शरीर में इनका प्रयोग बार-बार कराते रहना चाहिए। इन क्रियाओं को करने से कोष्ठ-प्रदेश में मृदुता आ जाती है, अतएव उस पुरुष के शरीर में किसी भी प्रकार की वातव्याधियाँ नहीं रहने पातीं।

१. 'स्नेहार्द्रं' इति पा०।

यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति ॥ ८३ ॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत् ।

वातव्याधि में मृदुविरेचन—यदि वातव्याधि में अधिक दोष के कारण ऊपर कही गयी चिकित्सा-विधियों के प्रयोग करने पर भी रोग शान्त न हो तो रोगी को स्नेह युक्त मृदुविरेचन औषधयोगों को देकर उसे विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ जो वातरोग का चिकित्सा-विधान कहा गया है, वह शुद्धवायु-जनित अर्थात् अनावृत (आवरण रहित) वातरोगों की चिकित्सा है। चक्रपाणि के अनुसार 'सदोषत्वात्' वायु का विशेषण न होकर यह कर्म (चिकित्सा) से सम्बन्धित है। इसका प्रमाण वे इस प्रकार देते हैं—'स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्रितः' (श्लोक ८४) इत्यादि। इसके बाद वे स्वयं कहते हैं—अथवा यदि हम दोषत्व सम्बन्ध वायु के साथ जोड़ते हैं, तो वह आगे कहे जाने वाले वातरोगों के संशमन के लिए कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ दो प्रकार के वातरोगों की चिकित्सा का विधान किया गया है—१. अन्य दोषों से रहित वातदोष के कारण उत्पन्न व्याधियाँ और २. पित्त आदि दोषों से युक्त वातव्याधियाँ। इस प्रसंग में दूसरे टीकाकारों को वातदोष से ही अन्य दोषों का सम्बन्ध स्वीकार्य है।

मृदुभिः तं विशोधयेत्—यह निर्देश विशेष करके मृदुकोष्ठ वाले रोगियों के लिए तन्त्रकार ने दिया है। वातव्याधि के कारण मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों का भी कोष्ठ रूक्ष हो जाता है, फिर भी उन्हें मृदु (हलके) संशोधनों (विरेचनों) का प्रयोग कराना लाभकर होता है, न कि क्रूरकोष्ठ वालों के लिए।

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा ॥ ८४ ॥
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद् दोषहरं शिवम् ।

मृदुविरेचक तीन योग—१. तिल्वक-छाल के कल्क द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत, २. सातला का कल्क डालकर पकाया गया घृत, ३. अथवा एरण्ड तैल को दूध में मिलाकर पीने के लिए रोगी को दें। ये तीनों स्नेह वातदोष का हरण करने वाले तथा आरोग्यप्रद होते हैं।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट तिल्वकघृत—'निशोथ, जमालगोटा, स्वर्णक्षीरी, सप्तला (यवतिक्ता), शंखिनी, त्रिफला, वायविडंग—प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला, तिल्वक की जड़ तथा कबीला इनका कल्क ४ तोला, त्रिफला क्वाथ दो आढक (५१२ तोला), दही २ आढक (५१२ तोला), गाय का घी १ आढक (२५६ तोला) इन सबको मिलाकर घृतपाक करें। यह तिल्वक घृत वातरोगों में विरेचन के लिए प्रयोग किया जाता है। देखें—सु० चि० अ० ४।२७। यहाँ भी 'दोषहर' शब्द से दोषयुक्त वात का ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वात की गति को रोकने में अन्य दोष ही कारण होते हैं, जैसा कि ऊपर आवृतवात-प्रकरण में कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का वचन देखें—अ० सं० चि० अ० २३।६।

स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्रितः ॥ ८५ ॥
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं [1]रुन्ध्यात् तस्मात् तमनुलोमयेत् ।

वातव्याधि में वातानुलोमन—स्निग्ध, अम्ल, लवण, उष्ण आदि आहारों का निरन्तर सेवन करने से इकट्ठा हुआ मल मलवाही स्रोतों को बाँध (रोक) कर वायु की अनुलोम गति में अवरोध उत्पन्न कर देता है। अतः उस रुकी हुई वायु को अनुलोम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

वक्तव्य—जैसे नाली में पड़ा हुआ कूड़ा जल के वेग को रोक देता है, उसी प्रकार संचित मल द्वारा मलवाही स्रोत के रुक जाने से वायु का अवरोध अवश्य हो जायेगा, उसे निकालने के लिए मृदुविरेचन का निर्देश कर तदनुकूल योगों का भी ऊपर उल्लेख किया गया है। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार आचार्य इन्दु यहाँ मल शब्द से पित्त तथा कफदोष का ग्रहण करते हैं। उनका कथन है कि जहाँ वायु अपने कारणों से कुपित न होकर ऊपर कहे गये स्निग्ध आदि गुण-विशिष्ट आहारों से सञ्चित हुए पित्त तथा कफदोष स्रोतों को बन्द करके

१. 'बध्नाति तं रुद्ध्वा' इति पा०।

वायु को रोक देते हैं, वहाँ भी अनुलोमन-क्रिया की जाती है। उपर्युक्त तिल्वक आदि तीन योग उत्तम विरेचक हैं। विरेचन हो जाने से वायु का अनुलोमन स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात् तं निरूहैरुपाचरेत् ॥ ८६ ॥
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम् ।

निरूहवस्ति-प्रयोग—वातव्याधि से पीड़ित जो रोगी दुर्बल (कृश) होने के कारण विरेचन देने के योग्य नहीं होता है, उसकी निरूहवस्ति द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा पाचन तथा दीपन (जठराग्नि को दीप्त करने वाले) द्रव्यों से युक्त निरूहवस्ति का तथा पाचक, दीपक औषधद्रव्यों का भोजन के रूप में सेवन कराना चाहिए।

संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ ॥ ८७ ॥
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः । नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत् ॥८८॥
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम् ।

वातव्याधि में नस्य-प्रयोग—संशोधनकर्म करने के पश्चात् अर्थात् संशोधन हो जाने पर जब संसर्जन क्रम द्वारा जठराग्नि पुनः प्रज्वलित हो जाय, तब उस रोगी को पुनः स्नेहन, स्वेदन के प्रयोग कराने चाहिए। उस रोगी के लिए स्वादु (मधुर), अम्ल, लवण (नमकीन) और स्नेहयुक्त आहारों का सदा प्रयोग करना चाहिए। नावन (नस्य) तथा धूमपान कराना सभी प्रकार की वातव्याधियों में हितकर होता है। इस प्रकार सामान्य वातरोगों की चिकित्सा को यहाँ कह दिया गया है।

विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते [1]क्षारं पिबेन्नरः ॥ ८९ ॥
[2]पाचनैर्दीपनैर्युक्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान् ।

कोष्ठगत वात-चिकित्सा—कोष्ठगत वातदोष के प्रकुपित होने पर उस रोगी को क्षार (पाठभेद के अनुसार—दूध) पीना चाहिए। अथवा यदि रोगी को क्षार न पिलाना हो तो उसे पाचन-दीपन पदार्थों से युक्त अम्ल पदार्थों को खिलाकर मल का पाचन करायें।

वक्तव्य—यहाँ क्षार शब्द से कुछ टीकाकारों ने 'जवाखार' का ग्रहण किया है। वास्तव में ग्रहणी तथा अर्शरोग की चिकित्सा में जिन दीपन क्षारों का तन्त्रकार ने उल्लेख किया है, यहाँ उन्हीं का क्षार शब्द से संकेत दिया गया है। इस वक्तव्य का आधार है, वृद्धवाग्भट का निम्नलिखित सूत्र—'अशेषकोष्ठाश्रिते पुनरर्शोग्रहणीविहितमाममलपाचनं क्षारोपयोगानन्तर्गुल्मोपक्रमं च प्रयुञ्जीत'। देखें—अ० सं० चि० अ० २३।९। क्षार शब्द से प्रायः यवक्षार (जवाखार) का ग्रहण किया जाता है। यह अर्शनाशक द्रव्यों में इसलिए माना जाता है, क्योंकि स्रंसन (मल को नीचे की ओर ढकेलता) है तथा खाये हुए अन्न को पचाता है।

गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम् ॥ ९० ॥
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरीः क्रियाः ।

गुद-पक्वाशयगत वात-चिकित्सा—गुद या पक्वाशय (क्रमशः—अधरगुद या उत्तरगुद) प्रदेश में वातदोष प्रकुपित हो तो उदावर्तरोग को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। उदावर्तरोग की चिकित्सा च० वि० अ० २६ में कही गयी है, वहाँ देखें।

आमाशयगत वात-चिकित्सा—यदि आमाशय में वातदोष प्रकुपित हो तो संशोधन कराने के बाद दोष के अनुसार अर्थात् वातदोष के साथ अन्य जिस दोष का संसर्ग हो, उस-उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ हम सुश्रुत के अनुसार आमाशय तथा पक्वाशयगत वातचिकित्सा को उद्धृत कर रहे हैं। यथा—'आमाशयगते वाते च्छर्दयित्वा यथाक्रमम्। देयः षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना'॥ सु० चि० अ० ४।३। अर्थात् आमाशयगत वातदोष में यथाविधि वमन कराकर सात दिन तक 'षड्धरण' योग को गरम पानी के साथ पिलाना चाहिए। योग इसके अगले पद्य में दिया है। और—'पक्वाशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम्। वस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः'॥ सु० चि० अ० ४।५। अर्थात् वातदोष के पक्वाशय में रहने पर स्नेहद्रव्य युक्त विरेचन देना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि स्नेहयुक्त वस्तियों का प्रयोग कराना और उस रोगी को नमक डालकर भोजन कराना चाहिए। वृद्धवाग्भट का भी यही मत है।

१. 'क्षीरं' इति पा०। २. 'पाचनीयै रसैर्युक्तैरन्यैर्वा' इति पा०।

सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो वस्तयः सानुवासनाः ॥ ९१ ॥
स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ।

सर्वांगवात में वस्ति-प्रयोग—यदि वातदोष का प्रकोप सम्पूर्ण शरीर में हो तो उसमें वातनाशक तेलों का अभ्यंग, अनुवासनवस्तियों तथा निरूहवस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए।

त्वचागत वात-चिकित्सा—यदि केवल त्वचागत वातदोष का प्रकोप हो तो स्वेदन, अभ्यंग (मालिश), द्रोणी अवगाहन (Tub bath) इन चिकित्सा-विधियों के साथ हृदय के लिए हितकर अन्न (आहार) तथा पेयों का प्रयोग करना चाहिए।

शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ॥ ९२ ॥

रक्तगत वात-चिकित्सा—यदि रक्तधातु में स्थित वातदोष प्रकुपित हो तो विरेचन, रक्तमोक्षण तथा शीतवीर्य द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये शीतस्पर्श वाले प्रदेहों (लेपों) का प्रयोग करना चाहिए।

विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च ।

मांस-मेदोगत वात-चिकित्सा—मांस तथा मेदोगत वातदोष के प्रकुपित होने पर विरेचन, निरूहवस्ति तथा वातदोष को शमन करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए।

बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत् ॥ ९३ ॥

अस्थिमज्जगत वात-चिकित्सा—इस रोग में बाहरी रूप में स्नेहनकर्म द्वारा तथा विविध प्रकार के स्नेहपानों से भीतरी रूप में प्रयोग कराकर प्रकुपित वातदोष को जीतना चाहिए। अर्थात् बाह्य स्नेह-प्रयोग—तैलमर्दन, अभ्यंग आदि। आभ्यन्तर स्नेह-प्रयोग—स्नेहों को पीना या उनसे बने हुए खाद्य पदार्थों का सेवन करना।

हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ।

शुक्रगत वात-चिकित्सा—शुक्रगत वातदोष के प्रकुपित होने पर हर्षणक्रिया, बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाले औषधयोगों, अन्न (आहार), पान (पेय) द्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है।

विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद् विरेचनम् ॥ ९४ ॥
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत् क्रियाम् ।

शुक्रप्रवर्तन चिकित्सा—शुक्र के निकलने में रुकावट देखकर उक्त रोगी को विरेचन देना चाहिए। विरेचन देने के बाद उसे पेया, विलेपी आदि का सेवन कराकर उसकी जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए, जिससे उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाय, तब उसे बलवर्धक तथा शुक्रवर्धक योगों का सेवन कराना चाहिए।

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम् ॥ ९५ ॥
सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः ।

गर्भाशयगत वात-चिकित्सा—यदि प्रकुपित वायु का प्रकोप गर्भाशय में हो जाय तो गर्भ सूख जाता है। इस प्रकुपित वातदोष के कारण जब गर्भस्थ शिशु सूख रहा हो तो उस गर्भिणी को मिश्री, मुलेठी, गम्भार की छाल के क्वाथ से पकाया गया दूध पीने के लिए प्रतिदिन देना चाहिए। इसका सेवन करने से गर्भाशयगत शिशु के सभी अवयव पुनः पुष्ट हो जाते हैं।

हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम् ॥ ९६ ॥
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान् बिल्वशलाटुभिः ।

हृदयगत वात-चिकित्सा—हृदय-प्रदेश में यदि वातदोष प्रकुपित हो तो अंशुमती (शालपर्णी) के कल्क से यथाविधि पकाया गया गाय का दूध पीना हितकर होता है।

नाभिगत वात-चिकित्सा—नाभिप्रदेश में यदि वातदोष प्रकुपित हो तो कच्चे बेल की गुद्दी के क्वाथ जल में पकायी गयी मछलियों का सेवन करना चाहिए। यहाँ 'मत्स्यान्' शब्द में बहुवचन का प्रयोग अनेक दिनों तक मत्स्यमांस-सेवन की ओर संकेत कर रहा है।

वायुना वेष्टचमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम् ॥ ९७ ॥
तैलं सङ्कुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ।

वातोद्वेष्टन चिकित्सा—यदि वातदोष के प्रकुपित हो जाने से शरीर के किसी अवयव में ऐंठन के समान पीड़ा हो रही हो तो उस स्थान पर उपनाह (पुल्टिस) का प्रयोग करना चाहिए।

वातज संकोच-चिकित्सा—यदि वातदोष के प्रकुपित हो जाने से शरीर के किसी अवयव में संकोच (सिकुड़न-सी) हो रहा हो तो उड़द तथा सेंधानमक के योग से तैयार किये हुए तेल का अभ्यंग (मालिश) उस अवयव पर करना चाहिए।

बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम् ॥ ९८ ॥
वस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ।

बाहु तथा शिरोगत वात-चिकित्सा—बाहुगत एवं शिरोगत वातदोष के प्रकुपित होने पर स्नैहिक (स्नेहयुक्त) नस्य का प्रयोग कराना चाहिए और भोजन कर लेने के तत्काल बाद स्नेहपान कराना चाहिए। औत्तरभक्तिक स्नेहपान के लिए ऊपर कहे गये 'माषसैन्धवसाधित' तैल का प्रयोग कराना चाहिए और इसी तैल से नस्य भी लेनी चाहिए।

नाभि से नीचे आश्रित वात की चिकित्सा—यदि वातदोष का प्रकोप नाभि से नीचे किसी भाग में हो रहा हो तो वस्तिकर्म (वस्ति का प्रयोग) तथा अवपीड नस्य का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—अवपीडक शब्द का प्रयोग नस्य-भेद के लिए प्रसिद्ध है और नस्य का प्रयोग 'ऊर्ध्वजत्रु विकारों' में ही किया जाता है, उसमें भी 'अजीर्णी दत्तवस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः। क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्तो वृद्धबालकौ ॥ वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत्' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ८।५-६। इन्हें नस्य नहीं देनी चाहिए। अतः 'अवपीड्यते यस्मात् स अवपीडः'। इस अर्थ को ध्यान में रखकर श्रीचक्रपाणि ने यहाँ जो अर्थ किया है, वह सर्वथा उचित है—'यत्र सर्पिः पीत्वा तत्पीडकमन्नं भुज्यते', चक्रः। अब यहाँ यह ध्यान देना है कि बाहु तथा शिर में जब वातदोष कुपित हो तो उसकी शान्ति करने के लिए रोगी को नस्य तथा औत्तरभक्तिक घृतपान कराना चाहिए और जब नाभि के नीचे वातदोष कुपित हो तो पहले घृतपान कराकर तब उसे भोजन कराना चाहिए। इस प्रकार यहाँ 'अवपीडक' का अर्थ केवल स्नेह को दबाने वाला होगा। यहाँ नाभि के अधोभाग से गुद तथा वस्तिप्रदेश का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकरण में प्राग्भक्त और जीर्णान्तिक भोजन व्यवस्था के साथ स्नेहप्रयोग का विधान चिकित्सक को करना चाहिए।

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च ॥ ९९ ॥
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः ।

अर्दितरोग-चिकित्सा—इसमें नस्य-प्रयोग, शिर पर तेल की मालिश, तृप्तिकारक भोजनों का प्रयोग, नाड़ीस्वेदन तथा आनूप (जल के समीप या जल युक्त) प्रदेश में रहने वाले प्राणियों के मांस को पकाकर उनका उपनाह (पुल्टिस) लगाना या बाँधना चाहिए। ये उपचार हितकर होते हैं।

स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ॥ १०० ॥
अन्तराकण्डरागुल्फं[1] सिरा वस्त्यग्निकर्म च। गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत खल्ल्यां तूर्णोपनाहनम् ॥१०१॥
पायसैः कृशरैर्मांसैः शस्तं तैलघृतान्वितैः ।

१. 'कण्डराङ्गुल्योः' इति पा०।

पक्षाघात-चिकित्सा—इसमें स्वेदन कर्म तथा स्नेहद्रव्य से युक्त विरेचन का प्रयोग करायें।

गृध्रसी-चिकित्सा—इसमें कण्डरा और गुल्फ के बीच में सिरावेध तथा अग्निकर्म कराना चाहिए।

खल्लीरोग-चिकित्सा—इसमें तेल और घी युक्त खीर अथवा तेल-घी युक्त तिल-चावल की खिचड़ी को उस स्थान पर गरम-गरम उपनाह (पुल्टिस) के रूप में बाँधे अथवा पकाये हुए गरम मांस को बाँधे।

वक्तव्य—सुश्रुत में कुछ वातरोग विशेषों में ही सिरावेध की आज्ञा दी है। वे रोग ये हैं—गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुकशीर्ष, खंजता, पंगुता, वातकण्टक, पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, बाधिर्य तथा धमनीगत वातरोगों में जिस प्रकार कहा गया है, तदनुसार विचार करके सिरावेध करना चाहिए, अवबाहुक को छोड़कर। इसमें सिरावेध को करने के बाद वातव्याधि की चिकित्सा भी करनी चाहिए। देखें—सु० चि० अ० ५।२३। अग्निकर्म तथा शिरावेध का अध्ययन काल में भली-भाँति कर्माभ्यास (Practice) कर लेने पर ही इनका प्रयोग करें।

[1]व्यात्तानने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीडच च ॥ १०२ ॥
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम् ।
स्रस्तं स्वं गमयेत् स्थानं स्तब्धं स्विन्नं विनामयेत् ॥ १०३ ॥

विवृतास्य-चिकित्सा—विवृतास्य (Dislocated jaw) रोग में हनु-अस्थि का सन्धि-भ्रंश होकर मुख खुला रह जाता है, अतएव इसे विवृत (खुला) आस्य (मुख) कहते हैं। इसमें हनुप्रदेश पर स्वेदन करना चाहिए। जब भली-भाँति स्वेदन हो जाय तब अँगूठों से हनुसन्धियों पर हलका दबाव डालकर फिर दोनों प्रदेशिनी अथवा तर्जनी (अँगूठे के बाद वाली) अँगुलियों से मुख के भीतरी भाग को ऊँचा उठाकर हनुप्रदेश की सन्धियों को ऊपर की ओर उठाना हितकर होता है। ऐसा करने से अपने स्थान पर से नीचे की ओर को सरका हुआ हनुप्रदेश पुनः अपने स्थान पर पहुँच जाता है। यदि हनुप्रदेश जकड़ा हुआ हो तो उस स्थान पर स्वेदन कराकर उसे नीचे की ओर को झुकाने का प्रयास करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर हनुस्रंस (व्यात्तानन) और हनुस्तम्भ (हनुप्रदेश का जकड़ जाना) दो प्रकार के वात विकारों की चिकित्सा का निर्देश किया है। स्वेदन दोनों ही स्थितियों में करना है। कभी-कभी जँभाई लेने, क्रोध से बोलने के अवसर पर हनुसन्धि अपने स्थान से खुलकर नीचे आ जाती है। इसके कारण रोगी का मुख खुला ही रह जाता है। इसके लिए यथाविधि स्नेहन-क्रिया के बाद स्वेदन कराकर दोनों अँगूठों को हनु (ठुड्डी) के नीचे लगाकर और दोनों तर्जनी अंगुलियों को मुख के भीतर दोनों ओर की हनुसन्धियों की ओर ले जाकर उन दोनों हनु-अस्थियों को सहारा देते हुए ऊपर की ओर को उठाकर यथास्थान बैठा दें। इस विधि से विवृतास्य (मुख का खुला रहना) रोग शान्त किया जा सकता है। और यदि हनुस्तम्भ हो गया हो, जिसके कारण मुख खुल न रहा हो, जो 'विवृतास्य' का ठीक उलटा रोग है, अतएव जिसे 'संवृतास्य' कहते हैं, उसमें स्नेहन के बाद स्वेदन कराकर उसे झुकाना चाहिए। पाठभेद में 'व्यात्तानन' को 'व्यादितास्य' लिखा है, अर्थ दोनों का समान है।

प्रत्येकं स्थानदूष्यादिक्रियावैशेष्यमाचरेत्[2] ।

स्थान-दूष्य के अनुसार चिकित्सा—यहाँ जिन वातव्याधियों की चिकित्सा कह दी गयी है और जिन की नहीं कही गयी है, उन सभी वातरोगों की चिकित्सा में वातदोष का प्रकोप किस स्थान-विशेष पर हुआ है तथा उसने अपने प्रकोप से किस धातु-विशेष को दूषित किया है, इसका भली-भाँति विचार कर लेने पर ही चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—नानात्मज वातव्याधियों की जो ८० संख्या कही गयी है, वह भी 'प्राधान्येन व्यपदेशः' के रूप में है, क्योंकि स्थान, दोष तथा दूष्य का विचार करके इन वातव्याधियों की संख्या में और भी वृद्धि हो सकती है। अतः चिकित्सक को चाहिए वह रोगी के रोग-स्थान तथा रस, रक्त आदि किस धातु को वातदोष ने दूषित कर रखा है, इसका सावधानी से विचार कर चिकित्सा करे।

१. 'व्यादितास्ये' इति पा०। २. 'क्रियां सर्वत्र कारयेत्' इति पा०।

सर्पिस्तैलवसामज्जसेको[1]भ्यञ्जनवस्तय: ॥ १०४ ॥
स्निग्धा: स्वेदा निवातं च स्थानं प्रावरणानि च । रसा: पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च॥
बृंहणं यच्च तत् सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम् ।

वातरोग में आहार-विहार का निर्देश—वातरोगियों के लिए घी, तेल, वसा, मज्जा (चतुर्विध स्नेह), परिषेक (स्नान), अभ्यञ्जन (मालिश), वस्ति-प्रयोग, स्नेहन, स्वेदन, निवातस्थान (जहाँ हवा का सीधा प्रवेश न हो) का सेवन, भारी ओढ़ने के वस्त्रों (कम्बल, रजाई आदि) से शरीर को ढके रहना, मांसरसों का सेवन, दुग्धपान, स्वादु (मधुर), खट्टे, नमकीन आहारों का सेवन, इनके अतिरिक्त और भी जो शरीर को पुष्ट करने वाले आहारद्रव्य हों, उन सबका सेवन करना हितकर या उत्तम होता है ।

बलाया: पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसे ॥ १०६ ॥
अजशीर्षाम्बुजानूपमांसादपिशितै: पृथक् । साधयित्वा रसान् स्निग्धान् दध्यम्लव्योषसंस्कृतान् ॥
भोजयेद् वातरोगार्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम् ।

मांसरस-प्रयोग—बरियारा की जड़, बृहत् पञ्चमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढ़ल की छाल, अरणी की छाल), अथवा दशमूल (दोनों पञ्चमूल; बृहत् पञ्चमूल के द्रव्यों का उल्लेख ऊपर कर दिया है, लघुपञ्चमूल—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू और बृहत्पञ्चमूल के पाँचों द्रव्य) इनके क्वाथ के रस में बकरे का शिर, जलज प्राणियों का मांस, आनूपदेशज प्राणियों का मांस, अथवा कच्चा मांस खाने वाले प्राणियों का मांस, इनसे अलग-अलग मांसरस तैयार करें । इन मांसरसों को विधिपूर्वक घी आदि स्नेहद्रव्यों से छौंककर इनमें खट्टा दही, सोंठ, मरिच, पीपल का चूर्ण मात्रानुसार मिलाकर उनमें हलका नमक मिला दें । इन मांसरसों को वातरोगियों को खिलाना चाहिए ।

वक्तव्य—वातरोगियों के लिए ऊपर जिन मांसरसों का विधान किया गया है, उनमें से रोगी की रुचि के अनुसार मांस का उक्त विधि से निर्माण कराकर रोगी को गरम-गरम खिलायें । इसका निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखें—या तो बलामूल तथा पञ्चमूल के द्रव्यों का विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब उस क्वाथ रस से ऊपर कहे गये मांसों में से किसी एक मांस को लेकर उसे पकायें, तदनन्तर उस रस को स्वादिष्ट बनाने के लिए घी से छौंककर दही आदि द्रव्य उसमें मिला दें । खाते समय रोगी को केवल मांसरस ही दें, न कि मांस के टुकड़े । जलज मांसों में मछली, कछुआ, केकड़ा का भी ग्रहण किया जा सकता है।

एतैरेवोपनाहांश्च पिशितै: सम्प्रकल्पयेत् ॥ १०८ ॥
घृततैलयुतै: साम्लै: क्षुण्णस्विन्नैरनस्थिभि: ।

मांस-उपनाह—ऊपर १०७वें पद्य में कहे गये मांसों में से हड्डी निकालकर उसे भली-भाँति कूटकर उस मांस को उबालकर फिर घी, तेल तथा अम्ल (काञ्जी) के साथ पीसकर पुन: गुनगुना करके वातरोग से पीड़ित अंग में इसका उपनाह (पुल्टिस) बाँधें ।

पत्रोत्क्वाथपयस्तैलद्रोण्य: स्युरवगाहने ॥ १०९ ॥
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम् ।

वातरोगियों के लिए अवगाहन—वातनाशक पत्तियों के क्वाथ को, वातनाशक द्रव्यों के कल्क से पकाये गये दूध को अथवा वातनाशक तैल को द्रोणी (टब) में भरकर उसमें रोगी को अवगाहन कराना चाहिए और पर्याप्त तेल-मालिश कराके वातरोगियों को वातहर औषधयोगों के क्वाथरस का परिषेचन कराना चाहिए। यह अवगाहन गले से नीचे के रोगों में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि उसमें कुछ समय तक पड़े रहना हित की दृष्टि से आवश्यक होता है । अवगाहन तथा परिषेक अंग-विशेष में अथवा सम्पूर्ण शरीर में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं ।

---

१. 'पानाभ्यञ्जन' इति पा० ।

आनूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरीम् ॥ ११० ॥
कुलत्थान् बदरान् माषांस्तिलान् रास्नां यवान् बलाम् ।
वसादध्यारनालाम्लै: सह कुम्भ्यां विपाचयेत् ॥ १११ ॥
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चाप्युपनाहनम् । तैश्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गं पानमेव च ॥११२॥

वातरोग में नाड़ीस्वेद—आनूप (जिस देश में जल अधिक हो), वहाँ के पशु-पक्षियों, औदक (पानी में रहने वाले) मछली आदि, इनके मांसों का दशमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढ़ल की छाल, अरणी की छाल । सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू), शतावर, कुलथी, जंगली बेर, उड़द, तिल, रास्ना, जौ, बरियारा की जड़, वसा (प्राणिज स्नेह), खट्टी दही, आरनाल (कांजी) इन सभी द्रव्यों को एक घड़ा में डालकर पानी मिलाकर पकायें । जब उक्त क्वाथ का जल आधा जल जाय तो उस घड़े को चूल्हा से नीचे उतारकर उसका मुख बन्द कर दें । उस घड़े में एक छिद्र बनाकर उसमें एक नली लगाकर उससे निकलने वाली भाप से रोगी के रुग्ण अंग का स्वेदन करें (इसकी विशेष विधि के लिए च० सू० अ० १४।२९-३३ देखें)। भली-भाँति स्वेदन हो जाने के बाद उस क्वाथ में पकाये गये औषधद्रव्यों को पीसकर उपनाह (पुल्टिस) तैयार करके उस स्थान पर बाँधें । उपर्युक्त द्रव्यों द्वारा यथाविधि घी तथा तेल को अलग-अलग पकाकर रोगी को पिलाना चाहिए । यहाँ घृत तथा तैल-पाक सामान्य विधि के अनुसार ही करना चाहिए ।

मुस्तं किण्वं तिला: कुष्ठं सुराह्वं लवणं नतम् । दधिक्षीरचतु:स्नेहै: सिद्धं स्यादुपनाहनम् ॥११३॥

मुस्तादि उपनाह—नागरमोथा, किण्व (सुरा किट्ट), तिल, कूठ, देवदारु, सेंधानमक, तगर इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इस चूर्ण में दही, दूध, चारों प्रकार के स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) इन सबको मिलाकर आग पर पकाना चाहिए, पकते-पकते जब गाढ़ा हो जाय तब जिस अंग में वात के कारण पीड़ा हो रही हो, वहाँ इसका उपनाह (पुल्टिस) बाँधना चाहिए ।

उत्कारिकावेसवारक्षीरमाषतिलौदनै: । एरण्डबीजगोधूमयवकोलस्थिरादिभि: ॥११४॥
सस्नेहै: सरुजं गात्रमालिप्य बहलं भिषक् । एरण्डपत्रैर्बध्नीयाद् रात्रौ कल्यं विमोक्षयेत् ॥११५॥
क्षीराम्बुना तत: सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम् । मुञ्चेद् रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सलोमभि: ॥

वातव्याधि में लेप-प्रयोग—उत्कारिका, वेसवार, दूध, उड़द, तिल, भात, एरण्ड के बीजों की गुद्दी, गेहूँ का आटा, जौ का आटा, जंगली बेर, स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) इन द्रव्यों को समानभाग लेकर पीसकर इनको आपस में घी, तेल के साथ मिलाकर पकायें । जब पकते-पकते लेप गाढ़ा हो जाय तो चिकित्सक को चाहिए कि वह परिचारक द्वारा उस गुनगुने लेप को रात्रि में रोगी के उस अंग पर लगाये, जहाँ पीड़ा हो रही हो । उसके ऊपर एरण्ड (रेड़) के पत्तों को बँधवा दें और फिर उस लेप को प्रातःकाल खुलवा दें, फिर उस अवयव को गरम किये गये बराबर के दूध-पानी से धुलवाकर दिन में उसी प्रकार पुन: लेप लगायें, इस लेप को दिन भर पड़ा रहने दें और रात्रि को खोल दें । इस लेप को रोम युक्त मृग चर्म से बाँध दें ।

वक्तव्य—इस लेप की निर्माण-विधि में सर्वप्रथम 'उत्कारिका' का उल्लेख किया गया है । उत्कारिका—
इसको विभिन्न रूप में टीकाकारों ने लिया है । कुछ इसका अर्थ 'रोटी' करते हैं, दूसरे 'लप्सी', अन्य इसे 'गुटिका'
कहते हैं । वाग्भट के टीकाकार आचार्य हेमादि ने इसका उपयोग 'स्वेदन-कर्म' के लिए बतलाया है । यथा—
'यवमाषैरण्डबीजातसीकुसुम्भबीजादिभि: पिष्टस्विन्नैर्लप्सिकाकृतिर्य: स्वेदनोपाय: स उत्कारिका' । अ० हृ० सू०
अ० १७।६ ।

वेशवार—यह कोई स्वतन्त्र द्रव्य न होकर अनेक द्रव्यों के मिश्रण से तैयार किया जाता है । **निर्माण-**
विधि—हड्डी रहित मांस को पहले पीसकर उबाल लिया जाता है, तदनन्तर उसमें गुड़, घी, पिप्पली, कालीमिर्च
का चूर्ण मिला लिया जाता है, इसी को वेशवार या वेसवार कहते हैं । यहाँ तन्त्रकार का निर्देश है—वातव्याधि
से पीड़ित रोगी के शरीर पर गाढ़ा लेप लगाना । अत: उत्कारिका के द्रव्यों, वेशवार के द्रव्यों तथा प्रस्तुत योग में

कहे गये सभी द्रव्यों को एकत्र करके उक्त लेप तैयार करना चाहिए। ध्यान रहे कि उत्कारिका का स्वतन्त्र प्रयोग केवल स्वेदन के लिए होता है और इस लेप का प्रयोग स्वेदन तथा वेदना-शमन दोनों के लिए होता है। इसका सेवन वेदना की शान्ति होने तक लगातार करते रहना चाहिए। रेंड़ के पत्तों के ऊपर रोम युक्त चर्म से प्रातः सायं दोनों समय बाँधें।

फलानां तैलयोनीनामम्लपिष्टान् सुशीतलान्। प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि ॥११७॥
पायसैः कृशरैश्चैव कारयेत् स्नेहसंयुतैः।

उपनाह-प्रयोग—तैल-योनि (तिल, सरसों, अलसी आदि) के फलों को कांजी से पीसकर शीतल प्रदेह (लेप), उपनाह (पुल्टिस) लगाने चाहिए। वातनाशक गन्ध द्रव्यों (इनका उल्लेख च० चि० अ० ३।२६७ 'अगुर्वाद्यं तैलम्' में किया जा चुका है, इन द्रव्यों) में स्नेह मिलाकर पायस (खीर) तथा कृशरा (तिल, चावलों को मिलाकर तैयार की गयी खिचड़ी) का शीतल लेप करायें।

रूक्षशुद्धानिलार्तानामतः स्नेहान् प्रचक्ष्महे ॥ ११८ ॥
विविधान् विविधव्याधिप्रशमायामृतोपमान्।

नानात्मज वातव्याधि-चिकित्सा—अब हम रूक्ष तथा शुद्ध (अन्य दोषों के संसर्ग से रहित) वातरोग से पीड़ित रोगियों को होने वाले विविध प्रकार के रोगों की शान्ति के लिए अमृत के समान (जीवनदायक) अनेक स्नेहों का निर्देश यहाँ कर रहे हैं।

द्रोणेऽम्भसः पचेद् भागान् दशमूलाच्चतुष्पलान् ॥ ११९ ॥
यवकोलकुलत्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह। पादशेषे रसे पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करैः ॥१२०॥
तथा खर्जूरकाश्मर्यद्राक्षाबदरफल्गुभिः। सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्धः केवलवातनुत् ॥१२१॥
निरत्ययः प्रयोक्तव्यः पानाभ्यञ्जनवस्तिषु।

केवलवातहर दशमूलादि घृत—दशमूल के सभी द्रव्यों को मिलाकर उसमें से ४ पल (१६ तोला), जौ, जंगली बेर, कुलथी प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला), इन सब द्रव्यों को १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में पकाकर क्वाथ तैयार करें, जब पकते-पकते चौथाई जल शेष रह जाय, तो उसे छानकर रख लें। इसमें जीवनीयगण के द्रव्य (जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवक, ऋषभक, मधुक। च० सू० अ० ४।९), चीनी, खजूर, गम्भार की छाल, मुनक्का, बेर, फल्गु (अंजीर) इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क बनाकर उक्त क्वाथ में मिला दें और उस क्वाथ में मात्रानुसार गाय का दूध मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के घी को यथाविधि पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस प्रकार तैयार किया हुआ यह दशमूलादि घृत शुद्ध वातदोष से होने वाले समस्त विकारों को दूर करता है। इसका प्रयोग पीने में, मालिश करने तथा वस्ति-प्रयोग में करना चाहिए। इसका विधिपूर्वक सेवन करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने उक्त 'दशमूलादि घृत' योग को दो भागों में विभक्त किया है। उसमें मात्र कारण है, वृद्धवाग्भट द्वारा उद्धृत पाठ का अन्धानुकरण। देखें—अ० सं० चि० अ० २३।४०-४२। इसमें श्लोक १२१ की प्रथम पंक्ति के आरम्भ में 'तथा' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो दोनों विषयों को परस्पर जोड़ता है। तदनुसार यह एक योग है और होना भी चाहिए। वृद्धवाग्भट ने 'तथा' के स्थान पर 'तद्वत्' पाठ बदल कर इसमें दो योगों की कल्पना की है। आचार्य गंगाधर ने प्रायः सर्वत्र जहाँ-जहाँ उन्हें चरक से मिलता-जुलता पाठ मिला है, वहाँ-वहाँ इस प्रकार के विचारों को जन्म दिया है। हमारी दृष्टि से अपने स्थान पर चरक के पाठों को ही मौलिकता प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि अष्टांगसंग्रहकार तो सर्वतोभावेन परवर्ती हैं। तदनुसार दूसरा योग इस प्रकार है—श्लोक १२१ के तथा (तद्वत्) से आगे।

यदि हम मूलपाठ में 'तथा' के स्थान पर 'तद्वत्' पाठ को स्वीकार कर भी लेते हैं, तो दोनों पाठों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे अपने-अपने विषय को पूर्णतया कह पाने में आत्मनिर्भर हों, फिर न मालूम किस लिए उनका ऐसा दुराग्रह है?

चित्रकं नागरं रास्नां पौष्करं पिप्पलीं शटीम् ॥ १२२ ॥
पिष्ट्वा विपाचयेत् सर्पिर्वातरोगहरं परम्।

चित्रकादि घृत—चित्रकमूल, नागर (सोंठ), रास्ना, पोहकरमूल, पिप्पली तथा कचूर इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर इनका कल्क तैयार करें तथा इससे यथाविधि घृतपाक करें। यह चित्रकादि घृत सभी प्रकार के नानात्मज (शुद्ध) वातरोगों का विनाश करने में श्रेष्ठ है।

बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत् ॥ १२३ ॥
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं मूर्धगतेऽनिले।

बलादि घृत—बरियारा की जड़ और बेल की गुद्दी के क्वाथ से दूध को पकाकर उस के साथ घृतमण्ड (ऊपरी भाग के शुद्ध घी) का पाक करें। इस घृत का प्रयोग मूर्धागत वातविकारों में शुक्ति (२ तोला) या एक प्रकुञ्च (४ तोला) की मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में नस्य के लिए औषधद्रव्यों की जो मात्रा दी गयी है, वह आजकल की दृष्टि से अधिक है। नस्य रेचन तथा स्नेहन भेद से दो प्रकार का होता है। स्नेहन नस्य को बृंहण नस्य भी कहते हैं। **नस्य-प्रयोगकाल**—कफ, पित्त तथा वातविकारों का शमन करने के लिए क्रमशः दिन के पूर्वभाग में, मध्य-भाग में तथा अन्तिम भाग में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि इन्हीं समयों में उक्त दोषों का प्रकोप होता है। रेचन नस्य की मात्राओं का इस प्रकार निर्देश किया गया है—उत्तम मात्रा ८ बूंदें, मध्यम मात्रा ६ बूंदें और अधम मात्रा ४ बूंदें। शा० सं० उ० खं० अ० ८।८। ऊपर कही गयी २ तोला या ४ तोला की मात्रा को यदि हम पूरे चिकित्साकाल के लिए मान लें, तो किसी प्रकार समाधान हो सकता है। वास्तव में एक बार में २ या ३ बूंदें पर्याप्त होती हैं, अधिक बूंदें डालने पर वे नासिका के मार्ग से मुख के भीतर आ जाती हैं। उक्त घृतपाक के लिए घृतमण्ड से चौगुना बलादि औषध-सिद्ध दूध लेना चाहिए।

ग्राम्यानूपौदकानां तु भित्त्वाऽस्थीनि पचेज्जले ॥ १२४ ॥
तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत्। जीवकर्षभकास्फोताविदारीकपिकच्छुभिः ॥१२५॥
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकम्। तत्सिद्धं नावनाभ्यङ्गात् तथा पानानुवासनात् ॥
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम्। ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये ॥१२७॥
बलपुष्टिकरं तेषामेतत् स्यादमृतोपमम्।

मज्जस्नेह-प्रयोग—ग्राम्य पशु (बकरी, भेड़ आदि), आनूप पशु (सूअर, भैंस आदि), औदक (मछली, कछुआ आदि) प्राणियों की हड्डियों को कुचलकर पानी में पकायें, इस प्रकार पकाने से उन हड्डियों के भीतर की मज्जा पानी में आ जायेगी, ठंडा होने पर पानी में से उस मज्जा को लेकर रख लें। दशमूल का क्वाथ, कल्कार्थ द्रव्य—जीवक, ऋषभक, आस्फोता (हाफरमाली या सारिवा), विदारीकन्द, किवाँच के बीज तथा वातहर (देवदारु आदि) एवं जीवनीयगण में कहे गये (च० सू० अ० ४।९) दस द्रव्य (पाठभेद के अनुसार—दीपनीयगण के द्रव्य) इनको एक साथ पीसकर कल्क तैयार करें। इन सबको एक में मिलाकर घृतपाक करें, तैयार होने पर छानकर रख लें। यह मज्जस्नेह नस्य, अभ्यङ्ग (मालिश), पान (पीना) तथा अनुवासनवस्ति के रूप में प्रयोग करने पर सिराओं, पर्वों (गाँठों), अस्थिसन्धियों तथा कोष्ठ में स्थित वातदोष को नष्ट करता है। मज्जा, शुक्र तथा ओजो धातु जिनकी क्षीण हो गयी हो, उनके लिए यह घृत अमृत के समान जीवनप्रद है, यह बलवर्धक तथा शरीर-पुष्टिकारक है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अ० सं० चि० अ० २३।८५-७७ इन पद्यों का अवलोकन करके टीकाकारों ने यहाँ भी वितण्डावाद फैलाया है, किन्तु यह ध्यान नहीं दिया कि 'द्विक्षीरभागिकम्' और 'द्विःक्षीरभागिकैः' में विभक्ति भेद होने पर कोई अर्थ भेद होगा कि नहीं? आप ध्यान दें—यहाँ प्रथम पद घृत का विशेषण है और दूसरा तृतीयान्त पद कल्क का विशेषण हो जायेगा।

जीवनीयैश्च तथा दीपनीयैश्च का विवाद—निर्णयसागरीय प्रति में 'जीवनीयैश्च' और श्रीजयदेव वाले संस्करण में 'दीपनीयैश्च' पाठ है। इस द्वितीय पाठ के समर्थकों का कथन है कि मूलपाठ में जब 'जीवक तथा

ऋषभक' द्रव्यों जो जीवनीयगण के आरम्भिक द्रव्य हैं, उनका ग्रहण कर लेनेपर पुनः 'जीवनीयगण' का उल्लेख
करना युक्ति-युक्ति प्रतीत नहीं होता, उनका यह सोचना हास्यास्पद है। आप ध्यान दें—'एकमप्यौषधं योगे
यस्मिन् यत् पुनरुच्यते। मानतो द्विगुणं प्रोक्तं तद्द्रव्यं तत्त्वदर्शिभिः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।५२। उक्त
परिभाषा ऐसे ही अवसरों के लिए है। तन्त्रकार को यदि 'दीपनीय' द्रव्यों से जठराग्नि को बढ़ाने की इच्छा
होती तो उक्त योग की फलश्रुति में कुछ न कुछ चर्चा अवश्य होती। यदि आप यह तर्क दें, कि जठराग्नि की
वृद्धि हुए विना बल, शुक्र आदि की वृद्धि नहीं होती, तो हम आप से पूछ बैठेंगे कि क्या मन्दाग्निरोग से पीड़ित
पुरुष को आप स्नेहपान करायेंगे? यह कोई विचारशील पुरुष नहीं सोच सकता है, कि यह 'मज्जस्नेह' प्रयोग
तन्त्रकार ने किसी मन्दाग्नि रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए कहा होगा।

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा ॥ १२८ ॥
प्रत्यग्रा विधिनाऽनेन नस्यपानेषु शस्यते।

वसास्नेह-प्रयोग—जिस प्रकार ऊपर मज्जस्नेह का प्रयोग करने को कहा गया है, उसी प्रकार नक्र (मगर), मछली, कछुआ तथा चूलुकी; (सूँस या शिशुमार) की ताजी वसा (चर्बी) को लेकर बरियारा तथा बेल की गुद्दी के कल्क से पकाये गये दूध के साथ उक्त वसा का पुनः पाक करके शुक्ति (२ तोला) या प्रकुञ्च (४ तोला) की मात्रा में नस्य एवं पान (पीने) के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इन कार्यों में वसास्नेह हितकर होता है।

वक्तव्य—शुक्ति एवं प्रकुञ्च के रूप में प्रयुक्त होने वाली मात्रा के सम्बन्ध में हमने श्लोक १२३ के वक्तव्य
में अपना मन्तव्य दिया है, वहाँ देखें। श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में यह श्लोक १२४वें श्लोक के
पहले दिया गया है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस सिटी द्वारा सन् १९३८ में प्रकाशित तथा
पण्डित तारादत्त पन्त द्वारा संशोधित चरकसंहिता चि० अ० २८ में श्लोक संख्या २७८ है, जब कि निर्णय-
सागरीय प्रति में प्रस्तुत अध्याय की श्लोक संख्या २४९ है और श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित संस्करण में वह २४६
है। प्रामाणिकता की दृष्टि से श्लोकों की यह विषमता विवेचनीय है, कि किन पद्यों को मूलपाठ की श्रेणी में और
किनको प्रक्षिप्त की श्रेणी में मानना उचित होगा, विद्वान् विचार करें।

प्रस्थः स्यात् त्रिफलायास्तु कुलत्थकुडवद्वयम् ॥ १२९ ॥
कृष्णगन्धात्वगाढक्योः पृथक् पञ्चपलं भवेत्। रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम् ॥१३०॥
जलद्रोणे पचेत् पादशेषे प्रस्थोन्मितं पृथक्। सुरारनालदध्यम्लसौवीरकतुषोदकम् ॥१३१॥
कोलदाडिमवृक्षाम्लरसं तैलं वसां घृतम्। मज्जानं च पयश्चैव जीवनीयपलानि षट् ॥१३२॥
कल्कं दत्त्वा महास्नेहं सम्यगेनं विपाचयेत्। सिरामज्जास्थिगे वाते सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिषु ॥१३३॥
वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गे प्रयोजयेत्।

त्रिफलादि महास्नेह-प्रयोग—हरड़, बहेड़ा आँवला तीनों मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला), कुलथी
२ कुडव (३२ तोला), सहिजन की छाल (आचार्य शिवदास इसके जड़ की छाल लेने को कहते हैं), ५ पल
(२० तोला), अरहर की दाल ५ पल, रास्ना २ पल (८ तोला), दशमूल (के दसों द्रव्य मिलाकर) १ पल
(४ तोला), इन सभी द्रव्यों को जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में पकायें, जब पकते-पकते चतुर्थांश
जल शेष रह जाय, तो उसे उतारकर छानकर रख लें। उसमें सुरा, आरनाल (काञ्जी), खट्टी दही, सौवीर,
तुषोदक, जंगली बेर का रस, दाड़िम (खट्टा अनार) का रस, विषांविल का रस, तिल का तेल, वसा (चर्बी),
गाय का घी, मज्जा और गाय का दूध इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला) लें। जीवनीयगण (च०
सू० अ० ४।९) में कहे गये दस द्रव्यों का ६ पल (२४ तोला) लेकर उनका कल्क तैयार करें। इन कल्कों को
एकत्रित करके इस महास्नेह को यथाविधि पकायें। तैयार हो जाने पर इसे सुरक्षित रखें। सिरा, मज्जा तथा
अस्थिगत वातदोष के प्रकुपित होने पर, सर्वांगगत वातरोग में, एकांगवातरोग में, शरीर में कँपकपी होने पर,
आक्षेपक रोग में तथा शूल रोग में इस महास्नेह का अभ्यंग (मालिश) के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—'जीवनीयपलानि षट्' इसका तात्पर्य है कि जीवनीयगण में परिगणित दस द्रव्यों को एक साथ मिलाकर ६ पल (२४ तोला) लेना चाहिए। किन्तु श्रीगंगाधर यहाँ जीवनीयगण के प्रत्येक द्रव्य को ६-६ पल लेने की सलाह देते हैं। अन्य स्थलों में ये वृद्धवाग्भट के अनुसार चलते थे, किन्तु यहाँ वह आधार भी नहीं है। इन्होंने भी 'जीवनीयपलानि षट्' पाठ ही दिया है। यहाँ की शब्दावली के अनुसार 'षट्' यह मान प्रधान है, न कि द्रव्य। देखें—अ० सं० चि० अ० २३।८०-८४। श्रीइन्दु कृष्णगन्धा (सहजन) की छाल का ग्रहण करते हैं, न कि मूल की छाल का। यहाँ 'महास्नेह' शब्द से चारों स्नेहों का ग्रहण किया गया है।

निर्गुण्ड्या मूलपत्राभ्यां गृहीत्वा स्वरसं ततः ॥ १३४ ॥
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु। हितं पामापचीनां च पानाभ्यञ्जनपूरणम् ॥१३५॥
कार्पासास्थिकुलत्थानां रसे सिद्धं च वातनुत्।

निर्गुण्डी-तेल—१. निर्गुण्डी (मेउड़ी, सिन्दुवार) की जड़ तथा पत्तियों का स्वरस निकालकर उसी के समानभाग में तिल-तेल लेकर दोनों को यथाविधि पकायें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। यह तेल नाड़ीव्रण, कुष्ठ, वातजनित वेदना, पामा, अपची रोगों में पीने के लिए, मालिश के लिए, पूरण (घावों में भरने) के लिए हितकर होता है। २. दूसरा योग—कपास की गुठलियाँ तथा कुलथी के समान भाग क्वाथ से सिद्ध किया गया तिल का तेल वातरोगों का विनाश करता है।

वक्तव्य—सामान्य परिभाषा के अनुसार तेल से चार गुना अधिक निर्गुण्डी का स्वरस होना चाहिए। ऐसा श्रीगंगाधर तथा श्रीशिवदास का भी मत है। किन्तु सामान्य विधि से विशेष विधि बाधित हो जाती है। अतएव श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'तेन सिद्धं तैलमित्यत्र सममिति निर्गुण्डीरससमं, नतु समशब्दः सहार्थः, सहार्थस्य तृतीययैवोक्तत्वात्'।

इसका अर्थ करते हुए श्रीशिवदास लिखते हैं—'सममिति सहार्थे। तेन निर्गुण्डीस्वरसश्चतुर्गुण एव ग्राह्यः।' श्रीजयदेव ने अपनी टीका में यहाँ कुछ और लिखा है, उसे हम यहाँ विवेचना की दृष्टि से सादर उद्धृत कर रहे हैं। वे लिखते हैं—"निर्णयसागर प्रेस में सन् १९२२ में छपी सटीक चरकसंहिता की चक्रपाणिकृत टीका में 'तेन सिद्धं तैलमित्यत्र सममिति निर्गुण्डीरससमम्' इतना ही पाठ है, जो शिवदास के कथित वचन के अनुकूल है। पर सन् १९३५ में वहीं से मुद्रित सटीक चरकसंहिता में इसके आगे—'नतु समशब्दः सहार्थः। तुल्यार्थस्य तृतीययैवोक्तत्वात्'। यह अधिक पठित है। इसका अभिप्राय समझ में नहीं आता"।

समाधान—प्राचीनग्रन्थों में पाठभेदों के कारण कुछ उलझनें अवश्य आ जाती हैं, वही स्थिति यहाँ
भी है। श्रीचक्रपाणि के नाम से जिस टीका को उद्धृत किया गया है, उसके दो रूप हमारे सामने हैं—१. 'नतु
समशब्दः सहार्थः, तुल्यार्थस्य तृतीययैवोक्तत्वात्' (नि० सा० संस्करण सन् १९३५)। २. 'नतु समशब्दः सहार्थः,
सहार्थस्य तृतीययैवोक्तत्वात्' (नि० सा० संस्करण सन् १९४१)। समशब्द को लेकर चल रहे विवाद का
समाधान करने के लिए सिद्धान्तकौमुदी में दिये गये निम्न सूत्रों का अध्ययन करें—१. **सहयुक्तेऽप्रधाने** २।३।१९
तथा **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्** २।३।७२। यहाँ तुल्य, सदृश, सम इन शब्दों को
परस्पर पर्यायवाचक स्वीकार किया है और पहले सूत्र की वृत्ति में दिया गया यह वाक्य **'विनापि तद् योगं
तृतीया'** प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक है। इन सभी दृष्टियों से चक्रपाणि का मत समादरणीय है।
हाँ, इतना अवश्य है कि सन् १९४१ वाले संस्करण में दिया गया 'सहार्थस्य' पाठ प्रामादिक प्रतीत होता
है। इसके अतिरिक्त श्रीजयदेव वाली चरकसंहिता १९४१ के द्वितीय संस्करण में भी श्रीचक्रपाणि का 'तुल्यार्थ-
स्य' पाठ उद्धृत है, न कि 'सहार्थस्य'। श्रीचक्रपाणि ने चक्रदत्त में भी इस योग को उद्धृत किया है। वहाँ
भी देख लें।

मूलकस्वरसे क्षीरसमे स्थाप्यं त्र्यहं दधि ॥ १३६ ॥
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्। यष्ट्याह्वशर्करारास्नालवणार्द्रकनागरैः ॥१३७॥
सुपिष्टैः पलिकैः पानात् तदभ्यङ्गाच्च वातनुत्।

मूलकतैल—मूली के स्वरस के समान गाय का दूध लेकर उसमें दही मिलाकर तीन दिन तक रख दें। जब तीन दिन इस प्रकार रख देने से उसमें अम्लता आ जाय तब ३ प्रस्थ (१९२ तोला) के परिमाण में उक्त द्रव्यों को लेकर मुलेठी, चीनी, रास्ना, सेंधानमक, अदरख, सोंठ इन सभी द्रव्यों को १-१ पल के प्रमाण में लेकर कल्क बनाकर इनसे १ प्रस्थ (६४ तोला) तिल के तेल को मिलाकर पकायें। तैयार होने पर इसे छानकर रख दें। इस तैल को पीने तथा इसकी मालिश करने से वातविकार नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—यहाँ मूली का रस, दूध तथा दही इन तीनों को १-१ प्रस्थ लेना चाहिए। इसी का समर्थन श्रीजतूकर्ण का निम्नोक्त वाक्य भी कर रहा है—'विपचेद् दधिमूलकरसपयसा'। अवधेय है कि जाड़े के दिनों में यह तीन दिनों में पर्याप्त खट्टा नहीं होगा, गर्मी के दिनों में तीन दिन की अवधि पर्याप्त है।

पञ्चमूलकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम् ॥ १३८ ॥
पक्त्वा तस्य रसं [1]पूत्वा तैलप्रस्थं विपाचयेत्। पयसाऽष्टगुणेनैतत् सर्ववातविकारनुत् ॥१३९॥
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतद् वाते शस्तं विशेषतः।

लघुपञ्चमूलतैल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू समभाग लिये गये इन द्रव्यों के क्वाथ में बहुत साल पुरानी तिल की खली को डालकर पकायें, पक जाने पर इसे छान लें। इससे १ प्रस्थ (६४ तोला) तेल को पकाने के लिए तेल से आठ गुना (५१२ तोला) गाय का दूध लें, इन सबको एक साथ मिलाकर पाक करें, तैयार होने पर उतार कर रख दें। विधिपूर्वक सेवन करने से यह तेल सभी प्रकार के वातविकारों का विनाश करता है। विशेष करके यदि वातरोग में कफदोष का अनुबन्ध हो तो यह तेल विशेष रूप से लाभदायक होता है।

वक्तव्य—इस योग को आचार्य जतूकर्ण ने भी अपनी संहिता में इस प्रकार उद्धृत किया है—'पिण्याकं बहुवार्षिकं स्थिरादिसलिले पचेत्'। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'जीर्णं पिण्याकं पञ्चमूलं पृथक् च क्वाथं क्वाथाभ्यामेकतस्तैलमाभ्याम्। क्षीरादष्टांशं पाचयेत् तेन पानाद् वाता नश्येयुः श्लेष्मयुक्ता विशेषात्'॥ अ० सं० चि० अ० २३।४५। श्रीगंगाधर ने वृद्धवाग्भट का अनुसरण कर पञ्चमूलोक्त द्रव्यों तथा पिण्याक का अलग-अलग क्वाथ करने को लिखा है। यह निर्माण का विधिभेद मात्र है।

यवकोलकुलत्थानां श्रेयस्याः शुष्कमूलकात् ॥ १४० ॥
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकं द्रवैरम्लैर्विपाचयेत्। तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा ॥१४१॥
पिष्टैः सिद्धं महावातैरार्तः शीते प्रयोजयेत्।

यवादि तैल—जौ, जंगली बेर, कुलथी, रास्ना, सुखायी गयी मूली, बेल की गुद्दी इन सभी द्रव्यों को १-१ अञ्जलि (१६-१६ तोला) लेकर अम्ल द्रव (काँजी, मठा आदि) में पकायें (क्वाथ करें), ठीक से पक जाने पर इसे छान लें, फिर इस क्वाथरस से, दाड़िम के रस से तथा आँवला आदि फलों के रस से एवं काली-मिर्च आदि कटु द्रव्यों के कल्क से विधिपूर्वक तैल-पाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। शीतल हो जाने पर इस तेल का प्रयोग यहाँ वातव्याधि से पीड़ित रोगी को करना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीगंगाधर के अनुसार आठ गुना काँजी में जौ आदि द्रव्यों का क्वाथ करना चाहिए। जब चौथाई काँजी शेष रह जाय तब उसे छानकर तैल-पाक करना चाहिए, तेल से चतुर्थांश कल्क डालना चाहिए। **शीते**—कुछ टीकाकार इसका अर्थ 'तेल के शीतल हो जाने पर' ऐसा करते हैं और दूसरे विद्वान् शीतकाल में इसका प्रयोग करने की बात करते हैं। यह दूसरा अर्थ सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे इसका अन्य अवसरों पर सेवन न किया जा सके।

सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु ॥ १४२ ॥
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णकराणि च। रजःशुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च ॥१४३॥
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च।

1. 'पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन' इति पा०।

अन्य स्नेह—अब इसके बाद सभी प्रकार के वातविकार-नाशक तैलों का वर्णन किया जा रहा है, उन्हें सुनो (ऐसा महर्षि आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश से कह रहे हैं)—सर्वप्रथम इन तैलों का चार प्रकार का उपयोग होता है—१. पान (पीने के लिए), २. अभ्यङ्ग (मालिश के लिए), ३. नस्य तथा ४. अनुवासनवस्ति के लिए। तेलों का इस प्रकार प्रयोग करने से ये आयुवर्धक, बलवर्धक एवं वर्ण को स्वच्छ बनाने वाले होते हैं। इनके प्रयोग से स्त्रियों में रजस् सम्बन्धी विकारों, पुरुषों में शुक्र सम्बन्धी विकारों का नाश हो जाता है। तदनन्तर शुद्ध रजस् तथा शुक्र के संयोग से ये सन्तानोत्पादन में भी सहायक होते हैं। अतः ये तेल निर्दोष, सिद्ध (अनुभूत) तथा सभी प्रकार की वातव्याधियों का नाश करते हैं।

सहाचरतुलायाश्च रसे तैलाढकं पचेत् ॥ १४४ ॥
मूलकल्काद् दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणम्। सिद्धेऽस्मिञ्छर्कराचूर्णादष्टादशपलं भिषक् ॥१४५॥
विनीय दारुणेष्वेतद् वातव्याधिषु योजयेत्।

सहाचर-तैल—सहाचर (कटसरैया) को १ तुला (४०० तोला) लेकर जौकुट करके आठ गुने जल में क्वाथ करें। पकते-पकते जब चौथाई हिस्सा जल शेष रह जाय तो उसे छानकर अलग रख लें। उस क्वाथ रस में कटसरैया के जड़ की छाल १० पल (४० तोला) कल्क तैयार करके मिला दें, तेल से चौगुना दूध, १ आढक (२५६ तोला) तिल-तेल मिलाकर यथाविधि पाक करें, तैयार हो जाने पर छान लें। तदनन्तर चिकित्सक को चाहिए कि वह इस तेल में १८ पल (७२ तोला) चीनी पीसकर मिला दे। इस तेल का प्रयोग कठिन वातव्याधियों में करना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। इसमें इन्होंने तगर आदि द्रव्यों के कल्क को मिलाने का भी विधान किया है तथा महर्षि भेड के मत का उल्लेख किया है। अतः इन पद्यों का यथावसर अवलोकन करें—अ० सं० चि० अ० २३।५७-६०। १ तुला सूखी कटसरैया का क्वाथ करने के लिए जल की अधिक आवश्यकता होती है, इसीलिए ऊपर आठ गुना जल डालने का निर्देश दिया गया है। इस कटसरैया में काँटे भी होते हैं। अतः तैलपाक-कर्त्ता को सावधानी रखनी चाहिए, जिससे वे काँटे कहीं चुभ न जायें।

श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह ॥ १४६ ॥
षट्पलं शृङ्गबेरस्य गुडस्याष्टपलं तथा। तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात् सर्वानिलार्तिषु ॥१४७॥
जीर्णे तैले च दुग्धेन पेयाकल्पः प्रशस्यते।

श्वदंष्ट्रा-तैल—गोखरू का स्वरस दो प्रस्थ (१२८ तोला), गाय का दूध दो प्रस्थ (१२८ तोला), अदरख का कल्क ६ पल (२४ तोला), गुड़ ८ पल (३२ तोला), इनको मिलाकर १ प्रस्थ (६४ तोला) तिल तैल का पाक करें, तैयार हो जाने पर छानकर सुरक्षित रखें। इसके भीतरी प्रयोग से सभी प्रकार की वातजनित व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं। जब यह तेल पच जाय तब दूध के साथ बहुत दिनों तक पेया का सेवन कराना चाहिए। तैलपान की मात्रा का निर्धारण कुशल चिकित्सक पर निर्भर है। वह रोगी की शारीरिक परिस्थिति के अनुसार निर्णय ले।

बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्नाष्टभागिकम् ॥ १४८ ॥
जलाढकशते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे। दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः ॥१४९॥
पचेत् साजपयोऽर्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः। शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः ॥१५०॥
पद्मकातिविषामुस्तसूर्पपर्णीहरेणुभिः। यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः ॥१५१॥
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोषकैः। स्पृक्काकुङ्कुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः ॥१५२॥
[1]त्वचाकुन्दुरुकर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः। लवङ्गनखकक्कोलकुष्ठमांसीप्रियङ्गुभिः ॥१५३॥
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनपल्लवैः। सनागकेशरैः सिद्धे क्षिपेच्चात्रावतारिते ॥१५४॥
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत् प्रयोजयेत्। श्वासं कासं ज्वरं हिक्कां [2]छर्दि गुल्मान् क्षतं क्षयम् ॥

1. 'त्वक्चन्दनैलाकर्पूर' इति पा०। 2. 'मूर्च्छां' इति पा०।

प्लीहशोषावपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत् । बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ॥१५६॥
(अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् ।)

इति बलातैलम् ।

बलातैल—बरियारा १०० पल (४०० तोला), गुरुच २५ पल (१०० तोला), रास्ना साढ़े बारह पल (५० तोला) इन सब द्रव्यों को १०० आढक (२५६०० तोला) जल में डालकर क्वाथ विधि से पकायें, जब जल का १०वाँ अंश शेष रह जाय तब उस क्वाथ रस में दही का पानी, ईख का रस, शुक्त (सिरका) तथा तिल का तेल इनको १-१ आढक (२५६-२५६ तोला), बकरी का दूध आधा आढक (१२८ तोला) एक में मिलाकर पकाने लिए चूल्हे पर चढ़ा दें और आगे कहे गये द्रव्यों का कल्क बनाकर उसी में मिला दें । **कल्क-द्रव्य**—कचूर, चीड की लकड़ी, देवदारु, इलायची, मजीठ, अगर, चन्दन, पद्माख, अतीस, नागरमोथा, मुद्गपर्णी (मुंगवन), रेणुका, मुलेठी, तुलसी की पत्तियाँ, व्याघ्र नख, ऋषभक, जीवक, पलाश की गोंद, कस्तूरी, नरकट की पत्तियाँ, जावित्री, स्पृक्का (असवर्ग), केशर, छड़ीला, जायफल, कायफल, सुगन्ध-बाला, दालचीनी, कुन्दरु (रूमीमस्तंगी), कपूर, तुरुष्क (शिलारस), श्रीनिवास (गन्धाविरोजा, चीड़ की गोंद, लीसा) लौंग, छोटी नखी, शीतलचीनी, कूठ, जटामांसी, प्रियंगु का फूल, स्थौणेय (गठिवन), तगर, सुगन्धतृण, बालवच, मैनफल, पल्लव (तेजपत्ता, पाठभेद के अनुसार—प्लव=केवटीमोथा), नागकेशर—प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोला) इन द्रव्यों को पीसकर कल्क तैयार कर उसी में पाक के लिए डाल दें । जब तेल का पाक हो जाय, तदनन्तर उसमें पत्रकल्क तैयार कर मिला दें । इसके प्रयोग से तेल सुगन्धित हो जाता है। कुछ समय के बाद तेल को छानकर सुरक्षित रख लें ।

फलश्रुति—यह बलातैल श्वास, कास, ज्वर, हिचकी, वमन, गुल्म, उरःक्षत, धातुक्षय, प्लीहावृद्धि, शोष, अपस्मार (मृगी) और अलक्ष्मी (असुन्दरता) का नाश करता है । यह तेल वातव्याधियों का विनाश करने वाले सभी तेलों में उत्तम है । (गुरु कृष्णात्रेय ने यह अपने शिष्य के लिए कहा था ।)

वक्तव्य—तेल को सुगन्धित करने के लिए पत्रकल्क का प्रयोग जब तेल गरम रहता है तभी किया जाता है । इसमें कपूर, कस्तूरी आदि को पीसकर डाला जाता है । **पत्रकल्क-परिभाषा**—'गन्धनिर्यासपुष्पाणां सिद्धे शीतेऽवतारिते । प्रक्षेपो गन्धवृद्ध्यर्थं पत्रकल्कन्तु तद्विदुः' ॥ शा० सं० म० सं० अ० ९।२१५ ।

अमृतायास्तुलाः पञ्च द्रोणेष्वष्टस्वपां पचेत् ॥ १५७ ॥
पादशेषे समक्षीरं तैलस्य द्व्याढकं पचेत् । एलामांसीनतोशीरसारिवाकुष्ठचन्दनैः ॥१५८॥
[1]बलातामलकीमेदाशतपुष्पर्धिजीवकैः । काकोलीक्षीरकाकोलीश्रावण्यतिबलानखैः ॥१५९॥
महाश्रावणिजीवन्तीविदारीकपिकच्छुभिः । शतावरीमहामेदाकर्कटाख्याहरेणुभिः ॥१६०॥
वचागोक्षुरकैरण्डरास्नाकालासहाचरैः । वीराशल्लकिमुस्तत्वक्पत्रर्षभकबालकैः ॥१६१॥
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्कात्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः । मञ्जिष्ठायास्त्रिकर्षेण मधुकाष्टपलेन च ॥१६२॥
कल्कैस्तत् क्षीणवीर्याग्निबलसम्मूढचेतसः । उन्मादारत्यपस्मारैरार्तांश्च प्रकृतिं नयेत् ॥१६३॥
वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाग्र्यममृताह्वयम् । ([2]कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम् ॥१६४॥)

इत्यमृताद्यं तैलम् ।

अमृतादि तैल—गुरुच ५ तुला (२५ सेर) लेकर उसे जौकुट कर लें, तब उसे ८ द्रोण (१०२ सेर ६ छटांक २ तोला) में पकायें, जब पकते-पकते क्वाथ का जल चौथाई शेष रह जाय, तब उसे कपड़े से छानकर उसमें समान भाग गाय का दूध और उसी में २ आढक (५१२ तोला) तिल का तेल भी मिलाकर उसमें निम्न द्रव्यों का कल्क बनाकर मिला दें । **कल्कार्थ द्रव्य**—इलायची, जटामांसी, नत (तगर), उशीर (खश), सारिवा (अनन्तमूल), कूठ, लालचन्दन, बरियारा की जड़, तामलकी, मेदा, सोया, ऋद्धि, जीवक, काकोली, क्षीर-

१. 'शतपुष्पाबलामेदामहामेदर्धिजीवकैः' इति पा० ।
२. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते ।

काकोली, गोरखमुण्डी, अतिबला (ककही), नख, महाश्रावणी (मुण्डीभेद), जीवन्ती, विदारीकन्द, किवाँच, शतावरी, महामेदा, काकड़ासिंगी, रेणुका, बालवच, गोखरू, रेड़ की जड़, रास्ना, कालानुसारिवा, सहाचर (कटसरैया), वीरा (क्षीरविदारी), शल्लकि (सलई), नागरमोथा, दालचीनी, तेजपत्ता, ऋषभक, सुगन्ध-बाला, सहा (मुद्गपर्णी), इलायची, केसर, स्पृक्का (असवर्ग), लवंग—ये प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) लें; मजीठ ३ कर्ष (३ तोला), मुलेठी ८ पल (३२ तोला), इनका कल्क बनाकर तेल में मिलाकर विधिपूर्वक पाक करें । जब तेल पककर तैयार हो जाय तो उसे कपड़े से छानकर सुरक्षित रख लें । जिनका वीर्य क्षीण हो गया हो, अग्नि मन्द पड़ गयी हो, बल घट गया हो और जो मानसिक रोगों से पीड़ित हों, इस तेल के प्रयोग से उन सबको लाभ होता है तथा जो उन्माद, अरति (बेचैनी) तथा अपस्मार रोगों से पीड़ित हों उनको लाभ होता है । यह तेल वातव्याधि का नाश करता है । इसका नाम 'अमृतादि तेल' है । (वैद्यों के पूज्य गुरु कृष्णात्रेय ने इस तेल का उपदेश किया था) ।

वक्तव्य—ऊपर 'त्रिदशाह्व' का पर्याय निघण्टुओं के आधार पर 'लवंग' लिखा गया है । श्रीचक्रपाणि उसके स्थान पर 'देवदारु' का ग्रहण करते हैं । यद्यपि ऊपर कल्कद्रव्यों में अनेक सुगन्धित द्रव्यों का बीच-बीच में उल्लेख किया गया है । कुछ टीकाकार उन्हें बाद में तेल को सुगन्धित करने के लिए डालने की सिफारिश करते हैं । तब ये द्रव्य उक्त तेल को सुगन्धित मात्र कर पायेंगे अथवा अपने गुणों को नहीं दे पायेंगे, यह विचारणीय विषय है, क्योंकि कल्क किये गये द्रव्यों का तेल के साथ विधिवत् पाक होकर उनके समस्त गुण तेल में आ जाते हैं ।

रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत् । गन्धैर्हैमवतैः पिष्टैरेलाद्यैश्चानिलार्तिनुत् ॥१६५॥

रास्ना-तेल—रास्ना एक हजार पल (५० सेर) को जौकुट करके उसका क्वाथ करे, उस क्वाथ में १ द्रोण तिल-तेल मिलाकर तथा हिमालयप्रदेश में पैदा होने वाले गन्धद्रव्यों एवं उपर्युक्त 'अमृतादि तेल' में कहे गये एला (इलायची) आदि के कल्क को मिलाकर उक्त तेल को पकायें, तैयार होने पर उसे छानकर रख लें । यह 'रास्ना तेल' वातजनित विकारों का नाश करता है ।

वक्तव्य—स्वरस को सदैव प्राप्त करना कठिन होता है । अतः इसकी अनेक विधियों का वर्णन शास्त्रकारों ने किया है । सूखे द्रव्य से जब उसका रस प्राप्त करना हो तो उसे जौकुट करके द्रव्य से आठ गुने जल में भिगोकर क्वाथ-विधि से पकाना चाहिए । चौथाई जल शेष रह जाने पर उतार कर छान लेना चाहिए । देखें—शा० सं० म० खं० अ० १।४ । इस योग में तेल की निर्माण-विधि को स्पष्ट नहीं दिया गया है । इस-लिए टीकाकारों ने इसकी अनेक विधियों का वर्णन कर दिया है और कुछ टीकाकारों ने मौन साधन कर लिया है । श्रीजज्जट लिखते हैं—'पलशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः' । इस प्रकार का संकेत कोई मौलिकता नहीं रखता ।

यदि हम श्रीजज्जट के अनुसार रास्ना को १००० पल अर्थात् ४००० तोला ही लेना स्वीकार करते हैं, तो हमें क्वाथ के लिए ३२ हजार तोला जल लेना होगा और चौथाई (८ हजार तोला=१०० सेर) शेष रहने पर उसे छानकर रख लेना होगा । अब इस चतुर्थांश क्वाथ से १ द्रोण (१०२४ तोला=१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) तेल का पाक करना है । जब कि तैलपाक की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है—'कल्क द्रव्य से चौगुना घी या तेल और स्नेह से चौगुना द्रव होना चाहिए' । देखें—शा० सं० म० खं० अ० ९।१ । और भी—'स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कस्तदैकध्यं संसृज्य विपचेद्, इत्येषः स्नेहपाककल्पः' । सु० चि० अ० ३१।८ ।

अब आप इस दृष्टि से विचार करें कि यदि हम भी पूर्व टीकाकारों का अनुकरण करें, तो क्या परिणाम प्राप्त होगा ? जहाँ तेल या घी से चार गुना अधिक द्रव पदार्थ लेना चाहिए, वहाँ इतना अधिक द्रव उचित प्रतीत नहीं होता है । हमारे विचार से यहाँ 'द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा' ही प्रमुख रूप में बाधक प्रतीत हो रही है । ऊपर जो हमने शार्ङ्गधर के अनुसार सूखे द्रव्यों का क्वाथ करने के लिए ८ गुना जल लेने की बात लिखी है, उसमें सूखे द्रव्य अधिकांश जल को पहले ही सुखा लेते हैं, बाद में प्रायः चतुर्गुण जल का ही अनुपात रह जाता है । निर्माण-विधियों में प्रायोगिक स्वरूप पर विशेष ध्यान देना चाहिए । इसी प्रकार एक बात और भी ध्यान देनी चाहिए कि जब घृत या तैलपाक किया जाता है तो उसमें जितना घी या तेल डाला जाता है तैयार

होने पर उतना मिलता नहीं, क्योंकि स्नेह का कुछ अंश भाप के साथ उड़ जाता है और कुछ अंश कल्क द्रव्यों में लगा रह जाता है।

रास्ना—कुछ विद्वानों में इसके परिचय के सम्बन्ध में मतभेद है। किन्तु 'रास्ना' के नाम से जिस द्रव्य को चिकित्सक-समाज ग्रहण करता है, जिसके लिए चरक में **'रास्ना वातहराणाम्'** (च० सू० अ० २५।४०) लिखा है, उसे लैटिन में प्लुचिआ लैन्सिओलेटा (Pluchea lanceolata C. B. Clarke) कहते हैं। इसकी प्राप्ति गंगा के तटवर्ती मैदानों, पंजाब, राजस्थान, गुजरात आदि स्थानों से होती है। यह गुरु, तिक्त, कटु, उष्ण और प्रभाव में विपच्न होती है। जिन विद्वानों का रास्ना की दृष्टि से 'P. Lanceolata' इस द्रव्य की ओर झुकाव हो रहा है, वह इसबगोल की अन्य जातियाँ अथवा इसबगोल के अपमिश्रण के रूप में व्यवहृत होते हैं।

कल्पोऽयमश्वगन्धायां प्रसारण्यां बलाद्वये। क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत् पृथक् ॥१६६॥

इति रास्नातैलम्।

अन्य तैलपाक-निर्देश—इसी कल्प (विधि) से असगन्ध, गन्धप्रसारिणी, बला तथा अतिबला द्रव्यों द्वारा भी तैलपाक करना चाहिए। अथवा बला आदि द्रव्यों के क्वाथ, कल्क तथा गाय के दूध से अलग-अलग तैलपाक करना चाहिए।

वक्तव्य—सन् १९२२ में प्रकाशित निर्णयसागरीय प्रति में उपर्युक्त **'रास्ना···निलार्तिनुत्'** श्लोक के नीचे ही 'इति रास्नातैलम्' लिखा है, जो अच्छी सूझ-बूझ का प्रतीक है। उक्त श्लोक का इससे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सन् १९२२ के संस्करण में यह पाठ इस प्रकार दिया है—'एष कल्पस्तु बल्वयोः प्रसारण्यश्वगन्धयोः। कल्कोऽयमष्टगन्धायां प्रसारण्यां बलाद्वये ॥ क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत् पृथक् ॥ इति बला-नागबला-प्रसारण्यश्वगन्धातैलानि। इस प्रकार उक्त श्लोक में चार प्रकार के तैलों को पकाने का निर्देश किया गया है। उक्त चारों तैलों का निर्माण रास्नातैल की विधि से ही करना चाहिए। उपर्युक्त पाठ में 'अष्टगन्धायां' के स्थान पर 'अश्वगन्धायां' पाठ होना चाहिए। निश्चित ही प्रस्तुत प्रति में उक्त 'एष···गन्धयोः' इस एक पंक्ति का अभाव अर्थ करते समय खटकता है।

आप भी ध्यान दें—यदि उक्त एक पंक्ति के बिना हम १६६वें श्लोक का अर्थ 'बला आदि' करते हैं, तो फिर हम 'आदि' शब्द का प्रयोग इस श्लोक में दी गयी उक्त दो पंक्तियों के भरोसे नहीं कर पायेंगे। अतः हमारी दृष्टि से सन् १९२२ के संस्करण का पाठ अधिक समीचीन है। श्रीजयदेव विद्यालंकार ने उक्त 'रास्नातैल' के परिचायक श्लोक के बाद जो दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, वे भी भ्रामक ही हैं। इस प्रसंग में आप उसे भी देख डालें।

क्वाथकल्कपयोभिर्वा—यहाँ 'वा' शब्द का विकल्पार्थक प्रयोग बला, नागबला, प्रसारणी या अश्वगंधा में से जिससे तैलपाक करना हो, उसके पक्ष में है। क्योंकि तैल या घृतपाक में क्वाथ, कल्क, दूध का प्रयोग करने का विधान तो तन्त्रकार ने किया ही है, इनमें विकल्प नहीं करना है।

मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम्। तुल्यं विपाचयेत् कल्कैर्बलाचित्रकसैन्धवैः ॥१६७॥
पिप्पल्यतिविषारास्नाचविकागुरुशिग्रुकैः। भल्लातकवचाकुष्ठश्वदंष्ट्राविश्वभेषजैः ॥१६८॥
पुष्कराह्वशटीबिल्वशताह्वानतदारुभिः। तत्सिद्धं पीतमत्युग्रान् हन्ति वातात्मकान् गदान् ॥

इति मूलकाद्यं तैलम्।

मूलकादि तैल—कच्ची मूली का स्वरस, गाय का दूध, तिल तैल, खट्टी दही तथा काञ्जी, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर बरियारा की जड़, चीता की जड़, सैंधानमक, पिप्पली, अतीस, रास्ना, चव्य, अगरु, सहिजन की छाल, भिलावा, बालवच, कूठ, गोखरू, सोंठ, पोहकरमूल, कचूर, बेल की गुद्दी, सोया, तगर, देवदारु इन द्रव्यों का कल्क तैयार करके उक्त द्रव्यों के साथ मिलाकर यथाविधि तैलपाक करें। तैल के तैयार हो जाने पर उसे छान कर रख लें। मात्रा के अनुसार इसे पीने से महा भयंकर वातज रोगों का विनाश होता है।

वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य च। चित्रकात् साश्वगन्धाच्च क्वाथे तैलाढकं पचेत् ॥१७०॥

सक्षीरं वायुना भग्ने दद्याज्जर्जरिते तथा। प्राक्तैलावापसिद्धं च भवेदेतद् गुणोत्तरम् ॥१७१॥

इति वृषमूलादितैलम्।

वृषमूलादि तैल—अडूसे की जड़ १०० पल (४०० तोला), गुरुच १०० पल, चीता की जड़ १०० पल, असगन्ध १०० पल, इन सभी द्रव्यों को उक्त परिमाण में लेकर जौकुट करके इनका क्वाथ कर लें, जब ४ आढक (१०२४ तोला) क्वाथ जल शेष रह जाय तब उस जल को छानकर उसमें १ आढक (२५६ तोला) तिल तैल और उसके बराबर गाय का दूध मिलाकर उस तैल को पकायें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तैल का प्रयोग उस रोगी पर करना चाहिए जिसका शरीर वातरोग से भग्न तथा जर्जरित हो गया हो। यदि इसी तैल में 'मूलकादि तैल' में कहे गये बला आदि २० द्रव्यों का कल्क बनाकर उक्त तैल का पाक किया जाय तो यह तैल और भी अधिक गुणकारी हो जाता है।

वक्तव्य—इस तैल को मात्रानुसार रोगी को पिलाना चाहिए, मालिश आदि में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता है। कुछ टीकाकार उक्त 'वृषमूलादि तैल' को चार योगों में विभक्त करने की आज्ञा देते हैं, किन्तु तन्त्रकार की भाषा से ऐसा संकेत प्राप्त नहीं होता है। **भवेदेतद् गुणोत्तरम्**—इसका अभिप्राय है कि जो गुण इस श्लोक में 'वृषमूलादि तैल' के कहे गये हैं, बला आदि द्रव्यों के कल्क द्वारा यदि इसका निर्माण किया जायेगा तो इसके गुणों में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो जायेगी।

रास्नाशिरीषयष्ट्याह्वशुण्ठीसहचरामृताः ॥ १७२ ॥
स्योनाकदारुशम्पाकहयगन्धात्रिकण्टकाः। एषां दशपलान् भागान् कषायमुपकल्पयेत् ॥१७३॥
ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः। दध्यारनालमाषाम्बुमूलकेक्षुरसैः[1] शुभैः ॥१७४॥
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत्। [2]प्लीहमूत्रग्रहश्वासकासमारुतरोगनुत् ॥१७५॥
[3]एतन्मूलकतैलाख्यं वर्णायुर्बलवर्धनम्।

इति मूलकतैलम्।

मूलकतैल—रास्ना की जड़, सिरिस की छाल, मुलेठी, सोंठ, सहचर (कटसरैया), गुरुच, सोना-पाठा की छाल, देवदारु, अमलतास, असगन्ध, गोखरू, इन सभी द्रव्यों को १०-१० पल (४०-४० तोला) की मात्रा में लेकर जौकुट करके आठगुने जल में भिगाकर क्वाथ करें, चौथाई जल शेष रहने पर उतारकर छान लें। सर्वगन्ध के द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) की मात्रा में लेकर उनका कल्क तैयार करें तथा दही, काँजी, उड़द का क्वाथ, कच्ची मूली का रस, ईख का रस, इन सबको अलग-अलग १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला) लें और १ प्रस्थ तिल-तैल लेकर सबको एक साथ क्वाथविधि से पकायें, तैयार हो जाने पर उतार कर रख लें। इस तैल को मात्रा के अनुसार पीने से प्लीहारोग, मूत्रग्रह, श्वास, कास तथा वातज विकारों का नाश होता है। यह मूलकतैल शरीर के वर्ण को स्वच्छ करता है, आयु तथा बल को बढ़ाता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'सर्वगन्ध' शब्द से इसी अध्याय में कहे गये 'बलातैल' श्लोक १४८ से १५६ के बीच कहे गये कस्तूरी, केशर, कपूर, जायफल, जावित्री तथा लवंग इन द्रव्यों को ही गन्धद्रव्य कहा है—'सर्वगन्धैश्चेति बलातैलोक्तैः सर्वगन्धैः'। किन्तु अन्यत्र सर्वगन्ध का विवरण इस प्रकार उपलब्ध होता है। देखें—'चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुसिल्हकम्। लवङ्गसहितश्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत्' ॥ परिभाषा-प्रदीप खं० ३। 'कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरीचन्दनेषु'। भा० प्र० म० खं० अन्धपूतना-चि०। कुछ विद्वान् सुश्रुतोक्त एलादिगण (सु० सू० अ० ३८।२४-२५) को भी सर्वगन्ध के रूप में स्वीकार करते हैं। श्रीगङ्गाधर ने अपनी टीका में उक्त १७५ श्लोक के आगे वाले पद्यार्ध को इस प्रकार परिवर्तित किया है—'रास्नातैलमिति ख्यातं पुनर्वसुनिदर्शितम्'। यह पाठ सम्प्रति उपलब्ध प्रतियों में नहीं है। हाँ, सन् १९२२ के संस्करण में ऐसा पाठभेद अवश्य है—'एतन्मूलकतैलाग्रयं'। किन्तु उसके नीचे 'रास्नातैल' लिखा है, न कि 'मूलकतैल'। इसे हम

१. 'माषाम्ल' इति पा०।
२. 'प्लीहपार्श्वग्रहश्वास' इति पा०।
३. 'रास्नातैलमिति ख्यातम्' इति पा०।

सम्पादन का प्रमाद न कहकर दूसरा 'रास्नामूलकादि तैल' ऐसा संशोधन कर सकते हैं, क्योंकि तन्त्रकार ने स्वतन्त्र 'रास्नातैल' १६६वें श्लोक में कह दिया है।

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रुबिल्वयोः। रसेन मूलकानां च तैलं दधिपयोन्वितम् ॥१७६॥
साधयित्वा भिषग्दद्यात् सर्ववातामयापहम्। लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत् ॥१७७॥

मूलकतैल—१. जौ, जंगलीबेर, कुलथी, मछली, सहजन की छाल तथा बेल की गुद्दी, इन सबको समान भाग लेकर क्वाथ तैयार करें, कच्ची मूली का रस, दही तथा दूध मिलाकर तिलतैल का पाक करें, तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तेल का चिकित्सक मात्रानुसार प्रयोग करायें। यह तेल सभी प्रकार के वातविकारों का नाश करता है। २. उपर्युक्त जौ आदि द्रव्यों के क्वाथरस में लहसुन का रस मिलाकर पकाया गया तिल का तेल भी सभी प्रकार के वातविकारों का विनाशक होता है। उपर्युक्त दोनों ही तेल अन्तःप्रयोग के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च। पीत्वाऽन्यतममेषां हि वन्ध्याऽपि जनयेत् सुतम् ॥

वन्ध्यत्व-नाशक तैल—इस प्रसंग में कहे गये इन तैलों में से किसी एक को भी ऋतुस्नाता को नियमतः पिलाने से कुछ समय के बाद वन्ध्या स्त्री भी पुत्र को पैदा कर सकती है।

यच्च शीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम्। अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद् वातरोगनुत् ॥१७९॥

अगुर्वादि तैल—ज्वरचिकित्सा-प्रकरण में शीतज्वर-नाशक जो 'अगुर्वादि तैल' कहा गया है, उसे सैकड़ों बार उसी विधि से पकाकर पीने के रूप में प्रयोग करने से वातरोगों का विनाश होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त 'अगुर्वादि तैल' का उल्लेख च० चि० अ० ३।२६७ में किया गया है। यह शीतज्वर-नाशक तैल है। इसका सैकड़ों बार पाक करने से यही वातरोग-नाशक हो जाता है। वास्तव में 'संस्कारो हि गुणान्तराधानम्' अर्थात् संस्कारों से गुणों में परिवर्धन हो ही जाता है।

वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितकेऽपि च।
तानि चानिलशान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत् ॥ १८० ॥

वातरक्तोक्त स्नेहों का प्रयोग—इसके आगे वातशोणित-चिकित्सा नामक २९वें अध्याय में जो तेल कहे जायेंगे और जो इस अध्याय में कहे गये हैं, उन तेलों का भी प्रयोग वातदोष की सिद्धि को चाहने वाला चिकित्सक वातरोगियों पर करे।

नास्ति तैलात् परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम्। व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात् संस्काराद् बलवत्तरम् ॥
गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः। सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ॥१८२॥

वातरोगों में तैल-प्रयोग—वातरोगों को दूर करने वाले औषधद्रव्यों में तैल से बढ़कर चिकित्सा में उपयोग होने वाला और कोई द्रव्य नहीं है, क्योंकि तैल व्यवायी (सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने की शक्ति वाला), उष्ण, गुरु तथा स्निग्ध गुणों वाला होता है। अतः इन गुणों से विपरीत गुण वाले वातदोष का नाश करता है। यदि वातनाशक द्रव्यों द्वारा इसका संस्कार (पाक) कर दिया जाय तो उसके गुणों में और भी वृद्धि हो जाती है, जिससे वह और भी शीघ्रता से वातदोष का नाश कर सकता है। अतः वातहरगण (वीरतर्वादिगण, सु० सू० अ० ३८।१२-१३) में कहे गये द्रव्यों द्वारा सौ बार अथवा हजार बार तैल का पाक करके प्रयोग करने से सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों में स्थित वातविकार भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—वातरोगों में सबसे अधिक प्रयोग स्नेहद्रव्यों का क्यों होता है? कैसे करना चाहिए? कौन से स्नेह किसके लिए उपयुक्त होते हैं? सामान्य स्नेहों से संस्कारित स्नेह विशेष गुणकारक क्यों होते हैं? इत्यादि प्रश्नों का समाधान महर्षि आत्रेय ने च० सू० अ० १३ में विस्तारपूर्वक कर दिया है। वातरोगों में विशेषतया नाड़ीसंस्थान प्रभावित हो जाते हैं। स्नेहों का प्रयोग उन्हें भी सशक्त बना देता है। ध्यान दें—दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी। बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम्' ॥ च० सू० अ० १३।२४। पूर्ववर्ती कुछ

टीकाकारों को इस बात की चिन्ता है कि स्नेहप्रयोग से वातदोष द्वारा आहत नाड़ी-संस्थान की पुनः रचना होती है या नहीं? वे उपर्युक्त सन्दर्भ में 'चरकचन्द्रिका' व्याख्या का धैर्यपूर्वक अवलोकन करें।

क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते। वाते पित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः ॥

वातव्याधि का चिकित्सा-सूत्र—अन्य दोषों के संसर्ग से युक्त वातविकार में साधारण वात-चिकित्सा करनी चाहिए और जब विशेषरूप से पित्त एवं कफदोषों द्वारा स्रोत घिरे रहते हैं, ऐसी स्थिति में भी साधारण रूप से वातरोग-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—रोगों के सम्बन्ध में चिकित्साशास्त्र का एक सिद्धान्त है—'न रोगोऽप्येकदोषजः'। अर्थात् कोई भी रोग एकदोष के कारण नहीं होता है। जिसमें जिस दोष की प्रधानता होती है, उसी के नाम से वह रोग कहा जाता है। अनुबन्धी या संसर्गी को लोक तथा शास्त्र में कहीं महत्त्व नहीं दिया जाता। अतः संसर्गी दोष की सामान्य चिकित्सा करते हुए ऐसे अवसरों पर विशेष दोष की प्रधान रूप से चिकित्सा करनी चाहिए।

पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्। व्यत्यासात् कारयेत् सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते ॥

पित्तावृत वात-चिकित्सा—यदि वातदोष विशेषरूप से पित्तदोष द्वारा घिरा हुआ हो तो व्यत्यास-क्रम (बदल-बदल कर) से पहले शीतल, फिर उष्ण, फिर शीतल, फिर उष्ण चिकित्सा-विधियों का प्रयोग करना चाहिए। आगे वातशोणित-चिकित्सा अध्याय २९, श्लोक ६१-७० में कहे गये 'जीवनीयघृत' का प्रयोग इसकी चिकित्सा के लिए प्रशंसित है।

धन्वमांसं यवाः शालिर्यापनाः क्षीरवस्तयः। विरेकः क्षीरपानं च पञ्चमूलीबलाशृतम् ॥१८५॥

पित्तावृत वातरोग में पथ्य—धन्व (जांगल) प्रदेश में पैदा होने वाले पशु-पक्षियों के मांस, जौ, शालि-धान्य (चावल), यापनवस्तियाँ, क्षीरवस्तियाँ, विरेचन, लघुपंचमूल के द्रव्यों द्वारा पकाया गया अथवा वरियारा मूल द्वारा पकाया गया दूध पीने के लिए देना चाहिए।

वक्तव्य—यापनवस्तियों का विस्तृत विवरण च० सि० अ० १२।१६ से १८ तक देखें। क्षीरवस्ति का विवरण भी सिद्धिस्थान में दिया गया है।

मधुयष्टिबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम्। पञ्चमूलकषायेण कुर्याद् वा शीतवारिणा ॥१८६॥

पित्तावृत वात में परिषेचन—पित्तदोष से वात के आवृत हो जाने पर मधुयष्टितैल, बलातैल, घी, दूध, पञ्चमूल के द्रव्यों का शीतल किया हुआ क्वाथ रस अथवा शीतल जल से सेचन (स्नान) कराना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक १८४ में जो पित्तावृत्त वातविकार को शीत-उष्ण चिकित्सा के व्यत्यास-क्रम का निर्देश किया है, तदनुसार यह शीतचिकित्सा का स्वरूप है। बलातैल का उल्लेख इसी अध्याय के श्लोक १४८ से १५६ तक किया जा चुका है। 'मधुयष्ट्यादि तैल' का उल्लेख च० चि० अ० २९।९१-९५ में देखें। प्रस्तुत तैल को उक्त सन्दर्भ में 'मधुपर्ण्यादि तैल' कहा गया है। चूँकि इस तैल का पाठ 'मधुयष्टी' शब्द से प्रारम्भ हुआ है, अतः इसके नाम-निर्धारण में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः। स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ॥१८७॥
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम्।

कफावृत वात में पथ्य—जब कफदोष से वायु आवृत (घिरा) हो, तो जौ से बने हुए विविध प्रकार भोज्यपदार्थों का सेवन, जांगल-प्रदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस, तीक्ष्ण स्वेदन, निरूहवस्तियाँ, वमन, विरेचन, पुराना घी, तिलतैल तथा सरसों का तेल—ये सभी हितकर होते हैं।

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥ १८८ ॥

पित्तकफ के संसर्ग में प्रथम पित्त-चिकित्सा—यदि वातव्याधि में पित्त तथा कफदोष दोनों का संसर्ग हो तो सबसे पहले पित्तदोष की चिकित्सा कर उसका शमन करना चाहिए, तदनन्तर अन्य चिकित्सा करें।

आमाशयगतं [1]मत्वा कफं वमनमाचरेत् ॥ १८९ ॥
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा ।

कफ-पित्तनाशक विविध उपाय—यदि कफदोष आमाशय में स्थित हो तो वातव्याधि के रोगी को सर्वप्रथम वमन कराना चाहिए। यदि कफदोष पक्वाशय में संचित हो तो उस रोगी को विरेचन कराना चाहिए। यदि पित्तदोष का प्रकोप सम्पूर्ण शरीर पर हो तो ऐसी स्थिति में रोगी को पहले विरेचन कराना चाहिए।

स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः ॥ १९० ॥
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं वस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् ।

वस्ति-प्रयोग का अवसर—स्वेदन-क्रिया द्वारा जब कफ अपने स्थान से द्रवित होकर पक्वाशय में एकत्रित हो जाय अथवा प्रकुपित पित्तदोष अपने लक्षणों को प्रदर्शित कर रहा हो तो उक्त दोनों (कफ तथा पित्त) दोषों को वस्ति-प्रयोग द्वारा निकालना चाहिए।

श्लेष्मणाऽनुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः ॥ १९१ ॥
निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः । मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ॥१९२॥

दोषनिर्हरण-विधि—यदि वातदोष कफ से अनुगत हो अर्थात् जब वात में कफदोष का अनुबन्ध हो तो गरम गोमूत्र मिलाकर निरूहवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। यदि पित्तदोष से अनुबन्धित वातदोष हो तो दूधयुक्त निरूहवस्ति का प्रयोग कराकर दोषों का निर्हरण कराना चाहिए तथा मधुरवर्ग या मधुरस्कन्ध (च० वि० अ० ८।१३९) के औषधद्रव्यों से पकाये गये तैलों से उस रोगी को अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत् ।

धूम-नस्य-प्रयोग—यदि शिरःप्रदेश में कफ के साथ वातदोष स्थित हो तो धूमपान, नस्य-प्रयोग तथा अन्य शिरोरोग-नाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

हृते पित्ते कफे यः स्यादुरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः ॥ १९३ ॥
[2]सशेषः स्यात् क्रिया तत्र कार्या केवलवातिकी ।

केवलवातहर-चिकित्सा—पित्तदोष तथा कफदोष का उपर्युक्त विधियों द्वारा निर्हरण कर लेने पर जो वातदोष उरःप्रदेश के स्रोतों में शेष रह गया हो तो ऐसे अवसर पर केवल (शुद्ध) वातहर चिकित्सा करनी चाहिए।

शोणितेनावृते कुर्याद् वातशोणितकीं क्रियाम् ॥ १९४ ॥

रक्तावृत वात-चिकित्सा-सूत्र—रक्त से घिरे हुए वातदोष को दूर करने के लिए अगले (वातशोणित-चिकित्सा) अध्याय में निर्दिष्ट चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिए।

प्रमेहवातमेदोघ्नी[3]मामवाते प्रयोजयेत् । स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीरस्नेहा मांसावृते हिताः ॥१९५॥

आमावृत वात-चिकित्सा—आमदोष से (पाठभेद के अनुसार—आढ्यवात रोग से) वात के आवृत होने पर प्रमेहरोग-नाशक, वातरोग-नाशक तथा मेदोदोष-नाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

मांसावृत वात-चिकित्सा—मांस से आवृत वातदोष में विविध प्रकार के स्वेदन, अभ्यंग (तैल की मालिश), मांसरसों, दूध तथा घृत का प्रयोग कराना हितकर होता है।

---

१. 'दृष्ट्वा' इति पा० ।
२. 'सर्वेषां' इति पा० ।
३. 'माढ्यवाते' इति पा० ।

महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसाऽऽवृते । अन्नावृते [1]तदुल्लेखः पाचनं दीपनं लघु ॥१९६॥

अस्थि-मज्जगत वात-चिकित्सा—अस्थियों में तथा मज्जा में जब वातदोष कुपित हो तो महास्नेह (चारों प्रकार के स्नेहों के मिश्रण को महास्नेह कहते हैं—१. घृत, २. तेल, ३. वसा, ४. मज्जा) का प्रयोग कराना चाहिए।

शुक्रावृत वात-चिकित्सा—यदि शुक्र (वीर्य) से वातदोष आवृत (घिरा) हो तो पहले (इसी अध्याय के श्लोक ९४ में) कही गयी चिकित्सा का उपयोग कराना चाहिए।

अन्नावृत वात-चिकित्सा—यदि अन्न (आहार) द्वारा वातदोष आवृत (घिरा) हुआ हो तो उस अन्न (खाये हुए आहार) को वमन कराकर निकाल देना चाहिए, तदनन्तर पाचन तथा दीपन औषधयोगों का प्रयोग कराकर लघु (शीघ्र पचने योग्य) अन्न (आहार पदार्थ) उसे खिलाने चाहिए।

मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरवस्तयः । शकृता तैलमैरण्डं [2]स्निग्धोदावर्तवत्क्रिया ॥१९७॥

मूत्रगत वात-चिकित्सा—मूत्र से वातदोष के आवृत होने पर मूत्रल (मूत्र को बाहर निकालने वाली) औषधियों का प्रयोग, स्वेदन तथा उत्तरवस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

पुरीषगत वात-चिकित्सा—शकृत् (मल) से वातदोष के आवृत होने पर एरण्डतैल को पिलाकर स्निग्ध (स्नेहयुक्त) द्रव्यों का सेवन कराकर तत्पश्चात् इसकी उदावर्त रोग के समान अनुलोमक चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने पुरीषगत वात-चिकित्सा का मूल पाठ इस प्रकार बदल रखा है—'एरण्डतैलं वर्चःस्थे वस्तिः स्नेहाश्चभेदिनः' ॥ यहाँ केवल पाठभेद ही नहीं है, अपितु चिकित्सा-प्रकार-भेद भी है। इसके अनुसार 'भेदिनः स्नेहाः' के रूप में कुटकी, तिल्वक, सातला आदि मलभेदक द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये गये घी तथा तेलों का सेवन रोगी को कराना चाहिए। इन स्नेहों के सेवन से मल का रेचन हो जाता है।

स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् तं स्वैरौषधैर्जयेत् । वमनैर्वा विरेकैर्वा वस्तिभिः शमनेन वा ॥
(इत्युक्तमावृते वाते पित्तादिभिर्यथायथम्[3] ।)

स्थानीय दोष-चिकित्सा—अपने स्थान में स्थित दोष बलवान् होता है, क्योंकि 'स्थाने स्थितः कापुरुषोऽपि वीरः'। सूक्ति। अतः सर्वप्रथम उस दोष को शमन करने वाली चिकित्सा द्वारा जीतना चाहिए। वमन कराकर, विरेचन कराकर, वस्तिप्रयोग द्वारा अथवा शमन-विधि द्वारा उसे वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए। (यहाँ तक पित्त आदि दोषों से आवृत (घिरे हुए) वातदोष के लक्षणों तथा उनकी चिकित्सा का यथाविधि वर्णन कर दिया है)।

वक्तव्य—दोष तीन हैं। शास्त्रकारों ने उनके स्थान चिकित्सा की दृष्टि से निर्धारित किये हैं, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से उतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं होता है। हम यहाँ उसका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—१. वात का प्रधान स्थान पक्वाशय है, तथापि वह अपने आशय के अतिरिक्त भी कभी अग्न्याशय में, कभी हृदय में, कभी कण्ठादि अवयवों में विचरण करता रहता है। ऐसी ही स्थिति अन्य दोषों की भी है। २. पित्त का प्रधान स्थान अग्न्याशय है, तथापि यह त्वचा में, शोणित के रूप में, नेत्रयुगल में तथा हृदय आदि स्थानों में पाया ही जाता है। ३. कफ का प्रधान स्थान आमाशय है, तथापि यह शिर के भीतर, फुप्फुसों में, हृदय में, शरीर की सम्पूर्ण सन्धियों में व्याप्त रहता है। अतः 'स्वस्थानस्थः' का विचार करते समय इन तथ्यों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इनकी सामान्य चिकित्सा है—वस्तिप्रयोग, विरेचन, वमन, घृत तथा तैल आदि का यथाविधि प्रयोग।

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु ॥ १९९ ॥
लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयाऽनघ ! ।

---

१. 'तु वमनं' इति पा० ।
२. 'वस्तिः स्नेहाश्च भेदिनः' इति पा० ।
३. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तकेषु न पठ्यते ।

वात-आवरण-प्रकरण

वायु के आवरण—महर्षि आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश से कह रहे हैं—हे पुण्यात्मा अग्निवेश! पाँचों प्रकार के वायुओं के परस्पर होने वाले आवरणों को विस्तार तथा संक्षेप से मुझसे सुनो। मैं उनके लक्षणों को बतला रहा हूँ।

प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च ॥ २०० ॥
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम्। [1]विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम् ॥२०१॥
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत्।

वायु के २० आवरण—प्राणवायु उदान, व्यान, समान तथा अपान वायुओं को आवृत कर (घेर) लेती है, और वे उदान आदि वायुएँ भी उसी प्रकार प्राणवायु को आवृत कर लेते हैं। इस प्रकार यथाक्रम सभी वायु एक-एक वायु को आवृत करते हैं। बढ़े हुए उपर्युक्त पाँचों वायुओं के आपस में बीस प्रकार के आवरण होते हैं। चिकित्सा करने के पूर्व चिकित्सक को इनका विचार कर लेना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त प्राण आदि वायु जब एक-दूसरे से आवृत होते हैं, तो इनका नाम-निर्धारण इस प्रकार किया जाता है—१. प्राणावृत व्यानवायु, २. व्यानावृत प्राणवायु, ३. प्राणावृत समानवायु, ४. समानावृत प्राणवायु, ५. प्राणावृत उदानवायु, ६. उदानावृत प्राणवायु, ७. उदानावृत अपानवायु, ८. अपानावृत उदानवायु, ९. व्यानावृत अपानवायु, १०. अपानावृत व्यानवायु, ११. समानावृत व्यानवायु, १२. उदानावृत व्यानवायु, १३. प्राणावृत अपानवायु, १४. अपानावृत प्राणवायु, १५. अपानावृत समानवायु, १६. व्यानावृत उदानवायु, १७. समानावृत उदानवायु, १८. समानावृत अपानवायु, १९. अपानावृत समानवायु, २०. व्यानावृत समानवायु। ये बीस भेद सामान्य दृष्टि से कह दिये गये हैं, किन्तु दोषों के तर-तम भेद से इन आवरणों की संख्या अनन्त हो सकती है।

ऊपर जो बीस भेद गिनाये गये हैं, इनमें एक वायु द्वारा दूसरी वायु को आवृत दिखाया गया है। इनके विपरीत कभी-कभी एक से अधिक (दो, तीन) वायुओं द्वारा भी प्राण आदि वायु आवृत देखे जाते हैं। चिकित्सा-काल में इनका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। वायु के आवरणों की चर्चा करते हुए यद्यपि तन्त्रकार ने २० प्रकार के आवरणों को स्वीकार किया है। आगे चलकर केवल १२ भेदों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा कही गयी है। इस दृष्टि से श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में जिस प्रकार इनका वर्गीकरण किया है, वह द्रष्टव्य है।

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम् ॥ २०२ ॥
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम्।

१. प्राणावृत व्यानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब प्राणवायु से व्यानवायु घिर जाती है, तब सभी प्रकार की इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) में शून्यता (सूनापन) का अनुभव होता है, स्मृति (याददाश्त) एवं बल का क्षय हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में की जाने वाली चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ॥ २०३ ॥
प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम्।

२. व्यानावृत प्राणवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब व्यानवायु से प्राणवायु घिर जाती है, तब पसीना का अधिक आना, शरीर में बार-बार रोमांच का होना, त्वचा का दूषित (रुग्ण) हो जाना, शरीरावयवों में शून्यता का आ जाना, ये लक्षण होते हैं। इस स्थिति में स्नेहयुक्त विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए। यही इसकी चिकित्सा है।

१. 'विंशत्यावरणान्ये' इति पा०।

प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः ॥ २०४ ॥
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः।

३. प्राणावृत समानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब प्राणवायु से समानवायु घिर जाती है, तब शरीर के अवयवों में जड़ता, गद्गदता (हकलाकर बोलना) अथवा मूकता (गूँगापन), ये लक्षण दिखलायी देते हैं। इस स्थिति में यापनबस्तियों का प्रयोग (इनका वर्णन सिद्धिस्थान अ० १२ श्लोक १६ से आगे देखें), इन्हीं के साथ चार प्रकार (वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन) के स्नेहों का प्रयोग कराना हितकर होता है।

[1]समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः ॥ २०५ ॥
शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते।

४. समानावृत अपानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब समानवायु से अपानवायु घिर जाती है, तब ग्रहणीरोग, पसलियों में पीड़ा, हृदयरोग (पाठभेद के अनुसार हृदयरोग नहीं है) तथा आमाशय में शूल का होना, ये लक्षण होते हैं। इस स्थिति में जठराग्नि को बढ़ाने वाले घृतों का प्रयोग हितकर होता है।

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससङ्ग्रहः ॥ २०६ ॥
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते। तत्रोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ॥२०७॥

५. प्राणावृत उदानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब प्राणवायु से उदानवायु घिर जाती है, तब सिर में जकड़न, प्रतिश्याय, श्वास, उच्छ्वास में रुकावट का पैदा होना, हृदयरोग तथा बार-बार मुख का सूखना, ये लक्षण होते हैं। इस स्थिति में ऊर्ध्वभागिक (जत्रुप्रदेश में होने वाले) रोगों में जो कर्म (चिकित्सा) विहित हैं, यथा—धूमपान, नस्य-प्रयोग आदि करने चाहिए और इसमें रोगी को आश्वासन दिलाना हितकर होता है।

कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा। उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ॥२०८॥
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखं चैवोपपादयेत्।

६. उदानावृत प्राणवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब उदानवायु से प्राणवायु घिर जाती है, तब सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं, बल तथा वर्ण का नाश हो जाता है, अथवा मृत्यु भी हो जाती है। ऐसी स्थिति में रोगी के शरीर पर शीतल जल का छिड़काव करना चाहिए, होश में आ जाने पर उसे मित्रमण्डली द्वारा आश्वासन दिलाना चाहिए और रोगी को सुखपूर्वक विश्राम कराना चाहिए।

ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ॥ २०९ ॥
स्युर्वाते तत्र वस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम्।

७. उदानावृत अपानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब ऊर्ध्वग (उदान) वायु से अपानवायु घिर जाती है, तब वमन, श्वास, कास आदि रोग पैदा हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्ति आदि चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए, जिससे वायु का अनुलोमन हो सके। भोज्य (खाने-पीने के) पदार्थ भी सेवन करने के लिए उसी प्रकार के दें, जो वातदोष का अनुलोमन कर सकें।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने अनुलोमन चिकित्सा का विधान किया है। यद्यपि 'अनुलोम' शब्द अभ्यंग (मालिश) के प्रकरण का है, क्योंकि मालिश करने में लोमों की अनुकूलता, प्रतिकूलता का ध्यान दिया जाता है, तथापि यह शब्द यहाँ यौगिक न होकर वायु को अनुकूल करने के अर्थ में योगरूढ है। आयुर्वेद में अनुलोमन कारक द्रव्यों में 'हरीतकी' की प्रधानता मानी गयी है।

मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ॥ २१० ॥
वाते स्याद् वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम्।

८. अपानावृत उदानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब अपानवायु से उदानवायु घिर जाती है, तब मोह (बेहोशी), जठराग्नि में मन्दता तथा अतिसार—ये रोग लक्षण के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति

१. 'समानेनावृते प्राणे ग्रहणीपार्श्ववेदना' इति पा०।

में रोगी को वमन, अग्निदीपक औषधयोग तथा ग्राही (मल को बाँध देने वाले) अन्नपान का सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—ग्राही द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार है—जो द्रव्य दीपन, पाचन तथा उष्ण वीर्य वाला होने के कारण द्रव पदार्थ को सुखाता हो, उस द्रव्य को ग्राही कहते हैं। जैसे—सोंठ, जीरा, गजपीपल आदि।

वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः ॥ २११ ॥
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत्।

९. व्यानावृत अपानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब व्यानवायु से अपानवायु घिर जाती है, तब वमन, आध्मान (पेट में अफारा), उदावर्तरोग, गुल्मरोग तथा परिकर्तिका (गुद-प्रदेश में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में स्निग्ध पदार्थों को खिलाकर अपानवायु का अनुलोमन कराना चाहिए।

अपानेनावृते व्याने भवेद् विण्मूत्ररेतसाम् ॥ २१२ ॥
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं सङ्ग्रहणं मतम्।

१०. अपानावृत व्यानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब अपानवायु से व्यानवायु घिर जाती है, तब मल, मूत्र तथा शुक्र अधिक मात्रा में निकलने लगता है। ऐसी स्थिति में संग्राहक औषधद्रव्यों, आहारों तथा पेयों का सेवन कराना चाहिए।

मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ॥ २१३ ॥
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम्।

११. समानावृत व्यानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब समानवायु से व्यानवायु घिर जाती है, तब मूर्च्छा (बेहोशी), तन्द्रा (ऊँघाई), अंट-संट बकना, अंगों में शिथिलता, जठराग्नि की मन्दता, ओजःक्षय, बल-नाश—ये लक्षण दिखलायी देते हैं। ऐसी स्थिति में रोगी को व्यायाम तथा हल्का भोजन कराना चाहिए।

स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ॥ २१४ ॥
उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु।

१२. उदानावृत व्यानवायु के लक्षण-चिकित्सा—जब उदानवायु से व्यानवायु घिर जाती है, तब शरीर के अवयवों में जकड़न, जठराग्नि की मन्दता, पसीना का न आना, शारीरिक चेष्टाओं का नाश, आँखों का सदैव बन्द रहना, ये लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में रोगी को थोड़ा और हल्का भोजन कराना हितकर होता है।

पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः ॥ २१५ ॥
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता।

अन्य आवरण-परिचायक सूत्र—इसी प्रकार अन्य पाँचों वायुओं के आवृत लक्षणों को भी उन-उन के लक्षणों द्वारा जानना चाहिए। जिस वायु के कार्य की हानि हो, उसे आवृत समझें और जिस वायु के लक्षणों की वृद्धि हो, उसे आवरक समझें।

वक्तव्य—जब जो वायु प्रबल होती है, वह दूसरे वायु को घेर लेती है। घिरी हुई वायु या तो अपने स्थान पर स्थित होकर कुछ विकार उत्पन्न कर सकती है, अथवा जैसी का तैसी अर्थात् अकर्मण्य होकर पड़ी रहेगी और जिस प्रबल वायु ने उसे घेरा होगा उसके औपद्रविक लक्षण देखने में आयेंगे। इसे आप इस प्रकार समझें—सिपाही या सिपाहियों से घिरा हुआ चोर, जिस प्रकार उतने समय तक अकर्मण्य रहता है और उनके आवरण से छूटा हुआ पुनः अपनी शक्ति के अनुसार भला या बुरा कार्य करता है, ठीक वही स्थिति आवरक वायु और आवृतवायु की भी है। आवरकवायु को बलवान् और आवृतवायु को दुर्बल कहा गया है। तदनुसार ही उनके कर्म भी होते हैं। ये विचार वातविकारों की चिकित्सा में सहायक होते हैं। इस प्रकार का विचार वृद्धवाग्भट ने भी प्रकट किया है। देखें—अ० सं० नि० अ० १६।५२-५४।

यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणेऽपृथक् ॥ २१६ ॥
सलिङ्गभेषजं सम्यग्बुधानां बुद्धिवृद्धये।

वात-आवरण-प्रकरण का उपसंहार—इस प्रकार यहाँ आवरण प्रकरण का मोटा-मोटा विवरण अलग-अलग लक्षण और चिकित्सा के रूप में इस विषय को जानने के इच्छुकों की बुद्धि को बढ़ाने के लिए कह दिया गया है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने 'आवरणेऽष्टकम्' के स्थान पर 'आवरणैः पृथक्' पाठ की सत्ता को स्वीकार किया है, तथापि उन्होंने मूल में 'आवरणेऽष्टकम्' पाठ को ही उद्धृत किया है। विचारणीय यह है, कि निर्णयसागरीय १९२२ के प्रथम संस्करण में 'यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणे पृथक्' श्लोक सं० २११ में उक्त पाठ दिया है और निर्णयसागरीय १९४१ के तृतीय संस्करण में 'समुद्दिष्टमेतदावरणेऽष्टकम्' पाठ दिया गया है। श्रीचक्रपाणि तथा श्रीजज्जट आदि आचार्यों ने इस अंश की टीका करना अपना दायित्व नहीं समझा। ऊपर जिन आवरणों के लक्षण तथा चिकित्सा की चर्चा तन्त्रकार ने की है, उनकी संख्या १२ है और वे ही १२ भेद 'बुधानां बुद्धिवृद्धये' कहे जा सकते हैं, न कि 'पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः' इस श्लोकार्ध द्वारा जो शेष ८ आवृत वातों का संकेत किया गया है, वह 'बुधजनों की बुद्धि को बढ़ा सकता है'। यदि हम 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' के संकेत मात्र से विद्वान् दूसरों की बातों को समझ जाते हैं, इस सूक्ति का सहारा लेते हैं, तो फिर हम यह नहीं कह सकते कि हमारे संकेत से उस विद्वान् की बुद्धि में वृद्धि हुई होगी। हमारे विचार से यहाँ 'अष्टकम्' पद से 'पृथक्' पद श्लोक के परिवेश को देखते हुए अधिक अनुकूल प्रतीत होता है, जैसा कि हमने ऊपर विवेचन प्रस्तुत किया है। यदि 'अष्टकम्' ही स्वीकार करना हो तो इसके साथ अन्य पदों का पौर्वापर्य सम्बन्ध वैसा स्थिर नहीं हो पाता, जैसा कि 'पृथक्' के साथ हो रहा है। जहाँ तक 'आवरणैः' पद का सम्बन्ध है, उससे तो सप्तम्यन्त 'आवरणे' पद ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'पृथक् आवरणे यथास्थूलं समुद्दिष्टम्', हम ऐसा अन्वय कर लेंगे।

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ॥ २१७ ॥
द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम्। कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहपानबस्त्यादि[1] सर्वशः ॥२१८॥
क्रममुष्णमनुष्णं वा व्यत्यासादवचारयेत्।

वातचिकित्सा में वृद्धि-हानि का विचार—वायु के अपने-अपने स्थानों का विचार करके तथा उनके स्वाभाविक कार्यों की वृद्धि, हानि का विचार करके तथा ऊपर कहे गये बारह आवरणों एवं अन्य वातविकृतियों का विचार कर अभ्यंग (मालिश), स्नेहपान, वस्ति आदि चिकित्सोपयोगी कर्म करने चाहिए। साथ ही उष्ण चिकित्सा के बाद अनुष्ण (शीत) चिकित्सा का क्रम परिस्थिति को देखकर अपनाना चाहिए। इस प्रकार व्यत्यास (परिवर्तन) क्रम से चिकित्सा करनी चाहिए।

उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत् ॥ २१९ ॥
समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानं तु योजयेत्। प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्य स्थितिर्ध्रुवा ॥
स्वं स्थानं गमयेदेवं वृतानेतान् विमार्गगान्।

वातचिकित्सा-सूत्र—उदानवायु के विकारयुक्त हो जाने पर उसे चिकित्सा-विधियों द्वारा ऊपर की ओर प्रवृत्त कराना चाहिए। विकृत अपानवायु को चिकित्सा द्वारा अनुलोम करना चाहिए। समानवायु का शमन कराना चाहिए। व्यानवायु को कुपित होने पर ऊपर की ओर मध्यभाग में तथा अधोमार्ग की ओर ले जाना चाहिए। उक्त चारों वायुओं द्वारा प्राणवायु की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि प्राणवायु जब अपने स्थान पर स्वस्थ स्थिति में रहती है, तो इससे शरीर की स्थिति सुव्यवस्थित बनी रहती है। वायु यदि दूसरे वायुओं से आवृत होने के कारण विमार्ग में पहुँच गयी हो तो उन्हें उचित चिकित्सा-विधि द्वारा अपने-अपने स्थान पर पहुँचा देना चाहिए।

---

१. 'स्नेहनस्यपानादि' इति पा०।

वक्तव्य—अब यहाँ से पित्त तथा कफ दोषों से आवृत १२ प्रकार के वायु के लक्षणों का निर्देश किया जा रहा है। इसके विशेष परिचय के लिए सु० नि० अ० १ तथा अ० सं० नि० अ० १६ देखें।

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ॥ २२१ ॥
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते ।

१. **पित्तावृत प्राणवायु के लक्षण**—जब पित्तदोष से प्राणवायु घिर जाती है, तब मूर्च्छा (बेहोशी) दाह (शरीर में जलन), भ्रम (चक्करों का आना), शूल, विदाह, शीतल वस्तुओं का सेवन करने की इच्छा, विदग्ध (अम्लपाक युक्त) खाये हुए पदार्थों का वमन में निकलना, ये लक्षण होते हैं।

ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससङ्ग्रहः ॥ २२२ ॥
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च ।

२. **कफावृत प्राणवायु के लक्षण**—जब कफदोष से प्राणवायु घिर जाती है, तब बार-बार थूकने की इच्छा, छींकों का आना, डकारें आना, श्वास-प्रश्वास की क्रिया में रुकावट, भोजन के प्रति अरुचि तथा वमन का होना, ये लक्षण होते हैं।

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः ॥ २२३ ॥
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते ।

३. **पित्तावृत उदानवायु के लक्षण**—जब पित्तदोष से उदानवायु घिर जाती है, तब मूर्च्छा आदि (पित्तावृत प्राणवायु के समान) लक्षण, शरीर में दाह, नाभि तथा वक्षस् (छाती) में क्लम (सुस्ती, थकावट), ओजस् का नाश तथा शरीर में अवसाद, ये लक्षण होते हैं।

आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः ॥ २२४ ॥
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते ।

४. **कफावृत उदानवायु के लक्षण**—जब कफदोष से उदानवायु घिर जाती है, तब शरीर का स्वाभाविक वर्ण विकृत हो जाता है, वाणी तथा स्वर में रुकावट आ जाती है, शरीर में दुर्बलता, भारीपन एवं भोजन के प्रति अरुचि होना, ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा [1]चारुचिरेव च ॥ २२५ ॥
पित्तावृते समाने स्यादुपघातस्तथोष्मणः ।

५. **पित्तावृत समानवायु के लक्षण**—जब पित्तदोष से समानवायु घिर जाती है, तब शरीर से पसीना अधिक निकलने लगता है, प्यास लगती है, शरीर में दाह, मूर्च्छा, भोजन के प्रति अरुचि एवं जठराग्नि का उपघात (अवरोध) हो जाता है।

अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च ॥ २२६ ॥
कफावृते समाने स्याद् गात्राणां चातिशीतता ।

६. **कफावृत समानवायु के लक्षण**—जब कफदोष से समानवायु घिर जाती है, तब पसीना का न आना, जठराग्नि की मन्दता, बार-बार रोमांच का होना तथा शरीर के सभी अवयव स्पर्श करने पर शीतल प्रतीत होते हैं।

व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः ॥ २२७ ॥
गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससन्तापः सवेदनः ।

१ 'चारतिरेव च' इति पा०।

७. **पित्तावृत व्यानवायु के लक्षण**—जब पित्तदोष से व्यानवायु घिर जाती है, तब सम्पूर्ण शरीरावयवों में दाह (जलन), सुस्ती का अनुभव होना, गात्रविक्षेप (अंगों की स्वाभाविक चेष्टाओं में गतिरोध, श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'गात्रविक्षेपणोपरमः'), सन्ताप तथा वेदना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—विक्षेप—'वि+क्षिप्+घञ्' अर्थात् अंगों को इधर-उधर फेंकना, चलाना, उस क्रिया में रुकावट का आना। कुछ टीकाकारों ने 'विक्षेप' और 'संग' इन दोनों को अलग-अलग शब्द माना है, किन्तु प्रयोग के रूप में दोनों एक ही क्रिया की सूचना देते हैं। यदि ये भिन्न क्रिया के सूचक होते तो 'गात्रविक्षेपसङ्गौ च' ऐसा प्रयोग होता।

गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्ध्यस्थिजा रुजः ॥ २२८ ॥
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथाऽधिकः[1] ।

८. **कफावृत व्यानवायु के लक्षण**—जब कफदोष से व्यानवायु घिर जाती है, तब सम्पूर्ण शरीरावयवों में भारीपन, सभी अस्थि-सन्धियों में पीड़ा, शारीरिक गति में रुकावट, ये लक्षण दिखलायी देते हैं।

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः ॥ २२९ ॥
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम् ।

९. **पित्तावृत अपानवायु के लक्षण**—जब पित्तदोष से अपानवायु घिर जाती है, तब उस रोगी का मल, मूत्र हल्दी के सदृश पीले वर्ण का हो जाता है, गुदप्रदेश तथा लिंग में जलन होती है। यदि यह स्थिति स्त्री के शरीर में उत्पन्न हो जाती है तो उसका भी मल, मूत्र पीला पड़ जाता है तथा गुद तथा योनि में जलन होने लगती है और उसे मासिकस्राव अधिक मात्रा में होने लग जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने पित्तावृत अपानवायु के लक्षणों का निर्देश चरक की भाँति ही किया है, किन्तु महर्षि सुश्रुत ने कुछ विशेष कहा है—'अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः'। सु० नि० अ० १।३७। यदि हम सुश्रुतोक्त इस प्रदर रूप लक्षण को स्वीकार करते हैं, तो उस रक्तस्राव के साथ अंगमर्द और अंगवेदना लक्षणों का भी यहाँ अध्याहार (ग्रहण) कर लेना चाहिए।

भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ॥ २३० ॥
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ।

१०. **कफावृत अपानवायु के लक्षण**—जब कफदोष से अपानवायु घिर जाती है, तब पतले, कच्चे, कफ से संयुक्त, भारी (पानी में डालने पर डूब जाने वाले) मल की प्रवृत्ति होने लगती है और इसके कारण उस रोगी को कफज प्रमेह रोग हो जाता है।

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च ॥ २३१ ॥
उपलक्ष्य भिषग्विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत् ।

११. **द्वन्द्वावृत वायु के लक्षण**—पित्तदोष तथा कफदोष के लक्षणों को मिला-जुला देखकर दोष-लक्षणों का ज्ञाता चिकित्सक दोषों के मिश्रित लक्षणों का निर्देश करे अर्थात् दो दोषों से यह वायु आवृत हो गयी है, ऐसा कहे।

वक्तव्य—यद्यपि ऊपर द्वन्द्वज दोषों के मिश्रण से मिश्रित वायु का एक ही भेद बतलाया गया है, किन्तु इसके भी पाँच भेद इस प्रकार किये जा सकते हैं—१. कफपित्तावृत प्राणवायु, २. कफपित्तावृत उदानवायु, ३. कफपित्तावृत समानवायु, ४. कफपित्तावृत अपानवायु, ५. कफपित्तावृत व्यानुवायु।

यद्यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरौ स्थितौ ॥ २३२ ॥
दोषौ बहुविधान् व्याधीन् दर्शयेतां यथा निजान्[1] ।

१. 'रुजः' इति पा०।

आवरकदोषानुसार रोगों की उत्पत्ति—पाँचों वायुओं में जिस-जिसका जो स्थान बतलाया गया है, यदि उस स्थान में दूसरे दोष आकर स्थित हो जाते हैं, तो वे दोष अपने-अपने लक्षणों के अनुसार अनेक प्रकार की व्याधियों को पैदा कर देते हैं। यहाँ तन्त्रकार का संकेत द्वन्द्वज आवरणों की ओर है।

आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणं चोदानमेव च ॥ २३३ ॥
गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः ।

प्राण और उदानवायु के आवरण की प्रधानता—जब कफ तथा पित्तदोष से प्राणवायु तथा उदानवायु घिर जाती हैं, तब शास्त्रज्ञान द्वारा देखने (परीक्षण करने) वाले चिकित्सक उस स्थिति को अत्यन्त गम्भीर (कष्टसाध्य) रूप से देखते हैं। क्योंकि कफ तथा पित्तदोषों से प्राण एवं उदानवायु का घिर जाना अत्यन्त हानिकारक होता है, जैसा कि अगले पद्य द्वारा कहा जायेगा।

विशेषाज्जीवितं प्राण उदाने संश्रितं बलम् ॥ २३४ ॥
स्यात् तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च ।

प्राण तथा उदानवायु का महत्त्व—विशेषरूप से प्राणियों का जीवन प्राणवायु पर आश्रित होता है और उनका बल उदानवायु पर आश्रित होता है। अतः उक्त वायुओं को पीड़ित करने से अथवा उनके पीड़ित हो जाने से आयु (जीवन) तथा बल (शारीरिक शक्ति) की हानि हो जाती है या हो सकती है।

सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा ॥ २३५ ॥
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा [1]दुरुपक्रमाः ।

आवृतवातों की साध्यता-असाध्यता—उपर्युक्त ये सभी वातविकार यदि रोगी अथवा चिकित्सक की अज्ञानता से एक वर्ष तक उपेक्षित रह जाते हैं, अर्थात् इनकी उचित चिकित्सा यदि उक्त अवधि के भीतर नहीं की जाती है ये या तो असाध्य हो जाते हैं अथवा कष्टसाध्य तो हो ही जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त पद्य द्वारा तन्त्रकार ने यह सूचित किया है, कि दोष तथा दोषों द्वारा आवृत (घिरे हुए) वातों की शीघ्र चिकित्सा कर लेनी चाहिए। इस सावधानी से रोगी को सुख तथा चिकित्सक को धन एवं यश मिलता है। यदि रोगी तथा चिकित्सक द्वारा इनकी दीर्घकाल तक उपेक्षा की जाती है, तो ये कष्टसाध्य तदुपरान्त असाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ आवृत वातों की तीन अवस्थाओं (१. साध्यता, २. कष्टसाध्यता, ३. असाध्यता) का कुशलता के साथ निर्देश किया गया है। यदि हम 'दुरुपक्रमात्' पाठ को स्वीकार करते हैं, तो साध्य एवं असाध्य दो ही स्थितियों का वर्णन प्राप्त होता है।

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च ॥ २३६ ॥
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ।

उपेक्षित आवृत वायु के उपद्रव—उपर्युक्त आवृत वायुओं की चिकित्सा सम्बन्धी उपेक्षा (लापरवाही) करने से हृदयरोग, विद्रधि (बड़े फोड़े), प्लीहारोग, गुल्मरोग, अतिसार—ये उपद्रव हो जाते हैं।

तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ॥ २३७ ॥
पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणाऽपि वा ।

आवरणज्ञान की आवश्यकता—इसलिए चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी की परीक्षा करते हुए देखे कि पाँच प्रकार की अलग-अलग वायु का वात से, पित्त से तथा कफ से होने वाले आवरण या आवरणों का समुचित ज्ञान कर ले।

वक्तव्य—इसी अध्याय में पहले कहा जा चुका है—'प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च' ॥ २०० । इस प्रकार वात-आवरण-प्रकरण में २० प्रकार के आवरणों की चर्चा की गयी है, जिसे हम वात द्वारा

१. 'दुरुपक्रमात्' इति पा०।

वात का आवरण कह सकते हैं। वात-आवरण का दूसरा प्रकार है—दोषों द्वारा आवृत प्राण आदि वायु। इनका आरम्भ पीछे २२१वें श्लोक के उत्तरार्ध से किया गया है। इसमें प्राण आदि वायुओं को पित्त तथा कफ दोष दूषित कर रहे हैं। इन सभी का संग्रह उक्त श्लोक में कर दिया है, अर्थात् चिकित्सक को चाहिए कि वह उक्त सभी प्रकार के आवरणों का समुचित प्रकार से निरीक्षण तथा परीक्षण करे।

भिषग्जितमतः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत् ॥ २३८ ॥
अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः ।

१. आवृत वायु की चिकित्सा—इसके बाद उचित रूप से आवृत वायु का निर्णय करके भिषग्जित (औषध) प्रयोग करना चाहिए। वे औषध द्रव्य अभिष्यन्द(कफ)कारक न हों, स्नेहनकारक हों तथा स्रोतों के मार्गों को शुद्ध करने वाले हों।

कफपित्ताविरुद्धं यद् यच्च वातानुलोमनम् ॥ २३९ ॥
सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत् कार्यं मारुते हितम् ।

२. आवृत वायु की चिकित्सा—जब शरीरस्थ सभी वायु आवृत हो जाय, तब जो औषधद्रव्य तथा आहार पदार्थ कफ एवं पित्तदोष के विरोधी न हों और जो वायु को अनुलोम (अनुकूल) करने वाले हों, जो शीघ्र ही वातदोष का शमन करने वाले हों, उनका प्रयोग कराना चाहिए।

यापनावस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ॥ २४० ॥
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम् ।

यापनवस्ति-प्रयोग—प्रायः मधुर अनुवासनवस्तियों के साथ यापनवस्तियाँ वायु के आवृत हो जाने पर लाभकारक होती हैं। अथवा यदि रोगी बलवान् हो तो उसकी ठीक-ठीक परीक्षा करके मृदुस्रंसन (विरेचन) औषधद्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है।

वक्तव्य—'मधुराः सानुवासनाः'—यहाँ जिस मधुर अनुवासनवस्ति का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार आगे कही गयी है—'मधुघृतद्विप्रसृतस्तुल्योष्णोदकः शतपुष्पार्धपलः सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तवातहरः'। च० सि० अ० १२।१८।

रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ॥ २४१ ॥
शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा ।

रसायन आदि प्रयोग—सभी प्रकार के रसायन योगों का शुद्ध शिलाजीत तथा शुद्ध गुग्गुलु का मात्रानुसार दूध के साथ प्रयोग आवृत वायुओं में अधिक लाभप्रद माना गया है।

लेहं वा भार्गवप्रोक्तमभ्यसेत् क्षीरभुङ्नरः ॥ २४२ ॥
[1]अभयामलकीयोक्तमेकादशसिताशतम् ।

च्यवनप्राश तथा अभयामलकी प्रयोग—आवृतवायु से पीड़ित रोगी केवल दूध का सेवन करता हुआ, अर्थात् अन्य अन्न-पानों का परित्याग कर महर्षि भार्गव द्वारा कथित च्यवनप्राश नामक अवलेह का अभ्यास (निरन्तर प्रयोग) करे अथवा अभयामलकी रसायनपाद नामक च० चि० अ० १ में कहे गये ब्राह्मरसायन जिसमें ग्यारह सौ पल मिश्री डाली जाती है, का कुछ दिनों तक सेवन करे।

वक्तव्य—'भार्गवप्रोक्तं लेहम् अभ्यसेत्'। यहाँ भार्गव शब्द से महर्षि च्यवन का ग्रहण करना चाहिए। देखें—'भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः'। च० चि० अ० १ पा० ४।४४। यह वही 'च्यवनप्राश' है, जिसका उल्लेख च० चि० अ० १।१।६२-७४ में किया गया है। ऊपर कहा गया यह दूसरा योग 'ब्राह्मरसायन' नाम से सुप्रसिद्ध है। यह योग च० चि० अ० १ पाद १।४१-५७ में द्रष्टव्य है। वहाँ इस पाठ के वक्तव्य को 'चरकचन्द्रिका' टीका में देखें। आचार्य गंगाधर ने श्लोक २४३ के पूर्वार्ध को इस प्रकार बदला है—'अभया-

१. 'अभयामलकीयोक्तानेकादश मिताशनः' इति गङ्गाधरः पठति।

मलकीयोक्तानेकादश मिताशनः'। पूर्ववर्ती टीकाकारों ने इस पंक्ति का जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है- 'अभयामलकीय रसायन पाद में बताये हुए ग्यारह रसायन औषधियों का प्रयोग करें'। अब आप ध्यान दें- जिस अध्याय में टीकाकार महोदय ग्यारह रसायन औषधियों का निर्देश करते हैं, तन्त्रकार उस अध्याय में 'मैंने केवल छः योगों का वर्णन किया है' ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। देखें—च० चि० अ० १।१।८१।

अपानेनावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ॥ २४३ ॥
वातानुलोमनं यच्च पक्वाशयविशोधनम् ।

आवृत अपानवायु की चिकित्सा—दोषों द्वारा अपानवायु के घिर जाने पर जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले, ग्राही (मल के जलतत्त्व को सुखा देने वाले), विकृत वायु का अनुलोमन करने वाले तथा पक्वाशय को शुद्ध करने वाले औषध आदि का प्रयोग करना चाहिए।

इति सङ्क्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ॥ २४४ ॥
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद् वितर्क्य स्वयमेव तत् ।

आवृत वात-चिकित्सा-सूत्र—इस प्रकार यहाँ तक संक्षेप में आवृत प्राण आदि वायुओं की चिकित्सा कह दी गयी है। इसके आगे मतिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह स्वयं भी विचार करे।

पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्याविरोधिभिः ।
कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानुलोमनैः ॥ २४५ ॥

पित्त तथा कफावृत वात-चिकित्सा—वायु जब पित्तदोष से घिर जाता है, तब पित्तनाशक किन्तु जो वात-विरोधी न हो ऐसे औषध, अन्न, पान आदि की व्यवस्था करें। वायु जब कफदोष से घिर जाती है, तब कफनाशक किन्तु जो वातदोष को अनुलोमन करने वाले औषध, अन्न, पान आदि हों उनकी व्यवस्था करें। ये दोनों ही विधियाँ तन्त्रकार ने सूत्ररूप में निर्दिष्ट की हैं।

वक्तव्य—'आवृत' का अर्थ है—ढका, छिपा, लपेटा, घेरा या बाधित। ये सभी पर्याय हमारे लिए प्रसंगोचित हैं। जब प्राण आदि वायुओं की गति उदान आदि वायुओं द्वारा ढक दी जाती या रोक दी जाती है, तब उसे 'आवृत' कहते हैं। रुग्ण स्थिति में ये पाँचों वायुएँ एक-दूसरे को आवृत कर डालती हैं। इसमें भी प्रकुपित अतएव बलवान् वायु प्रकृतिस्थ वायु को आवृत कर लेती है। इस प्रकार वायु का आवरण रस आदि धातुओं से भी होता है। वायु का एक नाम 'सदागति' है, जो सदैव चलती रहती है, अतएव वह शुद्ध रहती है, उसका किसी भी कारण से होने वाला अवरोध (रुकावट) हानिकारक होता है। इसीलिये च० सू० अ० ७ में अधारणीय वेगों को रोकने की निन्दा की है।

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः । तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥२४६॥

वातादि दोषों का ज्ञान दुर्विज्ञेय—जिस प्रकार इस लोक में वायु, अर्क (सूर्य), सोम (चन्द्रमा) इनकी गति (प्रभाव) का पता लगाना अत्यन्त कठिन होता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित वात, पित्त, कफ की गतियों का ठीक-ठीक ज्ञान कर पाना भी अत्यन्त कठिन है। यहाँ 'दुर्विज्ञेय' शब्द से दोषों की गति की सूक्ष्मता का निर्देश किया गया है।

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक् । विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ॥२४७॥

चिकित्साकाल में विचार—वात, पित्त, कफ इन दोषों का घटना, बढ़ना, समान होना तथा इनके आवरण की स्थिति को ठीक से समझकर चिकित्सा करने वाला चिकित्सक कभी भी असफल नहीं होता है।

तत्र श्लोकौ—

पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे स्थानानि कर्माणि च देहधातोः ।
प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान् स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च ॥ २४८ ॥

प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति क्रिया च तेषामखिला निरुक्ता ।
तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ॥ २४९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में दो श्लोक दिये गये हैं—स्थान-भेद से शरीर को धारण करने वाले पाँच भेदों से युक्त वायु—१. प्राणवायु, २. अपानवायु, ३. समानवायु, ४. उदानवायु, ५. व्यानवायु; शरीर में इनका स्थान, अर्थात् किस वायु का कौन स्थान है, इनके कर्म क्या हैं, देह स्थित धातुओं को प्रकुपित करने वाले हेतु (कारण), उनके प्रकुपित होने पर जो रोग उत्पन्न होते हैं, दूसरे वायुओं के स्थानों में जाने के कारण वृत (आवृत) अथवा अवृत प्राणवायु, जो प्राणियों को प्राणवान् बनाये रखता है, उन सभी प्रकार के वायुओं की यहाँ चिकित्सा कही गयी है। उस चिकित्सा-विधि का देश, सात्म्य, ऋतु, बल आदि की भली-भाँति परीक्षा करके शास्त्रमत का अनुसरण करने वाला चिकित्सक प्रयोग करे।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सास्थान में वातव्याधि-चिकित्सित नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो वातशोणितचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वातव्याधि-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वातशोणित-चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—वातव्याधि-चिकित्सा का वर्णन करने के बाद वातदोष से सम्बन्धित होने के कारण वातशोणित या वातरक्त (च० सू० अ० १९।४) व्याधि की तन्त्रकार ने प्रस्तावना की है। यही क्रम सुश्रुत में भी है। महर्षि सुश्रुत ने सुश्रुत-चिकित्सास्थान अध्याय ४ में वातव्याधि-चिकित्सा का वर्णन कर ५वें अध्याय में 'महावातव्याधि चिकित्सा' प्रकरण में 'वातशोणित' रोग का वर्णन किया है। यद्यपि वातदोष से सम्बन्धित होने के कारण इसे भी पहले दिया जा सकता था, किन्तु निदान की विशेषता के कारण दोष, दूष्यों के पृथक्-पृथक् होने के कारण इसका वर्णन यहाँ किया गया है। वातरक्त तथा रक्तगतवात को एक ही नहीं समझना चाहिए, क्योंकि रक्तगतवात में रक्तधातु दूषित नहीं होती है, अपितु केवल वातदोष ही दूषित होता है, यही भेद है।

वातशोणित की निरुक्ति—'वातशोणिताभ्यां जनितो व्याधिः, किं वा वातशोणिते एव अवस्थान्तरप्राप्ते वातशोणितम्'। चक्रः।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १९। च० नि० अ० २९। सु० नि० अ० १। सु० चि० अ० ५। अ० सं० नि० अ० १६। अ० सं० चि० अ० २४। अ० हृ० नि० अ० १६। अ० हृ० चि० अ० २२।

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्वसुम् । पृष्टवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥३॥
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः । हेतुलक्षणभैषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत् ॥४॥

अग्निवेश के प्रश्न—अग्निहोत्र-विधि से हवन कर लेने के बाद, अर्थात् अपना दैनिक आह्निकक्र समाप्त करके ऋषिगण के बीच में विराजमान अग्नि के सदृश तेजस्वी एकाग्र होकर बैठे हुए गुरु पुनर्वसु से उनके शिष्य अग्निवेश ने पूछा—भगवन् ! अग्नि और वायु के समान वातदोष और रक्तधातु के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले वातशोणित रोग के कारण, लक्षण और चिकित्सा का उपदेश करें। उनके इस प्रकार पूछने के बाद गुरु ने इनसे कहा।

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः । क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥५॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः । दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥६॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः । प्रायशः सुकुमाराणां [1]मिष्टान्नसुखभोजिनाम् ॥७॥
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम् ।

वातरक्तरोग के कारण—नमकीन, खट्टा, कडुवा (कालीमिर्च आदि कटुरस-प्रधान द्रव्य), क्षार (जवाखार आदि), स्निग्ध तथा उष्णवीर्य युक्त पदार्थों का अधिक सेवन करने से, अजीर्ण रहने पर भी भोजन कर लेने से, क्लिन्न (सड़े हुए), सूखे हुए, पानी में उत्पन्न होने वाले (मछली आदि) प्राणियों के मांस का सेवन करने से, आनूपदेशज प्राणियों (सूअर, भैंसा आदि) के मांस का सेवन करने से, खली, मूली, कुलथी, उड़द, सेम आदि का शाक, मांस, ईख, दही, काँजी, सौवीर, सिरका, मट्ठा, सुरा, आसव, विरुद्ध भोजन, अध्यशन (पहले खाए हुए भोजन के बिना पचे ही पुनः भोजन कर लेना), अधिक क्रोध, दिन में सोना, रात्रि में जागना, इन कारणों से, प्रायः जो सुकुमार व्यक्ति हैं, जो मधुर आहार का सुखपूर्वक भोजन करते हैं तथा जो इधर-उधर चलते-फिरते-घूमते नहीं, उन पुरुषों का वातदोष तथा रक्तधातु एक साथ कुपित हो जाता है।

अभिघातादशुद्धया च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् ॥ ८ ॥
कषायकटुतिक्ताल्परूक्षाहारादभोजनात् । [2]हयोष्ट्रयानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनैः ॥९॥
उष्णे [3]चात्यध्ववैषम्याद् व्यवायाद् वेगनिग्रहात् । वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि ॥१०॥
कृत्स्नं सन्दूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् । खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः ॥११॥

वातरक्त की सम्प्राप्ति—आघात (चोट) लगने से, समय-समय पर उचित प्रकार से वमन-विरेचन आदि कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि न करने से, मानव के शरीर में रक्त के दूषित हो जाने पर, इसके साथ ही कषाय, कटु, तिक्तरस-प्रधान पदार्थों का सेवन करने से, अल्प एवं रूक्ष आहारों का निरन्तर सेवन करने से अथवा भोजन का सर्वथा परित्याग कर देने से, घोड़ा, ऊँट की सवारी करने से, अधिक जल-क्रीड़ा करने से, पानी में तैरने से, कूदने-फाँदने से, गर्मी के दिनों में अधिक रास्ता चलने से, अधिक मैथुन करने से, मल-मूत्र आदि अधारणीय वेगों को रोकने से शरीर में वायु की वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में बढ़े हुए तथा दूषित रक्त द्वारा वायु का मार्ग रुक जाता है, तदनन्तर वह बढ़ा वायु शरीरस्थ सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देता है, उसे वातशोणित या वातरक्त समझना चाहिए। इस प्रकार दूषित 'वातरक्त' को वातशोणित, खुडरोग, वातबलास तथा आढ्यवात इन नामों से जानना चाहिए।

वक्तव्य—इस सम्प्राप्ति में पहले रक्त को दूषित करने वाले कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है। यथा—अभिघात आदि कारणों से तथा शरीर की सम्यक् शुद्धि न हो पाने से रक्त दूषित हो जाता है। इसके बाद वात को दूषित करने वाले कारणों का वर्णन 'कषायकटु' से लेकर 'वेगनिग्रहात्' तक किया गया है। कुपित हुई वायु जब शरीर में भ्रमण करना चाहती है, तो उसका मार्ग दूषित रक्त द्वारा स्रोतों के मार्गों के रुक जाने से अवरुद्ध हो जाता है। अतः वह कुपित होकर पहले से दूषित रक्तधातु को पुनः दूषित कर देता है।

वातरक्त के पर्याय—वृद्धवाग्भट ने भी वातशोणित के वे ही पर्याय दिये हैं, जिनका उल्लेख चरक में किया गया है। देखें—अ० सं० नि० अ० १६।२-५। सुश्रुत ने इसे स्पष्ट शब्दों में 'वातरक्त' कहा है। देखें—सु० नि० अ० १।४०-४४। आगे सुश्रुत ने उसी बात को चिकित्सास्थान में भी दुहराया है, उसे भी देख लें—सु० चि० अ० ५।५। हमारे विचार से दोनों स्थानों के कथ्य में विस्तार तथा संक्षेप मात्र का अन्तर है। सुश्रुत ने 'ऊरुस्तम्भ' को 'आढ्यवात' की संज्ञा दी है, किन्तु यह मत उन्होंने दूसरे आचार्यों का उद्धृत किया है। वातरक्त और वात-शोणित ये परस्पर पर्याय वाचक हैं।

1. 'मिष्टान्नरसभोजिनाम्' इति, 'मिथ्याहारविहारिणाम्' इति च पा०।
2. 'हयोष्ट्रखरयानाम्बु' इति पा०।
3. 'चात्यध्वगमनात्' इति पा०।

वातबलासक—वृद्धवाग्भट ने ज्वर-भेद के रूप में इसका वर्णन किया है—'नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शीतः कृच्छ्रेण सिद्ध्यति। स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो भवेद् वातबलासकः' ॥ अ० सं० नि० अ० २।९६। ज्वर-प्रकरण में कहा गया यह 'वातबलासक' रोग प्रस्तुत रोग से सर्वथा भिन्न है। श्रीचक्रपाणि ने 'वातबलास' रोग की परिभाषा इस प्रकार दी है—'वातस्य आवरणेन बलम् अस्ति अस्मिन् शोणिते, इति वातबलासः'।

खुडरोग-परिचय—'खुड' धातु खञ्जता तथा भेदन अर्थ का सूचक है। उसी को चरितार्थ करने वाला यह रोग है। सुश्रुत, वाग्भट आदि ने एक 'वातकण्टक' अथवा 'खुडक या खुड्डक' नामक रोग का परिचय इस प्रकार दिया है—'न्यस्ते तु विषमं(मे) पादे रुजः कुर्यात् समीरणः। वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुड्डकाऽऽश्रितः' ॥ सु० नि० अ० १।७९। यह रोग पैर की एड़ी में अथवा पैर एवं जाँघ की सन्धियों में आश्रित होता है, जैसा कि आगे कहा जायेगा। सामान्य दृष्टि से इसे 'मोच' कहते हैं। वाग्भट के अनुसार—'रुक्पादे विषमन्यस्ते श्रमाद् वा जायते यदा। वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम्' ॥ अ० हृ० नि० अ० १५।५३। इसका प्रभाव गुल्फसन्धि (Ankle joint) में विशेष रूप से होता है, जिसे श्रीचक्रपाणि ने भी स्वीकार किया है—'खुडदेशप्राप्त्या खुडः। खुडशब्देन सन्धिरुच्यते'। चरक-शारीरस्थान अध्याय ३ में प्रयुक्त 'खुड्डिका' शब्द इससे सर्वथा भिन्न है।

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः । कृत्वाऽऽदौ हस्तपादे तु मूलं देहे विधावति ॥१२॥

वातरक्त के स्थान—यह रोग दोनों हाथों, पैरों, अंगुलियों तथा शरीर की सभी सन्धियों में अपना स्थान बना लेता है। उसमें भी सबसे पहले यह रोग हाथ-पैरों में अपनी जड़ जमाकर तदनन्तर सम्पूर्ण शरीर में दौड़ता (शीघ्रता से फैलता) है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने उक्त विषय को अपनी संहिता में इस प्रकार कहा है—'पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्-धस्तयोरपि। आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति' ॥ सु० नि० अ० १।४८। **आखोर्विषमिव**—जिस प्रकार चूहे का विष पहले शरीर के किसी एक स्थान पर प्रविष्ट होकर तदनन्तर शीघ्रता से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, उसी प्रकार यह वातरक्त रोग भी फैल जाता है। आखु (चूहे) के विष की गति, प्रभाव आदि का परिचय प्राप्त करने के लिए सु० क० अ० ७ का अध्ययन करें।

आधुनिक दृष्टि से उक्त रोग को अनेक भागों में बाँटा जा सकता है। मूल रूप से यह वातरक्त गठिया (Gout) कहा जाता है। इसी के भेद हैं—लघु सन्धिवात (Rheumatoid arthritis) तथा बृहत् सन्धिवात (Osteoarthritis)।

सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा । तद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च देहं गच्छन् सिरायनैः ॥
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते । स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ॥१४॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात् प्रायेण सन्धिषु । भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम् ॥

वातरक्त की विशेष सम्प्राप्ति—वायु सूक्ष्म होने के कारण और सर्वत्र गतिशील होने के कारण वह शरीर की सभी सन्धियों तथा सभी स्रोतों में फैलने वाला होता है। रक्तधातु भी द्रव तथा सर गुण वाला होने के कारण वात के साथ सिरामार्गों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। शरीर में सन्धि-स्थलों के टेढ़े होने के कारण वहाँ वातरक्त की गति में रुकावट आ जाती है, फलतः वह आगे की ओर को न जा सकने के कारण वहीं क्षुब्ध होकर रह जाता है या रुक जाता है, उसके बाद रुका हुआ वह वातरक्त पित्त आदि दोषों से मिलकर अनेक प्रकार की वेदनाओं को उत्पन्न करता है। उन्हीं सन्धियों में वह विशेषकर कष्टकारक होता है, जहाँ-जहाँ वह रुक जाता है। वे सभी वेदनाएँ मनुष्यों के लिए असह्य होती हैं।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने अपनी संहिता के उत्तरतन्त्र अध्याय ५६ में आमदोष का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'यत्रस्थमामं विरुजेत् तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः। दोषेण येनावततं स्वलिङ्गैस्तं लक्षयेदाम-

समुद्भवैश्च' ॥ इसी शैली पर यहाँ भी विचार किया गया है। आमदोष जहाँ भी स्थित हो जाता है, वहाँ रोग तथा वेदना को उत्पन्न कर देता है, केवल इस रोग में सन्धि का कोई विशेष बन्धन नहीं है। आम जिस दोष से व्याप्त होता है, उस दोष के लक्षणोंवाले विकारों को वह पैदा कर देता है, यही स्थिति इस वातरक्त रोग की भी है।

स्वेदोऽत्यर्थं न वा काष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्। सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु। निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥१७॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्। वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक् पूर्वलक्षणम्॥

वातरक्त रोग के पूर्वरूप—पसीना का अधिक आना अथवा पसीना का जरा भी न निकलना, शरीर का काला पड़ जाना, स्पर्श का ज्ञान न होना, चोट लगने पर अधिक कष्ट का अनुभव होना, सन्धियों में शिथिलता, आलस्य का बना रहना, शरीर में अवसाद (हल्की-हल्की पीड़ा), पिडकाओं की उत्पत्ति, जानु, जंघा, ऊरु, कमर, अंस (कन्धा), हाथ, पैर, शरीरगत सन्धियों में सुई चुभाने की भाँति पीड़ा का अनुभव होना, अंगों का फड़कना, भेद (फटने की-सी पीड़ा का होना), शरीर में भारीपन, सुप्ति तथा सन्धियों में खुजली का होना, बार-बार सन्धियों में पीड़ा होकर नष्ट हो जाना, शरीर में विवर्णता (स्वाभाविक वर्ण का अभाव), शरीर पर चकत्तों की उत्पत्ति—ये सभी वातरक्त रोग के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने इसके जो लक्षण दिये हैं, उन्हें भी देखें—सु० नि० अ० १।४७। यहाँ तन्त्रकार ने 'स्पर्शाज्ञत्व' तथा 'सुप्ति' दो शब्दों का प्रयोग किया है। वैद्यकशब्दसिन्धु ने मेदिनीकोष का उद्धरण देते हुए दोनों को परस्पर एकार्थवाची कहा है। किन्तु तन्त्रकार इस प्रकार पुनरुक्ति दोष करें, यह सम्भव नहीं है। स्पर्शाज्ञत्व का अर्थ अपने में स्पष्ट है, अतः अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले सुप्ति शब्द पर ध्यान दें। इसका प्रयोग इन अर्थों में होता है—निद्रा, सुस्ती, ऊँघ, बेहोशी, लकवा, स्तम्भ, जाड्य। इनमें से यहाँ स्तम्भ या जड़ता अर्थों का ही औचित्य प्रतीत होता है।

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत् प्रचक्षते। त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥१९॥

वातरक्त के भेद—यह वातरक्त रोग दो प्रकार का होता है—१. उत्तान और २. गम्भीर। इनका परिचय—जो वातरक्त त्वचा और मांस में आश्रित होता है, उसे 'उत्तान' कहते हैं तथा जो वातरक्त रक्त, मांस, मेदा आदि भीतरी धातुओं में आश्रित होता है, उसे 'गम्भीर' कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने उक्त मत का इस प्रकार विरोध किया है—'द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते, तत्तु न सम्यक्, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढी भवति, तस्मान्न द्विविधम्'। सु० नि० अ० ५।३। वास्तव में सुश्रुत तथा चरक का यह मतभेद इसलिए है—चरक में चिकित्सा के दृष्टिकोण से इसे दो प्रकार का माना गया है और सुश्रुत ने कारण की दृष्टि से इसे एक कहा है—'तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन तत् प्राबल्या-दुच्यते वातरक्तम्'। सु० नि० अ० १।४४। वृद्धवाग्भट के वचनों पर भी ध्यान दें—'त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत् पूर्वं जायते पुनः। कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवत्' ॥ अ० स० नि० अ० १६।९-१० तथा अ० हृ० नि० अ० १६।८। इसके आगे दो प्रकार के वातरक्त के लक्षण भी दिये गये हैं। देखें—अ० हृ० नि० अ० १६।९-११।

कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः। अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथेष्यते ॥२०॥

उत्तान वातरक्त के लक्षण—बाहरी (उत्तान) वातरक्तरोग में खुजली, दाह, पीड़ा, आयाम (तनाव), सुई चुभाने की-सी पीड़ा, अंगस्फुरण, शरीरावयव में सिकुड़न, इन लक्षणों का स्पष्ट प्रभाव त्वचा पर दिखलायी देता है और त्वचा का वर्ण श्यावरक्त (लालिमा युक्त गहरा भूरे रंग वाला) तथा ताँबे के वर्ण का हो जाता है।

गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्।
श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ॥ २१ ॥

गम्भीर वातरक्त के लक्षण—इसमें अंशविशेष में सूजन, जकड़न, स्पर्श करने पर सूजन का स्थान कड़ापन लिया हुआ, भीतर से अत्यन्त पीड़ा युक्त, उस स्थान की त्वचा का वर्ण श्याव (गहरा भूरे रंग वाला) अथवा ताम्रवर्ण का हो जाता है, सन्धियों में दाह (जलन), तोद (सुई चुभाने की जैसी पीड़ा से युक्त), स्फुरण (फरफराहट) और पाकवान् (पकने वाला) होता है।

रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु। छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ॥
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्। सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ॥२३॥

उभयाश्रित वातरक्त के लक्षण—पीड़ा तथा दाह को उत्पन्न करती हुई प्रकुपित वायु सन्धियों (जोड़ों), अस्थियों एवं मज्जा में बार-बार काटने की-सी पीड़ा को पैदा करती हुई अथवा हड्डियों को भीतर से टेढ़ा करती हुई वेगवान् वायु भीतर ही भीतर घूमती रहती है। वह शरीर में चारों ओर घूमती हुई रोगी को खंज (लंगड़ा या विकलांग) अथवा पंगु (लूला) बना देती है। जब सभी प्रकार के वातरक्त (उत्तान तथा गम्भीर) के लक्षण यदि एक रोगी में आश्रित हों तो उस वातरक्त को उभयाश्रित समझना चाहिए।

तत्र वातेऽधिके वा स्याद् रक्ते पित्ते कफेऽपि वा। संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम् ॥

वातरक्त के भेद—यह रोग वातदोष की अधिकता से, रक्त की अधिकता से, पित्त की अधिकता से, कफ की अधिकता से, मिलित दोषों की अधिकता से, जैसे—वातपित्तज, वातकफज, कफपित्तज, तीनों दोषों के मिलने से (सन्निपातज) वातरक्त के जो लक्षण होते हैं, उनके लक्षणों को सुनो।

वक्तव्य—इस प्रकार यह वातरक्त रोग दोष, दूष्य, संसृष्ट तथा त्रिदोषज भेद से आठ प्रकार का होता है।

विशेषतः सिरायामशूल[1]स्फुरणतोदनम्। शोथस्य काष्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः ॥२५॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्। कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलेऽधिके ॥२६॥

वातज वातरक्त के लक्षण—वातदोष की अधिकता के कारण उत्पन्न वातरक्तरोग में प्रधानरूप से सिराओं में आयाम (तनाव या खिंचाव), शूल, फरफराहट या अंगस्फुरण, सुई चुभाने के समान कष्ट का अनुभव होना, सूजन के स्थान का रंग काला पड़ जाना, रूक्षता युक्त होना, श्याववर्ण का हो जाना, सूजन का कभी घट जाना या कभी बढ़ जाना, धमनियों, अंगुलियों और शरीर की सन्धियों में सिकुड़न का आना, शरीरावयवों में जकड़न, अत्यन्त पीड़ा का होना, आकुञ्चन, स्तम्भन (जड़ता) तथा शीतल आहार-विहार से रोगी को सहज द्वेष हो जाता है।

[2]श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते। स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि[3] ॥२७॥

रक्तज वातरक्त के लक्षण—दूषित रक्त की अधिकता के कारण उत्पन्न वातरक्त रोग में अत्यन्त पीड़ा युक्त शोथ होता है, उस स्थान में सुइयाँ चुभाने की भाँति वेदना होती है, उस शोथ स्थान का वर्ण ताँबे के सदृश दिखलायी देता है, वहाँ पर सरसों के तेल को लगाने जैसी चुनचुनाहट होती है। यह रोग स्निग्ध (स्नेह युक्त) तथा रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता है और इसमें कण्डू (खुजली) तथा क्लिन्नता (गीलापन या सड़न) होती है।

विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः। रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥

पित्तज वातरक्त के लक्षण—इस रोग में जिस अवयव पर रोग का आक्रमण हुआ रहता है, वहाँ जलन, वेदना, मूर्च्छा (यह पित्त-प्रधान लक्षण है), पसीना का अधिक आना, प्यास का लगना, मद, चक्करों का आना, उस स्थान पर लालिमा का दिखलायी देना, पक जाना, भेद (चीरने के समान कष्ट का होना), और अंगों में शोष (उनका सूख जाना)—ये लक्षण कहे गये हैं।

वक्तव्य—प्रायः ये ही लक्षण वृद्धवाग्भट ने भी कहे हैं। देखें—अ० सं० नि० अ० १६।१६।

स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे। हेतुलक्षणसंसर्गाद् विद्याद् द्वन्द्वत्रिदोषजम् ॥२९॥

कफज वातरक्त के लक्षण—इसमें कफ की अधिकता होने से सम्पूर्ण शरीर गीले कपड़े से लपेटा है, ऐसा अनुभव रोगी को होता है। शरीर में भारीपन, शरीर में चिकनाहट, सुप्ति (शून्यता) तथा मन्द-मन्द वेदना होती है। जिस वातरक्त रोग में दो दोषों के कारण और लक्षण पाये जायें तो उन्हें द्वन्द्वज वातरक्त कहते हैं और यदि तीनों दोषों के लक्षण पाये जायें, तो उसे त्रिदोषज वातरक्त कहते हैं।

१. 'तोदस्फुरणभेदनम्' इति पा०।
२. 'रक्ते शोथोऽतिरुक्' इति पा०।
३. 'भृशम्' इति पा०।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने पूर्ववर्ती टीकाकारों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—'द्विविधस्यापि वातशोणितस्य पूर्वटीकाकृद्भिः पञ्चचत्वारिंशद् भेदा उक्ताः'। खरनादेन तु प्रकारान्तरेण षट्त्रिंशद् विधमुक्तम्। उक्तं हि—'वातोत्तरं प्रवृद्धासृक् पञ्चत्रिंशद् विधं मतम्। पित्तात् त्रिंशद् विधं योगात् कफाद् दशविधं मतम्'॥ इसके अनुसार वात, पित्त, कफ के क्रमशः ३५+३०+१०=७५ भेद होते हैं। ऊपर श्लोक २४ में कहे गये आठ भेदों में यहाँ केवल वात, रक्त, पित्त तथा कफजनित वातरक्त के लक्षणों का तन्त्रकार ने पृथक् निर्देश किया है। शेष द्वन्द्वज एवं सन्निपातज भेदों का सूत्ररूप में संकेत कर दिया है। वास्तव में पूर्व टीकाकारों की रोग-भेद वर्णनशैली इस प्रकार रही है—वे एक दोष अधिक, दो दोष अधिक, तीन दोष अधिक और सभी दोषों की अधिकता से बाहरी तथा भीतरी भेद वाले वातरक्त के ४५ भेदों को स्वीकार करते हैं।

सुश्रुत के अनुसार—जब वातरक्त रोग में वातदोष की अधिकता रहती है, तब पैरों में स्पर्श की क्षमता नहीं रहती, तोद (सुई चुभने की-सी पीड़ा), भेद (फटने का-सा अनुभव), प्रशोष (शुष्कता) तथा स्वाप (स्पर्श-ज्ञान का अभाव) होता है। जब पित्त एवं रक्त की प्रधानता होती है, तब तेज जलन, अत्यन्त उष्णता, लालरंग की मुलायम सूजन होती है। जब कफ की अधिकता होती है, तब पैरों में खुजली, पैरों का वर्ण सफेद तथा स्पर्श में शीतल होता है, पैरों में सूजन हो जाती है, अतः वे मोटे हो जाते हैं साथ ही पैरों में जड़ता होती है। जब तीनों दोष वातरक्त में मिले रहते हैं, तब सभी दोषों के लक्षण पैरों में दिखलायी देते हैं। देखें—सु० नि० अ० १।४५-४६।

एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद् यस्य च स्युरुपद्रवाः॥३०॥

वातरक्त की साध्यादि अवस्थाएँ—यह वातरक्त जब किसी एक दोष से उत्पन्न होता है, तो वह नवीन रहने पर साध्य होता है, द्विदोषज नया वातरक्त याप्य (चिकित्सा के बल पर ले चलने योग्य) तथा तीन दोषों (वात, पित्त, कफ) से एवं उपद्रवों से युक्त होने पर वातरक्त असाध्य होता है। उपद्रवों का उल्लेख आगे किया है।

अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः। मूर्च्छायमदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः॥३१॥
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः। अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः॥३२॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत्।

वातरक्त के उपद्रव—अस्वप्न (नींद का न आना), भोजन के प्रति रुचि का न होना, श्वास की गति में तीव्रता, मांसकोथ (जिस अवयव में वातरक्त रोग हो उस स्थान के मांस का सड़ना), शिर में जकड़न, मूर्च्छा (बेहोशी का होना), मद (मद्यपान किये हुए पुरुष की-सी स्थिति), पूरे शरीर में पीड़ा, प्यास, ज्वर, मोह (विवेकहीनता), प्रवेपक (शरीर में कँपकँपी का होना), हिचकियों का बार-बार आना, पंगुता, विसर्परोग, रुग्ण स्थान का पक जाना, तोद (सुई चुभाने की-सी पीड़ा), भ्रम (चक्करों का आना), क्लम (थकावट), अंगुलियों का टेढ़ा होना, स्फोटों (फफोलों) का निकलना, दाह, मर्मस्थानों में जकड़ाहट तथा अर्बुदों का उत्पन्न होना, इन उपद्रवों से युक्त वातरक्त के रोगी को असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिए अथवा केवल मोह के लक्षण को देखकर ही उस रोगी को असाध्य समझना चाहिए।

वक्तव्य—वातरक्त रोग में मोह (विवेकशून्यता) नामक एक प्रधान उपद्रव ऐसा है, जिसके होने पर उक्त रोगी को असाध्य मान लेना चाहिए तथा अन्य लक्षणों पर भी ध्यान देना चाहिए। सुश्रुत के अनुसार—'आजानुस्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्। उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः॥ शोणितं तदसाध्यं स्याद् याप्यं संवत्सरोत्थितम्'॥ सु० नि० अ० १।४९। श्रीजयदेव 'मोहेनैकेन' के स्थान पर 'मेहं नैकेन' पाठ की चर्चा करते हैं। किन्तु आगे जो उन्होंने अर्थ दिया है—'अर्थात् यदि प्रमेह अकेला ही उपद्रव हो'—उक्त पाठ का ऐसा अर्थ नहीं हो सकता है, आप भी ध्यान दें।

सम्प्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत्॥ ३३॥
वर्जयेच्चैव सङ्कोचकरमिन्द्रियतापनम्। अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्॥३४॥

असाध्य वातरक्त के अन्य लक्षण—वातरक्त रोगी के जिस अवयव से व्रण फूटकर पूय का स्राव हो रहा हो, उस स्थान की त्वचा का वर्ण विकृत हो गया हो, उस स्थान पर जकड़न हो, अर्बुद की उत्पत्ति हो रही हो, अंगों में उसके कारण संकोच (सिकुड़न) पैदा हो रहा हो तथा इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) में सन्ताप उत्पन्न हो रहा हो तो वह वातरक्त का रोगी असाध्य होता है, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। यदि चिकित्सा करना आवश्यक ही हो, तो उसके अभिभावकों को इस असाध्यता की सूचना दे देनी चाहिए, जिससे चिकित्सक की विज्ञता बनी रहे।

याप्य वातरक्त के लक्षण—जिस वातरक्त के रोगी में सम्पूर्ण उपद्रव न दिखलायी देते हों, किन्तु कुछ उपद्रव दिखलायी दे रहे हों, उसे याप्य (चिकित्सा करते रहने पर स्वास्थ्य-लाभ और छोड़ देने पर पुनः पूर्ववत् हो जाने वाली स्थिति वाला) समझना चाहिए।

साध्य वातरक्त के लक्षण—जिस वातरक्त के रोगी में कोई उपद्रव (ऊपर श्लोक ३१ तथा ३२ में कहे गये) न हों और जो वातरक्त पुराना न हो चुका हो, वह साध्य होता है। समय पर उसकी चिकित्सा कर लेने से सफलता मिलती है।

वक्तव्य—यहाँ 'निरुपद्रव' शब्द का अर्थ कुछ टीकाकार 'बहुत कम उपद्रव' करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से 'नञ्' पद के छः अर्थों में एक अर्थ 'अप्राशस्त्य' भी है। अतः उनका कथन सत्य हो सकता है, किन्तु 'साध्य' की परिधि में उपद्रवों का सर्वथा अभाव ही ग्राह्य होता है, जैसा कि तन्त्रकार ने स्वयं कहा है—'अकृत्स्नोपद्रवं याप्यम्'। 'इन्द्रियतापन' शब्द से मनःसन्ताप का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रसंग में सु० नि० अ० १।४९ का भी अवलोकन करें।

रक्तमार्गं [1]निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः। निविश्यान्योन्यमा[2]वार्य वेदनाभिर्हरेदसून्॥३५॥

वातरक्त की असाध्यता में कारण—प्रकुपित वायु शाखाओं (हाथ-पैरों) में तथा सन्धियों में प्रविष्ट होकर शीघ्र ही रक्त के मार्ग को रोक देती है, इधर बढ़ा हुआ रक्त वायु के मार्ग को रोक देता है। इस प्रकार परस्पर वायु तथा रक्त द्वारा एक-दूसरे के मार्ग को रोक देने के कारण जो वेदना उत्पन्न होती है, उसके कारण रोगी के प्राण निकल जाते हैं।

तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकःसूच्यलाबुभिः। प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम्॥३६॥

वातरक्त की चिकित्सा—इस रोग में शृंग (सिंगी), जोंक, सुई, अलाबु (तुम्बी), प्रच्छन (हल्का-सा छीलना) तथा सिरावेध या सिरामोक्ष विधि से दोष के अनुसार अथवा रोगी तथा रोग के बल को देखकर रक्त को निकलवाना चाहिए।

वक्तव्य—चरकोक्त वातरक्त-चिकित्सा के लिए सु० सू० अ० ८ तथा सु० सू० अ० १३ का अध्ययन भली-भाँति कर लें। ऊपर ३५वें श्लोक में जिस असाध्यावस्था का संकेत है, उस स्थिति में आने के पहले ही वातरक्त की उक्त चिकित्सा का प्रयोग कर लेना चाहिए। यहाँ पर महर्षि आत्रेय के पूर्वोक्त वचनों का भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए। देखें—च० चि० अ० २१।६९ से ७१ तक।

[3]रुग्दाहशूलतोदार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा। शृङ्गैस्तुम्बैर्हरेत् सुप्तिकण्डूचिमिचिमायनात्॥३७॥

वातरक्त में रक्तमोक्षण—इस रोग में यदि पीड़ा, दाह (जलन), शूल, सुई चुभाने के समान वेदना से रोगी दुःखी हो तो जोंक लगाकर वेदना युक्त स्थान से रक्तस्रावण कराना चाहिए। यदि रोग से आक्रान्त स्थान पर सुप्ति (शून्यता), खुजली अथवा चुनचुनाहट (जैसा सरसों का तेल लगाने से अनुभव होता है) हो तो सिंगी या तुम्बी लगाकर उस स्थान से रक्त निकलवाना चाहिए। सिंगी या तुम्बी से रक्त निकालने के पहले उस स्थान को तेज चाकू आदि से हल्का छील लेना चाहिए।

देशाद् देशं व्रजत् स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा। अङ्गग्लानौ न तु स्राव्यं [4]रूक्षे वातोत्तरे च यत्॥

---

१. 'विहत्याशु' इति पा०।
२. 'आबाध्य' इति पा०।
३. 'रुग्दाहतोदरागार्ताद्' इति पा०।
४. 'रूक्षं वातोत्तरं च यत्' इति पा०।

रक्तमोक्षण का निषेध—वातरक्त से उत्पन्न उपद्रव यदि एक अवयव से दूसरे अवयव की ओर जा रहे हों, अर्थात् स्थिर न होकर इधर-उधर चलायमान हों, तो सिरामोक्षण द्वारा अथवा प्रच्छन-क्रिया द्वारा (उस स्थान को हल्का छील कर) रक्तस्राव कराना चाहिए। यदि अंगों में ग्लानि (अंगों का सूखना या उत्साह हीनता) हो, रूक्षता प्रतीत हो रही हो तथा वातदोष की प्रधानता हो, तो ऐसे वातरक्त रोग में रक्तस्राव नहीं कराना चाहिए।

गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान्।
ग्लानिं चापि ससङ्कोचां कुर्याद् वायुरसृक्क्षयात् ॥ ३९ ॥

रक्तमोक्षण से हानि—ऊपर कहे गये (अंगग्लानि, रूक्षता, वातदोष की अधिकता आदि) रक्तमोक्षण के निषिद्ध अवसरों पर भी वातरक्त रोग में रक्तमोक्षण कराया गया हो तो उस अवसर पर हुए रक्तक्षय के कारण प्रकुपित हुआ वातदोष गम्भीर सूजन, जकड़न, शरीरावयवों में कम्पन, स्नायुगत तथा सिरागत रोगों को एवं शरीरावयवों में संकोच (सिकुड़न) के साथ ग्लानि (अंगों का सूखना) लक्षणों को उत्पन्न कर देता है।

खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं चात्यवसेचनात्।
कुर्यात् तस्मात् प्रमाणेन स्निग्धाद् रक्तं विनिर्हरेत् ॥ ४० ॥

अधिक रक्तमोक्षण से हानि—यदि शस्त्र-प्रयोग से अथवा शरीर-सम्पत्ति की मात्रा से अधिक रक्तस्राव हो जाता है या करा दिया जाता है, तो वह खञ्जता (लँगड़ापन या विकलांगता) आदि वातरोगों का अथवा मृत्यु का कारण हो जाता है। अतः स्नेहन-क्रिया करने के बाद शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार ही रक्तस्राव कराना चाहिए।

वक्तव्य—च० सू० अ० २४ श्लोक ११ से १६ तक शोणिताश्रित रोगों का वर्णन है और शार्ङ्गधरसंहिता उत्तरखण्ड अ० १२ श्लोक १४ से १८ तक देखें। किन रोगों में रक्तस्राव कराना हितकर होता है और किन रोगों में रक्तस्राव नहीं कराना चाहिए, देखें—वही, श्लोक २० से २३ तक। ऊपर के श्लोक में 'प्रमाणेन रक्तं विनिर्हरेत्' निर्दिष्ट है। इसके लिए सु० सू० अ० १४ का अवलोकन करें। सुश्रुत के अनुसार रक्तमोक्षण में रक्त का प्रमाण—'बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः। परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे' ॥ सु० शा० अ० ८।१६। ऊपर कहा गया प्रस्थ प्रमाण मागधमान का नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार प्रस्थ ६४ तोला का होता है। कलिंगमान के अनुसार प्रस्थ का प्रमाण—'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ३।१८। अर्थात् वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण में प्रस्थ का मान १३½ पल का माना गया है, जो ५४ तोला परिमाण के बराबर होता है। और भी देखें—सु० चि० अ० ५।७। सिरावेध-क्रिया का विशद वर्णन सु० शा० अ० ८ में किया गया है। रक्तस्राव कराने के लिए सिंगी, जोंक, प्रच्छन तथा सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण किया-कराया जाता है। सिरावेध तथा प्रच्छन-क्रिया में तबीब, हकीम या भारतीय नाई भी कुशल देखे जाते हैं।

शृंग या सिंगी—मरे हुए गाय या बैल के सींग को लेकर उसे भीतर से साफ कर लिया जाता है, तदनन्तर उसके अगले भाग में एक छोटा-सा छेद कर दिया जाता है। सींग के चौड़े वाले भाग को वेदनास्थान पर रखकर सींग के दूसरे भाग को मुँह में लेकर मुख से उस स्थान के रक्त को चूसा जाता है और मुख हटाकर उस छोटे से छिद्र को मकड़ों के जाल से बन्द कर दिया जाता है। यह वह जाला है, जिसमें मकड़ी अंडे देती है, इसे अंडों के निकल जाने पर संग्रह कर लेते हैं। इस प्रकार उस स्थान पर १५-२० मिनट सिंगी को लगाये रहते हैं, फिर हटा लेते हैं। इस क्रिया से उस स्थान की दूषित वायु को खींच लिया जाता है। इस प्रकार का प्रयोग दो-तीन बार तक किया जा सकता है। इससे उस स्थान की वातजनित पीड़ा शान्त हो जाती है, फिर उसी स्थान पर तेज चाकू, उस्तरा, ब्लेड आदि से हलका काट कर (पच्छ लगाकर) उस स्थान का दूषित रक्त चूस लिया जाता है।

तुम्बी-प्रयोग—पीड़ित स्थान पर जलता हुआ दीपक रखकर उसके ऊपर तुम्बी को रख दिया जाता है, पर्याप्त गरम हो जाने पर उसे सावधानी से खींच लेते हैं। ऐसा करने से उस स्थान की कुपित वायु का निर्हरण

हो जाता है। तदनन्तर पच्छ लगाकर उस स्थान के दूषित रक्त को सावधानी से चूस लिया जाता है। वह चूसा गया रक्त किसी स्थिति में चिकित्सक के मुख तक नहीं पहुँचना चाहिए। इसमें यही कुशलता है।

सिरावेध—महर्षि सुश्रुत ने 'सिराव्यधश्चिकित्सार्धं' सु० शा० अ० ८।२३। सिरावेध को शल्यतन्त्र में आधी चिकित्सा कहा है और कायचिकित्सा में वस्ति-प्रयोग को वही महत्त्व दिया गया है। वास्तव में दोनों ही सिद्धान्त चिकित्साकाल में अविस्मरणीय हैं।

विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः। रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद् वस्तिकर्म च ॥४१॥
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः। वातरक्ते प्रशस्यन्ते—

वातरक्त में चिकित्सा-क्रम—इसमें सामान्य विधि से सबसे पहले स्नेहन-क्रिया कर लेने के बाद उस रोगी को स्नेह युक्त विरेचन द्रव्यों से अथवा रूक्ष एवं मृदुविरेचन द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। तदनन्तर बार-बार अनुवासनवस्ति तथा निरूहवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। परिषेक के लिए प्रायः उन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग कराना चाहिए, जो दाहकारक न हों। ऐसे द्रव्यों के कल्कों द्वारा प्रदेह (लेप), उन्हीं द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ रस से पकाये गये स्नेहों द्वारा अभ्यंग (मालिश) तथा उन्हीं अविदाही द्रव्यों के क्वाथरस से अन्न आदि को तैयार कराकर प्रयोग कराना प्रशंसित है।

वक्तव्य—यहाँ मृदुविरेचनों का विधान किया गया है, अतः वातरक्त के रोगी को तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों का प्रयोग कदापि नहीं कराना चाहिए, क्योंकि अधिक विरेचन हो जाने से वात का प्रकोप बढ़ जाता है। यह स्थिति वातरक्त रोगी के लिए घातक होती है। अतः तन्त्रकार ने कहा है—'मृदुभिः विरेचनैः विरेच्यः'। इस आत्रेय शासन का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

यहाँ वस्तिकर्म से अनुवासन एवं निरूहण दोनों वस्तियों का प्रयोग रक्तस्रावण तथा विरेचन आदि विधियों के साथ समय-समय पर करते-कराते रहना चाहिए। विरेचन शब्द से वमन का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इस विचार की पुष्टि के लिए देखें—'तत्र दोषहरमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्, उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसंज्ञां लभते'। च० वि० अ० १।४। इस रोग में स्नेहन-चिकित्सा का प्रयोग करें, किन्तु स्वेदन का प्रयोग न करें।

—विशेषं तु निबोध मे ॥ ४२ ॥

बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः। विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥४३॥

वातरक्त चिकित्सा में विशेषता—वातरक्त की चिकित्सा के सम्बन्ध में मुझसे सुनो—बाहरी (उत्तान) वातरक्त रोग में आलेपन (प्रदेह, लेप आदि), अभ्यंग (मालिश), परिषेक (स्नान), उपनाहन (पुल्टिस) द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। गम्भीर वातरक्त में विरेचन, आस्थापनवस्ति तथा स्नेहपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में उक्त चिकित्सा-विधि को इस प्रकार दिया है—'बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनैः। विरेकास्थापनस्नेहपानैरान्तरमाचरेत्' ॥ अ० सं० चि० अ० २४।१६। इनका 'बाह्य' के साथ 'आन्तर' प्रयोग रुचिकर है, किन्तु 'उपनाहनैः' के स्थान पर 'अवगाहनैः' प्रयोग विचारणीय है।

सर्पिस्तैलवसामज्जापानाभ्यञ्जनवस्तिभिः। सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ॥४४॥

वात-प्रधान वातरक्त-चिकित्सा—इसमें घृत, तैल, वसा मज्जा इनका पीने के रूप में, मालिश के रूप में तथा अनुवासनवस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिए। सुखोष्ण (गुनगुने) उपनाहों (पुल्टिसों) द्वारा भी रोगाक्रान्त स्थान की चिकित्सा करनी चाहिए। तन्त्रकार का यह उपदेश यहाँ सूत्ररूप में वर्णित है।

विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः। शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ॥४५॥

रक्तपित्त-प्रधान वातरक्त-चिकित्सा—इसमें मृदुविरेचन, घृतपान, दुग्धपान, वातरक्तहर औषधद्रव्यों के क्वाथ रसों से परिषेक (स्नान), अनुवासनवस्ति-प्रयोग, शीतल एवं निर्वापण प्रलेपों द्वारा रक्तपित्त-प्रधान वातरक्त रोग को जीतना चाहिए।

वक्तव्य—'शीतैः निर्वापणैः च'—यहाँ इन दो पदों को कुछ टीकाकारों ने विरेचन आदि का विशेषण माना है और कुछ ने ऊपर ४४वें पद्य में प्रयुक्त 'उपनाह' शब्द के साहचर्य से 'लेप, प्रदेह' मानकर अर्थ किया है। श्रीचक्रपाणि इस प्रसंग में मौन हैं। शीत और निर्वापण पदों को यदि हम भी विशेषण मान लें तो बात गले से नीचे नहीं उतर पा रही है। आप भी विचार करें—बाह्य अग्नि को शीतल अथवा उष्ण जल समान रूप से बुझा देता है, किन्तु शारीरिक ऊष्मा (गर्मी) को शान्त करने की विधि सर्वथा पृथक् है। इसके लिए आप अष्टांगहृदय चि० अ० ६।५८-६५ देखें और 'निर्वापणाश्च गण्डूषाः सूत्रस्थानोदिता हिताः' इस पंक्ति को स्पष्ट करने के लिए अ० हृ० सू० अ० २२।१-४ देखें। इस प्रकार यहाँ शीतस्पर्श तथा शीतवीर्य के द्रव्यों के लेपों या प्रदेहों की ओर संकेत लाभ होता है और 'निर्वापण' शब्द से गण्डूष-प्रयोग की ओर भी ध्यान जाता है, किन्तु आप कहेंगे कि वातरक्त रोग में गण्डूष से क्या प्रयोजन ? निर्वापण शब्द के और अनेक अर्थ हैं—बुझाना, समाप्त करना, शीतल उपचार, निराकरण आदि। यहाँ शीतल उपचार के लिए 'शीतैः' शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग किया ही गया है। अतः हम यहाँ उसके अतिरिक्त अन्य अर्थों का सदुपयोग कर सकते हैं। इसलिए उक्त दोनों शब्दों को विरेचन आदि का विशेषण मानने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम्। कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ॥४६॥

कफ-प्रधान वातरक्त-चिकित्सा—इसमें रोगी को मृदु (हल्का) वमन कराना चाहिए। अधिक स्नेहन, स्वेदन, लंघन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। गुनगुने लेपों का प्रयोग ही इसमें हितकर होता है। अधिक गरम या अधिक शीतल लेपों का प्रयोग इसमें नहीं करना चाहिए।

कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते। दाहशोथरुजाकण्डूविवृद्धिः स्तम्भनाद् भवेत् ॥४७॥

शीतल लेप से हानि—कफ तथा वातप्रधान वातरक्त रोग में यदि शीतवीर्य द्रव्यों का लेप लगाया जाय तो दोष अपने स्थान पर जकड़ जाते हैं, जिनके कारण शरीर में दाह (जलन), शोथ (सूजन), पीड़ा, कण्डू (खुजली) की वृद्धि हो जाती है।

रक्तपित्तोत्तरे चोष्णैर्दाहः क्लेदोऽवदारणम्। भवेत् तस्माद् भिषग्दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत्क्रियाम् ॥

उष्ण लेप से हानि—रक्त तथा पित्त-प्रधान वातरक्त रोग में यदि उष्णवीर्य वाले द्रव्यों का लेप किया जाय तो दाह, क्लेद (सड़न), अवदारण (त्वचा का फटना), ये लक्षण होने लगते हैं। इसलिए वातरक्त रोग में दोषों के बलाबल का विचार करके ही चिकित्सा करनी चाहिए।

दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा। कटूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत् ॥४९॥

वातरक्तरोग में अपथ्य—दिन में सोना, धूप में देर तक बैठना या बहुत देर तक आग सेंकना, अधिक व्यायाम, अधिक मैथुन, कटुरस वाले तथा उष्णवीर्य वाले, गुरु (देर में पचनेवाले), अभिष्यन्दि (कफकारक) अन्न-पान का तथा नमकीन तथा अम्लता युक्त द्रव्यों का सेवन न करे।

पुराणा यवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः। भोजनार्थं रसार्थं वा विष्किरप्रतुदा हिताः ॥५०॥

वातरक्तरोग में पथ्य—इसमें पुराने जौ, गेहूँ, नीवार (तिन्नी) आदि जंगली अन्नों, शालि के चावलों, सांठी के चावलों का भोजन के लिए प्रयोग करें। रस (जूस) के लिए विष्किर (बिखेर कर खाने की आदत वाले पक्षियों—मुर्गा, तीतर, बटेर आदि) तथा प्रतुद (चोंच मारकर खाने वाले बाज, तोता, कौआ आदि) पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करें।

वक्तव्य—चरक सू० अ० २७ में प्रसह, विष्किर तथा प्रतुद प्राणियों का वर्णन किया गया है।

आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः। यूषार्थं बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥५१॥

वातरक्त में पथ्य दालें—मांसरसों का सेवन न करने वालों के लिए यहाँ कुछ दालों का निर्देश किया जा रहा है—अरहर, चना, मूंग, मसूर, मोठ इनकी दालों के रस में पर्याप्त घी मिलाकर वातरक्त के रोगियों को देना उनके लिए हितकर होता है।

सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी । वास्तुकोपादिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥५२॥
घृतमांसरसैर्भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत्। व्यञ्जनार्थं, तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम् ॥५३॥

वातरक्त में हितकर शाक—इसमें सुनिषण्णक (चौपतिया), वेत्राग्र (बेत का अगला भाग; यह वसन्त ऋतु के बाद बेत के झाड़ में अनेक अंकुर के रूप में निकलते हैं, इसी को 'वेत्राग्र' कहते हैं), मकोय, शतावरी (इसके भी जड़ के पास जो नये अंकुर निकलते हैं, उनका शाक बनाकर नैनीताल, अल्मोड़ा के निवासी खाते हैं। इनका समय भी वसन्त ऋतु के बाद ही है। इसे वहाँ के लोग 'कैरुआ' कहते हैं), बथुआ, उपोदिका शाक (पोई), सौवर्चल, इनको घी तथा मांसरस (चर्बी, वसा) से भूनकर जिस रोगी को शाक अनुकूल पड़ता हो, उसे व्यंजन के लिए देना चाहिए। भोजन कर लेने के बाद उसे गाय, भैंस तथा बकरी का दूध पीने के लिए देना चाहिए, यह हितकर होता है।

वक्तव्य—'सौवर्चल' शब्द सोंचर नमक के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ उक्त शब्द का प्रयोग शाक के अर्थ में हुआ है। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'सौवर्चलमिति सूर्यावर्तशाकम्'। तब उसे इस प्रकार समझें—'सुवर्चलायाः इदं, सौवर्चलम्'। श्रीभावमिश्र ने अपने ग्रन्थ में सुवर्चला का वर्णन किया है—भा० प्र० पू० खं० गुडूच्यादिवर्ग २६३-२६५। आचार्य प्रियव्रतशर्मा ने अपने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में हुलहुल को तिलपर्णी का पर्याय माना है। भावमिश्र ने इसका उल्लेख नहीं किया है और उन्होंने तिलपर्णी के परिचायक शास्त्रीय उद्धरण न देकर एक स्वरचित श्लोक दिया है, और न 'सुवर्चला' आदि पर्यायों को ही उद्धृत किया है। इधर श्रीनरहरि पंडित भी द्रव्यर्थादिवर्ग, राजनिघण्टु पृ० ६४१ द्वारा श्रीभावमिश्र को इस प्रकार समर्थन देते हैं—'सुवर्चलं मातुलिङ्गे रुचके च, सुवर्चला। अर्कावर्ते तु।

घृतमांसरसैर्भृष्टम्—यद्यपि इस पद्यांश का स्वरूप निर्णयसागरप्रेस द्वारा १९२२ ई० के प्रथम संस्करण में 'घृतमांसरसे भृष्टम्' इस प्रकार है। अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, तथापि यहाँ कुछ विवेचन करना आवश्यक है। मांस खाने वालों तथा मांस न खाने वालों दोनों को शाक सात्म्य हो सकता है। अतः तन्त्रकार ने शुद्ध शाकाहारियों के लिए घृतभृष्ट (घी से भूने हुए) शाकों को तथा मांसाहारियों के लिए मांसरस या मांससार (चर्बी) द्वारा भूंजे गये शाकों को देने का विधान किया है।

व्यञ्जनार्थम्—'व्यज्यते अनेन, इति'—जिस या जिनके सहयोग से भोजन का स्वाद स्पष्ट हो सके, अर्थात् दाल, शाक तथा नमक, मिर्च, मसाला, चटनी आदि पदार्थ।

इति सङ्क्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम्। एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यते ॥५४॥

वातरक्त-चिकित्सा का उपसंहार—इस प्रकार यहाँ संक्षेप से वातरक्त चिकित्सा कही गयी है। ऊपर संक्षेप में कही गयी इन्हीं चिकित्साओं को आगे विस्तारपूर्वक कहा जायेगा।

श्रावणीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकैः समैः। सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥५५॥

श्रावण्यादि घृत—श्रावणी (गोरखमुण्डी), क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक तथा मुलेठी इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार करें। इस कल्क तथा गाय के दूध के साथ घृतपाक करें। अब घी मात्रानुसार सेवन करने से वातरक्त रोग का विनाश करता है।

वक्तव्य—यहाँ द्रव्यों की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है। अतः सामान्य परिभाषा के अनुसार कल्कद्रव्य से चौगुना घी लें और घी से चौगुना दूध लेकर घृतपाक करना चाहिए।

बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम्। काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नामृद्धिं च पेषयेत् ॥
घृतं चतुर्गुणक्षीरं तैः सिद्धं वातरक्तनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलाज्वरनाशनम् ॥५७॥

बलादि घृत—बला, अतिबला (ककही), मेदा, आत्मगुप्ता (किवाँच), शतावरी, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना, ऋद्धि—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर पीसकर कल्क तैयार करें। यह कल्क १ भाग, इससे चौगुना घी लें तथा घी से चौगुना गाय का दूध लेकर सविधि पाक करें। तैयार हो जाने पर उतारकर छान लें। यह बलादि घृत विधिपूर्वक सेवन करने से वातरक्त रोग, हृदयरोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला, ज्वर इन सबका नाश करता है।

त्रायन्तिकातामलकीद्विकाकोलीशतावरी । कशेरुकाकषायेण कल्कैरेभिः पचेद् घृतम् ॥५८॥
दत्त्वा परूषकद्राक्षाकाश्मर्येक्षुरसान् समान् । पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥५९॥
एतत् प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम् । वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥६०॥
इति पारूषकं घृतम् ।

पारूपक-घृत—त्रायमाणा, भुंई आँवला, काकोली, क्षीरकाकोली, शतावरी, कसेरू—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका क्वाथ और इन्हीं द्रव्यों को पीसकर कल्क तैयार करें, इन सबके साथ घी मिलाकर यथाविधि घृतपाक करें। यहाँ भी १ पाव कल्क, १ सेर गाय का घी और १ सेर क्वाथ रस लें और पकाते समय उसमें फालसा का रस १ सेर, मुनक्का का रस १ सेर, गम्भार की छाल का रस १ सेर, ईख का रस १ सेर, विदारीकन्द का रस १ सेर और घी से चौगुना दूध मिलाकर घी को पकाना चाहिए। इस पारूपक घृत का प्रतिदिन प्रयोग कराया जाता है। इसके विधिवत् सेवन करने से वातरक्त, उरःक्षत, क्षयरोग, विसर्प तथा पित्तज ज्वर का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—आचार्य जतूकर्ण ने भी इस योग को उद्धृत किया है—'तुल्यरसैः परूपककाश्मर्यकशेरुका-पिष्ट्वा पचेद् घृतम्। प्रयोगेण तद्धातास्रवीसर्पज्वरजित् सर्पिः पारूपकं नाम'। जतूकर्णसंहिता, वातरक्त चिकित्सा।

द्वे पञ्चमूले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम् । मुद्गपर्णीं महामेदां माषपर्णीं शतावरीम् ॥६१॥
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्नामतिबलां बलाम् । पृथग्द्विपलिकं कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् ॥६२॥
पादशेषे समान् क्षीरधात्रीक्षुच्छागलान् रसान् । घृताढकेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥६३॥
कल्कानावाप्य मेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम् । त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम् ॥
नागरं क्षीरकाकोलीं पद्मकं बृहतीद्वयम् । वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमाणं निकोचकम् ॥६५॥
खर्जूराक्षोटवातामुञ्जाताभिषुकांस्तथा । एतैर्घृताढके सिद्धे क्षौद्रं शीते प्रवापयेत् ॥६६॥
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय सुगुप्तं सन्निधापयेत् । कृतरक्षाविधिं चौक्षे प्राशयेदक्षसम्मितम् ॥६७॥
पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम् । पार्श्वशूलं क्षयं कासं प्लीहानं वातशोणितम् ॥६८॥
क्षतशोषमपस्मारमश्मरीं शर्करां तथा । सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गं च नाशयेत् ॥६९॥
बलवर्णकरं धन्यं बलीपलितनाशनम् । जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम् ॥७०॥
अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् ।

द्विपञ्चमूलादि घृत—दोनों पञ्चमूल (१. शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू। २. बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, अरणी=गनियारी की छाल, वर्षाभू (लाल पुनर्नवा), रेड़ की जड़, सफेद पुनर्नवा, मुद्गपर्णी (मुगवन), महामेदा, मापपर्णी, शतावर, शंखपुष्पी, अवाक्पुष्पी (अन्धाहुली), रास्ना, अतिबला, बला—इन प्रत्येक द्रव्यों को २-२ पल (८-८ तोला) की मात्रा में लेकर जौकुट करके १ द्रोण (१०२४ तोला) जल में डालकर पकायें। जब पकते-पकते चौथाई जल शेष रह जाय तो उसे छानकर रख लें। जितना क्वाथ हो उतनी मात्रा में गाय का दूध, आँवलों का स्वरस, ईख का रस, बकरे के मांस को पकाकर उसका रस एक साथ मिलाकर रखें। इसमें १ आढक गाय का घी डालकर मन्द अग्नि द्वारा उसे यथाविधि पकायें। पकाते समय उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का घी से चतुर्थांश कल्क बनाकर डाल दें। कल्कार्थ द्रव्य—मेदा, महामेदा, गम्भार का फल, नीलकमल, वंशलोचन, पीपल, मुनक्का, कमलगट्टा, पुनर्नवा, सोंठ, क्षीरकाकोली, पद्मककाठ, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, विदारीकन्द, सिंघाड़ा, भव्य (कमरख), उरुमाण (खुबानी—यह फल नैनीताल, अल्मोड़ा जिलों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसका वर्णन च० सू० अ० २७।१५७ में देखें), निकोचक (खट्टे नींबू) की जड़, खजूर, अखरोट, बादाम, पिस्ता, चिलगोजा, इन सभी द्रव्यों का मिलित कल्क घृत का चतुर्थांश दें। घृतपाक हो जाने पर घृत को छानकर रख लें। जब घृत शीतल हो जाय तब उसमें घी के परिमाण से चौथाई मधु भली-भाँति मिलाकर पवित्र पात्र में सुरक्षित रख लें। रक्षा

विधान करने के बाद १ अक्ष (तोला) की मात्रा में रोगी को खिलाना चाहिए। इसका सेवन करने से पाण्डुरोग, ज्वर, हिक्का (हिचकी), स्वरभेद (गला बैठना), भगन्दर, पार्श्वशूल (पसलियों का दर्द), क्षय, कास, प्लीहा का बढ़ जाना, वातरक्त, उरःक्षत, शोष, अपस्मार (मिर्गी), अश्मरी (पथरी), शर्करा (मूत्रमार्ग से बालू का आना), सर्वांगवात, एकांगवात, मूत्रसंग (मूत्रावरोध या मूत्राघात) इन रोगों का विनाश हो जाता है। यह घृत बलवर्धक, वर्ण (रूप) को स्वच्छ करने वाला, वली (असमय में शरीर पर आने वाली झुर्रियाँ) तथा पलित (असमय में बालों का सफेद होना) को दूर करने वाला, जीवनीयशक्ति को बढ़ाने वाला तथा वीर्यवर्धक है। इसके निरन्तर सेवन करने से वन्ध्या स्त्री भी पुत्र को जन्म दे सकती है। इसका उपदेश गुरु कृष्णात्रेय ने अग्निवेश के लिए किया था।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में इसका नाम **'जीवनीयघृत'** इसलिए दिया है, कि इसके अन्त में 'जीवनीयमिदं सर्पिः' लिखा है। इस प्रकार तो इसका नाम 'वन्ध्यासुतप्रदसर्पि' भी हो सकता है। नाम-निर्धारण की जो प्रधान शैली तन्त्रकार की है, तदनुसार इसका नाम 'द्विपञ्चमूलादि घृत' ही उचित है। निर्णयसागरीय १९२२ ई० के प्रथम संस्करण में इस योग का उक्त नाम दिया है और अन्त में एक पंक्ति अन्य संस्करणों से अधिक दी गयी है, जिसे हमने ऊपर उद्धृत किया है। इस श्लोकार्ध का सम्मान आचार्य गंगाधर ने भी किया है। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है, किन्तु उन-उन योगों में अनेक द्रव्यों का अन्तर है। देखें—अ० सं० चि० अ० २४।५। सामान्य मात्रा—आधा तोला।

द्राक्षामधु(धू)कतोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम् ।
पिबेद् घृतं तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥ ७१ ॥

द्राक्षादि घृत एवं क्षीर—मुनक्का और मुलेठी के चौगुने क्वाथरस द्वारा पकाये गये घृत में मिश्री मिलाकर पीने के लिए रोगी को दें। अथवा गुरुच के स्वरस से पकाये गये दूध में मिश्री मिलाकर पीने के लिए रोगी को दें।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय चरकसंहिता के प्रथम संस्करण १९२२ ई० में 'द्राक्षामधुकतोयाभ्यां' पाठ दिया है। इसके विपरीत १९४१ ई० वाले संस्करण में 'द्राक्षामधु(धू)कतोयाभ्यां' ऐसा पाठ दिया है। पहले पाठ में तो कुछ कहना नहीं है। यदि हम उपर्युक्त दूसरे पाठ को मान्यता देते हैं, तो प्रथम 'मधुक' का अर्थ 'मुलेठी' होगा और दूसरे 'मधूक' का अर्थ 'महुआ' होगा। दोनों ही पाठ गुण-धर्म की दृष्टि से ग्राह्य हैं। अतः निर्माण-काल में इसका ध्यान देना चाहिए। श्रीगंगाधर ने मुनक्का, मुलेठी और गुरुच के कल्क तथा क्वाथ से अलग-अलग तीन घृतों का पाक करने की चर्चा की है। यदि उनका ध्यान मधूक की ओर गया होता तो उसे भी अवश्य उद्धृत करते। श्री जज्जट ने भी इस प्रकार श्रीगंगाधर को समर्थन दिया है—'द्राक्षामधुकतोयाभ्यामित्यत्र द्विवचनसामर्थ्यात् प्रत्येकं घृतमिति, जज्जटः'। इन्होंने उक्त पद्य के पाठ में इस प्रकार कुछ परिवर्तन भी किया है—'घृतं पिबेत् तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम्'। सन् १९२२ के निर्णयसागरीय चरकसंहिता के प्रथम संस्करण में उक्त श्लोक के दो शीर्षक इस प्रकार दिये हैं—१. द्राक्षादिघृतम्, २. गुडूच्यादिघृतम्। यदि हम इन शीर्षकों को मान लेते हैं, तो फिर 'गुडूचीस्वरसे शृतं क्षीरं पिबेत्' का क्या अर्थ करेंगे। इस प्रकार इसमें तीन योग स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं—१. द्राक्षादि घृत, २. गुडूच्यादि घृत, ३. गुडूच्यादि क्षीर।

जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम् । मधुकं मधुपर्णीं च काकोलीद्वयमेव च ॥७२॥
मुद्गमाषाख्यपर्णिन्यौ दशमूलं पुनर्नवाम् । बलामृताविदारीश्च साश्वगन्धाश्मभेदकाः ॥७३॥
एषां कषायकल्काभ्यां सर्पिस्तैलं च साधयेत् । लाभतश्च वसामज्जधान्वप्रातुदवैष्किरम् ॥७४॥
चतुर्गुणेन पयसा तत् सिद्धं वातशोणितम् । सर्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान् ॥

जीवकादि महास्नेह—जीवक, ऋषभक, मेदा, ऋष्यप्रोक्ता (श्वेतवाट्यालक-पर्यायमुक्तावली, अतिबला रा० नि० व० ९।१५३-१५५) काकोली, भा० प्र० पू० खं० गु० व० श्लोक १३६), शतावर, मुलेठी, विकंकत (रा० नि० व० ९।१५३-१५५) काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, दशमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भारी, पाटला, अरणी। शालपर्णी, पृश्नि-

पर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), पुनर्नवा, बला, गुरुच, विदारीकन्द, असगन्ध, पाषाणभेद—इन द्रव्यों के क्वाथ तथा इन्हीं के कल्क द्वारा घी तथा तेल का अलग-अलग पाक करें। तदनन्तर धन्वप्रदेश (मरुभूमि) में रहने वाले प्रतुद (चोंच मारकर खाने वाले), विष्किर (बिखेर कर अपना चारा ढूँढने वाले) पक्षियों की वसा तथा मज्जा जितनी प्राप्त हो सके, उसका उससे चौगुने दूध में डालकर सभी स्नेहों के साथ घृतपाक-विधि से पाक करें। तैयार हो जाने पर इसका यथाविधि सेवन करने से सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न होने वाला वातरक्त तथा और भी भयंकर वातव्याधियों का यह विनाश करता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोकों पर जो श्रीचक्रपाणि ने संक्षिप्त टीका दी है, उसमें **'काला मञ्जिष्ठा'** यह अंश इसलिए महत्त्वपूर्ण है, कि ऊपर श्लोक में **'काला'** पद का कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। यदि हम उक्त पद का समावेश करना चाहते हैं, तो केवल उपर्युक्त 'मधुक' शब्द को हटाकर उसके स्थान पर 'कालां च' ऐसा किया जा सकता है। श्रीचक्रपाणि की टीका के उक्त अंश को सभी संस्करणों में इसी स्थान पर दिया गया है। अतः इस प्रकार पाठ-परिवर्तन करने के अतिरिक्त कोई मार्ग ध्यान में नहीं आता। श्रीचक्रपाणि ने यहाँ 'काला' पद से 'मञ्जिष्ठा' का ग्रहण किया है और च० चि० अ० ३।२५८ की टीका में 'काकोली' का ग्रहण किया है। इसी प्रकार 'ऋष्यप्रोक्ता' का भी अर्थ च० चि० अ० ३।२५८ में 'ऋद्धि' दिया है और यहाँ 'ऋष्यप्रोक्ता' का अर्थ 'अतिबला' दिया है। इसके कारणों की आप खोज करें।

स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती सारिवा सशतावरी। काश्मर्याण्यात्मगुप्ता च वृश्चीरो द्वे बले तथा॥
एषां क्वाथे चतुःक्षीरं पृथक् तैलं पृथग्घृतम्। मेदाशतावरीयष्टिजीवन्तीजीवकर्षभैः॥७७॥
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा। खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे॥७८॥

स्थिरादि घृत तथा तैल—स्थिरा (शालपर्णी), गोखरू, बृहती (बड़ी कटेरी), सारिवा (अनन्तमूल), शतावर, गम्भार की छाल, केवाँच के बीज, पुनर्नवा, दोनों बलाएँ (बला, अतिबला)—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका यथा-विधि क्वाथ करें। क्वाथ तैयार हो जाने पर उसे छान लें। तेल तथा घृत से चौगुना गाय का दूध लें। कल्कार्थ द्रव्य—मेदा, शतावरी, मुलेठी, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक इनका कल्क तैयार कर सबको मिलाकर घृतपाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। घृत १ तोला, ३ तोला गाय का दूध और दूध की मात्रा से आधी चीनी, इन तीनों को एक में मिलाकर मथनी से मथकर इसे त्रिदोषज वातरक्त के रोगी को पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने उक्त घृत-तैल का अलग-अलग पाक करने को कहा है। यही तन्त्रकार का भी अभिमत है, किन्तु सेवन करते समय घृत तथा तैल दोनों को बराबर मिलाकर सेवन करने का संकेत श्रीचक्रपाणि ने किया है। निर्माण के अवसर पर स्थिरा आदि द्रव्यों का क्वाथ तथा मेदा आदि द्रव्यों का कल्क, चौगुना दूध घृत तथा तैल दोनों के लिए अलग-अलग लेना चाहिए। घृत अथवा तैल-सेवन के समय मात्रा से तिगुना दूध; दूध से आधी चीनी का ग्रहण भी समान रूप से करें। कुछ टीकाकारों का मत है, कि जिन्हें घृत अनुकूल हो उन्हें घृत का सेवन करायें और जिन्हें तैल सात्म्य हो उन्हें तैल का सेवन करायें, यह विचारणीय विषय है। किन्तु जिसका मत घृत तथा तैल का एक साथ पाक करने का है, वह इस अवसर पर उपेक्षणीय है।

तैलं पयः शर्करां च पाययेद् वा सुमूर्च्छितम्। सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैर्मिश्रं वाऽपि पिबेत् पयः॥७९॥

तैल आदि का प्रयोग—तैल, दूध, चीनी इन तीनों को एक में अच्छी तरह मिला (मथ) कर वातरक्त के रोगी को पिलाना चाहिए। अथवा घी, तैल, मिश्री, मधु इनको दूध में एक साथ मिलाकर वातरक्त के रोगी को पिलाना चाहिए।

अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसो द्विसितोपलः। पाने प्रशस्यते तद्वत् पिप्पलीनागरैः शृतः॥८०॥

अंशुमती-प्रयोग—अंशुमती (शालपर्णी) के क्वाथ से १ प्रस्थ (६४ तोला) दूध को पकाकर उसमें २ पल (८ तोला) मिश्री मिलाकर पीने के लिए दें। उसी प्रकार पिप्पली और सोंठ का क्वाथ तैयार करके वातरक्त के रोगी को पीने के लिए दें।

बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः। श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः॥८१॥

१. बलादि क्षीर—बरियारा की जड़, शतावर, रास्ना, दशमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, अरणी। शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू), पीलू—इनको समभाग लेकर पीसकर कल्क बना लें। इससे पकाया हुआ दूध सभी प्रकार की वातपीड़ा का विनाश करता है।

२. श्यामादि क्षीर—श्यामा (त्रिवृत्), रेड़ की जड़, स्थिरा (शालपर्णी) इनके कल्क से पकाया गया दूध सभी प्रकार की वात-पीड़ा का विनाश करता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने इसको एक ही योग माना है, किन्तु श्लोक की शब्दावली के अनुसार इसमें दो योगों की कल्पना करनी ही चाहिए, जैसा कि ऊपर किया गया है। वृद्धवाग्भट ने इसी प्रकार के दो योगों की कल्पना की है। यथा—१. 'रास्नाभीरुदशमूलबलासिद्धं वा'। २. 'विरेकार्थे त्रिवृच्चूर्णयुक्तं वा'। अ० सं० चि० अ० २४।९। **क्षीरपाक-विधि**—'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरात्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः'॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१७९।

धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्। पिबेद् वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः॥८२॥

वातरक्त-नाशक योग—१. वातरक्तरोग में बढ़े हुए दोषों को अनुलोम करने के लिए गोमूत्र मिला हुआ धारोष्ण दूध पीने के लिए रोगी को दें। २. अथवा जिन रोगियों के शरीर में पित्त तथा रक्त द्वारा वात का मार्ग घिर गया हो, ऐसे रोगी को चाहिए कि वह धारोष्ण दूध के साथ त्रिवृत् (निशोथ) के चूर्ण का मात्रानुसार सेवन करे।

क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः। बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः॥८३॥

एरण्डतैल-प्रयोग—जिस रोगी के शरीर में वातदोष की अधिकता हो तो उसे दूध के साथ एरण्ड तेल मिलाकर पिलाना चाहिए। जब एरण्ड तेल पच जाय तब उसे खाने के लिए दूध और भात दें।

वक्तव्य—एरण्डतैल (Castor oil) वातनाशक तैलों में श्रेष्ठ है। इस क्षेत्र में इसकी अनेक प्रकार से प्रशंसा की गयी है। जिस प्रकार यह तैल वातनाशन के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार दूध रक्तविकारों को शान्त करने के लिए प्रसिद्ध है। अतः यह योग 'वातरक्त' की शान्ति के लिए उत्तम तथा प्रसिद्ध है। इसकी मात्रा रोगी की स्थिति को देखकर १ तोला से २ तोला तक निर्धारित की जा सकती है, इससे कम भी। रूक्ष कोष्ठवालों को प्रारम्भ में अधिक भी दी जा सकती है। वृद्धवाग्भट का मन्तव्य तो ऐसा है, कि एक दिन में वह अनेक बार एरण्ड तेल को ले सकता है। देखें—अ० सं० चि० अ० २४।९। हमारे विचार से इस प्रकार के वैकल्पिक प्रयोग चिकित्सक की देख-रेख में ही करने-कराने चाहिए।

[1]कषायमभयानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः। क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा॥८४॥

कतिपय वातरक्त-नाशक योग—१. वातरक्त के रोगी को चाहिए कि वह हरड़ के कषाय को (पाठभेद के अनुसार—गुरुच के कषाय को) घी में भूनकर सेवन करे। २. त्रिवृत् (निशोथ) के चूर्ण को दूध के अनुपान के साथ सेवन करे। ३. अथवा निशोथ के चूर्ण को मुनक्का के रस के साथ पीये।

वक्तव्य—अथवा दूसरे, तीसरे योग को इस प्रकार एक ही समझना चाहिए। यथा—निशोथ के चूर्ण को मुनक्का के रस से पीकर उसके बाद दूध को अनुपान के रूप में पीना चाहिए, क्योंकि औषध के साथ जो द्रवपदार्थ लिया जाता है, उसे 'सहपान' कहते हैं और उसके तत्काल बाद जिस द्रव का सेवन किया जाता है, उसे 'अनुपान' कहा जाता है।

काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरूषकाम्। शृतं पिबेद् विरेकाय लवणक्षौद्रसंयुतम्॥८५॥

काश्मर्यादि क्वाथ—गम्भारी की छाल, निशोथ, मुनक्का, हरड़, बहेड़ा, आँवला, फालसा इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर मात्रानुसार क्वाथ तैयार करें, इस क्वाथ में सेंधानमक तथा मधु मिलाकर विरेचन कराने के लिए वातरक्त के रोगी को पीना चाहिए।

१. 'कषायममृतानां' इति पा०।

त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत् क्षौद्रेण संयुतम् । धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिकः ॥

१. **त्रिफला-क्वाथ-प्रयोग**—अथवा त्रिफला के क्वाथ में मधु मिलाकर वातरक्त के रोगी को दें।

२. **धात्र्यादि क्वाथ-प्रयोग**—धात्री (आँवला), हल्दी, नागरमोथा इनके क्वाथ में शीतल होने पर मधु मिलाकर कफ-प्रधान वातरक्त रोग में रोगी को पीना चाहिए।

योगैश्च कल्पविहितैरसकृत् तं विरेचयेत् । मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्ज्ञात्वा वातं मलावृतम् ॥८७॥

वातरक्त में मृदुविरेचन—वातदोष को मल द्वारा आवृत (घिरा हुआ) जानकर कल्पस्थान में कहे गये मृदुविरेचक योगों में स्नेहद्रव्य मिलाकर बार-बार वातरक्त के रोगी को विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोक में कल्पस्थान में विहित योगों द्वारा विरेचन कराने का निर्देश किया है। इसमें वमनकल्प, उभयतोभागहर संशोधन, मृदुविरेचन तथा तीक्ष्णविरेचन भेद से औषधयोगों का वर्गीकरण किया गया है। अतः उनमें से मृदुविरेचक योगों का ही यहाँ प्रयोग करना चाहिए। रूक्षविरेचनों से वातदोष की वृद्धि होती है। इसीलिए यहाँ स्नेह युक्त मृदुविरेचनों का विधान किया गया है।

निर्हरेद् वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरवस्तिभिः । न हि वस्तिसमं किञ्चिद् वातरक्तचिकित्सितम् ॥

वातरक्त में वस्ति-प्रयोग—अथवा वातरक्त से पीड़ित रोगी के मल (पुरीष तथा वात आदि दोष) को घी मिले हुए क्षीरवस्ति के प्रयोग से बाहर कर देना चाहिए। क्योंकि वातरक्तरोग की चिकित्सा में वस्ति-प्रयोग से बढ़कर कोई दूसरी सफल चिकित्सा नहीं है। इस प्रकार के वस्ति-प्रयोग से वातरक्त दोष की शान्ति हो जाती है।

वस्तिवङ्क्षणपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु । उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवासनाः ॥८९॥

निरूह तथा अनुवासनवस्ति-प्रयोग—यदि वातरक्त रोगी के वस्ति, वंक्षण, पार्श्व (पसलियों), ऊरु, पर्व (जोड़ों), अस्थि तथा उदर (पेट) में वेदना होती हो एवं उदावर्त रोग के कारण पीड़ा होती हो तो अनुवासनवस्ति के साथ निरूहवस्ति का भी प्रयोग लाभदायक होता है।

वक्तव्य—वस्ति द्वारा गुद, भग तथा मूत्रमार्ग तक औषध द्रव पहुँचाया जाता है। आज मांसपेशियों तथा सिराओं में जो द्रव रूप औषध पदार्थ पहुँचाया जाता है, वह इन्जेक्शन भी एक प्रकार की पिचकारी ही है। चरक तथा सुश्रुतसंहिताओं में तन्त्रकारों ने मुक्तकण्ठ से वस्ति-चिकित्सा की प्रशंसा इस प्रकार की है—'तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति, सर्वां चिकित्सामिति वस्तिमेके'। च० सि० अ० १।४०। तथा 'तत्र स्नेहादीनां कर्मणां वस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः'। सु० चि० अ० ३५।३।

वस्ति के दो प्रकार—'यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः। कषायक्षारतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते' ॥ ।॥० सं० उ० खं० अ० ५।२। उक्त दोनों प्रकार की वस्तियाँ एक ही यन्त्र से दी जाती हैं। उनमें जो अन्तर है, वह केवल द्रव्यों का ही है। सुश्रुत के अनुसार—'निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणो मतः। निरूहशोधितान मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति' ॥ सु० चि० अ० ३५।१९। वस्तिविषयक ज्ञान के लिए च० सि० अ० १ तथा सु० चि० अ० ३५ का मनन करें।

दद्यात् तैलानि चेमानि वस्तिकर्मणि बुद्धिमान् । नस्याभ्यञ्जनसेकेषु दाहशूलोपशान्तये ॥९०॥

तैलप्रयोग-निर्देश—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि यदि वातरक्त रोगी के उदर में दाह एवं शूल हो तो उनकी शान्ति के लिए आगे कहे जाने वाले तैलों का प्रयोग वस्ति, नस्य, अभ्यंग (मालिश) तथा परिषेक के रूप में करना चाहिए।

[1]मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु कषाये पादशेषिते । तैलाढकं समक्षीरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः ॥९१॥
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः । स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः ॥९२॥
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यृद्धिपद्मकैः । जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखवालकैः ॥९३॥

१. 'मधुपर्ण्याः' इति पा०।

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवैन्द्रीवितुन्नकैः । चतुष्प्रयोगात् तद्धन्ति तैलं मारुतशोणितम् ॥९४॥
सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्वगात्रानुगं तथा । वातासृक्पित्तदाहार्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत् ॥९५॥
इति मधुपर्ण्यादितैलम् ।

मधुयष्ट्यादि तैल—१ तुला (४०० तोला) मुलेठी लेकर उसका क्वाथ तैयार करें, जब पकते-पकते चौथाई जल शेष रह जाय, तो उसे उतारकर छान लें, उस क्वाथ में १ आढक (२५६ तोला) तिल का तेल और १ आढक गाय का दूध मिलाकर धीमी आँच में पकायें, पकते समय उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का कल्क बनाकर मिला दें। कल्कार्थ द्रव्य—सोया, शतावर, मूर्वामूल, पयस्या (क्षीरविदारी, अर्कपुष्पी-चक्र०) अगरु, चन्दन, स्थिरा (शालपर्णी), हंसपदी (हंसराज), जटामांसी, मेदा, महामेदा, मधुपर्णी (गिलोय), काकोली, क्षीरकाकोली, तामलकी (भुंई आँवला), ऋद्धि, पद्मकाठ, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, दालचीनी, नखी, सुगन्धबाला, पुण्डरियाकाठ, मजीठ, सारिवा (अनन्तमूल), ऐन्द्री (इन्द्रायण की जड़), वितुन्नक (धनियाँ), प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला)। यथाविधि पाक हो जाने पर इस तैल को छानकर रख लें। इस तैल का चार प्रकार (पान, अभ्यंग, नस्य, वस्ति) से प्रयोग करने पर उपद्रवों के साथ अंगों में होने वाले शूल, सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए वातरोग, रक्तरोग, पित्तविकार, दाह, पीड़ा तथा ज्वर इन सबका नाश हो जाता है। इस तैल का चार प्रकार से सेवन करने पर बल की वृद्धि तथा वर्ण में स्वच्छता आती है।

वक्तव्य—यह तैल-योग 'मधुयष्टी' शब्द से प्रारम्भ होने के कारण 'मधुयष्ट्यादि तैल' के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु कुछ संस्करणों में इसका नाम 'मधुपर्ण्यादि तैल' भी उद्धृत है, जबकि 'मधुपर्णी' शब्द 'गुरुच' का पर्याय है और 'मधुपर्णिका' शब्द 'गम्भारी' के लिए प्रयुक्त होता है। कुछ प्रतियों में पाठभेद के रूप में 'मधुपर्ण्याः पलशतं' इत्यादि पाठ दिया है, परन्तु मूलपाठ के रूप में सभी ने 'मधुयष्ट्या' पद से ही उक्त पाठ का प्रारम्भ किया है। श्रीजयदेव ने इसका नाम 'मधुयष्ट्यादि तैल' ही स्वीकार किया है, जो सर्वथा युक्तियुक्त है। 'मधुयष्टी' का पर्याय 'मधुपर्णी' नहीं है। श्रीजयदेव ने 'चतुष्प्रयोग' के रूप में 'पीने' के स्थान पर 'परिषेचन' का ग्रहण किया है और उसके समर्थन में कुछ युक्ति भी दी है। चिकित्सा-कुशल चिकित्सक उस पर विचार करें। श्रीचक्रपाणि ने 'पान, अभ्यंग, वस्ति, नस्य' प्रयोग को ही स्वीकार किया है।

मधुकस्य शतं द्राक्षा खर्जूराणि परूषकम् । मधूकौदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च ॥९६॥
काश्मर्याढकमित्येतच्चतुर्द्रोणे पचेदपाम् । शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ॥९७॥
तथाऽऽमलककाश्मर्यविदारीक्षुरसैः समैः । चतुर्द्रोणेन पयसा कल्कं दत्त्वा पलोन्मितम् ॥९८॥
कदम्बामलकाक्षोटपद्मबीजकशेरुकम् । शृङ्गाटकं शृङ्गबेरं लवणं पिप्पलीं सिताम् ॥९९॥
जीवनीयैश्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत् । नस्याभ्यञ्जनपानेषु वस्तौ चापि नियोजयेत् ॥१००॥
वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे । सर्वाङ्गैकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे ॥१०१॥
सुकुमारकमित्येतद् वातास्रामयनाशनम् । स्वरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम् ॥१०२॥
इति सुकुमारकतैलम् ।

सुकुमारक-तैल—मुलेठी १०० पल, मुनक्का, खजूर, फालसा, महुआ, ओदनपाकी (नीलझिण्टी, नील- प्रत्येक द्रव्य १-१ पल
भेण्डी, च० चि० अ० ३।२५८ या अतिबला), मुञ्जातक (अभाव में तालफल की मींगी), इन सब द्रव्यों को जौकुट करके ४ द्रोण (४०९६
(४-४ तोला), गम्भार की छाल १ आढक (२५६ तोला), तोला) जल में डालकर पाक करें। इसे पकाते समय आँवलों का रस, गम्भार के छाल का रस, विदारीकन्द का
रस, ईख का रस तेल के बराबर एवं गाय का दूध ४ द्रोण (४०९६ तोला) उसमें मिला दें। निम्नलिखित
द्रव्यों का कल्क बनाकर इसे भी उसी में डाल दें। कल्कार्थ द्रव्य—कदम्ब, आँवला, अखरोट, पद्मबीज (कवल-
गट्टा), कसेरू, सिंघाड़ा, अदरख, सैंधानमक, पिप्पली, मिश्री एवं जीवनीयगण के दस द्रव्य (जीवक, ऋषभक,
मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी—च० सू० अ० ४।९)—इन
सबको १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में लें। जब उक्त तैल का विधिपूर्वक पाक हो जाय तो उसे छानकर
रख लें, शीतल हो जाने पर १ प्रस्थ (६४ तोला) मधु मिलाकर सुरक्षित रख लें। इस सुकुमारतैल का प्रयोग

नस्य, अभ्यंग (मालिश), पान (पीने के लिए) तथा वस्ति के लिए भी करना चाहिए। यह तैल सभी प्रकार की वातव्याधियों में, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, सर्वांगवात, एकांगवात, उरःक्षत, क्षीण तथा क्षतजनित ज्वर में लाभदायक होता है तथा वह वातरक्त का भी नाश करता है। यह स्वर को सुरीला बनाता है, वर्ण को स्वच्छ कर देता है, आरोग्य, बल एवं शरीर को पुष्ट करता है।

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वं पञ्चमूलं पुनर्नवाम्। रास्नामेरण्डमूलं च जीवनीयानि लाभतः ॥१०३॥
पलानां शतकैर्भागैर्बलापञ्चशतं तथा। कोलबिल्वयवान्माषान्कुलत्थाँश्चाढकोन्मितान् ॥१०४॥
काश्मर्याणां सशुष्काणां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसि। साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणं च शेषयेत् ॥१०५॥
तैलद्रोणं पचेत् तेन दत्त्वा पञ्चगुणं पयः। पिष्ट्वा त्रिपलिकं चैव चन्दनोशीरकेशरम् ॥१०६॥
पत्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम्। मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव तत् सिद्धं सार्वयौगिकम् ॥१०७॥
वातरक्ते क्षतक्षीणे भारार्ते क्षीणरेतसि। वेपनाक्षेपभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम् ॥१०८॥
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं खञ्जपङ्गुताम्। हन्यात् [1]प्रसवनं चैतत् तैलाग्र्यममृताह्वयम् ॥

इत्यमृताद्यं तैलम्।

अमृतादि तैल—गुरुच, मुलेठी, लघुपञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), पुनर्नवा, रास्ना, रेंड़ की जड़, जीवनीयवर्ग के द्रव्य (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी), इनमें से जितनी ओषधियाँ मिल सकें, वे सभी अलग-अलग १००-१०० पल (४००-४०० तोला) लें और बला (बरियारा) ५०० पल (२००० तोला) लें; झड़बेर, बेल, जौ, उड़द, कुलथी इनको १-१ आढक (२५६-२५६ तोला), गम्भार के सूखे हुए फूल १ द्रोण (१०२४ तोला), इन सभी द्रव्यों को उक्त प्रमाणानुसार लेकर जौकुट करके १०० द्रोण (१०२४०० तोला=३२ मन) जल में डालकर क्वाथ करें, जब पकते-पकते ४ द्रोण (५१ सेर ३ छटांक १ तोला) शेष रह जाय तब उसे उतारकर छान लें। इस क्वाथ जल में १ द्रोण (१०२४ तोला) तिल का तेल और तेल से ५ गुना (५ द्रोण) गाय का दूध मिला दें। इन सबको मन्द-मन्द अग्नि द्वारा पकायें। पकाते समय उसमें चन्दन, उशीर, केशर, तेजपत्ता, अगुरु, कूठ, तगर, मूलेठी—प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल (१२-१२ तोला), मजीठ ८ पल (३२ तोला) इन सबको एक साथ पीसकर कल्क तैयार करके उक्त पकते हुए तेल में मिला दें। इस प्रकार तेल का विधिपूर्वक पाक करें। तैयार हो जाने पर उसे उताकर छान लें। इस 'अमृतादि तैल' का वातरक्त रोग में, उरःक्षत से कृश होने पर, अधिक भार ढोने से पीड़ित होने पर, शुक्र के क्षीण होने पर प्रयोग कराना चाहिए। शरीर में कँप-कँपी होने पर, आक्षेप तथा भग्न से पीड़ित होने पर जो सर्वाङ्गवात, एकाङ्गवात से पीड़ित हों तथा योनिदोष, अपस्मार, उन्माद, खंज, पंगु रोगों से पीड़ित हों, उनमें प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यह तैल इन सभी रोगों का विनाश करता है। यह तैल सन्तानकारक भी होता है।

वक्तव्य—इस योग का प्रारम्भ गुडूची द्रव्य से हुआ है, अतः इसका नाम 'गुडूच्यादि तैल' भी हो सकता था। किन्तु 'अमृतादि तैल' नाम रखने से ऐसा लगता है, कि कुछ विशेष गुणों की ओर संकेत रहा होगा, अन्यथा पर्याय के रूप में परिवर्तित नाम प्रायः नहीं देखा जाता है।

पद्मवेतसयष्ट्याह्वफेनिलापद्मकोत्पलैः। पृथक्पञ्चपलैर्दर्भबलाचन्दनकिंशुकैः ॥११०॥
जले शृतैः पचेत् तैलप्रस्थं सौवीरसम्मितम्। लोध्रकालीयकोशीरजीवकर्षभकेशरैः ॥१११॥
मदयन्तीलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः। प्रपौण्डरीककाश्मर्यमांसीमेदाप्रियङ्गुभिः ॥११२॥
कुङ्कुमस्य पलार्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च। महापद्ममिदं तैलं वातासृग्ज्वरनाशनम् ॥११३॥

इति महापद्मं तैलम्।

महापद्म-तैल—लालकमल, वेत, मुलेठी, फेनिला (उपोदिका—चक्र० सोमराजी—वै० निघण्टु, कालीजीरी—श्रीजयदेव), पद्मकाठ, नीलकमल, दर्भमूल, वाला, सफेदचन्दन, टेसू के फूल—ये द्रव्य अलग-अलग ५-५

१. 'पुंसवनं' इति पा०।

पल (२०-२० तोला) इन सभी द्रव्यों को लेकर जौकुट करके आठ गुना जल में मिलाकर क्वाथ तैयार करें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। इस क्वाथ जल में १ प्रस्थ (६४ तोला) तिलतैल और १ प्रस्थ सौवीर (जौ की काँजी) मिला दें। कल्कार्थ द्रव्य—लोध, कालीयक (काला अगर), खश, जीवक, ऋषभक, नागकेशर, मदयन्ती (मेंहदी), लताकस्तूरी, तेजपत्ता, कमल का केशर, पद्माख, पुण्डरियाकाठ, गम्भार की छाल, जटामांसी, मेदा, प्रियंगु, कुंकुम (केशर) इन सभी द्रव्यों को आधा-आधा फल (२-२ तोला) और मजीठ १ पल (४ तोला) लेकर इनका कल्क तैयार करके उसी में मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। यह महापद्म तैल वातरक्त तथा ज्वर का नाश करता है।

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम्। स्यात् पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः ॥
खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रदाहनुत्।

इति खुड्डाकपद्मकं तैलम्।

खुड्डाकपद्मक-तैल—पद्मकाठ, खश, मुलेठी तथा हल्दी के क्वाथ में सर्जरस (राल), मजीठ, वीरा (क्षीरकाकोली), काकोली, सफेद चन्दन—इन समभाग द्रव्यों का कल्क तैयार करके तैलपाक करना चाहिए। यह खुड्डाकपद्मक तैल, वातरक्त रोग तथा दाह का विनाश करता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार का खुड्डाक या खुड्डिका शब्द लघु (छोटा या छोटी) इस अर्थ में प्रिय या अभ्यस्त रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। आप ध्यान दें—चरक-शारीरस्थान अ० ३ का नाम 'खुड्डिकागर्भावक्रान्ति' है, उसके अगले अध्याय का नाम 'महतीगर्भावक्रान्ति'। और यहाँ 'महापद्मतैल' के बाद 'खुड्डाकपद्मकतैल' का निर्वचन किया है। हमारे विचार से उक्त अध्यायों की भाँति यहाँ भी 'खुड्डाकपद्मकतैल' का पाठ 'महापद्मकतैल' से पहले होना चाहिए था।

शतेन यष्टिमधुकात् साध्यं दशगुणं पयः॥ ११५ ॥
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे मधुकस्य पलेन तु। सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥११६॥

मधुकतैल—सौ पल (४०० तोला) मुलेठी के कल्क से दसगुने (४००० तोला) गाय के दूध को पकाना चाहिए। जब चतुर्थांश २५० पल (१००० तोला) दूध शेष रह जाय, तब उसमें ४ द्रोण (४०९६ तोला) तेल और १ पल (४ तोला) मुलेठी का कल्क डालकर तैलपाक करना चाहिए। अथवा मुलेठी तथा गम्भार की छाल का स्वरस या क्वाथ तिलतैल से चौगुना लेकर उसमें मुलेठी १ पल (४ तोला) कल्क मिलाकर तैलपाक करना चाहिए। इस तैल के प्रयोग से 'वातरक्त' रोग का विनाश हो जाता है।

मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे। क्षीरे साध्यं शतं कृत्वा तदेवं मधुकाच्छते ॥११७॥
सिद्धं देयं [1]त्रिदोषे स्याद् वातास्रे श्वासकासनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम् ॥११८॥

इति शतपाकं मधुकतैलम्।

शतपाकमधुक-तैल—मधुपर्णी (गुरुच) को १ पल (४ तोला) लेकर उसको पीसकर कल्क तैयार कर लें, इसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) तिलतैल, चौगुना (४ प्रस्थ) दूध के साथ यथाविधि तैलपाक करें इसी विधि से इस तैल को सौ बार १-१ पल (४-४ तोला) मुलेठी का कल्क डाल-डालकर पाक करें। तैयार हो जाने पर इसका प्रयोग करने से त्रिदोषज रोगों, वातरक्त, श्वास, कास, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला तथा दाह (जलन) का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त ११७वें श्लोक के आरम्भ में 'मधुपर्ण्याः' पद का प्रयोग और अन्त में 'मधुकात्' पद का प्रयोग हुआ है, जो परस्पर भिन्न द्रव्यों के वाचक हैं। मधुकपर्णी गिलोय का और मधुक मुलेठी का पर्याय है। यदि हम 'मधुपर्ण्याः' के स्थान पर श्रीजज्जट की भाँति 'मधुयष्ट्याः' पाठ स्वीकार कर लेते हैं, तब संगति तो ठीक बैठ जाती है, किन्तु इसका नाम अन्य संस्करणों में जो 'शतपाकमधुपर्णीतैल' दिया है, वह बदलना

१. 'विषोन्मादवातास्रश्वासकासनुत्' इति पा०।

होगा, क्योंकि 'मधुपर्णी' और 'मधुक' ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। यही आचार्य जज्जट का भी अभिमत है। उन्होंने पाठ को इस प्रकार परिवर्तित किया है—'मधुयष्ट्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे। क्षीरे साध्यं'। वृद्धवाग्भट ने मधुपर्णी के स्थान पर 'मधुयष्टी' का ग्रहण किया है—'मधुयष्ट्याः पलं दत्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे। क्षीरे पचेच्छतं वारांस्तदेवं मधुकाच्छते॥' अ० सं० चि० अ० २४।२६। शतपाक होने पर यह तैल अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है। अतः इसे पीने के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। यह तैल व्यय-साध्य एवं समय-साध्य भी होता है।

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत्। [1]सहस्रं शतवारं वा वातासृग्वातरोगनुत् ॥११९॥
रसायनमिदं श्रेष्ठमिन्द्रियाणां प्रसादनम्। जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम् ॥१२०॥
इति सहस्रपाकं शतपाकं वा बलातैलम्।

शतपाक-सहस्रपाक बलातैल—तिलतैल से चौगुना बरियारा का क्वाथ, तेल से चतुर्थांश बरियारा का कल्क, तेल के समान गाय का दूध, इन सबको एक में मिलाकर पाक करें। इसी विधि से इस तैल को सौ बार या हजार बार पकायें। यह बलातैल वातरक्त तथा सभी प्रकार के वातरोगों का विनाश करता है। यह उत्तम रसायन है। इसका विधिवत् सेवन करने से इन्द्रियाँ सशक्त (अपने-अपने विषयों का ग्रहण करने में समर्थ) हो जाती हैं, अर्थात् यही उनकी प्रसन्नता है। यह जीवनीय शक्ति को प्रदान करता है, शरीर को पुष्ट करता है, स्वर के लिए हितकर है, शुक्र तथा आर्तव सम्बन्धी दोषों का विनाशक है।

वक्तव्य—सौ के बाद हजार संख्या आती है। इस दृष्टि से उक्त शीर्षक का परिवर्तन तो हमने कर दिया है। यदि मूलपाठ को भी हम ठीक करना चाहें, तो इस प्रकार कर सकते हैं—**'शतवारं सहस्रं वा'** हमें तो ऐसा लगता है कि कहीं उक्त पाठ का क्रम इसी प्रकार न रहा हो, जो किसी प्रमादवश ऐसा हो गया हो। दूसरी दृष्टि से विचार करने पर उक्त पाठ का यह भी औचित्य समझ में आता है कि यदि हजार बार पाक न हो सके तो सौ बार ही कर लें। परन्तु यह गौणपक्ष है, क्योंकि गुण-वर्धन की दृष्टि से संस्कार का अत्यन्त महत्त्व है, करने वाला करेगा ही, वही उसका लाभ भी प्राप्त करेगा।

शतपाक या सहस्रपाक—इसके सम्बन्ध में प्राचीन टीकाकारों के दो मत उपलब्ध होते हैं—१. सौ या हजार गुना पाकद्रव्य (जिनसे तेल को पकाना है, जैसे—क्वाथ, कल्क तथा दूध) उतने डाल दिये जायें जिन्हें निरन्तर पकाते रहें, पकने के बाद तैल का ग्रहण कर लें। २. अथवा इस तैल को उतनी बार क्वाथ, कल्क, दूध में मिलाकर पकाया जाय। हमारे विचार से यही सुगम एवं निरापद मार्ग है। औषध-निर्माण में गुणों की वृद्धि पर ध्यान देना अधिक आवश्यक होता है, न कि सुविधा आदि अन्य पक्षों की ओर।

गुडूचीरसदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा। सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥१२१॥

गुडूच्यादि तैल—गिलोय का स्वरस तथा गाय के दूध, अथवा मुनक्कों के क्वाथरस, अथवा मुलेठी एवं गम्भार की छाल के क्वाथरस के साथ पकाया हुआ तिलतैल वातरक्त रोग का विनाशक होता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक द्वारा १. गुडूच्यादि तैल, २. द्राक्षादि तैल तथा ३. मधुयष्ट्यादि तैलों के निर्माण का विधान किया है। अतः जहाँ एक या दो द्रव्य हैं, वहाँ उन्हीं का तेल से चौगुना क्वाथरस, तेल से चौथाई उन्हीं द्रव्यों का कल्क मिलाकर तैलों का यथाविधि पाक करना चाहिए।

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्। प्रभूते खजितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत् परम् ॥ १२२॥

आरनालादि तैल—१. आढक (२५६ तोला) कांजी, १ प्रस्थ (६४ तोला) तैल, चौथाई भाग (१६ तोला) राल का कल्क, इन सबको मिलाकर पाक करें। तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तैल को पर्याप्त जल में मिलाकर मथानी से मथकर रख लें। शरीर पर इसकी मालिश करने से ज्वर तथा दाह की शान्ति होती है।

---

१. 'सहस्रशतपाकं वा' इति पा०।

समधूच्छिष्टमाञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम्। पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद् वातरक्तरुजापहम् ॥१२३॥
इति पिण्डतैलम्।

पिण्ड-तैल—मधूच्छिष्ट (मोम), मजीठ, राल, अनन्तमूल इनका कल्क तैयार करें, कल्क से चौगुना तिलतैल मिलाकर पाक करें। इस पिण्डतैल की मालिश करने से वातरक्त सम्बन्धी पीड़ा का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—मधूच्छिष्ट—उच्छिष्ट शब्द का अर्थ 'जूठा' अथवा 'बचा हुआ' होता है। शहद निकालने वाले प्रायः उसी छत्ते को काटते हैं, जिनमें केवल शहद होता है, उसमें से मधु निचोड़कर बचे हुए भाग को मधूच्छिष्ट (मोम) कहते हैं। कुछ छत्ते ऐसे भी होते हैं, जिनमें मधुमक्खियों के बच्चे होते हैं। उस अंश को नहीं निकाला जाता है।

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम्। परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत् कोष्णेन सर्पिषा ॥१२४॥

दशमूलादि क्षीर—दशमूल के द्रव्यों द्वारा पकाये हुए दूध को पिलाने से शीघ्र ही शूल की शान्ति हो जाती है तथा गुनगुने घी का परिषेक करने से वातज शूल की शान्ति होती है।

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत्। स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः ॥१२५॥

चारों स्नेहों का प्रयोग—यदि वातरक्त रोग में रोगी स्तम्भ (जकड़न), आक्षेप (अंगों में खिंचाव) तथा शूल से पीड़ित हो, तो मधुर (जीवनीयगण में पठित दस द्रव्यों—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी) द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाये गये चारों प्रकार के गुनगुने स्नेहों (घृत, तेल, वसा, मज्जा) से परिषेचन करना चाहिए। यदि रोगी दाह से पीड़ित हो तो मधुर द्रव्यों से सिद्ध किये हुए शीतल स्नेहों से परिषेचन करना चाहिए।

तद्वद् गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः। क्वाथैर्वा जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक् ॥

अन्य प्रयोग—उसी प्रकार (सामान्य स्थिति में उष्णतैल को और दाह की स्थिति में शीतल) तैल को गाय, भेड़, बकरी के दूध में तेल मिलाकर, अथवा जीवनीय द्रव्यों के क्वाथ में तेल मिलाकर, अथवा पञ्चमूल के द्रव्यों के क्वाथ में तेल मिलाकर वातरक्त के रोगी का परिषेक करना चाहिए।

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम्। सेकार्थे तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते ॥१२७॥

दाहशामक परिषेचन—वातरक्तरोग में दाह का शमन करने के लिए परिषेचन के लिए मुनक्का का रस या क्वाथरस, ईख का रस, मद्य, दही का पानी, खट्टी काँजी, चावल का धोवन तथा मधु को पानी में घोल कर बनाया हुआ शरबत या चीनी का शरबत उत्तम होता है।

कुमुदोत्पलपद्माद्यैर्मणिहारैः सचन्दनैः। शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम् ॥१२८॥

१. **दाहशामक अन्य प्रयोग**—वातरक्तरोग में शीतल जल में भिगाये हुए कुमुद (कमलभेद) के फूल, उत्पल (नीलकमल), पद्म (लालकमल), आदि अन्य सुगन्धित एवं शीतस्पर्श वाले फूलों से, मणि, मुक्ताहार, तथा चन्दन घुले हुए जल से रोगी के शरीर को पोंछना एवं इनका स्पर्श कराना हितकर होता है।

चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे। शयने पुलिनस्पर्शशीतमारुतवीजिते ॥१२९॥
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः। स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ॥

२. **दाहशामक अन्य प्रयोग**—चन्द्रमा की किरणें, शीतल जल से युक्त क्षौमवस्त्र, कमल के फूलों तथा कमल की पत्तियों से ढके हुए, शीतल वायु से युक्त नदी के तटप्रदेश पर लगाये हुए बिस्तरे पर चन्दन के घोल से गीले स्तनों एवं हाथों वाली, मधुरभाषणशील स्त्रियों का शीतल एवं सुखद स्पर्श दाह, वेदना और बिना परिश्रम किये उत्पन्न थकावट को दूर करता है।

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत्। मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः ॥१३१॥
जलजैर्यवचूर्णैर्वा सयष्ट्याह्वपयोघृतैः। सर्पिषा जीवनीयैर्वा पिष्टैर्लेपोऽतिदाहनुत् ॥१३२॥

दाहनाशक लेप—यदि वातरक्तरोग में रोगी के शरीर में लालिमा, पीड़ा तथा दाह हो तो रक्तमोक्षण कराकर मुलेठी, पीपल की छाल, जटामांसी, क्षीरकाकोली, गूलर की छाल तथा शाद्वल (हरी दूब) इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर इनसे लेप तैयार करे। इस लेप को दाहयुक्त स्थान पर लगायें अथवा कमल की पत्तियों को पीसकर लेप लगायें अथवा मुलेठी का चूर्ण, दूध, घी के साथ जौ के आटे का लेप अथवा जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध किये हुए घी का लेप लगाने से वेदना तथा दाह की शान्ति होती है।

[1]तिलाः प्रियालो मधुकं बिसं मूलं च वेतसात्। आजेन पयसा पिष्टः प्रलेपो दाहरागनुत् ॥१३३॥

तिलादि लेप—तिल, चिरौंजी, मुलेठी, बिस (कमलनाल), बेत की जड़, इन सब द्रव्यों को आवश्यकतानुसार लेकर बकरी के दूध से पीसकर लेप लगाने से वातरक्तरोग-जनित दाह तथा राग (लालिमा) का विनाश हो जाता है।

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः । सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः ॥१३४॥
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिवारणः। पित्तरक्तोत्तरे त्वेते—

प्रपौण्डरीकादि लेप—पुण्डरियाकाठ, मजीठ, दारुहल्दी, मुलेठी, लालचन्दन, एरका (इस नाम के दो द्रव्य उपलब्ध होते हैं—१. एरकम्—होगलतृण, २. एरका—मुस्तातृण। किन्तु श्रीचक्रपाणि 'एरका' को ही 'होग्गल' स्वीकार कहते हैं। श्रीइन्दु एरकासक्तु को एक शब्द मानकर एरका बीज के सत्तू का ग्रहण करने को कहते हैं), मसूर की दाल, खश, पद्मकाठ, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जल डालकर बारीक पीसकर लेप तैयार करें। इस लेप का प्रयोग करने से वातरक्तरोग के कारण उत्पन्न पीड़ा, दाह, विसर्प, राग (लालिमा) तथा शोथ का विनाश हो जाता है। ये लेप पित्तप्रधान अथवा रक्तप्रधान वातरक्तरोग में प्रयोग किये जाते हैं।

—लेपान् वातोत्तरे शृणु ॥१३५॥
वातघ्नैः साधितः स्निग्धः [2]सक्षीरमुद्गपायसः। तिलसर्षपपिण्डैर्वाऽप्युपनाहो रुजापहः ॥१३६॥

वातप्रधान वातरक्त-चिकित्सा—अब इसके बाद वातप्रधान वातरक्तरोग-शामक लेपों को सुनो। इस रोग में वातनाशक द्रव्यों से पकायी गयी स्नेह युक्त तथा दूध में पकायी गयी मूंग की खीर अथवा तिल-सरसों के पिण्ड से उपनाह (पुल्टिस) लगाने से उक्त रोग के कारण उत्पन्न वेदना का विनाश हो जाता है।

औदकप्रसहानूपवेशवाराः सुसंस्कृताः। जीवनीयौषधैः स्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने ॥१३७॥
स्तम्भतोदरुगायामशोथाङ्गग्रहनाशनाः। जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा ॥१३८॥

वातप्रधान वातरक्त में उपनाह—भली-भाँति संस्कार किये हुए औदक (जलीय) प्राणियों (मछली आदि) के, प्रसह (बाज आदि) पक्षियों, आनूप (जल के समीप रहने वाले—भैंस, सूअर आदि) प्राणियों के मांसों के वेशवार (हड्डी रहित मांस को उबाल कर पीस लें, उसमें घी, पीपल, मरिच आदि डालकर बनाये हुए मांस) में जीवनीयगण की दस औषधियों के कल्क और चारों स्नेहों (घृत, तैल, वसा, मज्जा) को मिलाकर वातरक्त रोग से पीड़ित शरीरावयव पर उपनाह (पुल्टिस) बाँधने से उस अवयव में होने वाली जकड़न, तोद (सुई चुभाने के सदृश पीड़ा), रुक् (सामान्य पीड़ा), आयाम (खिंचाव), सूजन, अंगों की जकड़न दूर हो जाती है। अथवा जीवनीयगण के द्रव्यों के कल्क द्वारा पकायी गयी दूध सहित वसा भी पुल्टिस के रूप में बाँधने से उक्त स्तम्भ, तोद आदि विकारों का विनाश करती है।

घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती च्छागलं पयः। लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद् भृष्टाः पयसि निर्वृताः॥

सहचरादि योग—१. कटसरैया की जड़ तथा जीवन्ती को बकरी के दूध के साथ पीसकर घी मिलाकर लेप लगाना चाहिए। २. उसी प्रकार तिलों को भूँजकर बकरी के दूध में भिगा दें, भीग जाने पर उन्हें पीस लें, इन लेपों को लगाने से वातरक्त रोग के कारण उत्पन्न दाह रोग की शान्ति होती है।

१. 'एलाप्रियालमधुकबिसं' इति पा०। २. 'कृसरो मुद्गपायसः' इति पा०।

क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि च। कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वामनिलेऽधिके ॥१४०॥

शूलनाशक योग—वातरक्तरोग में वातदोष की प्रधानता होने पर उसके कारण उत्पन्न होने वाले शूल को दूर करने के लिए निम्न लेपों का प्रयोग करना चाहिए—१. उमा (अलसी या तीसी) के बीजों को दूध डालकर पीसकर लेप तैयार करें। २. अथवा रेड़ की गुद्दी को दूध में डालकर पीसकर लेप तैयार करें। ३. अथवा शताह्वा (सोया) के बीजों को दूध के साथ पीसकर लेप तयार करें।

समूलाग्रच्छदैरण्डक्वाथे द्विप्रास्थिकं पृथक्। घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम् ॥१४१॥
कल्कार्थे जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम्। हरिद्रोत्पलकुष्ठैलाशताह्वाऽश्वहनच्छदान्[1] ॥१४२॥
बिल्वभागान् पृथक् पुष्पं काकुभं चापि साधयेत्। मधूच्छिष्टपलान्यष्टौ दद्याच्छीतेऽवतारिते ॥
शूलेनैषोऽर्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतेऽनिले। वातरक्ते च्युते भग्ने खञ्जे कुब्जे च शस्यते ॥१४४॥

वातरक्त में मधूच्छिष्ट लेप—एरण्ड (रेंड) की जड़ तथा उसके अगले (मुलायम) पत्तों को लेकर उनका यथाविधि बनाये गये चौगुने क्वाथ में घी, तेल, आनूपदेश में उत्पन्न मृग तथा पक्षियों से ली गयी वसा तथा मज्जा को अलग-अलग २-२ प्रस्थ (६४-६४ तोला) लेकर डाल दें। कल्क के लिए जीवनीयगण के दस द्रव्य (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी) १० बिल्व अर्थात् प्रत्येक १-१ बिल्व (४-४ तोला) लेकर इनका कल्क बनाकर उसी में मिला दें, घी के बराबर गाय का दूध तथा बकरी का दूध (२-२ प्रस्थ) मिला दें। साथ ही हल्दी, नीलकमल, कूठ, इलायची, सोया, कनेर के पत्ते, अर्जुन के फूल, इन्हें भी अलग-अलग १-१ बिल्व (पल=४-४ तोला) की मात्रा में लेकर कल्क बनाकर मिला दें, तदनन्तर इसका विधिपूर्वक पाक करें। तैयार हो जाने पर छानकर रख लें, शीतल हो जाने पर उस तेल में ८ पल (३२ तोला) देशी मोम पिघलाकर उस तेल में मिला दें। इस तैल का लेप वातरक्तरोग से पीड़ित अंगों में करना चाहिए एवं सन्धिगत वायुरोग में, वातरक्त में, सन्धिच्युत में, सन्धिभग्न में, खजता में, कुब्जता में इसका प्रयोग लाभकर होता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने १४वें श्लोक के उत्तरार्ध में 'च्युते' के स्थान पर 'स्रुते' पाठभेद दिया है, जो विचारणीय है। मोम मिला देने पर यह तेल लेप का रूप धारण कर लेता है। अतः इसका पीने आदि के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता।

शोफगौरवकण्ड्वाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे। मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम् ॥१४५॥

कफप्रधान वातरक्त-चिकित्सा—कफप्रधान वातरक्तरोग में यदि शरीर के किसी अवयव में सूजन, भारीपन, खुजली आदि लक्षण दिखलायी दें तो गोमूत्र, जवाखार तथा मदिरा डालकर विधिवत् पकाये हुए घृत का अभ्यंग (मालिश) करना हितकर होता है।

पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैर्घृतम्। सिद्धं समधुशुक्तं स्यात् सेकाभ्यङ्गे कफोत्तरे ॥१४६॥

पद्मकादि घृत—पद्मकाठ, दालचीनी, मुलेठी, सारिवा (अनन्तमूल), इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार करके उससे घृतपाक करें। इसमें घी से चार गुना अधिक मधुशुक्त मिला दें। तैयार होने पर छानकर रख लें। कफ-प्रधान वातरक्तरोग में इस घृत द्वारा परिषेक तथा अभ्यंग करना हितकर होता है।

वक्तव्य—जंबीरीनीबू का रस १ प्रस्थ (६४ तोला), मधु १ कुडव (१६ तोला), पिप्पलामूल १ कुडव (१६ तोला) इन सबको मिलाकर मिट्टी के पात्र में रखकर उसका मुख बन्द कर दें। इस पात्र को धान्यराशि में एक मास तक ढककर रख देने से यह 'मधुशुक्त' तैयार हो जाता है। एक मास के बाद इसे छानकर प्रयोग में लाते हैं। विशेष ज्ञान के लिए इस सम्बन्ध में सु० सू० अ० ४५ श्लोक २१० से २१२ तक देखें। श्रीजयदेव ने मधुशुक्त की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है—'जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम्। मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत्॥ त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम्'॥ दोनों परिभाषाओं में प्रायः काल-परिधि का ही अन्तर है।

१. 'वरुणच्छदान्' इति पा०।

[1]क्षारस्तैलं गवां मूत्रं [2]जलं च कटुकैः शृतम् । परिषेके प्रशंसन्ति वातरक्ते कफोत्तरे ॥१४७॥

कफप्रधान वातरक्त में परिषेक—इसमें क्षार, तेल, गोमूत्र, जल, सोंठ आदि द्रव्यों को समभाग लेकर मात्रानुसार एक साथ क्वाथ-विधि से पकाकर उसके गुनगुने जल से परिषेक करना उत्तम होता है। अतएव इसकी प्रशंसा की जाती है।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार 'क्षार' के स्थान पर 'क्षीर' का ग्रहण करना चाहिए। वृद्धवाग्भट के अनुसार कुछ टीकाकारों ने इसका कुछ और अर्थ कर दिया है। महर्षि आत्रेय तथा वृद्धवाग्भट की शब्दशय्या भिन्न-भिन्न है, अतः दोनों को एक दृष्टि से देखना शास्त्र के प्रति अन्याय होगा। देखें—'कटुकस्कन्धसिद्धैः क्षारोदकतैलमूत्रैः सेकः' ॥ अ० सं० चि० अ० २४।१४। श्रीगंगाधर का कथन है, कि कटुक द्रव्यों के कल्क से पकाये हुए दूध, तेल, गोमूत्र तथा घृत ये चार अलग-अलग योग हैं।

लेपः सर्षपनिम्बार्कहिंस्राक्षीरतिलैर्हितः । श्रेष्ठः [3]सिद्धः कपित्थत्वग्घृतक्षीरैः ससक्तुभिः ॥१४८॥

सर्षपादि लेप—सरसों, नीम की ताजी पत्तियाँ, मदार की पत्तियाँ, हिंस्रा (हईस) की जड़, दूध, काले तिल इनको उक्त दूध के साथ पीसकर लेप तैयार कर कफप्रधान वातरक्तरोग में लगाना हितकर होता है।

कपित्थादि लेप—अथवा कैथ की छाल को दूध के साथ पीसकर उसमें जौ का सत्तू तथा घी मिलाकर लेप करना श्रेष्ठ होता है।

गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम् । प्रलेपः शूलनुद् वातरक्ते वातकफोत्तरे ॥१४९॥

वातकफप्रधान वातरक्त-चिकित्सा—इसमें गृहधूम, बालवच, कूठ, सोया, हल्दी, दारुहल्दी—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर पीसकर इसका लेप करने से वातरक्त जनित शूल की शान्ति हो जाती है।

तगरं त्वक् शताह्वैला कुष्ठं मुस्तं हरेणुका । दारु व्याघ्रनखं चाम्लपिष्टं वातकफास्रनुत् ॥१५०॥

तगरादि लेप—तगर, दालचीनी, सोया, इलायची, कूठ, नागरमोथा, हरेणु, देवदारु, नखी—इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर खट्टी काँजी से पीसकर वातरक्त द्वारा प्रभावित अवयव पर लेप लगाने से वातकफज वातरक्तरोग का विनाश हो जाता है।

मधुशिग्रोर्हितं तद्वद् बीजं धान्याम्लसंयुतम् । मुहूर्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद् वातकफोत्तरम् ॥१५१॥

मधुशिग्रु-प्रयोग—वात-कफप्रधान वातरक्तरोग में मीठा सहिजन के बीजों को आवश्यकतानुसार धान्याम्ल (काँजी) से पीसकर शरीर के जिस अवयव पर पीड़ा हो रही हो, उस स्थान पर लेप लगाकर कुछ देर के बाद धान्याम्ल (काँजी) से परिषेचन कराना चाहिए।

त्रिफलाव्योषपत्रैलात्वक्क्षीरीचित्रकं वचाम् । विडङ्गं पिप्पलीमूलं रोमशं वृषकत्वचम् ॥१५२॥
ऋद्धिं तामलकीं चव्यं समभागानि पेषयेत् । [4]कल्यं लिप्तमयस्पात्रे मध्याह्ने भक्षयेत्ततः ॥१५३॥
वर्जयेद् दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च । वातास्रे सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते परम् ॥१५४॥

त्रिफलादि कल्क—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल), तेजपत्ता, इलायची, वंशलोचन, चीता की जड़, वच, वायविडंग, पिप्पलामूल, रोमश (कासीस), अडूसा की छाल, ऋद्धि, भुइं आँवला, चव्य—इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर पीसकर कल्क तैयार कर लें। इस कल्क का प्रातःकाल लोहे के पात्र पर लेप कर दें और मध्याह्न काल में उस कल्क को उस पात्र पर से उतार कर उसका सेवन करें। इसके सेवनकाल में, अर्थात् जब से इसका सेवन प्रारम्भ हो और जब तक यह क्रम चलता रहे, तब तक दही, शुक्त (सिरका तथा अचार आदि), क्षार, विरुद्धभोजन, इन सबका परहेज करें। यह कल्क सभी प्रकार के दोषों से होने वाले वातरक्त रोग में विशेषकर शूलरोग से पीड़ित रोगी के लिए हितकर होता है।

१. 'क्षीरं तैलम्' इति पा०।
२. 'घृतम्' इति पा०।
३. 'सक्तुघृतक्षीरकपित्थत्वग्भिरेव च' इति पा०।
४. 'कल्कैर्लिप्त्वाऽऽयसीं पात्रीम्' इति पा०।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार 'कल्कैर्लिप्त्वाऽऽयसीं पात्रीम्'। अर्थात् लौहपात्र को उस कल्क से लीप दें, यह अर्थ होता है, जो अपने में पूर्ण अर्थ नहीं कहा जा सकता है। हमारे विचार से मूल में दिया गया पाठ ही अधिक युक्तियुक्त है, क्योंकि इसमें काल की अवधि स्पष्ट दी गयी है। लौहपात्र नया अथवा साफ होना चाहिए। मोरचा (जंग) लगे हुए पात्र का ग्रहण इस कार्य के लिए कभी नहीं करना चाहिए। आचार्य गंगाधर ऊपर दिये गये १५०वें श्लोक को १५४वें श्लोक के बाद रखने के पक्षपाती हैं। आप भी विचार करें।

बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च दोषाणां च बलाबलम् । चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित् ॥

चिकित्सा-सम्बन्धी निर्देश—ऊहा-पोह (तर्क-वितर्क) करके विचार करने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह वातरक्त रोग में वातादि दोषों के बलाबल एवं स्थान-विशेष का विचार करके यहाँ तक कहे गये वातरक्त चिकित्सा सम्बन्धी योगों का यथोचित प्रयोग करे।

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा । [1]अतिवृद्ध्याऽनिले नादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ॥१५६॥

आवृतवात में स्नेहन-बृंहण निषेध—बढ़े हुए मेदोधातु द्वारा अथवा कफदोष के अधिक बढ़ जाने से जब वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तब वह वातदोष मार्ग न मिल पाने के कारण प्रकुपित हो जाता है। ऐसी स्थिति में पहले स्नेहन एवं बृंहण चिकित्सा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों ही चिकित्साएँ कफ तथा मेदो धातु को और भी बढ़ा देती हैं।

व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः । तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसी ॥१५७॥

मेदोनाशक-प्रयोग—कफदोष तथा मेदोधातु के अधिक बढ़ जाने पर व्यायाम, शोधन (वमन), अरिष्टों का सेवन, गोमूत्रपान, विरेचन, तक्र-सेवन, हरड़ के विविध प्रयोगों द्वारा कफ एवं मेदस् को क्षीण करने का प्रयत्न करना चाहिए। कफ तथा मेदस् के नाशक उपायों में नियमित व्यायाम करना उत्तम उपाय है।

बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह । वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ॥१५८॥

पिप्पलत्वक्-प्रयोग—पीपल वृक्ष की छाल के क्वाथ में शीतल होने पर मधु मिलाकर पीने से भयंकर त्रिदोषज वातरक्त रोग शीघ्र ही जीता जा सकता है। यह वातरक्त चिकित्सा में यशस्वी योग है।

पुराणयवगोधूमसीध्वरिष्टसुरासवैः । शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च ॥१५९॥

वातरक्तनाशक द्रव्य—पुराने जौ, गेहूँ, सीधु (सिरका), अरिष्ट, सुरा, आसव, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुलु तथा माक्षिक (मधु) इन द्रव्यों का विधिवत् प्रयोग करने से वातरक्त रोग जीता जा सकता है।

गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेत्तद् वातवज्जयेत् । पश्चाद् वाते क्रियां कुर्याद् वातरक्तप्रसादनीम् ॥

वातरक्त में चिकित्सा-विचार—गम्भीर वातरक्त रोग में यदि रक्तधातु द्वारा वातदोष आक्रान्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में वातव्याधि-प्रकरण में जो वातरोगों की चिकित्सा कही गयी है, उसमें से अवसर के अनुसार उचित चिकित्सा करनी चाहिए। जब इस प्रकार चिकित्सा करने से वातदोष का कुछ शमन हो जाय, तदनन्तर वातरक्तरोग-नाशक चिकित्सा-विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वातशोणित या वातरक्त-चिकित्सा का क्रमशः समापन होने जा रहा है, अतः तन्त्रकार ने इसी अध्याय के १९वें श्लोक में चर्चित उत्तान तथा गम्भीर वातरक्त की स्थितियों को यहाँ सांकेतिक रूप से दुहराया है। उत्तान वातरक्त में रक्त की प्रधानता होती है। उसी स्थिति का **'गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं'** पद्यांश द्वारा संकेत किया है और गम्भीर वातरक्त में रक्त की अल्पता होती है, दोनों वातरक्त इस दृष्टि से परस्पर विरुद्ध होते हैं।

रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु नियच्छति । भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥१६१॥
तयोः क्रिया विधातव्या [2]भेदशोधनरोपणैः । कुर्यात्तुपद्रवाणां च क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ॥

१. 'अतिवृद्धे' इति पा०।
२. 'व्यधशोधनरोपणैः' इति; भेदशोधनदारणैः' इति च पा०।

वातरक्त में उपद्रवों की चिकित्सा—इस रोग में जब रक्तधातु तथा पित्त की अधिक वृद्धि हो जाती है, तब वातरक्त रोग से पीड़ित रोगी के शरीर का वह अवयव शीघ्र ही पक जाता है, तदनन्तर फूट जाता है, फूटने पर उसमें से विदग्ध रक्त का स्राव होने लगता है, अथवा पूय (मवाद) निकलने लगता है। अतः रक्त की वृद्धि के कारण होने वाले पाक के हो जाने पर व्रण के समान भेदन, शोधन तथा रोपण-क्रियाएँ करनी चाहिए। यदि इन अवस्थाओं में मोह, मूर्च्छा आदि उपद्रव उत्पन्न हुए हों तो उन उपद्रवों की चिकित्सा उन-उन चिकित्सा-प्रकरणों में कही गयी चिकित्सा-विधियों द्वारा करनी चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी प्रायः इसी विधि का निर्देश किया है—'रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु निगच्छति। भिन्नं स्रवति तद्रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥ तयोश्चिकित्सां व्रणवद् भेदशोधनरोपणीम्। कुर्यादुपद्रवाणां च तस्मात् तस्माच्चिकित्सितात्' ॥ अ० सं० चि० अ० २४।३०-३१।

तत्र श्लोकाः—

हेतुः स्थानानि मूलं च यस्मात् प्रायेण सन्धिषु।
कुप्यति प्राक् च यद्रूपं द्विविधस्य च लक्षणम् ॥ १६३ ॥

पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च दोषाधिक्यमुपद्रवाः। साध्यं याप्यमसाध्यं च क्रिया साध्यस्य चाखिला ॥
वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा। महर्षिणाऽग्निवेशाय तथैवावस्थिकी क्रिया ॥१६५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
वातशोणितचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—पूर्वोक्त विषय के सम्बन्ध में यहाँ तीन श्लोक दिये हैं—प्रस्तुत वातशोणितरोग-चिकित्सा-प्रकरण में रोग के कारण, रोग के स्थान, मूल (हाथ-पैर), जिस कारण से प्रायः वह रोग सन्धि-प्रदेशों में प्रकुपित होता है, वातरक्त के पूर्वरूप, गम्भीर तथा उत्तान भेद से दो प्रकार के वातरक्त के लक्षण, वात आदि दोष भेद से अलग-अलग वातरक्तरोग के अलग-अलग लक्षण, दोषों की अधिकता से होने वाले उपद्रवों का परिचय, साध्य, याप्य तथा असाध्य रोग की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन, साध्य वातरक्त के सभी प्रकार के भेदों की विस्तृत रूप से चिकित्सा का संक्षेप तथा विस्तार से वर्णन, अवस्था-भेद से वातरक्त की चिकित्सा का निर्देश महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश के लिए किया।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-चिकित्सा-
स्थान में वातशोणितचिकित्सित नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वातशोणित-चिकित्सा का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से योनिव्यापच्चिकित्सा की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—योनि का ही दूसरा नाम भग है। यह मैथुनोपयोगी अवयव है अथवा गर्भाशय सम्बन्धी अवयवों का सम्मिलित नाम योनि है। इसका परिचय—'शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता। तस्यास्तृतीये

त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता' ॥ सु० शा० अ० ५।४३। योनि की भीतरी आकृति शंखनाभि के सदृश होती है। उसमें तीन आवर्त (घुमाव) होते हैं। तीसरे आवर्त में गर्भाशय स्थित रहता है। कामसूत्र में अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन है, तदनुसार रति क्रिया करने से गर्भाशय में अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ जाती हैं। प्रायः स्त्रियाँ उपलिंग या कृतकध्वज (कृत्रिम लिंग) के प्रयोग से रतिसुख का लाभ लेना चाहती हैं। यह अन्ततोगत्वा शारीरिक तथा मानसिक रोग का कारण बन जाता है। इसके प्रयोग से स्त्री को मात्र विसृष्टि (स्खलन) सुख का लाभ होता है। योनिरोग प्रायः बीजदोष से, कुछ प्रारब्ध से तथा शेष दोषज देखे जाते हैं। आयुर्वेद में पुरुष को चिकित्सा का अधिकरण माना गया है। इसी के साहचर्य से स्त्री, बालक, वृद्ध का भी जिस प्रकार ग्रहण कर लिया जाता है, उसी प्रकार योनिव्यापत्-चिकित्सा-प्रकरण में पुरुषों के शुक्रदोष, नपुंसकत्व आदि की चर्चा भी की गयी है। वातशोणित रोग के बाद इस अध्याय की प्रस्तावना का औचित्य यह है कि सभी योनिरोगों में प्रधानतया वात की विकृति देखी जाती है।

योनिव्यापद्-निरुक्ति—योनि में होने वाले रोग तथा योनि के सम्पर्क से होने वाले रोग, इन सभी का समावेश योनिव्यापद् में किया जाता है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० १९। च० चि० अ० ३०। सु० उ० अ० ३८। अ० सं० उ० अ० ३८ तथा ३९। अ० हृ० उ० अ० ३३ तथा ३४।

दिव्यतीर्थौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः। पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते ॥३॥
विहरन्तं तपोयोगात् तत्त्वज्ञानार्थदर्शिनम्। [1]पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽनु पृष्टवान् ॥४॥

प्रस्तावना—दिव्यतीर्थ (स्वर्गीय गंगा के उद्गम स्थान) अतएव अमृतोपम गुणों वाले औषधीय द्रव्यों से युक्त, विविध वर्ण की धातुओं एवं शिलाखंडों से परिपूर्ण, पुण्यस्थल हिमालय के समीप देवता, सिद्ध (वहाँ रहने वाली जाति-विशेष) तथा ऋषिगणों से सेवित, अपनी तपस्या के बल से, तत्त्वज्ञान से वास्तविक अर्थ को देखने वाले जितेन्द्रिय महर्षि पुनर्वसु से उनके शिष्य अग्निवेश ने पूछा।

भगवन्! यदपत्यानां मूलं नार्यः परं नृणाम्। तद्विघातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः ॥५॥
तस्मात् तेषां समुत्पत्तिमुत्पन्नानां च लक्षणम्। सौषधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया ॥६॥

अग्निवेश के प्रश्न—भगवन्! मनुष्यों के अपत्यों (पुत्र तथा कन्या सन्तानों) की उत्पत्ति का मूल कारण जो स्त्रियाँ बतलायी गयी हैं, उनकी योनि में होने वाले विविध प्रकार के रोगों से अपत्यों का विघात (नाश) हो जाता है। इसलिए योनिशारीर में होने वाले रोगों की उत्पत्ति कैसे होती है? उन उत्पन्न हुए रोगों के लक्षण क्या होते हैं और उनकी चिकित्सा क्या होती है? इन समस्त प्रश्नों के उत्तरों को मैं प्रजा (जनता) के हित की इच्छा से सुनना चाहता हूँ।

इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः। विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसङ्ग्रहे ॥७॥

पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर—इस प्रकार शिष्य (अग्निवेश) द्वारा पूछे जाने पर समस्त ऋषियों में श्रेष्ठ महर्षि अत्रि के पुत्र (आत्रेय) ने कहा—अग्निवेश! रोगसंग्रह (जिस अध्याय में उदर आदि रोगों से लेकर योनिव्यापत् तक के रोगों का संग्रह किया गया है—चरक-सूत्रस्थान के १९वें) अध्याय में योनि के बीस रोगों का निर्देश किया गया है।

वक्तव्य—वास्तव में उक्त १९वें अध्याय का नाम चरकसंहिता में 'अष्टोदरीय' है। किन्तु इसमें अनेक रोगों के साथ 'योनिव्यापत्' की भी चर्चा है। अतएव 'रोगसंग्रह' शब्द से यहाँ इसी का ग्रहण किया गया है। वैसे अन्य अनेक अध्याय हैं, जिनमें एकाधिक रोगों का संग्रह देखा जाता है।

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च। जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ॥

योनिव्यापद् का निदान—ये २० प्रकार के योनिरोग स्त्रियों के मिथ्या (अनुचित) आहार-विहार के कारण प्रदुष्ट आर्तव (मासिकधर्म की गड़बड़ी) से, बीजदोष (शुक्र के दूषित होने) से तथा भाग्य के अनुकूल

१. 'कृष्णात्रेयं' इति पा०।

न रहने के कारण उत्पन्न होते हैं। यहाँ संक्षेप में उन व्यापत्तियों का संकेत कर दिया गया है। उन्हें विस्तारपूर्वक आगे अलग-अलग कहा जायेगा।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने योनिव्यापद् के निदान में कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—'विंशतिर्व्यापदो योनेर्जायन्ते दुष्टभोजनात्। विषमस्थाङ्गशयनभृशमैथुनसेवनैः॥ दुष्टार्तवादपद्रव्यैर्बीजदोषेण दैवतः'॥ अ० सं० उ० अ० ३८।३४। इन्होंने इसके पूर्व पुरुषों के गुह्यरोगों का वर्णन किया है, यह भी इस प्रसंग में अवधेय है। विषमस्थाङ्गशयन—कामशास्त्र में रतिक्रीड़ा के निमित्त अनेक आसनों का वर्णन है। इसमें स्त्री के अंग विषमस्थ हो जाते हैं, यह भी योनिरोग में अन्यतम कारण है। मैथुन स्त्री-पुरुष का श्रेयःमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए एक पवित्र धर्म है, किन्तु इसका दुरुपयोग भी योनिरोग को उत्पन्न कर देता है। यह केवल स्त्रियों का मिथ्याचार नहीं है। इसका समावेश हम तन्त्रकारोक्त 'बीजदोष' शब्द की परिधि में कर सकते हैं, यद्यपि बीजदोष शब्द से माता-पिता के रजवीर्य का भी ग्रहण किया जाता है, जिससे स्त्री की उत्पत्ति हुई है।

अपद्रव्य—इसकी टीका करते हुए श्रीइन्दु ने संकेत किया है—'अपद्रव्याणि लोहादिमयानि दाक्षिणात्यासु प्रसिद्धानि'। इन साधनों को उपलिङ्ग भी कहा जाता है। कामभावना स्त्री-पुरुष में समान रूप से होती है। इस प्रसंग में यजुर्वेदोक्त कामस्तुति पर ध्यान दें—'कोऽदात्, कस्मा अदात्, कामोऽदात् कामायादात्, कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत् ते'। अर्थात् किसने दिया? किसके लिए दिया? काम ने दिया, काम के लिए दिया, क्योंकि काम ही दाता है और काम ही गृहीता (लेने वाला) है, यही तुम्हारे लिए काम है। यही कारण है कि स्त्री-पुरुष की काम-भावना ही एक-दूसरे का वरण करने के लिए बाध्य करती है। कामवासना से प्रेरित होकर पुरुष स्त्री की कामना करता है और स्त्री पुरुष की; प्राप्ति न होने पर दोनों ही अपद्रव्यों का प्रयोग करते हैं। जिनका वर्णन यथावसर संहिताकारों ने किया है। और भी देखें—'विमृद्यमानाः कृतकध्वजेन द्रवन्ति हृष्यन्ति दृढप्रहारैः। सौराज्यजाः कोमलजाश्च नार्यः प्रचण्डकण्डूनिभगा भवन्ति'॥ रतिरहस्य। यह कृतकध्वज बनावटी 'पुरुषलिंग' है। इसी प्रकार आजकल जो गर्भ-निरोध के लिए विजातीय द्रव्यों, जो स्त्रियों अथवा पुरुषों के लिए प्रयुक्त किये-कराये जाते हैं, वे भी स्थानीय विकारों को उत्पन्न करते हैं। आप भी इस ओर ध्यान दें।

वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः। विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम्॥९॥
स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा। करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान्॥
सा स्यात् सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवाऽनिलात्।

१. **वातलायोनि के लक्षण**—वातप्रकृति वाली स्त्री यदि वातप्रधान आहार-विहार का सेवन करती है, तो अपने प्रकोपक कारणों से बढ़ी हुई वायु योनि-प्रदेश का आश्रय लेकर योनि में सुई चुभाने के समान पीड़ा, वेदना के साथ उसमें जकड़न, चिउँटियों के सरकने के जैसा अनुभव होना, कर्कशता (खुरदरापन), शून्यता, शरीर में थकावट तथा अन्य प्रकार के वातविकारों की उत्पत्ति हो जाती है। वातविकार से दूषित हुई वह योनि शब्द तथा पीड़ा सहित, झागदार, पतला तथा रूक्ष आर्तव (मासिक सम्बन्धी रक्त) के स्राव को बाहर निकालती है। इस प्रकार की विकृति का कारण वातविकार है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने संक्षेप में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—'वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता'। सु० उ० अ० ३८।११। वृद्धवाग्भट ने इसके लक्षणों को विस्तार से दिया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३८।३५-३६। इन्होंने वातज विकृति के कारण होने वाले रजःस्राव के रूपों का वर्णन किया है, जो वात के अपने रूप हैं। इसमें अपानवायु की भाँति शब्द करता हुआ वायु योनिमुख से बाहर निकलता है। इसी को तन्त्रकार ने 'सशब्द' लिखा है।

व्यापत्कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्॥ ११॥
दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा। भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता॥१२॥

२. **पित्तलायोनि के लक्षण**—कटु (चरपरे), अम्ल (खट्टे), नमकीन तथा क्षारयुक्त पदार्थों का अधिक सेवन करने से पित्तज योनिरोगों की उत्पत्ति हो जाती है, जब इस प्रकार योनि पित्त से दूषित हो जाती है, तो उसमें दाह, पाक, उष्णता (जलन) होती है, उसे ज्वर हो जाता है, तदनन्तर उसे जो मासिक रजःस्राव होता

है, उसका वर्ण नीला, पीला, काला होता है। उसका वह रक्तस्राव अत्यन्त गरम, मुर्दा की-सी सड़नवाला अत एव दुर्गन्धित होता है।

वक्तव्य—ऊपर दिये गये संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत के अनुसार अन्यत्र दिये गये साहित्य का भी परिशीलन कर लेना चाहिए। पित्तलायोनि में दाह तथा पाक की अधिकता देखी जाती है, अतः यह कष्टकर होती है।

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद् दूषयेत् स्त्रियाः।
स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डुग्रस्ताल्पवेदनाम्॥ १३॥
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम्।

३. **कफजायोनि के लक्षण**—अभिष्यन्दी (कफवर्धक) पदार्थों का अधिक सेवन करने से बढ़ा हुआ कफदोष जब स्त्री की योनि को दूषित कर देता है, तब वह पिच्छिल (चिपचिपी), स्पर्श में शीतल, खुजली से युक्त तथा सामान्य वेदना से युक्त होती है। उस स्त्री का शरीर पीला पड़ जाता है और उसका आर्तव (मासिक-स्राव) पीले वर्ण का चिपचिपा होता है।

वक्तव्य—वाग्भट ने कफज तथा लोहितक्षया योनिव्यापद् के लक्षण दिये हैं। इसे देखें—अ० हृ० उ० अ० ३४।४४-४५। **कण्डुग्रस्ताम्**—इस रोग के हो जाने पर स्त्रियाँ अत्यन्त लजाती हैं, वे समाज में जाना पसन्द नहीं करती, क्योंकि वे प्रतिक्षण योनि को खुजलाती रहती हैं।

समश्नन्त्या रसान् सर्वान् दूषयित्वा त्रयो मलाः॥ १४॥
योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः। सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी॥१५॥

४. **त्रिदोषजायोनि के लक्षण**—जो स्त्री सभी रसों का एक साथ समशन करती है, उसकी योनि तथा गर्भाशय में स्थित तीनों मल (वात, पित्त, कफ दोष), योनि को दूषित करके जब अपने-अपने लक्षणों से युक्त कर देते हैं, तब सन्निपात (तीनों दोषों) से दूषित वह योनि दाह तथा शूल से पीडित हो जाती है और उसके भीतर से सफेद तथा चिपचिपा स्राव निकलने लगता है।

वक्तव्य—'सर्वान् रसान् समश्नन्त्या'—इस वाक्यांश का अर्थ कुछ टीकाकारों ने केवल 'सभी रसों का अधिक मात्रा में सेवन करने वाली' ऐसा अर्थ किया है, जो आपत्तिजनक है। ध्यान दें—'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्'। च० सू० अ० २५।४० और 'सर्वरसं प्रवरम्'। च० वि० अ० १।२०। दूसरा उक्त वाक्यांश में 'अधिक' पद वाचक कोई पद नहीं है, अतः हमने 'समश्नन्त्या' का सीधा अर्थ 'समशन' किया है, जो दोषपूर्ण भोजनों में अन्यतम है। देखें—**'हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्'**। सु० सू० अ० ४६।५०८। यहाँ हिताहित की परिभाषा इस प्रकार है—नये धान्य के साथ पुराना शाक, पुराने खाद्यपदार्थ को नये शाकों के साथ खाना, शीत को उष्ण के साथ एक साथ सेवन करना।

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम्। अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे गर्भेऽपि [1]सासृजा॥१६॥

५. **रक्तजायोनि के लक्षण**—रक्त-पित्त को बढ़ाने वाले आहार-विहारों का सेवन करने के कारण स्त्री की योनि में आश्रित रक्त यदि पित्त द्वारा दूषित हो जाय तो गर्भाधान हो जाने पर भी उसकी योनि से रक्तस्राव होता रहता है। इसी को रक्तजायोनि कहते हैं।

वक्तव्य—रक्तजायोनि में रोग के कारण प्रायः गर्भाधान नहीं हो पाता। यदि गर्भाधान हो भी जाता है तो योनि से रक्तस्राव होता रहता है। इसमें रक्त की अधिक प्रवृत्ति ही कारण होती है। इस स्थिति में कभी-कभी गर्भस्राव भी हो जाता है। यदि गर्भस्राव न हुआ तो विधिवत् गर्भपोषण तो नहीं ही हो पाता है। 'सासृजा' के स्थान पर 'साऽप्रजा' पाठ भी उपलब्ध है, जिसका अर्थ होता है कि ऐसी स्त्री प्रायः 'अप्रजा' अर्थात् निःसन्तान होती है। परन्तु 'साऽप्रजा' पाठ अधिक चरितार्थ नहीं होता है, अतः 'सासृजा' पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका विचार करने के लिए रक्तजायोनि वाली रोगिणियों को देखें, वे प्रायः गर्भवती होती हैं तथा स्वस्थ सन्तान को जन्म भी देती हैं।

१. 'साऽप्रजा' इति पा०।

योनिगर्भाशयस्थं चेत् पित्तं सन्दूषयेदसृक् । साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम् ॥१७॥

६. **अरजस्कायोनि के लक्षण**—योनि तथा गर्भाशय में स्थित पित्तदोष जिस स्त्री की रक्तधातु को दूषित कर देता है, उस स्त्री का शरीर अत्यन्त कृश और विवर्णता से युक्त हो जाता है, उसे अरजस्का कहा गया है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने 'नष्टार्तवा' को वन्ध्या कहा है—सु० उ० अ० ३८।१०। किन्तु इसका ठीक-ठीक निर्णय करने के लिए अन्य लक्षणों पर भी ध्यान देना चाहिए, अन्यथा चिकित्सक को अपयश मिलता है। अतः सावधान रहें, क्योंकि 'सम्मानितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'। गीता। सुश्रुत ने इसके पहले यह भी सूचना दी है—'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते'। सु० शा० अ० ३।६। यह विशिष्ट घटना कभी-कभी देखी-सुनी जाती है। यदि स्त्री को भी यह ज्ञान न हो कि उसे रजःप्रवृत्ति हुई है या नहीं, इसका परीक्षण के करने लिए सु० शा० अ० ३ के श्लोक ७-८ का अवलोकन कर तदनुसार उसके ऋतुमती होने, न होने का निर्णय करें। वृद्धवाग्भट का कथन है कि यह केवल पित्तदोष से नहीं अपितु इसमें वातदोष भी कारण होता है, तभी रजःक्षय होता है—'वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः'। अ० सं० उ० अ० ३८।५०। गर्भधारण के सम्बन्ध में केवल स्त्री अथवा केवल पुरुष को ही दोषी नहीं मानना चाहिए। 'अरजस्का' को ही अन्यत्र 'लोहितक्षया' कहा है।

योन्यामधावनात् कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः ।
सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ॥ १८ ॥

७. **अचरणायोनि के लक्षण**—योनि को न धोने आदि के कारण उसके भीतर क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, उनके कारण योनि के भीतर कण्डू (खुजली) होने लगती है। खुजली होने के कारण वह स्त्री मैथुन करने की इच्छा से पुरुष की कामना करने लगती है। इस प्रकार की योनि वाली स्त्री को अचरणा कहते हैं।

वक्तव्य—अचरणा-योनि वाली स्त्री पुरुष से पहले द्रवित या स्खलित हो जाती है, अथवा पुरुष के स्खलित होने तक वह कई बार खलित हो जाती है, परन्तु उसकी खुजली शान्त नहीं हो पाती है। ऐसी स्त्रियाँ प्रायः दुराचारिणी हो जाती हैं। ऐसी स्त्रियों में कफदोष की प्रधानता देखी जाती है। महर्षि वात्स्यायन ने अनेक प्रकार से स्त्री तथा पुरुष की प्रकृति में भेद बतलाया है—पुरुष में यौवन के आरम्भ में कामवासना अधिक होती है और वह क्रमशः घटती जाती है, किन्तु स्त्रियों में आरम्भ में कामवासना कम होती है और बाद में वह क्रमशः बढ़ती जाती है। और भी देखें—'स्त्रियः कामयन्ते नतु प्रार्थयन्ते'। अर्थात् स्त्रियाँ पुरुषों के प्राप्ति की कामना करती है, किन्तु प्रार्थना नहीं करती। पुरुषों का आचरण इनके विपरीत देखा जाता है। यही स्थिति स्त्री-पुरुषों में मैथुन की भी है—'चिरवेगे नायके स्त्रियोऽनुरज्यन्ते। शीघ्रवेगस्य भावमनासाद्यावसानेऽभ्यसूयिन्यो भवन्ति। तत्सर्वभावप्राप्तेरप्राप्तेश्च लक्षणम्। सातत्याद् युवतिरारम्भात् प्रभृति भावमधिगच्छति, पुरुषः पुनरन्त एव। सुरतान्ते सुखं पुंसां स्त्रीणां तु सततं सुखम्। धातुक्षयनिमित्ता च विरामाच्चोपजायते' ॥ वात्स्यायन-कामसूत्र।

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः । करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता ॥

८. **अतिचरणायोनि के लक्षण**—अधिक मैथुन करने से प्रकुपित हुआ वातदोष स्त्री की योनि में शोफ (सूजन), शून्यता (स्पर्श का ज्ञान न हो पाना) तथा अनेक प्रकार की पीड़ाओं को पैदा कर देता है। इस व्यापद् का नाम अतिचरणा है।

वक्तव्य—सातवीं योनिव्यापद् का नाम 'अचरणा' है। इसका ही परिवर्धित रूप 'अतिचरणा' है। इन दोनों ही व्यापत्तियों से युक्त स्त्रियाँ गर्भधारण नहीं कर पाती हैं। सुश्रुत के अनुसार इसका प्रमुख लक्षण है—मैथुन के प्रति स्त्री की अधिक प्रवृत्ति का होना। इसी रोग के कारण अधिकांश स्त्रियाँ वेश्या हो जाती हैं या वेश्या होने के लिए विवश हो जाती हैं। इसी कारण से उनके गर्भाशय में बीज टिक नहीं पाता है। देखें—सु० उ० अ० ३८।१६।

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकटयूरुवङ्क्षणम् । रुजन् दूषयते योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥२०॥

९. **प्राक्चरणायोनि के लक्षण**—अधिक छोटी अवस्था वाली कन्या के साथ पुरुष जब मैथुन करना आरम्भ कर देता है, उसके कारण योनि-प्रदेश में वातदोष कुपित हो जाता है, जिससे वह कुपित हुआ वातदोष

पीठ, कमर, ऊरु तथा वंक्षण-प्रदेश में पीड़ा उत्पन्न करता हुआ योनिमण्डल को दूषित कर देता है। इस व्याधि को 'प्राक्चरणा' कहते हैं।

वक्तव्य—'यौवनलक्षणोदयात् प्राक् मैथुनाय चरति गतिं करोति या योनिः, सा 'प्राक्चरणायोनिः'। यहाँ बाला स्त्री की अवस्था का उल्लेख नहीं किया है। अन्यत्र १६ वर्ष की अवस्था तक की स्त्री को बाला कहा गया है। देखें—राजवल्लभ। कोषकारों ने बाला को ही युवती भी कहा है। यहाँ 'अतिबाला' शब्द का ग्रहण किया गया है। संस्कार-पद्धतियों में कन्या का विवाह किन-किन अवस्थाओं में शुभ माना है। देखें—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला' ॥ यह है धार्मिक पक्ष। इस प्रकार आठ वर्ष से लेकर दस वर्ष की अवस्था तक कन्या का विवाह कर देना चाहिए। इन अवस्थाओं में विवाह कर देने के बाद क्या-क्या लोकाचार या लोक-व्यवहार अपनाये जाते थे, यह विषयान्तर है। आयुर्वेदीय दृष्टि से—'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां (षोडशवर्षां) पत्नीमावहेत्'। सु० शा० अ० १०।५३। सुश्रुत की प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों में इस प्रकार कुछ पाठभेद मिलते हैं—'षोडशवर्षां' इति ताडपत्रपुस्तके पठ्यते, अत्र 'द्वादशवर्षां' इतीतरेषु हस्तलिखित पुस्तकेषु'।

वास्तव में २४ वर्ष तक अध्ययन करने के बाद २५वें वर्ष में पुरुष का १६ वर्ष की स्त्री के साथ विवाह करना शास्त्रानुकूल है, अथवा उनके लिए यह उत्तम सहवास का अवसर है, क्योंकि इस अवस्था तक वे पूर्णरूप से बलवीर्य-सम्पन्न हो जाते हैं। यह अवस्था यद्यपि शास्त्रानुमोदित है, तथापि आप भी देख लें कि क्या सचमुच आप युवती कन्या का योग्य युवक से विवाह कर रहे हैं? महामानव मनु ने ३० वर्ष की अवस्था में पुरुष का विवाहकाल बतलाया है, वृद्धवाग्भट ने २१ वर्ष और आचार्य शार्ङ्गधर ने २० वर्ष माना है। हमारे विचार से स्त्री का विवाह ऋतुमती होने के बाद ही होना चाहिए। तब तक उसके शारीरिक अवयवों का पूर्ण विकास हो जाता है। वाग्भट के विचार देखें—'पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता। शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः। रोगाल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा' ॥ अ० हृ० शा० अ० १।८-९। इस अवस्था तक युवक तथा युवती का परम कर्तव्य है, कि वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करें।

अतिबाला—बाला को कुमारी भी कहा गया है; इसका एक पर्याय है—'वासू' जिसकी निरुक्ति 'वास्यते स्वगृहे'। इस अवस्था तक इसे माता-पिता अपने घर से ही रखते हैं। १५ या १६ वर्ष के पूर्व की स्थिति अति-बाला की होती है। शीतकटिबन्ध तथा उष्णकटिबन्ध का भी आयु की इस सीमा पर प्रभाव पड़ता है। शीतप्रधान प्रदेशों की कन्याओं का उष्णप्रदेशों में रहने वाली कन्याओं की तुलना में देर में शारीरिक विकास होता है। इस दृष्टि से भी विवाहकाल का निर्णय करना चाहिए। अर्थात् पुष्पवती होने के समय तक कन्या को अतिबाला मानना सर्वथा उचित है। इस अवस्था में गर्भाधान करने से होने वाली हानियों का सुश्रुत ने इस प्रकार वर्णन किया है—'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥ जातो वा न चिरं जीवेद् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्' ॥ सु० शा० अ० १०।५४-५५। इसी प्रसंग में आगे अत्यन्त वृद्धा आदि पर भी विचार किया गया है।

गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिनिःश्वासनिग्रहात् । वायुः[1] क्रुद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥
पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम् । कफवातामयव्याप्ता सा स्याद् योनिरुपप्लुता ॥

१०. **उपप्लुतायोनि का लक्षण**—यदि गर्भवती स्त्री कफकारक आहार-विहार का सेवन करती है तथा वमन एवं श्वास के वेगों को (जिन्हें नहीं रोकना चाहिए, उन्हें) रोकती है, तो उन वेगों को रोकने के कारण कुपित हुई वायु उस बढ़े हुए कफ को योनि-प्रदेश में लाकर उसे दूषित कर देती है। उसके बाद योनि से तोद (सुई चुभाने के समान होने वाली पीड़ा) के साथ पीले वर्ण का स्राव होने लगता है, अथवा सफेद वर्ण का कफ ही अपने स्वाभाविक रूप में निकलने लगता है। इस योनिरोग में कफ एवं वायु से उत्पन्न विकार पर्याप्त मात्रा में दिखलायी देते हैं। इस योनिव्यापत् को 'उपप्लुता' कहते हैं।

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात् । पित्तसम्मूर्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥२३॥

---

१. 'वायुर्वृद्धः' इति पा०।

शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत् । श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता ॥२४॥

११. **परिप्लुतायोनि के लक्षण**—पित्त प्रकृति वाली स्त्री यदि पुरुष के साथ सहवास करते समय छींक तथा उद्गार (डकार—Eructation) के अधारणीय वेगों को रोक देती है, तो इस अनियमितता के कारण पित्त के साथ मिली हुई वायु प्रकुपित होकर पित्तदोष को योनि-प्रदेश में लाकर उसे (योनि को) दूषित कर देती है। इसके कारण स्त्री को ज्वर हो जाता है, योनि-प्रदेश में सूजन हो जाती है, योनि को छूने मात्र से उसे वेदना होने लगती है। स्त्री के कमर, वंक्षण, पीठ में पीड़ा होती है। उस स्त्री की योनि से नीले तथा पीले वर्ण का रक्तस्राव होने लगता है। इस योनिरोग को 'परिप्लुता' कहते हैं।

वक्तव्य—चरक में परिप्लुतायोनि को 'स्पर्शाक्षमा' कहा है। सुश्रुत ने कहा है कि इस रोग से पीड़ित स्त्री को सहवास काल में अधिक कष्ट का अनुभव होता है। **'वाताद् ऋते नास्ति रुजा'** सु० सू० अ० १७।७। अतः इस परिप्लुतायोनि-व्यापद् में यह कष्ट वातदोष के कारण ही विशेष रूप से होता है।

वेगोदावर्तनाद् योनिमुदावर्तयतेऽनिलः । सा रुगार्ता रजः [1]कृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति ॥२५॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम् । रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥२६॥

१२. **उदावर्तिनीयोनि के लक्षण**—अधारणीय वेगों को रोकने के कारण जब वायु का प्रकोप ऊपर की ओर (विलोम) हो जाता है, तब वायु योनि को ऊपर की ओर को उठा लेती (खींच लेती) है, ऐसी स्थिति में उस स्त्री को अत्यन्त कष्ट होता है। ऊपर की ओर गयी हुई वह योनि अत्यन्त कष्ट के साथ रजःस्राव कर पाती है। जब रजःस्राव पूर्णरूप से हो जाता है, तब कुछ क्षणों के लिए रोगिणी स्त्री को सुख का अनुभव होता है। रजस् के ऊपर की ओर को चले जाने के कारण विद्वान् चिकित्सक उस योनि को 'उदावर्तिनी' कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने उदावर्तायोनि के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'सफेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति'। सु० उ० अ० ३८।९। इन्होंने कारणों का निर्देश न करके केवल लक्षणों का वर्णन किया है। वृद्धवाग्भट ने संक्षेप में कारण तथा लक्षणों को चरक के अनुसार ही दिया है—'वेगोदावर्तनाद् योनिं प्रपीडयति मारुतः। सा फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुञ्चति ॥ इयं व्यापदुदावृत्ता'। अ० सं० उ० अ० ३८।३९। यहाँ दोनों संहिताकारों ने उस रजस् का स्वरूप फेनिल (झागदार) स्वीकारा है।

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः । कर्णिकां जनयेद् योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥२७॥
रक्तमार्गावरोधिन्या [2]सा तया कर्णिनी मता ।

१३. **कर्णिनीयोनि के लक्षण**—प्रसव के समय असमय में अर्थात् आवी के प्रादुर्भाव न होने पर भी जो गर्भ को बाहर निकालने के लिए प्रवाहण करती है, तो गर्भ द्वारा दबी हुई वायु कफ तथा रक्त से मिश्रित होकर योनिमार्ग में कर्णिकाओं (मांसांकुरों) को उत्पन्न कर देती है। ये कर्णिकाएँ रक्त के मार्ग को रोक देती हैं। योनि के कर्णिका युक्त होने के कारण इसे कर्णिनीयोनि-व्यापत् कहते हैं।

वक्तव्य—कर्णिका—किनारीदार गाँठ को कहते हैं। इसके अन्य अर्थ अप्रासंगिक हैं। स्वाभाविक रूप से जब गर्भ का प्रसवकाल आ जाता है, तो गर्भिणी प्रसव-पीड़ा से युक्त होती है, उस समय के वर्णन के लिए देखें—च० शा० अ० ८।३७ तथा सु० शा० अ० १०।९। उक्त दोनों प्रसंगों का भली-भाँति परिशीलन कर लें। कर्णिनीयोनि की उत्पत्ति ऐसी अवस्था में प्रवाहण करने से होती है, जब आवी प्रादुर्भाव (प्रसव-वेदना की उत्पत्ति) न हो रहा हो और वह अज्ञानतावश गर्भ को स्वयं बाहर निकालने के लिए प्रयत्न कर रही हो। ऐसे अवसर पर उपस्थित प्रजनन कुशला स्त्रियों को चाहिए कि वे गर्भिणी को प्रवाहण-कर्म से रोकें, क्योंकि 'अकालप्रवाहणाद् बधिर''' जनयति'। सु० शा० अ० १०।९। चरक के अनुसार इस रोग की उत्पत्ति श्लेष्मरक्त से युक्त वातदोष द्वारा होती है, किन्तु सुश्रुत के मत से कफ तथा रक्त के प्रकोप से होती है—ऐसा कुछ लोगों ने लिखकर भ्रम पैदा किया है। आप सुश्रुत की मान्यता को देखें—सु० उ० अ० ३८।३-४। यहाँ योनिरोगों की मूल उत्पत्ति में वायु को कारण माना है। आगे रोग-विशेष में दोष-विशेष की सत्ता का होना या उसका वर्णन करना नितरां स्वाभाविक ही है।

---

१. 'कृच्छ्रेणोदावृत्य' इति पा०।
२. 'तया कर्णिकयाऽन्विता। सा योनिः सर्वभिषजां नामतः कर्णिनी मता' इति पा०।

रौक्ष्याद् वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ॥ २८ ॥
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता ।

१४. **पुत्रघ्नीयोनि के लक्षण**—जब रूक्षतायुक्त (स्नेह रहित) आहार-विहार के कारण प्रकुपित हुई वायु दूषित आर्तव द्वारा उत्पन्न गर्भ को बार-बार नष्ट कर देती है, तब उस योनिव्यापत् को पुत्रघ्नी (सन्तान का नाश करने वाली) कहते हैं।

वक्तव्य—'पुत्रघ्नी'—इसमें 'पुत्र' शब्द 'पुत्र-पुत्री' दोनों का वाचक है। सुश्रुत ने भी इस योनिव्यापत् को 'पुत्रघ्नी' कहा है। किन्तु गर्भधारण होने के बाद निरन्तर रक्तस्राव होने के कारण उस गर्भ का स्राव हो जाता है, ऐसा स्वीकार किया है। वृद्धवाग्भट ने इसे 'जातघ्नी' कहा है—'जातघ्नी तु यदानिलः। जातं जातं सुतं हन्ति रौक्ष्याद् दुष्टार्तवोद्भवम्'। अ० सं० उ० अ० ३८।४०। इस दुष्टार्तव में भी सहवास करने से जब-जब स्त्री गर्भधारण कर लेती है, तब-तब उसका गर्भस्राव हो जाता है। आर्तव के दूषित होने के कारण वह गर्भ पुष्ट नहीं हो पाता है, अपितु रूक्ष आहार-विहारों के सेवन से प्रकुपित हुआ वायु उसका शीघ्र ही स्राव करा देता है।

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः ॥ २९ ॥
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः ।
[1]वक्रयत्याननं योन्याः साऽस्थिमांसानिलार्तिभिः ॥ ३० ॥
भृशार्तिर्मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता ।

१५. **अन्तर्मुखीयोनि के लक्षण**—भरपूर भोजन कर लेने के पश्चात् यदि स्त्री पुरुष के साथ सहवास करती है, तो मिथ्यास्थित (विषम आसनों में स्थित) होने के कारण उस स्त्री के योनिस्रोत (छिद्र) में स्थित वह वायु अन्न से पीड़ित होकर अस्थि तथा मांस के साथ योनि का मुख टेढ़ा कर देती है। तदनन्तर उसमें वातजनित अत्यन्त पीड़ा होती है और वह स्त्री मैथुन के परिश्रम को सहन नहीं कर सकती। ऐसी योनि को अन्तर्मुखी कहते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी अन्तर्मुखीयोनि के इन्हीं लक्षणों का वर्णन किया है, देखें—अ० सं० उ० अ० ३८।४१।

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद् वायुर्योनिं प्रदूषयन् ॥ ३१ ॥
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा ।

१६. **सूचीमुखीयोनि के लक्षण**—माता के आहार-विहार-जनित दोष से गर्भ में स्थित स्त्री-भ्रूण के शरीर में रूक्षता के कारण वायु योनि को दूषित करती हुई योनि-द्वार को सूक्ष्म कर देती है। अतः उस योनि को सूचीमुखी कहते हैं।

वक्तव्य—यह रोग गर्भावस्था-जनित विकृति के कारण होता है, ऐसा तन्त्रकार का मत है। यहाँ सूची-मुख शब्द उस योनि की संकीर्णता का सूचक है।

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान् प्रकुपितोऽनिलः ॥ ३२ ॥
कुर्याद् विण्मूत्रसङ्गार्ति शोषं योनिमुखस्य च ।

१७. **शुष्कायोनि के लक्षण**—पुरुष-सहवास-काल में जो स्त्री मल-मूत्र आदि के वेगों को रोक देती है, उसके कारण कुपित हुई वायु मल-मूत्र के तत्काल उत्पन्न वेग को रोककर योनि के मुख को सुखा देती है, अतः उसे 'शुष्कायोनिव्यापत्' कहते हैं।

षडहात् सप्तरात्राद् वा शुक्रं गर्भाशयं गतम् ॥ ३३ ॥
सरुजं नीरुजं वाऽपि या स्रवेत् सा तु वामिनी ।

---

१. 'योनेर्मुखं वक्रयति' इति पा०।

१८. **वामिनीयोनि के लक्षण**—गर्भाशय में पहुँचे हुए शुक्र को जो योनि छठे या सातवें दिन में वेदना के साथ अथवा वेदना रहित गर्भाशय से बाहर स्राव करा देती है, उस योनि को वामिनी कहते हैं।

वक्तव्य—वामिनी; इसका अर्थ है—उगल देने वाली। 'वम उद्गिरणे' धातु से इस शब्द की निष्पत्ति होती है, अर्थात् भीतर स्थित वीर्यरूप पदार्थ को बाहर निकाल देना। **षडहात् सप्तरात्रात् वा**—वामिनी योनि इस निर्धारित काल के आगे-पीछे भी उस कलल रूप रजस् एवं वीर्य के मिश्रण को बाहर निकाल देती है। अतः इस प्रकार के दोष से दूषित योनि वाली स्त्री सफल गर्भवती नहीं होती है। ऊपर श्लोक २७ के वक्तव्य में हम इस बात का विवेचन कर चुके हैं, कि योनिरोगों की मूल उत्पत्ति में वायु ही कारण होता है और वायु के बिना कोई धातु (कफ तथा पित्त) गतिशील नहीं होता है। अतः गर्भाशय से बाहर तक ले आने में वायु के अतिरिक्त दूसरा कोई सहायक नहीं हो सकता है। महर्षि अत्रेय के इस आशय को सुश्रुत ने शब्दतः कह दिया है। देखें—सु० उ० अ० ३८।१२।

बीजदोषात् तु गर्भस्थमारुतोपहताशया ॥ ३४ ॥
नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा।

१९. **षण्ढीयोनि के लक्षण**—माता-पिता के रजस्-वीर्य रूपी बीज (गर्भोत्पादक कारण) के दूषित हो जाने पर गर्भस्थ स्त्री-भ्रूण के शरीर में वायु की विकृति हो जाती है, अतएव दूषित वायु से गर्भाशय भी दूषित हो जाता है। इस प्रकार के गर्भ से जिस कन्या का जन्म होता है, वह आगे चलकर अर्थात् विवाह हो जाने पर पुरुष से द्वेष रखती है (वह नरकामा नहीं होती है), उसके स्तन नहीं होते, वह चिकित्सा द्वारा भी ठीक नहीं की जा सकती, उसे षण्ढीयोनि कहते हैं। इसी को अन्यत्र तृतीया प्रकृति कहते हैं। इसमें पूर्ण गर्भाशय नहीं होता है।

वक्तव्य—'शण्ड' या 'शण्ढ' दोनों शब्द परस्पर पर्याय वाचक हैं—शण्ड्+अच्=शण्ड तथा शम्+ड =षण्ढ। सुश्रुत ने षण्डा या षण्डी का परिचय देते हुए कहा है—'अनार्तवाऽस्तना षण्डी'। सु० उ० अ० ३८। १८। अर्थात् नराभास ऐसी स्त्री को यौवनकाल में भी न स्तन होते हैं और न रजःप्रवृत्ति ही होती है। इसके लिए च० शा० अ० २।१७ से २१ तक देखें, पढ़ें और मनन करें। क्योंकि ये आठ (१. द्विरेता, २. पवनेन्द्रिय, ३. संस्कारवाही, ४. नरषण्ड, ५. नारीषण्ड, ६. वक्री, ७. ईर्ष्याभिरति, ८. वातिकषण्ड) गर्भविकार होते हैं। इसके आगे च० शा० अ० ४।३०-३१ में स्त्रीव्यापद् एवं पुरुषव्यापद् का वर्णन पाया जाता है। यह भी तत्परता के साथ इस प्रसंग में मननीय है। इस प्रकार की व्यापत् स्त्री तथा पुरुष दोनों में पायी जाती है। स्त्रीव्यापद् से ग्रसित स्त्री को 'रान्ता' या 'रण्डा' कहते हैं और पुरुषव्यापद् से ग्रसित पुरुष को तृणपूलिक अर्थात् 'घास का पुतला' कहा जाता है।

महर्षि वात्स्यायन ने इसीलिए कहा है—**'न प्रसह्य किञ्चिदाचरेत्'**। वात्स्यायन-कामसूत्र। इस सूत्र में स्पष्टरूप से बलात्कार का निषेध कर स्त्री-पुरुषों का वर्गीकरण करके कौन पुरुष किस स्त्री के योग्य है, इसका विभाजन शश आदि भेद पुरुषों के और मृगी, वडवा, पद्मिनी, हस्तिनी आदि भेद स्त्रियों के किये हैं। जिससे जननेन्द्रिय सम्बन्धी विकृतियाँ उत्पन्न न हों।

विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात् कुपितोऽनिलः ॥ ३५ ॥
गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः। असंवृतमुखी [1]सार्ता रूक्षफेनास्रवाहिनी ॥३६॥
मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववङ्क्षणशूलिनी।

२०. **महायोनि के लक्षण**—विषम (नीची, ऊँची या ऊबड़-खाबड़) तथा कष्टप्रद शय्या (या स्थान पर) मैथुन करने से कुपित हुई वायु गर्भाशय तथा योनि के मुख को जकड़ देती है, ऐसी स्थिति में योनि का मुख खुला ही रह जाता है, जब कि उसका स्वभाव है कि वह अपने समय पर स्वयं बन्द हो जाता है, उस योनि में हमेशा पीड़ा होती रहती है। उसके भीतर से रूखा झागयुक्त रक्त बहता रहता है। मांस (भगोष्ठ का मांस)

१. 'सार्तिः सफेनार्तववाहिनी' इति पा०।

ऊपर की ओर उठा रहता है। पर्वों (पोरों=सन्धियों) तथा वंक्षण में शूल होने लगता है। इन लक्षणों से युक्त रोग को 'महायोनि' कहते हैं।

वक्तव्य—योनि में संकोच तथा विकास यथावसर होता रहता है, जो उसका प्राकृतिक धर्म है। प्रतिमास ऋतुकाल में उसका मुख खुलता है, जो सोलह दिनों तक खुला रहता है। इसी बीच यदि गर्भाधान हो जाता है, तो उसका मुख स्वयं बन्द हो जाता है। तदनन्तर प्रसवकाल में पुनः उसका मुख खुलता है और सुख-प्रसव के बाद वह पुनः बन्द हो जाता है। इसके विपरीत महायोनि रोग में वह योनिमुख सदा के लिए खुला रह जाता है। उचित-अनुचित स्थान का विचार न करके सहवास में प्रवृत्त हो जाना कामान्धता का प्रमुख लक्षण है।

इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः ॥ ३७ ॥
न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता। तस्माद् गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून् ॥३८॥
गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम्।

योनिव्यापदों से हानि—यहाँ तक उक्त लक्षणों द्वारा बीस प्रकार के योनिरोगों का वर्णन कर दिया गया है। इन दोषों से युक्त योनि शुक्र (बीज) को धारण नहीं कर सकती। यही कारण है कि वह स्त्री गर्भवती नहीं हो पाती है, जो उसका स्वभाव है। इसके विपरीत वह निम्नलिखित अनेक रोगों से युक्त हो जाती है। यथा—गुल्मरोग, अर्श (बवासीर), प्रदर आदि। वातज, पित्तज तथा कफज अनेक रोगों से भी वह पीड़ित रहती है।

वक्तव्य—अब हम यहाँ विभिन्न संहिताकारों द्वारा निर्दिष्ट बीस प्रकार के योनिव्यापदों के नामों का उल्लेख कर रहे हैं। जहाँ कहीं जो परिवर्तन देखने को मिले उसे **संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत** के आधार पर उस-उस प्रकरण में देखें।

संख्या	चरक	सुश्रुत	वृद्धवाग्भट	वाग्भट
१.	वातला	उदावर्ता	वातिकी	वातिकी
२.	पित्तला	वन्ध्या	अतिचरणा	अतिचरणा
३.	कफजा	विप्लुता	प्राक्चरणा	प्राक्चरणा
४.	त्रिदोषजा	परिप्लुता	उदावृत्ता	उदावृत्ता
५.	रक्तजा	वातला	जातघ्नी	जातघ्नी
६.	अरजस्का	रुधिरक्षरा	अन्तर्मुखी	अन्तर्मुखी
७.	अचरणा	वामिनी	सूचीमुखी	सूचीमुखी
८.	अतिचरणा	स्रंसिनी	शुष्का	शुष्का
९.	प्राक्चरणा	पुत्रघ्नी	वामिनी	वामिनी
१०.	उपप्लुता	पित्तला	षण्डा	षण्डा
११.	परिप्लुता	अत्यानन्दा	महायोनि	महायोनि
१२.	उदावर्तिनी	कर्णिनी	पैत्तिकी	पैत्तिकी
१३.	कर्णिनी	अचरणा	रक्तयोनि	रक्तयोनि
१४.	पुत्रघ्नी	अतिचरणा	श्लैष्मिकी	श्लैष्मिकी
१५.	अन्तर्मुखी	श्लेष्मला	लोहितक्षया	लोहितक्षया
१६.	सूचीमुखी	षण्डा	परिप्लुता	परिप्लुता
१७.	शुष्का	फलिनी	उपप्लुता	उपप्लुता
१८.	वामिनी	महती	विप्लुता	विप्लुता
१९.	षण्ढी	सूचीवक्त्रा	कर्णिनी	कर्णिनी
२०.	महायोनि	त्रिदोषजा	सान्निपातिकी	सान्निपातिकी

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आद्ये द्वे पित्तदोषजे ॥ ३९ ॥

परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मिके मते । कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः ॥४०॥
देहं वातावयस्तासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि ।

योनिव्यापत्तियों का दोषों से सम्बन्ध—उपर्युक्त बीस प्रकार के योनिरोगों में जो अन्तिम सोलह रोग बतलाये गये हैं, उनके आदि के सत्रहवें तथा अठारहवें दो रोग (असृजा=रक्तजा तथा अरजस्का) पित्तदोष के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं। परिप्लुता और वामिनी नामक योनिव्यापत् वात-पित्तदोष से होती हैं, वात-कफ दोष की विकृति से कर्णिनी और उपप्लुता रोग होते हैं, शेष वातज योनिव्यापत् हैं। ये वात आदि दोष अपने-अपने लक्षणों को उत्पन्न करके उन-उन योनियों को पीड़ित करते हैं।

वक्तव्य—प्रथम तीन योनिव्यापत्तियाँ वातज, पित्तज, कफज हैं, चौथी त्रिदोषज है। इन चारों के बाद जैसा कि ऊपर कहा गया है, असृजा, अरजस्का पित्तदोष की विकृति से उत्पन्न होती हैं। परिप्लुता तथा वामिनी वात-पित्तदोष प्रकोपज हैं, कर्णिनी एवं उपप्लुता वातकफ के प्रकोप से पैदा होती हैं। इस प्रकार अलग-अलग दोषानुसार इनका वर्गीकरण चरक के अनुसार किया जा सकता है—वातज ११, पित्तज ३, कफज १, वात-पित्तज २, वातकफज २, सन्निपातज १=२० योनिव्यापत् होते हैं।

सुश्रुत के अनुसार बीस प्रकार की योनिव्यापत्तियों का विभाजन—वातज योनिव्यापद्—१. उदावर्ता, २. वन्ध्या, ३. विप्लुता, ४. परिप्लुता, ५. वातला; पित्तज योनिव्यापद्—६. रुधिरक्षरा, ७. वामिनी, ८. स्रंसिनी, ९. पुत्रघ्नी, १०. पित्तला; कफज योनिव्यापद्—११. अत्यानन्दा, १२. कर्णिनी, १३. अचरणा, १४. अतिचरणा, १५. श्लेष्मला तथा सन्निपातज योनिव्यापद्—१६. षण्ढी, १७. फलिनी, १८. महती, १९. सूचीवक्त्रा, २०. सर्वजा (त्रिदोषजा)। इनमें अन्तिम पाँच योनिव्यापत् असाध्य होते हैं।

स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातजास्वनिलापहम् ॥ ४१ ॥
कारयेद् रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च । श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद् विचक्षणः ॥४२॥
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत् ।

योनिरोग-चिकित्सासूत्र—विद्वान् चिकित्सक को वातज योनिव्यापत्तियों (रोगों) में वातनाशक स्नेहन, स्वेदन तथा वस्तिप्रयोग—इन चिकित्सा-विधियों का आश्रय लेना चाहिए। पित्तज योनिव्यापत्तियों में रक्त-पित्तनाशक एवं विविध प्रकार के शीतोपचारों का प्रयोग करना चाहिए। कफज योनिव्यापत्तियों में रूक्षोपचारों एवं उष्णोपचारों का प्रयोग करना चाहिए। द्वन्द्वज योनिव्यापत्तियों और सान्निपातिक योनिव्यापत्तियों में भिन्न-भिन्न दोषों की स्थिति का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत् पुनः ॥ ४३ ॥
पाणिना नामयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत् पुनः । प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत् ॥४४॥
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः ।

विकृतयोनि-चिकित्सा—यदि वात आदि दोषों के प्रकोप से योनि का मुख टेढ़ा हो गया हो, या उपर्युक्त प्रकार की कोई विकृति आ गयी हो तो उसका स्नेहन तथा स्वेदन कराकर उसे पुनः उसके स्थान पर बैठाने की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि योनि टेढ़ी हो गई हो तो उसे स्निग्ध-स्विन्न करके उसे उचित प्रकार से सीधा कर देना चाहिए। यदि वह संवृत्त (सिकुड़ गयी) हो तो उसे पुनः बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि योनि बाहर निकल आयी हो तो, उसे भीतर यथास्थान बैठाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि योनि का मुख खुला ही रह गया हो तो, उसे चारों ओर से दबाकर पूर्ववत् करने का उपाय करें। योनि (गर्भाशय) जब अपने स्थान से हटकर बाहर आ जाती है, तो वह उस स्त्री के लिए शल्य के समान पीड़ाकारक हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने पित्तज योनिव्यापद् में 'स्रंसिनी' नामक एक योनिरोग का वर्णन किया है। इसमें स्त्री का गर्भाशय अपने स्थान से खिसककर नीचे की ओर चला आता है। इसे धरा गिरना कहते हैं, गर्भाशय का नाम 'धरा' है। इसके अतिरिक्त तन्त्रकार ने 'सूचीमुखी' तथा 'महायोनि' की चिकित्सा का निर्देश ऊपर किया है, जब कि तन्त्रकार ने 'स्रंसिनी' योनि का वर्णन शब्दतः यहाँ नहीं किया है, किन्तु उसकी चिकित्सा का

निर्देश कर दिया है। इसी अध्याय में आगे श्लोक ११३ में उसे 'प्रस्रस्ता' कहा गया है। यहाँ गर्भाशय तथा योनि की विकृतियों को ठीक करने के लिए स्त्री-चिकित्सक को नामन (झुकाना), प्रवेशन (बाहर निकली हुई धरा को भीतर घुसाना), सूचीमुखी योनि को वर्धन-क्रिया द्वारा बढ़ाना (फैलाना) तथा टेढ़ी योनि को परिवर्तन-क्रिया द्वारा ठीक स्थान पर ले आना इत्यादि जितने कर्म किये जाते हैं, उनके पहले योनिशारीर का विधिवत् स्नेहन, स्वेदन करना अत्यन्त आवश्यक होता है, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है।

सर्वां व्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः ॥ ४५ ॥
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत् ।

योनिव्यापद् में संशोधन—सभी प्रकार के योनिव्यापत्तियों में रोगिणी स्त्री को मृदुस्नेहन, स्वेदन वमन, विरेचन आदि पाँचों प्रकार के संशोधन कराकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—श्रीइन्दु के अनुसार 'मृदुभिः पञ्चभिः वमनादिभिः कर्मभिः' से यहाँ विरेचन, आस्थापन, रक्त-निर्हरण एवं नस्यों का ग्रहण करना चाहिए। प्रसंगानुसार यह विचार उचित प्रतीत होता है। 'मृदुभिः' का तात्पर्य यह है, कि बालक, वृद्ध, स्त्री तथा सुकुमार आदि व्यक्तियों को तीक्ष्ण वमन आदि के प्रयोग का शास्त्र निषेध करता है।

सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ॥ ४६ ॥

विशेष निर्देश—उपर्युक्त विधि से जब योनिरोगों से पीड़ित स्त्री का भली-भाँति संशोधन हो जाय, तदनन्तर शेष सभी चिकित्सा-विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम् । औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ॥४७॥
सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत् । अक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः ॥४८॥
स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद् रसैः ।

वातज योनिरोग-चिकित्सा—वातज योनिरोग से पीड़ित स्त्रियों के लिए वातव्याधि-नाशक चिकित्सा-विधियाँ सदैव हितकर होती हैं। औदक (जलीय) एवं आनूपदेशज प्राणियों के मांसों से या तिल और चावल (कृशरा) में दूध एवं वातनाशक औषधद्रव्यों को मिलाकर नाड़ीस्वेद एवं कुम्भीस्वेद द्वारा योनिप्रदेश का स्वेदन कराना चाहिए। अथवा पिसे हुए नमक को तेल में मिलाकर योनि में लगाकर अश्मस्वेद, प्रस्तरस्वेद, संकरस्वेद, इनसे भली-भाँति स्वेदन कराकर, उसके बाद गुनगुने जल से उस स्त्री को स्नान कराकर वातनाशक मांसरसों के साथ उसे भोजन कराना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर दिये गये अश्म, प्रस्तर, संकरस्वेदों का वर्णन च० सू० अ० १४ में देखें। अश्मस्वेद का नाम चरक में अश्मघनस्वेद दिया है। वातघ्न द्रव्यों में वीरतर्वादिगण सुप्रसिद्ध है। देखें—सु० सू० अ० ३८। १२-१३। इसी के आगे लोध्रादिगण है, जिसे योनिदोषहर कहा गया है। इन द्रव्यों का प्रयोग भी चिकित्साकाल में यथावसर करना चाहिए।

बलाद्रोणद्वयक्वाथे [1]घृततैलाढकं पचेत् ॥ ४९ ॥
स्थिरापयस्याजीवन्तीवीरर्षभकजीवकैः । श्रावणीपिप्पलीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः ॥५०॥
शर्कराक्षीरकाकोलीकाकनासाभिरेव च । पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं पेयं यथाबलम् ॥५१॥
वातपित्तकृतान् रोगान् हत्वा गर्भं दधाति तत् ।

बलादि यमकस्नेह—बरियारा के २ द्रोण (२०४८ तोला) क्वाथरस में घी तथा तेल को बराबर मिलाकर १ आढक (२५६ तोला) लें। कल्कार्थ द्रव्य—स्थिरा (शालपर्णी), क्षीरविदारी, जीवन्ती, शतावरी, ऋषभक, जीवक, गोरखमुण्डी, पिप्पली, वनमूंग, पीलू, जंगली उड़द, चीनी, क्षीरकाकोली, काकनासा (कौआ ठोंड़ी) इन सभी द्रव्यों को समान भाग आवश्यकतानुसार लेकर कल्क तैयारकर घी-तेल के साथ उक्त क्वाथ में

१. 'घृततैलाढकद्वयम्' इति पा०।

मिलाकर यथाविधि पाक करें। पाक करते समय उसमें यमकस्नेह से चौगुना अर्थात् ४ आढक (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) गाय का दूध भी मिला दें। तैयार हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस यमकस्नेह को रोगिणी के अग्निबल को देखकर मात्रा निर्धारित कर पिलाना चाहिए। इसका यथाविधि सेवन करने से वात-पित्त-जनित सभी प्रकार के योनि रोगों का विनाश होकर वह स्त्री गर्भधारण करती है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। उसमें कुछ द्रव्यों का परिवर्तन किया है और उनकी मात्रा भी स्वतन्त्र रूप से निर्धारित की है, किन्तु फलश्रुति उसी प्रकार दी है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।३३। यद्यपि तन्त्रकार ने उक्त यमकस्नेह को यथाबल पीने की अनुमति दी है, तथापि इसकी मात्रा एक बार में आधा तोला से एक तोला तक है।

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दपरूषकैः ॥ ५२ ॥
पुनर्नवाद्विरजनीकाकनासासहाचरैः । शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात् ॥५३॥
[1]साधितं योनिवातघ्नं गर्भदं परमं पिबेत् ।

काश्मर्यादि घृत—गम्भार की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुनक्का, कासमर्द, फालसा, पुनर्नवा, हल्दी, दारुहल्दी, काकनासा (कौआठोडी), सहाचर (झिंटी, कटसरैया या पियावासा), शतावरी, गुरुच—प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर कल्क तैयार करें। इस कल्क में १ प्रस्थ (६४ तोला) घी मिलाकर यथाविधि इसको पकायें। तैयार हो जाने पर इसे छानकर रख लें। इस घृत को मात्रानुसार पीने से सभी प्रकार के वातज योनिरोगों की शान्ति होती है और स्त्री को गर्भधारण करने की शक्ति मिलती है।

पिप्पलीकु[2]ञ्चिकाजाजीवृषकं सैन्धवं वचाम् ॥ ५४ ॥
यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकं तथा । पिष्ट्वा [3]सर्पिषि भृष्टानि पाययेत प्रसन्नया ॥५५॥
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ।

पिप्पल्यादि योग—पिप्पली, मंगरैला, सफेदजीरा, अड़ूसा की पत्तियाँ, सेंधानमक, बालवच, जवाखार, अजमोदा (अजमोदा और यवानी ये दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, यहाँ अजमोद का ही ग्रहण करना चाहिए), चीनी, चीता की जड़, इन द्रव्यों को आवश्यकतानुसार समान भाग में लेकर जल डालकर पीस लें। इस कल्क को घी में भूनकर प्रसन्ना (मद्य के ऊपरी स्वच्छ भाग) के साथ पीने के लिए दें। इसका सेवन करने से योनि-शूल, पसलियों का शूल, हृदयरोग, गुल्मरोग तथा अर्शरोग (बवासीर) की निवृत्ति होती है।

वक्तव्य—उक्त योग में पिप्पली आदि द्रव्यों को पीसकर घी में भूनने की आज्ञा दी गयी है, यदि भूनने के बाद अलग से चीनी को डाल दिया जाय तो यह हलुआ का रूप धारण कर सकता है। इसी को वृद्धवाग्भट ने शब्दतः 'संयावीकृतो' अर्थात् संयाव=हलुआ न होने पर भी संयाव जैसा बनाने का निर्देश दिया है। उक्त पाठ को देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।३५। श्रीजेज्जट के अनुसार इसका नाम 'उत्कारिका' होना चाहिए।

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम् ॥ ५६ ॥
पिबेत् सलवणैर्मद्यैः पिप्पलीकुञ्चिके तथा ।

वृषकादि चूर्ण—अड़ूसा की पत्तियाँ, बिजौरा नीबू की जड़ें, मेंहदी के बीज या सूखी पत्तियाँ, पिप्पली, कुञ्चिका (मंगरैला) इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें, इसमें हलका-सा सेंधानमक मद्य में मिलाकर पीना चाहिए। इसके नियमित सेवन करने से योनिशूल का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने उक्त श्लोक में दो योग स्वीकार किये हैं—१. अड़ूसा, बिजौरानीबू, मद-यन्तिका, २. पिप्पली और कालाजीरा। किन्तु वृद्धवाग्भट ने इसे एक ही योग माना है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।३६। वास्तव में इसे एक ही योग मानना चाहिए।

---

१. 'सिद्धं पिबेद् वातयोनिदोषघ्नं गर्भदं परम्' इति पा०।
२. 'किंशुकाजाजी' इति पा०।
३. 'प्रसन्नयाऽऽलोड्य घृतभृष्टानि दापयेत्' इति पा०।

रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः पिबेच्छूले शृतं पयः ॥ ५७ ॥
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचयेत् ।

१. **रास्नादि क्षीर**—रास्ना, गोखरू, अड़ूसा की पत्तियाँ, इन सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क को दूध में डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाकर योनिशूल में देना चाहिए।

२. **गुडूच्यादि परिषेचन**—गुरुच, हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा दन्ती (जमालगोटा) इन द्रव्यों को समान भाग लेकर क्वाथ तैयार करें। इस गुनगुने क्वाथ रस से योनि का परिषेचन करने से योनिशूल का शमन होता है।

वक्तव्य—उक्त योग में दो योग योनिशूल-नाशक हैं। प्रथम का प्रयोग पीने के रूप में और दूसरे का परिषेचन (धोने) के लिए किया जाता है। कभी-कभी चिकित्सक इस गुनगुने क्वाथ युक्त टब में योनिशूल से पीड़ित स्त्री को बैठाते भी हैं। इस विधि में शीतल क्वाथ को हटाकर गरम क्वाथ डाला जाता है। इसके अनेक प्रकार हैं।

सैन्धवं तगरं कुष्ठं बृहती देवदारु च ॥ ५८ ॥
समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम् ।

सैन्धवादि तैल—सेंधानमक, तगर, कूठ, बृहती (बड़ीकटेरी), देवदारु—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कल्क तैयार कर लें, कल्क से चौगुना तिल का तेल लें और इससे चौगुना पानी मिलाकर विधिपूर्वक तैलपाक करें। तैयार हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस तैल में रुई के फाहा को भिगाकर योनि के भीतर धारण करने से योनिशूल का नाश हो जाता है। आयुर्वेदीय दृष्टि से इस रुई के फाहा को 'पिचु' कहते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि तन्त्रकार ने यहाँ तैल को रुई के फाहा द्वारा धारण करने को नहीं कहा है, किन्तु अन्यत्र इसी प्रकरण में कहा है। वास्तव में इसको धारण करने का प्रकार यही है। वृद्धवाग्भट ने इसे शब्दतः कहा है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।३८।

गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः ॥ ५९ ॥
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः । तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥६०॥
वातार्तायाः पिचुं दद्याद् योनौ च प्रणयेत् ततः ।

गुडूच्यादि तैल—गुरुच, मालती की पत्तियाँ, रास्ना, बरियारा की जड़, मुलेठी, चीता की जड़, निदि-ग्धिका (भटकटैया), देवदारु, जूही का फूल, इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) लेकर इनका कल्क तैयार कर, गोमूत्र २ प्रस्थ (१२८ तोला) और गाय का दूध २ प्रस्थ, तिल का तेल १ प्रस्थ (६४ तोला) इन सबको एक में मिलाकर तैलपाक-विधि से इसका पाक करें। तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तेल में रुई का फाहा भिगाकर वातज योनिरोग से पीड़ित स्त्री को दें, वह उस पिचु को योनि के भीतर रखे और उसी तैल को वस्तियन्त्र द्वारा योनि के भीतर भी दें।

वक्तव्य—परवर्ती संग्रहकार वृद्धवाग्भट यहाँ केवल पिचु-प्रयोग को ही पर्याप्त मानते हैं। देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।३९। क्या उक्त पंक्ति का भी आशय ऐसा ही तो नहीं है? जरा आप ध्यान दें—'वातार्तायाः पिचुं दद्यात् सा ततः योनौ प्रणयेत्'। यदि हम ऐसा अन्वय करते हैं, तो उक्त अर्थ की अनायास प्राप्ति हो सकती है। इसी अर्थ का समर्थन आचार्य जज्जट ने इस प्रकार पद्यांश का परिवर्तन करके किया है—'वातार्तायाः पिचुं दद्यात् सर्वदा प्रणयेच्च तम्'। वैसे भी पिचुधारण और वस्तिप्रयोग एक काल में नहीं किये जा सकते। प्रकरणानुसार भी यहाँ पिचुधारण ही उचित है, किन्तु श्रीचक्रपाणि ने उक्त पद्यांश का ऐसा अर्थ किया है—'तैलं धार्यमिति रुजार्तायां योनौ धार्यम्। योनौ च प्रणयेदिति योनावुत्तरवस्तिना प्रवेशयेत्'। लाभ की दृष्टि से दोनों ही प्रकार उचित हैं।

वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ॥ ६१ ॥
(उष्णाः स्निग्धाः प्रकर्तव्यास्तैलानि स्नेहनानि च[1]।)

---

१. अयमर्धः श्लोकः क्वचित् पुस्तके न पठ्यते।

वातलयोनिव्यापत् चिकित्सा—वातदोष से पीड़ित योनिरोगों में परिषेक, अभ्यंग (मालिश) तथा पिचु-प्रयोग करने चाहिए। (गुनगुने, स्निग्ध तथा स्नेहन तैलों के प्रयोग करने चाहिए)।

वक्तव्य—१९२२ ई० में प्रकाशित निर्णयसागरीय प्रति में 'तैलप्रस्थं···पचेत्' पद्य के नीचे 'वातार्तानां पिचुक्रियाः' यह पंक्ति दी गयी है। यही श्रीगंगाधर का भी मत है। उसके नीचे 'वातार्तायाः पिचुं दद्याद् योनौ च प्रणयेत् सदा' यह पंक्ति दी गयी है और १९४१ के तृतीय संस्करण में कोष्ठक के भीतर दी गयी 'उष्णाः···च' यह पंक्ति १९२२ ई० के संस्करण में नहीं है।

हिंस्राकल्कं तु वातार्ता कोष्णमभ्यज्य धारयेत्। पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा॥

दोषानुसार चिकित्सा—वातदोष से पीड़ित योनिरोग में स्त्री-योनि के भीतर तेल लगाकर उसके बाद हिंस्रा (हइंस) के कल्क को गुनगुना करके योनि के भीतर धारण कराना चाहिए। पित्तदोष से पीड़ित योनिरोग में स्त्री पञ्चवल्कल (बरगद, पीपल, गूलर, पाकर=पिलखन, वेतस अथवा मतान्तर के अनुसार—बरगद, पीपल, पिलखन, पारसपीपल, गूलर) की छालों को पानी में पीसकर कल्क बनाकर गुनगुना करके योनि के भीतर रखें, कफदोष से पीड़ित योनिरोग में स्त्री श्यामा आदि औषधद्रव्यों का कल्क बनाकर गुनगुना करके योनि के भीतर रखे।

वक्तव्य—श्यामा आदि द्रव्यों का वर्णन देखें—'विरेचनद्रव्याणि तु श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनाम्'। च० क० अ० ८।१३६। उक्त श्लोक में वात आदि विकारों के नाशक जिन कल्कों का वर्णन योनि के भीतर रखने के लिए किया गया है, उनको साफ तथा सुकोमल वस्त्र में लपेट कर बत्ती जैसा बनाकर रखना चाहिए। ऐसा करने से वे कुछ समय तक योनि के भीतर रखे जा सकते हैं।

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः। शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च॥
(पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्याणि भिषजा तथा[1]।)

पित्तलयोनिरोग-चिकित्सा—पित्तदोष से पीड़ित योनिरोगों में शीतल, पित्तनाशक परिषेक (स्नान) अभ्यंग (मालिश), पिचुधारण-क्रियाएँ (चिकित्साएँ) करनी चाहिए तथा स्नेहन के लिए घृतों का सेवन कराना चाहिए। (पित्तनाशक औषधद्रव्यों से तैयार किये गये घृतों का भी प्रयोग चिकित्सक को कराना चाहिए)।

वक्तव्य—१९२२ ई० में प्रकाशित निर्णयसागरीय प्रति में यह पाठ मूलरूप में श्लोक सं० ६२ में दिया गया है। इस दृष्टि से निर्णयसागरीय संस्करणों में भी एकरूपता प्राप्त नहीं होती है। यदि हम इसे मूलपाठ के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'पित्तघ्नौषधसिद्धानि घृतानि स्नेहनार्थं कार्याणि'। इस प्रकार यह प्रयोग रुचिकर प्रतीत हो रहा है।

शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः सम्प्रपीडयेत्॥ ६४॥
रसेन क्षीरतुल्येन पचेत् तेन घृताढकम्। जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः॥६५॥
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्द्वियष्टिमधुकैर्भिषक्। सिद्धे शीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्॥
सितादशपलोन्मिश्राल्लिह्यात् पाणितलं ततः। योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं च तत्॥६७॥
क्षतं क्षयं रक्तपित्तं कासं श्वासं हलीमकम्। कामलां वातरक्तं च वीसर्पं हृच्छिरोग्रहम्॥६८॥
उन्मादारत्यपस्मारान् वातपित्तात्मकाञ्जयेत्।

इति बृहच्छतावरीघृतम्।

बृहत्शतावरी-घृत—ताजी शतावरी की जड़ ४ तुला (२० सेर) लेकर उसको कूटकर भली-भाँति रस निकाल लें, उस रस के बराबर गाय का दूध मिलाकर उसमें १ आढक (२५६ तोला) गाय का घी मिलाकर उसी में निम्नलिखित द्रव्यों का कल्क बनाकर डाल दें, तदनन्तर विधिपूर्वक घृतपाक करें। कल्कार्थ द्रव्य—जीवनीय वर्ग के दस द्रव्य (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी), शतावरी, मुनक्का, फालसा, चिरौंजी—इन द्रव्यों को १-१ अक्ष (तोला) परिमाण में लें,

१. अयमर्धः श्लोकः क्वचित् पुस्तके न पठ्यते।

मुलेठी को २ अक्ष (तोला) लें, जब घृतपाक हो जाय तब शीतल हो जाने पर उसमें मधु तथा पिप्पली का चूर्ण ८-८ पल (३२-३२ तोला) एवं मिश्री का चूर्ण १० पल (४० तोला) मिलाकर उसे रख दें। इस घृत को १ पाणितल (कर्ष=तोला) की मात्रा में चाटें। इसका सेवन करने से योनिरोग, रजोविकार तथा शुक्रदोष का विनाश होता है। यह वीर्यवर्धक है, अतएव यह पुंसवन (पुत्र को पैदा करने की शक्तिवाला है। इसके सेवन से उरःक्षत, क्षयरोग, रक्तपित्त, कास, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, वीसर्प, हृदयरोग, शिरोग्रह (शिर का जकड़न जाना), उन्माद, अरति (बेचैनी), अपस्मार तथा वात-पित्तजनित रोगों का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—जीवनीयवर्ग के द्रव्यों में दसवाँ द्रव्य मुलेठी है, आगे भी एक मुलेठी का ग्रहण किया गया है, इस प्रकार मुलेठी द्रव्य ३ कर्ष हो जाता है। श्रीचक्रपाणि ने इस 'द्वियष्टिमधुकैः' के दो अर्थ इस प्रकार किये हैं—'द्विभागमधुयष्टिकैः, किंवा जलजस्थलजयष्टिमधुकद्वययुक्तैः'। इस दूसरे अर्थ में मात्रा-निर्देशक कोई शब्द नहीं मिलता और जलजमुलेठी का उपयोग भार जैसा प्रतीत हो रहा है। श्रीजज्जट ने भी श्रीचक्रपाणि के आशय का ही पिष्टपेषण किया है। यद्यपि यह सत्य है कि मधुयष्टी दो प्रकार की होती है। यथा—'स्थलजं जलजं चैव मधुकं द्विविधं स्मृतम्'। इस दृष्टि से आप वृद्धवाग्भट के उद्धरण को देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।६२-६६।

एवमेव क्षीरसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम्॥ ६९॥
गर्भदं पित्तलानां च योनीनां स्याद् भिषग्जितम्।

अन्य योग—इसी प्रकार जीवनीय वर्ग में कही गयी दस ओषधियों के क्वाथ एवं कल्क से दूध से निकाले हुए घी को पकाकर तैयार कर लें। यह घृत पित्तज योनिरोग का शमन करके उस स्त्री को गर्भधारण करने के योग्य बना देता है। अतः पित्तज योनिरोगों की यह उत्तम चिकित्सा है।

योन्यां श्लेष्मप्रदुष्टायां वर्तिः संशोधनी हिता॥ ७०॥
वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता।

कफज योनिरोग-चिकित्सा—कफदोष से दूषित योनिरोग में सूअर के पित्त से अनेक बार भावना दिये हुए कपड़े की संशोधनार्थक बत्ती बनाकर योनि के भीतर रखना हितकर होता है। ऐसा करने से कफदोष का संशोधन हो जाता है।

वक्तव्य—'लक्तक' का अर्थ है—कपड़े का टुकड़ा। साफ-सुथरा एवं मुलायम बत्ती बनाने लायक कपड़े का एक टुकड़ा लेकर उसे सूअर के पित्त में भिगाकर छाया में सुखा लें। सूख जाने पर पुनः उसे भिगायें। इस प्रकार उस वस्त्र में सात बार भावना देकर उसकी बत्ती बनाकर उक्त विधि से प्रयोग करायें। सूअर का मांस बेचने वालों के पास उसके पित्त एवं चर्बी का संग्रह रहता है। ये द्रव्य उनसे प्राप्त किये जा सकते हैं।

भावितं पयसाऽर्कस्य यवचूर्णं ससैन्धवम्॥ ७१॥
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेव्या सुखाम्बुना।

अर्कादिवर्ति—सेंधानमक तथा जौ के आटे को मदार के दूध की भावना देकर बत्तियाँ बनायें। इस बत्ती को बदल-बदल कर बार-बार योनि के भीतर रखें और हटाने के बाद गुनगुने जल से योनि को भलीभाँति धो लें।

वक्तव्य—मदार के नये पत्तों को तोड़कर उनका दूध निकाल लिया जाता है। इस दूध में आवश्यकतानुसार जौ का आटा और नमक डालकर सान लिया जाता है, फिर इसकी बत्तियाँ बनाकर छाया में सुखा ली जाती हैं। इनका प्रयोग योनि के भीतर रखकर किया जाता है। मदार का दूध उष्ण होता है, अतएव वह दाहक होता है। इसलिए एकाध घण्टा उसे योनि के भीतर रखकर हटा दें, उसके बाद गुनगुने पानी से योनि को धो लेना चाहिए, जिससे दाहकता शान्त हो जाती है। इसका प्रयोग केवल कफज योनिरोग में ही करना चाहिए, अन्य योनि रोगों में नहीं। इससे कफज विकृतियों की शान्ति होती है।

पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः॥ ७२॥
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधनी।

पिप्पल्यादि वर्ति—कफज योनिरोग में पिप्पली, मरिच, उड़द, सोया, कूठ, सेंधानमक—इन सभी द्रव्यों को आवश्यकतानुसार समानभाग लेकर पानी में पीसकर प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली के बराबर मोटी लम्बी बत्ती का निर्माण करें। इसे छाया में सुखाकर योनि के भीतर रखना चाहिए। इससे योनि का शोधन होता है।

वक्तव्य—ऊपर के पद्यों में वर्ति के आकार का स्वरूप नहीं कहा गया था और इसमें योनि-प्रक्षालन की चर्चा नहीं की गयी है, अतः दोनों में वर्ति का आकार और योनि-प्रक्षालन समान रूप से समझना चाहिए, क्योंकि पिप्पल्यादि वर्ति में भी पिप्पली, मरिच और सेंधानमक ये तीनों दाहक द्रव्य हैं। योनि-प्रक्षालन यहाँ भी गुनगुने जल से कर लेना चाहिए।

उदुम्बरशलाटूनां द्रोणमब्द्रोणसंयुतम् ॥ ७३ ॥
सपञ्चवल्ककुलकमालतीनिम्बपल्लवम्[1]। निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥७४॥
लाक्षाधवपलाशत्वङ्निर्यासैः शाल्मलेन च। पिष्टैः सिद्धस्य तैलस्य पिचुं योनौ निधापयेत् ॥
सशर्करैः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम्। पिच्छिला विवृता कालदुष्टा योनिश्च दारुणा ॥७६॥
[2]सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति।

उदुम्बरादि तैल—गूलर के कच्चे फल, पञ्चवल्कल (बरगद, गूलर, पीपल, पाकर, वेतस अथवा बरगद, पीपल, पाकर, गूलर, पारसपीपल) की छाल, परवल की पत्तियाँ, मालती की पत्तियाँ, नीम की पत्तियाँ, इन सभी द्रव्यों को १ द्रोण (१०२४ तोला) परिमाण में लें, इन्हें जौकुट करके १ द्रोण (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) जल में रातभर भिगा दें, प्रातःकाल उन द्रव्यों को दोनों हाथों से भली-भाँति मसलकर छान लें। उस जल में १ प्रस्थ (६४ तोला) तिल-तैल मिलाकर एवं लाक्षावृक्ष (कोशाम्र) की लाख तथा छाल, धाय की गोंद व छाल, पलाश की गोंद व छाल, सेमल की गोंद व छाल—इन्हें एक साथ लेकर इनके १ शराव (३२ तोला) कल्क को उस तेल में मिलाकर विधिपूर्वक तैलपाक करें। इस तेल में साफ एवं मुलायम कपड़ा या रुई की बत्ती को भिगाकर योनि के भीतर उसका पिचु (फाहा) रखें। उसके बाद चीनी मिले हुए शीतल कषायद्रव्यों से योनि का परिषेचन करना (धोना) चाहिए। इस तैल के प्रयोग से पिच्छिलयोनि, विवृतायोनि, कालदुष्टयोनि तथा दारुणयोनि रोग एक सप्ताह में शुद्ध (नीरोग) हो जाते हैं। तदनन्तर उस स्त्री को शीघ्र ही सन्तान-प्राप्ति भी हो जाती है।

वक्तव्य—कषाय पाँच प्रकार का कहा गया है—१. स्वरस, २. कल्क, ३. क्वाथ, ४. हिम, ५. फाण्ट। ये उत्तरोत्तर हल्के होते हैं। यहाँ शीतकषाय से 'हिम' नामक कषाय-भेद का ग्रहण तन्त्रकार ने किया है। देखें—'क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिनीरपलैः प्लुतम्। निशोषितं हिमः स स्यात् तथा शीतकषायकः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० ४।१। ऊपर गूलर आदि द्रव्यों का पहले हिमकषाय बनाने का आदेश दिया गया है। इसी शीतकषाय में चीनी मिलाकर योनि का परिषेचन करना चाहिए। यहाँ 'कालदुष्टा' शब्द से तात्पर्य है—चिरकाल से कफदोष से दूषित योनि। पहले तैलपिचु को धारण करायें, उसे हटाने के बाद शीतकषाय से योनि को धोना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने 'कुलक' के स्थान पर 'तिलक' का ग्रहण किया है। देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।८४-८७।

उदुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात् तिलात् ॥ ७७ ॥
तैलं क्वाथेन तस्यैव सिद्धं धार्यं च पूर्ववत्।

उदुम्बर-तैल—उदुम्बर (गूलर) के दूध से छः बार तिलों को भावना देकर, उन तिलों से तेल निकलवा लें, फिर गूलर के क्वाथ से उस तेल को पकायें, तैयार हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस तेल का योनि में पहले की भाँति पिचु धारण करने से योनिरोगों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है

वक्तव्य—'पूर्ववत्'—इस शब्द का तात्पर्य है, कि ऊपर कहे गये उम्दुबरादि तैल का जिस प्रकार प्रयोग बतलाया गया है, इसमें भी ठीक उसी प्रकार करना चाहिए। इसमें उदुम्बर का कल्क १ भाग, उससे चौगुना तेल और तेल से चौगुना गूलर का क्वाथ होना चाहिए। इस तैल का योनि में पिचु धारण करायें और गूलर के शीतकषाय से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। इसका प्रभाव भी उपर्युक्त सभी योनिरोगों पर होता है।

१. 'कट्वङ्ग' इति पा०।   २. 'सप्ताहात् सिध्यति' इति पा०।

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः ॥ ७८ ॥
जम्ब्वाम्रमध्यकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः। सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः ॥७९॥
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत्। तैलप्रस्थं पिचुं दद्याद् योनौ च प्रणयेत् ततः ॥८०॥
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहवस्तिं च दापयेत्। [1]पिच्छिला स्राविणी योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा ॥
उत्ताना चोन्नता शूना सिध्येत् सस्फोटशूलिनी।

धातक्यादि तैल—धाय के फूल, आँवले के पत्ते, स्रोतोज (कालासुरसा), मुलेठी, नीलकमल, जामुन की गुठली, आम की गुठली, हीराकासीस, पठानीलोध, कायफल (काफल के पेड़ की छाल), तिन्दुक की छाल, फिटकिरी, दाड़िम की छाल, गूलर के कच्चे फल, इन सभी द्रव्यों को १-१ अक्ष (तोला) की मात्रा में लेकर पीसें, इस कल्क के साथ इससे दूना बकरी का मूत्र तथा उतना ही गाय का दूध मिलाकर इससे १ प्रस्थ (६४ तोला) तिल के तेल को पकायें। तैलपाक हो जाने पर उसे छानकर रख लें। इस तेल में मुलायम कपड़ा या रुई का फाहा भिगाकर बत्ती के आकार का बनाकर उसे योनि के भीतर रखने के लिए रोगिणी को दें। इसका प्रतिदिन कमर, पीठ, त्रिकास्थि पर अभ्यंग (मालिश) कराना चाहिए और इस तेल की स्नेहवस्ति दिलाये (यह निर्देश पुरुष-चिकित्सक के लिए है, स्त्री-चिकित्सक स्वयं इस वस्ति का प्रयोग कर सकती है) इस प्रकार उक्त तेल का प्रयोग करने से पिच्छिल (चिपचिपाहट युक्त) योनि, स्रावयुक्त योनि, विप्लुतायोनि, उपप्लुतायोनि, उत्ताना (ऊर्ध्वमुखी) योनि, उन्नता (मूर्च्छामुखी) योनि, शूना (शोथयुक्त) योनि, स्फोट (फोड़ा) युक्त योनि तथा शूलयुक्त योनि, ये सभी रोगमुक्त हो जाती हैं।

करीरधवनिम्बार्कवेणुकोशाम्रजाम्बवैः ॥ ८२ ॥
जिङ्गिनीवृषमूलानां क्वाथैर्मार्द्वीकसीधुभिः। सशुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योन्यास्रावविनाशनम् ॥८३॥
कुर्यात् सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा त्रिफलारसैः।

योनिप्रक्षालन द्रव—करीर की छाल, धव की छाल, नीम की छाल, मदार की छाल, वेणु की छाल, कोशाम्र (लाक्षावृक्ष) की छाल, जामुन की छाल, मजीठ की जड़, अडूसा की जड़—इन सब द्रव्यों के क्वाथ किये गये जल से, मुनक्का के सीधु से तथा शुक्त (सिरका) से योनि का प्रक्षालन करने से योनि से निकलने वाला स्राव समाप्त हो जाता है, या त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) के क्वाथ में मठा, गोमूत्र या सिरका मिलाकर योनि को धोने से योनिस्राव का निकलना बन्द हो जाता है।

पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगा मधुना हिताः ॥ ८४ ॥

पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पलियों का चूर्ण, लौहभस्म तथा हरड़ का चूर्ण मधु के साथ सेवन करने से ये योग योनिस्राव रोग में हितकर होते हैं। अथवा इनको एक साथ मिलाकर सेवन करने से लाभ होता है।

श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्रा वस्तयो हिताः। पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः ॥८५॥
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम्।

दोषानुसार वस्ति-प्रयोग—कफप्रधान योनिरोग में गोमूत्र के साथ कटुरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ द्वारा वस्तियों का प्रयोग हितकर होता है। पित्तप्रधान योनिरोग में दूध के साथ मधुररस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ द्वारा वस्तियों का प्रयोग हितकर होता है। वातप्रधान योनिरोग में तेल तथा अम्लरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ द्वारा वस्तियों का प्रयोग हितकर होता है। सन्निपातज योनिरोग में वातज, पित्तज, कफज योनिरोगों में जो चिकित्साएँ कही गयी हैं, उन सभी का यथावसर प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—इसमें निरूहण तथा अनुवासनवस्ति की भाँति उत्तरवस्ति का भी विधान है। यह केवल पुरुष एवं स्त्री के मूत्रमार्ग में दी जाती है। इनका विस्तृत निर्देश तथा सु० चि० अ० ३६,३७,३८ तथा सु० उ० अ० ३८।२१ में दिया गया है।

१. 'पिच्छिलस्राविणी' इति पा०।

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च ॥ ८६ ॥
ततः कुर्याद् यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम् ।

रक्तयोनि-चिकित्सा—रक्तयोनि में उससे निकलने वाले रक्त के वर्णों को देखकर उनके दोषों (अनुबन्धों) का विचार कर तदनुसार रक्तस्थापन के लिए औषधयोगों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि पित्तदोष की प्रधानता के कारण ही रक्तज योनिविकार देखा जाता है, तथापि उसमें अन्य दोषों के अनुबन्ध इस प्रकार देखे जाते हैं—यदि रक्तयोनि में से काले वर्ण का अथवा अरुण वर्ण का रक्त निकल रहा हो, तो उसमें वातदोष का अनुबन्ध समझना चाहिए। यदि उस रक्त में पिच्छिलता, झाग अथवा गाढ़ापन अधिक दिखलायी देता हो तो उसमें कफदोष का अनुबन्ध समझना चाहिए।

तिलचूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा ॥ ८७ ॥
क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् ।

१. वातज रक्तप्रदर-चिकित्सा—इस रोग की शान्ति के लिए तिल का चूर्ण, दही, घी, फाणित (राब), सूअर की वसा, इन सबको मधु के साथ मिलाकर पीना चाहिए। इससे उक्त रोग की शान्ति हो जाती है।

वराहस्य रसो मेद्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके ॥ ८८ ॥
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्वनागरैर्वा युतं दधि ।

२. वातज रक्तप्रदर-चिकित्सा—सूअर के मांस में उसकी मेदा मिलाकर पकायें, पकाते समय उसी में कुलथी की दाल भी मिला दें। इसका सेवन कराने से वातज रक्तप्रदर रोग नष्ट हो जाता है। अथवा चीनी, मधु, मुलेठी, सोंठ से युक्त दही का सेवन कराने से भी उक्त रोग में लाभ होता है।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में 'मेद्यः' के स्थान पर 'मेध्यः' पाठ मिलता है, जो अशुद्ध है। इसके गुणधर्मों को जानने के लिए देखें—च० सू० अ० २७।७८। उपर्युक्त ८९वें श्लोक के पूर्वार्ध का प्रयोग इस प्रकार करें—समभाग मुलेठी और सोंठ का चूर्ण लें, तदनन्तर चीनी, मधु, दही मिलाकर मात्रानुसार उक्त चूर्णों को भी मिलाकर चाटें अथवा पीयें। इसका निर्णय देश, काल, बल आदि का विचार कर चिकित्सक स्वयं कर लें।

पयस्योत्पलशालूकविसकालीयकाम्बुदम् ॥ ८९ ॥
सपयःशर्कराक्षौद्रं पैत्तिकेऽसृग्दरे[1] पिबेत् ।

पित्तज रक्तप्रदर-चिकित्सा—इसमें क्षीरविदारी, नीलकमल, कमलकन्द, बिस (कमलनाल), कालीयक (सुगन्धित पीलाकाष्ठ, पीतचन्दन), अम्बुद (नागरमोथा), इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मात्रानुसार लेकर दूध, चीनी, मधु में मिलाकर पीना चाहिए। पाठभेद के अनुसार उक्त द्रव्यों का अलग-अलग चूर्ण करके रख लें और किसी एक द्रव्य का चूर्ण लेकर दूध आदि में मिलाकर पीयें।

पाठा जम्ब्वाम्रयोर्मध्यं शिलोद्भेदं रसाञ्जनम् ॥ ९० ॥
अम्बष्ठा शाल्मलीश्लेषं समङ्गां वत्सकत्वचम् । बाह्लीकातिविषे बिल्वं मुस्तं लोध्रं सगैरिकम् ॥
कट्वङ्गं मरिचं शुण्ठीं मृद्वीकां रक्तचन्दनम् । कट्फलं वत्सकानन्ताधातकीमधुकार्जुनम् ॥९२॥
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । तानि क्षौद्रेण संयोज्य पिबेत् तण्डुलवारिणा ॥
अर्शःसु चातिसारेषु रक्तं यच्चोपवेश्यते । दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ॥९४॥
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम् । स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य विनिवर्तयेत् ॥९५॥
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ।

इति पुष्यानुगचूर्णम्।

पुष्यानुगचूर्ण—पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली, पाषाणभेद, रसाञ्जन (रसवत), अम्बष्ठा, शाल्मलीश्लेष (मोचरस), मजीठ, कुटज की छाल, बाह्लीक (केसर), अतीस, कच्चे बेल की गुद्दी, नागरमोथा, पठानीलोध, गेरू, सोनापाठा की छाल, कालीमिरिच, सोंठ, मुनक्का, लालचन्दन, कायफल, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, धाय के फूल, मुलेठी, अर्जुन की छाल, इन सभी द्रव्यों को पुष्यनक्षत्र के दिन समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कराकर रख लें। इस चूर्ण को मात्रानुसार लेकर मधु के साथ मिलाकर चावल के धोवन के साथ पीना चाहिए। अर्शरोग में, रक्तातिसार में अथवा अन्य जिस रोग में रक्त निकलता हो, उन सभी में इसके प्रयोग से शान्ति हो जाती है। बालकों के दोषज अथवा आगन्तुज सभी प्रकार के रक्तविकारों का यह चूर्ण विनाश कर देता है। योनिदोष, रजोदोष तथा योनिमार्ग से निकलने वाले सफेद, नीले, पीले, श्याव (गहरे भूरे रंग के), अरुण (ईंट के वर्ण के) स्रावों को यह बलपूर्वक शीघ्र ही समाप्त कर देता है। यह 'पुष्यानुग' चूर्ण महर्षि आत्रेय द्वारा प्रशंसित है और उपर्युक्त रोगों में हितकर है।

१. 'क्षौद्रमेकशोऽसृग्दरे' इति पा०।

वक्तव्य—पाठा तथा अम्बष्ठा दोनों एक ही हैं। देखें—रा० नि० पिप्पल्यादिवर्ग १२२-१२४। इसकी एक जाति और होती है, जिसे राजपाठा कहते हैं। इसे लैटिन में साइक्लिया आर्नोटी (Cyclea arnotii) कहते हैं। उक्त योग में पाठा तथा अम्बष्ठा को दो बार पढ़ा गया है, अतः पाठा को दूनी मात्रा में लेना चाहिए—'एकमप्यौषधं योगे यस्मिन् यत पुनरुच्यते। मानतो द्विगुणं प्रोक्तं तद्द्रव्यं तत्त्वदर्शिभिः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।५२। **बाह्लीक**—यह शब्द केसर तथा हींग दोनों का पर्याय है, किन्तु चिकित्सक-परम्परा से इस योग में केसर ही डाला जाता है। देखें—'बाह्लीकमिति कुङ्कुमम्'। चक्रपाणि। तथा अष्टांगसंग्रह के टीकाकार श्रीइन्दु की टीका को, किन्तु आचार्य गङ्गाधर बाह्लीक शब्द से हींग का ग्रहण करने को कहते हैं। कुछ चिकित्सक केसर के स्थान पर नागकेशर को ग्रहण करने का आग्रह करते हैं, लाभ की दृष्टि से केसर, हींग, नागकेसर तीनों द्रव्य उपादेय हैं। इन सभी द्रव्यों का संग्रह पुष्यनक्षत्र में करने के लिए तन्त्रकार का आदेश है। अतएव उक्त योग का 'पुष्यानुग' नाम रखा गया है। अनेक स्थानों पर इसे 'पुष्पानुग' की संज्ञा भी प्राप्त है। श्रीगोविन्ददास ने स्त्री-रोगाधिकार में इस योग में इतना अधिक लिखा है—'अम्बष्ठा दक्षिणे ख्याता गृह्णन्त्यन्ये तु लक्ष्मणाम्'। भैषज्यरत्नावली। यह पाठ चक्रदत्त के असृग्दर-चिकित्सा में भी है। इसे यथास्थान देखें और विचार करें। वाग्भटद्वय ने भी इस योग को उद्धृत किया है, किन्तु 'दोषागन्तुकृताः' के स्थान पर 'दोषा जन्तुकृताः' पाठ-भेद किया है, जो प्रसंगवश रुचिकर प्रतीत होता है।

तण्डुलीयकमूलं तु सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ॥ ९६ ॥
रसाञ्जनं च लाक्षां च छागेन पयसा पिबेत् ।

अन्य योग—चौलाई की जड़ के कल्क को मधु के अनुपान तथा चावल के धोवन के सहपान के साथ सेवन करें, अथवा बकरी के दूध के साथ रसवत का सेवन करें, अथवा कच्ची लाख को पीसकर बकरी के दूध के साथ पीयें। उपर्युक्त तीनों योग लाभप्रद होने से चिकित्सक-समाज में सुप्रसिद्ध हैं।

पत्रकल्कौ घृते भृष्टौ राजादनकपित्थयोः ॥ ९७ ॥
पित्तानिलहरौ, पैत्ते सर्वथैवास्रपित्तजित् । मधुकं त्रिफलां लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु ॥९८॥
मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ वा कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ।

प्रदरनाशक योग—१. राजादन तथा कैथ की पत्तियों को पीसकर घी में भूँजकर सेवन करने से पित्तज तथा वातज प्रदररोग का विनाश हो जाता है। २. मुलेठी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पठानी लोध, नागरमोथा, सौराष्ट्रिका (फिटकिरी)—इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इसमें से मात्रानुसार लेकर मधु के साथ चाटने से पित्तज प्रदररोग में निकलने वाला रक्तस्राव शीघ्र ही रुक जाता है। ३. कफज रक्तप्रदररोग में नीम की पत्तियों तथा गुरुच के कल्क को मद्य के साथ पीना चाहिए। इसके सेवन से कफज रक्तप्रदर की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—श्रीभावमिश्र ने 'प्रियाल' तथा 'राजादन' का अलग-अलग वर्णन किया है। देखें—भा० प्र० पू० खं० आम्रादिफलवर्ग ८।७५-७८। किन्तु प्रियाल द्रव्य का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—'प्रियालस्तु खरस्कन्धश्चारो बहुलवल्कलः। राजादनस्तापसेष्टः सन्नकद्रुर्धनुष्पटः' ॥ वही। इसी पाठ का अनुकरण अमरसिंह के वनौषधिवर्ग में हुआ है—'राजादनं प्रियालं स्यात् सन्नकद्रुर्धनुष्पटः'। अमरकोष २।४।३५। यद्यपि हम आयुर्वेद के क्षेत्र में अमरकोषोक्त पर्यायों को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, तथापि समानता की दृष्टि से यहाँ इसे

उद्धृत किया गया है। यहाँ चक्रपाणि ने राजादन का कोई परिचय नहीं दिया। दूसरे टीकाकारों ने यहाँ राजादन को 'खिरनी' स्वीकार किया है, न कि पियाल; यह गुण-धर्मों की दृष्टि से उचित ही प्रतीत होता है। आप भी खिरनी के '**दोषत्रयास्रजित्**' गुणधर्म पर ध्यान दें। ऊपर तीन योगों का वर्णन किया है। उन योगों का आप क्रमशः इस प्रकार प्रयोग करें—१. वातज प्रदर में, २. पित्तज प्रदर में और ३. कफज (श्वेत) प्रदर में। शेष विचार चिकित्सक स्वयं करें।

विरेचनं महातिक्तं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत् ॥ ९९ ॥
हितं गर्भपरिस्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत् ।

पित्तज प्रदर में विरेचन—इसमें विरेचन कराने के लिए (चरक-कुष्ठरोगचिकित्सा-प्रकरण में कहे गये) 'महातिक्तक घृत' को पिलाना चाहिए। गर्भस्राव हो जाने पर जिस चिकित्सा तथा आहार-विहार का वर्णन (चरक-शारीरस्थान, जातिसूत्रीय अ० ८ में) किया गया है, उस-उस का प्रयोग यहाँ भी करना चाहिए।

काश्मर्यकुटजक्वाथसिद्धमुत्तरवस्तिना ॥ १०० ॥
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम् ।

त्रिविध योनिरोग-चिकित्सा—गम्भार की छाल तथा कुटज की छाल के क्वाथरस से पकाये गये घी का प्रयोग रक्तयोनि, अरजस्कायोनि एवं पुत्रघ्नी योनियों में उत्तरवस्ति द्वारा करना चाहिए।

मृगाजाविवराहासृग्दध्यम्लफलसर्पिषा[1] ॥ १०१ ॥
अरजस्का पिबेत् सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा ।

अरजस्कायोनि-चिकित्सा—अरजस्का नामक योनिरोग से पीडित स्त्री मृग (हरिण), बकरा, भेड़ा या सूअर के रक्त को दही, अम्लरस (दाड़िम का रस) तथा घी में मिलाकर पीये। अथवा जीवनीयगण में कथित दस द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाये गये दूध को पीये।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने मांसाहारी तथा शाकाहारी रोगिणियों के लिए पृथक्-पृथक् चिकित्सा की व्यवस्था की है। वृद्धवाग्भट के अनुसार उक्त प्रथम योग को पीने के लिए नहीं, अपितु इन द्रवों को एकत्रित करके इनसे उत्तरवस्ति देनी चाहिए। देखें—अ० सं० उ० अ० ३९।४७-४८। इस प्रकार के प्रयोग सम्बन्धी मतभेद संहिताकारों के देखे जाते हैं। आप चिकित्सक हैं, प्रयोग करके देखें। यदि आप अध्यापक हैं, तो विद्यार्थियों से अपनी देख-रेख में कर्माभ्यास कराकर उनके लाभ-हानि से छात्रों को अवगत करायें।

कर्णिन्यचरणाशुष्कयोनिप्राक्चरणासु च ॥ १०२ ॥
कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरवस्तिना ।

उत्तरवस्ति-प्रयोग—कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि, प्राक्चरणा—इन योनिरोगों में तथा इनके अतिरिक्त कफवात-जनित योनिरोगों में (जीवनीयगण में कहे गये दस द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा पकाये गये) तिल-तैल को उत्तरवस्ति द्वारा प्रयोग करने से उक्त योनिरोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में उत्तरवस्ति द्वारा दिये जाने वाले तैल को श्रीचक्रपाणि जीवनीयगण से सिद्ध करने की अनुमति देते हैं, जो युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। देखें—चक्रपाणि टीका।

गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम् ॥ १०३ ॥
मधुना किण्वचूर्णं वा दद्यादचरणापहम् । स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोफहरं च तत् ॥१०४॥

अचरणायोनि-चिकित्सा—गाय के पित्त (गोरोचन) में अथवा मछली के पित्त में क्षौम (अलसी के रेशों से बनाये गये) वस्त्र को २१ बार भावना देकर उसकी वर्त्ती बनाकर योनि के भीतर रखने के लिए उस रोगिणी को दें। अथवा किण्व (सुरा बीज) के चूर्ण में मधु मिलाकर वस्त्र में वर्त्ती की भाँति लपेट कर रोगिणी को योनि के भीतर रखने के लिए दें। इसके कुछ दिनों तक लगातार प्रयोग से अचरणायोनि शुद्ध हो जाती है।

१. 'दध्यम्लक्षौद्रसर्पिषा' इति पा०।

इसके प्रयोग से आर्तव-वहन करने वाले स्रोतों का शोधन हो जाता है। योनिकण्डू, योनिक्लिन्नता (गीलापन) तथा योनिशोथ आदि विकारों का शीघ्र शमन हो जाता है।

वातघ्नैः शतपाकैश्च तैलैः प्रागतिचारिणी । आस्थाप्या चानुवास्या च स्वेद्या चानिलसूदनैः ॥
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारैरुपनाहैश्च युक्तितः ।

प्राक्चरणा-अतिचरणायोनि-चिकित्सा—उक्त योनिरोगों से पीड़ित स्त्री की योनि में सौ बार पाक करके तैयार किये गये वातनाशक तैलों से आस्थापनवस्ति तथा अनुवासनवस्ति देनी चाहिए। अथवा वात-नाशक स्नेहद्रव्यों से युक्त विविध प्रकार के आहारों एवं उपनाहों (पुल्टिसों) का युक्ति-पूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वस्ति तीन प्रकार की होती है—१. अनुवासनवस्ति, २. निरूहणवस्ति और ३. आस्थापनवस्ति। इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—१. अनुवासन—'अनुवसन् अपि न दुष्यति' अथवा 'अनुदिवसं वा दीयते, इति अनुवासनः'। २. निरूहण—'दोषनिर्हरणात् शरीररोगहरणाद् वा निरूहः'। ३. आस्थापन—'वयःस्थापनाद् आयुःस्थापनाद् वा आस्थापनम्'। वास्तव में निरूहणवस्ति का ही भेद आस्थापनवस्ति है। देखें—सु० चि० अ० ३५।१८। उपयोगानुसार इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ भी देखी जाती हैं। निरूहणवस्ति के अनेक नाम व्यवहार की दृष्टि से देखे जाते हैं—१. दोषहर, २. संशमन, ३. शोधन, ४. लेखन, ५. पिच्छिल, ६. बृंहण, ७. दीपन, ८. ८. युक्तरथ, ९. सिद्ध आदि।

शताह्वायवगोधूमकिण्वकुष्ठप्रियङ्गुभिः ॥ १०६ ॥
बलाखुपर्णिकाश्याह्वैः संयावो धारणः स्मृतः ।

शताह्वादि संयाव—सोया, जौ, गेहूँ, सुराबीज, कूठ, फूलप्रियंगु, बरियारा, मूषाकर्णी, गन्धाबिरोजा (चीड़ वृक्ष की गोंद—लीसा), इन सभी द्रव्यों को कूट-पीसकर संयाव (हलुआ) तैयार करना चाहिए। तैयार हो जाने पर इसे योनि के बाहर से बाँधना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस प्रकार का योग उद्धृत किया है—'धारयेच्चातिचरणायां यवगोधूमकिण्वकुष्ठशतपुष्पाश्याह्वप्रियङ्गुबलाखुकर्णीकल्कक्रृतामुत्कारिकाम्'। अ० सं० उ० अ० ३९।४२। इसके अनुसार उक्त योग का अतिचरणा नामक योनिव्यापत् में उपयोग करना चाहिए। इन्होंने संयाव (हलुआ) के स्थान पर उत्कारिका बनाकर प्रयोग करने का आदेश दिया है। स्वेदन के लिए दोनों ही विधियाँ उपयुक्त हैं। श्रीचक्रपाणि 'संयाव' को ही 'उत्कारिका' मानते हैं और '**धारणः स्मृतः**' इस पद्यांश का वे इस प्रकार अर्थ करते हैं—'वामिन्या बीजधारणकारक इत्यर्थः'। यह अर्थ विचारणीय है।

वामिन्युपप्लुतानां च स्नेहस्वेदादिकः क्रमः ॥ १०७ ॥
कार्यस्ततः स्नेहपिचुस्ततः सन्तर्पणं भवेत् ।

वामिनी-उपप्लुतायोनि-चिकित्सा—इन योनिरोगों में स्नेहन तथा स्वेदन आदि कराने के बाद पहले कहे गये वातनाशक स्नेह-पिचुओं को योनि में धारण कराकर तब उस रोगिणी को सन्तर्पण कराना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीनरहरि पंडित ने सन्तर्पण का परिचय इस प्रकार दिया है—'द्राक्षादाडिमखर्जूरकदलीशर्करान्वितम्। लाजाच्चूर्णं समध्वाज्यं सन्तर्पणमुदाहृतम्' ॥ रा० नि० मिश्रकादि वर्ग ६४। इसका अर्थ अतिभोजन, अतितृप्ति भी है। चक्रदत्त के ज्वर-प्रकरण में रस आदि वर्धक नवान्नमय आदि के अधिक सेवन को सन्तर्पण की संज्ञा दी है। श्रीशिवदास 'वामिन्यां पूतियोन्यां च' इस पाठभेद को प्रामाणिक मानकर पूतियोनि शब्द से उपप्लुता तथा परिप्लुता योनियों का ग्रहण करते हैं। श्रीजयदेव द्वारा अनूदित संस्करण में 'स्नेहपिचुभिस्तर्पणं' पाठ दिया है। उन्होंने यह परिवर्तन अ० सं० उ० अ० ३९।५५ के पाठ से प्रभावित होकर कर डाला।

शल्लकीजिङ्गिनीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः ॥ १०८ ॥
कषायैः साधितः स्नेहपिचुः स्याद् विप्लुतापहः ।

विप्लुतायोनि-चिकित्सा—शल्लकी (सलई), जिंगिनी (जियाल), जामुन की छाल, धव की छाल, पञ्चवल्कल (बरगद, पीपल, पारस, गूलर, पाकड़) इन सभी वृक्षों की छालों को लेकर इनके क्वाथ से तिल-तैल को तैलपाक-विधि से पकाकर उसमें मुलायम वस्त्र को भिगाकर उसकी वत्ती बनाकर योनि में पिचु धारण करने से विप्लुता नामक योनिरोग का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—चरक-प्रतिसंस्कृत तन्त्र के सुलभ न होने पर आचार्य दृढबल ने इस अंश की पूर्ति की है। अतः यह भूल हो सकती है कि प्रारम्भ में विप्लुता नामक योनि का निदान सम्बन्धी परिचय न देकर उसकी चिकित्सा लिख दी है। अथवा इस प्रकार इसे हम परिप्लुतायोनि रोग ही मान लें—'विशेषेण प्लुता, विप्लुता' और 'परितः प्लुता, परिप्लुता'। किन्तु यह समाधान उतना श्रद्धेय नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि यदि दृढबल को यह अभीष्ट होता और वे 'विप्लुता' को 'परिप्लुता' कहना चाहते तो अवश्य कह सकते थे। यथा—'**पिचुः परिप्लुतापहः**'। महर्षि सुश्रुत ने 'विप्लुतायोनि' का लक्षण दिया है, जो इस प्रकार है—'विप्लुतां नित्यवेदनाम्'। सु० उ० अ० ३८।१०। यदि हम उक्त श्लोक में आये हुए 'विप्लुता' शब्द की व्युत्पत्ति ऊपर की भाँति करके उसे 'परिप्लुता योनि' मानने लगेंगे, तो सुश्रुतोक्त 'परिप्लुता योनि' की परिभाषा दोषयुक्त हो जायेगी। वृद्धवाग्भट के अनुसार विप्लुतायोनि—'विप्लुताख्या त्वधावनात्। सञ्जातकण्डुः कण्डूला कण्ड्वा चातिरनिम्प्रिया'। अ० सं० उ० अ० ३८।५४। 'विप्लुता' की ही भाँति 'स्रस्ता' 'प्रस्रस्ता' अथवा पाठभेद के अनुसार 'प्रसुप्ता' नामक योनिरोगों को चिकित्सा का भी वर्णन आगे किया जा रहा है। यह ग्रन्थकार की विहंगम दृष्टि है। इसके पूर्व जिस 'दुःस्थित' नामक योनिरोग की गणना नहीं की गयी थी, उसकी भी चिकित्सा का वर्णन श्लोक ४३-४४ में किया ही गया है। इस प्रकार इनको भी स्वतन्त्र रोग समझना ही चाहिए, नकि इनका किसी रोग विशेष में अन्तर्भाव करने की आवश्यकता है।

कर्णिन्यां वर्तिका कुष्ठपिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः ॥ १०९ ॥
वस्तमूत्रकृता धार्या सर्वं च श्लेष्मनुद्धितम् ।

कर्णिनीयोनि-चिकित्सा—इसमें कूठ, पिप्पली, मदार की पत्तियों का अग्रभाग (कोमल पत्तियाँ), सेंधानमक, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीसकर तर्जनी अंगुली के बराबर लम्बी वत्ती बनाकर छाया में सुखाकर इस वत्ती को योनि के भीतर रखें। यह सभी प्रकार के कफज योनिरोगों का विनाश करने के लिए हितकर है। इसमें कफदोष-नाशक अन्य चिकित्सा भी हितकर होती है।

त्रैवृतं स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः ॥ ११० ॥
दशमूलपयोवस्तिश्चोदावर्तानिलार्तिषु । त्रैवृतेनानुवास्या च वस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः ॥१११॥
एतदेव महायोन्यां स्रस्तायां च विधीयते ।

उदावर्ता, वातला एवं स्रस्तायोनि-चिकित्सा—उदावर्ता तथा वातला योनिरोगों में त्रिवृद् (निशोथ) के कल्क तथा क्वाथ द्वारा तैयार किये गये तेल द्वारा स्नेहन तथा स्वेदन कराकर, ग्राम्य (पालतू या घरेलू प्राणियों—बकरा आदि), आनूप (भैंस, सुअर आदि), जलीय (मछली, कछुआ आदि) का मांसरस तथा दशमूल के द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाया गया दूध रोगिणी को पीने के लिए दें, अथवा उत्तरवस्ति का प्रयोग करायें, अथवा निशोथ के कल्क द्वारा सिद्ध किये गये तेल से अनुवासनवस्ति दें तथा इसी से उत्तरवस्ति का भी प्रयोग करायें।

निशोथ के तेल द्वारा ही स्नेहन, स्वेदन, ग्राम्य, आनूप, औदक प्राणियों के मांसरस, दशमूल द्वारा पकाया गया दूध, दही का प्रयोग महायोनि तथा स्रस्तायोनि में भी उक्त प्रकार से कराया जाता है।

[1]वसा ऋक्षवराहाणां घृतं च मधुरैः शृतम् ॥ ११२ ॥
[2]पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात् क्षौमलक्तकैः ।

---

१. 'वराहकुक्कुटवसा' इति पा०।
२. 'सम्प्रवेश्य' इति पा०।

महायोनि-चिकित्सा—मधुरद्रव्यों (इनका विवेचन च० वि० अ० ८।१३९ में देखें) के कल्क एवं क्वाथ द्वारा भालू या सूअर की चर्बी को अथवा गाय के घी को पकाकर छानकर रख लें। इस चर्बी अथवा घी को महायोनि के भीतर भरकर क्षौमलक्तक (अलसी के रेशों से बनाये गये सुकोमल वस्त्र) से ऊपर से बाँध देना चाहिए।

वक्तव्य—महायोनि की उक्त प्रकार से चिकित्सा स्त्री-चिकित्सक द्वारा करानी चाहिए। वह योनि का स्वेदन करके विकृत अवयव को सीधा करके तब उक्त वसा या घृत को उसकी योनि के भीतर भर दे। जिस पलंग पर वह लेटी हो उसका पैताना कुछ ऊँचा कर दे, जिससे स्नेह बाहर न निकल सके। इसके लिए योनिमुख में पिचु (रुई या कपड़े का फाहा) भर दें और ऊपर से योनि के मुख को बाँध दें।

प्रस्रस्तां सर्पिषाऽभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेश्य च ॥ ११३ ॥
बध्नीयाद् वेशवारस्य पिण्डेनामूत्रकालतः ।

प्रस्रस्तायोनि-चिकित्सा—जो योनि (धरा) अपने स्थान से हटकर बाहर निकल आयी हो (यहाँ योनि शब्द से गर्भाशय का ग्रहण किया गया है—'तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता'। सु० शा० अ० ५।४३) सबसे पहले उसमें, तदनन्तर सम्पूर्ण योनि के भीतर घी लगाकर फिर उसे गरम दूध डालकर स्विन्न कर लें, भली-भाँति स्वेदन हुआ जानकर उस बाहर निकली हुई योनि को कुशल स्त्री-चिकित्सक हाथ के सहारे से भीतर प्रवेश करा दे। पहले से तैयार किये हुए वेशवार के पिण्ड को योनि के भीतर डालकर योनिमुख पर पट्टी बाँध दे। मूत्र करने की इच्छा होने पर उसे खोल दें, पुनः बाँध दें। कुछ दिन ऐसा करने से प्रस्रस्ता योनि अपने स्थान पर स्थित हो जाती है।

वक्तव्य—पथ्य की दृष्टि से प्रस्रस्ता योनि वाली स्त्री को किसी प्रकार का भार नहीं उठाना चाहिए। ऊबड़-खाबड़ भूमि पर नहीं चलना चाहिए, ऐसे यान पर नहीं चलना चाहिए जिससे शरीर पर धक्के लगें। पुरुष-सहवास से भी दूर रहे। १९२२ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में 'प्रस्रस्तां' के स्थान पर 'प्रसुप्तां' पाठ है।

यच्च वातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत् ॥ ११४ ॥
सर्वव्यापत्सु मतिमान् महायोन्यां विशेषतः ।

महायोनि में वातहर-चिकित्सा—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह सभी प्र[illegible] योनि [illegible] में विशेष करके महायोनि नामक रोग में जो योनि के वातज विकारों की चिकित्सा कही [illegible] चिकित्साओं का इसमें भी प्रयोग करे।

नहि वातादृते योनिर्नारीणां सम्प्रदुष्यति ॥ ११५ ॥
शमयित्वा तमन्यस्य कुर्याद् दोषस्य भेषजम् ।

योनिरोगों में वातचिकित्सा की प्रधानता—स्त्रियों की योनि वातदोष के बिना दूषित नहीं होती है, अर्थात् किसी भी प्रकार के योनिरोगों में प्रमुख रूप से वातदोष रहता ही है। इसलिए योनिरोगों की चिकित्सा करते समय सर्वप्रथम वातदोष की चिकित्सा कर लेनी चाहिए। जब चिकित्सा द्वारा उसका शमन हो जाय तब अन्य विकारों की चिकित्सा करनी चाहिए। यह योनिरोगों का प्रमुख चिकित्सा-सूत्र है।

रोहीतकान् मूलकल्कं पाण्डुरेऽसृग्दरे पिबेत् ॥ ११६ ॥
जलेनामलकीबीजं कल्कं वा ससितामधु ।

श्वेतप्रदर-चिकित्सा—इस रोग में रोहीतक (रोहेड़ा) के जड़ की छाल का कल्क बनाकर उसे जल के साथ पीना चाहिए, अथवा जल से आँवला के बीज की गिरी को अथवा उसके कल्क को मिश्री और मधु मिलाकर चाटे।

वक्तव्य—जिस श्लोक का ऊपर अर्थ दिया गया है, वह श्लोक वास्तव में १९२२ ई० वाले निर्णयसागरीय संस्करण का है, जिसे श्रीजयदेव ने बुद्धिपूर्वक थोड़े परिवर्तन के साथ अपनी टीका में इस प्रकार उद्धृत किया है—'मूलकल्कन्तु रोहीतात् पाण्डुरे प्रदरे पिबेत्। जलेनामलकाद् बीजकल्कं वा ससितामधुम्' ॥ १९२२ ई० के

संस्करण में उक्त श्लोक की संख्या ११४ है, जिसका उत्तरार्ध उक्त पाठ से कुछ भिन्न है—'जलेनामलकाद् बीजं कल्कं वा ससितानमधुन्'। **ससितामधु**—व्याकरण की दृष्टि से मधु शब्द प्रस्तुत अर्थ में नपुंसकलिङ्ग होने के कारण शुद्ध है, किन्तु अधिकांश संस्करणों ने 'मधुन्' पाठ को उद्धृत किया है।

अब जरा १९४१ ई० वाले निर्णयसागरीय मूलपाठ की ओर ध्यान दें—**'पाण्डुरेऽसृग्दरे'**। पाण्डुर शब्द यहाँ सफेद अर्थ का वाचक है। किन्तु हमें 'असृग्दर' शब्द पर विचार करना है, जिसका स्पष्ट अर्थ है—रक्तप्रदर। आश्चर्य है कि ऊपर इस प्रकार का पाठ देकर नीचे श्रीचक्रपाणि की टीका 'पाण्डुर प्रदरे, इति श्वेतप्रदरे' को भी उद्धृत कर दिया है। सुश्रुत के अनुसार रक्तप्रदर-परिचय—'तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि। असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद् रक्तलक्षणात्'॥ सु० शा० अ० २।१८। अतः श्वेतप्रदर से यह सर्वथा भिन्न होता है। असृग्दर की निरुक्ति—'असृग् दीर्यते च्यवते यस्मिन्, इति'। मधुकोश-व्याख्या। स्रावभेद, वर्णभेद से प्रदर मूलतः दो प्रकार का होता है—१. श्वेतप्रदर और २. रक्तप्रदर। अतः यहाँ 'पाण्डुरे प्रदरे' यही पाठ समीचीन है।

मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्च[1] ताम् ॥ ११७ ॥
न्यग्रोधत्वक्कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत् । आस्रावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत् ॥
प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा धारयेन्मधुना कृतम् । योन्यां स्नेहाक्तयां लोध्रप्रियङ्गुमधुकस्य वा ॥
धार्या मधुयुता वर्तिः कषायाणां च सर्वशः । स्रावच्छेदार्थमभ्यक्तां धूपयेद् वा घृताप्लुतैः ॥१२०॥
सरलागुग्गुलुयवैः सतैलकटुमत्स्यकैः ।

श्वेतप्रदर-नाशक योग—१. श्वेतप्रदर रोग से पीड़ित रोगिणी को आँवलों का चूर्ण अथवा आँवलों के रस को मधु के साथ चाटने के लिए दें। २. अथवा पठानीलोध के कल्क को बरगद की छाल के क्वाथ के साथ पीना चाहिए (यहाँ कल्क की मात्रा १ तोला, क्वाथ १ छटांक पीने के लिए दें)। ३. अथवा यदि योनि से निरन्तर स्राव निकल रहा हो तो बरगद की छाल के क्वाथ में क्षौम (अलसी के रेशों से बनाये गये) वस्त्र को भिगाकर योनि के भीतर रखवा दें। ४. अथवा योनि के भीतर वातनाशक तेल को लगवाकर प्लक्ष (पाकर) की छाल के कपड़छन चूर्ण को मधु से पिण्ड (वत्ती) जैसा बनाकर योनि के भीतर रोगिणी धारण करे। ५. अथवा पठानी लोध, फूलप्रियंगु, मुलेठी इनके कपड़छन चूर्ण को मधु के साथ सानकर उसकी वत्ती बनाकर योनि के भीतर रोगिणी धारण करे। ६. अथवा कषायरस-प्रधान द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को मधु से मिलाकर वत्ती बना ले, इस वत्ती को रोगिणी अपनी योनि के भीतर रखे। ७. अथवा प्रदर के कारण होने वाले सफेद स्राव को समाप्त करने के लिए पहले योनि के भीतर से वातहर तेल को चुपड़कर उसके बाद सरल (चीड़), गुग्गुलु, जौ इनमें घी मिलाकर जलते हुए कोयलों में इन द्रव्यों को डालें, इनसे निकलने वाले धुएँ से योनि का धूपन कराना चाहिए। ८. अथवा कटुमत्स्य ('कटुमत्स्यकः शफरी, शुष्कमत्स्यो वा, इति चक्रः। सिंघी नामक मछली) को सुखाकर तेल में मिलाकर जलते हुए कोयलों में डालकर इसके धुएँ से योनि का धूपन करें।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'कटुमत्स्यक' पर टीका करते हुए 'शुष्कमत्स्यो वा' लिखा है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता। वास्तव में 'कटुमत्स्य' शफरी को ही कहते हैं—'प्रोष्ठी तिक्ता कटुः स्वादुः शुक्रला कफवातजित्। स्निग्धास्यकण्ठरोगघ्नी रोचनी च लघुः स्मृता'॥ भा० प्र० मांसवर्ग-प्रकरण १३।११७। तथापि हम श्रीचक्रपाणि का समर्थन इस प्रकार कर लेते हैं—यदि शफरी नामक मछली सुलभ न हो तो अन्य मछली को सुखाकर उसका प्रयोग करना चाहिए। ऊपर ११९वें पद्य में 'पिण्ड' शब्द आया है, वहाँ उसका लम्बाई में गोलाकार अर्थ लेना चाहिए। उक्त सभी योग श्वेतप्रदर-नाशक कहे गये हैं।

कासीसं त्रिफला काङ्क्षी समङ्गाऽऽम्रास्थि धातकी ॥ १२१ ॥
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ।

पिच्छिलायोनि-चिकित्सा—इसमें शुद्ध हीराकासीस, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), काक्षी (फिटकिरी), समंगा (मजीठ), आम की गुठली, धाय के फूल—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर इनका

१. 'लेहयेत सितं' इति पा०।

कपड़छन चूर्ण कर लें। मात्रानुसार इस चूर्ण को लेकर मधु के साथ छानकर वत्ती तैयार करें। इसी वत्ती को योनि में रखने से योनि की पिच्छिलता (चिपचिपाहट) दूर हो जाती है। अर्थात् योनि उक्त दोष से मुक्त होकर शुद्ध हो जाती है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अ० सं० उ० अ० ३९ श्लोक १०१ से प्रभावित होकर कुछ टीकाकारों ने 'समङ्गाऽऽम्रास्थि' के स्थान पर 'सजम्ब्वाम्रास्थि' पाठ होना चाहिए, ऐसा आग्रह किया है, जो मात्र एकपक्षीय आग्रह कहा जा सकता है। उक्त योग पिच्छिलायोनि में अच्छा कार्य करता है।

पलाशसर्जजम्बूत्वक्समङ्गामोचधातकीः ॥ १२२ ॥
सपिच्छिलापरिक्लिन्नास्तम्भनः कल्क इष्यते ।

पलाशादि कल्क—पलाश की छाल, सर्ज (साल) की छाल, जामुन की छाल, समंगा (मजीठ), मोचरस, धाय के फूल—इन सब द्रव्यों को समान भाग में लें और पानी के साथ पीसकर इनका कल्क बना ले। इस कल्क को मुलायम कपड़े में लपेटकर योनि के भीतर रखने से योनि की चिपचिपाहट तथा गीलापन दूर हो जाता है।

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम् ॥ १२३ ॥
धारयेद् वेशवारं वा पायसं कृशरां तथा ।

स्तब्ध, कर्कशयोनि-चिकित्सा—स्तब्ध (जकड़न से युक्त) तथा कर्कश (खुरदरी) योनियों में मृदुता उत्पन्न करने के लिए योनि के भीतर वेशवार, पायस (खीर) अथवा कृशरा (तिल और चावलों से बनी खिचड़ी में घी मिलाकर) को गुनगुना रखवाना चाहिए।

दुर्गन्धानां कषायः स्यात् तौवरः कल्क एव वा ॥ १२४ ॥
चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम् ।

दुर्गन्धितयोनि-चिकित्सा—दुर्गन्धयुक्त योनियों में तुवरक (चालमोगरा) के क्वाथरस से प्रक्षालन कराना चाहिए अथवा तुवरक के कल्क की वत्ती बनाकर योनि के भीतर रखवाना चाहिए। अथवा सर्वगन्ध के द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को मुलायम वस्त्र में लपेटकर योनि के भीतर रखवाने से योनि की दुर्गन्ध दूर हो जाती है।

वक्तव्य—तुवरक (चालमोगरा) उष्णवीर्य होने से कफवातशामक होता है। यह कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, जन्तुघ्न (क्रिमिनाशक), व्रणशोधन, व्रणरोपण होता है। अतः इसके क्वाथ, कल्क तथा तेल का पीने के रूप में तथा मालिश, पिचुधारण तथा उत्तरवस्ति की विधि से प्रयोग किया जाता है। **सर्वगन्ध**—'चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुसिह्लकम्। लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत्'॥ परिभाषाप्रदीप खं० ३। अथवा सुश्रुतोक्त एलादि गण। सु० सू० अ० ३८।२४-२५।

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः ॥ १२५ ॥
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ।

शुद्धयोनि में गर्भस्थिति—इस प्रकार ऊपर कही गयी चिकित्सा-विधियों द्वारा योनियों के शुद्ध हो जाने पर यदि अदुष्ट अर्थात् जिन योनिदोषों का इस अध्याय में वर्णन किया गया है, उन दोषों से रहित तथा प्राकृत (स्वाभाविक अतएव शुद्ध) बीज (शुक्र तथा आर्तव) के रहने पर जब जीवात्मा को गर्भ में आने की इच्छा होती है, तब स्त्रियाँ गर्भ को धारण करती हैं या कर पाती हैं।

वक्तव्य—शुद्ध योनि गर्भोत्पत्ति का क्षेत्र है। उसमें दोषरहित बीज (शुक्र) की भी परम आवश्यकता होती है और तभी उसमें जीव का अवतरण होता है। इस विषय के विशेष परिचय के लिए च० शा० अ० ८ सम्पूर्ण का अध्ययन करें।

पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ॥ १२६ ॥
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ।

पुरुष-परीक्षा तथा चिकित्सा—पुरुष के इन्द्रिय (वीर्य) सम्बन्धी दोषों की उनके विकृत वर्णों द्वारा परीक्षा करके, सर्वप्रथम उस पुरुष का पञ्चकर्म-विधि से संशोधन करके तदनन्तर शुक्रदोष-नाशक औषधद्रव्यों से उसकी चिकित्सा करें।

वक्तव्य—ऊपर के श्लोक में 'गर्भं विन्दन्ति योषितः' कहा गया है। स्त्रियों के गर्भधारण में शुद्ध रज-वीर्य का सम्बन्ध होना अपेक्षित है। अतः यहाँ तक योनि के सर्वविध शोधन की व्यवस्था तन्त्रकार ने बतला दी है। है। उसके बाद पुरुष-बीज (वीर्य) के शोधन की चर्चा उपस्थित है। अतएव संकेत रूप में यहाँ वीर्यदोषों तथा उनके निराकरण की चर्चा मात्र का उल्लेख कर दिया है। विस्तार से उक्त विषयों का इसी प्रकरण में निर्देश किया जायेगा। यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द से 'वीर्य' का ग्रहण किया गया है। देखें—'इन्द्रियं चक्षुरादिषु रेतसि'। इति हैमः। और भी—'शुक्रं तेजो रेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च'। अमरकोष २।६।६२।

भवन्ति चात्र—

सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः ॥ १२७ ॥
उक्ता विस्तरतः सम्यङ्मुनिना तत्त्वदर्शिना ।

योनिव्यापत् प्रकरण का उपसंहार—इस सम्बन्ध में कुछ श्लोक यहाँ कहे गये हैं—तत्त्वदर्शी (वास्तविक स्थिति को जानने वाले) मुनि (आत्रेय) ने यहाँ तक भली-भाँति योनि के विकारों, उनके लक्षणों, निदानों (कारणों) और चिकित्साओं का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया है।

पुनरेवाग्निवेशस्तु पप्रच्छ भिषजां वरम् ॥ १२८ ॥
आत्रेयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयाऽनघ ! । रोगाध्याये समुद्दिष्टा ह्यष्टौ पुंसामशेषतः ॥ १२९॥
तेषां हेतुं भिषक्श्रेष्ठ ! दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम् । चिकित्सितं च कात्स्न्र्येन क्लैब्यं यच्च चतुर्विधम् ॥
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः । तेषां निदानं लिङ्गं च चिकित्सां चैव तत्त्वतः ॥१३१॥
समासव्यासभेदेन [1]प्रब्रूहि भिषजांवर ! ।

अग्निवेश के शुक्रदोष-सम्बन्धी प्रश्न—चिकित्सकों में श्रेष्ठ गुरु आत्रेय के समीप जाकर अग्निवेश ने पुनः पूछा—हे अनघ (निष्पाप, पुण्यात्मा) ! आपने रोगाध्याय (च० सू० अ० १९।४) में निर्देश किया है, कि पुरुषों में आठ प्रकार के शुक्रदोष होते हैं। चिकित्सकों में श्रेष्ठ गुरुवर ! उन आठ शुक्रदोषों के कारण, दुष्ट-अदुष्ट शुक्र के लक्षण, सम्पूर्ण प्रकार से उनकी चिकित्सा को कहिए और चार प्रकार की जो क्लीबता (नपुंसकता), जिसे योनिरोगों के उपद्रवों में प्रदर के नाम से कहा गया है, उन सबके निदान, लक्षण तथा ठीक-ठीक चिकित्सा का संक्षेप तथा विस्तार के साथ उपदेश कीजिए।

वक्तव्य—च० सू० अ० १९।४ में आठ शुक्रदोषों का वर्णन इस प्रकार किया है—'तनु शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूत्यतिपिच्छिलमन्यधातूपहितमवसादि च'। 'चत्वारि क्लैब्यानि बीजोपघाताद् ध्वजभङ्गाज्जरायाः शुक्रक्षयाच्च'। वही। 'पुनरेवाग्निवेशस्तु' यहाँ से आगे इस अध्याय के सभी पाठों को कुछ विद्वान् अनार्ष मानते हैं। इस पर श्रीचक्रपाणि के विचारों को हम यहाँ सादर उद्धृत कर रहे हैं—'अत्रान्तरे 'पुनरेव' इत्यादिग्रन्थं शुक्रदोषादिलक्षणचिकित्साभिधायकं केचित् पठन्ति; तच्चान्ये अनार्षं वदन्ति, उपपत्तिं च वर्णयन्ति यत्—शुक्रदोषा वाजीकरणेनैव चिकित्सिताः, क्लैब्यञ्च शारीरे एव प्रतिपादितम्, अतः पुनर्नाभिधानमर्हति। प्रदरश्चेह योनिव्यापत्तौ चिकित्सित इति; ये तु पठन्ति ते पूर्वोक्तसङ्क्षेपस्य विस्तराभिधानमेतदिति वर्णयन्ति। एवमस्यार्षत्वविवादेऽपि काश्मीरादिदेशानुमतत्वात् किञ्चिद् व्याकरणं कुर्म एव।

तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः ॥ १३२ ॥
बीजं यस्माद् [2]व्यवाये तु हर्षयोनिसमुत्थितम् । शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु॥१३३॥

महर्षि आत्रेय के उत्तर—मुनिजनों में श्रेष्ठ आत्रेय ने अपने प्रश्नों के उत्तरों को सुनने के लिए उत्कण्ठित अग्निवेश से कहा—क्योंकि मैथुन करते समय पुरुष का बीज (वीर्य या शुक्र) हर्ष के कारण सम्पूर्ण शरीरावयवों से निकलकर आता है या प्रकट होता है, उसके सम्बन्ध में जो मैं कह रहा हूँ, उसे सुनो।

१. 'ब्रूहि नो' इति पा०। २. 'व्यवायेषु' इति पा०।

वक्तव्य—काम को हर्षयोनि अर्थात् हर्ष का पुत्र कहा गया है। देखें—'कन्दर्पो हर्षतनयो योऽसौ कामो निगद्यते'। वामनपुराण अ० ५। काम के सम्बन्ध में और भी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जो अप्रासंगिक होने के कारण यहाँ उद्धृत नहीं की गयी हैं। उक्त पौराणिक कथा को भले ही कोई मानें या न मानें, किन्तु नर-नारी के संयोग में जब तक परस्पर अनुराग पूर्ण स्थिति उत्पन्न नहीं होती, तब तक उसे सफल सहवास नहीं कहा जा सकता। इसके पोषक उद्धरणों को देखें—'संकल्पो वृष्याणां श्रेष्ठतमः'। च० सू० अ० २५।४०। 'हर्षात् तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि। अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥ अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते'। च० चि० अ० २।४।४७-४८। इस प्रसंग को इससे अन्यत्र भी देखें। सुश्रुत के अनुसार—'कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा। स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् सम्प्रवर्तते'॥ सु० शा० अ० ४।२३।

यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् । न विरोहति सन्दुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ॥१३४॥

दुष्टबीज की दुष्टशुक्र को उपमा—जिस प्रकार भूमि में डाला हुआ बीज असमय में वर्षा के होने, कृमि, कीट तथा अग्नि से दूषित (दग्ध) हो जाने पर नहीं उग पाता है, उसी प्रकार शरीरधारियों का दूषित हुआ शुक्र गर्भाशय में पहुँच जाने पर भी गर्भ को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। अर्थात् दुष्टबीज की भाँति दुष्टशुक्र भी प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है।

अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् । अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ॥
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् । नारीणामर[1]सज्ञानां गमनाज्जरया तथा ॥१३६॥
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् । भयात्क्रोधाद[2]भीचाराद्व्याधिभिः कर्शितस्य च॥
वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां सम्प्रदूषणात् ।
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥ १३८ ॥
शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु तद् वक्ष्यामि विभागशः ।

शुक्र के दुष्ट होने में कारण—अधिक मैथुन करने से, अधिक व्यायाम करने से, असात्म्य (प्रकृति के विरुद्ध) आहार-विहारों का अधिक सेवन करने से, अकाल में अर्थात् जिस अवस्था में वीर्य परिपक्व नहीं हो पाता अर्थात् बाल्यावस्था में, अयोनिमैथुन (हस्तमैथुन, गुदमैथुन, पशुयोनि-मैथुन), मैथुन का सर्वथा परित्याग कर देने से, रूक्ष, तिक्त, कषाय, लवण, अम्ल, उष्ण आहारों का अधिक सेवन करने से, अरसिक स्त्रियों के साथ सहवास करने से, वृद्धावस्था के कारण से, चिन्ता से, शोक से, मैथुन के समय स्त्री का पुरुष के प्रति विश्वास न होने से, शस्त्रकर्म, क्षारप्रयोग, अग्निचिकित्सा का विधिवत् प्रयोग न करने से, भय से, क्रोध से, अभिचारण (मारण, मोहन आदि) प्रयोगों से (पाठभेद के अनुसार—अतिसार से), दीर्घकालीन व्याधियों के कारण कृश हो जाने से, मल, मूत्र, शुक्र आदि के वेगों को सहसा रोक देने से, बीजवाही स्रोतों के कट जाने से (जैसा कि आजकल परिवार-नियोजन के लिए प्रयोग किये जा रहे हैं), रसादि धातुओं के दूषित हो जाने से, कुपित हुए वातादि दोष अलग-अलग अथवा परस्पर मिलकर शुक्रवह सिराओं में पहुँचकर शीघ्र ही शुक्र को दूषित कर देते हैं। उस दूषित हुए शुक्र के लक्षणों को मैं अलग-अलग आगे कह रहा हूँ।

फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ॥ १३९ ॥
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाऽष्टमम् ।

शुक्र के आठ दोष—१. फेनिल (वीर्य का झाग युक्त होना), २. तनु (वीर्य का पतला पड़ जाना), ३. रूक्ष (वीर्य में यह रूक्षता वातदोष के प्रकोप से हो जाती है), ४. विवर्ण (स्वाभाविक वर्ण का अभाव), ५. पूति (वीर्य में दुर्गन्धि का होना, यह पित्तदोष का लक्षण है), ६. पिच्छिल (वीर्य में अधिक चिकनापन का होना—यह लक्षण कफदोष के प्रकोप से उत्पन्न होता है), ७. अन्यधातूपसंसृष्ट (वीर्य का रक्त आदि धातुओं से मिश्रित होना), ८. अवसादी (जल में डूब जाने वाला अथवा उदासी, मूर्च्छा या सुस्ती पैदा करने वाला), शुक्र में ये ८ दोष होते हैं।

१. 'असरज्ञत्वात् स्रवणाज्ज० (सरणाज्ज०)' इति पा०। २. 'दतीसारा' इति पा०।

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ॥ १४० ॥
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते ।

वातदूपित वीर्य के लक्षण—वातदोप द्वारा दूषित शुक्र झागदार होता है, देखने में पतला होता है, उसमें रूक्षता होती है, वह अत्यन्त कठिनता से थोड़ी मात्रा में निकलता है। इस प्रकार का वीर्य दूषित होता है। अतः वह गर्भोत्पत्ति में समर्थ नहीं होता है।

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ॥ १४१ ॥
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ।

पित्तदूषित वीर्य के लक्षण—पित्तदोष से दूषित शुक्र का वर्ण नीला अथवा पीला होता है। यह स्पर्श में अत्यन्त उष्ण (गरम) तथा दुर्गन्ध युक्त होता है। जब शुक्र का स्राव होता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह लिङ्ग (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) को जलाता हुआ निकल रहा है। ऐसे शुक्र को पित्तदोष से दूषित समझना चाहिए।

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ॥ १४२ ॥

कफदूपित वीर्य के लक्षण—कफदोष द्वारा जब शुक्र का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तब शुक्र अत्यन्त पिच्छिल (चिपचिपाहट युक्त) होता है। इसे कफदोष से दूषित वीर्य समझना चाहिए।

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि । शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ॥१४३॥

रक्तमिश्रित वीर्य के लक्षण—स्त्रियों के साथ अधिक सहवास करने से, अभिघात (चोट) लगने से, शस्त्र आदि द्वारा घाव लग जाने से प्रायः रक्त मिश्रित शुक्र पुरुष के लिंग से निकलता है। इसी को ऊपर 'अन्यधातूपसंसृष्ट' कहा गया है।

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि । कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम् ॥१४४॥
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ।

अवसादीवीर्य के लक्षण—मल, मूत्र, शुक्र आदि के अधारणीय वेगों को रोकने के कारण प्रकुपित वायु शुक्र के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। ऐसी स्थिति में वह अपने स्थानों से निकला हुआ शुक्र वातदोष के कारण सूखकर गाँठदार होकर बड़े कष्ट के साथ निकल पाता है। उसके निकलने पर मनुष्य के शरीर में अवसाद का अनुभव होता है। इस प्रकार सभी लक्षणों के साथ शुक्र में होने वाले आठ दोष कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार 'शुक्रवहे द्वे स्रोतसी'। सु० शा० अ० ९।१२। अर्थात् शुक्रवाही दो स्रोतस् होते हैं। ये वस्ति (मूत्राशय) द्वार के दो अंगुल नीचे पुरुष के मूत्रमार्ग में खुलते हैं। अतः इन्हें दक्षिण और वाम भाग में मानना अधिक उपयुक्त है। ये ही स्रोत स्त्रियों की योनि की दीवारों में अनेक मुखी होकर व्याप्त रहते हैं। प्रारम्भ में शुक्र के आठ दोषों का वर्णन किया गया है, जिनके क्रमशः लक्षण यहाँ दे दिये गये हैं। सुश्रुत ने शुक्र के दोषों का वर्णन इस प्रकार किया है—'वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति।' सु० शा० अ० २।३।

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ॥ १४५ ॥
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्[1] ।

शुद्धशुक्र के लक्षण—जो रेतस् (शुक्र) स्निग्ध (स्नेहयुक्त), घन (गाढ़ा), पिच्छिल (चिपचिपा), मधुर, दाह न करने वाला एवं स्फटिकमणि के सदृश सफेद वर्णवाला हो, उसे शुद्ध (निर्दोष) कहा जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त शुद्ध शुक्र के लक्षण इस प्रकार हैं—'स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति, केचित् तु तैलक्षौद्रनिभं तथा' ॥ सु० शा० अ० २।११। इस पद्य को देखने से शुक्र के सम्बन्ध में

१. 'च्छुद्धस्फटिकसन्निभम्' इति पा०।

चरक तथा सुश्रुत के विचार समान हैं, किन्तु सुश्रुत ने 'केचित् तु' कहकर जो दूसरों के मत को उद्धृत किया है, उसके सम्बन्ध में टीकाकारों का मत है, कि तैलवर्ण का शुक्र कृष्णवर्ण की सन्तान को और मधुवर्ण का शुक्र श्याव (साँवले) वर्ण की सन्तान को जन्म देने में कारण होता है। ये परीक्षणीय विषय है, क्योंकि यह सार्वकालिक तथ्य नहीं है। यहाँ तैल शब्द से यदि तिल का तेल लिया जाय तो वह भी प्रायः सफेद ही होता है। मधु के अनेक वर्ण देखे जाते हैं—छोटी मधुमक्खियों का मधु ऋतुभेद से भिन्न-भिन्न वर्ण का होता है, शरद् ऋतु में निकाला गया वही मधु सर्वथा पीताभ श्वेतवर्ण का होता है। यदि तैल और मधु से श्वेतवर्ण ही ग्राह्य होता तो अन्य आचार्यों के मत-संग्रह की आवश्यकता ही न होती। अतः निश्चित ही यहाँ दूसरे वर्णों से युक्त मधु तथा तैल का ग्रहण करना चाहिए।

वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोगसुखैर्हितैः ॥ १४६ ॥
रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा । दुष्टं यदा भवेच्छुक्रं तदा तत् समुपाचरेत् ॥१४७॥

शुक्रदोषहर-चिकित्सा—जब शुक्र वात आदि दोषों से दूषित हो जाय तो विभिन्न प्रकार के चिकित्सा में उपयोगी सुखकर तथा हितकर वाजीकरण प्रयोगों से, रक्तपित्तनाशक प्रयोगों से और योनिव्यापद् नाशक योगों से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—वाजीकरण प्रयोग च० चि० अ० २ पाद १ से ४ में, रक्तपित्तनाशक योग च० चि० अ० ४ में तथा योनिव्यापद् नाशक योग इसी अध्याय के आरम्भ में देखें।

घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च । गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति ॥१४८॥

शुक्रदोषनाशक योग—जीवनीय घृत, च्यवनप्राश तथा शुद्ध शिलाजतु के प्रयोग सभी प्रकार के शुक्रदोषों का नाश करते हैं।

वक्तव्य—जीवनीयगणोक्त कतिपय प्रमुख द्रव्यों द्वारा तैयार किया गया वृष्यघृत च० चि० अ० २ पाद २ श्लोक २१-२३। च्यवनप्राश च० चि० अ० १ पाद १ श्लोक ६२-७४। शिलाजतुरसायन च० चि० अ० १ पाद ३ श्लोक ४८-६५ का अवलोकन करें।

वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः । [1]अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम् ॥
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ॥१५०॥

दोषानुसार दूषितशुक्र-चिकित्सा—१. यदि वातदोष से शुक्र दूषित हुआ हो, तो निरूहवस्तियों तथा अनुवासनवस्तियों का प्रयोग कराना हितकर होता है। २. यदि पित्तदोष से शुक्र दूषित हुआ हो, तो अभयामलकीय रसायन का प्रयोग हितकर होता है। ३. यदि कफदोष से शुक्र दूषित हुआ हो, तो मागधी (पिप्पली) रसायन, अमृत (आमलकी) रसायन, लौहरसायन, त्रिफलारसायन तथा भल्लातकरसायन का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वातज शुक्रदोष की शान्ति के लिए चरक-सिद्धिस्थान में कही गयी निरूह तथा अनुवासन-वस्तियों का यथोचित प्रयोग कराना चाहिए अथवा अष्टांगसंग्रह शा० अ० १ देखें। शेष पित्त तथा कफदोष से दूषित शुक्र की चिकित्सा के लिए ऊपर जिन रसायनयोगों का उल्लेख किया है, उन्हें च० चि० १ के २ एवं ३ पाद में देखकर प्रयोग करायें।

यच्चान्यधातुसंसृष्टं शुक्रं तद्वीक्ष्य युक्तितः । यथादोषं प्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम् ॥१५१॥

अन्य धातुसंसृष्ट शुक्र-चिकित्सा—रक्त आदि अन्य धातुओं से मिले हुए शुक्र को देखकर विधिपूर्वक वात आदि दोषों तथा रक्त आदि धातुओं को शुद्ध करने वाली चिकित्सा को दोषानुसार करना चाहिए।

वक्तव्य—चरक ने रक्तधातु से संसृष्ट शुक्रधातु की चिकित्सा का स्पष्टतः उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अन्य धातुओं से संसृष्ट शुक्र की चिकित्सा का सूत्ररूप में वर्णन कर दिया है। सुश्रुत ने विविध गन्धों से युक्त तथा मल, मूत्रादि से मिले हुए शुक्र की भी चिकित्सा का निर्देश किया है। देखें—सु० शा० अ० २।४ से १० तक।

१. 'ब्राह्ममामलकीयं च पैत्ते शस्तं विरेचनम्' इति पा०।

सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः । प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु वस्तिकर्म विशेषतः ॥१५२॥
इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम् ।

शुक्रदोष-चिकित्सा का उपसंहार—घी, दूध, मांसरस, शालिधान के चावल, जौ, गेहूँ, साँठी के चावल तथा वस्तिकर्म शुक्र सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए विशेषरूप से श्रेष्ठ माने गये हैं। इस प्रकार आत्रेय मुनि ने आठ प्रकार के शुक्रदोषों की चिकित्सा यहाँ कही है।

रेतोदोषोद्भवं क्लैब्यं यस्माच्छुद्धचैव सिध्यति ॥ १५३ ॥
ततो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश ! यथातथम् ।

नपुंसकता-प्रकरण की प्रस्तावना—अग्निवेश ! शुक्र में उपर्युक्त दोषों के उत्पन्न हो जाने से जो नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है, वह शुक्र के शुद्ध (निर्दोष) हो जाने मात्र से दूर हो जाती है। इसलिए इस विषय का मैं तुमसे ठीक-ठीक वर्णन कर रहा हूँ।

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसङ्क्षयात् ॥ १५४ ॥
क्लैब्यं सम्पद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ।

नपुंसकता के भेद—१. बीज (शुक्र) के उपघात से, २. ध्वज (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) के उपघात से, ३. वृद्धावस्था के उत्पन्न हो जाने से, ४. शुक्रधातु के अधिक क्षीण हो जाने से पुरुष में नपुंसकता आ जाती है। उपर्युक्त चारों प्रकार की नपुंसकताओं के सामान्य लक्षणों को सुनो।

सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ॥ १५५ ॥
न याति लिङ्गशैथिल्यात् कदाचिद् याति वा यदि । श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः ॥
म्लानशिश्नश्च [1]निर्बीजः स्यादेतत् क्लैब्यलक्षणम् । सामान्यलक्षणं ह्येतद् विस्तरेण प्रवक्ष्यते ॥

नपुंसकता के लक्षण—प्रतिक्षण सहवास करने की प्रबल इच्छा होने पर भी, प्रिय एवं मन के अनुकूल पत्नी के रहने पर लिंग की शिथिलता के कारण जो पुरुष स्त्री के पास सहवास करने के लिए नहीं जा पाता है, अथवा यदि किसी प्रकार जाकर मैथुन करने भी लगता है, तो उसका साँस फूलने लगता है, सम्पूर्ण शरीर में पसीना हो जाता है और उसकी मैथुनक्रिया पूर्ण नहीं हो पाती है, अर्थात् वह उस क्रिया में असफल हो जाता है, क्योंकि उसका लिंग बीच में ही मुरझा जाता है, उससे वीर्य नहीं निकल पाता। यह नपुंसक पुरुष का सामान्य लक्षण है। इसे विस्तार से आगे कहा जायेगा।

शीतरूक्षाल्पसङ्क्लिष्टविरुद्धाजीर्णभोजनात् [2] । शोकचिन्ताभयत्रासात् स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात् ॥
अभिचारादविस्रम्भाद् रसादीनां च सङ्क्षयात् । वातादीनां च वैषम्यात् तथैवानशनाच्छ्रमात् ॥
नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मापचारतः । बीजोपघाताद् भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ॥१६०॥
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः । हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः ॥१६१॥
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः । बीजोपघातजं क्लैब्यं--

बीजोपघातज नपुंसकता : कारण एवं लक्षण—शीतल, रूक्ष, अल्प, संक्लिष्ट (दूषित), संयोगविरुद्ध या प्रकृतिविरुद्ध तथा अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से, शोक से, चिन्ता से, भय से, त्रास (घबड़ाहट) से, स्त्रियों का अधिक सेवन करने से, अर्थात् अधिक मैथुन करने से, अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि) कर्मों से, स्त्री के प्रति विश्वास न होने से, रस आदि धातुओं के अनुलोम तथा विलोम क्षय हो जाने से, वात आदि दोषों की विषमता से, उपवास से, अधिक श्रम करने से, ऐसी स्त्रियों के साथ सहवास करने से, जो सहवास-सुख के प्रति उत्सुक न हों, पञ्चकर्मों के अनुचित प्रयोग से तथा बीज (शुक्र) के उपघात (विनाश) से वह पुरुष पीले वर्ण का, अत्यन्त दुर्बल एवं जीवनीय शक्ति से रहित हो जाता है, इसीलिए वह स्त्रियों के साथ

१. 'निर्वीर्यः' इति पा० ।
२. 'विरुद्धात्यल्पसङ्क्लिष्टविषमासात्म्यभोजनात्' इति पा० ।

सहवास करने में उत्साहहीन दिखलायी देता है अथवा यदि वह मैथुन के लिए प्रवृत्त होता भी है, तो उसका लिंग शिथिल ही बना रहता है। वह पुरुष हृदयरोग, पाण्डुरोग, तमकश्वास, कामलारोग, थकावट, वमन, अतिसार, शूल, कास (खाँसी) तथा ज्वर से पीड़ित रहता है। इसे बीजोपघातज (शुक्रक्षयज क्लीवता) नपुंसकता कहते हैं।

—ध्वजभङ्गकृतं शृणु ॥१६२॥
अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धासात्म्यभोजनात् । अत्यम्बुपानाद् विषमात् पिष्टान्नगुरुभोजनात् ॥
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद् व्याधिकर्षणात् । कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ॥१६४॥
[1]दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् । दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च [2]परिस्रुताम् ॥
ईदृशीं प्रमदां मोहाद् यो गच्छेत् कामहर्षितः । चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ॥१६६॥
अधावनाद् वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् । काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ॥१६७॥
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ।

ध्वजोपघातज नपुंसकता के कारण—इसके बाद अब तुम ध्वजभंग के कारण होने वाले लक्षणों को सुनो—अत्यधिक अम्ल (खट्टे), नमकीन, क्षार, विरुद्ध, असात्म्य (प्रकृति के विपरीत) भोजन करने से, अधिक जल पीने से, विषम भोजन करने से, पिष्टान्न (चावलों के आटा से बने भोज्य पदार्थ) एवं गुरु (मात्रा गुरु तथा पाचन में गुरु) पदार्थों को खाने से, दही, दूध, आनूपदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन करने से, दीर्घकालीन रोग से पीड़ित होने के कारण कृश हो जाने से, कन्याओं (बालिकाओं) के साथ मैथुन करने से, अयोनि गमन (गुदमैथुन, हस्तमैथुन, सूचीमुखी योनिगमन आदि) से, दीर्घकाल से जो स्त्री योनि-रोग से पीड़ित हो उसके साथ सहवास करने से, जो स्त्री बहुत दिनों से मैथुन न की हो उसके साथ मैथुन करने से, रजस्वला के साथ सहवास करने से, जिसकी योनि से दुर्गन्ध आ रही हो उसके साथ सहवास करने से, योनिरोगों के कारण जिसकी योनि दूषित हो गयी हो उसके साथ सहवास करने से, जिसकी योनि से सदैव स्राव निकल रहा हो (पाठभेद के अनुसार—जिसकी परिप्लुता योनि हो) उसके साथ मैथुन करने से, जो पुरुष कामान्ध होकर ऊपर कही निन्दितयोनिओं वाली स्त्रियों के साथ सहवास करता है तथा चतुष्पदों (चौपायों—बकरी, कुतिया आदि) के साथ मैथुन करता है, उसकी मूत्रेन्द्रिय में अभिघात (चोट, मोच, खरोंच) लग जाता है, अथवा जो पुरुष मैथुन करने के बाद अपनी मूत्रेन्द्रिय को धोता नहीं है, जिसकी मूत्रेन्द्रिय पर शस्त्र, दाँत अथवा नख का घाव लग जाता है, लकड़ी के प्रहार से, लिंग के पिस जाने से, शूकों (लिंग को बढ़ाने की इच्छा से प्रयोग किये जाने वाले योगों अथवा कीट विशेषों) का अधिक सेवन करने से और शुक्र के वेग को रोकने से ध्वजभंग रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ कन्या शब्द का अर्थ है—अप्राप्त यौवना, जिसे अभी मासिकधर्म होना प्रारम्भ नहीं हुआ है। ऐसी अवस्था में योनिच्छद (योनि के मुख पर लगी हुई झिल्ली) पर्याप्त दृढ़ होता है, जिसके फटने पर कन्या को भी सुख के स्थान पर अत्यन्त कष्ट की अनुभूति होती है। यह दुष्कृत्य शासन द्वारा दण्डनीय भी होता है, परन्तु क्या कहा जाय—**'कामातुराणां न भयं न लज्जा'**। सूक्ति। दन्तक्षत तथा नखक्षत ये कामक्रीड़ा किये कराये जाते हैं, जो अत्यन्त हर्ष के द्योतक हैं। लिंगवृद्धिकर उपाय कभी तो पुरुष असन्तुष्ट स्त्री को सन्तोष दिलाने की इच्छा से करता है और कभी अज्ञानतावश भी कर डालता है। इसकी अनेक विधियों में शूक (जल शूक घोंघा) प्रयोग, तिला आदि प्रसिद्ध हैं।

(भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम्[3]) । श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ॥
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि । मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ॥

१. 'दीर्घरोगिणीं' इति पा० ।
२. 'परिप्लुताम्' इति पा० ।
३ अयमर्धश्लोकः क्वचित् पुस्तके न पठ्यते ।

पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः। [1]वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः ॥१७०॥
ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा चर्छदिश्चास्योपजायते। रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ॥
अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः। वस्तौ वृषणयोर्वाऽपि सीवन्यां वङ्क्षणेषु च ॥
कदाचित्पिच्छिलो वाऽपि पाण्डुः स्रावश्च जायते। श्वयथुर्जायते मन्दः स्तिमितोऽल्पपरिस्रवः ॥
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते। जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ॥
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च। ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत् समुदाहृतम् ॥
[2]एतं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं प्रचक्षते।

ध्वजभंग के लक्षण—(उस ध्वजभंग रोग के जो लक्षण होते हैं, उनको इसके बाद मैं कह रहा हूँ) लिंग में सूजन का होना, उसमें पीड़ा का होना, ऊपर से लालिमा का दिखलायी देना, लिंग के ऊपर फफोलों की उत्पत्ति का होना, कभी-कभी पूरे लिंग का पक जाना, लिंग के ऊपर किसी भी अवयव पर मांसवृद्धि का हो जाना, शीघ्र ही उस पर व्रणों का उत्पन्न हो जाना, पुलाकोदक (थोथा या मुरझाया हुआ अन्न या चावलों का मांड) के सदृश उन व्रणों में से स्राव निकलता है, कभी उस स्राव का वर्ण श्याव (गाढ़ा भूरे रंग का) या अरुणप्रभ (ईंट के वर्ण) का दिखलायी देता है, कभी लिंग की आकृति वलय (कंकण) के सदृश गोल हो जाती है, उसमें कठोरता आ जाती है; ज्वर, प्यास की अधिकता, चक्कर आना, बेहोशी, वमन आदि लक्षण इसमें दिखलायी देते हैं; उन व्रणों में से लाल, काला, नीला, आविल (गदला) लाल इन वर्णों से युक्त स्राव निकलने लगता है, लिंग में आग से जलने के समान अत्यन्त वेदना युक्त दाह (जलन) होता है, यह दाह और वेदना वस्ति (मूत्राशय), वृषणों (अण्डकोषों), सीवनी (लिंगमणि के नीचे के भाग) में तथा वंक्षणप्रदेश में विशेष रूप से होती है, कभी लिंग में से चिपचिपा तथा पाण्डुवर्ण का स्राव होने लगता है। ऊपर जो शोथ होता है कहा था, वह कभी अपने से ही हलका पड़ जाता है, लिंग का स्पर्श करने पर शीतलता प्रतीत होती है, थोड़ा-थोड़ा उसमें से स्राव निकलता रहता है, यह शोथ कभी देर से पकता है और शीघ्र ही उससे छुटकारा पा जाता है अर्थात् पूय निकलकर उस व्रण का शीघ्र ही रोपण हो जाता है। कभी-कभी उस व्रण में क्रिमि भी पैदा हो जाते हैं, उसमें सड़न हो जाती है, दुर्गन्धि आने लगती है, कभी-कभी तो इस रोग के कारण उसका शिश्नमुण्ड या पूरा लिंग तथा अंडकोष भी सड़कर गिर जाते हैं। यहाँ तक सभी लक्षण ध्वजभंग होने के कारण उत्पन्न नपुंसकता के कहे गये हैं। कुछ विद्वान् इस ध्वजभंग को पाँच प्रकार का कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत की दृष्टि से ध्वजभंग ही उपदंश है। दोनों के लक्षणों की तुलना करके आप भी विचार करें—'तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद् वा तथाऽतिब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां रजस्वलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां सङ्कीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामामचौक्षसलिलप्रक्षालितयोनिमप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा करजदशनविषशूकनिपातनाद् बन्धनाद्धस्ताभिघाताच्चतुष्पदीगमनादचौक्षसलिलप्रक्षालनादवपीडनाच्छुक्रवेगविधारणान्मैथुनान्ते वाऽप्रक्षालनादिभिर्मेढ्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते' ॥ सु० नि० अ० १२।७।

एतं पञ्चविधम्—चरक में उद्धृत यह वाक्य सुश्रुतसंहिता का स्मारक है। देखें—'स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चेति'। सु० नि० अ० १२।८। अर्थात् यह—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. रक्तज भेद से पाँच प्रकार का होता है। आप भी लक्षणानुसार इसका विभाजन कर लें। श्रीगंगाधर भी ध्वजभंग को उपदंश स्वीकार करते हैं—'एतं ध्वजभङ्गमुपदंशं केचित् पञ्चविधं प्रचक्षते'।

आजकल जिस रोग को उपदंश (सिफिलिस) कहा जाता है, उसकी उत्पत्ति एलोपैथिक चिकित्सक एक विशेष प्रकार के कृमि से स्वीकार करते हैं। उसका नाम है—Spreochita paladia। यह एक सांसर्गिक रोग (Venereal disease) है। यह अनेक रूपों में देखा जाता है—१. फिरंग रोग (Syphilis) २.

१. 'वलयं कुरुते चापि कठिनं च परिग्रहम्' इति पा०।
२. 'एवं' इति पा०।

कण्ठफिरंग, ३. अस्थिफिरंग, ४. संधिफिरंग, ५. यकृत्फिरंग, ६. अण्डफिरंग, ७. हृदय सम्बन्धी फिरंग, ८. नाड़ीसंस्थान सम्बन्धी फिरंग, ९. फिरंग-जनित मस्तिष्क रोग, १०. सुषुम्ना पश्चिमस्तम्भ में होने वाला फिरंग।

क्लैब्यं जरासम्भवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु ॥ १७६ ॥
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते। अतिप्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ॥१७७॥

वृद्धावस्था-जनित नपुंसकता—अब यहाँ से मैं वृद्धावस्था में होने वाली नपुंसकता का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यान से सुनो। अवस्था तीन प्रकार की होती है—१. जघन्य, २. मध्य, ३. प्रवर। प्रायः वृद्ध मनुष्यों का शुक्र क्षीण हो जाता है।

वक्तव्य—ऊपर त्रिविध वय का परिचय दिया है—१. जघन्य (छोटी अवस्था—बाल्यावस्था), २. मध्य (युवावस्था), ३. प्रवय ('प्रगतं वयो यस्य' अर्थात् वृद्धावस्था)। बाल्यावस्था में शुक्र की प्रवृत्ति नहीं होती यह स्पष्ट है, किन्तु वृद्धावस्था में प्रायः शुक्र का अभाव होता देखा जाता है। इस विषय को समझने के लिए च० चि० अ० १ पाद १ के ७ से १४ श्लोक तक देखें। वहाँ रसायन के फलों का वर्णन इस प्रकार किया है—'दीर्घमायुः, तरुणं वयः, देहेन्द्रियबलं परम्, जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद् येन दृश्यते'। ये अंश अवलोकनीय हैं। यदि मनुष्य रसायन-योगों का सेवन नहीं करता है, तभी वह शुक्र रहित हो जाता है। इसके लिए आगे के वर्णन पर ध्यान दें।

रसादीनां सङ्क्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात्। बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ॥१७८॥
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात् क्लमात्। जरासम्भवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ॥१७९॥
जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः। विवर्णो दुर्बलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ॥१८०॥
एतज्जरासम्भवं हि——

वृद्धावस्था-जनित नपुंसकता की सम्प्राप्ति—वृद्धावस्था में रस आदि धातुओं के क्षीण हो जाने से, वृष्य (वीर्यवर्द्धक) औषधयोगों का विधिवत् सेवन न करने से, बल, वीर्य तथा इन्द्रियों की शक्ति के क्रमशः क्षीण हो जाने से, आयु (युवावस्था) के क्षीण हो जाने से, पूर्ण आहार का सेवन न कर पाने से, अधिक परिश्रम से, अनायास थकावट का अनुभव होने से, इन ऊपर कहे गये कारणों से वृद्धावस्था-जनित नपुंसकता मनुष्यों में देखी जाती है। इस वृद्धावस्था के कारण वह वृद्ध रस आदि धातुओं के क्षीण हो जाने से अत्यन्त दुर्बल हो जाता है, उसका वास्तविक वर्ण मलिन हो जाता है, वह बलहीन हो जाता है, उसकी शारीरिक स्थिति दयनीय हो जाती है, ऐसी स्थिति में उसे अनेक रोग शीघ्र ही घेर लेते हैं। ये वृद्धावस्था-जनित नपुंसकता के लक्षण कह दिये गये हैं।

——चतुर्थं क्षयजं शृणु। अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात् क्रोधाद् भयात् तथा ॥१८१॥
[1]ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान् सदा विशति यो नरः। कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ॥१८२॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद् यदि। [2]असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥१८३॥
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम्। रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥१८४॥
शुक्रावसानास्तेभ्योऽपि शुक्रं धाम परं मतम्। चेतसो वाऽतिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः ॥१८५॥
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति सङ्क्षयम्। घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ॥
शुक्रं तस्माद् विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता। एवं निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥

क्षयज नपुंसकता के लक्षण—अब चौथे प्रकार के क्षयज नपुंसकता के लक्षणों को सुनो। अधिक चिन्ता करने से, शोक से, क्रोध से, भय से तथा जो मनुष्य सदा ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद, उद्वेग (घबड़ाहट) में पड़ा रहता है अथवा जो कृश पुरुष सदा रूखे अन्नों, पेयों तथा औषधों का सेवन करता रहता है। असात्म्य (प्रकृति के विरुद्ध) भोजन करने से जब हृदय में रहने वाला प्रधान रसधातु क्षीण हो जाता है, तदनन्तर उस पुरुष के

१. 'ईर्ष्योत्कण्ठामनःक्षोभान् समाविशति' इति पा०।
२. 'अथाल्पभोजनाच्चापि' इति पा०।

शरीर में क्रमशः रक्त, मांस, मदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र तक सभी धातुएँ क्षीण होने लग जाती हैं। इन सभी धातुओं में शुक्र सबमें श्रेष्ठ तेज होता है। मानसिक इच्छा से अथवा काम के वेग से उत्तेजित होने पर जो पुरुष मैथुन करने में प्रवृत्त हो जाता है, उसका इस प्रवृत्ति से अवशिष्ट शुक्रधातु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, उसके बाद वह व्यक्ति क्षीण हो जाता है, शुक्रधातु के सर्वथा क्षीण हो जाने से वह रोगग्रस्त हो जाता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए अपनी आरोग्यता की इच्छा करने वाले पुरुष को शुक्र की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ तक चार प्रकार के नपुंसकता के निदान तथा लक्षणों का वर्णन यहाँ कर दिया गया है।

केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे। वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च ॥१८८॥

नपुंसकता की असाध्यता—ध्वजभंग-जनित तथा क्षय-जनित इन दो प्रकार की नपुंसकताओं को कुछ विद्वान् असाध्य कहते हैं तथा लिंग के कट जाने से या सड़कर गिर जाने से, वृषणों (अण्डकोष) को निकाल देने से होने वाली नपुंकसता भी असाध्य होती है। शेष को साध्य मानना चाहिए, परन्तु उनकी भी उपेक्षा न करें।

वक्तव्य—ध्वजभंग तथा क्षय-जनित नपुंसकता की यदि समय रहते चिकित्सा कर ली जाती है तो रोगी में पुनः पुरुषत्व की प्राप्ति होते देखी जाती है, जिनको तन्त्रकार ने 'केचित्' शब्द से इंगित किया है। उन्होंने यदि उक्त दो नपुंसकताओं को असाध्य माना है, तो उन परिस्थितियों पर ध्यान देना चाहिए। मूत्रेन्द्रिय के गल जाने या कट् जाने तथा अण्डकोषों को निकाल देने के बाद तो साध्यता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि **'मूलं नास्ति कुतः शाखा'**।

मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः। गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥१८९॥
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद् रेतश्चाप्युपहन्यते। तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥१९०॥

जन्मजात नपुंसकता—माता-पिता के बीज (रजस्, शुक्र) में दोषों के आ जाने से, अथवा अजितेन्द्रिय व्यक्ति के पूर्वजन्मों में किये गये अशुभ कर्मों द्वारा जब प्रकुपित वात आदि दोष गर्भस्थ शिशु के शुक्रवह सिराओं में पहुँचकर उनका शोषण कर देते हैं, तब शुक्रवह सिराएँ सूखकर नष्ट हो जाती हैं, इनके नष्ट हो जाने से शुक्र का नाश हो जाता है। इस प्रकार पैदा हुआ वह बालक सम्पूर्ण अंगों वाला होता हुआ भी अपुमान् (पुरुष नहीं कहा जाता, अपितु वह) नपुंसक कहा जाता है। अर्थात् उसके हाथ, पैर आदि संपूर्ण अंगों का विकास होने पर भी वह स्त्रियों के साथ मैथुन-कर्म में समर्थ नहीं होना है, अतः वह पुरुष नहीं है।

एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात्। चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः शृणु॥

असाध्य नपुंसक—सन्निपात (तीनों दोषों के प्रकोप) के कारण उत्पन्न होने वाले ये क्लैब्य रोग असाध्य कहे गये हैं। अब इसके बाद उन नपुंसकताओं की संक्षेप और विस्तार से चिकित्सा कही जा रही है (जो साध्य होते हैं), उनकी चिकित्सा-विधियों को तुम सुनो।

वक्तव्य—ऊपर १५४वें श्लोक में नपुंसकता के चार भेदों का वर्णन किया गया है। किन्तु आगे चलकर १. बीजोपघातज, २. ध्वजोपघातज, ३. वृद्धावस्थाजनित, ४. क्षयज, ५. जन्मजात भेद से पाँच प्रकार की नपुंसकता कही गयी है। श्रीचक्रपाणि अपनी टीका में लिखते हैं—'केचिदित्यादौ ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे वक्ष्यमाणविशिष्टध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ते चासाध्ये। वृषणोत्पाटनेन चेत्यन्तेन ध्वजभङ्ग उक्तः; क्षयजं तु मातापित्रोरित्यादिनोच्यते'। इस प्रकार केवल दो नपुंसकताओं (१. ध्वजभंगज और २. क्षयज) को ही इन्होंने असाध्य कहा है, नकि दूसरे प्रकार की। किन्तु **'एते त्वसाध्या व्याख्याताः'** में 'एते' शब्द दो से अधिक नपुंसकताओं की सूचना दे रहा है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं, कि ऊपर कही गयी पाँचों प्रकार की नपुंसकताओं की उत्पत्ति यदि तीनों दोषों के प्रकोप के कारण हुई हो तो ये सभी उस प्रकार असाध्य होती हैं, जिस प्रकार अन्य सान्निपातिक रोग।

शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयाऽनघ !। क्लैब्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणक्षतहितं च यत् ॥१९२॥

वस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः। रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत् ॥१९३॥
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित्। व्यवायहेतुजे क्लैब्ये तथा धातुविपर्ययात्[1] ॥१९४॥
दैवव्यपाश्रयं चैव भेषजं चाभिचारजे[2]। समासेनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्यशान्तये ॥१९५॥

नपुंसकता-चिकित्सासूत्र—अनघ (निष्पाप अतएव बुद्धि-सम्पन्न अग्निवेश) ! मैंने शुक्रदोषों की शान्ति के लिए एवं वृद्धावस्था अथवा रोग आदि से क्षीण, क्षत में हितकर जिस औषधोपचार को बतलाया है, उस-उसका प्रयोग नपुंसकता की शान्ति के लिए भी करना चाहिए। औषध तथा काल का ज्ञाता अथवा औषधियों के प्रयोग-काल का जानकार चिकित्सक रोगी के शरीर की स्थिति, वात आदि दोषों तथा जठराग्नि के बल को देखकर या इनकी परीक्षा करके वस्तियाँ, दूध, घी, वृष्ययोग, रसायन-प्रयोग जो कहे गये हैं, उन सभी का प्रयोग अधिक मैथुन करने के कारण तथा धातुओं की विषमता के कारण उत्पन्न नपुंसकता के उपचार के लिए करना चाहिए। अभिचार (झाड़-फूँक, जादू-टोना) से उत्पन्न नपुंसकता में दैवव्यपाश्रय (मणि, मन्त्र-धारण, स्वस्त्ययन, बलि, पूजा, पाठ आदि) चिकित्सा करें। इस प्रकार संक्षेप से नपुंसकता की चिकित्सा कह दी गयी है।

विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैब्यानां भेषजं पुनः। सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥१९६॥
अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः। प्रदद्यान्मतिमान् वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ॥१९७॥
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत् ततः।

नपुंसकता में संशोधन—अब मैं विस्तारपूर्वक सभी प्रकार की नपुंसकताओं की चिकित्सा को कह रहा हूँ। नपुंसकता से युक्त रोगी को सर्वप्रथम भली-भाँति स्नेहन तथा स्वेदन कराकर बाद में स्नेह युक्त विरेचन द्रव्य पिलाना चाहिए। विरेचन हो जाने पर बुद्धिमान् चिकित्सक उस रोगी को हितकर अन्न का सेवन कराये, अथवा स्नेह युक्त विरेचन देने के बाद आस्थापनवस्ति का प्रयोग करे, उसके बाद पुनः अनुवासनवस्ति दे। इसके बाद पलाश (ढाक) की छाल, एरण्ड की जड़, नागरमोथा की जड़ के क्वाथ से आस्थापनवस्ति दे।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने १९७वें श्लोक के पूर्वार्ध को कोष्ठक के भीतर देते हुए 'अन्नाशनं' के स्थान पर 'अन्वाशनं' पाठ को उद्धृत किया है और इसकी टिप्पणी में लिखा है—'श्लोकार्धस्त्वयं प्रमादेन केनचित् पठितः'। किन्तु निर्णयसागरीय प्रति में यह पाठ मूलरूप में ही उद्धृत है। उक्त श्लोकों में विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, पुनः आस्थापन का विधान किया गया है। इनका प्रयोग रोगी की शारीरिक स्थिति को देखकर यथावसर ही करना चाहिए। 'पलाशैरण्डयुस्ताद्यैः'—इसका प्रयोग च० सि० अ० १२।१६ में 'एरण्डमूलपलाशात् षट्पलं' इस रूप में दिया गया है।

वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ॥ १९८ ॥
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपघातजे।

वाजीकरणोक्त चिकित्सा—चरक-चिकित्सास्थान अ० २ में जो पहले वाजीकरण योग कहे जा चुके हैं, चिकित्सक को चाहिए कि वह बीजोपघातज नपुंसकता में उन योगों का उपयोग कराये।

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत् क्रियाम् ॥ १९९ ॥
प्रदेहान् परिषेकांश्च कुर्याद् वा रक्तमोक्षणम्। स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम् ॥२००॥
[3]अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः। व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद् विचक्षणः ॥२०१॥

ध्वजभङ्गज नपुंसकता-चिकित्सा—रोगी में ध्वजभंग के लक्षणों को देखकर उसी के कारण उत्पन्न नपुंसकता को जानकर उसकी निम्ननिर्दिष्ट चिकित्सा करें। प्रदेह (लेप), परिषेक (स्नान), रक्तमोक्षण, स्नेहपान, स्नेहयुक्त विरेचन, उसके बाद अनुवासनवस्ति का प्रयोग अथवा आस्थापनवस्ति का प्रयोग करें। विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह ध्वजभंग-जनित नपुंसकता रोग में व्रणचिकित्सा की भाँति प्रयोग करे।

---

१. 'भेषजं धातुवर्धनम्' इति पा०।
२. 'दैवव्यपाश्रयं तत्र भेषजं सम्प्रयोजयेत्' इति पा०।
३. 'अन्वासनं' इति पा०।

वक्तव्य—ध्वजभंग रोग के लक्षण श्लोक १६८ से १७५ तक इसी अध्याय में कहे गये हैं। इसमें शोथ, वेदना, राग तथा स्फोट हो जाते हैं। अतः इनकी चिकित्सा व्रण की भाँति करने की तन्त्रकार आज्ञा देते हैं। इसके लिए सुश्रुत-सूत्रस्थान अध्याय १७ से २३ तक का परिशीलन करें।

जरासम्भवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ॥२०२॥

बुढ़ापा तथा क्षय के कारण उत्पन्न नपुंसकता की चिकित्सा—वृद्धावस्था के कारण तथा शुक्र के अधिक क्षय हो जाने के कारण उत्पन्न होने वाली नपुंसकता में स्नेहन चिकित्सा करने के बाद स्नेह युक्त शोधन चिकित्सा हितकर होती है।

वक्तव्य—वृद्धावस्था में स्वभावतः शुक्र का क्षय हो जाता है, फलतः पुरुष अपने को स्त्री-सहवास के अयोग्य समझने लगता है। यदि वह सहवास के लिए उत्सुक हो तो उसकी उक्त विधि से वीर्यवर्धक चिकित्सा करने के पहले संशोधन कराना आवश्यक होता है, उसके लिए तीक्ष्ण विरेचनों का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'मलायत्तं बलं पुंसाम्'। अतः मृदु (स्नेहयुक्त) विरेचनों का प्रयोग कराना ही हितकर होता है।

क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा वस्तयश्चैव यापनाः। रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते ॥२०३॥
विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लैब्यानां भेषजं मया।

रसायनादि प्रयोग—वृद्धावस्था-जनित तथा क्षयजनित नपुंसकता में क्षीरसर्पि, वृष्ययोग, यापनवस्तियाँ तथा विविध प्रकार के रसायन-प्रयोग इन दोनों की चिकित्सा कही गयी है। इस प्रकार नपुंसकों की चिकित्सा-विधि को विस्तारपूर्वक कह दिया है।

यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिस्तु तम् ॥ २०४ ॥
याऽत्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च। कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च ॥२०५॥
ग्राम्यौदकानि मेद्यानि कृशरां पायसं [1]दधि। शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः ॥
[2]रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ॥२०७॥
यस्माद् विवर्धयत्याशु [3]रसभावाद् विमानता। तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत् तन्त्रविशारदाः ॥२०८॥
रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन स स्मृतः। सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च ॥२०९॥

प्रदर-चिकित्सा-प्रकरण

प्रदररोग-वर्णन—जिस प्रदररोग का इसी अध्याय में पहले संक्षेप में वर्णन किया जा चुका है, उसी का हेतु (कारण) आदि के साथ यहाँ विस्तार से वर्णन किया जा रहा है। जो स्त्री अधिक मात्रा में लवण (नमकीन), खट्टे, गुरु (देर में पचने वाले), कटुरस-प्रधान (कालीमिर्च, लालमिर्चा आदि), विदाही (जलन पैदा करने वाले), स्निग्ध (घी-तेल में पकाये गये), ग्राम्य (गाँवों में होने वाले पशु-पक्षी), औदक (मछली, कछुआ), मेद्य (मेदा को बढ़ाने वाले सूअर आदि के) मांस, कृशरा (खिचड़ी), पायस (खीर), दही (अथवा पाठभेद के अनुसार—गुड़), सिरका, मस्तु (दही का पानी), मदिरा आदि का सेवन करती है, उसके अपने कारणों से कुपित हुई वायु अपने प्रमाण से अधिक रक्तधातु को उत्पन्न कर रजोवाही शिराओं में आश्रित होकर उस बढ़े हुए रक्त को लेकर रजस् (आर्तव) को भी शीघ्र बढ़ा देती है। ऐसी स्थिति में उसके रजस् की मात्रा पहले से अधिक बढ़ जाती है। चिकित्साशास्त्र के विशेषज्ञ उसे 'असृग्दर' कहते हैं, क्योंकि फट-फट कर वह रक्त बाहर निकलता है, अतः इस रोग को 'प्रदर' कहा जाता है। इस प्रकार सामान्य रूप से प्रदररोग के कारण और लक्षणों का यहाँ वर्णन कर दिया गया है।

---

१. 'गुडम्' इति पा०।

२. 'रक्तं प्रमाणादधिकं पूर्वं च कुपितोऽनिलः। रजोवहाः समाश्रित्य वर्धयत्याशु तद्रजः ॥ तस्मादसृग्दरम्' इति पा०।

३. 'रसभावाद्विमार्गतः' इति 'रक्तपित्तं समारुतम्' इति च पा०।

वक्तव्य—प्रदर—प्र उपसर्गपूर्वक दृ विदारणे धातु से रप् प्रत्यय जोड़ देने से उक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। अन्य टीकाकारों ने 'फूट-फूट कर' ऐसा अर्थ किया है। इसका वास्तविक अर्थ है—फटना।

चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपाततः।

प्रदर के भेद—विस्तार से उक्त प्रदररोग वात आदि दोष भेद से चार प्रकार का होता है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज और ४. सन्निपात।

अतःपरं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम् ॥ २१०॥
रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत्। कुपितः प्रदरं कुर्याल्लक्षणं तस्य मे शृणु ॥२११॥
फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च। किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ॥२१२॥
कटिवङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः। कुरुते वेदनां तीव्रामेतद् वातात्मकं विदुः ॥२१३॥

वातज रक्तप्रदर के कारण तथा लक्षण—दोषादि भेदों का वर्णन करने के बाद अब मैं प्रत्येक प्रदर के कारण, लक्षण और भिषग्जित (चिकित्सा) का वर्णन कर रहा हूँ। रूक्ष आदि गुणों वाले आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित हुआ वातदोष पहले कही हुई सम्प्राप्ति की भाँति रक्त को लेकर प्रदररोग को पैदा कर देता है। उस वातज रक्तप्रदर के लक्षणों को मुझ से सुनो—झागदार, पतला, रूक्ष, श्याव (गहरे भूरे रंग का), अरुण (ईंट के सदृश) वर्ण वाला, किंशुक (टेसू) के फूल के धोवन जैसा, पीड़ा युक्त अथवा पीड़ा रहित रजस् का स्राव होता है। स्राव होते समय कमर, वंक्षण, हृदय, पसलियों, पीठ एवं श्रोणि (कूल्हा) प्रदेश में तीव्र वेदना होती है। इसे वातज समझना चाहिए।

अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा। पूर्ववत् प्रदरं कुर्यात्, पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ॥२१४॥
सनीलमथवा पीतमत्युष्णमसितं तथा। नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरयार्तिमत् ॥२१५॥
दाहरागतृषामोहज्वरभ्रमसमायुतम्। असृग्दरं पैत्तिकं स्याच्छ्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते ॥२१६॥

पित्तज रक्तप्रदर के कारण तथा लक्षण—खट्टे, गरम, नमकीन भोज्यपदार्थों का अधिक सेवन करने से कुपित हुआ पित्त पहले कही गयी सम्प्राप्ति की भाँति रक्त को लेकर रजस् की वृद्धि करके प्रदररोग को पैदा कर देता है। अब पित्तज रक्तप्रदर के लक्षणों को सुनो—नीले वर्ण अथवा पीले वर्ण का, अधिक गरम, काला अथवा अत्यन्त लालवर्ण का रक्त अत्यन्त पीड़ा के साथ जिसमें निकलता है, उस रक्त के निकलते समय रोगिणी को जलन प्रतीत होती है, उस रक्त में लालिमा होती है, रोगिणी को प्यास लगती है, मोह तथा बेहोशी हो जाती है, ज्वर हो जाता है और चक्कर आने लगते हैं। इन लक्षणों को देखकर उसे पित्तज रक्तप्रदर समझना चाहिए। अब इसके आगे कफज रक्तप्रदर कहा जायेगा।

गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत् कुपितः कफः। प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु ॥२१७॥
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम्। स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च घनं मन्दरुजाकरम् ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम्। ([1]वक्ष्यते क्षीरदोषाणां सामान्यमिह कारणम् ॥२१९॥
यत् तदेव त्रिदोषस्य कारणं प्रदरस्य तु।)

कफज रक्तप्रदर के कारण तथा लक्षण—गुरु (देर में पचने वाले) आहारों तथा कफवर्धक विहारों के निरन्तर सेवन करने से प्रकुपित कफदोष पूर्ववत् (पहले कही गयी सम्प्राप्ति की भाँति) प्रदररोग को पैदा कर देता है। उसके लक्षणों को सावधानी पूर्वक सुनो—पिच्छिल (चिकनाहट युक्त), पीले वर्ण का, गुरु, स्निग्ध, शीतल, कफ मिश्रित, गाढ़ा, मन्दवेदना वाला उसमें रक्तस्राव होता है। उस रोगिणी को वमन, भोजन के प्रति अरुचि, जी मिचलाना, श्वासरोग, कासरोग हो जाता है। (आगे दूध के दूषित होने के जो सामान्य कारण कहे जायेंगे, वे ही सब कारण त्रिदोषज प्रदररोग के भी होते हैं)।

वक्तव्य—'वक्ष्यते''प्रदरस्य तु'। इस श्लोक के सम्बन्ध में टिप्पणी में लिखा है, कि यह श्लोक हस्तलिखित पुस्तक में नहीं मिलता। वास्तव में यह श्लोक उपयोगी प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि अगला पाठ ...

---

१. अयं श्लोको हस्तलिखितपुस्तके नोपलभ्यते।

इसकी व्यर्थता सिद्ध कर देता है, फिर भी सभी संस्करणों में इसे उद्धृत किया गया है। जरा इस दृष्टि से भी दूध के दूषित होने वाले कारणों की ओर अपना दृष्टिपात करें, कि क्या त्रिदोषज प्रदर और क्षीरदोष के कारणों में कुछ सामञ्जस्य है?

त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम् ॥ २२० ॥

नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता। सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदाऽनिलः ॥२२१॥
रक्तमार्गेण सृजति [1]प्रत्यनीकबलं कफम्। दुर्गन्धं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा ॥२२२॥
वसां मेदश्च यावद्धि समुपादाय वेगवान्। सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ॥२२३॥

त्रिदोषज प्रदर के लक्षण—वात, पित्त, कफ के जो पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं, वे सभी लक्षण एक साथ जिस प्रदररोग में स्थित दिखलायी दें, उसे सन्निपातज रक्तप्रदर कहते हैं। अत्यन्त क्लेश युक्त तथा अत्यन्त क्षीण रक्तवाली स्त्री यदि वात आदि तीनों दोषों के प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करती है, तो वातदोष अधिक बढ़कर पित्त के तेज से विदग्ध (विदाह युक्त) होकर दुर्गन्धित, चिपचिपे, पीले वर्ण वाले तथा असाध्यता को उत्पन्न करने वाले कफदोष को रक्तमार्ग (योनि) द्वारा बाहर निकालता है और वहाँ प्रकुपित वायु वेगवान् होकर वसा तथा मेदोधातु पर अपना आक्रमण करके घी, मज्जा, वसा के सदृश रक्तमिश्रित स्राव को अपत्यमार्ग (योनि) द्वारा बाहर निकालने लगता है। यह स्थिति प्रायः असाध्य होती है, क्योंकि इसमें शरीर की मूल धातुएँ क्षीण हो जाती हैं।

शश्वत् स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्। क्षीणरक्तां दुर्बलां स तामसाध्यां विवर्जयेत् ॥

असाध्य प्रदर के लक्षण—जिस स्त्री की योनि से लगातार स्राव निकल रहा हो, जो तृष्णा (प्यास), दाह तथा ज्वर से युक्त हो, जिसका रक्त क्षीण हो गया हो और जो शरीर से दुर्बल हो गयी हो, उस प्रदररोगिणी को असाध्य समझकर उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥२२५॥
गुञ्जाफलसवर्णं च [2]पद्मालक्तकसन्निभम्। इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥२२६॥

शुद्ध आर्तव के लक्षण—१. यदि एक मास के बाद आर्तव (मासिकधर्म–Menstrual discharge) हो, उसमें चिपचिपापन न हो, दाह तथा वेदना न हो और पाँच दिनों तक उसका स्राव होता रहे, वह रक्त न अधिक हो न कम हो, उस आर्तव को शुद्ध कहते हैं। २. जिस आर्तव का वर्ण घुंघची के फल के सदृश लाल हो, लालकमल के फूल जैसा हो अथवा अलक्तक (आलता या महावर) जैसा हो अथवा इन्द्रगोप नामक कीड़े (वीरबहूटी) के सदृश हो, उस आर्तव को शुद्ध (निर्दोष) कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत की दृष्टि से शुद्ध आर्तव के लक्षण—'शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्। तदार्तवं प्रशंसन्ति यद् वासो न विरञ्जयेत्'॥ सु० शा० अ० २।१७। यद्यपि दोनों तन्त्रकारों द्वारा आर्तव को दी गयी उपमाएँ भिन्न हैं, तथापि दोनों ही उपमाएँ परस्पर सामञ्जस्य स्थापित कर रही हैं। सुश्रुत ने 'यद् वासो न विरञ्जयेत्' अर्थात् जिस रक्त के वस्त्र पर धब्बे न पड़ें; यह एक विशिष्ट लक्षण दिया है। इससे स्त्री अपने रोग का निदान स्वयं कर सकती है।

चरक ने 'गुञ्जाफलसवर्णं' आर्तव की विशेषता बतलायी है। ध्यान दें—घुंघुची [illegible] काली होती है, उसका शेष भाग लाल होता है, उसी लाल अंश का यहाँ ग्रहण किया गया है। शुद्ध आर्तवस्राव १ मास बाद स्वाभाविक रूप से बिना किसी कष्ट के स्वयं हो जाता है, कभी एकाध दिन आगे [illegible] ही जाता है। पाँच दिन तक रक्तस्राव होना यह सर्वत्र देखा-सुना नहीं जाता, इसमें [illegible] का भी सम्बन्ध रहता है। दूसरा पक्ष—सुश्रुत ने कहा है—'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवोऽपि अस्तीत्येके भाषन्ते'। सु० शा० अ० ३।६। यह विषय भी इस प्रसंग में मननीय है। महामान्य [illegible] के अनुसार भी चार

१. 'प्रत्यनीकगुणम्' इति पा०।
२. 'पद्माऽलक्तक' इति पा०।

दिनों तक आर्तवस्राव होने से वे दिन गर्भाधान के लिए वर्जित हैं। इसके लिए देखें—मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ४५ से ५० तक।

योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम्। चतुर्णां प्रदराणां च तत् सर्वं कारयेद्भिषक् ॥२२७॥

प्रदरों की सामान्य चिकित्सा—वातला आदि योनियों की जो चिकित्सा इसी अध्याय में पहले कही जा चुकी है, उन्हीं चिकित्सा-विधियों का प्रयोग चारों प्रदररोगों में चिकित्सक को करना चाहिए।

रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्। रक्तार्शसां च यत् प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥

अन्य चिकित्सा-सूत्र—रक्तातिसार के रोगियों, रक्तपित्त के रोगियों तथा रक्तार्श (खूनी बवासीर) के रोगियों के लिए जो जो चिकित्सा-विधियाँ कही गयी हैं, उनका भी प्रयोग रक्तप्रदर में करना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत का भी दृष्टिकोण देखें—'तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक्। रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत्'॥ सु० शा० अ० २।२०।

धात्रीस्तनस्तन्यसम्पदुक्ता विस्तरतः पुरा। स्तन्यसञ्जननं चैव स्तन्यस्य च विशोधनम् ॥२२९॥
वातादिदुष्टे लिङ्गं च क्षीणस्य च चिकित्सितम्। तत्सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्तिताः ॥
वातादिष्वेव तान् विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषक्तमः। त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम् ॥

स्तन्य-चिकित्सा-प्रकरण

स्तन्यरोग-प्रस्तावना—धात्री (धाय या उपमाता), स्तन तथा स्तन्य (स्तने भवं स्तन्यम्) के प्रशस्त लक्षणों का वर्णन पहले किया जा चुका है। किस प्रकार अधिक स्तन्य (दूध) की उत्पत्ति हो सकती है, किस प्रकार अशुद्ध हुए दूध को शुद्ध किया जाता है, वात आदि दोषों से दूषित हुए दूध के क्या लक्षण होते हैं, क्षीण दुग्ध के क्या लक्षण होते हैं और इनकी चिकित्सा क्या होती है, इन सबका वर्णन किया जा चुका है। आठ प्रकार के क्षीर (दूध) दोषों को भी कहा जा चुका है। शास्त्र ही हैं नेत्र जिसके ऐसे उत्तम चिकित्सक को चाहिए कि वह ऊपर कहे गये सभी दोषों को वात आदि दोषों के भीतर ही समझें। शिष्य मन्द, मध्य तथा तीक्ष्ण बुद्धि भेद से तीन प्रकार के होते हैं। अतः सभी को ध्यान में रखकर मैं उक्त विषय का विस्तार से वर्णन कर रहा हूँ।

वक्तव्य—धात्री को उपमाता कहा गया है। अतः इसके ऊपर बालक के प्रति उतना ही दायित्व होता है, जितना माता का। यदि यह अन्य गुणों के साथ शिक्षित भी होती है, तो यह बालक को भी सुशिक्षित बना देती है। देखें—'उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचः'। रघुवंश ३।२५। रघुवंश के यशस्वी राजा रघु को धात्री ने ही बोलना भी सिखलाया था। चरक-शारीरस्थान अ० ८ में धात्री-परीक्षा, स्तनसम्पत्, स्तन्यसम्पत् का विवरण गद्य ५२, ५३, ५४ की चरकचन्द्रिका टीका में देखें। चरक-सूत्रस्थान अ० १९।३ में आठ प्रकार के क्षीरदोषों का संकेत देखें। विशेष पुनः च० शा० अ० ८।५५ में देखें। इसी के आगे—क्षीर-विशोधन ५७ में और क्षीरजनन के उपाय ५८वें गद्य में देखें। चरक सू० अ० ४।१२ में स्तन्यजनन तथा स्तन्यशोधन कषायों का उल्लेख किया गया है। यहाँ तन्त्रकार ने त्रिविध बुद्धि वाले शिष्यों को ध्यान में रखते हुए मन्दबुद्धि वालों के उपकारार्थ विस्तार से वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है, क्योंकि विस्तृत वर्णन करने से सबका हित हो जायेगा।

आज विज्ञान का युग है, इसमें कोई किसी का
काल परिवर्तनशील होता है। इसका साक्षी इतिहास है। आज विज्ञान का युग है, इसमें कोई किसी का विश्वास नहीं करता है, केवल विज्ञान की कसौटी पर जो खरा उतरता है, वही सबका श्रद्धेय विषय हो रहा है, भले ही वह कल दूसरे परीक्षण के बाद गलत सिद्ध हो जाय। आज का विज्ञान आप्तवाक्यों का भी परीक्षण करना चाह रहा है। इसी सन्दर्भ में एक स्मरण दिलाने योग्य तथ्य है, कि कुछ दिन पूर्व स्त्री-स्वास्थ्यरक्षण के सुझावों में कहा गया था कि 'बालकों को स्तनपान कराने से स्त्रियों का स्वास्थ्य (यौवन) शीघ्र ढल जाता है'। इस समाचार का प्रसार ऐसा हुआ कि माताओं ने बच्चों को अपना स्तनपान कराना एक दम छोड़ दिया। आज युग ने पुनः मोड़ लिया है और वैज्ञानिक विद्वान् पोस्टकार्डों पर छाप-छाप कर समाज को सूचित कर रहे हैं—**'माँ जब तक पिला सके बच्चे को अपना ही दूध पिलाए'**। कितना हास्यास्पद विषय है। और भी ध्यान दें—माता का दूध जब दूषित हो जाता है, उसकी चिकित्सा तो शास्त्र में लिखी है; आप अपने बच्चों को जिस गाय, भैंस, बकरी का दूध पिला रहे हैं, उसका आपको पता तक नहीं है कि वह स्वस्थ है या अस्वस्थ। किन्तु

फैशन में आकर आप अपने तथा अपने बच्चे के साथ अन्याय करने पर तुले हैं, भले ही आपका या समाज का जो भी अनहित हो।

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात्। लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात् ॥२३२॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात्। प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥२३३॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि [1]मन्दकम्। अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥२३४॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात्। [2]अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातङ्ककर्शनैः ॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च। कुर्युरष्टविधं भूयो दोषतस्तन्निबोध मे ॥२३६॥

स्तन्यरोग के कारण तथा सम्प्राप्ति—अजीर्ण (शीघ्र न पचने वाले), असात्म्य (प्रकृति के विपरीत), विषम, विरुद्ध (संयोगविरुद्ध, अधिक भोजन कर लेने से, लवण, अम्ल, कटु, क्षार, प्रक्लिन्न (सड़े हुए) पदार्थों का अधिक सेवन करने से, मन एवं शरीर के दुःखी हो जाने से, रात्रि में भली-भाँति नींद न आने से, अधिक चिन्ता करने से, अधारणीय मल, मूत्र आदि के वेगों को रोकने से और न आये हुए वेगों को बलपूर्वक उभाड़ने से, परमान्न (खीर), गुड़ डालकर बनाये गये भक्ष्य पदार्थों को खाने से, खिचड़ी, दही, अधजमा दही को खाने से, कफकारक पदार्थों का सेवन करने से, ग्राम्य, आनूप, औदक मांसों को खाकर दिन में सोने से, अधिक मद्यपान करने से, परिश्रम न करने से, चोट लगने से, क्रोध करने से, आतंक (चिरकालिक रोग) से, कृशता आ जाने से कुपित हुए वात आदि दोष दूध का वहन करने वाली सिराओं में जाकर उन्हें दूषित करके आठ प्रकार के दुग्ध विकारों को पैदा कर देते हैं। उन विकारों का परिचय दोषानुसार आगे दिया जा रहा है, उन्हें समझें।

वैरस्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके। पित्ताद् वैवर्ण्यदौर्गन्ध्ये, स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥२३७॥
कफाद् भवति—

वातज, पित्तज, कफज स्तन्यदोष—वात आदि दोषों से दूषित स्तन्य (दूध) के लक्षण—विरसता, झाग का समूह, रूक्षता—ये तीन लक्षण वातविकारज दूध के होते हैं। विवर्णता (स्वाभाविक वर्ण का न होना), दुर्गन्ध युक्त होना—ये दो लक्षण पित्तविकारज दूध के होते हैं। दूध में अधिक स्निग्धता, चिपचिपापन तथा भारीपन—ये तीन लक्षण कफविकारज दूध के होते हैं। इसके आगे उपर्युक्त आठों प्रकार के दूषित स्तन्यों का परिचय दिया जा रहा है।

—रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः। क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं [3]स्तन्यस्य दूषयेत् ॥२३८॥

१. विरसस्तन्य की सम्प्राप्ति—वात को प्रकुपित करने वाले रूक्ष आदि आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित वातदोष जब स्तन्यवाही सिराओं में पहुँचकर दूध के रस को दोष युक्त अर्थात् विरस कर देता है।

वक्तव्य—स्त्रियों में पुरुषों के अतिरिक्त तीन आशय अधिक होते हैं—'पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः। धरा गर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ'॥ शा० सं० पू० खं० अ० ५।१४। यथा—एक गर्भाशय और दो स्तन। यहाँ चरक ने इन्हें 'क्षीराशय' के नाम से कहा है। यहाँ 'क्षीराशय' शब्द से दोनों स्तनों का ग्रहण किया गया है, जिनमें क्षीर (दूध) रहता है। किन्तु सुश्रुत ने आशयों की गणना में शुक्राशय की भाँति क्षीराशय की भी गणना नहीं की है, क्योंकि पुत्र के स्पर्श से, उसको देखने से उत्पन्न हर्ष से माता के स्तनों में दूध एकत्रित होकर निकलने लगता है, ठीक यही स्थिति शुक्र की भी है, जो प्रियतमा के दर्शन से सम्पूर्ण शरीर से पसीज कर निकल पाता है। किन्तु स्तन्य और शुक्र सम्पूर्ण शरीर से आकर कुछ देर के लिए जहाँ-जहाँ ठहरते हैं, उन-उन अवयवों को उस-उसका आशय मान लिया गया है, जो उचित ही है। इन भावों की पुष्टि के लिए आप देखें—सु० शा० अ० ४।२० से २३ तक, सु० शा० अ० ९।१२। सु० नि० अ० १०।१८-२२, च० चि० अ० २ पाद ४।४६-४९ तथा शा० सं० पू० खं० अ० ५।३०।

१. 'मत्स्यकम्' इति पा०।
२. 'अभिचारादनायासाद् व्याधिभिः कर्शनेन च' इति पा०।
३. 'स्तन्यं प्रदूषयेत्' इति पा०।

विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत् पिबन्। [1]न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥२३९॥

विरसस्तन्य का दुष्प्रभाव—वातदोष के संसर्ग से दूषित अतएव विरसरस वाले दूध को पीने से बालक दुबला हो जाता है, उस दूध को वह पीना पसन्द भी नहीं करता है, क्योंकि नीरस दूध रुचिकर नहीं होता। ऐसे दूध को पीने से उसकी शारीरिक वृद्धि रुक जाती है।

तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन्। करोति फेनसङ्घातं [2]तत्तु कृच्छ्रात् प्रवर्तते ॥२४०॥

२. फेनसंघातस्तन्य की सम्प्राप्ति—वात को प्रकुपित करने वाले रूक्ष आदि आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित वातदोष स्तन्यवाही सिराओं में पहुँचकर दूध का स्तन के भीतर विलोडन (मन्थन) करता हुआ दूध में झाग समूह को पैदा कर देता है। इसके कारण वह बड़ी कठिनता के साथ स्तन-छिद्रों द्वारा निकल पाता है।

तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः। वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति ॥२४१॥

फेनसंघातस्तन्य का दुष्प्रभाव—वातदोष के संसर्ग से दूषित होने के कारण झाग समूह से युक्त माता के दूध को जो बालक पीता है, उसका स्वर क्षीण हो जाता है, उसके मल, मूत्र तथा अपानवायु रुक जाते हैं, उसके शिर में शूल तथा उसे पीनसरोग हो जाता है।

पूर्ववत् कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः। रूक्षं तत् पिबतो रौक्ष्याद् बलह्रासः प्रजायते ॥

३. रूक्षता की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव—वात को प्रकुपित करने वाले रूक्ष आदि आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित हुआ वातदोष जब स्तन्यवाही सिराओं में पहुँचकर दूध के स्नेहांश को सुखा देता है, तब उस रूक्ष दूध को पीते हुए उस बालक की बलहानि हो जाती है, अर्थात् वह दिनों-दिन दुर्बल होता जाता है।

पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याशयमभिप्लुतम्। करोति स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम् ॥२४३॥

४. विवर्णता की सम्प्राप्ति—पित्त को प्रकुपित करने वाले उष्ण आदि आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित हुआ पित्तदोष स्तन्यवाही सिराओं में पहुँचकर दूध में नीला, पीला, काला आदि वर्ण पैदा कर देता है।

विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात् तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः। नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तं स्तनम् ॥

विवर्णस्तन्य का दुष्प्रभाव—पित्त की विकृति से विवर्ण (स्वाभाविक दूध के वर्ण से भिन्न) हुए उस दूध को बालक पीना पसन्द नहीं करता है। यदि किसी प्रकार पी लेता है, तो उसका शरीर भी विवर्ण (मलिन) हो जाता है, उसके शरीर से पसीना निकलने लगता है, उसे बार-बार प्यास लगती है, उसका मल पतला पड़ जाता है, अर्थात् दस्त होने लगते हैं और उसका शरीर सदा गरम बना रहता है।

पूर्ववत् कुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति। पाण्ड्वामयस्तत् पिबतः कामला च भवेच्छिशोः ॥

५. दुर्गन्धस्तन्य की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव—पित्त को प्रकुपित्त करने वाले उष्ण आदि आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित हुआ पित्तदोष स्तन्यवाही सिराओं में पहुँचकर दूध में दुर्गन्ध को उत्पन्न कर देता है। उस दुर्गन्धित दूध को यदि बच्चा पीता है, तो उसे पाण्डुरोग तथा कामलारोग हो जाता है।

क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः। स्नेहान्वितत्वात् तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति तु ॥

६. स्निग्धस्तन्य की सम्प्राप्ति—कफ को प्रकुपित करने वाले गुरु आदि आहार-विहारों का सेवन करने से प्रकुपित हुआ कफदोष स्तन्यवाही सिराओं द्वारा क्षीराक्षय में पहुँचकर वह कफ स्वयं स्नेह गुण युक्त होने के कारण दूध में मिलकर माता के उस दूध को अतिस्निग्ध कर देता है।

१. 'न चास्मै' इति पा०।
२. 'ततः' इति पा०।

छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः । नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्रा[1]क्लमसमन्वितः ॥२४७॥
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः ।

स्निग्धस्तन्य का दुष्प्रभाव—कफविकार-जनित इस प्रकार के अतिस्निग्ध दूध को जो बालक पीता है, उसे वमन होने लगते हैं, यदि वमन होकर बाहर न निकला तो वह दूध अँतड़ियों में जाकर गाँठों के रूप में बँध जाता है, जिन्हें मल के रूप में निकालने लिए बालक को काँखना पड़ता है। उस बच्चे के मुख से लार चूने लगती है। उसके नाक, मुख आदि स्रोत कफ से भर जाते हैं, अतः उसे हर समय नींद तथा सुस्ती बनी रहती है। श्वास, खाँसी, बार-बार कफ का निकलना और तमकश्वास से युक्त होना ये लक्षण देखे जाते हैं।

अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा ॥ २४८ ॥
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात् तत् पिबञ्छिशुः ।

७. पिच्छिलस्तन्य की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव—जब अपने प्रकोप कारणों से कुपित हुआ कफदोष दूध को अभिभूत (दूषित) करके उसे पिच्छिल (चिपचिपा) बना देता है, तब उस दूषित दूध को पीने वाले बालक के मुख से निरन्तर लार चूती रहती है, उसके मुख तथा आँखों में सूजन हो जाती है और वह जड़ की भाँति एक ही स्थान पर पड़ा रहता है, अर्थात् बालकों की स्वाभाविक चंचलता उसमें नहीं दिखलायी देती है।

कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात् क्षीरगौरवम् ॥ २४९ ॥
[2]करोति गुरु तत् पीत्वा बालो हृद्रोगमृच्छति । अन्यांश्च विविधान् रोगान्कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान् ॥

८. गुरुस्तन्य की सम्प्राप्ति, उसका दुष्प्रभाव—स्तन्यवाही सिराओं में गया हुआ कफदोष अपने गुरु गुण के कारण माता के दूध में भी भारीपन पैदा कर देता है। उस कफ से दूषित हुए दूध को पीकर बालक हृदयरोग से युक्त हो जाता है। इस प्रकार के दूध में होने वाले अन्य विविध प्रकार के कफज रोगों को यह दूध पैदा कर देता है।

क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे सम्भवन्ति तदात्मकाः ।

स्तन्यसम्बन्धी विशेष निर्देश—जब माता का दूध वात आदि दोषों से दूषित हो जाता है, तो उस दूषित दूध को पीने वाले बालक में ऊपर गिनाये गये रोगों के अतिरिक्त भी वात, पित्त, कफ दोषों से सम्बन्धित रोग हो सकते हैं।

वक्तव्य—बालकों के मूलरूप से तीन भेद होते हैं—१. क्षीराद (जो बालक केवल माता के दूध पर निर्भर करते हैं), २. क्षीरान्नाद (जो बालक माता के दूध तथा अन्न दोनों पर आश्रित रहते हैं) और ३. अन्नाद। यहाँ हम क्षीराद बालकों के दुष्टस्तन्यपान-जनित विकारों पर विचार कर रहे हैं। अतएव ऊपर कही गयी स्तन्य सम्बन्धी आठ विकृतियों के अतिरिक्त वात आदि दोषों के कारण स्वतन्त्र रोगों की भी उत्पत्ति बालकों में देखी जाती है। इस प्रकार की सूचना तन्त्रकार ने दी है। शेष देखें—च० शा० अ० ८।५४ से ५७ तक।

तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम् ॥ २५१ ॥
संस्वेद्य विधिवद् वैद्यो वमनेनोपपादयेत् ।

स्तन्यदोष-चिकित्सा—चिकित्सक को चाहिए कि वह स्तन्य (दूध) की शुद्धि के लिए सबसे पहले धात्री (बालक की माँ अथवा धाय जिसका दूध पिलाना हो) का स्नेहन तथा स्वेदन कराकर तदनन्तर उसे वमन कराना चाहिए।

वचाप्रियङ्गुयष्ट्याह्वफलवत्सकसर्षपैः ॥ २५२ ॥
कल्कैर्निम्बपटोलानां क्वाथैः सलवणैर्वमेत् ।

१. 'निद्रालस्यसमन्वितः' इति पा०।
२. 'अतिस्नेहान्वितं' इति पा०।

वमन-प्रयोग—वचा, फूलप्रियंगु, मुलेठी, मैनफल, इन्द्रजौ, पीली सरसों—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर इनका आवश्यकतानुसार कल्क तैयार करें। इस कल्क को नीम की छाल और परवल की पत्तियों के क्वाथ के साथ सैंधानमक मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए, इससे वमन हो जाता है।

सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां ततः ॥ २५३ ॥
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत् ।

विरेचन-प्रयोग—उचित रूप में वमन हो जाने तथा नियमानुसार संसर्जन कराने के बाद उस धाय को स्नेहन कराकर दोष, काल तथा अग्निबल की परीक्षा करके चिकित्सक उस धात्री को विरेचन द्रव्य पीने के लिए दे।

वक्तव्य—वमन-विरेचन ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनसे शरीर का शोधन हो जाता है। इसके लिए आज्ञाकारी रोगी तथा जानकार चिकित्सक की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है, तदनन्तर औषधद्रव्यों और कुशल परिचारक की। इनकी जानकारी अध्ययन काल में आचार्यों की देखरेख में भली-भाँति कर लेनी चाहिए। इसकी विशेष जानकारी के लिए च० सू० अ० १५ तथा सु० चि० अ० ३३ का अध्ययन करें। संक्षेप में शा० सं० उ० खं० अ० ३ तथा ४ को भी देख लें। वमन, विरेचन का प्रयोग सामान्य स्थिति में भी कराया जाता है और रोगमुक्ति की दृष्टि से भी, दोनों के स्वतन्त्र विधान हैं। वमन कराने के बाद संसर्जनक्रम की आवश्यकता होती है, इसमें पेया, विलेपी, अकृत (सादा) यूष, कृत (मसाले डालकर तैयार करके छौंक लगाया हुआ) यूष का रोगी को भोजन के अवसर पर सेवन कराया जाता है।

त्रिवृतामभयां वाऽपि त्रिफलारससंयुताम् ॥ २५४ ॥
पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां वाऽपि केवलाम् । (पाययेन्मूत्रसंयुक्तां विरेकार्थं च शास्त्रवित्[1]) ॥

त्रिफलादि प्रयोग—धात्री को विरेचन कराने के लिए त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) के रस (क्वाथ रस) में त्रिवृत (निशोथ) के चूर्ण को तथा हरड़ के चूर्ण को मधु में मिलाकर पीने के लिए दें। अथवा केवल हरड़ के चूर्ण को मधु में मिलाकर चाटने के लिए दें। अथवा आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञाता चिकित्सक हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र में मिलाकर पीने के लिए दे, इससे विरेचन होता है।

सम्यग्विरिक्तां मतिमान् कृतसंसर्जनां पुनः । ततो [2]दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥२५६॥

अन्नपान-निर्देश—भली-भाँति विरेचन हो जाने के बाद मतिमान् चिकित्सक धात्री को पुनः संसर्जनक्रम (जिसका उल्लेख श्लोक २५३ के वक्तव्य में किया है) कराये। इसके बाद भी जो बचे हुए दोष हों, उन्हें दूर करने के लिए उन-उन दोषों को नाश करने वाले अन्न-पानों का सेवन कराकर उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाका भोजने हिताः । प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा ॥

पथ्य अन्न—शालिधान के चावल, साठी के चावल, साँवा के चावल, प्रियंगु (कंगुनी), कोरदूष (कोदों), बाँस के जौ ये धात्री को भोजन के लिए देने चाहिए। ये द्रव्य भोजन में हितकर होते हैं।

वंशवेत्रकलायाश्च [3]शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः । मुद्गान् मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत् ॥२५८॥

पथ्य शाक—शाक के लिए घी में तले हुए बाँस के कोमल अंकुर, बेत के कोमल अंकुर तथा मटर की पत्तियों का शाक धात्री को खिलाना चाहिए।

यूष के लिए दालें—मूंग, मसूर तथा कुलथी की दालों का प्रयोग धात्री के लिए हितकर होता है।

निम्बवेत्राग्रकुलकवार्ताकामलकैः शृतान् । सव्योषसैन्धवान् यूषान् दापयेत् स्तन्यशोधनान् ॥

१. अयमर्धश्लोकः केषुचित् पुस्तके न पठ्यते।
२. 'दोषविशेषघ्न' इति पा०।
३. 'सस्नेहा यूपसंस्कृताः' इति पा०।

स्तन्यशोधक यूष—नीम के नये अंकुर, बेत का नये अंकुर, परवल की पत्तियाँ, वार्ताक (बैंगन), आँवला इनके क्वाथ जल से पकाये हुए सोंठ, मरिच, पीपल तथा सैंधानमक से युक्त यूषों को धात्री को पिलायें। इनका सेवन करने से धात्री के दूध की शुद्धि हो जाती है।

शशान् कपिञ्जलानेणान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ।

मांस-प्रयोग—शश (खरगोश), कपिञ्जल (पपीहा, गौरा, भरइल, तीतर) तथा एण (काले मृग) के मांस को भली-भाँति पकाकर घृत से छौंककर धात्री को खिलाना चाहिए।

शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्वगश्वगन्धाशृतं जलम् ॥ २६० ॥
पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम् ।

शार्ङ्गेष्टादि जल—शार्ङ्गेष्टा (इस नाम के दो द्रव्य उपलब्ध होते हैं—१. शार्ङ्गेष्टा—काकजंघा, काकमाची, गुञ्जा, २. शार्ङ्गेष्टा—महाकरञ्ज, लताकरञ्ज। देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु), सप्तपर्ण (छतिवन), इनकी छाल तथा अश्वगन्धा इनसे षडंगपरिभाषा-विधि के अनुसार उक्त जल को पकाकर धात्री को पिलाना चाहिए, अथवा कटुरोहिणी (कुटकी) का क्वाथ तैयार करके धात्री को पिलाये। इन योगों से उसके दूध की शुद्धि होती है।

अमृतासप्तपर्णत्वक्क्वाथं चैव सनागरम् ॥ २६१ ॥
किराततिक्तकक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत् । त्रीनेतान् स्तन्यशुद्ध्यर्थमिति सामान्यभेषजम् ॥
कीर्तितं स्तन्यदोषाणां—

स्तन्यशोधक योग—१. गुरुच तथा छतिवन की छाल का क्वाथ, २. सोंठ का क्वाथ, ३. किराततिक्त (चिरायता) का क्वाथ—श्लोक के एक-एक पाद द्वारा कहे गये इन तीन क्वाथों में से किसी क्वाथ को भी पीने से स्तन्य (दूध) की शुद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ तक स्तन्यशुद्धि की सामान्य चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है।

—पृथगन्यं निबोधत । पाययेद् विरसक्षीरां द्राक्षामधुकसारिवाः ॥२६३॥
श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च समालोड्य सुखाम्बुना ।

१. **विरसस्तन्य-चिकित्सा**—अब यहाँ से अन्य स्तनरोगों की चिकित्सा सुनो—जिस धाय का दूध विरस हो गया हो, उसे मुनक्का, मुलेठी, सारिवा (अनन्तमूल), पयस्या (क्षीरविदारी) इन सबको बारीक पीसकर गुनगुने पानी में घोलकर धाय को पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपनी टिप्पणी में यह संकेत किया है—"अस्मादनन्तरं 'स्तन्यसंशोधनार्थं तु धात्रीं तु पाययेद् भिषक्'। इत्यर्धश्लोकः, गङ्गाधरेण पठितः"। वास्तव में प्रासङ्गिक अर्थों के लिए इस प्रकार की पादपूर्तियों की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु आचार्य गंगाधर ने इस प्रकार के प्रयास अनेक स्थलों पर किये हैं।

पञ्चकोलकुलत्थैश्च पिष्टैरालेपयेत् स्तनौ ॥ २६४ ॥
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात् तथा स्तन्यं विशुध्यति ।

पञ्चकोलादि लेप—पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) तथा कुलथी इन्हें समभाग में लेकर आवश्यकतानुसार लेप बनाकर इसका धात्री के स्तनों के ऊपर लेप करना चाहिए, जब लेप सूख जाय तो गरम जल से स्तनों को धोकर धाय अपने हाथ थोड़ा दूध से निकाल दे। इस विधि से दूध शुद्ध हो जाता है।

फेनसङ्घातवत्क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम् ॥ २६५ ॥
[1]पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना ।

२. **फेनसंघात-चिकित्सा**—जिस स्त्री के दूध में झाग का समूह हो गया हो, उसे पाठा, सोंठ, काकजंघा तथा मूर्वा चूर्ण को गरम पानी में घोलकर छानकर पीने के लिए दें।

१. 'धान्यनागर' इति पा०।

अञ्जनं [1]नागरं दारु बिल्वमूलं प्रियङ्गवः ॥ २६६ ॥
स्तनयोः पूर्ववत् कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम् ।

अञ्जनादि लेप—अञ्जन, सोंठ (या तगर), देवदारु, बेल की जड़, फूलप्रियंगु इन्हें बारीक पीसकर धात्री के स्तनों पर लेप लगाना चाहिए। लेप के सूख जाने पर गरम जल से स्तनों को धोकर थोड़ा-सा दूध निकाल कर गिरा देना चाहिए। इस प्रकार फेनसंघातज विकार दूर हो जाता है।

वक्तव्य—सुघड़ स्त्रियाँ प्रायः सभी अवस्था में बालक को स्तनपान कराने के पहले अपने हाथ से दो-चार बूँदें दूध की निकालकर गिरा देती हैं, तब बालक को पिलाती हैं। जिन स्त्रियों में स्तन्यसंपत् पर्याप्त होती है उनके स्तनों से बालक को देखते ही दूध झरने लगता है। आजकल की स्त्रियाँ हाथ से दबाकर दूध न निकालकर उसके लिए ब्रेस्टपम्प (Breast pump) का प्रयोग करती हैं।

किराततिक्तकं शुण्ठीं सामृतां क्वाथयेद् भिषक् ॥ २६७ ॥
तं क्वाथं पाययेद् धात्रीं स्तन्यदोषनिबर्हणम् ।

किराततिक्तकादि क्वाथ—चिकित्सक को चाहिए कि वह गुरुच, चिरायता तथा सोंठ इनका विधिवत् क्वाथ तैयार करा करके धात्री को पिलायें। यह क्वाथ स्तन्य (दूध) की विकृति को दूर करता है।

स्तनौ चालेपयेत् पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः ॥ २६८ ॥

यवयोधूमादि लेप—जौ, गेहूँ, पीली सरसों को पीसकर स्तनों के ऊपर लेप लगायें। सूख जाने पर गरम पानी से स्तनों को धोकर उनमें से थोड़ा दूध निकालकर बालक को स्तनपान करायें।

षड्विरेकाश्रितीयोक्तैरौषधैः स्तन्यशोधनैः । [2]रूक्षक्षीरा पिबेत् क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत् ॥

३. **रूक्षस्तन्य-चिकित्सा**—१. जिस धाय अथवा माता का दूध प्रकुपित वातविकार के कारण रूक्ष (स्वाभाविक स्नेहरहित) हो गया हो, उसे षड्विरेकाश्रितीय अर्थात् 'षड्विरेचनशतीय' (च० सू० अ० ४।१२) में कहे गये पाठा आदि स्तन्यशोधन औषधद्रव्यों के कल्क से तैयार किया गया गाय का दूध पिलाना चाहिए। २. अथवा उक्त पाठा आदि द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से तैयार किये गये घी का पान कराना चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय सभी संस्करणों में उक्त अध्याय का नाम 'षड्विरेचनशताश्रितीय' है। अन्य संस्करणों में 'षड्विरेचनशतीय' पाठभेद भी मिलता है, किन्तु द्रव्य सभी में समान हैं।

पूर्ववज्जीवकाद्यं च पञ्चमूलं प्रलेपनम् । स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम् ॥२७०॥

स्तन्यशोधन-लेप—जिस धाय अथवा माता का दूध प्रकुपित वातविकार के कारण रूक्ष हो गया हो उसके स्तनों के ऊपर जीवकाद्य (च० सू० अ० ४।९ में कहे गये जीवनीय) गण के द्रव्यों के गुनगुने लेप को लगायें। अथवा बृहत् पञ्चमूल के पाँचों द्रव्यों को पीसकर उनका लेप लगाना चाहिए। लेप के सूख जाने पर गुनगुने जल से स्तनों को धोकर उनमें से दूध निकालकर तब बालक को पिलायें।

यष्टीमधुकमृद्वीकापयस्यासिन्धुवारिकाः । शीताम्बुना पिबेत् कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम् ॥२७१॥

४. **विवर्णस्तन्य-चिकित्सा**—मुलेठी, मुनक्का, क्षीरविदारी, सिन्धुवारिका (मेउड़ी, सिंवाली) इन द्रव्यों के कल्क को पित्तविकार-जनित दूध की विवर्णता दूर करने के लिए माता या धात्री को पिलाना चाहिए।

द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् । प्रक्षाल्य वारिणा चैव [3]निर्दुह्यात् तौ पुनः पुनः ॥

द्राक्षादि लेप—मुनक्का तथा मुलेठी के कल्क का लेप माता अथवा धात्री के स्तनों के ऊपर लगाना चाहिए। जब लेप सूख जाय तो उसे गरम पानी से धोकर निकाल दें। उसके बाद उसके स्तनों में से बार-बार दूध निकालना चाहिए।

१. 'तगरम्' इति पा०।
२. 'गुरुक्षीरा' इति पा०।
३. 'निर्दोषयेत्' इति पा०।

विषाणिकाजश्रृङ्ग्यौ च त्रिफलां रजनीं वचाम् ।
पिबेच्छीताम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्यनाशिनीम् ॥ २७३ ॥

५. **दुर्गन्धितस्तन्य-चिकित्सा**—काकड़ासिंगी, मेषश्रृंगी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, वालवच—इन द्रव्यों को मात्रानुसार लेकर इनका कल्क तैयार करें। इस कल्क को शीतल जल के साथ माता या धाय को पिलायें। इसके सेवन से दूध की दुर्गन्धता का विनाश हो जाता है।

लिह्याद् वाऽप्यभयाचूर्णं सव्योषं माक्षिकप्लुतम् । क्षीरदौर्गन्ध्यनाशार्थं धात्री पथ्याशिनी तथा ॥

अभयादि लेह—पथ्य आहार-विहार का सेवन करने वाली धाय या माता हरड़, सोंठ, मरिच तथा पीपल के कपड़छन चूर्ण को मधु मिलाकर चाटे। इससे दूध में उत्पन्न हुई दुर्गन्धता का विनाश हो जाता है।

सारिवोशीरमञ्जिष्ठाश्लेष्मातककुचन्दनैः । [1]पत्राम्बुचन्दनोशीरैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥

सारिवादि लेप—अनन्तमूल, खश, मजीठ, लिसोड़ा की छाल तथा लालचन्दन—इनका लेप तैयार करके माता या धाय के स्तनों पर लगाने से दूध में उत्पन्न दुर्गन्धि समाप्त हो जाती है।

पत्रादि-लेप—तेजपत्ता, सुगन्धवाला, लालचन्दन, खश—इन द्रव्यों को आवश्यकतानुसार पीसकर लेप तैयार करे। इसका लेप करने से दूध में उत्पन्न दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है। लेप के सूख जाने पर गरम जल से स्तनों को धुलवाकर स्तनों में से कुछ दूध निकालने के बाद तब बालक को स्तनपान कराना चाहिए।

[2]स्निग्धक्षीरा दारुमुस्तपाठाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना । पीत्वा ससैन्धवाः क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ॥

६. **स्निग्धस्तन्य-चिकित्सा**—जिस माता या धाय का दूध प्रकुपित कफदोष के कारण स्वाभाविक रूप से अधिक स्निग्ध हो गया हो, वह सैंधानमक के साथ देवदारु, नागरमोथा, पाठा इन द्रव्यों को पीसकर कल्क तैयार करें। इस कल्क को गुनगुने जल के साथ पीने से वह शीघ्र ही दूध की शुद्धि को प्राप्त कर लेती है अर्थात् उसका दूध निर्दोष हो जाता है।

पाययेत् पिच्छिलक्षीरां शार्ङ्गेष्टामभयां वचाम् । मुस्तनागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः ॥

७. **पिच्छिलस्तन्य-चिकित्सा**—शार्ङ्गेष्टादि योग—काकजंघा, हरड़, बालवच, इनके कल्क को जिस स्त्री का दूध प्रकुपित कफदोष के कारण पिच्छिलता युक्त (चिपचिपा) हो गया हो, उसे गुनगुने जल के साथ पीना चाहिए। मुस्तादि योग—नागरमोथा, सोंठ, पाठा इनके कल्क को भी वही स्त्री गुनगुने जल के साथ सेवन करे।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने उक्त श्लोक में शार्ङ्गेष्टादि योग के साथ इन द्रव्यों को कोष्ठक में अलग से दिया है—अङ्गारवल्ली, अम्बष्ठा, महाकरञ्ज।

तक्रारिष्टं पिबेच्चापि यदुक्तं गुदजापहम् । विदारीबिल्वमधुकैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥२७८॥

तक्रारिष्ट-प्रयोग—जो गुदज (अर्श) रोग का नाशक तक्रारिष्ट (च० चि० अ० १४।७२-७५ में) कहा गया है, उसका प्रयोग भी पिच्छिल दुग्धदोष को दूर करने के लिए माता अथवा धाय को करना चाहिए।

विदार्यादि लेप—विदारीकन्द, बेल की जड़ का छिलका तथा मुलेठी इनको बारीक पीसकर लेप तैयार करें। स्तनों पर इसका लेप करने से दूध की पिच्छिलता दूर हो जाती है।

त्रायमाणामृतानिम्बपटोलत्रिफलाश्रृतम् । गुरुक्षीरा पिबेदाशु स्तन्यदोषविशुद्धये ॥२७९॥

८. **गुरुस्तन्य-चिकित्सा**—जिस स्त्री का स्तन्य (दूध) प्रकुपित कफदोष के कारण (देर में पचने वाला) हो गया हो, उसे त्रायमाणा, गुरुच, नीम की छाल, परवल की पत्तियाँ, हरड़, बहेड़ा, आँवला—इन द्रव्यों को समभाग लेकर क्वाथ तैयार करें। इस क्वाथ को छानकर स्तन्यदोष की शीघ्र शुद्धि के लिए उस स्त्री को पिलाना चाहिए।

---

१. 'यवाम्बु' इति पा०। २. 'गुरुक्षीरा' इति पा०।

पिबेद् वा पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् । बलानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत् स्तनौ ॥२८०॥
पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ।

स्तन्यशोधक क्वाथ—अथवा—पिप्पलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ इनका क्वाथ बनाकर गुरुस्तन्यदोष युक्त स्त्री को पिलाना चाहिए।

स्तनलेप के दो योग—१. बरियारा, सोंठ, काकजंघा, मूर्वा इन द्रव्यों को पीसकर धात्री या माता के स्तनों पर लेप करना चाहिए। २. पृश्निपर्णी, क्षीरविदारी इन द्रव्यों को पीसकर इनका लेप करायें।

अष्टावेते क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः ॥ २८१ ॥
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तथोक्ताः केचिदामयाः ।

आठ स्तन्यदोषों का उपसंहार—यहाँ तक कहे गये ये आठ प्रकार के क्षीर (दूध) सम्बन्धी दोष (विकृतियाँ) कारण, लक्षण चिकित्सा के साथ कह दिये गये हैं और क्षीरदोषों से उत्पन्न होने वाले कुछ रोगों का भी वर्णन इस प्रकरण में कर दिया गया है।

वक्तव्य—यद्यपि स्तन्यदोष तथा उसके संशोधन के सम्बन्ध में यहाँ प्रर्याप्त कहा गया है, तथापि यहाँ सुश्रुत शा० अ० १० गद्य २५ से ३१ तक का भी परिशीलन कर लेना चाहिए।

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये ॥ २८२ ॥
त एव [1]सर्वे बालानां मात्रा त्वल्पतरा मता ।

बालरोग-प्रकरण

(Chapter of Children Disease)

बालरोग-चिकित्सा—अवस्था में बड़े स्त्री-पुरुषों के शरीरों में जो दोष (वात, पित्त, कफ), दूष्य (रस, रक्तादि), मल तथा रोग होते है, वे ही दोष, दूष्य, मल, रोग बालकों के शरीरों में अल्प मात्रा में होते हैं। यहाँ निम्न पाठभेद पर भी ध्यान देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

वक्तव्य—जब बालकों के शरीरों में वे ही दोष, दूष्य, रोग यदि अल्प मात्रा में होते हैं, तो उनकी चिकित्सा का भी उसी रूप में प्रयोग करना चाहिए, केवल मात्रा आदि में स्वल्पता की जायेगी। इस विषय को तन्त्रकार आगे स्वयं स्पष्ट करेंगे।

निर्वृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम् ॥ २८३ ॥
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित् । भेषजं स्वल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयत् ॥

बालरोग-चिकित्सासूत्र—बालरोग-चिकित्सा-विशेषज्ञ बालकों में होने वाली सुकुमारता, पराधीनता, बोलने में असमर्थता तथा अपने मनोगत भावों को चेष्टाओं (इशारों) द्वारा प्रकट करने में असमर्थ जानकर उन्हें वमन, विरेचन आदि संशोधन न कराये और उनके प्रति रोगानुसार जिन औषधयोगों या द्रव्यों का प्रयोग करना हो, उन्हें अल्पमात्रा में करें।

वक्तव्य—बाल-चिकित्सा में ध्यान देने योग्य विषय—क्षीरपायी या क्षीराद बालकों को जो-जो रोग होते हैं, वे माता या धात्री जो उसके लालन-पालन में नियुक्त हो, उसी के अपचार या अकुशलता के कारण ही होते हैं। देखें—'धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा। दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥ मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः। दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ॥ सु० शा० अ० १०।३२-३३। अतः बालक की चिकित्सा करने के पहले माता या धाय के आहार-विहारों की भली-भाँति परीक्षा कर लें।

प्रारम्भिक स्थिति में बालक किसी प्रकार भी अपने कष्ट को प्रकट करने में असमर्थ होता है। अतः उस पर सुश्रुत के विचार उपादेय हैं—'अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते। मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति। निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत्। बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥ विण्मूत्र-

---

१. 'ज्ञेया बालानां विना बालग्रहान् बुधैः' इति पा०।

सङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः । कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः' ॥ सु० शा० अ० १०।३४-३६ । इस प्रसंग में च० शा० अ० ८।५६ से ६५ तक का मनन करें ।

प्रारम्भ में बालक पराधीन वृत्ति का होता है । अपना सुख-दुःख भी वह ठीक प्रकार प्रकट नहीं कर पाता है, अतः उत्तम प्रकार तो यह है, कि उसे माता या धाय का दूध पिलाना चाहिए । यदि उसे सुखपूर्वक रखने पर भी कोई रोग हो जाय तो उसका निराकरण करने के लिए माता या धाय की सावधानीपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए । जैसे-जैसे बालक स्वतन्त्र वृत्ति का होने लगता है, वैसे-वैसे उसकी चिकित्सा भी सुविधापूर्वक की जा सकती है ।

वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यम्—श्रीचक्रपाणि ने यहाँ पर 'वाक्चेष्टयोश्च सामर्थ्यम्' इस प्रकार पाठ बदलकर उसकी लम्बी व्याख्या कर डाली है, जो उनका स्वतन्त्र विचार ही कहा जा सकता है । आप भी ध्यान दें—बालक की प्रारम्भिक स्थिति परतन्त्रवृत्ति वाली ही होती है । उन्होंने व्याख्या करते समय भी 'स्वतन्त्रवृत्ति' बालकों की पहले गणना की है, जब कि पहले 'परतन्त्रवृत्ति' की गणना होनी चाहिए थी । यदि श्रीचक्रपाणि ने मलमूत्र त्यागना, सोना, जागना इस अर्थ में बालक को 'स्वतन्त्रवृत्ति' मान लिया हो तो यह चिकित्सा-क्षेत्र से बाहर का विषय है । यहाँ तो बोलने तथा हाथ, पैर, आँखों की चेष्टा में समर्थ और असमर्थ इन दो स्थितियों को देखकर तदनुकूल चिकित्सा की व्यवस्था करनी है । वृद्धवाग्भट ने इस विषय का वर्णन अ० सं० उ० अ० २।२७-२९ में किया है ।

मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च । प्रयोजयेद् भिषग्बाले मतिमानप्रमादतः ॥२८५॥

मधुर आदि द्रव्य-प्रयोग—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह सावधानी के साथ मधुर, कसैले, मृदु (सुकोमल) औषधद्रव्यों में दूध मिलाकर बालक को सेवन कराये ।

अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटुविपाकि च । गुरु चौषधपानान्नमेतद् बालेषु गर्हितम् ॥२८६॥

बालचिकित्सा में त्याज्य द्रव्य—अधिक स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण (स्पर्श तथा वीर्य में) तथा अम्ल (खट्टे) और जो विपाक में कटु द्रव्य हों, गुरु औषध एवं अन्न (आहार), पान (पेय) पदार्थ बालकों की चिकित्सा में निन्दित होते हैं ।

समासात् सर्वरोगाणामेतद् बालेषु भेषजम् । निर्दिष्टं शास्त्रविद्वैद्यः [1]प्रविविच्य प्रयोजयेत् ॥२८७॥

बालचिकित्सा का उपसंहार—बालकों में होने वाले सभी रोगों की चिकित्सा संक्षेप से यहाँ कह दी गयी है । चिकित्साशास्त्र को जानने वाले चिकित्सक को इनका भली-भाँति विवेचन करके यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए ।

भवन्ति चात्र—

इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम् । स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुत्तमम्[2] ॥२८८॥

इस सम्बन्ध में कुछ श्लोक कहे गये हैं—इस प्रकार यहाँ सभी रोगों की चिकित्सा कह दी गयी है । यह (चिकित्सा) स्थान इस (चरक) तन्त्र (संहिता) का उत्तम रहस्य है । पाठभेद के अनुसार—इस तन्त्र का यह स्थान श्रेष्ठ रहस्य रूप कहा जाता है ।

वक्तव्य—'भवन्ति चात्र' यह पाठ १९२२ ई० में प्रकाशित निर्णयसागरीय प्रति में नहीं है और न इसे श्रीजयदेव ने ही अपने संस्करण में उद्धृत किया है । केवल १९४१ ई० वाली निर्णयसागरीय प्रति में इसके दर्शन होते हैं । आप ध्यान दें—तन्त्रकार की यह शैली रही है, कि 'तत्र श्लोकः' या तत्र श्लोकाः' या 'भवति चात्र' या 'भवन्ति चात्र' जहाँ अध्यायान्त होता है, वहीं वे लिखते हैं । यहाँ श्रीचक्रपाणि भी 'भवति' या 'भवन्ति' अथवा 'श्लोकः' या 'श्लोकाः' के अनुसार एक या एकाधिक श्लोकों की एक साथ टीका लिखते हैं, किन्तु यहाँ 'भवन्ति चात्र' के नीचे एक श्लोक देकर उसकी टीका दे रहे हैं । इसके आगे वाले जो श्लोक हैं, उनकी शैली 'भवन्ति चात्र' के सर्वथा विपरीत है ।

१. 'प्रविभज्य' इति पा० ।
२. 'परमुच्यते' इति पा० ।

उक्त पद्य में **'इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम्'** ऐसा उद्धृत है । अतः तन्त्रकार के इस वचन से सभी प्रमुख रोगों की चिकित्सा का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसी प्रकार कतिपय रोगों के निदानों का वर्णन करके उन्होंने निदानस्थान के अन्त में कहा है—'इत्येतदखिलेनोक्तं निदानस्थानमुत्तमम्'। च० नि० अ० ८।२६ । जब कि सत्य यह है, अनेक रोगों के निदानांश इसमें यत्र-तत्र भी मिलते हैं । चिकित्सास्थान में भी एक विस्तृत निदान-संपत्ति मिलती है, सूत्रस्थान में भी निदान के अनेक अंश सुलभ होते हैं । ऐसे अवसर पर तन्त्रकार की इस सूक्ति पर भी ध्यान देना चाहिए—**'न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारम्'** । च० वि० अ० ८।१४ । 'चरकस्तु चिकित्सिते' इस सुप्रसिद्ध सूक्ति का यही रहस्य भी है, क्योंकि महर्षि आत्रेय ने स्वयं कहा है—स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुत्तमम्' ।

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च । नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत् । तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ॥

चरकसंहिता का संस्कार—चरक द्वारा संस्कृत इस अग्निवेश कृत तन्त्र में चिकित्सा के सत्रह अध्याय तथा कल्पस्थान और सिद्धिस्थान नहीं प्राप्त होते हैं । उन अनुपलब्ध तथा महत्त्वपूर्ण १७ अध्यायों एवं कल्पस्थान और सिद्धिस्थान की ठीक-ठीक पूर्ति करने के लिए कपिलबलि के पुत्र दृढबल ने सफल प्रयत्न किया ।

वक्तव्य—आज उपलब्ध होने वाली चरकसंहिता का आरम्भिक स्वरूप इस प्रकार रहा है—महर्षि आत्रेय उपदेष्टा, उनके शिष्य अग्निवेश तन्त्रकर्ता, उस पर महर्षि चरक ने भाष्य लिखा और इसका प्रतिसंस्कार दृढबल ने किया । जिस समय यह संहिता दृढबल के सामने आयी उस समय चरक-सूत्रस्थान अध्याय ३० में जिन आठ स्थानों की तथा उनके अध्यायों की जो गणना की गयी है, तदनुसार चिकित्सास्थान के १७ अध्याय, कल्पस्थान के १२ अध्याय और सिद्धिस्थान के १२ अध्याय—इस प्रकार कुल ४२ अध्याय अप्राप्त थे, जिसे मूलसंहिता का एक तिहाई भाग कहा जा सकता है । इसी विषय को ऊपर के श्लोकों में कहा गया है । चरक के काल में कल्प और सिद्धि दोनों ही स्थान विद्यमान थे । देखें—विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः' । च० सू० अ० ४ । और 'व्यापन्नानां व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम्' । च० सू० अ० १५।५ ।

चरक-चिकित्सास्थान के १७ अध्यायों के सम्बन्ध में मतभेद है, क्योंकि सम्प्रति उपलब्ध चरकसंहिता के वंगीय तथा निर्णयसागरीय संस्करणों के क्रमों में अन्तर है । श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'ते च चरकसंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सितानष्टावध्यायान्, तथाऽर्शोऽतीसारविसर्पद्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः' । (उक्त श्लोकों के नीचे टीका में देखें ।) उपलब्ध अध्यायों का क्रम इस प्रकार है—चरक-चिकित्सास्थान अध्याय १. रसायन, २. वाजीकरण, ३. ज्वर, ४. रक्तपित्त, ५. गुल्म, ६. प्रमेह, ७. कुष्ठ, ८. राजयक्ष्मा, इसके आगे १४ अर्श, १९. अतिसार, २१. विसर्प, २४. मदात्यय, २५. द्विव्रणीय—इस प्रकार ये कुल मिलाकर १३ अध्याय होते हैं । शेष इसके सत्रह अध्यायों की पूर्ति दृढबल ने की है । इसकी चर्चा उन्होंने च० सि० अ० १२।३७ से ४० तक में की है ।

चरक-प्रतिसंस्कृत १३ अध्याय—१. रसायन, २. वाजीकरण, ३. ज्वर, ४. रक्तपित्त, ५. गुल्म, ६. प्रमेह, ७. कुष्ठ, ८. राजयक्ष्मा, ९. अर्श, १०. अतिसार, ११. विसर्प, १२. मदात्यय, १३. द्विव्रणीय ।

दृढबलकृत १७ अध्याय—१. उन्माद, २. अपस्मार, ३. क्षतक्षीण, ४. श्वयथु, ५. उदर, ६. ग्रहणी, ७. पाण्डु, ८. हिक्काश्वास, ९. कास, १०. छर्दि, ११. तृष्णारोग, १२. विष, १३. त्रिमर्मीय, १४. ऊरुस्तम्भ, १५. वातव्याधि, १६. वातशोणित, १७. योनिव्यापत् ।

किन्तु १९४१ ई० के निर्णयसागरीय संस्करण में 'विषचिकित्सित' नामक २३वें अध्यायान्त की पुष्पिका इस प्रकार दी गयी है—'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः' । जब कि यहाँ उक्त ऐतिहासिक सूचना के अनुसार 'चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते' ऐसा होना चाहिए था । इसी प्रकार चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २५ के अध्यायान्त की पुष्पिका भी भ्रामक है—इसमें 'दृढबलसम्पूरिते' नहीं होना चाहिए था । अतः उक्त अध्यायान्त में दी गई पुष्पिकाएँ भ्रामक हैं, इन्हें सम्पादन सम्बन्धी भूल ही समझना चाहिए । ऊपर श्रीचक्रपाणि ने चरक-प्रतिसंस्कृत जिन अध्यायों की गणना की है, उनमें २५वें द्विव्रणीय अध्याय को पहले कहकर उसके बाद २४वें मदात्यय अध्याय को कहा है । क्या उनके सामने अध्यायक्रम ऐसा ही था ?

यहाँ चरक-चिकित्सास्थान अ० ९ के आरम्भ में श्रीचक्रपाणि की यह टीका भी ध्यातव्य है—'इदानीं गुरोद्घातितं राजयक्ष्मचिकित्सितमभिधाय क्रमप्राप्तमुन्मादचिकित्सितं ब्रूते। अयं क्रमश्चरकसंस्कृतां पञ्चाध्यायीमर्शोऽतीसारवीसर्पमदात्ययद्विव्रणीयां परित्यज्य ज्ञेयः'। अर्थ स्पष्ट है।

अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने कल्पस्थान के अन्त में इस प्रकार एक श्लोक दिया है—'स्नेहपाकविधिस्सूक्त एवं दृढबलेन तु। चरकेऽर्धकृते शास्त्रे महीभूय गतो यतः' ॥ इसे श्रीजयदेव ने अपनी टीका में उद्धृत किया है, जो प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार शेष अध्यायों की क्रम-संख्या ठीक करके उन्हें दृढबल की कृति समझना चाहिए।

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः। तेषामप्येतदेव स्याद् दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥

अनुक्त रोगों का चिकित्सा-निर्देश—इस चिकित्सास्थान में जिन रोगों के नाम तथा लक्षणों की विविधता होने के कारण चिकित्सा नहीं कही गयी है, उन रोगों में भी दोष-दूष्य आदि का विचार करके इन्हीं औषध-द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्। उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ॥

चिकित्सा का सिद्धान्त—दोष (वात आदि), दूष्य (रक्त आदि), निदान (उपशय-अनुपशय के रूप में), इनके विपरीत जो औषधयोग होता है, वह निश्चय ही हितकर होता है। इसी आधार पर उक्त (कहे गये) और अनुक्त (न कहे गये) सभी रोगों के प्रति औषधयोग का सम्यक् प्रयोग सदैव हितकर होता है।

वक्तव्य—हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु-व्याधि उभय विपरीत, तथा हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी और हेतुव्याधि उभयविपरीतार्थकारी औषध, अन्न, विहार के परिणाम में सुखदायक उपयोग को उपशय कहते हैं, इसी को सात्म्य भी कहते हैं। उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में इसी सिद्धान्त का तन्त्रकार ने प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर उक्त-अनुक्त रोगों की चिकित्सा का निर्देश यहाँ किया गया है।

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चैव हि। सम्यग्योगोऽन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत् ॥

चिकित्सा के आधार—चिकित्सा करते समय विचारणीय विषय—देश (शरीर के अवयव तथा स्थान विशेष), काल (प्रातः, मध्याह, सायं या भोजन के पहले या पश्चात् आदि), प्रमाण (कौन औषध कितनी मात्रा में दी जाय), सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल), असात्म्य (प्रकृति के प्रतिकूल), आहार तथा औषधद्रव्यों का समुचित रूप में प्रयोग करना ही लाभदायक होता है। यदि देश, काल, प्रमाण, सात्म्य तथा असात्म्य आदि द्रव्यों के पथ्य होने पर भी उनका प्रयोग समुचित विधि से न किया जाय तो वह सब अपथ्य हो जाता है।

वक्तव्य—यहाँ मिथ्यायोग तथा अतियोग दोनों की निन्दा करके सम्यग्योग को चिकित्साक्षेत्र में महत्त्व दिया है, जो चिकित्सा की दृष्टि से परमावश्यक है। इन सभी विषयों का विवेचन आगे क्रमशः विस्तारपूर्वक किया गया है। 'देशस्तु भूमिरातुरश्च'। च० वि० अ० ८।९२।

आस्याद्यामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तः शिरोगतान्।
गुदात् पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु दत्तमौषधम्[1] ॥ २९४ ॥

१. देश का सम्यक् योग—आमाशय में होने वाले रोगों में मुख द्वारा दी गयी औषधियाँ, शिरःप्रदेश में होने वाले रोगों में नासिका द्वारा दी गयी औषधियाँ और पक्वाशय में स्थित रोगों में गुदमार्ग द्वारा दी गयी औषधियाँ शीघ्र ही उन-उन रोगों का विनाश कर देती हैं।

वक्तव्य—देश शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में इस प्रकार देखा जाता है, यथा—शरीरावयवविशेष—कण्ठदेश, स्कन्धदेश, द्वारदेश आदि। स्थान-विशेष, जैसे—आनूप, जांगल, साधारण। चिकित्सा-क्षेत्र में ये दोनों ही उपयोगी हैं। यहाँ आमाशय, शिर तथा पक्वाशय का परिगणन करके प्रमुख अवयवों की चिकित्सा औषध-प्रयोग की दृष्टि से कही गयी है। वैसे आस्य (मुख) मार्ग से औषध-प्रयोग कराकर हम आमाशय के

१. 'अधस्ताद्गुदतो दत्तं हन्त्याशुतरमौषधम्' इति पा०।

अतिरिक्त शरीर के अवयवों की भी चिकित्सा करते ही हैं। शिरोरोगों की चिकित्सा के लिए अन्य लेप आदि का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु यहाँ तन्त्रकार का दृष्टिकोण देश-विशेष का निर्देश करना मात्र रहा है।

शरीरावयवोत्थेषु विसर्पपिडकादिषु। [1]यथादेशं प्रदेहादि शमनं स्याद् विशेषतः ॥२९५॥

चिकित्सा में देश-विशेष का प्रयोग—शरीर के विभिन्न अवयवों में उत्पन्न होने वाले विसर्प, पिडिका आदि रोगों में विशेष रूप से देश (शरीरावयव) के अनुसार प्रदेह (लेप) आदि का प्रयोग उनके शमन के लिए किया जाता है।

वक्तव्य—विसर्प तथा पिडिका के लिए जिस प्रकार लेप का विशेष प्रयोग तन्त्रकार ने बतलाया है, उसी प्रकार नेत्ररोगों में अंजन, आश्च्योतन आदि तथा वातरोगों में अभ्यंग आदि का भी समन्वय यहाँ कर लेना चाहिए।

दिनातुरौषधव्याधिजीर्णलिङ्गर्त्ववेक्षणम्[2]। कालं विद्याद् दिनावेक्षः पूर्वाह्णे वमनं यथा ॥२९६॥

२. काल का सम्यक् योग—दिन, आतुर (रोगी), औषध, व्याधि (रोग), जीर्ण लिंग (लक्षण) तथा ऋतु को देखना, चिकित्सा के क्षेत्र में इन सभी विषयों को 'काल' समझना चाहिए। यथा—दिन की अवेक्षा (प्रतीक्षा) करने वाला वमन कराने के लिए पूर्वाह्ण (प्रातः) काल में वमन कराये।

[3]रोग्यवेक्षो यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत्। भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात् तु दुर्बलः ॥२९७॥
भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः। सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासग्रासान्तरे दश ॥२९८॥

३. रोगी की अवेक्षा से काल—बलवान् रोगी प्रातःकाल बिना कुछ खाना खाये औषध का सेवन करे। दुर्बल रोगी लघु (हलका) तथा पथ्य (हितकर) अन्न (आहार) करके औषध का सेवन करे।

औषध की अवेक्षा से काल—भोजन करने के पहले, भोजन के मध्य में, भोजन करने के बाद, दिन भर में बार-बार, सामुद्ग (जो भोजन के आदि तथा अन्त में खायी जाती है), भक्तसंयुक्त (भोजन के साथ मिलाकर), भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ, ग्रास-ग्रास के बीच में, अर्थात् एक ग्रास खाने के बाद औषध-सेवन करे, पुनः दूसरा ग्रास खाये। इस प्रकार श्लोक २९६ से २९८ तक दस औषधकालों का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में श्लोक २९८ में ही दस भैषज्यकालों का समावेश कर लिया है श्रीशार्ङ्गधर के अनुसार औषध-सेवन के पाँच कालों का वर्णन इस प्रकार है—'बुद्धिमान् चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह रोगियों को औषध का सेवन प्रातःकाल ही कराये और पञ्चविधकषायों का तो सेवन विशेष रूप से प्रातःकाल कराना ही चाहिए। औषध-सेवन के पाँच कालों का निर्देश—१. कुछ सूर्योदय हो जाने पर, २. दिन के भोजन के साथ, ३. सायंकालिक भोजन के साथ, ४. बार-बार और ५. रात में सोने के समय।

अपाने विगुणे पूर्वं, समाने मध्यभोजनम्। [4]व्याने तु प्रातरशितमुदाने भोजनोत्तरम् ॥२९९॥
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते। श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः ॥३००॥
सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम्। सम्भोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ॥

औषधकालों के प्रयोगावसर—१. अपानवायु के विगुण (विकृत) हो जाने पर भोजन के पहले औषध का सेवन कर तत्काल भोजन करना चाहिए। २. समानवायु के विकृत हो जाने पर भोजन के मध्य में औषध सेवन करें। ३. व्यानवायु के विकृत हो जाने पर प्रातःकाल भोजन कर लेने के पश्चात् औषध का सेवन करें। (पाठभेद के अनुसार उपर्युक्त अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है, शेष नीचे टिप्पणी में देखें)। ४. उदान वायु के विकृत हो जाने पर सायंकाल का भोजन कर लेने के बाद औषध-सेवन कराये। ५. प्राणवायु के विकृत हो जाने पर ग्रास में औषध मिलाकर खाने को देना चाहिए। ६. ग्रासान्तर—एक ग्रास खाने के बाद औषध

१. 'यथादोषं', 'यथावस्थं', 'यथादेहं' इति च पा०।
२. 'बहुष्वादर्शपुस्तकेषु 'अवेक्षणम्' इत्यस्य स्थाने 'अपेक्षणम्' इति पठ्यते।
३. 'रोग्यवेक्षः' इत्यादि स्थाने 'रोग्यपेक्षः' इति पठ्यते।
४. 'व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य' इति पा०।

सेवन कर पुनः दूसरा ग्रास खाना चाहिए। ७. मुहुर्मुहुः—श्वास, कास, प्यास रोगों में बार-बार औषध-सेवन कराना चाहिए। ८. सामुद्ग—हिचकी रोग से पीड़ित पुरुष को लघु (सुपाच्य) अन्न के साथ औषध मिलाकर देना चाहिए। सामुद्ग का अर्थ 'सम्पुट' होता है। अतः औषध के पहले भी हलके भोजन का सेवन करे और औषध-सेवन के बाद भी उसी भोजन को लें। ९. अरुचि रोग में विविध प्रकार के अरुचि-नाशक आहार-द्रव्यों के साथ औषध का सेवन कराना हितकर होता है।

वक्तव्य—इस प्रकार ये ९ औषध-प्रयोग-काल होते हैं। किन्तु श्रीजज्जट **'अपाने विगुणे पूर्वम्'** इस पद्यांश की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'अपाने विगुणे पूर्वमिति। यच्च पूर्वाह्णे यस्मिन् जीर्णे भुज्यते। एष प्रथमः। यच्चोपयुक्तमात्र एवौषधे तत् कथ्यते द्वितीयम्'। इस प्रकार ये दस काल हो जाते हैं। इन कालों का प्रयोग भिन्न-भिन्न रोगों के लिए इस प्रकार निर्दिष्ट है—**प्रथम काल**—पित्त अथवा कफ की वृद्धि में, विरेचन अथवा वमन कराने के लिए, दोषों का लेखन कराने के लिए प्रायः प्रातःकाल औषध-सेवन कराना चाहिए। **द्वितीय काल**—अपानवायु की विकृति में भोजन करने के पहले औषध-सेवन कराना उत्तम होता है। अरुचि रोग में रुचिकर भोजनों में मिलाकर औषध का सेवन कराना चाहिए। समानवायु की विकृति में तथा मन्दाग्नि में अग्निवर्धक औषधयोगों को भोजन के मध्य में देना चाहिए। व्यानवायु के विकारों में भोजन के अन्त में औषध-सेवन कराना चाहिए। हिचकी, आक्षेपक (वातविकारों) तथा कम्पवात में भोजन के पहले तथा अन्त में औषध-सेवन कराना चाहिए। **तृतीय काल**—स्वरभेद, कास, श्वास, हिक्का आदि रोगों में जब उदानवायु प्रकुपित होती है, तब सायंकाल के भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ औषध देना चाहिए और प्राणवायु के प्रकुपित होने पर सायंकालिक भोजन के अन्त में औषध-सेवन कराना चाहिए। **चतुर्थ काल**—तृष्णा (प्यास), वमन, हिचकी, श्वास रोग होने पर तथा गरविष का सेवन कर लेने पर बार-बार भोजन में मिलाकर औषध-सेवन कराना चाहिए। **पञ्चम काल**—ऊर्ध्वजत्रु के रोगों में, लेखन में, बृंहण में, पाचन एवं शमन कार्यों के लिए औषध रात में सोने के पहले ही रोगी को सेवन करायें। चरकोक्त दस कालों का समावेश इन विधियों में सविधि हो रहा है, तथापि दोनों के मत श्रद्धेय हैं। देखें—शा० सं० पू० खं० अ० २।१-१२।

वाग्भट के अनुसार—'युञ्ज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे। ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशि चौषधम्' ॥ अ० हृ० सू० अ० १३।३७। यथा—१. अनन्न (अभक्त) लंघन या उपवास में, २. अन्न के पूर्व (प्राग्भक्त—आहार के पहले), ३. अन्न के मध्य में, ४. भोजन के अन्त में, ५. कवल के बीच में रखकर या दो ग्रासों के बीच में, ६. प्रत्येक ग्रास के साथ, ७. बार-बार, दिन भर में अनेक बार, ८. सान्न (अन्न में मिलाकर), ९. सामुद्ग (भोजन के आदि और अन्त में) तथा १०. निशि (रात में)।

रोगानुसार औषध-सेवन-काल—'कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः। अन्नादौ विगुणेऽपाने समाने मध्य इष्यते॥ व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य सायमाशस्य तूत्तरे। ग्रासग्रासान्तयोः प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि॥ मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मातृट्श्वासकासिषु। योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके॥ कम्पाक्षेपकहिध्मासु सामुद्गं लघुभोजिनाम्। ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते' ॥ अ० हृ० सू० अ० १३।३८-४१। ये भी दस काल हैं, किन्तु प्रयोग में अन्तर है।

सुश्रुत के अनुसार—'अत ऊर्ध्वं दशौषधकालान् वक्ष्यामः। तत्राभक्तं प्राग्भक्तमधोभक्तं मध्ये भक्तमन्तराभक्तं सभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुर्ग्रासग्रासान्तरं चेति दशौषधकालाः' ॥ सु० उ० अ० ६४।६५। ये दस औषध-काल इस प्रकार हैं—१. अभक्त, २. प्राग्भक्त, ३. अधोभक्त, ४. मध्ये भक्त, ५. अन्तराभक्त, ६. सभक्त, ७. सामुद्ग, ८. मुहुर्मुहुः, ९. ग्रास, १०. ग्रासान्तर। इनका विशद परिचय इसी प्रकरण में ६६ से ८३ तक के श्लोकों के नीचे दिया गया है। वृद्धवाग्भट के विचारों के लिए अष्टाङ्गसंग्रह सू० अ० २३ सम्पूर्ण देखें। यद्यपि इन्होंने सुश्रुत की शैली को अपनाया है, तथापि इनके अनुसार ग्यारह औषध-काल इस प्रकार हैं—'अभक्तं प्राग्भक्तं मध्यभक्तमधोभक्तं सभक्तमन्तरभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः सग्रासं ग्रासान्तरा निशि च'। अ० सं० सू० अ० २३।१२।

श्लोक ३०१ के उत्तरार्ध के आरम्भ में 'संभोज्यं' के स्थान पर श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में 'संयुक्तं' पद का प्रयोग किया है। इस विवेचन को आप श्रीचक्रपाणि की टीका में देखें और मूल श्लोकों की भाषा पर भी ध्यान दें। निश्चित ही श्रीचक्रपाणि के टीका करते समय ऊपर के पाठों का स्वरूप ऐसा नहीं रहा होगा।

ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम्। षडहे षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य च ॥३०२॥

४. **व्याधि-अवेक्षा-काल**—रोग के काल अर्थात् उसकी तात्कालिक अवस्था (स्थिति) को देखकर ज्वर में रोगी को पेया, कषाय (क्वाथ), दूध, घी, विरेचन छठे-छठे दिन देना चाहिए।

वक्तव्य—ज्वर-चिकित्सा-प्रकरण में उसकी सांगोपांग चिकित्सा का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ तो यह सामान्य निर्देश उदाहरणस्वरूप दिया गया है। इसका समर्थन तथा अपवाद दोनों ही वहाँ प्राप्त होंगे।

क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम्। तदा भेषजमादेयं स्याद्धि दोषवदन्यथा ॥३०३॥

५. **जीर्णलिङ्गावेक्ष्य काल**—भूख का लगना, मल, मूत्र आदि के वेगों की उत्पत्ति तथा उनकी निवृत्ति, शरीर में हलकापन, शरीर की शुद्धि, ये आहार तथा औषधद्रव्यों के पच जाने के लक्षण हैं। इस प्रकार के लक्षणों के दिखलायी देने पर औषध-सेवन करना चाहिए। इसके विपरीत स्थिति में औषध-प्रयोग विपरीत फलदायक होता है।

वक्तव्य—इस विषय के विशेष विवेचन के लिए च० वि० अ० २ का सम्पूर्ण निरीक्षण करें। जीर्ण (पच जाने के) लिंगों (लक्षणों) को देखकर ही औषध-सेवन तथा भोजन का सेवन किया एवं कराया जाता है, तभी वह अपने फल को प्रकट कर पाता है, अन्यथा विकारकारक होता है। महर्षि सुश्रुत कहते हैं—'शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्यादन्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति। प्राग्भक्तसेवितमथौषधमेतदेव दद्याच्च वृद्धशिशुभीरुकृशाङ्गनाभ्यः' ॥ सु० उ० अ० ६४।६९। अन्न के साथ औषध-सेवन के लाभों का यहाँ वर्णन किया है। इस प्रकार औषध-प्रयोग वृद्धों, शिशुओं, भीरु (डरपोक अर्थात् औषधोपचार से डरने वाले सुकुमारों) तथा स्त्रियों को भी कराया जा सकता है।

चयादयश्च दोषाणां वर्ज्यं सेव्यं च यत्र यत्। ऋताववेक्ष्यं यत् कर्म पूर्वं सर्वमुदाहृतम् ॥३०४॥

६. **ऋत्ववेक्ष्य काल**—दोषों का चय (संचय), प्रकोप (रोगोत्पादकता), प्रशम (शान्ति) आदि का विचार, जिस ऋतु में जिन आहार-विहारों को त्याग देना चाहिए, अर्थात् सेवन नहीं करना चाहिए तथा जिन आहार-विहारों का सेवन करना चाहिए, ये सभी विषय चरक-सूत्रस्थान के छठे (तस्याशितीय नामक) अध्याय में कहे जा चुके हैं। उसी के अनुसार प्रत्येक ऋतु में उन-उन दोषों का संचय, प्रकोप तथा प्रशम होता है। तदनुसार मनुष्य को उन-उन वस्तुओं का त्याग कर उनसे विपरीत वस्तुओं का सेवन करना चाहिए।

([1]उपक्रमाणां करणं प्रतिषेधे च कारणम्। व्याख्यातमबलानां सविकल्पानामवेक्ष्य ॥३०५॥

चिकित्सा और रोगी के बल का [illegible]बन्ध—उपक्रम (चिकित्सा) करते समय लंघन (उपवास), बृंहण (कृश शरीर को स्थूल करने का उपाय) आदि विधियों को दुर्बल व्यक्तियों के लिए करने में विधि-निषेध की व्याख्या पहले की जा चुकी है।

वक्तव्य—यद्यपि चिकित्साशास्त्र में चिकित्सा के अनेक उपक्रमों का वर्णन किया गया है, किन्तु अबलों (दुर्बलों) के लिए बृंहण और सबलों (स्थूलों) के लिए लंघन (कर्शन) विधियाँ कही गयी हैं। इन विधियों के लिए कौन उपयुक्त हैं और कौन अनुपयुक्त हैं, इसका विस्तृत विवेचन चरक-सूत्रस्थान अ० २२ (लंघनबृंहणीयाध्याय) में किया गया है, उसे देखें। १९४१ ई० के निर्णयसागरीय संस्करण में ३०५ तथा ३०६ श्लोक को कोष्ठक के भीतर दिया है। श्रीजयदेव ने ३०५वें श्लोक को 'अनार्ष' लिखा है और ३०६ठे श्लोक को मूल रूप में स्वीकृत किया है। इस प्रकार के विषयों के निर्णयार्थ तद्विद्यसम्भाषा की आवश्यकता है।

मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्थामातुरस्य च। अवेक्षमाणस्तु भिषक् चिकित्सायां न मुह्यति ॥३०६॥)

रोग-रोगी की परीक्षा आवश्यक—रोग तथा रोगी की शारीरिक स्थिति की बार-बार परीक्षा करने वाला चिकित्सक कभी भी चिकित्सा कार्य में मोह (बुद्धिभ्रम) को प्राप्त नहीं होता है, अतः इनकी सर्वविध परीक्षा सावधानी से करते रहना चाहिए।

---

१. एतच्छ्लोकद्वयं हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

इत्येवं षड्विधं कालमनवेक्ष्य भिषग्जितम् । प्रयुक्तमहिताय स्यात् सस्यस्याकालवर्षवत् ॥३०७॥

काल की उपेक्षा से हानि—इस प्रकार उपर्युक्त ६ प्रकार के कालों की उपेक्षा करके जो चिकित्सक चिकित्सा करता है, उससे जिस प्रकार असमय में हुई वर्षा से सस्य (फसल) की हानि होती है, उसी प्रकार रोगी के स्वास्थ्य की भी हानि होती है ।

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च । विशेषो भिद्यते यस्तु कालावेक्षः स उच्यते ॥३०८॥

कालावेक्ष्य का वर्णन—व्याधि (रोग), ऋतु (वसन्त, ग्रीष्म आदि), अहोरात्र (दिन, रात) वयस (अवस्था), भोजन की विशेष स्थितियों में चिकित्सक द्वारा जो भेद किया जाता है, अर्थात् जो उक्त व्याधि आदि के भेद-उपभेदों को जानता है, उसे कालावेक्ष्य (काल को पहचानने वाला) चिकित्सक कहते हैं । यह चिकित्सक की विशेषता है ।

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः । वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥

ऋतु तथा रोग का सम्बन्ध—वसन्त ऋतु में कफज रोग, शरद् ऋतु में पित्तज रोग, वर्षाऋतु में वातज रोग प्रायः उत्पन्न हो जाते हैं । यहाँ प्रायः से तात्पर्य है कि परिस्थिति विशेष में अन्य रोग भी हो जाते हैं ।

निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः । प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥

दोषों का अहोरात्र से सम्बन्ध—रात्रि के अन्त में, दिन के अन्तिम काल में और वर्षाकाल में वातज रोग होते हैं, प्रातःकाल और रात्रि के आदि में कफज रोग होते हैं तथा दिन के मध्य में और रात्रि के मध्य में पित्तज रोग होते हैं ।

वक्तव्य—उक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'वर्षान्ते' पाठ है, अन्यत्र इसके स्थान पर 'वर्धन्ते' पाठ है । अतः कुछ विचार प्रस्तुत हैं । सुश्रुत के अनुसार—'हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् । वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्' ॥ सु० सू० अ० ६।३८ । और भी—'तत्र पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्' । सु० सू० अ० ६।१४ । इन अंशों का अवलोकन करने के बाद श्रीशार्ङ्गधर का मत भी देखें—'ग्रीष्मे सञ्चीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति । वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति ॥ प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः । शरत्काले वसन्ते च पित्तं प्रावृड् ऋतौ कफः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० २।४१-४३ । इस सभी उद्धरणों से यह निश्चित होता है, कि ग्रीष्मऋतु में संचित वायु का वर्षाऋतु में (न कि वर्षा के अन्त में) प्रकोप होता है । यहाँ 'वर्षान्ते' पाठ जो दिया है, वह समीचीन प्रतीत नहीं हो रहा है । यह श्लोक भी अहोरात्र में दोषों का विवेचन कर रहा है, न कि ऋतु सम्बन्धी दोषों का; अतः यहाँ 'वर्धन्ते' पाठ अधिक रुचिकर प्रतीत होता है । श्रीजयदेव ने इसे मूलपाठ में न मानकर टिप्पणी में उद्धृत किया है ।

वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः । बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद् वयसो नृणाम् ॥३११॥

दोष तथा आयु का सम्बन्ध—मनुष्य में अवस्था के स्वभाव से आयु के अन्त (वृद्धावस्था) में वातदोषज रोग बलवान् होते ही हैं, आयु के मध्य (यौवनकाल) में पित्तदोषज रोग बलवान् होते ही हैं और आयु के प्रारभ (बाल्यावस्था) में कफदोषज रोग बलवान् होते ही हैं ।

वक्तव्य—यहाँ ऊपर दोषज रोगों के बलवान् होने की चर्चा की गयी है, यह सामान्य स्थिति का वर्णन है । विषम परिस्थितियों में इनके विपरीत दोषों का प्रकोप देखा जाता है, क्योंकि सामान्य, विशेष का क्रम जैसा लोक में देखा जाता है, वैसा ही शरीर में भी होता है ।

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः । श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥

दोष तथा आहारपाक का सम्बन्ध—प्रायः देखा जाता है, कि भोजन के पच जाने पर वातजरोग बलवान् होते हैं, भोजन के पाककाल में पित्तज रोग बलवान् होते हैं और भोजन कर लेने के तत्काल बाद कफज रोग बलवान् होते हैं ।

वक्तव्य—श्लोक ३०८ से ३१२ तक इन पाँच श्लोकों को कुछ टीकाकार अनार्ष स्वीकार करते हैं, किन्तु अनार्षत्व का कोई कारण किसी ने नहीं बतलाया है । दूसरी ओर सभी संस्करणों में इन श्लोकों की मूल के साथ क्रम संख्या दी गयी है । जहाँ तक उक्त श्लोकोक्त विषयों का सम्बन्ध है, वे अपने सुनिश्चित क्रम को उपस्थित करते हैं, जो चिकित्सा-सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है ।

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम् ।
दोषवच्चातिमात्रं स्यात् सस्यस्यात्युदकं यथा ॥ ३१३ ॥

प्रमाणावेक्ष्य सम्यक् योग—अल्पमात्रा में प्रयुक्त किया गया औषधयोग रोगविनाश करने में उस प्रकार समर्थ नहीं हो पाता, जैसे थोड़ा-सा जल बढ़ी हुई आग को नहीं बुझा पाता है । अधिक मात्रा में प्रयुक्त किया गया औषधयोग भी लाभकारक नहीं हो पाता है, अपितु वह दोषवर्धक हो जाता है, जिस प्रकार कि अधिक बरसा हुआ जल फसल को सड़ा-गला देता है ।

वक्तव्य—उक्त श्लोक औषधयोग के प्रमाण (मात्रा) पर ध्यान देने, दिलाने के लिए शास्त्रकार ने कहा है । इसमें औषध की मात्रा का कम होना या अधिक होना दोनों स्थितियाँ हानिकारक हैं । कम मात्रा में वह अपना कार्य नहीं कर पाती है और अधिक मात्रा हानिकारक होती है । अतः रोगी की स्थिति को देखकर चिकित्सक को चाहिए, कि वह उचित मात्रा का निर्धारण करे, जैसा कि आगे कहा जा रहा है ।

सम्प्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च । नैवातिबहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत् ॥३१४॥

औषध-मात्रा-विचार—इसलिए रोग, रोगी तथा औषध के बल का विचार करके न अधिक और न बहुत कम औषध का प्रयोग कराना चाहिए ।

वक्तव्य—वास्तव में मात्रा का कोई परिमाण सभी के लिए समान रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता, जैसे कि सभी मनुष्यों के आहार की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है । इसलिए समय (जाड़ा, गर्मी, बरसात, दिन, रात), जठराग्नि (किसकी पाचनशक्ति कैसी है), आयु (बाल, युवा, वृद्ध), बल (रोग तथा औषध का बल), स्वभाव (रोग तथा औषध की प्रकृति), दोष (वात, पित्त, कफ, द्वन्द्वज, सान्निपातिक), देश (शरीरावयव अथवा आनूप, जांगल, साधारण) का विचार कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए । यह गुरुतर भार योग्य चिकित्सक पर होता है । इसका विचार किये बिना प्रयुक्त उत्तम औषधयोग भी व्यर्थ अथवा हानिकारक होता है ।

इस प्रसंग में एक बात और याद रखनी चाहिए, वह यह है कि जब चिकित्सक किसी रोग की चिकित्सा करने के लिए अनेक योगों को एक में मिलाकर देता है, तो उसे यह विचार करना चाहिए कि उक्त योगों के घटक क्या-क्या हैं और उन सबका योग करने पर कोई द्रव्य अधिक तो नहीं हो जा रहा है । जैसे—आपने शूलरोग में १. चतुःसमलौह, २. शूलराजलौह, इनको मिलाकर एक मात्रा रोगी को दी, आपका विचार था कि इस रोगी को हम १ रत्ती लौह दें, अब आप किस प्रकार मात्रा का निर्धारण करेंगे, जिससे कि लौहभस्म १ रत्ती से अधिक न हो । प्रायः व्यवसायी चिकित्सक योगों के शीर्षकों को देखकर औषध-प्रयोग कर डालते हैं, जो अपराध है ।

औचित्याद्यस्य यत् सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च । अपथ्यमपि नैकान्तात् तत्त्यजंल्लभते सुखम् ॥

सात्म्यावेक्ष्य सम्यक् योग—निरन्तर सेवन करने के कारण जो देश (आनूप, जांगल या साधारण) के लिए अथवा जो पुरुष (स्त्री) के लिए सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो गया हो, वह यदि शास्त्र की दृष्टि से अपथ्य भी हो तो उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से सुख प्राप्त नहीं होता है ।

वक्तव्य—मछली पानी में तथा बन्दर पेड़ की शाखाओं पर सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु मानव विचारशील प्राणी है, वह सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसी के लिए ये सभी शास्त्र पथप्रदर्शक हैं । उक्त श्लोक की भावना का वर्णन चरक-सूत्रस्थान में इस प्रकार किया गया है—'क्रमेणोपचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः । सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति हि' ॥ च० सू० अ० ७।३८ । इसका विशेष व्याख्यान चरक-चन्द्रिका टीका में देखें । यहाँ 'अपथ्य' का अर्थ है—'असात्म्य' ।

बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः । मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥

देशसात्म्य-वर्णन—बाह्लीक (बलख देश के निवासी), पह्लव या पह्नव, चीन, शूलीक, यवन, शक, देशवासी पुरुषों के लिए मांस, गेहूँ, माध्वीक (मधुना मधूकपुष्पेण वा निर्वृत्तं मद्यम्—मधु या महुआ के फूलों से बनायी गयी मद्य), शस्त्रधारण तथा आग सेंकने के अभ्यासी होते हैं।

वक्तव्य—बाह्लीक-प्रतीप के तीन पुत्रों में से एक; सोमदत्त आदि सात पुत्रों का पिता (भाग० ९।२२।१२, १८। वायु० ९९।२३४। विष्णु० ४।२०।९; ५।३५।१२-२७। यह बह्लीक का राजा था, उत्तरदिशा का एक राज्य (ब्रह्मा० २।१६।४६)। चरकसंहिता में कांकायन नामक बाह्लीकभिषक् की चर्चा अनेक बार आयी है। हमारा विश्वास है कि यूनानी चिकित्सा-पद्धति के आदिम आचार्य ये ही थे। पह्लव—एक जाति विशेष जिन्हें परशुराम ने पराजित किया था (ब्रह्मा० २।३१।८३; ३।४१।३९)। ये वसिष्ठ के आदेशानुसार दाढ़ी-मूँछ रखने लगे। पुराणों में पह्लवगण के नाम से भी एक विवरण मिलता है। एक जातिविशेष जिसे राजा सगर ने हराकर वेदाध्ययन तथा हवन करने के क्षत्रियोचित अधिकारों से वंचित कर दिया था। ये म्लेच्छ हो गये थे। देखें—विष्णु० ४।३।४२। वायु० ८८।१२२।१३६; ४५।११८।५८-८२। ब्रह्मा० ३।४८।१९)।

[1]मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः ।
[2]अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ॥ ३१७ ॥

देशसात्म्य-वर्णन—पूरब देश के निवासी पुरुषों को मछली का मांस प्रकृति के अनुकूल होता है, सिन्धुदेश के निवासियों को दूध प्रकृति के अनुकूल होता है (पाठभेद के अनुसार—पूरब के निवासी पुरुषों को क्षार पदार्थ अनुकूल होते हैं तथा सिन्धुदेश के निवासियों को मछली या मांस अनुकूल होता है) और अश्मक तथा अवन्तिदेश के निवासियों को तेल तथा अम्लपदार्थ अनुकूल होते हैं।

वक्तव्य—अश्मक—यह प्राचीनकाल में एक दक्षिणी राज्य था। वहाँ के निवासी इसी नाम से प्रसिद्ध हैं (ब्रह्माण्ड० २।१६।५८। मत्स्य० २७२।१६)। आवन्तिक—अवन्ती; वर्तमान उज्जयिनी के निवासी (मत्स्य० २२।३३)। प्राच्य—पूर्वदेश, सरस्वती नदी के दक्षिण या पूर्व दिशा में स्थित देश के निवासी। सैन्धव—सिन्धु नदी के समीप में उत्पन्न जाति के लोग (महाभारत-वनपर्व ५१।२५)।

[3]कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम् । सात्म्यं दक्षिणतः पेया [4]मन्थश्चोत्तरपश्चिमे ॥३१८॥

देशसात्म्य-वर्णन—मलय पर्वत के समीप के निवासियों को कन्द, मूल, फल का भोजन अनुकूल होता है, दक्षिण देश के निवासियों को पेया तथा उत्तर-पश्चिम देशवासियों को मन्थ अनुकूल होता है।

वक्तव्य—यह इतिहास उस समय का रहा होगा जिस समय इस संहिता का प्रणयन हुआ होगा अथवा इसके स्थान पर महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश को क्या उपदेश दिया होगा, वह दुर्ज्ञेय है। ये सभी प्रकार के खान-पान दृढबल के काल में रहे होंगे। आज की स्थिति बहुत-कुछ बदल चुकी है। इतना अवश्य है कि दिग्विभाग के अनुसार आज भी देश-भेद के अनुसार प्रत्येक का खान-पान, रहन-सहन एक-दूसरे से भिन्न है। ये निश्चित रूप से मलय (भारत के दक्षिण की एक पर्वतशृंखला, जहाँ चन्दन के वृक्ष पैदा होते हैं, वहाँ) के निवासी हैं, जो पहाड़ों में रहकर अपनी आजीविका करते होंगे। समतल भूमि के निवासी चावल आदि का उत्पादन कर अपनी आजीविका भिन्न प्रकार से तब भी करते रहे होंगे।

पेया—आहारद्रव्य से चौदह गुना जल डालकर पकायी गयी अत्यन्त पतली थोड़ी-सी सीठी से युक्त पेय पदार्थ को विद्वान् 'पेया' कहते हैं। इसका अर्थ है—'पीने योग्य'।

मन्थ—यह फाण्ट का ही एक भेद है। चार पल (१६ तोला) शीतल जल में एक पल (४ तोला) औषधद्रव्य को कपड़छन करके मिट्टी के पात्र में डाल दें। जब उनका रस उस जल में आ जाय तो उसे मसलकर छानकर रख लें। इसी को 'मन्थ' कहते हैं। गरम जल में 'फाण्ट' तैयार किया जाता है और शीतल जल में 'मन्थ'। पाठभेद के अनुसार 'मन्थ' के स्थान पर 'मण्ड' देखा जाता है, तदनुसार माँड़ को पीयें।

---

१. 'क्षारसात्म्यास्तथा प्राच्या मत्स्यसात्म्याश्च सैन्धवाः' इति पा०।
२. 'अश्मकानर्तकानाम्' इति पा०।
३. 'शाकमूलफलम्' इति पा०।
४. 'मण्ड' इति पा०।

मध्यदेशे भवेत् सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः । तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भेषजान्यवचारयेत् ॥३१९॥

देशसात्म्य-वर्णन—मध्यदेश के निवासियों को जौ, गेहूँ, गोरस (दूध, दही, मठा, घी, मलाई, आदि) सात्म्य (अनुकूल) होते हैं, उनके लिए उस प्रकार के अनुकूल आहार-विहार तथा औषधयोगों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—आज प्राचीनकाल की अपेक्षा भूगोल भी बदल चुका है। पहले जो नागपुर मध्यप्रदेश में था आज वह महाराष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत है। इसी प्रकार अन्य भूभागों का भी विचार कर सात्म्य-असात्म्य का निर्णय करना चाहिए। आज भी नेपाल में तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में दोनों समय चावल खाने का प्रचलन है। पंजाब प्रान्त में चावल, सत्तू, च्यूड़ा जैसे भक्ष्य पदार्थों के प्रति वहाँ के निवासी आकृष्ट नहीं होते हैं। बंगाल प्रान्त तथा समुद्री तटवर्ती जनता मत्स्य-भक्षण की अभ्यस्त होती है। आज यातायात के साधनों के कारण प्रायः सभी खान-पान सबके लिए सुलभ अतएव सात्म्य से हो गये हैं, फिर भी चिकित्साकाल में यह विचारणीय विषय है।

सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि । योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ॥

सात्म्य-सेवन से लाभ—सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) किया गया आहार-विहार शीघ्र ही बल को बढ़ाता है, यदि इस प्रकार का भोजन अथवा प्रकृति के अनुकूल औषध मात्रा से कुछ ज्यादा भी सेवन कर लिया जाता है तो वह अधिक दोषकारक नहीं होता है। देश, काल, प्रमाण आदि का ज्ञान न रखने वाला चिकित्सक यदि केवल उस-उस रोगनाशक औषधयोगों द्वारा चिकित्सा करता है, तो वह अपराध करता है, क्योंकि वह उस अज्ञान के कारण अन्ततः सफल नहीं होता है।

वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः[1] ।
तथाऽन्तःसन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम् ॥ ३२१ ॥
भवेत् कदाचित् कार्याऽपि विरुद्धाऽभिमता क्रिया ।

मूर्ख वैद्य से चिकित्सा का निषेध—वय (अवस्था), बल, शरीर आदि के विविध भेद होते हैं। (यहाँ श्रीगंगाधर-सम्मत पाठ नीचे टिप्पणी में दिया गया है, उसे भी देखें) शरीर के अन्तर्मार्ग (कोष्ठ) तथा सन्धिमार्गों में गुप्तरूप से विचरण करने वाले दोषों के भी अनेक भेद होते हैं। ऐसी स्थिति को देखकर दोषों तथा रोगों के विरुद्ध भी कभी-कभी चिकित्सा करनी चाहिए, जो शास्त्रसम्मत होती है।

वक्तव्य—चरक वि० अ० ८ में जो दस-विध परीक्षा दी है, वह इस प्रकार है—१. प्रकृति, २. विकृति, ३. सार, ४. संहनन, ५. प्रमाण, ६. सात्म्य, ७. सत्त्व, ८. आहार, ९. व्यायाम, १०. वय। इनका विस्तृत विवरण चरकचन्द्रिका टीका में देखें। ऊपर 'वयोबल' आदि से तन्त्रकार का यही अभिप्राय है। इस प्रकार विचारपूर्वक चिकित्सा शास्त्रज्ञ चिकित्सक ही कर सकता है। अतः शास्त्रज्ञान-हीन चिकित्सक से चिकित्सा नहीं करानी चाहिए। देखें—'न ग्राह्यं मूर्खभिषजो भेषजं प्राज्ञरोगिभिः। गृहीतं यदि कञ्चाक्षि जनयेत् तद् गदान्तरम्' ॥ चमत्कारचिन्तामणि १।१२। और भी—'औषधं मूढवैद्यानां त्यजन्तु ज्वरपीडिताः। परसंसर्गसंसक्तं कलत्रमिव साधवः' ॥ वैद्यजीवन १।९।

[2]पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः ॥ ३२२ ॥
नीयते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते । बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ॥३२३॥
नीयते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते ।

---

१. 'तेषां तत्सात्म्ययुक्ताश्च वयोऽवस्थायुतास्तथा । आयुर्बलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः' ॥ इति गङ्गाधर-सम्मतः पाठः।
२. 'अन्तर्गतं पित्तधातुम्' इति पा०।

असात्म्य चिकित्सा का उदाहरण—पित्त में उष्णोपचार निषिद्ध होते हैं, तथापि व्रणशोथ आदि में भीतर छिपे हुए पित्तदोष को उष्णस्वेद, सेक, उपनाह आदि चिकित्सा-विधियों से उसे बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार स्वभाव से उष्णपित्त का शमन उष्णोपचार से भी किया जाता है। सामान्य स्थिति में बाहरी शीतल सेक (परिषेक) आदि उपचार-विधियों से पीड़ित ऊष्मा शरीर के भीतर चली जाती है और वह भीतर जाकर वहाँ छिपे हुए कफ का विनाश कर देती है। इस प्रकार शीतवीर्य कफदोष को शीतल परिषेक आदि चिकित्सा-विधियों द्वारा जीतना चाहिए। यद्यपि चन्दन स्वभावतः शीतल होता है, इसके बारीक पीसकर लगाये हुए घने लेप से त्वचा के छिद्रों द्वारा निकलने वाली गर्मी रुक जाती है, उसके रुक जाने से शरीर में ताप का अनुभव होने लगता है। इसका तात्पर्य है, कि शीतल चन्दन भी दाहकारक होता है। इसके विपरीत अगुरु स्वभाव से ही उष्ण होता है। इसका पतला लेप लगाने से शरीर में शीतलता प्राप्त होती है, अर्थात् इसका पतला लेप उष्णताकारक नहीं होता है, अपितु शीतलता प्रदान करता है। मक्खी यदि धोखे से मुख के भीतर चली जाती है, तो तत्काल वमन हो जाती है, इसके विपरीत यदि मक्खी की वीट (मल) को खा लिया जाय तो वह वमन को रोक देती है। इसी प्रकार कुछ द्रव्य ऐसे हैं, जिन्हें उबालकर खाने पर कुछ और गुण प्राप्त होते हैं और उन्हीं को शीतल जल के साथ सेवन करने पर उसके विपरीत गुण दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—यहाँ द्रव्यों के गुण-धर्मों की परीक्षा करने की ओर तन्त्रकार ने संकेत किया है। जैसे—हरड़ का चूर्ण गरम पानी से सेवन करने पर विरेचक होता है, उसी हरड़ को उबाल कर खिलाने से वह मल को बाँधकर निकालती है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरणों को जानने के लिए आप देखें—च० सू० अ० २७। सु० सू० अ० ४६। अ० हृ० सू० अ० ६ तथा अ० सं० सू० अ० ७ एवं १२।

तस्माद् दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः ॥ ३२६ ॥
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम् ।

दशविध-परीक्षा की आवश्यकता—इसलिए दोष, औषध आदि दस परीक्षा (परीक्षा करने के योग्य) भावों की तत्वतः (ठीक-ठीक) परीक्षा करके विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी की चिकित्सा करे, न कि केवल शास्त्रोक्त योगों को ही देखकर चिकित्सा करे।

वक्तव्य—च० सू० अ० १५।५ में दोष भेषज आदि का वर्णन इस प्रकार किया है—१. दोष, २. औषध, ३. देश, ४. काल, ५. बल, ६. शरीर, ७. आहार, ८. सात्म्य, ९. सत्त्व, १०. प्रकृति, ११. वय। च० वि० अ० ८।६८ में कहे गये दशविध परीक्ष्य विषय—१. कारण, २. करण, ३. कार्ययोनि, ४. कार्य, ५. कार्यफल, ६. अनुबन्ध, ७. देश, ८. काल, ९. प्रवृत्ति, १०. उपाय। तीसरे प्रकार का वर्णन तन्त्रकार ने इस प्रकार किया है—'समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वादिवयोबलानि'। च० सि० अ० ३।६। यथा—१. दोष, २. औषध, ३. देश, ४. काल, ५. सात्म्य, ६. अग्नि, ७. सत्त्व, ८. ओक, ९. वय, १०. बल। सिद्धिस्थान के उक्त उद्धरण को जिसे श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में उद्धृत किया है, उसमें '**सत्त्वौकवयोबलानि**' है। सम्प्रति उपलब्ध अन्य चरकसंहिताओं में उसके स्थान पर '**सत्त्वादिवयोबलानि**' पाठ है, जिसमें आदि शब्द अपना कोई अर्थ वहाँ नहीं रखता।

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना ॥ ३२७ ॥
क्षीणे मार्गीकृते देहे शेषः सूक्ष्म इवानलः । तस्मात् तमनुबध्नीयात् प्रयोगेणानपायिना ॥३२८॥
सिद्धयर्थं प्राक्प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु ।

रोगमुक्त को भी चिकित्सा की आवश्यकता—रोग एक बार समाप्त हो जाने पर भी थोड़ी-सी असावधानी करने पर वह पुनः अपना रूप वैसे धारण कर लेता है, जैसे थोड़ी मात्रा में बची हुई आग तृणसमूह को पाकर पुनः जल उठती है। अतः लाभकारक अथवा जो कभी हानि न पहुँचाए, ऐसे औषधयोगों के प्रयोग से कुछ दिनों तक उन योगों का अनुसरण करता रहे। इसलिए पहले जिस चिकित्सा का प्रयोग किया था, उसकी सफलता बनी रहे, भले ही वह सिद्ध औषध ही क्यों न हो।

वक्तव्य—वास्तव में यह उस स्थिति का वर्णन है, जब रोगी रोग से मुक्त हो चुका हो, किन्तु उसे अभी भली-भाँति स्वास्थ्य-लाभ न हो सका हो, ऐसी स्थिति में रोग का पुनरावर्तन हो जाता है। अतः रोग की

मुक्ति हो जाने पर भी शक्ति-सम्पादन के लिए चिकित्सा करता रहे। दूसरा कारण—रोगी चिकित्सक की यन्त्रणा से यन्त्रित होकर इस काल में अनेक सुखभोगों से वंचित रहता है, वह चिकित्सक से मुक्ति पाते ही स्वेच्छाचारिता (मनमानी) करने लगता है, इससे वही रोग या अन्य व्याधियाँ उस कृश रोगी पर आक्रमण कर जाती हैं, अतः औषध-प्रयोग और चिकित्सक की देख-रेख नीरोग होने के बाद भी अत्यन्त आवश्यक होती है। इस स्थिति को आधुनिक दृष्टि से रिलेप्स (Relapse) होना कहते हैं और आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार इसे रोग का '**पुनरावर्तन**' कहते हैं।

काठिन्यादूनभावाद् वा दोषोऽन्तः कुपितो महान् ॥ ३२९ ॥
पथ्यैर्मृदूल्पतां नीतो मृदुदोषकरो भवेत् ।

पथ्य का महत्त्व—कठिनता से (दोषों के इकट्ठा होने से) अथवा ऊनभाव (दोषों के सञ्चय न होने) से शरीर के भीतरी भाग में अधिक रूप में प्रकुपित दोषों को पथ्य-सेवन-विधि द्वारा मृदु (कठिनता के विपरीत) तथा मात्रा में कम बना देने पर वह दोष मृदुदोषकर अर्थात् भयावह रूप को धारण करने वाला नहीं होता है।

वक्तव्य—रोग की उत्पत्ति में दोषों का संचय तथा प्रकोप प्रमुख कारण होता है। इसका विस्तृत विवरण च० सू० अ० ६ में देखें। प्रकोप होने के बाद रोग का फैलाव होता है, तदनन्तर वह शरीर के किसी अवयव विशेष पर आश्रित होकर अपना स्वरूप प्रकट करता है। इसे आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार स्थानसंश्रय कहते हैं। दोषों के 'चय-कोप-प्रशम' के सम्बन्ध में अ० सं० सू० अ० २१ को विस्तारपूर्वक देखें। ऐसी अवस्था में आरम्भ से ही पथ्य-सेवन करने वाले पुरुष के शरीर में दोषों का संचय तथा प्रकोप पूर्णरूप में नहीं हो पाता है। यही कारण है कि प्रत्येक रोग की चिकित्सा के अन्त में तन्त्रकारों ने उससे सम्बन्धित पथ्य-अपथ्य का निर्देश किया है। कहीं तो यहाँ तक कह दिया है कि 'विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते'। अर्थात् उचित पथ्य का सेवन करने वाले पुरुष का रोग औषधोपयोग के बिना भी ठीक हो जाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भेषज का कोई महत्त्व ही नहीं है। यह पथ्य प्रशंसापरक भावना की चरम सीमा है। कविराज लोलिम्बराज ने पथ्य के सम्बन्ध में लिखा है—'पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः। पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः:'। वैद्यजीवन १।१०। इसी आशय का एक पद्य इन्होंने 'चमत्कारचिन्तामणि' अ० १।१३ में भी दिया है। देखें—टीकाकार द्वारा सम्पादित 'लोलिम्बराज-ग्रन्थावली'।

पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद् यो व्याधिरुपजायते ॥ ३३० ॥
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवा तस्य कारयेत् ।

पथ्यसेवनकाल में रोगोत्पत्ति पर विचार—उक्त प्रकार से पथ्य आहार-विहार का सेवन करने पर भी उस पुरुष को जो रोग हो जाता है, उस व्याधि का स्वरूप समझकर यदि पथ्य सेवन की मात्रा में कमी हो तो उसकी मात्रा में वृद्धि करा दे, अथवा उसका निरन्तर अभ्यास करते रहने की रोगी को सलाह दे, अथवा व्याधि (रोग) की वृद्धि को देखकर पथ्य के साथ उसकी उचित चिकित्सा भी करा दे।

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर उक्त श्लोक के उत्तरार्ध को इस प्रकार बदलकर पढ़ते हैं—'ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवाऽन्यस्य कारयेत्'। अर्थात् पथ्य-सेवन करते हुए भी जो रोग हो जाता है, वहाँ उस आहार-विहार को पथ्य न समझकर छोड़ दे और दूसरे पथ्य आहार-विहार का सेवन आरम्भ कर दे। क्योंकि इस प्रकार पाठ बदलने में इनका आशय यह है, कि पथ्य से अहित (रोगवृद्धि) नहीं हो सकता, अतः दूसरे पथ्य का चयन चिकित्सक के निर्देशानुसार करे।

सातत्यात् स्वाद्वभावाद् वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥ ३३१ ॥
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः ।

रुचि-परिवर्तन की आवश्यकता—प्रतिदिन एक ही प्रकार के भोज्य पदार्थ को खाते रहने से कभी-कभी रोगी पुरुष को पथ्य (रोगकाल में हितकर आहार-विहार) अप्रिय लगने लगता है, या उसमें किसी प्रकार का स्वाद न होने के कारण वह पथ्य अप्रिय लगने लगता हो या उसे देखते ही रोगी चिढ़ जाता हो,

तो उसके लिए उसी द्रव्य को पाकविधि की विभिन्नता से तैयार कराकर इस प्रकार रोगी को दें, जिससे उसे वह प्रिय लग सके।

वक्तव्य—'कल्पना' का तात्पर्य यहाँ पाकविधि से है। चिकित्सा-क्षेत्र में यह दायित्व कुशल पारिचारक का है। श्रीचक्रपाणि ने अपने 'चक्रदत्त' में इस अविकल पद्य को 'ज्वरचिकित्सा-प्रकरण' के ४४वें श्लोक के रूप में उद्धृत किया है। कल्पना-विधि की विविधता के सम्बन्ध में रोग और रोगी की स्थिति को देखकर निर्णय लिया जा सकता है।

मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ॥ ३३२ ॥
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षयः।

मनोऽनुकूल पथ्य से लाभ—मन के विषय के अनुकूल आहार-विहार या पथ्य होने के कारण मन में सन्तोष, ऊर्जा, रुचि (उसे खाने के प्रति इच्छा), शारीरिक बल, सुखोपभोगता (सुखपूर्वक सेवन किया जाना) और इससे व्याधि (रोग) के बल का क्षय होता है।

वक्तव्य—यहाँ जो मन के विषय के अनुकूल पथ्य की चर्चा की गयी है, निश्चय ही यह सुलझे हुए रोगी के मन की बात है। इसके विपरीत मन वाले रोगी की चर्चा अगले पद्य में स्वयं तन्त्रकार ने की है। मनस्तोष स्वास्थ्य-लाभ के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यहाँ पर गीता के इस वाक्य को स्मरण रखना चाहिए—'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्'। अपने मन को पथ्य-सेवन के लिए या तो रोगी स्वयं समझाये या उसकी मित्र-मण्डली समझाये तभी हो सकता है। दूसरी विधि है—'कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्'।

लौल्याद् दोषक्षयाद् व्याधेर्वैधर्म्याच्चापि या रुचिः ॥ ३३३ ॥
तासु पथ्योपचारः स्याद् योगेनाद्यं विकल्पयेत्।

अपथ्य-निषेध—मानसिक चंचलता के कारण, दोष या दोषों का क्षय हो जाने के कारण अथवा व्याधि (रोग) की विधर्मता के कारण रोगी में जिस वस्तु का सेवन करने की ओर रुचि (इच्छा) उत्पन्न होती है, उन सभी स्थितियों में पथ्य आहार-विहार का ही प्रयोग कराना उचित होता है। यदि रोगी उन आद्य (भक्षणीय) पदार्थों का सेवन करना चाहता हो तो उस (भक्षणीय) पदार्थ को कल्पना (निर्माण) विधि की कुशलता से बदलकर रोगी को देना चाहिए, जिससे वह पदार्थ उसके मनोनुकूल हो जाय।

वक्तव्य—यहाँ 'लौल्य' शब्द का अर्थ है—जीभ आदि इन्द्रियों की या मन की चंचलता। यह 'लौल्य' सभी में भिन्न-भिन्न प्रकार का देखा जाता है। भोज्यप्रिय व्यक्ति का विविध प्रकार की चटपटी वस्तुओं को खाने के प्रति, अधिक क्या कहा जाय जिसे जिस इन्द्रिय-सुख की अधिक कामना रहती है, उस ओर उस रोगी की चंचलता देखी जाती है। दोषक्षयज रुचि—यह खाने, पीने, देखने, घूमने आदि में देखी जाती है। व्याधि के वैधर्म्य से, जैसे—स्निग्ध पुरुष की रूक्षपदार्थों के सेवन के प्रति, जिसका मुख मीठा हो गया हो उसकी अम्ल-पदार्थों के प्रति रुचि दिखलायी देती है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत के विचारों पर ध्यान दें—'अम्लेन केचिद् विहता मनुष्या माधुर्ययोगे प्रणयीभवन्ति। तथाम्लयोगं मधुरेण तृप्तास्तेषां यथेष्टं प्रवदन्ति पथ्यम् ॥ शीतोष्णतोयासवमद्य-यूषफलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम्। यस्यानुपानं तु हितं भवेद् यत् तस्मै प्रदेयं त्विह मात्रया तत् ॥ व्याधिं न कालं च विभाव्य धीरैर्द्रव्याणि भोज्यानि च तानि तानि'। सु० सू० अ० ४६।४१९-४२०। इन विधानों के बाद भी मानसिकलौल्य तथा जिह्वालौल्य में रोगी को स्वतन्त्रता का अवसर नहीं देना चाहिए। कभी-कभी कुछ रोगी यह कहते देखे-सुने जाते हैं, कि हमने अमुक बार इस प्रकार का अपथ्य सेवन किया था और हम उसी दिन से स्वस्थ हो गये, ऐसी निराधार बातें प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं।

तत्र श्लोकाः—

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निदानं लिङ्गमेव च ॥ ३३४ ॥
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा शिष्याणां हितकाम्यया।
शुक्रदोषास्तथा चाष्टौ निदानाकृतिभेषजैः ॥ ३३५ ॥

क्लैब्यान्युक्तानि चत्वारि चत्वारः प्रदरास्तथा।
तेषां निदानं लिङ्गं च भैषज्यं चैव कीर्तितम् ॥ ३३६ ॥
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ हेतुलिङ्गभिषग्जितैः।
रेतसो रजसश्चैव कीर्तितं शुद्धिलक्षणम् ॥ ३३७ ॥
उक्तानुक्तचिकित्सा च सम्यग्योगस्तथैव च।
[1]देशादिगुणशंसा च कालः षड्विध एव च ॥ ३३८ ॥
देशे देशे च यत् सात्म्यं यथा वैद्योऽपराध्यति।
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारिणाम् ॥ ३३९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—प्रस्तुत अध्याय में महर्षि आत्रेय ने शिष्यों की हितकामना से योनि में होने वाली बीस प्रकार की व्यापत्तियों अर्थात् बीस प्रकार के योनिरोगों का, उनके निदान, लक्षण तथा चिकित्सा का निर्देश किया है। निदान, लक्षण तथा चिकित्सा के साथ आठ प्रकार के शुक्रदोषों का, चार प्रकार की नपुंसकता का, चार प्रकार के प्रदररोगों का वर्णन निदान, लक्षण तथा चिकित्सा के साथ किया है। निदान, लक्षण तथा चिकित्सा के साथ आठ प्रकार के क्षीर (स्तन्य-दुग्ध) दोषों का वर्णन किया है। शुद्ध रेतस् (शुक्र) तथा शुद्ध रजस् (आर्तव) के लक्षणों को भी यहाँ कह दिया गया है। इस अध्याय तक कहे गये तथा नहीं कहे गये रोगों की चिकित्सा का प्रकार और उसके सम्यक् योग का वर्णन, देश, काल आदि के गुणों को जानने की आवश्यकता, छः प्रकार के काल का वर्णन, अलग-अलग देश में जो जिसके लिए सात्म्य (अनुकूल) होता है उसका वर्णन, जिस प्रकार चिकित्सा करने में वैद्य अपराध करता (चूक जाता) है तथा इसमें गूढचारी (शरीरावयवों में छिपे हुए) दोषों की चिकित्सा का भी वर्णन कर दिया है।

वक्तव्य—सन् १९२२ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में 'क्षीरदोषास्तथा…भिषग्जितैः' के नीचे एक पंक्ति और है, जो इस संस्करण में उद्धृत नहीं की गयी है। वह पंक्ति इस प्रकार है—'तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा समासव्यासतो मया'। यह विचारणीय है।

यो हि सम्यङ् न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च। न कुर्यात् स क्रियां चित्रमचक्षुरिव चित्रकृत् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
योनिव्यापच्चिकित्सितं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इति चिकित्सास्थानं समाप्तम्।

शास्त्रज्ञान का महत्त्व—जो चिकित्सक उचित प्रकार से आयुर्वेदशास्त्र को नहीं जानता है और उसके अर्थ (प्रयोजन) को नहीं जानता है, अर्थात् जिसे शास्त्र तथा उसके प्रयोग का ज्ञान नहीं है, उसे चिकित्सा करने का उस प्रकार अधिकार नहीं है, जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति को चित्र-रचना का अधिकार नहीं होता।

वक्तव्य—इस प्रसंग में हम महर्षि सुश्रुत के उन पद्यों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनसे महर्षि आत्रेय की उक्त भावना की पुष्टि हो रही है—'यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः। स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥ यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्ट्र्याच्छास्त्रबहिष्कृतः। स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः ॥ उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि। अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥ अतः—यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने। आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा' ॥ सु० सू० अ० ३।४८-५० तथा ५३। इनका आशय है कि चिकित्सक को रोगी तथा अपने हित के लिए शास्त्राभ्यास तथा कर्माभ्यास में निपुण होना चाहिए। कर्माभ्यास के अनेक पक्ष हैं, जैसे—औषधद्रव्य-परिचय, भैषज्यकल्पना-ज्ञान आदि।

---

[1] 'देशादिगुणयोगाश्च' इति पा०।

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । चिकित्सितमिदं स्थानं षष्ठं परिसमापितम् ॥३४१॥

उपसंहार——इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेश-तन्त्र नामक प्रस्तुत चरकसंहिता में यह छठा 'चिकित्सितस्थान' समाप्त कर दिया गया है।

वक्तव्य—ऐतिहासिक दृष्टि से यह पद्य भ्रामक प्रतीत होता है, जब कि ऊपर अध्यायान्त की पुष्पिका में हम इसे 'दृढबल-संपूरित' स्वीकार कर चुके हैं। अतः श्रीजयदेव ने इसे उद्धृत नहीं किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता चिकित्सास्थान में योनिव्यापच्चिकित्सित नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥

चिकित्सास्थानमात्मावद् विश्रुतं चरकस्य यत् ।
चन्द्रिका-टीकया पूर्णं तत् कृतं श्रीत्रिपाठिना ॥ १ ॥
प्राणिमात्रस्य कल्याणं पाठकानां विशेषतः ।
भूयादनेन याञ्चेयं विश्वनाथपदाब्जयोः ॥ २ ॥

इस प्रकार चिकित्सास्थान समाप्त हुआ ।

कल्पस्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातो मदनकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

चिकित्सास्थान का व्याख्यान करने के पश्चात् अब हम यहाँ से मदनकल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—लोकव्यवहार की दृष्टि से 'कल्प' शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। 'कृपू सामर्थ्ये' इस धातु से अच् अथवा घञ् प्रत्यय करने पर कल्प शब्द की रचना की गयी है। इसका अर्थ होता है—व्यवहार योग्य या समर्थ या व्यवहारोचित। कहीं यह शब्द थोड़ी न्यूनता को भी संकेतित करता है, जब यह किसी शब्द के साथ समस्त हो जाता है। यथा—'गुरुकल्पः' या 'कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्'। रघु० ५।३६। और भी अपने विषय का ज्ञाता, इस अर्थ में—'कल्पवित् कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम्'। रघु० १।९४। अन्य प्रयोग प्रसंगोचित न होने से यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं।

चिकित्सा-क्षेत्र में वमन-विरेचन का एक विशिष्ट महत्त्व है। इनके बिना सरलता से शरीर-शुद्धि नहीं करायी जा सकती। अतः इन विधियों का संक्षेप में स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है, किन्तु इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता था। इसलिए तन्त्रकार ने चिकित्सास्थान के अन्त में इसको अवसर दिया है। कायचिकित्सा के क्षेत्र में पञ्चकर्म-विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसमें भी वमन-विरेचन का प्रयोग अपरिहार्य है, इसलिए भी इसका वर्णन करना परम आवश्यक था। क्योंकि इस स्थान में वमन-विरेचन (दोनों विधियों) का वर्णन यथा-वसर किया गया है, तथापि विरेचन के लिए बस्ति-प्रयोग महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अतः कल्पस्थान के बाद उसका समावेश किया गया है। दूसरा एक कारण यह भी है—वमन का प्रमुख मार्ग मुख है, इसलिए भी सम्भवतः सिद्धिस्थान (जिसमें प्रधानतया विरेचन की व्यवस्था का निर्देश है), के पूर्व कल्पस्थान को अवसर दिया जाना उचित ही था। वमनकारक द्रव्यों में 'मदनफल' श्रेष्ठ होता है। यथा—'मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्'। च० सू० अ० २५।४० तथा सु० सू० अ० ४३।३। अतएव सर्वप्रथम उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। इसे कुमाउँनी भाषा में 'म्वालदाडिम' तथा 'मन्यूल' कहते हैं।

कल्पस्थान की निरुक्ति—'वमनविरेचनानां कल्पाः तिष्ठन्ति अस्मिन्, इति कल्पस्थानम्'। अर्थात् वमन तथा विरेचन द्रव्यों की विविध कल्पनाएँ इसमें स्थित हैं, अतः इसे कल्पस्थान कहते हैं। महर्षि आत्रेय ने कल्पस्थान को कल्पोपनिषद् भी कहा है। देखें—च० सू० अ० ४।४। यहाँ उपनिषद् शब्द का अर्थ है—'रहस्य (गूढार्थ) को प्रकाशित करने वाली विद्या'।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत——च० क० अ० १ से ६ तक 'वमन' शेष ७ से १२ तक के अध्यायों में 'विरेचन'। सु० सू० अ० ४१, ४३, ४४। सु० नि० अ० ३३, ३४। अ० सं० क० अ० १-२ तथा अ० हृ० क० अ० १-२।

अथ खलु [1]वमनविरेचनार्थं वमनविरेचनद्रव्याणां सुखोपभोगतमैः सहान्यैर्द्रव्यैर्विविधैः कल्पनार्थ-मेवार्थं विभागार्थं चेत्यर्थः,[2] तद् योगानां च क्रियाविधेः सुखोपायस्य सम्यगुपकल्पनार्थं कल्पस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! ॥ ३ ॥

---

१. 'अयं पाठो हस्तलिखित पुस्तके नोपलभ्यते।
२. 'भेदार्थं विभागार्थं चेत्यर्थः' इति पाठः क्वचित् पुस्तके न पठ्यते।

कल्पस्थान का प्रयोजन—अग्निवेश ! हम कल्पस्थान का उपदेश वमन तथा विरेचन के लिए, वमन और विरेचनकारक द्रव्यों को सुखपूर्वक उपभोग योग्य बनाने वाले द्रव्यों के साथ एवं विविध अन्य द्रव्यों के साथ कल्पना के लिए, योगों के भेद के लिए, विभाग के लिए, योगों की क्रियाविधि के लिए तथा रोगी को वे द्रव्य किस प्रकार दिये जायेंगे, उन सबकी कल्पनाओं के लिए करेंगे।

वक्तव्य—इस कल्पस्थान में वमनयोगों तथा विरेचनयोगों की विविध विधियों का यथाक्रम वर्णन किया जायेगा। अतः कौन द्रव्य किस विधि से प्रयोग कराने पर वमन कराते हैं और कौन द्रव्य विरेचन कराते हैं, उनके नाम तथा प्रयोग-विधियों का इसमें निर्देश किया जायेगा। वमनकारक द्रव्यों में मदनफल (मैनफल) तथा विरेचनकारक द्रव्यों में त्रिवृत् (निशोथ) प्रमुख हैं। अन्य द्रव्य द्वारा यहाँ सुरा, सौवीरक, कोविदार आदि का ग्रहण श्रीचक्रपाणि के अनुसार किया गया है। सुखोपभोग शब्द का यहाँ तात्पर्य है—जो वमनकारक अथवा विरेचनकारक द्रव्य अन्त तक सुखकारक हों, न कि केवल सेवनकाल में स्वाद आदि के कारण सुखद हों। वमन, विरेचन द्रव्यों के प्रयोग-भेदों को बतलाने के लिए तन्त्रकार ने इस प्रकार निर्देश किया है—'तदिह सङ्ग्रहेणोदाहृत्य विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः। त्रयस्त्रिंशद् योगशतं प्रणीतं फलेषु···श्यामात्रिवृद् योगशतं प्रणीतम्'। च० सू० अ० ४।४ के सम्पूर्ण गद्य को देखें। इसका विशेष व्याख्यान 'चरकचन्द्रिका' टीका में देखें।

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्; उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसंज्ञां लभते ॥ ४ ॥

वमन-विरेचन की परिभाषा—शरीर के ऊपरी भाग (मुख) द्वारा जो दोष का हरण कराया जाता है, उस क्रिया को वमन कहते हैं और शरीर के निचले भाग (गुद) द्वारा जो दोष का हरण कराया जाता है, उस क्रिया को विरेचन कहते हैं। अथवा दोनों ही क्रियाओं को शरीर का मल बाहर निकालने के कारण विरेचन कहा जाता है।

वक्तव्य—व्याकरण की दृष्टि से वमन तथा विरेचन शब्दों की निष्पत्ति इस प्रकार की गयी है—'टुवम् उद्गिरणे' धातु से अप् प्रत्यय करने पर अथवा 'वम' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'वमन' और अथुच् प्रत्यय करने पर 'वमथु' शब्दों की निष्पत्ति होती है। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं और वि उपसर्गपूर्वक 'रिचिर् विरेचने' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'विरेक' तथा 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'विरेचन' शब्द की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ तन्त्रकार ने सकारण वमन-विरेचन दोनों शारीरिक मल को निकालने वाले उपायों को विरेचन की संज्ञा दी है। अन्यत्र 'नस्य' की भी शिरोविरेचन संज्ञा देखी ही जाती है। श्रीचक्रपाणि के अनुसार जो यह विरेचन संज्ञा वमन-विरेचन के लिए प्रयुक्त की गयी है, इसे यौगिक न मानकर 'पंकज' शब्द की भाँति योगरूढ स्वीकार करना चाहिए।

तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसङ्घातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः [1]परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते, सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः प्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुणत्वात्। इति लक्षणोद्देशः ॥ ५ ॥

वमन-विरेचन लक्षण-निर्देश—वमनकारक द्रव्यों के प्रयोग से संचित दोष ऊपरी भाग से बाहर आते हैं और विरेचनकारक द्रव्यों के प्रयोग से संचित दोष जिस प्रकार निचले भाग से बाहर आते हैं, उस विधि का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी तथा विकासी गुणवाली ओषधियाँ अपने-अपने वीर्य (शक्ति) से हृदय (श्लेष्माशय) में पहुँचकर धमनियों द्वारा अथवा धमनियों का अनुसरण करके स्थूल एवं सूक्ष्म स्रोतों से केवल (सम्पूर्ण) शरीर में स्थित दोषसमूह को अग्निगुण-प्रधान होने के कारण पिघला देती हैं, तीक्ष्ण होने के कारण छिन्न-भिन्न कर देती हैं, अर्थात् समूहरूप में स्थित दोषसमूह का छेदन कर

1. 'परिप्लवः' इति पा०।

देती हैं। इस प्रकार बिखरा हुआ वह दोषसमूह इधर-उधर जाता हुआ स्नेह से भावित उस रोगी के शरीर में स्नेह (घी-तैल आदि) से चिकने किये गये मिट्टी के पात्र में रखे गये मधु की भाँति न चिपकता हुआ, अणु (छोटे से छोटा) होने के कारण तथा कोष्ठ की ओर जाने के लिए तत्पर होने के कारण वह दोष आमाशय में आकर उदानवायु द्वारा ऊपर की ओर प्रवृत्त होकर, अग्नि और वायु की उन द्रव्यों में प्रधानता होने के कारण, ऊपर की ओर से दोषों को निकालने का विशेष प्रभाव होने के कारण उस दोषसमूह को ऊपर की ओर फेंक देता है और विरेचनकारक औषधद्रव्यों में जल तथा पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होने के कारण तथा अधोभाग के दोषों को निकालने का उनमें प्रभाव होने से वे औषध द्रव्य दोष को साथ लेकर नीचे के मार्ग से बाहर की ओर निकलते हैं। जिन औषधद्रव्यों में उभयमार्गहर तथा अधोमार्गहर दोनों गुण होते हैं, वे द्रव्य अपने प्रभाव से दोषों को ऊपर तथा नीचे के मार्ग से प्रवृत्त कराते हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के द्रव्यों के लक्षण कह दिये हैं।

वक्तव्य—उक्त गद्य द्वारा वमनकारक द्रव्यों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है और विरेचनकारक द्रव्यों का सूक्ष्मरूप में वर्णन किया है, ऐसा कुछ टीकाकारों ने तन्त्रकार पर आक्षेप किया है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। कारण यह है कि विरेचनकारक द्रव्य भी वमनकारक द्रव्यों की भाँति उपर्युक्त उष्ण, तीक्ष्ण आदि गुण-सम्पदा से सम्पन्न तो होते हैं, परन्तु वे आग्नेय तथा वायव्य गुणों से युक्त नहीं होते, अतएव वे दोष को ऊपर की ओर प्रवृत्त नहीं कराते, क्योंकि उन द्रव्यों में जलीय तथा पार्थिव तत्त्व अधिक होता है, इसलिए वे द्रव्य अपने स्वभाव के अनुसार दोष को नीचे की ओर प्रवृत्त कराते हैं। आप देखें—जल की गति स्वभावतः नीचे की ओर होती है और पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी सुप्रसिद्ध ही है। विरेचन में मल को नीचे की ओर ले जाने में अपानवायु का सहयोग रहता ही है।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार—'तत्र विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि पृथिव्यापो गुर्व्यः तानि गुरुत्वादधो गच्छन्ति, तस्माद् विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। वमनद्रव्याणि अग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद् वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्। उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्, आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनं साङ्ग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं तत्समानत्वात्, लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठं, बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्, एवमौषधकर्माण्यनुमानात् साधयेत्'। सु० सू० अ० ४१।६। और भी देखें—'तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्याददीत, अग्न्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं बलवत्तराणि भवन्ति'। सु० सू० अ० ३७।६। तथा—'सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम्। वमनं तु हरेद् दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा' ॥ सु० चि० अ० ३३।३३। इसी विषय को महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार कहा है—'ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्'। च० सू० अ० २६।६९। यहाँ प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। विरेचन तथा वमनकारक द्रव्यों में गुणों की समानता होने पर भी कार्य की भिन्नता का कारण स्वभाव (प्रभाव) ही है, क्योंकि महर्षि चरक ने प्रभाव को अचिन्त्य माना है। देखें—च० सू० अ० २६।७०। महर्षि आत्रेय ने यहाँ जो वामक विरेचन द्रव्यों में भेद दिखलाया है, वह इस प्रकार है—आग्नेय एवं वायव्य द्रव्य लघु होते हैं, अतएव इनकी ऊर्ध्वगति होती है। इसके विपरीत विरेचक द्रव्य पार्थिव तथा जलीय होने के कारण गुरु होते हैं, अतः इनकी गति नीचे की ओर होती है। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं, जिनमें दोनों प्रकार के (वमनकारक तथा विरेचनकारक) गुण होते हैं, वे वमन तथा विरेचनकारक होते हैं। सामान्य दृष्टि से सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं, फिर भी किसी में किसी महाभूत की विशेषता देखी जाती है तो दूसरे में दूसरे महाभूत की। अतः जिस द्रव्य में जिस भूत (पृथिवी आदि) की विशेषता देखी जाती है, उसे तदात्मक कहते हैं; अर्थात् जिसमें पृथिवीतत्त्व की अधिकता होती है, उसे पार्थिव या पृथिवीतत्त्व-प्रधान द्रव्य कहा जाता है।

आधुनिक दृष्टि से वमनकारक द्रव्यों को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है—१. स्थानीय वमन द्रव्य और २. केन्द्रीय वमनद्रव्य। इसका विस्तृत विवेचन च० सू० अ० २ तथा ४ की चरकचन्द्रिका टीका में देखें तथा सु० चि० अ० ३३ एवं ३४ का अवलोकन करें। इसी प्रकार विरेचनकारक द्रव्यों को भी दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है—१. अन्त्र की तरंगगति में वृद्धि कराकर और २. अन्त्र के स्राव में वृद्धि कराकर। इन्हें निम्नलिखित भेदों द्वारा विभक्त किया गया है—१. मृदुविरेचक या सारक (Laxative) २. मृदु-

विरेचक (Simple purgatives), ३. उग्र या तीव्र विरेचक (Drastic purgatives). ४. सेलाइन या लवणविरेचक (Saline purgatives). ५. पित्तवर्धी या पित्तरेचक (Cholagogue)।

तत्र फल-जीमूतकेक्ष्वाकु-धामार्गव-कुटज-कृतवेधनानां, श्यामा-त्रिवृच्चतुरङ्गुल-तिल्वक-महावृक्ष-सप्तला-शङ्खिनी-दन्ती-द्रवन्तीनां च, नानाविधदेशकालसम्भवास्वाद-रस-वीर्य-विपाक-[1]प्रभावग्रहणाद् देह-दोष-प्रकृति-वयो-बलाग्नि-भक्ति-सात्म्य-रोगावस्थादीनां [2]नानाप्रभाववत्त्वाच्च, विचित्रगन्ध-वर्ण-रस-स्पर्शानाम्[3]उपयोगसुखार्थमसङ्ख्येयसंयोगानामपि च सतां द्रव्याणां विकल्पमार्गोपदर्शनार्थं षड्विरेचनयोगशतानि व्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥

वमन तथा विरेचन द्रव्य—उन (वमन एवं विरेचनकारक द्रव्यों) में फल (मदनफल), जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (कडुई लौकी), धामार्गव (पीले फूल की घिया, तोरई, नेनुआँ), कुटज तथा कृतवेधन (रेखाओं वाली तरोई)—(ये द्रव्य वमनकारक होते हैं), श्यामा (कालीनिशोथ), त्रिवृत् (सफेद निशोथ), चतुरंगुल (अमलतास), तिल्वक (लोध), महावृक्ष (स्नुही, थूहर), सप्तला (सातला), शंखिनी, दन्ती (जमालगोटा का बीज), द्रवन्ती (बड़ी दन्ती के बीज)—(ये द्रव्य विरेचनकारक होते हैं)। इनके अनेक प्रकार के देशों तथा भिन्न-भिन्न कालों में उत्पन्न होने के कारण तथा द्रव्यों के स्वाद, रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के भेद से, रोगी के शरीर तथा उससे सम्बन्धित दोष, प्रकृति (स्वभाव), वय (अवस्था), बल, अग्नि, भक्ति (रुचि), सात्म्य, रोग की अवस्था के नानाप्रकार के प्रभावों के होने से, विभिन्न प्रकार की गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्शों का उपयोग सुख को प्राप्त करने के लिए असंख्य संयोग होने पर भी औषधयोगों की कल्पनाओं (रचनाओं) के मार्गों (विधियों, पद्धतियों) का निर्देश करने के लिए हम यहाँ छः सौ विरेचनयोगों की व्याख्या करेंगे।

वक्तव्य—चरकसंहिता-सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय का नाम 'षड्विरेचनशताश्रितीय' है। यहाँ वमन तथा विरेचन द्रव्यों का वर्णन करने पर भी तन्त्रकार का कथन है, कि हम इसका विस्तार से वर्णन कल्पस्थान में करेंगे। ऊपर कहे गये द्रव्यों के परस्पर बुद्धिपूर्वक संयोग द्वारा अनेक कल्पनाओं की योजनाएँ विद्वान् चिकित्सक द्वारा की जा सकती हैं, अल्पज्ञों के लिए ये भेद पर्याप्त हैं। द्रव्यों के गुण-धर्मों में देश, काल आदि के भेद से गुण आदि में भेद देखा जाता है। इसीलिए कहा गया है—'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्'। इसका अभिप्राय है—जो प्राणी जिस देश में उत्पन्न होता है, उसी जलवायु में उत्पन्न औषधद्रव्य उसके लिए हितकर होते हैं। अतः देश, काल आदि का चिकित्सा में विशेष विचार किया जाता है। यही आकर्षण है—'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' कहने में। यहाँ 'षड्विरेचनशतानि' वाक्य का तात्पर्य है—'ऊर्ध्वविरेचन (वमन) तथा अधोविरेचन (जो विरेचन नाम से ही प्रसिद्ध है)।

महावृक्ष—सामान्य रूप से बरगद, पीपल आदि वृक्षों को 'महावृक्ष' कहा जाता है। ये वृक्ष धार्मिक दृष्टि से, आकार में बड़े होने से तथा दीर्घायु होने से अपने नाम की सार्थकता को सिद्ध करते हैं। इनकी तुलना में सेहुंड (थूहर) वृक्ष को महावृक्ष कहना कुछ अटपटा-सा लगता है, किन्तु थूहर की अनेक जातियाँ उपलब्ध होती हैं। जैसे—१. त्रिधार, २. सप्तधार, ३. छीमिया आदि। इन सबमें E. Nivulia Buch-Ham इस थूहर को 'महावृक्ष' इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी ऊँचाई २५ से ३० फीट तक देखी जाती है। यह ठीक वैसा ही महावृक्ष है, जैसे 'अंधों में काना राजा' अथवा 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'। सूक्ति।

तानि तु द्रव्याणि देश-काल-गुण-भाजन-सम्पद्वीर्यबलाधानात् क्रियासमर्थतमानि भवन्ति ॥७॥

द्रव्यों की समर्थता में कारण—वे वमन तथा विरेचनकारक द्रव्य देश, काल, गुण, भाजन (औषध रखने का पात्र) की संपत्ति (योग्यता) के कारण वीर्य (शक्ति) की अधिकता से क्रिया (चिकित्सा-कार्य) में अधिक समर्थ होते हैं।

१. 'प्रभावग्रहणानाम्' इति पा०।
२. 'रोगावस्थादिनानात्मकत्वाच्च' इति पा०।
३. 'मुपभोगसुखार्थं' इति पा०।

वक्तव्य—औषधद्रव्य के अनुकूल देश, काल आदि के होने से उसमें गुणों की अधिकता हो जाती है, इसके विपरीत स्थिति में वही औषधद्रव्य हीनवीर्य होने के कारण अपना पूरा कार्य नहीं कर पाता है।

त्रिविधः खलु देशः—जाङ्गलः, आनूपः, साधारणश्चेति। तत्र जाङ्गलः पर्याकाशभूयिष्ठः, तरुभिरपि च कदर-खदिरासनाश्वकर्ण-धव-तिनिश-शल्लकी-साल-सोमवल्क-बदरी-तिन्दुकाश्वत्थ-वटा-मलकीवनगहनः, अनेकशमी-ककुभ-शिंशपाप्रायः, स्थिरशुष्कपवनबलविधूयमानप्रनृत्यत्तरुणविटपः, प्रततमृगतृष्णिकोपगूढतनुखरपरुषसिकताशर्कराबहुलः, लावतित्तिरिचकोरानुचरितभूमिभागः, वातपित्त-बहुलः, स्थिरकठिनमनुष्यप्रायो ज्ञेयः;

देश के तीन भेद—सामान्य दृष्टि से देश तीन प्रकार का होता है—१. जांगल, २. आनूप और ३. साधारण।

१. जांगलदेश के लक्षण—उक्त तीन प्रकार के देशों में जांगलदेश चारों ओर से आकाशभूयिष्ठ (खुला) होता है। कदर (श्वेतखदिर), खदिर (लाल खैर), असन (विजयसार), अश्वकर्ण (सालभेद), धव, तिनिश, शल्लकी (शलई), साल (साखू), सोमवल्क, बेर, तेंदू, पीपल, बरगद तथा आँवलों के पेड़ जहाँ पर्याप्त मात्रा में पैदा होते है। अर्थात् इन वृक्षों का जिस प्रदेश में घना जंगल स्वाभाविक रूप से विराजमान हो। शमी, ककुभ (अर्जुन या कोह) एवं शीशम के वृक्ष जहाँ अधिक मात्रा में पैदा होते हैं। जिस देश के तरुण अतएव स्थिर वृक्ष शुष्क पवन (पछुआ हवा) के वेग से मानो नाच से रहे हों, अर्थात् जांगलप्रदेश की वायु में गीलापन नहीं होता। इस देश में अधिकांश मृग चमकते हुए बालू के कणों को देखकर जल का भ्रम कर बैठते हैं, यह भ्रम बालू के कणों को चमकते हुए देखकर होता रहता है, वहाँ बारीक, खुरदरी तथा कठोर बालू की अधिकता रहती है। उस भू-भाग में लवा, तीतर, चकोर ये पक्षी घूमते हुए पाये जाते हैं। उस देश में वात तथा पित्तदोष की अधिकता होती है। वहाँ के निवासी पुरुष स्थिर तक कठिन शरीर वाले होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

वक्तव्य—आयुर्वेदीय निघण्टुओं में खदिर के अतिरिक्त कदर (श्वेतखदिर) तथा अरिमेद या इरिमेद (विट्खदिर) का भी वर्णन मिलता है। विट्खदिर की जड़ में से दुर्गन्ध निकलती है, अतः इसे 'गूहिया बबूल' भी कहते हैं। कदर का पर्याय 'सोमवल्क' है। लैटिन में इसे 'Acacia suma Buch-Ham' कहते हैं। इसकी बाहरी छाल सफेद होती है। ऊपर सोमवल्क का नामतः उल्लेख किया है, अतः इस पर विचार करना चाहिए। यदि यह कदर का ही पर्याय होता तो एक ही वृक्ष का पुनः निर्वचन तन्त्रकार क्यों करते। इससे यह सिद्ध होता है कि सोमवल्क कदर से भिन्न द्रव्य है। वैद्यकशब्दसिन्धु के अनुसार 'सोमवल्क' शब्द कट्फल, करञ्ज, रीठाकरंज, श्वेतखदिर, बबूरवृक्ष के अर्थों में प्रयुक्त होता है।

अथानूपो हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहनः, सरित्समुद्रपर्यन्तप्रायः, शिशिरपवनबहुलः, वञ्जुलवानीरोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगतभूमिभागः, क्षितिधरनिकुञ्जोपशोभितः, मन्दपवनानुवीजितक्षितिरुहगहनः, अनेकवनराजीपुष्पितवनगहनभूमिभागः, स्निग्धतरुप्रतानोपगूढः, हंस-चक्रवाक-बलाका-नन्दीमुख-पुण्डरीक-कादम्ब-[1]मद्गु-भृङ्गराज-शतपत्र-मत्तकोकिलानुनादिततरुविटपः, सुकुमार-पुरुषः, पवनकफप्रायो ज्ञेयः;

२. आनूपदेश के लक्षण—इस प्रकार के देश में हिन्ताल (यह खजूर का ही एक भेद है, जिसे लैटिन में 'P. Paludosa Roxb' कहते हैं। राजनिघण्टु में खजूर के अनेक भेदों का वर्णन है। यथा–खर्जूरी, पिण्ड-खर्जूरी, राजखर्जूरी, मधुखर्जूरी, भूखर्जूरी। भावमिश्र ने खर्जूरीत्रितय का वर्णन किया है।), तमाल, नारियल तथा केले के सघन वन होते हैं। इस देश की नदियाँ प्रायः समुद्र तक जाने वाली होती हैं। यहाँ प्रायः शीतल पवन चला करता है, वंजुल (बेत), वानीर (जलबेत) के झुरमुटों से नदियों के तट सुशोभित रहते हैं। यह देश अनेक पर्वतों तथा कुञ्जों (लताओं तथा पौधों से आच्छादित स्थानों) से सुशोभित रहता है। यहाँ मन्द-मन्द वायु से वृक्षों के वन हिलते-डुलते रहते हैं, यहाँ के अनेक भूमिभाग पुष्पित लताओं तथा सघन वनों से युक्त रहते

१. 'मद्गुकोयष्टीभृङ्गराजपुंस्कोकिलानुनादितः' इति पा०।

हैं, स्निग्ध (हरे-भरे) एवं सुकोमल वृक्षों के फैलाव से यह प्रदेश चारों ओर से घिरा रहता है, हंस, चक्रवाक (चकवा), बलाका (बगुलों की कतार), नन्दीमुख (पानी में तैरने वाली पक्षिजाति, सुश्रुत सू० अ० ४६ के अनुसार व्रीहिजाति का एक अन्न), पुण्डरीक (यद्यपि यह शब्द श्वेतकमल के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ प्राणियों की गणना के प्रसंग में उक्त अर्थ प्रसंगोचित प्रतीत नहीं होता है, अतः यहाँ **'दर्वीकर'** तथा **'राजिमान्'** सर्पों का ग्रहण करना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। देखें—सु० क० अ० ४।३४), कादम्ब (कलहंस), मद्गु (जल कौआ), भृंगराज (वैद्यकशब्दसिन्धु के अनुसार—भौम राजपक्षी), शतपत्र (मयूर या काष्ठकुट्ट, कठफोड़वा—वैद्यकशब्दसिन्धु), मत्तकोकिल इन पक्षियों के कलरव से युक्त यहाँ के छोटे तथा बड़े पेड़ होते हैं। यहाँ के निवासी पुरुष सुकुमार, वात तथा कफ प्रकृति वाले होते हैं।

अनयोरेव द्वयोर्देशयोर्वीरुद्-वनस्पतिवानस्पत्यशकुनिमृगगणयुतः स्थिरसुकुमारबलवर्णसंहननोपपन्नसाधारणगुणयुक्तपुरुषः साधारणो ज्ञेयः ॥ ८ ॥

३. साधारण देश के लक्षण—इन्हीं (पूर्वोक्त) दोनों देशों की वीरुद् (लताएँ), वनस्पतियाँ (जिनमें बिना फूल के फल लगते हैं), वानस्पत्य (जिनमें फूल लगने के बाद फल लगते हैं), शकुनि (पक्षी—गीध, चील, बाज आदि) तथा मृगसमूह से युक्त होते हैं। इस देश में उत्पन्न होने वाले पुरुष स्थिर, सुकुमार, बल, वर्ण, संहनन (गठीलापन, दृढ़ता) आदि गुणों से युक्त होते हैं, ऐसे देश को साधारण देश कहते हैं।

वक्तव्य—चरक-विमानस्थान अ० ३।८ में देश भेद (जांगल, आनूप, साधारण) का इस प्रकार संक्षिप्त वर्णन किया गया है—'अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः। ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च॥ प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः। अनूपो बहुदोषश्च समः साधारणो मतः' ॥ यहाँ उसी विषय का जो विस्तार से वर्णन किया गया है, यह तन्त्रकार की अपनी शैली है। इसके पहले भी प्रस्तुत संहिता में अनेक स्थलों पर विभिन्न विषयों को संक्षेप-विस्तार से कहा जा चुका है। श्रीचक्रपाणि का कथन है कि कुछ विद्वान् कल्पस्थानोक्त इस देश-विभाग को अनार्ष मानते हैं, किन्तु यहाँ ऐसा मानना तन्त्रकार की वर्णन शैली से अपने को अपरिचित सिद्ध करना मात्र है। आप देखें, महर्षि आत्रेय स्वयं कहते हैं—'औषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीक्षा वक्ष्यते'। च० वि० अ० ८।९३। इस प्रकार का संकेत करने के बाद भी यदि कोई विद्वान् यहाँ के एतत्सम्बन्धी पाठ को अनार्ष स्वीकार करे तो वह उसका दुराग्रह ही कहा जा सकता है। ऊपर जो तीन प्रकार के देशों का वर्णन किया गया है, इनमें आरोग्यप्रद देशों की दृष्टि से मरुभूमि को उत्तम माना गया है इसी को जांगलदेश भी कहते हैं और आनूपदेश को अहित देश अर्थात् रोगोत्पादक देश कहा गया है। देखें—च० सू० अ० २५।४०। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि १९२२ ई० की निर्णयसागरीय चरकसंहिता में उक्त पाठ मूल रूप में दिया है और १९४१ ई० वाली निर्णयसागरीय प्रति में वही पाठ कोष्ठक के भीतर दिया है, किन्तु श्लोकों की संख्या क्रमशः दी गयी है।

तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणोदके श्मशान-चैत्य-देवयजनागार-सभा-श्वभ्राराम-वल्मीकोषरविरहिते कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते ॥

प्रशस्त औषधद्रव्यों के लक्षण—उपर्युक्त तीनों प्रकार के देशों में से साधारण अथवा जांगलदेश में जहाँ समयानुसार सर्दी, गर्मी, वायु, जल (वर्षा) होता है, अर्थात् जहाँ तीनों मौसम अपने-अपने समय पर होते हों और उन-उन मौसमों के अनुकूल हवा चलती हो, जहाँ की भूमि समतल हो, पवित्र हो, दक्षिण की ओर जलाशय (नदी, तालाब, कुआँ, बावड़ी आदि) हो, श्मशान, चैत्य (स्मारक, समाधि-प्रस्तर, यज्ञमण्डप, पूजा का स्थान, वेदी, बौद्ध या जैन मन्दिर, बरगद, पीपल, गूलर आदि का पेड़), देवपूजागृह, सभामण्डप (जहाँ समाज इकट्ठा होता हो), श्वभ्र (गड्ढा), आराम (बगीचा), वल्मीक (दीमकों द्वारा बनाया गया मिट्टी का टीला) तथा ऊषर (खारी मिट्टी वाली भूमि) से रहित हो, जिस प्रदेश में कुश एवं रोहिष तृण दूर तक उगे हों, जहाँ की मिट्टी चिकनी, काली तथा मधुर हो अथवा सोने के वर्ण की (पीली) तथा मधुर (आकर्षक, मनोहर) हो, जो भूमि मृदु (सुकोमल) हो, जिस पर कभी हल न चलाया गया हो, जहाँ कोई विशाल वृक्ष

ऐसा न हो जिसकी छाया से ओषधियों को हानि पहुँचती हो, ऐसे देश या स्थान में उत्पन्न ओषधियाँ सर्वगुणसम्पन्न कही जाती हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वतरि ने 'भूमिप्रविभागीय' नामक अध्याय (सु० सू० अ० ३६) में सर्वप्रथम भूमि को दो भाग में इस प्रकार विभक्त किया है—१. सामान्य और २. विशेष। तदनन्तर इन भूमियों की परीक्षा की चर्चा की है। उस पर कई आचार्यों ने मतभेद प्रकट करते हुए अपने-अपने मतों को उपस्थापित किया है। यह विषय मननीय है, इसे देखें। 'स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा'—भूमि के भीतर अनेक प्रकार के रत्न छिपे हैं, अतएव इसे 'बहुरत्ना वसुन्धरा' कहा है। इसी प्रकार इसमें विभिन्न वर्णों वाली मिट्टियाँ भी पायी जाती हैं। प्रायः बालकों तथा गर्भिणी स्त्रियों को मिट्टी खाते देखा जाता है, सचमुच उन्हें मिट्टी का स्वाद मधुर लगता होगा। पाण्डुरोग के निदान में भी मिट्टी खाना एक कारण बतलाया गया है। 'मधुर' शब्द का एक अर्थ सुहावना, मनोहर, चित्ताकर्षक भी होता है, यहाँ मधुर शब्द का मीठा अर्थ न होकर ऐसा ही कुछ है। आप भी विचार करें।

तत्र यानि कालजातान्युपागतसम्पूर्णप्रमाण-रसवीर्य-गन्धानि[1] कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्ध-वर्ण-रस-स्पर्श-प्रभावाणि प्रत्यग्राण्युदीच्यां दिशि स्थितानि; तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षावसन्तयोर्ग्राह्यं, ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा शीर्णप्ररूढपर्णानां, शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि, हेमन्ते साराणि, यथर्तु पुष्पफलमिति; मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः सम्पूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात् ॥ १० ॥

औषधद्रव्यों की संग्रह-विधि—उक्त प्रकार के प्रशस्त देश (भूमि, स्थान) में उत्पन्न तथा उसमें भी अपने समय पर जो औषधद्रव्य उत्पन्न हों, जिनका परिमाण (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) अपने (उस द्रव्य के) अनुरूप हो, जिनमें द्रव्य में रहने वाले समस्त गुण—रस, वीर्य, गन्ध आदि सम्पूर्ण हो चुके हों; काल, आतप (धूप), अग्नि, जल, वायु, जन्तु (कृमि) इनके प्रभाव के कारण जिन औषधद्रव्यों के गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श तथा प्रभाव नष्ट न हुए हों, ताजे तथा उत्तर दिशा में उत्पन्न होने वाले औषधद्रव्यों को; उनके शाखा, पत्रों को जो पुराने न हुए हों उन्हें वर्षा तथा वसन्त ऋतु में ग्रहण करना चाहिए, ग्रीष्म ऋतु में मूलों (जड़ों) का संग्रह करना चाहिए। जैसे—वत्सनाभ अथवा मूल द्रव्यों का संग्रह शिशिर ऋतु में उस समय करना चाहिए, जब पुराने पत्ते झड़ चुके हों और नये पत्ते अंकुरित होने लगे हों। शरत् ऋतु में पेड़ों की छालें, कन्द (विदारीकन्द आदि) एवं दूधों का संग्रह करना चाहिए, हेमन्तऋतु में सारों का, जैसे—खदिरसार। ऋतु के अनुसार फूलों तथा फलों का संग्रह करना चाहिए, अर्थात् जो फूल तथा जो फल जिस ऋतु में अपने गुण-धर्म से परिपूर्ण होता हो, उसका उसी समय में ग्रहण करे। इसके अतिरिक्त औषधद्रव्य-संग्रह करने वाला व्यक्ति उपवास करके, मंगल (शुभ) आचार से युक्त होकर, कल्याण की भावना रखकर, मन, वचन तथा कर्म से पवित्र होकर, सफेद वस्त्रों को धारण करके, देवता, अश्विनीकुमारों, गाय तथा ब्राह्मण इन सबकी यथाविधि पूजा करके पूरब की ओर या उत्तर की ओर मुख करके औषधद्रव्य का ग्रहण करे।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य में दो बार 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रथम 'काल' शब्द का तात्पर्य है—'कालसम्पत्' जो एक प्रकार का गुण है और दूसरे 'काल' शब्द का तात्पर्य है—अकाल, अतीतकाल जो औषध संग्रह की दृष्टि से एक प्रकार का दोष है। **उदीच्यां दिशि स्थितानि**—उत्तर दिशा को औषधद्रव्यों की प्राप्ति की दृष्टि से अन्यत्र भी शुभ माना है। जैसे—'हिमवानौषधभूमीनाम्'। च० सू० अ० २५।४०। सभी प्रकार के औषधद्रव्य हिमालय प्रदेश में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, उन्हें उन-उन स्थानों से ही संग्रह करना चाहिए, जैसे—चन्दन को मलयाचल से। अचिर प्ररूढ़ शाखाओं तथा पत्तों का संग्रह वसन्त अथवा वर्षा ऋतु में करना चाहिए, इसका तात्पर्य है कि जब तक शाखाएँ सुकोमल हों और पत्ते सरस हों उसी समय इनका संग्रह करें, नकि कठोर तथा निःसार हो जाने पर। यहाँ ध्यान देने की बात यह है, कि सुश्रुत ने वर्षाऋतु को भाद्रपद तथा आश्विन में माना है, देखें—सु० सू० अ० ६।१०। इन दिनों वर्षा प्रायः कम हो जाती है। ऐसे ही अवसर पर औषध का संग्रह करें।

१. 'न्यागतसम्पूर्णप्रमाणरसवीर्यगन्धानि' इति पा०।

शल्यशास्त्र (सुश्रुत) में वात आदि दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशम को ध्यान में रखकर ही उक्त (सु० सू० अ० ६।१०) गद्य में वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् इस प्रकार छः ऋतुएँ मानी गयी हैं। इसके पहले इसी प्रकरण के छठे गद्य में सामान्य ऋतु-क्रम का भी वर्णन किया गया है, जिसे महर्षि आत्रेय ने च० सू० अ० ६ में स्वीकार किया है, किन्तु आगे चलकर महर्षि आत्रेय ने भी च० वि० अ० ८।१२५ में संशोधन को ध्यान में रखकर सुश्रुतोक्त ऋतु-विभाजन को स्वीकार किया है।

यथर्तुपुष्पफलम्—यद्यपि फूल अधिकांशतः वसन्त ऋतु में देखे जाते हैं, तदनन्तर फलों की प्राप्ति होती है। किन्तु इसके अपवाद भी मिलते हैं। अतएव कहा गया है—'पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्'। भर्तृहरिशतक। इसलिए जो फूल और जो फल जिस ऋतु में प्राप्त हों, उसी अवसर पर उसका ग्रहण करना चाहिए। मंगलाचार तथा पूजाविधि के लिए शास्त्रज्ञ ब्राह्मण की उपासना करे।

सुश्रुतोक्त औषधद्रव्य-संग्रह-विधि—महर्षि सुश्रुत दूसरों के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं—प्रावृट्, वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमशः मूल (जड़), पत्र (पत्ते), त्वचा, क्षीर (दूध), सार एवं फलों का ग्रहण करना चाहिए, यह उचित नहीं है। क्योंकि संसार का निर्माण आग्नेय तथा सौम्यतत्त्वों से हुआ है, इसलिए सौम्य औषधद्रव्यों को सौम्य ऋतुओं अर्थात् दक्षिणायन में होने वाली तीन ऋतुओं में लेना चाहिए और आग्नेय औषधद्रव्यों को आग्नेय ऋतुओं अर्थात् उत्तरायन में होने वाली तीन ऋतुओं में ग्रहण करना चाहिए। इस विधि से ग्रहण किये गये औषधद्रव्य अदूषित गुण वाले होते हैं। देखें—सु० सू० अ० ३६।५ तथा ६।

गृहीत्वा [1]चानुरूपगुणवद्भाजनस्थान्यागारेषु प्रागुदग्द्वारेषु निवातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहार-बलिकर्मवत्सु, अग्नि-सलिलोपस्वेद-धूम-रजो-मूषक-चतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत् ॥ ११ ॥

औषधद्रव्यों की रक्षण-विधि—उपर्युक्त प्रकार से औषधद्रव्यों का यथावत् संग्रह करके उस-उस औषधद्रव्य के गुणों के अनुकूल गुण वाले पात्रों में रखे हुए घरों में जो (घर) पूर्व की ओर द्वार वाले अथवा उत्तर की ओर द्वार वाले हों, जिन घरों में हवा का सीधा प्रवेश तो न हो सकता हो किन्तु जो हवा युक्त हों, ऐसे कमरों में जहाँ प्रतिदिन फूलों द्वारा देवताओं की पूजा की जाती हो, उपहार चढ़ाया जाता हो, बलिकर्म किया जाता हो, जिस घर में आग, पानी, उपस्वेद (जमीन से निकलने वाली भाप), धुआँ, धूलि, चूहा तथा चतुष्पद (पशु) आदि का प्रवेश न हो सके, ऐसे घर में या घरों में उन औषधद्रव्यों को भली-भाँति ढँक कर अथवा शिक्य (छींका, Swing; made of rape) में लटकाकर रखना चाहिए।

वक्तव्य—औषधद्रव्यों को संग्रह करके एक स्थान पर सुरक्षित रखने की विधि का ऊपर वर्णन किया गया है। अब यहाँ स्थान तथा पात्रों की स्थिति का परिचय कराया जा रहा है।

अनुरूपगुणवद्भाजन—औषधद्रव्य सूखे तथा गीले-भेद से दो प्रकार के लिये जाते हैं। सूखे द्रव्यों को तो पात्रों में भरकर रखा जा सकता है, किन्तु गीले द्रव्यों को हवादार कमरे में फैलाकर रखा जा सकता है। पात्रों की गुणवत्ता का विचार इस प्रकार करें, जैसे—पकी हुई इमली का संग्रह करना है तो इसे मिट्टी के घड़े में ही अधिक सुरक्षित रखा जा सकता है अथवा शीशे के जार में। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी समझें।

निवातप्रवातैकदेशेषु—निवात—'निवृत्तः वातः यस्मिन्' अर्थात् वायु से सुरक्षित अथवा जहाँ वायु का सीधा प्रवेश न हो। प्रवात—'प्रकृष्टः वातः यस्मिन्'। आँधी, तूफान, वायु का झोंका अर्थात् जहाँ हवा का सीधा प्रवेश होता हो, अथवा हवादार स्थान। यहाँ भी तन्त्रकार का दृष्टिकोण सूखे द्रव्यों को निवात स्थान में रखने का और गीले द्रव्यों को हवादार स्थान में रखने का है। यह वायु भी दो प्रकार की होती है—१. पूरब की ओर से आने वाली वायु के स्पर्श से द्रव्य, अन्न आदि चिर-स्थिर नहीं रह पाते हैं। २. पश्चिम की ओर से आने वाली वायु संगृहीत द्रव्यों को सुरक्षित रहने में सहायता करती है।

औषधद्रव्यों के संग्रह-कार्य में इस बात का पूरा ध्यान रखें कि सभी द्रव्यों के गुण-धर्म परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः उन्हें अलग-अलग रखना चाहिए, इसीलिए तन्त्रकार ने सबके लिए अलग-अलग पात्रों की

---

१. 'चानुरूपगुणवद्भाजने संस्थाप्यागारेषु' इति पा०।

व्यवस्था करने के लिए कहा है। इस प्रकार रखे हुए उक्त द्रव्यों को एक कमरे में या अनेक कमरों में रखें, यह ध्यान रहे कि वे संगृहीत औषधद्रव्य खराब न हों, इसीलिए उक्त व्यवस्था बतलायी गयी है। उक्त औषधागार में देवपूजन आदि सत्कर्म प्रतिदिन होने चाहिए। मधु (शहद) आदि कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं, जिन्हें यदि भूमि पर रख दिया जाय तो उसमें चिउँटियाँ लग सकती हैं, उनसे बचाने के लिए छींका का प्रयोग करना चाहिए।

तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीत सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्ल-फलाम्ल-दध्यम्लादि-भिर्वति,[1] [2]मृद्वीकामलक-मधु-मधुक-परूषक-फाणित-क्षीरादिभिः पित्ते, श्लेष्मणि तु मधु-मूत्र-कषायादि-भिर्भावितान्यालोडितानि च; इत्युद्देशः। तं विस्तरेण [3]द्रव्य-देह-दोष-सात्म्यादीनि प्रविभज्य व्याख्यास्यामः ॥ १२ ॥

दोषानुसार अनुपान—उन संगृहीत औषधद्रव्यों का वात आदि दोषों के अनुसार निम्नलिखित विधि से प्रयोग करना चाहिए—यदि वातदोष सम्बन्धी विकार हो तो सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, धान्याम्ल, फलाम्ल, खट्टा दही आदि के साथ; यदि पित्तदोष सम्बन्धी विकार हो तो मुनक्का, आँवला, मधु, मुलेठी, फालसा, फाणित (राब), दूध आदि के साथ और यदि कफदोष सम्बन्धी विकार हो तो मधु, गोमूत्र, कफदोष नाशक क्वाथ आदि द्वारा भावना देकर अथवा उसी में मिलाकर दें। यह प्रकार यहाँ संक्षेप में कहा गया है। उसी को द्रव्य, देह, दोष तथा सात्म्य के अनुसार विभाग करके हम आगे कहेंगे।

वक्तव्य—यहाँ कतिपय पारिभाषिक शब्दों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—**सौवीर**—छिलका निकाले हुए जौ की काँजी। **तुषोदक**—छिलका सहित जौ की काँजी। **मैरेय**—सुराभेद। 'मैरेयं धातकीपुष्प-गुडधान्याम्लसंहितम्'। परिभाषाप्रदीप अ० ३। इनके परिचय के लिए मद्यवर्ग देखें—सु० सू० अ० ४५।१८९। **मेदक**—सुरा का निचला घन भाग। **धान्याम्ल**—'सन्धितं धान्यमण्डादि काञ्जिकं कथ्यते बुधैः'। भा० प्र०। काँजी विशेष। **फलाम्ल**—दाड़िम या आँवलों आदि का रस। यद्यपि वात आदि दोष-भेद से कहे गये उपर्युक्त अनुपान यहाँ वमन के लिए कहे गये हैं, किन्तु चिकित्सक बुद्धिपूर्वक इनका अन्यत्र भी प्रयोग कर सकता है।

वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षते, अनपायित्वात्। तानि वसन्तग्रीष्मयोर[4]न्तरे पुष्याश्वयुग्भ्यां मृगशिरसा वा गृह्णीयान्मैत्रे मुहूर्ते। यानि पक्वान्यकाणान्यहरितानि पाण्डून्यक्रिमीण्य-पूतीन्यजन्तुजग्धान्यह्रस्वानि; तानि [5]प्रमृज्य, कुशपुटे बद्ध्वा, गोमयेनालिप्य, यवतु(बु)षमाषशालि-कुलत्थ[6]मुद्गपलालानामन्यतमे निदध्यादष्टरात्रम्। अत ऊर्ध्वं मृदुभूतानि मद्विष्टगन्धान्युद्धृत्य शोषयेत्। सुशुष्काणां [7]फलपिप्पलीरुद्धरेत्। तासां घृतदधिमधुपललविमृदितानां पुनः शुष्काणां नवं कलशं सुप्रमृष्टवालुकमरजस्कमाकण्ठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्येष्वा[8]सज्य सम्यक् स्थापयेत् ॥ १३ ॥

मदनफलसंग्रह तथा प्रयोग-विधि—वमनकारक सभी द्रव्यों में मदनफल उत्तम माने जाते हैं, क्योंकि ये उपद्रवकारक नहीं होते हैं। इन मदनफलों को वसन्त तथा ग्रीष्मऋतु के मध्य में, पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र से युक्त चैत्रमुहूर्त में संग्रह करें। उसमें भी जो मैनफल पके हुए हों, जो काने (भीतर से खाली) न हों, जो हरे न हों, जो पीले वर्ण के हो गये हों, जिनमें कीड़े न पड़े हों, जो सड़े न हों, कीड़े आदि से जो खाये गये न हों, जो आकार में बहुत छोटे न हों, ऐसे मदनफलों को आवश्यकतानुसार लेकर उन्हें साफ करके कुश की पोटली में बाँधकर उसे ऊपर से गोबर से लीपकर जौ के भूसा, उड़द, धान की कुलथी या मूंग इनमें से किसी एक अन्न की राशि में आठ दिन व रात पड़ा रहने दें। इसके बाद जब वे मैनफल मुलायम हो जायें, तब

---

१. 'धान्यफलदध्यम्लादिभिर्वाते' इति पा०।
२. 'मृद्वीकामधुमधुकफाणितक्षीरादिभिः' इति पा०।
३. 'द्रव्यदेहदोषसात्म्यादीन् वसन्तादींश्च' इति पा०।
४. 'रन्तरा पुष्येऽश्वयुजि मृगशिरसि वा' इति पा०।
५. 'प्रगृह्य कुशमूलैर्बद्ध्वा' इति पा०।
६. 'मुद्गपर्णाना०' इति पा०।
७. 'फलानां पिप्पलीरुद्धरेत्' इति पा०।
८. 'ष्ववसज्य' इति पा०।

उन्हें निकालें, इस समय उन फलों में से मधु की जैसी प्रिय गन्ध आने लगती है, तब उन्हें निकालकर सुखा लें। जब वे भली-भाँति सूख जायें, तब उन फलों के भीतर से फलपिप्पली (गुठलियाँ) निकाल लें। फिर उन बीजों को घी, दही, मधु तथा तिलकल्क के साथ पीसकर पुनः सुखा लें। सूख जाने पर नये मिट्टी के घड़े में जिसके भीतर से बालू, धूल आदि को साफ कर लिया गया हो, उसे उक्त द्रव्य से गले तक भरकर भली-भाँति ढककर छींके में लटकाकर सुरक्षित रख दें।

वक्तव्य—मदनफल के फल शीतकाल में पकते हैं। वसन्त तथा ग्रीष्मऋतु तक इनका संग्रह कर लेना चाहिए। पन्द्रह मुहूर्त दिन के और पन्द्रह मुहूर्त रात्रि के होते हैं। दिन के मुहूर्तों में तीसरा मुहूर्त 'मित्र' है, अनुराधा नक्षत्र का स्वामी मित्र नामक सूर्य है। अन्य संस्करणों में **'मैत्रे मुहूर्ते करणे च'** ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। 'यवतु(बु)षमाषशालिकुलत्थमुद्गपलानाम्' इसके स्थान पर पाठभेद में 'मुद्गपर्णानाम्' पाठ दिया गया है। आप विचार करें—यदि 'यवतुष या बुष' पाठ के क्रम में माष, शालि आदि धान्यों को पढ़ा गया है, तो इस दृष्टि से 'मुद्गपर्णानाम्' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। श्रीचक्रपाणि के अनुसार पल शब्द का अर्थ राशि है, जब कि कोष-साहित्य में पल शब्द राशिवाचक नहीं मिलता। औषधनिर्माण-प्रकरण में जौ आदि धान्यों अथवा इनकी भूसी में स्वेदन करने की दृष्टि से औषधद्रव्य रखे जाते हैं। 'शिक्येष्वासज्य' अथवा 'शिक्ये-ष्वसृज्य' इस प्रकार दो पाठ मिलते हैं। इनमें 'शिक्येषु' में बहुवचन का प्रयोग एक साथ अधिक मात्रा में औषध तैयार करने का संकेत देता है।

वृद्धवाग्भट ने भी वमनकारक अनेक द्रव्यों में मदनफल को श्रेष्ठ माना है। यथा—'वमनद्रव्याणां मदनजीमूतकेक्ष्वाकुद्विकोषातकीकुटजफलानि श्रेष्ठानि तेष्वपि मदनफलम्'। अ० सं० क० अ० १।२। ऊपर कहे गये चरकोक्त योग को इन्होंने भी उद्धृत किया है। देखें—'अथ ... निधापयेत्। अ० सं० क० अ० १।५। इसमें इतना अधिक कहा है—'अष्टरात्रमुषितान्युद्धृत्यातपे शोषयेत्' अर्थात् धूप में रखकर सुखायें।

अथ च्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपपन्नं श्वश्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदकमांसरस-क्षीर-दधि-माष-तिल-शाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं व्युषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे कृतबलिहोम-मङ्गलप्रायश्चित्तं निरन्नमनतिस्निग्धं यवाग्वा घृतमात्रां पीतवन्तं, तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद् वा साधु मन्येत जर्जरीकृत्य यष्टिमधुकषायेण कोविदार-कर्बुदार-नीप-विदुल-बिम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पी-प्रत्यक्पुष्पी-कषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य पूतं मधुसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मन्त्रेणानेनाभिमन्त्रयेत्—

'ॐब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥'

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेच्छ्लेष्मज्वरगुल्मप्रतिश्यायार्तं विशेषेण पुनः पुनरापित्तागमनात्, तेन साधु वमति। हीनवेगं तु पिप्पल्यामलक-सर्षप-वचाकल्कलवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनात्। इत्येष सर्वश्छर्दनयोगविधिः॥ १४॥

वमन कराने की विधि—तदनन्तर वमन कराने योग्य रोगी को वमन कराने से पहले दो दिन अथवा तीन दिन तक स्नेहन तथा स्वेदन कराये। जब चिकित्सक की दृष्टि से रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन भली-भाँति हो जाय, तब यदि उक्त रोगी को कल वमन कराना हो तो, उसे एक दिन पहले ग्राम्य (गाँव में पाले गये, पालतू), आनूप (जल-प्रधान प्रदेश में रहने वाले—भैंसा, सूअर आदि), अथवा जलज (मछली, कछुआ आदि) के मांसरस अथवा दूध, दही, उड़द, तिल, शाक (पत्र शाक) आदि को खिलाना चाहिए। जब उक्त प्रकार के मांसरस, दूध, दही आदि का सेवन कराने से कफ का उत्क्लेश हो जाय, अर्थात् सटा हुआ कफ अपना स्थान छोड़ दे और रात के बीत जाने पर जिस रोगी का पहले दिन का खाया हुआ आहार पच चुका हो, तो वह दूसरे दिन प्रातःकाल बलि, होम, मंगल तथा प्रायश्चित्त कर के उसे निरन्न (खाली पेट), अधिक स्नेहन कराये बिना यवागू के साथ घी की पूर्ण मात्रा पिलानी चाहिए। उसके बाद इसी प्रकरण में कहे गये तेरहवें गद्य के निर्देशानुसार विधिपूर्वक तैयार करके घड़े में रखी गयी मदनफलपिप्पली को नखों को भीतर

की ओर की हुई मुट्ठी में जितना अट जाय अथवा चिकित्सक उस रोगी को जितनी मात्रा में देना उचित समझे, उतना लेकर उसे पीसकर मुलेठी, कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (सफेद कचनार), नीप (कदम्ब), विदुल (जलवेतस्), बिम्बी (कुंदरू, ग्वावकाकड़ी), सनई, सदापुष्पी (मदार), प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग) इनमें से किसी एक के क्वाथ में मिलाकर रातभर रख दें। प्रातःकाल उसे मसलकर कपड़े से छानकर उसमें मधु तथा सैंधानमक मिलाकर गुनगुना करके उसे एक शराव (मिट्टी के पात्र–कसोरे) में भरकर नीचे लिखे गये इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करें—

मन्त्र—ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथिवी, चन्द्रमा, अर्क (सूर्य), वायु, अग्नि, ये देवता, सभी ऋषिगण, औषधियाँ और सभी प्राणी तुम्हारी रक्षा करें। यह औषधयोग तुम्हारे लिए इस प्रकार लाभकारक हो जिस प्रकार ऋषियों के लिए रसायन-प्रयोग। देवगणों के लिए अमृत और नागों के लिए सुधा (विष) होती है।

इस पवित्र आशय से परिपूर्ण उक्त मन्त्र द्वारा उक्त औषधयोग को अभिमन्त्रित करके उत्तर की ओर मुख करके अथवा पूर्व की ओर मुख करके बैठे हुए उस रोगी को पिला दें। विशेष करके कफज्वर वाले रोगी को, गुल्मरोगी को तथा प्रतिश्याय रोगी को यह वामक योग देना चाहिए। इस औषधयोग का बार-बार तब तक रोगी को सेवन कराना चाहिए, जब तक उसके वमन के साथ पित्त न निकलने लगे। उक्त योग से रोगी पर्याप्त वमन करता है। यदि वमन हीनवेग हो, अर्थात् पूर्ण वेग क साथ वमन न हुआ हो तो पिप्पली, आँवला, सरसों तथा वच (बालवच) इन द्रव्यों का कल्क तैयार करके गुनगुने नमक मिले हुए जल के साथ इसका बार-बार सेवन तब तक कराये, जब तक कि वमन में पित्त के दर्शन न हो जायें। यह सभी प्रकार के वमनकारक योगों को देने की विधि है। इस प्रकार मुलेठी आदि नौ कषायों के साथ मैनफल के ९ योग होते हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने स्नेहाध्याय में प्रकरणानुसार स्नेहन के बाद स्वेदन का निर्देश इस प्रकार किया है—'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत्'॥ च० सू० अ० १३।९९। बलि, होम, मंगल आदि पुरोहित की आज्ञानुसार विधिवत् करें। ऊपर औषधयोग का अभिमन्त्रण करने के लिए दो श्लोक दिये गये हैं, जिनमें दूसरा श्लोक चरक-चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय प्रथमपाद के ७८वें पद्य के आशय को दुहरा रहा है। अतः वहाँ दिये गये वक्तव्य का अवलोकन अवश्य करें।

अन्तर्नखमुष्टि—आयुर्वेदशास्त्र में मुष्टि परिमाणवाचक शब्द है, जिसका अर्थ होता है—एक पल=४ तोला। किन्तु यहाँ 'अन्तर्नखमुष्टि' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका आशय है—नाखूनों को भीतर करके बाँधी हुई मुष्टि। इस प्रकार मुट्ठी में आया हुआ द्रव्य आधा हो जायेगा। अतः इस मात्रा को ४ तोला न मानकर २ तोला माना जा सकेगा। यद्यपि यह मात्रा भी अधिक है, अतएव तन्त्रकार ने आगे कह दिया है—**'यावद् वा साधु मन्येत'** अर्थात् चिकित्सक जितना ठीक समझें।

वृद्धवाग्भट ने भी इस वमन-विधि को उक्त मन्त्रों के साथ कुछ परिवर्तन करके दिया है, उसे अ० सं० सू० अ० २७।१०-१२ में देखें। इसके साथ ही उक्त प्रकरण में एक विशिष्ट मन्त्र का भी निर्देश इस प्रकार किया है—'ॐनमो भगवते भैषज्यगुरवे वैडूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सम्बुद्धाय'। तद्यथा—'ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा'। श्रीइन्दु ने 'ब्रह्मदक्षाश्वि...ते'—इस मन्त्र को वेदवादियों का मन्त्र और 'ॐ नमो...स्वाहा' इसे सौगतमन्त्र (बौद्धों का) कहा है।

भली-भाँति स्नेहन तथा स्वेदन करा लेने पर शरीरावयवों पर सूखा या सटा हुआ कफ अपने स्थान को छोड़ देता है। वमनकारक द्रव्यों के वेग के प्रभाव से वह बाहर निकल आता है। यदि समुचित रूप में कफ न निकल पाया हो, तो अंगों में पूर्ववत् अवसाद बना ही रहता है, अतः उस रोगी को पुनः स्नेहन, स्वेदन कराकर वमन कराना चाहिए। इस सम्बन्ध में कतिपय उद्धरणों पर ध्यान दें—'एकाहोपरतस्तद्वद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्'। च० सू० अ० १३।८१। इसका विशेष विवेचन 'चरकचन्द्रिका' टीका में देखें। सु० चि० अ० ३३।७ में भी इस विषय की विस्तृत चर्चा है। और देखें—'पित्तान्तमिष्टं वमनम्'। च० सि० अ० १।१४।

स्नेहन तथा स्वेदन-विचार—'त्र्यहावरं सप्तदिनं परन्तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः। नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत् सप्तदिनात् परन्तु'॥ च० सि० अ० १।६। वमन, विरेचन कराने के लिए तत्पर

चिकित्सक को इनके वेगों का शमन करने वाले औषधयोगों का संग्रह भी करना चाहिए। कभी-कभी यदि इन औषधद्रव्यों का अतियोग हो जाता है, तो उस अवसर पर इनका उपयोग किया जा सकता है।

वमन का सामान्य स्वरूप—सर्वप्रथम जब वमन का वेग उठता है तो उसके साथ तत्काल खाये गये औषधद्रव्य, भोजन आदि आमाशय-स्थित पदार्थ निकल जाते हैं, फिर कफ, तदनन्तर पित्त निकलता है। यह प्रकार वमन का सम्यक् योग कहा जाता है। वमन के अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग के लिए च० सू० अ० १५ का अध्ययन करें।

सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्। न चोष्णविरोधो मधुनश्छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपक्वप्रत्यागमनाद् दोषनिर्हरणाच्च ॥ १५ ॥

मधु-सैंधानमक का प्रयोग—सभी प्रकार के वमनोपयोगी औषधयोगों में जमे हुए कफ को पिघलाने तथा उसे काटकर निकालने के लिए मधु युक्त सैंधानमक का प्रयोग करना चाहिए। यद्यपि वमनकारक औषधयोगों का सेवन गरम-गरम ही किया जाता है, उस स्थिति में उसमें मधु मिलाया जा सकता है, अर्थात् मधु को गरम करके सेवन नहीं करना चाहिए और न गरम द्रव्यों के साथ उसे मिलाना चाहिए, किन्तु वमनकारक उष्ण पेयों के साथ यदि मधु का संयोग कर दिया जाय तो उसका विरुद्ध प्रभाव नहीं होता है, क्योंकि वमनकारक औषधयोगों के साथ मिलाया गया मधु शरीर में बिना पचे ही बाहर निकल आता है और साथ में दोषों को भी निकालता है।

फलपिप्पलीनां द्वौ द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः स्रावयेत्, तेन रसेन तृतीयं भागं पिष्ट्वा मात्रां हरीतकीबिभीतकामलकैर्वा तुल्यां वर्तयेत्, तासामेकां द्वे वा पूर्वोक्तानां कषायाणामन्यतमस्याञ्जलिमात्रेण विमृद्य बलवच्छ्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरोदरारुचिषु पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥ १६ ॥

१. **मदनफल के प्रयोग**—मैनफल की पिप्पलियों (इनको निकालने की विधि १३वें गद्य में दी है) के दो भागों के कल्क को लेकर लाल कचनार आदि (जिनका उल्लेख १४वें गद्य में किया गया है) आठ द्रव्यों के कषाय (क्वाथ) को २१ बार कपड़ा से छान लें। उस छने हुए क्वाथरस से मैनफल की पिप्पली के तीसरे भाग को पीसकर हरड़, बहेड़ा या आँवले के बराबर मात्रा (गोली) बना लें। उनमें से एक अथवा दो गोली लेकर पहले कहे गये लाल कचनार आदि में से किसी एक को एक अञ्जलि (१६ तोला) क्वाथ के साथ मसलकर अत्यधिक बढ़े हुए कफप्रसेक (जिसमें बार-बार मुख से कफ निकल रहा हो), ग्रन्थिज्वर, उदररोग तथा अरुचिरोग से पीड़ित रोगियों को पिलाना चाहिए। इसमें मधु और सैन्धव मिलाना, उक्त चौदहवें गद्य के मध्य में पढ़े गये मन्त्रों से अभिमन्त्रित करना, जब तक वमन में पित्त के दर्शन न हों तब तक पुनः वमन कराना, इन क्रियाओं को पहले की भाँति समझें। यहाँ मात्राओं में ८ योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—१९२२ ई० की निर्णयसागरीय चरकसंहिता में उक्त गद्य पर अन्यत्र प्राप्त श्रीचक्रपाणि की टीका उद्धृत नहीं की गयी है तथा १९४१ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में श्रीचक्रपाणि की टीका इस प्रकार मिलती है—'फलपिप्पलीनां द्वौ भागावित्यादौ फलपिप्पलीनां भागत्रयं कर्तव्यम्; तत्र भागद्वयं षड्गुणेन कषायेण'। श्रीचक्रपाणि के इस व्याख्यान से तथा चरकसंहिता के अन्य संस्करणों के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि उपर्युक्त दोनों निर्णयसागरीय प्रतियों द्वारा उद्धृत **'फलपिप्पलीनां द्वौ द्वौ भागौ'** में एक ही **'द्वौ'** शब्द ग्राह्य है और दूसरा त्याज्य, क्योंकि अर्थ की दृष्टि से उसकी कोई सार्थकता सिद्ध नहीं हो रही है। जैसा कि श्रीजयदेव आदि परवर्ती टीकाकारों ने अपने द्वारा सम्पादित संस्करणों में एक ही बार **'द्वौ'** शब्द का ग्रहण किया है।

ग्रन्थिज्वर—इसी को ग्रन्थिकज्वर भी कहा गया है। आप विचार करें कि ग्रन्थिकज्वर विदारिका या वातालिका ही है? यह वंक्षणगत विदारिका का स्वाभाविक ग्रन्थिशोथ है, जो कभी-कभी पाँव में ठोकर आदि के लग जाने से सूज जाती है, फलतः इसके कारण ज्वरादि उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं। ये ग्रन्थियाँ यदि

मर्मस्थानों में होती हैं, तो असाध्य होती हैं, अन्यथा सुखसाध्य। ये ग्रन्थियाँ कफज होने के कारण विलम्ब से पकती हैं। वृद्धवाग्भट ने अ० सं० क० अ० १।७ में जिस योग को उद्धृत किया है, वह इससे भिन्न है।

फलपिप्पलीक्षीरं, तेन वा क्षीरयवागूमधोभागे रक्तपित्ते हृद्दाहे च; तज्जस्य वा दध्न उत्तरकं कफच्छर्दितमकप्रसेकेषु;[1] तस्य वा पयसः शीतस्य सन्तानिकाञ्जलिं पित्ते प्रकुपिते उरःकण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्धे; इति समानं पूर्वेण ॥ १७ ॥

२. **मदनफल के प्रयोग**—मैनफल की पिप्पलियों के कल्क द्वारा सिद्ध किया हुआ दूध, अथवा इसी दूध से पकायी गयी क्षीरयवागू को अधोभाग से प्रवृत्त होने वाले रक्तपित्त रोग में तथा हृदय-जनित दाह में प्रयोग करना चाहिए। अथवा मदनपिप्पली द्वारा पकाये गये दूध का दही जमा दें, उस दही की मलाई को कफज वमन, तमकश्वास तथा कफप्रसेक में प्रयोग करायें। उसी फलपिप्पलीक्षीर की मलाई १ अञ्जलि (१६ तोला) को पित्तदोष के प्रकुपित होने पर छाती, कण्ठ तथा हृदय में पतले कफ का लेप किया हुआ-सा प्रतीत होने पर देना चाहिए। शेष क्रियाओं को पूर्ववत् समझना चाहिए। यहाँ फलपिप्पलीक्षीर के ३ योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—'समानं पूर्वेण' इस अंश का विस्तार से वर्णन हमने १६वें गद्य की टीका के अन्त में दिया है, जो २४वें गद्य के अन्त तक चलेगा। इसी आशय के पोषक गद्यांश वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किये हैं। देखें—अ० सं० क० अ० १।९,१०,११।

फलपिप्पलीशृतक्षीरान्नवनीतमुत्पन्नं फलादिकल्ककषायसिद्धं कफाभिभूताग्निं[2] विशुष्यद्देहं च मात्रया पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥ १८ ॥

फलपिप्पलीक्षीरज नवनीत-प्रयोग—मैनफल की पिप्पली से विधिपूर्वक तैयार किये गये दूध से निकाले गये मक्खन का मैनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु (कड़ुई तोरई), धामार्गव, कुटज, कृतवेधन—इन द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क द्वारा यथाविधि पाक करें। कफदोष के बढ़ जाने के कारण जिनकी पाचकाग्नि मन्द पड़ गयी हो, जिनका शरीर दिनों-दिन सूखता जा रहा हो, इस प्रकार के रोगियों को उक्त नवनीत पिलाना चाहिए। शेष पूर्ववत्।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि के अनुसार 'फलादि' शब्द से उक्त छः द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। यथा—'फलादीनि फलजीमूतेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनानि षट्, एते क्षीरयोगचतुष्टयेन घृतयोगेन च समं पञ्चयोगा अध्यायसङ्ग्रहे वक्तव्याः'। वृद्धवाग्भट ने उक्त पाठ को इस प्रकार उद्धृत किया है—'तस्माद् वा पयसो नवनीतमुत्पन्नं फलादिषट्कक्वाथसिद्धं कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यच्छरीरे च'। अ० सं० क० अ० १।११। कहीं ऐसा तो प्रमाद नहीं हो गया कि 'षट्' पद के स्थान पर 'कल्क' शब्द जुड़ गया हो? विद्वान् विचार करें। यद्यपि घृतपाक में कल्क, कषाय दोनों की आवश्यकता होती ही है, तथापि 'षट्' शब्द का प्रयोग यहाँ महत्त्वपूर्ण है।

फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभावितेन पुष्परजःप्रकाशेन चूर्णेन सरसि [3]सञ्जातं बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत्, तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृसरक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितयुक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत् सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्तकफमौषधद्वेषिणमिति समानं पूर्वेण ॥ १९ ॥

मदनफल-प्रयोग—मैनफल की पत्तियों को कूटकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मैनफल आदि (ऊपर के श्लोक में कहे गये छः) द्रव्यों के क्वाथ से ३×७=२१ बार भावना देकर सुखा लें। तदनन्तर फूल के पराग के समान बारीक चूर्ण को तालाब में उगे हुए एक बड़े कमलपुष्प के ऊपर बुरक दें। सम्पूर्ण रात्रि के बीत जाने पर प्रातःकाल पुनः उसी कमल के ऊपर यह चूर्ण बुरक कर उस कमलपुष्प को तोड़ लें। वमन कराने योग्य रोगी को हरिद्राकृशर, दूध, यवागू इन तीनों में से किसी एक को सेंधानमक, गुड़, राब मिलाकर

---

१. 'प्रसेकेषु पूर्णं शरावं' इति पा०।
२. 'विशुष्कदेहं विशुष्यमाणं च' इति पा०।
३. 'सञ्जातं' इति हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

मरचेट मिलायें और बाद में उस कमलपुष्प को सुँघायें। इससे सुकुमार व्यक्तियों को, जिनका पित्त तथा कफ उभर गया हो और जो औषधद्रव्यों का सेवन करना नहीं चाहते, उन्हें आसानी से वमन हो जाता है। शेष पूर्ववत्।

वक्तव्य—इसे श्रीचक्रपाणि ने 'श्रेययोग' की संज्ञा दी है। वे हरिद्रा और कृशर इनको दो द्रव्य नहीं मानते, क्योंकि उन्होंने उक्त शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'हरिद्राभिधानः कृशरो-हरिद्राकृशरः'। वृद्धवाग्भट का जो पाठ श्रीजयदेव ने उद्धृत किया है, उसमें 'हरिद्राकृशर' पाठ है, किन्तु अन्य संस्करणों में 'हरिद्राकृशराक्षीरयवागूनामन्यतमन्' ऐसा पाठ दिया है। देखें—अ० सं० क० अ० १।१७। कोषकारों ने 'कृशर, कृशरा, कृशराव' इन शब्दों को एकार्थवाची माना है। आयुर्वेद में इस शब्द द्वारा तिल और चावल की खिचड़ी का ग्रहण किया जाता है। साहित्य में केवल खिचड़ी का, भले ही वह किसी के मिश्रण से बनी हो। हमने यहाँ श्रीचक्रपाणि के अनुसार अर्थ किया है, जिसका अभिप्राय है कि जिस खिचड़ी में हल्दी मिलायी गयी हो। 'हरिद्राकृशरक्षीरयवागूनाम्' इस षष्ठीबहुवचनान्त पद में कम से कम तीन पदों की योजना करनी उचित है, अन्यथा बहुवचन की उपयोगिता व्यर्थ चली जायेगी। अतः १. हरिद्रामिश्रितकृशर, २. क्षीर, ३. यवागू, इस प्रकार इनका विभाजन करना होगा। जो टीकाकार दूध में पकायी गयी यवागू अर्थ करते हैं, उसका दायित्व उन्हीं पर है। वृद्धवाग्भट ने इस प्रसंग में इतना और कहा है—'एतेन सर्वमाल्यप्रावरणपटा व्याख्याताः'। अर्थात् यह अवचूर्णन-क्रिया न केवल कमलपुष्प में अपितु माला, वस्त्र आदि पर भी की जा सकती है। इस योग में मधु नहीं मिलाया जाता, उसके प्रतिनिधि के रूप में गुड़ तथा राब का ग्रहण किया गया है। **सज्ञातं**—इसके सम्बन्ध में दी गयी उक्त टिप्पणी प्रसंग को देखते हुए अश्रद्धेय प्रतीत होती है।

भावना-विधि—जिस चूर्ण में जिस द्रव की भावना जितनी बार दी जाती है, उतनी बार उस द्रव को घोटते-घोटते सुखा दिया जाता है। इस प्रकार के चूर्णों को धूप में नहीं रखा जाता है। फलतः ऐसे चूर्ण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं और भावनार्थ प्रयुक्त द्रव्यों के गुण भी उस चूर्ण में आ जाते हैं। इसीलिए कहा गया है—'मर्दनं गुणवर्धनम्'।

फलपिप्पलीनां [1]भल्लातकविधिपरिस्रुतं स्वरसं पक्त्वा फाणितीभूतमातन्तुलीभावाल्लेहयेत्; आतपशुष्कं वा चूर्णीकृतं जीमूतकादिकषायेण पित्ते कफस्थानगते पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥ २० ॥

मदनफलस्वरस-प्रयोग—च० चि० रसायनाध्याय पाद २ श्लोक १४ (भल्लातकक्षौद्र) में कही गयी भिलावों की विधि से मैनफल की पिप्पलियों का स्वरस निकालकर उसे पकाये, जब पकते-पकते उसमें फाणित (राब) के सदृश तार जैसे निकलने लगें, तो उसे उतारकर रख लें, इसे रोगी को चटाना चाहिए, अथवा मैनफल की पिप्पलियों को निकालकर धूप में सुखाकर उनका कपड़छन चूर्ण करा लें, जीमूतक आदि (यहाँ आदि पद से धामार्गव, कुटज, कृतवेधन, कटुतुम्बी का ग्रहण करना चाहिए) द्रव्यों के क्वाथ को उस स्थिति में मिलाकर प्रयोग करना चाहिए, जब कफस्थान (आमाशय, हृदय आदि) में पित्तदोष पहुँचा हो। शेष पूर्ववत्।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने ऊपर के गद्य में दो योग दिये हैं। वृद्धवाग्भट के अनुसार उक्त योगों का क्रम इस प्रकार है—प्रथम योग—अ० सं० क० अ० १।१५; द्वितीय योग—अ० सं० क० अ० १।८। उक्त योगों में भी मधु-सैन्धव का प्रयोग करें।

फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत् फलादीनां[2] षण्णामन्यतमकषायस्रुतानि वर्तिक्रियाः [3]फलादिकषायोपसर्जनाः पेया इति समानं पूर्वेण ॥ २१ ॥

मदनफलवर्ति-प्रयोग—मैनफल की पिप्पलियों का कपड़छन चूर्ण तैयार करके पहले की भाँति मैनफल आदि छः (जीमूत, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन) द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में उक्त चूर्ण को छानकर बत्ती बनायें, फिर इन बत्तियों को मैनफल आदि छः द्रव्यों में से किसी एक के साथ पिलायें, शेष पूर्ववत्।

---

१. 'भल्लातकविधिस्रुतं' इति पा०।
२. 'कोविदारादीनां' इति पा०।
३. 'कोविदारादिकषायोपसर्जनाः' इति पा०।

वक्तव्य—वर्ति को हिन्दी भाषा में बत्ती कहते हैं, वास्तव में लम्बे और गोल आकार में लपेटी हुई वस्तु को वर्ति (बत्ती या गोली) कहते हैं। यहाँ यह बत्ती न चन्द्रोदयावर्ति की भाँति आँखों में लगानी है और न ग्लिसरीन की भाँति गुद में प्रवेश करनी है, अतः इसे गोली समझना चाहिए, चाहे वह गोल, लम्बी या चपटी जैसी भी हो।

चूर्णानि स्रुतानि वर्तिक्रियाः—अर्थात् चूर्णों को छानकर बत्तियाँ बनायें। यह विधि व्यवहार द्वारा सिद्ध नहीं होती। अतः श्रीचक्रपाणि ने लिखा है—'वर्तिक्रियायां चतुर्गुणेन क्वाथेन पाकाद् वर्त्याकारता कर्तव्या', श्रीगणनाथसेन भी इसका प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं—'पूर्ववत् कोविदारादीनां षण्णामन्यतमकषायभावितानि'। इनका वर्ति-निर्माण-प्रकार यह है—मैनफल आदि छः कषायों के भेद से प्रत्येक कषाय द्वारा एक-एक वर्तियोग को तैयार करने पर ये छः योग तैयार होते हैं। इन सभी दृष्टियों से उक्त (षण्णामन्यतमकषायस्रुतानि) पाठ के स्थान पर 'षण्णामन्यतमकषायश्रृतानि' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ भी मधु-सैन्धव का प्रयोग करना चाहिए। उक्त गद्य द्वारा छः योग कहे गये हैं।

[1]फलपिप्पलीनामारग्वध-वृक्षक-स्वादुकण्टक-पाठा-पाटला-शार्ङ्गेष्टा-मूर्वा-सप्तपर्ण-नक्तमाल-पिचुमर्द-पटोल-सुषवी-गुडूची-सोमवल्क-द्वीपिकानां पिप्पली-पिप्पलीमूल-हस्तिपिप्पली-चित्रक-शृङ्गबेराणां चान्यतमकषायेण सिद्धो लेह इति समानं पूर्वेण ॥ २२ ॥

बीस अवलेह—१. अमलतास की गुद्दी, २. कुटजत्वक्, ३. स्वादुकण्टक (विकंकत), ४. पाठा, ५. पाढल, ६. शार्ङ्गेष्टा (गुंजा या घुंघची), ७. मूर्वा, ८. सप्तपर्ण (छतिवन), ९. करंज, १०. नीम की छाल, ११. परवल की पत्तियाँ, १२. सुषवी (करेला), १३. गुरुच, १४. सोमवल्क (सफेद खैर), १५. द्वीपिका (हिंस्रा या कण्टकारी, पाठभेद के अनुसार–द्वीपिका=वचा, श्रीगणनाथसेन के अनुसार–पिप्पली), १६. पिप्पली, १७. पिप्पलीमूल, १८. गजपिप्पली, १९. चित्रक, २०. शृंगवेर (सोंठ)—इन बीस द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में मदनपिप्पलियों को पकायें, जब पकते-पकते अवलेह जैसा तैयार हो जाय तब उसे मात्रानुसार रोगी को सेवन करायें। शेष पूर्ववत्। इस प्रकार यहाँ २० योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इसी प्रकार का योग अ० सं० क० अ० १।१२ में प्रयुक्त किया है। इसमें कहे गये आरग्वधादि द्रव्यों के लिए देखें—अ० सं० सू० अ० १६।९-१०। सुश्रुतोक्त (सु० सू० अ० ३८।६-७) आरग्वधादिगण इससे भिन्न है।

फलपिप्पलीष्वेला-हरेणुका-शतपुष्पा-कुस्तुम्बुरु-तगर-कुष्ठ-त्वक्-चोरक-मरुबकागुरु-गुग्गुल्वेलवालुक-श्रीवेष्टक-परिपेलव-मांसी-शैलेयक-स्थौणेयक-सरल-पारावतपद्यशोकरोहिणीनां विंशतेरन्यतमस्य कषायेण साधितोत्कारिका उत्कारिकाकल्पेन, मोदका वा मोदककल्पेन, यथादोषरोगभक्ति प्रयोज्या इति समानं पूर्वेण ॥ २३ ॥

मदनफल-सिद्ध उत्कारिका, मोदक-प्रयोग—१. इलायची, २. हरेणुका (निर्गुण्डी के बीज, देखें—द्रव्यगुणविज्ञान : आचार्य प्रियव्रतशर्मा), ३. शतपुष्पा (सोया), ४. कुस्तुम्बुरु (धनियाँ), ५. तगर, ६. कूठ, ७. दालचीनी, ८. चोरपुष्पी, ९. मरुवक, १०. अगर, ११. गुग्गुलु, १२. एलुआ, १३. श्रीवेष्टक (गन्धाविरोजा), १४. केवटीमोथा, १५. जटामांसी, १६. शैलेयक (छरीला), १७. स्थौणेयक (गठिवन), १८. सरल (चीड़ की लकड़ी), १९. पारावतपदी (ज्योतिष्मती, मालकांगनी), २०. अशोकरोहिणी (कुटकी)—इन बीस द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के साथ मैनफल की पिप्पलियों को पकायें। जब पकते-पकते गाढ़ा हो जाय तब इससे उत्कारिका-निर्माण-विधि से उत्कारिका तैयार करें अथवा मोदक (लड्डू) निर्माण-विधि से लड्डू बनायें। दोष तथा रोग की स्थिति को समझकर तथा रोगी की भक्ति (इच्छा) को देखकर उचित मात्रा में इनका प्रयोग कराना चाहिए। शेष पूर्ववत्। ये २० उत्कारिका योग तथा २० मोदक योग कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त गद्य की तुलना में जिस गद्य को अ० सं० क० अ० १।१३ में दिया है, उसमें बीस के स्थान पर बाईस द्रव्य दिये हैं, उनमें भी कुछ द्रव्य भिन्न हैं। यथा—'एलवालुक' के स्थान पर

---

१. 'फलपिप्पलीष्वा०' इति पा०।

'बालक'; 'सरल' के स्थान पर 'सुरसा'; 'पारावतपदी' के स्थान पर 'आरेवत' तथा 'पूती' और 'अशोकरोहिणी' से उन्होंने 'अशोकवृक्ष' तथा 'रोहिणी' से 'कुटकी' का ग्रहण किया है। कारण यह है कि इन्होंने चरक की भाँति अध्यायान्त में योगों का परिगणन नहीं किया है। मधु-सैन्धव आदि का प्रयोग उत्कारिका तथा मोदकों के साथ भी किया जायेगा।

फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिभावितानि तिलशालितण्डुलपिष्टानि तत्कषायोपसर्जनानि शष्कुलीकल्पेन वा शष्कुल्यः, पूपकल्पेन वा पूपाः, इति समानं पूर्वेण ॥ २४ ॥

१. मदनफल-सिद्ध शष्कुली-पूपयोग—मैनफल की पिप्पलियों के स्वरस और कषाय से तिल तथा शालिचावलों के आटे को भावना देकर रख लें, तदनन्तर मैनफल की पिप्पलियों के कषाय (क्वाथ) से उस आटे को सानकर शष्कुली (पूरी या मठरी) की निर्माण-विधि से शष्कुलियाँ बना लें अथवा पूप (मालपुआ) की निर्माण विधि से मालपुए बनवा लें। शेष पूर्ववत्। इस प्रकार ये शष्कुली तथा पूप के १६-१६ योग होते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने अ० सं० क० अ० १।१४ के गद्य द्वारा जो कहा है, वह उक्त विधि से कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि तिल एवं शालिचावलों के आटे में मैनफल की पिप्पलियों के स्वरस तथा कषाय की भावना दी जायेगी, उसके बाद उसे सुखाकर पुनः शष्कुली और पूप निर्माण करने के लिए उक्त द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथरस से वह आटा गूंथा जायेगा। वृद्धवाग्भटोक्त उक्त गद्य में आये हुए सुरसादिगण के लिए देखें—अ० सं० सू० अ० १६।२२-२३।

एतेनैव च कल्पेन सुमुख-सुरस-कुठेरक-काण्डीर-कालमालक-पर्णासक-क्षवक-फणिज्झक-गृञ्जन-कासमर्द-भृङ्गराजानां पोटेक्षुवालिका-कालङ्कृतक-दण्डैरकाणां चान्यतमस्य कषायेण कारयेत् ॥ २५ ॥

२. मदनफल-सिद्ध शष्कुली-पूपयोग—ऊपर कही गयी विधि के अनुसार ही—१. सुमुख, २. सुरस, ३. कुठेरक, ४. काण्डीर, ५. कालमालक, ६. पर्णासक (ये ६ द्रव्य तुलसी के ही भेद हैं), ७. क्षवक (नकछिकनी), ८. फणिज्झक (गन्धतुलसी), ९. गृञ्जन (गाजर), १०. कासमर्द (कसौंदी), ११. भृंगराज (भंगरैया), १२. पोटा (कास), १३. इक्षुवालिका, १४. कालंकतक, १५. दण्डैरका (नरकट)—इन १५ द्रव्यों के में से किसी एक के साथ मैनफल की पिप्पलियों को पकाकर पूरी या पूआ बनाकर रोगी को खिलाना चाहिए। इनके प्रयोग से वमन होते हैं।

तथा बदरषाडव-राग-लेह-मोदकोत्कारिका-तर्पण-पानक-मांसरस-यूष[1]-मद्यानां मदनफलान्यन्यतमेनोपसृज्य यथादोषरोगभक्ति दद्यात्; तैः साधु वमतीति ॥ २६ ॥

मदनफल के विविध प्रयोग—१. बेर का षाडव, २. राग, ३. अवलेह, ४. मोदक, ५. उत्कारिका, ६. तर्पण, ७. पानक, ८. मांसरस, ९. यूष, १०. मद्य—इनमें से किसी एक में मैनफल की पिप्पलियों के चूर्ण को मिलाकर दोष के अनुसार, रोग के अनुसार तथा रोगी की इच्छानुसार इसका सेवन करायें। इन प्रयोगों से भली-भाँति वमन हो जाता है। ये १० योग होते हैं।

वक्तव्य—षाडव या खाडव—'मधुराम्लसंयोगविशेष'। देखें—वैद्यकनिघण्टु। इस प्रकरण में उक्त सभी खाद्य पदार्थों का ही वर्णन है। इनमें से अधिकांश का परिचय च० सू० अ० २७ के कृतान्नवर्ग-प्रकरण में मिल जायेगा, यथास्थान देखें। मदनफलपिप्पली की सामान्य मात्रा ६ रत्ती से १२ रत्ती तक दी जा सकती है।

मदनः करहाटश्च राठः पिण्डातकः फलम्। श्वसनश्चेति पर्यायैरुच्यते तस्य कल्पना ॥२७॥

मदनफल के पर्याय—मदनफल, करहाट, राठ, पिण्डीतक, फल तथा श्वसन ये एक ही द्रव्य के पर्याय हैं। इन विविध पर्यायों का ग्रहण कर इस अध्याय में अनेक कल्पनाएँ कही गयी हैं।

वक्तव्य—१९२२ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में उक्त २७वें श्लोक के ऊपर ही **'तत्र श्लोकाः'** दिया हुआ है, इसी क्रम को श्री जयदेव ने भी आदर्श माना है, जब कि 'तत्र श्लोकाः' का प्रयोग तन्त्रकार वहाँ-वहाँ

१. 'यूपमद्यानि मदनफलफाणितेनोपसंसृज्य' इति पा०।

करते रहे हैं, जहाँ-जहाँ उन्हें पूर्वकथित विषय को संक्षेप में दुहराने की इच्छा होती है, ऐसी भावना २७वें श्लोक में नहीं दिखलायी दे रही है, अतः २८वें श्लोक के ऊपर देना ही युक्ति-संगत प्रतीत हो रहा है। इसके समर्थन में च० क० अ० २।३ में जीमूतक के पर्यायों को देखें।

तत्र श्लोकाः—

नव योगाः कषायेषु, [1]मात्रास्वष्टौ, पयोघृते। पञ्च, फाणितचूर्णे द्वौ घ्रेये, वर्तिक्रियासु षट् ॥
विंशतिर्विंशतिर्लेहमोदकोत्कारिकासु च। शष्कुलीपूपयोश्चोक्ता योगाः षोडश षोडश ॥२९॥
दशान्ये षाडवाद्येषु त्रयस्त्रिंशदिदं शतम्। योगानां विधिवद् दिष्टं फलकल्पे महर्षिणा ॥३०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते
कल्पस्थाने मदनकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में तीन श्लोक कहे गये हैं—

'तासां फलपिप्पलीनां०'	१४वें गद्य द्वारा	कषायों के ९ योग
'फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ०'	१६वें ,, ,,	मात्राओं के ८ योग
'फलपिप्पलीक्षीरं०'	१७वें ,, ,,	दोनों गद्यों को मिलाकर
'फलपिप्पलीशृतक्षीरात्०'	१८वें ,, ,,	दूध-घी के ५ योग
'फलपिप्पलीनां भल्लातक०'	२०वें ,, ,,	फाणित का १ योग
'आतपशुष्कं वा चूर्णीकृतं०'	२०वें ,, ,,	चूर्ण का १ योग
'फलपिप्पलीनां फलादि०'	१९वें ,, ,,	नस्य का १ योग
'फलपिप्पलीचूर्णानि०'	२१वें ,, ,,	वर्तिक्रिया के ६ योग
'फलपिप्पलीनाम्०'	२२वें ,, ,,	अवलेह के २० योग
'फलपिप्पलीष्वेला०'	२३वें ,, ,,	मोदक के २० योग
'फलपिप्पलीष्वेला०'	२३वें ,, ,,	उत्कारिका के २० योग
'फलपिप्पलीस्वरस०'	२४वें ,, ,,	शष्कुली के १६ योग
'एतेनैव च कल्पेन०'	२५वें ,, ,,	पूप के १६ योग
'तथा बदरषाडवराग०'	२६वें ,, ,,	षाडव आदि के १० योग

इस प्रकार इस मदनफलकल्प में महर्षि आत्रेय ने विधिपूर्वक १३३ योगों का निर्देश किया है।

वक्तव्य—गद्य १८ के बाद जो फाणित और चूर्ण के योगों का उल्लेख कर २०वें गद्य के बाद में १९वें गद्य को उद्धृत किया गया है, वह केवल तन्त्रकार के श्लोकोक्त वर्णन क्रम को दिखलाने के लिए। ऐसा ही आगे २४वें तथा २५वें गद्य में भी है। ध्यान दें—यद्यपि शष्कुली और पूपों की चर्चा २४वें गद्य में हो चुकी है, केवल २५वें गद्य में उनसे सम्बन्धित कतिपय कषायद्रव्यों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरकसंहिता चरक चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित
कल्पस्थान में मदनकल्प नामक पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

१. 'वर्तिष्वष्टौ' इति पा०।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातो जीमूतककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

मदनकल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से जीमूतकल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—वामक द्रव्यों में मदनफल को ही तन्त्रकारों ने प्रधानता दी है, क्योंकि इससे अथवा इसके योग से निर्मित सभी वामक योग अनपायी (उपद्रवकारक नहीं) होते हैं, यद्यपि यह प्रायोवचन है, क्योंकि उपद्रवकारी होने में केवल द्रव्य ही कारण नहीं होता है, अपितु औषधनिर्माता, प्रयोगकर्ता, प्रयोगविधि आदि अनेक इससे सम्बन्धित कारण होते हैं, तथापि अन्य वामक द्रव्यों की अपेक्षा द्रव्य की दृष्टि से मदनफल को सर्वोत्तम माना गया है। उस मदनफल के बाद जीमूत नामक द्रव्य की प्रधानता होने से यहाँ 'जीमूतकल्प' की प्रस्तावना की जा रही है। जिस प्रकार मदनफल द्वारा वमन कराने के लिए तन्त्रकार ने स्नेहन, स्वेदन कराने की व्यवस्था दी थी, उसी का अनुसरण यहाँ भी करना चाहिए।

कल्पं जीमूतकस्येमं फलपुष्पाश्रयं शृणु। गरागरी च वेणी च तथा स्याद् देवताडकः ॥३॥

जीमूतक के पर्याय—महर्षि आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश से कह रहे हैं—इस अध्याय में जीमूतक के फलों तथा फूलों का प्रयोग किया जायेगा। उनसे सम्बन्धित कल्प अर्थात् जीमूतककल्प की मैं व्याख्या कर रहा हूँ, तुम सुनो। इसके पर्याय हैं—गरागरी, वेणी तथा देवताडक।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने 'फलपुष्पाश्रय' शब्द का यह अर्थ किया है—इसके पत्र, नाल आदि अवयवों का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये वामक नहीं होते। एक अवयव का ग्रहण अन्य का निषेधक होता ही है। श्रीगंगाधर ने 'फलपुष्पाश्रय' का तात्पर्य यह लिया है—जिस प्रकार मदनफल या उसकी पिप्पलियों का स्वतन्त्र प्रयोग बतलाने के बाद कमलपुष्प पर उसका अवचूर्णन करके एक 'घ्रेय' प्रयोग का निर्देश किया गया था, उसी प्रकार जीमूतक के प्रयोगों को भी समझें। जीमूत या जीमूतक को देवदाली, बन्दालडोडा कहते हैं, यह घघरबेल नाम से प्रसिद्ध लता का फल है। इसे चक्रपाणि ने पीतघोषक स्वीकारा है।

विशेष—निघण्टुओं ने जीमूतक को उभयतोभागहर संशोधन माना है। यह उत्तर-प्रदेश, गुजरात, बंगाल आदि प्रदेशों में स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। औषधोद्यानों में भी इसका उत्पादन देखा जाता है।

जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम्। प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काद्येष्वामयेषु च ॥४॥

जीमूतक का प्रयोग—वात, पित्त, कफ दोषों को दूर करने वाले औषधद्रव्यों के साथ जीमूतक का प्रयोग त्रिदोषनाशक होता है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग ज्वर, श्वास, हिक्का (हिचकी) आदि रोगों में भी करना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीगंगाधर ने जिस पाठ का निर्धारण किया है, तदनुसार इसका प्रयोग कोठरोग (क्षुद्ररोगों के अन्तर्गत चर्मरोग विशेष) में भी किया जाता है। यथा—'हिक्काकोठामयेषु च'। वृद्धवाग्भट ने तो चरक का ही अनुकरण इस प्रकार किया है—'एवं च जीमूतादीनपि कल्पयेत्। विशेषतस्तु ज्वरश्वासहिध्मादिषु जीमूतकम्'। अ० सं० क० १।१९।

यथोक्तगुणयुक्तानां देशजानां यथाविधि। [1]पयः पुष्पेऽस्य, निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता ॥५॥
लोमशे क्षीरसन्तानं, दध्युत्तरमलोमशे। शृते पयसि दध्यम्लं [2]जातं हरितपाण्डुके ॥६॥

जीमूतक के पाँच योग—जैसा कहा गया है, तदनुसार उत्तम गुणों से युक्त तथा उचित देश में उत्पन्न (जैसे—चन्दन मलयाचल का ही उत्तम माना जाता है, न कि अन्यत्र उगाया हुआ), यथाविधि संग्रह किये गये १. जीमूतक के फूल से तैयार किया हुआ दूध, २. जीमूतक के फल कल्क से तैयार की गयी पेया, ३. जीमूतक

1. 'पयःपुष्पेषु निर्वृत्तं' इति पा०।   2. 'जाते' इति पा०।

के रोमशफल के कल्क से तैयार की गयी दूध की मलाई, ४. रोमहीन जीमूतक के फल कल्क द्वारा पकाये गये
दूध का दही जमाकर उसकी मलाई, ५. जब जीमूतक के फल का वर्ण हरा तथा पीला हो जाय उस समय
संग्रह किये हुए फलों के कल्क से पकाये गये दूध को जमाकर तैयार किया गया खट्टा दही—ये जीमूतक के
५ योग कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—चरकसंहिता-कल्पस्थान अ० १।१० के गद्य में मदनफल को संग्रह करने की विधि कही गयी
है और उनके गुणों का निर्देश भी किया है। इस अवसर पर उस प्रकरण को अवश्य देख लें। यहाँ ५वें श्लोक
के पूर्वार्द्ध का यही आशय है। इसी विषय को वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में इस प्रकार दिया है—'तत्र पुष्पेषु
क्षीरम्। फलेषु क्षीरपेयाम्। लोमशेषु सन्तानिकाम्। निर्लोमकेषु दधि, दध्युत्तरं वा'। अ० सं० क० अ० १।२०।
इसे तन्त्रकार ने लोमश, अलोमश दो भेदों में विभक्त किया है, तदनुसार इसके दो भेदों का इस प्रकार वर्णन
मिलता है—१. लुफा ग्रेविओलेन्स (Luffa graveolens Roxb) यह इसकी पीले फूलवाली अलोमश जाति
है। २. इसी का एक प्रकार है—'Var. longystyle Clarke' यह इसकी लोमश जाति है।

जीर्णानां च सुशुष्काणां न्यस्तानां भाजने शुचौ। चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितः पिबेत् ॥

जीमूतक की मात्रा—पके हुए जीमूतक के फलों का संग्रह करके भली-भाँति सुखा लें। सूख जाने पर कपड़छन चूर्ण करके पवित्र पात्र में रख लें। इस चूर्ण में से एक शुक्ति (२ तोला) लेकर दूध के साथ वात तथा पित्तविकार से पीड़ित रोगी पीये।

वक्तव्य—आजकल की मात्रा की दृष्टि से यह दो तोला की मात्रा अधिक है। इसे १ माशा से आरम्भ कर १ तोला तक चिकित्सक के परामर्श से दिया जा सकता है। इस योग को अ० सं० क० अ० १।२० में भी देखें।

आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वा प्रस्तुतं पिबेत्। कफजेऽरोचके कासे पाण्डुरोगे सयक्ष्मणि ॥८॥

जीमूतकसुरामण्ड-प्रयोग—कफदोष-जनित अरोचक, कास, पाण्डुरोग तथा यक्ष्मारोग में जीमूतक के फलों को आवश्यकतानुसार लेकर सुरामण्ड में भिगा दें, जब भली-भाँति भीग जाय तब उन्हें हाथ से मसलकर उसी में डाल दें, बाद में उसे वस्त्र द्वारा छानकर पीना चाहिए।

वक्तव्य—अनेक संस्करणों में 'प्रस्तुतं' के स्थान पर 'प्रसृतं' पाठ मिलता है। जब कि 'प्रस्तुतं' विधिवाचक शब्द है और 'प्रसृतं' प्रमाणवाचक है। यदि हम 'प्रसृतं' पाठ को प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, तो यह मात्रा ८ तोला की होती है, जो एक बार में अधिक हो जाती है, क्योंकि प्रसृति या प्रसृत ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। कुछ पूर्ववर्ती टीकाकारों ने १६ तोला सुरामण्ड में इसे भिगाने का सुझाव दिया है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है, कि एक बार तैयार करके बार-बार प्रयोग किया जाय। 'प्रस्तुतं' पद की हमें अत्यन्त आवश्यकता है, औषध-निर्माण के लिए। सुरामण्ड मद्य के स्वच्छ भाग की संज्ञा है।

जीमूतकसुरामण्ड-निर्माण-विधि—यदि हम सुरामण्ड में फलों को भिगा देते हैं, तो वे भली-भाँति भीगने में तीन-चार दिन का समय ले सकते हैं। तभी वे ठीक से मसले जा सकते हैं और यदि उनका चूर्ण करके डालते हैं, तो वे चार-छः घण्टों में अपने गुण-धर्मों को सुरामण्ड को सौंप देते हैं, उसके बाद मसलकर छानकर उसका प्रयोग किया जा सकता है।

द्वे चापोथ्याथवा त्रीणि [1]गुडूच्या मधुकस्य वा। कोविदारादिकानां वा निम्बस्य कुटजस्य वा ॥
कषायेष्वासुतं पूत्वा तेनैव विधिना पिबेत्। अथवाऽऽरग्वधादीनां सप्तानां पूर्ववत् पिबेत् ॥१०॥
[2]एकैकस्य कषायेण पित्तश्लेष्मज्वरार्दितः।

जीमूतक-सेवन की विधियाँ—पके हुए जीमूतक के दो या तीन फलों को लेकर कूट कर निम्नलिखित
द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में उसे भिगाकर बाद में हाथों से मसलकर छानकर पहले कही गयी विधि
के अनुसार पीना चाहिए, अथवा आरग्वध आदि सात द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ में भिगाकर, मसलकर तथा
उसे छानकर पित्तज्वर तथा कफज्वर से पीड़ित रोगी पीये। **कषायद्रव्य**—१. गुरुच, २. मुलेठी, ३. लाल

1. 'गुडूच्यामलकस्य वा' इति पा०।   2. 'एकैकशः' इति पा०।

कचनार, ४. सफेद कचनार, ५. कदम्ब, ६. जलवेतस्, ७. शणपुष्पी, ८. मदार, ९. अपामार्ग १०. नीम, ११. इन्द्रजौ, १२. कुरैया की छाल। अथवा **आरग्वधादि सात द्रव्य**—१. अमलतास, २. कुटज, ३. स्वादुकण्टक, ४. पाठा, ५ पाटला, ६. गुंजा, ७. मूर्वा। इस प्रकार वहाँ १९ योगों का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—कोविदार आदि का उल्लेख च० वि० अ० ८।१६ में किया गया है और आरग्वध आदि सात द्रव्यों का ग्रहण च० क० अ० १।२२ में से यहाँ किया गया है। इस प्रकार ४ द्रव्य श्लोक ९ से, ८ द्रव्य कोविदार आदि और ७ द्रव्य आरग्वधादि से लेकर, ये कुल १९ योग होते हैं।

मात्राः स्युः [1]फलवच्चाष्टौ कोलमात्रास्तु ता मताः॥ ११॥

जीमूतक के ८ मात्रायोग—मदनकल्प में कहे गये मदनफल के समान जीमूतकफल के भी ८ मात्रा योग होते हैं, किन्तु उनकी मात्रा १ कोल=आधा तोला के बराबर मानी गयी है।

वक्तव्य—चरक-कल्पस्थान अ० १ गद्य १६ की टीका में मदनफल के लिए जो ८ मात्रायोग कहे गये हैं, उसी प्रकार जीमूतक के योगों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। वह इस प्रकार है—जीमूतक फल के २ भाग कल्क को लाल कचनार से लेकर अपामार्ग पर्यन्त द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ में घोलकर २१ बार छानकर उस क्वाथ के साथ १ भाग जीमूतक के फल को पीसकर १ कोलमात्रा की गोली बनायें। इस प्रकार जीमूतक के ये ८ मात्रायोग सिद्ध होते हैं।

जीवकर्षभकेक्षूणां शतावर्या रसेन वा।
पित्तश्लेष्मज्वरे दद्याद् वातपित्तज्वरेऽथवा॥ १२॥

जीमूतक आदि का ज्वरों में प्रयोग—पित्तकफज ज्वर में अथवा वातपित्तज्वर में वमन कराने के लिए जीवक, ऋषभक, ईख, शतावर इन चारों द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के रस से जीमूतक के एक या दो फलों के चूर्ण का सेवन कराना चाहिए। इस प्रकार ये ४ योग होते हैं।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में उक्त पद्य के ऊपर इस प्रकार एक श्लोक अधिक दिया गया है—

जीमूतकस्य वा कल्कं चूर्णं वा शिशिराम्बुना।
ज्वरे पित्तभवे वातकफे चोष्णोदकेन तु॥

शीतल जल से जीमूतक का कल्क या चूर्ण पित्तज ज्वर में देना चाहिए, वातकफज ज्वर में उष्ण जल के साथ सेवन करायें। इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है—अ० सं० क० अ० १।२१, किन्तु इस योग को स्वीकार कर लेने पर 'योगास्त्रिंशन्नवाधिकाः' अर्थात् ३९ संख्या नहीं रह सकती, तब इस अध्याय के योगों की संख्या ४० हो जायेगी। यही प्रतिज्ञा चरक-सूत्रस्थान अ० ४।४ में भी इस प्रकार की गयी है—'एकोनचत्वारिंशज्जीमूतकेषु योगाः'। अतः ऐसा प्रतीत होता है, कि उक्त श्लोक दृढबल-सम्मत नहीं है। उक्त १२वें श्लोकोक्त द्रव्यों को वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'जीवकर्षभकेक्षुशतावरीणामन्यतमस्य स्वरसेन वातपित्ते'। अ० सं० क० अ० १।२२।

तथा जीमूतकक्षीरात् समुत्पन्नं पचेद् घृतम्।
फलादीनां कषायेण श्रेष्ठं तद् वमनं मतम्॥ १३॥

जीमूतकघृत-प्रयोग—जीमूतक के क्वाथ तथा कल्क द्वारा गाय के दूध को विधिवत् पकायें, उस दूध को मथकर घी निकालकर रख लें। उस घी को मदनफल आदि छः द्रव्यों के क्वाथ से यथाविधि पकाकर मात्रानुसार सेवन करने से भली-भाँति वमन हो जाता है। यह एक ही योग है।

वक्तव्य—फलादि शब्द से मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन इन द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है। इसकी सामान्य मात्रा २ माशा है।

तत्र श्लोकौ—

षट् क्षीरे [2]मदिरामण्डे एको द्वादश चापरे। सप्त चारग्वधादीनां कषायेऽष्टौ च वर्तिषु॥१४॥

१. 'वर्तयः' इति पा०। २. 'मदिरायोगं' इति पा०।

जीवकादिषु चत्वारो घृतं चैकं प्रकीर्तितम्। कल्पे जीमूतकानां [1]च योगास्त्रिंशन्नवाधिकाः॥१५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने जीमूतककल्पो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में दो श्लोक कहे गये हैं—

'पयः पुष्पेऽस्य'''पिबेत्'	५ से ७ तीन पद्यों द्वारा		दूध के ६ योग
'आसुत्य च सुरामण्डे०'	८वें	पद्य द्वारा	सुरामण्ड का १ योग
'द्वे चापोथ्याऽथवा त्रीणि०'	९वें	" "	गुडूची आदि के १२ योग
'अथवाऽऽरग्वधादीनां०'	१०वें	" "	आरग्वध आदि के ७ योग
'मात्राः स्युः फलवच्चाष्टौ०'	११वें	" "	मात्रा के ८ योग
'जीवकर्षभकेक्षूणां०'	१२वें	" "	जीवक आदि के ४ योग
'तथा जीमूतकक्षीरात्०'	१३वें	" "	घृत का १ योग

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका, हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता कल्पस्थान में जीमूतककल्प नामक दूसरा अध्याय समाप्त॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथात इक्ष्वाकुकल्पं व्याख्यास्यामः॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

जीमूतककल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से इक्ष्वाकुकल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसे ऊर्ध्वभागहर वमन द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। इसे कडुतुम्बी या तितलौकी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में होती है। इसका वर्णन प्रायः सभी निघण्टुओं में किया गया है। 'इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्यात्'। अमरकोष। इसी से साधुओं की तुम्बी बनायी जाती है, क्योंकि मीठी तुम्बी सूखने तक नहीं रह पाती है। इसी को 'तीती तुमड़ी' भी कहते हैं। यह एक लताफल है। महर्षि चरक ने सूत्रस्थान अ० ४।४ में इस प्रकार एक सूचना दी है—'पञ्चचत्वारिंशदिक्ष्वाकुषु'।

सिद्धं वक्ष्याम्यथेक्ष्वाकुकल्पं येषां प्रशस्यते।

इक्ष्वाकुकल्प की प्रस्तावना—जिन व्यक्तियों (रोगियों) के लिए इसका प्रयोग अन्य वामक द्रव्यों की तुलना में हितकर होता है, उनके लिए मैं इस सिद्ध (अवश्य लाभकारक) इक्ष्वाकुकल्प का वर्णन कर रहा हूँ।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में उक्त श्लोकार्ध के नीचे एक पंक्ति इस प्रकार अधिक देखी जाती है—'पञ्चचत्वारिंशदुक्ता योगा अस्मिन् महर्षिणा'। यह सचमुच अधिक है। इसकी अधिकता को प्रमाणित करने के लिए आप इसी अध्याय के २३वें श्लोक की ओर ध्यान दें। इसीलिए उक्त श्लोक के नीचे यह टिप्पणी दी गयी है—'पञ्चचत्वारिंशदित्यादिश्लोकार्धः क्वचिन्न पठ्यते'।

१. 'ये' इति, 'ते' इति च पा०।

[1]लम्बाऽथ कटुकालाबूस्तुम्बी पिण्डफला तथा ॥ ३ ॥
इक्ष्वाकुः फलिनी चैव प्रोच्यते तस्य कल्पना ।

इक्ष्वाकु के पर्याय—लम्बा, कटुकालाबू, तुम्बी, पिण्डफला, इक्ष्वाकु, फलिनी—ये इक्ष्वाकु के नाम-भेद हैं। इसकी विविध कल्पनाएँ इस अध्याय में कही जायेंगी।

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्षिते ॥ ४ ॥
प्रताम्यति नरे चैव वमनार्थं तदिष्यते ।

इक्ष्वाकु के प्रयोग—कास, श्वास, विषजनित विकार, वमन, ज्वर इनसे पीड़ित, कफविकार के कारण क्षीण हुए रोगी तथा स्वेदयुक्त रोगी को वमन कराने के लिए इक्ष्वाकु का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इसी को समर्थन दिया है। देखें—अ० सं० क० अ० ३।२३।

अपुष्पस्य प्रवालानां मुष्टिं प्रादेशसम्मितम् ॥ ५ ॥
क्षीरप्रस्थे शृतं दद्यात् पित्तोद्रिक्ते कफज्वरे ।

इक्ष्वाकुसिद्ध क्षीर—जिस इक्ष्वाकु (तितलौकी) की लता में अभी तक फूल न आया हो, उसके सुकोमल पत्तों को प्रादेशसम्मित (अँगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की लम्बाई से युक्त) मुट्ठी भर लेकर (तोड़कर) १ प्रस्थ (६४ तोला) गाय के दूध में पकायें। जब दूध का पाक हो जाय तब उसे छानकर रख लें। जब देखें कि कफदोष-प्रधान ज्वर रोगी का पित्त उभड़ चुका है, ऐसे अवसर पर उक्त दूध रोगी को पिलाना चाहिए। इसके सेवन से वमन के साथ उभड़ा हुआ पित्त बाहर निकल आता है। यह एक योग है।

वक्तव्य—आयुर्वेद में मुष्टि शब्द १ पल प्रमाण का वाचक है, किन्तु चरक-चतुरानन श्रीचक्रपाणि का कथन है—'नात्र मुष्टिशब्दः पलवचनः' कि यहाँ वह अर्थ नहीं लेना चाहिए, यहाँ तो तर्जनी अंगुली से अंगूठे के मूल पर्यन्त बांधी गयी मुट्ठी का ही ग्रहण करना चाहिए। १ पल में ४ तोले होते हैं, किन्तु मुष्टि (मुट्ठी) छोटी-बड़ी भेद से मात्रा में विषमता ला देगी, यह विचारणीय है। वृद्धवाग्भट ने इस प्रयोग को सरल भाषा में इस प्रकार कहा है—'तस्यापुष्पफलस्य प्रवालैः शृतं क्षीरमुद्रिक्तपित्ते कफज्वरे'। देखें—अ० सं० क० अ० ३।२३ ॥

क्षीरपाक-विधि—'क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१७९। इस दृष्टि से द्रव्य (तितलौकी के सुकोमल पत्ते) से दूध आठ गुना और दूध से पानी चार गुना अधिक मिलायें, जब पकाते-पकाते सब पानी जल जाय तब उसे उतार कर छान लें।

पुष्पादिषु च चत्वारः क्षीरे जीमूतके यथा ॥ ६ ॥
योगा हरितपाण्डूनां सुरामण्डेन पञ्चमः ।

इक्ष्वाकुक्षीर-प्रयोग—जिस प्रकार जीमूतक के फूल आदि में चार योग होते हैं, उसी प्रकार इक्ष्वाकु (कड़तुम्बी) के भी यहाँ चार योग करने चाहिए। पाँचवाँ योग हरितपाण्डुवर्ण के इक्ष्वाकु के फलों का सुरामण्ड (स्वच्छ सुरा) में डालकर संधान कर तैयार किया जाता है।

वक्तव्य—इक्ष्वाकु (तितलौकी) के जीमूतक की विधि के अनुसार ५ योगों की कल्पना इस प्रकार करें—१. तितलौकी के फूलों को गाय के दूध में पकाकर। २. फलों के कल्क से पकाये गये दूध की पेया। ३. रोमशफल के कल्क से पकाये गये दूध की मलाई का प्रयोग। ४. रोमरहित फल के कल्क से पकाये गये दूध के दही की मलाई का प्रयोग। ५. हरितपाण्डुवर्ण वाले तितलौकी के फलों को जौकुट करके सुरामण्ड में भली-भाँति भिगाकर मसलकर प्रयोग।

फलस्वरसभागं च त्रिगुणक्षीरसाधितम् ॥ ७ ॥
उरःस्थिते कफे दद्यात् स्वरभेदे च पीनसे ।

१. 'लम्बा पिण्डफला तुम्बी कटुकालाबुकी च सा' इति पा०।

जीमूतकदुग्ध-प्रयोग—यदि उरःप्रदेश में कफदोष भरा हुआ प्रतीत हो, स्वरभेद हो तथा पीनस (प्रतिश्याय) रोग हो, तो रोगी को वमन कराने के लिए इक्ष्वाकु (तितलौकी) का रस १ भाग, गाय का दूध ३ भाग इन दोनों को एक साथ मिलाकर पकायें, जब केवल दूध शेष रह जाय, तो उसे छानकर रोगी को पिलाना चाहिए। इससे भली-भाँति वमन हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी अपनी संहिता में इसी योग को सर्वथा उसी विधि के साथ उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ३।२४। यह एक योग है।

जीर्णे मध्योद्धृते [1]क्षीरं प्रक्षिपेत्तत् यदा दधि ॥ ८ ॥
जातं स्यात् सकफे कासे श्वासे वम्यां च तत् पिबेत् ।

जीमूतकदधि-प्रयोग—पकी हुई कड़तुम्बी (तितलौकी) के मध्यभाग को निकाल कर उसमें दूध भर दें, जब वह दही का रूप धारण कर ले, तो उस दही का प्रयोग कफज कासरोग, श्वासरोग तथा वमन रोग में करें।

अजाक्षीरेण बीजानि [2]भावयेत् पाययेत च ॥ ९ ॥
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ।

इक्ष्वाकुक्षीर-प्रयोग—तितलौकी के बीजों को कपड़छन करके उसमें बकरी के दूध की भावना देकर सुरक्षित रख लें। उस चूर्ण को विष-विकार, गुल्मरोग, उदररोग, ग्रन्थिरोग, गण्डमाला, गलगण्ड तथा श्लीपद (फीलपाँव) रोगों में बकरी के दूध के साथ पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के मत का भी अवलोकन कर लें, यथा—अ० सं० क० अ० ३।२५। कुछ संस्करणों में यह श्लोक ऊपर-नीचे मिलता है।

मस्तुना वा फलान् मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः ॥ १० ॥
तेन तक्रं विपक्वं वा सक्षौद्रलवणं पिबेत् ।

पाण्डु आदि में जीमूतक-प्रयोग—तितलौकी फल की गुद्दी को दही के पानी के साथ पीसकर पाण्डु-रोग, कुष्ठरोग तथा विषविकार से पीड़ित रोगी को पीने के लिए दें। अथवा तितलौकी के गूदा को मठा में डालकर पकायें, उसमें मधु एवं नमक मिलाकर पाण्डु, कुष्ठ तथा विषविकार से पीड़ित रोगी पीये।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त योग को गद्य रूप में अविकल अपनी संहिता में उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ३।२५।

तुम्ब्याः फलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम् ॥ ११ ॥
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गन्धसम्पत् सुखोचितः ।

इक्ष्वाकु का घ्रेययोग—कड़वी तुम्बी के फूल और फलों के रस को सुखाकर कपड़छन चूर्ण तैयार करें। इस चूर्ण को भली-भाँति खिले हुए कमल आदि फूलों की माला के ऊपर बुरक दें। सुगन्धित द्रव्यों का सेवन करने वाला, सुखपूर्वक निवास करने वाला तथा व्यक्ति जब इस माला को सूँघेगा, तब उसे स्वयं ही वमन होने लगेंगे। यह १ घ्रेय योग है।

भक्षयेत् फलमध्यं वा गुडेन पललेन च ॥ १२ ॥
इक्ष्वाकुफलतैलं वा सिद्धं वा पूर्ववद् घृतम् ।

इक्ष्वाकु के अन्य योग—अथवा कड़वी तुम्बी के मध्यभाग (गूदा) को गुड़ या तिलकल्क के साथ सेवन करे, अथवा कड़वी तुम्बी के बीजों के तेल का सेवन करे, अथवा कड़वी तुम्बी के फल से पकाये गये दूध से निकाले गये घी का सेवन करे।

१. 'जीर्णं मध्योद्धृतं क्षीरे' इति पा०।
२. 'भावितानि प्रयोजयेत्' इति पा०।

वक्तव्य—यहाँ 'पलल' शब्द से तिलकल्क का ग्रहण किया गया है। पलल का एक अर्थ मांस भी होता है। 'सिद्धं वा पूर्ववद् घृतम्', इस पद्यांश का सम्बन्ध च० क० अ० १।६ के 'तत्र फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गव-कुटजकृतवेधनानाम्', इस गद्यांश से है।

पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलादीनां यथोत्तरम् ॥ १३ ॥
पिबेद् विमृद्य बीजानि कषायेष्वाशतं पृथक् ।

जीमूतक का वर्धमानयोग—तितलौकी के ५० बीजों से प्रारम्भ कर दोषानुसार प्रतिदिन दस-दस बीजों को बढ़ाते हुए मैनफल आदि छः वमनकारक द्रव्यों के क्वाथ में अलग-अलग पीसकर छानकर पीये, जब तक कि १०० संख्या पूरी न हो जाय।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि के अनुसार ५० से आरम्भ कर ये छः वर्धमान योग होते हैं। यह क्रम इस प्रकार होगा—१. ५० बीजों को मैनफल के क्वाथ से, २. ६० बीजों को जीमूतक के क्वाथ से, ३. ७० बीजों को कटुतुम्बी (इक्ष्वाकु) के क्वाथ से, ४. ८० बीजों को धामार्गव के क्वाथ से, ५. ९० बीजों को कुटज के क्वाथ से तथा ६. १०० बीजों को कृतवेधन के क्वाथ से।

पाठभेद के अनुसार—जिसे श्रीजयदेव ने अपनी टीका के साथ उद्धृत किया है—**'कषायेष्वासुतं पृथक्'**। यहाँ 'दशवृद्धानि पञ्चाशद् यावद्' ऐसा अन्वय होगा। इस स्थिति में ये केवल पाँच योग होते हैं। प्रतिदिन १०-१० बीजों से प्रारम्भ कर ५० तक पहुँच जाने पर ये वर्धमानयोग पूरे हो जाते हैं। शेष अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। 'आसुत' का अर्थ है—सन्धान करना। श्रीगंगाधर द्वारा स्वीकृत पाठ जिसे श्रीजयदेव ने अपने द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में उद्धृत किया है, उसे यहाँ सादर उद्धृत किया जा रहा है—

'पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलिनीनां यथोत्तरम्। पिबेद् विमृद्य बीजानि कषाये स्वासुतं पृथक्' ॥ इन दोनों स्थितियों में छठे योग की पूर्ति वमनोपगद्रव्यों के क्वाथ में सन्धान करने पर ही हो सकेगी। जहाँ तक मात्रा का प्रश्न है, वहाँ 'पञ्चाशद्दशवृद्धानि कषायेष्वाशतम्', यह आधुनिक दृष्टि से दुर्लंघ्य सीमा है, किन्तु छः योगों की जो चर्चा श्रीचक्रपाणि ने की है, उस दृष्टि से मूल पाठ ही श्रद्धेय प्रतीत होता है।

यष्टयाह्वकोविदारार्धमुष्टिमन्तर्नखं पिबेत् ॥ १४ ॥

इक्ष्वाकुबीज-प्रयोग—मुलेठी, लाल कचनार आदि (कर्बुदार, नीप, विदुल, बिम्बी, शणपुष्पी, सदापुष्पी, प्रत्यक्पुष्पी—च० क० अ० १।१४) द्रव्यों के पृथक्-पृथक् क्वाथ से भीतर की ओर नाखून करके मुट्ठी भर अर्थात् आधी मुट्ठी इक्ष्वाकु (तितलौकी) के बीजों का कल्क बनाकर पीये।

कषायैः कोविदाराद्यैर्मात्राश्च[1] फलवत् स्मृताः ।

इक्ष्वाकु के ८ योग—लाल कचनार आदि (ऊपर के श्लोक की टीका के कोष्ठक में दिये गये च० क० अ० १।१४) आठ द्रव्यों के क्वाथ से मदनफल की भाँति यहाँ भी तितलौकी के बीजों से आठ योग माने गये हैं।

वक्तव्य—'फलपिप्पलिनां द्वौ भागौ⋯समानं पूर्वेण'। च० क० अ० १।१६ की टीका में देखें, तदनुसार यहाँ भी व्यवस्था करें।

बिल्वमूलकषायेण तुम्बीबीजाञ्जलिं पचेत् ॥ १५ ॥
पूतस्यास्य त्रयो [2]भागाश्चतुर्थः फाणितस्य तु । सघृतो बीजभागश्च [3]पिष्टानर्धांशिकांस्तथा ॥१६॥
महाजालिनिजीमूतकृतवेधनवत्सकान् । तं लेहं साधयेद् दर्व्या घट्टयन्मृदुनाऽग्निना ॥१७॥
यावत् स्यात् तन्तुमत्तोये पतितं तु न शीर्यते । तं लिहन् मात्रया [4]लेहं प्रमथ्यां च पिबेदनु ॥१८॥
कल्प एषोऽग्निमन्थादौ चतुष्के पृथगुच्यते ।

१. 'वर्तयः' इति पा०।
२. 'भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च' इति पा०।
३. 'पिष्ट्वा ह्यर्धांशिकांस्तथा' इति पा०।
४. 'काले' इति पा०।

इक्ष्वाकु के ४ अन्य योग—बेल की जड़ की छाल के क्वाथ से १ अंजलि (१६ तोला) तितलौकी के बीजों को पकायें। इस अंश को तीन भाग मानकर इसमें एक भाग फाणित (राब) को मिला दें। इसमें एक भाग गाय का घी तथा महाजालिनी (नेनुआँ या घियातोरई), जीमूतक (देवदाली), कृतवेधन, कुटज प्रत्येक द्रव्य को आधा-आधा भाग लेकर इन्हें धीमी आँच पर करछुल से चलाते हुए लेह का पाक करें, जब लेह तैयार हो जाय और उसमें तार पड़ने लग जाय, जो पानी में डालने पर फैले नहीं, तो उसे आग पर से नीचे उतारकर भी शीतल होने तक चलाते रहें। इस लेह का मात्रानुसार सेवन कर अनुपान के रूप में प्रमथ्या का पान करे। यही कल्प पञ्चमूल के शेष चार द्रव्यों—अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भार आदि से पृथक् कहा जायगा। इस प्रकार यहाँ बिल्वमूलकषाय द्वारा साधित एक योग और अग्निमन्थ आदि चारों द्रव्यों सहित ५ योग कह दिये गये हैं।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार 'चतुर्थः फाणितस्य तु' के स्थान पर 'त्रयस्त्रिकटुकस्य च' ऐसा भी मिलता है। वृद्धवाग्भट को दूसरा पाठभेद रुचिकर है, इसके लिए आप देखें—अ० सं० क० अ० १।२७-२८। विचारणीय यह है, कि फाणित के बिना लेह-कल्पना के लिए फिर कोई स्वतन्त्र कल्पना औषध-निर्माता को करनी पड़ेगी जो निराधार कही जा सकती है, अतः हमारे विचार से फाणित वाला पाठ अधिक प्रसंगोचित है।

प्रमथ्या-परिचय—'कृतयूषः प्रमथ्या च द्रव्यात् कल्कीकृतात् शृता'। और भी—'प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यं पलमात्रं सुकल्पितम्। किञ्चिदन्येन संयुक्तमथवान्यविवर्जितम् ॥ तोये चाष्टगुणे साध्यं पानमाहुः पलद्वयम्, शेषं मन्थवत्। इति टोडरानन्दः। सामान्य दृष्टि से दीपन-पाचनगुणयुक्त कषायों को 'प्रमथ्या' कहते हैं। विशेष देखें—च० चि० अ० १९।१९-२२।

शक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः ॥ १९ ॥
कफजेऽथ ज्वरे कासे कण्ठरोगेष्वरोचके ।

इक्ष्वाकुसक्तु-प्रयोग—कफजनित ज्वर में, कासरोग में, कण्ठरोग में तथा अरोचक में तितलौकी के स्वरस की भावना दिये हुए सत्तू का मन्थ पीना चाहिए।

वक्तव्य—पानी में घोलकर पतला किये हुए सत्तू को आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार मन्थ कहा जाता है। इसी को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है—अ० सं० क० अ० १।२५।

गुल्मे [1]मेहे प्रसेके च कल्कं मांसरसैः पिबेत् । नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ॥२०॥

इक्ष्वाकुयुक्त मांसरस-प्रयोग—तितलौकी के बीजों के कल्क को मांसरस के साथ गुल्म, प्रमेह, प्रसेक (मुँह से लार का चूना) में पीना चाहिए। इसको पी लेने से रोगी को भली प्रकार वमन हो जाता है और रोगी को दुर्बलता का अनुभव भी नहीं होता है।

तत्र श्लोकाः—

पयस्यष्टौ सुरामण्ड-मस्तु-तक्रेषु च त्रयः । प्रेयं सपललं तैलं वर्धमानाः फलेषु षट् ॥२१॥
घृतमेकं कषायेषु नवान्ये मधुकादिषु । अष्टौ वर्तिक्रिया लेहाः पञ्च [2]मन्थो रसस्तथा ॥२२॥
योगा [3]इक्ष्वाकुकल्पे ते चत्वारिंशच्च पञ्च च । उक्ता महर्षिणा सम्यक् प्रजानां हितकाम्यया ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने
इक्ष्वाकुकल्पो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. 'शोफे' इति पा०।
२. 'मन्थे रसे तथा' इति पा०।
३. 'इक्ष्वाकुकल्पेऽस्मिन्' इति पा०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय से सम्बन्धित वहाँ कुछ श्लोक कहे गये हैं—

इस अध्याय में दूध के साथ इक्ष्वाकु (तितलौकी) के फूल आदि से	८ योग
सुरामण्ड, मस्तु (दही का पानी), तक्र (मठा) इनसे अलग-अलग	३ ”
प्रेय (नस्य) का	१ ”
तिल कल्क द्वारा निर्मित	१ ”
तैल के संयोग से	१ ”
वर्धमान विधि के अनुसार मैनफल आदि के क्वाथों से	६ ”
घृत	१ ”
मुलेठी आदि नौ द्रव्यों के कषायों द्वारा	९ ”
वर्तिक्रिया द्वारा मात्रायोगों के	८ ”
बिल्व, अग्निमन्थ आदि अवलेह के	५ ”
मन्थ का	१ ”
मांसरस का	१ ”

इस प्रकार इक्ष्वाकुकल्प में महर्षि आत्रेय ने प्रजाहित की इच्छा से ४५ योग कहे गये हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ॰ ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में इक्ष्वाकुकल्प नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातो धामार्गवकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुकल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से धामार्गवकल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

कर्कोटकी [1]कोठफला महाजालिनिरेव च। धामार्गवस्य पर्याया राजकोशातकी तथा ॥३॥

धामार्गव के पर्याय—कर्कोटकी, कोठफला (पाठभेद के अनुसार—कटुफला), महाजालिनी, राजकोशातकी—ये सभी पर्याय नेनुआ या घियातोरई के हैं।

वक्तव्य—इसे लैटिन में लुफ्फा सिलिण्ड्रिका (Luffa cylindrica) कहते हैं। इसकी दो जातियाँ होती हैं—१. तिक्त और २. मधुर। प्रायः तिक्तजाति जंगली देखी जाती है, कभी-कभी मधुर जाति के साथ भी एकाध पैदा होते देखी जाती है, मधुर जाति का नेनुआँ शाक के लिए प्रयुक्त होता है। यह तोरई का ही एक भेद है। तिक्त जाति वाले नेनुआँ का तथा उसके बीजों का औषधद्रव्य के रूप में प्रयोग होता है। यह भारतवर्ष में सर्वत्र प्राप्त होता है। इसका एक नाम महाजालिनी इसलिए है, कि सूखने पर इसकी फलमज्जा जाल युक्त होती है। इसके बीज काले अथवा भूरे देखे जाते हैं। तिक्त धामार्गव के बीज भी तीते होते हैं। इसका एक नाम 'कटुफला' भी मिलता है, किन्तु इसके बीज तिक्त होते हैं, न कि कटु। आयुर्वेद में तिक्तरस से नीम जैसे स्वाद वाले द्रव्यों का ग्रहण होता है और कटुरस से कालीमिर्च आदि का।

गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते। कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसञ्चयजेषु च ॥४॥

१. 'कटुफला' इति पा०।

[1]रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये।

धामार्गव के प्रयोग-स्थल—गर (कृत्रिम विष) का सेवन कर लेने पर, गुल्मरोग में, उदररोग में, कासरोग में, श्लेष्माशय में वातदोष के प्रविष्ट हो जाने पर, कण्ठ तथा मुखप्रदेश में कफ के दूषित हो जाने पर, कफ के इकट्ठा हो जाने के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों में एवं जो रोग स्थिर तथा गुरु हों उनमें धामार्गव का प्रयोग करें।

वक्तव्य—कफ का संचय हो जाने से उत्पन्न उक्त समस्त रोगों में धामार्गव का प्रयोग प्रशस्त होता है। इसी का समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी इस प्रकार किया है—'धामार्गवो विशेषेण गरगुल्मोदरकासकफसञ्चयोत्थरोगेषु स्थिरेषु गुरुषु च श्लेष्माशयस्थे वातश्लेष्मणि च कण्ठाश्रये प्रकल्प्यः'। अ० सं० क० अ० १।२१। चरक तथा वृद्धवाग्भट ने स्थिर तथा गुरु शब्दों का प्रयोग समानरूप से किया है। इनमें स्थिर का तात्पर्य है—दीर्घकाल तक रहने वाले तथा गुरु का तात्पर्य है—महान् अर्थात् बड़े-बड़े रोगों में।

फलं पुष्पं प्रवालं च विधिना तस्य संहरेत् ॥ ५ ॥

धामार्गव के प्रयोज्य अंग—औषध-प्रयोग के लिए धामार्गव के फल, फूल और सुकोमल पत्तों का विधिपूर्वक संग्रह करके सुरक्षित रखना चाहिए।

वक्तव्य—धामार्गव के फल, फूल, पत्तों का संग्रह करते समय चरक-कल्पस्थान अ० १ के ९ से लेकर ११वें गद्यों द्वारा कथित विधियों का सतर्कता से अनुसरण करना चाहिए। ऊपर कहे गये अंगों के अतिरिक्त धामार्गव के अंग वमनकारक नहीं होते, अतः उनका ग्रहण यहाँ नहीं किया जाता है।

प्रवालस्वरसं शुष्कं [2]कृत्वा च गुलिकाः पृथक्। कोविदारादिभिः पेयाः कषायैर्मधुकस्य च ॥

धामार्गवस्वरस-योग—धामार्गव की कोमल पत्तियों का स्वरस निकालकर धूप में सुखाकर उसकी गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को लाल कचनार आदि (सफेद कचनार, कदम्ब, जलबेतस्, कुन्दुरु, शणपुष्पी, मदार, अपामार्ग) तथा मुलेठी इन नौ द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ के साथ सेवन करें। इस प्रकार धामार्गव पत्र-स्वरस के ये ९ योग होते हैं।

पुष्पादिषु [3]पयोयोगाश्चत्वारः पञ्चमी सुरा। पूर्ववत्—

धामार्गव-पुष्प आदि योग—पहले (जीमूतकल्प) की भाँति धामार्गव के फूल आदि द्वारा चार क्षीर-योग तथा पाँचवाँ योग सुरामण्ड से तैयार किया जाता है। इस प्रकार ये ५ योग होते हैं।

वक्तव्य—धामार्गव के ५ योगों का विवरण—१. धामार्गव के फूलों को गाय के दूध के साथ पीसकर। २. धामार्गव के फल का कल्क बनाकर दूध के साथ पकाकर पेया के रूप में। ३. रोमयुक्त फल को दूध में पकाकर उसकी मलाई का प्रयोग। ४. रोमरहित फल के कल्क से दूध को पकाकर उसके दही की मलाई का प्रयोग। ५. धामार्गव के फल को कूटकर सुरामण्ड में भिगा दें, भीग जाने पर मसलकर छानकर रोगी को सेवन करा दें।

—जीर्णशुष्काणामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥ ७ ॥

मधुकस्य कषायेण बीजकण्ठोद्धृतं फलम्। सगुडं व्युषितं रात्रिं कोविदारादिभिस्तथा ॥८॥
दद्याद् गुल्मोदरार्तेभ्यो ये चाप्यन्ये कफामयाः।

गुल्म-उदररोग-नाशक योग—इसके बाद जीर्ण (पुराने अतएव पके हुए) तथा सूखे हुए धामार्गव के फलों के कल्प का वर्णन किया जायेगा। धामार्गव के फल के भीतर से बीज तथा उसके सूखे हुए गूदा को निकाल दें, तदनन्तर उसके भीतर सायंकाल के समय गुड़ भर दें, प्रातःकाल उसे निकालकर मुलेठी के क्वाथ रस से अथवा लाल कचनार आदि अलग-अलग आठ द्रव्यों के क्वाथ से गुल्मरोगियों तथा उदररोगियों को कफज विकारों एवं अन्य विकारों में सेवन कराना चाहिए। ये ९ योग होते हैं।

१. 'रोगेष्वेतत' इति पा०।
२. 'कृताश्च' इति पा०।
३. 'प्रयोगाश्च' इति 'यथायोगाः' इति च पा०।

दद्यादन्नेन संयुक्तं छर्दिहृद्रोगशान्तये ॥ ९ ॥

धामार्गव-फल-प्रयोग—वमन तथा हृदय रोगों की शान्ति के लिए धामार्गव के फल के चूर्ण को अन्न (भोज्य पदार्थों) में मात्रा के अनुसार मिलाकर खाने के लिए देना चाहिए। यह १ अन्नयोग है।

चूर्णैर्वाऽप्युत्पलादीनि भावितानि प्रभूतशः। रसक्षीरयवाग्वादितृप्तो घ्रात्वा वमेत् सुखम् ॥१०॥

धामार्गव-घ्रेय-प्रयोग—धामार्गव के फूल, फल तथा सुकोमल पत्तियों का कपड़छन चूर्ण तैयार करके कमलपुष्प के भेदों (सौगन्धिक, कह्लार आदि) को इस चूर्ण से भावित करके, अर्थात् उस-उस फूल के ऊपर उक्त चूर्ण को बार-बार बुरक कर रख लें। जिस रोगी को वमन कराना हो, उसे मांसरस, दूध, यवागू आदि द्रव पदार्थों को भरपेट खिला-पिलाकर अर्थात् उसे भोजन से आकण्ठ तृप्त करके उक्त चूर्ण-भावित पुष्प को सुँघावें, इससे वह सुखपूर्वक वमन करता है।

वक्तव्य—'उत्पलादीनि' इस शब्द से कमल के भेद-उपभेदों का ग्रहण किया गया है। कमलभेद—अरविन्द, सहस्रपत्र, शतपत्र, पुण्डरीक, कोकनद। देखें—अमरकोष। निघण्टुओं में कुछ भेद और भी मिलते हैं।

चूर्णीकृतस्य वर्ति वा कृत्वा बदरसम्मिताम्। विनीयाञ्जलिमात्रे तु पिबेद् गोऽश्वशकृद्रसे[1] ॥११॥

धामार्गव के दो योग—धामार्गव फल के कपड़छन चूर्ण को जल से पीसकर बेर के सदृश गोली बना लें। उस गोली को अंजलि-प्रमाण (१६ तोला) गोबर के रस के साथ अथवा घोड़े की लीद के रस के साथ मिलाकर सेवन करें।

पृषतर्ष्यकुरङ्गाह्वगजोष्ट्राश्वतराविके। श्वदंष्ट्रखरखड्गानां चैवं पेया शकृद्रसे[2] ॥१२॥

१. धामार्गव के दस योग—पृषत (चितकबरा हरिण), ऋष्य (नीले अण्डकोशों वाला हरिण), कुरंग (सामान्य हरिण), हाथी, ऊँट, अश्वतर (खच्चर), भेड़, श्वदंष्ट्र (कुत्ते के सदृश चार दाढ़ों वाला मृगविशेष), गदहा, खड्ग (गैंडा) इनमें से किसी एक के गोबर के रस के साथ उक्त (श्लोक ११ में कही गयी) गोली को घोलकर पी लें। यहाँ भी गोबर का रस १६ तोला लेना है। ये धामार्गव के १० योग होते हैं।

वक्तव्य—१ अंजलि की यह मात्रा अधिक है। इसके सम्बन्ध में चिकित्सक का निर्देश स्वीकार करें। श्वदंष्ट्र को कुछ टीकाकारों ने छोटा बाघ स्वीकार किया है। इसके पाठभेद के अर्थ पर भी ध्यान दें।

जीवकर्षभकौ वीरामात्मगुप्तां शतावरीम्। काकोलीं श्रावणीं मेदां महामेदां मधूलिकाम् ॥१३॥
एकैकशोऽभिसञ्चूर्ण्य सह धामार्गवेण ते। शर्करामधुसंयुक्ता लेहा हृद्दाहकासिनाम् ॥१४॥
सुखोदकानुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे।

२. धामार्गव के दस योग—१. जीवक, २. ऋषभक, ३. वीरा (क्षीरकाकोली), ४. किवाँच के बीज, ५. सतावर की जड़ें, ६. काकोली, ७. गोरखमुण्डी, ८. मेदा, ९. महामेदा, १०. मधूलिका (मुलेठी)—इन सभी द्रव्यों का अलग-अलग कपड़छन चूर्ण करके उसमें उतनी ही मात्रा में धामार्गव के फूल, फल तथा सुकोमल पत्तियों का कपड़छन किया हुआ चूर्ण मिला दें। इस चूर्ण को आवश्यकतानुसार लेकर उसमें चीनी तथा मधु उतना मिलायें जितने से वह चाटने योग्य हो जाय। इन अवलेहों का सेवन करने से हृदय में होने वाले दाह का तथा कासरोग का विनाश हो जाता है। इनका अनुपान गुनगुना जल है। यदि पित्त के साथ कफ कुपित हुआ हो तो उक्त अवलेह का सेवन करके गुनगुने जल का सेवन कराना चाहिए।

वक्तव्य—जहाँ जीवक आदि १० द्रव्य स्वतन्त्ररूप से कहे गये हैं। इनके साथ धामार्गव के फूल, पत्ती, फलों का चूर्ण तथा चीनी-मधु का योग करना है। मात्रा-प्रधान होने से धामार्गव की प्रधानता ही स्वीकार की जायेगी। जिन्हें लेह संज्ञा दी गयी है, वह मात्र चाटकर खाने के कारण ही; अन्यथा 'च्यवनप्राश' आदि की भाँति इसका निर्माण तन्त्रकार-सम्मत नहीं है। श्रीचक्रपाणि 'मधूलिका' से 'मर्कटहस्त' नामक द्रव्य का ग्रहण करते हैं। दूसरे इसी को 'मर्कटहस्तितृण' कहते हैं। देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु। किन्तु वृद्धवाग्भट के गद्य को

१. 'गोशकृतो रसे' इति पा०।
२. 'पृषतर्ष्यकुरङ्गाश्वतरगोकर्णरासमे। हरिणाजश्वदंष्ट्राविसम्भवे च शकृद्रसे' इति पा०।

देखकर ऐसा लगता है, कि 'मधूलिका' के स्थान पर 'मुलेठी' का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि वे द्रव्यों का नामोल्लेख न करके केवल 'जीवनीयान्यतमचूर्णसंयुक्तान्' उद्धृत हैं। देखें—अ० सं० क० अ० १।२९।

धान्यतुम्बुरुयूषेण कल्कः सर्वविषापहः ॥ १५ ॥

विषनाशक धामार्गव-योग—विषरोग से पीड़ित रोगियों के विषजनित विकार को समाप्त करने के लिए धामार्गव के कल्क को धनियाँ तथा तुम्बुल (नेपाली धनियाँ) के यूष से सेवन करना चाहिए।

वक्तव्य—आचार्य जतूकर्ण ने भी उक्त योग को इस प्रकार समर्थन दिया है—'धान्यतुम्बुरुरसेन कल्को विषनुत्'। जतूकर्णसंहिता। उक्त पद्यार्ध द्वारा १ धामार्गव कल्कयोग कहा गया है।

जात्याः सौमनसायिन्या रजन्याश्चोरकस्य च। वृश्चीरस्य महाक्षुद्रसहाहैमवतस्य च ॥१६॥
बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा पृथक्[1]। एकं धामार्गवं द्वे वा कषाये परिमृद्य तु ॥१७॥
पूतं मनोविकारेषु पिबेद् वमनमुत्तमम्।

मानसिक विकारों में धामार्गव—जाती (चमेली), सौमनसायिनी (मालती या जूही का फूल), हल्दी, चोरपुष्पी, वृश्चीर (सफेद पुनर्नवा), महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), हैमवती (वचा), बिम्बी (कुन्दरू, ग्वावकाकड़ी), लालपुनर्नवा, कासमर्द (कसौंदी), इन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ रस के साथ एक अथवा दो धामार्गव के कच्चे फल का कल्क बनाकर उसमें छानकर मानसिक रोगों में वमन कराने के लिए रोगी को पिलाना चाहिए। इससे पर्याप्त वमन होता है।

वक्तव्य—उक्त श्लोकों द्वारा यहाँ धामार्गव के योग से ११ योग तैयार होते हैं। इसी को वृद्धवाग्भट ने भी गद्य द्वारा अपनी संहिता में कहा है। देखें—अ० सं० क० १।३०।

तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः ॥ १८ ॥

धामार्गव घृतयोग—अथवा धामार्गव के कल्क द्वारा पकाये गये दूध से निकाले गये घी को मैनफल आदि (जीमूत, इक्ष्वाकु, धामार्गव, इन्द्रजौ, कृतवेधन) द्रव्यों के क्वाथ से यथाविधि पकाकर मानसिक विकार वाले रोगी को पिलाना चाहिए। यह १ घृतयोग है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने यहाँ पर उक्त श्लोक की पंक्तियों को सन् १९४१ की निर्णयसागरीय प्रति के विरुद्ध नीचे-ऊपर करके दिया है। सन् १९२२ वाली निर्णयसागरीय प्रति में 'पूतं मनोविकारेषु' के स्थान पर 'घृतं मनोविकारेषु' दिया है। धामार्गव चूर्ण की सामान्य मात्रा २ माशा समझनी चाहिए।

तत्र श्लोकौ

पल्लवे नव चत्वारः क्षीरे एकः सुरासवे। कषाये विंशतिः कल्के दश द्वौ च शकृद्रसे ॥१९॥
अन्न एकस्तथा घ्रेये दश लेहास्तथा घृतम्। कल्पे धामार्गवस्योक्ताः षष्टिर्योगा महर्षिणा ॥२०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने
धामार्गवकल्पो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में वहाँ दो श्लोक कहे गये हैं।

धामार्गव की कोमल पत्तियों से	९ योग	गोबर के रस से	१ योग
धामार्गव सिद्ध दूध से	४ योग	अन्न के साथ	१ योग
सुरा तथा आसव से	१ योग	घ्रेय (नस्य) द्वारा	१ योग
विविध कषायों से	२० योग	लेह के रूप में	१० योग
धामार्गव कल्क से	१२ योग	घृत द्वारा	१ योग

१. 'पुनर्नवाकासमर्दबिम्बीहैमवतस्य च। महासहाक्षुद्रसहावृश्चीराणां पृथक्-पृथक्' इति पा०।

इस प्रकार महर्षि आत्रेय ने धामार्गवकल्प के कुल मिलाकर ६० योगों का वर्णन किया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में धामार्गवकल्प नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातो वत्सककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

धामार्गव-कल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वत्सककल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—चरक-कल्पस्थान अ० १।६ में जिस क्रम से द्रव्यों की गणना की गयी है, उसी क्रम से यहाँ अध्यायों का वर्गीकरण भी किया गया है। यहाँ पाँचवाँ वत्सक शब्द कुटज का अन्यतम पर्याय है, उसके नाम से ही इस कल्प का नाम 'वत्सककल्प' रखा गया है।

अथ वत्सकनामानि भेदं स्त्रीपुंसयोस्तथा। कल्पं चास्य [1]प्रवक्ष्यामि विस्तरेण यथातथम् ॥३॥

अध्याय की प्रस्तावना—प्रस्तुत अध्याय में वत्सक के नाम (पर्याय), स्त्री-पुरुष का भेद तथा इस कल्प का ठीक-ठीक वर्णन विस्तारपूर्वक कहूँगा (यह महर्षि आत्रेय की प्रतिज्ञा है)।

वक्तव्य—'भेदं स्त्रीपुंसयोस्तथा'। यह कुटज पुरुष तथा स्त्री भेद से दो प्रकार का होता है। स्त्री-पुरुष का यह भेद प्रायः जड़-चेतन मे सर्वत्र पाया जाता है। आधुनिक विद्वान् इसकी दो जातियाँ बतलाते हैं—१. सफेद तथा २. काली। श्वेत कुटज के बीज तिक्तरस युक्त होते हैं और कृष्ण कुटज के बीज उतने तिक्त नहीं होते। यह स्त्री तथा पुरुष का भेद निश्चित रूप से गवेषणीय है। किन्तु चरक ने आगे दृढ़तापूर्वक नर तथा नारी कुटज के भेदों की चर्चा की है। देखें—आगे ५ वाँ श्लोक।

वत्सकः कुटजः शक्रो वृक्षको गिरिमल्लिका। बीजानीन्द्रयवास्तस्य तथोच्यन्ते कलिङ्गकाः ॥

वत्सक के पर्याय—वत्सक (वत्सदेश—प्रयाग के समीप का विन्ध्य क्षेत्र जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी, में होने वाला), कुटज (पहाड़ों में उत्पन्न होने वाला), शक्र, वृक्षक (छोटा वृक्ष होने के कारण), गिरिमल्लिका ये कुटज के पर्याय हैं। उसके बीजों को इन्द्रयव कहते हैं, उन्हीं को कलिङ्गक (कलिंग देश=उड़ीसा में अधिक मात्रा में पाये जाने के कारण) भी कहते हैं।

वक्तव्य—कुटज को कुरैया या क्वैड़ा भी कहते हैं। इसका एक पर्याय ऊपर 'शक्र' भी दिया है। इसका कारण है कि कलिंग देश स्थित महेन्द्रपर्वत पर विशेष रूप से पैदा होने के कारण ही इसे 'शक्र' संज्ञा दी गयी हो। अमरसिंह ने भी इसका एक पर्याय 'शक्र' स्वीकार किया है। कुटज के १८ योगों का वर्णन तन्त्रकार ने च० सू० अ० ४।४ में स्वीकार किया है। यथा—'कुटजस्त्वष्टादशधा योगमेति'।

बृहत्फलः [2]श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत्। श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री [3]फलवृन्तैस्तथाऽणुभिः ॥

पुरुष-कुटज—जिस कुटज के फल बड़े हों, फूल सफेद हों तथा पत्ते चिकने हों, उसे पुरुष वत्सक (कुटज) कहना चाहिए।

१. 'निबोधेमं' इति पा०।
२. 'सितैः पुष्पैः' इति पा०।
३. 'फलपुष्पैः' इति पा०।

स्त्री-कुटज—जिस वत्सक (कुटज) के फल, फूल तथा फलवृन्त (डंठल) छोटी आकृति के, फूल अरुण (ईंट के सदृश वर्ण वाले) तथा श्यामवर्ण के हों, उसे स्त्री वत्सक कहते हैं।

रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः। हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते ॥ ६ ॥

कुटज के प्रयोग—कुटज का प्रयोग सुकुमार व्यक्तियों में होने वाले रक्तपित्त रोग में तथा कफज विकारों में लाभदायक होता है। हृद्रोग, ज्वर, वातरक्त, वीसर्प आदि (आदि शब्द से कुष्ठ का ग्रहण कर लेना चाहिए) रोगों में उत्तम लाभ देता है।

काले फलानि सङ्गृह्य तयोः शुष्काणि निक्षिपेत्[1]। तेषामन्तर्नखं मुष्टिं जर्जरीकृत्य भावयेत्[2] ॥७॥
मधुकस्य कषायेण कोविदारादिभिस्तथा। निशि स्थितं विमृद्यैतल्लवणक्षौद्रसंयुतम् ॥८॥
पिबेत् तद् वमनं श्रेष्ठं पित्तश्लेष्मनिबर्हणम्।

कुटज का संग्रह—उचित (च० क० अ० १।१०, ११, १२ में निर्दिष्ट) समय पर वत्सक (कुटज) के भली-भाँति पके हुए फलों का संग्रह करके रख लें। अन्तर्नखमुष्टि अर्थात् आधी मुट्ठी प्रमाण कुटज के बीजों को जौकुट करके कोविदार (लाल कचनार) आदि आठ द्रव्यों के अलग-अलग बनाये हुए कषायरस में रात भर भिगाकर रख दें, प्रातःकाल उनको दोनों हाथों से मसलकर सेंधानमक और मधु को मात्रानुसार मिलाकर पिलाने से भली-भाँति वमन हो जाता है। इसका सेवन करने से पित्तज तथा कफज विकारों की समाप्ति हो जाती है।

अष्टाहं पयसाऽऽर्केण तेषां चूर्णानि भावयेत् ॥ ९ ॥
[3]जीवकस्य कषायेण ततः पाणितलं पिबेत्।

कुटज के अन्य प्रयोग—मदार के दूध से आठ दिनों तक इन्द्रजौ के चूर्णों को भावना देनी चाहिए। उसके बाद १ पाणितल (१ तोला) की मात्रा में उक्त चूर्ण को लेकर जीवक के क्वाथ से रोगी पीये। यह १ चूर्ण योग है।

फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीनां पृथक् तथा ॥ १० ॥
सर्षपाणां मधूकानां लवणस्याथवाऽम्बुना।

कुटज के अन्य योग—अथवा मदार के दूध से आठ दिनों तक उपर्युक्त प्रकार से भावना दिये हुए १ तोला इन्द्रजौ के चूर्ण को मैनफल, जीमूतक, तितलौकी अथवा जीवन्ती के क्वाथ के साथ रोगी पीये अथवा सरसों के क्वाथ, महुए के फूलों का स्वरस या नमक मिश्रित जल के साथ उक्त १ तोला इन्द्रजौ के चूर्ण को रोगी पीये।

कृशरेणाथवा युक्तं विदध्याद् वमनं भिषक् ॥ ११ ॥

कुटज का कृशरा के साथ प्रयोग—अथवा तिल तथा चावलों को मिलाकर बनायी गयी खिचड़ी में इन्द्रजौ का चूर्ण मिलाकर रोगी को खिलाकर, इससे वमन कराना चाहिए।

तत्र श्लोकः—

कषायैर्नव चूर्णैश्च पञ्चोक्ताः सलिलैस्त्रयः।
एकश्च कृशरायां स्याद् योगास्तेऽष्टादश [4]स्मृताः ॥ १२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने वत्सककल्पो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. 'सङ्क्षिपेत' इति पा०।
२. 'तेपयेत्' इति, 'तेमयेत्' इति च पा०।
३. 'जीमूतककषायेण' इति पा०।
४. 'कृशराऽष्टादशयोगा वत्सकस्य निदर्शिताः' इति पा०।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त सम्बन्ध में एक श्लोक कहा गया है—

इन्द्रजौ के कषाय से	९ योग
इन्द्रयवचूर्ण के	५ योग
जलों के साथ	३ योग
कृशरा के साथ	१ योग

इस प्रकार इस पाँचवें अध्याय में कुल मिलाकर १८ योग कहे गये हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में वत्सककल्प नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातः कृतवेधनकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वत्सककल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से कृतवेधन (तरोई, तोरियाँ) कल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—कृतवेधन को ऊर्ध्वभागहर अथवा उभयतोभागहर माना गया है। धामार्गव की भाँति इसकी भी तिक्त तथा मधुर भेद से दो जातियाँ होती हैं, न कि वत्सक की भाँति स्त्री-पुरुष भेद से। इसकी वन्य जाति तिक्त होती है, कभी-कभी घरेलू कृतवेधन (तरोई) में भी तिक्त भेद देखा जाता है। औषध के लिए इसी तिक्त कृतवेधन का उपयोग प्रशस्त माना जाता है, मधुर जाति की तरोई शाकार्थ प्रयुक्त होती है। इसके प्रयोज्य अंग हैं—पत्र, मूल, फल तथा बीज। कृतवेधन आदि के बीजों के तेल का ग्रहण किया जाता है। देखें—सु० सू० अ० ४५।११५। इस अध्याय में इसके ६० विशिष्ट योगों का वर्णन किया जायेगा।

कृतवेधननामानि कल्पं चास्य निबोधत। क्ष्वेडः कोशातकी चोक्तं[1] मृदङ्गफलमेव च ॥३॥

विषय की प्रस्तावना—इस अध्याय में कृतवेधन के पर्यायों का निर्देश तथा इस कल्प की व्याख्या की जायेगी। क्ष्वेड, कोशातकी (पाठभेद के अनुसार—जाली, जालम् अस्यास्तीति), मृदंगफल ये कृतवेधन के पर्याय हैं।

वक्तव्य—'क्ष्वेड' शब्द का अन्यत्र विष अर्थ होता है, किन्तु रामाश्रमी टीका में इसे 'घोषपुष्प' का पर्याय माना है, किन्तु वह 'क्ष्वेडम्' है। मेदिनीकोषकार ने 'घोष' शब्द का अर्थ घोषालता किया है। श्रीभावमिश्र ने धामार्गव का एक पर्याय 'घोषक' भी दिया है। देखें—भा० प्र० पू० खं० फल-शाक-प्रकरण ५९। अवधेय है कि धामार्गव और कृतवेधन दोनों ही द्रव्य कोशातकी कुल (कुकुर्बिटेसी—Cucurbitaceae) के हैं। 'कोशातकी' (कोषयुक्त फलों वाली), मृदंगफल (यह मृदंग की भाँति आगे की ओर मोटे और पीछे की ओर पतले होते हैं), 'जाली' या 'जालिनी' शब्द का तात्पर्य यह है कि इसकी फलमज्जा परिपक्व होने पर जालयुक्त हो जाती है।

अत्यर्थकटुतीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च। कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥४॥

कृतवेधन के गुण तथा प्रयोग—यह अत्यन्त कटु (अरुचिकर अतएव तिक्त), तीक्ष्ण तथा उष्ण होता है। इसका प्रयोग गम्भीर रोगों में किया जाता है। जैसे—कुष्ठरोग, पाण्डुरोग, प्लीहावृद्धि, शोथरोग, गुल्मरोग तथा गर (कृत्रिम विष) विकार आदि।

---

१. 'जाली' इति पा०।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी उक्त प्रयोग को उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० १।३१।

[1]क्षीरादि कुसुमादीनां सुरा चैतेषु पूर्ववत्।

कृतवेधन के ५ योग—इसके फूल आदि द्रव्यों के कल्क आदि द्वारा पकाकर तैयार किये गये दूध से पहले की भाँति चार योग और सुरा द्वारा तैयार किया गया एक योग, इस प्रकार पाँच योग हो जाते हैं।

वक्तव्य—चरक-कल्पस्थान अ० २।५-६ में जिस प्रकार पाँच योगों को तैयार किया गया है, उसी प्रकार कृतवेधन के भी योगों का निर्माण करें। जैसे—१. कृतवेधन के फूलों को दूध में पकाकर प्रयोग करें। २. कृतवेधन के फलों को दूध में पकाकर उस दूध से पेया तैयार कराकर प्रयोग करें। ३. लोमश-कृतवेधन के फलों को दूध में पकाकर उस दूध की मलाई का प्रयोग। ४. रोमरहित कृतवेधन के फलों द्वारा पकाये हुए दूध के दही की मलाई का प्रयोग। १. कृतवेधन (कड़वी तोरई) के फल को कूटकर सुरामंड में भिगा दें, भली-भाँति भीग जाने पर हाथों से मसलकर, छानकर पीने के लिए दें। इस प्रकार ये प्रथम चार तथा अन्तिम एक—कुल मिलाकर ५ योग होते हैं।

सुशुष्काणां तु [2]जीर्णानामेकं द्वे वा यथाबलम् ॥ ५ ॥
कषायैर्मधुकादीनां नवभिः फलवत् पिबेत्। क्वाथयित्वा [3]फलं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत् ॥
कृतवेधनकल्कांशं [4]फलाद्यर्धांशसंयुतम्। पृथक् चारग्वधादीनां त्रयोदशभिरासुतम् ॥७॥

कृतवेधन के अन्य योग—भली-भाँति पक जाने पर सूखे हुए कृतवेधन के फलों के चूर्ण को रोगी अपने शारीरिक बल के अनुसार १ या २ की संख्या में लेकर मुलेठी आदि नौ द्रव्यों (च० वि० अ० १ के १४वें गद्य में कहे गये—'कोविदार-कर्बुदार-नीप-विदुल-बिम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पी-प्रत्यक्पुष्पी) के अलग-अलग क्वाथ से मदनफल के चूर्ण की भाँति (कृतवेधन के चूर्ण का) सेवन करें। इस प्रकार यहाँ कृतवेधन के मदनफल की भाँति नौ योगों का वर्णन कर दिया गया है।

इसके आगे अब १३ कषाययोगों का वर्णन किया जा रहा है—कृतवेधन के फलों का क्वाथ बनाकर उसे वस्त्र से छानकर उसे पुनः लेह (अवलेह) जैसा गाढ़ा कर लें, तैयार हो जाने पर उपर्युक्त मुलेठी आदि नौ द्रव्यों के अलग-अलग बनाये गये क्वाथों के साथ उक्त लेह का मात्रानुसार सेवन करें। अथवा कृतवेधन के फलों का कल्क १ भाग, मैनफल के फल का कल्क $1\frac{1}{2}$ भाग लेकर इन्हें एक साथ मिलाकर आरग्वध आदि तेरह द्रव्यों के कषायों में अलग-अलग डालकर इसका सन्धान करें। वे द्रव्य

वक्तव्य—आरग्वधादि तेरह द्रव्यों का उल्लेख च० क० अ० १।२२ में तन्त्रकार कर चुके हैं। इस प्रकार हैं—१. अमलतास, २. इन्द्रयव, ३. स्वादुकण्टक, ४. पाठा, ५. पाटला, ६. गुञ्जा, ७. मूर्वा, ८. सप्तपर्ण, ९. करञ्ज, १०. नीम, ११. परवल की पत्तियाँ. १२. करेला, १३. गुरुच—इस प्रकार ये १३ कषाययोग होते हैं।

[5]शाल्मलीमूलचूर्णानां पिच्छाभिर्दशभिस्तथा।

कृतवेधन-पिच्छा-प्रयोग—शाल्मली (सेमल) आदि द्रव्यों के चूर्णों से पिच्छा (चिपचिपा द्रव या लुआब) तैयार कर उसके साथ कृतवेधन के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—शाल्मली आदि द्रव्यों का वर्णन चरक-विमानस्थान अ० ८।१३५ के वमन-भेषज-प्रसंग में इस प्रकार दिया है—'शाल्मलिशाल्मलिकभद्रपर्ण्येलापर्ण्युपोदिकोद्दालकधन्वनराजादनोपचितागोपी……'। १. सेमल, २. रोहेड़ा (रोहीतक) ३. गम्भार, ४. नागबला, ५. पोई का शाक, ६. उद्दालक (जंगली कोदों),

---

१. 'क्षीरादिकुसुमानि' इति पा०।
२. 'बीजानामेकम्' इति पा०।
३. 'रसं तं च कृत्वा लेहम्' इति, 'रसं तस्य पक्त्वा लेहम्' इति च पा०।
४. 'फलार्धार्धांशसंयुतम्' इति पा०।
५. 'शाल्मलीमूलवृन्तानाम्' इति पा०।

७. धन्वन, ८. राजादन (खिरनी), ९. उपचित्रा (दन्ती) १०. गोपी (सारिवा) ये दस द्रव्य वमन वर्ग के हैं। इनसे १० योग होते हैं।

[1]वर्तिक्रियाः षट् फलवत्, फलादीनां घृतं तथा ॥ ८ ॥

कृतवेधन के अन्य योग—मैनफल के समान वर्तिक्रियाएँ अर्थात् मात्रा योग ६, मैनफल आदि मिले-जुले छः द्रव्यों के क्वाथ से मैनफल के समान घी का पाक करना, यह १ योग है। इस प्रकार यहाँ कुल ७ योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—इसके स्पष्टीकरण के लिए च० क० अ० १।२१ की चरकचन्द्रिका व्याख्या का अवलोकन करें।

कोशातकानि पञ्चाशत् कोविदाररसे पचेत्। तं कषायं फलादीनां कल्कैर्लेहं पुनः पचेत् ॥९॥
क्ष्वेडस्य तत्र भागः स्याच्छेषाण्यर्धांशिकानि तु।
कषायैः [2]कोविदाराद्यैरेवं तत् कल्पयेत् पृथक् ॥ १० ॥

कृतवेधन-लेह—कोशातकी (कृतवेधन) के सुपुष्ट पचास फलों को जौकुट करके कोविदार (लाल कचनार) के चौगुने क्वाथ में पकायें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। उस क्वाथ में मदन फल आदि का कल्क मिलाकर पकायें, जब तक वह रस पकते-पकते लेह के सदृश गाढ़ा हो जाय। इसमें कोशातकी का कल्क एक भाग मदनफल आदि द्रव्यों का कल्क आधा-आधा भाग डालें। इस प्रकार लाल कचनार आदि द्रव्यों के क्वाथों से अलग-अलग उक्त अवलेह का पाक करना चाहिए। ये ८ लेह योग होते हैं।

कषायेषु फलादीनामानूपं पिशितं पृथक्। कोशातक्या समं पक्त्वा रसं सलवणं पिबेत् ॥११॥
फलादिपिप्पलीतुल्यं तद्वत् क्ष्वेडरसं पिबेत्।

कृतवेधन युक्त मांसरस-प्रयोग—मैनफल आदि (जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, वत्सक, कृतवेधन) के अलग-अलग क्वाथ में आनूपदेशज पशु-पक्षियों का मांस कोशातकी की मात्रा के समान डालकर मांसरस तैयार करें, तैयार होने पर उसमें थोड़ा-सा नमक मिलाकर रोगी पीये।

फल आदि (मैनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, वत्सक, कृतवेधन) इन छः द्रव्यों के साथ आनूपदेश के पशु अथवा पक्षी के मांस को लेकर क्ष्वेड (कृतवेधन) के क्वाथ के साथ मांसरस को तैयार करके इसे रोगी को पीना चाहिए।

वक्तव्य—तन्त्रकार की दृष्टि से उक्त श्लोक में ६ योग हैं, किन्तु श्रीगंगाधर इसे १ योग मानते हैं। उनके अनुसार छहों द्रव्यों का अलग-अलग क्वाथ करके, उन सभी क्वाथ रसों को एक में मिलाकर तब आनूपदेशज प्राणी के मांस का पाक करना चाहिए। और श्रीगंगाधर के अनुसार 'फलादि' शब्द से जिन पाँच प्रमुख वामक द्रव्यों का ग्रहण ऊपर किया गया है, वे नहीं हैं, अपितु वे चरक सू० अ० २ श्लोक ७ में गिनाये गये द्रव्यों का यहाँ ग्रहण करना चाहते हैं। वे द्रव्य इस प्रकार हैं—'मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्। पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च' ॥ इस श्लोक में भी प्रायः वे ही द्रव्य मिल जाते हैं, कुछ ही भिन्न हैं। १२वें श्लोक के पूर्वार्ध में १ योग है। इस प्रकार कुल मिलाकर मांस के ७ योग हो जाते हैं। श्रीगंगाधर के अनुसार इस श्लोकार्ध में ६ योग हैं। यह विचारों का द्वन्द्व है, आप भी विचार करें।

क्ष्वेडं कासी पिबेत् सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन च ॥ १२ ॥

कास में कृतवेधन-प्रयोग—कास रोग से पीड़ित रोगी को चाहिए कि वह ईख के रस में पकाये गये कृतवेधन के चूर्ण को पीये। यह अपने प्रभाव से कफ को बाहर निकाल देता है।

तत्र श्लोकौ—

क्षीरे द्वौ द्वौ सुरा चैका क्वाथा द्वाविंशतिस्तथा।
दश पिच्छा घृतं चैकं षट् च वर्तिक्रियाः शुभाः ॥ १३ ॥

१. 'वर्तयः फलवत् षट् स्युः' इति पा०। २. 'कोविदाराद्यैरष्टाभिस्तं पृथक् पिबेत्' इति पा०।

लेहेऽष्टौ सप्त मांसे च योग इक्षुरसेऽपरः। कृतवेधनकल्पेऽस्मिन् षष्टिर्योगाः प्रकीर्तिताः ॥१४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने
कृतवेधनकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में दो श्लोक कहे गये हैं—

दूध द्वारा तैयार किये गये	४ योग
सुरामण्ड द्वारा प्रस्तुत	१ ,,
कषायों द्वारा प्रस्तुत	२२ ,,
शाल्मली आदि की पिच्छा से	१० ,,
वर्तिक्रिया द्वारा	६ ,,
फलादिघृत का	१ ,,
लेह के	८ ,,
मांस योग से निर्मित	७ ,,
ईख के रस से	१ ,,

इस प्रकार कुल मिलाकर इस अध्याय में कृतवेधन के ६० योगों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में कृतवेधनकल्प नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातः श्यामात्रिवृत्कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कृतवेधनकल्प का व्याख्यान करने के पश्चात् अब हम यहाँ से श्यामात्रिवृत्कल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने च० क० अ० १।३ की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से कहा है कि हम इस कल्पस्थान की रचना वमन-विरेचन सम्बन्धी सर्वविध विधान के निर्देश के लिए करेंगे। वमन-विरेचन शब्द के पौर्वापर्य का विचार करके ही भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने प्रथम छः अध्यायों में वमन सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों को उपस्थित किया, तदनन्तर अब इस सातवें अध्याय से विरेचनोपयोगी साहित्य का आरम्भ कर रहे हैं। जिस प्रकार वामक द्रव्यों में 'मदनफल' को प्रशस्त माना गया है, उसी प्रकार त्रिवृत् को विरेचक द्रव्यों में श्रेष्ठ कहा गया है। देखें—**'त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्'**। च० सू० अ० २५।४०। यहाँ 'श्याम त्रिवृत्' विशेषण देकर कालीनिशोथ का ग्रहण तन्त्रकार को प्रमुख रूप से अभीष्ट रहा है।

त्रिवृत्—अधोभागहर द्रव्यों में इसे शास्त्रकारों ने महत्त्व प्रदान किया है। प्रयोग करने पर भी वर्णन के अनुरूप फल प्राप्त होता है। वास्तव में अरुणाभत्रिवृत् सुखविरेचक और श्यामात्रिवृत् तीव्रविरेचक होती है। इसके नाम की सार्थकता—इसके काण्ड त्रिकोणाकार त्रिपक्षयुक्त होते हैं, अतः इसे त्रिवृत् कहा गया है।

विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः[१] । तस्याः संज्ञा गुणाः कर्म भेदः कल्पश्च वक्ष्यते ॥३॥

त्रिवृत् की उत्तमता—आयुर्वेदीय द्रव्यगुण के ज्ञाता विद्वान् विरेचक द्रव्यों में त्रिवृत की जड़ को अन्य सभी विरेचक द्रव्यों में श्रेष्ठ बतलाते हैं। उस त्रिवृत मूल के नाम (पर्याय), गुण, कर्म, भेद (त्रिवृत कितने प्रकार की होती है) और उसके कल्पों को भी आगे कहा जायेगा।

त्रिभण्डी त्रिवृता[२] चैव श्यामा कूटरणा तथा । सर्वानुभूतिः [३]सुवहा शब्दैः पर्यायवाचकैः ॥४॥

त्रिवृत् के पर्याय—त्रिभण्डी, त्रिवृता, श्यामा, कूटरणा, सर्वानुभूति, सुवहा—इन पर्यायवाचक शब्दों द्वारा इसे जाना जाता है।

वक्तव्य—श्रीभावमिश्र ने भी इसके पर्याय दिये हैं, इस प्रसंग में उन्हें भी देखें। सफेद निशोथ—श्वेता, त्रिवृन्ता, भण्डी, त्रिवृता, त्रिपुटा, सर्वानुभूति, सरला, निशोत्रा, रेचनी। काली निशोथ—श्यामात्रिवृत, अर्धचन्द्रा, पालिन्दी, सुषेणिका, मसूरविदला, कौलकैषिकी, कालमेषिका। इन्होंने त्रिवृता आदि कुछ पर्याय विशेष दिये हैं। निशोत्रा का ही परिवर्तित रूप निशोथ है। सर्वानुभूति का तात्पर्य है कि इसका सेवन सभी कर सकते हैं। इन्होंने श्यामात्रिवृत को सफेद त्रिवृत से गुणहीन अर्थात् अल्पगुणों वाली, किन्तु तीव्रविरेचन-कारक कहा है। श्रीनरहरिपण्डित ने श्यामा तथा रक्ता त्रिवृत् का वर्णन किया है। उनके अनुसार मालविका ताम्रपुष्पिका, कुलवणी, अमृता तथा काकनाशिका ये विशेष पर्याय प्राप्त होते हैं। पालिन्दी की भाँति इन्होंने कालिन्दि का एक मिलता-जुलता पर्याय और भी दिया है। पाठभेद के अनुसार कोटरा और सरला दो पर्याय और मिलते हैं। सरला का संग्रह श्रीभावमिश्र ने किया है।

कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा । कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥५॥

त्रिवृत् के गुण—यह कसैली, मधुर, रूक्ष (स्नेह रहित) तथा विपाक में कटु होती है। कफ तथा पित्तदोष का शमन करती है। रूक्ष होने के कारण यह वायु को कुपित करती है।

वक्तव्य—धन्वन्तरिनिघण्टु के अनुसार निशोथ का वर्णन-'कषाया मधुरा चोष्णा विपाके कटुका त्रिवृत्। कफपित्तप्रशमनी रूक्षा चानिलकोपनी ॥ कफपित्तहरा रूक्षा मधुरा बहुरेचनी। वातकृत् कटुका पाके कषाया त्रिवृताऽरुणा ॥ श्यामात्रिवृत—त्रिवृता कटुरुष्णा तु कृमिश्लेष्मोदरज्वरान्। शोफपाण्डवामयप्लीहान् हन्ति श्रेष्ठा विरेचने' ॥ ये सभी उक्त वर्णन के उपकारक हैं।

सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः । [४]कल्पवैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत् ॥६॥

औषध-संस्कारयुक्त निशोथ—वह निशोथ वात, पित्त, कफनाशक औषधद्रव्यों से युक्त हो जाने पर एवं विशेष कल्पना (संस्कार) द्वारा सभी रोगों का विनाश करने वाली हो जाती है।

मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च । [५]तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम् ॥७॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च [६]तच्छुभम् । मोहयेदाशुकारित्वाच्छ्[७]यामा क्षिण्वीत मूर्च्छयेत् ॥
तैक्ष्ण्यात् कर्षति हृत्कण्ठमाशु दोषं हरत्यपि । शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः ॥९॥

त्रिवृत् के भेद—वर्णभेद से निशोथ की जड़ दो प्रकार की होती है—१. श्याम और २. अरुण (ईंट के सदृश वर्ण वाली)। उक्त दोनों प्रकारों में से वह उत्तम मानी जाती है, जिसकी जड़ अरुण वर्ण वाली होती है। अरुणवर्ण वाली निशोथ की जड़ का प्रयोग सुकुमार व्यक्तियों के लिए, बालकों के लिए तथा जिनका मृदु कोष्ठ होता है, उनके लिए हितकारक होता है। श्याममूल वाली निशोथ आशुकारी (शीघ्र विरेचन कराने वाली) होने के कारण वह मोह को उत्पन्न कर देती है, रस, रक्त आदि धातुओं को क्षीण कर देती है और

१. 'र्महर्षयः' इति पा०।
२. 'श्यामा सुवहा कोटरा तथा। त्रिवृत्सर्वानुभूतिश्च' इति पा०।
३. 'सरला' इति पा०।
४. 'कल्पे वैशेष्यमासाद्य' इति पा०।
५. 'तयोः श्रेष्ठतरं' इति पा०।
६. 'तद्धितम्' इति पा०।
७. 'श्यामा कण्ठं क्षिणोत्यपि' इति पा०।

बेहोशी ला देती है। तीक्ष्ण होने के कारण हृदय और कण्ठप्रदेश में खिंचाव-सा पैदा कर देती है, दोषों का शीघ्र हरण करती है। अतः कालीनिशोथ का प्रयोग उनके लिए हितकर होता है, जिनके शरीर में बहुत दोषों का संग्रह हुआ हो और जिनका कोष्ठ क्रूर हो।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने श्यामा त्रिवृत का वर्णन इस प्रकार किया है—'इतरदपि तस्माद् गुणैः किञ्चिदूनं तीक्ष्णं कण्ठहृदयकर्षणं मूर्च्छासम्मोहकृदाशु दोषहरत्वाद् बहुदोषक्लेशक्षमक्रूरकोष्ठेषु प्रशस्तं श्यामाशब्द-वाच्यं च' ॥ अ० सं० क० अ० २।३। मोह तथा मूर्च्छा एक ही धातु से बने हुए दो रूप हैं, तथापि प्रयोग की दृष्टि से ये भिन्नार्थक हैं—मूर्च्छा का अर्थ विनाश तथा सम्मोह का अर्थ बेहोशी है।

गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत् । उपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः ॥१०॥
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् । [१]तद्विपाटचोद्धरेद् गर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥११॥

उत्तम त्रिवृत् के लक्षण—दोनों प्रकार के निशोथ का ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए, उसका विधान बतलाया जा रहा है। जिस दिन त्रिवृत का संग्रह करने का विचार हो उसके पहले दिन व्रत धारण करके स्नान आदि से शुद्ध होकर सफेद वस्त्रों को धारण करके शुक्लपक्ष में शुभ दिन में सावधान तथा प्रयत (जितेन्द्रिय) होकर उत्तम भूमि पर उत्पन्न हुई निशोथ की जड़ को उखाड़ना चाहिए। जिस निशोथ की जड़ भूमि में अधिक दूर तक चली गयी हो, चिकनी हो, जो तिरछी जाकर भूमि के भीतर फैली हुई न हो, उसे उखाड़कर बीच में से चीरकर त्वचा सहित उस जड़ को सुखाकर रख लें।

वक्तव्य—च० क० अ० १।१० में जो औषध-द्रव्य-संग्रह का विधान है, उसमें यह अनेक दृष्टि से भिन्न प्रतीत होता है, तथापि उन तथ्यों को यहाँ भुला देना कथमपि उचित नहीं है।

स्निग्धस्विन्नो विरेच्यस्तु [२]पेयामात्रोषितः सुखम् ।

त्रिवृत् प्रयोग-विधि—वमन की भाँति विरेचन करने के लिए भी रोगी को सर्वप्रथ स्नेहन-स्वेदन कराकर तभी उसे विरेचन कराना चाहिए। विरेचन कराने के पहले दिन उसे पेया पिलानी चाहिए। इस प्रकार के रोगी को दूसरे दिन प्रातःकाल विरेचन कराने के लिए निशोथ का सेवन कराना चाहिए, इससे उसे सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—वमन अथवा विरेचन कराने का मूल उद्देश्य यही होता है, कि स्रोतों में फँसे हुए या सूखे हुए दोष बाहर निकल जायें। इसी कार्य में सफलता पाने के लिए स्नेहन तथा स्वेदन क्रियाएँ भी की जाती हैं। चरकसंहिता में इसके लिए इस प्रकार विचार किया जा चुका है—'स्नेहात् प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्। स्नेहवद् द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्' ॥ च० सू० अ० १३।८०। इसकी व्याख्या यथास्थान चरक-चन्द्रिका टीका में देखें।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं विनीयाम्लेन ना पिबेत् ॥ १२ ॥
गोऽव्यजामहिषीमूत्रसौवीरकतुषोदकैः । प्रसन्नया त्रिफलया शृतया च पृथक् पिबेत् ॥१३॥

निशोथ के ९ योग—दोनों प्रकार के निशोथ की जड़ १ अक्ष (१ तोला) की मात्रा में लेकर उसका कल्क बनाकर उसे काँजी में घोलकर रोगी को पीना चाहिए। उक्त निशोथ के कल्क को गोमूत्र, भेड़ी का मूत्र, बकरी का मूत्र, भैंस का मूत्र, सौवीर, तुषोदक, प्रसन्ना अथवा त्रिफला के क्वाथ के साथ पीये। इस प्रकार निशोथ के ये ९ योग होते हैं।

वक्तव्य—इसमें पहला योग काँजी के साथ, ४ योग मूत्रों के साथ तथा शेष ४ योगों का सौवीर आदि के साथ सेवन कराना चाहिए।

एकैकं सैन्धवादीनां द्वादशानां सनागरम् । [३]त्रिवृद् द्विगुणसंयुक्तं चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥१४॥

१. 'तद्विपोथ्योद्धरेद् गर्भं' इति पा०।
२. 'पेयामात्रोचितः' इति 'पेयामात्राश्रितः' इति च पा०।
३. 'त्रिवृत्त्रिगुणसंयुक्तं' इति पा०।

सलवण त्रिवृत् प्रयोग—सेंधानमक आदि जो बारह नमक कहे गये हैं, उनमें से प्रत्येक नमक के साथ समान भाग सोंठ का चूर्ण मिलाकर और सोंठ के चूर्ण से दूना निशोथ का चूर्ण मिलाकर गरम जल के साथ रोगी पीये, इससे विरेचन हो जाता है। ये १२ योग होते हैं।

वक्तव्य—चरक-विमानस्थान के लवणस्कन्ध गद्य १४१ में अनेक लवणों को गिनाया गया है, उनमें से आरम्भ के १२ लवणों (१. सैंधा, २. सोंचर, ३. काल, ४. विड, ५. पाक्य, ६. आनूप, ७. कूप्य, ८. बालुका, ९. ऐल, १०. मौलिक, ११. सामुद्र, १२. रोमक) का ग्रहण करने का तन्त्रकार का निर्देश है। इसके विपरीत श्रीगंगाधर च० सू० अ० १।८८-९१ में कहे गये पाँच नमकों में सोंचर नमक को छोड़कर ४ नमकों तथा अष्टविध मूत्रों (च० सू० अ० १।९२-१०४) को लेकर १२ संख्या को पूरा करते हैं, जो उनकी स्वतन्त्र सूझ है। वास्तव में यहाँ विमानस्थानोक्त सैन्धवादि द्वादश लवणों को ही मानना उचित है।

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली। सरलः किलिमं हिङ्गु भार्गी तेजोवती तथा ॥१५॥
मुस्तं हैमवती पथ्या चित्रको रजनी वचा। स्वर्णक्षीर्यजमोदा च शृङ्गबेरं च तैः पृथक् ॥१६॥
एकैकाधांशसंयुक्तं पिबेद् गोमूत्रसंयुतम्।

निशोथ के १८ योग—१. पिप्पली, २. पिप्पलीमूल, ३. कालीमिर्च, ४. गजपिप्पली, ५. सरल (चीड़ की लकड़ी), ६. किलिम (देवदारु), ७. हींग, ८. भारंगी, ९. तेजोवती (तुम्बल, तिमूर के बीज, नेपाली धनियाँ), १०. नागरमोथा, ११. हैमवती (सफेदवच), १२. हरड़, १३. चित्रक, १४. हल्दी, १५. वचा, १६. स्वर्णक्षीरी (चोक), १७. अजमोदा, १८. सोंठ—इन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के साथ समानभाग निशोथ का चूर्ण मिलाकर गोमूत्र के साथ पीना चाहिए। इस प्रकार ये १८ योग होते हैं।

मधुकार्धांशसंयुक्तं शर्कराम्बुयुतं पिबेत् ॥ १७ ॥

मुलेठी-निशोथ-प्रयोग—निशोथ का चूर्ण १ भाग तथा मुलेठी का चूर्ण आधा भाग लें, इन दोनों को चीनी के शर्बत में मिलाकर पीना चाहिए। यह विरेचक योग है।

जीवकर्षभकौ मेदां श्रावणीं कर्कटाह्वयम्। मुद्गमाषाह्वयपर्ण्यौ च महतीं श्रावणीं तथा ॥१८॥
काकोलीं क्षीरकाकोलीमिन्द्रां छिन्नरुहां तथा। क्षीरशुक्लां पयस्यां च यष्टयाह्वं विधिना पिबेत् ॥
वातपित्तहितान्येतान्यन्यानि तु कफानिले ।

निशोथ के १५ योग—१. जीवक, २. ऋषभक, ३. मेदा, ४. गोरखमुण्डी, ५. काकड़ासिंगी, ६. मुद्गपर्णी, ७. माषपर्णी, ८. बड़ी गोरखमुंडी, ९. काकोली, १०. क्षीरकाकोली, ११. इन्द्रा (तालमखाना), १२. गुरुच, १३. क्षीरविदारी, १४. पयस्या (अर्कपुष्पी), १५. मुलेठी—इन द्रव्यों को अलग-अलग आधा-आधा भाग लें और निशोथ का चूर्ण १ भाग लेकर मिला लें। इस औषधयोग को चीनी के शरबत के साथ रोगी को पीना चाहिए। उपर्युक्त सभी योग वातज तथा पित्तज रोगों में लाभदायक होते हैं। इनके पहले जो योग कहे गये हैं, वे कफज तथा वातज रोगों में विरेचन कराने के लिए हितकर होते हैं।

क्षीरमांसेक्षुकाश्मर्यद्राक्षापीलुरसैः पृथक् ॥ २० ॥
सर्पिषा वा तयोश्चूर्णमभयार्धांशिकं पिबेत् ।

निशोथ के ७ योग—एक भाग निशोथ के चूर्ण में आधा भाग हरड़ का चूर्ण मिलाकर निम्नलिखित द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के साथ इस औषधयोग को पीना चाहिए। अनुपान के लिए ये द्रव्य हैं—१. दूध, २. मांसरस, ३. ईख का रस, ४. गम्भारी के फल का रस, ५. द्राक्षा (मुनक्का) का रस, ६. पीलु (गुड़फल) का रस, ७. गाय का घी, इनका सेवन करने से विरेचन होता है।

लिह्याद् वा मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं ससितोपलम् ॥ २१ ॥

निशोथ का १ योग—अथवा एक भाग निशोथ की जड़ का चूर्ण तथा आधा भाग मिश्री का चूर्ण इन दोनों को मिलाकर मधु-घृत के साथ चाटना चाहिए।

१. 'मुद्रां' इति, 'चित्रां' इति च पा०।

अजगन्धा तुगाक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत्। चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ॥
सन्निपातज्वरस्तम्भदाहतृष्णार्दितो नरः।

अनेक रोगहर निशोथयोग—अजमोदा, वंशलोचन, विदारीकन्द, खाँड़, निशोथ—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को उचित मात्रा में लेकर मधु और घी के साथ चाटने से भली-भाँति विरेचन हो जाता है। इसका प्रयोग सन्निपातज्वर, अंगों में जकड़न, उदर-प्रदेश में दाह तथा प्यास से पीड़ित व्यक्ति को करना चाहिए।

श्यामात्रिवृत्कषायेण कल्केन च सशर्करम् ॥ २३ ॥
साधयेद् विधिवल्लेहं लिह्यात् पाणितलं ततः ।

निशोथ अवलेह—काली निशोथ की जड़ के क्वाथ में उसी का कल्क और चीनी मिलाकर विधिपूर्वक पकाकर अवलेह तैयार करें। इस लेह को १ पाणितल (१ तोला) की मात्रा में रोगी को चाटना चाहिए। यह उत्तम विरेचक योग है।

सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा कुर्यान्मृद्भाजने नवे ॥ २४ ॥
[1]क्षिपेच्छीते त्रिवृच्चूर्णं त्वक्पत्रमरिचैः सह। [2]मात्रया लेहयेदेतदीश्वराणां विरेचनम् ॥२५॥

श्रीमानों के लिए विरेचक योग—एक नये मिट्टी के पात्र में मधु तथा चीनी को पकायें, जब चासनी बन जाय तो उसे उतार लें, शीतल हो जाने पर उस चासनी में निशोथ का चूर्ण, दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्ता का चूर्ण, कालीमिर्च का चूर्ण मात्रानुसार डालकर भली-भाँति मिला लें। रोगी के शारीरिक बल को देखकर मात्रा का निर्धारण करके उसे चाटने के लिए रोगी को दें। यह महापुरुषों का सेवन करने योग्य विरेचन योग है। इसका सेवन करने से उचित मात्रा में विरेचन हो जाता है। इसकी मात्रा १ तोला है।

वक्तव्य—उपर्युक्त लेह में द्रव्यों का परिमाण इस प्रकार समझें—चीनी या खाँड़ से चौथाई हिस्सा निशोथ का चूर्ण डालना चाहिए। दालचीनी, तेजपत्ता, मरिच इनको अल्प मात्रा में ही डाले, क्योंकि ये सुगन्ध के लिए ही डाले जाते हैं। मधु उतना डालना चाहिए, जिससे अवलेह का स्वरूप तैयार हो जाय। वमन तथा विरेचन द्रव्यों में मधुपाक का जो विधान किया गया है, उसमें कारण यह है, कि ये द्रव्य बिना पाचन हुए वमन तथा विरेचन से साथ बाहर निकल आते हैं, अतः दुष्प्रभाव की आशंका नहीं करनी चाहिए।

[3]कुडवांशान् रसानिक्षुद्राक्षापीलुपरूषकात्। सितोपलापलं क्षौद्रात् कुडवार्धं च साधयेत् ॥२६॥
तं लेहं योजयेच्छीतं त्रिवृच्चूर्णेन शास्त्रवित्। [4]एतदुत्सन्नपित्तानामीश्वराणां विरेचनम् ॥२७॥

श्रीमानों के लिए अन्य योग—ईख का रस, मुनक्कों का रस, पीलु का रस, फालसों का रस १-१ कुडव (१६-१६ तोला), मिश्री १ पल (४ तोला), इन सबको एक साथ मिलाकर पाक करें, उचित पाक हो जाने पर उसे शीतल होने तक चलाते रहें। शीतल हो जाने पर उसमें एक कुडव (१६ तोला) मधु मिलायें तथा सफेद निशोथ का चूर्ण आधा कुडव (८ तोला) मिलाकर शास्त्र को जानने वाला चिकित्सक इसका प्रयोग जिन व्यक्तियों के शरीर में पित्तदोष उभड़ा हुआ हो, जो श्रीमान् तथा समृद्ध हों उनके लिए कराये।

शर्करामोदकान् वर्तीर्गुलिकामांसपूपकान्। अनेन विधिना कुर्यात् पैत्तिकानां विरेचनम् ॥२८॥

पित्तप्रकृति पुरुषों के लिए प्रयोग—पित्तज रोगों से पीड़ित पुरुषों के लिए उपर्युक्त विधि के अनुसार सफेद निशोथ के चूर्ण को चीनी की चासनी द्वारा लड्डू, वर्ति अथवा गुटिका बनाकर या मांस के मालपुआ बनाकर सेवन कराना चाहिए। इसके सेवन से विरेचन होता है।

वक्तव्य—निशोथ के चूर्ण तथा चीनी का अनुपात क्रमशः १ भाग तथा आधा भाग होना चाहिए, फिर आप मोदक, वत्ती, गोली जो भी बनायें, उससे अवश्य विरेचन होगा।

१. 'दद्याच्छीते' इति पा०।
२. 'लिह्यात् तं मात्रया लेहं' इति पा०।
३. 'रसान् कौडविकानिक्षु०' इति पा०।
४. 'एतदुत्कृष्टपित्ताना०' इति पा०।

पिप्पलीं नागरं क्षारं श्यामां त्रिवृतया सह । लेहयेन्मधुना सार्धं [1]श्लेष्मलानां विरेचनम् ॥२९॥

कफप्रकृति पुरुषों के लिए प्रयोग—पिप्पली, सोंठ, जवाखार, काली निशोथ, इन सबको समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटने के लिए रोगी को दें। इससे कफ-प्रकृति-प्रधान पुरुषों को विरेचन हो जाता है।

मातुलुङ्गाभयाधात्रीश्रीपर्णीकोलदाडिमात् । सुभृष्टान् स्वरसांस्तैले साधयेत्तत्र चावपेत् ॥३०॥
सहकारात् कपित्थाच्च मध्यमम्लं च यत् फलम् । पूर्ववद्बहलीभूते त्रिवृच्चूर्णं समावपेत् ॥३१॥
त्वक्पत्रकेशरैलानां चूर्णं मधु च मात्रया । लेहोऽयं कफपूर्णानामीश्वराणां विरेचनम् ॥३२॥

कफप्रकृति वाले श्रीमानों के लिए प्रयोग—बिजौरानीबू का रस, हरीतकी का रस, आँवला का रस, गम्भार की छाल का रस, बेर का रस, दाड़िम का रस, इन्हें अलग-अलग १-१ कुडव (१६-१६ तोला) की मात्रा में एक साथ मिलाकर तिल के तेल से भूँज लें। जब पकते-पकते वह रस गाढ़ा होने लगे तब उसमें अमचूर, कैथ के गूदे का चूर्ण और जो फल हल्के खट्टे हों, जैसे झड़बेर आदि का चूर्ण भी उसमें मिला दें, जब वह गाढ़ा हो जाय तब उसमें निशोथ का चूर्ण, दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्ता का चूर्ण, नागकेशर का चूर्ण एवं इलायची का चूर्ण अच्छी तरह मिला दें। शीतल हो जाने पर उचित मात्रा में मधु मिला दें। इस अवलेह का प्रयोग कफदोष से पूर्ण शरीर वाले तथा धनी-मानी व्यक्तियों के लिए करना चाहिए। यह उत्तम विरेचक योग है।

वक्तव्य—ऊपर इसी अध्याय में कहे गये २६वें तथा २७वें श्लोक में दिये गये मानों के अनुसार इसको भी तैयार करने की आज्ञा तन्त्रकार ने 'पूर्ववत्' शब्द द्वारा दी है। पहले कहे गये उक्त श्लोकों में तेल की चर्चा नहीं की गयी है, अतः तेल का उतना ही ग्रहण करना चाहिए जिससे वे स्वरस भली-भाँति भूने जा सकें।

पानकानि रसान् यूषान्मोदकान् रागषाडवान् । अनेन विधिना कुर्याद्विरेकार्थं कफाधिके ॥३३॥

निशोथ के विविध योग—कफप्रकृति वाले रोगियों के लिए इसी विधि से पानक, मांसरस, यूष, मोदक, राग (अचार, चटनी), षाडव (खाडव) इनका निर्माण कराकर विरेचन कराने के लिए देना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में निशोथ के चूर्ण को विविध प्रकार से सेवन कराने की विधियों का रुचिकर वर्णन किया गया है। **पानक**—'मत्स्यण्डिकादिभिष्टद्रव्यकृतपानीयं'। या नीबू के शरबत में निशोथ का चूर्ण मिलाकर पीने के लिए। इसी प्रकार मांसरस आदि प्रत्येक में मात्रानुसार निशोथ का चूर्ण मिलाकर रोगी को खिलाना चाहिए। इस श्लोक में ५ विरेचन योग कहे गये हैं।

भृङ्गैलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृत्तैश्च शर्करा । चूर्णं फलरसक्षौद्रशक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ॥३४॥
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च । नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ॥३५॥

विरेचन सम्बन्धी तर्पण-प्रयोग—दालचीनी १ भाग, छोटा इलायची १ भाग, दोनों के समान नील की जड़ (२ भाग), इन तीनों के बराबर निशोथ का चूर्ण अर्थात् ४ भाग, सबके बराबर अर्थात् ८ भाग चीनी, इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर रखें। इसमें बिजौरानीबू आदि फलों के रस आवश्यकतानुसार मिलायें, इसी में मधु तथा जौ का सत्तू मिलाकर तर्पण तैयार करके इसे रोगी को पीने के लिए दें। इस तर्पण का प्रयोग वातज, पित्तज, कफज रोगों में तथा पाचकाग्नि के मन्द पड़ जाने पर किया जाता है। यह विरेचन योग सुकुमार व्यक्तियों के लिए कहा गया है, क्योंकि इससे कोई उपद्रव नहीं होता है। यह १ तर्पण योग है।

शर्करात्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिमाक्षिकैः । मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहः ॥३६॥

विरेचन सम्बन्धी मोदक-प्रयोग—चीनी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कालीनिशोथ, पीपर, मधु इन द्रव्यों से मोदक (गोली) बनाकर सन्निपातज, ऊपर की ओर को प्रवृत्त होने वाला रक्तपित्त तथा सामान्य ज्वर में विरेचन कराने के लिए प्रयोग कराना चाहिए। इससे उक्त विकारों की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ चिकित्सक परम्परा से अरुण वर्ण वाली १ निशोथ का ग्रहण किया जाता है। चीनी से लेकर पीपर तक के द्रव्यों का सविधि पाक करके शीतल हो जाने पर मधु मिलाकर मोदकों का निर्माण करना

१. 'श्लैष्मिकाणां' इति पा०।

चाहिए। मोदक पाक में चीनी को दूना लेने की भी परम्परा है। चीनी की चासनी बनाकर उक्त द्रव्यों के चूर्ण उसमें मिला दिये जाते हैं और अन्त में मधु मिलाया जाता है। यह १ मोदक योग है।

त्रिवृच्छाणा मतास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः । विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन तु । भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छोधनमुत्तमम् ॥३८॥
गुल्मं प्लीहोदरं [2]श्वासं हलीमकमरोचकम् । कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद् व्यपोहति ॥३९॥

त्रिवृत् लेह तथा मोदक—अरुण निशोथ की जड़ का चूर्ण ३ शाण (१२ माशा=१ तोला), हरड़, बहेड़ा, आँवला तीनों अलग-अलग १-१ शाण, वायविडंग, पिप्पली तथा जवाखार का चूर्ण, ये प्रत्येक १-१ शाण इन सबको एक साथ मधु तथा घी के साथ मिलाकर चाटने के लिए रोगी को दें। अथवा गुड़ की चासनी तैयार करके उक्त अनुपात से औषधद्रव्यों को उसमें डालकर मोदक बनाकर रख लें। इनका सेवन रोगी को करायें। इस मोदक के सेवनकाल में किसी आहार-विहार का परहेज नहीं बतलाया गया है। यह उत्तम विरेचन योग है। इस लेह अथवा मोदक का सेवन करने से गुल्मरोग, प्लीहावृद्धि, उदररोग, श्वासरोग, हलीमक, अरोचक तथा अन्य कफजनित रोगों का शीघ्र नाश हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है—'विडङ्गतण्डुलवरायावशूककणास्त्रिवृत् । सर्वतोऽर्धेन तल्लीढं मध्वाज्येन गुडेन वा' ॥ अ० सं० क० अ० २।१२। इनके अनुसार 'विडंगतण्डुल' वायविडंग के बीज ग्रहण किये जाने चाहिए। महर्षि आत्रेय का भी 'विडङ्गपिप्पली' से कहीं यही अभिप्राय तो नहीं रहा है? विद्वान् विचार करें। इसी कल्पस्थान में 'मदनपिप्पली' एक ऐसा ही प्रयोग है। वृद्धवाग्भट द्वारा कथित केवल 'लेहयोग' है। महर्षि आत्रेय ने तो पहले 'लेह' की व्यवस्था दी है, बाद में 'मोदक' की।

विडङ्गपिप्पलीमूलत्रिफलाधान्यचित्रकान् । मरिचेन्द्रयवाजाजीपिप्पलीहस्तिपिप्पलीः ॥४०॥
लवणान्यजमोदां च चूर्णितं कार्षिकं पृथक् । तिलतैलत्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ ॥४१॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलां तथा । पक्त्वा मृद्वग्निना खादेद् बदरोदुम्बरोपमान् ॥४२॥
गुडान् कृत्वा न चात्र स्याद्विहाराहारयन्त्रणा । मन्दाग्नित्वं ज्वरं मूर्च्छां मूत्रकृच्छ्रमरोचकम् ॥
अस्वप्नं गात्रशूलं च कासं श्वासं भ्रमं क्षयम् । कुष्ठार्शःकामलामेहगुल्मोदरभगन्दरान् ॥४४॥
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्युः पुंसवनाश्च ते । कल्याणका इति ख्याता सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ॥४५॥
इति कल्याणकगुडः ।

कल्याणक-गुड़—वायविडंग, पिप्पलीमूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धनियाँ, चित्रक, कालीमिर्च, इन्द्रजौ, जीरा, गजपीपल, पाँचों नमक (सैंधा, सोंचर, समुद्र, विड, औद्भिद), अजमोदा, इनमें से प्रत्येक द्रव्य को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर कपड़छन चूर्ण कर अलग-अलग रखें। इस चूर्ण में तिल का तैल ८ पल (३२ तोला), निशोथ का चूर्ण ८ पल (३२ तोला), आँवलों का रस ३ प्रस्थ (१९२ तोला) तथा गुड़ आधा तुला (२०० तोला) मिला दें। इसे मन्द-मन्द आँच पर पकायें, जब पकते-पकते गाढ़ा हो जाय तब उतारकर इसकी गूलर के समान गोलियाँ बना लें। इसके सेवनकाल में किसी प्रकार का आहार-विहार सम्बन्धी परहेज नहीं है। यह कल्याणक गुड़ मन्दाग्नि, ज्वर, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र के बाहर निकलने में कष्ट का होना), अरोचक, निद्रानाश (रात में नींद का न आना), शरीर में शूल का होना, कास, श्वास, भ्रम (चक्करों का आना), क्षयरोग, कुष्ठ, अर्श (बवासीर), कामला, प्रमेह, गुल्म, उदररोग, भगन्दर, ग्रहणीरोग तथा पाण्डुरोग का विनाश करता है। यह पुंसवन भी है, अर्थात् इसका सेवन करने से गर्भवती स्त्री पुरुष-सन्तान को जन्म देती है। तात्पर्य यह है कि इसका समय पर विधिवत् सेवन करने से कन्या-सन्तान पुत्र के रूप में परिणत हो जाती है। ये सुप्रसिद्ध कल्याणक गुड़ सभी ऋतुओं में सेवन किये जा सकते हैं। यह १ मोदक योग है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट द्वारा उद्धृत कल्याणक गुड़ के योग को भी देखें, जो अनेक परिवर्तनों के साथ दिया गया है—अ० सं० क० २।२४। भैषज्यरत्नावली के ग्रहणीरोगाधिकार में दिया गया 'कल्याणक गुड़' इससे कुछ अंशों में भिन्न है। चक्रदत्त के ग्रहणीरोगाधिकार में जो 'कल्याणक गुड़' कहा गया है, उसमें द्रव्यों के प्रमाण

१. 'मतच्छ्रेष्ठं विरेचनम्' इति पा०।
२. 'कासं' इति पा०।

में इसकी अपेक्षा अन्तर है। वह श्रीचक्रपाणि द्वारा बुद्धिपूर्वक किया गया परिवर्तन है। उक्त स्थलों के परिवर्तन अवलोकनीय हैं। तन्त्रकार के अनुसार ४५वें श्लोक के अन्त में दिया गया नाम 'कल्याणकगुडाः' होना चाहिए था।

व्योषत्वक्पत्रमुस्तैलाविडङ्गा[1]मलकाभयाः। समभागा भिषग् दद्याद् द्विगुणं च मुकूलकम् ॥४६॥
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं शर्करायाश्च षड्गुणम्। चूर्णितं गुडिकाः कृत्वा क्षौद्रेण पलसम्मिताः ॥४७॥
भक्षयेत् कल्यमुत्थाय शीतं चानु पिबेज्जलम्। मूत्रकृच्छ्रे ज्वरे वम्यां कासे श्वासे भ्रमे क्षये ॥४८॥
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ता निर्यन्त्रणाशिनः।
योगः सर्वविषाणां च मतः [2]श्रेष्ठो विरेचने ॥ ४९ ॥
मूत्रजानां च रोगाणां विधिज्ञेनावचारितः।

व्योषादि गुटिका—सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, तेजपत्ता, नागरमोथा, इलायची, वायविडंग, आँवला, हरड़ इन द्रव्यों को समानभाग लें और दो भाग दन्ती (जमालगोटा) की जड़, ८ भाग निशोथ और ६ भाग चीनी, इनका कपड़छन चूर्ण करके मधु मिलाकर १-१ पल की गोलियाँ बना लें। प्रातःकाल उठकर १ गोली खायें और अनुपान के रूप में शीतल जल पीयें। इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, कास, श्वास, भ्रम (चक्करों का आना), क्षयरोग, ताप (मानसिक सन्ताप), पाण्डुरोग तथा मन्दाग्नि में प्रशंसनीय कहा गया है। इसके सेवनकाल में आहार-विहार आदि का कोई बन्धन नहीं है। यह योग सभी प्रकार के विषविकारों में विरेचन के लिए श्रेष्ठ कहा गया है। विरेचन-विधि के जानने वाले चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त यह व्योषादि गुटिका सभी प्रकार के मूत्रज विकारों का भी शमन करती है, अर्थात् मूत्रज विकारों में भी इसका प्रयोग विरेचन के लिए किया जाता है। यह १ मोदक योग है।

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में इस योग को 'अभयादि मोदक' संज्ञा दी गयी है।

पथ्याधात्र्युरुबूकाणां प्रसृतौ द्वौ त्रिवृत्पलम् ॥ ५० ॥
दश तान्मोदकान् कुर्यादीश्वराणां विरेचनम्।

पथ्यादि मोदक—पथ्या (हरड़), आँवला, उरुबूक (एरण्डबीज), ये तीनों द्रव्य मिलाकर २ प्रसृत (१६ तोला), निशोथ १ पल (४ तोला), इन सभी का कपड़छन चूर्ण करके मधु के योग से १० मोदक (गोलियाँ) तैयार करें। ये मोदक सुकुमार व्यक्तियों एवं श्रीमानों को विरेचन कराने के निमित्त प्रयुक्त होते हैं।

वक्तव्य—अन्य संस्करणों में उक्त श्लोक के पूर्वार्ध से सम्बन्धित एक पाठभेद इस प्रकार उपलब्ध होता है—'त्रिवृत्पलं द्विप्रसृतं पथ्या धान्योरुबूकयोः'। श्रीगणनाथसेन ने उक्त पाठभेद को इस प्रकार संस्कारित किया है—'त्रिवृत्पलं द्विप्रसृतं पथ्यात्वगुरुबूकयोः'। ध्यान रहे यदि हम उक्त पाठभेदों को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करते हैं, तो उक्त पथ्यादि मोदक के द्रव्यों तथा उनके परिमाण में भी अन्तर आ जायेगा।

त्रिवृद्धैमवती श्यामा नीलिनी हस्तिपिप्पली ॥ ५१ ॥
समूला पिप्पली मुस्तमजमोदा दुरालभा। कार्षिकं नागरपलं गुडस्य पलविंशतिम् ॥५२॥
चूर्णितं मोदकान् कुर्यादुदुम्बरफलोपमान्। हिङ्गुसौवर्चलव्योषयवानीबिडजीरकैः ॥५३॥
वचाजगन्धात्रिफलाचव्यचित्रकधान्यकैः। मोदकान् वेष्टयेच्चूर्णैस्तान् सतुम्बुरुदाडिमैः ॥५४॥
त्रिकवङ्क्षणहृद्वस्तिकोष्ठार्शःप्लीहशूलिनाम्। हिक्काकासारुचिश्वासकफोदावर्तिनां [3]शुभाः ॥५५॥

त्रिवृतादि मोदक—अरुण वर्ण वाली निशोथ, हैमवती (सफेद वचा), कालीनिशोथ, नीलिनी की जड़, गजपिप्पली, पिप्पलामूल, नागरमोथा, अजमोदा, दुरालभा—प्रत्येक द्रव्य का कपड़छन चूर्ण १ कर्ष=१ तोला, सोंठ का चूर्ण १ पल (४ तोला), गुड़ २० पल (८० तोला), गुड़ की चासनी बनाकर उक्त सभी द्रव्यों के चूर्ण को चासनी में मिलाकर गूलर के फल के समान मोदक (गोलियाँ) बनायें। तदनन्तर इन मोदकों के ऊपर निम्न द्रव्यों के चूर्णों का अवचूर्णन करें। घी में भुनी हुई हींग का चूर्ण, सोंचरनमक, सोंठ, मरिच, पीपल,

१. 'मलकान् समान्। त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं' इति पा०।
२. 'श्रेष्ठं विरेचनम्' इति पा०।
३. 'हिताः' इति पा०।

अजवाइन, विडलवण, जीरा, वचा, अजगन्धा (अजमोदा), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), चव्य, चित्रक, धनियाँ, तुम्बुरु (नेपाली धनियाँ), दाड़िम (खट्टा अनारदाना), इन चूर्णों से लपेट दें।

त्रिवृतादि मोदकों का प्रयोग—उक्त मोदकों का त्रिक (रीढ़ की हड्डी का निचला भाग), वंक्षण (पेड़ू और जाँघ के बीच का भाग अर्थात् ऊरुसन्धि), हृदय, वस्ति, कोष्ठ, अर्श (बवासीर), प्लीहा इन स्थानों में जिन रोगियों को शूल हो रहा हो और जिनको हिक्का, कास, अरुचि, श्वास तथा कफज उदावर्त हुआ हो उनके लिए प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—गुड़ की चासनी से बनाये गये उक्त मोदकों में बाहर से चिपचिपापन आ जाता है, उक्त विधि से ऊपर से बुरकी हुई हींग आदि का चूर्ण उन मोदकों में मिलकर उनके स्वरूप की रक्षा तथा उनकी गुण-वृद्धि करता है। यह निर्माण-विधि का एक भेद भी है। इसी प्रकार 'खीरकदम' नामक मिठाई के बाहर से चीनी का भूरा भी लगाया जाता है। श्रीजयदेव ने 'त्रिवृद् हैमवती से फलोपमान्' तक को एक योग माना है और 'हिङ्गु से शुभाः' तक के लिए वे मौन हैं। अब आप ही सोचिये कि रोटी बनाने के लिए प्रयुक्त लोई और पलेथन या परथन को अन्त में आप एक मानेंगे या दो? कुछ विद्वान् 'अजगन्धा' को अन्तः (भीतरी) प्रयोग के अवसर पर 'अजवाइन' तथा शेष अवसरों पर 'अजमोदा' स्वीकार करते हैं।

त्रिवृतां कौटजं बीजं पिप्पलीं विश्वभेषजम्। [1]क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षास्वेतद् विरेचनम् ॥५६॥

ऋतुओं के अनुसार विरेचन-व्यवस्था

वर्षाकालिक विरेचक योग—अरुणवर्ण की निशोथ, इन्द्रजौ, पिप्पली, सोंठ, इन सब द्रव्यों को समान-भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। मात्रा के अनुसार चूर्ण को लेकर मधु और मुनक्का के रस में मिलाकर इसका सेवन विरेचन कराने के लिए वर्षाऋतु में करना चाहिए।

त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम्। द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वसातलं जलदात्यये ॥५७॥

शरत्कालिक विरेचक योग—अरुणवर्ण की निशोथ, दुरालभा, नागरमोथा, चीनी (खाँड़), उदीच्य (गन्धबाला), लालचन्दन, मुलेठी, सातला, (सात धारियों वाली सेहुँड), इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इसमें से मात्रानुसार लेकर मुनक्का के क्वाथ-रस से शरद् ऋतु में इस विरेचक योग का सेवन करना चाहिए।

त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम्। स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते पिष्ट्वा तूष्णाम्बुना पिबेत् ॥

हेमन्तकालिक विरेचक योग—अरुणवर्ण की निशोथ, चित्रक, पाठा, जीरा, सरल (चीड़ की लकड़ी), वचा, स्वर्णक्षीरी (चोक या सत्यानाशी) की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर मात्रानुसार इसे लेकर गरम पानी से पीसकर विरेचन की इच्छा से रोगी को पीना चाहिए।

शर्करा त्रिवृता तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम्।

ग्रीष्मकालिक विरेचक योग—चीनी (खाँड़), अरुणवर्ण की निशोथ, इन दोनों द्रव्यों को बराबर लेकर कूटकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इनमें से २ माशा चूर्ण को गरम पानी के साथ सेवन करने से विरेचन हो जाता है। इसका प्रयोग ग्रीष्मऋतु में करना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रकरण में वर्षा, शरत, हेमन्त, ग्रीष्म इन चार ही ऋतुओं का प्राधान्यतः उल्लेख किया गया है, किन्तु प्रावृट् और वसन्त दो ऋतुओं को छोड़ दिया है, उसके लिए यह समाधान है—वर्षाऋतु में जिस योग का निर्देश किया गया है उसी का प्रयोग प्रावृट् ऋतु में और अन्य ऋतुओं में निर्दिष्ट योग का वसन्तऋतु में प्रयोग करना चाहिए। शेष श्लोक ६१-६२ के वक्तव्य में देखें।

त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषाः सातलां कटुरोहिणीम्[2] ॥ ५९ ॥
त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषाः ... स्निग्धानां मलदोषहृत् ॥
स्वर्णक्षीरीं च सञ्चूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत् त्र्यहम्। एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहृत् ॥

१. 'समृद्वीकारसक्षौद्रं' इति पा०।
२. 'हपुषां सप्तलां श्यामां द्रवन्तीं कटुरोहिणीम्' इति पा०।

प्रत्येक ऋतु में सेवनीय योग—अरुणवर्ण की निशोथ, त्रायमाणा, हाऊबेर, सातला (सातधारियों वाली सेहुँड), कुटकी, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी, चोक) की जड़, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कूटकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इसको तीन दिन तक गोमूत्र की भावना देकर सूख जाने पर सुरक्षित रख ले। इसका प्रयोग प्रत्येक ऋतु में मात्रानुसार किया जा सकता है। इसका सेवन करने से पहले रोगी को स्नेहन करा दें। इस प्रकार यह रोगी के मलदोष को बाहर निकाल देता है।

त्रिवृच्छ्यामा दुरालम्भा वत्सकं हस्तिपिप्पली। नीलिनी त्रिफला मुस्तं कटुका च सुचूर्णितम् ॥
सर्पिर्मांसरसोष्णाम्बुयुक्तं पाणितलं ततः। [1]पिबेत् सुखतमं ह्येतद् रूक्षाणामपि शस्यते ॥६२॥

सुखद विरेचक योग—अरुण वर्ण की निशोथ, काली निशोथ, दुरालभा, इन्द्रजौ, गजपिप्पली, नीली की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, कुटकी, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके रख लें। इसमें से १ पाणितल (१ तोला) की मात्रा में उक्त चूर्ण को लेकर गाय के घी, मांसरस अथवा गुनगुने जल के साथ मिलाकर सुखपूर्वक विरेचन होने के लिए इसे पीना चाहिए। यह विरेचन योग रूक्षप्रकृति वाले पुरुषों के लिए भी हितकर होता है।

वक्तव्य—श्लोक ५९ के उत्तरार्ध से लेकर श्लोक ६२ तक के योगों का प्रयोग सभी ऋतुओं में किया जा सकता है। हेमन्तऋतु में शीत अत्यधिक पड़ती है, अतः विरेचनकारक योगों के प्रयोग अच्छे नहीं माने जाते हैं, तथापि आवश्यकता आ जाने पर प्रयोग करना ही पड़ता है। सामान्य स्थिति में तीक्ष्ण विरेचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बसन्तऋतु में वमनकारक योगों का प्रयोग कफ को निकालने की दृष्टि से किया जाता है, इसलिए भी तन्त्रकार ने वसन्तऋतु का उल्लेख ऊपर नहीं किया है, यदि उसमें भी आवश्यकता पड़ जाय तो सभी ऋतुओं के लिए कहे गये योगों का प्रयोग किया जा सकता है। वृद्धवाग्भट ने भी उक्त योग को उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।२५। यहाँ 'श्रेष्ठा' शब्द से त्रिफला का ग्रहण किया गया है।

त्र्यूषणं त्रिफला हिङ्गु कार्षिकं त्रिवृतापलम्। सौवर्चलार्धकर्षं च पलार्धं चाम्लवेतसात् ॥६३॥
तच्चूर्णं शर्करातुल्यं मद्येनाम्लेन वा पिबेत्। गुल्मपार्श्वार्तिनुत्सिद्धं जीर्णे चाद्याद्रसौदनम् ॥६४॥

त्र्यूषणादि चूर्ण—सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, हींग प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला), अरुण वर्ण की निशोथ १ पल (४ तोला), सोंचर नमक आधा तोला, अम्लवेतस् आधा पल (२ तोला) इन द्रव्यों को उक्त परिमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें और चूर्ण के बराबर चीनी मिलाकर रख लें। उसमें से मात्रा के अनुसार लेकर मदिरा या काँजी के साथ मिलाकर उसे पीयें। इसके सेवन से गुल्मरोग तथा पसलियों में होने वाली पीड़ा का विनाश हो जाता है। औषध के पच जाने पर रोगी मांसरस के साथ भात खाये। यह १ चूर्ण योग है।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं सप्तलां व्योषसैन्धवम्। कृत्वा चूर्णं तु सप्ताहं भाव्यमामलकीरसे ॥६५॥
तद् योज्यं तर्पणे यूषे पिशिते रागयुक्तिषु।

त्रिवृतादि विरेचक योग—अरुण वर्ण की निशोथ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, जमालगोटा की जड़, सातला (सात धार वाली सेंहुड), सोंठ, मरिच, पीपल, सेंधानमक इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण करके सात दिन तक आँवले के रस की भावना देकर रख लें। मात्रानुसार इस चूर्ण को लेकर तर्पण (सत्तू के घोल) के साथ, यूष के साथ, मांसरस के साथ अथवा राग (अचार-चटनी) के साथ सेवन करें। यह १ तर्पण योग है।

तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्महरं घृतम् ॥ ६६ ॥
श्यामात्रिवृतयोर्मूलं पचेदामलकैः सह। जले तेन कषायेण[2] पक्त्वा सर्पिः पिबेन्नरः ॥६७॥
श्यामात्रिवृत् कषायेण सिद्धं सर्पिः पिबेत् तथा। साधितं वा पयस्ताभ्यां सुखं तेन विरिच्यते ॥

१. 'पिबेदेतत्सर्वकालं' इति पा०।
२. 'निर्यूहेण तयोर्युक्त्या' इति पा०।

घृत तथा क्षीरयोग—१. माल के घी के समान भाग काँजी और घी में चतुर्थांश अरुणवर्ण की निशोथ के कल्क के साथ विधिपूर्वक घी का पाक करें। इसका उचित मात्रा में सेवन करने से गुल्मरोग का नाश हो जाता है। २. अरुणवर्ण की निशोथ तथा काली निशोथ इन दोनों की जड़ तथा आँवला इन तीनों द्रव्यों का समान भाग लेकर इनको पानी में डालकर क्वाथ करें। तैयार हो जाने पर इसे छानकर जो क्वाथरस प्राप्त हो उससे यथाविधि घृतपाक करें। इसका प्रयोग विरेचन के लिए कराया जाता है। ३. कालीनिशोथ तथा अरुण-वर्ण की निशोथ के क्वाथरस से यथाविधि तैयार किये गये घी को उसी प्रकार पीना चाहिए। ४. उपर्युक्त दोनों प्रकार की निशोथ के क्वाथरस से पकाये गये दूध का पान करने से भी रोगी को सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इन योगों का संग्रह इस प्रकार किया है—'तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्म-हरं घृतम्। श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः पयोऽपि वा' ॥ अ० सं० क० अ० २।२९। यहाँ ऊपर ३ घृतयोग और १ क्षीरयोग कहे गये हैं।

त्रिवृन्मुष्टींस्तु सनखानष्टौ द्रोणेऽम्भसः पचेत्[1]। पादशेषं कषायं तं पूतं गुडतुलायुतम् ॥६९॥
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्रपिप्पलीफलचित्रकैः। प्रलिप्ते [2]विधिना मासं जातं तन्मात्रया पिबेत् ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं गुल्मश्वयथुनाशनम्। सुरां वा [3]त्रिवृतायोगकिण्वां तत् क्वाथसंयुताम् ॥७१॥

त्रिवृत् अरिष्ट—१. अरुणवर्ण वाले निशोथ को आठ अन्तर्नखमुष्टि प्रमाण में लेकर (अन्तर्नखमुष्टि आधी मुट्ठी के बराबर होती है) इसे १ द्रोण (१०२४ तोला=१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) जल में डालकर क्वाथ-विधि से पकायें। जब वह जल चौथाई शेष रह जाय तब उसे छानकर उसमें १ तुला (४०० तोला) गुड़ डाल दें। इस अरिष्ट को रखने के लिए एक मिट्टी का पात्र लें, इसको भीतर से घी चुपड़ दें, उसके बाद पिप्पली, मैनफल, चित्रक इनके चूर्ण को मधु में मिलाकर उस घड़े की दीवालों को भीतर से लीप दें, तत्पश्चात् उक्त द्रव को उस घड़ा में भरकर उसका मुख बन्द करके सन्धान होने के लिए एक मास तक रख दें। ध्यान रहे कि उस घड़े का एक चौथाई भाग खाली रहना चाहिए, अन्यथा उसके फूट जाने का भय बना रहता है। एक मास बीत जाने के बाद उस घड़ा का मुख खोलकर उस द्रव को छानकर सुरक्षित रख लें। मात्रा पूर्वक इसको पीने से ग्रहणीविकार, पाण्डुरोग, गुल्मरोग तथा शोथ (सूजन) रोग का नाश हो जाता है। २. अथवा त्रिवृता (निशोथ) के क्वाथ से युक्त तथा चतुर्थांश त्रिवृता के सुरा बीज से तैयार की गयी सुरा को ग्रहणी आदि ऊपर कहे गये रोगों से पीड़ित रोगी पीये। इसमें २ सुरा योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—यहाँ पर 'सनखान्' यह द्वितीयान्त पद 'अष्टौ मुष्टीन्' का विशेषण हैं। पाठ-भेद विचार—१९२२ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में यहाँ दिया गया ७०वाँ पद्य ६५वीं संख्या में दिया है। आप देखें, उसमें उक्त श्लोक के उत्तरार्ध में 'मधुना' के स्थान पर 'विधिना' पाठ दिया गया है, जो सर्वथा उचित है। अतः हमने भी १९४१ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में दिये गये 'मधुना' पाठ के स्थान पर 'विधिना' पाठ को आदर दिया है। आप ध्यान दें—'क्षौद्रपिप्पलीफलचित्रकैः प्रलिप्ते' इतना स्पष्ट पाठ होने के बाद फिर 'मधुना' पद की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथस्विन्नैः कुल्माषमम्भसा। आसुतं षडहं पल्ले जातं सौवीरकं पिबेत् ॥
भृष्टान् वा सतुषाञ्छुद्धान्[4] यवांस्तच्चूर्णसंयुतान्। आसुतानम्भसा तद्वत् पिबेज्जातं तुषोदकम् ॥

सौवीर योग—१. काली निशोथ तथा अरुणवर्ण की निशोथ के क्वाथ जल में जौ को उबालकर उसी क्वाथ जल से जौ को पीसकर भीतर से घी चुपड़े हुए घड़े में भरकर उसका मुख बन्द कर छः दिनों तक धान्य राशि में रख दें। छः दिन के बाद उसका मुख खोलकर उस द्रव को छानकर उस सौवीर योग को रोगी पीये।

तुषोदक योग—भूसी के साथ जौ को भूनकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को पानी में घोलकर भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में छः दिन तक रखकर सन्धान होने के लिए उस घड़े को धान्यराशि से ढककर रख

१. 'जले द्रोणे त्रिवृन्मुष्टीनष्टौ तु सनखान् पचेत्' इति पा०।
२. 'मधुना' इति पा०।
३. 'त्रिवृताकिण्वां पिबेत् तत् क्वाथसंयुताम्' इति पा०।
४. 'क्षुण्णान्' इति पा०।

दें। छः दिन के बाद उसे छानकर उपयोग में लें। मात्रानुसार निशोथ के चूर्ण को उक्त तुषोदक के साथ रोगी सेवन करे।

वक्तव्य—सौवीर तथा तुषोदक ये मद्य के ही भेद हैं। इनमें भी सन्धान की आवश्यकता होती है। दोनों के निर्माण में जौ प्रधान द्रव्य है, सौवीर में तुष (भूसी) रहित जौ लिये जाते हैं और तुषोदक जैसा कि नाम से विदित हो रहा है, इसमें तुषों के सहित जौ लिये जाते हैं, शेष क्रिया का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ऊपर जो इसके तैयार होने की छः दिन की अवधि दी गयी है, वह सभी ऋतुओं के लिए नहीं है। उसका विचार इस प्रकार किया गया है—शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु में ६ दिन में सन्धान होता है, हेमन्त और शिशिर ऋतु में १० दिन में सन्धान होता है और प्रावृट् तथा वसन्त ऋतु में ८ दिन में सन्धान होता है। सौवीर और तुषोदक के गुणों का विवरण च० सू० अ० २७।१९१ की व्याख्या तथा उसी के वक्तव्य में देखें।

तथा मदनकल्पोक्तान् षाडवादीन् पृथग्दश। त्रिवृच्चूर्णेन संयोज्य विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥७४॥

त्रिवृत् के १० योग—मदनकल्प (च० क० अ० १।२६) दस षाडव आदि योगों के साथ निशोथ के चूर्ण को मिलाकर विरेचन कराने के लिए प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार ये १० षाडव आदि योग होते हैं।

वक्तव्य—चरक-कल्पस्थान अ० १ गद्य २६ में—१. षाडव, २. राग, ३. अवलेह, ४. मोदक, ५. उत्कारिका, ६. तर्पण, ७. पानक, ८. मांसरस, ९. यूष, १०. मद्य। वहाँ इनके साथ मदनफल का चूर्ण लेने को कहा गया है और यहाँ उसके स्थान पर निशोथ के चूर्ण का प्रयोग किया जायेगा।

भवतश्चात्र—

त्वक्केशराम्रातकदाडिमैलासितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गैः।
मद्यैस्तथाऽन्यैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि ॥ ७५ ॥

मनोनुकूल द्रव्यों के साथ त्रिवृत् प्रयोग—यहाँ इस विषय में दो श्लोक कहे गये हैं—दालचीनी, नागकेशर, आम्रातक (आमड़ा), दाड़िम (खट्टा अनार), छोटी इलायची, मिश्री, मधु, बिजौरानीबू का रस, मदिरा तथा अन्य जो जिसके मन को प्रिय लगते हों उन द्रव्यों के साथ मिलाकर विरेचक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में यहाँ एक पाठभेद इस प्रकार का उद्धृत किया है—'मद्यै-स्तथाऽम्लैश्च'। इसके अनुसार 'मद्य एवं अम्ल पदार्थों के साथ' यह अर्थ होगा, क्योंकि अम्ल पदार्थ रुचिवर्धक होते हैं। चटनी को देखते ही जीभ पानी छोड़ने लगती है।

शीताम्बुना पीतवतश्च तस्य सिञ्चेन्मुखं छर्दिविघातहेतोः।
हृद्यांश्च मृत्पुष्पफलप्रवालानम्लं च दद्यादुपजिघ्रणार्थम् ॥ ७६ ॥

वमन-रोधक विधि—विरेचनकारक द्रव्य को पिला देने के बाद कभी-कभी रोगी को उबकाई (मिचली) सी आने लगती है, ऐसी स्थिति में शीतल जल से रोगी के मुख के ऊपर छींटे देने चाहिए, इससे वमन का वेग रुक जाता है, इसके अतिरिक्त और भी हृदय के अनुकूल मिट्टी, फूल, फल, सुकोमल पत्तियाँ सूँघने के लिए रोगी को दें।

वक्तव्य—वमन में अहृद्य द्रव्यों का स्मरण, दर्शन, गन्ध आदि प्रमुख कारण होते हैं। अतएव हृद्य (हृदय को प्रिय लगने वाले) द्रव्यों का प्रयोग करने की तन्त्रकार की आज्ञा है। मिट्टी की गन्ध बहुतों को अत्यन्त प्रिय होती है, अतएव वे मिट्टी खाते हैं, अधिक खा लेने से पाण्डुरोग भी हो जाता है। पुष्प, फल सुगन्धित होते ही हैं। अनेक पत्र भी ऐसे होते हैं, जिनमें मनमोहक गन्ध आती है।

तत्र श्लोकाः—

एकोऽम्लादिभिरष्टौ च दश द्वौ सैन्धवादिभिः। मूत्रेऽष्टादश [1]यष्ट्यां द्वौ जीवकादौ चतुर्दश ॥
क्षीरादौ सप्त लेहेऽष्टौ चत्वारः सितयाऽपि च। पानकादिषु पञ्चैव षडृतौ पञ्च मोदकाः ॥७८॥

१. 'यष्ट्या' इति पा०।

चत्वारश्च घृते क्षीरे द्वौ चूर्णे तर्पणे तथा। द्वौ मद्ये काञ्जिके द्वौ च दशान्ये षाडवादिषु ॥
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कल्पेऽस्मिन् समुदाहृतम्। शतं दशोत्तरं सिद्धं योगानां परमर्षिणा ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने श्यामात्रिवृत्कल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस सम्बन्ध में यहाँ तीन श्लोक कहे गये हैं—

अम्ल आदि द्रव्यों के योग से	१+८= ९ योग	पानक आदि से	५ योग
सैन्धव आदि के योग से	१०+२=१२ ,,	ऋतुओं के अनुसार	६ ,,
पिप्पली आदि के योग से	१८ ,,	मोदकों के योग से	५ ,,
मुलेठी के योग से	२ ,,	घृत तथा दूध के योग से	४ ,,
जीवक आदि के योग से	१५ ,,	तर्पण तथा चूर्ण से	२ ,,
क्षीर, मांस आदि के योग से	७ ,,	मद्य से	२ ,,
अवलेह के योग से	८ ,,	सौवीर, तुषोदक से	२
चीनी के मिश्रण से	४ ,,	षाडव आदि से	१०

इस प्रकार इस श्यामात्रिवृत्कल्प नामक अध्याय में परमर्षि आत्रेय ने त्रिवृत् के ११० योगों का वर्णन किया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में श्यामात्रिवृत्कल्प नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातश्चतुरङ्गुलकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

श्यामात्रिवृत्कल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से चतुरङ्गुलकल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—आरग्वध या अमलतास के वृक्ष प्रायः सर्वत्र उष्णकटिबन्ध में देखे जाते हैं। यह आयुर्वेदीय क्षेत्र का सुप्रसिद्ध द्रव्य है। इसकी फलियाँ १ से २ फुट तक लम्बी देखी जाती हैं। इसका नाम चतुरंगुल इस आशय से रखा गया है कि इसके पर्वों का प्रमाण चार अंगुल का होता है। इसी प्रकार इसकी व्याख्या अमरकोष की रामाश्रमी टीका में भी की गयी है। क्वाथ करने पर इसकी फलमज्जा की शक्ति का ह्रास हो जाता है, इसीलिए इसका हिम या फाण्ट के रूप में प्रयोग किया जाता है।

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः। प्रग्रहः कृतमालश्च कर्णिकारोऽवघातकः ॥३॥

चतुरंगुल के पर्याय—आरग्वध (रोगों को नष्ट करने वाला), राजवृक्ष (देखने में सुन्दर लगने वाला वृक्ष), शम्पाक (कल्याणकारक फलों वाला), चतुरंगुल (इसके पर्वों का प्रमाण चार-चार अंगुल का होता है), प्रग्रह (पकड़ने में सरल), कृतमाल (फूलों की माला से युक्त), कर्णिकार (इसके फूलों की पँखुड़ियाँ कटेली चम्पा के सदृश होती हैं), अवघातक (मल को निकालने वाला)—ये इसके पर्यायवाचक नाम हैं।

वक्तव्य—श्रीभावमिश्र ने इसके पर्याय इस प्रकार दिये हैं—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक (शिम्बी या फलीवाला), चतुरंगुल, आरेवत (विरेचक), व्याधिघात (रोगनाशक), कृतमाल, सुवर्णक (सुन्दर वर्ण वाला), श्रीजयदेव ने अपनी टीका में धन्वन्तरि-निघण्टु का उल्लेख करते हुए लिखा है, कि उन्होंने आरग्वध और कर्णिकार को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। इसी मत के समर्थक श्रीनरहरपण्डित भी हैं। उन्होंने अपने राजनिघण्टु के एक ही प्रकरण में इन्हें अलग-अलग दिया है। इन दोनों आचार्यों के विपरीत श्रीभावमिश्र ने दोनों द्रव्यों को एक स्वीकार किया है, यही हमारे तन्त्रकार की भी मनीषा है। तथापि यह विचारणीय विषय है।

ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु । राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ॥४॥
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे । [1]योज्यो मृद्वनपायित्वाद् विशेषाच्चतुरङ्गुलः ॥५॥

अमलतास के गुण—यह ज्वर, हृदयरोग, वातरक्त, उदावर्त आदि रोगों से पीड़ित पुरुषों के लिए अन्य विरेचक द्रव्यों से अधिक पथ्य (हितकर), मृदु, मधुर तथा शीतवीर्य होता है। इसका प्रयोग बालक, वृद्ध, उरःक्षत, क्षीण तथा सुकुमार मनुष्यों के प्रति किया जा सकता है, क्योंकि यह मृदुविरेचक है, किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करता है, अतः ऐसे लोगों के प्रति अमलतास का विशेष करके प्रयोग करना चाहिए।

[2]फलकाले फलं तस्य ग्राह्यं परिणतं च यत् । तेषां गुणवतां [3]भारं सिकतासु निधापयेत् ॥६॥
सप्तरात्रात् समुद्धृत्य शोषयेदातपे भिषक् । ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत् ॥७॥

अमलतास की संग्रह-विधि—जिस ऋतु में अमलतास का फल परिपक्व रूप में प्राप्त होता है, उस काल में चिकित्सक को चाहिए कि उसका संग्रह करे। उन उत्तम गुण वाली अमलतास की फलियों को बालू के भीतर ढककर सात रात्रि तक रख दे, तदनन्तर उन्हें निकालकर धूप में रखकर सुखा दें। भली-भाँति सूख जाने पर उन फलों के भीतर की मज्जा को निकालकर साफ-सुथरे पात्र में रख लें।

वक्तव्य—उष्णकटिबन्ध में माघ, फाल्गुन में इसके फूल खिलने लगते हैं, शीतप्रधान पर्वतीय प्रदेशों में इसके फूल जेठ, आषाढ़ तक दिखलायी देते हैं, उसके बाद इसकी फलियाँ दिखलायी देने लगती हैं। आश्विन या उसके बाद कभी भी सूखने के पहले इनका संग्रह कर लेना चाहिए। स्वयं सूखी हुई फलियाँ उतनी लाभदायक नहीं होती हैं। चरक सू० अ० १।८०-८५ में १९ प्रकार के फलिनी द्रव्यों में इसकी गणना की गयी है। यही इनका फलकाल ही फलग्रहण काल है।

द्राक्षारसयुतं दद्याद् दाहोदावर्तपीडिते । चतुर्वर्षसुखे बाले यावद् द्वादशवार्षिके ॥८॥

अमलतास का बालकों में प्रयोग—चार वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक का बालक यदि दाह तथा उदावर्त रोग से पीड़ित हो तो उसे अमलतास की मज्जा को द्राक्षारस (मुनक्के का क्वाथ रस) के साथ देना चाहिए। इससे विरेचन होकर उसे लाभ होगा।

चतुरङ्गुलमज्ज्ञस्तु प्रसृतं वाऽथवाऽञ्जलिम् । सुरामण्डेन संयुक्तमथवा कोलसीधुना ॥९॥
दधिमण्डेन वा [4]युक्तं रसेनामलकस्य वा । कृत्वा शीतकषायं [5]तं पिबेत् सौवीरकेण वा ॥१०॥

अमलतास के ५ योग—एक प्रसृत (८ तोला) अमलतास की मज्जा, अथवा १ अंजलि (१६ तोला) की मात्रा में अमलतास की मज्जा को लेकर सुरामण्ड के साथ, बेर की सीधु के साथ, दधिमण्ड के साथ, आँवलों के स्वरस के साथ अथवा सौवीरक के साथ शीतकषाय तैयार करके रोगी को पीना चाहिए।

वक्तव्य—एक बार में सेवन करने दृष्टि से ८ तोला अथवा १६ तोला की ये दोनों ही मात्राएँ आजकल की दृष्टि से अधिक हैं। २ माशा से आरम्भ कर ६ माशा तक चिकित्सक की सलाह से इसकी मात्रा का निर्धारण किया जा सकता है। स्वच्छ सुरा को ही सुरामण्ड कहते हैं। सीधु तथा सौवीरक मद्य के ही भेद हैं। दधिमण्ड

१. 'देयः' इति पा०।
२. 'रेचनार्थे परिणतं फलं तस्याहरेद् बुधः' इति पा०।
३. 'जातं' इति, 'सारं' इति च पा०।
४. 'सम्यक्' इति पा०।
५. 'वा' इति पा०।

दही से निथरे हुए पानी को कहते हैं, स्वरस प्रसिद्ध है। शीतकषाय एक पल द्रव्य को कूट-पीसकर मिट्टी के पात्र में डालकर छः पल (२४ तोला) जल में भिगाकर रातभर रहने दें। प्रातःकाल छानकर जो द्रव प्राप्त होता है, उसे 'हिम' या 'शीतकषाय' कहते हैं। ऊपर के ८वें श्लोक को लेकर ये अमलतास के १+५=६ योग हो जाते हैं।

[1]त्रिवृतो वा कषायेण मज्ज्ञः कल्कं तथा पिबेत् । तथा बिल्वकषायेण लवणक्षौद्रसंयुतम् ॥११॥

अमलतास के २ योग—अरुणवर्ण के निशोथ के क्वाथ के साथ अमलतास की मज्जा का कल्क मिलाकर अथवा २. बेल के क्वाथ के साथ अमलतास की मज्जा के कल्क को मिलाकर नमक एवं मधु के साथ पीना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीगंगाधर ने उक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति को इस प्रकार परिवर्तित किया है—'त्रिवृन्मज्ज्ञोस्तथा कल्कं तत्कषायेण वा पिबेत्'। श्रीजतूकर्ण ने उक्त पाठ को अपनी संहिता में इस प्रकार पढ़ा है—'त्रिवृद्बिल्वकषायाभ्यां सक्षौद्रलवणौ च द्वौ'। इन दोनों विचारों का मन्थन करने बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि तन्त्रकार की रचना ही सर्वतोभावेन उचित है।

कषायेणाथवा तस्य त्रिवृच्चूर्णं गुडान्वितम् । साधयित्वा शनैर्लेहं लेहयेन्मात्रया नरम् ॥१२॥

आरग्वधादि अवलेह—अमलतास की मज्जा के क्वाथ के साथ अरुणवर्ण के निशोथ के चूर्ण को गुड़ की चासनी में मिलाकर अवलेह तैयार करें। इसे मात्रा के अनुसार रोगी पुरुष को चाटना चाहिए।

वक्तव्य—अवलेह-विधि—अमलतास की गुद्दी के क्वाथ में चतुर्थांश निशोथ का चूर्ण तथा इससे दूना गुड़ मिलाकर चासनी बनाकर अवलेह तैयार करें। यह १ लेह योग है।

चतुरङ्गुलसिद्धाद् वा क्षीराद् यदुदियाद् घृतम् । मज्ज्ञः कल्केन धात्रीणां रसे तत्साधितं पिबेत् ॥

आरग्वधघृत-प्रयोग—अथवा अमलतास की मज्जा के कल्क को डालकर दूध को पकाये, इस दूध को मथकर घी निकाल लें, फिर उस घी को अमलतास की मज्जा के कल्क तथा आँवलों के रस से पकाकर मात्रानुसार रोगी को पीना चाहिए। यह १ घृतयोग है।

तदेव दशमूलस्य कुलत्थानां यवस्य च । कषाये साधितं सर्पिः कल्कैः श्यामादिभिः पिबेत् ॥

अन्य घृतयोग—अमलतास की मज्जा से यथाविधि पकाये गये दूध से पूर्ववत् निकाले गये घी को दशमूल के, कुलथी के तथा जौ के क्वाथ से अलग-अलग पकाये। पकाते समय उस घी में श्यामा आदि नौ द्रव्यों का घी से चतुर्थांश कल्क बनाकर उसमें मिला दें। पाक हो जाने पर घी को छानकर रख लें। मात्रानुसार इस घी को रोगी पीये।

वक्तव्य—'श्यामादिभिः पिबेत्' इसका संकेत तन्त्रकार ने चरक-कल्पस्थान अ० १।६ में इस प्रकार किया है—'श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनाञ्च'। उक्त द्रव्य इस प्रकार हैं—१. काली निशोथ, २. अरुणवर्ण की निशोथ, ३. अमलतास, ४. तिल्वक, ५. महावृक्ष (सेहुंड), ६. सप्तला (सात धारियों वाला सेहुंड भेद), ७. शंखिनी, ८. दन्ती, ९. द्रवन्ती।

दन्तीक्वाथेऽञ्जलिं मज्ज्ञः शम्पाकस्य गुडस्य च । दत्त्वा मासार्धमासस्थमरिष्टं पाययेत्[2] च ॥

आरग्वधादि अरिष्ट—यथाविधि तैयार किये हुए दन्ती (जमालगोटा) के क्वाथ में १ अंजलि (१६ तोला) अमलतास की मज्जा और १ अञ्जलि गुड़ मिलाकर भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में डालकर ४५ दिनों तक पड़ा रहने दें। जब अरिष्ट तैयार हो जाय, तब उसे छानकर सुरक्षित रख लें। इसमें से मात्रा के अनुसार रोगी को पिलाना चाहिए।

यस्य यत् [3]पानमन्नं च हृद्यं स्वाद्वथ वा कटु । लवणं वा भवेत् तेन युक्तं दद्याद् विरेचनम् ॥

१. 'त्रिवृन्मज्ज्ञोस्तथा कल्कं तत्कषायेण वा पिबेत्' इति पा०।
२. 'पाययेद् भिषक्' इति पा०।
३. 'पानमम्लं च' इति पा०।

रुचिकर द्रव्यों के साथ विरेचन-प्रयोग—जो अन्न (भोज्य), पान (पेय) रोगी को रुचिकर प्रतीत हो, वह स्वादु हो अथवा कटु हो या नमकीन हो, उसके साथ मिलाकर उस रोगी को विरेचन द्रव्य का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'हृद्य' शब्द का अर्थ हृदय के लिए हितकर न होकर रुचिकर है। अतएव आगे कहा गया है—किसी को मीठा अच्छा लगता है, तो दूसरे को करेला जैसा पदार्थ रुचिकर प्रतीत होता है और किसी को नमकीन ही पसन्द आता है, क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। और भी कहा गया है—'यद् यस्मै रोचते तत् तस्य मधुरम्'। इस दृष्टि से विचार करके विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए। श्रीजयदेव ने उक्त श्लोक के ऊपर **'भवति चात्र'** को जो तन्त्रकार की अपनी शैली है, उद्धृत किया है, किन्तु यह अन्य संस्करणों में यह उपलब्ध नहीं है।

तत्र श्लोकौ--

द्राक्षारसे सुरासीध्वोर्दध्नि चामलकीरसे। सौवीरके कषाये च त्रिवृतो [1]बिल्वकस्य च ॥१७॥
लेहेऽरिष्टे घृते द्वे च योगा द्वादश कीर्तिताः। चतुरङ्गुलकल्पेऽस्मिन् सुकुमाराः सुखोदयाः ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने
चतुरङ्गुलकल्पो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय को लेकर यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—

द्राक्षारस से	१ योग	सुरामण्ड से	१ योग
बदर सीधु से	१ ,,	दधिमण्ड से	१ ,,
आँवले के स्वरस से	१ ,,	सौवीर से	१ ,,
निशोथ के क्वाथ से	१ ,,	बेल के क्वाथ से	१ ,,
अवलेह द्वारा	१ ,,	अरिष्ट से	१ ,,
घृत के	२ ,,		

इस प्रकार अमलतास की मज्जा के विविध प्रयोग से कुल १२ योग सुकुमार व्यक्तियों के प्रति इस अध्याय में कहे गये हैं, जिनसे सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—'द्राक्षारसे' आदि दो श्लोकों के ऊपर सभी संस्करणों में **'तत्र श्लोकाः'** यह बहुवचनान्त श्लोक पद दिया गया है। जब कि दो श्लोक होने के कारण यहाँ 'श्लोकौ' पद का प्रयोग किया गया है। अन्य टीकाकारों द्वारा किया गया यह 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' उक्ति का स्पष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-
कल्पस्थान में चतुरङ्गुलकल्प नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

१. 'सौवीरकेऽथ त्रिवृतः कषाये तिल्वकस्य च' इति, 'सौवीरके कषायाभ्यां बिल्वशम्पाकयोस्तथा' च पा०।

अथ नवमोऽध्यायः

अथातस्तिल्वककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

चतुरङ्गुलकल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से तिल्वककल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—चतुरंगुल की ही भाँति निर्दोष होने के कारण उसका वर्णन कर लेने के बाद यहाँ तिल्वक-कल्प का प्रारम्भ किया जा रहा है।

तिल्वकस्तु मतो लोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः।

तिल्वक के पर्याय—लोध्र (लोध), बृहत्पत्र (बड़े पत्तों वाला), तिरीटक (मल को निकालने में सहायक—'तीर्यते मलम् अनेन') ये तिल्वक के पर्याय हैं।

वक्तव्य—लोध्र की अनेक जातियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें से शावरलोध और पठानीलोध नाम से दो जातियाँ अति प्रसिद्ध हैं। महर्षि सुश्रुत ने लोध्रादिगण में लोध और सावरलोध का एक साथ संग्रह करते हुए कहा है कि ये दोनों स्तम्भक (मलावरोधक) होते हैं। देखें—सु० सू० अ० ३८।१४-१५। इसके आगे श्यामादिगण में 'तिल्वक' द्रव्य का स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करते हुए कहा है—यह गण गुल्म, विष, आनाह, उदररोग एवं उदावर्त रोग का नाशक तथा विड्भेदक (विरेचक) है। और इसके आगे भी देखें—इन्होंने सु० सू० अ० ३९ के गद्य ३ में ऊर्ध्वभागहर द्रव्यों का अलग से वर्णन करने के बाद अगले ४थे गद्य में अधो-भागहर द्रव्यों का वर्णन किया है, जिनमें 'तिल्वक' का स्वतन्त्ररूप से स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसी प्रकरण में उभयभागहर द्रव्यों का भी वर्णन किया गया है।

श्रीभावमिश्र ने लोध्र के पर्यायों में तिल्वक का ग्रहण नहीं किया है। देखें—'लोध्रस्तिरीटकश्चैव शावरो मालवस्तथा। द्वितीयः पट्टिकालोध्रः क्रमुकः स्थूलवल्कलः ॥ जीर्णपत्रो बृहत्पत्रः पट्टीलाक्षाप्रसादनः। लोध्रो ग्राही लघुः शीतश्चक्षुष्यः कफपित्तनुत् ॥ कषायो रक्तपित्तासृग्ज्वरातीसारशोथहृत्'॥ भा० प्र० हरीतक्यादिवर्ग ५।२००-१। राजनिघण्टु के पिप्पल्यादिवर्ग श्लोक २११ से २१५ तक में दोनों प्रकार के लोध्रों के पर्याय दिये गये हैं, उनमें तिलक तथा तिरीट पर्याय तो मिलते हैं, किन्तु तिल्वक का उल्लेख नहीं है। अमरसिंह ने इसके पर्याय इस प्रकार दिये हैं—'गालवः शावरो लोध्रस्तिरीटस्तिल्वमार्जनौ'। अमरकोष-वनौषधिवर्ग ३३। अतः हम 'तिल्व एव तिल्वकः' मानकर आचार्य की दृष्टि का समर्थन करने का प्रयास कर रहे हैं; साथ ही पठानीलोध को ग्राही गुणवाला मानकर यहाँ शावरलोध का ग्रहण करना चाहिए, इस आशय को स्थिर कर रहे हैं, किन्तु सुश्रुत द्वारा किये उक्त वर्गीकरण के समाधान का प्रश्न फिर भी रह ही जाता है, क्योंकि वे दोनों लोध्रों को 'स्तम्भी' स्वीकार करते हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में लोध्र का पर्याय तिल्वक दिया है—'लोध्रो रोध्रः शावरकस्तिल्वलास्तिलक-स्तरुः। तिरीटकः काण्डहीनो भिल्ली शाबरपादपः'॥ श्रीगणनाथसेन के अनुसार 'तिरीटक' के स्थान पर 'तिरीण्टक' होना चाहिए।

तस्य मूलत्वचं शुष्कामन्तर्वल्कलवर्जिताम् ॥ ३ ॥
चूर्णयेत् तु त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ श्च्योतयेत् ततः। लोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ॥४॥
भागं तं दशमूलस्य [1]पुनः क्वाथेन भावयेत्। शुष्कं चूर्णं पुनः कृत्वा [2]तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥५॥

लोध्रचूर्ण की निर्माण-विधि—लोध के जड़ की बाहरी छाल का ग्रहण करें और भीतरी भाग को उससे अलग करके सुखाकर उसका कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण के तीन बराबर भाग कर दें। दो भाग चूर्ण को लोध की छाल के क्वाथ रस में घोलकर छान लें। इस छने हुए रस से बने हुए तीसरे भाग चूर्ण को भावना दें, जब वह स्वयं सूख जाय, तब उस चूर्ण को दशमूल के क्वाथ की भावना दें, तदनन्तर उस चूर्ण को सुखाकर सुरक्षित रख लें। आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रयोग करें।

१. 'कषाये भावितं पुनः' इति पा०। २. 'स्निग्धस्विन्ने प्रदापयेत्' इति पा०।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। इसे श्रीइन्दु की टीका युक्त अष्टांगसंग्रह में देखें—अ० सं० क० अ० २।४३-४४।

[1]दधितक्रसुरामण्डमूत्रैर्बदरसीधुना । रसेनामलकानां वा ततः पाणितलं पिबेत् ॥६॥

लोध्रचूर्ण : अनुपान तथा मात्रा—ऊपर तैयार किये गये लोध के चूर्ण को १ पाणितल (१ तोला) की मात्रा में लेकर १. दही, २. तक्र, ३. सुरामण्ड, ४. गोमूत्र, ५. बेर के फलों से तैयार की गयी सीधु (मद्य-भेद) अथवा ६. आँवलों के रस में घोलकर १ पाणितल (१ तोला) की मात्रा में लेकर रोगी को पीना चाहिए।

वक्तव्य—अध्यायान्त में इस श्लोक से पाँच योग स्वीकार किये गये हैं। यथा—'पञ्चदध्यादिभिः' च० क० अ० ९।१७। श्रीचक्रपाणि भी उक्त श्लोक में पाँच ही योग इस प्रकार मानते हैं—'दधिमण्डेत्यादिना पिबेदित्यन्तेन पञ्चयोगाः'। ध्यान देने की बात यह कि श्रीचक्रपाणि ने 'दधितक्रेत्यादिना' नहीं लिखा है। इस पाठ में 'तक्र' शब्द ही अधिक है, पाठभेद में भी 'दधिमण्ड' शब्द स्वीकार किया गया है। श्रीजयदेव ने तो 'दधिमण्ड' पाठ को ही मूल रूप दिया है, इस प्रकार ये ५ योग होते हैं। अतः निर्णयसागरीय प्रति का पाठ चिन्त्य है, क्योंकि इसे स्वीकार करने पर ६ योग हो जाते हैं। वृद्धवाग्भट ने भी उक्त योग को इस प्रकार उद्धृत किया है—'ततः पाणितलं पिबेत्, मस्तुमूत्रसुरामण्डकोलधात्रीफलाम्बुभिः' ॥ अ० सं० क० अ० २।४५।

मेषशृङ्ग्यभयाकृष्णाचित्रकैः सलिले शृते । मरुजान् सुनुयात् तच्च जातं सौवीरकं यदा ॥७॥
भवेदञ्जलिना तस्य लोध्रकल्कं पिबेत् तदा ।

लोध्रसौवीर-प्रयोग—मेढाश्रृंगी, हरड़, पीपल, चित्रकमूल, इन चारों द्रव्यों को समानभाग लेकर इनका क्वाथ करें। इस क्वाथ में मरुभूमि में उत्पन्न हुए जौ डालकर उसका सन्धान करे। जब निस्तुप यवों द्वारा सौवीर (काँजी) तैयार हो जाय, तब उसे १ अंजलि (१६ तोला) प्रमाण में लेकर उसके साथ लोध्रकल्क को पीना चाहिए।

वक्तव्य—सन् १९४१ की निर्णयसागरीय प्रति में आठवें श्लोक के पूर्वार्ध के अन्त में **'सदा'** पाठ दिया है, किन्तु १९२२ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में उस स्थान पर **'तदा'** पाठ दिया है, जो सभी दृष्टि से समीचीन है, क्योंकि 'यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः'। जब के बाद तब का प्रयोग वाक्य-पूर्ति के लिए आवश्यक होता ही है। च० सू० अ० २७।१९१ में सौवीर तथा तुषोदक के गुण-धर्मों का वर्णन किया गया है। सौवीर के निर्माण की कालावधि का विवेचन च० क० अ० २ के ७२वें श्लोक की टीका तथा वक्तव्य में दिया गया है, वहीं देखें। कुछ टीकाकारों ने इसकी कालावधि ४५ दिन स्वीकार की है, वास्तव में ४५ दिन अरिष्ट के निर्माण की अवधि है। देखें—च० क० अ० ८।१५ तथा च० सू० अ० २५।४९।

सुरां लोध्रकषायेण जातां पक्षस्थितां पिबेत् ॥ ८ ॥
दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक् । समुत्क्वाथ्य गुडस्यैकां तुलां लोध्रस्य चाञ्जलिम् ॥
आवपेत् तत् परं पक्षान्[2]मद्यपानां विरेचनम् ।

लोध्रसुरा योग—तिल्वक (लोध्र) के यथाविधि निर्मित क्वाथ को भीतर से घी चुपड़े हुए मिट्टी के घड़े में पन्द्रह दिन रखकर सन्धान होने दें। सन्धान हो जाने पर इस लोध्रसुरा को विरेचन करने के लिए रोगी को पीना चाहिए। यह १ सुरायोग है।

लोध्र-अरिष्ट योग—जमालगोटा की जड़ १ आढक (२५६ तोला), चित्रक १ आढक, इन दोनों को अलग-अलग १-१ द्रोण (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) जल में डालकर क्वाथविधि से पकाये। जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब दोनों को छानकर एक में मिला दें, उस छने हुए जल में १ तुला (४०० तोला) गुड़ घोलकर मिला दें, उसी में १ अंजलि (१६ तोला) लोध्र का कल्क भी डाल दें। उसके बाद उस क्वाथ के बचे हुए जल को भीतर से घी चुपड़े हुए घड़े में भरकर उसका मुख बन्द करके १५ दिनों तक पड़ा रहने दें, तदनन्तर उसे छानकर रख लें। मात्रा के अनुसार इसे पीने से मद्यपान करने वालों को इससे विरेचन हो जाता

---

१. 'दधिमण्डसुरामण्ड०' इति पा०। २. मद्यपानाद्वि०' इति पा०।

है। पाठभेद—'मद्यपानाद् विरेचनम्' के अनुसार इस लोध्रमद्य को पीने से विरेचन होता है। यह १ अरिष्ट योग है।

[1]कम्पिल्लककषायेण दशकृत्वः सुभाविताम् ॥ १० ॥
मात्रां कम्पिल्लकस्यैव कषायेण पुनः पिबेत् ।

लोध्रकम्पिल्ल योग—कबीले के क्वाथ से दस बार लोध्र के कपड़छन चूर्ण को भावना देकर सुरक्षित रख लें। मात्रानुसार इसे लेकर कबीले के क्वाथ के साथ पीना चाहिए। यह विरेचनकारक होता है।

चतुरङ्गुलकल्पेन लेहोऽन्यः कार्य एव च ॥ ११ ॥
त्रिफलायाः कषायेण सर्सर्पिर्मधुफाणितः । लोध्रचूर्णयुतः सिद्धो लेहः [2]श्रेष्ठो विरेचने ॥१२॥
तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः । सघृतः साधितो लेहः स च [3]श्रेष्ठो विरेचने ॥१३॥

लोध्र-अवलेह योग—१. अमलतास के कल्क से विधिपूर्वक लोध्र का अवलेह तैयार करना चाहिए। २. त्रिफला के क्वाथ में घी, मधु, राब (खाँड़) और लोध्र का चूर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ अवलेह श्रेष्ठ विरेचनकारक होता है। ३. लोध्र के क्वाथ तथा कल्क में घी और चीनी मिलाकर तैयार किया हुआ अवलेह श्रेष्ठ विरेचनकारक होता है। यहाँ ३ अवलेह योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—अमलतास के अवलेह का यहाँ भी वही विधान है, जो च० क० अ० ८।१२ में दिया गया है। यहाँ केवल उसमें लोध्रचूर्ण का प्रयोग विशेष है।

अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनां मुष्टींस्तु सनखान् पृथक् । द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत् ॥
पिष्टैस्तैरेव बिल्वांशैः समूत्रलवणैरथ । ततो मात्रां पिबेत् काले श्रेष्ठमेतद् विरेचनम् ॥१५॥
लोध्रकल्केन मूत्राम्ललवणैश्च पचेद् घृतम् । चतुरङ्गुलकल्पेन सर्पिषी द्वे च साधयेत् ॥१६॥

लोध्रघृत-प्रयोग—१. त्रिवृत आदि प्रत्येक द्रव्य को आठ-आठ अन्तर्नखमुष्टि (आधी-आधी मुट्ठी) लेकर अलग-अलग १-१ द्रोण (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) जल में डालकर क्वाथ करें, जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तो उसे छानकर, उसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) घी तथा उक्त नौ द्रव्यों के कल्क, गोमूत्र, सेंधा-नमक प्रत्येक १-१ बिल्व (४-४ तोला) इनको भी डालकर यथाविधि पाक करे। तैयार हो जाने पर उसे छान-कर रख लें। उसके बाद इसे मात्रानुसार समय पर पीना चाहिए, यह श्रेष्ठ विरेचन है। २. लोध्र के कल्क से गोमूत्र, अम्ल (काँजी), सैंधानमक के साथ यथाविधि घी का पाक करे। चतुरंगुल (अमलतास) कल्प में कही गयी विधि के अनुसार दो तिल्वक (लोध्र) घृतों का भी पाक करके उनका विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—'त्रिवृतादीनाम्'—च० क० अ० १।६ में श्यामादि नौ द्रव्यों का वर्णन है, किन्तु तन्त्रकार ने यहाँ 'त्रिवृतादीनाम्' कहकर श्यामा (काली निशोथ) को छोड़ दिया है। टीकाकारों ने नौ द्रव्यों की बात उठायी है, जो तन्त्रकार की शब्दावली से स्पष्ट नहीं हो रहा है। यदि हम भी नौ द्रव्यों का ग्रहण स्वीकार कर लें तो उसकी व्यवस्था इस प्रकार होगी—'त्रिवृतादिलोध्रपर्यन्तानाम्'। श्रीजतूकर्ण कहते हैं—'त्रिवृदादि-द्विगुणो लोध्रक्वाथः'। यह उचित ही है, क्योंकि यह तिल्वककल्प' है। यहाँ तिल्वक (लोध्र) दूना नहीं होगा तो फिर कहाँ होगा ? इस दृष्टि से तिल्वक (लोध्र) को १६ मुठ्ठी लेनी चाहिए। फिर उसे पकाने के लिए जल का प्रमाण भी दूना होगा ? यहाँ श्रीगंगाधर 'समूत्रलवण' शब्द से 'विडलवण' को ग्रहण करने का आग्रह करते हैं। चरक क० अ० ८ के १३वें तथा १४वें श्लोकों द्वारा चतुरंगुल (अमलतास) के संयोग से २ घृतयोग सिद्ध किये हैं। उसी विधि से यहाँ चतुरंगुल के स्थान पर तिल्वक का उपयोग कर घृतपाक कर लेना चाहिए।

तत्र श्लोकौ—

पञ्च दध्यादिभिस्त्वेका सुरा सौवीरकेण च । एकोऽरिष्टस्तथा योग एकः कम्पिल्लकेन च ॥१७॥

---

१. 'तिल्वकस्य कषायेण' इति पा०।
२. 'श्रेष्ठं विरेचनम्' इति पा०।
३. 'श्रेष्ठं विरेचनम्' इति पा०।

लेहास्त्रयो घृतेनापि चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः। योगास्ते लोध्रमूलानां कल्पे षोडश दर्शिताः ॥१८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते
कल्पस्थाने तिल्वककल्पो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में दो संग्रह श्लोक कहे गये हैं—

दही आदि से	५ योग	कबीला से	१ योग
सुरा से	१ ,,	अवलेह के	३ ,,
सौवीर से	१ ,,	घृत के	४ ,,
अरिष्ट से	१ ,,		

इस प्रकार तिल्वक (लोध्र) कल्प में कहे गये लोध्रमूल के १६ कल्पों का विधान यहाँ बताया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में तिल्वककल्प नामक नवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातः सुधाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

तिल्वककल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से सुधाकल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—'स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां श्रेष्ठम्'। च० सू० अ० २५।४०। अभी तक श्यामात्रिवृत, चतुरंगुल (अमलतास), तिल्वक (लोध्र) ये सभी द्रव्य मृदुविरेचक कहे गये हैं। इनका वर्णन करने के बाद अब तीक्ष्ण विरेचक सुधाकल्प का वर्णन यहाँ किया जा रहा है। अमरसिंह ने इसके ये पर्याय दिये हैं—सीहुण्डः, वज्रद्रुः, स्नुक्, स्नुही, गुडा, समन्तदुग्धा। अमरकोष, वनौषधिवर्ग ४।१०५। श्रीभावमिश्र के अनुसार—'सीहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद् वज्री वज्रद्रुमोऽपि च। समन्तदुग्धा च स्नुक् स्त्रियां स्यात् स्नुही गुडा'॥ भा० प्र० गुडूच्यादिवर्ग ५।७१। तन्त्रकारोक्त पर्यायों को आगे ७वें श्लोक में देखें। यह सुप्रसिद्ध तीक्ष्ण विरेचक द्रव्य है। इसके लिए स्नुही के दूध का प्रयोग किया जाता है।

विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता। सङ्घातं हि भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा ॥३॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन। न दोषनिचये चाल्पे सति [1]मार्गपरिक्रमे ॥४॥

स्नुही-परिचय—सुधा (सेहुँड या थूहर) सभी विरेचन द्रव्यों में तीक्ष्णतम है। यह मलरूप में स्थित दोषसमूह का शीघ्र भेदन कर देती है। प्रयोग के विभ्रम (गड़बड़ी) से यह अत्यन्त कष्टदायक होती है। इसलिए इसका प्रयोग मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों के प्रति कभी नहीं करना चाहिए। यदि शरीर में दोष का संचय कम हुआ हो तो भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए और यदि किसी अन्य औषधयोग से विरेचन हो सकता हो

१. 'चान्यपरिक्रमे' इति पा०।

तो भी इसका उपयोग न करे। ऐसी अवस्था में ही इसका प्रयोग करना चाहिए, जब कि अन्य विरेचक योग असफल हो गये हों। ये सभी वर्णन सुधा की तीक्ष्णता को सूचित करने के लिए किये गये हैं।

पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते। श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि ॥५॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम्। प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक् स ह्यवचारितः ॥६॥
सद्यो [1]हरति दोषाणां महान्तमपि सञ्चयम्।

स्नुही का प्रयोग—पाण्डुरोग, उदररोग, गुल्मरोग, कुष्ठरोग, दूषीविषविकार, शोथरोग, मधुमेहरोग में तथा जिन पुरुषों का मन दोषसंचय से विशेषरूप से भ्रमित हो गया हो, या मानसिक रोग से जो पीड़ित हो अथवा इसी प्रकार के अन्य रोगों से जो घिर गये हों, जो रोगी आत्मवान् हो अर्थात् तीक्ष्ण विरेचन होने पर जिसके बेहोश होने की सम्भावना न हो, उसको विरेचन कराने के लिए महावृक्ष (सेहुंड का एक भेद) का प्रयोग विधिपूर्वक करना चाहिए। इसके प्रयोग से अधिक दोषों का संचय भी शीघ्र ही दूर हो जाता है।

वक्तव्य—इसकी तुलना के लिए वृद्धवाग्भट के वचनों का अवलोकन करें। अ० सं० क० अ० २।४८-४९।

द्विविधः स मतोऽल्पैश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः ॥ ७ ॥

सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः। स नाम्ना स्नुग्गुडा नन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः ॥८॥
[2]तौ विपाट्याहरेत् क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक्। द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥

सेहुंड के भेद—यह दो प्रकार का होता है—एक में कम काँटे होते हैं और दूसरे में अधिक काँटे होते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के सेहुंडों के काँटे अत्यन्त तीक्ष्ण (तेज) होते हैं, किन्तु इन दोनों में उसे श्रेष्ठ माना गया है, जो तीक्ष्ण और अधिक काँटों वाला होता है।

सेहुंड के पर्याय—स्नुक्, गुडा, नन्दा, सुधा, निस्त्रिंशपत्रक (तलवार के सदृश पत्तों वाली; गरुड-पुराण-प्रेतकल्प में एक असिपत्र वन का वर्णन आता है, जिसके पत्रों के दोनों किनारे तलवार की भाँति शरीर को काटते हैं, किन्तु इसके पत्तों की धार में काटने की क्षमता नहीं होती है)।

क्षीरसंग्रह-विधि—उन दोनों में से दो अथवा तीन वर्ष के सेहुंड के वृक्ष को शस्त्र (चाकू आदि) से चीर कर बुद्धिमान् चिकित्सक उसके दूध का संग्रह करे। यह क्रिया विशेषरूप से शिशिर ऋतु के अन्त में करनी चाहिए।

वक्तव्य—सेहुंड की ऊपर जिन दो जातियों का वर्णन किया गया है, उन्हीं के गुण-धर्मों के अनुसार इस
प्रकरण में प्रयोगों का भी निर्देश किया जायेगा। वैसे तो इसकी अनेक जातियाँ देखी जाती हैं। निघण्टुकारों ने
उसमें से कुछ का वर्णन भी किया है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है, कि तन्त्रकार को उन भेदोपभेदों का
ज्ञान नहीं था, न उन्होंने उनको अनुपयोगी ही माना है। वे तो 'नानौषधीभूतं जगति किञ्चित्' सिद्धान्त के
प्रतिपादक रहे हैं।

सेहुंड की जातियाँ—यह उत्तर तथा दक्षिण भारत की पथरीली भूमि पर स्वाभाविक रूप से पाया
जाता है। इसकी अनेक जातियाँ श्रीमानों को प्रिय हैं, जो उद्यानों में भी लगायी जाती हैं। तन्त्रशास्त्र में भी इसका
प्रयोग होता है, तदनुसार मकान की छतों के ऊपर भी इसके दर्शन होते हैं। १. त्रिधार (E. Antiquorum
Linn), २. सप्तधार (E. Royleana boiss), ३. छीमिया (E. Tirucalli Linn). ४. महावृक्ष (E.
Nivulia Buch-Ham). ५. डंडाथूहर, इसी को मुठियासिज भी कहते हैं। चिकित्सक वर्ग अधिक उपयोग
इसी का करता है। चरक का 'बहुकंटक' और बंगलादेश का 'मनसासिज' यही सेहुंड है।

वृद्धवाग्भट के अनुसार सेहुण्ड क्षीरसंग्रह का वर्णन—'सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता। द्विवर्षा
वा त्रिवर्षा वा शिशिरान्ते विशेषतः॥ तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धारयेत् ततः'। अ० सं० क० अ० २।५०।
'**शिशिरान्ते विशेषतः**' का तात्पर्य यह है कि इस काल में दोनों तन्त्रकारों की इस सम्बन्ध में एकवाक्यता है। यह दूध पात्र में
निकला हुआ सेहुंड का दूध अपने गुणों से पूर्ण होता है और पर्याप्त दूध प्राप्त भी हो जाता है।

१. 'नुदति' इति पा०। २. 'तं' इति पा०।

आते ही जम जाता है और लासेदार हो जाता है। अतः मजबूत पात्र में ही इसका संग्रह करना चाहिए। महर्षि आत्रेय ने मतिमान् भिषक् को इसके दूध का संग्रह करने का भार दिया है। यदि इसके दूध के छींटे आँख में पड़ जाय तो उसके फूट जाने तक का भय उत्पन्न हो सकता है, अन्य शरीरावयवों पर छींटे पड़ जाने से दाह होने लगता है, उस स्थान पर लाली पैदा हो जाती है। कुछ समय बाद शोथ जाता है, अतः सावधानी से इसका संग्रह करना चाहिए। अन्यत्र सामान्यरूप से दूध-संग्रह का कार्य शरद् ऋतु में करने का भी निर्देश है। यथा—'शरद्यखिलकार्यार्थं ग्राह्यं सरसमौषधम्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।६७। तथापि सामान्य से विशेष वचन का सर्वत्र महत्त्व होता है। अतः स्नुही-क्षीर का संग्रह शिशिर ऋतु के अन्त में ही करना चाहिए। यहाँ कार्तिक-मार्गशीर्ष को शरद् ऋतु समझें (सु० सू० अ० ६।१०) न कि आश्विन और कार्तिक को, देखें—सु० सू० अ० ६।६।

बिल्वादीनां बृहत्या वा कण्टकार्यास्तथैकशः। कषायेण समांशं तं कृत्वाऽङ्गारेषु शोषयेत् ॥१०॥
[1]ततः कोलसमां मात्रां पिबेत् सौवीरकेण वा। तुषोदकेन कोलानां रसेनामलकस्य वा ॥११॥
सुरया दधिमण्डेन मातुलुङ्गरसेन वा।

सेहुण्ड-दुग्ध-शोधन-विधि—बिल्व आदि (बेल, सोनापाठा, गम्भारी, पाढल, अरणी—बृहत्पंचमूल), बृहती (बड़ीकटेरी), कण्टकारी (भटकटैया) इनमें से किसी द्रव्य के कषाय (क्वाथ) में समान मात्रा में सेहुँड का दूध मिलाकर उसे पकायें, पकते-पकते जब क्वाथजल सूख जाय तब उसे उतार लें। उस प्रकार शुद्ध किये हुए सेहुँड के दूध को एक झड़बेर के बराबर मात्रा में लेकर १. सौवीर, २. तुषोदक, ३. झड़बेर के स्वरस, ४. आँवले के स्वरस, ५. सुरा, ६. दधिमण्ड (दही का पानी) अथवा ७. बिजौरानीबू के रस के साथ विरेचन के लिए सेवन करें।

वक्तव्य—सेहुँड के दूध का शोधन भी यद्यपि सात द्रव्यों द्वारा किया गया है, किन्तु यहाँ जिनका अनुपान रूप में वर्णन किया गया है, उन सौवीर आदि सात अनुपानों के कारण इसके सात योग स्वीकार किये गये हैं। रसतन्त्रों में स्नुहीक्षीर की शुद्धि इमली की पत्तियों के रस में डालकर धूप में सुखा देने मात्र से हो जाती है। ऊपर जो इसकी कोल प्रमाण की मात्रा बतलायी है, वह बहुत अधिक है। इसकी वर्तमान उपयुक्त मात्रा १२.५ ग्राम अथवा २५ ग्राम है। इसे वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।५१-५२।

सातलां काञ्चनक्षीरीं श्यामादीनि [2]कटुत्रिकम् ॥ १२ ॥
यथोपपत्ति सप्ताहं सुधाक्षीरेण भावयेत्। कोलमात्रां घृतेनातः पिबेन्मांसरसेन वा ॥१३॥

स्नुहीचूर्ण-प्रयोग—सातला (सात धारीवाली थूहर), स्वर्णक्षीरी (चोक या भड़भांड) की जड़, श्यामा आदि (च० क० अ० १।६ में कहे गये नौ द्रव्य—कालीनिशोथ, अरुण वर्ण की निशोथ, अमलतास, तिल्वक, सेहुँड, सातला, शंखिनी, दन्ती, द्रवन्ती), कटुत्रिक (सोंठ, मरिच, पीपल; पाठभेद के अनुसार फलत्रिक—हरड़, बहेड़ा, आँवला) इनको लेकर विधिपूर्वक सेहुँड के दूध की सात दिन तक भावना दें। तदनन्तर उसमें से कोल प्रमाण लेकर घी अथवा मांसरस के साथ विरेचन के लिए इसका सेवन करें।

वक्तव्य—'यथोपपत्ति' शब्द का 'यथालाभ' अनुवाद करना औषध-निर्माण क्षेत्र में अपराध ही है। इसका अर्थ है—विधिपूर्वक, युक्तियुक्त अथवा औचित्य के अनुसार। **विचारणीय विषय**—उक्त पद्य में 'सातला' का उल्लेख हुआ ही है, फिर श्यामादि नौ द्रव्यों में भी 'सातला' और 'सेहुण्ड' का ग्रहण किया गया है। अन्यत्र ऐसी स्थिति में एक योग में जिसका नाम दो बार आ जाता है, उस द्रव्य को दूना लेना चाहिए; शास्त्र की ऐसी आज्ञा है। किन्तु सेहुण्ड को तीक्ष्ण विरेचक द्रव्य कहा गया है, उसमें उसकी मात्रा पर्याप्त है, फिर उसका दूना प्रयोग करना उचित प्रतीत नहीं होता है। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।५३। इसके टीकाकार श्रीइन्दु लिखते हैं—'त्रिवृतादीत्रव त्रिवृच्छ्यामा राजवृक्षारग्वधतिल्वकसुधाशङ्खिनी-

१. 'कोलप्रमाणां गुटिकां पिबेत् सौवीरकेण ताम्' इति पा०। २. 'फलत्रिकम्' इति पा०।

द्रवन्तीदन्त्याख्यान्। सातलायाः पृथग् युक्तिरपि निश्चिता'। इस दृष्टि से तो योगोक्त सभी द्रव्यों का प्रयोग करना ही चाहिए।

त्र्यूषणं त्रिफलां दन्तीं चित्रकं त्रिवृतां तथा। स्नुक्क्षीरभावितं सम्यग्विदध्याद् गुडपानकम् ॥१४॥

गुडपानक-प्रयोग—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्ती (जमालगोटा) की जड़, चित्रक तथा त्रिवृता (निशोथ) इन्हें समान मात्रा में लेकर इनका कपड़छन चूर्ण कर डालें। इस चूर्ण को सेहुण्ड के दूध की भावना देकर रख लें। इस चूर्ण की मात्रा के साथ लेकर विरेचन कराने के लिए गुड़ के शर्बत के साथ रोगी को पिलायें। यह १ पानक योग है।

वक्तव्य—इसे वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।५३। इस योग में 'उत्तमा' शब्द से त्रिफला का ग्रहण किया गया है, क्योंकि त्रिफला का एक पर्याय 'वरा' भी है और वरा के पर्याय हैं—उत्तमा, श्रेष्ठा, कुम्भ=त्रिवृता, निकुम्भ=दन्ती, ये पर्याय प्रसिद्ध ही हैं।

त्रिवृतारग्वधं दन्तीं शङ्खिनीं सप्तलां समम्। गोमूत्रे रजनीं [1]कृत्वा शोषयेदातपे ततः ॥१५॥
सप्ताहं भावयित्वैवं स्नुक्क्षीरेणापरं पुनः। सप्ताहं भावयेच्छुष्कं ततस्तेनापि भावितम् ॥१६॥
गन्धमाल्यं [2]तदाघ्राय प्रावृत्य पटमेव च। सुखमाशु विरिच्यन्ते मृदुकोष्ठा नराधिपाः ॥१७॥

राजाओं के योग्य विरेचन—निशोथ, अमलतास का गूदा, दन्ती (जमालगोटा), शंखिनी (यवतिक्ता कुछ विद्वान्, कालमेघ का फल यव के आकार का होता है और उसका क्षुप स्वाद में तिक्त होता है, अतः इसे 'यवतिक्ता' कहते हैं। अन्यत्र 'श्वेतापराजिता' को 'शंखिनी' कहा है), सप्तला (सातला), इन सबको समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को रात्रि में गोमूत्र में भिगा दें और प्रातःकाल धूप में रखकर दिन भर सुखा लें। इस प्रकार सात दिनों तक रात्रि में गोमूत्र में भिगाकर दूसरे दिन धूप में रखकर सुखायें। इस प्रकार सात दिन तक गोमूत्र द्वारा भावना दे देने पर फिर उसी चूर्ण को सेहुण्ड के दूध से उसी प्रकार सात दिन तक भावना दें। अब इस चूर्ण को सुगन्धित पुष्पों की माला के ऊपर छिड़कें, जब उस माला में चूर्ण का प्रभाव आ जाय तब उस माला को सूँघने मात्र से मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को विरेचन हो जाता है, अथवा ओढ़ने वाले चादर पर उस चूर्ण को छिड़ककर उसे ओढ़कर रोगी लेट जाय तो भी मृदुकोष्ठ वाले पुरुषों तथा राजाओं, सेठों, साहूकारों को सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है। अर्थात् इसमें औषध-सेवन तथा अनुपान आदि की आवश्यकता नहीं होती। यह १ घ्रेय योग है।

वक्तव्य—इस प्रकार के सुकुमार विरेचन योगों की परम्परा इस कल्पस्थान में पहले अध्याय के १९वें श्लोक से प्रारम्भ है। उसके बाद प्रायः प्रत्येक अध्याय में नस्ययोग अथवा घ्रेययोग के रूप में भिन्न भिन्न योगों के साथ इसे तन्त्रकार ने प्रस्तुत किया है। भावना देने में प्रत्येक द्रव पदार्थ का उतना ही मिश्रण करना चाहिए, जितने में चूर्ण आदि पदार्थ गीला हो जाय। भावनार्थ दिये गये द्रव को कभी-कभी छाया में भी सुखाया जाता है, यहाँ धूप में सुखाने का निर्देश है। यदि दिन भर में भावनार्थ दिया गया उक्त द्रव नहीं सूखा हो, तो उसे दूसरे दिन सुखाकर ही तब अगली भावना देनी चाहिए। यह योग अष्टांगसंग्रह में भी है। देखें—अ० सं० क० अ० २।५५-५६॥

श्यामात्रिवृत्कषायेण स्नुक्क्षीरघृतफाणितैः। लेहं [3]पक्त्वा विरेकार्थं लेहयेन्मात्रया नरम् ॥१८॥

स्नुहीलेह-प्रयोग—कालीनिशोथ, अरुणवर्ण की निशोथ इन दोनों का यथाविधि तैयार किया हुआ क्वाथ, सेहुण्ड का दूध, गाय का घी, फाणित (राब) इन सबको एक साथ मिलाकर धीमी आँच पर पकाकर लेह के सदृश गाढ़ा तैयार कर इसे सुरक्षित रख लें। इसमें से मात्रानुसार लेकर विरेचन का इच्छुक रोगी उसे चाटे। यह १ लेह योग है।

पाययेत् तु सुधा क्षीरं यूषैर्मांसरसैर्घृतैः।

१. 'निशि स्थितं गवां मूत्रे' इति पा०।
२. 'समाघ्राय' इति पा०।
३. 'कृत्वा' इति पा०।

१. स्नुहीक्षीर-प्रयोग—केवल सेहुण्ड के दूध को यूषों के, मांसरस के तथा घी के साथ मिलाकर विरेचन कराने के लिए रोगी को पिलाना चाहिए अनुपान-भेद से ये ३ क्षीर योग हैं।

भावितान्छुष्कमत्स्यान् वा मांसं वा भक्षयेन्नरः ॥ १९ ॥

२. स्नुहीक्षीर-प्रयोग—अथवा सूखी मछलियों को सेहुण्ड के दूध की भावना देकर या बकरे आदि के मांस को सेहुण्ड के दूध की भावना देकर पकाये गये उक्त पदार्थों को विरेचनार्थी मनुष्य खाये। ये २ योग हैं।

क्षीरेणामलकैः सर्पिश्चतुरङ्गुलवत् पचेत्। सुरां वा कारयेत् क्षीरे घृतं वा पूर्ववत् पचेत् ॥२०॥

स्नुहीक्षीर के विविध प्रयोग—१. चतुरंगुल (अमलतास) कल्प की भाँति ही सेहुण्ड के दूध तथा आँवले के स्वरस से सेहुण्ड के दूध से पकाये गये दूध को मथकर निकाले गये घी का यथाविधि पाक करे। २. अथवा सेहुण्ड के दूध से अमलतास की भाँति सुरा का सन्धान कराना चाहिए। ३. अथवा सेहुण्ड के दूध से अमलतास के कल्प की भाँति पूर्ववद् घृतपाक करना चाहिए। ये ३ योग हैं। यथा—१. घृत, २. सुरा, ३. घृत।

वक्तव्य—यहाँ प्रथम घृतयोग का निर्माण च० क० अ० ८।१३ के अनुसार करें। **सुरां वा कारयेत्**—सेहुण्ड के दूध से भावना देकर अमलतास की भाँति सुरा का सन्धान करें। द्वितीय घृतयोग का निर्माण च० क० अ० ९।१६ के अनुसार करें। सुखाये गये सेहुण्ड के दूध की आधुनिक मात्रा २ रत्ती तक परिस्थिति के अनुसार बतलानी चाहिए।

तत्र श्लोकौ—

सौवीरकादिभिः सप्त सर्पिषा च रसेन च। पानकं श्रेयलेहौ च योगा यूषादिभिस्त्रयः ॥२१॥
द्वौ शुष्कमत्स्यमांसाभ्यां सुरैका द्वे च सर्पिषी। महावृक्षस्य योगास्ते विंशतिः समुदाहृताः ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते
सुधाकल्पो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस सम्बन्ध में वहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—

सौवीर आदि से	७ योग	लेह से	१ योग
घृत के अनुपान से	१ "	यूष से	३ "
मांसरस से	१ "	शुष्कमत्स्य से	१ "
गुडपानक से	१ "	शुष्कमांस से	१ "
नस्य द्वारा	१ "	घृत सुराघृत से	३ "

इस प्रकार महावृक्ष (स्नुही) क्षीर के इस अध्याय में २० योग कहे गये हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-कल्पस्थान में सुधाकल्प नामक दसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अथातः सप्तलाशङ्खिनीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

सुधाकल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से सप्तला तथा शंखिनी कल्प की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा। शङ्खिनी तिक्तला चैव[1] यवतिक्ताऽक्षि(क्ष)पीडकः ॥

सप्तला के पर्याय—सप्तला, चर्मसाह्वा, बहुफेनरसा—ये तीन इसके नाम हैं।

शंखिनी के पर्याय—शंखिनी, तिक्तफला, यवतिक्ता, अक्षिपीडक—ये चार इसके नाम हैं।

वक्तव्य—धन्वन्तरिनिघण्टु के अनुसार दोनों के पर्याय क्रमशः इस प्रकार हैं; सातला के पर्याय—सातला, सप्तला, मारी, विदुला, विमला, अमला, बहुफेना, चर्मकषा, फेना, दीप्ता, मरालिका। शंखिनी के पर्याय—यवतिक्ता, शंखिनी, दृढपादा, विसर्पिणी, नाकुली, अक्षपीडा, नेत्रमीला, यशस्करी। श्रीचक्रपाणि का कथन है कि इस सप्तला-शंखिनीकल्प का सम्बन्ध सुधाकल्प के साथ होने से ही उसके बाद इसका उपक्रम किया गया है। इस अध्याय में जो भी योग कहे जायेंगे वे सब श्यामात्रिवृत् की भाँति अलग-अलग भी रहेंगे और मिले-जुले भी रहेंगे।

ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु। विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद् योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ॥४॥
नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम्। सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत् ॥

सप्तला-शंखिनी के प्रयोग—इन दोनों का प्रयोग गुल्मरोग, गर (कृत्रिम विषविकार), हृद्रोग, कुष्ठरोग, शोफ (सूजन), उदर आदि रोगों में तथा कफदोष की अधिकता में करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों द्रव्य विकासी, तीक्ष्ण तथा रूक्षगुण-प्रधान होते हैं, अतएव इनका प्रयोग कफनाशन के लिए किया जाना चाहिए। इनमें शंखिनी के ऐसे फलों का संग्रह करना चाहिए जो अधिक सूखे न हों। उन्हें लेकर उनके ऊपर का छिलका उतार कर रख लें और सातला की जड़ का संग्रह करके किसी पात्र में सुरक्षित रख लें।

वक्तव्य—इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।५७।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं प्रसन्नालवणायुतम्। [2]हृद्रोगे कफवातोत्थे गुल्मे चैव प्रयोजयेत् ॥६॥
प्रियालपीलुकर्कन्धुकोलाम्रातकदाडिमैः । द्राक्षापनसखर्जूरबदराम्लपरूषकैः ॥७॥
मैरेये दधिमण्डेऽम्ले सौवीरकतुषोदके। सीधौ चाप्येष कल्पः स्यात् सुखं शीघ्रविरेचनः ॥८॥

सप्तला-शंखिनी के १६ कषाय योग—इन दोनों द्रव्यों को आधा-आधा कर्ष (तोला) प्रमाण में सैंधानमक के साथ लेकर पीसकर १ कर्ष का गोला बनाकर उसे सुरामण्ड (सुरा के स्वच्छ ऊपरी भाग) में घोलकर कफ तथा वातजनित हृदयरोग एवं गुल्मरोग में प्रयुक्त करना चाहिए। अथवा उक्त दोनों द्रव्यों को उसी प्रमाण में लेकर १. चिरौंजी, २. पीलु, ३. झड़बेर ४. बड़ीबेर, ५. आम्रातक (आमड़ा), ६. दाड़िम (खट्टा अनार), ७. मुनक्का, ८. कटहल, ९. पिण्डखजूर, १०. जंगलीबेर, ११. फालसा (इनके अलग-अलग स्वरस में), १२. मैरेय (मद्य विशेष), १३. दधिमण्ड (खट्टी दही का पानी), १४. सौवीरक, १५. तुषोदक, १६. सीधु, इनमें अलग-अलग घोलकर पीने से सुखपूर्वक शीघ्र ही विरेचन हो जाता है। ये १६ कषाय योग हैं।

वक्तव्य—मद्य के भेद-उपभेदों का वर्णन च० सू० अ० २५।४८ से ५० तक में देखें।

तैलं विदारिगन्धाद्यैः पयसि क्वथिते पचेत्। सप्तलाशङ्खिनीकल्के त्रिवृच्छ्यामार्धभागिके ॥९॥
दधिमण्डेन सन्नीय सिद्धं तत् पाययेत च। शङ्खिनीचूर्णभागौ द्वौ [3]तिलचूर्णस्य चापरः ॥१०॥
हरीतकीकषायेण तैलं तत्पीडितं पिबेत्। अतसीसर्षपैरण्डकरञ्जेष्वेष संविधिः ॥११॥

---

१. '[illegible]' इति, 'तिक्तनाला च' इति पा०।
२. 'हृद्रोगकफवातार्ते' इति पा०।
३. 'नीलीचूर्णस्य चापरः' इति पा०।

छः तैल योग—विदारिगन्धा आदि (लघुपञ्चमूल के) द्रव्यों (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारिका, गोखरू) के कल्क से यथाविधि पाक किये गये दूध से तैलपाक करें, तैलपाक करते समय सप्तला तथा शंखिनी का कल्क, अरुणवर्ण के निशोथ का कल्क आधा भाग, कालीनिशोथ के कल्क का आधा भाग भी उसी में मिला दें, जब विधिवत् तैलपाक हो जाय तो उसे छानकर रख लें। इस तैल को मात्रानुसार लेकर दही के पानी में मिलाकर विरेचनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए। शंखिनी का चूर्ण २ भाग, तिलचूर्ण का १ भाग (पाठभेद के अनुसार नीली चूर्ण का १ भाग) इन दोनों को कोल्हू में पेर कर तेल निकलवायें। इस तेल को हरीतकी के क्वाथ में मिलाकर विरेचन कराने के लिए रोगी को पिलायें। इसी प्रकार अलसी (तीसी), सरसों, एरण्ड तथा करञ्ज के तेल का भी पाक कराकर रोगी को पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—निर्माण-विधि एवं तैलपाक का वर्णन अनेक बार हो चुका है, पुनः संक्षेप में देखें। **प्रथम योग**—सर्वप्रथम लघुपञ्चमूल के कल्क तथा क्वाथ से दूध को पकायें। यदि १ सेर दूध है तो तिल तेल १ पाव, तेल से कल्क चतुर्थांश (१ छटांक) होगा, इसका विधिपूर्वक पाक करें। **द्वितीय योग**—शंखिनी का चूर्ण १ सेर, तिल चूर्ण आधा सेर, शेष ऊपर टीका में देखें। **तृतीय योग**—इसमें १ सेर शंखिनी का चूर्ण तथा आधा सेर अलसी का तेल। **चतुर्थ योग**—१ सेर शंखिनी चूर्ण, आधा सेर सरसों का तेल। **पञ्चम योग**—१ सेर शंखिनी चूर्ण, आधा सेर एरण्ड (रेंड़ी) का तेल। **षष्ठ योग**—१ सेर शंखिनी का चूर्ण, आधा सेर करञ्ज का तेल।

शङ्खिनीसप्तलासिद्धात् क्षीराद् यदुदियाद् घृतम्। कल्कभागे तयोरेव त्रिवृच्छ्यामार्धसंयुते॥१३॥
क्षीरेणालोड्य [1]सम्पक्वं पिबेत् तच्च विरेचनम्। दन्तीद्रवन्त्योः कल्पोऽयमजशृङ्ग्यजगन्धयोः॥
क्षीरिण्या नीलिकायाश्च[2] तथैव च करञ्जयोः। मसूरविदलायाश्च प्रत्यक्पर्ण्यास्तथैव च॥१४॥
द्विवर्गार्धांशकल्केन तद्वत् साध्यं घृतं पुनः। शङ्खिनीसप्तलाधात्रीकषाये [3]साधयेद् घृतम्॥१५॥
त्रिवृत्कल्पेन सर्पिश्च त्रयो लेहाश्च [4]लोध्रवत्। सुराकम्पिल्लयोर्योगः कार्यो लोध्रवदेव च॥१६॥

१३ घृत योग—१. शंखिनी एवं सातला द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ रस से यथाविधि पकाये गये दूध को मथकर निकाले गये घी का शंखिनी और सातला के आधे भाग कल्क से एवं अरुणवर्ण की निशोथ तथा काली निशोथ के आधे भाग कल्क से विधिवत् पाक करे, तैयार हो जाने पर उस घृत को छानकर रख दें। मात्रा के अनुसार उक्त घृत को दूध में मिलाकर पीना चाहिए, यह विरेचनकारक होता है। २. इसी प्रकार शंखिनी तथा सातला के कल्क द्वारा पकाये गये दूध से निकाले गये घी का दन्ती, द्रवन्ती के कल्क से पाक कर सेवन करायें। ३. अजशृङ्गी (काकड़ासिंगी), अजमोदा के कल्क से, शेष पूर्ववत्। ४. क्षीरिणी (दूधिया) और नीली के कल्क से, शेष पूर्ववत्। ५. दोनों करञ्जों के कल्क से, शेष पूर्ववत्। ६. मसूर विदला (काली निशोथ), प्रत्यक्पर्णी (मूषिककर्णी) के कल्क से—इस प्रकार उक्त दो-दो वर्गों का कल्क आधा भाग और शंखिनी, सातला इन दोनों का कल्क से यथाविधि घृतपाक करें। ७. शंखिनी, सप्तला, धात्री (आँवला) इनके क्वाथ से घृतपाक करें। ८. त्रिवृत् कल्क के अनुसार (विधि—घी के बराबर काँजी, घी के चतुर्थांश सातला, शंखिनी दोनों के कल्क से) घृतपाक करें। ९-११. लोध्र (तिल्वक) के समान ३ लेहयोग तैयार करें। १२. सुरायोग लोध्र के समान। १३. कम्पिल्लकयोग भी लोध्र के समान ही तैयार करें। इस प्रकार यहाँ घृतयोग ८, लेहयोग ३, सुरायोग १, कम्पिल्लयोग १=१३ योग कहे गये हैं।

वक्तव्य—इन सभी योगों का सम्बन्ध कल्पस्थान में कहे गये लेह, सुरा आदि से है। इनके लिए पूर्व प्रसंगों को देखें। **करञ्जद्वय**—चरकसंहिता में ऊपर करञ्जद्वय की चर्चा आयी है। करञ्जद्वय से 'पूतीक' और 'नक्तमाल' का ग्रहण किया जाता है। सत्य यह है कि पूतीक चिरबिल्व है और नक्तमाल करञ्ज है। कण्टकी करञ्ज का ज्ञान होने पर 'करञ्जत्रय' की भी प्रसिद्धि देखी जाती है। कंटकीकरञ्ज के पर्याय—कण्टकीकरञ्ज, लताकरञ्ज, करञ्जी। चिरबिल्व और कण्टकी करञ्ज का वर्णन यद्यपि आचार्य प्रियव्रतशर्मा ने अलग-अलग दिया है,

१. 'विपचेत्' इति पा०।
२. 'स्यात् क्षीरिणीनीलिकयोः' इति पा०।
३. 'चापरं स्मृतम्' इति पा०।
४. 'पूर्ववत्' इति पा०।

किन्तु दोनों के भावप्रकाशोक्त लक्षण एक ही दिये हैं। देखें—द्रव्यगुणविज्ञान अ० ९, द्रव्यक्रम ३१२ पृ० ७०५-७०९ तथा अ० ९ द्रव्यक्रम ३७२ पृ० ८१६-८१८।

दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन सौवीरकतुषोदके। अजगन्धाजशृङ्ग्योश्च [1]तद्वत् स्यातां विरेचने॥१७॥

मद्य के तीन योग—दन्ती एवं द्रवन्ती के कल्प में कहे गये सौवीर तथा तुषोदक की भाँति ही सातला और शंखिनी द्वारा यहाँ तुषोदक एवं सौवीर का निर्माण करना चाहिए। अजगन्धा (अजमोदा), अजशृङ्गी (काकड़ासिंगी) से भी उसी प्रकार मद्य तैयार की जाती है, जिसका उपयोग विरेचन के लिए होता है।

वक्तव्य—अगले १२वें कल्प का नाम 'दन्ती-द्रवन्तीकल्प' है। उसमें भी सौवीर और तुषोदक के निर्माण की चर्चा आयी है, उसी भाँति यहाँ भी समझें। देखें—च० क० अ० १२।३५। इस प्रसङ्ग में निम्न श्लोक का भी अवलोकन कर लें—'तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः। गौडः कार्योऽजशृङ्ग्या वा स वै सुखविरेचनः'॥ च० क० अ० १२।३३॥ इस प्रकार यहाँ **चार** संधानों का उल्लेख किया है—दन्ती तथा द्रवन्ती के कल्प से **दो** तथा सौवीर तुषोदक और अजगन्धा अजशृङ्गी के योग से **दो** मद्ययोग सिद्ध किये जाते हैं।

तत्र श्लोकौ—

कषाया दश षट् चैव षट् तैलेऽष्टौ च सर्पिषि। पञ्च मद्ये त्रयो लेहा योगः कम्पिल्लके तथा॥
सप्तलाशङ्खिनीभ्यां ते त्रिंशदुक्ता नवाधिकाः।
योगाः सिद्धाः समस्ताभ्यामेकशोऽपि च ते हिताः॥ १९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने
सप्तलाशङ्खिनीकल्पो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त सम्बन्ध में वहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—

कषाय के	१६ योग	मद्य के	५ योग
तैल के	६ ,,	लेह के	३ ,,
घृत के	८ ,,	कम्पिल्लक का	१ ,,

इस प्रकार सप्तला तथा शंखिनी द्रव्यों से कुल मिलाकर ३९ योगों का इस अध्याय में निर्देश किया गया है। ये सभी योग दोनों द्रव्यों के साथ अथवा अलग-अलग प्रयोग करने पर भी हितकर होते हैं, क्योंकि ये सभी योग सिद्ध हैं।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकसंहिता कल्पस्थान में
चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता कल्पस्थान में
सप्तला-शंखिनीकल्प नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथातो दन्तीद्रवन्तीकल्पं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

सप्तला-शंखिनीकल्प का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से दन्ती-द्रवन्तीकल्प की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

१. 'कार्ये स्यातां' इति पा०।

दन्त्युदुम्बरपर्णी स्यान्निकुम्भोऽथ मुकूलकः । द्रवन्ती नामतश्चित्रा न्यग्रोधी मूषिकाह्वया ॥३॥
(तथा मूषिकपर्णी चाप्युपचित्रा च शम्बरी ।
प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी दन्ती र(च)ण्डा च कीर्तिता ॥[1])

दन्ती के पर्याय—दन्ती, उदुम्बरपर्णी, निकुम्भ, मुकूलक—ये दन्ती के पर्याय हैं।

द्रवन्ती के पर्याय—द्रवन्ती, चित्रा, न्यग्रोधी, मूषिकाह्वा (उसी प्रकार मूषिकपर्णी, उपचित्रा, शम्बरी, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी, दन्ती, र(च)ण्डा)—ये द्रवन्ती के पर्याय हैं।

वक्तव्य—श्रीभावमिश्र ने लघुदन्ती और बृहद्दन्ती नाम से दन्ती तथा द्रवन्ती का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया है। **लघुदन्ती के नाम**—लघुदन्ती (हाथी के दाँतों के समान जड़ वाली), विशल्या (मल रूप शल्य को बाहर कर देने वाली), उदुम्बरपर्णी (गूलर के जैसे पत्तों वाली), एरण्डफला (एरण्ड के जैसे फलवाली), शीघ्रा (तीक्ष्ण एवं शीघ्र विरेचन कराने वाली), श्येनघण्टा, घुणप्रिया (इसकी जड़ में शीघ्र धुन लग जाता है), वराहाङ्गी (मोटी), निकुम्भ (कुम्भ के सदृश फल वाली अथवा पानी जैसा विरेचन होने के कारण), मकूलक (पिश्ता के सदृश बीज वाली)। **बृहद् दन्ती के नाम**—द्रवन्ती (द्रव रूप में मल को निकालने के कारण), साम्बरी, चित्रा, प्रत्यक्पर्णी (तिरछे पत्ते होने के कारण), अर्कपर्णी, चित्रोपचित्रा, न्यग्रोधी, प्रत्यक्श्रेणी (नीचे के पत्र समूहबद्ध होने के कारण), आखुपर्णी।

विशेष परिचय—जमालगोटे के वृक्ष का नाम दन्ती है और फल का नाम जमालगोटा है। इसका फल जामुन की गुठली के आकार का होता है, इसका छिलका कड़ा होता है। छिलका उतारने पर भीतर से दो दालें निकलती हैं। उक्त दानों को कोल्हू में पेर कर तेल निकाल लिया जाता है। यह तीव्र रेचक है। बड़ी दन्ती या द्रवन्ती के बीज एरण्ड बीज के सदृश होते हैं।

धन्वन्तरिनिघण्टु के अनुसार दन्ती के पर्याय—'दन्ती शीघ्रा निकुम्भास्यादुपचित्रा मकूलकः। तथोदुम्बरपर्णी च विशल्या च घुणप्रिया' ॥ **द्रवन्ती के पर्याय**—'द्रवन्ती शम्बरी चित्रा न्यग्रोधा मूषिकाह्वया। प्रत्यक्श्रेणी विषा चण्डा पुत्रश्रेण्याखुपर्णिका' ॥ धन्वन्तरिनिघण्टु द्वारा दिये गये पर्याय प्रायः तन्त्रकार-सम्मत हैं।

तयोर्मूलानि सङ्गृह्य स्थिराणि बहलानि च । हस्तिदन्तप्रकाराणि श्यावताम्राणि बुद्धिमान् ॥४॥

उत्तम दन्ती, द्रवन्ती के लक्षण—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह स्थिर (जो भीतर से पोली न हो अर्थात् सारयुक्त, ठोस हो), बहल (मोटे छिलके वाली), हस्तिदन्त के आकार-प्रकार की हो, वर्ण की दृष्टि से क्रमशः श्याव (गहरे भूरे रंग की) तथा ताम्रवर्ण वाली दन्ती तथा द्रवन्ती की जड़ों का संग्रह करे।

पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे । [2]शोषयेवातपेऽग्न्यकौ हतो ह्येषां विकाशिताम् ॥५॥

संग्रह-विधि—उपर्युक्त विधि से संग्रह किये हुए दन्ती, द्रवन्ती की जड़ों पर पिप्पली और मुलठी के समभाग कल्क का लेप करके कुश के पत्तों से लपेटकर उसको ऊपर से मिट्टी से लीप दें। मिट्टी सूख जाने पर आग पर रखकर उसका स्वेदन करें। शीतल हो जाने पर उस आवरण को हटाकर धूप में सुखा दें। इस प्रकार अग्नि और सूर्य दन्ती और द्रवन्ती के विकासी गुण का विनाश कर देते हैं।

वक्तव्य—विष का एक लक्षण 'विकाशी' भी है, जो दन्ती-द्रवन्ती में रहता है। उसे हटाने के लिए उक्त क्रिया करने का विधान बतलाया गया है। **विकाशी**—जो द्रव्य धातुओं से ओज (क्रियाशक्ति) को अलग करके सन्धियों के बन्धनों को दुर्बल या ढीला कर देता है, वह विकाशी कहा जाता है। जैसे—सुपारी एवं कोदों के चावल। देखें—शा० सं० पू० खं० ४।२०।

तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च । विलाययन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च ॥

दन्ती-द्रवन्ती के गुण—इन दोनों की जड़ तीक्ष्ण, उष्ण, आशुकारी (शीघ्र अपना कार्य करने की शक्ति वाली), विकाशी (जिसका वर्णन ऊपर के श्लोक के वक्तव्य में दिया गया है) तथा गुरु होती है। अतः ये दोनों कफ तथा पित्त दोषों को गीला करके बाहर निकाल देते हैं और वायु को कुपित कर देते हैं।

---

१. अयं श्लोकः क्वचित् पुस्तके न पठ्यते। २. 'शोषयेदातपेऽकाग्न्यो' इति पा०।

वक्तव्य—धन्वन्तरिनिघण्टु में दन्ती के गुण—दन्ती तीक्ष्णोष्णकटुका कफवातोदराञ्जयेत्। अर्शो व्रणाश्मरीशूलान् हन्ति दीपनशोधनी ॥ द्रवन्ती के गुण—'द्रवन्ती ग्रहणीतृष्णात्रिदोषशमनी हिता। अभिच्छिन्नतनौ ग्रन्थ्यां प्रमेहे जठरे गरे ॥ कफपित्तामये पाण्डौ कृमिकोष्ठे भगन्दरे। द्रवन्ती हृद्रोगहरा कफकृमिविनाशिनी ॥

वृद्धवाग्भट ने भी तदनुरूप गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है, देखें—अ० सं० क० अ० २।६०-६१।

दधितक्रसुरामण्डैः पिण्डमक्षसमं तयोः । प्रियालकोलबदरपीलुशीधुभिरेव च ॥७॥
पिबेद् गुल्मोदरी [1]दोषैरभिखिन्नश्च यो नरः । गोमृगाजरसैः पाण्डुः कृमिकोष्ठी भगन्दरी ॥८॥

दन्ती-द्रवन्ती के १० योग—इन दोनों की जड़ का कल्क १ अक्ष (१ तोला) १. दही, २. मठा, ३. सुरामण्ड से, ४. चिरौंजी के रस से बनी हुई सीधु, ५. बड़ीबेर के रस से बनी हुई सीधु, ६. छोटी बेर या झड़ बेर से निर्मित सीधु, ७. पीलु के रस से निर्मित सीधु, इन सातों में से किसी के भी द्रव में घोलकर गुल्मरोगी या उदररोगी को इसे पीना चाहिए तथा वह भी इसे पीये जिसका शरीर वातादि दोषों से खिन्न हो गया हो। ८. गाय के मांसरस से, ९. मृगों के मांसरस से तथा १०. बकरी के मांसरस से उक्त कल्क को पीयें। इसका प्रयोग पाण्डुरोगी, जिसके कोष्ठ में क्रिमि उत्पन्न हो गये हों तथा जो भगन्दर रोग से पीड़ित हो, वह भी करे।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इसी के अनुरूप वर्णन किया है, देखें—अ० सं० क० अ० २।६२। उक्त प्रकार से दही आदि द्रव के ३, चिरौंजी आदि फलों के ४ और मांसरसों के ३ योग यहाँ कहे गये हैं, ये कुल मिलाकर १० योग होते हैं।

तयोः कल्के कषाये च दशमूलरसायुते । [2]कक्ष्यालजीविसर्पेषु दाहे च विपचेद् घृतम् ॥९॥
तैलं मेहे च गुल्मे च सोदावर्ते कफानिले । चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलार्तिषु ॥१०॥

तीन स्नेह योग—१. कक्ष्या, अलजी, विसर्प एवं दाहरोग से पीड़ित रोगियों के लिए दन्ती, द्रवन्ती का कल्क तथा इन्हीं के दशमूल मिश्रित क्वाथ द्वारा घृतपाक करना चाहिए। २. प्रमेह, गुल्म, उदावर्त तथा कफ, वातजनित रोग से पीड़ित रोगी के लिए दन्ती, द्रवन्ती के कल्क तथा इन्हीं के दशमूल मिश्रित क्वाथ द्वारा तैल पाक करना चाहिए। ३. मल, शुक्र तथा अपानवायु में रुकावट होने पर एवं वातजनित पीड़ा होने पर उसकी शान्ति के लिए दन्ती, द्रवन्ती के कल्क तथा इन्हीं दोनों के दशमूल मिश्रित क्वाथ द्वारा चतुःस्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) का एक साथ विधिपूर्वक पाक करना चाहिए।

वक्तव्य—घृत, तैल आदि की पाकविधि चिकित्सास्थान में अनेक बार कही जा चुकी है। कक्ष्यारोग तथा अलजी रोग का परिचय क्रमशः इस प्रकार देखें। कक्ष्या—च० चि० अ० १२।९१। अलजी—च० चि० अ० १२।८८। वृद्धवाग्भट ने भी इसी प्रकार घृत आदि चतुःस्नेह की व्यवस्था अपनी संहिता में की है। देखें—'सिद्धं तत् क्वाथकल्काभ्यां दशमूलरसेन च। विसर्पविद्रध्यलजीकक्ष्यादाहान् जयेद् घृतम् ॥ तैलं तु गुल्ममेहार्शोविबन्धकफमारुतान्। महास्नेहः शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलव्यथाः' ॥ अ० सं० क० अ० २।६३-६४।

रसे दन्त्यजशृङ्ग्योश्च गुडक्षौद्रघृतान्वितः । लेहः सिद्धो विरेकार्थे [3]दाहसन्तापमेहनुत् ॥११॥
वाततर्षे ज्वरे पैत्ते स्यात् स एवाजगन्धया । दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि पचेदामलकीरसे ॥१२॥
त्रींस्तु तस्य कषायस्य भागौ द्वौ फाणितस्य च । तप्ते सर्पिषि तैले वा भर्जयेत् तत्र चावपेत् ॥
कल्कं दन्तीद्रवन्त्योश्च श्यामादीनां च भागशः । तत्सिद्धं प्राशयेल्लेहं सुखं तेन विरिच्यते ॥१४॥

लेह योग—१. दन्ती तथा काकड़ासिंगी के क्वाथ रस में गुड़, मधु, घी मिलाकर बनाया हुआ अवलेह विरेचनकारक होता है। इसके प्रयोग से दाह, सन्ताप तथा प्रमेह रोगों का नाश होता है। २. उक्त लेह को यदि अजगन्धा द्वारा सिद्ध किया जाय तो वह उत्तम विरेचनकारक होता है और वातिक तृष्णा तथा पैत्तिक ज्वर में लाभदायक होता है। दन्ती और द्रवन्ती की जड़ों को जौकुट करके आँवलों के चौगुने रस में पकायें, जब कषाय चौथाई भाग शेष रह जाय तब उसे उतारकर छान लें, उसमें से तीन भाग लें, तैयार हो जाय, अर्थात् उक्त रस

---

१. 'दोषैरभिष्यण्णश्च' इति पा०।
२. 'विसर्पालजिकक्ष्यासु' इति पा०।
३. 'देयः सन्तापमेहनुत्' इति पा०।

उसमें दो भाग बराबर फाणित (राब) मिला दें। उस राब मिले हुए क्वाथ रस को गरम किये हुए घी अथवा तिल के तेल में भून लें, अच्छी तरह भुन जाने पर उसमें दन्ती, द्रवन्ती और श्यामा आदि नौ द्रव्यों का १-१ भाग कल्क डालकर उसका विधिपूर्वक पाक करें। जब पकते-पकते अवलेह जैसा हो जाय तो उतारकर ठंडा होने तक चलाते रहें, बाद में सुरक्षित रख लें। इसका मात्रानुसार सेवन करने से सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

वक्तव्य—सृष्टि-निर्माण की भाँति औषध-निर्माण में भी विचित्रता देखी जाती है। सामान्यरूप से क्वाथ निर्माण में चौगुने जल को पकाते-पकाते चौथाई शेष रह जाने पर उसे उतारकर छान लेते हैं। यहाँ तीन भाग कषाय लेने को कहा गया है, आप भी वैसा ही करें। **श्यामादि**—चरक क० अ० १।६ में श्यामा आदि नौ द्रव्यों का वर्णन इस प्रकार है—'श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां च'। यहाँ अलग से भी दन्ती-द्रवन्ती को ग्रहण करने का आदेश है, अतः 'श्यामादि' में पठित दन्ती-द्रवन्ती का पुनः ग्रहण न करें, क्योंकि उक्त दो द्रव्य तीक्ष्ण विरेचक हैं। यदि इनका अधिक प्रयोग होगा तो रोगी को कष्ट और चिकित्सक को अपयश मिल सकता है। वृद्धवाग्भट के वचनों पर भी ध्यान दें—'दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि पचेद् धात्रीरसे ततः। त्रीनंशान् फाणिताद् द्वौ च भृष्टस्तैले घृतेऽथवा॥ श्यामादिकल्कयुक्तोऽयं लेहः सिद्धं विरेचनम्'॥ अ० सं० क० अ० २।६६। इस पर टीका करते हुए श्रीइन्दु लिखते हैं—'आमलकस्य रसे सिद्धयोर्युगपद् दन्तीद्रवन्तीमूलयोस्त्री-नंशान् समास्त्रयोभागाः द्वौ भागौ फाणितस्य'। यदि इस दृष्टि से हम भी चरकोक्त पद्य को देखते हैं, तो आँवला, दन्ती, द्रवन्ती इन तीन द्रव्यों के क्वाथरस के तीन भाग लेना चाहिए, चौथे भाग को किसी अन्य उपयोग में ला सकते हैं। **सर्पिषि तैले वा**—तैल अथवा घी किस स्नेह से उसे भूनना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए वात आदि दोषों का विचार करके स्वयं निर्णय करें।

रसे च दशमूलस्य तथा बैभीतके रसे। हरीतकीरसे चैव लेहानेवं पचेत् पृथक्[1] ॥१५॥

अन्य तीन लेहयोग—१. दशमूल, २. बहेड़ा, अथवा ३. हरड के क्वाथ में दन्ती तथा द्रवन्ती का कल्क मिलाकर आवश्यकतानुसार राब लेकर अलग-अलग अवलेह का पाक करना चाहिए।

वक्तव्य—इन अवलेहों का संकेत वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।६७।

तयोर्बिल्वसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम्। असृष्टे विशि वातोत्थे गुल्मे चाम्लयुतं शुभम् ॥१६॥

दन्ती-द्रवन्ती-प्रयोग—इन दोनों की जड़ का चूर्ण १ बिल्व (४ तोला) लेकर दन्ती, द्रवन्ती के क्वाथ रस से ही भावना दें। इस प्रकार भावना दिये हुए उस चूर्ण को किसी भी अम्ल पदार्थ (काञ्जी आदि) में मिलाकर जिस मनुष्य को मलबन्ध (कब्जियत) हुआ हो या वातगुल्म रोग से पीड़ित हो उसके लिए यह शुभ है।

वक्तव्य—ऊपर जो बिल्व सम मात्रा दी है, वह निर्माण के लिए निर्देश मात्र है। यह सेवनीय मात्रा का निर्देश कथमपि नहीं है। इसकी मात्रा तो १ या २ माशा पर्याप्त है। वृद्धवाग्भट ने मात्रा वाचक बिल्व के स्थान पर विडलवण का इस प्रकार प्रयोग करने का निर्देश दिया है—'तयोर्विडसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम्। विबद्ध-विशि वातोत्थे गुल्मे चाम्लयुतं हितम्'॥ अ० सं० क० अ० २।६८। अम्ल शब्द से यहाँ काँजी, खट्टे अनार का रस, बिजौरानीबू का रस, दधिमण्ड, मद्य, सीधु, सौवीर, तुषोदक आदि का ग्रहण करना चाहिए। विशि शब्द का अर्थ है—मनुष्य में। विश् शब्द का अर्थ वैश्य तथा मनुष्य दोनों होता है, देखें—विशाम्पति शब्द को। असृष्ट का अर्थ है—मलबन्ध।

पाटयित्वेक्षुकाण्डं वा कल्केनालिप्य चान्तरा। स्वेदयित्वा [2]ततः खादेत् सुखं तेन विरिच्यते॥

इक्षुकाण्ड-प्रयोग—दन्ती तथा द्रवन्ती की जड़ का कल्क तैयार करके ईख के डंडे को दो भाग में चीर लें, उसके दोनों भागों के भीतर की ओर उक्त कल्क को लीपकर, उसे कुश की पत्तियों से बाँध दें। उसके ऊपर मिट्टी के सूख जाने पर आग में डालकर उसका स्वेदन करें। शीतल हो जाने पर उसमें से मिट्टी हटाकर उस ईख के डंडे को चूसने से सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है। यह १ योग है।

'भिषक्' इति पा०।   २. 'नरः' इति पा०।

वक्तव्य—इस योग को अविकल रूप से वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है, देखें—अ० सं० क० अ० २।९।

मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च सह मुद्गैर्विपाचयेत्। [1]लाववर्तीरकाद्यैश्च ते रसाः स्युर्विरेचने ॥१८॥

मांसरस-प्रयोग—दन्ती और द्रवन्ती की जड़ का कल्क बनाकर उसका मूंग की दाल, लावा, बटेर आदि पक्षियों में से किसी एक के मांसरस के साथ यूष बनाकर रोगी पीये। इसके सेवन करने से सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है। ये ८ मांसरस योग हैं।

वक्तव्य—श्रीगणनाथसेन उक्त श्लोक के उत्तरार्ध को इस प्रकार पढ़ते हैं—'लावतित्तिरमांसैश्च रसास्ते स्युर्विरेचनाः'। ऊपर लाववर्तीरक आदि विष्किर पक्षियों का उल्लेख किया है, जिनके कारण यहाँ ८ मांसरस योग सिद्ध होते हैं। यथा—'लावो वर्तीरकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः। चकोरश्चोपचक्रश्च कुक्कुभो रक्तवर्त्मकः'॥ च० सू० अ० २७।४७। इन आठ पक्षियों के मांसरस से उक्त आठ योग होते हैं। इसकी विशद व्याख्या के लिए चरकचन्द्रिका टीका का अवलोकन करें।

तयोर्वाऽपि कषायेण यवागूं जाङ्गलं रसम्। [2]माषयूषं च संस्कृत्य दद्यात् तैश्च विरिच्यते ॥१९॥

यवागू आदि प्रयोग—दन्ती, द्रवन्ती की जड़ से बने हुए क्वाथ से १. यवागू, २. जांगलदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों का मांसरस, अथवा ३. उड़द का विधिवत् यूष बनाकर रोगी को खिलायें। उन यवागू आदि को खिलाने से रोगी को विरेचन हो जाता है।

तत्कषायात् त्रयो भागा द्वौ सितायास्तथैव च।
एको गोधूमचूर्णानां [3]कार्या चोत्कारिका शुभा ॥ २० ॥

उत्कारिका-प्रयोग—दन्ती तथा द्रवन्ती की जड़ का क्वाथ तीन भाग, दो भाग मिश्री और एक भाग गेहूँ का आटा, इन्हें एक साथ मिलाकर उत्कारिका का निर्माण करें। यह सुख विरेचक होती है।

मोदको वाऽस्य [4]कल्पेन कार्यस्तच्च विरेचनम्। तयोश्चापि कषायेण मद्यान्यस्य प्रकल्पयेत् ॥

१. मोदक-प्रयोग—दन्ती एवं द्रवन्ती के यथाविधि बनाये गये क्वाथ के तीन भाग, दो भाग चीनी, एक भाग गेहूँ का आटा इन तीनों को एक में मिलाकर धीरे-धीरे पकायें, जब मोदक बनने लायक हो जाय तब इसके मोदक बनायें, ये मोदक भी सुखपूर्वक विरेचनकारक होते हैं।

२. मद्य-प्रयोग—दन्ती तथा द्रवन्ती इन दोनों की जड़ों का क्वाथ तैयार कर इससे मद्य तैयार करें। यह भी विरेचक होती है।

दन्तीक्वाथेन [5]चालोड्य दन्तीतैलेन साधितान्।
गुडलावणिकान् भक्ष्यान् विविधान् भक्षयेन्नरः ॥ २२ ॥

विविध भक्ष्य-प्रयोग—दन्ती की जड़ के क्वाथ से गेहूँ के आटा को सानकर गुड़, सैंधानमक मिलाकर दन्ती (जमालगोटा के क्वाथ से तैयार किये हुए) तेल में अनेक प्रकार के पक्वान्नों को तैयार करके विरेचन का इच्छुक पुरुष खाये।

वक्तव्य—'दन्ती तैलेन साधितान्'—दन्ती तेल दो प्रकार से तैयार किया जाता है। एक तो दन्ती के फलों (जमालगोटा) को कोल्हू में पेर कर जो तेल निकाला जाता है, उसे क्रोटन आयल (Croton oil) कहते हैं। यहाँ जिसका ग्रहण किया जाना चाहिए, वह दूसरा प्रकार है—दन्तीमूल के क्वाथ तथा कल्क के योग से जो तिल-तैल पकाया जाता है, वह भी दन्ती तैल है। यहाँ जिन भक्ष्य पदार्थों को तेल में पकाने को कहा गया है, वह 'क्रोटन आयल' से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त तीक्ष्ण विरेचक होता है।

---

१. 'लावतित्तिरिकाभ्यां च' इति पा०।
२. 'मांसं यूषांश्च' इति पा०।
३. 'कार्येपोत्कारिका' इति पा०।
४. 'कल्केन' इति पा०।
५. 'दन्तीकषायैर्लुलितान्' इति पा०।

दन्तीं द्रवन्तीं मरिचं यवानीमुपकुञ्चिकाम् । नागरं हेमदुग्धां च चित्रकं चेति चूर्णितम् ॥२३॥
सप्ताहं भावयेन्मूत्रे गवां पाणितलं ततः । पिबेद् घृतेन [1]जीर्णे तु विरिक्तश्चापि तर्पणम् ॥२४॥
सर्वरोगहरं मुख्यं सर्वेष्वृतुषु यौगिकम् । चूर्णं तदनपायित्वाद् बालवृद्धेषु पूजितम् ॥२५॥
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्तिगुल्मप्लीहोदरेषु च । [2]गण्डमालासु वाते च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥२६॥

सभी ऋतुओं में ग्राह्य योग—दन्ती की जड़, द्रवन्ती की जड़, कालीमिर्च, अजवाइन, उपकुञ्चिका (मंगरैला), सोंठ, हेमदुग्धा (स्वर्णक्षीरी, भड़भांड़) की जड़, चित्रक—इन सभी द्रव्यों को समानभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके सात दिन तक गोमूत्र की भावना दें (यहाँ सात भावना देने से तात्पर्य है; दिन कुछ अधिक भी लग सकते हैं)। तदनन्तर उसे सुरक्षित कर लें। आवश्यकता पड़ने पर उस भावित चूर्ण में से १ पाणितल (१ तोला) चूर्ण लेकर उसे घी के साथ पीयें। जब औषधयोग पच जाय और सुखपूर्वक विरेचन हो जाय, तब उस व्यक्ति को तर्पण (पानी में घोला हुआ पतला सत्तू) पिलाना चाहिए। यह योग सभी प्रकार के रोगों को दूर करने में मुख्य (प्रधान) है। इसका प्रयोग सभी ऋतुओं में किया जा सकता है। यह चूर्ण अनपायी (किसी प्रकार का उपद्रव न करने वाला) है, अतः इसका प्रयोग बालक, वृद्ध, स्त्री, सुकुमार आदि सभी पर किया जा सकता है। अनुचित भोजन (अधिक भोजन, अध्यशन आदि) से उत्पन्न होने वाले अजीर्ण, पसलियों की पीड़ा, गुल्मरोग, प्लीहावृद्धि, उदररोग, गण्डमाला, वातरोग और पाण्डुरोग में भी इसका प्रयोग प्रशंसनीय है। यह १ चूर्ण योग है।

वक्तव्य—इस योग को वृद्धवाग्भट ने भी उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० २।६९-७१।

पलं चित्रकदन्त्योश्च हरीतक्याश्च विंशतिः । त्रिवृत्पिप्पलिकर्षौ द्वौ गुडस्याष्टपलेन तत् ॥२७॥
विनीय मोदकान् कुर्याद् दशैकं भक्षयेत् ततः । उष्णाम्बु च [3]पिबेच्चानु दशमे दशमेऽह्नि च ॥
एते निष्परिहाराः स्युः सर्वरोगनिबर्हणाः । ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकण्डूकोठानिलापहाः ॥२९॥

मोदक-योग—चीता की जड़ १ पल (४ तोला), दन्तीमूल १ पल, बराबर आकार की हरड़ें संख्या में २०, अरुणवर्ण की निशोथ दो कर्ष (२ तोला), पिप्पली २ तोला—इन सभी द्रव्यों को उक्त परिमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर ८ पल (३२ तोला) गुड़ की चासनी में मिलाकर मोदक तैयार करके रख लें और प्रत्येक १०वें दिन १-१ मोदक रोगी को खिलायें, अनुपान के रूप में गरम जल पिलायें। इन मोदकों के सेवन काल में किसी प्रकार के परहेज की आवश्यकता नहीं होती है और ये सभी प्रकार के रोगों का विनाश करते हैं। इनके प्रयोग से ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, अर्श (बवासीर), खुजली, कोठ (चकत्ते) तथा वातव्याधि का विनाश होता है।

वक्तव्य—इस मोदकयोग को अन्यत्र 'अगस्त्यमोदक' की संज्ञा दी गयी है।

दन्तीद्विपलनिर्यूहो [4]द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः । विरेचनं पित्तकासे पाण्डुरोगे च शस्यते ॥३०॥

पाण्डुरोग-नाशक योग—दन्ती की जड़ २ पल (८ तोला) तथा मुनक्का आधा प्रस्थ (३२ तोला) इन द्रव्यों का विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर पित्तजनित कासरोग एवं पाण्डुरोग में विरेचन के लिए प्रदत्त यह योग प्रशंसनीय है।

दन्तीकल्कं समगुडं शीतवारियुतं पिबेत् । विरेचनं मुख्यतमं[5] कामलाहरमुत्तमम् ॥३१॥

कामला-नाशक योग—दन्ती की जड़ के कल्क में समान भाग गुड़ मिलाकर शीतल जल के साथ रोगी को पीना चाहिए। यह उत्तम विरेचन है। यह कामला-नाशक योगों में भी श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—उक्त ३१वें श्लोक के नीचे १९२२ ई० के निर्णयसागरीय प्रथम संस्करण में 'श्यामादन्तीरसे ···पाण्डूदरापहः' ॥ यह ३२वाँ श्लोक है, जब कि उसमें इस श्लोक की संख्या इसलिए ३० दी गयी है, कि इस

१. 'चूर्णं' इति पा०।
२. 'गण्डमालास्र वाते च' इति पा०।
३. 'पिबेच्छेषान्' इति पा०।
४. 'द्राक्षार्धप्रस्थसंयुतः' इति पा०।
५. 'एतद्विरेचनं मुख्यं' इति पा०।

१२वें अध्याय के आरम्भ में लिखा जाने वाला गद्य 'अथातो दन्तीद्रवन्तीकल्पं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः' न तो लिखा गया है, न उसके अंक ही दिये गये हैं। इसके आगे १९३३ ई० में प्रकाशित चरकसंहिता के मूलमात्र निर्णयसागरीय संस्करण में कोष्ठक के भीतर 'शुण्ठीमरिच···विरेचनम्' ॥ ३३-३५। श्लोकों को उद्धृत किया है और नीचे टिप्पणी में दिया है—'एतच्छ्लोकत्रयं हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते'। आश्चर्य है कि १९४१ ई० के चक्रपाणि की टीका से युक्त निर्णयसागरीय तृतीय संस्करण में उन तीन पद्यों को उद्धृत नहीं किया गया है। वे पद्य इस प्रकार हैं—

(शुण्ठीमरिचपिप्पल्यः कार्षिकाः स्युः पृथक्-पृथक् । द्विगुणे शर्करैले च शङ्खिनी स्याच्चतुर्गुणा ॥
नीलिनीमष्टगुणितां द्विरष्टगुणितां तथा । दन्तीं द्रवन्तीं त्वक्शाणमेकं चात्र प्रदापयेत् ॥
तस्मादर्धपलं चूर्णाल्लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् । शीतोदकानुपानं तु निरपायं विरेचनम् ॥)

सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली प्रत्येक का चूर्ण १-१ कर्ष अर्थात् १-१ तोला ले, चीनी २ तोला, छोटी इलायची २ तोला, शंखिनी ४ तोला, नीलीमूल ८ तोला, दन्तीमूल १६ तोला, द्रवन्ती मूल १६ तोला, दालचीनी १ शाण (४ माशा) इन सब के चूर्ण को एक साथ मिलाकर रख लें। आवश्यकतानुसार इसकी आधा पल (२ तोला) मात्रा को मधु के साथ मिलाकर चाटें, उसके बाद शीतल जल पीयें। यह उपद्रवरहित विरेचनकारक योग है।

श्यामादन्तीरसे गौडः पिप्पलीफलचित्रकैः । लिप्तेऽरिष्टोऽनिलश्लेष्मप्लीहपाण्डूदरापहः ॥३२॥

अरिष्ट योग—काली निशोथ और दन्ती की जड़ इन दोनों के विधिपूर्वक तैयार किये गये क्वाथ रस को पिप्पली, मैनफल तथा चीता की जड़ के कल्क द्वारा भीतर से लीपे गये मिट्टी के घड़े में डाल दें, उसी में गुड़ भी डाल दें। तदनन्तर उस घड़े का मुख बन्द करके ४५ दिन पड़ा रहने दें, उसके बाद उस अरिष्ट को छानकर रख लें। यह अरिष्ट वातकफज प्लीहारोग, पाण्डुरोग तथा उदररोग का विनाश करता है। यह १ अरिष्ट योग है।

तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः ।
गौडः कार्योऽजशृङ्ग्या वा [1]स वै सुखविरेचनः ॥ ३३ ॥

दो अरिष्ट योग—१. दन्ती की जड़, द्रवन्ती की जड़ तथा अजमोदा इन द्रव्यों को समान भाग लेकर विधिपूर्वक क्वाथ का निर्माण कर उसमें गुड़ मिलाकर मिट्टी के घड़े में भरकर रख दें, सन्धान हो जाने पर प्रयोग करें। २. अथवा दन्ती की जड़, द्रवन्ती की जड़, अजशृङ्गी (काकड़ासिंगी) इन द्रव्यों को समान भाग लेकर क्वाथ तैयार करें। इस क्वाथ रस में गुड़ मिलाकर सन्धान करने के लिए घड़ा में भरकर उसे रख दें, तैयार होने पर मात्रानुसार प्रयोग करें। उक्त दोनों अरिष्टयोगों का सेवन करने से सुखपूर्वक विरेचन होता है। ये २ अरिष्ट योग हैं।

तच्चूर्णक्वाथमाषाम्बुकिण्वतोयसमुद्भवा । मदिरा कफगुल्माल्पवह्निपार्श्वकटिग्रहे ॥३४॥

गुल्म आदि नाशक योग—दन्तीमूल तथा द्रवन्तीमूल का चूर्ण, इन्हीं द्रव्यों का यथाविधि बनाया हुआ क्वाथ, उड़द का क्वाथ, किण्व (सुराकिट्ट), इन सब द्रव्यों को मिलाकर एक मिट्टी के घड़े में भरकर उसका मुख बन्द करके रख दें। सन्धान हो जाने पर उसे खोलकर छानकर सुरक्षित कर लें। इस मदिरा का सेवन करने से कफज गुल्मरोग, जठराग्नि की मन्दता, पसलियों का जकड़ जाना तथा कमर का जकड़ जाना ये रोग दूर हो जाते हैं। यह १ मदिरा योग है।

अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके । सुराकम्पिल्लके योगौ लोध्रवच्च तयोः स्मृतौ ॥३५॥

सौवीरक, तुषोदक प्रयोग—दन्ती की जड़, द्रवन्ती की जड़ तथा अजगन्धा (अजमोदा) इन तीन द्रव्यों के समभाग कषाय से सौवीरक एवं तुषोदक का निर्माण करना चाहिए। ये दो योग हैं। लोध्र (तिल्वक) कल्प (च० क० अ० ९।८) के अनुसार दन्ती, द्रवन्ती से सुरा का और कम्पिल्लक (च० क० अ० ९।१०) योग की रचना करनी चाहिए। ये चारों योग विरेचक होते हैं।

१. 'रसे' इति पा०।

वक्तव्य—उक्त चार योगों के निर्माण की विधि का यहाँ स्पष्ट निर्देश किया जा रहा है। १. **सौवीर**—तुषरहित जौ अथवा गेहूँ, हरड़, पीपल, चित्रक आदि के क्वाथ से ५-६ दिन में तैयार की गयी काँजी को सौवीर कहते हैं। २. **तुषोदक**—तुष सहित जौ की काँजी। गा० नि० वर्ग १५। 'भृष्टान् नापतुषान् पिष्टान् यवान् चूर्णसंयुतान्। आश्रुतानम्भसा तद्वज्जातं तच्च तुषोदकम्'॥ सुरा और कम्पिल्लक का परिचय ऊपर दे दिया है।

तत्र श्लोकाः—

(दध्यादिषु त्रयः पञ्च प्रियालाद्यंस्त्रयो रसे। स्नेहेषु वै त्रयो लेह्याः षट् चूर्णे त्वेक एव च॥
इक्षावेकस्तथा मुद्गमांसानां च रसास्त्रयः। यवाग्वादौ त्रयश्चैक उक्त उत्कारिकाविधौ॥३७॥
एकश्च मोदके मद्ये चैकस्तत्क्वाथतैलके। चूर्णमेकं पुनश्चैको मोदकः पञ्च चासवे॥३८॥
एकः सौवीरकेऽथैको योगः स्यात्तु तुषोदके। एका सुरैकः कम्पिल्ले तथा पञ्च घृते स्मृताः[1]॥)
दन्तीद्रवन्तीकल्पेऽस्मिन् प्रोक्ताः षोडशकास्त्रयः। नानाविधानां योगानां भक्तिदोषामयान्प्रति॥

उक्त विषयों का उपसंहार—यहाँ पाँच पद्यों में उक्त विषयों का परिगणन किया गया है—

दधि आदि के	३ योग	मद्य का	१ योग
प्रियाल आदि के	५ ,,	दन्तीक्वाथज तैल का	१ ,,
मांसरस के	३ ,,	चूर्ण का पुनः	१ ,,
स्नेहों के	३ ,,	मोदक का पुनः	१ ,,
लेह सम्बन्धी	६ ,,	आसव के	५ ,,
चूर्ण ,,	१ ,,	सौवीरक का	१ ,,
इक्षु ,,	१ ,,	तुषोदक का	१ ,,
मूंग, मांसरस के	३ ,,	सुरा का	१ ,,
यवागू आदि के	३ ,,	कम्पिल्लक का	१ ,,
उत्कारिका का	१ ,,	घृत के	५ ,,
मोदक का	१ ,,		

इस दन्ती-द्रवन्तीकल्प में रोगी की रुचि, दोष तथा रोगों को देखकर १६ × ३ = ४८ योग विविध प्रकार से कहे गये हैं।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये चार श्लोकों को १९४१ ई० की निर्णयसागरीय प्रति में कोष्ठाङ्कित कर नीचे टिप्पणी दी है कि 'ये चार श्लोक हस्तलिखित पुस्तक में नहीं पढ़े गये हैं'। यही विवरण १९३३ ई० का मूल संस्करण भी प्रस्तुत करता है, किन्तु १९२२ ई० के निर्णयसागरीय संस्करण द्वारा ऐसी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती और न उसमें उक्त चार पद्यों को कोष्ठांकित ही किया है। विषय को देखकर ये पद्य अप्रासंगिक भी नहीं लगते हैं। ऊपर दिये गये ३७वें श्लोक के उत्तरार्ध में 'त्रयश्चैव' शब्द आया है, जो अर्थ की दृष्टि से 'त्रयश्चैक' ऐसा होना चाहिए, केवल १९३३ ई० की निर्णयसागरीय मूल प्रति में हमारा अभीष्ट पाठ उपलब्ध है, अतः यहाँ भी हमने उसी पाठ को समादर दिया है।

त्रिशतं पञ्चपञ्चाशद् योगानां वमने स्मृतम्। द्वे शते नवकाः पञ्च योगानां तु विरेचने॥४१॥
ऊर्ध्वानुलोमभागानामित्युक्तानि शतानि षट्।
प्राधान्यतः समाश्रित्य द्रव्याणि दश पञ्च च॥ ४२॥

वमन-विरेचन योग—प्रस्तुत वमन, विरेचन नामक कल्पस्थान के कुल अध्यायों में ३५५ वमनकारक योग और २४५ विरेचनकारक योग कहे गये हैं। इस प्रकार प्रधानरूप से वमन तथा विरेचनकारक १५ द्रव्यों का आश्रय लेकर यहाँ कुल ६०० योग कहे गये हैं।

१. 'एतच्छ्लोकचतुष्टयं हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में तन्त्रकार ने जो विवरण दिया है, वह कल्पस्थानोक्त १२ अध्यायों के अनुसार इस प्रकार है—प्रारम्भ से बारह अध्यायों के १५ द्रव्य (१. मदन, २. जीमूत, ३. इक्ष्वाकु, ४. धामार्गव, ५ वत्सक, ६. कृतवेधन, ७. श्यामा और त्रिवृत (२ द्रव्य), ८. चतुरंगुल, ९. तिल्वक, १०. सुधा, ११. सप्तल और शंखिनी (२ द्रव्य), १२ दन्ती और द्रवन्ती (२ द्रव्य)। इस प्रकार ७वें, ११वें और १२वें अध्यायों में ३ द्रव्यों के बढ़ जाने से इन द्रव्यों की संख्या १५ होती है।

अध्याय	वमन योग	अध्याय	विरेचन योग
१	१३३	७	११०
२	३९	८	१२
३	४५	९	१६
४	६०	१०	२०
५	१८	११	३९
६	६०	१२	४८
योग	३५५	योग	२४५ = महायोग ६००

भवन्ति चात्र—

यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते। तत्संज्ञकः स योगो वै भवतीति विनिश्चयः[1]॥४३॥
फलादीनां प्रधानानां गुणभूताः सुरादयः। ते हि तान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे॥४४॥

नाम-निर्धारण-प्रकार—जिस योग में जो द्रव्य प्रधानरूप से संयोग करता है, उसी के नाम से वह योग होता है। यही निश्चय शास्त्रकारों का है। यद्यपि योगों के निर्माण में सुरा आदि अनेक द्रव्य गुणभूत (गौण) होते हैं। सुरा आदि अप्रधान द्रव्य मैनफल आदि अपने-अपने योग में कहे गये प्रधान द्रव्यों का उस प्रकार अनुवर्तन करते हैं, जिस प्रकार राजा का अनुवर्तन (अनुसरण) प्रजावर्ग करता है। जिस प्रकार प्रजा के समस्त शुभ कर्मों से राजा का उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार गौणद्रव्य प्रधानद्रव्यों के गुणवर्धक होते हैं।

वक्तव्य—प्रस्तुत कल्पस्थान में मदनकल्प से लेकर यहाँ तक जिन-जिन योगों के जो-जो नाम निर्धारित किये गये हैं, उनमें अनेक अप्रधान द्रव्यों के योग भी देखे जाते हैं, किन्तु नाम-निर्धारण प्रकरणोक्त प्रधान द्रव्य के नाम से ही किया जाता है। उस योग में आये हुए अन्य द्रव्य भी प्रधान द्रव्य के गुणवर्धन में उसी प्रकार सहायक होते हैं, जैसे प्रजावर्ग राजा की श्रीवृद्धि के लिए तत्पर रहता है। अन्यत्र नाम-निर्धारण तन्त्रकार ने इस प्रकार किया है, कि जिस योग के आरम्भ में जिस द्रव्य का नाम आया है, तदनुसार उस योग का नाम रखा गया है। यही पद्धति अध्यायों के नाम-निर्धारण के सम्बन्ध में भी चरक में देखी गयी है। आचार्य शार्ङ्गधर ने इसी को इस प्रकार परिभाषा का स्वरूप प्रदान किया है—'यदौषधं तु प्रथमं यस्य योगस्य कथ्यते। तन्नाम्नैव स योगो हि कथ्यतेऽत्र विनिश्चयः'॥ शा० सं० पू० खं० १।३६।

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकम्। अधिकं तुल्यवीर्यं हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते[2]॥४५॥

विरुद्धवीर्य द्रव्यों का प्रयोग—प्रधान गुणों को बाधा न पहुँचाने वाले जिनके वीर्य परस्पर विरुद्ध भी हो गये हैं, ऐसे द्रव्यों का प्रयोग भी योगों में किया जाता है, क्योंकि अप्रधान द्रव्य प्रधानद्रव्य के वीर्य के बाधक नहीं होते हैं। यदि प्रधान द्रव्य और अप्रधान द्रव्यों का वीर्य समान हो तो वे द्रव्य योग की क्रियाशक्ति को और भी अधिक बढ़ा देते हैं।

वक्तव्य—इस वमन तथा विरेचन प्रकरण में वमन के लिए निर्दिष्ट प्रधान द्रव्य मैनफल वामक है, उसके साथ प्रयुक्त होने वाले सुरा, सौवीर, तुषोदक, काँजी आदि द्रव्य वामक न होते हुए भी मदनफल की वमनकारक क्रियाशक्ति की वृद्धि करते हैं, न कि ह्रास। यथा—अहृद्य मैनफल वामक है, हृद्य मांसरस जब मदनफल का

१. 'संयोगो भवतीति विनिश्चितम्' इति पा०।
२. 'समानवीर्ये त्वधिकं क्रियासामान्यमिष्यते' इति पा०।

अनुसरण करता है, तो वह भी वमनकारक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अल्पवीर्य तथा विरुद्धवीर्य द्रव्य प्रधान द्रव्य का अनुसरण करता है और तुल्यवीर्य द्रव्य प्रधान द्रव्य की सामर्थ्य को बढ़ा देता है।

इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धार्थं प्रति चामयम्। अतो विरुद्धवीर्याणां प्रयोग इति निश्चितम् ॥४६॥

विरुद्धवीर्य द्रव्यों के प्रयोग का समर्थन—अतएव प्रत्येक रोग का विचार करके अपने को प्रिय लगने वाले वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध को पैदा करने के लिए विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का योगों में उपयोग किया जाता है, ऐसा शास्त्रों का निश्चय है।

वक्तव्य—वमन तथा विरेचन के योगों में प्रधानतया वामक तथा विरेचकगुण-सम्पन्न औषधद्रव्य रहते ही हैं। उनके साथ जिन अन्य द्रव्यों का योग किया जाता है, वे कभी तो मूल द्रव्य के गुणों को ही बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होते हैं और कभी यदि विरुद्धवीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग देखा जाता है, तो वे रोगी की मानसिक अनुकूलता को लाने के लिए प्रयुक्त होते देखे जाते हैं।

भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः। सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद् बहुकर्मकृत् ॥४७॥
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद् द्रव्याणि भावयेत्।

भावना द्वारा गुणवृद्धि—उक्त वमन तथा विरेचनकारक औषधयोगों के चूर्णों की शक्ति को बढ़ाने के लिए उन्हीं द्रव्यों के स्वरस से उन कपड़छन किये हुए उक्त चूर्णों को भावना दें। क्योंकि अच्छी तरह भावना देने पर थोड़ा भी औषधद्रव्य बहुत कार्य करने की शक्ति रखता है। अतः उन द्रव्यों के स्वरसों से अथवा उसके समान वीर्य वाले अन्य द्रव्यों के स्वरसों से चूर्ण आदि औषधयोगों की भावना देनी चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार औषधयोगों की गुणवृद्धि के उपायों का निर्देश दे रहे हैं। इसके दो प्रकार हैं—१. समान गुण-धर्म वाले औषधद्रव्यों का योगानुरूप संयोजन करना, जिससे परस्पर समान गुण वाले द्रव्यों के गुणों में वृद्धि हो, क्योंकि 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'। च० सू० अ० १।४४। २. भावना आयुर्वेद में एक संस्कार-विशेष है, इससे द्रव्यों के गुणों में वृद्धि होती है। देखें—'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'। च० वि० अ० १।२२। यह भावना-प्रयोग गुणवर्धन की दिशा में प्राचीन महर्षियों का महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान है। इससे द्रव्य के गुणों की वृद्धि, मात्रा की अल्पता आदि अनेक आश्चर्यकारक लाभ होते हैं। जैसे—मैनफल के चूर्ण में मैनफल के रस की अनेक भावनाएँ दे दी जायेंगी तो उस चूर्ण की भावनाओं के अनुसार उत्तरोत्तर वमनकारक शक्ति बढ़ती जायेगी। इसी प्रकार दन्तीमूल के चूर्ण को दन्तीमूल के स्वरस की भावना दी जाय तो उसकी विरेचनकारक शक्ति बढ़ती जायेगी। इसी को आगे कहा जा रहा है।

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम् ॥ ४८ ॥
कुर्यात् संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः।

संयोग आदि का महत्त्व—संयोग, विश्लेष, काल, संस्कार और युक्ति के कारण ही पर्याप्त मात्रा में स्थित द्रव्य थोड़ा-सा कार्य करने वाला होता है और अल्पमात्रा में स्थित द्रव्य बहुत अधिक कार्य करने वाला होता है।

वक्तव्य—संयोग आदि के प्रयोग से अधिक शक्तिवाले द्रव्य की शक्ति को आवश्यकतानुसार कम किया जाता है और हीन शक्ति वाले द्रव्य को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए भी उक्त विधियों का प्रयोग करना पड़ता है। उन विधियों का यहाँ क्रमशः परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—१. **संयोग से**—समान गुणवाले द्रव्य या द्रव्यों के संयोग से अल्पशक्ति वाला द्रव्य भी अधिक कार्य करने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है और अधिक शक्तिसम्पन्न द्रव्य के साथ यदि विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य का संयोग कर दिया जाता है, तो उस द्रव्य की शक्ति पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। २. **विश्लेष से**—अर्थात् विपरीत कार्य करने वाले द्रव्यों को अलग कर देने से। यथा—योग में से विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य को हटा देने से प्रधान द्रव्य पूर्ण शक्ति वाला हो जाता है। समान वीर्य वाले द्रव्यों में से किसी एक को अलग कर देने से उस द्रव्य की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। ३. **कालयुक्ति से**—कोई द्रव्य अल्पशक्ति वाला होने पर भी यदि उसका प्रयोग प्रातःकाल किया जाता है, तो वह अधिक कार्यक्षम होता है और वही द्रव्य दूसरे समय में अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर भी वैसा कार्य नहीं कर सकता।

इसी प्रकार ऋतुचर्या में भी कालयुक्ति का विचार करना चाहिए, विशेषकर के ऋतुसन्धियों में कालयुक्ति का ध्यान देना चाहिए। औषध-सेवन के कालों का रोगपरक विचार करते हुए शास्त्रकारों ने इस पर विचार किया है। ४. **संस्कार से**—पुरुषों के संस्कारों की भाँति औषधद्रव्यों के भी विविध संस्कार कहे गये हैं। जिनके प्रयोग औषधयोग सामान्य स्थिति से विशेषता की ओर जाने लगते हैं। समान गुण वाले द्रव्यों के स्वरस आदि से भावना देने से वे द्रव्य उतने अधिक गुण वाले हो जाते हैं, जितना आप चाहते हैं। काशी के गौरव श्रीअर्जुन मिश्र की परम्परा में 'आमलकी-रसायन' का निर्माण आमलक चूर्ण को २१ बार आँवलों के रस की भावना देकर तैयार किया जाता था। यह भावना-संस्कार का एक उदाहरण है। यह रसायन अद्भुत शक्तिसम्पन्न होता था। यदि किसी द्रव्य के असमान गुण वाले द्रव्य की भावना दी जाय तो उसके अपने गुणों का भी ह्रास हो जाता है। अर्थात् यह चिकित्सक के अधिकार में है कि उक्त संकारों द्वारा वह किसी द्रव्य के गुणों की वृद्धि करे अथवा उसका ह्रास। सुना जाता है कि चिन्तामणि-मन्त्र तथा ज्योतिष्मती-कल्प के सेवन से तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रीहर्ष ने अपनी बुद्धि की प्रखरता को कम करने के लिए बहुत समय तक माहिषदधि का सेवन किया था।

प्रदेशमात्रमेतावद् द्रष्टव्यमिह षट्शतम् ॥ ४९ ॥

वमन-विरेचन योगों का निर्देश—इस कल्पस्थान में वमन, विरेचन योगों की यह ६०० संख्या संकेत मात्र ही है, ऐसा समझना चाहिए।

वक्तव्य—इस कल्पस्थान में वमनकारक तथा विरेचनकारक प्रमुख द्रव्यों का निर्देश कर दिया गया है। योगों की कल्पना किस प्रकार करनी चाहिए, इसके उदाहरण कतिपय योगों को उद्धृत करके दे दिये गये हैं। इसी दृष्टि से अन्य अनेक तीक्ष्ण, मन्द, लघु, वमन, विरेचन योगों की कल्पना चिकित्सकों को कर लेनी चाहिए। इसी का संकेत तन्त्रकार अगले पद्य द्वारा कर रहे हैं।

स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटीर्वाऽपि प्रकल्पयेत्। बहुद्रव्यविकल्पत्वाद् [1]योगसङ्ख्या न विद्यते ॥

स्वतः योगकल्पना-निर्देश—इस प्रकार चिकित्सक को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से हजारों तथा करोड़ों प्रकार के वमन, विरेचन द्रव्यों की कल्पना (रचना) स्वयं कर लें। क्योंकि द्रव्यों की संख्या का कोई अन्त नहीं है और न उनके संयोगविकल्पों की ही कोई संख्या है। अतएव यहाँ योगों के विकल्प का विस्तार नहीं किया गया है।

तीक्ष्णमध्यमृदूनां तु तेषां शृणुत लक्षणम्। सुखं क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत् प्रवर्तते ॥५१॥
नातिग्लानिकरं पायौ हृदये न च रुक्करम्। अन्तराशयमक्षिण्वन् कृत्स्नं दोषं निरस्यति ॥५२॥
विरेचनं निरूहो वा तत् तीक्ष्णमिति निर्दिशेत्।

तीक्ष्णविरेचक द्रव्य-परिभाषा—तीक्ष्ण, मध्य तथा मृदुविरेचक द्रव्यों के लक्षणों को सुनो (यह वचन महर्षि आत्रेय का अग्निवेश आदि शिष्यों के प्रति है)। जो द्रव्य अथवा औषधयोग सुखपूर्वक, शीघ्र, अधिक वेग के साथ, बिना रुकावट पैदा किये ही मल को बाहर निकाल देता है, जो वमन या विरेचन हो जाता है, जो अधिक ग्लानि (हर्षक्षय) नहीं पैदा करता, जो गुद-प्रदेश तथा हृदय में पीड़ा नहीं पैदा करता है, शरीर के भीतरी आशयों (अपने-अपने से सम्बन्धित स्थानों) को हानि न पहुँचाता हुआ सम्पूर्ण दोषों को बाहर निकाल देता है, उस विरेचन अथवा निरूह द्रव्य को तीक्ष्ण कहना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि हम पहले (च० क० अ० १।४) विरेचन शब्द की सीमा के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक यह बतला चुके हैं, कि यह वमन के अर्थ का भी निर्वाह अपनी कार्यशक्ति से कर लेता है, किन्तु यहाँ तो तन्त्रकार ने 'पायौ हृदये च' इन शब्दों का प्रयोग करके अपने से मार्ग प्रशस्त कर दिया है। वमन कफदोष का निर्हरण करने के लिए ही कराया जाता है और कफ का स्थान आमाशय एवं हृदय-प्रदेश है। मलदोष को निकालने के लिए विरेचन प्रसिद्ध है तथा वातदोष का आशय पक्वाशय से है। इन दोनों का निर्हरण करने के लिए क्रमशः विरेचन तथा निरूहवस्ति का प्रयोग होता है, दोनों के निकलने या बाहर आने का मुख्य द्वार गुदमार्ग

१. 'द्रव्यसङ्ख्या' इति पा०।

ही है। विरेचन की विधि और निरूहवस्ति की विधि में भेद होने के कारण ही यहाँ दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। तीक्ष्ण, मध्य, मृदु ये वमनकारक अथवा विरेचनकारक द्रव्यों की अपनी-अपनी शक्तियाँ हैं। चिकित्सा-क्षेत्र में ये सभी आदरणीय होती हैं; किसी शक्ति की स्थिति के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि तीक्ष्णविरेचक द्रव्य की जहाँ उपयोगिता है, वहाँ शेष दो को हेय कहा जाय, पर ऐसा सोचना सर्वथा अनुचित है। क्रूरकोष्ठ वाले पुरुषों के लिए जिस प्रकार तीक्ष्णविरेचन की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार मृदुकोष्ठ वालों के लिए मृदुविरेचन प्रशस्त होता है। इस प्रकार के विभाजन की यही उपयोगिता है।

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ॥ ५३ ॥
ईषन्मात्राधिकैर्युक्तं तुल्यवीर्यैः सुभावितम्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं यदि भेषजम् ॥५४॥

तीक्ष्णता में कारण—यहाँ द्रव्यों की शक्ति कैसे बढ़ जाती है और कैसे घट जाती है, इसका समुचित विवेचन तन्त्रकार ने इस प्रकार किया है—जो द्रव्य जल, अग्नि तथा कीड़ों से नष्ट न हुआ हो, अर्थात् जो औषधद्रव्य नमीयुक्त स्थान पर रख देने से निर्वीर्य न हो गया हो, जो आग से जल न गया हो, जिसमें घुन आदि न लगा हो और जो द्रव्य अपने देश में उत्पन्न तथा पुष्ट होने पर उचितकाल में संगृहीत किया गया हो और उसमें उसके सम्पूर्ण गुण विद्यमान हों, आवश्यकतानुसार थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में प्रयोग किया गया हो, समान गुण-धर्म वाले द्रव्यों की जिसमें भावना दी गयी हो, ऐसे औषधद्रव्य या औषधयोग यदि स्नेहन और स्वेदन किये हुए रोगी को सेवन कराये जाते हैं, तो उनके गुणों में तीक्ष्णता रहती ही है।

किञ्चिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मात्रया तथा। स्निग्धस्विन्नस्य वा सम्यङ्मध्यं भवति भेषजम् ॥५५॥

मध्यमता में कारण—ऊपर कहे गये गुणों से कुछ हीन अर्थात् जो द्रव्य जल, अग्नि, कीट से कहीं किसी अंश में युक्त भी हों, जिनमें देश, काल आदि के भी वैसे गुण न हों, पूर्ण गुण वाले भी न हों, मात्रा में भी कम प्रयोग किये गये हों, रोगी को स्नेहन, स्वेदन सम्यक् प्रकार से न कराया गया हो, तो ऐसी स्थिति में प्रयुक्त भेषज के गुणों में मध्यमता आ जाती है, अर्थात् वह औषधयोग पूर्ण कार्य करने में सफल नहीं होता है।

मन्दवीर्यं विरूक्षस्य हीनमात्रं तु भेषजम्। अतुल्यवीर्यैः संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ॥५६॥

मृदुता में कारण—जो औषधद्रव्य मन्दवीर्य वाला हो, रूक्ष पुरुषों में प्रयुक्त हो अर्थात् जिनको वमन विरेचन न कराया गया हो, अल्पमात्रा में जिसका प्रयोग किया गया हो, जो असमान वीर्य वाले द्रव्यों से युक्त (भावित) हो और जो मन्दवेग से दोषों को बाहर निकालता हो, उसे मृदु वमन या विरेचन द्रव्य कहते हैं।

अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धी ते बलीयसाम्। मध्यावरबलानां तु प्रयोज्ये सिद्धिमिच्छता ॥५७॥

उक्त संशोधनों का प्रयोग—सम्पूर्ण दोषों को भली-भाँति न निकाल सकने के कारण वे मध्य तथा मृदु श्रेणी के संशोधन (वमन, विरेचन) बलवान् (क्रूरकोष्ठ वाले) व्यक्तियों के लिए अशुद्धि रूप ही होते हैं, अर्थात् पूर्णतया शुद्धिकारक नहीं कहे जाते हैं। किन्तु इन मध्य तथा मृदु संशोधनों का प्रयोग मध्यबल तथा मृदुबल वाले व्यक्तियों के लिए ही करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ५३ से ५६ तक के विषयों की विशद जानकारी के लिए च० वि० अ० ८।९२ से आगे का परिशीलन करें। चिकित्सा की दृष्टि से कोष्ठ तीन प्रकार के कहे गये हैं—'तत्र मृदुः क्रूरो मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। यत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते, बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः, समदोषो मध्यमः, स साधारण इति। तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति'। सु० चि० अ० ३३।२१। इस दृष्टि से ऊपर कहा गया बलवान् शब्द क्रूर का वाचक है। शास्त्रीय दृष्टि से वमन, विरेचन द्रव्यों की प्रधान मात्रा ८ तोला, मध्यम मात्रा ४ तोला और मृदु मात्रा २ तोला कही गयी है, किन्तु आज की दृष्टि से ये तीनों ही मात्राएँ अधिक हैं। इनका निर्धारण चिकित्सक स्वयं कर लें।

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः। तीक्ष्णादीनि [1]बलावेक्षी भेषजान्येषु योजयेत् ॥

१. 'भिषक् तेषु बलापेक्षी भेषजानि प्रयोजयेत्' इति पा०।

रोगानुसार मात्रा-प्रयोग—जिन रोगियों में क्रमशः उस-उस रोग के सभी लक्षण दिखलायी देते हों, या मध्यम श्रेणी के लक्षण हों अथवा अल्प श्रेणी के लक्षण हों, ऐसे रोगों को क्रमशः तीक्ष्ण, मध्य, मृदु कहा जाता है। ऐसी स्थिति में रोग के बल की अपेक्षा करने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह उक्त तीनों प्रकार के रोगों में तीक्ष्ण, मध्य, मृदु औषधयोगों का प्रयोग करे।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये ५७ तथा ५८ श्लोकों का यह आशय है, कि वमन तथा विरेचन की आवश्यकता न केवल स्वस्थ शरीर वाले पुरुष को ही होती है, बल्कि इनका प्रयोग रुग्णावस्था में भी किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में रोग तथा रोगी की परीक्षा करना आवश्यक होता है। साथ में यह भी ध्यान देना होता है, कि रोगी क्रूरकोष्ठ, मध्यकोष्ठ, मृदुकोष्ठ में से किस प्रकार का है। मान लीजिये रोग तीक्ष्ण हो, कोष्ठ क्रूर हो और रोगी दुर्बल हो, तो ऐसी स्थिति में विचार कर कार्य करना चाहिए, जब कि रोग और कोष्ठ को देखकर यहाँ तीक्ष्ण विरेचन की आवश्यकता प्रतीत होती है, किन्तु रोगी के दुर्बल होने से यहाँ तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग उचित नहीं होता है, क्योंकि 'मलायत्तं बलं पुंसाम्'। दुर्बल रोगी को यदि तीक्ष्ण विरेचन देंगे तो उसके प्राणों पर बाधा आ सकती है, अतः पहले उसके रोग का शमन कर तब उसे सावधानी के साथ विरेचन करायें। सामान्य नियम के अनुसार क्रूरकोष्ठ वाले को तीक्ष्ण, मध्यकोष्ठ वाले को मध्यम और मृदुकोष्ठ वाले को मृदुविरेचन देने की शास्त्रीय व्यवस्था है।

देयं त्वनिर्हृते पूर्वं पीते पश्चात् पुनः पुनः। भेषजं वमनार्थीयं प्राय आपित्तदर्शनात् ॥५९॥

वमन के अयोग में कर्तव्य—यदि पहले वमन कराने के लिए कोई औषधयोग पिलाया गया हो और उससे वमन न हुआ हो अथवा समुचित रूप में न हो सका हो तो वमन हो जाय, ऐसा चाहने वाला वह रोगी चिकित्सक के निर्देश से तब तक बार-बार वमनकारक औषध का सेवन करता रहे, जब तक कि वमन के साथ पित्त का दर्शन न हो जाय, तत्पश्चात् इस क्रिया से विरत हो जाना चाहिए।

[1]बलत्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च। पुनः प्रदद्याद् भेषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत् ॥६०॥

संशोधन का विशेष विधान—वात आदि दोषों तथा रोगी के तीन प्रकार के बल को देखकर पुनः उसे वमन या विरेचनकारक औषधों का प्रयोग कराना चाहिए अथवा सर्वथा बन्द कर देना चाहिए।

वक्तव्य—चिकित्सक का इस परिस्थिति में यह प्रधान कर्तव्य है कि वह यह देखे, जिस रोगी के दोषों
को निकालने के लिए वमन अथवा विरेचन कराया गया था, उसमें सम्यक् वान्त और सम्यग् विरिक्त के लक्षण
दिखलायी दे रहे हैं या नहीं। इसका निर्णय करके ही अगली व्यवस्था का विचार करें। **सम्यक्वान्त के**
लक्षण—'हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वं च लाघवम्। कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम्'॥ शा०
सं० उ० खं० अ० ३।३२। **सम्यग् विरिक्त के लक्षण**—'लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमे गतेऽनिले। सुविरिक्तं नरं
ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि'॥ शा० सं० उ० खं० अ० ४।४५। **बलत्रैविध्य**—वात आदि दोषों के तीन प्रकार
के बल और रोगी का शारीरिक बल देखने की आज्ञा दी गयी है, वह परीक्षण दोनों का क्रमशः इस प्रकार किया
जाता है—१. बलवान्, २. मध्य तथा ३. मृदु। जहाँ वमन, विरेचन उचित न हो, वहाँ दोषों की शान्ति के
लिए संशमन एवं पाचन क्रिया करें।

निर्हृते वाऽपि जीर्णे वा दोषनिर्हरणे बुधः। भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत प्रार्थयन् सिद्धिमुत्तमाम् ॥६१॥

सफलता-प्राप्ति-प्रकार—उत्तम सफलता चाहने की इच्छा रखने वाले विद्वान् चिकित्सक को चाहिए
कि वह दोषों को निकालने वाले (वमन, विरेचनकारक) औषधयोगों के बिना अपना प्रभाव दिखलाये बाहर
निकल जाने पर अथवा औषध के पच जाने पर पुनः दूसरे वमन, विरेचनकारक औषधयोगों का प्रयोग कराना
चाहिए। अर्थात् निराश एवं हतोत्साह होकर बैठ न जायें।

निर्हरेद् वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ॥६२॥
अपक्वं वमनं [2]दोषं पच्यमानं विरेचनम्।

१. 'बलं त्रिविधमालक्ष्य' इति पा०।
२. 'दोषान्' इति पा०।

औषधपाक की प्रतीक्षा न करें—वमनकारक द्रव्य बिना पचे हुए ही संचित दोष को वमन द्वारा बाहर निकाल देते हैं और विरेचनकारक द्रव्य पच्यमान (पाक को प्राप्त होते हुए) दोषों को बाहर निकालते हैं। इसलिए वमनकारक औषधयोग को पिलाने के बाद उसके पाक की प्रतीक्षा न करें।

वक्तव्य—वमनकारक द्रव्य जब आमाशय में जाकर पचने लगते हैं, तो वे हानि करते हैं। वमन योगों में मधु को पकाने का जहाँ विधान किया गया है, वहाँ कहा गया है कि वह बिना पचे ही बाहर आ जाता है, अतः उसके पाक करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। यदि वह वमनकारक योग पचने लगेगा तो हानि होगी, अतः वमन न होते देखकर और भी शीघ्र वमनकारक औषधयोग को पिलाना चाहिए, जिससे पहले सेवन किया हुआ औषधयोग तथा संचित दोष दोनों ही यथाशीघ्र बाहर निकल सके। विरेचन द्रव्यों का जब पाक होना प्रारम्भ होता है, तो उसके बाद वे प्रभावकारी होते हैं, इनकी प्रतीक्षा २ या ३ घंटे तक करनी चाहिए। यदि इतनी प्रतीक्षा करने के बाद भी विरेचन न हो तो उसे पुनः तीक्ष्ण विरेचक औषधयोग का सेवन कराना चाहिए। ये सभी विचार रोग, रोगी, देश, काल, औषध आदि की स्थिति को देखकर करना चाहिए। वमन अथवा विरेचन के साथ वमन, विरेचक औषधयोग का भी बाहर निकल आना अत्यन्त शुभ लक्षण होता है। देखें—सु० चि० अ० ३३।३४।

पीते [1]प्रस्रंसने दोषाश्च निर्हृत्य जरां गते। वमिते चौषधे धीरः पाययेदौषधं पुनः ॥६३॥

विरेचन-प्रयोग पर पुनः विचार—विरेचकयोग को पी लेने पर यदि वह योग दोषों को बाहर न निकाल कर पच जाय, अथवा वमन हो जाने के कारण बाहर निकल जाय तो धीर (विषम परिस्थितियों में न घबड़ाने वाले) चिकित्सक को चाहिए कि वह पुनः विरेचक औषधयोग का सेवन कराये।

दीप्ताग्निं बहुदोषं तु दृढस्नेहगुणं नरम्। दुःशुद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत् पुनः ॥६४॥

विशेष परिस्थिति में विधान—जिस पुरुष की जठराग्नि प्रदीप्त हो, जिसके दोष अधिक उभड़े हों, जिसके शरीर में स्नेहगुण की अधिकता हो, इतना होने पर भी जिसका संशोधन पूर्णरूप से न हुआ हो, उसे यदि पुनः विरेचन कराना आवश्यक हो तो उसे उस दिन भोजन कराने के बाद दूसरे दिन विरेचक औषधयोग पिलाना चाहिए।

वक्तव्य—वमन के सम्बन्ध में श्रीभावमिश्र ने एक श्लोक इस प्रकार दिया है—'वमने चाष्टवेगाः स्युः पित्तान्ता उत्तमास्तु ते'। भा० प्र० पू० खं० पञ्चकर्मप्रकरण १७। श्रीशार्ङ्गधर ने 'कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य चेष्टितम्' (शा० सं० उ० खं० अ० ३।३२) इस प्रकार उसका समर्थन किया है। विरेचन के भली-भाँति हो जाने के लक्षणों का उक्त आचार्यों ने क्रमशः इस प्रकार वर्णन किया है—'मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तिका'। भा० प्र०, वही ४७। और 'लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमे गतेऽनिले। सुविरिक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ४।४५। इस पद्य का यह भी आशय प्रतीत होता है, कि यदि रोगी में 'दीप्ताग्नि' आदि उक्त गुण न हों तो उसे पुनः विरेचनकारक औषधों का सेवन न कराकर पाचन द्रव्यों का सेवन कराकर दोषों का शमन करे।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यो नरः। विरिच्यते [2]शनैर्भोज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत् ॥६५॥

स्वयंप्रवृत्तदोष में विधान—दुर्बल (शरीर से कृश) तथा अनेक दोषों से युक्त जो मनुष्य दोषों का पाक हो जाने पर स्वयमेव मलत्याग करने लगा हो, तो उसे फिर भी दोषों को निकालने में समर्थ आहार पदार्थों को खिलाकर धीरे-धीरे उसके मल को निकालने का प्रयास करना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'दुर्बल' शब्द का प्रयोग कर तन्त्रकार ने विरेचनकारक औषधयोग का सेवन कराने का निषेध किया है, क्योंकि उसे 'दोषपाकेन स्वयमेव विरिच्यते' अपने आप विरेचन हो रहे हैं। यहाँ भी 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' की भाँति ही प्रयोग हुआ है। यहाँ 'शनैर्भोज्यैः' के स्थान पर 'सरैर्भोज्यैः' पाठभेद मिलता है, जिसका अर्थ होता है—मलसारक (मल को आसानी से निकालने की क्षमता रखने वाले) भोज्यों का सेवन

१. 'प्रस्कन्दने' इति पा०। २. 'सरैर्भोज्यैः' इति पा०।

कराना चाहिए। मलसारक भोज्य खिचड़ी, यवागू आदि होते हैं। ऐसे रोगियों के लिए अपानवायु का अनुलोमन होना अत्यन्त आवश्यक होता है।

वमनैश्च विरेकैश्च [1]विशुद्धस्याप्रमाणतः। भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत् ॥६६॥

शेष दोषों की शान्ति का उपाय—वमनकारक योगों तथा विरेचनकारक योगों द्वारा जिन रोगियों का पूर्णरूप से शोधन न हुआ हो, ऐसे व्यक्तियों को वातानुलोमक भोजन, अन्तर-पानों (कषायों) का सेवन कराकर उनके बचे हुए दोषों का शमन कराना चाहिए।

वक्तव्य—यह विधान भी दुर्बल रोगियों के लिए ही किया गया है। क्योंकि वे अधिक संशोधनों को सहन कर सकने में असमर्थ होते हैं और विरेचन प्रयोग शारीरिक बल को घटा देते हैं। इनके लिए जो भोजन और कषाय दिये जायेंगे, वे सभी संशमन तथा पाचनकारक होने चाहिए, न कि विरेचक।

दुर्बलं शोधितं [2]पूर्वमल्पदोषं च मानवम्। अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेतौषधं मृदु ॥६७॥

मृदु औषधयोग का प्रयोग—जो व्यक्ति दुर्बल हो, जिसे पहले संशोधन दिया जा चुका हो, जिसमें दोषों की मात्रा कम हो और जिसके कोष्ठ का ठीक-ठीक ज्ञान न हो कि इसका कोष्ठ क्रूर, मध्य, मृदु इन तीनों में से कैसा है, ऐसे व्यक्ति को सर्वप्रथम मृदु विरेचक औषधयोग का ही पान कराना चाहिए।

श्रेयो मृद्वसकृत्पीतमल्पबाधं निरत्ययम्। न चातितीक्ष्णं यत् क्षिप्रं जनयेत् प्राणसंशयम् ॥६८॥

तीक्ष्ण औषध से हानि—मृदुविरेचक औषधयोग पहले तो हानिकारक होते ही नहीं, यदि हानि करते भी हैं, तो अत्यन्त कम। इस प्रकार के मृदुविरेचक औषधद्रव्यों का बार-बार पीना लाभदायक होता है। जो औषधयोग तीक्ष्ण विरेचनकारक होता है और जो प्राणों को संदेह में डाल देता है, उसका सेवन करना हानिकारक ही होता है, अर्थात् उससे सदैव मृत्यु की आशंका बनी रहती है।

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः। मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युर्ह्येनमनिर्हृताः ॥६९॥

दोषों को निकालना ही उचित है—जिस पुरुष के शरीर में अनेक दोष इकट्ठे हो गये हों, ऐसा रोगी यदि शरीर से दुर्बल भी हो, तो भी उसे मृदुविरेचक द्रव्यों से थोड़ा-थोड़ा अनेक बार विरेचन कराना चाहिए। क्योंकि यदि शरीर में स्थित दोषों को निकाला नहीं जायेगा, तो वे दोषयुक्त रोगी को मार डालेंगे।

यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम्। वमितं कवलैः शुद्धं लङ्घितं पाययेत्तु तम् ॥७०॥

विरेचक औषध का वमन हो जाने पर कर्तव्य—जिस रोगी को आनुलोमिक (विरेचनकारक) औषधयोग पिलाया गया हो और वह कफदोष के साथ मिलकर ऊपर की ओर आकर वमन के रूप में बाहर निकल गया हो, तो उसे भली-भाँति वमन कराकर कवलग्रह द्वारा उसके मुख की शुद्धि कराकर उसे लंघन कराना चाहिए, तदनन्तर पुनः विरेचन द्रव्यों का पान कराये। इस प्रकार उसे अवश्य विरेचन होगा।

[3]विबद्धेऽल्पे चिराद् दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम्। तेनाध्मानं तृषा च्छर्दिर्विबन्धश्चैव शाम्यति ॥

उष्णजल-प्रयोग—यदि पक्वाशय में दोष बँधे हों, बहुत देर में दोष (मल) का स्राव थोड़ी मात्रा में हो रहा हो, तो इसी स्थिति में रोगी को गरम जल पीना चाहिए। इसके सेवन से आध्मान (अफारा), प्यास, वमन तथा विबन्ध (बद्धकोष्ठता) की शान्ति हो जाती है।

भेषजं दोषरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते। सोद्गारं [4]साङ्गशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत् ॥७२॥

स्वेदन के प्रयोग-स्थल—यदि वमन अथवा विरेचन के लिए सेवन किया औषधयोग दोषों द्वारा मार्ग के रुक जाने के कारण न ऊपर आ रहा हो और न नीचे की ओर जा रहा हो, बार-बार डकार आ रहे हों और अंगों में शूल हो रहा हो, तो ऐसी स्थिति में पेट तथा छाती के ऊपर स्वेदन कराना चाहिए।

१. 'विशुद्धस्य प्रमाणतः। भोजनोत्तरपानाभ्यां' इति पा०।
२. 'पूर्वमल्पशेषं' इति पा०।
३. 'विबन्धेऽल्पे' इति पा०।
४. 'च सशूलं च' इति पा०।

वक्तव्य—सामान्यरूप से वमन द्रव्यों का वेग ऊपर की ओर होकर वह दोषों को मुखमार्ग से निकालता है और विरेचक द्रव्यों का वेग नीचे की ओर को होता है, वह गुदद्वार से दोषों को निकालता है। यहाँ 'दोष-रुद्ध' भेषज की स्थिति ऐसी है कि न वमन हो रहा है और न ही विरेचन, ऐसी परिस्थिति में वक्षःप्रदेश में तथा उदर में स्वेदन करना चाहिए। वक्षःप्रदेश में स्वेदन करने से कफ ढीला होकर वमन के साथ बाहर निकलेगा और उदरप्रदेश में स्वेदन करने से मल तथा वायु की प्रवृत्ति नीचे की ओर को होगी। इसी को अनुलोम प्रवृत्ति भी कहते हैं।

[1]सुविरिक्ते तु सोद्गारमाश्वेवौषधमुल्लिखेत्। [2]अतिप्रवर्तनं जीर्णे सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक् ॥७३॥

विरेचन के अतियोग में विधि—उचित प्रकार से विरेचन हो जाने पर भी यदि डकारें आ रही हों, तो शीघ्र ही रोगी को वमन कराकर औषधयोग को बाहर निकलवा दें, अर्थात् वमन के साथ वह औषधयोग स्वभावतः बाहर आ जायेगा। विरेचनकारक औषधयोग के पच जाने पर यदि अधिक विरेचन हो रहे हों, तो चिकित्सक को चाहिए कि वह शीतल औषधोपचार द्वारा उसका स्तम्भन कराये।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक में कही गयी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब विरेचनकारक द्रव्यों का प्रयोग अधिक मात्रा में करा दिया जाता है। यदि उस औषधद्रव्य की गन्ध डकार के साथ आ रही हो, तो उस रोगी को वमन करा देना चाहिए। यदि अधिक रेचन हो रहा हो तो शीतल पेय तथा परिषेक विधियों से उसका स्तम्भन करना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने उक्त विषय को इस प्रकार कहा है—'सम्यग्विरिक्तस्योद्गारे भेषजं क्षिप्रमुल्लिखेत्। अजीर्णमप्रवृत्तौ तु सुशीतैः स्तम्भयेद् भिषक्' ॥ अ० सं० क० अ० ३।३५।

कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम्। क्षीणे श्लेष्मणि सायाह्ने रात्रौ वा तत् प्रवर्तते॥

अवरुद्ध विरेचन की समाप्ति—कभी कफ के कारण विरेचन द्रव्य वक्षःप्रदेश (छाती के पास) में रुका रह जाता है, जब स्वाभाविक रूप से सायंकाल के समय अथवा रात्रि में कफ क्षीण होता है, तब विरेचन होने लगता है। यह विशेष परिस्थिति का वर्णन है।

[3]रूक्षानाहारयोर्जीर्णे विष्टभ्योर्ध्वं गतेऽपि वा। वायुना भेषजे त्वन्यत् सस्नेहलवणं पिबेत् ॥७५॥

विरेचन द्रव्यों के ऊपरी भाग में जाने पर—रूक्ष आहार करने वाले तथा अधिक उपवास करने वाले रोगियों में तथा औषधयोग का भली-भाँति पाचन हो जाने पर वायु द्वारा रुकावट आ जाने पर आमाशय के ऊपरी भाग में यदि औषधद्रव्य पहुँच जाय, तो इसकी चिकित्सा के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले औषधयोगों को स्नेह (घी या तेल) तथा नमक मिलाकर पीना चाहिए।

वक्तव्य—प्रायः देखा गया है कि रूक्ष अन्नों का आहार करने वाले मनुष्यों तथा उपवासशील मनुष्यों को पिलाये गये औषधद्रव्य बिना कुछ अपना प्रभाव दिखलाये सामान्यरूप से पच जाते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर में वातदोष का प्रकोप होने लगता है। उसकी शान्ति के लिए 'स्नेहलवण' का सेवन बतलाया गया है।

तृण्मोहभ्रममूर्च्छायाः [4]स्युश्चेज्जीर्यति भेषजे। पित्तघ्नं स्वादु शीतं च भेषजं तत्र शस्यते ॥७६॥

पित्त-प्रकोप में प्रयोग—विरेचन औषधयोग की पच्यमानावस्था में यदि प्यास लगती हो, मोह (बेहोशी), भ्रम (चक्करों का आना), मूर्च्छा ये विकृतियाँ दिखलायी दें, तो ऐसी स्थिति में पित्तदोष-नाशक, स्वादु (मधुर) तथा शीतवीर्य या शीतस्पर्श गुण युक्त औषधयोगों का सेवन करना हितकर होता है।

वक्तव्य—पित्तदोष के प्रकोप से ही प्रायः प्यास, मोह, भ्रम, मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं। ऐसे अवसर पर पित्तशामक औषधोपचार की व्यवस्था दी गयी है। इसी से मलप्रवृत्ति भी रुक जाती है।

लालाहृल्लासविष्टम्भलोमहर्षाः[5] कफावृते। भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम् ॥७७॥

१. 'सुविरिक्तस्तु' इति, 'सुविरिक्तस्य' इति च पा०।
२. 'अतिप्रवृत्तं जीर्णे तु' इति पा०।
३. 'विरूक्षानाहयोर्जीर्णे' इति पा०।
४. 'स्युर्जीर्यति हि भेषजे' इति पा०।
५. '०शीतहर्षाः' इति पा०।

कफ-प्रकोप में प्रयोग—विरेचनकारक औषधद्रव्यों का सेवन करने के बाद जब वह औषध कफदोष से घिर जाती है, तो वह अधोभाग में नहीं पहुँच पाती है, जिसके फलस्वरूप विरेचन नहीं हो पाता है। इस स्थिति में रोगी को लालास्राव (लार का चूना), हृल्लास (जी-मिचलाना), विष्टम्भ (मल में रुकावट), लोमहर्ष (रोंगटे खड़े होना) आदि विकृतियाँ होती हैं। इस स्थिति में तीक्ष्ण, उष्ण, कटु आदि कफनाशक औषधद्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है।

सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लङ्घयेदविरेचितम्। तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मा सङ्गश्चैवोपशाम्यति ॥७८॥

लंघन-प्रयोग—भली-भाँति स्नेहन कराने के बाद भी यदि क्रूरकोष्ठ वाले पुरुष को अल्प (थोड़ा) विरेचन हुआ हो, तो उसे लंघन कराना चाहिए। लंघन कराने से स्नेह-प्रयोग के कारण उत्पन्न कफदोष और दोषों की रुकावट दोनों शान्त हो जाते हैं।

रूक्ष-बह्वनिल-क्रूरकोष्ठ-व्यायामशालिनाम्[1]। दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति ॥७९॥
तेभ्यो वस्तिं पुरा दत्त्वा पश्चाद् दद्याद् विरेचनम्। [2]वस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम् ॥

वस्ति के बाद विरेचन-प्रयोग—रूक्ष, वातप्रधान, क्रूरकोष्ठ, जो प्रतिदिन व्यायाम करने के अभ्यासी हों तथा प्रदीप्त अग्नि वाले पुरुषों को यदि विरेचनकारक औषधयोग सेवन करने के लिए दिये जाते हैं, तो वे बिना अपना प्रभाव दिखलाये ही पच जाते हैं, अर्थात् विरेचन कराने में वे समर्थ नहीं हो पाते। अतः ऐसे व्यक्तियों को पहले अनुवासनवस्ति देकर बाद में विरेचन देना चाहिए। वस्ति-प्रयोग द्वारा उभाड़े गये दोष (मल) को विरेचनकारक औषधयोग शीघ्र ही मलाशय से बाहर कर देते हैं।

वक्तव्य—स्नेहद्रव्यों से जो वस्ति दी जाती है, उसे अनुवासनवस्ति कहते हैं और कषाय, क्षार तथा तेल मिलाकर जो वस्ति दी जाती है, उसे निरूहवस्ति कहते हैं। इस दृष्टि से यहाँ अनुवासनवस्ति की ही उपयोगिता है। एकाध बार दी गयी निरूहवस्ति विशेष वातप्रकोपक नहीं होती, तथापि यह वात को प्रकुपित करती है। अनुवासनवस्ति के बाद निरूहवस्ति के प्रयोग का शास्त्रीय निर्देश है।

रूक्षाशनाः कर्मनित्या ये नरा दीप्तपावकाः। तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मवातातपाग्निभिः[3] ॥
विरुद्धाध्यशनाजीर्णदोषानपि सहन्ति ते। स्नेह्यास्ते मारुताद् रक्ष्या नाव्याधौ तान् [4]विशोधयेत् ॥

स्नेहन के योग्य पुरुष—जो पुरुष प्रतिदिन रूक्ष आहार करने वाले, लगातार किसी न किसी श्रमसाध्य व्यायाम आदि कर्म करने तथा वात, कार्य में लगे हुए हों, जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त हो, ऐसे व्योक्तियों के दोष व्यायाम आदि कर्म करने तथा वात, धूम, अग्नि का सेवन करने से स्वयं नष्ट हो जाते हैं और ऐसे व्यक्ति विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण से होने वाले दोषों (विकारों) को भी सह लेते हैं, अर्थात् ऐसे परिश्रमशील पुरुषों पर अध्यशन आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ऐसे व्यक्तियों को स्नेहन कराना चाहिए और इनके शरीरों की वातप्रकोप से रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार के व्यक्तियों के शरीर का संशोधन तब तक न करें, जब तक उनको संशोधन (वमन, विरेचन) कराने योग्य कोई रोग न हो जाय।

वक्तव्य—ये सभी स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले पुरुष होते हैं, प्रायः स्वस्थ रहते हैं, अतएव इन्हें संशोधन की आवश्यकता नहीं होती। यदि आवश्यकता पड़ ही जाय तो इन्हें अवश्य ही विधिवत् स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद वमन, विरेचन कराना चाहिए।

नातिस्निग्धशरीराय दद्यात् स्नेहविरेचनम्। स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद् विरेचनम् ॥८३॥

स्नेह के अतियोग होने पर—स्नेहन-क्रिया का अतियोग जिसके शरीर में हो गया हो उसे स्नेह युक्त द्रव्यों द्वारा विरेचन नहीं कराना चाहिए। अधिक स्नेहन-क्रिया हो जाने से जिसके शरीर में दोष उभड़ गये हों, अर्थात् दोष अपना स्थान छोड़ चुके हों, तो उसे रूक्षविरेचन द्रव्यों के प्रयोग से विरेचन कराना चाहिए।

१. 'व्यायामशूलिनाम्' इति पा०।
२. 'वस्तिप्रचालितं' इति पा०।
३. 'वायुकर्माग्निभिस्तेषां यान्ति दोषाः क्षयं सदा' इति पा०।
४. 'विरेचयेत्' इति पा०।

वक्तव्य—उक्त श्लोक की शब्द-शय्या पर ध्यान दें—यदि अतिस्निग्ध शरीर वाले पुरुष को स्नेह-द्रव्यों से युक्त विरेचन दिया जायेगा तो स्नेह का अतियोग हो जायेगा और अतियोग से होने वाली हानियाँ उसे भोगनी पड़ेंगी। अतः उसे रूक्षविरेचन देने की व्यवस्था तन्त्रकार ने दी है।

एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो देशकालप्रमाणवित्। विरेचनं विरेच्येभ्यः प्रयच्छन्नापराध्यति ॥८४॥

विरेचन-विधि का पालन करें—देश, काल तथा प्रमाण को जानने वाला धीर (बुद्धिमान् तथा धैर्यवान्) चिकित्सक इस प्रकार विरेचन के नियमों एवं उसके प्रयोग आदि की विधि को जानकर जो पुरुष विरेचन कराने के योग्य हैं, उनको विरेचन कराता हुआ अपराध नहीं कर सकता है।

वक्तव्य—कल्पस्थान की समाप्ति के अवसर पर कहा गया यह श्लोक कल्पस्थान के आरम्भ में कहे गये 'उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसंज्ञां लभते' (च० क० अ० १।४) इस वाक्य का स्मरण 'विरेचन' शब्द का प्रयोग करके करा रहा है। 'विरेच्येभ्यः प्रयच्छन्' इसका विवेचन चरक-सिद्धिस्थान अ० २ में किया जायेगा, कि कौन पुरुष वमन में योग्य हैं तथा कौन विरेचन के योग्य हैं। इस दृष्टि से यहाँ कहा गया 'विरेच्य' शब्द भी दोनों प्रकार के संशोधनों का सूचक है। धीर चिकित्सक वही हो सकता है, जिसने अनेक बार अपने सामने रोगियों को वमन, विरेचन आदि संशोधन कराये हों। क्योंकि रोगी तो वमन, विरेचन के वेगों से उत्पीड़ित होकर घबड़ाने लगता है। यदि चिकित्सक भी 'बहुशः दृष्टकर्मा' नहीं होगा तो वह भी घबड़ा जायेगा। ऐसी स्थिति अनर्थकारक हो जाती है। इसी से समाज चिकित्सक को अपराधी समझने लगता है।

विभ्रंशो विषवद् यस्य सम्यग्योगो यथाऽमृतम्। कालेष्ववश्यं पेयं च तस्माद् यत्नात् प्रयोजयेत्॥

विभ्रंश तथा सम्यग्योग का फल—जिस संशोधन-क्रिया (वमन तथा विरेचन) का विभ्रंश (उचित प्रकार से न हो पाना) विष के समान हानिकारक (प्राणनाशक) होता है और जिस संशोधन का सम्यग् योग (ठीक प्रकार का प्रयोग हो जाना) अमृत के समान हितकर होता है, उस संशोधन को उचित समयों में अवश्य ही पीना चाहिए। विभ्रंश से होने वाली हानियाँ और सम्यग् योग से होने वाले लाभों को ध्यान में रखकर उनका प्रयत्नपूर्वक त्याग एवं प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—संशोधन-काल-निर्देश—कुशल चिकित्सक सामान्यरूप से पुरुषों को शरद्ऋतु (कार्तिक मार्गशीर्ष) में, वसन्त ऋतु (फाल्गुन, चैत्र) में और प्रावृट् ऋतु (आषाढ, सावन) में वमन, विरेचन करायें। उक्त ऋतुओं का विभाजन आयुर्वेदीय दृष्टि से है, ज्योतिषशास्त्र के अनुसार नहीं। दूसरी बात—वमन, विरेचन के लिए समशीतोष्णकाल हितकर होते हैं। इन अवसरों पर काल-सम्बन्धी किसी प्रकार की व्यापत्ति नहीं होती है। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ३।१।

द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तमस्मिन् मध्येषु तत् कोष्ठवयोबलेषु।
[1]तन्मूलमालम्ब्य भवेद् विकल्प्यं तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभावः ॥ ८६ ॥

मानों की फलश्रुति—प्रस्तुत चरकसंहिता के कल्पस्थान में औषधद्रव्यों का जो मान (प्रमाण या परिमाण) आगे बतलाया गया है, वह मध्यकोष्ठ, मध्यवय और मध्यबल वाले व्यक्तियों के लिए ही है। इसी को आधार मानकर चिकित्सक को परिस्थितिवश अर्थात् देश, काल, वय, कोष्ठ का विचार कर मात्रा-निर्धारण करते समय न्यूनाधिक भाव का तारतम्य बैठा लेना चाहिए।

वक्तव्य—प्राचीन आचार्यों की उपदेश-पद्धति अकाट्य रही है, क्योंकि वे सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं। अतएव कहा भी गया है—'अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमम्'। सूक्ति। 'धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते'। रघु० १३।७। यद्यपि तन्त्रकार ने प्रायः सर्वत्र द्रव्य-मात्रा, प्रयोग-मात्रा आदि का उपदेश प्रसंगानुसार किया है, किन्तु 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' इस सिद्धान्त के अनुसार वे सभी मात्रा-निर्देश प्रायोवचन कहे जा सकते हैं। मात्रा के सम्बन्ध में श्रीशार्ङ्गधराचार्य की स्पष्टोक्ति देखें—'स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं

१. 'तन्मूलमालक्ष्य भवेद् विकल्पः' इति पा०।

वयो बलम्। प्रकृतिं दोषदेशौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।३७। और देखें—अ० सं० क० अ० ८।१५। पुष्कलावत के अनुसार—'आर्द्रस्याष्टपला मात्रा कुडवस्य प्रमाणतः। मधुतैलघृतादेश्च शुष्कद्रव्ये चतुष्पलम्' ॥ विश्वामित्र के अनुसार—'मुद्गगुग्गुलुवाह्लीकत्रिफलारिष्टनागरैः। कूष्माण्डार्द्रकनिम्बानां कुडवश्चाष्टभिः पलैः ॥ सर्पिः खण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु। अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते' ॥ सारकौमुदी। भोज के अनुसार—'यच्चूर्णं गुटिका या च कर्तव्या गुल्मरोगिणाम्। क्षीरहिङ्ग्वजमोदाम्लवेतसैस्ता न केवलाः' ॥ इस प्रकार प्राचीन सभी तन्त्रकारों ने मात्रा के सम्बन्ध में पुष्कल विचार किया है, सभी के विचार प्रसंगानुसार श्रद्धेय हैं। उक्त श्लोक द्वारा तन्त्रकार ने बुद्धिमान् चिकित्सक को मात्रा में विकल्प (हेर-फेर, घट-बढ़) करने की अनुमति दी है। युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा में युक्ति की ही प्रधानता होती है, अतः इस युक्ति का सदुपयोग अन्यत्र करते हुए मात्रा के निर्धारण में भी करना चाहिए।

षड् ध्वंश्यस्तु मरीचिः स्यात् षण्मरीच्यस्तु सर्षपः।
अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ॥ ८७ ॥

धान्यमाषो भवेदेको धान्यमाषद्वयं यवः। अण्डिका ते तु चत्वारस्ताश्चतस्रस्तु माषकः ॥८८॥
हेमश्च धान्यकश्चोक्तो भवेच्छाणस्तु ते त्रयः। शाणौ द्वौ द्रङ्क्षणं विद्यात् कोलं बदरमेव च ॥
विद्याद् द्वौ द्रङ्क्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च। बिडालपदकं चैव पिचुं पाणितलं तथा ॥९०॥
तिन्दुकं च विजानीयात् कवलग्रहमेव च। द्वे सुवर्णे पलार्धं स्याच्छुक्तिरष्टमिका तथा ॥९१॥
द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका। बिल्वं षोडशिका चाम्रं द्वे पले प्रसृतं विदुः ॥९२॥
पलं चतुर्गुणं विद्यादञ्जलिं कुडवं तथा। अष्टमानं तु विज्ञेयं कुडवौ द्वौ तु मानिका ॥९३॥
चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम्। पात्रं तदेव विज्ञेयं कंसः प्रस्थाष्टकं तथा ॥९४॥
कंसश्चतुर्गुणो द्रोणश्चार्मणं नल्वणं च तत्। स एव कलशः ख्यातो घटमुन्मानमेव च ॥९५॥
द्रोणस्तु द्विगुणः शूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च। गोणीं, शूर्पद्वयं विद्यात् खारीं भारं तथैव च ॥९६॥
द्वात्रिंशतं विजानीयाद्वाहं शूर्पाणि बुद्धिमान्। तुलां शतपलं विद्यात् परिमाणविशारदः ॥९७॥
शुष्कद्रव्येष्विदं मानमेवमादि प्रकीर्तितम्।

मागधमान की परिभाषा—

६ ध्वंशी	=	१ मरीचि
६ मरीचि	=	१ सर्षप (लाल)
८ रक्तसर्षप	=	१ तण्डुल (चावल)
२ तण्डुल	=	१ धान्यमाष (उड़द)
२ धान्यमाष	=	१ यव (जौ)
४ यव	=	१ अण्डिका
४ अण्डिका	=	१ माषक, इसके पर्याय—हेम तथा धान्यक हैं।
३ माषक	=	१ शाण
२ शाण	=	१ द्रंक्षण, इसके पर्याय—कोल तथा बदर हैं।
२ द्रंक्षण	=	१ कर्ष, इसके पर्याय—सुवर्ण, अक्ष, बिडालपदक, पिचु, पाणितल, तिन्दुक, तथा कवलग्रह हैं।
२ सुवर्ण	=	१ पलार्ध, इसके पर्याय—शुक्ति, अष्टमिका हैं।
२ पलार्ध	=	१ पल, इसके पर्याय—मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, बिल्व, षोडशिका, तथा आम्र हैं।
२ पल	=	१ प्रसृत, इसका पर्याय—अष्टमान है।
४ पल	=	१ अञ्जलि, इसका पर्याय—कुडव है।
२ कुडव	=	१ मानिका
४ कुडव	=	१ प्रस्थ
४ प्रस्थ	=	१ आढक, इसका पर्याय—पात्र है।

८ प्रस्थ	=	१ कंस
४ कंस	=	१ द्रोण, इसके पर्याय—अर्मण, नल्वण, कलश, घट तथा उन्मान हैं।
२ द्रोण	=	१ शूर्प, इसका पर्याय—कुम्भ है।
२ शूर्प	=	१ गोणी, इसके पर्याय—खारी तथा भार हैं।
३२ शूर्प	=	१ वाह
१०० पल	=	१ तुला

परिमाण को जानने वाले विद्वान् को चाहिए कि वह उक्त परिमाणों का प्रयोग सूखे द्रव्यों को ग्रहण करने के लिए करे।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने दृढबल द्वारा कहे गये इस मान को **मागधमान** की संज्ञा दी है। सुश्रुतोक्त मान को वे **'कालिङ्गमान'** कहते हैं। १९३३ ई० के निर्णयसागरीय प्रति में श्लोक ८७ के ऊपर एक पंक्ति इस प्रकार लिखी हुई अधिक मिलती है, जो सर्वथा प्रकरणोचित है—**'जालान्तरगतैर्भानुकरैर्वं(ध्वं)शी विलोक्यते'**। इसके आगे ९३वाँ श्लोक इस प्रकार दिया है—'पलं चतुर्गुणं विद्यादञ्जलिं कुडवं तथा। अष्टमानं तु विज्ञेयं कुडवौ द्वौ तु मानिका' ॥ इस क्रम के औचित्य को देखकर हमने मूलपाठ को संशोधित किया है। इस प्रकार बदलने से मानक्रम की पूर्वापरता खंडित होने से बच जाती है। आगे श्लोक ९४ में **'कंसः प्रस्थाष्टकं तथा'** पाठ पर विचार करने के लिए हम अन्य प्रसंगों में आये हुए इस विषय को देखकर तत्त्वान्वेषण करेंगे।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार—'पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः—तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमापकः, ते षोडश सुवर्णम्, अथवा मध्यनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं तान्यर्धतृतीयानि कर्षः, ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते; तुला पुनः पलशतं, ताः पुनर्विंशतिभारः शुष्काणामिदं मानम्; आर्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति'। सु० चि० अ० ३१।७।

वृद्धवाग्भट के अनुसार—'परिमाणं पुनः षड्वंश्यो मरीचिः। ताः षट्सर्षपः। तेऽष्टौ तण्डुलः। तौ धान्यमाषः। तौ यवः। अतः परः चतुर्गुणवृद्ध्याण्डिकामाषकशाणकर्षपलकुडवप्रस्थाढकद्रोणवहाः कल्प्यन्ते। धरणं तु पलस्य दशमो भागः। माषकस्य पर्यायो हेमो धानकश्च। शाणद्वयस्य पर्यायो द्रङ्क्षणः कोलो वटकश्च, कर्षस्य सुवर्णमक्षं पिचुर्बिडालपदकं पाणितलं तिन्तुकं कवलग्रहः षोडशिका च। कर्षद्वयस्य शुक्तिरष्टमिका च। पलस्य मुष्टिः प्रकुञ्चश्चतुर्थिका बिल्वमात्रं च। पलद्वयस्य प्रसृतोऽष्टमान च। कुडवस्याञ्जलिः कुडवद्वयस्य मानिका। आढकस्य पात्रं कंसश्च। द्रोणस्य नल्वणार्मणोन्मानघटकुम्भकलशाः। द्रोणद्वयस्य शूर्पः। तुला पुनः पलशतं तानि विंशतिर्भार इति' ॥ अ० सं० क० अ० ८।२६।

वाग्भट के अनुसार—'शाणं पाणितलं मुष्टिं कुडवप्रस्थमाढकम्। द्रोणं वहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम्' ॥ अ० हृ० क० अ० ६।२२। अन्य संकेत—'द्वौ शाणौ वटकः कोलं बदरं द्रङ्क्षणश्च तौ। अक्षं पिचुः पाणितलं सुवर्णं कवलग्रहः ॥ कर्षो बिडालपदकं तिन्दुकं पाणिमानिका। शब्दान्यत्वमभिन्नेऽर्थे शुक्तिरष्टमिका पिचू ॥ पलं प्रकुञ्चो बिल्वं च मुष्टिराम्रं चतुर्थिका। द्वे पले प्रसृतस्तौ द्वावञ्जलिस्तौ तु मानिका ॥ आढकं भाजनं कंसो द्रोणः कुम्भो घटोऽर्मणम्। तुला पलशतं तानि विंशतिर्भार उच्यते' ॥ अ० हृ० क० अ० ६।२५-२८।

इन सभी प्राचीन मानों का परिशीलन करने से **'कंसः प्रस्थाष्टकं तथा'** पाठ उचित नहीं लगता। अन्यत्र कंसपात्र शब्द 'आढक' का पर्याय है, जो ६४ पल का होता है। यदि हम इसे ८ प्रस्थ (५१२ तोला) का मानना स्वीकार कर लें, तो मान के क्षेत्र में अत्यन्त व्यतिक्रम हो जायेगा।

मान की निरुक्ति—'मीयते अनेन, इति मानम्', अर्थात् जिससे नापा (मापा) या तौला जाय, उसे मान एवं परिमाण (Weights & measures) कहा है।

मान के भेद—संहिता-ग्रन्थों में तीन प्रकार के मान बतलाये गये हैं—१. **यौतवमान** (Measures of weight)—कहीं इसे पौतव भी कहा गया है। इनके लिए देखें अमरकोष २।९।८५। इससे पदार्थों के भार का ज्ञान किया जाता है। २. **द्रुवयमान** (Measures of volume or capacity)—इससे ठोस तथा द्रव पदार्थों को नापा जाता है। ३. **पाय्यमान** (Measures of length)—इससे वस्तु की लम्बाई नापी जाती है।

विष्णूक्त-मान

८ त्रसरेणु	=१ लिक्षा
३ लिक्षा	=१ राजिका
३ राजिका	=१ श्वेतसर्षप
६ श्वेतसर्षप	=१ यव
३ यव	=१ गुञ्जा
५ गुञ्जा	=१ माषक
१२ माषक	=१ अक्षार्ध
१६ माषक	=१ सुवर्ण
२ गुञ्जा	=१ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक	=१ धरण
१६ माषक	=१ ताम्रिक कर्ष

मनूक्त मान

८ त्रसरेणु	=१ लिक्षा
३ लिक्षा	=१ राजसर्षप
३ राजसर्षप	=१ श्वेतसर्षप
६ श्वेतसर्षप	=१ यवमध्यम
३ मध्यमयव	=१ गुञ्जाकृष्णल
५ कृष्णलगुञ्जा	=१ माषक
१६ माषक	=१ सुवर्ण
४ सुवर्ण	=१ पल
१० पल	=१ धरण
२ कृष्णल	=१ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक	=१ धरण (राजत)
१६ माषक	=१ कार्षापण (८० रत्ती = ताम्रिक)
१० रौप्यधरण	=१ शतमान(राजत)
४ सुवर्ण	=१ निष्क (राजत)

याज्ञवल्क्योक्त मान

८ त्रसरेणु	=१ लिक्षा
३ लिक्षा	=१ राजसर्षप
३ राजसर्षप	=१ श्वेतसर्षप
६ श्वेतसर्षप	=१ यवमध्यम
३ मध्यमयव	=१ कृष्णल (रत्ती)
५ कृष्णल	=१ माषक
१६ माषक	=१ सुवर्ण
४-५ सुवर्ण	=१ पल
२ कृष्णल	=१ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक	=१ धरण
१० धरण	=१शतमान राजत
४ सुवर्ण	=१ निष्क (पल)

सुश्रुतोक्त मान

१२ मध्यम धान्यमाष	= १ सुवर्णमाषक
१६ सुवर्णमाषक	= १ सुवर्ण
१९ निष्पावमध्यम	= १ धरण
$2\frac{1}{2}$ धरण	= १ कर्ष
४ कर्ष	= १ पल
४ पल	= १ कुडव
४ कुडव	= १ प्रस्थ
४ प्रस्थ	= १ आढक
४ आढक	= १ द्रोण
१०० पल	= १ तुला
२० तुला	= १ भार

कौटिल्योक्त मान

१० धान्यमाष (उड़द)	=१ सुवर्णमाषक
अथवा	
५ रत्ती	= १ सुवर्णमाषक
१६ सुवर्णमाषक	= १ सुवर्ण या कर्ष
४ कर्ष	= १ पल
८८ श्वेतसर्षप	= १ रूप्यमाषक
१६ रूप्यमाषक	= १ धरण
अथवा	
२० शैब्य (सेम के बीज)	= १ धरण (हीरा की तौल में प्रयुक्त मान)

लीलावती-ग्रन्थोक्त मान

२ यव	= १ गुञ्जा
३ गुञ्जा	= १ वल्ल
८ वल्ल	= १ धरण
२ धरण	= १ गद्याणक
१४ वल्ल	= १ धटक
५ गुञ्जा	= १ माषक
१६ माषक	= १ कर्ष
४ कर्ष	= १ पल
१ कर्ष	= १ सुवर्ण (तोला)

शाङ्गर्धरोक्त मान

३० परमाणु	=१ वंशी (त्रसरेणु)
६ वंशी	=१ मरीचि
६ मरीचि	=१ राजिका (राई)
३ राजिका	=१ सर्षप
८ सर्षप	=१ यव
४ यव	१ गुञ्जा (रत्ती)
६ रत्ती	=१ माषक; इसके पर्याय—हेम, धान्यक।
४ माषक	=१ शाण; इसके पर्याय—धरण, टंक
२ शाण	=१ कोल; इसके पर्याय—क्षुद्रक, वटक, द्रंक्षण।
२ कोल	=१ कर्ष; इसके पर्याय—पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किञ्चित्, पाणि, तिन्दुक, बिडालपद, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह, उदुम्बर, क्षुद्रक, बटक, द्रंक्षण। कर्ष ९६ रत्ती का होता है।
२ कर्ष	=१ शुक्ति; इसका पर्याय—अष्टमिका
२ शुक्ति	=१ पल; इसके पर्याय—मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी, बिल्व।
२ पल	=१ प्रसृति; इसका पर्याय—प्रसृत।
२ प्रसृति	=१ अञ्जलि; इसके पर्याय—कुडव, अर्धशरावक, अष्टमान।

२ अञ्जलि	=१ मानिका; इसके पर्याय—शराव, अष्टपल।	२ द्रोण	=१ शूर्प; इसके पर्याय—कुम्भ, चतुःषष्टिशराव।
२ शराव	=१ प्रस्थ	२ शूर्प	=१ द्रोणी; इसके पर्याय—वाह, गोणी।
४ प्रस्थ	=१ आढक; इसके पर्याय—भाजन, कंसपात्र।	४ द्रोणी	=१ खारी
		२००० पल	=१ भार
४ आढक	=१ द्रोण; इसके पर्याय-कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट, राशि।	१०० पल	=१ तुला

शार्ङ्गधरोक्त मानों का चतुर्गुण सूत्र

४ माश	= १ टंक (शाण)	४ प्रस्थ	= १ आढक
४ टंक	= १ अक्ष (कर्ष)	४ आढक	= १ राशि (द्रोण)
४ अक्ष	= १ बिल्व (पल)	४ राशि	= १ द्रोणी
४ बिल्व	= १ कुडव	४ द्रोणी	= १ खारी
४ कुडव	= १ प्रस्थ		

कालिगमान

आचार्य शार्ङ्गधर ने कालिङ्गमान का भी वर्णन अपनी संहिता में किया है। ऐसा लगता है, उन देशों में प्रसिद्ध होने के ही कारण इसका उक्त नामकरण हो गया हो। 'कलिंग' उड़ीसा प्रान्त को कहते हैं और 'मगध' बिहार प्रान्त है। मान के विशेषज्ञ कालिंग की अपेक्षा मागधमान को महत्त्व देते हैं। हमारे विचार से मान व्यवहार के कार्य में प्रयोग आने वाला एक ज्ञान है, जिसे श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है; हाँ उसे व्यापक या सीमित कहा जा सकता है। मागधमान की अपेक्षा कालिङ्गमान में दो मान अधिक स्वीकार किये गये है—(क) ३ रत्ती का १ वल्ल और (ख) ६ माशा का १ गद्याण। इस मान में ८० रत्ती का १ कर्ष (तोला) होता है और मागधमान में ९६ रत्ती का कर्ष माना जाता है। हो सकता है कि मागधमान की ज्येष्ठता का यह भी एक कारण रहा हो। ऐसा लगता है, कि श्रीशार्ङ्गधराचार्य को मागधमान की अपेक्षा कालिगमान ही अधिक प्रिय था, क्योंकि वे स्पष्टतया लिखते हैं—'चन्द्रप्रभायां कर्षस्तु चतुःशाणो विधीयते'। शा० सं० म० खं० अ० ७।४९। अब आप विचार करें—मागधमान के अनुसार तो ४ शाण का कर्ष होता ही है, यही मान बहुजन सम्मत भी है और कालिगमान में '$2\frac{1}{2}$ शाण का १ कर्ष' होता है। कुछ टीकाकार उक्त पंक्ति को प्रक्षिप्त मानते हैं, परन्तु आप अन्यत्र दिये गये प्रमाणों पर भी दृष्टिपात करें।

१२ गौरसर्षप	= १ यव	४ माष	= १ शाण शाण के पर्याय—निष्क, टंक।
२ यव	= १ गुञ्जा		
३ गुञ्जा	= १ वल्ल	६ माष	= १ गद्याण
८ गुञ्जा	= १ माष	१० माष	= १ कर्ष
अथवा		४ कर्ष	= १ पल
७ गुञ्जा	= १ माष	४ पल	= १ कुडव

विशेष—प्रस्थ आदि सभी परिमाण मागधमान के समान ही मानने चाहिए। सुश्रुतसंहिता में धान्यमाष से छोटे मान का उल्लेख नहीं मिलता। उस समय इससे छोटे मानों का सम्भवतः प्रयोग ही न रहा हो। क्योंकि छोटे से छोटे मान की आवश्यकता तो रसशास्त्र के प्रयोगकाल में पड़ने लगी और तभी से छोटे मानों का सृजन होने लगा। आयुर्वेद में पाय्यमान (Measures of length) का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। इस मान में प्रयोग आने वाले शब्द ये हैं—व्याम (दोनों हाथों के विस्तार की माप), अंगुल, अरत्नि (कुहनी से कानी उँगली के किनारे तक की माप), प्रादेश, ताल, गोकर्ण, वितस्ति आदि।

इस विषय की विशेष जानकारी के लिए स्वर्गीय कविराज श्रीगंगाधरराय कविवर द्वारा संगृहीत 'आयुर्वेदीय परिभाषा' ग्रन्थ का प्रथम 'परिभाषा निर्णय' नामक अध्याय का अक्षरशः निरीक्षण कर लें, इसमें निम्न विचारों का संग्रह किया गया है, वे महत्त्वपूर्ण हैं।

द्विगुणं तद्द्रवेष्विष्टं तथा सद्योद्धृतेषु च ॥ ९८ ॥

[1]यद्धि मानं तुला प्रोक्ता पलं वा तत् प्रयोजयेत्। अनुक्ते परिमाणे तु तुल्यं मानं प्रकीर्तितम् ॥

द्विगुणपरिभाषा का क्षेत्र—द्रव (जलीय) द्रव्यों तथा तत्काल संग्रह की गयी ओषधियों को दूनी मात्रा में लेना चाहिए। जिस मान में पल अथवा तुला शब्द का प्रयोग हुआ हो, वहाँ उस द्रव्य को उसी प्रमाण में लेना चाहिए, अर्थात् उसे दूना ग्रहण न करें। यदि किसी योग में द्रव्यों के परिमाण का उल्लेख न किया गया हो तो वहाँ सभी द्रव्यों को समानभाग में लेना चाहिए।

वक्तव्य—आचार्य जतूकर्ण के अनुसार 'द्विगुणाः कुडवादयो द्रवाणाम्' अर्थात् कुडव आदि परिमाण द्वारा लिये जाने वाले द्रवपदार्थों को दूनी मात्रा में लेना चाहिए। और भी रत्ती से लेकर कुडवपर्यन्त प्रमाण में ग्रहण किये जाने वाले द्रवपदार्थ अथवा तत्काल संग्रह किये गये हरे द्रव्यों को उसी प्रमाण में लेना चाहिए। श्रीशार्ङ्गधराचार्य के मत से—'गुञ्जादिमानमारभ्य यावत् स्यात् कुडवस्थितिः। द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम् ॥ प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं तद्द्रवार्द्रयोः। मानं तथा तुलायास्तु द्विगुणं न क्वचित् स्मृतम्' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।३३-३४। इस प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी इस भावना का समर्थन मिलता है। जो द्रव्य सदैव गीले प्रयुक्त किये जाते हैं, उन्हें दूना नहीं लेना चाहिए। दूना उन्हीं को लें जो द्रव्य सूखे लिये जाते हों, किन्तु संयोग से हरे प्राप्त हुए हों।

द्रवकार्येऽपि चानुक्ते सर्वत्र सलिलं स्मृतम्। यतश्च पादनिर्देशश्चतुर्भागस्ततश्च सः ॥१००॥

द्रव, पाद विवेचन—यदि किसी योग की सिद्धि में द्रव पदार्थ की आवश्यकता हो, किन्तु उसका स्पष्टतः निर्देश न किया गया हो, तो ऐसी स्थिति में सभी जगह जल का ग्रहण करना चाहिए। जहाँ पाद शब्द द्वारा निर्देश किया गया हो, वहाँ उस द्रव्य के चौथाई भाग का ग्रहण करना चाहिए।

वक्तव्य—स्नेह आदि का पाक करने के लिए स्वरस, क्वाथ, गोमूत्र, दूध, दही आदि द्रवों का जहाँ तन्त्रकार ने उल्लेख न किया हो वहाँ जल का ग्रहण कर लेना चाहिए। अनुक्त द्रव्य निर्देश पर अपने विचार प्रकट करते हुए श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने दिशा-निर्देश किया है—'कालेऽनुक्ते प्रभातं स्यादङ्गेऽनुक्ते जटा भवेत्। भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात् पात्रेऽनुक्ते तु मृण्मयम् ॥ द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यं तैलेऽनुक्ते तिलोद्भवम्। दुग्धे सर्पिषि मूत्रे च ग्राह्यं गोसम्भवं बुधैः' ॥ शा० सं० पू० खं० अ० १।४९-५०। अर्थ स्पष्ट है।

जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र [2]नेरितम्। तत्र स्यादौषधात् स्नेहः स्नेहात् तोयं चतुर्गुणम् ॥

स्नेहपाक की सामान्य परिभाषा—जिस स्नेह (घी, तेल आदि) की सिद्धि के लिए जहाँ जल, स्नेह, औषधद्रव्यों का प्रमाण निर्दिष्ट न हो, वहाँ औषधकल्क से चौगुना स्नेह, स्नेह से चौगुना जल का ग्रहण करना चाहिए। जहाँ निर्देश किया गया हो, वहाँ उसी के अनुसार व्यवहार करें।

स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो मृदुर्मध्यः खरस्तथा। तुल्ये कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः ॥१०२॥

संयाव इव निर्यासे मध्यो दर्वीं विमुञ्चति। शीर्यमाणे तु निर्यासे [3]वर्तमाने खरस्तथा ॥१०३॥

स्नेहपाक के तीन भेद—स्नेह का पाक तीन प्रकार का होता है, ऐसा जानना चाहिए—१. मृदु, २. मध्य, ३. खर। जब औषधकल्क निर्यास (गोंद) के सदृश हो जाय तो उसे मृदुपाक समझना चाहिए। जब औषधकल्क संयाव (हलुआ) की भाँति गाढ़ा हो जाय, करछुल को छोड़ देता हो, तो मध्यपाक समझें। जब औषधकल्क हाथ में लेने पर टूट-टूट कर गिरने लगे तब उसे खरपाक समझें।

---

१. 'यत्र मानं तुलाकार्यं तत्रैवं सम्प्रयोजयेत्' इति पा०।
२. 'नोदितम्' इति पा०।
३. 'वर्त्यमाने' इति पा०।

वक्तव्य—स्नेहपाक तीन प्रकार का कहा गया है—१. मृदु, २. मध्य, ३. खर। जिसमें औषधकल्क कुछ रसयुक्त रहता है, वह मृदुपाक है। कल्क के रसरहित किन्तु कोमल रहने पर मध्यपाक कहा जाता है। जिसमें कल्क थोड़ा कठिन हो जाता है, उसे खरपाक कहते हैं। इसके ऊपर भी यदि स्नेह को पकाया जाता है तो वह दग्धपाक किसी उपयोग का नहीं होता है। और मृदुपाक से भी पहले उतार देने पर वह स्नेह 'आमपाक' वाला कहा जाता है, यह भी शक्तिहीन होता है। इसका पीने आदि के लिए यदि प्रयोग किया जाता है, तो वह जठराग्नि को मन्द कर देता है। शा० सं० म० खं० अ० ९।१४-१६। श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने ५ प्रकार के स्नेहपाकों का वर्णन किया है, उनमें आमपाक और दग्धपाक निरर्थक होते हैं, अतः उनकी यहाँ चर्चा नहीं की गयी है।

खरोऽभ्यङ्गे स्मृतः पाको, मृदुर्नस्तःक्रियासु च। मध्यपाकं तु पानार्थे वस्तौ च विनियोजयेत्॥

त्रिविध स्नेहों के प्रयोग—खरपाक अभ्यंग (मालिश) के लिए, मृदुपाक नस्य-प्रयोग के लिए और मध्यपाक स्नेहपान के लिए तथा वस्तिप्रयोग के लिए हितकर होता है।

वक्तव्य—श्रीशार्ङ्गधर के अनुसार त्रिविध स्नेहों का प्रयोग—'नस्यार्थं स्यान्मृदुः पाको मध्यमः सर्वकर्मसु। अभ्यङ्गार्थं खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेवं यथोचितम्'॥ शा० सं० म० खं० अ० ९।१७। यहाँ 'यथोचितम्' पद का प्रयोग कर संहिताकार ने यह सूचित किया है—'तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः, वस्तिकर्णपूरणयोस्तु खरः'। सु० चि० अ० ३१।११। सुश्रुत के इस दृष्टिकोण पर भी ध्यान देना चाहिए।

मानं च द्विविधं प्राहुः कालिङ्गं मागधं तथा। कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः॥१०५॥

कालिंग तथा मागधमान—यहाँ दो प्रकार के मान कहे गये हैं—१. कालिंग और २. मागध। मान, परिमाण (नाप, तौल) के विशेषज्ञ कालिंगमान से मागधमान को श्रेष्ठ (व्यापक) मानते हैं।

तत्र श्लोकौ—

कल्पार्थः शोधनं संज्ञा पृथग्घेतुः प्रवर्तने। देशादीनां फलादीनां गुणा योगशतानि षट्॥१०६॥
विकल्पहेतुर्नामानि तीक्ष्णमध्याल्पलक्षणम्। विधिश्चावस्थिको मानं स्नेहपाकश्च दर्शितः॥१०७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते कल्पस्थाने
दन्तीद्रवन्तीकल्पो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इति कल्पस्थानं समाप्तम्।

कल्पस्थानोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त सम्बन्ध में दो श्लोक कहे गये हैं—कल्प का विषय अथवा उसका प्रयोजन (कल्पस्थान अ० १ में), शोधनों की संज्ञा (वमन-विरेचन का विवेचन), उन शोधनों की ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर प्रवृत्ति होने में पृथक्-पृथक् (उष्ण, शीत इत्यादि) कारण, देश, काल आदि का गुण (त्रिविधो देशो जाङ्गलः आनूपः इत्यादि), मदनफल आदि के गुण, ६०० वमन तथा विरेचन योग, विकल्प, हेतु, नाम, तीक्ष्ण, मध्य, अल्प वमन-विरेचनों के लक्षण, अवस्थानुसार विधि जो इसी अध्याय के ५९वें श्लोक द्वारा कही गयी है; मान-परिभाषा, स्नेहपाक-विधियों का त्रिविध निर्देश इस कल्पस्थान के १२वें अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-
कल्पस्थान में दन्ती-द्रवन्तीकल्प नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त॥ १२॥

इस प्रकार कल्पस्थान समाप्त हुआ।

सिद्धिस्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातः कल्पनासिद्धिं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

कल्पस्थान का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से सिद्धिस्थान में कल्पनासिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—चरकसंहिता के इस अन्तिम स्थान का 'सिद्धि' यह नामकरण ग्रन्थान्त का मंगलाचरण है, अथवा सम्पूर्ण चिकित्सा जिन वस्ति आदि प्रयोगों के कारण सिद्धि को प्राप्त होती है, अतएव इसे 'सिद्धिस्थान' कहा गया है, अथवा जिनके यथासमय पर व्यवहार करते रहने से मानवमात्र स्वास्थ्य की सिद्धि कर सकता है, इस कारण भी उक्त नाम का औचित्य सिद्ध होता है। इस स्थान में वमन, विरेचन के कारण बिगड़े हुए प्रयोगों को सुलझाने के भी उपदेश दिये गये हैं, जिनको वमन-विरेचन का अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग कहा जाता है। इस स्थान में वस्ति-प्रयोगों के भी योग दिये गये हैं, जिनके हितकर प्रभावों को देखकर महर्षि चरक तथा सुश्रुत ने इस प्रकार के अपने विचारों को लिपिबद्ध किया है—'तस्मात् चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति, सर्वा चिकित्सा-
मपि वस्तिमेके'। च० सि० अ० १।४० और 'तत्र स्नेहादीनां कर्मणां वस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः'। सु०
चि० अ० ३५।३। इसकी सूचना महर्षि आत्रेय ने प्रारम्भ में इस प्रकार दी है—'सम्यक् प्रयोगं चौषधानां,
व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिपूत्तरकालम्'। च० सू० अ० १५।५। खेद है कि परवर्ती टीकाकार 'मक्षि-
कास्थाने मक्षिका' की परम्परा को निभाते हुए चले आये हैं। किसी ने भी सन्दर्भ देखने का प्रयोग नहीं
किया है। सभी ने इस गद्य को च० सू० अ० ४ का लिखकर भ्रम उत्पन्न किया है और पाठ भी अशुद्ध उद्धृत
किया है; सन् १९२२ ई० से आज तक। पाठक इस ओर ध्यान दें।

सिद्धिस्थान की निरुक्ति—'सिद्धेः अभिधायकं स्थानम्'। 'सिद्धिशब्देन च इह वमनादीनां वमनाद्य-
सम्यग्योगजन्यानां व्यापदां भेषजस्य साध्यतारूपा सिद्धिः उच्यते'। 'इयं संज्ञा अत्रैव योगरूढ्या वर्तते, इति
चक्रः। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है—**'सिद्धिशब्दो ग्रन्थान्ते मङ्गलार्थः'**।

संक्षिप्त संदर्भ-संकेत—च० सि० अ० १ से १२ तक। सु० चि० अ० ३५ से ३९ तक। अ० सं० क०
अ० ३ से ७ तक। अ० हृ० कल्पसिद्धिस्थान अ० ३ से ६ तक।

का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता, क्रमश्च कः, किं च कृताकृतेषु।
लिङ्गं तथैवातिकृतेषु, सङ्ख्या का, किं गुणः, केषु च कश्च वस्तिः॥ ३॥
किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले, कृते कियान् वा परिहारकालः।
प्रणीयमानश्च न याति केन, केनैति शीघ्रं, सुचिराच्च वस्तिः॥ ४॥
[1]साध्या गदाः स्वैः शमनैश्च केचित् कस्मात् प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति।
[2]प्रचोदितः शिष्यवरेण सम्यगित्यग्निवेशेन भिषग्वरिष्ठः॥ ५॥
पुनर्वसुस्तन्त्रविदाह तस्मै सर्वप्रजानां हितकाम्ययेदम्।

अग्निवेश के प्रश्न—१. पाँच (वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, नस्य) कर्मों की कल्पना कैसे की जाती है? २. उन पाँच कर्मों का क्या क्रम है? ३. उन पाँच कर्मों के कृत, अकृत तथा अतिकृत के क्या

१. 'साध्या यथास्वं शमनैश्च केचित् कस्माद् गदा न प्रशमं व्रजन्ति' इति पा०।
२. 'इत्यग्निवेशो भिषजां वरिष्ठं पप्रच्छ तस्मै स च सर्वमाह' इति पा०।

लक्षण होते है ? ४. उन कर्मों की क्या संख्या होती है ? ५. वस्तियों के क्या गुण होते हैं ? ६. किन-किन रोगों में कौन-कौन सी वस्ति दी जाती है ? ७. पञ्चकर्मों के प्रयोग करते समय किन-किन आहार-विहारों का परित्याग करना चाहिए ? ८. उस अवसर पर उक्त आहार-विहारों का कितने समय तक परित्याग करना चाहिए ? ९. किस कारण से प्रयोग करायी जाती हुई वस्ति भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाती है ? १०. किस कारण से वस्ति शीघ्र ही गुदमार्ग के भीतर चली जाती है ? ११. किस कारण से उसके प्रवेश होने में अत्यन्त देर लग जाती है और १२. कुछ साध्यरोग अपने शमनकारक औषधयोगों के प्रयोग करने पर भी क्यों शान्त नहीं होते ? शिष्य-मण्डली में श्रेष्ठ अग्निवेश ने इस प्रकार अपने गुरु से प्रश्न किये। आयुर्वेदविदों में श्रेष्ठ महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने समस्त प्राणियों की हितकामना से पूछे गये उक्त सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर दिये।

वक्तव्य—महर्षि भारद्वाज का कथन है कि यदि शिष्य विनम्र भाव तथा शुद्ध हृदय से गुरु से प्रश्न पूछता है, तो उससे गुरु की बुद्धि निर्मल रहती है, वह सभी प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देता है। अग्निवेश के बारह प्रश्न—१. का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता, २. क्रमश्च कः, ३. किञ्च कृताकृतेषु लिङ्गं तथैवातिकृतेषु, ४. सङ्ख्या का, ५. किं गुणोऽन्ति वस्तिः, ६. केषु च कश्च वस्तिः, ७. किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले, ८. कृते कियान् वा परिहारकालः, ९. प्रणीयमानश्च न याति केन वस्तिः, १०. केनैति शीघ्रम्, ११. सुचिराच्च केनैति, १२. साध्याः। यद्यपि इस संहिता में सभी चिकित्साएँ साध्यरोगों की ही कही गयी हैं। इस दृष्टि से उक्त १२वें प्रश्न की आवश्यकता नहीं थी, तथापि औषधयोगों के उचित प्रयोग न होने के कारण उत्पन्न असाध्यता को साध्यता प्रदान करने के निमित्त यहाँ उक्त प्रश्न को प्रसंगोचित समझना चाहिए।

त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य [1]उक्तः ॥ ६ ॥
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत् सप्तदिनात् परं तु।

१. प्रथम प्रश्न का उत्तर—जिसे स्नेहन कराया जा चुका है, उस पुरुष को कम से कम तीन दिन तक और अधिक से अधिक सात दिन तक स्वेदन कराना चाहिए। यह स्नेहन-क्रिया की सीमा बतला दी गयी है। अतः सात दिन के बाद स्नेहन-क्रिया नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सात दिन के बाद भी यदि स्नेहन-क्रिया की जायेगी तो वह उसे सात्म्य (उसकी प्रकृति के अनुकूल) हो जाती है।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये पद्य द्वारा स्नेहन-क्रिया की प्रथम अवधि तीन दिन तथा अन्तिम अवधि सात दिन बतलायी है। सात दिन के बाद स्नेहन न करने में जो कारण बतलाया है, वह है—स्नेहन क्रिया का सात्म्य हो जाना, अर्थात् विशेष प्रभावकारी न हो पाना। भोजन के साथ जो स्नेह का दैनिक सेवन किया जाता है, वह उसका सामान्य प्रयोग है, इसके अतिरिक्त जो नैमित्तिक (विशेष कार्य के निमित्त) स्नेहन-क्रिया की जाती है, यहाँ उसी की चर्चा की जा रही है। स्नेहन-क्रिया सामान्यरूप से त्रिविध (मृदु, मध्य, क्रूर) कोष्ठ का विचार करके ही करनी चाहिए। यथा—'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया। स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः' ॥ च० सू० अ० १३।६५। इस दृष्टि से मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को तीन रात्रि (७२ घंटे) में, मध्यकोष्ठ वाले को पाँच रात्रि (१२० घंटे) में और क्रूरकोष्ठ वाले को सात रात्रि (१६८ घंटे) में पूर्ण स्निग्ध हुआ समझना चाहिए। यद्यपि 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' इस सिद्धान्त के अनुसार कभी-कभी उक्त अवधि न्यूनाधिक प्रतीक होने लगती है, किन्तु अधिकांश रूप में तन्त्रकार को यही अवधि अभीष्ट है, क्योंकि इन्होंने आरम्भ में इसी का समर्थन इस प्रकार किया है—'स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ'। च० सू० अ० १३।५१। सुश्रुतानुसार स्नेहन की पूर्व तथा पर अवधि इस प्रकार है—'पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा। सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यी-भवति सेवितः' ॥ सु० चि० अ० ३१।३६। दूसरे आचार्य उक्त अवधि को इस प्रकार स्वीकार करते हैं—'त्रिपट्क-नवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते' ॥ किन्तु सर्वत्र यथोचित स्नेह मात्रा के प्रयोग पर ध्यान देना ही युक्तिसंगत है।

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदूकरोति देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम् ॥ ७ ॥

स्नेहन-क्रिया से लाभ—स्नेह का सम्यक् प्रयोग वातदोष का विनाश करता है तथा उसे अनुलोम करता है (ये दोनों अर्थ 'हन्ति' क्रिया के हैं), शरीर के अवयवों को मृदु बनाता है और शरीर में स्थित मलों की रुकावट को दूर करता है, अर्थात् मलों को बाहर निकलने में सहायक होता है।

---

१. 'इष्टः' इति पा०।

स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम्।

स्नेहन के बाद स्वेदन से लाभ—भलीभाँति स्नेहन कराने के बाद की गयी स्वेदन-क्रिया शरीर के सूक्ष्म स्रोतों में लीन (चिपके या सटे) हुए दोषों को द्रवरूप में परिणत कर देती है। अतः वे सरलता से बाहर निकाले जा सकते हैं।

ग्राम्यौदकानूपरसैः [1]समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः ॥ ८ ॥
रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः [2]स्निग्धैः कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः।

वमन के पूर्व उत्क्लेश की आवश्यकता—वमन कराने योग्य व्यक्ति को एक दिन पहले ग्राम्य (पालतू या गाँव में पैदा हुए), औदक (जलीय) अथवा आनूपदेशज पशु-पक्षियों के मांस अथवा मांसरस के साथ दूध के प्रयोग से कफ को उभाड़ना चाहिए। विरेचन कराने योग्य व्यक्ति को जांगलप्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के स्नेह युक्त मांसरसों तथा स्नेह युक्त यूषों जो कफ को बढ़ाने वाले न हों, उनका सेवन कराकर मल को उत्क्लेशित कराना (उभाड़ना) चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ वमन कराने के लिए उत्क्लेशन क्रिया का निर्देश तो किया गया है, किन्तु विरेचन क्रिया के निमित्त उक्त श्लोक में कुछ ऐसा नहीं कहा गया है, किन्तु इसके पूर्व प्रसंग में ऐसा संकेत मिलता है—'स्नेहाद् प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्। स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम् ॥ एकाहोपरतस्तद्वद् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्'। च० सू० अ० १३।८०। इसका विस्तृत विवेचन 'चरक-चन्द्रिका' व्याख्या में देखें। तात्पर्य यह है कि वमन कराने तथा विरेचन कराने योग्य पुरुषों के लिए ऊपर जो भोजन की व्यवस्था की गयी है, वह क्रमशः एक दिन पहले तथा लगातार पहले तीन दिन तक करानी चाहिए।

श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति [3]ह्यदुःखं विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक् ॥ ९ ॥
अधः कफेऽल्पे वमनं विरे[4]चयेद् विरेचनं वृद्धकफे तयोर्ध्वम्।

कफदोष का संशोधन पर प्रभाव—जिस पुरुष में कफदोष की अधिकता होती है, उसे किसी प्रकार के कष्ट के बिना ही विरेचन हो जाता है तथा जिस व्यक्ति के शरीर में कफ मन्द (अल्प मात्रा में) होता है, उसे भी सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है। यदि रोगी के शरीर में कफदोष की मात्रा कम होती है, तो वमन कराने के लिए सेवन किया गया औषधयोग वमन कराने में असमर्थ होकर गुदमार्ग से बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार विरेचन के लिए सेवन की गयी ओषधि कफ के बढ़े होने पर विरेचन को ऊपर (मुख आदि) के मार्गों से बाहर निकाल देती है।

वक्तव्य—वमन कराने के पूर्व रोगी के कफदोष की परीक्षा करे। यदि कफदोष की वृद्धि हो तो ऊपर कही गयी विधि से कफ का उत्क्लेश करा लेना चाहिए, इससे वमन के कारण होने वाला कष्ट नहीं होता है। कफदोष की अधिकता होने पर और उसे यथाविधि उत्क्लिष्ट करा लेने पर वमन-क्रिया सुखद हो जाती है। विरेचन-क्रिया की सफलता के लिए पित्त का उत्क्लेश कराना परम आवश्यक होता है। अतः कफ की अधिकता होने पर यथाविधि वमन ही कराना चाहिए।

वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च ॥ १० ॥
[5]स्निग्धाय देयं वमनं यथोक्तं वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च ॥ १० ॥
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद् विरेचनं योग्यतमं [6]प्रयोज्यम्।

२. द्वितीय प्रश्न का उत्तर—जिस व्यक्ति में उचित रूप से स्नेहन-क्रिया की जा चुकी हो, उसे उपर्युक्त नियमानुसार वमनकारक द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए। जब यथाविधि वमन हो जाय, तदनन्तर पेया आदि का प्रयोग कराना चाहिए। स्नेहन कराने के बाद जिस रोगी का शरीर भली-भाँति स्विन्न (स्वेद युक्त) हो गया हो, उसे उसकी शारीरिक शक्ति को देखकर विरेचक द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

---

१. 'समापैः' इति पा०।
२. 'स्निग्धः' इति पा०।
३. 'प्रसह्य' इति पा०।
४. 'विगच्छेत्' इति पा०।
५. 'स्निग्धस्य च स्विन्नवतश्च कार्यं विरेचनं योग्यतमं ततश्च पेयां' इति पा०। ६. 'विदध्यात्' इति पा०

वक्तव्य—'यथोक्तं वमनं देयम्' और 'विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम्'—इन दोनों का विधान आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा। वमन तथा विरेचन का प्रयोग यथाविधि स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद ही किया जाता है, इसका विस्तृत विवेचन हम कल्पस्थान के प्रथम अध्याय में यथास्थान कर चुके हैं। अतएव उक्त पद्य में 'स्निग्धाय देयम्' यह विशेष निर्देश किया गया है। पाठभेद के अनुसार यह कुछ और भी स्पष्ट है, जैसा कि नीचे टिप्पणी में दिया गया है। 'पेयादिरनुक्रम' को ही आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार 'संसर्जनक्रम' भी कहा जाता है। इस क्रम का विधान भली-भाँति वमन-विरेचन हो जाने के बाद मन्द हुई जठराग्नि को सबल बनाने के लिए किया जाता है।

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च ॥ ११ ॥
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः।

संसर्जन क्रम-विधि—प्रधान, मध्य, अथवा अवर (हीन) शुद्धि (संशोधन) विधि से जिस व्यक्ति का शरीर शुद्ध हो चुका है, वह व्यक्ति पेया, विलेपी, अकृत यूष या कृत यूष, अकृत मांसरस या कृत मांसरस का तीन अन्नकालों, दो अन्नकालों अथवा एक अन्नकाल में सेवन करे।

वक्तव्य—चरक सू० अ० १५ के १६वें गद्य में वमन किये हुए पुरुष को किस प्रकार संसर्जन-क्रम पर रखना चाहिए, इसका विशद वर्णन किया गया है। इसके लिए चरकचन्द्रिका टीका का अवलोकन करें। चरक चि० अ० ३ ज्वर-चिकित्सा-प्रकरण में भी इसका वर्णन किया गया है। चरकोक्त श्लोक में थोड़ा-सा परिवर्तन करके महर्षि वाग्भट ने उक्त श्लोक को अपनी संहिता में स्थान दिया है। देखें—अ० हृ० सू० अ० १८।२९। इनके परिवर्तित पाठ के अनुसार यह अर्थ होगा—शुद्धि तीन प्रकार की होती है—१. प्रधानशुद्धि, २. मध्यशुद्धि, ३. अवरशुद्धि। अन्नकाल २ होते हैं—१. दिन में और २. रात में। वमन अथवा विरेचन हो जाने से शुद्ध हुए पुरुष के लिए छः प्रकार के आहारों का इस प्रकार निर्देश किया है—१. पेया (पीने योग अर्थात् पतला सूप आदि), २. विलेपी (जो पेया से कुछ गाढ़ा हो, जो करछुल, पात्र, हाथ या मुख में लग या लिप जाय), ३. अकृतयूष (जिसमें घी, तेल, सोंठ, लवण आदि न डाले हों), ४. कृतयूष (जो अकृतयूष की विपरीत विधि से बनाया गया हो), ५. अकृत मांसरस और ६. कृत मांसरस। चरकसंहिता सू० के १५वें अध्याय में कृत तथा अकृत का विभाजन नहीं किया गया है, वहाँ तो केवल इतना ही निर्देश किया है—'तनुस्नेहलवणोपपन्नेन'। पाकशास्त्र के अनुसार कृत तथा अकृत का विवेचन इस प्रकार है—'अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विशेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम्' ॥

कृत—यूष अथवा मांसरस जो भी रोगी को दिया जा रहा हो, उसमें मसाले डाले गये हों और घी, तेल आदि किसी स्नेह द्वारा छौंका गया हो तो, उसे कृतयूष या कृतमांसरस कहते हैं। **अकृत**—यूष अथवा मांसरस को यदि सादा ही तैयार करके, अर्थात् उक्त संस्कारों के बिना ही रोगी को सेवन करा दिया जाता है, तो उसे अकृतयूष या अकृतमांसरस कहते हैं।

त्रिविध शुद्धि के अनुसार भोजनक्रम—प्रधानशुद्धि विधि के प्रयोग से शुद्ध हुआ व्यक्ति ३-३ अन्नकालों में उपर्युक्त पेया आदि का क्रमशः सेवन करता हुआ १९वें दिन स्वाभाविक भोजन कर सकता है, मध्य शुद्धि से शुद्ध हुआ व्यक्ति २-२ अन्नकालों में पेया आदि का क्रमशः सेवन करता हुआ १३वें दिन में स्वाभाविक रूप से भोजन कर सकता है और अवरशुद्धि से शुद्ध हुआ व्यक्ति १-१ अन्नकाल में पेया आदि का क्रमशः सेवन करता हुआ ७वें दिन स्वाभाविक भोजन कर सकता है। अर्थात् प्रधानशुद्धि से शुद्ध हुआ पुरुष ९ दिन में १८ बार, मध्यशुद्धि से शुद्ध हुआ पुरुष ६ दिन में १२ बार और अवरशुद्धि से शुद्ध हुआ पुरुष ३ दिन में ६ बार पेया आदि का सेवन कर लेने के बाद तब वह स्वाभाविक भोजन कर सकता है। इस संसर्जन-क्रम की उपयोगिता को अगले पद्य द्वारा समझाया जा रहा है।

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ॥ १२ ॥
महान् स्थिरः [1]सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः।

१. 'सर्वंसहस्तथैव' इति पा०।

संसर्जन-क्रम से लाभ—जिस प्रकार थोड़ी-सी आग के ऊपर सूखे तिनके, गोमय (गोहरी, वनोपल, कंडे) आदि को रखकर प्रज्वलित कर देने पर वह क्रम से महान्, स्थिर और सभी पदार्थों को पकाने की शक्ति से सम्पन्न हो जाती है, ठीक उसी प्रकार वमन, विरेचन कराने से मन्द पड़ी हुई अग्नि पेया, विलेपी आदि का क्रमशः अर्थात् ऊपर कहे गये क्रम से सेवन करने पर महान्, स्थिर तथा सभी प्रकार के भोजनों को पचाने में समर्थ हो जाती है।

वक्तव्य—यहाँ बाहरी अग्नि से भीतरी जठराग्नि की समता दिखलायी गयी है, अर्थात् वह बाहरी अणुरूप में स्थित आग मोटी-मोटी लकड़ियों को डाल देने पर बुझ तो जायेगी, किन्तु महान् और स्थिर नहीं हो सकती। अतः उसे हलके तिनकों या गोहरी (सूखे हुए गोबर के चूरा) आदि से ही पुनः प्रज्वलित किया जा सकता है। ठीक यही स्थिति वमन, विरेचन से मन्द पड़ी हुई जठराग्नि की भी होती है, वह प्रारम्भ में अणु होने के कारण गरिष्ठ भोजन को पचाने में समर्थ नहीं होती है। अतः उसके लिए उक्त संसर्जनक्रम का विधान बतलाया गया है।

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ॥ १३ ॥
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च।
पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः ॥ १४ ॥
द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान् मेयं विरेके वमने तु पीतम्।

त्रिविध शुद्धि के लक्षण—जघन्य (हीन), मध्य, प्रवर (प्रधान) भेद से जो ऊपर तीन प्रकार की शुद्धियाँ कही गयी हैं, उनमें वमन के क्रमशः चार, छः तथा आठ वेग स्वीकार किये गये हैं, अर्थात् जब उलटी आती है, तो वह एक ही वेग में समाप्त नहीं हो जाती, अपितु उक्त क्रम से उसमें अनेक वेग आते हैं। उसी प्रकार विरेचन में भी जघन्य शुद्धि में दस वेग, मध्य शुद्धि में बीस वेग और प्रवर (प्रधान) शुद्धि में ३० वेग होने चाहिए। यहाँ तक वमन तथा विरेचन के वेगों (लहरों) की चर्चा हो चुकी है। इसके आगे उसमें से निकलने वाले द्रव युक्त पदार्थ का परिमाण बतलाया जा रहा है—हीनशुद्धि में २ प्रस्थ (१२८ तोला), मध्यशुद्धि में ३ प्रस्थ (१९२ तोला) और प्रवर (प्रधान) शुद्धि में ४ प्रस्थ (२५६ तोला) होना चाहिए। वमन के अन्त में जब पित्त निकलता हुआ दिखलायी दे, तो समझना चाहिए कि इस रोगी को उचित रूप से वमन हो गया है। ऊपर जो विरेचन द्वारा निकलने वाले द्रवयुक्त पदार्थ का परिमाण बतलाया गया है, वमन में उसका परिमाण जघन्य, मध्य, प्रवर के क्रम से आधा मान लेना चाहिए। विरेचन के अन्त में कफ का निकलना सम्यक् विरेचन का लक्षण है। विरेचन में दो या तीन मल सहित वेगों के निकल जाने के बाद जो द्रवयुक्त पदार्थ मलमार्ग से निकलता है, उसे तौलना चाहिए और वमन में उलटी कराने के लिए जो औषधद्रव रोगी को पिलाया गया है, उसे भी तौलना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ प्रयोगिक दृष्टि से 'प्रधानमध्यावर' इस क्रम को बदल कर 'जघन्यमध्यप्रवर' इस विपरीत क्रम का आश्रय लिया गया है। अधम, मध्यम, उत्तम भेद से वमन के तीन वेगों का वर्णन करके तदनन्तर विरेचन के वेगों का वर्णन किया गया है, वेगों के पश्चात् एक दूसरा दृष्टिकोण यह भी रखा गया है, कि वमन तथा विरेचन द्वारा शरीर का कितना द्रव भाग दोष के सहित निकल गया है, उसकी भी तौल कर लें। अतः उस द्रव युक्त पदार्थ को तब तक सुरक्षित रखें जब तक चिकित्सक उसकी सर्वविध परीक्षा न कर लें। इसमें वेगों की परीक्षा गणना द्वारा, 'पित्तान्तं वमनम्' दृष्टि परीक्षा और परिमाण परीक्षा ये ही त्रिविध परीक्षाएँ होती हैं। इस प्रकार के परीक्षण करते रहने से वमन, विरेचन के अतियोग होने का भय नहीं होता है। सामान्य स्थिति में प्रस्थ १६ पल (६४ तोला) का होता है, किन्तु वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण क्रियाओं में विशेष वचन के अनुसार साढ़े तेरह पल का ही माना गया है। देखें—'वमने न विरेके न तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदश-पलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः' ॥ परिभाषाप्रदीप प्र० खं०। ऊपर के श्लोकों में जो शुद्धि के लक्षणों का वर्णन किया गया है, यह सामान्य वर्णन है। प्रयोगकाल में चिकित्सक प्रत्येक रोगी में इसका स्वतन्त्र निर्णय परिस्थिति के अनुसार ले सकता है। यहाँ प्रधान, मध्य, हीन शुद्धियों का तात्पर्य यह है, कि दोषों की अधिकता होने पर प्रधान शुद्धि का प्रयोग, दोषों की मध्यम स्थिति में मध्य शुद्धि और दोषों की हीन स्थिति में हीन शुद्धि का

प्रयोग करना चाहिए। इस दृष्टि से वमन, विरेचन का पृथक्-पृथक् विचार करके उनका निर्णय करें। इस विषय को अ० हृ० सू० अ० १८।३१-३३ में भी देखें।

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः॥ १५॥
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे।

३. **तृतीय प्रश्न का उत्तर**—वमनकारक औषधयोग का सेवन करने पर क्रमशः सर्वप्रथम आमाशय तथा उरःप्रदेश में स्थित कफ निकलता है, उसके बाद पित्त तथा अन्त में वायु का (डकार द्वारा) जब निस्सरण होता है और हृदय, पसलियाँ, मूर्धा (मस्तिष्क), इन्द्रियों के मार्गों की शुद्धि और शरीर में हलकापन प्रतीत होने लगता है, तब यह विचार करना चाहिए कि रोगी को भली-भाँति वमन कराया गया है।

वक्तव्य—वमनकारक औषधयोग का सेवन कराते ही तत्काल खाया हुआ पदार्थ सबसे पहले मुखमार्ग से बड़े वेग के साथ बाहर निकलता है, उसके बाद आमाशय तथा उरःप्रदेश में स्थित कफ उसी वेग के साथ निकलता है, तदनन्तर पित्त एवं वायु निकलती है और इन्हीं वेगों के साथ वह वमनकारक औषधि भी निकल आती है। इसके बाद यदि रोगी के हृदय आदि में शुद्धि और शरीर हल्का एवं सुखी प्रतीत होने लगे तो समझना चाहिए कि सम्यक् प्रकार से वमन हो चुका है।

वात, पित्त, कफ का विवेचन चरकसंहिता सू० अ० १२ में देखें। इसी का वर्णन सुश्रुत-सूत्रस्थान अ० २१ गद्य ५, ६, ७ तथा सु० शा० अ० १ के गद्य ८ में देखें। **पित्ताशय**—जिसमें पित्त द्रव संचित होकर रहता है, उसे पित्ताशय कहते हैं। यह मांस एवं सौत्रिकतन्तुओं से निर्मित एक थैली है, जो यकृत् के नीचे एक गड्ढे में रहती है। इसकी आकृति नाशपाती नामक फल के सदृश होती है। जब भोजन को पचाने की आवश्यकता होती है, तब एक नली द्वारा पित्तरस भोजन तक पहुँचता है। इसके अतिरिक्त पित्त अपने आशय में स्थिर रहता है।

सुश्रुत ने सुवान्त (भली-भाँति वमन किये हुए) पुरुष के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि। लघौ च देहे कफसंश्रिते च स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत्'॥ सु० चि० अ० ३३।९।

दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च॥ १६॥

वमन के हीनयोग के लक्षण—यदि सम्यक् प्रकार से वमन न हुआ हो तो शरीर पर स्फोट (फफोले,) कोठ (चकत्ते) तथा कण्डू (खुजली) ये लक्षण दिखलायी देते हैं। इसमें हृदय तथा रस व रक्तवाही स्रोतों में अशुद्धि और शरीर में भारीपन का अनुभव होता है। इसे वमन का अयोग भी कहते हैं।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने दुश्छर्दित के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः'। सु० चि० अ० ३३।७। इस प्रसंग में इस अध्याय के अन्य स्थलों का भी विस्तृत रूप से अवलोकन करें।

तृण्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्राबलादिहानिर्वमनेऽति च स्यात्।[1]

वमन के अतियोग के लक्षण—वमन के अधिक हो जाने पर प्यास की अधिकता, मोह, मूर्च्छा, वात का प्रकोप, निद्राहानि, बल आदि की हानि अधिक मात्रा में हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार वमन के अतियोग के लक्षण इस प्रकार हैं—'पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च हृत्कण्ठपीडामपि चाति वान्ते'। सु० चि० अ० ३३।८। वमन के हीनयोग एवं अतियोग का वर्णन अ० हृ० सू० अ० १८।२३-२४ में देखें।

स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्॥ १७॥
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण।

१. 'बलातिहानिः' इति पा०।

विरेचन के सम्यग् योग का लक्षण—यदि उचित रूप में विरेचन हो जाता है, तो स्रोतों की शुद्धि, इन्द्रियों में स्वच्छता, शरीर में हलकापन, ऊर्जा (उत्साह) की प्राप्ति, जठराग्नि की तीव्रता, स्वास्थ्यलाभ, मल, पित्त, कफ तथा वायु का स्वाभाविक रूप को प्राप्त हो जाना, ये लक्षण क्रमशः दिखलायी देने लगते हैं।

वक्तव्य—वमन के पश्चात् संशोधन के लिए विरेचन का प्रयोग किया जाता है। इसका वर्णन महर्षि वाग्भट ने अ० हृ० सू० अ० १८।३३ में किया है। इसी के आगे कोष्ठभेद से विरेचन का वर्णन, हीनयोग, समयोग तथा अतियोग का वर्णन क्रमशः श्लोक ३४ से ४१ तक किया गया है। कोष्ठभेद की दृष्टि से सुश्रुतोक्त विवेचन भी द्रष्टव्य है। देखें—सु० चि० अ० ३३।२० से २३ तक। सुश्रुत ने सम्यग्विरिक्त पुरुष के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम्। चिराच्च पाकं वयसः करोति विरेचनं सम्यगुपास्यमानम्'॥ सु० चि० अ० ३३।२७।

स्याच्छ्लेष्मपित्तानिलसम्प्रकोपः [1]सादस्तथाऽग्नेर्गुरुता प्रतिश्या॥ १८॥
तन्द्रा तथा च्छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते।

विरेचन के अयोग के लक्षण—यदि उचित रूप से विरेचन नहीं हो पाता है, तो कफ, पित्त तथा वायु प्रकुपित हो जाते हैं, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, शरीर में भारीपन का अनुभव होने लगता है। ऐसी स्थिति में प्रतिश्याय, तन्द्रा (निद्रा के सदृश लक्षणों का होना), छर्दि (वमन), भोजन के प्रति अरुचि तथा वात का प्रतिलोम हो जाना, ये लक्षण हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में प्रतिश्याय शब्द के स्थान पर **'प्रतिश्या'** शब्द के प्रयोग को देखकर सहसा हमारा ध्यान पाणिनि के 'जराया जरसन्यतरस्याम्' ७।२।१०१ सूत्र तथा 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' वार्तिक की ओर जाता है। आप भी विचार करें, अन्यथा प्रतिश्या शब्द में प्रतिश्याय की अभिधेयता नहीं आ सकती। चिकित्साकाल में इसके पाठ में भेदोक्त लक्षणों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

सुश्रुत के अनुसार दुर्विरिक्त आदि के लक्षण—'स्याद् दुर्विरिक्ते कफपित्तकोपो दाहोऽरुचिर्गौरवमग्नि-
सादः। हृत्कुक्ष्यशुद्धिः परिदाहकण्डू विण्मूत्रसङ्गाश्च न सद्विरिक्ते॥ मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः शूलोद्गमश्चाति-
विरिक्तलिङ्गम्'॥ सु० चि० अ० ३३।२४। यहाँ दुर्विरिक्त (विरेचन के अयोग), सद्विरिक्त (विरेचन के सद्-
पयोग) तथा विरेचन के अतियोग के लक्षणों का एक साथ वर्णन कर दिया गया है। अन्य तन्त्रकारों ने भी इस
विषय का वर्णन तर-तम भाव से अपनी-अपनी संहिताओं में किया ही है।

कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः॥ १९॥
निद्राबलाभावतमःप्रवेशाः सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति।

विरेचन के अतियोग के लक्षण—यदि अधिक मात्रा में विरेचन हो जाय तो कफ, रक्त तथा पित्त का क्षय हो जाता है, फलतः वातदोष कुपित होकर शरीर में स्पर्श-शून्यता, अंगों में पीड़ा, क्लम (बिना परिश्रम किये थकावट का अनुभव), कँपकँपी का होना, निद्रानाश, कमजोरी का आ जाना, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना अथवा रोगी को ऐसा अनुभव होना कि मैं अँधेरा में प्रवेश कर रहा हूँ तथा उन्माद एवं हिचकियों का पैदा होना, ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—विरेचन के अतियोग हो जाने पर रक्तक्षय का उल्लेख महर्षि सुश्रुत ने नहीं किया है, परन्तु
वृद्धवाग्भट और वाग्भट दोनों ने ही इसे स्वीकारा है। क्रमशः देखें—अतिविरेकात् तु केवलं दोषरहितमुदकं
रक्तं वा मेदोमांसधावनोपमं कृष्णं वा प्रवर्तते। परिकर्तिका हृदयोद्वेष्टनं गुदनिस्सरणं नयनप्रवेशः पिपीलिका-
सञ्चार इवाङ्गे वमनातियोगतुल्यता च'। अ० सं० सू० अ० २७।३५। और भी—'विट्पित्तकफवातेषु निस्सृतेषु
क्रमात् स्रवेत्। निःश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम्॥ गुदनिस्सरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम्। भवन्त्यति-
विरिक्तस्य तथाऽतिवमनामयाः'॥ अ० हृ० सू० अ० १८।४०-४१। अतिविरेचन होने से बल का अभाव होना
स्वाभाविक ही है, क्योंकि 'मलायत्तं बलं पुंसाम्'। देखें—च० चि० अ० ८।४२।

१. स्वेदोऽल्पवह्निर्गुरुगात्रता स्यात्' इति पा०।

वमन तथा विरेचन के अतियोग हो जाने पर जिन लक्षणों का ऊपर वर्णन किया गया है, वे ही लक्षण विसूचिका (हैजा, कालरा) में तथा आमविष (देखें—अ० सं० सू० अ० ११।७ तथा अ० हृ० सू० अ० ८।१३-१४) में होते हैं। अतियोग में तत्काल वमन, विरेचन को रोकने की व्यवस्था करें, अन्यथा रोगी की मृत्यु हो सकती है। विसूचिका के असाध्य लक्षणों के लिए देखें—अ० सं० सू० अ० ११।

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद् वा ॥ २० ॥
तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्यात् त्र्यहान्नातिबुभुक्षिताय।
प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम् ॥ २१ ॥
नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो नात्याशितः स्यादनुवासनीयः[1]।

वस्ति-प्रकरण

वस्ति-प्रयोग-निर्देश—यथोक्त वमन तथा विरेचन के प्रयोगों द्वारा शुद्ध शरीर वाले एवं संसर्जन-क्रम (पेया आदि के सेवन) से बलवान् हुए व्यक्ति को नवें दिन घृतपान कराना चाहिए अथवा उसे अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। तदनन्तर जो व्यक्ति अधिक भूखा न हो और सम्पूर्ण शरीर पर जिसकी तेल से मालिश की गयी हो उसे निरूहवस्ति देनी चाहिए। जब वस्ति द्वारा भीतर प्रवेश कराया गया द्रवपदार्थ गुदमार्ग से बाहर निकल जाय तब उसे धन्व (जांगल) देशज पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ सुपाच्य भोजन कराना चाहिए, अथवा वात आदि दोषों के बल का विचार करके तदनुसार जो भोजन उसके लिए उचित हो उसका सेवन कराना चाहिए। उसके बाद अनुवासन करने योग्य पुरुष जिसने अधिक भोजन न किया हो, उसे उसी दिन रात्रि में अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ तक वमन-विरेचन के अयोग, योग (सम्यग् योग) तथा अतियोग का वर्णन करने के बाद उचित संशोधन हो जाने पर उसे पुनः स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए संसर्जनक्रम का निर्देश दिया गया है। उसके बाद अब उस वस्ति-चिकित्सा की प्रस्तावना की जा रही है, जिसे तन्त्रकारों ने सम्पूर्ण चिकित्सा या अर्धचिकित्सा का यथार्थ महत्त्व प्रदान किया है। यहाँ श्लोकोक्त विषय को स्पष्ट करते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'सप्तभिर्दिनैः कृतसंसर्जनक्रमस्याष्टमे भुक्तमुपयुक्तस्य नवमेऽह्नि सर्पिःपानमनुवासनं वा देयम्; अत्र विकल्पद्वये यदि वमनानन्तरं विरेचनं कर्तव्यं तदा नवमेऽह्नि सर्पिःपानम्, अथ विरेचनानन्तरं यदा वस्तिर्देयस्तदाऽनुवासनं नवमेऽह्नि देयमिति व्यवस्था'। यद्यपि वमन के बाद नवें दिन घृतपान का विधान पहले नहीं किया गया है, अतएव अब यहाँ सर्पिःपान का उल्लेख किया गया है। अतः इस सर्पिःपान को निरूहवस्ति का अंग नहीं मानना चाहिए। यहाँ जो नवें दिन की गणना की जा रही है, वह शोधनकर्म प्रारम्भ करने वाले दिन से ही है। आचार्य जतूकर्ण का भी यही मत है—'शोधनानन्तरं नवमेऽह्नि स्नेहपानमनुवासनं वा'। जतूकर्णसंहिता। सुश्रुत भी उक्त मत का इस प्रकार समर्थन करते हैं—'विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै। कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः'॥ सु० चि० अ० ३७।३। यहाँ महर्षि आत्रेय की इस प्रतिज्ञा को भी स्मरण कर लेना चाहिए—'अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्'। च० सू० अ० १५।१६। उक्त गद्य के नीचे की गयी श्रीचक्रपाणि की टीका का भी अवलोकन कर लें। उन्होंने सुश्रुत के निम्नलिखित सिद्धान्त—'पश्चाद् विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्। सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद् विरेचितः'॥ (सु० चि० अ० ३६।५१) का विरोध करते हुए लिखा है—'यदि संसर्जनक्रमं तथाऽनुगुणाभ्यासं च कृत्वा स्नेहः क्रियते, तदा पश्चाद्विरेको वान्तस्य न स्यात्'।

'संसृष्टभक्तं···बुभुक्षिताय' इन दो पंक्तियों का सम्बन्ध च० सि० अ० ३ श्लोक २४ से २९½ तक जोड़कर देखें, आपको इसकी उचित संगति का स्वयमेव आभास होगा। वमन तथा विरेचन का प्रयोग कराने पर जिस प्रकार जठराग्नि को मन्द होते देखा जाता है, वैसा निरूहवस्ति के प्रयोग से होने वाले विरेचन में नहीं होता, अर्थात् वस्ति-प्रयोग से जठराग्नि मन्द नहीं होती, इस विषय का प्रतिपादन आचार्य भोज ने अपनी संहिता में इस प्रकार किया है—'आमस्तकाद् विशुद्धस्य निरूहेण रसादिकम्। किमर्थं विहितं भोज्यं संसर्गश्च

[1] 'प्रत्यागते मांसरसेन भोज्यः सायं च भुक्तोऽल्पमलोऽनुवास्यः' इति पा०।

विरिक्तवद् ॥ विरेकः पावकं हन्ति तदधिष्ठानसम्प्लवात्। न तु वस्तिस्तथा तस्माद् यथोत्पतति पावकम्' ॥ भोज-संहिता। तात्पर्य यह है कि निरूहवस्ति का प्रयोग करने से वमन, विरेचन की भाँति जठराग्नि मन्द नहीं पड़ जाती, अतः जांगल-प्राणियों के मांसरसों का प्रयोग प्रारम्भ में भी कराया जा सकता है। यदि व्यक्ति विशेष की जठराग्नि मन्द हो तो उसे संसर्जनक्रम पर रखा जा सकता है।

विशेष विचार—वमन, विरेचन के पहले स्नेहन, स्वेदन अति आवश्यक होता है, क्योंकि इन क्रियाओं से दोष अपना स्थान छोड़ देते हैं, अतः वे वमन तथा विरेचन के वेग के साथ बाहर आ जाते हैं। उचित दिनचर्या के अनुसार चलने वाले व्यक्ति का स्नेहन, स्वेदन स्वाभाविक रूप से भी होता हुआ देखा जाता है। अतः विशेष रूप से इनके न करने पर भी वमन, विरेचन किये-कराये जाते हैं और उनसे लाभ भी होता है, कोई हानि होते नहीं देखी जाती है, फिर भी शास्त्र के आदेश का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। अपितु संशोधन करने के पहले इस बात का भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए कि अमुक रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन कराना चाहिए अथवा नहीं।

संशोधन के लाभों की चर्चा करते हुए महर्षि वाग्भट ने इसके अनेक लाभों की चर्चा (अ० हृ० सू० अ० १८।६१ में) इस प्रकार की है; उस पर हम अपना कुछ मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—बुद्धिप्रसाद अर्थात् मानसिक रोगों से मुक्ति अथवा उनकी उत्पत्ति ही न होना, इन्द्रियों का बलवान् होना अर्थात् मन सहित ग्यारहों इन्द्रियों का अपने-अपने कर्म में समर्थ होना, मन के बलवान् होने से मानव का सन्मार्ग की ओर अग्रसर होना, शुभ संकल्पों की ओर प्रवृत्त होना, सभी प्रकार की धातुओं में स्थिरता आ जाना, ज्वलन अर्थात् पञ्चविध पित्त का अपने-अपने कर्म में समर्थ हो जाना तथा जो सदैव संशोधनों का विधिवत् सेवन करता रहता है, उसके शरीर में चिरकाल तक यौवनश्री का विराजमान रहना—इन लक्षणों को देखकर आप स्वयं विचार करें कि यह विधान मानवमात्र के जीवन में कितना उपादेय है।

इस संशोधन-विधि को आप इस प्रकार समझें—नगर को स्वच्छ रखने अथवा भवन को ऊपर से नीचे तक स्वच्छ रखने तथा उसके भीतर रहने वाली सामग्री एवं प्राणियों को साफ-सुथरा रखने से जो लाभ होते हैं, वे ही लाभ शरीर को बाहर-भीतर से शुद्ध रखने से होते हैं। अतः समय-समय पर शरीर का संशोधन करते रहना स्वस्थ जीवन-यापन करने के लिए परम आवश्यक होता है। इससे तत्काल स्थायी लाभ प्राप्त होता है। भगवान् आत्रेय ने इसीलिए कहा है—'दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः'॥ च० सू० अ० १६।२०।

इस प्रकरण में वस्ति शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वस्तियन्त्र (जिसमें वस्तिनेत्र=नली तथा वस्तिपुट नामक उपकरण जुटे रहते हैं) के लिए, वस्तिकर्म के लिए तथा वस्तियन्त्र द्वारा दिये जाने वाले द्रव पदार्थ के लिए किया गया है। वस्ति का प्रयोग वातप्रधान दोषों में तथा केवल वायु का शमन करने के लिए हितकर होता है। कायचिकित्सा के क्षेत्र में वस्ति-प्रयोग की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है। देखें—च० सि० अ० १।४० और सु० चि० अ० ३५।३। विधि-भेद से वस्ति तीन प्रकार की होती है—१. निरूहण (आस्थापन), २. अनुवासन (अन्वासन या स्नेहवस्ति), ३. उत्तरवस्ति।

भगवान् धन्वन्तरि के शब्दों में—'तत्र द्विविधो वस्तिः—नैरूहिकः, स्नैहिकश्च, आस्थापनं निरूह इत्यनर्थान्तरं; तस्य विकल्पो माधुतैलिकः; तस्य पर्यायशब्दो यापनो, युक्तरथः, सिद्धवस्तिरिति। स दोषनिर्हरणाच्छरीरनीरोहणाद् वा निरूहः, वयःस्थापनादायुःस्थापनाद् वा आस्थापनम्। अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः'। सु० चि० अ० ३५।१८। और भी देखें—'यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः। कषायक्षारतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते'॥ शा० सं० उ० खं० अ० ५।२।

वस्ति द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है, अतः इसे 'वस्ति' कहते हैं। गाय, भैंस, सुअर, बकरी, भेड़ा की वस्ति (मूत्राशय) ही इस उपकरण (यन्त्र) में प्रधान द्रव्य होता है। अतएव इसे 'वस्ति' कहते हैं। वस्ति को पिचकारी (Syringe) कहते हैं। इस यन्त्र की सहायता से गुद तथा मूत्रमार्ग के भीतर द्रव औषधयोग को पहुँचाया जाता है। यद्यपि शरीर के अन्य अवयवों तथा सिराओं में औषधद्रव को इञ्जेक्शन द्वारा पहुँचाया जाता है, किन्तु इस प्रकरण में तन्त्रकार द्वारा प्रयुक्त होने वाली वस्ति उस (इञ्जेक्शन) से भिन्न है। **उत्तरवस्ति**—यह भी निरूहण तथा जिसका प्रयोग स्त्री तथा पुरुषों के मूत्रमार्ग द्वारा किया जाता है, उसे उत्तरवस्ति कहते हैं।

अनुवासन भेद से दो प्रकार की होती है। **अनुवासनवस्ति**—जो वस्ति क्वाथ, क्षार, तैल को मिलाकर दी जाती है, उसे अनुवासनवस्ति कहते हैं। इस प्रसंग में व्रणवस्ति (जिससे घाव धोये जाते हैं) तथा नेत्रवस्ति (जिससे आँखों में दवा डाली जाती है), जिसे ड्रापर (Droper) कहते हैं, का भी हम संग्रह कर लेते हैं।

शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु ॥ २२ ॥
तानेव दोषान् परिरक्षता ये स्नेहस्य पाने परिकीर्तिताः प्राक् ।

अनुवासनवस्ति के प्रयोग-काल—शीतकाल (शिशिर, हेमन्त ऋतुओं) में तथा वसन्तऋतु में दिन के समय अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। शरद्ऋतु, ग्रीष्मऋतु तथा घनागम (वर्षाऋतु) में रात्रि के समय अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। सावधानी—अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराते समय स्नेहपान के प्रयोग से होने वाले दोषों की उत्पत्ति रोगी में न हो जाय, इस बात का पूर्ण रूप से ध्यान देते हुए वस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—पुरुष के जीवन में उभयविध स्नेह का अत्यन्त महत्त्व है, किन्तु स्नेह का उतना ही प्रयोग करना चाहिए जिससे वह सुखद हो सके। यद्यपि यह पुरुष स्नेहसार है, अर्थात् स्नेह के सहारे टिकने वाला है, प्राणों का भी प्रमुख आधार स्नेह ही है। स्नेह का समुचित प्रयोग करने से रोगों का भी उपचार किया जा सकता है, क्योंकि स्नेहपान, अनुवासन, शिरोविरेचन, शिरोवस्ति, उत्तरवस्ति, नस्य, कर्णपूरण (कान में तेल डालना), शरीर पर मालिश तथा भोजन में उपयोगी होता है, तथापि इसका विधि-विपरीत सेवन करने से अनेक प्रकार के विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, उसी का संकेत तन्त्रकार ने यहाँ किया है। महर्षि सुश्रुत ने स्नेहपान का विशद वर्णन किया है, आप भी उसका अवलोकन करें—सु० चि० अ० ३१ के १४वें गद्य से आगे तक।

स्नेहपान के सम्बन्ध में सुश्रुत का विशेष मत—'शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि। वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा' ॥ सु० चि० अ० ३१।२२। इसके विपरीत आचरण करने पर होने वाली हानियों का क्रमिक परिचय इसके आगे प्रस्तुत किया है, उस पर भी यथावसर दृष्टिपात करें। महर्षि आत्रेय के अनुसार—'सर्पिः शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे। तैलं प्रावृषि नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः ॥ और भी—'वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः। श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे' ॥ च० सू० अ० १३।१८, १९। इन श्लोकों का आशय चरकचन्द्रिका टीका में देखें। स्नेहों के अनुपानों का वर्णन भी उसी अध्याय के ८७-८८वें श्लोकों में किया गया है।

प्रत्यागते चाप्यनुवासनीये दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम् ॥ २३ ॥
सायं च भोज्यं परतो द्व्यहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा[1] ।
[2]त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ पञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनं च ॥ २४ ॥

अनुवासन एवं निरूहवस्ति का क्रम—अनुवासनवस्ति द्वारा दिन में प्रयुक्त स्नेह जब गुदमार्ग से बाहर आजाय तब उसे रातभर भूखा रखकर दूसरे दिन मध्याह्न के समय और रात्रि में भोजन देना चाहिए, तदनन्तर दूसरे दिन, तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन पुनः अनुवासनवस्ति दें। निरूहवस्ति का प्रयोग करने के तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—तात्पर्य यह है, कि जिस दिन अर्थात् जिस ऋतु में अनुवासनवस्ति दिन में प्रयोग करायी गयी हो, उस दिन के बाद आने वाली रात्रि में उस व्यक्ति को खाने के लिए कुछ न दें, इसी प्रकार जिस ऋतु में अनुवासनवस्ति रात में प्रयोग करायी गयी हो, उस रात्रि के बाद आने वाले दिन में उस व्यक्ति को खाने के लिए कुछ न दें। ऋतुओं के अनुसार दिन-रात का निर्देश इसके पहले २२वें श्लोक में किया जा चुका है। अनुवासनवस्ति द्वारा दिया गया स्नेह जब गुदमार्ग से स्वाभाविक रूप से निकल आता है, चाहे उसका प्रयोग दिन में अथवा रात्रि में किया गया हो, तो उसके बाद १२ घंटे तक उसे कुछ न खिलायें, तदनन्तर पथ्य भोजन दें।

---

१. 'प्रत्यागते चाप्युषितस्य काले भोज्यं दिवा सायमतः परं तु। त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ पञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनं तु' इति पा०।
२. 'द्व्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ' इति पा०।

दोषानुसार पुनः अनुवासनवस्ति देने पर विचार—अब आप देखें कि यदि उस व्यक्ति के शरीर में वातदोष की वृद्धि हुई हो तो उसे पुनः दूसरे दिन ही अनुवासनवस्ति दें, यदि वातवृद्धि न हुई हो तो तीसरे दिन अनुवासनवस्ति दें, यदि कफ-पित्त दोषों की वृद्धि दिखलायी देती हो तो पाँचवें दिन अनुवासनवस्ति देनी चाहिए। इसी का समर्थन भगवान् धन्वन्तरि ने भी किया है—'रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान्। दत्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्' ॥ सु० चि० अ० ३७।४४। इसके पहले श्लोक में तो उन्होंने यहाँ तक आदेश दिया है, कि यदि रोगी केवल वातदोष से ही पीड़ित हो और उसका शोधन (विरेचन) भी न हुआ हो तो उसे प्रातःकाल, मध्याह्न तथा रात्रि में किसी भी समय अनुवासनवस्ति दी जा सकती है। आचार्य डल्हण के अनुसार धातुक्षयजनित वातवृद्धि में ही इस प्रकार अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रसंग में सु० चि० अ० ३७ के श्लोक ४७ से ५७ तक का भी परिशीलन कर लेना चाहिए, अन्यथा आप सम्पूर्ण परिस्थिति से अवगत नहीं हो सकेंगे।

महर्षि हारीत के अनुसार—'दृष्ट्वाऽतिवृद्धं पवनस्य रूपं दिने दिने वस्तिमुदाहरन्ति'। हारीतसंहिता। वास्तव में पक्वाशयगत वातदोष पर विजय पाने के लिए चिकित्सा-क्षेत्र में अनुवासनवस्ति का जो महत्त्व है, वह अन्य किसी चिकित्सा का नहीं है, यह मेरा चिरकालिक अनुभव है। ऊपर महर्षि हारीत ने जो 'दिने दिने' शब्द का प्रयोग किया है, यही अभिप्राय महर्षि अग्निवेश का भी है—'रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निर्व्यायामी मारुतामयी। वङ्क्षणश्रोण्युदावृत्तवाताश्चार्हा दिने दिने' ॥ च० सि० अ० ४।४६। उक्त दोनों महर्षियों की एकवाक्यता का प्रमुख कारण यह है, कि दोनों के उपदेष्टा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय थे।

ऊपर २४वें श्लोक के उत्तरार्ध पर श्रीचक्रपाणि ने टीका नहीं की है। इससे कुछ विद्वानों का मत है, कि यह प्रक्षिप्त पाठ है, क्योंकि उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में 'द्व्यहे, त्र्यहे, पञ्चमेऽहनि' काल-निर्धारण वाचक शब्द आ चुके हैं। जहाँ तक विकल्प कथन की बात है, वह तो देश, काल आदि की परिस्थिति को देखकर कुशल चिकित्सक स्वयं भी कर सकता है।

एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वाऽपि ।
वाते नवैकादश वा पुनर्वा वस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात् ॥ २५ ॥

४. **चतुर्थ प्रश्न का उत्तर**—कफजनित विकार में एक या तीन, पित्तजनित विकार में पाँच या सात तथा वातजनित विकार में नौ अथवा ग्यारह, इस प्रकार विषम संख्या में कुशल चिकित्सक को वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् इन विकारों में वस्तियों का प्रयोग समसंख्या में न करें।

वक्तव्य—वातनाशक चिकित्साओं में वस्ति-प्रयोग को तन्त्रकार ने श्रेष्ठ स्वीकार किया है—'वस्तिर्वातहराणाम्'। च० सू० अ० २५।४०। उक्त प्रकरण में यह वाक्य विशेष वचन के रूप में कहा गया है। सामान्य दृष्टि से वस्ति का प्रयोग यदि वातदोष के साथ कफ तथा पित्त का अनुबन्ध हो तो उनके शमन के लिए किया जाता है और लाभ होते भी देखा जाता है। ऐसे अवसरों पर वस्ति-प्रयोग की संख्याओं पर दोषानुसार प्रभाव पड़ेगा, अर्थात् कफदोष को निकालने अथवा पित्तदोष को निकालने के लिए वस्ति की जितनी संख्याएँ कही गयी हैं, उतनी संख्या में उनका प्रयोग करना चाहिए। जैसा कि ऊपर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि जहाँ अनुवासनवस्ति के प्रयोग की प्रधानता है, वहाँ अप्रधान रूप से आवश्यकता पड़ने पर निरूहवस्ति का भी प्रयोग किया जा सकता है। ऊपर अयुग्म (विषम) वस्तियों का निर्देश किया गया है। इसी अध्याय में आगे चलकर युग्म (सम) संख्या में प्रयुक्त होने वाली वस्तियों का वर्णन श्लोक संख्या ४७-४८ में किया गया है।

नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम् ।
शुद्धो निरूहेण विरेचनं च तद्ध्यस्य शून्यं विकसेच्छरीरम् ॥ २६ ॥

विरेचन तथा निरूहवस्ति—जिस व्यक्ति ने विरेचन का सेवन किया हो उसे सात दिन तक निरूहवस्ति का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का शरीर निरूहवस्ति के प्रयोग से शुद्ध हो चुका हो उसे पुनः सात दिन तक विरेचन द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि विरेचन द्वारा शुद्ध (दोष रहित) शरीर वाले व्यक्ति को निरूहवस्ति का प्रयोग और निरूहवस्ति द्वारा शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को विरेचन का प्रयोग विशेष रूप से मार डालना (पीड़ित कर देता) है।

वक्तव्य—विरेचन द्रव्य तथा निरूहवस्ति दोनों प्रयोग एकार्थकारी होते हैं, अर्थात् दोनों ही संचित मल-दोष को निकालने की विधियाँ हैं, अतएव तन्त्रकार ने विरेचन के तत्काल बाद निरूहण अथवा निरूहण के बाद विरेचन देने का निषेध किया है। जैसे भोजन करने के तत्काल बाद पुनः भोजन करने का निषेध 'अध्यशन' शब्द द्वारा किया है, क्योंकि वह भी हानिकारक होता है, उससे विपरीत एक हानिकारक प्रयोग यह भी है। 'मलायत्तं बलं पुंसाम्' इस सिद्धान्त की भी उक्त आदेश से रक्षा की गयी है।

विकसेच्छरीरम्—कफधातु हिंसार्थक है, वि उपसर्ग हिंसा अर्थ की सामर्थ्यता को और भी पुष्ट कर दे रहा है। आप ध्यान दें—कली का जब पुष्प रूप में विकास होता है, तो उसके बाद उस पुष्प का विनाश शीघ्र ही अवश्यम्भावी हो जाता है, यह प्रत्यक्ष सत्य है। अतएव यहाँ विरेचन के बाद निरूह का प्रयोग शरीर का विशेष रूप से विनाश कर देता है। इसके पहले भी यह कहा जा चुका है, कि अनुवासनवस्ति के बाद ही निरूहवस्ति देने का सामान्य नियम है। इसी प्रकार वमन के ९वें दिन विरेचन और उसके ९वें दिन अनुवासनवस्ति देने की चर्चा पहले की जा चुकी है, तदनुसार अनुवासनवस्ति का प्रयोग कर लेने के ९वें दिन निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशु-वृद्ध-यूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च॥ २७॥
[1]विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
विष्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः॥ २८॥

५. पञ्चम प्रश्न का उत्तर—उक्त श्लोक द्वारा यहाँ सर्वप्रथम निरूहवस्ति के गुणों की चर्चा प्रस्तुत है—निरूहवस्ति आयु (अवस्था) को स्थिर रखने वाली होती है। यहाँ आयु शब्द से युवावस्था का ग्रहण किया गया है, अर्थात् निरूहवस्ति का सविधि प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के शरीर में अकाल में वृद्धावस्था के लक्षण दिखलायी नहीं देते हैं। यह सुखायु को देती है, शारीरिक एवं मानसिक बल की वृद्धि करती है, जठराग्नि को प्रदीप्त करती है, मेधा (धारणाशक्ति), स्वर तथा वर्ण को बढ़ाती है। अधिक क्या कहा जाय यह चिकित्सा की दृष्टि से सभी कार्यों को सिद्ध करती है। यह बालक, युवा तथा वृद्ध सबके लिए उपद्रव रहित अतएव हितकर होती है और सभी प्रकार के रोगों का विनाश करती है। निरूहवस्ति के प्रयोग से विट् (मल), कफ, पित्त, वातदोषों को तथा मूत्र को सुगमता से बाहर निकालती है, शरीर में दृढ़ता पैदा करती है, शुक्र तथा बल को देती है, शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में स्थित दोषसमूह को निकालकर यह निरूहवस्ति सभी प्रकार के शारीरिक विकारों को शान्त कर देती है।

वक्तव्य—'किं गुणो वस्तिः' इस पाँचवें प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि आत्रेय ने गुणों का वर्णन ऊपर किया है। वयःस्थापन के कारण ही इसे 'आस्थापनवस्ति' कहते हैं। स्रोतों को शुद्ध करने की क्षमता होने के कारण ही यह वस्ति वयःस्थापन कार्य में समर्थ होती है। शिशु तथा वृद्धों को वमन, विरेचन का प्रयोग सामान्य रूप से नहीं कराया जाता है, अतः उनसे इसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

सर्वान् विकारान्—इसका तात्पर्य है कि सभी प्रकार के साध्य विकारों का यह शमन करती है। ऐसे अवसरों पर महर्षि चरक की प्रतिज्ञा 'साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते' का भी स्मरण कर लेना चाहिए।

देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च।
न तैलदानात् परमस्ति किञ्चिद् द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते[2]॥ २९॥
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा।
तैलं ददात्याशु मनःप्रसादं [3]वीर्यं बलं वर्णम[4]थाग्निपुष्टिम्॥ ३०॥

१. 'विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी स्थिरत्वकृच्छुक्रसुतप्रदश्च' इति, 'विट्पित्तखेटानिलमूत्रकर्षी'। इति च पा०।
२. 'नान्वासनात् किञ्चिदिहास्ति कर्म परं विशेषेण समीरणार्ते' इति पा०।
३. 'स्नेहं' इति पा०।
४. 'मथापि पुष्टिम्' इति पा०।

मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्र्यः।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन॥ ३१॥

अनुवासनवस्ति के गुण—निरूहवस्ति द्वारा शारीरिक स्रोतों के भली-भाँति शुद्ध हो जाने पर संस्नेहन (अनुवासन) वस्ति का प्रयोग शरीर के वर्ण में निखार ला देता है और शारीरिक बल को भी बढ़ाता है। विशेष करके वातजनित वेदना को शान्त करने के लिए तेल के प्रयोग से बढ़कर और कोई द्रव्य श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि तेल अपनी स्निग्धता के कारण वायु की रूक्षता का नाश करता है, गुरु गुण के कारण वायु की लघुता को दबोच डालता है और उष्णवीर्य होने के कारण वायु की शीतलता का विनाश करके शीघ्र ही मन को प्रसन्न कर देता है, तदनन्तर वीर्य, बल, वर्ण तथा जठराग्नि को पुष्ट कर देता है। तन्त्रकार तेल के उष्ण गुणों के सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं—जिस प्रकार पेड़ की जड़ में जल का सिंचन करने से पेड़ की पुरानी पत्तियाँ हरी-भरी हो जाती हैं और नयी कोमल पत्तियाँ निकलने लगती हैं और समय आने पर वह पेड़ बड़ा होकर फूल तथा फल देने लगता है, उसी प्रकार अनुवासनवस्ति का विधिपूर्वक प्रयोग करने से मनुष्य स्वस्थ तथा सन्तान रूप फल से युक्त हो जाता है।

वक्तव्य—सन् १९२२ में निर्णयसागर से प्रकाशित चरकसंहिता के प्रथम संस्करण में उक्त ३१वें श्लोक के नीचे दो पंक्तियाँ मूलपाठ में और उद्धृत हैं, जिन्हें परवर्ती (१९३३ तथा १९४१ ई० के) संस्करणों में उन दो पंक्तियों को उद्धृत नहीं किया गया है। श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में उन पंक्तियों को कोष्ठक के भीतर कैद कर रखा है, वे इस प्रकार हैं—**'अपत्यसन्तानविवृद्धकारी, काले यशस्वी बहुकीर्तिमांश्च।** यद्यपि श्रीचक्रपाणि ने इस पर टीका नहीं लिखी है, तथापि यह अंश प्रकरणोचित प्रतीत होता है।

अनुवासनवस्ति—'यः स्नेहैर्दीयते सः स्यादनुवासननामकः'। शा० सं० उ० खं० अ० ५।२। यहाँ स्नेह शब्द बहुवचनान्त है, अतः चतुर्विध स्नेहों का इसमें प्रयोग किया जाता है। किन्तु तन्त्रकार ने यहाँ शब्दतः 'तैल' का जो उल्लेख किया है, उसमें कारण यह है कि वातदोष का शमन करने की जितनी शक्ति तेल में होती है, उतनी शक्ति अन्य स्नेहों में नहीं होती। अनुवासनवस्ति में आम (कच्चे) तेल का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए, अतः तेल का विधिपूर्वक पाक करके ही प्रयोग करना चाहिए। देखें—'न त्वामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद् गुदम्'। च० सि० अ० ४।४८।

मूले निषिक्तः—शरीर के ऊपरी अंश शिर आदि हैं, नाभि के नीचे का भाग अधःप्रदेश कहा जाता है, किन्तु गीता में 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' कहा गया है। वहाँ प्रकरण दूसरा है। वास्तव में आयुर्वेदीय दृष्टि से नाभि के ऊपर का भाग ऊर्ध्वकाय और उससे निचला भाग अधःकाय कहा जाता है। यही स्थिति योगशास्त्र में भी शरीर की देखी जाती है। महर्षि पराशर ने भी कहा है—'मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। सर्वं शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः'॥ पराशरसंहिता। वास्तव में देह का मूल गुद ही है, अतएव मूल सिंचन का उदाहरण दोनों ओर सटीक घटता है।

स्तब्धाश्च ये सङ्कुचिताश्च येऽपि ये पङ्गवो येऽपि च भग्नरुग्णाः।
येषां च शाखासु चरन्ति वाताः शस्तो विशेषेण हि तेषु वस्तिः॥ ३२॥

वस्ति के सामान्य गुण—जिन पुरुषों के शरीर वातविकार द्वारा स्तब्ध हो (जकड़) गये हों, संकुचित (सिकुड़) गये हों, जो पंगु हो गया हो, जिनकी हड्डी किसी प्रकार टूट गयी हो, जिनके शरीर में पीड़ा होती हो और जिनकी शाखाओं में कुपित हुई वायु इधर-उधर संचरण करती रहती हो, ऐसे पुरुषों के लिए वस्ति का प्रयोग विशेष रूप से उत्तम होता है।

वक्तव्य—स्तब्ध शब्द के रोगरूप में अनेक प्रकार से दर्शन होते हैं, जैसे—लकवा रोग से ग्रस्त, संज्ञाहीन, सुन्न, गतिहीन, स्थिर, दृढ़, कड़ा, कठोर, पङ्गु; व्याकरण की दृष्टि से इनकी निष्पत्ति इस प्रकार है—खञ्+कु, खस्य पत्वे, जस्य गुरादेशः, नुम् ऊङ् आदेशश्च। अमरसिंह के अनुसार इसका अर्थ है—जंघाहीन अर्थात् जिसकी जंघाएँ अपने कार्य में असमर्थ हों; यथा—लंगड़ा, लूला, विकलांग। यद्यपि इस शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु अप्रासंगिक होने के कारण उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है। ऊपर कही गयी व्याधियों के

अतिरिक्त भी बस्ति का प्रयोग अनेक अवस्थाओं पर किया जाता है, किन्तु [illegible] रूप से इनमें कहा गया है। जो शाखा शब्द से हाथ, पैर, रक्त आदि धातुएँ तथा त्वचा का ग्रहण करना चाहिए।

[1]आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले च भक्तानभिनन्दने च ।
एवंप्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च [illegible] ॥ ३३ ॥

रोगविशेष में बस्ति-प्रयोग—पेट में आध्मान [illegible] होने पर, मल के [illegible] शूल होने पर, भोजन के प्रति अरुचि हो जाने पर, इस प्रकार के [illegible] उदर-प्रदेश में होते हैं, उन सभी रोगों की शान्ति के लिए बस्ति का प्रयोग करना उत्तम होता है।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये सभी वातप्रधान रोग हैं। इनके अतिरिक्त [illegible] रोग उदर-प्रदेश में हो जाय तो उनमें भी बस्ति-प्रयोग लाभदायक होता है।

याश्च स्त्रियो [2]वातकृतोपसर्गा गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः ।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च [3]बस्तिः प्रशस्तः परमं च तेषु ॥ ३४ ॥

कतिपय अन्य रोगों में बस्ति-प्रयोग—वातज व्याधियों से पीड़ित होने के कारण [illegible] पुरुषों के साथ सहवास करने पर भी गर्भधारण नहीं कर पाती हैं। जो मनुष्य क्षीणेन्द्रिय हो गये हैं अर्थात् जिनकी इन्द्रियाँ रोगरहित होने पर भी अपने कार्यों को करने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो पाती हैं तथा जो मनुष्य कृश होते हुए भी कृश ही बने रहते हैं, उन सबके लिए बस्ति-प्रयोग उत्तम होता है।

वक्तव्य—जिस विषय को महर्षि आत्रेय ने प्रस्तुत अध्याय के [illegible] पद्य से [illegible] पद्य तक कहा है, उसे संक्षेप में वृद्धवाग्भट ने अ० सं० सू० अ० २८ के [illegible] पद्य द्वारा कहा है।

उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीतांश्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान् ।
तत्प्रत्यनीकौषधसम्प्रयुक्तान् सर्वत्र बस्तीन् प्रविभज्य [4]युञ्ज्यात् ॥ ३५ ॥

६. षष्ठ प्रश्न का उत्तर—[illegible] के कारण पीड़ित व्यक्तियों में शीतल द्रव्यों से युक्त बस्तियों का और शीत के कारण पीड़ित व्यक्तियों में गुनगुने द्रव्यों से युक्त बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। स्पष्ट यह है कि रोगी में जिन दोषों की उत्पत्ति हुई हो उनके विपरीत गुण वाले अर्थात् उन दोषों का शमन करने वाले द्रव्यों द्वारा तैयार की हुई बस्तियों का उन-उनके लिए प्रयोग करें। इस प्रकार दोषानुसार [illegible] द्रव्यों का विभाजन करके सभी अवस्थाओं पर बस्ति प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोक में उष्णाभिभूत को शीतल और शीताभिभूत को उष्णबस्ति का उदाहरण प्रस्तुत कर तन्त्रकार ने संक्षेप में बहुत कुछ कह दिया है। जैसे—[illegible] द्रव्यों के सेवन करने से पीड़ित रोगी को रूक्ष द्रव्यों से निर्मित बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए और रूक्ष द्रव्यों के सेवन से पीड़ित व्यक्ति को उनके विरुद्ध गुणों वाले स्निग्ध द्रव्यों से निर्मित बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। [illegible] चिकित्सासूत्र है, जिसे 'निदानपरिवर्जन' भी कहा गया है। इस दृष्टि से शेष निर्णय स्वयं लें।

न बृंहणीयान् विदधीत बस्तीन् विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः ।
कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ॥ ३६ ॥

बृंहणबस्ति का निषेध—कुष्ठ, प्रमेह आदि रोगों में, मेदस्वी पुरुषों में तथा जहाँ संशोधन करने की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ बृंहणबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—विशोधनीय रोग—[illegible] विकारों, [illegible] रोगों, [illegible], आमद, अर्बुद, हृद्रोग, विसर्प, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका, अपची, कास, श्वास, [illegible], [illegible], [illegible], ज्वर, उन्माद, [illegible], [illegible], [illegible], ओष्ठपाक, कर्णपाक, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] रोगों तथा अरुचि में वमन कराने का विधान है। [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible],

१. 'आध्मापिते' इति पाठः।
२. 'वातकृतोपसर्गाद् गर्भं' इति पाठः।
३. [illegible] इति पाठः।
४. [illegible] इति पाठः।

रोग, ग्रन्थि (गण्डमाला) रोग, हृद्रोग, अरुचि, योनिरोग, प्रमेह, वायुगोला, प्लीहारोग, व्रण, विद्रधि, कै, विस्फोट, विसूची, शूल, मूत्राघात आदि रोगों में विरेचन कराने का विधान है। कुष्ठप्रमेहादिषु—यहाँ आदि शब्द से अरोचक, तन्द्रा, श्लीपद (फीलपाँव) रोगों का ग्रहण करना चाहिए।

क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान्न शोषिणां नो भृशदुर्बलानाम् ।
न मूर्च्छितानां न विशोधितानां येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ॥ ३७ ॥

बस्ति-प्रयोग का निषेध—राजयक्ष्मा आदि रोग से क्षीण, क्षत (उरःक्षत) रोग से पीड़ित, शोष रोग से युक्त, अत्यन्त दुर्बल, मूर्च्छारोग से आक्रान्त तथा वमन-विरेचन द्वारा जिनके शरीरों की शुद्धि हो चुकी हो, उन व्यक्तियों में तथा जिन व्यक्तियों की आयु दोष में ही निर्भर है, अर्थात् जिनकी आयु (प्राण) दोषों का निर्हरण कर देने पर समाप्त हो सकती है, ऐसे व्यक्तियों में विशोधन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—विशोधितानाम्—जिनका वमन-विरेचन द्वारा संशोधन किया जा चुका है, उन्हें जो बस्ति प्रयोग का निषेध किया गया है, वह तत्काल प्रयोग कराने की दृष्टि से है, सात दिन बाद बस्ति देने का विधान तो तन्त्रकार ने इस अध्याय में किया ही है। 'येषां च दोषेषु निबद्धमायुः' यह इसका प्रमुख उदाहरण है। राजयक्ष्मा रोग में मल की रक्षा करना, अर्थात् उसे अतिसार न होने दें। देखें—'तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्' ॥ च० नि० अ० ८।४२।

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ ३८ ॥

रोगों की उत्पत्ति में वात की प्रधानता—शाखाओं में गये हुए, कोष्ठ-प्रदेश में पहुँचे हुए, शरीर के ऊपरी भाग अथवा शरीर के सभी अवयवों में होने वाले जो भी कोई रोग होते हैं, उन सभी रोगों में वायु को छोड़कर दूसरा कोई भी दोष उनकी उत्पत्ति में कारण नहीं होता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने, रोग के तीन मार्ग होते हैं, इनका वर्णन करते हुए कहा है—'त्रयो रोगमार्गा इति—शाखा, मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः; मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि, अस्थिसन्धयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः; कोष्ठः पुनरुच्यते-महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः'। च० सू० अ० ११।४८। इसका विस्तृत विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें।

वायु की प्रधानता में कारण—तीन दोषों में वायु की सर्वप्रथम गणना इसलिए की गयी है, कि वह सबमें बलवान् होता है। उसका कारण है, कि शेष दो दोष पित्त और कफ स्वयं इधर-उधर जाने में समर्थ नहीं होते हैं। यथा—'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्' ॥ पित्त, कफ तथा मल, मूत्र आदि को मेघ की उपमा देकर तन्त्रकार ने उक्त आशय को स्पष्ट किया है। अतएव यहाँ भी बस्ति-चिकित्सा वातदोष का शमन करने वाली होने से सभी चिकित्सा-विधियों में श्रेष्ठ है।

इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के वचनों को उद्धृत किया जा रहा है—'अनिलो हि दोषाणां नेता। सर्वशरीरचेष्टैककारणम्। पञ्चात्मतया अङ्गप्रत्यङ्गव्यापी। विधाता विविधबाह्याध्यात्मिकभावानां सर्गस्थितिप्रलयानां हेतुः मार्ग त्रयजानामपि रोगाणामिति'। अ० सं० सू० अ० २८।४।

विण्मूत्रपित्तादि[1]मलाशयानां विक्षेपसङ्घातकरः स यस्मात् ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥ ३९ ॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ।

बस्ति-चिकित्सा का महत्त्व—वह वायु (जिसका वर्णन ऊपर ३८वें श्लोक में किया गया है) विट् (मल), मूत्र, पित्त आदि (कफ के) मलाशयों को विक्षेप (वियोग) तथा संघात (संयोग) करने वाली है। इस प्रकार की शक्तिशाली यह वायु जब अत्यधिक बढ़ जाती है, तब इसको शान्त करने के लिए बस्ति-प्रयोग

१. 'मलाचयानां विक्षेपसंहारकरः' इति पा०।

के अतिरिक्त दूसरी कोई चिकित्सा है ही नहीं। यहीकारण है कि कुछ आचार्य वस्ति-चिकित्सा को आधी चिकित्सा कहते हैं, अर्थात् आधे में अन्य सभी चिकित्साएँ हैं और आधे में वस्ति-चिकित्सा है। दूसरे विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि वस्ति-चिकित्सा अपने में सम्पूर्ण है, अर्थात् वह सम्पूर्ण रोगों का शमन करने में समर्थ है।

वक्तव्य—एकत्रित वस्तुसमूह को अलग करना और विखरी हुई वस्तुओं को एक साथ मिला देना वायु का अपना कार्य-क्षेत्र है। इस प्रकार की शक्ति युक्त वायु जब बढ़ जाती है, तो उसकी शान्ति के लिए वस्ति का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आत्रेय सम्प्रदाय के चिकित्सक आधी चिकित्सा में अन्य चिकित्साओं को मानते हैं और आधे में वस्ति-चिकित्सा को, किन्तु धन्वन्तरि-सम्प्रदाय के चिकित्सक वस्तिकर्म को ही प्रधानतम चिकित्सा मानते हैं। देखें—सु० चि० अ० ३५।३। सुश्रुत के इस सम्पूर्ण प्रकरण को आप भी देखने का प्रयत्न करें। यद्यपि सम्पूर्ण शल्यतन्त्र रक्त के दूषित होने पर आधारित है। रक्त दूषित होने के कारण उत्पन्न हुए रोगों में रक्तमोक्षण को ही प्रधानता दी गयी है। यथा—'एकतश्च क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः'। यह भी एक चिकित्सा-विधि है, तथापि वस्ति-प्रयोग से आश्चर्यकारी लाभ होता है। आप अपने रोगियों पर प्रयोग करके देखें। खेद है कि आज का भारतीय चिकित्सक जो आयुर्वेदीय चिकित्सा पर गर्व करता है, वह भी प्रमादवश वस्ति-प्रयोग को नहीं अपनाता है। इतनी सरल और लाभकारी पद्धति का पुनः समादर करना प्रारम्भ कर दें, इससे आप यशस्वी होंगे और रोगी स्वास्थ्य-लाभ करेंगे।

नाभिप्रदेशं कटिपार्श्वकुक्षि गत्वा शकृद् दोषचयं [1]विलोड्य ॥ ४० ॥
संस्नेह्य कायं सपुरीषदोषः सम्यक् सुखेनैति च यः स [2]वस्तिः ।

वस्ति की कार्य-प्रणाली—नाभिस्थान, कमर, पसलियों तथा उदर में जाकर मल तथा दोष समूह को विलोडित कर अर्थात् मथकर शरीर को स्निग्ध बनाकर मल तथा दोषों के साथ जो सुखपूर्वक बाहर निकल आती है, उसे वस्ति कहते हैं।

वक्तव्य—उक्त श्लोक के पाठभेद को भी ध्यान से देखें। **'स वस्तिः'** उक्त श्लोक के इस अंश को देखकर कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक को 'वस्ति की निरुक्ति' मान लिया है। वास्तव में इसका अन्वय 'स सम्यक् वस्तिः' इस प्रकार करना चाहिए। हमारे इस विचार की पुष्टि के लिए सम्यक् अनुवासित के लक्षणों पर ध्यान दें—'सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु। उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ५।३१।

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि ॥ ४१ ॥
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत् स्यात् सुनिरूढलिङ्गम् ।

निरूहवस्ति के सम्यग्योग के लक्षण—मल, मूत्र तथा अपानवायु का उचित रूप में निकलना, भोजन के प्रति रुचि का पैदा होना, जठराग्नि की वृद्धि होना, पक्वाशय आदि आशयों में हल्कापन, रोगों की शान्ति, दोषों का प्रकृतिस्थ (सम) होना, बल की वृद्धि, ये सभी लक्षण निरूहवस्ति के सम्यक् प्रयोग होने पर देखे जाते हैं। इन लक्षणों के दिखलायी देने पर यह समझ लेना चाहिए कि निरूहवस्ति का पूरा प्रभाव रोगी पर पड़ा है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने निरूहवस्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'स दोषनिर्हरणाच्छरीर-नीरोहणाद् वा निरूहः'। सु० चि० अ० ३५।१८। अर्थात् दोषों को निकालने अथवा शरीर का रोहण करने (उगाने) के कारण निरूह कहलाती है। प्रायः निरूहवस्ति का निर्माण शोधक (विरेचक) द्रव्यों से किया जाता है, अतः वह मलों का लेखन करती है।

स्याद्रुक्छिरोहृ[3]द्गुदवस्तिलिङ्गे शोफः प्रतिश्यायविकर्तिके च ॥ ४२ ॥

१. 'निरस्य' इति, '[illegible]ोध्य' इति च पा०।
२. 'नाभिप्रदेशं च कटिं च गत्वा कुक्षिं समालोड्य पुनश्च पृष्ठम्। संस्नेह्य कायं शिथिलांश्च कृत्वा दोषान् पुरीषं ग्रथितं विमथ्य ॥ स्वमक्तवेगः सपुरीषदोषः प्रत्यागतो वस्तिरिति प्रशस्तः।' इति पा०।
३. 'हृद्गुदकुक्षिलिङ्गे' इति पा०।

हृल्लासिका मारुतमूत्रसङ्गः श्वासो न सम्यक् च [1]निरूहिते स्युः ।

निरूहवस्ति के अयोग के लक्षण—यदि निरूहवस्ति का पूरा प्रभाव रोगी पर न पड़ा हो तो उस दशा में अथवा निरूहवस्ति द्वारा जब तक भली-भाँति दोषों का निर्हरण नहीं हो जाता है, तब तक ये लक्षण दिखलायी देते हैं—शिरःशूल, हृदय-वेदना, गुद-प्रदेश में पीड़ा, वस्ति (मूत्राशय) में तथा लिंग में पीड़ा, शोथ, प्रतिश्याय, गुद-प्रदेश में कैंची से काटने के समान पीड़ा, इसे परिकर्तिका रोग कहते हैं, बार-बार जी का मिचलाना, अपानवायु तथा मूत्र के निकलने में रुकावट एवं श्वास की वृद्धि।

लिङ्गं यदेवातिविरेचितस्य भवेत् तदेवातिनिरूहितस्य ॥ ४३ ॥

निरूहवस्ति के अतियोग के लक्षण—इसी अध्याय के १९½वें श्लोक में विरेचन के अतियोग के जो लक्षण कहे गये हैं, वे ही लक्षण विरेचन के अतियोग (अतिनिरूहित) के भी होते हैं।

प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं [2]रक्तादिबुद्धीन्द्रियसम्प्रसादः ।
स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः ॥ ४४ ॥

अनुवासनवस्ति के सम्यग्योग के लक्षण—यदि अनुवासनवस्ति का प्रयोग विधिपूर्वक हुआ हो तो किसी प्रकार की रुकावट के बिना मल के साथ तेल (जिसे अनुवासनवस्ति द्वारा गुद-द्वार से भीतर प्रवेश कराया गया था) गुद-द्वार से बाहर चला आता है। तदनन्तर रक्त आदि धातुएँ, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ प्रसन्न (स्वच्छ) हो जाती हैं। नींद ठीक प्रकार से आने लगती है, शरीर में हलकापन आ जाता है, शारीरिक बल की वृद्धि हो जाती है और मल आदि वेगों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती, ये सभी लक्षण सम्यक् अनुवासित पुरुष में देखे जाते हैं। इसी को अनुवासनवस्ति का सम्यग्योग कहते हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने सम्यगनुवासित के निम्न लक्षण दिये हैं—'सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु। ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः' ॥ सु० चि० अ० ३७।६७ तथा शा० सं० उ० खं० अ० ५।३१ का भी अवलोकन करें।

अधःशरीरोदरबाहुपृष्ठपार्श्वेषु रुग्रूक्षखरं च [3]गात्रम् ।
ग्रहश्च विण्मूत्रसमीरणानामसम्यगेतान्यनुवासितस्य[4] ॥ ४५ ॥

अनुवासन के अयोग के लक्षण—अनुवासनवस्ति का यदि समुचित प्रयोग न हो सका हो अथवा अनुवासन के लिए प्रयुक्त द्रव्य भीतर जाकर अपना प्रभाव पूर्णरूप से न दिखा सके हों तो निम्नलिखित विकार दिखलायी देते हैं—शरीर के निचले भाग उदर, बाहु, पीठ तथा पसलियों में पीड़ा होने लगती है, शरीर रूखा और खुरदरा हो जाता है (पाठभेद के अनुसार यहाँ 'वर्चः' दिया है, इस स्थिति में रूक्ष तथा खर ये दो विशेषण मल के हो जाते हैं, न कि शरीर के), मल, मूत्र तथा अपानवायु में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छा विकर्तिका चात्यनुवासितस्य ।

अनुवासनवस्ति के अतियोग के लक्षण—इसमें जी-मिचलाना, मोह, क्लम (थक जाना), शरीर में शिथिलता, मूर्च्छा तथा विकर्तिका (गुद-प्रदेश में कैंची से काटने के समान पीड़ा) ये लक्षण होते हैं।

यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन् स्नेहो नरः स्यात् स विशुद्धदेहः ॥ ४६ ॥
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः स्नेहो न संस्नेहयति ह्यतिष्ठन् ।

अनुवासनवस्ति के सम्यग्योग की परिभाषा—अनुवासनवस्ति द्वारा भीतर प्रवेश कराया गया स्नेह-द्रव जब तीन याम (एक याम ३ घंटा का होता है, इसी को प्रहर भी कहते हैं; तीन याम=९ घंटा) तक शरीर के भीतर रहकर सम्बन्धित अवयवों को स्निग्ध करके मल के साथ बाहर निकलता है, तभी पूर्णरूप से शरीर की शुद्धि हो जाती है। यदि अनुवासनवस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह शीघ्र ही बाहर चला आता है, तो पुनः अनुवासन-

१. 'निरूहितस्य' इति पा०।
२. 'वक्त्रादिशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादः' इति पा०।
३. 'वर्चः' इति पा०।
४. 'न्यनुवासिते स्युः' इति पा०

वस्ति का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि जब तक स्नेहद्रव भीतर नहीं रुकेगा (ठहरेगा) तब तक वह स्नेहन भी नहीं कर सकता है।

वक्तव्य—ऊपर तन्त्रकार ने अनुवासनवस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह का तीन याम तक मलाशय में रुकना स्नेहन की दृष्टि से उचित माना है। भगवान् धन्वन्तरि ने इसकी परिभाषा ही इस प्रकार दी है—'अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः'। सु० चि० अ० ३५।१८। अर्थात् जो शरीर के भीतर रह जाने पर भी दूषित नहीं होती अथवा जो प्रतिदिन दी जाती है, उसे अनुवासनवस्ति कहते हैं।

त्रिंशन्मताः [1]कर्म नु वस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः ॥ ४७ ॥
सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक् स्नेह एकः परतश्च पञ्च।
[2]काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः ॥ ४८ ॥
[3]योगे निरूहास्त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्याः।

वस्तियों की संख्या—विधिभेद से वस्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—१. कर्म, २. काल, ३. योग। इनका क्रमशः परिचय—तीस वस्तियों के समूह का नाम 'कर्मवस्ति' है, उसके आधे अर्थात् १५ या १६ वस्तियों के समूह का नाम 'कालवस्ति' है और उसके आधे अर्थात् ८ वस्तियों के समूह का नाम 'योगवस्ति' है। १. **कर्मवस्ति**—इसमें सर्वप्रथम १ स्नेहवस्ति फिर १२ अनुवासनवस्तियाँ फिर १२ निरूहवस्तियाँ (इनका क्रम १ अनुवासन के बाद १ निरूह इस प्रकार होता है) और अन्त में पुनः ५ अनुवासनवस्तियाँ देकर उक्त तीस की संख्या को पूरा किया जाता है। २. **कालवस्ति**—इसमें भी सर्वप्रथम १ स्नेहवस्ति देकर इसके बाद पर्यायक्रम से १ अनुवासन और १ निरूह इस प्रकार ६ अनुवासन और ६ निरूह वस्तियाँ दें। अन्त में पुनः ३ अनुवासनवस्ति दें। ३. **योगवस्ति**—इसमें सर्वप्रथम १ स्नेहवस्ति देकर इसके बाद पर्यायक्रम से १ अनुवासन और १ निरूह इस प्रकार ३ अनुवासन और ३ निरूह वस्तियाँ दें। अन्त में पुनः १ अनुवासनवस्ति दें।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने मूलतः वस्तियों की संख्या ३० मानी है। आगे 'ततोऽर्धेन' कहने से यदि हम १५ संख्या को लेते हैं, तो इसका आधा १५ होता है और १५ का आधा ७½ होता है। आधी वस्ति का कहीं उल्लेख नहीं है, न उसका व्यावहारिक प्रयोग ही होता है। अतएव श्रीचक्रपाणि ने लिखा है—'अर्धशब्दो न समप्रतिवचनः; तेन त्रिंशदर्धं षोडश भवन्ति'। आचार्य जतूकर्ण के मत को देखें—'वस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टौ च कर्मकालयोगाः; निरूहाः स्नेहान्तरिता द्वादश षट् त्रयः; एकस्नेहारम्भाः पञ्च त्र्येकान्ताः'। वृद्धवाग्भट कर्मवस्ति ३०, कालवस्ति १५ और योगवस्ति ८ स्वीकार करते हैं। १. कर्मवस्ति-क्रम—'प्राक्स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च। सान्वासनानि कर्मैवं वस्तयस्त्रिंशदीरिताः' ॥ २. कालवस्ति-क्रम—'कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा। षट् पञ्च वस्त्यन्तरिताः'। ३. योगवस्ति-क्रम—'योगोऽष्टौ वस्तयोऽत्र तु। त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ' ॥ अ० सं० सू० अ० २८।५७-५९। चरक के अनुसार ३० का आधा १६ और वृद्धवाग्भट के मत से १५ का आधा ८ है। इस दृष्टि से श्रीचक्रपाणि का निर्णय ही सर्वमान्य प्रतीत होता है।

त्रीन् पञ्च वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड् वा [4]वातादिकानामनुवासनीयान् ॥ ४९ ॥
स्नेहान् प्रदायाशु भिषग्विदध्यात् स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहान्।

निरूहवस्ति-प्रयोग—वात आदि (पित्त, कफ) प्रकृतिवाले पुरुषों में तीन, पाँच, चार अथवा छः अनुवासनवस्ति देकर चिकित्सक को चाहिए कि वह स्रोतों को शुद्ध करने के लिए तदनन्तर विधिपूर्वक निरूहवस्ति का प्रयोग करे।

वक्तव्य—इसी अध्याय के २५वें श्लोक में कफ, पित्त तथा वातज रोगों में वस्ति-प्रयोग को विषम संख्या में करने का निर्देश दिया गया है, किन्तु यहाँ 'चतुरोऽथ षड् वा' पद द्वारा सम संख्या का निर्देश पूर्वोक्त सिद्धान्त का विरोधी नहीं है। जहाँ प्रधान रूप से अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना हो वहाँ विषम संख्या में ही करना चाहिए, किन्तु जहाँ निरूहवस्ति के साथ अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना पड़े, वहाँ सम संख्या में भी इसका

१. 'कर्मसु' इति पा०।
२. 'कालस्त्रयोऽन्ते' इति पा०।
३. 'योगो निरूहास्त्रय एव' इति पा०।
४. 'वाताधिकेभ्यस्त्वनुवासनीयान्' इति पा०।

प्रयोग किया जा सकता है। यदि हमारा आग्रह विषम संख्या पर ही है, तो उसका समाधान इस प्रकार हो जायगा—३ वस्तियों के साथ ४ का योग कर देने पर ७ विषम संख्या प्राप्त हो जायेगी, इसी प्रकार ५+४=९, ३+६=९ तथा ५+६=११ ये सभी विषम संख्याएँ हो जायेंगी। महर्षि सुश्रुत का मत देखें—'रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान्। दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्' ॥ सु० चि० अ० ३७।४४। यहाँ सम तथा विषम दोनों संख्याओं का सामान्यरूप से निर्देश किया गया है। श्रीजयदेव ने अपनी टीका में एक नया विचार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—यदि ४९वें श्लोक के चतुर्थ पाद में 'वातादिकानाम्' के स्थान पर 'वाताधिकानाम्' पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो ऐसे पुरुषों को तीन, पाँच, चार अथवा छः बार अनुवासनवस्ति देकर तब निरूहवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए, ऐसा अर्थ होगा।

[1]विशुद्धदेहस्य ततः क्रमेण स्निग्धं तलस्वेदितमुत्तमाङ्गम् ॥ ५० ॥
विरेचयेत् त्रिर्द्विरथैकशो वा बलं समीक्ष्य त्रिविधं मलानाम्।

शिरोविरेचन—उपर्युक्त विधियों द्वारा प्रयुक्त अनुवासन तथा निरूहवस्तियों के प्रयोग से जिस व्यक्ति का शरीर शुद्ध हो गया हो, उसके शिरोभाग का स्नेहन करने के बाद हाथ के तलवे को गरम करके उसके शिरःप्रदेश का स्वेदन करे। तदनन्तर वात आदि दोषों के तीन प्रकार के (उत्तम, मध्यम तथा हीन) बलों का विचार कर क्रमशः तीन बार, दो बार अथवा एक बार शिरोविरेचन (नस्य का प्रयोग) करावें।

वक्तव्य—आचार्य भावमिश्र ने पञ्चकर्मों का क्रम इस प्रकार दिया है—'प्रथमं वमनं पश्चाद् विरेकश्चानुवासनम्। एतानि पञ्चकर्माणि निरूहो नावनं तथा' ॥ भा० प्र० पू० खं० प्र० ५।१। आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति की प्राणभूत संशोधन चिकित्सा की ओर अब आयुर्वेदीय चिकित्सक भी ध्यान नहीं दे रहे हैं, यह एक दुर्भाग्यपूर्ण भयावह स्थिति है। नस्य का सामान्य प्रयोग प्रतिदिन भी किया जाता है और वमन, विरेचन कराने के बाद भी किया जाता है, यदि क्रमशः करना हो तो ऊपर भावमिश्र के निर्देशानुसार भी किया जा सकता है।

उरःशिरोलाघवमि[2]न्द्रियाच्छ्यं स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद् विशुद्धे ॥ ५१ ॥
गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वं निष्ठीवनं चाप्यथ दुर्विरिक्ते।
शिरोऽक्षिशङ्खश्रवणार्तितोदावत्यर्थशुद्धे तिमिरं च पश्येत् ॥ ५२ ॥

शिरोविरेचन के सम्यग्योग के लक्षण—शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग यदि समुचित रूप में हुआ हो तो उरःप्रदेश (छाती) में हलकापन आ जाता है, इन्द्रियों में स्वच्छता आ जाती है और स्रोत शुद्ध हो जाते हैं।

शिरोविरेचन के अयोग के लक्षण—शिरोविरेचन का प्रयोग यदि समुचित रूप में न हुआ हो, तो ये लक्षण दिखलायी देते हैं—गलप्रदेश पर कफ का लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, शिर का भारीपन तथा बार-बार थूकना।

शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण—यदि शिरोविरेचन का अधिक प्रयोग हो गया हो तो शिर में, आँखों में, शंखप्रदेश (कनपटी की हड्डी) तथा कानों में वेदना, तोद (सुई चुभाने की-सी पीड़ा का अनुभव होना) और आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, ये लक्षण दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान के संशोधनीय-संशमनीय अध्याय में शिरोविरेचन द्रव्यों का उल्लेख छठे गद्य में किया है, उसका भी अवलोकन करें।

स्यात् तर्पणं तत्र मृदु द्रवं च स्निग्धस्य तीक्ष्णं तु पुनर्न योगे।

अतियोग की चिकित्सा—शिरोविरेचन का अतियोग हो जाने पर तर्पणकारक (शरीर को तृप्त करने वाले), मृदु (कठोर के विपरीत) तथा द्रव पदार्थ खाने-पीने के लिए देने चाहिए।

अयोग की चिकित्सा—शिरोविरेचन का अयोग हुआ हो तो पुनः अभ्यंग (तेल-मालिश), स्नेहपान अथवा शिरोवस्ति द्वारा स्नेहन कराकर रोगी को तीक्ष्ण शिरोविरेचन देना चाहिए।

१. 'विशुद्धकायस्य' इति पा०।
२. 'मिन्द्रियाणां' इति पा०।

इत्यातुरस्वस्थसुखः [1]प्रयोगो बलायुषोर्वृद्धिकृदामयघ्नः ॥ ५३ ॥

षष्ठ प्रश्न का उपसंहार—इस प्रकार यहाँ तक रोगी तथा स्वस्थ पुरुष के आरोग्य (स्वास्थ्य-लाभ) के लिए बल और आयु को बढ़ाने वाले एवं रोगों को नष्ट करने वाले पञ्चकर्म का प्रयोग कहा गया है।

वक्तव्य—ऊपर के पद्य को ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है कि यह पञ्चकर्म-विधान रोगी तथा स्वस्थ पुरुष दोनों के लिए उपादेय है। रोगी के लिए यह रोगनाशक है और स्वस्थ पुरुष के लिए बल तथा आयु का वृद्धिकारक भी होता है। यद्यपि बल तथा आयुवृद्धि की अपेक्षा दोनों प्रकार के प्राणियों को होती है, किन्तु रोगी पहले रोगनाश के लिए ही सचेष्ट रहता है और बाद में अन्य सुखों के लिए। तन्त्रकार ने चरक सूत्रस्थान अध्याय ७ के ४६वें पद्य से लेकर आगे तक पञ्चकर्म-विधि का निर्देश किया है। अतः इस प्रकरण को देख लें। ये पञ्चकर्म पञ्चदेवोपासना की भाँति अभीष्ट फल को देते हैं।

विशेष—श्लोक ५३ से लेकर ५६ तक के पाठ सभी संस्करणों में महर्षि अग्निवेश के प्रश्नों के क्रम से नहीं दिये गये हैं। ध्यान दें—छठे प्रश्न के उत्तर के बाद ८वें प्रश्न का उत्तर, फिर ७वें, फिर ९वें तथा ११वें तब उसके आगे १०वें प्रश्न का उत्तर है। निश्चित ही यह क्रम मूल संहिता में व्यवस्थित रहा होगा, क्योंकि ऐसा प्रमाद अन्यत्र प्राप्त नहीं हुआ है। हमने अपने इस संस्करण में छठे के बाद ७वें फिर ८वें प्रश्नोत्तर को व्यवस्थित करने का प्रयास किया है। हमारा विश्वास है, कि तन्त्रकार अथवा प्रतिसंस्कर्ता दृढबल ने प्रश्नों के क्रम से ही उनके उत्तर दिये होंगे।

अत्यासनस्थानवचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्।
शीतोपचारातपशोकरोषांस्त्यजेदकालाहितभोजनं च ॥ ५४ ॥

७. **सप्तम प्रश्न का उत्तर**—पञ्चकर्म का प्रयोग करते समय अधिक बैठना, अधिक खड़ा रहना, अधिक बोलना, दूर तक सवारी द्वारा यात्रा करना, दिन में सोना, स्त्री के साथ सहवास करना, अधारणीय वेगों को रोकना, शीतल आहार-विहार का सेवन करना, तेज धूप को सेंकना, शोक करना, क्रोध करना, असमय में भोजन करना और अहितकारक भोजन करना—इन सभी का त्याग कर देना चाहिए।

कालस्तु वस्त्यादिषु याति यावांस्तावान् भवेद् द्विः परिहारकालः।

८. **अष्टम प्रश्न का उत्तर**—वस्ति आदि (वमन, विरेचन, शिरोविरेचन) के प्रयोग करने में जितना समय लगता है, या लगाने का शास्त्र का निर्देश है, उससे दूने समय तक विधिपूर्वक अहितकर आहार-विहार का परित्याग करना चाहिए।

वक्तव्य—वमन, विरेचन, वस्ति आदि के प्रयोग तथा परिहार काल का इसी अध्याय में दूसरे-दूसरे प्रसंगों में चर्चा की जा चुकी है। यह उत्तर 'कृते कियान् वा परिहारकालः' प्रश्न का है।

बद्धे प्रणीते [2]विषमं च नेत्रे मार्गे [3]तथाऽर्शःकफविड्विबद्धे ॥ ५५ ॥
न याति वस्तिर्न सुखं निरेति दोषावृतोऽल्पो यदि वाऽल्पवीर्यः।

९., ११. **नवम तथा एकादश प्रश्नों के उत्तर**—प्रयोग की हुई वस्ति का द्रव पदार्थ किस कारण से भीतर नहीं जा पाता और किस कारण से वस्ति द्रव के बाहर लौट आने में देर हो जाती है, अग्निवेश के इस प्रश्न का महर्षि आत्रेय उत्तर दे रहे हैं—वस्ति-नेत्र के मार्ग (छिद्र) के किसी प्रकार बन्द हो जाने से, विषम रूप से नेत्र को गुद के भीतर प्रवेश कराने से, अर्शाकुरों (बवासीर के मस्सों) तथा कफ अथवा मल के कारण गुदमार्ग में अवरोध हो जाने से, वस्ति-नेत्र भली-भाँति भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाता है, इन्हीं कारणों से वह सुखपूर्वक बाहर भी नहीं निकल पाता है। यदि वस्तिनेत्र भीतर चला भी जाय और भीतर जाने पर दोषों द्वारा उसका मार्ग घिर जाय तो वह आसानी से नहीं निकल पाता है। अथवा एक कारण यह भी होता है कि यदि थोड़ी शक्ति वाले औषधद्रव्य उस (वस्ति-यन्त्र) से भीतर प्रवेश कराये गये हों, तो भी वे सुखपूर्वक बाहर नहीं निकल पाते।

१. 'प्रयोगं' इति पा०।
२. 'विषमे' इति पा०।
३. 'तथाऽर्शःकफविड्विबन्धे' इति पा०।

प्राप्ते तु वर्चोऽनिलमूत्रवेगे [1]वातेऽतिवृद्धेऽल्पबले गुदे वा ॥ ५६ ॥
अत्युष्णतीक्ष्णश्च मृदौ च कोष्ठे प्रणीतमात्रः पुनरेति वस्तिः।

१०. **दशम प्रश्न का उत्तर**—मल, वात (अपानवायु) तथा मूत्र के वेग के उत्पन्न हो जाने पर यदि वस्ति का प्रयोग किया जाता है, तो वह तत्काल बाहर आ जाती है। या वायु की अधिक वृद्धि हुई हो, या गुद-बलियाँ अपने-अपने कर्म में समर्थ न रह गयी हों अर्थात् कमजोर पड़ गयी हों, या वस्ति में प्रयुक्त औषधद्रव अत्यधिक गरम हो या अधिक तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त हो और कोष्ठ मृदु हो तो वस्ति द्रव शीघ्र ही बाहर लौट आता है।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में उक्त श्लोक इस प्रकार और कुछ में ऊपर-नीचे दिखलायी देते हैं। हमने अथक्रम को ध्यान में रखकर इस प्रकार इन्हें व्यवस्थित किया है।

मेदःकफाभ्यामनिलो निरुद्धः [2]शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति ॥ ५७ ॥
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु तस्मै संवर्धयत्येव हि तान् विकारान्।
रोगास्तथाऽन्येऽप्यवितर्क्यमाणाः परस्परेणावगृहीतमार्गाः ॥ ५८ ॥
सन्दूषिता धातुभिरेव चान्यैः स्वैर्भेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति।

१२. **द्वादश प्रश्न का उत्तर**—मेदोधातु तथा कफदोष की वृद्धि हो जाने से रुकी हुई वायु शरीर के विविध अंगों में शूल, शून्यता (स्पर्शज्ञान का न होना) तथा सूजन को पैदा कर देती है। ऐसी स्थिति में यदि पञ्चकर्म कराने में अकुशल चिकित्सक स्नेह का अनुवासनवस्ति के रूप में प्रयोग करता है, तो वह स्नेह उक्त रोगों को बढ़ा देता है। इतना ही नहीं, जिन रोगों की यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती, उनको भी वह पैदा कर देता है, साथ ही एक-दूसरे के मार्गों को रोके हुए ये रोग प्रायः चिकित्सक की पकड़ में नहीं आ पाते और ये रोग रक्त आदि धातुओं को दूषित करते हुए इस प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर डालते हैं, जो अपनी चिकित्सा से भी शान्त नहीं हो पाते हैं।

वक्तव्य—शूल वातविकृति का प्रधान लक्षण है। इस एक सिद्धान्त को पकड़कर जो शूल को पैदा करने वाली अन्य परिस्थितियों से अनभिज्ञ अतएव अशास्त्रज्ञ चिकित्सक हैं, वे कभी ऐसी भूल कर सकते हैं, यह तन्त्रकार का संकेत है। वास्तव में शुद्ध वायु से उत्पन्न शूल से ही स्नेह का प्रयोग हितकर होता है। यहाँ तो भूमिका के रूप में पहले ही बतलाया जा चुका है, कि वायु मेदोधातु तथा कफदोष से घिरा हुआ है। इस प्रसंग में श्रीचक्रपाणि ने एक प्रासंगिक शास्त्र-वचन इस प्रकार उद्धृत किया है—'कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसा वा कफेन वा। अतिवृद्धेऽनिले नादौ शस्तं स्नेहेन बृंहणम्'॥ इससे भी तन्त्रकार के उक्त आशय की पुष्टि होती है।

स्वैर्भेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति—इसका तात्पर्य है कि ऐसे रोग उनकी मूलभूत प्रधान चिकित्सा करने पर भी शान्त नहीं हो पाते हैं। जरा कारणों पर ध्यान दें—बढ़ा हुआ मेदोधातु तथा कफदोष जब वायु के संचार मार्ग को रोक देते हैं और बढ़ी हुई वायु उक्त दोनों के मार्गों को रोक देती है, इस स्थिति में रक्त आदि धातुएँ भी परस्पर एक-दूसरे के मार्ग को अवरुद्ध कर देती हैं। फलतः दोष तथा दूष्यों के विकृत हो जाने से उत्पन्न रोग निज चिकित्सा से भी साध्य नहीं हो पाते हैं। अन्यत्र भी रोगों के असाध्य होने में इसी प्रकार के कारण उपस्थित होते हैं। यही कारण है कि आढ्यवात अथवा ऊरुस्तम्भ आदि रोगों में भी स्नेहन-क्रिया का निषेध किया गया है, उन प्रसंगों का अवलोकन करें।

सर्वं च रोगप्रशमाय कर्म हीनातिमात्रं विपरीतकालम् ॥ ५९ ॥
मिथ्योपचाराच्च न तं विकारं शान्तिं नयेत् पथ्यमपि प्रयुक्तम्।

मात्रा का महत्त्व—रोग को शान्त करने के लिए शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट सभी प्रकार के चिकित्सा-कर्म यदि हीन (कम) मात्रा में अथवा अधिक मात्रा में अथवा विपरीतकाल (उचित काल के विरुद्ध) में किया जाता है, अथवा उपचार (चिकित्सा) का ठीक-ठीक प्रयोग न किया जाय तो पथ्य (हितकर) आहार-

१. 'वाते विरु(व)द्धे' इति पा०।
२. 'सुप्त्यङ्गमर्दश्वयथून्' इति पा०।

विहार एवं उपचार भी रोग को शान्त नहीं कर पाते हैं। अतः उचित मात्रा, उचित काल तथा उचित उपचार की व्यवस्था पर चिकित्सक को ध्यान देना चाहिए।

तत्र श्लोकः—

प्रश्नानिमान् द्वादश पञ्चकर्माण्युद्दिश्य सिद्धाविह कल्पनायाम् ॥ ६० ॥
प्रजाहितार्थं भगवान् महार्थान् सम्यग्जगादर्षिवरोऽत्रिपुत्रः।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने कल्पनासिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में एक श्लोक दिया गया है। ऋषिगणों में श्रेष्ठ अत्रि-पुत्र भगवान् आत्रेय ने प्रजाओं के हित की दृष्टि से इस कल्पनासिद्धि नामक अध्याय में पञ्चकर्मों को लक्ष्य करके इन (उपर्युक्त) बारह प्रश्नों के उत्तर विस्तारपूर्वक दिये हैं।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-सिद्धिस्थान में कल्पनासिद्धि नामक पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातः [1]पञ्चकर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

कल्पनासिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से पञ्चकर्मीया (पञ्चकर्मों से सम्बन्धित) सिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

येषां यस्मात् पञ्चकर्माण्यग्निवेश न कारयेत्। येषां च कारयेत् तानि तत् सर्वं सम्प्रवक्ष्यते ॥३॥

विषय-प्रस्तावना—अग्निवेश ! जिन-जिन व्यक्तियों का जिन-जिन कारणों से पञ्चकर्म द्वारा संशोधन नहीं कराना चाहिए और जिन व्यक्तियों को पञ्चकर्म कराने चाहिए, ये सभी विषय इस अध्याय में कहे जायेंगे।

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च। [2]सद्राजभिषजां द्वेष्टा तद्द्विष्टः शोकपीडितः ॥
यादृच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्च यः। वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनः सुशङ्कितः ॥५॥
भिषजामविधेयश्च नोपक्रम्या भिषग्विदा। एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात् ॥६॥

चिकित्सा के अयोग्य रोगी—चिकित्सक को चाहिए, कि वह निम्नलिखित रोगियों की चिकित्सा न करे। चण्ड (अत्यन्त क्रोधी), साहसी (जो दुःसाहस करता हो, देखें—उरःक्षत-चिकित्सा-प्रकरण), डरपोक, कृतघ्न (किये हुए उपकार को भुला देने वाला), व्यग्र (अस्थिर चित्तवाला), राजा तथा उत्तम चिकित्सक से वैर करने वाला अथवा जिससे राजा या चिकित्सक द्वेष करते हों, शोक से पीड़ित, यादृच्छिक (जो ईश्वर की सत्ता पर विश्वास न करता हो, अर्थात् नास्तिक), मरने के लिए तत्पर, साधनविहीन, शत्रु, वैद्यविदग्ध (वैद्य

१. 'पञ्चकर्मीयसिद्धिं' इति पा०।

२. 'सद्वैद्यनृपतिद्वेष्टा' इति पा०।

न होते हुए भी अपने को वैद्य मानने वाला), पूज्यजनों के प्रति श्रद्धाभाव न रखने वाला, सदा शंकालु स्वभाववाला, वैद्यों के आदेशों का पालन न करने वाला। यदि चिकित्सक लोभ या मोहवश ऐसे रोगियों की चिकित्सा करता है, तो वह अनेक प्रकार के असफलता, अपयश, आर्थिक हानि आदि दोषों का भागी बन जाता है।

वक्तव्य—आप ध्यान दें तो प्रत्येक रोगी की अयोग्यता का कारण स्वयं स्पष्ट हो जायेगा। चिकित्सा के चार पादों में से एक की भी अयोग्यता चिकित्सा की असफलता में कारण होती है। रोगी को चतुर्थपाद के रूप में स्वीकृत किया गया है। उसके लक्षण आचार्य भावमिश्र ने इस प्रकार दिये हैं—'निजप्रकृतिवर्णाभ्यां युक्तः सत्वेन चक्षुषा। चिकित्स्यो भिषजां रोगी वैद्यभक्तो जितेन्द्रियः' ॥ तथा—'आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवान् मित्रवानपि। चिकित्स्यो भिषजा रोगी वैद्यवाक्यकृदास्तिकः' ॥ भा० प्र० पू० खं० प्र० ५।४३-४४। सचमुच दोनों ही लक्षण परस्पर विरुद्ध हैं। यही कारण है कि तन्त्रकार ने उक्त रोगियों की चिकित्सा न करने का आदेश दिया है।

एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या नराः सर्वैरुपक्रमैः। अवस्थां प्रविभज्यैषां वर्ज्यं कार्यं च वक्ष्यते ॥७॥

चिकित्सा के योग्य रोगी—उपर्युक्त लक्षणों से रहित जो रोगी होते हैं, उनकी चिकित्सा वमन, विरेचन आदि सभी उपायों से परिस्थिति के अनुसार करनी चाहिए। इस अध्याय में रोगियों की अवस्था का विभाजन कर किसके लिए कौन-सी चिकित्सा छोड़ने योग्य है एवं कौन-सी चिकित्सा करने योग्य है, इन विषयों का आगे वर्णन किया जायेगा।

अवम्यास्तावत्–क्षतक्षीणातिस्थूलातिकृशबालवृद्धदुर्बलश्रान्तपिपासितक्षुधितकर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्दनोर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्ववातास्थापितानुवासितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिशूलार्ताः ॥ ८ ॥

वमन के अयोग्य रोगी—यहाँ सर्वप्रथम वमन के अयोग्य रोगियों का वर्णन किया जा रहा है—उरः-क्षत, क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त (थका हुआ), प्यासा, भूखा, निरन्तर कार्य करने से थका हुआ, भार (बोझा) ढोने से थका हुआ, रास्ता चलने से थका हुआ, उपवास, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम तथा किसी विषय की चिन्ता में लगा हुआ, क्षाम (धातुओं के क्षीण हो जाने से जिसका शरीर सूख गया हो), गर्भिणी, सुकुमार, संवृतकोष्ठ (जिसके आमाशय आदि कोष्ठ संकुचित हो गये हों), जिसे कठिनता से वमन होता हो, ऊर्ध्वग रक्तपित्त रोग से पीड़ित, निरन्तर होने वाले वमन रोग से पीड़ित, ऊर्ध्ववातरोग से पीड़ित, जिसे अभी निरूहण तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराया गया हो, हृदयरोग, उदावर्त, मूत्राघात, प्लीहरोग, गुल्मरोग, उदररोग, अष्ठीला, स्वरभेद, तिमिररोग (रतौंधी), शिरःशूल, शंखकरोग, कर्णशूल तथा नेत्रशूल से पीड़ित व्यक्तियों को वमन न करायें।

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य के अनुसार वमन के अयोग्य रोगी—'न वामनीयास्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः। नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षतातुरः ॥ मदार्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः। उदावर्त्यूर्ध्वरक्ती दुश्छर्दिः केवलानिली। पाण्डुरोगी कृमिव्याप्तः पठनात् स्वरघातकः' ॥ शा० सं० उ० खं० अ० ३।७-९। इस प्रकार का वर्गीकरण अन्य संहिताकारों ने भी किया है। आप भी इस ओर प्रवृत्त हों, आपको इसमें विशद साहित्य मिलेगा। देखें—सु० चि० अ० ३३।१४-१५ तथा अ० सं० सू० अ० २७।६।

तत्र क्षतस्य भूयः क्षणनाद् रक्तातिप्रवृत्तिः स्यात्, क्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलानामौषधबलासहत्वात् प्राणोपरोधः, श्रान्तपिपासितक्षुधितानां च तद्वत्, कर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामाणां रौक्ष्याद् वातरक्तच्छेदक्षतभयं स्यात्, गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणा रोगप्राप्तिः, सुकुमारस्य [1]हृदयापकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरातिप्रवृत्तिः, संवृतकोष्ठदुश्छर्दनयोरतिमात्र-

१. 'हृदयविकर्षणात्' इति पा०।

प्रवाहणाद् दोषाः समुत्क्लिष्टा [1]अन्तःकोष्ठे जनयन्त्यन्तर्विसर्पं स्तम्भं जाड्यं वैचित्त्यं मरणं वा, ऊर्ध्वगरक्तपित्तिन उदानमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेद् रक्तं चातिप्रवर्तयेत्, प्रसक्तच्छर्देस्तद्वत्, ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्वं वातातिप्रवृत्तिः, हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः, उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः स्याच्छीघ्रतरहन्ता, मूत्राघातादिभिरार्तानां तीव्रतरशूलप्रादुर्भावः, तिमिरार्तानां तिमिरातिवृद्धिः, शिरःशूलादिषु शूलातिवृद्धिः; तस्मादेते न वम्याः। सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु विषगरविरुद्धाजीर्णाभ्यवहारामकृतेष्वप्रतिषिद्धं [2]शीघ्रतरकारित्वादेषामिति ॥ ९ ॥

वमन न कराने का कारण—उरःक्षत रोग से पीड़ित रोगियों के फुप्फुसों में पहले से ही क्षत (घाव) हुआ रहता है, वमनकारक औषधद्रव्यों के सेवन तथा वमनवेग के आघात से वह क्षत अधिक बढ़ जाता है, जिसके कारण रक्त अधिक मात्रा में जाने लगता है। क्षीण, अतिस्थूल, कृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल ये व्यक्ति कमजोर होते हैं, ये औषध-सेवन करने के पश्चात् उसके वेगों को सहन नहीं कर सकते, अतः ये वामक औषधयोग इनके प्राणों (शारीरिक बल तथा जीवन) का विनाश कर देते हैं। थके हुए, प्यास से पीड़ित, भूख से पीड़ित रोगियों में भी जीवनीय शक्ति की कमी होती है, अतः वामक द्रव्यों का प्रयोग इनके भी प्राणों का विनाश कर देते हैं। अधिक कार्य करने से, बोझा ढोने से, अधिक दूर तक पैदल चलने से जो थक गये हैं, जो निरन्तर उपवास, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम तथा चिन्तन में लगे रहते हैं तथा जो व्यक्ति क्षीण हो चुके हैं, उनको वमन द्रव्य पिलाने से उनका शरीर रूक्ष हो जाता है, फलतः उनके शरीर में वायु का प्रकोप हो जाता है, रक्त अधिक निकलने लगता है, उरःक्षत हो जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। गर्भिणी स्त्रियों को वामक द्रव्यों का सेवन कराने से गर्भपीड़ा, आमगर्भ का गिर जाना और उससे भी भयंकर रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। सुकुमार व्यक्ति को वामक द्रव्यों का सेवन कराने से उसके हृदय में चोट पहुँचती है अथवा हृदय में खिंचाव जैसा होने लगता है, जिससे ऊपर (मुख) से तथा नीचे (गुद-मार्ग) से अधिक मात्रा में रक्तस्राव होने लग जाता है। संकुचित कोष्ठ वालों तथा जिन्हें बड़ी कठिनाई से वमन हो पाता है, उन्हें यदि वामक द्रव्यों का सेवन कराया जाता है, तो उन्हें वमन करने के लिए बार-बार बल लगाना पड़ता है, जिसके कारण दोष उभड़कर कोष्ठ के भीतर विसर्परोग, जकड़न, जड़ता, मन में घबड़ाहट तथा मृत्यु भी हो जाती है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त वाले रोगी को यदि वमनकारक द्रव्यों का सेवन कराया जाता है, तो वह उदानवायु को उभाड़कर ऊपर की ओर ले जाकर प्राणों को नष्ट कर देता है तथा रक्त को अधिक मात्रा में प्रवृत्त करा देता है। इसी प्रकार लगातार जिसे वमन हो रहे हैं, ऐसे रोगी को वामक द्रव्यों का सेवन कराने पर उदानवायु का ऊपर की ओर प्रकोप होकर मृत्यु की सम्भावना हो जाती है और रक्त अधिक मात्रा में निकलने लगता है। ऊर्ध्ववात से पीड़ित रोगियों को आस्थापन तथा अनुवासनवस्ति देने के बाद यदि वामक द्रव्य पिलाया जाय तो भयानक रूप से ऊपर की ओर वायु निकलने लगती है, हृदयरोगी को वमनकारक द्रव्यों का सेवन कराने से हृदय की गति में रुकावट पैदा हो जाती है। उदावर्त के रोगी को वमनकारक द्रव्य पिलाने से भयंकर रूप से उदावर्त के लक्षण दिखलायी देने लगते हैं जिससे शीघ्र ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। मूत्राघात आदि से पीड़ित रोगियों को यदि वमनकारक द्रव्यों का सेवन कराया जाता है, तो उनमें अत्यन्त कष्टदायक शूल की उत्पत्ति हो जाती है। तिमिर (रतौंधी) रोग से पीड़ित रोगियों को यदि वमनकारक औषधयोग का सेवन कराते हैं, तो तिमिर रोग और भी अधिक बढ़ जाता है। शिरःशूल आदि में शूल की अधिक बढ़ोत्तरी हो जाती है, इसलिए उपर्युक्त रोगियों को वमनकारक औषधयोगों का सेवन नहीं कराना चाहिए।

उपर्युक्त इन सभी रोगियों को विशेष परिस्थिति में आवश्यकता पड़ने पर वमन कराया जा सकता है। जैसे—विषपान, गर (कृत्रिम विष) पान, विरुद्ध भोजन, अजीर्ण भोजन कर लेने पर तथा जिनके शरीर में आमदोष इकट्ठा हो गया हो तो, ऐसी स्थिति में वमन का निषेध इसलिए नहीं किया गया है, कि यह शीघ्र ही विष आदि दोषों को बाहर निकालकर रोगी को स्वास्थ्य-लाभ करा देता है।

---

१. 'अन्तःकोष्ठे विसर्पन्तः स्तम्भं जाड्यं वैचित्त्यं मरणं वा जनयन्ति' इति पा०।
२. 'शीघ्रतरकारित्वाद् दोषाणाम्' इति पा०।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने वमन न कराने के कारणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सुश्रुत ने उन कारणों को इस प्रकार कहा है—'अवम्यवमनाद् रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम्। असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः॥ सु० चि० अ० ३३।१६ तथा अ० सं० सू० अ० २७।६। इससे आगे विशेष परिस्थिति में वमन न कराने योग्य व्यक्ति को भी वमन कराने का महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार संकेत किया है—'एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः। अतीव चोल्वणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना' ॥ सु० चि० अ० ३३।१७।

शेषास्तु वम्याः; [1]विशेषतस्तु पीनसकुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वासगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसकविषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधःशोणितपित्तप्रसेक(दुर्नाम[2])हृल्लासारोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसारशोफपाण्डुरोगमुखपाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं केदारसेतुभेदे शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत् ॥ १० ॥

वमन के योग्य रोगी—ऊपर ८वें गद्य में जिन व्यक्तियों को अवम्य (वमन के अयोग्य) कहा गया है, उनसे जो शेष रह जाते हैं, वे सब वमन कराने के योग्य होते हैं। विशेष रूप से पीनस (प्रतिश्याय), कुष्ठ, नवज्वर, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, गलगण्ड, श्लीपद (फीलपाँव), प्रमेह, मन्दाग्नि (जठराग्नि का मन्द पड़ना) रोगों से पीड़ित, विरुद्ध भोजन, भोजन का न पचना, विसूचिका, अलसक (गुमहैजा), रोगों से पीड़ित होने पर, विष, गर (कृत्रिम विष) को पी लेने पर, सर्प आदि विषैले प्राणियों के काट लेने पर, दिग्धविद्ध (विष में बुझाये हुए शस्त्रों से शरीर के बिंध जाने पर), अधोमार्ग से रक्तपित्त के निकलने पर (दुर्नाम = बवासीर के हो जा जाने पर), जी-मिचलाने पर, अरोचक, अविपाक (भोजन के ठीक प्रकार न पचने पर), अपची, अपस्मार (मृगी), उन्माद (पागलपन), अतिसार, शोफ (सूजन), पाण्डुरोग, मुखपाक वाले रोगियों को तथा जिन स्त्रियों का दूध दूषित हो एवं कफज व्याधियाँ जिनका वर्णन महारोगाध्याय में किया गया है, इन रोगों में प्रधानरूप से वमन का प्रयोग करना चाहिए। जिस प्रकार धान की क्यारी की मेड़ टूट जाने से पानी बाहर निकल जाता है, फलस्वरूप उसमें उगे हुए धान सूख जाते हैं, ठीक उसी प्रकार वमन द्वारा दोषों के निकल जाने से कफज रोग स्वयं शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—उक्त प्रकरण को समझने के लिए निम्नलिखित कतिपय सन्दर्भों का अवलोकन करें। महारोगाध्यायोक्त कफज रोगों का वर्णन देखें—च० सू० अ० २०।१७ तथा सु० चि० अ० ३३।१८ में। इस पर टीका करते हुए आचार्य डल्हण लिखते हैं—ज्वर की कुछ विशेष अवस्थाएँ हैं, जिनमें वमन का प्रयोग किया जाता है। जैसे—नवज्वर, कफज्वर तथा विषमज्वर। वृद्धवाग्भट के अनुसार—अ० सं० सू० अ० २७।५ देखें।

अविरेच्यास्तु सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तिविलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णिनवज्वरिमदात्ययिताध्मातशल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः ॥ ११ ॥

विरेचन के अयोग्य रोगी—सुभग (सुकुमार), क्षतगुद (जिनके गुद-प्रदेश में भीतर की ओर किसी प्रकार का घाव हो गया हो), मुक्तनाल (जिन गुदवलियों में अपने-अपने कार्य की शक्ति न रह गयी हो; वास्तव में गुद के भीतर तीन वलियाँ होती हैं—१. प्रवाहणी, २. संवरणी और ३. विसर्जनी। इनमें दूसरी वलि का कार्य मल को रोकना है, यदि यह अपना कार्य नहीं कर पाती है, तो मल की प्रवृत्ति होते ही वह बाहर निकल आता है), अधोगामी रक्तपित्त का रोगी, लंघन करा चुकने के बाद, दुर्बल इन्द्रियों वाला, मन्दाग्नि से युक्त, निरूहवस्ति देने के तत्काल बाद, कामवासना से व्याकुल चित्त, अजीर्णरोग से पीड़ित, नवज्वर से युक्त, मदात्यय का रोगी, आध्मान रोग से पीड़ित, शल्य (काँटा) आदि के चुभ जाने से पीड़ित (जिसके कोष्ठ-प्रदेश में कहीं शल्य चुभा हुआ हो), जिसे किसी प्रकार का आघात लगा हो, जिसका अधिक मात्रा में स्नेहन किया गया हो, अतिरूक्ष, अधिक दारुण (क्रूर) कोष्ठ वाले तथा क्षत से लेकर गर्भिणी पर्यन्त जो व्यक्ति कहे गये हैं, वे सभी विरेचन कराने के योग्य नहीं होते हैं।

---

१. 'विशेषतस्तु' इति क्वचित्पुस्तके न पठ्यते। २. 'दुर्नाम' इति हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार विरेचन के अयोग्य रोगी ये हैं—मन्दाग्नि से पीड़ित, अतिस्निग्ध, बालक (सुकुमार), वृद्ध, स्थूल, क्षतक्षीण (जो उरःक्षत हो जाने के कारण क्षीण हो गया हो), भयभीत, थका हुआ, जिसे प्यास लगी हो अथवा तृष्णारोग से युक्त, जिसने अजीर्ण के ऊपर पुनः भोजन कर लिया हो, गर्भवती, अधोगामी रक्तपित्त का रोगी, नये प्रतिश्याय का रोगी, मदात्यय का रोगी, नवज्वर वाला रोगी, जिस स्त्री को अभी प्रसव हुआ हो, शल्य से पीड़ित तथा जिनका स्नेहन न हुआ हो ये सभी विरेचन के अयोग्य होते हैं। देखें—सु० चि० अ० ३३।२९-३० ॥ वृद्धवाग्भट ने जिनको विरेचन के अयोग्य कहा है, उनका परिचय देखें—अ० सं० सू० अ० १७।९।

तत्र सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोषः स्यात्, क्षतगुदस्य क्षते गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत्, मुक्तनालमतिप्रवृत्त्या हन्यात्, अधोभागरक्तपित्तिनं तद्वत्, विलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढा औषधवेगं न सहेरन्, कामादिव्यग्रमनसो न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन आमदोषः स्यात्, नवज्वरिणोऽविपक्वान् दोषान् न निर्हरेद् वातमेव च कोपयेत्, मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधं कुर्यात्, आध्मातस्याधमतो वा पुरीषकोष्ठे[1] निचितो वायुर्विसर्पन् सहसाऽऽनाहं तीव्रतरं मरणं वा जनयेत्, शल्यार्दिताभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्, अतिस्निग्धस्यातियोगभयं भवेत्, रूक्षस्य वायुरङ्गप्रग्रहं कुर्यात्, दारुणकोष्ठस्य विरेचनोद्धता दोषा हृच्छूलपर्वभेदानाहाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाक्लमाञ्जनयित्वा प्राणान् हन्युः, क्षतादीनां गर्भिण्यन्तानां छर्दनोक्तो दोषः स्यात्; तस्मादेते न विरेच्याः ॥ १२ ॥

विरेचन न कराने का कारण—सुभग व्यक्तियों को विरेचक द्रव्यों का सेवन कराने से वे ही दोष होते हैं, जो दोष सुकुमार व्यक्तियों को वमन कराने में कहे गये हैं (इसे इसी अध्याय के गद्य ९ की टीका में देखें। सुभग तथा सुकुमार शब्दों पर विचार करने से आपाततः दोनों शब्द एक जैसे प्रतीत होने पर भी दोनों भिन्नार्थक हैं। सुभग का अर्थ है—सौभाग्यशाली, समृद्ध, मनोहर; और सुकुमार का अर्थ है—सुन्दर, तरुण, सुकोमल। श्रीचक्रपाणि के अनुसार सुभग का अर्थ है—सुखद वातावरण में पला हुआ), जिसके गुद-प्रदेश में क्षत हो गया हो, उसे विरेचक औषधद्रव पिलाने से गुद में घाव हो जाता है, जिससे गुद में प्राणों को नष्ट कर देने के समान भयंकर पीड़ा होती है। मुक्तनाल वाले रोगी को विरेचक द्रव्यों का सेवन कराने से मल अधिक निकलने लगता है, जिससे मृत्यु हो जाती है। जिसे अधोमार्ग से रक्तपित्त जाता हो उसे विरेचक द्रव्यों का सेवन कराने से रक्त के अधिक निकलने के कारण मृत्यु हो जाती है। लंघन किये हुए, दुर्बल इन्द्रियों वाले, मन्दाग्नि से पीड़ित तथा जिन रोगियों को निरूहवस्ति दी गयी हो, ऐसे पुरुष विरेचन के वेग को सहन नहीं कर पाते, अतः उनके लिए भी विरेचन घातक ही होता है। काम आदि की चिन्ता से व्याकुल चित्तवाले व्यक्ति को यदि विरेचक औषध का सेवन कराया जाता है, तो पहले उन्हें विरेचन होता ही नहीं, यदि होता भी है तो बड़े कष्ट के साथ, अतः उसमें विरेचन के अयोग सम्बन्धी लक्षण देखे जाते हैं। अजीर्ण से पीड़ित रोगी को यदि विरेचन दिया जाता है, तो उसके शरीर में आमदोष की उत्पत्ति हो जाती है। नवीन ज्वर में विरेचक द्रव्यों का सेवन कराने से वह अविपक्व (आम) दोष को नहीं निकाल पाता है, अपितु वह वातदोष को प्रकुपित कर देता है। मदात्यय रोग से पीड़ित व्यक्ति का शरीर निरन्तर मद्यपान के कारण क्षीण हुआ रहता है, ऐसी स्थिति में विरेचन द्रव्य का सेवन करने से प्रकुपित हुई वायु प्राणों का विनाश कर देती है। आध्मान (अफारा) रोग से पीड़ित रोगी को विरेचन का सेवन कराने से अथवा जिसे आध्मान रोग हो रहा हो, ऐसे रोगी को विरेचन का सेवन कराने से उनके मलाशय में इकट्ठी वायु इधर-उधर घूमती हुई कष्टप्रद आनाह रोग को पैदा कर देती है या मृत्युकारक हो जाती है। शल्य (लोहा या काँटा) जिसके शरीर में चुभ गया हो अथवा जिसे किसी प्रकार से चोट लग गयी हो, ऐसे पुरुष को विरेचन का सेवन कराने से क्षतस्थान में वायु अपना आश्रय बनाकर रोगी का विनाश कर देती है। अतिस्निग्ध पुरुष को विरेचन द्रव्य का सेवन कराने से स्नेह के अतियोग जनित उपद्रवों का भय बना रहता है। अतिरूक्ष व्यक्ति में विरेचन का प्रयोग करने से प्रकुपित

१. 'आध्मातस्य पुरीषग्रथिते कोष्ठे' इति पा०।

हुई वायु शरीर के अवयवों में जकड़न पैदा कर देती है। क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति को विरेचक द्रव्यों का सेवन कराने से बढ़े हुए वात आदि दोष हृदय में शूल, पर्वभेद (जोड़ों का फटना), आनाह (अफारा), अंगों में पीड़ा, वमन, मूर्च्छा तथा क्लम (सुस्ती) को पैदा करके प्राणों का नाश कर देते हैं। क्षत से लेकर गर्भिणी पर्यन्त व्यक्तियों में वमनकारक औषधयोग का सेवन कराने से जो उपद्रव होते हैं, वे सभी उपद्रव विरेचक द्रव्यों का सेवन करने से भी होते हैं। इसलिए उक्त रोगियों को विरेचन नहीं कराना चाहिए।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि के विचारों को देखें—'विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशमप्रयुक्तैरविरेचनीयाः' ॥ सु० चि० अ० ३३।३१ तथा अ० सं० सू० अ० २७।९।

शेषास्तु विरेच्याः; विशेषतस्तु कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभगन्दरोदरार्शोब्रध्नप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालसकमूत्राघातक्रिमिकोष्ठविसर्पपाण्डुरोगशिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलिकानेत्रना[1]सिकास्यस्रवणहलीमकश्वासकासकामलापच्यपस्मारोन्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकाविपाकच्छर्दिश्वयथूदरविस्फोटकादयः पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्तमग्न्युपशमेऽग्निगृहवत् ॥ १३ ॥

विरेचन के योग्य रोगी—ऊपर ग्यारहवें गद्य द्वारा जिन रोगियों को विरेचन के अयोग्य कहा गया है, उन व्यक्तियों से अतिरिक्त सभी विरेचन कराने के योग्य होते हैं। उनमें भी विशेष रूप से ये—कुष्ठरोगी, ज्वर रोगी, प्रमेहरोगी, जिसका रक्तपित्त ऊपर की ओर को प्रवृत्त हुआ हो, भगन्दर का रोगी, उदररोगी, बवासीर का रोगी, ब्रध्न (वृद्धि) रोगी (देखें—च० सू० अ० १८।३०), प्लीहारोगी, अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि, विसूचिका (हैजा), अलसक (गुम हैजा), मूत्राघात, क्रिमिकोष्ठ (पेट में क्रिमियों का हो जाना), विसर्प, पाण्डुरोगी, शिरःशूल, पार्श्वशूल, उदावर्त, नेत्रों में दाह, मुख में दाह (जलन), हृद्रोगी, व्यङ्ग (त्वचारोग), नीलिका, नेत्रों, नासिका तथा मुख से स्राव होने पर, हलीमक (पाण्डुरोग-भेद), श्वास, कास, कामला, अपची, अपस्मार, उन्माद, वातरक्त, योनिदोष, रेतोदोष (वीर्य में विकृति), तिमिरता (रतौंधी), अरोचक (भोजन के प्रति अरुचि का होना), अविपाक (भोजन का भली-भाँति न पचना), वमन, सूजन, उदर, विस्फोटक (फोड़ा) आदि रोगों से पीड़ित रोगियों को विरेचन कराना चाहिए। विशेष रूप से महारोगाध्याय में कही गयी पित्तज व्याधियों से युक्त पुरुषों को विरेचन कराना चाहिए। इन रोगों में विरेचन-चिकित्सा को उस प्रकार प्रधानतम माना गया है, जिस प्रकार अग्नि के शान्त हो जाने पर आग से जलता हुआ घर स्वयं ही शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार की विवेचन शैली जिस प्रकार प्रशंसा के योग्य है, उसी प्रकार इनकी उपमाएँ भी हृदयावर्जक होती हैं। यहाँ पित्तयुक्त शरीर को अग्निगृह की उपमा दी है। देखें—जब तक पित्त सम अवस्था में स्थित होता है, तब तक वह देह की रक्षा करता है और जब वह बढ़ जाता है, तो देह को उसी तरह जलाने लगता है, जिस प्रकार घर में सुरक्षित आग अपनी सीमा से बाहर हो जाने पर घर को जलाने लगती है। बढ़े हुए पित्त को शान्त करने के लिए विरेचन कराना उत्तम चिकित्सा है।

पित्तज व्याधियों में विरेचन की प्रधानता का वर्णन प्रारम्भ में इस प्रकार किया गया है—'विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत्'। च० सू० अ० २०।१६। ऊपर जो तन्त्रकार ने पित्तव्याधियों के लिए महारोगाध्याय का उल्लेख किया है, उस प्रसंग में वे कहते हैं, कि यद्यपि हमने यहाँ चालीस पित्तविकारों का उल्लेख किया है, परन्तु पित्तविकार और भी असंख्य होते हैं। देखें—च० सू० अ० २०।१४। इसकी विस्तृत व्याख्या चरकचन्द्रिका टीका में यथास्थान दी गयी है। सुश्रुतोक्त विरेचनीय रोगियों के परिचय के लिए देखें—सु० चि० अ० ३३।३२। वृद्धवाग्भट ने भी प्रायः उन्हीं रोगियों का परिगणन किया है, देखें—अ० सं० सू० अ० २७।८।

१. 'नेत्रनासिकास्यश्रवणरोगगुदमेढ्रपाक०' इति पा०।

अनास्थाप्यास्तु—अजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्नियानक्लान्तातिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तातिकृशभुक्तभक्तपीतोदकवमितविरिक्तकृतनस्तःकर्मक्रुद्धभीतमत्तमूर्च्छितप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्काबद्धच्छिद्रोदकोदराध्मानालसकविसूचिकामप्रजातामातिसारमधुमेहकुष्ठार्ताः ॥ १४ ॥

निरूहवस्ति के अयोग्य रोगी—अजीर्ण रोगी, अतिस्निग्ध (जिन्हें अधिक मात्रा में स्नेहन कराया गया हो), जिन्हें तत्काल स्नेहपान कराया गया हो, जिनके शरीर में दोष उभड़े हुए हों, जिनकी जठराग्नि मन्द पड़ गयी हो, सवारी पर यात्रा करने से थके हुए, अतिदुर्बल, भूख-प्यास से पीड़ित, अधिक परिश्रम करने के कारण थके हुए, अत्यन्त कृशकाय, भुक्तभक्त (जिसने अभी भोजन किया हो), पीतोदक (जिसने अभी जल पिया हो), जिसने अभी वमन किये हों, जिसने तत्काल विरेचन किया हो, जिसने अभी नस्य (शिरोविरेचन) लिया हो, क्रोधयुक्त, भीत (डरा हुआ), मत्त (पागल), मूर्च्छित, प्रसक्तच्छर्दि (जिसे निरन्तर उलटियाँ आ रही हों), जो बार-बार थूकता जा रहा हो, श्वास, कास, हिक्का, बद्धोदर, छिद्रोदर, दकोदर (जलोदर—इन तीनों के लिए उदररोग-निदान-प्रकरण देखें), आध्मान (अफारा), अलसक (गुमहैजा), विसूचिका (हैजा), आमप्रजात (आमगर्भ की उत्पत्ति), आमातिसार, मधुमेह तथा कुष्ठरोग से पीड़ित व्यक्तियों को निरूहवस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

वक्तव्य—निरूहवस्ति कारण-भेद से अनेक प्रकार की होती है। उन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर आचार्यों ने उसके नाम भी रखे हैं। निरूहण का दूसरा नाम 'आस्थापन' है। दोष तथा धातुओं को अपने-अपने स्थानों पर स्थापित करा देने की शक्ति होने के कारण इस वस्ति को 'आस्थापन' कहते हैं। अन्य अनेक कार्यों को करने के कारण व्यवहार-भेद से निरूहवस्ति के नाम इस प्रकार हैं—दोषहर, संशमन, शोधन, लेखन तथा पिच्छिलवस्ति।

ऊपर अनास्थाप्य (जिन्हें निरूहवस्ति नहीं देनी चाहिए, यदि दे दी जाती है, तो उसके जो दुष्परिणाम होते हैं, उनका विस्तृत वर्णन अगले १५वें गद्य में किया जारहा है, उन्हीं) रोगियों में बद्धोदर के रोगी का भी तन्त्रकार ने परिगणन किया है। किन्तु उदररोग-चिकित्सा में निरूहवस्ति का विधान इस प्रकार किया गया है—'सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मापितो भवेत्। सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैस्तमुपाचरेत् ॥ सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्। तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्वस्तिभिस्तमुपाचरेत्' ॥ च० चि० अ० १३।१७३-१७४। आप तन्त्रकार की सुलझी हुई भाषा पर ध्यान दें—यहाँ आध्मान रहित तथा विबन्धयुक्त रोगी के लिए वस्ति का निर्देश है, न कि सभी स्थितियों में। इस सम्बन्ध में श्रीचक्रपाणि की टीका भी देख लें।

भगवान् धन्वन्तरि ने निम्नलिखित रोगियों को अनुवासन तथा आस्थापन वस्ति देने का निषेध किया है—उन्माद, भय, शोक, प्यास, अरोचक, अजीर्ण, अर्श (बवासीर), पाण्डुरोग, भ्रम, मद, मूर्च्छा, वमन, कुष्ठ, प्रमेह, उदर, स्थूलता, श्वास, कास, कण्ठशोष, सूजन, उरःक्षत, क्षीण, सात मास तक की गर्भिणी, मन्दाग्नि, कष्ट को सहन न कर सकने वाला, बालक, वृद्ध तथा वातरोग के बिना दूसरे कारणों से कृश हुए व्यक्तियों को उक्त वस्ति का प्रयोग न करें। सु० चि० अ० ३५।२१। वृद्धवाग्भट के अनुसार अनास्थाप्य रोगियों का परिचय देखें—अ० सं० सू० अ० २८।१२।

तत्राजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहानां दूष्योदरं मूर्च्छा श्वयथुर्वा स्यात्, उत्क्लिष्टदोषमन्दाग्न्योररोचकस्तीव्रः, यानक्लान्तस्य क्षोभव्यापन्नो वस्तिराशु देहं शोषयेत्, अतिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तानां पूर्वोक्तो दोषः स्यात्, अतिकृशस्य कार्श्यं पुनर्जनयेत्, भुक्तभक्तपीतोदकयोरुत्क्लिश्योर्ध्वमधो वा वायुर्वस्तिमुत्क्षिप्य क्षिप्रं घोरान्[1] विकाराञ्जनयेत्, वमितविरिक्तयोस्तु रूक्षं शरीरं निरूहः क्षतं क्षार इव दहेत्, कृतनस्तःकर्मणो विभ्रंशं [2]भृशसंरुद्धस्रोतसः कुर्यात्, क्रुद्धभीतयोर्वस्तिरूर्ध्वमुपप्लवेत्, मत्तमूर्च्छितयोर्भृशं विचलितायां संज्ञायां चित्तोपघाताद् व्यापत् स्यात्, प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं वस्तिं नयेत्, बद्धच्छिद्रोदकोदराध्मानार्तानां भृशतरमाध्माप्य वस्तिः

१. 'ऊर्ध्वमधो वा क्षिप्रं वस्तिर्घोरान्' इति पा०। २. 'भृशं संनिरुद्धस्रोतसः' इति पा०।

प्राणान् हिंस्यात्, अलसकविसूचिकाऽऽमप्रजातामातिसारिणामामकृतो दोषः स्यात्, मधुमेहकुष्ठिनोर्व्याधेः पुनर्वृद्धिः; तस्मादेते नास्थाप्याः ॥ १५ ॥

निरूहवस्ति न देने का कारण—अजीर्ण से पीड़ित, अतिस्निग्ध, जिन्होंने अधिक स्नेह पान कर लिया है, उन्हें यदि निरूहवस्ति का प्रयोग कराया जाता है, तो उसके कारण दूष्योदर, मूर्च्छा अथवा शोथ रोग हो जाता है। जिनके दोष उभड़े हुए हों और जिनकी अग्नि (पाचकाग्नि) मन्द पड़ गयी है, उन्हें निरूहवस्ति देने से तीव्र अरोचक हो जाता है। सवारी द्वारा यात्रा करने के कारण थके हुए व्यक्तियों को निरूहवस्ति का प्रयोग कराने से, क्षोभ (हिलने-डुलने) से दूषित वस्ति शीघ्र ही शरीर को सुखा देती है। अतिदुर्बल, भूख, प्यास, परिश्रम से पीड़ित व्यक्तियों में पूर्वोक्त दोष होता है, अर्थात् इनमें किया गया वस्ति-प्रयोग शरीर को सुखा देता है। अतिकृश व्यक्ति को यदि निरूहवस्ति का प्रयोग कराया जाता है, तो उसकी कृशता और भी बढ़ जाती है। भुक्तभक्त (जिन्होंने भोजन कर लिया है) और पीतोदक (जिन्होंने अभी पानी पिया है) को यदि निरूहवस्ति का प्रयोग कराया जाता है, तो वह वायु को उभाड़ देती है, वह उभड़ी हुई वायु वस्ति को नीचे या ऊपर की ओर ले जाकर शीघ्र ही भयंकर रोगों को पैदा कर देती है। जिन्होंने तत्काल वमन या विरेचन किया है, उन्हें यदि निरूहवस्ति का प्रयोग कराते हैं, तो पहले से ही रूक्ष शरीर वाले उनके शरीर को वह उस प्रकार जला देती है, जिस प्रकार क्षत (घाव) को क्षार जला देता है, अथवा दाह उत्पन्न कर देता है। नस्यकर्म करने के बाद निरूहवस्ति का प्रयोग करने से अत्यधिक रुके हुए स्रोतवाले व्यक्तियों की इन्द्रियों को विभ्रंश (अपने कार्यों को ठीक-ठीक न कर सकना) हो जाता है। क्रोधी तथा भयभीत पुरुषों को यदि निरूहवस्ति का प्रयोग कराया जाता है, तो वस्ति द्वारा प्रयुक्त द्रव्य ऊपर की ओर चले जाते हैं, अर्थात् वे द्रव्य कभी मल के साथ मुखमार्ग से भी निकलने लगते हैं, ऐसा होने पर अत्यन्त घृणित स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उन्माद तथा मूर्च्छा रोग से पीड़ित व्यक्तियों को निरूहवस्ति देने से संज्ञा (होश-हवाश) के विचलित हो जाने के कारण मानसिक उपघात (पागलपन) हो जाता है। निरन्तर जिसे वमन हो रहे हों, लगातार जो थूक रहा हो, श्वास, कास, हिक्का रोग से पीड़ित व्यक्तियों में प्रयुक्त की गयी निरूहवस्ति के द्रव्यों को प्रकुपित हुई वायु ऊपर की ओर पहुँचा देती है, फिर वह द्रव्य वमन द्वारा बाहर निकलने लगता है। बद्धोदर, छिद्रोदर, दकोदर (जलोदर) तथा आध्मान (अफारा) रोग से पीड़ित व्यक्तियों में प्रयुक्त की गयी निरूहवस्ति अत्यन्त कष्टप्रद आध्मान को पैदाकर प्राणों का विनाश कर देती है। अलसक, विसूचिका, आमप्रजात (नौ मास से पहले पैदा हुआ गर्भ) तथा आमातिसार से पीड़ित व्यक्तियों में निरूहवस्ति का प्रयोग करने से शरीर में आमदोष की वृद्धि हो जाती है। मधुमेह तथा कुष्ठरोग से पीड़ित व्यक्तियों को यदि निरूहवस्ति का प्रयोग कराया जाता है, तो उक्त रोगों की और भी वृद्धि हो जाती है। अतएव इन रोगियों को निरूहणवस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ हम तुलना की दृष्टि से चरक और वृद्धवाग्भट के एक समानार्थक पाठ को उद्धृत कर रहे हैं—

चरक— 'कृतनस्तःकर्मणो विभ्रंशं भृशसंरुद्धस्रोतसः कुर्यात्'। च० सि० अ० २।१५।

वृद्धवाग्भट—'कृतनस्यस्यास्य विभ्रंशं विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया कुर्यात्'। अ० सं० सू० अ० २८।१३।

आप दोनों को देखें और अर्थ की स्पष्टता की दृष्टि से विचार करें कि कौन-सा पाठ आपको अधिक स्पष्ट एवं रुचिकर प्रतीत होता है।

शेषास्त्वास्थाप्याः; विशेषतस्तु सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गबलवर्णमांसरेतःक्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तशुद्धातिसारपर्वभेदाभितापप्लीहगुल्मशूलहृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरब्रध्नशिरःकर्णशूलहृदयपार्श्वपृष्ठकटीग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजःक्षयार्तविषमाग्निस्फिग्जानुजङ्घोरुगुल्फपार्ष्णिप्रपदयोनिबाह्वङ्गुलिस्तनान्तदन्तनखपर्वास्थिशूलशोषस्तम्भान्त्रकूजपरिकर्तिकाल्पा-[1]

१. 'बाह्वङ्गुलितलांसदन्तपार्श्वास्थिशूलशोष' इति पा०।

ल्पसशब्दोग्रगन्धोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदवत् ॥ १६ ॥

निरूहवस्ति के योग्य रोगी—ऊपर १४वें गद्य में निरूहवस्ति के अयोग्य रोगियों का उल्लेख किया जा चुका है, उनसे बचे हुए रोगियों में निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। विशेष करके सर्वांगवात, एकांगवात, कुक्षि (उदर) रोग, वात (अपानवायु), मल, मूत्र तथा शुक्र की गति में रुकावट आने पर, बल, वर्ण, मांस तथा शुक्र का क्षय होने पर, आध्मान (अफारा), शरीर के अवयवों में शून्यता (सूनापन) होने पर, कोष्ठ में क्रिमियों की उत्पत्ति होने पर, उदावर्त रोग होने पर, अतिसार, पर्वभेद (जोड़ों में फटने की-सी पीड़ा का होना), अभिताप, प्लीहारोग, गुल्मरोग, शूल, हृदयरोग, भगन्दर, उन्माद, ज्वर, ब्रध्न (वृद्धि) रोग, शिरःशूल, कर्णशूल, हृदयग्रह, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, कम्पन, आक्षेपक, शरीर में भारीपन, शरीर में हल्कापन, रजःक्षय (मासिकधर्म का असमय में बन्द हो जाना या अल्पमात्रा में होना), विषमाग्नि, नितम्ब (चूतड़), जानु, जंघा, ऊरु, गुल्फ (टखना), पार्ष्णि (एड़ी), प्रपद (पैर का अगला भाग), योनि, बाहु, अंगुली, स्तनान्त, दाँतों, नखों, पर्वों (जोड़ों) तथा हड्डियों में शूल का होना, शोथ (सूजन), स्तम्भ (जकड़न), अन्त्रकूजन (आँतों में गुड़गुड़ाहट के शब्द का सुनायी देना), गुद के भीतर कैंची से काटने की-सी पीड़ा का होना, थोड़ा-थोड़ा शब्द तथा अत्यन्त दुर्गन्ध से युक्त मल-त्याग करने पर निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा विशेषतः महारोगाध्याय में कही गयी वातव्याधियों में निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ऐसे रोगियों में आस्थापन (निरूह) वस्ति का प्रयोग प्रधानतम कहा गया है। जिस प्रकार वनस्पति (वृक्ष) का नाश करने के लिए उसकी जड़ काट देना पर्याप्त होता है, उसी प्रकार सभी रोगों का मूल वातदोष है, अतः निरूहवस्ति के प्रयोग से प्रकुपित हुई वायु का विनाश हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त गद्य में आये हुए कतिपय शब्दों पर विचार किया जा रहा है—**शुद्धातिसार**—यदि हम यहाँ पर शुद्ध शब्द को अतिसार का विशेषण स्वीकार कर लें, तो इससे कोई लाभ नहीं दिखलायी पड़ता। चिकित्सा-क्षेत्र में सर्वत्र अतिसार, आमातिसार, रक्तातिसार आदि शब्दों का साभिप्राय प्रयोग तो देखा गया है, पर ऐसा नहीं। दूसरे संस्करणों में 'स्तब्धाङ्गातिसार' पाठ है, यह पूर्णतया समीचीन प्रतीत होता है। इस स्थिति में 'स्तब्धाङ्गता' का अर्थ होगा—शरीर का जकड़ जाना और उसके आगे अतिसार शब्द स्पष्ट ही है। **अभिताप**—इस शब्द के पहले 'सर्वाङ्ग' विशेषण का प्रयोग व्यर्थ-सा प्रतीत होता है, क्योंकि ताप शब्द के पहले प्रयुक्त 'अभि' उपसर्ग सर्वांग अर्थ को प्रकट करने में समर्थ है। **हृद्ग्रह**—यह हृद्रोग शब्द का पर्याय है। हृदय को अपनी स्वाभाविक क्रिया करने से रोक देना ही इस रोग का कार्य है। इसकी चिकित्सा प्राचीन काल से होती चली आ रही है। इसमें चरकोक्त नागबलारसायन चमत्कारी लाभ करता है, आप करके देखें। च० चि० अ० १ पा० २ गद्य ११ वाँ और च० चि० अ० ११।९१। **रजःक्षयार्त**—इसके स्थान पर 'रजःक्षयानार्तव' इस पाठ को श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में उद्धृत किया है, आप भी इस पाठ की उपयोगिता पर ध्यान दें। **स्तनान्त**—१९३३ ई० में प्रकाशित निर्णयसागरीय चरकसंहिता के मूलमात्र संस्करण में 'स्तनाङ्ग' पाठ है। १९२२ ई० संस्करण में भी 'स्तनाङ्ग' पाठ है, केवल १९४१ ई० वाले संस्करण में 'स्तनान्त' पाठ उपलब्ध होता है। हमारे विचार से यहाँ उक्त शब्द स्तन के अन्तभाग चूचुक (Nipple) का वाचक होना चाहिए, जब कि कोषकारों ने उक्त अर्थ में स्तनान्त शब्द को उद्धृत नहीं किया। महारोगाध्याय में वातविकारों के लिए देखें—च० सू० अ० २०।१२, १३ तथा अ० सं० सू० अ० २८।११।

य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः स्युः; विशेषतस्त्वभुक्तभक्तनवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहार्शः-प्रतिश्यायारोचकमन्दाग्निदुर्बलप्लीहकफोदरोरुस्तम्भवर्चोभेदविषगरपीतपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठश्लीपदगलगण्डापचिक्रिमिकोष्ठिनः ॥ १७ ॥

अनुवासन के अयोग्य रोगी—जिन व्यक्तियों को इसी अध्याय के १४वें गद्य द्वारा निरूहवस्ति के अयोग्य कहा गया है, वे ही व्यक्ति अनुवासनवस्ति के लिए भी अयोग्य होते हैं। विशेषकर वे व्यक्ति जिन्होंने

१. 'पीतकफाभिष्यन्द' इति पा०।

भोजन न किया हो, उन्हें अनुवासनवस्ति का प्रयोग न करायें, जो नवज्वर, पाण्डुरोग, कामला, प्रमेह, अर्श (बवासीर), प्रतिश्याय, अरोचक, मन्दाग्नि रोग से पीड़ित हों, दुर्बल हों, प्लीहारोग एवं कफजनित उदररोग से पीड़ित हों, ऊरुस्तम्भ, वर्चोभेद (अतिसार), विष तथा गर (कृत्रिम विष) को जिन्होंने पी लिया हो, जो पित्तज एवं कफज अभिष्यन्द (नेत्ररोग विशेष) से पीड़ित हों, जिनका कोष्ठ भारी हो, जो श्लीपद (फीलपाँव), गलगण्ड, अपची रोगों से पीड़ित हों, जिनके उदर में क्रिमि हों, ऐसे व्यक्तियों को अनुवासनवस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि का इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश इस प्रकार है—'उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः। अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन' ॥ सु० चि० अ० ३५।२२। वाग्भट ने परिस्थितिवश उदररोगियों के लिए कुछ वस्तियों का विधान किया है। देखें—'सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम्। सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत्' ॥ अ० हृ० चि० अ० १५।५१। और भी—'सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्। तीक्ष्णाः सक्षारगोमूत्राः शस्यन्ते तस्य वस्तयः' ॥ वही, १५।५२।

तत्राभुक्तभक्तस्यानावृतमार्गत्वादूर्ध्वमतिवर्तते स्नेहः, नवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहिणां दोषानुत्क्लिश्योदरं जनयेत्, अर्शसस्यार्शांस्यभिष्यन्द्याध्मानं कुर्यात्, अरोचकार्तस्यान्नगृद्धिं पुनर्हन्यात्, मन्दाग्निदुर्बलयोर्मन्दतरमग्निं कुर्यात्, प्रतिश्यायप्लीहादिमतां भृशमुत्क्लिष्टदोषाणां भूय एव दोषं वर्धयेत्; तस्मादेते नानुवास्याः ॥ १८ ॥

अनुवासनवस्ति न देने का कारण—जिन व्यक्तियों ने भोजन न किया हो, उनको यदि अनुवासनवस्ति का प्रयोग करा दिया जाता है, तो उनके स्रोतों के मार्गों का आवरण न होने के कारण वस्ति द्वारा प्रयोग किया गया स्नेह उपर की ओर अधिक मात्रा में पहुँच जाता है। नवज्वर, पाण्डुरोग, कामला तथा प्रमेह से पीड़ित रोगियों को दी गयी अनुवासनवस्ति दबे हुए दोषों को उभाड़कर उदररोगों को उत्पन्न कर देती है। अर्श (बवासीर) रोगी से पीड़ित रोगियों को अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराने से वस्ति द्वारा दिया गया द्रव बवासीर के मस्सों को गीला कर तथा वायु को प्रकुपित कर आध्मान (अफारा) पैदा कर देती है। अरोचक रोग से पीड़ित व्यक्ति को यदि अनुवासनवस्ति का प्रयोग करा दिया जाता है, तो वह उस रोगी को अन्न खाने के प्रति होने वाली इच्छा को नष्ट कर देती है। मन्दाग्नि वाले तथा दुर्बल रोगी को यदि अनुवासनवस्ति का प्रयोग करा दिया जाता है, तो वह उनकी जठराग्नि को पहले की अपेक्षा और भी मन्द कर देती है। प्रतिश्याय तथा प्लीहा आदि रोग वाले व्यक्तियों तथा जिनमें पहले से ही पर्याप्त दोष उभड़े रहते हैं, उनको यदि वस्ति-प्रयोग करा दिया जाता है, तो उनके शरीर में दोषों की और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। अतः ऊपर कहे गये रोगों से पीड़ित रोगियों को अनुवासनवस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः; विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च; एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूले द्रुमप्रसेकवत् ॥ १९ ॥

अनुवासनवस्ति के योग्य रोगी—जिन रोगियों को आस्थापन (निरूह) वस्ति दी जाती है, उन्हीं व्यक्तियों को अनुवासनवस्ति भी देनी चाहिए। विशेषरूप से वे व्यक्ति जिनके शरीर रूक्ष हो गये हों और जिनकी जठराग्नि तीक्ष्ण हो अथवा जो केवल वातरोग से पीड़ित हैं, उन्हें अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। ऊपर कहे गये इन रोगों में अनुवासनवस्ति उस प्रकार प्रधान स्वीकार की गयी है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में डाला गया जल उसके सम्पूर्ण शरीर को हरा-भरा कर देता है, अर्थात् अनुवासनवस्ति के प्रयोग से पुरुष की सभी धातुएँ सुपुष्ट हो जाती हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार की रोग सम्बन्धी कुछ उपमाएँ ऐसी हैं, जो महारोगाध्याय (च० सू० अ० २०) तथा च० सि० अ० १ तथा २ में समान दिखलायी देती हैं, जैसे—'वातमूलं छिनत्ति'=रोग विनाश की दृष्टि से, पुनः 'वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धादीनां विनाशस्तद्वत्'। दूसरी उपमा—'पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत्'। 'भिन्ने केदारसेतौ…प्रशोषमापद्यन्ते तद्वत्'। आप भी इस दृष्टि से उक्त स्थलों का अवलोकन करें। वस्ति-विधान का विचार करने के लिए सु० नि० अ० ३५ से ३८ तक देखें।

अशिरोविरेचनार्हास्तु अजीर्णिभुक्तभक्तपीतस्नेहमद्यतोयपातुकामाः स्नातशिराः स्नातुकामः क्षुत्तृष्णाश्रमार्तमत्तमूर्च्छितशस्त्रदण्डहतव्यवायव्यायामपानक्लान्तनवज्वरशोकाभितप्तविरिक्तानुवासितगर्भिणीनवप्रतिश्यायार्ताः, अनृतौ दुर्दिने चेति ॥ २० ॥

शिरोविरेचन के अयोग्य रोगी—अजीर्ण रोग से युक्त, तत्काल भोजन किए हुए, जिन्होंने अभी स्नेहपान किया है, जो मद्य (शराब) या जल पीना चाहते हों, जिन्होंने शिर सहित स्नान किया हो, जो स्नान करने के लिए तैयार हों, भूख, प्यास, श्रम से पीड़ित, मदपान करने से पगलाये हुए, मूर्च्छित, शस्त्र या डण्डा आदि से मार खाये हुए, मैथुन, व्यायाम तथा मद्यपान करके थके हुए, नवज्वर रोगी, शोक से पीड़ित, जिसने अभी विरेचन किया हो, जिसे तत्काल अनुवासनवस्ति दी गयी हो, गर्भिणी, नये प्रतिश्याय (जुकाम) से पीड़ित व्यक्ति को शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। ऋतु के विपरीत तथा दुर्दिन में (जिस दिन आकाश में बादल घिरे हों, उस दिन) भी नस्य न दें।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार नस्य के लिए अयोग्य रोगी—भोजन किया हुआ, लंघन किया हुआ अत्यन्त युवा पुरुष, प्रतिश्याय रोगी, गर्भवती, स्नेह, मद्य, पानी पिये हुए, अजीर्ण रोगी, वस्ति-प्रयोग किया हुआ, क्रोधित पुरुष, कृत्रिम विष का पान किया हुआ, प्यास से पीड़ित, शोकाकुल, थका हुआ, बालक, वृद्ध, मल-मूत्र आदि के अधारणीय वेगों को रोका हुआ व्यक्ति, शिर सहित स्नान करने की इच्छा वाला व्यक्ति, बादलों के घिरे रहने पर, अनुकूल अवसर न होने पर नस्य तथा धूम-पान का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। देखें—सु० चि० अ० ४०।४७। और भी—अ० सं० सू० अ० २९।१०।

तत्राजीर्णभुक्तभक्तयोर्दोष ऊर्ध्ववहानि स्रोतांस्यावृत्य कासश्वासच्छर्दिप्रतिश्यायाञ्जनयेत् पीतस्नेहमद्यतोयपातुकामानां कृते च पिबतां मुखनासास्रावास्युपदेहतिमिरशिरोरोगाञ्जनयेत्, स्नातशिरसः कृते च [1]स्नानाच्छिरसः प्रतिश्यायं, क्षुधार्तस्य वातप्रकोपं, तृष्णार्तस्य पुनस्तृष्णाभिवृद्धिं मुखशोषं च, श्रमार्तमत्तमूर्च्छितानामास्थापनोक्तं दोषं जनयेत्, शस्त्रदण्डहतयोस्तीव्रतरां रुजं जनयेत्, व्यवायव्यायामपानक्लान्तानां शिरःस्कन्धनेत्रोरःपीडनं, नवज्वरशोकाभितप्तयोरूष्मा नेत्रनाडीरनुसृत्य तिमिरं ज्वरवृद्धिं च कुर्यात्, विरिक्तस्य वायुरिन्द्रियोपघातं कुर्यात्, अनुवासितस्य कफः शिरोगुरुत्वकण्डूक्रिमिदोषाञ्जनयेत्, गर्भिण्या गर्भं स्तम्भयेत् स काणः कुणिः पक्षहतः पीठसर्पी वा जायते, नवप्रतिश्यायार्तस्य स्रोतांसि व्यापादयेत्, अनृतौ दुर्दिने च शीतदोषान् पूतिनस्यं शिरोरोगं च जनयेत्; तस्मादेते न शिरोविरेचनार्हाः ॥ २१ ॥

शिरोविरेचन न देने का कारण—ऊपर २०वें गद्य में जिन्हें शिरोविरेचन देने का निषेध किया गया है, उनका यहाँ कारण-निर्देश किया जा रहा है—अजीर्ण से पीड़ित तथा जिन्होंने अभी-अभी भोजन किया है, उन व्यक्तियों को नस्य का प्रयोग कराने से दोष ऊपर की ओर [illegible] तथा प्रतिश्याय रोगों को पैदा कर देते हैं। जिन्होंने अभी स्नेहपान किया है, [illegible] है अथवा उक्त पेयों को जो पीना चाहते हैं, उन्हें यदि नस्य [illegible] करने वाले व्यक्तियों के मुख तथा नाक से स्राव होने लगता है, आँखों में [illegible] अँधेरा (जिसे तिमिर रोग कहते हैं) छा जाता है, [illegible] किये हुए व्यक्ति को नस्य का सेवन कराने से [illegible] को प्रतिश्याय हो जाता है। भूख से पीड़ित व्यक्तियों को नस्य का प्रयोग कराने से [illegible] प्यास से पीड़ित व्यक्तियों को नस्य सेवन कराने से प्यास की वृद्धि, मुखशोष, [illegible] करने से मतवाले तथा मूर्च्छित व्यक्तियों को नस्य देने से [illegible] व्यक्तियों को निरूहवस्ति का प्रयोग कराने पर होता है [illegible] को नस्य का सेवन कराने से अत्यन्त पीड़ा होने लगती है। मैथुन, व्यायाम तथा मद्यपान करने से थके हुए व्यक्तियों

१. [illegible] इति पा०।

को शिरोविरेचन देने से शिर, कंधा, आँख तथा छाती में पीड़ा होती है। नवज्वर तथा शोक से पीड़ित व्यक्तियों को नस्य का प्रयोग कराने से बढ़ी हुई गर्मी नेत्र-नाड़ियों का अनुसरण करती हुई तिमिर रोग (रतौंधी) तथा ज्वर को बढ़ा देती है। विरेचन किये हुए व्यक्ति को यदि नस्य का प्रयोग कराया जाता है, तो उससे प्रकुपित हुआ वातदोष इन्द्रियों की शक्ति का विनाश कर देता है। अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने के बाद नस्य का प्रयोग कराने से प्रकुपित हुआ कफदोष शिरःप्रदेश में गुरुता, खुजली तथा क्रिमिरोग को पैदा कर देता है, गर्भिणी स्त्री को नस्य का प्रयोग कराने से वह गर्भ में जकड़न पैदा कर देता है, जिससे बालक काना (ऐंचा-ताना), कुणि (लुञ्जा—जिसकी एक बाँह सूख गयी हो), पक्षाघात से पीड़ित या पीठसर्पी (पीठ के बल से सरकने वाला) हो जाता है। नये प्रतिश्याय (जुकाम) से पीड़ित रोगी यदि नस्य का सेवन करता है, तो उससे स्रोतों में अनेक प्रकार के विकारों की उत्पत्ति हो जाती है। जिस ऋतु में नस्य-ग्रहण का निषेध है, उन दिनों यदि नस्य का सेवन किया जाता है अथवा जिस दिन आकाश में बादल छाये हों, उस दिन नस्य का सेवन करने से शीतदोष के कारण पूतिनस्य तथा शिरोरोग उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ये सभी शिरोविरेचन के योग्य नहीं होते।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। देखें—अ० सं० सू० अ० २९।१०। नस्य-प्रयोग हेतु काल-नियम का विचार शीतऋतु तथा वर्षाऋतु में ही करना चाहिए। देखें—अष्टाङ्गसङ्ग्रह में उक्त गद्य की श्रीइन्दु कृत टीका। आगे तन्त्रकार ने भी २३वें गद्य में नस्यकाल की चर्चा की है। सुश्रुत के अनुसार—'तत्रैतद् द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले, पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणाम् अपराह्णे वातरोगिणाम्'। सु० चि० अ० ४०।२४। यही मत शार्ङ्गधराचार्य का भी है। देखें—कफ, पित्त, वायु को नष्ट करने के लिए क्रमशः पूर्वाह्ण में, मध्याह्न में तथा अपराह्ण में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। यदि अत्यन्त भयंकर सन्यास आदि रोग हो, तो रात्रि में भी नस्य का प्रयोग किया जा सकता है। वैसे सामान्यतः रात्रि में नस्य-प्रयोग निषिद्ध है। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ८।३। इसी प्रसंग में हम नस्य के योग्य रोगी की अवस्था का भी निर्देश कर दे रहे हैं—'अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत्। अशीतिवर्षादूर्ध्वञ्च नावनं नैव दीयते'॥ वही, ८।६।

विशेष—आवश्यकता पड़ने पर इन अवस्थाओं के आगे-पीछे भी नस्य का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु योग्य चिकित्सक से अनुमति लेकर।

शेषास्त्वर्हाः, विशेषतस्तु शिरोदन्तमन्यास्तम्भगलहनुग्रहपीनसगलशुण्डिकाशालूकशुक्रतिमिरवर्त्मरोगव्यङ्गोपजिह्विकार्धावभेदकग्रीवास्कन्धांसास्यनासिकाकर्णाक्षिमूर्धकपालशिरोरोगार्दितापतन्त्रकापतानकगलगण्डदन्तशूलहर्षचालाक्षिराज्यर्बुदस्वरभेदवाग्ग्रहगद्गदक्रथनादय ऊर्ध्वजत्रुगताश्च वातादिविकाराः परिपक्वाश्च; एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं, तद्ध्युत्तमाङ्गमनुप्रविश्य मुञ्जादीषिकामिवासक्तां केवलं विकारकरं दोषमपकर्षति ॥ २२ ॥

शिरोविरेचन के योग्य रोगी—इसके पहले २०वें गद्य में शिरोविरेचन के अयोग्य रोगियों के लक्षणों का वर्णन किया गया था, उसके बाद २१वें गद्य द्वारा उनकी सकारण अयोग्यता को समझाया गया है, तदनन्तर नस्य के योग्य रोगियों का परिचय प्रस्तुत है—नस्य सेवन के अयोग्य रोगियों को छोड़कर शेष सभी को नस्य का प्रयोग कराया जा सकता है; विशेष करके शिरोरोग, दन्तरोग, मन्यास्तम्भ (जिनकी गरदन जकड़ गयी हो), गलग्रह, हनुग्रह, पीनस (प्रतिश्याय), गलशुण्डिका, कण्ठशालूक, शुक्रविकार, तिमिर (रतौंधी) रोग, वर्त्मरोग, व्यंग (गालों पर पड़े हुए धब्बे, देखें—सु० नि० अ० १३।४५-४६), उपजिह्विका, अर्धावभेदक, ग्रीवा, कंधा, अंसफलक, मुख, नाक, कान, आँख, मूर्धाकपाल (शिरःकपाल) के रोग, शिरोरोग, अर्दित (मुखप्रदेश का लकवा), अपतन्त्रक, अपतानक, गलगंड, दन्तशूल, दन्तहर्ष, दाँतों का हिलना, आँखों के भीतर लाल रेखाएँ जैसी पैदा हो जाना, अर्बुद, स्वरभेद, वाग्ग्रह (बोलने में रुकावट का होना), गद्गद (हकलाना), क्रथन (जत्रु के ऊपरी भाग का वध होना या बार-बार रोमाञ्च का होना) आदि ऊर्ध्वजत्रुगत परिपक्व वात-विकारों में शिरोविरेचन का प्रयोग कराना चाहिए, क्योंकि इन सभी रोगों में शिरोविरेचन चिकित्सा सभी चिकित्साओं में प्रधान कही गयी है। ये नस्य उत्तमांग (शिरःप्रदेश) में प्रवेशकर के वहाँ रोगों को उत्पन्न

करने वाले दोषों को इस प्रकार दूर कर देते हैं, जिस प्रकार मूँज से इषीका (सरकंडा) को खींचकर निकाल-फेंक दिया जाता है।

वक्तव्य—इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के विचारों को पढ़ें—'नासायां प्रणीयमानमौषधं नस्यम्। नावनं नस्तः कर्मेति च संज्ञां लभते। नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्रावसेचितमौषधं स्रोतः शृङ्गाटकं प्राप्य व्याप्य च मूर्धानं नेत्रश्रोत्रकण्ठादिसिरामुखानि च मुञ्जादिषीकामिवासक्तामूर्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषामाशु दोषसंहतिमुत्तमाङ्गादपकर्षति'। अ० सं० सू० अ० २९।२। भाव स्पष्ट है और भाषा प्राञ्जल है। यहाँ अभी तक केवल नस्य कहकर विषय को आगे बढ़ा दिया है। इसके भेदोपभेदों का वर्णन तन्त्रकार च० सि० अ० ९ में श्लोक ८९ से प्रारम्भ करेंगे। इसी विषय को भगवान् धन्वन्तरि ने सु० चि० अ० ४० के २१वें गद्य से प्रारम्भ किया है।

प्रावृट्शरद्वसन्तेतरेष्वात्ययिकेषु रोगेषु नावनं कुर्यात् कृत्रिमगुणोपधानात्; ग्रीष्मे पूर्वाह्णे, शीते मध्याह्ने, वर्षास्वदुर्दिने चेति ॥ २३ ॥

नस्य-प्रयोग के काल—सामान्य रूप से प्रावृट् (आषाढ, सावन), शरद् (कार्तिक, मार्गशीर्ष) तथा वसन्त (फाल्गुन, चैत्र) ऋतुओं में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। यदि नस्य प्रयोग की अत्यन्त आवश्यकता हो तो ग्रीष्म ऋतु के पूर्वाह्ण में, शीतऋतु के मध्याह्न में और वर्षाकाल में जिस दिन आकाश में बादल न छाये हों, उस दिन नस्य का प्रयोग कराया जा सकता है।

वक्तव्य—संकटकालीन व्यवस्था को स्थायी व्यवस्था नहीं मान लेना चाहिए। किन्तु उससे तात्कालिक व्यवहार चलाया जा सकता है। संशोधन की दृष्टि से आयुर्वेदशास्त्र में पञ्चकर्मों का विधान विस्तृत रूप से बतलाया गया है, उनमें नस्य का भी प्रमुख स्थान है, ऊर्ध्वजत्रु (गले से ऊपर के अवयवों) में होने वाले रोगों को शान्त करने की दृष्टि से। आयुर्वेद में ज्योतिषशास्त्रोक्त ऋतुओं का तथा संशोधन की दृष्टि से अथवा संचय, प्रकोप, प्रशम की दृष्टि से निर्धारित ऋतुओं का भी ग्रहण किया जाता है, जिनके सम्बन्ध में चरक तथा सुश्रुत का एकमत है। देखें—च० वि० अ० ८।१२५ तथा सु० सू० अ० ६।१०। ध्यान देने योग्य विषय यह है कि चरक ने प्रारम्भ में ज्योतिषशास्त्रोक्त ऋतुओं को ही स्वीकार किया है, परन्तु संशोधन को ध्यान में रखकर फिर आगे उक्त ऋतु-विधान को स्वीकार कर लिया। वास्तव में ऋतु-विधान सार्वभौमिक दृष्टि से विचारणीय विषय है।

तत्र श्लोकाः—

इति पञ्चविधं कर्म विस्तरेण निदर्शितम्। येभ्यो यन्न हितं यस्मात् कर्म येभ्यश्च यद्धितम् ॥
[1]न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुधः। स्वयमप्यत्र [2]वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ॥२५॥
उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालबलं प्रति। यस्यां कार्यमकार्यं [3]स्यात् कर्म कार्यं च वर्जितम् ॥
छर्दिहृद्रोगगुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सिते। अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं [4]कुष्ठिनां वस्तिकर्म च ॥२७॥
तस्मात् सत्यपि निर्देशे कुर्यादूह्य स्वयं धिया। विना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव सा ॥२८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
पञ्चकर्मीयसिद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय में कुछ श्लोक कहे गये हैं—इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में पञ्चकर्म का विस्तारपूर्वक निर्देश किया गया है, जिन्हें जो कर्म जिस कारण से अहितकारक हैं और जिन्हें जो हितकारक हैं, वह भी इस अध्याय में बतलाया गया है। शास्त्रज्ञ चिकित्सक को चाहिए कि वह इस अध्याय

१. 'न चैतदेवं निर्दिष्टमेकान्तेन समाश्रयेत्' इति पा०। ३. 'स्यादकार्यं कार्यमेव च' इति पा०।
२. 'भिषजा' इति पा०। ४. 'कुष्ठार्ते' इति पा०।

में जो कुछ विषय कहा गया है, उस विषय को एकान्ततः स्वीकार न कर ले, क्योंकि उसे अपनी बुद्धि से भी परिस्थितिवश तर्क कर लेना चाहिए। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न हो सकती है, जो शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विषय है, वह परिस्थिति के प्रतिकूल हो और जो करना चाहिए वह शास्त्र के प्रतिकूल हो, किन्तु उससे पूरा लाभ होने की सम्भावना हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। यह अधिकार केवल देश, काल, परिस्थिति के जानकार शास्त्रज्ञ चिकित्सक को ही है। जैसे—हृदयरोग तथा गुल्मरोग में वमन नहीं कराया जाता है, किन्तु इनकी चिकित्सा में वमन का विधान परिस्थितिवश किया गया है, इसे शास्त्र-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कुष्ठरोगियों के लिए वस्तिकर्म का निषेध है, किन्तु अवस्थानुसार कुष्ठरोगियों को भी निरूहवस्ति का विधान किया गया है। यह भी परिस्थिति विशेष की इतिकर्तव्यता है। इन उदाहरणों को देखकर शास्त्र का निर्देश होने पर भी विद्वान् चिकित्सक को स्वयं अपनी तर्कबुद्धि से विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए, रोगी के अकस्मात् स्वस्थ हो जाने वाली सिद्धि को शास्त्रकारों ने यदृच्छा सिद्धि (काकतालीय-न्याय) कहा है। वास्तविक सिद्धि वही है, जो युक्तिपूर्वक चिकित्सा करने के बाद प्राप्त होती है। यदृच्छासिद्धि चिकित्सक की मूर्खता को प्रकट करती है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा संपादित संस्करण में २४वें श्लोक के ऊपर 'तत्र श्लोकः' दिया है और आगे के चार श्लोकों के ऊपर 'भवन्ति चात्र' उद्धृत है। सन् १९३३ ई० के निर्णयसागरीय संस्करण की मूल प्रति में पाँचों श्लोकों के ऊपर 'भवन्ति चात्र' और सन् १९२२ ई० वाली निर्णयसागरीय प्रति में 'तत्र श्लोकाः' उद्धृत है। इन उपसंहारात्मक श्लोकों में युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्सा के क्षेत्र में ऊह (तर्क) को महत्त्व दिया गया है। ध्यान देने योग्य विषय यह है कि युक्तियुक्त तर्क ही श्रद्धेय होता है, अन्यथा केवल तर्क अमान्य होता है। उसके सम्बन्ध में कहा है—'तर्कोऽप्रतिष्ठः'। याद रखें, 'पैर में चक्की बाँधकर हिरन न कूदा होय' यह भी एक तर्क है, अतः सावधान !

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता सिद्धिस्थान में पञ्चकर्मीया-सिद्धि नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातो [1]वस्तिसूत्रीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पञ्चकर्मीया-सिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वस्तिसूत्रीया-सिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

कृतक्षणं शैलवरस्य रम्ये स्थितं धनेशायतनस्य पार्श्वे।
महर्षिसङ्घैर्वृतमग्निवेशः पुनर्वसुं प्राञ्जलिरन्वपृच्छत् ॥ ३ ॥

प्रस्तावना—धनेश (देवताओं के खजाञ्ची कुबेर) के आयतन (घर) शैलवर (पर्वतश्रेष्ठ हिमालय) के एक रमणीक भाग में सुखपूर्वक बैठे हुए तथा महर्षि समूह द्वारा घिरे हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से उनके शिष्य अग्निवेश ने हाथ जोड़कर (विनम्रभाव से) पूछा।

१. 'वस्तिसूत्रीयसिद्धिं' इति पा०।

वक्तव्य—भगवान् पुनर्वसु आत्रेय सर्वविद्याविशारद थे। अतएव विविध विषय का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से महर्षिसमूह प्रतिदिन आकर उनसे अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करते थे। ये प्रतिदिन अपने नित्य एवं नैमित्तिक सन्ध्यावन्दनादि कार्यों से निवृत्त होकर समाज को उपदेश दिया करते थे।

वस्तिर्नरेभ्यः किमपेक्ष्य दत्तः स्यात् सिद्धिमान्, किम्मयमस्य नेत्रम्।
कीदृक्प्रमाणाकृति किङ्गुणं च केभ्यश्च कियोनिगुणश्च वस्तिः ॥ ४ ॥
निरूहकल्पः प्रणिधानमात्रा स्नेहस्य का वा शयने विधिः कः।
के वस्तयः केषु हिता इतीदं श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षिः ॥ ५ ॥

अग्निवेश के वस्ति सम्बन्धी प्रश्न—१. जब मनुष्यों को वस्ति-प्रयोग कराया जाता है, तो उसमें किन-किन विषयों की सावधानी रखनी पड़ती है, जिनके कारण दी गयी वस्ति कारगर (प्रभावकारी) होती है? २. वस्ति का नेत्र (नली) किन द्रव्यों का बनाया जाता है? ३. नेत्र का प्रमाण (लम्बाई-गोलाई या मोटाई) तथा उसका आकार कैसा होना चाहिए और उसमें कौन-कौन गुण होने चाहिए? ४. किन व्यक्तियों के लिए किस योनि का और किस गुणवाला वस्तिपुटक होना चाहिए? ५. निरूहवस्ति की कल्पना (रचना) किस प्रकार की जाती है? ६. निरूहवस्ति के प्रयोग की मात्रा क्या होती है? ७. स्नेह(अनुवासन)वस्ति के प्रयोग की मात्रा क्या होती है? ८. वस्ति-प्रयोग कराते समय रोगी को किस प्रकार सोना (लेटना) चाहिए? ९. वस्तियाँ कौन-कौन होती हैं? १०. वे वस्तियाँ किनके लिए हितकर होती हैं? अग्निवेश के इन वस्ति-विषयक प्रश्नों को सुनकर महर्षि उनके प्रश्नों का उत्तर अगले पद्यों द्वारा दे रहे हैं।

[1]समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि।
वस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥ ६ ॥

१. पहले प्रश्न का उत्तर—१. दोष, २. औषध, ३. देश, ४. काल, ५. सात्म्य, ६. अग्नि, ७. सत्त्व (मन), ८. ओक, ९. वय, १०. बल—इन विषयों को भली-भाँति देख (विचार) कर प्रयुक्त की गयी वस्ति अपने गुणों के अनुकूल लाभकारक होती है और उससे सभी कर्मों (चिकित्सा-विधियों) में सफलता प्राप्त होती है।

वक्तव्य—वस्ति-प्रयोग करने और कराने के पहले चिकित्सक को चरक-सूत्रस्थान के १५वें उपकल्पनीयाध्यायोक्त विषय का मनन कर लेना चाहिए, क्योंकि उसमें कहा है कि ऐसे अवसरों पर कुशल चिकित्सकों की भी बुद्धि व्याकुल हो जाती है, अल्प बुद्धि वालों की तो बात ही क्या कहनी है। अतः चिकित्सकों को निम्नोक्त ११ भावों का विचार कर लेना चाहिए—१. दोष, २. भेषज, ३. देश, ४. काल, ५. बल, ६. शरीर, ७. आहार, ८. सात्म्य, ९. सत्त्व, १०. प्रकृति और ११. वयस्। देखें—च० सू० अ० १५।५। आगे उसी विषय का पुनः स्मरण कराया है—च० सू० अ० १५।१७। इस प्रकार इस अध्याय में दो बार इन परीक्षा-विधियों की चर्चा करने के बाद चरक-विमानस्थान अ० १।३ में परीक्ष्य विधियों का परिगणन इस प्रकार किया गया है—१. दोष, २. भेषज, ३. देश, ४. काल, ५. बल, ६. शरीर, ७. सार, ८. आहार, ९. सात्म्य, १०. सत्त्व, ११. प्रकृति, १२. वयस्। इसके आगे चरक-विमानस्थान अध्याय ८ में भी कुछ चिकित्सा-विधियाँ कही गयी हैं, इन सभी का विचार करके किया गया वस्तिप्रयोग पूर्ण लाभकर होता है।

श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अत्र दोषादयो ये दश परीक्षणीयाः प्रोक्तास्तेष्वेत उपकल्पनीयोक्तदोषभेषजादेकादशकस्य तथा रोगभिषग्जितीयोक्तदशपरीक्ष्यावरोधो व्याख्येयः'। दूसरे टीकाकारों ने उपलब्ध चरकसंहिता के उक्त पाठ को देखकर प्रतिवाद किया है, कि ९ परीक्ष्य विषयों को श्रीचक्रपाणि ने १० लिखा है। वास्तव में जिसका आधार लेकर श्रीचक्रपाणि ने दस परीक्ष्य विषयों की गणना की है, वह पाठ इस प्रकार है। देखें—**'समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि'**। न कि—**'सत्वादि'**। इसके पूर्व श्रीचक्रपाणि ने च० चि० अ० ३०।३२६ की टीका में इसी पाठ को उद्धृत किया है, जो सर्वात्मना शुद्ध एवं प्रसंगोचित है। अतः हमने भी इसी पाठ को सादर उद्धृत किया है। 'ओकसात्म्य' का परिचय च० वि० अ० १।२२ की चरक-

१. 'अपेक्ष्य' इति पा०।

चन्द्रिका टीका में देखें। आयुर्वेदाचार्य पं० हरिदत्तशास्त्री ने उक्त श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'सत्वादि' इति पाठस्त्वशुद्धः, दोषादिदशकस्य वक्तव्यत्वात्, अन्यथा नवैव स्युः। अनिष्टं चैतत्, इति विभावयन्तु सुधियः। अन्य टीकाकारों ने तो 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' का अन्धानुकरण मात्र किया है। श्रीजयदेव ने 'आदि' पाठ स्वीकार न करके वहाँ 'आद्य' पाठ को स्वीकार कर उसका अर्थ 'आहार' किया है।

सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः[1] ।
नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैर्नेत्राणि कार्याणि सु(त्रि)कर्णिकानि[2] ॥ ७ ॥

२. दूसरे प्रश्न का उत्तर—सोना, चाँदी, राँगा, ताँबा, पीतल, काँसा, हड्डी, शस्त्र (लोहा), द्रुम (लकड़ी), बाँस, दाँत, नल (नरकट), विषाण (सींग) तथा मणियों से नेत्र (नली) का निर्माण करना चाहिए, उस नेत्र में सुन्दर (अथवा तीन) कर्णिकाएँ (गोल धारियाँ) होनी चाहिए।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि का मत देखें—'नेत्र (नली) सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पीतल, दाँत, सींग, मणि या काँच, सारयुक्त लकड़ी का बनाना चाहिए। ये सभी चिकने हों, दृढ़ हों, गायकी पूँछ की आकृति के अर्थात् जड़ में मोटे, आगे की ओर क्रमशः पतले, सीधे तथा उनका मुख आगे से गोल होना चाहिए। सु० चि० अ० ३५।१२। यहाँ 'सुकर्णिकानि' से 'त्रिकर्णिकानि पाठ ही उचित है, इसका सम्बन्ध आगे से स्पष्ट हो जाता है। देखें—श्लोक १० का प्रथमार्ध।

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसम्मितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम्।
स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहिच्छिद्राणि वर्त्यापिहितानि चैव ॥ ८ ॥
यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति।
ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि ॥ ९ ॥
स्यात् कर्णिकैकाग्रचतुर्थभागे मूलाश्रिते वस्तिनिबन्धने द्वे।

३. तीसरे प्रश्न का उत्तर—छः वर्ष के बालक के लिए ६ अंगुल लम्बा, बीस वर्ष के युवक के लिए १२ अंगुल लम्बा और बारह वर्ष के व्यक्ति के लिए ८ अंगुल लम्बा वस्तिनेत्र होना चाहिए। अब वस्तिनेत्र के अगले भाग में होने वाले छिद्र का परिचय कराया जा रहा है—छः अंगुल लम्बी नली का छिद्र इतना बड़ा होना चाहिए कि उसके भीतर आगे की ओर से मूंग का दाना आसानी से चला जाय, बारह अंगुल की नली से छोटी बेर की गुठली और आठ अंगुल की नली से मटर का सूखा बीज चला जाय। नेत्र का छिद्र कपड़े की बत्ती से इसलिए बन्द रखना चाहिए कि उसके भीतर वायु का प्रवेश न हो जाय। मनुष्य की अवस्था के अनुसार उस व्यक्ति के अँगूठा की भाँति मोटा नली का ऊपरी भाग तथा कनिष्ठिका (सबसे छोटी) अंगुली के समान मोटा नली के नीचे का भाग होना चाहिए। अर्थात् वस्तिनेत्र का पतला भाग गुद के भीतर प्रवेश कराया जाता है और मोटा भाग वस्तिपुटक में जुड़ा रहता है। वस्ति का नेत्र (नली) सीधा, गाय की पूँछ की आकृति वाला (यहाँ गोपुच्छ की उपमा देने का भी यही तात्पर्य है, कि वस्ति का नेत्र ऊपर की ओर क्रमशः मोटा और नीचे की ओर क्रमशः पतला तथा चिकना होना चाहिए। नेत्र के आगे का भाग (नेत्रमुख) गोली के आकार का होना चाहिए, अर्थात् उसका अगला भाग नोकदार न हो, उस नेत्र के चतुर्थ भाग में एक कर्णिका (घेरा) आगे की ओर हो और दो कर्णिकाएँ वस्ति को बाँधने के लिए नेत्र (नली) के मूल भाग में बनानी चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर छः, बारह तथा बीस वर्ष की अवस्था वालों के लिए विविध नाप की वस्तियों के प्राचीन प्रकार का वर्णन किया गया है। उस समय नेत्र के मुख को बन्द करने के लिए कपड़े की बत्ती डालकर बन्द करने की आज्ञा दी गयी है। आजकल वहाँ एक टोंटी जैसी लगा दी जाती है। सुश्रुत ने वस्ति-प्रयोग एक वर्ष के बालक से ही प्रारम्भ कर दिया है। देखें—'इसमें एक वर्ष के बच्चे के लिए ६ अंगुल, आठ वर्ष के बच्चे के

१. 'कांस्यायसास्थिद्रुमवेणुदन्तैः' इति पा०।
२. 'नेत्राणि शृङ्गैर्मणिभिर्नलैश्च त्रिकर्णिकानि प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' इति पा०।

लिए ८ अंगुल तथा सोलह वर्ष के लिए १० अंगुल नेत्र की लम्बाई होनी चाहिए। इनकी मोटाई क्रमशः कनिष्ठिका (सबसे छोटी) अंगुली, अनामिका (उसके बगल वाली) अंगुली, मध्यमा (बीच की) अंगुली के बराबर होनी चाहिए। इनमें कर्णिका (घुमावदार रेखा) आगे से डेढ़, दो तथा साढ़े तीन अंगुल पर बनवानी चाहिए। इनका वह भाग जो गुद के भीतर प्रवेश कराया जाता है, उसकी आकृति कंकपक्षी, श्येन (बाज) पक्षी एवं मोर के पंख की नली के समान बनानी चाहिए। इन नेत्रों के मुख (अग्रभाग वाला छिद्र क्रमशः उतना बड़ा हो जिसमें मूंग, उड़द, मटर के सूखे बीज भीतर जा सकें। यद्यपि इन दालों की आकृतियाँ भी छोटी, बड़ी अनेक प्रकार की दिखलायी देती हैं, किन्तु यहाँ मध्यम आकृति वाले मूंग आदि का ही ग्रहण करना चाहिए। उस वस्ति में आस्थापन (निरूह) द्रव्य की मात्रा रोगी के हाथ से दो अंजलि, चार अंजलि और आठ अंजलि रखनी चाहिए। बीच के वर्षों में नेत्र तथा वस्ति द्रव का परिमाण रोगी के वय, बल और शरीर को देखकर निर्धारित कर लेना चाहिए। २५ वर्ष के ऊपर नेत्र-नलिका १२ अंगुल लम्बी, मूल में अँगूठे के बराबर मोटी, आगे से कनिष्ठिका अंगुली के बराबर मोटी, अगले भाग में तीन अंगुल की दूरी पर बनी हुई कर्णिका वाली, गीध के पंख की नाड़ी के जाने योग्य, बेर की गुठली के बराबर छेद वाली, अथवा भिगाये हुए मटर के प्रवेश योग्य छिद्र वाली होनी चाहिए। वस्ति को बाँधने के लिए सभी नेत्रों की जड़ में दो-दो कर्णिकाएँ होनी चाहिए। यहाँ आस्थापन द्रव्य का परिमाण १२ अंजलि रखना चाहिए। ७० वर्ष से ऊपर की अवस्था वालों के लिए भी नेत्र का प्रमाण यही होता है, परन्तु द्रव्य का प्रमाण १६ वर्ष के समान ही है। देखें—सु० चि० अ० ३५।७-९। वृद्धवाग्भट के विचारों के लिए देखें—अ० सं० चि० अ० २८।२१।

विशेष वक्तव्य—नेत्र उसे कहते हैं, जिसका अगला भाग गुद में प्रवेश कराया जाता है। उसका कितना भाग गुद के भीतर प्रवेश कराना चाहिए, यह ऊपर बतलाया गया है। उसमें किसी प्रकार की भूल न हो जाय, इसके लिए कर्णिका से उस नेत्र को चिह्नित करने की तन्त्रकार ने आज्ञा दी है। नेत्र के अन्तिम भाग में बनायी गयी दो कर्णिकाएँ उसे बाँधने के प्रयोग में आती हैं। वस्ति किन द्रव्यों से बनायी जाती है, इसका विवेचन अगले श्लोकों में किया जायेगा।

आधुनिक दृष्टि से वस्ति—आयुर्वेद में जिसे वस्ति संज्ञा दी गयी है, उसे आज एनीमा (Enema) कहते हैं। इसका तात्पर्य है, किसी औषधविशेष को गुदमार्ग या योनिमार्ग से भीतर पहुँचाना। सामान्य जन का विश्वास है, कि एनीमा का प्रयोग तभी कराया जाता है, जब मलबन्ध हो गया हो, शौच न हो रहा हो, तब इससे औषधद्रव को गुदद्वार से आँत में प्रवेश कराकर दस्त लाने का प्रयास किया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से एनीमा का प्रयोग महत्त्वपूर्ण होता है। जो कार्य दस्तावर दवाइयाँ कभी-कभी नहीं कर पातीं वह कार्य एनीमा के प्रयोग से सुखपूर्वक और शीघ्रता से हो जाता है। एनीमा का प्रयोग बड़ी आँत पर होता है, इससे आँतों पर एक प्रकार का दबाव (Distension) पड़ता है, जिससे आँत की गति बढ़कर (Hyper peristalsis) वह मल को बाहर कर देती है।

एनीमा के ८ भेद—१. परगेटिव एनीमा, २. ग्लिसरीन एनीमा, ३. एण्टीस्पाज्मोडिक एनीमा, ४. एस्ट्रीन्जेण्ट एनीमा, ५. एन्थेलमेण्टिक एनीमा, ६. सिडेटिव एनीमा, ७. इमोलिएण्ट एनीमा, ८. न्यूट्रिएण्ट एनीमा। अब हम यहाँ पर एनीमा के भेदों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—१. डूश (Douche). २. एनीमा सिरिञ्ज (Enema syringe) तथा ३. ग्लिसिरीन सिरिञ्ज (Glycerine syringe)।

१. **डूश**—यह टीन के पात्र पर तामचीनी (Enamel) चढ़ाया हुआ एक पात्र होता है। इसके ऊपरी हिस्से में एक छेद होता है, जिससे उसे दीवाल आदि पर किसी खूंटी में लटकाया जा सकता है। निचले हिस्से में सामने की ओर एक टोंटी जैसी निकली रहती है, उस पर ६ फुट लम्बी एक रबर की नली चढ़ा दी जाती है, रबर की नली के दूसरे सिरे पर एक पेंच (Screw) चढ़ा देते हैं, इस स्क्रू के अगले भाग में एक नॉजल लगा देते हैं। यह नॉजल काले रंग की मुड़ी हुई लगभग ३ इंच लम्बी एक नली होती है। एनीमा देते समय इस नॉजल को गुद के भीतर प्रवेश करा दिया जाता है। आकृति-भेद से यह नॉजल छोटा तथा बड़ा होता है। पुरुषों में छोटे का ही प्रयोग होता है। जो कुछ बड़ा तथा मुड़ा हुआ होता है, वह स्त्रियों में प्रयुक्त होता है। उसे वेजिनल इन्जेक्शन (Vaginal injection) कहते हैं।

२. **एनीमा सिरिञ्ज**—यह एक रबड़ की नली होती है, जिसके बीच में एक गोला बना होता है, जिसकी शकल गेंद की जैसी दिखलायी देती है, इसी के बार-बार दबाने और छोड़ने से औषधि गुदद्वार के भीतर प्रवेश हो जाती है।

३. **ग्लिसरीन सिरिञ्ज**—इसके बीचोंबीच एक नली रहती है, जो लम्बी होती है। इसके एक सिरे पर पिस्टन लगा रहता है, ये दोनों (नॉजल और पिस्टन) पेंच पर कसे जाते हैं। पिस्टन एक प्रकार की काँच की नली का छेद युक्त ढक्कन है। इस छेद में एक रबड़ की या धातु की नली को फँसा देते हैं, जिसे आवश्यकतानुसार नीचे-ऊपर किया जा सकता है। इस नली के बाहर की ओर वाले मुख पर गोल आकार वाले तीन कुन्दे लगे रहते हैं, जो नली को ऊपर-नीचे करने में सहायक होते हैं। एनीमा के ये सभी भेद आयुर्वेदीय वस्तियों के प्रत्यक्षरूप में प्रतिनिधि हैं।

जारद्गवो माहिषहारिणौ वा स्याच्छौकरो वस्तिरजस्य वाऽपि ॥ १० ॥
दृढस्तनुर्नष्टसिरो विगन्धः कषायरक्तः सुमृदुः [1]सुशुद्धः।
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः ॥ ११ ॥
वस्तेरलाभे प्लवजो गलो वा स्यादङ्कपादः सुघनः पटो वा।

४. **चौथे प्रश्न का उत्तर**—बूढ़ा बैल, भैंसा, हरिण, सूअर, बकरा इन पुरुष-प्राणियों की दृढ़, पतली, शिराओं से रहित, गन्धरहित, कषायरक्त (गेरुए लाल वर्णवाली) सुमृदु (स्पर्श में सुकोमल) तथा अत्यन्त शुद्ध वस्ति का ग्रहण करना चाहिए। मनुष्यों की अवस्था को देखकर उसके अनुसार इनमें से किसी एक वस्ति को लेकर नेत्र (नली) के साथ उसे जोड़कर धागे आदि से दृढ़ता के साथ उसे बाँध देना चाहिए। यदि ऊपर कहे गये प्राणियों की वस्ति (मूत्राशय) न मिल सके तो पानी में तैरने वाले पक्षी विशेष, बकरा अथवा चमगादड़ के चर्म की अथवा सुघनवस्त्र (जिसमें से द्रव पदार्थ बाहर चूने न लगे) की वस्ति बनायें।

वक्तव्य—प्राचीनकाल में वृद्धबैल आदि मरे हुए प्राणियों के मूत्राशय को लेकर उसे साफ कर तथा सुखा-कर उसे सुरक्षित कर लेते थे, बाद में उससे वस्ति का निर्माण किया जाता था। आज चर्मशिल्प के विशेषज्ञ चमड़े को मुलायम बना रखने के अनेक उपाय जानते हैं। ऐसा उपाय पहले भी रहा है, जिससे वे लोग उक्त प्राणियों के वस्तिकर्म को मुलायम बनाये रखते थे। जो द्रव-द्रव्यों के भर जाने पर तनावपूर्ण हो जाता था और दबाने पर वेग के साथ उसमें भरा हुआ द्रव गुदमार्ग से आँतों में पहुँच जाता था आज इस सम्बन्ध में नये आविष्कार कर लिये गये हैं, जैसा कि हमने ऊपर ८-९ श्लोक के वक्तव्य में संकेत किया है। वस्तियन्त्र में वस्ति (मूत्राशय) अवयव की प्रधानता होने के कारण ही उसे वस्ति कहा जाने लगा है। वस्ति द्वारा प्रयुक्त होने वाली औषधि को भी वस्ति ही कहा जाता है, जैसे—पेड़ का नाम भी आम और उसके फल का नाम भी आम। उपर्युक्त प्राणियों के मूत्राशय के अभाव में बकरे आदि की त्वचा का उपयोग, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, कर लेना चाहिए।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार—'वस्तयश्च वन्ध्या (पाठभेद के अनुसार—अवृद्धानां) मृदवो नातिबहला-दृढाः प्रमाणवन्तो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम्'। 'नेत्रालाभे हिता नाडी नलवंशास्थिसम्भवा। वस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवं घनम्' ॥ सु० चि० अ० ३५।१३-१४। अर्थात् वस्तियाँ बांधने योग्य (पाठभेद के अनुसार— उन प्राणियों की जो वृद्ध न हों; यदि हम 'जारद्गवो' आदि पाठ को स्वीकार कर लेते हैं, तो यह चरक के मत से विपरीत हो जाता है। अतएव ग्रन्थ-सम्पादकों ने इसे पाठभेद मानकर टिप्पणी में दिया है, न कि मूल में) कोमल, जो अधिक मोटी न हों, मजबूत, प्रत्येक की अवस्था के अनुसार अलग-अलग प्रमाणवाली, बैल, भैंसा, सूअर, भेड़ा के मूत्राशय द्वारा बनायी गयी हों। नेत्र के न मिलने पर नरकट, पतले बाँस, अस्थिनलिका से भी काम चलाया जा सकता है और वस्ति के अभाव में पतला चमड़ा या मजबूत अर्थात् घना बिना हुआ वस्त्र लेना चाहिए, जिसमें से पानी आदि द्रवपदार्थ चू न सके। इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचार देखें— अ० सं० सू० अ० २८।२२-२३ तथा अ० हृ० सू० अ० १९।१६-१७।

---

१. 'सुबद्धः' इति पा०।

आस्थापनार्हं पुरुषं विधिज्ञः समीक्ष्य पुण्येऽहनि शुक्लपक्षे ॥ १२ ॥
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्तयोगे [1]जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत ।

५. **पाँचवें प्रश्न का उत्तर**—आस्थापन (निरूह) वस्ति देने की विधि को भली-भाँति जानने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वह आस्थापन(निरूह)वस्ति का प्रयोग करने योग्य पुरुष की पूर्णरूप से परीक्षा करके अर्थात् उसे परीक्षा करने की दृष्टि से देखकर (उसमें दोष, वल, वय आदि का विचार कर) शुक्लपक्ष में, शुभ दिन (तिथि, नक्षत्र आदि) में, रोगी ने जो पहले खाया हो उसके भली-भाँति पच जाने पर, जब रोगी का मन एकाग्र हो जाय अर्थात् चंचल न हो, तो उस समय उसे आस्थापनवस्ति का प्रयोग करायें।

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां द्वे पञ्चमूले च पलोन्मितानि ॥ १३ ॥
अष्टौ फलान्यर्धतुलां च मांसाच्छागात् पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ।
पूतं यवानीफलबिल्वकुष्ठवचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम् ॥ १४ ॥
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलैर्युतं सुखोष्णैस्तु पिचुप्रमाणैः ।
गुडात् पलं द्विप्रसृतां तु मात्रां स्नेहस्य युक्त्या [2]मधु सैन्धवं च ॥ १५॥
प्रक्षिप्य वस्तौ मथितं खजेन [3]सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्वलीकम् ।
अङ्गुष्ठमध्येन मुखं पिधाय नेत्राग्रसंस्थामपनीय वर्तिम् ॥ १६ ॥
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम् ।
[4]समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने ॥ १७ ॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानम् ।
[5]सङ्कोच्य सव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्य प्रणयेत् ततस्तम् ॥ १८ ॥
स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं स्निग्धं [6]शनैर्ऋज्वनु पृष्ठवंशम् ।
अकम्पनावेपनलाघवादीन् पाण्योर्गुणांश्चापि विदर्शयंस्तम्[7] ॥ १९ ॥
प्रपीडय चैकग्रहणेन दत्तं नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत् ।

बलादि निरूहवस्ति—वला, गुरुच, हरड़, बहेड़ा, आँवला, रास्ना, दोनों पञ्चमूल (१. बृहत्पञ्चमूल—बेल, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, अरणी। २. लघुपञ्चमूल–सरिवन, पिठवन, भटकटैया, बड़ी कण्टकारी, गोखरू) इन सभी द्रव्यों को १-१ पल लें, मैनफल गिनकर ८ लें, बकरा का मांस आधी तुला (२०० तोला), इन द्रव्यों को एक साथ लेकर कुल द्रव्यों के मान से चौगुना पानी डालकर पकायें, जब चौथाई जल शेष रह जाय, तब उसे छानकर रख लें। इसमें अजवाइन, मैनफल, बेल की गुद्दी, कूठ, बालवच, सोया, नागरमोथा, पिप्पली, इनका कल्क १-१ पिचु (१-१ तोला) लें तथा गुड़, मधु, घी, तेल इन द्रव्यों की मात्रा का निर्धारण दोषों के अनुसार करके उक्त द्रव्यों को जब क्वाथ गुनगुना हो तभी मिला दें। यद्यपि ऊपर यह संकेत कर दिया है, कि उक्त द्रव्यों का मिश्रण दोषानुसार करना चाहिए, तो भी १ पल (४ तोला) गुड़, घी और तेल २ प्रसृत (१६ तोला) मधु एवं सैंधानमक युक्तिपूर्वक मिलायें। तदनन्तर इन सभी द्रव्यों को मथनी से मथकर वस्तिपुटक में भर दें, वस्ति में भरने के पहले उसे भली-भाँति गुब्बारा की भाँति फुला लें, जिससे उसमें सिकुड़न न रह जाय, क्योंकि जहाँ सिकुड़न रहती है उस अंश में कुछ-न-कुछ वायु रुकी रहती है, अतः उसे पूरी तरह फुला लें, उक्त औषधद्रव जब नेत्र के मुख तक भर जाय तब उसे अँगूठा के मध्यभाग से दबाये रखें, जिससे नेत्र के मुख की ओर से वायु वस्ति के भीतर प्रवेश न कर सके। वस्ति-प्रयोग करने के पहले रोगी के शरीर पर तेल की मालिश करा दें, रोगी से मल, मूत्र कर लेने के लिए कह दें, वह अधिक भूखा भी न हो, तदनन्तर जिसे निरूहवस्ति दी जा

१. 'जीर्णान्नमेकाग्रमुपाचरेत् तम्' इति पा०।
२. 'मधुसैन्धवादि' इति पा०।
३. 'वस्तिं ततः सव्यकरे निधाय' इति पा०।
४. 'समेऽथवेपन्नतमस्तके वा' इति पा०।
५. 'निकुञ्च्य' इति पा०।
६. 'शनैर्मृद्वृजुपृष्ठवंशम्' इति पा०।
७. 'हि दर्शयंस्तम्' इति पा०।

रही है, उसे समतल शयन (चौकी) पर लिटा दें, अथवा सिरहाने का भाग कुछ नीचा करा दें, यह शय्या अधिक ऊँची न हो, उस पर सुखद विस्तरा बिछा हो, उस पर रोगी को बायीं करवट आराम से लेटा दें, वह रोगी अपने शरीर को सीधा रखे, अपनी बाँई भुजा का तकिया लगा ले। चिकित्सक इस प्रकार लेटे हुए रोगी की दाहिनी टांग को सिकोड़ कर बायीं टाँग को सीधा फैला दे, परिचारक से कहे कि गुद-प्रदेश तथा उसके भीतर तेल अथवा घी चुपड़ दें, तदनन्तर नेत्र के चौथाई भाग को जहाँ एककर्णिका बनी होती है, वहाँ तक गुद के भीतर पृष्ठवंश की ओर प्रवेश करा दें। ध्यान रहे कि गुद के भीतर वस्तिनेत्र को प्रवेश कराते समय चिकित्सक का हाथ हिलना या काँपना नहीं चाहिए, अपितु उस समय वह अपना हस्तकौशल दिखलाये। वस्तिनेत्र को प्रवेश कराने के बाद वस्ति को दबाकर औषधद्रव को एक बार में भीतर प्रवेश करा दें, दवा के भीतर चले जाने पर धीरे से वस्तिनेत्र को गुद से बाहर निकाल लें।

वक्तव्य—ऊपर के पद्यों में आस्थापनवस्ति द्वारा दिये जाने वाले औषधयोग की कल्पना के एक भेद का वर्णन करके, वस्ति में द्रव्य को कैसे भरना चाहिए, भरते समय किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए, जिस रोगी को वस्ति का प्रयोग कराया जायेगा, उसके क्या कर्तव्य हैं, उसके लिए शयन कैसा होना चाहिए, उसके भेदों का वर्णन, रोगी को उस विस्तर पर कैसे सोना (लेटना) चाहिए और उसके बाद चिकित्सक के क्या कर्तव्य हैं, उनका वर्णन किया गया है। चिकित्सक के गुणों में अकम्पन, अवेपन और लाघव आदि गुण महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका प्रदर्शन अवसर आने पर चिकित्सक को अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ये उसके चिर-कालिक अभ्यास करने से अर्जित गुण होते हैं। इन सभी का समावेश सुश्रुतोक्त 'लघुहस्त' शब्द में है। देखें—सु० सू० अ० ३४।१९। व्याकरण की दृष्टि से अकम्पन और अवेपन शब्द एकार्थवाची हैं। देखें—'टुवेपृकम्पने' भ्वादिगणीय धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'वेपन' रूप बनता है और 'कपिकिञ्चिच्चलने' भ्वादिगणीय धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'कम्पन' शब्द की निष्पत्ति होती है। देखें—'अथ वेपथुः कम्पः' अमरकोष १।७।३८। तो भी प्रसंगानुसार यहाँ अकम्पन का अर्थ होगा—हाथ का न लड़खड़ाना; और अवेपन का अर्थ होगा—घबड़ाहट के अभाव के कारण चिकित्सक के हृदय का न थरथराना। अकम्पन का सम्बन्ध चिकित्सक के हाथ से और अवेपन सम्बन्ध उसके हृदय से स्थिर करना अधिक प्रसंगोचित होगा।

प्रपीड्य चैकग्रहणेन—इसका अर्थ है, कि वस्तिपुटक को एक ही बार में दबाकर अधिकांश औषधद्रव को भीतर पहुँचा देना। ध्यान रहे कि यह 'एकग्रहण' धीरे-धीरे हो, न कि वेग के साथ और न ही अधिक धीरे। सम्पूर्ण औषधद्रव को भीतर पहुँचाने का प्रयत्न न करें, ऐसा करने से आँतों में वायु का भी प्रवेश हो सकता है।

ऊपर तन्त्रकार ने जो क्वाथ-निर्माण की मात्रा कही है, वह मात्रा एक रोगी को एक बार में देने से अधिक है, ऐसा ही श्रीचक्रपाणि का भी मत है। अतः उसे अनेक रोगियों के लिए कुशल चिकित्सक को प्रयोग कराना चाहिए। यह भी सम्भव नहीं है, कि उक्त औषधद्रव का संग्रह करके बाद में और किसी रोगी पर प्रयोग किया जा सके, क्योंकि उसका प्रयोग गुनगुना रहने पर ही किया जा सकता है। आगे ३०वें श्लोक के उत्तरार्ध से ३३वें श्लोक के पूर्वार्ध तक इसकी विविध मात्राओं का निर्देश किया गया है, उसे देखें। किन्तु इस सम्बन्ध में प्राचीन टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है।

प्रथम मत—'यथा कुर्वन्ति स उपायः'। च० सू० अ० २६।१३। इस सम्पूर्ण गद्य को ध्यान से पढ़कर जो निष्कर्ष निकाला गया है, तदनुसार शास्त्रकार के निर्देशानुसार औषधयोग को तैयार कर मात्रानुसार रोगी पर प्रयोग करना चाहिए, शेष द्रव्य का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग चिकित्सक की कुशलता या अकुशलता पर निर्भर है। यही मत उचित प्रतीत होता है।

द्वितीय मत—दूसरे विद्वानों का कथन है, यह मात्र दिशा-निर्देश है, कि इतने द्रव्यों को इस परिमाण में लेकर इस विधि से तैयार करना चाहिए, फिर यथावसर उसमें न्यूनाधिक करना चिकित्सक का दायित्व है। यह समाधान भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आचार्य डल्हण ने मात्रा के प्रमाण को उद्धृत करते हुए सु० चि० अ० ३८।३-६ के व्याख्यान में लिखा है—'यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम्। निमेषोन्मेषकालो वा सा मात्रा परिकीर्तिता'॥ आगे पराशर के मत से मात्रा का निर्देश किया गया है—'जानुमण्डलमावेष्ट्य दत्ते दक्षिणपाणिना। कृष्टनेत्रश्छटाशब्दशतं तिष्ठेद-वेगवान्'॥ पराशरसंहिता। यहाँ जो वस्ति के लौट आने के समय का निर्देश किया गया है, वह क्रूरकोष्ठ वाले

पुरुष का है। महर्षि आत्रेय द्वारा कथित २०वें श्लोक के पूर्वार्ध का समर्थन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'वस्ति सव्यकरे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत्। एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम्' ॥ सु० चि० अ० ३८।४। चरकोक्त उक्त विषय के साथ तुलना की दृष्टि से इसी अध्याय के ३रे गद्य को भी देखें।

आचार्य गंगाधर ने जिस पाठ को स्वीकार किया है, तदनुसार सन् १९३३ में प्रकाशित चरकसंहिता मूलमात्र निर्णयसागरीय संस्करण में देखें। उसी पाठ को सन् १९२२ के संस्करण में भी उद्धृत किया है, केवल १९४१ ई० वाले संस्करण में यह परिवर्तन किया गया है। वास्तव में श्रीगंगाधर वाला पाठक्रम प्रयोग की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। यही दृष्टिकोण सुश्रुत का भी है, जैसा कि हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। वृद्धवाग्भट के अनुसार देखें—अ० सं० सू० अ० २८।३५। इन्होंने इस सम्बन्ध में 'अन्ये पुनराहुः'—कहकर दूसरों के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है—'मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात् स्नेहमाक्षिकयोः पृथक्। कर्षार्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥ सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत्। माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ॥ आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः' ॥ अ० सं० सू० अ० २८।४०-४२।

तिर्यक् प्रणीते तु न याति धारा गुदे व्रणः स्याच्चलिते तु नेत्रे ॥ २० ॥
दत्तः शनैर्नाऽऽशयमेति वस्तिः कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितश्च।
शीतस्त्वतिस्तम्भकरो विदाहं मूर्च्छां च कुर्यादतिमात्रमुष्णः ॥ २१ ॥
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्षस्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम्।
करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगं क्षामं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति ॥ २२ ॥
दाहातिसारौ लवणोऽति कुर्यात् तस्मात् सुयुक्तं सममेव दद्यात्।

वस्ति-प्रयोग में विविध दोष—१. यदि वस्तिनेत्र तिरछा करके लगाया जाय तो औषधद्रव (घोल) की धारा ठीक प्रकार से आँतों तक पहुँच पाती है। २. यदि वस्ति-प्रयोग करते समय नेत्र इधर-उधर हिल-डुल जाता है, तो गुदप्रदेश के भीतर व्रण (घाव) हो जाता है। ३. यदि वस्ति को अधिक धीरे-धीरे दबाकर औषधद्रव को गुद के भीतर प्रवेश कराया जाता है, तो वह आशय (पक्वाशय) तक नहीं पहुँच पाता है। ४. यदि वस्ति-पुटक को अधिक वेग से दबाकर सहसा औषधद्रव को गुदमार्ग से प्रवेश कराया जाता है, तो वह औषधद्रव वेग के कारण कण्ठप्रदेश तक पहुँच जाता है, फलस्वरूप वह मलाशय तक सीमित न होकर वमन द्वारा बाहर निकल जाता है। ५. यदि वस्ति में शीतल द्रव का प्रयोग कर दिया जाता है, तो वह भीतर जाकर जकड़ जाता है। ६. यदि वस्ति में भरा गया द्रव अधिक उष्ण हो, तो पक्वाशय में पहुँचकर वह विदाह तथा मूर्च्छा कारक होता है। ७. यदि वस्ति में भरा गया औषधद्रव अधिक स्निग्ध हो, तो वह अत्यन्त जड़ता को उत्पन्न कर देता है। ८. यदि वस्ति द्वारा प्रयुक्त किया गया द्रव अधिक रूक्ष हो, तो उससे वातदोष कुपित हो जाता है। ९. यदि वस्ति में प्रयुक्त होने वाला औषधद्रव पतला हो, उसकी मात्रा कम हो या उसमें नमक मिलाया गया हो, तो उसका प्रयोग करने से अयोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और वह वस्ति पूर्ण फलदायक नहीं होती है। १०. यदि वस्ति में भरा गया द्रव पदार्थ अधिक हो जाय और उसका पूरा प्रयोग करा दिया जाय तो उससे अतियोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ११. यदि वस्ति द्रव आवश्यकता से अधिक सान्द्र (गाढ़ा) हो जाय, तो वह उस पुरुष को क्षाम (क्षीण) कर देती है और पर्याप्त विलम्ब से बाहर निकलती है। १२. यदि वस्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले द्रव में लवण का प्रयोग अधिक हो जाता है, तो उदरप्रदेश में दाह (जलन) तथा अतिसार होने लगता है। इसलिए कुशल चिकित्सक को चाहिए, कि वह यथाविधि समयोग से वस्ति का प्रयोग करें।

वक्तव्य—उपर्युक्त सावधानियों पर सदैव ध्यान रखना चाहिए। सम्यक् प्रयुक्त वस्ति की प्रशंसा सुश्रुत ने भी की है—'पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः। सम्यक् प्रणिहितो वस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति' ॥ सु० चि० अ० ३५।२४। और भी इसके आगे महर्षि सुश्रुत ने ६ प्रणिधान (प्रयोग करने सम्बन्धी) दोष इस प्रकार गिनाये हैं—१. नेत्र (नली) का हिल जाना, २. नेत्र का विपरीत हो जाना या घूम जाना, ३. बांयी या दाहिनी ओर दब जाना, ४. ऊपर की ओर अधिक उठ जाना, ५. नीचे की ओर को दब जाना तथा ६. तिरछा प्रविष्ट हो जाना। देखें—सु० चि० अ० ३५।३२। इन नेत्र-प्रणिधान के दोषों से क्या-क्या हानियाँ होती हैं, इसका वर्णन महर्षि सुश्रुत ने सु० चि० अ० ३६।३-५ में किया है, यथास्थान देखें।

वृद्धवाग्भट ने महर्षि आत्रेय की शैली का अनुकरण किया है। देखें—'तिर्यक्प्रणीते हि न याति धारा गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे। दत्तः शनैर्नाशमेति वस्तिः, कण्ठं प्रधावेदतिपीडितस्तु ॥ स्तम्भं विधत्तेऽतिमृदुर्हिमश्च, तप्तान्लतीक्ष्णो भ्रमदाहमोहान्। स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्षस्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥ करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगं क्षोभं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति। दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्यात् तस्मात् सुयुक्तं सममेव दद्यात्' ॥ अ० सं० सू० अ० २८।३७-३९।

पाठभेद-विचार—१९४१ ई० की निर्णयसागरीय चरकसंहिता में 'क्षामं तु सान्द्रः' पाठ दिया है, इसके स्थान पर श्रीजयदेव ने 'क्षोभं तु सान्द्रः' ऐसा पाठ मूल में उद्धृत किया है। इस पाठ को ध्यान से देखने पर और वर्णन की शैली को ध्यान में रखते हुए 'सान्द्राः के स्थान पर 'सान्द्रः' पाठ होना चाहिए, जो निरपवाद है, क्योंकि ऊपर दिये गये वस्ति के सभी विशेषण एकवचन के हैं, और 'सान्द्राः' बहुवचन कैसे हो सकता है। श्रीचक्रपाणि ने भी 'सान्द्राः' को वस्ति का विशेषण माना है। देखें—'सान्द्रः तनुविपरीतः, क्षामं पुरुषं कुर्यात्'। अर्थ स्पष्ट है। फिर भी श्रीजयदेव ने जो यह पाठभेद स्वीकार किया है, उसमें वृद्धवाग्भट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्राचीन संस्करणों में इसे पाठभेद भी स्वीकार नहीं किया गया है, मूलपाठ के रूप में स्वीकार करना तो दूर रहा।

पूर्वं हि दद्यान्मधु सैन्धवं तु स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनु कल्कम् ॥ २३ ॥
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तं बस्तौ [1]निदध्यान्मथितं खजेन।

वस्ति में मधु-सैन्धव प्रयोग—निरूहवस्ति का प्रयोग करने के लिए जब क्वाथ बनकर तैयार हो जाय तो छान कर रख लें। मधु, सेंधानमक तथा स्नेह (घी या तेल) को आपस में भली-भाँति हाथ से फेंटकर या मथकर उस क्वाथ में मिलाना चाहिए, फिर एक बार क्वाथ में मिलाने के बाद भी मथनी से मथ लें, जिससे स्नेह पूरे द्रव में मिल जाय, तब उसे वस्ति में भर दें।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भी वस्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों को मिलाने की विधि का वर्णन किया है। देखें—सु० चि० अ० ३८।३३-३६। वृद्धवाग्भट के अनुसार निरूहवस्ति के लिए द्रव्यों का मिश्रण इस प्रकार करें—मधु, लवण, स्नेह, कल्क, क्वाथ। श्रीचक्रपाणि उक्त श्लोक को अनार्ष मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं, कि सुश्रुत आदि आचार्यों ने भी इस क्रम का सम्मान किया है। देखें—सु० चि० अ० ३८।३३-३६। यहाँ 'पुनर्द्रवैस्तं' इस पाठ में 'तं' शब्द क्वाथ का संकेत कर रहा है।

[2]वामाश्रये हि ग्रहणीगुदे च तत् पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः ॥ २४ ॥
लीयन्त एवं वलयश्च तस्मात् सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम्।

वस्ति देने का प्रकार—उदर के वाम भाग में ग्रहणी और गुद अवयव प्रकृतिस्थ रहते हैं (पाठभेद के अनुसार—अग्नि, ग्रहणी और गुद, इस प्रकार के पाठ में वृद्धवाग्भट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है)। यदि रोगी बाँयीं करवट लेटा या सोया रहता है, तो वस्तियन्त्र द्वारा प्रयुक्त औषधद्रव बड़ी आँत के भीतर आसानी से पहुँच जाता है और इस प्रकार बलियाँ गुदप्रदेश के भीतर ही विलीन हो जाती हैं, अर्थात् अपने अवरोध कार्य को शिथिल कर देती हैं। इसलिए बायीं ओर सोया (लेटा) हुआ रोगी ही वस्ति-प्रयोग कराने के योग्य होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने गुद के सम्बन्ध में कहा है—'तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म'। सु० शा० अ० ९।१२। ग्रहणी का परिचय स्पष्ट ही है—यह आमाशय तथा पक्वाशय के बीच स्थित रहती है। **बलयश्च लीयन्ते**—गुद-प्रदेश में तीन बलियाँ होती हैं—१. प्रवाहिणी, २. संवरणी और ३. विसर्जनी। इसमें दूसरी संवरणी (Sphincter) बलि वस्तिनेत्र को भीतर जाने से रोक सकती है, किन्तु बाँई ओर लेट जाने के कारण वे तीनों बलियाँ शिथिल हो जाती हैं, अतः वस्ति-प्रयोग आसानी से हो जाता है। शरीर के बाँये भाग को **'सव्य'** कहते हैं। सु० शा० अ० ६।२५। तथा—'पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च'।

१. 'निदध्याद्भिषगप्रमत्तः' इति पा०।
२. 'वामाश्रयोऽग्निर्ग्रहणी गुदं च' इति पा०।

वृद्धवाग्भट के अनुसार—'यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणीगुदवलीमुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवन्त्यतस्तदौषधमस्खलितमाप्नोति प्रवेशनिर्गमाविति'। अ० सं० सू० अ० २८।२९।

विड्वातवेगो यदि चार्धदत्ते निष्कृष्य मुक्ते [1]प्रणयेदशेषम् ॥ २५ ॥
उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद् वीर्यमाप्नोति तथाऽस्य [2]देहम् ।

मलवायु के प्रकोप पर वस्ति-विधि—यदि वस्तियन्त्र का प्रयोग करने के बाद आधा औषधद्रव गुद के भीतर पहुँचा दिया गया हो और उसके बाद मल के साथ अपानवायु का वेग उत्पन्न हो जाय तो (इस बात को रोगी चिकित्सक को बताता है) चिकित्सक को चाहिए कि वह वस्तिनेत्र को गुद में से निकालकर रोगी को मल त्याग करने की अनुमति दे। रोगी के शौच से निवृत्त हो जाने के बाद उस यन्त्र में बचे हुए शेष औषध द्रव को पुनः वस्तियन्त्र द्वारा गुद में प्रवेश कराये। तदनन्तर वस्तियन्त्र को निकालकर रोगी को ऊपर की ओर को मुख कराकर चित्त करके लेटा दे और उसके सिरहाने पर तकिया लगा दे। ऐसा करने से उसके शरीर में वस्तिद्रव्यों की सम्पूर्ण शक्ति पहुँच जाती है।

वक्तव्य—'विड्वातवेगः' इस समस्त पद का प्रायः सभी ने मल अथवा वात (अपानवायु) का वेग, ऐसा अर्थ किया है। श्रीचक्रमाणि इस अवसर पर मौन हैं। हमारे विचार से यह विचारणीय विषय है। ध्यान दें—सामान्य स्थिति में विट् (मल), मूत्र तथा वात (अपानवायु) स्वतन्त्र रूप से निकलते हैं, रोग की स्थिति में भले ही जो हो। अतिसार रोगी के स्वस्थ होने के लक्षणों पर विचार करें—'यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति। दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः'॥ मा० नि० अतिसार-प्रकरण। इसके अतिरिक्त शौच करने के लिए तत्पर व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार मल, मूत्र, वायु का विमोचन उसी काल में एक साथ करता ही है, भले ही इनका क्रम आगे-पीछे कुछ भी रहे। अतः यहाँ 'विड्वातवेगः' का **'विडेन सहितः वातवेगः'** ऐसा विग्रह करना उचित होगा, जिससे इसका अर्थ होगा—मल के साथ वायु का वेग। देखें, पाणिनि का सूत्र—**'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'**। यहाँ भी 'मुखेन सहिता नासिका' ऐसा ही विग्रह है, नहीं तो 'मुखनासिकाभ्याम्' ऐसा करना पड़ता।

वृद्धवाग्भट भी इस विधि का अनुमोदन करते हुए कहते हैं—'दत्तमात्रे तूत्तानः सोपधानो निरूहवीर्येण देहव्याप्तये तन्मनास्तिष्ठेत्'। अ० सं० सू० अ० २८।४३।

पाठभेद-विचार—यहाँ मूलरूप में **'देहम्'** पाठ उद्धृत है, इसके स्थान पर टिप्पणी में **'देहः'** पाठ दिया गया है। देहम् के पक्ष में—'अस्य रोगिणः निरूहवीर्येण देहम् अभिव्याप्य वस्तिः वीर्यम् आप्नोति'। देहः के पक्ष में—'अस्य देहः वीर्यम् आप्नोति' ऐसा अर्थ किया जा सकता है। वैसे यह प्रामादिक पाठ आज तक कैसे सुरक्षित रह गया, जब कि देह शब्द की सत्ता पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग दोनों में समान रूप से है। देखें—'कायो देहः क्लीबपुंसोः'। अमरकोष २।६।७१। तथापि हमने दोनों का समाधान ऊपर दे दिया है।

एकोऽपकर्षत्यनिलं स्वमार्गात् पित्तं द्वितीयस्तु कफं तृतीयः ॥ २६ ॥

निरूहवस्ति द्वारा दोषशमन—प्रथम बार दी गयी निरूहवस्ति अपने (गुद) मार्ग से दोष को खींचकर बाहर निकाल देती है। दूसरी बार दी गयी निरूहवस्ति पित्त को निकालती है और तीसरी बार दी गयी निरूहवस्ति कफ को निकालती है।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि का इस सम्बन्ध में उपदेश देखें—'वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते। संसर्गे सन्निपाते च वस्तिरेव सदा हितः'॥ यहाँ वस्तिप्रयोग दोषों के सन्निपात में भी हितकारक है, ऐसा विशेष वचन कहा गया है। देखें—सु० चि० अ० ३५।६। इसके आगे भी कहा है—'अनेन विधिना वस्तिं दद्याद् वस्तिविशारदः। द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः'॥ सु० चि० अ० ३८।६। महर्षि आत्रेय ने भी सन्निपात-ज्वर-प्रकरण में इस प्रकार स्पष्ट निर्देश दिया है—'ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम्। कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥ निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम्। परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत् ॥ पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्। स्रंसनं, त्रीन्मलान् वस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान् ॥ च० चि० अ०

1. 'प्रणयेत्तु शेषम्' इति पा०।
2. 'देहः' इति पा०।

३।१६९-१७१ ॥ इसका विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें। अतः उक्त निरूहवस्ति का विधान केवल सन्निपात के लिए ही है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। वात, पित्त, कफ का एक-एक वस्ति में निर्हरण हो जाना सामान्य बात है, विशेष स्थिति में इस क्रम में परिवर्तन भी देखा जाता है। तथ्य यह है, कि पक्वाशयगत वात आदि विकार जितनी सुगमता से वस्ति द्वारा दूर किये जा सकते हैं, वैसा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वृद्धवाग्भट के अनुसार भी विचार करें—'स्वयं निवृत्ते तु पूर्ववद् द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं च दद्याद् यावद् वा सुनिरूढः स्यात् ॥ तत्राद्योऽनिलं स्वमार्गादपकर्षति। द्वितीयः पित्तम्। तृतीयः श्लेष्माणमिति'। अ० सं० सू० अ० २८।४४-४५। इन्होंने यह वर्णन सर्वथा महर्षि आत्रेय के अनुरूप किया है।

प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः शाल्यन्नमद्यात् तनुना रसेन।
जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं भुक्तोऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम् ॥ २७ ॥

निरूहवस्ति के बाद का कर्तव्य—जब निरूहवस्ति द्वारा गुद के भीतर प्रवेश कराया गया औषधद्रव भीतर से लौटकर बाहर चला आये तब वह रोगी गुनगुने जल से स्नान करके पतले मांसरस के साथ शालि चावलों का भात खाये। निरूहवस्ति का प्रयोग कराने के बाद उपर्युक्त विधि से किये गये भोजन का जब पूर्णरूप से पाचन हो जाय तो सायंकाल उसे हल्का तथा अल्पमात्रा में भोजन करने के लिए दें। भोजन कर लेने के बाद शारीरिक बल को बढ़ाने की इच्छा से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार निरूहवस्ति का सम्यक् प्रयोग हो जाने पर रोगी को स्नान कराकर पित्त प्रकृति वाले पुरुष को दूध के साथ, कफ प्रकृति वाले पुरुष को दालों के यूष के साथ और वात प्रकृति वाले पुरुष को मांसरस के साथ पथ्य भोजन कराना चाहिए, अथवा सभी को जांगल पशु-पक्षियों के मांस रस के साथ पथ्य भोजन कराना चाहिए। भोजन की मात्रा जठराग्नि तथा वात आदि दोषों के बल के अनुसार स्वस्थ स्थिति के भोजन से १/३ भाग कम या १/२ भाग या इससे भी कम होनी चाहिए। भोजन कर लेने के बाद दोषों के अनुसार स्नेहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। देखें—सु० चि० अ० ३८।११-१३। महर्षि आत्रेय ने उपर्युक्त आशय को आगे चलकर इसी अध्याय के ७०वें श्लोक द्वारा पुनः इस प्रकार स्पष्ट किया है—'रसेन वाते प्रतिभोजने स्यात् क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः'।

निरूहपादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन।
दत्त्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात् स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम् ॥ २८ ॥
[1]ईषच्च पादाङ्गुलियुग्ममाञ्छेदुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात्।
स्नेहेन पार्ष्ण्यङ्गुलिपिण्डिकाश्च ये चास्य गात्रावयवा रुगार्ताः ॥ २९ ॥
तांश्चावमृद्नीत सुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधानः।

७. सातवें प्रश्न का उत्तर—अब यहाँ से अनुवासन की मात्रा नामक प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है—काँजी आदि अम्ल पदार्थ तथा वातनाशक गुण-सम्पन्न औषधद्रव्यों से तैयार किये गये तेल से अनुवासनवस्ति दी जाती है। अनुवासन के लिए प्रयुक्त होने वाले तेल का प्रमाण निरूहवस्ति में दिये जाने वाले प्रमाण से चतुर्थांश (चौथाई) होता है। इस प्रकार की मात्रा से युक्त अनुवासनवस्ति देकर हाथ के तलवे (हथेली) से नितम्बों (चूतड़ों) को बार-बार थपथपाना चाहिए। ऐसा करने से वस्ति द्वारा गुद के भीतर प्रवेश कराया गया स्नेह शीघ्र ही बाहर नहीं आ पाता (भीतर जितनी देर स्नेह रहेगा, उतनी देर तक आँतों का स्नेहन करेगा, यही इसका लाभ है)। लेटे हुए उस रोगी के दोनों पैर की एक-एक अंगुली को पकड़कर अपनी ओर खींचे (विशेष—प्रथम पैर की जिस अंगुली को खींचे तो दूसरे पैर की भी उसी अंगुली को खींचना चाहिए। इस सम्बन्ध में अंगूठा तथा मध्यमा अंगुली को खींचना यह सम्प्रदाय है। ध्यान रहे कि दोनों पैर की अंगुलियों को एक साथ ही खींचें, बारी-बारी से नहीं), तदनन्तर चित्त लेटे हुए उस रोगी के पैर के तलवों, एड़ियों, अंगुलियों और पिण्डलियों को तेल लगाकर मसले। और भी किसी अवयव में स्नेह मात्रा का प्रयोग

1. 'ईषत् पदाङ्गुष्ठयुगं च कर्षे०' इति पा०।

करने से पीड़ा हो रही हो, तो उन्हें भी तेल लगाकर मसलें। इन सभी क्रियाओं से स्नेह जल्दी बाहर नहीं आने पाता, उसके बाद तकिया लगाकर वह व्यक्ति सुखपूर्वक सोये।

वक्तव्य—उक्त पद्यों में अनुवासनोपयोगी स्नेह मात्रा का निर्देश, तदनन्तर वस्ति द्वारा दिये गये स्नेह को स्थिर करने के उपायों का वर्णन किया गया है। जहाँ-जहाँ अनुवासनवस्ति की चर्चा आयी है, वहाँ-वहाँ हमने शास्त्रान्तरों के विभिन्न मतों का उल्लेख कर इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। यहाँ हम इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहेंगे कि इस वस्ति का प्रयोग प्रतिदिन भी किया जा सकता है और यदि यह लौट कर नहीं भी आती है, तो अन्त्र आदि अवयवों का स्नेहन करके उपकार ही करती है। निरूहवस्ति के बाद अनुवासन की आवश्यकता पर प्रारम्भ में ही तन्त्रकार ने इस प्रकार बल दिया है—'नरस्ततो निरयनुवासनार्हो नात्याशितः स्यादनुवासनीयः'। च० सि० अ० १।२२। इसका समर्थन आचार्य जतूकर्ण ने भी किया है—'जीर्णे सायं कृतान्नं च पुष्ट्यर्थमनुवासयेत्'। जतूकर्णसंहिता। सुश्रुतसंहिता में इसका प्रमाण इस प्रकार उपलब्ध है—'विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै। कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः'॥ सु० चि० अ० ३७।३।

यहाँ अनुवासनवस्ति की मात्रा का स्पष्ट उल्लेख न करके **'निरूहपादांशसमेन'** कहकर ही इसकी मात्रा का निर्धारण करना तन्त्रकार को अभीष्ट रहा। निरूहवस्ति की उत्तम मात्रा २४ पल=९६ तोला है। २४ पल का चतुर्थांश ६ पल = २४ तोला होता है। श्रीचक्रपाणि ने तन्त्रान्तर का एक मात्रा प्रमाण इस प्रकार उद्धृत किया है—'उत्तमा षट्पली प्रोक्ता मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने'॥ इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि का मत देखें—'यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः। पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहवस्तिषु देहिनाम्'॥ सु० चि० अ० ३७।४। अर्थात् अवस्था के अनुसार इस प्रकरण में निरूहों की जो-जो मात्राएँ कही गयी हैं, उन-उन की चौथाई मात्राएँ मनुष्यों के लिए स्नेहवस्तियों की समझनी चाहिए।

वृद्धवाग्भट के अनुसार मात्रा-निर्देश—'आस्थापनमात्रा तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्चः। ततः परं प्रतिवर्षं प्रकुञ्चमभिवर्धयेदाषट् प्रसृतात्। ततश्चोर्ध्वं प्रसृताभिवृद्धिः। प्राप्तानतीताष्टादशसप्ततेस्तु द्वादशप्रसृताः। परं चातो दशैव। अन्ये पुनर्द्वादशप्रसृतस्याप्यष्टाविच्छन्ति'। अ० सं० सू० अ० २८।२४। यहाँ आस्थापन मात्रा शब्द का वस्ति द्वारा दी जाने वाली औषधद्रव की मात्रा से तात्पर्य है। प्रथम वर्ष इसकी मात्रा १ प्रकुञ्च (४ तोला) है, इस प्रकार १२ वर्ष तक १-१ पल बढ़ाते जाना चाहिए, जिससे १२ वर्ष में १२ पल की मात्रा हो जायेगी, तदनन्तर १३वें वर्ष से १-१ प्रसृत अर्थात् ८-८ तोला, यह क्रम १८वें वर्ष तक चलेगा। १८वें वर्ष से ७०वें वर्ष तक फिर यही क्रम चलेगा। ७०वें वर्ष से लेकर जीवन पर्यन्त १० प्रसृत की ही मात्रा रहेगी। दूसरे आचार्य १२ प्रसृत के स्थान पर ४ प्रसृत की मात्रा को महत्त्व देते हैं। आगे चलकर वे पुनः कहते हैं—'यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीना माधुतैलिके प्रयोज्या। अनुवासने त्वेवमेवास्थापनस्य पाद इति'। अ० सं० सू० अ० २८।२५। यही निर्देश महर्षि आत्रेय का भी है—'निरूहपादांशसमेन'। अनुवासनवस्ति द्वारा दिया गया स्नेह जल्दी ही बाहर न आ जाय इसके लिए जिन उपायों का निर्देश महर्षि आत्रेय ने किया है, प्रायः उन्हीं का समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० सं० सू० अ० २८।३१। कुछ बातें विशेष भी लिखी हैं। यथा—'पादतश्च शय्यां त्रिरुत्क्षिपेत्'।

भागाः कषायस्य तु पञ्च, पित्ते स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च ॥ ३० ॥
वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो, मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः।

निरूहवस्ति की कल्पना—वस्ति के लिए औषधद्रव का निर्माण करते समय दोष-प्रकोप को दृष्टि में रखते हुए औषधद्रव्यों का क्वाथ ५ भाग (यही मात्रा स्वस्थ-अस्वस्थ सबके लिए समान कही गयी है), यदि पित्त दोष की विकृति हुई हो, तो इसमें स्नेह का ६ठा भाग होता है। यही मात्रा स्वस्थ पुरुष के लिए भी होती है। यदि वातदोष की वृद्धि हुई हो, तो इसमें स्नेह का ४था भाग होता है, यही मात्रा स्वस्थ पुरुष के लिए भी होती है। यदि कफदोष की वृद्धि हुई हो, तो इसमें स्नेह का ८वाँ भाग होता है, यही मात्रा स्वस्थ पुरुष के लिए भी होती है।

वक्तव्य—उक्त श्लोक को संक्षेप में इस प्रकार समझें—निरूहवस्ति की सभी स्थितियों में कषाय (क्वाथ) के पाँच भाग लिये जाते हैं। स्नेह मात्रा की विविधता इस प्रकार रहती है—पित्त में १२ प्रसृत=२४ पल=

९६ तोला। वात में ३ प्रसृत=६ पल=२४ तोला और कफ में १॥ प्रसृत=३ पल=१२ तोला। वास्तव में निरूहवस्ति की मात्रा १२ प्रसृत=२४ पल स्वीकार की गयी है। ऊपर कहे गये नियमानुसार उक्त मात्रा को इस प्रकार समझें—५ प्रसृत औषधद्रव्यों का क्वाथरस+२ प्रसृत स्नेह+२ प्रसृत घी और मधु+१ प्रसृत कल्क+२ प्रसृत सैंधानमक आदि प्रक्षेप द्रव्य, कुल योग १२ प्रसृत। इसी अनुपात से वातज तथा कफज विकारों में भी समझना चाहिए। उक्त श्लोक की टीका करते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'यत्त्वन्ये पठन्ति—मधुस्नेहनकल्काख्यकषायावापतः क्रमात्। त्रीणि षट् द्वे दश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम्। पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपञ्च चतुष्टयम्। षट् त्रीणि द्वे दश त्रीणि कफे चापि निरूहणम्'। चरकोक्त मत को समर्थन देने के कारण यह पाठ सर्वसम्मत है। इन्होंने हारीत के मत को भी उद्धृत किया है—'क्वाथस्य पञ्च प्रसृतविभागाः स्नेहस्य षष्ठो ह्यधिके तु पित्ते। स्वस्थे च तावत् पवने चतुर्थः कफेऽष्टमोऽत्यन्तगते विकल्पः'॥ हारीत का यह मत निरूहवस्ति में प्रयुक्त होने वाली स्नेह मात्रा के सम्बन्ध में है। आचार्य जतूकर्ण के अनुसार निरूहवस्ति में प्रयुक्त होने वाले कल्क की मात्रा सभी प्रकार के प्रयोगों में २ पल (८ तोला) की होती है। सुश्रुत के अनुसार सैंधानमक तथा मधु का इसमें १ अक्ष तथा २ प्रसृत प्रयोग करना चाहिए। यथा—'दत्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्'। सु० चि० अ० ३८।३३ एवं ३७। हमारे विचार से सुश्रुतोक्त इस प्रकरण का पूरा अवलोकन कर लें। इसी का समर्थन हारीत ने इस प्रकार किया है—'क्षौद्रन्तु देयं प्रसृतप्रमाणं द्वितीयमाहुर्लवणस्य चाक्षम्'। अर्थ स्पष्ट है। कुल मिलाकर सुश्रुत भी १२ प्रसृत वस्ति का ही प्रमाण मानते हैं। देखें—सु० चि० अ० ३८।३९।

अन्तर—सुश्रुत के अनुसार इस निरूहवस्ति में ४ प्रसृत (३२ तोला) क्वाथ की मात्रा होनी चाहिए, यह महर्षि आत्रेय को स्वीकार्य नहीं है। वे यहाँ 'भागाः कषायस्य पञ्च' कहते हैं। यद्यपि सुश्रुत ने यह नहीं कहा है, कि उक्त निरूहवस्ति का प्रयोग किस काल में करना चाहिए, तथापि वातविकार की समस्त चिकित्साओं में प्रधानतम होने के कारण इसका प्रयोग यहाँ भी वातशमन के लिए ही किया जाता है।

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः ॥ ३१ ॥
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः।
[1]आसप्ततेस्तद्विहितं प्रमाणमतः परं षोडशवद्विधेयम् ॥ ३२ ॥
निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृद्धे च मृदुर्विशेषः।

६. छठे प्रश्न का उत्तर—निरूहकल्प की प्रणिधान मात्रा क्या होनी चाहिए, इसका उत्तर देते हुए महर्षि आत्रेय कह रहे हैं—१. वर्ष के बालक के लिए निरूहवस्ति की मात्रा आधा प्रसृत (४ तोला) होनी चाहिए, उसके बाद प्रत्येक अगले वर्ष के बालक में क्रमशः आधा, आधा प्रसृत (४ ४ तोला) द्रव द्रव्य बढ़ाकर १२ वर्ष तक ६ प्रसृत तक बढ़ानी चाहिए। उसके बाद १८ वर्ष तक १-१ प्रसृत उक्त मात्रा बढ़ाकर १२ प्रसृत तक क्रमशः हो जाती है, यह परम (सर्वश्रेष्ठ) मात्रा है। इससे अधिक मात्रा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। तदनन्तर १८ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक १२ प्रसृत मात्रा ही देनी चाहिए और ७० वर्ष के बाद जितनी मात्रा १६ वर्ष की अवस्था में देने का विधान किया गया है, तदनुसार १० प्रसृत मात्रा देनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ प्रसृतप्रमाण को लेकर निरूहवस्ति द्रव का मान बतलाया गया है। ध्यान रहे कि बालकों तथा वृद्धों में निरूहवस्ति की मृदु कल्पना करनी चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोकों में संक्षेप में कही गयी निरूहवस्ति मात्रा को समझने के लिए निम्न तालिका का अवलोकन करें—

आयु	निरूह मात्रा	तोला में
१	½ प्रसृत	४ तोला
२	१ ,,	८ ,,
३	१½ ,,	१२ ,,
४	२ ,,	१६ ,,

१. 'आसप्ततेरुक्तमिदं' इति पा०।

आयु	निरूह मात्रा	तोला में	आयु	निरूह मात्रा	तोला में
५	२½ प्रसृत	२० तोला	१३	७ प्रसृत	५६ तोला
६	३ ,,	२४ ,,	१४	८ ,,	६४ ,,
७	३½ ,,	२८ ,,	१५	९ ,,	७२ ,,
८	४ ,,	३२ ,,	१६	१० ,,	८० ,,
९	४½ ,,	३६ ,,	१७	११ ,,	८८ ,,
१०	५ ,,	४० ,,	१८	१२ ,,	९६ ,,
११	५½ प्रसृत	४४ तोला	१९ से ७० तक	१२ ,,	९६ ,,
१२	६ ,,	४८ ,,	७१वें वर्ष से आगे—		८० ,,

यहाँ तक महर्षि आत्रेय के मत का विवेचन किया गया है। अब अन्य महर्षियों तथा तन्त्रकारों के मतों को प्रसंगानुसार उद्धृत किया जा रहा है—'अर्धाढकं परमतमं प्रमाणम्'। अथवा—'अर्धाढकं परमतं प्रमाणम्' तथाहि हारीते—एकीयमतमप्यनुमतम्'। हारीतसंहिता। सुश्रुत के अनुसार—'अत ऊर्ध्वं द्वादशप्रसृतान् वक्ष्यामः'—इसके आगे १२ प्रसृत वाले निरूहों का वर्णन करेंगे—सैंधानमक १ कर्ष, मधु २ प्रसृत, इनको मिलाकर इसमें ३ प्रसृत स्नेह मिलायें, जब वह भली-भाँति मिल जाय, तब उसमें १ प्रसृत कल्क मिला दें, उसमें ४ प्रसृत कषाय मिला दें, तदनन्तर उसमें २ प्रसृत प्रक्षेप मिला दें। इस प्रकार यह वस्ति १२ प्रसृत की हो जाती है, यही इसकी उत्तम (सर्वाधिक) मात्रा है। यदि उस मात्रा को चिकित्सक घटाना चाहे तो अवस्था के अनुसार १-१ प्रसृत घटाये। सफलता की कामना करने वाला चिकित्सक सैंधानमक से लेकर कषाय तक के द्रव्यों को उक्त अनुपात में ही घटाये। देखें—सु० चि० अ० ३८।३७-४१। वस्ति-प्रयोग से पूर्ण लाभान्वित होने के लिए सुश्रुतसंहिता चि० अ० ३७।७० से ७६ तक का व्यावहारिक प्रयोग करके देखें। वस्ति के मृदु तथा तीक्ष्ण विधान के लिए देखें—च० सि० अ० ७।६३।

नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं सपादपीठं [1] शयनं प्रशस्तम् ॥ ३३ ॥
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम् ।

८. आठवें प्रश्न का उत्तर—शयन की क्या विधि है? इस प्रश्न का महर्षि आत्रेय द्वारा उत्तर—जिस व्यक्ति को निरूहवस्ति दी गयी हो उसके सोने के लिए जो शयन (चौकी या चारपाई) हो वह न अधिक नीची हो और न अधिक ऊँची हो, उस शयन के समीप में एक पादपीठ (पैर रखने का लकड़ी का आसन=चौकी या पीढ़ा) रखा हुआ होना चाहिए। ऐसा शयन प्रशस्त (प्रशंसनीय) होता है। शयन के ऊपर बिछाया गया बिस्तरा लम्बा, चौड़ा तथा मृदु हो, उसके ऊपर स्वच्छ उत्तरीय (सफेद चादर) बिछा हुआ हो, रोगी का सिराहना पूर्व की ओर होना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने सदैव पूर्व की ओर सिर करके सोने का आदेश इस प्रकार दिया है—'तस्मिन् शयनमसम्बाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक् शिरस्कं सशस्त्रं च कुर्वीत'। तथा—'प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः'। सु० सू० अ० १९।५-६। अर्थात् पूर्व दिशा में देवताओं का निवास होता है, उनकी पूजा अथवा उनके सम्मान के लिए पूर्व की ओर शिर किया जाता है। यह विषय धर्मशास्त्र-सम्मत भी है। सूर्य का उदय पूर्व से ही होता है, वही सबकी आत्मा है, आरोग्य की कामना भी सूर्य से की जाती है। सूत्रस्थान में इतना कह लेने के बाद महर्षि सुश्रुत ने चि० अ० ३८।४ में केवल इतना ही कहा है—'शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधः सुपरिग्रहायाम्'। जो चरकोक्त आशय की पुष्टि कर रहा है। चरक अध्याय ३ श्लोक १७ के उत्तरार्ध को भी देखें—'समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने'। उक्त शयन-विधि निरूहवस्ति का प्रयोग करते समय की थी, यहाँ जो शयन-विधि कही जा रही है, वह निरूहवस्ति दे चुकने के बाद की है।

भोज्यं पुनर्व्याधिमवेक्ष्य [1]तद्वत् प्रकल्पयेद् यूषपयोरसाद्यैः ॥ ३४ ॥
सर्वेषु विद्याद् विधिमेतमाद्यं—

१. 'सम्यक्' इति पा०।

वस्ति-प्रयोग में आहार-विधि—रोगी के रोग की अवस्था को देखकर तदनुसार उसके लिए यूष, दूध, मांसरस आदि के साथ पथ्य आहार की व्यवस्था करनी चाहिए, क्योंकि सभी प्रकार की निरूहवस्तियों में भोजन की प्रधान विधि यही कही गयी है।

वक्तव्य—यहाँ 'व्याधिमवेक्ष्य' शब्द से व्याधि में दोष-विशेष का अर्थात् कफ, पित्त, वात तथा जठराग्नि का विचार करके यूष आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। श्री चक्रपाणि 'एतदाद्यम्' का अर्थ करते हुए लिखते है, कि 'एतदाद्यमिति प्रधानम्, औत्सर्गिकमिति यावत्'। अतः सभी अवसरों पर इसी आदेश का अनुसरण करना चाहिए, किन्तु इस सिद्धान्त के अपवाद भी देखे जाते हैं। इसलिए जिस निरूहवस्ति में भोजन का विशेष विधान हो, उसमें तदनुसार सामान्य स्थिति में इस निर्देश का पालन करे।

—वक्ष्यामि बस्तीनत उत्तरीयान् ।

उत्तरवस्ति-प्रकरण

उत्तरवस्ति की प्रस्तावना—अब इसके बाद उत्तरवस्तियों का विधान कहूँगा।

वक्तव्य—अनेक संस्करणों में इसके बाद ये दो अर्धालियाँ अधिक दिखलायी देती हैं।

'सम्यक्प्रणीताः खलु वस्तयो मे, वातामयघ्नाश्च बलप्रदाश्च'।

सम्यक् प्रकार से जिन वस्तियों का प्रयोग किया गया हो, वे वातरोगों का विनाश करके शरीर के बल को बढ़ाती हैं।

सन् १९२२ ई० के निर्णयसागरीय चक्रपाणि टीकायुक्त चरकसंहिता में, पं० तारादत्तपन्त द्वारा १९३८ ई० में सम्पादित चरकसंहिता में, श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में तथा सन् १९३३ ई० में प्रकाशित मूलमात्र चरकसंहिता में उक्त पाठ कोष्ठक के भीतर देकर नीचे टिप्पणी में लिखा है—'अयमर्धः श्लोकः क्वचित् पुस्तके न पठ्यते'। और सन् १९४१ में चक्रपाणि टीका के साथ प्रकाशित चरकसंहिता में केवल यही एक पंक्ति नहीं दी गयी है।

उत्तरवस्ति के नाम पर विचार—उत्तर शब्द के स्वतन्त्र तथा परतन्त्र होने पर अनेक अर्थ होते हैं। उनमें से यहाँ प्रसंगानुसार निरूहवस्ति के बाद में इसका प्रयोग होने के कारण इसे उत्तरवस्ति कहते हैं। वैसे इसका अर्थ 'बाद का' तथा 'उपसंहारात्मक' भी होता है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से इसमें वस्ति अर्थात् औषधद्रव भरने वाली वही थैली प्रयुक्त होती है, जो पहले वस्तियों में कही गयी है। जो वस्ति पुरुषों के मूत्रमार्ग में और स्त्रियों के भग या गर्भ-मार्ग में दी जाती है, उसका नाम 'उत्तरवस्ति' है।

उत्तरवस्ति के सम्बन्ध में विचार—इसका प्रयोग पुरुषों के लिंग के छिद्र में तथा स्त्रियों की योनि के भीतर किया जाता है। पुरुष के लिंग में इसका प्रवेश उस समय किया जा सकता है, जब लिंग शिथिल (ढीली) अवस्था में हो, नकि मैथुन करने के लिए तैयार स्थिति वाले लिंग में! स्त्रियों को उत्तरवस्ति देने का अधिकार केवल स्त्री चिकित्सक को ही होना चाहिए नकि पुरुष को। इस विवेचन के लिए सु० चि० अ० ३७।१०८ से ११५ तक देखें और सामाजिक दृष्टि से विचार करें।

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः सच्छागमांसस्य सपूर्वपेष्यः ॥ ३५ ॥
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः ।

९., १०. नवें, दसवें प्रश्नों के उत्तर—बकरे के मांस के बराबर तथा उससे युक्त दोनों पञ्चमूल (१. बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाटल की छाल, अरणी की छाल। २. लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), भटकटैया, गोखरू।) के यथाविधि बने हुए क्वाथरस में खट्टी काँजी, पहले कहे गये पेष्य (कल्क) द्रव्य तथा तीन प्रकार के स्नेहों (तैल, घृत, वसा) से युक्त यह श्रेष्ठ दशमूलादि निरूह सभी प्रकार की वातव्याधियों का विनाशकारक कहा गया है।

वक्तव्य—९वाँ प्रश्न है—'वस्तियाँ कौन-कौन होती हैं और १०वाँ प्रश्न है—वे वस्तियाँ किनके लिए हितकर होती हैं। यहाँ उक्त श्लोक से इनके उत्तर प्रस्तुत हैं—उक्त श्लोक की टीका करते हुए पूर्ववर्ती टीकाकारों ने भाव को स्पष्ट करने के बदले और भी उलझा दिया है। इसे समझने के लिए हम सर्वप्रथम श्रीचक्रपाणि की

टीका को उद्धृत करते हैं—'सपूर्वपेष्यः, इति बलाद्युक्तकल्कयुक्तः'। इस व्याख्यांश को देखकर कुछ टीकाकारों ने 'तेरहवें श्लोक में जो अजवाइन आदि प्रक्षेप द्रव्य पढ़े गये हैं, उनका कल्क ग्रहण करें' ऐसा स्पष्टीकरण दिया है, किन्तु बलादि निरूहवस्ति १३वें श्लोक के उत्तरार्ध से प्रारम्भ होकर २०वें श्लोक के पूर्वार्ध में समाप्त हुई है। इसमें कल्क द्रव्य १४वें श्लोक में इस प्रकार दिये हैं—अजवाइन, मैनफल, बेल की गुद्दी, कूठ, वचा, सोया, घन (नागरमोथा) तथा पिप्पली। ये कल्क द्रव्य हैं, नकि प्रक्षेप द्रव्य। श्रीचक्रपाणि का भी आशय यही है, कि बलादि निरूहवस्ति में कहे गये कल्क से युक्त करना। उक्त अजवाइन आदि आठ द्रव्यों के कल्क का प्रयोग सामान्यरूप से उन सभी निरूहवस्तियों में किया जाता है, जहाँ कल्क द्रव्यों का विशेषरूप से निर्देश न किया गया हो, जैसा कि आगे इसी अध्याय के ४३वें श्लोक में दिया गया है।

दशमूलादि निरूहवस्ति निर्माण-विधि—दशमूल के सभी द्रव्यों के बराबर परिमाण में बकरे के मांस को लेकर आठ गुने जल में डालकर इनका क्वाथ करें, जब पकते-पकते चतुर्थांश जल शेष रह जाय, तो उसे छानकर ५ प्रसृत क्वाथ रख लें और उसमें थोड़ी मात्रा में काँजी मिला दें। उसके बाद तेल, घी, वसा १-१ प्रसृत (८-८ तोला), मधु १½ प्रसृत (१२ तोला), कल्क द्रव्य १ प्रसृत (८ तोला), सेंधानमक आदि १½ प्रसृत (१२ तोला) इस प्रकार कुल मिलाकर १२ प्रसृत की उत्तम निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिस्नेहयुक्तः—यद्यपि अन्यत्र स्नेहचतुष्क का ग्रहण किया जाता है, किन्तु वस्ति-प्रयोग में चतुर्थ 'मज्ज-स्नेह' के ग्रहण का निषेध किया गया है। श्रीचक्रपाणि ने प्रमाणस्वरूप निम्न पद्यार्ध को इस प्रकार उद्धृत किया है—'विशेयस्त्रिविधः स्नेहो वस्त्यर्थं मज्जवर्जितः'।

स्थिरादिवर्गस्य बलापटोलत्रायन्तिकैरण्डयवैर्युतस्य ॥ ३६ ॥
प्रस्थो रसाच्छागरसार्धयुक्तः साध्यः पुनः प्रस्थसमस्तु यावत्।
प्रियङ्गुकृष्णाघनकल्कयुक्तः सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च ॥ ३७ ॥
स्याद् दीपनो मांसबलप्रदश्च चक्षुर्बलं चापि ददाति [1]वस्तिः।

स्थिरादि निरूहवस्ति—स्थिरादि वर्ग (लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), भटकटैया, गोखरू), बलामूल, परवल की पत्ती, त्रायमाणा, रेड़ की जड़, जौ—इन द्रव्यों को लेकर आठ गुने जल में डालकर पकायें, जब चतुर्थांश अर्थात् १ प्रस्थ (६४ तोला) जल शेष रह जाय, तब उसे कपड़े से छानकर रख लें, इसमें यथाविधि तैयार किये हुए बकरे के मांसरस को आधा प्रस्थ (३२ तोला) लेकर मिला दें। इसको मन्द आँच पर पुनः पकायें, जब पकते-पकते १ प्रस्थ शेष रह जाय, तब फूलप्रियंगु, पिप्पली, नागरमोथा इन द्रव्यों को समानभाग लेकर इनका कल्क बनाकर उसी में मिला दें, तेल, घी, मधु तथा सेंधानमक मिलाकर दी गयी निरूहवस्ति से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, मांस तथा बल की वृद्धि होती है तथा आँखों की ज्योति बढ़ती है।

एरण्डमूलं त्रिपलं [2]पलाशा ह्रस्वानि मूलानि च यानि पञ्च ॥ ३८ ॥
रास्नाश्वगन्धातिबलागुडूचीपुनर्नवारग्वधदेवदारु।
भागाः पलांशा [3]मदनाष्टयुक्ता जलद्विकंसे क्वथितेऽष्टशेषे ॥ ३९ ॥
पेष्याः शताह्वा हपुषा प्रियङ्गुः सपिप्पलीकं मधुकं [4]बला च।
रसाञ्जनं वत्सकबीजमुस्तं भागाक्षमात्रं[5] लवणांशयुक्तम् ॥ ४० ॥
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो बस्तिर्नृणां दीपनलेखनीयः।
जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठशूलं कफावृतिं मारुतनिग्रहं च ॥ ४१ ॥
विण्मूत्रवातग्रहणं सशूलमाध्मानतामश्मरिशर्करे च।
आनाहमर्शोग्रहणीप्रदोषानेरण्डवस्तिः शमयेत् प्रयुक्तः ॥ ४२ ॥

१. 'सद्यः' इति पा०।
२. 'पलानि' इति पा०।
३. 'मदनाष्टकं च' इति पा०।
४. 'वचा' इति पा०।
५. 'अक्षप्रमाणं' इति पा०।

एरण्डमूलादि निरूहवस्ति—रेड़ की जड़ ३ पल (१२ तोला), पलाशा (कचूर), लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, भटकटैया, गोखरू), रास्ना, असगन्ध, अतिबला, गुरुच, पुनर्नवा, अमलतास, देवदारु, प्रत्येक द्रव्य १-१ पल। मैनफल संख्या में आठ (जो सुपुष्ट हों और घुने हुए न हों), जल २ कंस (५१२ तोला) इनको विधिपूर्वक पकायें, जब अष्टमांश जल शेष रह जाय तब उसे उतार लें। कल्कद्रव्य—सोया, हाऊबेर, फूलप्रियंगु, पिप्पली, मुलेठी, बला (या बालवच), रसौत, इन्द्रजौ, नागरमोथा, प्रत्येक द्रव्य १-१ अक्ष (तोला), सेंधानमक १ भाग पीसकर मिला दें तथा उसमें मधु, तिलतैल, गोमूत्र भी मिला दें। इस प्रकार तैयार करके प्रयोग की गयी यह निरूहवस्ति जठराग्नि की शक्ति को बढ़ाती है और दोषों का लेखन करती है, अर्थात् दोषों को खुरचकर बाहर निकाल देती है। जंघा, ऊरु, पैर, त्रिकसन्धि (स्फिक् सक्थि पृष्ठ-वंशास्थि के सन्धि-स्थल) तथा पृष्ठशूल, कफ के आवरण, सामान्य वायु की रुकावट, मल, मूत्र, अपानवायु की रुकावट, शूल युक्त आध्मान (अफारा), अश्मरी (पथरी), शर्करा, आनाह, अर्श (बवासीर) एवं ग्रहणी-विकार—इन सभी विकारों को एरण्डमूलादि निरूहवस्ति दूर कर देती है।

वक्तव्य—ऊपर श्लोक ३८ में 'पलाशा' पाठ दिया है। वैद्यकनिघण्टु में यह शब्द 'कचूर' का पर्याय है। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ १ पल किया है। जब कि ३९वें श्लोक में **'भागाः पलांशाः'** स्वतन्त्र रूप से कहा ही गया है। पाठभेद के अनुसार यहाँ 'पलानि' पाठ है, जो उतना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। जिन्हें हम प्रामाणिक संस्करण के रूप में उद्धृत करते हैं, उनमें भी एकवाक्यता नहीं है। आगे ४१वें श्लोक के 'कफावृतिं मारुतनिग्रहञ्च' के स्थान पर एक पाठभेद श्रीजयदेव ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'कफावृतं मारुतविग्रहं च'। इसके अनुसार उक्त निरूहवस्ति कफावृत वायु को हटाती है, यह अर्थ होता है।

वृद्धवाग्भट द्वारा प्रयुक्त पाठ से महर्षि आत्रेय के पाठ का मिलान करें। यदि किसी प्रकार की अनुकूल प्रेरणा प्राप्त हो, तो उस पर विचार कर उचित निर्णय लें—'एरण्डमूलात् त्रिपलं पलाशात् तथा पलांशं लघुपञ्च-मूलम्। रास्नाबलाच्छिन्नरुहाश्वगन्धापुनर्नवारग्वधदेवदारु ॥ फलानि चाष्टौ सलिलाढकाभ्यां विपाचयेदष्टमशेषिते-ऽस्मिन्। वचाशताह्वाहपुषाप्रियङ्गुयष्टीकणावत्सकबीजमुस्तम् ॥ दद्यात् सुपिष्टं सह तार्क्ष्यशैलमक्षप्रमाणं लवणांश-युक्तम्। समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो वस्तिर्जयेल्लेखनदीपनोऽसौ ॥ जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठकोष्ठहृद्गुह्यशूलं गुरुतां विबन्धम्। गुल्माश्मवर्ध्मग्रहणीगुदोत्थांस्तांस्तांश्च रोगान् कफवातजातान्' ॥ अ० सं० क० अ० ४।८-११। 'वर्ध्म' इति चर्मरोगविशेषः।

चतुष्पले तैलघृतस्य भृष्टाच्छागाच्छतार्धो दधिदाडिमाम्लः।
रसः सपेष्यो बलमांसवर्णरेतोग्निदश्चान्ध्यशिरोर्तिशस्तः[1] ॥ ४३ ॥

आजमांसरस-प्रयोग—पचास पल बकरे के मांस को विधिपूर्वक पकाकर उसे ४ पल (१६ तोला) तेल-घी में भून लें। इस प्रकार बराबर भाग में मिले हुए तेल-घी को आयुर्वेद में यमकस्नेह कहते हैं। तदनन्तर उसमें दही और दाडिम का रस मिला दें। इसी अध्याय के १४वें श्लोक की द्वितीय अर्धाली में कहे गये अजवाइन, मैनफल, बेल की गुद्दी, कूठ, वच, सोया, नागरमोथा तथा पिप्पली के कल्क को तैयार कर उसी में मिला दें। इस प्रकार तैयार की गयी इस निरूहवस्ति का विधिवत् प्रयोग करने पर बल, मांस, वर्ण (रूप-सौन्दर्य), शुक्र तथा जठराग्नि की शक्ति की वृद्धि होती है। इससे अन्धापन तथा शिर की पीड़ा का शमन होता है।

जलद् विकंसेऽष्टपलं पलाशात् पक्त्वा रसोऽर्धाढकमात्रशेषः।
कल्कैर्व[2]चामागधिकापलाभ्यां युक्तः शताह्वाद्विपलेन चापि ॥ ४४ ॥
ससैन्धवः क्षौद्रयुतः सतैलो देयो निरूहो बलवर्णकारी।
आनाहपार्श्वामययोनिदोषान् गुल्मानुदावर्तरुजं च हन्यात् ॥ ४५ ॥

पलाशवस्ति-प्रयोग—पलाश (ढाक) की छाल को ८ पल (३२ तोला) लेकर उसे जौकुट कर लें, तब उसे २ आढक (५१२ तोला) जल में यथाविधि पकायें, पकते-पकते जब जल चतुर्थांश (१२८ तोला) शेष रह जाय, तो उसे छानकर रख लें। उसमें बालवच तथा पिप्पली १-१ पल (४-४ तोला) और शताह्वा

१. 'शिरोरुजाघ्नः' इति पा०।
२. 'बलामागधिकापलाभ्यां' इति पा०।

(सोया) २ पल (८ तोला) इनका कल्क बनाकर मिला दें, तदनन्तर उसमें पूर्व कथित मात्रा के अनुसार सैंधानमक, मधु तथा तिल का तेल मिलाकर उस पलाशादि क्वाथ से निर्मित निरूहवस्ति का प्रयोग करें। इस वस्ति के प्रभाव से प्रयोग करने वाले पुरुष के वल तथा वर्ण की वृद्धि होती है, आनाह, पसलियों का शूल, सभी प्रकार के योनिदोष, गुल्मरोग एवं उदावर्त (गैस सम्बन्धी विकार) का नाश हो जाता है।

[1]यष्टयाह्वयस्याष्टपलेन सिद्धं पयः शताह्वाफलपिप्पलीभिः ।
युक्तं ससर्पिर्मधु वातरक्तवैस्वर्यवीसर्पहितो निरूहः ॥ ४६ ॥

१. **यष्ट्याह्वादि निरूहवस्ति**—८ पल (३२ तोला) मुलेठी को कूट-पीसकर ८ पल गाय के दूध में मिलाकर दोनों द्रव्यों के प्रमाण से चौगुना जल मिलाकर इनका यथाविधि पाक करें। जब पकते-पकते जल का चौथाई अंश शेष रह जाय, तब उसमें सोया, मैनफल तथा पिप्पली का समभाग कल्क तैयार करके मिला दें। उसी में घी और मधु भी मिला दें। इस प्रकार तैयार की गयी उक्त निरूहवस्ति का प्रयोग वातरक्त, स्वरभेद एवं विसर्परोग से पीड़ित रोगियों के लिए सदैव हितकर होता है।

यष्टयाह्वलोध्राभयचन्दनैश्च शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च ।
सशर्करं क्षौद्रयुतं सुशीतं पित्तामयान् हन्ति सजीवनीयम् ॥ ४७ ॥

२. **यष्ट्याह्वादि निरूहवस्ति**—मुलेठी, पठानीलोध, अभय (खस), लालचन्दन, लालकमल, नील-कमल इनके कल्क द्वारा यथानिधि पाक किये गये गाय के दूध में चीनी-मधु मिला दें। उसी में जीवनीयगण के द्रव्यों का कल्क तैयार करके भी मिला दें। शीतल हो जाने पर इस निरूहवस्ति का प्रयोग करें। इसके प्रयोग से सभी प्रकार के पित्तजनित विकारों का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—पित्तजनित व्याधियों को शान्त करने की दृष्टि से इस वस्ति का प्रयोग जब वस्ति में प्रयुक्त होने वाला द्रव पदार्थ शीतल हो जाय तभी करें। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'सुशीतत्वमिहौत्सर्गिकं मृदुकोष्ठेष्वधिकं पित्तहितत्वात्'। इस दृष्टि से पित्तदोष-शामक अन्य वस्तियों में भी इस नियम का स्मरण रखना चाहिए, किन्तु वह अतिशीतल न हो। कुछ संस्करणों में 'सशर्करं क्षौद्रघृतं'—ऐसा पाठ मिलता है, तदनुसार इसमें घी को भी मिलाना चाहिए, क्योंकि पित्तशामक द्रव्यों में घृत की प्रधानता स्वीकार की गयी है।

द्विकार्षिकाश्चन्दनपद्मकर्धियष्टयाह्वरास्नावृषसारिवाश्च ।
सलोध्रमञ्जिष्ठमथाप्यनन्ताबलास्थिरादितृणपञ्चमूलम्[2] ॥ ४८ ॥
तोये समुत्क्वाथ्य रसेन तेन शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम् ।
जीवन्तिमेदर्धिशतावरीभिर्वीराद्विकाकोलिकशेरुकाभिः ॥ ४९ ॥
सितोपलाजीवकपद्मरेणुप्रपौण्डरीकैः कमलोत्पलैश्च ।
लोध्रात्मगुप्तामधुकैर्विदारीमुञ्जातकैः केशरचन्दनैश्च ॥ ५० ॥
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरूहं ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात् ।
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन् क्षीरेण वाऽद्यात् परिषिक्तगात्रः ॥ ५१ ॥
दाहातिसारप्रदरास्रपित्तहृत्पाण्डुरोगान् विषमज्वरं च ।
सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन् सर्वामयान् पित्तकृतान्निहन्ति ॥ ५२ ॥

चन्दनादि निरूहवस्ति—लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, ऋद्धि, मुलेठी, रास्ना, अडूसा, अनन्तमूल, पठानी-लोध, मजीठ, अनन्ता (दुरालभा), बरियारा, स्थिरादि (लघुपञ्चमूल के पाँचों द्रव्य—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, भटकटैया, गोखरू), तृणपञ्चमूल (सरपत की जड़, ईख की जड़, दर्भ (डाभ) की जड़, कास की जड़, शालिधान की जड़), इन द्रव्यों को २-२ कर्ष=तोला की मात्रा में लेकर जौकुट कर लें, तदनन्तर इन्हें आठ गुने जल में डालकर पकायें, जब पकते-पकते चतुर्थांश जल शेष रह जाय, तब उसे उतार कर भली-भाँति

१. 'यष्टयाह्वमूलाष्टपलेन' इति पा०।
२. 'सलोध्रमञ्जिष्ठबलायवासस्थिराशरादिद्वयपञ्चमूलम्' इति पा०।

छान लें। इस क्वाथ द्वारा आधा आढक (१२८ तोला) गाय के दूध को पकायें, जब क्वाथ जल जाय और दूध मात्र शेष रह जाय, तब उसे उतार लें, उस दूध में जीवन्ती, मेदा, ऋद्धि, शतावर, क्षीरविदारी, काकोली, क्षीरकाकोली, कसेरू, मिश्री, जीवक, कमल का पराग, पुण्डरियाकाठ, लालकमल, नीलकमल, पठानीलोध, किवाँच के बीज, मुलेठी, विदारीकन्द, मुञ्जातक, नागकेशर, चन्दन—इन सब द्रव्यों को लेकर इनका कल्क तैयार करके ऊपर कहे गये क्वाथ में भली-भाँति मिला दें, तदनन्तर उसमें मात्रा के अनुसार घी, मधु तथा सैंधानमक मिला दें, शीतल होने पर ही इस वस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। जब वस्ति द्वारा प्रयुक्त औषधद्रव्य गुद के भीतर से निकल आये तब रोगी को स्नान कराकर धन्वरस (जांगल-प्रदेश के पशु-पक्षियों का मांसरस) के साथ अथवा केवल गाय के दूध के साथ पथ्य आहार खाने के लिए दें। यह निरूहवस्ति दाह, अतिसार, प्रदर, रक्तपित्त, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विषमज्वर, गुल्म, मूत्रग्रह (मूत्र के निकलने में रुकावट का होना), कामला आदि सभी पित्तदोष-जनित विकारों को समाप्त कर देता है।

वक्तव्य—'अनन्ता' द्रव्य से कुछ चिकित्सक 'अनन्तमूल' का ग्रहण करते हैं। ये 'सारिवा' द्रव्य से 'कृष्णसारिवा' या 'श्यामलता' का ग्रहण करते हैं। 'मुञ्जातक' द्रव्य के न मिलने पर 'तालमस्तक' द्रव्य का ग्रहण किया जाता है। यह वस्ति भी पित्तजनित विकारों का शमन करती है। अतः तन्त्रकार ने यहाँ भी 'शीतलमेव दद्यात्' का स्पष्ट उल्लेख किया है।

द्राक्षादिकाश्मर्यमधूकसेव्यैः ससारिवाचन्दनशीतपाक्यैः ।
पयः शृतं श्रावणिमुद्गपर्णीतुगात्मगुप्तामधुयष्टिकल्कैः ॥ ५३ ॥
गोधूमचूर्णैश्च तथाऽक्षमात्रैः सक्षौद्रसर्पिर्मधुयष्टितैलैः ।
[1]पथ्याविदारीक्षुरसैर्गुडेन वस्तिं युतं पित्तहरं विदध्यात् ॥ ५४ ॥
[2]हृन्नाभिपार्श्वोत्तमदेहदाहे दाहेऽन्तरस्थे च सकृच्छ्रमूत्रे ।
क्षीणे क्षते रेतसि चापि नष्टे पैत्तेऽतिसारे च नृणां प्रशस्तः ॥ ५५ ॥

द्राक्षादि निरूहवस्ति—द्राक्षा (मुनक्का), काश्मर्य (गम्भार का फल), महुआ, सेव्य (खश), सारिवा (अनन्तमूल), लालचन्दन, शीतपाकी (शीतलचीनी, काकोली, गुञ्जा या बला) इन द्रव्यों के समभाग कल्क से विधिपूर्वक पकाये गये दूध में गोरखमुण्डी, मुगवन, वंशलोचन, मुलेठी तथा गेहूँ का आटा इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ अक्ष (तोला) की मात्रा में लेकर कल्क बनाकर दूध में मिला दें, उसी में मधु, घी तथा मुलेठी के कल्क से पकाया गया तिल-तैल, गुड़, विदारीकन्द का स्वरस, ईख का रस, इन्हें भी उचित मात्रा में मिलाकर निरूह-वस्ति का प्रयोग करें। यह द्राक्षादि निरूहवस्ति पित्तनाशक है। इसके प्रयोग से हृदय, नाभि, पसलियों, उत्तम देह (शिरःप्रदेश) में होने वाले दाह तथा पेट के भीतर होने वाले दाह में, मूत्रकृच्छ्र में, क्षीण (राजयक्ष्मा) में, उरःक्षत में, शुक्रधातु के नष्ट हो जाने पर और पित्तजनित अतिसार में समुचित लाभ होता है।

वक्तव्य—सन् १९२२, १९३३ तथा १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करणों में 'द्राक्षादिकाश्मर्य' यही पाठ श्लोक ५३ के आरम्भ में दिया गया है, किन्तु श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में उस स्थान पर 'द्राक्षर्धि-काश्मर्य' ऐसा पाठ दिया गया है। विचार करने पर 'द्राक्षादि' शब्द से कोई विशेष उपलब्धि नहीं होती है। हो सकता है 'द्राक्षादि' पाठ को 'द्राक्षर्धि' का स्वरूप देने में परवर्ती संहिताकार वृद्धवाग्भट के पाठ का प्रभाव रहा हो। वह पाठ इस प्रकार है—'गोपाङ्गनाचन्दनशीतपाकीद्राक्षर्धिकाश्मर्यमधूकसेव्यैः। पयः शृतं श्रावणिमुद्ग-पर्णीबलास्वगुप्तामधुयष्टिकल्कैः ॥ गोधूमचूर्णैश्च पिचुप्रमाणैरिक्षोर्विदार्याश्च रसेन युक्तम्। तैलेन यष्टीमधुसाधितेन सितोपलाक्षौद्रघृतैश्च शीतः ॥ वस्तिः प्रशस्तः ससमस्तदेहदाहे सशूलेऽवयवाश्रिते वा। गुल्मातिसारभ्रममूत्रकृच्छ्र-क्षीणे क्षतौजोबलसङ्क्षये च' ॥ अ० सं० क० ४।१५-१७। गोपाङ्गना सारिवा, शीतपाकी चूडामणिः, इति इन्दुः।

कोषातकारग्वधदेवदारुशार्ङ्गेष्टमूर्वाकुटजार्कपाठाः[3] ।
पक्त्वा कुलत्थान् बृहतीं च तोये रसस्य तस्य प्रसृता दश स्युः ॥ ५६ ॥

१. 'तथा' इति पा०।
२. 'हृन्नाभिपार्श्वोदरदेहदाहे' इति पा०।
३. 'देवदारुमूर्वाश्वदंष्ट्राकुटजार्कपाठाः' इति पा०।

तान् सर्षपैलामदनैः सकुष्ठैरक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान् ।
फलाह्वतैलस्य समाक्षिकस्य[1] क्षारस्य तैलस्य च सार्षपस्य ॥ ५७ ॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिणे ज्ञो मन्दाग्नये चाप्यशनद्विषे च ।

कोशातकादि निरूहवस्ति—कोषातकी (पीले फूल का नेनुआ), अमलतास की गुद्दी, देवदारु, शार्ङ्गेष्ठा (गुंजा), मूर्वा, इन्द्रजौ, मदार की जड़ का छिलका, पाठा, कुलथी, बड़ी कण्टकारी, इन सभी द्रव्यों को आवश्यकतानुसार समान भाग लेकर आठ गुने जल में पकायें, जब पकते-पकते आठवाँ भाग जल शेष रह जाय, अर्थात् १० प्रसृत (८० तोला) जल बच जाय, तब उसे छानकर रख लें; उसमें सरसों, छोटी इलायची, मैनफल, कूठ प्रत्येक १-१ कर्ष=तोला लेकर इनका कल्क तैयार करके उक्त क्वाथ में मिला दें। मैनफल के कल्क द्वारा विधिपूर्वक तैयार किया गया तिल का तेल ८ तोला, मधु, जवाखार, सरसों का तेल प्रत्येक द्रव्य को १-१ प्रसृत (८ तोला) पीसकर क्वाथ में भली-भाँति मिलाकर वस्ति तैयार कर बुद्धिमान् चिकित्सक इसका प्रयोग कफरोग से पीड़ित, मन्दाग्निरोग से पीड़ित एवं भोजन के प्रति द्वेष करने वाले रोगियों में करे।

वक्तव्य—श्रीजयदेव ने अपनी टीका में कुछ पाठभेद बिना सन्दर्भ-संकेत के उद्धृत किये हैं। प्रसंगानुसार उपयोगी प्रतीत होने के कारण उन्हें हम यहाँ साभार उद्धृत कर रहे हैं—'फलाह्वतैलस्य समाक्षिकस्य'। के स्थान पर 'क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य' है तथा 'कफरोगिणे ज्ञो' के स्थान पर 'कफरोगिताय'। वे 'फलाह्वतैल' शब्द से बादाम आदि का तेल लेने की संस्तुति करते हैं, जो फलश्रुति की ओर ध्यान देने पर विचारणीय प्रतीत होता है। ऊपर जिस परिमाण में निरूहवस्ति का निर्माण करने की आज्ञा दी गयी है, वह १२ प्रसृत है, जो निरूह की उत्तम अथवा प्रधान मात्रा है, उससे बहुत अधिक सिद्ध किया जा रहा है। अतः मात्रा का प्रमाण तो १२ प्रसृत ही आचार्य को स्वीकार्य है, शेष द्रव का या तो दूसरे रोगियों पर प्रयोग कर लें अथवा फेंक दें। कुछ टीकाकारों ने इस प्रकार उत्तम मात्रा से भी अधिक औषधद्रव का विशेष वचन होने के कारण प्रयोग कर लेने की अनुमति दी है। आप भी ध्यान दें कि क्या कहीं इस प्रकार का आदेश या संकेत उक्त पद्यों में है ? यदि नहीं, तो उत्तम मात्रा की सीमा का उल्लंघन कदापि न करें।

पटोलपथ्यामरदारुभिर्वा सपिप्पलीकैः क्वथितैर्जलेऽग्नौ ॥ ५८ ॥

पटोलादि वस्ति—अथवा परवल की पत्तियाँ, हरड़, देवदारु, पिप्पली इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर यथाविधि जल में पकायें, अर्थात् क्वाथ्य द्रव्य से आठ गुना अधिक जल में उक्त द्रव्यों को डालकर पकायें, जब पकते-पकते अष्टमांश जल शेष रह जाय, तो उसे उतार कर छान लें। यह अष्टमांश क्वाथरस १० प्रसृत होना चाहिए। इसमें ऊपर कहे गये कोषातकादि-निरूहवस्ति में कहे गये कल्क (सरसों, छोटी इलायची, मैनफल, कूठ, इन) द्रव्यों को उतनी ही मात्रा में पीसकर मिला दें। मदनफल के कल्क से विधिपूर्वक तैयार किये हुए तिल-तैल को २ पल (८ तोला) लेकर तथा मधु, जवाखार, सरसों का तेल १-१ प्रसृत (८-८ तोला) लेकर भली-भाँति उसी क्वाथ में मिलाकर विधिवत् वस्ति का प्रयोग करें। इसका प्रयोग भी ऊपर कही गयी कोषातकादि निरूहवस्ति की भाँति ही किया जाता है, वे ही इसके लाभ भी हैं।

द्विपञ्चमूले त्रिफलां सबिल्वां फलानि गोमूत्रयुतः कषायः ।
कलिङ्गपाठाफलमुस्तकल्कः ससैन्धवः क्षारयुतः सतैलः ॥ ५९ ॥
निरूहमुख्यः कफजान् विकारान् सपाण्डुरोगालसकामदोषान् ।
हन्यात् तथा मारुतमूत्रसङ्गं वस्तेस्तथाऽऽटोपम[2]थापि घोरम् ॥ ६० ॥

पञ्चमूलादि वस्ति—दोनों पञ्चमूल (१. बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाटला की छाल, अरणी की छाल। २. लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू), हरड़, बहेड़ा, आँवला, बेल की छाल, मैनफल इन सबको समान भाग लेकर इनके साथ थोड़ी मात्रा में गोमूत्र को मिलाकर अठगुने जल में क्वाथ करें। इस क्वाथ में इन्द्रजौ, पाठा, मैनफल तथा नागरमोथा का

१. 'क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य' इति पा०। २. 'मतीव घोरम्' इति पा०।

कल्क बनाकर मिला दें एवं सेंधानमक, जवाखार, तिल के तेल को डालकर भली-भाँति मिला लें। इस निरूह-वस्ति का प्रयोग करने से सभी प्रकार के कफज विकार, पाण्डुरोग, अलसक (गुमहैजा), आमदोष, इनका विनाश हो जाता है और वातज मूत्रसंग (मूत्र की स्वाभाविक गति में रुकावट का होना) तथा वस्ति (मूत्राशय) में होने वाला अत्यन्त कष्टप्रद आटोप (वस्ति-प्रदेश का फूल जाना, उसमें गुड़-गुड़ शब्द का होना) भी नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त वस्ति में **'गोमूत्रयुतः कषायः'** पद अर्थ की दृष्टि से विवादास्पद है। इसका अर्थ कुछ टीकाकारों ने ऐसा किया है—उक्त द्रव्यों को गोमूत्र में डालकर पकायें; किन्तु 'गोमूत्रयुतः' शब्द की अभिधेयता इसके विरुद्ध है। इसकी शब्द-शक्ति के अनुसार तो यही प्रतीत होता है, कि जैसे पञ्चमूल आदि द्रव्य हैं, उसी प्रकार एक द्रव द्रव्य 'गोमूत्र' भी है, जिसे क्वाथ में डालना चाहिए। यदि तन्त्रकार को उक्त क्वाथ को गोमूत्र में ही पकाना अभीष्ट होता, तो वे वृद्धवाग्भट के समान स्पष्ट लिखते, जरा आप वृद्धवाग्भट की स्पष्टवादिता पर ध्यान दें—'द्विपञ्चमूलत्रिफलाफलबिल्वानि पाचयेत्। गोमूत्रे तेन पिष्टैश्च पाठातोयदवत्सकैः॥ सफलैः क्षौद्रतैलाभ्यां क्षारेण लवणेन च। युक्तो वस्तिः कफव्याधिपाण्डुरोगविषूचिषु॥ शुक्रानिलविबन्धेषु वस्त्याटोपे च पूजितः'॥ अ० सं० क० अ० ५।८-९। यद्यपि उक्त पञ्चमूलादिवस्ति में कहे गये क्वाथ को गोमूत्र में पकाने से कोई हानि की सम्भावना नहीं है, तथापि यह विवाद केवल शब्द-प्रयोगजनित है, नकि लाभ अथवा हानि की दृष्टि से। यदि यहाँ **'गोमूत्रयुतः'** के स्थान पर **'गोमूत्रकृतः'** पाठ दिया होता तो यह विवाद उत्पन्न न होता। इस प्रसंग में श्रीचक्रपाणि भी मौन हैं।

रास्नामृतैरण्डविडङ्गदार्वीसप्तच्छदोशीरसुराह्वनिम्बैः ।
शम्पाकभूनिम्बपटोलपाठातिक्ताखुपर्णीदशमूलमुस्तैः ॥ ६१ ॥
त्रायन्तिकाशिग्रुफलत्रिकैश्च क्वाथः सपिण्डीतकतोयमूत्रः ।
यष्ट्याह्वकृष्णाफलिनीशताह्वारसाञ्जनश्वेतवचाविडङ्गैः ॥ ६२ ॥
कलिङ्गपाठाम्बुदसैन्धवैश्च कल्कैः ससर्पिर्मधुतैलमिश्रः ।
अयं निरूहः क्रिमिकुष्ठमेहब्रध्नोदराजीर्णकफातुरेभ्यः ॥ ६३ ॥
रूक्षौषधैरप्यपतर्पितेभ्य एतेषु रोगेष्वपि सत्सु दत्तः ।
निहत्य वातं ज्वलनं प्रदीप्य विजित्य रोगांश्च बलं करोति ॥ ६४ ॥

रास्नादि निरूहवस्ति—रास्ना, गुरुच, रेंड की जड़, वायविडंग के बीज, दारुहल्दी, छतिवन की छाल, खश, देवदारु, नीम की छाल, अमलतास, चिरायता, परवल की पत्ती, पाठा, कुटकी, मूषाकर्णी, दशमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाटला की छाल, अरणी की छाल, सरिवन, पिठवन, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू), नागरमोथा, त्रायमाणा, सहिजन की छाल, फलत्रिक (हरड़, बहेड़ा, आँवला) इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट करके आठ गुने जल में डालकर यथाविधि पकायें। जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब उसे छानकर उसमें मैनफल, सुगन्धबाला, गोमूत्र, मुलेठी, पिप्पली, फलिनी (प्रियंगु), सोया, रसाञ्जन (रसवत), सफेदवच, वायविडंग, इन्द्रजौ, पाठा, नागरमोथा, इनका कल्क बनाकर उसी क्वाथ-रस में मिला दें, तथा उसी में घी, मधु, तेल भी उचित मात्रा में डालकर मिला दें। इस रास्नादि निरूह-वस्ति का प्रयोग कृमिरोग, कुष्ठ, प्रमेह, ब्रध्न (वृद्धि) रोग, उदररोग, अजीर्णरोग तथा सभी प्रकार के कफदोष से उत्पन्न रोगों में करना चाहिए और जिन पुरुषों को रूक्ष औषधियों का सेवन करने से अपतर्पण हो गया हो और इसी के कारण उक्त रोग हो गये हों तो उनमें भी इस वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यह वस्ति वातदोष का विनाश कर जठराग्नि को प्रदीप्त कर ऊपर कहे गये सभी रोगों को शान्त करके बल को बढ़ाती है।

पुनर्नवैरण्डवृषाश्मभेदवृश्चीरभूतीकबलापलाशाः[1] ।
द्विपञ्चमूलं च पलांशिकानि क्षुण्णानि धौतानि [2]फलानि चाष्टौ ॥ ६५ ॥

१. 'धत्तूरवृश्चीरबलापलाशाः' इति पा०। २. 'पलानि' इति पा०।

बिल्वं यवान् कोलकुलत्थधान्यफलानि चैव प्रसृतोन्मितानि ।
[1]पयोजलद्व्याढकवच्छृतं तत् क्षीरावशेषं सितवस्त्रपूतम् ॥ ६६ ॥
वचाशताह्वामरदारुकु[2]ष्ठयष्टयाह्वसिद्धार्थकपिप्पलीनाम् ।
कल्कैर्यवान्या मदनैश्च युक्तं नात्युष्णशीतं गुडसैन्धवाक्तम् ॥ ६७ ॥
क्षौद्रस्य तैलस्य च सर्पिषश्च तथैव युक्तं [3]प्रसृतैस्त्रिभिश्च ।
दद्यान्निरूहं विधिना विधिज्ञः स सर्वसंसर्गकृतामयघ्नः ॥ ६८ ॥

पुनर्नवादि निरूहवस्ति—पुनर्नवा, रेड की जड़, अडूसा की पत्ती, अश्मभेद (पाषाणभेद), वृश्चीर (लाल पुनर्नवा), भूतीक (हरिद्वारी तृण), बरियारा की जड़, पलाशा (कचूर), दोनों पञ्चमूल (१. बृहत्–बेल की गिरी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, अरणी की छाल । २. लघुपञ्चमूल–शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू) इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में लेकर जौकुट करके पानी से धो लें, गिनती से आठ मैनफल लें, बेल की गुद्दी, जौ, बेर, कुलथी, धनियाँ मैनफल, ये प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रसृत (८-८ तोला)—इन द्रव्यों को कूटकर १ आढक (२५६ तोला) जल तथा १ आढक दूध में मिलाकर विधिपूर्वक पाक करें । जब दूध मात्र शेष रह जाय तो उसे उतारकर सफेद (स्वच्छ) वस्त्र से छान लें । इस प्रकार पकाये गये उक्त दूध में वच, सोया, देवदारु, कूठ, मुलेठी, सरसों, पिप्पली, अजवाइन तथा मैनफल का कल्क बनाकर मिला दें, जो न अधिक उष्ण हो और न अधिक शीतल ही हो, ऐसे दूध में गुड़, सेंधानमक आधा-आधा प्रसृत (४-४ तोला अर्थात् १ प्रसृत = ८ तोला), मधु १ प्रसृत, तिल-तैल आधा प्रसृत और गाय का घी आधा प्रसृत, अर्थात् दोनों को मिलाकर १ प्रसृत, इस प्रकार ३ प्रसृत औषध द्रव्यों से युक्त कराकर उक्त सभी द्रव्यों को भली-भाँति मिला लें । निरूहवस्ति की विधि को जानने वाला चिकित्सक सर्वदोषनाशक इस निरूहवस्ति का प्रयोग द्वन्द्वज (दो दोषों से उत्पन्न) तथा त्रिदोषज रोगों को दूर करने के लिए करे ।

वक्तव्य—'फलानि चाष्टौ' इसके पाठभेद में 'फलानि' के स्थान पर 'पलानि' दिया गया है । इस स्थिति में 'पलानि चाष्टौ' किसका विशेषण होगा ? जब कि पुनर्नवा से लेकर द्विपञ्चमूल तक के द्रव्यों का परिमाण 'पलांशिकानि' दिया हुआ है । अतः यहाँ 'पलानि' से अधिक उपयुक्त पाठ 'फलानि' ही प्रतीत होता है। आगे चलकर एक पद 'धान्यफलानि' आया है । श्रीचक्रपाणि ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'धान्यानि फलानि चेति धान्यफलानि' । इस दृष्टि से धनियाँ के बाद मैनफल का ग्रहण होना ही चाहिए, इसके बाद 'कल्कैर्यवान्या मदनैश्च युक्तम्' में पुनः मैनफल का ग्रहण किया गया है । इस प्रकार उक्त निरूहवस्ति में तीन मैनफल का प्रयोग किया गया है ।

निरूहद्रव्यों का मात्रा-निर्देश—उक्त ६५ से ६८ तक के पद्यों में जिन मानों का उल्लेख नहीं किया गया है, उन्हें इस प्रकार समझें—क्वाथ के रूप में पकाये गये दूध को ६ प्रसृत (४८ तोला) लें, वच आदि द्रव्यों का कल्क १ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, तेल १ प्रसृत, घृत १ प्रसृत, सेंधानमक १ प्रसृत और गुड़ १ प्रसृत, इस प्रकार कुल मिलाकर १२ प्रसृत की उत्तम मात्रा निरूहवस्ति की होती है । श्रीजयदेव ने 'बिल्वं यवान् कोल' के स्थान पर 'बिल्वं यवाङ्कोल' पाठ दिया है, तदनुसार कोल (बेर) के स्थान पर 'अंकोल' लिया जायगा । उक्त ६६वें पद्य का उत्तरार्ध 'पयोजलद्व्याढकवच्छृतं तत्' यह अंश क्षीरपाक की दृष्टि से विवेचनीय है । इसके स्थान पर अनेक पाठभेद भी नीचे टिप्पणी में दिये गये हैं, टीकाकारों ने अनेक समाधान भी दिये हैं । हमारे विचार से पुनर्नवा आदि द्रव्यों के मान के अनुसार १ आढक दूध अपेक्षाकृत कम हो रहा है, किन्तु यहाँ दूध १ आढक और जल १ आढक इस प्रकार दो आढक द्रव को दृष्टि में रखकर ही पाक करना चाहिए । इस परिमाण को कल्क से चौगुना होना ही चाहिए । उक्त पुनर्नवादि निरूहवस्ति के स्थलों पर विचार करने के लिए अ० सं० क० अ० ४।२१-२४ का अवलोकन करें ।

१. 'पयोजलद्व्याढकपाचितं' इति, 'पयोजलार्धाढकपाचितं' इति, 'पयोजलद्व्याढकयोः शृतं' इति च पा० ।
२. 'बिल्व' इति पा० ।
३. 'प्रसृतित्रयेण' इति पा० ।

स्निग्धोष्ण एकः पवने समांसो द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते ।
त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहा न परं विधेयाः ॥ ६९ ॥

निरूहवस्ति की संख्या—वातजनित विकारों में समान अंशवाली स्निग्ध तथा उष्ण एक निरूहवस्ति, पित्तजनित विकारों में मधुर द्रव्यों, शीतल द्रव्यों तथा गाय के दूध के संयोग से निर्मित दो निरूहवस्तियाँ, कफजनित विकारों में कटु, उष्ण द्रव्यों तथा गोमूत्र के योग से तैयार की गयी तीक्ष्ण तीन निरूहवस्तियाँ देनी चाहिए । इससे अधिक निरूहवस्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

वक्तव्य—पहले बतलाया जा चुका है कि निरूहवस्ति का प्रयोग अनुवासनवस्ति के प्रयोग के साथ भी किया जाता है, उस स्थिति में उक्त संख्या के निर्देश का महत्त्व नहीं रहता है । यह संख्या-निर्देश तो केवल सामान्य परिस्थिति के लिए निर्दिष्ट है । महर्षि सुश्रुत तो जब तक भली-भाँति दोष दूर न हो जाय तब तक अधिक मात्रा में वस्ति देने की अनुमति इस प्रकार देते हैं—'अनेन विधिना वस्तिं दद्याद् वस्तिविशारदः । द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः ॥ सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते वस्तिं निवारयेत्' ॥ सु० चि० अ० ३८।६-७ । अर्थात् जब भली प्रकार वस्ति देने के लक्षण (लाभ के चिह्न) दिखलायी दें, तभी वस्तिप्रयोग को रोक दें, यह अधिक सुलझा हुआ आदेश है । इस प्रसंग में यह पद्य भी अवधेय है—'विशेषात् सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः । अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्' ॥ वही, ३८।७ । और भी देखें—'अनेन विधिना षड् वा सप्त वाऽष्टौ नवैव वा । विधेया वस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम्' ॥ सु० चि० अ० ३७।७० ॥ चिकित्सा की दृष्टि से यहाँ महर्षि आत्रेय के वचन (च० सि० अ० १।४९) का अनुसन्धान कर लेना अपेक्षित है ।

रसेन वाते प्रतिभोजनं स्यात् क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः ।
तथाऽनुवास्येषु च बिल्वतैलं स्याज्जीवनीयं फलसाधितं च ॥ ७० ॥

अनुवासनवस्ति-प्रयोग—जब सम्यक् निरूह के लक्षण दिखलायी देने लगें, तब वातज विकृति वाले रोगी को मांसरस के साथ, पित्तज विकृति वाले रोगी को दूध के साथ और कफज विकृति वाले रोगी को मूंग आदि दालों के यूषों के साथ भोजन कराना चाहिए । अनुवासनवस्ति देने योग्य व्यक्तियों को वातज विकृतियों में बेल के कल्क द्वारा यथाविधि तैयार किये गये तेल से, पित्तज विकृतियों में जीवनीयगण द्वारा साधित स्नेह से तथा कफज विकृतियों में मैनफल के कल्क द्वारा यथाविधि तैयार किये गये तेल से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए ।

वक्तव्य—निरूहवस्ति देने के बाद जो भोजन दिया या कराया जाता है, उसे यहाँ 'प्रतिभोजन' कहा गया है । ऊपर जो बिल्वतैल, जीवनीयतैल तथा फलसाधित तैल कहे गये हैं, इनका वर्णन आगे सिद्धिस्थान अ० ४ में किया गया है । श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'दशमूलम्' इत्यादिना बिल्वतैलम् । जीवनीयं च 'जीवन्ती मदनम्' इत्यादिना वक्ष्यमाणयमकं तथा 'मदनैर्वाम्लसंयुक्तैः' इत्यादिना वक्ष्यमाणं मदनतैलं ज्ञेयम्' । इसका स्पष्टीकरण च० सि० अ० ४ श्लोक ४-६ के वक्तव्य में देखें । उक्त अनुवासनवस्ति का विधान उन रोगियों के लिए है, जिन्हें वस्ति का प्रयोग कराने के बाद अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना आवश्यक समझा जाता है ।

इतीदमुक्तं निखिलं यथावद् वस्तिप्रदानस्य विधानमग्र्यम् ।
योऽधीत्य विद्वानिह वस्तिकर्म करोति लोके लभते स सिद्धिम् ॥ ७१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
वस्तिसूत्रीया-सिद्धिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस प्रकार इस अध्याय में वस्ति देने (प्रयोग करने) की प्रमुख विधियों का यह निर्देश पूर्णरूप से कह दिया गया है, जो आयुर्वेद का ज्ञाता उक्त विधियों को पढ़कर ठीक-ठीक वस्तिकर्म करता है, उसे चिकित्सा-कार्य करते समय लोक में सिद्धि (सफलता) प्राप्त होती है ।

वक्तव्य—निर्णयसागरीय अनेक संस्करणों में उक्त ७१वें श्लोक के ऊपर 'तत्र श्लोकः' दिया गया है, जो तन्त्रकार की अपनी विशिष्ट शैली है, किन्तु हमने १९४१ ई० के जिस संस्करण का अनुकरण किया है, उसमें इसका अभाव है, यह अवधेय है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता
सिद्धिस्थान में वस्तिसूत्रीया-सिद्धि नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातः [1]स्नेहव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वस्तिसूत्रीया-सिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से स्नेहव्यापत्सिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—अनुवासनवस्ति में स्नेह का प्रयोग वस्तियन्त्र द्वारा किया तथा कराया जाता है, जो वात आदि दोषों का शमन करने के बाद स्वास्थ्य की वृद्धि कराने में सहायक होती है, किन्तु कभी-कभी अनुवासनवस्ति के हीनयोग या अतियोग से कुछ उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। उन उपद्रवों की शान्ति के उपायों का इस अध्याय में निर्देश किया जा रहा है।

संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—वस्तियों के अतियोग तथा अयोग के कारण होने वाली व्यापत्तियों का चिकित्सा सहित वर्णन च० सि० अ० ४,५,७। सु० चि० अ० ३६, ३७, ३८। अ० सं० क० अ० ६, ७ तथा अ० हृ० कल्पसिद्धि अ० ५ में देखें।

स्नेहवस्तीन्निबोधेमान् वातपित्तकफापहान्। मिथ्याप्रणिहितानां च व्यापदः सचिकित्सिताः॥

प्रस्तावना—वातज, पित्तज, कफज-विकारों का नाश करने वाली स्नेहवस्तियों (अनुवासनवस्तियों) को यहाँ कहा जा रहा है। जिनके मिथ्या (अनुचित) प्रयोग करने से जो अनेक प्रकार की व्यापत्तियाँ (रोग या उपद्रव) हो जाती हैं, उनकी चिकित्साओं का भी यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

वक्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य ने स्नेहवस्ति के उपद्रवों तथा उनके प्रतीकार की चर्चा इस प्रकार की है—'अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः। तदा शैथिल्यमाध्मानं शूलं श्वासश्च जायते॥ पक्वाशये गुरुत्वञ्च तत्र दद्यान्निरूहणम्। तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैर्युक्ता फलवर्तिर्हिता तथा॥ यथानुलोमनं वायुर्मलः स्निग्धश्च जायते। तथा विरेचनं दद्यात् तीक्ष्णं नस्यं च शस्यते'॥ शा० सं० उ० खं० अ० ५।४४-४६। इस प्रसंग में जो 'फलवर्ति' की चर्चा आयी है, उसे साधारण व्यवहार में 'बत्ती' कहते हैं। यह साबुन की बनायी जाती है अथवा ग्लिसिरीन की बनी बनायी बाजार में मिलती है। इसका विशेष विवरण यथास्थान प्रस्तुत किया जायेगा।

दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम्। गुडूच्येरण्डभूतीकभार्गीवृषकरोहिषम् ॥४॥
शतावरीं सहचरं काकनासां [2]पलांशिकम्। यवमाषातसीकोलकुलत्थान् प्रसृतोन्मितान् ॥५॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च। तैलाढकं समक्षीरं[3] जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥६॥
अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत्।

१. 'स्नेहव्यापदिकीं सिद्धिं' इति पा०।
२. 'पलोन्मिताम्' इति पा०।
३. 'पचेत्तैलाढकं क्षीरैः' इति पा०।

दशमूलादि अनुवासन-तैल—दशमूल (बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाटला की छाल, अरणी की छाल। लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू), बरियारा की जड़, रास्ना, असगन्ध, पुनर्नवा, गुरुच, एरण्ड की जड़, अजवाइन, भारंगी, अडूसा की पत्ती, रोहिष (गन्धतृण), शतावर, सहचर (झिंटीमूल), काकनासा, प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला); जौ, उड़द, अतसी (अलसी या तीसी), बेर, कुलथी, प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रसृत (८-८ तोला)—इन सभी द्रव्यों को जौकुट करके ४ द्रोण (४०९६ तोला) जल में इनका क्वाथ करें, जब चतुर्थांश जल (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) शेष रह जाय तो उसे छानकर रख लें, उस क्वाथरस से १ आढक (२५६ तोला) तिल-तैल का पाक करें, पकाते समय ही जीवनीयगण में कहे गये दस द्रव्यों (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी) को १-१ पल (४-४ तोला) प्रमाण में लेकर कल्क बनाकर मिला दें, इस प्रकार तैल-पाक हो जाने पर उसे उतार कर विधिवत् छान लें। इस दशमूलादि अनुवासन तैल का सम्यक् प्रयोग सभी प्रकार के वातजनित विकारों का शमन करता है।

वक्तव्य—च० सि० अ० ३ श्लोक ७० में जिस **बिल्वतैल** का वर्णन आया है, वह यही दशमूलादि अनुवासन तैल है, क्योंकि दशमूल में प्रथम द्रव्य बिल्व ही होता है। देखें, बृहत्पञ्चमूल के द्रव्यों को। **जीवनीय तैल** का वर्णन इस अध्याय के ९ से ११ तक के श्लोकों द्वारा किया गया है, वास्तव में यह तैल न होकर यमक स्नेह है। **मदन-तैल** का वर्णन आगे १७वें श्लोक द्वारा कहा जायगा।

आनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ॥ ७ ॥

दशमूलादि अनुवासन-वसा—ऊपर कहे गये दशमूल आदि द्रव्यों के क्वाथ तथा जीवनीयगण के (च० सू० अ० ४।९-१ में कहे गये) द्रव्यों की ओषधियों के कल्क द्वारा तैयार की गयी आनूप (जल-प्रधान) देश में उत्पन्न प्राणियों की वसा का अनुवासनवस्ति के रूप में प्रयोग करने से सभी प्रकार के वातविकारों का नाश हो जाता है।

शताह्वायवबिल्वाम्लैः सिद्धं तैलं समीरणे। सैन्धवेनाग्नितप्तेन तप्तं चानिलनुद्घृतम् ॥८॥

शताह्वादि अनुवासन-तैल—सोया, जौ, कच्चे बेल की गुद्दी—इन तीनों द्रव्यों को समान भाग लेकर इनके कल्क तथा कांजी से विधिपूर्वक सिद्ध किये गये तेल का अनुवासन वातदोषजनित विकारों में देना चाहिए।

सैन्धव-अनुवासन-घृत—सेंधानमक को गरम करके बार-बार घी में बुझायें, इस प्रकार तैयार किया हुआ यह घी अनुवासनवस्ति द्वारा प्रयोग करने पर वातदोषजनित विकारों का नाश करता है।

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम्। शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम् ॥९॥
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम्। पिष्ट्वा तैलं घृतं क्षीरे साधयेत् तच्चतुर्गुणे॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम्। [1]मूत्ररेतोरजोदोषान् हरेत् तदनुवासनम् ॥११॥

जीवन्त्यादि अनुवासन-यमक—जीवन्ती, मैनफल, मेदा, श्रावणी (गोरखमुण्डी), मुलेठी, बरियारा की जड़, सोया, ऋषभक, पिप्पली, काकनासा, शतावर, स्वगुप्ता (किवाँच), क्षीरकाकोली, काकड़ासिंगी, कचूर, वच, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जल से पीसकर कल्क बनायें। इस कल्क से चौगुना तेल तथा घी लें, तेल-घी से चौगुना गाय का दूध लेकर यथाविधि इन दोनों स्नेहों का पाक करें। इस अनुवासन यमकस्नेह का विधिवत् किया गया प्रयोग शरीर का बृंहण करता है, वातपित्त का नाश करता है, शारीरिक बल, शुक्र तथा जठराग्नि को बढ़ाता है। इसके सेवन से मूत्र, शुक्र एवं मासिकधर्म सम्बन्धी दोषों का नाश हो जाता है।

वक्तव्य—इस योग को च० सि० अ० ३ श्लोक ७० में 'जीवनीय' संज्ञा दी गयी है, क्योंकि यह पुत्रोत्पादनशक्ति-सम्पन्न योग है, इसके प्रयोग से वन्ध्या स्त्रियाँ सन्तानोत्पादन-क्रिया में समर्थ होती देखी जाती हैं।

१. 'पुंस्त्वं रेतोरजोदोषान् हरेत्तदनुवासनात्' इति पा०।

लाभतश्चन्दनाद्यैश्च पिष्टैः क्षीरचतुर्गुणम् । [1]तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम् ॥१२॥

चन्दनादि यमक—घी में चतुर्थांश तिल का तेल मिलाकर (च० चि० अ० ३ गद्य २५८ में कहे गये) चन्दनादि तेल के द्रव्यों में से जितने द्रव्य सुलभ हो सकें, उन द्रव्यों का मात्रानुसार कल्क बना लें, यह कल्क यमकस्नेह से चतुर्थांश होना चाहिए और यमकस्नेह से चौगुना दूध लेकर इसका पाक करें। इस अनुवासनवस्ति का प्रयोग पित्तजनित विकारों का नाश करता है।

वक्तव्य—इसके सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का उद्धरण अवलोकनीय है—'शिशिरस्पर्शवीर्यैश्च पिष्टैः क्षीरे चतुर्गुणे। तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम्' ॥ अ० सं० क० अ० ५।५१।

सैन्धवं मदनं कुष्ठं शताह्वां निचुलं [2]वचाम् । ह्रीबेरं मधुकं भार्गीं देवदारु सकट्फलम् ॥१३॥
नागरं पुष्करं मेदां चविकां चित्रकं शटीम् । विडङ्गातिविषे श्यामां हरेणुं नीलिनीं स्थिराम् ॥
बिल्वाजमोदे कृष्णां च दन्तीं रास्नां च पेषयेत् । साध्यमेरण्डजं तैलं तैलं वा कफरोगनुत् ॥१५॥
ब्रध्नोदावर्तगुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान् । आनाहमश्मरीं चैव हन्यात् तदनुवासनात् ॥१६॥

सैन्धवादि अनुवासन-तैल—सेंधानमक, मैनफल, कूठ, सोया, निचुल (जलवेत), वच (पाठभेद के अनुसार—बरियारा), होबेर (सुगन्धबाला), मुलेठी, भारंगी, देवदारु, कायफल (काफलवृक्ष) की छाल, सोंठ, पोहकरमूल, मेदा, चव्य, चीता की जड़, कचूर, वायविडंग, अतीस, श्यामा (कालीनिशोथ), हरेणु, नीली, स्थिरा (शालपर्णी), बेल की गुद्दी, अजमोदा, पिप्पली, दन्ती की जड़, रास्ना—इन सभी द्रव्यों को आवश्यकतानुसार समान भाग लेकर पानी के साथ पीसकर कल्क तैयार करें। इस कल्क से चौगुना रेंड़ के बीजों से निकाला गया तेल (Castor oil) लें, तेल से चौगुना जल डालकर विधिपूर्वक तेल को पकायें, तैयार होने पर इसे कपड़े से छानकर रख लें। इस तैल की अथवा तिल-तैल की अनुवासनवस्ति देने से कफदोष से उत्पन्न होने वाले सभी विकार शान्त हो जाते हैं और ब्रध्न (वृद्धि) रोग, उदावर्त, गुल्म, अर्श (बवासीर), प्लीहा, प्रमेह, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ), आनाह (अफारा), अश्मरी (पथरी) ये रोग भी इसके सम्यक् प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने द्रव्यों की दृष्टि से उक्त योग को अविकल रूप से अपनी संहिता में उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ५।५२-५५। मैंने जिस मूलपाठ को सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए वृद्ध और वाग्भट की शरण ली तो उन्होंने निश्चय ही मुझे अपने युगानुरूप सन्दर्भ में सन्दर्भित निम्न पाठ से समाधान दिया—'साध्यमेरण्डतैलं वा तैलं वा कफरोगनुत्'। यह पंक्ति है वृद्धवाग्भट की; और महर्षि आत्रेय की पंक्ति है—'साध्यमेरण्डजं तैलं तैलं वा कफरोगनुत्'। आश्चर्य है कि श्रीचक्रपाणि से लेकर आजतक के किसी टीकाकार ने 'तैलं वा कफरोगनुत्' इस पद्यांश पर टीका ही नहीं लिखी है। वास्तव में सभी काल के टीकाकारों की एक जैसी स्थिति रही है। इसका विशद वर्णन भोजराज ने इस प्रकार किया है—

'दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः, स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिभिः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते श्रोतृणामिति वाक्यविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः' ॥

अष्टांगसंग्रह के टीकाकार श्रीइन्दु उक्त पद्यांश की टीका करते हुए लिखते हैं—'सैन्धवादिभिः समैः साध्यं तिलतैलमेरण्डतैलं वा'। यही स्थिति यहाँ भी है—सेंधानमक आदि द्रव्यों द्वारा पकाया गया एरण्ड तैल अथवा उसी विधि से तैयार किया गया तिल-तैल का अनुवासन देना चाहिए।

यद्यपि उक्त तैलपाक के निमित्त यहाँ किसी द्रव्य का उल्लेख नहीं किया गया है, ऐसी स्थिति में सामान्य परिभाषा का उपयोग करना चाहिए। आचार्य शार्ङ्गधर ने परिभाषा-प्रकरण में स्पष्ट कहा है—'द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यम्'। शा० सं० पू० खं० अ० १।५०।

मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैर्बिल्वाद्येन गणेन वा । तैलं कफहरैर्वाऽपि कफघ्नं कल्पयेद् भिषक् ॥१७॥

मदनफल तैल—अथवा मैनफल का कल्क, इससे चौगुना तिल का तेल, तेल से चौगुनी कांजी को लेकर यथाविधि तेल को पकायें।

१. 'तैलपात्रं' इति पा०। २. 'बलाम्' इति पा०।

बिल्वादि तैल—अथवा बिल्वादि बृहत्पञ्चमूलोक्त द्रव्यों के कल्क से और इसी के चौगुने क्वाथरस से तिल-तैल को पकायें।

पिप्पल्यादि तैल—अथवा कफनाशक पिप्पल्यादिगणोक्त द्रव्यों के कल्क से और उसी गण के द्रव्यों के चौगुने क्वाथरस से तिल-तैल को पकायें। चिकित्सक को चाहिए कि वह कफजनित रोगों को दूर करने के लिए उक्त कफनाशक तैलों का निर्माण कर प्रयोग करे।

वक्तव्य—यहाँ कफजनित रोगों की चिकित्सा के लिए तीन प्रकार के अनुवासन-तैलों के निर्माण की विधि का निर्देश किया गया है—१. मदनफल तैल, २. बिल्वादि तैल, ३. पिप्पल्यादि तैल। ऊपर टीका में विभिन्न तैलों का पाक करने की जिस विधि को तन्त्रकार द्वारा निर्दिष्ट न होने पर भी कहा गया है, वह सामान्य तैलपाक परिभाषा के अनुरूप है। उक्त सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का मत इस प्रकार है—'साधितं पञ्चमूलेन तैलं बिल्वादिनाथवा। अन्वासनं श्लेष्महरं द्रव्यैर्वा कफघातिभिः ॥ फलैरष्टगुणे चाम्ले सिद्धमन्वासनं कफे' ॥ अ० सं० क० अ० ५।५६। इसके अनुसार अम्लद्रव को तैल से आठ गुना लेना चाहिए। श्रीचक्रपाणि के अनुसार बिल्वादि-गण सम्पूर्ण दशमूल के द्रव्य हैं, किन्तु आचार्य गंगाधर केवल बृहत्पञ्चमूल के पाँच द्रव्यों का ही ग्रहण करने की संस्तुति करते हैं। कफहर द्रव्यों के सम्बन्ध में श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'कफहरैरिति पूर्वाध्यायोक्तकफहरभेषजैः, किंवा त्रिकटुपञ्चकोलादिभिः' ॥ पहले अध्याय में कहे गये कफहर द्रव्यों के लिए देखें—च० सि० अ० ३।५६-५७। अथवा त्रिकटु—सोंठ, मरिच, पीपल; पञ्चकोल—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड़, सोंठ। वृद्धवाग्भट अनुवासन को ही प्रायः अन्वासन कहते हैं।

विडङ्गैरण्डरजनीपटोलत्रिफलामृताः । जातीप्रवालनिर्गुण्डीदशमूलाखुपर्णिकाः ॥१८॥
निम्बपाठासहचरशम्पाककरवीरकाः । एषां क्वाथेन विपचेत् तैलमेभिश्च कल्कितैः ॥१९॥
फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णारास्नाभूनिम्बदारुभिः । सप्तपर्णवचोशीरदार्वीकुष्ठकलिङ्गकैः ॥२०॥
[1]लतागौरीशताह्वाग्निशटीचोरकपौष्करैः । तत् कुष्ठानि क्रिमीन् मेहानर्शांसि ग्रहणीगदम् ॥२१॥
क्लीबतां विषमाग्नित्वं मलं दोषत्रयं तथा । प्रयुक्तं प्रणुदत्याशु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥२२॥

विडंगादि तैल—वायविडंग, एरंड (रेंड़) की जड़, हल्दी, परवल की पत्ती, हरड़, बहेड़ा, आँवला, गुरुच, चमेली की पत्ती, निर्गुण्डी (मेउड़ी) की पत्ती, दशमूल (बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाटला की छाल, अरणी की छाल। लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), मूषाकर्णी, नीम, पाठा, सहचर (झिंटी) की जड़, अमलतास, पीली कनेर की छाल—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट करके आठगुने पानी में डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय, उसे छानकर रख लें। उसमें क्वाथरस का चतुर्थांश तिल-तेल मिला दें और तेल का चतुर्थांश निम्न द्रव्यों का कल्क बनाकर उसी में मिला दें। कल्कद्रव्य—मैनफल, बेल की गुद्दी, सफेदनिशोथ, पिप्पली, चिरायता, देवदारु, छतिवन की छाल, वच, खश, दारुहल्दी, कूठ, इन्द्रजौ के बीज, मजीठ, गौरी (हल्दी), सोया, चित्रक, कचूर, चोरपुष्पी तथा पुष्करमूल। इस प्रकार सभी द्रव्यों को मिलाकर तैलपाक करें, तैयार हो जाने पर छानकर रख लें। इस तेल की विधिपूर्वक अनुवासनवस्ति देने से कुष्ठरोग, क्रिमिरोग, प्रमेह, अर्श (बवासीर), ग्रहणीरोग, नपुंसकता, अग्नि की विषमता (मन्दाग्नि या तीक्ष्णाग्नि का हो जाना), मल की विषमता तथा वातादि तीनों दोषों की विकृतियों का शीघ्र नाश हो जाता है। इस तेल का प्रयोग पान (पीने के रूप में), और अनुवासनवस्ति के रूप में किया जाता है।

व्याधिव्यायामकर्माध्वक्षीणाबलनिरोजसाम् । क्षीणशुक्रस्य चातीव स्नेहवस्तिर्बलप्रदः ॥२३॥
पादजङ्घोरुपृष्ठांसकटीनां स्थिरतां पराम् । जनयेदप्रजानां च प्रजां स्त्रीणां तथा नृणाम् ॥२४॥

अनुवासनवस्ति से लाभ—जो व्यक्ति किसी रोग से, अधिक व्यायाम करने से तथा अधिक रास्ता चलने से क्षीण, दुर्बल एवं ओज से रहित हो गये हों, जिनका वीर्य अधिक क्षीण (नष्ट) हो गया हो, ऐसे सभी पुरुषों के लिए स्नेहवस्ति का प्रयोग बल को देता है। पैरों, जंघाओं, ऊरुओं (टाँगों), पीठ, अंसों (कन्धों)

१. 'लतायष्टीशताह्वाग्निशटीसौराष्ट्रिपौष्करैः' इति पा०।

तथा कमर को अनुवासनवस्ति स्थिरता प्रदान करती है, अर्थात् इन सभी अवयवों में बल का संचार हो जाता है, सन्तान की उत्पत्ति में रजस् तथा शुक्र की शुद्धता कारण होती है और इनकी अशुद्धता बाधक होती है। अतः सन्तानहीन स्त्री-पुरुषों को इस अनुवासनवस्ति का प्रयोग सन्तान वाला बना देता है।

वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य च। अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहवस्तेः षडापदः ॥२५॥

स्नेहवस्ति की ६ व्यापत्तियाँ—१. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. अधिक भोजन, ५. पुरीष (मल) से स्नेहवस्ति के घिर जाने पर तथा ६. बिना भोजन किये हुए व्यक्ति को स्नेहवस्ति का प्रयोग कर देने से छः प्रकार की व्यापत्तियाँ पैदा हो जाती हैं।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय का यह व्यापत्ति-परिगणन कारण-भेद से निर्दिष्ट है, जिसका स्पष्टीकरण वे अगले दो पद्यों द्वारा करेंगे। वृद्धवाग्भट ने भी यद्यपि स्नेह की ६ व्यापत्तियाँ स्वीकार की हैं, परन्तु उनका प्रस्तुति-प्रकार सर्वथा स्वतन्त्र है। यथा—'विबन्धगौरवाध्मानशिरोरुग्वाहनोर्ध्वगाः। कुक्षिशूलाङ्गरुग्घिध्माहृत्पीडा-कर्तनस्रवाः॥ अयोगादतियोगाच्च वस्तेः स्युः षट्षडापदः' ॥ अ० सं० क० अ० ६।२। किसी भी चिकित्सा-विधि के तीन स्वरूप होते हैं—१. सम्यक् योग, २. अयोग तथा ३. अतियोग। इनमें प्रथम योग ही चिकित्सा की सफलता में कारण होता है, शेष दो चिकित्सा-कर्म के बाधक होते हैं। इसी दृष्टि से तन्त्रकार ने व्यापत्तियों को दो भागों में इस प्रकार विभक्त किया है—(क) वस्ति के अयोग से होने वाली छः व्यापत्तियाँ—१. विबन्ध (कब्जियत), २. गौरव (शरीर का भारी प्रतीत होना), ३. आध्मान (अफारा), ४. शिरःशूल, ५. वाहन (प्रवाहिका), ६. ऊर्ध्वग (इसमें वस्ति द्वारा दिया गया द्रव मल के साथ मुख तथा नाक द्वारा बाहर निकलने लगता है); (ख) वस्ति के अतियोग से होने वाली छः व्यापत्तियाँ—१. कुक्षि (उदर) शूल, २. अंगपीड़ा, ३. हिध्मा (हिचकी), ४. हृदय-प्रदेश में पीड़ा, ५. कर्तन (कैंची से काटने की-सी पीड़ा का अनुभव होना), ६. स्रव (रक्त आदि धातुओं का निकलना)। प्रायः ऐसा ही वर्णन सुश्रुत में भी किया है।

शीतोऽल्पो वाऽधिके वाते पित्तेऽत्युष्णः कफे मृदुः। अतिभुक्ते गुरुर्वर्चःसञ्चयेऽल्पबलस्तथा ॥२६॥
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो [1]न यात्यभिभवादपि। अभुक्तेऽनावृतत्वाच्च यात्यूर्ध्वं तस्य लक्षणम् ॥२७॥

छः व्यापत्तियों के कारण—१. वातदोष की अधिकता होने पर शीतल स्पर्श युक्त अथवा अल्प (थोड़ी) मात्रा में अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने के कारण, २. पित्तदोष की अधिकता होने पर अत्यन्त उष्ण स्पर्श युक्त अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने से, ३. कफदोष की अधिकता होने पर अधिक मृदुगुण युक्त अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने से, ४. अधिक भोजन कर लेने पर गुरु अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने से, ५. मलाशय में अधिक मल का संचय होने पर हीनबल वाली अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने से भीतर गया हुआ स्नेह द्रव मल से घिर जाने के कारण अथवा दोषों की वृद्धि हो जाने के कारण कभी वह स्नेह अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, अतः वह बाहर नहीं निकल पाता है, ६. बिना भोजन किये हुए व्यक्ति को अनुवासनवस्ति का प्रयोग करा देने से वह नीचे की ओर न लौटकर ऊपर की ओर को चली जाती है, क्योंकि उसके स्रोत खुले रहते हैं। अब उसके लक्षण कहे जा रहे हैं।

वक्तव्य—किसी कार्य के करने के आरम्भ में अथवा किसी कार्य के करने के बाद जो विशेषरूप से कष्ट उत्पन्न हो जाता है, उसे वि+आपत्ति=व्यापत्ति कहते हैं। यद्यपि यह सर्वत्र देखी जाती है, किन्तु हम प्रकरणोक्त व्यापत्ति को ही यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। वमन, विरेचन, निरूहण आदि के प्रयोगों में जो भी गड़बड़ी हो जाती है, उसमें चिकित्सा-चतुष्पाद (वैद्य, रोगी, परिचारक, औषध) की असावधानी ही प्रधान कारण होता है। वैसे ही स्नेहवस्ति (अनुवासनवस्ति) में भी अनेक प्रकार की व्यापत्तियाँ हो जाती हैं।

यद्यपि अकेली स्नेहवस्ति अथवा अकेली निरूहणवस्ति का सेवन करना हानिकारक होने के कारण निषिद्ध है, परन्तु रूक्षशरीर वाले पुरुष के लिए अल्पमात्रा में स्नेहवस्ति और स्निग्ध शरीर वाले पुरुष के लिए अल्पमात्रा में निरूहणवस्ति हानिकारक (व्यापत्तिजनक) नहीं होती है। देखें—'स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः। तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते' ॥ सु० चि० अ० ३७।८०। सत्य तो यह है कि

१. 'न यात्यभिभवादधः' इति पा०।

जिस प्रकार स्नेहयुक्त आहार के साथ रूक्ष आहार स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए आवश्यक होता है, उसी प्रकार वस्ति-कर्म में भी स्नेहवस्ति के साथ निरूहवस्ति का प्रयोग भी परमावश्यक होता है, ऐसा न करने पर भी वस्ति-प्रयोगजनित व्यापत्ति हो जाती है। अयोग तथा अतियोगजनित व्यापत्तियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

[1]अङ्गमर्दज्वराध्मानशीतस्तम्भोरुपीडनैः। पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात् स्नेहं वातावृतं भिषक् ॥२८॥

वातावृतस्नेहवस्ति के लक्षण—यदि बढ़े हुए वातदोष के कारण स्नेहवस्ति अर्थात् वस्ति द्वारा गुद-प्रदेश के भीतर प्रवेश कराया गया स्नेह बाहर नहीं आ पाता, तो शरीर के अवयवों में मसलने की-सी पीड़ा, ज्वर, आध्मान (अफारा), शीत का लगना, शरीर में जकड़न, ऊरुप्रदेश में पीड़ा, पसलियों में पीड़ा और उद्वेष्टन (ऐंठन) ये लक्षण होते हैं। इन लक्षणों को देखकर चिकित्सक को समझना चाहिए कि इसको दी गयी अनुवासनवस्ति वातदोष द्वारा आवृत (घिर गयी) है।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने वातदोष से आवृत (घिरी) स्नेहवस्ति के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः॥ अल्पवीर्य तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान्। कुर्वन्त्युपद्रवान् स्नेहः स नापि न निवर्तते॥ तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता। जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः' ॥ सु० चि० अ० ३७।८१-८३। वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार उल्लेख किया है—'स्तम्भोरुसदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः। पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्याद् वायुना स्नेहमावृतम्' ॥ अ० सं० क० अ० ७।४।

स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं [2]रास्नापीतद्रुतैलिकैः। सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः ॥२९॥
निरूहैर्निर्हरेत् सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः। ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ॥

वातावृतस्नेह-जनित रोग-चिकित्सा—वातदोष के कारण अनुवासनवस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह जब आँतों में रुक या घिर जाता है, तो स्निग्ध (स्नेहयुक्त), अम्लरस-प्रधान, लवण युक्त तथा उष्णवीर्य द्रव्यों का कल्क, गोमूत्र तथा बिल्वादिपञ्चमूल के क्वाथ से तथा सौवीर, सुरा (मद्य), बेर के स्वरस, कुलथी एवं जौ के क्वाथ से पकाये गये रास्नातैल को विधिपूर्वक उचित मात्रा में लेकर निरूहवस्ति की कल्पना करें; अथवा स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा उष्णवीर्य वाले द्रव्यों का कल्क, गोमूत्र, बिल्वादि पञ्चमूल का क्वाथ तथा पीतद्रु (चीड़) के कल्क से और सौवीर (तुषरहित जौ की काँजी), सुरा, बेर का स्वरस, कुलथी एवं जौ के क्वाथ से तैयार किये गये पीतद्रु (चीड़) के तेल (बिरोजा) को एक साथ भली-भाँति मिलाकर निरूहवस्ति को प्रस्तुत करें। उक्त दोनों निरूह-वस्तियों में किसी एक वस्ति का विधिपूर्वक प्रयोग कराकर आँतों में वायु के कारण रुके हुए स्नेह को बाहर निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। सायंकाल रोगी के भोजन कर लेने के बाद उन्हीं रास्नातैल तथा पीतद्रु तैल द्वारा उक्त रोगी को अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर कहे गये 'रास्नातैल' को च० चि० अ० २८।१६५-१६६ में देखें। **पीतद्रु**—इसका अर्थ है—पीला वृक्ष। निघण्टुओं में 'पीतदारु' नाम से भी एक द्रव्य प्रसिद्ध है, जिसका वर्णन यहाँ अप्रासंगिक है। भावप्रकाश के अनुसार पीतद्रु का पर्याय सरल (चीड़) है। देखें—भा० प्र० पू० खं० प्र० ५।२५-२६। किन्तु जितनी पीली लकड़ी देवदारु की होती है, उतना पीलापन चीड़ की लकड़ियों में नहीं देखा जाता है। इन दोनों (देवदारु तथा चीड़) वृक्षों से एक प्रकार का तैलीय द्रव निकलता है। देवदारु से निकलने वाले तैलीय द्रव को सेस्क्वीटर्पीन (Sesquiterpene) कहते हैं और चीड़ से निकलने वाले तैलीय द्रव को गन्धा-बिरोजा, श्रीवेष्टक, सरलनिर्यास इनसे तैयार किये गये तेल को तारपीन तेल (Turpentine oil) कहते हैं। अतः अपेक्षाकृत पीलापन कम होने पर भी पीतद्रु शब्द से चीड़ (सरल) का ही ग्रहण किया जाना उचित है, क्योंकि हमें यहाँ 'तारपीन तेल' की आवश्यकता है। आचार्य गंगाधर के अनुसार निरूहवस्ति के लिए तिलतैल का प्रयोग करना चाहिए। चूंकि रास्नातैल वातनाशक होता है, वातावृतस्नेह में वातदोष ही प्रधान कारण होता है, अतः रास्ना तैल को अधिक मात्रा में और पीतद्रु तैल (तारपीन तैल) को कम मात्रा में लेना चाहिए क्योंकि तारपीन का तेल कुछ अवसादक भी होता है। वैसे तो पक्वाशय को गतिशील बनाने में इसका महत्त्व-पूर्ण योगदान होता है, अतएव यह आँतों में पहुँचकर शीघ्र ही अवरुद्ध वायु तथा मल को बाहर निकाल देता है।

१. स्तम्भरुक्सदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः' इति पा०।
२. 'रास्नापीतद्रुतिल्वकैः' इति पा०। 'पीतद्रुरत्र सरलः' इति इन्दुः।

दाहरागतृषामोहतमकज्वरदूषणैः । विद्यात् पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं वस्तिभिर्हरेत् ॥३१॥

पित्तावृतस्नेह के लक्षण—यदि उदर-प्रदेश में दाह (जलन), राग (लालिमा), वार-वार प्यास का लगना, मोह, तमकश्वास तथा ज्वर आदि दोष (उपद्रव) दिखलायी दें, तो समझ लेना चाहिए कि पित्तदोष द्वारा आँतों में गया हुआ स्नेह आवृत हो गया (घिर गया) है ।

पित्तावृतस्नेह-जनित रोग-चिकित्सा—उक्त लक्षणों को देखकर जब यह निश्चित हो जाय, कि पित्त से आवृत स्नेह के कारण ये लक्षण उत्पन्न हुए हैं, तब स्वादु (मधुररस-प्रधान) तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी निरूहवस्ति द्वारा भीतर घिरे हुए स्नेह को बाहर निकालना चाहिए ।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में देखें—सु० चि० अ० ३७।८४ तथा तथा अ० सं० क० अ० ७।७ ।

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचिगौरवैः । सम्मूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणा स्नेहमावृतम् ॥३२॥

कफावृतस्नेह के लक्षण—यदि तन्द्रा (उँघाई अर्थात् नींद से पीड़ित पुरुष के समान लक्षण दिखलायी दे रहे हों, उसे तन्द्रा कहते हैं), शीतज्वर, आलस्य, प्रसेक (बार-बार मुख से कफ या लार का निकलना), अरुचि (भोजन के प्रति इच्छा का न होना), शरीर में भारीपन, मूर्च्छा (हर्षक्षय), ये लक्षण हों तो समझना चाहिए कि इस रोगी को अनुवासनवस्ति द्वारा दिया गया स्नेह द्रव कफदोष से भीतर आवृत हो (घिर) गया है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में देखें—सु० चि० अ० ३७।८५ तथा अ० सं० क० अ० ८ ।

[1]कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः सुरामूत्रोपसाधितैः । फलतैलयुतैः साम्लैर्वस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ॥३३॥

कफावृतस्नेह-जनित रोग-चिकित्सा—कषाय, कटु, तीक्ष्ण (चरपरे) स्वाद वाले तथा उष्णवीर्य वाले द्रव्यों, सुरा एवं गोमूत्र द्वारा तैयार किये गये तिलतैल में मैनफल, बेर तथा अम्ल (खट्टा अनार) के कल्क को मिलाकर प्रस्तुत की गयी निरूहवस्ति से कफदोष द्वारा घिरे हुए स्नेह को बाहर निकालना चाहिए ।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने लिखा है—'फलतैलं पूर्वं व्याहृतमेव' । इसका तात्पर्य है, कि इसी अध्याय के १७वें श्लोक में जो मदनतैल कहा गया है, वही यहाँ निर्दिष्ट 'फलतैल' है । आचार्य गंगाधर कषाय, कटु, तिक्त (न कि तीक्ष्ण) द्रव्यों के क्वाथ में सुरा आदि द्रव्यों को यथोचित मात्रा में मिलाकर निरूहवस्ति की रचना करने को कहते हैं । इसे केवल निर्माण-प्रकार का एक भेद ही कहा जा सकता है ।

[2]छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानिशूलनिद्राङ्गमर्दनैः । आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम् ॥३४॥

अन्नावृतस्नेह के लक्षण—यदि वमन, मूर्च्छा, अरुचि (भोजन के प्रति इच्छा का न होना), ग्लानि (हर्षक्षय), उदर में शूल, निद्रा की अधिकता, अंगों में मसलने की-सी पीड़ा, आमदोष के लक्षण (आलस्य आदि) दिखलायी दें तथा शरीर में दाह हो रहा हो, तो इन लक्षणों को देखकर यह समझना चाहिए कि ये अन्नावृतस्नेह के लक्षण हैं ।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में सुश्रुत के विचारों का अवलोकन करें—'बहुत अधिक भोजन कर लेने के कारण अन्न से घिरा हुआ अतएव अपने गुणों को प्रकट करने में असमर्थ वह स्नेह जब बाहर नहीं आ पाता, तब आमाशय में भारीपन, शूल, वायु (अपानवायु) का रुकना, हृदय में पीड़ा, मुख में फीकापन, श्वास, मूर्च्छा, चक्करों का आना तथा अरुचि हो जाती है । देखें—सु० चि० अ० ३७।८० ।

कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् । विरेको मृदुरत्रामविहिता च क्रिया हिता ॥३५॥

अन्नावृतस्नेह-जनित रोग-चिकित्सा—कटुरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथों से तथा कटुद्रव्यों तथा लवणों के चूर्णों से पाचनक्रिया को बढ़ाना चाहिए, मृदुविरेचनों का प्रयोग कराना चाहिए और इस स्थिति में आमदोष-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए, वह हितकर होती है ।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने जो संकेत रूप में यह कहा है, कि 'अत्रामविहिता च क्रिया हिता', इसके लिए च० वि० अ० २ के आमदोष-प्रभेद, आमविष-लक्षण तथा आमदोष-चिकित्सा, इन प्रसंगों को क्रमशः श्लोक १० और १२ से १४ तक देखें । इनका विशद वर्णन चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें । महर्षि सुश्रुत के अनुसार—

1. 'कषायतिक्तकटुकैः' इति पा० । 2. 'छर्दितृष्णारुचिग्लानिज्वरशूलाङ्गमर्दनैः' इति पा० ।

'तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनो विधिरिष्यते' । सु० चि० अ० ३७।८८ । वृद्धवाग्भट ने भी चरक के ही वचनों का अनुकरण किया है । देखें—'कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् । मृदुर्विरेकः सर्वं च तत्रामविहितं हितम्' ॥ अ० सं० क० अ० ७।११ ।

विण्मूत्रानिलसङ्गार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः । स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ॥३६॥
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः । निर्हरेद् विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च ॥३७॥

मलावृतस्नेह के लक्षण—मल (Stool) का रुकना, मूत्र का रुकना, अपानवायु का रुकना, शरीर में पीड़ा का होना, भारीपन, आध्मान (अफारा) तथा हृद्ग्रह (हृदय की गति में रुकावट) ये लक्षण यदि दिखलायी दें, तो इन्हें देखकर यह जानना चाहिए कि अनुवासनवस्ति द्वारा दिया गया स्नेह मल के कारण आवृत हो (घिर) गया है ।

मलावृतस्नेह-जनित रोग-चिकित्सा—इस स्थिति में स्नेहनों, स्वेदनों तथा गुदवर्तियों द्वारा उसकी चिकित्सा करें । यदि इन प्रयोगों से लाभ न हो तो कालीनिशोथ, बिल्वादि पञ्चमूल अथवा दशमूल के द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क द्वारा तैयार की हुई निरूह तथा अनुवासनवस्तियों का क्रमिक प्रयोग कराकर उस स्नेह को बाहर निकालने का प्रयत्न करना चाहिए । साथ ही उदावर्त-नाशक चिकित्सा-विधियों का भी प्रयोग करना चाहिए ।

वक्तव्य—गुदवर्ति को वर्तिका भी कहते हैं, उसी को सपोजीटरी (Suppository) भी कहते हैं । बिल्वादि शब्द से बृहत्पञ्चमूल या दशमूल का भी ग्रहण चिकित्सा-सम्प्रदाय में कर लिया जाता है । ऊपर श्लोक में **'श्यामाबिल्वादि'** पद का प्रयोग किया गया है । अतः कुछ टीकाकार यहाँ श्यामा शब्द से 'श्यामादि' इस प्रकार ग्रहण कर चरक-कल्पस्थान अ० १६ में कहे गये श्यामा आदि नौ द्रव्यों (१. श्यामा, २. त्रिवृत्, ३. चतुरंगुल=अमलतास, ४. तिल्वक, ५. महावृक्ष=सेहुंड, ६. सप्तला, ७. शंखिनी, ८. दन्ती, ९. द्रवन्ती) का ग्रहण करते हैं । उदावर्त-चिकित्सा का वर्णन च० चि० अ० २६ श्लोक ५ से ३१ तक में किया गया है ; इस प्रसंग में इसका भी अवलोकन कर लें । महर्षि सुश्रुत ने पुरीषाभिभूत रोगी के लक्षणों तथा चिकित्सा का सम्यक् उल्लेख किया है । देखें—सु० चि० अ० ३७।८९-९० ।

अभुक्ते शून्यपायौ वा वेगात् स्नेहोऽतिपीडितः । धावत्यूर्ध्वं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि ॥

बिना भोजन किये हुए पुरुष को जिसका गुदमण्डल
निरन्न पुरुष को वस्ति देने से होने वाले विकार—अनुवासनवस्ति का प्रयोग तीव्रवेग से करा दिया जाता
विरेचन हो जाने के कारण खाली हो चुका है, उसे यदि ऊपर की ओर चला जाता है और कंठ
है, तो उस वस्ति द्वारा भीतर प्रवेश कराया गया वह द्रव वेग के साथ
द्वारा बाहर निकलने लगता है ।
(गले) तक पहुंचकर वह ऊपर के छिद्रों (मुख तथा नाक) में सहायक होती है, अतः इसे भूखे पेट
वक्तव्य—निरूहणवस्ति दोषों को विरेचन द्वारा बाहर निकालने शा० सं० उ० खं० अ० ६।१२ । और
ही दिया जाता है । देखें—'न तु भुक्तवते देयमास्थापनमिति स्थितिः' । सुश्रुत के अनुसार देखें—
इसके विपरीत अनुवासनवस्ति का प्रयोग भूखे पेट वाले व्यक्ति में नहीं करना चाहिए । स्नेहगन्धिमुख चापि कास-
'शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम् । गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपोऽवसादनम् ॥ इस प्रकार दी गयी है—'अतिपीडितवत्तत्र
श्वासावरोचकः' । सु० चि० अ० ३७।९१ । संक्षेप में इसकी चिकित्सा पेयामात्राशितस्य वा । गुदे
सिद्धिरास्थापनं तथा' । वही, ३७।९२ । वृद्धवाग्भट के अनुसार—'अभुक्ते शून्यपायोर्वा अ० सं० क० अ० ७।१४ ।
प्रणिहितः स्नेहो वेगाद् धावत्यनावृतः ॥ ऊर्ध्वकायं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि' ॥ निरूहः सानुवासनः ॥३९॥

मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान् । तत्सिद्धतैल इष्टोऽत्र

बिना भोजन किये हुए पुरुष को अनुवासनवस्ति देने से होने वाले
उपर्युक्त विकारों की चिकित्सा—गोमूत्र, कालीनिशोथ तथा लाल निशोथ के क्वाथ
लक्षणों को देखकर निम्न प्रकार से उसकी चिकित्सा करें— कराकर तदनन्तर इन्हीं द्रव्यों
में जौ, बेर, कुलथी के कल्क को मिलाकर तैयार की गयी निरूहवस्ति का प्रयोग
के क्वाथ तथा कल्क के योग से तैयार किये गये तिलतैल की अनुवासनवस्ति भी देनी चाहिए ।

कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः । छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य कार्यं निवर्तनम् ॥४०॥

गले से स्नेह के आने पर चिकित्सा—यदि अनुवासनवस्ति द्वारा मिथ्या प्रयुक्त स्नेह कण्ठमार्ग से बाहर की ओर आ रहा है, ऐसा प्रतीत हो रहा हो, तो उसे रोकने के (मुख के ऊपर ठंडे पानी के छींटे देना हवा लगाना आदि) प्रयास करें, इसी को ऊपर 'स्तम्भ' क्रिया कहा है। अथवा कण्ठ को दबाना चाहिए (कहीं ऐसा न दवा दें, जिससे रोगी के प्राण ही चले जायें) जिससे ऊपर की ओर को वेग से आता हुआ वह द्रव पुनः नीचे की ओर को लौट जाये। या तीक्ष्ण विरेचन के प्रयोग से उस वमन के वेग को प्रत्यावर्तित करा दें। अथवा वमननाशक चिकित्साओं का प्रयोग करायें।

वक्तव्य—चरक-चिकित्सास्थान अ० २० में छर्दि-चिकित्सा का वर्णन किया गया है। उसमें कहे गये अवसरोचित योग का प्रयोग करें। च० सि० अ० ३।२१ में भी 'कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितश्च' उद्धृत है। महर्षि सुश्रुत भी (सु० चि० अ० ३६।१२ में) इसी विषय को दुहरा रहे हैं, कि वस्ति द्रव अनुचित विधि से प्रयुक्त होने पर मुख तथा नासिका मार्ग से निकलने लगता है, यह कुछ असम्भव-सा लगता है। इस पर थोड़ा विचार करना चाहिए। इस प्रसंग में सु० उ० अ० ५५ के ८वें श्लोक को पढ़ें और मनन करें, क्या ऐसी ही स्थिति यहाँ भी उत्पन्न हो जाती है? महर्षि सुश्रुत ने भी कण्ठ आदि से स्नेह आने की चिकित्सा का वर्णन प्रायः ऐसा ही किया है, देखें—सु० चि० अ० ३७।१३। इस प्रसंग के उपकारक कुछ अन्य पद्यों का भी अवलोकन कर लें—सु० चि० अ० ३७।९३ से ९६ तक।

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहवस्तिरनिःसृतः । सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥

निरुपद्रव स्नेह की उपेक्षा—जिस पुरुष को अनुवासनवस्ति दी गयी हो, किन्तु उससे दिया गया स्नेह लौटकर बाहर न आया हो और न वह किसी प्रकार का उपद्रव ही कर रहा हो तो इस रहस्य को जानने वाला चिकित्सक उस स्नेह की उपेक्षा कर दे, अर्थात् उसके बाहर निकालने की चिन्ता न करे। क्योंकि कभी स्नेह-वस्ति अर्थात् वस्तियन्त्र द्वारा भीतर प्रवेश कराया गया स्नेहद्रव पूर्ण रूप में 'अथवा अल्पमात्रा में वात आदि दोष तथा मल से घिर जाने के कारण अथवा शरीर की रूक्षता के कारण बाहर नहीं निकल पाता, अतः उसकी उपेक्षा करनी ही चाहिए।

वक्तव्य—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अनुवासनवस्ति द्वारा दिया गया स्नेह कुछ निकल जाता और कुछ भीतर आँतों में ही रह जाता है, कभी पूरा भीतर ही रह जाता है। वह भले ही वात आदि दोषों से आवृत हो या मल से आवृत हो, यदि उपद्रव न कर रहा हो तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह भीतर रहकर स्नेहन करने के कारण शरीर का उपकार ही करता है, अतः उसको बाहर निकालने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में चरक-सुश्रुत की एकवाक्यता को देखें—सु० चि० अ० ३७।९८। इस पर टीका करते हुए आचार्य डल्हण लिखते हैं—जब भी स्नेह भीतर रुकता है, उसमें प्रधान कारण रूक्षता ही होती है। आप भी डल्हण के व्याख्यान को पढ़ें।

स्नेहवस्ति के बाहर लौट आने का समय ३ याम (९ घंटे) माना गया है, यदि इतने समय में भी नहीं लौटती तो इसकी अन्तिम सीमा एक अहोरात्र (२४ घंटे) है। यदि इतने समय में भी वापस न हो तो आवश्यकता पड़ने पर उसकी उचित चिकित्सा करनी चाहिए। इसपर सुश्रुत के विचारों को देखें—'अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति। कुर्याद् वस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत्' ॥ सु० चि० अ० ३७।९७। इसके आगे पुनः कहते हैं—'अनायान्तं त्वहोरात्रात् स्नेहं संशोधनैर्हरेत्। स्नेहवस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते' ॥ वही, ९९। इसमें एक बात अवधेय है, वह यह कि 'जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत्' इस पर थोड़ा विचार करें—आचार्य डल्हण के विचारों को हमने इस प्रसंग में ऊपर संगृहीत किया है कि 'अत्यन्त रूक्षता के कारण वातदोष वस्ति द्वारा प्रदत्त स्नेह को भीतर ही सुखा देता है'। अब आप ध्यान दें—पंचकर्मों में सर्वप्रथम स्नेहन आदि संस्कार कराये जाते हैं, विधिवत् स्नेहन करा देने से शरीर की रूक्षता समाप्त हो जाती है और रूक्षता समाप्त होने पर स्नेह भले ही अन्य कारणों से भीतर रुक जाय, किन्तु वह रूक्षता के कारण नहीं रुकेगा। दूसरी बात—यह वस्ति द्वारा प्रदत्त स्नेह क्यों अल्प गुण वाला हुआ? आप कहेंगे पहले स्नेहन न कराने से; जो उचित ही है। स्नेह को लौटकर आने के समय के सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का भी यही मत है। देखें—अ० सं० सू० अ० २८।३२। अनुवासनवस्ति का पूर्ण लाभ न दिखलायी देने पर तीन दिन बाद पुनः उसका प्रयोग कराना चाहिए, जैसा कि आगे कहा जायेगा।

युक्तस्नेहं द्रवोष्णं च लघुपथ्योपसेवनम् । भुक्तवान् मात्रया भोज्यमनुवास्यस्त्र्यहात्त्र्यहात् ॥४२॥

अनुवासनवस्ति के बाद कर्तव्य—अनुवासनवस्ति द्वारा दिये गये स्नेह का यदि उचित प्रयोग हो गया हो, तो उस रोगी को द्रव (पेय), उष्ण (शीतल के विपरीत), लघु (जल्दी पच जाने वाले), पथ्य (हितकर) आहारों का सेवन कराना चाहिए। मात्रा के अनुवासार भोज्य पदार्थों को खिलाकर तीन-तीन दिन में उसे अनुवासनवस्ति देते रहना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त व्यवस्था सम्यक् (भली-भाँति) अनुवासित रोगी के लिए दी गयी है, यदि ठीक प्रकार से अनुवासनवस्ति का लाभ रोगी को न मिला हो तो ऊपर कहे गये ६ उपद्रव, जिन्हें व्यापत् कहा गया है, हो जाते हैं, जिनको दूर करने के बाद तब उक्त श्लोक द्वारा निर्दिष्ट प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। इसमें जो तीन-तीन दिन पर वस्ति-प्रयोग का निर्देश किया है, उस पर विचार करने के लिए इस अवसर पर महर्षि आत्रेय के इन वचनों को भी ध्यान में रखें—'प्रत्यागते चाप्यनुवासनीये दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम् ॥ सायं च भोज्यं परतो द्व्यहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा। द्व्यहे त्र्यहे वाप्यथ पञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनं च' ॥ च० सि० अ० १।२३-२४।

ऊपर महर्षि आत्रेय ने सम्यक् अनुवासित पुरुष की जो भोजन-व्यवस्था का निर्देश किया है, उसमें 'द्रव' शब्द से 'पेया' नामक विशिष्ट पेय का ग्रहण नहीं करना चाहिए। ध्यान दें—'न चानुवासितं पेयां पाययेत्। सा हि सस्नेहकोष्ठमेनमभिष्यन्दयति'। अ० सं० सू० अ० २८।३३।

धान्यनागरसिद्धं हि तोयं दद्याद् विचक्षणः । व्युषिताय निशां कल्यमुष्णं वा केवलं जलम् ॥४३॥

उष्णजल-सेवन-निर्देश—सूझ-बूझ वाले चिकित्सक को चाहिए, कि वह अनुवासनवस्ति देने के बाद जब रात बीत जाय अर्थात् दूसरे दिन प्रातःकाल धनियाँ और सोंठ से षडंगपानीय की विधि से तैयार किया हुआ जल रोगी को पीने के लिए दे, अथवा केवल गुनगुना जल उसे पिलायें।

स्नेहाजीर्णं जरयति श्लेष्माणं तद्भिनत्ति च । मारुतस्यानुलोम्यं च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम् ॥४४॥
वमने च विरेके च निरूहे सानुवासने । तस्मादुष्णोदकं देयं वातश्लेष्मोपशान्तये ॥४५॥

उष्णजल पीने से लाभ—गरम जल को पीने से वह स्नेह का सेवन करने के कारण उत्पन्न अजीर्ण (अनपच) को पचा देता है, कफ-समूह को गला देता है और प्रतिलोम हुई वायु को अनुलोम कर देता है। यही कारण है कि वमन, विरेचन, निरूह तथा अनुवासनवस्ति के प्रयोगों में वात तथा कफदोष की शान्ति के लिए रोगियों को पीने के लिए गरम जल का ही प्रयोग करायें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने उक्त विषय को प्रकारान्तर से कहा है—'सुखोषितं चैनं तथा कृतवमनविरेका-स्थापनान्यतमं प्रातः शुण्ठीधान्यक्वाथमितरचोष्णोदकं वा स्नेहशेषजरणाय वातकफोपशान्तये च पाययेत्'। अ० सं० सू० अ० २८।३२। विशेष यथास्थान देखें।

रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निर्व्यायामी[1] मारुतामयी । वङ्क्षणश्रोण्युदावृत्तवाताश्चार्हा दिने दिने ॥४६॥

प्रतिदिन अनुवासनीय व्यक्ति—जो व्यक्ति प्रतिदिन रूक्ष (स्नेहरहित या घृतगन्धि भोजन) पदार्थों का सेवन करता है, जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त (तीव्र) है, जो प्रतिदिन व्यायाम करता है, वातव्याधि से पीडित है, जिसके वंक्षण तथा श्रोणिप्रदेश में वायु कुपित हो और जो उदावर्त रोग से पीड़ित हो, उन सभी को प्रतिदिन अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत ने उक्त विषय को कुछ बदलकर इस प्रकार कहा है—'रूक्षाय बहुवाताय स्नेहवस्तिर्दिने दिने। दद्याद् वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात् त्र्यहम्' ॥ सु० चि० अ० ३७।७९ तथा अ० सं० सू० अ० २८।३३ को भी देखें।

---

१. 'भृशं व्यायामपीडितः' इति पा०।

एषां चाशु जरां स्नेहो यात्यम्बु सिकतास्विव । अतोऽन्येषां त्र्यहात् प्रायः स्नेहं पचति पावकः ॥

स्नेहपाचन में उपमा—यह पद्य प्रतिदिन अनुवासनीय व्यक्तियों के गुणों से सम्बन्धित है । अतएव तन्त्रकार ने पहले उन रूक्ष व्यक्तियों की ही चर्चा इस प्रकार की है—इन (रूक्ष व्यक्तियों) के शरीर में गया हुआ वह स्नेह उस प्रकार शीघ्र ही सूख जाता है, जिस प्रकार बालू के ढेर में डाला गया पानी । अतः इनको तो प्रतिदिन अनुवासनवस्ति देनी चाहिए और इनके अतिरिक्त जिनके शरीरों का विधिवत् स्नेहन किया गया है, उनकी जठराग्नि अनुवासनवस्ति द्वारा दिये गये स्नेह को तीन दिन में पचा सकती है ।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार द्वारा प्रयुक्त 'प्रायः' पद तीन दिन की अवधि को कम तथा ज्यादा करने की अनुमति कुशल चिकित्सक को दे रहा है, न कि सामान्य व्यक्ति को । क्योंकि चिकित्सा का प्रारम्भ 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' अर्थात् प्रत्येक पुरुष को देखकर करने की शास्त्रीय अनुमति है ।

न त्वामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद् गुदम् । सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥

आमतैल का प्रयोग निषिद्ध—इस अध्याय में अनेक अनुवासनोपयोगी तैलों को तैयार करने की विधियों का वर्णन किया है, अतः अनुवासनवस्ति में कभी भी आम (अपक्व) तैल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि मूर्खतावश आमतेल का प्रयोग करा दिया जाता है, तो वह गुद-प्रदेश से लेकर आँतों तक के अवयवों को चिपचिपा कर देता है और गुदमार्ग से सदैव चिकना स्राव होता ही रहता है । अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराते समय दूसरी सावधानी यह करनी चाहिए कि जितना स्नेह वस्ति में भरा गया हो उसे पूरा भीतर प्रवेश नहीं कराना चाहिए, अपितु उसे कुछ मात्रा में बचा लेना चाहिए । यदि वह स्नेह पूरा का पूरा प्रवेश करा दिया जायेगा तो उसके साथ वायु का भीतर प्रवेश हो जायगा, क्योंकि वस्ति-यन्त्र में जो तेल बचा रहता है, वह वायु मिश्रित तेल होता है ।

वक्तव्य—आम (कच्चा) तेल पके हुए तेल की अपेक्षा पचने में देर करता है । दूसरा कारण यह भी है, कि विभिन्न औषधद्रव्यों से विधिपूर्वक तैयार किया गया तेल संस्कार-विशेष के कारण आँतों में पहुँचकर अपने-अपने गुणों से लाभान्वित करता है, और वह आमतेल गुदद्वार से लेकर आँतों तक पहुँचकर उक्त अवयवों को उस प्रकार गीलाकर देता है, जिस प्रकार अभिष्यन्द (जुकाम) रोग में नाक आदि सम्बन्धित अवयवों की स्थिति बनी रहती है । दूसरी बात उक्त श्लोक में यह भी कही गयी है—'स्नेहं सावशेषं कुर्वीत, शेषस्नेहे वायुः तिष्ठति' । अर्थात् अवकाश (खाली) स्थान में वायु स्वयं भर जाती है । यदि सम्पूर्ण तेल का प्रवेश भीतर करा दिया जायगा, तो उससे वायु का भी प्रवेश हो जायगा, जो भीतर पहुँचकर अनेक उपद्रव कर सकता है ।

महर्षि आत्रेय ने ६ प्रकार के स्नेहव्यापदों की चर्चा इसी प्रकरण के २५वें पद्य में की है, किन्तु वृद्धवाग्भट ने शून्यपायु में दी गयी स्नेहवस्ति तथा आमस्नेह युक्त दी गयी स्नेहवस्ति इन दोनों को भी उसी में जोड़कर आठ प्रकार की व्यापत्तियाँ स्वीकार की हैं । आमतैल की वस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए । इस बात का समर्थन वृद्धवाग्भट ने भी किया है—'नापक्वं प्रणयेत् स्नेहं गुदं स ह्युपलिम्पति । ततः कुर्यात् स रुङ्मोहकण्डूशोफान्'''॥ अ० सं० क० अ० ७।१७ ।

न चैव गुदकण्ठाभ्यां दद्यात् स्नेहमनन्तरम् । [1]उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत् ॥

उभयविध स्नेह का प्रयोग एक साथ नहीं—गुदमार्ग से वस्ति-प्रयोग द्वारा तथा कण्ठ (मुख) मार्ग से एक ही साथ अथवा एक ही काल में स्नेह का प्रयोग कराना उचित नहीं है, अर्थात् मुख द्वारा जब स्नेहपान कराया जा रहा हो तो उसी समय अनुवासनवस्ति का भी प्रयोग नहीं कराना चाहिए । क्योंकि दोनों ओर (कण्ठमार्ग तथा गुदमार्ग) से एक साथ भीतर प्रवेश किया हुआ स्नेहद्रव वायु एवं जठराग्नि इन दोनों को दूषित कर देता है ।

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् । उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहात् पवनाद् भयम् ॥
तस्मान्निरूढः [2]संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासितः । स्नेहशोधनयुक्त्यैवं वस्तिकर्म त्रिदोषनुत् ॥५१॥

१. 'सङ्गतः स ह्युभयतो वाताग्नी दूषयेत् समम्' इति पा० । २. स्नेह्यः स्यात्' इति पा० ।

स्नेह या निरूहवस्ति का अधिक प्रयोग निषिद्ध—स्नेह (अनुवासन) वस्ति अथवा निरूहवस्ति इनमें से किसी भी वस्ति का अकेले अधिक प्रयोग नहीं कराना चाहिए, क्योंकि स्नेहवस्ति का अधिक प्रयोग कराने से उत्क्लेश (जी-मिचलाना) होने लगता है और जठराग्नि मन्द पड़ जाती है । केवल निरूहवस्ति का निरन्तर प्रयोग करते रहने से वातजनित रोगों के होने का भय बना रहता है । इसलिए निरूहवस्ति का प्रयोग करने के बाद अनुवासनवस्ति का प्रयोग और अनुवासनवस्ति का प्रयोग करने के बाद निरूहवस्ति का विधिवत् प्रयोग करने से यह वस्तिकर्म अर्थात् वस्तिचिकित्सा तीनों दोषों का विनाश करती है ।

वक्तव्य—निरूहवस्ति को हम शोधनवस्ति भी कहते हैं । शरीर-शोधन के बाद ही शरीर का पोषण करना उचित होता है, अतएव निरूह के बाद अनुवासनवस्ति का विधान किया गया है, इसके शरीर-शोधक तथा पोषक गुणों को देखकर ही प्राचीन आचार्यों ने वस्ति-विधान की प्रशंसा करते हुए इसे सम्पूर्ण चिकित्सा कह डाला है, दूसरे आचार्यों ने आधी चिकित्सा वस्तिचिकित्सा शेष में अन्य सभी चिकित्साओं का समावेश किया है । अस्तु, महर्षि सुश्रुत का मत—'स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् । स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात् पवनाद् भयम् ॥ तस्मान्निरूढोऽनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः । नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद् भयम्' ॥ सु० चि० अ० ३७।७७-७८ । अनेक अवसरों पर चरक तथा सुश्रुत के विचार तथा भाषा सम्बन्धी समानता महत्त्वपूर्ण देखी जाती है ।

विशेष—यद्यपि केवल स्नेह (अनुवासन) वस्ति अथवा केवल निरूहवस्ति का सेवन करना ऊपर निषिद्ध कहा गया है, तथापि रूक्ष पुरुष के लिए थोड़ी मात्रा में स्नेहवस्ति तथा स्निग्ध पुरुष के लिए थोड़ी मात्रा में निरूहवस्ति हानिकारक नहीं होती है । यों भी दैनिक क्रिया-कलाप की ओर आप ध्यान दें—स्नेहयुक्त आहार के साथ स्वास्थ्य-रक्षा के लिए रूक्ष आहार हितकर होता है । वैसे ही वस्तिकर्म मे स्नेहन के साथ रूक्षण की भी आवश्यकता होती है ।

कर्मव्यायामभाराध्वया(पा)नस्त्रीकर्षितेषु च । दुर्बले [1]वातभग्ने च मात्रावस्तिः सदा मतः ॥५२॥

मात्रावस्ति का विधान—जो व्यक्ति प्रतिदिन विविध प्रकार के कर्म, व्यायाम, भार-वहन (बोझा ढोना), रास्ता चलना, सवारी पर बैठकर यात्रा करना, अधिक स्त्री-सहवास करना, इन कारणों मे कृश हो गये हों, जो दुर्बल तथा वातविकारों से पीड़ित हों, उन सबके लिए मात्रावस्ति सदैव हितकर होती है ।

यथेष्टाहारचेष्टस्य सर्वकालं निरत्ययः । ह्रस्वायाः स्नेहमात्राया मात्रावस्तिः समो भवेत् ॥५३॥

मात्रावस्ति की उपयोगिता—शास्त्रोक्त आहार-विहार तथा दिनचर्या के नियम के विरुद्ध अपनी इच्छा के अनुसार आहार-विहार तथा शारीरिक चेष्टाओं (उठना, बैठना, घूमना-फिरना आदि) को करने वाले व्यक्ति के लिए सभी काल में उपद्रव न करने वाली इस मात्रावस्ति का प्रयोग करना चाहिए । यह मात्रा-वस्ति स्नेह की छोटी मात्रा के समान होती है ।

वक्तव्य—स्नेह की तीन प्रकार की मात्राओं की चर्चा तन्त्रकार ने 'अहोरात्रमहः'''मानतः' । च० सू० अ० १३।२९ में की है । उसका विस्तृत वर्णन चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें । श्रीचक्रपाणि ने तन्त्रान्तर से एक प्रमाण इस प्रकार अपनी टीका में उद्धृत किया है—'षट्पली तु भवेज्ज्येष्ठा, मध्यमा त्रिपली भवेत् । कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने' ॥ महर्षि सुश्रुत के अनुसार मात्रावस्ति का स्वरूप—'तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्रावस्तिरिति' । सु० नि० अ० ३५।१८ । अर्थात् अनुवासनवस्ति का ही एक भेद 'आधे की भी आधी मात्रा' को मात्रावस्ति कहते हैं । आचार्य गयी के विचार से स्नेहवस्ति की मात्रा ६ पल है ३ पल अनुवासनवस्ति की मात्रा और १½ पल मात्रावस्ति की मात्रा है । देखें—सु० चि० अ० ३५।१८-१९ पर डल्हण की टीका । यहाँ तन्त्रकार का संकेत इसी मात्रा की ओर है, क्योंकि इस लघुतम मात्रा का सेवन करने वाला व्यक्ति ही मनमानी आहार और चेष्टाएँ कर सकता है । इतनी मात्रा में स्नेह का सेवन करने से किसी प्रकार की विपत्ति भी नहीं होती है । संक्षेप में—अनुवासनवस्ति तथा मात्रावस्ति में केवल मात्रा का ही भेद है ।

१. 'वातरुग्णे' इति पा० ।

बल्यं सुखोपचयं च सुखं सृष्टपुरीषकृत् । स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत् ॥५४॥

मात्रावस्ति के गुण—यह मात्रावस्ति शारीरिक बल को बढ़ाती है, सुखपूर्वक इसके द्वारा उपचार (चिकित्सा) किया जा सकता है, इसके सेवन से सुखपूर्वक मल-मूत्र का त्याग किया जा सकता है, यह शरीर का बृंहण करती है, अर्थात् दुबले-पतले व्यक्ति के शरीर को मांसल बना देती है और वातरोगों का विनाश करती है। इस प्रकार यहाँ तक स्नेह की मात्रा का विधान कह दिया गया है।

वक्तव्य—यहाँ 'स्नेहमात्राविधान' शब्द से मात्रावस्ति का ही ग्रहण करना चाहिए।

तत्र श्लोकौ—

वातादीनां शमायोक्ताः प्रवराः स्नेहवस्तयः । तेषां चाज्ञप्रयुक्तानां व्यापदः सचिकित्सिताः ॥
प्राग्भोज्यं स्नेहवस्तेर्यद् ध्रुवं येऽर्हास्त्र्यहाच्च ये । स्नेहवस्तिविधिश्चोक्तो मात्रावस्तिविधिस्तथा ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
स्नेहव्यापत्सिद्धिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय से सम्बन्धित यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—प्रस्तुत अध्याय में वात आदि दोषों का शमन करने के लिए उत्तम स्नेहवस्तियों की विधियाँ कही गयी हैं। यदि उनका प्रयोग अनजान व्यक्ति करता है, तो उनसे अनेक प्रकार की व्यापद् (आपत्तियाँ) हो जाती हैं, उन सबकी इस अध्याय में चिकित्साएँ भी कह दी गयी हैं। स्नेहवस्ति का प्रयोग करने के पहले जो आहार-विधान होना चाहिए, उसका वर्णन तथा जिन व्यक्तियों को तीन-तीन दिन पर अनुवासनवस्ति देनी चाहिए, उनका भी निरूपण यहाँ किया गया है। स्नेहवस्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए, उसकी विधि एवं मात्रावस्ति की विधियों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-
सिद्धिस्थान में स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातो [1]नेत्रवस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

स्नेहव्यापत्सिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से नेत्रवस्ति-व्यापत्सिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—निरूह तथा अनुवासन के द्रव्यों को जिस यन्त्र द्वारा यथास्थान पहुँचाया जाता है, उसका नाम है—वस्तियन्त्र। इसमें दो अवयव होते हैं—१. वस्ति (थैली) जिसमें द्रव द्रव्य रखा जाता है। २. नेत्र (नलिका) जिसके सहारे वह द्रव गुदमार्ग से भीतर पहुँचाया जाता है। प्रस्तुत अध्याय में उसी वस्तिनेत्र के अनुचित प्रयोग-विधि से होने वाले उपद्रवों का परिचय तथा उनकी समुचित चिकित्सा-विधि का निर्देश किया जायेगा।

१. 'नेत्रव्यापदिकीं सिद्धिं' इति पा०।

अथ नेत्राणि वस्तींश्च शृणु वर्ज्यानि कर्मसु । नेत्रस्याज्ञप्रणीतस्य [1]व्यापदः सचिकित्सिताः ॥३॥

प्रस्तावना—अग्निवेश ! अब उन नेत्रों तथा वस्तियों के सम्बन्ध में सुनो, जिन्हें चिकित्सा-कार्यों में वर्जनीय (अनुपयुक्त) कहा गया है तथा अल्पबुद्धि वाले काय-चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त नेत्र से होने वाले उपद्रवों और उनकी चिकित्साओं को भी सुनो।

वक्तव्य—यद्यपि तन्त्रकार ने नेत्र के मिथ्या प्रयोग के प्रति च० सि० अ० ३ के १९वें तथा २०वें श्लोक में भी दिशा-निर्देश किया है, किन्तु यहाँ उस विषय के साथ वस्तिदोष की भी विवेचना की जायेगी।

ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम् । [2]पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ॥४॥

नेत्र के आठ दोष—१. ह्रस्व (जिस अवस्था के लिए जो प्रमाण च० सि० अ० ३।८ में दिया गया है, उससे छोटा), २. दीर्घ (प्रमाण से अधिक लम्बा), ३. पतला, ४. मोटा, ५. अधिक पुराना, ६. नेत्र और वस्ति के बन्धन-स्थान का ढीला होना, ७. नेत्र (या वस्ति) के अगल-बगल छेद का होना तथा ८. टेढ़ा होना—इस प्रकार के नेत्रों (नलिकाओं) का प्रयोग न करें।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने ११ नेत्र-दोषों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अतिस्थूलं, कर्कशम्, अवनतम् , अणुभिन्नं, सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं, सूक्ष्मातिच्छिद्रम्, अतिदीर्घम् , अतिह्रस्वम् , अस्रिमत्, इत्येकादश नेत्रदोषाः'। सु० चि० अ० ३५।३२। इसके स्पष्टीकरण के लिए डल्हण की व्याख्या देखें। महर्षि आत्रेय ने शिथिल-बन्ध दोष नेत्र का माना है और सुश्रुत में वह वस्तिदोष है।

अप्राप्त्यतिगतिक्षोभकर्षणक्षणनस्रवाः । गुदपीडा गतिर्जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम् ॥५॥

नेत्र-दोषों के परिणाम—यदि चिकित्सक उक्त प्रकार के दोषयुक्त वस्तिनेत्रों का प्रयोग करता है, तो उनके ये परिणाम होते हैं—१. नेत्र के ह्रस्व (छोटा) होने से औषधद्रव आँतों तक भली-भाँति नहीं पहुँच पाता, २. यदि नेत्र प्रमाण से अधिक बड़ा होता है तो औषधद्रव ऊपर तक चला जाता है, ३. यदि वस्तिनेत्र पतला होता है, तो गुदप्रदेश में जाकर इधर-उधर हिलने के कारण क्षोभ पैदा कर देता है, ४. यदि नेत्र की आकृति आवश्यकता से अधिक मोटी हो तो गुद में खिंचावट होने लगती है, ५. नेत्र के पुराना होने पर गुदमार्ग में खरोंश लग जाती है, ६. यदि नेत्रवस्ति का बन्धन ढीला हो तो वस्ति को दबाने पर औषधद्रव बाहर निकलने लगता है, ७. वस्तिनेत्र के अगल-बगल छिद्र हो तो उससे औषधद्रव निकलकर बाहर चूने लगता है। ८. यदि नेत्र टेढ़ा होगा तो गुद के भीतर उसका ठीक ढंग से प्रवेश नहीं हो सकेगा और भीतर जाकर औषधद्रव भी वेग के साथ यथास्थान नहीं पहुँच पायेगा। इस प्रकार नेत्र-दोषों से ये आठ प्रकार की हानियाँ होती हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने नेत्र-दोषों से होने वाली हानियों का वर्णन सु० चि० अ० ३६ में श्लोक ६ से ९ तक किया है।

विषममांसलच्छिन्नस्थूलजालिकवातलाः । स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत् ॥

वस्ति के आठ दोष—१. विषम, २. मांसल, ३. छिन्न, ४. स्थूल, ५. जालिक (शिराजाल से युक्त), ६. वातल (वायु से सर्वदा भरा रहना), ७. स्निग्ध (चिकना होना), ८. क्लिन्न (गीलापन का बने रहना), इस प्रकार के दोषों से युक्त इन आठ वस्तियों का प्रयोग चिकित्सा-कार्य में न करें।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने वस्ति के पाँच दोषों की गणना इस प्रकार की है—'बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता, दुर्बद्धतेति पञ्च वस्तिदोषाः'। सु० चि० अ० ३५।३२। इसी प्रसंग में इन दोषों से होने वाली हानियों का भी वर्णन किया गया है। श्रीजयदेव के अनुसार उक्त पद्य का पूर्वार्ध इस प्रकार है—'मांसलस्निग्धविषमस्थूलजालिकवातलाः'। यहाँ श्रीचक्रपाणि की टीका भी द्रष्टव्य है—'विषमः विषमसंस्थानः, स्थूलः अतिप्रमाणः जालिकः सूक्ष्मानेकच्छिद्रः, वातलः वातदुष्टः स्निग्धः अतिस्निग्धः क्लिन्नः शीर्णावयवः'। इति। ऐसा मालूम पड़ता है, कि श्रीचक्रपाणि के समय मूलपाठ कुछ और रहा होगा, जिसकी उन्होंने उपर्युक्त व्याख्या की है। जरा आप भी मिलान करें। उक्त पाठ का निर्णय करने के लिए हम निर्णयसागरीय प्रति के विभिन्न संस्करणों

१. 'दोषांश्च सचिकित्सितान्' इति पा०। २. 'पार्श्वाश्रितं' इति पा०।

के कुछ पाठ यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—सन् १९२२ का पाठ—'मांसलच्छिद्रविषमस्थूलजालकवातलाः। छिन्नः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत्॥ सन् १९३३ का पाठ 'विषममांसलच्छिद्रस्थूलजालिकवातलाः। स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत्॥ सन् १९४१ का पाठ ऊपर उद्धृत है ही। अब आप स्वयं विचार करें वह कौन-सा पाठ रहा होगा, जिसकी टीका श्रीचक्रपाणि ने की है? विचार करते समय इसे भूलें नहीं कि इस टीका में आठों दोषों का उल्लेख नहीं है।

गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः। फेनिलच्युत्यधार्यत्वं वस्तेः स्युर्वस्तिदोषतः॥७॥

वस्तिदोषों से हानियाँ—१. वस्ति की विषमता के कारण औषध द्रव की गति विषम हो जाती है, २. वस्ति यदि मांसल चर्म से निर्मित होती है, तो उसमें से कच्चे मांस की गन्ध आने लगती है, ३. यदि वस्ति छिन्न होती है, तो उसमें से औषधद्रव चूने लगता है, ४. वस्ति-चर्म के अधिक मोटा होने से वह कठिनतापूर्वक पकड़ी जा सकती है, ५. वस्ति के शिराजाल से युक्त होने पर भी उसमें से स्राव निकलने लगता है, ६. वस्ति के वातल होने के कारण उसमें झाग भरा रहता है, ७. वस्ति के स्निग्ध (चिकनी) होने के कारण हाथ से फिसल जाने का भय बना रहता है, ८. वस्ति के क्लिन्न (क्लेदयुक्त अर्थात् हर समय गीली) रहने से उचित ढंग से उसे पकड़ा नहीं जा सकता।

वक्तव्य—वस्ति-दोषों के दुर्बोध स्थलों का स्पष्टीकरण—वस्ति का विषम होना अर्थात् कहीं पतला और कहीं मोटा होना। मांसल दोष—वस्ति-चर्म की ठीक प्रकार सफाई न करने से यह दोष रह जाता है, बाद में जब यह मांस सड़ने लगता है, तो उससे दुर्गन्ध आने लगती है। इस दुर्गन्ध से वह वस्तिद्रव भी प्रभावित हो जाता है। छिन्न या छिद्र युक्त या नालिक दोष से युक्त वस्ति से औषधद्रव बाहर निकल आता है। शेष स्पष्ट है।

महर्षि सुश्रुत ने सु० चि० अ० ३५ में वस्ति के दोषों का वर्णन करने के बाद अगले ३७वें अध्याय के १०-११ श्लोकों द्वारा इनसे होने वाली हानियों का भी दिग्दर्शन कराया है। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के विचारों को भी यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—'मांसलस्निग्धविषमजालवत्स्थूलवातलाः। छिन्नः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत्। गतिवैषम्यदौर्गन्ध्यजिह्मत्वस्रुतिदुर्ग्रहाः। फेनिलच्युत्यधार्यत्वं वस्तेः स्युर्वस्तिदोषतः'॥ अ० सं० क० अ० ७।२०-२१। श्रीजयदेव ने अपनी टीका में श्रीचक्रपाणि के नाम से दो श्लोक दिये हैं, जो उपर्युक्त श्लोक ६ तथा ७ के पाठभेद के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। परन्तु वे श्लोक समुपलब्ध चक्रपाणि की टीका में उक्त प्रसंग में नहीं दिये गये हैं। इनका अवलोकन आप श्रीजयदेव की टीका में यथास्थान करें।

सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः। अतिबाह्यगमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः॥८॥

वस्ति-निर्माता के दस दोष—१. सवात (वायु सहित औषधद्रव को गुद के भीतर प्रविष्ट कराना, देखें—च० सि० अ० ४।४८), २. अतिद्रुत (शीघ्रतापूर्वक वस्तिनेत्र को गुद के भीतर प्रवेश कराना तथा बाहर निकालना), ३. उत्क्षिप्त (वस्तिनेत्र को ऊपर की ओर उठाकर गुद के भीतर प्रवेश कराना), ४. तिर्यक् (वस्तिनेत्र को तिरछा करके गुद के भीतर डालना), ५. उल्लुप्त (वस्तिनेत्र को गुद के भीतर प्रवेश कराकर बार-बार दबाना), ६. कम्पित (वस्तिनेत्र को गुद के भीतर प्रवेश कराते समय चिकित्सक के हाथ का काँपना), ७. अति (वस्तिनेत्र को अनेक बार में लगा पाना), ८. बाह्यग (वस्तिनेत्र को भली-भाँति भीतर प्रवेश न करा पाना), ९. मन्द (वस्ति में रखे हुए औषधद्रव को धीरे-धीरे गुद के भीतर प्रवेश कराना), १०. अतिवेग (औषधद्रव को अत्यन्त शीघ्रता से गुद के भीतर प्रवेश कराना)—ये १० दोष प्रणेता द्वारा वस्तिप्रयोग करते समय होते हैं।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने ६ वस्ति-प्रणिधान-दोषों की चर्चा इस प्रकार की है—'नेत्रं विचलितं, विवर्तितं, पार्श्वावपीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः'। सु० चि० अ० ३५।३२। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः। अतिमन्दकबाह्यातिवेगदोषाः प्रणेतृतः'॥ अ० सं० क० अ० ७।२४। इनका मत आत्रेय का अनुकरण मात्र है। इसके आगे उक्त दोषों से होने वाली हानियों का वर्णन किया जायगा।

**अनुच्छ्वास्य च बद्धे वा दत्ते निःशेष एव वा। प्रविश्य [1]कुपितो वायुः शूलतोदकरो भवेत्॥
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च।**

१. अनुच्छ्वासित वस्ति-प्रयोग से हानि—'सवात' नामक वस्तिदोष से होने वाली हानि का वर्णन प्रस्तुत है—अनुच्छ्वास्य, अर्थात् औषधद्रव भरने के पहले वस्तिपुटक में स्वभावतः पहले से भरी हुई हवा को बिना निकाले यदि दवा भरकर वस्तियन्त्र को बाँध दिया जाय और उस वस्ति का किसी मनुष्य पर प्रयोग कर दिया जाय, अथवा वस्तिपुटक में भरा हुआ सम्पूर्ण औषधद्रव गुद के भीतर प्रवेश करा दिया जाय तो वायु गुदप्रदेश के भीतर प्रवेश करके कुपित होकर शूल और तोद (सुई चुभाने की भाँति पीड़ा) कारक हो जाता है। ऐसी स्थिति में उदर-प्रदेश के ऊपर अभ्यंग (मालिश), गुद-मण्डल पर स्वेदन कराना और वातनाशक आहार-विहार एवं औषधोपचार भी करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर वस्ति-प्रयोग-कर्ता के दस दोषों को गिनाया गया है। तन्त्रकार ने तो इन सावधानियों का निर्देश पहले ही कर दिया है। देखें—'अनुच्छ्वास्य तु बद्धे' इस पद्यांश का समाधान—'सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्वलीकम्'। च० सि० अ० ३।१६। और 'दत्ते निःशेष' का समाधान—'वायुः शेषे हि तिष्ठति' (च० सि० अ० ४।४८) के रूप में कर दिया था, फिर इस प्रकार की भूल प्रमादवश या अज्ञानतावश ही हो सकती है। अतः उन उपद्रवों की तात्कालिक चिकित्सा का भी निर्देश तन्त्रकार ने कर दिया है।

आधुनिक कुशल चिकित्सक सिरिंज में दवा भर लेने के बाद और इंजेक्शन लगाने के पहले थोड़ा-सा औषध द्रव इसलिए निकाल देते हैं, कि सिरिंज के भीतर वायु का अंश न रह जाय। यही वस्ति-प्रयोग में प्रयुक्त होने वाली उच्छ्वासन विधि है। चूँकि सिरिंज के तीनों अवयव खुले होते हैं या खोल लिये जाते हैं, अतः दवा भरने के बाद ही उसमें उच्छ्वासन-क्रिया की जाती है, इसके विपरीत वस्तियन्त्र-पुटक की स्थिति होती है, अतः उसमें औषधद्रव भरने से पहले और बाद में यह ध्यान रखना चाहिए कि वायु का संग्रह न रह जाय।

**द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा॥१०॥
स्यात् कटीगुदजङ्घा[2]र्तिवस्तिस्तम्भोरुवेदनाः। भोजनं तत्र वातघ्नं स्नेहाः स्वेदाः सवस्तयः॥११॥**

२-३. अतिद्रुत प्रवेश तथा निष्कासन से हानि—यदि वस्तिनेत्र को शीघ्रता के साथ गुद के भीतर प्रवेश किया जाय और शीघ्रता से ही निकाल दिया जाय अथवा सहसा (एकाएक) नेत्र का मुख ऊपर को उठाकर गुद के भीतर औषधद्रव प्रवेश करा दिया जाय, तो कटिप्रदेश, गुद-प्रदेश, जाँघों में वेदना, मूत्राशय में जकड़न तथा ऊरुप्रदेश में वेदना होती है। ऐसी स्थिति में वातनाशक आहारों का सेवन तथा स्नेहन, स्वेदन कराकर वातहर वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट ने भी महर्षि आत्रेय का शब्दशः अनुकरण किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ७।२६।

तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बद्धे वाऽपि न गच्छति। नेत्रे तदृजु निष्कृष्य संशोध्य च प्रवेशयेत्॥१२॥

४. तिर्यक् नेत्र-प्रयोग से हानि—यदि वस्तिनेत्र को तिरछा करके गुद के भीतर प्रवेश कराया जाता है, तो गुदवलियों से गुदद्वार के घिरे रहने के कारण औषधद्रव भीतर तक प्रवेश नहीं कर पाता। अथवा यदि वस्तिपुटक के साथ बाँधे गये धागे से वस्तिनेत्र का छिद्र अवरुद्ध (बन्द) हो गया हो तो भी वस्ति में भरा गया औषधद्रव भीतर नहीं पहुँच पायेगा। ऐसी स्थिति में नेत्र को सीधा करके बाहर निकालकर उसका संशोधन कर पुनः उसे सीधा करके गुदमार्ग में प्रवेश करें।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने भी व्यापत्तियों में इसका उल्लेख किया है—'तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते। मुखस्यावरणाद् वस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते॥ ऋजुनेत्रं विधेयं स्यात् तत्र सम्यग्विजानता'। सु० चि० अ० ३६।५। यही मत वृद्धवाग्भट का भी है—'तिर्यग्वल्यावृते द्वारे बद्धे वापि न गच्छति। नेत्रे तद्दृजु निष्कृष्य संशोध्य च पुनर्नयेत्'॥ अ० सं० क० अ० ७।२७।

---

१. 'क्षुभितः' इति पा०।

२. 'जङ्घोरुवस्तिस्तम्भार्तिभेदनम्' इति पा०।

कुछ टीकाकारों ने 'प्रणेतृ' शब्द का अर्थ 'वस्तिदाता' किया है, जब कि प्रणेतृ (प्र+नी+तृच्) शब्द का अर्थ होता है—निर्माणकर्ता या नेता। प्रसंगवश इसका अर्थ भले ही 'वस्तिदाता' कर लिया जाय, किन्तु वह इसकी अभिधेयशक्ति से बाहर है। दूसरी बात है—डोरे से वस्तिपुटक के द्वार का बाँधा जाना। वास्तव में वस्तिपुटक के साथ नेत्र (नली) का अन्तिम छोर बाँधा जाता है। जिसके लिए नेत्र के मूल में दो कर्णिकाएँ बनाने का विधान किया गया है। इस अन्तिम छोर में बनी हुई दो कर्णिकाओं के सहारे वस्तिपुटक को बाँधने के अवसर पर यदि डोरा नेत्र-छिद्र के भीतर फँस जाता है, तो उक्त रुकावट आ सकती है। यह भूल किसकी हो सकती है, आप स्वयं समझें। यदि प्रणेता ही प्रयोगकर्ता भी हो तब तो हम मौन हैं। शास्त्रकार का दृष्टिकोण तो चतुष्पाद-सिद्धान्त पर निर्भर रहता ही है।

पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः। [1]उरःशिरोर्तिमूर्वोश्च सदनं जनयेद् बली ॥१३॥
वस्तिः स्यात् तत्र बिल्वादिफलश्यामादिमूत्रवान्।

५. **उल्लुप्त नेत्र-प्रयोग से हानि**—बार-बार वस्तिपुटक को दबाकर औषधद्रव को भीतर प्रवेश कराने से गुदप्रदेश में प्रतिहत (औषधद्रव का आघात पायी हुई) वायु उरःप्रदेश तथा शिर में पीड़ा पैदा कर देती है और उक्त प्रकार से प्रकुपित हुई वायु ऊरुओं में शिथिलता उत्पन्न कर देती है। उक्त व्यापत्तियों का निवारण करने के लिए बिल्वादि पञ्चमूल या दशमूल, मैनफल, श्यामा (काली निशोथ) के कल्क तथा क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर तैयार की हुई वातहर वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—इस विषय पर सुश्रुत का दृष्टिकोण देखें—'भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते। तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र वस्तयः' ॥ सु० चि० अ० ३६।१५। वृद्धवाग्भट का मत—'पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः। उरःशिरोरुजं सादमूर्वोश्च जनयेद् बली ॥ वस्तिः स्यात् तत्र बिल्वादिः फलश्यामादिमूत्रवान्' ॥ अ० सं० क० अ० ७।२८।

स्याद् दाहो दवथुः शोफः कम्पनाभिहते गुदे ॥ १४ ॥
कषायमधुराः शीताः सेकास्तत्र सवस्तयः।

६. **वस्तिनेत्र के कम्पन से हानि**—गुद के भीतर वस्तिनेत्र को प्रवेश कराते समय हाथ के काँपने के कारण नेत्र के हिल जाने से गुदप्रदेश के भीतर घाव हो जाता है, उस घाव के कारण गुद के भीतर दाह, दवथु (नेत्र आदि दाह) और शोथ हो जाता है। ऐसी स्थिति में कषाय तथा मधुर रस वाले, शीतस्पर्श वाले द्रव्यों से परिषेक एवं कषाय, मधुर, शीतल द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

अतिमात्रप्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद् वलेः ॥ १५ ॥
स्यात् [2]सार्ति दाहनिस्तोदगुरुवर्चःप्रवर्तनम्। तत्र सर्पिः पिचुः क्षीरं पिच्छावस्तिश्च शस्यते ॥

७. **बार-बार नेत्र के प्रवेश तथा निष्कासन से हानि**—बार-बार वस्तिनेत्र को गुद के भीतर लगाने और निकालने से गुदवलियों में आघात होकर वे कट जाती हैं, जिसके कारण गुदप्रदेश में पीड़ा, दाह, सुई चुभाने की-सी पीड़ा, गुरु (पानी में डूबने वाला) मल निकलने लगता है। मल की यह गुरुता अपक्वता का लक्षण होता है। इस स्थिति में गरम घी में रुई का फाहा भिगाकर गुद के भीतर प्रवेश कराना चाहिए। गुद का गरम दूध से परिषेक तथा पिच्छावस्ति (इसका विधान च० चि० अ० २०।६३-६८ में देखें) का प्रयोग करना हितकर होता है।

[3]न भावयति मन्दस्तु बाह्यस्त्वाशु निवर्तते। स्नेहस्तत्र पुनः सम्यक् प्रणेयः सिद्धिमिच्छता ॥१७॥

८-९. **मन्द प्रपीड़ित तथा बाह्यग वस्ति से हानि**—यदि मन्दवेग से औषधद्रव का प्रवेश कराया गया हो, तो वह पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाता, अतः वह आँतों को प्रभावित नहीं कर पाता है। जब वस्ति-प्रयोग करते समय नेत्रमुख उचित मात्रा में भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाता, तो ऐसी स्थिति में वस्तिपुटक को दबाने से

१. 'उरःशिरोरुजं सादमूर्वोश्च' इति पा०।
२. 'छर्दिदाह' इति पा०।
३. 'न वा वहति' इति 'न च धावति' इति च पा०।

औषधद्रव गुदमार्ग से बाहर निकल जाता है, अर्थात् भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाता, अतएव इन दोनों स्थितियों में चिकित्सा में सफलता की इच्छा करने वाले चिकित्सक को चाहिए, कि वह उचित रूप में वस्ति का पुनः विधिवत् प्रयोग करे।

वक्तव्य—उस विषय पर महर्षि सुश्रुत का दृष्टिकोण—'शनैः प्रपीडितो वस्तिः पक्वाधानं न गच्छति। न च सम्पादयत्यर्थं तस्माद् युक्तं प्रपीडयेत्' ॥ सु० चि० अ० ३६।१४। इन्होंने बाह्यवस्ति के हानि-लाभ का विवरण नहीं दिया है।

अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम्। तत्र वस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च ॥१८॥

१०. **अधिक वेग से वस्ति देने से हानि**—यदि अधिक वेग से वस्ति को दबाकर औषधद्रव का पक्वाशय में प्रवेश कराया जाता है, तो वह औषधद्रव कोष्ठ में ही जाकर रुक जाता है, अर्थात् लौटकर बाहर नहीं आ पाता अथवा वह औषधद्रव अधिक वेग से वस्तिपुटक को दबाने के कारण गलप्रदेश तक चला जाता है। ऐसी स्थिति में निरूहवस्ति का प्रयोग, विरेचक औषधयोगों का प्रयोग तथा गले को दबाना आदि (रोगी को खड़ा करके उसके पूरे शरीर को झकझोर देना चाहिए, जिससे ऊपर की ओर को प्रवृत्त वेग नीचे की ओर लौट जाय) चिकित्सा करनी चाहिए।

तत्र श्लोकः—

नेत्रवस्तिप्रणेतृणां दोषानेतान् सभेषजान्। वेत्ति यस्तेन मतिमान् वस्तिकर्माणि कारयेत् ॥१९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
नेत्रवस्तिव्यापत्सिद्धिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में ऊपर एक श्लोक दिया गया है—नेत्रवस्ति का निर्माण करने तथा उसका प्रयोग करने वाले चिकित्सकों के दोष, उनसे होनेवाले उपद्रवों का निर्देश तथा उनकी चिकित्साओं को जो चिकित्सक जानता है, वह बुद्धिमान् चिकित्सक इन वस्तिकर्मों को अपनी देख-रेख में करे।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-
सिद्धिस्थान में नेत्रवस्तिव्यापत्सिद्धि नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

नेत्रवस्तिव्यापत्-सिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वमन-विरेचनव्यापत्-सिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन; इनका सामूहिक नाम 'पञ्चकर्म' है। इन पाँचों में अपने-अपने अवसर पर सभी की प्रधानता होती है, तथापि यहाँ तीसरे, चौथे तथा पाँचवें अध्याय में जो वस्ति के अवयवों से सम्बन्धित चर्चा की गयी है, वह उसकी प्रस्तावना ही कही जायेगी। वास्तविक स्वरूप के अनुसार वमन-विरेचनव्यापत्सिद्धि की चर्चा करने के बाद वस्तिव्यापत्सिद्धि आदि अध्यायों का क्रमिक सन्निवेश किया गया है। वास्तव में पञ्चकर्म का पूरा क्षेत्र इस प्रकार माना जाता है—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, निरूहण,

अनुवासन, नस्य। इसी के अंगीभूत धूमपान, गण्डूष, कवलग्रह आदि को भी माना जाता है। यह मान्यता सम्प्रदाय विशेष की ही कही जा सकती है।

अथ शोधनयोः सम्यग्दिधिमूर्ध्वानुलोमयोः। असम्यक्कृतयोश्चैव दोषान् वक्ष्यामि सौषधान् ॥३॥

प्रस्तावना—अब मैं ऊर्ध्व (ऊपरी मार्ग से होने वाले शोधन-वमन) तथा अनुलोम (सीधे मार्ग से होने वाले शोधन-विरेचन) शोधनों की ठीक-ठीक विधि का और असम्यक् (अनुचित) विधि से किये अथवा कराये गये वमन, विरेचन नामक शोधनों से उत्पन्न होने वाले दोषों की चिकित्सा को औषधयोगों सहित कह रहा हूँ।

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः। [1]तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः ॥४॥

ऋतु-विभाजन—ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु तथा हिमागम (हेमन्त) ऋतु—ये क्रमशः अधिक उष्ण, अधिक वर्षा एवं अधिक शीत (सर्दी, जाड़ा) वाली होती हैं। इन तीन ऋतुओं के बीच-बीच में प्रावृट्, शरद् तथा वसन्त ये तीन साधारण ऋतुएँ होती हैं। अर्थात् इनमें वर्षा, शीत, गर्मी के सामान्य लक्षण दिखलायी देते हैं।

वक्तव्य—'तदन्तरे' या 'अन्तरेषु' पाठभेद द्वारा प्राप्त इन दोनों पदों का आशय समान ही है। अतः उन तीन प्रधान ऋतुओं के बीच-बीच में उक्त तीन साधारण ऋतुएँ इस क्रम से होती हैं—ग्रीष्म-वर्षा के मध्य में प्रावृट्, वर्षा-हेमन्त के बीच में शरद् और हेमन्त-ग्रीष्म के बीच में वसन्त ऋतु होती है। क्योंकि सामान्य विशेष के आश्रय में रहता ही है। शेष स्पष्टीकरण आगे दिया जा रहा है।

प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः। तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति ॥५॥
[2]एतानृतून् विकल्प्यैवं दद्यात् संशोधनं भिषक्। स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥६॥

संशोधन के योग्य ऋतुएँ—शुचि (आषाढ़), नभ (सावन) इन दो मासों में **प्रावृट्** ऋतु होती है, ऊर्ज (कार्तिक), सह (मार्गशीर्ष–अगहन) इन दो मासों में **शरद्** ऋतु होती है और तपस्य (फाल्गुन), मधु (चैत्र-चैत) इन दो मासों में **वसन्त** ऋतु होती है। ये तीन ऋतुएँ संशोधन-कर्म को दृष्टि में रखकर कही गयी हैं। इन ऋतुओं की विशेष कल्पना करके ही चिकित्सक को चाहिए, कि वह संशोधन-औषधयोगों का प्रयोग कराये। यह ऋतु-विभाजन स्वस्थ पुरुष को संशोधन दिलाने के लिए ही किया गया है। रोगी पुरुष को दिये जाने वाले संशोधनों में तो रोगी तथा रोग की स्थिति को देखकर ही व्यवस्था दी जा सकती है।

वक्तव्य—आज पाश्चात्य वैज्ञानिक भारतीय ऋतु-विभाजन को अवैज्ञानिक कहते नहीं हिचकता, उसमें कारण है—उनके संस्कृत ज्ञान की अनभिज्ञता। यदि उस समाज को प्राचीन महर्षियों का इस विस्तृत रूप से विवेचित सम्पत्ति का ज्ञान हो जाय तो वे दुराग्रह नहीं कर सकते। ज्यौतिष के ऋतु-विभाजन में भी अनेक विकल्प हैं। आयुर्वेद के ऋतु-विभाजन को आप इस प्रकार देखें—च० सू० अ० ६। च० वि० अ० ८।१२५-१२८। च० सि० अ० ६।४-६, सु० सू० अ० ६।६-१०। अ० सं० सू० अ० ४। वहीं, अ० ५।४२। वहीं, अ० २१,२३। इसके विशेष विवेचन के लिए एक दृष्टि धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के मतों पर भी डालें।

वैदिक काल में मासों की गणना शरद्ऋतु को आधार मानकर की गयी है। ज्योतिःशास्त्र में कालगणना के दो पक्ष हैं—सूर्य और चन्द्र। सौरमास वैशाख से और चान्द्रमास चैत्र शुक्लपक्ष से प्रारम्भ होता है। भगवान् धन्वन्तरि माघ से १२ मासों की गणना प्रारम्भ करते हैं। आगे चलकर संवत्सर के रूप में कालविभाजन की चर्चा इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है—'अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति। ते तु पञ्चयुगमिति संज्ञां लभन्ते। स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमित्युच्यत इत्येके'। सु० सू० अ० ६।१०। आचार्य कौटिल्य के अनुसार कालचक्र का परिचय—'संवत्सरः, परिवत्सरः, इदावत्सरः, इद्वत्सरः, वत्सरः, इत्येवं पञ्च वत्सराणि, ते तु पञ्चयुगमिति संज्ञां लभन्ते'। कौटिल्य का अर्थशास्त्र ४१। पुराणों तथा स्मृतियों में इसके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। आयुर्वेदीय संहिताओं में औषधसंग्रह, उसके निर्माण, तदनन्तर उसके सेवन, वमन, विरेचन आदि के विधि-निषेध में एवं स्वस्थवृत्त के नियमों के पालन में जिस कालक्रम की आवश्यकता होती है, उसका भी यथावसर वर्णन किया गया है। जैसे—सुश्रुतसंहिता सू० अ० ६।६ में सामान्य ऋतुचक्र का वर्णन

१. 'अन्तरेषु प्रावृडाद्या ज्ञेयाः साधारणास्त्रयः' इति पा०।
२. 'एतानृतून् विचिन्त्यैवं दद्यात्' इति 'एतानृतून् विकल्प्याथ' इति च पा०।

कर संशोधन-कर्म को दृष्टि में रखकर चरकसंहिता के सूत्रस्थान अ० ६, विमानस्थान अ० ८ और सिद्धिस्थान अ० ६ में तथा सु० सू० अ० ६।१० से १४ तक में ऋतुविभाजन किया गया है।

स्वस्थवृत्त का सिद्धान्त 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्' पर आधारित है, अर्थात् स्वस्थ पुरुष का स्वास्थ्य जिन विधियों से बना रहे, उसी को 'स्वस्थवृत्त' कहते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में काल के प्रभाव से उत्पन्न वातविकार को दूर करने के लिए प्रावृट् ऋतु में वस्ति का प्रयोग, शरद् ऋतु में विरेचन का प्रयोग और वसन्तऋतु में वमन का प्रयोग कराना चाहिए। क्योंकि इन ऋतुओं में वर्षा, जाड़ा, गर्मी अधिक नहीं होती है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। इसलिए दोषों का निर्हरण (दूर करना) आसानी से हो सकता है। इस दृष्टि से उक्त संशोधन-विधियों का क्रम वमन, वस्ति तथा विरेचन होता है। इस व्यतिक्रम का कारण यह है, कि उक्त संशोधन स्वस्थ व्यक्तियों का वार्षिक क्रम है। रोगावस्था का क्रम तो स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि बहुचर्चित है। ध्यान रहे कि यदि रोगी या रोगियों को उपर्युक्त साधारण काल के अतिरिक्त समय में वमन आदि कराने हों तो तदनुकूल वातावरण तैयार कराकर ही उक्त संशोधनों का प्रयोग करायें। अर्थात् जाड़े के दिनों में संशोधन कराना हो तो आग जलाकर या हीटर आदि का प्रयोग कर ठंड के प्रभाव को कम करें, गर्मी में कराना हो तो शीतलता प्रदान की व्यवस्था कर मौसम को शास्त्र की आज्ञानुसार अनुकूल बनाकर रोगी का हित करें। इसके लिए देखें—च० वि० अ० ८ सम्पूर्ण।

कर्मणां वमनादीनाम[1]न्तरेष्वन्तरेषु च। स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत् ॥७॥

वमन आदि में स्नेह-प्रयोग—वमन-विरेचन आदि कर्मों के बीच-बीच में स्नेहन तथा स्वेदन कराना चाहिए और वमन आदि कर्मों की समाप्ति हो जाने पर अन्त में स्नेह का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोक का तात्पर्य यह भी है कि यदि वमन कराने के बाद विरेचन कराना हो तो प्रत्येक कर्म के बाद स्नेहन, स्वेदन कराने चाहिए। इसी प्रकार विरेचन के बाद यदि वस्ति-प्रयोग कराना हो तो भी स्नेहन, स्वेदन कराने की आवश्यकता होती है। ऐसा नहीं है कि स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति आदि का एक-एक बार ही प्रयोग कराकर पञ्चकर्मों की पूर्ति नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार पञ्चकर्म कराने के बाद शक्ति-संवरण के लिए संशमनीय स्नेहों का अन्नकाल में प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के विचारों को भी देखें—अ० सं० सू० अ० २७।५१-५३।

वमनादीनामन्तरेषु—वमनादि शब्द से वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, नस्य आदि संशोधनों का ग्रहण आयुर्वेदशास्त्र में किया जाता है। निरूहवस्ति के बाद यदि अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना हो तो इस बीच में पुनः स्नेहन, स्वेदन का प्रयोग नहीं कराया जाता।

[2]विसर्पपिडकाशोफकामलापाण्डुरोगिणः। अभिघातविषार्तांश्च नातिस्निग्धान् विरेचयेत् ॥८॥

विरेचन के योग्य रोगी—विसर्प, पिड़का (फोड़े), शोथ (सूजन), कामला (पित्तप्रधान पाण्डुरोग) सामान्य पाण्डुरोग, अभिघात तथा विष के प्रभाव से पीड़ित रोगियों को जिनका शरीर अधिक स्निग्ध न हुआ हो, उन्हें विरेचन, अर्थात् वमन तथा विरेचन कराना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ 'विरेचन' शब्द से वमन तथा विरेचन दोनों अपेक्षित हैं। वमन, विरेचन के पहले स्नेहन एवं स्वेदन का विधान शास्त्र-सम्मत है, किन्तु स्नेह का अतियोग नहीं होना चाहिए। श्रीचक्रपाणि ने भी केवल उक्त श्लोक में 'नातिस्निग्धान्' पद की टीका लिखी है, जिसका अर्थ है—'जिन रोगियों को अधिक स्नेहन न कराया गया हो'। उक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि उक्त रोगियों को अतिस्निग्ध हो जाने पर विरेचन नहीं देना चाहिए, इनसे अतिरिक्त रोगी यदि अतिस्निग्ध भी हों, तो भी उन्हें विरेचन कराना ही चाहिए। वृद्धवाग्भट की अनुरूप शब्दावली को भी देखें—'विषाभिघातपिटकाकुष्ठशोफविसर्पिणः। कामलापाण्डुमेहार्तान् नातिस्निग्धान् विशोधयेत्'॥ अ० सं० सू० अ० २७।४९। मूल तथा पाठभेद को मिलाकर रोगों की गणना तो पूरी हो जाती है, परन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि इन्होंने 'विरेचयेत' के स्थान पर 'विशोधयेत'

१. 'मन्तरे चान्तरे पुनः' इति पा०।
२. 'कुष्ठवीसर्पपिडकाकामलापाण्डुरोगिणः' इति पा०।

लिख दिया है, क्योंकि वमन तथा विरेचन दोनों ही मार्ग-भेद से विशोधन ही हैं। उसी विषय को अगले श्लोक द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

नातिस्निग्धशरीराय दद्यात् स्नेहविरेचनम्। स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय [1]रूक्षं दद्याद् विरेचनम् ॥९॥

स्निग्ध तथा रूक्ष विरेचन-प्रयोग—जिन रोगियों का शरीर अतिस्निग्ध हो गया हो, उन्हें स्नेहयुक्त विरेचन नहीं देना चाहिए। स्नेहन-क्रिया द्वारा जिसके शरीर में स्थित दोष उत्क्लिष्ट (उभड़ गये) हों, उस रोगी के दोषों को निकालने के लिए रूक्ष विरेचन देना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर ८वें श्लोक में कहे गये विसर्प आदि रोगों में अधिक स्नेहन नहीं कराना चाहिए, यदि अधिक स्नेहन हो चुका हो तो उन्हें रूक्षविरेचन कराना चाहिए, अर्थात् उन्हें स्नेहयुक्त विरेचन न दें। इनके अतिरिक्त रोगों में जब पर्याप्त स्नेहन हो जाता है, तो उसके बाद उन्हें रूक्ष विरेचन दिलाना चाहिए। भूल-सुधार करना अच्छा अभ्यास नहीं कहा जाता, परन्तु परिस्थितिवश करना भी पड़ता है, क्योंकि रोगी के प्राणों की रक्षा करना ही तो चिकित्सक का प्रधान लक्ष्य होता है, तथापि कुशल चिकित्सक का कर्तव्य होता है, वह प्रथम बार में ही अपनी कुशलता का प्रदर्शन करे। यहाँ तन्त्रकार ने सभी परिस्थितियों पर पाठकों का ध्यानाकर्षण किया है। जितनी मात्रा में शरीर में स्निग्धता आ गयी हो, उसे दूर करने का साधन केवल रूक्ष-द्रव्यों का प्रयोग ही होता है। वृद्धवाग्भट ने सूत्ररूप में इस प्रकार व्यवस्था दी है—'सर्वान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान्' ॥ अ० सं० सू० अ० २७।५०। अर्थात् स्नेहन कराये गये सभी व्यक्तियों को रूक्षताकारक औषध द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये विरेचक योगों से और शेष सभी को स्नेहयुक्त विरेचन योगों से विरेचन करायें।

स्नेहस्वेदोपपन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम्। एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते ॥१०॥

संशोधन-प्रयोग में सावधानी—स्नेहन तथा स्वेदन कराकर भोजन के पच जाने पर उचित मात्रा में (वमन अथवा विरेचनकारक) औषध को सावधान चित्त होकर पीने से उसका सम्यक् योग होता है।

वक्तव्य—सेवन किया गया कोई भी औषधयोग चिकित्सा की दृष्टि से अयोग, सम्यग्योग, अतियोग तीन रूपों में परिणत हो सकता है। यहाँ संशोधन की दृष्टि से वमन, विरेचन आदि का प्रसंग चल रहा है अतः रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन कराकर पथ्य आहार का सेवन कराना चाहिए। जब उसका आहार पच जाय तब उसे उचित मात्रा में औषध का सेवन कराना चाहिए। उस समय वह रोगी सावधान चित्त होकर आरोग्य लाभ की कामना करता हुआ औषध-सेवन करे, न कि उसका मन किसी इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति में लगा हो। इस प्रकार सेवन की गयी औषध का सम्यक् योग होता है।

स्निग्धात् पात्राद् यथा तोयमयत्नेन प्रणुद्यते। कफादयः प्रणुद्यन्ते स्निग्धाद्देहात्तथौषधैः ॥११॥
आर्द्रं काष्ठं यथा वह्निर्विष्यन्दयति सर्वतः। तथा स्निग्धस्य वै दोषान् स्वेदो विष्यन्दयेत् स्थिरान् ॥
क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्य मलः संशोध्यतेऽम्भसा। स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मलः[2] ॥

स्नेहन, स्वेदन, शोधन से लाभ—जिस प्रकार स्निग्ध (चिकने) पात्र से बिना परिश्रम के ही जल गिराया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार औषध-प्रयोगों द्वारा स्नेहन कराये हुए शरीर में से कफ आदि दोष निकाले जा सकते हैं। जिस प्रकार गीली लकड़ी के रस को आग चारों ओर से सुखाकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार स्नेहन कराये हुए पुरुष के शरीर में स्थिर हुए दोषों को स्वेदन-क्रिया अपने स्थान से विष्यन्दित (विचलित) कर देती है। जिस प्रकार मैले वस्त्र की मैल को क्षार तथा अग्नि के सम्बन्ध से उभाड़ कर जल द्वारा साफ कर दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार स्नेहन, स्वेदन क्रियाओं से दोषों को उत्क्लेशित (उभाड़) कर संशोधन औषध-प्रयोग द्वारा मल (दोष) को बाहर निकाला जाता है।

वक्तव्य—स्नेहन आदि कर्मों से होने वाले लाभों का वर्णन उक्त तीन पद्यों द्वारा किया गया है—उचित प्रकार से स्नेहन हो जाने पर कफ आदि दोष अपने स्थान से विचलित हो जाते हैं। स्थिर अर्थात् एक स्थान पर

१. 'दद्याद् रूक्षं विरेचनम्' इति पा०।

२. 'क्षारोत्क्लिष्टे यथा वस्त्रे मलः शुद्ध्यतिवारिणा। स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लिष्टो दोषः शुद्ध्यति शोधनैः' ॥ इति पा०।

जमे हुए दोष स्वेदन-क्रिया से विष्यन्दित (क्षरित) हो जाते हैं। इसके बाद संशोधनों (वमन तथा विरेचन) का प्रयोग किया जाता है। ये उस प्रकार कार्य करते हैं, जिस प्रकार मैले वस्त्र को क्षार युक्त जल में डालकर खौला दिया जाता है, तो उस वस्त्र की सम्पूर्ण मैल उभड़ जाती है और उसके बाद ही पानी द्वारा उसे धोकर बहा दिया जाता है। यही प्रकार है शरीरगत मलों को निकालने में स्नेहन, स्वेदन तथा संशोधन क्रियाओं का।

कफदोष जलीय रस का संघात स्वरूप है, अतः स्नेहयुक्त पात्र में वह सट नहीं सकता है। तन्त्रकार द्वारा स्नेहन-क्रिया की सार्थकता इस प्रकार समझायी गयी है। दूसरा उदाहरण है—आर्द्रकाष्ठ (गीली लकड़ी) को जैसे आग सुखाकर बाद में जला देती है। ध्यान दें—यहाँ स्वेदन-क्रिया के लाभ को समझाने के लिए शरीर को गीली लकड़ी की उपमा दी गयी है। कफदोष से युक्त शरीर में जब स्वेदन-क्रिया प्रारम्भ की जाती है, तब अग्नि के संयोग से लकड़ी गरम होने लगती है और उसके प्रत्येक भाग से जल चू-चू कर निकलने लगता है। यही स्थिति स्वेदन द्वारा शरीर में स्थित दोषों की होती है। इस प्रकार जब दोष उभड़कर अपना स्थान छोड़ देते हैं, तब संशोधन औषधयोगों का प्रयोग किया जाता है। वे अपने प्रभाव से दोषों को वेगपूर्वक बाहर निकालकर अपना कर्तव्य पूरा कर देते हैं। दोषों के निकल जाने से शरीर शुद्ध हो जाता है। यही इनकी उपयोगिता है।

अजीर्णे वर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चापि जायते। पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्तते ॥१४॥

अजीर्ण में संशोधन से हानियाँ—खाया हुआ भोजन यदि भली-भाँति पचा न हो तो ऐसी अवस्था में यदि संशोधन (वमन अथवा विरेचन कराने वाला औषधयोग) पी लिया जाता या पिला दिया जाता है, तो ग्लानि (हर्षक्षय) बढ़ जाती है, विबन्ध (कब्जियत) हो जाता है, अर्थात् अनुकूल फल प्राप्त नहीं होता है। अतएव ऊपर १०वें पद्य में 'जीर्ण' पद का प्रयोग किया गया है, उसकी व्याख्या को देखें। ऐसी अवस्था में सेवन किया गया संशोधन योग विपरीत फलदायक होता है। अर्थात् यदि वमनकारक संशोधन पिलाया गया हो तो वह विरेचन करा देता है, यदि विरेचनकारक संशोधन पिलाया गया हो तो वह वमन करा देता है। अतः भोजन के भली-भाँति पच जाने पर ही संशोधन योगों का सेवन कराना चाहिए।

अल्पमात्रं महावेगं बहुदोषहरं सुखम्। लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनम् ॥१५॥
अविकारि च व्यापत्तौ नातिग्लानिकरं च यत्। गन्धवर्णरसोपेतं विद्यान्मात्रावदौषधम् ॥१६॥

मात्रायुक्त औषध के लक्षण—जो औषधयोग मात्रा में कम हो, किन्तु जो अपने प्रभाव से अत्यन्त वेग के साथ सुखपूर्वक दोषों को अधिक मात्रा में निकालने वाली हो, लघुपाकी (शीघ्र पच जाने वाली) हो, जिसका स्वाद सुखदायक हो, जो मन को सन्तोष देने वाला हो तथा जो रोगों को नाश करने की शक्ति से परिपूर्ण हो, जो किसी प्रकार का विकार उत्पन्न करने वाली न हो, यदि औषध-सेवन से किसी प्रकार का उपद्रव उत्पन्न भी हो जाय तो वह अधिक कष्टकारक न हो, जिस औषध की गन्ध, वर्ण तथा रस उत्तम हो तो यह समझना चाहिए कि उस औषध का सेवन उचित मात्रा में किया गया है।

वक्तव्य—मात्रा का निर्धारण देश, काल, व्यक्ति तथा औषध की शक्ति को देखकर करना ही समुचित होता है, अतः यहाँ शब्दतः औषध-मात्रा का निर्देश न करके उचित मात्रा के सेवन से किस प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति होती है, इसका विशद वर्णन किया गया है, क्योंकि समुचित मात्रा का निर्धारण कुशल चिकित्सक समयानुसार स्वयं कर लेता है।

विधूय मानसान् दोषान् [1]कामादीनशुभोदयान्। एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते ॥१७॥

एकाग्रमन से औषध-सेवन से लाभ—जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, भय आदि मानस दोषों को हटाकर एकाग्रमन (सावधान चित्त) होकर संशोधनकारक औषधों को पीता है, तो वह औषध सम्यक् योग (उचित लाभ) के लिए होती है।

वक्तव्य—चरक-विमानस्थान अ० १ में भोजन सम्बन्धी कुछ सद्गुणों की चर्चा की गयी है। हमारे विचार से उसके रहस्य को समझकर औषध-सेवन के लिए भी उन उपदेशों को ध्यान में रखना चाहिए। देखें—

१. 'कामक्रोधभयादिकान्' इति पा०।

गय २५ को। काम आदि मानसिक दोषों का सभी अवस्था में परित्याग करने से ही मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है, क्योंकि ये काम आदि दोष सर्वत्र सभी कार्यों में बाधा उपस्थित करते हैं। इन दोषों को मानव मात्र का शत्रु कहा गया है।

नरः श्वो वमनं पाता भुञ्जीत कफवर्धनम् । सुजरं द्रवभूयिष्ठं, लघ्वशीतं विरेचनम् ॥१८॥
उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेन क्षिप्रं दोषाः स्रवन्ति हि ।

वमन-विरेचन-विधि—यदि रोगी को कल (आने वाले दिन में) वमनकारक औषध का सेवन कराना (पिलाना) हो तो उसके एक दिन पहले कफ को बढ़ाने वाले किन्तु आसानी से पच जाने वाले आहार का सेवन करायें, जिसमें द्रव (पेय) पदार्थ अधिक हों। जिसे कल विरेचन कराना हो वह पहले दिन लघु (जल्दी पचने वाला) तथा अशीत (जो शीतस्पर्श तथा शीतवीर्य का न हो) ऐसा भोजन करायें। क्योंकि कफ के उत्क्लिष्ट हो (उभड़) जाने पर संचित दोष वमन द्वारा शीघ्र ही बाहर निकाले जा सकते हैं। कफ के अल्पमात्रा में होने पर दोषों को विरेचन द्वारा शीघ्र बाहर निकाला जा सकता है।

पीतौषधस्य तु भिषक् शुद्धिलिङ्गानि लक्षयेत् ॥ १९ ॥
ऊर्ध्वं कफानुगे पित्ते विट्पित्तेऽनुकफे त्वधः । हृतदोषं वदेत् कार्श्यदौर्बल्ये चेत् सलाघवे ॥२०॥

सम्यक् वमन-विरेचन के लक्षण—जिस व्यक्ति को वमन अथवा विरेचनकारक औषध पिलायी गयी हो, चिकित्सक को चाहिए कि वह उसके शुद्धि-लक्षणों की परीक्षा करे। यदि वमन में कफ निकलने के बाद पित्त निकले और विरेचन में मल के निकलने के बाद पित्त निकले एवं उसके बाद कफ निकले, शरीर में कृशता, दुर्बलता के साथ हल्कापन भी हो तो यह कहना चाहिए कि उक्त रोगी के दोषों का निर्हरण उचित रूप में हो गया है।

वामयेत् तु ततः शेषमौषधं न त्वलाघवे । स्तैमित्येऽनिलसङ्गे च निरुद्गारेऽपि वामयेत् ॥२१॥
आलाघवात् तनुत्वाच्च कफस्यापत् परं भवेत् ।

अधिक विरेचन होने पर कर्तव्य—जिसे विरेचन कराया गया हो उसके शरीर में यदि शुद्धि-लक्षण दिखलायी दे रहे हों अर्थात् शरीर हलका हो गया हो, दोषों का निर्हरण हो चुका हो, शरीर में कृशता तथा दुर्बलता आ गयी हो, मल के बाद पित्त और पित्त के बाद कफ निकल चुका हो तो भी विरेचन हो ही रहे हों तो शेष औषध को वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। यदि शरीर-शुद्धि के लक्षणों के दिखलायी देने पर भी रोगी के शरीर में हलकापन मालूम न हो रहा हो तो उस स्थिति में भी वमन कराना चाहिए। क्योंकि शरीर का हलका हो जाना शुद्धता का प्रमुख लक्षण होता है, शरीर स्तिमित (कफ से जकड़ा हुआ) हो, वायु की रुकावट हो अर्थात् डकार न आ रहे हों, तो भी वमन कराना चाहिए। वमन कराने का क्रम तब तक चालू रखना चाहिए जब तक शरीर हलका न हो जाय और कफ पतला होकर आसानी से निकलने न लगे। इन लक्षणों के उत्पन्न होने के बाद भी यदि वमन हो रहे हों, तो उसे वमन की व्यापत्ति (उपद्रव) समझनी चाहिए।

वक्तव्य—इस विषय को यद्यपि प्रकारान्तर से तन्त्रकार पहले कह चुके हैं, किन्तु विषय के प्रसंग-प्राप्त होने के कारण उसे यहाँ भी कहा गया है। देखें—'सुविरिक्ते तु सोद्गारमाशयेत्यौषधमुल्लिखेत् । अतिप्रवर्तनं शीर्णे सुशीतैः स्तम्भयेद् भिषक्' ॥ च० क० अ० १२।७३। श्रीचक्रपाणि इसकी टीका करते हुए लिखते हैं, कि विरेचनकारक औषधद्रव्य का यह अतियोग स्वरूप है। अतियोग-जनित हानियों का सामना न करना पड़े, इसलिए उस सेवन करायी गयी ओषधि को वमन द्वारा निकाल देना ही समयोचित विधान है, अन्यथा वह हानिकारक तो होगी ही।

वमिते वर्धते वह्निः शमं दोषा व्रजन्ति हि ॥ २२ ॥
वमितं लङ्घयेत् सम्यग्जीर्णलिङ्गान्यलक्षयन् । तानि दृष्ट्वा तु पेयादिक्रमं कुर्यान्न लङ्घनम् ॥

सम्यक् वमन के लाभ—वमन-क्रिया का सम्यक् योग हो जाने पर जठराग्नि की वृद्धि हो जाती है, क्योंकि अभी तक कफदोष से वह ढकी रहने के कारण अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर पाती थी, कफदोष के

दूर होते ही वह समर्थ हो जाती है, अन्य दोष भी शान्त हो जाते हैं। औषध के पच जाने के लक्षणों (जो आगे श्लोक २६ में कहे जायेंगे) के न दिखलायी देने पर वमन कराने के बाद उसे लंघन कराना चाहिए और यदि औषध के पच जाने के लक्षण दिखलायी दें, तो पेयादि (संसर्जन) क्रम के अनुसार उसे पथ्य आहार दें, न कि उसे लंघन करायें।

संशोधनाभ्यां शुद्धस्य [1]हृतदोषस्य देहिनः । [2]यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥२४॥

पेयादि क्रम का प्रयोग—वमन और विरेचन इन दो संशोधनों से शुद्ध शरीर वाले मनुष्य के कफ आदि दोषों के निकल जाने पर जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। इसलिए उस व्यक्ति को पेया, विलेपी आदि का सेवन कराना चाहिए, क्योंकि पेया आदि पदार्थ शीघ्र पच जाते हैं।

वक्तव्य—संशोधन-संज्ञा वमन, विरेचन, निरूहणवस्ति तथा नस्य की मानी गयी है, किन्तु यहाँ 'संशोधनाभ्यां' शब्द से दो ही संशोधनों (वमन तथा विरेचन) का ग्रहण किया गया है। इन दो संशोधनों से जिसकी शुद्धि होकर दोष निकाले गये हों उसकी जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। इसके विपरीत तन्त्रकार ने ऊपर २२वें श्लोक में कहा है—'वमिते वर्धते वह्निः'। किन्तु वहाँ भी तत्काल अग्नि की वृद्धि नहीं होती है। जठराग्नि की यही स्थिति विरेचन कराने तथा निरूहवस्ति का प्रयोग करने के बाद भी होती है। वमन तथा विरेचन कराने के बाद पेयादि क्रम द्वारा धीरे-धीरे जठराग्नि को बलवान् किया जाता है और निरूहवस्ति का सम्यक् प्रयोग हो जाने के बाद मांसरस आदि का प्रयोग हितकर कहा गया है।

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके । तर्पणादिक्रमं कुर्यात् पेयाऽभिष्यन्दयेद्धि तान् ॥२५॥

तर्पणादि का प्रयोग—कफ तथा पित्तदोष का यदि भली-भाँति शोधन न हुआ हो अर्थात् अभी कुछ शोधन करना शेष रह गया हो, रोगी मद्यपान करने वाला हो अथवा वातप्रकृति या पित्तप्रकृति का रोगी हो, तो उसे तर्पण (लाज-सक्तु) आदि का क्रमिक सेवन कराना चाहिए। यदि इस प्रकार के रोगियों को पेया, विलेपी आदि का प्रयोग कराया जायगा तो इनसे स्रोत अभिष्यन्दित हो जाते हैं, अर्थात् स्रोतों में गीलापन आ जाता है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचार देखें—'तुल्याल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् । पेयां न पाययेत् तेषां तर्पणादिक्रमो हितः' ॥ अ० सं० सू० अ० २७।४०। तर्पणादिक्रम में पेया के स्थान पर तर्पण (लाज-सक्तु) का प्रयोग करने की तन्त्रकार की अनुमति है। श्रीचक्रपाणि के अनुसार पेया के स्थान पर स्वच्छतर्पण (सत्तुओं का पतला घोल) दें और विलेपी के स्थान पर घनतर्पण (गाढ़ातर्पण) देना चाहिए। इनके पच जाने पर यूप तथा मांसरस का क्रमिक प्रयोग कराना चाहिए।

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोर्जो मनस्विता । लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ॥

औषध पचने के लक्षण—वमन, विरेचन आदि में प्रयोग की हुई ओषधि का भली-भाँति पाचन हो जाने पर वायु अनुलोम हो जाती है, स्वास्थ्य-लाभ अर्थात् दोषों का सम अवस्था में रहना, भूख, प्यास, उत्साह, मन की स्वतन्त्रता, शरीर में हलकापन, इन्द्रियों की स्वच्छता तथा डकारों का आना—ये लक्षण औषध के पचने पर होते हैं।

क्लमो [3]दाहोऽङ्गसदनं भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजा । अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥२७॥

औषध न पचने ने लक्षण—सावशेष औषध की आकृति अर्थात् वमन, विरेचन के लिए प्रयुक्त औषध का जब भली-भाँति पाचन नहीं हो पाता है, तो ये लक्षण दिखलायी देते हैं—बिना परिश्रम किये ही शरीर में थकावट का अनुभव होना, दाह (जलन), अंगों में शिथिलता या पीड़ा, चक्करों का आना, मूर्च्छा, शिरःशूल, अरति (बेचैनी) तथा बल की हानि (शारीरिक तथा मानसिक निर्बलता का अनुभव होना)।

अकालेऽल्पातिमात्रं च पुराणं न च भावितम् । असम्यक्संस्कृतं चैव व्यापद्येतौषधं द्रुतम् ॥२८॥

---

१. 'लङ्घितस्य च' इति पा०।
२. 'यात्यग्निरणुतां' इति पा०।
३. 'दाहोऽङ्गमर्दश्च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा' इति पा०।

औषध के उपद्रवकारी होने में कारण—यदि औषध का सेवन अकाल में, अल्पमात्रा में अथवा अधिक मात्रा में किया गया हो, जो औषधद्रव्य पुराण (निर्वीर्य अर्थात् शक्तिहीन) हो गया हो, जो औषधद्रव्य शास्त्र को निर्देशानुसार भावित (भावना दिया हुआ) न हो, जिस औषधद्रव्य के उचित संस्कार न किये गये हों, ऐसा औषधयोग शीघ्र ही उपद्रवकारक होता है।

वक्तव्य—इसी दृष्टिकोण से वृद्धवाग्भट द्वारा कहा गया एक पद्य इस प्रकार है—'अतिमात्रमकालेऽल्पं तुल्यवीर्यैरभावितम्। असम्यक्संस्कृतं जीर्णं व्यापद्येतौषधं ध्रुवम्' ॥ अ० सं० क० अ० ४।३०। तात्पर्य दोनों ग्रन्थकारों का समान ही है।

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः। जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥
अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः। प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च ॥३०॥

संशोधन के अतियोग-अयोग के उपद्रव—१. आध्मान (अफारा), २. परिकर्तिका, ३. स्राव, ४. हृदयग्रह, ५. गात्रग्रह (अंगों की जकड़न), ६. जीवादान, ७. विभ्रंश, ८. स्तम्भ, ९. उपद्रव, १०. क्लम ये दस व्यापत्तियाँ अयोग तथा अतियोग के कारण होती हैं। इन व्यापत्तियों की उत्पत्ति में प्रेष्य (दूत अथवा परिचारक), भैषज्य (औषधद्रव्य), वैद्य तथा रोगी की विगुणता (गुणहीनता) कारण होती है।

वक्तव्य—इन सम्मिलित १० उपद्रवों का हेतु-विभाजन इस प्रकार है। अयोग से होने वाले उपद्रव—१. आध्मान, २. स्राव, ३. हृद्ग्रह, ४. अंगग्रह, ५. स्तम्भ, ६. उपद्रव, ७. क्लम। अतियोग से होने वाले उपद्रव-१. परिकर्तिका, २. जीवादान, ३. विभ्रंश। इनका विवरण आगे इसी अध्याय में दिया जायेगा। यहाँ विभ्रंश शब्द से गुदभ्रंश, संज्ञाभ्रंश का भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिए चरक-सूत्रस्थान अ० १५।१३ का अवलोकन करें। 'जीवादान' का तात्पर्य है—जीवन का कारणस्वरूप जो रक्तधातु है, उसका निकलना। जैसा कि श्रीचक्रपाणि कृत टीका की पाद टिप्पणी में दिया है—'अतियोगाच्च भैषज्यं जीवं हरति शोणितम्। तज्जीवदानमित्युक्तमादत्ते जीवितं यतः' ॥ विभ्रंश तीन प्रकार का होता है जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

योगः सम्यक्प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम्। अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् ॥

योग, अतियोग, अयोग के लक्षण—यदि संशोधन का प्रयोग समुचित विधि से हो गया हो तो उसे सम्यक् योग कहते हैं। यदि औषधयोग के सेवन से दोष अधिक मात्रा में निकल गये हों, तो उसे अतियोग कहते हैं। प्रतिलोम (विपरीत) विधि से जब औषध-प्रयोग का फल दिखलायी दे, अर्थात् वमन की औषधि विरेचन द्वारा निकलने लगे या विरेचनकारक औषधद्रव्य का सेवन करने से वमन हो जाय अथवा थोड़ा-सा मल निकल कर रुक जाय तो उसे 'अयोग' कहते हैं।

श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा बहु। विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते ॥३२॥

विरेचन का वमन के रूप में होना—जिस व्यक्ति के शरीर में स्नेहन, स्वेदन आदि विधियों से कफ उभड़ चुका हो, यदि वह विरेचक औषधयोगों का सेवन करे अथवा विरेचक औषधद्रव्यों में अधिक दुर्गन्ध हो, अथवा विरेचक औषधद्रव्य हृदय के लिए अनुकूल न हों अथवा वे औषधद्रव्य मात्रा में अधिक हों, अथवा विरेचक औषधद्रव्यों का सेवन भोजन के न पचने पर कर लिया गया हो, तो वह ऊपर के मार्ग (मुख) से निकलने लगता है। अर्थात् वमन के रूप में प्रवृत्त हो जाता है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचारों को देखें—अ० सं० क० अ० ३।३।

क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा। तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद् विरेचनम् ॥

तीक्ष्णवामक औषध-प्रयोग—जो व्यक्ति भूख से पीड़ित हो, मृदुकोष्ठ (साधारण औषधयोगों से जिसे वमन या विरेचन हो जाता हो), अथवा जिसके शरीर में कफदोष कम मात्रा में उभड़ा हो, वह व्यक्ति यदि तीक्ष्ण वमनकारक औषधयोग को पी लेता है, तो वह औषध शरीर के भीतर जाकर हलचल मचाकर उसे विरेचन द्वारा बाहर निकाल देती है, अर्थात् वह वमनकारक औषधयोग भी विरेचनकारक हो जाता है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में अन्य अनेक परिस्थितियों का वर्णन वृद्धवाग्भट ने किया है, जो चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। देखें—अ० सं० क० अ० ३।२।

प्रातिलोम्येन दोषाणां हरणात् ते ह्यकृत्स्नशः। अयोगसंज्ञे, कृच्छ्रेण [1]याति दोषो नवाऽल्पशः ॥

अयोग की परिभाषा—विपरीत मार्गों द्वारा दोषों के पूर्णरूप से न निकलने को वमन तथा विरेचन का अयोग कहा जाता है। अयोग में शरीर के भीतर स्थित दोष (कफ आदि) कठिनता से निकल पाते हैं अथवा थोड़ी मात्रा में निकलते हैं या नहीं भी निकलते।

वक्तव्य—उचित मार्ग की ओर प्रवृत्ति को अनुलोम कहते हैं और उसके विपरीत मार्ग की ओर की प्रवृत्ति को प्रतिलोम कहते हैं। वमन का अनुलोम मार्ग मुख है और विरेचन का अनुलोम मार्ग गुद है। जब विरेचन मुखमार्ग से और वमन गुदमार्ग की ओर से होने लगता है तो उस स्थिति को प्रतिलोम कहते हैं। **अकृत्स्नशः**—सम्पूर्ण दोष का न निकलना। **कृच्छ्रेण याति**—मल का कठिनाई से निकलना। **न वा**—मल का नहीं निकलना। **अल्पशः**—थोड़ा-थोड़ा निकलना। ये सब अयोग के स्वरूप-भेद हैं।

पीतौषधो न शुद्धश्चेज्जीर्णे तस्मिन् पुनः पिबेत्। औषधं न त्वजीर्णेऽन्यद्भूयं स्यादतियोगतः ॥

औषध के पच जाने पर कर्तव्य—जिस व्यक्ति ने वमनकारक अथवा विरेचनकारक औषध को पी लिया हो और वह औषध अपना प्रभाव डाले बिना पच गयी हो, अर्थात् उसका सेवन करने के बाद वमन अथवा विरेचन कुछ न हो पाया हो, तो उसे पुनः वमन-विरेचनकारक औषध का पान कर लेना चाहिए। पहले पी गयी औषध के न पचने पर और उसका प्रभाव देखे बिना यदि पुनः उसी प्रकार के औषध का सेवन कर लिया जायगा, तो उस औषध के अतियोग हो जाने का भय बना रहता है।

कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा लघुत्वं बलमेव च। अयोगे मृदु वा दद्यादौषधं तीक्ष्णमेव वा ॥३६॥

मृदु या तीक्ष्ण औषध-प्रयोग—यदि वमन या विरेचन का अयोग हो जाय तो रोगी के कोष्ठ की गुरुता
(भारीपन) और पूर्ण बल की भली-भाँति जानकारी करके तीक्ष्ण वमन या विरेचनकारक औषध का पान
कराना चाहिए। यदि रोगी का कोष्ठ लघु (मृदु) हो और रोगी अल्प बलवान् हो तो मृदु वमन या विरेचन-
कारक औषध का पान कराना चाहिए।

वमनं न तु दुश्छर्दं [2]दुष्कोष्ठं न विरेचनम्। पाययेतौषधं भूयो हन्यात् पीतं पुनर्हि तौ ॥३७॥

औषध का पुनः प्रयोग निषिद्ध—जिस व्यक्ति को कठिनता से वमन हो, उसे यदि वमनकारक औषध का पान कराया गया हो, परन्तु उस औषध से उसे वमन न हुआ हो या कम मात्रा में वमन हुआ हो, अथवा वमनकारक औषध के सेवन से विरेचन हो गया हो (ये सभी विकल्प 'दुश्छर्द' शब्द से कल्पित किये गये हैं) और जो व्यक्ति क्रूरकोष्ठ वाला हो, अर्थात् जिसे सामान्य विरेचक औषधयोगों से विरेचन न होता हो (चरकसंहिता-कल्पस्थान अध्याय १२ का दन्ती-द्रवन्तीकल्प ऐसे ही क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों के लिए कहा गया है) उसे यदि विरेचन औषध का पान कराया गया हो, परन्तु उससे उस क्रूर कोष्ठ के रोगी को विरेचन न हो पाया हो अथवा थोड़ा विरेचन हुआ हो (जिसे सम्यक् योग नहीं कहा जा सकता) अथवा उस विरेचन-कारक औषध से जिसे वमन हो गया हो, ऐसे रोगियों को पुनः वमन, विरेचनकारक औषधयोगों का प्रयोग नहीं कराना चाहिए, क्योंकि पुनः औषध पिलाने से वह उन रोगियों के लिए घातक सिद्ध होती है।

अस्निग्धास्विन्नदेहस्य रूक्षस्यानवमौषधम्। दोषानुत्क्लिश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद् गदान् ॥३८॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम् ॥३९॥
विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसो दर्शनं भृशम्[3]।

स्नेहन, स्वेदन के बिना औषध-प्रयोग निषिद्ध—जिन व्यक्तियों को वमन, विरेचन कराने के पहले स्नेहन तथा स्वेदन न कराया गया हो, अर्थात् जिनका शरीर स्निग्ध तथा स्विन्न न हुआ हो, इस प्रकार के रूक्ष

---

१. 'यदा गच्छति चाल्पशः' इति, 'न वा गच्छति चाल्पशः' इति च पा०।
२. 'दुश्छर्दी मृदुकोष्ठे' इति पा०।
३. 'तृषाम्' इति पा०।

व्यक्ति को पुरानी औषधि का सेवन कराया जाता है, तो वह संशोधक औषधि शरीर में स्थित दोषों को उभाड़ कर उनको निकालने में असमर्थ रहती है, अतएव वह अनेक रोगों को उत्पन्न कर देती है। उन रोगों के नाम इस प्रकार हैं—१. विभ्रंश, २. सूजन, ३. हिचकी, ४. तमसोदर्शन (आँखों के सामने अँधेरा-सा दिखलायी देना), ५. पिंडलियों में ऐंठन का होना, ६. खुजली, ७. ऊरुओं में शिथिलता, ८. शरीर में विवर्णता (स्वाभाविक वर्ण का निष्प्रभ हो जाना)।

स्निग्धस्विन्नस्य चात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम्। शीतैर्वा स्तब्धमामे वा दोषानुत्क्लिश्य नाहरेत्॥
तानेव जनयेद् रोगानयोगः सर्व एव सः। विज्ञाय मतिमांस्तत्र यथोक्तां कारयेत् क्रियाम् ॥४१॥

अयोग का दूसरा प्रकार—जिस व्यक्ति को वमन, विरेचन कराने के पहले उचित रूप से स्नेहन, स्वेदन कराया गया हो, जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो, ऐसे व्यक्ति को यदि अल्पमात्रा में औषधद्रव्य सेवन कराया गया हो और उस औषध का पाचन हो गया हो, अथवा शीतल वातावरण के कारण या आमदोष के कारण शरीर के भीतर जाकर औषधद्रव्य स्तब्ध होकर अपना कार्य न कर पा रहे हों, तो वे औषधद्रव्य दोषों को उभाड़ कर उनके साथ बाहर नहीं आ पाते। ऐसी स्थिति में वह औषध का अयोग होने के कारण विभ्रंश आदि रोगों को पैदा कर देता है। यह सब अयोग ही कहा जाता है। इन सभी विषयों को भली-भाँति समझकर बुद्धिमान् चिकित्सक को यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए।

तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसङ्करैः। पाययेत पुनर्जीर्णे समूत्रैर्वा निरूहयेत् ॥४२॥

निरूहवस्ति का प्रयोग—उस अयोग के कारण पीड़ित व्यक्ति को तैल और कपड़छन किये हुए सैंधानमक का अभ्यंग (मालिश) कराकर प्रस्तर तथा संकरस्वेदों (च० सू० अ० १४।४१-४२।) द्वारा स्वेदन कराकर प्रयोग की हुई ओषधि के पच जाने पर फिर उसी संशोधन-ओषधि को पिलाना चाहिए अथवा गोमूत्र युक्त निरूहवस्ति का प्रयोग कराकर विरेचन करा दें।

निरूढं च रसैर्धान्वैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत्। फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ॥४३॥

अनुवासनवस्ति का प्रयोग—उपर्युक्त प्रकार से निरूहवस्ति का प्रयोग कराने के बाद धन्व (मरु) प्रदेश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शालिचावलों के भात का भोजन कराकर अनुवासनवस्ति देनी चाहिए। मैनफल, पिप्पली, देवदारु, इनके कल्क तथा क्वाथ से तैयार किये हुए तैल को मात्रा के अनुसार लेकर उसकी अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत्। न चातितीक्ष्णेन ततो ह्यतियोगस्तु जायते ॥४४॥

मिथ्याप्रयोग से अतियोग की सम्भावना—अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराने के बाद वातनाशक औषधद्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से तैयार किये हुए स्नेहों (तैलों) से स्नेहन कराकर पुनः तीक्ष्ण (उग्रशक्ति-सम्पन्न) शोधनद्रव्यों द्वारा शोधन (वमन, विरेचन) करायें। यह ध्यान रहे कि औषधद्रव्यों से शोधन नहीं कराना चाहिए। ऐसा करने से औषध का अतियोग हो जाता है।

अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम्। हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् धातून्विस्रावयेद् द्रवान्॥
बलस्वरक्षयं दाहं कण्ठशोषं [1]भ्रमं तृषाम्। कुर्याच्च मधुरैस्तत्र शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥४६॥
वमने तु विरेकः स्याद् विरेके वमनं [2]पुनः। परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तत् ॥४७॥
कषायमधुरैः शीतैरन्नपानौषधैस्तथा। रक्तपित्तातिसारघ्नैर्दाहज्वरहरैरपि ॥४८॥
अञ्जनं चन्दनोशीरमजासृक्शर्करोदकम्। लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ॥४९॥
शुङ्गाभिर्वा वटादीनां सिद्धां पेयां समाक्षिकाम्।
वर्चःसाङ्ग्राहिकैः सिद्धं क्षीरं भोज्यं च दापयेत् ॥ ५० ॥
जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यं पिच्छावस्तिश्च शस्यते। मधुरैरनुवास्यश्च सिद्धेन क्षीरसर्पिषा ॥५१॥

१. 'वलमं' इति पा०। २. 'मृदु' इति पा०।

अतितीक्ष्ण संशोधन में कर्तव्य—भूख से पीड़ित तथा मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति को यदि अतितीक्ष्ण (शीघ्र एवं अत्यन्त प्रभावकारी) संशोधक (वमनकारक या विरेचनकारक) ओषधि का पान कराया जाता है, तो वह शीघ्र ही मल, पित्त, कफ को शरीर के भीतर से बाहर निकाल करके रस, रक्त आदि द्रव धातुओं का स्राव कराने लगती है। इसके कारण बल का क्षय, स्वरक्षय (गला बैठना), दाह, गले का सूखना, भ्रम (चक्करों का आना) तथा बार-बार प्यास लगना; उपद्रवस्वरूप इन लक्षणों को पैदा कर देती है। ऐसी स्थिति में मधुरद्रव्यों द्वारा सेवन किये गये उस तीक्ष्ण संशोधन औषधद्रव्य को वमन कराकर निकलवा देना चाहिए। यदि वमन-कारक तीक्ष्ण संशोधन का सेवन किया हो तो उसे विरेचन कराकर, यदि विरेचनकारक तीक्ष्णसंशोधन का सेवन किया हो तो वमन कराकर उसे बाहर निकलवा दें। इसे वमन का अथवा विरेचन का अतियोग कहते हैं।

इस अवसर पर शीतल द्रव्यों द्वारा परिषेक (स्नान), अवगाहन (Tub-bath) आदि स्तम्भनकारक प्रयोगों की शरण लेनी चाहिए, तथा कषाय-मधुररस-प्रधान, शीतल स्पर्श वाले या शीतवीर्य वाले अन्न (भोजन), पान (पेय द्रव), औषधों द्वारा एवं रक्तपित्त, अतिसारनाशक, दाह-शामक, ज्वरहर औषधयोगों द्वारा वमन अथवा विरेचन के वेगों का शमन कराना चाहिए। अंजन, चन्दन, खश, बकरे का रक्त, चीनी के शरबत में धान के लावों का चूर्ण मिलाकर मन्थ बनाकर पिलाना चाहिए। इन प्रयोगों से वमन-विरेचन के अतियोग का नाश हो जाता है, अर्थात् अतियोगजनित विषम परिस्थिति सुधर जाती है। अथवा बरगद आदि वृक्षों के शुंगों (नई कलिका कोषों) के स्वरस तथा क्वाथ से तैयार की हुई पेया में मधु मिलाकर पिलाना चाहिए। अथवा अतिसार रोग में मल को बाँधने वाली ओषधियों के कल्क से विधिपूर्वक तैयार किया गया दूध पिलायें। अथवा मल को बाँधने वाली ओषधियों के कल्क आदि से आहारद्रव्यों का पाक करके उसे खिलायें। अथवा जांगल (ऊपर) भूमि के निवासी पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शालिचावलों का भात खिलायें। अथवा पिच्छावस्ति का प्रयोग करना भी लाभदायक होता है। अथवा मधुरगणोक्त द्रव्यों से पकाये गये दूध या घी से या दूध से निकाले हुए घी से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—क्षुधार्त (भूखे या भूख से पीड़ित) तथा मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति ये दोनों ही तीक्ष्णविरेचन के अयोग्य होते हैं; यह पहले कहा जा चुका है, फिर भी ऐसा करना योग्य चिकित्सक का प्रमाद ही है, तथापि रोगी को कष्ट से बचाकर उसके प्राणों की रक्षा करना चिकित्सक का परम कर्तव्य है। अतः तन्त्रकार ने उक्त प्रमाद के कारण होने वाली हानियों का वर्णन कर शेष औषधद्रव्य को वमन द्वारा निकालने की आज्ञा दी है, तदनन्तर अतितीक्ष्ण औषध-प्रयोग के कारण उत्पन्न अतियोग की चिकित्सा का निर्देश किया है। यदि वमन का अतियोग हुआ हो तो ऊर्ध्वग रक्तपित्तनाशक और यदि विरेचन का अतियोग हुआ हो तो अति-सारनाशक औषधों का प्रयोग कराना चाहिए। इसी अध्याय के श्लोक ४९ में कथित अञ्जन आदि का प्रयोग तो केवल विरेचन के अतियोग में ही किया जाता है।

शुङ्गाभिर्वा—शुंग शब्द दोनों लिंगों में प्रयुक्त होता है। यथा—शुंग (पुं०), शुंगा (स्त्री०)। **वटादि**—शब्द से बरगद, गूलर, पीपल, पाकड़, कपीतन इन वृक्षों का ग्रहण किया जाता है। ये सभी क्षीरी (दूध वाले) वृक्ष हैं। **पिच्छावस्ति**—इसका वर्णन चरक-चिकित्सास्थान अ० १९।६३-६८ में किया गया है। इसे समझने के लिए चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें। **मज्जासृक्**—यहाँ 'मजासृक्' ऐसा पाठ होना चाहिए। सन् १९४१ में प्रकाशित निर्णयसागरीय चरकसंहिता में उक्त पाठ अशुद्ध दिया है। अन्य संस्करणों में वह ठीक है। इसका अर्थ है—बकरे का रक्त। **क्षीरसर्पिषा**—पूर्ववर्ती टीकाकारों ने इसका अर्थ दो प्रकार से किया है—१. दूध या घी से अथवा २. दूध से निकाले गये घी से; ये दोनों ही अर्थ प्रकरणोचित हैं। इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट को भी देखें—अ० सं० क० अ० ३।६ तथा १९।

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः। पिबेत् [1]कफहरैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥५२॥
सोद्गारायां भृशं वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः। समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥५३॥
वमतोऽन्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः। स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषक्षीररसैर्हिताः ॥५४॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः। निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥

१. 'फलरसैर्मन्थं' इति पा०।

[1]वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम् । यवागूं तनुकां दद्यात्[2] स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान् ॥५६॥

वमन के अतियोग में विशेष विधान—आवश्यकता से अधिक वमन के हो जाने पर शीतल जल से परिषेक (स्नान) करने के बाद कफनाशक द्रव्यों के रस में धान के लावा के सत्तू को घोलकर मन्थ बनाकर उसमें घी, मधु तथा चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए। यदि वमन का अतियोग हो जाने पर डकारें बहुत आ रही हों, किन्तु वमन के वेग शान्त हो गये हों, मूर्च्छा आ-जा रही हो, तो उस स्थिति में धनियाँ, नागरमोथा, महुआ, रसाञ्जन (रसवत) इन चारों द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मधु में मिलाकर रोगी को चटायें। यदि वमन करते हुए रोगी की जीभ भीतर को चली गयी है, ऐसा मालूम पड़े तो शीघ्र ही स्निग्ध, अम्ल, लवण रसों से युक्त, हृदय को प्रिय लगने वाले (ध्यान रहे सबको एक जैसे पदार्थ रुचिकर नहीं होते हैं, अतः व्यक्ति के मनोनुकूल) यूष, क्षीर (दूध), मांसरस के कवलग्रह धारण कराने चाहिए। साथ ही उस रोगी के सामने दूसरे लोग (जो रोगी की देख-रेख के लिए उसके समीप बैठे हों) खट्टे (नीबू, खट्टे अनार आदि) फलों को खायें। (इसका प्रभाव रोगी पर ऐसा पड़ता है कि उसकी इच्छा भी उन खट्टे फलों को खाने की होने लगती है, फलतः भीतर धँसी हुई जीभ स्वतः बाहर अर्थात् अपने स्थान पर आ जाती है)। यदि वमन करते-करते अर्थात् वमन के अतियोग से जीभ बाहर की ओर निकल आती है, तो तिल तथा मुनक्का का कल्क (चटनी) बनाकर उसकी जीभ के ऊपर लेप कर उसे हाथ से यथास्थान कर देना चाहिए। यदि वमन का अतियोग होने के कारण रोगी की वाणी रुक गयी हो, अर्थात् वह शब्दों का पहले की भाँति उच्चारण न कर सकता हो, अथवा कोई वातजनित रोग हो गये हों, तो बुद्धिमान् (समयोचित सूझ-बूझ वाले) चिकित्सक को चाहिए कि वह घृत तथा मांसरस के योग से तैयार की हुई पतली यवागू उसे खाने के लिए दे तथा आवश्यकतानुसार गले के ऊपरी भागों (अवयवों) में स्नेहन तथा स्वेदन कराये।

वक्तव्य—उक्त श्लोकों द्वारा सभी स्थितियाँ वमन के अतियोग के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। इनमें जीभ का भीतर की ओर को प्रवेश कर जाना जलीय धातु के अधिक निकल जाने को सूचित करता है और जीभ का बाहर की ओर को निकल आना, वाग्ग्रह (बोलने में रुकावट का होना) तथा अनिल (वात) रोग, सभी में वायु का ही प्रकोप प्रधानरूप से परिलक्षित होता है।

कवलग्रह—केवल द्रव्यों तथा मात्रा के भेद से गण्डूष और कवल में भेद होता है। गण्डूष (कुल्ला) का द्रव मुख में इतना भर लिया जाता है जिससे उसे मुख के भीतर हिलाया, चलाया या घुमाया नहीं जा सकता और इसके विपरीत कवलग्रह होता है। यह चार प्रकार का होता है—१. स्नैहिक, २. शमन, ३. शोधन, ४. रोपण (घावों को भरने वाला)। यहाँ कवलग्रह के योग्य द्रव्यों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, जिन द्रव्यों का क्वाथ अथवा स्वरस गण्डूष में तथा चूर्ण प्रतिसारण में प्रयुक्त होता है, उन्हीं द्रव्यों का कल्क कवलग्रह में प्रयुक्त होता है। यद्यपि यवागू (पतली खिचड़ी) में सिक्थ (भात का अंश) अधिक रहता है, किन्तु यहाँ उसे और भी पतली बनाने की आज्ञा दी गयी है। इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के विचारों को भी देखें—अ० सं० क० अ० ३।२० से २३ तक।

वमितश्च विरिक्तश्च मन्दाग्निश्च विलङ्घितः । अग्निप्राणविवृद्ध्यर्थं क्रमं पेयादिकं भजेत्[3] ॥५७॥

पेयादि क्रम का सेवन—भली-भाँति वमन तथा विरेचन हो जाने के बाद मन्दाग्नि से पीड़ित तथा लंघन किये हुए व्यक्ति का कर्तव्य है, कि वह जठराग्नि तथा प्राणों के बल को बढ़ाने के लिए पेयादि-क्रम का सेवन करे। वमन-विरेचन कराने के बाद जो पेयादि का प्रयोग कराया जाता है, उसे संसर्जन-क्रम भी कहते हैं।

बहुदोषस्य रूक्षस्य हीनाग्नेरल्पमौषधम् । सोदावर्तस्य चोत्क्लिश्य दोषान्मार्गान्निरुध्य च ॥५८॥
भृशमाध्मापयेन्नाभिं पृष्ठपार्श्वशिरोरुजम् । श्वासविण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च दारुणम् ॥५९॥

उदावर्त : हेतु, लक्षण, चिकित्सा—जिस व्यक्ति के शरीर में कफ आदि दोषों की मात्रा अधिक हो, जो रूक्ष हो तथा जो मन्दाग्निरोग एवं उदावर्तरोग से पीड़ित हो, उसे यदि थोड़ी मात्रा में थोड़ी शक्तिवाली

१. 'वाग्ग्रहानिलरोधेषु' इति पा०।
२. 'तन्वीं दद्याद् यवागूं च' इति पा०।
३. 'पेयादिमाचरेत्' इति पा०।

ओषधि दी जाती है, तो वह अल्पमात्रा वाली एवं अल्पशक्ति वाली ओषधि कफ आदि दोषों को उभाड़कर स्रोतों के मार्गों को रोककर नाभि-प्रदेश को फुला देती है। उस समय पीठ में, पसलियों में तथा शिर में अत्यन्त पीड़ा होने लगती है, और श्वास लेने में, मल, मूत्र तथा अपान वायु के निकलने में अत्यन्त रुकावट पैदा हो जाती है।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का दृष्टिकोण भी अवलोकनीय है, देखें—अ० सं० क० अ० ३।८।

अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि सनिरूहानुवासनम् । उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते ॥६०॥

उदावर्त की चिकित्सा—आध्मान रोग से पीड़ित रोगियों के लिए अभ्यंग (मालिश), स्वेदन (सेंक करना), वर्ति (गुदवर्ति या फलवर्ति) का प्रयोग, निरूहवस्ति तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग एवं उदावर्त रोग नाशक सभी प्रकार की चिकित्सा-विधियाँ लाभदायक होती हैं।

वक्तव्य—यही दृष्टिकोण वृद्धवाग्भट का भी है, देखें—अ० सं० क० अ० ३।८।

स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन सामे बलवदौषधम् । क्षामेण मृदुकोष्ठेन श्रान्तेनाल्पबलेन वा ॥६१॥
पीतं गत्वा गुदं साममाशु दोषं निरस्य च । तीव्रशूलां सपिच्छास्रां करोति परिकर्तिकाम् ॥६२॥

परिकर्तिका रोग के हेतु, लक्षण—जिस व्यक्ति का स्नेहन विधिपूर्वक करा दिया गया हो, यदि उसका कोष्ठ भारी हो, उदर में सामदोष भरा हो, ऐसी स्थिति में यदि उक्त व्यक्ति ने बलवान् (शीघ्र कार्य करने की शक्ति वाला) औषधयोग पिया हो, अथवा जिसका शरीर क्षाम (स्नेह रहित) हो, जिसका कोष्ठ मृदु हो, जो श्रान्त (थका हुआ) हो तथा बलहीन हो, ऐसा व्यक्ति यदि बलवान् औषधयोग का सेवन करे तो वह औषधयोग गुद (पक्वाशय) में जाकर सामदोष को शीघ्र ही बाहर निकालकर, अत्यन्त शूल युक्त झागदार रक्त के साथ परिकर्तिका रोग (जिसके उत्पन्न हो जाने पर गुद के भीतर कैंची से काटने की-सी पीड़ा होती है) को उत्पन्न कर देती है।

वक्तव्य—परिकर्तिका को कॉलिक पेन (Colic pain) कहते हैं। चरकसंहिता-सूत्रस्थान अ० १५।१३ में परिकर्तिका का 'अयोगातियोगज' उपद्रवों में परिगणन किया गया है, किन्तु यहाँ जिस परिकर्तिका का उल्लेख है, वह विरेचन के अतियोग से ही उत्पन्न प्रतीत होता है। इसका विशेष विवेचन सु० चि० अ० ३४।८ तथा अ० सं० क० अ० ३।२९ में देखें। वास्तव में यह परिकर्तिका वातविकार-जनित रोग है, क्योंकि यह जिस प्रकार विरेचन के अतियोग में गुदप्रदेश में होता है, ठीक उसी प्रकार वमन के अतियोग में इसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति कण्ठप्रदेश में भी होती है। इसके विशेष विवेचन के लिए देखें—सु० चि० अ० ३४।१६ तथा अ० सं० क० अ० ३।९।

सुश्रुत ने वमन-विरेचन व्यापदों में इसका संग्रह किया है। इसके हो जाने पर गुदवलियों में, नाभि (आँतों) में, मेढ़ (मूत्रमार्ग) में तथा वस्तिशिरस् (वृक्क एवं मूत्रवाही स्रोतों) में परिकर्तन (खरोश) पड़ जाते हैं, उन्हीं खरोशों को भरने के लिए पिच्छावस्ति का विधान किया जाता है। यदि वस्ति की व्यवस्था नहीं हो पाती है, तो बेल की गिरी, ईसबगोल आदि पिच्छिल द्रव्यों को मुखमार्ग से पिला दिया जाता है।

लङ्घनं [1]पाचनं सामे रूक्षोष्णं लघुभोजनम् । बृंहणीयो विधिः सर्वः क्षामस्य मधुरस्तथा ॥६३॥

पतिकर्तिका की चिकित्सा—सामदोष के रहने पर लंघन, पाचन, रूक्ष, उष्ण तथा लघु (शीघ्र पच जाने वाले) आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। जिसका शरीर सूख गया हो, ऐसे पुरुष को बृंहणीय (पुष्टिकारक) सभी आहार-विहारों का तथा मधुररस का सेवन कराना चाहिए।

आमे जीर्णेऽनुबन्धश्चेत् क्षाराम्लं मधु शस्यते । पुष्पकासीसमिश्रं वा क्षारेण लवणेन वा ॥६४॥
सदाडिमरसं सर्पिः पिबेद् वातेऽधिके सति । [2]दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाडिमत्वचा ॥६५॥
देवदारुतिलानां वा कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षकदम्बैर्वा शृतं पयः ॥६६॥
कषायमधुरं [3]शीतं पिच्छावस्तिमथापि वा । यष्टीमधुकसिद्धं वा स्नेहवस्तिं प्रदापयेत् ॥६७॥

१. 'दीपनं' इति पा०।
२. 'दध्यन्नं भोजनं' इति पा०।
३. 'वस्तिं' इति पा०।

शेष परिकर्तिका की चिकित्सा—यदि आमदोष का पाचन हो जाने पर भी परिकर्तिका रोग का अनुबन्ध बना ही हो, अर्थात् परिकर्तिका रोग के कारण होने वाला कष्ट दूर न हुआ हो, तो क्षारयुक्त, अम्ल-रस मिश्रित तथा लघु (सुपाच्य) आहार हितकर होता है। यदि वायु की अधिकता हो, तो धातकी पुष्प (धाय के फूल) और शुद्ध कासीस को क्षार (जवाखार) अथवा नमक मिलाकर दाड़िम (अनार) के रस के साथ मिला हुआ घी पीना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अनार के रस में घी मिलाकर शुद्ध कासीस तथा धाय के फूलों का चूर्ण या जवाखार या नमक मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए। दाड़िम के फल के छिलकों के चूर्ण को खट्टे दही में मिलाकर भोजन के साथ या पेय के रूप में देना चाहिए। देवदारु के सारभाग और तिलों को पीसकर कल्क बना लें, इसे गुनगुने जल के साथ पीयें। अथवा पीपल, गूलर, पिलखन तथा कदम्ब इनकी छाल के कल्क से यथाविधि पाक किये गये गाय के दूध को छानकर पिलायें। अथवा कसैले तथा मधुररस-प्रधान द्रव्यों के कल्क से तैयार की हुई शीतलवस्ति या पिच्छावस्ति का प्रयोग कराना चाहिए अथवा मुलेठी के कल्क तथा क्वाथ से यथाविधि तैयार किये गये स्नेह से स्नेहवस्ति (अनुवासनवस्ति) का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रसंग में सुश्रुत के विचार देखें—'तत्र पिच्छावस्तिर्यष्टीमधुककृष्णातिलकल्कमधुघृतयुक्तः शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत्' ॥ सु० चि० अ० ३४।१६। वृद्धवाग्भट के वचनों को भी उद्धृत किया जा रहा है—'क्षामस्य च मधुरो बृंहणश्च सर्वो विधिरिष्टः। सामे लङ्घनदीपनं च लघुरूक्षोष्णं चान्नपानम्। निरामीभूतेऽनुबन्धे लघु क्षाराम्लम्। सवाते दधि साराम्लं दाडिमत्वचा युक्तं भोजने पाने च प्रयुञ्जीत सदाडिमरसं च सर्पिः पिबेदुष्णाम्बुना वा तिलदेवदारुकल्कम्'। अ० सं० क० अ० ३।१०-११।

अल्पं तु बहुदोषस्य दोषमुत्क्लिश्य भेषजम्।
अल्पाल्पं स्रावयेत् कण्डूं शोफं कुष्ठानि गौरवम् ॥ ६८ ॥
कुर्याच्चाग्निबलोत्क्लेशस्तैमित्यारुचिपाण्डुताः। परिस्रावः स, तं दोषं शमयेद् वामयेदपि ॥६९॥
स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पाययेत विरेचनम्। शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ॥७०॥

परिस्राव के हेतु तथा लक्षण—जिस व्यक्ति के शरीर में दोषों की अधिकता हो, किन्तु उसे कम मात्रा में कम शक्तिवाली ओषधि दी जाय, तो वह ओषधि शरीर में स्थित दोषों को उभाड़कर थोड़े-थोड़े रूप में बाहर निकलती रहती है, अर्थात् पूर्ण रूप से नहीं निकाल पाती है। उक्त प्रकार से ओषधि का सेवन करने खुजली, सूजन, कुष्ठरोग, शरीर में भारीपन, अग्नि की मन्दता, बल का नाश, उत्क्लेश (जी-मिचलाना), स्तैमित्य (शरीर को गीले वस्त्र से ओढ़े हुए जैसा अनुभव होना), भोजन से प्रति इच्छा का न होना, शरीर में पीलापन, ये लक्षण जिस रोग में हों, उसे 'परिस्राव' कहते हैं।

परिस्राव-चिकित्सा—ऐसी स्थिति में उपद्रव करने वाले उस रोग की शान्ति करनी चाहिए अथवा उस रोगी को वमन करा देना चाहिए। अथवा उसे स्नेहन कराकर पुनः तीक्ष्ण विरेचन द्रव्य पिलाना चाहिए। जब पूर्णरूप से शुद्धि हो जाय तब चूर्ण, आसव, अरिष्टों को उचित संस्कारों से संस्कारित करके रोगी को सेवन करायें।

वक्तव्य—यहाँ चिकित्सक की निदान-सम्बन्धी अयोग्यता को दिखलाते हुए तन्त्रकार ने एक नयी परिस्थिति को प्रस्तावित कर परिस्राव की चिकित्सा में सावधानियों की ओर इंगित किया है। उचित तो यह है कि दोषों के कम होने पर कम शक्तिवाली और अधिक दोष होने पर अधिक शक्तिवाली ओषधि का सेवन कराना चाहिए। किन्तु जब इसके विपरीत व्यवहार किया जाता है, तो अल्पशक्ति वाली ओषधि अल्पमात्रा में अपना प्रभाव दिखलाकर दोषों को उभाड़ देती है, किन्तु उनको बाहर निकालने में समर्थ नहीं हो पाती, इससे जो शरीर में क्षोभ (हल-चल) होता है, उससे परिस्राव नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट के विचारों को पढ़ें—सु० चि० अ० ३४।१७ तथा अ० सं० क० अ० ३।१२। इसके आगे सुश्रुत ने कहा है—'यदवः परिस्रवणं स ऊर्ध्वंभागे श्लेष्मप्रसेकः'। सु० चि० अ० ३४।२१। और यही मत वृद्धवाग्भट का भी है—'यदवः परिस्रवः सः कफप्रसेकः'। अ० सं० क० अ० ३।२९। इन्हीं प्रकरणों में सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट द्वारा निर्दिष्ट चिकित्सा-सूत्रों को भी देखें।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः। कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम् ॥ ७१॥
[1]स हिक्काकासपार्श्वार्तिदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः ।
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान् किटिकिटापयन् ॥ ७२ ॥
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तं भिषक्। मधुरैः पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम् ॥७३॥
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत्। कायाग्निं च बलं चास्य [2]क्रमेणोत्थापयेत् ततः ॥७४॥
पवनेनातिवमतो हृदयं यस्त पीडयते। तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात् पित्तकफेऽन्यथा ॥७५॥

हृद्ग्रह का निदान—यदि वमन अथवा विरेचनकारक औषधयोगों को पी लेने के बाद इनके वेग प्रारम्भ हो जायें और रोगी मूर्खतावश इन अधारणीय वेगों को रोक ले, तो उन वेगों को रोकने से वात आदि दोष हृदय के पास पहुँचकर घोर (भयावह) हृद्ग्रह (हृदय की स्वाभाविक गति में रुकावट) को उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण—इस हृद्ग्रहरोग में हिचकी, कास (खाँसी), पसलियों में पीड़ा, दीनता, मुख से लार का चूना, आँखों के सामने चक्करों का आना ये लक्षण हो जाते हैं, रोगी अपनी जीभ को दाँतों से काटने लगता है, बेहोश हो जाता है और दाँतों को किटकिटाने लगता है।

चिकित्सा—रोगी की इस अवस्था को देखकर चिकित्सक को घबड़ाना नहीं चाहिए, अपितु शीघ्र ही उसकी इस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिए। यदि रोगी पित्तजनित मूर्च्छा से पीड़ित हो, तो उसे मधुरद्रव्यों के योग से निर्मित वमनकारक औषधों से वमन कराना चाहिए। यदि कफज मूर्च्छा से पीड़ित हो, तो कटुद्रव्यों का सेवन कराकर वमन कराना चाहिए। तदनन्तर शेष दोष को पाचनद्रव्यों का प्रयोग कराकर उसे पचा देने का यत्न करना चाहिए। इस प्रकार स्थिति को अनुकूल कर लेने के बाद अवसरोचित चिकित्सा द्वारा उसकी जठराग्नि तथा शारीरिक बल को क्रमशः बढ़ाते रहना चाहिए। यदि वमनों के अधिक हो जाने के कारण वायु के प्रकुपित होने से हृदय में पीड़ा होने लगे, तो स्नेहयुक्त अम्ल (खट्टे) तथा नमकीन द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए। यदि वमनों के अधिक होने से पित्त और कफदोष हृदय को पीड़ित करें, तो इन दोषों के विपरीत गुण-धर्म वाले द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए, जैसे—कफदोष के विरुद्ध रूक्ष, कटु, तिक्त द्रव्य। पित्तदोष के विपरीत मधुर, कषाय द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—हृद्ग्रह को ही **'हॉर्ट-अटैक'** या हृदय पर दोषों का आक्रमण कहा जा सकता है। आप ऊपर कहे गये उसके लक्षणों की ओर सावधानी से ध्यान दें। इस दृष्टि से यह अत्यन्त भयंकर रोग है। उक्त कारणों के अतिरिक्त भी इसके अनेक और भी कारण होते हैं। आप निदान-प्रसंगों पर ध्यान दें; निःसंज्ञ, विभ्रम आदि लक्षणों को देखकर कभी चिकित्सक रोगी की ओर से निराश न हो जाय, इसलिए तन्त्रकार ने उसे सावधान कर समयोचित चिकित्सा का भी निर्देश किया है। मूर्च्छा की स्थिति में वमन कराना कठिन होता है, अतः मूर्च्छित होने के पहले ही यदि चिकित्सक रोगी को वमन कराने में सफल हो जाता है, तो वह मूर्च्छित होने से बच भी जाता है। यह मूर्च्छा हृदय की गति का अवरोध होने के कारण ही उत्पन्न होती है।

इस सम्बन्ध में सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट के विशद विवेचनों पर दृष्टिपात करें—'यस्तूर्ध्वमधो… वस्तिभिरुपाचरेत्' ॥ सु० चि० अ० ३४।१९। सुश्रुत ने इसे हृदयोपसर्पण नामक व्यापद् कहा है। तथा—'पीतौषधस्य… तं हृदयोपसरणमाहुः'। अ० सं० क० अ० ३।१५। इन्होंने भी नामकरण की दृष्टि से सुश्रुत का अनुकरण किया है। चिकित्सा की दृष्टि से अगला गद्य खण्ड भी मननीय है—'तस्मै भिषक्… वस्तीन् वितरेत्' ॥ वही, ३।१६।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा। [3]रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः ॥७६॥
स्तम्भवेपथुनिस्तोदसादोद्वेष्टनमन्थनैः। तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि [4]कारयेत् ॥७७॥

अंगग्रह : निदान, लक्षण, चिकित्सा—जो व्यक्ति वमन तथा विरेचनकारक औषधयोगों को पीने के बाद उनसे उत्पन्न वमन-विरेचन के वेगों को रोकता है, अथवा जब उत्पन्न हुए वेग बढ़े हुए कफदोष के कारण रुक

१. 'हिक्कापार्श्वरुजाकाश्यं' इति पा०।
२. 'क्रमेणाभिप्रवर्धयेत' इति पा०।
३. 'रुद्धोऽतीव विशुद्धस्य' इति पा०।
४. 'शस्यते' इति पा०।

जाते हैं, तो वह वेग वायु को कुपित कर देता है, अथवा संशोधन के अतियोग से जब वायु कुपित हो जाती है, तो वह वायु शरीरावयवों को जकड़ देती है, इसी को 'अंगग्रह' कहते हैं। इस रोग में शरीर में जकड़न, कम्पन, सुई के चुभाने के समान पीड़ा, शिथिलता, शरीर में ऐंठन तथा मथने के समान पीड़ा होती है। ऐसी स्थिति में वातनाशक स्नेह, स्वेद आदि सभी उपचार करने चाहिए।

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि ने इसे वातशूल कहा है; अपना-अपना दृष्टिकोण है। किन्तु तन्त्रकार ने तो विशेष 'व्यापत्' की संज्ञा दी है। तथापि हम यहाँ सुश्रुत का मत उद्धृत करते हैं—'अतिस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति; तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं मदं संज्ञानाशं च करोति; तं वातशूलमित्याचक्षते, तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत्'। सु० चि० अ० ३४।९ तथा अ० सं० क० अ० ३।१७। वृद्धवाग्भट ने अंगग्रह के सम्बन्ध में अपने विस्तृत विचारों को दिया है, अतः उसका अवलोकन भी अवश्य कर लें।

अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम्।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम् ॥ ७८ ॥

जीवादान का कारण—मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों को अथवा अल्पदोष वाले व्यक्तियों को यदि अत्यन्त प्रभावशाली अर्थात् शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखलाने वाली ओषधि पिला दी जाय, तो वह ओषधि कफ आदि दोषों का हरण करके रक्त को मथकर जीवरक्त को निकालने लगती है।

तेनान्नं मिश्रितं दद्याद् वायसाय शुनेऽपि वा। भुङ्क्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत् ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् [१]पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥

जीवरक्त तथा रक्तपित्त के रक्त में भेद—शरीर से रक्त का निकलना रक्तपित्त, अर्श, रक्तप्रदर, क्षयज कास आदि में देखा जाता है, तथापि यहाँ रक्तपित्त एवं जीवरक्त से तुलना की गयी है, परन्तु किसी भी रोग में शरीर से रक्त निकलता हो, तो निकलते हुए उस रक्त की निम्नलिखित परीक्षण-विधि से परीक्षा कर लेनी चाहिए। जीवरक्त को निकलने नहीं देना चाहिए, क्योंकि जीवरक्त की उपेक्षा करने से प्राणों का संकट उपस्थित हो सकता है।

जीवरक्त-परीक्षा-विधि—१. शरीर से निकलते हुए रक्त को अन्न में मिलाकर कौआ या कुत्ता को दें, यदि कौआ या कुत्ता उस रक्तमिश्रित अन्न को खा लेता है, तो समझ लेना चाहिए कि वह जीवरक्त निकल रहा था, यदि उस अन्न को वे नहीं खाते तो उसे रक्तपित्त रोग से सम्बन्धित अतएव दूषित रक्त समझना चाहिए।

दूसरी विधि—२. सफेद वस्त्र को उस रक्त में भिगाकर सुखा लें। जब वह सूख जाय तब उस वस्त्र को गुनगुने जल से धोयें, धोने के बाद यदि वह वस्त्र विवर्ण हो जाय, अर्थात् साफ न हो सके तो उसे रक्तपित्त का रक्त समझें और यदि वह वस्त्र धोने पर सर्वथा शुद्ध हो जाय और उसमें रक्त का धब्बा, दाग, विवर्णता न हो तो उसे शुद्ध रक्त समझना चाहिए।

वक्तव्य—इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए सुश्रुतोक्त शुद्ध आर्तव की परीक्षा पर भी ध्यान दें—
'शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्। तदार्तवं प्रशंसन्ति यद् वासो न विरञ्जयेत्' ॥ सु० शा० अ० २।१७।
उक्त श्लोक के 'यद्वासो न निरञ्जयेत्' पद्यांश पर समानता की दृष्टि से ध्यान दें। आधुनिक विद्वान् अत्यार्तव को
मेनोरजिया (Menorrhagia) कहते हैं। आर्तव के अधिक होने के कारणों पर भी विचार करें। 'आवान'
का अर्थ 'शुष्क' होता है। इसके लिए 'वान' तथा 'आवान' दोनों ही शब्द प्रयुक्त होते हैं। सुश्रुतसंहिता-
सूत्रस्थान अ० १२,१३ तथा १४ का सम्यगालोचन करें। इन आचार्यों ने जीवादान नामक रक्तव्यापत् के स्वरूप
का वर्णन किया है और रक्तशुद्धि तथा अशुद्धि की भी पहचान बतलायी है। शुद्ध रक्त तथा रक्तपित्त के रक्त
का निर्णायक एक गद्य सुश्रुतसंहिता नि० अ० ३४।१४ में भी दिया गया है, इसे भी देखें।

तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात् क्रियाम्। तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या [२]हिता ॥८१॥

१. 'पित्तं शुद्धं तु शोणितम्' इति पा०।
२. 'मता' इति पा०।

जीवादान-उपद्रव-चिकित्सा—यदि जीवरक्त के निकलने पर तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा (बेहोशी), मदार्त (नशा का सेवन करने से पीड़ित) के जैसे लक्षण दिखलायी दें, तो ऐसे रोगी की मरणपर्यन्त चिकित्सा करें, अर्थात् जब तक यह पूर्णतः निश्चित न हो जाय कि रोगी मर चुका है, तब तक चिकित्सा करते रहना चाहिए। उसके लिए पित्तनाशक समस्त चिकित्साएँ भी करें और वमन तथा विरेचन के अतियोग हो जाने पर जिन चिकित्सा-विधियों को करने का निर्देश दिया गया है, उन सभी का यथोचित प्रयोग करें।

मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्। पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्धयाशु गच्छति[१] ॥८२॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं वस्तिं प्रदापयेत्। श्यामाकाश्मर्यबदरीदूर्वोशीरैः शृतं पयः ॥८३॥
घृतमण्डाञ्जनयुतं शीतं वस्तिं प्रदापयेत्। पिच्छावस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ॥८४॥

रक्तस्राव होने पर रक्तपान-प्रयोग—जीवित मृग, गोवृष, भैंसा, बकरा इनके तत्काल निकाले हुए ताजे रक्त को प्राणों की रक्षा करने के लिए पीना चाहिए। क्योंकि इस सद्यस्क (तत्काल निकाले गये) रक्त को पीने से वह रक्त शीघ्र ही जीवरक्त के रूप में बदल जाता है, अर्थात् जो जीवरक्त शरीर से निकला था, उसकी तत्काल पूर्ति हो जाती है। अथवा मृग आदि के ताजे रक्त में कुश को मसलकर उस रक्त की वस्ति दिला देनी चाहिए। अथवा कालीनिशोथ, गम्भार की छाल, बेर, दूब तथा खश इनके कल्क द्वारा पकाये गये दूध, घी के मंड (ऊपर को तैरता हुआ स्वच्छ घी) में अंजन मिलाकर जब ये द्रव्य शीतल हो जायें, तब इनकी वस्ति दें अथवा शीतल पिच्छावस्ति का प्रयोग करें अथवा केवल घी के मंड द्वारा अनुवासनवस्ति दें।

वक्तव्य—जीवरक्त के निकलने में चिन्ता के कारण पर ध्यान दें—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः' ॥ सु० सू० अ० १४।४४। अर्थात् रक्तधातु उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है, अतः इसके अधिक निकल जाने से प्राणशक्ति का ह्रास हो जाता है। आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'। च० सू० अ० १।४४। इस सिद्धान्त का समर्थन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—'स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः'। सु० सू० अ० १५।१८,२०,२९ तथा ३०।

ध्यान रहे कि ताजा रक्त शीघ्र ही जम जाता है। अतः उपर्युक्त वस्ति आदि प्रयोग यथाशीघ्र कर देने चाहिए। वस्ति द्वारा जो रक्त-प्रयोग का आदेश दिया है, इसे विरेचन के अतियोग में जब रक्तस्राव हुआ हो तभी करना चाहिए। यहाँ उस ताजे रक्त में कुश को मसलकर डालने का आशय यह है कि वह 'असजित' होता है। देखें—भा० प्र० पू० खं० प्र० ५।

कुछ टीकाकार ऐसा लिखते हैं कि ताजे कुश के स्पर्श से रक्त जमता नहीं है। हमने कुछ पैथोलॉजिस्ट को प्रयोग करने के लिए दिया, जिनसे यह सूचना मिली कि 'कुश के संयोग से रक्त नहीं जमता, यह मिथ्या ज्ञापन है'। जैसा कि आजकल रक्त लेने के पहले Sodium oxalate आदि रसायनों का प्रयोग रक्त को न जमने देने के लिए किया जाता है, वैसा यह नहीं है।

जीवाभिसन्धान—इसका तात्पर्य है—'जीव' अर्थात् जीवरक्त से 'अभिसन्धान' तत्काल निकालकर पिलाये गये रक्त का जुड़ना। अर्थात् जिस प्रमाण में जीवरक्त शरीर से निकल गया हो, उसी प्रमाण में बाहरी रक्त का सेवन उसको पूरा कर देता है।

गुदं भ्रष्टं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्। साम गान्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत् ॥
यदा विरेचनं पीतं विडन्तमवतिष्ठते। वमनं भेषजान्तं वा दोषानुत्क्लिश्य नावहेत् ॥८६॥
तदा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन् दोषाः प्रकुपिता गदान्। स विभ्रंशो मतस्तत्र स्याद्यथाव्याधि भेषजम् ॥

गुदभ्रंश-चिकित्सा—यदि विरेचनकारक औषधयोगों का सेवन करने से गुदभ्रंश हो गया हो, तो कषायरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ से बाहर निकले हुए गुदमण्डल को धोकर (कषायद्रव्य संकोचक होते हैं) जब उसका स्तम्भन हो जाय तब उसे हाथ के सहारे से गुद के भीतर प्रवेश करा दे।

संज्ञानाश-चिकित्सा—यदि विरेचनकारक औषधयोगों का सेवन करने से रोगी को संज्ञानाश (बेहोशी) हो जाय, तो उसे साम (सान्त्वना प्रदान करने वाले) शब्दों द्वारा या अन्य गान्धर्व शब्दों (गाने-

१. 'पाययेताशु सन्धानं जीवो जीवेन गच्छति' इति पा०।

बजाने के मधुर स्वर-लहरियों) को सुनाना चाहिए। यदि हो सके तो सामशब्द और गीत तथा वाद्य शब्द मित्र-मण्डली द्वारा प्रयुक्त हों तो अधिक उत्तम है। इस प्रकार के उपायों से रोगी की मूर्च्छा (बेहोशी) दूर हो जाती है। जब विरेचनकारक औषध का सेवन करने से केवल मल निकलकर उसका वेग रुक गया हो, जब कि मल निकलने के बाद पित्त तथा कफ का निकल जाना विरेचन का सम्यक् योग कहा जाता है। यदि वमनकारक द्रव्यों को पीने से केवल औषधद्रव्य वमन में निकल जायें और आमाशयिक पदार्थ कफ एवं पित्त न निकलें तो वह वमनकारक अथवा विरेचनकारक औषधयोग दोषों को उभाड़कर उन्हें पूरी तरह बाहर नहीं निकाल पाता, ऐसी स्थिति में प्रकुपित हुए कफ आदि दोष खुजली आदि रोगों को पैदा कर देते हैं। इसे अयोगज विभ्रंश कहते हैं। गुदभ्रंश तथा संज्ञाभ्रंश रोग औषध के अतियोग से होते हैं। इनकी चिकित्सा रोग की स्थिति को देखकर करनी चाहिए।

वक्तव्य—इस प्रसंग में सुश्रुतोक्त इस गद्य को सम्पूर्णरूप में यथास्थान देखें—'विरेचनातियोगे ... भोजनेषु'॥ सु० चि० अ० ३४।१३ तथा गुदभ्रंश की चिकित्सा वृद्धवाग्भट के शब्दों में—'गुदं निःसृतमभ्यज्य स्वेदयित्वा कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्'। अ० सं० क० अ० ३।२५। ऐलोपैथी में गुदभ्रंश को प्रोलैप्स्ड रैक्टम (Prolapsed rectum) कहते हैं। यह विसर्जनीय वलि तथा गुद-मार्ग का मध्यम भाग होता है। 'संज्ञानाशे' का सर्वथा बेहोश हो जाना, यह अर्थ करना उचित नहीं है, तब तो साम (सान्त्वना देना या मधुर भाषण द्वारा समझाना) का प्रयोग सर्वथा असंगत हो जायगा, क्योंकि बेहोश हो जाने के बाद ऋक्, यजुः, साम, अथर्व किसी के शब्द सुनायी नहीं पड़ते। साम, दाम, दण्ड, भेद में भी साम का समझाना अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। यहाँ यद्यपि खुजली आदि की गणना उपद्रवों में की गयी है, परन्तु इन्हें भी विभ्रंश ही कहा जाता है।

पीतं स्निग्धेन सस्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद् वृतम्।
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् स्तम्भयेच्च्युतान्॥ ८८॥
वातसङ्गगुदस्तम्भशूलैः क्षरति चाल्पशः। तीक्ष्णं वस्तिं विरेकं वा सोऽर्हो लङ्घितपाचितः॥

स्तम्भ का निदान तथा लक्षण—स्नेहन किये हुए व्यक्ति द्वारा स्नेह मिलाकर पी गयी संशोधन (वमन अथवा विरेचन) ओषधि अपने मृदुगुण के कारण शरीर में स्थित कफ आदि दोषों से घिर जाती है, अर्थात् बाहर नहीं निकल पाती है, किन्तु अपने-अपने स्थान में स्थित दोषों को विचलित करके रोक देती है। इसके फलस्वरूप अपानवायु में रुकावट, गुदप्रदेश में जकड़न तथा शूल के साथ थोड़ा-थोड़ा मल निकलता है।

स्तम्भ-चिकित्सा—ऐसी स्थिति में रोगी को लंघन और पाचन कराने के बाद तीक्ष्ण (शीघ्र प्रभावकारक) वस्ति या तीक्ष्ण विरेचनकारक औषधयोग का सेवन कराकर दोषों को बाहर निकाल देना चाहिए।

रूक्षं विरेचनं पीतं रूक्षेणाल्पबलेन वा। मारुतं कोपयित्वाऽऽशु कुर्याद् घोरानुपद्रवान्॥९०॥
स्तम्भशूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु मुह्यतः। स्नेहस्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः॥९१॥

विशेष चिकित्सा—रूक्ष प्रकृतिवाले अथवा स्नेहन कराये बिना अथवा अल्पबल (दुर्बल) वाले व्यक्ति द्वारा रूक्षविरेचनकारक औषधयोग का पान करने से, वह सेवन किया हुआ औषधयोग वातदोष को शीघ्र ही प्रकुपित कर वातविकार-जनित अनेक घोर (भयावह) उपद्रवों को पैदा कर देता है। उन उपद्रवों में बेहोशी का होना सर्वप्रथम लक्षण है, उसके सम्पूर्ण शरीर में जकड़न तथा शूल पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन कराकर तब वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में 'स्तम्भशूलानि' इस पद्यांश को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है, जो आपत्तिजनक है। ध्यान दें—पहला पाठभेद है—'स्तम्भं शूलानि' जिससे कोई महत्त्वपूर्ण अर्थ नहीं निकलता। दूसरा पाठभेद है—'शूलस्तम्भकम्पभेदान्'। यह छन्द की दृष्टि से विचारणीय है। तीसरी बात जो उन्होंने लिखी है, वह यह है—'स्तम्भशूलानि' यह पाठ परिवर्तित प्रतीत होता है। इसके प्रमाण में वे लिखते हैं कि चक्रपाणि की टीका में 'शूलादयश्चामी' इत्यादि उद्धृत है। वहाँ शूल शब्द पहले आना चाहिए था, न कि स्तम्भ; नहीं तो 'स्तम्भादयश्चामी' ऐसा पाठ होता।

समाधान—महर्षि पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, चरक, दृढबल यह कायचिकित्सा के आचार्यों की सामान्य परम्परा नहीं रही है। चरक-चतुरानन श्रीचक्रपाणि भी इस संहिता के टीकाकारों में अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति रहे हैं। इस परम्परा को अपनी अज्ञानता से कलुषित करने का प्रयास सर्वत्र सफल नहीं हो सकता है। हम 'स्तम्भशूलानि' पद की श्रीचक्रपाणि द्वारा 'शूलादयश्चामी' के रूप में की गयी इस टीका पर उत्पन्न किये गये भ्रम का व्याकरणशास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रखकर निराकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' इति सूत्रे केचित् कुटस्यादिः, कुट आदिर्येषामित्येकदेशावृत्या बहुव्रीहितत्पुरुषयोर्द्वयोरप्याश्रयणात् 'लिखितुं विश्वसृजोऽपि शक्तिहानिः' स्वयमेव लिखिष्यन्ते इति समर्थयन्ते। माधवीयधातुवृत्तौ, काशिकापदमञ्जर्योः, शब्दकौस्तुभे च उक्तसूत्रे द्रष्टव्यम्। तत्पुरुषस्याश्रयणेन कुटस्यादिः पूर्वो लिखधातुरपि ङिद्भवति, तेन 'लिखितुं, लिखिष्यते' इत्यत्र गुणो न भवति"।

इसका आशय यह है कि 'स्तम्भशूलानि' पद में यद्यपि शूलशब्द का प्रयोग बाद में हुआ है और श्रीचक्रपाणि ने उक्त पद का 'शूलादयश्चामी' अनुवाद किया है, तो वहाँ 'शूलादयः' इस पद से शूल शब्द से पहले प्रयुक्त किये स्तम्भ शब्द का उसी प्रकार ग्रहण कर लिया जायेगा, जिस प्रकार 'गाङ्कुटादि' सूत्र में निर्दिष्ट कुटादि गण से पूर्व पढ़ी गयी लिखधातु का ग्रहण किया गया है। अतः हमारा निवेदन है, कि अपना अज्ञान प्रकट कर सामान्य विषय को उलझाना नहीं चाहिए। खेद है कि आज हम अपने अज्ञान के कारण आर्षग्रन्थों का उलटा-पलटा अर्थ करके उनका उपहास कर रहे हैं। सत्य तो यह है कि इससे हमारा ही उपहास हो रहा है। वातशूल, अंगग्रह तथा वृद्धवाग्भट द्वारा निर्दिष्ट सर्वांगग्रह के लक्षणों पर ध्यान दें। किसने किस रोग का क्या नाम रखा है, इस भ्रम में न पड़ें, नहीं तो आप किसी निर्णय तक नहीं पहुँच पायेंगे।

स्निग्धस्य मृदुकोष्ठस्य मृदूत्क्लिश्यौषधं कफम्। पित्तं वातं च[1] संरुध्य सतन्द्रागौरवं क्लमम्॥
दौर्बल्यं चाङ्गसादं च कुर्यादाशु तदुल्लिखेत्। लङ्घनं पाचनं चात्र स्निग्धं तीक्ष्णं च शोधनम्॥

क्लम का निदान तथा लक्षण—स्नेहन किये हुए तथा मृदुकोष्ठ वाले (जिन्हें सामान्य विरेचक द्रव्यों से विरेचन हो जाता है) व्यक्ति मृदु औषधयोग का सेवन करते हैं, तो वह औषधयोग कफ तथा पित्त को उभाड़कर, वातदोष को भीतर ही रोककर तन्द्रा और भारीपन के साथ क्लम रोग को पैदा कर देता है। इससे शरीर में दुर्बलता एवं शिथिलता (चुस्ती का अभाव) हो जाती है।

क्लम-चिकित्सा—ऐसी स्थिति में रोगी को शीघ्र ही वमन कराना चाहिए, उसके बाद लंघन (सुकुमार व्यक्तियों को लघु भोजन) तथा पाचनद्रव्यों का प्रयोग कराकर स्निग्ध द्रव्यों द्वारा तीक्ष्ण शोधन (विरेचन) कराना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ क्लम रोग को वमन तथा विरेचन की व्यापत्ति माना है, तथापि इसे अन्यत्र एक स्वतन्त्र रोग मानते हुए इसके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—'योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः'॥ अर्थात् बिना परिश्रम किये ही शरीर में जो थकावट आ जाती है, जिसमें श्वास नहीं फूलता और जो इन्द्रिय-जनित सुखों में बाधा उत्पन्न कर देता है, उसे भी क्लम ही कहते हैं। यहाँ जिस क्लम की चर्चा की गयी है, वह यदि वमन अथवा विरेचन के उपद्रवों के कारण उत्पन्न हुआ हो तो उसमें वमन अथवा विरेचन का सम्यक् योग कराने से शीघ्र लाभ हो जाता है। शेष चिकित्सा यथास्थान कही जा चुकी है। महर्षि आत्रेय ने इस अध्याय में वमन, विरेचन से सम्बन्धित १० व्यापत्तियों का परिगणन और उनकी चिकित्सा का वर्णन किया है। सुश्रुत ने १५ और वृद्धवाग्भट ने १२ प्रकार के व्यापदों को स्वीकार किया है।

सुश्रुत के अनुसार—वैद्य, रोगी तथा परिचारक के कारण वमन और विरेचन की व्यापद् (हानि) पन्द्रह प्रकार की होती है—१. वमन द्रव्य का नीचे जाना तथा विरेचन द्रव्य का ऊपर आना, २. औषधद्रव का बचे रहना, ३. औषध का पच जाना, ४. दोष का थोड़ा-सा निकल पाना, ५. वातशूल, ६. अयोग, ७. अतियोग, ८. जीवादान, ९. आध्मान, १०. परिकर्तिका, ११. परिस्राव, १२. प्रवाहिका, १३. हृदयोपसरण, १४. विबन्ध तथा १५. अंगग्रह (अंगों का जकड़ जाना)। देखें—सु० चि० अ० ३४।३।

---

१. 'काले' इति पा०।

वृद्धवाग्भट के अनुसार दोनों ही प्रकार के विरेचनों (वमन तथा विरेचन) में विधिपूर्वक कार्य न करने से १२ प्रकार की व्यापद् (हानियाँ) होती हैं—१. प्रतिकूल गति (वमन द्रव्य का नीचे जाना तथा विरेचन द्रव्य का ऊपर जाना), २. पाक, ३. ग्रथितत्व, ४. सगौरव (भारीपन), ५. दोषोत्क्लेश, ६. भृशाध्मान (पेट का अधिक फूल जाना), ७. परिकर्त (परिकर्तिका), ८. परिस्रव, ९. प्रवाहिका, १०. हृद्ग्रहण, ११. सर्वगात्रपरिग्रह (अंगग्रह), १२. धातुस्रवण। देखें—अ० सं० क० अ० ३।४०-४१। वास्तव में तीनों आचार्य वमन, विरेचन की व्यापत्तियों के सम्बन्ध में एकमत हैं। संख्या-भेद को देखकर मतभेद की शंका नहीं करनी चाहिए। यह तो संहिताकारों का उक्तिवैचित्र्य मात्र है।

तत्र श्लोकौ—

इत्येता व्यापदः प्रोक्ताः सरूपाः सचिकित्सिताः। [1]वमनस्य विरेकस्य कृतस्याकुशलैर्नृणाम् ॥
[2]एता विज्ञाय मतिमानवस्थाश्चैव तत्त्वतः। [3]दद्यात् संशोधनं [4]सम्यगारोग्यार्थी नृणां सदा ॥९५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस विषय में यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—अकुशल (शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जिन्हें चिकित्सा सम्बन्धी व्यवहार का ज्ञान नहीं होता) चिकित्सकों द्वारा सेवन कराये गये वमन-विरेचन योगों से उत्पन्न होने वाले रोगों का, उनके लक्षणों तथा उनकी चिकित्साओं का यहाँ विस्तार से वर्णन कर दिया गया है। बुद्धिमान् (शास्त्र तथा व्यवहार का ज्ञाता) चिकित्सक को चाहिए कि वह उपर्युक्त व्यापत्तियों को ठीक-ठीक समझकर, रोगी तथा रोग की अवस्थाओं का विचारकर तदनुसार प्रत्येक संशोधन का यथोचित प्रयोग करे, जिससे मानव स्वास्थ्य-लाभ कर सके।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकचन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-सिद्धिस्थान में वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि नामक छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातो वस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वमन-विरेचनव्यापत्सिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वस्तिव्यापत्सिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—यद्यपि कार्य तथा प्रयोग-भेद से वस्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, देखें—सु० चि० अ० ३५।१८। तथापि मूलतः वस्ति के दो भेद होते हैं—१. अनुवासनवस्ति तथा २. निरूहणवस्ति। अनुवासनवस्ति का असम्यक् प्रयोग करने से जो छः आपत्तियाँ होती हैं, उनका वर्णन चरकसंहिता-सिद्धिस्थान अ० ४।२५ में किया जा चुका है। उनका परिचय चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें। यहाँ केवल निरूहवस्ति के

१. 'विरेचनस्याकुशलैर्दत्तस्य वमनस्य च' इति पा०।
२. 'धीमान् विज्ञाय तास्तस्मादवस्थाश्चैव तत्त्वतः' इति पा०।
३. 'कुर्यात्' इति पा०।
४. 'सम्यगारोग्यार्थं' इति पा०।

असम्यक् प्रयोग के कारण होने वाली बारह व्यापत्तियाँ तथा उनकी सिद्धि (चिकित्सा द्वारा सफलता) का वर्णन किया जा रहा है। सुश्रुत के अनुसार प्रथम निरूहवस्ति है, उसके बाद अनुवासनवस्ति; अन्यत्र इसके विपरीत क्रम देखा जाता है।

धीधैर्यौदार्यगाम्भीर्यक्षमादमतपोनिधिम्। पुनर्वसुं शिष्यगणः पप्रच्छ विनयान्वितः ॥३॥

प्रस्तावना—बुद्धि, धीरता, उदारता, गम्भीरता, क्षमा (सहन-शक्ति), दम (मन को वश में बनाये रखना) तथा तप—इन गुणों के निधि (खजाने) भगवान् पुनर्वसु से अग्निवेश आदि शिष्य-समूह ने विनयपूर्वक (निरूहवस्ति की व्यापत् तथा उनकी सिद्धि के सम्बन्ध में) पूछा।

काः कति व्यापदो वस्तेः किंसमुत्थानलक्षणाः।
का चिकित्सा इति प्रश्नाञ्छ्रुत्वा तानब्रवीद् गुरुः ॥ ४ ॥

निरूहवस्ति की व्यापत्तियाँ—भगवन्! निरूहवस्ति में कौन तथा कितनी प्रकार की व्यापत्तियाँ होती हैं, उनकी उत्पत्ति के क्या कारण होते हैं, उनमें परस्पर विभेदक लक्षण क्या होते हैं और उनकी क्या चिकित्साएँ होती हैं—इन पाँच प्रश्नों को सुनकर गुरु (महर्षि आत्रेय) ने उन शिष्यों से कहा।

नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरूर्ध्वता। प्रवाहिका शिरोऽङ्गार्तिः [1]परिकर्तः परिस्रवः ॥
द्वादश व्यापदो वस्तेरसम्यग्योगसम्भवाः। आसामेकैकशो रूपं चिकित्सां च निबोधत ॥६॥

निरूहवस्ति की १२ व्यापत्तियाँ—१. अयोग, २. अतियोग, ३. क्लम, ४. आध्मान, ५. हिक्का, ६. हृत्प्राप्ति, ७. ऊर्ध्वगमन, ८. प्रवाहिका, ९. शिरःशूल, १०. अंगों में पीड़ा, ११. परिकर्तिका, १२. परिस्रव—ये बारह व्यापत्तियाँ निरूहवस्ति का ठीक-ठीक प्रयोग न करने या न कराने के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। इन १२ व्यापत्तियों में से एक-एक करके इनके स्वरूप (लक्षण) तथा चिकित्सा को मैं कह रहा हूँ, तुम ध्यान से सुनो।

वक्तव्य—वास्तव में असम्यक् योग एक ऐसा शब्द है, जिसके अन्तर्गत अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग इन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। तन्त्रकार ने प्रारम्भ में जो 'नातियोगौ' शब्द का प्रयोग किया है, इन दोनों (अयोग तथा अतियोग) के भीतर ही शेष सभी व्यापत्तियों का समावेश हो जाता है, यह अनुभव-सिद्ध है। श्रीजयदेव ने अन्य टीकाकारों का मत इस प्रकार उद्धृत किया है—कुछ विद्वान् 'नातियोगौ' के स्थान पर 'नातियोगात्' पढ़कर 'द्वादशव्यापदो वस्तेः' के स्थान पर 'दशैता व्यापदो वस्तेः' ऐसा पढ़ते हैं। हमारे विचार से भी 'नातियोगौ' पाठ यद्यपि सभी व्यापत्तियों का जनक है। सन्तानों की गिनती करने में जैसे माता-पिता की गिनती आवश्यक नहीं होती उसी प्रकार यहाँ भी अयोग, अतियोग के परिगणन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यदि मूलपाठ यही रहा हो तो हम तन्त्रकार के सर्वदा, सर्वथा समर्थक ही रहे हैं। इनके उत्तर देने की प्रक्रिया से तो यही सिद्ध होता है कि तन्त्रकार को 'नातियोगौ' पाठ ही स्वीकार्य है। वास्तव में ये प्रथम, द्वितीय व्यापत्ति को 'नातियोगौ' प्रश्न का क्षेत्र मानते हैं, शेष दस व्यापत्तियों को 'असम्यग्योगसम्भवाः' मानते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो काम चल सकता है। वैसे हमने इस वक्तव्य के आरम्भ में असम्यग्योग की सीमा का विरेचन कर दिया है।

अन्य मत—'अयोगस्तूभयोः, आध्मानं परिकर्तिका प्रस्रावः प्रवाहिका हृदयोपसरणम् अङ्गग्रहः अतियोगो जीवादानमिति नवव्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति'। सु० चि० अ० ३५।३२। वृद्धवाग्भट के अनुसार जो बारह व्यापत्तियाँ होती हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है—'विबन्धगौरवाध्मानशिरोरुग्वाहनोर्ध्वगाः। कुक्षिशूलाङ्गरुग्धिध्माहृत्पीडाकर्तनस्रवाः। अयोगादतियोगाच्च वस्तेः स्युः षट्षडापदः' ॥ अ० सं० क० अ० ६।२।

गुरुकोष्ठेऽनिलप्राये रूक्षे वातोल्बणेऽपि वा। [2]शीतोऽल्पलवणस्नेहद्रवमात्रो घनोऽपि वा ॥७॥
वस्तिः सङ्क्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन्। करोति गुरुकोष्ठत्वं वातमूत्रशकृद्ग्रहम् ॥८॥
नाभिवस्तिरुजं दाहं हृल्लेपं श्वयथुं गुदे। कण्डूगण्डानि वैवर्ण्यमरुचिं वह्निमार्दवम् ॥९॥

१. 'परिकर्तिः' इति पा०।
२. 'शीतोऽल्पस्नेहलवणद्रव्यमात्रः' इति पा०।

१. **अयोगः निदान तथा लक्षण**—जिस व्यक्ति का कोष्ठ गुरु (क्रूर—देर में प्रभावी होने वाला) है तथा जिस व्यक्ति के कोष्ठ-प्रदेश में वात की अधिकता हो, जिसका शरीर रूक्ष (स्नेहहीन) है अथवा जो व्यक्ति वात-प्रधान हो, ऐसे व्यक्ति में शीतल वस्ति, अथवा जिस वस्ति द्रव में कम नमक पड़ा हो या स्नेह कम मात्रा में पड़ा हो अथवा द्रव कम मात्रा में हो अतएव गाढ़ी वस्ति का प्रयोग किया जाता है, तो वह कफ आदि दोषों को क्षुभित (अपने स्थान से विचलित) करके वस्तिद्रव के दुर्बल (अपने कार्य करने में पूर्णतया समर्थ न) होने के कारण वह दोषों को ठीक प्रकार से बाहर न निकाल सकती हुई, कोष्ठ-प्रदेश को भारी बना देती है और अपानवायु, मल, मूत्र इनको रोक देती है। नाभि तथा वस्ति में पीड़ा, दाह, हृदय के ऊपर कुछ लीप दिया हो, इस प्रकार के भारीपन का अनुभव, गुद-प्रदेश में शोथ, खुजली, गण्ड (गाठों की उत्पत्ति), विवर्णता, भोजन के प्रति अरुचि तथा जठराग्नि की मन्दता—ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—महर्षि सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट ने अयोग-जनित व्यापत् के भिन्न-भिन्न स्वरूप उपस्थित किये हैं। देखें—सु० चि० अ० ३६।३१-३२ तथा अ० सं० क० अ० ६।३-५। इन्होंने जिन लक्षणों का वर्णन किया है, वे सभी महर्षि आत्रेय का अनुकरण करते हैं।

तत्रोष्णायाः प्रमथ्यायाः पानं स्वेदाः पृथग्विधाः।
फलवर्त्योऽथवा कालं ज्ञात्वा शस्तं विरेचनम्॥ १०॥
बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान्। [1]सुरादिमूत्रवान् वस्तिः सप्राक्पेष्यस्तमानयेत्॥११॥

अयोग की चिकित्सा—वस्ति का अयोग होने पर गरम-गरम प्रमथ्या (मन्थभेद) को तैयार कर पीना चाहिए। विविध प्रकार के स्वेदनों एवं फलवर्तियों (गुदवर्तियों) का प्रयोग करें, अथवा उचित समय जानकर उत्तम विरेचन का प्रयोग करें।

बिल्वादि वस्ति—बेल के मूल की छाल, निशोथ, देवदारु, बेर, कुलथी इनके कल्क में सुरा, सौवीरक तथा गोमूत्र मिलाकर पहले (च० सि० अ० ३।१३-१९ में से १४वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में कथित द्रव्यों का) जो बलादि वस्ति में कहा गया है, उसका कल्क मिलाकर मथकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। यह वस्ति उस अयोग-कारक वस्तिद्रव को बाहर निकाल लाती है।

वक्तव्य—प्रमथ्या मन्थ का ही एक भेद है। भोजन के निर्माण में देश तथा जाति-भेद से कुछ-न-कुछ अन्तर आ ही जाता है, ऐसा ही कुछ प्रमथ्या के सम्बन्ध में भी है। प्रमथ्या-लक्षण—'शृतः कषायो निर्यूहः क्वाथो यूषः कृतश्च यः। कृतयूषः प्रमथ्या च द्रव्यात् कल्कीकृतात् शृता'। और भी—'प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृतात्। तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम्'॥ शा० सं० म० खं० अ० २।१६८। वास्तव में यह भी एक प्रकार का क्वाथ ही है। दोनों में अन्तर यह है, कि क्वाथ में औषध को जौकुट करके सोलह गुने जल में पकाया जाता है और प्रमथ्या में औषधद्रव्यों का कल्क (चटनी) बनाकर आठ गुने जल में पकाया जाता है।

सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा का निर्देश सु० चि० अ० ३६।३२ में किया है और वृद्धवाग्भट ने अ० सं० क० अ० ६।७ में किया है, देखें। वृद्धवाग्भट ने महर्षि आत्रेय के वचन 'सुरादिमूत्रवान्' पाठ को अपने संग्रह-ग्रन्थ में इस प्रकार बदला है—'सुराविण्मूत्रवान्'। इस पाठ पर आप विचार करें और देखें कि प्रायोगिक दृष्टि से इस पाठ की क्या स्थिति है?

स्निग्धस्विन्नेऽतितीक्ष्णोष्णो मृदुकोष्ठेऽतियुज्यते।
तस्य लिङ्गं चिकित्सा च शोधनाभ्यां समा भवेत्॥ १२॥
पृश्निपर्णीं स्थिरां पद्मं काश्मर्यं [2]मधुकं बलाम्। पिष्ट्वा द्राक्षां मधूकं च क्षीरे तण्डुलधावने॥
द्राक्षायाः पक्वलोष्टस्य प्रसादे मधुकस्य च। विनीय सघृतं वस्तिं दद्याद् [3]दाहेऽतियोगजे॥१४॥

२. **अतियोग का निदान**—स्नेहन तथा स्वेदन कराने के बाद मृदुकोष्ठ वाले व्यक्ति के प्रति यदि अत्यन्त तीक्ष्ण (शीघ्र प्रभाव करने वाली) तथा उष्णवस्ति का प्रयोग किया जाय तो उससे अतियोग हो जाता है।

१. 'सुरामूत्रादिना' इति पा०।
२. 'मधुकोत्पलम्' इति पा०।
३. 'दाहातियोगिने' इति पा०।

अतियोग के लक्षण तथा चिकित्सा—उस अतियोग के लक्षण तथा चिकित्सा शोधनों (वमन तथा विरेचन) के अतियोग के समान ही होती है। इस सामान्य लक्षण तथा चिकित्सा का निर्देश करने के बाद आचार्य अपनी परम्परा के अनुसार विशेष वचन को प्रस्तुत कर रहे हैं—यदि अतियोग के कारण दाह उत्पन्न हो तो पिठवन, सरिवन, लालकमल का फूल, गम्भार, मुलेठी, बरियारा, मुनक्का तथा महुआ इन द्रव्यों को दूध में या चावल के धोवन में घोलकर अथवा मुनक्का के प्रसाद (निर्मल रस) में, पके हुए लोष्ठ (मिट्टी के ढेले या घड़े आदि के ठिकरे) को अग्नि में लाल करके पानी में बुझायें, उसके स्वच्छ जल में अथवा मुलेठी के शीतकषाय में घोलकर उसमें घी मिलाकर उक्त द्रवों से वस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ अतियोग-जनित व्यापत्ति की शान्ति के लिए पाँच प्रकार की वस्तियों का विधान इस प्रकार किया गया है—१. पिठवन आदि आठ द्रव्यों के कल्क को दूध में घोलकर, द्रव्यों के नीचे बैठ जाने पर उसे छानकर उसमें घी मिलाकर, २. उक्त कल्क को चावल के धोवन में घोलकर पूर्ववत् घी मिलाकर, ३. मुनक्के के प्रसाद अर्थात् शीतकषाय विधि से निर्मित स्वच्छ रस में घोलकर पूर्ववत् घी मिलाकर, ४. मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर लाल हो जाने पर आग में बुझाकर जब पानी स्वच्छ हो जाय तो उसमें उक्त द्रव्यों के कल्क को घोलकर घोल के नीचे बैठ जाने पर स्वच्छ जल में घी मिलाकर, ५. मुलेठी के प्रसाद (स्वच्छ जल) में उक्त द्रव्यों के कल्क को घोलकर जब घोल नीचे बैठ जाय तब उसमें घी मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। ये सभी वस्तियाँ दाह का शमन करती हैं।

शीतकषाय-निर्माण-विधि—'क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम्। निशोषितं हिमः स स्यात् तथा शीतकषायकः॥ तन्मानं फाण्टवज्ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः'। शा० सं० म० खं० अ० ४।१। अर्थात् १ पल (४ तोला) औषधद्रव्य को भली-भाँति कूट-पीसकर मिट्टी या शीशा आदि के पात्र में डालकर छः पल (२४ तोला) जल डालकर भिगा दें और उसे रात भर रहने दें और प्रातःकाल छानकर पी लें। इसे हिम तथा शीतकषाय कहा जाता है। इसका परिमाण (पीने तथा प्रक्षेप आदि का) फाण्ट के समान है। इसे शा० सं० म० खं० अ० ३।१-२ में देखें। फाण्ट का ही एक भेद मन्थ भी है। इसका परिचय भी इसी अध्याय के ९वें पद्य में दिया गया है। फाण्ट का निर्माण उष्ण जल में किया जाता है। चाय, काफी आदि का अन्तर्भाव फाण्ट में किया जा सकता है। मन्थ का निर्माण शीतल जल में कूट-पीसकर डाले गये औषधद्रव्यों को भीग जाने के बाद मथकर किया जाता है। विशेष—सुश्रुत चि० अ० ६ में इस अवसर पर 'पिच्छावस्ति' का प्रयोग करने की अनुमति दी है।

[1]आमशेषे निरूहेण मृदुना दोष ईरितः। [2]मार्गं रुणद्धि वातस्य हन्त्यग्निं मूर्च्छयत्यपि॥१५॥
क्लमं [3]विदाहं हृच्छूलं मोहवेष्टनगौरवम्। कुर्यात् स्वेदैर्विरूक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपाचरेत्॥१६॥
पिप्पलीकत्तृणोशीरदारुमूर्वाभिश्रुतं जलम्। पिबेत् सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम्॥१७॥
वचानागरशटीचेला दधिमण्डेन मूर्च्छिताः। पेयाः प्रसन्नया वा स्युररिष्टेनासवेन वा॥१८॥
दारु [4]त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम्। पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत् क्षारांश्च दीपनान्॥
वस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम्। समूत्रमथवा व्यक्तलवणं माधुतैलिकम्॥२०॥

३. **क्लम का निदान**—यदि रोगी के शरीर में विधिवत् वस्ति-प्रयोग के न हो सकने के कारण आम-दोष शेष रह गया हो, तो ऐसी स्थिति में मृदु निरूहवस्ति का प्रयोग करा दिया जाय तो उससे प्रेरित हुए दोष आमदोष के साथ कुपित होकर वायु के मार्ग को रोक देते हैं, अर्थात् वायु को विलोम कर देते हैं तथा जठराग्नि को कार्यक्षम नहीं रहने देते और मार्गों का अवरोध हो जाने के कारण वे वायु को प्रकुपित भी कर देते हैं।

क्लम आदि लक्षण—ऊपर कहे गये निदानोक्त कारणों से रोगी के शरीर में क्लम (सुस्ती), विदाह (अंगों में जलन), हृदय में शूल, मोह (बेहोशी), उद्वेष्टन (शरीर के अवयवों में ऐंठन), गौरव (भारीपन), ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

१. 'आमदोषे' इति पा०।
२. 'मूर्च्छयत्यनिलं मार्गं रुणद्ध्यग्निं हिनस्ति च' इति पा०।
३. 'सदाहं' इति पा०।
४. 'त्रिकण्टकं' इति पा०।

क्लम की चिकित्सा—उपर्युक्त लक्षणों को देखकर रूक्षस्वेदन (इसे विस्तारपूर्वक च० सू० अ० १४ की चरकचन्द्रिका टीका में देखें) और पाचन औषधयोगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यह सामान्य चिकित्सा-सूत्र कह दिया गया है। इसके आगे विस्तारपूर्वक चिकित्सा-निर्देश किया जा रहा है।

पिप्पल्यादि क्वाथ—पिप्पली, सुगन्धितृण, खश, देवदारु, मूर्वा इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर विधिपूर्वक बनाये गये क्वाथ में सोंचरनमक मिलाकर रोगी को पीना चाहिए। यह क्वाथ जठराग्नि को प्रदीप्त करता है तथा हृदय को शुद्ध (दोषों के आवरण से मुक्त) करता है।

वचादि योग—बालवच, सोंठ, कचूर, एला (इलायची), इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़-छन चूर्ण तैयार कर लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार लेकर दही के पानी में, मदिरा के ऊपरी स्वच्छ भाग में, अरिष्ट में अथवा आसव में घोलकर रोगी को पीना चाहिए।

दार्वादियोग—देवदारु, सोंठ, मिरिच, पिप्पली, हरड़, पलाश की छाल, चीता की जड़, कचूर, कूठ इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर बाद में गोमूत्र में ही घोलकर छानकर रोगी को पीना चाहिए। ग्रहणी-चिकित्सा में कहे गये अग्नि को दीप्त करने वाले क्षारों (च० चि० अ० १५।१७३-१९३) का प्रयोग कराना चाहिए। अथवा दशमूल के सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर क्वाथ-विधि से क्वाथ तैयार कराकर उसमें गोमूत्र मिलाकर रोगी को वस्ति-प्रयोग कराना चाहिए (इसका वर्णन—च० सि० अ० ३।३५ में है, वहाँ देखें)। अथवा माधुतैलिक (मधु तथा तिल-तैल आदि से निर्मित, इसका वर्णन च० सि० अ० १२।१८ अनुभाग १३ में देखें) वस्ति में गोमूत्र अथवा हलका नमक मिलाकर प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने दाह आदि अन्य लक्षणों के होते हुए भी क्लम को ही प्रधान व्यापत् स्वीकार किया है, किन्तु वृद्धवाग्भट ने अपने संग्रह-ग्रन्थ में क्लम के स्थान पर 'गौरव' शब्द को महत्त्व दिया है। इन्होंने यहाँ दोष शब्द से आमयुक्त पित्त तथा कफ का ग्रहण किया है, जो प्रसंगानुसार ठीक भी है। सुश्रुत के अनुसार माधुतैलिक वस्ति—'मधुतैले समे स्यातां क्वाथश्चैरण्डमूलजः। पलार्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्धं सैन्धवस्य च ॥ फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः। देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः' ॥ सु० चि० अ० ३८।१००-१०१। आचार्य गयी ने 'फलेनैकेन संयुक्तः' के स्थान पर 'पलेनैकेन संयुक्तः' पाठ स्वीकार किया है। इससे वे इसमें मांसरस, काँजी आदि भी मिलाते हैं। माधुतैलिक की परिभाषा और इसके विभिन्न नामों (युक्तरथ, सिद्धवस्ति) के सकारण विवेचन के लिए देखें—सु० चि० अ० ३८।११४-११७।

अल्पवीर्यो महादोषे रूक्षे क्रूराशये कृतः। [1]वस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुन्ध्यात् समीरणम् ॥२१॥
स विमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम्। विदाहं गुरुकोष्ठस्य मुष्कवङ्क्षणवेदनाम् ॥२२॥
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति। श्यामाफलादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः ॥२३॥
धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्। कराङ्गुष्ठनिभां वर्ति यवमध्यां [2]निधापयेत् ॥२४॥
अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे। अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम् ॥२५॥
बिल्वादिना निरूहः स्यात् पीलुसर्षपमूत्रवान्। सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम् ॥२६॥

४. **आध्मान का निदान**—जिस व्यक्ति के शरीर में दोषों की मात्रा अधिक हो, या जिसका शरीर रूक्ष हो, आशय क्रूर (क्रूरकोष्ठ) हो, ऐसे पुरुष में यदि अल्पवीर्य (शक्ति) वाली वस्ति का प्रयोग किया जाता है, तो वह वस्तिद्रव आँतों के समीप पहुँच कर वहाँ स्थित दोषों से घिर जाता है, अतः वह वस्तिद्रव मार्ग के अवरुद्ध हो जाने के कारण बाहर न आकर वायु के मार्ग को रोक देता है।

आध्मान के लक्षण—इस प्रकार रुकी हुई वह वायु प्रकुपित होकर विपरीत मार्ग में पहुँचकर आध्मान (अफारा), मर्मस्थानों में पीड़ा, विदाह (जलन), कोष्ठ-प्रदेश में भारीपन, मुष्क (अण्डकोष) तथा वंक्षण प्रदेश में वेदना को पैदा कर देती है। मात्रा से अधिक शूल के हो जाने से हृदय के कार्यों की गति में रुकावट पैदा होने लगती है, वायु भीतर ही भीतर इधर-उधर घूमने लगती है।

१. 'वस्तिर्दोषावृतस्तूर्ध्वमधो रुन्ध्यात्' इति पा०।
२. 'प्रवेशयेत्' इति पा०।

आध्मान की चिकित्सा—ऐसी स्थिति में मैनफल आदि वमनकारक छः द्रव्य तथा श्यामा (काली-निशोथ) आदि नौ विरेचनकारक द्रव्य (देखें—च० क० अ० १।६) इनके साथ कूठ, पिप्पली, नमक, सरसों, गृहधूम, उड़द, वच, सुराकिट्ट (सुराबीज), जवाखार, इनके चूर्ण को गुड़ में मिलाकर हाथ के अँगूठा के सदृश बत्ती बना लें, इसका तात्पर्य है कि वह बत्ती जौ के दाने की भाँति आगे-पीछे से पतली और बीच में मोटी हो, उसे तेल में भिगा दें। इस फलवर्ति का प्रयोग जिसके शरीर का स्नेहन और स्वेदन कराया जा चुका हो, ऐसे पुरुष के गुद के भीतर तैल चुपड़ कर करना चाहिए। अथवा सेंधानमक, गृहधूम, सरसों इनको पीसकर (गुड़ मिलाकर) बनायी गयी बत्ती को गुद के भीतर प्रवेश करायें। यहाँ भी 'कराङ्गुष्ठनिभां यवमध्यां' का ध्यान रखकर ही वर्ति का निर्माण करना चाहिए। अथवा बिल्वादि औषधद्रव्यों के क्वाथ में पीलु, सरसों, गोमूत्र मिलाकर निरूहवस्ति देनी चाहिए, अर्थात् बिल्वादि औषधद्रव्यों के क्वाथ में पीलु तथा सरसों का कल्क और गोमूत्र मिलाकर उसे छान लें, उस निर्मल द्रव द्वारा निरूहवस्ति दें तथा सरल (चीड़) एवं देवदारु के क्वाथ और इन्हीं के कल्क से तैल-पाक करके उसी तैल द्वारा अनुवासनवस्ति भी देनी चाहिए।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट के पाठ प्रायः महर्षि आत्रेय का अनुकरण करते देखे जाते हैं, अतः यहाँ उनकी चर्चा नहीं की गयी है। महर्षि सुश्रुत ने इस सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार किया है, उस पर भी दृष्टिपात कर लें—सु० चि० अ० ३६।३३-३५। उक्त वर्तियों अथवा फलवर्तियों के निर्माण में यहाँ गुड़ डालने के लिए कहा गया है, अतः इनमें गुड़ का प्रयोग उतना ही करें, जितने से चूर्ण वत्ती के आकार का हो जाय।

श्यामाफलादिभिः—इस पाठ का प्रयोग प्रायः अन्य सभी संस्करणों में '**फलश्यामादिभिः**' के रूप में किया गया है। केवल सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण में उक्त पाठ है। अब आप इस पर थोड़ा-सा विचार करें—'फलश्यामादिभिः' पाठ जो सब प्रकार से ठीक है, इसका मूल आधार है—चरक-कल्पस्थान अध्याय १ का छठा गद्य। आप इस गद्य में पहला शब्द 'फल' पायेंगे। इसे लेकर 'कृतवेधन' तक के छः द्रव्यों को श्रीचक्रपाणि ने फलादि छः द्रव्य कहा है, और इसके बाद 'श्यामा' द्रव्य से लेकर 'द्रवन्ती' तक के नौ द्रव्यों को श्यामादि नौ द्रव्य कहा है। सन् १९२२ तथा १९३३ ई० के निर्णयसागरीय संस्करणों में 'फलश्यामादिभिः' पाठ है, किन्तु श्रीचक्रपाणि की टीका सर्वत्र सब में समानरूप से वही दी गयी है। इधर सन् १९४१ वाले संस्करण में इस पाठ को उक्त रूप से बदल दिया है। प्रकरणानुरोध से हमने उसे सन् १९२२ तथा १९३३ के पाठ को आदर्श मानकर व्यवस्थित कर दिया है। यद्यपि इस पाठ को हम व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध मान सकते थे, जैसा कि च० सि० अ० ६।९१ श्लोक में 'स्तम्भशूलानि' के सम्बन्ध में वक्तव्य दिया है। किन्तु यहाँ का निर्णायक आधार है—च० क० अ० १ का छठा गद्य। बिल्वादि निर्यूह का वर्णन इसी अध्याय के ११वें श्लोक में देखें।

कुर्याद्धिक्कां, हितं तस्मै हिक्काघ्नं बृंहणं च यत् ॥
मृदुकोष्ठेऽबले वस्तिरतितीक्ष्णोऽतिनिर्हरन्। सप्रसन्नारनालाम्लैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् ॥२८॥
बलास्थिरादिकाश्मर्यत्रिफलागुडसैन्धवैः। धूमलेहरसक्षीरस्वेदाश्चान्नं च वातनुत् ॥२९॥
कृष्णालवणयोरक्षं पिबेदुष्णाम्बुना [1]युतम्।

५. **हिक्का-निदान**—यदि मृदुकोष्ठ वाले तथा दुर्बल व्यक्ति को अति तीक्ष्ण वस्ति का प्रयोग करा दिया जाय, तो वह अति तीक्ष्ण वस्ति शरीर-स्थित दोषों को अतियोग विधि द्वारा निकालती हुई हिक्का (हिचकी) नामक रोग को पैदा कर देती है।

हिक्का-चिकित्सा—यहाँ पहले संक्षेप में तन्त्रकार ने 'हिक्काघ्नं' शब्द द्वारा चिकित्सा का निर्देश किया है, तदनन्तर कतिपय निम्नलिखित योगों का भी वर्णन किया है। इसमें जो चिकित्सा हिक्का (सामान्य हिक्का रोग जिसका विस्तृत वर्णन च० चि० अ० १७ में किया जा चुका है) नाशक हो तथा बृंहण (शरीर को पुष्ट करने वाली) हो, उसका प्रयोग कराना हितकर होता है।

बलादि अनुवासनवस्ति—बरियारा की जड़, स्थिरादि (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू), गम्भार, हरड़, बहेड़ा, आँवला, गुड़, सेंधानमक, इन द्रव्यों को समभाग लेकर उनका कल्क तथा प्रसन्ना (मद्य का ऊपरी स्वच्छ भाग), आरनाल (काँजी) एवं खट्टे द्रव्यों से यथाविधि तैल का पाक करके तैयार हो

१. 'उष्णाम्बुनाऽक्षः पिप्पल्या द्वितो लवणसंयुतः' इति पा०।

जाने पर उस तैल से हिक्का रोगी को अनुवासनवस्ति दें तथा पिप्पली, सेंधानमक इन दोनों को एक अक्ष (तोला) की मात्रा में लेकर गरम जल के साथ पीना चाहिए। इस चूर्ण की मात्रा २ माशा है। इसमें वातनाशक धूमपान, अवलेह, मांसरस, दूध, विविध प्रकार के स्वेद एवं अन्नों (आहारों) का सेवन करायें।

वक्तव्य—धूमपान का वर्णन च० सू० अ० ५ श्लोक २३ से ५५ तक तथा स्वेदन के लिए च० सू० अ० १५ देखें। यद्यपि महर्षि आत्रेय ने 'प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं वस्तिं नयेत्'। च० सि० अ० २।१५ में कहा है। उक्त कथन द्वारा हिक्का रोग में वस्ति-प्रयोग का निषेध किया है, तो भी यहाँ जिस वस्तिव्यापत् रूप हिक्का रोग का वर्णन किया जा रहा है, उस हिक्का व्यापत् में ऊपर कही गयी बलादि अनुवासनवस्ति का प्रयोग सर्वथा हितकर ही होता है। स्वतन्त्र हिक्का रोग में तन्त्रकार द्वारा किये गये वस्ति-निषेध का स्मरण अवश्य रखना चाहिए। वृद्धवाग्भट के अनुसार हिक्का (हिचकी) रोग में वातनाशक धूम, अवलेह, मांसरस तथा भोजन और वातनाशक द्रव्यों के कल्क को डालकर पकाया गया गाय का दूध पीने के लिए देना चाहिए। उक्त क्रम में हिक्का के लक्षणों का वर्णन नहीं किया गया है, अतः उन्हें च० चि० अ० १७ में ही विस्तारपूर्वक देख लें।

अतितीक्ष्णः सवातो वा न वा सम्यक् प्रपीडितः। घट्टयेद्धृदयं वस्तिस्तत्र काशकुशेत्कटैः ॥३०॥
स्यात् साम्ललवणस्कन्धकरीरबदरीफलैः। शृतैर्वस्तिर्हितः सिद्धं वातघ्नैश्चानुवासनम् ॥३१॥

६. हृदय-प्राप्ति का निदान—यदि रोगी (यहाँ मूल श्लोक में स्पष्टतया निर्देश न होने पर भी यह जोड़ लेना चाहिए, कि 'मृदुकोष्ठ वाले रोगी') को अतितीक्ष्ण वस्ति का प्रयोग कराया गया हो अथवा वस्तिनेत्र से वायु को बिना निकाले ही वस्ति दे दी गयी हो, अथवा वस्ति का प्रयोग उचित रूप से दबाकर न किया गया हो, तो वह वस्तिद्रव हृदय का घट्टन (आन्दोलित) कर देता है।

हृदयप्राप्ति-चिकित्सा—अब उसकी चिकित्सा कही जा रही है—ऐसी स्थिति में कास की जड़, कुश की जड़, इत्कट (तृण-विशेष की जड़) अम्लस्कन्ध, लवणस्कन्ध के द्रव्य, करीर के फल तथा बेर के फल इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर इनके क्वाथ से तैयार की गयी निरूहवस्ति तथा वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध (तैयार) किये गये तैलों द्वारा विधिवत् अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—'घट्टयेद्' इस क्रिया का हिलाना, डुलाना अथवा झकझोर देना अर्थ होता है। इसका तात्पर्य है—हृदय की धड़कन को बढ़ा देना या हृदय को पीड़ित करना। चरकसंहिता-विमानस्थान अ० ८ के १४०वें गद्य में 'अम्लस्कन्ध' तथा उसी के १४१वें गद्य में 'लवणस्कन्ध' के द्रव्यों का परिगणन किया गया है। वृद्ध-वाग्भट ने चरकोक्त 'हृत्प्राप्ति' को (अ० सं० क० अ० ६।२ में) 'हृत्पीडा' कहा है। सुश्रुत ने इसे 'हृदयोपसरण' कहा है, जो चरक के नामकरण के अधिकांश समीप है। देखें—अयोगज व्यापदों के नाम तथा चिकित्सा के लिए सु० चि० अ० ३६।३१ से ५० तक और 'हृदयोपसरण' के लिए इसी अध्याय का ४२वाँ श्लोक।

वातमूत्रपुरीषाणां दत्ते वेगान्निगृह्णतः। अति वा पीडितो वस्तिर्मुखेनायाति वेगवान् ॥३२॥
मूर्च्छाविकारं तस्यादौ दृष्ट्वा शीताम्बुना मुखम्। सिञ्चेत्पार्श्वोदरं चाधः प्रमृज्याद्वीजयेच्च तम् ॥
केशेष्वालम्ब्य [1]चाकाशे धुनुयात्त्रासयेच्च तम्। गोखराश्वगजैः सिंहै राजप्रेष्यैस्तथोरगैः ॥३४॥
उल्काभिरेवमन्यैश्च भीतस्याधः प्रवर्तते[2]। वस्त्रपाणिग्रहैः कण्ठं रुन्ध्यान्न म्रियते यथा ॥३५॥
प्राणोदाननिरोधाद्धि [3]प्रसिद्धतरमार्गवान्। अपानः पवनो वस्तिं तमाश्वेवापकर्षति ॥३६॥
ततः क्रमुककल्काक्षं पाययेताम्लसंयुतम्।
औष्ण्यात् तैक्ष्ण्यात् सरत्वाच्च वस्तिं सोऽस्यानुलोमयेत् ॥ ३७ ॥
पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः। यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितः ॥३८॥
बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो वस्तिरुरःस्थिते। शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः ॥३९॥

---

१. 'चाकेशं धुनुयान्नामयेद् भृशम्' इति पा०।
२. 'वस्तिं तस्यानयेदधः' इति पा०।
३. 'प्रसिद्धतरमार्गगः' इति पा०।

७. ऊर्ध्वगमनव्यापत् : निदान तथा लक्षण—निरूहवस्ति का प्रयोग करने के बाद उत्पन्न हुए वात (अपानवायु), मूत्र तथा मल के वेगों को रोक लेने पर अथवा वस्तियन्त्र को अधिक वेग से दबाकर वस्ति को भीतर प्रवेश करा देने पर उक्त औषधद्रव मुख से बाहर आने लगता है, उसे वस्ति का 'ऊर्ध्वगमन' कहते हैं। इसका प्रधान लक्षण है—मूर्च्छाविकार।

ऊर्ध्वगमनव्यापत्-चिकित्सा—यदि उस व्यक्ति में ऊर्ध्वगमन का लक्षण मूर्च्छा दिखलायी पड़ने लगे तो सबसे पहले उस रोगी के मुख पर शीतल जल का छिड़काव करे। पसलियों तथा उदर-प्रदेश को हथेलियों से नीचे की ओर को मसले, उसके ऊपर पंखा की हवा करे, उसके बालों को ऊपर की ओर पकड़ कर झकझोरे और उस रोगी को साँड़, गधा, घोड़ा, हाथी, सिंह, राजदूत (सिपाही), साँप, उल्का (भूमि से निकलने वाली आग की लपटों, आकाश से गिरने वाली बिजली या जलते हुए आग के अंगारों) से तथा इसी प्रकार के अन्य भयकारक साधनों से डराना चाहिए। इस प्रकार यदि रोगी डर जाता है, तो वेग से ऊपर गया हुआ औषधद्रव नीचे की ओर चला आता है (यहाँ आप भयज तथा शोकज अतिसार की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करें) अथवा गले को कपड़े से लपेटकर या हाथ से ही इस प्रकार कुशलता से दबायें जिससे ऊपर की ओर को आया हुआ औषधद्रव तो नीचे की ओर को हो जाय परन्तु प्राण गले के बाहर न निकलें। गला (स्वरयन्त्र) के दब जाने से उदानवायु में रुकावट हो जाती है, अतः अपानवायु अपने सुप्रसिद्ध मार्ग गुदप्रदेश की ओर मुड़ जाता है और ऊपर की ओर गये हुए वस्तिद्रव को भी अपने ही साथ नीचे (गुद-प्रदेश) की ओर शीघ्र ही खींच लेता है। तदनन्तर सुपारी के १ अक्ष (तोला) कल्क को काँजी में मिलाकर रोगी को पिलाये। यह काँजी युक्त सुपारी का कल्क उष्ण, तीक्ष्ण तथा सरगुण युक्त होने के कारण वस्ति द्वारा दिये गये द्रव का अनुलोमन कर देता है। यदि वस्ति द्वारा प्रयुक्त द्रव पक्वाशय में पहुँचकर रुक गया हो तो उदर के ऊपर स्वेदन कराकर दशमूल के द्रव्यों के क्वाथ से बनायी गयी निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अथवा जौ, बेर, कुलथी के कल्क को गोमूत्र में पकाकर तथा छानकर तैयार की हुई निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि वस्ति द्वारा दिया गया द्रव पदार्थ वक्षः-प्रदेश में जाकर स्थित हो गया हो, तो बिल्वादि पञ्चमूल (बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, गणि-कारिका) के क्वाथ से तैयार की गयी निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि वस्ति द्वारा दिया गया द्रव पदार्थ शिरःप्रदेश में स्थित हो, तो नस्य, धूमपान कराकर उसके शिर पर सरसों का लेप करा देना चाहिए।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार दशमूल के द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी वस्ति में ही जौ, बेर, कुलथी को भी मिला देने की सलाह देते हैं, यह उचित नहीं है। दोनों योगों की पृथक्-पृथक् वाक्य-रचना पर ध्यान दें। वृद्ध-वाग्भट के पाठ से प्रभावित होकर कुछ टीकाकार उपर्युक्त ३७वें पद्य के आदिम पद 'ततः' के स्थान पर 'कुष्ठ' नामक द्रव्य को जोड़ना चाहते हैं, यह उनका दुराग्रह मात्र है, क्योंकि वहाँ दोनों (पूर्वापर) प्रसंगों को जोड़ने में उसकी जो भूमिका है, वह सर्वथा प्रसंगोचित है।

स्निग्धस्विन्ने महादोषे वस्तिर्मृद्वल्पभेषजः। उत्क्लिश्याल्पं हरेद् दोषं जनयेच्च प्रवाहिकाम् ॥४०॥
स वस्तिपायुशोफेन जङ्घोरुसदनेन वा। निरुद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्णं सम्प्रवाहते ॥४१॥
स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान्। विदध्याल्लङ्घयित्वा तु वृत्तिं कुर्याद् विरिक्तवत् ॥

८. प्रवाहिका का निदान—जिस पुरुष के शरीर में दोषों का संचय अधिक हो, ऐसे पुरुष को स्नेहन तथा स्वेदन कराने के बाद यदि उसे वस्ति द्वारा मृदु औषधद्रव का अथवा मात्रा में अल्प (कम) औषध द्रव का, प्रयोग कराया जाता है, तो वह वस्तिद्रव थोड़े से दोषों को उभाड़कर थोड़े दोषों को बाहर निकालकर और सम्पूर्ण दोषों को बाहर निकालने में असमर्थ होकर प्रवाहिका रोग को उत्पन्न कर देता है।

प्रवाहिका के लक्षण—वह वस्तिद्रव मूत्राशय तथा गुद-प्रदेश में सूजन, जाँघों तथा टाँगों में ढीलापन अर्थात् उठने-बैठने में परिश्रम का-सा अनुभव होना, अपानवायु में रुकावट, इन लक्षणों के साथ-साथ वह प्राणी बार-बार मल को निकालता रहता है। प्रवाहण ही प्रवाहिका का प्रधान लक्षण है।

प्रवाहिका की चिकित्सा—इन लक्षणों को देखकर रोगी को लंघन कराकर उसे स्वेदन कराना चाहिए, उसके बाद अभ्यंग (तेल की मालिश) कराकर दोषों का शोधन कराकर तदनन्तर उन्हें अनुलोम कराने वाली

निरूहवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए, उसके बाद विरेचन किये हुए रोगियों को जो आहार-विहार कराया जाता है, वही आहार-विहार प्रवाहिका के रोगी को भी कराना चाहिए।

वक्तव्य—मूल प्रवाहिका रोग का वर्णन च० चि० अ० १९।५-७ तथा सु० उ० तं० अ० ४०।१३८ आदि में देखें। यहाँ जिस प्रवाहिका का वर्णन किया गया है, वह वस्तिव्यापत् रूप एक विशेष रोग है। प्रायोगिक दृष्टि से दोनों के लक्षणों में परस्पर अनेक भेद देखे जाते हैं। आप दोनों प्रकार के रोगियों को देखकर स्वयं मालूम करने की चेष्टा करें।

दुर्बले क्रूरकोष्ठे च तीव्रदोषे तनुर्मृदुः। शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैर्वस्तिस्तद्विहतोऽनिलः ॥४३॥
[1]मार्गैर्गात्राणि सन्धावन्नूर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते[2]। ग्रीवां मन्ये च [3]गृह्णाति शिरः कण्ठं भिनत्ति च ॥
बाधिर्यं कर्णनादं च पीनसं नेत्रविभ्रमम्। कुर्यादभ्यञ्जनं [4]तैललवणेन यथाविधि ॥४५॥
युञ्ज्यात् प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरस्य विरेचयेत्[5]। तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्निग्धं भुक्तेऽनुवासयेत्[6] ॥४६॥

९. **शिरःशूल का निदान**—दुर्बल, अधिक दोषों वाले तथा क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को पतली, मृदु (अल्प शक्तिवाली), स्पर्श में शीतल तथा थोड़ी मात्रा में दी गयी निरूहवस्ति जब पक्वाशयस्थित दोषसमूह से घिर जाती है, तब उस प्रकार वस्ति के घिर जाने के कारण अपानवायु का मार्ग रुक जाता है और वह वस्तिद्रव वायु के मार्गों में प्रविष्ट होकर शरीर की सम्पूर्ण सन्धियों में पहुँच जाता है, इसी प्रकार वह शिरःप्रदेश में पहुँचकर शिरःशूल उत्पन्न कर देता है।

शिरःशूल के लक्षण—इस प्रकार ऊपरी भाग में पहुँचा हुआ वह वस्तिद्रव गरदन (गला) तथा मन्या (गले के पिछले भाग की एक शिरा) में जकड़न, शिर और गला में फटने के समान पीड़ा, बधिरता, कर्णनाद (कानों में साँय-साँय की आवाज का होना) पीनस एवं नेत्रभ्रम (आँखों के सामने चक्कर-सा आना) इन लक्षणों को उत्पन्न कर देता है।

शिरःशूल की चिकित्सा—उक्त लक्षणों को देखकर पिसे हुए नमक से युक्त तेल की मालिश, प्रधमन नस्य (स्नेह नस्य की चर्चा च० सि० अ० ९।९८-१०४ में देखें) तथा वैरेचनिक धूम (इसका विवेचन च० सू० अ० ५।२०-५५ तक देखें) का प्रयोग करना चाहिए। तीक्ष्ण विरेचक तथा वायु को अनुलोम करने वाले औषध-द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क द्वारा पकाये गये स्नेह से पहले से जिस व्यक्ति का स्नेहन किया गया हो उसे भोजन कराने के बाद अनुवासनवस्ति देनी चाहिए। इस चिकित्सा-विधि से ऊपर की ओर को गया हुआ वस्तिद्रव नीचे की ओर लौट आता है।

वक्तव्य—इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट के उपदेश भी अवलोकनीय हैं। देखें—अ० सं० क० अ० ६।१६-१८।

[7]स्नेहस्वेदैरनापाद्य गुरुस्तीक्ष्णोऽतिमात्रया। यस्य वस्तिः प्रयुज्येत सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् ॥४७॥
स्रुतेषु तस्य दोषेषु निरूढस्यातिमात्रशः। स्तब्धोदावृतकोष्ठस्य वायुः सम्प्रतिहन्यते ॥४८॥
विलोमनसमुद्भूतो रुजत्यङ्गानि देहिनः। [8]गात्रवेष्टननिस्तोदभेदस्फुरणजृम्भणैः ॥४९॥
तं तैललवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्णवारिणा। एरण्डपत्रनिष्क्वाथैः प्रस्तरैश्चोपपादयेत् ॥५०॥
[9]यवान् कुलत्थान् कोलानि पञ्चमूले तथोभये। जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च ॥५१॥
कुर्यात् सबिल्वतैलोष्णलवणेन निरूहणम्। तं निरूढं समाश्वस्तं द्रोण्यां समवगाहयेत् ॥५२॥

१. 'मार्गैर्गात्राण्यनुसरन्नूर्ध्वं मूर्ध्नि विधावति' इति पा०।
२. 'मूर्धन्युपाहितः' इति पा०।
३. 'संस्तभ्य' इति पा०।
४. 'तैललवणेनावगाहयेत्' इति पा०।
५. 'धूमैरास्यविरेचनैः' इति पा०।
६. 'विरेचनैर्निरूहैश्च वस्तिभिश्चानुलोमिकैः' इति पा०।
७. 'सुस्निग्धस्विन्नदेहस्य यस्य वस्तिर्विधीयते। अतितीक्ष्णो गुरुश्चैव' इति, 'विरेचनैर्निरूहैश्च वस्तिभिश्चानुलोमिकैः। अतितीक्ष्णो गुरुश्चैव' इति च पा०।
८. 'रुक्तोदकम्पसंस्तम्भसादवेपथुजृम्भणैः' इति पा०।
९. 'यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलद्वयस्य च। जलद्रोणे समुत्क्वाथ्य कषायं सैन्धवेन तम्॥ बिल्वतैलेन संयोज्य वस्तिं दद्याद्विकारवित्। तं निरूहसमाश्वस्तं' इति पा०।

ततो भुक्तवतस्तस्य कारयेदनुवासनम्। यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा [1]भिषक् ॥५३॥

१०. **अंगमर्द का निदान**—स्नेहन तथा स्वेदन उपचारों के बिना जिस व्यक्ति को गुरु (मात्रा में अधिक), तीक्ष्ण (तीव्र प्रभावकारी) एवं अधिक मात्रा में निरूहवस्ति का प्रयोग कराया गया हो, तो वह वस्ति-द्रव अपने उक्त गुणों के कारण अधिक मात्रा में मल आदि दोषों को निकालने लगता है।

अंगमर्द के लक्षण—इस प्रकार दोषों के अधिक निकल जाने से जब उस व्यक्ति को अधिक विरेचन हो जाते हैं, तो इसके कारण उस व्यक्ति का कोष्ठ जकड़ जाता है तथा वायु द्वारा चारों ओर से ऊपर की ओर को घिर जाता है, वायु का आवागमन रुक जाता है, अर्थात् वायु के संचार में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार विलोम हुआ वायु मनुष्य के अंगों को पीड़ित कर देता है, शरीर में ऐंठन, सुई चुभाने के समान वेदना का होना, फटने की-सी पीड़ा का होना, अंगों में फड़कन (ज्योतिषशास्त्र के अनुसार जो अंगस्फुरण के फल लिखे हैं, वे रोगी के शरीर के फड़कने पर नहीं होते) और जँभाइयाँ आने लगती हैं।

अंगमर्द की चिकित्सा—उक्त लक्षणों से युक्त रोगी के शरीर पर नमक मिले हुए तेल की मालिश कराकर गरम जल से उसे स्नान कराना चाहिए। उसे एरण्ड (रेंड़) की पत्तियों के क्वाथ से तथा प्रस्तर (पत्थर) स्वेद-विधि (च० सू० अ० १४।४२ देखें) से स्वेदन कराना चाहिए। तदनन्तर जौ, कुलथी, बेर, दोनों पञ्चमूल के द्रव्य (१. बृहत्पञ्चमूल—अरणी, अरलू, गम्भार, पाढल, गनियारी। २. लघुपञ्चमूल—सरिवन, पिठवन, छोटी-कटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू) इन द्रव्यों को लेकर जौकुट करके दो आढक (५१२ तोला) जल में विधिपूर्वक क्वाथ करें, जब पकते-पकते चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब उसे उतार कर छान लें। इस क्वाथरस में गरम किया हुआ बिल्वतैल तथा सेंधानमक मिलाकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। जब निरूहवस्ति द्वारा भीतर प्रवेश कराया हुआ द्रव गुदमार्ग से बाहर निकल आये, तब रोगी को आश्वासन देकर (अर्थात् अब तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायेगा, क्योंकि चिकित्सा का क्रम अनुकूल चल रहा है) गुनगुने जल से भरे हुए टब में रोगी को लिटाकर स्नान कराना चाहिए। उसके बाद उसे वस्त्र पहनाकर भोजन करायें, तदनन्तर चिकित्सक मुलेठी के कल्क से अथवा बेल के कल्क से पकाये हुए तेल की उसे अनुवासनवस्ति दे।

वक्तव्य—कलकत्ता से प्रकाशित श्रीगङ्गाधर तथा श्रीचक्रपाणि की टीका सहित चरकसंहिता में उक्त क्रम के विपरीत इस प्रकार पाठ परिवर्तित किया है, जिसका श्रेय श्रीगंगाधर को है—'अभ्यज्य विधिना सम्यक् स्निग्धं कार्यं ततः परम्। सुस्विन्नस्निग्धदेहस्य यस्य वस्तिर्विधीयते॥ स्रुतेषु तस्य रूक्षेषु निरूढस्यातिमात्रशः। विलोमन-समुद्भूतो रुजत्यङ्गानि देहिनः॥ तं तैललवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्णवारिणा। यवान् कुलत्थान् कोलानि पञ्चमूले तथाभये॥ कुर्यात् सबिल्वतैलोष्णलवणेनानुवासनम्। ततो भुक्तवतस्तस्य कारयेच्चानुवासनम्॥ विरेचनैर्निरू-हैश्च वस्तिभिश्चानुलोमिकैः। अतितीक्ष्णो गुरुश्चैव सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत्॥ स्तब्धोदावृत्तकोष्ठस्य वायुः स प्रतिहन्यते, गात्रवेष्टननिस्तोदभेदस्फुरणजृम्भणैः॥ एरण्डपत्रनिष्क्वाथैः प्रस्तरैश्चोपपादयेत्। जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च॥ निरूहणं समाश्वस्तं द्रोण्यां तमवगाहयेत्। यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा भिषक्'॥

इस पाठभेद पर आँखें गड़ाकर देखने से ऐसा लगता है, कि 'तथोभये' 'तथाभये' जैसे कतिपय परिवर्तनों के अतिरिक्त शेष कथ्य 'भात-दाल' या 'दाल-भात' जैसा है, किन्तु इस सम्बन्ध में एक बलवती जिज्ञासा यह है कि उक्त दोनों में कौन-सा पाठ प्राचीन है और कौन नवीन। अस्तु।

मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य रूक्षस्तीक्ष्णोऽतिमात्रवान्। [2]वस्तिर्दोषान्निरस्याशु जनयेत् परिकर्तिकाम् ॥
त्रिकवङ्क्षणवस्तीनां तोदं नाभेरधो रुजम्। विबन्धोऽल्पाल्पमुत्थानं[3] वस्तिनिर्लेखनाद्भवेत् ॥
यष्ट्याह्वतिलकल्काभ्यां वस्तिः स्यात् क्षीरभोजिनः ॥ ५६ ॥
स्वादुशीतौषधैस्तत्र पय इक्ष्वादिभिः शृतम्।

१. 'स्नेहस्वेदैरनापाद्य गुरुस्तीक्ष्णोतिमात्रया। यस्य वस्तिः प्रयुज्येत नातिमात्रं स युज्यते। स्तब्धोदावृत-कोष्ठस्य रुद्धः स्रोतःसु मारुतः। प्रपन्नोऽङ्गरुजं कुर्यात् तं तैललवणान्वितम्। उष्णाम्बुप्रस्तरक्वाथैः स्वेदैः समुपपाद-येत्॥ सबिल्वतैललवणो निरूहस्तस्य शस्यते। तैलावगाहस्विन्नस्य कारयेदनुवासनम्' इति पा०।
२. 'वस्तिर्दोषान्निहत्याशु' इति पा०।
३. 'ऽल्पसमुत्थानं गुदनिर्लेखनं' इति पा०।

ससर्जरसयष्ट्याह्वजिङ्गिनीकर्दमाञ्जनम् । विनीय दुग्धे वस्तिः स्यात् व्यक्ताम्लमृदुभोजिनः ॥

११. **परिकर्तिका का निदान**—मृदुकोष्ठ वाले तथा अल्प दोष वाले पुरुष को यदि रूक्ष, तीक्ष्ण तथा अधिक मात्रा वाले वस्तिद्रव का प्रयोग करा दिया जाता है, तो वह वस्ति द्वारा प्रयुक्त द्रव दोषों को शीघ्र ही बाहर निकालकर परिकर्तिका रोग को उत्पन्न कर देता है।

परिकर्तिका के लक्षण—इस प्रकार उत्पन्न हुए परिकर्तिका रोग में त्रिक-प्रदेश (रीढ़ का निचला भाग जहाँ दोनों कूल्हे की हड्डियाँ मिलती हैं), वंक्षण (पेड़ू और जाँघ के बीच का भाग) तथा मूत्राशय में सुई चुभाने के समान वेदना होती रहती है, नाभि के निचले भाग में पीड़ा होती है, विबन्ध (कब्जियत) के साथ थोड़ा-थोड़ा मल का निकलना, ये लक्षण वायु के वेग के साथ वस्ति द्वारा प्रयुक्त द्रव के बाहर निकलते समय होते हैं।

परिकर्तिका की चिकित्सा—इन लक्षणों के उत्पन्न हो जाने पर ईख आदि मधुर एवं शीतल द्रव्यों के कल्क से पकाये गये दूध में मुलेठी और तिल का कल्क मिलाकर इन सबको भली-भाँति मथकर इसकी वस्ति देनी चाहिए। रोगी को केवल दूध का ही आहार करना चाहिए। अथवा सर्जरस (राल), मुलेठी, जिंगिनी, कमल की जड़ का कीचड़, अञ्जन (रसवत) इन द्रव्यों को समान भाग लेकर इनका कल्क बनाकर दूध में मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। इस वस्ति के प्रयोगकाल में रोगी को चाहिए कि वह हलके अम्ल द्रव्यों से युक्त मृदु भोजन करे।

वक्तव्य—निघण्टुओं में जिङ्गि और जिङ्गिनी नाम से दो भिन्न द्रव्य उपलब्ध होते हैं। किन्तु कहीं-कहीं टीकाकारों ने दोनों को एक ही माना है। सामान्यरूप में 'जिङ्गि' का पर्याय 'मजिष्ठा' है और 'जिङ्गिनी' गुड-मज्जनिका या गुलदुली को कहते हैं। कुछ के मत में जिंगिनी को कृष्णशाल्मली भी कहा है। वृद्धवाग्भट ने 'पय इक्ष्वादिभिः' के स्थान पर 'पयस्येक्ष्वादिभिः' पाठ स्वीकार किया है।

[1]पित्तरोगेऽम्ल उष्णो वा तीक्ष्णो वा लवणोऽथवा ।
वस्तिर्लिखति पायुं तु क्षिणोति विदहत्यपि ॥ ५८ ॥
स विदग्धः स्रवत्यस्रं पित्तं चानेकवर्णवत् । सार्यते [2]बहुवेगेन मोहं गच्छति चासकृत् ॥५९॥
आर्द्रशाल्मलिवृन्तैस्तु क्षुण्णैराजं पयः शृतम् । सर्पिषा योजितं शीतं वस्तिमस्मै प्रदापयत् ॥६०॥
वटादिपल्लवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च । सुवर्चलोपोदिकयोः कर्बुदारे च शस्यते ॥६१॥
गुदे सेकाः प्रदेहाश्च शीताः स्युर्मधुराश्च ये । रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते ॥६२॥

१२. **परिस्रव का निदान**—पित्तरोग से पीड़ित व्यक्ति को उष्ण, तीक्ष्ण अथवा लवण युक्त निरूहवस्ति देने से वह वस्तिद्रव गुदमार्ग का लेखन कर देता है, अर्थात् गुदमार्ग को खुरच देता है और गुदप्रदेश में दाह पैदा हो जाता है। इसे परिस्रव रोग कहते हैं।

परिस्रव के लक्षण—वह विदग्धवस्ति रक्त तथा पित्त को अनेक वर्णों वाला निकालती है। इसमें रक्त तथा पित्त प्रायः अत्यन्त वेग से निकलता रहता है। इसी कारण वह रोगी बार-बार बेहोश होता रहता है।

परिस्रव की चिकित्सा—इन लक्षणों के प्रकट हो जाने पर गीले अर्थात् ताजे सेमल की पत्तियों के या फूलों के डंठलों को कूटकर उन्हें बकरी के दूध में विधिपूर्वक पकाना चाहिए। शीतल होनेपर उसे छानकर उसमें घी मिलाकर उस रोगी को निरूहवस्ति दिलानी चाहिए। इसी प्रकार बरगद आदि क्षीरी (दूधवाले) वृक्षों की कोमल पत्तियों को कूटकर बकरी के दूध में विधिवत् पकाकर पूर्ववत् घी मिलाकर वस्ति दिलानी चाहिए। जौ, तिल, सुवर्चला (हुर-हुर), उपोदिका (पोई) का शाक तथा कर्बुदार (कचनार) के फूलों को पूर्वोक्त विधि से अलग-अलग बकरी के दूध में पकाकर तथा उसमें घी मिलाकर वस्ति दिलानी चाहिए। गुद-प्रदेश के ऊपरी भाग में शीतल तथा मधुर द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक (स्नान), शीतल तथा मधुरद्रव्यों के कल्क का प्रदेह (लेप) लगाना चाहिए। इस परिस्रव रोग में रक्तपित्त तथा अतिसार-नाशक चिकित्साओं का प्रयोग हितकर होता है।

१. 'पित्तरक्ते' इति पा०।
२. 'बहुधा ह्यतिवेगेन' इति पा०।

वक्तव्य—इस सम्बन्ध में ग्रन्थान्तरों के कतिपय प्रसंग अवलोकनीय हैं—'अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः'''सञ्जनयेद् गुदे'। सु० चि० अ० ३६।३८ तथा ३९। 'वस्तिः क्षाराम्ल'''चासकृत्'। अ० सं० क० अ० ६।४८-४९ तथा 'तत्रार्द्रैः'''शस्यते'। अ० सं० क० अ० ६।५०-५१।

तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः । प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा ॥६३॥

तीक्ष्ण अथवा मृदु वस्ति—गोमूत्र से पीलु, चीता की जड़, सेंधानमक, जवाखार, सरसों इन द्रव्यों का कल्क तैयार करके पुनः गोमूत्र में मिलाकर छानकर दी गयी वस्ति तीक्ष्ण (तीव्रप्रभावकारक) होती है। यदि मृदुवस्ति का प्रयोग करना हो, तो दूध आदि मधुर तथा शीतल द्रव्यों को मिलाकर तैयार करनी चाहिए। इसका निर्णय चिकित्सक पर होता है। वह जिस समय जिस रोगी के प्रति परिस्थिति के अनुसार तीक्ष्ण अथवा मृदुवस्ति के प्रयोग की आवश्यकता समझता है, वैसा उसे कर लेना चाहिए। यह संकेत तन्त्रकार ने **'प्राप्तकालं विधातव्यम्'** इस पद्यांश से किया है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार 'पील्वग्नि' के स्थान पर 'बिल्वाग्नि' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं, किन्तु ऐसा पाठ किसी भी संस्करण में दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु वृद्धवाग्भट द्वारा प्रतिपादित यह पाठ—'मृदुवस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो वस्तिरिष्यते। तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्निग्धो मधुरः शिशिरो मृदुः ॥ तीक्ष्णत्वं मूत्रबिल्वाग्निलवणक्षारसर्षपैः। प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराज्याद्यैस्तु मार्दवम्' ॥ (अ० सं० क० अ० ४।४८-४९) ही एक प्रेरणादायक स्रोत प्रतीत होता है। ध्यान रहे, परवर्ती तन्त्रकार की रचना को देखकर पूर्ववर्ती तन्त्रकार की रचना में किसी प्रकार का परिवर्तन औचित्य के विपरीत कार्य है।

आपादतलमूर्धस्थान् दोषान् पक्वाशये स्थितः । वीर्येण वस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसानिव ॥६४॥

वस्ति का प्रभाव—पक्वाशय में स्थित वस्तिद्रव अपनी शक्ति से पैरों के तलवों से लेकर सिर तक के अवयवों में रहने वाले दोषों को उस प्रकार निकाल देता है, जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य अपनी शक्ति द्वारा पृथ्वी के रसों का आचूषण कर लेता है।

वक्तव्य—शरीर में कफ तथा पित्तदोष की गति (इधर-उधर जाना) केवल वायु के कारण ही होती है, अन्यथा नहीं। वस्ति-प्रयोग प्रधानतया वातविकार की शान्ति के लिए ही किया जाता है और यही वस्ति अपने विशिष्ट प्रभाव से न केवल पक्वाशय में स्थित दोषों का अपहरण करती है, अपितु सम्पूर्ण शरीर में स्थित दोषों का एक ही स्थान में रहकर उस प्रकार निराकरण कर देती है, जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण भूतल में स्थित रसों का आचूषण कर लेता है। अतएव वस्ति-प्रयोग को सम्पूर्ण चिकित्सा कहा गया है। इसी विषय का समर्थन करते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है—'वीर्येण वस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्। पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव' ॥ सु० चि० अ० ३५।२७। यद्यपि इस अध्याय में निरूहवस्ति की व्यापत्तियों की सिद्धि के ही सभी उपक्रमों की चर्चा की गयी है, तथापि यह पद्य उभयविधि वस्ति से सम्बन्धित है, क्योंकि दोनों ही प्रकार की वस्तियाँ शारीरिक दोषों को शान्त करने में परम उपकारक होती हैं।

यद्वत् कुसुम्भसम्मिश्रात् तोयाद् रागं हरेत् पटः । तद्वद् द्रवीकृताद्देहान्निरूहो निर्हरेन्मलान् ॥६५॥

वस्ति-प्रयोग का आलंकारिक स्वरूप—जिस प्रकार कुसुम्भी रंग से घुले जल में डुबाया (भिगाया) गया वस्त्र उसमें से केवल रंग मात्र का ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार स्नेहन तथा स्वेदन विधियों से जिसके शरीर में दोष पिघला दिये गये हों उस व्यक्ति के शरीर में प्रयुक्त की गयी निरूहवस्ति केवल मलरूपी दोषों को ही बाहर निकालती है।

वक्तव्य—कुसुम्भ, कुसुम का फूल या उसका रंग, इसी को 'बर्रे' का फूल भी कहते हैं। इसके फूल को पीसकर रंग तैयार किया जाता है। देखें—'पहन कुसुम्भी सारी'। श्रीजयदेव विद्यालंकार द्वारा सम्पादित संस्करण में ६३वें श्लोक के ऊपर 'तत्र श्लोकाः' लिखा है, किन्तु १९४१ ई० के निर्णयसागरीय संस्करण में वह ६६वें श्लोक के ऊपर दिया गया है। 'तत्र श्लोकः या श्लोकाः' का प्रयोग तन्त्रकार जिस परिस्थिति में करते आये हैं, औचित्य की दृष्टि से उसका प्रयोग ६६वें पद्य के ऊपर ही होना चाहिए।

तत्र श्लोकः—

इत्येता व्यापदः प्रोक्ता वस्तेः साकृतिभेषजाः। बुद्ध्वा कार्त्स्न्येन तान्वस्तीन्नियुञ्जन्नापराध्यति॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
[1]वस्तिव्यापत्सिद्धिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में वहाँ एक श्लोक कहा गया है—निरूहवस्ति के अनुचित (विधिहीन) प्रयोग कराने से उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियाँ, उनके लक्षण तदनुसार उनकी चिकित्साएँ यहाँ कह दी गयी हैं। उन उपदेशों को पूर्णरूप से भली-भाँति जानकर वस्ति-प्रयोगों को विधिपूर्वक करने वाला चिकित्सक किसी प्रकार का अपराध नहीं करता, अर्थात् ठीक-ठीक वस्ति-प्रयोग करने में सफल होता है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-सिद्धिस्थान में वस्तिव्यापत्सिद्धि नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातः [2]प्रासृतयोगीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वस्तिव्यापत्सिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से प्रासृतयोगीयसिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—पाठभेद के अनुसार इस अध्याय का नाम 'प्रासृतयोगिकीसिद्धि' भी है। तात्पर्य दोनों शीर्षकों का समान है। २ पल (८ तोला) का १ प्रसृत होता है। इस प्रसृत परिमाण से जिस वस्तिद्रव का योग हो, उसे 'प्रासृतयोगीय' कहते हैं। इस प्रासृतयोगीय वस्तियों के सेवन से यदि किसी प्रकार की हानि उत्पन्न हो जाय तो इस अध्याय में उनकी सिद्धि (निराकरण) का उपाय कहा जा रहा है।

अथेमान् सुकुमाराणां निरूहान् [3]स्नेहनान् मृदून्।
कर्मणा विप्लुतानां च वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक् ॥ ३ ॥

प्रस्तावना—सुकुमार (बाल, वृद्ध, युवती, गर्भिणी, राजकुल में उत्पन्न) व्यक्तियों के लिए तथा प्रतिदिन कार्य करने से थके हुए व्यक्तियों के लिए मृदु अर्थात् जो तीक्ष्ण प्रभावकारी न हो और स्नेहन करने वाली प्रसृत प्रमाण के अनुसार प्रयुक्त होने वाली निरूहवस्तियों का मैं अलग-अलग वर्णन कर रहा हूँ।

वक्तव्य—सुकुमारों के समान ही 'कर्मणा विप्लुतानां' की भी एक लम्बी परिधि है। उसके भीतर परिश्रम करने वाले, निरन्तर मार्ग में चलने वाले, व्यायाम करने वाले, अधिक स्त्री-सहवास करने वाले आदि श्रमिकों की गणना होती है। चरक-सिद्धिस्थान अ० ३।३१-३२ में आयु के अनुसार निरूहवस्ति की मात्राओं का निर्देश करते हुए बतलाया गया है कि १८ वर्ष की आयु से लेकर ७० वर्ष की आयु तक के पुरुषों के लिए १२ प्रसृत की मात्रा का प्रयोग उत्तम होता है, किन्तु यह मात्रा सुकुमार या उसके समान व्यक्तियों के लिए उचित नहीं होती है, अतः यहाँ उक्त मात्रा में तन्त्रकार संशोधन कर रहे हैं।

१. 'वस्तिव्यापदिकी सिद्धिर्नाम' इति पा०। २. 'प्रासृतयोगिकीं' इति पा०। ३. 'शोधनान्' इति पा०।

क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलघृतात् त्रयः। खजेन मथितो वस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत् ॥४॥

पञ्चप्रासृतिक वस्ति : प्रथम—दो प्रसृत (१६ तोला) दूध, एक प्रसृत (८ तोला) मधु, एक प्रसृत घृत इन सब द्रव्यों को मिलाकर मथनी से मथकर प्रयोग की गयी निरूहवस्ति वातविकारों को नष्ट करती है और शारीरिक बल तथा स्वाभाविक वर्ण में निखार लाती है। यह वस्ति पाँच प्रसृत (४० तोला) की होती है। अतएव इसे 'पञ्चप्रासृतिक' कहा गया है।

एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम्। बिल्वादिमूलक्वाथाद् द्वौ कौलत्थाद् द्वौ स वातनुत् ॥५॥

अष्टप्रासृतिक वस्ति—तिल-तैल १ प्रसृत (८ तोला), प्रसन्ना (मदिरा का ऊपरी स्वच्छ भाग) १ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घी १ प्रसृत, बिल्वादि दशमूल का यथाविधि तैयार किया गया क्वाथ २ प्रसृत, कुलथी का क्वाथ २ प्रसृत, इन सबको एक में मिलाकर मथनी से मथकर प्रयोग करायी गयी निरूहवस्ति वातविकार का विनाश करती है। यह वस्ति ८ प्रसृत (६४ तोला) की होती है।

पञ्चमूलरसात् पञ्च द्वौ तैलात् क्षौद्रसर्पिषोः। एकैकः प्रसृतो वस्तिः स्नेहनीयोऽनिलापहः ॥६॥

नवप्रासृतिक वस्ति—बृहत्पञ्चमूल के द्रव्यों का क्वाथ ५ प्रसृत, तिल-तैल २ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घी १ प्रसृत, इन सबको एक में मिलाकर मथनी से भली-भाँति मथकर निरूहवस्ति देने से उत्तम स्नेहन होता तथा वातविकार का विनाश होता है। यह वस्ति ९ प्रसृत (७२ तोला) की होती है।

सैन्धवार्धाक्ष एकैकः क्षौद्रतैलपयोघृतात्। [1]प्रसृतो हपुषाकर्षो निरूहः शुक्रकृत् परम् ॥७॥

चतुःप्रासृतिकवस्ति : प्रथम—सेंधानमक आधा अक्ष (तोला), मधु, तेल, दूध, घी प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रसृत, हाऊबेर का कल्क १ कर्ष (तोला), इन सबको एक साथ मिलाकर मथनी से मथकर निरूहवस्ति दें। इसके प्रयोग से शुक्र की पर्याप्त वृद्धि होती है। यह वस्ति ४ प्रसृत (३२ तोला) की होती है।

वक्तव्य—यहाँ सेंधानमक तथा हाऊबेर का योग तो अवश्य किया गया है, किन्तु ध्यान रहे इस डेढ़ तोला परिमाण को उक्त योग के साथ जोड़ा नहीं गया है। वास्तव में उक्त तेल, दूध, घी में से किसी एक में सेंधानमक तथा मधु को मिलाकर ही प्रयुक्त किया जाता है, अतः योगनिर्माण में सन्देह न करें।

पटोलनिम्बभूनिम्बरास्नासप्तच्छदाम्भसः। चत्वारः प्रसृता एको घृतात् सर्षपकल्कितः ॥८॥
निरूहः पञ्चतिक्तोऽयं [2]मेहाभिष्यन्दकुष्ठनुत्।

पञ्चतिक्त-वस्ति—परबल की पत्ती, नीम की छाल, भूनिम्ब (चिरायता), रास्ना, छतिवन की छाल इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट करके इनका यथाविधि क्वाथ करें, उसमें से ४ प्रसृत क्वाथ और १ प्रसृत सरसों का कल्क, इन दोनों को मिलाकर मथनी से मथकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। यह 'पञ्चतिक्त वस्ति' प्रमेह, अभिष्यन्द तथा कुष्ठ रोग का विनाश करती है। इसमें पाँचों द्रव्य तिक्तरस-प्रधान हैं, अतएव इसे 'पञ्चतिक्त' वस्ति कहा गया है।

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ सरसों का कल्क कितना होना चाहिए इसका स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु च० सि० अ० ३ में १२ प्रसृत निरूह में २ पल कल्क का प्रमाण बतलाया गया है, उसी अनुपात से कल्क की मात्रा का निर्धारण (१२वाँ भाग) कर लेना चाहिए। वृद्धवाग्भट ने अपने संग्रह-ग्रन्थ में उक्त योग के कतिपय द्रव्यों में परिवर्तन कर दिया है। देखें—अ० सं० क० अ० ४।४३।

विडङ्गत्रिफलाशिग्रुफलमुस्ताखुपर्णिजात् ॥ ९ ॥
[3]कषायात् प्रसृताः पञ्च तैलादेको विमथ्य तान्। विडङ्गपिप्पलीकल्को निरूहः क्रिमिनाशनः ॥

षट्प्रासृतिक-वस्ति—वायविडंग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सहिजन की छाल, मैनफल, नागरमोथा, मूषाकर्णी इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर विधिपूर्वक क्वाथ तैयार करें, उसमें से क्वाथ ५ प्रसृत, तिलतैल

१. 'प्रसृतौ हपुषाक्षौद्रान्निरूहः' इति पा०।
२. 'मोहाभिष्यन्दकुष्ठनुत्' इति पा०।
३. 'कषायाः' इति पा०।

१ प्रसृत, वायविडंग तथा पिप्पली का कल्क उसी में मिलाकर मथनी से मथकर प्रयोग की गयी निरूहवस्ति क्रिमिरोग का नाश करती है।

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम् । एकैकः प्रसृतो वस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत् ॥११॥

सप्तप्रासृतिक-वस्ति—पयस्या (क्षीरविदारी) का क्वाथ, ईख का रस, स्थिरा (शालपर्णी) का क्वाथ, रास्ना का क्वाथ, विदारीकन्द का स्वरस, मधु, घी तथा पिप्पली का कल्क १-१ प्रसृत मिलाकर मथनी से मथकर किया गया निरूहवस्ति का प्रयोग वीर्यवर्धक होता है।

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकात् । प्रसृताः सर्षपैः [1]कल्कैर्विट्सङ्गानाहभेदनः ॥१२॥

चतुःप्रासृतिक-वस्ति : द्वितीय—तिलतैल, गोमूत्र, दही का पानी, खट्टी काँजी—इनमें से प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रसृत लेकर इसमें सरसों का कल्क मिलाकर उसे मथनी से मथकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। यह वस्ति मल की रुकावट (कब्जियत) और आनाह का भेदन करती है।

श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्डरसात् तैलात् सुरासवात् । प्रसृताः पञ्च यष्ट्याह्वकौन्तीमागधिकासिताः ॥
[2]कल्कः स्यान्मूत्रकृच्छ्रे तु सानाहे वस्तिरुत्तमः । एते सलवणाः कोष्णा निरूहाः प्रसृतैर्नव ॥१४॥

पञ्चप्रासृतिक-वस्ति : द्वितीय—गोखरू का क्वाथ, पाषाणभेद का क्वाथ, रेड़ की जड़ का क्वाथ, तिल-तैल तथा सुरा द्वारा निर्मित आसव—इन प्रत्येक द्रव्यों को १-१ प्रसृत मिलाकर इसमें मुलेठी, कौन्ती (रेणुका), पिप्पली तथा मिश्री इनको समान भाग लेकर जल में पीसकर कल्क बना लें, इस कल्क को मिलाकर मथनी से भली-भाँति मथकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। इसका सविधि प्रयोग करने से आनाह सहित मूत्रकृच्छ्र (मूत्र के निकलने में कठिनाई) रोग दूर हो जाता है। प्रसृत प्रमाणों द्वारा कही गयी ये नौ निरूहवस्तियाँ नमक मिला-कर गरम-गरम ही प्रयोग की जाती हैं।

वक्तव्य—यद्यपि अन्यत्र सुरा और आसव को भिन्न-भिन्न माना गया है, परन्तु यहाँ पाँच संख्या को पूरा करना है। अतएव 'सुराकृत आसवः' ऐसा अर्थ किया गया है।

मृदुवस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो वस्तिरिष्यते । तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्वादु [3]प्रत्यास्थापनमिष्यते ॥१५॥

जडीभूतवस्ति का उपचार—यदि किसी रोगी को मृदुवस्ति का प्रयोग कराया गया हो और वह भीतर जाकर जडीभूत हो गयी हो, अर्थात् उसने अपना कोई प्रभाव नहीं दिखलाया या मल को गुदद्वार से बाहर नहीं निकाल सकी तो ऐसी अवस्था में दूसरी तीक्ष्णवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त वस्ति का प्रयोग करने से अधिक मल बाहर निकल जाय और शरीर में क्षीणता का अनुभव होने लगे तो स्वादु (द्राक्षा आदि मधुर) द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी निरूहवस्ति द्वारा उसे प्रत्यास्थापनवस्ति देनी चाहिए। अर्थात् स्वादु द्रव्यों द्वारा दी गयी वस्ति से उसे अधिक विरेचन होने के कारण उत्पन्न कष्ट दूर हो जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि 'निरूहवस्ति' का ही दूसरा नाम 'आस्थापन' वस्ति है, किन्तु इस नाम का तात्पर्य है, कि यह दोष तथा धातुओं को पुनः अपने-अपने स्थान पर स्थापित कर देती है। देखें—अ० सं० क० अ० ४।४८।

वातोपसृष्टस्योष्णैः [4]स्युर्गुददाहादयो यदि । द्राक्षाम्बुना त्रिवृत्कल्कं दद्याद् दोषानुलोमनम् ॥१६॥
तद्धि पित्तशकृद्वातान् हृत्वा दाहादिकाञ्जयेत् । शुद्धश्चापि पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥

गुददाह-चिकित्सा—वातरोग से पीड़ित व्यक्ति को उष्ण वस्तिद्रवों का प्रयोग कराने के कारण यदि उस व्यक्ति के गुद-प्रदेश में दाह आदि लक्षण उत्पन्न हो गये हों, तो द्राक्षा आदि द्रव्यों के क्वाथ में निशोथ की जड़ का कल्क मिलाकर उचित मात्रा में लेकर पीने के लिए देना चाहिए। इसका विधिवत् सेवन करने से दोषों का अनुलोमन होता है। यह योग पित्तदोष का शमन कर मल तथा अपानवायु का हरण करके दाह आदि विकारों को शान्त करता है। इसके प्रयोग से शरीर के शुद्ध हो जाने पर ठंडी हुई यवागू में चीनी मिलाकर पीना चाहिए।

---

१. 'पिष्टैः' इति पा०।
२. 'कल्को वस्तिस्तु सानाहे मूत्रकृच्छ्रे परो मतः' इति पा०।
३. 'प्रत्यास्थापनमेव वा' इति पा०।
४. 'स्युर्गुदा दाहादयो यदि' इति पा०।

वक्तव्य—'पित्तशकृद् वातान् हृत्वा'—इसका तात्पर्य है कि गुददाह आदि उपद्रवों के उत्पन्न होने में मूलतः पित्त का प्रकुपित होना, मल और अपानवायु का विलोम होना, ये ही कारण होते हैं। यहाँ कहे गये 'द्राक्षाम्बुना' का सम्बन्ध है—'द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाभयामलकविभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति'। च० सू० अ० ४।१३ का २४वाँ खंड। प्रायः इसी पाठ का अनुकरण वृद्धवाग्भट ने भी किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ६।५३॥

अथवाऽतिविरिक्तः स्यात् क्षीणविट्कः स भक्षयेत् ।
माषयूषेण कुल्माषान् [1]पिबेन्मध्वथवा सुराम् ॥ १८ ॥

मलक्षय-चिकित्सा—अथवा जिस व्यक्ति का अधिक विरेचन हो जाने के कारण मल का क्षय हो गया हो, उसे उड़द के यूष के साथ कुल्माषों (आधे उबाले हुए जौ, गेहूँ, चना आदि अन्नों) को खाने के लिए दें, अथवा मधु या सुरा (पाठभेद के अनुसार—दही) पीने के लिए दें।

वक्तव्य—पुरीषक्षय में सुश्रुत के अनुसार 'स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः'। सु० सू० अ० १५।१०। और भी—'यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः। तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति' ॥ वही, १५।३०। इस सूत्र का सभी प्रकार के क्षयों में स्मरण रखना चाहिए। वृद्धवाग्भट का मन्तव्य भी देखें—अ० सं० क० अ० ६।५४।

[2]सामं चेत् कुणपं शूलैरुपविशेदरोचकी । स घनातिविषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत् ॥१९॥

आमज शूल-चिकित्सा—वस्ति का समुचित प्रयोग न करने के कारण जिस रोगी के उदर में शूल हो रहा हो, आमदोष हो गया हो, मुर्दे की गन्ध (सड़ांध) के समान गन्ध वाला मल का त्याग कर रहा हो और जो रोगी अरोचक रोग से पीड़ित हो, ऐसे रोगी को नागरमोथा, अतीस, कूठ, तगर, देवदारु, बालवच इन द्रव्यों द्वारा विधिवत् बनाया गया क्वाथ पीना चाहिए।

वक्तव्य—आमज शूल का मुख्य कारण है, निरूहवस्ति का मिथ्या प्रयोग। उदर के भीतर स्थित आमदोष को निकाल देने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह समय पर नहीं कर लिया जाता है, तो इससे मल में तथा अपानवायु में मुर्दे की सड़न जैसी दुर्गन्ध तो आती है। इसके साथ ही अन्य अनेक उदर-सम्बन्धी विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योऽतिसार्यते । [3]पक्वं, तत्र स्ववर्गीयैर्वस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम् ॥

अतिसार में विधि-निर्देश—यदि वस्ति का समुचित प्रयोग नहीं किया गया तो—१. आमातिसार, २. मलातिसार, ३. वातातिसार, ४. पित्तातिसार, ५. कफातिसार और ६. रक्तातिसार रोग हो जाते हैं। इन सभी अतिसारों में देखना चाहिए कि मलपाक हो गया है, या नहीं। यदि मलपाक हो गया हो तो अपने-अपने वर्ग की, अर्थात् जितने प्रकार के अतिसार कहे गये हैं, उन-उन वर्गों के औषधद्रव्यों से वस्ति का निर्माण कराकर प्रयोग कराना ही उनकी उत्तम चिकित्सा है।

वक्तव्य—ऊपर वात आदि अतिसारों का वर्णन किया गया है। ध्यान देना है कि यदि मल का पाक हो गया हो तो अतिसार को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। अतिसार में मलपाक के पहले दोषयुक्त मल को रोकने का प्रयास कभी नहीं करना चाहिए। चरक-सूत्रस्थान अ० ४ में अनेक महाकषायों का वर्णन है, उनमें से वातातिसार में पुरीष संग्रहणीय वर्ग के द्रव्यों द्वारा वस्ति का निर्माण कर प्रयोग कराना चाहिए। रक्तातिसार में शोणितास्थापन वर्ग के औषधयोग की वस्ति देनी चाहिए। अन्य पित्तज तथा कफज अतिसारों की चिकित्सा के लिए चरकसंहिता चि० अ० १९ सम्पूर्ण देखें। इस अध्याय में भी आगे अतिसार-नाशक योगों का वर्णन किया जायगा, उनका भी यथावसर उपयोग करें।

षण्णामेषां द्विसंसर्गात् त्रिंशद्भेदा भवन्ति तु । केवलैः सह षट्त्रिंशद्विद्यात् सोपद्रवानपि ॥२१॥

---

१. 'पिबेद् दध्यथवा' इति पा०।
२. 'सामं चेदतिसार्येत पूति शूलैररोचकी' इति पा०।
३. पक्वस्तत्र' इति पा०।

अतिसार के छः भेद—उपर्युक्त २०वें पद्य द्वारा जो छः प्रकार के अतिसार कहे गये हैं, उनके साथ यदि दो-दो दोषों का संसर्ग (सम्बन्ध) कर दिया जाय तो अतिसार के तीस भेद हो जायेंगे और जो स्वतन्त्ररूप से छः भेद कहे गये है, उनको भी यदि उक्त तीस भेदों के साथ जोड़ दिया जाय तो ये उपद्रव सहित कुल ३६ भेद हो जाते हैं।

वक्तव्य—अतिसार के छत्तीस भेदों की गणना एक दोष की प्रधानता स १५, दूसरे दोष की प्रधानता से १५ और अलग कहे गये ६ भेदों को जोड देने पर कुल ३६ भेद निम्न प्रकार से हो जाते हैं। इनके उपद्रवों का समावेश भी इन्हीं में हो जाता है। वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में उक्त श्लोक को अविकल रूप में उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ६।५७। इसकी टीका करते हुए श्रीइन्दु ने निम्नोक्त ३६ भेदों का इसी क्रम से उल्लेख किया है।

१ साममलातिसार	१३ रक्तपित्तजातिसार	२५ वातरक्तातिसार
२ सामवातजातिसार	१४ रक्तकफजातिसार	२६ वातपित्तातिसार
३ सामरक्तजातिसार	१५ पित्तकफजातिसार	२७ वातकफातिसार
४ सामपित्तजातिसार	१६ आममलातिसार	२८ पित्तरक्तातिसार
५ सामकफजातिसार	१७ आमवातातिसार	२९ कफरक्तातिसार
६ मलवातजातिसार	१८ आमरक्तातिसार	३० कफपित्तातिसार
७ मलरक्तजातिसार	१९ आमपित्तातिसार	३१ आमातिसार
८ मलपित्तजातिसार	२० आमकफातिसार	३२ मलातिसार
९ मलकफजातिसार	२१ मलवातातिसार	३३ वातातिसार
१० वातरक्तजातिसार	२२ मलरक्तातिसार	३४ पित्तातिसार
११ वातपित्तजातिसार	२३ मलपित्तातिसार	३५ कफातिसार
१२ वातकफजातिसार	२४ मलकफातिसार	३६ रक्तातिसार

शूलप्रवाहिकाध्मानपरिकर्त्यरुचिज्वरान्। तृष्णोष्णदाहमूर्च्छादींश्चैषां विद्यादुपद्रवान्॥२२॥

अतिसारों के सामान्य उपद्रव—उदरशूल, प्रवाहिका, आध्मान, परिकर्तिका, अरुचि, ज्वर, प्यास, उष्णता, दाह तथा मूर्च्छा—ये अतिसारों के उपद्रव होते हैं।

[1]तत्रामेऽन्तरपानं स्यात् व्योषाम्ललवणैर्युतम्। पाचनं शस्यते वस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते॥२३॥

१. **आमातिसार की चिकित्सा**—आमदोष-जनित अतिसार में सोंठ, पिप्पली, मरिच, अम्लद्रव्य (खट्टा अनार, अम्लवेत आदि) तथा सेंधानमक मिलाकर इनका सेवन करना चाहिए। इसे अन्तरपान (पाचन) कहते हैं। आमदोष को पचाने के लिए यह योग उत्तम है। आमातिसार में वस्ति का प्रयोग निषिद्ध है।

वक्तव्य—इसे 'अन्तरपान' कहते हैं। ऊपर १९वें पद्य में आमज शूल-चिकित्सा में नागरमोथा आदि के क्वाथ को पीने का आदेश दिया गया है, उसी के बीच-बीच में इसका भी सेवन करना चाहिए। इसका निर्माण दाड़िम (खट्टे अनार) के स्वरस में, कांजी या और किसी खट्टे द्रव्य के घोल में उक्त द्रव्यों के मिश्रण से करना चाहिए।

वातघ्नैर्ग्राहिवर्गीयैर्वस्तिः शकृति शस्यते। स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहवस्तिः समीरणे॥२४॥

२. **शकृदतिसार की चिकित्सा**—वातनाशक द्रव्यों (दशमूल आदि के) क्वाथ से ग्राही वर्गीय (च० सू० अ० ४।२५ में पुरीषसंग्रहणीय वर्ग में कहे गये) द्रव्यों से विधिपूर्वक तैयार किये हुए क्वाथ से वस्ति का यथाविधि प्रयोग करना चाहिए। यह वस्ति शकृत (मल) अतिसार में उत्तम लाभ देती है।

३. **वातजातिसार की चिकित्सा**—इसमें स्वादु (मधुर), अम्ल तथा सेंधानमक द्वारा तैयार किये गये स्नेह से अनुवासनवस्ति देना उत्तम लाभदायक होता है।

१. 'तत्रामे वमनं कार्यं' इति पा०।

वक्तव्य—श्रीजतूकर्ण तथा श्रीचक्रपाणि वातघ्न द्रव्यों से दशमूल के द्रव्यों का ग्रहण करते हैं। वातज अतिसार की चिकित्सा वृद्धवाग्भट ने इस प्रकार कही है—'स्वाद्वम्लो व्यक्तलवणः स्नेहवस्तिः समीरणे'। देखें—अ० सं० क० अ० ६।६०।

रक्ते रक्तेन, पित्ते तु कषायस्वादुतिक्तकैः। सार्यमाणे कफे वस्तिः कषायकटुतिक्तकैः॥२५॥

४. **रक्तातिसार की चिकित्सा**—रक्तातिसार में बकरे आदि प्राणियों के ताजे रक्त से वस्ति देनी चाहिए।

५. **पित्तातिसार की चिकित्सा**—इसमें कषाय, मधुर तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों से तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

६. **कफातिसार की चिकित्सा**—जब अतिसार में कफ निकल रहा हो ऐसी स्थिति में कषैले, कडुए तथा तिक्त द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

शकृता वायुना वाऽऽमे तेन वर्चस्यथानिले। संसृष्टेऽन्तरपानं स्याद् व्योषाम्ललवणैर्युतम्॥२६॥

७. यदि मल के साथ आमदोष की प्रधानता हो, ८. अथवा वातदोष के साथ आमदोष की प्रधानता हो, ९. अथवा आमदोष के साथ मल की अधिकता हो, १०. अथवा आमदोष के साथ वातदोष की प्रधानता हो, तो उक्त स्थितियों में सोंठ, मरिच, पिप्पली इनके कपड़छन चूर्ण, अम्ल द्रव्य (खट्टा अनार का रस या अम्लवेत का घोल आदि) को जल में घोलकर अन्तरपान के रूप में बीच-बीच में पीने के लिए दें, यह अन्तरपान दोषों का पाचन कराता है।

पित्तेनामेऽसृजा वाऽपि तयोरामेन वा पुनः। संसृष्टयोर्भवेत् पानं सव्योषस्वादुतिक्तकम्॥२७॥

११. पित्तदोष के साथ आमदोष की अधिकता होने पर, १२. अथवा रक्तधातु के साथ पित्तदोष की अधिकता होने पर, १३. अथवा आमदोष के साथ पित्तदोष की अधिकता होने पर, १४. अथवा आमदोष के साथ रक्तधातु की अधिकता होने पर सोंठ, पिप्पली, मरिच का चूर्ण, मधुर तथा तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से अन्तरपान का निर्माण कर पीना या पिलाना चाहिए।

तथाऽऽमे कफसंसृष्टे कषायव्योषतिक्तकम्। आमेन तु कफे व्योषकषायलवणैर्युतम्॥२८॥

१५. कफदोष के साथ आमदोष की अधिकता होने पर अतिसार हो रहा हो, तो उसमें कषायरस-प्रधान द्रव्यों सोंठ, मरिच, पिप्पली तथा तिक्त द्रव्यों के चूर्ण अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ को पीना चाहिए। १६. यदि आमदोष के साथ कफदोष की अधिकता से अतिसार हो रहा हो, तो सोंठ, मरिच, पिप्पली, कषायरस-प्रधान द्रव्यों तथा लवण के साथ बनाये गये चूर्ण का अथवा इन्हीं द्रव्यों द्वारा बनाये गये क्वाथ का सेवन कराना चाहिए।

वातेन विषि पित्ते वा [1]विट्पित्ताभ्यां तथाऽनिले। मधुराम्लकषायः स्यात् संसृष्टे वस्तिरुत्तमः॥

१७. वातदोष के साथ मल की प्रधानता होने से, १८. वातदोष के साथ पित्त की प्रधानता होने से, १९. मल के साथ वातदोष की प्रधानता होने से, २०. पित्तदोष के साथ वातदोष की प्रधानता होने से, २१. रक्तधातु के साथ वातदोष की प्रधानता होने से, यदि इन कारणों से अतिसार रोग हुआ हो तो मधुर, अम्ल तथा कषायरस-प्रधान द्रव्यों से तैयार की हुई वस्ति का उपयोग करना उत्तम होता है।

वक्तव्य—श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित तथा १९४१ ई० वाले निर्णयसागरीय संस्करण में **'वातेन विशि'** यह पाठ दिया गया है और सन् १९२२ तथा १९३३ ई० के निर्णयसागरीय संस्करणों में **'वातेन विषि'** ऐसा पाठ दिया गया है, जो अर्थ की दृष्टि से श्रद्धेय है। आप ध्यान दें—'वेवेष्टि अन्त्रं पक्वाशयं वा, विट् तस्मिन् विषि=विष्ठायाम्'। 'विष्ठा-विषौ'। इति अमरः २।६।६८। विष्लृव्याप्तौ क्विप्। इस प्रकार मूर्धन्य षकारान्त विषि शब्द ही यहाँ प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है, न कि तालव्यान्त 'विशि' शब्द। यही विवेचन ३१वें श्लोक में आये हुए 'विशि' के लिए भी समझें, क्योंकि 'विशि' शब्द का अर्थ यहाँ प्रसंगानुसार अश्रद्धेय है।

१. विट्पित्तास्रैः' इति पा०।

शकृच्छोणितयोः पित्तशकृतो रक्तपित्तयोः। वस्तिरन्योन्यसंसर्गे कषायस्वादुतिक्तकः ॥३०॥

२२. मल के साथ रक्तधातु की अधिकता होने से, २३. रक्तधातु के साथ मल की अधिकता होने से २४. पित्तदोष के साथ मल की अधिकता होने से, २५. मल के साथ पित्तदोष की अधिकता होने से, २६. रक्तधातु के साथ पित्तदोष की प्रधानता होने से, २७. पित्तदोष के साथ रक्तधातु की अधिकता होने से यदि अतिसार रोग हो जाय तो कषाय, मधुर तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ से तैयार की हुई वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

कफेन विषि पित्ते वा कफे विट्पित्तशोणितैः। व्योषतिक्तकषायः स्यात् संसृष्टे वस्तिरुत्तमः ॥

२८. कफदोष के साथ मल की प्रधानता होने से, २९. कफदोष के साथ पित्तदोष की प्रधानता होने से, ३०. मल के साथ कफदोष की प्रधानता होने से, ३१. पित्तदोष के साथ कफदोष की प्रधानता होने से, ३२. रक्तधातु के साथ कफदोष की प्रधानता से होने वाले अतिसार रोग में सोंठ, मरिच, पिप्पली, तिक्त तथा कषायरस-प्रधान द्रव्यों के विधिवत् निर्माण किये गये क्वाथ से तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग करना हितकर होता है।

स्याद् वस्तिर्व्योषतिक्ताम्लः संसृष्टे वायुना कफे। मधुरव्योषतिक्तस्तु रक्ते कफविमूर्च्छिते ॥३२॥

३३. वातदोष के साथ कफदोष की अधिकता से उत्पन्न होने वाले अतिसार रोग में सोंठ, मरिच, पिप्पली, तिक्त तथा अम्लरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ से तैयार की हुई वस्ति का प्रयोग कराना हितकर होता है। ३४. कफदोष से रक्तधातु के मिश्रित होने पर मधुररस-प्रधान द्रव्य (द्राक्षा आदि), सोंठ, मरिच, पिप्पली तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ से तैयार की हुई वस्ति का प्रयोग हितकर होता है।

मारुते कफसंसृष्टे व्योषाम्ललवणो भवेत्। वस्तिर्वातेन [1]पित्ते तु कार्यः स्वाद्वम्लतिक्तकः ॥३३॥

३५. वातदोष के साथ कफदोष का सम्बन्ध हो जाने पर अर्थात् कफदोष से वातदोष की प्रधानता वाले अतिसार रोग में सोंठ, मरिच, पिप्पली, अम्लरस तथा लवण के मिश्रण से तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ३६. वातदोष के साथ यदि रक्तधातु की प्रधानता हो तो मधुर, अम्ल तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों द्वारा बनी हुई वस्ति का प्रयोग कराना हितकर होता है।

त्रिचतुःपञ्चसंसर्गानेवमेव विकल्पयेत्। युक्तिश्चैषातिसारोक्ता सर्वरोगेष्वपि स्मृता ॥३४॥

अतिसार के भेदों की अपरिसंख्येयता—इसी प्रकरण में ऊपर जिस प्रकार दो दोषों के योग से अतिसार के तीस भेदों की कल्पना की गयी है, उसी प्रकार ३, ४, ५ तथा ६ के संयोग से होने वाले भेदों तथा उन भेदों की चिकित्साओं की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। जिस प्रकार अतिसार के भेदों की कल्पना में एक दोष की प्रधानता तथा दूसरे दोष की अप्रधानता स्वीकार कर तीस भेदों की कल्पना की गयी है, ठीक उसी प्रकार अन्य रोगों की भेद-कल्पना भी कर लेनी चाहिए।

युगपत् षड्रसं षण्णां संसर्गे पाचनं [2]भवेत्। निरामाणां तु पञ्चानां वस्तिः षाड्रसिको मतः ॥३५॥

आममल में चिकित्सा-निर्देश—यदि मल के साथ आमदोष आदि छहों विकारों का संसर्ग हो जाय तो मधुर आदि छहों रसों वाले द्रव्यों को लेकर पाचन औषधयोग का निर्माण कराकर रोगी को सेवन कराना चाहिए। यदि मल का संसर्ग आमदोष के अतिरिक्त अन्य पाँच प्रकार के अतिसार को करने वाले दोषों से हो तो मधुर आदि छहों रसों से युक्त वस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। इसी को 'षाड्रसिक वस्ति' कहते हैं।

उदुम्बरशलाटूनि जम्ब्वाम्रोदुम्बरत्वचः। शङ्खं सर्जरसं लाक्षां कर्दमं च पलांशिकम् ॥३६॥
पिष्ट्वा तैः सर्पिषः प्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत्। अतीसारेषु सर्वेषु पेयमेतद् यथाबलम् ॥३७॥

सर्वातिसार-नाशक घृत—गूलर के कच्चे फल, जामुन की छाल, आम की छाल, गूलर की छाल, शंख-भस्म, सर्जरस (राल), कच्ची लाख, कमल के जड़ का कीचड़—प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में लेकर पानी में पीसकर इनका कल्क तैयार करें। गाय का घी १ प्रस्थ (६४ तोला), घी से दूना गाय का दूध

१. 'रक्ते' इति पा०।
२. 'पिबेत्' इति पा०।

मिलाकर यथाविधि घी को पकायें, तैयार हो जाने पर छानकर सुरक्षित रख लें। रोगी के अग्निबल को देखकर इसकी मात्रा निर्धारित कर इसका सेवन करायें। इसको पीने से सभी प्रकार के अतिसार रोग शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—चरक की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियों के ३६वें श्लोक के उत्तरार्ध में 'कर्दम' के स्थान पर 'कत्तृण' पाठ उपलब्ध होता है। प्रायः प्रकाशित सभी संस्करणों में 'कर्दम' पाठ ही दृष्टिगोचर होता है।

कच्छुराधातकीबिल्वसमङ्गारक्तशालिभिः। मसूराश्वत्थशुङ्गैश्च यवागूः स्याज्जले शृतैः ॥३८॥

सर्वातिसारनाशक यवागू—दुरालभा, धाय के फूल, बेल की गुद्दी, समंगा (मजीठ या लज्जावन्ती), लालधान के चावल, मसूर की दाल, पीपल वृक्ष की नयी कोपलें, इन द्रव्यों द्वारा यथाविधि पकायी गयी यवागू का प्रयोग करने से सभी प्रकार के अतिसारों का शमन हो जाता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने कुछ पाठ-परिवर्तन करके अपने संग्रह-ग्रन्थ में उक्त श्लोक को उद्धृत किया है, तदनुसार 'रक्तशालिभिः' के स्थान पर 'रक्तमूलिभिः' है। देखें—अ० सं० क० अ० ६।७३। अवधेय है, कि 'रक्तमूलिभिः' का अर्थ श्रीइन्दु के अनुसार—'रक्तमूली शमीपत्राख्या' है।

यवागू-निर्माण-विधि—षडंगपानीय परिभाषा के अनुसार दुरालभा आदि द्रव्यों को पकाकर छान लें, उस जल में लाल चावल और मसूर की दाल डालकर यवागू का निर्माण करें। कुछ टीकाकार 'रक्तशालि' शब्द से शालिमूल लेना पसन्द करते हैं, और कुछ 'रक्तमूली' से लाल एरण्ड का ग्रहण करते हैं।

[1]बालोदुम्बरकट्वङ्गसमङ्गाप्लक्षपल्लवैः। मसूरधातकीपुष्पबलाभिश्च तथा भवेत् ॥३९॥

सर्वातिसार-चिकित्सा—गूलर के कच्चे फल, सोनापाठा की छाल, समंगा (मजीठ या लज्जावन्ती), पाकड़ की नयी कोपलें, मसूर की दाल, धाय के फूल, बरियारा की जड़—इन सभी द्रव्यों का षडंगपानीय परिभाषा के अनुसार जल तैयार कर उससे पूर्ववत् यवागू का निर्माण करना चाहिए। यह यवागू भी सभी प्रकार के अतिसारों का विनाश करती है।

स्थिरादीनां [2]बलादीनामिक्ष्वादीनामथापि वा। क्वाथेषु समसूराणां यवाग्वः स्युः पृथक्-पृथक् ॥

विभिन्न यवागुओं का प्रयोग—स्थिरादि (लघुपञ्चमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), बलादि (च० सि० अ० ३ श्लोक १३ के उत्तरार्ध में पठित द्रव्य—बला, गुरुच, त्रिफला, रास्ना, दोनों पञ्चमूल), इक्षु आदि (इक्षु, कुश, काश, शालि इनकी जड़ें, इसमें शरमूल का ग्रहण नहीं किया गया है) के क्वाथों में अलग-अलग मसूर की दाल को मिलाकर यवागुओं का निर्माण कराना चाहिए। ये सभी अतिसार-नाशक (मल को बाँधने वाली) होती हैं।

कच्छुरामूलशाल्यादितण्डुलैरुपसाधिताः। दधितक्रारनालाम्लक्षीरेष्विक्षुरसेऽपि वा ॥४१॥
शीताः सशर्कराक्षौद्राः सर्वातीसारनाशनाः। सर्पिर्मरिचाजाज्यो मधुरा लवणाः शिवाः ॥४२॥ (यहाँ भी दुरालभा

अन्य यवागू-विधि—दुरालभा की जड़, शालि आदि के चावलों से बनी हुई यवागू की जड़ को षडंगपानीय-विधि से पकाकर उस पानी में मसूर की दाल तथा शालि के चावलों से यवागू का निर्माण करें) तथा खट्टा दही, मट्ठा, काँजी, अम्लरस, क्षार (जवाखार) एवं ईख के रस में बनी हुई यवागू जब शीतल हो जाय, उसके बाद उसमें आवश्यकतानुसार चीनी और मधु मिलाकर यवागू का सेवन करने से सभी प्रकार के अतिसार रोगों का नाश हो जाता है। यदि उक्त यवागुओं का घी, मरिच, जीरा से संस्कार कर दिया जाय, अर्थात् घी को गरम करके उसमें जीरा डालकर उस यवागू को छौंककर उसमें कालीमिर्च का चूर्ण, नमक अथवा चीनी मिला दी जाय तो उसका स्वाद और भी अच्छा हो जायेगा।

वक्तव्य—अतिसार रोग में मल को बाँधने की दृष्टि से नैनीताल, अल्मोड़ा आदि पर्वतीय जिलों में दही के घोल या मठा में चावलों को पका (गला) कर रोगियों को खिलाया जाता है। इसका स्वाद अत्यन्त रुचिकर होने के कारण-वहाँ के लोग सामान्य स्थिति में भी इसे बनाकर खाया-खिलाया करते हैं। यदि उक्त विधि से

१. 'वटोदुम्बर' इति पा०।
२. 'वटादीना' इति पा०।

संस्कार कर दिया जाय तो इसका स्वाद और भी उत्तम हो जाता है। ईख के रस में भी चावल बनाकर खाये जाते हैं, इसे कुछ लोग 'बखीर' भी कहते हैं।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

स्निग्धाम्ललवणमधुरं पानं वस्तिश्च मारुते कोष्णः। शीतं तिक्तकषायं मधुरं पित्ते च रक्ते च॥
तिक्तोष्णकषायकटु श्लेष्मणि सङ्ग्राहि वातनुच्छकृति। पाचनमामे पानं पिच्छासृग्वस्तयो रक्ते॥
अतिसारं प्रत्युक्तं मिश्रं [1]द्वन्द्वादियोगजेष्वपि च। तत्रोद्रेकविशेषाद् दोषेषूपक्रमः कार्यः॥४५॥

वातजनित अतिसार-चिकित्सा—इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ श्लोक कहे गये हैं—स्निग्ध (स्नेहयुक्त), अम्ल (खट्टे), लवण (नमकीन) तथा मधुररस-प्रधान द्रव्यों का कल्क बनाकर गुनगुने जल के साथ रोगी को पिलाना चाहिए और इन्हीं द्रव्यों के गुनगुने क्वाथद्रव से वस्ति-प्रयोग भी कराना चाहिए।

पित्तज तथा रक्तज अतिसार-चिकित्सा—शीतल, तिक्त, कषाय तथा मधुररस-प्रधान द्रव्यों से बनी हुई वस्ति का प्रयोग तथा उसी प्रकार के द्रव्यों का चूर्ण अथवा क्वाथरस का पान कराना चाहिए।

शकृत्-अतिसार-चिकित्सा—वातनाशक तथा मल को बाँधने वाले औषधद्रव्यों से निर्मित क्वाथरस या उन्हीं द्रव्यों के चूर्ण का गुनगुने जल से सेवन करना चाहिए।

आमातिसार-चिकित्सा—आमदोष को पचाने वाले औषधयोगों तथा पेयों का प्रयोग करना चाहिए।

रक्तातिसार-चिकित्सा—पिच्छावस्ति (च० चि० अ० १९।६३-६८) का प्रयोग तथा बकरे आदि के ताजे रक्त की वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से दो, तीन, चार, पाँच तथा छः अतिसारों के लक्षण जब एक में दिखलायी दें, तो जो ऊपर अलग-अलग चिकित्सा-विधियाँ कही गयी हैं, उनका यथावसर यथोचित मिश्रण करके युक्तिपूर्वक उक्त योगों का प्रयोग कराना चाहिए।

तत्र श्लोकः—

प्रासृतिकाः सव्यापत्क्रिया निरूहास्तथाऽतिसारहिताः।
[2]रसकल्पघृतयवाग्वश्चोक्ता गुरुणा प्रसृतसिद्धौ॥४६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
[3]प्रासृतयोगीयसिद्धिर्नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उस विषय में एक श्लोक कहा है—गुरु महर्षि आत्रेय ने प्रस्तुत प्रासृतयोगीयसिद्धि नामक अध्याय में निरूह तथा स्नेहवस्ति के मिथ्याप्रयोग से उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियों (उपद्रवों) की चिकित्सा के साथ ही साथ प्रासृतिक निरूह तथा अतिसार में लाभदायक निरूहवस्ति, रस, कल्प (पाठभेद के अनुसार—रस, कल्क), घृत, यवागुओं के प्रयोगों का वर्णन किया है।

वक्तव्य—यहाँ रसकल्प शब्द से अलग-अलग दोषों में उनके अनुसार मधुर आदि रसों की जो कल्पना की गयी है, उसका ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-सिद्धिस्थान में प्रासृतयोगीयसिद्धि नामक आठवाँ अध्याय समाप्त॥८॥

१. 'द्वन्द्वामजेष्वपि च' इति पा०।
२. 'रसकल्कघृतयवाग्वः' इति पा०।
३. 'प्रासृतयोगिकी' इति पा०।

अथ नवमोऽध्यायः

अथातस्त्रिमर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः॥१॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥२॥

प्रासृतयोगीयसिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से त्रिमर्मीयासिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय की तन्त्र-वर्णन की परम्परा सर्वथा स्वाभाविक है। इन्होंने चरक-चिकित्सास्थान
के छब्बीसवें अध्याय का नाम 'त्रिमर्मीयचिकित्सित' रखा है। उसमें जिन तीन मर्मों का वर्णन किया गया है, वे
मर्म हैं—वस्ति, हृदय, शिर। यद्यपि इन मर्मों में होने वाले रोगों की चिकित्सा का वर्णन पहले किया जा चुका
है, किन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त मर्मस्थानों में केवल उतने ही रोग होते हैं, अतएव
यहाँ हृदय, वस्ति तथा शिर नामक मर्मों में होने वाले कतिपय अन्य रोगों का भी वर्णन और उनकी चिकित्सा
कही जारही है। वास्तव में वस्तिव्यापत (वस्तियों का सम्यक् प्रयोग न होने) से भी जिन त्रिमर्मीय रोगों की
उत्पत्ति होती है, विशेषकर यहाँ उन रोगों का वर्णन प्रस्तुत है। इनके साथ ही उत्तरवस्ति के प्रयोगों का भी
इस अध्याय में विस्तृत वर्णन किया जायेगा। वास्तव में चरक-चिकित्सास्थान अ० २६ का ही यह पूरक अध्याय
है, इसे तन्त्रकार ने आगे इस रूप में स्वीकार किया है—'अत ऊर्ध्वं विकारा ये त्रिमर्मीये चिकित्सिते। न प्रोक्ता
मर्मजास्तेषां कांश्चिद् वक्ष्यामि सौषधान्'॥ च० सि० अ० ९।११।

सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिञ्छरीरे स्कन्धशाखासमाश्रितमग्निवेश!। तेषामन्यतमपीडायां समधिका
पीडा भवति, चेतनानिबन्धवैशेष्यात्। तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि,
शाखानां तदाश्रितत्वात्; स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्वस्तिशिरांसि, तन्मूलत्वाच्छरीरस्य॥३॥

प्रस्तावना—अग्निवेश! इस शरीर में स्कन्ध तथा शाखाओं के आश्रय में रहने वाले एक सौ सात मर्म
हैं, उनमें से यदि किसी एक मर्म में भी पीड़ा या आघात होता है, तो अत्यन्त कष्ट का अनुभव होता है, क्योंकि
चेतनाधातु का मर्मस्थान से विशेषरूप से सम्बन्ध होता है। उन शाखाओं में आश्रित रहने वाले मर्मों से भी
स्कन्ध से आश्रित रहने वाले मर्मस्थल अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि शाखाएँ भी स्कन्धों पर ही आश्रित
रहती हैं। स्कन्ध में होने वाले मर्मों से भी हृदय, वस्ति तथा शिर के मर्म प्रमुख होते हैं, क्योंकि शरीर इन्हीं
तीनों मर्मों पर आधारित रहता है।

वक्तव्य—पुरुष-शरीर में मर्म १०७ होते हैं। इस सम्बन्ध में चरक (च० शा० अ० ७।१४) तथा सुश्रुत
(सु० शा० अ० ६।३) एक मत हैं। उक्त १०७ मर्मों का स्थान स्कन्ध तथा शाखाओं को माना है और शाखाओं
से भी स्कन्ध से आश्रित जो मर्म होते हैं, वे गरीयान (महान्, महत्त्वपूर्ण) होते हैं, अर्थात् सभी दृष्टि से उनकी
रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इन मर्मों में विशेष करके चेतनाधातु का विशेष सम्बन्ध मर्म से होता है, अतएव
मर्म पर आघात होने से मनुष्य शीघ्र ही अचेतन हो जाता है।

शाखा तथा स्कन्ध—यद्यपि महर्षि आत्रेय ने तीन रोग-मार्गों का परिचय देते हुए कहा है—'त्रयो
रोगमार्गा इति शाखा मर्मास्थिसन्धयः कोष्ठश्च'। च० सू० अ० ११।४८। इसके आगे 'शाखा' का परिचय देते हुए वे
कहते हैं—'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च'। वही। किन्तु यहाँ शाखा शब्द से हाथ-पैरों का ही ग्रहण
किया गया है। देखें—'पाणिपादांसमूलेषु शाखापित्तं तदुच्यते'॥ रा० नि० व० २०।२७। यहाँ यह पद शरीर
के भिन्न-भिन्न अंगों में होने वाले दाह का परिचायक है। यहाँ 'पाणिपादांसमूल' को शाखा कहा है। अब
विवेचनीय है, 'स्कन्ध' शब्द। महर्षि आत्रेय ने सम्पूर्ण शरीर को छः भागों में इस प्रकार विभाजित किया है—
'तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः; तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिः, इति षडङ्गमङ्गम्'। च०
शा० अ० ७।५। यहाँ शाखारूप में वर्णित दोनों बाँहों, दोनों पैरों को छोड़कर एक अन्तराधि अर्थात् मध्यकाय
को ही स्कन्ध स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि हृदय और वस्ति मर्म इसी मध्यकाय में उपलब्ध होते हैं, और
शिर नामक मर्म को अलग से स्वीकार किया है, जो उक्त रीति से गिनने पर पाँचवाँ होता है। वैसे सर्वप्रधान
अंग 'शिरोग्रीवम्' के रूप में स्थित रहता है। जिसे सभी अंगों में उत्तमांग कहा है, वह है—शिर।

तन्मूलत्वाच्छरीरस्य—महर्षि सुश्रुत ने सक्थिमर्मों में—'क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रवस्तिजान्वाण्युर्वीलोहिताक्षाणि विटपं चेति। सु० शा० अ० ६।६ और बाहुमर्मों में—'क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रवस्तिकूर्पराण्युर्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति'। वही। इस प्रकार दोनों हाथ पैरों में क्षिप्र तथा तलहृदय नाम के मर्म हैं, जिनमें आघात पहुँचने पर मृत्यु हो जाती है, ऐसा स्वीकार किया है। देखें—सु० शा० अ० ६।३२। इन वचनों के अनुसार यद्यपि महर्षि आत्रेय के उक्त सिद्धान्त का प्रतिवाद हो जाता है, परन्तु सुश्रुत ने भी एकान्ततः हाथ-पैर के कट जाने से मृत्यु हो ही जाती है, ऐसा स्वीकार नहीं किया है, अपितु हाथ-पैर कट जाने के बाद बचे हुए उस पुरुष का इस प्रकार उपहास किया है—'छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति। प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति'॥ सु० शा० अ० ६।३१।

संक्षेप में मर्मों का विवरण—मर्म पाँच प्रकार के होते हैं। यथा—१. सद्यःप्राणहर, २. कालान्तरप्राणहर, ३. विशल्यघ्न, ४. वकल्यकर, ५. रुजाकर। इनमें सद्यःप्राणहर मर्म १९, कालान्तरप्राणहर मर्म ३३, विशल्यघ्न मर्म ३, वैकल्यकर मर्म ४४ और रुजाकर मर्म ८ हैं। देखें—सु० शा० अ० ६।८।

मर्म-लक्षण—मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि तथा सन्धि इनके मिलने के स्थल का नाम 'मर्म' है। इनमें स्वभाव से ही विशेषरूप से प्राण रहते हैं। अत एव मर्मस्थलों पर आघात (चोट) पहुँचने पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नष्ट हो जाता है, मन की चेष्टाएँ विपरीत हो जाती हैं, अथवा भ्रम, प्रलाप, बेहोशी आदि लक्षण तत्काल प्रकट हो जाते हैं। सु० शा० अ० ६।१५। मर्मों के सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य स्थल—सु० सू० अ० २५।२३-४० तथा सु० शा० अ० ६।३५। अभिघात सामान्यरूप से तीन प्रकार के होते हैं—१. गिरने या चोट लगने से, २. शत्रु द्वारा लाठी, डण्डा, अस्त्र, शस्त्र आदि के लगने से तथा ३. शल्यचिकित्साकाल में मिथ्या प्रयुक्त शस्त्र से।

दस प्राणायतनों की समानता—'दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्'॥ च० सू० अ० २९।३। और भी देखें—'शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्। हृदयं वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु'॥ सु० शा० अ० ६।९।

तत्र [1]हृदये दश धमन्यः [2]प्राणोदानौ मनो बुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि, शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि, वस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां[3] नाडी(ली)नां मध्ये मूत्रधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां [4]प्रतिष्ठा, बहुभिश्च तन्मूलैर्मर्मसंज्ञकैः स्रोतोभिर्गगनमिव दिनकरकरैर्व्याप्तमिदं शरीरम् ॥४॥

१. **हृदय-परिचय**—हृदय-प्रदेश में दस धमनियाँ, प्राणवायु, उदानवायु, मन, बुद्धि, चेतना तथा सूक्ष्म महाभूत उस प्रकार वर्तमान रहते हैं, जिस प्रकार चक्र की नाभि में अर लगे होते हैं।

२. **सिर-परिचय**—सिर में ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नासिका, जीभ, त्वचा), इन्द्रियों को चेतना देने वाले तथा प्राणवहस्रोत वैसे बँधे रहते हैं, जैसे सूर्य के साथ उसकी किरणें।

३. **वस्ति-परिचय**—स्थूलगुद (बृहदन्त्र), मुष्क (अण्डकोष), सेवनी, शुक्रवहस्रोतों, मूत्रवहस्रोतों के बीच में स्थित मूत्र का आधार तथा जलवह सभी स्रोतों का उस प्रकार आधार है, जैसा कि सभी नदियों का आधार समुद्र होता है। इस वस्ति में आश्रित अनेक मर्म-संज्ञक स्रोतों से यह देह उस प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से आकाश व्याप्त रहता है।

वक्तव्य—ऊपर के गद्य द्वारा महर्षि आत्रेय ने जो मर्मत्रय का विवेचन उपस्थित किया है, उसमें निम्नलिखित अंश विचारणीय हैं।

प्राणोदानौ—सन् १९३३ ई० में प्रकाशित निर्णयसागरीय चरकसंहिता में इस पाठ को मूलपाठ के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि सन् १९२२ के मूलपाठ में 'प्राणोदान' पाठ है और सन् १९४१ के

१. 'हृदि' इति पा०।
२. 'प्राणापानौ' इति पा०।
३. 'मूत्रवहानां' इति पा०।
४. 'प्रतिष्ठितः' इति पा०।

संस्करण में 'प्राणापानौ' पाठ है; इतना होने पर भी दोनों स्थानों में श्रीचक्रपाणि की टीका को पूर्व संस्करण कर्ताओं ने निर्विकार भाव से उद्धृत किया है। श्रीचक्रपाणि ने 'प्राणापानौ' का अर्थ करते हुए निश्चिन्त होकर यह लिखा है—'प्राणापानौ–उच्छ्वासनिश्वासौ'। फिर वे आगे इन प्रसिद्ध नाम वाले शरीर के विशेष स्थानों पर आश्रित वायुओं के सम्बन्ध में दूसरों का मत उद्धृत करते हुए लिखते हैं, कि 'केचित्तु प्राणापानौ यथोक्तावेव वातौ प्राहुः; तत्रापानो यद्यपि मेढ्रश्रोण्याद्याश्रय एवेत्याहुः, तथापि हृदयाव्यतिरिक्तानुविधायित्वाद्धृदयाश्रित इत्युच्यते'। 'प्राणापानौ' का 'उच्छ्वासनिश्वासौ' अर्थ करने के बाद थोड़ा यह भी तो विचार करना चाहिए था कि क्या अपानवायु शब्द निश्वास अर्थ की अभिधेयता का निर्वाह कर पाता है, अथवा नहीं? 'अपान' का स्पष्ट अर्थ है—'अपानयति मलमूत्रादिकम्', अर्थात् जो मल, मूत्र आदि को नीचे की ओर ले जाये, उसे ही अपानवायु कहते हैं। हमारे विचार से इस क्लिष्ट कल्पना से अच्छा है कि प्राणवायु हृदयाश्रित और उदानवायु कण्ठाश्रित होता ही है, अतएव उसका पड़ोसी है, जो हृदय से सम्बन्धित होने में अधिक तर्कसंगत है। अतः यहाँ 'प्राणापानौ' पाठ से अधिक उपयुक्त पाठ 'प्राणोदानौ' प्रतीत होता है।

नाभ्यामरा इव—'अर' शब्द का बहुवचन 'अराः' है। इसे अंग्रेजी में स्पोक (Spoke) कहते हैं। जैसे—साइकिल के पहिये में तीलियाँ और चक्रनेमि के बीच में लगी हुई लकड़ियाँ होती हैं। जो यहाँ 'अपरा' पाठ को महत्त्व देते हैं, तदनुसार गर्भनाभि के चारों ओर 'अपरा' रहती है, उसी प्रकार ये 'अर' भी होते हैं। यहाँ हृदय को नाभि के सदृश मानकर उसके चारों ओर रहने वाली दस धमनियों, प्राण, उदान, मन, बुद्धि आदि को अरों (तीलियों) के समान कहा गया है। इस सम्बन्ध में सुश्रुत के विचार देखें—'यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम्। नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः'॥ और भी—'नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता। सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः'॥ सु० शा० अ० ७।४-५।

तत्र हृदये दश धमन्यः—इसका विस्तृत वर्णन महर्षि आत्रेय पहले इस प्रकार कर चुके हैं—'अर्थे दश
महामूलाः समासक्तामहाफलाः। महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः॥ षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्'॥ च० सू० अ० ३०।३ तथा ४। इसका वर्णन यथास्थान चरक-
चन्द्रिका टीका में देखें। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार यद्यपि यहाँ हृदय को दस धमनियों का आश्रय
माना है, वास्तव में यह (हृदय) सम्पूर्ण शरीरव्यापी धमनियों का प्रधान आश्रय है, मन ही सभी ज्ञानेन्द्रियों
एवं कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक है। मन का अधिष्ठान मस्तिष्क है। प्राणवहस्रोत से श्वासनली का ग्रहण किया जाता
है। वस्ति मूत्र तथा जलवाही स्रोतों का आधार है। विशेष देखें—अ० सं० चि० अ० १३।३२।

तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदादाश्वेव शरीरभेदः स्यात्, आश्रयनाशादाश्रितस्यापि विनाशः,
[1]तदुपघातात्तु घोरतरव्याधिप्रादुर्भावः; तस्मादेतानि विशेषेण रक्ष्याणि बाह्याभिघाताद्वातादिभ्यश्च ॥

मर्मरक्षा का महत्त्व—ऊपर कहे गये उन तीनों मर्मों में से किसी एक का भी भेद (टूटना, फटना,
नाश होना, आघात लगना, विंधना) हो जाय, तो शीघ्र ही शरीर का भी भेद (नाश) हो जाता है, क्योंकि
आश्रय के नाश होने पर आश्रित का भी नाश हो जाता है। यदि उन मर्मों में से किसी एक में भी किसी प्रकार
का आघात लग जाता है, तो भयंकर व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है, इसलिए इन तीनों (हृदय, वस्ति, शिर
नामक) मर्मों की बाहरी आघातों से तथा वात आदि दोषों से विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए।

वक्तव्य—तन्त्रकार की वर्णन-शैली पर जरा ध्यान दें—'भेदाद् भेदः, नाशाद् विनाशः'। यहाँ यदि भेद
और नाश को पर्यायवाचक मान लेंगे तो तन्त्रकार के दृष्टिकोण में अन्तर आ जायेगा। भेद शब्द 'भिदिर् द्वैधी-
करणे' धातु से निष्पन्न होता है, जिसके विभिन्न अर्थ हमने टीका में दिये हैं और नाश शब्द 'णश् अदर्शने' धातु से
बनता है, जिसका अर्थ होता है—न दिखलायी देना। इस न दिखलायी देने का आश्रय रोगी है, उसके मर्मों पर
आघात लगने से वह कुछ क्षणों के लिए बेहोश हो जाता है। इस उपघात की स्थिति सुश्रुतोक्त सद्योव्रण के सदृश
होती है। देखें—सु० चि० अ० २।८-९।

आश्रयनाशादाश्रितस्यापि विनाशः—शाखा तथा स्कन्ध में मर्म आश्रित (रहते) हैं और इन मर्मों
में शरीर आश्रित रहता है, अर्थात् मर्मों पर आघात पहुँचने पर शरीर का विनाश हो सकता है, इस प्रकार मर्म

१. 'तदुपतापात्तु' इति पा०।

और शरीर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यहाँ उपघात शब्द से किसी प्रकार की भी विकृति का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रसंग में 'सप्तोत्तरं मर्मशतम्' इस वाक्यांश का भी पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि कोई भी मर्म आघात लगने पर प्राणघातक हो सकता है। सामान्य-विशेष की चर्चा तो सभी अवसरों पर होती ही है। विशेष देखें—सद्यः प्राणहर आदि मर्मों का परिचय सु० शा० अ० ६।८ से १५ तक में।

तत्र हृद्यभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमाकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्माद-प्रलापचित्तनाशादयः स्युः; शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहोद्वेष्टनचेष्टानाशकासश्वास-हनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमीलनगण्डस्पन्दनजृम्भणलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि; वस्तौ तु वातमूत्रवर्चोनिग्रहवङ्क्षणमेहनवस्तिशूलकुण्डलोदावर्तगुल्मानिलाष्ठीलोपस्तम्भनाभिकुक्षिगुदश्रोणिग्रहा-दयः; वाताद्युपसृष्टानां त्वेषां लिङ्गानि चिकित्सिते सक्रियाविधीन्युक्तानि ॥ ६ ॥

१. हृदयमर्म पर आघात के लक्षण—हृदय-प्रदेश पर आघात लगने से कास, श्वास, बल की क्षीणता, गला का सूखना, क्लोम का नीचे की ओर को खिचाव होने का जैसा कष्ट होना (दो सौ दस सन्धियों में एक क्लोम भी है, देखें—'नाडीषु हृदयक्लोमनि बद्धास्त्वष्टादश'। सु० शा० अ० ५।२६।), जीभ का बाहर की ओर को निकलना, मुख तथा तालु-प्रदेश का सूखना, अपस्मार, उन्माद, प्रलाप (अंट-संट बकना), संज्ञानाश आदि लक्षण दिखलायी देते हैं।

२. शिरोमर्म पर आघात के लक्षण—शिरःप्रदेश पर आघात लगने से मन्यास्तम्भ (गरदन का जकड़ जाना), अर्दित (मुख-प्रदेश का लकवा), आँखों के सामने चक्करों का आना, मोह, अंगों का ढीला पड़ जाना या ऐंठन होना, चेष्टानाश, कास, श्वास, हनुग्रह, मूकता, गद्गद वचनों का बोलना, अक्षिनिमीलन (आँखों का मुँद जाना), गण्डस्थल में कंपन का होना, जँभाई का आना, मुख से निरन्तर लार का निकलना, स्वरभेद, मुख का टेढ़ा होना आदि लक्षण देखे जाते हैं।

३. वस्तिमर्म पर आघात के लक्षण—वस्ति-प्रदेश पर आघात लगने से अपानवायु, मूत्र तथा मल के निकलने में रुकावट (ध्यान दें, यह क्रम स्वस्थ अवस्था में अपानवायु आदि के निकलने का है, अस्वस्थ अवस्था का नहीं), वंक्षण, मूत्रेन्द्रिय तथा वस्ति-प्रदेश में शूल का होना, वस्तिकुण्डलरोग (यह मूत्राघात रोग का ही एक भेद है, देखें—माधवनिदान), उदावर्त, गुल्म, वाताष्ठीला, वस्ति-प्रदेश में जकड़न, नाभि, कुक्षि (पेट), गुद तथा श्रोणि-प्रदेश में जकड़न आदि रोग हो जाते हैं। इन मर्मस्थलों में होने वाले रोगों में वात आदि के लक्षण चरक-चिकित्सास्थान (अ० २६) में चिकित्सा के साथ कहे गये हैं।

वक्तव्य—शिरोमर्म पर आघात लगने से अर्दित (Facial paralysis) रोग हो जाता है। इस प्रकरण के अन्त में 'वदनजिह्मत्वादीनि' का तन्त्रकार ने जो पुनः पाठ किया है, उसको हम मुख का सामान्य रूप में टेढ़ा होना एक विशिष्ट लक्षण कह सकते हैं। अर्दित के विशेष परिचय के लिए च० सू० अ० २० तथा च० चि० अ० २८ देखें।

क्लोम-परिचय—'अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति। जलवाहिसिरामूलं तृष्णाच्छादन-कृन्मतम्'॥ भै० र० क्लोमरोगाधिकार १। अर्थात् हृदय से नीचे दाहिनी ओर 'क्लोम' रहता है। यह शरीर में जलवहन करने वाली सिराओं का मूल है, और पिपासास्थान है। आज के विद्वानों में क्लोम के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे ग्रसनी या फैरिंग्स (Pharynx) स्वीकार करते हैं। श्री गणनाथसेन इसे कंठनाड़ी या श्वासप्रणाली (Trachea) मानते हैं। पं० हरिप्रपन्नजी पित्ताशय या गालब्लाडर (Gall bladder) कहते हैं और अनेक चिकित्सक इसे अग्न्याशय या पैन्क्रियाज (Pancreas) कहते हैं। वास्तव में बांयी ओर आमाशय के नीचे स्थित होकर जो एक नाली से आकर अपने रस द्वारा भोजन को पचाने का कार्य करती है, उसी को क्लोम कहते हैं। यह नाली दक्षिणपार्श्व में आकर ग्रहणी में खुलती है। अतएव सुश्रुत के टीकाकार श्रीहाराणचन्द्र ने इस ग्रन्थि को हृदय के दक्षिण भाग में स्थित माना है, जैसा कि ऊपर दिये गये श्लोक में वर्णित है। आचार्य डल्हण भी पित्ताशय को ही क्लोम मानते हैं।

१. 'गुल्मवध्नानिल' इति पा०।

विशेष वक्तव्य—अग्निष्टोमयाग में पशु के शरीर में से याग के निमित्त कुछ शरीरावयवों को अखण्डित निकालने का विधान दिया गया है। उस अवसर पर वैदिककाल में शरीरावयवों का विस्तृत वर्णन देते हुए क्लोम के सम्बन्ध में दिये गये ये स्थल द्रष्टव्य हैं—क्लोमा (गलनाडी); कात्यायनश्रौतसूत्र क० भा० ६।७।११। 'हृदयसमीपस्थो मांसपिण्डविशेषः क्लोमा'। अ० सं० सा० भा० २।३३।६।

किन्त्वेतानि विशेषतोऽनिलाद्रक्ष्याणि, अनिलो हि पित्तकफसमुदीरणे हेतुः प्राणमूलं च, स वस्तिकर्मसाध्यतमः, तस्मान्न वस्तिसमं किञ्चित् कर्म मर्मपरिपालनमस्ति। तत्र षडास्थापनस्कन्धान् विमाने द्वौ चानुवासनस्कन्धाविह च विहितान् वस्तीन् बुद्ध्या विचार्य महामर्मपरिपालनार्थं प्रयोजयेद् वातव्याधिचिकित्सां च ॥ ७ ॥

मर्मस्थानों की वातदोष से रक्षा—किन्तु उपर्युक्त मर्मस्थानों की विशेष करके वातदोष से रक्षा करनी चाहिए। वातदोष पित्त तथा कफ को उभाड़ने में कारण होता है और वायु ही प्राण (जीवन) का मूल होता है। कुपित हुए वातदोष को शान्त करने के लिए वस्तिकर्म अर्थात् वस्ति-चिकित्सा से बढ़कर कोई अन्य उत्तम उपाय मर्मों की रक्षा के लिए नहीं है। चरक-विमानस्थान अध्याय ८, श्लोक १३९ से १४४ तक कहे गये ६ आस्थापनस्कन्धों में तथा उसके आगे गद्य १५० में २ अनुवासनस्कन्धों का वर्णन किया जा चुका है एवं इस सिद्धिस्थान में कही गयी वस्तियों का अपनी विवेकपूर्ण बुद्धि से विचार कर महामर्मों (हृदय, वस्ति, शिर) का परितः पालन करने के लिए इन उपर्युक्त चिकित्सा-विधियों का और वातव्याधि चिकित्सा-प्रकरण में जिन-जिन चिकित्सा-विधियों का निर्देश किया गया है, उनका भी यथावसर प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वायु का गुण चल है, अतएव वह अपने प्रभाव से कफ तथा पित्तदोष को उभाड़ता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सहायक होता है। इसीलिए कहा गया है—'दोषधातुमलादीनां नेता शीघ्रः समीरणः। रजोगुणमयः सूक्ष्मो रूक्षः शीतो लघुश्चलः' ॥ भा० प्र० पू० खं० प्र० २।१११। **प्राणमूलं च**—शरीर में रहने वाले पाँचों वायुओं को पञ्चप्राण कहते हैं। इन्हीं के प्रतिकूल होने पर प्राणसंकट उपस्थित हो जाता है। वस्तिकर्म को साध्यतम कहकर यहाँ वस्ति-चिकित्सा को वातशामक चिकित्साओं में श्रेष्ठ कहा गया है। सामान्य रूप से—१. प्राण, २. अपान, ३. उदान, ४. समान, ५. व्यान भेद से पाँच वायुएँ होती हैं। मतान्तर से पाँच वायुएँ और भी होती हैं—१. नाग, २. कूर्म्म, ३. कृकल, ४. देवदत्त, ५. धनञ्जय।

[1]भूयश्च हृद्युपसृष्टे हिङ्गुचूर्णं लवणानामन्यतमचूर्णसंयुक्तं [2]मातुलुङ्गस्य रसेनान्येन वाऽम्लेन हृद्येन वा पाययेत्, स्थिरादिपञ्चमूलीरसः सशर्करः पानार्थं, बिल्वादिपञ्चमूलरससिद्धा च यवागूः; मूर्ध्नि तु वातोपसृष्टेऽभ्यङ्गस्वेदनोपनाहस्नेहपाननस्तःकर्मावपीडनधूमादीनि; हृद्रोगविहितं च कर्म; वस्तौ तु कुम्भीस्वेदः, वर्तयः, श्यामादिभिर्गोमूत्रसिद्धो निरूहः, बिल्वादिभिश्च सुरासिद्धः, शरकाशेक्षुद-र्भगोक्षुरकमूल[3]शृतक्षीरैश्च त्रपुसैर्वारुखराश्वाबीजयवर्षभकवृद्धिकल्कितो निरूहः, पीतदारुसिद्धतैलेनानु-वासनं, तैल्वकं च सर्पिर्विरेकार्थं, शतावरीगोक्षुरकबृहतीकण्टकारिकागुडूचीपुनर्नवोशीरमधुकद्विसारिवा-लोध्रश्रेयसीकुशकाशमूलकषायक्षीरचतुर्गुणं बलावृषर्षभकखराश्वोपकुञ्चिकावत्सकत्रपुसैर्वारुबीजशिति-वारकमधुकवचाशतपुष्पाश्मभेदकवर्षाभूमदनफलकल्कसिद्धं तैलमुत्तरवस्तिर्निरूहो वा शुद्धस्निग्ध-स्विन्नस्य वस्तिशूलमूत्रविकारहर इति ॥ ८ ॥

१. हृदयमर्माघात-चिकित्सा—यदि हृदयमर्म वात आदि दोषों से दूषित हो गया हो, तो घी में भुनी हुई हींग के चूर्ण को पाँचों नमकों में से किसी एक नमक के कपड़छन चूर्ण के साथ मिलाकर उसे बिजौरानीबू के या अन्य किसी अम्ल (दाडिम आदि) के रस में मिलाकर अथवा इनसे भी अन्य किसी रस में मिलाकर जो

१. 'भूयश्च हृद्युपसृष्टे वातेन हिङ्गुचूर्णलवणानामन्यतमचूर्णसंयुक्तां पेयां मातुलुङ्गरसेनान्येन वाऽम्लेन हृद्येन वा पाययेद्' इति पा०।

२. 'मातुलुङ्गरसेनाज्येन वा बिल्वादिस्थिरादिपञ्चमूलरससिद्धा यवागूः' इति पा०।

३. 'शृतक्षीरं च' इति पा०।

हृदय के लिए हितकर हो, पीने के लिए रोगी को दें या स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू) लघुपञ्चमूल के क्वाथ में मिलाकर पीने के लिए दें या बिल्वादि पञ्चमूल (बेल की गुद्दी, श्योनाक, गम्भार, पाटला, गणिकारिका) के विधिवत् बनाये गये क्वाथरस से पकायी गयी यवागू का निर्माण कर खाने के लिए रोगी को दें। इन चिकित्साओं के अतिरिक्त हृद्रोग-चिकित्सा-प्रकरण (च० चि० अ० २६) में निर्दिष्ट चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिए।

२. **शिरोमर्माघात-चिकित्सा**—यदि शिरोमर्म वात आदि दोषों से दूषित हो गया हो, तो शिरःप्रदेश में वातहर तैलों का अभ्यंग (मालिश) अर्थात् स्नेहन, स्वेदन, उपनाह (यह भी एक प्रकार का स्वेदन ही है। देखें—च० सू० अ० १४।३५-३६; सु० चि० अ० १।२३ तथा शा० सं० उ० खं० अ० २।२२-२८), स्नेहपान, नस्यकर्म, अवपीड नस्य (वातनाशक द्रव्यों के स्वरस को नाक में डालना) तथा धूमपान का प्रयोग करना चाहिए।

३. **वस्तिमर्माघात-चिकित्सा**—यदि वस्तिमर्म वात आदि दोषों से दूषित हो गया हो, कुम्भीस्वेद (च० सू० अ० १४।५६-५८), गुदवर्तियों का प्रयोग (च० सि० अ० ८ में देखें), कालीनिशोथ आदि (देखें—च० क० अ० १।६) नौ द्रव्य जिनका उल्लेख कल्पस्थान में किया गया है, उनके यथाविधि बनाये गये क्वाथरस में गोमूत्र मिलाकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। बिल्वादि (च० सि० अ० ७।११) द्रव्यों में सुरा मिलाकर निरूहवस्ति दें। शर (सरपत) की जड़, काश की जड़, ईख की जड़, कुश की जड़, गोखरू की जड़, इनको समान भाग लेकर जौकुट करके इनका कल्क तैयार करें, उससे पकाये गये दूध में खीरे के बीज, ककड़ी के बीज, अजवाइन के बीज, जौ, ऋषभक, वृद्धि इनको समभाग लेकर इनका कल्क बनाकर मथनी से मथकर उक्त रोगी को निरूहवस्ति देनी चाहिए तथा देवदारु के कल्क द्वारा तैयार किये गये तिलतैल द्वारा उसे अनुवासनवस्ति देनी चाहिए और विरेचन कराने के लिए तैल्वकसर्पि (च० क० अ० ९ श्लोक १६ में उक्त घृत का वर्णन किया गया है, इसे चरक-चन्द्रिका टीका में देखें। इसी को तिल्वकघृत भी कहते हैं), शतावरी, गोखरू, बड़ीकटेरी, भटकटैया, गुरुच, पुनर्नवा, खश, मुलेठी, दोनों सारिवा (सफेद सारिवा, काली सारिवा), लोध, गजपीपल, कुश की जड़, काश की जड़, इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर जौकुट करके आवश्यकतानुसार क्वाथ बनायें, इसे छानकर तेल से चौगुना मिलायें और क्वाथ के बराबर इसमें गाय का दूध मिलायें; बरियारा की जड़, अडूसा, ऋषभक, अजवाइन, मंगरैला, इन्द्रजौ, खीरा के बीज, ककड़ी के बीज, शितिवारक (शालिञ्च) के बीज, मुलेठी, वच, सोया, पाषाणभेद, पुनर्नवा, मैनफल इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर आवश्यकतानुसार कल्क बनाकर उसमें से तेल से चौथाई भाग कल्क लेकर विधिपूर्वक तिलतैल का पाक करें, यथोचित पाक हो जानेपर उसे छानकर रख लें। इस तेल का प्रयोग उत्तरवस्ति अथवा निरूहवस्ति के रूप में करें। संशोधन कराने के बाद भी यदि वस्ति-प्रदेश में शूल होता हो अथवा किसी प्रकार का मूत्रविकार उत्पन्न हो गया हो, तो ऐसे पुरुष को पुनः स्नेहन, स्वेदन कराकर ऊपर कहे गये तेल की उत्तरवस्ति दें, इससे मूत्रविकार दूर होता है। यदि वस्तिशूल उत्पन्न हो तो उसे उक्त तेल द्वारा निरूहवस्ति दें। इनके प्रयोग से मूत्रविकार तथा शूल की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—उक्त योग में बिल्वादि शब्द दो बार आया है। पहली बार का प्रयोग तो स्पष्ट है—'बिल्वादि-पञ्चमूलरससिद्धा च यवागूः'। दूसरी बार 'बिल्वादिमिश्र सुरासिद्धः' है। यहाँ कुछ टीकाकार पुनः 'बिल्वादि-पञ्चमूल' का ही ग्रहण करते हैं, दूसरे च० सि० अ० ७ के ११वें श्लोक द्वारा कहे गये 'बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयव-कोलकुलत्थवान्। सुरादिमूत्रवान् वस्तिः स प्राक् पेष्यस्तमानयेत्' ॥ का ग्रहण करते हैं। वास्तव में दूसरे बिल्वादि से चरक-सिद्धिस्थान अध्याय ७ श्लोक ११ के द्रव्यों का ही ग्रहण करना चाहिए। यही श्रीचक्रपाणि का भी मत है। यही तन्त्रकार को भी अभीष्ट रहा होगा।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

हृदये मूर्ध्नि वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः। तस्मात् तेषां सदा [1]यत्नं कुर्वीत परिपालने ॥
आबाधवर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम्। उत्पन्नार्तिविघातश्च मर्मणां परिपालनम् ॥१०॥

१. 'यत्नात् कुर्वीत परिपालनम्' इति पा०।

मर्म-रक्षा का विशेष निर्देश—इस सम्बन्ध में यहाँ कतिपय श्लोक दिये गये हैं—हृदय, शिर, वस्ति इन प्रधान मर्मस्थलों में विशेष करके मनुष्यों के प्राण प्रतिष्ठित (आधारित) रहते हैं। इसलिए उक्त मर्मस्थलों की रक्षा का पूर्णरूप से ध्यान रखना चाहिए। अर्थात् यदि जीवित रहने की इच्छा हो, तो इन प्राणों के प्रमुख आधारस्वरूप तीन मर्मस्थलों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी ही चाहिए।

मर्मस्थलों की रक्षा-विधि—जिन कारणों से मर्म-प्रदेशों में बाधा उत्पन्न न होती हो, जिन उपायों से मनुष्य सदैव स्वस्थ रह सके और जिन कारणों से उत्पन्न हुई पीडाओं की शान्ति हो सके, उन सभी विधियों से मर्मों की रक्षा की जा सकती है। यहाँ 'आबाध' शब्द से 'आघात' का भी संकेत समझ लेना चाहिए। अतः आघातों से भी बचाने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

वक्तव्य—'भवन्ति चात्र श्लोकाः' की सीमा के अन्तर्गत ऊपर के दो ही श्लोक आते हैं। इस दृष्टि से 'भवतः चात्र श्लोकौ' ऐसा होना चाहिए था। 'अत ऊर्ध्वं……सौषधान्' ॥ यदि हम इस ग्यारहवें पद्य को तीसरा मान भी लें तो श्रीचक्रपाणि की टीका का विभाजन-प्रकार भी हमें उक्त ११वें श्लोक को तीसरे श्लोक के रूप में ग्रहण करने के लिए रोकता है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त ११वाँ श्लोक निश्चित ही 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' की भाषा-शैली की परिधि के बाहर है, क्योंकि वह श्लोक अगले विषयों की प्रस्तावना के प्रस्तावक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अत ऊर्ध्वं विकारा ये त्रिमर्मीये चिकित्सिते। न प्रोक्ता मर्मजास्तेषां कांश्चिद् वक्ष्यामि सौषधान् ॥

अनुक्तविषय का प्रतिपादन—इसके आगे चरक-चिकित्सास्थान के त्रिमर्मीय-चिकित्सा नामक २६वें अध्याय में जिन मर्मज रोगों का वर्णन नहीं किया जा सका था, उनमें से कुछ रोगों का चिकित्सा के साथ में यहाँ वर्णन कर रहा हूँ।

वक्तव्य—तन्त्रकार यह स्वीकार करते हैं, कि वे चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २६ में उक्त तीन मर्मों में होने वाले सभी रोगों का वर्णन नहीं कर पाये हैं, अतः उनमें से कुछ रोगों का चिकित्सा सहित वर्णन यहाँ कर रहे हैं। इस शब्दावली से यह परिज्ञात होता है, कि मर्मों में होने वाले समस्त रोगों का वर्णन वे यहाँ भी नहीं कर पाये हैं और यह सत्य भी है। अनन्त का अन्त कर देना मानव-बुद्धि से परे होता ही है, जिसे हमारे आचार्य स्वीकार करते हैं।

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते। पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ॥१२॥
धनुर्वन्नमयेद् गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत् तथा।
([1]नमयेच्चाक्षिपेच्चाङ्गान्युच्छ्वासं निरुणद्धि च ॥)
कृच्छ्रेण चाप्युच्छ्वसिति स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः[2] ॥ १३ ॥
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः। दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ॥१४॥
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः। वायुना दारुणं प्राहुरेके तमपतानकम् ॥१५॥

अपतन्त्रक की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुआ वातदोष अपने स्थान (पक्वाशय) से जब ऊपर की ओर को जाने लगता है, तब वह हृदय में पहुँचकर उसे पीड़ित करता हुआ शिर तथा शंखप्रदेश में पहुँचकर उन्हें पीड़ित करता हुआ शरीर के अवयवों को धनुष के समान झुका देता है और साथ ही रोगी को बेहोश कर देता है। (जब वायुदोष शरीर को झुका देता है अर्थात् आक्षेप पैदा कर देता है, तब उस समय श्वास-उच्छ्वास की क्रिया बन्द हो जाती है) अथवा अत्यन्त कठिनता से कभी साँस लेने लगता है, उसकी आँखें जकड़ (पथरा) जाती हैं, या आँखें मुँद जाती हैं। तदनन्तर वह रोगी कबूतर की भाँति कहरने लगता है और बेहोश हो जाता है। इस रोग को 'अपतन्त्र' या 'अपतन्त्रक' कहते हैं।

अपतानकरोग की सम्प्राप्ति तथा लक्षण—जब प्रकुपित वातदोष रोगी के नेत्रों को जकड़कर संज्ञा (ज्ञान या होश) को नष्ट कर देता है तो वह कण्ठ से कबूतर की भाँति कहरता रहता है, जब वह वातदोष

१. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।
२. 'उच्छ्वसिति च कृच्छ्रेण स्तब्धाक्षोऽथानिमीलनः'।

हृदय से हट जाता है, तब रोगी स्वास्थ्य-लाभ का अनुभव करता है, जब वायु का वेग पुनः हृदय को घेर लेता
है, अर्थात् जब पुनः वायु का दौरा होता है, तो वह फिर बेहोश हो जाता है। कुछ विद्वान् वायु से होने वाले
इस दारुण (भयंकर) रोग को 'अपतानक' कहते हैं।

वक्तव्य—श्रीमाधवकर की दृष्टि में अपतन्त्रक और अपतानक ये रोग आक्षेपक रोग के ही अवस्था-विशेष
हैं। आक्षेपक रोग चार प्रकार का होता है—१. दण्डापतानक, २. अभ्यन्तरायाम, ३. बहिरायाम तथा ४. अभि-
घातज। यद्यपि श्रीदृढबल ने आक्षेपक से पहले अन्तरायाम तथा बहिरायाम की चर्चा की है, किन्तु सुश्रुत ने
पहले आक्षेपक की चर्चा करके बाद में अपतानक आदि रोगों की चर्चा की है। देखें—सु० नि० अ० १।५० से
६६ तक। वास्तव में शुद्ध वातदोष-जनित 'अपतानक' रोग है और कफ युक्त वातजनित विकार 'अपतन्त्रक' है।
इस प्रसंग में वृद्धवाग्भट द्वारा किये गये आक्षेप आदि रोगों का वर्णन भी देखें—अ० सं० नि० अ० १५।१८ से २८
तक। इसकी चर्चा 'योगरत्नाकर' में भी है, उसका भी अवलोकन कर लें।

विशेष वक्तव्य—जिस रोग के कारण रोगी अस्वाधीन हो जाता है, अर्थात् सब प्रकार से पराधीन हो
जाता है, उसे अपतन्त्रक कहते हैं। जिस रोग में शरीर के सभी अवयवों में तनाव (खिंचाव) होने लगता है,
उसे 'अपतानक' कहते हैं। रोगी के शब्दों में नाभि के नीचे (वस्ति-प्रदेशगत पक्वाशय) से धुआँ-सा उठता है
और वह हृदय-प्रदेश से टकराता हुआ कण्ठ में आकर अड़ जाता है, ढक्कन-सा लग जाता है, जिसके कारण
ऊपर कहे गये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी भीतर से रोगी को संज्ञा (होश) बनी रहती है, फिर
भी वह बोल नहीं सकता, गले में घर्-घर् आवाज होने लगती है, श्वास-प्रश्वास में कठिनाई का अनुभव होने
लगता है, कभी-कभी रोगी के शरीर में आक्षेप तथा तनाव होने लगता है और कभी इनका अभाव भी होता है।

यूनानी चिकित्सा-ग्रन्थों में इस रोग को 'इख्तनाक उल रहम' कहा है, जिसका अर्थ होता है—गर्भाशय
की ऐंठन या तनाव। इसी भावना से प्रेरित एलोपैथी ग्रन्थों में इसे हिस्टीरिया (Hysteria) संज्ञा दी गयी है।
यह ग्रीक भाषा के 'इस्टेरा' शब्द से लिया गया है। इसका अर्थ होता है—गर्भाशय। इसी से प्रभावित होकर
कुछ बंगाली वैद्यों ने इसे 'योषापस्मार' कहना आरम्भ कर दिया। परन्तु सन् १९१८ के आस-पास श्रीनानकचन्द
जी (लाहौर) ने 'योषापस्मार' संज्ञा को अशास्त्रीय सिद्ध करके पुनः इसे 'अपतन्त्रक' की संज्ञा दी। श्रीयादवजी
त्रिक्रमजी आचार्य ने श्रीनानकचन्द जी के शास्त्रीय वक्तव्य का हार्दिक समर्थन किया। अब तो ऐलोपैथ भी
मानने लगे हैं कि यह केवल गर्भाशय अतएव नारियों का ही रोग नहीं है, क्योंकि यह रोग स्त्री-पुरुषों में समान-
रूप से पाया जाता है।

दूसरा दृष्टिकोण—सु० नि० अ० १ में इसे वातव्याधि स्वीकार किया गया है और जतूकर्ण ने इसे वातकफ-
विकार कहा है। यथा—'वातकफाभ्यां हृच्छिरःशङ्खपीडनानमनाङ्गाक्षेपप्रमोहाक्षिस्तम्भनिमीलनकृच्छ्रोच्छ्वास-
कूजनान्यपतन्त्रके'। चक्रपाणि। उपर्युक्त तीनों ऋषिवाक्यों से यह तो प्रमाणित होता ही है कि उक्त रोग का
प्रभाव हृदय, शिर तथा वस्ति इन तीनों मर्मों पर होता है, उनमें भी विशेषरूप से हृदय पर उक्त रोग का प्रभाव
पड़ता है। ध्यान दें, इस रोग का प्रभाव वस्ति-प्रदेश पर इस रूप में देखा जाता है—कभी-कभी वेग के समय में
मल-मूत्र अपने से निकल आता है, कभी-कभी इनमें रुकावट पैदा हो जाती हैं और कभी-कभी वस्तिप्रदेश में मरोड़
होने से गर्भपात होते भी देखा गया है।

श्वसनं कफवाताभ्यां रुद्धं तस्य[1] विमोक्षयेत्। तीक्ष्णैः प्रधमनैः संज्ञां तासु मुक्तासु विन्दति ॥

अपतन्त्रक-चिकित्सा—अग्निवेश! इस रोग में सबसे पहले कफ तथा वायु (अपानवायु) द्वारा रुके
हुए श्वसन (प्राण तथा उदानवायु) को तीक्ष्ण प्रधमन नस्यों द्वारा प्रवृत्त (चालू) करें। जिसके फलस्वरूप
श्वास-प्रश्वास की रुकावट दूर हो जाय। बार-बार दी गयी इन्हीं प्रधमननस्यों द्वारा कफ एवं वायु का वहन करने
वाली प्रणालियों (श्रीचक्रपाणि के अनुसार संज्ञावहा धमनियों) के मुक्त (रुकावट रहित) हो जाने पर रोगी
पुनः संज्ञा (होश) को प्राप्त कर लेता है।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट के अनुसार अपतन्त्रक चिकित्सा के लिए देखें—अ० सं० चि० अ० २३।१९।

---

१. 'श्वसनः कफवाताभ्यां रुद्धस्तं च' इति पा०।

मरिचं शिग्रुबीजानि विडङ्गं च फणिज्झकम्। एतानि सूक्ष्मचूर्णानि दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥१७॥

शिरोविरेचन-नस्य—कालीमिर्च, सहिजन के बीज, वायविडंग, फणिज्झक (दवना) के बीज, इन सभी
द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण की प्रधमन नस्य लेने से शिर में स्थित कफदोष
निकल जाता है, फलतः रोगी की मूर्च्छा दूर हो जाती है।

वक्तव्य—इस प्रकार के रोगों की चिकित्सा के लिए सु० चि० अ० ५ देखें। शिरोविरेचन के लिए उसी
प्रसंग में देखें—'वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रध्मापनैर्मोक्षयेत्'। वही, ५।२१। यह विधि अपतन्त्रक रोग में
प्रयुक्त होती है। अपतानक की चिकित्सा का निर्देश सुश्रुत में पहले इस प्रकार किया गया है—'तत्र प्रागेव
स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नशरीरमवपीडनेन तीक्ष्णेनोपक्रमेत शिरःशुद्ध्यर्थम्'। वही, ५।१८। वृद्धवाग्भट ने फणिज्झक के
स्थान पर व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल) के प्रयोग का विधान किया है। देखें—अ० सं० चि० अ० २३।१५।

[1]तुम्बुरूण्यभया हिङ्गु पौष्करं लवणत्रयम्। यवक्वाथाम्बुना पेयं [2]हृद्ग्रहे चापतन्त्रके ॥१८॥

अपतन्त्रकनाशक क्वाथ—धनियाँ, हरड़, हींग, पोहकरमूल, सेंधानमक, सोंचरनमक, विड
(विरिया) नमक, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मात्रा के अनुसार
लेकर जौ के क्वाथ से पीना चाहिए। इसका सेवन करने से हृद्ग्रह (हृदय की पीड़ा) तथा अपतन्त्रक रोग
शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—इस प्रसंग के विशेष विवेचन के लिए सु० चि० अ० ५ तथा अ० सं० चि० अ० २३ को देखें।

हिङ्ग्वम्लवेतसं शुण्ठीं ससौवर्चलदाडिमम्। पिबेद् वातकफघ्नं च कर्म हृद्रोगनुद्धितम् ॥१९॥

हिङ्ग्वादि चूर्ण—घी में भुनी हुई हींग, अम्लवेत, सोंठ, सौवर्चल (सोंचर) नमक, दाड़िम (खट्टा
अनारदाना), इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। मात्रा के अनुसार इस चूर्ण को
लेकर ऊपर कहे गये जौ के क्वाथरस से इसे पीना चाहिए। इससे वात तथा कफदोष का नाश होता है। यह
चूर्ण हृदयरोग तथा अपतन्त्रकरोग का विनाश कर देता है।

[3]शोधना वस्तयस्तीक्ष्णा न हितास्तस्य कृत्स्नशः। सौवर्चलाभयाव्योषैः सिद्धं तस्मै घृतं हितम् ॥

अपतन्त्रकनाशक घृत—अपतन्त्रक के रोगियों के लिए शोधनकारक तीक्ष्ण वस्तियाँ किसी भी प्रकार
हितकर नहीं होती हैं। उनके लिए सोंचरनमक, हरड़, सोंठ, पीपर, मरिच इनके कल्क द्वारा विधिपूर्वक तैयार
किया गया घी हितकारक होता है।

वक्तव्य—सिद्धिस्थान में मृदु तथा तीक्ष्ण भेद से दो प्रकार की वस्तियों का वर्णन किया गया है।
अपतन्त्रक रोगियों के लिए ऊपर शब्दतः तीक्ष्णवस्तियों के प्रयोग का निषेध किया गया है। अतः यदि संशोधन
कराना आवश्यक हो तो मृदुवस्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। वात का शमन करने के लिए वस्ति की
प्रधानता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। अपतन्त्रक में शोधन की दृष्टि से वमन-विरेचन का प्रयोग कराया जा सकता
है। श्रीगंगाधर के अनुसार तीक्ष्णवस्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। यथा—'शोधना वस्तयस्तीक्ष्णा हिता
स्तस्य च कृत्स्नशः'॥ वृद्धवाग्भट के अनुसार भी अपतन्त्रक के रोगी को शोधन के लिए वस्तियों का प्रयोग
नहीं कराना चाहिए। देखें—'न चास्य शोधनार्थं वस्तयस्तीक्ष्णाः प्रयोक्तव्याः'। अ० सं० चि० अ० २३।२२।
इसी के पहले इन्होंने 'सौवर्चलाभयाव्योषसिद्धं सर्पिः' (वही, २३।२१) का विधान किया है, जो तन्त्रकार के
अनुकूल है। सुश्रुत के अनुसार—'पथ्याशतार्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिः प्रस्थं सिद्धम्। सु० चि०
अ० ५।११। इन सभी तर्कों को देखकर श्रीगंगाधर का तीक्ष्णवस्ति-समर्थक उक्त परिवर्तित पाठ श्रद्धास्पद प्रतीत
नहीं हो रहा है। आप भी विचार करें।

मधुरस्निग्धगुर्वन्नसेवनाच्चिन्तनाच्छ्रमात्[5]। शोकाद् व्याध्यनुषङ्गाच्च वायुनोदीरितः कफः'

---

१. 'हिङ्गु तुम्बुरु पथ्या च' इति पा०।
२. 'हृत्पार्श्वार्त्यपतन्त्रके' इति पा०।
३. 'शोधने' इति पा०।
४. 'गुर्वम्ल' इति पा०।
५. 'द्भयात' इति पा०।

यदाऽसौ समवस्कन्द्य हृदयं हृदयाश्रयान् । समावृणोति ज्ञानार्थांस्तदा तन्द्रोपजायते ॥२२॥

तन्द्रा का निदान तथा सम्प्राप्ति—मधुर, स्निग्ध (स्नेहयुक्त) एवं गुरु अन्नों का सेवन करने से, अधिक चिन्ता करने से, अधिक परिश्रम तथा अधिक शोक करने से किसी रोग से दीर्घकाल से सम्बन्धित रहने से प्रकुपित हुई वायु कफ को प्रेरित कर जब हृदय-प्रदेश तक आ जाती है, तब हृदय में आश्रित ज्ञान (संज्ञा)-वाही स्रोतों को घेरकर तन्द्रा रोग को उत्पन्न कर देती है।

हृदये व्याकुलीभावो वाक्चेष्टेन्द्रियगौरवम् । मनोबुद्ध्यप्रसादश्च तन्द्राया लक्षणं मतम् ॥२३॥

तन्द्रा के लक्षण—जब प्रकुपित वायु अपने साथ कफदोष को लेकर हृदय-प्रदेश में चली जाती है, तो उस समय हृदय व्याकुल हो उठता है। इसके फलस्वरूप बोलने में, शारीरिक चेष्टाओं में तथा इन्द्रियों के कार्यों में भारीपन आ जाता है, मन और बुद्धि में मलिनता आ जाती है, अर्थात् प्रसन्नता का अभाव हो जाता है—ये सभी तन्द्रा के लक्षण हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने तन्द्रा के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—'इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्' ॥ सु० शा० अ० ४।४९। इसके आगे सुश्रुत ने संक्षेप में तन्द्रा का परिचय इस प्रकार दिया है—'तमोवातकफात् तन्द्रा'। वही, ४।५६। अर्थात् जब शरीर में तमोगुण, वातदोष और कफदोष परस्पर सम्मिलित हो जाते हैं, तब जो लक्षण उत्पन्न होता है, उसे तन्द्रा (Sleepiness) कहते हैं। इसके बाद ही निद्रा आरम्भ होती है। वास्तव में निद्रा का पूर्वरूप ही तन्द्रा (ऊँघ) है।

कफघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च । व्यायामो रक्तमोक्षश्च भोज्यं च कटुतिक्तकम् ॥२४॥

तन्द्रा की चिकित्सा—तन्द्रा रोग में कफनाशक, शोधन (कफ आदि को निकालने अथवा), शमन (दोषों को शान्त करने वाली) चिकित्सा करनी चाहिए। इसमें व्यायाम एवं रक्तमोक्षण करायें तथा कटु एवं तिक्तरस-प्रधान आहारद्रव्यों को खिलायें।

वक्तव्य—प्रतिदिन आने वाली निद्रा जिसे महर्षि सुश्रुत ने वैष्णवी-निद्रा कहा है, उसके पूर्व जो तन्द्रा का आभास होता है, उसकी चिकित्सा का यह वर्णन नहीं है, न उसकी चिकित्सा ही करनी चाहिए। वास्तविक निद्रा हितकर होती है। इसका परिचय च० सू० अ० २१।३५, ५८, ५९ तथा सु० शा० अ० ४।३३ से ४६ तक देखें।

[१]मूत्रौकसादो जठरं कृच्छ्रमुत्सङ्गसङ्क्षयौ । मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वातवस्त्युष्णमारुतौ ॥२५॥
वातकुण्डलिका ग्रन्थिर्विड्घातो वस्तिकुण्डलम् । त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्ताँल्लिङ्गतः शृणु ॥

वस्तिरोगों की गणना—१. मूत्रौकसाद (या मूत्रैकसाद), २. मूत्रजठर, ३. मूत्रकृच्छ्र, ४. मूत्रोत्सङ्ग, ५. मूत्रक्षय, ६. मूत्रातीत, ७. वाताष्ठीला, ८. वातवस्ति, ९. उष्णवात, १०. वातकुण्डलिका, ११. मूत्रग्रन्थि, १२. विड्विघात, १३. वस्तिकुण्डल—ये तेरह मूत्र के दोष हैं। इनको लक्षणों के अनुसार सुनो।

वक्तव्य—हृदय तथा शिर नामक दो मर्मों में होने वाले रोगों तथा उनकी चिकित्साओं का वर्णन करने के बाद अब क्रम-प्राप्त वस्तिरोगों का वर्णन किया जा रहा है। उक्त १३ दोष जो कहे गये हैं, वे मूत्रविकार-कारक तथा मूत्राशय में विकारों को उत्पन्न करने वाले हैं। सुश्रुत के अनुसार मूत्राघात के बारह भेद होते हैं—१. वातकुण्डलिका, २. अष्ठीला, ३. वातवस्ति, ४. मूत्रातीत, ५. मूत्रजठर, ६. मूत्रोत्सङ्ग, ७. मूत्रक्षय, ८. मूत्रग्रन्थि, ९. मूत्रशुक्र, १०. उष्णवात, ११. पित्तज मूत्रौकसाद, १२. कफज मूत्रौकसाद (सु० उ० अ० ५८।३-४)। सुश्रुत ने चरकोक्त वाताष्ठीला को केवल 'अष्ठीला' (गोलमटोल पत्थर) कहा है। सम्भवतः यहाँ मूत्राशय में उत्पन्न उक्त गाँठ की कठोरता के कारण इसका यह नामकरण किया हो। वाताष्ठीला 'प्रोस्टेट ग्लैण्ड' से उत्पन्न एक प्रकार का मूत्राघात है। ध्यान देने की बात यह है, कि इस रोग में जब रोगी का ध्यान इधर-उधर लगा रहता है उस समय यदि रोगी पेशाब कर लेता है, तो आसानी रहती है। ऐसे समय में वह अष्ठीला अधिक बाधक नहीं होती और जब रोगी ध्यानपूर्वक पेशाब करने बैठता है, तो वह मूत्रमार्ग पर अवरोध (रुकावट) पैदा कर देती है। चरक

१. 'मूत्रैकसादो' इति पा०।

में जो १३ वस्तिरोगों की गणना की है, उनमें एक 'वस्तिकुण्डल' नामक रोग भी है। इसे आगे चलकर इन्होंने इसी अध्याय के ४६वें श्लोक में 'घोरं शस्त्रविषोपमम्' तथा 'दुर्निवारमबुद्धिभिः' कहकर असाध्य जैसा कह डाला है। ऐसा लगता है, कि महर्षि सुश्रुत ने इसीलिए उसका वर्णन ही नहीं किया है। चरक के 'मूत्रकृच्छ्र' के स्थान पर सुश्रुत ने 'मूत्रशुक्र' रोग का वर्णन किया है। मूत्रकृच्छ्र के विविध भेदों का वर्णन चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २६ में हो चुका है, इस दृष्टि से सुश्रुतोक्त 'मूत्रशुक्र' भेद अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हो रहा है, क्योंकि तन्त्रकार द्वारा इसी अध्याय के ११वें श्लोक में की गयी प्रतिज्ञा के विरुद्ध यह 'मूत्रकृच्छ्र' रोग है और आगे ३२वें श्लोक में दिया गया मूत्रकृच्छ्र का परिचय भी 'मूत्रशुक्र' रोग की ही पुष्टि कर रहा है। क्या यह सम्पादक परम्परा का प्रमाद ही तो नहीं है? कुछ टीकाकारों ने यह लिखा है कि ये तेरह रोग 'त्रिमर्मीय' अध्याय में कहे गये रोगों से भिन्न हैं।

समाधान—अभी तक दूसरे टीकाकारों द्वारा उलझाया हुआ विषय पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया था। अब हम यहाँ तलस्पर्शिनी दृष्टि द्वारा प्राप्त समाधान आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। सभी टीकाकारों ने गतानुगतिक चर्चा करके तन्त्रकार की तात्त्विक दृष्टि पर विचार-संचार नहीं किया। आप देखें—चरक चिकित्सास्थान अध्याय २६ में आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों का वर्णन किया है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. अश्मरीज, ६. शर्कराज, ७. शुक्रज, ८. रक्तज। चरक-सूत्रस्थान अध्याय १९ में इन्हीं को आठ मूत्राघात इस प्रकार कहा है—'अष्टौ मूत्राघाता इति, वातपित्तकफसन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितजाः'। गद्य ४। अस्तु। अब आप च० चि० अ० २६ श्लोक ३२ से ४४ तक के श्लोकों का पर्यवेक्षण करें और इन पर लिखी गयी चरक-चन्द्रिका व्याख्या का अध्ययन करें, साथ ही चरक-सिद्धिस्थान अ० ९ के ३२वें श्लोक और उसकी टीका का मनन करें। उसके बाद आप स्वयं बतलायें, कि यह सिद्धिस्थान में कहा गया मूत्रकृच्छ्र का लक्षण पूर्वोक्त मूत्रकृच्छ्रों से स्वतन्त्र है, अथवा उन्हीं में अन्तर्भूत होने योग्य है? यदि यह लक्षण सर्वथा स्वतन्त्र है, तो फिर उपर्युक्त सभी शंकाएँ निराधार हो जायेंगी। हाँ, जहाँ तक मूत्रकृच्छ्र नाम की पुनरावृत्ति की बात है, यह किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार सभी पुरुष एक समान न होते हुए भी अन्य अनेक समानताओं के कारण पुरुष कह जाते हैं, वैसे ही यह सिद्धिस्थान में कहा गया मूत्रकृच्छ्र रोग भी उक्त आठ मूत्रकृच्छ्रों से सर्वथा भिन्न होते हुए भी मूत्रकृच्छ्र कहा गया है।

पित्तं कफो [१]द्वावपि वा वस्तौ संहन्यते यदा । मारुतेन तदा मूत्रं रक्तं पीतं घनं सृजेत् ॥२७॥
सदाहं श्वेतसान्द्रं वा सर्वैर्वा लक्षणैर्युतम् । [२]मूत्रौकसादं तं विद्यात् पित्तश्लेष्महरैर्जयेत् ॥२८॥

१. मूत्रौकसाद के लक्षण—वस्तिप्रदेश में जब वायु द्वारा पित्त या कफ अथवा पित्त-कफ दोनों का संघात (संयोग) होता है, तब लाल या पीले वर्ण का गाढ़ा मूत्र निकलता है अथवा सफेद वर्ण का गाढ़ा तथा दाहयुक्त मूत्र निकलता है अथवा इन सभी लक्षणों के साथ मूत्र निकलता है। इसे मूत्रौकसाद कहते हैं। इसे पित्त और कफनाशक औषधयोगों द्वारा जीतना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ वायु को प्रकुपित करने में कभी पित्त, कभी कफ अथवा कभी उक्त दोनों दोषों का समूह कारण होता है, ऐसा कहा गया है। अतः दोषों की कहाँ क्या स्थिति है, इसका विचार कर लेने के बाद ही चिकित्सा करनी चाहिए। मूत्र में होने वाले रंगों के भेद दोषों के प्रकोप के अनुसार ही होते हैं। यथा—कफ का वर्ण सफेद या पीला तथा पित्त का लाल होता है। अन्यत्र विवेच्य स्थलों को इस प्रकार देखें—सु० उ० तं० अ० ५८।२४-२६ तथा अ० स० नि० अ० ९।१४। वृद्धवाग्भट के अनुसार मूत्राघात बीस प्रकार के होते हैं। इन भेदों को भी यहाँ देख लें।

विधारणात् प्रतिहतं वातोदावर्ततं यदा । पूरयत्युदरं मूत्रं तदा तदनिमित्तरुक् ॥२९॥
अपक्तिमूत्रविट्सङ्गैस्तन्मूत्रजठरं वदेत् । मूत्रवैरेचनीं तत्र चिकित्सां सम्प्रयोजयेत् ॥३०॥

२. मूत्रजठर : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण—उत्पन्न हुए मूत्र के वेग को रोकने के कारण रुकी हुई वायु जब ऊपर की ओर को प्रवृत्त होने लगती है, तो वह पेट को भर देती है, अर्थात् वह मूत्र वस्ति में ही तनाव

१. 'द्वयं वाऽपि' इति पा०।
२. 'मूत्रैकसाद' इति पा०।

पैदा कर देता है, इस स्थिति में अकारण ही उदर तथा वस्ति में पीड़ा होने लगती है। (यद्यपि इस पीड़ा का कारण मूत्र-वेग को रोकना है, परन्तु वह रोकना अकारण है, क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं होता है, अतएव इस पीड़ा को 'अनिमित्तरुक् कहा है)। उसके बाद भोजन का न पचना तथा मूत्र एवं मल की रुकावट होने के कारण ही इसे 'मूत्रजठर' कहते हैं।

मूत्रजठर-चिकित्सा—इस प्रकार जब वस्तिप्रदेश मूत्र के वेग को रोकने से भर जाय और उसके कारण उदर-प्रदेश में तनाव आ जाय तब मूत्र को बाहर निकालने वाली चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—वास्तव में मल, मूत्र, कफ आदि दोषों को अपने-अपने स्थान से निकालने में अनुलोम वायु ही सहायता करती है। उस वायु के वेग को जब मानव संकोचवश या आलस्यवश या किसी अन्य कारण-वश रोकता है, तो वह रुका हुआ मूत्र वस्तिप्रदेश को फुला देता है। ऐसी स्थिति में वायु प्रतिलोम हो जाता है, जिसके कारण स्वाभाविक रूप से मूत्र नहीं निकल पाता। अतएव तन्त्रकार ने मूत्रविरेचक (मूत्र को निकालने वाली) चिकित्सा का प्रयोग करने की अनुमति दी है। इस सम्बन्ध में अन्य संहिताकारों के मतों का भी अवलोकन करें—सु० उ० अ० ५८।१३-१४ तथा अ० सं० नि० अ० ९।१३। वाग्भट ने भी चरक के अनुसार ही इसके लक्षणों का वर्णन किया है।

हिङ्गुद्विरुत्तरं चूर्णं त्रिमर्मीये प्रकीर्तितम्। [1]हन्यान्मूत्रोदरानाहमाध्मानं गुदमेढ्रयोः ॥३१॥

द्विरुत्तरहिंगु-प्रयोग—चरक-चिकित्सास्थान के त्रियर्मीय नामक २६वें अध्याय के २०वें श्लोक में उक्त चूर्ण का उल्लेख किया गया है। इसका प्रयोग मूत्रोदर (मूत्रजठर), गुदप्रदेश तथा मूत्रेन्द्रिय में होने वाले आध्मान रोग का नाश करता है।

मूत्रितस्य व्यवायात् तु रेतो वातोद्धतं च्युतम्। पूर्वं मूत्रस्य पश्चाद् वा स्रवेत् कृच्छ्रं तदुच्यते ॥

३. मूत्रकृच्छ्र : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण—मूत्र का वेग उत्पन्न हो जाने पर, अर्थात् मूत्र-त्याग करने की इच्छा उत्पन्न होने पर जो व्यक्ति बिना मूत्रत्याग (पेशाब) किये हुए मैथुन-क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है, तो बढ़ी हुई वायु के कारण अपने स्थान से निकला हुआ वह शुक्र कभी मूत्र के पहले और कभी मूत्र के बाद बाहर निकलता है। इसे विशिष्ट प्रकार का मूत्रकृच्छ्र कहा गया है।

वक्तव्य—चरकोक्त शुक्रज मूत्रकृच्छ्र के लक्षणों पर ध्यान दें—'रेतोऽभिघाताभिहतस्य पुंसः प्रवर्तते यस्य तु मूत्रकृच्छ्रम्। स्याद् वेदना वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते ॥ शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह। तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति रेतोऽभिघातात् प्रवदन्ति कृच्छ्रम्' ॥ च० चि० अ० २६।४०, ४१। यद्यपि अनेक संस्करणों में इस श्लोक को अनार्ष कहा गया है, किसी में केवल कोष्ठक के भीतर इसे बंद देया है, परन्तु क्रम-संख्या यथावत् दी गयी है। सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण की टिप्पणी में ...क ने 'अयं पाठोऽनार्ष इति प्रतिभाति' लिखा है। यह निर्णयसागर से प्रकाशित बाद के संस्करणों के ...कों का प्रमाद ही कहा जायेगा। आप जरा सन् १९२२ वाले निर्णयसागरीय संस्करण को देखें, वहाँ उक्त श्लोक न कोष्ठक के भीतर बन्द है और न उसे अनार्ष ही कहा है। जरा दूसरे पक्ष को भी देखें—चरक सू० अ० १९।४ में 'अष्टौ मूत्राघाताः' और च० चि० अ० २६।३२ में तन्त्रकार ने पुनः प्रतिज्ञा की है, कि आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र अर्थात् मूत्राघात होते हैं। यदि आप उक्त पाठ को अनार्ष मान लेंगे, तो फिर यह बतला पायेंगे कि आठवें शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का विवरण चरकसंहिता में कहाँ है? यहाँ जो दूसरे टीकाकारों ने सुश्रुत तथा वाग्भट के विचारों को उद्धृत करके इसे मूत्रशुक्र कहा है, यह तो नाम-निर्धारण का एक दृष्टिकोण मात्र है। इससे चरक के सैद्धान्तिक निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। वास्तव में मूत्रशुक्र रोग सुश्रुत एवं वाग्भट की अपनी संज्ञा विशेष है।

खवैगुण्यानिलाक्षेपैः किञ्चिन्मूत्रं च तिष्ठति। मणिसन्धौ स्रवेत् पश्चात्तदरुग्वाऽथ चातिरुक् ॥३३॥
मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्नमुच्छेषगुरुशेफसः[2]।

---

१. 'हन्यान्मूत्रादिसङ्घातं व्याधिं च गुदमेढ्रयोः' इति पा०। २. 'तच्छेषगुरुशेफसः' इति पा०।

४. मूत्रोत्संग के लक्षण—मूत्रवाही स्रोत की विकृति से तथा वायु द्वारा मूत्र के भीतर की ओर का खिंच जाने के कारण कुछ मूत्र मूत्रेन्द्रिय के उत्संग (गोद=मध्य) में ही रुक जाता है। अथवा शिश्नमणि के सन्धि-स्थल पर मूत्र रुक जाता है। इस प्रकार रुका हुआ वह मूत्र कुछ समय के बाद बिना किसी प्रकार की पीड़ा के अथवा अधिक वेदना के साथ निकलता है। उस रुके हुए मूत्र के कारण मूत्रेन्द्रिय में भारीपन प्रतीत होता है और शेष मूत्र धारा के रूप में न निकलकर बूंद-बूंद कर धीरे-धीरे निकलता है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने मूत्रोत्संग के कुछ विशेष लक्षण दिये हैं—'वस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः। मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाथ नीरुजम्। विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः' ॥ सु० उ० तं० अ० ५८।१५-१६। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'मारुतेनाक्षिप्तं छिद्रवैगुण्येन वा मूत्रयतो मूत्रमल्पं वस्तौ नाले मणौ वा स्थित्वा तच्छेषगुरुमेढ्रस्य सरुजमरुजं वा शनैः स्रवेत् स मूत्रोत्सङ्गः'। अ० सं० नि० अ० ९।१३। चरक की अपेक्षा उपर्युक्त संहिताकारों के लक्षण अधिक विस्तृत हैं। उनके उक्त लक्षणों पर ध्यान दें।

वाताकृतिर्भवेद् वातान्मूत्रे शुष्यति सङ्क्षयः ॥ ३४ ॥

५. मूत्रक्षय के लक्षण—वातदोष की विकृति के कारण जब वस्तिप्रदेश में मूत्र का शोषण हो जाता है, तो उसे 'मूत्रक्षय' कहते हैं। इसमें वातविकृति के ही सभी लक्षण पाये जाते हैं।

वक्तव्य—यहाँ यद्यपि मूत्रक्षय का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसका सम्बन्ध चरक-सूत्रस्थान में दिये गये निम्नोक्त लक्षणों से भी है—'मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च। पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति' ॥ च० सू० अ० १७।७१। शेष विवरण चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें। सुश्रुत के अनुसार—'मूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्प-मूत्रता च'। सु० सू० अ० १५।११। और भी देखें—'रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ। सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्यातां मूत्रसङ्क्षयम्' ॥ सु० उ० तं० अ० ५८।१७। चरक ने केवल मूत्रक्षय में वातदोष को ही कारण माना है, क्योंकि वात का अपना प्रधान गुण रूक्षता उत्पन्न करना है। यही कारण है, कि वस्त्रों को धोकर हवा वाले स्थान पर फैलाकर रख दिया जाता है। किन्तु सुश्रुत ने उसमें पित्तदोष को भी कारण माना है। सत्य तो यह है इस रोग में मूत्र का निर्माण ही नहीं हो पाता और जो होता भी है वह बहुत कम मात्रा में होता है, कारण वातदोष अथवा वातपित्त दोष ही हैं। सुश्रुत का ही प्रभाव वृद्धवाग्भट पर भी पड़ा है; जरा आप उनके लक्षणों पर ध्यान दें—'वातपित्तं वस्तिमाश्रित्य मूत्रं सशूलदाहं क्षपयति स मूत्रक्षयः'। अ० सं० नि० अ० ९।१४।

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते। मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥३५॥

६. मूत्रातीत के लक्षण—उत्पन्न हुए मूत्र के वेग को अज्ञानतावश बहुत देर तक रोके रहने पर पुनः यदि मूत्रत्याग (पेशाब) करने की इच्छा हो तो वह रोका गया मूत्र वेग के साथ शीघ्रता से नहीं निकल पाता। जब वह व्यक्ति मूत्रत्याग (पेशाब) करने के लिए प्रयत्न करता है, तब वह धीरे-धीरे निकलने लगता है। उसे 'मूत्रातीत' कहा जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट के अनुसार मूत्रातीत के लक्षणों को देखें—सु० उ० तं० अ० ५८।११-१२ तथा अ० सं० नि० अ० ९।१२।

आध्मापयन् वस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्। कुर्यात् तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥

७. वाताष्ठीला : सम्प्राप्ति, लक्षण—प्रकुपित हुई वायु वस्ति तथा गुदप्रदेश को रोककर और उनमें आध्मान को पैदा करती हुई चल (इधर-उधर हिलने वाली), उभारयुक्त तथा तीव्र वेदना युक्त अष्ठीला रोग को उत्पन्न कर देती है। इसके उत्पन्न हो जाने के मूत्र तथा मल के मार्गों में रुकावट उत्पन्न हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार वाताष्ठीला का स्वरूप—'गुदप्रदेश तथा वस्ति (मूत्राशय) के बीच में अपानवायु अष्ठीला (गोल अण्डे के आकृति वाले पत्थर जैसी कठोर गाँठ) को उत्पन्न कर देती है। यह गाँठ स्थिर तथा ऊँची उठी हुई होती है। इसके कारण मल, मूत्र तथा अपानवायु की गति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और मूत्राशय में आध्मान (अफारा) हो जाता है। इस रोग के उत्पन्न हो जाने पर वस्ति में अत्यन्त

पीड़ा होती है। इसे 'वाताष्ठीला' कहते हैं। सु० उ० अ० ५८।७-८। चरक ने इस ग्रन्थि को 'चल' और सुश्रुत ने 'स्थिर' कहा है, जब कि वातदोष के कारण इस अष्ठीला का 'चल' होना स्वाभाविक गुण है। सुश्रुत के मत को समर्थन देने के लिए हम 'अचल' शब्द का अर्थ ईषत् (थोड़ा) चल करेंगे, क्योंकि 'नञ्' समास ६ अर्थों में होता है। और देखें—अ० सं० नि० अ० ९।१२।

[1]मूत्रं धारयतो वस्तौ वायुः क्रुद्धो विधारणात्। मूत्ररोधार्तिकण्डूभिर्वातवस्तिः स उच्यते॥३७॥

८. **वातवस्ति के लक्षण**—जो व्यक्ति मूत्र के वेग को धारण कर (रोक) लेता है तो मूत्र के वेग को रोकने के कारण उसके वस्ति-प्रदेश में वायु कुपित हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह प्रकुपित हुई वायु मूत्र के बाहर निकलने में रुकावट, मूत्राशय में वेदना तथा खुजली इन लक्षणों को पैदा कर देती है। इसे वातवस्ति रोग कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इस व्याधि को 'कृच्छ्रप्रसाधन' अर्थात् कष्टसाध्य कहा है। इसके लक्षणों को देखें—सु० उ० तं० अ० ५८।९-१०।

ऊष्मणा सोष्मकं मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम्। उष्णवातः सृजेत् कृच्छ्राद् वस्त्युपस्थार्तिदाहवान्॥

९. **उष्णवात के लक्षण**—पित्त के साथ कुपित हुई वायु पित्त की ऊष्मा (गर्मी) से वस्ति (मूत्राशय) में स्थित मूत्र को सुखाती हुई कठिनता से लालिमा युक्त पीले वर्ण के मूत्र का त्याग कराती है। इस रोग में वस्ति-प्रदेश तथा मूत्रेन्द्रिय में वेदना तथा दाह होता है। अतः इसे उष्णवात कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार उष्णवात के लक्षण इस प्रकार हैं—'व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलावृत्तम्। वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहन् स्रावयेदधः॥ मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा, कृच्छ्रात् प्रवर्तते जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम्॥ सु० उ० तं० अ० ५८।२२-२३। वृद्धवाग्भट के अनुसार—'अत्यध्वातपोष्णभोजनादिभिः पित्तं प्रवृद्धमनिलेरितं वस्तिमेढ्गुदग्दाहं कुर्वद्धरितहारिद्ररक्तं सरक्तं वा मूत्रं कृच्छ्रात् प्रवर्तयेत् स तूष्णवातः'॥ अ० सं० नि० अ० ९।१४। उष्णवात को जो लोग गोनोरिया या सुजाक कहते हैं, वह उनकी अज्ञानता का परिचायक है। हाँ, इसे सुजाक की प्रारम्भिक अवस्था मान लेना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। इसी की उपेक्षा करने से जहाँ से सरक्त मूत्र या रक्त निकल रहा था, वहीं से पककर बाद में पूय (मवाद) निकलने लगता है, क्योंकि रक्त का एक नाम क्षतज (घाव से पैदा होनेवाला) भी है, फलतः वह घाव पित्तदोष की गर्मी को पाकर पक जाता है, तदनन्तर मूत्रमार्ग से पूय आने लगता है। ध्यान रहे कि इस प्रकरण को ध्यान में रखकर उष्णवात को केवल गोनोरिया या सुजाक कहना सर्वथा अनुचित है।

गतिसङ्गादुदावृत्तः स मूत्रस्थानमार्गयोः। मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नव्याविद्धकुण्डली॥३९॥
मूत्रं विहन्ति संस्तम्भभङ्गगौरववेष्टनैः। तीव्ररुङ्मूत्रविट्सङ्गैर्वातकुण्डलिकेति सा॥४०॥

१०. **वातकुण्डलिका : सम्प्राप्ति, लक्षण**—मूत्र की स्वाभाविक गति में रुकावट पैदा होने के कारण विगुण हुई (अनुलोम के विपरीत चलने वाली) वायु नीचे की ओर न जाकर जब ऊपर की ओर गति करने लगती है, तथा वह विगुणित वायु मूत्रस्थान (मूत्राशय) एवं मूत्र के मार्ग में भग्न (टूटे हुए के समान), व्याविद्ध (सुई से छिदे या विंधे हुए के समान), कुण्डली (गोलाई) के समान चलने (बाहर निकलने) हुए मूत्र की गति में रुकावट पैदा कर देती है और उन स्थानों में जकड़न, टूटने के समान पीड़ा, भारीपन, ऐंठन, भयंकर पीड़ा, मूत्र तथा मल के निकलने में रुकावट पैदा कर देती है, तब उसे 'वातकुण्डलिका' कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार देखें—'रौक्ष्याद् वेगविघाताद् वा वायुरन्तरमाश्रितः। मूत्रं चरति सङ्गृह्य विगुणः कुण्डलीकृतः॥ सृजेदल्पाल्पमथवा स रुजस्कं शनैः शनैः। वातकुण्डलिकां तं तु व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्॥ सु० उ० तं० अ० ५८।५-६। इस व्याधि को अत्यन्त भयंकर कहा गया है। वृद्धवाग्भट का मत देखें—'विगुणो वायुः वस्तौ कुण्डलीभूतस्तीव्ररुग्स्तम्भगौरवान्वितो मूत्रामाविध्याल्पशो वा प्रवर्तयन् भ्रमति सा वातकुण्डलिका'॥ अ० सं० नि० अ० ९।१२।

---

१. 'मूत्रमाधारयेद्वस्तौ' इति पा०।

रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्॥
अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते।

११. **रक्तग्रन्थि के लक्षण**—वात तथा कफदोष से दुष्ट हुआ रक्तधातु जब वस्ति द्वार में संचित होकर अत्यन्त भयंकर ग्रन्थि (गाँठ) को पैदा कर देता है, तब इस ग्रन्थि के कारण मूत्रमार्ग के घिर जाने से मूत्र कठिनता से निकल पाता है। इस स्थिति में मूत्रत्याग करते समय अश्मरी (पथरी) के समान वस्ति में शूल होने लगता है, उसे रक्तग्रन्थि कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसे मूत्रग्रन्थि संज्ञा दी है। इसके लक्षणों पर ध्यान दें—'अभ्यन्तरे वस्तिमुखे वृत्तोऽल्पः स्थिर एव च। वेदनावाननति सदा मूत्रमार्गनिरोधनः॥ जायते सहसा यस्य ग्रन्थिरश्मरिलक्षणः। समूत्रग्रन्थिरित्येवमुच्यते वेदनादिभिः'॥ सु० उ० तं० अ० ५८।१८-१९। इन्होंने उक्त ग्रन्थि का आकार और उसका कार्य (मूत्रमार्ग-निरोधन) तो बतलाया है, परन्तु यह संकेत नहीं किया कि यह ग्रन्थि किन कारणों से उत्पन्न होती है। इसके लिए 'जायते सहसा' मात्र कहकर मौन हो गये हैं। इस ग्रन्थि के उत्पन्न होने पर वेदना आदि वैसी ही होने लगती है, जैसी अश्मरी (पथरी) रोग में होती है। वृद्धवाग्भट ने भी इसे मूत्रग्रन्थि की ही संज्ञा दी है—'वस्तिद्वारेऽल्पो वृत्तः शीघ्रसम्भवोऽश्मरीतुल्यलिङ्गो मूत्रग्रन्थिः'॥ अ० सं० नि० अ० ९।१३। माधवकर ने अष्टांग-हृदय के पाठ को ही प्रमाणरूप में उद्धृत कर कहा है—'अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्। अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते'॥ मा० नि० मूत्राघात-प्र० १३। मधुकोषकार ने इस पर टीका करते हुए चरकोक्त उद्धरण को अविकल उद्धृत किया है। अश्मरी-परिचय के लिए देखें—च० चि० अ० २६ श्लोक ३६ से ३९ तक तथा इन स्थलों पर लिखी गयी चरकचन्द्रिका व्याख्या तथा वक्तव्य को भी देखें।

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद् यदा॥४२॥
मूत्रस्रोतः प्रपद्येत विट्संसृष्टे तदा नरः। विड्गन्धं मूत्रयेत् कृच्छ्राद् विड्विघातं विनिर्दिशेत्॥

१२. **विड्विघात-सम्प्राप्ति, लक्षण**—रूक्ष तथा दुर्बल व्यक्तियों के वायु के विकारयुक्त होने के कारण जब ऊपर की ओर को गया हुआ मल तथा मूत्रवह स्रोत में चला जाता या पहुँच जाता है, तब वे व्यक्ति अत्यन्त कठिनता के साथ मल मिले हुए तथा मल के समान गन्ध से युक्त मूत्र का त्याग करते हैं, अर्थात् उनके मूत्र से मल के समान दुर्गन्ध आती है। इस रोग को विड्विघात' कहते हैं।

वक्तव्य—श्रीमाधवकर ने वाग्भटोक्त विड्विघात का जो लक्षण दिया है, वह सर्वथा चरकोक्त लक्षणों के अनुरूप है। द्रष्टव्य—अ० हृ० नि० अ० ९ तथा मा० नि० मूत्राघात-प्र० १९।२०।

द्रुताध्वलङ्घनायासादभिघातात् प्रपीडनात्। स्वस्थानाद् वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत्॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि। पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान्॥४५॥
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः॥४६॥
तस्मिन् पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता। श्लेष्मणा [1]गौरवं शोफः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम्॥

१३. **वस्तिकुण्डल : निदान, सम्प्राप्ति**—शीघ्रता के साथ मार्ग चलने से, अधिक लंघन करने से, अधिक परिश्रम करने से, किसी प्रकार वस्तिप्रदेश में चोट के लग जाने से, दब जाने या दबा देने से, अपने स्थान से वस्ति (मूत्राशय) हट जाती है और उसका मुख घूम जाता है, जिसके कारण वह मोटी होकर गर्भ के समान प्रतीत होने लगती है।

वस्तिकुण्डल के लक्षण—ऐसी स्थिति में रोगी उदरशूल, स्पन्दन (वस्ति का बार-बार फड़कना), तथा दाह से पीड़ित होकर बूँद-बूँद मूत्र का त्याग करता है, अर्थात् पहले की भाँति धाराप्रवाह मूत्र नहीं निकल पाता है। यदि हाथ से वस्तिप्रदेश को ऊपर से दबा दिया जाता है, तो धारारूप में मूत्र बाहर निकल जाता है, फिर भी वस्तिप्रदेश में जकड़न, ऐंठन तथा पीड़ा होती रहती है। इस रोग को वस्तिकुण्डल कहते हैं। यह रोग शस्त्र तथा विष के समान अत्यन्त भयंकर होता है। इस रोग की उत्पत्ति वायु के प्रकुपित होने से होती

---

१. 'चावृते' इति पा०।

है। कम जानकारी रखने वाले चिकित्सकों द्वारा यह रोग ठीक नहीं हो पाता है, क्योंकि वे भली-भाँति इसका निदान ही नहीं कर पाते और न चिकित्सा ही कर पाते हैं। इस रोग में यदि पित्तदोष का सम्बन्ध होता है तो दाह, शूल तथा मूत्र का वर्ण अस्वाभाविक हो जाता है, यदि कफदोष का सम्बन्ध होता है, तो वस्ति-प्रदेश में भारीपन, सूजन तथा मूत्र चिकना, गाढ़ा और सफेद वर्ण का होता है।

श्लेष्मरुद्धबिलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति। अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः॥

वस्तिकुण्डल की साध्यासाध्यता—यदि वस्ति (मूत्राशय) का द्वार कफदोष से घिरा हो अथवा इस रोग में पित्त की प्रधानता हो तो यह रोग असाध्य होता है। यदि वस्तिद्वार कफ से घिरा न हो तो यह रोग साध्य होता है, यदि वस्ति मुड़कर कुण्डल के समान गोलाकार हो गयी हो, तो भी यह रोग असाध्य होता है।

स्याद् वस्तौ कुण्डलीभूते [1]हृन्मोहः श्वास एव च।

कुण्डलीभूतवस्ति के लक्षण—हृदय में पीड़ा (पाठभेद के अनुसार—प्यास का लगना) बेहोशी तथा श्वास-प्रश्वास की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने वस्तिकुण्डल नामक भेद की गणना मूत्राघातों में नहीं की है। वृद्धवाग्भट ने इसे वातवस्ति की संज्ञा देकर इसके दो भेद किये हैं—'वायुस्तु मूत्रवेगरोधाद् वस्तिमुखमावृणोति। ततो मूत्रसङ्गं वेदनां कण्डूं च करोति। कदाचिच्च वस्तिं स्वस्थानात् प्रच्याव्य गर्भमिवोद्वृत्तं स्थूलं परिप्लुतं च कुरुते। तत्र शूलस्पन्दन-दाहोद्वेष्टनानि बिन्दुशश्च मूत्रस्रवणम्। पीडिते च वस्तौ धारया प्रवृत्तिरयं द्विविधोऽपि वातवस्तिः कृच्छ्रसाध्यः तयोरपि द्वितीयोऽनिलप्रबलः कृच्छ्रसाध्यतरः॥ अ० सं० नि० अ० ९।११। इन्होंने दो प्रकार की वातवस्ति की कल्पना की है। किन्तु सुश्रुत ने एक ही प्रकार की वातवस्ति को स्वीकार किया है, देखें—सु० उ० अ० ५८।९, १०। जिसका उल्लेख हमने इसी अध्याय के श्लोक ३७ के वक्तव्य में किया है। वाग्भट ने उक्त द्विविध वातवस्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—१. 'मूत्रसन्धारिणः कुर्याद् रुद्ध्वा वस्तेर्मुखं मरुत्। मूत्रसङ्गं रुजं कण्डूं; २. कदाचिच्च स्वधामतः॥ प्रच्याव्य वस्तिमुद्वृत्तं गर्भाभं स्थूलविप्लुतम्। करोति तत्र रुग्दाहस्पन्दनोद्वेष्टनानि च॥ बिन्दुशश्च प्रवर्तेत मूत्रं वस्तौ तु पीडिते। धारया द्विविधोऽप्येष वातवस्तिरिति स्मृतः॥ दुस्तरो दुस्तरतरो द्वितीयः प्रबलानिलः'॥ अ० हृ० नि० अ० ९।२०-२२। दूसरी वातवस्ति में जो वस्ति (मूत्राशय) का इधर-उधर हट जाना वर्णित है, कुशल चिकित्सक उसे हाथ से मर्दन करके पुनः अपने स्थान पर स्थित कर देते हैं।

दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान् मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत्॥ ४९॥
वस्तिमुत्तरवस्तिं च सर्वेषामेव दापयेत्।

वस्तिकुण्डल-चिकित्सासूत्र—इस रोग में दोषों की प्रबलता या प्रधानता का विचार करके मूत्रकृच्छ्रहर औषधयोगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा सभी प्रकार के वस्ति सम्बन्धी विकारों में वस्ति या उत्तर-वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। इनका विस्तृत वर्णन च० चि० अ० २६ में किया गया है।

पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरवस्तिकम्॥ ५०॥
[2]जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्। रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशाङ्गुलम्॥५१॥
तेनाजवस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धपलं नयेत्। यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा॥५२॥

उत्तरवस्ति की विधि—उत्तरवस्ति का पुष्पनेत्र स्पर्श में चिकना तथा सोने का होना चाहिए। वह नेत्र जाती (चमेली) या अश्वहन (कनेर) के फूल के वृन्त के सदृश होना चाहिए। उसकी आकृति गाय के पूँछ के सदृश (आगे की ओर पतली गोलाकार, पीछे की ओर क्रमशः मोटी) होनी चाहिए। अथवा उक्त पुष्पनेत्र चाँदी का भी बनाया जा सकता है, इसके मुख में एक छिद्र इतना बड़ा होना चाहिए जिसमें सरसों का दाना आसानी से भीतर जासके। उक्त नेत्र की लम्बाई १२ अंगुल हो, उसमें दो कर्णिकाएँ बनवानी चाहिए, एक पुष्पनेत्र के मुख-भाग पर जितना कि उसे भीतर प्रवेश कराना हो और दूसरी कर्णिका जहाँ वह वस्ति से जोड़ा जाय, वहाँ बनानी चाहिए। इस प्रकार पुष्पनेत्र तैयार कर लेने के बाद बकरे के मूत्राशय को निकालकर उसे विधिवत् साफ कराकर

१. 'तृण्मोहः' इति पा०।

२. 'जातीपुष्पस्य वृन्तेन' इति पा०।

उसे पुष्पनेत्र के साथ बाँधकर उसमें आधा पल (२ तोला) स्नेह को मूत्राशय में उक्त उत्तरवस्तियन्त्र द्वारा प्रवेश कराना चाहिए। अथवा रोगी की आयु का विचार करके स्नेह मात्रा का निर्धारण करना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार उत्तरवस्ति—'चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रमातुराङ्गुलसम्मितम्। मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम्'॥ सु० चि० अ० ३७।१०१। उत्तरवस्ति उसे कहते हैं, जो स्त्री तथा पुरुष के मूत्रमार्ग में दी जाती है।

मात्रा-विचार—इसमें स्नेह की मात्रा अधिक से अधिक १ पल (४ तोला) है। इसका प्रयोग २५ वर्ष के पुरुष के लिए उपयुक्त माना गया है। इससे छोटी आयु वालों के लिए चिकित्सक अपनी बुद्धि के अनुसार मात्रा की कल्पना करें।

कर्णिका-विचार—पुरुषों के लिए जो उत्तरवस्ति बनायी जाय, उसके पुष्पनेत्र के मध्य में कर्णिका रखनी चाहिए। स्त्रियों के लिए जो पुष्पनेत्र हो उसमें चार अंगुल दूरी पर कर्णिका रखें। उसकी मोटाई मूत्रस्रोत के अनुसार हो, उसका छिद्र मोटी मूंग के जाने योग्य हो और वह दस अंगुल लम्बा हो। कुछ वस्तिनेत्र-विशेषज्ञ आचार्य मूत्रेन्द्रिय के समान लम्बा वस्तिनेत्र पसन्द करते हैं। कन्याओं के मूत्रमार्ग में इसे एक अंगुल प्रवेश कराना चाहिए। यह नाप उन्हीं की अंगुली से लें। यहाँ कन्या का अर्थ १२ वर्ष के पहले की आयु ही समझनी चाहिए। इन प्रसंगों के विशेष विवेचन के लिए देखें—सु० चि० अ० ३७।१०२-१०५।

वस्तिद्रव्य-विचार—यद्यपि यहाँ महर्षि आत्रेय ने आजवस्ति (बकरे की वस्ति) का ग्रहण किया है, किन्तु इसके पहले इन्होंने वृद्धबैल, भैंसा, हरिण, शूकर तथा बकरा की वस्तियों को ग्रहण करने की भी अनुमति दी है। देखें—च० सि० अ० ३।१०। सुश्रुत भी इन्हीं का ग्रहण करते हैं। उन्होंने कुछ और भी निर्देश दिया है। जैसे—मेढा, सूअर, बकरा इनकी वस्तियाँ (मूत्राशय) इस कार्य के लिए श्रेष्ठ होती हैं। इनके अभाव में पक्षियों के गले का चमड़ा ग्रहण करें। यदि ये भी न मिले तो किसी के भी कोमल चर्म का प्रयोग कर लेना चाहिए। चरक ने पुष्पनेत्र को सोने-चाँदी का बनाने को कहा है, किन्तु अन्य आचार्यों ने ऐसा विशेष उल्लेख नहीं किया है। चरक ने पुष्पनेत्र की लम्बाई १२ अंगुल बतलायी है और सुश्रुत ने १४ अंगुल। यह अपना-अपना विचार है।

महर्षि क्षारपाणि का मत—वस्तिनेत्र को लिंग, योनि तथा स्त्री के मूत्रमार्ग के भीतर कितने अंगुल तक डालना चाहिए, इस सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश के सतीर्थ्य का मत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'अङ्गुलान्यथ चत्वारि पञ्च षट् सप्त वा तथा। सप्ताङ्गुलं परं नेत्रं प्रणिधेयं भिषग्विदा॥ हिंस्याद् वस्तिर्नरं चेह प्रमाणादधिकं ततः'॥ और भी देखें—अ० हृ० सू० अ० १९।७१-७२ तथा अ० सं० सू० अ० २८।६४-६७।

स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा। [1]सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ॥५३॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तया। शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत्॥५४॥
ततः शेफःप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्। गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनु सेवनीम्॥५५॥
[2]हिंस्यादतिगतं वस्तिमूने स्नेहो न गच्छति। सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षेन्नेत्रमेव च॥५६॥
प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत्। अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च॥५७॥

उत्तरवस्ति-प्रयोग-विधि—जिस व्यक्ति ने स्नान कर के दूध के साथ अथवा मांसरस के साथ भात को खाया हो या भोजन कर लिया हो और जिसने मल-मूत्र का त्याग कर लिया हो, अर्थात् जिसने मल-मूत्र के वेग को शरीर से बाहर कर दिया हो और जो जानु (घुटने) के समान जमीन से ऊँचे सुकोमल आसन युक्त चौकी पलंग, कुर्सी पर सीधा होकर सुखपूर्वक बैठा हो, ऐसे व्यक्ति की हृष्ट मूत्रेन्द्रिय में घी चुपड़ी हुई शलाका से पहले मूत्रमार्ग की गति का ठीक-ठीक पता लगाकर, अर्थात् मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट तो नहीं है, यह देख लें। यदि वह शलाका (सींक) किसी रुकावट के बिना भीतर तक चली जाय तो उसे निकालकर उसके बाद शेफस् (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय) की लम्बाई के अनुसार मूत्र-नलिका के भीतर पुष्पनेत्र का प्रवेश करा दें। इसका

१. 'विसृष्टवर्चोमूत्रस्य' इति पा०।

२. 'हिंस्याद्वस्तिगतं' इति पा०।

प्रयोग भी गुद-मार्ग में दी जाने वाली वस्ति की ही भाँति किया जाता है। उसी प्रकार मूत्र-मार्ग में सेवनी के अनुसार पुष्पनेत्र का प्रयोग कराना चाहिए। पुष्पनेत्र को मूत्रेन्द्रिय की लम्बाई के अनुपात में ही भीतर प्रवेश कराना चाहिए। यदि पुष्पनेत्र मूत्रेन्द्रिय की लम्बाई से अधिक भीतर प्रवेश करा दिया जाता है, तो वह वस्तिप्रदेश में हानि पहुँचाता है और यदि कुछ कम ही भीतर पहुँचा रहता है, तो स्नेह उचित रूप में भीतर तक नहीं पहुँच पाता। अतः उत्तरवस्ति का प्रयोग कराते समय हाथ तथा पुष्पनेत्र को न कँपाते हुए सुखपूर्वक स्नेह द्रव्य को भीतर प्रवेश करा देना चाहिए। स्नेह का भीतर प्रवेश हो जाने के बाद पुनः उसी प्रकार हाथ और पुष्पनेत्र को कँपाये बिना सीधे बाहर की ओर उसे खींच लें। उत्तरवस्ति द्वारा प्रवेश कराया गया स्नेह यदि बाहर लौट आता है, तो इसी प्रकार दूसरी बार तथा तीसरी बार भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। यदि वह लौटकर बाहर नहीं आता है, तो पूरी रात उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। अगली विधि का निर्देश आगे किया जायेगा।

वक्तव्य—'हृष्टे मेढ्रे'। च० सि० अ० ९।५४। 'नालमस्य प्रहर्षितम्'। सु० चि० अ० ३७।११०। 'हृष्टे मेढ्रे'। अ० सं० सू० २८।६९ तथा 'हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ'। अ० हृ० सू० अ० १९।७४। इस प्रकार सभी संहिताकारों का इस प्रसंग में समान दृष्टिकोण है। परन्तु टीकाकारों ने इस अंश का कुछ ऐसा अर्थ कर दिया है, जो प्रयोग की दृष्टि से चिन्तनीय है और कुछ सुधी एवं सिद्धहस्त लेखकों ने अपनी टीकाओं में चिन्ता भी व्यक्त की है, परन्तु कोई समाधान नहीं दे सके। उक्त सभी संहिताकारों के अनुसार प्रहर्षित अर्थात् मैथुन करने की स्थिति को प्राप्त लिंग (पुरुष की मूत्रेन्द्रिय=मेढ्र=Penis) जब सीधी स्थिति में हो तब उसमें पहले शलाका का प्रवेश कराकर देख लें, कि मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं है। यदि रुकावट न हो तो उसी छिद्र द्वारा उत्तर-वस्ति के पुष्पनेत्र का प्रवेश कराना चाहिए। यह प्रायोगिक विषय है, इस पर विचार करें।

प्रयोगकाल की कठिनाइयाँ—इन कठिनाईयों को वे सभी चिकित्सक भली-भाँति समझ सकते हैं, जिन्होंने कभी पुरुषलिंग के भीतर उत्तरवस्ति के नेत्र का अथवा कैथीटर का सफलतापूर्वक प्रवेश कराया हो। वास्तव में उत्तरवस्ति के पुष्पनेत्र का प्रवेश शिथिल (ढीले) लिंग में ही कराया जाता है और इसी स्थिति में कराना भी चाहिए, क्योंकि हृष्ट (प्रहर्षित) लिंग में उसकी डंडी फूल जाने के कारण शलाका तथा नेत्र का प्रवेश नहीं हो सकता और न इस ध्वजोत्थान की अवस्था में मूत्र ही बाहर आ सकता है।

लिंग-हर्ष की स्थितियाँ—मनोनुकूल प्रियतमा का दर्शन, स्पर्शन, आलिंगन आदि से पुरुष के लिंग का हर्ष हो जाता है। इसके बाद सु० शा० अ० २ श्लोक ३८ से ४३ तक जिन नपुंसकाभास पुरुषों का वर्णन किया गया है, उनके हर्षण की विधियाँ भी वहाँ वर्णित हैं, उन्हें भी देखें। अब कुछ विकार-युक्त हर्षणों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—'मूत्रवहे द्वे वस्तिर्मेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धवस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च'। सु० शा० अ० ९।१२। और भी—जिसे इसी अध्याय में उष्णवात कहा गया है, जिसे हमने अपने वक्तव्य में सुजाक (गोनोरिया) की प्रारम्भिक स्थिति बतलाया है, जब वह रोग अपनी पूर्ण अवस्था में आ जाता है, तब लिंग के भीतर पूय (मवाद) भर जाता है, जिसके कारण लिंग हृष्ट या स्तब्ध जैसा दिखलायी देता है; क्योंकि इसमें पूय के कारण मूत्रावरोध हो जाता है। हजारों में से किसी एक-दो निर्लज्ज पुरुषों का लिंग ऐसी क्रिया को देखकर भले ही हृष्ट हो जाय, अन्यथा इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती।

आजकल रुके हुए मूत्र को निकालने के लिए कैथीटर का प्रयोग किया जाता है। इसे लिंग की शिथिल-अवस्था में प्रवेश कराया जाता है। जब वह कैथीटर मूत्रमार्ग के अन्तिम छोर तक पहुँचता है, तो वहाँ एक अवरोधक अवयव होता है, जिसे कवाट कहते हैं, जो प्रथम बार के प्रवेश में कैथीटर को रोकता है; इसे बलपूर्वक प्रवेश कराने पर कभी-कभी रक्त भी आ जाता है और रोगी को कष्ट की अनुभूति भी होती है। इसके प्रतीकार के लिए जैलोकन जेली (Zylocane jelly) मलहम आदि का प्रयोग कैथीटर के प्रयोग के पहले करा दिया जाता है, जिससे रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

निष्कर्ष—इतना विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि हृष्ट, प्रहर्षित शब्दों के साथ या तो ईषदर्थक नञ् का प्रयोग होना चाहिए, अथवा लज्जाभाव के कारण 'हृष्ट' शब्द का अर्थ 'रोमाञ्चित' करना चाहिए, जो सर्वथा निरपवाद होगा। इसके लिए देखें—'हृषेर्लोमसु' ७।२।२९। हृष्टं, हृषितं लोम। और भी—'विस्मितप्रतिघातयोश्च' (४४१७ वा०)। इन अर्थों में भी क्त प्रत्यय अथवा इट् प्रत्यय विकल्प से होता

है। निश्चित ही उक्त स्थलों में प्रयुक्त हृष्ट या हर्षित प्रयोग इन्हीं अर्थों में किये गये हैं। हृषतुष्टौ धातु का उपन्यास भट्टोजिदीक्षित ने उक्त अर्थों के बाद में किया है। कोषकार की दृष्टि से भी हृष्ट का अर्थ रोमाञ्चित होता है। 'हृष्टो रोमाञ्चितेऽपि'। मेदिनी। अन्य द्रष्टव्य स्थल—सु० चि० अ० ३७ तथा अ० सं० सू० अ० २८ को देखें।

पिप्पलीलवणागारधूमापामार्गसर्षपैः । वार्ताकुरसनिर्गुण्डीशम्पाकैः ससहाचरैः ॥५८॥
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडैर्वर्ति कृत्वा प्रवेशयेत् । अग्रे तु सर्षपाकारां पश्चार्धे माषसम्मिताम् ॥५९॥
नेत्रदीर्घां घृताभ्यक्तां सुकुमारामभङ्गुराम् । नेत्रवन्मूत्रनाड्यां तु पायौ चाङ्गुष्ठसम्मिताम् ॥
स्नेहे प्रत्यागते ताभ्यामानुवासनिको विधिः । परिहारश्च सव्यापत् ससम्यग्दत्तलक्षणः ॥६१॥

पिप्पल्यादि वर्ति—पिप्पली, सेंधानमक, गृहधूम, अपामार्ग (चिरचिटा) के बीज, पीली सरसों, वार्ताकु (बड़ी कटेरी) के फल का रस, निर्गुण्डी (मेउड़ी, सिंवाली) का रस, अमलतास की गुद्दी, सहाचर (कटसरैया) की पत्ती, इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर गोमूत्र तथा कांजी के साथ पीसकर बारीक कर लें, फिर उसमें उतना गुड़ मिलायें जिससे उसकी बत्तियाँ बन सकें। बत्ती बन जाने पर उसमें से एक बत्ती को मूत्रमार्ग में प्रवेश करायें। उक्त बत्ती का आकार आगे की ओर सरसों के समान गोल और पीछे की ओर उड़द के समान मोटा होना चाहिए। उस बत्ती को पुष्पनेत्र के समान लम्बी बनाना चाहिए, वह मुलायम तथा टूटने वाली न हो। इस प्रकार तैयार हो जाने पर उसमें घी चुपड़कर पुष्पनेत्र की भाँति ही इसको भी मूत्रमार्ग के भीतर प्रवेश कराना चाहिए। यह पिप्पल्यादिवर्ति वस्तिद्रव के न निकलने पर गुदमार्ग में भी लगायी जाती है, किन्तु गुद में लगाने के लिए इसकी मोटाई हाथ के अँगूठे के बराबर होनी चाहिए। इस प्रकार लिंगवर्ति द्वारा उत्तरवस्ति का स्नेहद्रव तथा गुदवर्ति द्वारा सामान्य वस्तिद्रव जिसे वस्ति द्वारा गुद के भीतर प्रवेश कराया गया था, लौटकर बाहर चला आए तो उसके बाद अनुवासनवस्ति का विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। अनुवासनवस्ति देने के बाद रोगी के लिए जो परिहार (पथ्य-सेवन तथा अपथ्य का त्याग) पहले बताया जा चुका है, उनका सेवन कराना चाहिए और उससे होने वाली व्यापत्तियों का परिहार करना चाहिए, तभी उसे सम्यक् वस्ति-प्रयोग कहा जायेगा और उससे पूर्ण लाभ भी हो सकेगा।

वक्तव्य—पिप्पल्यादि वर्ति की जो विधि ऊपर बतलायी है, उसके अतिरिक्त चिकित्सक-समाज उसका निर्माण इस प्रकार करता है—उक्त पिप्पली आदि द्रव्यों को गोमूत्र तथा काँजी में पीसकर उसमें गुड़ मिलाकर पका लिया जाता है। जब दो तार की चासनी हो जाती है, तब उस स्थिति में उसकी बत्ती उपरोक्त प्रमाण या आकार की बनानी चाहिए। यदि कच्चे गुड़ की बत्ती बनायी जायेगी तो वह बीच में टूट जायेगी, अतएव 'अभंगुरा' उस बत्ती का विशेषण दिया है। अनुवासन-विधि का वर्णन पहले विस्तार से किया गया है, उससे होने वाली आपत्तियाँ और उनके प्रतीकार की विधियाँ भी पहले कही जा चुकी हैं, तदनुसार ही इसमें भी करना चाहिए, तभी उत्तरवस्ति का भी सम्यक् योग हो सकता है, क्योंकि अनुवासनवस्ति और उत्तरवस्ति दोनों में ही स्नेह को पक्वाशय तथा वस्ति (मूत्राशय) में प्रवेश कराया जाता है, शेष उत्तरकालीन विधि दोनों की समान है। इसके विशेष विवेचन के लिए देखें—सु० चि० अ० ३७।११७-१२२।

स्त्रीणामार्तवकाले तु प्रतिकर्म तदाचरेत् । गर्भासना सुखं स्नेहं तदाऽऽदत्ते ह्यपावृता ॥६२॥
[1]गर्भं योनिस्तदा शीघ्रं जिते गृह्णाति मारुते । वस्तिजेषु विकारेषु योनिविभ्रंशजेषु च ॥६३॥
योनिशूलेषु तीव्रेषु योनिव्यापत्स्वसृग्दरे । अप्रस्रवति मूत्रे च बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ॥६४॥
विदध्यादुत्तरं वस्ति [2]यथास्वौषधसंस्कृतम् ।

उत्तरवस्ति का समय—यह उत्तरवस्ति स्त्रियों को ऋतुकाल की अवधि में देनी चाहिए, क्योंकि ऋतुकाल में गर्भाशय का मुख खुला रहता है, अतएव वह गर्भासना योनि शीघ्र ही स्नेह को ग्रहण कर लेती है। उत्तरवस्ति के प्रयोग से जब चिकित्सक वातदोष को जीत लेता है, तब वह योनि शीघ्र ही गर्भ को ग्रहण कर लेती है। यदि स्त्रियों की वस्ति में कोई विकार हो अथवा योनि (गर्भाशय, जिसमें रजवीर्य का मिश्रण होता है)

१. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते। २. 'यथास्वौषधमिश्रितम्' इति पा०।

भ्रंश (Prolapse of the uterus) होने के कारण किसी प्रकार का दूसरा रोग उत्पन्न हुआ हो, तो योनि में तीव्रशूल होता है, अनेक प्रकार की योनिव्यापत्तियाँ हो जाती हैं तथा प्रदररोग भी हो जाता है। जब मूत्र का निकलना बन्द हो जाता है, अथवा बूँद-बूद करके मूत्र निकलता हो, तो दोषानुसार औषधयोगों से तैयार किये हुए तेल द्वारा उत्तरवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—उत्तरवस्ति के प्रयोग का अवसर बतलाते हुए तन्त्रकार ने अनेक अवसरों पर ध्यान दिलाया है। आर्तवकाल १६ दिनों का माना जाता है, उसमें भी प्रथम चार दिन वर्जित हैं, शेष बारह दिनों को आर्तव काल कहा गया है। देखें—च० शा० अ० ८।५। सुश्रुत के अनुसार—'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते' ॥ सु० शा० अ० ३।६। देखा जाता है, कि स्त्री ऋतुमती नहीं हुई किन्तु गर्भवती हो गयी, ऐसे अवसरों पर इसी प्रसंग में आगे श्लोक ७ तथा ८ में कहे गये लक्षणों पर ध्यान देने से ज्ञात हो जाता है कि वह ऋतुमती है और सहवास की इच्छुक है। पशु-पक्षियों में तो ये लक्षण खुले रूप में देखने को मिलते हैं। नारियों में भी सर्वत्र गर्भधारण करने की अभिलाषा छिपी नहीं रह पाती है।

तदाऽऽदत्ते ह्यपावृता—ऋतुकाल में गर्भाशय का मुख खुला रहता है। उस समय वह उत्तरवस्ति के स्नेह तथा पति के स्नेह रूप शुक्र का उत्सुकता के साथ ग्रहण कर लेती है। कारण यह है, कि 'ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा' ॥ सु० शा० अ० ३।९। अर्थ स्पष्ट है। **अपवाद**—कभी-कभी ऋतुकाल के बाद भी जब नर-नारी सहवास करते हैं, तो देखा जाता है कि गर्भाधान हो जाता है। ऐसी स्थिति में हम यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं, कि सम्भवतः ऋतुकाल के पश्चात् भी योनि का मुख खुला रह गया हो। सामान्य दृष्टि से अधिकांश गर्भाधान अपने ऋतुकाल में ही होते हैं। ऋतुकाल के समाप्त हो जाने पर गर्भाशय का मुख तो बन्द हो जाता है, किन्तु बाह्ययोनि (भग) का मुख तो स्वाभाविक रूप से खुला रहता ही है।

पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशाङ्गुलम् ॥ ६५ ॥
मूत्रस्रोतःपरीणाहं [1]मुद्गस्रोतोऽनुवाहि च। अपत्यमार्गे नारीणां विधेयं चतुरङ्गुलम् ॥६६॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमङ्गुलम्।

स्त्रियों में पुष्पनेत्र का प्रमाण—स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाली उत्तरवस्ति का पुष्पनेत्र दस अंगुल का होना चाहिए। इसकी गोलाई मूत्रवहस्रोत की चौड़ाई को ध्यान में रखकर ही पुष्पनेत्र का आकार बनाना चाहिए, जिससे वह आसानी से प्रवेश कराया जा सके। उस नेत्र का छिद्र आसानी से मूंग के घुसने योग्य होना चाहिए। अपत्यमार्ग (जहाँ से सन्तान गर्भ से बाहर को आती है) में चार अंगुल पुष्पनेत्र को भीतर प्रवेश कराना चाहिए और जब उत्तरवस्ति का प्रयोग स्त्रियों के मूत्रमार्ग में करना हो तो नेत्र को दो अंगुल भीतर प्रवेश कराना चाहिए। बाला (कन्या) के मूत्रमार्ग में केवल एक अंगुल नेत्र का प्रवेश कराना चाहिए।

वक्तव्य—कन्या, अक्षतयोनि, कुमारी १० वर्ष तक की अवस्था वाली। देखें—मनु० ३।३३; ८।३६७; १०।८। बाला १६ वर्ष से कम आयु वाली। चरक में 'बाला' पाठ है और सुश्रुत में 'कन्या'। देखें—सु० चि० अ० ३७।१०५। हमारे विचार से यहाँ कन्या तथा बाला शब्द से 'अक्षतयोनि' का ही ग्रहण करना प्रसंगानुसार विदित होता है, क्योंकि इस अवस्था के भीतर की कन्याओं के अपत्यपथ में वस्ति देने की तन्त्रकार ने इसलिए चर्चा नहीं की है, कि इनके गर्भाशय में किसी प्रकार की विकृति होती ही नहीं है। विशेष द्रष्टव्य स्थल—सु० चि० अ० ३७।१०३ से १०५ तथा अ० सं० सू० अ० २८।७५-७६।

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी ॥ ६७ ॥
अथास्याः प्रणयेन्नेत्रमनुवंशगतं सुखम्। द्विस्त्रिश्चतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत् ॥६८॥
[2]वस्तौ, वस्तौ प्रणीते च वर्तिः पीनतरा भवेत्। त्रिरात्रं कर्म कुर्वीत स्नेहमात्रां विवर्धयेत् ॥६९॥
अनेनैव विधानेन कर्म कुर्यात् पुनस्त्र्यहात्।

स्त्रियों में उत्तरवस्ति-प्रयोग—यदि स्त्री को उत्तरवस्ति का प्रयोग कराना हो तो उसे चित लेटाकर दोनों पैरों को संकुचित कराकर पृष्ठवंश की ओर मुख कराकर पुष्पनेत्र का आवश्यकतानुसार योनिमार्ग अथवा

१. 'मुद्गस्रोतोनुपाति च' इति।

२. 'वस्ति वस्तौ प्रणीते च वर्तिश्चानन्तरा भवेत्' इति पा०।

मूत्र-मार्ग में प्रवेश कराना चाहिए। दिन-रात मिलाकर अर्थात् २४ घंटों में दो, तीन या चार बार वस्तियन्त्र द्वारा स्नेह का प्रयोग कराया जा सकता है। उत्तरवस्ति का प्रयोग कराने के बाद यदि स्नेह लौटकर वापिस नहीं आ जाता है, तो पहले की भाँति वर्ति (पिप्पल्यादि वर्ति) का प्रयोग कराना चाहिए। किन्तु वह वर्ति वस्ति-नेत्र से पीनतरा (अपेक्षाकृत कुछ मोटी) होनी चाहिए। क्रमशः स्नेह मात्रा को बढ़ाते हुए इस उत्तरवस्ति का प्रयोग तीन रात अर्थात् तीन दिन तक करना चाहिए, बीच में तीन दिन रुककर पुनः तीन दिन तक उक्त विधि के अनुसार स्नेह को बढ़ाते हुए उत्तरवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—श्रीजयदेव उत्तरवस्ति देने के बाद कपड़े की बत्ती को डालने की बात करते हैं, जो टीका की दृष्टि से स्वयम्भू विचार है। दूसरी बात यह भी है, यदि वह कपड़े की बत्ती रूक्ष होगी तो स्वयं स्नेह का शोषण कर लेगी। इसका पता ठीक से तब भी नहीं लग पायेगा कि वास्तव में स्नेह लौटा या नहीं। यहाँ विवेचनीय यह है कि स्त्रियों के मूत्रमार्ग में जो वस्ति दी जाती है और जो योनिमार्ग से गर्भाशय की शुद्धि के लिए वस्ति दी जाती है, दोनों की मात्रा आदि का प्रमाण अलग-अलग है, जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है। सुश्रुत के अनुसार स्नेहमात्रा का विचार—स्त्रियों की उत्तरवस्ति में स्नेह का प्रसृत (अर्धाञ्जलि या एक पसर) अपनी अंगुली के मूल से नाप कर लें, यह स्नेह की उत्तम मात्रा है। यदि इससे कम करना हो तो अपनी बुद्धि से निर्णय करें। सु० चि० अ० ३७।१०६। विशेष वचन—'गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु। क्वाथप्रमाणं प्रसृतं स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत्। कन्येतरस्याः कन्यायास्तद्वद् वस्तिप्रमाणकम्' ॥ सु० चि० अ० ३७।११६ ॥ स्त्रियों का योनि-मार्ग अवस्था तथा शारीरिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रमाण का होता है, तदनुसार वर्ति की कल्पना चिकित्सक को समयानुसार स्वयं कर लेनी चाहिए।

स्त्रियों का उत्तरवस्ति देने का अधिकार—इस विषय का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने उत्तरवस्ति का प्रयोग कराने वाले के लिए 'विचक्षणः' पद का प्रयोग किया है। सुश्रुत के टीकाकार श्रीडल्हण यहाँ 'समाहितः' पाठ को आदर देते हुए उसका अर्थ करते हैं—'कामसङ्कल्परहितेन अचलितचित्तप्रकृतिना, इत्यर्थः'। किन्तु आप विचार करें कि इन्द्रिय-निग्रह जब ऋषि-मुनि पूर्णरूपेण नहीं कर सके तो सामान्य स्त्री-पुरुष की तो बात ही क्या है। अतः हमारा तो मत है कि स्त्रियों को उत्तरवस्ति देने का अधिकार केवल स्त्री-चिकित्सकों को और पुरुषों को उत्तरवस्ति देने का अधिकार पुरुष-चिकित्सक को ही होना चाहिए। ध्यान दें! चरक एवं सुश्रुत के काल में और आज भी जिस प्रकार प्रसव कराने में स्त्रियों का एकाधिपत्य है, उसी प्रकार की परिस्थिति यह भी है; अन्यथा यह सामाजिक अपराध ही कहा जायेगा।

अतः शिरोविकाराणां कश्चिद् भेदः प्रवक्ष्यते ॥ ७० ॥

शिरोविकार-प्रस्तावना—हृदय तथा वस्ति मर्म सम्बन्धी रोगों का वर्णन करने के बाद अब हम यहाँ शिर नामक मर्म में होने वाले कुछ रोग-भेदों की चर्चा करेंगे।

वक्तव्य—चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २५ में हृदय, वस्ति तथा शिर नामक मर्मों में होने वाले रोगों के निदान तथा चिकित्सा का वर्णन किया जा चुका है, किन्तु तन्त्रकार ने अपनी इच्छा से उन तीन मर्मों के अवशिष्ट रोगों का वर्णन चिकित्सा के साथ यहाँ किया है। इसके पूर्व हृदय तथा वस्ति मर्म के रोगों का वर्णन यहाँ तक कर दिया गया है। अब प्रस्तुत है—शिरोविकारों का वर्णन और उनकी चिकित्सा।

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः। तीव्ररुग्दाहरागं हि शोफं कुर्वन्ति दारुणम् ॥७१॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा। [1]त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको [2]नाम नामतः ॥
[3]परं त्र्यहाज्जीवितं चेत् प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्। शिरोविरेकसेकादि सर्वं वीसर्पनुच्च यत् ॥

शंखकरोग : सम्प्राप्ति तथा लक्षण—अपने प्रकोपक कारणों से दूषित हुए रक्त (धातु), पित्त तथा वातदोष शंखप्रदेश की हड्डी (Temporal bone) के आस-पास मिलकर भयंकर पीड़ा, दाह (जलन),

१. 'शङ्खकोऽग्निनिभः क्षिप्रं विनाशयति मानवम्' इति पा०।

२. 'नामतः परम्' इति पा०।

३. 'जीवेत् त्र्यहं चेद् भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत्' इति पा०।

राग (लालिमा), अत्यन्त कष्टप्रद सूजन को उत्पन्न कर देते हैं। वह विष के समान तीव्र फैलने वाला शोथ शीघ्र ही शिरःप्रदेश तथा गले की क्रियाओं में अवरोध उत्पन्न कर तीन रात के भीतर उस रोगी के जीवन का विनाश कर डालता है। उसे शंखक नामक रोग कहते हैं।

शंखकरोग-चिकित्सा—यदि किसी कारण वह रोगी तीन दिन बाद भी जीवित रह जाता है, तो उस के अभिभावकों को उसकी कष्टसाध्यता की सूचना देते हुए और उसके ठीक होने में सन्देह प्रकट करते हुए शिरोविरेचन (नस्य आदि), परिषेचन आदि द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए और जो विसर्परोग-नाशक चिकित्सा (च० चि० अ० २१ में) कही गयी है, उसका भी प्रयोग इसमें करना चाहिए।

वक्तव्य—इसके पहले भी तन्त्रकार ने शंखकरोग का संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'यस्य पित्तं प्रकुपितं शङ्खयोरवतिष्ठते। ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते' ॥ च० सू० अ० १८।२६। ऊपर दिये गये लक्षण में तथा इस लक्षण में कुछ विचारणीय अन्तर उपस्थित होते हैं। इस सूत्रस्थान वाले लक्षण में केवल पित्तदोष की प्रधानता है और इसके शोथ की उत्पत्ति ज्वर के अन्त में मारक होती है। उक्त शंखक रोग को ज्वर के साथ जोड़ देने के कारण चरकोक्त सन्निपातज्वर के लक्षण की ओर ध्यान आकृष्ट हो रहा है। देखें—'सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते' ॥ च० चि० अ० ३।२८७॥ किन्तु ऐसे अवसरों पर चिकित्सक को घबड़ाना नहीं चाहिए। इस दृष्टि से तन्त्रकार संकेत करते हैं—'सन्ति ह्येवं-विधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः। ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः' ॥ च० सू० अ० १८।३७। इस दृष्टि से यह शंखक रोग समय पर उचित चिकित्सा कर लेने के कारण साध्य बनाया जा सकता है, परन्तु इस प्रसंग में जिस शंखक रोग को तीन दिन में मार देने वाला कहा है, अब हम उसके बारे में भी कुछ विचार कर करें। हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं है, कि ये शंखक रोग भिन्न-भिन्न हैं, तथापि लक्षणों की भिन्नता इस प्रकार का विचार करने लिए हमें बाध्य करती है।

सुश्रुतोक्त शंखक रोग—'अत्यन्त बढ़े हुए वेग वाला शंख-प्रदेश में आश्रित (रहने वाला) वातदोष कफ, पित्त तथा रक्तधातु का अनुसरण करके शिर में उसमें भी विशेष करके दोनों शंख-प्रदेशों में अत्यन्त कष्टदायक वेदना को उत्पन्न कर देता है। वेद तथा पुराणों को जानने वाले महर्षि इस अत्यन्त कष्टदायक रोग को शंखक कहते हैं। यह रोग मृत्यु (यमराज) के समान त्रास देने वाला होता है। हजारों चिकित्सक भी इसे शीघ्र अच्छा नहीं कर सकते'। सु० उ० अ० २५।१६-१८। सुश्रुत की दृष्टि से इस रोग में वात, कफ, पित्त (तीनों दोष) और रक्तधातु दूषित होते हैं, अर्थात् यह सान्निपातिक रोग है और चरक की दृष्टि से कफदोष को छोड़कर शेष सभी की सत्ता इसमें स्वीकार की गयी है। इस दृष्टि से जब हम वृद्धवाग्भट की ओर देखते हैं, तो उनके लक्षणों में हमें सुश्रुत तथा चरक दोनों के सिद्धान्त दिखलायी देते हैं। दोषों के सम्बन्ध में उन्होंने सुश्रुत का अनुसरण किया है और मारकत्व की दृष्टि से चरक का। जरा लक्षणों पर ध्यान दें—'पित्तप्रधानैर्वाताद्यैः शङ्खे शोफः सशोणितैः। तीव्रदाहरुजारागप्रलापज्वरतृड्भ्रमाः ॥ तिक्तास्यः पीतवदनः क्षिप्रकारी स शङ्खकः। त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिध्यत्य-प्याशु साधितः' ॥ अ० सं० उ० अ० २७।१६-१७।

समन्वय—संहिताकारों के वचनों को यदि हम सर्वत्र शब्दतः ढूँढने लगेंगे तो अनेक स्थलों पर भ्रम होगा और इसी भ्रम के कारण अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। जरा ध्यान से देखें—शोथ और शोफ दोनों शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं—रा० नि० वर्ग २०। इस दृष्टि से ऊपर दिये गये ७१वें श्लोक का पुनः अवलोकन करें—'शोफं कुर्वन्ति दारुणम्'। क्या यह शोफ या शोथ 'वातपित्तश्लेष्म' के बिना हो गया है? यदि नहीं, तो तन्त्रकार ने शोफ रूपी लक्षण को प्रस्तुत कर कफदोष की सत्ता को यहाँ स्वीकार किया है। देखें तन्त्रकार की प्रतिज्ञा—'त्रयः शोथा भवन्ति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः'। च० सू० अ० १८।३। इस तर्क को पढ़कर आप यह कह सकते हैं कि यहाँ जो शोफ है, वह पित्तदोष-प्रधान है, न कि आप यह कह सकते कि इसमें कफदोष का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि 'न रोगोऽप्येकदोषजः'। अर्थात् कोई भी रोग किसी एक दोष के कारण नहीं होता है, अपितु उसमें दूसरे दोष अंशांश रूप में विद्यमान होते ही हैं।

शंखकरोग-चिकित्सा—सभी संहिताकारों ने इसे असाध्य भी कहा है और शीघ्र चिकित्सा करने का भी निर्देश दिया है। अतः ऐसे अवसरों पर सतर्कता करनी ही चाहिए। **सुश्रुतोक्त चिकित्सा**—'क्षीरसर्पिः प्रशंसन्ति नस्ये पाने च शङ्खके। जाङ्गलानां रसैः स्निग्धैराहारश्चात्र शस्यते ॥ शतावरीं तिलान् कृष्णान् मधुकं

नीलमुत्पलम्। दूर्वां पुनर्नवां चैव लेपे साध्ववचारयेत्। महासुगन्धामथवा पालिन्दीं चाम्लपेषिताम् ॥ शीतांश्चात्र परीषेकान् प्रदेहांश्च प्रयोजयेत्'। सु० उ० अ० २६।३८-४०।

[1]रूक्षात्यध्यशनात् पूर्ववातावश्यायमैथुनैः। वेगसन्धारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥७४॥
केवलः सकफो [2]वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसस्ततः। मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥७५॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्धावभेदकः। नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥७६॥
चतुःस्नेहोत्तमा मात्रा शिरःकायविरेचनम्। नाडीस्वेदो घृतं जीर्णं वस्तिकर्मानुवासनम् ॥७७॥
उपनाहः शिरोवस्तिर्दहनं चात्र शस्यते। प्रतिश्याये शिरोरोगे यच्चोद्दिष्टं चिकित्सितम् ॥७८॥

अर्धावभेदक : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण—रूक्ष (स्नेहरहित) पदार्थों को अधिक खाने से, अध्यशन (भोजन करने के कुछ ही समय बाद पुनः भोजन कर लेने) से, पुरवा या पुरवइया हवा का अधिक सेवन करने से, ओस में रहने से, अधिक मैथुन करने से, मल-मूत्र आदि अधारणीय वेगों को रोकने से, अधिक परिश्रम करने से तथा अधिक व्यायाम करने से प्रकुपित हुई केवल वायु अथवा कफदोष को साथ में लेकर आधे शिर पर अपना प्रभाव डालकर मन्या (गले का पिछला भाग), भृकुटि, शंखप्रदेश, कान, आँख, ललाट (माथा) के आधे भाग में (यह दाहिने अथवा बाँये किसी भाग में भी हो सकता है) शस्त्र से काटने के समान अथवा अरणिमन्थन के समान असह्य वेदना को पैदा कर देती है। उसे अर्धावभेदक कहते हैं। यदि यह रोग अधिक बढ़ जाता है, तो आँख अथवा कान की देखने या सुनने की शक्ति का नाश कर देता है।

अर्धावभेदक-चिकित्सा—चतुःस्नेह (घी, तेल, वसा, मज्जा) को उत्तम मात्रा में पीना, शिरोविरेचन, (नस्य-प्रयोग), कायविरेचन (वमन, विरेचन द्वारा शरीर का शोधन करना), नाड़ीस्वेद, पुराने घृत का प्रयोग, वस्तिकर्म, अनुवासनवस्ति का प्रयोग, उपनाह, शिरोवस्ति तथा अग्नि से दाहकर्म इसकी उत्तम चिकित्सा है। प्रतिश्याय तथा शिरोरोग में जिन चिकित्सा-विधियों का वर्णन (चरक-चिकित्सास्थान अध्याय १६ में) किया गया है, उनका प्रयोग भी इसमें करना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ने इस अर्धावभेदक रोग को केवल वातविकार-प्रधान अथवा वातकफ मिश्रित रोग स्वीकार किया है और सुश्रुत ने इसे त्रिदोषज माना है—'यस्योत्तमाङ्गार्धमतीव जन्तोः सम्भेदतोदभ्रमशूल-जुष्टम्। पक्षाद् दशाहादथवाप्यकस्मात् तस्यार्धभेदं त्रितयाद् व्यवस्येत्'। सु० उ० अ० २५।१५। हमारे विचार से इसे वात-प्रधान, वात-कफ-प्रधान तथा त्रिदोषज तीनों प्रकार का मानना चाहिए, क्योंकि चिकित्साकाल में रोगों के विविध विकल्प देखने को मिलते हैं। सुश्रुत के अनुसार आचार्य विदेह ने भी इस रोग के दौरे की अवधि का संकेत इस प्रकार किया है—३ दिन में, ५ दिन में, १५ दिन में या १ मास में इसकी पुनरावृत्ति देखी जाती है। इसे आधासीसी भी कहते हैं। वास्तव में यह शब्द 'अर्धशिरसि' का अपभ्रंश मात्र है। इसे अर्धाव-भेदक भी कहते हैं। यह स्थिति तब आती है जब सिर में शस्त्र से काटने की-सी पीड़ा होती है। यदि इसे समय पर ठीक नहीं कर लेते तो यह आँख तथा कान की शक्ति को नष्ट कर देता है।

अरणि-मन्थन—यज्ञ में अग्नि को प्रकट करने के लिए पीपल अथवा शमी वृक्ष का सार भाग लेकर दो टुकड़ों को परस्पर शास्त्रीय विधि से रगड़ा जाता है। इनमें जो टुकड़ा नीचे रखा जाता है, उसे 'अधरारणि' कहते हैं और ऊपर से जिसे रगड़ा जाता है, उसे 'उत्तरारणि' कहते हैं।

सन्धारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ। दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितम् ॥७९॥
सूर्योदयेंऽशुसन्तापाद् [3]द्रवं विष्यन्दते शनैः। ततो दिने शिरःशूलं दिनवृद्ध्या विवर्धते ॥८०॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के सम्प्रशाम्यति। सूर्यावर्तः स तत्र स्यात् सपरीत्तरभक्तिकम् ॥
शिरःकायविरेकौ च मूर्ध्नां [4]त्रिस्नेहधारणम्। जाङ्गलैरुपनाहश्च घृतक्षीरैश्च [5]सेचनम् ॥८२॥

१. 'रूक्षाशनादध्यशनात् प्राग्वातस्य च सेवनात्' इति पा०।
२. 'वाऽपि गृहीत्वाऽर्धं शिरो बली' इति पा०।
३. 'रक्तं विष्यन्दयेच्छनैः' इति पा०।
४. 'तु स्नेहधारणम्' इति पा०।
५. 'नावनम्' इति पा०।

बर्हितित्तिरिलावादिशृतक्षीरोत्थितं घृतम् । स्यान्नावनं जीवनीयक्षीराष्टगुणसाधितम् ॥८३॥

सूर्यावर्त : निदान, लक्षण—मल, मूत्र आदि अधारणीय वेगों के रोकने तथा अजीर्ण आदि कारणों से दूषित हुआ रक्त और वायु मस्तिष्क-प्रदेश को दूषित कर देते हैं। इस प्रकार दूषित रक्तधातु तथा प्रकुपित वायु द्वारा प्रभावित मस्तिष्क अर्थात् शिर में स्थित मज्जाधातु सूर्योदय के समय से सूर्य की किरणों की गर्मी द्वारा पिघलकर धीरे-धीरे बहने लगती है। इसीलिए दिन के समय दिन की वृद्धि के साथ-साथ शिर की वेदना धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और मध्याह्न के बाद ज्यों-ज्यों दिन का क्षय होता जाता है, त्यों-त्यों मस्तिष्क अर्थात् शिर में स्थित मज्जाधातु स्त्यान (गाढ़ी) होती जाती है, अतः वह वेदना का क्रम स्वयं शान्त होता जाता है। उसे सूर्यावर्त कहते हैं।

सूर्यावर्त-चिकित्सा—इस रोग में भोजन करने के बाद घृतपान कराना चाहिए। शिरोविरेचन (नस्य) तथा कायविरेचन (वमन, विरेचन), शिर पर घी, तैल, वसा का धारण, जांगल-प्रदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांसों का उपनाह, घी और दूध का शिरःप्रदेश पर परिषेचन, मोर, तीतर, लावा आदि पक्षियों के मांसरस द्वारा पकाये गये दूध को मथकर निकाले गये घी को जीवनीयगण (च० सू० अ० ४।९ में कहे गये प्रथम दस द्रव्यों) के कल्क से आठ गुने दूध द्वारा पकाये गये घी की नस्य देनी चाहिए।

वक्तव्य—चरक के अनुसार इस रोग की उत्पत्ति रक्तधातु तथा वातदोष के दूषित होने से मानी गयी है, किन्तु सुश्रुत ने इसे सर्वात्मक अर्थात् सान्निपातिक कहा है। तदनुसार सूर्यावर्त का लक्षण—'सूर्योदय के साथ धीरे-धीरे आँखों तथा भौंहों से हल्की-हल्की पीड़ा आरम्भ होकर वह सूर्य के बढ़ने के साथ-साथ उग्र, उग्रतर होती जाती है। यह क्रम मध्याह्न तक बढ़ता जाता है, मध्याह्न के बाद सूर्य की तपन के घटने पर पीड़ा शान्त होने लगती है। वह रोगी कभी शीतल चिकित्सा से और कभी उष्ण चिकित्सा से सुख का अनुभव करता है। इस रोग को भास्करावर्त (सूर्यावर्त) कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य होता है और अत्यन्त कष्टदायक होता है। वास्तव में उक्त लक्षण सूर्यावर्त तथा सूर्यावर्त-विपर्यय इन दोनों के हैं। 'शीतेन शान्तिं लभते कदाचित्'। यह सूर्यावर्त रोग है और 'उष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च' यह लक्षण सूर्यावर्त-विपर्यय' का है। सु० उ० अ० २५।११-१२ ॥ सुश्रुतोक्त इसी पाठ को श्रीभावमिश्र ने भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। सूर्योदय-काल में सूर्यावर्त रोग का किस कारण से प्रारम्भ होता है और सूर्य की गर्मी शान्त होने पर किस कारण से स्वयमेव रोग शान्त होने लगता है, इसका स्पष्ट वर्णन आचार्य निमि ने इस प्रकार किया है—'स्वभावशीता तमसोऽभिमूला रात्रिस्तयोद्भूतकफेन मार्गे। रुद्धे मरुत्कोपमियाद् प्रभाते रुजं करोत्यत्र शिरोभितापे ॥ मध्याह्नसूर्यातपतापयोगाद् कफे विलीने मरुति प्रपन्ने। स्वमार्गमायाति तदा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त इहार्कपूर्वे' ॥ सूर्यावर्त की व्याख्या में श्रीडल्हण।

आचार्य विदेह के अनुसार—'सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वयम्भू पित्तमारुतौ। कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनाद् पूर्वाह्न एव तु ॥ आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे। स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति ॥ उद्गतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते ॥ तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति' ॥ तात्पर्य समान है। तथापि जहाँ महर्षि आत्रेय इस रोग की उत्पत्ति में रक्त और वात को कारण मानते हैं, वहाँ आचार्य विदेह पित्त तथा वायु को इस रोग का उत्पादक स्वीकार करते हैं।

एक शंका—श्रीजयदेव ने अपनी टीका में लिखा है—'श्रीचक्रपाणि की टीका से प्रतीत होता है कि यहाँ कुछ पाठभेद हो गया है। वहाँ 'लावादयो विष्किरा अन्नपानोक्ताः, बिलनिवासीति बिलेशयः, बिलशायिनां सेवनमिति सम्बन्धः'। यह टीका है। उपलब्ध मूलपाठ में तो बिलेशय का कहीं नाम ही नहीं है।

समाधान—यदि 'बर्हितित्तिरलावादि' इस पद्यांश में गृहीत 'आदि' पद से 'बिलेशयों' का ग्रहण किया हो, तो उक्त विषय का समाधान किया जा सकता है। यदि 'बिलेशय' शब्द की ही उक्त टीकाकार को खोज हो, तब तो यह विचारणीय विषय होगा। इससे भी आश्चर्य की बात तो यह है, कि मेरे समक्ष चक्रपाणि की टीका से युक्त चरकसंहिता के दो संस्करण हैं। सन् १९२२ के निर्णयसागरीय संस्करण के अनुसार चक्रपाणि की उक्त पंक्ति यथास्थान पूर्णरूप से उपलब्ध है, किन्तु सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण में उक्त पंक्ति केवल इतनी ही दी गयी है—'लावादयो विष्किरा अन्नपानोक्ताः'। इस संस्करण को देखकर तो कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उक्त शंका को निराधार कहने में संकोच नहीं करेगा।

([1]उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनैः ।)
दुष्टा दोषास्त्रयो [2]मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम् ॥ ८४ ॥
तीव्रां कुर्वन्ति [3]सा चाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठते । स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम् ॥८५॥
सोऽनन्तवातस्तं हन्यात् सिरार्कावर्तनाशनैः । वातो रूक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत् ॥८६॥
तत्रामृताबलारास्नामहाश्वेताश्वगन्धकैः । स्नेहस्वेदादि वातघ्नं शस्तं नस्यं च तर्पणम् ॥८७॥

अनन्तवात : निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण—उपवास, अतिशोक, अधिक रूक्ष, अधिक शीत तथा अत्यन्त थोड़ा भोजन करने के कारण कुपित हुए वात आदि तीनों दोष मन्या (गर्दन की दोनों सिराएँ), घाटा (गर्दन का पिछला भाग) में तीव्र वेदना पैदा कर देते हैं। वह वेदना आँख, भौंह तथा शंखप्रदेश में जाकर स्थिर हो जाती है। तदनन्तर गण्डस्थल के किसी एक ओर स्पन्दन (कम्पन या फड़कन), नेत्ररोग तथा हनुग्रह हो जाता है, उसे 'अनन्तवात' कहते हैं।

अनन्तवात-चिकित्सा—इस रोग में सिरामोक्षण-विधि से रक्त को निकालना चाहिए तथा सूर्यावर्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। रूक्ष आहार आदि उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित हुई वायु जब शिरःप्रदेश में कम्पन पैदा कर देती है, तब गुरुच, बला की जड़, रास्ना, महाश्वेता (अपराजिता) तथा असगन्ध के क्वाथ एवं कल्क द्वारा विधिवत् पकाये गये स्नेह का उपयोग, वातविकार-नाशक अन्य उपचार (स्नेहन, स्वेदन) तथा तर्पण नस्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—अनेक संस्करणों में 'उपवासाति'''भोजनैः' इस ८४वें श्लोक के पूर्वार्ध को कोष्ठक के भीतर बन्द करके नीचे टिप्पणी में लिखा है, कि यह पद्यार्ध हस्तलिखित पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु निर्णयसागरीय १९३३ ई० के संस्करण में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है और न यह पंक्ति अप्रासंगिक ही प्रतीत होती है। सुश्रुत के अनुसार अनन्तवात—'वात आदि तीनों दोष प्रकुपित होकर मन्या को दबाकर गले के पिछले भाग में भयंकर वेदना को उत्पन्न कर देते हैं। विशेष करके ये दोष आँख, भौंह तथा शंख-प्रदेश में स्थित रहते हैं। इनके कारण गण्डस्थल के बगल में कम्पन होता है, हनुग्रह एवं आँख के रोग हो जाते हैं, उस रोग को अनन्तवात कहते हैं। वह त्रिदोषजनित शिरोरोग है। वृद्धवाग्भट के अनुसार इस रोग का परिचय—'वातोल्बणाः शिरःकम्पं तत्संज्ञं कुरुते मलाः'। अ० सं० उ० अ० २७।१५। माधवकर ने प्रायः इसी प्रकार के लक्षणों वाले अन्यतोवात रोग को उद्धृत किया है—'यस्यावटुः कर्णशिरो हनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा। कुर्याद् रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति' ॥ मा० नि० नेत्ररोग-नि० १८।

नस्तःकर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित् । द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्य हन्ति तान् ॥

शिरोरोग में चिकित्सा-सूत्र—आयुर्वेदशास्त्र के ज्ञाता चिकित्सक को सभी प्रकार के शिरोरोगों में विविध प्रकार के नस्यकर्म (चिकित्सा) का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि शिर का द्वार नासिका है। अतः नासिका-मार्ग द्वारा प्रयुक्त औषधयोग शिरःप्रदेश में व्याप्त होकर शिरोरोगों का विनाश करता है।

नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च । प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तःकर्म तु पञ्चधा ॥८९॥

नस्यकर्म के भेद—१. नावन (नस्य या नस्तःकर्म), २. अवपीड, ३. ध्मापन, ४. धूम, ५. प्रतिमर्श। ये पाँच प्रकार के नस्य भेद हैं।

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम् । शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा [4]मतः ॥
चूर्णस्याध्मापनं तद्धि [5]देहस्रोतोविशोधनम् । विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः ॥
प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत् । एवं तद् रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा ॥९२॥

---

१. अयं पाठो हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।
२. 'मन्यां पश्चाद्घाटासु' इति पा०।
३. 'नासाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठते' इति पा०।
४. 'च सः' इति पा०।
५. 'देहश्लेष्मविशोधनम्' इति पा०।

नावन के भेद—नावन अर्थात् नस्य क्रिया-भेद से दो प्रकार का होता है—१. स्नेहन तथा २. शोधन। अवपीड नस्य के भी दो भेद होते हैं—१. शोधन तथा २. स्तम्भन। ध्मापन-नस्य के लिए तैयार किये गये चूर्ण को मुख द्वारा किसी नली की सहायता से फूँककर नासिका के छिद्र के भीतर तक पहुँचाने की क्रिया को ध्मापन अथवा प्रधमन नस्य कहते हैं। इससे देहगत स्रोतों का विशेषरूप से शोधन होता है। धूम—यह शमन आदि भेद से तीन प्रकार का होता है। इसका वर्णन (च० सू० अ० ५ में) पहले किया जा चुका है। प्रतिमर्श–इस विधि से जिस स्नेहद्रव को नासिका के छिद्रों द्वारा दिया जाता है, उस नस्य को प्रतिमर्श कहते हैं। यह दोनों (स्नेहन, शोधन) कार्यों को करने के लिए प्रयुक्त होता है और इसके प्रयोग से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है, अतः इसे निर्दोष कहा गया है (इसका वर्णन आगे ११६वें पद्य में देखें)। इस प्रकार वह नस्य उपयोग-भेद से १. रेचन (दोषों को निकालने वाला), २. तर्पण (शिरःप्रदेश को स्नेहन-क्रिया द्वारा तृप्त करने वाला) और ३. शमन (बिना रेचन कराये ही दोषों को शान्त करने वाला) होता है। इसी को 'स्तम्भन' भी कहते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार नस्य—'औषध (चूर्ण के रूप में प्रयुक्त होने वाला नस्य) अथवा औषध-द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्कयोग से तैयार किये गये स्नेहद्रव को नासिका के छिद्रों द्वारा दिये जाने के कारण इसे नस्य कहा जाता है। मूल रूप में यह नस्य दो प्रकार का होता है—१. शिरोविरेचन (शिरःप्रदेश में स्थित दोषों को बाहर निकालने वाला) और २. स्नेहन (शिरःप्रदेश की रूक्षता को दूर करके उसे स्निग्ध करने वाला)। यह दो प्रकार का होने पर भी पुनः पाँच प्रकार का होता है—१. नस्य, २. शिरोविरेचन, ३. प्रतिमर्श, ४. अवपीड, ५. प्रधमन। इन पाँचों में नस्य और शिरोविरेचन मुख्य हैं। नस्य का ही एक भेद प्रतिमर्श है। शिरोविरेचन के विकल्प अवपीड तथा प्रधमन हैं। नस्य शब्द इन पाँचों के लिए प्रयोग में आता है। सु० चि० अ० ४०।२१। रेचन नस्य को कर्षण तथा अपतर्पण और स्नेहन नस्य को बृंहण तथा सन्तर्पण भी कहते हैं। नासिका से भी एक प्रकार का धूमपान किया जाता है, अतः इसका ग्रहण भी नस्य में कर लिया गया है। यद्यपि विस्तारपूर्वक धूमपान की चर्चा च० सू० अ० ५ श्लोक २० से ५५ तक की गयी है, तथापि संक्षेप में धूमपान को इस प्रकार समझें—यहाँ केवल प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक धूमों का ग्रहण नासा द्वारा किया जाता है, अतः इन्हीं धूमों का नस्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए। केवल मुख से पीने वाले धूमों का नस्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता।

नासिका के छिद्रों में जो भी औषध दी जाती है, वह नस्य कही जाती है। उसी को नावन या नस्तःकर्म भी कहते हैं। नासारन्ध्र (छिद्र) शिरःप्रदेश का मार्ग या द्वार है। अतः उस मार्ग से दी गयी औषधि शृङ्गाटक नामक मर्मस्थल पर पहुँचकर सम्पूर्ण शिर, नेत्र, कर्णमण्डल तथा कण्ठप्रदेश आदि की शिराओं के मुखों में व्याप्त होकर शिरःप्रदेश में व्याप्त दोषसमूह को शीघ्र निकाल देती है। यही कारण है कि नस्य-प्रयोग से अभिष्यन्द आदि नेत्ररोग, कर्णशूल आदि कान के रोग, प्रतिश्याय आदि नासागत रोग, दन्तशूल आदि मुख के रोग तथा अर्धावभेदक, मूर्च्छा आदि शिरोरोगों में शीघ्र ही लाभ होते देखा जाता है।

नस्य के संक्षिप्त सन्दर्भ-संकेत—च० सू० अ० ५।२० से ५५; च० सि० अ० १।५० से ५३; च० सि० अ० २।२० से २३; च० सि० अ० ९।८८ से ११८ तक; सु० चि० अ० ४०; अ० सं० सू० अ० २९; अ० हृ० सू० अ० २०।

शृङ्गाटकमर्म-परिचय—'घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि'। सु० शा० अ० ६।२७। वाग्भट के अनुसार इसका परिचय—'जिह्वाक्षिनासिकाश्रोत्रखचतुष्टयसङ्गमे। तालुन्यास्यानि चत्वारि स्रोतसां तेषु मर्मसु॥ विद्धः शृङ्गाटकाख्येषु सद्यस्त्यजति जीवितम्'॥ अ० हृ० शा० अ० ४।३४। महर्षि भेल के अनुसार—'शिरः ताल्वन्तर्गतं मनः'। मन का कार्यक्षेत्र अथवा विचार-विमर्श का क्षेत्र शिर ही है।

प्रतिमर्श नस्य—इस विधि को तन्त्रकार ने निर्दोष कहा है, किन्तु इसी का एक भेद मर्श नस्य भी है, उसके सम्बन्ध में श्रीशार्ङ्गधराचार्य ने कहा है—'मर्शो शिरोविरेके च व्यापदो विविधाः स्मृताः'। शा० सं० उ० खं० अ० ८।२८। मर्श तथा प्रतिमर्श ये दोनों ही बृंहण नस्य के अन्तर्गत आते हैं। **मात्रा विचार**—'मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताष्टभिः। मध्यमा च चतुःशाणैर्हीना शाणामिता स्मृता'॥ शा० सं० उ० खं० अ० ८।२५ और प्रतिमर्श की मात्रा—'प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्विद्विबिन्दुमिता मता। प्रत्येकशो नस्तकयोः स्नेहेनेति विनिश्चितम्'॥ वही, ८।४६। यद्यपि हमने ऊपर इसी के वक्तव्य में श्रीचक्रपाणि के अनुसार धूम को भी नस्य-भेद

मान लिया है, किन्तु सुश्रुत ने स्नैहिक और वैरेचनिक नस्यों में ही उसका अन्तर्भाव करके अन्य भेद स्वीकार नहीं किये। नस्य के भेद, उपभेदों का विस्तृत विवेचन ग्रन्थान्तरों में भी गवेषणीय है।

स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लैष्मिका ये शिरोगदाः। शिरोविरेचनं तेषु नस्तःकर्म प्रशस्यते॥९३॥
ये च वातात्मका रोगाः शिरःकम्पार्दितादयः। शिरसस्तर्पणं तेषु नस्तःकर्म [1]प्रशस्यते॥९४॥
रक्तपित्तादिरोगेषु शमनं नस्यमिष्यते। ध्मापनं धूमपानं च तथा योग्येषु [2]शस्यते॥९५॥
([3]दोषादिकं समीक्ष्यैव भिषक् सम्यक् च कारयेत्।)

विरेचन नस्य का प्रयोग—शिरःप्रदेश में जकड़न, सुप्ति (सूनापन), भारीपन आदि जो कफदोष के कारण विकार उत्पन्न होते हैं, उन सभी रोगों में शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग उत्तम माना जाता है।

तर्पण नस्य का प्रयोग—शिरःकम्प (शिर का काँपना), अर्दित (मुख-प्रदेश का लकवा) आदि वात-जनित रोगों में शिरःप्रदेश को तृप्त करने वाले स्निग्ध नस्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

शमन नस्य का प्रयोग—ऊपरी अवयवों से प्रवृत्त रक्तपित्त आदि रोगों में शमन (दोषों को बाहर निकाले बिना भीतर ही शान्त कर देने वाले) नस्यों का प्रयोग करना चाहिए। (रक्तपित्त आदि शब्द से—वली, पलित, खालित्य, दारुणक, रक्तराजी, व्यङ्ग, नीलिका रोगों का ग्रहण कर लेना चाहिए)।

ध्मापन तथा धूमपान—इन दो नस्यों का प्रयोग जहाँ-जहाँ उचित हो कराना चाहिए। (इनका विशेष विवरण च० सू० अ० ५ में यथास्थान दिया गया है)। वास्तव में इन सभी नस्यों का प्रयोग कराने के पहले चिकित्सक दोष आदि का विचार करके तब इनका प्रयोग कराये।

वक्तव्य—९६वें श्लोक के पूर्वार्ध को सन् १९३३ तथा १९४१ ई० के निर्णयसागरीय संस्करणों ने कोष्ठक के भीतर तो रख दिया, किन्तु श्लोक क्रम संख्या को यथावत् चलाया है। वास्तव में सन् १९२२ के निर्णयसागरीय संस्करण में उक्त अर्धाली कोष्ठक के कठघरे में कैद नहीं है। स्तम्भसुप्तिगुरुत्वादि से इन रोगों का ग्रहण करें—अरोचक, शिरोरोग, गौरव, शूल, पीनस, अर्धावभेदक, कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्धाज्ञान (गन्ध का ठीक-ठीक ज्ञान का न होना)। वातप्रकोप-जनित रोग—सूर्यावर्त, अर्धावभेदक, कृमि, शिरोरोग, अक्षिसंकोच, स्पन्द, तिमिर, कृच्छ्रावबोध, दन्तशूल, कर्णशूल, कर्णनाद, नासाशोष, मुखशोष, वाक्संग, स्वरोपघात, मन्यारोग, अपतानक, अपबाहुक, निद्रानाश।

फलादिभेषजं प्रोक्तं शिरसो यद्विरेचनम्॥९६॥
तच्चूर्णं कल्पयेत् तेन पचेत् स्नेहं विरेचनम्। यदुक्तं मधुरस्कन्धे भेषजं तेन तर्पणम्॥९७॥
साधयित्वा भिषक् स्नेहं नस्तः कुर्याद् विधानवित्।

शिरोविरेचन-विधि—शिरःप्रदेश का शोधन करने के लिए जो फल आदि औषधद्रव्य कहे गये हैं, उनका कपड़छन चूर्ण बनाकर नस्य के लिए प्रयोग करें और उन्हीं द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से स्नेहपाक करके शिरोविरेचन कराना चाहिए।

तर्पण नस्य-विधि—जो मधुरवर्ग में कहे गये औषधद्रव्य हैं, उन द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से स्नेह-पाक करके नस्य-विधान को जानने वाले चिकित्सक को नस्य का प्रयोग कराना चाहिए। इससे तर्पण होता है।

वक्तव्य—फलादि भेषज का वर्णन—'शिरोविरेचनं सप्तविधं, फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्यासत्वगाश्रयभेदात्, लवणकटुतिक्तकषायाणि चेन्द्रियोपशयानि तथाऽपराण्यनुक्तान्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्यन्त इति'। च० वि० अ० ८।१५१। तर्पण नस्य के लिए निर्दिष्ट मधुरस्कन्ध के द्रव्यों को देखें—च० वि० अ० ८।१३९ में।

प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा प्राक्कृतावश्यकस्य च॥९८॥
प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा प्राक्कृतावश्यकस्य च॥ प्रलम्बशिरसः किञ्चित् किञ्चित् पादोन्नतस्य च॥
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम्।

१. 'प्रचक्षते' इति पा०।
२. 'कारयेत्' इति पा०।
३. अयं पाठो हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक् ।

नस्य-प्रयोग-विधि—जिसने प्रातःकाल उठकर शौच आदि आवश्यक नित्यकर्म कर लिया हो, उसे सूर्य के उदय होने से पहले अथवा मध्यसूर्य (मध्याह्न काल) में जो भली-भाँति बिछे हुए विस्तरे पर सुख से चित लेटकर सोया हुआ हो, जिसका शिर पलंग से नीचे को कर दिया गया हो और जिसके पैर कुछ ऊँचे उठे हों, अर्थात् जिस पलंग का पैताना ऊँचा किया गया हो जिसके कारण सिरहाना स्वयं नीचा हो गया हो, इस प्रकार सोये (लेटे) हुए रोगी की नासिका के छिद्र में तर्पणस्नेह का बुद्धिमान् चिकित्सक प्रयोग करे।

वक्तव्य—कुछ टीकाकार सूर्योदय के पहले ग्रीष्मकाल (गरमी के मौसम) में और मध्याह्न में शीतकाल में नस्यकर्म कराना चाहिए—ऐसा अर्थ करते हैं, आप भी प्रयोग करके देखें। सुश्रुत ने इस प्रकार की व्यवस्था दी है—'तत्रैतद् द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले, पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्णे वातरोगिणाम्'। सु० चि० अ० ४०।२४। ऐसा ही मत वृद्धवाग्भट का भी है। देखें—अ० सं० सू० अ० २९। इसका विशेष विधान च० सि० अ० २ में वतलाया गया है।

अनवाक्शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते ।। १०० ।।
अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठति । अत एवं शयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः ।।१०१।।
संस्वेद्य नासामुन्नम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा । हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयतः समम् ।।१०२।।
प्रणाड्या पिचुना वाऽपि नस्तःस्नेहं यथाविधि ।

नस्य-प्रयोग पर विचार—यदि पलंग में रोगी के सिरहाने को विना नीचा किये नस्य का प्रयोग किया जाता है, तो नस्य के लिए प्रयुक्त स्नेह शिर में यथास्थान प्रवेश नहीं कर पाता है। यदि शिर को अधिक नीचा करके नस्य का प्रयोग किया जाता है, तो नस्य के लिए प्रयुक्त स्नेहद्रव मस्तुलुंग (मस्तिष्क) में ही रुक जाता है, बाहर नहीं निकल पाता, इसलिए सोये (लेटे) हुए व्यक्ति के शिर की शुद्धि के लिए शिर का स्वेदन करना चाहिए। जब भली प्रकार स्वेदन हो जाय, तो बाँयें हाथ के अँगूठे से रोगी की नासिका को ऊपर की ओर उठाकर दाहिने हाथ से प्रणाली (Droper) अथवा पिचु (रूई का फाहा) द्वारा विधिपूर्वक स्नैहिक नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

कृते च स्वेदयेद् भूय आकर्षेच्च पुनः पुनः ।। १०३ ।।
तं स्नेहं श्लेष्मणा [1]साकं तथा स्नेहो न तिष्ठति ।

स्नेहन नस्य से लाभ—उक्त विधि से नासाछिद्रों में स्नेह द्रव डालने के बाद शिरःप्रदेश का पुनः स्वेदन करना चाहिए और बार-बार कफ के साथ उस स्नेह को बाहर निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार कफ के निकालने से नस्य के लिए प्रयुक्त स्नेह मस्तिक में रुक नहीं पाता, अर्थात् कफदोष को अपने साथ लेकर बाहर चला आता है। यही नस्य के सम्यक् प्रयोग की उपलब्धि होती है।

स्वेदेनोत्क्लेशितः श्लेष्मा [2]नस्तःकर्मण्युपस्थितः ।। १०४ ।।
भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि [3]स्त्यायते ततः । श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते ।।१०५।।
ततो नस्तःकृते धूमं पिबेत् [4]कफविनाशनम् । हितान्नभुङ्निवातोष्णसेवी स्यान्नियतेन्द्रियः ।।
विधिरेषोऽवपीडस्य कार्यः प्रध्मापनस्य तु । तत् [5]षडङ्गुलया नाड्या धमेच्चूर्णं मुखेन तु ।।१०७।।

धूमपान का प्रयोग—नस्य-चिकित्सा में स्वेदनकर्म करने से उभड़ा हुआ कफदोष पुनः स्नेहन करने से स्नेह के स्वभाव शीतल गुण के कारण वह पुनः शिरःप्रदेश में जम जाता है, अर्थात् बाहर नहीं निकल पाता। इस प्रकार जमा हुआ वह कफ कानों, मन्या, गला आदि स्थानों में अनेक प्रकार के कफज विकारों को उत्पन्न कर देता है। अतः नस्य का प्रयोग करने के बाद कफ को नष्ट करने वाले धूम का पान करना चाहिए।

१. 'सार्धं यथा' इति पा०।
२. 'नस्तःकर्मण्युरःस्थितः' इति पा०।
३. 'श्यायते पुनः' इति पा०।
४. 'कफविशोधनम्' इति पा०।
५. 'षडङ्गुल्याऽथवा' इति पा०।

धूमपान करने से जब कफदोष निकल जाय तब हितकर आहारों का सेवन, निवात स्थान (जहाँ बाहर की सीधी हवा भीतर प्रवेश न कर पाती हो, ऐसे कमरे में) तथा उष्ण स्थान में निवास करना चाहिए। वह जितेन्द्रिय रहे। यह अवपीड नस्य की विधि है। यही विधि प्रध्मापन (प्रधमन) नस्य की भी है, किन्तु इसमें नस्य के लिए तैयार किये गये चूर्ण को छः अंगुल लम्बी नली (जिसके दोनों ओर छिद्र हो) में रखकर औषध वाला भाग रोगी की नाक के सामने रखकर दूसरी ओर से मुख से फूँककर उस औषधचूर्ण को रोगी की नासिका-छिद्र से भीतर पहुँचाया जाता है। अतएव इसे प्रधमन नस्य कहते हैं।

वक्तव्य—अवपीड नस्य शिरोविरेचन का ही एक भेद है, यह पहले कहा जा चुका है। अवपीड का अर्थ है—शिरःप्रदेश में स्थित कफदोष को दबाकर बाहर निकाल लाने वाला नस्य-प्रयोग। प्रधमन—'प्रकर्षेण धम्यते, इति'। जिस नस्य को नली द्वारा फूँककर शिरोगुहा तक प्रवेश करा दिया जाता है, उसे प्रधमन नस्य कहते हैं। श्रीचक्रपाणि के अनुसार ये वे धूम हैं, जिनका पान नासिका द्वारा किया जाता है। इसके लिए च० सू० अ० ५ का अवलोकन करें।

विरिक्तशिरसं [1]तूष्णं पाययित्वाऽम्बु भोजयेत् । लघु त्रिष्वविरुद्धं च निवातस्थमतन्द्रितः ।।१०८।।
विरेकशुद्धो दोषस्य कोपनं यस्य सेवते । स दोषो विचरंस्तत्र करोति स्वान् गदान् बहून् ।।
यथास्वं विहितां तेषु क्रियां कुर्याद् विचक्षणः । अकालकृतजातानां रोगाणामनुरूपतः ।।११०।।

नस्य के पश्चात् कर्तव्य—भली-भाँति शिरोविरेचन हो जाने पर चिकित्सक को चाहिए कि वह सावधानीपूर्वक रोगी को गुनगुना जल पिलाने के बाद जो आहार वात, पित्त, कफ दोषों के विपरीत न हो तथा जल्दी पच जाने वाला हो, ऐसा भोजन रोगी को खिलायें। जहाँ बाहरी हवा का सीधा प्रकोप न हो, ऐसे स्थान पर रोगी को रखें। शिरोविरेचन कराने से शुद्ध हुआ व्यक्ति जिस दोष को प्रकुपित करने वाले आहार-विहारों का सेवन करता है, वह दोष कुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में घूमते हुए अपने अनुरूप अनेक प्रकार के रोगों को पैदा कर देता है। ऐसी स्थिति में उन-उन दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करने के लिए जो-जो चिकित्सा-विधियाँ कही गयी हैं, उन सभी का प्रयोग करना चाहिए। असमय में किये गये शिरोविरेचन आदि नस्य-प्रयोगों के कारण यदि कोई व्याधि उत्पन्न हो गयी हो, तो उस रोग के अनुसार उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

[2]अजीर्णे भोजने भुक्ते तोये पीतेऽथ दुर्दिने । प्रतिश्याये नवे [3]स्नाते स्नेहपानेऽनुवासने ।।१११।।
नावनं स्नेहनं रोगान् करोति श्लैष्मिकान् बहून् । तत्र श्लेष्महरः सर्वस्तीक्ष्णोष्णादिर्विधिर्हितः ।।

कफदोषनाशक विधि—भोजन के न पचने पर अथवा भोजन करने के तत्काल बाद में जल पीने के बाद अथवा दुर्दिन (जिस दिन आकाश में बादल घिरे हों) में, नये प्रतिश्याय रोग में, स्नान कर लेने के बाद, स्नेहपान करने के बाद अथवा अनुवासनबस्ति का प्रयोग करने के बाद यदि नस्य (विरेचन या संशोधन नस्य) तथा स्नेहन नस्य का प्रयोग किया जाता है, तो कफजनित अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण तथा उष्ण विविध प्रकार की कफनाशक विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—अन्यत्र नस्य के अयोग्य रोगियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'नस्य त्यजेद् भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पणे। तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः।। अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः। क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्तो वृद्धबालकौ।। वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत्'।। शा० सं० उ० खं० अ० ८।४-५। इसके बाद नस्य के योग्य तथा अयोग्य अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत्। अशीतिवर्षादूर्ध्वं च नावनं नैव दीयते।। वही, ८।६।

क्षामे विरेचिते गर्भे व्यायामाभिहते तृषि । वातो रूक्षेण नस्येन क्रुद्धः स्वाञ्जनयेद् गदान् ।।११३।।
तत्र वातहरः सर्वो विधिः स्नेहनबृंहणः । स्वेदादिः, स्याद् घृतं [4]क्षीरं गर्भिण्यास्तु विशेषतः ।।

१. 'तप्तम्' इति पा०।
२. 'अजीर्णे भुक्तभक्ते च तोयपीतेऽथ दुर्दिने' इति पा०।
३. 'स्त्याने स्नेहपीतेऽनुवासिते' इति पा०।
४. 'जीर्णे' इति पा०।

विशेष स्थितियों में नस्य—क्षीण शरीर वाले व्यक्तियों में, विरेचन कराने के बाद, स्त्री की गर्भावस्था में, व्यायाम करने से थके हुए एवं प्यास से थके हुए व्यक्तियों में, रूक्ष नस्यों के प्रयोग करने से प्रकुपित हुई वायु वातप्रकोप-जनित अनेक रोगों को उत्पन्न कर देती है। ऐसी स्थिति में वातदोष का नाश करने वाली सभी प्रकार की चिकित्सा-विधियों—स्नेहन, बृंहण तथा स्वेदन आदि का प्रयोग करना चाहिए। यदि गर्भिणी स्त्री को रूक्ष नस्यों का प्रयोग कराने से वातज रोग हो जायें, तो विशेषरूप से उसे घी तथा दूध का प्रयोग कराना चाहिए।

ज्वरशोकातितप्तानां तिमिरं मद्यपस्य तु । रूक्षैः शीताञ्जनैर्लेपैः पुटपाकैश्च [1]साधयेत् ॥११५॥

तिमिररोग-चिकित्सा—ज्वर तथा शोक से जो अत्यन्त संतप्त हो गये हों, ऐसे पुरुषों में तथा मद्यपान करने वाले पुरुषों में यदि शिरोविरेचक नस्य का प्रयोग करने से तिमिररोग उत्पन्न हो गया हो, तो ऐसी स्थिति में रूक्ष एवं शीतल अञ्जनों का प्रयोग, नेत्र के ऊपर किये जाने वाले लेपों तथा पुटपाकों के प्रयोगों द्वारा तिमिर-रोग की चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—शालाक्यतन्त्र में अञ्जन के भेदों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—लेखन, रोपण, प्रसादन ये तीन प्रकार के अञ्जन भेद कहे गये हैं। लेखन-कर्म के लिए अञ्जनों का निर्माण इस प्रकार करने की आज्ञा है—कटु, लवण, अम्ल आदि द्रव्यों से लेखन-अञ्जन तैयार करना चाहिए, रोपण-कार्य के लिए तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है और मधुर द्रव्यों से प्रसादन-कर्म करना चाहिए। देखें उक्त श्लोक पर श्रीचक्रपाणि की टीका। तिक्त द्रव्यों से निर्मित अञ्जन शीतल एवं रूक्ष होता है, जैसे—ममीरे का सुर्मा।

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं [2]नावनं मतम् । प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान् ॥११६॥
नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात् प्रातर्निशि च सर्वदा । न चोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत् ॥

प्रतिमर्श नस्य—इसी अध्याय के ९०वें श्लोक में स्नेहन तथा शोधन-भेद से दो प्रकार के नस्य कहे गये हैं। यह प्रतिमर्श नस्य दोनों (स्नेहन तथा शोधन) कार्यों का निर्वाह करता है। इसके यथाविधि सेवन से किसी प्रकार के दोष (व्यापत्ति या उपद्रव) होने की सम्भावना नहीं होती है। इस नस्य का प्रयोग प्रातःकाल, सायंकाल तथा सभी दिनों में किया जा सकता है। इस नस्य का प्रयोग स्नेह में अंगुली को डुबाकर नासिका के छेदों में तेल की बूँदें टपका कर किया जाता है। नासिका में स्नेह के पड़ने के बाद उस स्नेह को जोर से ऊपर की ओर न खींचें। इसका प्रतिदिन प्रयोग करने से शिरःप्रदेश के सभी अवयव दृढ़ हो जाते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार प्रतिमर्श का विधान—'प्रतिमर्श नस्य का उपयोग चौदह बार प्रतिदिन करना चाहिए—१. प्रातःकाल विस्तर से उठने पर, २. दाँतों को साफ करके, ३. घर से बाहर निकलते समय, ४. व्यायाम, ५. मैथुन तथा ६. यात्रा से थकने के बाद, ७. मल, ८. मूत्र, ९. कवलधारण तथा १०. अञ्जन लगाने के बाद, ११. भोजन करके, १२. वमन करके, १३. दिन में सोकर उठने पर और १४. सायंकाल। देखें—सु० चि० अ० ४०।५१।

प्रतिमर्श नस्य के लाभ—प्रातःकाल विस्तर से उठकर सेवन किया गया प्रतिमर्श रात्रि में एकत्रित हुए नासास्रोत में आये मल को दूर करके मन को प्रसन्न करता है। दाँतों को साफ करके लिया गया नस्य दाँतों को मजबूत बनाता है और मुख में सुगन्धि उत्पन्न करता है। घर से बाहर जाते समय लिया गया प्रतिमर्श नासास्रोतों को गीला रखने से धूल-धुँआ को भीतर नहीं जाने देता अर्थात् बाहर ही रोक देता है। व्यायाम, मैथुन, मुसाफिरी से थके होने के बाद सेवन किया गया नस्य दृष्टि के भारीपन को हटाता है। कवलग्रह के बाद लिया गया नस्य दृष्टि को निर्मल करता है। भोजन करने के बाद लिया गया नस्य स्रोतों को निर्मल बनाकर उनमें हल्कापन ला देता है। वमन करने के बाद लिया गया नस्य स्रोतों में चिपके हुए कफदोष को हटाकर भोजन के प्रति रुचि बढ़ाता है। दिन में सोकर उठने पर लिया गया नस्य निद्राशेष के कारण उत्पन्न शरीर के भारीपन को दूर करके चित्त में एकाग्रता उत्पन्न करता है। सायंकाल लिया गया नस्य समय पर नींद को लाकर प्रातःकाल समय पर जगाने में सहायक होता है। देखें—सु० चि० अ० ४०।५२।

१. 'शोधयेत्' इति पा०।
२. 'नस्यमुच्यते' इति पा०।

तत्र श्लोकौ—

त्रीणि यस्मात् प्रधानानि मर्माण्यभिहितेषु च । तेषु लिङ्गं चिकित्सां च रोगभेदाश्च सौषधाः ॥
विधिरुत्तरवस्तेश्च नस्तःकर्मविधिस्तथा । सव्यापद् भेषजं सिद्धौ मर्माख्यायां प्रकीर्तितम् ॥११९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
त्रिमर्मीयसिद्धिर्नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में यहाँ दो श्लोक कहे गये हैं—प्रस्तुत त्रिमर्मीयसिद्धि नामक अध्याय में हृदय, वस्ति, शिर नामक तीन मर्मों की प्रधानता के कारण, उक्त तीनों मर्मों में आघात (चोट) लगने पर उत्पन्न होने वाले रोगों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा, उन मर्मों में होने वाले विविध रोग और उनकी चिकित्सा, उत्तरवस्ति की विधि, नस्य-कर्मों की विधि, उक्त विधियों के विधि-विपरीत प्रयोग होने के कारण होने वाले उपद्रवों एवं उनकी चिकित्सा-विधियों का निर्देश यहाँ किया गया है।

इस प्रकार श्री वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-
सिद्धिस्थान में त्रिमर्मीयसिद्धि नामक नवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो वस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

त्रिमर्मीयसिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से वस्तिसिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—प्रस्तुत सिद्धिस्थान के ९ अध्यायों में पञ्चकर्म-कल्पना, वस्ति-सम्बन्धी, नेत्र तथा वस्ति, स्नेह-व्यापत्, वमनविरेचनव्यापत्, वस्तिव्यापत् आदि का क्रमशः वर्णन उनसे सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा तथा वस्तियोगों की विधियों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में उन वस्तियों का उल्लेख किया जा रहा है, जो अनेक रोगों में हितकर हैं।

सिद्धानां वस्तीनां शस्तानां तेषु तेषु रोगेषु । शृण्वग्निवेश ! गदतः सिद्धिं सिद्धिप्रदां भिषजाम् ॥

प्रस्तावना—अग्निवेश ! उन-उन रोगों में (जिनका पहले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है) प्रयोग करने पर उत्तम तथा सिद्ध (निश्चित सुफल देने वाली) वस्तियाँ जो चिकित्सकों को चिकित्सा-कार्य में सफलता देने वाली हैं, उन्हें मैं इस वस्तिसिद्धि नामक अध्याय में कह रहा हूँ, सुनो।

बलदोषकालरोगप्रकृतीः प्रविभज्य योजिताः सम्यक् ।
स्वैः स्वैरौषधवर्गैः [1]स्वान् स्वान् रोगान्नियच्छन्ति ॥ ४ ॥
कर्मान्यद् वस्तिसमं न विद्यते शीघ्रसुखविशोधित्वात् ।
आश्वपतर्पणतर्पणयोगाच्च निरत्ययत्वाच्च ॥ ५ ॥

१. 'तान् तान्' इति पा०।

वस्ति के कार्य, उसकी श्रेष्ठता—रोगी के वल, दोष, काल, रोग तथा रोगी की प्रकृति का विचार करके वात आदि दोषों को दूर करने वाले अपने-अपने औषध वर्गों (समूहों) द्वारा तैयार किये गये वस्तियों के यदि विधिपूर्वक प्रयोग किये गये तो वे उन-उन रोगों को दूर करते हैं। शरीर में स्थित मलों का शीघ्र तथा सुखपूर्वक शोधन करने के कारण, शीघ्र ही अपतर्पण (लंघन या प्रारम्भिक व्रणशोथ को कम करने का उपाय, देखें—सु० चि० अ० १।११) करने से, शीघ्र ही तर्पण करने से (तर्पण का विपरीत ही अपतर्पण होता है), किसी प्रकार के उपद्रवों का भय न होने से, अन्य चिकित्साएँ वस्ति-चिकित्सा के समान नहीं हैं, इस दृष्टि से यह दूसरी चिकित्साओं से उत्तम मानी गयी है।

सत्यपि दोषहरत्वे कटुतीक्ष्णोष्णादि भेषजादानात्।
दुःखोद्गारोत्क्लेशाहृद्यत्वकोष्ठरुजा विरेके स्युः ॥ ६ ॥

विरेचन से वस्ति की श्रेष्ठता—यद्यपि विरेचक औषधयोग भी वातादि दोषों तथा मल का निर्हरण करते हैं, परन्तु विरेचक औषधयोगों में कटुरस-प्रधान द्रव्य, तीक्ष्ण प्रभावकारक द्रव्य तथा उष्णवीर्य द्रव्य रहते हैं, जिनके कारण औषध-सेवनकाल में रोगी को कष्ट का अनुभव होता है, डकारें आती हैं, जी मिचलाता है, वे अहृद्य (अरुचिकर अर्थात् हृदय को प्रिय न लगने वाली) होती हैं और उनसे उदर में पीड़ा होती है। ये उपर्युक्त दोष वस्ति-प्रयोग में नहीं होते हैं, अतः विरेचन-प्रयोग से वस्ति-विधान श्रेष्ठ है।

अविरेच्यौ शिशुवृद्धौ तावप्राप्तप्रहीनधातुबलौ। आस्थापनमेव तयोः सर्वार्थकृदुत्तमं कर्म ॥७॥
बलवर्णहर्षमार्दवगात्रस्नेहान्नृणां ददात्याशु।

वस्ति की अन्य विशेषताएँ—बालक तथा वृद्ध ये दोनों विरेचन के योग्य नहीं होते हैं, अर्थात् इन्हें विरेचन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि बालक के शरीर में अभी तक धातु और बल पूर्णरूप से नहीं आ पाता एवं वृद्ध पुरुष के शरीर में धातु तथा बल की कमी हो जाती है। अतः इन दोनों (बालक, वृद्ध) के प्रत्येक शारीरिक हित-साधन के लिए आस्थापनवस्ति का प्रयोग कराना सर्वोत्तम चिकित्सा है। यह आस्थापनवस्ति मनुष्यों को बल, वर्ण, हर्ष (प्रसन्नता, वाजीकरण-योग्यता), शरीर को मृदु (सुकोमल) बनाये रखना तथा स्निग्धता (रूखापन का अभाव) इन सभी गुणों को शीघ्र प्रदान करती है। अतः यह वस्ति विरेचनकर्म से उत्तम होती है।

वक्तव्य—बालक तथा वृद्धों का ग्रहण करने से सुकुमार, स्त्री, गर्भिणी आदि उन सब का यहाँ ग्रहण हो जाता है। जिनको विरेचन कराने की शास्त्र की अनुमति नहीं है, उन सभी को सुखपूर्वक वस्ति का प्रयोग कराया जा सकता है। विशेषता यह है कि ऊपर ४ से ६ तक के श्लोकों में विरेचन के जो-जो दोष दिखलाये गये हैं, वस्ति-प्रयोग में वे दोष तो नहीं है, किन्तु विरेचन के सम्यक् योग के जो लाभ बतलाये गये हैं, वस्ति-प्रयोग में वे सब निहित हैं। ऊपर आस्थापनवस्ति का जो नाम आया है, यह निरूहवस्ति का ही दूसरा नाम है। 'निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः'। देखें—शा० सं० उ० खं० अ० ६।२।

अनुवासनं निरूहश्चोत्तरवस्तिश्च स त्रिविधः ॥ ८ ॥
शाखावातार्तानां सकुञ्चितस्त[1]ब्धभग्नरुग्णानाम्। विट्सङ्गाध्मानारुचिपरिकर्तिरुगादिषु च शस्तः ॥
उष्णार्त्तानां शीताञ्छीतार्तानां तथा सुखोष्णांश्च।
तद्योग्यौषधयुक्तान् वस्तीन् [2]सन्तर्क्य विनियुञ्ज्यात् ॥ १० ॥

वस्ति के भेद—ये वस्तियाँ नाम एवं कार्य-भेद से तीन प्रकार की होती हैं—१. अनुवासन, २. निरूह या निरूहण, ३. उत्तरवस्ति। जो व्यक्ति शाखागत वातरोग से पीड़ित हों, जिनके अंगों में संकोच हो गया हो, अर्थात् शरीरावयवों में सिकुड़न आ गयी हो, जिनके अवयव स्तब्ध (जकड़ गये) हों, जिनका अस्थि-भग्न (Fracture) हो गया हो, या इनसे जो पीड़ित हों, जो व्यक्ति मल की रुकावट (कब्जियत) से, आध्मान (अफारा) से, अरुचि से तथा परिकर्तिका आदि रोगों से पीड़ित हों, उनके लिए भी वस्ति का प्रयोग

१. 'स्तब्धभग्नसन्धीनाम्' इति पा०। २. 'सर्वत्र' इति पा०।

प्रशंसनीय है, अर्थात् हितकर होता है। जो रोगी उष्णता (पित्तविकारों) से पीड़ित हों, उन्हें शीतल वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। जो व्यक्ति शीत (कफज विकारों) से पीड़ित हों, उन्हें सुखोष्ण (गुनगुने) वस्ति द्रव से युक्त वस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। उन भिन्न-भिन्न रोगों में जिनमें शास्त्रकारों ने वस्ति-प्रयोग का विधान किया है, उस-उस रोग का शमन करने वाली ओषधियों के योग से वस्तियों का सावधानी से निर्माण करके उनका युक्तिपूर्वक प्रयोग कराना चाहिए।

वस्तीन्न बृंहणीयान् [1]दद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु। मेदस्विनो विशोध्या येऽपि नराः कुष्ठमेहार्ताः ॥
न क्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कदेहानाम्। युञ्ज्याद्विशोधनीयान् दोषनिबद्धायुषो ये च ॥१२॥

बृंहणवस्ति के अयोग्य—जिन व्यक्तियों को तथा जिन रोगों में शोधन (वमन, विरेचन) कराना
आवश्यक हो, उनमें बृंहण (स्वास्थ्यवर्धक या स्थूलताकारक) वस्तियों का प्रयोग नहीं कराना चाहिए तथा
जो मेदस्वी (जिनका मेदोधातु बढ़ा हो), कुष्ठरोगी एवं प्रमेहरोगी हों, उन्हें भी बृंहणवस्ति का प्रयोग नहीं
कराना चाहिए। जो व्यक्ति शोधन के अयोग्य हों, क्षीण, क्षत, दुर्बल, मूर्च्छारोग से पीड़ित, कृश तथा शुष्क
शरीर वाले हों तथा वमन आदि द्वारा जिनका शरीर अभी-अभी शुद्ध कराया गया हो और जो व्यक्ति दोषों के
उपस्थित रहने से ही जीवित हो, ऐसे किसी व्यक्ति को भी शोधनवस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

वक्तव्य—ये श्लोक तन्त्रकार के 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस सूक्ति के उदाहरणस्वरूप प्रतीत हो रहे हैं,
क्योंकि इस विषय का वर्णन चरक-सिद्धिस्थान अध्याय २ में किया जा चुका है। कुष्ठ तथा प्रमेहरोगियों को
वमन-विरेचन तो कराया ही जाता है, परन्तु इन्हें बृंहणवस्तियों का प्रयोग नहीं कराया जाता। क्योंकि बृंहण
वस्तियाँ कफ तथा वीर्यवर्धक होती हैं। अतः मेदस्वी आदि रोगी जिनकी गणना ऊपर की गयी है, उनमें से
किसी को भी बृंहणवस्ति का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। 'दोषनिबद्धायुषो ये च' इस सन्दर्भ में निम्न श्लोक
विशेषरूप से उद्धरणीय है—'तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि
विड्बलम्'। च० चि० अ० ८।४२। चूंकि यक्ष्मारोगी का बल ही मल है, अतः इसे शोधनवस्ति का प्रयोग
नहीं कराना चाहिए, अन्यथा उसके प्राणों पर संकट आ सकता है।

वाजीकरणेऽसृक्पित्तयोश्च मधुघृतपयोयुक्ताः। शस्ताः सतैलमूत्रारनाल[2]लवणाश्च कफवाते ॥१३॥
युञ्ज्याद् द्रव्याणि वस्तिष्वम्लं मूत्रं पयः सुरां क्वाथान्।
अवरोद् धातूनां रसयोनित्वाच्च जलमुष्णम् ॥ १४ ॥

वस्ति में द्रव-प्रयोग—वाजीकरण (वीर्यवृद्धि) के लिए और रक्तपित्त रोग की शान्ति के लिए यदि
वस्ति का प्रयोग करना हो, तो मधु, घी तथा दूध मिलाकर वस्ति देना उत्तम होता है। कफ तथा वात
दोष वाले रोगों में यदि वस्ति का प्रयोग करना हो, तो तेल, गोमूत्र, काँजी तथा सेंधानमक मिलाकर
प्रयोग करें। सामान्यरूप से सभी वस्तियों में अम्ल (काँजी), गोमूत्र, दूध, सुरा, क्वाथरस का प्रयोग
करना चाहिए। शारीरिक दोष-प्रकोप को ध्यान में रखकर इन उपर्युक्त द्रव्यों में भी जो-जो द्रव्य धातुओं (वात
आदि) के विरोधी अर्थात् उनको बढ़ाने वाले न हों, ऐसे द्रव द्रव्यों का चयन और शेष द्रव्यों का त्याग वस्ति-
प्रयोग में करना चाहिए। सभी रसों का मूल उत्पादक जल होता है, अतः वस्ति में उष्णजल का प्रयोग करना
चाहिए।

वक्तव्य—उक्त श्लोकों में वस्तिद्रवों के संस्कार के सम्बन्ध में विचार किया गया है। यहाँ वाजीकरण
योगों में मधु, घृत, दूध का वस्ति में प्रयोग करने का आदेश दिया है, अन्यत्र वाजीकरण प्रकरण में इन्हें खिलाने
का विधान है, क्योंकि शुद्धता की दृष्टि से शाकाहारी वर्ग-विशेष के लिए इन मधु आदि का विशेष महत्त्व है।
इसके आगे कफवात-विकारों में विशेष प्रकार के द्रव्यों का निर्देश किया ही है। उपर्युक्त द्रव्यों में से रोग एवं
रोगी की स्थिति के अनुसार किस द्रव्य का प्रयोग करना चाहिए; ऐसी स्थिति जहाँ आये, वहाँ के लिए
तन्त्रकार ने संकेत किया है, कि जो द्रव्य वात आदि धातुओं के विरोधी हों, उन्हें हटा दें और उपयोगी द्रव्यों

१. 'व्याधिषु युञ्ज्याद्विशोधनीयेषु' इति पा०।
२. 'लवणाः कफावृते वाते' इति पा०।

का प्रयोग कर लें। यह दायित्व चिकित्सक पर है, क्योंकि चिकित्सा में तो 'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' अर्थात् प्रत्येक पुरुष को देखकर ही औषध-द्रव्यों के ग्रहण का निर्णय लिया जा सकता है।

यद्यपि कहीं भी किसी वस्ति में सीधे जल के प्रयोग का उपदेश तन्त्रकार ने नहीं किया है, किन्तु श्रीचक्रपाणि ने अपनी टीका में तन्त्रान्तर से एक चूर्णवस्ति का निर्देश किया है, जिसे गुनगुने जल में घोलकर देने का विधान है। वह इस प्रकार है—'रास्नावचाबिल्वशताह्वयेलापूतीककृष्णाफलदारुकुष्ठैः। ससैन्धवाम्लोष्णजलः सतैलः शूलघ्न इष्टः खलु चूर्णवस्तिः'॥ इसमें स्पष्टतः उष्णजल का प्रयोग निर्दिष्ट है। कुछ टीकाकार वस्ति-प्रयोग में उष्णजल पिलाने की सलाह देते हैं। हमारे विचार से तो वस्ति-प्रयोग में जितनी मात्रा में जिस रूप में जल का प्रयोग किया-कराया जाता है, उसमें उष्णजल का ही प्रयोग कराना चाहिए। यही तन्त्रकार का अभिप्राय रहा होगा। वास्तव में यहाँ तन्त्रकार ने जो कुछ कहा है वह सब सूत्ररूप में ही है। अतः प्रत्येक रोग में दी जाने वाली वस्तियों की चर्चा पहले के अध्यायों में देखकर ही वास्तविक निर्णय लेना चाहिए।

सुरदारुशताह्वैलाकुष्ठमधुकपिप्पलीमधुस्नेहाः। ऊर्ध्वानुलोमभागाः ससर्षपाः शर्करा लवणम्॥
[1]आवापा वस्तीनामतः प्रयोज्यानि येषु यानि स्युः।
युक्तानि सह कषायैस्तान्युत्तरतः प्रवक्ष्यामि॥ १६॥

वस्ति में प्रक्षेप द्रव्य—देवदारु, सोया, इलायची, कूठ, मुलेठी, पिप्पली, मधु, स्नेह (घी-तेल आदि), ऊर्ध्व (वमनकारक), अनुलोमभाग (विरेचनकारक) द्रव्य, सरसों, चीनी, नमक इन द्रव्यों को वस्तियोगों में प्रक्षेप के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कषायों (क्वाथों) के साथ मिलाकर उक्त द्रव्यों में से जिन द्रव्यों का जिन वस्तियों में प्रयोग कराया जाता है, उनका वर्णन आगे इसी प्रकरण में कर रहा हूँ।

चिरजातकठिनबलेषु व्याधिषु तीक्ष्णा विपर्यये मृदवः।
सप्रतिवापकषाया योज्यास्त्वनुवासननिरूहाः॥ १७॥

तीक्ष्ण एवं मृदु वस्तियाँ—जो रोग बहुत दिनों से हुआ हो, जिनका बल कठिन (सुस्थिर) हो, ऐसे व्यक्तियों के रोगों में प्रक्षेप तथा कषायों के साथ तीक्ष्णवस्तियों का प्रयोग करना चाहिए और इनसे भिन्न रोगों की स्थिति में प्रतिवाप (प्रक्षेप) एवं क्वाथरस से युक्त मृदु-अनुवासनवस्ति तथा निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वक्तव्य—पुराने रोगों में तथा क्रूरकोष्ठ वाले पुरुषों में तीक्ष्ण वस्तियों का प्रयोग करना और उसके विपरीत स्थिति में मृदुवस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। इसके पूर्व अनुवासनवस्ति में किसी प्रकार के प्रक्षेप की चर्चा नहीं की गयी है। किन्तु यहाँ प्रक्षेप देने का तात्पर्य यह है, कि उक्त द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध तैल द्वारा अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ तन्त्रकार का यह अभिमत है कि वस्तियों को तीक्ष्ण तथा मृदु करने के लिए प्रक्षेप द्रव्यों तथा क्वाथों का प्रयोग अवश्य कराना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रीचक्रपाणि ने तन्त्रान्तर का उद्धरण इस प्रकार दिया है—'पिप्पलीं मदनं कुष्ठं शताह्वां मधुकं वचाम्। योजयेन्मात्रया पिष्ट्वा ह्यावापमनुवासने'॥ उक्त द्रव्यों के कल्क को स्नेहद्रव्य में डालकर उसे मथनी से मथकर अनुवासनवस्ति में प्रयोग करें। इस प्रकार के अनेक योग अनुवासनवस्ति के प्रसंग में पहले भी कहे जा चुके हैं।

अर्धश्लोकैरतः सिद्धान् नानाव्याधिषु [2]सर्वशः। वस्तीन् वीर्यसमैर्भागैर्यथार्हालोडनाञ्छृणु॥१८॥

अर्धश्लोकोक्त वस्ति-प्रस्तावना—इसके बाद यहाँ से आधे-आधे श्लोकों में समाप्त होने वाली तथा अनेक व्याधियों में प्रयुक्त की जाने योग्य विविध सिद्ध (सफल) वस्तियों का वर्णन किया जा रहा है। जिन औषधद्रव्यों की शक्ति परस्पर समान हो, अथवा जो योग समानरूप से कार्य करने वाले हों, उन्हें आपस में समान मात्रा में आलोडन (घोल) करके तदनन्तर उनका प्रयोग कराना चाहिए। इस दृष्टि से आगे अनेक योग कहे जायेंगे, उन्हें सुनो।

१. 'आवापे वस्तीनामतः प्रयोज्यानि तेषु तानि स्युः' इति पा०। २. 'वर्गशः' इति पा०।

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिस्तथा। शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वर्धमानकः॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि स्थिरा चेति त्रयोऽनिले। शस्यन्ते सचतुःस्नेहाः पिशितस्य रसान्विताः॥

वातनाशक वस्तियाँ—१. बेल की गुद्दी, अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाटला की छाल (इन द्रव्यों को बृहत्पञ्चमूल कहते हैं)। २. शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, एरण्ड की जड़। ३. जौ, कुलथी, कोल (बेर), स्थिरा (शालपर्णी)। उक्त प्रत्येक योग के विधिपूर्वक अलग-अलग बने हुए क्वाथों में घी, तेल, वसा, मज्जा, मांसरस इनको मिलाकर वस्तियन्त्र में भरकर यथाविधि वस्ति देनी चाहिए। इन तीनों के प्रयोग से वातरोग दूर होते हैं।

नलवञ्जुलवानीरशतपत्राणि शैवलम्। मञ्जिष्ठा सारिवाऽनन्ता पयस्या मधुयष्टिका॥२१॥
चन्दनं पद्मकोशीरं तुङ्गं ते पैत्तिके त्रयः। सशर्कराक्षौद्रघृताः सक्षीरा वस्तयो हिताः॥२२॥

पित्तनाशक वस्तियाँ—१. नरकट की जड़, बेत, जलवेतस, शतपत्र (कमल), शैवल (सिंवार या जलनीली)। २. मजीठ, अनन्तमूल, दुरालभा, विदारीकन्द, मुलेठी। ३. लालचन्दन, पद्माख, खश, तुंग (पुन्नाग या नागकेशर)—उक्त प्रत्येक योग के विधिपूर्वक अलग-अलग बने हुए क्वाथरसों में चीनी, मधु, घी, दूध मिलाकर वस्तियन्त्र में भरकर यथाविधि वस्ति देनी चाहिए। इन तीनों के प्रयोग से पित्तरोग दूर होते हैं।

अर्कस्तथैव चालर्क एकाष्ठीला पुनर्नवा। हरिद्रा त्रिफला मुस्तं पीतदारु कुटन्नटम्॥२३॥
पिप्पल्यश्चित्रकश्चेति त्रयस्ते [1]श्लेष्मरोगिषु। सक्षारक्षौद्रगोमूत्रा नातिस्नेहान्विता हिताः॥२४॥

कफनाशक वस्तियाँ—१. लाल मदार (आँक) की जड़, सफेद मदार की जड़, एकाष्ठीला (पाठा), कुटन्नट (केवटीपुनर्नवा। २. हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, पीतदारु (देवदारु या दारुहल्दी), कुटन्नट (केवटी-क्वाथ मोथा या तगर)। ३. पिप्पली तथा चित्रकमूल—उक्त प्रत्येक योग के विधिपूर्वक अलग-अलग बने हुए क्वाथ रसों में जवाखार, मधु, गोमूत्र और थोड़ी मात्रा में स्नेह मिलाकर वस्तियन्त्र में भरकर यथाविधि वस्ति देनी चाहिए। इन तीनों योगों के प्रयोग से कफरोग दूर होते हैं।

फलजीमूतकेक्ष्वाकुधा[2]मार्गवकवत्सकाः। श्यामा च [3]त्रिफला चैव स्थिरा दन्ती द्रवन्त्यपि॥२५॥
प्रकीर्या चोदकीर्या च नीलिनी क्षीरिणी तथा। सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च॥
चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते पक्वाशयविशोधनाः। (व्यस्तैरपि समस्तैश्च चतुर्योगा उदाहृताः[4]॥)

पक्वाशयशोधक वस्तियाँ—१. मैनफल, देवदाली, तितलौकी, इक्ष्वाकु (कडुतुम्बी), धामार्गव (पीले फूल का कडुआ नेनुआँ) (पाठभेद के अनुसार—त्रिवृता), इन्द्रजौ। २. कालीनिशोथ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, स्थिरा (शालपर्णी), दन्ती तथा द्रवन्ती की जड़। ३. प्रकीर्या (करञ्ज), उदकीर्या (पूतिकरञ्ज), नील की जड़, क्षीरिणी (दुग्धिका)। ४. सातला (सेहुँड-भेद), शंखिनी (यवतिक्ता), लोध, कबीला के फल—उक्त प्रत्येक योग में कहे गये द्रव्यों को अलग-अलग गोमूत्र में क्वाथविधि से पकाकर इनका वस्ति के रूप में प्रयोग करने से ये पक्वाशय का शोधन करते हैं। इस प्रकार ये चार योग होते हैं। इनका उपयोग अलग-अलग भी किया जा सकता है अथवा एक में मिलाकर भी किया जा सकता है, किन्तु इसका क्वाथ गोमूत्र में ही करना चाहिए।

वक्तव्य—सन् १९४१ ई० के निर्णयसागरीय प्रति में २७वें श्लोक के उत्तरार्ध को कोष्ठक के भीतर निरपराध बन्द किया गया है। इसके पूर्ववर्ती संस्करणों में यह अंश बन्धन-ग्रस्त नहीं देखा जाता। २७वें श्लोक के उत्तरार्ध में इन योगों को अलग-अलग बनाने तथा मिलाकर बनाने की जो सलाह दी है, तदनुसार किसी दो योगों अथवा तीन योगों को मिलाकर भी इसका निर्माण किया जा सकता है। यह आशय 'व्यस्त' शब्द का है और 'समस्त' शब्द का आशय तो चारों को मिलाकर देने के रूप में स्पष्ट ही है। वृद्धवाग्भट ने भी इस योग को उद्धृत किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ४।२५-२७।

१. 'कफरोगिणाम्' इति पा०।
२. 'धामार्गक्ष्वेडवत्सकाः' इति पा०।
३. 'त्रिवृता' इति पा०।
४. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।

काकोली क्षीरकाकोली [1]मुद्गपर्णी शतावरी। विदारी मधुयष्टयाह्वा श्रृङ्गाटककशेरुके ॥२८॥
आत्मगुप्ताफलं माषाः सगोधूमा यवास्तथा। [2]जलजानूपजं मांसमित्येते शुक्रमांसलाः[3] ॥२९॥

शुक्र तथा मांसवर्धक वस्तियाँ—१. काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (मुंगवन), शतावरी, २. विदारीकन्द, मुलेठी, सिंघाड़ा, कशेरू; ३. किवाँच के फल, उड़द, गेहूँ, जौ—उक्त तीनों क्वाथों के द्रव्यों को अलग-अलग लेकर उनका विधिपूर्वक क्वाथ करके उनके रसों का वस्ति द्वारा प्रयोग करने से और ४. जल में पैदा होने वाले प्राणियों (मछली, मगर आदि) तथा आनूपदेश में उत्पन्न प्राणियों (सूअर आदि) के मांसरस को वस्ति द्वारा प्रयोग करने से शुक्रधातु तथा मांसतत्त्व की वृद्धि होती है।

जीवन्ती चाग्निमन्थश्च धातकीपुष्पवत्सकौ। प्रग्रहः खदिरः कुष्ठं शमी पिण्डीतको यवाः ॥
प्रियङ्गू रक्तमूली च तरुणी स्वर्णयूथिका। वटाद्याः किंशुकं लोध्रमिति साङ्ग्राहिका मताः ॥

सांग्राहिक वस्तियाँ—१. जीवन्ती, अरणी की छाल, धाय का फूल, इन्द्रजौ, इनके विधिवत् क्वाथ से; २. अमलतास की गुद्दी, खैर की लकड़ी, कूठ, शमी की लकड़ी, पिण्डीतक (मैनफल), जौ, इनके विधिवत् क्वाथ से; ३ प्रियंगु, रक्तमूली (मजीठ या लज्जावन्ती), तरुणी (गुलाब का फूल), स्वर्णयूथिका (पीली जूही), इनके विधिवत् क्वाथ से तथा बरगद आदि दूध वाले वृक्षों (बरगद, पाकड़, पीपल, गूलर, पारीख, पीपल) की छाल, पलास का फूल, लोध, इनके विधिवत् क्वाथ से निर्मित अलग-अलग वस्तियों का प्रयोग करने से मल (पुरीष) में गाढ़ापन आ जाता है। तात्पर्य यह है कि इन वस्तियों का प्रयोग कराने से अतिसार आदि मल सम्बन्धी विकृतियाँ दूर हो जाती हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी इस प्रकार की सांग्राहिक वस्तियों का उल्लेख कुछ परिवर्तन के साथ किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ४।२८-३०।

[4]परिस्रावे श्रृतं क्षीरं सवृश्चीरपुनर्नवम्। आखुपर्णिकया वाऽपि तण्डुलीयकयुक्तया ॥३२॥

परिस्रावहर वस्तियाँ—१. लाल पुनर्नवा तथा सफेद पुनर्नवा के कल्क से पकाये गये दूध की, २. अथवा आखुपर्णी (चूहाकन्नी) एवं चौलाई के कल्क से पकाये गये दूध की विधिवत् वस्ति देने से परिस्रव या परिस्राव रोग की शान्ति होती है।

वक्तव्य—परिस्राव को ही परिस्रव भी कहा गया है। यह केवल पाठभेदों का अन्तर मात्र है। इसका विशेष विवेचन च० सि० अ० ६।६९ की टीका में देखें।

कालङ्कतककाण्डेक्षुदर्भपोटगलेक्षुभिः[5] । दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चोत्पलादिभिः ॥३३॥

दाहनाशक वस्तियाँ—१. कालंकत (कासमर्द, श्रीइन्दु इससे दर्भ-विशेष का ग्रहण करते हैं), काण्डेक्षु (बड़ी ईख), दर्भ (डाभ, किन्तु नारियल नहीं), पोटगल (गोनरख या होग्गल नामक तृणविशेष) तथा ईख—इन द्रव्यों को समानभाग लेकर इनका क्वाथ करें। इस क्वाथरस में दूध और घी मिलाकर दी गयी वस्ति दाह का विनाश करती है। २. उत्पलादि गण के द्रव्यों के क्वाथ में दूध, घी मिलाकर वस्ति द्वारा प्रयोग करने से दाह की शान्ति होती है।

वक्तव्य—सुश्रुतोक्त उत्पलादिगण—उत्पल, लालकमल, कुमुद (सफेद कमल), सौगन्धिक, कुवलय, पुण्डरीक, मुलेठी—यह उत्पलादिगण दाह-पित्त-रक्तनाशक है। यह पिपासा, विष, हृदयरोग, वमन तथा मूर्च्छा को भी दूर करता है। देखें—सु० सू० अ० ३८।५२-५३। भावप्रकाशोक्त उत्पलादिगण—'उत्पलं नीलमारक्तं कल्हारं कुमुदं तथा। श्वेताम्भोजञ्च मधुकमुत्पलादिरयं गणः॥ सुशीतलो हरत्येवं दाहं तृष्णां हृदामयम्। रक्तपित्तञ्च मूर्च्छाञ्च तथा छर्दिमरोचकम्' ॥

कर्बुदाराढकीनीपविदुलैः क्षीरसाधितैः। वस्तिः प्रदेयो भिषजा शीतः समधुशर्करः ॥३४॥

१. 'पृष्ठपर्णी' इति पा०।
२. 'जाङ्गलानूपजं' इति पा०।
३. 'मांसमिति शुक्रविवर्धनाः' पा०।
४. 'पयः श्रृतं परिस्रावे' इति पा०।
५. 'दर्भपोटेक्षुवालिभिः' इति पा०।

परिकर्ते तथा वृन्तैः श्रीपर्णीकोविदारजैः। (देयो वस्तिः सुवैद्यैस्तु यथावद् विदितक्रियैः[1] ॥)

परिकर्तिकानाशक वस्तियाँ—१. कचनार की छाल, अरहर की पत्तियाँ, नीप (कदम्ब) की छाल, विदुल (जलवेतस) इनके कल्क से यथाविधि पकाये गये दूध में मधु तथा चीनी मिलाकर, अथवा २. श्रीपर्णी (गम्भारी) और कोविदार (कचनार) के पत्रवृन्तों (पत्ते की डंडियों) के कल्क से पकाये गये दूध में मधु तथा चीनी मिलाकर वस्तिकर्म-कुशल चिकित्सकों द्वारा दी गयी शीतल वस्ति का प्रयोग परिकर्तिका रोग में हितकर होता है।

वक्तव्य—इसका वर्णन भी च० सि० अ० ६ में किया जा चुका है। ३५वें श्लोक का उत्तरार्ध सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण में कोष्ठक के भीतर बन्द कर दिया गया है। सन् १९३३ के संस्करण में उक्त ३५वें श्लोक का उत्तरार्ध है ही नहीं। सन् १९२२ की निर्णयसागरीय चरकसंहिता में उक्त उत्तरार्ध है, किन्तु कोष्ठक के बन्धन से मुक्त है। अतः ऐसा लगता है कि यह सम्पादक-मंडल का ही प्रमाद रहा होगा।

[2]वस्तिः शाल्मलिवृन्तानां क्षीरसिद्धो घृतान्वितः। हितः प्रवाहणे तद्वद्वेष्टैः शाल्मलिकस्य च ॥

प्रवाहिका-नाशक वस्तियाँ—१. सेमल के पत्रवृन्त के कल्क से विधिपूर्वक तैयार किए हुए दूध में घी मिलाकर वस्ति दें, अथवा २. शाल्मलिक (लाल रोहेड़ा) के पत्रवृन्तों के कल्क से पकाये गये दूध में घी मिलाकर दी गयी वस्ति प्रवाहिका रोग में हितकर होती है।

वक्तव्य—सन् १९२२ तथा १९३३ के निर्णयसागरीय संस्करणों में उक्त श्लोक के आरम्भ में 'वस्तिः' के स्थान पर 'मुष्टिः' पाठ है। श्रीजयदेव ने भी उसी पाठ को प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है। ऐसा लगता है कि १९४१ ई० वाले निर्णयसागरीय संस्करण का यह सम्पादन प्रमादवश हुआ है। हमारे विचार से भी यहाँ 'वस्तिः' के स्थान पर 'मुष्टिः' ही होना चाहिए, क्योंकि यहाँ 'मुष्टि' शब्द पल (४ तोला) प्रमाण का वाचक है। देखें—'शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका। प्रकुञ्चः षोडशीविल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते' ॥ शा० सं० प्र० खं० अ० १।२४ ॥ अन्यत्र मुष्टि शब्द से अन्तर्नखमुष्टि का भी ग्रहण किया जाता है।

अश्वावरोहिकाकाकनासाराजकशेरुकैः। सिद्धाः क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः ॥३७॥
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिना परः।

विरेचनातियोगनाशक वस्तियाँ—१. अश्वावरोहिका (अश्वकर्ण; रत्नमाला के अनुसार—असगंध), काकनासा (कौआठोंठी), राजकसेरू (बड़ा कसेरू), इनके कल्क से विधिपूर्वक पकाये गये दूध में मधु, रसवत तथा घी मिलाकर दी गयी वस्ति से विरेचन के अतियोग से उत्पन्न विकार दूर हो जाते हैं। २. न्यग्रोधादि चार दूध वाले वृक्षों (बरगद, पीपल, पाकड़, गूलर) की छालों का कल्क बनाकर उससे विधिपूर्वक पकाये गये दूध में मधु, अञ्जन (रसवत) तथा घी मिलाकर तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग करने से विरेचन के अतियोग से होने वाले सभी विकार दूर हो जाते हैं।

॥ ३८ ॥

बृहती क्षीरकाकोली पृश्निपर्णी शतावरी। काश्मर्यबदरीदूर्वास्तथोशीरप्रियङ्गवः ॥३९॥
जीवादाने श्रृतौ क्षीरे द्वौ घृताञ्जनसंयुतौ ॥४०॥
वस्ती प्रदेयौ भिषजा शीतौ समधुशर्करौ। गोऽव्यजामहिषीक्षीरैर्जीवनीययुतैस्तथा ॥४१॥
शशैणदक्षमार्जारमहिषाव्यजशोणितैः। सद्यस्कैर्मृदितैर्वस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते ॥४२॥
मधूकमधुकद्राक्षादूर्वाकाश्मर्यचन्दनैः। तेनैव विधिना वस्तिर्देयः सक्षौद्रशर्करः ॥

जीवादाननाशक वस्तियाँ—१. बड़ी कटेरी, क्षीरकाकोली, पृश्निपर्णी (पिठवन), शतावर तथा २. गम्भारी, बेर, दूब, खस, प्रियंगु—उक्त दोनों योगों में अलग-अलग जीवनीयगण के दस द्रव्यों (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मधुक—च० सू० अ० ४।९) को मिलाकर उनका कल्क तैयार करके उससे गाय, भेड़, बकरी तथा भैंस के दूध को विधिपूर्वक पकाकर उसमें खरगोश, हरिण, मुर्गा, बिलार, भैंसा, भेड़ा और बकरा के ताजे रक्त को मिलाकर तत्काल मथ लें, उसी में

१. अयमर्धश्लोको हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते।
२. 'मुष्टिः' इति पा०।

घी, रसवत, मधु तथा चीनी मिलाकर इस प्रकार दो वस्तियाँ तैयार करें। ये वस्तियाँ जीवादान (जीवरक्त) की क्षतिपूर्ति करने में उत्तम होती है। ३. महुआ, मुलेठी, मुनक्का, दूब, गम्भार की छाल, लालचन्दन इनके साथ ऊपर कही गयी जीवनीयगण की दस ओषधियों का कल्क बनाकर उससे गाय, भेड़, बकरी, भैंस के दूध को विधिपूर्वक पकाकर उसमें पूर्ववत् खरगोश, हरिण, मुर्गा, बिलार, भैंसा, भेड़ा, बकरा के ताजे रक्त को मिलाकर तत्काल मथ लें, तब उसमें घी, रसवत, मधु तथा चीनी मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। इससे भी जीवरक्त का निकलना रुक जाता है।

वक्तव्य—दूसरे टीकाकार उक्त तीसरे योग को रक्तपित्त में निकलने वाले जीवरक्त की रक्षा के लिए प्रयुक्त करना चाहते हैं, जब कि अगले ४३वें श्लोक में उसकी चर्चा है। इस अध्याय के १८वें श्लोक में यह प्रतिज्ञा की गयी है कि यहाँ से आगे आधे-आधे श्लोक द्वारा एक-एक रोग की चिकित्सा का निर्देश किया जायेगा। यहाँ श्लोक ३८ से ४२ तक के पाँच श्लोकों द्वारा केवल तीन वस्तियों का ही विधान किया गया। इससे कुछ विद्वान् इसे प्रतिज्ञाभंग दोष मानते हैं। आचार्य इन्दु यहाँ दो योगों को ही स्वीकार करते है, जिससे हमारी समस्या सुलझती नहीं है, क्योंकि इसी अध्याय के आगे ४७वें पद्य में तन्त्रकार 'जीवादाने तथा त्रयः' कहकर यहाँ तीन योगों को स्वीकार करते हैं।

समाधान—१७वें श्लोक में यह कहीं नहीं कहा गया है, कि अब हम अध्याय के अन्त तक आधे-आधे श्लोक द्वारा ही योगों का वर्णन करेंगे। जहाँ तक उनकी इच्छा थी वहाँ तक आधे श्लोकों में वर्णन किया, उसके बाद उस बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्ररूप से वर्णन प्रारम्भ कर दिया। यदि 'अर्धश्लोक' वर्णन से ही आप सन्तुष्ट होते हैं, तो योगोक्त द्रव्यों को अर्धश्लोक द्वारा कहे गये मान लें। जैसे—१. बृहती-क्षीरकाकोली आदि, २. काश्मर्य-बदरी आदि, ३. मधूक-मधुक-द्राक्षा आदि इस प्रकार आधे-आधे श्लोकों द्वारा तीन योग हो जाते हैं और उनकी निर्माण-विधि शेष अंश द्वारा कही गयी है, जो किसी प्रकार भी विवादास्पद नहीं है।

जीवादान—'रक्तं जीव इति स्थितिः'। सु० सू० अ० १४।४४। इस दृष्टि से रक्त का बाहर निकल जाना प्राणों के बाहर आने के समान ही है। अतएव उसके आदान-ग्रहण अर्थात् उसे रोकने की व्यवस्था तन्त्रकार ने बतलायी है।

मञ्जिष्ठासारिवानन्तापयस्यामधुकैस्तथा ।
शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः । रक्तपित्ते, प्रमेहे तु कषायः सोमवल्कजः ॥४३॥

रक्तपित्तनाशक वस्तियाँ—१. मजीठ, अनन्तमूल, अनन्ता (दुरालभा), पयस्या (क्षीरविदारी) तथा मुलेठी—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर आवश्यकतानुसार कल्क बनाकर उससे विधिपूर्वक पकाये गये दूध की वस्ति देने से रक्तपित्तरोग की शान्ति हो जाती है। अथवा २. चीनी, लालचन्दन, मुनक्का, मधु, धात्री फल (आँवला), नीलकमल, इन द्रव्यों के कल्क से दूध को पकाकर उसमें चीनी तथा मधु मिलाकर रक्तपित्तरोग में वस्ति देनी चाहिए। (कल्क बनाते समय चीनी और मधु को अलग रख दें। जब लालचन्दन आदि के कल्क से दूध को पकाकर छान लें, तब उसमें चीनी और मधु मिला देना चाहिए)।

प्रमेहनाशक वस्ति—सोमकल्क (विट्खदिर—इसकी जड़ में से मल=पुरीष की जैसी अत्यन्त दुर्गन्ध आती है, इस नाम की यही सार्थकता है) के क्वाथरस से निर्मित वस्ति का अनेक बार प्रयोग करने से प्रमेहरोग शान्त हो जाता है।

गुल्मातिसारोदावर्तस्तम्भसङ्कुचितादिषु । सर्वाङ्गैकाङ्गरोगेषु रोगेष्वेवंविधेषु च ॥४४॥
यथास्वैरौषधैः सिद्धान् वस्तीन् दद्याद् विचक्षणः । पूर्वोक्तेन विधानेन कुर्वन् योगान् पृथग्विधान् ॥

विविध रोगों में वस्ति-चिकित्सा—विचक्षण (सूझ-बूझ वाले विद्वान्) चिकित्सक को चाहिए कि वह गुल्म, अतिसार, उदावर्त, स्तम्भ, संकोच (अंगों का सिकुड़ना) आदि रोगों में, सर्वांगरोगों में, एकांगरोगों में तथा इसी प्रकार के अन्य रोगों में उस-उस रोग को शान्त करने के लिए समय-समय पर सिद्धिस्थान में बतलायी गयी वस्तियों को पहले कहे गये विधानों के अनुसार उन-उन ओषधियों के योग से वस्तियों का निर्माण कर सम्बन्धित रोगों में उन वस्तियों का प्रयोग करें।

तत्र श्लोकाः—

त्रिकास्त्रयोऽनिलादीनां चतुष्काश्चापरे त्रयः । पक्वाशयविशुद्ध्यर्थं वृष्याः साङ्ग्राहिकास्तथा ॥
परिस्रावे तथा दाहे परिकर्ते प्रवाहणे । सातियोगे मतौ द्वौ द्वौ जीवादाने तथा त्रयः ॥४७॥
द्वौ रक्तपित्ते मेहे च एकत्रिंशच्च सप्त ते । सुलभाल्पौषधक्लेशा वस्तयो गुणवत्तमाः ॥४८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
वस्तिसिद्धिर्नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—इस सम्बन्ध में वहाँ कुछ श्लोक कहे गये हैं—प्रस्तुत अध्याय में वात आदि दोषों की नाशक ३-३ वस्तियाँ अर्थात् ३ वातनाशक, ३ पित्तनाशक, ३ कफनाशक; रोगनाशक ४-४ वस्तियाँ अर्थात् पक्वाशयशोधक ४ वस्तियाँ, शुक्र और मांसवर्धक ४ वस्तियाँ, सांग्राहिक (मल को बाँधने वाली) ४ वस्तियाँ, परिस्रावनाशक २ वस्तियाँ, दाहनाशक २ वस्तियाँ, परिकर्तिका नाशक २ वस्तियाँ, प्रवाहिकानाशक २ वस्तियाँ, विरेचनातियोग-नाशक २ वस्तियाँ, जीवादान में ३ वस्तियाँ, रक्तपित्तनाशक २ वस्तियाँ और प्रमेहरोगनाशक १ वस्ति—इस प्रकार कुल मिलाकर ३७ वस्तियों का इस अध्याय में वर्णन किया गया है। ये वस्तियाँ (इनमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्य) सर्वत्र सुलभ हैं। इनके निर्माण तथा प्रयोग में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। अतएव ये सभी प्रकार की चिकित्साओं से गुणों में उत्तम हैं।

वक्तव्य—आचार्य दृढबल का 'च+एकत्रिंशत्' तथा श्रीभर्तृहरि का 'च+इमा' (नीतिशतक श्लोक २) ये दो प्रयोग 'च्युतसंस्कृति' दोष के संकेतक हैं। इनके समाधान के लिए प्राचीन व्याकरणों को देखें।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र डॉ० **ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-
सिद्धिस्थान में वस्तिसिद्धि नामक दसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अथातः फलमात्रासिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वस्तिसिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से फलमात्रासिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—सिद्धिस्थान के पहले अध्यायों में मदनफल आदि के प्रयोगों की चर्चा मनुष्यों के हित के लिए की गयी है, किन्तु इस अध्याय में मनुष्यों से इतर हाथी आदि प्राणियों में वस्तिप्रयोग लाभप्रद होता है, इस विषय का भी यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रस्तुत अध्याय में फल आदि की मात्रा तथा गज आदि प्राणियों में वस्ति की मात्रा का निर्धारण किया गया है, अतः इसका नाम फलमात्रासिद्धि रखा गया है। यद्यपि चरकोक्त चिकित्सा का क्षेत्र पुरुष-शरीर ही माना गया है, जैसा कि कहा गया है—'वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्' ॥ च० सू० अ० १।४३। आगे भी कहा है—'चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः' ॥ अ० शा० अ० १।१६। इसकी टीका कहते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अयं च पुरुषशब्दो गवादावपि षड्धातुसमुदाये यद्यपि वर्तते, तथापि सर्वप्रधाने नर एव विशेषेण वर्तते; तेन नातिप्रसिद्धो गवादौ पुरुषशब्दः'। इसी सदाशय की पूर्ति के लिए अथवा 'तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः' (च० सू० अ० १।७) इस पुण्य संकल्प की सिद्धि के लिए महर्षि ने प्रस्तुत सिद्धिस्थान में मनुष्यों के अंगीभूत पशुओं की चिकित्सा के सम्बन्ध में भी विचार किया है। वास्तव में 'उदार'

चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्'। सूक्ति। महापुरुषों के लिए तो सम्पूर्ण जगत् ही कुटुम्ब के समान होता है, अतएव उन्होंने अपनी सदाशयता के अनुरूप गजादि पशुओं पर भी विचार किया है।

भगवन्तमुदारसत्त्वधीश्रुतिविज्ञानसमृद्धमत्रिजम् ।
फलवस्तिवरत्वनिश्चये सविवादा मुनयोऽभ्युपागमन् ॥ ३ ॥
भृगुकौशिककाप्यशौनकाः सपुलस्त्यासितगौतमादयः ।
कतमत् प्रवरं फलादिषु स्मृतमास्थापनयोजनास्विति ॥ ४ ॥

मदनफलसम्बन्धी सम्भाषापरिषद्—उदार सत्त्व (मन), उदार बुद्धि (सभी शिष्यों को समदृष्टि से उपदेश देने वाले), वेदों तथा शास्त्रों के ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न भगवान् आत्रेय के समीप फल-वस्तियों में कौन-सी वस्ति श्रेष्ठ है, इस विषय का निश्चय करने के लिए परस्पर शास्त्रीय दृष्टि से वाद-विवाद करते हुए भृगु, कौशिक, काप्य, शौनक, पुलस्त्य, असित, गौतम आदि पहुँचे। और आस्थापनवस्तियों में मदनफल आदि में कौन-सा द्रव्य उत्तम माना गया है, यह भी उस समय एक विवाद का विषय था।

कफपित्तहरं वरं फलेष्वथ जीमूतकमाह शौनकः ।
मृदुवीर्यतयाऽभिनत्ति तच्छकृदित्याह नृपोऽथ वामकः ॥ ५ ॥
कटुतुम्बममन्यतोत्तमं वमने दोषसमीरणं च तत् ।

विभिन्न ऋषियों के मत—भगवान् आत्रेय की अध्यक्षता में विवाद का आरम्भ हुआ। उसमें सर्वप्रथम **शौनक का मत**—इन्होंने कहा कि सभी फलों में जीमूतक (देवदाली) का फल श्रेष्ठ है, क्योंकि यह कफ तथा पित्त का हरण (आहरण=निष्कासन) करता है। **काशिराज वामक का मत**—इन्होंने कहा कि यह जीमूतक मृदुवीर्य होने के कारण ठीक प्रकार से मल का भेदन नहीं कर पाता है। काशिराज वामक यह मानते थे कि वमनकारक फलों में कटुतुम्बी का फल उत्तम होता है और वह वमन के दोषों को उभाड़कर निकालने वाला होता है।

वक्तव्य—उक्त मत का आगे खंडन किया जा रहा है। 'फलेषु'—इसका तात्पर्य मदनफल, जीमूतक आदि प्रकरण में देखें—च० क० अ० १।१६। यद्यपि कल्पस्थान में जीमूतक को पित्तदोष-नाशक कहा गया है, तथापि शौनक के मतानुसार इसे कफ तथा पित्तहर भी स्वीकार किया जाता है। 'मृदुवीर्यतयाऽभिनत्ति' का तात्पर्य है—इसके सेवन करने से अधिक विरेचन नहीं होते हैं।

विशेष—चरकसंहिता-सूत्रस्थान के अध्याय १, १२, २५, २६ में, शारीरस्थान के ३, ६ में तथा सिद्धिस्थान के ११वें अध्याय में कुल मिलाकर सात तद्विद्यसम्भाषा-परिषदों का उल्लेख है। इनमें ६५ महर्षियों, राजर्षियों, आचार्यों तथा राजाओं के नामों का उल्लेख है। काशिराज का यह वामक नाम कई विचारों को प्रकट कर रहा है—१. वमन सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत करने के कारण एवं आयुर्वेद के उपदेशों का उद्गिरण करने के कारण हो सकता है कि इनका यह नाम-निर्धारण किया गया हो।

[1]तदवृष्यमशैत्यतीक्ष्णताकटुरौक्ष्यादिति गौतमोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥
कफपित्तनिबर्हणं परं स च [2]धामार्गवमित्यमन्यत ।
तदमन्यत वातलं पुनर्वडिशो ग्लानिकरं बलापहम् ॥ ७ ॥
कुटजं प्रशशंस चोत्तमं न बलघ्नं कफपित्तहारि च ।

गौतम का मत—इन्होंने कहा कि आपका यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि कुटुतुम्बी (कड़वी लौकी) अशीत (शीतल नहीं होती, अतः उष्ण), तीक्ष्ण, कटु तथा रूक्षगुण-प्रधान होने के कारण अवृष्य (अहित-कर अतएव अयोग्य) होती है। महर्षि गौतम यह मानते थे, कि कफ तथा पित्तदोष को दूर करने के लिए धामार्गव (पीतघोषा) उत्तम होता है।

१. 'तदयोग्य' इति पा०।
२. 'धामार्गवमेष्वमन्यत' इति, 'धामार्गवमेव मन्यते' इति च पा०।

वडिश का मत—वह मानते थे कि धामार्गव वातकारक, ग्लानि(हर्षक्षय)कारक और शारीरिक बल का नाश करने वाला होता है। अतएव उन्होंने कुटज की प्रशंसा करके उसे उत्तम बतलाया और कहा कि कुटज बलहानि-कारक नहीं होता है। यह कफ एवं पित्तदोष का नाश करने वाला होता है।

अतिविज्जलमौर्ध्वभागिकं पवनक्षोभि च काप्य आह तत् ॥ ८ ॥
कृतवेधनमाह वातलं कफपित्तं प्रबलं हरेदिति ।

काप्य का मत—इन्होंने कहा कि कुटज के बीज (इन्द्रजौ) अत्यन्त पिच्छिल (चिपचिपे) तथा और्ध्व-भागिक (वमन द्वारा ऊपरी भागों के) दोषों को निकालने वाले तथा वायु को कुपित करने वाले होते हैं, अतः ये कुटजबीज वमनकारक फलों में श्रेष्ठ नहीं होते। इनका तो मत था कि कृतवेधन (कड़ुकोषातकी फल) उत्तम होता है, क्योंकि यह बढ़े हुए कफ तथा पित्त का शीघ्र हरण कर लेता है।

तदसाध्विति भद्रशौनकः कटुकं चातिबलघ्नमित्यपि ॥ ९ ॥

भद्रशौनक का मत—इन्होंने महर्षि काप्य से कहा कि आपका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कृतवेधन (कड़ुकोषातकी फल) अत्यन्त कटु होता है और बल का नाशक भी होता है।

इति तद्वचनानि हेतुभिः सुविचित्राणि निशम्य [1]बुद्धिमान् ।
प्रशशंस फलेषु निश्चयं परमं चात्रिसुतोऽब्रवीदिदम् ॥ १० ॥
फलदोषगुणान् सरस्वती प्रति सर्वैरपि सम्यगीरिता ।
न तु किञ्चिददोषनिर्गुणं गुणभूयस्त्वमतो [2]विचिन्त्यते ॥ ११ ॥

महर्षि आत्रेय का निर्णय—इस प्रकार अपने-अपने तर्क से युक्त शौनक आदि ऋषियों के विचित्र (परस्पर-विरुद्ध) वचनों (मतों) को सुनकर बुद्धिमान् (विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न अथवा ज्ञानज्योति से प्रकाशित अन्तरात्मा वाले) महर्षि आत्रेय ने उपर्युक्त जीमूतक आदि फलों के सम्बन्ध में यह कहा कि जीमूतक आदि फलों के सम्बन्ध में जो आप लोगों ने उनके गुण-दोष युक्त विवेचन अपनी-अपनी सरस्वती (वाणी) द्वारा किया है, वह सब प्रशंसा के योग्य है, किन्तु कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, जिसमें कोई गुण तथा दोष न हो। तथापि इस प्रसंग में विचारणीय विषय यह है, कि किस द्रव्य में (सम्बन्धित विकार-शामक) अधिक गुण पाये जाते हैं।

इह कुष्ठहिता गरागरी हितमिक्ष्वाकु तु मेहिने मतम् ।
कुटजस्य फलं हृदामये प्रवरं कोठफलं च पाण्डुषु ॥ १२ ॥
उदरे कृतवेधनं हितं, मदनं सर्वगदाविरोधि तु ।
मधुरं सकषायतिक्तकं तदरूक्षं सकटूष्णविज्जलम् ॥ १३ ॥
कफपित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च ।
फलनाम विशेषतस्त्वतो लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि ॥ १४ ॥

आत्रेय की समाधान विधि—प्रस्तुत फलनिश्चय-प्रकरण में महर्षि आत्रेय ने यह बतलाया है, कि इन्द्रजौ
गरागरी (जीमूतक) कुष्ठरोग में हितकर होती है। **कड़ुतुम्बी** प्रमेहरोगी के लिए हितकर होती है। **मदनफल—**
(कुटज के बीज) हृदय-सम्बन्धी रोगों में लाभदायक होते हैं। **कोठफल** (पाठभेद के अनुसार कोशफल अर्थात्
धामार्गव) का फल पाण्डुरोग में उत्तम होता है। **कृतवेधन**—उदररोगों में हितकर होता है। विरोध नहीं होता
इसका सभी रोगों में प्रयोग किया जा सकता है, अर्थात् इसका किसी भी रोग की चिकित्सा में कषाय तथा तिक्त
है। तात्पर्य यह है कि इसके सेवन से किसी रोग की वृद्धि नहीं होती है। यह रस में मधुर, होता है, कफ एवं
होता है। यह रूक्षताकारक नहीं होता, कटु, उष्णवीर्य तथा पिच्छिल (चिपचिपापन वाला) किसी प्रकार का विकार
पित्तदोष का नाश करता है, अपने कर्म (वमन) को शीघ्र कराता है। इसके सेवन से वायु का शीघ्र ही
उत्पन्न नहीं होता है, अतएव इसे अनपायी (हानि न करने वाला) कहा है। यह विलोम हुई

१. 'तुष्टिमान्' इति पा०।
२. 'हि चिन्त्यते' इति पा०।

अनुलोमन करता है। अतएव अन्य अनेक फलों के रहते हुए भी इस मदनफल को वमनकारक-फलों में प्रधान फल कहते हैं।

गुरुणेति वचस्युदाहृते मुनिसङ्घेन च पूजिते [1]ततः।
प्रणिपत्य मुदा समन्वितः सहितः शिष्यगणोऽनुपृष्टवान्॥ १५॥

आत्रेय के मत का अभिनन्दन—गुरु (आत्रेय) के इस प्रकार के उपदेशात्मक एवं युक्तियुक्त वचनों को कहने के बाद मुनिसमूह ने उन वचनों का सादर सम्मान किया। तदनन्तर उन मुनियों ने महर्षि को प्रणाम कर पुनः दूसरा प्रश्न किया।

वक्तव्य—इस तद्विद्यसम्भाषा-परिषद् में अग्निवेश आदि महर्षियों का उल्लेख नहीं हुआ है। सम्भव है, वे श्रोताओं में अवश्य रहे होंगे, क्योंकि सम्भाषा-परिषद् में सम्मिलित होने वाले महर्षि, राजर्षि, आचार्य एवं राजा समान कोटि की योग्यता से सम्पन्न होते हैं। अग्निवेश आदि की गणना उस समय तक शिष्यवर्ग में ही रही होगी।

सर्वकर्मगुणकृद् गुरुणोक्तो वस्तिरूर्ध्वमथ नैति नाभितः।
नाभ्यधो गुदमतः स शरीरात् सर्वतः कथमपोहति [2]दोषान्॥ १६॥

वस्ति के सम्बन्ध में प्रश्न—उक्त मुनिसमूह ने दूसरा प्रश्न यह किया—भगवन्! आपने कहा है कि वस्ति-चिकित्सा सभी कर्मों (चिकित्साओं) के गुणों को पूरा करने वाली होती है अर्थात् सभी प्रकार के संशोधन वस्ति-प्रयोग द्वारा हो जाते हैं। जब वस्ति द्वारा प्रयुक्त द्रव ऊपर की ओर नहीं जाते और वे गुदमार्ग से लौटकर बाहर आ जाते हैं, तब वह वस्ति किस विधि से सम्पूर्ण शरीर में स्थित दोषों का हरण कर पाती है।

तद्गुरुरब्रवीदिदं शरीरं तन्त्रयतेऽनिलः [3]सङ्गविघातात्।
केवल एव दोषसहितो वा स्वाशयगः प्रकोपमुपयाति॥ १७॥

वायु की प्रधानता—मुनिजनों के उक्त प्रश्न को सुनकर गुरु (आत्रेय) ने कहा कि वह वायु अपने प्रकोपक हेतुओं के साथ सम्बद्ध न होने से ही शरीर को धारण किये रहती है। वह वायु अपने आशय में अकेली रहकर अथवा अन्य दोष (पित्त या कफ) से युक्त हो जाने पर प्रकुपित हो जाती है।

वक्तव्य—'यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके'। च० शा० अ० ५।३। इस चरकोक्ति के आलोक में हम बाहरी सङ्ग (दुःसंगति) पर विचार कर रहे हैं। जिसके सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—'सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः॥ स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'॥ गीता अ० २।६२-६३। यहाँ भी वायु का जब अपने स्थान पर अडिग रहने वाले पित्त तथा कफदोषों के साथ संग हो जाता है, तो शरीर को धारण करने वाली वायु भी प्रकुपित हो जाती है। यथोचित उपचार न करने पर इसका भी अन्तिम परिणाम विनाश ही होता है। अर्थात् वेगवाली वायु कफ तथा पित्त के संग (रुकावट) को सदैव शरीर से हटाती रहती है। अथवा संग शब्द से संयोग तथा वियोग सम्बन्ध का ज्ञान भी किया जाता है और इन्हीं क्रियाओं के होते रहने से शरीर का पालन होता है। चरक में भी वायु को '**विक्षेपसङ्घातकरः स यस्मात्**' कहा है। देखें—च० सि० अ० १।३९। वहाँ भी तन्त्रकार का यही आशय है। वास्तव में शरीर के जिस अवयव में जिस दोष का प्रकोप होता है, प्रायः वह विकार पक्वाशयगत वातमूलक ही होता है।

तं पवनं सपित्तकफविट्कं शुद्धिकरोऽनुलोमयति वस्तिः।
सर्वशरीरगश्च गदसङ्घस्तत्प्रशमात् प्रशान्तिमुपयाति॥ १८॥

वस्ति की कार्य-प्रणाली—शोधन-कर्म के लिए प्रयुक्त की गयी वस्ति पित्त, कफ तथा मल को निकालने के साथ वायु का भी अनुलोमन करती है। प्रकुपित हुई वायु जब अनुलोम (अनुकूल) हो जाती है, तो सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में उत्पन्न रोग स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

१. 'तथा' इति पा०। २. 'रोगान्' इति पा०। ३. 'सर्वविधानात्' इति पा०।

वक्तव्य—आयुर्वेदशास्त्र में पक्वाशयगत वायु को जीतने का सर्वोत्तम उपाय वस्ति-प्रयोग है। इससे प्रतिकूल हुई वायु भी अनुलोम हो जाती है, जिससे पित्त तथा कफदोषों का भी शमन हो जाता है। अतः प्राचीन आचार्यों ने वस्ति-चिकित्सा को सम्पूर्ण चिकित्सा या आधी चिकित्सा कहा है। देखें—च० सि० अ० १।४०।

[1]अथाधिगम्यार्थमखण्डितं धिया [2]गजोष्ट्रगोश्वाव्यजकर्म रोगनुत्।
अपृच्छदेनं स च वस्तिमब्रवीद् विधिं च तस्याह पुनः प्रचोदितः॥ १९॥

पशुओं में वस्ति-प्रयोग—परिपूर्ण बुद्धि से युक्त महर्षि आत्रेय द्वारा बतलाये गये विषयों को ठीक प्रकार से समझकर मुनिसमूह ने हाथी, ऊँट, गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी—इनकी रोगनाशक चिकित्सा क्या है? यह उनसे पूछा। इस प्रकार मुनिगण द्वारा पुनः पूछे जाने पर उन्होंने वस्ति-प्रयोग की विधि का वर्णन किया।

वक्तव्य—पशु चिकित्सक मान, खुरिया आदि पशु-रोगों में जब मलावरोध हो जाता है, तो उस समय वस्ति प्रयोग कराते हैं।

आजोरणौ सौम्य! गजोष्ट्रयोः कृते गवाश्वयोर्वस्तिमुशन्ति माहिषम्।
अजाविकानां तु जरद्गवोद्भवं वदन्ति वस्तिं तदुपायचिन्तकाः॥ २०॥

वस्ति-निर्माण के साधन—सौम्य! हाथी और ऊँट को वस्ति देने के लिए बकरी तथा भेड़ के मूत्राशय का संग्रह करना चाहिए। गाय और घोड़ा को वस्ति देने के लिए भैंस की वस्ति का और बकरी एवं भेड़ को वस्ति देने के लिए बूढ़े बैल का मूत्राशय लेना चाहिए। यह मत बस्ति-निर्माण-कुशल चिकित्सकों का है।

वक्तव्य—यहाँ विशेष दृष्टिकोण को लेकर वस्ति के उपादानों का विशेष व्यवस्था के साथ वर्णन किया गया है, अन्यथा इस विषय का उल्लेख तन्त्रकार ने च० सि० अ० ३।१०-११ में भी किया था। इस प्रसंग में वस्ति के उपर्युक्त उपादानों के विकल्प की भी व्यवस्था की गयी है। देखें—वही, ३।१२।

अरत्निमष्टादशषोडशाङ्गुलं तथैव नेत्रं हि [3]दशाङ्गुलं क्रमात्।
गजोष्ट्रगोश्वाव्यजवस्तिसन्धौ चतुर्थभागोपनयं हितं वदेत्[4]॥ २१॥

पशुओं में वस्तिनेत्र का प्रमाण—हाथी, ऊँट, गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी इन पशुओं में वस्तिनेत्र का प्रमाण अरत्नि (१ हाथ), १८ अंगुल, १६ अंगुल तथा १० अंगुल का होना चाहिए। उक्त वस्तिनेत्रों के चौथे भाग को ऊपर कहे गये प्राणियों के गुद-प्रदेश के भीतर प्रवेश कराना चाहिए।

वक्तव्य—अरत्नि—कुहनी से लेकर कानी उँगली के छोर तक की नाप। देखें—'अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना'। अमर० २।६।८६। यदि हम अरत्नि शब्द से उक्त अर्थ लेते हैं, तो तन्त्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अरत्निमष्टादश' ये दोनों एकार्थवाचक शब्द व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उक्त प्रमाण की अरत्नि भी १८ अंगुलि की होती है। उसके बाद का प्रयुक्त अष्टादश शब्द भी उसी अर्थ की पुनरावृत्ति कर रहा है। अतः यहाँ 'अरत्नि' शब्द से **एक हाथ** का ग्रहण करना चाहिए, तभी क्रम व्यवस्थित हो सकता है। '**बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठकः**'। हला० कि० १८।६। और भी—'अरत्निर्ना सप्रकोष्ठततांगुलिकरेऽपि च। कफोणावपि'। मेदिनी। दूसरे टीकाकारों ने अरत्नि को ही १८ अंगुल माना है। अर्थात् हाथी के लिए १ हाथ लम्बा, ऊँट के लिए १८ अंगुल, गाय-घोड़ा के लिए १६ अंगुल, भेड़-बकरी के लिए १० अंगुल लम्बा वस्तिनेत्र होना चाहिए। यह क्रम उन-उन प्राणियों की शरीर-संपत्ति को देखकर निर्धारित किया गया है।

[5]प्रस्थस्त्वजाव्योर्हि निरूहमात्रा गवाश्वयोर्द्वित्रिगुणं यथाबलम्।
निरूहमुष्ट्रस्य तथाऽऽढकद्वयं गजस्य वृद्धिस्त्वनुवासनेऽष्टमः॥ २२॥

१. 'अथाभिगम्यार्थमखण्डिकाभिधो' इति, 'अथाभिगम्याजमुण्डिकाधिपो' इति च पा०।
२. 'गजोष्ट्रगोश्वाव्यजवस्तिकर्म' इति पा०।
३. 'सदशाङ्गुलं' इति पा०।
४. 'चतुर्थभागे कृतकर्णिकं वदेत्' इति पा०।
५. 'अजाविषु प्रस्थमितं निरूहणे खरादिषु द्वित्रिगुणं गवाश्वयोः। निरूह उष्ट्रस्य भवेद् द्विराढको गजस्य तु द्विर्घ्नानुवासनेऽष्टमः'॥ इति; 'अजाविषु प्रस्थमुशन्ति तद्विदः' इति च पा०।

पशुओं में निरूहवस्ति की मात्रा—बकरी तथा भेड़ के लिए निरूहवस्ति द्रव की मात्रा १ प्रस्थ (६४ तोला) की होती है। गाय आदि पशुओं में उनके बल को ध्यान में रखकर बकरी, भेड़ की मात्रा से दुगुनी (२ प्रस्थ) अथवा तिगुनी (३ प्रस्थ) की होती है। ऊँट को यदि निरूहवस्ति देनी हो तो उसके लिए वस्ति द्रव की मात्रा २ आढक (५१८ तोला) होती है और यदि हाथी को निरूहवस्ति देनी हो तो ४ आढक (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) की मात्रा होती है। यदि उपर्युक्त पशुओं को अनुवासनवस्ति देनी हो, तो ऊपर जो निरूहवस्ति की मात्रा बतलायी गयी है, उससे आठ-आठ हिस्सा कम मात्रा उसी क्रम से उन-उन पशुओं को देनी चाहिए।

वक्तव्य—यदि अनुवासनवस्ति का प्रयोग भेड़, बकरी को कराना हो, तो उसकी मात्रा २ पल (८ तोला), गाय, घोड़ा को वस्ति-प्रयोग कराना हो तो ४ पल, ऊँट के लिए १ प्रस्थ (६४ तोला) और हाथी के लिए २ प्रस्थ (१२८ तोला) की स्नेह मात्रा होनी चाहिए।

कलिङ्गकुष्ठे मधुकं च पिप्पली वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम्।
हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो द्विपञ्चमूलं च विकल्पना त्वियम् ॥ २३ ॥
गजेऽधिकाऽश्वत्थवटाश्वकर्णकाः सखादिरप्रग्रहशालतालजाः।
तथा च पर्ण्यौ धवशिग्रुपाटलीमधूकसाराः सनिकुम्भचित्रकाः ॥ २४ ॥
पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणीकषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः।
पलाशवन्तीसुरदारुकत्तृणद्रवन्त्य उक्तास्तुरगस्य चाधिकाः ॥ २५ ॥
खरोष्ट्रयोः पीलुकरीरखादिराः [1]शम्याकबिल्वादिगणस्य च च्छदाः।
अजाविकानां त्रिफलापरूषकं कपित्थकर्कन्धु सबिल्वकोलजम् ॥ २६ ॥

हाथियों के लिए वस्तिद्रव्य—इन्द्रजौ, कूठ, मुलेठी, पिप्पली, वच, सोया, मैनफल, रसाञ्जन (रसवत), गुड़, सेंधानमक, दोनों पञ्चमूल (के सभी द्रव्य) इनके क्वाथरस से तैयार की गयी वस्ति सभी पशुओं के लिए लाभदायक होती है। हाथियों के लिए विशेष वस्ति की कल्पना (रचना) इस प्रकार की जाती है—पीपल, बरगद, अश्वकर्णक (बड़ी पत्ती का साखू या साल), खैर, प्रग्रह (अमलतास), शाल की छाल, ताड़ का फल, इन द्रव्यों को समान भाग लेकर इनके विधिवत् बनाये गये क्वाथरस से बनी हुई वस्ति का प्रयोग हाथियों के लिए किया जाता है।

गायों के लिए वस्तिद्रव्य—दोनों पर्णियाँ (मुद्गपर्णी, माषपर्णी) धाय की छाल, सहिजन के जड़ की छाल, पाटला की छाल, मधूक सार (महुए की लकड़ी का मध्यभाग), निकुम्भ (दन्ती) की जड़, चित्रक, पलाश की छाल, भूतीक (अजवाइन), देवदारु, रोहिणी (कुटकी), इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर इनके क्वाथरस से तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग विशेष करके गायों के लिए हितकर होता है।

घोड़ों के लिए वस्तिद्रव्य—पलाश (ढाक) की छाल, दन्ती की जड़, देवदारु, सुगन्धितृण, द्रवन्ती की जड़, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर इनके क्वाथरस से तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग विशेष करके घोड़ों के लिए हितकर होता है।

ऊँटों, गदहों के लिए वस्तिद्रव्य—पीलु की पत्तियाँ, करीर की पत्तियाँ, खैर की पत्तियाँ, अमलतास की पत्तियाँ, बिल्वादिगण (दशमूल) के द्रव्यों की पत्तियाँ, इन सबको जौकुट करके इनके क्वाथरस से तैयार की गयी वस्ति ऊँटों तथा गदहों के लिए हितकर होती है।

भेड़ों-बकरियों के लिए वस्तिद्रव्य—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), फालसा, कैथ, बेर, बेल तथा बड़ी बेर इन सबके फलों को समान भाग लेकर जौकुट करके इनके क्वाथरस से तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग विशेष करके भेड़ों तथा बकरियों के लिए हितकर होती है।

अथाग्निवेशः सततातुरान् नरान् [2]हितं च पप्रच्छ गुरुस्तवाऽऽह च।
सदाऽऽतुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः ॥ २७ ॥

१. 'शमीश्च बिल्वादिगणस्य' इति पा०। २. 'हितैश्च' इति पा०।

सदा रोगी कौन—तदनन्तर अग्निवेश ने अपने गुरु महर्षि आत्रेय से पूछा—भगवन् ! सदैव अस्वस्थ (बीमार) रहने वाले कौन व्यक्ति होते हैं और उनके लिए कौन-सी वस्तुएँ हितकर होती हैं। इस प्रश्न को सुनकर गुरु ने उत्तर दिया—सदा रोगी रहने वालों में श्रोत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण), राजा के सेवक, वेश्या तथा दुकान से आजीविका करने वाले होते हैं।

वक्तव्य—सदैव रोगी रहने वालों की चर्चा तन्त्रकार ने एक बार चरक-सूत्रस्थान में भी की है। उस प्रकरण को भी च० सू० अ० ७।३९-४० की चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें। अब इसके आगे उनके सदैव रोगी रहने के कारणों का निर्देश किया जा रहा है।

द्विजो हि [1]वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न [2]चेष्टते।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् [3]परानुरोधाद् बहुचिन्तनाद् भयात् ॥ २८ ॥
नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा मृजाभि(त्रि)भूषानिरता पणाङ्गना।
सदासनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ॥ २९ ॥

१. **श्रोत्रिय**—ये प्रतिदिन वेद का अध्ययन, विविध प्रकार के व्रतों का पालन, आह्निक (दैनिक) कृत्यों (स्नान, सन्ध्या, देवपूजन, पितृतर्पण, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव आदि) में लगे रहने के कारण वे अपने शरीर के हितों की चेष्टा नहीं कर पाते हैं। २. **राजा के सेवक**—ये सदैव राजा के अनुकूल व्यवहार करने में लगे रहने के कारण, दूसरे लोगों के अनुरोध से, अधिक चिन्ता करने से, सदैव राजा के भय से डरे रहने के कारण अपने शरीर का हितचिन्तन नहीं कर पाते हैं। ३. **वेश्याएँ**—ये सदैव नये पुरुष के मन के अनुसार चलने वाली होती हैं, अर्थात् कोई भी मनुष्य इनके व्यवहार से असन्तुष्ट न हो, अतएव उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं, अपने शरीर की सफाई तथा उसे अलङ्कार आदि से सजाने में लगी रहती हैं। वे अपने वास्तविक स्वास्थ्य की देख-रेख नहीं कर पाती हैं, अतएव वे सदैव रोगिणी बनी रहती हैं। ४. **पण्यजीवी**—दूकानदार लोग क्रय (खरीददारी), विक्रय (बेचना) इनके लोभ में पड़कर सदैव बैठे रहने के कारण अपने शारीरिक हित के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, अतएव ये सदैव रोगी बने रहते हैं।

सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं [4]समाचरन्ते न च कालभोजनम्।
अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदाऽऽतुराश्च ते ॥ ३० ॥

सदा रोगी रहने में अन्य कारण—वे (श्रोत्रिय, राजसेवक, वेश्या, दूकानदार), मल, मूत्र तथा अपानवायु के आये हुए वेगों को रोकते रहते हैं, कभी समय पर भोजन नहीं कर पाते हैं, इसलिए भी सदैव अस्वस्थ रहते हैं। इनके अतिरिक्त वे लोग जो असमय में आहार-विहार करते हैं तथा मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकते हैं, वे भी सदैव रोगी रहते हैं।

समीरणं वेगविधारणोद्धतं विबन्धसर्वाङ्गरुजाकरं भिषक्।
समीक्ष्य तेषां फलवर्तिमादितः सुकल्पितां स्नेहवतीं प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥

सदातुरों की चिकित्सा—ऊपर जिन्हें सदातुर (सदैव रोगी) कहा गया है, उनकी चिकित्सा का यहाँ सूत्ररूप में वर्णन किया जा रहा है—मल, मूत्र आदि के वेगों (बाहर निकलने के संकेतों) को रोकने के कारण प्रकुपित हुई वायु जब भीतर ही रुक जाती है तो वह वायु विबन्ध (कब्जियत) तथा सम्पूर्ण देह में पीड़ा को पैदा कर देती है। ऐसी परिस्थिति में चिकित्सक को चाहिए कि वह वायु के विलोम होने के कारण उत्पन्न हुए इन विकारों को दूर करने के लिए सबसे पहले भली-भाँति विचार करके विधिपूर्वक निर्माण की गयी स्नेह युक्त फलवर्ति का प्रयोग करे।

वक्तव्य—स्नेहस्निग्ध वर्तियों का विधान इसी सिद्धिस्थान में अनेक स्थानों पर किया गया है। इसका प्रयोग गुदद्वार में प्रवेश कराने के रूप में होता है। यह स्निग्धफलवर्ति विबन्ध के कारण रुके हुए मल को बाहर

१. 'शिष्याध्ययन' इति पा०। २. 'सेवते' इति पा०। ३. 'गुरोर्निरोधात्' इति पा०। ४. 'समारभन्ते' इति, 'समाश्रयन्ते' इति च पा०।

निकलने में सहायक होती है। यह रूक्षता तथा वायु के विलोम होने से रुके हुए मल को स्निग्धता के कारण बाहर निकालती है। वृद्धवाग्भट ने सदातुरों की चिकित्सा इस प्रकार दी है—पहले स्निग्ध-फलवर्ति का प्रयोग कराकर तदनन्तर चलापह (वातनाशक) वस्ति देने का विधान किया है। देखें—अ० सं० क० अ० ७।४४। इसी के आगे वातनाशक वस्तियाँ भी दी गयी हैं। जिन्हें महर्षि आत्रेय का समर्थन भी प्राप्त है।

पुनर्नवैरण्डनिकुम्भचित्रकान् सदेवदारुत्रिवृतानिदिग्धिकान्।
महान्ति मूलानि च पञ्च यानि विपाच्य मूत्रे दधिमस्तुसंयुते ॥ ३२ ॥
सतैलसर्पिर्लवणैश्च पञ्चभिर्विमूर्च्छितं वस्तिमथ प्रयोजयेत्।
निरूहितं धन्वरसेन भोजितं निकुम्भतैलेन ततोऽनुवासयेत् ॥ ३३ ॥

निरूहवस्ति-प्रयोग—उपर्युक्त फलवर्ति का प्रयोग करने के बाद प्रस्तुत निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए—पुनर्नवा, रेड़ की जड़, दन्ती (जमालगोटा) की जड़, चीता की जड़, देवदारु, निशोथ, निदिग्धिका (छोटी कटेरी) तथा बृहत्पञ्चमूल के पाँचों द्रव्य (बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, अरणी) इन द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट कर गोमूत्र तथा दही के पानी में मिलाकर क्वाथ-विधि से पकायें, जब पकते-पकते चतुर्थांश जल शेष रह जाय, तब उसे उतार कर छान लें। उस क्वाथरस में पाँचों नमक (सामुद्र, सैन्धव, सौवर्चल, रुचक, विड), तेल तथा घी मिलाकर वस्तियन्त्र में भरकर निरूहवस्ति दें। जब निरूहवस्ति द्वारा दिया गया उक्त द्रव लौटकर बाहर आ जाय तथा सम्यक् निरूढ के लक्षण दिखलायी दें, तब उस रोगी को धन्व (जांगल) प्रदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करायें, उसके बाद उसे निकुम्भ तैल (दन्तीमूल के क्वाथरस तथा कल्क द्वारा पकाये गये तेल) से अनुवासनवस्ति दें।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने भी फलवर्ति का प्रयोग कराने के बाद प्रायः चरकोक्त उन्हीं द्रव्यों से निर्मित निरूहवस्ति के प्रयोग का विधान किया है, तदनन्तर निकुम्भ तैल द्वारा अनुवासनवस्ति देने की भी आज्ञा दी है। देखें—अ० सं० क० अ० ७।४५।

बलां सरास्नां फलबिल्वचित्रकान् द्विपञ्चमूलं [1]कृतमालकात् फलम्।
यवान् कुलत्थांश्च पचेज्जलाढके रसः स पेष्यैस्तु कलिङ्गकादिभिः ॥ ३४ ॥
[2]सतैलसर्पिर्गुडसैन्धवो हितः सदातुराणां बलवर्णवर्धनः।
तथाऽनुवास्ये मधुकेन साधितं फलेन बिल्वेन शताह्वयाऽपि वा ॥ ३५ ॥

बलादि वस्ति-प्रयोग—बला (वरियारा) की जड़, रास्ना, मैनफल, बेल की गुद्दी, चीता की जड़, दोनों पञ्चमूल के द्रव्य (बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, अरणी। लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, गोखरू), अमलतास की गुद्दी, जौ तथा कुलथी इन सब द्रव्यों को समानभाग लेकर जौकुट करके २ आढक (५१२ तोला) जल में डालकर पकायें। जब चतुर्थांश (१२८ तोला) जल शेष रह जाय तब उसे छान लें, उस जल में कलिंग आदि (इन द्रव्यों के लिए इसी अध्याय का २३वाँ श्लोक देखें। वे द्रव्य इस प्रकार हैं—कलिंग=इन्द्रजौ, कूठ, मुलेठी, पिप्पली, वच, सोया, मैनफल, रसवत, गुड़, सेंधानमक दोनों पञ्चमूल के दसों) द्रव्यों का कल्क, तेल, घी, गुड़, सेंधानमक, इनको एक साथ मिलाकर वस्तियन्त्र में भरकर वस्ति-प्रयोग करने से सदातुरों (जो सदैव रोगी रहते हैं, उन) के बल और वर्ण (रूप-सौन्दर्य) की वृद्धि होती है। जब निरूहवस्ति का प्रयोग भली-भाँति हो जाता है, तदनुसार उसके लाभ दिखलायी देने लगते हैं (इसी को सम्यक् निरूढ लक्षण कहते हैं) तब उसके बाद उस रोगी को ऊपर श्लोक ३३ में कही गयी विधि के अनुसार धन्व (जांगल) प्रदेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराकर मुलेठी के कल्क से अथवा बेल की गुद्दी के कल्क से अथवा सोया के कल्क से पकाये गये तेल से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—उक्त पाठ को वृद्धवाग्भट ने अपनी संहिता में यद्यपि थोड़े से परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है, तथापि द्रव्य एवं प्रयोग-विधि आदि की दृष्टि से दोनों की रचनाएँ समान हैं। देखें—अ० सं० क० ७।४६-४७।

१. 'कृतमालकट्फलम्' इति 'कृतमालकोत्पले' इति च पा०।
२. 'सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवः' इति पा०।

सजीवनीयस्तु रसोऽनुवासने निरूहणे चालवणः शिशोर्हितः।
न चान्यदाश्वङ्गबलाभिवर्धनं निरूहवस्तेः शिशुवृद्धयोः परम् ॥ ३६ ॥

बालक-वृद्धों के लिए वस्ति—बालकों के लिए जीवनीयगण के द्रव्यों (जीवक, ऋषभक, मेदा, महा-मेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मधुक) के क्वाथ तथा कल्क के योग से पकाये गये तेल की अनुवासनवस्ति दें। यदि निरूहणवस्ति का प्रयोग कराना हो, तो उसमें नमक नहीं मिलाना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि अनुवासनवस्ति में जीवनीयगण के द्रव्यों द्वारा साधित तेल तथा घी मिलाना चाहिए, किन्तु निरूहवस्ति में नमक नहीं मिलाना चाहिए।

वक्तव्य—बालकों तथा वृद्धों के शारीरिक बल को बढ़ाने के लिए निरूहवस्ति-प्रयोग के अतिरिक्त और कोई भी चिकित्सा उत्तम नहीं होती है। तन्त्रकार का अभिप्राय यह है कि युवकों के लिए उनके अंग (शरीर) तथा बल को बढ़ाने के और भी अनेक उपाय (चिकित्सा-विधियाँ) हैं, किन्तु बालकों और वृद्धों के लिए अन्य उपचार उतने लाभदायक सिद्ध नहीं होते हैं। अतः बालकों, वृद्धों के शरीर तथा बल को बढ़ाने के लिए समय-समय पर निरूहवस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

निरूहवस्ति के बाद अनुवासनवस्ति का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु पर्याय-क्रम से भी इनका प्रयोग आगे-पीछे किया जाता है। आवश्यकता के अनुसार भी इनके प्रयोग का क्रम निर्धारित किया जा सकता है। शिशु तथा वृद्ध दोनों ही सुकुमार की सीमा के अन्तर्गत आते हैं। अतः इनके लिए निरूहवस्ति का प्रयोग सदैव निरापद होता है। उक्त विषय को वृद्धवाग्भट ने संक्षेप में कहा है। देखें—अ० सं० क० अ० ७।४८।

तत्र श्लोकः—

फलकर्म वस्तिवरता नेत्रं यद्वस्तयो गवादीनाम्।
सततातुराश्च दिष्टाः फलमात्रायां हितं चैषाम् ॥ ३७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
फलमात्रासिद्धिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—उक्त विषय के सम्बन्ध में एक श्लोक दिया जा रहा है—प्रस्तुत फलमात्रासिद्धि अध्याय में जीमूतफल का कर्म (उपयोग), वस्तियों में प्रयुक्त होने वाले फलों में कौन-सा फल श्रेष्ठ होता है, गाय आदि प्राणियों के लिए किन प्राणियों के चर्मों (वस्तियों) का प्रयोग किया जाता है, उनके वस्तिनेत्रों का क्या-क्या प्रमाण होता है, वस्तिद्रव का प्रमाण, कौन मनुष्य सदैव रोगी रहते हैं और उनके लिए कौन-सी चिकित्सा हितकर होती है, इन सभी विषयों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरकसंहिता-
चरक-चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित
सिद्धिस्थान में फलमात्रासिद्धि नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथात उत्तरवस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

फलमात्रासिद्धि का व्याख्यान करने के बाद अब हम यहाँ से उत्तरवस्तिसिद्धि की व्याख्या करेंगे। ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है।

वक्तव्य—यद्यपि वस्ति-प्रसंग में उत्तरवस्ति स्त्रियों के मूत्रमार्ग तथा योनि (गर्भाशय) मार्ग एवं पुरुषों के मूत्रमार्ग द्वारा दी जाने वाली वस्ति-विशेष की संज्ञा है। किन्तु इस अध्याय में 'उत्तरवस्ति' शब्द से गुण-धर्म तथा लाभ की दृष्टि से श्रेष्ठ वस्तियों का संकलन होने के कारण इसकी यह संज्ञा चरितार्थ है। अतएव श्रीचक्रपाणि ने लिखा है—'उत्तराणां श्रेष्ठानां वस्तीनां सिद्धिः उत्तरवस्तिसिद्धिः'।

अथ खल्वातुरं वैद्यः संशुद्धं वमनादिभिः। दुर्बलं कृशमल्पाग्निं मुक्तसन्धानबन्धनम् ॥३॥
निर्हृतानिलविण्मूत्रकफपित्तं कृशाशयम्। शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेत् ॥४॥
यथाऽण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं [1]यथैव च। गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः ॥५॥

संशोधित व्यक्ति की रक्षण-विधि—वमन, विरेचन आदि संशोधनों से शुद्ध, दुर्बल, कृश, मन्द अग्नि वाले तथा जिनके सन्धि-बन्धन ढीले पड़ गये हैं, जिनके शरीर से वात, मल, मूत्र, कफ एवं पित्त का निर्हरण किया जा चुका है, अतएव जिनके आशय (वाताशय अर्थात् पक्वाशय, मलाशय मूत्राशय, कफाशय, पित्ताशय इस प्रसंग में देखें—सु० सू० अ० २१।७) कृश हो गये हैं अर्थात् वात, मल, मूत्र आदि के निकल जाने से जो पिचक गये हों, अतएव जिनका देह उक्त वात आदि के निकल जाने से शून्य (खाली) हो गया हो; इस प्रकार संशोधनों के कारण शरीर के शून्य (दोषों से रहित) तथा दुर्बल हो जाने के कारण जो व्यक्ति दूसरी चिकित्सा विधियों को सहन करने में असमर्थ हो गये हों, ऐसे व्यक्तियों की रक्षा पूर्ण अण्डे की भाँति, भरे हुए तेल के पात्र की भाँति और हाथ में डण्डा लिये हुए चरवाहा जिस प्रकार तत्परता से गायों की रक्षा करता है, उसी प्रकार उक्त रोगी की रक्षा सभी प्रकार के उपचारों से (हानिकारक आचरणों, दुष्कर्मों, अहितकर आहार-विहारों से बचाकर) उसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—चरक के उक्त सिद्धान्त को वृद्धवाग्भट ने इस प्रक... दुहराया है—'वमनाद्यैर्विशुद्धं च क्षामदेहबलानलम्। यथाण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथा तथा॥ भिषक् प्रयत्नतो रक्षेत् सर्वस्मादपचारतः'॥ अ० सं० क० अ० ७।३३। उक्त श्लोक के अनुसार संशोधन करने के अनन्तर जब शरीर में से मल, मूत्र, वात, पित्त तथा कफदोष निकल जाते हैं, तो शरीर दुर्बल हो जाता है, जिसका अनुभव रोगी स्वयं करता है और उसका कृश हो जाना दुर्बलता का बाहरी लक्षण है, जिसे दूसरे लोग भी देखते हैं। ऐसे अवसर पर रोगी की अग्नि भी मन्द पड़ जाती है, अर्थात् ऐसा रोगी सभी प्रकार के आहारों को पचाने में असमर्थ हो जाता है। वह किसी प्रकार की उग्र चिकित्सा को सहन नहीं कर पाता है, क्योंकि उसके सभी आशय सिकुड़ जाते हैं, अतएव उसका शरीर शून्य हो जाता है। संशुद्ध शरीर वाले उस रोगी की स्थिति को निम्नलिखित तीन प्रकार की उपमाओं से उपमित किया है—१. तरुण (ताजे) अण्डे की भाँति, अथवा २. पूर्ण (भरे हुए) तैलपात्र की भाँति, अथवा ३. 'गोपाल इव दण्डी गाः' अर्थात् जिस प्रकार पक्षियों का रक्षक अपरिपक्व अण्डे या अण्डों की, तैलरक्षक तेल से भरे हुए पात्र की और हाथ में डण्डा लिया हुआ ग्वाला गायों की रक्षा अत्यन्त सावधानी के साथ करता है, ठीक उसी प्रकार चिकित्सक का भी कर्तव्य है, कि वह संशुद्ध देह वाले पुरुष की भी रक्षा करे। विस्तार में आगे देखें—

१. 'तरुण अण्डा' अर्थात् तत्काल पैदा हुए अण्डे को मुर्गी एक ही स्थान पर रखकर उसकी सुरक्षा करती है। यदि उस अण्डे को इधर-उधर कर दिया जाता है, तो फिर उसमें से मुर्गी के जन्म की सम्भावना

[1] 'तथैव च' इति पा०।

समाप्त हो जाती है, अर्थात् उस अण्डे का जीवन सन्देह में पड़ जाता है, अतः इसी प्रकार संशुद्ध देह वाले दुर्बल, अल्पाग्नि, मुक्तसन्धान-बन्धन, कृश आशय, शून्य देह तथा प्रतीकारासहिष्णु उक्त रोगी की सावधानी से रक्षा करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

२. 'पूर्ण तैलपात्र' अर्थात् ऊपर तक भरे हुए तेल के पात्र की भी अत्यन्त सावधानी के साथ रक्षा की जाती है। उसमें से जरा-सा भी तेल का गिरना उसके रक्षक की असावधानी कही जायेगी। पूर्ण तैलपात्र की सुरक्षा तभी हो सकेगी, जब तक रक्षक की उसके ऊपर सतर्कता पूर्ण दृष्टि रहेगी, यही स्थिति संशोधनों से शुद्ध देह वाले पुरुष के चिकित्सा की भी है।

३. 'गोपाल इव दण्डी गाः' इसका तात्पर्य है कि गायों का चरवाहा (हाथ में डण्डा लिया हुआ पुरुष) निरन्तर गायों की सुरक्षा में तत्पर रहता है। उन्हें किसी प्रकार का अपचार नहीं करने देता है, अर्थात् वह चरवाहा गायों को कुपथ (अपथ्य) से हर समय डण्डे का भय दिखाकर रोकता रहता है। उक्त तीन उपमाओं से यह निष्कर्ष निकलता है, कि उक्त संशुद्ध देह वाले पुरुष को ताजा अण्डे की भाँति एक ही स्थान पर सुरक्षित रखना चाहिए। पूर्ण तैलपात्र की तरह अधिक इधर-उधर हिलने-डुलने न दें और जिस प्रकार गायों का चरवाहा दण्ड का भय दिखलाकर उन्हें कुपथ से बचाकर सुपथ की ओर ले जाता है, उसी प्रकार इस रोगी की भी उचित आहार-विहार कराते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

अग्निसन्धुक्षणार्थं तु पूर्वं पेयादिना भिषक्। रसोत्तरेणोपचरेत् क्रमेण क्रमकोविदः ॥६॥

पेयादि से अग्निदीपन—भली-भाँति संशोधन करा लेने के बाद पेया, विलेपी आदि के सेवन कराने के क्रम को जानने वाला कुशल चिकित्सक रोगी की जठराग्नि को सुलगाने के लिए अर्थात् पुनः उसे तीव्र करने के लिए आरम्भ में पेया आदि का प्रयोग कराये और उसके बाद क्रम से मांसरस आदि का प्रयोग कराकर रोगी की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—पेया, विलेपी आदि का जब मन्द पड़ी हुई अग्नि को तीव्र करने के लिए प्रयोग किया जाता है, तो उसे संसर्जन-क्रम कहते हैं। पेया आदि का वर्णन च० सि० अ० १।११-१३ में किया जा चुका है, वहाँ देखें। श्रीचक्रपाणि के अनुसार वमन, विरेचन कराने के बाद रोगी को पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष तथा अकृतमांसरस का सेवन कराना चाहिए और निरूहवस्ति का प्रयोग कराने के बाद कृतमांसरस के साथ भोजन कराना चाहिए, क्योंकि वमन, विरेचन की अपेक्षा निरूहवस्ति के प्रयोग के बाद जठराग्नि कम मन्द पड़ती है, इसीलिए कृतमांसरस के सेवन का विधान किया गया है।

स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः ॥७॥

संसर्जनक्रम में विविध रसों का प्रयोग—उपर्युक्त प्रकार से रोगी का संशोधन कराने के बाद साथ ही साथ स्निग्ध, अम्लरस, मधुररस जो जिसे स्वादु लगें तथा हृदय को प्रिय लगें उन्हें सेवन कराना चाहिए, उसके बाद खट्टे तथा नमकीन रसों का प्रयोग कराना चाहिए, तदनन्तर मधुर एवं तिक्तरस-प्रधान द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए, अन्त में कषाय एवं कटुरसों का प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—संशोधन कराने के बाद यहाँ संसर्जन-क्रम का विधान क्रमशः छहों रसों के प्रयोग के साथ कराने की अनुमति दी गयी है। इस विधान के अनेक दृष्टिकोण हैं। सर्वप्रथम पेया आदि का निर्माण इन्हीं रसों द्वारा करना चाहिए। दूसरा दृष्टिकोण यह है—वात आदि दोषों का शमन करना और तीसरा दृष्टिकोण है—'सर्वरसाभ्यासः पथ्यानाम्' अर्थात् दैनिक आहार में सभी रसों का तर-तम भाव से प्रयोग करना पथ्य (हितकर) होता है। अब हम वृद्धवाग्भट का मत प्रस्तुत करते हैं—'द्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः'॥ अ० सं० क० अ० ७।३४। इन्होंने भी सर्वथा चरकोक्त मत का ही प्रतिपादन किया है।

उक्त छः रसों का प्रायोगिक विचार—इन्होंने ऊपर अम्ल, स्वादु (मधुर), अम्ल, लवण, स्वादु, तिक्त, कषाय तथा कटुरसों का विशेष क्रम से प्रयोग कराने का निर्देश दिया है। इनकी उपयोगिता पर यहाँ विचार प्रस्तुत है। दोषों को दृष्टि में रखते हुए चिकित्सक इस क्रम में परिवर्तन ला सकता है, अन्यथा यहाँ वात, पित्त,

कफ इस क्रम में दोषों को शान्त करने का विधान किया गया है तथा मन्द हुई अग्नि को पुनः सबल बनाने के उपायों का वर्णन किया गया है—१. वातदोष की प्रधानता होने पर वातदोष शामक स्निग्ध (चार प्रकार के स्नेहों से युक्त), अम्ल (खट्टे) तथा मधुर द्रव्यों के क्वाथरस में मूंग आदि की पेया का निर्माण कराकर रोगी को सेवन कराना चाहिए। जब उक्त दोनों रस रोगी को पच जायें तब उसके बाद अम्ल एवं लवणरस दें, फिर मधुर, तिक्तरस दें; तदनन्तर कषाय, कटुरसों से बनायी गयी पेयाओं का सेवन कराना चाहिए। अब हम इन्हीं रसों के विविध लाभों की चर्चा प्रस्तुत करते हैं। २. मन्द हुई अग्नि को सबल बनाने के लिए अम्लरस एवं लवणरस से युक्त पेया का प्रयोग कराना चाहिए। ३. पित्तदोष की प्रधानता होने पर उसकी शान्ति के लिए मधुररस तथा तिक्तरस वाले द्रव्यों के क्वाथरस से निर्मित पेया का सेवन कराना चाहिए। ४. कफदोष की प्रधानता होने पर उसकी शान्ति के लिए कषायरस और कटुरस वाले द्रव्यों के क्वाथरस से निर्मित पेया का सेवन कराना चाहिए।

इन रसों का प्रयोग अन्नकाल की दृष्टि से भी किया जाता है। उसका क्रम इस प्रकार है—प्रथम तीन अन्नकालों में अम्ल तथा मधुररसों से युक्त पेया का सेवन करायें, द्वितीय तीन अन्नकालों में अम्ल तथा लवण रसों से युक्त विलेपी का सेवन करायें और तृतीय तीन अन्नकालों में मधुर तथा तिक्तरसों से युक्त अकृतयूष तदनन्तर कृतयूष दें और चतुर्थ तीन अन्नकालों में कषाय तथा कटुरसों से युक्त अकृत मांसरस, फिर उसके बाद कृतमांसरस का सेवन कराना चाहिए। पेया, विलेपी, अकृतयूष तथा कृतयूष का विशेष विवेचन च० सि० अ० १।११ में देखें।

अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद् भिषक् ॥८॥

स्वाभाविक स्थिति में लाने का प्रयत्न—ऊपर परस्पर विरुद्ध रसों के जो प्रयोग बतलाये गये हैं, उनका तात्पर्य यह है कि परस्पर विपरीत गुणवाले रसों, जैसे—स्निग्ध के बाद रूक्ष अथवा रूक्ष के बाद स्निग्ध-द्रव्यों का प्रयोग कराकर विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी को उसकी स्वाभाविक स्थिति में ले आये, अर्थात् संशोधन कराने के बाद सहसा दैनिक भोजन न देकर पेया आदि के क्रम से उसे सुव्यवस्थित स्थिति में ले आना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर जिन छः रसों को दो-दो करके देने को कहा गया है, वे परस्पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार स्निग्ध, रूक्ष भी परस्पर विरुद्ध गुण-धर्म वाले हैं, किन्तु देहधर्म के अनुसार इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न अवसरों पर लाभदायक होता है। इन रसों तथा स्निग्ध, रूक्ष पदार्थों का विधिवत् प्रयोग करने से रोगी को स्वास्थ्य-लाभ होता है, जैसा कि ऊपर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

[1]सर्वक्षमो ह्यसंसर्गो रतियुक्तः स्थिरेन्द्रियः। बलवान् सत्त्वसम्पन्नो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥९॥

प्रकृति-प्राप्त पुरुष के लक्षण—उपर्युक्त संसर्जन-विधि का सेवन करने से जो व्यक्ति अपना स्वाभाविक आहार करने योग्य हो गया हो अथवा स्वाभाविक आहार करने लग गया हो, जिसके मल, मूत्र आदि बिना किसी संसर्ग (रुकावट) के हो रहे हों, जो व्यक्ति अपने दैनिक कार्यों को रुचि के साथ करने लगा हो, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ स्थिर हों, अर्थात् अपने-अपने कर्म को करने में सक्षम हों, जो व्यक्ति बलवान् (शारीरिक तथा मानसिक बल से सम्पन्न) हो, जो व्यक्ति सत्त्वगुण अथवा स्वस्थ मन वाला हो, तो समझना चाहिए कि वह अब रोगमुक्त होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गया है।

वक्तव्य—संशोधन करने के बाद शुद्ध शरीर वाले पुरुष की शारीरिक शक्ति तथा अग्नि मन्द पड़ जाती है, फलतः उसका शरीर तथा इन्द्रियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं। इस स्थिति में उसे क्रमशः पेया आदि का सेवन कराकर स्वस्थ करने का प्रयत्न कराना चाहिए। इससे वह पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अतएव उक्त लक्षण स्वस्थपुरुष के शरीर में दिखलायी देते हैं। उपर्युक्त लक्षणों का सुश्रुत ने इस प्रकार वर्णन किया है—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते'॥

१. 'कृतक्रमः' इति, 'सर्वक्षमो ह्यसंसर्गो' इति, 'बलवान् वर्णवान् सर्वरतिः स्वङ्गः स्थिरेन्द्रियः। प्रसन्नात्मा सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृतिङ्गतः' इति पा०। 'सर्वक्षम, इति, सर्वचेष्टाक्षमः', इति पा०।

सु० सू० अ० १५।४१। इस दृष्टि से इसी अध्याय के ४०वें श्लोक का भी अवलोकन करें। वृद्धवाग्भट ने भी इस सम्बन्ध में तदनुरूप अपने विचार व्यक्त किये हैं। देखें—अ० सं० क० अ० ७।३५।

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत्। महादोषकराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः ॥१०॥

महादोषकर भावों का निषेध—संशोधन कराने के बाद जब तक पुरुष अपने स्वाभाविक स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं कर लेता अर्थात् जब तक स्वास्थ्य के लक्षणों से सम्पन्न नहीं हो जाता, तब तक सभी प्रकार के निषिद्ध आहार-विहारों का परित्याग करना चाहिए। उनमें भी विशेष करके आगे कहे जाने वाले अत्यन्त दोषकारक उन आठ विषयों का तो अवश्य ही त्याग करना चाहिए।

उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचङ्क्रमणासने। अजीर्णाहितभोज्ये च दिवास्वप्नं समैथुनम् ॥११॥

महादोषकर आठ भाव—१. ऊँचे स्वर से बोलना, इसी को चिल्लाना भी कहते हैं। २. रथक्षोभ अर्थात् ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर धक्का लगने वाली सवारी से चलना। ३. अधिक पैदल चलना या भ्रमण करना। ४. आघात उत्पन्न करने वाले एक ही आसन पर अधिक समय तक बैठना। ५. अजीर्ण अवस्था में (जब कि पहले का खाया हुआ न पचा हो) भोजन कर लेना। ६. अहितकर (अपथ्य) भोजन करना। ७. दिन में सोना (इससे कफदोष की वृद्धि हो जाती है, इसीलिए ग्रीष्मऋतु के अतिरिक्त कभी भी दिन में नहीं सोना चाहिए)। ८. मैथुन (स्त्री-सहवास; इससे अन्य व्यायामों के अधिक सेवन का भी निषेध कर दिया गया है)।

तज्जा देहोर्ध्वसर्वाधोमध्यपीडामदोषजाः। श्लेष्मजाः क्षयजाश्चैव व्याधयः स्युर्यथाक्रमम् ॥

दोषकर भावों के सेवन से हानियाँ—यदि संशुद्ध शरीर वाला पुरुष अज्ञानता के कारण उक्त निषिद्ध महादोषकर आठ भावों का सेवन करता है, तो उनके कारण निम्नलिखित व्याधियाँ उसी क्रम से हो जाती हैं—१. उच्चस्वर से बोलने के कारण शरीर के ऊपरी भाग में रोग हो जाते हैं। २. शरीर को झकझोर देने वाली सवारियों में बैठकर चलने से सम्पूर्ण शरीर में होने वाले रोग हो जाते हैं। ३. अतिचंक्रमण (घूमने) के कारण शरीर के निचले भाग में होने वाले रोग पैदा हो जाते हैं। ४. अधिक देर तक बैठे रहने के कारण शरीर के मध्यभाग में होने वाले रोग जन्म ले लेते हैं। ५. अजीर्ण अवस्था में भोजन कर लेने से आमदोष-जनित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ६. अहितकर भोजन करने से वात आदि कारणों से उत्पन्न होने वाले रोग हो जाते हैं। ७. दिन में सोने के कारण कफजनित अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। ८. अधिक मैथुन करने से धातुक्षय जनित रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

तेषां विस्तरतो लिङ्गमेकैकस्य च भेषजम्। यथावत्सम्प्रवक्ष्यामि सिद्धान् वस्तींश्च यापनान् ॥

महादोषकर भावों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा—ऊपर (११वें श्लोक में) जिन महादोषकर आठ भावों की और १२वें श्लोक में उनके कारण उत्पन्न होने वाले जिन रोगों की चर्चा की गयी है, अब यहाँ से उन दोषों के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा और साथ ही यहाँ यापनासिद्ध (सदा सफल) वस्तियों का भी वर्णन किया जायगा।

तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां शिरस्तापशङ्खकर्णनिस्तोदश्रोत्रोपरोधमुखतालुकण्ठशोषतैमिर्यपिपा-साज्वरतमकहनुग्रहमन्यास्तम्भनिष्ठीवनोरःपार्श्वशूलस्वरभेदहिक्काश्वासादयः स्युः (१);

१. उच्चस्वर से बोलने के कारण होने वाले रोग—उच्चस्वर से बोलने तथा अधिक देर तक बोलते रहने के कारण शिरस्ताप (शिर में जलन, वेदना, चक्कर आदि का आना), शंखप्रदेश तथा कानों के भीतर सुई चुभाने की-सी पीड़ा का होना, कानों के कार्य (सुनने) में रुकावट, मुख, तालु, कण्ठ (गला) का सूखना, तिमिररोग (आँख के सामने अँधेरा छा जाना), प्यास का अधिक लगना, ज्वर, तमकश्वास, हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, निष्ठीवन (बार-बार थूकना), उरःशूल (छाती में पीड़ा का होना), पसलियों में पीड़ा का होना, स्वरभेद (गला-बैठना), हिक्का (हिचकी) तथा श्वास आदि रोग हो जाते हैं।

१. 'निष्ठीवनशिरःपार्श्वशूल' इति पा०।

वक्तव्य—ऊपर १२वें श्लोक में आठ महादोषकर भावों का व्यवहार करने से जिन संक्षिप्त लक्षणों का वर्णन किया गया है, तदनुसार उच्चैर्भाष्य से ऊर्ध्वदेह, जिसे दूसरे शब्दों में ऊर्ध्वजत्रु भी कहते हैं, का ग्रहण किया जाता है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य विषय है, कि तन्त्रकार ने यहाँ शरीर का विभाजन चार भागों में इस प्रकार किया है—१. ऊर्ध्वदेह २. सर्वदेह, ३. अधोदेह और ४. मध्यदेह। अब विचारणीय विषय है, कि ऊपर जिन रोगों की गणना की गयी है, उनमें ज्वर सम्पूर्ण शरीर में होने वाला रोग है और उरःशूल, पार्श्वशूल ये शरीर के मध्यभाग के रोग हैं, जो ऊर्ध्वदेह की सीमा के बाहर हैं। इस अंश की टीका करते हुए श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'अत्रोच्चैर्भाष्यादिको ग्रन्थः प्रायो व्यक्त एव'। आगे चलकर वृद्धवाग्भट ने भी अपनी संहिता में तन्त्रकार की भावना को इस प्रकार उद्धृत किया है—'अत्रान्तरे त्यजेदष्टौ भाष्यादीनि विशेषतः। उच्चैर्भाष्याच्छिरोरोगतिमिरोरःस्वरव्यथाः॥ रक्तनिष्ठीवतमकज्वराद्याः'। अ० सं० क० अ० ७।३६। इसकी टीका करते हुए श्रीइन्दु को भी यह विषय नहीं खटका। हमारे विचार से तन्त्रकार ने ऊर्ध्वदेह के प्रमुख विकारों (शिरस्ताप आदि) का प्रारम्भ में वर्णन कर ज्वर, उरःशूल आदि का भी विवेचन किया है। जैसे—'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'। यहाँ मुख्य कार्य गाँव जाना है, न कि 'तृणस्पर्श'; किन्तु प्रधान कार्य के साथ कभी गौण कार्य भी जुटे रहते हैं। अथवा इसे 'प्रायोवाद' भी कहते हैं।

रथक्षोभात् सन्धिपर्वशैथिल्यहनुनासाकर्णशिरःशूलतोदकुक्षिक्षोभाटोपान्त्रकूजनाध्मानहृदयेन्द्रियोपरोधस्फिक्पार्श्ववङ्क्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनासन्धि[1]स्कन्धग्रीवादौर्बल्याङ्गाभितापपादशोफप्रस्वापहर्षणादयः (२);

रथक्षोभजनित रोग—शरीर को झकझोर देने वाले रथ, इक्का आदि सवारियों पर बैठकर चलने से सन्धियों में ढीलापन, पर्वों (पोरों अर्थात् छोटी-छोटी गाँठों) में शिथिलता, हनु (ठोढ़ी), नासिका, कान तथा शिर में शूल तथा सुई चुभाने के समान पीड़ा, कुक्षि (उदर) में क्षोभ (हलचल) एवं आटोप, आँतों में कूजन (कबूतर के समान कहरना अथवा कुल-कुल आवाज का होना), आध्मान (पेट का फूलना), हृदय की गति में रुकावट का होना, इन्द्रियों का अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में रुकावट का होना, स्फिक् (चूतड़ों), पसलियों, वंक्षण, अण्डकोष, कमर और पीठ में वेदना, सन्धि, स्कन्ध (कन्धा), गर्दन में दुर्बलता, शरीर के अवयवों में अभिताप (चारों ओर जलन), पैरों में सूजन, शून्यता (सूनापन), पैरों में रोमाञ्च का होना इत्यादि रोग हो जाते हैं।

अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुजानुवङ्क्षणश्रोणीपृष्ठशूलसक्थिसादनिस्तोदपिण्डिकोद्वेष्टनाङ्गमर्दांसाभितापसिराधमनीहर्षश्वासकासादयः (३);

अतिचंक्रमणजनित रोग—अधिक चलने, घूमने-फिरने से पैर, जाँघ, ऊरु, जानु, वंक्षण, श्रोणिप्रदेश (कूल्हा, चूतड़) तथा पीठ में शूल, टांगों में शिथिलता, सुई चुभाने की-सी पीड़ा, पिंडलियों में ऐंठन का होना, अंगों में मसलने की-सी पीड़ा, अंसप्रदेश (कन्धों) में अभिताप (जलन) सिराओं तथा धमनियों में हर्ष (रोमाञ्च अथवा फड़कन) का होना तथा श्वास, कास आदि रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—इन सभी सन्दर्भों का संक्षिप्त वर्णन अ० सं० क० अ० ७ में भी देखें।

अत्यासनाद् रथक्षोभजाः स्फिक्पार्श्ववङ्क्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः (४);

अधिक बैठने से होने वाले रोग—रथ पर अधिक देर तक बैठ कर चलने के कारण उसके धक्कों के आघात से होने वाले ये रोग हैं—चूतड़ों, पसलियों, वंक्षणों, वृषणों (अण्डकोषों), कमर तथा पीठ में पीड़ा का उत्पन्न होना।

वक्तव्य—उक्त गद्य के दूसरे खण्ड में 'रथक्षोभात्' के समस्त लक्षण दिये हैं। उसके बाद केवल 'अत्यासन' अर्थात् अधिक देर तक बैठना का उल्लेख होना चाहिए था, जैसा कि इसी अध्याय के श्लोक ११ से स्पष्ट है। किन्तु इस 'अत्यासन' का अर्थ उक्त प्रसंग से ऐसा लगता है, कि जैसे सुखद आसन पर बैठने से नहीं अपितु शरीर

१. 'सक्थिस्कन्धहनुग्रहग्रीवा' इति पा०।

को झकझोर देने वाले वाहनों के आसनों में बैठने से है, किन्तु श्रीचक्रपाणि का दृष्टिकोण कुछ और ही लग रहा है। उनकी मान्यता है, कि यहाँ गद्यखण्ड भाग २ में कहे गये—'सन्धिपर्वशैथिल्य' आदि का भी ग्रहण न हो जाय, अतएव अन्य लक्षणों 'स्फिक्पार्श्व' आदि का वर्णन किया गया है। उक्त दोनों दृष्टियों से यह गद्यांश विचारणीय कोटि में आता है, क्योंकि ११वें श्लोक में ऐसी स्थिति का वर्णन नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रीजयदेव ने अपना अभिप्राय इस प्रकार दिया है—'सन्धिपर्वशैथिल्य' से लेकर 'इन्द्रियोपरोध' पर्यन्त के रथक्षोभज विकार इसमें नहीं होते, अवशिष्ट रथक्षोभज विकार ही अधिक बैठने से होते हैं। वास्तव में विकार क्षोभज होते हैं, भले ही वे किसी प्रकार के क्षोभ से हों।

अजीर्णाध्यशनाभ्यां तु मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषादयः (५);

अजीर्ण तथा अध्यशनजनित रोग—पहला भोजन जब तक न पचा हो उस स्थिति को 'अजीर्ण' कहते हैं। 'भुक्तस्योपरिभोजनम्' खाना खाने के तत्काल बाद पुनः भोजन कर लेने को अध्यशन कहते हैं। इन दोनों से मुख का सूखना, उदर-प्रदेश में आध्मान (अफारा), शूल, सुई चुभाने के समान पीड़ा का अनुभव, बार-बार प्यास का लगना, शरीर में शिथिलता, वमन का होना, अतीसार, मूर्च्छा (बेहोशी), ज्वर, प्रवाहण (प्रवाहिका—अतिसार-भेद), आमविष आदि रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—महादोषकर भावों में पाँचवाँ भाव है—अजीर्ण भोजन; किन्तु यहाँ **'अजीर्णाध्यशनाभ्याम्'** पद का प्रयोग करके तन्त्रकार ने अजीर्ण और अध्यशन को समान कोटि का स्वीकार किया है। ऐसी ही स्थिति आगे 'विषमभोजन तथा अहितभोजन' की भी है। वास्तव में आगे ६ठे गद्यखण्ड में **'विषमाहिताशनाभ्याम्'** हेतु का प्रयोग किया है। ये भी समान कोटि के ही कारण हैं।

विषमाहिताशनाभ्यामनन्नाभिलाषदौर्बल्यवैवर्ण्यकण्डूपामागात्रावसादवातादिप्रकोपजाश्च ग्रहण्यर्शोविकारादयः (६);

विषम तथा अहितभोजनजनित रोग—इनके कारण भोजन के प्रति इच्छा का न होना, शरीर में दुर्बलता, शरीर के वास्तविक वर्ण का फीका पड़ जाना, खुजली, पामा (खुजली का ही एक भेद), शरीर में आदि रोग हो जाते हैं। शिथिलता, वात आदि दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले ग्रहणी, अर्श (बवासीर) आदि रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—विषम अर्थात् प्रमाण में कम या ज्यादा भोजन, जिसे विषमाशन भी कहते हैं, के कर लेने के कारण होने वाले रोग तथा अहितकर भोजन करने से होने वाले रोग। किसके लिए कौन-सा भोजन हितकर है और कौन-सा भोजन अहितकर है, यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में अहित को ही अपथ्य कहते हैं। इसका निर्णय ऋतु, काल, रोग, प्रकृति के अनुसार ही किया जा सकता है।

दिवास्वप्नादरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुत्वकण्डूपामादाहच्छर्द्यङ्गमर्दहृत्स्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्गग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्तमूत्राक्षिताताालुलेपाः (७);

दिन में सोने से होने वाले रोग—दिन में सोने से भोजन के प्रति अरुचि, भोजन का ठीक प्रकार से न पचना, जठराग्नि का नाश, अर्थात् अपने कार्य (पाचन-क्रिया) में असमर्थता, स्तैमित्य (गीले कपड़े से शरीर का ढँका रहना-सा प्रतीत होना), पाण्डुरोग, खुजली, पामा, शरीर में जलन, वमन, अंगों में मसलने की सी पीड़ा, हृदय की गति में रुकावट का आ जाना, शरीर में जड़ता (कार्य में प्रवृत्त होने की इच्छा का अभाव), तन्द्रा (उँघाई), निद्रा का अधिक आना, ग्रन्थिरोग, दुर्बलता, मूत्र तथा आँख का लाल हो जाना, तालु-प्रदेश में कफ का लिपा हुआ-सा प्रतीत होना—ये रोग पैदा हो जाते हैं।

वक्तव्य—दिन में सोने से ऊपर जिन रोगों का वर्णन किया गया है, उसके पहले आप चरक-सूत्रस्थान अध्याय २१ के श्लोक ३५ से ५१ तक की चरकचन्द्रिका व्याख्या तथा उस पर दिये गये वक्तव्यों का अध्ययन कर लें और सुश्रुत शा० अ० ४।३८-३९ को भी देख लें, तब किसी अगले निर्णय पर पहुँचें, क्योंकि सभी प्रकार के पुरुष दिन में सोने से रोगी नहीं होते हैं। ऐसी ही स्थिति आगे कहे जाने वाले मैथुन की भी है।

व्यवायादाशुबलनाशोरुसादशिरोवस्तिगुदमेढ्[1]वङ्क्षणोरुजानुजङ्घापादशूलहृदयस्पन्दननेत्रपीडाङ्गशैथिल्यशुक्रमार्गशोणितागमनकासश्वासशोणितष्ठीवनस्वरावसादकटीदौर्बल्यैकाङ्गसर्वाङ्गरोगमुष्कश्वयथुवातवर्चोमूत्रसङ्गशुक्रविसर्गजाडचवेपथुबाधिर्यविषादादयः स्युः; अवलुप्यत इव गुदः, [2]ताडचत इव मेढ्रम्, अवसीदतीव मनो, वेपते हृदयं, पीडचन्ते सन्धयः, तमः प्रवेश्यत इव च (८);

मैथुन-जनित रोग—अधिक मैथुन करने से शीघ्र ही बल (शुक्र) का नाश, ऊरुओं (टाँगों) में ढीलापन, शिर, मूत्राशय, गुदप्रदेश, मूत्रेन्द्रिय (पुरुषलिंग), वंक्षण, ऊरु, जानु, जंघा तथा पैरों में शूल, हृदय में जकड़न, आँखों में पीड़ा, शरीर के अवयवों में शिथिलता, शुक्रमार्ग से रक्त का आना, कास, श्वास, थूक के साथ खून का निकलना, स्वरभेद (गला बैठना), कटिप्रदेश में दुर्बलता, शरीर के किसी एक अंग में अथवा सभी अंगों में रोगों का उत्पन्न होना, अण्डकोषों में शोथ (सूजन), अपानवायु, मल तथा मूत्र का रुक जाना, शुक्र का अधिक निकल जाना, शरीर में जड़ता, शरीर में कँपकपी का होना, कानों से न सुनायी देना या कम सुनायी देना, विषाद (मन का दुःखी रहना) आदि रोग हो जाते हैं, गुदप्रदेश को कोई भीतर की ओर को खींच रहा हो, ऐसी पीड़ा का अनुभव होने लगता है, कोई मूत्रेन्द्रिय पर मार रहा हो, ऐसी पीड़ा होती है, मन उदासीन-सा प्रतीत होता है, हृदय मानो काँप रहा हो, ऐसा लगता है, शरीर की सभी सन्धियों में पीड़ा-सी होने लगती है तथा आँखों के सामने अँधेरा-सा छा जाता है।

वक्तव्य—स्वस्थ स्त्री-पुरुष के लिए सीमा के भीतर किया गया सहवास आनन्द का कारण होता है। यही कारण होता है कि पति पत्नी के प्रति, नायक नायिका के प्रति सदैव आकृष्ट एवं आसक्त रहते हैं, किन्तु इसके विपरीत स्थिति में किया गया सहवास (मैथुन) रोग का कारण होता है। यहाँ जो मैथुन का निषेध किया गया है, वह संशोधन करने के बाद दुर्बल हुए व्यक्तियों के लिए ही है, न कि स्वस्थ तथा ऋतुकालाभिगामी स्त्री-पुरुषों के लिए।

इत्येवमेभिरष्टभिरपचारैरेते प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः ॥ १४ ॥

इस प्रकार ऊपर कहे गये आठ महादोषकर भावों का सेवन करने से उक्त रोग रूपी उपद्रव होते हैं।

तेषां सिद्धिः-तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाहधूमनस्योपरिभक्तस्नेहपानरसक्षीरादिर्वातहरः सर्वो विधिर्मौनं च (१);

महादोषज विकारों की चिकित्सा—उच्चस्वर से बोलने से (नारेबाजी, जय-जयकार अथवा विशाल जनसमूह को सम्बोधित करने) या अधिक बोलने से पैदा होने वाले रोगों में अभ्यंग, स्वेदन (इसे दूसरे शब्दों में स्नेहन तथा स्वेदन कहा जा सकता है), उपनाह (पुल्टिस बाँधना; यह भी स्वेदन का ही एक प्रकार है), धूमपान, नस्य, भोजन कर लेने के बाद स्नेहपान (इसमें स्वरयन्त्र को सशक्त बनाने वाले औषध-सिद्ध विविध प्रकार के घृतों को पिलाया जाता है), मांसरस, दूध आदि वातनाशक सभी चिकित्सा विधियों का प्रयोग कराया जाता है और रोगी को मौन (चुप) रहने का निर्देश दिया जाता है।

वक्तव्य—इसके पूर्व महादोषज व्याधियों के निदानों का वर्णन किया गया था। अब प्रसंग-प्राप्त उनकी चिकित्सा कही जा रही है। आयुर्वेदशास्त्र में निदान-परिवर्जन, अर्थात् जिस कारण रोग हुआ हो, उसका त्याग करना यह प्रमुख चिकित्सा होती है। इसी दृष्टि से उच्चैर्भाष्य तथा अतिभाष्य की चिकित्सा है—मौन रहना। अभ्यंग (मालिश), स्वेदन, उपनाह आदि का प्रयोग स्वरयन्त्र के समीप ही करना चाहिए। धूमपान तथा स्नेहन नस्यों (षड्बिन्दु तैल आदि) का प्रयोग इसमें लाभदायक होता है। पानी मिलाया दूध अथवा भैंस का दूध वातकारक होता है, अतः इनका प्रयोग सूझ-बूझ के साथ करें, जिससे वातदोष न बढ़े। अतः वातनाशक द्रव्यों का कल्क डालकर विधिवत् पकाये गये दूध तथा घी का ही प्रयोग करें।

रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजानां स्नेहस्वेदादि वातहरं कर्म सर्वं निदानवर्जनं च (२);

१. 'वङ्क्षणोरुस्तम्भवृषणजानुजङ्घा' इति पा०।
२. 'ताम्यतीव' इति पा०।

रथक्षोभ आदि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा—रथ पर बैठकर यात्रा करने से जो शरीर पर आघात लगते हैं, अधिक चलने-फिरने तथा घूमने से जो थकावट आती है और अधिक बैठने से जो कष्ट होता है, इन कारणों से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका वर्णन ऊपर इसी अध्याय में किया गया है। उक्त सभी प्रकार के रोगों में वातदोषनाशक स्नेहन, स्वेदन आदि सभी प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिए और निदानवर्जन भी करें, अर्थात् रथ के क्षोभ से बचें, अधिक पैदल यात्रा न करें तथा अधिक देर तक एक ही आसन पर न बैठे रहें।

वक्तव्य—प्राचीन काल में रथ एक उत्तम वाहन समझा जाता था। इसीलिए इस पर बैठ कर राजा-महाराजा यात्रा करते थे। अतएव इसका विग्रह इस प्रकार किया गया है—'रम्यतेऽनेन, अत्र वा' रथः—रम्+कथन्'। बिगड़े हुए रथ, इक्का आदि की बात अलग है। हाँ, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर यदि अच्छा रथ भी चलेगा तो उसके धक्के सवारों को लगते ही हैं। उद्घातिनी भूमि पर चलने से लगने वाले आघातों का वर्णन रघुवंश, शिशुपालवध, वेणीसंहार आदि में द्रष्टव्य है। अतः रथक्षोभ से बचने का प्रयास करना ही चाहिए।

अजीर्णाध्यशनजानां निरवशेषतश्छर्दनं रूक्षः [1]स्वेदो लङ्घनीयपाचनीयदीपनीयौषधावचारणं च (३);

अजीर्ण आदि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा—अजीर्ण (जो पचा न हो) तथा अध्यशन (भोजन करने के तत्काल बाद पुनः भोजन करने) से उत्पन्न होने वाले रोगों में तब तक वमन कराना चाहिए जब तक तत्काल खाया हुआ अन्न पूर्ण रूप से न निकल जाय। तदनन्तर रूक्षस्वेद (बालू या पत्थर को गरम करके किया जाने वाला स्वेद) कराना चाहिए; उसके बाद लंघनीय, पाचनीय तथा दीपनीय औषधद्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

विषमाहिताशनजानां यथास्वं दोषहराः क्रियाः (४);

विषम आदि भोजन-जनित रोग-चिकित्सा—विषम भोजन तथा अहितकर भोजन करने से उत्पन्न होने वाले रोगों में वात आदि दोषों के अनुसार अर्थात् किस दोष का कितनी मात्रा में प्रकोप हुआ है, उसे देखकर दोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित १९४१ ई० के संस्करण में **'दोषहराः क्रियाः'** ऐसा पाठ दिया है। निर्णयसागर के १९२२ तथा १९३३ ई० के कुछ अन्य संस्करणों में भी उक्त पाठ को उद्धृत किया गया है। निर्णयसागर के संस्करणों में इसके स्थान पर **'दोषक्रियाः'** पाठ दिया है। ये सभी पाठ व्याकरण की दृष्टि से सर्वांश शुद्ध हैं और प्रयोग की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। **व्याकरण की दृष्टि से**—'हरतेरनुद्यमनेऽच्' ३।२।९। इस सूत्र से 'हृ' धातु को अच् प्रत्यय हो जाने पर इसका उगित्व नहीं रह जाता और न यह 'टित्' ही है। अतः यहाँ 'ङीप्' प्रत्यय न होकर 'टाप्' प्रत्यय होकर 'हरा' स्त्रीलिंग शब्द बनता है, न कि 'हरी'।

दिवास्वप्नजानां धूमपानलङ्घनवमनशिरोविरेचनव्यायामरूक्षाशनारिष्टदीपनीयौषधोपयोगः प्रघर्षणोन्मर्दनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः (५);

दिवास्वप्नजनित रोगों की चिकित्सा—दिन में सोने से पैदा होने वाली व्याधियों में (ये व्याधियाँ उन्हीं को होती हैं, जिन्हें दिन में सोने का निषेध किया गया है) धूमपान, लंघन (लघु भोजन या पूर्ण उपवास), वमन (उल्टी कराना), शिरोविरेचन (प्रधमन नस्य), व्यायाम (शारीरिक शक्ति से अधिक परिश्रम करना), रूक्षाशन (स्निग्धता रहित भोजन का सेवन), सभी प्रकार के अरिष्टों (आसव-भेदों) का सेवन, दीपनीय (अग्निवर्धक) औषधयोगों का प्रयोग, प्रघर्षण (शरीर पर कफनाशक चूर्णों को रगड़ना), उन्मर्दन (कफनाशक तैलों को लगाना), परिषेचन (कफनाशक क्वाथों से स्नान कराना) तथा सभी प्रकार की कफदोषहर विधियों का इसमें प्रयोग कराना चाहिए।

१. 'स्वेदो धूमपानं' इति पा०।

मैथुनजानां जीवनीयसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगः, तथा वातहराः स्वेदाभ्यङ्गोपनाहा वृष्याश्चाहाराः [1]स्नेहाः स्नेहविधयो यापनावस्तयोऽनुवासनं च; [2]मूत्रवैकृतवस्तिशूलेषु चोत्तरवस्तिर्विदारीगन्धादिगणजीवनीयक्षीरसंसिद्धं तैलं स्यात् ॥ १५ ॥

मैथुन-जनित रोगों की चिकित्सा—संशोधन करने के बाद दुर्बल शरीर वाला पुरुष यदि मैथुन करता है, तो उससे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं (जिनका वर्णन इसी अध्याय में किया जा चुका है) उन रोगों में चरक-सूत्रस्थान अ० ४ में निर्दिष्ट जीवनीयगण के दस औषधद्रव्यों से विधिपूर्वक तैयार किये गये दूध तथा घी का सेवन कराना चाहिए। वातनाशक द्रव्यों द्वारा स्वेदन, अभ्यंग (मालिश) तथा उपनाह (पुल्टिस) का प्रयोग करायें, वृष्य (वीर्यवर्धक) आहारों का सेवन करायें तथा विविध प्रकार के वातहर स्नेहों का उपयोग तथा स्नेहपान की विधियों का नियमपूर्वक पालन कराना चाहिए। इसी अध्याय में आगे कही जाने वाली यापनावस्तियों का प्रयोग तथा अनुवासनवस्तियों का प्रयोग भी कराना चाहिए।

यदि अधिक मैथुन (स्त्री-सहवास) करने के कारण मूत्र सम्बन्धी कोई विकार उत्पन्न हो जाय अथवा वस्तिप्रदेश में शूल उत्पन्न हो जाय तो विदारिगन्धादि गण (लघुपञ्चमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू) के क्वाथ तथा कल्क द्वारा विधिपूर्वक तैयार किये गये अथवा जीवनीयगण के दस द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क द्वारा सिद्ध किये गये तथा दूध से पकाये गये तैल की उत्तरवस्ति देनी चाहिए।

वक्तव्य—विदारिगन्धादि गण को सुश्रुत सू० अ० ३८।४-५ में भी उद्धृत किया गया है, किन्तु उसके द्रव्यों की संख्या इससे अधिक है। यह वात-पित्तनाशक, शोष, गुल्म, अंगमर्द, ऊर्ध्वश्वास तथा कासरोग को दूर करता है। इस नाम से अनेक गण प्रसिद्ध हैं, आप देखने का प्रयत्न करें—वैद्यकनिघण्टु, राजनिघण्टु व० ७ तथा अ० सं० सू० अ० १५।

यापनाश्च वस्तयः सर्वकालं देयाः; तानुपदेक्ष्यामः—मुस्तोशीरबलारग्वधरास्नामञ्जिष्ठाकटुरोहिणीत्रायमाणापुनर्नवाबिभीतकगुडूचीस्थिरादिपञ्चमूलानि पलिकानि खण्डशः क्लृप्तान्यष्टौ च मदनफलानि प्रक्षाल्य जलाढके परिक्वाथ्य पादशेषो रसः क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तः पुनः शृतः क्षीरावशेषः दजाङ्गलरसस्तुल्यमधुघृतः शतकुसुमामधुककुटजफलरसाञ्जनप्रियङ्गुकल्कीकृतः ससैन्धवः सुखोष्णो वस्तिः शुक्रमांसबलजननः क्षतक्षीणकासगुल्मशूलविषमज्वरब्रध्न(वर्ध्म)कुण्डलोदावर्तकुक्षिशूलमूत्रकृच्छ्रासृग्रजोविसर्पप्रवाहिकाशिरोरुजाजानूरुजङ्घावस्तिग्रहाश्मर्युन्मादार्शःप्रमेहाध्मानवातरक्तपित्तश्लेष्मव्याधिहरः सद्यो बलजननो रसायनश्चेति (१);

यापनावस्तियों का प्रयोग—यापना-वस्तियाँ सभी कालों (ऋतुओं) में दी जा सकती हैं। उन वस्तियों का हम यहाँ उपदेश कर रहे हैं।

मुस्तादि यापना-वस्ति—नागरमोथा, खश, बरियारा की जड़, अमलतास की गुद्दी, रास्ना, मजीठ, कुटकी, त्रायमाणा, पुनर्नवा, बहेड़ा, गुरुच, स्थिरादि पञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटीकटेरी, बड़ीकटेरी, गोखरू), इन सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में लेकर जौकुट करके रख लें, आठ मैनफलों को लेकर टुकड़े कर सबको अच्छी तरह धो लें। इनको १ आढक (२५६ तोला) जल में डालकर विधिवत् क्वाथ करें। जब पकते-पकते चतुर्थांश जल शेष रह जाय तो उसे उतार कर छान लें, उस क्वाथरस में २ प्रस्थ (१२८ तोला) गाय का दूध मिलाकर उसे पुनः पकायें, जब दूध मात्र शेष रह जाय तो उसे उतारकर रख लें। उस दूध में से चतुर्थांश भाग ३२ तोला दूध लें, उतना ही जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस लें तथा उसी के बराबर अलग-अलग मधु तथा घी मिला दें। उसके बाद शतकुसुमा (सोया), मुलेठी, कुटज फल (इन्द्रजौ), रसाञ्जन (रसवत), प्रियंगु, सैंधानमक इन सबको लेकर आवश्यकतानुसार इनका कल्क बनाकर सबको एक साथ भली-भाँति मिलाकर गुनगुना करके वस्ति का प्रयोग करें।

फलश्रुति—इसका प्रयोग करने से शुक्र, मांस तथा बल की वृद्धि होती है। इससे क्षतक्षीण (उरःक्षत के कारण कमजोर), कास, गुल्म, उदरशूल, विषमज्वर, ब्रध्न(वृद्धि)रोग, वस्तिकुण्डल अथवा वातकुण्डल, उदावर्त,

१. 'स्नेहाः' इति हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते। २. 'मूत्रकृच्छ्रवस्तिशूलेषु' इति पा०।

कुक्षिशूल, मूत्रकृच्छ्र, रक्तजनित विकार, रजोविकार, विसर्प, प्रवाहिका, शिरःशूल, जानुशूल, ऊरुशूल, जंघाशूल, वस्तिग्रह, अश्मरी (पथरी), उन्माद, अर्श (बवासीर), प्रमेह, आध्मान (अफारा), वातरक्त तथा पित्तज एवं कफज रोगों का नाश होता है। इसका सेवन करने से शीघ्र ही बल की तथा रसायन-औषधों के सेवन से होने वाले गुणों की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने इन यापना-वस्तियों का प्रयोग सदैव किया जाता है, ऐसी आज्ञा देकर सांकेतिक भाषा द्वारा यह भी निर्देश कर दिया है, कि निरूह तथा अनुवासनवस्तियों का प्रयोग सदैव नहीं करना चाहिए, ऐसा विचार इन्होंने पहले भी दिया है।

यापना की निरुक्ति—'आयुषो यापनं, दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वन्तीति, यापनावस्तयः। उक्त यापना-वस्ति में जो कल्क-निर्माण की मात्रा कही गयी है, वह वस्ति द्रव का बारहवाँ भाग होना चाहिए। इसका विशेष विवेचन चरक-सिद्धिस्थान अ० ८ में देखें। वातकुण्डल या वस्तिकुण्डल रोग का विस्तृत वर्णन क्रमशः चरक सिद्धिस्थान अ० ९।४० तथा ४४-४९ में देखें। श्रीजयदेव ने वृद्धवाग्भट के वचनों से प्रभावित होकर अपनी टीका में उनके वचनों को उद्धृत करते हुए चरकसंहिता में दी गयी 'मुस्तादियापनावस्ति' में पाठा और एरण्ड ये दो द्रव्य कम हैं, ऐसा लिखा है; किन्तु इस विचार को ठीक मान लेना अत्यन्त भ्रामक होगा, क्योंकि दोनों ही स्वतन्त्र संहिताकार हैं, उसमें भी पूर्ववर्ती संहिताकार का अधिक महत्त्व होता ही है। तुलना के लिए देखें—अ० सं० क० अ० ५।२०-२५।

एरण्डमूलपलाशात् षट्पलं शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका गोक्षुरको रास्नाऽश्वगन्धा गुडूची वर्षाभूरारग्वधो देवदार्विति पलिकानि खण्डशः क्लृप्तानि फलानि चाष्टौ प्रक्षाल्य जलाढके क्षीरपादे पचेत्। पादशेषं कषायपूतं [1]शतकुसुमाकुष्ठमुस्तपिप्पलीहपुषाबिल्ववचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानिप्रक्षेपकल्कितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रीन् वा दद्यात्। सर्वेषां प्रशस्तो विशेषतो ललितसुकुमारस्त्रीविहारक्षीणक्षतस्थविर[2]चिराशंसामपत्यकामानां च (२);

एरण्डमूलादि यापना-वस्ति—रेंड़ की जड़ तथा पलाश (ढाक) की छाल ६ पल अर्थात् प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल (१२-१२ तोला), शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ीकटेरी), कण्टकारिका (छोटीकटेरी), गोखरू (इसे लघुपञ्चमूल कहते हैं), रास्ना, असगन्ध, गुरुच, पुनर्नवा, अमलतास की गुद्दी, देवदारु—इन ग्यारह द्रव्यों को एक-एक पल (४-४ तोला) लेकर इन्हें जौकुट कर लें, आठ संख्या में मैनफलों को लेकर टुकड़े कर जल से धोकर १ आढक (२५६ तोला) जल और उससे चौथाई (१ प्रस्थ) गाय के दूध में मिलाकर उक्त द्रव्यों को क्वाथ-विधि से पकायें। जब उक्त क्वाथद्रव चतुर्थांश शेष रह जाय तब उसे छानकर उसमें सोया, कूठ, नागरमोथा, पिप्पली, हाऊबेर, बेल की गुद्दी, वच, वत्सकफल (इन्द्रजौ), रसवत, प्रियंगु, अजवाइन—इन सब द्रव्यों को लेकर आवश्यकतानुसार कल्क बनाकर मिला दें और उसी में मधु, घी, तेल, सैंधानमक डालकर भली-भाँति मिलाकर गुनगुने द्रव से एक, दो या तीन निरूहवस्तियाँ देनी चाहिए। यह एरण्डमूलादि यापना-वस्ति सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए हितकर होती है, विशेष करके ललित, सुकुमार, स्त्री-सहवास करते रहने के कारण जो पुरुष क्षीण हो गये हैं, जिन्हें उरःक्षत हो गया है, जो वृद्ध हो चुके हैं, जो चिरकाल से अर्श के रोगी हैं और जो सन्तान-प्राप्ति के इच्छुक हैं, उनके लिए हितकर होती है।

वक्तव्य—निरूहवस्ति-प्रकरण च० सि० अ० ३ में कल्क, मधु, घृत, सैंधानमक आदि की मात्रा का निर्देश किया जा चुका है। यहाँ भी उसी का अनुसरण करना चाहिए। श्रीजयदेव ने यहाँ एक दूसरे पाठ की कल्पना की है, वह पाठ इस प्रकार है—'शालिपर्णीबृहतीकण्टकारिकाः पलिकाः खण्डशः क्लृप्ताः क्षीराढके पचेत्, पादशेष शतकुसुमादिकल्कितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रीन् वा दद्यात्। स सर्वेषां प्रशस्तो विशेषतो ललितसुकुमारस्त्रीविहारक्षीणक्षतस्थविरचिरार्शसामपत्यकामानां च'। वे निर्णयसागरीय प्रतियों में उपलब्ध पाठ को प्रामादिक मानते हैं। उनका कथन है कि यह पाठ चरक-सिद्धिस्थान अ० ३ में थोड़े से भेद से पढ़ा गया है, वहाँ क्वाथ्य द्रव्यों में केवल 'अतिबला' द्रव्य अधिक है। वे कहते हैं कि यदि हम इसे योगान्तर भी स्वीकार

१. 'शतकुसुमादिकल्कितं' इति पा०।
२. 'चिरार्शोमूत्रकृच्छ्रोदरगुल्मवर्ध्मोदावर्तग्रहणीदोषाश्मरीणां हितोऽपत्यकामानां च' इति पा०।

कर लें तो चक्रपाणि अपनी टीका में 'शालिपर्णीत्यादिर्द्वितीयः' न कहकर 'एरण्डमूलेत्यादिर्द्वितीयः' कहते। श्रीजयदेव की यह आपत्ति विचारणीय है। मेरे पास उपलब्ध अनेक स्थानों से प्रकाशित संस्करणों में वह पाठ नहीं है, जिसे श्रीजयदेव ने उद्धृत किया है। बंगीय संस्करणों में यदि यह पाठ उपलब्ध हो तो उनकी बात ठीक हो सकती है। जहाँ तक च० सि० अ० ३।३८ से ४२ तक में दिया हुआ पाठ है, वह इससे मिलता-जुलता अवश्य है, परन्तु उसकी अपनी विशेषताएँ हैं, आप भी सावधानी से देखें। उसमें इस योग से अनेक द्रव्य भिन्न हैं और उक्त योग में अनेक द्रव्यों का अभाव तथा कुछ द्रव्य विशेष भी हैं। इस प्रकार देखने पर आपको अन्य अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे जो अधिकांश समान होंगे, उनकी अपने स्थान पर विशेष उपयोगिता होगी। आप ध्यान दें—वहाँ वह निरूहवस्ति के रूप में प्रयुक्त है और यहाँ यह सर्वकालोपयोगी यापनावस्ति के रूप में दी गयी है।

श्रीजयदेव ने चक्रपाणि की टीका के जिस उद्धरण को अपने द्वारा उद्धृत पाठ को समर्थन देने की इच्छा से उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—वे कहते हैं कि यदि निर्णयसागरीय पाठ को श्रीचक्रपाणि मान्यता देते तो वे 'एरण्डमूलेत्यादिर्द्वितीयः' लिखते, न कि 'शालिपर्णीत्यादिर्द्वितीयः' लिखते। यह पकड़ श्रीजयदेव की अपने पाठ के समर्थन में अच्छी थी, परन्तु आप देखें—सन् १९२२ के संस्करण में श्रीचक्रपाणि ने 'शालिपर्णिकादिर्द्वितीयः' उद्धृत किया है और १९४१ के संस्करण में 'एरण्डमूलेत्यादिर्द्वितीयः' टीका दृष्टिगोचर होती है। आश्चर्य यह है कि मूल पाठ उक्त दोनों संस्करणों में समान है।

तद्वत् सहचरबलादर्भमूलसारिवासिद्धेन पयसा (३);

सहचरादि यापना-वस्ति—उसी प्रकार सहचर (कटसरैया), बरियारा की जड़, दर्भ (डाभ) की जड़ तथा सारिवा (अनन्तमूल) इन द्रव्यों के कल्क से पकाये गये दूध में मधु, घृत तथा सेंधानमक मिलाकर वस्ति देनी चाहिए।

तथा बृहतीकण्टकारीशतावरीच्छिन्नरुहाभृतेन पयसा मधुकमदनपिप्पलीकल्कितेन पूर्ववद् वस्तिः (४);

बृहत्यादि यापना-वस्ति—बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, शतावर तथा गुरुच के क्वाथ तथा मुलेठी, मैनफल, पिप्पली इनके कल्क द्वारा विधिपूर्वक पकाये गये गाय के दूध में मधु, घी, तेल, सेंधानमक मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। वस्तिद्रव का प्रयोग करते समय उसे गुनगुना होना चाहिए। इसके गुण भी उपर्युक्त वस्तियों के समान ही समझना चाहिए।

तथा बलातिबलाविदारीशालिपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकादर्भमूलपरूषककाश्मर्यबिल्वफलयवसिद्धेन पयसा मधुकमदनकल्कितेन मधुघृतसौवर्चलयुक्तेन कासज्वरगुल्मप्लीहार्दितस्त्रीमद्यक्लिष्टानां सद्योबलजननो रसायनश्च (५);

प्रथम बलादि यापना-वस्ति—बरियारा की जड़, अतिबला, विदारीकन्द, शालिपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन), बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, डाभ की जड़, फालसा, गम्भार की छाल, बेल की गुद्दी, जौ इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर आवश्यकतानुसार इनका कल्क तैयार करें। इस कल्क द्वारा पकाये गये गाय के दूध में मुलेठी तथा मैनफल का कल्क, मधु, घृत तथा पिसा हुआ सोंचरनमक मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। इसके प्रयोग से कास, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, अर्दित (मुख-प्रदेश का लकवा) रोग शान्त हो जाते हैं तथा अधिक स्त्री-सहवास करने एवं अधिक मद्यपान करने से पीड़ित पुरुषों को शीघ्र बल देने वाली तथा रसायनगुणों को देने वाली यह वस्ति होती है।

बलातिबलारास्नारग्वधमदनबिल्वगुडूचीपुनर्नवैरण्डाश्व[1]गन्धासहचरपलाशदेवदारुद्विपञ्चमूलानि पलिकानि यवकोलकुलत्थद्विप्रसृतं [2]शुष्कमूलकानां च जलद्रोणसिद्धं निरूहप्रमाणावशेषं कषायं पूतं मधुकमदनशतपुष्पाकुष्ठपिप्पलीवचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानीकल्कीकृतं गुडघृततैलक्षौद्रक्षीर-

१. 'सुमना' इति पा०।

२. 'शुष्कमूलकानि च पलिकानि' इति पा०।

मांसरसाम्लकाञ्जिकसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं वस्ति दद्याच्छुक्रमूत्रवर्चःसङ्गेऽनिलजे गुल्महृद्रोगाध्मानब्रध्नपार्श्वपृष्ठकटीग्रहसंज्ञानाशबलक्षयेषु च (६);

द्वितीय बलादि यापना-वस्ति—बला (बरियारा) की जड़, अतिबला, रास्ना, अमलतास की गुद्दी, मैनफल, बेल की गुद्दी, गुरुच, पुनर्नवा, एरण्डमूल, असगन्ध, सहचर (कटसरैया), पलाश (ढाक) की छाल, देवदारु, दोनों पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार, पाढल, गनियारी। लघुपञ्चमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=बड़ीकटेरी, कण्टकारी=छोटीकटेरी, गोखरू), इन सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ पल (४-४ तोला) लें। जौ, कोल (बेर), कुलथी तथा सूखी मूली इन द्रव्यों को अलग-अलग दो-दो प्रसृत (१६-१६ तोला) लें। इन सबको उक्त मात्रा में लेकर जौकुट कर लें, तदनन्तर इन्हें १ द्रोण (१२ सेर १२ छटाँक ४ तोला) जल में क्वाथ-विधि से पकायें, शेष उतना ही रखें जितना एक बार में वस्ति द्वारा प्रयोग किया जा सके, उस क्वाथरस को छानकर उसमें मुलेठी, मैनफल, सोया, कूठ, पिप्पली, वच, इन्द्रजौ, रसवत, प्रियंगु तथा अजवाइन का कल्क आवश्यकतानुसार मिला दें, उसी में गुड़, घी, तेल, मधु, गाय का दूध, मांसरस, खट्टी काँजी, सेंधानमक मिलाकर गुनगुना रहने पर वस्ति देनी चाहिए। विलोमवायु के कारण जब शुक्र, मूत्र तथा मल के निकलने में रुकावट हो तब इसका प्रयोग करना चाहिए, साथ ही गुल्मरोग, हृदयरोग, आध्मान (अफारा), ब्रध्न (वृद्धि) रोग, पसलियों, पीठ एवं कमर के जकड़ जाने पर, संज्ञानाश (बेहोशी), शारीरिक बल का क्षय होने पर करना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि सामान्य निरूहवस्ति की मात्रा १२ प्रसृत अर्थात् ९६ तोला होती है। इसका निर्देश तन्त्रकार चरक-सिद्धिस्थान अध्याय ३ में कर चुके हैं। इस विषय को वहाँ विस्तारपूर्वक चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें, किन्तु यहाँ विशेष विधि का विधान किया गया है। अर्थात् जितना द्रव आपको वस्ति द्वारा एक बार में देना हो अथवा अधिक से अधिक तीन बार में देना हो, उतना ही शेष रखना चाहिए, निश्चय ही यह विधि गुणों की दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती है।

हपुषार्धकुडवो द्विगुणार्धक्षुण्णयवः क्षीरोदकसिद्धः क्षीरशेषो मधुघृततैललवणयुक्तः सर्वाङ्गविसृतवातरक्तसक्तविण्मूत्रस्त्रीखेदितहितो वातहरो बुद्धिमेधाग्निबलजननश्च (७);

हपुषादि यापना-वस्ति—आधा कुडव (८ तोला) हाऊबेर, इससे दूने कुटे हुए जौ, अर्थात् ऐसे जौ लें जिनके दो-दो टुकड़े कर दिये गये हों, इन्हें चौगुने दूध और जल में डालकर पकायें। यहाँ चौगुने से तात्पर्य है कि दो भाग दूध और उतना ही पानी होना चाहिए। जब पानी जलकर केवल दूध शेष रह जाय, तब उसे छानकर रख लें, तब उसमें मधु, घी, तेल, सेंधानमक मिलाकर जब द्रव पदार्थ गुनगुना हो तभी वस्ति का प्रयोग करा दें। इसके प्रयोग से सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ वातरक्त-विकार तथा मल, मूत्र की रुकावट दूर हो जाती है। अत्यधिक स्त्री-सहवास करने से क्षीण हुए पुरुषों के लिए यह लाभदायक होती है, सभी प्रकार के वात-विकारों का शमन करती है तथा बुद्धि, धारणाशक्ति एवं अग्नि के बल को बढ़ाने वाली होती है।

ह्रस्वपञ्चमूलीकषायः क्षीरोदकसिद्धः पिप्पलीमधुकमदनकल्कीकृतः सगुडघृततैललवणः क्षीणविषमज्वरकर्शितस्य वस्तिः (८);

लघुपञ्चमूलादि यापना-वस्ति—लघुपञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=बड़ी कटेरी, कण्टकारिका=छोटी कटेरी, गोखरू), इन द्रव्यों को दूध और जल में पकाकर क्वाथ तैयार करें। (यहाँ दूध और जल को मिलाकर क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा से चौगुना लेना चाहिए), पकते-पकते जब दूध मात्र शेष रह जाय, तब उसे छानकर रख लें। उसमें पिप्पली, मुलेठी तथा मैनफल का कल्क, गुड़, घी, तेल, सेंधानमक मिलाकर गुनगुना रहने पर वस्ति देनी चाहिए। इस वस्ति के प्रयोग से किसी भी कारण से क्षीण हुआ पुरुष पुनः स्वास्थ्य-लाभ करता है तथा विषमज्वर के कारण कृश हुए पुरुष की दुर्बलता भी इससे दूर हो जाती है।

बलातिबलापामार्गात्मगुप्ताष्टपलार्धक्षुण्णयवाञ्जलिकषायः सगुडघृततैललवणयुक्तः पूर्ववद् वस्तिः स्थविरदुर्बलक्षीणशुक्ररुधिराणां पथ्यतमः (९);

तृतीय बलादि यापना-वस्ति—बरियारा की जड़, अतिबला, अपामार्ग की जड़, किवाँच के बीज—इन चारों द्रव्यों को दो-दो पल (८-८ तोला) की मात्रा में कुल मिलाकर ८ पल (३२ तोला) लें, अधकुटे जौ १ अंजलि (१६ तोला) इन सब द्रव्यों को लेकर जौकुट करके पहले की भाँति दूध और जल मिलाकर इस चौगुने द्रव को क्वाथविधि से पकायें। जब दूध मात्र शेष रह जाय तब उसे उतारकर छान लें। इस क्वाथरस में गुड़, घी, तेल, सेंधानमक मिलाकर गुनगुना रहने पर पूर्ववत् वस्ति का प्रयोग करें। इसका प्रयोग वृद्धों, दुर्बलों, क्षीणशुक्र तथा क्षीणरक्त वाले पुरुषों के लिए अत्यन्त हितकर होता है।

वक्तव्य—ऊपर दो योगों में दूध तथा जल मिलाकर पाक करने की अनुमति दी गयी है। ऐसी स्थिति में १ भाग दूध और ३ भाग जल मिलाना चाहिए। जब दूध मात्र शेष रह जाय तब उसे उतारकर छानकर उपयोग में लाना चाहिए। क्या ये 'तृतीय तथा चतुर्थ बलादि यापनावस्तियाँ', वाले गद्य मूलरूप में प्रथम तथा द्वितीय बलादि यापनावस्तियों के बाद तो नहीं पढ़े गये थे? यह मेरा स्वतन्त्र विचार है।

बलामधुकविदारीदर्भमूलमृद्वीकायवैः क्वाथमाजेन पयसा पक्त्वा मधुकमदनकल्कितं समधुघृतसैन्धवं ज्वरार्तेभ्यो वस्तिं दद्यात् (१०);

चतुर्थ बलादि यापना-वस्ति—बरियारा की जड़, मुलेठी, विदारीकन्द, डाभ की जड़, मुनक्का, जौ—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर जौकुट कर यथाविधि क्वाथ बनायें। इस क्वाथ को छानकर पुनः बकरी का दूध डालकर पकायें, जब कषायरस जलकर दूध मात्र शेष रह जाय तब उसमें मुलेठी और मैनफल का कल्क, मधु, घी, पिसा हुआ सेंधानमक मिलाकर उस गुनगुने द्रव की वस्ति दें। यह वस्ति ज्वर-पीड़ितों के लिए हितकर होती है।

शालिपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरकमूलकाश्मर्यपरूषकखर्जूरफलमधुकपुष्पैरजाक्षीरजलप्रस्थाभ्यां सिद्धः कषायः पिप्पलीमधुकोत्पलकल्कितः सघृतसैन्धवः क्षीणेन्द्रियविषमज्वरकर्शितस्य वस्तिः शस्तः (११);

शालिपर्ण्यादि यापनावस्ति—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू की जड़, गम्भार की छाल, फालसा, खजूर का फल, महुआ का फूल, इन सभी द्रव्यों को समानभाग लेकर जौकुट करके १ प्रस्थ (६४ तोला) बकरी के दूध तथा पानी में डालकर क्वाथविधि से उसे पकायें, जब पानी जलकर केवल दूध शेष रह जाय तब उसे छानकर उसमें पिप्पली, मुलेठी, नीलकमल इन द्रव्यों को आवश्यकतानुसार लेकर इनका कल्क तैयार कर उसी में मिला दें और उसमें घी तथा सेंधानमक पीसकर मिला दें। गुनगुना रहते इसकी वस्ति दें। इसके प्रयोग से जिसकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी हैं, वे अपने-अपने कार्य में सक्षम हो जाती है और जो रोगी विषमज्वर के कारण कृश हो गये हैं, उनके लिए भी यह वस्ति लाभकारक होती है।

स्थिरादिपञ्चमूलीपञ्चपलेन शालिषष्टिकयवगोधूममाषपञ्चप्रसृतेन छागं पयः शृतं पादशेषं कुक्कुटाण्डरससममधुघृतशर्करासैन्धवसौवर्चलयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो [1]बलवर्णजननश्च इति यापनावस्तयो द्वादश ॥ १६ ॥

स्थिरादि यापना-वस्ति—स्थिरादि पञ्चमूल (इसे लघुपञ्चमूल भी कहते हैं। द्रव्य—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू) इन्हें पाँच पल (२० तोला) लें, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य को १-१ पल (४-४ तोला) लें। शालिचावल, साठी के चावल, जौ, गेहूँ, उड़द पाँच प्रसृत (४० तोला अर्थात् प्रत्येक द्रव्य ८-८ तोला) इन सभी द्रव्यों को उक्त परिमाण में लेकर जौकुट करके चौगुने बकरी के दूध में डालकर पकायें, चतुर्थांश शेष रहने पर उसे उतारकर छानकर रख लें। उस क्वाथरस में मुर्गी के अंडों का रस और उस रस के बराबर मधु, घी, चीनी, पिसा हुआ सेंधानमक तथा सोंचरनमक भली-भाँति मिला दें। इसका प्रयोग गुनगुना रहते ही करें। यह अत्यन्त वीर्यवर्धक होती है। इससे शारीरिक बल तथा सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ तक बारह यापनावस्तियों का वर्णन कर दिया गया है।

१. 'बलमांसजननश्च' इति पा०।

कल्पश्चैष शिखिगोनर्दहंससारसाण्डरसेषु स्यात् ॥ १७ ॥

तीन अन्य यापना-वस्तियाँ—ऊपर स्थिरादि यापनावस्ति में मुर्गी के अण्डों के रस का जो विधान कहा गया है, उसी के अनुसार मोर, गोनर्द, हंस इनके अण्डों के रसों का भी प्रयोग समझना चाहिए। ऊपर १२ यापनावस्तियों का विशद वर्णन किया जा चुका है। यहाँ मोर आदि के अण्डों के रस से तीन वस्तियों का सूत्ररूप में और विधान किया गया गया है। इस प्रकार ये कुल मिलाकर १५ यापनावस्तियाँ हो जाती हैं।

१. **मयूराण्डरस यापना-वस्ति**—लघुपञ्चमूल के द्रव्यों तथा शालि, षष्टिक, जौ, गेहूँ, उड़द इनको उक्त परिमाण में लेकर इनको दूध में पकाकर उसमें मोर के अण्डे का रस, मधु, घी, चीनी, सेंधानमक, सोंचरनमक मिलाकर वस्ति दें।

२. **गोनर्दाण्डरस यापना-वस्ति**—मयूराण्डरस यापनावस्ति की भाँति उक्त द्रव्यों का उसी परिमाण में ग्रहण कर गोनर्द पक्षी के अण्डे का रस मिलाकर मधु आदि द्रव्यों को भी उसी में डालकर वस्ति दें।

३. **हंसाण्डरस यापना-वस्ति**—मयूराण्डरस यापनावस्ति की भाँति उक्त द्रव्यों का ग्रहण कर उसमें हंस पक्षी के अण्डे का रस मिलाकर मधु आदि द्रव्यों को भी उसी में डालकर वस्ति प्रयोग करें।

वक्तव्य—सर्वसाधारण समाज मयूर तथा हंस को पहचानता है; गोनर्द का परिचय अपेक्षित है। कुछ टीकाकार इस पक्षी को गाय या साँड़ की भाँति शब्द करने वाला लिखते हैं, जो इसका यौगिक अर्थ है। किन्तु इससे स्पष्ट परिचय प्राप्त नहीं होता है। मेदिनीकोषकार ने पक्षि-विशेष लिखकर सन्तोष कर लिया है। श्रीचक्रपाणि ने च० सू० अ० २७।४९ में इसे घोड़ाकंक की संज्ञा देकर इसकी गणना विष्किर पक्षियों में की है। चूंकि यहाँ गोनर्द शब्द पक्षियों के बीच में पढ़ा गया है, अतः इसे पक्षी मानना अधिक उचित है, क्योंकि उसके अण्डों का रस लेना है, अन्यथा यह 'केवटीमोथा' का भी अन्यतम पर्याय है। श्रीचक्रपाणि इन तीन वस्तियों को 'आतिदेशिक' मानते हैं। अतः हम यहाँ अतिदेश शब्द को परिभाषित कर रहे हैं। **अतिदेश**—'अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः'। मीमांसा। अथवा—'अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्स्नाया धर्मसंहतेः। अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते' ॥ यथा—'गो सदृशो गवयः'। यह रूपातिदेश या सादृश्य का निदर्शन है। श्रीजयदेव ने अपने संस्करण में उक्त मूल का पाठभेद इस प्रकार दिया है—'गोनर्दसारसहंसाण्ड'।

इस प्रकरण के सोलहवें गद्य में 'कुक्कुटाण्डरस' तथा सत्रहवें गद्य में 'शिखिगोनर्दहंसाण्डरस' का उल्लेख किया गया है। यह व्याकरण की दृष्टि से सर्वथा उपपन्न है। किन्तु इसे देखकर मुर्गे का अण्डा इस प्रकार का हिन्दी में जो प्रयोग होता है, वह वैसा ही अनुचित है, जैसे भैंसा का दूध। व्याकरण के अनुसार उक्त शब्दों की स्थिति इस प्रकार है—'कुक्कुट्याः अण्डम्' ऐसा विग्रह करने पर 'कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु'। वा० ३९३४। इस वार्तिक से कुक्कुटी शब्द को पुंवद्भाव हो जानेपर 'कुक्कुटाण्डम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसे सिद्धान्तकौमुदी के बहुव्रीहिसमास-प्रकरण में देखें। इसी प्रकार शिख्यण्डम्, गोनर्दाण्डम्, हंसाण्डम् प्रयोग भी सिद्ध होंगे। व्याकरण में स्त्रीलिङ्ग शब्दों का पुंवद्भाव होना लोकव्यवहार का ही प्रभाव है। साहित्यशास्त्र एवं कामशास्त्र में स्त्री के पुरुषायितरमण की अनेक चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं। आयुर्वेदशास्त्र में यह प्रवृत्ति निन्द्य है, किन्तु लोकप्रवृत्तियाँ भले ही निन्द्य हों अथवा स्तुत्य हों, वे जीवित तो रहती ही हैं। भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से नारी के क्षणिक पुंवद्भाव की एक विलक्षण घटना का उल्लेख किया है। देखें—सु० शा० अ० २।४७। इस प्रसंग में इसी अध्याय के श्लोक ४२ तथा ४३ का भी अवलोकन कर लें, जिससे आपको व्याकरणशास्त्र के सार्वभौम स्वरूप का ज्ञान हो सके।

सतित्तिरिः समयूरः [1]सराजहंसः पञ्चमूलीपयःसिद्धः शतपुष्पामधुकरास्नाकुटजमदनफलपिप्पलीकल्को घृततैलगुडसैन्धवयुक्तो वस्तिर्बलवर्णशुक्रजननो रसायनश्च (१);

बल-वर्ण-शुक्र-कारक वस्तियाँ—तीतर, मोर, राजहंस इन प्रत्येक पक्षियों के अलग-अलग मांस तथा लघुपञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=बड़ीकटेरी, कण्टकारिका=छोटीकटेरी, गोखरू), इन द्रव्यों के क्वाथ द्वारा पकाये गये बकरी के दूध में सोया, मुलेठी, रास्ना, इन्द्रजौ, मैनफल तथा पिप्पली का कल्क,

१. 'सपाकहंसः' इति पा०।

घी, तेल, गुड़, सेंधानमक भली-भाँति मिला दें। गुनगुना रहने पर इसे वस्ति-यन्त्र में भरकर प्रयोग करें। इनमें से किसी का भी सेवन करने से शरीर में बल, वर्ण तथा शुक्र की उत्पत्ति होती है। ये वस्तियाँ रसायन गुणों को देती हैं।

वक्तव्य—अमरसिंह ने राजहंसों का परिचय इस प्रकार दिया है—'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः'। अमरकोष २।५।२४। अर्थात् जिनके चरण (पंजे) लाल हों और शरीर सफेद (उज्ज्वल) हो उन्हें राजहंस कहते हैं।

द्विपञ्चमूलीकुक्कुटरससिद्धं पयः पादशेषं पिप्पलीमधुकरास्नामदनकल्कं शर्करामधुघृतयुक्तं स्त्रीष्वतिकामानां बलजननो वस्तिः (२);

द्विपञ्चमूलादि वस्ति—दोनों पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल—बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार की छाल, पाढल, गनियारी। लघुपञ्चमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=बड़ीकटेरी, कण्टकारिका=छोटीकटेरी, गोखरू), इन दस द्रव्यों का कल्क तथा मुर्गी के अण्डों के रस से चौगुना गाय के दूध का विधिवत् पाक करें। जब वह पकते-पकते चतुर्थांश शेष रह जाय, तब उसे छानकर रख लें। उसमें पिप्पली, मुलेठी, रास्ना, मैनफल का आवश्यकतानुसार कल्क बनाकर मिला दें और उसमें चीनी, मधु, घी मिलाकर गुनगुना हो जाने पर वस्ति दें। इसके प्रयोग से स्त्रियों की अधिक कामना करने वाले पुरुषों को बल (शुक्र) की प्राप्ति होती है। अर्थात् यह वस्ति उत्तम वीर्यवर्धक होती है।

[1]मयूरमपित्तपक्षपादास्यान्त्रं स्थिरादिभिः पलिकैः सजले पयसि पक्त्वा क्षीरशेषं मदनपिप्पली-विदारीशतकुसुमामधुककल्कीकृतं मधुघृतसैन्धवयुक्तं वस्तिं दद्यात् स्त्रीष्वतिप्रसक्तक्षीणेन्द्रियेभ्यो बलवर्णकरम् (३);

मयूरादि-वस्ति—पित्त, पंख, पाद (पंजे), मुख (चोंच) तथा आँतों से रहित मोर का मांस, स्थिरादि वर्ग के प्रत्येक औषधद्रव्य (लघुपंचमूल—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारिका, गोखरू) को १-१ पल (४-४ तोला) की मात्रा में लेकर जलमिश्रित गाय के दूध में डालकर क्वाथविधि से पाक करें (यहाँ क्वाथ्य द्रव्य से द्रव की मात्रा चौगुनी होनी चाहिए)। जब पकते-पकते दूध मात्र शेष रह जाय तब उसे छानकर, उसमें मैनफल, पिप्पली, विदारीकन्द, सोया तथा मुलेठी इन द्रव्यों का आवश्यकतानुसार कल्क तैयार कर उसमें मधु, घी, सेंधानमक डालकर भली-भाँति मिलाकर जब गुनगुना हो जाय तब उसे वस्ति में भरकर प्रयोग करायें। इसके प्रयोग से जो मनुष्य मैथुन-क्रिया में अत्यन्त आसक्त होते हैं और अत्यन्त स्त्री-सहवास करने से जिनकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी हैं, उन्हें लाभ होता है और इससे शारीरिक बल तथा वर्ण की वृद्धि होती है।

कल्पश्चैव विष्किरप्रतुदप्रसहाम्बुचरेषु स्यात्; अक्षीरो रोहितादिषु च मत्स्येषु (४);

विष्किरादि प्राणिज वस्तिकल्प—इसके पहले गद्य खण्ड द्वारा जो मोर के मांस से वस्ति-निर्माण की विधि कही गयी है, तदनुसार विष्किर, प्रतुद, प्रसह, अम्बुचर वर्गों में कहे गये प्राणियों के पृथक्-पृथक् मांसरस से बनायी गयी वस्तियों का प्रयोग भी करना चाहिए। ये सभी वस्तियाँ वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा रसायनगुणों से सम्पन्न होती हैं। रोहित आदि मछलियों के मांस से भी वस्तियों का निर्माण किया जाता है, क्योंकि ये जलचर होती हैं। इनके मांसरस से बनायी जाने वाली वस्तियों में दूध का प्रयोग (मिश्रण) नहीं करना चाहिए।

वक्तव्य—यहाँ विष्किर आदि प्राणियों के मांसरसों से वस्ति-कल्पना का निर्देश करते हुए तन्त्रकार ने रोहित आदि मत्स्यमांसों से निर्माण की जाने वाली वस्तियों में दूध डालने या मिलाने का जो निषेध किया है, उसका कारण है—'संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः, स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते। तद्यथा—मधुसर्पिषोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः'। च० वि० अ० १।२२। इसका विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें। यहाँ विष्किर आदि प्राणियों के मांसों से ११५ प्रकार की वस्तियों के निर्माण का निर्देश किया गया है।

---

1. 'मयूरमपक्षतुण्डं' इति पा०।

२०. **विष्किरवर्ग के प्राणी**—१. लाव, २. वर्तीरक, ३. वार्तीक, ४. कपिञ्जल, ५. चकोर, ६. उपचक्र, ७. कुक्कुभ, ८. रक्तवर्त्मक, ९. वर्तक, १०. वर्तिका, ११. तित्तिर, १२. कुक्कुट, १३. कंक, १४. शारपद, १५. इन्द्राभ, १६. गोनर्द, १७. गिरिवर्तक, १८. क्रकर, १९. अवकर, २०. वारड या वारट। देखें—च० सू० अ० २७।४७-४९। इस वर्ग में मोर का भी पाठ है, किन्तु उसके मांसरस की वस्ति का इसी प्रकरण में स्वतन्त्र प्रयोग होने से उसका परिगणन यहाँ नहीं किया गया है। गद्य १७ में गोनर्द आदि की भी चर्चा हो चुकी है, किन्तु वहाँ उनके अंडों के रस लिये गये हैं, न कि मांसरस।

३०. **प्रतुदवर्ग के प्राणी**—१. शतपत्र, २. भृंगराज, ३. कोयष्टि, ४. जीवञ्जीवक, ५. कैरात, ६. कोकिल, ७. दात्यूह, ८. गोपापुत्र, ९. प्रियात्मज, १०. लट्टा या लट्वा, ११. लट्टषक या लटूषक, १२. बभ्रु, १३. बरहा, १४. डिण्डिमानक, १५. जटी, १६. दुन्दुभिपाक्कार, १७. लोहपृष्ठ, १८. कुलिङ्गक, १९. कपोत, २०. शुक, २१. शारंग, २२. चिरटी, २३. कंकु, २४. यष्टिक, २५. सारिका, २६. कलविंक, २७. चटक, २८. अंगारचूड़क, २९. पारावत (कबूतर), ३०. पाण्डविक या पानविक। देखें—च० सू० अ० २७।५०-५२।

२९. **प्रसहवर्ग के प्राणी**—१. गो, २. खर (गदहा), ३. अश्वतर (खच्चर), ४. ऊँट, ५. घोड़ा, ६. द्वीपि (चीता), ७. सिंह, ८. ऋक्ष (भालू), ९. वानर, १०. वृक (भेड़िया), ११. बाघ, १२. तरक्षु (लकड़-बग्घा), १३. बभ्रु (नेवला), १४. मार्जार (बिलार), १५. चूहा, १६. लोपाक (छोटा गीदड़), १७. जम्बुक (सियार), १८. श्येन (बाज), १९. वान्ताद (कुत्ता), २०. चाष (नीलकण्ठ), २१. वायस (कौआ), २२. शशघ्नी, २३. मधुहा, २४. भास, २५. गृद्ध, २६. उल्लू, २७. कुलिंग, २८. धूमिका, २९. कुरर। देखें—च० सू० अ० २७।३५-३६।

२७. **अम्बुचरवर्ग के प्राणी**—१. हंस, २. क्रौञ्च, ३. बलाका (सफेद पंखों वाला पक्षी), ४. बक (पाण्डुर पंखोंवाला पक्षी), ५. कारण्डव, ६. प्लव, ७. शरारि, ८. पुष्कराह्व, ९. केशरी, १०. मणितुण्डक अथवा मानतुण्डक, ११. मृणालकण्ठ, १२. मद्गु (जलकौआ), १३. कादम्ब (कलहंस), १४. काकतुण्डक, १५. उत्क्रोश, १६. पुण्डरीकाक्ष, १७. मेघराव, १८. अम्बुकुक्कुटी, १९. आरा, २०. नन्दीमुखी, २१. वाटी, २२. सुमुखा, २३. रोहिणी, २४. कामकाली, २५. सारस, २६. रक्तशीर्षक (लाल शिर वाला सारस), २७. चक्रवाक। देखें—च० सू० अ० २७।४१-४४।

९. **मत्स्यादिवर्ग के प्राणी**—१. मत्स्य (रोहित नामक मछली), २. शिशुमार (गोतुण्डनक्र), ३. तिमिंगिल (समुद्र में रहने वाला सबसे बड़ा मत्स्य), ४. शुक्ति, ५. शंख, ६. उद्र, ७. कुम्भीर, ८. चुलुकी (सूँस), ९. मकर। इनमें कूर्म और कर्कटक (केंकड़ा) का ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि उनका उपयोग आगे इसी प्रकरण में स्वतन्त्र रूप से किया जा चुका है। देखें—च० सू० अ० २७।४०।

गोधानकुलमार्जारमूषिकशल्लकमांसानां दशपलान् भागान् सपञ्चमूलान् पयसि पक्त्वा तत्पयः पिप्पलीफलकल्कसैन्धवसौवर्चलशर्करामधुघृततैलयुक्तो वस्तिर्बल्यो रसायनः क्षीणक्षतस्य सन्धानकरो मथितोरस्करथगजहयभग्नवातबलासकप्रभृत्युदावर्तवातसक्तमूत्रवर्चशुक्राणां हिततमश्च (५);

वृष्य-वस्तियाँ—गोधा (गोह), नेवला, मार्जार (बिलार), चूहा, शल्लक (शाही), इन प्राणियों में से प्रत्येक के १-१ पल (४-४ तोला) मांस को और लघुपञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=बड़ीकटेरी, कण्टकारिका=छोटीकटेरी, गोखरू) के प्रत्येक द्रव्य को १-१ पल (४-४ तोला) अर्थात् कुल मिलाकर १० पल (४० तोला) लेकर चौगुने (१६० तोला) दूध में पकायें, जब चतुर्थांश दूध शेष रह जाय तब उसे छानकर रख लें। उसमें पिप्पली, मैनफल इन दोनों का कल्क बनाकर मिला दें, उसी में सेंधानमक तथा सोंचरनमक, पीसकर मिला दें और चीनी, मधु, घी, तेल को भी उसमें डालकर अच्छी प्रकार मिलाकर गुनगुना होने पर वस्ति प्रयोग करें। यह वस्ति शारीरिक बल को बढ़ाती है, रसायनगुणों को देती है, क्षीण तथा उरःक्षत रोग से पीड़ित पुरुषों की क्षतिपूर्ति करती है। जिन पुरुषों की छाती में किसी प्रकार का आघात लगा हो अथवा रथ, हाथी, घोड़ा, आदि के साथ लड़ने-भिड़ने से जिनके वक्षःप्रदेश में आघात पहुँचा हो, अथवा वातबलासक (ज्वर-विशेष) आदि रोग, उदावर्त तथा प्रकुपित वातदोष के कारण जिनका मूत्र, मल एवं शुक्र रुक गया हो, उनके लिए इन वस्तियों के प्रयोग हितकर होते हैं।

कूर्मादीनामन्यतमपिशितसिद्धं पयो गोवृषनागहयनक्रहंसकुक्कुटाण्डरसमधुघृतशर्करासैन्धवेक्षुरकात्मगुप्ताफलकल्कसंसृष्टो वस्तिर्वृद्धानामपि बलजननः (६);

कूर्मादि-वस्ति—कछुआ आदि जलेशय वर्ग के प्राणियों में से किसी एक के मांस से विधिपूर्वक पकाये गये दूध में गोवृष (साँड), हाथी, घोड़ा, इनके अण्डकोषों को जल में पकाकर तैयार किये गये रस को उस दूध में मिला दें और घड़ियाल, हंस, मुर्गा इनके अण्डों का रस, मधु, घी, चीनी, सेंधानमक, इक्षुरक (तालमखाना), किवाँच के बीज इन सबको पीसकर कल्क तैयार कर उसी दूध में मिलाकर वस्ति का प्रयोग करें। इस वस्ति के प्रयोग से वृद्ध पुरुष भी बलवान् हो जाते हैं।

वक्तव्य—ऊपर हमने वारिशय-वर्ग के प्राणियों का परिगणन किया है। उसमें से कूर्म और कर्कटक को छोड़कर शेष नौ प्राणियों का उल्लेख श्रीचक्रपाणि के 'रोहितादिभिर्मत्स्यैर्नव' इस वक्तव्य के अनुसार किया है। हमारे विचार से यहाँ 'कूर्मादीनामन्यतमपिशितसिद्धं पयः' कूर्म (कछुआ) का ही मांस लेना चाहिए, क्योंकि इस वर्ग के अन्य प्राणियों के मांसों का प्रयोग करने की आज्ञा तो 'कल्पेश्चैव विष्किरप्रतुदप्रसहाम्बुचरेषु स्यात्'। च० सि० अ० १२।१७ (४) गद्य द्वारा दी जा चुकी है।

कर्कटकरसश्चटकाण्डरसयुक्तः समधुघृतशर्करो वस्तिः; इत्येते वस्तयः परमवृष्या उच्चटकेक्षुरकात्मगुप्ताशृतक्षीरप्रतिभोजनानुपानात् स्त्रीशतगामिनं नरं कुर्युः (७);

कर्कटादि वस्ति—केकड़ा का मांसरस, गौरैया के अण्डे का रस, मधु, घी, चीनी इनको एक में मिलाकर वस्ति देनी चाहिए (यहाँ यह ध्यान रहे कि मांसरस गुनगुना रहने पर ही वस्ति का प्रयोग कर देना चाहिए)। ये ऊपर कही गयी वस्तियाँ अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक) होती हैं। इन वस्तियों में से किसी भी वस्ति का प्रयोग करने के बाद सफेद घुंघची की जड़, तालमखाना, किवाँच के बीज इन सबको समानभाग लेकर कल्क तैयार कर, इससे दूध को पकायें। इस दूध के साथ भोजन करने वाला पुरुष सौ स्त्रियों के रमण करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् यह विधि अत्यन्त वीर्यवर्धक है।

गोवृषवस्तवराहवृषणकर्कटचटकसिद्धं क्षीरमुच्चटकेक्षुरकात्मगुप्तामधुघृतसैन्धवयुक्तः किञ्चिल्लवणितो वस्तिः (८);

गोवृषादि वस्ति—साँड, बकरा, सूअर इनके अंडकोष, केकड़ा तथा गौरैया के मांस से यथाविधि पकाये गये गाय के दूध में उच्चटक (उच्चटा=लालगुंजा—रा० नि० व० ३। वै० नि० २ म०। सफेद गुंजा—भा० प्र० ४ पू० गु० व०) की जड़, तालमखाना, किवाँच इनका कल्क, मधु, घी तथा कुछ सेंधानमक मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। यह भी वीर्यवर्धक होती है।

दशमूलमयूरहंसकुक्कुटक्वाथात् पञ्चप्रसृतं तैलघृतवसामज्जचतुष्प्रसृतयुक्तं शतपुष्पामुस्तहपुषाकल्कीकृतः सलवणो वस्तिः पादगुल्फोरुजानुजङ्घात्रिकवङ्क्षणवस्तिवृषणानिलरोगहरः (९);

दशमूलादि वस्ति—दशमूल (लघु तथा बृहत्पञ्चमूल के द्रव्य), मोर का मांस, हंस का मांस, मुर्गा का मांस इनका विधिपूर्वक बनाया हुआ क्वाथ ५ प्रसृत (४० तोला), तिल का तेल १ प्रसृत (८ तोला), गाय का घी १ प्रसृत, वसा १ प्रसृत, मज्जा १ प्रसृत मिला दें। उसमें सोया, नागरमोथा, हाऊबेर इनका कल्क बनाकर डाल दें और थोड़ा-सा सेंधानमक भी मिला दें और वस्ति में भरकर इसका प्रयोग करें। इसके सेवन से पैर, गुल्फ, ऊरु, जानु, जंघा, त्रिकप्रदेश, वंक्षण, वस्ति (मूत्राशय), वृषण (अण्डकोष) इन अवयवों में उत्पन्न वातरोगों की शान्ति हो जाती है।

वक्तव्य—औषधयोग का निर्माण आवश्यकतानुसार किया जाता है। योग में मात्रा का निर्देश दिग्दर्शन मात्र के लिए ही किया जाता है, शेष दायित्व चिकित्सक अथवा व्यवसायी का होता है। दूसरा ध्यान इस प्रकार भी दिया जाता है, कि इसकी उपयोगिता कितनी मात्रा में है और यह योग क्षणभंगुर है अथवा इसका संग्रह भी किया जा सकता है।

मृगविष्किरानूपबिलेशयानामेतेनैव कल्पेन वस्तयो देयाः (१०);

मृगादि वस्ति—इसी विधान से मृग, विष्किर, आनूप, बिलेशय प्राणियों के मांसों द्वारा उपर्युक्त विधि से तैयार की गयी वस्तियों का भी प्रयोग कराना चाहिए।

वक्तव्य—चरकसंहिता के टीकाकार चरक-चतुरानन श्रीचक्रपाणि एक ही व्यक्ति थे। निर्णयसागरीय विभिन्न संस्करणों के सम्पादकों के प्रमाद से अनेक स्थलों में उस टीका के विभिन्न भ्रामक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए उक्त गद्यांश की टीका यहाँ उद्धृत की जा रही है।

सन् १९२२ के संस्करण में—'मृगविष्किरेत्यादिना आदशकादिना षष्टियोगाः। तत्र मृगो वृषेत्यादिनोक्तैः सप्तदशः। सप्तदश विष्किरैश्च। लावादिभिश्च मयूरकुक्कुटवर्जितेन विंशतिः। आनूपैश्चमरादिभिर्नव। बिलेशयैः श्वेतश्यामादिभिश्चतुर्दश'।

सन् १९४१ के संस्करण में—'मृगविष्किरेत्यादिना आतिदेशिका ऊनषष्टियोगाः। तत्र मृगैः 'पृषतः शरभो रामः' (सु० अ० २७) इत्यादिनोक्तैः सप्तदश, सप्तदशभिर्विष्किरैश्च सप्तदश, लावादिभिश्च मयूरकुक्कुटवर्जितैरूनविंशत्या ऊनविंशतिः, आनूपैश्च सृमरादिभिर्नव, बिलेशयैः श्वेतश्यामचतुर्दंष्ट्रादिभिश्चतुर्दश'।

उक्त पाठों की परस्पर प्रामादिकता तथा विषय की विविधिता भी अवलोकनीय है। जब कि एक व्यक्ति की एक बार की कृति में एकरूपता के दर्शन सर्वत्र होते हैं। आप देखें—प्रथम संस्करण में जहाँ 'आदशकादिना' लिखा है, वहीं दूसरे संस्करण में 'आतिदेशिकाः' शब्द प्रयुक्त है, क्या दोनों समानार्थक हैं? दूसरी भ्रान्ति और भी भयावह है—'षष्टियोगाः' तथा 'ऊनषष्टियोगाः'। तीसरी भ्रान्ति यह है कि दोनों संस्करणों की टीका में 'लावादिभिश्च' पाठ का सन्निवेश करके विष्किर-वर्ग को दो भागों में बाँटकर टीकाकार के अनुसार उतनी संख्या नहीं होती है। परवर्ती टीकाकारों ने तो और भी भ्रामक स्थिति पैदा कर दी है, कुछ टीकाकार सर्वथा मौन हैं।

वास्तव में चिकित्सा की दृष्टि से उक्त वर्गीकरण किसी प्रकार की उपयोगिता नहीं रखता है। ध्यान देने योग्य विषय यह है, कि इसी अध्याय के १८वें गद्य खण्ड के चतुर्थ भाग में विष्किर-पक्षियों के मांसों का प्रयोग पहले कहा जा चुका है। किन्तु यहाँ पुनः जो विष्किर-पक्षियों के मांसों का प्रयोग कहा गया है, यह पुनरुक्ति न होकर उक्त मांसों का विधि-भेद से प्रयोग कराना तन्त्रकार का उद्देश्य रहा है। इसकी पुष्टि के लिए देखें—'एतेनैव कल्पेन वस्तयो देयाः'। व्याकरण की दृष्टि से भी इस अंश को परख लें—यदि पूर्व निर्दिष्ट विधि से ही यहाँ भी विष्किरवर्ग के पक्षियों का मांस लेना तन्त्रकार को अभीष्ट होता तो वे 'एतेनैव' न लिखकर 'एनेनैव' ऐसा लिखते। देखें—'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२।४।३४) सूत्र की व्याख्या तथा उदाहरण को। इस प्रकार की विधि को व्याकरण में 'अन्वादेश' कहते हैं।

मधुघृतद्विप्रसृतस्तुल्योष्णोदकः [1]शतपुष्पार्धपलः सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तवातहरः (११);

मधु आदि वस्ति—मधु १ प्रसृत (८ तोला), गाय का घी १ प्रसृत, दोनों के बराबर गरम जल तथा सोया का कल्क आधापल (२ तोला), सेंधानमक आधा अक्ष (तोला) इन सबको परस्पर भली-भाँति मिलाकर तैयार की गयी वस्ति का प्रयोग अत्यन्त वीर्यवर्धक, मूत्रकृच्छ्रनाशक, पित्त तथा वातनाशक होता है।

वक्तव्य—केवल सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण में उक्त पाठ दिखलायी देता है। इसी के अन्य संस्करणों में उक्त पाठ की स्थिति इस प्रकार है—'मधुघृतद्विप्रसृतं तुल्योष्णोदकं शतपुष्पार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोब्रध्नप्लीहमेहहरः'। इसके लिए सन् १९२२ तथा १९३३ के संस्करणों का भी अवलोकन कर लें। इस दृष्टि से उक्त पाठ में कुछ बढ़ाया तथा अधिक घटाया गया है। और भी—यहाँ से लेकर 'अत ऊर्ध्वं वृष्यतमान् स्नेहान् वक्ष्यामः' के पहले तक दिये गये सभी गद्य सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण में परिवर्तित किये गये हैं। यह कौन-सा दृष्टिकोण था, यह तात्कालिक सम्पादक ही समझें। आश्चर्य यह है कि उक्त १९४१वें संस्करण में जिस प्रकार गद्यों का विभाजन किया गया है, तदनुकूल श्रीचक्रपाणि की टीका को भी बदल डाला है। इस अन्तर को देखने के लिए आप सन् १९२२ तथा सन् १९४१ में प्रकाशित श्रीचक्रपाणि की टीका का मिलान करें।

१. 'हपुषार्धपलं' इति पा०।

यद्यपि हमने प्रस्तुत चरकसंहिता का मूल सन् १९४१ में प्रकाशित निर्णयसागरीय प्रति से लिया है। अतः हमने उसी का सर्वत्र निर्वाह किया है, तथापि औचित्य की रक्षा करने के लिए जहाँ जो पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ वहाँ उसे किसी न किसी रूप में प्रकाश में लाने का यथाशक्ति प्रयास किया है। अब हम यहाँ सन् १९२२ के निर्णयसागरीय संस्करण में दिये उन गद्य खंडों को उद्धृत कर रहे हैं, जो सन् १९४१ के संस्करण से भिन्न है। इन्हीं पाठों को अन्य संस्करणकर्ताओं ने भी उद्धृत किया है।

'तद्वत्समधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो वस्तिः पूर्वकल्पेन बलवर्णकरो वृष्यतमो निरुपद्रवो वस्तिमेढ्रपाकपरिकर्तिका-मूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनश्च'।

'मधुघृताभ्यां मांसरसतुल्यो मुस्ताक्षयुक्तः पूर्ववद् वस्तिर्बलासपादहर्षगुल्मजानूरुनिकुञ्चनवस्तिवृषणमेढ्र-पृष्ठशूलहरः'। तथा—

'सुरासौवीरककुलत्थमांसरसमधुघृततैलसप्तप्रसृतं मुस्तशताह्वाकल्कितं सलवणो वस्तिः सर्ववातरोगहरः'। अब यहाँ से सन् १९४१ के संस्करण में दिये गये पाठों की व्याख्या प्रस्तुत है।

सद्योघृततैलवसामज्जचतुष्प्रस्थं हपुषार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्त-व्याधिहरो रसायनः (१२);

गोघृतादि वस्ति—गाय का ताजा घी, तिल का तेल, वसा तथा मज्जा प्रत्येक स्नेहद्रव्य १-१ प्रसृत (८-८ तोला) लें। इन सबके समान भाग अर्थात् ४ प्रसृत (३२ तोला) गरम जल, हाऊबेर इनका कल्क आधा पल (२ तोला), सेंधानमक आधा अक्ष (तोला) इन सबको उक्त प्रमाण में लेकर भली-भाँति मिलाकर, वस्तियन्त्र में भरकर प्रयोग कराना चाहिए। इसके प्रयोग से वीर्य की पर्याप्त वृद्धि होती है, मूत्रकृच्छ्र रोग तथा पित्तज रोगों का विनाश होता है। यह उत्तम रसायन है।

मधुतैलं चतुःप्रसृतं शतपुष्पार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो वस्तिर्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्तगुल्मार्शोब्रध्नप्लीहमेहहरः (१३);

मधुतैलादि वस्ति—मधु २ प्रसृत (१६ तोला), तिल का तेल २ प्रसृत, गरम जल ४ प्रसृत, सोया का कल्क आधा पल (२ तोला), सेंधानमक आधा अक्ष (तोला)—इन द्रव्यों को उक्त प्रमाण में लेकर मिलाकर वस्ति द्वारा प्रयोग करने से मन्द हुई अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, शरीर पुष्ट हो जाता है, बल और वर्ण (रूप) की वृद्धि होती है। इसके सेवन से किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता है। यह उत्तम वीर्यवर्द्धक एवं रसायन के समस्त गुणों को देने वाली है और क्रिमिरोग, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अर्श (ववासीर), ब्रध्न (वृद्धि) रोग, प्लीहावृद्धि तथा प्रमेहनाशक होती है।

तद्वन्मधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो वस्तिः पूर्वकल्केन बलवर्णकरो वृष्यतमो निरुपद्रवो वस्तिमेढ्रपाक-परिकर्तिकामूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनश्च (१४);

शतपुष्पादि वस्ति—उसी प्रकार मधु तथा घी के बराबर दूध को लेकर एक में मिलाकर पहले (१३वें गद्य में) कहे गये सोया के कल्क से युक्त वस्ति का प्रयोग करने से बल, वर्ण तथा वीर्य की वृद्धि होती है, अर्थात् वीर्यवृद्धि करने वाली वस्तियों में यह श्रेष्ठ है तथा किसी प्रकार का उपद्रव न करने वाली होती है। इस वस्ति का प्रयोग करने से मूत्राशय तथा मूत्रेन्द्रिय का पाक, परिकर्तिका, मूत्रकृच्छ्र एवं पित्तजनित विकारों का नाश होता है और यह रसायन के समस्त गुणों को देने वाली है।

तद्वन्मधुघृताभ्यां [1]मांसरसतुल्यो मुस्ताक्षयुक्तः पूर्ववद् वस्तिर्वातबलासपादहर्षगुल्मत्रिकोरुजानूरु-निकुञ्चनवस्तिवृषणमेढ्रत्रिकपृष्ठशूलहरः (१५);

मधुघृतादि वस्ति—उसी प्रकार मधु तथा गाय के घी के बराबर मांसरस (ऊपर दसवें गद्य खण्ड में कहे गये किसी एक प्राणी का मांस लेकर उसका मांसपाक-विधि से रस) एवं मोथा का कल्क १ अक्ष (तोला) लेकर इन सबको एक साथ मिलाकर पहले की भाँति प्रयोग करने से वातबलास नामक ज्वर, पादहर्ष (पैर का

१. 'मांसरसयुक्तः' इति पा०।

सो जाना या पैर में झुनझुनी चढ़ना), गुल्मरोग, त्रिकास्थि के रोग, ऊरु, जानु इनमें खींचने के समान होने वाली पीड़ा, वस्ति (मूत्राशय), वृषण (अण्डकोष), मेढ़ (पुरुष-मूत्रेन्द्रिय), त्रिक-प्रदेश तथा पृष्ठवंश में होने वाले शूल का नाश होता है।

सुरासौवीरककुलत्थमांसरसमधुघृततैलसप्तप्रसृतो मुस्तशताह्वाकल्कितः सलवणो वस्तिः सर्ववातरोगहरः (१६);

सुरासौवीरादि वस्ति—सुरा, सौवीरक, कुलथी का क्वाथरस, मांसरस, मधु, गाय का घी, तिल-तेल प्रत्येक १-१ प्रसृत (८-८ तोला) लेकर नागरमोथा, सौंफ, पिसा हुआ सेंधानमक इनका कल्क बनाकर उसी में मिला दें और वस्ति में भर कर प्रयोग करें। इसके प्रयोग से सभी प्रकार के वातरोगों का विनाश होता है।

वक्तव्य—श्रीचक्रपाणि ने इनको माधुतैलिक वस्ति कहा है। उपर्युक्त पाठों को देखने से सर्वसाधारण को सम्प्रति माधुतैलिक कहने में संकोच होता है। कुछ टीकाकार इन्हें पाठ-परिवर्तन की कल्पना करके माधुतैलिक (जिनमें मधु तथा तेल का प्रयोग हो अथवा इनकी प्रधानता हो) स्वीकार करते हैं। इनकी संख्या वे केवल ६ मानते हैं। इसी प्रकरण के १०वें गद्यखण्ड में ६० आतिदेशिक वस्तियों का वर्णन किया गया है। ११वें गद्य खण्ड से लेकर १६वें गद्य खण्ड तक की ६ वस्तियों को ही माधुतैलिक संज्ञा दी गयी है। 'माधुतैलिक' संज्ञा के सम्बन्ध में सुश्रुत के दृष्टिकोण का भी अवलोकन करें। सु० चि० अ० ३८।११४-११७।

द्विपञ्चमूलत्रिफलाबिल्वमदनफलकषायो गोमूत्रसिद्धः कुटजमदनफलमुस्तपाठाकल्कितः सैन्धव-यावशूकक्षौद्रतैलयुक्तो वस्तिः श्लेष्मव्याधिवस्त्याटोपवातशुक्रसङ्गपाण्डुरोगाजीर्णविसूचिकालसकेषु देय इति ॥ १८ ॥

द्विपञ्चमूलादि वस्ति—दोनों पञ्चमूल (१. बेल की गुद्दी, सोनापाठा, गम्भार की छाल, पाढल, गणि-कारिका। २. शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती=बड़ीकटेरी, कण्टकारी=छोटीकटेरी, गोखरू), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), बेल की गुद्दी—इन सभी द्रव्यों को आवश्यकतानुसार समान भाग लेकर जौकुट कर लें, तदनन्तर गोमूत्र में मिलाकर क्वाथ-विधि से इसको पकायें। चतुर्थांश द्रव शेष रह जाने पर इसे छान लें, उसमें कुटज फल (इन्द्रजौ), मैनफल, नागरमोथा, पाढल, इनका कल्क बनाकर मिला दें, उसी में पीसा हुआ सेंधानमक, जवाखार, मधु, तेल इन द्रव्यों को भली-भाँति मिलाकर वस्ति-प्रयोग करें। इसका प्रयोग कफज विकार, वस्ति (मूत्राशय) सम्बन्धी रोग, पेट में होने वाला आटोप (यह वातज विकार है), अपानवायु तथा शुक्र के निकलने में होने वाली रुकावट, पाण्डुरोग, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक—इन रोगों में करना चाहिए।

वक्तव्य—उक्त गद्य के सम्बन्ध में श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'द्विपञ्चमूलीत्यादिकं केचिन्न पठन्ति। स च सङ्ख्यातिरेकाद् वस्तिसूत्रीयसिद्धिपठितत्वाच्चेह न पठनीय इति च वदन्ति'। इस अंश से यह अभिप्राय निकलता है, कि श्रीचक्रपाणि उक्त गद्य का स्वयं विरोध नहीं करते, अपितु उन्होंने दूसरों के मत को उद्धृत मात्र कर दिया है। ऐसा कहने वाले वे कौन हैं, इसका उल्लेख सम्भवतः उन्होंने अपनी शालीनता के कारण नहीं किया हो। उक्त पाठ वस्तिसूत्रीया-सिद्धि नामक तीसरे अध्याय का ५९ तथा ६०वाँ श्लोक है। ध्यान दें—च० सि० अ० ३।५९-६० के द्रव्यों में क्षौद्र (मधु) तथा रोगों में शुक्रसंग (शुक्र के निकलने में होने वाली रुकावट), अजीर्ण तथा विसूचिका का उल्लेख नहीं है। श्रीजयदेव द्वारा सम्पादित चरकसंहिता में यहाँ केवल 'मद्य' अधिक लिखा है। वास्तव में ऐसा नहीं है, केवल इसी अध्याय में आगे दिये गये २४ से लेकर २८ तक के श्लोकों में जो वस्तियों का परिगणन किया गया है, उसके विपरीत होने के कारण इसे प्रक्षिप्त मानना पड़ रहा है, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेने पर ३० वस्तियाँ हो जाती हैं, जब कि उक्त श्लोकों के अनुसार इन्हें २९ ही होना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं वृष्यतमान् स्नेहान् वक्ष्यामः।—

शतावरीगुडूचीक्षुविदार्यामलकद्राक्षाखर्जूराणां यन्त्रपीडितानां रसप्रस्थं पृथगेकैकं तद्वद् घृततैल-गोमहिष्यजाक्षीराणां द्वौ द्वौ दद्यात्, जीवकर्षभकमेदामहामेदात्वक्क्षीरीशृङ्गाटकमधूलिकामधुकोच्चटा-

पिप्पलीपुष्करबीजनीलोत्पलकदम्बपुष्पपुण्डरीककेशरकल्कान् पृषततरक्षुमांसकुक्कुटचटकचकोरमत्ताक्ष-बर्हिजीवञ्जीवकुलिङ्गहंसाण्डरसवसामज्जादेश्च प्रस्थं दत्त्वा साधयेत् । ब्रह्मघोषशङ्खपटहभेरीनिनादैः सिद्धं सितच्छत्रकृतच्छायं गजस्कन्धमारोपयेद् भगवन्तं वृषध्वजमभिपूज्य, तं स्नेहं त्रिभागमाक्षिकं मङ्गलाशीःस्तुतिदेवतार्चनैर्वस्तिं गमयेत् । नृणां स्त्रीविहारिणां नष्टरेतसां क्षतक्षीणविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां वन्ध्यानां [1]रक्तगुल्मिनीनां मृतापत्यानामनार्तवानां च स्त्रीणां क्षीणमांसरुधिराणां पथ्यतमं रसायनमुत्तमं वलीपलितनाशनं विद्यात् (१);

चतुःस्नेह-अनुवासनवस्ति—अब इसके आगे उत्तम वृष्य (वीर्यवर्धक) स्नेहों की प्रयोग-विधि का वर्णन करेंगे—शतावर की जड़, गुरुच, ईख का रस, विदारीकन्द, आँवला, मुनक्का तथा खजूर के फल इनके ताजे द्रव्यों को आवश्यकतानुसार अलग-अलग समान भाग लेकर रस निकालने वाले यन्त्र से इनका १-१ प्रस्थ (६४-६४ तोला) रस निकालकर (यदि गीले अथवा ताजे द्रव्य प्राप्त न हों तो सूखे द्रव्यों को जौकुट करके उन्हें दुगुने जल में भिगा दें, २४ घंटे के बाद उन्हें मसलकर कपड़े से छानकर उस रस को ले लें । यह सूखे द्रव्यों से स्वरस निकालने की विधि है । देखें—शा० सं० पू० खं० अ० ८।३) प्रयोग करें । उसी प्रकार गाय का घी २ प्रस्थ (१२८ तोला), तिल का तेल २ प्रस्थ, गाय का दूध २ प्रस्थ, भैंस का दूध २ प्रस्थ, बकरी का दूध २ प्रस्थ लेकर उक्त रसों में मिला दें । जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, वंशलोचन, सिंघाड़ा, मधूलिका (जलज मुलेठी; आचार्य प्रियव्रत शर्मा मधूक के गुण-धर्मों का वर्णन करते हुए दक्षिण भारत के जलीय प्रदेश में होने वाली एक प्रजाति का उल्लेख करते हैं । देखें—द्रव्यगुण-विज्ञान—मधूक), मुलेठी, उच्चटा (इसको आजकल 'उटंगन' कहने लगे हैं, किन्तु यह उससे भिन्न द्रव्य है । भावमिश्र ने गुञ्जा (घुंघची) के श्वेत तथा रक्त दो भेद किये हैं, उनमें श्वेतगुञ्जा का पर्याय 'उच्चटा' दिया है), पिप्पली, पुष्करबीज (पद्मबीज या कवलगट्टा), नीलकमल, कदम्ब-फूल, पुण्डरीक केशर (कुछ टीकाकारों ने इन दो द्रव्यों को मिलाकर इसका अर्थ सफेदकमल का केशर लेने को कहा है । हमारे विचार से यहाँ सफेद कमलपुष्प और नागकेशर का ग्रहण करना ही प्रसंगोचित होगा), इन सभी द्रव्यों का कल्क तैयार कराकर उसी में मिला दें । पृषत (सफेद बिन्दुओं वाला मृग—चित्तल) के मांस का रस, तरक्षु (तेंदू—बाघ का ही एक भेद) का मांसरस, मुर्गा, जंगली गौरैया, चकोर, कोयल, मोरनी, जीव-जीव (विष को देखने मात्र से जिसकी मृत्यु हो जाती है, पक्षि-विशेष), कुलिंग (घरेलू गौरैया), हंस इन पक्षियों के अण्डों का रस, वसा, मज्जा आदि का १-१ प्रस्थ मिलाकर स्नेहपाक करें । इसको पकाते समय ब्रह्मघोष (ब्राह्मणों द्वारा वेदपाठ या स्वस्तिवाचन), शंखघोष, पटह तथा भेरी (नगाड़ा) आदि वाद्यों को बजाते हुए, उस सिद्ध (तैयार किये हुए) स्नेह के ऊपर सफेद छाता द्वारा छाया करके उसे हाथी के स्कन्ध में रखें, तदनन्तर शिवजी की विधिवत् पूजा करें । इस प्रकार तैयार किये हुए स्नेह में तीन भाग मधु मिला दें । इस द्रव से तैयार की गयी उस वस्ति का प्रयोग रोगी को करायें । इस वस्ति का प्रयोग कराते समय मंगलदायक, आशीर्वादात्मक, स्तुति-सम्बन्धी तथा देवताओं के पूजा सम्बन्धी मन्त्रों एवं श्लोकों का पाठ करता रहे ।

फलश्रुति—इस वस्ति का प्रयोग प्रतिदिन स्त्रियों के साथ विहार करने कारण जिन पुरुषों का शुक्रधातु क्षीण हो गया है, उनके लिए करना चाहिए, घाव लगने के कारण जिनका शरीर क्षीण हो गया हो, विषमज्वर से जो पीड़ित हो चुके हैं, योनिव्यापद् रोगों से पीड़ित स्त्रियों के लिए, वन्ध्या स्त्रियों के लिए, जिन स्त्रियों को रक्तज गुल्म हो गया हो (पाठभेद के अनुसार—रक्तपित्त के रोगियों के लिए), जिनकी सन्तान बार-बार मर जाती है (ऐसी स्त्रियों को मृतगर्भा या मृतवत्सा कहते हैं) उनके लिए, जिन स्त्रियों को मासिकधर्म न होता हो, जिनके शरीर में मांस तथा रक्त क्षीण हो गया हो, ऐसे स्त्री तथा पुरुषों के लिए यह पथ्यतम (अत्यन्त हितकर) है, उत्तम रसायन है तथा वली (शरीर में झुर्रियों का पड़ जाना) एवं पलित (अकाल में बालों का सफेद पड़ जाना) इनका विनाश करता है ।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, आस्तिक एवं पर धार्मिक थे । उन्होंने प्रस्तुत वृष्यतम वस्तियोग में एक ओर वस्तिद्रव्य-निर्माण की चर्चा चालू रखी है और दूसरी ओर उसी समय में मंगलघोष

१. 'रक्तपित्तिनां' इति पा० ।

तथा वेदध्वनि के साथ उस तेल को गजारूढ़ कराकर तदनन्तर वृषध्वज (शिवजी) का विविधोपचार से पूजन करने की आज्ञा दी है । क्योंकि शिवजी वीर्य (शुक्र) के अधिष्ठातृ देव हैं, पारद उन्हीं का वीर्य है, यह सुप्रसिद्ध है । वृष्यतम वस्तियोगों के निर्माणकाल में वृष्यतम देव की उपासना का निर्देश तन्त्रकार की युक्ति-युक्त सूझ है । वैसे भी महर्षि आत्रेय परम शैव थे, जिसकी चर्चा अन्य अवसर पर की जायेगी । ऊपर कही गयी यह एक वृष्यतम अनुवासनवस्ति है । इसमें चतुःस्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) के पाक का विधान किया गया है । स्नेह मात्रा का निर्देश कर देने पर कल्क को उसकी समष्टि से चतुर्थांश लेना स्नेहपाक परिभाषा में कहा जा चुका है, अर्थात् घृत, तेल २-२ प्रस्थ और वसा, मज्जा १-१ प्रस्थ, कुल मिलाकर ६ प्रस्थ (३८४ तोला), इसमें डेढ़ प्रस्थ (९६ तोला=१ सेर ३ छटांक १ तोला) उक्त द्रव्यों का कल्क डालना चाहिए ।

बलागोक्षुरकरास्नाश्वगन्धाशतावरीसहचराणां शतं शतमापोथ्य जलद्रोणशते प्रसाध्य, तस्मिन् जलद्रोणावशेषे रसे वस्त्रपूते विदार्यामलकस्वरसयोर्बस्तमहिषवराहवृषकुक्कुटबर्हिहंसकारण्डवसारसा-ण्डरसानां घृततैलयोश्चैकैकं प्रस्थमष्टौ प्रस्थान् क्षीरस्य दत्त्वा चन्दनमधुकमधूलिकात्वक्क्षीरीबिस-मृणालनीलोत्पलपटोलात्मगुप्तान्नपाकितालमस्तकखर्जूरमृद्वीकातामलकीकण्टकारीजीवकर्षभकक्षुद्रसहा-महासहाशतावरीमेदापिप्पलीह्रीबेरत्वक्पत्रकल्कांश्च दत्त्वा साधयेत् । ब्रह्मघोषादिना विधिना सिद्धं वस्तिं दद्यात् । तेन स्त्रीशतं गच्छेत्; न चात्रास्ते विहाराहारयन्त्रणा काचित् । एष वृष्यो बल्यो बृंहण आयुष्यो वलीपलितनुत् क्षतक्षीणनष्टशुक्रविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां च पथ्यतमः (२);

बलादि अनुवासनवस्ति—बरियारा की जड़, गोखरू, रास्ना, असगन्ध, शतावर, सहचर, कटसरैया प्रत्येक द्रव्य को १००-१०० पल (४००-४०० तोला) लेकर उन्हें जौकुट कर १०० द्रोण (३२ मन) जल में डालकर उसका क्वाथविधि से पाक करें । जब पकते-पकते १ द्रोण (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला) जल शेष रह जाय, तब स्वच्छ वस्त्र से छानकर उस क्वाथरस में विदारीकन्द का पूर्व रीति से निकाला हुआ स्वरस १ प्रस्थ (६४ तोला), आँवलों का स्वरस १ प्रस्थ, बकरा, भैंसा, सूअर, वृष (साँड़), इन प्राणियों के अलग-अलग अण्डकोषों को लेकर मांसपाक-विधि से पकाकर मांसरस लें तथा मुर्गी, मोरनी, हंसी, कारण्डव (हंस-भेद), सारस इनके अण्डों का रस (यह अंडों का रस प्रारम्भ में ही मिलता है, बाद में वह क्रमशः उस प्रकार जमने लगता है, जिस प्रकार दूध से दही) इस प्रकार विदारीकन्द के स्वरस से लेकर सारस के अण्डों के रस तक प्रत्येक को १-१ प्रस्थ लें, अर्थात् विदारीकन्द तथा आमलक स्वरस, बस्त से वृष तक के प्राणियों के अण्डकोषों का मांसरस और कुक्कुट से लेकर सारस तक के अण्डों के रसों (ये कुल ११ प्रस्थ होते हैं) को लेकर उसी में मिला दें । एक प्रस्थ (६४ तोला) गाय का घी और एक प्रस्थ तिल का तेल एवं आठ प्रस्थ (५१२ तोला) गाय का दूध भी उसी में मिला दें और लालचन्दन, मधुक (मुलेठी), मधूलिका (इसका परिचय गद्य १ की टीका में देखें), त्वक् (वंशलोचन), कमलनाल, मृणाल, नीलकमल, परवल का फल, किंवाच का बीज, अन्नपाकी, (ओदनपाकी, नीले फूल की कटसरैया), तालमस्तक (तालवृक्ष का ऊपरी भाग), खर्जूर (पिण्डखजूर), मुनक्का, तामलकी (भुंइ आँवला), कण्टकारी (छोटी कटेरी), जीवक, ऋषभक, क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), महासहा (माषपर्णी), मेदा, पिप्पली, हाऊबेर, त्वक्पत्र (दालचीनी) इनके अलग-अलग कल्क बनाकर उसी में मिलाकर विधिवत् पाक करें । ब्रह्मघोष (वेदपाठ) आदि जो विधि पहली (चतुःस्नेह) वस्ति में कही गयी है, उसी विधि से इसका भी प्रयोग करायें । इसका प्रयोग करने के बाद वह पुरुष सौ (अधिकाधिक) स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है । इसके सेवनकाल में किसी प्रकार का भी आहार-विहार सम्बन्धी प्रतिबन्ध नहीं है । यह वस्ति वीर्यवर्धक, बलवर्धक, मांसवर्धक, दीर्घ आयु को प्रदान करने वाली, अकाल में पड़ने वाली झुर्रियों तथा बालों की सफेदी को दूर करने वाली, घाव, चोट आदि के लग जाने से कमजोर हुए, जिनके शुक्र का नाश हो गया है, विषमज्वर के कारण कृश हुए नर-नारियों एवं जो योनिरोगों से पीड़ित हैं, उन सभी के लिए यह वस्ति अत्यन्त हितकर है ।

वक्तव्य—यहाँ भी पूर्व गद्य के अनुसार कल्क की मात्रा का निर्धारण कर लेना चाहिए । इसमें स्नेहों का वर्णन है, अतः इसे 'यमकवस्ति' भी कहते हैं । वृद्धवाग्भट ने भी उक्त योग को **'सहाचराभीरु···रसायनम्'**

इस प्रकार अ० सं० क० अ० ५।३२-४० में उद्धृत किया है, किन्तु कुछ द्रव्यों में इस प्रकार का परिवर्तन है—क्वाथ्य द्रव्यों में 'असगन्ध' का ग्रहण नहीं किया गया है, कल्क द्रव्यों में 'शतावरी' के स्थान पर 'शीतपाकी' द्रव्य को लिया गया है, और द्रव्यों में वृषाण्डरस, कारण्डव तथा सारस के अण्डरसों का ग्रहण नहीं किया है। हमें तो ऐसा लगता है, कि महर्षि आत्रेय के उक्त दो गद्यों को मिलाकर इन्होंने अपने ९ श्लोक गढ़ डाले हैं। आप ध्यान दें—ब्रह्मघोष आदि का सम्पूर्ण वर्णन प्रथम गद्य से और योग दूसरे गद्य से लेकर ही इनकी यह परवर्ती रचना है। आप भी उक्त प्रकरण को ध्यान से मिलाकर देखें।

सहचरपलशतमुदकद्रोणचतुष्टये पक्त्वा द्रोणशेषे रसे सुपूते विदारीक्षुरसप्रस्थाभ्यामष्टगुणक्षीरं घृततैलप्रस्थं बलामधुकमधूकचन्दनमधूलिकासारिवामेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीपयस्यागुरुमञ्जिष्ठाव्याघ्रनखशटीसहचरसहस्रवीर्यावराङ्गलोध्राणामक्षमात्रैर्द्विगुणशर्करैः कल्कैः साधयेत्। ब्रह्मघोषादिना विधिना सिद्धं वस्तिं दद्यात्। एष सर्वरोगहरो रसायनो ललितानां श्रेष्ठोऽन्तःपुरचारिणीनां क्षतक्षयवातपित्तवेदनाश्वासकासहरस्त्रिभागमाक्षिको वलीपलितनुद्वर्णरूपबलमांसशुक्रवर्धनः (३);

सहचरादि अनुवासनवस्ति—सहचर (कटसरैया) को १०० पल (४०० तोला) लेकर जौकुट कर ४ द्रोण (१ मन ११ सेर ३ छटाँक १ तोला) जल में डालकर क्वाथविधि से पाक करें, पकते-पकते जब १ द्रोण (१२ सेर १२ छटाँक ४ तोला) जल शेष रह जाय, तब उसे स्वच्छ वस्त्र से छानकर रख लें। उसमें विदारीकन्द का स्वरस १ प्रस्थ (६४ तोला), ईख का स्वरस १ प्रस्थ इन दोनों स्वरसों से आठ गुना (१६ प्रस्थ=१०२४ तोला अर्थात् १ द्रोण=१२ सेर १२ छटाँक ४ तोला) गाय का दूध, गाय का घी १-१ प्रस्थ, तिल का तेल १ प्रस्थ; कल्कद्रव्य—बरियारा की जड़, मुलेठी, महुआ-फूल, लालचन्दन, मधूलिका (इसका परिचय गद्य १ में देखें), सारिवा (अनन्तमूल), मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, क्षीरविदारी, अगर, मजीठ, नखी, कचूर, सहचर, सहस्रवीर्या (दूब), वरांडा (दालचीनी), लोध इन सभी द्रव्यों को १-१ अक्ष (१-१ तोला) के प्रमाण में लें और चीनी को २ अक्ष (तोला) प्रमाण में लेकर कल्क बनाकर उसी में विधिवत पाक करें। प्रथम गद्य में निर्दिष्ट ब्रह्मघोष, शिवपूजन आदि विधि से वस्ति द्रव का पाक तथा सिद्ध (तैयार) हो जाने पर उसका प्रयोग करायें। इस वस्ति का प्रयोग सभी रोगों का नाश करने वाला, रसायन के फलों को देने वाला, अन्तःपुर में विहार करने वाली सुकुमार स्त्रियों के लिए उत्तम, क्षत, क्षय, वातज तथा पित्तज पीड़ा, श्वास एवं कास रोग का विनाशक होता है। इसी वस्तिद्रव में यदि तीसरा भाग मधु मिलाकर प्रयोग किया जाता है, तो इससे असमय में पड़ने वाली झुर्रियाँ तथा बालों का पकना दूर हो जाता है, शरीर का वर्ण निखरने लगता है, बल, मांस तथा शुक्र की वृद्धि होने लगती है।

वक्तव्य—कुछ टीकाकारों ने 'ललितानां' शब्द को 'अन्तःपुरचारिणीनाम्' का विशेषण माना है, वह ठीक ही है। यदि इस शब्द भी को स्वतन्त्र मान लिया जाय तो यह सुकुमार पुरुषों का विशेषण भी हो सकता है। वी० एस० आप्टे के कोष में ललिता शब्द का एक पर्याय—'स्वेच्छाचारिणी स्त्री' भी दिया है। यह भी अथ प्रसंगवश सुसंगत प्रतीत होता है।

इत्येते रसायनाः स्नेहवस्तयः सति विभवे शतपाकाः सहस्रपाका वा कार्या वीर्यबलाधानार्थमिति ।। १९ ।।

स्नेह का शतपाक या सहस्रपाक—ऊपर कही गयी इन तीन रसायन-वस्तियों को सम्पत्ति (धन, कल्पक, व्यवस्था) आदि की सुविधा होने पर जैसा ऊपर एक बार पकाने की विधि कही गयी है, उसी विधि से सौ बार अथवा हजार बार पकाना चाहिए। ऐसा उक्त वस्तियों में वीर्य (शक्ति) का आधान तथा बल का आधान करने के लिए किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उक्त तीन वस्तियों के जो गुण एक बार पाक करने पर होते हैं, वे सौ बार पाक करने से सौ गुने हो जाते हैं, हजार बार पाक करने से हजार गुने हो जाते हैं। वास्तव में इस प्रकार का यह पाक-संस्कार-विशेष ही कहा जाता है।

भवन्ति चात्र—

इत्येते वस्तयः स्नेहाश्चोक्ता यापनसंज्ञिताः । स्वस्थानामातुराणां च वृद्धानां चाविरोधिनः ।।

अतिव्यवायशीलानां शुक्रमांसबलप्रदाः । सर्वरोगप्रशमनाः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ।।२१।।
नारीणामप्रजातानां नराणां चाप्यपत्यदाः । उभयार्थकरा दृष्टाः स्नेहवस्तिनिरूहयोः ।।२२।।

इस सम्बन्ध में कुछ पद्य दिये गये हैं—इस प्रकार यहाँ तक इस अध्याय में यापना-संज्ञक स्नेह (निरूह) वस्तियों का विधान बतलाया गया है। ये वस्तियाँ स्वस्थ पुरुषों, रोगियों तथा वृद्ध नर-नारियों के प्रयोग में आने वाली हैं, अर्थात् इनका प्रयोग सभी अवस्था के व्यक्तियों के लिए किया जा सकता है, क्योंकि इनके प्रयोग से किसी प्रकार की हानियाँ नहीं होती हैं, अपितु ये सर्वथा लाभप्रद ही होती हैं। जो निरन्तर मैथुन करने के अभ्यासी होते हैं, उन्हें इनका सेवन कराने से शुक्र, मांस तथा बल की वृद्धि होती है। ये सभी प्रकार के रोगों को शान्त करती हैं और सभी ऋतुओं में इनका प्रयोग कराया जा सकता है। वन्ध्या स्त्रियों को इनके प्रयोग से पुत्र-सन्तान की प्राप्ति होती है। ये यापनावस्तियाँ स्नेहन का तथा निरूहण का निर्वाह करने के कारण उभयार्थकर (उक्त दोनों कार्यों को कराने वाली) देखी गयी हैं, अर्थात् ये वस्तियाँ शरीर को स्निग्ध भी करती हैं और शोधन-कर्म द्वारा दोषों को बाहर भी निकालने का कार्य करती हैं।

वक्तव्य—तन्त्रकार ने ऊपर इन वस्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी प्रशंसापरक चर्चा की है, वह उनकी यथाथता ही है। इस प्रसंग में सुश्रुत के विचार देखें—'मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्नविधिसेवनात्। एकवस्तिप्रदानाच्च सिद्धवस्तिष्वयन्त्रणा' ।। सु० चि० अ० ३८।११८।

व्यायामो मैथुनं मद्यं मधूनि शिशिराम्बु च । सम्भोजनं रथक्षोभो वस्तिष्वेतेषु गर्हितम् ।।२३।।

यापनावस्तियों में अपथ्य—उक्त यापनावस्तियों के प्रयोग करते समय व्यायाम (शारीरिक श्रम), मैथुन (गम्य स्त्रियों का सहवास), मद्यपान, मद्य के अन्य भेदों का सेवन, शीतल जल का सेवन, संभोजन (अजीर्ण अवस्था में भोजन करना, अतिभोजन अथवा अध्यशन, अर्थात् भोजन के निषिद्ध प्रकार) तथा रथक्षोभ (शरीर को झकझोर देने वाले वाहनों की सवारी) इन सभी का परित्याग करना चाहिए।

[1]तत्र श्लोकाः—

शिखिगोनर्दहंसाण्डैर्दक्षवद् वस्तयस्त्रयः । विंशतिर्विष्किरैस्त्रिंशत्प्रतुदैः प्रसहैर्नव ।।२४।।
विंशतिश्च तथा सप्तविंशतिश्चाम्बुचारिभिः । नव मत्स्यादिभिश्चैव शिखिकल्पेन वस्तयः ।।२५।।
दश कर्कटकाद्यैश्च कूर्मकल्पेन वस्तयः । मृगैः सप्तदशैकोनविंशतिर्विष्किरैर्नव[2] ।।२६।।
आनूपैर्दक्षशिखिवद् भूशयैश्च चतुर्दश । एकोनत्रिंशदित्येते सह स्नेहैः समासतः ।।२७।।
प्रोक्ता विस्तरशो भिन्ना द्वे शते षोडशोत्तरे । एते माक्षिकसंयुक्ताः [3]कुर्वन्त्यतिवृषं नरम् ।।२८।।

उपसंहार—उक्त विषय में कुछ श्लोक कहे गये हैं—मोर, गोनर्द तथा हंस के अंडों से, कुक्कुडाण्ड (मुर्गी के अण्डे) के समान तीन वस्तियाँ, मयूरकल्प के समान किन्तु मयूर को छोड़कर बीस वस्तियाँ, प्रतुद पक्षियों से तीस, प्रसह पक्षियों से उन्तीस, अम्बुचारी (जलचारी) प्राणियों से सत्ताईस (पाठभेद के अनुसार अट्ठाईस), मयूरकल्प के अनुसार मछली आदि प्राणियों से प्रस्तुत की जाने वाली नौ वस्तियाँ, कूर्मकल्प के अनुसार कर्कट (केकड़ा) आदि से दस (पाठभेद के अनुसार नौ), कुक्कुट-मयूरकल्प के अनुसार मृगों से सत्रह, विष्किर-पक्षियों से उन्नीस, आनूपज प्राणियों के मांसों से नौ (पाठभेद के अनुसार दस), दक्ष (मुर्गा), शिखि (मयूर) इनके अनुसार भूशय प्राणियों से चौदह वस्तियाँ, स्नेहों के साथ प्रधानरूप से उक्त यापना-वस्तियाँ कुल मिलाकर संक्षेप से उन्तीस होती हैं, अर्थात् २६ यापनावस्तियाँ और ३ वृष्यतम स्नेहवस्तियाँ, इस प्रकार उपर्युक्त २९ वस्तियाँ होती हैं। विस्तारपूर्वक इस प्रकार अलग-अलग ये २१६ वस्तियाँ कह दी गयी हैं। यदि इन वस्तियों में प्रमाण के अनुसार माक्षिक (मधु) का संयोग कर दिया जाता है, तो ये पुरुष को अधिक वीर्यवान् बना देती हैं। इन वस्तियों का मधु मिलाकर प्रयोग करने से एक लाभ यह भी होता है कि ये अतियोग अथवा अयोगकारक नहीं होती हैं, अर्थात् इन वस्तियों का प्रयोग सर्वत्र निश्चिन्तता से किया जा सकता है।

१. 'तत्र श्लोकाः' इति कचित्पुस्तके न पठ्यते।
२. 'र्दश' इति पा०।
३. 'कुर्वन्त्यतिकृशं' इति पा०।

इस अध्याय में विवेचित विविध वस्तियों की संक्षिप्त तालिका

क्रम	वस्तिद्रव-नाम	संख्या	अन्यमत
१.	अण्डरस से निर्मित वस्तियाँ	३	३
२.	विष्किरपक्षियों के मांसरस से	२०	२०
३.	प्रतुदपक्षियों के मांसरस से	३०	३०
४.	प्रहसपक्षियों के मांसरस से	२९	२९
५.	अम्बुचरपक्षियों के मांसरस से	२७	२८
६.	मछली आदि के मांसरस से	९	९
७.	केकड़ा आदि के मांसरस से	१०	९
८.	मृग आदि के मांसरस से	१७	१७
९.	विष्किरपक्षियों के मांसरस से	१९	१९
१०.	आनूपज प्राणियों के मांसरस से	९	१०
११.	भूशय प्राणियों के मांसरस से	१४	१३
१२.	यापना तथा स्नेहवस्तियाँ	२९	२९

विशेष—इस प्रकार से मत-भेद होने पर भी दोनों का योग २१६ होता है।

नातियोगं न वाऽयोगं स्तम्भितास्ते च कुर्वते।
मृदुत्वान्न निवर्तन्ते यस्य त्वेते प्रयोजिताः॥ २९॥
समूत्रैर्वस्तिभिस्तीक्ष्णैरास्थाप्यः क्षिप्रमेव सः।

निरूहवस्ति-प्रयोग—मधु मिलाकर प्रयोग की गयी ये वस्तियाँ मृदु होती हैं, अर्थात् तीक्ष्ण नहीं होती हैं, अतएव ये वस्तियाँ कभी-कभी वापस लौटकर नहीं आ पाती हैं। जिसके कारण ये भीतर पक्वाशय में ही रह जाती हैं। ऐसी स्थिति में गोमूत्र मिलायी हुई तीक्ष्ण निरूहवस्तियों द्वारा शीघ्र ही उस रोगी व्यक्ति के पहले प्रयुक्त किये गये वस्तिद्रव को बाहर निकालना चाहिए।

शोफाग्निनाशपाडुत्वशूलार्शःपरिकर्तिकाः॥ ३०॥
स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थसेवनात्।

यापनावस्तियों के अधिक सेवन से हानि—शोफ (सूजन), जठराग्नि का मन्द पड़ जाना, पाण्डु-रोग, उदरशूल, अर्श (बवासीर), परिकर्तिका (गुद के भीतरी अवयवों में कैंची से काटने की-सी पीड़ा), ज्वर तथा अतिसार, ये विकार यापना-वस्तियों के अधिक सेवन करने से हो जाते हैं।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट ने इनके प्रयोग की संख्या तथा काल का इस प्रकार निर्देश किया है—'अतो दश दशाहेन यस्तु वस्तीन् निषेवते। वाजीव पुष्टः स वृषो गच्छति प्रमदाशतम्' ॥ अ० सं० क० अ० ५।२४।

अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया॥ ३१॥
युक्त्या तस्मान्निषेवेत यापनान्न प्रसङ्गतः।

यापनावस्तिव्यापत्-चिकित्सा—ऊपर कही गयी हानियों (शोफ आदि) के होने पर अरिष्टों का सेवन क्षीर (दूध अथवा पाठभेद के अनुसार—क्षार=यवक्षार), सीधु (मद्यभेद) आदि अग्निवर्धक पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। इस प्रकार की चिकित्सा को 'दीपनी क्रिया' कहते हैं। इसका प्रयोग चिकित्सक को युक्तिपूर्वक कराना चाहिए, न कि अभ्यासवश।

वक्तव्य—यहाँ 'प्रसंगतः' शब्द का प्रयोग दोनों ओर लगा लेना चाहिए, अर्थात् प्रतिदिन न तो यापना-वस्तियों के सहारे रहना चाहिए और न प्रतिदिन अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए अरिष्ट आदि मद्यों का ही सेवन करना चाहिए। तन्त्रकार को यह कहने की इसलिए आवश्यकता पड़ी कि उन्होंने इन यापनावस्तियों को निरुपद्रव तथा प्रतिदिन सेवन करने के योग्य कहा था। लोक-व्यवहार में भी अनावश्यक किसी कार्य का सम्मान नहीं होता है।

इत्युच्चैर्भाष्यपूर्वाणां व्यापदः सचिकित्सिताः॥ ३२॥
विस्तरेण पृथक् प्रोक्तास्तेभ्यो रक्षेन्नरं सदा।

आठ महादोषों का उपसंहार—उच्चस्वर से बोलने आदि के कारण पैदा होने वाले आठ रोगों का परिचय तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन इसी अध्याय में पहले विस्तारपूर्वक अलग-अलग किया जा चुका है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह उनसे सदैव अपनी रक्षा करे।

कर्मणां वमनादीनामसम्यक्करणापदाम्॥ ३३॥
यत्रोक्तं साधनं स्थाने सिद्धिस्थानं तदुच्यते।

सिद्धिस्थान की निरुक्ति—वमन, विरेचन आदि कर्मों (चिकित्सा-विधियों) के समुचित रूप में न करने या न कर पाने से पैदा हुए रोगों को चिकित्साओं का इस स्थान में विधिवत् निर्देश किये जाने के कारण इसको सिद्धिस्थान कहा जाता है।

वक्तव्य—वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्मों का यदि उचित रूप से प्रयोग कराया जाता है, तो रोगों का विनाश होकर स्वास्थ्य की वृद्धि होती है और यदि इनका अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग हो जाता है, जिसे तन्त्रकार ने असम्यक्करण कहा है, उससे अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। उन सभी प्रकार के रोगों का साधन (चिकित्सा) इस स्थान में कहा गया है, अतः इसे सिद्धिस्थान कहा है।

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्॥ ३४॥
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता।

अग्निवेशसंहिता की अध्याय संख्या—प्राणिमात्र की हितकामना करने की इच्छा से बुद्धिमान् महर्षि अग्निवेश ने आत्रेय मुनि के वाङ्मय (उनके उपदेशों से सम्बन्धित विषय) को १२० अध्यायों द्वारा प्रस्तुत संहिता में कहा है।

वक्तव्य—सम्पूर्ण चरकसंहिता के आठ स्थानों में १२० अध्यायों की पूर्ति इस प्रकार हुई है—१. सूत्रस्थान में ३०। २. निदानस्थान में ८। ३. विमानस्थान में ८। ४. शारीरस्थान में ८। ५. इन्द्रियस्थान में १२। ६. चिकित्सास्थान में ३०। ७. कल्पस्थान में १२ और ८. सिद्धिस्थान में १२।

दीर्घमायुर्यशः [1]स्वास्थ्यं त्रिवर्गं चापि पुष्कलम्॥ ३५॥
सिद्धिं चानुत्तमां लोके प्राप्नोति विधिना पठन्।

चरकसंहिता के अध्ययन का फल—चरकसंहिता के उक्त १२० अध्यायों को जो मनुष्य विधिपूर्वक अध्ययन (तदनन्तर मनन एवं तदनुसार प्रयोग) करता है, वह दीर्घ (पूर्ण) आयु, सुयश, सत्स्वास्थ्य, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) इनको पूर्णरूप से प्राप्त करता है, अथवा पुष्कल (मोक्ष-चक्र०) को भी प्राप्त करता है एवं संसार में वह अनुपम सफलता को भी प्राप्त करता है।

वक्तव्य—आर्षसंहिताओं के अध्ययन, अध्यापन आदि के सत्फल किंवा लाभ का वर्णन उन-उनके अन्त में देने की परम्परा देखी जाती है। तदनुसार यहाँ भी उसके अध्ययन आदि की फलश्रुति दी गयी है। यहाँ चरकसंहिता के अध्ययन से त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है, ऐसा ही कहा गया है, जब कि इसे चतुर्वर्गप्रद माना एवं कहा गया है। यथा—'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'। च० सू० अ० १।१५। सम्भवतः श्रीचक्रपाणि ने इसीलिए 'पुष्कलम्' का अर्थ 'मोक्ष' किया है। यद्यपि पुष्कल शब्द की स्पष्ट अभिधेयता मोक्ष-वाचक नहीं है, तथापि 'पूर्ण' वाचक तो है ही। यहाँ 'सिद्धि' शब्द से चिकित्सा में सफलता का ग्रहण किया गया है। 'विधिना पठन्'—इसका तात्पर्य है, कि चरकसंहिता-विमानस्थान अध्याय ८ में वर्णित अध्ययन-विधि द्वारा प्रस्तुत संहिता को पढ़ता हुआ शिष्य पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

विस्तारयति लेशोक्तं सङ्क्षिपत्यतिविस्तरम्॥ ३६॥
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।

१. 'प्रजामारोग्यं' इति पा०।

संस्कर्ता का कार्य-क्षेत्र—संक्षेप में कहे गये विषयों को विस्तारपूर्वक बतलाना, अत्यन्त विस्तार से कहे गये स्थलों को कुशलता के साथ संक्षेप में कहना तथा पुराने तन्त्र (संहिता-ग्रन्थ या शास्त्र) को फिर से नये रूप में प्रस्तुत कर देना, यह सब संस्कर्ता के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

वक्तव्य—महर्षि आत्रेय के आदेशों तथा उपदेशों को अग्निवेश आदि छः शिष्यों ने समानरूप से सुना था, किन्तु अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सभी ने अपने-अपने नाम से आयुर्वेदीय संहिताओं की रचना की। प्रस्तुत संहिता के मूल रचयिता महर्षि अग्निवेश हैं। उस अग्निवेशसंहिता के संस्कर्ता हैं—महर्षि चरक। उक्त श्लोक के अनुसार चरक ने अग्निवेश द्वारा रचित संहिता (अग्निवेशसंहिता या अग्निवेशतन्त्र) का संस्कार किया, अर्थात् उसे सर्वसामान्य के समझने के योग्य बना दिया। जिसके फलस्वरूप पुरानी अग्निवेशसंहिता को तदनन्तर सुधी समाज चरकसंहिता कहने लगा।

अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ॥ ३७ ॥
संस्कृतं तत्त्वसम्पूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते। तच्छङ्करं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत् ॥३८॥
अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे।

संस्कर्ता चरक तथा प्रतिसंस्कर्ता दृढबल—महर्षि अग्निवेश द्वारा रचित यह तन्त्र सभी तात्कालिक रचित कृतियों में उत्तम था, अतएव अतिबुद्धि (असाधारण बुद्धि वाले) महर्षि चरक ने उक्त अग्निवेशसंहिता, जो समस्त आयुर्वेदीय तत्त्वों से सम्पूर्ण थी, का संस्कार किया (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है), किन्तु उक्त संहिता के उस समय तीन ही भाग उपलब्ध होते थे। उस प्रकार खण्डित चरकसंहिता को पूर्ण करने की इच्छा से पञ्चनदपुर में उत्पन्न दृढबल ने अपनी आराधना द्वारा भूतपति शिवजी को प्रसन्न कर (उनसे उस चरकसंहिता को पूर्ण करने की शक्ति=वरदान प्राप्तकर) उसकी पूर्ति कर डाली।

वक्तव्य—इसी अध्याय के ३४वें श्लोक द्वारा यह स्वीकार किया जा चुका है, कि यह अग्निवेशसंहिता १२० अध्यायों से युक्त थी। इसके बाद 'त्रिभागेनोपलक्ष्यते' का तात्पर्य यह हुआ कि इसका एक भाग (४० अध्याय) खण्डित था। ८० अध्यायों के रूप में तीन भाग परिपूर्ण थे। ये ४० अध्याय कौन-कौन थे? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। सम्प्रति उपलब्ध चरकसंहिता के कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान के सम्बन्ध में तो कोई सन्देह नहीं है, केवल चिकित्सास्थान के १७ अध्यायों के बारे में बंगीय संस्करणों एवं निर्णयसागरीय संस्करणों का क्रम परस्पर भिन्न है, इस प्रकार दृढबल-पूरित अध्यायों की संख्या ४० न होकर ४१ होती है। हमारे विचार से चरक के समय में अग्निवेशसंहिता सम्पूर्ण थी और चरक ने उस सम्पूर्ण संहिता का संस्कार किया था। इसकी प्रामाणिकता के लिए देखें—च० सू० अ० ४।४; च० सू० अ० १५।५ और च० चि० अ० ३०।२८९-२९०।

दृढबल के प्रतिसंस्कार के सम्बन्ध में भी कुछ वक्तव्य है—कुछ विद्वानों की भ्रान्त धारणा है, कि चरक आधी संहिता लिखकर ही दिवंगत हो गये थे। किन्तु इस मत की पुष्टि किसी प्रकार नहीं हो पाती है, क्योंकि दृढबल ने स्वयं यह स्वीकार किया है, कि मैंने तृतीयांश की पूर्ति अनेक तन्त्रों को देखकर की। आज उपलब्ध होने वाली यह चरकसंहिता अग्निवेश, चरक तथा दृढबल की महत्त्वपूर्ण देन है। हमारे विचार से खण्डित अंशों की सविधि पूर्ति करने के साथ ही साथ दृढबल ने सम्पूर्ण संहिता का परिमार्जन भी अवश्य किया होगा, इसमें रंचमात्र सन्देह नहीं है।

पञ्चनद—सिन्धुनद जहाँ सागर से मिलता है, उस स्थान विशेष का एक नाम। देखें—वायुपुराण ७७।५६ तथा ब्रह्माण्डपुराण ३।१३।५७। द्वारका से इन्द्रप्रस्थ जाते समय अर्जुन यहाँ ठहरे थे। देखें—विष्णुपुराण ५।३८। १२। आधुनिक विद्वानों में पञ्चनद के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वान पञ्चनद की स्थिति काश्मीर में, कुछ पञ्जाब में, शेष काशी (वाराणसी) में स्थित पञ्चगंगा घाट को स्वीकार करते हैं। यह ऐतिहासिकों का क्षेत्र है, अतः वे विचार करें। हमारे विचार से ये तीनों ही पुण्यक्षेत्र हैं, ऐसे ही स्थानों पर बैठकर इस प्रकार के पवित्र कार्यों की पूर्ति की जा सकती है।

कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ॥ ३९ ॥
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरपूरयत् ।

दृढबल के प्रतिसंस्कार का प्रकार—आचार्य दृढबल इस बात का परिचय दे रहे हैं, कि मैंने उक्त (खण्डित) अध्यायों की पूर्ति करने के लिए सुश्रुत, विदेह आदि अनेक तन्त्रों से उञ्छवृत्ति तथा शिलवृत्ति का आश्रय लेकर विषयों का चयन किया है। इस प्रकार चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय, कल्पस्थान के बारह अध्याय और सिद्धिस्थान के बारह अध्यायों की मैंने पूर्ति की है।

वक्तव्य—प्राचीनकाल में शिलवृत्ति तथा उञ्छवृत्ति ऋषि-मुनियों की मानी गयी है। फसल कट जाने के बाद खेतों में जाकर गेहूँ, जौ आदि की बालों को चुनना उञ्छवृत्ति है और एक-एक दाना चुनना या बीनना शिलवृत्ति है। देखें—मनु० १०।११२। रघु० ५।८। इसका यहाँ यह तात्पर्य है, कि मैं (दृढबल) ने कहीं से शब्दों का चयन किया और कहीं से वाक्यों का, अर्थात् उन्होंने किसी तन्त्र से थोड़ा-सा विषय लिया और किसी से अधिक विषय लिया, इस प्रकार अपने प्रस्तुत तन्त्र की पूर्ति की।

चिकित्सास्थान के १७ अध्याय—सम्प्रति उपलब्ध निर्णयसागरीय चरकसंहिता के चिकित्सास्थान के अध्याय-क्रम को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, कि चिकित्सास्थान के १७ अध्याय क्रम से खण्डित नहीं थे। उक्त विषय को इस प्रकार समझें—चरक-चिकित्सास्थान के आरम्भ से ८ अध्याय अक्षुण्ण थे। उसके बाद १४वाँ अर्शचिकित्सित, १९वाँ अतिसारचिकित्सित, २१वाँ विसर्पचिकित्सित, २४वाँ मदात्ययचिकित्सित एवं २५वाँ द्विव्रणीयचिकित्सित नामक अध्याय सुरक्षित थे। शेष १७ अध्यायों की पूर्ति और कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान की सम्पूर्ण रचना इन्होंने की। अतएव इन अध्यायों के अन्त की पुष्पिका इस प्रकार दी गयी है—'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते'। इसकी पुष्टि पहले भी इस प्रकार की जा चुकी है—'अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च। नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ॥ तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्' ॥ च० चि० अ० ३०।२८९-९०। दृढबल के पिता का नाम कपिलबल था, अतएव यहाँ उन्हें 'कापिलबलि' कहा है।

इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रदोषविवर्जितम् ॥ ४० ॥
षट्त्रिंशता विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः ।

प्रस्तुत तन्त्र की प्रशंसा—यह अग्निवेश-तन्त्र शब्द तथा अर्थ की न्यूनता से रहित है, अर्थात् यह तन्त्र अपने में सम्पूर्ण है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है, अर्थात् यह सर्वथा निर्दोष है और यह तन्त्र विचित्र (विविध) प्रकार की छत्तीस तन्त्र-युक्तियों से अलंकृत है।

वक्तव्य—तन्त्रकार अपने तन्त्र की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं, कि यह तन्त्र सार्थक और सारगर्भित वाक्यों, वाक्यावयवों में सम्पूर्ण है, अर्थात् इसमें किसी प्रकार के भी निष्प्रयोजन शब्दों का उपयोग नहीं किया गया है और यह तन्त्रदोषों से रहित है। प्रायः अन्य तन्त्रों में अनेक प्रकार के दोष देखे जाते हैं, उस प्रकार के दोष इस तन्त्र में नहीं हैं। तन्त्रों में होने वाले दोषों का निर्देश श्रीचक्रपाणि ने इस प्रकार किया है—'तन्त्रदोषाश्चतुर्दश-पुनरुक्तं दुष्प्रणीत-सूत्रसङ्ग्रहमक्रमम्'। च० वि० अ० ८। इत्यादिना रोगभिषग्जितीयोक्तास्तैर्वर्जितम्'। उत्तम शास्त्र के गुणों का वर्णन महर्षि आत्रेय ने च० वि० अ० ८।३ में किया है। इस प्रसंग में उक्त गद्य का भी अवलोकन करें। कुछ संस्करणों में **'षट्त्रिंशता'** के स्थान पर **'षड्विंशता'** पाठ प्राप्त होता है, वह सर्वथा अनार्ष है, क्योंकि 'षड्विंशता' का अर्थ २६ होता है, जब कि यहाँ तन्त्रयुक्तियाँ ३६ कही गयी हैं।

पदस्य च ॥ ४१ ॥
तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः ॥४२॥
उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ॥४३॥
प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ।
पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः ॥४४॥
प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः ।
निदर्शनं निर्वचनं सन्नियोगो विकल्पनम् ।
अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः
प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः ।

तन्त्रयुक्तियों के नाम—१. अधिकरण, २. योग, ३. हेत्वर्थ, ४. पदार्थ, ५. प्रदेश, ६. उद्देश, ७. निर्देश, ८. वाक्यशेष, ९. प्रयोजन, १०. उपदेश, ११. अपदेश, १२. अतिदेश, १३. अर्थापत्ति, १४. निर्णय, १५. प्रस… २१. विधान, २२. अनुमत, १६. एकान्त, १७. नैकान्त, १८. अपवर्ग, १९. विपर्यय, २०. पूर्वपक्ष,

व्याख्यान, २४. संशय, २५. अतीतावेक्षण, २६. अनागतावेक्षण, २७. स्वसंज्ञा, २८. ऊह्य, २९. समुच्चय, ३०. निदर्शन, ३१. निर्वचन, ३२. सन्नियोग, ३३. विकल्पन, ३४. प्रत्युत्सार. ३५. उद्धार, ३६. सम्भव—ये छत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ होती हैं।

वक्तव्य—तन्त्र शब्द का अर्थ है—शास्त्र। यथा—'तत्र आयुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रम्, इत्यनर्थान्तरम्'। च० सू० अ० ३०।३१। ये शब्द तन्त्र के पर्यायवाचक हैं। युक्ति शब्द का अर्थ है—योग करना या जोड़ना, अर्थात् तन्त्र या तन्त्रों में निर्दिष्ट वाक्यों के शब्दों को युक्तिपूर्वक जोड़कर प्रसंगोचित अर्थ को निकालना 'तन्त्रयुक्ति' कहा जाता है। अतएव शास्त्र के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तन्त्रयुक्तियों की परम आवश्यकता होती है। जो इनको भली-भाँति नहीं जानता, वह शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी शास्त्र के रहस्यात्मक अर्थों को नहीं समझ पाता है। इसीलिए महर्षि आत्रेय ने कहा है—'अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देश-कालान्तराणि च। तन्त्रकर्तुरभिप्रायानुपायांश्चार्थमादिशेत्' ॥ च० सू० अ० २६।३७। तात्पर्य यह है कि तन्त्रकर्ता के अभिप्राय को समझे बिना शब्दों का अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक ही शब्द भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थों का बोधक होता है। देखें—काव्यप्रकाश उ० २।१९।

सुश्रुत के अनुसार तन्त्रयुक्तियाँ—'द्वात्रिंशत् तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे। तद्यथा—१. अधिकरणं, २. योगः, ३. पदार्थः, ४. हेत्वर्थः, ५. उद्देशः, ६. निर्देशः, ७. उपदेशः, ८. अपदेशः, ९. प्रदेशः, १०. अतिदेशः, ११. अपवर्गः, १२. वाक्यशेषः, १३. अर्थापत्तिः, १४. विपर्ययः, १५. प्रसङ्गः, १६. एकान्तः, १७. अनेकान्तः, १८. पूर्वपक्षः, १९. निर्णयः, २०. अनुमतं, २१. विधानम्, २२. अनागतावेक्षणम्, २३. अतिक्रान्तावेक्षणम्, २४. संशयः, २५. व्याख्यानं, २६. स्वसंज्ञा, २७. निर्वचनं, २८. निदर्शनं, २९. नियोगः, ३०. विकल्पः, ३१. समुच्चयः, ३२. ऊह्यम् इति'। सुश्रुत ने प्रत्येक तन्त्रयुक्ति का परिचय दिया है, किन्तु दृढबल ने परिचय नहीं दिया है। हो सकता है, कि अग्निवेशसंहिता में रहा हो।

वृद्धवाग्भट के अनुसार तन्त्रयुक्तियाँ—इन्होंने इस सम्बन्ध में सर्वथा महर्षि आत्रेय का ही अनुकरण किया है। देखें—'तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च। प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ॥ उपदेशा-पदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः। प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः ॥ पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः। अतीतानागतापेक्षा स्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः ॥ निदर्शनं निर्वचनं नियोगोऽथ विकल्पनम्। प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः' ॥ अ० सं० उ० अ० ५०।१५०-१५३। इन्होंने भी ३६ तन्त्रयुक्तियाँ ही स्वीकार की हैं। इन पर टीकाकार श्रीइन्दु ने प्रायः कोई नयी बात नहीं कही है।

भट्टारहरिचन्द्र के अनुसार तन्त्रयुक्तियाँ—इन्होंने चरक तथा सुश्रुत से भिन्न चार तन्त्रयुक्तियों की चर्चा इस प्रकार की है—१. परिप्रश्न, २. व्याकरण, ३. व्युत्क्रान्ताभिधान और ४. हेतु। इनके सम्बन्ध में श्रीचक्र-पाणि लिखते हैं—'ताश्च तन्त्रेऽपठितत्वादेतास्वेवान्तर्भावनीयाः। तत्र परिप्रश्न उद्देशेऽन्तर्भवति, व्याकरणं तु व्याख्याने, व्युत्क्रान्ताभिधानं निर्देशप्रभेदः, हेतुशब्देन यानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्युक्तानि तानि हेतावन्त-र्भवन्ति'। भट्टारहरिचन्द्र द्वारा उद्भावित नवीन तन्त्रयुक्तियों का यह समुचित समाधान प्रतीत होता है। अब यहाँ से चरकसंहिता में दी गयी तन्त्रयुक्तियों का परिचय दिया जा रहा है—

१. **अधिकरण**—'अधि+कृ+ल्युट्'। आधार को ही अधिकरण कहते हैं। 'आधारोऽधिकरणम्'। १।४।४५। अथवा किसी विषय पर पूर्ण तर्क करना। मीमांसकों के अनुसार अधिकरण के ५ अंग होते हैं—'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति सिद्धान्तः शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्' ॥ १. विषय, २. विशय, ३. पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष, ४. निर्णय, ५. सिद्धान्त। अधिकरण का यह परिचय आयुर्वेदीय क्षेत्र से बाहर का है। अब उक्त शब्द द्वारा परिभाषित परिचय को प्रस्तुत किया जा रहा है। महर्षि आत्रेय के अनुसार अधिकरण—'सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्। वेदस्यास्य'। च० सू० अ० १।४६-४७। और भी देखें—'अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्। अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता' ॥ च० शा० अ० १।३७। यहाँ 'अत्र' शब्द का अर्थ है—पूर्वोक्त समुदायपुरुष। इसको समझने के लिए इसी अध्याय के ३५वें श्लोक पर लिखी गयी चरकचन्द्रिका व्याख्या देखें। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अधिकरणं नाम यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते कर्ता; यथा—'विघ्नभूता यदा रोगाः'। च० सू० अ० १।६। इत्यादि। अत्र रोगादिकमधिकृत्यायुर्वेदो महर्षिभिः कृत इति 'रोगाः' इत्यधिकरणम्'।

भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार—'तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणं, यथा—'रसं दोषं वा'। सु० उ० अ० ६५।८। उस आयुर्वेद में जिस अर्थ (विषय) को लेकर कहा जाता है, उसका नाम अधिकरण है। वास्तव में यह अधिकरण शब्द अध्याय, प्रकरण, प्रस्ताव आदि का पर्याय है।

२. **योग**—'युज्+घञ्=योग'। संयोग, जोड़ना, मिलाना। योगदर्शन की दृष्टि से चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। आयुर्वेद में इसके साथ समास कर देने से बना हुआ एक शब्द है—'योगवाहि'। देखें—'नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि स्मृतं मधु'। सु० सू० अ० ४५।१४२। श्रीचक्र-पाणि के अनुसार—'योगो नाम योजना, व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्'। यही आशय सुश्रुत का भी है—'येन वाक्यं युज्यते स योगः'। सु० उ० अ० ६५।९। जिससे वाक्य या द्रव्यों को जोड़ा जाय उसे योग कहते हैं। सुश्रुत ने इसका सोदाहरण व्याख्यान किया है, देखें। तात्पर्य यह है, कि जब हमें आपस में बिखरे हुए शब्दों को जोड़ना होगा, तब उसे शब्दयोग कहेंगे और जब किसी रोग का निवारण करने के लिए विभिन्न द्रव्यों को जोड़ना होगा तब उसे द्रव्ययोग कहेंगे। यह असंख्य प्रकार का होता है। योग के विपरीत को वियोग कहते हैं।

३. **हेत्वर्थ**—'हि+तुन्+ऋ+थन्=हेत्वर्थ'। श्रीचक्रपाणि के अनुसार इसकी परिभाषा—'हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते; यथा—'समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्, इति'। च० सू० अ० १२।५। 'इति वातमधिकृत्योक्तं, तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदयं समानशब्दं धातूनामिति करोति, तेन तथा वायोस्तथा रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणमिति गम्यते'। सुश्रुत के अनुसार—'यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः। यथा मृत्पिण्डोऽद्भिः प्रक्लिद्यते तथा माषदुग्धप्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यत इति'। सु० उ० अ० ६५।११। जो दूसरे प्रकार से कही गयी बात दूसरे अर्थ को सिद्ध करती है, उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जिस प्रकार पानी से मिट्टी का ढेला गीला होता है, उसी प्रकार उड़द तथा दूध आदि का सेवन करने से व्रण (घाव) भी गीला हो जाता है।

४. **पदार्थ**—'पद्+अच्+ऋ+थन्'=पदार्थ। इस शब्द का प्रयोग द्रव्यगत रस आदि के अर्थ में भी होता है। यह पाँच प्रकार का होता है—'द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च' ॥ भा० प्र०। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'पदार्थो नाम पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः। पद शब्द का व्यापक क्षेत्र है—शक्तं पदम्, सुप्तिङन्तं पदम्, समर्थः पदविधिः। इन आर्षवाक्यों द्वारा कहा गया यह पद जिस अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है, उसी का ग्रहण किया जाता है। इसी आशय को सुश्रुत ने भी प्रकट किया है—'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः, अपरिमिताश्च पदार्थाः'। इसके स्पष्टीकरण के लिए देखें—सु० उ० अ० ६५।१०। समस्त शब्दों एवं सभी क्रियाओं को पद कहा गया है। न्यायशास्त्र में सात पदार्थों का परिगणन इस प्रकार किया गया है—'द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाऽभावाः सप्त पदार्थाः'। तर्कसंग्रह।

५. **प्रदेश**—'प्र+दिश्+घञ्=प्रदेश'। संकेत करना; यह इसका साहित्यिक अर्थ है। श्रीचक्रपाणि लिखते हैं—'प्रदेशो नाम यद् बहुत्वादर्थस्य कार्त्स्न्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते; यथा—'अनुपानैक-देशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः'। च० सू० अ० २७।३२९। इसका आशय चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें। सुश्रुत के अनुसार—प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्त-स्याप्ययमुद्धरिष्यतीति'। सु० उ० अ० ६५।१६। अर्थात् प्रस्तुत वस्तु से एक कार्य को सिद्ध करने के बाद अगले कार्य को सिद्ध करने की क्रिया को प्रदेश कहते हैं। जैसे—इस चिकित्सक ने देवदत्त का शल्य कुशलता के साथ निकाला, अब यही यज्ञदत्त के शल्य को भी निकालेगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए।

६. **उद्देश**—'उद्+दिश्+घञ्=उद्देश'। संक्षिप्त वर्णन। यथा—'एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया'। गीता १०।४०। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'उद्देशो नाम सङ्क्षेपाभिधानम्। यथा—'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्'। च० सू० अ० १।२४। अनेन सर्वायुर्वेदाभिधेयोद्देशः'। सुश्रुत के अनुसार—'समासवचन-मुद्देशः। यथा—'शल्यमिति'। सु० उ० अ० ६५।१२। किसी वस्तु या विषय के सम्बन्ध में संक्षेप में कहना उद्देश कहा जाता है। जैसे—शल्य।

७. **निर्देश**—'निद्+दिश्+घञ्=निर्देश'। इशारा करना। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'निर्देशो नाम सङ्ख्येयोक्तस्य विवरणं; यथा—'हेतुलिङ्गौषधस्य पुनः प्रपञ्चनं 'सर्वदा सर्वभावानाम्' इत्यादिना 'इत्युक्तं कारणं' (च० सू० अ० १।४४-५३) इत्यन्तेन कारणप्रपञ्चनमित्यादि'। उक्त श्लोकों का आशय चन्द्रिका-व्याख्या में देखें। सुश्रुत के अनुसार—'विस्तरवचनं निर्देशः। यथा—शारीरमागन्तुकं चेति'। सु० उ० अ० ६५।१३। विस्तारपूर्वक जो विषय कहा जाय उसे निर्देश कहते हैं। जैसे—यह शारीरिक शल्य है और यह आगन्तुज शल्य है। पहले संक्षेप से कहे गये विषय को पुनः समझाने के लिए विस्तार से कहना भी निर्देश है। जैसे—ज्वर आठ प्रकार का होता है, यह संक्षेप से कह दिया। इसी विषय को पुनः इस प्रकार विस्तार से कहना—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. वातपित्तज, ६. वातकफज, ७. पित्तकफज, ७. आगन्तुज। इसी प्रकार अन्य रोगों के सम्बन्ध में भी समझें।

८. **वाक्यशेष**—'वच्+ण्यत (चस्य कः)+शेष=वाक्यशेष'। किसी बात का अवशिष्ट भाग अथवा अपूर्ण वाक्य—'सदोषावकाश इव ते वाक्यशेषः'। विक्रमोर्वशीय, अंक ३। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गम्यमानतया पूर्यते। यथा—'प्रवृत्तिर्हेतुभावानाम् (च० सू० अ० १६।२८) इत्यत्र 'अस्ति' इति पदं पूर्यते तथा 'जाङ्गलजै रसैः' इत्यत्र मांसशब्दः पूर्यते। वाक्येषु चैत एव पदाः शेषाः क्रियन्ते, येऽनिवेशिता अपि प्रतीयन्ते'। सुश्रुत के अनुसार—'येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्य-शेषः। यथा—शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं विनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति'। सु० उ० अ० ६५।१९।

९. **प्रयोजन**—'प्र+युज्+ल्युट्=प्रयोजन'। काम में लगाना, अभिप्राय। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दो-ऽपि प्रवर्तते'। सूक्ति। और भी—'पुत्रप्रयोजना दाराः पुत्रः पिण्डप्रयोजनः। हितप्रयोजनं मित्रं धनं सर्व-प्रयोजनम्' ॥ सुभाषित। चक्रपाणि के अनुसार—'प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते। यथा—'धातुसाम्य-क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। च० सू० अ० १।५३। इसका विशद विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें। सुश्रुत ने इस युक्ति का परिगणन अपनी संहिता में नहीं किया है। अथवा—'यत्सम्पादयितु क्रिया ह्यार-भ्यते तत् प्रयोजनम्'। ये सभी सूक्तियाँ एक ही दिशा का निर्देश करती हैं। महर्षि आत्रेय ने इसके पहले प्रयोजन का लक्षण इस प्रकार दिया है—'अथ प्रयोजनं—प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः। यथा—यद्यकालमृत्यु-रस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति'। च० वि० अ० ८।४४। इसका विस्तृत विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें।

१०. **उपदेश**—'उप+दिश्+घञ्=उपदेश'। शिक्षण, विशिष्ट निर्देशन। यथा—'सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशेन निपुणो भवति'। मालविकाग्निमित्र, अंक १। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में—'चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये। मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते'। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'उपदेशो नाम आप्तानुशासनम्'। यथा—'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्'। देखें—च० सू० अ० १३।९९ तथा च० सू० अ० २।१८। सुश्रुत के अनुसार—'एवमित्युपदेशः। यथा—तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवा स्वप्नं च वर्जयेत्'। सु० उ० अ० ६५।१४। इस प्रकार कार्य करना चाहिए, आप्तजन द्वारा इस प्रकार का कथन उपदेश है। जैसे कि रात में जागना न चाहिए और दिन में सोना छोड़ देना चाहिए। इसी को दूसरे आचार्यों ने इस प्रकार भी कहा है—'शुद्धस्याप्त-वचनस्य कीर्तनमुपदेशः'। ध्यान से देखने पर सभी वेद, शास्त्र, पुराण आदि उपदेशों से ही परिपूर्ण देखे जाते हैं।

११. **अपदेश**—'अप+दिश्+घञ्=अपदेश'। नाम का उल्लेख करते हुए संकेत करना—'नैष न्यायो यद्दातुरपदेशः'। दश० ६०। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अपदेशो' नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनम्। यथा—'वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः। विद्याद् दुष्परिहार्यत्वात्'। च० वि० अ० ३।१०। तत्र प्रतिज्ञातार्थस्य हेतुवचनं दुष्परिहार्यत्वादिति'। सुश्रुत के अनुसार—'अनेन कारणेनेत्यपदेशः। यथापदिश्यते मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति'। सु० उ० अ० ६५।१५। इस सुप्रसिद्ध कारण से यह कार्य हुआ या होता है, ऐसा कथन अपदेश कहा जाता है। जैसे कि कहा जाता है—मधुर रस (मधु को छोड़कर) कफ को बढ़ाता है, जैसे—दूध।

१२. **अतिदेश**—'अति+दिश्+घञ्=अतिदेश'। एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर आरोपण करना। यथा—'अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः'। मीमांसा। अथवा 'अन्यत्रैव प्रणीतायाः

कृत्स्नाया धर्मसंहतेः। अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते' ॥ 'गोसदृशो गवयः'। यह रूपातिदेश अथवा सादृश्य का निदर्शन है। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अतिदेशो नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाश्यार्थमनुक्तार्थसाधनायैव एवमन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते। यथा—'यच्चान्यदपि किञ्चित् स्यादनुक्तमिह पूजितम्। वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते' ॥ च० सू० अ० ८।३४। सुश्रुत के अनुसार—'प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः। यथा—यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति'। सु० उ० अ० ६५।१७। प्रकृत में न आयी हुई वस्तु को सिद्ध करने की क्रिया का नाम अतिदेश है। उदाहरण—क्योंकि इसकी वायु विलोम होकर ऊपर की ओर को उठती है, इसलिए यह उदावर्त का रोगी होगा, ऐसा विचार किया जा सकता है, जो सत्य होता है। इसी अध्याय के १७वें गद्य में जिन 'शिखिगोनर्द' आदि वस्तियों का उल्लेख किया गया है, वे सभी आतिदेशिक ही हैं।

१३. **अर्थापत्ति**—'ऋ+थन्+आ+पद्+क्तिन्=अर्थापत्ति'। परिस्थितियों के आधार पर अनुमान लगाना। ज्ञान के पाँच साधनों में से एक अथवा मीमांसकों के अनुसार पाँच प्रमाणों में से एक प्रमाण। प्रतीय-मान असंगति का समाधान करने के लिए यह एक प्रकार का अनुमान है। उदाहरण—'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'। यहाँ देवदत्त के मोटेपन और दिन में न खाने की असंगति का समाधान अनुमान द्वारा किया जाता है कि यह रात्रि में अवश्य खाता होगा। साहित्य में अर्थापत्ति नामक एक अलंकार भी है, जिसका उल्लेख प्रत्येक लक्षण-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। यहाँ हम पीयूषवर्ष-जयदेवकवि रचित चन्द्रालोक से उसके लक्षण-उदाहरण को उद्धृत कर रहे हैं—'अर्थापत्तिः स्वयं सिद्ध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम्। स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसी-रुहाम्' ॥ ५।३७। यत्रैकस्य सिद्ध्याऽर्थान्तरमर्थात् सिद्ध्यति सा अर्थापत्तिः'। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अर्था-पत्तिर्नाम यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा—नक्तं दधिभोजननिषेधः, अर्थाद् दिवा भुञ्जीतेत्यापद्यते'। सुश्रुत के अनुसार—'यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा—ओदनं भोक्ष्ये, इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति; नायं पिपासुर्यवागूमिति'। सु० उ० अ० ६५।२०। जो विषय न कहा गया हो यदि वह भी कथित अर्थ से जहाँ प्रतिपादित हो जाता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे—मैं भात खाऊँगा, यह कहने से यह स्वयं समझ में आ जाता है, कि यह यवागू नहीं पीना चाहता। वास्तव में श्रीचक्रपाणि ने भी सुश्रुत के लक्षण को देखकर ही अर्थापत्ति का लक्षण निर्धारित किया है।

महर्षि आत्रेय ने इसका वर्णन **'अर्थप्राप्ति'** के नाम से इस प्रकार किया है—'अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थे-नोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः। यथा नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः, अपतर्पणसाध्यो-ऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—निशि भोक्तव्यमिति'। च० वि० अ० ८।४८। अर्थापत्ति तथा अर्थप्राप्ति इन दोनों तन्त्रयुक्तियों को श्रीचक्रपाणि एवं गङ्गाधर ने एकार्थवाचक माना है। आप भी विचार करें और निर्णय लें कि क्या यह तन्त्रकार द्वारा पुनरुक्ति हुई है, अथवा वर्णन प्रकार का संक्षेप-विस्तार है, अथवा 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'। इस न्याय के अनुसार इसका प्रयोग किया गया है ?

१४. **निर्णय**—'निर्+नी+अच्=निर्णय। पूर्ण निश्चय। देखें—मनुस्मृति ८।३०१, ४०९; ९।२५०। याज्ञवल्क्यस्मृति २।१०। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'निर्णयो नाम विचारितस्यार्थस्य व्यवस्थापनम्। यथा—चतुष्पदभेषजत्वादि विचारं कृत्वाऽभिधीयते—'यदुक्तं पूर्वाध्याये षोडशगुणमिति, तद्भेषजं युक्तियुक्तमलमारोग्या-येति'। च० सू० अ० १०।३। सुश्रुत के अनुसार—'तस्योत्तरं निर्णयः। यथा—शरीरं प्रपीड्य पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः। एवमसाध्या वातजा इति'। सु० उ० अ० ६५।२६। आक्षेपपूर्वक पूर्वपक्ष में किये गये प्रश्न के उत्तर का नाम निर्णय है। वातज प्रमेह में वातदोष शरीर को पीड़ित कर तदनन्तर मूत्राशय में जाकर वसा, मेदस् तथा मज्जा धातु से मिले हुए मूत्र का त्याग कराता है। इसलिए वातज प्रमेह असाध्य होते हैं। अन्य मत—'उद्दिष्टानामर्थानामनुद्दिष्टेन निराकाङ्क्षत्वापादनं निर्णयः'। अथवा—'निर्णयो नाम विचारितार्थस्य व्यवस्थापनम्'।

१५. **प्रसङ्ग**—'प्र+सञ्ज+घञ्=प्रसंग'। अवसर के अनुसार। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'प्रसङ्गो नाम पूर्वाभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वादिना पुनरभिधानम्। यथा—'तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमति-योगः'। च० सू० अ० ११।३७। एवमाद्यभिधाय, पुनः—'अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च'। च० शा० अ० १।११८। इत्यादिना पूर्वोक्त एवार्थोऽभिधीयते'। सुश्रुत के अनुसार—'प्रकारान्तरेण समापनं प्रसङ्गः; यद्वा

ाकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्ग। यथा—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्, इति वेदोत्पत्तावभिधाय, भूतचिन्तायां पुनरुक्तम्—यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स खल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृत इति'। सु० उ० अ० ६५।२२। पूर्वोक्त विषय के समान ही विषय का पुनः कथन प्रसङ्ग है, अथवा प्रकरणों के बीच में जो विषय बार-बार कहा जाता है और समाप्त किया जाता है, उसे प्रसङ्ग कहते हैं। जिस प्रकार वेदोत्पत्ति नामक अध्याय (सु० सू० अ० १) में पुरुष की परिभाषा दी गयी है, उसी पुरुष में क्रिया (चिकित्सा) होती है, वही चिकित्सा का अधिष्ठान है। यह कहकर फिर भूतचिन्ता नामक अध्याय (सु० शा० अ० १) में उसी विषय का प्रतिपादन करना, कि यही कर्मपुरुष चिकित्सा में अधिकृत है, इसी को प्रसङ्ग कहते हैं।

१६. **एकान्त**—'इ+कन्+अन्त=एकान्त'। अकेला, जो केवल एक ही पदार्थ या बिन्दु की ओर निर्दिष्ट हो। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'एकान्तो नाम यदवधारणेनोच्यते। यथा—निजः शरीरदोषोत्थः। त्रिवृद्विरेचयतीत्यादि'। सुश्रुत के अनुसार—'यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा—त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव)'। सु० उ० अ० ६५।२३। जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कहा जाता है, वह एकान्त है। यथा—निशोथ विरेचन कराती है और मैनफल वमन कराता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दूसरा लक्षण—'यत्पक्षान्तरव्यावर्तकं तदेकान्तः'।

१७. **अनैकान्त**—'नञ्+इ+कन्+अन्त=अनैकान्त'। यह एकान्त का विपरीतार्थक शब्द है। इसके अर्थ हैं—अनिश्चित, अस्थिर, सामयिक। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अनैकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं; यथा—'ये ह्यातुराः केवलाद् भेषजादृते म्रियन्ते, न च ते सर्व एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्'। च० सू० अ० १०।५। इत्यादि। सुश्रुत के अनुसार—'क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद् रसं, केचिद् वीर्यं, केचिद् विपाकमिति'। सु० उ० अ० ६५।२४। कहीं इस प्रकार और कहीं अन्य प्रकार; इस प्रकार की जहाँ अनिश्चित व्यवस्था हो, उसे अनैकान्त कहते हैं। यथा—कुछ आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है, कोई रस को प्रधान मानते हैं, कोई वीर्य को और कोई विपाक को प्रधान मानते हैं। अथवा—'अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणम्'। अर्थात् जो अवश्यम्भावी रूप से निश्चित न हो उसे अनैकान्त कहते हैं। इस प्रसंग में अन्यत्र 'अनेकान्त' शब्द भी देखा गया है, जो व्याकरण की दृष्टि से विचारणीय है।

१८. **अपवर्ग**—'अप+वृञ्+घञ्=अपवर्ग'। पूर्ति, समाप्ति, फलप्राप्ति, अपकर्षण। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अपवर्गो नाम साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणं; यथा—'न पर्युषितान्नमाददीतान्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः' इति। च० सू० अ० ८।२०। अत्र हि सामान्येन पर्युषितभक्षणनिषेधं कृत्वा मांसादेः पर्युषितस्यापि भक्षणमपकृष्य विधीयते'। सुश्रुत के अनुसार—'अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः। यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति'। सु० उ० अ० ६५।१८। सर्वत्र व्याप्त होकर फिर अपकर्षण करना अर्थात् उसका अपवाद उपस्थित करना अपवर्ग कहा जाता है। यथा—विष से पीड़ित रोगियों का स्वेदन नहीं करना चाहिए, यह कहकर किन्तु कीटविष-युक्त रोगियों को छोड़कर, यह कहना अपवर्ग का लक्षण है। जैसा कि ऊपर कहा भी जा चुका है—पर्युषित (बासी) भोजन को नहीं खाना चाहिए, परन्तु मांस आदि का भक्षण किया जा सकता है; यह कहकर उक्त आदेश को समाप्त कर देना यह अपवर्ग का लक्षण है।

१९. **विपर्यय**—'वि+परि+इ+अच्=विपर्यय'। विपरीतता, व्यतिक्रम, अन्यथा व्यवहार। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'विपर्ययो नाम अपकृष्टात् प्रतीपोदाहरणं; यथा—'निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते' इति। च० नि० अ० ३।९। सुश्रुत के अनुसार—'यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः। यथा—कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते, दृढादयः सुचिकित्स्या इति'। सु० उ० अ० ६५।२१। जो यहाँ कहा गया हो, उसके विपरीत का नाम विपर्यय है। यथा—कृश, अल्पप्राण तथा भीरु पुरुष दुश्चिकित्स्य होते हैं। ऐसा कहने पर इसके विपरीत यह समझ लिया जाता है, कि दृढ, महाप्राण तथा निडर व्यक्तियों की चिकित्सा सुखपूर्वक की जा सकती है। अथवा—'उक्तस्यान्यथाभावो विपर्ययः'। यह भी विपर्यय का एक लक्षण है।

२०. **पूर्वपक्ष**—'पूर्व+अच्+पक्ष+अच्=पूर्वपक्ष'। कर्मधारयसमास। पहला हिस्सा अथवा वादी द्वारा कहा गया विषय। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'पूर्वपक्षो नाम प्रतिज्ञातार्थसन्दूषकं वाक्यं; यथा—'मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत्', इति प्रतिज्ञातस्यार्थस्य 'सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाभ्यवहरेदन्यत्र चिलचिमात्' इति। च० सू० अ० २६।८४। इसका विस्तृत विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें। सुश्रुत के अनुसार—'आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा—कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति'। सु० उ० अ० २५। आक्षेपपूर्वक प्रश्न को पूर्वपक्ष कहते हैं। उदाहरण—वातजनित चार प्रकार के प्रमेह किस कारण से असाध्य होते हैं? अन्य लक्षण—'परप्रतिज्ञातानुपपत्तिप्रदर्शनपरो वाक्यसमुदायः पूर्वपक्षः'।

२१. **विधान**—'वि+धा+ल्युट्=विधान'। क्रम से रखना, व्यवस्था करना। अध्यादेश, धार्मिक नियम; मनुस्मृति ९।१४८। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'विधानं नाम सूत्रकारश्च विधाय वर्णदति; यथा—'मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः'। इत्यत्र दुष्टिशब्देन मलानां हीनत्वमधिकत्वमाचार्यगृहीतमाचार्यो वर्णयति—'मलवृद्धिं गुरुतया लाघवान्मलसङ्क्षयम्। मलायनानां बुध्येत सङ्गोत्सर्गादतीव च' इति॥ च० सू० अ० ७।४३। केचित्तु प्रकरणानुपूर्व्याऽर्थाभिधानं विधानमाहुः। यथा—रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणामुत्पादक्रमानुरोधेनाभिधानम्'। सुश्रुत के अनुसार—'प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितं विधानम्। यथा—सक्थिमर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितानि'। सु० उ० अ० ६५।२९। प्रकरण के अनुसार कहने का नाम विधान है। जैसे—टाँग के ग्यारह मर्म होते हैं, ये प्रकरण के अनुसार कह दिये गये हैं। विशिष्ट लक्षण—'तन्त्रस्य कर्त्रा यस्मिन् विषये या विशिष्टा पदादिरचना कृता, तद् विधानम्'। अथवा—'यत्सूत्रकारो विधाय वर्णयति तद् विधानं नाम'।

२२. **अनुमत**—'अनु+मन्+क्त=अनुमत'। सम्मत, अनुज्ञात, स्वीकृत। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अनुमतं नाम एकीयमतस्यानिवारणेनानुमननं; यथा—गर्भशल्यस्य जरायुः प्रपातनं कर्म संशमनमित्येके'। च० शा० अ० ८।३१। इत्याद्येकीयमतं प्रतिपाद्याप्रतिषेधादनुमन्यते'। सुश्रुत के अनुसार—'परमतमप्रसिद्धमनुमतम्। यथा—अन्यो ब्रूयात्—सप्त रसा इति। तच्चाप्रतिषेधादनुमन्यते कथञ्चिदिति'। सु० उ० अ० ६५।२८। दूसरे के मत को किसी प्रकार के विरोध के बिना स्वीकार कर लेना 'अनुमत' कहा जाता है। जैसे—कोई आचार्य कहे कि रस सात होते हैं, इसको किसी प्रकार का विरोध किये बिना स्वीकार कर लेना ही 'अनुमत' है। अन्य लक्षण—'परपक्षस्य भिन्नस्याप्यङ्गीकरणमनुमतम्'।

२३. **व्याख्यान**—'वि+आ+ख्य+ल्युट्=व्याख्यान'। संसूचन, वर्णन, भाषण, स्पष्टीकरण, अर्थ, विवृति। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'व्याख्यानं नाम यत् सर्वबुद्ध्यविषयं व्याक्रियते। यथा—प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः'। च० शा० अ० ४।९। इत्यादिनाऽस्मदाद्यविदितार्थव्याकरणम्'। सुश्रुत के अनुसार—'तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्। यथा—इह पञ्चविंशतिकः पुरुषो व्याख्यायते, अन्येष्वायुर्वेदतन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारभ्य चिन्ता'। सु० उ० अ० ६५।३३। तन्त्र (शास्त्र) में सम्बन्धित विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन करना व्याख्यान कहा जाता है। जैसे—सुश्रुतसंहिता में पच्चीस तत्त्वों वाले पुरुष का व्याख्यान किया गया है। अन्य आयुर्वेदीय तन्त्रों में भूतादि अहंकार से आरम्भ करके अर्थात् अव्यक्त को छोड़कर पुरुष की सत्ता वर्णित है। विशेष लक्षण—'व्याख्यानं नाम यत् सर्वबुद्ध्यविषयं व्याक्रियते'।

२४. **संशय**—'सम्+शी+अच्=संशय'। संदेह, अनिर्णय। 'एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः'। न्याय०। इसमें वर्णित सोलह भेदों में से एक भेद। महर्षि आत्रेयानुसार—'संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः। यथा—दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणैरुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च, एतदुभयदृष्टत्वात् संशयः—किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति'। च० वि० अ० ८।४३। इसका विस्तृत विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में देखें तथा इस पर दी गयी श्रीचक्रपाणि की टीका का भी अवलोकन करें। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'संशयो नाम विशेषाकाङ्क्षानिर्धारितोभयविषयज्ञानम्। यथा—'मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्। स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः'॥ च० सू० अ० ११।६। इत्यादिनोक्तः संशयः'। सुश्रुत के अनुसार—'उभयहेतुदर्शनं संशयः। यथा—तलहृदयाभिघातः प्राणहरः, पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति'। सु० उ० अ० ६५।३२। हेतु का दोनों ओर दिखलायी देना संशय कहा जाता है। यथा—तलहृदय (मर्म) पर चोट लगने से मृत्यु हो सकती है, परन्तु हाथ-पैर के कट जाने से मृत्यु नहीं होती है।

विशेष—दोनों पैरों के मध्य में 'तलहृदय' नामक एक मर्म होता है, ऊपर उसी का वर्णन किया गया है। विशेष लक्षण—'विरुद्धानां पक्षाणामनिश्चयः संशयः'।

२५. **अतीतावेक्षण**—'अति+इ+क्त+अव+ईक्ष्+ल्युट्=अतीतावेक्षण'। बीती हुई वस्तु की ओर देखना। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अतीतावेक्षणं नाम यदतीतमेवोच्यते। यथा—'सा कुटी तच्च शयनं ज्वरं संशमयत्यपि'। च० चि० अ० ३।२६९। इत्यत्र स्वेदाध्यायविहितकुट्यादिकमतीतमवेक्षते'। उक्त पद्य निर्णय-सागरीय प्रति में परिवर्तित किया हुआ उपलब्ध होता है, आप भी देखें। चरकसंहिता के १४वें स्वेदाध्याय में आयी हुई कुटी तथा शयन का वर्णन देखें। सुश्रुत के अनुसार इसका नाम—'अतिक्रान्तावेक्षण' है। देखें—'यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्। यथा—चिकित्सितेषु ब्रूयात्-श्लोकस्थाने यदीरितमिति'। सु० उ० अ० ६५।३१। जो पहले कहा जा चुका हो, पुनः उसी विषय को कहना अतिक्रान्तावेक्षण है। यथा—चिकित्सा के अवसर पर कहे, कि जैसा हमने श्लोक(सूत्र)स्थान में कहा था (तदनुसार करें)।

२६. **अनागतावेक्षण**—'न+आ=गम्+क्त+अव+ईक्ष्+ल्युट्=अनागतावेक्षण'। जो विषय अभी सामने नहीं आया है, उसे देखना या सोचना। 'अनागतं यः कुरुते स शोभते'। पञ्चतन्त्र। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'अनागतावेक्षणं नाम यदनागतं विधिं प्रमाणीकृत्यार्थसाधनं; यथा—'अथवा तिक्तसर्पिषः' इत्याद्यनागतावेक्षणेनोच्यते'। सुश्रुत के अनुसार—'एवं वक्ष्यतीत्यनागतवेक्षणम्। यथा—श्लोकस्थाने ब्रूयात्—चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति'। सु० उ० अ० ६५।३०। इस प्रकार से कहेंगे, यह कहना अनागतावेक्षण है। उदाहरण—श्लोक-(सूत्र)स्थान में कहे, कि हम इस विषय को आगे चिकित्सास्थान में कहेंगे। इसका एक उदाहरण—'यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते। यक्ष्मिणस्तत् प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये'॥ च० चि० अ० ८।१८३। उक्त पद्य का राजयक्ष्माधिकार में पथ्य-निर्देश के अवसर पर तन्त्रकार ने इसका प्रयोग 'अनागतावेक्षा' किया है।

२७. **स्वसंज्ञा**—'स्व+सम्+ज्ञा+अङ्+टाप्=स्वसंज्ञा'। प्रत्येक शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों का नाम 'स्वसंज्ञा' होता है, अर्थात् जो संज्ञा उस अर्थ में उसी शास्त्र में प्रयुक्त हो, जैसे—'वस्तिनेत्र'। यहाँ सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने वाले नेत्र से यहाँ प्रयुक्त नेत्र शब्द का अर्थ भिन्न है, अतः यह 'स्वसंज्ञा' है। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते। यथा—'जेन्ताकहोलाकादिका-संज्ञा'। सुश्रुत के अनुसार—'अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा। यथा—मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणम्, लोकप्रसिद्ध-मुदाहरणं वा'। सु० उ० अ० ६५।३४। अन्य शास्त्रों के समान न होना ही 'स्वसंज्ञा' होती है। यथा—मिथुन शब्द से मधुघृत का ग्रहण करना, अथवा लोकप्रसिद्ध उदाहरण का नाम स्वसंज्ञा है। जैसे—यमकस्नेह से घी, तेल का और महास्नेह से घी, तेल, वसा, मज्जा का ग्रहण होता है।

२८. **ऊह्य**—'ऊह्+यत्=ऊह्य'। सोचने योग्य। 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः'। पञ्चतन्त्र १।४३। समझना, सोचना। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'ऊह्यं नाम यदनिबद्धं ग्रन्थे प्रज्ञया तर्क्यत्वेनोपदिश्यते'। यथा—'परिसङ्ख्यातमपि यद् यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्'। च० वि० अ० ८।१४९। सुश्रुत के अनुसार—'यदनिर्दिष्टं बुद्ध्याऽवगम्यते तदूह्यम्। यथा—अभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधं चान्नमुपदिश्यते—भक्ष्यं, भोज्यं, लेह्यं, पेयमिति, एवं चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितम्, इदमत्रोह्यम्—अन्नपाने विशिष्टयोर्द्वयोर्ग्रहणे कृते चतुर्णामपि ग्रहणं भवतीति चतुर्विधश्चाहारः प्रविरलः प्रायेण द्विविध एव। अतो द्वित्वं प्रसिद्धमिति। किञ्चान्यत्—अन्नेन भक्ष्यमवरुद्धं घनसाधर्म्यात्, पेयेन लेह्यं द्रवसाधर्म्यात्'। सु० उ० अ० ६५।४०। जो शब्दतः न कहा गया हो, उसे अपनी तर्कबुद्धि से जान लेने का नाम 'ऊह्य' है। यथा—अन्नपानविधि में कहा गया है कि चार प्रकार का अन्न कहा जाता है—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय; इस प्रकार चार प्रकार का भोजन होता है, कहने में दो ही प्रकार का कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यहाँ तर्क-बुद्धि से विचार करना चाहिए, कि मुख्यरूप से दो प्रकार के अन्नपान का ग्रहण करने से चारों प्रकार के अन्नपान का ग्रहण हो जाता है। व्यवहार में उक्त चार प्रकार का आहार भी दो प्रकार का ही कहा जाता है। अतः तर्क-बुद्धि से दो प्रकार के आहार को विविध प्रकार का समझ लेना ही 'ऊह्य' है।

२९. **समुच्चय**—'सम्+उत्+चि+अच्=समुच्चय'। संग्रह, समष्टि, राशि, पुञ्ज तथा एक अलङ्कार का नाम (काव्यप्रकाश १०।११५-११६)। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'समुच्चयो नाम यदिदं चेदं चेति कृत्वा

विधीयते। यथा—'वर्णश्च स्वरश्च' (च० इ० अ० १।३) इत्यादि। सुश्रुत के अनुसार—'इदं चेदं चेति समुच्चयः। यथा—मांसवर्गे एणहरिणादयो लावतित्तिरसारङ्गाश्च प्रधानानीति'। सु० उ० अ० ६५।३८। यह भी है और यह भी है, इसका नाम समुच्चय है। जैसे—मांसवर्ग में एण, हरिण आदि मुख्य हैं और लावा, तीतर, सारंग आदि भी मुख्य हैं। अन्य लक्षण—'एकस्मिन् विहिते तदविरोधेन तत्रैव द्वितीयस्य विधानं समुच्चयः'। यह लक्षण भी उक्त विषय का सम्पोषक है।

३०. **निदर्शन**—'नि+दृश्+ल्युट्=निदर्शन'। इशारा करना, बतलाना। 'बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्'। पञ्चतन्त्र ३।२३। दृष्टान्त, उदाहरण। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'निदर्शनं नाम मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः। यथा—'विज्ञातममृतं यथा'। च० सू० अ० १।१२४। सुश्रुत के अनुसार—'दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम्। यथा—अग्निर्वायुना सहितः कक्षे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रण इति। सु० उ० अ० ६५।३६। दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट करने का नाम 'निदर्शन' है। जैसे अग्नि वायु के साथ मिलकर तिनकों के ढेर को जलाते हुए बढ़ने लगती है, वैसे ही वात, पित्त, कफदोषों से दूषित हुआ व्रणशोथ बढ़ने लगता है। अन्य लक्षण—'साध्यस्यैकदेशो दृष्टान्तो निदर्शनम्'। ऐसा उदाहरण च० सि० अ०२।१६ में आस्थापनवस्ति द्वारा सम्पूर्ण शरीर के विकारों का नाश हो जाता है, इस विषय को कहने के लिए दिया गया है—'वनस्पतिमूलच्छेदवत्'।

३१. **निर्वचन**—'निर्+वच्+ल्युट्=निर्वचन'। निरुक्ति, व्युत्पत्ति। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'निर्वचनं नाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः। यथा—ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्' इति। च० सू० अ० १६।३२। निदर्शननिर्वचनयोरयं विशेषः—यन्निदर्शनं मूर्खविदुषां बुद्धिसामान्यविषयं, निर्वचनन्तु पण्डितबुद्धिवेद्यमेव; किंवा निर्वचनं निरुक्तिः। यथा—'विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः'॥ च० चि० अ० २१।११। इत्यादि। आप ध्यान दें—निर्णसागरीय प्रति में उक्त पाठ कुछ परिवर्तित रूप में है। सुश्रुत के अनुसार—'निश्चितं वचनं निर्वचनम्। यथा—'आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वा, आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः'। सु० उ० अ० ६५।३५। निश्चितरूप से जो बात कही जाती है, उसे निर्वचन कहते हैं। जैसे—इस आयुर्वेदशास्त्र द्वारा आयु का ज्ञान होता है, अथवा इस शास्त्र के अध्ययन द्वारा आयु प्राप्त की जा सकती है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं। इसी प्रकार काल नित्यगमनशील होता है। इसे विद्वान् तो समझता है, किन्तु मूर्ख काल की नित्यगमनशीलता को नहीं समझ सकता है।

३२. **सन्नियोग**—'सम्+नि+युज्+घञ्=सन्नियोग'। अवश्य करने योग्य कार्य। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—इन्होंने इसे केवल 'नियोग' संज्ञा दी है। 'नियोगो नाम अवश्यानुष्ठेयतया विधानम्। यथा—'न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्या'। च० सू० अ० १४।४६। इत्यादि। सुश्रुत के अनुसार—'इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः। यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति'। सु० उ० अ० ६५।३७। यही करना चाहिए, इस प्रकार के आदेश का नाम 'नियोग' है। यथा—पथ्य (हितकर) आहार का ही सेवन करना चाहिए। नियोग या सन्नियोग विधि उसे कहा जाता है, जिससे आवश्यक कर्तव्य का निर्देश किया जाता है, उसका भी विकल्प देखा जाता है।

३३. **विकल्प**—'वि+क्लृप्+घञ्=विकल्प'। सन्देह, अनिश्चय, शंका। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'विकल्पः पाक्षिकाभिधानम्'। यथा—'सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा'। च० चि० अ० ६।४६। इत्यादि। सुश्रुत के अनुसार—'इदं वेदं वेति विकल्पः। यथा—रसौदनः सघृता यवागूर्वा (भवत्विति)'। सु० उ० अ० ६५।३९। यह अथवा यह, इस प्रकार की अनिर्णयावस्था को विकल्प कहते हैं। यथा—मांसरस के साथ भात अथवा यवागू (पतली खिचड़ी) में घी मिलाकर खाना चाहिए। अथवा—'क्रमेण यौगपद्येन वा सम्भाविनां पक्षाणां कीर्तनं विकल्पः'।

३४. **प्रत्युत्सार**—'प्रति+उत्+सृ+घञ्=प्रत्युत्सार'। प्रतिकूल या प्रतिपक्षी के मत को हटाना। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणम्। यथा—वार्योविदः प्राह—'रसजानि तु भूतानि रजसा व्याधयः स्मृताः'। च० सू० अ० २५।१३। (यहाँ कुछ पाठभेद प्राप्त होता है) इत्यादि। इन सबका विवेचन हिरण्याक्षो निषेधयति—'न ह्यात्मा रसजः स्मृतः'। च० सू० अ० २५।१४। इत्यादि। इन सबका विवेचन

चरक-चन्द्रिका व्याख्या में देखें। प्रत्युत्सार, उद्धार तथा सम्भव इन तीनों को सुश्रुत ने उद्धृत नहीं किया है। चरक-शारीरस्थान अ० ८।३२ में 'अष्टमे तु मासे' इत्यादि गद्य में आगे कहा गया भद्रकाव्य का वचन इस तन्त्र-युक्ति का उदाहरण है।

३५. **उद्धार**—'उद्+हृ (धृ)+घञ्=उद्धार'। बलपूर्वक बाहर निकालना, अपनी बात को महत्त्व देना। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणम्। यथा—'येषामेव हि भावानां सम्पत् सञ्जनयेन्नरम्। तेषामेव हि भावानां विपद् व्याधीनुदीरयेत्' ॥ च० सू० अ० २५।२९। इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम्'। सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण में उक्त श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार दिया है—'तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत्'। भाव एवं भाषा की दृष्टि से श्रीचक्रपाणि द्वारा उद्धृत पाठ अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यह प्रसंग-चरक-सूत्रस्थान का है। महर्षि पुनर्वसु ने परस्पर विवाद करते हुए ऋषियों के मतों में 'तत्त्वं हि दुष्प्रापं' (च० सू० अ० २५।२६) कहकर दोष-प्रदर्शनपूर्वक अपने उपर्युक्त मत द्वारा सबका समाधान किया, शास्त्रार्थ में इसी विधि को 'उद्धार' कहते हैं। अर्थात् प्रतिवादी के पक्ष में दोष दिखलाकर अपने पक्ष को युक्तिपूर्वक स्वीकार करा लेना ही 'उद्धार' है। मल्लविद्या में भी बलवान् मल्ल अपने प्रतिद्वन्दी को दबाकर अपना 'उद्धार' करता है, अर्थात् शारीरिक बल से स्वयं उसके ऊपर रहता है और यहाँ बुद्धिबल से।

३६. **सम्भव**—'सम्+भू+अच्=सम्भव'। जन्म, उत्पत्ति-स्थान, उगना। 'संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति सम्भवम्'। सुभाषित। महर्षि आत्रेय के अनुसार—'अथ सम्भवः—यो यतः सम्भवति स तस्य सम्भवः, यथा—षड्धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं, हितमारोग्यस्येति'। च० वि० अ० ८।४९। इसका विवेचन चरकचन्द्रिका व्याख्या में यथास्थान देखें। श्रीचक्रपाणि के अनुसार—'सम्भवो नाम यद् यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य सम्भवः'। यथा—'मुखे पिप्लुव्यङ्गनीलिकादयः सम्भवन्तीत्यादि'। अन्य लक्षण—१. 'यस्मिन्ननुपदिष्टे उपपत्तिरुत्पद्यते स सम्भवः'। जिस वाक्य के न कहने पर भी उसका बोध हो जाय उसे सम्भव कहते हैं। जैसे—दूषित रक्त को निकाल देने से उस स्थान की वेदना और लालिमा स्वयं शान्त हो जाती है। २. 'किमप्यन्यत्रादर्शनाद् येन नियमेन स्थाप्यते स सम्भवः'। जो बात अन्य स्थान पर न देखी जाय उसकी जिस नियम से स्थापना की जाती है, उसे सम्भव कहते हैं।

विशेष—सुश्रुत ने उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है—'असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्। स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः' ॥ सु० उ० अ० ६५।५। इसके अनुसार प्रस्तुत अध्याय में कही गयी ३६ तन्त्रयुक्तियाँ तथा चरक-विमानस्थान अ० ८ में वाद-मर्यादा लक्षणों से आगे के विषय को भी तन्त्रयुक्ति स्वीकार करना चाहिए। यों तो सम्पूर्ण चरकसंहिता में सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर अनेक प्रकार की तन्त्रयुक्तियाँ यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं।

तन्त्रे समासव्यासोक्ते भवन्त्येता हि कृत्स्नशः ॥ ४५ ॥
एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहिते तथा ।

तन्त्रयुक्तियों की सत्ता—ये संक्षेप तथा विस्तार के साथ सभी तन्त्रों में होती हैं, अर्थात् किसी तन्त्र में इनका वर्णन संक्षेप से किया होता है और किसी में विस्तार के साथ। जो तन्त्र संक्षेप में कहे (लिखे) गये होते हैं, उनमें ये उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियाँ भी एकदेश (संक्षेप) से ही कही जाती हैं, अर्थात् उनमें सम्पूर्ण तन्त्र-युक्तियाँ नहीं पायी जाती हैं।

यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ॥ ४६ ॥
प्रबोधनप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ।

तन्त्रयुक्तियों की उपयोगिता—जिस प्रकार कमलवन को सूर्य और घर को दीपक प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र के छिपे हुए अर्थों को खोलकर उन्हें प्रकाशित करती हैं।

वक्तव्य—यहाँ तन्त्रकार ने कमलवन, गृह और आर्षतन्त्रों के प्रबोधक तथा प्रकाशक तत्त्वों का समुचित वर्णन किया है। आप ध्यान दें—मुकुलित कमल जब तक विकसित नहीं हो जाता तब तक उसके सुवास तथा

शोभा आदि गुणों का प्रकाशन नहीं हो पाता और दीपक के बिना घर के भीतर रखे हुए घट-पट आदि पदार्थों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, वैसी ही स्थिति तन्त्रयुक्तियों की भी है, जिनके बिना शास्त्र के रहस्य का ज्ञान नहीं हो सकता।

एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ॥ ४७ ॥
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात् प्रबुध्यते ।

शास्त्रों का परस्पर सम्बन्ध—जिस विद्वान् को किसी एक शास्त्र का भी भली-भाँति ज्ञान होता है, वह तन्त्रयुक्तियों को जानने के कारण अन्य शास्त्रों को भी सम्यक् प्रकार से शीघ्र ही जान लेता है।

वक्तव्य—एक शास्त्र के ज्ञान से अन्य शास्त्र का ज्ञान सरलतापूर्वक किया जा सकता है और एक शास्त्र को भली-भाँति जानने के लिए अनेक शास्त्रों का ज्ञान होना अत्यावश्यक होता है। देखें—'एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्। तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः' ॥ सु० सू० अ० ४।७।

अधीयानोऽपि शास्त्राणि [1]तन्त्रयुक्त्या विना भिषक् ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा ॥ ४८ ॥

शास्त्रज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियों का महत्त्व—यदि आयुर्वेद के ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक पुरुष तन्त्रयुक्तियों को बिना समझे शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है, तो वह आयुर्वेद के तात्त्विक (रहस्यमय) अर्थों को नहीं समझ सकता। जैसे भाग्य के क्षीण हो जाने पर अर्थात् दुर्भाग्य (दुर्दिनों) के उदय हो जाने पर मानव अर्थों (धन, सम्पत्ति आदि) को प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह कितना ही परिश्रम करे।

वक्तव्य—सुश्रुत ने तन्त्रयुक्तियों के ज्ञान के लाभ का वर्णन करते हुए कहा है, कि इनके सम्यक् ज्ञान से असद् वादियों (कुतर्कियों) के वादों का प्रतिषेध कर अपने द्वारा कहे गये सिद्धान्त की स्थापना की जा सकती है। देखें—सु० उ० अ० ६५।५। वास्तव में तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र को समझने की सही दिशा का निर्देश करती हैं और उसके गुप्त रहस्यों को प्रकट करने में सहायक होती हैं।

दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शास्त्रं शस्त्रमिवाबुधम् ।
सुगृहीतं तदेव ज्ञं शास्त्रं शस्त्रं च रक्षति ॥ ४९ ॥

शास्त्रज्ञान के योग्य-अयोग्य व्यक्ति—जिस प्रकार मूर्ख (शस्त्र-शिक्षा से सर्वथा अनभिज्ञ) व्यक्ति के हाथ में दिया हुआ शस्त्र उसी के अंगों को क्षीण करने लगता है, उसी प्रकार मूर्ख (तन्त्रयुक्तियों तथा शास्त्र-व्यवहार आदि से अनभिज्ञ) व्यक्ति का एकांगीण शास्त्रज्ञान उसी को अपयश आदि द्वारा नष्ट करने लगता है। इसके विपरीत शस्त्र-विद्याविशारद के हाथ में दिया गया वही शस्त्र अपनी रक्षा करता हुआ आततायियों का वध कर पाता है और आयुर्वेद के उभयविध ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति का शास्त्रज्ञान अपनी रक्षा करता हुआ दूसरों की रक्षा करने में भी सक्षम होता है। अतः अयोग्य व्यक्तियों को शस्त्र तथा शास्त्र का अधिकार नहीं देना चाहिए। वास्तव में शस्त्र एवं शास्त्र दोनों ही सुरक्षा के साधन हैं; केवल अन्तर है, उसके सदुपयोग तथा दुरुपयोग का।

(तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः ।
तत्त्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः) ॥ ५० ॥

उत्तरतन्त्र में तन्त्रयुक्तियों का वर्णन—इसलिए प्रस्तुत चरकसंहिता के गुण तथा दोषों के वास्तविक ज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियों का पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन उत्तरतन्त्र में किया जायेगा।

वक्तव्य—अग्निवेश ने जिस तन्त्र की रचना की थी और महर्षि चरक ने जिस संहिता का प्रतिसंस्कार किया था, उन दोनों में उत्तरतन्त्र के होने की सूचना कहीं भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु उक्त श्लोक द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इसका उत्तरतन्त्र भी रहा है; हो सकता है दृढबल ने इसकी पूर्ति की हो, ऐसा पहले कहा जा चुका है। उन्होंने ही उत्तरतन्त्र की भी रचना की हो, ऐसा कुछ टीकाकार स्वीकार करते हैं। सन्

१. 'तन्त्रयुक्त्यविचक्षणः' इति पा०।

१९२२ की निर्णयसागरीय प्रति में इस श्लोक को कोष्ठक के भीतर भी नहीं दिया गया है। श्रीचक्रपाणि ने उक्त श्लोक के सम्बन्ध में लिखा है—'तस्मादेता इत्यादिकं श्लोकमुत्तरे तन्त्रे तन्त्रयुक्तिव्याकरणे प्रतिपादितं पठन्ति, तं चानार्षं वृद्धा वदन्ति, अग्निवेशतन्त्रे उत्तरतन्त्रस्यैवानार्षत्वात्'। चरक के उत्तरतन्त्र की जो चर्चा उक्त श्लोक के कारण टीकाकारों ने की है, वह उत्तरतन्त्र आज तक न तो कहीं मूर्तरूप में और न इतिहास के पन्नों पर ही देखा गया है।

इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः।
स मनुजसुखजीवितप्रदाता भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मवृद्धः ॥ ५१ ॥

चरकसंहिता के अध्ययन का फल—जो मनुष्य सम्पूर्ण रूप से इस चरकसंहिता का अध्ययन करके इसके अर्थों (विषयों) को भली-भाँति समझकर तथा इसमें तन्मय होकर विचार करता है, इसमें कहे गये विषयों (उपदेशों) तथा योगों का प्रतिदिन प्रयोग करता है, वह मनुष्य धीरता, स्मृति (स्मरणशक्ति), बुद्धि तथा धर्म को प्राप्त करके मानव मात्र को सुखी जीवन देने में समर्थ होता है।

वक्तव्य—तन्त्रकार का आदेश है कि इस संहिता को आदि से अन्त तक पढ़ना चाहिए, तभी वह सम्पूर्ण तन्त्र के रहस्य को समझ सकता है, क्योंकि शास्त्रों में प्रसंगानुसार कर्तव्य-अकर्तव्य का विधान किया होता है, कौन कहाँ किस परिस्थिति में करणीय है और कौन अकरणीय है, इसका निर्णय करना तब तक कठिन होता है। जब तक शास्त्र का पूर्वापर अनुसन्धान न किया गया हो। आज विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में प्रमुख तथा गौण दृष्टि से विषयों को देखकर जो निर्धारण किया जाता है, उससे छात्रों के हितों में बाधा उत्पन्न होती है। **सम्यगर्थान् विमृशति**—तन्त्रकार ने इस वाक्यांश द्वारा तन्त्रयुक्तियों का सम्यक् ज्ञान करके सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ने का आग्रह किया है। **अविमनाः**—इसका आशय है, कि शास्त्र के अध्ययन एवं उसके प्रयोग काल में तन्मयता का व्यवहार रखना चाहिए। धृति, स्मृति, बुद्धि, धर्म—ये मानव-जीवन के बहुमूल्य तत्त्व हैं। इनके अभाव में मानव पशु के समान हो जाता है। आयुर्वेद के अध्ययन का सुमधुर फल है—'मनुजसुखजीवितप्रदान' अर्थात् मानव मात्र को सुखमय जीवन का दान देना।

(यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः ॥ ५२ ॥

चरक के अध्ययन का लाभ—जिस व्यक्ति के हृदय (मन) में यह बारह हजार श्लोकों से युक्त चरकसंहिता सदैव विराजमान रहती है, वह व्यक्ति अर्थज्ञ (सभी प्रकार के चिकित्सा सम्बन्धी विषयों का जानने वाला) है, वह विचारशील है अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य का जानकार होता है और वही व्यक्ति चिकित्सा करने में भी कुशल होता है।

वक्तव्य—आज के इस मुद्रण युग में प्रत्येक ग्रन्थ के अनेक संस्करण उन-उन के सम्पादकों की बुद्धि का परिचय लेकर उपलब्ध होते हैं। यही स्थिति उपलब्ध चरकसंहिताओं की भी है। निर्णयसागरीय प्रतियों का निर्णायकत्व स्वरूप उसके अनेक संस्करणों को देखने से विश्वसनीय नहीं रह गया। निर्णयसागरीय संस्करणों की परस्पर भिन्नता को देखकर हमारा ध्यान इस ओर जाता है, कि इनके प्रत्येक संस्करण की आदर्श प्रति निश्चित ही भिन्न-भिन्न रही होगी, क्योंकि सभी संस्करणों में विभिन्न प्रकार की विविधताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आप चरकसंहिता के विभिन्न संस्करणों को इन दृष्टियों से देखें—'अथातो···भगवानात्रेयः। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में आने वाले इस गद्य पर कुछ प्रतियों में कोई अंक नहीं दिया गया है, दूसरे संस्करणों में १-२ अंक दिये हैं। पद्यों का गणनाक्रम भी विचित्र है—प्रायः अनेक स्थानों पर अनुष्टुप् छन्द तीन पंक्तियों का दिया गया है, जब कि उसे दो पंक्तियों में ही पूरा होना चाहिए। गद्यों का विभाजन प्रायः प्रत्येक संस्करणों में परस्पर भिन्न हैं। इस विषम परिस्थिति में इसे हम 'द्वादशसाहस्री' कैसे मान लें? यह भी नहीं कहा जा सकता, कि इसके पद्य १२ हजार से कम हैं या ज्यादा। मैंने सोचा था, कि इस विषय को प्रश्न का रूप न देकर इसका भी समाधान प्रस्तुत कर दूँगा, परन्तु समय एवं सहयोग न मिल पाने के कारण भविष्णु छात्रों पर ही इसका दायित्व छोड़ रहा हूँ।

रोगांस्तेषां चिकित्सां च स किमर्थं न बुध्यते।
चिकित्सा वह्निवेशस्य सुस्थातुरहितं प्रति ॥ ५३ ॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

चरकसंहिता का महत्त्व—प्रस्तुत चरकसंहिता के रहते हुए मानव-समाज विविध प्रकार के रोगों तथा उनकी चिकित्सा (रोगों को दूर करने) का ज्ञान क्यों नहीं जान जाते? महर्षि अग्निवेश द्वारा रचित यह चिकित्साशास्त्र (संहिता) नीरोग तथा रोगी दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिए हितकारी है। चिकित्सा-विषयक त्रिकालाबाधित (भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में सत्य सिद्ध होने वाला) सिद्धान्त-समूह जो इस अग्निवेशसंहिता में विद्यमान है, वही सब अन्यान्य संहिताओं में भी विद्यमान है और जो इस संहिता में नहीं है, वह अन्यत्र भी कहीं नहीं है।

वक्तव्य—कुछ संस्करणों में **'रोगांस्तेषां···बुध्यते'** के ऊपर एक पंक्ति इस प्रकार और दी गयी है 'ऊर्ध्वबाहुर्विरौत्येवं न च कश्चिद् शृणोति मे'। इसे निर्णयसागरीय संस्करणों ने उद्धृत नहीं किया है। इस महत्त्वपूर्ण संहिता के प्रति दोनों हाथों को ऊपर उठाकर तन्त्रकार का ऐसा विराव करना (चिल्लाना) युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, अतएव यह पद्यांश निश्चय ही प्रक्षिप्त है। पुराणों में 'ऊर्ध्वबाहु' नामक एक पात्र का परिचय प्राप्त होता है। वह वसिष्ठ एवं ऊर्जा के सात पुत्रों में से अन्यतम था, जो यहाँ अप्रासंगिक है।

सुस्थातुरहितं—अनेक संस्करणों में इस पाठ के स्थान पर 'स्वस्थातुरहितं' पाठ मिलता है। 'स्वस्थ' की अपेक्षा 'सुस्थ' पाठ अधिक युक्तियुक्त है, क्योंकि 'स्वस्थ' शब्द का केवल आयुर्वेदीय क्षेत्र में 'नीरोग' अर्थ प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में इसका एक अर्थ 'स्वर्गस्थ=मृत' भी होता है, जो हमें अभीष्ट नहीं है। देखें—'स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः'। वेणीसंहारनाटक, प्रथमअंक। यहाँ कौरवों के विनाश के लिए उक्त भीमसेन की यह उक्ति है।

यदिहास्ति तदन्यत्र—सचमुच चिकित्सा सम्बन्धी समस्त ज्ञातव्य विषय प्रस्तुत चरकसंहिता में विद्यमान है। हमारा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार के विद्वानों का विचार एवं विश्वास है, कि समस्त चिकित्सा-पद्धतियों का मूल आयुर्वेद है तथा आयुर्वेद के समस्त सिद्धान्त, दृष्टिकोण तथा विचार-पद्धतियाँ इस संहिता में पूर्णरूप से निबद्ध हैं। मनचले आक्षेपकों की कल्पना-पद्धति कुछ भी हो, परन्तु विश्वविचारकों को इसमें एक भी विषय ऐसा नहीं दिखलायी देता, जो अपवाद युक्त हो अथवा विवाद-ग्रस्त हो। कदाचित् यदि कोई सन्देह उत्पन्न हो भी जाता है, तो बुद्धिपूर्वक गम्भीर विचार कर लेने पर वह मिट जाता है। क्योंकि इनकी विषय-विवेचन पद्धति इतनी स्पष्ट एवं सुबोध है, कि किसी प्रकार के सन्देह का अवसर ही नहीं रह पाता है।

उदाहरण के लिए दाँतों तथा नखों की रचना पर ध्यान दें—ये दोनों अस्थियाँ हैं, परन्तु इनका सन्निवेश अस्थिगणना प्रसंग में किस कुशलता के साथ तन्त्रकार ने किया है। देखें—'एवं त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेनेति'। च० शा० अ० ७।६। इससे स्पष्ट होता है कि मूल अस्थियों से इनका रचना-प्रकार भिन्न है। जिन रस-रसायनों का वर्णन रस-ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध होता है, उन विषयों का भी इसमें संक्षेप में निर्देश कर दिया है।

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते ॥ ५४ ॥
सिद्धिस्थानेऽष्टमे प्राप्ते तस्मिन् दृढबलेन तु।
सिद्धिस्थानं स्वसिद्ध्यर्थं समासेन समापितम् ॥ ५५ ॥)

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते सिद्धिस्थाने
उत्तरबस्तिसिद्धिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इति सिद्धिस्थानं समाप्तम्।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार—महर्षि अग्निवेश द्वारा रचित तथा चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत सूत्रस्थान आदि के क्रम से इस आठवें सिद्धिस्थान के प्राप्त होने पर उसमें आचार्य दृढबल ने अपनी सिद्धि (प्रसिद्धि) के लिए संक्षेप में प्रस्तुत सिद्धिस्थान को समाप्त किया।

वक्तव्य—उक्त ५५वें श्लोक से सिद्ध हो रहा है, कि आचार्य दृढबल के सामने खंडित रूप में 'सिद्धिस्थान' प्राप्त था। उसे इन्होंने संक्षेप में पूर्ण कर दिया, जिसके कारण वे इस १२वें अध्याय में संहिता के अध्यायों की परम्परा 'भवति चात्र' तथा 'तत्र श्लोकः' 'तत्र श्लोकाः' आदि का सन्निवेश करना भूल गये। श्रीचक्रपाणि 'यस्य द्वादशसाहस्री' आदि तीन श्लोकों को पामाणिक नहीं मानते, अतएव उन्होंने इन पर टीका भी नहीं लिखी। ऐसा मत उन संस्करण-कर्ताओं का है, जिन्होंने अपने संस्करणों में इन पद्यों को उद्धृत नहीं किया है। हमने तो सन् १९४१ के निर्णयसागरीय संस्करण को आधार मानकर इन पद्यों को सादर उद्धृत किया है।

समाप्ति-मङ्गलम्

स जयत्यात्रेयमुनिः कायचिकित्सामुखं चरकसंज्ञम्।
तन्त्रं कृतवान् दिव्यं दत्ते स्वास्थ्यं सदैव यत् पुम्भ्यः॥ १॥
टीका चरके नव्या ब्रह्मानन्दस्य चन्द्रिका नाम्नी।
विलसतु चिराय पठतां मनःसु विदुषां सतां शश्वत्॥ २॥

आभार-प्रदर्शनम्

टीकायां मम बुद्धिदोषवशतो मुद्रादिदोषाच्च यत्
सञ्जातं स्खलनं सुधीभिरिह तत् क्षम्यं गुणग्राहिभिः।
यावन्त्युद्धरणानि युक्तिवशतो ग्रन्थान्तरेभ्यो मया
नीतानीह सदैव तान् प्रति हृदाऽऽभारं वहेयं मुहुः॥ ३॥

इस प्रकार श्रीवैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** के पुत्र **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** विरचित चरक चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्य आदि से संवलित चरकसंहिता-सिद्धिस्थान में उत्तरवस्तिसिद्धि नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त॥ १२॥

इस प्रकार सिद्धिस्थान समाप्त हुआ।

॥ समाप्तेयं चरकसंहिता॥

टीकाकार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जीवन-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य **डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी** का जन्म १५ सितम्बर १९३२ ई० को उत्तर-प्रदेशस्थ **नैनीताल** जिला के श्रीब्रह्मकुटी, शिलौटी ग्राम में हुआ। आपके पूर्वज **श्री श्रीचन्द्र त्रिपाठी** अपने पुत्र **शुकदेव** को लेकर १३४२ शक तदनुसार १४२० ई० में गुजरात प्रदेश के अमलावाद वड़नगर के अन्तर्गत तेवार-कसना ग्राम से कूर्माचल की पवित्र नगरी अल्मोड़ा में आये। इनके प्रथम पुत्र **श्रीशुकदेव** को कालीकुमाऊं के **बिंड ग्राम** में तत्कालीन राजा ने जागीर दी। तब से इनके उत्तराधिकारी बिंड के त्रिपाठी कहे जाते हैं।

इधर **राजा उद्योतचन्द** ने परम तेजस्वी श्री श्रीचन्द्र त्रिपाठी को अपने राजपंडितों में सादर स्थान दिया। राजा की प्रार्थना पर आपने विशेष अनुष्ठान विधि द्वारा अल्मोड़ा जिला में स्थान-स्थान पर जलाशय (नौले) उत्पन्न कर दिये। श्रीत्रिपाठी की इस अद्भुत दैवीशक्ति से प्रभावित होकर राजा ने आपको पर्याप्त

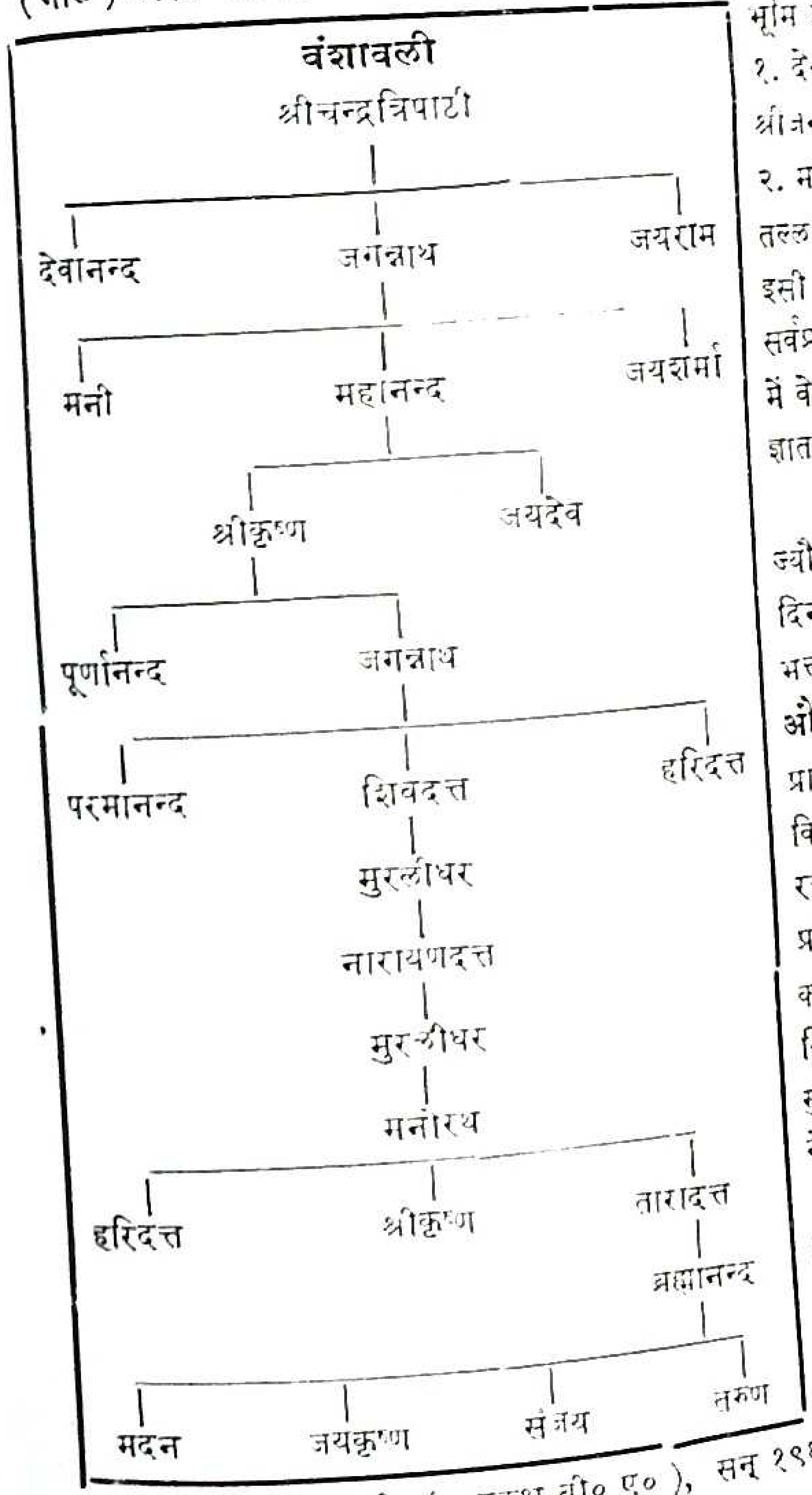

भूमि प्रदान की। यहाँ आकर आपको तीन पुत्र हुए—१. देवानन्द, २. जगन्नाथ, ३. जयराम। तदनन्तर श्रीजगन्नाथ त्रिपाठी के तीन पुत्र हुए—१. मनी, २. महानन्द, ३. जयशर्मा। श्रीमहानन्द के वंशज तल्लाचौंसार, खरकोट और डुबकिया में रहने लगे। इसी वंशपरम्परा के श्रीमान् पंडित मुरलीधर त्रिपाठी सर्वप्रथम अल्मोड़ा से शिलौटी ग्राम में आये। इस कुल में वेद, मन्त्रशास्त्र, कर्मकाण्ड, वैद्यक और ज्यौतिष के ज्ञाता उत्पन्न हुए।

वैद्यरत्न **पण्डित तारादत्त त्रिपाठी** कर्मकाण्ड,
ज्यौतिष एवम् आयुर्वेद के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। आपकी
दिनचर्या तपस्विजनोचित थी। आप शिव के अनन्य
भक्त थे। आप द्वारा स्थापित **'आयुर्वेदीय दातव्य**
औषधालय' से अनेक व्यक्ति प्रतिदिन निःशुल्क औषध
प्राप्त कर लाभान्वित होते थे। आपने मादकपदार्थों के
विरोध में **'चाय-तमाखू'** नामक लघु पुस्तिका की
रचना कर **महात्मा गांधी** के विचारों को बल
प्रदान किया और **'पहाड़ी गीतोपदेश'** का निर्माण
कर पर्वतीय समाज को उद्बोधित किया। आप धार्मिक
विषयों के मान्य लेखक तथा उपदेशक भी रहे हैं। आपके
सुलेखों तथा चित्रों से प्रभावित होकर ब्रिटिश-शासन
ने समय-समय पर विभिन्न पुरस्कार दिये।

अपने पितृचरणों से परम्परागत ज्ञान को उत्तरा-
धिकार के रूप में प्राप्त कर पूज्या माताजी के दिवंगत
होने के बाद **श्रीब्रह्मानन्द त्रिपाठी** ने वाराणसी
आकर सन् १९५५ में आयुर्वेदाचार्य एवं ज्यौतिषाचार्य
परीक्षा, सन् १९६१ में साहित्याचार्य परीक्षा, सन्
१९६२ में विशिष्टशास्त्री (समकक्ष बी० ए०), सन् १९६५ में एम० ए० परीक्षा, सन् १९७३ में पी-एच० डी०
तथा सन् १९७५ में आयुर्वेदबृहस्पति (डी० एस-सी०, ए०) की उपाधि ससम्मान प्राप्त की।

कार्यक्षेत्र	पद	अवधि
१. अर्जुन आयुर्वेद-महाविद्यालय, वाराणसी	चरक-प्राध्यापक	१९५५ से ५९ तक
२. अर्जुन आयुर्वेद चिकित्सालय, वाराणसी	प्रधान चिकित्सक	१९५५ से ५९ तक
३. डी० ए० वी० कालेज, वाराणसी	संस्कृत-प्राध्यापक	१९५६ से
४. मेडिसिन प्लांट सर्वे यूनिट, रानीखेत (उ० प्र०)	वैद्य	१९६५ में २ मास
५. कविभारती, वाराणसी	उपमन्त्री	१९७० में एक वर्ष

कृतियाँ

संस्कृत-साहित्य—व्यक्तिविवेकः (उ० प्र० शा० द्वारा पुरस्कृत), मेघदूतम्, किरातार्जुनीयम्, छन्दोमञ्जरी, वृत्तमञ्जरी, शिशुपालवधम्, व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः, संस्कृतसाहित्य का इतिहास, संस्कृत-निबन्ध-मञ्जूषा, प्रस्तावरत्नाकरः (साहित्य), प्रबन्धसङ्ग्रहः (व्याकरण), अनुवादचन्द्रिका, अमरकोषः, धातुपर्याय-कोषः, चाणक्यनीतिः, नीतिशतकम्, रुद्राष्टाध्यायी, कठोपनिषद्, ऋक्सूक्तसङ्ग्रहः, शिवपुराणम्, एकादशी-माहात्म्यम्, सत्यनारायणकथा तथा शनैश्चरस्तोत्रम् ।

आयुर्वेद—माधवनिदानम्, वैद्यावतंसः, चमत्कारचिन्तामणिः, लोलिम्बराज और उनकी कृतियाँ : एक अध्ययन, लोलिम्बराज-ग्रन्थावली, अजीर्णमञ्जरी, स्वस्थवृत्तम्, 'चन्द्रिका' टीका युक्त चरक-संहिता तथा शार्ङ्गधरसंहिता ।

ज्यौतिष—बृहद्-वास्तुमाला, ग्रहलाघवम्, मुहूर्तचिन्तामणिः, शीघ्रबोधः, शिशुबोधः, व्यवहाररत्नम्, नाहिदत्तपञ्चविंशतिका ।

विविध-विषयक-साहित्यिक निबन्ध

क्रम निबन्ध	पत्रिका	स्थान	सन्
१. ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना	शिक्षा	लखनऊ	१९६०
२. कला और आर्षशास्त्रीय ग्रन्थ	"	"	१९६२
३. गढ़वाल की कुछ जातियाँ और भाषा	ग्राम्या	"	१९६२
४. अल्मोड़ा जिला के दर्शनीय स्थान	"	"	१९६२
५. स्वस्तिक-परिचय	त्रिपथगा	"	१९६३
६. संस्कृत : एक अध्ययन	अजन्ता	हैदराबाद	१९५८
७. साहित्य और हमारा जीवन	"	"	१९५९
८. वेदों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन	भारती	वम्बई	१९६३
९. देवताओं के वाहन	"	"	१९६३
१०. साँप दिव्य और पार्थिव	"	"	१९६२
११. लक्ष्मी	धर्मयुग	"	१९६६
१२. महाराज जयनारायण घोषाल	वैंकटेश्वरसमाचार	"	१९६१
१३. संस्कृत व्याकरणों का आलोचनात्मक परिचय	सरस्वती	इलाहाबाद	१९५८
१४. वाराही देवी	"	"	१९७८
१५. चित्रकाव्य	सम्मेलनपत्रिका	"	१९६३
१६. पर्वतीयस्थानों की अमर देन	सप्तसिन्धु	पटियाला	१९६३
१७. महर्षि पाणिनि	कलश	कलकत्ता	१९६२
१८. चित्रकाव्यकौतुकम्	आज	वाराणसी	१९६८
१९. स्व० लालचन्द्रजी वैद्य	"	"	१९६८
२०. ब्रह्मवैवर्तपुराण और मेघदूत	"	"	१९७०
२१. भारतीय संस्कृति में दीपावली	किसलय	"	१९५९
२२. वैदिकसाहित्य में नाट्यतत्त्व	"	"	१९६६

२३. हनुमान क्षत्रिय हैं या वानर	किसलय	वाराणसी	१९६६
२४. पाश्चात्य कविता पर कालिदास का प्रभाव	"	"	१९६७
२५. संस्कृत पठन-पाठन की नवीन सरणि	अन्नदापुष्पाञ्जलि	"	१९७७
२६. सप्तशृङ्गी देवी	"	"	१९७७
२७. षट्शक्ति	"	"	१९७७
२८. चित्रचर्चा	चित्रम्	"	१९७६

शोधस्तरीय आयुर्वेदिक निबन्ध

१. नेहरू और आयुर्वेद	अनुभूतयोगमाला	इटावा	१९६४
२. भस्म	"	"	१९६३
३. मेरे अनुभव	"	"	१९६०
४. यूनानी चिकित्सा : एक विहंगम दृष्टि	धन्वन्तरि	अलीगढ़	१९६४
५. भूलोक का अमृत मठा	"	"	१९६४
६. बालपक्षाघात (पोलियो)	"	"	१९८३
७. जलोदर	"	"	१९६३
८. मधु शब्द का साहित्यिक विवेचन	"	"	१९६३
९. बालकों का रसक्षय	"	"	१९६२
१०. धत्तूर का अनुभव	"	"	१९६२
११. कास शब्द की निरुक्ति तथा परिचय	"	"	१९६२
१२. आहिण्डिका	"	"	१९६१
१३. मद्य का आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रभाव	"	"	१९६१
१४. वन्ध्यत्व दोष	"	"	१९६०
१५. कतिपय अनुभूत प्रयोग	"	"	१९६०
१६. वाजीकरणम्	"	"	१९६०
१७. कालिदास का आयुर्वेदीय ज्ञान	"	"	१९५९
१८. दोहद और उसका प्रभाव	"	"	१९५९
१९. वैदिककालीन अध्यापक और छात्र	"	"	१९५९
२०. मधुमेह के सर्वप्रथम रोगी श्रीगणेश	"	"	१९५९
२१. श्वासरोग	"	"	१९५९
२२. योषापस्मार	"	"	१९५८
२३. नपुंसकता	"	"	१९६६
२४. ईख का आयुर्वेदीय विवेचन	"	"	१९६७
२५. कतिपय बालरोग	"	"	१९६७
२६. सम्मति	"	"	१९६७
२७. ग्रीष्मऋतु का आहार-विहार एवं स्वास्थ्यरक्षा	"	"	१९७१
२८. आम की उपयोगिता	"	"	१९७१
२९. अभ्यंग से स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य-वृद्धि	"	"	१९७१
३०. वर्षा ऋतुचर्या तथा स्वास्थ्य	"	"	१९७१
३१. अर्श रोग	"	"	१९७४
३२. विषमज्वर : सापेक्ष निदान एवं चिकित्सा	"	"	१९७८
३३. महात्मागाँधी और बकरी का दूध	"	"	१९७०
३४. धन्वन्तरि का जरा-रुजाशामक आँवला	आयुर्वेदविकास	कलकत्ता	१९६४

३५. अंजीर	आयुर्वेदविकास	कलकत्ता	१९६२
३६. बालक : शास्त्रीय विवेचन तथा परिचर्या	”	”	१९६७
३७. दन्तवेष्ट-शीताद-उपकुश	”	”	१९७१
३८. रामबांस	”	”	१९७२
३९. वाग्भट और लोलिम्बराज	”	”	१९७३
४०. अग्निमान्द्य विवेचन एवं समाधान	”	”	१९७४
४१. च्यवन एवं च्यवनप्राश	”	”	१९७६
४२. कायाकल्प	”	”	१९७८
४३. आयुर्वेद में पञ्चकर्म	”	”	१९८३
४४. ग्रामीण चिकित्सा में आयुर्वेद का योगदान	”	”	१९८३
४५. आयुर्वेद अभी सांसें ले रहा है	आ. म. स. प.	दिल्ली	१९६९
४६. कुटकी परिचय तथा उपयोग	”	”	१९७०
४७. लोलिम्बराज तथा मेवारामिश्र	”	”	१९७३
४८. लोलिम्बराज उनका चमत्कारचिन्तामणि	”	”	१९७३
४९. तमाखू का ऐतिहासिक स्वरूप	”	”	१९७३
५०. लुप्त-सुप्त साहित्य एवं योगों को प्रकाश में लायें	”	”	१९७५
५१. स्नान और स्वास्थ्य	आरोग्यसन्देश	नई दिल्ली	१९७५
५२. अविदुग्ध, फिटकिरी, गर्दभमूत्र	सुधानिधि	अलीगढ़	१९७८
५३. उरःक्षत	”	”	१९८२
५४. परिवारनियोजन : एक नया अध्याय	गांडीव	वाराणसी	१९६७
५५. टहलने का अभ्यास कीजिये	किसलय	”	१९६७
५६. हम दीर्घजीवी कैसे हों ?	जनस्वास्थ्य	—	१९६७
५७. चर्मरोग और सौन्दर्य	स्वास्थ्यसरिता	—	१९६३
५८. आयुर्वेदज्ञों की दृष्टि में नींबू	मोहता आयुर्वेदपत्रिका	—	१९६४
५९. कामसमस्या : एक शास्त्रीय अध्ययन	सुधानिधि	अलीगढ़	१९८१
६०. ऋतुचर्य्या	निरोग	इन्दौर	१९८२
६१. आयुर्वेदिक दृष्टि से ग्रामीणचिकित्सा का प्रथमचरण संगोष्ठी		वाराणसी	१९८५
६२. आशयों की स्थिति पर विचार	आयुर्वेदसंस्थान	जयपुर	१९८८

संस्कृत कविताएँ

१. विजयतां गीर्वाणभारती	गाण्डीवम्	वाराणसी	१९६४
२. होलिकाभ्यर्थनम्	”	”	१९६४
३. रागस्य लीलायितम्	”	”	१९७८
४. स्वर्गीयो जवाहरः	किसलय	”	१९६४
५. लालबहादुरशास्त्रिणे श्रद्धाञ्जलयः	”	”	१९६७
६. राष्ट्रनायकम्प्रति, राष्ट्रकविम्प्रति	”	”	१९६४
७. श्रीकृष्णप्रसादाय श्रद्धाञ्जलयः	सूर्योदयः	”	१९६७
८. होलिकाविनोदविन्दवः	”	”	१९७१
९. अरविन्दपदारविन्दवन्दनम्	”	”	१९७२
१०. परीक्षाः	”	”	१९७२
११. दयानन्दमहाविद्यालयः	प्रभा	”	१९७६
१२. सुस्वागतं कुलपते तव कल्पयामः	”	”	१९७६

१३. धन्वन्तरि-वन्दना	अर्जुनवि० पत्रिका	वाराणसी	१९५९
१४. भिषजः सज्जा भवेयुः पुनः	”	”	१९७४
१५. नारी	भारतोदयः	हरिद्वार	१९[illegible]
१६. दीपावली	”	”	१९७८
१७. भारतोदयाभ्युदयः	भारतोदयः	”	१९६८
१८. महर्षि महिमा	”	”	१९७६
१९. सम्भाव्यते, चेतना	”	”	१९७६
२०. राजतां भारतोदयः	”	”	१९७८
२१. सम्मतिः	सर्वगन्धा	लखनऊ	१९७७
२२. धन्वन्तरिर्विजयतेतराम्	अनुभूतयोगमाला	इटावा	१९६६
२३. ऊर्ध्वजत्रुरोगेषु अमोघानुभूतयः	”	”	१९६२
२४. शिशुरोगाङ्कविषये सम्मतिः	धन्वन्तरिः	अलीगढ़	१९६२
२५. स्व० देवीशरणगर्गम्प्रति भावाञ्जलयः	सुधानिधिः	”	१९७४
२६. प्रसीद देवेश ! जनेषु भूयः	आ. म. स. प.	दिल्ली	१९७२
२७. प्रणमनम्	”	”	१९७२
२८. स्तूयतां स्तूयतां वैद्यधन्वन्तरिः	”	”	१९७३
२९. पत्रिकाप्रशस्तिः	स्वास्थ्यम्	अजमेर	१९६४
३०. कवितासङ्ग्रहः	कविभारतीकुसुमाञ्जलिः	वाराणसी	१९६८ से ७३

संस्कृत-निबन्ध

१. संस्कृताध्ययनविमर्शः	दिव्यज्योतिः	शिमला	१९६२
२. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः	”	”	१९६२
३. ऋतुराजः	सूर्योदयः	वाराणसी	१९५९
४. हेमन्तर्तुचर्या	”	”	१९६४
५. वर्षाकालिकी इतिकर्तव्यता	”	”	१९७०
६. आयुर्वेदे त्रिदोषसिद्धान्तः	”	”	१९७०
७. लोलिम्बराजीयं हरिविलासकाव्यम्	”	”	१९७०
८. चक्षूरोगेषु प्रत्यक्षानुभवः	”	”	१९७१
९. कृपणस्य महाभारतम्	”	”	१९७२
१०. संस्कृतसाहित्ये वेणीबन्धनम्	विश्वसंस्कृतम्	होशियारपुर	१९६८
११. कविराजः श्रीमल्लोलिम्बराजः	”	”	१९६८
१२. अर्थस्य सदुपयोगः	संस्कृतभवितव्यम्	नागपुर	१९७७
१३. महाकविः कालिदासः	”	”	१९७९
१४. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्	गाण्डीवम्	वाराणसी	१९७७
१५. भगवती सप्तश्रृङ्गी	”	”	१९७८
१६. उपमा कालिदासस्य	”	”	१९७९
१७. महाराष्ट्रियमनीषिवर्यः श्रीवसन्तत्र्यम्बकशेवडे	”	”	१९८३
१८. काशिको भट्टपरिवारः	”	”	१९८१
१९. आयुषो लक्षणम्	”	”	१९७९
२०. वर्षर्तुदिनचर्या	”	”	१९७९
२१. अल्मोडामण्डलस्य आकर्षणानि	भारतोदयः	हरिद्वार	१९७८
२२. सर्वशास्त्रमयं काव्यं कालिदासस्य विश्रुतम्	”	”	१९७७

२३. नमः ते चाडुकारिते	सर्वगन्धा	लखनऊ	१९७८
२४. आयुर्वेदस्य सर्वजनीनत्वम्	आ. सम्मेलन पत्रिका	दिल्ली	१९५९
२५. योषापस्मारः	,,	,,	१९५८
२६. अभिज्ञानशाकुन्तले भवितव्यतायाः प्रभावः	प्रभा	वाराणसी	१९७९
२७. अभिज्ञानशाकुन्तले तत्र श्लोकचतुष्टयम्	,,	,,	१९८०
२८. चमत्कारचिन्तामणेः चमत्कारिसमीक्षणम्	पारिजातम्	कानपुर	१९८५
२९. पलाण्डुनृपतेः चक्रवर्तित्वम्	,,	,,	१९८६

विशिष्ट अधिवेशनों में योगदान

१. शालाक्य-सम्भाषा-परिषद्, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी आयुर्वेदिक कालेज, दिनांक ७, ८, ९, नवम्बर १९६६ को नेत्र, मुख, कर्ण रोगों पर निबन्धपाठ।

२. सीलोन (श्रीलङ्का) देशादागतानां विदुषां सम्माने वारासेयाऽर्जुनमहाविद्यालये, पद्यात्मकं भाषणम्, सन् १९६७ (गाण्डीवपत्रे प्रकाशितम्)।

३. सेविन्थ साइण्टिफिक कान्फ्रेंस, पोस्ट-ग्रेजुएट इंस्टीच्यूट आफ इंडियन मेडिसिन साइंस, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दिनांक १९, २०, २१ दिसम्बर १९७०।
'लोलिम्बराज का परिचय और उनकी सेवाएँ' निबन्धपाठ।

४. 'लोलिम्बराज और उनकी कृतियों की ऐतिहासिक उपलब्धियाँ' विषय पर व्याख्यान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में, दिनांक २६-११-७५ ई०।

५. संस्कृत अकादमी, उत्तरप्रदेश लखनऊ द्वारा आयोजित संस्कृत दिवस पर 'कविसम्मेलन' श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में कविता पाठ। दिनांक १८-८-७८ ई०।

६. राजस्थान आयुर्वेद विज्ञानपरिषद् का तृतीय विशिष्ट अधिवेशन, सीकर में सम्मिलित, दिनांक २७, २८ जनवरी १९७९।

७. 'आल इण्डिया कान्फ्रेन्स आन प्राब्लम आफ संस्कृत एजुकेशन इन नॉन हिन्दी स्टेट' नागपुर में आयोजित ६, ७, ८, अगस्त १९८२, 'पारम्परिकविद्याध्ययनपद्धतौ वर्तमानाः समस्याः तासां निराकरण उपायाः।

८. राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय वाराणसी, सम्भाषापरिषद्—ग्रामीण-स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं परिवार-कल्याण—में निबन्ध पाठ। 'आयुर्वेदिक दृष्टि से ग्रामीण चिकित्सा का प्रथम चरण' ५,६,७ फरवरी १९८३।

इस प्रकार डॉ० त्रिपाठी ब्राह्मणोचित नित्य-नैमित्तिक दिनचर्या का प्रतिदिन निर्वाह करने के अनन्तर पठन-पाठन, लेखन तथा अभिनव ग्रन्थ रचना आदि में अपने सात्त्विक जीवन का सदुपयोग करने में तत्पर रहते हैं। ऐसे स्वावलम्बी एवं निर्मत्सर व्यक्ति के उज्ज्वल जीवन-परिचय को लिखते हुए मैं अपने जीवन के इन क्षणों को सफल समझ रहा हूँ।

प्रस्तुतकर्ता—

डॉ० जीवनचन्द्र पन्त

एम. एस-सी.

चरकसंहिता-परिशिष्ट

चरकसंहिता-परिशिष्ट

आज शोध (रिसर्च) का युग है। अतः इस कार्य में प्रवृत्त प्रत्येक अनुसन्धाता बड़े से बड़े ग्रन्थ को विविध प्रकार से प्रस्तुत की गयी अनुक्रमणियों (सूचियों) की सहायता से शीघ्र से शीघ्र उसे आत्मसात् कर लेना चाहता है। इसी दृष्टि से अनेक विषयों से परिपूर्ण प्रस्तुत चरकसंहिता की विविध दृष्टिकोणों से तैयार की गयीं अनेक प्रकार की सूचियाँ विद्वानों, अनुसन्धाताओं, अध्ययनार्थियों तथा परीक्षार्थियों के हित की दृष्टि से यहाँ उद्धृत की जा रही हैं।

आयुर्वेद की बृहत्त्रयी या वृद्धत्रयी में चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट (वृद्धवाग्भट या वाग्भट प्रथम) का ग्रहण किया जाता है। किन्तु स्थानों, अध्यायों एवं विषयों का क्रम प्रायः अष्टांगसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय में समान ही है; जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह भिन्न-भिन्न रचयिताओं के कारण है। यद्यपि उक्त तीनों संहिताकारों का वर्ण्य विषय एक (आयुर्वेद) है, तथापि उक्त तीनों संहिताओं के स्थान, अध्याय आदि में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

चरक के आठ स्थान—१. सूत्र, २. निदान, ३. विमान, ४. शारीर, ५. इन्द्रिय, ६. चिकित्सा, ७. कल्प, ८. सिद्धि।

सुश्रुत के स्थान—१. सूत्र, २. निदान, ३. (नहीं है), ४. शारीर, ५. (नहीं है), ६. चिकित्सा, ७. कल्प, ८. (नहीं है)।

वाग्भट के स्थान—१. सूत्र, २. निदान, ३. (नहीं है), ४. शारीर, ५. (नहीं है), ६. चिकित्सा, ७. कल्प, ८. (नहीं है)।

विशेष—चरकसंहिता में उत्तरतन्त्र नहीं है। सुश्रुत और वाग्भटसंहिता में उत्तरतन्त्र है। चरकोक्त इन्द्रियस्थान का विषय सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान के २९, ३०, ३१ तथा ३२ अध्यायों में दिया गया है। आचार्य वाग्भट ने उसे शारीरस्थान के अध्याय ५ तथा ६ में दिया है। चरक द्वारा सिद्धिस्थान में कहे गये विषयों के लिए सुश्रुतसंहिता के चिकित्सास्थान अध्याय ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९ तथा ४० में देखें और वाग्भट में उक्त विषयों को कल्पस्थान में ही देखें।

चरकसंहिता के स्थान-क्रम से अध्यायों की सूची

(१) चरकसंहिता के स्थान-क्रम से अध्यायों की सूची

१. सूत्रस्थान

१. दीर्घञ्जीवितीय
२. अपामार्गतण्डुलीय
३. आरग्वधीय
४. षड्विरेचनशतीय
५. मात्राशितीय
६. तस्याशितीय
७. न वेगान् धारणीय
८. इन्द्रियोपक्रमणीय
९. खुड्डाकचतुष्पाद
१०. महाचतुष्पाद
११. तिस्रैषणीय
१२. वातकलाकलीय
१३. स्नेहोपक्रम
१४. स्वेदोपक्रम
१५. उपकल्पनीय
१६. चिकित्साप्राभृतीय
१७. कियन्तःशिरसीय
१८. त्रिशोथीय
१९. अष्टोदरीय
२०. महारोग
२१. अष्टौनिन्दितीय
२२. लङ्घनबृंहणीय
२३. सन्तर्पणीय
२४. विधिशोणितीय
२५. यज्जः पुरुषीय
२६. आत्रेयभद्रकाप्यीय
२७. अन्नपानविधि
२८. विविधाशितपीतीय
२९. दशप्राणायतनीय
३०. अर्थेदशमहामूलीय

२. निदानस्थान

१. ज्वरनिदान
२. रक्तपित्तनिदान
३. गुल्मनिदान
४. प्रमेहनिदान
५. कुष्ठनिदान
६. शोषनिदान
७. उन्मादनिदान
८. अपस्मारनिदान

३. विमानस्थान

१. रसविमान	४. त्रिविध-रोगविशेषविज्ञानीय-विमान	६. रोगानीकविमान
२. त्रिविध-कुक्षीयविमान	५. स्रोतोविमान	७. व्याधितरूपीयविमान
३. जनपदोद्ध्वंसीयविमान		८. रोगभिषग्जितीयविमान

४. शारीरस्थान

१. कतिधापुरुषीयशारीर	४. महतीगर्भावक्रान्तिशारीर	७. शरीरसंख्याशारीर
२. अतुल्यगोत्रीयशारीर	५. पुरुषविचयशारीर	८. जातिसूत्रीयशारीर
३. खुड्डिकागर्भावक्रान्तिशारीर	६. शरीरविचयशारीर	

५. इन्द्रियस्थान

१. वर्णस्वरीय इन्द्रिय	५. पूर्वरूपीय इन्द्रिय	९. यस्य श्यावनिमित्तीय इन्द्रिय
२. पुष्पितक इन्द्रिय	६. कतमानि शरीरीय इन्द्रिय	१०. सद्योमरणीय इन्द्रिय
३. परिमर्शनीय इन्द्रिय	७. पन्नरूपीय इन्द्रिय	११. अणुज्योतीय इन्द्रिय
४. इन्द्रियानीक इन्द्रिय	८. अवाक्शिरसीय इन्द्रिय	१२. गोमयचूर्णीय इन्द्रिय

६. चिकित्सास्थान

१. रसायनाध्याय	६. प्रमेह	१९. अतिसार
(क) अभयामलकीय रसायनपाद	७. कुष्ठ	२०. छर्दि
(ख) प्राणकामीय रसायनपाद	८. राजयक्ष्मा	२१. विसर्प
(ग) करप्रचितीय रसायनपाद	९. उन्माद	२२. तृष्णा
(घ) आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद	१०. अपस्मार	२३. विष
२. वाजीकरणाध्याय	११. क्षतक्षीण	२४. मदात्यय
(क) सम्प्रयोगशरमूलीयवाजीकरणपाद	१२. श्वयथु	२५. द्विव्रणीय
(ख) आसिक्तक्षीरीय वाजीकरणपाद	१३. उदर	२६. त्रिमर्मीय
(ग) माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद	१४. अर्श	२७. ऊरुस्तम्भ
(घ) पुमाञ्जातबलादिक वाजीकरणपाद	१५. ग्रहणी	२८. वातव्याधि
३. ज्वर	१६. पाण्डु	२९. वातशोणित
४. रक्तपित्त	१७. हिक्काश्वास	३०. योनिव्यापत्
५. गुल्म	१८. कास	

७. कल्पस्थान

१. मदनफलकल्प	५. वत्सककल्प	९. तिल्वककल्प
२. जीमूतककल्प	६. कृतवेधनकल्प	१०. सुधाकल्प
३. इक्ष्वाकुकल्प	७. श्यामात्रिवृत्कल्प	११. सप्तलाशंखिनीकल्प
४. धामार्गवकल्प	८. चतुरङ्गुलकल्प	१२. दन्तीद्रवन्तीकल्प

८. सिद्धिस्थान

१. कल्पनासिद्धि	५. नेत्रवस्तिव्यापत्सिद्धि	९. त्रिमर्मीयसिद्धि
२. पञ्चकर्मीयसिद्धि	६. वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि	१०. वस्तिसिद्धि
३. वस्तिसूत्रीयसिद्धि	७. वस्तिव्यापत्सिद्धि	११. फलमात्रासिद्धि
४. स्नेहव्यापत्सिद्धि	८. प्रासृतयोगीयसिद्धि	१२. उत्तरवस्तिसिद्धि

(२) पाँच सौ द्रव्यों से निर्मित पचास महाकषाय (च० सू० अ० ४)

१. जीवनीय	११. तृप्तिघ्न	२१. स्नेहोपग	३१. पुरीषसंग्रहणीय	४१. दाहप्रशमन
२. बृंहणीय	१२. अर्शोघ्न	२२. स्वेदोपग	३२. पुरीषविरजनीय	४२. शीतप्रशमन
३. लेखनीय	१३. कुष्ठघ्न	२३. वमनोपग	३३. मूत्रसंग्रहणीय	४३. उदर्दप्रशमन
४. भेदनीय	१४. कण्डूघ्न	२४. विरेचनोपग	३४. मूत्रविरजनीय	४४. अंगमर्दप्रशमन
५. सन्धानीय	१५. कृमिघ्न	२५. आस्थापनोपग	३५. मूत्रविरेचनीय	४५. शूलप्रशमन
६. दीपनीय	१६. विषघ्न	२६. अनुवासनोपग	३६. कासहर	४६. शोणितस्थापन
७. बल्य	१७. स्तन्यजनन	२७. शिरोविरेचनोपग	३७. श्वासहर	४७. वेदनास्थापन
८. वर्ण्य	१८. स्तन्यशोधन	२८. छर्दिनिग्रहण	३८. शोथहर	४८. संज्ञास्थापन
९. कण्ठ्य	१९. शुक्रजनन	२९. तृष्णानिग्रहण	३९. ज्वरहर	४९. प्रजास्थापन
१०. हृद्य	२०. शुक्रशोधन	३०. हिक्कानिग्रहण	४०. श्रमहर	५०. वयःस्थापन

उपर्युक्त इन ५० महाकषायों का उल्लेख महर्षि आत्रेय ने सर्वविध चिकित्सा में प्रयुक्त किये जाने वाले औषधद्रव्यों को एक स्थान पर वर्णन करने की दृष्टि से चरकसंहिता-सूत्रस्थान अध्याय ४ में किया है। इन ५० महाकषायों में अनेक द्रव्यों की कई बार पुनरावृत्ति हुई है, इस दृष्टि से इनकी संख्या ५०० नहीं होती है, किन्तु गुण, धर्म तथा उपयोग की दृष्टि से कायचिकित्सा के लिए यह वर्गीकरण अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है। यद्यपि आज उक्त ५०० द्रव्यों में अनेक द्रव्य संदिग्धावस्था में हैं, परन्तु महर्षि आत्रेय के उपदेश काल में इन द्रव्यों की ऐसी स्थिति नहीं थी। हमने 'चरक-चन्द्रिका' व्याख्या में संदिग्ध द्रव्यों पर विचार किया है, जो अवलोकनीय है। इसी प्रकार का वर्गीकरण सुश्रुतसंहिता के ३८वें अध्याय में किया गया है। इस प्रसंग पर वह भी अवलोकनीय है।

जिस प्रकार ५० महाकषायों का वर्णन चरक-सूत्रस्थान अध्याय ४ में किया गया है, उसी प्रकार वातज पित्तज तथा कफज विकारों का अवलोकन करने के लिए चरकसंहिता का २०वाँ अध्याय भी महत्त्वपूर्ण है। इनका विस्तृत परिचय 'चरक-चन्द्रिका' व्याख्या में यथास्थान देखें तथा रक्तज व्याधियों के लिए चरकसंहिता सूत्रस्थान अध्याय २४ के श्लोक ११ से १६ तक का भी परिशीलन करें।

औषधद्रव्यों के असंख्येय होने के कारण महर्षि आत्रेय ने विमानस्थान अध्याय ८ गद्य १३९ से १४४ तक में रस-प्रधान कतिपय द्रव्यों का निम्न प्रकार संग्रह किया है। वे इनका प्रयोग आस्थापन क्रिया के लिए करने का आदेश देते हैं।

(३) रस-भेद से द्रव्यों का संग्रह

१. मधुरस्कन्ध	३. लवणस्कन्ध	५. तिक्तस्कन्ध
२. अम्लस्कन्ध	४. कटुकस्कन्ध	६. कषायस्कन्ध

(४) चरकोक्त रोगों की अनुक्रमणिका

रोगों की उत्पत्ति देश, काल, दोष, दृष्य आदि के समवाय को पाकर होती है। रोगोत्पत्तिकारक परिस्थितियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं। अतः रोगों के नामों को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता है। इसका संकेत महर्षि आत्रेय ने इस प्रकार किया है—'विकारनामा कुशलो न जिहीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः' ॥ च० सू० अ० १८।४४। अतः चरकसंहिता के विभिन्न स्थानों एवं अध्यायों में निर्दिष्ट रोगों को यहाँ अकारादि क्रम से सूची-बद्ध किया जा रहा है।

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या	रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
अ				अक्षतरोग-लक्षण	चि०	१२	८८
अंगग्रहरोग	सि०	६	७६-७७	अजीर्णाध्यशनज रोग	सि०	१२	१४
अंगशूलरोग	,,	७	४७-५३	अण्डवृद्धि (ब्रध्न) लक्षण	चि०	१२	९४-९५

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
अण्डवृद्धि : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	३०
अतत्त्वाभिनिवेश	चि०	१०	५४-६३
अतिकृश का निदान	सू०	२०	१०-१२
अतिचंक्रमणज रोग	सि०	१२	१४
अतियोगज रोग	,,	७	७-११
अतिसार के ३६ भेद	,,	८	१९-२१
अतिसार छः	सू०	१९	४
अतिसार कफज (प्रवाहिका)	चि०	१९	७
अतिसार पित्तज	सू०	१९	६
अतिसार रोग	चि०	१९	१-४
अतिसार वातज	,,	१९	५
अतिसार सन्निपातज	,,	१९	८-१०
अतिसार भयज	,,	१९	११-१३
अतिसार शोकज	,,	१९	११-१३
अतिसार रक्तज	,,	१९	६९-७०
अतिस्थूल के लक्षण	सू०	२०	९
अधिजिह्विका	चि०	१२	७७
अधिमांस, अर्बुद आदि का शोथ में अन्तर्भाव	सू०	१८	३३
अध्यशनजनित रोग	सि०	१२	१४
अनन्तवातरोग	,,	९	८४-८६
अनुक्त रक्तज रोगों का संग्रह	सू०	२४	१७
अन्तरायाम लक्षण	चि०	२८	४३-४५
अपतन्त्रकरोग	सि०	९	११-२०
अपतर्पणज रोग	सू०	२३	२६-२९
अपस्मार चार	,,	१९	४
अपस्मार रोग	नि०	८	१-७
अपस्मार रोग	चि०	१०	१-८
अपस्मार वातज	नि०	८	८
,, पित्तज	,,	८	८
,, कफज	,,	८	८
,, सन्निपातज	,,	८	८
,, आगन्तुज	,,	८	९
अपीनस	चि०	२६	११३-११४
अयोगज रोग	सि०	७	७-११
अरुचि पाँच	सू०	१९	४
अरूंषिका के लक्षण	चि०	२६	११७
अरोचक ,,	,,	२६	१२४-१२६
अर्दित ,,	,,	२८	३८-४२
अर्धावभेदक रोग	सि०	९	७४-७८

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
अर्श कफप्रधान	चि०	१४	१७-१९
अर्श त्रिदोषज	,,	१४	२०
अर्श द्वन्द्वज	,,	१४	२०
अर्श पित्तप्रधान	,,	१४	१४-१६
अर्श रोग	,,	१४	१-६
अर्श रोग दो	सू०	१९	४
अर्श वातप्रधान	चि०	१४	११-१३
अर्श सहज	,,	१४	७-८
अलजीरोग-लक्षण	,,	१२	८८
अलसक-लक्षण	वि०	२	१२
असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग	शा०	१	१२८-१२९
अस्थिदोषज रोग	सू०	२८	१६
आ			
आगन्तुज रोगों की उत्पत्ति में प्रज्ञापराध कारण	,,	७	५१-५२
आगन्तुज विकारों के उत्पत्ति न होने की विधि	,,	७	५३-५४
आध्मानरोग	सि०	६	५८-६०
आध्मानरोग	,,	७	२१-२६
आनाह : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	३१
आमदोष दो	,,	१९	४
आमविष लक्षण	वि०	२	१२
आयाम दो	सू०	१९	४
आक्षेपक के लक्षण	चि०	२८	५०
इ			
इन्द्रियगत दोषज रोग	सू०	२८	२०
उ			
उदररोग आठ	,,	१९	४
उदररोग	चि०	१३	१-२२
उदररोग वातज	,,	१३	२३-२५
,, पित्तज	,,	१३	२६-२८
,, कफज	,,	१३	२९-३१
,, सन्निपातज	,,	१३	३२-३४
,, प्लीहोदर	,,	१३	३५-३८
,, बद्धगुदोदर	,,	१३	३९-४१
,, छिद्रोदर	,,	१३	४२-४४
,, जलोदर	,,	१३	४५-४९
उदरशोथ : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	३१
उदावर्त छः	,,	१९	४
,, निदान	चि०	२६	५-१०

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
उन्माद पाँच	सू०	१९	४
,, रोग	नि०	७	१-६
,, रोग	चि०	९	१-८
,, वातज	नि०	७	७
,, पित्तज	,,	७	७
,, कफज	,,	७	७
,, सन्निपातज	,,	७	७
,, आगन्तुज	,,	७	१०-११
,, भूतज	,,	७	१३
,, वातज	चि०	९	९-१०
,, पित्तज	,,	९	११-१२
,, कफज	,,	९	१३-१४
,, त्रिदोषज	,,	९	१५
,, आगन्तुज	,,	९	१६
,, ब्रह्मराक्षसज	,,	९	२०
,, पिशाचज	,,	९	२०
,, पितृज	,,	९	२०
,, गन्धर्वज	,,	९	२०
,, यक्षज	,,	९	२०
,, राक्षसज	,,	९	२०
,, देवादिज	,,	९	१८-२०
,, भूतज	,,	९	१७
उपकुश	,,	१२	७८
उपजिह्विका : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	१९
उपजिह्विका	चि०	१२	७७
उपद्रवरोग	सि०	६	९०-९१
उरःक्षतरोग	चि०	११	१-१४
उष्णवातरोग	सि०	९	३८
ऊ			
ऊरुस्तम्भ एक	सू०	१९	४
,, निदान	चि०	२७	३-१४
ऊर्ध्वगमनव्यापत	सि०	७	३२-३९
ए			
एकाङ्गरोग लक्षण	चि०	२८	५३-५५
क			
कक्षारोग	,,	१२	९१
कफज्वर	नि०	१	२६-२७
कफविकार बीस	सू०	२०	१७
कर्णमूलशोथ : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,	१८	२७
कर्णरोग के लक्षण	चि०	२६	१२७-१२८

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
कर्णरोग चार	सू०	१९	४
कामला दो	,,	१९	४
,, निदान, लक्षण	चि०	१६	३४-३६
कास कफज	,,	१८	१७-१९
,, क्षतज	,,	१८	२०-२३
,, क्षयज	,,	१८	२४-२८
,, पाँच	सू०	१९	४
,, पित्तज	चि०	१८	१४-१६
,, रोग लक्षण	,,	१८	१-९
कास वातज	चि०	१८	१०-१३
कुम्भकामला लक्षण	,,	१६	३७
कुष्ठ अलसक	,,	७	२३
कुष्ठ उदुम्बर	नि०	५	८
,, उदुम्बर	चि०	७	१५
,, ऋष्यजिह्व	नि०	५	८
,, ऋष्यजिह्व	चि०	७	१७
,, एककुष्ठ	,,	७	२१
,, कपाल	नि०	५	८
,, कपाल	चि०	७	१४
,, काकणक	,,	७	२०
,, काकणक	नि०	५	८
,, किटिभ	चि०	७	२२
,, किलास तीन	सू०	१९	४
,, कृमिकर्तृक	नि०	५	११
,, चर्मकुष्ठ	चि०	७	२१
,, चर्मदल	,,	७	२४
,, दद्रु	,,	७	२३
,, पामा	,,	७	२५
,, पुण्डरीक	नि०	५	८
,,	चि०	७	१८
,, मण्डल	नि०	५	८
,,	चि०	७	१६
कुष्ठरोग	नि०	५	१-६
,,	चि०	७	१-१२
,, सात	सू०	१९	४
,, विचर्चिका	चि०	७	२६
,, विपादिका	,,	७	२२
,, विस्फोटक	,,	७	२५
,, शतारुष	,,	७	२६
,, सिध्म	नि०	५	८

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
कुष्ठरोग सिध्म	चि०	७	१९
क्रिमिरोग बीस	सू०	१९	४
क्लम रोग	सि०	६	९२-९३
क्षवथु लक्षण	चि०	२६	१११
क्षीरदोष आठ	सू०	१९	४
क्षीरदोष निदान	चि०	३०	२२९-२३६
ख			
खल्ली के लक्षण	,,	२८	५७
खालित्यरोग के लक्षण	,,	२६	१३२
ग			
गलगण्ड : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	२१
गलगण्ड, गण्डमाला रोग	चि०	१२	७९
गलग्रह : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	२२
गलशुण्डिका : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,	१८	२०
गुदभ्रंश	चि०	१९	४२-४६
गुल्म पाँच	सू०	१९	४
गुल्म : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	२९
गुल्मरोग	नि०	३	१-१२
गुल्मरोग	चि०	५	१-१९
गृध्रसी दो	सू०	१९	४
गृध्रसी के लक्षण	चि०	२८	५६
ग्रन्थिरोग निदान	,,	१२	८१-८६
ग्रहणीदोष चार	सू०	१९	४
ग्रहणीरोग	चि०	१५	१-५७
ग्रहणीरोग वातज	,,	१५	५९-६४
,, पित्तज	,,	१५	६५-६६
,, कफज	,,	१५	६७-७०
,, सन्निपातज	,,	१५	७२
,, आमदोषज	,,	१५	७३-७६
च			
चार प्रकार के रोग	सू०	२०	३
छ			
छर्दि (वमन) पाँच	सू०	१९	४
छर्दि (वमन) निदान	चि०	२०	१-६
,, वातज	,,	२०	७-९
,, पित्तज	,,	२०	१०-११
,, कफज	,,	२०	१२-१३
,, सन्निपातज	,,	२०	१४-१५
,, मनोभिघातज	,,	२०	४१-४४

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
ज			
जनपदोद्ध्वंस	वि०	३	१-२३
जालगर्दभ रोग	चि०	१२	९९-१००
जीवादान रोग	सि०	६	७८-८४
ज्वर दो	सू०	१९	४
,, के आठ कारण	नि०	१	१९
,, की आदि उत्पत्ति	,,	१	३५
,, आगन्तुज	,,	१	३०-३१
,, त्रिदोषज	,,	१	२८-२९
,, पर्याय	चि०	३	११
,, भेद	,,	३	३२-३५
त			
तन्द्रा रोग	सि०	९	२१-२४
तालुविद्रधि	चि०	१२	७७
तिलक, पिप्लु, व्यंग, नीलिका	सू०	१८	२५
तीन प्रकार के रोग	,,	११	४५
,, के रोग मार्ग	,,	११	४८-४९
तृष्णा पाँच	सू०	१९	४
तृष्णारोग निदान	चि०	२२	१-७
,, वातज	,,	२२	११-१२
,, पित्तज	,,	२२	१३-१४
,, आमज	,,	२२	१५
,, क्षयज	,,	२२	१६
,, उपसर्गज	,,	२२	१७
तृष्णारोग मद्यज	,,	२२	५१
त्रिविध रोग विशेष विज्ञान	वि०	४	३-८
द			
दण्डक के लक्षण	चि०	२८	५१
दन्त-विद्रधि	,,	१२	७८
दिवास्वप्नज रोग	सि०	१२	१४
दीप्त के लक्षण	चि०	२६	११७
दुःख के कारण	शा०	१	९८
दुष्टप्रतिश्यायज रोग	चि०	२६	१०७-१०९
दुष्टशुक्र-निदान	,,	३०	१३५-१३८
द्वन्द्वज ज्वर	नि०	१	२८-२९
ध			
धृति विभ्रंश के कारण	शा०	१	१००
ध्वंसकरोग	चि०	२४	१९९
न			
नपुंसकता चार	सू०	१९	४

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
नपुंसकता ध्वजभंगज	चि०	३०	१६२-१७५
,, जरासम्भव	,,	३०	१७६-१८०
,, धातुक्षयज	,,	३०	१८१-१८७
नपुंसकता का निदान	चि०	३०	१५३-१५७
,, बीजोपघातज	,,	३०	१५८-१६१
नानात्मज विकार	सू०	२०	१०
नासापाक लक्षण	चि०	२६	११५
नासार्बुद लक्षण	,,	२६	११६
नासाशोष लक्षण	,,	२६	१११
नासाश्वयथु लक्षण	,,	२६	११५
नासास्राव लक्षण	,,	२६	११२
निजविकारों की उत्पत्ति न होने की विधि	सू०	७	४६-५०
नेत्ररोग चार	,,	१९	४
नेत्ररोग के लक्षण	,,	२६	१२९-१३१
प			
परिकर्तिका रोग	सि०	६	६१-६७
परिकर्तिका रोग	,,	७	५४-५७
परिस्रव रोग	,,	६	६८-७०
परिस्राव रोग	,,	७	५८-६२
पलितरोग के लक्षण	चि०	२६	१३२
पाण्डुरोग पाँच	सू०	१९	४
पाण्डुरोग	चि०	१६	१-१६
,, वातज	,,	१६	१७-१८
,, पित्तज	,,	१६	१९-२२
,, कफज	,,	१६	२३-२५
,, सन्निपातज	,,	१६	२६
,, मृद्भक्षणज	,,	१६	२७-३०
पिडकाएँ सात	सू०	१९	४
पिडकाओं के भेद	,,	१७	१०४-१११
पिडका : सम्प्राप्ति, लक्षण	,,	१८	२४
पित्तज्वर	नि०	१	२२-२४
पित्तविकार चालीस	सू०	२०	१४
पूयरक्त लक्षण	चि०	२६	११६
प्रज्ञापराधज रोग	शा०	१	१०२-१०९
प्रतिनाह लक्षण	चि०	२६	११२
प्रतिश्याय चार	सू०	१९	४
,, निदान	चि०	२६	१०४-१०६
प्रदररोग निदान	,,	३०	२०४-२११
,, वातज	,,	३०	२११-२१३

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
प्रदररोग पित्तज	चि०	३०	२१४-२१६
,, कफज	,,	३०	२१७-२१८
,, सन्निपातज	,,	३०	२१९-२२४
प्रमेह बीस	सू०	१९	४
प्रमेहरोग	नि०	४	१-४८
,,	चि०	६	१-१४
प्रवाहिका रोग	सि०	७	४०-४२
प्लीहावृद्धि : सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	२८
ब			
बहिरायाम	चि०	२८	४६-४८
बिडालिका लक्षण	चि०	१२	७६
बुद्धि-विभ्रंश के कारण	शा०	१	९९
भ			
भगन्दररोग के लक्षण	चि०	१२	९६-९७
म			
मज्जदोषज रोग	सू०	२८	१७
मदरोग चार	,,	१९	४
,, मूर्च्छा, सन्यास की सम्प्राप्ति	,,	२४	२५-२९
,, रोग लक्षण	,,	२४	३०-३३
मदात्यय	चि०	२४	४१-५१
,, वातज	,,	२४	८८-९१
,, पित्तज	,,	२४	९२-९४
,, कफज	,,	२४	९५-९७
,, त्रिदोषज	,,	२४	९८-१००
मद्योत्थ ध्वंसक रोग	,,	२४	१९९-२०३
,, विक्षयक रोग	,,	२४	१९९-२०३
मधुमेह लक्षण	सू०	१७	८१
,, निदान, सम्प्राप्ति	सू०	१७	७८-८०
मधुमेहज पिडकाएँ	,,	१७	८२-८९
मधुमेह रोग	चि०	६	५५
मनुष्य किस प्रकार नीरोग रहता है	शा०	२	४६-४७
मलाश्रितदोषज	सू०	२८	२२
मसूरिकारोग	चि०	१२	९३
महागद एक	सू०	१९	४
मानसदोषज विकार	वि०	६	५
मांसप्रदोषज रोग	सू०	२८	१३-१५
मुखरोग चार	,,	१९	४
,, के लक्षण	चि०	२६	११९-१२३
मूत्रकृच्छ्र निदान	,,	२६	३२-४४

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
मूत्रकृच्छ्र रोग	सि०	९	३२
मूत्रजठर रोग	,,	९	२९-३१
मूत्रदोष तेरह	,,	९	२५-२६
मूत्रसंक्षय रोग	,,	९	३४
मूत्राघात आठ	सू०	१९	४
मूत्रातीत रोग	सि०	९	३५
मूत्राष्ठीला रोग	,,	९	३६
मूत्रौकसाद रोग	,,	९	२७-२८
मूत्रोत्संग रोग	,,	९	३३-३४
मूर्ख, विद्वान् रोगियों के लक्षण	सू०	११	५६-६३
मूर्च्छारोग लक्षण	,,	२४	३५-४१
,, चार	,,	१९	४
मेद:संश्रयज रोग	,,	२८	१५
य			
योनि के लक्षण अन्तर्मुखी	चि०	३०	२९-३०
,, सूचीमुखी	,,	३०	३१
,, सूखी	,,	३०	३२
,, वामिनी	,,	३०	३३
,, षण्ढी	,,	३०	३४
,, महा	,,	३०	३५-३६
,, उपप्लुता	,,	३०	२१-२२
,, परिप्लुता	,,	३०	२३-२४
,, उदावर्तिनी	,,	३०	२५-२६
,, कर्णिनी	,,	३०	२७-२८
,, पुत्रघ्नी	,,	३०	२८
,, रक्तज	,,	३०	१६
,, अरजस्का	,,	३०	१७
,, अचरणा	,,	३०	१८
,, अतिचरणा	,,	३०	१९
,, प्राक्चरणा	,,	३०	२०
योनिरोग बीस	सू०	१९	४
योनिव्यापद् भेद	चि०	३०	७
,, वातज	,,	३०	९-११
,, पित्तज	,,	३०	११-१२
,, कफज	,,	३०	१३-१४
,, त्रिदोषज	,,	३०	१४-१५
र			
रक्तगुल्म	नि०	३	१३-१६
रक्तग्रन्थि रोग	सि०	९	४१-४२
रक्तदोषज रोग	सू०	२८	११-१३

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
रक्तपित्त तीन	सू०	१९	४
,,	नि०	२	१-५
,,	चि०	४	१-२३
रक्तज रोगों का निर्देश	सू०	२४	११-१६
रक्तप्रदोषज रोग	,,	२८	८-१०
रथक्षोभज रोग	सि०	१२	१४
राजयक्ष्मा रोग	चि०	८	१-१३
रोग के पर्याय	नि०	१	५
रोगों का अधिष्ठान	शा०	१	१३६
रोगी के लक्षण	सू०	९	९
रोग आरोग्य लक्षण	,,	९	४
,, के भेद	नि०	१	३
,, के साध्य-असाध्य ज्ञान का प्रयोजन	सू०	१०	२१-२२
रोगानीक विचार	वि०	६	४-५
रोगों की असंख्येयता	सू०	२०	३
रोगों की उत्पत्ति में अन्य कारण	शा०	१	११७
,, ,, एवं उनकी शान्ति	शा०	१	३९-४०
,, ,, में कारण काल	शा०	१	११०-११६
,, के तीन आयतन	सू०	११	३७
,, के आयतनों का उपसंहार	,,	११	४३
,, के त्रिविध कारण	,,	१	५४
,, की उत्पत्ति न होने तथा उत्पन्न रोगों की शान्ति में कारण	सू०	७	५५
रोगों के द्विविध आश्रय	,,	१	५५
रोमान्तिका रोग	चि०	१२	९२
रोहिणी रोग की सम्प्राप्ति	सू०	१८	३४-४१
व			
वस्तिकुण्डल रोग	सि०	९	४४-४९
वातकुण्डलिका रोग	,,	९	३९-४०
वातज्वर	नि०	१	१८-२१
वातरक्त दो	सू०	१९	४
वातरक्त निदान	चि०	२९	३-११
वातवस्ति रोग	सि०	९	३७
वातविकार अस्सी	सू०	२०	११
वातव्याधि निदान	चि०	२८	१५-१८
विक्षय रोग	,,	२४	१९९
विड्विघात रोग	सि०	९	४२-४३
विदारिका रोग	चि०	१२	८९
विद्रधि विवरण	सू०	१७	९६-१०३

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
विद्रधि के दो भेद	सू०	१७	९०
,, निदान	,,	१७	९१-९२
,, निरुक्ति	,,	१७	९५
,, सम्प्राप्ति	,,	१७	९३
,, के स्थान	,,	१७	९४
विभ्रंश रोग	सि०	६	८५-८७
विषमाशनज रोग	,,	१२	१४
विष लक्षण	चि०	२३	१-१०
,, स्थावर	चि०	२३	१६
,, जंगम	चि०	२३	१५
,, गर	चि०	२३	१४
,, दूषी	चि०	२३	३१
विसर्प सात	सू०	१९	४
,, सम्प्राप्ति, लक्षण	,,	१८	२३
,, निदान	चि०	२१	१६-२२
,, वातज	,,	२१	२९-३०
,, पित्तज	,,	२१	३१-३२
,, कफज	,,	२१	३३-३४
,, अग्नि	,,	२१	३५-३६
,, कर्दम	,,	२१	३७-३८
,, ग्रन्थि	,,	२१	३९
,, सन्निपातज	,,	२१	४१
विसूचिका लक्षण	वि०	२	११
विस्फोटक लक्षण	चि०	१२	९०
वीर्यदोष आठ	सू०	१९	४
व्यवायज रोग	,,	१२	१४
व्रण दो	,,	१९	४
,, आगन्तुज	चि०	२५	७-९
,, निज	,,	२५	१०
व्रण भेद	चि०	२५	६
,, वातज	,,	२५	११-१२
,, पित्तज	,,	२५	१३-१४
,, कफज	,,	२५	१५-१६
श			
शंखक रोग	सि०	९	७०-७३
,, सम्प्राप्ति, लक्षण	सू०	१८	२६
शरीरदोषज विकार	वि०	६	५
शालूक लक्षण	चि०	१२	७५
शिरोरोग : निदान-सम्प्राप्ति	सू०	१७	८-११
,, पाँच	,,	१९	४

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
शिरोरोग के लक्षण	चि०	२६	११८
,, वातज	सू०	१७	१५-२१
,, पित्तज	,,	१७	२२-२३
,, कफज	,,	१७	२४-२५
,, त्रिदोषज	,,	१७	२६
,, क्रिमिज	,,	१७	२७-२९
शिर:कम्प रोग	सि०	९	८६-८७
शिर:शूल रोग	,,	७	४३-४६
शुक्रदोषज रोग	सू०	२८	१८-१९
शुद्ध आर्तव लक्षण	चि०	३०	२२५-२२६
शोथ निदान	सू०	१८	३-१५
,, तीन	,,	१९	४
,, (श्वयथु) रोग	चि०	१२	१-१६
शिर:शोथ	,,	१२	७४-७५
शोथ के उपद्रव	सू०	१८	१८
,, की असाध्यता	,,	१८	१६-१७
शोषरोग चार	,,	१९	४
,,	नि०	६	१-३
शोष के ग्यारह रूप	,,	६	१४
,, की राजयक्ष्मा संज्ञा	,,	६	१२
,, धातुक्षयज	,,	६	८-९
,, विषमाशनज	,,	६	१०-११
,, वेगसन्धारणज	,,	६	६-७
,, साहसज	,,	६	४-५
श्लीपद लक्षण	चि०	१२	९८
श्वास पाँच	सू०	१९	४
,, महा	चि०	१७	४५-४८
,, ऊर्ध्व	चि०	१७	४९-५१
,, छिन्न	,,	१७	५२-५४
,, तमक	,,	१७	५५-६२
,, प्रतमक	,,	१७	६३-६४
,, सन्तमक	,,	१७	६३-६४
,, क्षुद्र	,,	१७	६५-६७
स			
सदा नीरोग पुरुष	सू०	१	३९-४०
सदा रोगी पुरुष	,,	१	३९-४०
सन्यास एक	,,	१९	४
सन्तर्पणज रोग	,,	२३	५-७
सन्यास : संप्राप्ति, लक्षण	,,	२४	४३-४४

रोगनाम	स्थान	अ०	संख्या
सभी रोग परस्पर अनुबन्धी	सू०	२०	६
सामान्यज विकार	,,	२०	१०
सूर्यावर्तक रोग	सि०	९	७४-७८
स्तम्भ रोग	सि०	६	८८-८९
स्मृतिविभ्रंश के कारण	शा०	१	१०१
स्वरभेद रोग	चि०	२६	२८३-२९०
स्नायु आदिगत दोषज रोग	सू०	२८	२१
ह			
हनुग्रह के लक्षण	चि०	२८	१०२-१०३
,,	,,	२८	४९
हिक्का पाँच	सू०	१९	४
,, श्वास निदान	चि०	१७	१०-१७
,, महा	,,	१७	२१-२६
,, गम्भीरा	,,	१७	२७-३०
,, अन्नजा	,,	१७	३८-४१
,, क्षुद्रा	,,	१७	३४-३७
,, व्यपेता	,,	१७	३१-३३
,, रोग	सि०	७	२७-२९
हृत्प्राप्ति रोग	सि०	७	३०-३१
हृद्ग्रह रोग	सि०	६	७१-७५
हृदयरोग पाँच	सू०	१९	४
हृद्रोग निदान	चि०	२६	७७-८०
,, वातज	सू०	१७	३०-३१
,, पित्तज	,,	१७	३२-३३
,, कफज	,,	१७	३४-३५
,, सन्निपातज	,,	१७	३६
,, क्रिमिज	,,	१७	३७-४०
रसप्रदोषज रोग	सू०	२८	९-१०
अश्रद्धा, अरुचि, मुख-विरसता, अरसज्ञता, हृल्लास, गौरव, तन्द्रा, अङ्गमर्द, ज्वर, तम, पाण्डुता, स्रोतोरोध, नपुंसकता, अङ्गसाद, कृशता, अग्निनाश, वली-पलित			
रक्तप्रदोषज रोग	सू०	२८	११-१३
कुष्ठ, विसर्प, पिडका, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, गुदपाक, मेढ्पाक, मुखपाक, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, कामला, व्यङ्ग, पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल			
मांसप्रदोषज रोग	सू०	२८	१४
अधिमांस, अर्बुद, कील (अर्श), गलशालूक, गलशुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिह्विका			
मेदःप्रदोषज रोग	सू०	२८	१५-१६
अति दीर्घ, अति ह्रस्व, अति लोमा, अलोमा, अति कृष्णवर्ण, अति गौरवर्ण, अति स्थूल, अति कृश, केशों का सट जाना, मुख का मीठा स्वाद, हाथ-पैरों में शून्यता, दाह, मुख-तालु-कंठशोष, प्यास का लगना, आलस्य, शरीर में मल की उत्पत्ति, अंगों में शून्यता, दाह, शरीर तथा मूत्र में मक्खियों तथा चींटियों का बैठना, मूत्र में मूत्रदोषों की उत्पत्ति, शरीर का दुर्गन्धित होना, प्रतिक्षण नींद या ऊँघाई का आना			
अस्थिप्रदोषज रोग	सू०	२८	१६
अध्यस्थि, अधिदन्त, दन्तभेद, अस्थिभेद, शूल, विवर्णता, केशदोष, लोमदोष, नखदोष, श्मश्रुदोष			
मज्जप्रदोषज रोग	सू०	२८	१७
पर्वभेद, भ्रम, मूर्च्छा, अन्धकार-दर्शन, व्रण-दर्शन			
शुक्रप्रदोषज रोग	सू०	२८	१९
नपुंसकता, अहर्षण, विरूपता, अल्पायुता, गर्भपात, गर्भस्राव			
स्नायुदोषज रोग	सू०	२८	२१
स्नायुस्तम्भ, स्नायुसंकोच, खल्ली, ग्रन्थि, स्फुरण, सुप्ति			
मलाश्रित रोग	सू०	२८	२२
मलभेद, मलशोष, मलपोषण, मल-प्रदूषण, मल की अतिप्रवृत्ति			

(५) छः रसों के गुण-कर्म-दोष

रसनाम	स्थान	अ०	संख्या
मधुर आदि स्कन्ध	वि०	८	१३९-१४४
अम्लरस	सू०	२६	४३
कटुरस	,,	२६	४३
कषायरस	,,	२६	४३
तिक्तरस	,,	२६	४३
मधुररस	,,	२६	४३
लवणरस	सू०	२६	४३
रसों का गुणोपदेश	,,	२६	४४
,, वीर्योपदेश	,,	२६	४५-४६
,, विपाकोपदेश	,,	२६	५७-५८
,, प्रभावोपदेश	,,	२६	६७

(६) चरकोक्त द्रव्यों की अनुक्रमणिका

चरकसंहिता में संगृहीत सभी प्रकार के द्रव्यों को यहाँ अकारादि क्रम से संक्षेप में उद्धृत किया जा रहा है—

द्रव्यनाम	स्थान	अ०	संख्या
जांगम द्रव्य	सू०	१	६८-६९
पार्थिव द्रव्य	,,	१	७०
औद्भिद द्रव्य	,,	१	७१-७२
मूलप्रधान द्रव्य	,,	१	७७-७९
फलप्रधान द्रव्य	,,	१	८०-८५
अष्टविध मूत्र			
अजामूत्र	सू०	१	९४-१०४
अविमूत्र	सू०	१	९४-१०४
उष्ट्रमूत्र	,,	१	९४-१०४
खरमूत्र	,,	१	९४-१०४
गोमूत्र	,,	१	९४-१०४
महिषमूत्र	,,	१	९४-१०४
हयमूत्र	,,	१	९४-१०४
हस्तिमूत्र	,,	१	९४-१०४

द्रव्यनाम	संख्या
शूकधान्यवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)	
उज्ज्वल के गुण	१४
उद्दालक ,,	१४
कुरुविन्द ,,	१४
कोरदूष ,,	१६-१८
गन्धल ,,	१४
गोधूम ,,	२१
चीन ,,	१४
तृणधान्य ,,	१६-१८
दर्दुर ,,	१४
नन्दीमुखी ,,	२२
पाटल ,,	१५
मधूली ,,	२२
यव ,,	१९
रक्तशालि ,,	११-१२
वरक ,,	१४
वेणुयव ,,	२०
व्रीहि ,,	१५
शारद के गुण	१४
शालि ,,	८-१०
श्यामाक ,,	१६-१८
षष्टिक ,,	१३
शमीधान्यवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)	
अवल्गुज के गुण	३३
आढकी ,,	३३
आत्मगुप्ता ,,	३४
एडगज ,,	३३
कलाय ,,	२९
काकाण्डोला ,,	३४
कुलत्थ ,,	२६
खण्डिका ,,	२८-२९
चणक ,,	२८-२९
तिल ,,	३०
निष्पाव ,,	३३
मकुष्ठ ,,	२७

द्रव्यनाम	संख्या
मसूर के गुण	२८-२९
माष ,,	२४
मुद्ग ,,	२३
राजमाष ,,	२५
शिम्बी ,,	३१-३२
हरेणु ,,	२८-२९

मांसवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
आज मांस के गुण	६१
आविक ,,	६२
एण ,,	७७
कपिञ्जल ,,	६८
कपोत, कपिञ्जल गृह के गुण	७२
कपोत, कपिञ्जल वन के गुण	७३
कुक्कुट मांस के गुण	६६
कूर्म ,,	८३
खड्गि ,,	८४
गो ,,	७९
गोधा ,,	७०
चटक ,,	७५
जाङ्गल ,,	४५-४६
तित्तिर ,,	६७
प्रतुद ,,	५०-५२
प्रसह ,,	३५-३६
बर्हि ,,	६३-६४
भूमिशय ,,	३७-३८
मत्स्य ,,	८१
महिष ,,	८०
मृग ,,	३९
रोहित ,,	८२
लाव ,,	५९-६०
लाव ,,	६९
वर्तक ,,	६०
वराह ,,	७८
वारिचर ,,	४१-४४
वारिशय ,,	४०
विष्किर ,,	४७-४९
शल्लक ,,	७१
शश ,,	७६
शुक ,,	७४

द्रव्यनाम	संख्या
हंस मांस के गुण	६५
हंस आदि के अण्डों के गुण	८५-८६

शाकवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
अङ्कालोड्य के गुण	११७
अम्लीकाकन्द ,,	१२१
अलाबु ,,	११२
अवल्गुज ,,	९५-९७
,, ,,	१०२
अश्वत्थपल्लव ,,	१०३
आलुक ,,	९९
आसुरी ,,	१०१
उत्पल ,,	११५
उत्पलनाल सपुष्पफल के गुण	११७
उदुम्बर पल्लव के गुण	१०५
उपोदिका ,,	९३
उरुबूक ,,	१०८
एर्वारुक ,,	११२
ऐन्दुक ,,	११४
कठिल्लक ,,	९५-९७
कदम्ब ,,	११४
कर्कोटक ,,	९५-९७
कुर्बुदार ,,	९९
कर्कश ,,	९५-९७
कर्बुदारपुष्पशाक ,,	१०४
कलम्बी ,,	१०१
कलायशाक ,,	९२
कलायशाक ,,	९५-९७
कसेरुक ,,	११६
काकमाची ,,	८९
कालशाक ,,	९१
कुचेला ,,	९५-९७
कुटिञ्जर ,,	९९
कुठेरक ,,	१०१
कुमारजीव ,,	१००
कुमुद सपुष्पफल ,,	११७
कुलक ,,	९५-९७
कुसुम्भ ,,	१०१
कुस्तुम्बक ,,	९८
कूष्माण्ड ,,	१०२

द्रव्यनाम	संख्या
कूष्माण्ड के गुण	११३
केम्बूक ,,	९५-९७
केलुट ,,	११४
कोविदार ,,	१००
,, पुष्पशाक के गुण	१०४
कौसुम्भ शाक ,,	११०
क्रौञ्चादन ,,	११६
खर्जूरशस्य ,,	११६
गण्डीर ,,	१०६
गोजिह्वा ,,	९५-९७
चांगेरी अम्ल ,,	९२
चित्रक ,,	१०६
चिर्मट ,,	११२
चिल्ली शाक ,,	९८
चुच्चुपर्णिका ,,	१००
छत्रकजाति ,,	१२३
जातुक ,,	१०२
जीवन्ती ,,	१०७
तण्डुलीयक ,,	९४
तरूट ,,	११६
तालप्रलम्ब ,,	११५
तालशस्य ,,	११६
तिल ,,	१०९
तिलपर्णिका ,,	९५-९७
त्रपुष ,,	११०
त्रिपर्णी ,,	१०२
नदीमाषक ,,	११४
नलिनी ,,	१०१
नाडीशाक ,,	९५-९७
निम्ब ,,	९५-९७
निष्पाव ,,	१००
नालिका ,,	१०१
न्यग्रोधपल्लव ,,	१०५
पद्माङ्गुल ,,	१०९
पटोल ,,	९५-९७
पत्तूर ,,	१००
पद्मपल्लव ,,	१०५
पर्पटक ,,	९५-९७
पर्वणी ,,	१०७
पर्वपुष्पी ,,	१०७

द्रव्यनाम	संख्या
पाठा के गुण	८८
पालङ्क्या के गुण	१००
पिण्डालुक ,,	१२३
पीलुपर्णी ,,	१०२
पुष्करबीज ,,	११९
प्रपुन्नाड ,,	१०१
प्लक्षपल्लव ,,	१०५
फञ्जीशाक ,,	९८
बला ,,	१०७
बिल्वपत्र ,,	१०७
बिल्वपर्णी ,,	१०७
बिस ,,	११६
भण्डी ,,	१०७
मण्डूकपर्णी ,,	९५-९७
मारिष ,,	१००
मुञ्जातक ,,	१२०
यवशाक ,,	१०२
राजक्षवक ,,	९०
लक्ष्मणा ,,	१०१
लाङ्गलिकी ,,	१०८
लोणिका ,,	१०२
लोहाक ,,	१००
वत्सादनी ,,	१०६
वनतिक्तक ,,	९५-९७
वार्ताक ,,	९५-९७
वास्तुक ,,	८८
विदारीकन्द ,,	१२१
वृकधूमक ,,	१०१
वृषपुष्प ,,	९५-९७
वेतस ,,	१०९
वेताग्र ,,	९५
शकुलादनी ,,	९५-९७
शटी ,,	८८
शणपुष्प शाक ,,	१०४
शणशाक ,,	९९
शतावरी ,,	१०७
शार्ङ्गेष्टा ,,	९५-९७
शालकल्याणी ,,	१०२
शाल्मलीपुष्प ,,	९९
शाल्मलीपुष्पशाक के गुण	१०४

द्रव्यनाम	संख्या
शालूक के गुण	११६
शुषा ,,	८८
शृङ्गाटक ,,	११७
श्रेयसी ,,	१०७
सार्षपशाक ,,	१२२
सुनिषण्णक ,,	८८
सुवर्चला ,,	९९
सूप्यशाक ,,	९८

फलवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
अङ्कोट के गुण	१५९
अक्षोड ,,	१५७
अभिषुक ,,	१५७
अम्लवेतस ,,	१५२
अम्लीका ,,	१५२
अश्वत्थ ,,	१६४
आक्षिकी ,,	१६३
आमलक ,,	१४७
आरुक ,,	१३२-१३३
आम्र ,,	१३९
आम्रातक ,,	१३९
आम्रातक ,,	१६१
इङ्गुदी ,,	१४६
उदुम्बर ,,	१६४
उरुमाण ,,	१५७
ऐरावतक ,,	१६१
कपित्थ ,,	१३६
करञ्ज ,,	१६०
करमर्द ,,	१६१
करीर ,,	१४२
कर्कन्धु ,,	१३२
कर्चूर ,,	१५५
काश्मर्य ,,	१३५
खर्जूर ,,	१२७
गाङ्गेरुकी ,,	१४२
जम्बू ,,	१४०
टङ्क ,,	१३६
तालशस्य ,,	१३०
तिन्दुक ,,	१४७
तूद ,,	१३५

द्रव्यनाम	संख्या
तृणशून्य के गुण	१४५
तोदन ,,	१४२
दन्तशठ ,,	१६१
दाडिम ,,	१४९-१५०
द्राक्षा ,,	१३२
धन्वन ,,	१४२
नारङ्ग ,,	१५६
नारिकेल ,,	१३०
निकोच ,,	१५७
नीप ,,	१४५
न्यग्रोध ,,	१६४
पनस (पक्व) के गुण	१४३
परूषक ,,	१२८
परूषक (अम्ल) ,,	१३२
पर्कटकी ,,	१६२
पारावत ,,	१३४
पीलु ,,	१४५
प्राचीनामलक ,,	१४५
प्रियाल ,,	१५८
प्लक्ष ,,	१६४
फल्गु ,,	१२८
बदर ,,	१३२
बदर ,,	१४१
बिभीतक ,,	१४८
बिम्बी ,,	१४२
बिल्व ,,	१३८
भल्लातक ,,	१६५
भव्य ,,	१३१
मधूक ,,	१२८
मातुलुङ्ग ,,	१५३-१५४
मुकुल ,,	१५७
मृद्वीका ,,	१२६
मोचफल (पक्व) ,,	१४३
राजादन ,,	१४३
लकुच ,,	१३२
लवली ,,	१४४
वाताम ,,	१५७
वार्ताक ,,	१६२
विकङ्कत ,,	१४५
वृक्षाम्ल	१५१

द्रव्यनाम	संख्या
शताह्वक के गुण	१४५
शमीफल ,,	१६०
श्लेष्मातक ,,	१५९
सिञ्चितिका ,,	१४२

हरितकवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
अजगन्धा के गुण	१७३
अर्जक ,,	१७०
आर्द्रक ,,	१६६
खराह्वा ,,	१७२
गण्डीर ,,	१७१
गृञ्जन ,,	१७४
जम्बीर ,,	१६६
जलपिप्पली ,,	१७१
तुम्बुरु ,,	१७१
धान्यक ,,	१७३
पलाण्डु ,,	१७५
भूस्तृण ,,	१७२
मूलक ,,	१६८
मृष्टक (राई) ,,	१७०
यवानी ,,	१७०
लशुन ,,	१७६
शालेय ,,	१७०
शिग्रु ,,	१७०
शृङ्गवेर ,,	१७१
सुमुख ,,	१७३
सुरस ,,	१६९

मद्यवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
अभिनव मद्य के गुण	१९३
अरिष्ट ,,	१८२
आक्षिकी ,,	१८६
काञ्जिक (अम्ल) ,,	१९२
गौड ,,	१८६
जगल ,,	१८१
जीर्णमद्य ,,	१९३
तुषोदक ,,	१९१
दिव्यजल ,,	१९८
धातकीपुष्पकृतासव ,,	१८८
पक्वरस के गुण	१८४
मदिरा ,,	१८०

द्रव्यनाम	संख्या
मधूलिकासुरा के गुण	१९०
मध्वासव ,,	१८९
मृद्वीकेक्षुरसासव के गुण	१८८
मैरेय के गुण	१८७
यवकृतसुरा के गुण	१९०
शार्कर ,,	१८३
शीतरसिक ,,	१८५
सुरा के गुण	१७९
सुरासव के गुण	१८७
सौवीर ,,	१९१

जलवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
दिव्यजल के गुण	१९८
पर्वतप्रभवनदीजल के गुण	२०९-२१२
वापीकूपतडागादि जल के गुण	२१४
शारदजल के गुण	२०८
सामुद्रजल के गुण	२१६

गोरसवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
अष्टविधक्षीर	सू० १ १०७-११३
आविकदुग्ध के गुण	२२३
उष्ट्रीदुग्ध ,,	२२०
ऐकशफदुग्ध ,,	२२१
किलाट ,,	२३४
गव्यदुग्ध ,,	२१७-२१८
घृत के गुण	२३१-२३३
छागीदुग्ध ,,	२२२
तक्र के गुण	२२९
तक्रपिण्ड के गुण	२३६
दधि के गुण	२२५
दधिमस्तु के गुण	२२८
दधिसर के गुण	२२८
नवनीत के गुण	२३०
पीयूष के गुण	२३४
मन्दक के गुण	२२८
मानुषी दुग्ध के गुण	२२४
माहिष ,,	२१९
मोरट के गुण	२३४
हस्तिनी दुग्ध के गुण	२२३

इक्षुवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
खण्ड के गुण	२४०

द्रव्यनाम	संख्या
गुड के गुण	२३८-२३९
गुडशर्करा के गुण	२४१
भक्षित इक्षुरस के गुण	२३७
मधु के गुण	२४५
मधु के जाति-भेद	२४३-२४४
मत्स्यण्डिका के गुण	२४०
मधुशर्करा के गुण	२४२
यान्त्रिक इक्षुरस के गुण	२३७
यासशर्करा ,,	२४१
शर्करा ,,	२४०

कृतान्नवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	संख्या
अवलेह के गुण	२८१
इक्षुरस पूप के गुण	२६९
ओदन ,,	२५८
,, के मांसादि संयोगज गुण	२५९
कुल्माष आदि के गुण	२६०
क्षीररस पूप ,,	२६९
गौधूमिक भक्ष ,,	२७१
धाना ,,	२६६
,, विरूढ ,,	२६७
पानक ,,	२७९
पिण्डक ,,	२६७
पूप ,,	२६७
पूपलिका ,,	२६७
पृथुक ,,	२७१
पेया ,,	२५०
मण्ड ,,	२५१-५२
मधुक्रोड ,,	२६७
यवसक्तु ,,	२६३
यवापूप ,,	२६५
यावक ,,	२६५
यावकचिपिटक ,,	२७३
यूष-रस-सूप ,,	२६२
रसाला ,,	२७८
लाजपेया ,,	२५३
लाजमण्ड ,,	२५४
लाजसक्तु ,,	२५७
वाट्य ,,	२६५

द्रव्यनाम	संख्या
विमर्दक के गुण	२७७
विलेपी ,,	२५१
वेसवार ,,	२६९
शष्कुली ,,	२६७
शालिसक्तु ,,	२६४
शिण्डाकी ,,	२८५
शुक्त ,,	२८४
संस्कृत भक्ष्यों ,,	२६८

आहारयोनिवर्ग (सूत्रस्थान, अध्याय २७)

द्रव्यनाम	स्थान	अ०	संख्या
अजाजी के गुण			३०७
कारवी ,,			३०७
कुञ्चिका ,,			३०७
धान्यतुम्बुरु ,,			३०७
पिप्पली ,,			२९७
मरिच ,,			२९८
मांसरस ,,			३१२
यवानी ,,			३०७
विश्वभेषज ,,			२९६
हिंगु ,,			२९९
अतसी तेल ,,			२९२
एरण्ड ,,			२८९
कुसुम्भ ,,			२९३
चतुर्विध महास्नेह	सू०	१	८६-८७
तैल के गुण			२८६-८८
प्रियाल तैल के गुण			२९१
मज्जा के गुण			२९५
महास्नेह ४ प्रकार के	सू०	१	८६-८७
वसा के गुण			२९५
सर्षप ,,			२९०
औद्भिद लवण के गुण			३०३
काल लवण ,,			३०३
पञ्चविध लवण ,,	सू०	१	८८-९१
पांशुज लवण ,,			३०४
विडलवण ,,			३०२
यवक्षार ,,			३०५
सर्जिकाक्षार ,,			३०६
सामुद्रलवण ,,			३०४
सैन्धवलवण ,,			३००
सौवर्चललवण ,,			३०१

(७) ऋतुचर्या

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
ऋतुचर्या	सू०	६	सम्पूर्ण	ऋतुचर्या	सू०	८	१२५-१२७

(८) मात्राविचार

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
आहार मात्रा	सू०	५	१-९	मानपरिभाषा	क०	१२	८६-९७
मात्रा-निर्धारण	,,	२७	३४०-३४२	स्नेहमात्रा	सू०	१३	२९-४०
मात्राज्ञान प्रयोजन	,,	२५	४६-४७				

(९) स्वस्थवृत्त का उपदेश

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
स्वस्थवृत्त	सू०	५	१३-१०४	असद्वृत्त निषेध	सू०	८	१९-२७
,,	,,	७	सम्पूर्ण	आचार रसायन	चि०	११४	३०-३५
सद्वृत्त	,,	८	१८				

(१०) निद्रा-विवेचन

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
निद्रा के कारण एवं फल	सू०	२१	३५-३६	निद्रा सम्बन्धी विचार	सू०	२१	३९-५९
निद्रा के दोष	,,	२१	३७-३८				

(११) आहार-विधि

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
आहार-विधि	सू०	५	१-१२	अहित आहार-लक्षण	सू०	२६	८५-१०१
,,	,,	२५	३०-४७	आहार-विधि		१	२१-२५
,,	,,	२८	१-५	,,		२	१-९
विरोधी आहार	,,	२६	८२-८५	,,		१५	३-१७

(१२) पञ्चकर्मोपयोगी विषय

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
शिरोविरेचन द्रव्य	सू०	२	३-६	वमनकर्म	क०	१-६	सम्पूर्ण
वमन द्रव्य	,,	२	७-८	पञ्चकर्म की सीमा	चि०	२४	५-६
विरेचन द्रव्य	,,	२	९-१०	विरेचनकर्म	सू०	१६	सम्पूर्ण
आस्थापन द्रव्य	,,	२	११-१३	,,	क०	७-१२	सम्पूर्ण
स्नेहनकर्म	,,	१३	सम्पूर्ण	वमन-विरेचन	सिद्धिस्थान		सम्पूर्ण
स्वेदनकर्म	,,	१४	सम्पूर्ण	धूमपान-विधि	सू०	५	२०-५५
वमनकर्म	,,	१५	सम्पूर्ण	नस्य-विधि	,,	५	५६-५७

(१३) चिकित्सा के प्रकार

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
लंघन लक्षण	सू०	२२	९	लंघन द्रव्य	सू०	२२	१२-१३
बृंहण ,,	,,	२२	१०	बृंहण द्रव्य	,,	२२	१३-१४
रूक्षण ,,	,,	२२	१०	रूक्षण द्रव्य	,,	२२	१४-१५
स्नेहन ,,	,,	२२	११	स्नेहन द्रव्य	,,	२२	१५
स्वेदन ,,	,,	२२	११	स्वेदन द्रव्य	,,	२२	१६
स्तम्भन ,,	,,	२२	१२	स्तम्भन द्रव्य	,,	२२	१७

(१४) स्फुट-संग्रह

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
अज्ञ चिकित्सक	सू०	९	१५-१९	अध्ययन-विधि	वि०	८	७
अधारणीय वेग	,,	७	१-२५	अनुपान-विचार	सू०	२७	३१९-३२८

विषय	स्थान	अ०	संख्या	विषय	स्थान	अ०	संख्या
अन्न-प्रशंसा	सू०	२७	३४९-३५०	दधि-सेवन नियम	सू०	७	६१-६२
अपथ्य परिहार	,,	२८	४३-४४	दोषों का क्षय-वृद्धि क्रम	,,	१७	६२-७३
अहिततम आहार	,,	२५	३९	दोषों के क्षय-वृद्धि लक्षण	,,	१८	५२-५३
आचार्य परीक्षा	वि०	८	४-६	धारणीय वेग	,,	७	२६-३०
आत्मा के लक्षण	सू०	१	५६	पथ्य-अपथ्य लक्षण	,,	२५	४५
आप्त के लक्षण	,,	११	१८-१९	प्रत्याख्येय लक्षण	,,	१०	१९-२०
आप्तोपदेश	वि०	४	४-१२	प्रमुख द्रव्यसंग्रह	,,	२५	४०
आयु का प्रमाण	सू०	३०	२५	पाँच इन्द्रियाँ	,,	८	७-८
आयु के लक्षण	,,	१	४२	पाँच इन्द्रिय द्रव्य	,,	८	९-१२
,,	,,	३०	२४	प्राणाचार्य प्रशंसा	चि०	१।४	५१-५६
आयुर्वेद का अधिकरण	,,	१	४६-४७	प्राणों के दस स्थान	सू०	२९	३-४
,, प्रयोजन	,,	३०	२६	भेषज के पर्याय	चि०	१।१	३
,, लक्षण	,,	१	४१	भेषज के भेद	,,	१।१	४-५
आयुर्वेदज्ञ के लक्षण	,,	३०	१६	मन का लक्षण	सू०	८	४
आयुर्वेद शाश्वत है	,,	३०	२७	याप्य के लक्षण	,,	१०	१७-१८
आयु शब्द की निरुक्ति	,,	३०	२३	रसायन लक्षण	चि०	१।१	८
आयु शब्द के पर्याय	,,	३०	२२	रसों के ६३ भेद	सू०	२६	१४-२४
आरोग्य का कारण	,,	१	५५	राजार्ह वैद्य के लक्षण	वि०	४	१९
आसव-निरुक्ति	,,	२५	४९	रोगारोग्य लक्षण	सू०	९	४
आसव संख्या-निर्देश	,,	२५	४९	रोगी-परीक्षा	वि०	८	८३-१२४
ओजस् के कर्म	,,	३०	९-११	वाजीकरण लक्षण	चि०	२।१	९-१२
कृच्छ्रसाध्य के लक्षण	,,	१०	१४-१६	वाद-विचार	वि०	८	१५-७८
ग्रन्थ-परीक्षा	वि०	८	३	वैद्य के कर्तव्य	सू०	१	१३३
चतुर्विध परीक्षा	सू०	११	१७	,,	,,	९	२४-२५
चिकित्सा का प्रयोजन	,,	१६	३५-३६	वैद्य आदि के लक्षण	,,	९	६-९
चिकित्सा के चार पाद	,,	९	३	वैद्य के भेद	,,	२९	५-१३
चिकित्सा के योग्य वैद्य	,,	२	३६	वैद्य के लक्षण	,,	१	१३५
चिकित्सा के लक्षण	,,	९	५	व्यायाम के गुण	,,	७	३२
,,	,,	१६	३४	व्यायाम के लक्षण	,,	७	३१
चिकित्सा प्राभृत के गुण	,,	१६	३७-३८	शिष्य परीक्षा	वि०	८	८
तीन उपस्तम्भ	,,	११	३४-३५	सद्वैद्य के लक्षण	सू०	९	१८-२३
तीन एषणाएँ	,,	११	३-६	सुखसाध्य के लक्षण	,,	१०	११-१३
तीन प्रकार का बल	,,	११	३६	हिततम आहार	,,	२५	३८

सूचना—इस सूची में चरकसंहिता में आये हुए प्रमुख विषयों का यथासंभव संग्रह किया गया है।

(१५) चरकसंहिता में दिये गये औषधयोग

महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश आदि शिष्यों को उपदेश देते समय न केवल आयुर्वेदीय योगों का ही उपदेश किया, अपितु सांगोपांग आयुर्वेदीय सिद्धान्तों सहित योगों, योगनिष्पादक विविध वर्गीय औषधद्रव्यों तथा कहीं-कहीं नाम-निर्देश पुरस्सर औषधयोगों का भी उल्लेख किया है। आप सम्पूर्ण चरकसंहिता का अध्ययन करें। सूचीपत्र के सहारे रहकर विद्वान् बनने का प्रयत्न न करें। सूचियाँ तो अध्ययन कर लेने के पश्चात् केवल विषयों को ढूँढने में सहायक होती हैं।

चरकसंहिता में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, स्वस्थवृत्त, आचाररसायन, आहार-विहार-विधि, वाद-विवाद लक्षण, तन्त्रयुक्तियाँ, अरिष्ट-लक्षण आदि ऐसे अनेक विषय हैं, जिनका समुचित व्यवहार मानव को पशु-धरातल से उठाकर सुशिक्षित एवं सभ्य समाज में लाकर चिर-स्थिर कर देता है। इस परिशिष्ट में विविध प्रकार के चिकित्सकीय योगों का भी सन्निवेश किया गया है।

चरक में सामान्य दृष्टि से तीन प्रकार के योग देखे जाते हैं—प्रथम तो वे हैं, जिनका तन्त्र में नामतः उल्लेख किया गया है। जैसे—ब्राह्मरसायन, नारायणचूर्ण, च्यवनप्राश आदि। दूसरे प्रकार के योग वे हैं, जिनका श्लोक या गद्य की भाषा के अनुसार नाम-निर्धारण किया गया है, या किया जा सकता है। जैसे—सारिवादिप्रलेप, यावकप्रदेह आदि; इन्हें सूची के अनुसार ग्रन्थ में देखें। इस सम्बन्ध में तन्त्रकार ने च० क० अ० १२।४३ में इस प्रकार का निर्देश दिया है—

'यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते।
तत्संज्ञकः स योगो वै भवतीति विनिश्चयः'॥

अर्थात् जो द्रव्य अपने जिन गुण-धर्मों के कारण जिस प्रधान द्रव्य के साथ जुट जाते हैं, वे सभी द्रव्य उस प्रधान द्रव्य के साथ योग विशेष के नाम से संकेतित किये जाते हैं, जैसा कि ऊपर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। तीसरे प्रकार के वे योग हैं, जिन्हें समान प्रकरण का होने के कारण कतिपय श्लोकों के बीच में तन्त्रकार द्वारा कह दिया गया है। जैसे—चरक-चिकित्सास्थान अ० २१ श्लोक ८०-८२ के भीतर १३ योगों का वर्णन किया गया है। ऐसे योगों के भिन्न-भिन्न नाम ग्रन्थ में न देकर 'अन्य योग' शीर्षक देकर काम चलाया गया है। ऐसे योगों की गणना आगे दी जाने वाली सूची में भी नहीं की गयी है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान, कल्पस्थान तथा सिद्धिस्थान में कुछ योग ऐसे हैं, जो वर्गीकृत हैं। उनका संकेत प्रस्तुत योग सूची के अन्त में कर दिया गया है।

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या	औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
अ				अनुवासन का प्रयोग	चि०	१३	६४
अंशुमती प्रयोग	चि०	२९	८०	,, वस्ति-प्रयोग	सि०	३	७०
अगस्त्य हरीतकी	,,	१८	५७-६२	,, वस्ति-प्रयोग	चि०	१९	११९
अगुर्वादि तैल	,,	३	२६७	अनेकरोगहर निशोथ योग	क०	७	२२
,,	,,	२८	१७९	अन्धत्वहर योग	चि०	२६	२६०
अग्निदीपन में घृत की श्रेष्ठता	,,	१५	२०१	अन्य अनुलोमन योग	,,	१४	१०१-१०३
अग्र्यद्रव्यों का उपयोग	सू०	२५	४१-४४	,, अनुवासन योग	,,	१९	१२०
अजाज्यादि चूर्ण	चि०	१९	१०७	,, अनेक यूष	,,	१७	९९
अञ्जनादि लेप	,,	३०	२६६	,, घृतयोग	क०	८	१४
अटरूपकादि क्वाथ	,,	४	६५-६६	,, घृतयोग	चि०	१०	२९-३०
अणुतैलप्रयोग-विधि	सू०	५	६९-७०	,, छः पेय	,,	२०	३१
अतत्त्वाभिनिवेश में आश्वासन	चि०	१०	६३	,, तीन नस्य योग	,,	१०	४२
,, विविध प्रयोग	,,	१०	६४	,, तीन लेह योग	क०	१२	१५
अतिसार में कर्तव्य	,,	१९	१९	,, दो लेप	चि०	७	१६९-१७०
,, घृतपान	,,	१९	११६	,, दो योग	,,	२६	५३
,, पाचकजल	,,	१९	२२	,, धूमपान	,,	१८	१४७-१४८
,, मांस-प्रयोग	,,	१९	३८	,, नस्य योग	,,	१७	१३२-१३४
,, यवागू-प्रयोग	,,	८	१२५	,, पाँच घृतयोग	,,	४	८९-९०
,, शाक-प्रयोग	,,	१९	३०-३३	,, पेया योग	,,	१८	७९
,, सुपाच्य अन्य प्रयोग	,,	१९	२३	,, प्रयोग	,,	१९	७४
अनुलोमन	,,	१४	९९	,, प्रयोग	,,	१९	३७

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
अन्य प्रयोग	चि०	२२	४३-४६
,, मांसरस	,,	१९	३९
अन्य योग	,,	१७	१३६
,,	,,	१८	८५-८६
,,	,,	१८	९१
,,	,,	१८	१०२-१०५
,,	,,	१८	१७१
,,	,,	२१	१३५-१३६
,,	,,	२२	३२
,,	,,	२०	३२-३३
,,	,,	३०	६९
,,	,,	१९	५९-६०
,,	,,	१९	७२
,,	,,	३०	९६
,,	,,	३	३०३
अन्य स्नेह	,,	२८	१४२-१४३
अपतन्त्रनाशक क्वाथ	सि०	९	१८
,, घृत	,,	९	२०
अपत्यकर क्षीर योग	चि०	२।३	८-१०
,, घृत	,,	२।४	२८-२९
,, स्वरस	,,	२।२	१४-१७
अपत्यजनन क्षीरयोग	,,	२।३	११
अपत्यकरीषष्टिकादि गुटिका	,,	२।२	३-९
अपस्मारनाशक घृत	,,	१०	२६
अपस्मार में अंजन, धूपन	,,	१०	५०
,, अभ्यंग आदि	,,	१०	३२
,, उत्सादन आदि	,,	१०	३९-४०
,, धूपन द्रव्य	,,	१०	३७-३८
,, नस्य	,,	१०	४१
,, प्रधमन नस्य	,,	१०	४५
,, यमक स्नेह	,,	१०	२८
,, रक्षाविधान	,,	१०	६६
,, रसायन-प्रयोग	,,	१०	६५
,, संशमन-निर्देश	,,	१०	१६
अभयादि चूर्ण	,,	१५	१०३-१०४
,, लेह	,,	३०	२७४
अभयारिष्ट	,,	१४	१३८-१४३
अभयालेह प्रयोग	,,	१६	१३७
अभ्यंगादि प्रयोग	,,	३	३४१

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
अमलतास के २ योग	क०	८	११
,, ५ योग	,,	८	९-१०
अमृतघृत	चि०	२३	२४२-२४९
अमृतप्राश घृत	,,	११	३५-४३
अमृतादि तैल	,,	२८	१५७-१६४
,, तैल	,,	२९	१०३-१०९
,, वर्ति	,,	२६	२४३-२४५
अम्लद्रव्यज मुखलेप	,,	२४	१५१
अरिष्टयोग	क०	१२	३२
,, दो	,,	१२	३३
अरोचकनाशक द्रव्य	चि०	२६	२१९
अरोचक में कवलग्रह	,,	२६	२१६-२१८
अर्कादिवर्ति	,,	३०	७१
अर्शज विबन्ध में कर्तव्य	,,	१४	९७
अर्श में कर्मवैपरीत्य	,,	१४	२४३
,, मांसरस-प्रयोग	,,	१४	१२१
,, विविध प्रयोग	,,	१४	२४६
अर्शोनाशक मठा और दही	,,	१४	७६
अर्शोनाशक योग	,,	१४	६७-७०
अर्शों में अभ्यंग तथा धूपन	,,	१४	४८-४९
,, अवगाहन	,,	१४	४५-४७
,, परिषेचन	,,	१४	२१४
,, स्नेह-प्रयोग	,,	१४	१८३
,, स्वेदन-प्रयोग	,,	१४	४०-४४
अर्शोवेदनाहर योग	,,	१४	१००
अल्प जलपान-निर्देश	,,	२२	५९
अवपीड के अन्य योग	,,	४	१००-१०१
अवपीड नस्य	,,	२६	१८६
अविरेच्य में संशमन-प्रयोग	,,	१३	६६-६७
अश्मरीनाशक उपाय	,,	२६	६८
,, शर्कराहर योग	,,	२६	६७
अश्वगन्धादि उत्सादन	,,	२७	५०-५१
अस्वेदादि विकारनाशक पेया	,,	३	१८७
अष्टकट्वर तैल	,,	२७	४७
अष्टप्रासृतिक वस्ति	सि०	८	५
अष्टशत-अरिष्ट	चि०	१२	३२-३३
अष्टांग लवण	,,	२४	१७७-१७८
आ			
आगन्तुज अतिसारनाशक योग	,,	१९	१२
आचार-रसायन	,,	१।४	३०-३५

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
आजमांसरस-प्रयोग	सि०	३	४३
आमपाचन योग	चि०	१५	९८-१००
आमलक घृत	,,	१।२	४-६
आमलक चूर्ण	,,	१।२	८
आमलक रसायन	,,	१।१	७५
आमलकादि घृत	,,	५	१२२
,,	,,	१०	३१
आमलकायस ब्राह्मरसायन	,,	१।३	३-६
आमलकावलेह प्रथम	,,	१।२	७
,, द्वितीय	,,	१।२	१०
आमातिसार में दीपनीय घृत	चि०	१५	२०२
आरग्वधघृत-प्रयोग	क०	८	१३
आरग्वधादि अरिष्ट	,,	८	१५
,, अवलेह	,,	८	१२
,, निरूहवस्ति	चि०	३	२४५-२४६
आरनालादि तैल	,,	२९	१२२
इ			
इक्षुकाण्ड-प्रयोग	क०	१२	१७
इक्षुवालिकादि क्षीर	चि०	११	१८
इक्ष्वाकु का श्रेय योग	क०	३	११
इक्ष्वाकु के ४ अन्य योग	,,	३	१५-१८
,, ८ योग	क०	३	१५
,, अन्य योग	,,	३	१२
,, क्षीर-प्रयोग	,,	३	६
,, क्षीर-प्रयोग	,,	३	९
,, बीज-प्रयोग	,,	३	१४
,, सक्तु-प्रयोग	,,	३	१९
इन्द्रजौ का अन्य प्रयोग	चि०	१९	८५
इन्द्रयव प्रयोग	,,	१९	७९
इन्द्रोक्त रसायन प्रथम	,,	१।४	६
,, द्वितीय	,,	१।४	१३-२६
उ			
उत्कारिका प्रयोग	क०	१२	२०
उत्सादनार्थ औषधद्रव्य	चि०	८	१७५-१७७
उदररोग-नाशक लेप	,,	१३	१०८
,, में आस्थापनवस्ति	,,	१३	६३
,, एरण्डतैल	,,	१३	१७२
,, दीपनीय घृत	,,	१३	१११
,, दुग्धपान	,,	१३	१९३-१९४

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
उदररोग में दुग्ध-प्रयोग	चि०	१३	१०७
,, निरूहवस्ति	,,	१३	१७३
,, परिषेक	,,	१३	१०९-११०
,, विरेचन	,,	१३	११८
उदररोगहर यवागू	,,	१३	१६५-१६६
उदुम्बर तैल	,,	३०	७७
उदुम्बरादि तैल	,,	३०	७३-७६
,, प्रदेह	,,	२१	७२
,, लेह	,,	२६	९८
उद्वेजक प्रयोग	,,	९	३०-३१
उन्माद में अञ्जन-प्रयोग	,,	९	२९
,, अञ्जनादि प्रयोग	,,	९	६३
,, आश्वासनादि	,,	९	७९
,, घृतमांस-प्रयोग	,,	९	७८
,, ताडन-प्रयोग	,,	९	८१
,, नस्य तथा अञ्जन	,,	९	६४-६५
,, पुराने घी का प्रयोग	,,	९	५७-५९
,, भय-प्रयोग	,,	९	८२-८३
उन्माद में वमनादि प्रयोग	,,	९	२८
,, सिरामोक्षण	,,	९	७७
,, रोगी को त्रास देना	,,	९	८०
उरःक्षत में कतिपय वृष्ययोग	,,	११	७८-८४
,, घृत-प्रयोग	,,	११	३३
,, यव-प्रयोग	,,	११	१९
,, लाक्षादि क्षीर	,,	११	१७
ऊ			
ऊरुस्तम्भ में मांसरस	,,	२७	३९
,, हर योग	,,	२७	२०
ऋ			
ऋषभादिक अगद	,,	२३	९५
ए			
एडगजादि लेप	,,	७	१२६
एरण्डतैल-प्रयोग	,,	२९	८३
,,	,,	२६	२७-२९
एरण्डादि धूमवर्ति	,,	२६	१८२
एरण्डमूलादि क्षीरपाक	,,	३	२३५
,, निरूहवस्ति	सि०	३	३८-४२
,, यापनावस्ति	,,	१२	१६(२)
एलादि गुटिका	चि०	११	२१-२४

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
ऐ			
ऐन्द्रजल का प्रयोग	चि०	२२	२५
ऐन्द्ररसायन	,,	१।३	२४-२९
क			
कंसहरीतकी	,,	१२	५०-५२
कटभ्यादि तैल	,,	१०	३३
कटुकादि क्वाथ	,,	२६	२०१
कटुकादि घृत	,,	१६	४७-४९
कट्फलादि कषाय	,,	२६	९७
,, क्वाथ	,,	१८	११२-११३
कर्णिकानाशक योग	,,	२३	२०३
कण्टकारी घृत	,,	१८	३५
,,	,,	१८	१२५-१२८
कतिपय अन्य क्षार	,,	४	९४
,, विरेचनयोग	,,	२१	६४-६७
कनकक्षीरी तैल	,,	७	१११-११६
कनकबिन्दु अरिष्ट	,,	७	७६-७९
कनकारिष्ट	,,	१४	१५८-१६८
कपित्थादि चूर्ण	,,	१९	११२
कफज अतिसार में योग	,,	१९	१०९-१११
,, अतिसार-नाशक ४ योग	,,	१९	१०४-१०६
,, कास में धूमपान	,,	१८	१३०
,, कास में मांस-प्रयोग	,,	१८	१५६-१५७
,, कासहर चार योग	,,	१८	११९-१२१
कफज गुल्म में अरिष्ट प्रयोग	,,	५	५९
,, क्षारादि प्रयोग	,,	५	५५
,, गुटिकादि प्रयोग	,,	५	५४
,, घृतपान	,,	५	५२
,, चूर्णादि प्रयोग	,,	५	१६२-१६३
,, त्रिवृता प्रयोग	,,	५	१५३
,, पेय	,,	५	१६७-१६८
,, लंघन	,,	५	४८
,, विरेचन	,,	५	५३
,, वस्तिप्रयोग	,,	५	५३
,, स्वेदन	,,	५	१४१
कफज छर्दिनाशक योग	,,	२०	५८
,, पाण्डुरोगहर योग	,,	१६	५८
,, मदात्यय में विविध पेय	,,	२४	१६५-१६७
,, मदात्यय में मांस-प्रयोग	,,	२४	१७३
,, मूत्रकृच्छ्रनाशक योग	,,	२६	५६

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
कफज रोगनाशक भिलावा	चि०	१।२	१९
कफपित्तज प्रमेह में अन्य योग	,,	६	३६
कफ प्रधान ज्वर में कर्तव्य	,,	३	२८१-२८२
कफज प्रमेहहर दस योग	,,	६	२७-२९
कफोदर में अरिष्ट-क्षार	,,	१३	१५६-१५७
कमलों का प्रयोग	,,	२४	१५६
कम्पिल्लकादि तैल	,,	२५	९०-९१
कम्पिल्लादि ,,	,,	२१	१३७
कलिङ्गादि चूर्ण	,,	१५	१०१-१०२
कल्याणक गुड़	क०	७	४०-४५
,, घृत	चि०	९	३५-४१
कवलग्रह	,,	२६	१८६
कशेरुकादि घृत	,,	२६	९४
काकाण्डादि योग	,,	२३	५३
कामलानाशक योग	क०	१२	३१
कामला नाशक दो योग	चि०	१६	५९
,, हर दो योग	,,	१६	९८
कायस्थादि वर्ति	,,	१०	४६-४७
कार्पासमूलादि योग	,,	२६	६९-७०
कालक चूर्ण	,,	२६	१९४-१९५
कालीयादि प्रलेप	,,	२१	७४
काले तिलों का प्रयोग	,,	१९	८३
काश्मर्यादि क्वाथ	,,	२९	८५
,, घृत	,,	३०	५२-५३
कासमर्दादि ,,	,,	१८	१६३-१६४
,, योग	,,	१८	११७
कास में कृतवेधन प्रयोग	क०	६	१२
,, खदिरसार प्रयोग	चि०	१८	६४
कासरोग में धूमपान	,,	१८	६५
,, पेया	,,	१८	७७-७८
कासश्वासयुक्त ज्वर में पेया	,,	३	१८३
किराततिक्तकादि क्वाथ	,,	३	३४३
,, क्वाथ	,,	२१	५५-५६
,, क्वाथ	,,	३०	२६७
,, चूर्ण	,,	४	७४-७६
किरातादि चूर्ण	,,	१५	१३७-१४०
किलासनाशक योग	,,	७	१७१
कीटलूतादंश व्रणनाशक योग	,,	२३	२०४
कुटज का कुशरा के साथ प्रयोग	क०	५	११
,, के अन्य योग	,,	५	९,१०

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
कुटज प्रयोग	क०	५	६
कुटज फलादि घृत	चि०	१४	१९७-२०१
कुटजादि योग	,,	२३	२०६-२०७
,, रसक्रिया	,,	१४	१८८-१९२
कुलत्थादि घृत	,,	१८	१२९
कुष्ठनाशक योग	,,	७	६१
,, लेप	,,	७	८४
,, लेप	,,	७	९४
,, लेप	,,	७	१६०
कुष्ठ में अगद प्रयोग	,,	७	५५
,, आस्थापनवस्ति	,,	७	४६
,, उबटन, लेप	,,	७	९५
,, क्षार-प्रयोग	,,	७	५४
,, खदिर-विडंग योग	,,	७	१५९
,, गन्धक प्रयोग	,,	७	७०
,, तैल प्रयोग	,,	७	११९
,, दाहहर अभ्यंग	,,	७	१३३
,, धूमपान	,,	७	४९
,, प्रदेह प्रयोग	,,	७	५६-५७
,, विविध घृत योग	,,	७	१३५
,, विशेष योग	,,	७	८९-९०
,, शिलाजतु प्रयोग	,,	७	७१-७२
,, संशमन प्रयोग	,,	७	५८
,, संशोधन	,,	७	४१
,, स्नान, पान, लेप	,,	७	१५८
कुष्ठरोग में नस्य प्रयोग	,,	७	४८
,, रक्तमोक्षण	,,	७	५०-५२
कुष्ठ में लेप प्रयोग	,,	७	५३
कुष्ठरोग में वामक द्रव्य	,,	७	४३
,, विरेचक द्रव्य	,,	७	४४
,, स्नेहपान द्रव्य	,,	७	४२
कुष्ठहर दूसरा योग	,,	७	१६१
,, चार लेप	,,	७	९६
,, आठ योग	,,	७	९७-९९
कुष्ठादि तैल	,,	२७	४३-४४
,,	,,	७	१०२-१०४
कुष्ठादि लेप	,,	७	९३
कृतवेधन के अन्य योग	क०	६	५
,, अन्य योग	,,	६	८
,, पाँच योग	,,	६	५

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
कृतवेधन पिच्छा प्रयोग	क०	६	८
,, युक्त मांसरस-प्रयोग	,,	६	११
,, लेह	,,	६	९-१०
कृष्णमृत्तिकादि योग	चि०	१९	८२
कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया	,,	२६	२५९
कृष्णादि चूर्ण	,,	१२	४१-४२
केवलवातहर दशमूलादि घृत	,,	२८	११९-१२१
केवलामलक रसायन	,,	१।३	९-१४
कोललाक्षादि घृत	,,	११	३४
कोशातकादि निरूहवस्ति	सि०	३	५६-५७
क्षतक्षीण में सन्तर्पण	चि०	११	९३-९४
क्षतजकास में जीवनीयघृत	,,	१८	१४०
,, धूमपान	,,	१८	१४४
,, मांस-प्रयोग	,,	१८	१४१
,, विविध पेय	,,	१८	१४२
क्षयज कासनाशक योग	,,	१८	१८५
,, दो योग	,,	१८	१७०
,, लेह	,,	१८	१८०
क्षयज कास में धूमपान	,,	१८	१८६
,, बृंहण-प्रयोग	,,	१८	१५०
,, शोथनाशक योग	,,	१८	१५५
क्षारगुटिका	,,	२६	१९२-१९३
,,	,,	१५	१८३-१८५
,,	,,	१३	४३-४६
क्षारघृत	,,	१५	१७१-१७२
क्षारतैल	,,	२६	२२६-२२९
क्षारप्रयोग	,,	१७	१२०
क्षारवटिका	,,	१३	१६२-१६४
क्षारागद	,,	२३	१०१-१०४
क्षीरमूत्र-प्रयोग	,,	१६	६४
क्षीरषट्पलक घृत	,,	५	१४७-१४८
ख			
खडयूष आदि प्रयोग	,,	१४	९१
खडयूष प्रयोग	,,	१९	३४
खदिरादि आलेप	,,	२१	८७-९१
,, गुटिका	,,	२६	२०६-२१४
,, तैल	,,	२६	२०६-२१४
खर्जूरादि तर्पण	,,	४	३३
खुड्डाकपद्मक तैल	,,	२९	११४

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
ग			
गण्डीरादि अरिष्ट	चि०	१२	२९-३१
गन्धतैल	,,	२६	२२४-२२५
गन्धहस्ती नामक अगद	,,	२३	६९-७६
गलगण्ड	,,	१२	७९
गवाक्ष्यादि चूर्ण	,,	१३	१२४
गाय के दूध का प्रयोग	,,	१९	५८
गुडपानक प्रयोग	क०	१०	१४
गुडार्द्रक प्रयोग	चि०	१२	४७-४८
गुडूच्यादि घृत	,,	१८	१६१-१६२
,, तैल	,,	२९	१२१
,, तैल	,,	३०	५९-६०
,, निरूहवस्ति	,,	३	२४७-२४९
गुदपाकहर योग	,,	१९	८८
गुदप्रक्षालन ,,	,,	१९	८७
गुदभ्रंशनाशक योग	,,	१९	४२
गुल्म आदि नाशक योग	क०	१२	३४
गुल्म-उदररोगनाशक योग	,,	४	७-८
गुल्म में उष्णोपचार	चि०	५	५०
गुल्म में तिल्वक घृत	चि०	५	३५
,, त्रायमाणा-प्रयोग	,,	५	१२८-१२९
,, रक्तमोक्षण	,,	५	३२
,, रक्तमोक्षण	,,	५	३७
,, वस्तिकर्म	,,	५	१००
,, स्नेह तथा वस्ति-प्रयोग	,,	४	२४
गोक्षुरादि योग	,,	२६	६२
गोमूत्र हरीतकी	,,	१६	६८
गौड अरिष्ट	,,	१६	१०५
ग्रन्थिविसर्प में परिषेचन	,,	२१	१२२
,, प्रदेह	,,	२१	१२३-१२४
,, विविध योग	,,	२१	१२९-१३१
ग्रहणी रोग में तक्र-प्रयोग	,,	१५	११७-११९
ग्रहणीहर यवागू-पञ्चक	,,	१५	११२-११६
ग्रीष्मकालिक विरेचक योग	क०	७	५९
घी तथा मोम का प्रयोग	चि०	१५	२२८
घृत तथा क्षीर योग	क०	७	६६-६८
घृत, तैल, अरिष्ट प्रयोग	चि०	१५	२०५-२०६
घृतपान	,,	१८	१४३
,, तथा विरेचन प्रयोग	,,	२१	४७

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
घृत प्रयोग	चि०	१७	१३९
१३ घृत योग	क०	११	१२-१६
च			
चटनी का प्रयोग	चि०	२४	१७९
चतुःप्रासृतिक वस्ति : प्रथम	सि०	८	७
,, द्वितीय	,,	८	१२
चतुःस्नेह-अनुवासनवस्ति	,,	१२	१८(१)
चतुर्थ क्षार	चि०	१५	१८६-१८७
,, सर्पिगुड	,,	११	६६-६९
चन्दनादि अनुवासनवस्ति	,,	३	२५३
,, घृत	,,	१५	१२५-१२८
,, तैल	,,	३	२५८
,, योग	,,	२३	१९१-१९२
,, लेप	,,	२५	८८
,, निरूहवस्ति	सि०	३	४८-५२
चन्दनादि प्रदेह तथा परिषेक	चि०	२६	१७७
चन्दनादि यमक	सि०	४	१२
चव्यादि घृत	चि०	१४	१०५
,,	,,	१४	१०७-१०९
,,	,,	१९	४४
चांगेरी घृत	,,	१९	४३
चार अम्लद्रव्यों का प्रयोग	,,	१५	१११
चार मेध्य रसायन	,,	१।३	३०-३१
चिकित्सार्थ तिक्तद्रव्य-प्रयोग	,,	१४	१८२
चित्रक घृत	,,	१२	५८-५९
,,	,,	१३	११६
चित्रकादि गुटिका	,,	१५	९६-९७
,, घृत	,,	१२	५५-५६
,, घृत	,,	२८	१२२
चित्रकादि चूर्ण	,,	१४	७१
,, योग	,,	१३	१४७
,, लेप	,,	७	८५-८६
,, लेह	,,	१८	५३-५६
१. चूर्णांजन	,,	२६	२४७-२४८
२. ,,	,,	२४	२४९
च्यवनप्राश-रसायन	,,	१।१	६२-६९
छ			
छः तैल योग	क०	११	९-११
छर्दिनाशक तीन योग	चि०	२०	३७
छर्दि में अन्य लेह	,,	२०	२९

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
छर्दि में मनःशिला योग	चि०	२०	३९
,, हरीतकी-प्रयोग	,,	२०	२१
ज			
जत्वादि धूमागद	चि०	२३	१००
जलोदर में शस्त्रकर्म	,,	१३	१८९-१९२
जीमूतक का वर्धमान योग	क०	३	१३
,, के ५ योग	,,	५	५-६
,, के ८ मात्रा योग	,,	२	११
,, घृत-प्रयोग	,,	२	१३
,, दधि-प्रयोग	,,	३	८
,, दुग्ध-प्रयोग	,,	३	७
,, सुराभण्ड-प्रयोग	,,	२	८
जीर्णज्वर में दुग्धपान का महत्त्व	चि०	३	२३९
,, वासादि घृत	,,	३	२२२-२२३
जीवकादि महास्नेह	,,	२९	७२-७५
जीवन्त्यादि अनुवासन यमक	सि०	४	९-११
,, अनुवासनवस्ति	चि०	३	२५०-२५१
,, घृत	,,	८	१११-११३
,, यवागू	,,	१२	६०
,, लेह	,,	१८	१७६-१७९
ज्वरक्षीण में दुग्ध तथा वस्ति-प्रयोग	,,	३	१६९
ज्वरनाशक अन्न	,,	३	१७८
,, कषाय	,,	३	१९७-१९९
,, जात्यादि कषाय	,,	३	२०७
,, वत्सकादि कषाय	,,	३	२०४-२०५
,, विविध अन्न-पेयादि	,,	३	१७८
,, विविध कषाय	,,	३	१९७-१९९
ज्वर में अनुवासनवस्ति-प्रयोग	,,	३	१७२
ज्वर में अभ्यंग	,,	३	१७५
ज्वर में अभ्यंग आदि का प्रयोग	,,	३	२५६
ज्वर में अभ्यंग आदि का विधान	,,	३	१७४
ज्वर में कषायपान का समय	,,	३	१६०
ज्वर में घृतपान	,,	३	२९०
,, घृतपान का निर्देश	,,	३	१६४
,, घृत-प्रयोग	,,	३	२१६
,, जल-प्रयोग	,,	३	१४३
,, दूध का प्रयोग	,,	३	१६७
,, दोषानुलोमिनी पेया	,,	३	१८४
,, धूपन आदि का प्रयोग	,,	३	१५६
,, धूमवर्ति-प्रयोग	,,	३	२५५

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
ज्वर में नस्य-प्रयोग	चि०	३	१७३
,, मांसरस-प्रयोग	,,	३	१९०-१९१
,, यवागू-प्रयोग	,,	३	१४९
,, रक्तमोक्षण	,,	३	२८९
,, लाजपेया-प्रयोग	,,	३	१७९
,, वस्तियों का प्रयोग	,,	३	२४०
,, विविध शाक प्रयोग	,,	३	१८९
,, शिरोविरेचन	,,	३	२५४
,, सुवर्ण आदि का स्पर्श	,,	३	२६२
ज्वर वेगकालिक कर्तव्य	,,	३	३०१
ज्वरहर बलादि घृत	,,	३	२२४-२२६
ज्वरातिसार में पेया-प्रयोग	,,	३	१८२
त			
तक्र-आदि प्रयोग	,,	१९	२४
तक्र-प्रयोग विचार	,,	१४	७९-८८
तक्रारिष्ट	,,	१४	७२-७५
,,	,,	१५	१२०-१२१
,, प्रयोग	,,	३०	२७८
तर्कार्यादि प्रलेप	,,	२७	५२
तक्षकविषनाशक योग	,,	२३	१९४
तगरादि लेप	,,	२९	१५०
तर्पण-प्रयोग	क०	७	३४-३५
तालीशादि चूर्ण-गुटिका	चि०	८	१४५-१४८
तालुविद्रधि	,,	१२	७७-७८
तालुशोषनाशक गण्डूष	,,	२२	३४
तिक्तषट्पलघृत	,,	७	१४०-१४३
तिक्तेक्ष्वाकवादि तैल	,,	७	१०८-११०
तिमिरघ्न नेत्राञ्जन	,,	२६	२५६-२५७
तिलादि उपनाह	,,	२५	५१
,, योग	,,	२६	२७९
,, लेप	,,	२९	१३३
तीन अन्य यापनावस्तियाँ	सि०	१२	१७
,, स्नेह योग	क०	१२	९-१०
तुम्बुर्वादि धूपन	चि०	१४	५०-५१
तृणपञ्चमूल जल	,,	२२	२७
तृतीय पिप्पल्यादि घृत	,,	१४	११३-१२०
,, सर्पिःगुड	,,	११	६२-६५
तृष्णानाशक अन्य लेप	,,	२२	३६
,, प्रलेप	,,	२२	३५
तृष्णारोग में पौष्टिक प्रयोग	,,	२२	५४

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
तेजोवत्यादि घृत	चि०	१७	१४१-१४४
तेजोह्वादि चूर्ण	,,	२६	१९०-१९१
तैलपञ्चक	,,	५	९६
तैलीय फलों के प्रयोग	,,	१५	२२७
त्रप्वादि लेप	,,	७	८८
त्रायमाणादि घृत	,,	५	११८-१२१
त्रिकण्टकादि क्षीरपाक	,,	३	२३६
त्रिकण्टकादि स्नेह	,,	६	३८-३९
त्रिदोषज उदरोग में विष प्रयोग	,,	१३	१७५-१८३
त्रिफलाक्वाथ-प्रयोग	,,	२९	८६
त्रिफलादि अरिष्ट	,,	१२	३९-४०
,, कल्क	,,	२९	१५२-१५४
,, कषाय	,,	७	१००-१०१
,, क्वाथ	,,	१३	१४९-१५०
,, चूर्ण	,,	७	६८-६९
,, तैल	,,	१०	४३-४४
,, प्रदेह	,,	२१	८७-९१
,, प्रयोग	,,	३०	१५४
,, महास्नेह प्रयोग	,,	२८	१२९-१३३
,, योग	,,	७	१३६-१३९
,, योग	,,	१६	९९
त्रिफलारसायन : प्रथम	,,	१।३	४१-४२
,, द्वितीय	,,	१।३	४३-४४
,, तृतीय	,,	१।३	४५
,, चतुर्थ	,,	१।३	४६-४७
त्रिफलासव	,,	७	८१
त्रिवृत् अरिष्ट	क०	७	६९-७१
,, के १० योग	,,	७	७४
,, त्रिफला योग	चि०	१४	६६
,, लेह तथा मोदक	क०	७	३७-३९
त्रिवृतादि मोदक	,,	७	५१-५५
,, विरेचन योग	,,	७	६५
त्र्युटयादि चूर्ण	चि०	२६	६४-६५
त्र्यूषणादि घृत	,,	१५	८७
,, घृत	,,	२६	८७-८९
,, घृत	,,	१८	३९-४२
,, चूर्ण	,,	१४	६२-६५
,, चूर्ण	क०	७	६३-६४
त्वक्संजनन योग	चि०	२५	११३
त्वक्सवर्णीकरण लेप	,,	२५	११६

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
त्वगादि तैल	चि०	२६	१८४-१८५
,, प्रधमन चूर्ण	,,	२६	१८४-१८५
,, लेह	,,	१८	९२-९३
त्वग्विशुद्धिकर प्रलेप	,,	२५	११४
त्वचा को काला करने वाला लेप	,,	२५	११५
द			
दन्तीघृत	,,	१६	५१
दन्ती-द्रवन्ती प्रयोग	क०	१२	१६
,, के १० योग	,,	१२	७-८
दन्ती-हरीतकी	चि०	५	१५४-१६०
दन्त्यरिष्ट	,,	१४	१४४-१४७
दन्त्यादि प्रलेप	,,	२७	५०-५१
,, लेप	,,	२१	१२६
दन्त्यासव	,,	६	४५
दशमूलघृत	,,	८	९७
दशमूलादि अनुवासन	,,	१९	४५
,, अनुवासन तैल	सि०	४	४-६
,, अनुवासन वसा	,,	४	७
,, क्षीर	चि०	२९	१२४
,, घृत	,,	८	९३
,, घृत	,,	८	१६८
,, घृत	,,	१५	८२-८६
,, घृत	,,	१७	१४०
,, घृत	,,	१८	१२३-१२४
,, परिषेचन	,,	२५	७७
,, यवागू	,,	१७	१०२-१०३
दशमूली घृत	,,	५	१४२
दाडिमादि घृत	,,	१६	४४-४६
दातौन के पश्चात् कम	,,	३	१५९
दार्व्यादि घृत	,,	१९	८०-८१
,, लौह	,,	१६	९७
दाहकर्म से लाभ	,,	५	६२
दाहनाशक लेप	,,	२९	१३१-१३२
दाह में अभ्यंग तथा परिषेक	,,	८	८५-८६
दाहशान्ति के अन्य विधान	,,	४	१०७
दाहशूलनाशक लेप	,,	२५	७८
दीपन आदि द्रव्य	,,	१९	२६-२९
दीर्घकालिक ग्रहणीरोग में मांसरस	,,	१५	२०९-२१०
दुग्ध-घृत योग	,,	२२	४१
दुग्ध तथा मांसरस-प्रयोग	,,	२२	५५

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
दुरालभादि क्षार	चि०	१५	१७९-१८०
,, घृत	,,	८	१०६-११०
,, लेह	,,	१८	५०
दुरालभासव	,,	१५	१५२-१५५
दुःस्पर्शादि लेह	,,	१८	५१
दूध-भात का प्रयोग	,,	२२	२९
दूर्वा तैल	,,	२५	९३
दूसरा त्र्यूषणादि घृत	,,	५	६६
दृष्टिप्रदावर्ति	,,	२६	२५४-२५५
देवदार्वादि तैल	,,	२६	२२३
दो प्रकार के रसायन	,,	१।१	१६
दोषपाचन के उपाय	,,	३	१४२
दोषशमन के उपाय	सू०	१	५८-६१
दोषानुसार अन्य लेह	चि०	१८	९०
द्राक्षाघृत	,,	१६	५२
द्राक्षादि घृत	,,	५	१२३-१२५
,, घृत	,,	२६	९३
,, घृत एवं क्षीर	,,	२९	७१
,, निर्यूहवस्ति	सि०	३	५३-५५
,, पाँच योग	चि०	४	८४
,, लेप	,,	३०	२७२
द्राक्षादि लेह	,,	१८	१७२
द्राक्षादि शीतकषाय	,,	२१	५८
द्वितीय चित्रकादि घृत	,,	१२	५७
,, निरूहवस्ति	,,	१३	१७४
,, फलारिष्ट	,,	१४	१५३-१५७
,, सर्पिगुड़	,,	११	५६-६१
द्विपञ्चमूलादि घृत	,,	१८	१५८-१६०
,, घृत	,,	२९	६१-७०
,, वस्ति	सि०	१२	१७(२)
द्विरुत्तरहिंगु प्रयोग	,,	९	३१
,, हिंग्वादि चूर्ण	चि०	२६	२०
द्रोणीप्रावेशिकरसायन	,,	१।४	७
ध			
धातक्यादि तैल	,,	३०	७८-८१
,, प्रतिसारण	,,	१९	९०
धात्री अरिष्ट	,,	१६	१११-११३
,, अवलेह	,,	१६	१००-१०१
धात्र्यादि रसक्रिया	,,	२६	२६१
धान्य यूष	,,	१९	३५-३६

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
धान्याम्बु-प्रयोग	चि०	२२	६१
धामार्गव के दो योग	क०	४	११
,, दस योग	,,	४	१२
,, दस योग	,,	४	१३-१४
धामार्गव घृत योग	,,	४	१८
,, घ्रेय प्रयोग	,,	४	१०
,, पुष्प आदि प्रयोग	,,	४	७
,, फल-प्रयोग	,,	४	९
,, स्वरस योग	,,	४	६
धूम-प्रयोग	चि०	२३	९८
धूमपान-निर्देश	,,	१७	७७-८०
धूमपान-प्रयोग	,,	९	७३
,, के विविध योग	,,	१८	७३-७५
न			
नलदादि प्रलेप	,,	२१	७७
नवनीत प्रयोग	,,	१९	९८
नवप्रासृतिक वस्ति	सि०	८	६
नवायस चूर्ण	चि०	१६	७०-७१
नस्य-प्रयोग	,,	२२	३३
,,	,,	२३	१८१
नागदन्त्यादि घृत	,,	२३	२४१
नागबला कल्प	,,	११	९१-९२
,, रसायन	,,	१।२	११
नागरादि कल्क	,,	१८	११५
,, क्षीरपाक	,,	३	२३७
,, घृत	,,	१३	१२५
,, घृत	,,	१४	११०-११२
,, चूर्ण	,,	१५	१२९-१३१
नागरादि योग	,,	५	९१
नारायण चूर्ण	,,	१३	१२४
निदान-परिवर्जन	,,	३	४१-४२
निदिग्धिकादि यूष	,,	१७	९४-९५
निरूह तथा अनुवासन	,,	१३	६५
,, वस्ति प्रयोग	,,	२८	८६
निर्गुण्डी तैल	,,	२८	१३४-१३५
निर्वापण लेप	,,	२५	६३
निशोथ अवलेह	क०	७	२३
,, का १ योग	,,	७	२१
,, के ७ योग	,,	७	२०
,, के १५ योग	,,	७	१८
,, के १८ योग	,,	७	१५-१६

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
निशोथ के ९ योग	क०	७	१२-१३
,, के विविध योग	,,	७	३३
नीलिनी घृत	चि०	५	१०५
नीलिन्यादि घृत	,,	५	१०६-१०९
,, चूर्ण	,,	१३	१३७
नीलोत्पलादि योग	,,	१९	७५-७६
न्यग्रोधपादादि लेप	,,	२१	७३
न्यग्रोधादि प्रलेप	,,	८१	८३-८६
,, रोपण क्वाथ	,,	२५	८७
प			
पञ्चकोल घृत	चि०	१३	११२-११४
,, यवागू	,,	१२	६१
पञ्चकोलादि घृत	,,	८	१६९
,, पेय	,,	१५	७६
,, लेप	,,	३०	२६४
पञ्चगव्य घृत	,,	१०	१७
पञ्चतिक्त वस्ति	सि०	८	८
,, प्रासृतिकवस्ति :प्रथम	,,	८	४
,, प्रासृतिकवस्ति : द्वितीय	,,	८	१३-१४
पञ्चम क्षार	चि०	१५	१८८-१९३
पञ्चमूल-सिद्ध पयःपान	,,	३	२३४
,, शिरीष अगद	,,	२३	२१८
पञ्चम सर्पिमोदक	,,	११	७०-७७
पञ्चमूल प्रथम	,,	३।१	४१-५७
,, द्वितीय	,,	३।१	४१-५७
,, तृतीय	,,	३।१	४१-५७
,, चतुर्थ	,,	३।१	४१-५७
,, पञ्चम	,,	३।१	४१-५७
,, घृत	,,	८	९८-९९
पञ्चमूलादि घृत	,,	१५	८८-९३
पञ्चमूलादि वस्ति	सि०	३	५९-६०
,, वल्कलादि अवचूर्णन	चि०	२५	६७
पटोलमूलादि क्वाथ	,,	१२	५३-५४
पटोलादि अनुवासनवस्ति	,,	३	२५२
,, कषाय	,,	७	६२-६४
,, कषाय	,,	२१	६१
,, चूर्ण	,,	१३	११९-१२३
,, निरूहवस्ति	,,	३	२४१-२४४
,, वस्ति	सि०	३	५८
,, वामक द्रव्य	चि०	२१	५२

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
पटोलादि शीतकषाय	चि०	२१	५९
पत्रादि लेप	,,	३०	२७५
पथ्या घृत	,,	१६	५०
पथ्यादि कल्क	,,	२६	८५
पथ्यादि मोदक	क०	७	५०
पद्मकादि क्वाथ	चि०	४	६७
,, घृत	,,	२९	१४६
,, लेह	,,	१८	१७४-१७५
परम अगद	,,	२३	२१२-२१४
परिकर्तिकानाशक पेया	,,	३	१८६
परिषेक तथा प्रदेह प्रयोग	,,	२४	१६१
पलंकषादि तैल	,,	१०	३४-३६
पलाशवस्ति प्रयोग	सि०	३	४४-४५
पलाशादि कल्क	चि०	३०	१२२
पलाशादि पानीय	,,	१५	१४२-१४५
पलितनाशक योग	,,	२६	२६६
,,	,,	२६	२६७
पलित हर योग	,,	२६	२८०-२८१
पाठादि आसव	,,	१७	१०६-१०७
,, कल्क	,,	१८	११४
पाण्डु, कामलानाशक घृत	,,	१६	५४
,, रोगनाशक योग	क०	१२	३०
पारूषक घृत	चि०	२९	५८-६०
पार्श्व आदि शूल में पेया	,,	३	१८१
पाषाणभेदादि चूर्ण	,,	२६	६०-६१
पिच्छावस्ति	,,	१४	२२५-२२८
,,	,,	१९	६४-६८
,,	,,	१९	६३
,, प्रयोग	,,	१९	९३-९४
,, प्रयोग	,,	१९	११७-११८
पिण्डतैल	,,	२९	१२३
पिण्डासव	,,	१५	१६०-१६२
पिण्याकादि वर्ति	,,	२६	१३
पित्तकफज्वर में त्रिफलादि	,,	३	२०८-२०९
पित्तज अतिसारनाशक योग	,,	१९	५२-५५
पित्तज, कफज उन्मादहर	,,	९	२६-२७
,, कफज कुष्ठहर लेप	,,	७	१३०
,, कास में घृतपान	,,	१८	१०७
,, कासहर ५ लेह	,,	१८	८७-८९
,, कुष्ठ में आलेपन	,,	७	१३२

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
पित्तज कुष्ठहर क्वाथ	चि०	७	१३१
पित्तज गुल्म में अभ्यंग	,,	५	१३१
,, क्षीरवस्ति	,,	५	३४
,, रक्तमोक्षण	,,	५	३६
,, वस्ति-प्रयोग	,,	५	१३२
,, विरेचन	,,	५	१३०
पित्तज छर्दि में पेय	,,	२०	३०
,, लेह	,,	२०	२८
पित्तज प्रमेहहर १० योग	,,	६	३०-३२
,, शोथ में प्रदेह और तैल	,,	१२	६८
पित्तातिसार हर योग	,,	१९	५०
पिप्पलत्वक् प्रयोग	,,	२९	१५८
पिप्पलीमूलादि क्षार	,,	१५	१७३-१७६
,, घृत	,,	१४	१०५
,, घृत	,,	१५	१७०
,, चूर्ण	,,	१५	१६८-१६२
पिप्पली-रसायन	,,	१।३	३२-३५
,, वर्धमान-रसायन	,,	१।३	३६-४०
पिप्पल्यादि अंजन	,,	२३	१८३
,, अनुवासन	,,	१४	१३१-१३४
,, क्षार	,,	१३	१५८-१६१
,, घृत	,,	३	२१९-२२१
,, घृत	,,	५	७४-७५
,, घृत	,,	१४	१०४
,, घृत	,,	१८	३६-३८
,, घृत : द्वितीय	,,	१४	१०६
,, चूर्ण	,,	१३	७९
,, चूर्ण	,,	१५	१०६-१०७
,, चूर्ण	,,	१९	११३
,, चूर्ण	,,	२६	१८८-१८९
,, चूर्ण	,,	३०	८४
,, योग	,,	२०	५४-५५
,, रसक्रिया	,,	२६	२५८
,, लेह	,,	१८	९४
,, लेह	,,	१८	१३५-१३७
,, वर्ति	सि०	९	५८-६१
,, वर्ति	चि०	३०	७२
पीतक चूर्ण	,,	२६	१९६-१९७
पीनस में पाठादि तैल	,,	२६	१४५
पुनर्नवादि अरिष्ट	,,	१२	३४-३८

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
पुनर्नवादि तैल	चि०	२६	८२
,, निरूहवस्ति	सि०	३	६४-६८
पुनर्नवादि योग	चि०	२६	६२
पुनर्नवामण्डूर	,,	१६	९३-९६
पुरीषक्षय में मांस-प्रयोग	,,	१९	४०-४१
पुष्करमूलादि कल्क	,,	२६	८४
,, पेय	,,	१८	१११
पुष्करादि योग	,,	१७	१०४
पुष्यानुग चूर्ण	,,	३०	९०-९५
पीलुपर्ण्यादि तैल	,,	२७	४१-४२
पेया, उत्कारिका-प्रयोग	,,	१८	१८१
पैत्तिक मदात्यय में द्राक्षारस	,,	२४	१४६-१४७
प्रघर्षणार्थ चूर्ण	,,	२३	४१
प्रतिसारण लेप	,,	१४	२२०-२२१
प्रत्येक ऋतु में सेवनीय योग	क०	७	५९-६०
प्रथम फलारिष्ट	चि०	१४	१४८-१५२
,, सर्पिगुड	,,	११	५०-५५
प्रदरनाशक योग	,,	३०	९७-९८
प्रदेह-परिषेचनोपयोगी द्रव्य	,,	४	१०२-१०५
प्रदेहों में घृत प्रयोग	,,	२१	९२
प्रपौण्डरीकादि क्वाथ	,,	२१	५७
,, तैल	,,	२५	९२
,, तैल	,,	२६	२७६-२७७
,, धूम	,,	१८	७१-७२
,, लेप	,,	२५	८९
,, लेप	,,	२९	१३४
,, लेप	,,	१९	२०-२१
प्रमथ्या-प्रयोग	,,	६	२६
प्रमेहनाशक सामान्य योग	,,	६	५१
प्रमेह में अपतर्पण-प्रयोग	,,	६	१९
,, मांसरस-प्रयोग	,,	६	४८
,, यव-प्रयोग	,,	६	४६
,, विविध उदकपान	,,	६	५०
,, व्यायामादि प्रयोग	,,	६	२२
,, सन्तर्पण-प्रयोग	,,	६	३४
प्रमेहों में सिद्धस्नेह-प्रयोग	,,	१९	८९
प्रलेपन, प्रतिसारण	,,	१५	१५
प्रसाद तथा किट्टपाक	,,	१०	५१
प्राणिज धूपन-प्रयोग	,,	१६	६३
प्रातःकालिक योग	,,	१७	१३०
प्राशन नावन योग			

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
प्रियङ्ग्वादि पेय	चि०	४	८१
,, लेप	,,	२४	१५९
प्रियालादि योग	,,	२६	२७८
फ			
फलत्रिकादि क्वाथ	चि०	६	४०
फलिन्यादि अवचूर्णन	,,	२५	६६
फल्वादि लेप	,,	७	८८
ब			
बकरी के दूध का प्रयोग	,,	१९	५७
बदरीपल्लवादि फेन लेप	,,	२४	१६०
बलवर्णशुक्रकारक वस्तियाँ	सि०	१२	१६(१)
बलवर्धक वृष्य योग	चि०	२।४	८
बला तैल	,,	२८	१४८-१५६
बलादि अनुवासनवस्ति	सि०	१२	१८(२)
,, आलेप	चि०	२१	७९
,, क्षीर	,,	८	११४-११५
,, क्षीर	,,	२९	८१
,, घृत	,,	२८	१२३
,, घृत	,,	२९	५६-५७
,, तैल	,,	२६	१६१-१६२
,, निरूहवस्ति	सि०	३	१३-१९
,, प्रलेप	चि०	२१	१२५
,, यमक स्नेह	,,	३०	४९-५१
बलादि यापनावस्ति : प्रथम	सि०	१२	१५(५)
,, द्वितीय	,,	१२	१५(६)
,, तृतीय	,,	१२	१५(९)
,, चतुर्थ	,,	१२	१५(१०)
बलादि रसायन	चि०	१।२	१२
,, वस्ति-प्रयोग	सि०	११	३४-३५
बालबिल्व प्रयोग	चि०	१९	११४-११५
बीजकारिष्ट	,,	१६	१०६-११०
बीजपूरकादि मद्य	,,	२४	१२१-१२२
बीस अवलेह	क०	१	२२
बृंहणी गुटिका	चि०	२।१	२४-३२
बृहत् शतावरी घृत	,,	३०	६४-६८
बृहत्यादि धूपन	,,	१४	५०-५१
,, यापनावस्ति	सि०	१२	१५(४)
,, वर्ति	चि०	२६	२४०
ब्राह्मरसायन : प्रथम	,,	१।१	४१-५७
,, द्वितीय	,,	१।१	५८

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
ब्राह्मी का प्रयोग	चि०	१०	६२
ब्राह्मीघृत	,,	१०	२५
भ			
भल्लातक के अन्य योग	चि०	१।२	१६
,, क्षार	,,	१५	१७७-१७८
,, क्षीर	,,	१।२	१३
,, क्षौद्र	,,	१।२	१४
,, तैल	,,	१।२	१५
,, प्रयोग	,,	१।२	१८
भल्लातकादि घृत	,,	५	१४३-१४६
भस्मक में गोधूम-प्रयोग	,,	१५	२२६
भार्गीनागरादि योग	,,	१७	११०
भार्ग्यादि तैल	,,	२६	१५३-१५४
भूनिम्बादि क्षार	,,	१५	१८१
,, चूर्ण	,,	१५	१३२-१३३
भेड़ के मांस आदि का प्रयोग	,,	१५	२२५
म			
मंगरैला की चटनी	चि०	२४	१८२
मज्जस्नेह प्रयोग	,,	२८	१२०-१२७
मण्डलकुष्ठनाशक दो लेप	,,	७	१२२
,, में तीसरा लेप	,,	७	१२३
मण्डूर बटक	,,	१६	७३-७७
,, बटक	,,	१६	१०२-१०४
,, भस्म-प्रयोग	,,	१६	७२
मदनफल तैल	सि०	४	१७
,, वर्ति	क०	१	२१
,, के विविध प्रयोग	,,	१	२६
मदन-फूल के प्रयोग	,,	१	१६
,,	,,	१	१७
मदनफल-सिद्ध उत्कारिका	,,	१	२३
,, पूप	,,	१	२४
,, मोदक	,,	१	२३
,, शष्कुली	,,	१	२४-२५
मदनफल स्वरस प्रयोग	,,	१	२०
मदात्यय में दुग्ध-प्रयोग	चि०	२४	१९५
मद्य के तीन योग	क०	११	१७
मधुक तैल	चि०	२९	११५-११६
मधुकादि प्रदेह	,,	२१	७८
,, योग	,,	१७	११५
मधुयष्ट्यादि घृत	,,	२६	१७९

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
मधुयष्ट्यादि तैल	चि०	२९	९१-९२
मधुरगण का प्रयोग	,,	२६	७५
मधुशिग्रु-प्रयोग	,,	२९	१५१
मधूकादि योग	,,	११	२०
,, शीतकषाय	,,	३	२०६
मधूकासव	,,	१५	१४६-१४९
,, द्वितीय	,,	१५	१५०-१५१
मध्वरिष्ट	,,	१५	१६३-१६७
मध्वासव	,,	७	७३-७५
मध्वासव या लोध्रासव	,,	६	४१-४४
मनःशिलादि घृत	,,	१७	१४५
,, धूम	,,	१८	६९-७०
,, धूम	,,	१८	१४६
,, नस्य	,,	२६	१५२
,, लेप	,,	७	१६७
मयूरादि वस्ति	सि०	१२	१७(३)
मरिचाञ्जन प्रयोग	चि०	९	६६-६८
मरिचादि चूर्ण	,,	१५	१०८-११०
मलविबन्ध में कर्तव्य	,,	१५	२०४
महाकल्याणक घृत	,,	९	४२-४४
महाखदिर घृत	,,	७	१५२-१५६
महागन्धहस्ती नामक अगद	,,	२३	७७-९४
महातिक्तक घृत	,,	७	१४४-१५०
महानील तैल	,,	२६	२६८-२७५
महापद्म तैल	,,	२९	११०-११२
महापञ्चगव्य घृत	,,	१०	१८-२४
महापैशाचिक घृत	,,	९	४५-४८
महामायूर घृत	,,	२६	१६६-१७४
मातुलुंग-प्रयोग	,,	१६	६५
,, रस-प्रयोग	,,	५	७८
मातुलुंगादि यूष	,,	१७	९७
मांस के विविध प्रयोग	,,	२४	१७३-१७६
मांसपाक-विधि	,,	८	१६२
मांसरसरक्तशालि-प्रयोग	,,	१९	५६
मांसरस निर्मित पेया	,,	१८	८०
मांसरस-प्रयोग	क०	१२	१८
,,	चि०	२२	२९
,,	,,	२१	११२
मांसरस लघु आहार प्रयोग	,,	३	१६६
मांस्यादि योग	,,	२३	१९०

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
मांस्यादि लेप	चि०	७	८७
मायूर घृत	,,	२६	१६३-१६५
मिश्रक स्नेह	,,	५	१४९-१५१
मुक्तादि चूर्ण	,,	१७	१२५-१२८
मुखधावन द्रव्य	,,	२६	२०५
मुखविरसतानाशक कवल	,,	८	१४०
मुखविरसतानाशक योग	,,	८	१३४-१३९
मुद्गयूष-प्रयोग	,,	१८	१८४
मुनक्का की चटनी	,,	२४	१८०-१८१
मुलेठी निशोथ प्रयोग	क०	७	१८
मुस्तादि चूर्ण	चि०	७	६५-६७
मुस्तादि तीन कषाय	,,	२१	५४
मुस्ताद्यावर्ति	,,	१०	४८-४९
मूत्रकृच्छ्र-नाशक योग	,,	२६	५२
,, में मिश्रक स्नेह	,,	२६	४६-४७
,, हर योग	,,	२६	५१
मूत्रविवर्णताहर योग	,,	१८	१५४
मूर्वादि योग	,,	२७	३५
मूलक तैल	,,	२८	१३६-१३७
,,	,,	२८	१७२-१७७
मूलकादि तैल	,,	२८	१६७-१६९
,, यूष	,,	२१	१२७
मूलासव	,,	१५	१५६-१५९
मूषकादि मांससाधित घृत-प्रयोग	,,	२६	१७५
मृणालादि आलेप	,,	२१	७९
मृतसञ्जीवन अगद	,,	२३	५४-६०
मृदुविरेचक तीन योग	,,	२८	८४
मृदुस्वेद विधि	,,	१७	८३
मृद्वीकादि चूर्ण	,,	२६	१९८-२००
मोदक प्रयोग	क०	७	३६
,,	,,	१२	२१
,,	,,	१२	२७-२९
य			
यक्ष्मानाशक लेह	चि०	८	१००-१०२
यक्ष्मा में अवगाहन	,,	८	१७३
,, आलेपन	,,	८	७७
,, उपनाहस्वेद	,,	८	७५-७६
,, खडयूष	,,	८	१२८-१३१
,, खर्जूरादि घृत	,,	८	९५-९६
,, घृतपाक	,,	८	-९४

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
क्ष्मा में घृतपान	चि०	८	९२
,, चार प्रदेह	,,	८	७८-८०
,, जम्ब्वादि चूर्ण	,,	८	१२७
,, नस्य	,,	८	९०-९१
,, नस्य-प्रयोग	,,	८	८१-८२
,, पद्मकादि प्रदेह	,,	८	८३
,, परिषेक स्वेद	,,	८	७२
,, पाठादि चूर्ण	,,	८	१२६
,, पान-भोजन	,,	८	१७९-१८०
,, पेय द्रव	,,	८	१३३
,, पेय पदार्थ	,,	८	६९-७०
,, प्रपौण्डरीकादि प्रलेप	,,	८	८४
,, बकरे का मांसरस	,,	८	६७
,, मद्य-प्रयोग	,,	८	१६३-१६४
,, मर्दन-उत्सादन	,,	८	१७४
,, मलरक्षा-विधान	,,	८	४१-४२
,, मांस-प्रयोग	,,	८	६६
,, मांस-प्रयोग	,,	८	१३२
,, मांस-प्रयोग	,,	८	१४९-१५८
,, मांसरस-सिद्ध घृत	,,	८	१६७
,, विविध मद्य	,,	८	१६५-१६६
,, शंकर स्वेद	,,	८	७१
,, सिद्धयोग	,,	८	८९
,, स्नानार्थ जल	,,	८	१७८
,, यवगोधूमादि लेप	,,	३०	२६८
,, यवागू	,,	१४	९२
यवागू आदि प्रयोग	क०	१२	१९
यवागू आदि प्रयोग	चि०	१९	२५
यवागू प्रयोग	,,	१८	१८२-१८३
यवागू पान के पश्चात् कर्म	,,	३	१६३
यवादि घृत	,,	१३	११७
,, तैल	,,	२८	१४०-१४१
,, सेवन से लाभ	,,	३	१५१-१५३
यवानी खाडव चूर्ण	,,	८	१४१-१४४
यवान्नादि प्रयोग	,,	२६	१८
यष्ट्याह्वादि निरूहवस्ति	सि०	३	४६-४७
यावक प्रदेह	चि०	२१	७८
यूष	,,	१४	९३-९४
यूष योग्य द्रव्यों का प्रयोग	,,	३	१८८
यूष तथा रस-प्रयोग	,,	३	१५६

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
योगराज	चि०	१६	८१-८६
योनि-शोधक अन्य योग	,,	५	१७६
र			
रक्तगुल्म-नाशक प्रयोग	चि०	५	१७७-१८२
रक्तगुल्म में क्षार-प्रयोग	,,	५	१७३
,, योनिशोधन	,,	५	१७४-१७५
,, स्नेहविरेचन	,,	५	१७२
रक्तपित्त रोगी के लिए शाक	,,	४	३८-४०
,, ,, आहार	,,	४	३५
रक्तपित्त में अभ्यंगादि योग	,,	४	९१-९२
,, अवपीड नस्य	,,	४	९९
,, क्षार-प्रयोग	,,	४	९३
,, जलदान-विधि	,,	४	५२
,, तर्पणपेया-प्रयोग	,,	४	३२
,, तर्पण-प्रयोग	,,	३	१५५
,, निदान-परिवर्जन	,,	४	५३
,, पेया-प्रयोग	,,	४	४३-४४
,, मनोनुकूल चर्चा	,,	४	१०९
,, मांसरस-प्रयोग	,,	४	४९-५१
,, यवागू	,,	४	४५-४८
,, रक्त का प्रयोग	,,	४	७२
,, वामक द्रव्य	,,	४	५९-६०
,, विरेचक द्रव्य	,,	४	५७-५८
,, शीतल द्रव्य प्रयोग	,,	४	१०६
,, हितकर मांस	,,	४	४१-४२
,, ह्रीवेरादि पानीय	,,	४	३१
रक्तपित्त-नाशक उशीरादि चूर्ण	,,	४	७३
,, योग	,,	४	७१
रक्तपित्त रोगी के लिए दालें	,,	४	३७
,, शामक योग	,,	४	६८-६९
,, शामक योग	,,	४	७०
,, शामक योग	,,	४	७९
रक्तमांसवर्धक योग	,,	११	३०
रक्तरोधक योग	,,	१४	१८५-१८७
रक्तष्ठीवन में कर्तव्य	,,	११	२६
रक्तस्राव में घृत-प्रयोग	,,	१९	९९-१००
,, शाक-प्रयोग	,,	१४	२०४
रक्तातिप्रवृत्ति में प्रयोग	,,	११	२५
रक्तातियोग में उशीरादि पेया	,,	४	८०
रक्तातिसार में प्रियंगु प्रयोग	,,	१९	८३

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
रक्तातिसार में मांसरस प्रयोग	चि०	१९	७३
,, ,,	,,	१९	७७
रक्तार्श में अनुवासन-विधि	,,	१४	२२९
,, अन्न-प्रयोग	,,	१४	२०५
,, अन्य योग	,,	१४	२११
,, खड्-प्रयोग	,,	१४	२०२-२०३
,, घृत-प्रयोग	,,	१४	१९६
,, छागरक्त-प्रयोग	,,	१४	२०९
,, जलधारा-प्रयोग	,,	१४	२१७
,, प्याज का प्रयोग	,,	१४	२०८
,, मांस-प्रयोग	,,	१४	२०६-२०७
,, विविध योग	,,	१४	१९३-१९५
,, विशेष व्यवस्था	,,	१४	२२२-२२४
,, उष्ण अवगाहन	,,	१४	२१५
,, तिलादि प्रयोग	,,	१४	२१०
रसाञ्जनादि चूर्ण	,,	१९	१०८
रसायन का महत्त्व	,,	१।१	७५
,, कुटीप्रावेशिक	,,	१।४	२७
,, वातातपिक	,,	१।४	२८
,, सेवन से लाभ	,,	१।२	३
राग के अन्य प्रयोग	,,	२४	१८३-१८४
रास्ना तैल	,,	२८	१६५
रास्नादि क्षीर	,,	३०	५७
,, घृत	,,	१८	४३-४६
,, घृत	,,	८	१७०-१७२
,, तैल	,,	२६	१६०
,, निरूहवस्ति	सि०	३	६१-६४
रास्नादि यूप	चि०	१७	९६
रोमसंजनन प्रयोग	,,	२५	११८
रोमान्तिका	,,	१२	९२
रोहिण्यादि घृत	,,	५	११५-११७
रोहीतक घृत	,,	१३	८३-८५
रोहीतकादि योग	,,	१३	८१-८२
ल			
लघुपञ्चमूल तैल	,,	२८	१३८-१३९
लघुपञ्चमूलादि यापनावस्ति	सि०	१२	१५(८)
लशुनक्षीर	चि०	५	९४-९५
लशुनादि घृत	,,	९	४९-५१
लशुनादि घृत : द्वितीय	,,	९	५२-५६
लाजतर्पण	,,	४	३४

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
लाजपेया का कल्पना-वैशिष्ट्य	चि०	३	१८०
लूतविषनाशक योग	,,	२३	२०२
लेप कुष्ठहर	सू०	३	३-१७
,, त्वग्दोषसंस्वेदहर	,,	३	२९
,, पार्श्वरुजाहर एक	,,	३	२५
,, वातरक्तहर तीन	,,	३	२१-२२
,, वातहर पाँच	,,	३	१८-२०
,, विषहर एक	,,	३	२८
,, शरीरदौर्गन्ध्यहर	,,	३	२९
,, शान्तिप्रद दो	,,	३	२६-२७
,, शिरोरोगहर दो	,,	३	२३-२४
,, शीतहर एक	,,	३	२८
लेह-पेय प्रयोग	चि०	२२	४९
,, योग	क०	१२	११-१४
लोध्र अवलेह योग	,,	९	११-१३
,, कम्पिल्ल योग	,,	९	१०
,, घृत-प्रयोग	,,	९	१४-१६
,, सुरा योग	,,	९	८-९
,, सौवीर-प्रयोग	,,	९	७
लोध्रासव	चि०	६	४१-४४
लौहादि रसायन	,,	१।३	१५-२३
व			
वचादि घृत	,,	१०	२७
,, चूर्ण	,,	१५	१३४-१३६
,, चूर्ण	,,	२६	२१
वत्सकादि लेप	,,	२७	५४-५५
वन्ध्यत्वनाशक तैल	,,	२८	१७८
वमन आदि योग	,,	२३	२३९-२४०
,, कारक द्रव्य	,,	३	२२८-२२९
,, प्रयोग	,,	१७	७४-७६
,, प्रयोग	,,	१७	८५
,, नाशक योग	,,	२३	९७
,, विरेचन योग	,,	१२	४१-४२
वराहादि विट् धूपन	,,	१४	५०-५१
वर्णकर लेप	,,	२५	११७
वर्षाकालिक विरेचक योग	क०	७	५६
वल्मीकमृत्तिकादि उत्सादन	चि०	२७	४९
वसास्नेह-प्रयोग	,,	२८	१२८
वस्ति में मधुसैन्धव प्रयोग	सि०	३	२३
वाजीकरण घृत	चि०	२।१	३३-३७

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
जीकरण पिण्डरस	चि०	२।१	३८-४१
,, रसायन	,,	२।१	५-६
ात-कफ-कुष्ठहर छः योग	,,	७	१२४-१२५
ातगुल्म में कफ-वृद्धि पर वमन	,,	५	२९
ातज कास में विविध शाक	,,	१८	८१-८२
,, कास हर दो योग	,,	१८	४८-४९
,, कुष्ठ में अनुवासन	,,	७	४७
,, गुल्मनाशक घृत	,,	५	६८
ातज्वर में अभ्यंग	,,	३	२७९
ातगुल्म में एरण्ड तैल	,,	५	९२-९३
,, तेलों का महत्त्व	,,	५	१०२-१०३
,, त्र्यूषणादि घृत	,,	५	६५
,, नलिनी-प्रयोग	,,	५	१०४
,, पीड़ाहर योग	,,	५	८५
,, मांसरस आदि	,,	५	११०
,, वर्ति आदि प्रयोग	,,	५	३०
,, वाट्यादि योग	,,	५	९८
,, विरेचन	,,	५	३१
,, शिलाजीत	,,	५	९७
,, स्वेद-प्रयोग	,,	५	९९
वातज गुल्म में उष्ण, स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग	,,	५	१११
ातज प्रमेह में स्नेह-प्रयोग	,,	६	३७
ातिक मदात्यय में पेय	,,	२४	१२९-१३०
,, मांस प्रयोग	,,	२४	१२३-१२४
ातज ग्रहणी में अनुवासनवस्ति	,,	१५	८०
,, घृत-प्रयोग	,,	१५	७८
,, घृत-प्रयोग	,,	१५	७८
,, घृत-प्रयोग	,,	१५	८१
,, विरेचन	,,	१५	७९
तदोषयुक्त कफज कास नाशक योग	,,	१८	११८
तपित्तज कासनाशक योग	,,	१८	१३८-१३९
तप्रधान क्षयज कासनाशक योग	,,	१८	१५३
रक्तनाशक योग	,,	२९	८२
,, में मधूच्छिष्ट लेप	,,	२९	१४१-१४४
रोगियों में तर्पण-प्रयोग	,,	१७	९०
व्याधि में नस्य	,,	२८	८७-८८
,, मृदुविरेचन	,,	२८	८२

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
वातशोषी के लिए मांस	चि०	८	१६०-१६१
वातहर द्रव्य प्रयोग	,,	१७	८६
वातोदर में तैल प्रयोग	,,	१३	१५५
वामक द्रव्य प्रयोग	,,	२१	५१
वार्ताक यूष	,,	१७	१००
वासाघृत	,,	५	१२६-१२७
,,	,,	४	८८
वासा-शतावरी घृत	,,	८	१०५
विजयादि प्रदेह	,,	२५	४७
विडङ्गादि क्षार	,,	१३	८०
,, चूर्ण	,,	१८	४७
,, तैल	सि०	४	१८-२२
,, योग	चि०	१३	१४८
,, लेह	,,	१८	५२
विडङ्गावलेह	,,	१।२	९
विडालिका	,,	१२	७६
विदारीगन्धादि तैल	,,	२६	२६३
विदार्यादि लेप	,,	३०	२७८
,,	,,	१८	९५
विधिभेद से अजामेद: प्र	,,	२२	२८-२९
विपादिकाहर घृत-तैल	,,	७	१२०-१२१
विबन्धनाशक योग	,,	१४	९८
,, अन्य पेया	,,	३	१८५
विभिन्न क्षीर-प्रयोग	,,	१३	१५१-१५३
विरेचनकारक द्रव्य	,,	३	२३०-२३३
विरेचनार्थ नीलिनी घृत	,,	५	१५२
विरेचनोक्त फल-मूल प्रयोग	,,	२६	२४-२५
विविध घृत-प्रयोग	,,	१६	४३
,, योग	,,	१७	१४६
,, योग	,,	१८	१६५-१६७
विविध घृतों का प्रयोग	,,	२१	६२-६३
,, चावलों का प्रयोग	,,	२१	११३
,, पेय योग	,,	२४	१४९-१५०
,, प्रदेह	,,	२१	८०-८२
,, प्रयोग	,,	१७	११७-११९
,, भक्ष्य प्रयोग	क०	१२	२२
विशालादि फाण्ट	चि०	१३	६०-६२
विषमज्वरनाशक पाँच कषाय	,,	३	२००-२०३
,, योग	,,	३	२९६
,, योग	,,	३	३०२

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
विषमज्वर में अंजन	चि०	३	३०६
,, आहार	,,	३	३०४
,, धूपन	,,	३	३०७
,, नस्य	,,	३	३०५
,, पेय पदार्थ	,,	३	२९८
,, वमन-प्रयोग	,,	३	३००
,, विशेष योग	,,	३	२९९
,, सुरा आदि प्रयोग	,,	३	२९७
विषनाशक धामार्गव योग	क०	४	१५
विषविकार में अंजन-प्रयोग	चि०	२३	६९
,, नस्य-प्रयोग	,,	२३	६८
विष्किरादि प्राणिज वस्तिकल्प	सि०	१२	१७(४)
विसर्पनाशक योग	चि०	२१	६०
वृषकादि चूर्ण	,,	३०	५६
वृषमूलादि तैल	,,	२८	१७०-१७१
वृष्य अण्डरस प्रयोग	,,	२।१	४९
,, आहारों का प्रभाव	,,	१५	२०-२१
,, कुक्कुटमांस-प्रयोग	,,	२।१	४८
वृष्यक्षीर	,,	२।२	१८-२०
वृष्य क्षीर-प्रयोग	,,	२।३	६-७
वृष्य गुटिका	,,	२।४	३०-३२
वृष्य गोदुग्ध	,,	२।३	३-५
वृष्य घृत	,,	२।२	२१-२३
,, चटकमांस-प्रयोग	,,	२।१	४६
,, दधिसर-प्रयोग	,,	२।२	२४-२६
वृष्य द्रव्य-संकेत	,,	२।४	३६
वृष्य पायस योग	,,	२।३	१४
वृष्य पिप्पली योग	,,	२।३	१२-१३
वृष्य पूपलिका	,,	२।२	२८-२९
,, योग	,,	२।३	१५-१७
,, योग	,,	२।२	१०-१३
वृष्य पूपलिकाएँ दो	,,	२।४	१९-२२
,, मत्स्य मांस	,,	२।४	१७-१८
,, मधुक योग	,,	२।३	१९
,, माष प्रयोग	,,	२।१	४७
,, माषादि पूपलिका	,,	२।४	२३-२४
,, मांस गुटिकाएँ	,,	२।४	११-१४
,, माहिषरस	,,	२।१	४२-४३
,, माहिषरस	,,	२।४	१५-१६
,, योग	,,	२।४	२५-२७
,, रस चार	,,	२।१	४४-४५

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
वृष्य वस्तियाँ	चि०	२।४	१०
,, वस्तियाँ	सि०	१२	१६(५)
,, शतावरी घृत	चि०	२।३	१८
,, षष्टिकौदन प्रयोग	,,	२।२	२७
वृष्योत्कारिका	,,	२।४	३३-३५
व्यानवायु के कार्य	,,	१५	३६-३८
व्योषादि गुटिका	क०	७	४६-४९
,, घृत	चि०	१६	११९-१२०
,, चूर्ण	,,	२६	५५
व्रण में घृत-प्रयोग	,,	२५	९४
व्रणकठिनताकारक लेप	,,	२५	११०
व्रणकाठिन्यकर धूप	,,	२५	१०८-१०९
व्रणतर्पण योग	,,	२५	११२
व्रणमृदुताकारक धूप	,,	२५	१०८-१०९
,, लेप	,,	२५	१११
व्रणशोथ में उपनाह	,,	२५	५०
व्रणशोधक कषाय	,,	२५	८४
,, प्रलेप	,,	२५	८५
श			
शंखादि वर्ति	,,	२६	२४६
शटी आदि चूर्ण	,,	१७	१२३-१२४
,, योग	,,	१७	१२९
शट्यादि चूर्ण या गोली	,,	५	८६-९०
शतधौतघृत-प्रयोग	,,	२५	६४
शतपाक वसा तैल	,,	२९	११९-१२०
,, मधुक तैल	,,	२९	११७-११८
शतपुष्पादि वस्ति	,,	१९	६२
शतावरीघृत-प्रयोग	,,	१९	९७
,, प्रयोग	,,	१९	७८
शतावर्यादि क्वाथ	,,	२६	५०
,, घृत	,,	४	९५-९६
शताह्वादि अनुवासन तैल	सि०	४	८
,, संयाव	चि०	३०	१०६
शरत्कालिक विरेचक योग	क०	७	५७
शरादि क्षीरपाक	चि०	१८	१००
शर्करादि योग	,,	१८	१०६
शाद्वलादि प्रदेह	,,	२१	७५
शालिपर्ण्यादि यापनावस्ति	सि०	१२	१५(११)
शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण	चि०	२६	३४-३४
,, जल	,,	३०	२६०

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
शिग्रु-प्रयोग	चि०	२६	६६
शिरीषपुष्प-प्रयोग	,,	२३	१९३
शिरोविरेचन नस्य	सि०	९	१७
शिलाजतु-प्रयोग	चि०	१२	४९
,, बटक	,,	१६	८७-९२
शिलाजीत घोलने योग्य द्रव	,,	१।३	६४
,, प्रयोग-निर्देश	,,	१।३	६०-६१
,, सेवन-विधि	,,	१।३	५२-५३
शीतल अवगाहन	,,	१४	२१६
,, जल का प्रयोग	,,	२४	१६२
,, जलपान विधान	,,	२२	५७
शुक्रदोषनाशक योग	,,	३०	१४८
शुष्कार्श में अनुपान	,,	१४	१२८-१२९
,, अनुवासनवस्ति	,,	१४	१३०
,, शाक-प्रयोग	,,	१४	१२२-१२५
शुष्कार्शों पर लेप	,,	१४	१३५-१३६
,, में निरूहवस्ति	,,	१४	१३७
,, में पेया-प्रयोग	,,	१४	८९-९०
,, में मांस-प्रयोग	,,	१४	१२६-१२७
शूलनाशक योग	,,	२९	१४०
शेष दोषनाशक योग	,,	१३	१४६
शोथज अतिसार में कर्तव्य	,,	१२	२७
,, विबन्ध में कर्तव्य	,,	१२	२८
शोथनाशक तैल-प्रदेह	,,	१२	६५-६७
शोथ में उन्मर्दन, परिषेचन	,,	१२	७२-७३
शोथ में सामान्य लेप	,,	१२	७१
शोथ-शामक वटादि लेप	,,	२५	४६
शोधन के पश्चात क्षीरपान	चि०	१३	६९-७१
श्यामात्रिवृत् प्रयोग	,,	१५	२३१
श्यामादि गुदवर्ति	,,	२६	१२
श्यामादि प्रधमन चूर्ण	,,	२६	१४-१५
श्रावण्यादि घृत	,,	२९	५५
श्लीपद-नाशक योग	,,	१२	९८
श्वदंष्ट्रादि घृत	,,	२६	७४
,,	,,	११	४४-४७
श्वदंष्ट्रा तैल	,,	२८	१४६-१४७
श्वासरोग में मांस-प्रयोग	,,	१७	११२
श्वित्र में अन्य योग	,,	७	१६३-१६६
श्वेतकरवीरपल्लवादि तैल	,,	७	१०६-१०७
श्वेतकरवीरादि तैल	,,	७	१०५

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
श्वेतकुष्ठ में दो लेप	चि०	७	१६८
,, मलपूरस	,,	७	१६२
श्वेतप्रदरनाशक योग	,,	३०	११७-१२०
श्योनाकादि परिषेक	,,	२७	५६-५७
,, लेप	,,	२७	५६-५७
ष			
षट्पल घृत	चि०	५	७
षट् प्रासृतिकवस्ति	सि०	८	९-१०
षडंगपानीय	चि०	३	१४५
षाडव योग	,,	११	८८-९०
स			
संस्कारित शीतल जल प्रयोग	चि०	२२	४२
संज्ञादि प्रबोधन प्रयोग	,,	९	३२
सक्तु आदि प्रदेह	,,	२५	४८
सघृतकषाय प्रयोग	,,	३	२१८
सन्निपातज्वरनाशक शठ्यादि वर्ग	,,	३	२११-२१२
सन्निपातनाशक बृहत्यादि क्वाथ	,,	३	२१०
सन्निपातज क्षयज कासहर योग	,,	१८	१८८
सप्तच्छदादि प्रयोग	,,	२६	५७
सप्त प्रासृतिकवस्ति	सि०	८	११
सप्तला, शंखिनी १६ कषाययोग	क०	११	६-८
सफेदचन्दन का प्रयोग	चि०	१९	८६
सबल रोगियों का कर्तव्य	,,	४	५४
समसक्तु घृत प्रयोग	,,	११	४८-४९
सर्पदंशनिवारक मणि-प्रयोग	,,	२३	२५२-२५३
सर्पविषनाशक धूम	,,	२३	९९
सर्पिगुड आदि प्रयोग	,,	२०	४७
सर्वविध विषनाशक योग	,,	२३	२१७
सर्वांगवात में वस्ति-प्रयोग	,,	२८	९१
सर्षप लेप	,,	२७	५३
सर्षपादि लेप	,,	२९	१४८
सलवण त्रिवृत्-प्रयोग	क०	७	१४
सहचरादि अनुवासनवस्ति	सि०	१२	१८(३)
,, तैल	चि०	१६	२६४-२६५
,, यापनावस्ति	सि०	१२	१०(३)
,, योग	चि०	२९	१३९
सहस्रपाक बलातैल	,,	२९	११९-१२०
सहाचर तैल	,,	२८	१४४-१४५
सात्म्य अन्नों का प्रयोग	,,	२१	११४
साध्य श्वित्ररोग के लक्षण	,,	७	१७६

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
सान्त्वना आदि प्रयोग	चि०	९	८४-८६
सामान्य यूष	,,	१७	९८
सारिवादि प्रलेप	,,	२१	७६
,, लेप	,,	३०	२७५
सितोपलादि चूर्ण	,,	८	१०३-१०४
सिद्धार्थक अगद	,,	९	६९-७२
,, घृत	,,	९	७३
,, स्नान	,,	७	९१-९२
सिध्मकुष्ठ में लेप	,,	७	११७-११८
सिध्मनाशक तीन योग	,,	७	१२७
सुकुमार तैल	,,	२९	९८-१०२
सुखद विरेचक योग	क०	७	६१-६२
सुखावती वर्ति	चि०	२६	२५२-२५३
सुनिषण्णक, चांगेरी घृत	,,	१४	२३४-२४२
सुमनःकोरकादि वर्ति	,,	२६	२४१
सुरसादि योग	,,	२३	५२
सुवर्चलादि चूर्ण	,,	१७	११३
सैन्धव अनुवासन घृत	सि०	४	८
सैन्धवादि अनुवासन तैल	,,	४	१३-१६
,, चूर्ण	चि०	११	८५-८७
,, तैल	,,	२७	४५-४६
,, तैल	,,	३०	५८
,, योग	,,	१८	६३
,, वर्ति	,,	२६	२४२
सौवर्चलादि चूर्ण	,,	१७	१०९
,,	,,	१८	१२२
सौवीर-तुषोदक-प्रयोग	क०	१२	३५
सौवीर योग	,,	७	७२-७३
स्रंसन का प्रयोग	चि०	३	१७१
स्तन्यशोधक यूष	,,	३०	२५९
,, योग	,,	३०	२६१-२६२
,, लेप	,,	३०	२७०
स्त्री-दुग्ध गूलर प्रयोग	,,	१५	२३०
स्नुहीक्षीर घृत	,,	१३	१३८-१४५
,, प्रयोग	क०	१०	१९
,, के विविध प्रयोग	,,	१०	२०
स्नुही चूर्ण-प्रयोग	,,	१०	१२-१३
,, लेह-प्रयोग	,,	१०	१८
स्थानीय स्नेह-प्रयोग	चि०	१९	९५
स्थिरादि क्षीरपाक	,,	१८	१०१

औषधयोग	स्थान	अ०	संख्या
स्थिरादि घृत	चि०	२६	९५
,, घृत	,,	२६	२३
,, घृत तथा तैल	,,	२९	७६-७८
,, निरूहवस्ति	सि०	३	३६-३७
,, यापनावस्ति	,,	१२	१६
स्नेह-प्रयोग	चि०	१५	२२९
स्नेहशर्करा मलहम	,,	२५	७५-७६
स्वर्णक्षीर्यादि चूर्ण	,,	२७	३६-३८
,, योग	,,	१६	६६-६७
स्वर्णमाक्षिकादि योग	,,	१३	७८-७९
स्वेदन के प्रयोग	,,	५	२३
ह			
हपुषादि घृत	,,	५	७१-७३
,, चूर्ण	,,	१३	१३३-१३६
,, यापनावस्ति	सि०	१२	१५(७)
हरिद्रादि क्षार	चि०	१५	१८२
,, घृत	,,	१६	५३
,, चूर्णादि लेप	,,	१४	५२-५७
हरीतकी लेह	,,	१८	१६८-१६९
हरीतक्यादि घृत	,,	२६	८३
हरीतक्यादि योग	,,	१।१	७७
हरीतक्यादि रसायन	,,	१।१	७६
हस्तिपुरीषादि धूपन	,,	१४	५०-५१
हिक्कानाशक योग	,,	२३	९७
,,	,,	१७	१३५
हिक्काश्वास में नस्य	,,	१५	१३१
,, पेय	,,	१७	१०५
हिंगु आदि घृत-प्रयोग	,,	९	३४
हिंग्वादि चूर्ण	सि०	९	१९
,, चूर्ण	चि०	२६	२२
,, चूर्ण	,,	१७	१०८
,, चूर्ण या गोली	,,	५	७९-८४
,, चूर्ण तैल	,,	२६	२२२
,, यवागू	,,	१७	१०१
हिंग्वादि योग	,,	२३	९६
हिंगु सौवर्चलादि घृत	,,	५	६९-७०
हित आहार के लाभ	,,	१५	२१४-२१६
हृदयरोग में सुरदार्वादि चूर्ण	,,	२६	१०१
हृदयशूल में अन्य योग	,,	२६	१०२
हेमन्तकालिक विरेचक योग	क०	७	५८
ह्रीबेरादि घृत	चि०	१४	२३०-२३३

(१५) प्रकीर्ण

विशिष्ट स्थल	स्थान	अ०	संख्या
अग्र्यद्रव्यसंग्रह	सू०	२५	४०
अनुक्तसद्वृत्त का संग्रह	,,	८	३४
असद्वृत्त-परिचय	,,	८	१९-२७
अहिततम आहार-निर्देश	,,	२५	३९
आचार-रसायन	चि०	१।४	३०-३५
इक्ष्वाकुकल्क ४५ योग	क०	३	१०-२०
औषधकालों के प्रयोगावसर	चि०	३०	२९९-३०१
औषधद्रव्यों की संग्रह-विधि	क०	१	१०
करप्रचितीयरसायन	चि०	१।३	१-२
कुष्ठहर १५ प्रदेह	सू०	३	३-१७
कृतवेधनकल्प ६० योग	क०	६	५-१२
गुल्म में अग्निरक्षा का महत्त्व	चि०	५	१३६
चतुरंगुलकल्प १२ योग	क०	८	१-१५
जीवनकल्प ३९ योग	,,	२	५-१३
तिल्वककल्प १६ योग	,,	९	६-१६
त्वदोषसंस्वेदहर १ प्रदेह	सू०	३	२९
दन्तीद्रवन्तीकल्प ४८ योग	क०	१२	७-३५
निर्वापण २ प्रदेह	सू०	३	२६-२७
पथ्यतम आसव ८४ योग	,,	२५	४९
पार्श्वरुजाहर १ प्रदेह	सू०	३	२५
मान-परिभाषा	क०	१२	८७-९७
वत्सककल्प १८ योग	,,	५	७-११
वस्ति २१६ योग	सि०	१०	१७-१९
वातरक्तहर ३ प्रदेह	सू०	३	२१-२२
वातहर ५ प्रदेह	,,	३	१८-२०
विषहर १ प्रदेह	,,	३	२८
शरीरदुर्गन्धिहर १ प्रदेह	,,	३	२९
शिरःशूलहर २ प्रदेह	,,	३	२३-२४
शिलाजतु-रसायन	चि०	१।३	४८-६५
शीतहर १ प्रदेह	सू०	३	२८
षड्विरेचनशत ६०० योग	,,	४	८-२०
संशोधन के योग्य ऋतुएँ	सि०	६	५-६
सदा रोगी कौन	,,	११	२७
सद्वृत्त-परिचय	सू०	८	१८
सुधाकल्प २० योग	क०	१०	९-२०
स्वरभेद-चिकित्सासूत्र	चि०	२६	२८३-२९०
हिततम आहार-निर्देश	सू०	२५	३८

गद्य-पद्यानुक्रमणिका

चिकित्सास्थान

अ

	अ०	अंक
अंशुमत्या शृतः प्रस्थः	२९	८०
अंसपार्श्वाभितापश्च	८	५२
अकाले वाहमानाया	३०	२७
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः	३०	१७७
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्त	१५	२४०
अक्षमात्रैरजामूत्रे	३०	८०
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थम्	१८	१६४
अक्षीणवलमांसस्य	४	२५
अक्षीणवलमांसस्य	४	५५
अक्षीणवलमांसाग्नेः	३	१६९
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च	१७	४४
अगदोऽयं वैश्रवणा	२३	८१
अग्निदोषान्मनुष्याणाम्	१३	९
अग्निनेव च दग्धस्य	३०	१७२
अग्निमन्थकरञ्जौ च	२७	५७
अग्निमारुततुल्यस्य	२९	४
अग्निवेशस्य तद्वाक्यम्	१७	५
अग्निवेशाय गुरुणा	२८	१५७
अग्निसन्दीपनार्थं च	१४	१८२
अग्नेः समीपचारित्वा	१५	२०४
अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य	१५	५६
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिम्	८	२३
अङ्गमर्दं रुजं तोदम्	१६	१८
अङ्गैकदेशेष्वनिला	१२	८१
अचङ्क्रमणशीलानाम्	२९	८
अजरैरमरैस्ताव	१।४	४९
अजशीर्षाम्बुजानूपा	२८	१०७
अजातशोथमरुणम्	१३	५५
अजातोदकमित्येतै	१३	५८
अजीर्णकट्वम्लविदा	९	११
अजीर्णकट्वम्लविदा	२०	१०
अजीर्णासात्म्यविषम	३०	२३२
अजीर्णिनो रूक्षभुजः	१।१	३५
अशनमक्ष्युपरोधे	२३	६९
अञ्जनात्तिमिरं काचम्	१७	१२८
अञ्जनोत्सादनालेप	९	६४
अटरूषकनियूहे	४	६६
अटरूषकमृद्वीका	४	६५
अतः कुष्ठानि जायन्ते	७	१०
अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तर	१४	९
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते	३	१९७
अतत्त्वाभिनिवेशो य	१०	५५
अतश्चामृतकल्पानि	१।१	३७
अतिदुःखा न सा चोरः	१७	३५
अतिपीतेन मद्येन	२४	३६
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि	२८	२१३
अतिबालो ह्यसम्पूर्ण	२।४	४१
अतियोगोद्धतं वातम्	१७	८६
अतिरूक्षदुर्बलानाम्	२२	५५
अतिवृत्तस्य रक्तस्य	१४	२५५
अतिव्यवायभाराध्व	१८	२०
अतिव्यवायाद्व्यायामाद्	३०	१३५
अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्ण	१९	८
अतिसञ्चितदोषस्य	१७	४२
अतिसञ्चितदोषाणाम्	१३	१५
अतिसृष्टं विबद्धं वा	१५	५३
अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च	२१	१०५
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ	१५	२०६
अतिसारज्वरच्छर्दि	१७	१३
अतोऽग्निबलरक्षार्थम्	३	२७६
अतोऽन्यथा तु ये तेषाम्	१।४	२८
अत्यम्ललवणक्षार	३०	१६३
अत्यर्थं शङ्कितः स्याद्	२३	१०७
अत्यर्थमृदुकायाग्ने	१४	७९
अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्ण	३०	२८६
अत्युष्णलवणक्षार	१३	१२
अथ चन्दनाद्यं तैलमुप	३	२५८
अथ चन्द्रमसः शुद्धाम्	८	९
अथ भगवान् पुनर्वसु	१९	४
अथवाऽपि परीपाकम्	३	३३६
अथवा राजपुरुषा	९	८३
अथवा सघृतान् सक्तून्	२६	१३६
अथामजं लङ्घनपाक	१२	१७
अथामलकहरीतकीना	१।१	७५
अथावरककालं वातलस्य	९	५
अथास्य दाहः क्षारेण	२१	१३३
अथास्योद्ध्वंसते कण्ठः	१७	५९
अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृत	१।४	६
अथेश्वरं देवगणः	३	२२
अथोत्तीर्णवतो देवो	३	१९
अथोदगयने शुक्ले	१।१	२१
अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरि	२	२६७
अदग्ध ईषत् परिशेषि	१२	८३
अदुष्टे प्राकृते बीजे	३०	१२६
अदूषयन्तः पुरुषस्य	९	१८
अद्यात्तथौदकानूप	१५	२२४
अधःप्रतिहतो वायु	१८	६
अधस्तु पक्वमामं वा	१५	५२
अधावनाद्वा मेढ्रस्य	३०	१६७
अधिशेते यथा भूमिम्	३	६८
अधीयानस्य वाऽत्युच्चै	११	६
अधोभागैर्घृतं सिद्धम्	१७	१३५
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वम्	१९	१०१
अधोहरैश्चोर्ध्वहरै	५	१७६
अध्यात्मलोको वाताद्यै	२६	२९२
अनन्तरमुवाचेद	१०	५४
अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः	२८	२३९
अनम्लं च कषायं च	२।३	४८
अनिष्टगन्धश्चैकश्च	२।१	१७
अनुत्क्लिष्टकफास्विन्न	१७	९१
अनुवासं ततः कुर्या	३०	१०१
अनेन सत्यवाक्येन	२३	९४
अनेनाश्च इवोदीर्णो	२।१	३३
अनेनाश्च इवोदीर्णो	२।१	४१
अनेनैव विधानेन	१।३	२३
अन्तःप्रकुपिता दोषा	२१	२५
अन्तःशरीरे संशुद्धे	२१	७१
अन्तरग्निगुणा देहम्	१५	२४४
अन्तराधिरसं पूत्वा	१९	४०
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णाम्	२४	११३
अन्तर्दाहः सतृण्मोहः	३	७८
अन्तराकण्डरागुल्फम्	२८	१०१
अन्तरायम्यते ग्रीवा	२८	४४

	अ०	अंक
अन्तर्भागस्य चाप्येतद्	५	४५
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो	३	३३
अन्नपानवयोव्याधि	२४	६८
अन्नपानानि वक्ष्यामि	२१	१०८
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिम्	१५	२२२
अन्नमादानकर्मा तु	१५	६
अन्नमिष्टं ह्युपहित	१५	१२
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां	१५	३९
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य	१५	९
अन्नावपीडितं बल्यम्	१५	२०९
अन्नाशनं ततः कुर्या	३०	१९७
अन्यधातूपसंसृष्ट	३०	१४०
अन्ये च रोगा बहवो	२६	१०
अन्येद्युष्कः प्रतिदिनम्	३	६७
अन्येऽप्येवंविधा व्याला	२३	१७६
अन्यैरप्युपसृष्टस्य	१७	७
अपकर्षो यथोत्कर्षो	२४	८३
अपक्वं धारयत्यन्नम्	१५	५७
अपत्यसन्तानकरम्	२।१	९
अपस्मारग्रहोन्माद	९	६३
अपस्मारविषोन्माद	९	७२
अपस्मारे तथोन्मादे	१०	२३
अपस्मारे तथोन्मादे	१०	४७
अपां क्षयाद्धि तृष्णा	२२	२५
अपाने विगुणे पूर्वम्	३०	२९९
अपानो मार्गसंरोधा	१३	४०
अपि च शोणितादीन्	१९	९
अपि तक्षकदष्टानाम्	२३	१९५
अपि वासुकिना दष्टः	२३	१९९
अपीनसे पूतिनस्ये	२६	१५१
अपूर्तामिव यां याति	२।१	१४
अपेतराक्षसीकुष्ठ	१०	३९
अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं	९	२०
अब्धातुं देहस्थं कुपितः	२२	११
अभयां पिप्पलीमूलम्	१५	१०३
अभयामलकीयेऽस्मिन्	१।१	८१
अभयामलकीयोक्त	२८	२४३
अभिघाताभिषङ्गाभ्याम्	३	११२
अभिचारादविस्रम्भा	३०	१५९
अभिष्यन्द्युपचाराच्च	१७	१६
अभिसन्ने शरीरे तु	८	५७
अभेषजं च द्विविधम्	१।१	५
अभेषजमिति ज्ञेयम्	१।१	१५
अभोजनादजीर्णाति	१५	४२

	अ०	अंक
अभ्यङ्गः सार्षपं तैलम्	१०	३२
अभ्यङ्गयोगाः परिषेच	४	९१
अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता	१४	५८
अभ्यङ्गाः स्वेदनं धूमाः	१४	२५०
अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च	३	२५६
अभ्यङ्गोत्सादनस्नान	२।३	२४
अभ्यङ्गोत्सादनस्नान	२४	२१
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानै	२४	१३३
अभ्यङ्गोत्सादनश्चैव	८	१८४
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नान	३	३४१
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन	१४	४४
अभ्यञ्जनस्नेहनिरूह	२६	४५
अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यं	९	१७
अमर्षसंरम्भविनग्न	९	१२
अमृतप्राशमित्येत	११	४१
अमृतार्थं समुद्रे तु	२३	४
अमृताह्वा बिसं बिल्वम्	२६	२४३
अम्बष्ठा शाल्मलीश्लेषम्	३०	९१
अम्लं चानुपिबेत्तक्रम्	१५	१४५
अम्लोष्णलवणक्षारैः	३०	२१४
अयथाबलमारम्भम्	८	१३
अयथाबलमारम्भै	८	१५
अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च	२६	२८२
अयोरजः सकासीसम्	२५	११५
अरक्तलोम तनु यत्	७	१७६
अरजस्का पिबेत् सिद्धम्	३०	१०२
अरिष्टान् दापयेत् क्षारान्	१३	१५७
अरुचौ कवलग्राहा	२६	२१५
अरुंषि शीर्षश्रवणा	२६	१०९
अरोचकात् कासवेगा	८	६२
अरोचके शोकभया	२६	१२६
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः	२।४	२६
अर्शःश्वासभगन्दर	७	७९
अर्शःसु चातिसारेषु	३०	९४
अर्शःस्वानद्धेषु च	२३	७५
अर्शसां द्विविधं जन्म	१४	२४९
अर्शांसि खलु जायन्ते	२४	२३
अर्शांसि ग्रहणीदोषम्	१।३	३५
अर्शांसि ग्रहणीदोषम्	१४	११२
अर्शांसि ग्रहणीदोष	१४	१६७
अर्शांसि च गुदे शूलम्	१५	१३१
अर्शांस्यचेष्टा न च	१२	६
अर्शोऽतिसारानिल	१२	५९
अर्शोऽतिसारानिल	१२	६१

	अ०	अंक
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च	३०	१६१
अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः	११	१४
अल्पस्तु रोगोऽनुप	२६	१२९
अवपीडकसर्पिर्भिः	१४	२२३
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः	५	४९
अवाक्पुष्पी बला दार्वी	१४	२३४
अविदाहिभिरन्नैश्च	१५	१२३
अविपाकास्यवैरस्ये	३	२९
अविरेच्यं तु यं विद्याद्	१३	६६
अवैषम्येण धातूना	१५	२१५
अव्यायामदिवास्वप्न	१३	२९
अव्यायामदिवास्वप्न	२४	९६
अव्याहतगतिर्यस्य	२८	४
अशितस्यातिसंक्षोभा	१३	३५
अश्वगन्धामपामार्गम्	८	१७६
अश्वत्थपाठासन	६	३२
अश्विनौ देवभिषजौ	१।४	४१
अष्टभागावशेषं तु	५	१५५
अष्टवेगं दशगुणम्	२३	७
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः	१।४	४९
असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं	९	२०
असञ्जातबलो यस्तु	३	३३३
असाध्यो बलवान् यश्च	३	५३
अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते	२७	७
अस्त्येतद्भूरि तन्त्रेण	१४	३४
अस्थानहासस्मितनृत्य	९	१०
अस्थिभेदात् सशल्यत्वात्	२५	३२
अस्थिमज्जगते देया	३	३१७
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत	१।१	७२
अस्वप्नारोचकश्वास	२९	३१
अस्वस्थं हृदयं चैव	२८	७२
अस्वस्थचित्तं स्थानमलभ	९	२०
अस्वेदनं महावास्तु	७	२१
अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः	३०	२८९
अहीनमांसस्य य एक	१२	१६
अहोरात्रं जले तप्ते	१९	१००

आ

	अ०	अंक
आक्तस्य तेनाम्बु रवि	१२	६९
आखुभिः कुक्कुटैर्हंसै	२६	१७५
आगन्तुरनुबन्धो हि	३	२९३
आगन्तू द्वावतीसारौ	१९	११
आग्नेयो वातपित्ताभ्याम्	२१	१४
आघातकालो हि स	९	१९
आजस्य पयसश्चैव	८	११६

	अ०	अंक
आजेन पयसा पिष्ट्वा	२६	२५५
आढक्यश्चणका मुद्गा	२९	५१
आढ्यवात इति ज्ञेयः	२८	६६
आतंन्यते च जठर	१३	१९
आत्मगुप्ताफलं माषान्	२।२	१४
आत्मगुप्ता मधूकानि	२।१	२८
आत्मगुप्तामहामेदा	२६	१६८
आत्मरूपं तु तद्व्यक्त	२८	२०
आत्रेयमुपसङ्गम्य	३०	१२९
आदशाच्छोणितं पाण्डु	२३	१४७
आदशाहमुपक्रम्य	३	२८३
आदानमध्ये तस्यापि	३	४७
आदावामाशयगे	२३	१२२
आदौ हृदयं रक्ष्यं	२३	४६
आद्या यवान्नविकृति	६	६०
आनद्धवाते सुरया	१३	१३०
आनद्धे गुदलेपो	२३	८६
आनाहः पार्श्वशूलं च	१७	२०
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो	१७	५३
आनुवासनिकैः पिष्टैः	१४	१३५
आनूपरससिद्धान् वा	१५	२२९
आनूपवारिजानाम्	७	५१
आनृशंस्यपरं नित्यम्	१।४	३२
आध्मानहृल्लासविकार्ति	२६	७
आपाने सात्त्विकान् बुद्ध्वा	२४	७९
आ पित्तरागाच्छकृतो	१६	१३१
आपूर्णरसवीर्याणि	१।१	३९
आभिः क्रियाभिरथवा	१४	२२२
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः	२४	१९५
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः	२१	१३२
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः	२०	५२
आभ्यन्तरं भेषजमुक्त	१२	६४
आभ्यां वा भावितान् दद्या	५	१७५
आमप्रदोषादानाहाद्	१७	१२
आमलकचूर्णाढकमेक	१।२	८
आमलकसहस्रं पिप्पली	१।२	७
आमलकानां सुभूमिजानां	१।२	४
आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा	१५	७४
आमान्वये पित्तगुल्मे	५	१३५
आमाशयं प्रविष्टे	२३	११४
आमाशयगतं गत्वा	२८	१८९
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टम्	२४	१४१
आमाशयस्थे शुद्धस्य	२८	९१
आमाशयोत्क्लेश	२०	८

	अ०	अंक
आमाशयोत्क्लेशभवा	२०	२०
आमे परिणते यस्तु	१९	३०
आम्रामलकपेशीनाम्	२४	१८३
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो	२६	२७१
आयसे भाजने सान्द्रा	१५	१८७
आयुःप्रदान्यामय	१।३	३१
आयुर्वर्णबलं स्वास्थ्य	१५	३
आयुर्वेदविदां श्रेष्ठम्	१३	४
आयुर्वेदसमुत्थानम्	१।४	६३
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्याम्	२।१	३०
आरग्वधमुशीरं च	३	२४५
आरग्वधं वा पयसा	३	२३२
आरनालाढके तैलम्	२९	१२२
आरनालात् पचेत् प्रस्थम्	२७	४६
आर्कः पयं सुधाकाण्डम्	१४	५७
आर्तवे सा वियुक्ते तु	३०	२६
आर्द्राणि मत्स्यमांसानि	२।४	१७
आर्द्रे विरूक्षणं शुष्के	१८	१३३
आलस्यं नयने सास्रे	३	२८
आलस्यारुचिहृल्लास	३	९६
आलेपनं निर्वपणम्	२५	६४
आलेपनं प्रघर्षण	७	९९
आलेपनं प्रियङ्गु	७	१३२
आविकं च भृतं मांस	१५	२२५
आविश्य शिरसः खानि	१८	७
आश्च्योतनं मारुतजे	२६	२३७
आश्वासयेत् सुहृदा तम्	९	७९
आश्विनं या महत्तेजो	२४	८
आस्रां या सा समुत्पन्ना	१७	४३
आसिक्त क्षीरमापूर्ण	२।२	३
आसिक्तक्षीरिके पादे	२।२	३२
आसीनं मुनिमव्यग्रम्	१४	३
आस्थापनं यापनं वा	३	३०२
आस्यादामाशयस्थानम्	३०	२९४
आस्यासुखं स्वप्नसुखम्	६	४
आहारभावात् प्राणाय	३	१५३
आहारान् दोषपक्त्यर्थम्	३	१९६
आहारार्थं प्रयोक्तव्यम्	५	१३४
आहारैरुपचारैश्च	१६	१७

इ

	अ०	अंक
इक्षुं सुपक्वमथवा	२३	४७
इक्षुरसमधुकवेतस	१४	२१६
इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थि	११	१८
इच्छत्युभयमेतत्तु	३	३८
इति दोषाः समाख्याताः	३०	१४५
इति पिप्रक्षवे सिद्धि	२१	१४६
इति मूलविषविशेषाः	२३	१२३
इति रूपैः समुद्दिष्टा	२५	२९
इति वीसर्पनुत् प्रोक्तम्	२१	५०
इति व्याधिसमूहस्य	८	३२
इति शिष्येण पृष्टस्तु	३०	७
इति श्वासाः समुद्दिष्टा	१७	६८
इति षट् कषाययोगाः	७	९८
इति षड्विधमुद्दिष्टम्	२५	६१
इति सङ्क्षेपतः प्रोक्तम्	२९	५४
इति सर्वविकाराणाम्	३०	२८८
इति सामान्यतः प्रोक्तम्	२८	८९
इति साहसिको यक्ष्मा	८	१९
इतीदमुक्तं द्विविधस्य	२३	२५४
इत्यग्निवेशस्य वचो	२५	५
इत्यन्नपान निर्दिष्टम्	४	५४
इत्यष्टशुक्रदोषाणाम्	३०	१५३
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता	३	१४
इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्ट	२७	४८
इत्युक्तं भिन्नशकृताम्	८	१३४
इत्युक्तं स्थानभेदेन	२८	३८
इत्युक्तमावृते वाते	२८	१९९
इत्युक्तवन्तमाचार्यं	१५	२२
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः	४	४८
इत्युक्ताः षडतीसाराः	१९	१३
इत्युक्तो भेषजगणः	२५	५४
इत्यूर्ध्वजत्रूत्थगदे	२६	१३३
इत्येवं षड्विधं काल	३०	३०७
इत्येष क्षयजः कासः	१८	२९
इत्येषां पञ्चमूलानाम्	१।१	४५
इदं रसायनं चक्रे	१।३	६
इदं रसायनं ब्राह्मं	१।१	५९
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव	१।४	४८
इन्द्राणिशाकं काकाह्वान्	२१	९०
इन्द्राणिशाकं सघृतम्	२१	८५
इन्द्रियाणां च वैकृत्यम्	३	३७
इन्द्रियाणां बलं हत्वा	१६	२९
इष्टद्रव्यविनाशात्तु	९	८५
इष्टमिष्टैरुपहितम्	८	१८१
इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः	२।१	५
इह खल्वग्निवेश !	१४	५
इह दर्वीकरः सर्पो	२३	१२४

ई

	अ०	अंक
ईदृशीं प्रमदां मोहा	३०	१६६
ईषत्सलवणं युक्तम्	२।१	४३
ईषत्सलवणं युक्त्या	३	२४९
ईषदम्लाननम्लान् वा	३	१९२
ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रास	८	२४
ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान्	३०	१८२

उ

	अ०	अंक
उक्तवाञ्ज्येष्ठशिष्याय	११	९७
उक्तानुक्तचिकित्सा च	३०	३३८
उक्ता विस्तरतः सम्यङ्	३०	१२८
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन	१७	६१
उच्छ्वासमार्गं तु कफः	२६	११२
उत्कारिकाभिरुष्णाभि	२१	१२१
उत्कारिकावेसवार	२८	११४
उत्कुञ्चिका हिङ्गु	२६	६१
उत्तानमथ गम्भीरम्	२९	१९
उत्ताना चोन्नता शूना	३०	८२
उत्थाने चातिवहुशः	१४	२४१
उत्पन्नमात्रे तरुणे	२६	२३१
उत्पलं धातकीपुष्पम्	१९	५४
उत्पाट्य पलिते देयौ	२६	२६७
उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च	२५	२१
उत्सवादुत्सवतरम्	२४	८२
उदानस्य पुनः स्थानम्	२८	७
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यम्	२८	२०१
उदानेनावृते व्याने	२८	२१५
उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षि	११	३
उदावर्तपरीता ये	१४	१३०
उदावर्तरुजानाहै	१३	७५
उदावर्तहरं कर्म	१३	९१
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ	१५	२०७
उदावर्ते तथाऽऽध्माने	१७	८७
उदीर्यते भृशतरं मार्गं	१८	१२२
उदुम्बरत्वङ्मधुकम्	२१	७२
उदुम्बराश्वत्थवटा	२६	९८
उद्गारशब्दप्रबलम्	२०	९
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च	१६	२२
उद्धूयमानवातो यः	१७	४६
उद्धृत्तान् स्थूलपर्यन्ता	२५	५८
उन्मादानां समुत्थानम्	९	९८
उन्मादापस्मारौ काच	२३	७३
उन्मादारत्यपस्मारान्	३०	६९
उन्मादे वातजं पूर्वम्	९	२५
उपक्रमाणां करणम्	३०	३०५
उपचारैरशिशिरै	२४	२३
उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तर	२१	४०
उपद्रवेषु योनीनाम्	३०	१३१
उपनाहनं सशस्त्रम्	५	१८५
उपनाहश्च कर्तव्यः	२५	७९
उपयुञ्जीत तक्रेण	१६	७६
उपयुज्यान्नपानं वा	३	३०१
उपर्युपरि लेपस्य	२१	१०४
उपलक्ष्य भिषग्विद्वान्	२८	२३२
उपाचरेत् स्नेहभवम्	१२	१८
उपाचरेद्यथाकालम्	१५	७२
उपासितारं वृद्धानाम्	१।४	३४
उपेक्षणादसाध्याः स्यु	२८	२३६
उपेक्षिते भवेत्तस्मिन्	११	९५
उपोदिकां तण्डुलीयाम्	१४	१२३
उमाऽथो गुग्गुलुः सौधं	२५	५३
उरःस्थितैरूर्ध्वमधस्तु	१२	९
उरःस्रोतः समाविश्य	१७	४०
उरो मत्वा क्षतं लाक्षाम्	११	१५
उरोरुक्शोणितच्छर्दिः	११	१३
उरोविबन्धः कासश्च	३४	१०३
उरो विरुज्यते तस्य	११	९
उशीरकालीयकलोध्रं	४	७३
उशीरपद्मोपल	४	८०
उशीरलोध्राञ्जन	६	३०
उष्णाः स्निग्धः प्रकर्तव्यां	३०	६२
उष्णे चात्यध्ववैषम्या	२२	१०

ऊ

	अ०	अंक
ऊरु श्लेष्मा समेदस्को	२७	१४
ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय	२१	१२०
ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः	२४	८८
ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टम्	४	२४
ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वम्	४	३२
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च	३	१५५
ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य	४	६१
ऊर्ध्वंदृष्टिर्विपर्ययश्च	१७	५०
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपितं	१७	५१
ऊष्मा तथा स्याद्वथुः	१२	१०

ऋ

	अ०	अंक
ऋचः पशुपतेर्याश्च	३	१८
ऋतावनाहारतया	५	१८
ऋतुस्नाता तथा नारी	२६	१७४
ऋत्वहोरात्रदोषाणाम्	३	७५
ऋद्धिं तामलकीं चव्यम्	२९	१५३
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना	२।१	२६
ऋषभकजीवकभार्गी	२३	९५
ऋषयः खलु कदाचित्	१।४	३

ए

	अ०	अंक
एकदंष्ट्रार्दितः शूनः	२३	१५४
एकदोषानुगं साध्यम्	२९	३०
एकद्वित्रिचतुर्वृद्ध	२३	१३९
एकमार्गे बलवतो	४	२२
एका षोडशिका धान्या	११	८८
एकैकं मरिचाजाज्यो	११	८६
एडगजः सर्जरसो	७	१२७
एडगजः सविडङ्गो	७	१६०
एडगजः सविडङ्गो द्वे	७	१६१
एडगजकुष्ठसैन्धव	७	१२६
एडगजनिम्बपाठा	७	१०३
एतं पञ्चविधं केचिद्	३०	१७६
एतज्जरासम्भवं हि	३०	१८१
एतत् प्रक्षालनं सर्पि	२१	९८
एतत् प्रायोगिकं सर्पिः	२९	६०
एतदर्शःस्वतीसारे	१४	२४०
एतदुत्सादनं कार्यम्	८	१७८
एतदेव पुनर्युक्त्या	२४	१७९
एतदेव महायोन्याम्	३०	११२
एतदेवोच्चिटिङ्गेऽपि	२३	१७४
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठ	२६	२२३
एतद्भल्लातकघृतम्	५	१४६
एतद्यथाबलं पीत्वा	१७	१४४
एतद्रसायनं पूर्वम्	१।३	४
एतद्व्याधिसमूहस्य	८	११३
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यम्	२६	२५८
एतन्मूलकतैलाख्यम्	२८	१७६
एतल्लवणमष्टाङ्ग	२४	१७८
एतानि चान्यानि वरौ	२६	४८
एतानेव च योगांस्त्रीन	८	१२८
एतान् द्विपलिकान्भागान्	१६	७४
एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थम्	१८	१६७
एते च करचरण	२३	११९
एते त्वसाध्या व्याख्याताः	३०	१९१
एते दशविधास्त्वेषाम्	१।२	१८
एतेन लिप्तगात्रः	२३	८५
एतेनैव कषायेण	२६	१६६
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्	२८	७४
एते हि कफसंरुद्ध	१७	१२०
एतैः प्रयोगैर्विधिवद्	२।२	३०
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यम्	२९	३३
एतैरेव च सर्पिः	७	१०१
एतैरेवौषधैः सिद्धम्	१५	१७०
एतैर्निदानैर्व्यामिश्रः	२१	२२
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः	१।४	४५
एतैश्चैव खडान् कुर्याद्	१४	९१
एतैस्तैलं सिद्धं कल्कम्	७	१०७
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठ	७	१०४
एतौ पूपलिकायोगौ	२।४	२२
एभिः पूपलिकाः कार्याः	२।२	१२
एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं	१९	९
एरण्डनलदक्षौम	२६	१८२
एरण्डपत्रक्षारं वा	१८	१७१
एरण्डमूलोत्क्वथितम्	३	२३५
एर्वारुबीजं त्रपुषात्	२६	५२
एर्वारुबीजं मधुकम्	२६	५३
एला कुष्ठं दार्वी शत	७	८४
एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः	११	२१
एलामृणालागुरुभि	१५	१४८
एवं क्षीरप्रयोगेण	१९	४९
एवं रसमलायान्न	१५	८
एवंविधांश्चाप्यपरान्	१२	१०१
एवमन्येऽपि च गदा	३	३३८
एष कषायः साध्यो	७	१३७
एष कषायो वमनम्	७	९२
एष कासान् पृथग्दोष	१८	७०
एष क्रियाक्रमः प्रोक्तो	१३	७९
एष प्रयोगः पुष्ट्यायु	११	९२
एष मूलासवः सिद्धो	१५	१५९
एष शट्पादिको वर्गः	३	२१२
एषां कषायकल्काभ्याम्	२९	७४
एषां कषाये द्विक्षीरे	११	५७
एषां क्वाथे चतुःक्षीरम्	२९	७७
एषां चानु पिबेत् पेयाम्	१३	१४२
एषां त्रियवकान् भागान्	१।३	२५
एषां पलोन्मितान् भागान्	१।१	६५
एषां पाणितलं चूर्णम्	१७	१२७
एषां प्रयोगाद्भक्ष्याणाम्	२।२	१३
एषां स्वकर्मणां हानि	२८	२१६
एषा दृष्टिप्रदा वर्ति	२६	२५६
एषामग्निबले हीनं	१४	२४५
एषामष्टपलान् भागान्	२६	२४४

ऐ

	अ०	अंक
ऐकध्यं पत्रके भृष्टम्	१०	३६
ऐकध्यं साधयेत् सर्वम्	१४	२३२
ऐन्द्री मत्स्याख्यको ब्राह्मी	१।३	२४

ओ

	अ०	अंक
ओजस्यविहते पूर्वो	२४	३७
ओजोभ्रंशश्च सादश्चा	२८	२२४
ओदनं रक्तशालीनाम्	१९	४१
ओदनं रक्तशालीनाम्	१९	७२
ओषधीनां परा भूमि	१।१	३८
ओषधीनां प्रभावेण	१।४	९

औ

	अ०	अंक
औचित्याद्यस्य यत् सात्म्य	३०	३१५
औदकप्रसहानूप	२९	१३७
औदकानूपमांसाना	८	७६
औदकानूपमांसानि	८	७४
औष्ण्यात् प्रमाथिभावाच	१८	१५७

क

	अ०	अंक
कंसे क्षीरेक्षुरसयोः	१०	२९
ककुभोदुम्बराश्वत्थ	२५	११३
कटभीदन्त्यपामार्गान्	२३	२४५
कटभीनिम्बकट्वङ्ग	१०	३३
कटभ्यर्जुनशैरीष	२३	२०४
कटम्भरां वृश्चिकालीम्	९	४७
कटिवङ्क्षणहृत्पार्श्व	३०	२१३
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गम्	३०	८१
कटुकरोहिणी मुस्तम्	१६	४७
कटुकातिविषापाठा	२६	२०१
कटुकोष्णविदाह्यम्ल	१८	२४
कटुतिक्तकषायाति	१५	५९
कटूष्णलवणक्षार	१४	१५
कट्फलं कत्तृणं भार्गीम्	१८	११२
कट्फलं मधुयुक्तं वा	१९	११३
कट्यूरुगुदशूलं च	१४	१७२
कट्वङ्गं मरिचं शुण्ठी	३०	९२
कट्वजीर्णविदाह्यम्ल	१५	६५
कट्वम्लतीक्ष्णोष्ण	५	१२
कट्वम्लमुष्णं विरसम्	२६	१२५
कट्वम्ललवणं मांसम्	२४	१७४
कट्वम्ललवणात्युष्ण	१२	२६
कट्वम्ललवणोष्णैश्च	२८	६२
कठिनत्वं व्रणा यान्ति	२५	१०८
कण्टकारीगुडूचीभ्याम्	१८	३५
कण्टकारीरसे सिद्धो	१८	१८४
कण्टकार्या शृतं वाऽपि	१४	१२९
कण्ठरोगेषु सर्वेषु	२६	१९४
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा	१५	६१
कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च	१७	१९
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा	२९	१८
कण्डूदाहरुगायाम	२९	२०
कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्य	२३	१७७
कण्डूपाण्ड्वामयोन्माद	९	४०
कण्डूमद्भिः सरागैश्च	७	२३
कण्डूमान्मषकैरीष	२३	१५७
कण्डूर्गुरुत्वं मितविज्ञ	२६	१२१
कण्ड्वरुः कोठपिडकाः	१४	१७९
कतकस्य फलं शङ्खः	२६	२५२
कदम्बपुष्पाकृतिर	२६	३७
कदम्बामलकाक्षोट	२९	९९
कदम्बार्जुननिम्बानाम्	२५	९५
कदलीक्षारयुतं वा	७	१६८
कदलीदलैरभिनवै	१४	२१८
कदलीपलाशपाटलि	७	८९
कदाचित्पिच्छिलो वाऽपि	३०	१७३
कनकक्षीरी शैला भार्गी	७	१११
कन्दमूलफलं सात्म्यम्	३०	३१८
कपित्थं बिल्वमम्बष्ठाम्	१५	११३
कपित्थमक्षिपीडोऽर्क	२३	२१६
कपित्थमामं ससिता	२३	१८४
कपित्थानि विडङ्गानि	१९	१११
कपिलानां गवां मूत्रम्	१०	४१
कफं कफस्थानगतम्	२७	२२
कफं च पित्तं च स	५	६
कफः सपित्तः पवन	६	८
कफक्षयार्थं शक्येषु	२७	५८
कफगुल्मी पिबेत् काले	५	५३
कफजे स्वरभेदे तु	२६	२८६
कफजे स्वेदितं धूम	२६	१८०
कफजो न स रोगोऽस्ति	१।२	१९
कफजो यद्यतीसारः	१९	१०४
कफदेशगं कफस्य च	२३	३०
कफपाण्डुस्तु गोमूत्र	१६	५८
कफपित्तं प्रकुपितम्	२१	३७
कफपित्तात्त्रिकग्राही	३	७१
कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ	९	२६
कफप्रसेके बलवान्	८	११८

	अ०	अंक
कफप्रसेकं वैस्वर्यम्	३।१	३३
कफमारुतसम्भूते	१३	११६
कफवातविबन्धेषु	५	१५८
कफवातात्मकावेतौ	१७	८
कफवाते च दातव्यम्	३०	१०३
कफवातोत्तरे शीतैः	२९	४७
कफसम्मूर्च्छितो वायुः	१६	१२६
कफस्थानानुपूर्व्या च	२४	१०८
कफस्थानानुपूर्व्या वा	३	२८७
कफात्मिकायां वमनम्	२०	३४
कफाद्भवति रूक्षाद्यै	३०	२३८
कफाधिके बलस्थे च	१७	८९
कफानुगे यूषशाकम्	४	४३
कफानुबन्धे निखिले	४	९३
कफावृते यवान्नानि	२८	१८७
कफावृते समाने स्याद्	२८	२२७
कफे च यूषादिकमन्न	२६	७१
कफे तु कृष्णासिकता	२२	७०
कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो	३०	१३
कफो वाते जितप्राये	५	२७
कम्पते प्रदशेद्दन्तान्	१०	९
कम्पिल्लकं नीलिनीं च	१३	१२०
कम्पिल्लकं विडङ्गानि	२५	९०
कम्पिल्लकं विडङ्गानि	२१	१३७
कम्पिल्लसप्तच्छद	६	३५
करप्रचितानां यथोक्त	३।३	३
करप्रचितिके पादे	३।३	६६
करोति कुपितो मन्द	१५	६०
करोति खञ्जं पङ्गुं वा	२९	२३
करोति गुरु तत् पीत्वा	३०	२५०
करोति जीर्णेऽभ्यधिकम्	५	११
करोति दुःखं तेष्वेव	२९	१५
करोति पीनसं तेन	१७	५६
करोति विण्मारुतमूत्र	२६	६
करोति विविधान् व्याधीन्	२८	१९
करोति सततं हिक्का	१७	२३
करोत्यावृतमार्गत्वा	२८	६१
कर्कशं सृजतो वातम्	१३	५७
कर्कशं रक्तपर्यन्त	७	१७
कर्कोटकं कठिल्लं च	३	१९०
कर्णशूले तु वातघ्नी	२६	२२१
कर्णाक्षिनासिकाजिह्वा	२६	१६५
कर्पूरकुड्वं चापि	२६	२११
कर्मणाऽनेन सिद्धेन	२४	१३१

	अ०	अंक
कर्मौजोबलवर्णानाम्	२८	२०८
कर्षं च श्वेतमरिचा	२६	२४५
कर्षं मधुकचूर्णस्य	३।३	१९
कर्षोन्मितैस्तैः क्वथितः	१२	५४
कलायाश्च मसूराश्च	२५	६२
कलिङ्गकाश्वित्रकमूल	१२	४४
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्पम्	१४	२३६
कल्कं तथा चन्दनसेव्य	२०	३३
कल्कं दत्त्वा महास्नेहम्	२८	१३३
कल्कः स्याद्बालबिल्वानाम्	१९	३४
कल्कश्चातुर्भागो जल	७	१४७
कल्कस्तिलानां कृष्णानाम्	१९	८४
कल्काः शाल्मलिनिर्यास	१४	२२७
कल्कानावाप्य मेदे द्वे	२९	६४
कल्कार्थे जीवनीयानि	२९	१४२
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धम्	५	६६
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थम्	१३	११७
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा	१३	१४९
कल्कैरक्षसमैः पेयम्	१५	१२८
कल्कैरेतैस्तैलं कर	७	११५
कल्कैर्निम्बपटोलानाम्	३०	२५३
कल्कैर्मदनमुस्तानाम्	३	२४३
कल्कैस्तत् क्षीणवीर्याग्नि	२८	१६३
कल्कैस्तत् सर्वकासेषु	१८	१२८
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः	३०	३३२
कल्पनीयानि भिषजा	२४	१५९
कल्पयेद् गुटिकां चैतत्	८	१४८
कल्पोऽयमश्वगन्धायाम्	२८	१६६
कल्याणकमिदं सर्पिः	९	४२
कशाभिस्ताडयित्वा वा	९	८१
कशेरुकाशैवलश्टङ्ग	२६	९४
कषाय एषां पेष्यास्तु	१४	२३५
कषायकटुतिक्तानि	१४	१२
कषायकटुतिक्ताल्प	२९	९
कषायकटुरूक्षोष्णैः	२५	१६
कषायगोगान् पयसा	४	८७
कषायतिक्तमधुरै	८	६१
कषायतिक्तोष्णरूक्ष	२६	५
कषायमभयानां वा	२९	८४
कषाययोगा य इहो	४	९७
कषाययोगैर्विविधै	४	८२
कषायाः शमयन्त्याशु	३	२०३
कषायाः सर्व एवैते	३	२१८
कषायान् पाययेद्वैद्यः	२१	५५

	अ०	अंक
कषायाश्च यवाग्वश्च	३	२१५
कषायैः साधितः स्नेह	३०	१०९
कषायोष्णं च विषमे	३	२९६
काकमाचीं रुहापत्रम्	१४	१२४
काकाण्डरससंयुक्तो	२३	२१७
काकाण्डशिरीषाभ्याम्	२३	४९
काकाण्डसुरसगवा	२३	५३
काकांस्तित्तिरिशब्देन	८	१५१
काकोदुम्बरिका वा	७	१७०
काकोलीक्षीरकाकोली	२९	९३
काकोली बृहतीमेदा	१८	९९
क्रान्तः प्रजानां सिद्धार्थ	३।१	६०
कामं तु पयसा तस्य	३	१७०
कामं प्राणहरा रोगा	१७	६
कामचिन्ताभयक्रोध	१६	९
कामला द्विविधा तेषाम्	१६	१३९
कामलार्शोऽनिलाष्ठीला	१८	४२
कामली त्रिवृतां वाऽपि	१६	६०
कामशोकभयक्रोध	९	८६
कामादिजानां रोगाणाम्	३	१२६
कायस्थया च तत् पाना	१७	१४१
कायस्थां शारदान्मुद्गान्	१०	४६
कारणस्थानमूलैक्या	१७	७०
कारयेद्रक्तपित्तघ्नम्	३०	४२
कारवी पिप्पलीमूल	१३	१२६
कारवीमरिचाजाजी	२६	२१९
कार्पाससङ्गृहीतेन	१९	९३
कार्पासास्थिकुलत्थानाम्	२८	१३६
कार्यस्ततः स्नेहपिचु	३०	१०८
कार्याकार्यं सुखं दुःखम्	२४	५०
कार्षिक पिप्पलीमूलम्	१३	१६३
कार्षिकांस्तत् स्थितं मास	१५	१६६
कार्षिकाण्युदरप्रस्थे	१५	१४३
कार्षिकानर्धकार्षांशां	१६	६१
कार्षिकैस्तैलकुडवो	२६	२७७
कालकं नाम तच्चूर्णम्	२६	१९६
कालक्रमज्ञः सहसा	१४	८२
कालप्रकृतिदूष्याणाम्	३	६३
कालयुक्तेन रूक्षेन	२४	१८६
कालयोगबलाः केचित्	२।४	७
कालश्च गौरमात्मानम्	२३	२३७
कालान्तरात् खरीभूता	१६	३७
कालीयं मधुकं हेम	२१	७४
कालीयकनताम्रास्थि	२५	११६

	अ०	अंक
कालीयकरसोपेतम्	२४	१६०
काले पुनस्तर्पणाद्यम्	२४	१४३
काले संशोधनार्हस्य	४	५६
काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षाम्	२९	८५
काश्मर्यं वटशुङ्गानि	२३	१९७
काश्मर्यधात्रीमरिचा	१२	३२
काश्मर्याढकमित्येतत्	२९	९७
काश्मर्याणां सशुष्काणाम्	२९	१०५
काश्मर्यामलकानाम्	१४	२०२
कासं गुल्ममुदावर्तम्	१४	१५२
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान्	१४	१६८
कासं श्वासं ज्वरं हिक्का	११	२३
कासः कण्ठास्यशोषश्च	२८	२८
कासज्वरानाहविबन्ध	४	९६
कासमर्दकपत्राणाम्	१७	९९
कासमर्दाभयामुस्त	१८	१६३
कासमर्दाश्वविड्भृङ्ग	१८	११७
कासश्वासहरश्चैव	३।१	७०
कासमात्ययिकं मत्वा	१८	१३४
कासहिक्काज्वरश्वास	११	४३
कासहिक्कारुचिश्वास	१४	११८
कासहिक्कारुचिश्वासान्	१६	११४
कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्	३	२३४
कासाजीर्णारुचिश्वास	१५	११२
कासिने च्छर्दनं दद्यात्	१७	१२१
कासी श्वासी च हिक्की च	३	१८४
कासीसहिङ्गुशिग्रुत्र्यूषण	७	१०९
कासे सरक्तनिष्ठीवे	२४	१४४
कासोऽसतापो वैस्वर्यम्	८	४५
किञ्चित्तुवरानुरसं	२२	२६
किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ	१५	७८
किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम्	८५	१८
किण्वं वराहरुधिरम्	७	१२२
किन्तु मद्यं स्वभावेन	२४	५९
किराततिक्तकं तिक्ता	३	३४३
किराततिक्तः षड्ग्रन्था	१५	१३७
किराततिक्तकक्वाथम्	३०	२६२
किराततिक्तको मुस्तम्	१९	५२
किराततिक्तममृता	३	२०२
किलासानि सकुष्ठानि	२५	५९
कीटैर्दूषीविषैर्दष्टम्	२३	१४२
कीर्तितं स्तन्यदोषाणाम्	३०	२६३
कुक्कुटाण्डकपालानि	२६	२५३
कुक्कुटाश्च मयूराश्च	५	११०

	अ०	अंक
कुक्षेराध्मानमाटोपः	१३	२१
कुङ्कुमस्य पलार्धेन	२९	११३
कुटजत्वक्फलं मुस्तम्	१५	१३८
कुटजत्वङ्निर्यूहः	१४	१८५
कुटजत्वचो विपाच्यम्	१४	१८८
कुटजफलवल्ककेसर	१४	१९७
कुटजस्य फलं पिष्टम्	२३	२०६
कुटीप्रावेशिकस्यादौ	३।१	१७
कुट्टकं मत्स्यमांसानाम्	२।४	१९
कुडवश्चैव माषाणाम्	२।३	१६
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः	११	७२
कुडवार्धं विडङ्गानाम्	१५	१६४
कुपिताः क्षयजं कासं	१८	२५
कुपिते मार्गसंरोधा	२९	१५६
कुमुदोत्पलपद्माद्यै	२९	१२८
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च	३	१९१
कुरण्टकं देवदारु	२१	८९
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो	३०	३२७
कुर्याच्चिकित्सितादस्या	२१	११६
कुर्याच्चेष्टानिवृत्ति हि	२८	५४
कुर्यात्तान् भक्षयेत् क्षीणः	११	६९
कुर्यात् प्रस्थोन्मितं तेन	११	३९
कुर्यात् सतक्रगोमूत्र	३०	८४
कुर्यात् सपित्तः पवन	२६	११७
कुर्यादादित्यपाकं वा	१६	२७४
कुर्याद्रक्तातिसारं तु	१९	७०
कुर्याद्विण्मूत्रसङ्गार्तिम्	३०	३३
कुर्यान्निरनुबन्धानाम्	३	२८०
कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थम्	२।४	५९
कुलत्थमाषनिष्पाव	२९	६
कुलत्थयूषश्च सपिप्प	१२	६२
कुलत्थरसयुक्तं वा	१८	१२९
कुलत्थाकाकमाच्यादि	१६	८०
कुलत्थान् बदरान्माषां	२८	१११
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्य	२।३	२२
कुष्ठ करञ्जबीजान्ये	७	९३
कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं	३।१	३१
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण	९	६५
कुष्ठं तमालपत्रम्	७	११७
कुष्ठं दारुहरिद्रां च	१४	१६०
कुष्ठ पाठा मुस्तं तुम्बु	७	११३
कुष्ठं प्लीहानमानाह	५	१६०
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला	१६	९४
कुष्ठज्वरगुल्मार्शो	७	१४३

	अ०	अंक
कुष्ठविशेषैर्दोषा	७	३३
कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्य	२७	४३
कुष्ठसौवर्चलाजाजी	२६	२१६
कुष्ठानि रक्तपित्त	७	१४८
कुष्ठानि शोफं ग्रहणी	७	६४
कुष्ठान्यजीर्णकं शोथ	१६	७७
कुष्ठान्यभिहितं चाङ्गम्	२५	६०
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पम्	४	२७
कुष्ठार्कतुत्थकट्फल	७	१०२
कुष्ठेषु वातलिङ्गम्	७	३५
कुष्ठेष्वनिलकफ	७	८०
कुसुम्भपुष्पः गोदन्तः	२३	२०३
कूपतडागादिजलम्	२३	१२१
कूर्चिकानां किलाटानाम्	२१	१८
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्व	२८	२९
कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात्	२६	८
कृतानुवासनस्यास्य	१९	६३
कृतैककृत्याः सिद्धार्था	२।३	२१
कृतो राजिमता दंशः	२३	१२९
कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टो	२५	२०
कृत्वा कल्कं करञ्जं च	२६	१५४
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे	३	२२५
कृत्वा चूर्णमतो मात्रा	११	८७
कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिम्	१३	१२१
कृत्वा दोषवशाद्वेगम्	३	३२८
कृत्वा वर्तिं पिबेद् धूमम्	१८	७२
कृत्वा वेगं गतबलाः	३	७०
कृत्वा समांशं तच्चूर्णम्	१५	१६९
कृत्स्नं सन्दूषयेद्रक्तम्	२९	११
कृशदुर्बलवृद्धानाम्	११	७६
कृशरोत्कारिकामाष	८	७१
कृशस्य रोगैरबलस्य	१२	१५
कृष्णगन्धात्वगाढक्योः	२८	१३०
कृष्णमृन्मधुकं शङ्खम्	१९	८२
कृष्णसर्पवराहोष्ट्र	१४	४८
कृष्णा पर्पटको निम्बो	१६	४८
कृष्णारुणकपालाभम्	७	१४
कृष्णा वक्रे प्रलेपः स्याद्	२६	२७९
कृष्णा सपाठा गज	१२	४१
केचित् कलेव्ये त्वसाध्ये	३०	१८८
केवलं तु पयस्तस्याः	२।३	५
केवलं समनस्कं च	३	३०
केवलं सिद्धमेभिर्वा	९	५८
कैलासे किन्नराकीर्णे	२१	३

	अ०	अंक
कोठानां श्यावरक्तानाम्	३	१०८
कोष्णेन वातप्रवले	१४	२२४
कोष्णैः काममुरःकण्ठम्	१७	८३
कोपयेन्मूत्रसादींश्च	१६	२८
को मदं तादृशं विद्वान्	२४	४७
कोलदाडिमघर्माम्बु	५	७७
कोलदाडिमवृक्षाम्ल	२४	१५१
कोलदाडिमवृक्षाम्ल	२८	१३२
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तम्	१३	८४
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद्	१८	३७
कोललाक्षारसे तद्वत्	११	३४
कोविदारस्य पुष्पाणि	४	३९
क्रममुष्णमनुष्णं वा	२८	२१९
क्रमवृद्धया दशाहानि	२।३	३६
क्रमादीर्यं बलं वर्णो	११	१०
क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत	१६	१२८
क्रव्यादमांसनिर्यूहम्	११	३०
क्रिम्यस्थिसूक्ष्मक्षण	१२	९६
क्रिया कफप्रसेके या	८	१२२
क्रियाक्रमतः सिद्धम्	५	२०
क्रियाक्रमविधौ युक्तः	३	६१
क्रियामतः परं सिद्धाम्	२८	७५
क्रियाविशेष एषोऽस्य	१६	१२४
क्रिया साधारणी सर्वा	२८	१८३
क्रिया हिता साऽश्मरि	२६	५९
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतः	१३	३०
क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा	३०	२४६
क्रोधप्रवातव्यायामान्	३	१३९
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः	२४	८७
क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग	८	११
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु	१५	२४२
क्लीवस्त्रस्तसत्यधोदृष्टिः	२३	१३१
क्लेदश्च मेदश्च कफ	६	५१
क्लेदे प्रपतति चाङ्गे	७	१३४
क्लैव्यं सम्पद्यते तस्य	३०	१५५
क्लैव्यान्युक्तानि चत्वारि	३०	३३६
क्वाथः कृतः पौष्करमा	२६	८५
क्वाथः स एवाष्टपलम्	६	४५
क्षणनादुरसः कासात्	८	१८
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्या	२१	९९
क्षतं क्षयं रक्तपित्तम्	३०	६८
क्षतकासाभिभूतानाम्	१८	१३८
क्षतकासे च ये धूमाः	१८	१८६
क्षतक्षयसमुत्थानम्	११	९६

	अ०	अंक
क्षतजं क्षताच्च नाया	२३	३४
क्षतबन्धप्रपतना	२१	२१
क्षतशोषमपस्मार	२९	६९
क्षतानां व्रणितानां च	३	३२०
क्षयं कासं शिरःशूलम्	३	२२१
क्षयं वृद्धिं समत्वं च	२८	२४७
क्षयकासेन तु तुल्या	२२	५०
क्षयदौर्बल्यमदात्य	२३	७४
क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा	३	१३
क्षयाद्भयादविश्रम्भा	२१४	४४
क्षयानिलभयक्रोध	३	१४०
क्षरति विषतेजसा	२३	३२
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्क	११	२८
क्षामक्षीणकृशाङ्गाना	११	५४
क्षारं चाप्यश्वगन्धाया	१७	११७
क्षारद्वयं स्याल्लवणानि	१२	४३
क्षारप्रयोगे भिषजाम्	५	६४
क्षारस्तैलं गवां मूत्रम्	२९	१४७
क्षारागदः कफस्थान	२३	६३
क्षारागदस्तृतीये शोफ	२३	४८
क्षाराम्ललवणात्युष्ण	१६	७
क्षारारिष्टप्रयोगाश्च	२७	२८
क्षारेण गवां मूत्रस्तु	७	८६
क्षारोष्णतीक्ष्णौषध	२६	५४
क्षारो हि याति माधुर्यम्	२४	११४
क्षिप्यमाणः खवैगुण्या	१५	३७
क्षिप्रं मुञ्चति वध्नाति	२८	३४
क्षीणमांसबलप्राण	१७	२२
क्षीणस्य या छर्दिरति	२०	१९
क्षीणे मार्गीकृते देहे	३०	३२८
क्षीणेषु दोषेष्वव	६	६
क्षीरं घटे चित्रककल्क	१२	५८
क्षीरतैलघृतानां च	११	६८
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ	३०	३३७
क्षीरपिष्टमुमालेप	२९	१४०
क्षीरप्रस्थं च तत् सर्पि	५	१४८
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थ	२।२	१५
क्षीरमांसरसोपेतै	८	१६९
क्षीरवतां मधुराणाम्	२२	४६
क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठम्	२३	२०१
क्षीरशेषेण तेनाद्याद्	२।२	२०
क्षीरसपिर्वृष्ययोगा	३०	२०३
क्षीरानुपानां गोमूत्रे	१३	१५१
क्षीराम्बुना ततः सिक्तम्	२८	११६

	अ०	अंक
क्षीरेक्षुरसगुडोदक	२२	३४
क्षीरेण वस्तिर्मधुरौषधैः	२६	७५
क्षीरेणैरण्डतैलं वा	२९	८३
क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे	३०	२५१
क्षुत्पिपासापरीताश्च	२४	८६
क्षुद्रप्रमाणाः पिडकाः	१२	९२
क्षुद्रवातो यदा कोष्ठा	१७	३४
क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता	३०	३०३
क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्ध	१३	१६
क्षोभात् क्षते मूत्रयतीह	२६	३९
क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि	२२	४
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रम्	१९	९९
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्थम्	२।१	५२
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यम्	२६	२००
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यम्	२६	२६२
क्षौद्रसर्षपवल्मीक	२७	५१
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षो	३	२२९
क्षौद्राष्टांशेन संयुक्तम्	१६	११२
क्षौद्रेण सयुतं पेयम्	३०	८८
क्षौमपद्मोत्पलानां च	२४	१५३
ख		
खण्डीकृतानि निष्क्वाथ्य	१५	१७५
खण्डेन च व्रणालेप	२३	१७०
खदिरं धातकीं सर्ज	२५	९१
खदिरकषायद्रोणम्	७	७६
खदिरघृतं निम्बघृतम्	७	१३५
खदिरसुरदारुसारम्	७	७३
खदिरस्य तुलाः पञ्च	७	१५२
खदिरस्य प्रियङ्गूणाम्	४	७०
खदिरावघातककुभ	७	१२९
खरत्वं प्रकरोत्यस्य	१५	३१
खराश्वगोहंस पृषद्	६	२४
खराश्वोष्ट्रवराहाणाम्	१७	११६
खरेष्वस्थिषु मज्जा च	१५	२५
खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा	८	१००
खर्जूरं पिप्पली वांशी	१८	८९
खर्जूरफलमेदभिः	११	६३
खर्जूराणां मधूकानाम्	२१४	१४
खर्जूराक्षोटवाताम	२६	१७१
खर्जूराक्षोटवाताम	२९	६६
खर्जूरीमस्तकं माषान्	२।२	१८
खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च	२९	४०
खुड्डाकपद्मकमिदं	२९	११५

	अ०	अंक
ग		
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्ट्वा	३	३१३
गजखङ्गितुरङ्गाणाम्	८	१५४
गणैर्वानहरैस्नस्या	२८	१८२
गण्डीरं पिप्पलीमूलम्	१४	११४
गण्डीरभल्लातक	१२	२९
गतिरूर्ध्वमधश्चैव	४	१५
गतिर्द्व्येकान्तराऽन्येषु	३	६५
गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा	२१४	३८
गन्धं रसं स्पर्शमथापि	२०	४४
गन्धा विचित्रा मनसो	२०	४२
गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भम्	२९	३९
गम्भीरे मांसले देशे	२५	८२
गम्भीरे रक्तमाक्रान्तम्	२९	१६०
गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः	२९	२१
गव्यं सर्पिर्वराहस्य	२।२	११
गरसंयोगजं चान्य	२३	१४
गरीयस्त्वेन पश्यन्ति	२८	२३४
गर्भदं पित्तलानां च	३०	७०
गर्भशुक्ररजोनाशः	२८	२२
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च	११	७७
गर्भाशयश्च योन्याश्च	३०	३६
गर्भिणीं स्थविरं बालम्	४	६३
गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासा	३०	२१
गलगण्डास्तु वातोत्था	२१	१४०
गलग्रहं पूतिनस्यम्	४	२६
गलस्य पार्श्वे गलगण्ड	१२	७०
गलस्य सन्धौ चिबुके	१२	७६
गात्रं रक्तं चितं कृष्णम्	२३	१४१
गात्रविक्षेपसङ्गश्च	२८	२२८
गात्रशूलज्वरश्वास	२६	१४
गुञ्जाफलसवर्णं च	३०	२२६
गुटिकां धारयेदास्ये	८	१३९
गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः	५	५५
गुटिका मातुलुङ्गस्य	१५	९७
गुडं मनागरं पाठाम्	१४	९८
गुडनागरमण्डूर	१६	७२
गुडशीताम्बुना पीतम्	१५	१३३
गुडस्यैकां तुलां वैद्य	१४	१५०
गुडान् गोधूमचूर्णेन	१८	१०५
गुडेन मधुयुक्तेन	२४	१८४
गुडे पुराणे द्विगुणे	२६	१९३
गुडूचीं त्रायमाणां च	३	२४७
गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां	१८	१६१

	अ०	अंक
गुडूचीं मधुकं ह्रस्वम्	२९	१०३
गुडूचीत्रिफलादन्ती	३०	५८
गुडूचीभद्रमुस्तानाम्	२४	१४५
गुडूचीरसदुग्धाभ्याम्	२९	१२१
गुणकर्माधिकं पाना	९	६०
गुणाश्च दश पूर्वोक्ता	२४	११६
गुणैरन्यतमैर्हीन	२५	३७
गुणैरेतैः समुदितैः	२।४	३५
गुदं सपिच्छं स्तिमितम्	१४	१७४
गुदनिःसरणं शूलम्	१४	१३३
गुदनिःसरणे शूले	१९	४२
गुदवङ्क्षणकट्यूरु	१९	९२
गुदश्वयथुशूलार्तम्	१४	६२
गुदो बहुभिरुत्थानै	१९	८७
गुरुः कठिनसंस्थानो	५	४०
गुरुः शिरः पाण्डुररोच	१२	१४
गुरुणा तमवध्यातम्	८	७
गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः	३	७६
गुरुत्वं लाघवाच्छैत्य	२४	३२
गुरुमधुरशीताभिष्यन्दि	१४	९
गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभि	९	२०
गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्ण	२४	३१
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति	३	१९३
गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं	२८	३२
गुर्वतिस्निग्धशीतादि	१५	६७
गुर्वन्नपयःस्नेहैः	२२	२०
गुर्वभिष्यन्दिमधुर	१८	१७
गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानाम्	३	३४२
गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च	३०	२१७
गुलिकाः कारयेद्वैद्यो	२१४	३२
गुल्मं प्लीहानमानाहम्	५	८९
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि	५	१५९
गुल्मः क्षयो मेहनवस्ति	६	१७
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्ग	५	१०९
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः	१३	१४६
गुल्मघ्ना विविधा दिष्टा	५	१०२
गुल्मस्यान्ते दाहः	५	१८७
गुल्मानां गरदोषाणा	१३	१४५
गुल्मानाहामवातांश्च	१६	६३
गुल्मार्शःप्रदरादींश्च	३०	३९
गुल्मोदरब्रध्नार्शः	२६	२७
गुल्मोदरार्शःश्वयथु	१२	४८
गुल्मो यथानिलादीनाम्	५	३२
गुहानतिगुहां श्वेता	२३	२१३

	अ०	अंक
गूढपूयल्मीकेषु	२५	१०२
गूढमम्पादितं वृत्तम्	२३	१३५
गृञ्जनकसुरासिद्धाम्	१४	२०१
गृध्रसिपक्षवधादिषु	२६	२८
गृहधूमो वचा कुष्ठम्	२९	१४९
गृहीत्वा तं रसं पूतम्	२।२	४
गृहीत्वा सज्वरश्वासम्	५	१७१
गैरिकं सैन्धवं मुस्तम्	२६	२३५
गोक्षीरार्धोदकं सर्पिः	११	७०
गोखराश्वशकृत्पिण्डे	१४	४१
गोधालोपाकमार्जार	१४	१२६
गोधूमचूर्णमन्थं वा	१५	२२६
गोधूमचूर्णषष्ठानि	२।१	३९
गोधूमशालीन् सयवान्	२०	३५
गोपित्तयुता रजनी	२३	५०
गोपित्तयुतैर्गुटिकाः	२३	५२
गोमहिष्यश्वनागाजैः	११	८३
गोमूत्रगव्ययः सर्वे	२।३	६०
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टम्	१६	६७
गोमूत्राध्युषितां दद्यात्	१४	६७
गोमूत्रारिष्टपानैश्च	१३	७३
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा	१६	७५
गोमूत्रेण समांशानि	१५	१८०
गोमूत्रे द्विगुणे दार्व्याः	१६	५४
गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहै	२१	१२३
गोशकृद्रसदध्यम्ल	१०	१७
गोशकृद्रसदध्यम्ल	१०	२२
गौरवायाससङ्कोच	२७	१३
गौरवारोचकेष्वादौ	२६	१४९
ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतो	१२	८७
ग्रहणीं दीपयत्येव	१५	१४९
ग्रहणीदोषपाण्डुत्वै	१४	२२
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नम्	१४	१४७
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शः	१५	१५५
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोग	१४	१४२
ग्रहणीमाश्रितं दोषम्	१५	७३
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः	१५	१९८
ग्रहण्यर्शोनुदश्चैव	१६	१०५
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नम्	१४	११७
ग्रहण्यर्शोविकारेषु	५	८३
ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायाम्	१५	१४१
ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि	२।४	४६
ग्राम्यवैलाम्बुजानूपै	२५	७३
ग्राम्यानूपौदकैः शालि	१८	७६

	अ०	अंक
ग्राम्याब्जानूपं पिशित	१२	२०
ग्राम्यौदकानि मेद्यानि	३०	२०६
ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्च	२३	२२२
ग्लानिर्हि न हिता तस्य	२५	७१

घ

	अ०	अंक
घनश्लेष्मणि लेहास्तु	१८	९७
घर्मश्रमभयार्तानाम्	७	६
घृणित्वमश्नतश्चापि	८	३४
घृतं क्षीरं यवाः शालि	२३	१४८
घृतं खर्जूरमृद्वीका	८	९६
घृतं च जीवनीयं	३०	१४८
घृतं चतुर्गुणक्षीरम्	२९	५७
घृतं पयश्च तत् सिद्धम्	३	२२६
घृतं माषान् सबस्ताण्डा	२।१	४२
घृतं यवागूमण्डेन	१९	७९
घृतं शतावरीगर्भम्	२।३	१८
घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन	२६	७४
घृतं सहचरान्मूलम्	२९	१३९
घृतं सैन्धवहिङ्गुभ्याम्	१०	२६
घृतक्षीरासवारिष्टान्	१५	१९५
घृतक्षीराशनो निर्भी	२।३	२०
घृततैलयुतैः साम्लैः	२८	१०९
घृततैलरसक्षीर	२।४	१०
घृततैलावसेकांश्च	५	१८१
घृतपात्रं शतगुणे	२।४	३०
घृतभृष्टान् रसे च्छागे	२।४	१८
घृतमण्डेन शीतेन	२१	९४
घृतमांसरसैर्भृष्टम्	२९	५३
घृतमांसवितृप्तं वा	९	७८
घृतयुक्ते नतकुष्ठे	२३	९९
घृतानामौषधगणा	५	७६
घोरान् प्राणोपरोधाय	१७	१८
घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा	८	४८
घ्राणे तथोच्छ्वासगतिम्	२६	११६
घ्रेयं नस्योपचाराश्च	२६	१४७
घ्रेयाश्च रोहिषाजाजी	२६	१३८

च

	अ०	अंक
चटकांस्तित्तिरिरसे	२।१	४४
चटकानां सहंसानाम्	२।२	१०
चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं	९	२०
चतुर्गुणे जले सम्यग्	९	३८
चतुर्गुणेन पयसा	२९	७५
चतुर्गुणेनाम्भसा वा	३	२३८
चतुर्णां प्रस्थमम्लानाम्	१५	१११
चतुर्थको दर्शयति	३	७२
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा	१५	१५३
चतुर्भागावशेषेण	१५	८४
चतुर्विधं व्यासतस्तु	३०	२१०
चतुष्पदानां त्वग्लोम	२५	११८
चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिर्वा	२३	२१९
चतुष्पलं तुगाक्षीर्या	१८	५६
चतुष्पलं सुधाकाण्डा	१५	१८३
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते	२८	२०५
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्य	२८	१४३
चतुष्प्रस्थे शृतं प्रस्थम्	१४	२३८
चत्वार एते श्लोकार्धैः	८	८०
चत्वारि नागपुष्पस्य	१४	१६१
चन्दनं च मृणालं च	१९	५३
चन्दनं धातकी कुष्ठम्	२७	३०
चन्दनं पद्मकिञ्जल्कम्	२५	८८
चन्दनं पद्मकोशीरम्	१५	१२५
चन्दनं पद्मकोशीरम्	२६	२०८
चन्दनकिराततिक्तक	१४	१८६
चन्दनागुरुकाश्मर्य	३	२५३
चन्दनाद्येन तैलेन	८	८५
चन्दनाद्रसनकराः	२९	१३०
चन्दनोदकशीतेषु	३	२६१
चन्दनोशीरयष्ट्याह्व	२६	१७७
चन्दनोशीरलोध्राणाम्	४	४५
चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते	२९	१२९
चन्द्रांशुकल्पं पयसा	२।२	२७
चयादयश्च दोषाणाम्	३०	३०४
चर्मकषायाः कल्कम्	२३	६६
चर्माख्यमेककुष्ठं च	७	२९
चलस्तनुत्वक्परुषो	१२	१२
चव्यं चित्रकमूलानि	२७	३२
चव्यं त्रिकटुकं पाठाम्	१४	१०७
चव्यचित्रकसिद्धं वा	१४	१०५
चव्यभार्ग्यभयाव्योष	२६	२८७
चाङ्गेरीकोलदध्यम्ल	१९	४३
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः	१४	१११
चाङ्गेर्याश्चुक्रिकायाश्च	८	१३१
चापवन्नाम्यमानस्य	२८	४७
चारुपचितगात्रश्च	३	२७०
चिकित्सया विपश्च्यैव	३	११८
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा	३०	३३५
चिकित्सितं व्याधिहरं	१	३
चिकित्सितमिदं सिद्धिम्	१४	१७०
चिकित्सितश्च शीतांशु	१।४	४३
चिकित्सितस्तु संश्रुत्य	१।४	५५
चिकित्सितार्थ एतावान्	१।१	१४
चितः शीते कफश्चैवम्	३	४३
चित्तेन्द्रियशरीराणा	३	१२०
चित्रकं च पिबेच्चूर्णम्	१३	१३८
चित्रकं त्रिफलाजाजी	१८	१७३
चित्रकं पिप्पलीमूलम्	१५	९६
चित्रकं पिप्पलीमूलम्	१८	५३
चित्रकं बिल्वमभयाम्	१४	१०८
चित्रकं मधुकं रास्नाम्	५	१४५
चित्रकं हपुषं हिङ्गु	१४	७१
चित्रकक्षारबिल्वानाम्	१४	४०
चित्रकमेलां बिम्बीम्	७	८५
चित्रकशोभाञ्जनका	७	१२४
चिन्ताकामभयक्रोध	१०	५
चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टा	२६	१४३
चिन्ताशोकादविस्रम्भा	३०	१३७
चिरकालपरिक्लिष्टम्	३	३३५
चिराच्च पाकं व्रजति	३०	१७४
चिरात् पाकश्च दोषाणाम्	३	१०९
चिरात् पीडितमन्नेन	२८	७१
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कम्	१५	६४
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः	७	६६
चूर्णं पुष्यानुगं नाम	३०	९६
चूर्णं पौनर्नवं रक्त	११	२६
चूर्णं वा सर्वगन्धानाम्	३०	१२५
चूर्णं ससैन्धवानन्नम्	२३	२३२
चूर्णमेतत् प्रयोक्तव्य	५	८१
चूर्णानि मातुलुङ्गस्य	५	७८
चूर्णानि लवणक्षार	१५	१९७
चूर्णानि लिह्यान्मधुना	२०	२१
चूर्णितं प्राशयेद्वा तत्	८	१०४
चूर्णितं मधुनः कुर्यात्	१६	९०
चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गु	२६	६५
चूर्णीकृतैरर्धपलाम्	१२	३६
चूर्णीकृत्य समांशानि	१८	१७९

छ

	अ०	अंक
छगली पयसा पीता	१४	१९१
छत्री झर्झरपाणिश्च	२३	२५०
छर्दनं च विदग्धस्य	२८	२२२
छर्दनः कुन्थनस्तेन	३०	२४७
छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाह	३	९३
छर्द्यतीसारशूलार्तः	३०	१६२
छर्द्यतीसारहृल्लासा	२४	१०४
छर्द्यरोचकहृल्लास	२४	९७
छर्द्यरोचकहृल्लास	३०	२१९
छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु	१५	१०२
छर्द्युत्थितानां च चिकि	२०	४५
छागं गव्यं माहिषं वा	२३	६७
छागं पयः स्यात् परमम्	४	८३
छागमांसरसं रूक्ष	२४	१७३
छागलं वा रसं दद्याद्	१४	९४
छागलिपयः प्रयुक्तम्	१४	१९४
छागान्तराधि तरुणम्	१४	२०९
छित्त्वा छित्त्वाऽऽशयात्	५	५९
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नाम्	१५	२७
छिन्नमूला विदह्यन्ते	५	३७

ज

	अ०	अंक
जग्ध्वा वा बालबिल्वानि	१९	११४
जघन्यमध्यप्रवरम्	३०	१७७
जङ्गमं स्यादधोभाग	२३	१७
जङ्गमस्थावरायां तद्	२३	६
जङ्घासु पिण्डीप्रपदो	१२	९८
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थम्	२७	१७
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वपृष्ठ	२८	२६
जटिलां पूतनां केशीं	९	४५
जठरं ग्रहणीदोषो	२३	२३०
जतुसैव्यपत्रगुग्गुलु	२३	१००
जनयेद्यस्य तं तैलम्	१३	१७०
जन्मनैवोदरं सर्वम्	१३	५४
जपशौचपरं धीरम्	२।४	३१
जम्बूत्वङ्नागरं धान्यम्	१९	११०
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि	१५	१३६
जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वम्	८	१२७
जम्ब्वाम्रमध्यकासीस	३०	७९
जम्ब्वाम्रातकबदरी	२२	३५
जयेत् कफकृतं गुल्मम्	५	५६
जरणान्तेऽभयामेकाम्	२।३	४१
जरया चिन्तया शुक्रम्	२।४	४३
जरापरीतोऽप्यबलो	२।२	१७
जराव्याधिप्रशमनम्	२।३	२७
जराव्याधिप्रशमनम्	२।३	५३
जरासम्भवजं क्लैब्यं	३०	२०२
जलं खर्जूरमृद्वीका	४	३३
जलं मुस्तैः शृतं वाऽपि	२४	१६७
जलजैर्यवचूर्णैर्वा	२९	१३२
जलद्रोणे पचेत् पाद	२८	१३१
जलद्रोणे विपक्तव्या	५	१५४
जलवाप्यलोहकेशर	७	१३०
जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो	१०	६६
जलाढकशते पक्त्वा	२८	१४९
जलाढके पादशेषे	५	१२४
जलाशयानां शैलानाम्	८	३७
जले चतुर्गुणे पक्त्वा	१८	१६२
जले दशगुणे साध्यम्	५	११८
जलेन शोभाञ्जनमूल	२६	६७
जलेनामलकीबीजम्	३०	११७
जलेनोल्लवाथ्य शूलार्त	१४	४६
जले पक्त्वा घृतप्रस्थम्	२६	१६४
जले पक्त्वा रसः पूतः	१७	९५
जले शृतैः पचेत्तैलं	२९	१११
जलैश्च वासार्ककरञ्ज	१२	६७
जलोपमं चेक्षुरसो	६	९
जलौकः शकृता तद्वद्	१०	४०
जलौकोभिस्तथा शस्त्रैः	१४	६१
जाङ्गलानां च मांसानाम्	२१	११२
जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य	१८	१५६
जातं जातं जलं स्राव्यम्	१३	९२
जातं विमथ्य तद्युक्त्या	१३	१३९
जातः प्रमेही मधु	६	५७
जाताजाताम्बुलिङ्गानि	१३	१९६
जात्यर्कनिम्बजैर्वा	७	५७
जात्यर्कपुष्परस	२३	५६
जानजुगुप्सनैवाघात	८	१५७
जानुजङ्घोरुकट्यंस	२९	१७
जायते च यथाऽत्यग्नि	१५	२४९
जायते तेन सोऽत्यर्थम्	३०	१८०
जायन्ते मोहनिद्रान्ता	२४	४०
जायन्ते व्याधयश्चातः	८	४४
जिङ्गिनीवृषमूलानाम्	३०	८३
जिह्वानिर्गममरुचिम्	२२	१०
जीर्णं घृतं च सर्वाक्षि	२६	२५९
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलम्	२८	१८८
जीर्णज्वरहरं कुर्यात्	३	२८१
जीर्णज्वराणां सर्वेषाम्	३	२३९
जीर्णज्वरे रुचिकरम्	३	१७४
जीर्णान्ते वातजा रोगा	३०	३१२
जीर्णाममद्यदोषाय	२४	११०
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत	१।३	३७
जीर्णे जीर्यति चाध्मानम्	१५	६३
जीर्णे तक्रं प्रदद्याद्वा	१४	८०
जीर्णे तैले च दुग्धेन	२८	१४८
जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनम्	२६	१०२
जीर्णे रसैर्वा मधुरैः	१५	१९४
जीर्णे समधुराम्लेन	२४	१४७
जीर्णौषधानां शस्यन्ते	१९	५६
जीवकर्षभकौ मेदाम्	२।१	४४
जीवकर्षभकौ मेदाम्	२।२	२१
जीवकर्षभकौ मेदा	२९	७२
जीवकर्षभकौ वीराम्	२।१	३४
जीवकर्षभकौ वीराम्	११	३५
जीवकाद्यैर्मधुरकैः	१८	१०३
जीवनीयैश्च संसिद्धम्	२९	१००
जीवनीयोपसिद्धं वा	११	८२
जीवनीयोपसिद्धं वा	१७	१४६
जीवन्तीं मधुकं द्राक्षाम्	८	१११
जीवन्तीं मधुकं पाठाम्	१८	१७६
जीवन्तीं मधुकं मेदां	३	२५०
जीवन्तीपिप्पलीगर्भम्	८	१७१
जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी	७	१२०
जीवन्तीत्रिफलामेदा	२६	१६७
जीवन्ती शर्करा क्षीरम्	२५	७६
जीवन्त्यजाजीशटि	१२	६०
जीवन्त्याः शतपुष्पाया	८	७५
जृम्भाङ्गमर्दस्तृष्णा	१५	४६
जृम्भा वदनसङ्गश्चा	२८	४५
ज्वरं दाहं भ्रमं कास	८	११०
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः	८	५०
ज्वरः पिपासा वदनाङ्ग	५	१३
ज्वरः प्राणान्तकृच्चश्च	३	५१
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यै	३	१२८
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यै	३	१२७
ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गम्	३	३१
ज्वरमूर्च्छापरीतस्य	१७	६३
ज्वरस्तृष्णाभ्रमो मूर्च्छा	३०	१७१
ज्वराः कषायैर्वमनै	३	२१६
ज्वराणां शमनीयो यः	८	११७
ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा	३	२३३
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रम्	३	३१५
ज्वरानुपचरेद्धीमान्	३	१५४
ज्वरानुपचरेद्धीमान्	३	२८५

अ० अंक
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी ३ २८६
ज्वरान्विता वङ्क्षण १२ ८९
ज्वरापहैः फलरसै ३ १५६
ज्वरावसृष्टो रक्ष्यश्च ३ ८
ज्वरितं षडहेऽतीते ३ १६१
ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्यो ३ २२७
ज्वरे पेयाः कषायाश्च ३० ३०२
ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य १८ २८
ज्वरो विकारो रोगश्च ३ ११
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ३ २४
ज्ञातीन् ससुहृदो दारान् १३ १७६
ज्ञात्वा गतरसान्येता १।१ ६६
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि १।३ १७
ज्ञात्वा तु परिपक्वामम् १५ ७७
ज्ञात्वा दोषावनुबलौ ४ ५२
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यास ३० ३३१
ज्ञानप्रशमतपोभिः २२ ३

त

तं क्वाथं पाययेद्धात्रीम् ३० २६८
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते २।१ ९
तं तैलशीतज्वरनाशं २६ ११
तं दंशं वा चूषेन्मुखेन २३ ३९
तं पिबन् ग्रहणीदोषा १५ १५१
तं पीत्वा सुस्निग्धो ७ १६३
तं भिषक् शमनैः सर्पि १३ ६७
तं मन्दलवणं कृत्वा १७ १०७
तं स्नेहं दशमूलस्य २८ १२५
त एव सर्वे बालानाम् ३० २८३
तक्रं दोपाग्निबलवित् १४ ८५
तक्रं पिबेद्वा गुरुभिन्न १२ २७
तक्रं वातकफार्तानां १३ १०७
तक्रमस्तुसुरामण्ड १५ ९०
तक्रारनालमथानि १५ ११७
तक्रारिष्टं पिबेच्चापि ३० २७८
तक्रेण युक्तं शितिवार २६ ५६
तक्रेणावन्तिसोमेन १९ २४
तक्रे तदासुतं जातम् १५ १२१
तगरं कटुकं क्षौद्रम् २३ १९८
तगरं त्वक् शताह्वैला २९ १५०
तच्चूर्णं सयवक्षारम् १५ १०७
तच्छ्रुत्वा विबुधपरिवृ १।४ ५
तच्छ्वासकासहृत्पार्श्व १८ ३८
तज्जं वा घृतमिष्टम् २२ ३३
तण्डुलीयकजीवन्ती २३ २२५

अ० अंक
ततः कुर्याद्यथादोषम् ३० ८७
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे १७ ७५
ततः स्नेहक्षयाद्वायु ८ २५
तत एरण्डतैलेन १५ ७९
ततस्तस्मात् समुद्धृत्य २६ २५७
ततस्तु रोगाः क्षवथुश्च २६ १०८
ततस्तेन कषायेण २८ १७४
ततो घृतपलं विद्याद् ५ १०८
ततो दौर्बल्यमातङ्का १५ २२०
ततो वक्ष्यामि ते सम्य ३० १५४
ततो यज्ञः स विध्वस्तो २ २१
ततो लेहपलं लीढ्वा ५ १५८
ततो वक्रं व्रजत्यास्ये २८ ४०
ततो वर्णबलस्नेहा १६ ५
तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रव १३ ४८
तत्र चौक्षाचारं तपःस्वाध्या ९ २१
तत्र च्छागं पयः शस्तम् १९ ७१
तत्र द्वयोरपि निजागन्तु ९ २४
तत्र धान्वन्तरीयाणाम् ५ ४४
तत्र पाण्डवामयी स्निग्ध १६ ४०
तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्ग २९ ३६
तत्र यानि प्रमाणवन्ति १४ १७
तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमि २१ ४२
तत्र वातेऽधिके वा स्याद् २९ २४
तत्र शुष्कार्शसां पूर्वम् १४ ३९
तत्र सहजान्यर्शांसि कानि १४ ७
तत्र सर्वे यथावस्थम् २३ १७९
तत्रादौ सर्पिषः पानम् ३ २०१
तत्रामलकचूर्णानाम् १।४ १९
तत्रायश्चूर्णानामष्ट ७ ७४
तत्राहुरेके शस्त्रेण १४ ३३
तत सर्वं सर्वदा कार्य २७ ६१
तत सर्वं स्थापयेत् पक्षम् १४ १६५
तत सर्वमेकतः सूक्ष्मम् १५ ११०
तत साध्यं लेहवच्छीते ५ १५७
तत स्त्रीपुंससंयोगे २।४ ४७
तथा खर्जूरकाश्मर्य २८ १२१
तथा गुल्मोदरश्वास १३ ८६
तथा चोपक्रमाः सिद्धा २५ ५९
तथा जातोदकं सर्वं १३ १८९
तथाऽनिरोपमाण्याख्य १७ ३९
तथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदै २८ ७९
तथाऽऽमलककाश्मर्य २९ ९८
तथा विशुष्केऽस्य कफे २७ ६०

अ० अंक
तथा शावरकं लोध्रम् २६ २३३
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे २८ ८३
तथैव वायुः कुपितः ३० २४०
तदग्निवेशस्य वचः २१ १०
तदग्निवेशस्य वचो ३ १०
तदग्निवेशस्य वचो २० ५
तदाऽऽतुरमुपद्रवाः स्पृश १३ ४९
तदावेगप्रतीघातात् ८ २१
तदा ह्यवश्यममृतम् १।३ १२
तदुपतापादातुरः सर्व २१ ३६
तद्देनान्न भवेद्वाच्यम् १।४ ३८
तदेव तैलं पयसा ५ ९३
तद्दोषागन्तुसम्भूतान ९ ५१
तद्भस्म श्च्योतयेत्तेन २६ २२५
तद्यथा—सौम्यदृष्टि गम्भीर ९ २०
तद्रक्तपित्ते निखिलेन ४ ९२
तद्वत् केशरयष्ट्याह्व १६ १२१
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या १५ १५४
तद्वद् गव्याविकच्छागः २९ १२६
तद्वलीपलितं हन्ति १८ ६१
तद्वाननुत्स्वभावात् २६ ३०
तद्वातपित्तकुष्ठम् ७ १३९
तद्विकाराः शीतज्वरः २१ ३८
तद्विधैश्च हते गात्रे ३ ११३
तनुना मुद्गयूषेण ३ १५५
तनुनाऽलेपेन लघुना २४ १७१
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च ३ १०५
तन्द्रास्यमाधुर्यकफा २० १३
तन्वालिप्तं न कुर्वीत २१ १०६
तन्वालिप्तैव ये दोषा २१ १०७
तपसा ब्रह्मचर्येण १।३ ७
तपसा यशसा धृत्या १।२ ३
तपोविघ्नाशनाः कर्तुम् ३ १६
तप्तानि नवकपालान्यं २२ ५१
तप्तास्विव सिकतासु २२ २२
तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं २।२ २८
तमकः कफकासे तु १८ १३१
तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः २३ २३८
तमसाध्यतामसम्प्राप्तं १९ १०
तमसा वर्धतेऽत्यर्थम् १७ ६४
तमुवाचेश्वरः क्रोधम् ३ २५
तया प्रवाहिते दोषे १९ १८
तयोः कर्म तदेवेष्टं २४ २०३
तयोः क्रिया विधातव्या २९ १६२

अ० अंक
तयोः शमाच्च सद्वातो ५ ६३
तरुणं मधुरप्रायम् २४ ९५
तरुणपलाशक्षारम् २३ १०१
तरुणाः कृष्णसर्पास्तु २३ १३६
तरुरिव मूलच्छेदाद् २३ ४४
तर्जनं त्रासनं दानम् ९ ३१
तर्पणं सघृतक्षौद्रम् ४ ३४
तर्पणैर्यवशालीनाम् २१ ११०
तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च १७ १५०
तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गम् २४ १००
तस्मात्त्रिदोषशमनीम् १३ ९६
तस्मात्तं विधिवद्युक्तै १५ ४०
तस्मात्तेषां समुत्पत्ति ३० ६
तस्मात् पलं सुजातात्तु १५ १६१
तस्मात् पुरा शोधनमेव २।१ ५१
तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यम् ८ ४२
तस्मात् प्रयोगान् वक्ष्यामो २।४ ८
तस्मात् साधारणावेतौ १७ ९
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषाम् १९ ९६
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा ५ १०१
तस्मादर्शांसि दुःखानि १४ २५
तस्मादायुःप्रकर्षार्थम् १।२ २२
तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् १९ १७
तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो ४ २८
तस्माद्धान्याम्लं पिबेत् २२ ६१
तस्माद्धोज्यानि भोज्यानि १३ ९७
तस्माद्विरेकमेवादौ २१ ४९
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे २९ ११६
तस्मिन् काले पचत्यग्नि ८ ४१
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्थे २८ ३९
तस्मै जगादागदवेद १२ ४
तस्मै बृंहणमेवादौ १८ १५०
तस्य दाहो हते रक्ते ५ ६२
तस्य न स्नेहनं कार्यं २७ २०
तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा ३ १२
तस्य प्राणिसपत्नस्य ३ ५
तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीले १३ ३७
तस्य मद्यविदग्धस्य २४ १९७
तस्य मात्रां पिबेत् काले १४ १५६
तस्य रूपाणि—अनन्नका १३ ४७
तस्य रूपाणि—कुक्षिपाणि १३ २५
तस्य रूपाणि—गौरवारोच १३ ३१
तस्य रूपाणि—ज्वरस्तृष्णा २१ ३२
तस्यरूपाणि—तदधोना १३ ४४

अ० अंक
तस्य रूपाणि—तृष्णादाह १३ ४१
तस्य रूपाणि—दाहज्वर १३ २८
तस्य रूपाणि—दौर्बल्या १३ ३८
तस्य रूपाणि—भ्रमदवथु २१ ३०
तस्य रूपाणि—विज्वल १९ ५
तस्य रूपाणि—शीतकः २१ ३४
तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव १३ ३४
तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं १९ ७
तस्य रूपाणि—हारिद्र १९ ६
तस्य लिङ्गमजीर्णस्य १५ ४५
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा २८ १२४
तस्य संशमनं नित्यम् २७ २५
तस्य स्थानं करौ पादा २९ १२
तस्यां तस्यामवस्थायाम् ३ ३४४
तस्यां विनिवृत्तायाम् २२ ६२
तस्यां संशोधनैः शुद्धः १।१ २४
तस्याग्निदीपनान् योगान् ८ १२४
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः ३ १५१
तस्यान्नं पच्यते दुःखम् १५ ६८
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थै २८ १३७
तस्याशु क्षीयते शुक्रम् ३० १८६
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च ३ ३२४
तस्योपजायते पित्रा २४ ९३
तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च ४ ६
तस्योष्मणा द्रवो धातु ४ ८
ताः पाण्डुरोगान् प्लीहा १६ ९६
ताज्जन्ध्या पलिकान् क्षीरम् ११ ६०
तानिन्द्रः सहस्रदृगमर १।४ ४
तानि मारुतजे गुल्मे ५ १०३
तानि सर्वाण्यनस्थीनि १।१ ४७
तानुच्यमानान् पर्यायैः २८ १४
तानेतान् कापिलबलिः ३० २९०
तान् गुणांस्तानि कर्माणि १।१ ३६
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेत् १६ ९१
ताप्यादिजतुरूप्यायो १६ ७८
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्याम् १६ ४१
ताम्रायोरजसी रूप्यम् १७ १२६
ताम्रा समूला पिडका १२ ८८
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः २।२ ९
तालीशपत्रं मरिचम् ८ १४५
तालीसपत्रं जीवन्ती १७ १४३
तालुकण्ठपरिप्लोषः ८ ५४
तालुशोषे त्वतृष्णस्य २६ २०३
तासु पथ्योपचारः स्या ३० ३३४

अ० अंक
तिक्तघृतैर्धौतघृतै ७ १३३
तिक्तालाबुकबीजं द्वे ७ १०८
तिक्तास्यत्वं शिरसो २२ १४
तित्तिरिश्च मयूरश्च ३ २९८
तिन्तिडीकं च मण्डेन १४ ६४
तिलकल्कः सलवणो २५ ८५
तिलमाषकुलत्थानाम् २१ १९
तिलाः प्रियालो मधुकम् २९ १३३
तिलैरण्डातसीबीज ५ १४१
तिलोमामाषगोधूम १७ ८४
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे १।३ ३३
तीक्ष्णः सक्षारगोमूत्रे १३ १७५
तीक्ष्णाधोभागयुक्तोऽस्य १३ ६५
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि १।३ १६
तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लम् २४ ९२
तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान् २२ २१
तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण २४ ११२
तीव्रा रुजो वङ्क्षणवस्ति २६ ३४
तीव्रार्ति मूत्रेण सह २६ ४४
तुगाक्षीर्याः समाषाणां २।२ ७
तुगालतावेतसतण्डुलीयम् ४ ७६
तुम्बुरूणि विडङ्गानि १४ ५०
तुलां खदिरसारस्य २६ २०६
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेत १४ १४६
तुलार्धं चाजमांसस्य १८ ४४
तुल्या अयोरजः पथ्या १६ ९८
तुल्याम्बुच्छागगोमूत्र २३ २४७
तृट्श्वासदाहमूर्च्छाया १५ २२१
तृड्दाहमूर्च्छाभ्रम २२ ५७
तृणपञ्चमूलभुजा २२ ३०
तृणभस्मलतापर्णं २४ १०५
तृणमोहदन्तहर्ष २३ १८
तृतीयं तु मदं प्राप्य २४ ४८
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुम् २।४ ४५
तृप्तिं चटकमांसानाम् २।१ ४६
तृष्णाज्वरपरीदाह ५ ३६
तृष्णाज्वरस्फोटक २६ १२०
तृष्णादाहज्वरस्वेद २४ ९४
तृष्णामोहज्वरस्वेद २५ १३
तृष्णा याऽऽमप्रभवा सा २२ १५
तृष्णा येनोपशाम्येत २४ १४९
तृष्णारुचिप्रशमना ३ २००
तृष्यते चातिबलवद्वा २४ १४६
तृष्यते तिक्तकैः सिद्धम् ४ ५१

	अ०	अंक
तृष्यते सलिलं चास्मै	२४	१६५
ते च कषायेऽष्टपले	७	१३८
ते च सर्वव्रणान् हन्युः	१६	९३
ते चूर्णयोगा वीसर्प	२१	९६
तेजोऽनिलाद्यैः सह	२६	१३२
तेजो रसानां सर्वेषाम्	१५	२८
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रम्	२६	१९५
तेन क्षामस्वरो बालो	३०	२४१
तेन पादावशेषेण	५	१०७
तेन षड् विनिवर्तन्ते	८	६८
तेन सिद्धं घृतं शीतम्	५	१२७
तेन सिद्धं समं तैलम्	२८	१३५
तेनालिप्तं शिरः शुद्ध	२६	२८१
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ता	७	११८
तेनैव पयसा पिष्ट्वा	२५	७५
तेषां त्रिकाणामष्टानाम्	२४	६९
तेषां प्रशमने यत्न	१४	३२
तेषां विघाते तु भिषग्	२६	१६
तेषां सिराकायशिरो	१२	८०
तेषां हेतुं भिषक्श्रेष्ठ	३०	१३०
तेषामभिव्यक्तिरभि	२६	१३१
तेषामयं विशेषः शुष्क	१४	११
तेषामायतनं सङ्ख्याम्	१३	७
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वा	१।३	६३
तैः कल्कैर्विंशतिपलम्	१६	४५
तैः पचेत् कुडवं तैला	२६	२६८
तैः स्यात् पाण्डुः कृशो	२३	२३४
तैरल्पसत्त्वस्य मलाः	९	५
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा	१७	७२
तैरावृतानां हृत्स्रोतो	१०	१४
तैरुपहतो जन्मप्रभृति	१४	८
तैर्मेदकः सुजातः	७	९०
तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टम्	४	७
तैलं क्वाथेन तस्यैव	३०	७८
तैलं चानेन कल्केन	२६	२१२
तैलं पयः शर्करां च	२९	७९
तैलं प्रसन्ना गोमूत्र	५	९६
तैलं रसेन तेनैव	१३	१५४
तैलं वराहर्क्षवसा	२६	४७
तैलं सङ्कुचितेऽभ्यङ्गो	२८	९८
तैलं ससौवीरकमस्तु	२६	८१
तैलं सिद्धं बस्तमूत्रे	२६	२२४
तैलद्रोणं पचेत्तेन	२९	१०६
तैलप्रस्थं घृतप्रस्थम्	१०	२८

	अ०	अंक
तैलभृष्टं च पिप्पल्याः	१८	११६
तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः	२६	१५९
तैलात् सपिप्पलीचूर्णात्	१८	६०
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थे	१३	१५६
तैलान्येतान्यृतुस्नाना	२८	१७८
तैलार्धकुडवं चैव	५	१५६
तैलेन सर्पिषा वाऽपि	२५	५०
तोयदानां च शब्दा हि	२४	१५८
तौ द्वौ नानात्वभेदेन	२५	१७
त्रपुसीसमयश्चूर्णम्	७	८८
त्रयो विकाराः प्रायेण	१४	२४४
त्रयोदशविधः स्वेदः	३	२६८
त्रायन्तिकातामलकी	२९	५८
त्रायमाणाघृतं सिद्धम्	२१	६३
त्रायमाणामृतानिम्ब	३०	२७९
त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च	११	७३
त्रिंशत् सुपिष्टाः पिप्पल्यः	२।३	१२
त्रिकटुगृहधूमरजनी	२३	४१
त्रिकण्टकबलाव्याघ्री	३	२३६
त्रिकण्टकाश्मन्तक	६	३८
त्रिदोषजे लङ्घनमा	२६	१००
त्रिपलं त्रिफलायाश्च	१४	१४५
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत्	१४	२२६
त्रिफलां कटभीं चव्यम्	१५	१८८
त्रिफलां मधुकं वीराम्	२१	९१
त्रिफलाकण्टकार्योश्च	१।४	१६
त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्व	२६	२५४
त्रिफला खदिरो दार्वी	२५	८४
त्रिफलातिविषाकटुका	७	६८
त्रिफलात्वचोऽर्ध्वपलिकाः	७	१३६
त्रिफला द्वे हरिद्रे च	१६	९९
त्रिफला निम्बपटोलम्	७	१००
त्रिफलायाः कषायं वा	३	२९९
त्रिफलायाः कषायं वा	२९	८६
त्रिफलाया रसे मूत्रे	१।३	१५
त्रिफलारससंयुक्तम्	२१	६६
त्रिफलाव्योषपत्रैला	२९	१५२
त्रिफलाव्योषविडङ्गम्	७	७७
त्रिफलासवश्च गौडः	७	८१
त्रिभागशेषं च सुपूत	१२	३०
त्रिमर्मजानां रोगाणाम्	२६	२९४
त्रिरात्रं यावकं दद्यात्	१।१	२७
त्रिविधस्य दोषभेदात्	१२	१०३
त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य	२१	६४

	अ०	अंक
त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीम्	५	१४९
त्रिवृतामभयां प्राज्ञः	४	५७
त्रिवृत्सुधापत्रतिला	२६	१८
त्रिवृद्दन्तीपलाशानाम्	१४	१२२
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे	१३	१२८
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा	१५	२३७
त्रीन् मासान् पयसा पेयाम्	१३	१९२
त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान्	१८	३१
त्रुटिं सुराह्वं लवणानि	२६	६४
त्रैफलेनायसीं पात्रीम्	१।३	४३
त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षाम्	१८	३९
त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तम्	१६	७३
त्र्यूषणक्षारलवणै	१३	१०२
त्र्यूषणत्रिफलाकल्के	१५	८७
त्र्यूषणत्रिफलामुस्त	१६	७०
त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिभिः	२१	८६
त्वक् च दारुहरिद्रायाः	१९	८०
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री	१६	८९
त्वक्क्षीरी श्रावणीद्राक्षा	११	६२
त्वक्पत्रशर्कराकल्कः	२६	१७८
त्वक्सिरामांसमेदो	२५	२६
त्वगेलाकेशराणां व	२।१	३१
त्वगेलापत्रकशटी	१५	१६५
त्वगेलाप्लवपत्राम्बु	१४	१६४
त्वगेलाव्योषमृद्वीका	१८	९२
त्वगेङ्गुदी बृहत्यौ द्वे	१८	७५
त्वग्गतस्योष्मणो रोधा	३०	३२५
त्वग्दन्तीव्याघ्रकरज	२६	१८४
त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता	२८	३०
त्वङ्मांसगतं दाहो	२३	४५
त्वङ्मांसजः सुखे देशे	२५	३६
त्वङ्मांसान्तरमागम्य	१३	११
त्वङ्मात्रशेषा येषाम्	३	१७७
त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि	८	१३७
त्वचं च नागरं चैव	२३	२०५
त्वचं चित्रकमूलस्य	१४	७६
त्वचाकुन्दुरुकर्पूर	२८	१५३

द

	अ०	अंक
दंशस्य मध्ये यत्कृष्णम्	२३	१४४
दंशात्तु विषं दष्टस्या	२३	३८
दंशावदरणं स्फोटाः	२३	१७८
दंशोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा	२३	१४३
दकोदराणि सम्पक्व	२५	५७
दक्षकाकमयूराणाम्	२३	१८२

	अ०	अंक
दक्षशिखितित्तिरि	१४	२०७
दग्धं सरं वा यमके	१९	३७
दग्धानि वार्ताकुरसे	१५	१८४
दग्ध्वा कपाले पयसा	१३	८१
दण्डकालसकाध्मान	१९	१६
दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य	२८	५२
दत्त्वा घृतं सशर्कर	१४	२१७
दत्त्वा परूषकद्राक्षा	२९	५९
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च	१८	५५
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यम्	२।१	३६
दत्त्वा सलवणं क्षारम्	१७	९८
दद्यात् सिध्यति तस्मिंस्तु	११	७१
दद्यात्तैलानि चेमानि	२९	९०
दद्यादालोडनं मासे	१।३	१९
दद्याद्विषघ्नधन्वरसांश्च	२६	९२
दद्यान्मनःशिलाकर्ष	१८	१६९
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरम्	१३	१६९
दधिक्षीरानूपमांस	३०	१६४
दधिदाडिमसिद्धानि	१४	१२५
दधिमण्डाढके सिद्धात्	१३	१४१
दधिमण्डाढकोपेतम्	१३	११४
दधिसर्पिर्वसामज्ज	१३	१६०
दधिसैन्धवसंयुक्तम्	२७	५५
दध्नः सरं शरच्चन्द्र	२।२	२४
दध्यारनालाम्लफल	१८	८२
दन्तपवनस्य कूर्चो	२३	११६
दन्तानां दशनं जृम्भा	२८	४८
दन्तास्यगलरोगेषु	२६	२१४
दन्ती चित्रकमूलत्वक्	२१	१२६
दन्तीचित्रकमूलानाम्	१४	१४४
दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषण	१२	२४
दन्तीद्रवन्तीसुरसा	२७	५२
दन्ती श्यामाऽमृतासङ्गः	१४	५५
दन्त्याश्चतुष्पलरसे	१६	५१
दन्त्याश्च द्विपलान् भागा	१४	१५४
दर्वीकरः फणी ज्ञेयो	२३	१२५
दर्वीकरकृतो दंश	२३	१२७
दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः	२५	२२
दश पञ्च च संयोगा	२।१	५३
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो	२।३	२९
दशभागावशेषं तु	२।१	४६
दशमूलघृतं क्षीरम्	२९	१२४
दशमूलपयोवस्ति	३०	१११

	अ०	अंक
दशमूलबलारास्ना	२६	१६३
दशमूलरसे तद्वत्	१८	७९
दशमूलरसे सर्पि	१७	१४०
दशमूलशृतात् क्षीरात्	८	९७
दशमूलस्य वा क्वाथ	१७	१०५
दशमूलाढके प्रस्थम्	१८	१२३
दशमूलीं स्वयङ्गुप्ताम्	१८	५७
दशमूलीशटीरास्ना	१७	१०२
दशमूलेन पयसा	८	९३
दशमूलोपसिद्धं वा	१९	४५
दशमूलोपसिद्धेन	२१	१२२
दशाङ्गुलोन्मितां नाडी	१८	६६
दशाहं द्वादशाहं वा	५	४७
दशाहं यावदश्नीया	३	१६४
दष्टमात्रो दशेदाशु	२३	२५१
दष्टोऽसाध्यस्तु दृग्घ्राण	२३	१५१
दहत्यग्निरिवादौ तु	२३	१५०
दहल्लिङ्गं विनिर्याति	३०	१४२
दाडिमं पुष्करं धान्य	५	८०
दाडिमत्रिफलामांस	१३	१३५
दाडिमदधित्थलोध्रैः	२२	३६
दाडिममम्लफलं वा	२२	४९
दाडिमात् कुडवो धान्यात्	१६	४४
दाडिमाम्बुसुरामस्तु	९	५४
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कै	१५	१२४
दारुणं चारुणं श्वित्रम्	७	१७३
दारुणं स वलीपाकम्	१९	१०२
दारुणैः कृष्यमाणानाम्	१।४	६०
दार्वीं पर्पटकं पाठाम्	१५	१३५
दार्वीं सुराह्वां त्रिफलाम्	६	२६
दार्वीं किराततिक्तम्	१४	१९६
दार्वीत्वक् चेति तच्चूर्णम्	२६	१९७
दार्वीत्वक् त्रिफला व्योषम्	१६	९७
दार्वीत्वक्सर्पिभ्यां सच	१४	२२१
दार्वीत्वङ् नागरं	१४	२३१
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रम्	२१	९७
दार्वी रसाञ्जनं वा	७	६१
दार्वी विडङ्गं खदिरो	६	२८
दार्वीबृहतीमेव्यैः	७	४६
दार्व्यारसाञ्जनस्य	७	९७
दाहकण्डूरुजाराग	७	१५
दाहकृत्तेजसा युक्तः	३	३९
दाहतोदस्वेदशोथ	२३	१५६

	अ०	अंक
दाहपाकज्वरोष्मार्ता	३०	१२
दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः	५	१३१
दाहरागतृषामोह	३०	२१६
दाहशूलार्तिसङ्क्षोभ	५	४१
दाहाविपाकदौर्बल्यम्	१६	३६
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु	१४	१३६
दिनातुरौषधव्याधि	३०	२९६
दिने दिने प्रयुञ्जीत	१६	८४
दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण	१५	२३८
दिवास्वप्नं ससन्तापं	२९	४९
दिवौकसां कथयता	८	३
दिव्यतीर्थौषधिमत	३०	३
दिव्यानामोषधीनां	१।४	८
दीनः प्रश्वसितं चास्य	१७	४८
दीनतां श्वयथुं ग्लानिम्	३	३३७
दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता	२८	४१
दीपनं बहुपित्तस्य	१५	२००
दीपनं बृंहणं चैव	१८	१८७
दीपनं रोचनं वर्ण्यम्	१४	७५
दीपनं श्वासकासघ्नम्	१६	४६
दीपनीयानि सर्पींषि	१३	११२
दीपनीयौषधैर्युक्ताम्	१५	२०३
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो	२३	५
दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे	५	२५
दीप्तेऽग्नौ विधिरेष	११	८४
दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वम्	१७	४९
दीर्घमायुः स्मृतिं मेधा	१।१	७
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टाम्	३०	१६५
दुःस्पर्शकेन बिल्वेन	१४	१००
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद्	२८	१७
दुःस्पर्शा पिप्पली मुस्तम्	१८	५१
दुरन्धकारे विद्धस्य	२३	२२१
दुरालभां करञ्जौ द्वौ	१५	१७९
दुरालभां शटीं द्राक्षाम्	१८	५०
दुरालभां श्वदंष्ट्रां च	८	१०६
दुरालभायाः प्रस्थः	१४	१५३
दुरुपक्रमं लघुत्वाद्धि	२३	२७
दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ	१७	१५१
दुर्बलं पाययित्वा वा	१९	७६
दुर्बलप्रकृतिश्चैव	३०	१८३
दुर्बलाग्नेरपथ्याम	१३	३२
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत	१३	१८४
दुर्लभोपशमः कालम्	३	६०

	अ०	अंक
दुर्हृतेषु च दोषेषु	३	३३४
दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मार	१०	६५
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः	११	११
दुष्टशोणितजं नार्याः	३०	२९
दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहस्रावा	२३	११७
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं	१५	४४
दुहितॄणामसम्भोगा	८	५
दूर्वाघृतप्रदेहः शत	१४	२१८
दूर्वास्वरससिद्धं वा	२५	९३
दूषीविषं तु शोणित	२३	३१
दूषीविषाभिर्लूताभि	२३	१४५
दृढान् बहुकफांस्तस्माद्	१७	९२
दृष्ट्वा तु रक्तपित्तम्	१४	२१३
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या	५	५२
दृष्ट्वाऽनुबन्धं पवनात्	६	३७
दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरम्	६	५५
दृष्ट्वा वातोल्वणं लिङ्गम्	२४	१२३
दृष्ट्वैवं न तु सहसा	२३	१०८
देवगोब्राह्मणानां च	९	९४
देवताः पूजयित्वाऽग्रे	११	२३
देवदारुवचामुस्त	१५	९९
देवदारु शटी रास्ना	१८	११८
देवदारु हरिद्रे द्वे	१३	१५९
देवदारु हरिद्रे द्वे	२३	२३१
देवदारु हरिद्रे द्वे	२७	३१
देवर्षिगन्धर्वपिशाच	९	१६
देवर्षिपितृगन्धर्वै	९	८८
देयः समधूच्छिष्टो	७	१२१
देयाः प्रदेहाः कफजे	२१	१००
देशकालप्रमाणज्ञम्	११४	३३
देशकालप्रमाणानाम्	३०	२९३
देशाद्देशं व्रजत् साव्यम्	२९	३८
देशे देशे च यत् सात्म्यम्	३०	३३९
देशे यथर्तुके शस्ते	२४	१३
देहं वातादयस्तासाम्	३०	४१
देहं व्याप्नोति सर्वम्	२८	९
देहदुःखभयेभ्यो हि	९	८४
देहेन्द्रियमनस्तापी	३	४
देहो रसजोऽम्बुभवो	२२	१६
दैवव्यपाश्रयं चैव	३०	१९५
दैवव्यपाश्रयं तत्र	३	३१८
दोषकालबलापेक्षी	३०	२५४
दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्	२७	६
दोषदूष्यनिदानाम्	३०	२९२

	अ०	अंक
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो	३	१३८
दोषविष्यन्दनार्थं हि	२४	११८
दोषवेगे च विगते	१०	८
दोषशेषनिवृत्त्यर्थम्	१३	१४७
दोषस्य यस्य पश्येत्	७	३२
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य	३०	२३६
दोषाः पित्तप्रधानास्तु	१६	४
दोषाः फलानामामानाम्	३	१४९
दोषाः सन्निचिता यस्य	१९	१४
दोषाणामपि चैवम्	१५	३८
दोषातिमात्रोपचयात्	१३	६१
दोषाधिकानां वमनम्	८	८७
दोषाधिक्यविभागादि	७	६०
दोषानुबन्धरक्षार्थम्	१३	१९४
दोषानुबलयोगाच्च	१८	१८९
दोषा बद्धाः कषायेण	३	१६२
दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता	१२	७५
दोषे कोष्ठगते भूय	२१	६८
दोषे रक्ताश्रिते रक्तम्	७	१७४
दोषे हृतेऽपनीते	७	१५१
दोषैः पृथक्त्रिप्रभवा	२०	६
दोषोत्क्लिष्टे हृदये	७	४३
दोषौ बहुविधान् व्याधीन्	२८	२३३
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्व	२८	२२५
दौर्बल्यारुचिहृल्लास	५	१७०
द्रवधातोः स्थिरान्मांसा	१५	२४
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्येषु	१३	९५
द्रव्येषु स्विन्नजगधेषु	३०	३२६
द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्	२१४	३७
द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीम्	२१	५८
द्राक्षां मधूकं खर्जूरम्	५	१२३
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः	८	११५
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा	१६	५७
द्राक्षापञ्चकवार्ताक	१८	१७२
द्राक्षापुनर्नवाचव्य	१८	१२७
द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्क	२६	९३
द्राक्षाभयारसं गुल्मे	५	१३०
द्राक्षामधुककल्केन	३०	२७२
द्राक्षामधुकतोयाभ्याम्	२९	७१
द्राक्षामलकखर्जूर	२४	१४०
द्राक्षामलकबिल्वानि	३	२२०
द्राक्षायाः पञ्च लाक्षायाः	१६	१०७
द्राक्षारसं वाऽपि पिबेत्	२०	३०
द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य	४	१००

	अ०	अंक
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तम्	१६	१३६
द्राक्षाशृतं नागरकैः	४	८४
द्राक्षेक्षुरसमद्यानि	२९	१२७
द्रोणं मधूकपुष्पाणाम्	१५	१४६
द्रोणशेषं कषायं तम्	२६	२०७
द्रोणशेषे रसे तस्मिन्	१४	१४०
द्रोणशेषे रसे पूते	१५	१५७
द्रोणेऽपां साधयेत् पाद	१५	१२७
द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नाम्	१८	४३
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमा	६	४३
द्वन्द्वजानि द्वितीयायाम्	१४	३०
द्वादशावरणान्यन्या	२८	२१८
द्वादशैते समुद्दिष्टाः	३	५९
द्विकार्षिकाणि पत्रैला	११	४०
द्वितीये हि युगे शर्व	३	१५
द्विपञ्चमूलक्वथिते	२५	७७
द्विपञ्चमूलस्य पचेत्	१२	५०
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि	५	६७
द्विपलांशां तुगाक्षीरीम्	१६	१००
द्विपञ्चमूलीत्रिफला	१८	१५८
द्विपलं त्रायमाणाया	५	१२८
द्विरुत्तरं हिङ्गु वचा	२६	२०
द्विविधं सानुबन्धानाम्	१४	२५३
द्विविधामेषणीं विद्या	२५	८१
द्विविधो विधिभेदेन	३	३२
द्विव्रणीयोपदिष्टेन	२१	१३८
द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्य	२०	१८
द्वे द्वे पले समापोथ्य	१४	१४९
द्वे पञ्चमूले वर्षाभू	२९	६१
द्वे पञ्चमूले सरलं	१५	८२
द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफला	१०	१८
द्वे पले च मसूराणाम्	५	११६
द्वे पले सैन्धवात् पञ्च	२७	४५
द्वे पात्रे तिलतैलस्य	११४	१८
द्वे बले सारिवास्फोटा	२३	२४३
द्वे मेदे मधुकं द्वे च	१८	१४५
द्वेष्यार्थं भाविता कामम्	१६	१२२
द्वे सारिवे रोहिषं च	१०	२१
द्वे हरिद्रे वचां कुष्ठम्	१५	१८२
द्वौ कालौ दन्तपवनम्	८	१३५
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलम्	१३	१२७
द्वौ क्षारौ सातलां दन्तीम्	१३	१६४
द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च	२५	१२०

	अ०	अंक
ध		
धत्ते रसविशेषाण!	३	१५९
धनधान्यकार्यसिद्धिः	२३	६०
धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थम्	११	४
धन्वजानामसृग्लिह्यान्	४	७२
धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्ध	२१२	११
धन्वमांसं यवाः शालि	२८	१८५
धन्वयवासं चन्दन	७	१४५
धमनीभिः श्रिता दोषा	१०	६
धमन्यङ्गुलिसन्धीनाम्	२९	२६
धर्णाधरसारश्च	२११	६१
धर्मार्थे चार्थकामार्थ	२१४	५७
धर्मार्थदाता सदृशः	२१४	६१
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च	२११	७
धातकीद्विगुणं दद्यात्	१९	१०८
धातकीद्विगुणं दद्यात्	१९	१०९
धातकीधन्वयासाम्बु	४	४६
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा	१९	९०
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा	२५	६८
धातुक्षयगदकर्पण	२२	५
धात्री दाडिममम्लार्थे	२३	२२६
धात्रीफलरसद्रोणे	१६	१०१
धात्रीफलविदारीक्षु	११	५०
धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः	१८	१६५
धात्रीरसं च तुल्यांशम्	७	१५५
धात्रीस्तनस्तन्यसम्प	३०	२२९
धान्यनागरतोयं च	२४	१३०
धान्यनागरसिद्धं वा	८	७०
धान्यसौवर्चलाजाजी	८	१४२
धान्वदैलरसैः स्नेहै	८	११०
धारणादगदानां च	३	३१०
धारयेद्द्वेशवारं वा	३०	१२४
धारागृहं भूमिगृहम्	४	१०६
धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा	२९	८२
धार्यं गरमणियांश्च	२३	२५३
धार्या मधुयुता वर्तिः	३०	१२०
धीधृतिस्मृतिविज्ञान	२७	४
धीमतो वैद्यवश्यस्य	२४	१६४
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः	२१३	२२
धीविभ्रमः सत्त्वपरि	९	६
धूमैर्विरेकैः शिरसः	२१	१३१
धूमो विरेकः शिरसः	२१	१३५
धृत्रांस्तानेव दद्याच्च	१८	१३०
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा	२११	२२

	अ०	अंक
ध्यामकाश्वत्थनिचुलम्	२५	११७
ध्यायति विहगः प्रथमे	२३	२३
ध्वंसको विक्षयश्चैव	२४	२०५
न		
न केवलं दीर्घमिहा	११	८०
न घृतं बहुदोषाय	२१	४८
नकुलोलूकमार्जार	१०	५१
न च तेनैव लेपेन	२१	१०२
न च बुद्धिस्मृतिहरो	२४	४३
न जरां न च दौर्बल्यम्	११	७९
न तन्निमित्तं व्यसनम्	१५	२३४
न तु सङ्ग्रहणं देयम्	१९	१५
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च	२१३	२७
नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो	३	२६४
न ना स्वापिति रात्रीषु	२११	४८
न मर्मबाधाजननी	१७	४१
न याति लिङ्गशैथिल्यात्	३०	१५६
नरः संवत्सरेणैवम्	१३	१९३
नराश्चटकवत् केचिद्	२१४	६
नर्ते वै षोडशाद्वर्षात्	२१४	४०
नलदं च हरेणुश्च	२१	७७
नलमूलान्यनन्तां च	२१	८८
नवज्वरामदोषेषु	१७	८५
नवनीतघृतं छागम्	१४	२११
नवनीततिलाभ्यासात्	१४	२१०
नवमामलकं द्राक्षा	११	६६
नवसर्पिषि सन्तप्तान्	२११	४५
नवस्यामलकस्यैकाम्	१४	१५८
नवान्नदधिमत्स्याति	७	७
न विड् जीर्णा न च ग्लानि	३	१३६
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च	२६	११४
नवे पिप्पलिमध्वाक्ते	१५	१६३
नवौ कदाचित् सिध्येता	१७	३०
न शुक्रं धारयत्येभि	३०	३८
नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिण	९	२०
नष्टशुक्रक्षतक्षीण	११	४२
नष्टाग्निसञ्ज्ञः क्षिप्रं हि	१६	३९
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः	३	१६६
न सिद्ध्यन्ति नरा दृष्टाः	२३	१६०
न सोऽस्ति रोगो भुवि	२१३	६५
नस्यं स्यादणुतैलं वा	२६	२६४
नस्यं स्यात्क्रिमिजा सम्यग्	२६	२६६
नस्ये पाने तथाभ्यङ्गे	२६	१७२
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्र	२६	२६३

	अ०	अंक
न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता	१७	८२
न हि जातबलाः सर्वे	२१४	४
नाक्षोभ्यं हि मनो मद्यम्	२४	१९४
नागदन्तीत्रिवृद्दन्ती	२३	२४१
नागरं क्षीरकाकोलीं	२९	६५
नागरं पद्मकिञ्जल्क	२१	५६
नागरं पिप्पलीमूलम्	१४	११०
नागरं सैन्धवं सर्पि	२६	२३२
नागरत्रिफलाप्रस्थम्	१३	११५
नागरत्रिफलामुस्त	२६	२३९
नागरातिविषामुस्त	१५	९८
नागरातिविषे मुस्तम्	१५	१२९
नागरातिविषे मुस्तम्	१८	११५
नागरामलकैः सिद्धाम्	३	१८८
नागरार्धपलं पिष्ट्वा	५	९१
नाग्निं विना हि तर्षः	२२	१९
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यम्	२५	१०६
नाति गुर्वति वा स्निग्धम्	३	२७९
नातिरक्तो नातिपाण्डु	२५	८६
नातिशीतगुरुस्निग्ध	२५	९८
नातिस्निग्धं न चाम्लेन	२४	१२७
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च	२१	१०१
नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य	२६	१२७
नाद्यादन्नापि जठरी	१३	१०१
नाडीव्रणाः पक्वशोथा	२५	५६
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत	२८	११२
नाडीस्वेदोपनाहाश्च	२८	१००
नाभिं विष्टभ्य पायौ	१३	५६
नाभिघातैर्न चातङ्कै	११३	२१
नाभिध्यायेन्न चाक्रोशे	२१४	५४
नाभेः पक्वाशयाद्वाऽपि	१७	२९
नामहेतुरसाध्यत्वम्	८	१९१
नारीक्षीरेण सिद्धं वा	१७	१३३
नारीणां यौवनोष्णानाम्	२४	१३४
नारीणामरसज्ञत्वात्	३०	१६०
नारी त्वतिपरिक्लिष्टा	३०	२२१
नारीस्तन्येन संयुक्ताम्	१५	२३०
नार्थार्थं नापि कामार्थं	२१४	५८
नालं स्नेहसमिद्धस्य	१५	२०२
नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिम्	३०	३१३
नावनं धूमपानानि	८	८१
नावनैस्तर्पणैश्चान्नै	२८	७८
नासाक्षिकर्णजिह्वा	२३	६८
नासाग्रपाकज्वरव	२६	१०६

	अ०	अंक
नासाध्यं नाम तस्यास्ति	९	६२
नास्ति तैलात् परं किञ्चित्	२८	१८१
निःस्राव्य मत्स्याण्डरसम्	२।१	४९
निःसृते लङ्घितः पेया	१३	१९१
निदधीत धान्यमध्ये	७	७८
निदानं रक्तपित्तस्य	४	५३
निदिग्धिकां बिल्वमध्यम्	१७	९४
निदिग्धिकादेवदारु	३०	६०
निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहम्	२३	१५
निद्रानाशः शिरसो	२२	१२
निपीडितोन्नते स्तब्धे	५	४३
निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य	५	१६
निम्बपटोलं दार्वीम्	७	१४०
निम्बवेत्राग्रकुलक	३०	२५९
निरत्यद पीयमानम्	२४	१६८
निरत्ययः प्रयोक्तव्यः	२८	१२२
निरत्ययानि सिद्धानि	२८	१४४
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो	३	२७७
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा	१५	२२३
निरुक्तं नामभेदाश्च	२१	१४४
निरूढं च विरिक्तं च	१५	८१
निरूहं वा प्रयुञ्जीत	१४	१३७
निरूहं स्नेहवस्तिं च	९	२७
निरूहैः पित्तसंसृष्टम्	२८	१९२
निर्घोषदैन्यस्तनन	१८	१२
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्था	३०	२८२
निर्मोहमानानुशयो	६	३
निर्वापयेत् सुशीतैन	२५	६५
निर्हरेद्वा मलं तस्य	२९	८८
निर्हृते सुखमाप्नोति	१७	७६
निवर्तते चोदरिणाम्	१३	१७२
निवारयेदादित एव	१०	८५
निवासे निर्भये शस्ते	२।१	१८
निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो	२४	२०६
निवृत्तामिषमद्यो यो	९	९६
निवृत्ते क्षतदोषे तु	१८	१४४
निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्मा	३	३३९
निवृत्तोपद्रवस्य स्यात्	१६	१३२
निशान्ते दिवसान्ते च	३०	३१०
निशि स्थितं वारि समु	२०	३१
निशि स्थिता वा स्वरसौ	४	७७
निशि स्थितानां त्रिफला	६	२२
निष्प्रजस्तृणपूलीति	२।१	१८
निष्प्रत्यनीकः कुरुते	३	५६

	अ०	अंक
निहन्ति सर्वकुष्ठानि	७	१५६
नीयते बहिरूष्णैर्हि	३०	३२३
नीलिनीं त्रायमाणां च	१३	१३४
नीलिनीचूर्णसंयुक्तम्	५	१०४
नीलिनीत्रिवृतादन्ती	५	१०५
नीलोत्पलं गैरिकं	४	९९
नीलोत्पलं तामलकीम्	८	११२
नीलोत्पलं मोचरसम्	१९	७५
नीलोत्पलं सकुष्ठम्	७	१६९
नीलोत्पलं समङ्गा	१४	१९३
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठा	९	३६
नीलीच्छदन्तशैथिल्य	२३	३३
नृकेशाः सर्पनिर्मोको	१४	४९
नृद्वेषिण्यस्तनी चैव	३०	३५
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टम्	३	३०७
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे	१८	८
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि	१७	६७
नैवं विघातं जनयेन्	२४	३८
नैनत् प्राप्यातिवर्तन्ते	१३	१२९
नैव दुष्यति तेनैव	१५	२४१
नैशेष्वाहारजातेषु	१५	२४३
न्यग्रोधत्वक्कषायेण	३०	११८
न्यग्रोधपत्रदुग्धीके	२१	८३
न्यग्रोधपादास्तरुणाः	२१	७३
न्यग्रोधशुङ्गकानाम्	१४	२०३
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ	११	३१
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ	२५	४६
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ	२९	८७
प		
पक्तिस्थानात्तथा दोषं	३	२७५
पक्त्वा तस्य रसं पूत्वा	२८	१३९
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्	२।२	२९
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरं	२९	७८
पक्वं वा विबद्धमलपार्श्वं	१९	५
पक्वः स्रोतांसि सङ्क्लेद्य	५	४६
पक्वता प्रशमं याति	१९	९१
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य	१५	११
पक्वाशयं तु याते	२३	११५
पक्वाशयस्थाः सर्वेऽपि	२७	२३
पक्वाशये पित्तकफाशये	५	७
पक्वाशये विरेकं तु	२८	१९०
पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः	२८	७३
पक्षादूर्ध्वं भवेत् पेया	१४	१४१
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयम्	१४	१६६

	अ०	अंक
पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वम्	१३	५१
पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा	१०	१३
पक्षिणां मृगमत्स्यानां	२४	१२४
पक्ष्मवालैः सहान्नेन	१३	३९
पचत्यन्नं तदारोग्य	१५	२१६
पचेत् साजपयोऽर्धांशैः	२८	१५०
पचेद्दशगुणे तोये	८	१०७
पचेल्लेहं घृतक्षौद्र	१८	१३७
पञ्चकासाञ् शिरःकम्पम्	१८	४६
पञ्चकोलकतालीस	२६	१९२
पञ्चगव्यं महातिक्तम्	१६	४३
पञ्चगव्यस्य पयसः	३	३०४
पञ्चभिर्विषयैरिष्टैः	२४	८४
पञ्चमूलाभयाव्योष	१५	८८
पञ्चमूलीशृतं तोयम्	५	१६७
पञ्चमूली कषायेण	५	९७
पञ्चवल्कमधूकानाम्	१९	८८
पञ्चस्वर्थेषु कान्तेषु	२४	६६
पञ्चात्मकस्य वातेन	२८	२३८
पञ्चात्मनः स्थानवशा	२८	२४८
पञ्चात्मा मारुतः पित्तम्	१४	२४
पञ्चानां पञ्चमूलानाम्	२।१	४१
पञ्चानां पञ्चमूलानाम्	८	९९
पञ्चाष्टौ सप्त दश वा	२।३	३२
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः	२५	७०
पटोलं पिचुमर्दं च	२१	५९
पटोलं सारिवा मुस्तम्	३	२०१
पटोलनिम्बवेत्राग्र	४	३८
पटोलपत्रमुद्गानाम्	२१	६१
पटोलपिचुमर्दाभ्याम्	२१	५२
पटोलमूलामरदारु	१२	५३
पटोलयूषमिश्रं वा	२४	१३९
पटोलादिकषायं वा	२१	६०
पटोलाद्यमिदं चूर्णं	१३	१२४
पटोलारिष्टपत्राणि	३	२४१
पटोलोदुम्बराश्वत्थ	१५	१२६
पततं कासमानश्च	१८	१६
पतत्त्रिभिः पतङ्गैश्च	८	३६
पत्रकल्कं ततः पूतम्	२८	१५५
पत्रभङ्गोदकैः शौचम्	१४	१६९
पत्रमूलफलैस्तोयम्	२७	५३
पत्रागुरुमुस्तैलानि	२३	७७
पत्राणि पुष्पाणि च	४	१०७
पत्रैलागुरुकुष्ठानि	२८	१०७

	अ०	अंक
पथ्या तामलकी धात्री	१८	१२०
पथ्यान्नपानसेवा	५	१८८
पथ्याशटीपौष्करघ्न	२६	८६
पथ्याशतरसं पथ्या	१६	५०
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो	३०	३३०
पद्मकं त्रिफलां व्योषम्	१८	१७४
पद्मकं त्वक् समधुकम्	२९	१४६
पद्मकं पद्मकिञ्जल्कम्	४	६७
पद्मकातिविषामुस्त	२८	१५१
पद्मकोशीरयष्ट्याह्व	२९	११४
पद्मवेतसयष्ट्याह्व	२९	११०
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः	४	४४
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः	१४	२३७
पयश्च मूर्च्छारतिदाह	१२	१९
पयसा च प्रयुञ्जीत	१६	१३८
पयसाऽभिहते रोगे	२४	१९८
पयसा मांसरसैर्वा	२६	२९
पयसा मूत्रयुक्तेन	१६	५६
पयसा वा सुखोष्णेन	५	३५
पयसा शृतेन भोजन	२२	२९
पयसा शृतेन वृषे	१४	२०५
पयसैरण्डतैलं वा	२८	८५
पयस्यर्धोदके पक्त्वा	२।३	९
पयांसि तक्राणि रसाः	२।३	६४
पयोमूत्रासवारिष्टा	१३	९८
परं तु पच्यमानस्य	१५	१०
परमान्नं गुडकृतम्	३०	२३४
परमूर्जस्करं चैव	२।४	२५
परमोजस्करं चैतत्	२।३	२८
परस्परविधेया ये	२४	८१
परस्परोपसंस्तब्धा	१५	२०
परावरज्ञमात्रेयम्	२५	३
परिकर्तं सवृक्षाम्ल	१३	१३१
परिक्षयादायुपश्चा	३०	१७९
परिपक्वेषु दोषेषु	३	१६५
परिपक्वेषु दोषेषु	३	१७१
परिपाके न सप्ताहे	३	२८२
परिप्लुता वामिनी च	३०	४०
परिभर्ज्य घृते दध्ना	१५	११४
परिभूय पचत्यन्नम्	१५	२१९
परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैः	१९	६४
परिवेष्ट्य प्रदीप्तासु	५	१३८
परिस्रावाच्च गन्धाच्च	२५	३५
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणाम्	३०	१२७

	अ०	अंक
परीक्ष्यैवं पुरा सामं	१५	९५
परो भूतदया धर्म	२।४	६२
पर्णिनीनां चतसृणाम्	२४	१५०
पर्पटः कुटजश्चैव	७	१५३
पर्याध्मानस्य हिक्का या	१७	३३
पर्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा	२।४	१२
पर्वभेदज्वरश्वास	१८	२३
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धम्	२९	१४
पलं तथैषां सह	७	६३
पलं वत्सकबीजस्य	१९	८५
पलङ्कषापथ्या	१०	३४
पलद्वादशके भृष्ट्वा	२।१	६७
पलमर्धपलं कर्षौ	२।३	५५
पलमेकं निदध्याच्च	२।१	६९
पलानां शतकैर्भागैः	२९	१०४
पलानि सर्पिषस्तस्मिन्	१४	११५
पलाभ्यां पिप्पलीमूल	२७	४७
पलाशं चित्रकं चव्यम्	१५	१४२
पलाशक्षारपात्रे द्वे	५	१७३
पलाशफलनिर्यूहम्	१९	५९
पलाशरसकस्तूरी	२८	१५२
पलाशवृन्तस्वरसेन	४	८९
पलाशैरण्डमुस्तार्थैः	३०	१९८
पलिकं साधयेत्तेषाम्	११	४५
पलिकं सैन्धवं शुण्ठी	११	८५
पलिका गुटिकास्त्याना	२।१	३२
पलितघ्नो विशेषेण	२६	२७८
पलानि तानि मतिमान्	२।२	१९
पल्लवान्मातुलुङ्गस्य	१७	९७
पवनोऽतिव्यवायेन	३०	१९
पश्चात्तुल्यं तु केषाञ्चिद्	३	१२५
पश्यत्यसन्ति रूपाणि	१०	७
पाकं गच्छेद्रसस्तेभ्य	१३	४३
पाचनं पाययेद्वा तद्	१४	६५
पाचनान्यविपक्वानाम्	३	१४३
पाचनैर्दीपनीयैर्वा	२८	८७
पाचनैर्दीपनैर्युक्तैः	२८	९०
पाटनं व्यधनं चैव	२५	५५
पाठां च पिप्पलीमूलम्	१४	१५९
पाठां ज्योतिष्मतीं लोध्रम्	२६	१९१
पाठां तेजोवतीं पथ्याम्	२६	१८९
पाठां मधुरसां रास्नाम्	१७	१०६
पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वाम्	१८	११४
पाराङ्कोलाश्वगन्धार्क	२३	२४४

	अ०	अंक
पाठाद्विरजनीमूर्वा	२६	१४५
पाठानागरशार्ङ्गेष्टा	३०	२६६
पाठा बिल्वं यमानी च	८	१२६
पाठामुशीरं सोदीच्यम्	३	१९९
पाठा वत्सकबीजम्	१४	१९५
पाणिना नामयेज्जिह्वाम्	३०	४४
पाणिपादं च संशोष्य	२८	५१
पाण्डुं सतोदमास्रावम्	३०	२२
पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्काम्	२९	६८
पाण्डुरोगं विषं कासम्	१६	८६
पाण्डुरोगक्रिमीगुल्म	२३	२४८
पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः	१६	३१
पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च	१६	३
पाण्डुरोगाद्विपाच्चैव	१७	१४
पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थम्	१६	३४
पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा	१६	६५
पाण्डवस्त्रस्तु गर्भिण्या	२३	१३३
पाण्डुवर्णा तथा पाण्डु	३०	१४
पाण्डूनां कामलार्तानाम्	१६	११५
पाण्डूदरपीनसमेह	२२	५९
पाण्ड्वामयं कफोत्क्लेशं	५	९०
पात्रस्थं च विवर्णम्	२३	११०
पादं रूक्षोच्चयत्येकम्	२८	५५
पादशेषे घृतप्रस्थम्	९	५३
पादशेषे रसे तस्मिन्	५	१४४
पादशेषे समक्षीरम्	२८	१५८
पादशेषे समान् क्षीर	२९	६३
पादहस्ताक्षिजङ्घोरु	२८	४२
पादावशेषे पूते च	१४	१६२
पानं दर्वीकरैर्दष्टे	२३	१९६
पानतृषार्तः पानम्	२२	५१
पानभोजनसंयुक्तम्	१३	१७८
पाननस्याञ्जनालेपाः	२३	१९१
पानान्नमिष्टमेव च	४	१११
पानान्नयोः सविषयो	२३	११२
पानान्नविधिरग्र्यश्च	१४	२५१
पानाहारविधाने	७	१५९
पाने नस्यक्रियायां च	२६	२७५
पाने नीला राजी वैवर्ण्यम्	२३	१११
पामा शतारुविस्फोटम्	७	३०
पामा श्वेतारुणश्यावाः	७	२५
पाययेताथवा स्तन्य	३०	२६१
पाययेत् पिच्छिलक्षीराम्	३०	२७७
पाययेद् भिषग्दुग्धम्	१३	१८१

	अ०	अंक
पाययेद्वा त्रिवृच्चूर्णम्	१४	६६
पाययेन्मधुसंयुक्ता	३०	२५५
पायसैः कृशरैर्मांसैः	२८	१०२
पायसैः कृशरैश्चैव	२८	११८
पारावतान् कपोतांश्च	४	४१
पार्श्वबस्तिरुजी चाल्प	११	१६
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो	८	१७
पार्श्वशूलं त्वनियतम्	८	५६
पार्श्वशूलं शिरःशूलम्	८	३१
पार्श्वहृद्बस्तिशूलेषु	५	८२
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति	१७	६०
पालकेन्द्रायुधं तैलम्	२३	१२
पाषाणकठिनपरुषे	७	५५
पाषाणभेदं वृषकम्	२६	६०
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः	१४	२२८
पिच्छास्रावं गुदे शोफम्	१४	१३४
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च	३०	२१८
पिच्छिलं बहलं विस्रम्	[illegible]	५१
पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे	१९	६६
पिण्डिकोद्वेष्टकव्यूरु	१६	१६
पिण्याकसौवर्चल	२६	१३
पित्तं मतमाग्नेयम्	२२	१३
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गम्	२८	१९१
पित्तं वा पित्तगुल्मं वा	५	३४
पित्तं वा यदि संवृद्धम्	५	३१
पित्तघ्नौषधसिद्धानि	३०	६४
पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धम्	३०	२४३
पित्तमुष्णोपचारेण	२१	३१
पित्तरक्तभवं गुल्मम्	५	१२१
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी	२६	२६१
पित्तलस्य पुनरम्ललवण	१९	६
पित्तलस्याचितं पित्तम्	१६	१९
पित्तलानां तु योनीनां	३०	६३
पित्तलाया नृसंवासे	३०	२३
पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा	१४	१७६
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष	३	२०९
पित्तस्थानगतेऽप्येतत्	२१	४५
पित्तातिसारं पुनर्निंदा	१९	५०
पित्तातिसारज्वरशोथ	१९	६८
पित्तातिसारी यस्त्वेताम्	१९	६९
पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः	१९	५७
पित्तात्मिकायामनुलोम	२०	२६
पित्तानिलहरौ पैत्ते	३०	९८
पित्तावृते विशेषेण	२८	१८४

	अ०	अंक
पित्तावृते समाने स्याद्	२८	२२६
पित्ताशयस्थितं पैत्ति	२३	२९
पित्ते कफे च सङ्क्षीणे	१८	१५३
पित्तेन गवां पेष्यो	२३	८२
पित्तोदरे तु बलिनम्	१३	६८
पिप्पलीं नागरं क्षारम्	२३	१८९
पिप्पलीं नागरं पाठाम्	१४	११३
पिप्पलीं नागरं पाठाम्	१५	१०६
पिप्पलीं मदनं बिल्वम्	१४	१३१
पिप्पलीं लवणं चित्राम्	१०	३७
पिप्पलीक्षारिकैर्यूषैः	१८	१०९
पिप्पली तिल्वकं हिङ्गु	१३	१५८
पिप्पली नागरं धान्यम्	१९	२०
पिप्पलीनागरक्षार	१४	१०३
पिप्पली पिप्पलीमूलम्	१४	८९
पिप्पली पिप्पलीमूलम्	१४	१०४
पिप्पली पिप्पलीमूल	१४	१०६
पिप्पली पिप्पलीमूल	५	१४७
पिप्पली पिप्पलीमूल	१८	३६
पिप्पली पिप्पलीमूलम्	१९	१०६
पिप्पली बिल्वकुष्ठानाम्	१९	११८
पिप्पली मधुकं पिष्टम्	१८	१३५
पिप्पलीमरिचक्षार	२३	१८३
पिप्पलीमुस्तमृद्वीका	३	२२३
पिप्पली वृश्चिकाली च	१०	४५
पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा	१४	५४
पिप्पल्यतिविषारास्ना	२८	१६८
पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्त	३	२१९
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र	८	१४६
पिप्पल्याः पिचुरध्यर्धो	५	७४
पिप्पल्यामलकं द्राक्षाम्	१८	९४
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रम्	१३	१०६
पिबेच्छीताम्बुना सर्पि	१५	२२८
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या	३	३००
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां	३	१८०
पिबेत् कषायं कमलो	२६	५१
पिबेत् खदिरसारं वा	१८	६४
पिबेत्तद्ग्रहणीपाण्डु	१६	११०
पिबेत् पाणितलं तस्मिन्	१५	१७६
पिबेदस्तु: ततः पेयाम्	१३	१४३
पिबेत् समांशं तच्चूर्णम्	१५	१३०
पिबेत् सम्मूर्च्छितं तेन	५	११७
पिबेत् सलवणैर्मद्यैः	३०	५७
पिबेदुपरि तस्योष्णम्	५	१२०

	अ०	अंक
पिबेदुपरि भक्तस्य	१८	१६६
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः	११	२६
पिबेद् घृतं वाऽष्टगुणा	१२	५७
पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्र	१३	१२५
पिबेद् धूमं ततो मृष्ट	८	१३६
पिबेद्रसेनामलक	६	३६
पिबेद्वा पिप्पलीमूल	३०	२८०
पिबेन्नागबलामूल	११	९१
पिबेन्निष्क्वाथ्य चूर्णं वा	१५	१०४
पिबेन्मधुयुतं तक्रम्	१३	१०४
पिबेन्मात्रां रसालाया	२१२	२६
पिल्लं कण्डूं तिमिरम्	२३	८३
पिशितार्द्रकगर्भाणि	२४	१२६
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायाम्	२६	२४८
पिष्टव्यापन्नमद्यानि	२७	९
पिष्टशालूकविष्टम्भि	१७	१५
पिष्टां क्षीरं जलं सर्पि	३	२५१
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः	२१३	३८
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशै	३०	६६
पिष्टैः सिद्धं महावातै	१८	१४२
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्ति	२०	४९
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि	२२	५६
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यम्	१४	१३२
पिष्ट्वा मनःशिलां तथ्या	१८	१४१
पिष्ट्वा वराहमांसानि	२०४	११
पिष्ट्वा विपाचयेत् सर्पि	२८	१२३
पिष्यमाण इमं चात्र	२३	९०
पीड्यते पीडनैर्नस्तै	२८	५३
पीनं पीनं हि जलम्	२२	७
पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः	१९	८३
पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं	१८	१५
पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः	१०	१०
पीत्वाऽथ मद्यं निगदम्	२६	६८
पीत्वा निशि स्थितं जन्तु	३	२०७
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वम्	२१३	१३
पीत्वा शतावरीकल्कम्	१९	७८
पीत्वा मधुकैरक्षौद्रम्	१९	८६
पीनसे स्वेदमभ्यङ्गम्	८	६५
पीयमानस्य मद्यस्य	२४	४१
पुंस्त्वोपघातः श्वयथु	१४	३५
पुत्रस्यायतनं ह्येतद्	२१२	४
पुनः क्षीरप्रयोगं च	१३	७१
पुनः पञ्चविधो दृष्टो	३	३४
पुनः पुनः पिबेत् सर्पि	१३	१४४

	अ०	अंक
पुनः पुनः स्नेहपानम्	५	२६
पुनराश्रयभेदेन	३	३५
पुनर्नवां दारु सपञ्च	२६	८२
पुनर्नवाद्विरजनी	३०	५३
पुनर्नवानागरमुस्त	१२	२३
पुनर्नवायोरजनी	२६	६३
पुनर्नवे द्वे च बले	१२	३४
पुनर्नवे द्वे मधुक	११	३६
पुनर्नवैरण्डशता	२६	४६
पुनर्माहेश्वरं भागम्	३	१७
पुनर्विरोहो रूढानाम्	१४	३६
पुमान् यथा जातबलो	२१४	३
पुराणधान्यान्यथ	७	८३
पुराणयवगोधूम	२९	१५९
पुराणसर्पिषः पाने	२६	१८१
पुराणसर्पिषः प्रस्थ	९	५०
पुराणसर्पिषः प्रस्थो	१६	५२
पुराणसर्पिः सिंहस्य	३	३०६
पुराणा यवगोधूम	२९	५०
पुलाकोदकसङ्काशः	३०	१७०
पुष्कराह्वशटीबिल्व	२८	१६९
पुष्कराह्वशटीव्योष	१७	१०४
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च	८	१६७
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि	३०	९३
पुष्योद्धृतं शुनः पित्त	१०	५०
पूजयन् प्रयतः शीघ्रम्	३	३११
पूजयित्वा सुरान् पूर्व	२४	२०
पूतिगन्धान् विवर्णांश्च	२५	८३
पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्नि	१६	९२
पूतीकदारुजटिलाः	७	१२३
पूतोल्क्वथितः सान्द्रः	१४	१९०
पूत्वा रसं द्वे च गुडात्	१२	३५
पूयास्रे रक्तपित्तघ्नाः	२६	१४६
पूरयन् सक्थिजङ्घोरु	२७	११
पूरयित्वा महायोनिम्	३०	११३
पूर्वं शुद्धशरीराणाम्	२१४	९
पूर्वकल्पेन धूमोऽयम्	१८	७४
पूर्वरूपं तु तस्येदम्	१५	५५
पूर्वरूपं पृथक् चैव	१५	२४८
पूर्वरूपं प्रतिश्यायो	८	३३
पूर्वरूपं भवेत्तेषाम्	१८	५
पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा	२५	४४
पूर्वरूपमधिष्ठानम्	३	६
पूर्ववज्जीवकाद्यं च	३०	२७०

	अ०	अंक
पूर्ववत् कुपिते पित्ते	३०	२४५
पूर्ववत् कुपितः स्तन्ये	३०	२४२
पूर्ववद् गुग्गुलुं मूत्रे	२७	३६
पूर्वामयातुरः सन्	२२	६०
पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा	१९	११६
पूर्वोक्तेन विधानेन	११३	५२
पृथक्चित्रजातकोपेतम्	२४	१२८
पृथक् पञ्चविधावेतौ	१७	१०
पृथक् पञ्चपलांशानि	२६	२७३
पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः	२१	८१
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्धम्	२८	१७५
पृथगष्टपलं क्षौद्र	११	४९
पृथगालेपनं कुर्याद्	२१	९२
पृथग्दशपलांशानि	२६	२७०
पृथग्दशपलान् भागान्	११	६७
पृथग्दोषैः समस्तैर्वा	८	६०
पृथग्दोषैः समस्तैश्च	१३	२२
पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च	२९	१६४
पृथग्वातादिनिर्दिष्ट	१५	७२
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता	२६	३३
पृथ्वर्पितः सशोथश्च	२३	१२८
पृथ्वीकादार्विमञ्जिष्ठा	२६	२३८
पृश्निपर्णीपयस्याभ्याम्	३०	२८१
पृश्निपर्णीबलाबिल्व	३	१८३
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च	१९	२१
पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः	२८	४६
पेया चोत्कारिका च्छर्दि	१८	१८२
पेयानुपानं तत् पेयम्	१८	१२४
पेपयेत् कटुकैर्युक्ताम्	२४	१८०
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्त	३०	१२२
पैत्तिके चन्दनानन्ता	२६	२३४
पैत्तिके जीवनीयानि	१३	८७
पैत्तिके तु विरेकः स्यात्	२६	२८५
पैत्तिके सकफे कासे	१८	८३
पैत्ते घृतं पयः सेकाः	२६	१७६
पैत्ते तनुकफे कासे	१८	८५
पैत्ते सर्पिः पिबेत् सिद्धम्	२६	१४४
पौष्करारग्वधं मूलम्	१८	१११
पौष्करेषु सुशीतेषु	३	२६०
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च	३	२७
प्रकृत्यैव विसर्गस्य	३	४५
प्रकोपहेतुं संस्थानम्	१४	४
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्याम्	२१	१३६

	अ०	अंक
प्रक्लिन्नानामसात्म्यानाम्	२१	२०
प्रक्षालनानां कल्कैर्वा	१९	८९
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तो	२१४	१६
प्रक्षिप्तोद्धृतमप्येनत्	११३	५१
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्राम्	११४	२३
प्रक्षिप्य स्थापयेत् कुम्भे	१४	१५५
प्रजापतेर्हि दुहितृ	८	६
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च	१७	५७
प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो	२७	५९
प्रतिघातविशेषेण	१८	९
प्रतिलोमं यदा वायुः	१७	५५
प्रतिश्या छर्दिरालस्यम्	३	९७
प्रतिश्यायं च कासं च	८	२२
प्रतिश्यायं प्रसेकं च	८	३०
प्रतिश्यायस्ततो घोरो	८	४९
प्रतिश्याये शिरःशूले	८	६४
प्रतुदा विष्कराश्चैव	८	१६१
प्रत्यग्रा विधिनाऽनेन	२८	१२९
प्रत्यागते सुखं स्नातम्	१९	११९
प्रत्येकं स्थानदूष्यादि	२८	१०४
प्रदुष्यन्ति यथा दुष्टो	१५	२४७
प्रदूष्य कफवातासृक्	१६	११
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य	२८	१०३
प्रदेहः सघृतश्चेष्टः	८	८३
प्रदेहकल्पे परिषेचने	४	१०५
प्रदेहान्तैरुपक्रान्ता	१४	५९
प्रदेहान् परिषेकांश्च	३०	२००
प्रदेहैः कफपित्तघ्नै	३	२८९
प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्ग	९	३२
प्रधानावरमध्यानाम्	२४	७३
प्रनष्टज्ञानविज्ञान	१७	४७
प्रनष्टाग्निबलाहाराः	१३	६
प्रपतत्सु लसीका	७	१५७
प्रपिबेन्मात्रया प्रात	१६	११३
प्रपुराणानि धान्यानि	[illegible]	८९
प्रपौण्डरीकं जीवन्ती	४	६८
प्रपौण्डरीकं मधुकम्	८	९१
प्रपौण्डरीकं मधुकम्	१४	२२९
प्रपौण्डरीकं मधुकम्	१८	७१
प्रपौण्डरीकं मधुकम्	२१	५७
प्रपौण्डरीकं मधुकम्	२५	९२
प्रपौण्डरीकं मधुकम्	८	८४
प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डी	२९	९४
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठा		

	अ०	अंक
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठा	२९	१३४
प्रपौण्डरीकसिद्धेन	१९	९५
प्रभिद्येत न यद्येवम्	५	१७४
प्रभूतकटुसंयुक्तम्	२४	१७२
प्रभूतकटुसंयुक्तम्	२४	१७५
प्रभूतशाखः शाखीव	११	११
प्रभूतस्नेहमशनम्	१३	४४
प्रमथ्यां मध्यदोषाणाम्	१९	१९
प्रमेहवातमेदघ्नी	२८	१९५
प्रमेहिणां याः पिडका	६	५८
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः	१३	५
प्रयुञ्ज्यात्तैललशुनम्	१०	६४
प्रयोक्तव्या मतिमता	३	२९७
प्रयोगः सप्तसप्ताह	१३	५४
प्रयोजयन् समामेकाम्	१३	४२
प्रयोजयेज्ज्वरहरान्	३	२४०
प्रयोजयेदार्द्रकनागरम्	१२	४७
प्रयोजयेदुत्तरं वा	५	१८२
प्रयोज्यं विधिवत् सर्पि	१४	२४२
प्रयोज्या मधुसम्मिश्रा	१३	३४
प्रयोज्या मार्गशुद्धयर्थम्	५	६०
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः	३	३२५
प्रलापवम्यतीसार	१७	३२
प्रलेपः स्यादलं कोष्णम्	१४	५६
प्रवर्तमाने रुचिरे दद्या	५	१७९
प्रवाहिकां गुदभ्रंशम्	१४	१०९
प्रवाहिते तेन मले	१९	६०
प्रविशत्याशु हृदयम्	२१	१०
प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो	१४	१७७
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो	१४	४२
प्रसन्नया वा क्षीरार्थम्	५	६८
प्रसन्नां वारुणीं सीधु	८	१६५
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यम्	२८	२४१
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञ	१५	२३२
प्रसहानां रसैः साम्लै	१५	२१०
प्रसहा भूशयानूप	८	१६०
प्रसादश्चेन्द्रियार्थानाम्	९	९७
प्रसेकं लोमहर्षं च	१६	२४
प्रस्थं चतुर्गुणे क्षीरे	१८	४१
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो	२६	१६२
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः	१२	५१
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैला	२६	२६५
प्रस्थौ दुरालभाया द्वौ	१५	१५२
प्रहर्पणः प्रीतिकरः	२४	४२

	अ०	अंक
प्रहर्षयोनयो योगा	२१३	३१
प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्र	९	२०
प्राकृतः सुखसाध्यस्तु	३	४२
प्रागुत्पत्तिं गणान् योनिं	२३	३
प्रागुत्पत्तिंनिमित्तानि	८	१९०
प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि	१९	१२३
प्राग्भक्तं यमके भृष्टान्	१४	१०१
प्राग्रूपं ध्याननिद्राति	२७	१५
प्राग्रूपं बहुरूपस्य	८	३८
प्राग्रूपं मुखशोषः	२२	८
प्राग्वातसेवा शीतौ	१४	१९
प्राणकामाः पुरा जीर्णा	१२	२०
प्राणकामाः शुश्रूषध्व	१२	३
प्राणाः प्राणभृतामन्नम्	२४	६०
प्राणाचार्यं बुधस्तस्मात्	१४	४०
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद्	२८	२४५
प्राणाश्रयात् तानि हि	२६	४
प्राणे कफावृते रूपा	२८	२२३
प्राणे व्यानावृते तत्र	२८	२०४
प्राणेश्वरः प्राणभृताम्	२८	२४९
प्राणोदकान्नवाहीनि	१७	२१
प्राणोदानसमानाख्य	२८	५
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी	१३	२०
प्रातश्च सवने सोमम्	१४	४७
प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा	१३	२७
प्रायः प्रायेण रोगाणाम्	११	६
प्रायशः सन्निपातेन	३	७४
प्रायेण वातबहुलान्य	१४	२१२
प्रायेण हि समुत्क्लिष्ट	४	२९
प्रायेणानिलजो दुःखः	३	४९
प्रायेणोपहताग्नित्वात्	८	१२३
प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः	२६	१०३
प्रायोऽभिघातादनिलः	१२	१०२
प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः	१९	७७
प्रास्थिकं पिप्पलीं पिष्ट्वा	१५	१६०
प्रियङ्गुकाचन्दन	४	१०८
प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्र	४	८१
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठा	१५	१५८
प्रियङ्गुमदनं मुस्तम्	३	२४६
प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः	३	२६५
प्रियालतैलं मधुकम्	४	१०१
प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः	२४	५२
प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा	३०	११९
प्लीहशोषापस्मार	[illegible]	[illegible]

	अ०	अंक
प्लीहानं च यकृच्चैव	४	१०
प्लीहार्शोग्रहणीदोष	१३	१३
प्लीहोदरश्वित्रहलीम	१२	४६
फ		
फणिज्झकश्च तस्तैल	२६	१८५
फलं च मूलं च विरे	२६	२४
फलं शिग्रुकरञ्जाभ्याम्	२६	१८६
फलत्रिकं दारुनिशाम्	६	४०
फलत्रिकं दीप्यकचित्र	१२	३९
फलानां जीवनीयानाम्	२१३	१५
फलानां तैलयोनीनाम्	१५	२२७
फलानां तैलयोनीनाम्	२८	११७
फलानां सारिवायाश्च	८	१०९
फलानि चैवमादीनि	११	३८
फलाम्लं यमके भृष्टम्	१९	३८
फलाम्लं सर्पिषा भृष्टम्	११	८०
फलीं व्याघ्रनखं हेम	२७	३८
फेनिलं तनु रूक्षं च	३०	२१२
फेनिलायाश्च यः फेन	२४	१६१
ब		
बद्धं सर्षपतैलाक्तम्	९	८०
बद्धप्रच्युतदोषं वा	३	१६८
बद्धाल्पविट्कं सकफम्	१६	३२
बध्नीयाद्देशवारस्य	३०	११४
बहिःस्पर्शनमाश्रित्य	८	१७३
बर्हितित्तिरिदक्षाणाम्	२६	२८४
बर्हितित्तिरिदक्षाणाम्	८	१५८
बर्हितित्तिरिदक्षाणाम्	१९	३९
बर्हितित्तिरिदक्षाश्च	१७	९३
बर्हितित्तिरिलावानाम्	१४	१२१
बलं तस्य सपित्तस्य	१९	९७
बलं महद्वर्णविशुद्धि	१२	६
बलं श्वदंष्ट्रां बृहतीम्	३	२२४
बलकोष्ठव्याधिवशा	२६	३१
बलदोषप्रमाणज्ञः	५	५७
बलपुष्टिकरं तेषाम्	२८	१२८
बलमग्निबलं पुष्टिम्	२८	८२
बलमांसपरिक्षीणम्	४	६२
बलवत्स्वल्पदोषेषु	३	५०
बलवर्णकरं धन्यं	२९	७०
बलवांस्तु तालुशोषे	२२	५४
बलां नागबलां पथ्याम्	२१	१२५
बलां स्थिरां पृश्निपर्णीम्	८	११४

	अ०	अंक
बलाकदल्यपामार्ग	१३	१७१
बलाकषायकल्काभ्याम्	२९	११९
बलाखुपर्णिकाश्वयाह्वैः	३०	१०७
बलातामलकीमेदा	२८	१५९
बलातिबलाचन्दनागुरु	१२	१२
बलाधिष्ठानमारोग्यम्	३	१४२
बलामतिबलां मेदा	२९	५६
बलामधूकयष्ट्याह्व	२६	१६१
बलामुत्पलशालूकम्	२१	७९
बलायाः शूर्पपर्ण्योश्च	२१२	५
बला रास्ना तिलाः सर्पि	८	७८
बलाविदारिगन्धाद्यै	८	९०
बला विदारी ह्रस्वा च	११	५६
बलावृक्षाम्लकोलाम्ल	३	१८७
बलाशतावरी रास्ना	२९	८१
बलिनं वमनैरादौ	१८	१०८
बलिनः स्वौषधयुतम्	१३	१७३
बलिभिर्मङ्गलैर्होमै	९	९३
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा	१६	१३३
बलोपचयवर्णार्थं	१४	८४
बल्यानां जीवनीयानाम्	१४	१३
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मा	३	२९२
बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा	८	७३
बस्तमूत्रकृता धार्या	३०	११०
बस्तमूत्रे त्र्यहं स्थाप्य	२६	२४९
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयम्	९	७१
बहलं मधुरं स्निग्ध	२१४	५०
बहिःश्रितः श्रितश्चान्त	२१	२३
बहिर्मार्गस्थितं ग्रन्थिम्	२१	१२७
बहिर्मार्गाश्रितं साध्य	२१	२४
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो	२१	२०
बहुदुःखहतस्यास्य	२४	६७
बहुदोषः संशोध्यः	७	४१
बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः	१९	५८
बहुदोषस्य बलवान्	३	३२७
बहुद्रव्यं बहुगुणम्	२४	२६
बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः	२५	१५
बहुलं मधुरं स्निग्धम्	१८	९९
बहुशः सङ्गृहीतानि	१३	१८८
बहुशाखोऽयमिति च	२१	२१
बाधिर्यं कर्णनादश्च	२६	२२९
बालकं च समं चूर्णम्	१७	१२४
बालदुर्बलवृद्धानाम्	२५	१०५
बाह्यमालेपनाभ्यङ्ग	२९	४३

	अ०	अंक
बाह्यायां तु बलौ जाता	१४	३१
बाह्याभ्यन्तरमायामम्	२८	३५
बाह्यास्त्वचो दूषयिता	१२	७
बाह्याः सिराः प्राप्य	१२	८
बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः	३०	३१६
बिभीतकानां फलमध्य	१२	७१
बिल्वं कर्कटकं पाठाम्	२४	९०
बिल्वक्वाथेऽथवा तक्रे	१४	४७
बिल्वप्रमाणो घृततैल	२६	६६
बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं	२९	१४३
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं	११	४३
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकम्	२८	१४१
बिल्वोऽग्निमन्थः श्योना	११	६२
बीजं यस्माद्व्यवाये तु	३०	१३३
बीजकारिष्ट इत्येष	१६	१११
बीजपूरकवृक्षाम्ल	२४	१२१
बीजपूरकहिंग्वम्ल	५	१६६
बुद्धिस्मृतिज्ञानतपो	९	३
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले	३	१४७
बुद्ध्वा देशं वयं सात्म्यम्	९	८७
बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च	२९	१५५
बृंहणं यच्च तत् सर्वम्	२८	१०६
बृंहणं स्वर्यमायुष्यम्	१३	४०
बृंहयेद्रञ्जयेच्चैतत्	२६	२८०
बृहच्छरीरं गिरिसार	१२	५
बृहती शिरीषपुष्पम्	२३	५५
बृहत्फलाढ्यमारुह्य	१३	११
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः	३	२१४
बृहत्येरण्डमूलत्वक्	२६	३४०
बृहत्यौ पौष्करं भार्गी	३	२१३
बृहत्यौ वत्सकं मुस्तम्	३	२१०
बोधिवृक्षकषायं तु	२९	१५८
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीह	९	५६
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः	२८	२५
ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे	१२	९४
ब्रह्मचर्येण तपसा	३	३१४
ब्रह्मसुवर्चला नामौषधि	१४	७
ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्य	१२	२१
ब्राह्मीं तामलकीं मेदाम्	१८	४०
ब्राह्मीरसवचाकुष्ठ	१०	२५
ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत्	१०	६२
भ		
भक्तस्योपरि मध्ये वा	८	९४
भक्तोपरोधतृषितः	२२	५२

	अ०	अंक
भक्षयेत् पाण्डुहृद्रोग	१६	७१
भक्षयेत् कालशाकं वा	१३	१८२
भगवन् ! दारुणं रोग	२१	६
भगवन्तं सन्वात्रेयं कृता	१९	३
भगवन्नुदरैर्दुःखै	१३	५
भगवन् पञ्च कर्माणि	२७	५
भगवन् ! पूर्वमुद्दिष्टौ	२५	४
भगवन् ! यदपत्यानाम्	३०	५
भगवन् रक्तपित्तस्य	४	४
भद्रश्रियं लोहित	४	१०२
भल्लातकं त्रिकटुकम्	१५	१७७
भल्लातकतैलपात्रं सपय	१२	१५
भल्लातकयुतं वाऽपि	१४	७०
भल्लातकसर्पिः, भल्लातक	१२	१६
भल्लातकानां जर्जरीकृता	१२	१४
भल्लातकानां द्विपलम्	५	१४३
भल्लातकानि तीक्ष्णानि	१२	१७
भल्लातकान्यनुपहतान्य	१२	१३
भवति खलु योपसर्गात्	२२	१७
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणाम्	११	१०
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो	३	१३२
भवत्युपहतं शुक्रम्	३०	१४१
भवन्त्युपद्रवास्तेषाम्	२८	२३७
भवन्त्यमृतसंयोगा	१३	१३
भवेत् कदाचित् कार्या	३०	३२२
भवेत् सरागः श्वयथु	२८	६४
भवेत् साटोपविष्टम्भो	१६	१२७
भव्यखर्जूरमृद्वीका	२४	१३६
भागश्चित्रकमूलस्य	१६	८१
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र	२१	३७
भागान् दधिन त्रिकुडवे	१५	१९१
भार्गवश्च्यवनः कामी	१४	४४
भार्गी छिन्नरुहां रास्नाम्	१८	५४
भार्गी तामलकीमृद्धिम्	१८	१७८
भार्ङ्गी नतं चित्रकपिप्पली	६	४२
भार्गी पाठां त्रिकटुकं	१०	२०
भार्गी पुष्करमूलं च	१८	५८
भार्गीमदनतर्कारी	२६	१५३
भार्गीनागरयोः कल्कम्	१७	११०
भार्गी वचा नागदन्ती	१०	४२
भावितं जीवनीयैर्वा	१८	१४८
भावितं मातुलुङ्गस्य	५	८४
भावितं सर्पदष्टानाम्	२३	१९४
भावितानि दशाहानि	१६	८८

अक
२१३
२०४
१९८
२०
९
११९
२७८
७३
११२
७८
४२
२०
३७
१११
३७
११३
६४
९१
१४२
४८
६५
११
५४
१३०
४४
८८
२२९
३०६
४७
२३३
७५
९४
४९
१९७
१११
८२
९७
१८७
४८
११
२४
९
०
४

	अ०	अंक
भिन्नमलेष्मसंसृष्ट	१५	७०
भिषगप्यातुरान् सर्वान्	११४	५६
भिषगात्यथिकं बुद्ध्वा	५	११४
भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्ध	१२	३
भिषग्वातान्वितं रक्तम्	२१	६९
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो	३	१९४
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः	३०	१९९
भीतमत्ताबलोष्णक्षुत्	२३	१६२
भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे	२८	६९
भुक्त्वाभुक्त्वादिवास्वप्न	३०	२३५
भुक्ते तु वारुणीमण्डम्	२४	१२९
भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूल	२६	१०१
भूतविषजन्त्वलक्ष्मी	२३	५९
भूतानामधिपं देवम्	९	९१
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति	३	११६
भूतार्तानमरार्तांश्च	९	६८
भूतीकं नागरं धान्यम्	१३	११०
भूतीकं पौष्करं मूलम्	१७	१४२
भूनिम्बं रोहिणीं तिक्ताम्	१५	१८१
भूनिम्बकटुकाव्योष	१५	१३२
भूनिम्बपलाशानाम्	७	६९
भूमावपि निषिक्तं तद्	१४	८६
भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्	२६	१९
भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीस	२५	१००
भृशार्तिमैथुनासक्ता	३०	३१
भृशार्तिशूलं स्फुरती	२६	११८
भृष्टान् यवान् भक्षयतः	६	४८
भृष्टैः शाकैर्यवागूभि	१४	२४६
भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैः	२४	१९
भेदस्तोदार्तिराक्षेपो	२८	२३
भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धि	२८	३३
भेरीमृदङ्गपटहान्	२३	८७
भेषजमेवं कल्प्यम्	२३	६४
भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु	१७	६९
भैषज्यकालो भुक्तादौ	३०	२९८
भोजनाभ्यञ्जनैः पानै	५	२२
भोजयेत्तदुदरिणम्	१३	१७९
भोजयेद्वातरोगार्तम्	२८	१०८
भोज्यं च मुखरोगेषु	२६	१८८
भोज्यं पानानि सर्पींषि	१८	१९०
भोज्यं मूलकयूषेण	१९	११५
भोज्यमुत्सादनं दाहो	२५	४२
भोज्यानि च यथादोषम्	२६	२२२
भौमाप्याग्नेयवायव्याः	१५	१३

	अ०	अंक
भ्रमः पिपासा दाहश्च	३	९१
म		
मक्षिकाघुणकेशानाम्	८	३५
मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट्	१५	९४
मज्जौजसा वा वसया	६	११
मञ्जिष्ठया चागुरु	६	३९
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता	९	७०
मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव	१५	१४७
मण्डं पेयां च पीत्वा ना	१३	१२२
मण्डलैर्जातरूपस्य	२।३	११
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः	२।१	४८
मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः	२।३	३०
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णा	१६	९५
मत्तद्विरेफाचरिताः	२।३	२६
मत्स्यण्डिका मधुसमा	७	७५
मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्या	३०	३१७
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे	२८	९७
मत्स्यास्तु सविषाः कुर्यु	२३	१५५
मदनं मधुकं निम्बम्	२१	५१
मदनं पिप्पलीभिर्वा	३	२२८
मदयन्तीलतापत्र	२९	११२
मदिरादधिमण्डोष्ण	१३	१६१
मदिरां वा सलवणाम्	१४	१०२
मदिरां शार्करं जातम्	१४	१२८
मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्य	८	१६६
मद्यं द्राक्षारसं तोयम्	२४	१४२
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान्	२४	२११
मद्यं वा मद्यसात्म्याय	३	१९५
मद्यं हृदयमाविश्य	२४	२९
मद्यप्रसङ्गं तं चाज्ञा	२४	५४
मद्यस्य च गुणान् सर्वान्	२४	७०
मद्यस्याम्लस्वभावस्य	२४	११५
मद्यानुकूलैर्विविधैः	२४	१८
मद्याम्बु वाऽम्बु कोष्णम्	२२	५३
मद्येन मनसश्चास्य	२४	५३
मद्ये मोहो भयं शोकः	२४	५६
मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ वा	३०	९९
मद्योत्थे पैत्तिके चाथ	३	१४४
मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण	२४	११७
मद्योपहतविज्ञानाम्	२४	५५
मधुकं कुष्ठमित्येतच्च	१६	१०९
मधुकं पिप्पलीमूलम्	१७	११५
मधुकं मुष्ककयवक्षारौ	१५	१८९

	अ०	अंक
मधुकं सपञ्चकल्कम्	१४	२१४
मधुकद्विपले कल्के	१०	३१
मधुकस्य शतं द्राक्षा	२९	९६
मधुकस्य हरिद्राया	२।१	४९
मधुकाष्टपलद्राक्षा	११	४८
मधुकेन तुगाक्षीर्या	२।३	४५
मधुतैलयुतावेतौ	१८	११९
मधुना किण्वचूर्णं वा	३०	१०४
मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा	२९	११७
मधुयष्टिबलातैल	२८	१८६
मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु	२९	९१
मधुरः किञ्चिदम्लो वा	२१	१०९
मधुरश्च सतिक्तश्च	२।३	५७
मधुरस्निग्धशीतानि	१४	१८
मधुराणि कषायाणि	३०	२८५
मधुरैः सर्जावर्नायैः	२२	३२
मधुरैर्जाङ्गलरसैः	१८	९६
मधुशिग्रोर्हितं तद्वद्	२९	१५१
मधुशिग्रोश्च बीजानि	१९	१३९
मधुहिङ्गुयुतं पेयम्	१८	११३
मधूकपुष्पस्वरसम्	१५	१५०
मधूकं मधुकं कुष्ठम्	२३	२०२
मधूकमधुकक्षीरसिद्धम्	११	२७
मधूकमधुकद्राक्षा	११	२०
मधूकमुस्तमृद्वीका	३	२०६
मधूच्छिष्टं सर्जरसम्	१७	७९
मधूच्छिष्टेन तैलेन	२५	१०३
मधूलिका तुगाक्षीरी	१७	१११
मध्यदेशे भवेत् सात्म्यम्	३०	३१९
मध्यमं मदमुत्क्रम्य	२४	४६
मध्वासवोऽयं कफ	६	४४
मनःशरीरसन्तापा	३०	२३३
मनःशिला तमालश्च	२३	१९२
मनःशिलापलाशाज	१८	१४६
मनःशिलायाः फल	२०	३९
मनःशिलालमधुक	१८	६९
मनःशिला वचा व्योषम्	२६	१५२
मनःशिलासर्जरस	१७	१४५
मनःशिलैला मञ्जिष्ठा	२५	११४
मनःशिलैलामरिच	१८	७३
मनोभिघाते तु मनो	२०	४१
मनोविकारे निर्दिष्टम्	३	३०९
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव	२।१	१९

	अ०	अंक
मन्त्रागदप्रलेपाद्यै	२५	८
मन्त्रारिष्टोत्कर्तन	२३	३५
मन्त्रैर्धमनीबन्धो	२३	६१
मन्दस्विन्नान् सयष्ट्या	२६	१४०
मन्दाग्नित्वं कासम्	२३	१०४
मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दि	१८	१८
मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय	४	३५
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः	१३	९९
मन्दास्तु पित्तप्रबलाः	१२	९९
मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्ते	१३	१०
मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो	५	११२
मन्यापृष्ठग्रहे शोषे	२६	१७३
मन्ये संश्रित्य वातोऽन्त	२८	४३
मयूरः प्लक्षनिर्यूहे	४	५०
मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठा	१५	१०८
मरिचं जीरकं धान्य	२।४	२१
मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्च	२८	१८
मर्मोपघातात् सम्मोहा	२१	२६
मलपूमसनं प्रियङ्गुम्	७	१६५
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः	३	१३७
मलिनाहारशीलस्य	१०	५७
मस्तिवक्षुरसमद्याद्यै	३	१६०
महर्षिभिः परिवृतम्	२१	५
महागदं महावेग	४	५
महागदसमुत्थानम्	१०	६८
महानीलमिति ख्यातम्	२६	२७६
महापैशाचिकं नाम	९	४८
महामूला महावेगा	१७	२६
महारुजं दाहपरीत	५	१७
महाश्रावणिजीवन्ती	२८	१६०
महासरसि गम्भीरे	२७	१२
महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे	२८	१९६
महिष्यजाविगोक्षीर	१८	१०७
मांसं निदध्यात् घृत	१२	४०
मांसं युक्तस्तथा हस्ति	१३	१४८
मांसमेवाश्नतः शोषो	८	१६३
मांसस्रोतांस्यनुगतो	३	६६
मांसानां लघुपाकानाम्	८	१३२
मांसानामेवमन्येषाम्	२।४	१४
मांसानि यान्यनभ्यासाद्	८	१५६
मांसानि शूल्यानि मृग	६	४७
मांसीकुङ्कुमपत्रत्व	२३	१९०
मांसी मरिचं लवणम्	७	८७

	अ०	अंक
मांसेनोपचिताङ्गानाम्	८	१५५
मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो	१८	१४१
मांसोत्पन्ना महायोनिः	३०	३७
मांसोपचितमांसत्वा	१५	२११
माक्षिकस्य च शुद्धस्य	१६	८२
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्य	१६	८३
मागध्यमृतलोहानाम्	३०	१५०
मातापित्रोर्बीजदोषा	३०	१८९
मातुलुङ्गरसश्चैव	२६	२२८
मातुलुङ्गरसो हिङ्गु	५	८५
मातुलुङ्गस्य तत् पूतम्	१६	६६
मातुलुङ्गस्य धातक्या	८	१३०
मातृदोषादणुद्वाराम्	३०	३२
मात्रां पलं चार्धपलम्	२६	८९
मात्रामग्निसमां तस्य	२।४	२७
मात्स्यकौक्कुटवाराहै	१८	८०
मारुतः प्राणवाहीनि	१७	१७
मारुतकफकुष्ठघ्नं	७	५८
मारुतानां हि पञ्चानाम्	२८	२०२
मारुताशयसम्भूते	२१	४६
मारुतो भयशोकाभ्याम्	१९	१२
मार्गौ दोषानुबन्धं च	४	३०
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च	१६	१३७
माल्यमगन्धं म्लायति	२३	१२०
माल्यानि गन्धयोगांश्च	२४	१९२
माषपर्णभृतां धेनुम्	२।३	३
माषयूषेण यो भुक्त्वा	२।१	४७
माषांस्तिलांश्च किण्वं च	८	१७७
माषात्मगुप्तागोधूम	२।४	२३
माषानङ्कुरिताञ्छुद्धान्	२।४	१५
मासमेकं ततश्चैव	१३	१८३
मासमौष्ट्रं पयश्छागम्	१३	१५२
मासान्निष्पिच्छदाहार्ति	३०	२२५
माहिषात् सर्पिषः प्रस्थः	१६	५५
माहिषे च रसे मत्स्यान्	२।४	२०
माहेन्द्रेण सुशीतेन	८	८६
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणाम्	३०	८
मिथ्यातिहीनपीतेन	२४	१०९
मिथ्याबन्धादति स्नेहा	२५	३३
मुक्ताप्रवालवैदूर्य	१७	१२५
मुक्तालेपो वरः शोथ	२३	२००
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्य	२।१	५५
मुखकर्णाक्षिरोगेषु	२६	२३०
मुखगे त्वोष्ठचिमिचिमा	२३	११३

	अ०	अंक
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्य	२६	२१३
मुखपाके सिराकर्म	२६	२०४
मुखरोगेषु च श्रेष्ठम्	२६	१९८
मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपान	९	२०
मुखशोषस्वरभेद्	२२	९
मुखामये मारुतजे	२६	११९
मुच्यते सहसा प्राणै	३	२७८
मुद्गमाषाख्यपर्णिन्यौ	२९	७३
मुद्गषष्टिकशालीनाम्	२५	११२
मुद्गाः सलाजाः सयवाः	४	७८
मुद्गाढकीमसूरैश्च	१६	४२
मुद्गादियूषैरथ तिक्त	६	२०
मुद्गान्मसूरांश्चणकान्	२०	३७
मुद्गान्मसूरांश्चणकान्	२१	१११
मुद्गा मसूराश्चणकाः	४	३७
मुस्तं किण्वं तिलं कुष्ठम्	२८	११३
मुस्तं पुनर्नवा मेदा	२।१	६४
मुस्तं मदनं त्रिफला	७	९१
मुस्तं वत्सकबीजम्	७	१४२
मुस्तं वयःस्थां त्रिफलाम्	१०	४८
मुस्तं व्योषं त्रिफला	७	६५
मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चम्	२३	११
मुस्तनिम्बपटोलानाम्	२१	५४
मुस्तभल्लातशक्तूनाम्	२१	१३०
मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहो	२४	४४
मुहुर्दाहो मुहुः शीतम्	३	८८
मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः	२३	२२९
मुहुर्मुहुश्च रोगाणाम्	३०	३०६
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शः	११	४७
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे	१४	२३३
मूत्रपित्तशकृल्लोम	९	७५
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि	१३	९४
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थम्	१५	४९
मूत्रलानि तु मूत्रेण	२८	१९७
मूत्राण्यष्टावुदरिणाम्	१३	१११
मूत्रे वा सुनुयात्तच्च	१३	८२
मूत्रे श्रुताः कट्फलशृङ्ग	२६	९७
मूर्च्छनाद्यच्च सम्मूढ	१३	१८७
मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यं	२३	१४८
मूर्च्छापिपासामुखशोष	२०	११
मूर्च्छामोहमदग्लानि	३	१२४
मूर्च्छितं घृतमण्डेन	२६	१९९
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान्	१५	१९०
मूर्वामारग्वधं पाठाम्	२७	३४

	अ०	अंक
मूलं पटोलस्य तथा	७	६२
मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरको	२६	६२
मूलकत्रिफलार्काणाम्	१४	४५
मूलकल्काद्दशपलम्	२८	१४५
मूलकस्वरसं क्षीरम्	२८	१६७
मूलकानां कुलत्थानाम्	२१	१२८
मूलानि पुष्पाणि च	४	१०४
मूलानि श्वेतभण्डीनाम्	२३	२१०
मूलैर्वाऽप्यश्वगन्धाया	२७	५०
मृणालपद्मोत्पलके	४	९४
मृतसञ्जीवनमेव	२३	३७
मृत्तिकादनशीलस्य	१६	२७
मृत्युव्याधिजरावश्यै	२।४	५०
मृदितं तं रसं पूतम्	१६	६२
मृदुः सगन्धोऽसित	१२	१३
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीम्	३०	४६
मृदुभिः शोधनैः शुद्धि	३	३४०
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तै	२८	८४
मृदुशिथिलसुकुमाराण्य	१४	१४
मृद्नीयात् सुखमासीनं	८	१७५
मृद्वग्निना ततः साध्यम्	१४	११६
मृद्वीकापिप्पलीमूल	३	१८६
मृद्वीकामलकानां वा	३	२३०
मृद्वीकाया विधानेन	२४	१८२
मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्	१८	९१
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः	१७	६२
मेदया च समः कल्कै	९	४४
मेदश्च मांसं च	६	५
मेदसस्तानि पूर्यन्ते	१५	३२
मेदां पयस्यां जीवन्तीम्	२।३	८
मेधानामुष्णवीर्याणाम्	३	३०५
मेधां स्मृतिं कान्तिमना	२।१	७३
मेधास्मृतिबलोपेता	२।१	५६
मैथुनादतिबालायाः	३०	२०
मोक्षयेद्बहुशश्चास्य	२१	१३४
मोचरसः ससमङ्गः	१४	१८९
मोहोन्मादव्रणरुजो	२५	३०
म्लानशिश्नश्च निर्बीजः	३०	१५७

य

	अ०	अंक
ः कषायकषायः स्यात्	३	१६३
ः सक्तोऽविनये पट्टैः	९	३०
सन्निपातप्रभवो	९	१५
स्थानसंस्थानरुजाम्	५	१०
स्पन्दते पिण्डित	५	१९

	अ०	अंक
य इच्छेदक्षयं शुक्रम्	२।१	३८
य इमे द्विविधा प्रोक्ता	१७	४
य एव ग्रहणीदोषे	५	१६३
य एव विधिरुद्दिष्टो	२१	१३९
यक्ष्मदीनसमेहादीन्	१५	४८
यक्ष्माणं तमकं श्वासम्	११	६५
यच्च नावनिकं तैलम्	३	२५५
यच्च शीतज्वरे तैल	२८	१७९
यच्च सर्पिर्महातिक्तम्	२१	६२
यच्चान्यत् कुष्ठघ्नम्	७	१६६
यच्चूर्णं गुटिका याश्च	५	१६२
यच्चोक्तं क्षयकासघ्नम्	२६	२८९
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यम्	११	९४
यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिद्	९	९५
यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यम्	८	१८३
यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्याम्	४	१८
यज्ञोपवीतप्रतिमाः	१२	९१
यज्ञौही या यया शक्रः	२४	४
यत् काकणन्तिकावर्णं	७	२०
यत् किञ्चित् कफवातघ्न	१७	१४७
यत् किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं	२।४	३६
यत्तदेव त्रिदोषस्य	३०	२२०
यत्तु कर्म सुखोपाय	१४	३७
यत्तु पित्तोल्वणं रक्तम्	१४	१८४
यत्तु प्रक्षीणदोषस्य	१४	१८३
यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दा	४	१४
यत् परस्परतोऽभिन्नम्	७	१७५
यत्प्रभावा भगवती	२४	२०७
यत्र च सन्निहितोऽयम्	२३	८८
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंश	२४	५७
यथाकर्मप्रयोगेण	३	१२२
यथाक्रमं यथाप्रश्न	३	३४६
यथाक्रमं वातपित्ते	२।३	६१
यथाग्नि भक्षयेत् काले	२४	१७६
यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशु	१७	७३
यथा न भिन्द्याद् गुलिका	२।४	१३
यथा निरिन्धनो वह्नि	१५	२१२
यथा प्रज्वलितो वह्निः	३	२७४
यथा प्रयुक्तया चेष्ट्या	८	१८९
यथा बीजमकालाम्बु	३०	१३४
यथा मदयते यैश्च	२४	२०८
यथाऽमराणाममृतम्	२।१	७८
यथा मुकुलपुष्पस्य	२।४	३९
यथायोगं प्रयोक्तव्यः	२३	२०१

	अ०	अंक
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन	१३	१३३
यथासन्नं विकारस्य	२१	७०
यथास्थूलमनिर्वाह्य	२।४	३६
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति	१५	१४
यथास्वेनोष्मणा पाकम्	८	३९
यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा	२५	१०
यथास्वौषधसिद्धाभि	३	१५०
यथाऽहं नाभिजानामि	२३	९३
यथोक्तगुणानामामलका	२।१	५८
यथोक्तगुणानामामलका	२।२	१०
यथोपेतं पुनर्मधम्	२४	२८
यथोल्वणस्य दोषस्य	५	२८
यदतो विपरीतं स्या	१४	२४८
यदन्नं देहधात्वोजो	१५	५
यदन्यथातुससृष्टम्	३०	१५१
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो	४	१७
यदा दाहार्तितोदार्तो	२७	१९
यदा न सेव्याः प्रमदाः	२।४	५३
यदा वायुर्विबद्धश्च	१९	९४
यदा स्रोतांसि संरुध्य	१७	४५
यदिदं कर्म निर्दिष्टम्	२४	१८९
यदुक्तं भेषजाध्याये	३	२५४
यदुक्तं वातगुल्मघ्नम्	५	१५२
यद् द्विदोषानुगं यद्वा	४	२१
यद्यच्च किञ्चिन्मनसः	२।२	३१
यद्यत् सन्तर्पणं शीत	११	९३
यद्वायोरानुलोम्याय	१४	२४७
यन्मात्रः पचते विन्दु	२३	१३८
यमकस्योपरि क्षीरम्	१९	४८
यया वियुक्तो निर्भीक	२।१	१२
यवकोलकुलत्थानाम्	२८	१२०
यवक्षाराजमोदे च	३०	५५
यवचूर्णं समधुकं	२१	८०
यवचूर्णं समधुकं	२५	७८
यवगोधूममाध्वीक	८	१२०
यवगोधूममृद्वीका	१८	१३६
यवगोधूमशालीनाम्	२१	११४
यवगोधूमशाल्यन्नै	८	६९
यवागूं पयसा सिद्धाम्	१३	१६६
यवागूं विधिना सिद्धाम्	१७	१०३
यवागूर्भिर्विलेपीभिः	१९	२५
यवाग्वोदनलाजार्थे	३	१७९
यवानां मुद्गमाषाणाम्	१९	३५
यवानां चूर्णमादाय	११	१९

	अ०	अंक
यवानीं चाजमोदां च	१४	७३
यवानीं नागरं पाठाम्	१४	९९
यवानीचव्यहिङ्ग्वम्ल	९	५५
यवानीचूर्णितं तक्रम्	५	१६८
यवानी तिन्तिडीकं च	८	१३८
यवानी तिन्तिडीकं च	८	१४१
यवानीपिप्पलीबिल्व	१८	७७
यवान्यामलके पथ्या	१५	१२०
यवान्युशीराण्यभया	६	२९
यवासकुशकाशानाम्	१४	२२५
यवासागुरुपत्तङ्ग	२६	२१०
यवैः स्विन्नैः कषायं तम्	१८	५९
यशस्विनं ब्रह्मतपो	२०	३
यशो लोकाः सुखोदर्का	२।१	२२
यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो	१५	७१
यश्चापि पुनरावृत्तम्	३	९
यष्टीमधुकमृद्वीका	३०	२७१
यष्ट्याह्वचन्दनानन्ता	२६	१७९
यष्ट्याह्वनागवल्योः	११	३३
यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा	१८	८४
यष्ट्याह्वलोध्रपद्म	७	१३१
यष्ट्याह्विकातिक्तक	२६	९१
यस्तु गुग्गुलुकाभास	२।३	५९
यस्तु दोषविकल्पज्ञो	२४	१९०
यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं	१७	५२
यस्माद्विवर्धयत्याशु	३०	२०८
यस्य यस्य हि दोषस्य	२३	१६६
यस्य सर्वाणि लिङ्गानि	२१	२८
यस्यानुबन्धस्त्वागन्तु	१०	५३
यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि	२१	५३
याः सर्वगात्रेषु मसूर	१२	९३
याति ताभ्यामुभाभ्यां च	३	३२३
याऽत्यर्थं सेवते नारी	३०	२०५
या देवानमृतं भूत्वा	२४	७
यानीहोक्तानि कर्माणि	२१	१४१
या नोपरुध्यादाहार	२।१	५३
यान्यजग्धान्यपूतीनि	२।१	४०
यावकाः सक्तवश्चैव	२१	७८
यावगोधूमिकं चान्नम्	२४	१७०
यावल्लघुत्वादशनम्	३	१६७
या वश्या शिक्षिता या	२।१	८
या वातमेहान् प्रति	६	५२
याश्छर्दयः पञ्च पुरा	२०	४
या सुरासुरगन्धर्व	२४	१०

	अ०	अंक
यास्तु क्षेत्रगुणैस्तेषाम्	२।४	११
युक्तं गोधूमचूर्णेन	२।३	७
युक्तं प्लीहोदरी जातम्	१३	१०५
युक्तं भुक्तवतो युक्तो	१५	५१
युक्तं सशर्करं पीत्वा	२।३	१०
युक्तानि लेहवत् कुम्भे	२।३	१८
युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः	१६	११८
युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामम्	१९	२३
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः	२७	४०
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं	२।२	२५
युगपच्चानुपद्यन्ते	३	५७
युद्धाध्ययनभारा	८	१४
यूषा रसाः काम्बलिका	२०	४३
यूषार्थे यूषसात्म्यानाम्	३	१८९
यूषेण मूलकानां तम्	१९	३१
यूषै रसैर्वा मन्दाम्ल	१३	६३
यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूप	२८	७७
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि	१४	८१
यूषैर्मांसरसैश्चापि	१३	८८
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति	१५	२४५
ये च पित्तज्वरहराः	५	१३२
ये च मद्यकृता दोषा	२४	२०९
ये तुल्यशीला ये भक्ता	२।३	२३
येऽत्यर्थं गाढशकृत	१४	९६
येन नारीषु सामर्थ्यं	२।४	५१
येनैव विधिना तैल	२५	९४
ये श्लेष्ममेहे विहिताः	६	२३
ये रसायनसंयोगा	२।४	३९
ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते	७	५३
ये विष्किरा ये प्रतुदा	६	१९
येषां त्वेष क्रमस्तानि	३	१७८
येषु न शस्त्रं क्रमते	७	५४
ये सहायाः सुखाः पाने	२४	२१०
यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति	६	५३
यैषा पृथक्त्वेन मया	२०	४०
योगराज इति ख्यातो	१६	८५
योगाः षडेते सक्षौद्रा	१९	५५
योगान् संयुद्धकोष्ठानां	८	८९
योगास्त्रयोऽतः षड्बिन्दून्	१०	४३
योगा ह्यायुः प्रकर्षार्था	२।४	३७
योगैश्च कल्पविहितै	२९	८७
योज्यश्चामातिसारघ्नो	१९	१०३
योज्यश्चाहारसंसर्गो	५	५१
यो दन्तमांसेषु तु	१२	७८

	अ०	अंक
योनिः स्थानापवृत्ता हि	३०	४५
योनिगर्भाशयस्थं चेत्	३०	१७
योनिगर्भाशयस्थाः स्वै	३०	१५
योनिदोषं रजोदोषम्	३०	९५
योनिदोषमपस्मार	२९	१०९
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोग	३०	५६
योनिरष्टविधा चोक्ता	८	१५९
योनिसंस्कारनामाद्यै	२४	६
योनीनां वातलाद्यानां	३०	२२७
योन्यर्शोग्रहणीदोष	५	७३
योन्यामधावनात् कण्डूं	३०	१८
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद्	३	१५८
यो हि भुंक्ते विधिं त्यक्त्वा	१५	४१
यो हि सम्यङ् न जानाति	३०	३४०

र

	अ०	अंक
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य	३०	२०७
रक्तं मांसं च गोधायाः	२३	१८६
रक्तं लसीका त्वङ्मांसं	२१	१५
रक्तं विबद्धमार्गत्वात्	८	५८
रक्तं श्यावं सदाहार्ति	७	२६
रक्तं सकण्डुं सस्फोटम्	७	२४
रक्तं सपित्तं तमकम्	४	७४
रक्तं हि विषाधानम्	२३	४२
रक्तजे स्वरभेदे तु	२६	२८८
रक्तनिष्ठीवने तापे	११	६१
रक्तपित्तं कषायाभम्	४	१२
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णा	१४	१७८
रक्तपित्तं ज्वरं दाहम्	१६	४९
रक्तपित्तकरैर्नार्या	३०	१६
रक्तपित्तहरं क्षारम्	५	१७७
रक्तपित्तहरैर्योगै	३०	१४७
रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्	५	३९
रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु	२९	१६१
रक्तपित्ते हितान् विद्या	४	४२
रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा	२१	११८
रक्तपित्तोत्तरे चोष्णै	२९	४८
रक्तमार्गं निहन्त्याशु	२९	३५
रक्तमार्गावरोधिन्या	३०	२८
रक्तमार्गेण स्रजति	३०	२२२
रक्तयोन्यरजस्कानाम्	३०	१०१
रक्तविण्मूत्रता दाहः	३	९५
रक्तशालिर्महाशालि	१४	९५
रक्तशाल्योदनं दद्या	१४	१२७
रक्ताः श्वेता महाह्वाश्च	२१	११३

	अ०	अंक
रक्तातिसारिणां यच्च	३०	२२८
रक्तार्शास्यतिसारम्	१४	१९२
रक्तावसेकैर्मधैश्च	३	३१९
रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे	१४	२१५
रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्डम्	११	२५
रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे	४	९८
रक्ते विषप्रदुष्टे	२३	४०
रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद्वा	१८	१४२
रक्तोद्भवे तूत्पलनाल	२६	७३
रक्तोष्णाः पिडकास्तृष्णा	३	७७
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाट	२६	१५
रजः प्रदीर्यते यस्मात्	३०	२०९
रजसा धूमवाताभ्याम्	१७	११
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्याम्	१०	५९
रतिर्विषयसंयोगे	२४	६५
रत्यर्चनाकामोन्मादिनो	९	२३
रमणीयान् स विषयान्	२४	४९
रसं जाङ्गलमांसस्य	३	२४८
रसः प्रधानधातुर्हि	३०	१८४
रसः स्रोतःसु रुद्धेषु	८	४३
रस इक्षौ यथा दध्नि	२।४	४६
रसखडयूषयवागू	१४	२०८
रसमामलकानां वा	२१	६७
रसरक्ताश्रितः साध्यो	३	८३
रसवातादिमार्गाणाम्	२४	३५
रसवाहिनीश्च नाली	२२	६
रसस्तथैवार्द्रक	१२	४९
रसस्य च न रागोऽस्ति	१५	२३
रसस्यामलकानां च	५	१२०
रसांश्च शूल्यानि च	२०	३६
रसाः पृथक्पृथग्ग्राह्याः	२।४	१७
रसाख्यं धातुमन्वेत्य	३	१३०
रसाञ्जनं च लाक्षां च	३०	९७
रसात् स्तन्यं ततो रक्त	१५	१७
रसादीनां सङ्क्षयाच्च	३०	१७८
रसाद्रक्तं ततो मांसम्	१५	१६
रसायनमिदं ब्राह्म	२।१	५७
रसायनमिदं श्रेष्ठ	२९	१२०
रसायनविधिभ्रंशात्	२।४	२९
रसायनस्यास्य नरः	२।१	७४
रसायनानां द्विविधम्	२।१	१६
रसायनानां संयोगाः	२।२	२३
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थम्	२।१	३५
रसे तस्मिन् पचेत् सर्पिः	९	४३

	अ०	अंक
रसेन क्षीरतुल्येन	३०	६५
रसेन मातुलुङ्गस्य	५	८८
रसेनामलकेक्षूणाम्	५	१२२
रसे हरेणुकानां वा	४	४७
रागषाडवसंयोगै	२४	१३२
रग्नौ तु हृदये म्लाने	१५	२४१
रास्नां वलां पञ्चमूलम्	१७	९६
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा	१४	४३
रास्नावृषार्कत्रिफला	१२	७२
रास्नाशिरीषयष्ट्याह्व	२८	१७२
रास्नासहस्रनिर्यूहे	२८	१६५
रास्नास्थिरातामलकी	२६	१७०
रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं	२६	१६०
रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः	२३	१०६
रुग्दाहरागतोदैश्च	२५	५२
रुग्दाहशूलतोदार्ता	२९	३७
रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णम्	२९	२२
रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च	२५	१०९
रुजस्तीव्राः ससन्तापा	२८	३१
रुजः स्रोतःस्वरुद्धेषु	२४	१२०
रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु	१७	३०
रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि	१३	२०
रुद्रस्य प्रमथा नाम	९	९२
रुधिरं मार्गमार्जं वा	१९	७४
रुधिरागमार्थमथवा	७	५२
रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु	५	१८०
रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु	२५	१०१
रूक्षं तेजो ज्वरकरम्	३	२१७
रूक्षं परिणतं मद्यम्	२४	९०
रूक्षतिक्तकषायाति	३०	१३६
रूक्षबद्धपुरीषाय	३	१७३
रूक्षव्यायामजं गुल्मम्	५	२१
रूक्षशीतकषायाल्प	१८	१०
रूक्षशीताल्पलघ्वन्न	२८	१५
रूक्षस्यानिलजं काम	१८	३२
रूक्षाणां सुकुमाराणाम्	२५	१०४
रूक्षादिभिर्मारुतस्तु	३०	२११
रूक्षान्नपानं विषमाति	५	९
रूक्षान्नपानैरति	५	५
रूक्षान्नशीतान्नविरेक	९	९
रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे	१७	६५
रूक्षाल्पभोजनायास	१३	२३
रूक्षोष्णे..न्नपानेन	२४	१८५
रूक्षोष्णैः केवलो वायुः	२१	२९

	अ०	अंक
रूपगन्धरसस्पर्शैः	२४	८३
रूपयौवनमत्ताभिः	२४	१६
रूपाण्येकादशैतानि	८	४६
रूप्यस्य कटुकः श्वेतः	२।३	५८
रेतः शुद्धं विजानीया	३०	१४६
रेतसश्च प्रतीघाता	३०	१६८
रेतोऽभिघातप्रभवे	२६	६९
रेतोऽभिघाताभिहतस्य	२६	४०
रोगदोषबलापेक्षी	२५	१०७
रोगराट् सर्वभूताना	३	३४५
रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा	३०	२९१
रोग्यवेक्षो यथा प्रात	३०	२९७
रोचनं दीपनं हृद्यम्	२४	६२
रोधाभिघानस्रवशोष	२६	११०
रोप्यः कुम्भीमुखश्चेति	२५	२५
रोमापगमनं ग्लानि	२३	२३०
रोहिणीकटुकानिम्ब	५	११५
रोहिणीकटुका मुस्ता	५	११९
रोहिणीमथवा कृष्णा	२।३	४
रोहिण्यामतिसक्तस्य	८	४
रोहीतकत्वचा पिष्टे	१३	८५
रोहीतकस्य पित्तेन	२३	२१४
रौक्ष्यं शोषस्तोदः	७	३४
रौक्ष्यात् स्नेहं व्यवायि	२४	३३
रौक्ष्याद्वातमशैत्यात्	२३	२५
रौधिरस्य तु गुल्मस्य	५	१७२
ल		
लघु रूक्षमाशु विशदम्	२३	२४
लघूनि चान्नानि हितानि	७	८२
लघून्यन्नानि संसृज्य	१३	८९
लघून्यर्हानिर्वीर्याणि	८	१८२
लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्ल	२४	३०
लङ्घनं देशकालौ च	१४	१३
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तम्	३	२८४
लङ्घनप्लवनात्यध्व	२८	१६
लङ्घनायासरूक्षोष्ण	२८	६३
लङ्घनैः पाचनैर्दोष	२४	१९६
लङ्घनोल्लेखने शस्ते	२१	४४
लभन्ते सुखमङ्गानि	३	१७६
लवणाम्लकटुक्षार	२९	५
लवणाम्लकटूष्णांश्च	८	६६
लवणाम्लकटूष्णानाम्	२१	१६
लवणाम्लकटूष्णानि	२५	९७
[illegible]	२६	१५०

	अ०	अंक
लशुनस्य पलाण्डोर्वा	१७	१३१
लशुनस्याविनष्टस्य	९	५२
लशुनातिरसाचित्रा	१०	३५
लशुनानां शतं त्रिंशद्	९	४९
लसीकाजलपूयासृग्	२५	२८
लाक्षां रसाञ्जनं मांसी	२६	२०९
लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टम्	११	१७
लाक्षाधवपलाशत्वङ्	३०	७५
लाक्षारसनिभं शीतम्	९	६१
लाक्षारसाञ्जनैलाः	७	१२५
लाक्षासैन्धवमांसी	२३	१०२
लाजापेया पीता स	१४	१९९
लाजाऽमृतफला द्राक्षा	१८	८८
लाजालाक्षामधुद्राक्षा	१७	१३६
लालाप्रसेको हृल्लासः	३	१३५
लालालुः शूनवक्त्राक्षि	३०	२४९
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने	२८	२३०
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने	२८	२१२
लिङ्गं व्याससमासाभ्या	२८	२००
लिङ्गं सर्वास्वेतास्व	२२	२४
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य	३	७
लिङ्गान्यावेदयन्त्येता	८	२७
लिङ्गान्युपद्रवा ये च	२१	१४५
लिङ्गैः प्लीहद्यधिकान्	१३	७६
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा	३	८९
लिह्याद्वा मधुना चूर्णं	२७	३९
लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णम्	३	२३१
लिह्याद्वाऽप्यभयाचूर्णम्	३०	२७४
लिह्यान्मरिचचूर्णं वा	१८	१८०
लीढं निर्वापयेत् पित्त	११	५३
लीनं पक्वाशयस्थं वा	१५	७५
लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद्	१७	७७
लेपः किलासहन्ता	७	१७१
लेपः सर्षपनिम्बार्क	२९	१४८
लेपो रुग्दाहवीसर्प	२९	१३५
लेपो ह्युपरि पट्टस्य	२१	१०३
लेलीतकप्रयोगो रसेन	७	७०
लेहः कोलास्थ्यञ्जन	२३	९७
लेहान् कासापहान्	८	९५
लोके वाय्वर्कसोमानां	२८	२४६
लोणिकायाः सपाठायाः	१९	३३
लोध्रं चैतेपु गौडः स्याद्	१६	१०६
लोध्रं तेजोवती पथ्या	२६	२१७
लोध्रं शटी पुष्करमूल	६	४१

	अ०	अंक
लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि	२५	११०
लोध्रस्य धातकीनाम्	७	९५
लोध्राम्बुकालीयक	६	३१
लोपाकान् स्थूलनकुलान्	८	१५२
लोमहर्षः प्रलापश्च	२८	२१
लोहितशालितण्डुल	२२	४२
लोहितशालिप्रस्थ	२२	४३
व		
वंशत्वगश्वगन्धा	२३	८०
वंशवेत्रकलायाश्च	३०	२५८
वक्ष्यन्ते यानि तैलानि	२८	१८०
वचां च कार्षिकं पञ्च	१५	१७४
वचां मुस्तमुशीरं च	३	२०५
वचां वंशत्वचं पाठाम्	२३	२१२
वचांस्यतथ्यानि कृतघ्न	७	१७७
वचागोक्षुरकैरण्ड	२८	१६१
वचान्तैरथवा कल्कै	१९	१२०
वचाप्रतिविषाभ्यां वा	१९	२२
वचाभयाचित्रकयाव	२६	२१
वचामतिविषां पाठाम्	१५	१३४
वचा विडङ्गं भूतीकम्	१९	१०५
वचाशम्पाककैटर्य	१०	२७
वज्रं मरकतः सारम्	२३	२५२
वज्रशिलाजतुसहितम्	७	७२
वटमातुलुङ्गवेतस	२२	४४
वत्सकं सुरसं कुष्ठम्	२७	५४
वत्सकबीजं यासम्	७	१४६
वत्सकस्य फलं मुस्तम्	४	६०
वत्सकातिविषे पाठाम्	१५	१८६
वत्सकारग्वधौ पाठाम्	३	२०४
वधबन्धपरिक्लेश	२४	६४
वधबन्धप्रपतना	२५	७
वनानि रमणीयानि	२४	१९१
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान्	२१	४
वमनं मदनोन्मिश्रो	४	५९
वमनं मृदु नात्यर्थम्	२९	४६
वमनं वमनार्हाय	५	१३७
वमनविरेचनयोगाः	७	४०
वमिप्रसङ्गात् पवनो	२०	४६
वम्यरोचकहल्लास	२३	१६९
वम्यान्ध्यबाधिर्यशिरो	२६	९
वयःस्थां शूकरीं छत्रा	९	४६
वयःस्थापनमायुष्यम्	११	५२
वयोऽन्तमध्यप्रथमे	३०	३११

	अ०	अंक
वयोवलशरीरादि	३०	३२१
वराहवृषविट् चैव	१४	५१
वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः	२८	७०
वर्चस्यामे सशूले च	१५	१००
वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं	३	१०२
वर्जयेच्चैव सङ्कोच	२९	३४
वर्जयेच्छ्वासिनं तद्व	१३	९३
वर्जयेद्दधिशुक्तानि	२९	१५४
वर्णं रसं स्पर्शमथापि	६	१२
वर्तनस्तम्भितास्ताश्च	२।४	१२
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या	३०	७२
वर्तिः स्यान्मरिचार्धांश	९	६७
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या	३०	७३
वल्मीकमृत्तिका मूलं	२७	४९
वल्लीफलाद्यैर्वमनं	२०	२२
वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः	३०	३०९
वसां मेदश्च यावद्धि	३०	२२३
वस्तयः क्षीरसर्पींषि	३०	१९३
वस्तयः सर्पिषः पानम्	२४	२०४
वस्तयस्तक्रयोगाश्च	१४	२५२
वस्तिं सक्षीरगोमूत्रन्	५	१७८
वस्तिं समीरणे पित्ते	२६	२२०
वस्तिकर्म त्वधो नाभेः	२८	९९
वस्तिकर्म परं विद्याद्	५	१००
वस्तिदेशे विकुर्वाणे	११	७८
वस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भि	८	१८५
वस्तिभिर्गुटिकाचूर्ण	५	६१
वस्तिभिर्बद्धविड्वातम्	१८	३४
वस्तिमभ्यक्तगात्राय	१९	६७
वस्तिवंक्षणपार्श्वोरु	२९	८९
वस्ते सलिङ्गस्य गुरुत्व	२६	३५
वस्तौ च नाभ्यां हृदि	५	८
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यम्	३०	२८४
वाक्चेष्टितं मन्दमरो	९	१४
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिम्	२।१	८
वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्त	१५	२१७
वाजीकरणनित्यः स्यात्	२।१	२३
वाजीकरणमन्विच्छेत्	२।१	३
वाजीकरणसंयोगान्	२।१	२४
वाजीकरणसामर्थ्यम्	२।१	५२
वाट्यं पिप्पलीयूषेण	५	९८
वाट्यं वाऽऽमयवानाम्	२२	२८
वातं पित्तं कफं चाशु	१३	१३७
वातकफप्रबलं यद्	७	३८

	अ०	अंक
वातकृद्वा कफहरम्	१७	१४८
वातगुल्ममुदावर्तम्	५	९२
वातगुल्ममुदावर्तम्	५	९५
वातगुल्मे कफो वृद्धो	५	२९
वातघ्नमन्नपानं मृदु	२२	४०
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यै	१८	३३
वातघ्नैः शतपाकैश्च	३०	१०५
वातघ्नैः साधितः स्निग्धः	२९	१३६
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च	२८	१२६
वातघ्नौषधनिष्क्वाथम्	१८	१८५
वातजे श्रमजे चैव	३	२७२
वातपित्तं प्रकुपित	२१	३५
वातपित्तकफघ्नैश्च	१।३	५०
वातपित्तकफा नृणां	२६	२९१
वातपित्तकृतान् रोगान्	३०	५२
वातपित्तप्रशमन	२१	११७
वातपित्तहरी चापि	२३	२११
वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो	१८	१३९
वातपित्ते श्लेष्मपित्ते	७	२८
वातपित्तोद्भवक्षिप्र	१०	३०
वातपित्तोल्वणे ये तु	२१	९३
वातपूर्णदृतिस्पर्शः	२८	३७
वातमूत्रपुरीषाणाम्	३	१५२
वातरक्तस्य निर्दिष्टा	२९	१६५
वातरक्ते क्षतक्षीणे	२८	१०८
वातरक्ते प्रतिश्याये	९	३९
वातलाहारचेष्टाया	३०	९
वातव्याधिषु सर्वेषु	२९	१०१
वातव्याधिहरं कर्म	३०	४७
वातव्याधिहरं श्रेष्ठम्	२८	१६४
वातशङ्किभिरज्ञाना	२७	१६
वातश्लेष्मविकाराणाम्	१४	८८
वातश्लेष्मविबद्धत्वात्	८	५९
वातश्लेष्मविबन्धे वा	१९	११७
वातश्लेष्महरो ह्येष	१९	२९
वातश्लेष्मात्मके प्रायः	९	७६
वातश्लेष्मार्शसां तक्रात्	१४	७७
वातश्लेष्मोल्वणान्याहुः	१४	३८
वातस्थाने स्वेदो दध्ना	२३	६२
वातस्थाने हि तच्छैत्याद्	२७	२४
वातस्यानु जयेत् पित्तम्	१९	१२२
वातातिदुष्टे लिङ्गं च	३०	२३०
वातात् पित्तात् कफाच्च	१५	५८
वातात्पित्तात्कफात् प्लीहः	१३	५०

	अ०	अंक
वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्	८	५३
वातात्मिकायां हृदय	२०	२४
वातात् सकासवैस्वर्ये	२६	१३४
वातादयस्त्रयो दुष्टा	७	९
वातादिजाश्चतुर्थे	२३	२०
वातादिजास्त्रयो ये च	१८	४
वातादिभिः शोकभयाति	२६	१२४
वातादिष्वेव तान्विद्या	३०	२३१
वाताद्वातकफात्तन्द्रा	२८	५७
वातानुलोमनं यच्च	२८	२४४
वातान्विता हिताः शुक्रे	३०	१४९
वातार्तायाः पिचुं दद्याद्	३०	६१
वातासृक्पित्तबहुलम्	२१	९५
वातासृक्पित्तरोगेषु	११	७५
वातिकं वस्तिभूयिष्ठैः	१०	१५
वातिकः पैत्तिकश्चैव	२१	१३
वातिकान् दुर्बलान् बालान्	१७	९०
वातिकेभ्यो हितं मद्यम्	२४	२५
वातिके शिरसो रोगे	२६	१५८
वाते कफानुबन्धे तु	१८	१३२
वातेऽधिकतरे कुष्ठम्	७	२७
वातेऽधिकेऽम्लं लवणम्	२६	१७
वाते श्लेष्मावृते सामे	१५	९३
वाते स्याद्वमनं तत्र	२८	२११
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात्	१५	११९
वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं	७	३९
वातोदरं बलवतः	१३	५९
वातोल्बणं विरिक्तम्	७	४७
वातोल्बणविषाः प्राय	२३	१६५
वातोल्बणे तिक्तघृतम्	२१	४७
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च	१।४	१०
वामं कुक्षिं मापयित्वा	१३	१८५
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा	१३	३६
वायवः सुखसंस्पर्शाः	२।३	२८
वायुं सर्पिर्वसातैल	२८	७६
वायुना बलिना क्षिप्तम्	१६	१०
वायुरायुर्बलं वायु	२८	३
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद्	२८	६०
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया	३०	३०
वायोर्धातुक्षयात् कोपो	२८	५९
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु	३०	३००
वाय्वम्बुतेजसा रक्त	१५	२९
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः	१५	३३
वाराहे बहुशः [illegible]	[illegible]	[illegible]

	अ०	अंक
वारिविप्रहताः क्षीणा	२३	१६३
वारुणीमण्डनित्यस्य	८	१६४
वार्क्षोऽथवाऽऽजिनः क्षौमः	२५	९६
वार्ताककुलकव्योष	२६	१५६
वार्ताकैः कटुरोहिण्या	१६	१२३
वासां गुडूचीं त्रिफलाम्	३	२२२
वासां सशाखां सपला	४	८८
वासा त्रिफला पाने स्नाने	७	१२८
वास्तुको वायसीशाकम्	१८	८१
विकल्प्यमेतद्भिषजा	१६	११६
विक्षते वक्षसि व्याधि	११	८
विक्षिप्यामाशयोष्माणम्	३	२७३
विगतक्लमसन्तापम्	३	३२९
विचित्रविविधस्रग्वी	२४	१२
विचेताः परिशुष्कास्यो	१७	५४
विच्छिन्नमद्यः सहसा	२४	१९९
विजया मधुकं वीरा	२५	४७
विज्वरं ज्वरसन्देहम्	३	३
विज्वरत्वं लघुत्वं च	३	१४१
विट् श्यावं कठिनं रूक्षं	१४	१७१
विट्श्लेष्मपित्ताति	५	४
विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि	२०	१६
विडं कालोत्थलवणम्	१५	१७१
विडङ्गं नागरं रास्ना	१८	४७
विडङ्गं पिप्पली लोध्रम्	१४	१३१
विडङ्गं पृश्निपर्णी च	९	३७
विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठम्	१८	५२
विडङ्गतण्डुलचूर्णाना	१।२	९
विडङ्गान्यथ मुस्तं च	१६	१०३
विडङ्गांशयुतं चूर्णं	१३	८०
विड्वातकफपित्ताना	१४	१२०
विड्वातसङ्गे पयसा	१२	२८
विण्मूत्रयोस्तत् समवर्णं	२०	१७
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद्	१६	८
विदारिगन्धां बृहतीम्	१।१	४२
विदारीं मधुकात् सारम्	२३	२४६
विदारीक्षुमृणालानाम्	१८	९५
विदारीभिः कदम्बैर्वा	१८	१५४
विदाहलक्षणे गुल्मे	५	४२
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च	१४	१६
विदाहीन्यन्नपानानि	२१	११५
विदाहो वेदना मूर्च्छा	२९	२८
विद्यात् प्रमेहान् कफजान्	६	१०
[illegible]	१।२	४

	अ०	अंक
विद्याद्विसर्पमन्तर्जं	२१	२७
विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा	१।४	५३
विद्यासमाप्तौ भिषजो	१।४	५२
विधिना मात्रया काले	२४	२७
विधिभिर्वेदविहितैर्वा	२४	५
विधिर्वसुमतामेष	२४	२४
विधिवत्सूपसिद्धानि	८	१६२
विनश्यन्त्याशु सम्प्राप्ता	२३	१६१
विनीय चूर्णितात् तस्मात्	१५	८६
विनीय दारुणेष्वेतद्	२८	१४६
विनीय रक्तपित्तघ्नम्	४	६९
विपाचयेज्जलद्रोणे	२।१	२७
विपाट्यान्त्रं ततः पश्चात्	१३	१८६
विबद्धदोषो ज्वरितः	३	२०८
विबद्धवातवर्चास्तु	१९	४७
विभज्य शीतोष्णकृतम्	३	१७५
विभ्रान्तबहुदोषाणाम्	१०	४
विमानस्था ह्ययुक्ता वा	२८	१२
विमार्गाजपदादर्शैं	५	१४०
विरसं वातसंसृष्टम्	३०	२३९
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य	२८	९५
विरुद्धदुष्टाशुचिभोजना	९	४
विरुद्धाध्यशनक्रोध	२३	२२८
विरुद्धाध्यशनक्रोध	२९	७
विरूक्षैरपि न त्वेते	२६	२९३
विरेकवमनस्नेह	१५	४३
विरेकवमने चोभे	३	८०
विरेकार्थं प्रयोक्तव्यम्	२१	६५
विरेको मांसमेदःस्थे	२८	९३
विरेचनं चैषणपाटनं	१२	९७
विरेचनं प्रयुञ्जीत	४	५८
विरेचनाभ्यङ्गनिरूह	१२	९५
विरेचनैर्घृतक्षीर	२९	४५
विरेच्यः स्नेहयित्वाऽदौ	२९	४१
विरोधान्यन्नपानानि	७	४
विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं	१२	१००
विलीनं घृतवद्व्यायामो	१५	३५
विवर्जयेत् कुक्ष्युदरा	१२	८६
विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात्	३०	२४४
विविधं सर्पति यतो	२१	११
विविधान्यन्नपानानि	८	२८
विविधान् विविधव्याधि	२८	११९
विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा	१६	२३
विशाला त्रिफला कौन्ती	९	३५

	अ०	अंक
विशाला पिप्पली मुस्तं	१८	१२१
विशीर्यते मणिश्चास्य	३०	१७५
विशुद्धामाशयायास्मै	१५	७६
विशेषतः पुराणं च	९	५९
विशेषतः सिरायाम	२९	२५
विशेषतो विट्पथ	४	८६
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं	१६	८७
विशेषाद्रूक्षकटुक	२३	१२६
विशेषो दोषवैषम्या	२१	१४३
विशोषयेद्वस्तिगतं	२६	३६
विषघ्नौषधसंयुक्ता	२३	२२७
विषदूषितकफमार्गः	२३	६५
विषपीतदष्टविद्धे	२३	१०५
विषमं तिक्तशीतैश्च	३	२९५
विषमं बहु वाऽल्पं वा	१५	२३६
विषमज्वर एवान्य	३	७३
विषमज्वराजीर्णान्	२३	८४
विषमां कुरुते बुद्धिम्	१०	६०
विषमासात्म्यभोज्याति	१८	२४
विषमो धातुवैषम्यम्	१५	५०
विषवृक्षानिलस्पर्शात्	३	११७
विषवेगान्मदमूर्च्छा	२३	४३
विषस्य ये गुणा दृष्टाः	२४	९८
विषाणिकाजशृङ्ग्यौ च	३०	२७३
विषेणाशुप्रमाथित्वा	१३	१८०
विषे पक्वाशयगते	२३	१८५
विषेष्वपि च सर्वेषु	२३	१७२
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः	१३	३३
विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं	१४	२१
विसर्पः श्वयथुः शूलम्	२३	१५२
विसर्पो न ह्यसंसृष्टो	२१	१४२
विसूचिकाप्रतिश्याय	१५	१८५
विसूचिकामुदावर्तम्	१३	१६२
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि	३०	१९६
विस्तरेणैतदुद्दिष्टम्	३०	२०४
विस्तारोत्सेधसम्पन्नां	१।१	१९
विस्फोटकान्सपामा	७	१४९
विस्रावणं पिण्डिक	१२	९०
विस्राव्य च विमृद्यैत	१३	१९०
विहङ्गमांसानि च	२६	७२
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः	२।३	२५
विहरन्तं जितात्मानं	४	३
विहरन्तं तपोयोगात्	३०	४
वीरा बला विदारी च	८	७९

	अ०	अंक
वीरा शटी पुष्कराख्यम्	८	१०१
वृक्षाम्लं दाडिमाम्लं च	१९	२८
वृत्तभोगो महाकायः	२३	१३०
वृद्धये श्लेष्मणो नित्यम्	२७	२१
वृद्धिः पुरीषनिचयो	१३	१८
वृद्धिमायस्यतो याति	१७	३६
वृद्धौ किटिमे कुष्ठे	२३	७६
वृश्चिकाली च भार्गी च	१६	१२०
वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं	२३	१७३
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां	२३	२०७
वृश्चीर ऐन्द्री च पुन	२६	७०
वृषणौ वस्तिमेढ्रं च	२८	१०
वृषं समूलमापोथ्य	५	१२६
वृषं हयं वा धावन्तं	११	५
वृषकुटजसप्तपर्णाः	७	१५८
वृषमूलगुडूच्योश्च	२८	१७०
वृषस्य दधिमण्डेन	३	३०३
वृष्याणामाशुकृद्धेतु	१५	२४६
वेगसन्धारणाच्छुक्रम्	३०	१४४
वेगाघातात् क्षताच्चापि	३०	१३८
वेगोदावर्तनाद्योनि	३०	२५
वेतसार्जुनजम्बूनाम्	८	१२९
वेदनाभिः परीतश्च	२८	२६
वेदलोकार्थतत्त्वज्ञ	१७	३
वेपनाक्षेपशूलेषु	२८	१३४
वैकृतं पश्यतः कायम्	९	६९
वैखानसा वालखिल्या	१।१	५४
वैगुण्यं सहसा यान्ति	२४	७६
वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां	४	७९
वैरस्यं फेनसङ्घातो	३०	२३७
वैरेचनं मुखेनैव	१८	६७
वैरेचनिकधूमोक्तैः	९	७४
वैरेचनिकैर्धूमः	७	४९
वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपे	२६	११३
वैवर्ण्यभ्रमवेपथु	२३	१९
वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वर	२६	७८
वैश्रुत्यकण्डूस्थिर	२६	१२८
वैहायसे स्थापितमा	१२	३१
व्यक्ताम्लकटुकं जातं	१४	७४
व्यत्यासभावितोऽयं	२३	७२
व्यत्यासात्तां समस्तां	१५	१९६
व्यत्यासान्मधुराम्लानि	१४	२४३
व्यपेता जायते हिक्का	१७	३१
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने	७	८

	अ०	अंक
व्यवायमतिचेष्टाश्च	३	३३१
व्याकुलानामशक्तानां	२४	१०६
व्याधियुक्तस्य मन्दे तु	१५	२०८
व्याधीनामृत्वहोरात्र	३०	३०८
व्याध्युपक्षीणदेहस्य	२४	२००
व्याने कफावृते लिङ्गम्	२८	२२९
व्याने प्राणावृते लिङ्गम्	२८	२०३
व्यानेन रसधातुर्हि	१५	३६
व्यापन्नबहुमद्योष्ण	२१	१७
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु	२३	१३२
व्यायामं च व्यवायं च	३	३३२
व्यायामतीक्ष्णातिविरेक	२६	७७
व्यायामतीक्ष्णौषध	२०	७
व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्ष	२६	३२
व्यायाममतिसन्ताप	७	५
व्यायामयोगैर्विविधैः	६	५०
व्यायामविधिर्विविधः	६	६१
व्यायामशोधनारिष्ट	२९	१५७
व्यायामसन्धारणशुष्क	२६	७६
व्यायामाच्च विहाराच्च	१५	२३९
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं	१३	१००
व्योषं त्रिवृत्तिक्तक	१२	२१
व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे	१६	११९
व्योषं शिरीषपुष्पम्	२३	७१
व्योषं श्वदंष्ट्रात्रुटिसार	२६	५५
व्योषक्षारयुतं जीर्णे	१३	१५०
व्योषवचाभल्लातक	२२	४७
व्योषेण युक्तां लवणैः	२०	२५
व्रणाधिकारे सप्रश्न	२५	१२१
व्रणानां निजहेतूनाम्	२५	९
व्रणानामधिकं शूलम्	७	१२
व्रणानामादितः कार्यम्	२५	३८
व्रणःवचूर्णनं वर्ण्यम्	२५	४३
श		
शकृन्मूत्रालिनोद्गार	१४	१५७
शङ्खः प्रवालः शुक्तिर्वा	२१	८२
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीम्	२९	६२
शङ्खप्रवालवैदूर्य	२६	२४६
शङ्खमूर्धललाटार्तौ	२६	१३७
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी	२३	२०९
शटीं पलाशं हपुषाम्	१९	२७
शटीचोरकजीवन्ती	१७	१२३
शटीनागरजोदीच्य	१८	४९
शटीपलाशसिद्धां वा	१४	९२

	अ०	अंक
शटी पुष्करमूलं च	३	२११
शटीपुष्करमूलानाम्	१७	१२९
शटीपुष्करहिङ्ग्वम्ल	५	८६
शटीवचाजगन्धैला	५	७०
शट्याः पुष्करमूलस्य	८	१०८
शणबीजं यवान् कोलान्	१५	८३
शतधौतघृतेनाक्तः	२२	३१
शतपुष्पावरीभ्यां च	१९	६२
शतपुष्पावरीमूलं	२९	९२
शतपुष्पा समधुकम्	८	७७
शतावरीकाशकुश	२६	५०
शतावरीगोक्षुरकैः	४	८५
शतावरीघृतं तस्य	१९	९८
शतावरी जीवकपृश्नि	२६	८८
शताह्वा त्वग्बला मूलं	२६	१३५
शतावरीदाडिम	४	९५
शतावरी पयस्या च	२।१	२५
शतावरीविदारीक्षु	२६	१६९
शतावरीविदार्योश्च	२१	८४
शतावर्यृद्धिमृद्वीका	११	४६
शतावर्याः पयस्यायाः	१।४	१५
शतावर्या विदार्याश्च	२।२	६
शतावर्या विदार्याश्च	२।४	२८
शनैः सिद्धास्तथा शीताः	१६	१०४
शनैर्नामयितुं शक्यम्	२८	८०
शब्दादीनामशस्तानां	१।१	२०
शमयित्वा तमन्यस्य	३०	११६
शम्पाकं फल्गुमूलं च	१०	१९
शम्पाकलोध्रमयूर	२३	५७
शम्पाकेन त्रिवृतया	१८	१५१
शयनाच्छादनैरुष्णैः	२४	१३५
शरद्वसन्तयोर्विद्वान्	३	४८
शरादिपञ्चमूलस्य	१८	१००
शरीरं मन्दरुक् शोफं	२८	३६
शरीरकृतसंस्कारः	२४	११
शरीरदुःखं बलवत्	२४	१०१
शरीरबलदोषाणाम्	५	५८
शरीरावयवोत्थेषु	३०	२९५
शर्करां यवगोधूमौ	११	२९
शर्कराक्षीरकाकोली	३०	५१
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्व	३०	८९
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिः	१८	९३
शर्कराचन्दनद्राक्षा	१८	९०

	अ०	अंक
शर्करातृणकाष्ठास्थि	१३	४२
शर्करानागरोदीच्यम्	१८	१०६
शर्करापिप्पलीचूर्णम्	१८	१०४
शर्करापिप्पलीचूर्णैः	११	७९
शर्करामधुकोपेतम्	१३	१०३
शर्कराम्भोऽनुपानार्थम्	१८	९८
शर्करायाश्च चत्वारि	८	१४३
शर्करायाश्च भिन्नाया	१४	१६३
शर्करायास्तुगाक्षीर्या	२।१	३०
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः	२।२	१६
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः	२।४	३१
शर्करायास्तुलां प्रस्थं	१६	१०८
शर्करायास्तुलैका स्या	२।४	२५
शर्करार्धतुलां शीते	११	६४
शर्कराष्टपलोन्मिश्रा	१६	७९
शशः सवास्तुकः शस्तो	४	४९
शशपक्षिमृगाणां च	१९	७३
शशहरिणलावमांसैः	१४	२०६
शशान् कपिञ्जलानेणाँ	२४	१३८
शशान् कपिञ्जलानेणान्	३०	२६०
शश्वत् स्रवत्यथास्रावम्	३०	२२४
शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां	९	४१
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु	२६	२६०
शस्यते घृतमेतत्तु	१०	२४
शस्यते शिशिरं तोयम्	२४	१६३
शाकं गाढपुरीषाय	१३	१६८
शाकार्थे शाकसात्म्यानां	४	४०
शाखानिलं बद्धपुरीष	१२	३८
शाखानुसारी रक्तस्य	३	२९०
शाणार्धं मरिचाद् द्वौ	२६	२४७
शाद्वलं च मृणालं च	२१	७५
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च	९	९०
शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते	१५	४
शारीरो जायते पूर्वम्	३	३६
शार्करं मधु वा जीर्ण	२४	१६९
शालपर्णी पृश्निपर्णीम्	१९	२६
शालयः षष्टिका वा स्युः	३०	२५७
शालयः षष्टिकाश्चैव	२३	२२४
शालयो जाङ्गलं मांसम्	५	१३३
शालाक्यतन्त्रेऽभिहितानि	२६	१२३
शालिषष्टिकनीवार	४	३६
शालीक्षुमूलानि यवास	४	१०३
शाल्मलीत्वग्बलामलम्	२५	६३

	अ०	अंक
शिखिबर्हविचित्रार्चि	२३	१०९
शिखिबर्हिबलाकास्थी	२३	९८
शिथिलं श्वेतपीतं च	१४	१७३
शिरःपार्श्वासशूलघ्न	८	९२
शिरःपार्श्वासशूलघ्नम्	८	९८
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां	२४	१०२
शिरसः पीडने स्रावे	१८	६५
शिरीषपुष्पस्वरसः	७	११४
शिरीषबीजं कुष्ठं च	१४	५३
शिरीषबीजं चोन्माद	९	६६
शिरीषफलमूलत्वक्	२३	२१८
शिरोगते तु सकफे	२८	१९३
शिरोगते विषे नस्तः	२३	१८१
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः	३	८७
शिरोरुक् पर्वणां भेदो	३	८५
शिरोरुग्वेपथुः श्वासः	३	९९
शिलाजतुप्रयोगेषु	१।३	६२
शिलाजतुविधानेन	१३	१५३
शिलाह्वयं वा भिषग	२६	९९
शिवं शिवाय भूतानां	३	२३
शिशिरस्नातस्योष्मा	२२	२३
शिशिराम्बुचन्दनार्द्र	२२	३८
शीघ्रं व्यवायिभावादा	२३	२६
शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं	५	१४
शीतं मधुयुतं प्रातः	१६	६४
शीतको गौरवं तन्द्रा	३	१००
शीतप्रियत्वं गलता	६	१४
शीतरसः पक्वरसो	७	४४
शीतरूक्षाल्पसङ्क्लिष्ट	३०	१५८
शीतलान्यन्नपानानि	२४	१५२
शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः	२५	१४
शीतवीर्यं यदन्यच्च	२४	१५६
शीताः प्रदेहाः परिषेच	२६	९०
शीतानि चान्नपानानि	३	२६६
शीतानि चान्नपानानि	९	७७
शीताम्बुसेकः सहसा	१७	१३७
शीतोपचारैर्विविधै	२४	२२
शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि	१४	६०
शीलवान्मतिमान् युक्तो	१।४	५१
शुक्ततिक्तकटुक्षौद्र	२३	१८७
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य	१५	८९
शुक्रं तस्माद्विशेषेण	३०	१८७
शुक्रं मलाश्चैव पृथक्	२६	४२

	अ०	अंक
शुक्रं रूक्षं यथा काष्ठं	२।४	४२
शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु	३०	१३९
शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं	३०	१९२
शुक्रलैर्जीवनीयैश्च	२।३	६
शुक्रस्थानगतः शुक्र	३	८२
शुक्रावसानस्तेभ्यो	३०	१८५
शुक्रेण संरुद्धगति	२६	४१
शुक्लफेनाङ्गवक्त्रः श्र	१०	११
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं	१६	२५
शुक्लोपदेहं बहुपिच्छि	२६	१३०
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य	११	८९
शुद्धं रूक्षाशयं बद्ध	१५	८०
शुद्धं संसृज्य च क्षीरम्	१३	६२
शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा	१।१	२८
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारी	२।१	१६
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं	५	४८
शुद्धस्याचारविभ्रंशे	९	२९
शुद्धा उत्कारिकाः कार्या	२।४	३५
शुद्धानां क्षामदेहानां	१३	१०८
शुद्धाय काले मधु	२०	२७
शुद्धे मार्गे हते दोषे	३	२४४
शुद्ध्यामयाभक्तकृशा	१२	५
शुद्ध्या शोणितमोक्षै	७	१७२
शुनः स्कन्धास्थिनखराद्	१०	३८
शुश्रूषते वचः श्रुत्वा	१०	५६
शुष्कमूलककल्केन	२१	१२४
शुष्कमूलककौलत्थै	१६	१२९
शुष्कमूलकयूषं वा	१४	९३
शुष्कमूलकयूषश्च	५	१६५
शुष्कमूलकयूषेण	१५	१४४
शुष्कमूलकशुण्ठानाम्	२६	२२६
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात्	३०	२६५
शुष्यतां क्षीणमांसानाम्	८	१४९
शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः	१६	३७
शूनपादकरः सास्थि	१५	५४
शूनाक्षं कुटिलोपस्थ	१३	५२
शूनाक्षिकूटो हरितः	१६	१५
शूना स्पर्शाक्षमा सार्ति	३०	२४
शूने सवेदने मेढ्रे	१८	१५५
शूलं चामाशये तत्र	२८	२०६
शूलं तु पीड्यमाने च	२८	६८
शूलगुल्मोदरश्वास	१५	९१
शूलानाहविबन्धार्तम्	५	९९
शूलानाहविबन्धेषु	५	३०

	अ०	अंक
शूलानाहविबन्धेषु	१३	१५५
शूलाविपाकारुचिदाह	२०	१५
शूलैनैषोऽर्दिताङ्गानाम्	२९	१४४
शृङ्गाटकं तामलकीम्	११	३७
शृङ्गाटकं पद्मबीजम्	१८	८७
शृङ्गाटकं विदारीं च	२।२	२२
शृङ्गाटकानां लाजानाम्	४	७१
शृङ्गालाबुजलौकोभिः	८	८२
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा	२।१	६३
शृतं पयः पिबेत् कासी	१८	१०२
शृतशीतं जलं दद्यात्	३	१४६
शृतशीतं ससितोपल	२२	२७
शृताञ्छ्लेष्मातिसारेषु	१९	१०७
शृतैर्नागरदुःस्पर्शा	१८	१५९
शैलोर्मूलत्वगग्राणि	२३	१८७
शोषत्वादायुषस्तानि	१४	२९
शेषे कृते पाकवशेन	१२	८४
शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा	३	९२
शैरीषी त्वक् पुष्पम्	७	९६
शैलस्य जतुनोऽत्यर्थम्	२८	२४२
शैलेयकुष्ठागुरुदारु	१२	६५
शैवलपङ्काम्बुरुहैः	२२	३७
शोकजे बाष्पबहुलम्	३	१२३
शोकात्क्रोधाद्दिवास्वप्नाद्	२५	३४
शोकारतिभयोद्वेग	२४	९
शोकोद्वेगारतिभयै	२।१	१३
शोथः सञ्जायते तेन	३	२८८
शोधनौ रोपणीयौ च	२५	४१
शोधयेद्बहुदोषांस्तु	२५	४५
शोफः श्वेतासिता रक्ताः	२३	१४६
शोफगौरवकण्ड्वाद्यै	२९	१४५
शोफघ्नं षड्विधं चैव	२५	४०
शोफास्तु गात्रावयवा	१२	७४
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च	११	२४
शोषयन्त्याशु तत्राशा	३०	१९०
शोषातिसारौ श्वयथुम्	१५	१९३
शोषिणे बार्हिणं दद्यात्	८	१५०
शोषी मुञ्चति गात्राणि	८	८८
शोषेण सानुबन्धं वा	४	६४
शौचानुरागयुक्ताभिः	२४	१७
श्मशानचैत्यवल्मीक	२३	१५९
श्यामात्रिवृद्दिपक्वं वा	१५	२३१
श्यामात्रिवृन्मागधिकां	२६	१२
श्यामापामार्गकारञ्ज	१०	४४

अ० अंक
श्यावं किणखरस्पर्शम् ७ २२
श्यावत्वमथ कार्ष्ण्यं वा २३ १४९
श्योनाकं खदिरं बिल्वं २७ ५६
श्रावणीक्षीरकाकोली २९ ५५
श्रिया परमया ब्राह्मया २७ ३
श्रीवेष्टकध्यामक १२ ६६
श्रूयतां विधिवत् सौम्य ! २५ ६
श्रेष्ठं गन्धकयोगात् ७ ७१
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वात् १५ ११८
श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च ३० २६४
श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुर १९ ७
श्लेष्मणा रुद्धमार्गे तत् १६ १२५
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने २८ २३१
श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन ८ १२१
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु १७ ५८
श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्य २४ २०१
श्लेष्मलायां कटुप्रायाः ३० ८५
श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं १६ ११७
श्लोकार्धविहितान् दद्यात् १९ ११२
श्लोकार्धैर्विहितानेतां ८ १०२
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां ३ १८२
श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च २।३ १४
श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठा ११ ४४
श्वयथुं सपाण्डुरोगम् ७ ६७
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः १३ ५३
श्वयथुर्भ्रं शरुक् तोद २९ २७
श्वयथावविपाके च १३ १६५
श्वसिंहव्याघ्रगोमायु २३ १०
श्वासं विड्भेदमरुचिम् ८ २६
श्वासः कासः प्रतिश्यायो ३ १०१
श्वासकासपरीतस्तु ३० २४८
श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु २३ १७५
श्वाविज्जाण्डकचाषाणां ११ ११८
श्वाविधं शशमांसं च १७ ११२
श्वाविधः सूचयो दग्धाः १८ १७०
श्वासज्वरारोचकमेह १२ ५२
श्वेतं ताम्रं तनु च य ७ १९
श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानम् ७ १६
श्वेतकटभीकरञ्जौ २३ ७९
श्वेतकरवीरकरसो ७ १०५
श्वेतकरवीरपल्लवा ७ १०६
श्वेतकरवीरमूलम् ७ ९४
श्वेता वचाऽश्वगन्धा २३ ७०
श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽति २५ २४

अ० अंक
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि १।३ २९
श्वित्राणां सविशेषम् ७ १६२
श्वित्रे कुष्ठे सरुजके १३ १३६
श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा ७ १६४
श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं ७ ३६

ष

षट्पलं पाययेत् सर्पिः १३ ७८
षट्पलं मधुनश्चात्र १।२ ६८
षट्पलं शृङ्गवेरस्य २८ १४७
षड्भिः केचिदहोरात्रै १५ २१
षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धम् १९ ८२
षड्विरेकाश्रितीयोक्तै ३० २६९
षष्टिकान्नेन संयुक्त २।२ २३
षष्ठे हिक्का भङ्गः स्कन्ध २३ २१
षाडवोऽयं प्रदेयः स्या ११ ९०
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता २५ ३१
षोडशोपद्रवा ये च २५ ११९
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य ३ १०६

स

संज्ञां मुष्णाति गात्राणां १७ २४
संज्ञानाशोष्णनिःश्वासौ २३ १६८
सकफे तु प्रवक्ष्यामि २१ ८७
सकफेऽनिलजे कासे १८ ४८
सकाकमाची बृहती १२ ७३
सकृदुष्णं सकृच्छीतं १७ १३४
सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धम् १५ १९९
सकोलमूलकरसम् ५ ७२
सक्तवो मधुकं सर्पिः २५ ४८
सक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा १४ ४२
सक्तूनां वस्त्रपूतानाम् ११ ८१
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थम् ११ १२
स क्षारः सर्पिषा पीतो १५ १७८
सक्षारैरर्धपलिकै १३ ११३
सक्षीरं वायुना भग्ने २८ १७१
सक्षौद्रं खदिरारिष्टम् २३ १८८
सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वा २७ ३५
सक्षौद्रं पयसा सिद्धम् ८ १६८
सक्षौद्रं मात्रया तच्चा २७ ४४
सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा १९ ५१
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् २७ ३३
सक्षौद्रास्त्रिफलापाठा २६ २०५
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डै २१ १२९
सगुडां पिप्पलीयुक्ताम् १४ ११९

अ० अंक
सगौरवं स्यादनव १२ ११
सघृतं लवणैर्युक्तम् १५ २०५
सङ्कथाहास्यगीतानां २४ १९३
सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गी २३ १३
सङ्ख्या निमित्तं रूपाणि १८ १९१
सङ्ख्यामप्यतिवृत्तानां २८ १३
सङ्गृहीतो यदा गुल्मो ५ १३९
सचव्यपिप्पलीमूलम् १९ ४४
सचव्यपिप्पलीमूला ५ ८७
स च सप्तविधो दोषै २१ १२
सचित्रकं धान्ययवान्य १२ ५५
स चेदेवमुपक्रान्तः २५ ४९
सजाम्बवं वा बदराम्ल २० ३८
सज्वरो ज्वरमुक्तश्च ३ ३३०
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तम् ३ ४४
सञ्चितः क्रमशो गुल्मो ५ १६१
सञ्चूर्ण्य मधुना युक्ता ११ २२
सञ्जातबलकायाग्निम् १३ ६९
सञ्जृम्भन् सङ्क्षिपंश्चैव १७ २८
सतिला सातसीबीजा २५ ५१
सतैलमाक्षिकास्त्वेते २६ २१८
सतैललवणं दद्या १३ ९०
सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते २४ ७१
सत्यमेते महादोषा २४ ५८
सत्यवादिनमक्रोधम् १।४ ३०
सत्येनाचारयोगेन ८ १८८
सत्र्यूषणं बिल्वपत्रम् १६ ५९
सदधिर्व्योषसर्पिष्को १७ १००
सदा रूक्षोपचाराय २७ २६
सदाहरागः श्वयथुः २६ ११९
सदाहा वेदनावन्तो २५ ७४
स दूष्यः सर्वभूतानाम् २४ ५१
सदेवदार्वेलं मांसीम् १७ ७८
सदोषशब्दं च शकृद् ३ ३२६
सद्यः प्रस्राविणी श्यावा २३ १५८
सद्यः शुद्धशरीराणाम् ३५ ३९
सद्वाक्यैश्च समं याति ३ ३२२
सनागरं चित्रकं वा १४ ६८
सनागरं पर्पटकं पिबेद् ३ १९८
सनागरं पिबेत् पित्तम् १६ १३०
सनागरं समृद्धीकम् ३ २३७
सनागरानिन्द्रयवान् ८ १२५
सनागराभिः सर्वाभि २४ १६६
सनातनाय कृष्णाय २३ ९२

अ० अंक
स नाम्ना केन विज्ञेयः २१ ८
स नास्त्यसृक्कषायश्च १६ ३३
सनीलमथवा पीत ३० २१५
सन्तर्पणोत्थेषु गदेषु ६ ४९
सन्तानमूलं येनेह १।१ १२
सन्तापः सारुचिस्तृष्णा ३ २६
सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यः ३ ४१
सन्ति चाल्पाश्रयाः स्त्रीषु २।४ ५
सन्दधीत समं वैद्यो २५ ६६
सन्धारणाजीर्णरजो २६ १०४
सन्धुक्षति तथा वह्नि १५ २०१
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो ३ ४०
सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं ३ ९४
सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं ३ १०३
सन्निपातज्वरस्योर्ध्वम् ३ ९०
सन्निपातज्वरो घोरः ३ ११९
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः ३ ११०
सन्निपातभवे कार्या २६ १८३
सन्निपातभवोऽप्येष १८ १८८
सन्निपातसमुत्थायाः ३० ८६
सन्निपाते तु सर्वैः स्याद् २६ २३६
सन्निपाते विमिश्रं तु ३० ४३
सन्निपाते हिताः सर्वाः २६ २९०
सन्निपातोदरे सर्वा १३ ७४
सन्नो रक्तविवद्धत्वात् ८ ५५
सपञ्चवल्ककुलक ३० ७४
सपयः शर्कराक्षौद्रम् ३० ९०
स पाण्डुरोग इत्युक्तः १६ १२
सपिच्छिलापरिक्लिन्ना ३० १२३
सपिप्पलीकं सयवम् ८ ६७
स पिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो १६ १३५
स पीतो हरिताभो वा १६ २०
सपुष्कराह्वं फलपूर २६ ८४
स पूर्वं कासते शुष्कम् १८ २१
सपूर्वरूपाः कफपित्त ६ ५६
सप्तकृत्वः सुतस्यास्य १५ १७२
सप्तच्छदं प्रतिविषाम् ७ १४४
सप्तच्छदारग्वधके २६ ५७
सप्तच्छदार्कपल्लव ७ ११२
सप्तच्छिद्राणि शिरसि ४ १६
सप्तपर्णश्च सङ्क्षुण्णा ७ १५४
सप्तभिर्देहधातारो १५ १५
सप्तरात्रं गवां मूत्रे १६ ६९
सप्ताहमुष्णे द्विगुणम् १२ ३३

अ० अंक
सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवा १२ २६
सप्ताहं वा दशाहं वा १४ ७८
सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्र ३० ७७
सप्ताहादिषु कालेषु ३ ५८
सप्तोत्तरं मर्मशतम् २६ ३
सप्रत्यनीकः कुरुते ३ ६२
सप्रत्यनीको जनय ३ ६४
सप्रलापभ्रमश्वास ३ ५२
समङ्गाः शाल्मलीं बिल्वं २७ २९
समङ्गाधातकीयुक्तै २५ ६७
समङ्गामधुकाभ्यां तिल १४ २२०
समधातोः पचत्यन्नम् १५ २३५
समवृच्छिष्टमाञ्जिष्ठम् २९ १२३
समनःशिलं विडङ्गम् ७ १६७
समप्रकोपौ दोषाणाम् ५ १३६
समर्थानामरोगाणाम् १।४ २७
समश्नतः सर्वरसान् २० १४
समांशैः साधितं कल्कै ३० ५९
समाक्षिकं कौडविकन् ११ ५१
समानं शमयेच्चैव २८ २२०
समानसत्त्वा या वश्या २।१ ११
समानेनावधूतोऽग्नि १५ ७
समानेनावृते व्याने २८ २१४
समासव्यासभेदेन ३० १३२
समासात् सर्वरोगाणाम् ३० २८७
समीक्ष्य देहदोषाग्नि ३० १९४
समुद्भ्रमं बुद्धिमनः ९ ८
समूढचेता न सुखम् ९ ७
समूलफलपत्रायाः १८ १२५
समूलां पिप्पलीं क्षारौ १५ १६८
समूलां पिप्पलीं पाठा १५ १७३
समूलाग्रच्छदैरण्ड २९ १४१
समेन सममन्नेन २५ ६१
सम्पूर्णैः स्नेहपानैः २५ १२
सम्पूर्णरूपं क्षयजं १८ १४९
सम्पूर्णैर्मन्दविचेष्टि ९ १३
सम्प्रधार्य बलं तस्या ३० ३१४
सम्भज्यते सीदति २८ ६७
सम्भूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः १६ १३
सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा १५ २१३
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय २९ ६७
सम्यग्विरिक्तां मतिमान् ३० २५६
स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्वि ८ १२
सयावशूकैः सक्षीरैः ८ १७०

अ० अंक
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दि १६ ३८
सरलागुग्गुलुयवैः ३० १२१
सरलागुरुपाठाश्च २७ ४२
सरागे सरुजे दाहे २९ १३१
सरिद्ध्रदानां हिमवद् ४ १०९
सरुजं नीरुजं वाऽपि ३० ३४
सरुजः कठिनाः स्तब्धाः २५ १११
सर्पकीटविषार्तानाम् २३ २४२
सर्पत्यम्बुधरापाये २३ ८
सर्पदंष्ट्राक्षतस्त्रस्तु २३ १३७
सर्पाः कीटोन्दुरा लूता २३ ९
सर्पाणामेव विण्मूत्रात् २३ १४०
सर्पिः पयो रसाः शालि ३० १५२
सर्पिः सदाडिमरसम् १४ १९८
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या १८ १५२
सर्पिर्गुडाः क्षीरविधि २० ४७
सर्पिर्गुडान् समध्वंशा ११ ५५
सर्पिरेतेन सिद्धं वा ९ ७३
सर्पिरेरण्डजं तैलम् ५ १५०
सर्पिषः कुडवश्चैक २।३ १७
सर्पिषश्च पलं दद्यात् १।३ २६
सर्पिषश्चाढकं दद्यात् २।१ २९
सर्पिषा कफवातार्शो १५ १९२
सर्पिष्पानादि तस्येह ९ ८९
सर्पिष्पानादिरागन्तो ९ ३३
सर्पिष्मतीं पिबेत् पेयाम् ३ १८५
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा १८ ११९
सर्पिस्तैलवसापूप २५ २७
सर्पिस्तैलवसामज्ज २९ ४४
सर्पींषि तिक्तकानि ७ ५९
सर्पींष्युपरिभक्तानि २६ २८३
सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण ९ ८२
सर्पो गोधेर(य)को नाम २३ १३४
सर्वं तदत्यग्निहितम् १५ २३३
सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठम् ७ ३१
सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु २६ ५८
सर्वं मदात्ययं विद्यात् २४ १०७
सर्वग्रहा न तत्र २३ ८९
सर्वजित् पीनसे दुष्टे २६ १५७
सर्वतः सुविशुद्धस्य १० १६
सर्वत्र गुल्मे प्रथमम् ५ ११३
सर्वदेहगतं शुक्रम् १५ २६
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ३ ५४
सर्वदेहाश्रितं क्रोधा २३ १६४

	अ०	अंक
सर्वप्रजानां पितृवत्	५	३
सर्वभूतहितार्यषिः	१३	८
सर्वरोगप्रशमनम्	११४	२४
सर्वलोहैः सुवर्णेन	११३	४६
सर्वविषघ्नो जयकृद्	२३	५८
सर्वविषशोथगुल्म	२३	१०३
सर्वव्यापत्सु मतिमान्	३०	११५
सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा	८	६३
सर्वस्थानावृतेऽप्याशु	२८	२४०
सर्वाणि रूपाणि तु	२६	१०७
सर्वाणि रूपाणि तु	२६	१२२
सर्वाण्येकैकशो वाऽपि	१७	११९
सर्वातिसारग्रहणी	१५	११५
सर्वान्नसेविनं सर्वे	१६	२६
सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्ग	२१	४१
सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोग	२२	१८
सर्वेऽगदा यथादोषम्	२३	२०८
सर्वे शरीरदोषा भवन्ति	११२	३
सर्वेषां चाशंसां क्षेत्र-गुद	१४	६
सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः	१७	१४९
सर्वेषु मेहेषु मतौ	६	३३
सर्वेष्वपि तु खल्वेषु यो	९	२२
सर्वैरथैस्त्रिभिर्वाऽपि	८	४७
सर्वैरेतैः समस्तैस्तु	१०	१२
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः	१८	१७५
सर्वैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान्	७	३७
सर्षपकरञ्जकोषात	७	११९
सर्षपतैलं कल्कैरेतै	७	११०
सर्षपमसूरमापमुद्ग	१४	१०
सर्षपाः सयवाः सर्पि	३	३०८
सलिङ्गभेषजं सम्यग्	२८	२१७
सलिलाढकसिद्धानाम्	७	१४१
सवातघ्नौपधैर्नाडी	३०	४८
स विमुक्तग्रहश्चन्द्रो	८	१०
स वृद्धिं वलकालं च	३	६९
सवेतसाः क्षीरवताम्	१२	६८
सव्यथाशोफवैवर्ण्यम्	३	११४
सव्योषक्षारलवणम्	५	१४२
सशर्करं शार्करं वा	२४	१३७
सशर्करां तामलकीम्	१७	१३०
सशर्करैः कषायैश्च	३०	७६
स शिरःस्थः शिरःशूलं	८	१६
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात्	३	५५
सशुण्ठिपीतद्रुरसम्	१२	२५

	अ०	अंक
सशेषः स्यात् क्रिया तत्र	२८	१९४
सश्वेतं रक्तपर्यन्तम्	७	१८
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्य	६	२१
ससर्पिर्लवणां कासे	१८	१८३
ससेवनीमेहनवस्ति	२६	३८
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्त	२४	१२२
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तां	१४	९७
सस्नेहैः सरुजं गात्र	२८	११५
सस्नेहैर्वस्तिभिर्वाऽपि	५	५४
सस्यसम्बोधकं वर्षम्	२४	७२
सहजानि त्रिदोषाणि	१४	२८
सहते नातिसौहित्य	१३	१७
स हन्याज्जाङ्गलरसै	१३	८३
सहसाऽत्यभ्यवहृतैः	१७	३८
सहसैव नरास्तेन	२१	७
सहसोत्पततो दूरम्	११	७
सहस्रधौतं सर्पिर्वा	२	२५७
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्का	८२	१६२
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छिद्य	१८	६८
संयोगाद् दूषणात्तत्तु	४	९
संयोज्य मसृणे क्षीरे	२१४	२४
संवत्सरं पयोवृत्ति	११३	९
संवत्सरप्रयोगेण	११३	४७
संवत्सरान्ते पौपीम्	११३	१०
संशोधनं नार्हति यः	६	१८
संशोधनोल्लेखन	६	२५
संशोधिते स्वेदितमश्म	१२	८२
संसर्गमन्निपातानाम्	३	१११
संसृज्यमानं पित्तेन	१५	४७
संसृष्टं कफवाताभ्याम्	४	१९
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्	४	१३
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतद्	२८	१४०
संरत्यानदोषे शिरसि	२६	१०५
संस्थाने पीडने गत्याम्	२७	१८
संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणाम्	२४	१५५
संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु	२६	१११
संस्वेद्य विधिवद्वैद्यो	३०	२५२
सा कुटी न च शयनम्	३	२६९
सातलात्रायमाणाभ्याम्	१३	७०
सातिविषा कुटजत्वक्	१४	१८७
सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते	३०	३२०
साधयित्वा घृतप्रस्थम्	२१४	२९
साधयित्वा भिषग्दद्यात्	२८	२७७
साधयेच्छुद्धशुष्कस्य	५	२४

	अ०	अंक
साधयेत्तद् घृतं सिद्धम्	५	१२५
साधितं योनिवातघ्नम्	३०	५४
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रम्	७	१७९
साध्यमौदुम्बरे पात्रे	११२	५१
साध्याः कफोत्था दश	६	७
सान्द्रं गोधूमचूर्णानाम्	२१४	३४
सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहम्	४	११
सान्द्रीभूतं च तं कुर्यात्	२१२	८
सामुद्रे हिक्किने देयम्	३०	३०१
सामे वा सकफे वाते	१५	१०१
सामे सातिविषं व्योषम्	१५	१०५
सारिवां पौष्करं मूलम्	१८	१७७
सारिवा पद्मकिञ्जल्क	२१	७६
सारिवोशीरमञ्जिष्ठा	३०	२७५
सारोदकं वाऽथ कुशो	६	४६
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य	१७	२५
साश्वकर्णैः श्वतात् क्षीरा	११	३२
साश्वगन्धैः सगोमूत्रैः	१३	१०९
सांसर्गी क्रियमाणायां	१९	६१
सा स्यात् सशब्दरुक	३०	११
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य	२११	१५
सास्रावे कलुपे रक्ते	३	१०४
सिद्धानृक्षांस्तारकांश्च	८	१५३
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनम्	२८	२०९
सिताकाश्मर्यमधुकै	२८	९६
सितादशमूलनिश्रा	३०	६७
सितापलानि पूते च	११	५८
सिता वैगन्धिको द्राक्षा	२३	२२३
सितोपलां तुगाक्षीरीम्	८	१०३
सितोपलापलशतम्	२१४	३३
सितोपलामाक्षिकपिप्प	२०	२८
सितोपलासदृशं च	२११	५०
सिद्धं तदशभिः कल्कैः	२८	४५
सिद्धं देयं त्रिदोषे स्याद्	२९	११८
सिद्धं पलाण्डुशाकम्	१४	२०४
सिद्धं ससैन्धवं तैलम्	२६	१४१
सिद्धमभ्यञ्जनं तैल	१०	३६
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं च	१५	९२
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो	५	७५
सिद्धविद्याधराकीर्णे	१३	३
सिद्धशीते सिताक्षौद्र	११	५१
सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते	५	१६१
सिद्धानि तैलानि घृतानि	६	३४
सिद्धार्थकं नाभिनवम	२१४	२६

	अ०	अंक
सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि	५	६५
सिद्धानां सर्पिषामेषा	८	१७२
सिद्धार्थता चाभिनवश्च	२१३	३०
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो	११४	६४
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ	१८	१६०
सिद्धेऽस्मिन् कुडवम्	११	७४
सिद्धोऽयमभयारिष्टः	१४	१४३
सिद्ध्यर्थं प्राक्प्रयुक्तस्य	३०	३२९
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थम्	२८	१२७
सिरामोक्षैर्जलौकोभि	२१	११९
सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं	५	१८४
सीदत्याद्ये भ्रमति च	२३	२२
सीधुमाधवमाध्वीकैः	२६	१९०
सुकुमारकमित्येतद्	२९	१०२
सुखप्रपानं सुमदम्	२४	७५
सुखशिक्षितहस्तानाम्	२४	१८८
सुखशीलाः सुसम्भाषाः	२४	८०
सुखसाध्य कृच्छ्रसाध्यो	२१	९
सुखाः सहायाः परपुष्ट	२१३	२९
सुखोपभोगता च स्याद्	३०	३३३
सुखोष्णं घृतमण्डं वा	१७	१३२
सुगन्धिमाल्यगन्धर्वम्	२४	७४
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे	२११	४०
सुचौक्षे मार्तिके कुम्भे	११४	२१
सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं	५	१५३
सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः	१४	२३९
सुनिषण्णकनिम्बार्क	२७	२७
सुनिषण्णकवेत्राग्र	२९	५२
सुपिष्टैः पलिकैः पानात्	२८	१३८
सुमनः कोरकाः शङ्ख	२६	२४१
सुरदारुकनककुङ्कुम	२३	७८
सुरसस्य च पत्राणि	२६	२६९
सुरां सहपुपापाठाम्	१४	६९
सुरामाध्वीकसीधूनाम्	८	१४०
सुरासौवीरकाभ्यां च	१३	११८
सुराह्वं चित्रकं कुष्ठम्	२७	३७
सुरैः सुरेशसहितैर्या	२४	३
सुवर्चला गृञ्जनकम्	१२	६३
सुवर्चलायाश्चक्षोर्वा	१९	३२
सुवर्चलारसो दुग्धम्	१७	११३
सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः	२३	१७१
सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा	१९	६५
सुसंस्कृतावस्तित्तिरि	२०	२३
सुस्निग्धैरम्ललवणै	१३	१७४

	अ०	अंक
सुहृदश्चानुकूलास्तम्	१०	६३
सुहृदां रमणीयानाम्	८	१८६
सूक्ष्मं ताम्ररजस्तस्मै	२३	२३९
सूक्ष्मानना बहुस्रावाः	२५	८०
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभि	१८	२२
सृजत्यार्तवगर्भौ च	२८	११
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ	३	१८१
सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै	३	२०
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे	३	३१६
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्न	२९	४२
सेकावगाहाः शिशिराः	२६	४९
सेके प्रदेहे शस्यन्ते	२४	१६२
सेवया वसनानां च	२४	१८७
सेव्यं पिवेत् काञ्चन	२०	३२
सैन्धवं त्रिफला व्योषम्	२६	२४२
सैन्धवं पिप्पलीं भार्गीम्	१८	६३
सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा	२६	२५१
सैन्धवदन्तीमरिचम्	७	४८
सैन्धवौद्भिदसामुद्र	१५	८५
सोऽजीर्णे नीलपीताभम्	१५	६६
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य	५	५०
सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति	३०	३२४
सोऽभिभूतोऽतिमहता	८	८
सोऽभिपङ्गाज्ज्वरो ज्ञेयो	३	११५
सोपद्रवं साङ्गशूलम्	२९	९५
सोपधाने सुसंस्तीर्णे	२४	१४
सोमराज्यसनः शक्रम्	२६	२७२
सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च	२३	२२०
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को	१६	६
सोऽहं जयजयापुत्रो	२३	९१
सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च	२९	१३
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येव	२४	३४
सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेद	२३	२३३
सौम्यासौम्यकथाप्रायम्	२४	७७
सौवर्चलं नागरं च	१७	१०९
सौवर्चलं पुष्कराख्य	१४	६३
सौवर्चलं विडं पाक्यम्	१५	१०९
सौवर्चलयवक्षार	१८	१२६
सौवर्चलयवक्षार	२६	२२७
सौवर्चलमजाजी च	२४	१७७
सौवर्चलानुसंविद्धम्	२४	१११
सौवर्चलाभयाधात्री	१८	१२२
सौवर्चलैलामरिचै	२४	१८१
सौवर्णे राजतेश्चापि	२४	१५

	अ०	अंक
सौवीरकं तुषोदक	७	४५
सौवीरमञ्जनं तुल्यम्	२६	२५०
सौहित्यमेषां गत्वा तु	११३	१४
स्तनयोः पूर्ववत् कार्यम्	३०	२६७
स्तन्यानि जीवनीयानि	२५	९९
स्तब्धं गुरु स्यात् स्तिमि	२६	८०
स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो	२५	११
स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वम्	१९	४६
स्तब्धश्च शूनो भृश	२६	४३
स्तब्धानि सुप्तसुप्ता	७	५६
स्तम्भं पिपीलिकासृप्ति	३०	१०
स्तम्भतोदरुगायाम	२९	१३८
स्तम्भायामेषु महतीम्	१८	१४३
स्तम्भारुच्यविपाका	२२	४८
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वम्	१४	१८०
स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः	२९	२९
स्तैमित्यशीतज्वरगात्र	५	१५
स्तुवन्नामसहस्रेण	३	३१२
स्त्रीणामत्यर्थगमना	३०	१४३
स्त्रीशोकभयभारा	२४	८९
स्याश्रयो हीन्द्रियार्थो	२११	६
स्थानं प्राणस्य मूर्धो	२८	६
स्थाननामानुरूपैश्च	२८	५०
स्थानपानान्नसाङ्ख्य	२४	४५
स्थानादुत्कासमानश्च	१८	२६
स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः	२५	१८
स्थाप्यं कटुकालाबुनि	७	१२६
स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां	२३	१६
स्थिता महर्षयः पूर्वम्	११३	८
स्थिरकठिनमण्डलानां	७	५०
स्थिरगुरुकठिनमधुर	२१	३९
स्थिरसत्त्वशरीरा ये	२४	८५
स्थिरादिकल्कैः पयसा	२६	९५
स्थिरादि पञ्चमूलेन	८	१३३
स्थिरादिवर्गस्य पुन	२६	२३
स्थिरापयस्याजीवन्तो	३०	५०
स्थिरा बला च तत् सर्वं	३	२४२
स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती	२९	७६
स्थिरासितापृश्निपर्णी	१८	१०१
स्थूलः प्रमेही बलवा	६	१५
स्थौणेयतगरध्याम	२८	१५४
स्नानाभ्यङ्गोत्सादन	२३	११८
स्नायादृतुसुखैस्तोयै	८	१७९
स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धम्	१३	७२

	अ०	अंक
स्निग्धक्षीरा दारुमुक्त	३०	२७६
स्निग्धशीतं हितं वाते	१४	१७५
स्निग्धशीतस्तनुकफे	१८	८६
स्निग्धस्य योगा विविधा	६	१६
स्निग्धस्य व्याहते वेगे	२६	१५५
स्निग्धाः स्वेदा निवातं	२८	१०५
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक्	१८	२७
स्निग्धातिगुर्वामविदा	२०	१२
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां	१८	७८
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च	१८	१३
स्निग्धाम्लोष्णैश्च लब्धन्नं	२६	१४२
स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या	२२	५६
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो	१५	११६
स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च	४	२३
स्निग्धोष्णलघुशीतानि	२७	८
स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च	२४	१२५
स्निग्धोष्णैनोदिते गुल्मे	५	३३
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च	३	२९४
स्नुक्क्षीरपलकल्केन	१३	१४०
स्नेहं स्वेदं विरेकं च	१३	७७
स्नेहः स्वेदः सर्पिर्वस्ति	५	१८३
स्नेहः स्वेदो भेदो	५	१८६
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारै	३०	१०६
स्नेहपानं हितं गुल्मे	५	२४
स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः	१३	४५
स्नेहस्य पानमिष्टम्	७	४२
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र	२७	४१
स्नेहस्वेदोपपन्नं तम्	१०	६१
स्नेहाचामं चितं कोष्ठे	२७	१०
स्नेहान्नविधिभिस्तद्ध	१५	२१४
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो	१४	२५४
स्नेहैः समूत्रैः सह	२६	२५
स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा	२९	१२५
स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो	७	११
स्पृक्काप्लवस्थौणेय	२३	५४
स्पृश्यान् संस्पृश्य सम्पूज्य	८	१८०
स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरु	२८	५६
स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थि	१३	६४
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते	३०	१६९
स्मृतेरपगमं प्राहु	१०	३
स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीर	२२	४१
स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो	१५	१९
स्यात्तयोः पीडनाद्धानि	२८	२३५

	अ०	अंक
स्यात्तालुविद्रध्यपि	१२	७७
स्यात्त्रायमाणाविधिरेष	४	९०
स्यात् त्र्यूषणं द्वे त्रिफले	२६	८७
स्याद्भस्मनस्तत् सलि	१२	४५
स्याद्वातिकस्य वातस्थाने	२३	२८
स्यात् पिप्पलीसर्षप	२६	१४
स्युर्वाते तत्र वस्त्यादि	२८	२१०
स्योनाकदारुशम्पाक	२८	१७३
स्योनाकवर्धमानानां	१७	८०
स्रंसन त्रीन्मलान् वस्तिः	३	१७२
स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मै	३	२६३
स्रस्ते दोषाश्रये दद्यात्	१३	११९
स्रोतः शृङ्गाटनासाक्षि	२६	१३९
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु	१४	८७
स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु	१३	४६
स्रोतःसु शुद्धेष्वमले	२१२	५०
स्रोतसां दूषणादामात्	१३	१४
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा	५	२३
स्रोतसां शोधनं बल्यं	३	१४५
स्रोतसां सन्निरोधाच्च	८	४०
स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः	३	१३१
स्रोतांसि रुधिरादीनाम्	८	२९
स्रोतोजलाजोत्पलकोल	२०	२९
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं	२८	८६
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्	१५	३४
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं	८	१७४
स्रोतोविबन्धानुमतम्	२४	११९
स्रोतोविबन्धान विविधान्	२१२	३४
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवम्	१३	१६७
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धो	१५	३०
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा	३	८६
स्वप्ने मार्जारगोमायु	२३	२३६
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते	२८	११०
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन	३	१२१
स्वरक्षयमुरोरोगम्	२१२	७१
स्वरक्षीणातिसारासृक्	१७	८१
स्वरभेदे च कासे च	१८	१८१
स्वरसः क्वथितो दार्व्या	२६	२०२
स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः	२३	२१५
स्वस्थस्योर्जस्करं त्वेतद्	२१२	१३
स्वस्थानं गमयेदेवम्	२८	२२१
स्वस्थानगतमुत्क्लिष्ट	१५	१२२
स्वस्थानस्थो बली दोषः	२८	१९८

	अ०	अंक
स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ	३	१३३
स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासम्	१५	१६२
स्वाद्वम्ललवणस्निग्ध	२१	३३
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धै	२८	८८
स्वापनं नष्टनिद्राणाम्	२४	६३
स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णम्	१७	७४
स्विन्नस्य वान्तस्य विल	२६	९६
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति	२८	८१
स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ता	३०	४९
स्वेदनं शीतकामश्च	१६	२१
स्वेददोषाम्बुवाहीनि	२८	८
स्वेदनान्यन्नपानानि	३	२७१
स्वेदमूत्रपुरीषाणाम्	३	१०७
स्वेदयेत् पत्रभङ्गेन	८	७२
स्वेदस्तीव्रा पिपासा च	३	७९
स्वेदाभ्यङ्गावगाहश्च	२८	९२
स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिला	६	१३
स्वेदोऽत्यर्थं न वा	२९	१६
स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं	१९	१२१
स्वोष्मणा पावकस्थाने	१५	२१८
ह		
हत्वाग्निं कफमुद्धूय	१३	२४
हनुग्रहं च संस्तभ्य	२८	५०
हनुमूले स्थितो बन्धात्	२८	४९
हन्ति सर्वविषाण्येव	२३	१९३
हन्ति सर्वोदराण्येत	१३	१२३
हन्त्याशु हि विषं किञ्चिद्	२४	९९
हन्त्येष कामलां पित्तम्	१६	१०२
हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणी	१८	६२
हन्यात्त्रिदोषं चिरजम्	१२	४२
हन्यात् सञ्जीवयेच्चापि	२३	२४९
हन्यादेतत् सर्पिः पीतं	७	१५०
हपुषां कुञ्चिकां धान्य	१४	७२
हपुषाव्योषपृथ्वीका	५	७१
हरितालमवाक्पुष्पी	७	११४
हरिद्राचूर्णसंयुक्तम्	१४	५२
हरिद्रात्रिफलानिम्ब	१६	५३
हरिद्रा पञ्चमूलं द्वे	१५	१५६
हरीतकीं पञ्चरसामुष्णां	२१२	२९
हरीतकीं प्रयोगेण	१६	६८
हरीतकीकट्फलमुस्त	६	२७
हरीतकीफलप्रस्थम्	१४	१४८
हरीतकीनां चूर्णानि	२१२	२५

	अ०	अंक
हरीतकीनां प्रस्थार्धम्	१४	१३८
हरीतकीनागरदेव	१२	२२
हरीतकीनागरपुष्क	२६	८३
हरीतकीयवक्वाथ	१८	१६८
हरीतक्यामलकबिभीतक	२१२	७६
हरीतक्यामलकबिभीतक	२१२	७७
हर्षः पिपीलिकानां च	२८	६५
हर्षणाश्वासनैर्नित्यम्	८	१८७
हर्षणैश्च समं यान्ति	३	३२१
हर्षप्रीतिकथापेत	२४	७८
हर्षमूर्जं मुदं पुष्टि	२४	६१
हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च	२१४	४८
हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे	२८	९४
हलीमकं तदा तस्य	१६	१३४
हस्तपादाङ्गदाहेषु	८	१०५
हस्ते पादे मुखे नाभ्यां	१४	२६
हारिद्रनीलहरित	४	२०
हारिद्रनेत्रः स भृशम्	१६	३५
हारिद्रमूत्रनेत्रत्वम्	३	९८
हारिद्रवर्णं रुधिरम्	६	५४
हिंस्राकल्कं तु वातार्तो	३०	६२
हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु	१७	२७
हिक्का पाण्डुल्यवीसर्प	२९	३२
हिक्काश्वासनवज्वर	२२	५८
हिक्काश्वासविकाराणाम्	१७	१३८
हिक्काश्वासशिरःकम्प	२४	९१
हिक्का श्वासस्तथा कास	३	८१
हिक्काश्वासानुबन्धा ये	१७	१३९
हिक्काश्वासामयी ह्येको	१७	८८
हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धै	१७	७१
हिङ्गु च कृष्णायुक्तम्	२३	९६
हिङ्गु त्रिकटुकं पाठाम्	५	७९
हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च	९	५७
हिङ्गु सौवर्चलं कोलम्	१७	१०८
हिङ्गु सौवर्चलव्योषै	९	३४

	अ०	अंक
हिङ्गुसौवर्चलाजाली	५	६९
हिङ्गुसौवर्चलाजाजी	१७	१०१
हिङ्गूग्रगन्धाविड	२६	२२
हितं गर्भपरिस्रावे	३०	१००
हितमुष्णं द्रवं स्निग्धम्	५	१११
हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां	२४	१५७
हिनस्ति न स गात्राणि	१७	६६
हिमवद्दरीवनसरित	२२	३९
हुताग्निहोत्रमासीन	२९	३
हृच्छून्यभावद्रवशोष	२६	७९
हृतदोषं परिम्लानम्	५	३८
हृते दोषे परिम्लानम्	१३	६०
हृत्कण्ठरोगः सम्मोह	२४	२०२
हृत्पाण्डुग्रहणीदोष	८	१४७
हृत्पाण्डुग्रहणीरोग	१५	१४०
हृत्पाण्डुग्रहणीरोग	१५	१६७
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं	१४	१५१
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुम्	१२	३७
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोह	१४	२७
हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्यात्	१८	१४०
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूल	१८	११
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यम्	१५	६२
हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः	२३	१६७
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नम्	८	१४४
हृत्स्तम्भमूर्धामय	२६	२६
हृदयं क्लोम कण्ठं च	१७	३७
हृदयं मन्यते स्थान	१५	६९
हृदयं समुपाश्रित्य	१०	५८
हृदयस्याविशुद्धिश्च	३	१३४
हृदयावरणाज्जन	२३	३६
हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे	९	२८
हृदि मर्मगुणाविष्टे	२४	३९
हृद्रोगं श्वासमानाहं	३	१४८
हृद्रोगं सशिरोरोग	२१२	३२

	अ०	अंक
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे	१३	१३२
हृद्रोगो मुखशोषश्च	२८	२०७
हृद्दिदाहे प्रसेके वा	२३	१८०
हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन	२३	१५३
हेतुं कुर्वन्त्यपस्मारम्	१०	६७
हेतुं द्रव्यं लिङ्गं कुष्ठा	७	३
हेतुं प्राग्रूपमष्टानाम्	१३	१९५
हेतुं वृद्धिं सञ्ज्ञां स्थानं	४	११०
हेतुं संख्यां लक्षण	२०	४८
हेतुः स्थानानि मूलं च	२९	१६३
हेतुप्राग्रूपलिङ्गानि	२७	६२
हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः	३	८४
हेतुर्दोषो दूष्यं सेहावन्	३	५९
हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधम्	५	१५८
हेतुर्योगोपदेशस्य	२१४	५२
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रिया	५	१५१
हेतुलक्षणकालज्ञो	१४	१८२
हेतुलक्षणसंसर्गा	१४	२०
हेतुस्थानविशेषाच्च	२८	२४
हेतू यथाऽग्निपवनौ	२२	६३
हेत्वर्तिमात्म्याग्निबलं	२५	२३
हेत्वौषधविशिष्टाश्च	३	१२९
हेमताम्रप्रवालानाम्	२१४	२२
हेमन्ते सूर्यसन्तप्तः	३	४६
हेमराजतकांस्यानाम्	२४	१५४
हेमशङ्खप्रवालानाम्	३	२६२
हेम सर्वविषाण्याशु	२३	२४०
हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः	२१३	५६
हेम्नश्च रजतात्ताम्रात्	२१३	४९
होबेरचन्दनोशीर	४	३१
हीबेरबिल्वनागर	१४	२००
हीबेरमुत्पलं लोध्रम्	२४	२३०
होबेरमूलानि पटोल	४	७५
होमस्वाहा पुण्याहा	८	२०

पूर्वनिर्दिष्ट अकारादि क्रम में छूटे हुए श्लोकांश—

	अ०	अंक
अनुतर्षस्य	२४	१४८
नीलिनीं त्रिफलां रास्नां	५	१०६
पटोलपिचुमर्दाभ्यां	३	२५२

८३
अंक
५२
५
८३
६१
१७
२१
९३
२७
१९
१७
५
३३
१९
२९
१५
५
९
८
१४
१५
६३
७
१८
१६
१२
५
६
७
६
१७
२१
१६
१९
२०
२२
१८
२३
२४
१२
४४
६०

कल्पस्थान

	अ०	अंक
अ		
अकृत्स्नदोषहरणा	१२	५७
अक्षमात्रं तयोः पिण्डम्	११	६
अजगन्धाकषायेण	१२	३५
अजगन्धा तुगाक्षीरी	७	२२
अत्यर्थकटुतीक्ष्णोष्ण	६	४
अथ खलु वमनविरेचनार्थं	१	३
अथ वत्सकनामानि	५	३
अथ च्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं	१	१४
अथानूपो हिन्तालतमाल	१	८
अनयोरेव द्वयोर्देशयो	१	८
अन्न एकस्तथा ग्रेये	४	२०
अपक्वं वमनं दोषम्	१२	६२
अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनाम्	९	२४
अस्वप्नं गात्रशूलं च	७	४४
आ		
आरग्वधो राजवृक्षः	८	३
आवपेत्तत् परं पक्षा	९	१०
आसुत्य च सुरामण्डे	२	८
इ		
इक्ष्वाकेस्तथा मुद्ग	१२	३७
इक्ष्वाकुः फलिनी चैव	३	४
इक्ष्वाकुफलतैलं वा	३	१३
इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखं	१	१४
इष्टवर्णरसस्पर्श	१२	४६
ई		
ईषन्मानाधिकैर्युक्तम्	१२	५४
उ		
उरःस्थिते कफे दद्यात्	३	८
ऊ		
ऊर्ध्वानुलोमभागाना	१२	४२
ए		
एकः सौवीरकेऽथैको	१२	३९
एकश्च मोदके मद्ये	१२	३८
एकैकं सैन्धवादीनाम्	७	१४
एकैकशोऽभिसञ्चूर्ण्य	४	१४
एकैकस्य कषायेण	२	११
एकैकार्धांशसंयुक्तम्	७	१७
एकोऽम्लादिभिरष्टौ च	७	७७
एते निष्परिहाराः स्युः	१२	२९
एतेनैव च कल्पेन सुमुख	१	२५
एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो	१२	८४
क		
कंसश्चतुर्गुणो द्रोण	१२	९५
कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं	१२	७४
कफजेऽथ ज्वरे कासे	३	२०
कर्कोटकी कोठफला	४	३
कल्कं दन्तीद्रवन्त्योश्च	१२	१४
कल्पं जीमूतकस्येमम्	२	३
कल्प एषोऽग्निमन्थादौ	३	१९
कल्पार्थः शोधनं सञ्ज्ञा	१२	१०६
कषाया दश षट् चैव	११	१८
कषाया मधुरा रूक्षा	७	५
कषायेणाथवा तस्य	८	१२
कषायेषु फलादीना	६	११
कषायेष्वासुतं पूत्वा	२	१०
कषायैः कोविदाराद्यैः	३	१५
कषायैर्नव चूर्णैश्च	५	१२
कषायैर्मधुकादीनाम्	६	६
काकोली क्षीरकाकोली	७	१९
काले फलानि सङ्गृह्य	५	७
किञ्चिदेभिर्गुणैर्हीनम्	१२	५५
कुडवांशान् रसांनिक्षु	७	२६
कुर्यात् संयोगविश्लेष	१२	४९
कृतवेधनकल्कांशम्	६	७
कृतवेधननामानि	६	३
कोशातकानि पञ्चाशत्	६	९
क्षिपेच्छीते त्रिवृच्चूर्णम्	७	२५
क्षीरप्रस्थे शृतं दद्यात्	३	६
क्षीरादिकुसुमादीनाम्	६	५
क्षीरादौ सप्त लेहेऽष्टौ	७	७८
क्षीरिण्या नीलिकायाश्च	११	१४
क्षीरेणामलकैः सर्पि	१०	२०
क्षीरेणालोड्य सम्पक्वम्	११	१३
क्षीरे द्वौ द्वौ सुरा चैका	६	१३
क्ष्वेडस्य तत्र भागः	६	१०
ख		
खरोऽम्यङ्गे स्मृतः पाको	१२	१०४
ग		
गन्धमाल्यं तदाघ्राय	१०	१७
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्ण	७	११
गरे गुल्मोदरे कासे	४	४
गुडान् कृत्वा न चात्र	७	४३
गुणवत्यां तयोर्भूमौ	७	१०
गुल्मं प्लीहोदरं श्वासं	७	३९
गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्	१	११
गोऽव्यजामहिषीमूत्र	७	१३
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नम्	७	७१
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च	७	४५
घ		
घृतमेकं कषायेषु	३	२२
च		
चतुरङ्गुलमज्ज्ञस्तु	८	९
चतुरङ्गुलमिद्धाद्वा	८	१३
चत्वारः कुडवाः प्रस्थ	१२	९४
चत्वारश्च घृते क्षीरे	७	७९
चूर्णयेत्तु त्रिधा कृत्वा	९	४
चूर्णितं मोदकान् कुर्या	७	५३
चूर्णीकृतस्य वर्तिं वा	४	११
चूर्णैर्वाऽप्युत्पलादीनि	४	१०
छ		
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय	३	१२
ज		
जलस्नेहौषधानां तु	१२	१०१
जातं स्यात् सकफे कासे	३	९
जात्याः सौमनसायिन्या	४	१६
जीमूतकं त्रिदोषघ्नम्	२	४
जीर्णानां च सुशुष्काणां	२	७
जीवकर्षभकेक्षूणाम्	२	१२
जीवकर्षभकौ मेदाम्	७	१८
जीवकर्षभकौ वीरा	४	१३
जीवकस्य कषायेण	५	१०
जीवकादिषु चत्वारो	२	१५
ज्वरहृद्रोगवातास्	८	४
त		
तं लेहं योजयेच्छीतम्	७	२७
तच्चूर्णं शर्करातुल्यम्	७	६४
तच्चूर्णक्वाथमाषाम्बु	१२	३४
ततः कोलसमां मात्राम्	१०	११
तत्कषायात्त्रयो भागा	१२	२०
तत्र देशे साधारणे जाङ्गले	१	९
तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं	१	४
तत्र फलजीमूतकेक्ष्वाकु	१	६
तत्र यानि कालजातान्युपा	१	१०
तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायि	१	५
तथा जीमूतकक्षीरात्	२	१३
तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च	१२	३३
तथा बदरषाडवरागलेह	१	२६
तथा मदनकल्पोक्तान्	७	७४
तथा मूषिकपर्णी चा	१२	३
तदेव दशमूलस्य	८	१४
तद्योज्यं तर्पणे यूषे	७	६६
तयोः कल्के कषाये च	१२	९
तयोर्बिल्वसमं चूर्णम्	१२	१६
तयोर्मूलानि सङ्गृह्य	१२	४
तयोर्वाऽपि कषायेण	१२	१९
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे	१०	४
तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीत	१	१२
तानि तु द्रव्याणि देशकाल	१	७
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ	७	४९
तिन्दुकं च विजानीयात्	१२	९१
तिल्वकस्तु मतो लोध्रो	९	३
तिल्वकस्य कषायेण	९	१३
तीक्ष्णमध्यमृदूनां तु	१२	५१
तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः	१२	५८
तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि	१२	६
तृण्मोहभ्रममूर्च्छायाः	१२	७६
ते गुल्मगरहृद्रोग	११	४
तेन तक्रं विपक्वं वा	३	११
तेभ्यो बस्तिं पुरा दत्त्वा	१२	८०
तैक्ष्ण्यात् कर्षति हृत्कण्ठ	७	९
तैलं मेहे च गुल्मे च	१२	१०
तैलं विदारिगन्धाद्यैः	११	९
तौ विपाट्याहरेत् क्षीरं	१०	९
त्रिकटङ्क्षणहृद्बस्ति	७	५५
त्रिफलायाः कषायेण	९	१२
त्रिभण्डी त्रिवृता चैव	७	४
त्रिविधः खलु देशः-जाङ्गलः	१	८
त्रिवृच्छ्यामा मतास्तिस्र	७	३७
त्रिवृच्छ्यामा दुरालम्भा	७	६१
त्रिवृतां कौटजं बीजम्	७	५६
त्रिवृतां चित्रकं पाठा	७	५८
त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीम्	७	६५
त्रिवृतारग्वधं दन्तीम्	१०	१५
त्रिवृतो वा कषायेण	८	११
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागम्	७	४७
त्रिवृत्कल्पेन सर्पिश्च	११	१६
त्रिवृद्दुरालभामुस्त	७	५७
त्रिवृन्मुष्टिस्तु सनखानष्टौ	७	६९
त्रिशतं पञ्चपञ्चाश	१२	४१
त्रींस्तु तस्य कषायस्य	१२	१३
त्र्यूषणं त्रिफलां दन्तीम्	१०	१४
त्र्यूषणं त्रिफला हिङ्गु	७	६३
त्वक्केशराम्रातकदाडिमै	७	७५
त्वक्पत्रकेशरैलानाम्	७	३२
द		
दद्याद् गुल्मोदरार्तेभ्यो	४	९
दधितक्रसुरामण्ड	९	६
दधितक्रसुरामण्डैः	१२	७
दधिमण्डेन वा युक्तम्	८	१०
दधिमण्डेन सन्नीय	११	१०
दध्यादिषु त्रयः पञ्च	१२	३६
दन्तीं द्रवन्तीं मरिचम्	१२	२३
दन्तीकल्कं समगुडम्	१२	३१
दन्तीक्वाथेऽञ्जलि मज्ञः	८	१५
दन्तीक्वाथेन चालोड्य	१२	२२
दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे	९	९
दन्तीद्रवन्तीकल्पेऽस्मिन्	१२	४०
दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन	११	१७
दन्तीद्विपलनिर्यूहो	१२	३०
दन्त्युदुम्बरपर्णी स्या	१२	३
दश तान्मोदकान् कुर्या	७	५१
दशान्ये षाडवाद्येषु	१	३०
दीप्ताग्निं बहुदोषं तु	१२	६४
दुर्बलं शोधितं पूर्वं	१२	६७
दुर्बलोऽपि महादोषो	१२	६९
दुर्बलो बहुदोषश्च	१२	६५
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्ति	१२	२६
देयं त्वनिर्हृते पूर्वम्	१२	५९
द्रवकार्येऽपि चानुक्ते	१२	१००
द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्त	१२	८६
द्राक्षारसयुतं दद्या	८	८
द्राक्षारसे सुरासीध्वो	८	१७
द्रोणस्तु द्विगुणः शूर्पो	१२	९६
द्वात्रिंशतं विजानीया	१२	९७
द्विवर्गार्धांशकल्केन	११	१५
द्वे चापोथ्याथवा त्रीणि	२	९
द्वे पलार्धं पलं मुष्टिः	१२	९२
द्वौ शुष्कमत्स्यमांसाभ्यां	१०	२२
ध		
धात्रीफलरसप्रस्थां	७	४२
धान्यमाषो भवेदेको	१२	८८
न		
नव योगाः कषायेषु	१	२८
नातिग्लानिकरं पायौ	१२	५२
नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं	११	५
नातिस्निग्धशरीराय	१२	८३
निर्हृते वाऽपि जीर्णे वा	१२	६१
प		
पञ्च दध्यादिभिस्त्वेका	९	१७
पयस्यष्टौ सुरामण्ड	३	२१
पलं चतुर्गुणं विद्या	१२	९३
पलं चित्रकदन्त्योश्च	१२	२७
पल्लवे नव चत्वारः	४	१९
पाटयित्वेक्षुकाण्डं वा	१२	१७
पाण्डुरोगोदरे गुल्मे	१०	५
पानकानि रसान् यूषा	७	३३
पाययेत्तु सुधा क्षीरम्	१०	१९
पिप्पली नागरं क्षारं	७	२९
पिप्पली पिप्पलीमूल	७	१५
पिप्पलीमधुलिप्तानि	१२	५
पिबेत्तद्वमनं श्रेष्ठम्	५	९
पिबेद् गुल्मोदरी दोषै	१२	८
पिबेद्विमृद्य बीजानि	३	१४
पिष्टैस्तैरेव बिल्वाद्यैः	९	१५
पीते प्रस्रंसने दोषान्न	१२	६३
पुष्पादिषु पयोयोगा	४	७
पूतं मनोविकारेषु	४	१८
पूतस्यास्य त्रयो भागा	३	१६
पृषतर्ष्यकुरङ्गाह	४	१२
प्रताम्यति नरे चैव	३	५
प्रवालस्वरसं शुष्कम्	४	६
प्रियालपीलुकर्कन्धु	११	७
फ		
फलकाले फलं तस्य	८	६
फलपिप्पलीक्षीर तेन वा	१	१७
फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत्	१	२१
फलपिप्पलीनां द्वौ द्वौ भागौ	१	१६
फलपिप्पलीनां फलादिक	१	१९
फलपिप्पलीनां भल्लातक	१	२०
फलपिप्पलीनामारग्वध	१	२२
फलपिप्पलीशृतक्षीरान्नव	१	१८
फलपिप्पलीष्वेलाहरेणुका	१	२३
फलपिप्पलीस्वरसकषाय	१	२४
फलादिपिप्पलीतुल्यम्	६	१२
फलादीनां प्रधानानाम्	१२	४४
ब		
बलत्रैविध्यमालक्ष्य	१२	६०

अ० अंक

बाले वृद्धे क्षते क्षीणे ८ ५
बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा १ १७
बिल्वादीनां बृहत्या वा १० १०
बृहत्फलः श्वेतपुष्पः ५ ५
ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्र १ १४

भ

भक्षयेत् कल्यमुत्थाय ७ ४८
भवेदञ्जलिना तस्य ९ ८
भागं तु दशमूलस्य ९ ५
भूयश्चैषां बलाधानम् १२ ४७
भृङ्गैलाभ्यां समा नीली ७ ३४
भृष्टान् वा सतुषाञ्छुद्धान् ७ ७३
भेषजं दोषरुद्धं चे १२ ७२

म

मदनः करहाटश्च १ २७
मधुकस्य कषायेण ४ ८
मधुकस्य कषायेण ५ ८
मन्दवीर्यं विरूक्षस्य १२ ५६
महाजालिनिजीमूत ३ १७
मातुलुङ्गाभयाधात्री ७ ३०
मात्रां कम्पिल्लकस्यैव ९ ११
मानं च द्विविधं प्राहुः १२ १०५
मुस्तं हैमवती पथ्या ७ १६
मूत्रजानां च रोगाणाम् ७ ५०
मूलं तु द्विविधं तस्याः ७ ७
मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च १२ १८
मेषशृङ्ग्यभयाकृष्णा ९ ७
मैरेये दधिमण्डेऽम्ले ११ ८
मोदको वाऽस्य कल्पेन १२ २१

य

यथोक्तगुणयुक्तानाम् २ ५
यथोपपत्ति सप्ताहम् १० १३
यदि मानं तुला प्रोक्ता १२ ९९
यदि येन प्रधानेन १२ ४३
यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथ ७ ७२
यस्य यत् पानमन्नं च ८ १६
यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टम् १२ ७०
यावत् स्यात्तनुमत्तोये ३ १८
योगा इक्ष्वाकुकल्पे ते ३ २३
योगा हरितपाण्डूनाम् ३ ७

र

रक्तपित्तकफघ्नस्तु ५ ६
रसायनमिवर्षीणाम् १ १४
रसे च दशमूलस्य १२ १५

रसे दन्त्यश्मभङ्गयोश्च १२ ११
रूक्ष-वह्नानिल-क्रूर १२ ७९
रूक्षानाहारयोर्जीर्णे १२ ७५
रूक्षाशना कर्मनित्या १२ ८१
रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् ४ ५
रोगेरेवंविधैर्ग्रस्तम् १० ६

ल

लवणान्यजमोदां च ७ ४१
लालाहृल्लासविष्टम्भ १२ ७७
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च ७ ३८
लेहास्त्रयो घृतेनापि ९ १८
लेहेऽष्टिः घृते द्वे च ८ १८
लेहेऽष्टौ सप्त मांसे च ६ १४
लोध्रकल्केन मूत्राम्ल ९ १६
लोमशे क्षीरसन्तानम् २ ६

व

वचाजगन्धात्रिफला ७ ५४
वत्सकः कुटजः शक्रो ५ ४
वमनद्रव्याणां मदनफलानि १ १३
वमनैश्च विरेकैश्च १२ ६६
वाततर्षे ज्वरे पैत्ते १२ १२
वातपित्तकफोत्थेषु ७ ३५
वातपित्तहितान्येता ७ २०
विंशतिर्विंशतिर्लेह १ २९
विकल्पहेतुर्नामानि १२ १०७
विडङ्गपिप्पलीमूल ७ ४०
विधाद् द्वौ द्रङ्क्षणौ कर्षम् १२ ९०
विनीय मोदकान् कुर्याद् १२ २८
विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे १२ ७१
विभ्रंशो विषवद् यस्य १२ ८५
विरुद्धवीर्यमप्येषाम् १२ ४५
विरुद्धाध्यशनाजीर्ण १२ ८२
विरेचनं निरूहो वा १२ ५३
विरेचनानां सर्वेषाम् १० ३
विरेचनं त्रिवृन्मूलं ७ ३
विषगुल्मोदरग्रन्थि ३ १०
व्योषत्वक्पत्रमुस्तैला ७ ४६

श

शङ्खिनीसप्तलासिद्धात् ११ १२
शर्करात्रिफलाश्यामा ७ ३६
शर्करा त्रिवृता तुल्या ७ ५९
शर्करामोदकान् वर्ती ७ २८
शाल्मलीमूलचूर्णानाम् ६ ८
शीताम्बुना पीतवतश्च ७ ७६

शुष्कद्रव्येष्विदं मान १२ ९८
श्यामात्रिवृतयोर्मूले ७ ६७
श्यामात्रिवृत्कषायेण ७ ६८
श्यामात्रिवृत्कषायेण १० १८
श्यामादन्तीरसे गौडः १२ ३२
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च ७ ८०
श्रेयो मृद्वसकृत्पीत १२ ६८

ष

षट्क्षीरे मदिरामण्डे २ १४
षड् ध्वंशयस्तु मरीचिः १२ ८७

स

संयाव इव निर्यासे १२ १०३
सद्यो हरति दोषाणाम् १० ७
सन्निपातज्वरस्तम्भ ७ २३
सप्ताहं भावयित्वैवम् १० १६
सप्ताहं भावयेन्मूत्रे १२ २४
सप्तरात्रात् समुद्धृत्य ८ ७
सप्तला चर्मसाह्वा च ११ ३
सप्तलाशङ्खिनीभ्यां ते ११ १९
समूला पिप्पली मुस्त ७ ५२
सर्पिर्मांसरसोष्णाम्बु ७ ६२
सर्पिषा वा तयोश्चूर्णं ७ २१
सर्वरोगहरं मुख्यम् १२ २५
सर्पपाणां मधूकानाम् ५ ११
सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफ १ १५
सहकारात् कपित्थाच्च ७ ३१
साधयेद्विधिवल्लेहम् ७ २४
सिद्धं वक्ष्याम्यथेक्ष्वाकु ३ ३
सुकुमारे शिशौ वृद्धे ७ ८
सुखोदकानुपानाः स्युः ४ १५
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः १० ८
सुरया दधिमण्डेन १० १२
सुविरिक्ते तु सोद्गार १२ ७३
सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च १२ ७८
सेदार्नामौषधैर्युक्ता ७ ६
सौवीरकादिभिः सप्त १० २१
स्निग्धस्विन्नो विरेच्यस्तु ७ १२
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्र ७ ७०
स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो १२ १०२
स्वशुद्धचैवं सहस्राणि १२ ५०
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा १२ ४८
स्वर्णक्षीरीं च सञ्चूर्ण्य ७ ६०

ह

हरीतकीकषायेण ११ ११
हेमश्च धान्यकश्चोक्तो १२ ८९

सिद्धिस्थान

अ० अंक

अ

अकालेऽल्पातिमात्रं च ६ २८
अखण्डार्थं दृढबलो १२ ३९
अग्निसन्धुक्षणार्थं तु १२ ६
अङ्गमर्दज्वराध्मान ४ २८
अजीर्णाध्यशनजानां १२ १५(३)
अजीर्णाध्यशनाभ्यां १२ १४(५)
अजीर्णे भोजने भुक्ते ९ १११
अजीर्णे वर्धते ग्लानि ६ १४
अञ्जनं चन्दनोशीर ६ ४९
अत ऊर्ध्वं विकारा ये ९ ११
अत ऊर्ध्वं वृष्यतमान् १२ १९
अतिचङ्क्रमणात्पादजङ्घो १२ १४(३)
अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्य ६ ४५
अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे ६ ७८
अतितीक्ष्णः सवातो वा ७ ३०
अतिप्रपीडितः कोष्ठे ५ १८
अतिव्यवायशीलानाम् १२ २१
अतिसारं प्रत्युक्तं मिश्रम् ८ ४५
अतीतानागतावेक्षा १२ ४४
अत्यवाक्शिरसो नस्यम् ९ १०१
अत्यासनस्थानवचांसि १ ५४
अत्यासनाद्यक्षोभ गाः १२ १४(४)
अत्युष्णतीक्ष्णश्च मृदौ १ ५७
अत्युष्णवर्षशीता हि ६ ४
अथ खल्वातुरं वैद्य १२ ३
अथ नेत्राणि वस्तींश्च ५ ३
अथवाऽतिविरिक्तः स्यात् ८ १८
अथ शोधनयोः सम्यग् ६ ३
अथाग्निवेशः सतता ११ २७
अथाधिगम्यार्थमखण्डितं ११ १९
अथास्याः प्रणयेन्नेत्र ९ ६८
अथेमान् सुकुमाराणाम् ८ ३
अधःकफेऽल्पे वमनम् १ १०
अधःशरीरोदरबाहु १ ४५
अनास्थाप्यास्तु-अजीर्ण्य २ १४
अनुच्छ्वासस्य च बद्धे वा ५ ९
अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं ६ २६
अनुवासनमेतद्धि ४ ७
अनेनैव विधानेन ९ ७०
अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां १२ ८

अपक्तिमूत्रविट्सङ्गैः ९ ३०
अप्राप्त्यतिगतिक्षोभ ५ ५
अभुक्ते शून्यपायौ वा ४ ३८
अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य ७ २५
अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि ६ ६०
अयोगादतियोगाच्च ६ ३०
अरत्निमष्टादशषोडश ११ २१
अर्कस्तथैव चालर्क १० २३
अर्धश्लोकैरतः सिद्धान् १० १८
अल्पं तु बहुदोषस्य ६ ६८
अल्पमात्रं महावेगम् ६ १५
अल्पवीर्यो महादोषे ७ २१
अवम्यास्तावत्-क्षतक्षीण २ ८
अविकारि च व्यापत्तौ ६ १६
अविरेच्यास्तु सुभगक्षत २ ११
अविरेच्यौ शिशुवृद्धौ १० ७
अशिरोविरेचनार्हास्तु २ २०
अश्मरीसमशूलं तम् ९ ४२
अश्वावरोहिकाकाक १० ३७
अष्टौ फलान्यर्धतुलाम् ३ १४
अस्निग्धास्विन्नदेहस्य ६ ३८

आ

आजीर्णो सौम्य गजौ ११ २०
आत्मगुप्ताफलं माषाः १० २९
आद्वादशात् स्यात् प्रसृता ३ ३२
आध्मानं परिकर्तिश्च ६ २९
आध्मापने विग्रथिते १ ३३
आध्मापयन् वस्तिगुदम् ९ ३६
आनूपैर्दक्षशिखिवद् १२ २७
आपादतलमूर्धस्थान् ७ ६४
आबाधवर्जनं नित्यम् ९ १०
आमशेषे निरूहेण ७ १५
आमे जीर्णेऽनुबन्धश्चेत् ६ ६४
आर्द्रं काष्ठं यथा वह्नि ६ १३
आर्द्रशाल्मलिवृन्तैस्तु ७ ६०
आ लाघवात्तनुत्वाच्च ६ २२
आवापा वस्तीनामतः १० १६
आश्वागतेऽन्यस्तु पुन १ ४७

इ

इति तद्वचनानि हेतु ११ १०
इति पञ्चविधं कर्म २ २४
इतीदमुक्तं निखिलम् ३ ७१

इत्येता व्यापदा प्रोक्ता ६ ९४
इत्येता व्यापदः प्रोक्ता ७ ६६
इत्येते रसायनाः स्नेहा १२ १९
इत्येते वस्तयः स्नेह १२ २०
इत्येवमेभिरष्टभिरपचारै १२ १४
इदमखिलमधीत्य १२ ५१
इह कुष्ठहिता गरा ११ १२

ई

ईषच्च पादाङ्गुलियुग्म ३ २९

उ

उच्चैर्भाष्य रथक्षोभ १२ ११
उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेन ६ १९
उत्तानदेहश्च कृतो ३ २६
उत्तानस्य शयानस्य ९ ९९
उत्पद्येत हि साऽवस्था २ २६
उदरे कृतवेधनं हितम् ११ १३
उदुम्बरशलाटूनि ८ ३६
उपनाहः शिरोवस्ति ९ ७८
उपवासातिशोकाति ९ ८४
उल्काभिरेवमन्यैश्च ७ ३५
उष्णाभिभूतेषु वदन्ति १ ३५
उष्णार्तानां शीताच्छीता १० १०

ऊ

ऊर्ध्वं कफानुगे पित्ते ६ २०
ऊष्मणा सोष्मकं मूत्रम् ९ ३८

ऋ

ऋजोः सुखोपविष्टस्य ९ ५४

ए

एकं तथा त्रीन् कफजे १ २५
एकदेशेन दृश्यन्ते १२ ४६
एकैकः प्रसृतस्तैल ८ ५
एतां प्रकृतिमप्राप्तः १२ १०
एतानतून् विकल्प्यैव ६ ६
एता विशाय मतिमान ६ ९५
एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या २ ७
एरण्डमूलपलाशात् १२ १६(२)
एषां चाशु जरां स्नेहो ४ ४७

क

कच्छुराधातकीबिल्व ८ ३८
कच्छुरामूलशाल्यादि ८ ४१
कटुतुम्बममन्यतो ११ ६
कटूनां लवणानां च ४ ३५

	अ०	अंक
कण्ठादागच्छतः स्तम्भ	४	४०
कपोत इव कूजेच्च	९	१४
कफघ्नं तत्र कर्तव्यम्	९	२४
कफपित्तनिबर्हणम्	११	७
कफपित्तहरं वरम्	११	५
कफपित्तहृदाशुकारि	११	१४
कफपित्ते विशुद्धेऽल्पम्	६	२५
कफेन विशि पित्ते वा	८	३१
कर्कटकरसश्वटकाण्डरस	१२	१८(७)
कर्बुदाराढकीनीप	१०	३४
कर्मणां वमनादीनाम्	६	७
कर्मव्यायामभाराध्व	४	५२
कर्मान्यद्वस्तिसमं न	१०	५
कलिङ्गकुष्ठे मधुकम्	११	२३
कलिङ्गपाठाम्बुद	३	६३
कल्कः स्यान्मूत्रकृच्छ्रे	८	१४
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः	३	१५
कल्पश्चैष विष्किरप्रतुद	१२	१८(४)
कल्पश्चैष शिखिगोनर्दहंस	१२	१७
कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः	४	३३
कषायमधुरं शीतम्	६	६७
कषायमधुराः शीताः	५	१५
कषायमधुरैः शीतै	६	४८
कषायात् प्रसृताः पञ्च	८	१०
काः कति व्यापदो वस्तेः	७	४
का कल्पना पञ्चसु	१	३
काकोली क्षीरकाकोली	१०	२८
कालङ्कृतककाण्डेक्षु	१०	३३
कालस्तु वस्त्यादिषु	१	५५
काश्मर्यबदरीदूर्वा	१०	३९
किं वर्जनीयं प्रति	१	४
किन्त्वेतानि विशेषतोऽनि	९	७
कुटजं प्रशशंस	११	८
कुर्याच्चाग्निबलोत्क्लेश	६	६९
कुर्यात् सबिल्वतैलोष्ण	७	५२
कूर्मादीनामन्यतमपिशित	१२	१८(६)
कृतक्षणं शैलवरस्य	३	३
कृतवेधनमाह वातलम्	११	९
कृष्णालवणयोरक्षम्	७	२९
केवलः सकफो वाऽर्धम्	९	७५
केशेष्वालम्ब्य चाकाशे	७	३४
कोपातकारग्वध	३	५६
कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा	६	३६
मेण सेवेत विशुद्ध	१	१२

	अ०	अंक
क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः	९	१२
क्लमं विदाहं हृच्छूलम्	७	१६
क्लमो दाहोऽङ्गसदनम्	६	२७
क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्य	६	१३
क्लीबतां विषमाग्नित्वम्	४	२२
क्षामे विरेचिते गर्भे	९	११३
क्षीणक्षतानां न विशोध	१	३७
क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ	८	४
क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्याम्	६	३३
क्षौद्रस्य तैलस्य च	३	६८

ख

	अ०	अंक
खरोष्ट्रयोः पीलुक	११	२६
खवैगुण्यानिलाक्षेपैः	९	३३

ग

	अ०	अंक
गजेऽधिकाऽश्वत्थ	११	२४
गतिवैषम्यविस्रत्व	५	७
गतिसङ्गादुदावृत्तः	९	३९
गलोपलेपः शिरसो	१	५२
गर्भे योनिस्तदा शीघ्रम्	९	६३
गुदं भ्रष्टं कषायैश्च	६	८५
गुदे सेकाः प्रदेहाश्च	७	६२
गुरुकोष्ठेऽनिलप्राये	७	७
गुरुणेति वचस्युदाहृते	११	१५
गुल्मातिसारोदावर्त	१०	४४
गोधानकुलमार्जारमूषिक	१२	१८(५)
गोधूमचूर्णैश्च तथा	३	५४
गोवृषवस्तवराहवृषण	१२	१८(८)

घ

	अ०	अंक
घृतमण्डाञ्जनयुतम्	६	८४

च

	अ०	अंक
चण्डः साहसिको भीरुः	२	४
चतुःस्नेहोत्तमा मात्रा	९	७७
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा	४	६
चतुष्पले तैलघृतस्य	३	४३
चत्वारस्तैलगोमूत्र	८	१२
चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते	१०	२७
चन्दनं पद्मकोशीरम्	१०	२२
चिरं धारयतो मूत्रम्	९	३५
चिरजातकठिनबलेषु	१०	१७
चूर्णस्याध्मापनं तद्धि	९	९१

छ

	अ०	अंक
छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानि	४	३४
छर्दिहृद्रोगगुल्मानाम्	२	२७

ज

	अ०	अंक
जलद्विकंसेऽष्टपलम्	३	४४
जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यम्	६	५१
जात्यश्वहनवृन्तेन	९	५१
जीवन्तीं मदनं मेदाम्	४	९
जीवन्ती चाग्निमन्थश्च	१०	३०
ज्वरशोकातितप्तानाम्	९	११५

त

	अ०	अंक
तं तैललवणाभ्यक्तम्	६	४२
तं तैललवणाभ्यक्तम्	७	५०
तं पवनं सपित्तकफ	११	१८
तं स्नेहं श्लेष्मणा साकं	९	१०४
तच्चूर्णं कल्पयेत्तेन	९	९७
तज्जा देहोर्ध्वसर्वाधो	१२	१२
ततः क्रमुककल्काक्षम्	७	३७
ततः शेफःप्रमाणेन	९	५५
ततो नस्तः कृते धूमम्	९	१०६
ततो भुक्तवतस्तस्य	७	५३
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो	५	१०
तत्रामृताबलारास्ना	९	८७
तत्रामेऽन्तरपानं स्यात्	८	२३
तत्रोष्णायाः प्रमथ्यायाः	७	१०
तथा बृहतीकण्टकारी	१२	१६(४)
तथाऽमे कफसंसृष्टे	८	२८
तथा बलातिबलाविदारी	१२	१६(५)
तदा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन	६	८७
तदेव दर्भमृदितम्	६	८३
तद्गुरुरब्रवीदिदम्	११	१७
तद्धि पित्तशकृद्वातान्	८	१७
तन्द्रा तथा च्छर्दिररो	१	१९
तन्द्राशीतज्वरालस्य	४	३२
तस्माच्चिकित्सार्धमिति	१	४०
तस्मात् सत्यपि निर्देशे	२	२८
तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते	१२	५०
तस्मान्निरूढः संस्नेह्य	४	५१
तस्मिन् पित्तान्विते दाहः	९	४७
तत्र क्षतस्य भूयः क्षणनाद्	२	९
तत्र वातहरः सर्वो	९	११४
तत्र सुभगस्य सुकुमारोक्तो	२	१२
तत्र हृदये दश धमन्यः	९	४
तत्र हृद्यभिहते कासश्वास	९	६
तत्राजीर्ण्यतिस्निग्धपीत	२	१५
तत्राभुक्तभक्तस्यानावृत	२	१८
तत्राजीर्णिभुक्तभक्तयोर्दोष	२	२१

	अ०	अंक
तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्या	१२	१४(१)
तद्वत् सहचरबलादर्भ	१२	१६(३)
तद्वन्मधुघृताभ्यां पय	१२	१८(१४)
तद्वन्मधुघृताभ्यां मांस	१२	१८(१५)
तांश्चावमृद्नीत सुखम्	३	३०
तानेव जनयेद्रोगान्	६	४१
तानेव दोषान् परिरक्षता	१	२३
तान् सर्षपैलामदनैः	३	५७
तिक्तोष्णकषायकटु	८	४४
तिर्यग्वल्यावृतद्वारे	५	१२
तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्नि	७	६३
तीव्रां कुर्वन्ति सा चाक्षि	९	८५
तुम्बुरुण्यभया हिङ्गु	९	१८
तृण्मोहमूर्च्छानिल	१	१७
तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य	६	८१
तेनाजवस्तियुक्तेन	९	५२
तेनान्नं निश्चितं दद्याद्	६	७९
तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि	९	५
तेषां विस्तरतो लिङ्ग	१२	१३
तेषां सिद्धिः—तत्रोच्चै	१२	१५(१)
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्र	३	१७
तैलाक्तगात्राय ततो	१	२१
तोये समुत्क्वाथ्य रसेन	३	४९
त्रायन्तिकाशिग्रुफल	३	६२
त्रिकवङ्क्षणवस्तीनाम्	७	५५
त्रिकास्त्रयोऽनिलादीनाम्	१०	४६
त्रिचतुःपञ्चसंसर्गा	८	३४
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो	३	३६
त्रीणि यस्मात् प्रधानानि	९	११८

द

	अ०	अंक
दत्तः शनैर्नाऽऽशयमेति	३	२१
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो	४	२७
दद्यान्नासापुटे स्नेहम्	९	१००
दद्यान्निरूहं कफ	३	५८
दश कर्कटकाद्यैश्च	१२	२६
दशमूलं बला रास्ना	४	४
दशमूलमयूरहंसकुक्कुट	१२	१८(९)
दशैव ते द्विस्त्रिगुणा	१	१४
दारुत्रिकटुकं पथ्यान्	७	११
दाहरागतृपामोह	४	३१
दाहातिसारप्रदरा	३	५२
दाहातिसारौ लवणो	३	२३
दिनक्षये ततः स्त्यानं	९	८१
दिवास्वप्नजानां धूमपान	१२	१५(५)
दिवास्वप्नादरोचका	१२	१४(७)
दुर्गृहीतं क्षिणोत्येवम्	१२	४९
दुर्बले क्रूरकोष्ठे च	७	४३
दृढस्तनुर्नष्टसिरो	३	११
देवदारुतिलानां वा	६	६६
देहे निरूहेण विशुद्ध	१	२९
दोषादिकं समीक्ष्यैव	९	९६
दौर्बल्यं चाङ्गसादं च	६	९३
द्राक्षर्द्धिकाश्मर्यमधूक	३	५३
द्राक्षायाः पक्वलोष्ठस्य	७	१४
द्रुताध्वलङ्घनायासा	९	४४
द्वादश व्यापदो वस्ते	७	६
द्विकार्षिकाश्चन्दन	३	४८
द्विजो हि वेदाध्ययन	११	२८
द्वित्रान् सविट्कानपनीय	१	१५
द्विपञ्चमूलत्रिफलाबिल्व	१२	१८
द्विपञ्चमूलीकुक्कुटरस	१२	१८(२)
द्विपञ्चमूले त्रिफला	३	५९
द्वौ रक्तपित्ते मेहे	१०	४८
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु	९	६७

ध

	अ०	अंक
धनुर्वन्नमयेद्गात्रा	९	१३
धान्यनागरसिद्धं हि	४	४३
धीधैर्यौदार्यगाम्भीर्य	७	३
धूममापवचाकिण्व	७	२४

न

	अ०	अंक
न क्षीणक्षतदुर्बल	१०	१२
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र	६	७३
न चैकान्तेन निर्दिष्टे	२	२५
न चैव गुदकण्ठाभ्याम्	४	४९
न त्वामं प्रणयेत् स्नेहम्	४	४८
न बृंहणीयान् विदधीत	१	३६
न भावयति मन्दस्तु	५	१७
न याति वास्तिर्न सुखम्	१	५६
नरः श्वो वमनं पाता	६	१८
नरस्ततो निरयनुवास	१	२२
नरो विरिक्तस्तु निरूह	१	२६
नलवञ्जुलवानीर	१०	२१
नस्तःकर्म च कुर्वीत	९	८८
नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात्	९	११७
नागरं पुष्करं मेदाम्	४	१४
नातः परं स्नेहन	१	७
नातियोगं न वाऽयोगम्	१२	२९
नातियोगौ क्लमाध्माने	७	५
नातिस्निग्धशरीराय	६	९
नाभिवस्तिरुजं दाहम्	७	९
नारीणामप्रजातानाम्	१२	२२
नावनं चावपीडश्च	९	८९
नावनं स्नेहनं रोगान्	९	११२
निद्राबलाभावतमः	१	२०
निम्बपाठासहचर	४	१९
निरूढं च रसैर्धन्वै	६	४३
निरूहः पञ्चतिक्तोऽयम्	८	९
निरूहकल्पः प्रणिधा	३	५
निरूहपादांशसमेन	३	२८
निरूहमात्रा प्रसृत	३	३३
निरूहमुख्यः कफजान्	३	६०
निरूहैर्निर्हरेत् सम्यक्	४	३०
निर्हृतानिलविण्मूत्र	१२	४
नृचित्तवर्तिन्युपचार	११	२९
नेत्रदीर्घां घृताभ्यक्ताम्	९	६०
नेत्रवस्तिप्रणेतृणाम्	५	१९
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च	१०	३८

प

	अ०	अंक
पक्वाशयस्थिते स्विन्ने	७	३८
पञ्चमूलरसात् पञ्च	८	६
पटोलनिम्बभूनिम्ब	८	८
पयस्येक्षुस्थिरारास्ना	८	११
परं त्र्यहाज्जीवितं चेत्	९	७३
परिकर्ते तथा वृन्तैः	१०	३५
परिस्रावे तथा दाहे	१०	४७
परिस्रावे शृतं क्षीरम्	१०	३२
पलाशभूतीकक्षुरा	११	२५
पवनेनातिवमतो	६	७५
पाचनीयैस्ततश्चास्य	६	७४
पादजङ्घोरुपृष्ठांस	४	२४
पित्तं कफो द्वावपि वा	९	२७
पित्तरोगेऽम्ल उष्णो वा	७	५८
पित्तेनामेऽसृजा वाऽपि	८	२७
पिप्पलीकत्तृणोशीर	७	१७
पिप्पलीलवणागार	९	५८
पिप्पल्यश्चित्रकश्चेति	१०	२४
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतै	३	५१
पिष्ट्वा तैः सर्पिषः प्रस्थं	८	३७
पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते	५	१३
पीतं गत्वा गुदं साम	६	६२
पीतं स्निग्धेन सस्नेहम्	६	८८
पीतौषधस्य वेगानाम्	६	७१

	अ०	अंक
पीतौषधस्य वेगानाम्	६	७६
पीतौषधो न शुद्धश्चे	६	३५
पुनर्नवैरण्डनिकुम्भ	११	३२
पुनर्नवैरण्डवृषा	३	६५
पुनर्वसुस्तन्त्रविदाह	१	६
पृश्निपर्णी स्थिरां पद्मं	७	१३
पेष्याः शताह्वा हपुषा	३	४०
प्रकीर्या चोदकीर्या च	१०	२६
प्रक्षिप्य वस्तौ मथितम्	३	१६
प्रजाहितार्थं भगवान्	१	६१
प्रणाड्या पिचुना वाऽपि	९	१०३
प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो	९	९२
प्रत्यागते कोष्णजला	३	२७
प्रत्यागते द्वितीयं च	९	५७
प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः	१२	४५
प्रत्येत्यसक्तं सशकृच	१	४४
प्रदेशो देशनिर्देश	१२	४२
प्रधानमृद्वास्तरणो	३	३४
प्रपीड्य चैकग्रहणेन	३	२०
प्रबोधनप्रकाशार्थो	१२	४७
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्त्ते	३	१३
प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः	१२	४३
प्रस्थस्त्वजाव्योर्हि	११	२२
प्रस्थो रसाच्छागरसा	३	३७
प्राग्भोज्यं स्नेहवस्तेर्यद्	४	५६
प्राणोदानविरोधाद्धि	७	३६
प्रातिलोम्येन दोषाणाम्	६	३४
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफा	१	१८
प्रावृट्शरद्वसन्तेतरे	२	२३
प्रावृट् शुचि नभौ ज्ञेयौ	६	५
प्रास्थिकाः सव्यापत्क्रिया	८	४६
प्रियङ्गु रक्तमूली च	१०	३१
प्रोक्ताविस्तरशो भिन्ना	१२	२८
फ		
फलकर्मं वस्तिवरता	११	३७
फलजीमूतकेक्ष्वाकु	१०	२५
फलदोषगुणान् सरस्वती	११	११
फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णा	४	२०
फलान्यम्लानि खादेयु	६	५५
ब		
बर्हितित्तिरिलावादि	९	८३
बलदोषकालरोग	१०	४
बलवर्णहर्षमार्दव	१०	८
बलस्वरक्षयं दाहम्	६	४६

	अ०	अंक
बलां सरास्नां फलबिल्व	११	३४
बलागोक्षुरकरास्नाश्वगन्धा	१२	१९(२)
बलातिबलापामार्गात्मगुप्ता	१२	१६(९)
बलातिबलारास्नारग्वध	१२	१६(६)
बलामधुकविदारीदर्भमूल	१२	१६(१०)
बलास्थिरादिकाश्मर्य	७	२८
बल्यं सुखोपचर्यं च	४	५४
बहुदोषस्य रूक्षस्य	६	५८
बाधिर्यं कर्णनादं च	७	४५
बालोदुम्बरकट्वङ्ग	८	३९
बिल्वं यवान् कोलकुल	३	६६
बिल्वमूलत्रिवृद्दारु	७	११
बिल्वाजमोदे कृष्णाम्	४	१५
बिल्वादिपञ्चमूलेन	७	३९
बिल्वादिना निरूहः स्यात्	७	२६
बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाक	१०	१९
बृंहणं वातपित्तघ्नम्	४	११
ब्रध्नोदावर्तगुल्मार्शः	४	१६
भ		
भगवन्तमुदारसत्त्व	११	३
भिषजामविधेयश्च	२	६
भूयः स्नेहस्य शैत्येन	९	१०५
भूयश्च हृद्युपसृष्टे हिङ्गुचूर्णं	९	८
भृगुकौशिककाप्यशौ	११	४
भृशमाध्मापयेन्नाभिम्	६	५९
म		
मञ्जिष्ठासारिवानन्ता	१०	४३
मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तै	४	१७
मधुघृतद्विप्रसृतस्तुल्यो	१२	१८(११)
मधुतैलं चतुःप्रसृतं शत	१२	१८(१३)
मधुरस्निग्धगुर्वन्न	९	२१
मधूकमधुकद्राक्षा	१०	४२
मयूरमपित्तपक्षपादा	१२	१८(३)
मरिचं शिग्रुबीजानि	९	१७
महान् स्थिरः सर्वपच	१	१३
मारुते कफसंसृष्टे	८	३३
मार्गैर्गात्राणि सन्धावन्	७	४४
मिथ्योपचाराच्च न तं	१	६०
मूर्च्छाविकारं तस्यादौ	७	३३
मूत्रं धारयतो वस्तौ	९	३७
मूत्रं विहन्ति संस्तम्भ	९	४०
मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो	४	३९
मूत्रस्रोतःपरीणाहम्	९	६६
मूत्रस्रोतः प्रपद्येत	९	४३

	अ०	अंक
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडै	९	५९
मूत्रितस्य व्यवायात्तु	९	३२
मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्न	९	३४
मूत्रौकसादो जठर	९	२५
मूले निषिक्तो हि यथा	१	३१
मृगगोमहिषाजानाम्	६	८२
मृगविष्किरानूपबिले	१२	१८(१०)
मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य	७	५४
मृदुकोष्ठेऽवले वस्ति	७	२७
मृदुवस्तिजडीभूते	८	१५
मैथुनजानां जीवनीय	१२	१५
य		
य एवानास्थाप्यास्त	२	१७
य एवानास्थाप्यास्त	२	१९
यत्रोक्तं साधनं स्थाने	१२	३४
यथाऽण्डं तरुणं पूर्वम्	१२	५
यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठि	३	९
यथास्वं विहिता तेषु	९	११०
यथास्वैरौषधैः सिद्धान्	१०	४५
यथेष्टाहारचेष्टस्य	४	५३
यदा विरेचनं पीतम्	६	८६
यदाऽसौ समवस्कन्ध	९	२२
यदिहास्ति तदन्यत्र	१२	५४
यद्वत् कुसुम्भसम्मिश्रा	७	६[illegible]
यवाः कुलत्थाः कोलानि	१०	२०
यवान् कुलत्थान् कोलानि	७	५१
यष्ट्याह्वयस्याष्टपलेन	३	४६
यष्ट्याह्वलोध्राभय	३	४७
यस्य द्वादशसाहस्री	१२	५२
यस्य नोपद्रवं कुर्यात्	४	४१
यादृच्छिको मुमूर्षुश्च	२	५
यापनाश्च वस्तयः सर्व	१२	१६(१)
याश्च स्त्रियो वातकृतो	१	३४
युक्त्या तस्मान्निषेवेत	१२	३२
युक्तस्नेहं द्रवोष्णं च	४	४२
युगपत् षड्रसं षण्णां	८	३५
युञ्ज्यात् प्रधमनैर्नस्यै	७	४६
युञ्ज्याद् द्रव्याणि वस्ति	१०	१४
ये च वातात्मका रोगाः	९	९४
येषां यस्मात् पञ्चकर्मा	२	३
योगः सम्यक् प्रवृत्तिः	६	३१
योगे निरूहास्त्रय एव	१	४९
योनिशूलेषु तीव्रेषु	९	६४

	अ०	अंक
र		
रक्तं वातकफाद् दुष्टम्	९	४१
रक्तपित्तादिरोगेषु	९	९५
रक्तपित्तानिला दुष्टाः	९	७१
रक्ते रक्तेन पित्ते तु	८	२५
रथक्षोभातिचङ्क्रमणा	१२	१५(२)
रथक्षोभात् सन्धिपर्व	१२	१४(२)
रसेन वाते प्रतिभोजनं	३	७०
रसैस्तथा जाङ्गलजैः	१	९
रास्नामृतैरण्डविडङ्ग	३	६१
रास्नाश्वगन्धातिबला	३	३९
रुणद्धि हृदयं शूलै	७	२३
रूक्षं विरेचनं पीतम्	६	९०
रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्नि	४	४६
रूक्षात्यध्यशनात् पूर्वं	९	७४
रूक्षौषधैरप्यपतर्पि	३	६४
रोगांस्तेषां चिकित्साम्	१२	५३
रोगोपशान्तिः प्रकृति	१	४२
ल		
लङ्घनं पाचनं सामे	६	६३
लतागौरीशताह्वाग्नि	४	२१
लाभतश्चन्दनाद्यैश्च	४	१२
लीयन्त एवं वलयश्च	३	२५
व		
वचानागरशठ्येला	७	१८
वचाशताह्वामरदारु	३	६७
वटादिपल्लवैश्चैव	७	६१
वमतोऽन्तःप्रविष्टायां	६	५४
वमनं न तु दुश्छर्दं	६	३७
वमनस्यातियोगे तु	६	५२
वमने च विरेके च	४	४५
वमने तु विरेकः स्याद्	६	४७
वमितं लङ्घयेत् सम्यक्	६	२३
वमितश्च विरक्तश्च	६	५७
वस्तिः शाल्मलिवृन्तानां	१०	३६
वस्तिः सङ्क्षोभ्य तं दोषं	७	८
वस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादि	५	१४
वस्तिकुण्डलमाहुस्तम्	९	४६
वस्तिमस्य विदध्याच्च	७	२०
वस्तिमुत्तरवस्तिं च	९	५०
वस्तिर्नरेभ्यः किमपेक्ष्य	३	४
वस्तिर्वयःस्थापयिता	१	२७
वस्तीन् बृंहणीयान्	१०	११
वस्तौ प्रदेयौ भिषजा	१०	४०

	अ०	अंक
वस्तेरलाभे प्लवजो	३	१२
वस्तौ वस्तौ प्रणीते च	९	६९
वाग्ग्रहानिलरोगेषु	६	५६
वाजीकरणेऽसृक्पित्त	१०	१३
वातकुण्डलिका ग्रन्थि	९	२६
वातघ्नैर्ग्राहिवर्गीयै	८	२४
वातपित्तकफात्यन्त	४	२५
वातपित्तपुरीषाणाम्	७	३२
वातसङ्गगुदस्तम्भ	६	८९
वातादीनां शमायोक्ताः	४	५५
वाते विवृद्धे तु चतुर्थ	३	३१
वातेन विषि पित्ते वा	८	२९
वातोपसृष्टस्योष्णैः स्यु	८	१६
वामयेत्तु ततः शेषः	६	२१
विंशतिश्च तथा सप्त	१२	२५
विट्श्लेष्मपित्तानिल	१	२८
विडङ्गैरण्डरजनी	४	१८
विण्मूत्रपित्तादिमला	१	३९
विण्मूत्रवातग्रहणम्	३	४२
विण्मूत्रानिलसङ्गार्त्ति	४	३६
विदध्यादुत्तरं वस्तिम्	९	६५
विधारणात् प्रतिहतम्	९	२९
विधिरुत्तरवस्तेश्च	९	११९
विधिरेषोऽवपीडस्य	९	१०७
विधूय मानसान् दोषान्	६	१७
विभ्रंशं श्वयथुं हिक्काम्	६	३९
विमथ्य संयोज्य पुन	३	२४
विरिक्तशिरसं तूष्णम्	९	१०८
विरेकशुद्धो दोषस्य	९	१०९
विरेचयेत् त्रिर्द्विरथै	१	५१
विलोमनसमुद्भूतो	७	४९
विषममांसलच्छिन्न	५	६
विषमाहिताशनजानां	१२	१५(४)
विषमाहिताशनाभ्या	१२	१४(६)
विसर्पपिडकाशोफ	६	८
विस्तरेण पृथक् प्रोक्ता	१२	३३
व्यवायादाशुबलनाशो	१२	१४(८)
व्याधिव्यायामकर्माध्व	४	२३
व्यायामो मैथुनं मद्यम्	१२	२३
श		
शकृच्छोणितयोः पित्त	८	३०
शकृता वायुना वाऽग्रे	८	२६
शकृद्दातमसृक्पित्तम्	८	२०
शतावरीं सहचरम्	४	५

	अ०	अंक
शतावरीगुडूचीक्षुविदार्या	१२	१९(१)
शताह्वायवबिल्वाम्लैः	४	८
शशैणदक्षमार्जार	१०	४१
शस्त्राग्निनिमां कुर्यात्	९	७६
शाखागताः कोष्ठगता	१	३८
शाखावातार्तानां मङ्कु	१०	९
शालिपर्णीपृश्निपर्णी	१२	१६(११)
शिरःकायविरेकौ च	९	८२
शिखिगोनर्दहंसाण्डै	१२	२४
शीताः सशर्कराक्षौद्राः	८	४२
शीतोऽल्पो वाऽधिके वाते	४	२६
शुक्लं वा भावितं वस्त्र	६	८०
शुङ्गाभिर्वा वटादीनाम्	६	५०
शूलप्रवाहिकाध्मान	८	२२
शूलस्पन्दनदाहार्तो	९	४५
शेषास्त्ववास्थाप्याः विशेष	२	१६
शेषास्तु वम्याः; विशेष	२	१०
शेषास्तु विरेच्याः; विशेष	२	१३
शेषास्त्वर्हाः, विशेषतस्तु	२	२२
शोधना वस्तयस्तीक्ष्णा	९	२०
श्यामाबिल्वादिसिद्धे	४	३७
श्लेष्मरुद्धविलो वस्तिः	९	४८
श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्ध	६	३२
श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्ड	८	१३
श्वसनं कफवाताभ्याम्	९	[illegible]
ष		
षट्त्रिंशता विचित्राभि	१२	४१
षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसम्मि	३	८
षण्णामेषां द्विसंसर्गाद्	८	२१
स		
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं	१२	३७
संस्कृतं तत्त्वसम्पूर्णम्	१२	३८
संशोधनाभ्यां शुद्धस्य	६	२४
संस्नेह्य कायं सपुरीष	१	४१
संस्वेद्य नासामुन्नम्य	९	१०२
सजीवनीयस्तु रसो	११	३६
सतित्तिरिः समयूरः	१२	१८(१)
सतैलसर्पिर्गुडसैन्धवो	११	३५
सतैलसर्पिर्लवणे	११	३३
सत्यपि दोषहरत्वे कटु	१०	६
सदाडिमरसं सर्पिः	६	६५
सदाहं श्वेतसान्द्रं वा	९	२८
सदैव ते ह्यागतवेग	११	३०
सद्योघृततैलवसामज्ज	१२	१८(१२)

	अ०	अंक
सन्दूषिता धातुभिरेव	१	५९
सन्धारणादजीर्णाद्वे	९	७९
सप्तदशौषधाध्याय	१२	४०
सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिन्	९	३
समाक्षिकस्तैलयुतः	३	४१
समीक्ष्य दोषौषध	३	६
समीरणं वेगविधा	११	३१
समूत्रैर्वस्तिभिस्तीक्ष्णै	१२	३०
स वस्तिपायुशोफेन	७	४१
सर्वकर्मगुणकृद्	११	१६
सर्वक्षमो ह्यसंसर्गो	१२	९
सर्वेषु विद्याद्विधिमेव	३	३५
सवातातिद्रुतोत्क्षिप्त	५	८
स विदग्धः स्रवत्यस्रम्	७	५९
स विमार्गोऽनिलः कुर्याद्	७	२२
सव्येन पार्श्वेन सुखम्	३	१८
स शास्त्रमन्यदप्याशु	१२	४८
स शिरो विषवद्वेगी	९	७२
ससर्जरसयष्टयाह्व	७	५७
ससैन्धवः क्षौद्रयुतः	३	४५
सहचरपलशतमुदकं	१२	१९(३)
स हिक्काकासपार्श्वार्ति	६	७२
साधयित्वा भिषक् स्नेहं	९	९८
साध्या गदाः स्वैः	१	५
सान्वासना द्वादश वै	१	४८
सामं चेत् कुणपं शूले	८	१९
सायं च भोज्यं परतो	१	२४
सितोपलाजीवकपद्म	३	५०
सिद्धानां वस्तीनां शस्ता	१०	३
सिद्धिं चानुत्तमां लोके	१२	३६
सिद्धिस्थानेऽष्टमे प्राप्ते	१२	५५
सुरदारुशताह्वैला	१०	१५
सुरासौवीरककुलत्थ	१२	१८(१६)
सुवर्णरूप्यत्रपुताम्र	३	७

	अ०	अंक
सूर्योदयेंऽशुसन्तापाद्	९	८०
सैन्धवं मदनं कुष्ठम्	४	१३
सैन्धवार्धाक्ष एकैकः	८	७
सोद्गारायां भृशं वम्याम्	६	५३
सोऽनन्तवातस्तं हन्याद्	९	८६
स्तब्धाश्च ये सङ्कुचिता	१	३२
स्तम्भवेपथुनिस्तोद	६	७७
स्तम्भशूलानि घोराणि	६	९१
स्तम्भसुप्तगुरुत्वाद्याः	९	९३
स्त्रीणामार्तवकाले तु	९	६२
स्थिरादिपञ्चमूलीपञ्चपलेन	१२	१६
स्थिरादीनां बलादीना	८	४०
स्नातस्य भुक्तभक्तस्य	९	५३
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः	६	४४
स्निग्धस्य मृदुकोष्ठस्य	६	९२
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनो	१	११
स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु	१	८
स्निग्धस्विन्नस्य चात्यल्पं	६	४०
स्निग्धस्विन्नेऽतितीक्ष्णोष्णो	७	१२
स्निग्धस्विन्ने महादोषे	७	४०
स्निग्धात् पात्राद्यथा	६	११
स्निग्धाम्ललवणमधुरं	८	४३
स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं	४	२९
स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानि	१२	७
स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थं	३	१९
स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन	६	६१
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं	३	२२
स्निग्धोष्ण एकः पवने	३	६९
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु	१	५८
स्नेहनं शोधनं चैव	९	९०
स्नेहनं शोधनं चैव	९	११६
स्नेहवस्तिं निरूहं वा	४	५०
स्नेहवस्तीन्निबोधेमान्	४	३
स्नेहस्वेदैरनापाद्य	७	४१०

	अ०	अंक
स्नेहस्वेदोपपन्नेन	६	१०
स्नेहाजीर्णे जरयति	४	४४
स्नेहान् प्रदायाशु भिषग्	१	५०
स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णम्	६	७०
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुता	१	३०
स्नेहे प्रत्यागते ताभ्याम्	९	६१
स्यात् कटीगुदजङ्घार्ति	५	११
स्यात् कर्णिकैकाऽग्रचतुर्थ	३	१०
स्यात्तर्पणं तत्र मृदु	१	५३
स्यात् साम्ललवणस्कन्ध	७	३१
स्यात् सार्ति दाहनिस्तोद	५	१६
स्याद्दीपनो मांसवल	३	३८
स्याद्वस्तिर्व्योषतिक्ताम्ल	८	३२
स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते	९	४९
स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च	१२	३१
स्रुतेषु तस्य दोषेषु	७	४८
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीम्	४	१०
स्वादुशीतौषधैस्तत्र	७	५६
स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च	७	४२
ह		
हपुषार्धकुडवो द्विगुणार्धं	१२	१६(७)
हिंस्यादतिगतं वस्ति	९	५६
हिङ्गुद्विरुत्तरं चूर्णम्	९	३१
हिङ्ग्वम्लवेतसं शुण्ठीं	९	१९
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्त	१२	३५
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रिय	१	१६
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं	९	१५
हृदये मूर्ध्नि वस्तौ च	९	९
हृदये व्याकुलीभावो	९	२३
हृन्नाभिपार्श्वोत्तमदेह	३	५५
हृल्लासमोहक्लमसाद	१	४६
हृल्लासिका मारुत	१	४३
ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं	५	४
ह्रस्वपञ्चमूलीकषायः	१२	१६(८)